UNIVERSITY OF PATANJALI

NAAC A+ GRADE ACCREDITED

Open & Distance Learning (ODL)

SELF-LEARNING MATERIAL (SLM)

B.A Darshan

Semester -1

ACADEMIC SESSION

2026 — 2027

Department of Philosophy

UNIVERSITY OF PATANJALI

Haridwar-Delhi Highway, Haridwar, Uttarakhand — 249405

www.universityofpatanjali.com

लेखक

1. साध्वि देवार्पणा
2. डा.सावर सिङ्ग यादव
3. स्वामि भद्रदेव
4. डा बिपिन दुबे
5. स्वामी आदिदेव
6. डा शैफालि जोशि
7. डा अर्चना तीवारि
8. स्वामी आदिदेव

समीक्षक

डा.शिवानि संकायाध्याक्षा कर्णाटक संस्कृत विश्वविद्यालय बेङ्गलूरु

संपादक

डा , साध्वि देवप्रिया संकायाध्याक्षा पतंजलि विश्वविद्यालय हरिद्वार

॥ ओ३म् ॥

योगदर्शनम्

BDPHMJ-101

दिव्य प्रकाशन

Semester-I
BDPHMJ-101
योगदर्शनम्

उद्देश्यः-

- योग एवं योग से सम्बन्धित भाष्य वार्तिक व टीकाओं से परिचय करवाना।
- पातञ्जल योगसूत्र के चारों पादों के सूत्रार्थ एवं व्याख्या से अवगत कराना।
- योग सूत्रों को कण्ठस्थ कराना।
- योगदर्शन में वर्णित 'अष्टांग योग' के पालन से जीवन को पवित्र व चरित्रवान् बनाना।

खण्ड-1 महर्षि पतंजलि जी का जीवन परिचय एवं योगदर्शन का सामान्य परिचय तथा चित्त की भूमियाँ

इकाई-1 योग शब्द की व्युत्पत्ति
इकाई-2 योग दर्शन का रचना काल एवं महर्षि पतंजलि जी का संक्षिप्त परिचय
इकाई-3 योग का स्वरुप
इकाई-4 चित्त की भूमियाँ या स्थितियाँ

खण्ड-2 समाधिपाद

इकाई-1 चित्त की वृत्तियाँ
इकाई-2 चित्त वृत्ति निरोध का उपाय (अभ्यास-वैराग्य)
इकाई-3 समाधि और समाधि के प्रकार
इकाई-4 ईश्वर का स्वरुप
इकाई-5 चित्त की प्रसन्नता एवं एकाग्रता के उपाय

खण्ड-3 साधनपाद

इकाई-1 क्रिया योग एवं क्रिया योग का फल
इकाई-2 पञ्च क्लेश तथा अविद्या क्लेशों की जननी
इकाई-3 दृश्य एवं दृष्टा का स्वरुप
इकाई-4 अष्टांग योग का वर्णन

खण्ड-4 विभूतिपाद

इकाई-1 ध्यान, धारणा और समाधि का स्वरुप
इकाई-2 संयम का स्वरूप और संयम का फल
इकाई-3 अन्तरंग और बाह्य-अंग योग का स्वरुप
इकाई-4 विभूतियों का संक्षिप्त परिचय
इकाई-5 क्षण और उसके क्रम में में संयम का फल विवेकज ज्ञान

खण्ड-5 कैवल्यपाद

इकाई-1 सिद्धियों के प्रकार
इकाई-2 कर्मो के प्रकार
इकाई-3 धर्ममेघ समाधि का स्वरुप
इकाई-4 प्रतिप्रसव या कैवल्य योग

परिणामः-

- योग एवं योग से सम्बन्धित भाष्य, वार्तिक एवं टीकाओं का विशेष ज्ञान होगा।
- योगदर्शन के चारों पादों के सूत्रार्थ एवं भावार्थ की स्पष्ट जानकारी प्राप्त होगी।
- योगसूत्र शुद्ध उच्चारणपूर्वक कण्ठस्थ होगा।
- अष्टांग योग को आत्मसात् करके पवित्रता व दिव्यता से युक्त होकर दिव्य चरित्र व व्यक्तित्व वाला बन जाता है।

निर्धारित पाठ्यपुस्तक- योगदर्शन- स्वामी योगर्षि रामदेव, दिव्य प्रकाशन, हरिद्वार।
पातञ्जलयोगदर्शनम् - डॉ. आचार्या साध्वी देवप्रिया, दिव्य प्रकाशन, हरिद्वार।
पातञ्जलयोगदर्शनम् - हरिहरानन्द आरण्य, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

विषय-सूची

खण्ड-1 महर्षि पतंजलि जी का जीवन परिचय एवं योगदर्शन का सामान्य परिचय तथा चित्त की भूमियाँ **6-19**

इकाई-1.1 योग शब्द की व्युत्पत्ति 6-8

इकाई-1.2 योग दर्शन का रचना काल एवं महर्षि पतंजलि जी का संक्षिप्त परिचय 9-12

इकाई-1.3 योग का स्वरुप 13-16

इकाई-1.4 चित्त की भूमियाँ या स्थितियाँ 17-19

खण्ड-2 समाधिपाद **20-52**

इकाई-2.1 चित्त की वृत्तियाँ 20-25

इकाई-2.2 चित्त वृत्ति निरोध का उपाय (अभ्यास-वैराग्य) 26-32

इकाई-2.3 समाधि और समाधि के प्रकार 33-43

इकाई-2.4 ईश्वर का स्वरुप 44-48

इकाई-2.5 चित्त की प्रसन्नता एवं एकाग्रता के उपाय 49-52

खण्ड-3 साधनपाद **53-80**

इकाई-3.1 क्रिया योग एवं क्रिया योग का फल 53-55

इकाई-3.2 पञ्च क्लेश तथा अविद्या क्लेशों की जननी 56-62

इकाई-3.3 दृश्य एवं दृष्टा का स्वरुप 63-70

इकाई-3.4 अष्टांग योग का वर्णन 71-80

खण्ड-4 विभूतिपाद **81-105**

इकाई-4.1 ध्यान, धारणा और समाधि का स्वरुप 81-83

इकाई-4.2 संयम का स्वरूप और संयम का फल 84-86

इकाई-4.3 अन्तरंग और बाह्य-अंग योग का स्वरुप 87-89

इकाई-4.4 विभूतियों का संक्षिप्त परिचय 90-102

इकाई-4.5 क्षण और उसके क्रम में में संयम का फल विवेकज ज्ञान 103-105

खण्ड-5 कैवल्यपाद **106-**

इकाई-5.1 सिद्धियों के प्रकार 106-108

इकाई-5.2 कर्मो के प्रकार 109-111

इकाई-5.3 धर्ममेघ समाधि का स्वरुप 112-115

इकाई-5.4 प्रतिप्रसव या कैवल्य योग 116-118

भूमिका

विविध भारतीय दर्शनों के बीच योगदर्शन का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। महाभारत में श्रीशुकदेवजी ने ठीक ही कहा है कि **'न तु योगमृते प्राप्तुं शक्या सा परमा गतिः।'** यह एक सुविदित तथ्य है कि भारतीय दर्शन का चरम लक्ष्य प्राणियों को त्रिविध दुःखों से सदा के लिये छुटकारा दिलाना ही है। दुःखों की यह शाश्वतिक निवृत्ति मुक्ति, मोक्ष, कैवल्य, अपवर्ग, निःश्रेयस्, निर्वाण और परमपद इत्यादि पदों से अभिहित की गयी है। इसकी सिद्धि के लिये प्रायः सभी भारतीय दर्शन (चार्वाकदर्शन और मीमांसा के अतिरिक्त) पदार्थों के शुद्ध ज्ञान को किसी न किसी प्रकार से अपरिहार्य उपाय मानते हैं। श्रुतियों ने भी **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** का तथ्य स्वीकृत किया है। पदार्थों के इस बुद्धज्ञान को विभिन्न दर्शनों में तत्त्वज्ञान, सम्यग्ज्ञान, तत्त्वसाक्षात्कार, परमज्ञान, विज्ञान, परप्रसंख्यान और विवेकख्याति इत्यादि नाम दिये गये हैं। इस शुद्ध ज्ञान का एक रूप तो वह है, जो बुद्धि की शुद्ध सात्त्विक-वृत्ति के द्वारा प्राप्त किया जाता है और दूसरा तथा उत्तम रूप वह है, जो वृत्तिहीन स्थिति में आत्मा का अपरोक्ष अनुभव होता है।

इनमें से प्रथम प्रकार का तत्त्वज्ञान 'सांख्ययोग' में 'विवेक ख्याति' के नाम से प्रसिद्ध है और द्वितीय प्रकार का तत्त्वदर्शन योगशास्त्र में 'असम्प्रज्ञात योग' के नाम से विख्यात है। ईश्वरकृष्ण का सांख्यशास्त्र इस अपरोक्ष पुरुषानुभूति के विषय में सर्वथा मौन है। न्याय, वैशेषिक और मीमांसा दर्शन भी वृत्तिज्ञान से परे किसी अपरोक्ष उत्तम ज्ञान की कल्पना नहीं कर पाये। अद्वैतवेदान्तदर्शन इसी अपरोक्षानुभूतिरूप ज्ञान को ही मोक्ष का वास्तविक हेतु स्वीकार करता है। गौडपाद ने इस अपरोक्षानुभव को ही 'अस्पर्शयोग' की संज्ञा प्रदान की है।

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो विभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥ (मा.का.-3.39)

'विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति' (बृहदा.उप.-2.4.14) और **'यन्मनसा न मनुते' (केनोप.-1.5)** इत्यादि श्रुतियाँ यही बात सिद्धान्तित करती हैं। दोनों प्रकार के शुद्ध ज्ञान को प्राप्त करने की प्रक्रिया बड़ी ही जटिल एवं दुरूह है। इस उभयस्तरीय प्रक्रिया का रचनात्मक स्वरूप ही योग-साधना है। वृत्तिलभ्य शुद्ध ज्ञान का पर्यवसान **'विवेकस्याति'** है। इस ज्ञान से भी मोक्ष की सिद्धि होती है। समस्त भारतीय दर्शन अपने-अपने ढंग से इस ज्ञान को उत्पन्न करने वाली योगसाधना को अपनाते हुए मोक्षप्रद तत्वज्ञान की उपलब्धि की व्यवस्था करते हैं। योगदर्शन में इस ज्ञानानुकूल योगसाधना को **'सम्प्रज्ञात'** योग की संज्ञा दी गयी है। इस योग के समस्त अङ्गों, भूमिकाओं, साधनाओं एवं सिद्धियों तथा उनके शास्त्रीय सन्दर्भों का निरुपण होने के कारण योगदर्शन की सर्वग्राह्यता, उपयोगिता, लोकप्रियता एवं सार्वजनीनता सभी दर्शनों में समान रूप से स्व. ीकृत हुई है। सभी दार्शनिकप्रस्थान ज्ञानजनक योगसम्बन्धी प्रक्रियाओं के प्रसंग में योगदर्शन की मान्यताओं को यथासम्भव स्वीकार करते हैं। अपने इस अप्रतिम वैशिष्ट्य के कारण योगदर्शन भारतीय मनीषा को पुरातन युग से लेकर आज तक समान रूप से अनुप्राणित एवं उद्बोधित करता रहा है।

वेदान्त को छोड़कर अन्य सभी भारतीय दर्शन ज्ञानजनक योग से परे **'असम्प्रज्ञात'** योग की उच्चभूमि तक नहीं पहुँच पाते, जिससे कि पुरुषतत्त्व का साक्षात् दर्शन होता है। यह योग वृत्तिज्ञान का अतिक्रमण कराता है, सद्यः मुक्ति-प्रद होता है, प्रारब्धकों के संस्कारों का भी तत्काल नाश करता है और इस प्रकार बौद्धिक ज्ञान का साधन नहीं, प्रत्युत बौद्धिक ज्ञान का साध्य बनता है। इस अद्भुत एवं सर्वातिशायी योग का पूर्ण निरूपण और सविस्तार विवेचन योगदर्शन की अपनी एकान्तिक उपलब्धि है। यह असम्प्रज्ञात-योग ही वस्तुतः 'राजयोग' कहा गया है। इसमें बुद्धि से प्राप्य शुद्ध ज्ञान का भी अतिक्रमण कर दिया जाता है। ईश्वरकृष्णीय सांख्य की चरमसाध ना 'विवेकख्याति' है, किन्तु उसमें सारी करामात सात्त्विक बुद्धिवृत्ति की होती है। यह ज्ञान सर्वोच्च होने पर भी साक्षात् अनुभूति नहीं है, बुद्धिवृत्ति के माध्यम से तत्त्वज्ञान है, किन्तु असम्प्रज्ञात योग तो साक्षात् मोक्ष की अवस्था होती है। पुरुष अपने परम निर्लिप्त असंग रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस योग का संकेत योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद् गीता में किया है-

''यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चौवात्मनात्मान पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥'' (श्रीमद्.भ.गी.-6.20)

योगदर्शन की इस असामान्य उपलब्धि और असाधारण मोक्षपरायणता के महत्त्व का आकलन करने के लिये गीता की ये पंक्तियाँ पर्याप्त है-

तास्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ (श्रीमद्.भ.गी.-6.46)
समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्य यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥ (मैत्रायणी उपनिषद्-4.4.9)

समाधि द्वारा निर्मल चित्तवाले अभ्यासी को परमात्मा में आत्मा का निवेश-अन्दर प्रवेश करने पर जो सुख होता है वह वाणी द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता किन्तु स्वयम् अन्तःकरण में ग्रहण किया जाता है। ऐसे समाधि सुखलाभ की प्रापक समाधिसिद्धि के लिए एकान्त अरण्य में साधनारत, अकारण सर्वभूतहित में निरत, क्रान्तदर्शी प्रज्ञा से सुसम्पन्न महर्षि पतञ्जलि का प्रज्ञा-प्रसाद योगदर्शन में प्रकट हुआ है। सूत्रों में उपनिबद्ध योगदर्शन मानवीय प्रज्ञा का विलक्षण निदर्शन है जिसका अध्ययन कर मुमुक्षु-पुरुष परमतत्त्व को प्राप्त कर सकता है और लौकिक पुरुष भी अपने प्रत्येक क्रियाकलाप में असाधारण कुशलता प्राप्त कर सकता है। पातञ्जल योगदर्शन समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद एवं कैवल्यपाद नामक पादचतुष्टय में सविभक्त है। पादचतुष्टय की विषयवस्तु अधस्तात् उपन्यस्त है-

१. समाधिपाद- इस पाद में योग की परिभाषा से लेकर योग की सर्वोच्च स्थिति निर्बीज समाधि तक का सूक्ष्म विवेचन समुपलब्ध है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति रूप पाँच वृत्तियों का निरोध ही योग है। इन वृत्तियों के निरोध के लिए दीर्घकाल, नैरन्तर्य और सत्कार से आसेवित अभ्यास एवं वैराग्य ही उपाय है। वैराग्य ज्ञानरूप है तो अभ्यास प्रयत्नरूप । व्यासभाष्य में कहा है- **'ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्'**। चित्त की प्रशान्तवाहिता स्थिति में नैरन्तर्य बनाये रखना वैराग्य है। अभ्यास व वैराग्य की सर्वोच्च स्थिति तक पहुंचने से पूर्व अनेक अवान्तर स्थितियों से अनिवार्यतः गुजरना पड़ता है। उनका विस्तृत विवरण इस पाद में किया है। आचार-व्यवहार के सूक्ष्म सूत्र भी यहाँ वर्णित हैं। जिनके सावधानतया परिपालन में पारिवारिक-सामाजिक रसता एवं समरसता में त्वरित अभिवृद्धि होती हैं। पतञ्जलि मुनि के अनुसार सुखी, दुःखी, पुण्यशाली एवं अपुण्यचरित (पापी) व्यक्तियों के साथ क्रमशः मित्रता, दया, प्रसन्नता एवम् उपेक्षा का व्यवहार करके चित्त की प्रसन्नता प्राप्त की जा सकती है। योग की उपोत्तम भूमि रूप नि. र्विचार समाधि में बुद्धि-प्रकाश प्रकट हो जाता है और योगी अनुभव करता है कि वह अब अशोचनीय स्थिति में है। वह संसारी जनों के प्रति ऐसी ही दृष्टि रखता है। जैसे पर्वत पर स्थित पुरुष भूमिस्थ जनों को देखता है। ऋषि कहते हैं-

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥ (योग.-1.47)

२. साधनपाद- द्वितीय पाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके प्रतिपाद्य की अवतरणिका में व्यासमुनि कहते हैं- **'कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते'**। अर्थात् अस्थिर चित्त वाला कैसे योगनिष्ठ हो सकता है? यह इस पाद में प्रतिपादित है। इस पाद में क्रियायोग (तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान), पाँच क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश), अष्टाङ्गयोग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) का सूक्ष्म एवं साङ्गोपाङ्ग वर्णन उपलब्ध है। इनके व्यावहारिक जीवन में उपयोग, महत्त्व, सार्वभौमिकता एवं फलादि का भी उदात्त विवेचन किया गया है। 'विवेकख्याति' जीवन का लक्ष्य है और योगाङ्गानुष्ठान उसके नान्तरीयक साधन । ऋषि कहते हैं कि योगाङ्गानुष्ठान से विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञानदीप्ति बढ़ती है-

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः । (योग.-2.28)

३. विभूतिपाद- इस पाद में योगसाधक को स्वतः प्राप्त होने वाली तथा सिद्ध की जा सकने वाली विभूतियों का वर्णन है। व्यासभाष्य में इन विभूतियों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। इन विभूतियों का अध्ययन नितान्त रोचक एवम् अनुभव एकसाध्य है। अणिमा, परशरीरगमन तथा आकाशगमन आदि कतिपय विभूतियाँ तो अत्यन्त आश्चर्यजनक हैं। कतिपय अभ्यासी सन्त, व्यास भाष्य में वर्णित इन विभूतियों के सम्बन्ध में विमति रखते हुए इन्हें सिद्ध, साध्य एवम् असम्भव तीन कोटियों में परिगणित करते हैं। वस्तुतः इनके विषय में 'इदमित्थमेव' कहना कथमपि शक्य नहीं है। आप्तपुरुप योगेश्वर ऋषिवर दयानन्द की व्यासभाष्य के प्रति समग्र श्रद्धा हमें व्यासभाष्य के प्रति अधिक सूक्ष्म अध्ययन के लिए उत्प्रेरित करती है। यह विशेषतः उल्लेखनीय है कि ये सिद्धियाँ सांसारिक स्थिति में सिद्धियाँ हैं। समाधि में तो ये उपद्रव (विघ्न) ही हैं-

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः । (योग.- 3.37)

4. कैवल्यपाद- योगदर्शन का यह अन्तिम पाद विभूतियों से भी ऊपर कैवल्य सुख, परमात्मदर्शन एवं कैवल्य स्थिति का वर्णन करता है। कैवल्यपाद व्यासभाष्य की यह पंक्ति अत्यन्त रोचक एव यथार्थपरक है-

तल्लाभादविद्यादयः क्लेशाः समूलकाषं कषिता भवन्ति ।
कुशलाकुशलाश्च कर्माशयाः समूलघातं हता भवन्ति।
क्लेशकर्मनिर्वृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति ॥ (योग.व्या.भा.- 4.30)

अर्थात् धर्ममेघ समाधि से अविद्यादि क्लेश समूल नष्ट हो जाते हैं क्लेशमूलक सम्पूर्ण शुभाशुभ संचित कर्माशय नष्ट हो जाता है और विद्वान् जीवित ही विमुक्त हो जाता है।

उपनिषत् के ऋषि, ईश्वरसाक्षात्कार को मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य कहते हैं। ईश्वर के विश्वासभूत वेदोदधि का मन्थन कर क्रान्तद्रष्टा ऋषियों ने जिन अमूल्य सूत्रों को प्राप्त किया, उन्हें_लोकोपकारार्थ ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि वाङ्मय में परिवेष्टित कर दिया। महर्षि पतञ्जलि का योगदर्शन ईश्वर-साक्षात्कार विषयक सम्पूर्ण एवं साङ्गोपाङ्ग विषयवस्तु प्रस्तुत करता है।

खण्ड-1 महर्षि पतंजलि जी का जीवन परिचय एवं योगदर्शन का सामान्य परिचय तथा चित्त की भूमियाँ

इकाई-1.1 योग शब्द की व्युत्पत्ति

उद्देश्य -

• **चित्त की वृत्तियों को रोकना:** योग का प्राथमिक उद्देश्य बुद्धि, अहंकार और मन या चित्त में उठने वाले विचारों और विकारों - वृत्तियों को पूरी तरह वश में करना है।

• **सच्चे स्वरूप का बोध कराना:** साधाक को यह समझाना कि वह यह नश्वर शरीर या चंचल मन नहीं है, बल्कि वह एक शुद्ध, शांत और अमर आत्मा है।

• **योग के वास्तविक अर्थ को स्थापित करना:** 'युज समाधौ' धातु के अनुसार योग का उद्देश्य केवल शारीरिक व्यायाम नहीं, बल्कि चित्त की परम शांत अवस्था समाधि को प्राप्त करना है।

1.1 योग शब्द की व्युत्पत्ति, अर्थ एवं परिभाषा-

• **योग शब्द की व्युत्पत्ति:-** योग शब्द युज् धातु में घञ् प्रत्यय लगाने से सिद्ध होता है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार युज् धातु धातुपाठ के तीन गणों में पढी गई है।

1. युज् समाधौ धातु - दिवादिगणीय (आत्मनेपदी)

2. युजिर् योगे धातु - रूधादिगणीय (उभयपदी)

3. युज् संयमने धातु - चुरादिगणीय (परस्मैपदी)

वास्तव में निरक्त के आधार पर 'योग' शब्द का निर्वचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है-

1. युज्यते एतद् इति योग:- इस निर्वचन के अनुसार कर्मकारक में योग शब्द का अर्थ चित्त की वह अवस्था है, जब चित्त की समस्त वृत्तियों में एकाग्रता आ जाती है। यहाँ पर 'योग' शब्द का अर्थ उद्देश्य में प्रयोग हुआ है।

2. युज्यते अनेन इति योग:- इस निर्वचन के अनुसार करण कारक में योग शब्द का अर्थ वह साधन हैं, जिसके द्वारा समस्त चित्तवृत्तियों में एकाग्रता लाई जाती है। यहाँ 'योग' शब्द साधनार्थ प्रयुक्त हुआ है। इसी आधार पर योग के विभिन्न साधनों को जैसे-हठ, मंत्र, भक्ति, ज्ञान, कर्म आदि को हठयोग, मंत्रयोग, भक्ति योग, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि के नामों से पुकारा जाता है।

3. युज्यतेऽस्मिन् इति योग:- इस निर्वचन के अनुसार योग शब्द का अर्थ स्थान है, जहाँ चित्त की वृत्तियों की एकाग्रता उत्पन्न की जाती है। अत: यहाँ पर अधिकरण कारक की प्रधानता है। इस प्रकार वास्तविक रूप में- भू-लोक, अन्तरिक्षलोक द्यु-लोक में स्थित निखिल तत्व समूहों को योगदृष्टि अर्थात् समाधि दृष्टि के द्वारा प्रत्यक्ष रूप में साक्षात्कारपूर्वक उन तत्वों का अतिक्रमण करते हुए सर्वतो भावेन ब्रह्मस्वरूप में स्थिति प्राप्त कर लेना ही योग है।

• **योग शब्द का अर्थ** - इन तीनों धातुओं से अलग-अलग बने हुए योग शब्द का अर्थ क्रमश: निम्न है-

1. युज् समाधौ - समाधि - संस्कृत-वाङ्मय में इन तीनों अर्थो वाले 'योग' शब्दों का प्रयोग होता रहा है। योगशास्त्र में 'योग' शब्द का अभीष्ट अर्थ समाधि अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध ही स्वीकार किया गया है-

(क) 'योग: समाधि: स च सार्वभौम: चित्तस्य धर्म:' । - (योग.व्या.भा.- 1.1)

(ख) 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:।' - (योग.-1.2)

इससे यह सिद्ध हुआ कि योगदर्शन में प्रयुक्त 'योग' शब्द 'युज्-समाधौ' धातु से ही 'घञ्' प्रत्यय लगाकर बना हुआ है। यह 'योग' शब्द अन्य अर्थो में प्रयुक्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि पातञ्जल 'योग' संयोगरूप न होकर वियोगफलक ही है अर्थात् कैवल्य देने वाला होता है। वह दु:ख की निवृत्ति कराने वाला है, जैसे कि गीता में कहा गया है- **'दु:खसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।'-(6.23)**। पतञ्जलि के द्वारा अनुशासित योग के इसी स्वरूप का सादर निर्वचन करते हुए भोजराज ने कहा है-

'पतञ्जलिमुनेरुक्ति: काप्यपूर्वा जयत्यसौ।
पुंप्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यया ॥' - (रा.मा.वृ.पृ.1)

2. युजिर् योगे - योगफल (जोड़) - 'युजिर्-योगे' धातु से बने हुए योग शब्द का अर्थ योगफल या जोड़ होता है। न्याय वैशेषिक आदि दर्शनों में जिस 'योग' शब्द का व्यवहार किया गया है और जिस योग की साध ना से उनके 'योगज प्रत्यक्ष' नामक अलौकिक सन्निकर्ष की सिद्धि होती है, वह योग आत्मा और मन के अत्यन्ताधिक संयोग का ही अभिप्राय रखता है। अत: उसे 'युजिर्-योगे' धातु से ही निष्पन्न मानना चाहिए। इस तथ्य की पुष्टि इस बात से भी होती है कि न्यायवैशेषिक योगी दो प्रकार के माने गये हैं- 1. युक्त, 2. युञ्जान।

जीवात्मा को परमात्मा से भिन्न मानने वाले भक्त वेदान्तियों और अन्य उपासक योगियों की दृष्टि से भी योग में जीव और परमात्मा का मिलन कराया जाता है। इन उपासक योगियों की शास्त्र की साधना के लिए प्रयुक्त 'योग' शब्द 'युजिर् योगे' धातु से ही निष्पन्न मानना चाहिए। जैसा कि योगियाज्ञवल्क्य में योग का लक्षण दिया गया है- **'संयोगो योग इत्युक्तः जीवात्मपरमात्मनोः।' -(याज्ञ.स्मृति-1.44)**

3. युज् संयमने - संयमन (नियमन) - चुरादिगणीय युज् धातु का अर्थ स्पष्ट है- संयम अर्थात मन को वश में करने की विद्या। मन को वश में करने की विद्या वास्तव में योग ही है और साधक को चाहिए कि वह उस विद्या को आत्मसात् करे महर्षि पतंजलि ने धारणा, ध्यान व समाधि के किसी स्थानविशेष में एकत्र होने या योग को संयम कहा है- **'त्रयमेकत्र संयमः। (योग.-3.4)**

इस प्रकार शास्त्रों में योग शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है परंतु योगशास्त्र (योगदर्शन) के प्रतिपाद्य विषय के अनुसार युज् समाधौ धातु से निष्पन्न योग शब्द ही यहाँ अभीष्ट है। जिसका अर्थ समाधि है।

- **योग शब्द की परिभाषा** - सृष्टि के आदिकाल से ही यह योग विद्या चली आ रही है जो केवल एक विद्या नहीं अपितु जीवन जीने की कला है। प्राचीन सनातन वैदिक संस्कृति के शास्त्रों वेदों, उपनिषदों, गीता, पुराण आदि ग्रन्थों में कहीं प्रत्यक्ष तो कहीं परोक्ष रूप से निश्चित ही योगतत्व का प्रतिपादन किया गया है। विभिन्न शास्त्रों में ऋषि-मुनियों ने तथा अनेक महापुरुषों ने अपनी अनुभूति के आधार पर 'योग' शब्द को अनेक प्रकार से परिभाषित किया है।
- **योगसूत्र के प्रणेता महर्षि पतंजलि के अनुसार -**

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। - (योग.-1.2)

योगः - योग, चित्तवृत्तिनिरोधः - चित्तवृत्तियों का निरोध अर्थात् चित्त की समस्त क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियों का रुक जाना ही योग है।

- **महर्षि वेदव्यास (योगसूत्र के भाष्यकार) के अनुसार -**

योगः समाधिः। अर्थात समाधि ही योग है। - (योग.व्या.भा.- 1.1)

- **महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार-**

ज्ञानं योगात्मकविद्धि योगश्चाष्टांगसंयुतः।
संयोगो योग इत्युक्तः जीवात्मपरमात्मनोः ॥ (याज्ञः स्मृति, 1/44)

अर्थात् जीवात्मा व परमात्मा के संयोग की अवस्था ही योग है।

- **श्रीमद्भगवद्गीता (योगेश्वर श्रीकृष्ण) के अनुसार-**

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्धयसिङ्ख्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ (श्रीमद्.भ.गी.-2.48)

अर्थात् सभी प्रकार के द्वन्द्वों (सुख-दुःख, शीत-उष्ण, भूख-प्यास जय-पराजय, मान-अपमान, सिद्धि-असिद्धि आदि) में समभाव की अवस्था में रहना ही योग है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥(श्रीमद्.भ.गी.-2.50)

अर्थात् फल की इच्छा को त्यागकर निष्काम भाव से कुशलता पूर्वक सभी कर्म करना ही योग है।

तं विद्या दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्जितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥ (श्रीमद्.भ.गी.-6.23)

अर्थात् इस दुःखरुप संसार के संयोग से वियोग (रहित होने) की अवस्था ही योग है।

- **कठोपनिषद् के अनुसार -**

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ (कठो.- 2.3.10-11)

अर्थात् जब मन सहित पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ ठहर जाती हैं अर्थात् अन्तर्मुखी हो जाती हैं तथा बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती उसे परम गति (जीवन्मुक्त अवस्था) कहा जाता है। स्थिरता से इन्द्रियों के संयम (रोकना) की उस स्थिति को ही योग कहते हैं।

स्मरणीय बिंदु -

1. **योग शब्द की व्युत्पत्ति:** योग शब्द की उत्पत्ति संस्कृत की –'युज्' धातु से हुई है। पाणिनी व्याकरण के अनुसार यह तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है: समाधि – युज् समाधौ, जुडाव – युजिर योगे, और नियंत्रण – युज् संयमने।
2. **योग का वास्तविक अर्थ (उच्चतम अवस्था):** योगदर्शन में व्यास भाष्य के अनुसार 'योग: समाधि:' अर्थात् योग का वास्तविक अर्थ समाधि है, जो चित्त की पूर्ण शांत अवस्था है।
3. **प्रामाणिक परिभाषा-चित्तवृत्ति निरोधा:** योगदर्शन के प्रथम अध्याय का दूसरा सूत्र योग को परिभाषित करता है – ''योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:''। अर्थात् चित्त की समस्त वृत्तियों को रोकना ही योग है।

15 अंक के प्रश्न-

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार 'योग' शब्द की व्युत्पत्ति किन धातुओं से मानी जाती है? इसके विभिन्न अर्थों को स्पष्ट करते हुए योगदर्शन सम्मत प्रामाणिक परिभाषा की सविस्तार व्याख्या कीजिए।
2. महर्षि पतंजलि योगसूत्र के प्रथम पाद के द्वितीय सूत्र ''योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:'' की विस्तृत समीक्षा कीजिए। चित्त, चित्तवृत्तियाँ और निरोध शब्दों का दार्शनिक महत्व स्पष्ट कीजिए।
3. योग के अर्थ को स्पष्ट करते हुए समझाइए कि व्यास भाष्य के अनुसार 'योग: समाधि:' का क्या अभिप्राय है? यह परिभाषा महर्षि पतंजलि के चित्तवृत्ति निरोध से किस प्रकार संबद्ध है?

5 अंक के प्रश्न-

1. पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'युज्' धातु के कौन से तीन अर्थ हैं? योगदर्शन में किस अर्थ को स्वीकार किया गया है?
2. महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योग की परिभाषा लिखिए और उसमें 'चित्त' शब्द का क्या अर्थ है, संक्षेप में समझाइए।
3. चित्तवृत्तियों के निरोध का क्या अर्थ है? क्या निरोध का अर्थ वृत्तियों का पूर्ण विनाश है? स्पष्ट कीजिए।
4. महर्षि व्यास ने योगदर्शन के भाष्य में योग को 'समाधि' क्यों कहा है? संक्षेप में उत्तर दीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार योग की प्रामाणिक परिभाषा क्या है?

(क) योग: कर्मसु कौशलम्

(ख) योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:

(ग) समत्वं योग उच्यते

(घ) जीवात्मपरमात्मनो: संयोग:

2: योगदर्शन के व्यास भाष्य के अनुसार 'योग' का वास्तविक अर्थ क्या है?

(क) जोड़ना

(ख) समाधि

(ग) ध्यान

(घ) प्राणायाम

3: 'योग' शब्द संस्कृत की किस मूल धातु से व्युत्पन्न माना जाता है?

(क) युज्

(ख) योग

(ग) युजि

(घ) युत

4: महर्षि पतंजलि योगदर्शन के अनुसार चित्तवृत्ति निरोध की अवस्था में द्रष्टा पुरुष की क्या स्थिति होती है?

(क) वह नष्ट हो जाता है

(ख) वह वृत्तियों के सदृश हो जाता है

(ग) वह अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाता है

(घ) वह संसार में भटकता है

5: पाणिनीय धातुपाठ के अनुसार समाधि के अर्थ में किस धातु का प्रयोग होता है?

(क) युज् समाधौ

(ख) युजियँ योगे

(ग) युज् संयमने

(घ) युज् बन्धने

इकाई-1.2 योग दर्शन का रचना काल एवं महर्षि पतंजलि जी का संक्षिप्त परिचय

उद्देश्य -

• **ऐतिहासिक समय सीमा को स्पष्ट करना:** योगदर्शन के रचना काल - सामान्यत: द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व का विश्लेषण कर भारतीय दर्शन परंपरा में इसके उद्भव के सही समय को प्रमाणित करना।

• **महर्षि पतंजलि के व्यक्तित्व को उजागर करना:** साधकों को सूत्रकार महर्षि पतंजलि के जीवन, उनकी अद्वितीय मेधा और उनके तीन महाकार्यों - व्याकरण, आयुर्वेद और योग से परिचित कराना।

• **योग परंपरा की प्रामाणिकता सिद्ध करना:** इस महान ग्रंथ के ऐतिहासिक और प्रामाणिक संदर्भ प्रस्तुत करके योग के प्रति समाज में वैज्ञानिक और तार्किक दृष्टिकोण विकसित करना।

महर्षि पतंजलि भारतीय दर्शन, योग और आयुर्वेद के क्षेत्र में एक महान् ऋषि माने जाते हैं। उन्हें **''योगदर्शन''** के सूत्रों का प्रणयन करने वाला ऋषि माना जाता है। उनके जीवन से जुड़ी जानकारी बहुत सीमित है, क्योंकि वह एक प्राचीन काल के मुनि थे और उनके जीवन के बारे में उनेक किंवदंतियाँ व मतभेद हैं। फिर भी, उनके कार्यों और उपलब्धियों के आधार पर उनका एक स्पष्ट परिचय प्रस्तुत किया जा सकता है।

सशक्त बाधक प्रमाणों के अभाव में चरक संहिता, महाभाष्य और योगसूत्र के रचयिताओं के अभिन्नत्व को सिद्ध करने वाले साधक-प्रमाणों का प्रस्तुत किया जाना समीचीन एवं लब्धावकाश है-

(1) तीनों पतञ्जलियों की एकता को प्रतिपादित करने वाली एक प्रबल पुरातन परम्परा है। छठी श॰ ई॰ के वैयाकरण भर्तृहरि के **'वाक्यपदीय'** नामक ग्रन्थ के ब्रह्मकाण्ड में त्रिकरणशुद्धि के प्रसंग में यह श्लोक आया है-

कायवाग्बुद्धिविषया ये मला: समुपस्थिता:।
चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धय: ॥ (1.147)

कर्म तीन प्रकार के होते हैं- शारीरिक, वाचिक और मानस। इन तीनों प्रकार के कर्मों को सम्पन्न करने के जो उपादान हैं, उनको निर्मल करने वाले तीन शास्त्र इस श्लोक में बताये गये हैं- वैद्यक, व्याकरण और योग । वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज ने इसका आशय यह निकाला कि इसमें पतञ्जलि की प्रशंसा की गयी है, जिन्होंने कि इन तीनों मलों का शोधन करने के लिए क्रमश: **'चरकसंहिता', 'महाभाष्य' और 'योगसूत्र'** की रचना की है।

(2) योगसूत्रों पर **'राजमार्तण्डवृत्ति'** की रचना करने वाले भोजराज (11वीं शताब्दी ई॰) तो असंदिग्ध रूप में महाभाष्यकार पतञ्जलि को ही वैद्यकशास्त्र (चरकसंहिता) और योगसूत्रों का भी रचयिता मानते हैं। उन्होंने इस वृत्ति के मंगलाचरण में ही इस तथ्य को निर्भ्रान्त रूप से प्रकाशित करने वाला यह श्लोक दिया है-

'शब्दानामनुशासनं विदधता, पातञ्जले कुर्वता।
वृत्तिं राजमृगाङ्कसांकमपि व्यातन्वता वैद्यके ॥
वक्चेतोवपुंषां मल: फणभृतां भर्त्रेव येनोद्धृतस्तस्य
श्री रणरङ्गमललनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वला:'॥ 5 ॥

(3) **'चरकसंहिता'** के टीकाकार चक्रपाणिदत्त (11श॰ ई॰) तो पतञ्जलि को इन तीनों ग्रन्थों के रचयिता के रूप में नमस्कार भी करते हैं-

'पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतै:।
मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नम:॥'

श्लोक के प्रथम अर्द्ध में तीन ग्रन्थों के नाम हैं-पातञ्जल-पतञ्जलि द्वारा कृत योगशास्त्रविषयक ग्रन्थ, महाभाष्यव्याकरण विषयक ग्रन्थ या शास्त्र, चरकप्रतिसंस्कृत-चरक द्वारा प्रतिसंस्कार किया हुआ आयुर्वेदविषयक ग्रन्थ या शास्त्र। इन तीनों रचनाओं द्वारा यथाक्रम मन, वाणी और शरीर के दोषों-मलों को नष्ट करने वाले अथवा हरण-अपहरण-दूर करने वाले अहिपति-शेष के अवतारूप पतञ्जलि के लिए नमस्कार हो। तात्पर्य है, इन तीन विषयों पर पतञ्जलि नामक आचार्य ने विशिष्ट ग्रन्थों की रचना कर लोकोपकार का अभिनन्दनीय कार्य किया।

(4) रामभद्र दीक्षित (18वीं शताब्दी) कृत पतञ्जलिचरित में भी पतञ्जलि की वन्दना इस रूप में की गयी है-

'योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥'

इन सब प्रमाणों के आधार पर, सशक्त बाधक प्रमाणों के अभाव में महाभाष्यकार पतञ्जलि ही योगसूत्रों के रचयिता सिद्ध होते हैं। इस स्थिति में शुङ्गवंशीय नृपति पुष्यमित्र की समकालीनता के आधार पर इनका जीवनकाल द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व ही निर्णीत किया जाना चाहिए।

अद्भुत शास्त्रज्ञान और विविध भाषाओं के प्रकाण्ड पाण्डित्य आदि के कारण भी इनके सहस्रजिह्वत्व की कल्पना ने इनको 'शेषावतार' के रूप में प्रसिद्ध किया होगा। शेषनाग के समान श्वेतत्व, जो काश्मीरियों में प्रायः देखा जाता है, इनमें भी अति-मात्र रहा ही होगा। नाग-जाति में नागराज शेष की पूजा उपासना आदि का भी अवश्य ही विशेष प्रचलन रहा होगा। समूचे योगशास्त्र में ईश्वर-प्रणिधान के अतिरिक्त जिस एक मात्र देवता की समापत्ति का विधान किया गया है, वह हैं अनन्त या शेषनाग **'प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्यां' (योग.-2.47)**। सांख्यशास्त्र में जो असाधारण महत्व कारिकाकार ईश्वरकृष्ण का है, वही स्थान योगशास्त्र के इतिहास में पतञ्जलि का है। हिरण्यगर्भापरनामा कपिल के लुप्तप्राय सांख्ययोग में से एक शाखा की प्राणप्रतिष्ठा ईश्वरकृष्ण ने की है और दूसरी की पतञ्जलि ने।

1. जन्म-स्थान और कालः-

- महर्षि पतंजलि के जन्म के विषय में कोई निश्चित तिथि नहीं है, लेकिन विद्वानों का मानना है कि लगभग 200 ईसा पूर्व के आसपास हुए थे। कुछ मतों के अनुसार वे इससे पहले या बाद में भी हो सकते हैं।
- उनका जन्म स्थान भी स्पष्ट नहीं है, लेकिन कुछ परंपराओं में उनका संबंध गोंडा जिले (उत्तर प्रदेश) से बताया गया है।

2. नाम का अर्थ और उत्पत्ति की कथाः-

- 'पतंजलि नाम के विषय में रोचक किंवदंती प्रचलित है:'-

यह कहा जाता है कि भगवान विष्णु जब अनंत शेषनाग पर विश्राम कर रहे थे, तब उनके मन में यह विचार आया कि मानव जाति के कल्याण के लिए योग को व्यवस्थित रूप में संकलित किया जाए। तब उनके सेवक शेषनाग ने मानव रूप में जन्म लेने का संकल्प लिया। उन्होंने एक ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने के लिए प्रार्थना की। जैसे ही उनकी माता ने प्रार्थना करते हुए अपने हाथ जोड़कर आकाश की ओर देखा, शेषनाग ''अंजलि'' (हाथ की मुद्रा) में ''पतित'' (गिरे), अतः उन्हें पतंजलि कहा गया।

3. प्रमुख ग्रंथ और योगदानः-

महर्षि पतंजलि का योगदान तीन प्रमुख क्षेत्रों में माना जाता है:-

(i) योग दर्शन-

- पतंजलि जी का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है - **''योगसूत्र,''** जो योगदर्शन का मूल आधार है। इसमें कुल 195 सूत्र हैं। यह ग्रंथ योग की आठ अवस्थाओं को समाहित करता है जिसे अष्टांग योग कहा जाता है:-
  1. यम, 2. नियम, 3. आसन, 4. प्राणायाम, 5. प्रत्याहार, 6. धारणा, 7. ध्यान, 8. समाधि।
  यह ग्रंथ मानसिक शांति, आत्मनियंत्रण और मोक्ष प्राप्ति की दिशा में मार्गदर्शन करता है।

(ii) व्याकरण महाभाष्य-

- पतंजलि ने पाणिनी के **''अष्टाध्यायी''** नामक संस्कृत व्याकरण ग्रंथ पर **''महाभाष्य''** नामक व्याख्या की। यह संस्कृत व्याकरण का अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ है और आज भी भाषाशास्त्रियों के लिए आधारभूत ग्रंथ माना जाता है।

(iii) आयुर्वेद-

- कुछ परंपराओं में माना जाता है कि पतंजलि ने आयुर्वेद पर भी कार्य किया और उन्होंने **''चरक संहिता''** पर संस्कृत टीका लिखी।

4. दर्शन और विचारधाराः-

- महर्षि पतंजलि का मानना था कि योग केवल शरीर की कसरत नहीं है, बल्कि यह आत्मा की शुद्धि और परमात्मा से एकत्व की प्रक्रिया है। उनका योग मन, बुद्धि और आत्मा के बीच संतुलन स्थापित करने का मार्ग है।

5. सम्मान और स्मृतिः-

- महर्षि पतंजलि को **''योगशास्त्र के जनक''** कहा जाता है।
- भारत और विश्व में अनेक योग संस्थान उनका स्मरण करते हैं और योगसूत्र के माध्यम से शिक्षा देते हैं।
- आयुर्वेद, योग और भाषाशास्त्र इन तीनों क्षेत्रों में अद्वितीय योगदान देने वाले वे संभवतः एकमात्र ऋषि हैं।
- महर्षि पतंजलि का जीवन एक तपस्वी, दार्शनिक और विद्वान ऋषि का जीवन था जिन्होंने भारतीय आध्यात्मिकता, स्वास्थ्य और भाषा के क्षेत्रों में महान् योगदान दिया। उनका योगसूत्र आज भी पूरे विश्व में योग का आधार है और लाखों लोग उनके विचारों से लाभ उठा रहे हैं।

योगदर्शन का रचनाकाल -

''योगदर्शन'' भारतीय दर्शन के षड्दर्शन (छः प्रमुख दर्शन) में से एक हैं, और इसका आधार ग्रंथ है **''पतंजलि योगसूत्र''**। योगदर्शन का उद्देश्य आत्मा की शुद्धि, मन का नियंत्रण और मोक्ष की प्राप्ति है। यह दर्शन शरीर, मन और आत्मा के संतुलन के माध्यम से परम चेतना (ईश्वर) से जुड़ने का मार्ग दिखाता है।

योगदर्शन का विकास अनेक चरणों में हुआ है। इसका रचनाकाल (Developmental Timeline) तीन मुख्य चरणों में समझा जा सकता है:

1. पूर्व-योगदर्शन कालः-

- इस काल में योग की संकल्पना का प्रारंभ हुआ, लेकिन उसे एक संगठित दर्शन के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया था। इसमें योग के बीज रूप में विचार मिलते हैं।
- इस काल में योग एक आध्यात्मिक अभ्यास के रूप में उभर रहा था, परंतु अभी तक उसे सुव्यवस्थित दर्शन का रूप नहीं मिला था।

2. पतंजलि योगदर्शन का रचना काल (लगभग 200 ईसा पूर्व):-

- यह सबसे महत्वपूर्ण चरण है जिसमें महर्षि पतंजलि ने योग के विभिन्न विचारों को एक सूत्रबद्ध और व्यवस्थित दर्शन का रूप दिया। उन्होंने **''योगसूत्र''** की रचना की जो योगदर्शन का मूल आधार है।

मुख्य विशेषताएँः-

- सूत्र शैली में संक्षिप्त सारगर्भित अभिव्यक्ति।
- कुल 195 सूत्र।
- सूत्रों को चार भागों में विभाजित किया गया है:
  1. **समाधि पाद** - धारणा, ध्यान और समाधि का स्वरूप।
  2. **साधन पाद** - योग के अभ्यास की विधियाँ (अष्टांग योग)।
  3. **विभूति पाद** - योग से प्राप्त सिद्धियाँ और शक्तियाँ।
  4. **कैवल्य पाद** - आत्मा के मोक्ष या कैवल्य की स्थिति।

इस रचना के माध्यम से योग को एक पूर्ण दर्शनशास्त्र का रूप प्राप्त हुआ।

3.उत्तर योगदर्शन काल (200 ईसा पूर्व - 1000 ईस्वी और आगे):-

पतंजलि के योगदर्शन के बाद अनेक टीकाकारों और दार्शनिकों ने इस ग्रंथ पर टीकाएँ लिखीं और उसकी व्याख्या की।

प्रमुख टीकाकारः-

- व्यासः उन्होंने योगसूत्र पर पहली प्रचीन व्याख्या **''योगभाष्य''** लिखी। यह टीका आज भी मूल स्रोत मानी जाती है।
- वाचस्पति मिश्रः- इन्होंने **''तात्पर्य टीका''** लिखी।
- विज्ञान भिक्षुः- इनकी **''वृत्ति''** प्रसिद्ध है।

इस काल की विश्ओषताएँः-

- योग को केवल दर्शन नहीं, आध्यात्मिक और व्यावहारिक साधना के रूप में अपनाया गया।
- तंत्र, हठयोग और नाथ संप्रदायों के माध्यम से योग का अभ्यास सामान्य जन-मानस में फैला।

4. आधुनिक काल (19वीं सदी से वर्तमान तक):-

- स्वामी विवेकानंद ने योगदर्शन को पश्चिमी दुनिया में फैलाया। उनकी पुस्तक **''राजयोग''** आज भी प्रसिद्ध है।
- रामकृष्ण मिशन, योगानंद, महर्षि अरविंद, स्वामी शिवानंद, बी.के.एस. अय्यंगार, **'पतंजलि योगपीठ (पूज्य स्वामी रामदेव जी महाराज)'** आदि ने योग को वैश्विक स्तर पर लोकप्रिय बनाया।

स्मरणीय बिंदु -

1.महर्षि पतंजलि का परिचय - त्रिसूत्रकारः महर्षि पतंजलि को भारतीय परंपरा में 'शेषनाग' का अवतार माना जाता है। उन्होंने मानव जाति के कल्याण के लिए तीन महान ग्रंथों की रचना की: व्याकरण के लिए महाभाष्य, चिकित्सा के लिए चरक संहिता का प्रतिसंस्कार, और अध्यात्म के लिए योगसूत्र।

2.योगदर्शन का रचना काल - ऐतिहासिक समयः आधुनिक विद्वानों और इतिहासकारों के अनुसार योगदर्शन का रचना काल

द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है। उन्हें शुंग वंश के सम्राट पुष्यमित्र शुंग का समकालीन और उनका पुरोहित माना जाता है।

3.योगसूत्र का स्वरूप - ग्रंथ की संरचना: महर्षि पतंजलि ने बिखरे हुए योग ज्ञान को ४ पादों या अध्यायों और १९५ सूत्रों में संकलित किया। इसमें समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद शामिल हैं, जो अष्टांग योग के माध्यम से कैवल्य अर्थात् मोक्ष प्राप्ति का मार्ग दिखाते हैं।

15 अंक के प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि का प्रामाणिक जीवन परिचय देते हुए भारतीय दर्शन परंपरा में उनके योगदान की सविस्तार समीक्षा कीजिए। उन्हें 'शेषनाग का अवतार' क्यों माना जाता है?
2. योगदर्शन के रचना काल या समय निर्धारण के विषय में विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के मतों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए। सर्वाधिक प्रामाणिक मत कौन सा है?
3. ''महर्षि पतंजलि केवल योगसूत्र के ही रचयिता नहीं थे, बल्कि वे एक महान व्याकरणविद् और आयुर्वेद के मर्मज्ञ भी थे।'' इस कथन के आलोक में महर्षि पतंजलि की त्रिविध रचनाओं - तीन मुख्य कार्यों पर विस्तृत प्रकाश डालिए।

5 अंक के प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि की माता का नाम क्या था? उन्हें गोणिकापुत्र और पतंजलि नाम मिलने के पीछे क्या पौराणिक मान्यता है?
2. योगदर्शन का रचना काल सामान्यत: ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी क्यों माना जाता है? मुख्य साक्ष्य प्रस्तुत कीजिए।
3. महर्षि पतंजलि किस राजा के समकालीन थे और उनके मुख्य पुरोहित थे? इतिहास में इसका क्या महत्व है?
4. महर्षि पतंजलि योगसूत्र में कुल कितने पाद या अध्याय और कितने सूत्र हैं? उनके नाम संक्षेप में लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. अधिकांश इतिहासकारों के अनुसार महर्षि पतंजलि का समय काल क्या माना जाता है?

(क) ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी

(ख) ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी

(ग) ईसा पश्चात चौथी शताब्दी

(घ) ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी

2. महर्षि पतंजलि को निम्नलिखित में से किसका अवतार माना जाता है?

(क) भगवान विष्णु

(ख) शेषनाग

(ग) देवर्षि नारद

(घ) महर्षि वेदव्यास

3. प्रसिद्ध व्याकरण ग्रंथ 'महाभाष्य' के रचयिता कौन हैं?

(क) महर्षि पाणिनि

(ख) महर्षि पतंजलि

(ग) आचार्य भरतमुनि

(घ) आचार्य कात्यायन

4. महर्षि पतंजलि निम्नलिखित में से किस शासक या राजा के समकालीन और राजपुरोहित थे?

(क) चंद्रगुप्त मौर्य

(ख) राजा भोज

(ग) पुष्यमित्र शुंग

(घ) सम्राट अशोक

5. महर्षि पतंजलि योगदर्शन में कुल कितने सूत्र संग्रहित हैं?

(क) 195

(ख) 108

(ग) 250

(घ) 550

इकाई-1.3 योग का स्वरूप

उद्देश्य -

• **समाधि के दोनों स्तरों का भेद स्पष्ट करना:** साधक को विचारयुक्त - सम्प्रज्ञात और विचारमुक्त - असम्प्रज्ञात समाधि के बीच के सूक्ष्म अंतर और उनके स्वरूप को समझाना।

• **चित्त को सूक्ष्म ध्येय पर एकाग्र करना:** सम्प्रज्ञात समाधि के माध्यम से साधक के चित्त को स्थूल से सूक्ष्म तत्वों वितर्क, विचार, आनंद और अस्मिता पर पूरी तरह केंद्रित करना।

• **पर वैराग्य की अवस्था तक पहुँचाना:** साधक के भीतर सभी सांसारिक इच्छाओं और चित्त की वृत्तियों के संस्कारों को पूरी तरह शांत करके असम्प्रज्ञात समाधि की योग्यता विकसित करना।

योग के विभिन्न शास्त्रों तथा योग को जिन्होंने अपने जीवन में साधा है ऐसे योगमय ऋषि-मुनियों तथा महापुरुषों के जीवन का जब सूक्ष्मता व गहराई से अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि कहीं तो योग को समाधि, जीवात्मा परमात्मा का संयोग, वृत्तियों की निरुद्धावस्था, परमगति की स्थिति कहकर परिणाम के रूप में बताया गया है, तो कहीं पर कर्मो में कुशलता, समता की स्थिति, अनुशासन आदि कहकर व्यवहार अथवा साधन के रूप में बताया गया है।

अत: इस आधार पर योग के स्वरूप को यदि समग्रता से समझा जाये तो परम साध्य भी योग है, साधना रूप प्रक्रिया भी योग है तथा इस योगपथ का पाथेयरुप साधन भी योग ही है। यदि योग गन्तव्य है तो उस गन्तव्य तक पहुंचने के लिए अपेक्षित मन्तव्य तथा कर्त्तव्य भी योग ही है। यदि योग परिणाम की स्थिति है तो उस परिणाम की प्राप्ति के लिए आवश्यक प्रक्रिया भी योग ही है।

इसीलिए योगदर्शन में भी देखा जाता है, महर्षि पतंजलि चित्तवृत्तिनिरोध की साध्य स्थिति को योग कहते हैं **(योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:)**, महर्षि वेदव्यास समाधि की परम अवस्था को योग कहते हैं **(योग: समाधि:)** परन्तु इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए साधन रूप यमनियमादि आठ अंगों **(यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि)** को भी योग ही कहा जाता है।

राजयोग रूप परिणाम की प्राप्ति के लिए साधन को भी हठयोग कहा गया है।

'श्री आदिनाथायनमोऽस्तु तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव॥'

राजयोग के उच्चतम शिखर पर चढने की इच्छा रखने वाले अभ्यासियों के लिए हठयोग सीढ़ि के समान है।

यह तो निश्चित हो गया कि पातञ्जलयोग व्युत्पत्ति की दृष्टि से **'समाधि'** (समाधान) या **'चित्तवृत्तिनिरोध'** हुआ, किन्तु चित्तवृत्ति का निरोध तो कुछ न कुछ सब को और सदा होता रहता है। तो क्या हर एक प्राणी प्रति-क्षण किसी न किसी अंश में योग सिद्ध किये रहता है? नहीं, ऐसी बात नहीं है। योग का अर्थ समाधि या चित्तवृत्ति का निरोध अवश्य है, किन्तु प्रत्येक समाधि या प्रत्येक प्रकार के चित्तवृत्तिनिरोध को योग नहीं कहा जा सकता । फिर 'योग' किस समाधि को कहेंगे? इस बात का प्रकाशन सूत्रकार पतञ्जलि ने बड़ी चतुराई से किया है। उनके इन सूत्रों को क्रम से पढ़ने पर प्रश्न का उत्तर स्वत: मिल जाता है-

१. अथ योगानुशासनम् । (योग.-1.1)

२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोध: । (योग.-1.2)

३. तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानम् । (योग.-1.3)

तीसरे सूत्र में आया हुआ **'तदा'** शब्द समस्या का समाधान स्वयं कर देता है। चित्तवृत्तिनिरोध- लक्षणक योग के सिद्ध होने पर द्रष्टा की अपने वास्तविक (चिन्मात्र) रूप में स्थिति या प्रतिष्ठा हो जाती है अर्थात् योगी को मोक्ष की सिद्धि हो जाती है। फलत: यह सिद्ध हुआ कि मोक्षप्रद चित्तवृत्तिनिरोध को ही **'योग'** कहते हैं। जिस-जिस चित्तवृत्तिनिरोध या समाधि से कैवल्य न प्राप्त हो सके अर्थात् जीवात्मा की अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठा न हो पाये, वह-वह चित्तवृत्तिनिरोध समाधिमात्र है, योग नहीं। इस तथ्य को हम इस रूप में प्रकट कर सकते हैं कि यद्यपि प्रत्येक योग समाधि है पर प्रत्येक समाधि योग नहीं है। कुछ विशिष्ट समाधियाँ ही योग कही जा सकती हैं। ऐसी समाधियाँ (चित्तवृत्तिनिरोध), जो योग कहे जाने की योग्यता रखती हैं, सूत्रकार एवं भाष्यकार के अनुसार केवल दो होती हैं-

१. सम्प्रज्ञातसमाधि ।

२. असम्प्रज्ञातसमाधि ।

इन समाधियों को **'योग'** संज्ञा से विभूषित किया जाता है। इनकी स्थिति के सम्बन्ध में यत्किञ्चित् जानकारी प्राप्त करने के लिये कुछ बातें और जाननी होंगी। पहली ज्ञातव्य बात तो यह है कि ये समाधियाँ चित्त की अनेक वृत्तियों का निरोध करने वाली

होती हैं। तात्पर्य यह है कि योग मुख्यतः चित्त का एक विशिष्ट प्रकार का प्रशिक्षण या निग्रह है। शरीर तथा इन्द्रियों का निग्रह उसके अङ्गरूप से भले ही आवश्यक हो, किन्तु वह योग नहीं है। योग की साधना का वास्तविक उपादान चित्त (अन्तःकरण) ही है। सांख्ययोगशास्त्र में चित्त भी सभी अचेतन पदार्थों की भाँति त्रिगुणात्मक माना गया है। इसलिये चित्त की वृत्तियाँ भी सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार की होती हैं। चित्त की क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध-ये 5 भूमियाँ होती हैं। चित्त की क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त भूमियों में हुआ वृत्ति-निरोध स्वल्पकालिक होता है और स्वतः उपस्थित तथा खण्डित होता रहता है। इससे मोक्ष प्राप्त होने की कोई सम्भावना नहीं होती। इसलिये इन भूमियों की समाधि, साधना की दृष्टि से सर्वथा निष्फल एवं अनुपयोगी होती है।

1. सम्प्रज्ञातयोग -

चित्त की एकाग्रभूमि का वृत्तिनिरोध (समाधि) राजस और तामस वृत्तियों का पूर्ण निरोध होता है। इसमें केवल सात्त्विक वृत्ति पूर्णरूप से उदित रहती है। फलतः साधक को समग्र वस्तुओं का वास्तविक, निर्भान्त एवं युग-पद् ज्ञान होता है। इसीलिये इस समाधि को **'सम्प्रज्ञातसमाधि'** कहते हैं। **'सम्यक् प्रज्ञायतेऽस्मिन्निति सम्प्रज्ञातः समाधिः।'** इसी समाधि के सिद्ध होने से प्रकृति और पुरुष-इन दो अन्तिम तत्त्वों का विविक्तज्ञान भी हो जाता है। यही 'विवेकख्याति' है। तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान होने के कारण इसे तत्त्वज्ञान या सम्यग्ज्ञान भी कहते हैं। यह विवेकख्याति निश्चय ही मोक्षप्रद होती है। इसलिये विवेक-ख्याति का लाभ कराने वाली इस समाधि को मोक्षप्रदता के कारण **'सम्प्रज्ञात-योग'** कहा जाता है। यह प्रथम प्रकार का योग है। सम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि चार सोपानों के क्रम से होती है- १. वितर्कानुगत, २. विचारानुगत, ३. आनन्दानुगत और ४. अस्मितानुगत । इस चौथे क्रमिक सोपान में ही पूर्णता आने पर **'विवेकख्याति'** का उदय होता है। जब क्लेश-कर्मसंस्कारों के क्षीण होने के फलस्वरूप विवेकख्याति सुदृढ़ हो जाती है, किसी प्रकार के भी मिथ्याज्ञान से बाधित नहीं होती और निरन्तर सर्वथा विवेकस्याति होती रहती है, तब उसे **'धर्ममेघसमाधि'** की भी संज्ञा दी जाती है। उस स्थिति में योगी जीवित रहते हुए मुक्त रहता है। यही 'जीवन्मुक्ति' है। **१. 'जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति।' (योग.व्या.भा.- 4.3)** सारे क्लेश तथा संचित एवं क्रियमाण कर्मसंस्कार और वासनासंस्कार दग्धबीज हो जाते हैं। केवल प्रारब्ध-कर्मसंस्कार ही अवशिष्ट रह जाते हैं और उन्हीं के फलभोग-पर्यन्त योगी को शरीर धारण किये रहना पड़ता है। उनके पूरा होते ही शरीरपात हो जाता है और 'विदेहमुक्ति' का लाभ हो जाता है। द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान हो जाता है।

2. असम्प्रज्ञातयोग -

अभी तक 'सम्प्रज्ञातयोग' की साधना और उसकी आनुषङ्गिक तथा पार्यन्तिक सिद्धि (कैवल्य) का वर्णन हुआ। एक और योग है, जो 'सम्प्रज्ञात-योग' से भी अधिक उत्कृष्ट है- अब उसका निरूपण किया जा रहा है। 'असम्प्रज्ञातयोग' किसे कहते हैं? **'उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि'** को **'असम्प्रज्ञातयोग'** कहते हैं। असम्प्रज्ञातसमाधि दो प्रकार की होती है-

१. भवप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि ।

२. उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि ।

असम्प्रज्ञातसमाधि का लक्षण क्या है? **'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।' (योग.व्या.भा.- 1.18)** के उत्तरार्द्ध के द्वारा असम्प्रज्ञातसमाधि का लक्षण बताया गया है। ऐसी समाधि जिसमें चित्त की 'सात्त्विकवृत्ति' का भी पूर्ण निरोध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि राजस, तामस और सात्त्विक तीनों प्रकार की वृत्तियाँ इस समाधि में पूर्णतः निरुद्ध हो जाती हैं। केवल निरोध संस्कार ही चित्त में अवशिष्ट रहते हैं। ये संस्कार चित्त के प्रविलय में बाधक नहीं होते और न तो व्युत्थान को ही प्रश्रय देते हैं। ये कैवल्यभागीय होते हैं। इन निरोधात्मक संस्कारों को ही अवशिष्ट रखने वाले पूर्ण वृत्ति-निरोध को **'असम्प्रज्ञातसमाधि'** कहते हैं। इस समाधि में किसी भी प्रकार का बुद्धिकृत ज्ञान बिल्कुल नहीं रहता, न तो इस ज्ञान के संस्कार ही अवशिष्ट बचते हैं। इसीलिये **'असम्प्रज्ञात'** नाम की अर्थवत्ता भी है।

विदेहों और प्रकृतिलीनों को तत्तद्रूप में पहुँचते ही अर्थात् वैसा देवत्व प्राप्त होते ही सकलज्ञानहीन संस्कारमात्रावशिष्ट स्थिति स्वतः प्राप्त हो जाती है। वे जब तक पूर्वकर्मानुसार उन-उन योनियों में बने रहते हैं, तब तक निरन्तर उनके चित्त की वैसी ही संस्कारशेषावस्था बनी रहती है। **'असम्प्रज्ञातसमाधि'** का लक्षण घटित होने के कारण उनकी यह स्थिति **'असम्प्रज्ञातसमाधि'** कही जाती है। उनकी इस समाध्यवस्था को 'भवप्रत्यय' इसलिये कहते हैं कि **'भवः जन्म तत्तद्देवत्वप्राप्तिः, एव प्रत्ययः कारणं यस्य तादृशः समाधिः भवप्रत्ययः असम्प्रज्ञातसमाधिः।'**

किन्तु यहीं पर समझ लेना चाहिये कि यह समाधि विवेकख्यातिपूर्विका समाधि नहीं है। इसलिये इस प्रकार की समाधि की पूर्वावस्था में पुरुषतत्त्व का साक्षात्कार न होने के कारण ज्ञान का अभाव ही था। अतः **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** इस वैदिक सिद्धान्त के अनुसार **'व्यक्ताव्यक्तविज्ञान'** के अभाव में इस समाधि से कैवल्य की सिद्धि असम्भव होती है। योगभाष्यकार ने कहा भी है- **'तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावन्न पुनरावर्तते संस्कारवशाच्चित्तमिति।' (योग. व्या.भा.- 1.19)** । कैवल्यप्रदता से रहित होने के कारण यह असम्प्रज्ञातसमाधि **'योग'** नहीं कही जा सकती ।

मोक्षप्रद असम्प्रज्ञातसमाधि दूसरी वाली है, जिसे **'उपाय-प्रत्यय असम्प्रज्ञात-समाधि'** कहते हैं। इसे **'असम्प्रज्ञातयोग'** कहा जाता है। यह योग किनको प्राप्त होता है ? किन उपायों से प्राप्त होता है? कब प्राप्त होता है ? इसकी उपयोगिता क्या है ? इन प्रश्नों का उत्तर संक्षेप में क्रमशः यह है कि यह योग सम्प्रज्ञात-योग को पूर्णतया सिद्ध करने के फलस्वरूप निर्विप्लव बिवेकख्याति का लाभकर चुकने वाले और उसके आगे भी योगसाधना में रत रहने वाले योगियों को प्राप्त होता है। शङ्का होती है कि कैवल्यप्रद निर्विप्लव विवेकख्याति की प्राप्ति के बाद कौन-सी साधना शेष बचती है, जिसको असम्प्रज्ञातयोग के साधक लोग करते हैं ? इसका समाधान यह है कि विवेकख्याति के समय साधक, पुरुष और बुद्धि दोनों की वास्तविकता जान लेता है। फलतः पुरुष के स्वरूप की अलौकिक शुद्धि, निश्चलता एवं चिन्मात्रता का दर्शन कर चुकने वाला साधक विवेकख्यातिकालिक अत्यन्त सात्त्विक बुद्धि को भी परिणाम-शीलता, चञ्चलता और उधार ली गयी चेतनता- इत्यादि त्रुटियों से युक्त जानकर उसके प्रति विरक्त होता है। यह वैराग्य ऐहिक और आमुष्मिक विषयों के प्रति होने वाले वैराग्य से बहुत ही उत्कृष्ट होता है। क्योंकि यह शुद्धतम बुद्धि के प्रति होता है, इसीलिये इसको 'परवैराग्य' कहते हैं। इस परवैराग्य के अभ्यास से असम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि होती है। इस समाधि में न कोई ध्येय आलम्बन होता है और न किसी प्रकार का बौद्धिक ज्ञान- **१. 'चितिशक्तिरपरिणामिनी शुद्धा चानन्ता च, सत्त्वगुणात्मिका चेयमतो विपरीता विवेकख्यातिरिति अतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्याति निरुणद्धि, तदवस्थं चित्तं संस्कारोपगं भवति, स निर्बीजः समाधिः, न तत्र किन्चित् सम्प्रज्ञायत इत्यसम्प्रज्ञातः।' (योग.व्या.भा.-1.2)** इस प्रकार हम यह देखते हैं कि **'सम्प्रज्ञातयोग'** सिद्ध होने पर ही **'असम्प्रज्ञातयोग'** सिद्ध हो सकता है। असम्प्रज्ञात की सिद्धि विवेकख्याति के प्रति होने वाले परवैराग्य के अभ्यास से ही होती है- **२. 'तस्य परं वैराग्यमुपायः । सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनीक्रियते । तदभ्यासपूर्व चित्तं निरालम्ब-नमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिः।' - (योग.व्या.भा.- 1.19)**

इसीलिये पतञ्जलि असम्प्रज्ञात की सिद्धि तक पहुँचने के लिये उपयोगी सारी अवस्थाओं को एक ही सूत्र में इस प्रकार सङ्कलित करते हैं- **'श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्' (योग.-1.20)**। श्रद्धा के अन्तर्गत वैराग्य और योग के पाँचों अङ्गों का अभ्यास संगृहीत हो जाता है। वीर्य और स्मृति के अन्तर्गत क्रमशः धारणा बौर ध्यान का ग्रहण हो जाता है। समाधि के अन्तर्गत आठवाँ अङ्ग **'समाधि'** और **'सम्प्रज्ञातसमाधि'** आ जाते हैं। प्रज्ञा, विवेकख्याति और विवेकख्याति के उत्तरवर्ती परवैराग्य- दोनों का बोध कराती है, क्योंकि परवैराग्य तो ज्ञान का आनन्त्य या स्वाभाविक प्रतिफल अर्थात् प्रसादमात्र बताया गया है-

'तद् द्वयं वैराग्यं, तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रं ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्।' (योगव्या.भा.- 1.16) असम्प्रज्ञात योग में वृत्तिज्ञान तो बिल्कुल रहता ही नहीं, इसीलिये उसका नाम 'असम्प्रज्ञात' पड़ा है। किन्तु इसमें पुरुषतत्त्व की साक्षात् उपलब्धि होती है। बुद्धि का माध्यमत्व समाप्त हो जाता है। आत्मा की अपरोक्षानुभूति होती है। बौद्धिक ज्ञान की पराकाष्ठा तो सम्प्रज्ञात योग के अन्तर्गत विवेकख्याति में ही हो जाती है। उस सर्वोत्कृष्ट बौद्धिक ज्ञान की भी अशुद्धता और परोक्षता का निश्चय होने पर परवैराग्य के द्वारा अतिक्रमण कर दिया जाता है। इसमें ज्ञान की साधनभूत दर्शन-शक्ति अर्थात् बुद्धि का आश्रय त्याग कर साक्षात् अपरोक्ष चिद्धन **'ज्ञ'** रूप पुरुषतत्त्व अर्थात् आत्मतत्त्व में साधक प्रतिष्ठित होता है। यही 'असम्प्रज्ञातयोग' है। इसी के सुदृढ़ और व्युत्थानरहित हो जाने पर सारे संस्कार जल जाते हैं; निरोधसंस्कारों के साथ चित्त अपनी प्रकृति में लीन हो जाता है और पुरुषमात्र अवशिष्ट रहता है। यही उसका कैवल्य है। भाष्यकार इस विषय में लिखते हैं-

'यस्मादवसिताधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं विनिवर्त्तते; तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपप्रतिष्ठोऽतः शुद्धमुक्त इत्युच्यते ।' - (योग.व्या.भा.- 1.51) ।

स्मरणीय बिंदु -

1.सम्प्रज्ञात योग का स्वरूप - सबीज समाधिः यह वह अवस्था है, जहाँ चित्त पूरी तरह एकाग्र होता है और ध्येय वस्तु का स्पष्ट ज्ञान - सम्प्रज्ञान बना रहता है। इसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद मौजूद रहता है, इसलिए इसे सबीज समाधि भी कहते हैं।

2.सम्प्रज्ञात के चार भेद - वर्गीकरणः महर्षि पतंजलि जी के अनुसार सम्प्रज्ञात योग बुद्धि के चार स्तरों पर घटित होता है - वितर्क (स्थूल वस्तु पर ध्यान), विचार (सूक्ष्म तत्त्वों पर ध्यान), आनन्द (इंद्रियों और अंतःकरण का सुख), और अस्मिता (केवल 'मैं हूँ' का शुद्ध बोध)।

3.असम्प्रज्ञात योग का स्वरूप (निर्बीज समाधि): यह योग की सर्वोच्च अवस्था है, जहाँ सभी चित्तवृत्तियों और संस्कारों का पूर्ण निरोध हो जाता है। इसमें ध्येय वस्तु का ज्ञान भी लुप्त हो जाता है और केवल संस्कार शेष रहते हैं, जिसे निर्बीज समाधि

या कैवल्य - मोक्ष की प्राप्ति कहा जाता है।

15 अंक के प्रश्न -

1. सम्प्रज्ञात योग से आप क्या समझते हैं? इसके चारों भेदों वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनंदानुगत और अस्मितानुगत के स्वरूप की सोदाहरण विस्तृत विवेचना कीजिए।
2. असम्प्रज्ञात योग का स्वरूप क्या है? यह सम्प्रज्ञात योग से किस प्रकार भिन्न है? इसके दोनों भेदों भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय का सविस्तार वर्णन कीजिए।
3. महर्षि पतंजलि योगदर्शन के अनुसार सम्प्रज्ञात योग को सबीज समाधि और असम्प्रज्ञात योग को निर्बीज समाधि क्यों कहा जाता है? इनके दार्शनिक आधार और चित्त की अवस्थाओं का तुलनात्मक विश्लेषण कीजिए।

5 अंक के प्रश्न -

1. सम्प्रज्ञात योग की परिभाषा लिखिए और स्पष्ट कीजिए कि इसमें कौन सी चित्तवृत्तियाँ शेष रहती हैं?
2. असम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति के लिए विरामप्रत्ययाभ्यास और परवैराग्य की क्या भूमिका है? संक्षेप में समझाइए।
3. वितर्क और विचार अनुगत सम्प्रज्ञात समाधि में मुख्य अंतर क्या है? स्थूल और सूक्ष्म आलम्बन के आधार पर स्पष्ट कीजिए।
4. भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि किसे प्राप्त होती है? विदेह और प्रकृतिलय पुरुषों के संदर्भ में इसका स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार सम्प्रज्ञात समाधि के कितने भेद हैं?

(क) दो

(ख) चार

(ग) छह

(घ) आठ

2. योगसूत्र के अनुसार असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति का मुख्य आंतरिक साधन क्या है?

(क) अपर वैराग्य

(ख) पर वैराग्य

(ग) प्राणायाम

(घ) यम और नियम

3. जहाँ केवल चित्त के संस्कार मात्र शेष रह जाते हैं और समस्त वृत्तियों का सर्वथा निरोध हो जाता है, वह कौन सी समाधि है?

(क) सम्प्रज्ञात समाधि

(ख) सवितर्क समाधि

(ग) असम्प्रज्ञात समाधि

(घ) आनन्दमुगत समाधि

4: ''विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः'' सूत्र में 'अन्यः' शब्द किस समाधि के लिए प्रयुक्त हुआ है?

(क) असम्प्रज्ञात समाधि

(ख) सम्प्रज्ञात समाधि

(ग) सविचार समाधि

(घ) धर्ममेघ समाधि

5: स्थूल विषयों जैसे - पंचमहाभूत या इन्द्रियों पर चित्त को एकाग्र करने से कौन सी सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है?

(क) विचारानुगत

(ख) अस्मितानुगत

(ग) आनंदानुगत

(घ) वितर्कानुगत

इकाई- 1.4 चित्त की भूमियाँ या स्थितियाँ

उद्देश्य -

• **मानसिक स्तरों का वर्गीकरण करना:** साधक को यह समझाना कि सत्व, रज और तम गुणों के प्रभाव के कारण मनुष्य का मन किस प्रकार पांच अलग-अलग अवस्थाओं में व्यवहार करता है।

• **योग के योग्य भूमियों की पहचान करना:** साधक का ध्यान इस बात पर केंद्रित करना कि केवल एकाग्र और निरुद्ध भूमियाँ ही वास्तविक योग अर्थात् समाधि के लिए उपयुक्त और सहायक हैं।

• **चंचलता से स्थिरता की ओर ले जाना:** साधक के चित्त को शुरुआती अस्थिर अवस्थाओं - क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त से उठाकर उच्च आध्यात्मिक अवस्थाओं की ओर बढ़ने का मार्ग प्रशस्त करना।

पातञ्जल योगदर्शन के प्रथम समाधि पाद के प्रथम सूत्र (अथ योगानुशासनम्) के भाष्य में महर्षि व्यास योग का अर्थ समाधि करते हुए कहते हैं कि वह समाधि चित्त की सभी भूमियों में रहने वाला धर्म है।

योगः समाधिः । स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः । (योग.व्या.भा.-1.1)

पश्चात् पांच प्रकार की चित्त भूमियों का वर्णन करते हैं-

क्षिप्तं, मूढं, विक्षिप्तमेकाग्रं, निरुद्धमिति चित्तभूमयः । (योग.व्या.भा.-1.1)

चित्त की क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त एकाग्र व निरुद्ध नामक पाँच भूमियाँ हैं।

1. क्षिप्तभूमि- 'रजसा विषयेष्वेव वृत्तिमत्'- अर्थात् रजोगुण के उद्रेक के कारण विषयों में ही व्यापारयुक्त रहने वाली चित्त की अवस्था 'क्षिप्त' भूमि है।

जिस अवस्था में चित्त विविध विषयों में तीव्रता से भ्रमण करता है उस अवस्था को क्षिप्त कहते हैं। इस अवस्था में रजोगुण की प्रधानता होती है तथा सत्वगुण व तमोगुण गौण रहते हैं। इस भूमि की समाधि योग की कोटि में नहीं आती है।

2. मूढ़भूमि- 'तमसा निद्रादिवृत्तिमत्'- अर्थात् तमोगुण के उद्रेक के कारण मूर्च्छादिव्यापारवान् चित्त की स्थिति 'मूढ़' भूमि कही जाती है।

चित्त की जिस अवस्था में जीवात्मा का कोई विशेष ज्ञान नहीं होता है। जैसे-निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, मूर्छा आदि उसे मूढ़ अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में तमोगुण प्रधान तथा सत्वगुण व रजोगुण गौण रहते हैं। इस भूमि की समाधि भी योग की कोटि में नहीं आती हैं।

3. विक्षिप्तभूमि- 'क्षिप्ताद्विशिष्टं विक्षिप्तं, सत्त्वाधिक्येन समादधदपि चित्तं रजोमात्रयाऽन्तराऽन्तरा विषयान्तरवृत्तिमद्'-अर्थात क्षिप्तादिभूमि से कुछ बेहतर या अच्छी भूमि। इसमें सत्वगुणाधिक्य रहता है। इसमें किञ्चितकालपर्यन्त समाधि लगने पर भी रजोगुण के जोर मारते रहने के कारण बीच-बीच में अन्य विषयों की ओर चित्त दौड़ जाता है। चित्त की यह अवस्था उसकी 'विक्षिप्त' नामक भूमि कही जाती है।

जिस अवस्था में साधक अपने चित्त को किसी विशेष विषय पर एकाग्र करने का प्रयास करता है जिससे चित्त में कुछ एकाग्रता आती है परन्तु वह स्थिती किसी बाधक कारण (जैसे- तीव्र शब्द, स्पर्श व गन्ध आदि बाह्य कारण अथवा स्मृति, आलस्य, निद्रा, तन्द्रा, संशय आदि आन्तरिक कारण) से भंग हो जाती है उस अवस्था को विक्षिप्त भूमि कहते हैं। इस अवस्था में सत्वगुण प्रधान तथा तमोगुण गौण होता है तथा कभी-कभी मध्य में रजोगुण प्रकट होता रहता है।

''तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः। समाधिर्न योगपक्षे वर्तते।'' (योग.व्या.भा.-1.1)

अर्थात् 'विक्षिप्त' भूमिकचित्तगत समाधि को योग की श्रेणी में नहीं गिना जा सकता, क्योंकि उसमें सर्वथा सुलभ विक्षेपों के कारण समाधि बार-बार गौण हो जाती है। यहीं उसका उपसर्जनीभाव या गौणत्व है। इसलिए इस काल की समाधि को योग नहीं कहा जाता।

4. एकाग्रभूमि- जिस अवस्था में साधक अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा अथवा क्रियायोग द्वारा (तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान) अपने चित्त को योग के लिए अपेक्षित किसी एक विषय में अधिकारपूर्वक बहुत काल पर्यन्त स्थिर कर लेता है उसे एकाग्र अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में सत्वगुण प्रधान तथा रजोगुण व तमोगुण गौण रहते हैं। इस भूमि की समाधि को सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

''यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति, स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायते। (योग.व्या.भा.-1.1)

अर्थात् जो समाधि एकाग्र भूमि वाले चित्त में होती है, विद्यमान पदार्थ को यथार्थ रूप में प्रकाशित करती है, क्लेशों को क्षीण करती है, कर्मबन्धनों को शिथिल करती है तथा निरुद्धावस्था की ओर अभिमुख करती है अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि को सम्मुख लाती है, वह सम्प्रात समाधि कहलाती है।

यह चार प्रकार की होती है-

1. वितर्कानुगत, 2. विचारानुगत, 3. आनन्दानुगत, 4. अस्मितानुगत

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः सूत्र में सर्व शब्द का ग्रहण न करने से भाष्यकार महर्षि व्यास के अनुसार चित्त की एकाग्र भूमि में होने वाली समाधि भी योग की कोटि में आती है।

''सर्वशब्दाग्रहणात्संप्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते।'' (योग. व्या.भा.-1.2)

5. निरुद्धम्- **''निरुद्धं च निरुद्धसकलवृत्तिकं संस्कारमात्रशेषमित्यर्थः।''** अर्थात् जिस अवस्था में चित्त की तामस और राजस वृत्तियों के साथ-साथ सात्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है, केवल संस्कारमात्र चित्त में रहते हैं, उसे निरुद्ध भूमि कहते हैं।

एकाग्र अथवा सम्प्रज्ञात समाधि की दशा में योगी आत्मा और चित्त के भेद का साक्षात् कर लेता है। वह इस तथ्य को स्पष्ट रूप में आन्तर प्रत्यक्ष से जान लेता है, कि प्राप्त विषयों के अनुरूप चित्त का परिणाम होता रहता है, परन्तु आत्मा ऐसा नहीं है। विषयाकार परिणत चित्त आत्मा के साथ सम्बद्ध रहने से उस विषय को आत्मा तक पहुँचाता है, चेतन होने से आत्मा उसका केवल अनुभव करता है, अपरिणामी होने के कारण उसमें विषयाकार परिणाम होने की सम्भावना नहीं। इस रूप में आत्मा और चित्त के भेद का सम्प्रज्ञात योगी को साक्षात् ज्ञान हो जाता है, इसी का नाम **'विवेकख्याति'** है। परन्तु यह अवस्था त्रिगुण का परिणाम होने से सुख-दुःख-मोहरूप है, इसलिए परित्याज्य है एवं परिणामी होने से इसका अन्त हो जाना है, अर्थात् वह विवेक ख्याति निरन्तर बनी नहीं रह सकती। आत्मतत्त्व निश्चित ही इससे विपरीत रहता है। ऐसा बोध होने पर योगी को उस विवेकख्याति की ओर से भी वैराग्य की भावना जागृत होती है। और उसके निरोध के लिए वह अग्रसर हो जाता है। निरोध की अवस्था में पहुँचकर चित्त की ऐसी अवस्था हो जाती है कि संस्कारों के विद्यमान रहते भी उनको उद्बुद्ध करने में वह अक्षम रहता है। यही चित्त की निरुद्ध अवस्था है।

इस दशा में पहुँचकर चित्त और आत्मा के अथवा प्रकृति और पुरुष के भेद का ज्ञान [विवेकख्यातिरूप] भी पीछे रह जाता है। सुख-दुःख आदि के बीज कर्माशय [संस्कार-समूह] हैं, जो जन्म, आयु और भोग के रूप में प्राप्त होते रहते हैं। प्रस्तुत अवस्था में कर्माशय दग्ध हो जाते हैं, उनका बीजभाव अन्तर्हित हो जाता है, इसी कारण इस अवस्था को निर्बीज समाधि कहा जाता है। आत्मबोध के अतिरिक्त इस अवस्था को निर्बीज समाधि कहा जाता है। आत्मबोध के अतिरिक्त इस अवस्था में अन्य किसी विषय का किसी प्रकार का ज्ञान न होने से योगियों के सम्प्रदाय में इस इस अवस्था का नाम 'असम्प्रज्ञात' समाधि है। फलतः योग 'सम्प्रज्ञात' और 'असम्प्रज्ञात' रूप में दो प्रकार का होता है। इन दोनों में भेद केवल इतना है कि पहली दशा में संस्कार उद्बुद्ध होते रहते हैं, जबकि दूसरी में वे निःशेष हो जाते अर्थात् चित्त में केवल निरोध संस्कारमात्र शेष रहते हैं।

स्मरणीय बिंदु -

1. चित्त की भूमियों का अर्थ - मानसिक अवस्थाएं: चित्त की भूमियों से तात्पर्य मनुष्य के मन की विभिन्न अवस्थाओं और प्रवृत्तियों से है। सत्व, रज और तम गुणों के उतार-चढ़ाव के कारण प्रत्येक व्यक्ति का चित्त हर समय किसी न किसी विशेष मानसिक स्थिति में रहता है।

2. चित्त की ५ भूमियाँ - वर्गीकरण: महर्षि व्यास के अनुसार चित्त की पाँच भूमियाँ होती हैं - क्षिप्त (अत्यंत चंचल या रजोगुण ी), मूढ़ (अज्ञानी, आलसी या तमोगुणी), विक्षिप्त (कभी स्थिर, कभी चंचल एवं सत्व-प्रधान), एकाग्र (एक ही ध्येय पर टिकना तथा शुद्ध सत्व), और निरुद्ध (सभी वृत्तियों का रुक जाना)।

3. योग के लिए उपयोगी भूमियाँ - अंतिम दो स्थितियां: प्रथम तीन भूमियाँ - क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त योग साधना के लिए उपयुक्त नहीं मानी जाती हैं। केवल एकाग्र भूमि में सम्प्रज्ञात योग और निरुद्ध भूमि में वास्तविक समाधि - असम्प्रज्ञात योग घटित होता है

15 अंक के प्रश्न -

1. चित्त की भूमियों से क्या अभिप्राय है? महर्षि व्यास के अनुसार चित्त की पाँचों भूमियों क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध का सविस्तार वर्णन कीजिए।
2. चित्त की पाँच भूमियों का सत्त्व, रज और तमरूपी त्रिगुणों के साथ क्या संबंध है? प्रत्येक भूमि में किस गुण की प्रधानता होती है, तार्किक विश्लेषण कीजिए।
3. ''चित्त की सभी भूमियों में योग संभव नहीं है।'' इस कथन के आलोक में स्पष्ट कीजिए कि चित्त की कौन सी भूमियाँ योग के लिए अनुपयुक्त हैं और किन भूमियों में सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है?

5 अंक के प्रश्न -

1. क्षिप्त और मूढ़ चित्त भूमि में क्या अंतर है? इन अवस्थाओं में व्यक्ति का व्यवहार कैसा होता है?
2. विक्षिप्त चित्त भूमि का स्वरूप स्पष्ट कीजिए। यह भूमि क्षिप्त से किस प्रकार श्रेष्ठ है और इसमें योग क्यों नहीं ठहरता?

3. एकाग्र और निरुद्ध भूमियों का संक्षेप में परिचय दीजिए। समाधि की प्राप्ति में इनका क्या महत्व है?
4. चित्त की किस भूमि में सत्त्वगुण पूर्णतः शुद्ध और प्रधान रूप में होता है? उस स्थिति में चित्त की क्या गति होती है?

बहुविकल्पीय प्रश्न –

1. योगसूत्र के व्यास भाष्य के अनुसार चित्त की कुल कितनी भूमियाँ या अवस्थाएँ मानी गई हैं?
(क) तीन
(ख) चार
(ग) पाँच
(घ) सात

2. अत्यधिक चंचल और रजोगुण प्रधान चित्त की अवस्था को क्या कहा जाता है?
(क) क्षिप्त
(ख) मूढ़
(ग) विक्षिप्त
(घ) निरुद्ध

3. तमोगुण की प्रधानता के कारण आलस्य, निद्रा और अज्ञान से ग्रसित चित्त की भूमि कौन सी है?
(क) विक्षिप्त
(ख) मूढ़
(ग) एकाग्र
(घ) क्षिप्त

4. सम्प्रज्ञात योग या सबीज समाधि चित्त की किस भूमि में घटित होती है?
(क) विक्षिप्त
(ख) मूढ़
(ग) एकाग्र
(घ) निरुद्ध

5. समस्त चित्तवृत्तियों के रुक जाने पर संस्कार मात्र शेष रहने पर चित्त की कौन सी भूमि सिद्ध होती है?
(क) एकाग्र
(ख) निरुद्ध
(ग) विक्षिप्त
(घ) क्षिप्त

खण्ड-2 समाधिपाद
इकाई-2.1 चित्त की वृत्तियाँ

उद्देश्य -

• **विचारों की प्रकृति को वर्गीकृत करना:** साधक को यह समझाना कि मन में उठने वाले असीम विचार केवल पांच श्रेणियों - प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति के अंतर्गत ही आते हैं।

• **क्लिष्ट और अक्लिष्ट का भेद बताना:** मन के विचारों को दो भागों में बांटना - वे जो दु:ख और बंधन लाते हैं - क्लिष्ट और वे जो मुक्ति व योग मार्ग में सहायक होते हैं - अक्लिष्ट।

• **वृत्तियों के निरोध का मार्ग तैयार करना:** साधक को मानसिक भटकाव के मूल कारणों से अवगत कराना जिससे वह अभ्यास और वैराग्य द्वारा इन्हें रोकने की दिशा में आगे बढ़ सके।

वृत्तय: पञ्चतय्य: क्लिष्टाक्लिष्टा: ॥ 5 ॥

सूत्रार्थ- वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं, दु:खों को उत्पन्न करने वाली क्लिष्ट और दु:खों को नष्ट करने वाली अक्लिष्ट अर्थात् सुखों को उत्पन्न करने वाली।

व्याख्या-''क्लेशहेतुका: कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूता: क्लिष्टा:। ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टा:।'' (योग. व्या. भा.-1.5)- अर्थात् जिन वृत्तियों के अविद्या आदि क्लेश कारण हैं तथा जो पापकर्म और शुभ सकाम कर्मों को उत्पन्न करती हैं वे क्लिष्ट वृत्तियाँ हैं (अर्थात् जो बंधनकारक होती हैं) । जो वृत्तियाँ विवेकख्याति को उत्पन्न करती हैं और गुणों के जन्म देने के सामर्थ्य को नष्ट करती हैं वे अक्लिष्ट वृत्तियाँ हैं (जो अर्थात् सुखप्रद होती हैं)।

दु:ख को उत्पन्न और नष्ट करनेवाली वृत्तियाँ पाँच भागों में विभाजित हैं। **'क्लिष्ट'** और **'अक्लिष्ट'** पदों से सूत्रकार ने वृत्तियों के साधारण स्वरूप का निर्देश किया है। वृत्ति किसी भी वर्ग के अन्तर्गत हों, वे सत्व आदि गुणों के गौण-प्रधानभाव से दु:ख और सुख दोनों को उत्पन्न करने वाली होती हैं। वृत्तियों के पाँच वर्गों में ऐसी व्यवस्था नहीं है कि कोई अमुक वर्ग सुख का एवं कोई नियत वर्ग केवल दु:ख का जनक हो। प्रत्येक वर्ग सत्वादि-गुणानुसार दु:खों को उत्पन्न और उनका विनाश किया करते हैं।

सूत्रकार ने आगे (योग.-2.3) अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश को **'क्लेश'** बताया है। ये अविद्या आदि क्लेश जिन वृत्तियों के हेतु अर्थात् कारण होते हैं, वे वृत्तियाँ **'क्लिष्ट'** कही जाती हैं। अविद्या आदि क्लेशों के सहयोग से इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्तिरूप वृत्तियाँ दु:ख आदि को उत्पन्न करती हैं। जिन वृत्तियों के हेतु अविद्या आदि क्लेश नहीं हैं, प्रत्युत आध्यात्मिक भावनाओं से प्रेरणा पाकर इन्द्रिय-वृत्तियाँ उभरती हैं, वे **'अक्लिष्ट'** हैं एवं दु:ख आदि को उत्पन्न करने के बजाय वे उनके नाश करने में सहयोगी होती हैं। ये वृत्तियाँ अभ्यासी योगी को विवेकख्याति की ओर अग्रसर करती हैं एवं उसके लक्ष्य मुक्ति तक पहुँचा देती हैं।

प्रारब्ध संस्कारों से वृत्तियाँ और उन वृत्तियों से आगे अन्य संस्कार उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार अनादिकाल से वृत्ति-संस्कारचक्र निरन्तर चल रहा है। वृत्तियों के उत्पन्न करने में चित्त-सहयोग की क्षमता का उस समय अवसान हो जाता है जब आत्म-साक्षात्कार के अनन्तर आत्मा स्वरूप (अपने चैतन्यमात्र रूप) में अवस्थित हो जाता है। चालू देहपात के अनन्तर अनपेक्षित चित्त अपने कारणों में लीन हो जाता है ॥ 5 ॥

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय: ॥ 6 ॥

सूत्रार्थ- प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ हैं। इन पाँचों वृत्तियों के क्लिष्ट और अक्लिष्ट रूप में दो-दो भेद करने पर दस भेद होते हैं। जिनका लक्षण अगले सूत्रों में बतलाया जाएगा।

व्याख्या- कभी-कभी योगाभ्यासी को उपासना काल में ऐसा भ्रम हो जाता है कि अब मेरी समस्त वृत्तियाँ रुक गई हैं। यदि ध्यान से देखा जाय तो उस अवस्था में वृतियाँ रुकी नहीं होती हैं। इस भ्रान्ति का मुख्य कारण यही है कि व्यक्ति वृत्तियाँ रूकी नहीं होती हैं। इस भ्रान्ति का मुख्य कारण यही है कि व्यक्ति वृत्तियों के नाम और लक्षण को ठीक प्रकार से नहीं जानता। ध्यान करते समय व्यक्ति को कभी निद्रा आ जाती है तब वृत्तियों के स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण उस अवस्था को वह वृत्तियों का निरोध मान लेता है। जब योगाभ्यास में वृत्तियों के कारण बाधा आती है तो वृत्तियों के स्वरूप का ज्ञान होने पर उसको यह पता चलता है कि अमुक वृत्ति के कारण बाधा आयी है। पाँच वृत्तियों के नाम और लक्षणों को जानने वाला इन पाँचों को रोकने के पश्चात् निश्चिन्त हो जाता है और यह अनुभव करता है कि अब मेरी सभी वृत्तियों का निरोध हो गया है और मैं योग की वास्तविक स्थिति में पहुँच गया हूँ ॥ 6 ॥

1. प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति-

प्रत्यक्षानुमानागमा: प्रमाणानि ॥ 7 ॥

सूत्रार्थ- प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम यह 'प्रमाण वृत्ति' का स्वरूप है। अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम-शब्द प्रमाण, यह 'प्रमाण वृत्ति' है।

व्याख्या- (1) प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति- ''इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्।'' अर्थात् इन्द्रियप्रणाली के द्वारा चित्त का बाह्यवस्तु से सम्पर्क होने के कारण उस विषय वाली प्रधानता से समान्य विशेषात्मक पदार्थ के विशेष धर्म का निश्चय करने वाली वृत्ति **'प्रत्यक्ष प्रमाण'** है।

चक्षु-इन्द्रिय द्वारा जो घटादि विषय का उपराग (प्रतिबिम्ब) चित्त तक पहुँचता है वह वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है। उससे पुरुष को जो बोध होता है, उसका नाम **'प्रत्यक्ष प्रमा'** है। प्रत्यक्ष प्रमा का साधन **'चित्तवृत्ति'** प्रत्यक्ष प्रमाण है। आत्मा को जो विषय का बोध होता है वह दो प्रकार का है- एक सामान्य, दूसरा विशेष। जो धर्म समानरूप से अनेक पदार्थों में रहता है, उसका उतने-मात्ररूप में ज्ञान होना **'सामान्य ज्ञान'** है। किसी एक वस्तु या धर्म का उसके विशेष आकार-प्रकार सहित रंग-रूप आदि का व्यक्तिरूप में जो ज्ञान होता है, वह **'विशेष ज्ञान'** कहा जाता है। प्रत्यक्षवृत्ति, सामान्य का ग्रहण करने के साथ-साथ विशेष का ग्रहण भी करती है। चक्षु इन्द्रिय से जिस घट आदि पदार्थ को देखा जा रहा है, यह चाक्षुष चित्तवृत्ति घट आदि के विशेष धर्मो को भी अपना ग्राह्यविषय बनाती है। ये विशेष धर्म उस वस्तु को अन्य वस्तुओं से भिन्न सिद्ध करने में समर्थ होते हैं। तात्पर्य है-कोई भी विशेष धर्म अपने अपने धर्मी के भेद का साधक होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रधानता का यही आधार है कि उसके द्वारा वस्तुतत्त्व का विशेषज्ञान होता है। अनुमान आदि अन्य प्रमाणों से वस्तु का केवल सामान्यज्ञान हुआ करता है। योगी अपनी चरम अवस्था में पहुँचकर अतीन्द्रिय एवं अतीत-अनागत सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष कर सकता है ।। 7 ।।

उदाहरण-

(१) क्लिष्ट स्वरूप- एक व्यक्ति कड़वी कुनीन की गोलियाँ खाकर दुःख का अनुभव करता है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति का 'क्लिष्ट स्वरूप' है।

(२) अक्लिष्ट स्वरूप- प्रत्यक्ष प्रमाण एक व्यक्ति स्वादिष्ट भोजन खा कर सुख का अनुभव करता है । यह प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति का 'अक्लिष्ट स्वरूप' है।

(2) अनुमान प्रमाण वृत्ति- ''अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः संबन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्।''- अर्थात् अनुमेय के तुल्यजातीय वस्तु में अनुवृत्त और भिन्नजातीय वस्तु से व्यावृत्त जो सम्बन्ध है, उसको विषय बनाने वाली, पदार्थ के सामान्य धर्म को प्रधान रूप से बतलाने वाली वृत्ति 'अनुमान प्रमाण' है। जो धर्म समानजातीय धर्मी में आवश्यक रूप से रहता है तथा भिन्नजातीय धर्मी में नहीं रहता, ऐसा दृष्टिगत धर्म अपनी व्यवहित (दिखाई न देते हुए) धर्मी का बोध करा देता है। ऐसे धर्म को दार्शनिक परिभाषा में 'लिङ्ग' तथा धर्मी को 'लिङ्गी' कहा जाता है। **'लीनं अन्तर्हितं अर्थं गमयति बोधयति इति लिङ्गम्।'** छिपे हुए अर्थ (वस्तुतत्त्व) का बोध कराने वाला धर्म लिङ्ग तथा जो छिपा हुआ अर्थ बोधित हो वह लिङ्गी कहा जाता है। लिङ्ग और लिङ्गी का परस्पर अव्यभिचरित सम्बन्ध होना आवश्यक है।

जैसे- किसी व्यक्ति को दूर से धुआँ दिखाई देता है वह जानता है कि धुआँ आग के बिना नहीं हो सकता। सीधी रेखा के रूप में उठता हुआ धुआँ दिखाई देने से वह व्यक्ति जिज्ञासा होने पर छिपी हुई आग का अनुमान कर लेता है। उसका वह ज्ञान यथार्थ होता है। वहाँ पहुँचने पर व्यवधान न रहने से वह आग को प्रत्यक्ष से देख लेता है।

उदाहरण-

(१) क्लिष्ट स्वरूप- एक कुत्ता हमें काटने के लिये तीव्र गति से दौड़ता हुआ आ रहा है, ऐसा अनुमान करके दुःख का अनुभव होता है। यह 'क्लिष्ट अनुमानप्रमाण वृत्ति' है।

(२) अक्लिष्ट स्वरूप- सामने एक व्यक्ति हमें दिख रहा है, जो हमें कुछ पुरस्कार देने वाला है, ऐसा अनुमान करके सुख का अनुभव होता है। यह 'अक्लिष्ट अनुमानप्रमाण वृत्ति' है।

(3) आगम प्रमाण वृत्ति- ''आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः।'' अर्थात् आप्त के द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से जाना हुआ पदार्थ या विषय है, दूसरे को देने के लिए शब्द के द्वारा उपदेश किया जाता है। आप्त के उस शब्द से श्रोता की पदार्थ विषयक जो वृत्ति है वह श्रोता के लिए 'आगम प्रमाण' है।

जब व्यक्ति प्रत्यक्ष या अनुमान से किसी वस्तु को जान लेता है और उसका वह ज्ञान यथार्थ होता है, तब उस जानकारी के विषय में उस व्यक्ति को **'आप्त'** माना जाता है। 'आप्त' पद का साधारण अर्थ है- वस्तु का यथार्थ ज्ञाता। ऐसा आप्त व्यक्ति जब अपने जाने हुए अर्थ का अन्य व्यक्ति को बोध कराने के लिए उपदेश देता है, अर्थात् उस जानकारी का उपयुक्त शब्दों द्वारा-अन्य व्यक्ति को बोध कराने की भावना से कथन करता है, तब उसे **'आगम प्रमाण'** कहा जाता है। इसी को **'शब्द प्रमाण'** कहते हैं। इसमें श्रोता को जिस वस्तु का बोध होता है, वह **'आगम प्रमा'** तथा वक्ता की कथनपूर्वक वह चित्तवृत्ति 'आगम प्रमाण' है।

अन्य 'अक्लिष्ट' चित्तवृत्तियों के समान 'आगमवृत्ति' भी योगी के मार्ग को निर्बाध एवं प्रशस्त बनाती है। गुरु के आध्यात्मिक उपदेशों तथा अध्यात्मसम्बन्धी स्वाध्याय के रूप में इसका अनुकूल उपयोग होता है। आचार्यो ने बताया है-

''स्वाध्यायाद्योगमासीत योगातस्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥''

स्वाध्याय के अनन्तर योग एवं योग के अनन्तर स्वाध्याय के अनुष्ठान करते रहने से परमात्मा प्रकाशित हो जाता है। आत्मज्ञान होने में योगाभ्यास और स्वाध्याय परम साधन हैं। आगम प्रमाण के विषय में यह आवश्यक है कि उसका मूलप्रवक्ता पूर्ण आप्त होना चाहिए। अश्रद्धेय अर्थ का प्रवक्ता न आप्त है और न उसका कहा वाक्य **'आगम प्रमाण'** है।

उदाहरण-

(१) क्लिष्ट स्वरूप- वेद में किसी को यह पढ़कर दु:ख हुआ कि जो लोग पाप करते हैं, उन्हें पशु-पक्षी आदि योनियों में अपने पापों का दण्ड दु:ख के रूप में, भोगना पड़ता है। यह शब्द प्रमाण वृत्ति का 'क्लिष्ट स्वरूप' है।

(२) अक्लिष्ट स्वरूप- वेद में ऐसा पढ़कर हमें सुख हुआ कि ईश्वर का प्रत्यक्ष करके व्यक्ति को मोक्ष हो जाता है। यह शब्द प्रमाण वृत्ति का 'अक्लिष्ट स्वरूप' है।

2. विपर्यय वृत्ति- विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ 8 ॥

सूत्रार्थ- **'विपर्यय वृत्ति'** मिथ्याज्ञान है, जो पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित नहीं करता है।

व्याख्या- मिथ्याज्ञान को विपर्यय कहते हैं। मिथ्याज्ञान वह चित्तवृत्ति है, जो पुरोवर्ती वस्तुतत्व के रूप में प्रतिष्ठित नही होती। अन्ध कार आदि दोष के कारण पुरोवर्ती रस्सी को सांप समझना मिथ्याज्ञान है। सांप विषय चित्तवृत्ति पुरोवर्ती वस्तुतत्व-रस्सी के रूप में व्यवस्थित नहीं है अत: यह चित्तवृत्ति प्रस्तुत शास्त्र में **'विपर्यय'** नाम से जानी जाती है। इसी प्रकार सीप में चाँदी विषय चित्तवृत्ति, बालुकणों में जलविषयक, देह तथा इन्द्रिय आदि में आत्मविषय चित्तवृत्ति का नाम 'विपर्यय' है।

रज्जु को सर्प तथा सीप को चाँदी समझकर जैसे वहाँ से निवृत्ति या प्रवृत्ति किसी अनुकूल फल की साधन नहीं होती, इसी प्रकार देह इन्द्रिय आदि को आत्मा समझकर आत्मबुद्धि से उनकी तुष्टि में लगे रहना, न केवल अध्यात्म मार्ग में किसी वांछनीय फल के अनुकूल या फल का साधक नही होता है, प्रत्युत ऐसी चित्तवृत्ति योगमार्ग में प्रबल बाधक रहती है। अत: योगाभ्यासी के लिए ऐसी चित्तवृत्ति का निरोध अपेक्षित होने के कारण उसका विवरण प्रस्तुत किया गया है।

संशयात्मक चित्तवृत्ति को विपर्यय के अन्तर्गत समझना चाहिए, क्योंकि इसमें वस्तु का यथार्थज्ञान नहीं होता। **'यह सीप है या चाँदी?'** इस प्रकार का संशयात्मकज्ञान यथार्थ ज्ञान नही है। यद्यपि संशयज्ञान द्विकोटिक तथा मिथ्याज्ञान व तत्त्वज्ञान एककोटिकज्ञान होते हैं तथापि एककोटिक मिथ्याज्ञान पुर्ववर्ती वस्तु में जैसे **'अतत्प्रतिष्ठ'** है, ऐसे ही संशयात्मक ज्ञान भी। इसी समानता से संशय को विपर्यय के अन्तर्गत समझना चाहिए। विपर्यय अथवा मिथ्याज्ञान का अन्य एक नाम **'अविद्या'** भी है।

सूत्रकार ने स्वयं आगे **''अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशा: पञ्चक्लेशा:।'' (योग.-2.3)** अविद्या के स्वरूप का निरूपण किया है। इसीप्रकार भाष्यकार महर्षि वेदव्यास जी ने भी इसी सूत्र के भाष्य में इसके पाँच पर्व (भाग) बताये हैं । **''सेयं पञ्चपर्वा भवत्यविद्या, अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशा: क्लेशा इति।'' (योग.व्या.भा.-1.5)** - अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिन्नवेश। शास्त्रीय परिभाषा में इन्हीं का नाम यथाक्रम - तम, महामोह, तामिस्र एवं अन्धतामिस्र है ॥ 8 ॥

उदाहरण-

(१) क्लिष्ट स्वरूप- एक व्यक्ति ने हल्के प्रकाश में रस्सी को साँप समझ लिया। उससे वह बहुत भयभीत और दु:खी हो गया। यह 'क्लिष्ट विपर्यय वृत्ति' है।

(२) अक्लिष्ट स्वरूप- एक व्यक्ति रस्सी ढूँढ रहा हो, उसने कुछ हल्के प्रकाश में साँप को रस्सी मान लिया और बहुत प्रसन्न हुआ, कि रस्सी मिल गई। यह 'अक्लिष्ट विपर्यय वृत्ति' है ।

3. विकल्प वृत्ति- शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प: ॥ 9 ॥

सूत्रार्थ- शब्द से उत्पन्न जो ज्ञान, उसका अनुगमन करना जिसका स्वभाव है और जो वस्तु से रहित है, वह **'विकल्पवृत्ति'** कहलाती है।

व्याख्या- किसी शब्द के उच्चारण और उससे होने वाले शब्दज्ञान के अनुसार उसके (शब्द व शाब्दज्ञान के) प्रभाव से सुननेवाले व्यक्ति के चित्त में उभरनेवाली वृत्ति को **'विकल्प'** कहते हैं परन्तु जिस आधार (विषय) के सहारे वह शब्द या शब्दसमूह कहा गया है, उसका सदा ही वहाँ अभाव होना आवश्यक है। वाच्य रूप से आधारित विषय वस्तुतत्त्वरूप में वहाँ कभी न रहने पर भी तद्विषयक उच्चरित शब्द और उससे होनेवाले ज्ञान के प्रभाव से श्रोता के चित्त में एक वृत्ति का उद्भव हो जाता है। यह व्यवहार

साधारणरूप से लोक में बराबर होता रहता है।

(1) अभेद में भेद व्यवहार- अभेद में भेद व्यवहार का शास्त्रीय उदाहरण दिया जाता है- **'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्'।** पुरुष का स्वरूप चैतन्य है। भेद व्यवहार सदा विशेष्यविशेषण भावमूलक होता है। षष्ठी विभक्ति का प्रयोग दो के सम्बन्ध का द्योतक है। **'पुरुषस्य चैतन्यम्'** इस प्रयोग में **'पुरुष'** विशेष्य और **'चैतन्य'** विशेषण है। पुरुष धर्मी में चैतन्य विशेषता का कथन उक्त वाक्य द्वारा किया जाता है। वस्तुतः 'चैतन्य' पुरुष से अतिरिक्त तत्त्व नहीं है। चैतन्य ही पुरुष है। 'पुरुष' और 'चैतन्य' के अभिन्न होने पर भी भेद की कल्पना से उक्त व्यवहार होत है, जिस भेद का यहाँ सर्वथा अभाव है। भेद से सून्य होने पर भी स्वीकृत व्यवहारमूलक शब्द के प्रभाव से भेद के आभास को अभिव्यक्त करती हुई यह चित्तवृत्ति **'विकल्प'** है।

(2) भेद में अभेद व्यवहार- भिन्न में अभेद की कल्पना का उदाहरण **'पानी से हाथ जल गया'** है। पानी और जलानेवाला ध र्मी आग परस्पर सर्वथा भिन्न तत्व हैं। पानी के साथ संश्लिष्ट आग चक्षु द्वारा दृष्ट नहीं होता, पानी स्पष्ट दीखता है। पानी के साथ स्पर्श होने से हाथ जल जाने पर व्यक्ति के द्वारा परस्पर भिन्न भी पानी और आग में अभेद की कल्पना कर ली जाती है। इसका प्रयोजन है पानी और आग के अभेद को अभिव्यक्त करना, जिसका वस्तुतः वहाँ सर्वथा अभाव है। इस प्रकार की चित्तवृत्ति में यही वस्तुशून्यता है, तथा शब्दज्ञानमात्र के प्रभाव से 'पानी द्वारा हाथ जल गया' यह प्रयोग व बोध हुआ करता है ।। 9 ।।

उदाहरण-

(१) क्लिष्ट स्वरूप- किसी ने ऐसा सुनकर दुःख का अनुभव किया कि आज सायंकाल एक बन्ध्या का पुत्र हमें बहुत पीटेगा। यह 'क्लिष्ट विकल्प वृत्ति' है।

(२) अक्लिष्ट स्वरूप- किसी ने सुना कि आज मुम्बई से एक बन्ध्या का पुत्र आएगा और हमें अच्छी-अच्छी मिठाई खिलाएगा। ऐसा सुनकर वह व्यक्ति बहुत प्रसन्न हुआ। यह 'अक्लिष्ट विकल्प वृत्ति' है।

4. निद्रावृत्ति- अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ 10 ॥

सूत्रार्थ- जाग्रत और स्वप्न अवस्था के अभाव का कारण जो तमोगुण है, उसका आश्रय करने वाली वृत्ति निद्रा वृत्ति कहलाती है।

व्याख्या- अभाव प्रतीति को विषय करने वाली चित्तवृत्ति का नाम निद्रा है। शङ्का है- किसके अभाव के प्रतीति? समाधान है ज्ञान के अभाव की प्रतीति। इन्द्रियों से होनेवाले ज्ञान का उस अवस्था में अभाव रहता है। यह विवरण सुषुप्ति अवस्था का है। जैसे जाग्रत और स्वप्न अवस्था में ऐन्द्रियक ज्ञान होते रहते हैं, ऐसा कोई ज्ञान सुषुप्ति अवस्था में नहीं होता। तात्पर्य है- **'निद्रा'** नामक वृत्ति सुषुप्ति अवस्था है। इसको लोक में गाढ़; निद्रा या 'गहरी नींद' कहते हैं। जब व्यक्ति इस निद्रा से जाग उठता है, तो कहता है- **'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्'।** मैं सुखपूर्वक सोया, उस दशा में कुछ नहीं जाना। यह 'कुछ नहीं जानना' बाह्य आन्तर इन्द्रियो से होनेवाली जानकारी के अभाव का द्योतक है। ज्ञानाभाव की प्रतीति भी एक ज्ञान है। यह निद्रा दशा में होता है।

सुषुप्ति अवस्था तमोगुणप्रधान मानी जाती है। उस दशा में आत्मा को होने वाली निरिन्द्रिय अनुभूति प्रधानभूत तमोगुण के आवरण से ढकी रहती है। तमोगुण आवरण-स्वभाव है। जब तमोगुण के साथ सत्त्व का अंश विद्यमान रहता है, तब निद्रा के अनन्तर जागने पर यह ज्ञान होता है-**'मैं सुखपूर्वक सोया, कुछ नहीं जाना।'** यह स्मृतिरूप ज्ञान है, जो सुषुप्ति में होनेवाली उक्त अनुभूति का परिचायक है। यह उस दिशा में यह अनुभूति चित्तवृत्ति न होती, तो जागने पर वह स्मृतिरूप ज्ञान होना सम्भव न होता ॥ 10 ॥

उदाहरण-

(१) क्लिष्ट स्वरूप- जब अच्छी निद्रा नहीं आती, तमोगुण तथा अन्य अनेक प्रति-कूलताओं (गर्मी, मच्छर काटने आदि) के कारण दुःखदायक निद्रा आती है, तो वह 'क्लिष्ट निद्रा वृत्ति' कहलाती है।

(२) अक्लिष्ट स्वरूप- जब अच्छी सुखदायक (सात्त्विक) निद्रा आती है, तो वह 'अक्लिष्ट निद्रा वृत्ति' कहलाती है।

5. स्मृतिवृत्ति- अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः ॥ 11 ॥

सूत्रार्थ- आत्मा द्वारा अनुभव किए गये विषयों को पुनः स्मरण करना **'स्मृतिवृत्ति'** कहलाती है।

व्याख्या- सूत्र के **'असम्प्रमोषः'** पद में **'मुष्'** धातु का प्रयोग है, जिसका अर्थ धातुपाठ में **'स्तेय-चोरी करना'**, निर्देश किया गया है। अपने अधिकार की किसी वस्तु का अवैधानिकरूप से उठा लिया जाना, अथवा दूर कर दिया जाना। इस पद में **'सम्'** और **'प्र'** दो उपसर्ग हैं, जो धात्वर्थ की उग्रता को अभिव्यक्त करते हैं। एक अधिकार से वस्तु का नितान्त अनधिकृत रूप में चले जाना। **'सम्प्रमोष'** पद का **'नञ्'** के साथ समास कर 'असम्प्रमोष' पद से पूर्वोक्त अर्थ के पूर्ण विपरीत अर्थ का अभिव्यंजन किया गया है। किसी व्यक्ति के द्वारा अनुभूत विषय का उसके ज्ञान के रूप में पूर्णतया उस व्यक्ति के अधिकार में रहना। विषय की अनुभूति के अनन्तर अनुभवजन्य संस्कार आत्मा में निहित रहते हैं। कालान्तर में अनुकूल निमित्त उपस्थित होने पर संस्कार उभर आते हैं, जो उस विषय को याद करा देते हैं। इस प्रकार की चित्तवृत्ति का नाम **'स्मृति'** है। अनुभूति के समान संस्कार होते हैं और संस्कारों के

सदृश 'स्मृति' हुआ करती है। स्मृति का विषय सदा वही होता है, जो अनुभव का विषय रहा हो। बिना अनुभव किये का स्मरण नहीं होता। कभी किसी संस्कार के न रहने से, निमित्तिवश नष्ट हो जाने से भी उस विषय का फिर स्मरण नहीं हो पाता।

पूर्वानुभूत विषय कभी-कभी स्मृति में उलट-पुलट जाते हैं। स्वप्न एक ऐसी ही स्मृति है। स्वप्न में अनेक स्मृतियाँ अनुभव के समान रहती हैं, पर कभी-कभी पूर्वानुभूत विषय स्वप्न में निद्रादि दोष के कारण उलटे-पुलटे दिखाई दे जाते हैं। सर्वथा अननुभूत विषय का जाग्रत के समान स्वप्न में भी कभी स्मरण नहीं होता। जो जन्मान्ध व्यक्ति हैं, उनको रूप या रूपवाली वस्तु का स्वप्न नहीं आता। प्रमाण आदि वृत्तियों द्वारा हुए अनुभवों से ही स्मृति होती है, अतः स्मृति वृत्ति का निर्देश सबके अन्त में किया गया है। किसी विषय का अनुभव करते समय वह विषय और उसका ज्ञान दोनों भासते हैं। सामने घट आदि पदार्थ को देखकर जो **'घटं पश्यामि'** घड़े को देख रहा हूँ, प्रतीति होती है, इसमें विषय घट और उसका ज्ञान दोनों भासमान प्रकाशित रहते हैं। इसी के अनुसार संस्कार बनते हैं और संस्कारों के अनुरूप स्मृति होती है। इस प्रकार स्मृति में विषय और उसका ज्ञान दोनों उभर आते हैं। स्मरण के समय घटज्ञान के समान घट के आकार-प्रकार रूप-रंग आदि भी सामने दिखाई से पड़ते हैं। जिस स्थिति में प्रथम घट का अनुभव किया गया है, वह सब स्थिति सामने आ जाती है ।। 11 ।।

उदाहरण-

(१) क्लिष्ट स्वरूप- एक व्यक्ति को यह याद आ गया कि-तीन वर्ष पहले मुझे अमुक व्यक्ति ने पीटा और अपमानित किया था, इसे याद करके वह दुःखी हुआ, यह 'क्लिष्ट स्मृति वृत्ति' है।

(२) अक्लिष्ट स्वरूप- एक व्यक्ति को पाँच वर्ष पहले की एक घटना याद आ गई जब उसे हजारों व्यक्तियों के मध्य में सम्मानित किया गया था। इससे उसे सुख अनुभव हुआ; यह 'अक्लिष्ट स्मृति वृत्ति' है।

स्मरणीय बिंदु -

1. **वृत्तियों का वर्गीकरण - क्लिष्ट और अक्लिष्टः** महर्षि पतंजलि जी के अनुसार चित्त की वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं - क्लिष्ट (जो दुःख, अज्ञान और बंधन पैदा करती हैं) और अक्लिष्ट (जो विवेक ज्ञान और मोक्ष की ओर ले जाती हैं)। दोनों ही प्रकार की वृत्तियों का निरोध करना योग का अंतिम लक्ष्य है।

2. चित्त की ५ वृत्तियाँः योगसूत्र के अनुसार चित्त के भटकाव या विचार - तरंगों को पाँच भागों में बाँटा गया है - प्रमाण (यथ. ार्थ ज्ञान), विपर्यय (मिथ्याज्ञान), विकल्प (शब्दों से उत्पन्न काल्पनिक ज्ञान), निद्रा (शून्यता या अभाव का अनुभव), और स्मृति (भूतकाल के अनुभवों का फिर से याद आना)।

3. प्रमाण वृत्ति के ३ भेद - सम्यक् ज्ञानः पाँच वृत्तियों में सबसे पहली वृत्ति प्रमाण है, जिसके माध्यम से चित्त को सत्य का बोध होता है। इसके अंतर्गत तीन साधन आते हैं - प्रत्यक्ष (इंद्रियों द्वारा अनुभवगम्य ज्ञान), अनुमान (तर्क के आधार पर समझना), और आगम (शास्त्रों या आप्त पुरुषों के वचनों पर विश्वास करना)।

15 अंक के प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार चित्तवृत्ति से क्या अभिप्राय है? क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियों में अंतर स्पष्ट करते हुए पाँचों चित्तवृत्तियों के नाम और उनके स्वरूप की सविस्तार विवेचना कीजिए।
2. ''प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः'' सूत्र के आलोक में प्रमाण वृत्ति की व्याख्या कीजिए। महर्षि पतंजलि सम्मत तीनों प्रमाणों प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम का दार्शनिक विश्लेषण कीजिए।
3. विपर्यय, विकल्प और निद्रा वृत्ति के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए। महर्षि पतंजलि ने निद्रा को एक अभाव की स्थिति न मानकर एक स्वतंत्र वृत्ति क्यों माना है? तार्किक उत्तर दीजिए।

5 अंक के प्रश्न -

1. क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियों का मुख्य उद्देश्य क्या है? ये साधक को बंधन और मोक्ष की ओर कैसे ले जाती हैं?
2. विकल्प वृत्ति को सोदाहरण समझाइए। यह वृत्ति भ्रम या विपर्यय वृत्ति से किस प्रकार भिन्न है?
3. महर्षि पतंजलि योगसूत्र के अनुसार स्मृति की क्या परिभाषा है? 'अनुभूतविषयासंप्रमोषः' शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. विपर्यय वृत्ति क्या है? महर्षि पतंजलि ने इसे 'मिथ्याज्ञानम् अतद्रूपप्रतिष्ठम्' क्यों कहा है? संक्षेप में लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार चित्त की कुल कितनी वृत्तियाँ हैं?

(क) तीन

(ख) चार

(ग) पाँच

(घ) सात

2. जो वृत्तियाँ अविद्या आदि क्लेशों को बढ़ाती हैं और मनुष्य को सांसारिक बंधनों में बांधती हैं, उन्हें क्या कहते हैं?

(क) अक्लिष्ट

(ख) क्लिष्ट

(ग) निरुद्ध

(घ) एकाग्र

3. महर्षि पतंजलि योगदर्शन के अनुसार निम्नलिखित में से कौन - सा प्रमाण का भेद नहीं है?

(क) प्रत्यक्ष

(ख) अनुमान

(ग) उपमान

(घ) आगम

4. ''शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो .....।'' रिक्त स्थान के लिए सही चित्तवृत्ति चुनिए:

(क) विपर्यय:

(ख) विकल्प:

(ग) निद्रा

(घ) स्मृति:

5. जाग्रत और स्वप्न अवस्था की वृत्तियों के अभाव के ज्ञान का आलम्बन करने वाली वृत्ति कौन सी है?

(क) निद्रा

(ख) स्मृति

(ग) विकल्प

(घ) विपर्यय

इकाई-2.2 चित्त वृत्ति निरोध का उपाय (अभ्यास-वैराग्य)

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥ 12 ॥

उद्देश्य -

• **वृत्तियों को रोकने का अचूक मार्ग बताना:** साधक को यह स्पष्ट निर्देश देना कि मन के भटकाव और विचारों की लहरों को पूरी तरह शांत करने के लिए अभ्यास और वैराग्य ही दो अनिवार्य स्तंभ हैं।

• **साधना में निरंतरता और दृढ़ता लाना:** अभ्यास के माध्यम से साधक को यह सिखाना कि लंबे समय तक, बिना रुके और पूरी श्रद्धा के साथ किया गया प्रयास ही चित्त को स्थिर कर सकता है।

• **आसक्ति और इच्छाओं का क्षय करना:** वैराग्य के द्वारा साधक के भीतर देखे गए और सुने गए सभी सांसारिक सुखों के प्रति तृष्णा या इच्छा को समाप्त करके अनासक्त भाव विकसित करना।

सूत्रार्थ- अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उन पाँच वृत्तियों का **'निरोध'** होता है।

व्याख्या- **'तन्निरोधः'** पद में **'तत्'** सर्वनाम वृत्तियों का बोधक है। वृत्तियों के निरोध का उपाय अभ्यास और वैराग्य हैं। ये दोनों मिलकर वृत्तियों का निरोध करने में समर्थ होते हैं।

व्यास भाष्य- चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय, वहति पापाय च। या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा। संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते, विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यत इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥

अर्थात् आत्मा का साथी चित्त एक ऐसी नदी के समान है, जिसमें अनादि काल से वृत्तियों का अनवरत प्रवाह चालू है। चित्त नदी के धाराप्रवाह की दो दिशा हैं। एक प्राकृतिक विषयों के मार्ग से बहती हुई अज्ञानान्धकारमय संसार-सागर में मिल जाया करती है। दूसरी-विवेकमार्ग से बहती हुई आत्म-साक्षात्काररूप प्रकाशमय कल्याण-सागर (ब्रह्मानन्द-उदधि) में जा मिलती है। इन दो धाराओं के कारण हैं-व्यक्ति के पूर्वजन्मों में सञ्चित प्रबल दुष्कृत एवं सुकृत कर्म। जिन व्यक्तियों ने पूर्वजन्मों में अपनी प्रवृत्तियों के प्रवाह को निरन्तर विषयों में सीमित रखा है. ऐसे संसारी जनों की पूर्वोक्त चित्तनदी धारा जन्म से ही खुली रहती है। परन्तु जिन व्यक्तियों ने पूर्वजन्म में अध्यात्ममार्ग पर चलने का प्रयास किया है, उनके प्रबल अनुकूल संस्कारों के कारण चालू जीवन में सद्गुरु के उपदेश, अध्यात्मशास्त्र, प्रभु-चिन्तन आदि उस धारा को खोलते हैं।

विषयों के स्त्रोत पर जब वैराग्य का बाँध लगा दिया जाता है, तब स्वभावतः साधन न रहने से वे स्रोत सूख जाते हैं। विषयों को भोगने से अर्थात् विषयों में फँसे रहने से विषयों की ओर से कभी प्राणी को तृप्ति प्राप्त नहीं होती। विषयों की ओर विरक्ति ही उनके स्त्रोत को सुखाती है। इस प्रकार विषयस्त्रोतों पर वैराग्य का बाँध लगाकर निरन्तर दृढ़ता के साथ अभ्यासरूपी फावड़े से अध्यात्ममार्ग को गहरा खोदकर समस्त चित्तवृत्तियों के प्रवाह को उसमें डाल दिया जाता है यह दूसरी धारा है, जो ब्रह्मानन्दरूप कल्याण-उदधि में जाकर लीन हो जाती है। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य दोनों मिलकर पारस्परिक सहयोग से चित्तवृत्तिनिरोध के प्रबल साधन हैं। जैसे पक्षी दोनों पंखों के सहारे आकाश में उड़ता और अनुकूल अभिमत को प्राप्त करता है, ऐसे ही अध्यात्म मार्ग का यात्री अभ्यास-वैराग्य द्वारा अपने अभीष्ट को पाता है।

वस्तुतः यह चंचल चित्त अपनी वृत्तियों में रमण के मार्ग पर अग्रसर हुआ सरलता से वश में नहीं आता। इन स्थितियों से त्रस्त एवं खिन्न जिज्ञासु के प्रतीकरूप में उपस्थित अर्जुन ने महायोगेश्वर कृष्ण से कहा-

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ (श्रीमद्.भ.गी.-6.34)

हे कृष्ण ! आपने जिस योग का मुझे उपदेश किया है, उसका स्थिर रहना मुझे दिखाई नहीं देता, क्योंकि यह मन (चित्त) चंचल, हठीला, बलवान् और दृढ़ है, वायु के समान अर्थात् जैसे हवा को गठरी में नहीं बाँधा जा सकता, ऐसे ही मन के निग्रह को मैं अत्यन्त दुष्कर समझता हूँ।

महयोगी कृष्ण ने अपने अनुभव के आधार पर जिज्ञासु अर्जुन को यथार्थ से समझाया-

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ (श्रीमद्.भ.गी.-6.35)
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ (श्रीमद्.भ.गी.-6.36)

हे महाबाहु (शक्तिशाली) अर्जुन ! इसमें सन्देह नहीं कि मन चञ्चल है और उसका निग्रह करना कठिन है। परन्तु हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य से उस चञ्चल मन को भी अपने वश में किया जा सकता है ।। 35 ।।

यह मेरा निश्चय है, जिसका अन्तःकरण वश में नहीं, उसके लिए योग की प्राप्ति होना कठिन है। परन्तु अन्तःकरण को वश में प्रयत्नपूर्वक उचित उपाय द्वारा इस योग का प्राप्त होना शक्य है ।। 36 ।।

योगेश्वर कृष्ण के इस कथन में कुछ बात विशेष ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात है-कृष्ण ने अर्जुन के कथन की सीधे काट नहीं की, प्रत्युत उसके कथन को संशयरहित बताकर उसे सान्त्वना दी और साथ ही कहा-ऐसा नहीं कि इसका निग्रह किया ही न जा सके। अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा निश्चयपूर्वक इसका निग्रह किया जा सकता है। दूसरी वात-अर्जुन के लिए प्रयुक्त सम्बोधन पदों की है। यहाँ **'महाबाहो'** और **'कौन्तेय'** दो सम्बोधन पद हैं। मन को वश में करना जहाँ वायु को गठरी में बाँधने के समान कठिन कहा, उससे कदाचित् अर्जुन घबड़ा जाय, और चिन्तित हो जाय कि इतना कठिन कार्य मुझसे होना सम्भव नहीं, इसे दूर करने के लिए अर्जुन को 'महाबाहो' सम्बोधन द्वारा सतर्क किया-यदि मन दुर्निग्रह है, तो तुम भी महाबाहु हो, महाशक्तिशाली हो, मन के हठीलेपन को देखकर अपने अन्दर हीनभावना मत आने दो, निश्चय ही तुम उस पर प्रभावी हो सकते हो।

जब किसी चिन्तित व विचलित व्यक्ति को प्रोत्साहित करना होता है, तो उसकी माँ की याद दिलाकर उसे प्रोत्साहित किया जाता है। जब अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हुए कोई व्यक्ति किसी दूसरे को चुनौती देता है, तो उसके मुँह से सुना जाता है- 'है कोई माई का लाल, जो मेरे सामने आये?' ऐसे व्यवहार से मातृशक्तिजन्य ओजस्विता को उभारना होता है। इसी भावना में कृष्ण ने प्रस्तुत प्रसंग में अर्जुन को 'कौन्तेय' सम्बोधन से पुकारा। तुम कुन्ती माता के जाये हो, मन की कठिन वश्यता से तुम्हें किसी प्रकार विचलित नहीं होना चाहिए। इस कठिन कार्य को भी तुम उचित उपाय द्वारा अनायास कर सकोगे, यह विश्वास रखो।

अर्जुन के रूप में प्रत्येक अध्यात्म के जिज्ञासु को कृष्ण ने प्रोत्साहित किया है। यद्यपि यह मार्ग कठिन है। कठ-उपनिषद् [१।३।१४] में इसी को **'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति'** कहा है। पर प्रत्येक इस मार्ग के यात्री को योगेश्वर कृष्ण ने प्रस्तुत प्रसंग द्वारा प्रोत्साहित किया है। इसकी कठिनता को देखकर इससे घबराने और विचलित होने की आवश्यकता नहीं। अभ्यास और वैराग्यरूप उचित उपायों द्वारा इस दुर्ग को अवश्य जीता जा सकता है ।। 12 ।।

अभ्यास का स्वरूप-

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ 13 ॥

सूत्रार्थ- उन अभ्यास और वैराग्य में से जो चित्त की स्थिति के लिए प्रयत्न किया जाता है, वह अभ्यास कहलाता है।

व्याख्या- सूत्रकार के **'स्थितौ'** शब्द की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं-

'चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः।'

अर्थात् मन को वृत्तियों से हटा कर सतत एकाग्र बनाये रखने को 'स्थिति' कहा जाता है। अर्थात् मन को एकाग्र स्थिति में सतत बनाये रखना ही 'स्थिति' है। मनुष्य की सारी जीवन लीला इसी स्थिति को बनाये रखने के लिए है। समस्त ऋषि-महर्षियों ने मन को इसी एक स्थिति में बनाये रखा और उपनिषदादि ग्रंथो में एक ही सम स्थिति में मन को बनाये रखने से 'आत्मा को पाप-पुण्य स्पर्श नहीं करते हैं' ऐसा कहा है। योगीराज श्री कृष्ण ने भी इसी स्थिति को **'समत्वं योग उच्यते' (गीता-2.48)** कहा है। वास्तव में वही व्यक्ति सूरमा है, जो सतत मन को एक ही (एकाग्र) स्थिति में बनाये रखता है। काम के वेग को रोकना कोई खेल नहीं है। हाँ, मन के तमोगुण को दबा कर मूढ़ता-मोह से रहित होकर वा रजोगुण को दबाकर चंचलता एवं विक्षिप्तता से हटकर सतत एकाग्रता में रखने वाला ही, काम के वेग को थाम सकता है। क्योंकि एकाग्रता में मनुष्य यथार्थता में जीता है। अयथार्थता में काम का वेग रहता है। आवश्यकता मन को बार-बार एकाग्र करने की है। किसी खूंखार शेर को मार गिराने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है, तो अपने जड़ मन को बार-बार मूढ़ता, चंचलता व विक्षिप्तता से हटाने की। 'मन को सतत एकाग्र किये हुए रखना' सतत एकाग्र-सतत एकाग्र, यही तो अभ्यास है।

कौन नहीं जानता है कि क्रोध नहीं करना चाहिए, परन्तु कौन क्रोध नहीं करता! प्रायः क्रोध करते ही हैं। पर 'क्रोध नहीं करना, नहीं करना' इसका बार-बार अभ्यास करने वाला ही क्रोध नहीं करता है। हम में और क्रोध न करने वाले में यह ही अन्तर है कि हम क्रोध करने का अभ्यास करते हुए क्रोध को रोकना चाहते हैं और क्रोध न करने वाला क्रोध न करते हुए क्रोध को रोकता है। इसी प्रकार लोभ, मोह, ईर्ष्या, अहंकार आदि शत्रुओं के बारे में समझ लेना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, अहंकार रूपी शत्रुओं को दूर करने के लिए अपने मन को सतत एकाग्र बनाये रखना पड़ता है। इस संदर्भ में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं- **'तदर्थः प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः'**

अर्थात् मन को सतत एकाग्र बनाये रखने के लिए मनुष्य को प्रयत्न उद्यम पुरुषार्थ करना चाहिए। मनुष्य के प्रयत्न में वीर्य-शक्ति-बल-सामर्थ्य होना चाहिए। न केवल शक्ति होनी चाहिए, उस शक्ति में उत्साह-उमंग-उल्लास भी होना चाहिए। बलहीन

व्यक्ति, उत्साह रहित मनुष्य मन को सतत एकाग्र करने में असमर्थ रहता है। इसी कारण महर्षि वेदव्यास ने अभ्यास की विशेषताएं गिनाई हैं वीर्यम्, उत्साहः। अतः इनके बिना अभ्यास अपूर्ण ही रह जाता है।

कोई मनुष्य केवल इतना ही रट्टा लगाये कि मुझे काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या व अहंकार में नहीं फँसना। इतने मात्र से वह मनुष्य इन महाशत्रुओं को रोक नहीं पायेगा। इसी कारण भाष्यकार लिखते हैं-

'तत्संपिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः'

अर्थात् मन को एकाग्र स्थिति में बनाये रखने की इच्छा से मनुष्य को यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा व ध्यान का बार-बार अभ्यास करना चाहिए। इन साधनों को बार-बार जीवन में अपनाते ही रहने को या उनका निरंतर सातत्य बनाये रखने को अभ्यास कहते हैं। जिस प्रकार से हिंसा को लेकर बात कही जाती है उसी प्रकार हमारे झूठे व्यवहार से, तरह-तरह की चोरियों से नाना प्रकार के असंयमों से और परिग्रहों से भी मन एकाग्र नहीं हो पाता है। अनेक व्यक्ति लौकिक रीति से तो परिग्रह नहीं करते परन्तु आध्यात्मिकता के नाम से पुस्तकों, आश्रमों, मठों का परिग्रह कर लेते हैं, जो कि उनके लिए आवश्यक होते हैं।

''तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः'' सूत्र का संक्षेप से सूत्रकार एवं भाष्यकार के अनुसार यह अर्थ है कि अभ्यास एवं वैराग्य इन दोनो में से अभ्यास उसे कहते हैं कि अपने मन को एकाग्र स्थिति में बनाये रखने के लिए यम, नियम, आसन आदि को निरंतर जीवन में उतारते ही रहना, शक्ति से उतारना और उत्साह से उतारना, सतत उतारना इसी का नाम अभ्यास है।

अभ्यास की दृढ़ता-

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ 14 ॥

सूत्रार्थ- वह अभ्यास तो लम्बेकाल तक, लगातार, तपस्या-ब्रह्मचर्य-विद्या और श्रद्धापूर्वक सेवन किया हुआ दृढ़ अवस्था वाला होता है।

व्याख्या- किस उत्तम विधि से अभ्यास करना चाहिए, इस संदर्भ में महर्षि पतंजलि कहते हैं- हे मनुष्य ! तुम जिस अभ्यास को करने जा रहे हो वह अभ्यास दीर्घकाल तक करो, लम्बे काल तक करो। कितने लम्बे काल तक करना है? जितना तुम्हारा जीवन काल है अर्थात् जब तक जीवित रहोगे तब तक। इतना ही नहीं मरकर पुनः जन्म लेना, फिर अभ्यास करना। फिर मृत्यु तक करना। फिर जन्म, फिर मृत्यु। इस प्रकार, बस करते ही जाना है। रूकना ही नहीं। यह ही दीर्घकाल का अभिप्राय है। इसी को भाष्यकार ने भी **'दीर्घकालसेवित'** शब्द से कहा है।

सूत्रकार ने अभ्यास को जहाँ दीर्घकाल तक सेवन करने की बात कही है, वहाँ निरन्तर सेवन करने के लिए भी कहा है। इसको महर्षि वेदव्यास ने **'निरन्तरासेवितः'** शब्द से स्पष्ट किया है अर्थात निरन्तर बिना अवकाश के लगातार करते ही जाना है। प्रतिदिन करते ही रहना। प्रायः संसार में प्रत्येक कार्य में कभी न कभी अवकाश रखा जाता है। शनिवार, रविवार, त्योहार, गणतंत्र दिवस, स्वतंत्रता दिवस, कोई-कोई अमावस्या व पूर्णिमा को और अतिरिक्त अवकाश के रूप में भी बहुत कुछ होता है। कोई कभी भोजन में, कभी निद्रा में कभी किसी में अवकाश रखते हैं। कोई ऐसा क्षेत्र नहीं दिखता जहाँ अवकाश न रखा जाता हो। परन्तु परमेश्वर को पाने हेतु उपासना का अभ्यास निरन्तर चलते ही रहना चाहिए। इसमें कभी अवकाश नहीं रखना चाहिए। इसी कारण महर्षि पतंजलि एवं वेदव्यास जी ने लगातार अभ्यास करने का विधान किया है।

सूत्रकार ने अभ्यास के दीर्घकाल एवं निरंतरता के साथ-साथ **'सत्कार पूर्वक'** सेवन करने की बात कही है। हम जिस किसी भी क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहते हैं, तो अभ्यास के द्वारा ही बढ़ेंगे। परन्तु अभ्यास बिना सत्कार के करेंगे, तो अभ्यास फलदायी नहीं बन पायेगा। यहाँ पर सत्कार का अभिप्राय बताते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं-

'तपसा ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च
संपादितः सत्कारवान् दृढ़भूमिर्भवति।'

अर्थात् हम जिसका अभ्यास करते हैं, उस अभ्यास में तप हो, ब्रह्मचर्य-संयम हो, विद्या हो और श्रद्धा हो। तपरूपी, ब्रह्मचर्यरूपी, विद्यारूपी, श्रद्धारूपी सत्कार से किया गया अभ्यास फलदायी बनता है। तपस्यापूर्वक, ब्रह्मचर्यपूर्वक, विद्यापूर्वक एवं श्रद्धापूर्वक की गयी उपासना का अभ्यास पाँचों वृत्तियों को सर्वथा रोकने वाला बन पायेगा।

तपपूर्वक अभ्यासः- प्रायः मनुष्य हताश-निराश होकर लक्ष्य से भटक जाता है। परन्तु यदि मनुष्य तपस्या से अभ्यास करता जाये, चाहे सर्दी हो या गर्मी, चाहे भूख हो या प्यास, चाहे मान हो या अपमान, चाहे स्तुति हो या निंदा समस्त द्वन्द्वों को सहर्ष स्वीकार करता हुआ मन को खिन्न न बनाते हुए वृत्तियों को रोकनें में समर्थ हो जाता है। इसी तथ्य को योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण कुछ इस रूप में प्रस्तुत करते हैं-

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ (श्रीमद्.भ.गी.-2.38)

ब्रह्मचर्यपूर्वक अभ्यासः- आज मनुष्य की दृष्टि-नजरिया बदल गया है। चकाचौंध में फंसकर मनुष्य अपने को विकसित मान रहा है और जैसे-जैसे चकाचौंध बढ़ती जा रही है। वैसे-वैसे स्वयं को तदनुरूप बनाता जा रहा है । ऐसा व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता। एक ओर अपने को मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र व श्रीकृष्ण की संतान मानते हैं और दूसरी ओर हम भौतिकवाद में फंसकर ब्रह्मचर्य का हनन करते जा रहे हैं। स्वयं को विकासशील एवं ज्ञानी मानने वालों को वेद का सूक्ष्म विज्ञान तब तक समझ में नहीं आयेगा जब तक स्वयं को संयमित नहीं करेंगे। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले वेद की निंदा कर रहे हैं। क्योंकि वेद कहता है कि-

'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत' (अथर्व.-11.5.19)

अर्थात् योगीजन ब्रह्मचर्य का पालन करके मृत्यु को जीतकर ईश्वरीय आनन्द को पाते हैं। अतः वेद का अनुसरण कर समस्त ऋषिगण व महापुरूष ब्रह्मचर्य का पालन किया करते थे। इसीकारण सूत्रकार ने ब्रह्मचर्य पूर्वक अभ्यास करने के लिए 'सत्कार' शब्द का कथन किया है। ब्रह्मचर्यपूर्वक अभ्यास किये बिना ईश्वर को प्राप्त करना असम्भव है।

विद्यापूर्वक अभ्यासः- संसार में मनुष्य बहुत अभ्यास करते हैं कोई ऐसा क्षेत्र नहीं दिखता, जिस क्षेत्र में अभ्यास नहीं होता हो। परन्तु अभ्यास करने वाले सभी सफल नहीं होते। इसके पीछे मुख्य कारण अविद्या रहती है। इसी को ध्यान में रखते हुए सूत्रकार एवं भाष्यकार ने विद्यापूर्वक अभ्यास करने की बात कही है। मनुष्य अपने शरीर, इन्द्रियों, मन, अहंकार व महत्तत्वरूपी बुद्धि को योग के अनुरूप बनाकर विद्यारूपी अभ्यास के माध्यम से योग को सिद्ध कर सकता है, अन्यथा **'अविद्या'** योग को कभी सिद्ध नहीं होने देती है।

श्रद्धापूर्वक अभ्यासः- हताश-निराश न होते हुए परमेश्वर के प्रति पूर्ण श्रद्धा उत्पन्न कर श्रद्धापूर्वक किया गया योग का अभ्यास निश्चित रूप से फलदायी बनता है। श्रद्धा केवल ईश्वर में ही नहीं, जो-जो ईश्वर को प्राप्त कराने के साधन हैं, चाहे वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, नियम, आसन आदि योग के आठों अंग हों या वेद, उपवेद, ब्राह्मण, शिक्षा आदि अंग या उपांग, किसी पर भी अश्रद्धा उत्पन्न न हो। ईश्वर को प्राप्त कराने के जो-जो साधन बनते हों, उनको श्रद्धापूर्वक अपनाते हुए ही निरन्तर अभ्यास करते रहना होगा। ऐसी स्थिति में ही ईश्वर की उपलब्धि हो पायेगी।

प्रायः मनुष्य का जीवन क्रियात्मक न होकर शब्दात्मक (पुस्तकीय) होता है। अतः व्यवहार में असफल होता है। इसकारण सूत्रकार एवं भाष्यकार क्रियात्मक रूप देने हेतु दीर्घकाल तक, निरंतर और सत्कार अर्थात तपपूर्वक, विद्यापूर्वक, ब्रह्मचर्यपूर्वक, श्रद्धापूर्वक अभ्यास करवाकर मनुष्य को उपलब्धि की ओर बढ़ा रहे हैं अपने-अपने मन में कितनी ही गलत संस्कार उत्पन्न किए हों, उन सबको इस सूत्र के माध्यम से नियंत्रित कर वृत्ति रहित बनाकर समाधि की ओर बढ़ सकते हैं। फिर हम गलत संस्कारों से नहीं दबेंगे, हम गलत संस्कारों को दबाऐंगे। इसी बात को महर्षि वेदव्यास जी लिखते हैं-

'व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषय इत्यर्थः'

अर्थात् व्युत्थान-लौकिक संस्कारों से वह अभ्यास शीघ्र न दबने वाला होता है। अभिप्राय यह है कि वह अभ्यास इतना दृढ़ होता है कि वह कभी नहीं दबता है। तभी वह अभ्यास वृत्तियों को रोकने में पूर्ण समर्थ होता है।

वैराग्य का स्वरूप-

(1) अपर वैराग्य- दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ 15 ॥

सूत्रार्थ- वर्तमान जीवन में अनुभव किए हुए और सुने हुए विषयों की तृष्णा से रहित योगी का मन व इन्द्रियों पर पूर्ण वशीकरण की अनुभूति **'अपर वैराग्य'** कहलाता है।

व्याख्या- विषय दो प्रकार के हैं - एक दृष्ट, दूसरे आनुश्रविक। दृष्ट वे हैं, जो इस लोक अथवा चालू जीवन में अनुभव किये जाते हैं, जिनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि ऐन्द्रियक विषय एवं स्त्री, अन्न, पान, ऐश्वर्य, सम्पत्ति आदि का समावेश है। आनुश्रविक विषय वे हैं जिनको शास्त्र के द्वारा जाना जाता है। शास्त्र द्वारा वेद्य विषय भी दो प्रकार के हैं। एक वे हैं, जो देहान्तर की प्राप्ति होने पर जानने अथवा भोगने योग्य हैं और दूसरे वे हैं, जो उसी देह में चित्त की अवस्थान्तरप्राप्ति पर जाने या भोगे जा सकते हैं। पहले स्वर्ग, देवलोक, वैदेह्य और प्रकृतिलयत्व आदि हैं। दूसरे हैं-दिव्यगन्ध, रस-रूप आदि तथा विविध प्रकार की सिद्धियाँ। स्वर्ग आदि सुख का ज्ञान व भोग देहान्तर की प्राप्ति पर होता है तथा दिव्यगन्ध आदि विषयों एवं विविध सिद्धिवेद्य विषयों की उपस्थिति चालू देह में ही चित्त की विशिष्ट अवस्था प्राप्त होने पर हो जाती है।

इन सब प्रकार के दिव्य, अदिव्य और देहान्तर के विषयों की उपस्थिति में जब चित्त समाधिसंवलित ज्ञान के प्रभाव से इन विषयों के दोषों को समझ लेता है और इनमें आसक्त नहीं होता, इनके उपादान एवं परित्याग में उदासीन रहता है, विषयों के

उपादान में होनेवाले राग तथा उनके परित्याग में होनेवाले द्वेष दोनों का जब चित्त में अभाव रहता है, तब चित्त अध्यात्म की ओर प्रवृत्त हुआ एकरूप-एकाग्र बना रहता है। चित्त की इसी अवस्था का नाम 'वशीकार संज्ञा' वैराग्य है।

शास्त्रकारों ने वैराग्य की चार संज्ञा बताई हैं- १. यतमानसंज्ञा. २. व्यतिरेकसंज्ञा, ३. एकेन्द्रियसंज्ञा तथा ४. वशीकारसंज्ञा ।

(१) यतमानसंज्ञा- विषयों से आबद्ध व्यक्ति के चित्त में सहसा क्षणमात्र में पूर्ण वैराग्य हो जाने की संभावना नहीं रहती। पहले अनुकूल संस्कार, आध्यात्मिक सद्गुरु के उपदेश व शास्त्रों का परिशीलन, विषयभोगों के परिणामस्वरूप प्राप्त होनेवाले दु:खों का अनुभव आदि की दशा में राग, द्वेषमूलक सांसारिक विषयों की ओर से चित्त में त्रास, एक प्रकार के उद्वेग की भावना उत्पन्न होने लगती है। तब राग-द्वेषपरित्याग के निरन्तर चिन्तन के फलस्वरूप व्यक्ति की प्रवृत्ति धीरे-धीरे विषयों की ओर शिथिल होने लगती है। इस प्रकार जब वैराग्य की दिशा में चलने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हो जाता है, वैराग्य के इस प्रथम स्तर को अनुभवी आचार्यों ने 'यतमानसंज्ञा' नाम दिया है।

(२) व्यतिरेकसंज्ञा- वैराग्य की ओर प्रवृत्त हुए व्यक्ति के चित्त में जब विषयों की ओर रागादि की समाप्ति हो जाती है। अर्थात् चित्त के मल रागादि दोषों के परित्याग-प्रक्षालन की निरन्तर जागरूक तीव्र भावना एवं प्रयत्न से जब ये दोष धुल जाते हैं, तब विषयों में बाह्येन्द्रियों की आसक्तिमूलक प्रवृत्ति नहीं रहती। परन्तु मोह चित्त का प्रबल दोष है, कभी उभरकर व्यथित करता है। तब योगाभ्यासी सोचता है अमुक चित्तमलों को धो डाला है और ये कुछ अभी शेष हैं। इस प्रकार इनके व्यतिरेक-भेद-विशेषता का अवगाहन वैराग्य की जिस दशा में होता है, यह विषयों के प्रति वैराग्य का द्वितीय स्तर है। इसको 'व्यतिरेकसंज्ञा' अन्वर्थ नाम दिया गया है।

(३) एकेन्द्रियसंज्ञा- अब चित्त के मल रागादि दोष बाह्य इन्द्रियों को अपने विषयों में प्रवृत्त करने के लिए असमर्थ हो गये हैं। परन्तु मन में अभी सूक्ष्मरूप से विद्यमान हैं, जिससे विषयों की उपस्थिति में कभी-कभी चित्त विक्षुब्ध हो उठता है। यह विक्षोभ मनोरूप एक आन्तर इन्द्रिय द्वारा उभरता है, उसके परित्याग व प्रक्षालन की भावना जागृत होना वैराग्य का एकेन्द्रियसंज्ञक तृतीय स्तर है। गीता के कतिपय श्लोकों में वैराग्य की इस अवस्था का दिग्दर्शन इस प्रकार है-

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ (श्रीमद्.भ.गी.-2.49)
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ (श्रीमद्.भ.गी.-3.6)
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ (श्रीमद्.भ.गी.-3.7)

विषयों के प्रति विरक्त हुए व्यक्ति के लिए एक प्रकार से विषय समाप्त हो जाते हैं। इन्द्रियाँ विषयों की ओर आसक्तिपूर्वक आकृष्ट नहीं होतीं। परन्तु कभी विषयों के सान्निध्य में चाहना उभर आती है, वह अभी पूर्णरूप में नहीं छूटी। पर वह भी उस समय नहीं रहती, जब आत्मतत्त्व की जानकारी हो जाती है।

जो व्यक्ति विषयों की ओर से बाह्येन्द्रियों को रोककर भी मन से उन विषयों का स्मरण करता है, वह झूठा आचरण करन. ेवाला दम्भी कहा जाता है। परन्तु हे अर्जुन ! वह व्यक्ति श्रेष्ठ है, जो मन के साथ सब इन्द्रियों को विषयों की ओर से रोककर अनासक्तिपूर्वक बाह्येन्द्रियों से 'कर्मयोग' का आरम्भ करता है, अर्थात् जीवन को यथायथ चालू रखने के लिए इन्द्रिय विषयों का उपयोग करता है, परन्तु उनमें नितान्त भी आसक्त नहीं होता।

इन श्लोकों में मनसहित इन्द्रियों का विषयों के प्रति अनासक्ति एवं विरक्ति की भावना का निर्देश है, जो वैराग्य के तृतीय स्तर के साथ मेल खाता है।

(४) वशीकारसंज्ञा- व्यास भाष्य- 'श्रविकविषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्यविषयसंप्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसंख्यानबलादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ।'

जब चित्त के मलरागादि दोष सूक्ष्मरूप से भी चित्त में नहीं रहते तथा दिव्य-अदिव्य आदि विषयों की उपस्थिति में भी रागादि दोषों के न रहने से चित्त उधर आकृष्ट नहीं होता, प्रत्युत उनकी ओर सर्वथा उदासीन रहता है, यह उक्त तीनों स्तरों से ऊँचे स्तर का **'वशीकारसंज्ञा'** नामक वैराग्य है। इस दशा में इन्द्रियों सहित चित्त योगी के वश में होता है, योगी को ये विषयों की ओर आकृष्ट नहीं कर पाते। प्रस्तुत वैराग्य के उक्त नामकरण का यही आधार है। वैराग्य के प्रारम्भिक अन्य स्तर वृत्तियों के निरोध में साक्षात् साधन नहीं होते, अत: सूत्रकार ने सूत्र में इसी वैराग्य का निर्देश किया है, परन्तु वैराग्य के इस स्तर तक पहुँचने में स्वभावत: पहली सीढ़ियाँ अन्तराल में पार की जाती हैं। दुर्दान्त इन्द्रिय-समूह विषयों के साथ सम्बद्ध होकर चित्त को आकृष्ट किया करता है, धीरे-धीरे ही इसे साधा जाना सम्भव है।

अग्रिम सूत्र में **'परवैराग्य'** के विवरण से स्पष्ट होता है–प्रस्तुत सूत्र में जिस वैराग्य का स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है वह 'अपर–वैराग्य' की कोटि में आता है। इस दशा में योगाभ्यासी 'सम्प्रज्ञात' समाधि को प्राप्त कर लेता है। यह अवस्था चेतनस्वरूप पुरुष और अचेतन बुद्धितत्त्व अथवा चित्त के भेद का साक्षात्कार करा देती है। इसी का नाम **'विवेकख्याति'** है। यह वृत्तिरूप होने से पूर्णसमाधि दशा नहीं मानी जाती ।। 15 ।।

'अपर–वैराग्य' का निरूपण कर सूत्रकार ने 'परवैराग्य' के स्वरूप का निर्देश किया–

(2) तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।। 16 ।।

सूत्रार्थ– वह पर वैराग्य है, जो पुरुष के साक्षात्कार से गुणों से तृष्णाराहित्य हो जाना है।

व्याख्या– व्यास भाष्य– ''यस्योदये प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते प्राप्तं प्रापणीयं, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः, यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति। ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् । एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति ।।''

सम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास की निपुणता (पूर्णदशा) प्राप्त हो जाने पर त्रिगुणात्मक अचेतन प्रकृति और उसके विकारों से चेतन आत्मतत्त्व के भेद का साक्षात्कार हो जाता है। इसी का नाम **'प्रकृति–पुरुषविवेकख्याति'** है, जिसको सूत्र में 'पुरुषख्याति' पद से कहा गया है। यह साक्षात्कार समस्त त्रिगुणात्मक व्यवहार में पुरुष के तृष्णाराहित्य को उत्पन्न कर देता है। तात्पर्य है–पूर्णरूप से तृष्णा का न रहना 'परवैराग्य' है। परन्तु सम्प्रज्ञात समाधि की यह दशा वृत्तिरूप होती है। विवेकख्याति गुणों की एक अवस्था है। रजस्, तमस् का उद्रेक न होने पर सत्त्वगुण की धारा प्रवाहित रहती है। योगी इसका भी निरोधकर पूर्ण शुद्ध आत्मस्वरूप में अवस्थित हो जाता है। इस प्रकार जब समस्त गुणवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं, वह वैराग्य की पराकाष्ठा **'धर्ममेघ समाधि'** नाम से योगशास्त्र (4.29) में व्यवहृत है।

अपरवैराग्य सम्प्रज्ञात समाधि का तथा परवैराग्य असम्प्रज्ञात समाधि का प्रतीक है। यह अवस्था अचानक एक दिन में नहीं प्राप्त होती, गतसूत्र (14) के निर्देशानुसार निरन्तर अभ्यास करते रहने से कालान्तर में इसकी प्राप्ति हो पाती है। यह क्रम अपने अनुभव और शास्त्र द्वारा विषयों में जाने गये दोष देखनेवाले युञ्जान योगी के आत्मा में विषयों के प्रति उभरते हुए वैराग्य से प्रारम्भ होता है। आत्मसाक्षात्कार के लिए अनुष्ठित निरन्तर अभ्यास से जब आत्मा को विवेकज्ञान हो जाता है, प्रकृति से भिन्नरूप में स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है, तब व्यक्त–अव्यक्तधर्मों से युक्त समस्त त्रिगुणात्मक जगत् के प्रति वह आत्मा में नितान्त विरक्ति की भावना का अनुभव करता है। आत्मसाक्षात्कार की इस अवस्था में आत्मा जान लेता है–जो प्राप्त करना था, वह कर लिया, समस्त क्लेश समाप्त हो गये, निरन्तर जन्म–मरण की कड़ियों से जुड़ती हुई, जो संसाररूपी जंजीर अज्ञात काल से बढ़ती चली आ रही थी, वह सर्वथा टूट चुकी है। आत्मसाक्षात्कार का यह सर्वोच्चस्तर वैराग्य की पराकाष्ठा है। **'परवैराग्य'** अथवा **'आत्मसाक्षात्कार'** दोनों कथन आत्मा की समान अवस्था को अभिव्यक्त करते हैं।

तात्पर्य है–त्रिगुणात्मा जगत् से आत्मा का पूर्णरूप में अलगाव आत्मसाक्षात्कार की पहचान है। जब तक त्रिगुण से लगाव है, आत्मसाक्षात्कार सम्भव नहीं। आत्मा की वह अवस्था **'कैवल्य'** है, मोक्षरूप है। तब त्रिगुण से असंलग्न आत्मा ब्रह्मानन्द का निरन्तर अनुभव किया करता है ।। 16 ।।

स्मरणीय बिंदु –

1. निरोध के दो अचूक साधन – अभ्यास और वैराग्यः महर्षि पतंजलि जी ने चित्त की वृत्तियों को रोकने के लिए दो अनिवार्य उपाय बताए हैं – ''अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः''। अभ्यास चित्त को एक स्थान पर स्थिर करने की शक्ति देता है, जबकि वैराग्य चित्त को सांसारिक विषयों की ओर भागने से रोकता है।

2. अभ्यास की दृढ़ता की शर्तें – सफलता का आधारः अभ्यास को मजबूत और स्थायी बनाने के लिए तीन शर्तें आवश्यक हैं। जब साधना दीर्घकाल तक – लंबे समय तक, निरंतर – बिना किसी रुकावट के और सत्कारपूर्वक – श्रद्धा, उत्साह और आदर के साथ की जाती है, तभी वह चित्त को स्थिर करने वाली दृढ़ भूमि बनती है।

3. वैराग्य के दो स्तर – अपर और पर वैराग्यः वैराग्य की दो अवस्थाएं हैं। अपर वैराग्य में देखे और सुने हुए सांसारिक विषयों एवं भोगों के प्रति तृष्णा का अभाव होता है। इसकी सर्वोच्च अवस्था पर वैराग्य है, जहाँ प्रकृति के तीनों गुणों – सत्व, रज, तम से पूर्ण विरक्ति हो जाती है और यह असम्प्रज्ञात समाधि का कारण बनती है।

15 अंक के प्रश्न –

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार चित्तवृत्तियों के निरोध के मुख्य उपाय क्या हैं? ''अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'' सूत्र के आलोक में दोनों उपायों का परस्पर संबंध और उनका दार्शनिक महत्व सविस्तार स्पष्ट कीजिए।
2. योगदर्शन के अनुसार अभ्यास का क्या स्वरूप है? कोई भी अभ्यास किस प्रकार दृढ़भूमि – स्थिर या परिपक्व बनता है?

इसके आवश्यक तत्वों की समीक्षा कीजिए।

3. वैराग्य का वास्तविक अर्थ क्या है? अपर वैराग्य की चारों अवस्थाओं – यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय एवं वशीकार और पर वैराग्य के स्वरूप का तुलनात्मक एवं विस्तृत वर्णन कीजिए।

5 अंक के प्रश्न –

1. महर्षि पतंजलि ने अभ्यास को परिभाषित करते हुए ''तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास:'' क्यों कहा है? संक्षेप में समझाइए।

2. दीर्घकाल, निरन्तरता और श्रद्धा अथवा सत्कारपूर्वक किया गया अभ्यास ही सफलता देता है। इस कथन को प्रासंगिक सूत्र के आधार पर स्पष्ट कीजिए।

3. वशीकार संज्ञा वैराग्य से क्या तात्पर्य है? यह वैराग्य की किस श्रेणी के अंतर्गत आता है?

4. पर वैराग्य और अपर वैराग्य में मुख्य अंतर क्या है? दोनों से किस प्रकार की समाधि सिद्ध होती है?

बहुविकल्पीय प्रश्न –

1. महर्षि पतंजलि ने समाधिपाद में चित्तवृत्तियों को रोकने के कितने मुख्य उपाय बताए हैं?

(क) एक

(ख) दो

(ग) तीन

(घ) आठ

2. ''स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो .....।'' रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए सही पद चुनिए:

(क) अभ्यास:

(ख) वैराग्य:

(ग) दृढ़भूमि:

(घ) तीव्रसंवेगानाम्

3. देखे गए और सुने गए सांसारिक और दिव्य विषयों में तृष्णा या इच्छा का सर्वथा अभाव हो जाना कौन सा वैराग्य है?

(क) यतमान वैराग्य

(ख) व्यतिरेक वैराग्य

(ग) वशीकार वैराग्य

(घ) पर वैराग्य

4. पुरुष या आत्मा के ज्ञान से प्रकृति के सत्त्व, रज, तमरुपी तीनों गुणों में भी तृष्णा का समाप्त हो जाना क्या कहलाता है?

(क) अपर वैराग्य

(ख) पर वैराग्य

(ग) वितर्कानुगत

(घ) अभ्यास

5. चित्त को चंचलता से रोककर एक शांत स्थिति में रखने के लिए किए जाने वाले सतत प्रयास को क्या कहते हैं?

(क) वैराग्य

(ख) निरोध

(ग) अभ्यास

(घ) स्थिति

इकाई-2.3 समाधि और समाधि के प्रकार

उद्देश्य -

• **समाधि के वास्तविक अर्थ को परिभाषित करना:** साधक को यह समझाना कि समाधि चित्त की वह परम शांत अवस्था है, जहाँ केवल ध्येय वस्तु का प्रकाश रहता है और चित्त का अपना स्वरूप शून्य जैसा हो जाता है।

• **समाधि के क्रमिक स्तरों का वर्गीकरण करना:** साधक के मार्गदर्शन के लिए समाधि के विभिन्न सोपानों -सबीज (सवितर्क, सविचार, सानन्द तथा सास्मित) और निर्बीज (असम्प्रज्ञात) - के वैज्ञानिक क्रम को स्पष्ट करना।

• **स्थूल से सूक्ष्म तत्व की ओर ले जाना:** साधक के ध्यान को जगत के दृश्य, स्थूल पदार्थों से ऊपर उठाकर प्रकृति के अत्यंत सूक्ष्म और अदृश्य कारणों पर एकाग्र करने की योग्यता विकसित करना।

समाधि- महर्षि पतंजलि जी के अनुसार समाधि की परिभाषा विभूतिपाद में स्पष्ट की गई है-

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः॥ ३ ॥

ध्येय के स्वभाव को प्राप्त होने के कारण, ध्येयाकार में भासित होने वाला ध्यान ही जब अपने ज्ञानात्मक स्वरूप से रहित जैसा हो जाता है, तब 'समाधि' कहा जाता है। ॥ 3 ॥

भाष्यकार महर्षि वेदव्यास जी ने **योगः समाधिः** अर्थात् योग की अवस्था को ही समाधि की संज्ञा प्रदान की है।

समाधि के प्रकार :- महर्षि पतंजलि जी के अनुसार समाधि दो प्रकार की होती है-

1- संप्रज्ञात-समाधि (सबीज समाधि)

2- असंप्रज्ञात-समाधि (निर्बीज समाधि)

कोई भी योगसाधक ऋषियों की परम्परा से चलते हुए मन की वृत्तियों को रोकने का निरन्तर अभ्यास कर-करके अपने ज्ञान को विस्तार देते हुए वैराग्य को प्राप्त कर ले, तो क्या उसे योग की सिद्धि हो जायेगी ? इसमें कोई संदेह नहीं है कि जिन ऋषियों ने स्वयं अभ्यास व वैराग्य के द्वारा योग को साक्षात् किया हो, ऐसे आप्त पुरुषों के पदचिह्नों पर चलते हुए योग को सिद्ध न किया जा सके अर्थात् अवश्य सिद्ध किया जायेगा। सिद्ध किया जाने वाला योग दो प्रकार का है, जैसा कि **'अथ योगानुशासनम्'** में बताया गया। एक संप्रज्ञात-योग है और दूसरा असंप्रज्ञात-योग है। महर्षि वेदव्यास ने योग की परिभाषा संक्षेप में 'समाधि' की है। इसलिए योग को संप्रज्ञात-समाधि और असंप्रज्ञात-समाधि शब्दों से भी कहा जाता है।

महर्षि वेदव्यास लिखते हैं-

'अथोपायद्वयेन निरुद्धचित्तवृत्तेः कथमुच्यते सम्प्रज्ञातः समाधिरिति।'

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन के व्यापार को रोक लिया जाने पर योगसाधक की जो संप्रज्ञात समाधि होती है वह किस प्रकार की होती है ?

१. संप्रज्ञात-समाधि (सबीज समाधि)-

इसका समाधान स्वयं सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं-

'वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः'

अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द एवं अस्मिता स्वरूपों से चार प्रकार के भेद वाली संप्रज्ञात समाधि होती है। वितर्क स्वरूप वाली, विचार स्वरूप वाली, आनन्द स्वरूप वाली तथा अस्मिता स्वरूप वाली समाधियाँ हैं। यहाँ पर वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता, ये पारिभाषिक शब्द हैं।

समस्त राजस और तामस वृत्तियों का इस समाधि में निरोध हो जाने से केवल सात्त्विकवृत्ति का प्रकाश होता रहता है। इसलिये इस समाधि में सात्त्विकवृत्ति के द्वारा ध्येयविषय का पूर्ण साक्षात्कार उदित होता है। इस साक्षात्कार के कारण ही इस समाधि को 'सम्प्रज्ञात' नाम दिया जाता है **(सम् + प्र + ज्ञा + क्तः कर्मणि = सम्प्रज्ञातः)** । **'सम्यक् (संशयादिरहितत्वेन) प्रकर्षेण (पूर्णतया) ज्ञातः अधिगतः साक्षात्कृतः (ध्येयाभेदोपचारेण) समाधिः सम्प्रज्ञातः'**। यह सम्प्रज्ञात-समाधि चार प्रकार के ध्येयों का अनुगम (अनुगततत्त्व, उपस्थिति या साक्षात्कार) करने के कारण चार प्रकार की मानी जाती है। वितर्करूप ध्येय का अर्थात् स्थूल पाञ्चभौतिक ध्येय का अनुगम करनेवाली अर्थात् स्थूलध्येय में पूर्णतया तदाकाराकारित होनेवाली सात्त्विकवृत्ति के उदित होने पर 'वितर्कानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि' होती है । विचार अर्थात् सूक्ष्म पञ्चतन्मात्रादिविषयों का अनुगम होने पर 'विचारानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि' होती है। आनन्द अर्थात् आनन्दात्मक इन्द्रियों का अनुगम होने पर 'आनन्दानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि' होती है और अस्मितातत्त्व का अनुगम होने पर 'अस्मितानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि' होती है। 'अनुगम' शब्द का अर्थ है- 'साक्षाद् उपस्थिति'। जब समाधिकालिक चित्त में तत्तद्विषय पूर्णरूप से उपस्थि रहते हैं अर्थात् उनका पूर्ण साक्षात्कार होता रहता है, उस समय उस-उस विषय का अनुगम कहा जाता

है और उस समाधि को तत्तदानुगत कहा जाता। स्वयं महर्षि वेदव्यास इन शब्दों की व्याख्या करते हुए लिखते हैं-

१. वितर्कानुगत संप्रज्ञात-समाधि - 'वितर्कश्चित्तस्याऽऽलम्बने स्थूल आभोगः।'

अर्थात् मन के आलम्बन में स्थूल पदार्थों का प्रत्यक्ष होना वितर्क नामक समाधि है। यहाँ पर **'आलम्बन'** शब्द का अर्थ आश्रय-सहारा है। **'आभोगः'** शब्द का अर्थ पदार्थ=वस्तु है। आभोग का अर्थ पदार्थ इसलिए किया जा रहा है कि महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण महाभाष्य में भोग शब्द का अर्थ 'पदार्थ' किया है। इसी कारण यहाँ 'पदार्थ' यह अर्थ किया जा रहा है।

योगसाधक संप्रज्ञात-समाधि लगाने के लिए समस्त विचारों (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा व स्मृति रूप वृत्तियों) को रोक कर मन के माध्यम सहारे से पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश का ध्यान करता है। वह ध्यान जब समाधि के रूप में परिवर्त्तित होता है तब पञ्चभूतों का साक्षात्कार होता है।

यहाँ पर पाठकगण यह समझ लेवें कि जिस अप्रत्यक्ष वस्तु को प्रत्यक्ष करना है, उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है कि योग-साधक अपने मन को एकाग्र करने के लिए अपने ही शरीर में एक स्थान पर रोकता है, उसे धारणा कहते हैं। जहाँ धारणा होती है, वहाँ ध्यान करना होता है और जहाँ ध्यान होता है वहीं समाधि लगती है। सार यह हुआ कि धारणा, ध्यान व समाधि योग-साधक के शरीर से बाहर नहीं होंगे। तो पृथिवी, जल आदि का साक्षात्कार क्या शरीर में होगा ? इसका समाधान यह है कि पञ्चभूतों से निर्मित हमारा शरीर है। शरीर कार्य है, जो प्रत्यक्ष है और शरीर का कारण पञ्चमहाभूत हैं, जो अप्रत्यक्ष हैं, इन्हीं अप्रत्यक्ष पञ्चभूतों का प्रत्यक्ष अपने ही शरीर में होगा। इसमें कोई संदेह नहीं है। महर्षि वेदव्यास ने पञ्चमहाभूतों के साक्षात्कार को **'स्थूल आभोगः'** शब्द से कहा है और इन स्थूल-भूतों के साक्षात्कार को वितर्क-समाधि शब्द से परिभाषित किया है। यह संप्रज्ञात समाधि का पहला भेद है।

2. विचारानुगत संप्रज्ञात-समाधि -'सूक्ष्मो विचारः' अर्थात् योग-साधक मन के सहारे से सूक्ष्म-भूतों का साक्षात्कार करता है। इसे विचार नामक समाधि कहते हैं। गन्ध-तन्मात्रा, रस-तन्मात्रा, रूप-तन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा और शब्द-तन्मात्रा को सूक्ष्म-भूत कहते हैं। इन्हीं सूक्ष्म-भूतों के साक्षात्कार को महर्षि वेदव्यास ने विचार-समाधि शब्द से कहा है। योगसाधक इन सूक्ष्म-भूतों का साक्षात्कार अपने ही शरीर में करता है।

3. आनंदानुगत संप्रज्ञात-समाधि - 'आनन्दो ह्लादः' अर्थात् योग-साधक मन के सहारे से पाञ्च ज्ञानेन्द्रियों, पाञ्च कर्मेन्द्रियों, मन, अहंकार, महत्तत्त्वरूपी बुद्धि एवं सत्त्व, रज व तम गुणों का साक्षात्कार करता है। इसे आनन्द नामक समाधि कहते हैं। यहाँ पर मन के माध्यम से दसों इन्द्रियों, अहंकार, महत्तत्त्व और सत्व, रज व तम का साक्षात्कार होना, तो समझ में आता है। परन्तु मन का साक्षात्कार किसके माध्यम से होता है ? इसका समाधान यह है कि जब मन के माध्यम से आत्मा सभी पदार्थों का साक्षात्कार करता है, तो आत्मा मन का भी साक्षात्कार करना चाहता है, तब मन स्वयं अपना स्वरूप दिखा देता है। यहाँ पर मन स्वयं साध्य सिद्ध करने योग्य है और साधन भी बन रहा है, अर्थात् स्वयं को स्वयं के द्वारा दिखाता है। मन दूसरे पदार्थों को दिखाने में साधन के रूप में कार्य करता है और स्वयं के संबन्ध में साधन भी और साध्य भी बनता है, ऐसा समझना चाहिए।

4. अस्मितानुगत संप्रज्ञात-समाधि - 'एकात्मिका संविदस्मिता' अर्थात योगसाधक अपने निज स्वरूप आत्मतत्त्व का साक्षात्कार चाहता है तो मन के सहारे से अपने निज स्वरूप आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता। इसे अस्मिता नामक समाधि कहते हैं। इस अस्मिता नामक समाधि में जीवाव अपने निज स्वरूप नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव को साक्षात् अनुभा करती है। इतना ही नहीं अपनी इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान आदि 24 शक्तियाँ का साक्षात्कार करती है। महर्षि वेदव्यास ने इस भेद को अस्मिता सम शब्द से कहा है-

'सर्व एते सालम्बनाः समाधयः'

महर्षि वेदव्यास ने संप्रज्ञात-समाधि के अन्तर्गत आने वाली चारों (वितर्क, विचार, आनन्द व अस्मिता) समाधियों को **सालम्बनाः**-सहारों वाली समाधियाँ माना है अर्थात् योगी स्वयं अपने-आप बिना मन के सहयोग से इन समाधियों को नहीं लगा सकता। आत्मा सीधे ही इनका साक्षात्कार नहीं करती बल्कि मन के माध्यम से करती है। ऐसा समझना चाहिए।

2. असंप्रज्ञात-समाधि (निर्बीज समाधि)- यहाँ पर महर्षि वेदव्यास सूत्र को समझाते हुए लिखते हैं-

'सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसंप्रज्ञातः ।'

अर्थात् सभी वृत्तियों (प्रमाण, विपर्यय आदि एवं संप्रज्ञात-समाधि) के रुक जाने पर केवल संस्कारों वाले निरुद्ध मन की असंप्रज्ञात समाधि होती है।

यहाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति रूप पाञ्चों वृत्तियों का रुक जाना तो समझ में आता है परन्तु संप्रज्ञात समाधि को भी रोकने की बात क्यों की जा रही है? इसका समाधान यह है कि मन की पाञ्च अवस्थाओं (क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध) में से एकाग्र अवस्था में संप्रज्ञात समाधि लगती है। मन एक समय एक अवस्था में रहता है। जिस समय एकाग्र अवस्था में मन रहेगा, तो क्षिप्त, मूढ़ व विक्षिप्त को रोक कर रहेगा। इसी प्रकार मन निरुद्ध अवस्था में रहेगा, तो एकाग्र अवस्था को रोक कर ही रहेगा। इसके बिना निरुद्ध-अवस्था नहीं आ पायेगी। इसीलिए सूत्रार्थ एवं भाष्य में संप्रज्ञात समाधि को रोकने की

बात कही जा रही है।

संस्कारशेषः सूत्र एवं भाष्य में संस्कारशेष की चर्चा आ रही है। संस्कार का अभिप्राय इस प्रकार समझ सकते हैं कि किसी ने अपने निवास स्थान के पते को रबर स्टांप बनवाकर रखा हो। उसे किसी लिफाफे पर अंकित करता है, तो उस छाप को संस्कार कहते हैं। रबर स्टांप पर जो अक्षर हैं, वैसा ही लिफाफे पर अंकित हुआ। ठीक इसी प्रकार जीवात्मा जिन-जिन विषयों को मन के माध्यम से जानता है, वे जाने हुए विषय मन पर अंकित होते हैं। मन पर अंकित उस छाप को ही संस्कार कहते हैं। मन को क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त अवस्थाओं में जिन-जिन विषयों में मन की प्रवृत्ति हुई है उन-उन विषयों के मन पर संस्कार हैं। इसी के साथ एकाग्र-अवस्था में जो संप्रज्ञात समाधि लगी थी, उसके भी मन में संस्कार हैं। ये सभी संस्कार मन में रहते हैं, फिर भी असंप्रज्ञात समाधि लग सकती है, इसमें कोई बाधा नहीं आयेगी क्योंकि वृत्तियों को रोकने से निरुद्ध-अवस्था की प्राप्ति हो जाती है। निरुद्ध अवस्था में असंप्रज्ञात समाधि लग ही जाती है। महर्षि वेदव्यास लिखते हैं-

'तस्य परं वैराग्यमुपायः'

अर्थात् मन की निरुद्धावस्था में जो असंप्रज्ञात समाधि लगती है, उसका उपाय पर-वैराग्य है। इस प्रकार से पर-वैराग्य के बल पर योग-साधक समस्त वृत्तियों को रोक कर असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त कर लेता है। भा में पूर्व जाने हुए विषयों से संबन्धित संस्कार हो। वे संस्कार समाधि को प्राप्त करने में बाधक नहीं बनते हैं। इसलिए सूत्रकार एवं भा ने संस्कार शेष कह कर असंप्रज्ञात समाधि की चर्चा की है।

यहाँ पर कोई यह भी न समझे कि ये संस्कार बचे रहते हैं, तो इनकी क्या गति होगी ? इसका समाधान है कि निरुद्धावस्था वाले मन में निरुद्धावस्था के संस्कार बनते हैं। उनको निरोध संस्कार कहते हैं। ये निरोध संस्कार क्षिप्त, मूढ़, विक्षित व एकाग्र वाले समस्त संस्कारों को दबाते है निरोध-संस्कार पूर्वकृत संस्कारों को सदा दबा के ही रखते हैं और निरोध संस्कार मन का कार्य (मोक्ष को प्राप्त कराने पर) पूर्ण होने पर मन के साथ मन के कारण सत्त्व, रज व तम में विलीन हो जाते हैं और निरोध संस्कारों से अतिरिक्त पूर्वकृत संस्कार ज्ञानरूपी अग्नि से जले हुए (भुने हुए) बोर के समान होकर भी मन के साथ ही सत्त्व, रज व तम में विलीन हो जो हैं। जब तक संस्कार ज्ञानरूप अग्नि से जले हुए बीज के समान नहीं होते हैं तब तक तनु (मृदु कमजोर) रूप में मन में बने रहते हैं। इसलिए **'संस्कार-शेषः'** शब्द से असंप्रज्ञात समाधि को कहा गया है।

मन की निरुद्धावस्था में मन का कार्य एक प्रकार से पूरा हो जाता है। क्योंकि निरुद्ध का अर्थ है प्रवृत्त न होना अर्थात् वृत्ति उत्पन न करणा-जानायक कार्य रहित हो कर अपने निज रूप में रहना। मन के दो कार्य हैं- एक भोग करवाना, दूसरा मोक्ष दिलाना। मोक्ष दिलाने के लिए निरुद्ध हो जाना हो दूसरा कार्य है। इस स्थिति में मन का कार्य बन्द हो जाता है। आत्मा का संबन्ध सीधा परमात्मा के साथ जुड़ जाता है। इस बात को समझाने के लिए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं-

'सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनीक्रियते'

अर्थात् आलम्बन-सहारे से उस असंप्रज्ञात समाधि को सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसलिए मन को निरुद्ध-रोककर, मन को कार्य मुख कर पर वैराग्य के माध्यम से वस्तु के बिना ही असंप्रज्ञात समाधि को लगाया जाता है। भाष्यकार आगे लिखते हैं कि **'स चार्थशून्यः'** अर्थात् वह असंप्रज्ञात समाधि वस्तु से रहित है। अभिप्राय यह है कि असंप्रज्ञात समाधि किसी जड़ वस्तु के सहारे से नहीं लगती है। बल्कि जड़ वस्तु रूपी मन को रोक कर कार्य मुक्त कर के ही लगती है, ऐसा समझना चाहिए।

इस सूत्र के असंप्रज्ञात-समाधि को निरालम्बन समाधि माना है। सालम्बन का अर्थ जड़ वस्तु के सहारे से होने वाली समाधियाँ और निरालम्बन का अर्थ है जड़ वस्तु के सहारे बिना जीवात्मा स्वयं समाधि को प्राप्त होता है। यहाँ कोई यह भी न समझे कि मन का कोई सहयोग नहीं है, क्योंकि पर-वैराग्य को प्राप्त होने तक मन का पूर्ण सहयोग है। पर-वैराग्य के बाद मन का कार्य पूरा हो जाता है, तब उस मन का सीधा कोई सहयोग नहीं होता है। इस बात को महर्षि वेदव्यास ने आगे इस प्रकार वर्णन किया है-

'तदभ्यासपूर्वकं हि चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिरसंप्रज्ञातः।'

अर्थात् असंप्रज्ञात समाधि का कारण बनने वाले उस पर-वैराग्य का बार-बार अभ्यास करके मन निरालम्बन कार्य विमुक्त बन जाता है अर्थात् जिस प्रयोजन को सिद्ध करवाना चाहता है, उस प्रयोजन को सिद्ध करा कर मन प्रयोजन-मुक्त हो जाता है। इस कारण असंप्रज्ञात-समाधि के काल में मन रहता हुआ भी मानो नहीं है। एक प्रकार से मन का अभाव सा रहता है। ईश्वर का संबन्ध यहाँ मन से न हो कर सीधा आत्मा से ही होता है। इस स्थिति में इस समाधि को निर्बीज-समाधि भी कहते हैं। ऐसी असंप्रज्ञात-समाधि, जिसमें अविद्या रूपी बीज नहीं है उसे निर्बीज-समाधि कहते हैं।

जीवात्मा बार-बार जन्म इसलिए लेता है, क्योंकि जन्म का कारण-अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश बने रहते हैं। इन्हें पञ्च-क्लेश भी कहते हैं। इस पञ्च क्लेश रूपी अविद्या के होने पर जन्म मिलता है। एक प्रकार से जन्म का बीज अविद्या

है। असंप्रज्ञात समाधि अविद्या को नष्ट करने वाली होती है। इस प्रकार जन्म को देने वाली अविद्या बीज है, बीज को नष्ट करने वाली असंप्रज्ञात समाधि है।

असंप्रज्ञात-समाधि (निर्बीज समाधि) के प्रकारः- महर्षि पतंजलि जी के अनुसार असंप्रज्ञात- समाधि दो प्रकार की होती है-

१. भवप्रत्यय नामक असंप्रज्ञात-समाधिः-

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९॥

संसार की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय आत्मा को सुखी करने के लिए हैं। यद्यपि प्रलय से सीधा-सीधा आत्मा को सुख नहीं मिलता, फिर भी वह परोक्ष रूप में सुख का कारण बनती है। संसार की स्थिति में जो सुख का दोहन हुआ था, उस सुख को पुनः एकत्रित करने हेतु प्रलय का होना अति आवश्यक है। जैसे- किसान फसल लेकर धरती को जोत देता है व कुछ समय के लिए बिना बोये रखता है। संसार का बार-बार बनना और बिगड़ना आत्माओं के बार-बार जन्म लेने के लिए है। आत्माएँ बार-बार जन्म इसलिए लेती हैं कि उन्हें मुक्त होना है। मुक्त होने के लिए अनेकों बार जन्म लेना अनिवार्य है। अनन्त जैसे लगने वाले मुक्ति-सुख को एक-दो जन्मों के पुरुषार्थ से प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए महर्षि दयानन्द सरस्वती प्रश्नपूर्वक लिखते हैं- **'मुक्ति एक जन्म में होती है वा अनेक जन्मों में ? अनेक जन्मों में'।** पिछले सूत्र में हमने असंप्रज्ञात-समाधि का स्वरूप एवं उसे प्राप्त करने के उपाय के संबन्ध में चर्चा की थी। यहाँ पर असंप्रज्ञात-समाधि के भेदों की चर्चा की जा रही है। संप्रज्ञात समाधि के चार भेद थे। असंप्रज्ञात-समाधि के संबन्ध में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं-

'स खल्वयं द्विविधः उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च।'

अर्थात् यह जो असंप्रज्ञात समाधि है, उसके दो भेद हैं। एक उपाय-प्रत्यय नामक असंप्रज्ञात समाधि, दूसरी भवप्रत्यय नामक असंप्रज्ञात-समाधि। पहले भवप्रत्यय नामक असंप्रज्ञात समाधि की चर्चा करेंगे। **'भवप्रत्ययोविदेहप्रकृतिलयानाम्'** इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि विदेह नामक योगी की और प्रकृतिलय नामक योगी की भवप्रत्यय नामक असंप्रज्ञात-समाधि होती है।

भवप्रत्ययः-

भव का अर्थ है होना। संसार में जो कुछ भी हो रहा होता है, उसे भव कहते हैं; और जो कुछ हो रहा है, उसकी जानकारी को प्रत्यय शब्द से कहते हैं। संसार में घटित होने वाली स्थिति की जानकारी का नाम भवप्रत्यय है। संसार में क्या हो रहा है? संसार में जन्म हो रहा है एवं मृत्यु हो रही है अर्थात् एक धारा जन्म की चल रही है, तो दूसरी धारा मृत्यु की चल रही है। ये दोनों धाराएँ एक-दूसरे के विपरीत क्रम से निरन्तर चल रही हैं। संसार में दृष्टि डाल कर देखें (सिक्के के एक पहलू पर) कि वृक्ष, वनस्पति, औषधि, कीट-पतंग, सरीसृप, पक्षी, पशु, मनुष्य और मनुष्य के द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले विभिन्न संसाधनों की उत्पत्ति अर्थात् जन्म होता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। दूसरी ओर इन्हीं सब का विनाश अर्थात् मृत्यु होती हुई दिखाई दे रही है। यह दूसरा पहलू है। इन दो प्रकार की धाराओं के प्रति दो प्रकार के योगियों की दृष्टि पड़ती है। एक प्रकार के योगी जन्म के प्रति दृष्टि डालते हैं, तो दूसरे प्रकार के योगी मृत्यु के प्रति दृष्टि डालते हैं। जो जन्म के प्रति दृष्टि डालते हैं, वे विदेह नामक योगी कहलाते हैं और जो मृत्यु के प्रति दृष्टि डालते हैं, वे प्रकृतिलय योगी कहलाते हैं।

उत्पत्ति रूपी जन्म के प्रति और विनाश रूपी मृत्यु के प्रति दृष्टि डालने मात्र से हर कोई योगी नहीं बनता। वे ही बन पाते हैं, जिन्होंने जन्म-जन्मान्तरों से अधक पुरुषार्थ करते हुए, तीव्र इच्छा को उत्पन्न करते हुए, घोर तपस्या करते हुए, उत्तम विधि को अपनाते हुए और अपने अनुकूल साधनों का प्रयोग करते हुए जीवन बिताये हैं। इन का छोटा-मोटा अभ्यास नहीं रहा है। ये तो दीर्घकाल से, निरन्तर, सत्कारपूर्वक अभ्यास करते हुए जैसे एक-एक बून्द से तालाब भर दिया जाये, उसी के समान एक-एक जन्म में थोड़ा-थोड़ा संचय करते-करते आ रहे हैं । मुक्ति के योग्य अपने संचय के साथ-साथ विवेक को निखारते हुए वैराग्य को भी थोड़ा-थोड़ा संचय किया है। वैराग्य रूपी घड़ा भर गया, तो उन्हें अपर वैराग्य भी हो गया। जिससे संप्रज्ञात-समाधि को प्राप्त हो कर धन्य हुए। संप्रज्ञात-समाधि को प्राप्त करने के लिए अथक पुरुषार्थ करते रहे। इसी बीच में विधाता के नियमानुसार पूर्व-जन्म के कर्मों के अनुसार यह जो शरीर मिला, जिसमें रहते हुए उच्च वैराग्य को प्राप्त करने के लिए वे प्रयत्न कर रहे थे, वह यह शरीर विधान के अनुरूप मुक्ति के प्रयोजन को पूरा किये बिना काल से ग्रसित (मृत्यु को प्राप्त) हो गया।

योगी को अब पुनः शरीर मिला, इस शरीर में आते ही जैसे होश संभालने लगा, वैसे ही 'भवप्रत्यय' का विशेष ज्ञान हुआ। इस ज्ञान के होते ही प्रथम प्रकार के योगी, विदेह नामक योगी बन गये। कैसे बन गये ? इसका समाधान प्रस्तुत सूत्र दे रहा है कि पूर्व जन्म में किये हुए पुरुषार्थ के कारण संप्रज्ञात-समाधि प्राप्त हुई थी वे संस्कार इस नये जन्म में भी आ गये। जिनके कारण वे योगी होश संभालते ही संवेदनशील होकर पुरुषार्थ करने लगे। उनमें से एक योगी उत्पत्ति जन्म के प्रति आकर्षित हो गये व उससे भयभीत होने लगे। जन्म से भय इसलिए है कि जन्म ही दुःख का कारण है। क्योंकि जन्म लेते ही नाना प्रकार के दुःख भोगने

पड़ते हैं। इस कारण उत्पन्न हुई वस्तु के प्रति उसे वैराग्य होने लगता है। इतना ही नहीं उस योगी को अपने शरीर के प्रति भी वैराग्य होता है। उस योगी को स्वयं का शरीर भी दु:खदायी दिखने लगता है। उसे अपनी इन्द्रियों, मन, अहंकार, बुद्धि से वैराग्य हो जाता है। उसे सत्त्व, रज व तम रूपी गुणों के प्रति तृष्णा नहीं रहती, **'गुणवैतृष्ण्यम्'** की स्थिति बन जाती है। ऐसी स्थिति में योगी शरीर में रहते हुए भी स्वयं आत्मा को शरीर से अलग प्रत्यक्ष अनुभव करता है। इसे 'विदेह' शब्द से कहा गया है। अर्थात् विदेह का अभिप्राय 'शरीर में रहते हुए भी अपने को शरीर से अलग प्रत्यक्ष करना' है। इस स्थिति में योगी को पर-वैराग्य प्राप्त हो जाता है। जिससे असंप्रज्ञात-समाधि लग जाती है अर्थात् ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है।

ईश्वर-साक्षात्कार का बार-बार अभ्यास करके योगी अपने पाप-पुण्य के वासना रूप संस्कारों को दग्ध बीज (भुने हुए बीज के समान) बनाता है। यह कार्य ईश्वर से प्राप्त ज्ञान से योगी कर पाता है। योगी को जो कार्य करना था, सो पूरा हो गया है। अब योगी का कोई कार्य शेष बचा हुआ नहीं है। इस स्थिति में योगी का यह विद्यमान शरीर अन्तिम शरीर होता है। इस शरीर के छूटते ही वह मुक्ति में जायेगा। ऐसे योगी को **'जीवन मुक्त'** कहा जाता है। वह योगी जीते जी मुक्ति जैसा अनुभव करता है। यह विदेह नामक योगी प्रतीक्षारत है कि कब यह शरीर छूटे, जिससे मुक्ति में जाया जाये। इस संबन्ध में कोई यह न समझे कि योगी का कार्य तो पूर्ण हो गया, फिर क्यों मुक्ति में नहीं जाता, ईश्वर को उस योगी को मुक्ति में ले जाना चाहिए। इसका समाधान यह है कि योगी का कार्य तो पूर्ण हुआ है। परन्तु जिन कर्मों के कारण शरीर मिला है, उसके फल को पूर्ण किये बिना परमेश्वर योगी के शरीर को समाप्त नहीं कर सकता। इसीलिए योगी प्रतीक्षा करता हुआ पूर्व-जन्म के फलों को पूर्ण करने में लगा रहता है। इस संबन्ध में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं-

'विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः। ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन
चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति'

अर्थात् अविद्या से रहित दिव्य गुणों (ईश्वर के ज्ञान, बल, सामर्थ्य) से संपन्न विदेह नामक योगियों को भवप्रत्यय नामक असंप्रज्ञात समाधि होती है। वे अपने पूर्व जन्म के धर्माधर्म रूप संस्कारों के फलस्वरूप भोग को कराने वाले मन के द्वारा जीवन-यापन करते हुए वर्तमान के असंप्रज्ञात-समाधि के फल रूप कैवल्य का आनन्द लेते हुए मुक्त होने की प्रतीक्षा में रहते हैं।

यहाँ पर **'संस्कारमात्रोपयोगेन'** का अभिप्राय है कि संस्कार दो प्रकार के होते हैं, एक अविद्या आदि क्लेशों के कारण बनने वाले वासना रूप संस्कार हैं। दूसरे पुण्य-पाप कर्म करने के कारण बनने वाले धर्म व अधर्म रूप संस्कार हैं। विदेह नामक योगी में जीवन-मुक्त होने से वासना रूप संस्कार नहीं होते हैं, क्योंकि अविद्या समाप्त हो गई होती है। इस कारण दूसरे प्रकार के जो सुख और दु:ख रूप कर्मफल देने वाले धर्म और अधर्म-संस्कार हैं, उन्हीं को यहाँ पर लेना चाहिए। स्वयं महर्षि वेदव्यास ने **'स्वसंस्कारविपाकम्'** शब्द से भी यही संकेत किया है। जो धर्म व अधर्म रूप संस्कार बचे हुए थे, जिनके कारण विदेह-योगी का जन्म हुआ। अब असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त कर उसने वासना रूप संस्कारों को तो दग्धबीज करके एक बड़े प्रयोजन को पूर्ण किया है, परन्तु वह अभी बचे हुए पूर्वकृत कर्म के फलों को भोग रहा है। उन कर्मों के समाप्त होते ही विदेह योगी मुक्त हो जायेगा। यह विदेह नामक भवप्रत्यय योगी का वर्णन पूर्ण हुआ। आगे प्रकृतिलय योगी का वर्णन प्रारम्भ करते हैं।

प्रकृतिलय योगी:-

जिस प्रकार विदेह नामक योगी जन्म-जन्मान्तरों के पुरुषार्थ से बनते हैं, उन्हीं के समान प्रकृतिलय योगी भी जन्म-जन्मान्तरों के पुरुषार्थ से बनते हैं। दोनों में केवल इतना ही अन्तर है कि विदेहयोगी जन्म से प्रभावित हो कर बनते हैं और प्रकृतिलययोगी मृत्यु से प्रभावित हो कर बनते हैं।

जन्म लेकर ये जैसे ही होश संभालते हैं, वैसे ही उनके पूर्व जन्म में प्राप्त संप्रज्ञात-समाधि के संस्कार उद्‌बुद्ध हो जाते हैं, जिनके परिणामस्वरूप इन्हें मृत्यु से भय उत्पन्न होने लगता है। वृक्ष, वनस्पति, औषधि, कीट-पतंग, पक्षी, पशु, मनुष्य और संसाधनों का विनाश होते हुए देख-देख कर इन्हें और अधिक भय उत्पन्न होता है। जिससे ऐसे योगी परमेश्वर की ओर अत्यधिक आकृष्ट होने लगते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें यह संसार सर्वथा बाधक दिखने लगता है। **'मन में संसार की उपस्थिति से परमेश्वर नहीं मिलेगा'** इन्हें यह अनुभूति होने लगती है। इस अवस्था में योगी बौद्धिक स्तर पर समस्त संसार व संसार के पदार्थों को कारण रूप में परिवर्तित करता है, अर्थात् प्रलय में बदल देता है। कोई इसे यथार्थ रूप में न समझे, यह केवल योगी के बुद्धि के स्तर पर बुद्धि में होने वाला प्रलय है। इसे दर्शन की भाषा में 'प्रलयावस्था-सम्पादन' कहते हैं।

योगी न केवल संसार के पदार्थों को प्रलयवत् बनाता है बल्कि अपने शरीर, तन्मात्राओं, इन्द्रियों, मन, अहंकार, महत्तत्त्व रूपी बुद्धि को भी प्रलयवत् बना देता है। इस परिस्थिति में योगी के समक्ष कोई कार्य पदार्थ नहीं बचता है। वह कारण-प्रकृति (सत्त्व-रज-तम) में भी बंधन-दु:ख देखता है। तब केवल ईश्वर ही योगी के समक्ष ग्राह्य रूप में विद्यमान होता है। इसी स्थिति में योगी को पर-वैराग्य हो जाता है। जब संसार ही नहीं, तो संसार में तृष्णा भी नहीं रहेगी, तब **'गुणवैतृष्ण्यम्'** की स्थिति रहती है। पर-वैराग्य में रह कर योगी असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त कर लेता है। यहाँ पर, क्योंकि योगी संसार को उसके मूल उपादान कारण

'प्रकृति' (सत्व-रज-तम) में विलीन करके पर-वैराग्य को प्राप्त होता है, इसी कारण इस योगी को प्रकृतिलय-योगी कहते हैं।

असंप्रज्ञात समाधि का बार-बार अभ्यास करके ईश्वरीय ज्ञान से योगी अपने वासना रूपी संस्कारों को दग्धबीज बना देता है। अब योगी के द्वारा करने योग्य कोई कार्य नहीं बचता। इसलिए जो करना था, सो पूरा हो गया। इस स्थिति का वर्णन महर्षि वेदव्यास करते हैं-

'तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने

कैवल्यपद्मिवानुभवन्ति यावन्न पुनरावर्त्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमिति।'

अर्थात् प्रकृतिलययोगी समाधि के काल में कैवल्य-मुक्ति जैसा अनुभव करते हुए जीवन-यापन करते हैं। जब तक सांसारिक कार्यों (खाना-पीना, सोना-उठना, अन्यों से व्यवहार करना आदि कार्यों) को नहीं करते तब तक समाधि में रह कर कैवल्य का आनन्द लेते रहते हैं। योगी मुक्ति जैसी अनुभूति को रोक कर व्यवहार-काल में इसलिए आते हैं कि इस योगी का मन साधिकार होता है। मन के अधिकार दो हैं- एक भोग कराना, दूसरा मुक्ति दिलाना। मुक्ति को तो मन ने दिलाया परन्तु अभी भोग को पूरा नहीं करवाया। इसलिए जब तक पूर्व-जन्म के कर्मफल के कारण वर्तमान शरीर रहेगा तब तक मन खाना-पीना आदि सांसारिक व्यवहारों वाला भोग कराता रहेगा। जब पूर्व-जन्म के फल पूरे हो जायेंगे, तो शरीर सहित योगी के सभी साधन प्रकृति में विलीन हो जायेंगे। इसलिए महर्षि वेदव्यास ने लिखा है कि मन अपने अधिकार के कारण भोग रूपी सांसारिक व्यवहार करने के लिए जब तक लौट कर नहीं आता, तब तक योगी मुक्ति जैसा अनुभव करते रहते हैं।

2. उपाय-प्रत्यय नामक असंप्रज्ञात-समाधिः-

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २०॥

सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने सूत्र में 'इतरेषाम्' शब्द से उपाय-प्रत्यय योगियों की ओर संकेत किया है। महर्षि वेदव्यास ने 'इतरेषाम्' शब्द को व्याख्या करते हुए लिखा है कि **'उपायप्रत्ययो योगिनां भवति'** अर्थात् भवप्रत्यय नामक असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त करने वाले विदेहयोगी और प्रकृतिलय योगियों से भिन्न योगियों को उपाय-प्रत्यय नामक असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। उपाय-प्रत्यय का अभिप्राय ऐसे समझें- उपाय का अर्थ 'कारण या साधन' है, और प्रत्यय का अर्थ 'ज्ञान' है। यहाँ पर ज्ञान से तत्त्वज्ञान लेना चाहिए। उपाय कारण या साधनों से प्रत्यय-तत्त्वज्ञान होता है और तत्त्वज्ञान से परवैराग्य होता है फिर परवैराग्य से असंप्रज्ञात-समाधि होती है। यहाँ पर सूत्रकार ने श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा इन पांचों उपायों से तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की बात कही है। जिससे परवैराग्य हो जाये और असंप्रज्ञात समाधि लग सके।

श्रद्धा - असंप्रज्ञात समाधि तक पहुँचने का पहला उपाय है श्रद्धा। श्रद्धा मन की एक सूक्ष्म, पवित्र व उच्चतम दिव्य भावना है। जिस योगाभ्यासी में श्रद्धा होती है, वह आनन्द को पाने का अधिकारी होता है और वह अपने लक्ष्य को पा लेता है। श्रद्धा के वास्तविक अर्थ को जानने के लिए हमें महापुरुषों, ऋषि-महर्षियों का आश्रय लेना चाहिए और साक्षात् वेद को भी समझना चाहिए कि श्रद्धा के संबन्ध में वेद क्या कहता है और वेद के अनुसार ऋषि-महर्षि क्या कहते हैं-

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।

अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥ (यजु.-१९.७७)

अर्थात् प्रजा के पालक परमपिता परमेश्वर ने सत्य और झूठ को देखकर दोनों को अलग-अलग किया है। उसने झूठ में अश्रद्धा को उत्पन्न किया है और सत्य में श्रद्धा को उत्पन्न किया है।

श्रदिति सत्यमेवाहुर्धारणं धोच्यते बुधैः।

यया हि धार्यते सत्यं वृत्त्या श्रद्धेति सा मता ॥

अर्थात् श्रद्धा में दो शब्द हैं। एक 'श्रत्' दूसरा 'धा' । श्रत् का अर्थ है 'सत्य' और धा का अर्थ है 'धारण करना' । जिस व्यवहार से सत्य को धारण किया जाता है, उसे श्रद्धा कहा जाता है। ऐसा ऋषि-महर्षि मानते हैं और कहते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी श्रद्धा का अर्थ लिखते हुए कहा है-

'ईश्वरसत्यधर्मादिगुणानामुपर्यत्यन्तं विश्वासः श्रद्धा'

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका)

अर्थात् ईश्वर, सत्य, धर्म आदि शुभ गुणों में अत्यन्त विश्वास रखने को श्रद्धा कहते हैं। संसार में भी जिसे लोग सत्य समझते हैं, उसी में आस्था-विश्वास रखने को श्रद्धा मानते हैं। मानव का यह स्वभाव ही है कि वह अपनी समझ से सत्य में यथार्थ में ही विश्वास रखता है, अयथार्थ में नहीं।

सूत्र का भाष्य करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि **'श्रद्धा चेतसः संप्रसादः'** अर्थात् मन के विश्वास को श्रद्धा कहते हैं। यहाँ पर **संप्रसादः** शब्द का अर्थ **'विश्वास'** है। यथार्थ वस्तु में विश्वास होता है। योगाभ्यासी परमेश्वर के वास्तविक स्वरूप को वेद व वेदानुकूल शास्त्रों में जैसा वर्णन किया है वैसा ही जान कर परमेश्वर में श्रद्धा रखता है। जैसी श्रद्धा परमेश्वर पर रखता है, वैसी ही श्रद्धा स्वयं को जान कर और जड़ पदार्थों को जानकर उन पर भी रखता है।

योगाभ्यासी की यह श्रद्धा ही योग के मार्ग को प्रशस्त करती है और बाधाओं को दूर करती है। इसीलिए महर्षि आगे लिखते हैं कि **'सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति'** अर्थात् जिस प्रकार जन्म देने वाली कल्याण करने वाली माता अपनी सन्तान की रक्षा करती है उसी प्रकार श्रद्धा योगी की रक्षा करती है। इससे बढ़कर और कोई उपमा नहीं हो सकती है।

योगी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जैसे-जैसे जानता जाता है, वैसे-वैसे उस वस्तु के प्रति श्रद्धान्वित होता रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि वस्तु के प्रति उचित ही व्यवहार करता है, अनुचित व्यवहार नहीं करता है। जब छली कपटी हो कर कोई व्यवहार ही नहीं करता हो, तब श्रद्धा योगी का कल्याण ही करती है। वह श्रद्धा किस प्रकार कल्याण करती है? श्रद्धा से मन प्रसन्न होता है, प्रसन्न-मन एकाग्र होता है, एकाग्र-मन ईश्वर को प्राप्त कराने वाला होता है। यह ही योगी का कल्याण है।

वीर्य- असंप्रज्ञात समाधि तक पहुँचाने का दूसरा उपाय है वीर्य। वीर्य का अभिप्राय है उत्साह-स्फूर्ति-बल-सामर्थ्य। जीवात्मा में एक प्रयत्न गुण है, जिसे हम पुरुषार्थ के रूप में देखते हैं। आत्मा में इतना सामर्थ्य है कि वह चाहे कुछ भी (हो सकने योग्य) कर सकती है। परन्तु नहीं करती है। कारण यह है कि उसे यथार्थ का बोध नहीं है। जिस योगी ने वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान लिया है, उसे उसमें अटूट श्रद्धा उत्पन्न होती है। वही श्रद्धा योगी में छिपे प्रयत्न गुण को उद्‌बुद्ध करती है। जैसे कामाग्नि से अन्धे हुए नव-युवा में पुरुषार्थ होता है, वैसे ही आत्मा का प्रयत्न गुण मानो पूर्ण युवा हो कर योगी को असंप्रज्ञात समाधि की ओर अग्रसर करता है। योगी में समाधि को प्राप्त करने की स्फूर्ति-बल-सामर्थ्य-पुरुषार्थ अत्यधिक बढ़ जाता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं-

'तस्य हि श्रद्धधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते'

अर्थात् दूध का दूध और पानी का पानी (अर्थात् यथार्थता) में विश्वास रखने वाले उस श्रद्धालु योगी में वीर्य उत्साह स्फूर्ति-बल-सामर्थ्य विपुल मात्रा में उत्पन हो जाता है। जिससे योगी मुक्ति को प्राप्त करने में जो-जो बाधक हैं और जो-जो साधक हैं उनको दूर करने और अपनाने में हाथी के समान पुरुषार्थ करने लगता है। जिसके परिणामस्वरूप वह सफलता की सीढ़ी पर चढ़ने लगता है, तो मन प्रसन्न होता है। इससे वह और अधिक पुरषार्थ करता है तथा उसे और अधिक प्रसन्नता मिलती है। यह बार-बार प्रयत्न करके और अधिक उत्साह को प्राप्त करता रहता है। इससे असंप्रज्ञात समाधि का मार्ग सरल और निर्बाध हो जाता है।

स्मृति - असंप्रज्ञात समाधि तक पहुँचने का तीसरा उपाय है स्मृति। स्मृति के संबन्ध में सभी अच्छी प्रकार जानते हैं कि स्मरण-याद रहने को स्मृति कहते हैं। जिस योगी ने पूर्ण श्रद्धा को उत्पन्न किया हो, उसे वीर्य रूपी उत्साह अत्यधिक उत्पन्न हो जाता है। जिसके परिणाम स्वरूप वह जिस किसी कर्म को संपन्न करना चाहता है, उससे संबन्धित स्मृति स्पष्ट रूप से उभर कर आती है। जिससे योगी का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

इस संबन्ध में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि **'समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते'** अर्थात् योगी के उत्साह स्फूर्ति-उमंग रूपी वीर्य के कारण स्मरण शक्ति ठहरी हुई रहती है। इसके परिणाम स्वरूप काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान, स्व-स्वामी संबन्ध आदि के उभर जाने पर जैसे हम बह जाते हैं वैसे योगी नहीं बह जाते, बल्कि वे उन उपायों को स्मरण करते हुए अपने ईश्वर-साक्षात्कार रूपी मार्ग को बाधा रहित ही बनाये हुए रखते हैं। हम अपने को जानकार, समझदार , मानकर भी कहाँ से कहाँ बह जाते हैं। यह हमें ही पता नहीं चल पाता है कि हम असंप्रज्ञात मार्ग से कितने भटक गये हैं। यही अन्तर योगी और हम में है।

समाधि - असंप्रज्ञात समाधि तक पहुँचने का चौथा उपाय है समाधि। यहाँ पर समाधि से संप्रज्ञात समाधि लेना चाहिए। संप्रज्ञात समाधि की प्राप्ति मन की एकाग्रता से होती है। मन की एकाग्रता मन के प्रसन्न होने पर होती है। मन में प्रसन्नता लाने के लिए योगी के समस्त व्यवहार उचित और समाधि को प्राप्त कराने वाले होने चाहिएँ। प्रातःकाल उठने से लेकर रात्रि में निद्रा तक जो भी व्यवहार योगी करता है, वह व्यवहार प्राणियों के प्रति मित्र की दृष्टि से होने पर ही मन में प्रसन्नता आ सकती है। वेद ने कहा भी है-

'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' (यजु.-३६.१८)

अर्थात् मनुष्य को चाहिए कि सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखे। संसार में भांति-भांति के लोग रहते हैं, उन सब के साथ एक जैसा व्यवहार नहीं हो सकता। इसलिए वेद के अनुसार ऋषियों ने सुखी जनों के प्रति मित्रता का भाव रखने, दुःखी जनों के प्रति करुणा का भाव रखने, विद्वानों के प्रति प्रसन्नता का भाव रखने और दुष्टों के प्रति उपेक्षा न राग-न द्वेष का भाव रखने को कहा है। इसी से मन प्रसन्न रहता है। आत्मा को आवाज न मान कर हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार व परिग्रह आदि करने वाले का

मन कभी प्रसन्न नहीं होता। इसलिए योगी यम-नियम आदि का पालन प्रत्येक विकट परिस्थिति में भी करता हुआ मन को प्रसन्न रखता है इन समस्त व्यवहारों में प्रत्येक उपाय को स्मरण रखना पड़ता है। योगी सभी उपायों को स्मरण रखता है। इसीलिए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं-

'स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते'

अर्थात् योगी प्रत्येक विकट परिस्थिति में भी उत्तम-उत्तम उपायों का स्मरण रखते हुए ही व्यवहार करता है। ऐसी उत्तम स्मृति के ठहरी हुई होने पर ही योगी का मन प्रसन्न रह कर बिना बाधा के ध्यान के काल में समाधिस्थ हो जाता है। समाधिस्थ हो कर योगी जहाँ अपने आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार करता है वहाँ समस्त स्थूल व सूक्ष्म (न दिखने वाले) पदार्थों का साक्षात्कार भी कर लेता है।

प्रज्ञा- असंप्रज्ञात समाधि तक पहुँचने का पाञ्चवाँ उपाय है, प्रज्ञा। यहाँ पर प्रज्ञा से तात्पर्य है **'ऋतम्भरा प्रज्ञा'** । **ऋतम्** का अर्थ **'सत्य'** है और भरा का अर्थ **'धारण करने वाली'** है। सत्य को धारण करने वाली प्रज्ञा को **'ऋतम्भरा प्रज्ञा'** कहते हैं। यहाँ पर पाठकगण यह समझ लेवें कि जिस श्रद्धा को अपना कर योगी योगाभ्यास प्रारम्भ करता है उस श्रद्धा वाले सत्य में और ऋतम्भरा-प्रज्ञा वाले सत्य में कुछ भिन्नता है। श्रद्धा वाला सत्य, शास्त्रों के आधार पर शब्द-प्रमाण के अनुसार है और ऋतम्भरा-प्रज्ञा वाला सत्य साक्षात् प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर है, ऐसा समझना चाहिए। योगी संप्रज्ञात समाधि में स्वयं आत्मा का और सत्त्व, रज व तम तथा उनसे बने पदार्थों का साक्षात्कार कर लेता है, तो उसे विशेष ज्ञान प्राप्त होता है। जिसको महर्षि वेदव्यास लिखते हैं कि **'समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते'** अर्थात् योगी संप्रज्ञात समाधि में पूर्ण एकाग्र अवस्था में रहता है। उस पूर्ण एकाग्र अवस्था वाले मन में प्रज्ञा-विवेक अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है। **'येन यथार्थ वस्तु जानाति'** अर्थात् जिससे योगी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को साक्षात् जानता है।

'तदभ्यासात्तद्विषयाच्च वैराग्यादसंप्रज्ञातः समाधिर्भवति'

अर्थात् जिस ऋतम्भरा प्रज्ञा से यथार्थ वस्तु को जाना जाता है, उस ऋतम्भरा प्रज्ञा का योगी बार-बार अभ्यास करता है। जिससे योगी को प्रत्यक्ष अनुभूति यह होती है कि सत्त्व, रज व तम से बने पदार्थों से मिलने वाला सुख मुझ को तृप्त नहीं कर सकता तथा ये सुख के साथ दु:ख भी देंगे। इसलिए इनका साक्षात्कार करने के बाद भी मैं कृतकृत्य नहीं हो पा रहा हूँ। अब मुझे परमात्मा का साक्षात्कार करना है। परमात्मा का साक्षात्कार तभी संभव है जब मैं संप्रज्ञात समाधि के विषयों से विरक्त हो जाऊँ। यह अनुभूति करके योगी संप्रज्ञात समाधि के विषयों से भी वैराग्य को प्राप्त विरक्त हो जाता है अर्थात् **'गुणवैतृष्ण्यम्'**की स्थिति में पहुँच जाता है। जिसके परिणामस्वरूप परवैराग्य हो जाता है। इस परवैराग्य से योगी को असंप्रज्ञात समाधि की प्राप्ति हो जाती है। जिसमें परम-पिता परमेश्वर का साक्षात्कार होता है।

समाधि की शीघ्र प्राप्ति का उपाय-

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

मनुष्य किसी भी लक्ष्य को पूरा करने के लिए प्रवृत्त होता है, तो उसी प्रवृत्ति पर लक्ष्य निर्भर रहता है। लक्ष्य की प्राप्ति से प्रवृत्ति की पूर्णता और अप्राप्ति से प्रवृत्ति की न्यूनता प्रकट होती है। प्रवृत्ति का अभिप्राय है, लक्ष्य की ओर चलना। यह जो **'चलना'** है, यह ही प्रवृत्ति है, इसे गति भी कह सकते हैं। सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने इस प्रवृत्ति या गति को संवेग शब्द से प्रस्तुत किया है।

'श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्' इस सूत्र में श्रद्धा, उत्साह, स्मृति, सम्प्रज्ञात समाधि और ऋतम्भरा-प्रज्ञा रूपी उपायों को अपना कर असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करने की चर्चा की थी। उन उपायों को अपनाने वाले योगाभ्यासियों के प्रकारों की चर्चा प्रस्तुत सूत्र में की जा रही है।

वर्तमान खेलों पर दृष्टि डाली जाये, तो क्रिकेट का अधिक बोल-बाला है। जिला स्तरीय क्रिकेट, प्रान्त स्तरीय क्रिकेट और भारत स्तरीय क्रिकेट। जिला स्तर पर खेलने वालों में भी अन्तर कर सकते हैं, सामान्य स्तर पर खेलने वाले, मध्यम स्तर पर खेलने वाले और उत्तम स्तर पर खेलने वाले। इस प्रकार जिला स्तर पर खेलने वाले तीन वर्ग हुए। ऐसे ही प्रान्तीय स्तर के तीन वर्ग और भारतीय स्तर के तीन वर्ग हुए। कुल मिलाकर नौ वर्ग हुए। प्रत्येक वर्ग का लक्ष्य जीत है। जीत को हस्तगत करने के उपायों के प्रति जो वर्ग सजग रहता है, वही वर्ग जीत पाता है। यदि सजगता सामान्य है या मध्यम है, तो जीत बहुत दूर खड़ी दिखेगी और यदि सजगता उत्तम है, तो जीत अति निकट दिखाई देगी।

जैसे खेल के सम्बन्ध में है, वैसे समाधि के संबन्ध में जानना चाहिए। महर्षि वेदव्यास ने भी योगाभ्यास करने वालों के अलग-अलग वर्ग बनाये हैं। ऋषि लिखते हैं-

'ते खलु नवयोगिनो मृदुमध्याधिमात्रोपाया भवन्ति।
तद् यथा मृदुपायो मध्योपायोऽधिमात्रोपाय इति।'

अर्थात् ये जो असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त करने वाले योगाभ्यासी हैं; वे मृदु उपाय वाले, मध्य उपाय वाले और अधिमात्र उपाय वाले हैं। मृदु का अभिप्राय सामान्य स्तर से, मध्य का अभिप्राय मध्यम स्तर से और अधिमात्र का अभिप्राय उत्तम स्तर से है। अर्थात् सामान्य स्तर से, मध्यम स्तर से और उत्तम स्तर से उपायों को अपनाने वाले योगाभ्यासी होते हैं।

'तत्र मृदूपायस्त्रिविधो मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेग इति।
तथा मध्योपायस्तथाधिमात्रोपाय इति'

अर्थात् उन तीनों भेदों में से एक-एक भेद के तीन-तीन भेद समझने चाहिएँ। जैसे मृदु संवेग अल्प सामान्य स्तर, मध्य संवेग मध्यम सामान्य स्तर और तीव्र संवेग उत्तम सामान्य स्तर। ये मृदु उपाय के तीन स्तर हुए हैं। ऐसे ही मध्य उपाय के तीन स्तर हैं। मृदु संवेग अल्प मध्यम स्तर, मध्य संवेग मध्यम मध्यम स्तर और तीव्र संवेग उत्तम मध्यम स्तर। इसी प्रकार अधिमात्र उपाय के तीन स्तर ये हैं- मृदु संवेग अल्प उत्तम स्तर, मध्य संवेग मध्यम उत्तम स्तर और तीव्र संवेग उत्तम उत्तम स्तर अर्थात् उत्तम में भी उत्तम स्तर। इस प्रकार नौ प्रकार के योगाभ्यासी हैं।

पाठक गण से आग्रह है कि यहाँ पर इन अपरिचित शब्दों से न घबरावें। इतना अवश्य समझ लेवें कि ये सारे शब्द आत्म-पुरुषार्थ को ले कर प्रस्तुत किये गये हैं। जब योगाभ्यासी अपने पुरुषार्थ की गति संवेग को सामान्य रूप से व्यवहार में लाता है अर्थात् मोटे रूप में दु:ख (हिंसा) नहीं देता हुआ, झूठ नहीं बोलता हुआ, चोरी नहीं करता हुआ, व्यभिचार नहीं करता हुआ और संग्रह नहीं करता हुआ चल रहा होता है। स्वयं इन गलत कार्यों को नहीं करता हुआ दूसरों से भी नहीं करवाता है। इतना ही नहीं, दूसरों के गलत करने पर समर्थन भी नहीं देता है। छोटे-मोटे लालच से, क्रोध से और छोटी-मोटी मूर्खता से भी बचा रहता है, क्योंकि लालच, क्रोध और मूर्खता मनुष्य को हिंसक व झूठा आदि बनाने का कारण बनते हैं। मोटे रूप से गलत कामों को न करना स्थूल दोषों को न करना समझना चाहिए। यह योगाभ्यासी का सामान्य स्तर है। इसे ऋषि ने मृदु वर्ग में रखा है।

मध्यम स्तर वाले योगाभ्यासी स्वयं को, परिवार को, समाज को, राष्ट्र व विश्व को ध्यान में रखते हुए कोई ऐसा गलत कार्य नहीं करते। चाहे नौकरी में हो या व्यापार में हो अथवा समाज व राष्ट्र का कार्य हो। सदा निष्पक्ष सत्य-न्याय का ही अनुसरण करते हैं। उत्तम स्तर के योगाभ्यासी वे होते हैं, जो स्वयं का प्राण त्याग करना भी पड़े, तो भी प्राणों को न्योछावर करेंगे, परन्तु किसी भी प्रकार का गलत कार्य नहीं करते। उन्हें ईश्वर, वेद, ऋषि महर्षियों की सूक्ष्म दृष्टि से नाप-तोल कर देखा जाये, तो भी वे गलत नहीं ठहर सकते। यह समाधि का वह मार्ग है, जिस पर चलते हुए किसी पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय या विश्वस्तरीय बन्धनों को ध्यान में रख कर अनुचित कार्य नहीं किया जाता। यहाँ तो सभी बन्धनों से ऊपर उठ कर समाधि रूपी जीत को हस्तगत करना है। यहाँ पर नादानगी का बहाना नहीं चल सकता।

जिस प्रकार खिलाड़ी खेल के मैदान में उतरता है, तो उसका एक मात्र लक्ष्य होता है जीत। मैदान में उतरने वाले प्रत्येक खिलाड़ी को यह पता रहता है कि अमुक कारणों से जीत को हस्तगत कर लिया जाता है। अर्थात् अधिकारी ही मैदान में उतरता है, अनधिकारी नहीं। फिर भी जीत हस्तगत नहीं होती, तो वहाँ जीत के उपायों को भूल जाना या लापरवाही आदि कारण बनते हैं। जितने-जितने जीत के उपायों को अपनाते जाते हैं, उतनी-उतनी जीत निकट होती जाती है। ठीक इसी प्रकार से समाधि रूपी जीत को हस्तगत करने के लिए **योग मार्ग** में उतरे हुए योगाभ्यासियों को उपायों की जानकारी रहती है। उन उपायों को जिस गति संवेग से लागू करते जाते हैं, उतनी उतनी समाधि भी निकट होती जाती है।

'तीव्रसंवेगानामासन्नः' इस सूत्र का अर्थ करते हुए महर्षि वेदव्यास यह कहना चाहते हैं कि मृदु, मध्य, अधिमात्र के रूप में जो सामान्य अभ्यासी, मध्यम अभ्यासी और तीव्र अभ्यासी हैं, इनमें से जो तीव्र गति से अहिंसा, सत्य आदि यम और शौच, संतोष आदि नियम का पालन करते हैं, वे समाधि को अति शीघ्र प्राप्त करते हैं। योगाभ्यासियों के नौ प्रकारों को सामने रखा जाये, तो जो तीन वर्ग हैं, अर्थात् मृदु स्तर के तीन, मध्य स्तर के तीन और अधिमात्र स्तर के तीन, तीनों वर्गों में से एक-एक वर्ग को सामने रख कर देखें, तो सामान्य मृदु की अपेक्षा से मध्य मृदु समाधि को शीघ्र प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार मध्य स्तर में सामान्य मध्यम की अपेक्षा से मध्यम-मध्यम और मध्यम-मध्यम की अपेक्षा से तीव्र मध्यम योगाभ्यासी समाधि को शीघ्र प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार अधिमात्र स्तर में सामान्य अधिमात्र की अपेक्षा मध्यम अधिमात्र, और मध्यम अधिमात्र की अपेक्षा से तीव्र अधि मात्र अभ्यासी शीघ्र समाधि को प्राप्त होता है। अपने-अपने वर्ग के शीघ्र समाधि को प्राप्त करने वालों को समक्ष रख कर महर्षि पतञ्जलि ने अगला सूत्र बनाया है।

और अधिक शीघ्रता से समाधि-

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः॥२२॥

अर्थात् मृदु तीव्र संवेग वाले योगाभ्यासी की अपेक्षा मध्य तीव्र संवेग वाले योगाभ्यासी समाधि को शीघ्र प्राप्त करते हैं। मध्य तीव्र संवेग वाले योगाभ्यासी की अपेक्षा से अधिमात्र तीव्र संवेग वाले योगाभ्यासी सब से अधिक शीघ्रता से समाधि को प्राप्त करते हैं।

समाधि को प्राप्त करने के जितने भी उपाय हो सकते हैं, उन उपायों को सर्वांगीण रूप से जो जितना अधिक अभ्यास करता है, वह उतना ही अधिक शीघ्रता से समाधि को प्राप्त कर सकता है। ऋषियों का यह मन्तव्य है कि **किसी भी उपाय को कम महत्त्व दे कर समाधि की दूरी को बढ़ाना नहीं चाहिए।** इसीलिए कहा जाता है कि छोटी सी भूल से पराजय का मुख देखना पड़ रहा है।

स्मरणीय बिंदु -

1. समाधि का वास्तविक स्वरूप - अंतिम अवस्था: समाधि योग का आठवां अंग और चित्त की वह परम शांत अवस्था है, जहाँ केवल ध्येय वस्तु का प्रकाश रहता है। इस स्थिति में चित्त का अपना स्वरूप शून्य जैसा हो जाता है और वह पूरी तरह ध्येय के आकार में लीन हो जाता है।

2. सम्प्रज्ञात या सबीज समाधि - ज्ञान सहित: समाधिपाद के अनुसार इसके अंतर्गत चित्त किसी स्थूल या सूक्ष्म वस्तु पर एकाग्र रहता है। इसमें वितर्क, विचार, आनंद और अस्मिता के भेद शामिल हैं, क्योंकि इसमें संस्कारों के बीज नष्ट नहीं होते, इसलिए इसे सबीज समाधि कहते हैं।

3. असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि - ज्ञान से परे: यह समाधि की सर्वोच्च अवस्था है, जो परवैराग्य के अभ्यास से सिद्ध होती है। इसमें चित्त की सभी वृत्तियों और उनके बीजों अथवा संस्कारों का पूर्ण निरोध हो जाता है, जिससे आत्मा अपने शुद्ध रूप में स्थित होकर कैवल्य - मोक्ष प्राप्त करती है।

15 अंक के प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि योगदर्शन के अनुसार समाधि का वास्तविक अर्थ क्या है? समाधिपाद के आलोक में सबीज और निर्बीज समाधि के दार्शनिक स्वरूप का सविस्तार वर्णन कीजिए।
2. सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार समाधियों के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए। स्थूल और सूक्ष्म विषयों के आलम्बन के आधार पर इनका तुलनात्मक विश्लेषण कीजिए।
3. ''निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद:'' और ''ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'' सूत्रों की विस्तृत समीक्षा कीजिए। निर्विचार समाधि की परिपक्वता से अध्यात्म प्रसाद और ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति कैसे होती है?

5 अंक के प्रश्न -

1. सबीज समाधि किसे कहते हैं? इसके अंतर्गत कौन-कौन सी समाधियाँ सम्मिलित हैं? संक्षेप में लिखिए।
2. निर्वितर्क समाधि का स्वरूप क्या है? जब शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प शांत हो जाते हैं, तब चित्त की क्या स्थिति होती है?
3. ऋतम्भरा प्रज्ञा से क्या अभिप्राय है? यह सामान्य बुद्धि या श्रवण-अनुमान से प्राप्त ज्ञान से किस प्रकार श्रेष्ठ है?
4. निर्बीज समाधि की परिभाषा लिखिए। ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कारों का निरोध होने पर इसकी प्राप्ति कैसे होती है?

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से मिश्रित समाधि को क्या कहा जाता है?

(क) निर्वितर्क समाधि

(ख) सवितर्क समाधि

(ग) सविचार समाधि

(घ) निर्विचार समाधि

2. महर्षि पतंजलि के अनुसार सूक्ष्म विषयों की सीमा कहाँ तक मानी गई है?

(क) अहंकार तक

(ख) बुद्धि तक

(ग) प्रकृति (अलिङ्ग) तक

(घ) पंचमहाभूत तक

3. ''तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य'' सूत्र के अनुसार निर्बीज समाधि की तुलना में सबीज समाधि को क्या माना गया है?

(क) अन्तरङ्ग साधन

(ख) बहिरङ्ग साधन

(ग) मुख्य साधन

(घ) इनमें से कोई नहीं

4. उस प्रज्ञा अथवा बुद्धि को क्या कहते हैं, जो केवल सत्य को ही धारण करती है और जिसमें मिथ्या का लेश भी नहीं होता?

(क) सामान्य प्रज्ञा

(ख) ऋतम्भरा प्रज्ञा

(ग) तार्किक प्रज्ञा

(घ) श्रुत प्रज्ञा

5. समाधिपाद के अंतिम सूत्र ''तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः'' में 'तस्यापि' शब्द किसके संस्कारों के निरोध के लिए प्रयुक्त हुआ है?

(क) अविद्या के संस्कार

(ख) व्युत्थान के संस्कार

(ग) ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कार

(घ) क्लिष्ट वृत्तियों के संस्कार

इकाई-2.4 ईश्वर का स्वरुप

उद्देश्य -

• **ईश्वर की विशिष्ट परिभाषा स्पष्ट करना:** साधक को यह समझाना कि योगदर्शन के अनुसार ईश्वर कोई साधारण शक्ति नहीं, बल्कि क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासनाओं से सर्वथा मुक्त एक विशेष पुरुष अर्थात् पुरुषविशेष हैं।

• **सर्वज्ञता के स्रोत को प्रतिपादित करना:** यह स्थापित करना कि ईश्वर में ज्ञान की सीमा अत्यंत असीम है और वे सभी प्राचीन गुरुओं के भी आदि गुरु हैं, क्योंकि वे काल या समय के बंधन से परे हैं।

• **साधना का सुगम माध्यम प्रदान करना:** निराकार तत्व को समझने के लिए ईश्वर के वाचक नाम ''ओम् या प्रणव'' का मार्ग सुझाना, जिससे साधक आसानी से ध्यान लगा सके।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥२३॥

सूत्रार्थ- पूर्वोक्त अधिमात्र उपाय एवं अधिमात्र तीव्रसंवेग के अतिरिक्त ईश्वरप्रणिधान से भी शीघ्रतम समाधि का लाभ होता है।

व्याख्या-व्यास भाष्य-

''प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण ।

तदभिध्यानमात्रादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति ॥''

अर्थात् प्रणिधान अर्थात् भक्ति-विशेष से प्रसन्न कर अनुकूल किया गया ईश्वर-संकल्प मात्र योगी को अनुगृहीत करता है। उस ईश्वर के संकल्पमात्र से योगी को असम्प्रज्ञात समाधि-लाभ और समाधि-फल शीघ्र मिल जाता है।

विश्व की नियामक, चेतन सर्वोच्च शक्ति ईश्वर है। जीव ईश्वर का सजातीय हैं। जड़-प्रकृतिजन्य त्रिगुणो के बन्धन में पड़े क्लेशित पुरुष पर उसका सहज अनुग्रह भाव रहता है। यदि समर्पित भाव से श्रद्धा-विश्वासपूर्वक साधक ईश्वरोपासना करे और दृढ़ आस्थावान् होकर प्रपन्न भाव से योगसाधना करे, ईश्वर के गुणों तथा स्वरूप का चिन्तन करे, तो बिना अधिक प्रयास के उसके अनुग्रह से शीघ्रातिशीघ्र निर्वाज समाधि-लाभ और तज्जन्य कैवल्यमुक्ति फल भी सुलभ हो सकता है। गीता में योगिराज श्रीकृष्ण ने कहा है-

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ (गीता-९.२२)

औपनिषदिक कथन भी यही प्रमाणित करता है-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥ (मुण्डकोपनिषत्-३.२.३)

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ- अविद्यादि आदि पांच क्लेश, शुभाशुभमिश्रित त्रिविध कर्म, कर्मो के फल सुख-दुःख, इनके भोगों के संस्कार-वासनायें, इन सबके सम्बन्ध से रहित जीवों से भिन्न स्वाभाव वाला चेतनविशेष 'ईश्वर' कहलाता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'अविद्यादयः क्लेशाः कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकः, तदनुगुणा वासना आशय' । अर्थात् ये क्लेश पञ्चसंख्यक माने गये है- 1. अविद्या 2. अस्मिता, 3. राग, 4. द्वेषा, 5. अभिनिवेश (मरण-संत्रास)।

कर्म- धर्माधर्म रूपात्मक क्रियाएँ 'कर्म' है।

विपाक- कर्मो का फल 'विपाक' है ।

आशय- अन्तःकरण में संचित वासनाओं का कोश 'आशय' है ।

'कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः। ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः। ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी।' अर्थात् मोक्ष को प्राप्त दुःख-दोषमुक्त बहुत से 'केवली' अर्थात् कैवल्य-प्राप्त मुक्त पुरुष भी हैं। उन्होंने प्राकृतिक, वैकारिक तथा दक्षिणा इन तीनों बन्धनों को काटकर कैवल्य प्राप्त किया है।

'यस्य साम्यातिशयैर्विनिर्मुक्तामैश्वर्य स एवेश्वरः। स च पुरुषविशेष इति।' अर्थात् जिसका ऐश्वर्य बराबरी और अतिशयिता से रहित है, वही ईश्वर है और वह एक है। उसकी बराबरी का दूसरा कोई नहीं है। वह ईश्वर ही पुरुष विशेष है।

त्रिबन्ध- 1. प्राकृतिक बन्ध 2. वैकारिक बन्ध 3. दक्षिणा बन्ध ।

1. प्राकृतिक बन्ध- अव्यक्त से लेकर तन्मात्र पर्यन्त आठों प्रकृतियों में अभिमान रखना अर्थात् उनमें लिप्त होना ।

2. वैकारिकबन्ध- शब्दादि विषयों में अनुरक्ति ।

3. दक्षिणाबन्ध- गृहस्थों का कर्म, दक्षिणा, दान, अध्ययन, इष्टापूर्तादि मे अनुरक्ति ।

ये तीनों बन्ध 'केवली पुरुषों' अर्थात् कैवल्य-प्राप्त पुरुषों में कट चुके होते है, परन्तु कैवल्यप्राप्ति के पूर्व व्युत्थानकाल में ये उनमें भी विद्यमान थे, किन्तु ईश्वर में कभी नहीं थे। यही केवली पुरुष और ईश्वर में भेद है। इस प्रकार कैवल्यप्राप्त पुरुष

ईश्वरतुल्य हो सकता है, ईश्वर नहीं। पूर्वोक्त अविद्यादि क्लेश, कर्म, विपाक, आशय और बन्धों से मुक्त जीव विमुक्त होते हैं, लेकिन पहले ये इनसे ग्रस्त थे, किन्तु ईश्वर का इनसे कभी भी सम्बन्ध नही था और न होगा, इस कारण मुक्त पुरुषों से भी ईश्वर विशिष्ट है और इसीलिए सूत्रकार ने ईश्वर के लिए 'पुरुषविशेषः' पद का प्रयोग किया है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ- उस पूर्वोक्त ईश्वर में सर्वज्ञता का बीज है। अर्थात् न तो किसी में ईश्वर के ज्ञान के तुल्यज्ञान है और न ही उससे अधिक। **व्याख्या- व्यास भाष्य- ''यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः। स च पुरुषविशेष इति''**। जो सर्वोत्कृष्ट सर्वज्ञता का मूल आधार है, वही विश्व के उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय आदि का नियन्ता हो सकता है। अल्पज्ञ, अल्पशक्ति जीवात्मा के लिए ऐसी स्थिति का प्राप्त कर सकना सर्वथा असम्भव है। अतः सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता ईश्वर का स्वीकार करना पूर्णरूपेण से प्रामाणिक है।

प्राकृतिक पदार्थों में जो यह अतीत, अनागत, वर्त्तमान, एक, अनेक का समूह, अतीन्द्रिय, इन्द्रियग्राह्य, अल्प, महान आदि-भेद देखा जाता है, उनमें एक-दूसरे की अपेक्षा से अल्पता और महत्ता दृष्टिगोचर होती है। व्यावहारिक परिमाण की दृष्टि से जहाँ निरतिशय अल्पता परमाणु में है, वहाँ निरतिशय महत्ता आकाश में है। पदार्थों में छोटे से छोटा परमाणु है और बड़े से बड़ा आकाश। यह परिमाण की दृष्टि से कहा गया। इसी प्रकार जब 'ज्ञान' को लक्ष्य कर विचार किया जाता है, तो वह चेतनधर्म होने से ज्ञान की पराकाष्ठा ईश्वर में सम्भव मानी जाती है। जीवात्म-चेतन की अल्पज्ञता का प्रत्यक्ष से भान होता है। मुक्त अवस्था में भी वह पूर्णज्ञानी नहीं हो पाता, सर्ग रचना आदि के ज्ञान से वह तब भी वंचित रहता है, इसलिए सर्वज्ञाता-पूर्णज्ञाता अथवा ज्ञान की पराकाष्ठा का आश्रय ईश्वर को माना जाता है। सर्ग रचना आदि के लिए ऐसा माना जाना नितान्त प्रामाणिक एवं आवश्यक है।

यद्यपि उक्त प्रकार से सामान्यरूप में किसी एक ऐसे तत्त्व का बोध अवश्य हो जाता है, जो सृष्टि आदि की प्रक्रिया में समर्थ हो, परन्तु उसका नाम ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म आदि जो कुछ कहा जाय, इसका निर्णय, वेदशास्त्र आदि के द्वारा किया जाना चाहिए। यह प्रथम कहा जा चुका है, सृष्टि की रचना ईश्वर अपने लिए नहीं करता, उसका प्रयोजन केवल प्राणियों पर अनुग्रह करना है। सर्गकाल में देहधारण कर आत्मा ज्ञान-धर्म के उपदेश पर आचरण करते हुए सांसारिक दुःखों से अपना उद्धार करने में समर्थ हो सकेंगे। मानव-देह धारण के बिना 'अमरपद' के साधनों का अनुष्ठान असम्भव है **'सम्भूत्या अमृतमश्नुते'** अर्थात् सम्भूति देह के द्वारा ही अमृत का भोग प्राप्त होता है। फलतः संसार जीवात्माओं के लिए है. ईश्वर के लिए नहीं। उसी तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए परमर्षि कपिल ने मानव हितार्थ सर्वप्रथम दर्शनरूप में सांख्यशास्त्र का प्रवचन किया। इस रूप में कपिल आदि इस विषय के आदिगुरु हैं ।। 25 ।।

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ 26 ॥

सूत्रार्थ- काल की सीमा से परे हाने के कारण ईश्वर पूर्वोत्पन्न देवो-ब्रह्मादिको का भी पूर्वज है और उनको भी ज्ञान देने के कारण उन सभी का गुरु है।

व्याख्या- व्यास भाष्य-

'पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते । यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते, स एष पूर्वेषामपि गुरुः, यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥'

अर्थात् पूर्वोत्पन्न गुरुगण समय से अवच्छिन्न अर्थात् समय की सीमा से आबद्ध थे। जिसे समय की सीमा में बाँधने के लिए काल भी समुद्यत नहीं हो पाता अर्थात् जो कालातीत है। वह ईश्वर पूर्वकालिक गुरुओं का भी गुरु है। वह जिस प्रकार इस सृष्टि के पहले अपने परमोत्कृष्ट ऐश्वर्य के साथ विद्यमान था, वैसे ही विगत सृष्टियों में भी विद्यमान था, ऐसा समझा जाना चाहिए।

ईश्वर की सर्वोत्कृष्टता के प्रतिपादन के संदर्भ में सूत्रकार का कथन है कि जैसे ब्रह्मा. दि देव और प्राचीनतम ऋषिगण सृष्टि के पूर्व और महाप्रलय के अनन्तर अविद्यान रहने के कारण कालपरिच्छिन्न अर्थात् काल की सीमा में आबद्ध, आदि-अन्त को प्राप्त होने वाले हैं, वैसा ईश्वर नहीं हैं। वह कालातीत और काल का भी काल है। उसने सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को वेद का ज्ञान दिया है, यथा-

'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' । (श्रीमद्भागवत-1.1.1)

इस प्रकार वह ईश्वर ब्रह्मादि का उपदेशक गुरु है। वह सर्वश्रेष्ठ है, पुरुष-पुराण, पुरुषोत्तम है, समुद्र से आहरित अनेक घटों में संचित जलों में समुद्र के जल के गुण तो हैं, किन्तु वे समुद्र नहीं है, पुरुष और पुरुषोत्तमगत भेद को कुछ इसी प्रकार समझना चाहिए ।

ब्रह्मा, कपिल, सनक, सनन्दन आदि तत्त्वदर्शी गुरुओं ने यद्यपि आदिकाल में देहधारण कर मानवमात्र को आत्मज्ञान का

उपदेश दिया, परन्तु वे सब देह-धारण करने के कारण काल से सीमित रहे। कोई भी देह सदा नहीं रह सकता, वह अनित्य है, एक नियतकाल से सीमित है। किन्हीं जीवात्माओं द्वारा तत्त्वज्ञान का उपदेश देहधारण के बिना सम्भव नहीं। अतः वे ब्रह्मा, कपिल आदि पहले गुरु काल से सीमित रहते हैं। परन्तु ईश्वर काल से कभी सीमित नहीं होता, क्योंकि, उपदेश के लिए उसे शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं होती। वह अशरीर रहता हुआ सर्वशक्तिमत्ता से आदि ऋषियों के आत्मा में वेदज्ञान को अभिव्यक्त कर देता है। काल की सीमा उस पर कोई प्रभाव नहीं रखती। इस प्रकार वह पूर्ववर्ती गुरुओं का भी गुरु माना जाता है। उसका वह उपदेश सार्वकालिक होता है।

जैसे वर्त्तमान सर्ग के आदि में अपनी प्रकृष्टता से वह वेदोपदेश में समर्थ है, वैसे ही अनादिकाल से चले आ रहे क्रमिक अतीत सर्गों में वेदोपदेश प्राप्त कराता रहा है, यह विश्वास करना चाहिए।। 26 ।।

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ 27 ॥

सूत्रार्थ- पूर्वोक्त ईश्वर के नाम का बोधक शब्द 'ओ३म्' है।

व्याख्या- जो शब्द किसी अर्थविशेष या वस्तुविशेष का बोध कराता है, वह वाचक है और उस शब्द से जिस अर्थ या वस्तु का ज्ञान होता है, वह वाच्य है। जैसे कमल शब्द 'वाचक' है और पंखुड़ियों से युक्त जल में उत्पन्न होकर खिलने वाला पुष्पविशेष 'वाच्य' है। यहाँ वर्तमान प्रसंग में प्रणव (ओ३म्) शब्द वाचक और सर्वशक्तिमान् ईश्वर वाच्य है। यह ओ३म् शब्द ईश्वर का यथार्थबोधक प्राचीनतम नाम है। यह वाचक-वाच्य अथवा नाम और नामी का सम्बन्ध ईश्वर की ही भाँति अनादि है। यह कोई गढ़ा हुआ कृत्रिम नहीं है, अपितु ईश्वर की ही भाँति शाश्वत है।

'प्रकर्षेण नूयते स्तूयते इति प्रणवः' जिस शब्द द्वारा उत्कृष्ट रीति से स्तुति की जाती है, वह 'प्रणव' है। प्रणव के पर्याय रूप में व्यवहृत 'ओम्' शब्द की सिद्धि इस प्रकार होती है- 'अवतीति ओम्' जो रक्षा करे वह ओम् है। योगसाधना में ईश्वर के वैशिष्ट्य-निरूपण के बाद उसे किस नाम से याद किया जाय, इस आशय की पूर्ति के लिए यह सूत्र विरचित है। ओम् शब्द बड़ा ही सारगर्भित और व्यञ्जक है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति विस्फोट से हुई। विस्फोट की ध्वनितरंगें वर्णमाला के 'अ' से लेकर 'म' तक के वर्षों में निहित है। 'ओम्' शब्द में 'अ' से प्रारम्भ होकर 'म' तक के वर्णों का सूत्रवत् समवाय है। ओम् के अ, उ, म् ये तीनों वर्ण प्रकृति के सत्त्व, रजस्, तमस्-इन तीनों गुणों से निर्मित सृष्टि के सूत्रधार है। त्रिदेवों अर्थात् रचना, पालन और संहार शक्ति से समन्वित देवों का संकेत करते हैं। नाम और नामी का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिए शास्त्रों में नाम जप की बड़ी महिमा है। गीता में जप-यज्ञ को सभी यज्ञों में श्रेष्ठ बताया गया है-

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ (श्रीमद्.भ.गी.-10.25)

ओम् नाम स्मरण कर प्राणत्याग करने से परमगति मिलती है-

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ (श्रीमद्.भ.गी.-8.13)
तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ 28 ॥

सूत्रार्थ- उस परमेश्वर के आदि मुख्य नाम ओ३म् का जप करे और उसके अर्थरूप परमेश्वर के सिद्धिदायक सर्वशक्तिमान् स्वरूप का अनवरत चिन्तन करे।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम् । तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते । तथा चोक्तम्-

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥'

ईश्वर के नाम ओम् का जप करे और ओङ्कार के वाच्यार्थ परमेश्वर के गुणों की भावना करे। इस प्रकार ओम् को जपते हुए तथा उसके अर्थस्वरूप ईश्वर की भावना करते हुए योगी का चित्त एकाग्र हो जाता है। ऐसा कहा भी गया है-

ओम् के जप के पश्चात् योग-साधना करनी चाहिए और योगसाधना के बाद भी जप करना चाहिए। जप और योग की सिद्धि से परमात्मा का साक्षात्कार होता है।

ओ३म् का मानसिक जप करना चाहिए और उसका वाच्यार्थ जो ईश्वर है, उसके उन गुणों का जो विशेषरूप से सूत्रक्रम 24, 25 और 26 में बताये गये है, भावनापूर्वक पुनः-पुनः चिन्तन-मनन करना चाहिए। यही ईश्वरप्रणिधान है। चित्त को सभी ओर से निवृत्त कर ईश्वर में प्रवृत्त कर स्थिर कर देने का नाम भावना है। इस भावना से अविद्यादि क्लेश और वासनाओं के संस्कार धुल जाते है। अन्तर्मुखी सकारात्मक विचार ऊर्जा पुंजीभूत होकर सिद्धि का पथ प्रशस्त कर देती है। ओम् की ध्वनि तरंगों से भीतर के

सक्रिय विद्युत्प्रवाह से जो सूक्ष्म रासायनिक प्रक्रिया शरीर में होती है, उससे हार्मोन्स सन्तुलित होते हैं और विभिन्न स्रोतसों (Channels) में संचित मल खण्डित होते हैं। तन-मन दोनों निर्विकार होकर योग की स्वस्थ सिद्धि-भूमि का निर्माण करते हैं।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ 29 ॥

सूत्रार्थ- ईश्वर के नाम जप और स्वरूप का चिंतन करने से साधक के साधना पथ के विघ्न दूर होते हैं और आत्मज्ञान का आगमन होता है।

व्याख्या- रोग-व्याधि आदि जो योगमार्ग के विघ्न हैं, वे सब पूर्वोक्त ईश्वरप्रणिधान से नष्ट हो जाते हैं और साधक को आत्मज्ञान भी उपलब्ध होता है। जैसे-ईश्वर शुद्ध, दु:ख आदि रहित केवल आनन्द स्वरूप है और कर्मफल भोग से असम्पृक्त पुरुष है, वैसे ही बुद्धि का साक्षी यह पुरुष भी है-इस प्रकार का आत्मज्ञान साधक को हो जाता है।

पूर्वोक्त रीति से ईश्वरप्रणिधान के द्वारा योगमार्ग के सभी विघ्न दूर हो जाते हैं और साधक को अपनी द्रष्टास्वरूप के ज्ञान द्वारा कैवल्य अवस्था की उपलब्धि होती है। अत: यह ईश्वरप्राणिधान निर्बीज समाधि की प्राप्ति का सरल और सफल उपाय है।

स्मरणीय बिंदु -

1. ईश्वर की प्रामाणिक परिभाषा: योगसूत्र के अनुसार ईश्वर एक विशेष पुरुष - चेतना है, जो अविद्या आदि क्लेशों, पाप-पुण्य रूपी कर्मों, उनके विपाक या फल और आशयों अर्थात् संस्कारों से सर्वथा अछूता और मुक्त रहता है - ''क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुषविशेष ईश्वर:''।

2. सर्वज्ञता का परम बीज - ज्ञान का सागर: ईश्वर में ज्ञान की पराकाष्ठा है। संसार का सारा ज्ञान जहाँ समाप्त होता है, ईश्वर उससे भी परे है। वह सब कुछ जानने वाला - सर्वज्ञ है और उसमें ज्ञान का बीज अपरिमित या असीम रूप से विद्यमान है।

3. गुरुओं के भी गुरु और उनका वाचक - 'प्रणव': ईश्वर काल या समय की सीमाओं से परे है, इसलिए वह सृष्टि के आदि गुरुओं जैसे - ब्रह्मा जी का भी सनातन गुरु है। उस परमेश्वर का मुख्य नाम या बोधक शब्द 'प्रणव' (ओंकार) है, जिसका जप करने से चित्त के अंतरायों अथवा बाधाओं का नाश होता है।

महर्षि पतंजलि द्वारा रचित योगदर्शन के समाधिपाद के आधार पर 'ईश्वर का स्वरूप' विषय पर तैयार किए गए प्रश्न नीचे दिए गए हैं:

15 अंक के प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि योगदर्शन के अनुसार ईश्वर का वास्तविक स्वरूप क्या है? ''क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुषविशेष ईश्वर:'' सूत्र के आलोक में ईश्वर के विशेष लक्षणों की सविस्तार समीक्षा कीजिए।
2. महर्षि पतंजलि ने ईश्वर को ''सर्वज्ञबीजम्'' क्यों कहा है? ईश्वर के ज्ञानदाता रूप गुरुत्व और उसके काल से परे होने की दार्शनिक विवेचना कीजिए।
3. योगदर्शन में ईश्वर वाचक शब्द 'प्रणव' का क्या महत्व है? ईश्वर प्रणिधान - ईश्वर के प्रति समर्पण और उसके जप से चित्त पर होने वाले प्रभावों तथा फल का विस्तृत वर्णन कीजिए।

5 अंक के प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार 'पुरुष विशेष' से क्या अभिप्राय है? ईश्वर सामान्य पुरुषों या जीवात्माओं और मुक्त पुरुषों से किस प्रकार भिन्न है?
2. ''तस्य वाचक: प्रणव:'' सूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए बताइए कि ईश्वर और 'ओम्' नाम में कैसा संबंध माना गया है?
3. ''तज्जपस्तदर्थभावनम्'' सूत्र के अनुसार ईश्वर की उपासना या जप करने की सही विधि क्या है? संक्षेप में लिखिए।
4. महर्षि पतंजलि के अनुसार ईश्वर प्रणिधान से साधक को मुख्य रूप से किस फल की प्राप्ति होती है? प्रासंगिक सूत्र द्वारा स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. योगसूत्र के अनुसार ईश्वर निम्नलिखित में से किससे सर्वथा अप्रभावित या अपरामृष्ट रहता है?

(क) क्लेश और कर्म
(ख) विपाक (कर्मफल)
(ग) आशय (संस्कार)
(घ) उपर्युक्त सभी

2. ''तत्र निरतिशयं .....।'' रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए सही पद चुनिए जो ईश्वर की विशेषता बताता है:

(क) पुरुषविशेष:
(ख) सर्वज्ञबीजम्

(ग) क्लेशमुक्तम्
(घ) कालानवच्छेदात्
3. महर्षि पतंजलि के अनुसार ईश्वर का मुख्य वाचक – नाम या संकेत क्या है?
(क) ब्रह्मा
(ख) पुरुष
(ग) प्रणव (ओम्)
(घ) आत्मा
4. ''पूर्वेषामपि गुरुः कालेनावच्छेदात्'' सूत्र के अनुसार ईश्वर को किसका गुरु या मार्गदर्शक माना गया है?
(क) केवल मनुष्यों का
(ख) केवल राजाओं का
(ग) प्राचीन ऋषियों और गुरुओं का भी
(घ) केवल देवताओं का
5. ''ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च'' सूत्र के अनुसार ईश्वर प्रणिधान से क्या सिद्ध होता है?
(क) अंतरात्मा का ज्ञान और विघ्नों का नाश
(ख) केवल धन और समृद्धि की प्राप्ति
(ग) शारीरिक बल में वृद्धि
(घ) नए कर्मों का निर्माण

इकाई-2.5 चित्त की प्रसन्नता एवं एकाग्रता के उपाय

उद्देश्य -

• **सामाजिक व्यवहार को शुद्ध करना:** साधक को यह सिखाना कि संसार में सुखी, दु:खी, पुण्यात्मा और पापात्मा लोगों के प्रति क्रमश: - मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का भाव रखकर अपने मन को ईर्ष्या व द्वेष से कैसे बचाएं।

• **मानसिक अशांति के व्यावहारिक विकल्प देना:** चित्त को स्थिर करने के लिए प्राणायाम - श्वास व प्रश्वास को रोकना, विषयवती प्रवृत्ति - इंद्रियों के सूक्ष्म अनुभव और ज्योतिष्मती प्रवृत्ति - आंतरिक प्रकाश, जैसे विभिन्न वैज्ञानिक उपाय प्रस्तुत करना।

• **मन की बिखरी ऊर्जा को समेटना:** साधक के चित्त को 'यथाभिमतध्यानाद्वा' के द्वारा किसी भी एक सूक्ष्म या स्थूल ध्येय पर पूरी तरह टिकने के योग्य बनाना, जिससे मानसिक चंचलता समाप्त हो सके।

(1) मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ 33 ॥

सूत्रार्थ- सुखियों से इर्ष्या-द्वेषादि न रख कर मित्रता के भाव रखना, दु:खियों के प्रति करुणा के भाव रखना, पुण्यकर्मियों को देखकर हार्दिक प्रसन्नता प्रकट करना और पापियों के प्रति उदासीनता के भाव रखने से चित्त प्रसन्न और निर्मल रहता है।

व्याख्या- चित्त को प्रसन्न और निर्मल बनाने के बड़े ही कारगर सिद्धान्त इस सूत्र में बतलाये गये हैं। प्राय: देखा जाता है कि सुखी-सम्पन्नों से लोग ईर्ष्या-द्वेष रखते हैं। दु:खियों का उपहास और तिरस्कार करते हैं। पुण्यकर्मियों के कार्यों में छिद्रान्वेषण करते है तथा दुष्टों-पापियों से नाहक उलझ कर, विवाद खड़ा कर दु:खी होते हैं। इन कारणों से ईर्ष्या-द्वेष, क्रोध, अमर्ष आदि नकारात्मक कलुषित विचारों से चित्त आच्छादित हो जाता है, जिससे ऊर्जा का अनावश्यक क्षरण होकर विक्षिप्त प्राणी रोग-शोक, आधि-व्याधि का शिकार हो जाता है। योगसाधना तो दूर, जीवन भी दुर्वह हो जाता है। इसलिए आवश्यक है कि सूत्र में कथित मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा को व्यवहार में उतार कर सकारात्मक सात्त्विक विचारों के द्वारा अन्त:करण को निर्मल और प्रसन्न बनाया जाय तभी योग हेतु उपयुक्त भूमि तैयार हो पायेगी। प्रसन्न और निर्मल चित्त ही योग की उपयुक्त भूमि है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-

'रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ (श्रीमद्.भ.गी.-2.64)
प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि पर्यवतिष्ठते' ॥ (श्रीमद्.भ.गी.-2.65)
'मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षामहे' (यजुर्वेद-36.18)

अर्थात् प्राणि मात्र को मित्र की दृष्टि से देखें। जब मनुष्य न केवल अन्य मनुष्यों को बल्कि मनुष्येतर समस्त प्राणियों को अपना मित्र समझता है, तब उसका मन प्रसन्न होता है। प्रसन्न मन एकाग्र होता है। एकाग्र मन ही ईश्वरोपासना में लगता है।

(2) प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ 34 ॥

सूत्रार्थ- बारम्बार नासिका मार्ग से वायु को बाहर निकालने तथा यथाशक्ति बाहर रोके रखने के अभ्यास से भी चित्त शान्त और निर्मल होता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य-

'कोष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम्। विधारणं प्राणायाम: । ताभ्यां वा मनस: स्थितिं सम्पादयेत् ॥'

अर्थात् उदरस्थ वायु को नाक के नथुनों से विशिष्ट प्रयत्न के द्वारा निकालना और बाहर रोके रहना प्राणायाम है। इन दोनो क्रियाओं के द्वारा भी मन में स्थिरता लानी चाहिए।

योगशास्त्रोक्त उपाय से उदरस्थ वायु को बाहर निकालना 'प्रच्छर्दन' है और बाहर रोके रखना 'विधारण' है। शब्दावलियों से तो 'रेचन' और 'बाह्य कुम्भक' को ही प्रतीति होती है, किन्तु कुछ साधकों और विद्वानो के मतानुसार इसमें प्राणायाम की तीनों क्रियाओं पूरक, रेचक और कुम्भक का समावेश है, क्योंकि बिना पूरक के रेचन कैसे होगा और भीतर धारण किये बिना प्राण वायु द्वारा कोशों, नसों-नाड़ियो का शोधन कैसे होगा ?

प्राणायाम का अर्थ बताते हुए महर्षि पतञ्जलि ने स्पष्ट किया है-

'तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद: प्राणायाम:' (योग.-2.49)

अर्थात् निरन्तर चलने वाली श्वास-प्रश्वास की गति को विच्छेद करने (रोकने) का नाम प्राणायाम है। प्राणायाम के समय में जब श्वास-प्रश्वास को रोक दिया जाता है, तो समस्त इन्द्रियाँ रुक सी जाती हैं और जो मन अनियन्त्रित रूप से इधर-उधर दौड़

रहा था, वह भी रुक जाता है।

(3) विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ॥ 35 ॥

सूत्रार्थ- गन्ध, रस, रूप, शब्द, स्पर्श आदि विषयों का साक्षात्कार करने वाली वृत्तियाँ भी उत्पन्न होकर मन की स्थिरता का हेतु बनती हैं।

व्याख्या- अभ्यास करते-करते साधक को रूप, रस, गन्ध, शब्दादि विषयक अलौकिक अनुभूतियों का साक्षात्कार होने लगता है। यही साक्षात्कार विषयवती प्रवृत्ति और संवित् है। धारणा, ध्यान, समाधि का मिलित रूप 'संयम' है। नासिकाग्र में संयम से दिव्य गन्ध, जिह्वाग्र में संयम से दिव्य रस, तालु में संयम से दिव्य रूप, जिह्वा के मध्य भाग में संयम से दिव्य स्पर्श, जिह्वा के मूल में संयम से दिव्य शब्द का साक्षात्कार होता है। चन्द्र, सूर्य, ग्रह-नक्षत्र, मणि, प्रदीप, रत्न-प्रभादि में चित्त के संयम से हुए साक्षात्कार को भी विषयवती प्रवृत्ति ही जानना चाहिए। इन दिव्य अनुभूतियों के साक्षात्कार से साधक का उत्साहवर्धन होता है और योग-साधना में विश्वास सुदृढ़ हो जाता है। भाष्यकार के अनुसार उपर्युक्त दिव्य सूक्ष्म साक्षात्कार से साधक को शास्त्र और आचार्योपदेश में श्रद्धा सुदृढ़ हो जाती है और योग की गहराई में उत्तरने हेतु सुदृढ़ सम्बल मिल जाता है। भाष्यकार ने इसीलिए किसी एक दिव्य अनुभूति का साक्षात्कार अवश्य करने की सम्मति दी है।

प्रस्तुत सूत्र में कथित स्थिति ऐसी योगभूमि है, जहाँ चित्तवृत्ति की एकाग्रता से जाग्रत् आध्यात्मिक ऊर्जा अलौकिक अनुभूतियाँ जगाती हैं। साधक सिद्धि की रहस्यमयी दुनिया में प्रवेश करता है, उसे योगशक्तियों के दर्शन से उन पर दृढ़ विश्वास हो जाता है और वह आगे की योग-भूमियों की ओर सोत्साह प्रस्थान करता है। योग एक विज्ञान है। **'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'** के अनुसार पिण्ड में ब्रह्माण्डीय शक्तियाँ सूक्ष्म रूप से समाहित है। मस्तिष्क की चुम्बकीय शक्ति का सशक्त जागरण अनन्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनन्त ऊर्जा क्षेत्रों से जुड़ कर अनन्त अज्ञात रहस्यों को उद्घटित करने में समर्थ है।

(4) विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ 36 ॥

सूत्रार्थ- अभ्यास करते-करते यदि साधक को शोक-रहित दिव्यज्योति स्वरूपा प्रवृत्ति का साक्षात्कार हो जाये, तो वह भी चित्त को स्थिर करने वाली होती है।

व्याख्या- जिस प्रकार सूत्रक्रम 35 में वर्णित **'विषयवती प्रवृत्ति'** चित्त को स्थिर करती है, उसी प्रकार यह 'ज्योतिष्मती प्रवृत्ति' भी उत्पन्न होकर चित्त को स्थिर करती है। विषयवती प्रवृत्ति नासिकाग्र एवं जिह्वा पर चित्त को एकाग्र करने पर उत्पन्न होती है और ज्योतिष्मती प्रवृत्ति हृदयकमल में चित्त को एकाग्र करने पर प्रकाशरूप में भासमान होती है। यह चित्त को स्थिरता प्रदान करती है। इस दुःखरहित सात्त्विक विषयवती ज्योतिष्मती प्रवृत्ति में प्रवृत्त चित्त कभी सूर्य, कभी चन्द्र, कभी नक्षत्र और कभी मणिप्रभातुल्य अलौकिक प्रभापुंज का हृदयचक्र में दर्शन करता है। सत्त्वगुण प्रधान होने के कारण और रजोगुण तथा तमोगुण से शून्य होने के कारण शोकरहित होने से यह **'विशोका'** कहलाती है। इसी प्रकार दूसरी **'अस्मिता मात्र ज्योतिष्मती प्रवृत्ति'** भी शोकरहित आनन्दरूपा होती है। पंचशिखाचार्य के अनुसार योगी इस प्रवृत्ति में स्वयं को अणुमात्र प्रकाशमान आत्मा के रूप में 'मैं हूँ' इस अस्मिता से युक्त अपने को जानता है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ 'विशोका' विशेषण से युक्त शुद्ध आनन्दरूपा हैं।

(5) वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ 37 ॥

सूत्रार्थ- अथवा वीतराग महापुरुष को ध्यान का विषय बनाने वाले साधक का चित्त भी स्थिर हो जाता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'वीतरागचित्तालम्बनोपरक्तं वा योगिनश्चितं स्थितिपदं लभत इति ॥'

अर्थात् विरक्त महात्माओं के चित्त को अर्थात् चरित्र को ध्यान का विषय बनाने वाले साधक का चित्त भी तदाकाराकारित होकर स्थिति पद को (स्थिरत्व को) प्राप्त करता है।

जो परम विरक्त महापुरुष जनक, शुकदेव, स्वामी रामकृष्ण परमहंस जैसे वीतराग महात्मा हैं, उनको चित्त में धारण कर तदाकारिता की अनुभूति मे निमग्न हो जाना भी चित्त को स्थिर बनाने में सहायक है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के बाद में भी अनेकों त्यागी, तपस्वी, योगनिष्ठ, वीतराग संन्यासी हुए हैं, जिनके जीवन को पढ़कर या जानकर उनके पद-चिह्नों पर चल कर हम अपने मन को अधिक एकाग्र कर सकते हैं। किसी संन्यासी के त्याग को अपना कर, किसी के तप को अपना कर, किसी के योगमय जीवन को अपना कर, किसी की वीतरागता को अपना कर हम अभ्यास कर सकते हैं। स्वामी ब्रह्ममुनि जी, स्वामी सर्वदानन्द जी, स्वामी श्रद्धानन्द जी आदि अनेक महान् विभूतियाँ हुई हैं, जिनके एक-एक विशिष्ट गुण को भी हम अपने मन का विषय बनायेंगे, तो निश्चित रूप से हमारा मन अपेक्षा से अधिक एकाग्र हो जायेगा। ये ही महान् भाव हैं, जो हमें अन्दर से तृप्त, सन्तुष्ट, निर्भीक, स्वतंत्र, आनन्द से युक्त करेंगे। इन महान् संतों का जीवन हमको ईश्वर तक पहुँचायेगा। इनके आदर्श हमारी चंचलता को दूर करेंगे। इनका एक-एक उपदेश हमें गर्त में गिरने से बचायेगा। आज हम जो कुछ भी हैं, इन संतों के कारण से हैं। इन्हें उपेक्षित नहीं करना चाहिए, हम इनके प्रति कृतज्ञ हैं और रहेंगे।

''अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति ॥'' (ऋ.-1.1.1.2)

(6) स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ 38 ॥

सूत्रार्थ- अथवा स्वप्न और निद्रा के ज्ञान को अपनी साधना का आश्रय बन वाले साधक का चित्त भी स्थिर हो जाता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'स्वप्नज्ञानालम्बनं वा निद्राज्ञानालम्बनं वा तदाकारं योगिनश्चि स्थितिपदं लभत इति।' अर्थात् स्वप्न के ज्ञान को धारण का विषय बनाने वाले अथवा सुषुप्तिगत एका या वृत्ति-विहीनता को धारणा का आलम्बन बनाने वाले साधक का चित्त स्थिरता प्राप्त होता है।

स्वप्न के ज्ञान को लोग गाँठ नहीं बाँधते। उसके दृश्यों को झूठा समझ कर भुला देते हैं। इसी प्रकार साधक को चाहिए कि वह सांसारिक घटनाओं को महत्व न देकर दु:ख-दुर्भाग्य से विचलित न हो और सुख-सौभाग्य से असन्तुलित होकर अहंकार में प्रमत्तों जैसा व्यवहार न करे और साधना में संलग्न रहे।

इसे गोस्वामी तुलसीदास ने इस प्रकार कहा है-

'सपने होहिं भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ ।
जागे हानि न लाभ कछु, इमि प्रपंच जिय जोई ॥' (मानस)

प्रगाढ़ निद्रा में पूर्ण वृत्ति-शून्यता रहती है। उसी वृत्ति-शून्यता को एकाग्रता में ढाले।

(7) यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ 39॥

सुत्रार्थ- पूर्व कथित ध्यान-साधनों के अतिरिक्त भी मनपसन्द वस्तु को ध्यान का विषय बना कर चित्त को स्थिर किया जा सकता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य-

'यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत् । तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति ।'

अर्थात् जो भी अभीष्ट हो, उसी का ध्यान करना चाहिए। उस अभीष्ट वस्तु में स्थिा हुआ चित्त अन्य विषयों में भी स्थिरता प्राप्त करता है।

प्रधान उद्देश्य मन का स्थिर होना है। इस स्थिरता को लाने के लिये सूत्रकार द्वारा बताये गये ध्यान की विषय-वस्तुओं के अतिरिक्त यदि साधक के मनोनुकूल कोई अन्य पदार्थ, मूर्ति, या देवता या जो भी पदार्थ जान पड़ता हो, साकार-निराकार जहाँ भी श्रद्धाधिक्य हो, ध्यान का साधन बनाया जा सकता है, इसमें कोई बाध्यता नहीं है। सूत्रकार ने इस प्रकार योग-साधना का द्वार संसार के सभी धर्म-सम्प्रदायों के लिए खोल दिया है। यहाँ वैचारिक स्वातन्त्र्य का एक अच्छा उदाहरण देखा जा सकता है।

चित्त की एकाग्रता का परिणाम-

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ 40 ॥

सुत्रार्थ- पूर्वोक्त उपायों द्वारा पूर्ण स्थिरता को प्राप्त हुआ चित्त सूक्ष्मतम पदार्थ अणु-परमाणु से लेकर परम महत् व्यापक आकाशपर्यन्त एकाग्र करने की **'वशीकार'** नामक सामर्थ्य से परिपूर्ण हो जाता है।

व्याख्या- एकाग्रता की पूर्वोक्त विधियों का निरन्तर निष्ठापूर्वक अभ्यास करते-करते साधक का चित्त 'परवशीकार' संज्ञक योगभूमि पर आरूढ़ हो जाता है। 'पर' पद का अर्थ उत्कृष्ट और 'वशीकार' का अर्थ वशित्व, नियन्त्रण, सामर्थ्य या क्षमता है। इस अवस्था को प्राप्त हुए साधक में मन को स्थिर करने की अर्पूव क्षमता का विकास हो जाता है। वह सूक्ष्मतम पदार्थ परमाणु और बृहत्तम पदार्थ आकाश पर्यन्त अपने चित्त को जहाँ चाहे एकाग्र कर उसका रहस्य समझ सकता है। इस 'परवशीकार' स्थिति के सिद्ध हो जाने पर साधक को चित्त को एकाग्र करने के उपायों का अलग से अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है, क्योंकि एकाग्रता प्राप्त चित्त की यह चरम स्थिति है। साधक जहाँ चाहे, सहजता से चित्त को एकाग्र कर सकता है।

स्मरणीय बिंदु -

1. चित्त प्रसादन के ४ सामाजिक उपाय या परिकर्म: समाज में सुखी रहने और मन को शांत रखने के लिए महर्षि पतंजलि जी ने चार भावनाएं बताई हैं - सुखियों के प्रति मैत्री - मित्रता, दुखियों के प्रति करुणा - दया, पुण्यात्माओं के प्रति मुदिता - प्रसन्नता, और पापियों के प्रति उपेक्षा - उदासीनता।

2. प्राणायाम द्वारा स्थिरता - प्राण नियंत्रण: मन की व्याकुलता को दूर करने के लिए नासिका द्वारा श्वास को बलपूर्वक बाहर निकालना - प्रच्छर्दन और उसे बाहर ही रोके रखना - विधारण के अभ्यास से भी चित्त शीघ्र शांत और एकाग्र हो जाता है।

3. एकाग्रता के अन्य विशिष्ट विकल्प - सविशेष उपाय: महर्षि पतंजलि जी ने मन को स्थिर करने के कई व्यावहारिक विकल्प दिए हैं। जैसे - दिव्य विषयों पर ध्यान लगाना, शोकरहित ज्योतिर्मय तत्त्व का चिंतन, रागरहित महापुरुषों के चित्त का आश्रय लेना, स्वप्न या सुषुप्ति के ज्ञान का आलंबन करना, अथवा जिस विषय में रुचि हो (यथाभिमत) उस पर ध्यान केंद्रित करना।

15 अंक के प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार चित्त प्रसादन अथवा चित्त की प्रसन्नता से क्या अभिप्राय है? '' मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां...'' सूत्र के आलोक में चारों भावनाओं का विस्तृत सामाजिक एवं दार्शनिक विश्लेषण कीजिए।

2. चित्त की स्थिरता और एकाग्रता के लिए महर्षि पतंजलि ने प्राणायाम को किस प्रकार उपयोगी माना है? ''प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'' सूत्र के आधार पर प्राण और चित्त के अंत:संबंध की सविस्तार समीक्षा कीजिए।

3. समाधिपाद में वर्णित चित्त एकाग्र करने के विभिन्न वैकल्पिक उपायों - विषयवती प्रवृत्ति, शोकरहित ज्योतिष्मती प्रवृत्ति, वीतराग विषयक चित्त, स्वप्न-निद्रा ज्ञान और यथाभिमत ध्यान का तुलनात्मक वर्णन कीजिए।

5 अंक के प्रश्न -

1. सुखी, दु:खी, पुण्यात्मा और पापात्मा व्यक्तियों के प्रति क्रमश: किन चार प्रकार की भावनाओं को रखने से चित्त प्रसन्न होता है? संक्षेप में समझाइए।

2. 'विशोका वा ज्योतिष्मती' प्रवृत्ति क्या है? हृदय कमल पर प्रकाशमय ज्योति का ध्यान करने से चित्त कैसे स्थिर होता है?

3. 'वीतरागविषयं वा चित्तम्' सूत्र का अर्थ स्पष्ट कीजिए। किसी रागरहित महापुरुष के चित्त का ध्यान करने से साधक को क्या लाभ मिलता है?

4. ''परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकार:'' सूत्र के अनुसार जब चित्त पूर्णत: स्थिर हो जाता है, तब उसकी सूक्ष्म और स्थूल सीमा कहाँ तक विस्तृत हो जाती है?

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार पुण्यात्मा - पुण्य कर्म करने वाले व्यक्तियों के प्रति साधक को कौन सी भावना रखनी चाहिए?

(क) मैत्री

(ख) करुणा

(ग) मुदिता या प्रसन्नता

(घ) उपेक्षा

2. दु:खी मनुष्यों को देखकर चित्त में किस भाव को विकसित करने से चित्त की अशुद्धि दूर होती है?

(क) उपेक्षा

(ख) करुणा

(ग) मुदिता

(घ) मैत्री

3. ''प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा.....।'' रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए सही पद चुनिए जो चित्त स्थिरता का उपाय है:

(क) मनस्य

(ख) प्राणस्य

(ग) चित्तस्य

(घ) ज्ञानस्य

4. जाग्रत अवस्था में आए स्वप्न या सात्त्विक निद्रा के आलम्बन जनित ज्ञान पर ध्यान केंद्रित करने से चित्त की क्या स्थिति होती है?

(क) चित्त भ्रमित होता है

(ख) चित्त विक्षिप्त होता है

(ग) चित्त एकाग्र और स्थिर होता है

(घ) चित्त निद्रामग्न होता है

5. महर्षि पतंजलि के अनुसार अपनी रुचि या इच्छा के अनुकूल किसी भी कल्याणकारी सात्त्विक विषय पर ध्यान लगाने की स्वतंत्रता देने वाला सूत्र कौन सा है?

(क) वीतरागविषयं वा चित्तम्

(ख) स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा

(ग) यथाभिमतध्यानाद्वा

(घ) विशोका वा ज्योतिष्मती

खण्ड-3 साधनपाद

इकाई-3.1 क्रिया योग एवं क्रिया योग का फल

उद्देश्य -

• **साधना को व्यावहारिक और सुलभ बनाना:** साधारण या मध्यम कोटि के साधकों के लिए, जो सीधे समाधि नहीं लगा सकते, जीवन जीते हुए योग मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान का एक व्यावहारिक मार्ग - क्रियायोग प्रस्तुत करना।

• **क्लेशों के प्रभाव को कमजोर करना:** साधक के भीतर छिपे पांच दु:खों या क्लेशों - अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश की शक्ति को धीरे-धीरे क्षीण या तनूकरण करना जिससे, वे मन पर हावी न हो सकें।

• **चित्त की अशुद्धियों का शोधन करना:** शारीरिक इंद्रियों, वाणी और मन की अशुद्धियों को दूर करके अंत:करण को पवित्र बनाना, जिससे उच्च आध्यात्मिक सत्यों को ग्रहण करने की क्षमता पैदा हो सके।

तप: स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग: ॥

सूत्रार्थ- तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान 'क्रियायोग' के प्रारम्भिक अंग हैं। क्रियायोग एक पारिभाषिक शब्द है, जिसमें 'तप', 'स्वाध्याय', 'ईश्वरप्रणिधान' तीन आते हैं।

व्याख्या- 'तप', 'स्वाध्याय', 'ईश्वरप्रणिधान' ये 'क्रियायोग' हैं। 'समाधिपाद' में वर्णित उच्च साधकों की भाँति जिनके चित्त पूर्वार्जित योग-संस्कारों से संस्कारित नहीं है, जन्म-जन्मान्तर के वासना-जाल जिन्हें जकड़े हैं, किन्तु किन्हीं कारणों से जिनमें योग की अभिरुचि जाग्रत् हो गयी है, उन्हें उपनी चित्तभूमि को योग की उर्वर भूमि बनाने के लिए निम्न साधन अपनाने चाहिए ।

(1) तप- व्यास भाष्य-

''नातपस्विनो योग: सिद्धयति । अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तप: सम्भेदमापद्यत इति तपस उपादानम् ।'' अर्थात् तपश्चर्याशून्य साधक का योग सिद्ध नहीं होता। प्रवाह से अनादि कर्मों एवं 'क्लेशों की वासनाओं से चित्रित तथा विषयसमूह को उपस्थित करने वाली अशुद्धि बिना तपश्चर्या के सम्यक् रूप से शिथिल हो छिन्न-भिन्न नहीं हो सकती है। इसलिए प्रथम तपश्चर्या को ग्रहण करने का निर्देश है। तप से तात्पर्य काया को क्लेश देना, पंचाग्नि को तापना, या घनघोर शीतकाल में जल में खड़े होना या इसी प्रकार की अन्य क्लिष्ट साधनाएँ अपनाना नहीं हैं। साधना काल में आयी अड़चनों का सामना करना, प्रात:काल ब्राह्ममुहूर्त में उठना, स्नानादि करना, आवश्यक उपवास या शरीर-शोधन के लिए योग-निर्धारित क्रियाओं के सम्पादन में यदि कष्ट आये तो उसे सहर्ष सहना 'तप' है। संसार में रहकर अपने कर्तव्य-पालन में आने वाले सुख-दु:ख, मानापमान, शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहर्ष सहन करना 'तप' ही है। - **'' तपो द्वन्द्व सहनम् ।''**

इसी तथ्य को योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण कुछ इस रूप में प्रस्तुत करते हैं-

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु:खदा:।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ (श्रीमद्.भ.गी.-2.14)

तृष्णा-त्याग, इन्द्रिय-निग्रह आदि में जिह्वा, स्वादादि को त्यागने में, शुद्ध सात्त्विक वृत्ति अपनाने में, मन-बुद्धि के संयम में, विषय-त्याग में यदि कष्ट का अनुभव हो, तो उसे सुखपूर्वक सहना भी 'तप' ही है। ऐसा करने में चित्त की शुद्धि होगी, सात्त्विकता की वृद्धि होगी, जो कि योग-साधना का पथ प्रशस्त करेगी।

(2) स्वाध्याय- व्यास भाष्य-

''स्वाध्याय: प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा ।''

अर्थात् प्रणवादि पवित्र मन्त्रों का जप और मोक्षज्ञानप्रद शास्त्रों का अध्ययन 'स्वाध्याय' कहा जाता है। वेदशास्त्रादि ज्ञान, वैराग्य, अध्यात्म भाव को पुष्ट करने वाले ग्रन्थों तथा योग-विषयक साहित्य का अध्ययन, 'ओम्' आदि पवित्र ईश्वर नामों का जप, समस्त योग-क्रियाओं में मिलने वाली सिद्धि और शुभकर्मों के लिए परमपुरुष परमात्मा को हेतु मानना ताकि अहंकार का निरसन हो 'स्वाध्याय' है। आत्मचिंतन, अपनी चित्तवृत्तियों का अध्ययन अर्थात् विवेक द्वारा अपने दोषों को जानकर उन्हें दूर करना भी 'स्वाध्याय' है।

(3) ईश्वरप्रणिधान- व्यास भाष्य-

''ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा । ''

अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों को परमगुरु परमात्मा को अर्पण कर देना और उनके लौकिक फलों के प्रति अनिच्छा का भाव 'ईश्वरप्रणिधान' है।

ईश्वर-भक्ति एवं अपने समस्त कर्मों को अनासक्त भाव से ईश्वर को श्रद्धापूर्वक समर्पित कर देना। इस क्रिया से कर्मासक्ति

और अहंकार का निरसन होता है। शुद्ध भावों से योग क्रिया के प्रति अभिरुचि बढ़ती है ।

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् । (ईशोपनिषद्-1)
'मेरा मुझमें कुछ नहीं जो कुछ है सो तेरा ।
तेरा तुझको सौंपता क्या लागे है मेरा' ॥ (कबीर)

क्रियायोग का फल-

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ 2 ॥

सूत्रार्थ- क्रियायोग समाधि को सिद्ध करने वाला तथा अविद्यादि पञ्च क्लेशों को क्षीण करने वाला होता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- ''स ह्यासेव्यमानः समाधिं भावयति क्लेशांश्च प्रतनूकरोति। प्रतनूकृतान् क्लेशान् प्रसंख्यानाग्निना दग्धबीजकल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति। तेषां तनूकरणात्पुनः क्लेशैरपरामृष्टा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः सूक्ष्मा प्रज्ञा समाप्ताधिकारा प्रतिप्रसवाय कल्पिष्यत इति ॥''

सुसेवित क्रियायोग समाधि को सम्पन्न कराता है और क्लेशों को समुचित रूप से क्षीण करता है। वह निर्बल बने क्लेशों को 'विवेकख्याति' रूपी अग्नि के द्वारा दग्ध कर दग्धबीज के सदृश उत्पादक शक्ति से शून्य कर देगा। उनके निर्बल पड़ जाने पर क्लेशों से पुनः मिश्रित न होने वाली 'विवेकख्याति' अर्थात् प्रकृति-पुरुष के भेद को समझ सकने वाली सूक्ष्म बुद्धि अपना कार्य पूरा कर 'अव्यक्त' अर्थात् प्रकृति में लीन हो जाने में समर्थ हो जायेगी ।

अविद्यादि क्लेश (जिनका आगे वर्णन किया जायेगा) जिनके संस्कार बीज रूप से चित्त-भूमि में अनादि काल से क्रियाशील रहते हैं, उनको क्षीण कर चित्त को समाधि योग्य बनाने में क्रियायोग का महत्त्वपूर्ण योगदान है। तप से शरीर, मन, इन्द्रिय, चित्तादि के मल जल कर भस्म हो जाते हैं और अग्नि में तपे मलाच्छादित धातु के पात्र की भाँति विमल बन जाते है। स्वाध्याय से चित्त शुद्ध होता है और विक्षेपों के आवरण से रहित समाहित होने की योग्यता पा लेता है। ईश्वरप्रणिधान से समाधि-सिद्धि में सहायता मिलती है और क्लेशों की निवृत्ति होती है। क्लेशों के दग्धबीज होने पर परवैराग्य उत्पन्न होता है, ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है फिर सारे संस्कार जलकर भस्म हो जाते हैं और 'असम्प्रज्ञात' समाधि का लाभ होता है।

अथ के ते क्लेशाः ? कियन्तो वा इति ?

अब वे क्लेश कौन हैं और कितने हैं ?

स्मरणीय बिंदु -

• **क्रियायोग के तीन अनिवार्य अंग अथवा स्वरूपः** साधनपाद के पहले ही सूत्र में क्रियायोग को परिभाषित किया गया है - ''तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः''। इसके तीन अंग हैं: तप - द्वंद्वों को सहना और इंद्रिय संयम, स्वाध्याय - मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन और ओम् का जप तथा ईश्वर प्रणिधान - ईश्वर के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण।

• **क्रियायोग का पहला मुख्य फल - समाधि की प्राप्तिः** क्रियायोग का निरंतर और निष्काम अभ्यास करने का पहला बड़ा फल यह है, कि यह साधक के चित्त को समाधि लगाने के योग्य बनाता है। यह मन की चंचलता को शांत कर समाधि की अवस्था को सुलभ और सहज कर देता है।

• **क्रियायोग का दूसरा मुख्य फल - क्लेशों का क्षयः** क्रियायोग का दूसरा फल अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक पांचों क्लेशों को तनु, कमजोर या दुर्बल करना है। जब ये क्लेश कमजोर हो जाते हैं, तब विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है और साधक मोक्ष की ओर अग्रसर होता है।

15 अंक के प्रश्न -

1. साधनपाद के प्रथम सूत्र ''तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः'' के आलोक में क्रियायोग का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट कीजिए। इसके तीनों अंगों तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान की सविस्तार व्याख्या कीजिए।
2. महर्षि पतंजलि के अनुसार क्रियायोग के अनुष्ठान के क्या उद्देश्य और फल हैं? ''समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च सूत्र के आधार पर समझाइए कि क्रियायोग किस प्रकार समाधि की प्राप्ति और क्लेशों को क्षीण करने में सहायक है।
3. ''नातपस्विनो योगः सिद्धयति - बिना तप और स्वाध्याय के योग सिद्ध नहीं होता।'' इस कथन की दार्शनिक समीक्षा कीजिए?

5 अंक के प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि योगदर्शन के अनुसार तप का क्या अर्थ है? द्वंद्वों को सहन करना तप के अंतर्गत कैसे आता है? संक्षेप में लिखिए।
2. स्वाध्याय से आप क्या समझते हैं? मोक्षशास्त्रों का अध्ययन और प्रणव (ओम्) का जप स्वाध्याय के अंतर्गत किस प्रकार सम्मिलित हैं?

3. क्रियायोग के अंग ईश्वर प्रणिधान का क्या स्वरूप है? समाधिपाद और साधनपाद के ईश्वर प्रणिधान में क्या मुख्य अंतर है?
4. क्रियायोग के अभ्यास से क्लेश तनू या क्षीण कैसे होते हैं? क्लेशों के क्षीण होने का समाधि से क्या संबंध है?

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि ने साधनपाद के प्रारंभ में क्रियायोग के अंतर्गत कितने अंगों का समावेश किया है?

(क) दो

(ख) तीन

(ग) पाँच

(घ) आठ

2. ''तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि .....।'' रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए सही पद चुनिए:

(क) योगश्चित्तवृत्तिः

(ख) क्रियायोगः

(ग) अष्टांगयोगः

(घ) नियमः

3. योगसूत्र के अनुसार क्रियायोग के अनुष्ठान का मुख्य फल या उद्देश्य क्या है?

(क) समाधि की भावना और क्लेशों का तनूकरण

(ख) केवल शारीरिक सौंदर्य की प्राप्ति

(ग) अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति

(घ) धन और ऐश्वर्य का संचय

4. पवित्र शास्त्रों का पाठ करना, गायत्री मंत्र अथवा ओम् का अर्थ सहित मानसिक जप करना क्रियायोग के किस अंग के अंतर्गत आता है?

(क) तप

(ख) ईश्वर प्रणिधान

(ग) स्वाध्याय

(घ) शौच

5. अपनी समस्त क्रियाओं और कर्मफलों को उस परमेश्वर को समर्पित कर देना क्या कहलाता है?

(क) स्वाध्याय

(ख) ईश्वर प्रणिधान

(ग) वैराग्य

(घ) प्रत्याहार

इकाई-3.2 पञ्च क्लेश तथा अविद्या क्लेशों की जननी

उद्देश्य -

• **दु:खों के मूल कारणों की पहचान करना:** साधक को यह स्पष्ट रूप से समझाना, कि मानव जीवन के समस्त कष्टों और बंधनों के पीछे पाँच मानसिक विकार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ही मुख्य कारण हैं।

• **अविद्या के केंद्रीय महत्व को स्थापित करना:** यह सिद्ध करना कि अविद्या या अज्ञान ही अन्य सभी चारों क्लेशों की उत्पत्ति भूमि, पोषणकर्ता और माता अर्थात् जननी है, चाहे वे क्लेश सुप्त, तनु, विच्छिन्न या उदार अवस्था में हों।

• **भ्रम और वास्तविक सत्य का भेद बताना:** अविद्या के स्वरूप को परिभाषित कर साधक को अनित्य में नित्य, अशुचि में शुचि, दु:ख में सुख और अनात्मा में आत्मबुद्धि रखने की भूल के प्रति जागरूक करना।

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥ 3 ॥

सूत्रार्थ- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश - ये पाँचों क्लेश हैं।

व्याख्या- व्यास भाष्य-

क्लेशा इति, पञ्च विपर्यया इत्यर्थः। ते स्यन्दमाना गुणाधिकारं द्रढयन्ति, परिणाममवस्थापयन्ति, कार्यकारणस्त्रोत उन्नमयन्ति, परस्परानुग्रहतन्त्रीभूय कर्मविपाकं चाभिनिर्हरन्तीति ॥

अर्थात् 'क्लेश' का अर्थ पञ्च विपर्यय अर्थात् पाँच प्रकार के मिथ्या ज्ञान है। ये पाँचों क्लेश प्रकट होकर त्रिगुणों की क्रियाशीलता को बढ़ाते हैं। गुणों की परिणाम-धारा को प्रवाहित करते हैं और कार्य कारण के स्रोत को उत्पन्न करते हैं, परस्पर सहयोग पूर्वक कर्म-फल को सम्पन्न करते हैं।

ये पाँचों प्रकार के 'क्लेश' पाँच प्रकार के मिथ्या ज्ञान हैं। वास्तविकता को अर्थात् यथार्थ के विपरीत समझना मिथ्या ज्ञान है। साँप को रस्सी समझ बैठना इसका उदाहरण है। आत्मा नित्यमुक्त गुणातीत है, किन्तु इसी विपर्यय वृत्ति के कारण वह बन्धन में पड़ी जन्म-मरण के चक्र में चक्कर काटा करती है। यदि विचार किया जाय तो 'अस्मिता' मैं अमुक अमुक रूप में हूँ- शरीर हूँ, एक विशेष नाम, जाति या पदधारी हूँ, यह अहंकार या मैं-पना ही अज्ञान या अविद्या है और यही जीव को अपने वास्तविक शुद्ध-बुद्ध, चिन्मयानन्द रूप से वंचित रखती है। राग-द्वेष भी इसी 'मैं-पन' में जकड़े रहने से होता है। 'अभिनिवेश' अर्थात् मरण-भय भी इसी शरीर भाव से जुड़े रहने के कारण होता है, अन्यथा शुद्ध आत्मबोध में तो मरण है ही नहीं। शरीर समाप्त होता है, जो आत्मा नहीं बल्कि उसका चोला है। त्रिगुणों की देन, उन्हीं से संचालित ये पाँचों 'क्लेश' मिल-जुलकर निरन्तर जीव को बाधित करते हैं, क्लेशित करते हैं, अस्तु क्लेशरूप हैं।

अविद्या क्लेशों की जननी-

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ 4 ॥

सूत्रार्थ- सूत्र संख्या तीन में बताये गये अविद्या क्लेश के बाद जो शेष चारों क्लेश-अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश हैं, उनकी उत्पत्ति-भूमि 'अविद्या' है। ये चारों प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार अवस्थाओं में रहने वाले हैं।

व्याख्या- व्यास भाष्य-

अत्राविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां चतुर्विधकल्पानां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।

अर्थात् यहाँ (इन पंचक्लेशो में से) 'अविद्या' नामक क्लेश प्रसुप्त (सोये पड़े हुए), तनु (हल्के पड़ हुए), विच्छिन्न (टूटे हुए) और उदार (उभरे हुए) अवस्था वाले चार प्रकार के अगले अस्मितादि क्लेशों की जननी (उत्पत्ति-स्थली) है।

अस्मिता, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन चारों क्लेशों की उत्पत्ति का कारण 'अविद्या' है। इनकी चार अवस्थाएँ हैं-

प्रसुप्त अवस्था -

'तत्र का प्रसुप्तिः ? चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः। तस्य प्रबोध आलम्बने सम्मुखीभावः।'

अर्थात् उनमें से 'प्रसुप्ति' क्या है ? (उत्तर है-) चित्त में शक्तिमात्ररूप से अवस्थित क्लेशों की जो बीजभाव की प्राप्ति है, वही 'प्रसुप्ति' है। प्रसुप्त क्लेश की आलम्बन में अर्थात् अपने विषय में अभिव्यक्ति ही 'प्रबोध' है।

चित्त में विद्यमान रहते हुए भी जिस समय जो क्लेश अपना कार्य नहीं करते, उस समय उनकी प्रसुप्त अवस्था है। प्रलय काल और सुषुप्ति चारों ही क्लेशों की प्रसुप्तावस्था है। कामभावना शिशु में प्रसुप्त होती है, यौवन में जग जाती है। व्यक्ति के अन्त:करण में जन्म-जन्मान्तर की भावनाएँ प्रसुप्त पड़ी रहती है, अनुकूल उद्बोधक पाकर जाग्रत् हो जाती है। योगाभ्यासी को इनके

प्रति सावधान रहना चाहिए ।

तनु अवस्था- 'तनुत्वमुच्यते- प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति ।'

अर्थात्- अब 'तनुत्व' कहा जा रहा है- प्रतिपक्ष (क्रियायोग) के अनुभावन अर्थात् अनुष्ठान से आक्रान्त क्लेश तनु (क्षीण) हो जाते हैं।

तनु का अर्थ क्षीण हो जाना है। क्रियायोग के द्वारा ये क्लेश क्षीण होकर 'तनु' अवस्थागत होते हैं, इसीलिए साधकों में ये दुर्बल अवस्था में रहते हैं, किन्तु अनुकूल उदबोधक पाकर असावधान होने पर प्रबल होकर साधक को साधनाच्युत कर सकते हैं । 'प्रसुप्त' और 'तनु' अवस्था में यह भेद है कि प्रसुप्तावस्था में संस्कार सोये हए अर्थात निष्क्रिय होते हैं, किन्तु 'तनु' अवस्था में कुछ जगे हुए क्षीणावस्था में रहते हैं ।

विच्छिन्न अवस्था-

' विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनाऽऽत्मना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः। कथम् ? रागकाले क्रोधस्यादर्शनात्। न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति ।'

अर्थात्- उसी प्रकार रुक-रुक कर उस-उस रूप में पुनः पुनः प्रकट होते रहते हैं, इसलिए 'विच्छिन्न' कहे जाते हैं। कैसे राग के समय क्रोध के न दिखाई पड़ने से। राग काल में क्रोध क्रियाशील नहीं होता है। जब कोई क्लेश अपने उभार पर अर्थात् तीव्रावस्था में होता है, तब जो दूसरा क्लेश दब जाता है, यही उसकी 'विच्छिन्नावस्था' है। जैसे राग के प्रबल होने पर द्वेष और द्वेष के प्रबल होने पर राग दब जाता है। यही दब जाना 'विच्छिन्न' अवस्था है ।

उदार अवस्था-

'विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः।'

अर्थात् विषय के प्रति जो प्रकट रहता है, वह 'उदार' है (उदार का आशय उभार है)।

जब कोई क्लेश अपने तीव्रावस्था में रहता है तब वह उसकी उदार अवस्था मानी जाती है ।

दग्धबीज अवस्था-

'तत्रैव सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति। सतां क्लेशानां तदा बीजसामर्थ्य दग्धमिति विषयस्य सम्मुखीभावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोध इति ।'

अर्थात् वह दग्धबीज भाव नाम वाली पाँचवी क्लेशावस्था विवेकख्याति-युक्त योगी की ही होती है, अन्य की नहीं। तब तक क्लेशों के अंकुरण की क्षमता दग्ध हो चुकी होती है। अस्तु विषय के समक्ष रहने पर भी इन क्लेशों की समुत्पत्ति नहीं होती है।

ये सभी क्लेश अविद्या की देन हैं। अविद्या का नाश होने पर इनका भी नाश हो जाता है। क्लेशों की अन्तिम अवस्था दग्धबीजत्व है। जब योगाभ्यास द्वारा साधक अविद्यादि क्लेशों को शक्तिहीन बना देता है, तब भुने हुए बीज की भाँति उनकी अंकुरण-क्षमता समाप्त हो जाती है और वे पूर्ण निष्क्रिय हो जाते हैं। यह विवेकख्याति अथवा पूर्ण तत्त्वज्ञान की अवस्था है। यह साधना सिद्धयोगियों की होती है। क्रियायोग का अभ्यास करते-करते साधक एक दिन साधना की परिपक्वा-वस्था में इस दग्धबीजत्व की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ 5 ॥

सूत्रार्थ- अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में क्रमशः नित्य, शुचि, सुख और आत्मा का मानना 'अविद्या' है।

व्याख्या- अविद्या एक क्लेश है। जिस साधन से पदार्थ का स्वरूप ठीक प्रकार से जाना जाता है उसको विद्या कहते हैं और जिस साधन से पदार्थ का स्वरूप विपरीत रूप में जाना जाता है वह अविद्या कहाती है। ठूंठ को दूँठ रूप में जानना विद्या है, मनुष्य के रूप में जानना अविद्या है। जिस समय व्यक्ति किसी पदार्थ के स्वरूप को न वास्तविक रूप में जानता है और न विपरीत रूप में जानता है यह विद्या का अभाव है, अविद्या नहीं है। विद्या और अविद्या परस्पर एक दूसरे के विरोधी है। जहाँ पर विद्या होती है वहाँ पर अविद्या नहीं रह सकती। जहाँ पर अविद्या होती है वहाँ पर विद्या नहीं रह सकती। अविद्या का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। परन्तु योगदर्शनकार ने अविद्या के उसी अंश को यहाँ पर दिखलाया है जो मुक्ति में बाधक है। अविद्या के इस अंश को निम्न प्रकार से समझना चाहिये।

(१) अनित्य पदार्थों को नित्य जानना- व्यास भाष्य-

अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिः तद्यथा-ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः, अमृता दिवौकस इति।

अर्थात् मनुष्य का यह शरीर अनित्य है। अविद्या के कारण व्यक्ति इसको नित्य समझता है और यह इच्छा रखता है कि मेरा यह शरीर अनन्त काल तक बना रहे। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि देवों के शरीर सदा बने रहते हैं, मरते नहीं ।

संसार में अनेक लोग वाणी से तो यही कहते हैं कि यह शरीर नाशवान् है। परन्तु मन से शरीर को नाशवान् मानने वाले

विरले ही होते हैं। जैसे अनित्य शरीर को अविद्या के कारण व्यक्ति नित्य मानता है वैसे ही वह पृथिवी, सूर्य आदि अनित्य पदार्थों को भी नित्य मानता है। जो भी धन, सम्पत्ति, परिवार आदि मनुष्य के साथ सम्बद्ध हैं, उनको नित्य मानता है। यह अविद्या का एक भाग है।

(२) अशुद्ध पदार्थों को शुद्ध मानना- 'तथाऽशुचौ परमबीभत्से काये शुचिख्यातिः, उक्तं च-

''स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निः स्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्याशुचि विदुः ॥''

इत्यशुचौ शुचिख्यातिर्दृश्यते।' अर्थात् जैसे सुन्दर शरीर को देखकर व्यक्ति यह समझता है कि इस शरीर में कोई मल नहीं है, यह नितान्त शुद्ध है। चोरी आदि अधर्माचरण को शुद्ध मानता है और उत्साहपूर्वक उसको करता रहता है। संसार में अशुद्ध कर्मों को शुद्ध मानने से अन्याय की प्रवृद्धि और न्याय का ह्रास होता है। इसी प्रकार से अन्यायपूर्वक धनोपार्जन को शुभ समझना और अशुद्ध खान-पान को शुद्ध समझना भी अविद्या है।

(३) दुःख को सुख समझना- 'तथा दुःखे सुखख्यातिं वक्ष्यति-परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः (योग.-2.15) इति । तत्र सुखख्यातिरविद्या ।'

अर्थात् संसार में जो सुख है उसमें चार प्रकार का दुःख मिश्रित है। परन्तु अविद्या के कारण व्यक्ति उसको शुद्ध एवं दुःखरहित समझता है। उसकी प्राप्ति के लिये अनेक प्राणियों की हिंसा करता है।

(४) जो पदार्थ आत्मा नहीं है उनको आत्मा समझना- 'तथानात्मन्यात्मख्यातिर्बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे, पुरुषोकरणे वा मनस्यनात्मन्यात्मख्यातिरिति।'

अर्थात्- शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि ये सब पदार्थ आत्मा नहीं है। इनको व्यक्ति आत्मा समझता है। इनको आत्मा समझने के कारण इनके आधीन होकर अशुभ कर्मों को करता रहता है और मन आदि को दोषी मानता है।

'एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसंतानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्येति।' अविद्या के स्वरूप को इस प्रकार से भी समझ लेना चाहिये कि जैसे व्यक्ति अनित्य को नित्य समझता है, वैसे ही नित्य को अनित्य समझता है। शुद्ध को अशुद्ध, सुख को दुःख, चेतन को जड़ समझता है। चार प्रकार की इस अविद्या के स्वरूप को जानना और इसका निराकरण करना अनिवार्य है। व्यक्ति शास्त्रों को पढ़ने और पढ़ाने के पश्चात् यह मान लेता है कि मेरी अविद्या नष्ट हो गई है और मैं वास्तविक विद्वान् बन गया हूँ। परन्तु ऐसा मानना भूल है, जब तक व्यक्ति प्रकृति, विकृति, आत्मा, परमात्मा के स्वरूप को अच्छे प्रकार से जानकर तदनुसार आचरण नहीं करता तब तक अविद्या का नाश और विद्या की प्राप्ति नहीं होती ।

'अस्मिता ' नामक क्लेश का स्वरूप-

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ 6 ॥

सूत्रार्थ- 'दृक् शक्ति' अर्थात् आत्मा और **'दर्शन शक्ति'** बुद्धितत्त्व की एकरूपता या एकात्मकता 'अस्मिता' नामक क्लेश है।

व्याख्या- दृक् शक्ति द्रष्टा आत्मा है-चेतन तत्त्व। दर्शनशक्ति देखने का साधन है-बुद्धितत्त्व जड़ प्राकृतिक अर्थात् प्रकृति का कार्य। इन दोनों की एकरूपता-जैसी प्रतीति होना 'अस्मिता' नामक क्लेश है। पुरुष भोक्ता तथा बुद्धि भोग्य है। ये दोनों अत्यन्त विभक्त हैं। एक-दूसरे के स्वरूप में किसी की अंशमात्र भी संकीर्णता (मिलावट) नहीं होती। आत्मा शुद्ध चेतन अपरिणामी तत्त्व है, इसके विपरीत बुद्धितत्त्व अशुद्ध रागादि मलों का जनक, जड़ तथा परिणामी है। इनके परस्पर सर्वथा भिन्न स्वरूप होने पर भी जिस स्थिति में इनकी एकरूपता-जैसी प्रतीति हो, वह अस्मिता है। इसका कारण अविवेक (दृक्शक्ति तथा दर्शनशक्ति के विवेक भेद को न जानना) अथवा अविद्या है।

पहले सूत्र में यह बताया-अनात्मा को आत्मा समझना अविद्या है। अनात्मा बुद्धि को जब चेतन आत्मतत्त्व अपना रूप समझता है, यह अविद्या क्लेश की सीमा में आता है। इसके फलस्वरूप वह शान्त, घोर, मूढ़ आदि बुद्धि-धर्मों को अपने में आरोपित करता है, **'मैं शान्त हूँ, घोर हूँ, मूढ़ हूँ'** इत्यादि रूप में, यह अस्मिता क्लेश का स्वरूप है। अविद्या कारण है, अस्मिता कार्य, यही इन दोनों में भेद है। इन दोनों की एकरूपता-जैसी अवस्था ही पुरुष का भोग है। बुद्धि आदि के सहयोग में ही आत्मा सांसारिक रूप-रस आदि विषयों का भोग तथा सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का अनुभव किया करता है।

विवेकख्याति होने पर पुरुष को स्वरूप का साक्षात्कार होता है, तो वह अपने आपको बुद्धि आदि जड़-तत्त्वों से सर्वथा भिन्न अनुभव करता है। उस समय भोग की दशा समाप्त हो जाती है, कैवल्य उभर आता है। इसी तथ्य को कपिल के प्रशिष्य आचार्य पञ्चशिख ने अपने एक सन्दर्भ में स्पष्ट किया-

'बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्याऽऽदिभिर्विभक्तम् पश्यन् कुर्यात्तन्त्रात्मबुद्धि मोहेन।'

बुद्धि से परे भिन्नरूप में अवस्थित पुरुष को उसके स्वरूप आकार, सदा शुद्ध अविकारी आदि। शील स्वभाव (अपरिणामी आदि), विद्या-चेतन आदि होने के कारण बुद्धि से सर्वथा विभक्त भी अपने आपको भिन्न न देखता हुआ, मोह से-अविवेक से बुद्धि आदि प्राकृत जड़-तत्त्वों में आत्मबुद्धि कर लेता है। बुद्धि आदि को ही आत्मा समझ लेता है। **'ये ही मैं आत्मतत्त्व हूँ'** ऐसा समझ बैठता है। यह भाव 'अस्मिता' क्लेश का स्वरूप है। वस्तुतः सभी क्लेश अविवेक-मूलक एवं भ्रमरूप हैं, इसलिए पाँचों क्लेशों को आचार्यों ने अविद्या के भेद कहा है-**'पञ्चपर्वा अविद्या'** यह पाँच पोरों के रूप में अविद्या ही है। अतः साधक को आवश्यक है कि वह क्रियायोग आदि के द्वारा क्लेशों को शिथिल करने के लिए निरन्तर दीर्घ प्रयास करता रहे ।। 6 ।।

'राग' नामक क्लेश का स्वरूप-

सुखानुशयी रागः ॥ 7 ॥

सूत्रार्थ- सुखोपभोग के पीछे पुनः सुख मिलता रहे, ऐसी जो सुख के प्रति आसक्तिपूर्ण इच्छा है, वह 'राग' नामक क्लेश है।

व्याख्या- व्यास भाष्य-

'सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्धस्तृष्णा लोभः स राग इति ।'

सुखोपभोग के सुख को जानने वाले का सुख स्मरणपूर्वक सुख या सुख के साधनभूत पदार्थ के प्रति जो ललक, तृष्णा या लोभ है, वह 'राग' है।

जिसने सुखसाधनों का उपभोग किया है, उस सुख की स्मृति उस भोक्ता के हृदय में सचिंत हो जाती है। वह सुख पुनः उसे यथेष्ट रूप में मिलता रहे और इस प्रकार उसके प्रति जो एक ललक, तृष्णा या लोभ वृत्ति बन जाती है, वह 'राग' नामक क्लेश है। क्लेश इसलिए कि इच्छानुरूप न मिलने पर बेचैनी होती है तथा उसके न रहने पर अभावजन्य कष्ट होता है। यह वैराग्य-विनाशक है।

'द्वेष' नामक क्लेश का स्वरूप-

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ 8 ॥

सूत्रार्थ- दुःख की प्रीति के पीछे रहने वाला क्लेश 'द्वेष' है।

व्याख्या- व्यास भाष्य-

'दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेष इति।'

दुःख भोगने वाले के हृदय में दुःख के स्मरणपूर्वक दुःख या दुःख क साधनभूत पदार्थ के प्रति जो प्रतिहिंसा, क्रोध, मार डालने की इच्छा या आक्रोश उत्पन्न होता है, वह 'द्वेष' है।

जिन व्यक्तियों या वस्तुओं से व्यक्ति को दुःख मिलता है, उसके प्रति जो स्मृति अन्तःकरण में बनती है, उसके साथ क्रोध, प्रतिहिंसा, आक्रोश, घृणा, वध कर डालने की इच्छा चिपक जाती है। यही भावना 'द्वेष' क्लेश है, क्योंकि इसके उठने पर चित्त विक्षुब्ध होता है और प्रतिहिंसा के भड़कने से भारी अनर्थ की सम्भावना भी उससे जुड़ जाती है। वास्तव में राग और द्वेष दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों ही साधना मार्ग के अवरोधक है, प्रतिपन्थी है। इनसे बचना चाहिए और साधना द्वारा वैराग्य जगाकर इन्हें समाप्त कर देना चाहिए।

अभिनिवेश (मरण-भय) का स्वरूप-

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ 9 ॥

सूत्रार्थ- जो परम्परागत स्वभाव में चला आ रहा है तथा जो मूर्खों और विद्वानों में समान रूप से वर्तमान है, वह मरण भयरूपी 'अभिनिवेश' नामक क्लेश है।

व्याख्या- व्यास भाष्य-

'सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति, श्मा न भूवं भूयासमि श्ति । न चाननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः । एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते।'

संसार में आ जाने पर प्रत्येक प्राणी की यह भावना रहती है-अब मैं सदा ऐसा ही बना रहूँ। ऐसा कभी न हो कि मैं न रहूँ। यह भावना प्राणी के मृत्युभय को प्रकट करती है। सर्वसाधारण अपढ़, मूर्ख, पामर व्यक्ति जो वास्तविकता को नहीं जानता, समझता, उसकी ऐसी भावना बने, तो कोई आश्चर्य नहीं, परन्तु जो विद्वान् हैं, शास्त्र के पारदर्शी हैं, जानते हैं कि जो जन्मता है वह मरता अवश्य है-वे भी मूखों के समान मृत्युभय से घबराते हैं। यह भय न केवल मानव में, अपितु कृमि, कीट, पतंग आदि क्षुद्र प्राणियों तक में विद्यमान रहता है। जैसे ही किसी के सन्मुख प्राणसंकट आये, वह उससे बचने का तत्काल उपाय करता है और ऐसे संकट के प्रति सदा सतर्क व सावधान रहता है।

प्राणिमात्र को किसी से भय अथवा किसी वस्तु के प्रति आकर्षण तभी होता है, जब उसने उस स्थिति अथवा वस्तु का

प्रथम अनुभव किया हो। परन्तु एक जीवन में प्रादुर्भूत प्राणी ने अभी तक मृत्यु के दु:ख का अनुभव नहीं किया होता। अन्य प्राणियों को मरते-जाते देखने पर भी व्यक्ति की उस भावना में कोई अन्तर नहीं आता कि मैं कभी न मरूँ, सदा ऐसा ही बना रहूँ। आचार्यों के उपदेश भी प्राय: इस दिशा में कोई कारगर नहीं होते। इससे अनुमान होता है कि पहले जन्मों में प्राणी ने मृत्यु के तीव्र दु:ख का अनुभव किया है, उसी से जनित संस्कार इस जीवन में निमित्तवश उभरने पर प्राणी को भय से बेचौन बनाये रखते हैं। यह 'अभिनिवेश' नामक मृत्युभय का क्लेश प्राणिमात्र में समानरूप से पाया जाता है। चाहे कोई कुशल हो, या अकुशल, मृत्यु का अवसर सबके लिए समानरूप से आता है और समानरूप से सबको भयत्रस्त करता है। इन क्लेशों को ध्वस्त करने और इनसे बचने के लिए साधक को सदा निर्दिष्ट उपायों के अनुष्ठान में प्रयत्नशील बना रहना चाहिए ।

ते प्रतिप्रसवहेया: सूक्ष्मा: ॥ 10॥

सूत्रार्थ- वे अविद्यादि पाँचों क्लेश तप:, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान रूप एवं योगाभ्यास रूप क्रियायोग के द्वारा और तत्त्वज्ञान के द्वारा निर्बल बनाने योग्य है। तदुपरान्त उनमें भुने हुए बीज की भाँति अंकुरण क्षमता नहीं रह जाएगी और वे निर्मूल हो जायेंगे ।

व्याख्या- व्यास भाष्य-

ते पञ्च क्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति ।

क्रियायोग के अभ्यास से दुर्बल बने अविद्यादि पाँचों क्लेश जब 'प्रसंख्यान' रूपी अग्नि से दग्धबीज के समान अंकुरण में अक्षम हो जाते हैं, तब योगी के कृतकृत्य चित्त के अव्यक्त में लीन होने के साथ वे भी लीन हो जाते हैं।

अविद्यादि पाँचों क्लेशों को क्रियायोग द्वारा क्षीण किया जाता है, जिनसे उनके प्रभाव की तीव्रता कम हो जाती है, किन्तु ये क्लेश पूर्णरूप से नष्ट तभी होते हैं, जब योगाभ्यास द्वारा प्रकृति पुरुष के सम्यक् ज्ञान हो जाने पर, असम्प्रज्ञात समाधि के सिद्ध हो जाने पर, चित्त के अपने कारणरूप अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाने पर पुरुष अपने शुद्ध रूप को पहचान लेता है।

विवेकी साधक भौतिक सुखों को दु:खरूप मानते हैं-

परिणामतापसंस्कारदु:खैर्गुणवृत्त्यविरोधाच्च दु:खमेव सर्वं विवेकिन: ॥ 15 ॥

सूत्रार्थ- परिणाम दु:ख, ताप दु:ख और संस्कार दु:ख सबमें विद्यमान रहने के कारण और सत्त्वादि तीनों गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण विवेकी साधकों के लिए तो समस्त कर्म-फल चाहे सुख रूप हों, चाहे दु:ख रूप हों, सब-के-सब दु:खरूप ही है।

व्याख्या- इस सूत्र में यह बताया गया है कि विवेकी साधक भौतिक सुखों को भी दु:ख रूप क्यों समझता है। भौतिक या सांसारिक सुख चार रूपों में दु:खप्रद होते हैं-1. परिणाम दु:ख, 2. ताप दु:ख, 3. संस्कार दु:ख, 4. गुणवृत्तिविरोध दु:ख ।

(1) परिणाम दु:ख- भौतिक सुखोपभोग से तृप्ति नहीं होती। जैसे अग्नि में घृताहुति उसे तीव्र करती है, वैसे भोग से भोग-कामना और अधिक बढ़ती है-

'न जातु काम: कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥' (मनुस्मृति-2.94)

भोगवासना की वृद्धि से रागजन्य 'कर्माशय' में वृद्धि होती है। विषयों का भोग पहले क्षणिक सुख देता है और अपने पीछे परिणामस्वरूप क्षीणता, रोग, शोक छोड़ जाता है। जैसे स्त्री-संसर्ग, चटपते स्वादिष्ट भोजन, नशा आदि। यही विषयों का 'परिणाम दु:ख' है।

(2) ताप दु:ख- सुखोपभोग में बाधा डालने वालों के प्रति भोक्ता में द्वेष की भावना जन्म लेती है। जो बाधक तत्त्व हैं उनके नाश में द्वेषपूर्ण प्रयास से जो कष्ट होता है, वही 'तापदु:ख' है। इससे द्वेषजन्य 'कर्माशय' बनता और पुष्ट होता है।

(3) संस्कार दु:ख- सुख के अनुभव से सुख-संस्काराशय और दु:खानुभव से दु:ख-संस्काराशय उत्पन्न होते हैं। दृढ़संस्कार अपने ही समान कार्य को बार-बार करने के लिए कर्ता को उत्प्रेरित करते रहते हैं। इस प्रकार संस्कारों से कार्य और कार्य से संस्कारों का चक्र चलता रहता है। यह क्रम जन्म-जन्मान्तर तक गतिशील रहता है। जिन वस्तुभोग-संस्कारों की वासना प्रबल हुई रहती है, मन में उन विषय वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा बराबर बनी रहती है और उसके न मिलने पर या यथेष्ट मात्रा में न मिलने पर जो दु:ख होता है, वह 'संस्कार दु:ख' है। संस्कारबद्ध आसक्ति के कारण भोग्य वस्तु के न रह जाने पर अभावजन्य क्लेश का असह्य दु:ख भोक्ता को भोगना पड़ता है। वह उनके लिए रोता-बिलखता हुआ जन्म बिताता है। पुनर्जन्म का भी प्रबल कारण यह संस्कार दु:ख बनता है।

(4) गुणवृत्तिविरोध दु:ख- गुणों के कार्य का नाम गुणवृत्ति है। सत्त्व, रजस्, तमस् - इन तीनों के कार्यों में परस्पर विरोध है।

जैसे सत्त्वगुण का कार्य प्रकाश, ज्ञान और सुख है, तो तमोगुण का कार्य अन्धकार, अज्ञान और दु:ख है। ये गुण एक-दूसरे को दबाकर अपनी प्रबलता दिखाते है, ऐसी स्थिति में भोग काल में सुख के प्रति द्विविधात्मक मनोवृत्ति बनी रहती है और दु:ख की काली छाया मंडराती रहती है।

इसीलिए विवेकी साधक भौतिक सुखों को भी दु:ख रूप ही मानते हैं। यह बात श्रीमद्.भ.गीता में भी कही गयी है-

'ये हि संस्पर्शजा भोगा दु:खयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्त: कौन्तेय न तेषु रमते बुध: ॥' (श्रीमद्.भ.गी.-5.22)

स्मरणीय बिंदु -

1. पञ्च क्लेशों का स्वरूप - पाँच मानसिक विकार: मानव दु:खों और बंधनों के मूल कारण पाँच क्लेश हैं - अविद्या - अज्ञान, अस्मिता - अहंकार, राग - आसक्ति या सुख की चाह, द्वेष - क्रोध अथवा दु:ख के प्रति घृणा, और अभिनिवेश - मृत्यु का भय। ये क्लेश ही व्यक्ति से कर्म करवाते हैं और जन्म - मरण का चक्र बनाते हैं।

2. अविद्या सभी क्लेशों की जननी - मूल कारण: अविद्या को अन्य चारों क्लेशों की प्रसूतिभूमि या माता माना गया है - 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां'। इसके चार रूप हैं: अनित्य को नित्य समझना, अपवित्र को पवित्र समझना, दु:ख को सुख समझना, और अनात्मा (जड़ शरीर) को आत्मा (चेतन स्वरूप) समझना।

3. **क्लेशों की ४ अवस्थाएं - मानसिक स्थितियां:** अविद्या के आश्रय में रहने वाले अन्य चार क्लेश चित्त में चार अवस्थाओं में पाए जाते हैं - प्रसुप्त - सोए हुए, तनु - क्रियायोग द्वारा कमजोर, विच्छिन्न - एक क्लेश के उभरने पर दूसरे का दब जाना, और उदार - पूरी तरह सक्रिय होकर अपना प्रभाव दिखाना।

15 अंक के प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि योगदर्शन के अनुसार क्लेश से क्या अभिप्राय है? साधनपाद के आलोक में पाँचों क्लेशों अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश के स्वरूप की सोदाहरण विस्तृत विवेचना कीजिए।
2. ''अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्'' सूत्र की विस्तृत समीक्षा कीजिए। अविद्या को अन्य चार क्लेशों की जननी अर्थात् मूल कारण क्यों माना गया है? इन क्लेशों की चारों अवस्थाओं को स्पष्ट कीजिए।
3. महर्षि पतंजलि के अनुसार अविद्या का वास्तविक दार्शनिक स्वरूप क्या है? ''अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या'' सूत्र के आधार पर अविद्या के चारों रूपों का तार्किक विश्लेषण कीजिए।

5 अंक के प्रश्न -

1. अस्मिता क्लेश का क्या स्वरूप है? दृक्शक्ति - पुरुष और दर्शनशक्ति - बुद्धि को एक मान लेना बंधन का कारण कैसे बनता है?
2. सुख और दु:ख के अनुभवों के आधार पर राग और द्वेषरूप क्लेशों में संक्षेप में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. अभिनिवेश क्लेश किसे कहते हैं? यह क्लेश अज्ञानी पुरुषों के साथ-साथ विद्वानों में भी समान रूप से क्यों पाया जाता है?
4. क्लेशों की प्रसुप्त और तनूकृत अवस्थाओं से क्या तात्पर्य है? इन्हें किस प्रकार क्षीण किया जाता है?

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार मानव दु:खों के मूल कारण क्लेशों की कुल संख्या कितनी है?

(क) तीन
(ख) चार
(ग) पाँच
(घ) नौ

2. निम्नलिखित में से किस क्लेश को शेष सभी क्लेशों का क्षेत्र - भूमि या जननी कहा गया है?

(क) अस्मिता
(ख) अविद्या
(ग अभिनिवेश
(घ) राग

3. अनित्य, अपवित्र, दु:खद और अनात्मा में क्रमश: नित्य, पवित्र, सुखद और आत्मभाव का होना क्या कहलाता है?

(क) विवेक ख्याति
(ख) अस्मिता
(ग) अविद्या
(घ) अभिनिवेश
4. ''सुखानुशयी .....।'' रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए सही क्लेश का चयन कीजिए:
(क) द्वेष:
(ख) राग:
(ग) मोह:
(घ) अविद्या
5. मृत्यु का भय या स्वत: प्रवाहित होने वाला मरण-त्रास किस क्लेश के अंतर्गत आता है?
(क) अभिनिवेश
(ख) अस्मिता
(ग) द्वेष
(घ) राग

इकाई-3.3 दृश्य एवं दृष्टा का स्वरुप

उद्देश्य -

• **प्रकृति और पुरुष के मूल स्वभाव को समझानाः** साधक को यह स्पष्ट करना, कि दृश्य जड़ प्रकृति, त्रिगुणात्मक और परिवर्तनशील है, जबकि द्रष्टा पुरुष या आत्मा शुद्ध चौतन्य, अपरिवर्तनीय और केवल साक्षी मात्र है।

• **संसार की उत्पत्ति और प्रयोजन को स्पष्ट करनाः** यह बोध कराना कि दृश्य जगत का अस्तित्व स्वतंत्र नहीं है, बल्कि यह द्रष्टा को भोग और अपवर्ग प्रदान करने के लिए ही अस्तित्व में है।

• **दुख के मूल कारण संयोग को उजागर करनाः** साधक को यह समझाना, कि द्रष्टा और दृश्य का आपस में अविवेकपूर्ण सम्मिश्रण या संयोग ही संसार के समस्त दुःखों और बंधनों का वास्तविक कारण है।

हेयं दुःखमनागतम् ॥ 16 ॥

सूत्रार्थ - भविष्य में आने वाला दुःख ही त्याज्य है अर्थात् जो दुःख अभी तक आया नहीं है, उसी को त्यागने का उपाय किया जा सकता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य-

'दुःखमतीतमुपभोगेनातिवाहितं न हेयपक्षे वर्तते वर्तमानं च स्वक्षणे भोगारूढमिति न तत्क्षणान्तरे हेयतामापद्यते तस्माद्यदेवानागतं दुःखं तदेवाक्षिपात्रकल्पं योगिनं क्लिश्नाति, नेतरं प्रतिपत्तारम्। तदेव हेयतामापद्यते ।'

अतीत का दुःख झेला जा चुका है, अस्तु त्याज्य कोटि में नहीं आता है। वर्तमानकालिक दुःख वर्तमान के क्षणों में भोगा ही जा रहा है, इस कारण वह अगले क्षण में हेयत्व को प्राप्त नहीं होता। इसलिए जो दुःख अनागत है अर्थात् अभी तक नहीं आया है, वही नेत्रगोलक सदृश कोमल चित्त योगी को क्लेशित करता है, इतर भोक्ताओं को नहीं। अस्तु, वही दुःख त्याज्य है।

वर्तमान जन्म के पहले जो अनेक योनियों में दुःख भोगे जा चुके हैं, वे तो स्वतः भोग द्वारा समाप्त हो चुके हैं, वे अविचारणीय हैं। जो दुःख वर्तमान काल में भोगे जा रहे हैं, वे भी भोग द्वारा नष्ट हो जायेंगे, अस्तु उनके लिए भी उपाय की आवश्यकता नहीं है, किन्तु जिन संचित संस्कारों का फल आगामी जन्मों में भोगा जाने वाला है, उन्हें नष्ट करने की आवश्यकता है, ताकि पुनर्जन्म न हो।

द्रष्टदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ 17॥

सूत्रार्थ- द्रष्टा और दृश्य अर्थात् पुरुष और प्रकृति का परस्पर मेल अर्थात् अज्ञान पूर्ण सम्बन्ध जुड़ जाना त्याज्य है, क्योंकि वही दुःख का कारण है।

व्याख्या- व्यास भाष्य-'द्रष्टा बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः। दृश्या बुद्धिसत्त्वोपारूढाः सर्वे धर्माः ।' -'द्रष्टा' का अर्थ बुद्धि में व्याप्त दृश्यों को देखने वाला पुरुष है। 'दृश्य' का अर्थ बुद्धि में विद्यमान शब्द-स्पर्शादि समस्त धर्म है।

'तयोर्दृग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थकृतः संयोगो हेयहेतुर्दुःखस्य कारणमित्यर्थः । तथा चोक्तम् - तत्संयोगहेतुवर्जनात्स्यादय मात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः।' - (पंचशिखाचार्य द्वारा) यह भी कहा गया है 'बुद्धि के साथ पुरुष-संयोग के हेतु का विशेष रूप से वर्जन करने पर इससे आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति हो सकती है'।

पुरुष औरं प्रकृति दोनों भिन्न तत्त्व है। पुरुष चेतन है। वह सहज सुखरूप है। प्रकृति जड़ है और त्रिगुणात्मक है। सत्त्वगुण, रजोगणु एवं तमोगुण वे सूक्ष्म तत्त्व हैं जिनसे संसार की सारी वस्तुएँ व्याप्त हैं। संसार में जो सुख है, वह सत्त्वगुण और जो दुःख है, वह रजोगुण के कारण है और जो मोह, अज्ञान, आलस्य एवं प्रमाद है, वह तमोगुण के कारण है। चिरसाहचर्यवश चेतन तत्त्व पुरुष या आत्मा इन गुणों से आच्छादित स्वरूप को भूल बैठा है और चुम्बक से आकृष्ट लोहे की भांति प्रकृति की उत्पाद्य बुद्धि तत्त्व जो स्वयं में जड़ है, किन्तु चेतन पुरुष के सान्निध्य से चेतन सदृश स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और प्रकृति के संसर्गवश जो आत्मा जीवात्मा बन जाती है; वही बुद्धि के वशीभूत होकर कार्य करती है और बुद्धयाश्रित उसके संकेतों पर चलकर सुख-दुःखों का अनुभव करती है। यही अनुभव या भ्रान्ति अज्ञान अथवा अविद्या है। पुरुष और प्रकृति के भिन्नता का ज्ञान ही तत्त्वज्ञान अथवा विद्या है। इसी विद्या से अमृत तत्त्व मिलता है- **'विद्ययामृतमश्नुते'** । पुरुष-प्रकृति विषयक बोध हो जाने पर 'मैं केवल पुरुष हूँ', इसकी अनुभूति ही मुक्ति अथवा कैवल्य है। इस प्रकार पुरुष का प्रकृति से अज्ञानपूर्ण संयोग दुःख का कारण है। कारण का निवारण ही कष्ट मिटाने का उपचार है। कारण के निवारण से कार्य का अभाव हो जाता है। जो व्यक्ति जानता है कि काँटे की चुभन कष्टकर है जिससे वह काँटे पर पैर नहीं रखेगा। यदि रखेगा तो पदत्राण (जूते) पहन कर रखेगा। यही 'भेद्यता' 'भेदकत्व' और 'परिहार' सम्बन्धी ज्ञान है। सरल शब्दों में दुःख का ज्ञान, दुःख के कारण का ज्ञान और दुःख के निवारण के ज्ञान का सिद्धान्त है, जिसको

व्यवहार में प्रयोग कर कष्ट-मुक्त हुआ जा सकता है। इस प्रकार द्रष्टा पुरुष, दृश्य प्रकृति और उसके उत्पादक शरीर, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के यथार्थ को जान कर उनके अज्ञानपूर्ण सम्बन्ध त्याज्य है, क्योंकि वे ही दु:ख के कारण है।

दृश्यस्वरूपमुच्यते -

दृश्य' का स्वरूप बताया जा रहा है-

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ 18 ॥

सूत्रार्थ- प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है। भूत और इन्द्रियाँ जिसका प्रकट स्वरूप है और पुरुष के लिए भुक्ति और मुक्ति का सम्पादन करना ही जिसका प्रयोजन है, वह 'दृश्य' है।

व्याख्या- व्यास भाष्य-

'प्रकाशशीलं सत्त्वम्। क्रियाशीलं रजः। स्थितिशीलं तम इति। एते गुणाः परस्परोपरक्तप्रविभागाः संयोगविभागधर्माण इतरेतरोपाश्रयेणौपार्जितमूर्तयः परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽप्यसम्भिन्नशक्तिप्रविभागाः।'

सत्त्वगुण प्रकाशशील, रजोगुण क्रियाशील तथा तमोगुण स्थितिशील है। ये तीनों गुण परस्पर संसृष्ट अंशों वाले, परिणामी संयोग विभाग रूप धर्म से युक्त है और अन्योन्याश्रय द्वारा मूर्त रूप में प्रकट होने वाले हैं। परस्पर अंगांगिभाव से रहने पर भी अपनी-अपनी शक्तियों को पृथक् रखने वाले होते हैं।

सूत्र के प्रथम समासयुक्त पद में अन्तिम पद 'शील' का सम्बन्ध पहले तीनों पदों के साथ है- प्रकाशशील, क्रियाशील, स्थितिशील। 'शील' पद का अर्थ है-स्वभाव पहले तीनों पद अपने वस्तुभूत तत्त्व के स्वभाव को बतलाते हुए यथाक्रम सत्त्व, रजस्, तमस् के बोधक हैं। प्रकाश स्वभाववाला सत्त्व, क्रिया स्वभाव वाला रजस् और स्थिति स्वभाववाला तमस्। समस्त दृश्य सत्त्व, रजस, तमस् का परिणाम है और सत्त्व आदि वस्तु तत्त्व यथाक्रम प्रकाश आदि स्वभाववाले हैं। इसलिए सत्त्व आदि त्रिगुण का परिणाम समस्त दृश्य भी प्रकाश आदि स्वभाववाला है। प्रत्येक दृश्य जो दिखाई देने या अन्य प्रकार-से अनुभव के रूप में प्रकाशित हो रहा है, वह उसके उपादान कारण सत्त्व के प्रभाव से है। प्रत्येक दृश्य क्रियाशील है, यह रजस् का परिणाम व प्रभाव है। प्रत्येक दृश्य को किसी सीमितकाल तक एक ही स्थिति में रहते हुए अपरिवर्तित अनुभव किया जाता है, यह तमस् का परिणाम है। इस प्रकार समस्त त्रिगुणात्मक दृश्य प्रकाश, क्रिया और स्थिति स्वभाववाला है।

यह दृश्य का स्वभाव बताया, उसका वस्तु-स्वरूप क्या है? यह अगले **'भूतेन्द्रियात्मकम्'** पद से बतया गया। वह दृश्य वस्तु-तत्त्व की दृष्टि से भूत-स्वरूप तथा इन्द्रियस्वरूप है। तात्पर्य है-भूत और इन्द्रियाँ ही वह वस्तु तत्त्व है, जो 'दृश्य' पद से कहा गया है। 'भूत' पद से पाँचों स्थूलभूत तथा सूक्ष्मभूत एवं उनके कारण 'तन्मात्र' अभिप्रेत हैं। 'इन्द्रिय' पद से बाह्य पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय तथा आन्तर इन्द्रिय मन और अन्त:करण-अहंकार एवं बुद्धि का ग्रहण होता है। इस प्रकार प्रकृति के आद्यकार्य बुद्धि से लगाकर समस्त तेरह करण तथा तन्मात्र, सूक्ष्मभूत और स्थूलभूत तक सभी तत्त्वों का समावेश 'भूत' एवं 'इन्द्रिय' पदों में हो जाता है। इसका तात्पर्य हुआ-प्रकृति का समस्त कार्य 'दृश्य' है।

सूत्र के तृतीय पद (भोगापवर्गार्थम्) से 'दृश्य' तत्त्वों का प्रयोजन बताया-भोग और अपवर्ग। अनादि काल से प्रवृत्त देह-ध ारण और देहवियोग अर्थात् जन्म-मरण के क्रम से प्राप्त वासनाजाल में आवेष्टित जीवात्मा कर्मानुसार शरीरों को धारण करता हुआ संसार में सुख-दु:खों को भोगा करता है। जीवात्मा का अनुकूल भावनाओं के साथ प्रकृति से निरन्तर सम्पर्क बने रहना भोग है। प्रकृति के साथ सम्पर्क को विच्छिन्न करने की तीव्र भावना के जागृत हो जाने पर इन्हीं 'दृश्य' साधनों के सहयोग से विच्छेद की दिशा में उत्कट प्रयास करता हुआ जीवात्मा अवर्ग को प्राप्त कर लेता है। तब दृश्य के दोनों प्रयोजन सम्पन्न हो जाते हैं।

अविवेक की स्थिति में जब जीवात्मा बाहर के इन दृश्यों में ही संलिप्त रहता है, तब यह 'भोग' का रूप है। जब इन्द्रियों को बाहर की ओर से रोककर अन्दर अपने स्वरूप का साक्षात्कार करता है, तब यह अपवर्ग है। जीवात्मा के दो ही दर्शन हैं, बाहर देखे या अन्दर। पहला 'भोग' और दूसरा 'अपवर्ग' है। उपनिषद् के ऋषि ने बताया-

'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन् ॥' (कठ.-2.1.1)

परमात्मा ने इन्द्रियों को बाहर की ओर खुला हुआ बनाया है. इसलिए इन्द्रियाँ बाहर की ओर देखती हैं, अन्दर की ओर नहीं। कोई धैर्यशील पुरुष अमर होने की इच्छा रखता हुआ इन्द्रियों को भीतर की ओर मोड़कर आत्मा का दर्शन कर लेता है।

यद्यपि तीनों गुण परस्पर मिथुनीभूत होकर एक-दूसरे के अङ्ग अङ्गी बन कर कार्यों का सम्पादन करते हैं, पर किसी एक अङ्गी गुण का अङ्ग बना हुआ अन्य गुण अपने विशेष सामर्थ्य स्वभाव को खो नहीं देता। इनके अपने-अपने स्वभावसामर्थ्य के जागृत बने रहने के कारण यथावसर शान्त, घोर, मूढ़ परिणामों का क्रम बराबर चला करता है। जिस गुण का कार्य प्रकट में ज्ञात रहता है, वह उस समय 'अङ्गी' अथवा 'प्रधान' कहा जाता है, शेष गुण 'अङ्ग' अथवा गौण (अप्रधान) रहते हैं। पर उनका स्वभाव-सामर्थ्य

बराबर बना रहता है।

पुरुष के लिए बुद्धि ऐसा ही तत्त्व है, जैसे किसी राजा के लिए उसका प्रधानमन्त्री। शेष समस्त करण अपने-अपने विषयों को यथास्थान यथावसर बाहर से बटोरकर क्रमानुसार बुद्धि को अर्पित कर देते हैं, बुद्धि उन विषयों को पुरुष के लिए अर्पित कर देती है। तात्पर्य है-इन्द्रिय-प्रणाली से प्रत्येक विषय बुद्धि के माध्यम द्वारा पुरुष तक पहुँचता है, पुरुष उसका अनुकूल अथवा प्रतिकूलरूप में अनुभव करता है। यही सुख-दु:ख का अनुभव अथवा भोग है। इस प्रकार 'दृश्य' का एक प्रयोजन पूरा होता है।

यह स्पष्ट रूप में समझे रहना चाहिए कि बुद्धि आदि समस्त दृश्य, पुरुष के भोगादि के लिए साधनमात्र हैं। कतिपय व्याख्याकारों ने ऐसा भाव प्रकट किया है कि भोग बुद्धि को होता है, पुरुष में केवल यह अध्यारोपित किया जाता है। वस्तुत: भोक्ता चेतन तत्त्व ही हो सकता है, जड़बुद्धि को भोग का होना मानना, दार्शनिक कसौटी पर खरा नहीं है। इस विषय का दिग्दर्शन गत सूत्र की व्याख्या में कर दिया गया है ।

विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्राऽलिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ 19 ॥

सूत्रार्थ- विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग- ये चारों सत्त्वादि गुणों के विभाग या अवस्थाएँ हैं।

व्याख्या- इस सूत्र में सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों की विशेष, अविशेष लिङ्गमात्र, अलिङ्ग- ये चार अवस्थाएँ बतायी गयी है।

(1) विशेष- गुणों के विशेष धर्मों की अभिव्यक्ति इन्हीं से होती है, इसलिए इनको 'विशेष' कहते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश- ये पाँच स्थूल महाभूत तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन- इस प्रकार सब मिलाकर सोलहों का नाम 'विशेष' है।

(2) अविशेष- इनका रूप इन्द्रियगोचर नहीं है, इसलिए इनको 'अविशेष' कहते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध - ये पाँच तन्मात्राएँ इसमें आती हैं। इन्हीं को सूक्ष्म महाभूत भी कहते हैं। ये सम्बन्धित पदार्थ के परमाणु भी कहे जा सकते है। ये स्थूल महाभूतों के सूक्ष्म कारण हैं। छठा तत्त्व अहंकार भी 'अविशेष' कोटि में आता है, जो मन और इन्द्रियों का कारण है।

(3) लिङ्गमात्र - उपर्युक्त बाइस तत्त्वों का कारणभूत जो महत्तत्त्व है, उसका नाम 'लिङ्गमात्र' है। इसकी उपलब्धि सत्तामात्र से होती है, इसी कारण से इसको 'लिङ्गमात्र' कहते हैं। मूल प्रकृति अथवा अव्यक्त की यह प्रथम विकृति या परिणाम है।

(4) अलिङ्ग - साम्यावस्था को प्राप्त गुणों के स्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं होती, इसलिए मूल प्रकृति को अलिङ्ग (चिह्न रहित, अव्यक्त) कहते हैं। मूल प्रकृति तीनों गुणों की साम्यावस्था है, जो प्रलयकाल में रहती है। उपनिषद् और गीता में इसका वर्णन 'अव्यक्त' नाम से किया गया है-

महत: परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुष: पर:।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गति: ॥ (कठोपनिषद्-1.3.11)
महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचरा:॥ (श्रीमद्.भ.गी.-13.5)

पूर्वोक्त सत्त्वादि तीनों गुणों से जो सृष्टि-विकास का क्रम दिया गया है, उसे सूत्र में दिये गये क्रम को उलट कर देखें तो अधिक स्पष्ट होगा । सर्वप्रथम गुणों की अलिङ्ग अवस्था वह है, जहाँ प्रकृति के तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं। उस समय प्रकृति की अभिव्यक्ति नहीं होती है, अतएव वह अभिव्यक्ति के चिह्न से रहित होती है। यही अव्यक्तावस्था है। इसीलिए उस अवस्था को अलिङ्ग अथवा अव्यक्त नाम से अभिहित करते हैं। इस अवस्था में अव्यक्त ऊर्जा रहती है। उसका कोई प्रकट रूप नहीं रहता है।

इसकी दूसरी अवस्था 'लिङ्गमात्र' है। इस प्रकृति के साथ जब चेतन पुरुष तत्त्व का संयोग होता है, तब 'महत्तत्त्व' (चित्त) की उत्पत्ति होती है। यह 'महत्तत्त्व' जड़-चेतन युक्त विकास का प्रथम चरण है। प्रकृति की यह प्रथम सन्तान या कृति है। यही महत्तत्त्व अन्य बाइस तत्त्वों का कारण है। इसी महत्तत्त्व (चित्त) को 'बुद्धि' भी कहते हैं। यह बुद्धि का समष्टि रूप है। इसी से व्यष्टि में बुद्धि वितरित हुई है।

तीसरी अवस्था में पाँच तन्मात्राओं का विकास हुआ है, जो पंचमहाभूतों के सूक्ष्म परमाणु रूप कारण हैं। ये पंचतन्मात्राएँ सूक्ष्म महाभूत हैं, क्योंकि इन्हीं से स्थूल पंचभूतों (अग्नि, वायु, पृथ्वी आदि) का विकास हुआ है। अहंकार से मन और इन्द्रियों का विकास होता है। इस तीसरी अवस्था को 'अविशेष' कहते हैं, क्योंकि इन छहों का स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता है।

चौथी अवस्था को 'विशेष' कहते हैं। इस अवस्था में पाँचों स्थूल महाभूत, पाँच कर्मेन्दियों, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और मन जो ग्यारहवीं सूक्ष्म इन्द्रिय है, का विकास होता है। इन सोलहों के समुदाय को 'विशेष' कहते हैं, क्योंकि गुणों के जो-जो धर्म या वैशिष्ट्य है, उनकी अभिव्यक्ति इसी से होती है। ये गुणों के प्रकट रूप हैं। ये तीनों गुण इन चारों अवस्थाओं में प्रकट रूप से

विद्यमान रहते हैं, इसलिए इन्हें दृश्य प्रकृति कहते हैं । निष्कर्षतः जो कुछ दिखायी देता है, वह प्रकृति की कृति, हैं। इस सूत्र के अनुसार सृष्टि का क्रमिक विकास हुआ है, जो पूर्ण वैज्ञानिक है।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ 20 ॥

सूत्रार्थ- चेतन मात्र ज्ञानस्वरूप आत्मा जो द्रष्टा है, यद्यपि स्वभाव से सर्वथा शुद्ध है, निर्विकार है, तो भी बुद्धिवृत्ति से उससे सम्बन्ध जुड़ जाने से उसी के अनुरूप देखने वाला बन जाता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य-

'दृशिमात्र इति दृक्शक्तिरेव विशेषणापरामृष्टेत्यर्थः। स पुरुषो बुद्धेः प्रतिसंवेदी। स बुद्धेर्न सरूपो नात्यन्तं विरूप इति। न तावत्सरूपः। कस्मात्? ज्ञाताज्ञातविषयत्वात्परिणामिनी हि बुद्धिः।'

'दृशिमात्र' का अर्थ विशेषणों से विहीन ज्ञान-शक्ति ही है। यह पुरुष बुद्धि-वृत्ति का ज्ञाता है। वह न तो बुद्धि के समान रूप वाला है और न ही अत्यन्त विरुद्ध रूप वाला है। वह समान रूप वाला नहीं है। क्यों? विषयों के जानने न जानने वाली होने से बुद्धि परिणाम वाली होती है।

प्रकृति दृश्य है और पुरुष द्रष्टा है। पुरुष अथवा आत्मा को 'दृशिमात्र' कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जीवात्मा चेतन है, जड़ नहीं। आत्मा में ज्ञानगुण स्वभावतः है, किन्तु वह वही देखती है, जो बुद्धि उसे दिखाती है; यही बुद्धि की पराधीनता अविद्या अथवा अज्ञान है। केवल चेतनमात्र जिसका स्वरूप है, ऐसा आत्मतत्त्व स्वरूपतः सर्वथा शुद्ध निर्विकार है, तथापि बुद्धि के चिर साहचर्यवश वह बुद्धि-वृत्ति के अनुसार देखने वाला होने के कारण द्रष्टा कहलाता है। यह अज्ञान अथवा अविद्या साधना द्वारा प्राप्त तत्त्वज्ञान से जब तक नष्ट नहीं होगी, तब तक बुद्धि के साथ एकता को प्राप्त हुआ-सा वह बुद्धि की वृत्तियों के अनुसार दृश्य को देखता रहेगा और भ्रमित हुआ-सा सुख-दुःख के थपेड़ों को खाता हुआ संसार-समुद्र में डूबता-उतराता रहेगा। जब तक आत्मा स्वयं को बुद्धि-वृत्तियों से पृथक् नहीं मानेगी, तब तक बुद्धि द्वारा खड़ा किया गया झूठा प्रपंचात्मक बखेड़ा देखकर बुद्धि के निर्णय को सत्य मानकर व्यवहार करेगी और श्मैं और बुद्धि एक हूँश इस भ्रान्ति से उत्पन्न 'अस्मिता' नामक क्लेश से वह क्लेशित होती रहेगी। तब पुरुष उसी को सत्य मान कर देखता है जिसे बुद्धितत्त्व दिखलाता है ।

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ 21 ॥

सूत्रार्थ- उस द्रष्टा जीवात्मा के भोग और अपवर्ग अर्थात् मुक्ति के लिए ही उस दृश्य का स्वरूप सामने आता है। दृश्य प्रकृति का प्रयोजन द्रष्टा पुरुष के उपयोग हेतु है, उसका अपना कोई प्रयोजन नहीं है।

व्याख्या- व्यास भाष्य-

'दृशिरूपस्य पुरुषस्य कर्मरूपतामापन्नं दृश्यमिति तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा भवति ।'

'दृश्य' का समग्र स्वरूप **'द्रष्टा पुरुष'** के भोगापवर्ग रूप प्रयोजन के लिए ही होता है। दृश्य के स्वरूप-लाभ का अन्य कोई प्रयोजन या उपयोग नहीं है।

दृश्य प्रकृति का स्वरूप द्रष्टा पुरुष के लिए है, क्योंकि वह जड़ है; न देख सकती है, न स्वयं अपना उपभोग कर सकती है। प्रकृति की सम्पूर्ण कृति पुरुष के लिए है। दृश्य (प्रकृति) द्रष्टा (पुरुष) को भोग प्रदान करती है। साधनातप्त तत्त्वज्ञानी साधक को अपने वास्तविक स्वरूप का दर्शन कराकर वही उसे अपवर्ग (मुक्ति) प्रदान करती है। ये दोनों कार्य वह अपनी कार्यशक्ति 'अविद्या' तथा 'विद्या' द्वारा करती है। यही इसका प्रयोजन है ।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ 22 ॥

सूत्रार्थ- मुक्त पुरुष के लिए यह दृश्य (प्रकृति) नष्ट हो जाता है किन्तु वे तमाम पुरुष जो मुक्त नहीं हो सके हैं, उनके लिए यह दृश्यतत्त्व (प्रकृति) पूर्ववत् बना रहता है, विनष्ट नहीं होता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य-

'कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि नाशं प्राप्तमप्यनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात्।'

इस सूत्र में यह बताया गया है कि कृतकृत्य पुरुष अर्थात् मुक्त पुरुष के लिए दृश्य (प्रकृति) नष्ट जैसा होने पर भी उन अन्य पुरुषों के लिए जो मुक्त नहीं है, प्रयोजनहीन नहीं होता। वह उनके लिए भोग और बन्धन का कारण बना रहता है। जो साधक योगाभ्यास करते-करते आत्मसाक्षात्कार कर लेता है, उसके लिए संसार प्रयोजनहीन हो जाता है, किन्तु जो ऐसा नहीं कर पाते, उनके लिए संसार का भोगाकर्षण बना रहता है। मुमुक्षु के लिए मोक्षाकांक्षा भी बनी रहती है। पुरुष अनेक हैं, एक के मुक्त हो जाने पर वह प्रकृति अन्यों के लिए अपना प्रभावी रूप स्थिर रखती है। इस प्रकार दृश्य (प्रकृति) के प्रभाव का सर्वथा अभाव नहीं होता है, क्योंकि वह अनादि है। उसका प्रभाव साधारणों के लिए पूर्ववत् चलता रहता है। सांख्यदर्शन के अनुसार कोई पदार्थ नष्ट नहीं होता

है, मात्र उसका तिरोभाव होता है। प्रवाह रूप में सर्व पदार्थ अनादि है।

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ 23 ॥

सूत्रार्थ- स्वशक्ति (प्रकृति) और स्वामिशक्ति (पुरुष) के स्वरूप की प्राप्ति के लिए ही इन दोनों का संयोग हुआ है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'पुरुषः स्वामी दृश्येन स्वेन दर्शनार्थ संयुक्तः। तस्माद् दृश्यस्योपलब्धिर्या स भोगः। या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः सोऽपवर्गः। दर्शनकार्यावसानः संयोग इति दर्शनं वियोगस्य कारणमुक्तम्।'

स्वामी पुरुष दर्शन (तत्त्वज्ञान) के लिए दृश्य रूपी स्व से संयुक्त होता है। उस संयोग से दृश्य की जो उपलब्धि है तथा वह भोग है तथा जो द्रष्टा के स्वरूप की उपलब्धि है, वह अपवर्ग है। संयोग दर्शन कार्यावसान है अर्थात् विवेक द्वारा दर्शनकार्य की परिसमाप्ति होने पर संयोग का भी अवसान हो जाता है अर्थात् जब तक दर्शन रहता है, तब तक संयोग भी रहता है। अतः उस दर्शन (विवेक) को वियोग का कारण कहा गया है।

इस सूत्र में संयोग अर्थात् प्रकृति और पुरुष के सम्मिलन के स्वरूप को बताया गया है। प्रकृति पुरुष के संयोग से ही सृष्टि गतिशील है। इस संयोग के दो प्रयोजन हैं- 1. भोग, 2. अपवर्ग (मुक्ति)।

(1) दृश्य अथवा प्रकृति का भोगपरक जो भौतिक ज्ञान के क्षेत्र का संयोग है, वह बन्धनपरक है। पुरुष ने बुद्धि के संयोग से प्रकृति के रहस्य-ज्ञान से विभिन्न चामत्कारिक भोगप्रद वैज्ञानिक आविष्कार किये। भौतिक स्तर पर तो संसार पर उसका एकक्षत्र अधिकार हो गया है, किन्तु मानसिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में वह इन आविष्कारों से पिछड़ता गया और अशान्ति, असन्तोष और विनाश ही नहीं बल्कि महाविनाश के कगार पर खड़ा हो गया है। अणु बम प्रकृति की आणविक शक्ति का परिज्ञान है, जो परम संहारक है।

(2) प्रकृति-पुरुष का संयोग जब द्रष्टा के स्वरूप-ज्ञान के लिए होता है, तब वह मोक्षप्रद होता है, जो वरणीय है। यह ज्ञान की आध्यात्मिक प्रवृत्ति है। व्यासभाष्य में दर्शन (ज्ञान) अदर्शन (अज्ञान) के स्वरूप पर दूर तक प्रकाश डाला गया है। एतद् विषयक आठ मान्यताओं की चर्चा है, जिनमें से चौथी मान्यता 'अविद्या' को 'दर्शन' के विपरीत अर्थात् अदर्शन (अज्ञान) के प्रसंग में विशिष्ट मान्यता दी गयी है। अगले सूत्र में उसी अविद्या को प्रकृति-पुरुष के संयोग के हेतु रूप में प्रस्तुत किया गया है। निष्कर्षतः पुरुष का प्रकृति के साथ संयोग उन दोनों के स्वरूप को जानने के लिए ही है, अस्तु उस दर्शन (ज्ञान) शक्ति द्वारा जब तक मनुष्य इस प्रकृति के नाना रूपों को देखता रहता है, तब तक सांसारिक भोगों को भोगता रहता है। जब इनके दर्शन से विरक्त होकर अपने स्वरूप दर्शन की ओर उन्मुख होता है, तब उसे आत्मज्ञान हो जाता है, तब संयोग की आवश्यकता का अभाव हो जाता है। यही पुरुष की 'कैवल्य' अवस्था है; जहाँ प्रकृति और पुरुष का भोग्य-भोक्ता भाव सम्बन्ध या संयोग पूर्णतया समाप्त माप्त हो जाता है।

तस्य हेतुरविद्या ॥ 24 ॥

सूत्रार्थ- चेतन पुरुष और जड़ प्रकृति के संयोग का कारण अविद्या है ।

व्याख्या- व्यास भाष्य-

'विपर्ययज्ञानवासनेत्यर्थः। विपर्ययज्ञानवासनावासिता च न कार्यनिष्ठां पुरुषख्यातिं बुद्धिः प्राप्नोति। साधिकारा पुन. रावर्त्तते। सा तु पुरुषख्यातिपर्यवसानां कार्यनिष्ठां प्राप्नोति। चरिताधिकारा निवृत्तादर्शना बन्धकारणाभावान्न पुनरावर्त्तते ।'

अविद्या का अभिप्राय मिथ्या ज्ञान की वासना है। मिथ्याज्ञान की वासना से आच्छादित बुद्धि विवेकख्याति रूप कार्य की परिसमाप्ति को प्राप्त नहीं होती । अधिकार अर्थात् पुरुष के हेतु भोगापवर्ग विधान करने की सामर्थ्य के कारण पुनः भोगापवर्ग हेतु प्रवृत्त होती है और वह बुद्धि विवेकख्याति पर्यन्त रहने वाली होने के कारण कार्य को परिपूर्ण कर लेती है। तब समाप्ताधिकार अर्थात् कार्य को परिपूर्ण कर चुके होने से मिथ्याज्ञान से मुक्त हुई बन्धन के कारण के अभाववश पुनः प्रवृत्त नहीं होती।

इस सूत्र में जड़-प्रकृति से चेतन पुरुष के संयोग का कारण 'अविद्या' को बताया गया है। सूत्रकार ने (योगदर्शन-2.5) में अविद्या के स्वरूप को बताते हुए कहा है कि-

''अनित्याऽशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।''

अनित्य को नित्य, अशुद्ध को शुद्ध, दुःख को सुख, अनात्मा को आत्मा मान लेना श्अविद्याश है। अविद्या अज्ञान या उल्टी समझ है। यह उल्टी समझ या मिथ्या ज्ञान विवेकख्याति या तत्त्व ज्ञान या यथार्थ ज्ञान को नहीं होने देता। जब यथार्थ ज्ञान हो जाता है तो अविद्यावाहक चित्त मर जाता है, विद्या की उत्पत्ति होती है। विद्या के द्वारा साधक को स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि यह समस्त सृष्टि प्रकृति की रचना है। पुरुष उससे भिन्न चेतन आत्मा है। प्रकृति और पुरुष की भिन्नता का बोध ही मोक्ष है। यह विद्या सत्त्वगुण की पराकाष्ठा है। सत्त्वगुण भी प्रकृति का ही अंग है। इस स्थिति से भी आगे बढ़कर जब साधक गुणातीत हो जाता है, तब परवैराग्य का उदय होता है। परवैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि आती है। यहाँ चित्त पूर्ण निवृत्त होता है। इस पर किसी प्रतिपक्षी नास्तिक ने भाष्य में चर्चित नपुंसक पति और मुग्धा स्त्री के वार्तालाय के उदाहरण के माध्यम से तत्त्वज्ञान के पूर्वोक्त प्रतिपादन पर चुटकी ली । भाष्यकार ने उस चुटकी को मतिविभ्रम कहकर सांख्याचार्य के सिद्धान्त को सत्य बताया कि 'चित्तनिवृत्ति ही मोक्ष है' ।

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ॥ 25 ॥

सूत्रार्थ- उस पूर्वोक्त अविद्या के मिट जाने से द्रष्टा और दृश्य के अर्थात् पुरुष और प्रकृति के संयोग का अभाव हो जाता है। यही अभाव 'हान' है अर्थात् दु:खों से छुटकारा ही जीवात्मा का कैवल्य है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'तस्यादर्शनस्याभावाद् बुद्धिपुरुषसंयोगाभाव आत्यन्तिको बन्धना. ेपरम इत्यर्थः । एतद्धानम् । तद् दृशेः कैवल्यं पुरुषस्यामिश्रीभावः पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थः । दु:खकारणनिवृत्तौ दु:खोपरमो हानम् । तदा स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इत्युक्तम् ।'

उस अविद्या के नाश से बुद्धि और पुरुष के संयोग का नाश हो जाता है अर्थात् सांसारिक बन्धन से पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। यही पूर्ण निवृत्ति 'हान' है। यही द्रष्टा पुरुष का 'कैवल्य' है, बुद्धि से पूर्ण विलगाव है या त्रिगुणों के साथ पुनः संयोग न होना है। दु:ख के कारण की निवृत्ति हो जाने पर दु:ख की निवृत्ति हो जाना 'हान' है। उस समय पुरुष स्व-रूप में प्रतिष्ठित होता है, ऐसा कहा गया है।

पुरुष तथा प्रकृति का जो संयोग अविद्या के कारण हुआ था, योगाभ्यास द्वारा आत्मज्ञान हो जाने पर उसका अभाव हो जाता है। सांसारिक दु:खों-जरा-व्याधि, जन्म-मरण, दोष-दारिद्र्य का सर्वथा नाश हो जाता है। अविद्या द:खों का कारण है। कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य का भी नाश हो जाता है- **'कारणाभावात् कार्याभावः' (वैशेषिकदर्शन-1.2.1)।** दु:ख-द्वद्वों, जन्म-मरण, आधि-व्याधि से पूर्ण छुटकारा 'हान' है। इस हानावस्था में पुरुष स्वरूप में स्थित मात्र पुरुष या आत्मतत्त्व रह जाता है और यही चेतन आत्मा का 'कैवल्य' माया मुक्त शुद्ध स्वरूप है।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ 26 ॥

सूत्रार्थ- निश्चल और निर्दोष विवेक ज्ञान 'हान' की प्राप्ति का उपाय है।

व्याख्या- व्यास भाष्य-'सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः । सा त्वनिवृत्तमिथ्याज्ञाना प्लवते । यदा मिथ्याज्ञानं दग्धबीजभ. ागं वन्ध्यप्रसवं सम्पद्यते, तदा विधूतक्लेशरजसः सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्त्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति । सा विवेकख्यातिरविप्लवा हानस्योपायः । ततो मिथ्याज्ञानस्य दग्धबीजभावोपगमः । पुनश्चाप्रसव इत्येष मोक्षस्य मार्गो हानस्योपाय इति ॥'

सत्त्व बुद्धि और पुरुष की भिन्नता का ज्ञान 'विवेकख्याति' है। वह मिथ्याज्ञान से पूर्णतया रहित न होने पर खण्डित हो जाती है। जब मिथ्या ज्ञान दग्धबीज होकर संस्कार के अंकुरण में सक्षम नहीं रह जाता है, तब क्लेशों एवं रजोगुण से रहित बुद्धि के वैशारद्य एवं परवशीकार अनुभूति में स्थित होने पर विवेक ज्ञान का प्रवाह निर्मल होता है। वह अखण्डित विवेकख्याति हान (मोक्ष) का उपाय है। उससे मिथ्याज्ञान की दग्धबीजावस्था हो जाती है, जिससे मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति फिर नहीं होती है। यही मोक्ष का मार्ग अर्थात् 'हान' का उपाय है।

इस सूत्र में अडिग तत्त्वज्ञान, जिसे 'विवेकख्याति' की संज्ञा दी गयी है, को मोक्ष का उपाय बताया गया है। शरीर और उसके अंगभूत मन, बुद्धि, चित्त, अंहकार आदि के द्वारा प्रकृति पुरुष के बन्धन का हेतु बनती है। पुरुष अविद्यावश उसे अपना मानकर तदनुसार कार्य करता है, फलस्वरूप जन्म-मरण का चक्र सतत गतिमान रहता है और विविध कष्टों का सिलसिला बन्द नहीं होता। साधक साधना की परिपक्वावस्था में पूर्ण तत्त्वज्ञान, विवेकख्याति के माध्यम से धीरे-धीरे अभ्यास और वैराग्य के द्वारा निर्मल बनकर समाधि की स्थिरता से विवेकज्ञान को निश्चल और निर्दोष बनाकर सर्वथा दोषरहित हो जाता है। इस स्थिति में अविद्यादि क्लेश दूर हो जाते हैं और समस्त संस्कार दग्धबीजत्व को प्राप्त होकर पूर्ण निष्क्रिय होकर विलुप्त हो जाते हैं। 'हान' संज्ञक साधना-भूमि पाने के लिए निरन्तरता से बनी रहने वाली अचल विवेकख्याति की आवश्यकता है। इसीलिए 'अविप्लवा' विशेषण का प्रयोग किया गया है। यह अचलता दीर्घकालिक अभ्यास के बाद आती है, जब सूक्ष्म संस्कार भी अस्तित्व में नहीं रह जाते हैं। अचल, विशुद्ध चेतन आत्मस्वरूप ही हानावस्था प्राप्ति का उपाय है।

सिद्धा भवति विवेकख्यातिर्हानोपाय इति । न च सिद्धिरन्तरेण साधनमित्येतदारभ्यते-

'विवेकख्याति' रूपी हानोपाय सिद्ध होता है, किन्तु साधन के बिना सिद्ध नहीं होता है, अस्तु (साधनों को बताने वाला सूत्र) बतलाना आरम्भ किया जाता है-

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ 28 ॥

सूत्रार्थ-योग के अंगों का अनुष्ठान करने से तन-मन, बुद्धि और चित्त में व्याप्त मलों का विनाश होता है और विवेकख्याति के उदय होने तक ज्ञान का प्रकाश होता जाता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'योगाङ्गान्यष्टावभिधायिष्यमाणानि। तेषामनुष्ठानात्पञ्चपर्वणो विपर्ययस्याशुद्धिरूपस्य क्षयो नाशः। तत्क्षये सम्यग्ज्ञानस्याभिव्यक्तिः।'

आगे कहे जाने वाले योग के आठ अंग हैं। उनके अनुष्ठान से पाँच पर्वों वाली अविद्यारूपिणी अशुद्धि का नाश होता है। उसका नाश होने से यथार्थ ज्ञान का आविर्भाव होता है। जैसे-जैसे साधनों का अभ्यास बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे अशुद्धि क्षीण होती जाती है एवं जैसे-जैसे अशुद्धि क्षीण होती जाती है, वैसे-वैसे क्षीणता के क्रम के अनुसार ज्ञान की दीप्ति भी बढ़ती जाती है। ज्ञान के प्रकाश की यह अभिवृद्धि 'विवेकख्याति' के उदयपर्यन्त विकसित होती जाती है अर्थात् सत्त्वादि गुण तथा पुरुष इन दोनों के स्वरूप के ज्ञान पर्यन्त उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। जैसे कुठार काष्ठ को काटने का कारण है वैसे ही योगांगों का अशुद्धियों को काटने का कारण कहा गया है। एक ही योगांगों के अनुष्ठान की प्रक्रिया अशुद्धि के विनाश और 'विवेकख्याति' दोनों का ही कारण है।

योग को आठों अङ्गों के अनुष्ठान से अविद्यादि क्लेश रूप अशुद्धियाँ दूर होती है और सम्यक् ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है। यह अभ्यास जितना जितना बढ़ता जाता है, उतनी ही क्लेश की निवृत्ति और ज्ञान के प्रकाश की अधिकता होती जाती है। यह प्रकाश की वृद्धि 'विवेकख्याति' पर्यन्त पहुँच जाती है। सूत्रकार ने योगांगानुष्ठान को ही अशुद्धि-विनाश या मलक्षय और 'विवेकख्याति' की प्राप्ति इन दोनों का कारण बताया है।

स्मरणीय बिंदु -

1. द्रष्टा का वास्तविक स्वरूप - चेतन तत्त्वः द्रष्टा अर्थात् पुरुष अथवा आत्मा पूर्णरूप से चेतन, शुद्ध और निर्विकार है। वह बुद्धि के माध्यम से सभी दृश्यों को देखने वाला साक्षी है, जो स्वयं अपरिवर्तनीय होते हुए भी बुद्धि में होने वाले बदलावों को देखता है -''द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः''।

2. दृश्य का स्वरूप और त्रिगुण जड़ प्रकृतिः दृश्य अर्थात् बुद्धि, मन, इंद्रियां और संपूर्ण भौतिक जगत जड़ प्रकृति है। इसका निर्माण तीन गुणों - प्रकाश (सत्व), क्रिया (रज), और स्थिति (तम) से हुआ है, और इसका एकमात्र उद्देश्य पुरुष को भोग और अपवर्ग प्रदान करना है।

3. दृश्य की कृतार्थता - प्रकृति का प्रयोजनः दृश्य का अस्तित्व केवल द्रष्टा पुरुष के कल्याण के लिए ही है। जब एक मुक्त पुरुष मोक्ष प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है, तब प्रकृति का प्रयोजन उसके लिए समाप्त हो जाता है, किंतु संसार के अन्य बद्ध पुरुषों के लिए उसका अस्तित्व पहले की तरह बना रहता है।

15 अंक के प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि योगदर्शन के अनुसार दृश्य प्रकृति का वास्तविक स्वरूप क्या है? ''प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'' सूत्र के आधार पर दृश्य के गुण, स्वभाव और इसके मुख्य उद्देश्यों की सविस्तार व्याख्या कीजिए।

2: योगदर्शन सम्मत 'द्रष्टा - पुरुष' के स्वरूप की विस्तृत विवेचना कीजिए। ''द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः'' सूत्र के आलोक में स्पष्ट कीजिए कि शुद्ध और अपरिवर्तनीय होते हुए भी द्रष्टा पुरुष बुद्धि के माध्यम से दृश्यों को कैसे देखता है?

3: दृश्य प्रकृति और द्रष्टा पुरुष के संयोग का क्या कारण है? इस संयोग का वास्तविक स्वरूप क्या है और ''तदभावाद् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्'' सूत्र के अनुसार इस संयोग के अंत से कैवल्य की प्राप्ति कैसे होती है?

5 अंक के प्रश्न -

1. दृश्य प्रकृति के संदर्भ में 'प्रकाश, क्रिया और स्थिति शब्द किन तीन गुणों को दर्शाते हैं? संक्षेप में समझाइए।

2. महर्षि पतंजलि के अनुसार दृश्य का अस्तित्व किसके लिए है? क्या मुक्त पुरुष के लिए भी दृश्य प्रकृति का अस्तित्व बना रहता है?

3. 'दृशिमात्रः' और 'शुद्धोऽपि' शब्दों द्वारा द्रष्टा पुरुष की कौन सी विशेषताएँ प्रकट होती हैं? संक्षेप में लिखिए।

4: दृश्य की चार अवस्थाएँ या पर्व कौन से हैं? ''विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि'' सूत्र के आधार पर उनके केवल नाम लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार दृश्य प्रकृति का मुख्य स्वभाव क्या है?

(क) प्रकाशशील (सत्त्व)

(ख) क्रियाशील (रज)

(ग) स्थितिशील (तम)

(घ) उपर्युक्त सभी

2. ''तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा'' सूत्र के अनुसार दृश्य प्रकृति का संपूर्ण अस्तित्व किसके प्रयोजन के लिए है?

(क) ईश्वर के लिए

(ख) द्रष्टा पुरुष के लिए

(ग) चित्तवृत्तियों के लिए
(घ) संसार के विकास के लिए

3. द्रष्टा पुरुष और दृश्य प्रकृति के संयोग का मूल कारण महर्षि पतंजलि ने किसे माना है?

(क) अविद्या या अज्ञान
(ख) विवेक ख्याति
(ग) अभ्यास
(घ) वैराग्य

4. ''द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि .....।'' रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए सही पद चुनिए:

(क) भोगापवर्गार्थं दृश्यम्
(ख) प्रत्ययानुपश्यः
(ग) गुणपर्वाणि
(घ) संयोगाभावो हानं

5. दृश्य प्रकृति के माध्यम से द्रष्टा को किन दो मुख्य फलों की प्राप्ति होती है?

(क) धन और ऐश्वर्य
(ख) सुख और दुःख
(ग) भोग और अपवर्ग
(घ) राग और द्वेष

इकाई-3.4 अष्टांग योग का वर्णन

उद्देश्य -

• **अशुद्धियों का समूल नाश करना:** अष्टांग योग के आठ अंगों के अनुष्ठान द्वारा साधक के शरीर, इंद्रियों, मन और बुद्धि में विद्यमान अनेक जन्मों की अशुद्धियों को पूर्णरूप से नष्ट करना।

• **ज्ञान का प्रकाश फैलाना:** अशुद्धियों के नष्ट होने पर साधक के भीतर विवेक और आध्यात्मिक ज्ञान के दीपक को तब तक प्रदीप्त करना जब तक कि उसे सर्वथा विवेकख्याति के द्वारा सर्वोच्च सत्य का बोध न हो जाए।

• **क्रमिक साधना का मार्ग देना:** साधक को बाहरी सामाजिक आचरण - यम से शुरू करके, शारीरिक स्थिरता-आसन, मानसिक नियंत्रण - प्राणायाम और अंततः आंतरिक चेतना - समाधि तक ले जाने वाला एक पूर्ण वैज्ञानिक मार्ग प्रदान करना।

तत्र योगाङ्गान्यवधार्यन्ते-

यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ 29 ॥

सूत्रार्थ- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि-ये योग के आठ अंग हैं।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'यथाक्रममेतेषामनुष्ठानं स्वरूपं च वक्ष्यामः ।'

क्रमानुसार इनका अनुष्ठान और स्वरूप कहेंगे ।

इन आठों योगांगों का आगे वर्णन किया जायेगा, अस्तु यहाँ पर इनका नाममात्रोल्लेख किया जा रहा है। योगरूपी शरीर के आठ अङ्ग हैं, जिनके बल से योगसाधना सिद्धि तक पहुँचती है। वे आठ अंग हैं-1. यम, 2. नियम, 3. आसन, 4. प्राणायाम, 5. प्रत्याहार, 6. धारणा, 7. ध्यान, 8. समाधि।

अष्टाङ्ग योग के प्रथम अंग 'यम' का कथन-

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः ॥ 30 ॥

सूत्रार्थ- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच 'यम' हैं।

व्याख्या- इस सूत्र में अहिंसादि पाँच यमों का कथन है। योग के आठ अंगों में पहला अंग 'यम' है। ये पाँचों व्यक्ति के बाह्य व्यवहारों से विशेष रूप से सम्बन्धित हैं ताकि इनके पालन से अवरोधक समाज विरोधी प्रतिक्रियाओं से साधक की रक्षा हो और उसकी मानसिक शान्ति भंग न हो। आचरण शुद्धि से मन-शुद्धि और मन-शुद्धि से संस्कार-शुद्धि सम्बन्धित हैं। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नवत् है-

(1) अहिंसा- व्यास भाष्य- 'तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः ।' अहिंसा का क्षेत्र व्यापक है। अपने तन, मन, वचन एवं व्यवहार द्वारा ऐसा कोई भी कार्य न करना, जिससे किसी प्राणी को अनुचित कष्ट का सामना करना पड़े । अहिंसा अन्य चार यमों की मूल है।

(2) सत्य- 'सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे । यथा दृष्टं यथाऽनुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्च ।' जैसा देखा, सुना या अनुभव किया हो, उसे वैसा ही कहना सत्य है। सत्य को छल-रहित, निष्कपट और निर्भान्त होना चाहिए ।

(3) अस्तेय-'स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्। तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति।' अवैध रीति से किसी का धन, पद, वस्तु या अधिकार का अपहरण 'स्तेय' है। इस अवैधता से बचकर व्यवहार करना 'अस्तेय' है।

(4) ब्रह्मचर्य - 'ब्रह्मचर्य गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः ।' जननेन्द्रिय का निग्रह अर्थात् वीर्य-रक्षा द्वारा शरीर में ओजस् एवं तेजस् विद्यमान रहता है और शरीर में शीत-उष्ण के सहन की क्षमता तथा शक्ति बनी रहती है, जिससे योग साधना को बल मिलता है।

(5) अपरिग्रह-'विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः।' साधक को सात्त्विक जीवन बिताना चाहिए। आवश्यकता से अधिक धन-सामग्री का संचय नहीं करना चाहिए। अधिक धन और सुख-सुविधाएँ जीवन में विला. सिता ला सकती हैं। उनका अर्जन, संग्रह, संरक्षण और क्षय सब-के-सब दुःख या अशान्तिकारक हैं, अस्तु परिग्रह दोष का परित्याग और अपरिग्रह को स्वीकार करना साधना में आवश्यक है ।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ 31 ॥

सूत्रार्थ- पूर्वोक्त यम जाति, देश, काल और समय की सीमा से परे 'महाव्रत' हैं।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'एभिर्जातिदेशकालसमयैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्वथैव परिपालनीयाः । सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविदितव्यभिचाराः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यते ।'

जाति, देश, काल, समय की सीमाओं में सीमित न करके हिंसा आदि व्रत सदैव आचरीय हैं। सभी भूमियों अर्थात् सभी अवस्थाओं, विषयों में, सभी प्रकार से अव्यभिचरित अर्थात् सार भौमि होने पर ये यम महाव्रत कहलाते हैं।

जब पूर्वोक्त अहिंसा आदि व्रतों को देश, काल, जाति, समय की सीमा में बांध कर संकुचित कर दिया जाता है, तब ये

व्रत और जब जाति, देश, काल और समय की सीमा तोड़ दी जाती है, उन्हें सार्वजातिक, सार्वदेशिक, सार्वकालिक बना दिया जाता है और सभी अवस्थाओं में पालनीय बना लिया जाता है, तब पूर्वोक्त व्रत 'महाव्रत' की कोटि में आ जाते हैं।

इस सूत्र का ऐसा भी भाव लिया जा सकता है कि पूर्वोक्त अहिंसादि यमों का पालन किसी जातिविशेष, देशविशेष या अवस्थाविशेष के मनुष्यों के लिए ही नहीं है, अपितु भूमण्डल मे व्याप्त मानवमात्र के लिए है। सार्वदेशिक, सार्वकालिक होने के कारण ये सार्वभैम 'महाव्रत' हैं। आत्मशान्ति और विश्वशान्ति दोनों के लिए इनकी परम आवश्यकता है। अहिंसा महाव्रत तब बनती है जब भाष्य कथित देश, काल की सीमा बन्धन से आगे निकल जाये, सार्वकालिक और सार्वभौमिक हो जाये ।

पाँच नियम-

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ 32 ॥

सूत्रार्थ- शौच (पवित्रता), संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरशरणागति- ये पाँच नियम हैं।

व्याख्या- (1) शौच- व्यास भाष्य- 'तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्, आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्।'

उनमें से मृत्तिका और जल आदि से होने वाला तथा पवित्र भोजन आदि बाह्य शौच है। चित्त के मलों को दूर करना आभ्यन्तर शौच है।

(2) संतोष- 'सन्तोषः सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा ।'

अपने पास विद्यमान साधन से अधिक साधन को ग्रहण करने की अनिच्छा 'सन्तोष' है।

(3) तप- 'तपो द्वन्द्वसहनम् । द्वन्द्वश्च जिघत्सापिपासे, शीतोष्णे, स्थानासने, काष्ठमौना-कारमौने च । व्रतानि चौषां यथायोगं कृच्छ्चान्द्रायणसान्तपनादीनि ।'

द्वन्द्वों को सहना भूख-प्यास, शीत-उष्ण, खड़ा होना-बैठना, काष्ठ मौन (लकड़ी के सदृश चुप रहना) तप है। आकार मौन (भूख से कुछ न बोलना) और अनुकूलता के अनुसार व्रत, कृच्छ, चान्द्रायण, सन्तापनादि तप कहलाते हैं

(4) स्वाध्याय- 'स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा।'

मोक्षप्रद शास्त्रों का अध्ययन और प्रणव का जप स्वाध्याय है।

(5) ईश्वरशरणागति- 'ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्-

''शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः ।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी'' ॥

यत्रेदमुक्तम्- 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाऽभावश्च' (यो.सू.-1.29) इति।'

सभी कर्मों को उस परमगुरु परमात्मा में अर्पित करना ईश्वर-प्रणिधान है। शय्या अथवा आसन पर स्थित या पथ पर चलता हुआ आत्मनिष्ठ, वितर्कजाल से रहित, संसार के बीजरूप अविद्या के क्षय को देखता हुआ नित्यमुक्त अमृत भोगने वाला होता है। जिसके प्रसंग में यह कहा गया है कि उस ईश्वरप्रणिधान से जीवात्मा के स्वरूप का ज्ञान, ईश्वर-साक्षात्कार और साधनागत विघ्नों का विनाश होता है।

मन की चंचलता को रोकने, रोग-रहित स्वस्थ जीवन बिताने, आत्मशुद्धि आदि में तन-मन की पवित्रता आवश्यक है। पूर्वोक्त पाँचों नियमों-शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान का योग-साधना में महत्त्वपूर्ण स्थान है। बीज-वपन में किसान यदि ठीक से खेत जोत कर प्रथम तैयार न करे, तो बीजांकुरण ठीक से नहीं होगा। यम-नियम की वही भूमिका है। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान के विषय में पहले भी कहा जा चुका है, अस्तु उस विषय में यहाँ विस्तार देने की आवश्यकता नहीं है।

यमों के अनुष्ठान का फल-

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ 35 ॥

सूत्रार्थ- 'अहिंसा' की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उस योगाभ्यासी के समीप सभी प्राणी वैर-भाव का परित्याग कर देते हैं।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'सर्वप्राणिनां भवति ।'

सभी प्राणियों का वैर-भाव परित्यक्त हो जाता है।

इस सूत्र में 'अहिंसा' नामक यम की दृढ़ता की पहचान या लक्षण बताया गया है। जब योगाभ्यासी में अहिंसा की स्थिति दृढ़ हो जाती है, तब उसके विचार-तरंगों के प्रभाव से उसके निकटस्थ सभी प्राणी अपने वैर-भाव का परित्याग कर देते हैं। इसके दर्शन ऋषि-मुनि, तपस्वियों के आश्रम-वर्णनों मे उपलब्ध होते हैं, जहाँ सिंह-मृग, अहि-नकुल आदि परस्पर विरोधी सत्त्व भी वैर-त्याग कर साथ-साथ निर्भय होकर विचरण करते थे

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ 36 ॥

सूत्रार्थ- योगाभ्यासी में जब सत्य की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है, तब उसकी वाणी सफल सिद्ध होती है; निष्फल कभी नहीं होती है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः। स्वर्ग प्राप्नुहीति स्वर्ग प्राप्नोति । अमोघास्य वाग्भवति॥'

योगी में सत्य की पूर्ण प्रतिष्ठा होने पर 'धार्मिक हो जाओ'- उसके ऐसा कहने पर लोग धार्मिक हो जाते हैं। उसकी वाणी अमोघ हो जाती है ।

जब साधक में 'सत्य' पूर्ण प्रतिष्ठित हो जाता है, तब उसे वाचा-सिद्धि मिल जाती है। वह जो कहता है, वह हो जाता है। उसके आशीर्वाद या शाप के वचन निष्फल नहीं जाते है। पुराणों में इसके असंख्य उदाहरण हैं। ऋषियों, मुनियों, तपस्वियों के शाप देवता तक नहीं टाल पाये हैं।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ 37 ॥

सूत्रार्थ- मनसा-वाचा-कर्मणा जब साधक में 'अचौर्य' की प्रतिष्ठा हो जाती है, तब योगाभ्यासी में यथेष्ट रत्नों, धन-वैभव की प्राप्ति-क्षमता आ जाती है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'सर्वदिक्स्थान्यस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि ।'

सभी दिशाओं में स्थित रत्न इस योगी के पास उपस्थित हो जाते हैं।

जब साधक में अचौर्य भाव की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है, तब पृथ्वी में जहाँ कहीं भी गुप्त पड़े रत्न-धन-वैभवादि है, उसके समक्ष प्रकट हो जाते हैं अर्थात् उसके संज्ञान में आ जाते हैं। इसको इस प्रकार से भी समझा जा सकता है कि जब व्यक्ति अपने क्षेत्र में पूर्ण श्रमशील होता है, कामचोरी नहीं करता है, तब उसके प्रति लोगों में सहज आस्था, श्रद्धा-विश्वास जम जाता है। उसे उसकी ईमानदारी का फल मिलने लगता है। उसकी पूछ इतनी बढ़ जाती है कि धनैश्वर्य उसके चरण चूमने लगते हैं। उसे ईश्वरीय गुप्त सहायता भी मिलती है। नीयत और बरक्कत साथ-साथ चलते हैं, ऐसे वचन सुने जाते रहे हैं। इतना ध्यान रहे कि सच्चाई का या बुराई का फल तुरन्त मिल जाय यह आवश्यक नहीं है। प्रतीक्षा तो प्रत्येक क्षेत्र में करनी ही पड़ती है।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ 38 ॥

सूत्रार्थ- ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर वीर्य अर्थात् सामर्थ्य लाभ होता है ।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'यस्य लाभादप्रतिघान् गुणानुत्कर्षयति। सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति॥'

ब्रह्मचर्य-लाभ से समर्थ हुआ साधक अपने अप्रतिहत गुणों को बढ़ाता है। स्वयंसिद्ध होता हुआ शिष्यों में ज्ञान-शक्ति को धारण कराने में समर्थ होता है।

साधना में वीर्यरक्षा का विशिष्ट महत्त्व है। ब्रह्मचर्य-पालन से शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक शक्ति का विकास होता है। ब्रह्मचर्य के पूर्ण-पालन से विशिष्ट शक्तियों का विकास होता है, जिससे आरोग्य और आयुष्य की वृद्धि होती है। साधक अप्रतिहत क्षमता द्वारा अपनी अर्जित बुद्धिक्षमता से सम्पर्क में आने वाले जिज्ञासुओं को ज्ञान प्रदान कर उन्हें लाभान्वित करता है-

'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत' ॥ (ब्रह्मचर्यसूक्त; अथर्ववेद-11.2.19)

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ 39 ॥

सूत्रार्थ- अपरिग्रह की स्थिति दृढ़ हो जाने पर पूर्व जन्म कैसे हुए थे, इसका ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या- यह ज्ञान इस योगी को हो जाता है कि पूर्वजन्म में मैं कौन था, मैं कैसा था, यह क्या है, कैसे हुआ, हम कौन होंगे, कैसे होंगे ? इस प्रकार से योगी को पूर्व-कालिक, परकालिक और मध्यकाल की अपनी जन्म-विषयक जिज्ञासा स्वतः पूर्ण हो जाती है। इन पाँचों यमों की स्थिरता हो जाने पर प्रादुर्भूत होने वाली ये सिद्धियाँ हैं।

जब साधक में 'अपरिग्रह' का भाव पूर्ण सिद्ध हो जाता है, तब उसमें पूर्वजन्म विषयक स्मृतियाँ जाग्रत् हो जाती हैं। उसे अपने भूतकालिक जन्मों, वर्तमानकालिक जन्म के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और भविष्य के जन्मों के रहस्य का भी पर्दा उठ जाता है। यथार्थ ज्ञान से वैराग्य प्रबल हो उठता है और साधना को सबल सम्बल मिलता है। यहाँ तक यमों की सिद्धि के फल बताये गये । अब आगे नियमों में वितर्क शून्य स्थिरता आ जाने पर प्राप्य सिद्धियों का वर्णन करेंगे।

नियमों के अनुष्ठान का फल-

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ 40 ॥

सूत्रार्थ- बाह्य शौच में स्थिरता आ जाने से अपने अंगों के प्रति घृणा और अन्य प्राणियों के अंगों से संसर्ग की इच्छा का अभाव हो जाता है।

व्याख्या- अपने शरीर के अवयवों में जुगुप्सा (घृणा) का भाव आने पर और भी अधिक शौचाभ्यास करता हुआ योगसाधक शरीर के दोषों को देखने वाला शरीर में अनासक्त होता है। शरीर के घृणित स्वरूप को देखने वाला, अपने ही शरीर को त्यागने का

इच्छुक यति मिट्टी और जलादि से चारों ओर से धोते हुए भी शरीरशुद्धि को न देखता हुआ, अत्यन्त ही मलिन, सफाई न किये हुए अन्यों के शरीरों के साथ कैसे संसर्ग कर सकता है ? अर्थात् संसर्ग कर ही नहीं सकता है।

साधक को शौच के संदर्भ मे प्रथम मलधर्मी शरीर का ध्यान आता है, अस्तु उसके प्रति अना. सक्ति होती जाती है। जल-मृत्तिका द्वारा पवित्र किये जाने वाले अपने शरीर के प्रति जब उसमें घृणा-भाव उत्पन्न हो जाता है, तब शौच रहित दूसरों के शरीरों में आसक्त होने का प्रश्न ही नहीं है। इस प्रकार शौच के निरन्तर अभ्यास से योगी को मल-मूत्रादि के भण्डार इस शरीर में अपवित्रता दीखने लगती है। इससे शरीर के प्रति ममत्व छूट जाता है। वह जनसम्पर्क को बाधा जान, सबसे अलग रहकर पूर्ण तत्त्वज्ञान-प्राप्ति का अभ्यास करता है ।।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ 41 ॥

सूत्रार्थ - इसके अतिरिक्त 'शौच' से अन्त:करण की शुद्धि, मन में प्रसन्नता, चित्त की एकाग्रता, इन्द्रिय-निग्रह और आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'शुचेः सत्त्वशुद्धिस्ततः सौमनस्यम्, तत ऐकाग्यम्, तत इन्द्रियजयस्ततश्चात्मदर्शनयोग्यत्वं बुद्धिसत्त्वस्य भवतीत्येतच्छौचस्थैर्यादधिगम्यत इति ॥'

आन्तरिक शुद्धि से बुद्धि की शुद्धि, उससे मन:प्रसाद, फिर एकाग्रता, उससे इन्द्रियों पर विजय होती है, इन्द्रिय-जय से बुद्धिसत्त्व को आत्मदर्शन की क्षमता प्राप्त होती है। ये सिद्धियाँ 'शौच' विषयक स्थिरता आने पर उपलब्ध होती हैं।

सकारात्मक शुभ चिन्तन से, जप-तप आदि साधनों से मन निर्मल हो जाता है। राग-द्वेष-ईर्ष्यादि मलों के प्रक्षालन से अत्यधिक स्वच्छ अन्त:करण में दिव्यता का प्रवेश होता है। मन की व्याकुलता विनष्ट हो जाती है, चित्त सदैव प्रसन्न बना रहता है। विक्षेप-दोष का नाश हो जाता है। एकाग्रता का उत्तम विकास होता है। मन समेत इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाती है। और आत्म-दर्शन की योग्यता आ जाती है।

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ 42 ॥

सूत्रार्थ- 'संतोष' से सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'तथा चोक्तम्- 'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्' ॥' (महा.शान्ति.- 174.46)

संसार में जो कामजन्य सुख है और जो महान् स्वर्गसुख है, ये दोनों सुख तृष्णा के क्षय से उत्पन्न सुख की सोलहवीं कला की भी बराबरी नहीं कर सकते हैं।

जब 'सन्तोष' नामक 'नियम' स्थिर होकर सिद्ध हो जाता है, तब तृष्णा का पूर्ण विनाश हो जाता है और तब मन में अपूर्व और अद्‌भुत सुख और शान्ति का अनुभव होता है। जब अभाव का भाव जगता है, तब असंतोष आता है और उसके साथ ही काम-क्रोध-लोभ, दु:ख-दैन्य-विषाद आदि नकारात्मक विचारों का प्रवेश अन्त:करण को विकल बनाकर समाधि के अयोग्य बना देता है। गीता, रामायण, पुराण और साधु-सन्त महात्माओं सभी ने संतोष की सराहना की है; यथा-

'बिनु संतोष न काम नसाहीं । काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं ॥ (मानस)
जो आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान।' (कबीर)
'चाह गयी, चिन्ता गयी, मनुवा बेपरवाह ।
जाको कछू न चाहिए, सो साहन को साह ॥' (कबीर)

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः ॥43 ॥

सूत्रार्थ- तप द्वारा तन और मन के मलों के क्षय हो जाने पर शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि होती है और अद्‌भुत सिद्धियाँ मिलती हैं।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलम् । तदावरणमलापगमात् कायसिद्धिरणिमाद्या, तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवणदर्शनाद्येति ॥'

विधिवत् सम्पन्न तपश्चर्या पापजन्य छाये हुए चित्त के मलावरण को नष्ट करती है। मलावरण के नष्ट होने पर अणिमादिक कायिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। उसी प्रकार इन्द्रियों की सिद्धियाँ जैसे- दूर-श्रवण, दूर-दर्शनादि भी प्राप्त हो जाती है।

जैसे लोहे को तपाने से उसका मल दोष दूर हो जाता है, वैसे शरीर और इन्द्रियों का मल भी तप के अनुष्ठान से जल जाता है तथा अणिमादि शारीरिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और इन्द्रियों में दूर-श्रवण और दूर-दर्शन आदि शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। मन को राग-द्वेष से हटा कर कर्त्तव्यमार्ग में मानापमान, योग-साधना में शीत-उष्ण को सहन करना तप है। अपमान को तो सहने का अभ्यास करना ही चाहिए। मान को भी सहन करना चाहिए। अपमान यदि क्रोध, द्वेष या हिंसादि जगाता है, तो मान अहंकार जगाता है, जो अत्यधिक हानिप्रद है। मनु ने ठीक ही कहा है-

'सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ॥' (मनुस्मृति- 2.162)

अर्थात् ब्रह्मज्ञानी साधक सम्मान को विष-तुल्य समझे।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ 44 ॥

सूत्रार्थ- स्वाध्याय से इष्ट देवता का साक्षात्कार होता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति, कार्ये चास्य वर्तन्त इति ॥'

देवता, ऋषि और सिद्ध गण स्वाध्याय-परायण साधक को दिखाई पड़ते हैं और उसके कार्य-सिद्ध करने में सहायक होते हैं। 'स्वाध्याय' का अर्थ सद्ग्रन्थों का अध्ययन और आत्म-निरीक्षण होता है ।

मन्त्र-जाप सहित इष्टदेव का ध्यान करना भी स्वाध्याय ही है। 'स्वाध्याय' के सिद्ध हो जाने पर इष्टदेव, ऋषि और सिद्ध गणों के दर्शन होते हैं, जो साधना में सहायक बनते हैं। तुलसी ने हनुमान् के माध्यम से राम के दर्शन किये । रामकृष्ण परमहंस काली का सहारा लेकर अपने अभीष्ट तक पहुंचे थे। साधक को साधना-काल में किसी समर्थ का सहारा लेना पड़ता है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ 45 ॥

सूत्रार्थ- 'ईश्वरप्रणिधान' से समाधि-सिद्धि हो जाती है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिर्यया सर्वमीप्सितमवितथं जानाति देशान्तरे देहान्तरे कालान्तरे च । ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं प्रजानातीति ॥'

अपने सारे क्रिया-कलापों को ईश्वरार्पण कर देने वाले की समाधि सिद्ध हो जाती है, जिससे वह अन्य देशों में, अन्य शरीरों में और अन्य कालों में स्थित सभी इच्छित पदार्थों को ईश्वरप्रणिधान के सहारे यथार्थ रूप से जान लेता है। इस साधक की बुद्धि पदार्थों का यथार्थ साक्षात्कार करने में सक्षम होती है।

ईश्वरप्रणिधान का अर्थ समस्त क्रियाओं और कर्मफलों को ईश्वरार्पित करके श्रद्धा-विश्वास पूर्वक साधना करना है। 'ईश्वरप्रणिधान' की आस्था जब सुदृढ़ हो जाती है, तब साधक को पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। ईश्वरप्रणिधान पूर्वक योगसाधना करने से विघ्नों का नाश होता है और समाधि तक पहुँचना सुगम हो जाता है; इसलिए योगाभ्यासियों को 'ईश्वरप्रणिधान' के साथ योगांगों का अभ्यास करना चाहिए।

आसन का स्वरूप-

स्थिरसुखमासनम् ॥ 46 ॥

सूत्रार्थ- स्थिर और सुखपूर्वक जिसमें बैठा जा सके, वह 'आसन' है।

व्याख्या- बैठने का निरापद ढंग आसन है। यो तो आसनों के अनेक भेद हैं, किन्तु सूत्रकार ने उनका वर्णन न करके उन्हें साधक की इच्छा पर छोड़ दिया है। भाव यह है कि जो साधक अपनी क्षमता के अनुसार जिस रीति से बिना हिले-डुले स्थिर भाव से सुखपूर्वक बिना पीड़ा के देर तक बैठ सके, वही आसन उसके लिए उपयुक्त है। आसन में रीढ़ की हड्डी का बड़ा महत्त्व है। यह मेरुदण्ड कहा जाता है। योगाभ्यास में प्राणायाम, धारणा, ध्यान व समाधि तक मेरुदण्ड को सीधे रखने की आवश्यकता होती है, तभी प्राणवायु को ऊध्वर्वोन्मुख कर सुषम्नागत किया जा सकता है। रीढ़ की हड्डी के व्यायाम के लिए सर्पासन, हलासन, जानुशिरासन, पश्चिमोत्तासन का विशेष महत्त्व है। सर्वांगासन एवं अर्द्धमत्स्येन्द्रासन भी इस हेतु उपयोगी है।

आसनों का प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है। प्रथम प्रयोग शरीर को स्वस्थ और बलवान बनाने के लिए व्यायाम रूप में किया जाता है। दूसरा प्रयोग प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की सिद्धि के लिए किया जाता है। जिन आसनों के प्रयोग प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि के हेतु होते हैं, वे ही योगासन हैं। सभी आसनों को योगासन नहीं कहा जा सकता है। स्वस्थ शरीर के बिना योग सिद्ध नहीं हो सकता है, इसलिए यौगिक व्यायामों का अपने स्थान पर महत्त्व है, किन्तु यह स्पष्ट समझना चाहिए कि जब साधक योगाभ्यास में आगे बढ़े, तब गुरु गोरक्षनाथ के अनुसार उसे दो साधनों की सिद्धि पर विशेष ध्यान चाहिए - 1. सिद्धासन, 2. पद्मासन; यथा-

'आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम् ।
एकं सिद्धासन प्रोक्तं द्वितीयं पद्मासनम् ॥' (गोरक्षसंहिता)

इन दोनों में सरलतम होने के कारण सिद्धासन अधिक उपयोगी है। सुखासन अथवा पलथी मार कर बैठना और भी सरल है, किन्तु रीढ़ की हड्डी अर्थात् मेरुदण्ड सीधा रहे, इस पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। तीन घण्टे से ऊपर एक आसन पर जब साधक सुखपूर्वक बैठा रह सके, तब आसन-सिद्धि माननी चाहिए।

आसन के अनुष्ठान का फल-

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ 47 ॥

सूत्रार्थ - प्रयत्न अर्थात् शारीरिक चेष्टाओं को रोक देने से और अनन्त परमात्मा में ध्यान लगाने से आसन की सिद्धि होती है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'यत्नोपरमात् सिध्यत्यासनं येन नाङ्गमेजयो भवति । अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयतीति ॥'

शारीरिक चेष्टाओं के अभाव होने पर आसन सिद्ध होता है, जिससे अंगों में कम्पन या हिलन-डुलन नहीं होता है। अनन्त परमात्मा अथवा शेषनाग में चित्त को केन्द्रित करने पर आसन सिद्ध होता है।

शरीर को सीधा और स्थिर करके सुखपूर्वक बैठ जाने के बाद शरीर सम्बन्धी समस्त चेष्टाओं, उनका हिलना-डुलना आदि को त्याग देना प्रयत्न की शिथिलता है। इस प्रयत्न-शैथिल्य और परमात्म-चिन्तन में मन लगाने से आसन की सिद्धि होती है। कुछ टीकाकारों ने अनन्त का अर्थ 'शेषनाग' किया है। उनका आशय है कि शेषनाग भूभार धारण कर स्थिर बैठे हैं, उनकी इस असीम शक्ति का ध्यान करने से आसन में दृढ़ता का संचार होगा। भोजराज ने अनन्त का अर्थ 'आकाश' किया है और समापत्ति का अर्थ 'चित्त का तद्रूप हो जाना' किया है। आकाश असीम विस्तार के कारण अनन्त है। जिस वस्तु का ध्यान किया जाता है, उसका गुण-संक्रमण साधक में होता है; यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। आसन की सिद्धि प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि में सहायक है।

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ 48 ॥

सूत्रार्थ - आसन जयोपरान्त योगाभ्यासी शीतोष्णादि द्वन्द्वों से पीड़ित नहीं होता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते।'

आसन के सिद्ध हो जाने पर योगाभ्यासी की सहन-शक्ति बढ़ जाती है। उसमें शीत-उष्ण, भूख-प्यास आदि को सहने की क्षमता बढ़ जाती है। परस्पर विरोधी तत्त्वों के युग्म द्वन्द्व हैं-जैसे सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, हानि-लाभ, जन्म-मरणादि । आसन-सिद्धिजन्य शक्ति की वृद्धि से तथा कथित द्वन्द्वों के आघात साधक को विचलित नहीं कर पाते हैं।

प्राणायाम का परिचय-

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ 49 ॥

सूत्रार्थ-उस आसन-सिद्धि के पश्चात् श्वास-प्रश्वास की गति को रोकना प्राणायाम है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः । कोष्ठ्यस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासः । तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः ॥'

आसन-सिद्धि होने के उपरान्त बाहर से खींची जाने वाली वायु, जिसे 'श्वास' कहते हैं और बाहर निकाले जाने वाली वायु, जिसे 'प्रश्वास' कहते हैं- इन दोनों गतियों का नियन्त्रण प्राणायाम है।

प्राणवायु के शरीर में प्रवेश होने को 'श्वास' और निकलने को 'प्रश्वास' कहते हैं। एक विशेष रीति से श्वास-प्रश्वास की गति को नियंत्रित करना प्राणायाम है। सूत्रकार ने सूत्र के प्रारम्भ में 'तस्मिन् सति' शब्दों के प्रयोग से यह स्पष्ट कर दिया है कि आसन के सिद्ध हो जाने पर ही प्राणायाम की सही शुरुआत होती है और तभी प्राणायाम का सही लाभ मिल सकता है। कम-से-कम तीन घण्टे एक आसन पर बिना किसी कष्ट के बैठना आसन-सिद्धि का लक्षण है। यह स्थिति तभी आ पायेगी, जब शरीर पूर्ण स्वस्थ होगा और अभ्यास का दौर निरन्तर चलता रहेगा। इस स्थिति में थोड़े समय के उपरान्त श्वास-प्रश्वास के साथ जबरदस्ती नहीं करनी पड़ेगी। वह सूक्ष्म होकर स्वतः नियंत्रित होने लगेगा। मन और प्राणवायु के बीच घनिष्ट सम्बन्ध है। ज्यों-ज्यों प्राणवायु सूक्ष्म हो वशीभूत होती जायेगी, त्यो-त्यों मन भी शान्त और नियन्त्रित होता जायेगा। ऐसी स्थिति में ध्यान करने पर श्वास-प्रश्वास की गति स्वतः थम जायेगी; यही स्थिति वास्तविक प्राणायाम की है। प्राणायाम की साधना हेतु आसन-सिद्धि आवश्यक है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ 50 ॥

सूत्रार्थ- शरीर के बाहर निकाली गयी (रेचक), भीतर ले जायी गयी प्राणवायु (पूरक) तथा बाहर और भीतर रुकने वाली प्राणवायु (कुम्भक) है। इस प्रकार त्रिविध प्राणायाम देश, काल और संख्या के द्वारा परखे जाने पर दीर्घ और सूक्ष्म कहे जाते हैं।

व्याख्या- इस सूत्र में बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्ति प्राणायामों को देश, काल और संख्याओं से परीक्षित करने पर उसके दीर्घ और सूक्ष्म भेद का निर्धारण किया गया है। योगाभ्यासी इस विधि से अपनी साधना की प्रगति का अंकन करता चलता है। इस प्रकार परीक्षा करते-करते प्राणायाम जैसे-जैसे उन्नत होते जाते हैं, वैसे-वैसे ही उनमें हल्कापन बढ़ता जाता है। प्राणायाम के तीन भेद इस प्रकार समझने चाहिए-

(1) बाह्य वृत्ति- प्राणवायु को शरीर से बाहर निकाल कर बाहर ही जितने काल तक सुखपूर्वक रुक सके रोके रहे और साथ ही साथ इस बात की परीक्षा करता रहे कि वह बाहर आकर कहाँ ठहरी है और उतने समय में स्वाभाविक प्राण की गति की कितनी संख्या होती है। यह बाह्यवृत्ति प्राणायाम है। अभ्यास करते-करते यह दीर्घ अर्थात् लम्बे समय तक रुके रहने वाला और सूक्ष्म अर्थात्

हल्का या अनायास साध्य हो जाता है।

(2) आभ्यन्तर वृत्ति- प्राणवायु को भीतर ले जाकर भीतर ही जितने समय तक सुखपूर्वक रुक सके, रोके रखना और साथ-साथ यह देखते रहना कि आभ्यन्तर देश में कहाँ तक जाकर प्राण रुकता है, वहाँ कितने काल तक सुखपूर्वक ठहरता है तथा उतने समय में प्राण की स्वाभाविक गति की संख्या कितनी होती है। यह आभ्यन्तर प्राणायाम है। अभ्यास के बल से यह भी दीर्घ और सूक्ष्म हो जाता है।

(3) स्तम्भवृत्ति- शरीर के भीतर जाने और बाहर निकलने की जो श्वास-प्रश्वास की गति है, उसे प्रयत्नपूर्वक बाहर या भीतर लाने की क्रिया न करके, प्राणवायु बाहर निकला हो या भीतर गया हो, जहाँ भी हो, वहीं उसकी गति रोक करके यह देखते रहना कि प्राण किस देश में रुके हैं, कितने समय तक सुखपूर्वक रुके रह सके हैं और इस समय प्राणों की स्वाभाविक गति की कितनी संख्या होती है। अभ्यास के बल से यह भी दीर्घ और सूक्ष्म होता है।

उद्घात-एक प्राणायाम में जितना समय लगता है और उतने समय में जितने श्वास-प्रश्वास आ-जा सकते हैं, उस काल को 'उद्घात' कहते हैं ।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ 51 ॥

सूत्रार्थ- बाह्य प्रदेश वाले अर्थात् रेचक और आभ्यन्तर प्रदेश वाले अर्थात् पूरक का अतिक्रमण करने वाला चौथा प्राणायाम 'केवल. कुम्भक' प्राणायाम है।

व्याख्या- पूर्वोक्त तीनों प्रकार के प्राणायामों में रेचक, पूरक और कुम्भक का आश्रय लेना होता है। देश, काल और उनमें संख्या की गणना द्वारा साधना को आगे बढ़ाने की बात कही गयी है। सूत्र में बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी नामक चौथे प्राणायाम का कथन है। इस प्राणायाम में वाय को न बाहर निकाला जाता है और भीतर भरा जाता है। तत्काल इच्छानुकूल रोक दिया जाता है, यही इसकी विशेषता है।

इसको अनायास होने वाले राजयोग प्राणायाम की संज्ञा दी जा सकती है। इसमें मन की चंचलता शान्त होने के कारण प्राणों की गति अपने-आप रुक जाती है, जबकि पहले बताये गये तीनों प्राणायामों में प्रयत्न द्वारा प्राणों की गति रोकने के हेतु दीर्घकालिक अभ्यास की आवश्यकता होती है। विषयों से होने वाले मन के चांचल्य के त्याग द्वारा बिना प्रयास ही मन का एकाग्र होना इसकी विशेषता है।

देश- जब बाह्य प्राणायाम किया जाता है, तब प्राणवायु शरीर से बाहर होती है। उस समय बाहर निकाला हुआ प्राण जहाँ रहता है, वही उसका 'देश' है। जब प्राण अन्दर रोका जाता है, उस समय शरीर में जहाँ प्राण रहता है, वही उसका 'देश' है।

काल- प्राणायाम करने के समय जितने समय तक प्राण रोका जाय, उन क्षणों का नाम 'काल' है।

संख्या- बाहर या भीतर किये गये कुम्भक में जो प्राण का रुकना होता है, उस समय में सहज रूप से कितने श्वास-प्रश्वास आते-जाते हैं, इसकी गणना 'संख्या' है। 'देश' 'काल' 'संख्या' प्राणायाम विषयक पारिभाषिक पदावलियाँ हैं। प्राणायाम की सफलता की परीक्षा देश, काल, संख्या के आधार पर की जाती है। चतुर्थ प्राणायाम 'केवलकुम्भक' नाम से जाना जाता है। साधक के प्राण-विजय का परिचायक यही चौथा प्राणायाम है। ध्यातव्य है कि जिसे 'कुम्भक' या 'सहित कुम्भक' कहते हैं, उसे रेचक और पूरक की अपेक्षा रहती है, किन्तु इस चतुर्थ प्राणायाम जिसे 'केवलकुम्भक' कहते हैं, वहाँ रेचक या पूरक की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। 'केवलकुम्भक' विषय में ऋषि याज्ञवल्क्य का अभिमत द्रष्टव्य है-

'रेचकं पूरकं त्यक्त्वा यत्सुखं वायुधारणम् ।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ॥
न मुञ्चति न गृह्णाति वायुमन्तर्बहिःस्थितम् ।
आपूर्यकुम्भवत्तिष्ठेत् केवलः स तु कुम्भकः ॥'
ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ 52 ॥

सूत्रार्थ- पूर्वोक्त प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश अर्थात् ज्ञान पर पड़ा हुआ अज्ञान का पर्दा क्षीण हो जाता है और ज्ञान का प्रकाश प्रकट होने लगता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- ''प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म, यत्तदाचक्षते- 'महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुक्त' इति । तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसारनिबन्धनं प्राणायामाभ्यासाद् दुर्बलं भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते। तथा चोक्तम्- 'तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्ये इति' ॥''

प्राणायाम के अभ्यास-परायण इस योगी के विवेक ज्ञान पर आवरण बन कर छाये हुए पापकर्म रूपी आच्छादन (प्राण

ाायाम द्वारा) क्षीण हो जाते हैं। यह किस प्रकार होता है, उसे निम्न वाक्य में स्पष्ट किया गया है- ''महामोहमय विषयवासना रूपी इन्द्रजाल से प्रकाशस्वरूप बुद्धि को आवृत कर वही कर्मसंस्कार उसे अन्य दुष्कर्मों में उलझाता है'' । योगी का यह प्रकाशावरण ाभूत संसार में बाँधने वाला अशुभ कर्मसंस्कार प्राणायाम के अभ्यास से दुर्बल हो जाता है और प्रतिक्षण क्रमशः क्षीणत्व को प्राप्त करता जाता है। कहा भी गया है- **''प्राणायाम से बढ़कर अन्य कोई श्रेष्ठ तपश्चर्या नहीं है; इससे मलों की शुद्धि और ज्ञान की दीप्ति होती है''।**

इस सूत्र में प्राणायाम का फल बताया गया है। साधक ज्यों-ज्यों प्राणायाम का अभ्यास करता जाता है, त्यों-त्यों उसके पाप-कर्म और संचित कर्म-संस्कार जो उसके ज्ञान पर पर्दा डाले रहते हैं, क्षीण होने लगते हैं और ज्ञान का दिव्य प्रकाश प्रकट होने लगता है। इससे साधक को स्वरूप का ज्ञान होने लगता है तथा अविद्या-जनित भ्रान्तियाँ नष्ट होने लगती हैं। प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है। पंचशिखाचार्य ने कहा है- **'तपो न परं प्राणायामात्'** । महाराज मनु ने कहा है कि प्राणायाम से तन-मन के सारे मल जल जाते हैं। जैसे अग्नि से धौंके हुए स्वर्णादि धातुओं के मल जल जाते हैं, उसी प्रकार से प्राणायाम करने से इन्द्रियों के मल जल जाते हैं-

दह्यन्ते ध्मायमाननां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ (मनुस्मृति 6.71)
मल ही रोग-शोक, पापदोष समस्त अनर्थों का मूल है।

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ 53 ॥

सूत्रार्थ - प्राणायाम के अभ्यास से मन में धारणाशक्ति आती है अर्थात् साधक मन को जहाँ चाहे वहाँ केन्द्रित कर सकता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'प्राणायामाभ्यासादेव 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' (यो.सू.-1.35)- इति वचनात् ॥'
प्राणायामो के अभ्यास से ही धारणशक्ति आती है। **'प्रच्छर्दनविधारणा वा प्राणस्य'** सूत्र के इस वचनानुसार ।

प्राणायाम के सिद्ध हो जाने पर जब प्राणगति अतिसूक्ष्म हो जाती है और चास-प्रश्वास का क्रम अनायास थम सा जाता है, तब मन में धारणा की योग्यता आ जाती है। साधक जहाँ चाहे अपने मन को स्थिर कर सकता है। मन के स्थिर हो जाने पर मन की निरर्थक भाग-दौड रुक जाती है और सधा हुआ चित्त स्वलक्ष्य पर केन्द्रित होने लग जाता है। प्राण-साधना से जो होता लाभ दूसरा बतलाता। धारणा-शक्ति के साथ पूर्ण एकाग्र चित्त है हो जाता ।।

प्रत्याहार का लक्षण-

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ 54 ॥

सूत्रार्थ- इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप का अनुकरण-सा कर लेना 'प्रत्याहार' है ।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'स्वविषयसम्प्रयोगाभावे चित्तस्वरूपानुकार इवेति चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते । यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति, निविशमानमनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येषः प्रत्याहारः ॥'

इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ संयोग न होने पर वे चित्त के स्वरूप का अनुकरण करने लग जाती हैं अर्थात् चित्त के निरुद्ध होने पर चित्त के समान इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं, इतर इन्द्रिय-जय के समान दूसरे उपाय की अपेक्षा नहीं रहती है। जिस प्रकार मधुमक्खियों की रानी के उड़ने पर उसके साथ अन्य मधुमक्खियाँ उड़ती हैं एवं बैठने पर बैठती हैं, उसी प्रकार चित्त का निरोध होने पर इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं। यही 'प्रत्याहार' का स्वरूप है ।

इन्द्रियों का अपने विषयों से विमुख होना 'प्रत्याहार' है। प्राणायाम के नियमित अभ्यास से जब चित्त में एकाग्रता बढ़ने लगती है और वह निरुद्ध हो जाता है, तब उस निरोध का अनुकरण इन्द्रियाँ भी करती हैं। वे अपने-अपने विषयों से विमुख होकर अन्तर्मुखी होने लगती हैं। उनकी स्वविषयों के प्रति यही विमुखता 'प्रत्याहार' है। इन्द्रियाँ चित्त की अनुगामिनी हैं। चित्त के चंचल होने पर चंचल और स्थिर होने पर स्थिर हो जाती हैं। भाष्यकार व्यास ने चित्त को मधुमक्खियों की रानी और इन्द्रियों को मधुमक्खियों की भाँति बताया है। जैसे मधुमक्खियाँ अपनी रानी मक्खी का अनुगमन करती हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ चित्त का अनुगमन करती हैं। मन सहित इन्द्रियों का वशीभूत होकर निरुद्ध होने का साधना में बड़ा महत्त्व है। इस प्रकार 'प्रत्याहार' का योगसाधना में महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रत्याहार सिद्ध होने पर अनुचित खान-पान, दुर्व्यसन, दूषित विचार-व्यवहार सहजरूप से अनायास छूट जाते हैं।

प्रत्याहार का फल-

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ 55 ॥

सूत्रार्थ-उस प्रत्याहार के सिद्ध होने पर इन्द्रियाँ पूर्णरूप से नियंत्रित हो जाती है।

व्याख्या- कुछ लोग कहते हैं कि शब्दादि विषयों में न फँसना ही इन्द्रियजय है। आसक्ति ही व्यसन है, क्योंकि यह साधक को श्रेयमार्ग से दूर कर देती है। हाँ, शास्त्रानुकूल विषयोपभोग अनुचित नहीं है। कुछ लोगों का यह मत है कि स्वेच्छा से शब्दादि विषयों का भोग करना 'इन्द्रिय-जय' है। कुछ ऐसा कहते हैं कि राग-द्वेष से रहित होकर सुख-दु:ख रहित शब्दादि विषयोपभोग ही इन्द्रिय-जय है। आचार्य जैगीषव्य का मत है कि चित्त की एकाग्रता होने के कारण विषय-भोग का अभाव ही इन्द्रिय-जय है। इसीलिए तो यह इन्द्रिय-जय श्रेष्ठ कहा गया है, जिसमें चित्त का निरोध होने पर इन्द्रियाँ स्वत: निरुद्ध हो जाती हैं। उससे एक-एक इन्द्रिय को वश में करने के लिए जो भिन्न-भिन्न प्रयत्न किये जाते हैं, उनकी आवश्यकता नहीं रह जाती है। प्रत्याहार-सम्पन्न योगिजन प्रयत्न-जन्य अन्य उपायों की अपेक्षा नहीं करते ।

स्मरणीय बिंदु -

1. अष्टांग योग का मुख्य उद्देश्य - ज्ञान का प्रकाश: अष्टांग योग के निरंतर अनुष्ठान या अभ्यास से चित्त की अशुद्धियों का नाश होता है। इसके परिणामस्वरूप विवेक ज्ञान का प्रकाश तब तक बढ़ता रहता है, जब तक कि साधक को सर्वथा विवेकख्याति के द्वारा पूर्ण आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता।

2. योग के ८ अंग - क्रमबद्ध वर्गीकरण: महर्षि पतंजलि ने योग मार्ग को आठ क्रमिक अंगों में विभाजित किया है - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें से प्रथम पांच अंगों को बहिरंग साधन और अंतिम तीन अंगों को अंतरंग साधन माना जाता है।

3. बहिरंग साधन के दो आधार - यम और नियम: साधनपाद में अष्टांग योग के पहले दो अंगों, यम और नियम का विस्तृत वर्णन है। यम - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह सामाजिक अनुशासन स्थापित करते हैं, जबकि नियम - शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान व्यक्तिगत शुद्धि का आधार हैं।

15 अंक के प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार अष्टांग योग की परिभाषा क्या है? ''योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते:'' सूत्र के आलोक में स्पष्ट कीजिए कि अष्टांग योग का अनुष्ठान अशुद्धि का क्षय और विवेकख्याति की प्राप्ति कैसे कराता है?
2. अष्टांग योग के आठ अंगों के नाम क्रमानुसार लिखते हुए उनकी दार्शनिक एवं व्यावहारिक महत्ता स्पष्ट कीजिए। इन्हें बहिरंग और अंतरंग साधन में किस प्रकार विभाजित किया जाता है?
3. साधनपाद में वर्णित प्रथम दो अंगों यम और नियम का सविस्तार वर्णन कीजिए। यम को 'सार्वभौम महाव्रत' क्यों कहा गया है? प्रासंगिक सूत्र - 'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना: .....' के आधार पर समीक्षा कीजिए।

5 अंक के प्रश्न -

1. अष्टांग योग के अंतर्गत आने वाले पाँच यम कौन से हैं? उनके केवल नाम और लघु अर्थ लिखिए।
2. अष्टांग योग के अंतर्गत आने वाले पाँच नियम कौन से हैं? व्यक्तिगत शुद्धि में इनका क्या महत्व है?
3. महर्षि पतंजलि ने आसन की क्या परिभाषा दी है? ''स्थिरसुखमासनम्'' सूत्र का व्यावहारिक अर्थ संक्षेप में समझाइए।
4. प्राणायाम और प्रत्याहार का स्वरूप साधनपाद के अनुसार क्या है? इंद्रियों को वश में करने के लिए प्रत्याहार क्यों आवश्यक है?

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि योगसूत्र के अनुसार योग के कुल कितने अंग बताए गए हैं?

(क) चार

(ख) छह

(ग) आठ

(घ) दस

2. अष्टांग योग के अनुष्ठान से अशुद्धि का नाश होने पर किसकी प्राप्ति होती है?

(क) केवल शारीरिक बल की

(ख) विवेकख्याति की

(ग) धन और संपत्ति की

(घ) क्लिष्ट वृत्तियों की

3. जाति, देश, काल और समय की सीमाओं से परे रहने वाले महाव्रत को क्या कहा जाता है?

(क) नियम

(ख) यम

(ग) आसन

(घ) धारणा

4. ''तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः .....।'' रिक्त स्थान के लिए सही योगांग चुनिए:

(क) आसनम्

(ख) प्राणायामः

(ग) प्रत्याहार:

(घ) नियम:

5. इंद्रियों का अपने बाहरी विषयों से हटकर चित्त के स्वरूप का अनुगमन करने वाला हो जाना क्या कहलाता है?

(क) धारणा

(ख) ध्यान

(ग) प्रत्याहार

(घ) आसन

खण्ड-4 विभूतिपाद

इकाई-4.1 ध्यान, धारणा और समाधि का स्वरुप

उद्देश्य-

• **अंतरंग योग का स्वरूप स्पष्ट करना:** साधक को अष्टांग योग के अंतिम तीन अत्यंत सूक्ष्म और आंतरिक अंगों धारणा, ध्यान व समाधि के स्वरूप तथा उनके क्रमिक विकास को समझाना।

• **चित्त को ध्येय वस्तु में पूरी तरह लीन करना:** एकाग्रता को एक दिशा देना - धारणा, उसमें निरंतरता लाना - ध्यान और अंतत: स्वयं को भुलाकर केवल ध्येय मात्र के प्रकाश में टिकना - समाधि की वैज्ञानिक विधि प्रदान करना।

• **संयम की आधारशिला रखना:** तीनों अंगों को एक ही विषय पर एक साथ लागू करने की अनूठी कला संयम को विकसित करना, जो विभूतिपाद की सभी सिद्धियों का मूल आधार है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ 1 ॥

सूत्रार्थ- चित्तवृत्ति को किसी एक देश (स्थान) में चाहे वह बहिर्जगत् से सम्बन्धित हो, चाहे शरीर के भीतरी या बाहरी प्रदेशों से सम्बन्धित हो, केन्द्रित करना 'धारणा' है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्छिन ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्रे-इत्येवमादिषु देशेषु, बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा ॥'

नाभिचक्र में, हृदयकमल में, शिरोभाग में स्थित दिव्यज्योति में, नासिकाग्र भाग में, जिह्वा के अग्र भाग आदि में अथवा बाह्य विषय में चित्त को केवल सात्त्विक वृत्ति से बाँधना 'धारणा' है।

प्राणायामादि से शोधित निरुद्ध चित्तवृत्ति को किसी एक स्थान पर योगाभ्यासी को ठहराना चाहिए। वह स्थान चाहे नाभिचक्र, हृदयकमल या अन्य कोई भी भीतरी चक्र हो अथवा नासिकाग्र, भ्रूमध्य, जिह्वाग्र या शिरोभाग में स्थित दिव्यज्योति हो, अथवा सूर्य, चन्द्र, देवमूर्ति या अन्य कोई इच्छित प्रिय ध्येय वस्तु हो, चित्त को स्थिर कर देना चाहिए । यही 'धारणा' है ।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ 2 ॥

सूत्रार्थ- जहाँ जिस वस्तु पर चित्त को ठहराया जाय, वहाँ निरुद्ध चित्तवृत्ति का अजस्त्र अखण्ड प्रवाह ही 'ध्यान' है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'तस्मिन् देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेण ाापरामृष्टो ध्यानम् ॥'

उस धारणा विषयक प्रदेश में, ध्येय रूपी आलम्बन वाले प्रदेश में ज्ञान की एकरूपता अर्थात् एक समान प्रवाह बना रहे तथा उसके मध्य किसी दूसरी वस्तु का ज्ञान आकर न मिलने पाये, वह ध्यान है।

धारणा नामक योगांग में जिस विषय पर चित्तवृत्ति टिकायी गयी है, उस विषय पर बिना किसी विक्षेप के अटूट तैलधारा के समान अखण्ड अजस्रूप में चित्तवृत्ति का प्रवाहित होते रहना 'ध्यान' है। एकतार प्रवाह के मध्य ध्येय वस्तु के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु ध्यान-प्रक्रिया में नहीं आनी चाहिए। 'घट' पर चित्तवृत्ति टिकी हो तो घट-ही-घट का रूप आना चाहिए, अन्य का नहीं।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ 3 ॥

सूत्रार्थ- वह ध्यान ही प्रगाढ़ होकर समाधि बन जाता है। जब उस ध्यान में केवल ध्येय अर्थमात्र से उद्भासित होता है और उस ध्यान का स्वरूप शून्य-जैसा हो जाता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते ॥'

वह ध्यान ही केवल ध्येय के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला होकर अपने ज्ञानात्मक स्वरूप से शून्य-सदृश होने पर 'समाधि' कहा जाता है।

ध्यान करते-करते जब चित्त ध्येयाकार में परिणत हो जाता है, उसके अपने स्वरूप का अभाव-सा हो जाता है और तब ध्येय से पृथक् उसकी सत्ता नहीं रह जाती है; ऐसे ध्यान का ही नाम 'समाधि' है अर्थात् ध्यान का ही प्रगाढ़ और सूक्ष्मरूप समाधि है। ध्येय विषयक चित्त की अधिकाधिक तल्लीनता 'समाधि' है। ध्याता, ध्यान, ध्येय की त्रिपुटी की एकरूपता 'समाधि' है। महाराज भोज 'समाधि' का अर्थ इस प्रकार करते हैं-

'सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः' ।

अर्थात् जहाँ विक्षेपों को हटाकर मन को भलीभाँति एकाग्र किया जाता है, वह 'समाधि' है।

योग के अन्तिम तीनों अंगों- धारणा, ध्यान समाधि में समाधि अंगी है और धारण-ध्यान उसके अंग हैं। जब किसी विषय में चित्त को ठहराया जाता है, तब चित्त की वह वृत्ति 'धारणा' है। जब चित्तवृत्ति में ध्येय विषय को छोड़कर विक्षेप रूप में विरोधी अन्य वृत्ति न मिले तब 'ध्यान' है और जब ध्याता और ध्यान की पृथक् सत्ता न रह जाये, केवल ध्येय के स्वरूप का ही भान होता रहे,

तब वह 'समाधि' की अवस्था है। उदाहरणार्थ भगवान् सूर्य का ध्यान योगाभ्यासी करता है, इस स्थिति में जब वह सूर्य के स्वरूप को अपने चित्त में धारण करता है, तब धारणा, जब सूर्य के अतिरिक्त अन्य दूसरी वस्तु का रूप न आये तथा उस समय चित्तवृत्ति का सतत एकरूप प्रवाह स्थिर बना रहे तब वह ध्यान और जब मात्र सूर्य का स्वरूप ही ध्यान में रह जाये तथा और सब-कुछ जैसे अपनी सत्ता खो-सी बैठे, जैसे और कुछ रह ही न गया हो यह अवस्था 'समाधि' की है। यहाँ मात्र ध्येय शेष रहता है।

समाधि का स्वरूप बहुत कुछ पिछले सूत्रक्रम तीन में स्पष्ट हो गया है। समाधि के विषय में कुछ लोगों ने भ्रान्तियाँ फैला रखी हैं, जिससे जिज्ञासु भ्रम में है। कुछ लोगों की दृष्टि में समाधि वह स्थिति है, पड़ जाते है है, जब भूमि में गड्ढा खोदकर इसमें सप्ताह-दो सप्ताह, बिना श्वास लिये, बिना खाये-पिये पड़े रहा जाय । अस्तु, इस सूत्र से स्पष्ट हो गया है कि ध्यान की प्रगाढ अवस्था ही समाधि है। इस अवस्था में श्वास-प्रश्वास इतना सूक्ष्म हो जाता है कि वह पकड़ के बाहर होता है। हो सकता है कि चयापचय (metabolism) की क्रिया रुक जाती हो, शारीरिक क्रियाएँ रुकी रहती हैं, अस्तु समाधि अवस्था में बिना खाये-पिये बहुत समय तक रहा जा सकता है। यह क्रिया साधनासाध्य है, देश-जाति-काल से इसका विशेष सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक सात्त्विक साधक इसका अधिकारी है।

समाधि का लक्षण उत्तम रूप से समझ कर याद रखना चाहिए, नहीं तो योग का कुछ भी यथार्थरूप से समझ में नहीं आएगा। समाधि के विषय में श्रुति है-

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्यति' (बृह.उप.-4.4.23),

'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥' (कठ.-1.2.233)।

समाधि के द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार होता है और समाधि के बिना वह नहीं होता है- यह श्रुतिओं के द्वारा ही उक्त हुआ है। समाधि को छोड़कर आत्मसाक्षात्कार या परमार्थसिद्धि नहीं होती है ।

तदेतद् धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः -

वे ये धारणा, ध्यान, समाधि तीनों का एकत्र हो जाना अर्थात् एक ही ध्येय पर टिक जाना 'संयम' है।

स्मरणीय बिंदु -

1. धारणा का स्वरूप - मन को बांधनाः विभूतिपाद के पहले सूत्र के अनुसार, चित्त को किसी एक निश्चित देश स्थान या वस्तु जैसे नाभिचक्र, हृदय या नासिकाग्र पर टिका देना या बांध देना ही धारणा है - ''देशबन्धश्चित्तस्य धारणा''।

2. ध्यान का स्वरूप - ज्ञान की निरंतरताः जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाया गया है, बिना किसी रुकावट के उसी में ज्ञान या वृत्ति का एक समान रूप से निरंतर बहना ध्यान कहलाता है - ''तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्''। इसमें ध्याता, ध्यान और ध्येय का भेद बना रहता है।

3. समाधि का स्वरूप - ध्येय मात्र का प्रकाशः जब ध्यान की अवस्था में चित्त का अपना स्वरूप शून्य जैसा हो जाता है और केवल ध्येय वस्तु का ही अर्थ स्पष्ट रूप से प्रकाशित होता है, तब वह स्थिति समाधि कहलाती है - ''तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः''।

15 अंक के प्रश्न -

1. विभूतिपाद के प्रथम तीन सूत्रों के आलोक में धारणा, ध्यान और समाधि के वास्तविक स्वरूप की सविस्तार व्याख्या कीजिए। इन तीनों में क्या सूक्ष्म अंतर है?
2. महर्षि पतंजलि योगदर्शन के अनुसार संयम से क्या तात्पर्य है? ''त्रयमेकत्र संयमः'' सूत्र के आधार पर समझाइए कि धारणा, ध्यान और समाधि मिलकर संयम कैसे बनते हैं और इसका मुख्य फल क्या है?
3. अष्टांग योग के संदर्भ में धारणा, ध्यान और समाधि को अंतरंग साधन क्यों माना गया है? ''त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः'' सूत्र के आधार पर पिछले पाँच बहिरंग अंगों की तुलना में इनकी श्रेष्ठता सिद्ध कीजिए।

5 अंक के प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि ने धारणा की क्या परिभाषा दी है? ''देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'' सूत्र का अर्थ संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।
2. ध्यान का स्वरूप क्या है? धारणा के बाद चित्त की एकतानता ध्यान में कैसे बदलती है? संक्षेप में लिखिए।
3. महर्षि पतंजलि के अनुसार ध्यान और समाधि में क्या मुख्य अंतर है? समाधि में स्वरूप-शून्य की स्थिति से क्या अभिप्राय है?
4. ''तज्जयात् प्रज्ञालोकः'' सूत्र का क्या अर्थ है? संयम पर विजय प्राप्त करने से साधक को किस प्रकार के ज्ञान का प्रकाश मिलता है?

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. ''देशबन्धश्चित्तस्य .....।'' रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए सही योगांग चुनिए:

(क) ध्यानम्

(ख) धारणा

(ग) समाधि:

(घ) प्रत्याहार:

2. ध्येय वस्तु में चित्त की वृत्ति का लगातार एक तार एकतानरूप से बहना क्या कहलाता है?

(क) धारणा

(ख) ध्यान

(ग) समाधि

(घ) संयम

3. जब समाधि में केवल ध्येय वस्तु का ही प्रकाश रहता है और चित्त का अपना स्वरूप शून्य जैसा हो जाता है, उसे क्या कहते हैं?

(क) सवितर्क समाधि

(ख) ध्यान

(ग) समाधि (विभूतिपाद सम्मत)

(घ) विकल्प वृत्ति

4. महर्षि पतंजलि के अनुसार धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का एक ही विषय पर एक साथ प्रयोग होना क्या कहलाता है?

(क) ईश्वर प्रणिधान

(ख) क्रियायोग

(ग) संयम

(घ) विवेकख्याति

5. विभूतिपाद के अनुसार धारणा, ध्यान और समाधि - ये तीनों अंग योग की किस श्रेणी में आते हैं?

(क) बहिरंग साधन

(ख) अंतरंग साधन

(ग) शारीरिक साधन

(घ) इनमें से कोई नहीं

इकाई-4.2 संयम का स्वरूप और संयम का फल

उद्देश्य -

• **संयम की तकनीकी प्रक्रिया को समझाना:** साधक को यह स्पष्ट करना कि धारणा, ध्यान और समाधि - इन तीनों अंगों को जब किसी एक ही ध्येय वस्तु या विषय पर एक साथ केंद्रित किया जाता है, तो उस सामूहिक अवस्था को संयम कहते हैं।

• **चित्त की सर्वोच्च एकाग्रता शक्ति को जाग्रत करना:** साधक के मन की बिखरी हुई मानसिक तरंगों को समेटकर उन्हें लेजर बीम की भांति अत्यंत शक्तिशाली और एकमुखी बनाना।

• **प्रकृति के रहस्यों को जानने का मार्ग देना:** संयम के माध्यम से साधक को स्थूल जगत से लेकर सूक्ष्म और अदृश्य तत्वों जैसे - परमाणु, चित्त का स्वभाव और भूत-भविष्य आदि के वास्तविक स्वरूप को प्रत्यक्ष देखने की क्षमता प्रदान करना।

त्रयमेकत्र संयमः ॥ 4 ॥

सूत्रार्थ- धारणा, ध्यान, समाधि - इन तीनों योगांगों का किसी एक विषय में केन्द्रित हो जाना 'संयम' है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'एकविषयाणि त्रीणि साधनानि 'संयम' इत्युच्यते । तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति ।'

ध्यान विषयक किसी एक वस्तु या विषय पर जब धारणा, ध्यान, समाधि- ये तीनों योगांग केन्द्रित हो जाते हैं, तब इनका मिलित रूप 'संयम' कहा जाता है। 'संयम' एक शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द है।

धारणा, ध्यान, समाधि- ये तीनों योगांग जब किसी एक ध्येय वस्तु पर टिकाये जाते हैं, तब इस योग के प्रयोग को 'संयम' कहा जाता है। यह 'संयम' शब्द योग-विषयक एक शास्त्रीय पारिभाषिक पद है। जहाँ-कहीं योग-विषयक चर्चा में यह शब्द आये, उसे पूर्वोक्त रूप में समझना चाहिए। सृष्टि के सूक्ष्म रहस्य भारतीय योगियों ने इसी 'संयम' के सहारे प्राप्त किये थे।

किसी एक विशेष लक्ष्य में जब धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों का प्रयोग किया जाता है, और उसकी सम्पन्नता पर जो विशेष सिद्धि-लाभ होता है, उसका विवरण इसी पाद में आगे 'विभूति' के नाम से प्रस्तुत किया गया है। वह विभूति किसी लक्ष्यविशेष में धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का प्रयोग करते रहने से प्राप्त होती है। उन सब स्थलों में इन तीनों का नामोल्लेख न करना पड़े, उसके लिए तीनों को जब एक लक्ष्य में प्रयोग करना बताना हो, तो वहाँ 'संयम' पद का निर्देश करना चाहिए। इन तीनों के इकट्ठे प्रयोग को बताने के लिए यह परिभाषा कर दी है। जैसे आगे सूत्र १६, १७ में निर्देश है और उससे आगे अन्य अनेक सूत्रों में ऐसा निर्देश है। वहाँ 'संयम' पद से इन तीनों का ग्रहण करना अपेक्षित है।

'संयम' का फल-

तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥ 5 ॥

सूत्रार्थ- जब 'संयम' सिद्ध अर्थात् परिपक्व हो जाता है, तब साधक में अलौकिक प्रज्ञा का प्रकाशोदय होता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'तस्य संयमस्य जयात्समाधिप्रज्ञाया भवत्यालोकः । यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथा समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति ॥'

उस संयम पर विजय प्राप्त कर लेने पर समाधि प्रज्ञा का आलोक-विस्तार होता है। जैसे-जैसे 'संयम' शक्ति पुष्टतर होती जाती है, वैसे-वैसे समाधि प्रज्ञा निर्मलतर अथवा बलवत्तर होती जाती है।

इस सूत्र में 'संयम' सिद्धि का फल बताया गया है। धारणा, ध्यान, समाधि के साथ 'संयम' शक्ति का ज्यों-ज्यों विकास होता जाता है, साधक में असाधारण दिव्य शक्तियों का अवतरण होता जाता है। सामान्य मनुष्य की शक्ति सामान्य होती है, किन्तु जब मनुष्य में अन्तश्चेतना का विकास हो जाता है तब उसकी बुद्धि अलौकिक सामर्थ्य से सम्पन्न हो जाती है। चेतना के इस लोकोत्तर विकास से उत्पन्न बुद्धि को 'प्रज्ञा' कहते हैं। जब साधक का 'संयम' सिद्ध हो जाता है, तब उसमें इस समाधि-प्रज्ञा का प्रखर प्रकाश फैलता है, जिसके आलोक में वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, दूर-से-दूर को भी स्पष्ट देख सकता है। वह अलौकिक शक्तियो का स्वामी बन जाता है।

समाधिप्रज्ञा आलोकित हो उठती है। जब किसी विशेष लक्ष्य में धारणा, ध्यान, समाधिरूप साधनों का सफल प्रयोग किया जाता है, उनके अभ्यास द्वारा चित्त की एकाग्रता के लिए जैसे-जैसे अधिकाधिक प्रयास किया जाता है, वैसे-वैसे एकाग्रता बढ़ती जाती है। जब एकाग्रता अपने अभिनन्दनीय उन्नत स्तर पर पहुँच जाती है, उसमें विषयान्तरों का व्यवधान कभी नहीं उभर पाता, एक ही प्रत्ययप्रवाह निरन्तर चालू रहता है। यही प्रज्ञा का आलोक है। बुद्धितत्त्व (प्रज्ञा) का योग के इस स्तर पर पहुँच जाना, संयम के कारण होने से यह संयम के फल के रूप में वर्णन किया गया है।

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ 6 ॥

सूत्रार्थ-उस 'संयम' का विनियोग साधक को विभिन्न योग-भूमियों में क्रमशः करना चाहिए । साधक को स्थूल से सूक्ष्म की ओर

गतिशील होना चाहिए।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः ।' कथम् ? एवं ह्युक्तम्-

'योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्त्तते ।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्' ॥

इस विषय में स्वयं योग का अभ्यास ही गुरु या मार्गदर्शक है। यह कैसे ? क्योंकि ऐसा (आप्तवाक्य रूप में) कथित है- ''योग द्वारा योग को जानना चाहिए। योग, योग से आगे बढ़ता है। योगाभ्यास में जो अप्रमत्त (असावधान) नहीं है, वह योग में चिरकाल तक रमण करता है अर्थात् आनन्दानुभव करता है'' ।

इस सूत्र में बताया गया है कि जब किसी साधक का उक्त संयम सिद्ध हो जाये, तो उसका प्रथम प्रयोग स्थूल विषय पर करना चाहिए। पूर्व में दृढ़ता आ जाने पर फिर उससे सूक्ष्म और फिर उससे भी सूक्ष्म, इस प्रकार उसकी योग-यात्रा स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और फिर सूक्ष्मतम विषयों की ओर गतिशील रहनी चाहिए। एक-एक सीढ़ी क्रम से चढ़ने पर लड़खड़ाने का भय नहीं रहता है। कुशल धनुर्धर पहले स्थूल पर निशाना साधता है, पुनः शनैः शनैः सूक्ष्म के लक्ष्य वेध का अभ्यास करता है। ईश्वरानुग्रह इस विषय में अपवाद है, ऐसी स्थिति में साधक को बिना नियमित साधना के ही सिद्धि मिल जाती है।

ईश्वरप्रणिधान से योगी को ईश्वर ज्ञान प्रदान करता है। ईश्वरानुकम्पा से उसे अग्रिम योगभूमियों की उपलब्धि होती जाती है। योग की उत्कर्ष-प्राप्त भूमियों या अवस्थाओं (जंहमे) में साधक का स्वयं का अनुभव प्रशिक्षक का कार्य करता है। **'योग एव उपाध्यायः'** ऐसा कथित है। चित्त किस योग्यता वाला है, इसका ज्ञान योगाभ्यासी को स्वयं योग दे देता है।

निष्कर्षतः धारणा, ध्यान, समाधि तीनों एक ही 'संयम' रूप क्रिया के अंग हैं। किसी विषय में चित्त को ठहराने का नाम 'धारणा' है। जब निरन्तर देर तक बिना विक्षेप के ध्येय पर चित्त ठहरा रहे, तब वही धारणा 'ध्यान' बन जाती है और जब वही ध्यान इतना प्रगाढ़ और सूक्ष्म तथा तल्लीनता पूर्ण हो जाता है कि ध्यान करने वाले को ध्येय विषय के अतिरिक्त और किसी की भी सुध-बुध नहीं रह जाती है, तब वही ध्यान की अवस्था बढ़कर 'समाधि' बन जाती है।

स्मरणीय बिंदु -

1. संयम का वास्तविक स्वरूपः धारणा, ध्यान और समाधि - इन तीनों अंतरंग अंगों का जब किसी एक ही ध्येय वस्तु या विषय पर एक साथ प्रयोग किया जाता है, तो उस सामूहिक तकनीकी वैज्ञानिक प्रक्रिया को संयम कहा जाता है - ''त्रयमेकत्र संयमः''।

2. संयम का मुख्य फल - प्रज्ञा का आलोकः संयम के सिद्ध होने पर साधक की बुद्धि अत्यंत निर्मल और तीव्र हो जाती है, जिससे उसे उच्च कोटि का विवेक ज्ञान प्राप्त होता है। इसे प्रज्ञा का प्रकाश - प्रज्ञालोक कहते हैं, जो छिपे हुए रहस्यों को प्रत्यक्ष कर देता है।

3. संयम का व्यावहारिक विनियोगः संयम का प्रयोग एक साथ सीधे उच्चतम अवस्था पर नहीं किया जाता। इसे योग की निचली भूमियों या अवस्थाओं से लेकर उच्च भूमियों की ओर क्रम के अनुसार - तस्य भूमिषु विनियोगः धीरे-धीरे बढ़ाया जाता है, जिससे विभिन्न प्रकार की अलौकिक सिद्धियाँ और विभूतियाँ प्राप्त होती हैं।

15 अंक के प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि योगदर्शन के अनुसार संयम का वास्तविक स्वरूप क्या है? ''त्रयमेकत्र संयमः'' सूत्र की दार्शनिक व्याख्या कीजिए और समझाइए कि धारणा, ध्यान तथा समाधि का एकत्रीकरण किस प्रकार क्रियान्वित होता है।
2. ''तज्जयात् प्रज्ञालोकः'' और ''तस्य भूमिषु विनियोगः'' सूत्रों के आलोक में संयम के फल तथा इसके व्यावहारिक अनुप्रयोग अथवा विनियोग की विस्तृत समीक्षा कीजिए। साधना की विभिन्न भूमियों में संयम का प्रयोग क्यों आवश्यक है?
3. महर्षि पतंजलि ने विभूतिपाद में संयम के माध्यम से प्राप्त होने वाले बाह्य एवं आंतरिक फलों या सिद्धियों का जो वर्णन किया है, उनमें से किन्हीं तीन मुख्य संयमों जैसे- सूर्य, चन्द्र, कण्ठकूप या नाभिचक्र के स्वरूप और उनके फलों की सविस्तार विवेचना कीजिए।

5 अंक के प्रश्न -

1. संयम शब्द का शाब्दिक और दार्शनिक अर्थ स्पष्ट कीजिए। यह सामान्य एकाग्रता से किस प्रकार भिन्न है?
2. ''त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः'' और ''तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य'' सूत्रों के आधार पर स्पष्ट कीजिए कि संयम कब अंतरंग साधन बनता है और कब बहिरंग?
3. नाभिचक्र पर संयम करने से योगी को किस फल की प्राप्ति होती है? संक्षेप में लिखिए।
4. महर्षि पतंजलि ने कंठकूप और कूर्मनाड़ी पर संयम करने का क्या फल बताया है?

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार संयम के अंतर्गत योग के कौन से तीन अंग सम्मिलित हैं?

(क) यम, नियम, आसन

(ख) आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार

(ग) धारणा, ध्यान, समाधि

(घ) ध्यान, समाधि, कैवल्य

2. ''तज्जयात् .....।'' संयम पर विजय प्राप्त करने से होने वाले फल के संबंध में रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए:

(क) प्रज्ञालोकः

(ख) कैवल्यपदम्

(ग) चित्तप्रसादः

(घ) क्लेशतनूकरणम्

3. महर्षि पतंजलि योगसूत्र के अनुसार सूर्य पर संयम करने से योगी को निम्नलिखित में से किस विषय का ज्ञान होता है?

(क) ताराव्यूह का ज्ञान

(ख) भुवन अथवा लोकों का ज्ञान

(ग) चित्त का ज्ञान

(घ) पूर्वजन्म का ज्ञान

4. नाभिचक्र पर संयम करने से योगी को किसका ज्ञान प्राप्त होता है?

(क) शरीर की संरचना और व्यूह का ज्ञान

(ख) मोक्ष का मार्ग

(ग) चंद्रमा की गति

(घ) भूख-प्यास की निवृत्ति

5. ''कण्ठकूपे .....।'' कंठकूप पर संयम करने से योगी को क्या फल मिलता है?

(क) सिद्ध दर्शन

(ख) स्थैर्यम्

(ग) क्षुत्पिपासानिवृत्तिः (भूख-प्यास पर संयम)

(घ) प्रातिभ ज्ञान

इकाई-4.3 अन्तरंग और बाह्य-अंग योग का स्वरुप

उद्देश्य -

• **साधना के सोपानों का तुलनात्मक वर्गीकरण करना:** साधक को यह समझाना कि अष्टांग योग के पहले पांच अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार बाहरी और बाद के तीन अंग धारणा, ध्यान एवं समाधि आंतरिक साधना का हिस्सा हैं।

• **सूक्ष्मता के स्तर को स्पष्ट करना:** यह बोध कराना कि पहले पांच अंगों की तुलना में धारणा, ध्यान और समाधि चित्त के अत्यंत निकट और सीधे जुड़े होने के कारण अंतरंग साधन कहलाते हैं।

• **निर्बीज समाधि की सर्वोच्चता स्थापित करना:** साधक का ध्यान इस ओर आकर्षित करना कि सम्प्रज्ञात समाधि के लिए जो तीन अंग अंतरंग हैं, वे भी सर्वोच्च निर्बीज - असम्प्रज्ञात समाधि की तुलना में बहिरंग हो जाते हैं।

सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरंग साधन (धारण, ध्यान, समाधि)-

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥7॥

सूत्रार्थ- साधनपाद में बताये गये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार इन पाँच योग के बहिरंग साधनों की अपेक्षा ये तीन-ध ारणा, ध्यान, समाधि सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरंग अर्थात् निकटतम साधन हैं ।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमन्तरङ्गं सम्प्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वेभ्यो यमादिभ्यः पञ्चभ्यः साधनेभ्य इति ।'

वह यह (धारणा, ध्यान, समाधि) तीनों यमादि की अपेक्षा 'सम्प्रज्ञात समाधि' के अन्तरङ्ग साधन हैं।

इस सूत्र में धारणा, ध्यान और समाधि को सम्प्रज्ञात समाधि का निकटस्थ साधन बताया गया है। साधनपाद में वर्णित यम, नियन, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार को योग का बहिरंग साधन वर्णित किया गया है। जो कार्य की सिद्धि में दूर से सहायक हो, वह बहिरंग और जो निकट से सहायक हो, वह अन्तरंग साधन है। यम-नियमादि दूर से सहायक हैं, इसलिए वे सम्प्रज्ञात समाधि के बहिरंग और धारणा-ध्यान-समाधि निकटस्थ सहायक हैं, अस्तु वे सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरंग सहायक हैं। इसीलिए अन्तिम तीनों का, प्रथम पाँचों से पृथक् 'विभूतिपाद' में वर्णन किया गया है।

गुरु गोरक्षनाथ ने यम-नियमों को योग न मानकर आचरण सम्बन्धी नियम बताया है, जो सामान्य जनोपयोगी है। इसलिए वे षडंग योग (आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) को ही योगांग मानते हैं। कुछ अन्तिम तीनों को ही सच्चा योगांग मानकर साधना करते हैं। पूर्व के यम-नियमादि पाँचों अंगों को कायिक साधना से सम्बद्ध मानते हैं । चित्त से सम्बन्धित मुख्य अन्तिम तीन साधन ही हैं।

धारणा, ध्यान, समाधि निर्बीज समाधि के बहिरंग साधन-

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ 4 ॥

सूत्रार्थ- वे पूर्वोक्त धारणा, ध्यान, समाधि भी 'असम्प्रज्ञात' समाधि के लिए बहिरंग साधन हैं।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'तदप्यन्तरङ्गं साधनत्रयं निर्बीजस्य योगस्य बहिरङ्गं भवति। कस्मात् ? तदभावे भावादिति ॥'

वे अन्तरंग धारणा, ध्यान, समाधि नामक तीनों साधन निर्बीज समाधि के बहिरंग साधन हैं। प्रश्न उठता है क्यों ? क्योंकि उनका अभाव होने पर निर्बीज समाधि सिद्ध होती है ।

ये धारणा, ध्यान, समाधि जिनका मिलित नाम 'संयम' है; ये सम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् सबीज समाधि के तो अन्तरंग हैं, किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि या निर्बीज समाधि के बहिरंग अर्थात् दूर से उपकारी हैं, सन्निकट के नहीं। जैसे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ये पाँचों योग के अंग सम्प्रज्ञात समाधि के उपकारी तो हैं, किन्तु उतने निकट के उपकारी नहीं है, जितने कि धारणा, ध्यान, समाधि ये तीनों अंग हैं। अस्तु प्रथम पाँच बहिरंग साधन और अन्तिम तीन अन्तरंग साधन कहे गये । इसी प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि के क्षेत्र में धारणा, ध्यान, समाधि तीनों बहिरंग साधन हैं अर्थात् दूर से उपकार करने वाले हैं, निकटस्थ होकर असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि के कारण नहीं बन पाते । कारण है कि तब तक कर्म-संस्कार बीज रूप में बने रहते है और वे पुनः अंकुरित हो सकते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि की परिपक्वावस्था में विवेकख्याति उत्पन्न होती है, जिससे सारे अशुभ संस्कार भस्म हो जाते हैं, किन्तु अभी संस्कार वाला चित्त बना रहता है। साधना के और आगे बढ़ने पर परवैराग्य की उत्पत्ति होती है, जिसमें शुभ संस्कार से भी शून्य हृदय त्रिगुणातीत हो जाता है और चित्त अपने उपादान कारण प्रकृति में विलीन हो जाता है। संस्कार दग्ध बीज होकर अंकुरण-शक्ति खो बैठते हैं और 'निर्बीज समाधि' की सिद्धि होती है। इस प्रकार परवैराग्य निर्बीज समाधि का अन्तरंग साधन है और धारणा, ध्यान, समाधि उसके पूर्व की स्थिति सबीज या सम्प्रज्ञात समाधि लाने का कारण है, इसलिए सोपानवत् दूर से सहायक होने के कारण निर्बीज समाधि का बहिरंग साधन है। धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों के हट जाने पर असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि की सिद्धि होती है। बहिरंग और अन्तरंग होने के पीछे यह भी कारण है कि सम्प्रज्ञात समाधि में किसी ध्येय का

आलम्बन लेकर उस पर चित्त को टिकाकर फिर स्थिरता को और प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर करने की आवश्यकता होती है, निर्बीज समाधि की अवस्था में किसी विषय का अवलम्बन नहीं लेना पड़ता। समाधि इच्छामात्र से तुरन्त अनायास लग जाती है। यही योग साधना की अन्तिम अवस्था है। यहाँ संयम की आवश्यकता नहीं रह जाती है।

प्रमुख स्मरणीय बिंदु -

1. अन्तरंग योग का स्वरूप - अंतिम तीन अंग: विभूतिपाद के अनुसार धारणा, ध्यान और समाधि को योग का अन्तरंग - आंतरिक साधन माना गया है। क्योंकि ये तीनों सीधे चित्त को एकाग्र करने और समाधि की अंतिम अवस्था से सीधे जुड़े होते हैं -''त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्य:''।

2. बहिरंग योग का स्वरूप - प्रथम पांच अंग: अष्टांग योग के पहले पांच अंगों - यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार को बाह्य-अंग या बाहरी साधन कहा जाता है। ये साधक के शरीर, इंद्रियों और सामाजिक व्यवहार को शुद्ध करके अन्तरंग साधना के लिए तैयार करते हैं।

3. निर्बीज समाधि के लिए दोनों ही बाह्य-अंग: विभूतिपाद स्पष्ट करता है कि जो धारणा, ध्यान और समाधि सबीज समाधि के लिए 'अन्तरंग' हैं, वही तीनों परम लक्ष्य निर्बीज असम्प्रज्ञात समाधि के लिए बाह्य-अंग बन जाते हैं - ''तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य''।

15 अंक के प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि योगदर्शन के अनुसार योग के बहिरंग और अंतरंग साधनों से क्या अभिप्राय है? ''त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्य:'' सूत्र के आलोक में स्पष्ट कीजिए कि प्रथम पाँच अंग अंतिम तीन अंगों की तुलना में बहिरंग क्यों हैं।
2. ''तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य'' सूत्र की दार्शनिक समीक्षा कीजिए। महर्षि पतंजलि ने अंतरंग माने जाने वाले धारणा, ध्यान और समाधि को निर्बीज समाधि की तुलना में बहिरंग क्यों घोषित किया है? तार्किक विश्लेषण कीजिए।
3. बहिरंग साधना - यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार और अंतरंग साधना - धारणा, ध्यान तथा समाधि के पारस्परिक संबंधों की विवेचना कीजिए। क्या बहिरंग साधना की परिपक्वता के बिना अंतरंग साधना संभव है? स्पष्ट कीजिए।

5 अंक के प्रश्न -

1. अष्टांग योग के अंतर्गत आने वाले पाँच बाह्य-अंग कौन से हैं? इन्हें बाह्य-अंग क्यों कहा जाता है, संक्षेप में समझाइए।
2. विभूतिपाद के अनुसार योग के तीन अन्तरंग साधनों के नाम लिखिए। ये साधन साधक के चित्त को किस प्रकार प्रभावित करते हैं?
3. सबीज समाधि - सम्प्रज्ञात योग के संदर्भ में कौन से अंग अन्तरंग कहलाते हैं और क्यों? संक्षेप में लिखिए।
4. अन्तरंग और बाह्य-अंग साधना के बीच मुख्य दार्शनिक अंतर क्या है? आलम्बन और चित्त की स्थिरता के आधार पर स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार धारणा, ध्यान और समाधि - ये तीनों अंग पहले के पाँच अंगों की अपेक्षा क्या माने गए हैं?
(क) बहिरंग साधन
(ख) अंतरंग साधन
(ग) गौण साधन
(घ) निरर्थक साधन
2. ''त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्य:'' सूत्र में 'त्रयम्' शब्द किन अंगों के लिए प्रयुक्त हुआ है?
(क) यम, नियम, आसन
(ख) आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार
(ग) धारणा, ध्यान, समाधि
(घ) ध्यान, समाधि, कैवल्य
3. ''तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य'' सूत्र के अनुसार निर्बीज असम्प्रज्ञात समाधि के संदर्भ में अंतरंग त्रय - धारणा, ध्यान व समाधि

को क्या माना गया है?
(क) अंतरंग ही माना गया है
(ख) बहिरंग माना गया है
(ग) परम साधन माना गया है
(घ) मानसिक साधन माना गया है
4. निम्नलिखित में से कौन सा योग का अंग पूर्णत: बहिरंग साधना के अंतर्गत आता है?
(क) धारणा
(ख) प्राणायाम
(ग) ध्यान
(घ) समाधि
5. योग के बहिरंग साधनों का मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित में से क्या है?
(क) सीधे निर्बीज समाधि लगाना
(ख) शरीर और इंद्रियों की अशुद्धि का क्षय करना
(ग) केवल अणिमा आदि सिद्धियां पाना
(घ) चित्त को पूरी तरह संस्कार शून्य करना

इकाई-4.4 विभूतियों का संक्षिप्त परिचय –

उद्देश्य -

• **संयम की व्यावहारिक शक्ति को प्रमाणित करना:** साधक को यह प्रत्यक्ष दिखाना कि चित्त की पूर्ण एकाग्रता धारणा, ध्यान व समाधि के सफल अनुप्रयोग से प्रकृति के नियमों पर नियंत्रण पाया जा सकता है।

• **ब्रह्मांड और पिंड के रहस्यों को उद्घाटित करना:** साधक के ध्यान को बाह्य और आंतरिक तत्वों पर केंद्रित कर भूत, भविष्य, परचित्त, सूर्य, चंद्रमा और शरीर के विभिन्न चक्रों के गुप्त वैज्ञानिक ज्ञान को प्रकट करना।

• **सिद्धियों की वास्तविक स्थिति स्पष्ट करना:** साधक को यह समझाना, कि ये विभूतियाँ चित्त की उच्च विकास यात्रा के स्वाभाविक पड़ाव हैं, न कि योग का अंतिम लक्ष्य।

तीन परिणामों में संयम करने का फल-

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ 16 ॥

सूत्रार्थ- परिणामधर्मी पदार्थों के धर्म, लक्षण एवं अवस्था इन तीनों परिणामों में 'संयम' करने से पदार्थ विशेष के भूत और भविष्यत्काल विषयक स्थिति का ज्ञान योगी को हो जाता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'धर्मलक्षणावस्थापरिणामेषु संयमाद्योगिनां भवत्यतीतानागतज्ञानम् । धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयम उक्तः । तेन परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमाणमतीतानागतज्ञानं तेषु सम्पादयति ॥'

धर्म, लक्षण व अवस्था (इन तीनों) परिणामों में संयम करने पर योगी को भूत और भविष्य का ज्ञान होता है। एक ही आलम्बन में किये गये धारणा, ध्यान तथा समाधि इन तीनों को 'संयम' कहा गया है। उसमें संयम से परिणाम-त्रय का साक्षात् करते रहने पर उन तीन परिणामों में अनुगत विषय का भूत तथा भविष्य विषयक ज्ञान निष्पन्न होता है ।

पदार्थ के तीन परिणाम पहले बताये जा चुके हैं। जो इस प्रकार हैं-धर्म-परिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम । जिस किसी वस्तु के उक्त तीनों परिणामों में योगी धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों के मिलित रूप को एकत्र कर केन्द्रित करता है तो उसके परिणामस्वरूप योगी को उस वस्तुविषयक भूत और भविष्यत्कालिक ज्ञान हो जाता है। धारणा, ध्यान, समाधि का मिलित रूप 'संयम' कहा जाता है।

शब्द, अर्थ और ज्ञान विभागों में संयम का फल-

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ 17 ॥

सूत्रार्थ- शब्द, अर्थ और ज्ञान के परस्पर अध्यास से अर्थात् एक के धर्मो को दूसरे में देखने से उन शब्द, अर्थ और ज्ञान का परस्पर सम्मिश्रण हो जाता है। उन शब्द, अर्थ और ज्ञान के भिन्न-भिन्न स्वरूपों में संयम करने से सब प्राणियों के शब्दों का ज्ञान होता है।

व्याख्या- योगी को 'संयम' अभ्यास से 'समाधि प्रज्ञा' प्राप्त होती है- **तज्जयात् प्रज्ञालोकः (योग.-3.5)** धारणा, ध्यान, समाधि की स्थिति दृढ़ हो जाने पर वह प्रकृति के रहस्यों को जानने में सक्षम हो जाता है। इस सूत्र में बताया गया है कि यदि सिद्ध साधक चाहे तो समस्त प्राणियों की बोली के अर्थ समझ सकता है। इसके लिए वह प्राणी विशेष के द्वारा उच्चरित ध्वनि के शब्द, अर्थ, तथा ज्ञान पर अलग-अलग 'संयम' करके उनका यथार्थ जानकर उनकी बोली समझ लेगा। भाषाएँ मानव का वह आविष्कार है, जिसमें पदार्थों को निर्धारित शब्द-संकेतों में बाँध दिया जाता है। किसी भाषा विशेष को सीखकर उसके संकेतों से परिचित होकर विचारों का सामान्य आदान-प्रदान उस भाषा से परिचित लोगों में होता रहता है। शब्द, अर्थ और ज्ञान भिन्न होते हुए भी अभ्यास के कारण मिले हुए रहते हैं। इसी कारण यदि किसी से कहा जाये कि गौशाला में गौ को चारा दे आओ, तो वह सरलतापूर्वक ऐसा कर देगा, किन्तु कोई विदेशी जो इस भाषा विशेष को नहीं जानता, वह अर्थ न समझ सकने के कारण ऐसा नहीं कर पायेगा; किन्तु योगी में समाधिप्रज्ञा के जागरण से अलौकिक क्षमता आ जाती है। प्रत्येक वस्तु अपने विचार, भाव और ध्वनितरंगें बिखेरती रहती हैं। योगी संयम शक्ति द्वारा उन तरंगों को पकड़ कर उन पर अलग-अलग ध्यान केन्द्रित कर 'संयम' शक्ति से उनके रहस्य को, आशय को जान लेता है। जैसे टी. वी. सेट ध्वनि और दृश्य तरंगों को पकड़कर उन्हें पर्दे पर स्पष्ट प्रकट कर देता है, वैसे योगी अपनी योगशक्ति से समग्र अज्ञात को स्पष्ट रूप से ज्ञात कर लेता है। शब्द, अर्थ और ज्ञान की प्रतीति ध्यान के माध्यम से परस्पर जुड़कर एकरूप हो जाती है।

संस्कारों पर संयम करने का फल-

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ 18 ॥

सूत्रार्थ- योगी संयमशक्ति के द्वारा संस्कारों का साक्षात्कार करके पूर्व जन्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'द्वये खल्वमी संस्काराः स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपाः विपाकहेतवो धर्माधर्मरूपाः ।'

ये (सूत्रोक्त) समस्त संस्कार निश्चय ही दो प्रकार के होते हैं- स्मृति-क्लेश हेतु वासनारूप तथा विपाक हेतु धर्माधर्म रूप। इस विषय में यह आख्यान सुनने में आता है- संस्कार साक्षात्कार करने से दस महासर्गों में व्यतीत जन्म-परिणाम के क्रम को जानने वाले भगवान् जैगीषव्य को विवेकज ज्ञान उत्पन्न हुआ।

इस सूत्र में यह बताया गया है कि 'संयम' द्वारा संस्कारों के साक्षात्कार करने से पूर्व-जन्म का ज्ञान होता है। मनुष्य से शुभ या अशुभ कर्म निरन्तर होते रहते है। उन कर्मों में कुछ के फल राजा द्वारा या समाज द्वारा दण्ड या पुरस्कार रूप में तत्काल उसी जन्म में मिल जाते हैं। जो अवशिष्ट रह जाते हैं, वे संस्कार (impression) बन जीवात्मा के साथ दूसरे जन्मों में दूसरे शरीरों में भोगने के लिए बचे रह जाते है, और कर्मफल-भोग बनकर सामने आते हैं। ये संस्कार जन्म-जन्मान्तर के संचित कर्म के रूप में सूक्ष्मरूप से कर्माशय में विद्यमान रहते हैं। उक्त संस्कार दो प्रकार के होते हैं- प्रथम प्रकार वासनारूप जो कि स्मृति के कारण है; दूसरा धर्माधर्म रूप जो कि जाति, आयु और भोग के कारण हैं- ये दोनों ही प्रकार के संस्कार अनेक जन्म-जन्मान्तर से संग्रहीत होते आ रहे हैं। उन संस्कारों में 'संयम' करके उनको प्रत्यक्ष कर लेने से योगी को पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। जैसे अपने पूर्वसंस्कारों के साक्षात्कार करने से अपने पूर्वजन्म का ज्ञान होता है, वैसे ही दूसरों को संस्कारों में संयम करके उन दूसरों के भी पूर्वजन्म का ज्ञान हो सकता है।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ 19 ॥

सूत्रार्थ- जब योगी दूसरे के ज्ञान में संयम करता है, तब उसको अन्य के चित्त का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'प्रत्यये संयमात्प्रत्ययस्य साक्षात्करणात्ततः परचित्तज्ञानम् ।'

प्रत्यय (ज्ञान, चित्त) में संयम का अभ्यास करने से ज्ञान या चित्तवृत्ति का साक्षात्कार करने से, उस साक्षात्कार द्वारा दूसरों के ज्ञान या चित्तवृत्ति का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है ।

अब 'संयम' से मिलने वाली चौथी सिद्धि का वर्णन किया जा रहा है। चित्त पर संयम करने से चित्तवृत्तियों का सविशेष ज्ञान हो जाता है। अपने चित्त में या पराये के चित्त में संयम करने के विषय में टीकाकारों में मतभेद है । विज्ञानभिक्षु का मत है कि संयम द्वारा अपने चित्त की वृत्ति का साक्षात्कार कर लेने पर योगी संकल्पमात्र से ही दूसरे के चित्त की बातें जान लेता है। वाचस्पति मिश्र और भोजराज के मत से यहाँ पर 'प्रत्यय' शब्द का अर्थ है- 'दूसरों का चित्त' । मेरे विचार से 'संयम' एकाग्रता की विशेष शक्ति है। शक्ति का प्रयोग जहाँ भी किया जायेगा, उसका प्रभाव होगा।

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ 20 ॥

सूत्रार्थ- दूसरों का चित्त अपने विषय सहित साक्षात् नहीं होता, क्योंकि वह संयम का विषय नहीं है।

व्याख्या- अन्य व्यक्ति में चित्त में संयम करने से योगी उसमें व्याप्त राग-द्वेषादि भावों को तो जान लेता है, किन्तु उस व्यक्ति का किस पदार्थ, व्यक्ति, पशु-पक्षी या प्राणी में राग-द्वेष है, इसे योगी नहीं जानता क्योंकि उनको उसने संयम का विषय नहीं बनाया था। योगी जिन विषयों को या वस्तुओं को संयम का विषय बनाता है, उन्हीं का ज्ञान होता है, इतर का नहीं ।

कायरूपसंयमात् तद् ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानम् ॥ 21 ॥

सूत्रार्थ- देह के रूप में संयम करने से उसकी रूप की ग्राह्यशक्ति के रोक दिये जाने पर चक्षु और प्रकाश का उससे रूप से सम्बन्ध न होने की स्थिति में ''अन्तर्द्धान-छिप जाना-तिरोहित हो जाना'' होता है।

व्याख्या- वस्तु के विद्यमान रहते भी उसका न दीखना, 'अन्तर्द्धान' पद का तात्पर्य है। हमारे शरीर की रचना पाञ्चभौतिक है। पृथिवी आदि पाँचों भूतों के अंशों से देह बना है। इसीलिए इसमें रूप, रस, गन्ध आदि सभी धर्म प्रतीत होते हैं। रूप चक्षु से देखा जाता है, रस का ग्रहण रसन इन्द्रिय से होता है। रूप या रस में ग्राह्यशक्ति है, वह ग्रहण किया जाता है, और चक्षु तथा रसन इन्द्रियों में ग्रहणशक्ति है, इनसे ग्रहण किया जाता है। जो कार्य दो से मिलकर होता है, उसमें दोनों की शक्ति कार्य करती है। यदि उनमें से कोई एक शक्ति कार्य के अनुरूप न रहे, तो वह कार्य नहीं होगा। यह प्रत्यक्ष अनुभव कर देखा गया है कि गुड़मार पेड़ का पत्ता चबाया जाय, तो वह कुछ काल के लिए रसन इन्द्रिय की ग्रहणशक्ति को अन्तर्हित कर देता है, छिपा देता है। गुड़मार का पत्ता खाकर यदि जीभ पर गुड़, चीनी या कोई मीठा पदार्थ रखा जाय, तो उसके मिठास का नितान्त भी अनुभव नहीं होता, वह सर्वथा नीरस मालूम होता है। यद्यपि यहाँ मधुर रस की ग्राह्यशक्ति और रसन इन्द्रिय की ग्रहणशक्ति दोनों विद्यमान हैं, परन्तु इन्द्रिय की ग्रहणशक्ति को गुड़मार ने रुद्ध कर दिया है, रोक दिया है, इसलिए वह मधुररस को ग्रहण नहीं कर पा रही है।

इसी प्रकार योगी जब देहरूप में संयम करता है, उससे योगी को यह सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है कि वह देहरूप की ग्राह्यशक्ति को रोक दे। ऐसा सिद्धिप्राप्त योगी जब आपके सामने खड़ा है, उसे स्पष्ट देखा जा रहा है। यदि योगी इस अवसर पर अपने देहरूप की ग्राह्यशक्ति को रोक देता है, तो वह अचानक अदृश्य हो जायगा, दिखाई नहीं देगा, यद्यपि वह खड़ा वहीं है, गया कहीं नहीं। देखनेवाले की इन्द्रिय भी विद्यमान है और योगी का देह भी। पर देह के रूप को ग्राह्यशक्ति रोक दी गई है। इसलिए

उसका ग्रहण चक्षु से नहीं किया जा रहा। यदि उस समय योगी के शरीर को छुआ जाय, तो त्वक् इन्द्रिय से उसकी स्पष्ट प्रतीति होगी। वहाँ त्वक् इन्द्रिय की ग्रहणशक्ति और स्पर्श की ग्राह्यशक्ति दोनों अपना कार्य करने में तत्पर हैं, फलतः देहरूप की ग्राह्यशक्ति को सफल संयम द्वारा रोक देने से योगी का शरीर दिखाई नहीं देता, इसी का नाम अन्तर्द्धान है।

रूप की ग्राह्यशक्ति को रोक देने के समान योगी शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध आदि की ग्राह्यशक्ति को भी संयम द्वारा रोक देने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। उस समय उसके समीप खड़े हुए व्यक्ति को भी योगी द्वारा उच्चरित शब्द सुनाई नहीं दे पाते। इसी प्रकार अन्य ग्राह्य विषयों में समझ लेना चाहिए ।। 21 ।।

संयम द्वारा आयुज्ञान-

सोपक्रम निरुपक्रमञ्च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ।। 22 ।।

सूत्रार्थ- कर्म दो प्रकार के होते हैं- शीघ्र फल देने वाले और विलम्ब से फल देने वाले । उन कर्मों में संयम करने से मृत्यु का ज्ञान होता है अथवा मृत्यु के ज्ञापक चिह्नों से योगी को मृत्यु का ज्ञान होता है

व्याख्या- आयु नियत करने वाले पूर्वजन्म के कर्म दो प्रकार के होते हैं । प्रथम 'सोपक्रम' अर्थात् वे कर्म जो आयु समाप्त करने का काम पूरे वेग से कर रहे है, जिनका बहुत-सा फल हो गया है, और कुछ शेष है। दूसरे 'निरुपक्रम' अर्थात् वे कर्म जो मन्दवेग वाले हैं, जिन्होंने आयु भोगने का कार्य अभी तक आरम्भ नहीं किया है। 'सोपक्रम कर्म' शीघ्र परिणाम देते हैं जैसे शुष्क तृण पर वायु युक्त प्रदेश में फेंकी अग्नि शीघ्र तृणसंचय को जला देती है। 'निरुपक्रम कर्म' विलम्ब से फल देने वाले होते हैं-जैसे हरित तृण पर वायु रहित स्थान में अग्नि देर में जलाने का कार्य कर पाती है। इन दोनों प्रकार के कर्मों पर संयम करके योगी जीवन की अवधि और मरण-काल जान सकता है।

कुछ चिह्न मृत्युसूचक हैं, जिन्हें 'अरिष्ट' कहा जाता है। जैसे कान बन्द करने पर भीतर की सनसनाहट या ध्वनि को न सुन पाना। मरे हुए पुरुषों का इस प्रकार दिखायी देना मानों सामने खड़े हों। अकस्मात् सिद्धों का दिखाई देना अथवा ग्रह-नक्षत्रों का उल्टा-पुल्टा दिखाई देना ।

प्रथम संयम द्वारा मृत्यु-ज्ञान तो मात्र योगियों को होता है, किन्तु दूसरा अरिष्टों द्वारा मृत्यु ज्ञान तो योगीतर जनों की भी हो सकता है।

मैत्री आदि भावों में संयम का फल

मैत्र्यादिषु बलानि ।। 23 ।।

सूत्रार्थ- मैत्री, करुणा एवं मुदिता में संयम करने से तद् विषयक बल प्राप्त होता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'मैत्रीकरुणामुदितेति तिस्रो भावनाः । तत्र भूतेषु सुखितेषु मैत्रीं भावयित्वा मैत्रीबलं लभते । दुःखितेषु करुणां भावयित्वा करुणाबलं लभते । पुण्यशीलेषु मुदितां भावयित्वा मुदिताबलं लभते । भावनातः समाधिर्यः स संयमः । ततो बलान्यबन्ध्यवीर्याणि जायन्ते । पापशीलेषूपेक्षा न तु भावना । ततश्च तस्यां नास्ति समाधिरित्यतो न बलमुपेक्षातस्तत्र संयमाभावादिति ।।'

'मैत्री', 'करुणा', 'मुदिता- ये तीन भावनाएँ हैं। इन तीनों भावनाओं में से (योगी) सुखी प्राणियों के प्रति 'मैत्री' भावना को रखकर के मैत्री बल को प्राप्त करता है। दुःखी प्राणियों के प्रति 'करुणा' पर संयम करने से सब की करुणा प्राप्त होगी। मुदिता पर संयम करने से अखण्ड प्रसन्नता की उपलब्धि होगी। चौथा उपेक्षा अर्थात् उदासीनता अभावात्मक पदार्थ है, अतः वह 'संयम' का विषय नहीं बन सकता है। 'उपेक्षा' संयम योग्य भावना नहीं अस्तु भावनीय नहीं, त्याज्य है। यहाँ पर 'संयम' के विषयों में 'उपेक्षा' को ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि वह अभावरूपिणी है और सकारात्मकता से शून्य है। निष्कर्षतः 'संयम' के विषय मैत्री, करुणा, मुदिता हैं, उपेक्षा नहीं है।

बलों पर संयम का फल-

बलेषु हस्तिबलादीनि ।। 24 ।।

सूत्रार्थ- हाथी आदि बलिष्ठ प्राणियों के बलों में संयम करने से उनके बल के समान ही बल प्राप्त होते हैं।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'हस्तिबले संयमाद्धस्तिबलो भवति । वैनतेयबले संयमाद् वैनतेयबलो भवति । वायुबले संयमाद् वायुबल इत्येवमादि ।।'

हाथी के बल में संयम करने से योगी हाथी के समान बल से सम्पन्न हो जाता है। गरुड़ के बल में संयम करने से गरुड़ के सदृश बलवान् हो जाता है। वायु के बल में संयम करने से वायु के समान बलधारी हो जाता है। इसी प्रकार से अन्य को भी

समझ लेना चाहिए।

जिस प्राणी अथवा पदार्थ के बल की प्राप्ति की इच्छा से साधक उसमें संयम करता है, उसी प्राणी और पदार्थ के समान बल का विकास साधक में होने लग जाता है। हाथी, घोड़ा, गरुड़, सिंह, वायु आदि बल के निधान हैं, उनके बल पर ध ारणा-ध्यान-समाधि युक्त चेतना से जब उनके बल के सन्निवेश की इच्छा साधक करेगा, तो तद्वत् बल, स्फूर्ति, ऊर्जा का उसमें संचार होना एक मनावैज्ञानिक सत्य है। इस विषय में यह नहीं समझना चाहिए कि बल एक काँटे की तौल का आयेगा। बल और ऊर्जा का संचार एक सीमा तक अवश्य होगा, यह समझना अधिक समीचीन है।

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति में संयम का फल-

प्रवृत्त्याऽऽलोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ 25 ॥

सूत्रार्थ- ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का प्रकाश डालने से वह वस्तु चाहे सूक्ष्म हो, चाहे पर्दे में हो, चाहे दूरस्थ प्रदेश में हो, उसका ज्ञान योगाभ्यासी साधक को हो जाता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरुक्ता मनसः । तस्यां य आलोकस्तं योगी सूक्ष्मे वा व्यवहिते वा विप्रकृष्टे वाऽर्थे विन्यस्य तमर्थमधिगच्छति ॥'

मन की ज्योतिष्मती (विशोका) प्रवृत्ति कही गयी है-

विशोका वा ज्योतिष्मती। (योग.-1.36)

उसका जो प्रकाश है-उसको डालकर उसके आलोक में योगी सूक्ष्म का या व्यवधान युक्त या दूरस्थ वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेता है । इस सूत्र में संयम द्वारा उपलब्ध होने वाली नवें प्रकार की सिद्धि की चर्चा है।

तीन प्रकार की वस्तुओं का प्रत्यक्ष सामान्यतः इन्द्रियों द्वारा नहीं हो पाता है। जैसे अतिसूक्ष्म परमाणु, महत्तत्त्व आदि । दूसरी व्यवहित अर्थात् जो किसी पर्दे में छिपी हो, जैसे समुद्र में रत्न, खान में सुवर्णादि । तीसरी दूर देश में विद्यमान जैसे हिन्दुस्तान में बैठे लोगों के लिए अमेरिका में स्थित वस्तुएँ । योगी को सूक्ष्म से सूक्ष्मतम का, दूर से दूरतम का अथवा गहरे आवरण में छिपे पदार्थों का भी ज्ञान हो जाता है। समाधिपाद के छत्तीसवें सूत्र में बताया गया है कि निरन्तर अभ्यास-बल से साधक के चित्त के निर्मल हो जाने पर हृदय-कमल में ध्यान करने से ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का उदय होता है। इसके आलोक में सूक्ष्म से सूक्ष्मतम, गुप्त से गुप्ततम, दूर से दूरतम का परिज्ञान संभव हो जाता है।

सूर्य पर संयम का फल-

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ 26 ॥

सूत्रार्थ- सूर्य में संयम करने से उससे सम्बद्ध भुवनों-लोक-लोकान्तरों का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या- सूर्य में संयम करने से तत्सम्बन्धी अन्य लोक-लोकान्तरों का ज्ञान योगी को हो जाता है। सूर्य केन्द्रस्थित ग्रह है। अन्य ग्रह, नक्षत्र आदि जो इससे सम्बद्ध हैं, उनका ज्ञान सूर्य में संयम से हो जाता है। सूर्य की स्थिति, गति आदि का साक्षात् ज्ञान हो जाने पर उन नक्षत्र, ग्रह आदि एवं उनकी गति, स्थिति का भी ज्ञान हो जाता है, जिनकी गति, स्थिति आदि सूर्य की गति स्थिति आदि पर अवलम्बित हैं ।

चन्द्र पर संयम का फल-

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ 27 ॥

सूत्रार्थ- चन्द्रमा में संयम करने से तारकसमूह या तारों के समूह की स्थिति-विशेष का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'चन्द्रे संयमं कृत्वा ताराव्यूहं विजानीयात् ।'

अर्थात् चन्द्रमा में संयम करके तारकमण्डल की यथास्थिति का परिज्ञान करे ।

चन्द्रमा में संयम करने से कौन तारा किस स्थान पर स्थित है, इसका यथावत् ज्ञान हो जाता है। सम्पूर्ण आकाश ज्योतिष के अनुसार ताराओं के बारह समूहों में बँटा है जिस राशि कहते हैं। ज्योतिष-सिद्धान्त के अनुसार चन्द्र एक-एक राशि पर वर्ष में 12 बाहर घूमता है। जितने ग्रह हैं, उन सबमें चन्द्र एक राशि पर सबसे कम समय तक रहता है, इस हिसाब से प्रत्येक ताराव्यूह अर्थात् राशि की आकर्षण-विकर्षण शक्ति के साथ चन्द्र का अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः ताराव्यूह के यथार्थ ज्ञान में चन्द्र विशेष सहायक है ।

ध्रुवतारे पर संयम का फल-

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ 28 ॥

सूत्रार्थ- ध्रुवतारे में किये गये संयम से उन तारों की गति का यथावत् ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'ततो ध्रुवे संयमं कृत्वा ताराणां गतिं जानीयात् । ऊर्ध्वविमानेषु कृतसंयमस्तानि जानीयात् ॥'
अर्थात् उस (ताराव्यूह ज्ञान) के पश्चात् ध्रुवतारे में संयम करके तारों की गतियों को जाने । ऊर्ध्व लोक के विमानों में संयम करके उन विमानों को जानना चाहिए ।
ध्रुवतारा निश्चल है और समस्त ताराओं की गति का उससे सम्बन्ध है, अतः उसमें संयम करने से समस्त ताराओं की गति का अर्थात् कौन तारा कितने समय में किस राशि और किस नक्षत्र पर जायेगा- इसका पूरा-पूरा ज्ञान हो सकता है। यो तो ब्रह्माण्ड में प्रत्येक वस्तु चलायमान है। प्रत्येक पिण्ड किसी सशक्त सम्बन्धित पिण्ड की परिक्रमा करता है। वैज्ञानिक कहते हैं कि हमारा सूर्य भी अपने सौरमण्डल के साथ धनुराशि की परिक्रमा कर रहा है। किन्तु भारतीय मान्यतानुसार इसका केन्द्र ध्रुव है। इसलिए यदि ध्रुव में संयम किया जाये तो समस्त तारों की गति का ज्ञान हो सकता है।

नाभि-चक्र में संयम का फल-

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥29 ॥

सूत्रार्थ- शरीर के नाभिचक्र में संयम करने से शरीर की संरचना का ज्ञान होता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'नाभिचक्रे संयमं कृत्वा कायव्यूहं विजानीयात् । वातपित्तश्लेष्माण-स्त्रयो दोषाः सन्ति । धातवः सप्त त्वग्लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणि । पूर्व पूर्वमेषां ब्राह्यमित्येष विन्यासः ॥'

शरीर के नाभिचक्र में संयम करके शरीर संस्थान की संरचना का सविशेष ज्ञान प्राप्त किया जाये। (शरीर में) वात, पित्त, कफ ये तीन दोष हैं। त्वचा, रक्त, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा, शुक्र- ये सात धातुएँ हैं। इन धातुओं में पूर्व-कथित धातु पश्चात् कथित धातु की अपेक्षा बाह्य है। इसी प्रकार इनकी स्थिति है।

शरीर का केन्द्र नाभि है। गर्भावस्था में प्राणी इसी नाभि द्वारा माता से संयुक्त रहता है और इसी के माध्यम से अपना पोषण प्राप्त करता है। शरीर में प्रकृति द्वारा सर्वप्रथम इसी महत्त्वपूर्ण संस्थान की संरचना होती है। नाभि ही वह स्थल है, जिससे समस्त नाडियाँ गुँथी हैं। नाभिचक्र में संयम करने से शारीरिक संरचना का रहस्य जाना जा सकता है अर्थात् शरीर का संगठन किस प्रकार हुआ है, उसमें कौन-सी धातुएँ किस प्रकार और कहाँ स्थित हैं, इसका सूक्ष्म ज्ञान मिल सकता है। शरीर में वात, पित्त, कफ ये तीन दोष हैं, इनके विषम होने पर शरीर रोगग्रस्त हो जाता है। त्वचा-रक्त-मांसादि सात धातुएँ हैं। इनमें पूर्व कथित पश्चात् कथित की अपेक्षा बाह्य हैं। जैसे त्वचा सबसे बाहर है, उसके बाद रक्त है। त्वचा के बाद कथित रक्त की अपेक्षा त्वचा बाह्य है, जो उससे पूर्व कथित है। इसी प्रकार अन्यों का क्रम भी जान लेना चाहिए ।
टिप्पणी-हठयोग-परम्परा में नाभिचक्र को 'मणिपूरचक्र' कहा जाता है ।

कण्ठ-कूप में संयम का फल-

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ 30 ॥

सूत्रार्थ- कण्ठकूप में संयम करने से भूख-प्यास मिट जाती है ।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'जिह्वाया अधस्तात् तन्तुः। ततोऽधस्तात् कण्ठः। ततोऽधस्तात् कूपः। तत्र संयमात्क्षुत्पिपासे न बाधेते ॥'

जिह्वा के नीचे तन्तु है, उसके नीचे कण्ठ है और उसके नीचे कूप है। उस कण्ठ-कूप में संयम करने से योगाभ्यासी को भूख-प्यास-बाधा नहीं पहुँचाती ।

जिह्वा के नीचे या मूल भाग में एक तन्तु होता है, जिसको जिह्वासूत्र (vocal cord) कहते हैं। कण्ठ के नीचे वक्षःस्थल पर्यन्त एक गड्ढा-सा होता है। उसे ही 'कण्ठकूप' कहते हैं। उस कण्ठकूप में किये गये संयम से योगी को भूख-प्यास नहीं सताती है। कण्ठकूप में वायु टकराती है, तभी व्यक्ति को भूख-प्यास का अनुभव होता है। समस्त संवेदनाओं को जैसे मस्तिष्क ही अनुभव करता है, वैसे ही भूख-प्यास का भी अनुभव मस्तिष्क ही करता है। कण्ठकूप में संयम करके योगी मस्तिष्क से उसका सम्पर्क समाप्त कर लेता है, इस कारण भूख-प्यास का उसे अनुभव नहीं होता है। वैज्ञानिक इसी कार्य को 'एनेस्थेसिया' द्वारा करते हैं, जिसे योगी संयम द्वारा करता है और लम्बे समय तक बिना खाये-पिये जीवित रह सकता है तथा इस अवधि में इसका शरीर पर कोई विपरीत प्रभाव भी नहीं पड़ता है।

कूर्म नाड़ी में संयम का प्रभाव-

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ 31 ॥

सूत्रार्थ- कूर्मनाड़ी में संयम करने से स्थिरता आती है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'कपादध उरसि कूर्माकारा नाडी। तस्यां कृतसंयमः स्थिरपदं लभते। यथा-सर्पो गोधा वेति ॥'

कण्ठकूप के नीचे उर:स्थल में कछुए के आकार की नाड़ी है। उसमें संयम करने वाला योगी स्थिरता को प्राप्त करता है। जैसे कि साँप या गोधा स्थिर हो जाते हैं।

कण्ठकूप के नीचे छाती में कछुवे के आकार वाली एक नाड़ी है। उसमें संयम करने से स्थिरता आती है। योगी की अचल-जैसी स्थिति हो जाती है। उसे डिगाना कठिन हो जाता है। सर्प या गोह जैसे जहाँ जम जाते है, वहाँ से उन्हें हटाना या खींचकर बाहर लाना कठिन हो जाता है, वैसे ही योगी में भी जम जाने या स्थिर हो जाने की क्षमता आ जाती हैं। रावण की सभा में अंगद के पैर न उठने की बात भी इसी संयम की सिद्धिसूचक मानी जा सकती है।

मूर्द्धस्थ ज्योति में संयम का फल-

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ 32 ॥

सूत्रार्थ- मूर्द्धा ज्योति में संयम करने से सिद्ध पुरुषों के दर्शन होते हैं।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'शिरः कपालेऽन्तश्छिद्रं प्रभास्वरं ज्योतिः। तत्र संयमात् सिद्धानां द्यावापृथिव्योरन्तरालचारिणां दर्शनम् ॥'

शिर:स्थ कपाल के भीतर छिद्र है, वहाँ अत्यन्त प्रखर प्रकाश है। उसमें किये गये संयम से अन्तरिक्ष और पृथ्वी के मध्य अदृश्य रूप से विचरण करने वाले सिद्धों के दर्शन होते हैं।

सबीज समाधि को प्राप्त हुए सभी साधक सिद्ध कहलाते हैं । इन्हें निर्बीज समाधि प्राप्ति के लिए केवल एक जन्म की और आवश्यकता होती है। इन सिद्धों का जब तक जन्म नहीं होता है, तब तक ये अन्तरिक्ष और पृथ्वी के मध्य विचरण किया करते हैं। इन्हीं को थिओसोफी में 'मास्टर्स' कहते हैं। ये साधकों को उपयोगी निर्देश देकर साधना में सहायक बनते हैं। इस सूत्र में बताया गया है कि सिर के कपाल वाले भाग में एक छिद्र होता है, जिसे 'ब्रह्मरन्ध्र' कहते हैं। यहाँ आत्मा की प्रकाशमयी ज्योति का आलोक बिम्बित रहता है। इस ज्योति में संयम करने से उन सिद्ध महात्माओं के दर्शन होते हैं जो होते हुए भी प्रत्यक्ष जगत् में देखे नहीं जा सकते । इनके दर्शन से साधक का परमकल्याण होता है।

प्रातिभ ज्ञान-

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ 33 ॥

सूत्रार्थ- अथवा प्रातिभ ज्ञान से योगी सब कुछ जान लेता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'प्रातिभं नाम तारकम् । तद्विवेकजस्य ज्ञानस्य पूर्वरूपम् । यथोदये प्रभा भास्करस्य । तेन वा सर्वमेव जानाति योगी प्रातिभस्य ज्ञानस्योत्पत्ताविति ॥'

प्रातिभ ज्ञान ही तारक ज्ञान है। वह विवेकज ज्ञान का पूर्व रूप है। जैसे-सूर्योदय के पूर्वकाल की प्रभा। उसके द्वारा भी अर्थात् प्रातिभ ज्ञानोदय से भी योगी समग्र को जान लेता है।

प्रातिभ ज्ञान (intutional insight) वह प्रकाश अथवा ज्ञान है, जो बिना किसी बाहर के निमित्त के स्वयं अन्दर से प्राप्त हो । प्रातिभ ज्ञान तारक-ज्ञान या समुद्धारक ज्ञान है। यह विवेकजनित ज्ञान का पूर्वरूप है। सूर्योदय से पूर्व की प्रभा जैसे एक साथ तमाम अन्धकार में लुप्त पड़े पदार्थों का सहज ज्ञान करा देती है, और अलग-अलग स्थान पर अलग-अलग प्रकाश की आवश्यकता नहीं रह जाती है, वैसे ही प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होकर बिना संयम के प्रयोग के ही अनेक विषयों का सहज ज्ञान करा देता है। यह जन्मजात सिद्धि की भाँति है।

हृदय में संयम करने का फल-

हृदये चित्तसंवित् ॥ 34 ॥

सूत्रार्थ- हृदय में संयम करने से चित्त के स्वरूप का ज्ञान होता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, तत्र विज्ञानम्। तस्मिन् संयमाच्चित्तसंविद् ॥'

यह जो इस ब्रह्मपुर (हृदय) में स्वल्प कमल सदृश गृह (स्थान) है, उसमें चित्त रहता है। उसमें (किये गये) संयम से चित्त का साक्षात्कार होता है ।

शरीर के अन्दर स्थित 'हृदयाकाश' नामक स्थान है। वहाँ कमल सदृश छोटा-सा शरीर का अवयव है; वह चित्त का स्थान है। हृदय में संयम करने से वृत्तियों सहित चित्त का ज्ञान हो जाता है। हृदय में संयम करने से ऊर्जा का ज्ञान प्रवाह उसी ओर हो जाता है, जिससे हृदय-कमल जो सुप्त पड़ा है खिल जाता है। चित्त का सम्बन्ध हृदय से है, जिसके चौतन्य होने पर चित्त तथा उसकी वृत्तियों का ज्ञान हो जाता है।

तत्त्वज्ञान पर संयम का फल-

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ॥ 35 ॥

सूत्रार्थ- सत्त्व (प्रकृति या बुद्धि) और पुरुष (आत्मा) जो अत्यन्त भिन्न है, इन दोनों की प्रतीति का जो अभेद है, वही भोग है। उसमें परार्थ प्रतीति से भित्र जो स्वार्थ प्रतीति है, उसमें संयम करने से पुरुष (आत्मा) का ज्ञान होता है।

व्याख्या- बुद्धि और पुरुष-दोनों सर्वथा भिन्न हैं। बुद्धि जड़ पदार्थ है और जीवात्मा चेतन । बुद्धि का उपादानकारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति है, जब कि पुरुष का कोई उपादानकारण नहीं है। चिरसाहचर्य के कारण अविद्यावशात् पुरुष स्वयं को प्रकृति से मिश्रित अपने को उसी का एक अंग मानकर स्वयं को प्रकृति की उत्पाद्य बुद्धि से विलग नहीं मान पाता और उसकी मान्यताओं को सत्य मानकर सुख-दु:ख का अनुभव करता रहता है। इसी का नाम भोग है। इस भोग से भिन्न आत्म-विषयक ज्ञान में संयम करने से पुरुष को आत्मबोध होता है। सात्त्विक बुद्धि आत्मा से जुड़ कर उसे स्वरूप से परिचय कराती है। इसके पीछे पुरुष का ही चित्त अथवा बुद्धि पर प्रतिबिम्बित रूप है, जो उसे प्रकृति-पुरुष के भेद-ज्ञान को स्पष्ट रूप से जानने में सक्षम बनाता है; क्योंकि ज्ञाता पुरुष का वास्तविक स्वरूप चित्त द्वारा नहीं जाना सकता है। इसी तथ्य को बृहदारण्यकोपनिषद् में व्यक्त किया गया है- **'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (2.4.14)** अर्थात् सबको जानने वाले विज्ञानी को किससे जाना जा सकता है अर्थात् किसी से नहीं जाना जा सकता है। इस प्रकार निष्कर्षत: पुरुष ही पुरुष की मुक्ति का कारण है। ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान से जीवात्मा अपना विशिष्ट ज्ञान स्वयं करता है।

आत्मज्ञान पर संयम का प्रभाव-

ततः प्रातिभश्रावणवेदनाऽऽदर्शाऽऽस्वादवार्ता जायन्ते ॥ 36 ॥

सूत्रार्थ- पूर्वोक्त आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान में संयम करने से प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद एवं वार्ता नामक सिद्धियाँ प्राप्त होती है ।

व्याख्या- स्वार्थ-संयम अर्थात् आत्मज्ञान हेतु चित्त में संयम करने से पुरुष (आत्मा) के ज्ञान से पूर्व ये छः सिद्धियाँ साधक को प्राप्त होती हैं-

(1) प्रातिभ- इसकी चर्चा तैतीसवें सूत्र में है। इसे प्राप्त कर त्रिकालज्ञ साधक सूक्ष्म, ढँकी हुई और दूरस्थ वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान कर लेता है। (2) श्रावण- इससे दिव्य शब्द सुना जा सकता है। (3) वेदन- इससे दिव्य स्पर्श का अनुभव होता है। (4) आदर्श- इससे दिव्य रूप का दर्शन होता है। (5) आस्वाद-इससे दिव्य रस का अनुभव होता है। (6) वार्ता- इससे दिव्य गन्ध का अनुभव होता है।

सिद्धियाँ व्युत्थानकाल की चमत्कार किन्तु समाधि में बाधक-

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ 37 ॥

सूत्रार्थ- वे प्रातिभादि सिद्धियाँ समाधि-प्राप्ति में विघ्न रूप हैं, किन्तु व्युत्थानकाल में सिद्धियाँ हैं।

व्याख्या- व्यासभाष्य- 'ते प्रातिभादयः समाहितचित्तस्योत्पद्यमाना उपसर्गाः, तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वात् । व्युत्थितचित्तस्योत्पद्यमानाः सिद्धयः ॥'

वे उत्पन्न होने वाली प्रातिभादि सिद्धियाँ समाहित चित्त वाले योगी के लिए विघ्न हैं- पुरुष साक्षात्कार की विरोधी होने से। ये उत्पन्न होने वाली सिद्धियाँ व्युत्थित चित्त वाले व्यक्ति के लिए सिद्धियाँ हैं।

शरीर के विभिन्न केन्द्रों या चक्रों पर जहाँ-जहाँ ऊर्जा का संचार होता है, वहाँ उस केन्द्र से सम्बन्धित प्रतिभाएँ प्रकट होती रहती हैं, इसी को सिद्धि कहते हैं। ये सिद्धियाँ व्यक्ति को सामान्य से विशेष बना देती हैं। व्यक्ति सिद्ध कहा जाने लगता है। उसकी चामत्कारिक शक्तियाँ सिद्धि रूप में समाज के सामने आती हैं। सिद्ध-साधक को धन-मान सहज रूप से मिलने लगता है। इस मान-प्रतिष्ठा में साधक की साधना बाधित होती है। इसलिए आत्मज्ञान के इच्छुक साधक के लिए ये विघ्न रूप हैं। इनमें वैराग्य जाग्रत् करने से साधक असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ प्राप्त कर कैवल्य पदाधिकारी बन जाता है।

परकाया-प्रवेश-

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ 38 ॥

सूत्रार्थ- बन्धन के कारण (कर्मसंस्कार) की शिथिलता से और चित्त की गति का भलीभाँति ज्ञान होने से चित्त का दूसरे के शरीर में प्रवेश किया जाना सम्भव है।

व्याख्या- चित्त के बन्धन का कारण कर्म-संस्कार है; कर्मों का फल भोगने के लिए ही यह चित्त किसी एक शरीर में बँधकर रहने के लिए बाध्य हो जाता है। बन्धन के कारण कर्म-संस्कारों को जब साधक समाधि और साधना से शिथिल करके चित्त को स्वच्छ बना लेता है और इसके साथ ही जिन-जिन मार्गों से चित्त शरीर में गतिशील होता है, उन-उन मार्गों से और चित्त की गति से भी वह भलीभांति परिचित हो जाता है, तब उसमें यह सामर्थ्य आ जाती है कि वह अपने चित्त को शरीर से बाहर करके दूसरों के किसी भी (मृत या जीवित) शरीर में प्रवेश कर सकता है। चित्त का अनुगमन इन्द्रियाँ भी वैसे ही करती है, जैसे मधुमक्खियाँ अपने राजा का अनुगमन करती हैं।

'उदान' वायु पर विजय का परिणाम-

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ 39 ॥

सूत्रार्थ- उदान वायु पर संयम कर उस पर विजय पा लेने से जल, कीचड़ और काँटों आदि में फँसना नहीं होता और ऊर्ध्वगति की प्राप्ति होती है ।

व्याख्या- जीवन का आधार प्राणवायु है। क्रिया-भेद तथा स्थान-भेद के कारण इसके पाँच नाम हैं-

1. प्राण- यह प्रमुख वायु है। मुख तथा नासिका द्वारा नासिका मार्ग से गमन करने वाले इस वायु का प्रदेश नासिका से हृदय पर्यन्त है।

2. अपान- यह नीचे की ओर गमन करने वाला है। नाभि से लेकर पदतल तक इसका प्रदेश है। मल-मूत्र और गर्भ आदि इसी के वेग से नीचे उतरते हैं ।

3. समान- हृदय से लेकर नाभि-पर्यन्त इसका देश है, खान-पान के रस को समस्त शरीर में यथास्थान पहुँचाना इसका कार्य है। इसकी गति सम है।

4. व्यान- सारे शरीर में व्याप्त होकर गति करने वाला है।

5. उदान- यह ऊपर की ओर गमन करने वाला है। कण्ठ से सिर तक इसका संचार क्षेत्र है। मृत्यु के समय इसी के सहारे सूक्ष्म शरीर का गमन होता है।

योगी उक्त उदानवायु पर विजय प्राप्त कर लेता है, तब उसका शरीर धुनी हुई रुई के समान हल्का हो जाता है, अतः पानी और कीचड़ पर चलते हुए भी पैर अन्दर नहीं जाते, कण्टकादि शरीर में प्रविष्ट नहीं हो पाते हैं। इसके अतिरिक्त मरण-काल में उसके प्राण ब्रह्मरन्ध्र (मूर्द्धा के छिद्र) द्वारा निकलते हैं। इस कारण उस साधक की ऊर्ध्वगति होती है।

'समान' वायु पर विजय का परिणाम-

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ 40 ॥

सूत्रार्थ- संयम द्वारा 'समान' वायु को जीत लेने पर साधक का शरीर तेजस्वी बन जाता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'जितसमानस्तेजस उपध्मानं कृत्वा ज्वलति ॥'

समान को जीतने वाला योगी तेज को उद्दीप्त करके तेजस्वी होता है।

'समान' वायु का कार्य-क्षेत्र हृदय से नाभिपर्यन्त है। इसका पाचन और रस को सर्वशरीर में पहुँचाने से घनिष्ठ सम्बन्ध है। संयम द्वारा जब साधक इस वायु पर विजय पा लेता है, तब उसकी जठराग्नि तीव्र हो जाती है और अल्प भोजन में भी साधक स्वस्थ रह सकता है। बल एवं ओज की वृद्धि से उसका शरीर दीप्ति युक्त होकर तेजस्वी बन जाता है।

श्रोत्र और आकाश के सम्बन्ध में 'संयम' का फल-

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम् ॥ 41 ॥

सूत्रार्थ- श्रोत्र और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से श्रोत्रेन्द्रिय सूक्ष्म ध्वनियों को सुनने में सक्षम हो जाती है।

व्याख्या- शब्द को ग्रहण करने वाली श्रोत्रेन्द्रिय अहंकार से उत्पन्न हुई है और आकाश की उत्पत्ति भी अहंकार जनित शब्दतन्मात्रा से हुई है। इस प्रकार आकाश, शब्द और श्रोत्रेन्द्रिय-तीनों में एकता है। इस श्रोत्र और आकाश के सम्बन्ध को जब योगी संयम द्वारा प्रत्यक्ष कर लेता है, तब उसकी श्रोत्रेन्द्रिय में दिव्य शक्ति आ जाती है; फिर वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म शब्द को सुन सकता है, दूर-से-दूर देश के शब्द को भी सुन सकता है, क्योंकि आकाश विभु अर्थात् सर्वव्यापी है। इस कारण उस आकाश में होने वाला शब्द तत्काल सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। अतः जिसकी श्रोत्रेन्द्रिय अलौकिक हो जाती है, वह कहीं पर भी होने वाले शब्द को सुन सकता है। संयम द्वारा वह अलौकिकता आ जाती है। दूरश्रवण और दूरदर्शन की वैज्ञानिकता इन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित है।

शरीर और आकाश के सम्बन्धों में संयम करने का फल-

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूल-समापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ 42 ॥

सूत्रार्थ- शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से और धुनी हुई रुई-जैसी हलकी वस्तु में संयम करने से साधक को आकाश-गमन की सिद्धि मिल जाती है।

व्याख्या- इस सूत्र में शरीर को अत्यन्त सूक्ष्म और हल्का करके भारहीनता की स्थिति में लाकर आकाशगमन-सिद्धि की चर्चा है। इसके लिए दो उपाय बताये गये हैं-

1. शरीर और आकाश के सम्बन्ध पर संयम करना।

2. धुनी हुई रुई जैसी हल्की वस्तु पर संयम करना। ध्यान और दृढ़ संकल्प-शक्ति और तदनुसार अखण्ड अभ्यास में अनन्त शक्ति है। सम्पूर्ण का आशय इस प्रकार समझा जा सकता है- पदार्थ स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से स्थूल में परिणत हो सकते हैं, यह

वैज्ञानिक सत्य है। इसी सिद्धान्त से शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करके, अथवा रुई पर संयम करके योगी शरीर को भारहीन कर देता है, जिससे वह गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से मुक्त होकर आकाशमार्ग से गमन कर सकता है। वह धुनी हुई रुई सदृश किसी वस्तु में संयम करके अपने शरीर को सूक्ष्म और भारहीन बनाकर वायु में उड़ सकता है। संकल्पशक्ति की प्रबलता प्रयोगशाला का सिद्ध सत्य है। जब अध्यात्म क्षेत्र में उतरकर साधना द्वारा सिद्धि प्राप्त की जाये तो असम्भव प्रतीत होने वाली बातें भी सम्भव हो सकती हैं। मन, मस्तिष्क की क्षमता और प्रकृति के गूढ़ रहस्य की अपार जल राशि अभी सामने लहरा रही है, अवगाहन की आवश्यकता है। धैर्यपूर्वक दीर्घ अभ्यास सिद्धियों के हेतु हैं।

महाविदेहा स्थिति-

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ 43 ॥

सूत्रार्थ- शरीर के बाहर अकल्पित वृत्ति या स्थिति का नाम 'महाविदेहा' है। उससे ज्ञान पर पड़े आवरण का नाश होता है।

व्याख्या-मन को शरीर से बाहर धारण करना 'विदेहावृत्ति' या 'विदेहाधारणा' कहलाती है। वह जब मन के शरीर में रहते हुए ही केवल भावना मात्र से होती है, तब 'कल्पिता' और जब शरीर से सम्बन्ध छोड़कर बाहर निकले हुए मन की बाह्य स्थिति हो जाती है, तब वही 'अकल्पिता' धारणा होती है। 'कल्पिता' धारणा के अभ्यास से 'अकल्पिता' धारणा सिद्ध होती है। इसी को 'महाविद.ेहा' कहते हैं। साधक पहले अपने को इस शरीर से अलग किसी अन्य स्थान पर स्थिर होने की कल्पना करता है जैसे वह घर पर न होकर जहाँ बैठा या लेटा है, वहाँ से दूर कहीं नदी के तट पर खड़ा है अथवा बाग में या बाजार में स्थित है। मानों उसका अपने शरीर से कोई सम्पर्क ही न हो। धीरे-धीरे यह अभ्यास परिपक्व होकर साधक को अपने देहभाव से या देहबन्धन से मुक्त देखने की स्थिति में कर देता है। इस प्रकार अपने शरीर से अपने को अलग करके देखने से शरीर का मोह या उसके प्रति लगाव का बन्धन शिथिल होने लगता है। मैं शरीर से भिन्न हूँ, इस प्रकार का वैराग्य भाव आता है। 'यह शरीर मेरा नहीं हैं', इस प्रकार की मनःस्थिति 'महाविदेहा' है। इस प्रयोग की सिद्धि से अज्ञान का परदा हट जाता है और ज्ञान के प्रकाश का प्रसार हो जाता है।

यदि कोई साधक 'योगनिद्रा' का अभ्यास करता है, तो उसे आरम्भ में यह अभ्यास करना चाहिए । इससे मन की चंचलता हटकर ध्यान में स्थिरता आती है।

भूतजय नामक सिद्धि की प्राप्ति का उपाय-

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥ 44 ॥

सूत्रार्थ- पृथिवी आदि पंचमहाभूतों के स्थूल, सूक्ष्म, स्वरूप, अन्वय, अर्थवत्त्व-इन पाँच प्रकार की अवस्थाओं में 'संयम' करने से योगी को पाँचों भूतों पर विजय प्राप्त हो जाती है।

व्याख्या-इस सूत्र में पृथिव्यादि पाँचों भूतों की विविध अवस्थाओं पर किये गये संयम से प्राप्त होने वाली 'भूतजय' नाम की सिद्धि का कथन है। सृष्टि का निर्माण पंचमहाभूतों- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से हुआ है। इनमें से प्रत्येक की पाँच अवस्थाएँ होती है, जो इस प्रकार है-

(1) स्थूलावस्था - पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों का उनका अपना विशिष्ट आकार-प्रकार और इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नामक पाँचों विषय इनकी स्थूल अवस्था है।

(2) स्वरूपावस्था- इन पंचमहाभूतों के जो लक्षण हैं, वे ही इनके स्वरूप हैं। जैसे-मिट्टी का ठोसपन या कठोरता, जल का गीलापन या तरलता, अग्नि की उष्णता या प्रकाश। वायु में गति या कम्पन तथा आकाश में अवकाश ।

(3) सूक्ष्मावस्था- इन भूतों की तीसरी अवस्था सूक्ष्मावस्था है। यह स्थूल भूतों की कारण अवस्था है, जिसे 'तन्मात्रा' और 'सूक्ष्म महाभूत' भी कहते हैं। गन्ध-तन्मात्रा से पृथ्वी, रसतन्मात्रा से जल, रूपतन्मात्रा से अग्नि, स्पर्शतन्मात्रा से वायु और शब्दतन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति है।

(4) अन्वय-अवस्था- 'सूक्ष्मावस्था' से भी सूक्ष्म अन्वय-अवस्था है । सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण जो अपने स्वभाव क्रमशः प्रकाश अथवा ज्ञान, क्रिया एवं हलचल तथा स्थिति एवं जड़ता के साथ प्रकृति में सर्वत्र घुले-मिले हैं, वही घालमेल अन्वय-अवस्था है। यही सृष्टि में गुण, प्रकृतिगत वैचित्र्य का कारण है।

(5) अर्थवत्त्व अवस्था- इस समस्त प्रकृति का प्रयोजन जीवात्मा को भोग प्रदान करना तथा वैराग्य प्राप्त होने पर मुक्ति प्रदान करना है। यही इसका अर्थवत्त्व है। इन पाँचों भूतों की प्रत्येक अवस्था के क्रम से सम्पूर्ण अवस्थाओं में भलीभाँति संयम करके जब योगी इनको प्रत्यक्ष कर लेता है, तब उसका समग्र भूतों पर अधिकार हो जाता है।

अणिमादिक सिद्धियाँ-

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ 45 ॥

सूत्रार्थ- पूर्वकथित पंचभूतों पर विजय प्राप्त कर लेने से अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व- ये आठ

सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं तथा कायसम्पत् की प्राप्ति होती है और तथाकथित भूतों के धर्मों से बाधा न होना, ये तीनों सिद्ध होते हैं।

व्याख्या- (1) अणिमा- व्यास भाष्य- 'तत्राणिमा भवत्यणुः ।' - उनमें 'अणिमा' नाम की सिद्धि वह है, जिसमें योगी अणु परिमाण वाला अत्यन्त छोटा हो जाता है।

(2) लघिमा- 'लघिमा लघुर्भवति ।' - 'लघिमा' नाम की सिद्धि वह है, जिसमें योगी संकल्प मात्र से अत्यन्त हल्का हो जाता है।

(3) महिमा- 'महिमा महान्भवति ।' - 'महिमा' वह सिद्धि है, जिससे योगी अत्यन्त विशाल हो जाता है।

(4) प्राप्ति- 'प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम् ।' - 'प्राप्ति' वह सिद्धि है, जिसमें योगी अंगुलि के अग्रभाग से ही चन्द्रमा को छू लेता है।

(5) प्राकाम्य - 'प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । भूमावुन्मज्जति निमज्जति यथोदके ।' - 'प्राकाम्य' का अर्थ है इच्छाओं की अबाध पूर्ति, जिससे योगी भूमि में उसी प्रकार तैरता-डूबता उतराता है, जिस प्रकार पानी में तैरता-डूबता है।

(6) वशित्व- 'वशित्वं भूतभौतिकेषु वशी भवत्यवश्यश्चान्येषाम् ।' - 'वशित्व' सिद्धि में भौतिक पदार्थों को वश में रखना और दूसरों के वश में न होना है।

(7) ईशित्व- 'ईशितृत्वं तेषां प्रभवाप्ययव्यूहानामीष्टे ।' - 'ईशित्व' सिद्धि में भूत एवं भौतिक पदार्थों के उत्पत्ति, प्रलय तथा स्थिति के क्रम पर स्वामित्व की क्षमता का आना सम्भव होता है।

(8) यत्रकामावसायित्व- 'यत्रकामावसायित्वं सत्यसङ्कल्पता यथा सत्यसङ्कल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम्।' 'यत्रकामावसायित्व' नामक सिद्धि सत्य-संकल्पता कहलाती है।

पंचभूतों पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद साधक को मिलने वाली सिद्धियों का यहाँ वर्णन है। उसे अधोलिखित सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं- अणु के समान रूप धारण करने की क्षमता आ जाती है, अस्तु इस सिद्धि को 'अणिमा' कहते हैं। शरीर को तूल सदृश हल्का बनाने की क्षमता आ जाती है, जिससे साधक ऊर्ध्व-गमन कर सकता है। इस सिद्धि को 'लघिमा' कहते हैं। शरीर को इच्छानुसार विशाल कर लेना 'महिमा' सिद्धि है। शरीर को इच्छानुसार भारी कर लेना 'गरिमा' सिद्धि है। जिस भौतिक पदार्थ को चाहे, उसे संकल्पमात्र से प्राप्त कर लेना 'प्राप्ति' नामक सिद्धि है। विना रुकावट भौतिक पदार्थ सम्बन्धी इच्छा की पूर्ति हो जाना 'प्राकाम्य' सिद्धि है। पाँचों भूतों एवं तज्जन्य पदार्थों का वश में हो जाना 'वशित्व' नामक सिद्धि है। भौतिक पदार्थों को नाना रूपों में उत्पन्न करने की और उन पर शासन करने की सामर्थ्य का आना 'ईशित्व' नामक सिद्धि कहलाती है। भाष्यकार ने आठ सिद्धियों की इस सारणी में 'गरिमा' को नहीं गिना है। गरिमा के स्थान पर 'यत्रकामावसायित्व' नामक आठवीं सिद्धि को स्वीकार किया है।

इन सिद्धियों के अलावा 'कायसम्पत्' नामक सिद्धि भी मिलती, जिसका परिचय अगले सूत्र में दिया जायेगा। पंचमहाभूतों के धर्म सिद्धयोगी के मार्ग में बाधा नहीं डाल सकते अर्थात् वह ठोस भूमि के भीतर देख सकता है या उसमें प्रवेश कर सकता है। उसके शरीर पर सदी-गर्मी का प्रभाव नहीं पड़ता है। योगी में प्राकृतिक व्यवस्था में उलट-पुलट की शक्ति आ जाती है, किन्तु वह आत्महित और भूतहित में ऐसा नहीं करता है। व्यवस्था को ईश्वर का अनुशासन मानकर उनका पालन करता है।

'कायसम्पत्' सिद्धि का प्रभाव भौतिक शरीर की पुष्टि और तेजस्विता-

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥46॥

सूत्रार्थ- रूप, लावण्य, बल और वज्रवत् शारीरिक पुष्टि- ये शरीर की सम्पदाएँ हैं।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'दर्शनीयः, कान्तिमान्, अतिशयबलो वज्रसंहननोति ।'

योगी दर्शनीय, कान्तिमान्, अत्यन्त बलशाली और वन के समान सुदृढ़ अवयव-विन्यास युक्त हो जाता है।

इस सूत्र में 'कायसम्पत्' का स्वरूप बतलाया गया है। योगी का शरीर और मन जब निर्मल हो जाते हैं, इस स्थिति में उसका रूप लावण्य-युक्त बना रहता है। शरीर में बल, अंगों में वज्रवत् दृढ़ता तथा अलौकिक तेज का सन्निवेश होता है। उसकी आयु स्थिर हो जाती है। अवस्था के उतार का उस पर प्रभाव नहीं पड़ता है। कहा भी गया है-

'न तस्य व्याधिर्न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्' ॥

इन्द्रियों की पाँच अवस्थाओं में संयम का फल-

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ 47 ॥

सूत्रार्थ- ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व-इन पाँचों अवस्थाओं में संयम करने से मन सहित इन्द्रियों पर अधिकार हो जाता है ।

व्याख्या- जिस प्रकार पंचमहाभूतों की पाँच अवस्थाएँ है, वैसे ही इन दस इन्द्रियों तथा मन की भी पाँच-पाँच अवस्थाएँ है। पाँचों अवस्थाओं में क्रम से संयम करने से साधक इन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेता है। इनके पाँच स्वरूप इस प्रकार हैं-

(1) ग्रहण- इन्द्रियों तथा मन की यह सबसे स्थूल अवस्था है। इस अवस्था में ये इन्द्रियाँ अपने सम्बन्धित विषयों को ग्रहण कर

कार्यरत रहती हैं। देखना, सुनना, चखना, सूँघना, संकल्प-विकल्प आदि विषयों में क्रियाशीलता इनकी 'ग्रहण' अवस्था है।
(2) स्वरूप- सामान्य रूप से इन्द्रियों का प्रकाशकत्व, जैसे नेत्रों का नेत्रत्व आदि स्वरूप कहलाता है। मन और इन्द्रियों का स्वाभ. ाविक स्वरूप जो स्वकार्य में विद्यमान रहता है और लक्षण (संकेत) से जानने में आता है, यह उनकी स्वरूप अवस्था है।
(3) अस्मिता- यह मन तथा इन्द्रियों की सूक्ष्मावस्था है। इसी से मन सहित दसों इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है।
(4) अन्वय- यह इनकी चौथी अवस्था है, जो अस्मिता से भी सूक्ष्म है। मन सहित इन्द्रियों में जो सत्त्वगुण का प्रकाश या ज्ञान, रजोगुण की क्रियाशीलता और तमोगुण की स्थिति या जड़ता व्याप्त है, वह इनकी 'अन्वय' अवस्था है।
(5) अर्थवत्त्व- अर्थवत्त्व का अर्थ प्रयोजन है। पुरुष को भोग प्रदान करना और तत्त्वज्ञान होने पर मुक्ति प्रदान करना इनका प्रयोजन है। यही इनका 'अर्थवत्त्व' है। मन और इन्द्रियों वासनाग्रस्त होकर जीव के भोग का साधन बनती हैं। ये ही वैराग्य जगने पर तत्त्व ज्ञान की ओर उन्मुख कर पुरुष को मुक्ति का पथ भी दिखाती है।

इन्द्रिय-जय से मिलने वाली सिद्धियाँ-

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ 48 ॥

सूत्रार्थ- पूर्वोक्त इन्द्रिय जय से साधक मन के समान वेगधारी हो जाता है। शरीर के बिना भी विषयों का अनुभव कर सकता है और उसको प्रकृति पर विजय की सिद्धि मिल जाती है।
व्याख्या- काया के सर्वोत्तम गतिलाभ को 'मनोजवित्व' कहते हैं। शरीर निरपेक्ष इन्द्रियों का इच्छित देश, काल तथा विषयों में व्यापार या चेष्टा करना ही 'विकरण भाव' नाम की सिद्धि है। सम्पूर्ण प्रकृति और उसकी विकृतियों पर स्वामित्व-प्राप्ति ही 'प्रध ानजय' नाम की सिद्धि है।

जब साधक मन सहित समस्त इन्द्रियों की पाँचों अवस्थाओं पर विजय प्राप्त कर लेता है, तब उसे तीन प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती है, जो इस प्रकार हैं-
(1) मनोजवित्व- व्यास भाष्य- 'कायस्यानुत्तमो गतिलाभो मनोजवित्वम् ।' स्थूल शरीर और इन्द्रियों के सहित मनोवेग से इच्छित स्थान पर पहुँच जाना 'मनोजवित्व' सिद्धि है। यह ग्रहण-अवस्था में संयम का फल है।
(2) विकरण भाव- विदेहानामिन्द्रियाणामभि प्रेतदेशकालविषयापेक्षो वृत्तिलाभो विकरणभावः। 'स्थूल शरीर के बिना ही दूर देश में स्थित वस्तुओं को प्रत्यक्ष कर लेने की शक्ति को 'विकरण भाव' कहते हैं। जब योगी की महाविदेहा धारणा **'बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः।' (योग.-3.43)** सिद्ध हो जाती है, उस समय भी ऐसी ही शक्ति जाग्रत होती है। यह स्वरूपावस्था में संयम का फल है।
(3) प्रधान जय- 'सर्वप्रकृतिविकारवशित्वं प्रधानजय इति ।' कार्य और कारण रूप में स्थित प्रकृति के सम्पूर्ण भेदों पर पूरा अधिकार हो जाना 'प्रधान जय' है। यह अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व-अवस्था में संयम का फल है। यह संयम ही प्रकृतिलय कहलाता है।

'एतास्तिस्त्रः सिद्धयो मधुप्रतीका उच्यन्ते । एताश्च करणपञ्चकरूपजयादधिगम्यन्ते।'

ये तीनों प्रकार की सिद्धियाँ 'मधुप्रतीका' संज्ञक सिद्धि कही जाती हैं। इन सिद्धियों का प्रादुर्भाव पाँचों इन्द्रियों के रूपों के जय से हो पाता है।

प्रकृति-पुरुष के भेद के ज्ञान का फल-

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्च ॥ 49 ॥

सूत्रार्थ- चित्त और पुरुष के भेद को जानने वाले साधक को समस्त भावों का स्वामित्व और सर्वज्ञता प्राप्त होती है।
व्याख्या- व्यास भाष्य- 'निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकार-संज्ञायां वर्तमानस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वम् ।'

अर्थात् रजोगुण और तमोगुण जन्य मलों से सर्वथा शून्य हो गये सत्त्वमय चित्त के उत्कृष्ट नैर्मल्य हो जाने पर परमवशीकारसंज्ञक विरक्त अवस्था में विद्यमान और सत्त्व और पुरुष के भिन्नताख्याति मात्र में प्रतिष्ठित चित्त वाले योगी को सम्पूर्ण वस्तुओ पर आधि पत्य प्राप्त हो ।

'सर्वज्ञातृत्वं सर्वात्मनां गुणानां शान्तो-दिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपारूढं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थः ।'

अर्थात् उस योगी को सर्वज्ञता की सिद्धि होती है । भूत, भविष्य और वर्तमान धर्मो के रूप में स्थित सभी रूपों वाले गुणों का बिना क्रम के अर्थात् एक साथ विवेक जनित ज्ञान होता है।

चित्त जब रजोगुण और तमोगुण जन्य मलों के धुल जाने पर निर्मल हो जाता है और उसमें मात्र सत्त्वगुण के ही संस्कार शेष रह जाते हैं, तब उस समय प्रकृति और पुरुष की भिन्नता का अनुभव करने वाली शुद्ध बुद्धि की ही सत्ता रह जाती है, इसी को

विवेक ज्ञान कहते हैं। उत्कृष्ट वैराग्य की प्राप्ति होने पर साधक को 'सर्वभावाधिष्ठातृत्व' और 'सर्वज्ञातृत्व' सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इस स्थिति में पहुँचे साधक को प्रकृति के सभी भावों पर स्वामित्व प्राप्त हो जाता है, और उसे भूत, वर्तमान और भविष्य विषयक सर्वज्ञता आ जाती है अर्थात् वह सर्वज्ञ हो जाता है।

साधना के अन्तिम लक्ष्य कैवल्य की प्राप्ति-

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ 50 ॥

सूत्रार्थ- 'विवेकख्याति' से उत्पन्न 'विशोका' नामक सिद्धि से भी वैराग्य हो जाने पर अविद्यादि क्लेश-बीजों के दग्ध हो जाने पर कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

व्याख्या- जब क्लेशों और कर्माशय के क्षीण होने पर इस योगी को ऐसा ज्ञान होता है कि यह विवेकख्याति सत्त्व का धर्म है और बुद्धि सत्त्व भी हेय पक्ष में डाल दिया गया है। पुरुष अपरिणामी और शुद्ध है एवं सत्त्वगुण से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार उससे विरक्त होने वाले इस योगी के क्लेशों के जो बीज हैं, वे धान के दग्ध बीजों के सदृश अंकुरण में सर्वथा अक्षम हो जाते हैं, वे मन के साथ ही लीन हो जाते हैं। उनके लीन होने पर पुरुष को पुनः त्रिविध ताप का अनुभव नहीं करना पड़ता है।

व्यास भाष्य- 'तदेतेषां गुणानां मनसि कर्मक्लेशविपाकस्वरूपेणाभिव्यक्तानां चरितार्थानां प्रतिप्रसवे पुरुषस्यात्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यम् । तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति ।'

उस समय मन में स्थित, क्लेश कर्म-विपाक स्वरूप में परिणत गुणसमूह चरितार्थता के कारण प्रकृति में लीन होने से पुरुष का आत्यन्तिक गुण-वियोग हो जाता है, यही गुण-वियुक्ति ही 'कैवल्य' है। इस स्थिति में स्वरूप में प्रतिष्ठित पुरुष चितिशक्ति रूप ही होता है।

जब साधक की सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध हो जाती है तो उसे विवेकख्याति से उत्पन्न शविशोकाश नाम की सिद्धि प्राप्त होती है। उस समय साधक का हृदय शुद्ध सत्त्वापूरित रहता है और सारी सिद्धियाँ उसके अधीन हुई रहती हैं। उसे प्रकृति-पुरुष विषयक भिन्नता का पूर्ण बोध हो चुका होता है। कैवल्याभिलाषी साधक सिद्धियों के आकर्षण में नहीं उलझता है, वह साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ता है और विवेकख्याति को सत्त्वगुण का धर्म समझ कर उसे भी त्याग कर परवैराग्य की उच्चतम स्थिति में पहुँचकर गुणातीत हो जाता है। उसके समस्त संस्कार दग्धबीज होकर अपनी अंकुरण क्षमता से शून्य हो जाते हैं। उसका चित्त अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाता है। यह पुरुष का गुणों के साथ आत्यन्तिक वियोग है। यही साधना की परम उपलब्धि श्कैवल्यश है, जो निर्बीज समाधि का परिणाम है, जिसके आगे कुछ और पाना शेष नहीं रह जाता है ।

सिद्धि में सावधानी की आवश्यकता-

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गाद् ॥ 51 ॥

सूत्रार्थ- उच्चस्थानों-लोकपालों और देवताओं अथवा उच्चस्थानीय प्रतिष्ठित व्यक्तियों, अधिकारियों आदि के द्वारा निमन्त्रित किये जाने पर आसक्ति और अभिमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से योग-मार्ग में अनिष्ट होकर पतन हो सकता है।

व्याख्या- जब-जब साधक साधना में आगे बढ़ने लगता है, तब विघ्नरूप में विषयों के प्रलोभन और सिद्धि से प्रांप्त अहंकार उसे डिगा सकता है, ऐसी स्थिति में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है, न तो प्रलोभनों में पड़कर ध्येय-च्युत होना चाहिए और न प्रलोभनों से अडिग रहने पर तद्विषयक अभिमान ही करना चाहिए, क्योंकि ये दोनों साधना में अनिष्ट बनकर साधक का पतन कर देते हैं।

स्मरणीय बिंदु -

1.संयम का प्रतिफल -

- धारणा, ध्यान और समाधि का एकत्रीकरण संयम कहलाता है।
- संयम के सिद्ध होने पर बुद्धि में ज्ञान का आलोक या प्रज्ञा प्रकाश फैलता है।
- इसी संयम को विभिन्न वस्तुओं या तत्वों पर लगाने से विभूतियाँ या सिद्धियाँ प्रकट होती हैं।

2.प्रमुख विभूतियों का स्वरूप - अलौकिक शक्तियाँ -

- **भूत-भविष्य का ज्ञानः** शब्द, अर्थ और प्रत्यय के भेद पर संयम करने से मिलता है।
- **पूर्वजन्मों का साक्षात्कारः** अपने संस्कारों पर संयम करने से पूर्वजाति का ज्ञान होता है।
- **ब्रह्मांडीय ज्ञानः** सूर्य पर संयम से भुवन ज्ञान और चन्द्रमा पर संयम से ताराव्यूह का ज्ञान होता है।

3. कैवल्य की प्राप्ति में बाधक -

- ये विभूतियाँ व्युत्थान काल - सांसारिक अवस्था में सिद्धियाँ प्रतीत होती हैं।
- समाधि की उच्च अवस्था कैवल्य की प्राप्ति में ये बाधक होती हैं।
- योगी को इन सिद्धियों में आसक्ति का त्याग करके परम लक्ष्य मोक्ष की ओर बढ़ना चाहिए।

15 अंक के प्रश्न –

1. महर्षि पतंजलि योगदर्शन के अनुसार विभूति या सिद्धि से क्या तात्पर्य है? विभूतिपाद के आलोक में किन्हीं पाँच मुख्य विभूतियों के नाम, उनके संयम की विधि और प्राप्त होने वाले फलों की सविस्तार समीक्षा कीजिए।

2: ''ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय:'' सूत्र की विस्तृत दार्शनिक व्याख्या कीजिए। महर्षि पतंजलि ने इन सिद्धियों को समाधि मार्ग में विघ्न या उपसर्ग और व्युत्थान काल में सिद्धि क्यों माना है?

3: कायसंपत् विभूति से क्या अभिप्राय है? ''रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्'' सूत्र के आधार पर शरीर की चार मुख्य योग्यताओं और उन्हें प्राप्त करने के संयम की विवेचना कीजिए।

5 अंक के प्रश्न –

1. प्रातिभ ज्ञान नामक विभूति क्या है? इस ज्ञान के उदित होने पर योगी को क्या सामर्थ्य प्राप्त होता है?
2. ध्रुव तारे और चंद्रमा पर संयम करने से योगी को क्रमश: किन विभूतियों की प्राप्ति होती है? संक्षेप में लिखिए।
3. आकाश-गमन की सिद्धि प्राप्त करने के लिए महर्षि पतंजलि ने किस विषय पर संयम करने का निर्देश दिया है?
4. परचित्तज्ञान नामक विभूति किस प्रकार सिद्ध होती है? इसकी सीमा क्या है?

बहुविकल्पीय प्रश्न –

1. ''ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने .....।'' रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए सही पद चुनिए जो सिद्धियों की स्थिति बताता है:

(क) विभूतय:

(ख) सिद्धय:

(ग) अंतराया:

(घ) क्लेशा:

2. महर्षि पतंजलि के अनुसार हृदय पर संयम करने से योगी को निम्नलिखित में से किसका ज्ञान होता है?

(क) भुवन ज्ञान

(ख) तारा ज्ञान

(ग) चित्त का ज्ञान (चित्तसंवित्)

(घ) पूर्वजाति ज्ञान

3. शरीर के रूप, लावण्य या चमक, बल और वज्र जैसी सुदृढ़ता की प्राप्ति को योगदर्शन में क्या कहा गया है?

(क) इन्द्रियजय

(ख) प्रधानजय

(ग) कायसंपत्

(घ) प्रातिभ ज्ञान

4. हाथी के बल पर या किसी विशिष्ट बलवान जीव पर संयम करने से योगी को क्या फल मिलता है?

(क) वह अदृश्य हो जाता है

(ख) उसमें हाथी के समान बल आ जाता है

(ग) वह हवा में उड़ सकता है

(घ) उसे भूख-प्यास नहीं लगती

5. महर्षि पतंजलि के अनुसार, सिद्धियों या विभूतियों के प्रति भी आसक्ति का त्याग कर देने पर अंतत: किसकी प्राप्ति होती है?

(क) सर्वज्ञत्व की

(ख) कैवल्य की

(ग) देवलोक की

(घ) नवीन जन्म की

इकाई-4.5 क्षण और उसके क्रम में संयम का फल विवेकज ज्ञान

उद्देश्य -

• **सर्वोच्च और अंतिम ज्ञान को परिभाषित करना:** साधक को यह समझाना कि विवेक ज्ञान वह तारक ज्ञान है, जो बिना किसी क्रम के, एक ही क्षण में संपूर्ण संसार के भूत, भविष्य और वर्तमान का साक्षात् करा देता है।

• **प्रकृति और पुरुष का वास्तविक भेद स्पष्ट करना:** बुद्धि सत्व और पुरुष की अत्यंत सूक्ष्म भिन्नता को उजागर करना, जिससे यह बोध हो सके कि बुद्धि कितनी भी शुद्ध हो, वह आत्मा नहीं है।

• **अविद्या के अंतिम अंश को समाप्त करना:** साधक के अंत:करण से दृश्य जगत के प्रति बची हुई सूक्ष्म आसक्ति को भी पूरी तरह मिटाकर परम वैराग्य की आधारशिला रखना।

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ 52 ॥

सूत्रार्थ- क्षण और उसके क्रम में संयम करने से विवेकज ज्ञान उत्पन्न होता है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'यथापकर्षपर्यन्तं द्रव्यं परमाणुरेवं परमापकर्षपर्यन्तः कालः क्षणः । यावता वा समयेन चलितः परमाणुः पूर्वदेशं जह्यात् उत्तरदेशमुपसम्पद्येत स कालः क्षणः । तत्प्रवाहाविच्छेदस्तु क्रमः ।'

जिस प्रकार छोटे-से-छोटा द्रव्य परमाणु कहा जाता है, उसी प्रकार छोट-से-छोटा काल का अंश क्षण कहलाता है अथवा जितने समय में एक परमाणु चल कर पहले वाले स्थान को छोड़े और बाद वाले स्थान पर पहुँचे, वह समय 'क्षण' है। उन क्षणों का अविच्छिन्न प्रवाह 'क्रम' कहा जाता है।

जैसे द्रव्य की सूक्ष्मतम इकाई 'परमाणु' है, वैसे ही काल की सूक्ष्मतम इकाई 'क्षण' है। उसका एक के बाद दूसरे का जो प्रकट होने का नैरन्तर्य (सिलसिला) है, उसी का नाम 'क्रम' है। यही 'क्रम' परिवर्तन का मूल है। दिन-रात, वर्ष, कल्प इसी 'क्रम' का परिणाम है। साधक जब काल-क्रम में संयम करता है, तब उसे विदित होता है कि प्रकृति में निरन्तर परिवर्तन चल रहा है और पुरुषतत्त्व उस परिवर्तन से अछूता स्थिर है। इस 'क्रम' में संयम के फलस्वरूप उसे जो तत्त्वज्ञान होता है, वह 'विवेकज ज्ञान' है। इस विवेकजन्य ज्ञान से प्रकृति-पुरुष में अन्तर दिखाने वाला आत्मज्ञान उत्पन्न होता है, जो निर्विकल्प समाधि और कैवल्य-प्राप्ति तक साधक को पहुँचाने का साधन बनता है।

सूक्ष्म रहस्य-ज्ञान में 'विवेकज-ज्ञान' ही सक्षम है-

जातिलक्षणदेशैरन्यताऽनवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ 53 ॥

सूत्रार्थ- जाति, लक्षण, देश से समान प्रतीत होने वाली दो वस्तुओं में भेद का ज्ञान न होने से उस विवेकज ज्ञान के द्वारा उन दोनों वस्तुओं में क्या विशेष अन्तर है, यह ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या- पदार्थों के स्वरूप का भेद बताने वाले तीन कारण हैं- जाति, लक्षण और देश ।

(1) जाति- एक ही स्थान में गाय और घोड़ी खड़ी हो तो उनका भेदक जाति होगा। आकार, रूप, रंग कुछ समान वैशिष्ट्य यह पहचान कर देंगे कि यह गाय है और यह घोड़ी है।

(2) लक्षण- एक ही जाति की कई गायें हो तो उनका भिन्नत्व ज्ञान उनके कुछ लक्षणों से होगा। जैसे- काली गाय, लाल गाय, चितकबरी गाय ।

(3) देश- पूर्वी, पश्चिमी, भारतीय, जापानी, चीनी आदि देशस्थानगत पहचान के रूप में जाना जाता है।

सामान्यतया उक्त तीनों भेदों का ज्ञान कथित आधार पर कर लिया जाता है, किन्तु सूक्ष्म की परख इनमें न हो सकेगी। जिन वस्तुओं का ज्ञान उक्त तीनों माध्यमों से नहीं हो पाता, उनके भिन्नत्व ज्ञान के लिए 'विवेकजज्ञान' की आवश्यकता है। जैसे प्रकृति-पुरुष के भेद का ज्ञान विवेकजज्ञान से ही सम्भव है।

साधना की चरम उपलब्धि विवेकज ज्ञान-

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ 54 ॥

सूत्रार्थ- वह विवेकजनित ज्ञान संसार-सागर से पार लगाने वाला । सबको प्रकार से जानने वाला, बिना क्रम के एक साथ जानने वाला है।

व्याख्या- 'तारक' शब्द का अर्थ यह है कि वह ज्ञान जो योगी की अपनी प्रतिभा से उत्पन्न हो; किसी के उपदेश, शिक्षण-प्रशिक्षण ाादि से उत्पन्न न हुआ हो। 'सर्व विषय' का अर्थ है कि कोई पदार्थ इसका अविषय नहीं होता है अर्थात् सभी पदार्थ इसके विषय

होते हैं 'सर्वथा विषय' का अर्थ है कि अतीत, अनागत, वर्तमान सबको सम्पूर्ण रीति से जानता है। 'अक्रम' का तात्पर्य यह है कि एक ही क्षण में उपस्थित सभी वस्तुओं को पूरी तौर से ग्रहण कर लेता है। यह 'विवेकज ज्ञान' सर्वथा परिपूर्ण होता है।

व्यास भाष्य- 'एतद्विवेकजं ज्ञानं परिपूर्णम् अस्यैवांशो योगप्रदीपो मधुमतीं भूमिमुपादाय यावदस्य परिसमाप्तिरिति ।'

'मधुमती भूमिका' या ऋतम्भरा प्रज्ञावस्था से लेकर जहाँ तक इस योगप्रदीप की परिसमाप्ति है, वहाँ तक रहने वाला वह योगप्रदीप इसी 'विवेकज ज्ञान' अंशस्वरूप है।

पूर्वोक्त विवेकज ज्ञान की विशेषता बतायी जा रही है। विवेकज ज्ञान चार लक्षणों वाला है-

(1) तारकम्- 'तारकमिति स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकमित्यर्थः ।' बिना बाह्य निमित्त के अपनी प्रभा से स्वयं उत्पन्न होने वाला है। यह ज्ञान 'परवैराग्य' को उत्पन्न करके कैवल्य-प्रदायक होने से संसार-सागर से पार लगाने वाला है।

(2) सर्वविषयम्- 'सर्वविषयं नास्य किञ्चिदविषयीभूतमित्यर्थः ।' महदादि पर्यन्त समस्त तत्त्वों को अपना विषय बनाने वाला है।

(3) सर्वथाविषयम्- 'सर्वद्याविषयमतीतानागतप्रत्युत्पन्नं सर्व सर्वथा जानातीत्यर्थः ।' समस्त तत्त्वों को, सभी अवस्थाओं में स्थूल-सूक्ष्म आदि भेद से उनके तीनों परिणामों सहित सब प्रकार से विषय कराने वाला है।

(4) अक्रमम्- 'अक्रममित्येकक्षणोपारूढं सर्व सर्वथा गृह्णातीत्यर्थः ।' क्रम की अपेक्षा न करके सम्पूर्ण को क्षण भर में अपने ज्ञान का विषय बना लेने वाला अर्थात् एक साथ ही जान लेने में सक्षम है। यह ज्ञान की अन्तिम स्थिति है। इससे ऊँची अन्य कोई अवस्था नहीं है।

'कैवल्य' का स्वरूप-

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ 55 ॥

सूत्रार्थ- रज-तम से मलिन बुद्धि और आसक्ति पूर्ण पुरुष- ये दोनों जब समान रूप से शुद्ध हो जाते हैं, तब 'कैवल्य' की प्राप्ति हो जाती है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'यदा निर्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं पुरुषस्यान्यताप्रत्ययमात्राधिकारं दग्धक्लेशबीजं भवति, तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति । तदा पुरुषस्योपचरितभोगाभावः शुद्धिः ।'

जिस समय बुद्धि सत्व, रजस् तथा तमो मल से रहित पुरुष के गुणभिन्त्रत्व ख्यातिमात्रक्रिया से युक्त, दग्धक्लेश बीज होता है, तब वह शुद्धता के कारण पुरुष के समान होता है। तब उपस्थित भोगों का अभाव पुरुष की शुद्धि कही जाती है।

रजोगुण और तमोगुण के विक्षेप से रहित बुद्धि अत्यन्त निर्मल होकर अपने कारण प्रकृति में विलीन हुए पुरुष को शुद्ध आत्मतत्त्व की अनुभूति की अवस्था में पहुँचा देती है और उधर पुरुष भी स्वरूपानुभव की भूमिका में सुस्थित होकर प्रकृति के अज्ञान कृत सम्बन्ध से विमुक्त पूर्ण निर्मल हो जाता है। इस प्रकार जब दोनों की समभाव से शुद्धि हो जाती है, तब 'कैवल्य' मिलता है। वह चाहे किसी भी निमित्त से, किसी भी प्रकार से क्यों न हो। यह स्मर्तव्य है कि प्रकृति-पुरुष का संयोग भौतिक तत्त्वों की भाँति घटित नहीं हुआ, बल्कि अविद्या के कारण मिथ्या प्रतीति रूप में हुआ। विवेकज ज्ञान से जब यह मिथ्या प्रतीति हट गयी, पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गया। यही साधक की 'कैवल्यावस्था' है।

स्मरणीय बिंदु -

1.विवेकज ज्ञान की उत्पत्ति -

- क्षण और उसके क्रम पर संयम करने से विवेकज ज्ञान उत्पन्न होता है।
- यह ज्ञान बुद्धि और पुरुष के बीच के अन्तर को पूरी तरह स्पष्ट कर देता है।
- इसके सिद्ध होने पर योगी प्रकृति के गुणों के जाल से मुक्त होने लगता है।

2.विवेक ज्ञान का वास्तविक स्वरूप - असाधारण क्षमता -

- यह ज्ञान दो ऐसी वस्तुओं में भी भेद कर देता है, जो जाति, लक्षण और स्थान से समान दिखती हैं।
- साधारण मनुष्यों के लिए जिन समान वस्तुओं में अंतर करना असंभव है, विवेक ज्ञान उसे

सहजता से प्रत्यक्ष कर देता है।

- यह बुद्धि का भ्रम पूरी तरह समाप्त कर वस्तु को उसके वास्तविक रूप में दिखाता है।

3. तारक ज्ञान, सर्वविषयक और सर्वथा ज्ञान -

- विभूतिपाद में विवेक ज्ञान को तारक ज्ञान - पार लगाने वाला ज्ञान कहा गया है।
- यह ज्ञान सर्वविषयक है। अर्थात् ब्रह्मांड की सभी वस्तुओं और अवस्थाओं को एक साथ ग्रहण करता है।
- यह बिना किसी क्रम के भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी सत्यों को एक ही क्षण में साक्षात् करा देता है।

15 अंक के प्रश्न -

1. विभूतिपाद के अनुसार विवेकज ज्ञान विवेक जन्य ज्ञान का वास्तविक स्वरूप क्या है? ''तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्'' सूत्र के आलोक में इसके लक्षणों की सविस्तार समीक्षा कीजिए।
2. महर्षि पतंजलि ने विवेक ज्ञान की प्राप्ति के लिए क्षण और उसके क्रम पर संयम करने का निर्देश क्यों दिया है? ''क्षण ातत्क्रमयो: संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्'' सूत्र के आधार पर काल और विवेक ज्ञान के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
3. पुरुष और बुद्धि की शुद्धियों में समानता होने पर कैवल्य की प्राप्ति कैसे होती है? ''सत्त्वपुरुषयो: शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्'' सूत्र के दार्शनिक आधार का विस्तृत विश्लेषण कीजिए।

5 अंक के प्रश्न -

1. विवेकज ज्ञान को तारक ज्ञान क्यों कहा जाता है? यह साधक को किस प्रकार संसार सागर से पार कराता है?
2. दो वस्तुएँ जो जाति, लक्षण और स्थान में समान हों, उनमें भेद करने में विवेकज ज्ञान किस प्रकार सहायक होता है? संक्षेप में समझाइए।
3. विवेकज ज्ञान के संदर्भ में 'सर्वविषयम्' और 'सर्वथाविषयम्' शब्दों का क्या दार्शनिक अर्थ है?
4: 'अक्रमम्' ज्ञान से क्या तात्पर्य है? विवेकज ज्ञान में अतीत, अनागत और वर्तमान का ज्ञान एक साथ कैसे घटित होता है?

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार विवेकज ज्ञान की प्राप्ति योगसूत्र के किस पाद या अध्याय में वर्णित है?

(क) समाधिपाद

(ख) साधनपाद

(ग) विभूतिपाद

(घ) कैवल्यपाद

2. ''क्षणतत्क्रमयो: ..... विवेकजं ज्ञानम्।'' रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए सही पद चुनिए:

(क) अभ्यासात्

(ख) संयमात्

(ग) वैराग्यात्

(घ) निरोधात्

3. निम्नलिखित में से कौन सी विशेषता महर्षि पतंजलि द्वारा विवेकज ज्ञान के लिए प्रयुक्त की गई है?

(क) तारकम्

(ख) सर्वविषयम्

(ग) अक्रमम्

(घ) उपर्युक्त सभी

4. ''सत्त्वपुरुषयो: शुद्धिसाम्ये ..... ।'' बुद्धि और पुरुष की शुद्धि समान होने पर किसकी प्राप्ति होती है?

(क) समाधि की

(ख) कैवल्य की

(ग) विभूति की

(घ) रूप-लावण्य की

5. वह ज्ञान जो बिना किसी उपदेश या बाह्य साधन के स्वत: अंत:प्रेरणा से उत्पन्न होता है और सब दु:खों से तारता है, उसे क्या कहते हैं?

(क) श्रुत ज्ञान

(ख) अनुमान ज्ञान

(ग) तारक या विवेकज ज्ञान

(घ) विकल्प ज्ञान

खण्ड-5 कैवल्यपाद
इकाई-5.1 सिद्धियों के प्रकार

उद्देश्य -

• **सिद्धियों के ५ स्रोतों का वर्गीकरण करना:** साधक को यह वैज्ञानिक ज्ञान देना कि अलौकिक शक्तियाँ केवल योग से ही नहीं, बल्कि पाँच अलग-अलग माध्यमों - जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से प्रकट हो सकती हैं।

• **समाधि जनित सिद्धि की श्रेष्ठता स्थापित करना:** यह स्पष्ट करना कि अन्य चार माध्यमों से मिली सिद्धियाँ अस्थायी और कर्मसंस्कार बनाने वाली होती हैं, जबकि केवल समाधि से उत्पन्न सिद्धि ही शुद्ध और निष्काम होती है।

• **प्रकृति के रूपांतरण - जात्यन्तरपरिणाम को समझाना:** साधक को यह दार्शनिक आधार देना कि ये सिद्धियाँ प्रकृति के मूल उपादान तत्वों के प्रवाह के कारण ही संभव होती हैं।

पहले पाद में प्रधानतया समाधि के स्वरूप का वर्णन है, इस कारण उसे **'समाधिपाद'** कहते हैं। दूसरे में सामान्य साधकों के हितार्थ प्रधानतापूर्वक समाधि के साधनों क्रियायोग का वर्णन है, इस कारण उसे **'साधनपाद'** कहते हैं। तीसरे में प्रधानतया प्राप्त होने वाली नाना प्रकार की सिद्धियों का वर्णन है, अत: उसे **'विभूतिपाद'** कहते हैं। इन तीनों पादों में प्रसंगानुसार कैवल्य की चर्चाएँ हुई हैं, किन्तु विवेचन नहीं हुआ है, इसी कारण चौथे पाद का आरम्भ किया जा रहा है। इसमें **'कैवल्य'** का विशेष वर्णन हुआ है, इसीलिए इसका नाम **'कैवल्यपाद'** रखा गया है।

जन्म, औषधि, मन्त्र, तप, समाधि-जन्य सिद्धियाँ-

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः ॥ 1 ॥

सूत्रार्थ- जन्म, औषध, मन्त्र, तपू और समाधि से उत्पन्न होने वाली सिद्धियों का उल्लेख इस सूत्र में किया गया है।

व्याख्या- शरीर, मन, इन्द्रियों में विलक्षण चामत्कारिक शक्ति का आ जाना सामान्य रूप से सिद्धि है। तीसरे पाद में जिन सिद्धियों की चर्चा है, वे समाधि के अतिरिक्त जन्म, औषधि, मन्त्र और तप से भी पायी जा सकती हैं। इनका वर्णन इस प्रकार है-

(1) जन्मजा सिद्धि- व्यास भाष्य- 'देहान्तरिता जन्मना सिद्धिः ।' - देहान्तर जन्म के द्वारा होने वाली सिद्धि 'जन्मजा' सिद्धि कही जाती है। पूर्व जन्म की साधनाएँ वर्तमान जीवन को प्रभावित करती है। एक जन्म की साधना दूसरे जन्म में भी क्रियाशीलता दिखती है। इसे 'भवप्रत्यय' कहते है, जिसका वर्णन 'समाधिपाद' के उन्नीसवें सूत्र में किया गया है। ऐसी सिद्धि को 'जन्मजा सिद्धि' कहते हैं। शुकदेव, कपिल आदि ऋषि-महर्षियों को जन्मना सिद्धियाँ प्राप्त थीं ।

(2) औषधिजा सिद्धि- 'औषधिभिरसुरभवनेषु रसायनेनेत्येवमादि ।' - आसुर लोको में औषधियों से अर्थात् रसायन आदि से इस प्रकार की सिद्धि होती है। सिद्धिदायिनी औषधियाँ भी होती हैं, जिनके सेवन से कायाकल्प हो जाता है। रासायनिक प्रयोगों से ऐसा संभव है। आयुर्वेद में ऐसे रसायनों की चर्चा है, जिनसे शरीर में आरोग्य, आयुष्य और नवयौवन आने तक की चर्चा मिलती है। च्यवनप्राश से च्यवन ऋषि वृद्ध से युवा हो गये थे, यह सुप्रसिद्ध है। इसे 'औषधिजा' सिद्धि कहते हैं।

(3) मन्त्रजा सिद्धि- 'मन्त्रैराकाशगमनाणिमादिलाभः ।' - मन्त्रों से आकाश में गमन और अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति होती है। जब मनुष्य विलक्षण सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए किसी मन्त्र का विधिवत् अनुष्ठान करता है, तब उससे भी शरीर, इन्द्रियों और चित्त में विलक्षण शक्ति का प्रदुर्भाव होता है। इसे 'मन्त्रजा' सिद्धि कहते हैं। तन्त्रशास्त्रों में इनका सविस्तर वर्णन मिलता है।

(4) तपोजा सिद्धि- 'तपसा सङ्कल्पसिद्धिः - कामरूपी यत्र तत्र कामग इत्येवमादि ।' - तप से संकल्प की सिद्धि होती है, जिससे यथेष्ठ रूप-धारण और यथाभिलषित स्थानों में पहुँचने आदि की सामर्थ्य से सम्बन्धित सिद्धि होती है। जब शास्त्रोक्त तप का विधिवत् अनुष्ठान होता है, तब उस तपश्चर्या से मल-शुद्धि होकर चित्त में अपूर्व शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है, इसे 'तपजा' सिद्धि कहते हैं। भरद्वाज और विश्वामित्रादि ऋषियों ने तप से विलक्षण सिद्धियाँ प्राप्त की थीं।

(5) समाधिजा सिद्धि- 'समाधिजाः सिद्धयो व्याख्याताः।' - समाधिजन्य सिद्धियाँ विभूतिपाद में बतायी जा चुकी है। धारणा, ध्यान और समाधि के अभ्यास से होने वाली संयमजन्य शक्तियों का विभूति पाद में उल्लेख हुआ है। इस प्रकार की सिद्धि को 'समाधिजा' सिद्धि कहते हैं।

स्मरणीय बिंदु -

1.जन्मजा और औषधिजन्य सिद्धियाँ -

• **जन्मजा सिद्धियाँ:** कुछ जीवों को पूर्वजन्म के कर्मों के फलस्वरूप जन्म से ही अलौकिक शक्तियाँ जैसे - आकाश में उड़ना

या विशिष्ट ज्ञान दे युक्त होना प्राप्त होती हैं।

• **औषधिजन्य सिद्धियाँ:** विशेष जड़ी-बूटियों, रसायनों या सोमरस के सेवन से शरीर में अलौकिक क्षमताएँ या कायाकल्प की प्राप्ति होती है।

2. मन्त्र और तपजन्य सिद्धियाँ -

• **मन्त्रजन्य सिद्धियाँ:** विशिष्ट मंत्रों के विधिपूर्वक अनुष्ठान, जप और ध्वनि तरंगों के प्रभाव से अणिमा-महिमा जैसी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

• **तपजन्य सिद्धियाँ:** इंद्रिय दमन, कठिन व्रतों और सर्दी-गर्मी जैसे द्वंद्वों को सहने से शरीर और इंद्रियों की अशुद्धि का नाश होता है और अलौकिक शक्तियाँ मिलती हैं।

3.समाधिजन्य सिद्धियाँ - सर्वोच्च और शुद्धतम प्रकार -

• **समाधिजन्य सिद्धियाँ:** चित्त की एकाग्रता और समाधि की उच्चतम अवस्था संयम से प्रकट होने वाली सिद्धियाँ इस श्रेणी में आती हैं।

• **कैवल्य का आधार:** पूर्व की ४ सिद्धियाँ समाधि की प्राप्ति में सहायक होती हैं, लेकिन समाधि से उत्पन्न सिद्धि ही योगी को कैवल्य या मोक्ष की ओर ले जाती है।

15 अंक के प्रश्न -

1. कैवल्यपाद के प्रथम सूत्र ''जन्मौषधिमन्त्रतप:समाधिजा: सिद्धय:'' के आलोक में सिद्धियों के पाँचों प्रकारों का सविस्तार वर्णन कीजिए। प्रत्येक सिद्धि के व्यावहारिक उदाहरण भी प्रस्तुत कीजिए।

2. महर्षि पतंजलि द्वारा वर्णित पाँच प्रकार की सिद्धियों में अन्य चार सिद्धियों की तुलना में 'समाधिज सिद्धि' को सर्वश्रेष्ठ और क्लेशरहित क्यों माना गया है? इसके दार्शनिक महत्व की समीक्षा कीजिए।

3. सिद्धियों के संदर्भ में प्रकृति के रूपांतरण की प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए। ''जात्यन्तरपरिणाम: प्रकृत्यापूरात्'' सूत्र के आधार पर समझाइए कि एक योनि से दूसरी योनि या स्वरूप में परिवर्तन कैसे घटित होता है?

5 अंक के प्रश्न -

1. जन्मजा और औषधिजा सिद्धियों का क्या स्वरूप है? संक्षेप में लिखिए।

2. मन्त्रजा और तपोजा सिद्धि से क्या अभिप्राय है? मंत्रों के जप और इंद्रिय निग्रहरूप तप से किस प्रकार की अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं?

3. कैवल्यपाद के अनुसार, ''निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु तत: क्षेत्रिकवत्'' सूत्र का मूल अर्थ संक्षेप में समझाइए।

4. समाधि से उत्पन्न होने वाले समाधिज चित्त की क्या विशेषता होती है? क्या यह कर्म के संस्कारों का निर्माण करता है?

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि ने कैवल्यपाद के प्रारंभ में सिद्धियों के कुल कितने प्रकार या कारण बताए हैं?

(क) तीन

(ख) चार

(ग) पाँच

(घ) आठ

2. ''जन्मौषधिमन्त्रतप:..... सिद्धय:।'' रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए सही पद चुनिए:

(क) धारणाजा:

(ख) समाधिजा:

(ग) अभ्यासजा:

(घ) वैराग्यजा:

3. आकाश - गमन या कुछ जीवों में जन्म से ही विशेष शक्तियां होना, किस कोटि की सिद्धि है?

(क) औषधिजा

(ख) मन्त्रजा

(ग) जन्मजा

(घ) समाधिजा

4. विभिन्न रसायनों, औषधियों या सोमरस आदि के प्रभाव से शरीर को अमर या शक्तिशाली बना लेना कौन सी सिद्धि कहलाती है?

(क) तप:सिद्धि

(ख) औषधिजा सिद्धि

(ग) मन्त्रजा सिद्धि

(घ) समाधिजा सिद्धि

5. महर्षि पतंजलि के अनुसार कौन सी सिद्धि से युक्त चित्त वासनाओं या संस्कारों से सर्वथा मुक्त होता है और नए कर्म बंधन नहीं बनाता?

(क) मन्त्रजा सिद्धि

(ख) तप:सिद्धि

(ग) औषधिजा सिद्धि

(घ) समाधिजा सिद्धि

इकाई-5.2 कर्मो के प्रकार

उद्देश्य-

• **कर्मों का आध्यात्मिक वर्गीकरण करना:** साधक को यह समझाना कि संसार के समस्त कर्म मुख्य रूप से चार श्रेणियों - पुण्य, पाप, मिश्रित और निष्काम में विभाजित होते हैं।

• **साधारण मनुष्य और योगी के कर्मों का भेद बताना:** यह स्पष्ट करना कि सामान्य मनुष्यों के कर्म फल की इच्छा से बंधे होते हैं, जबकि पूर्ण योगी के कर्म इन सभी बंधनों से सर्वथा परे होते हैं।

• वासनाओं और संस्कारों के चक्र को समझाना: साधक को यह बोध कराना कि हम जिस प्रकार के कर्म करते हैं, चित्त में उसी के अनुरूप संस्कार या वासना जमा होते हैं, जो अगले जन्मों का कारण बनते हैं।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ 7 ॥

सूत्रार्थ- योगी के कर्म अशुक्ल लौकिक पुण्य फल की कामना से रहित और अकृष्ण - पाप रहित होते हैं अर्थात् ईश्वरप्राप्तिमात्र के लिये किये गये 'निष्काम कर्म' होते हैं। योगी से भिन्न सांसारिक व्यक्तियों के शुभ, अशुभ और पापपुण्य (मिश्रित) तीन प्रकार के कर्म होते हैं।

व्याख्या- व्यास भाष्य- 'चतुष्पदा खल्वियं कर्मजातिः । कृष्णा, शुक्लकृष्णा, शुक्लाऽशुक्लाकृष्णा चेति ।'

'कर्मजाति' (कर्म समूह) चार प्रकार की होती है। - कृष्णा (पाप), शुक्लकृष्णा (पापपुण्य), शुक्ला (पुण्य) अशुक्लाकृष्ण (न पुण्य न पाप) ।

व्यक्तियों द्वारा किये जाते कर्म चार प्रकार में वर्गीकृत होते हैं- शुक्ल, कृष्ण, शुक्ल कृष्ण, मिश्रित न शुक्ल, न कृष्ण। इनका विवरण इस प्रकार है-

(1) शुक्ल- 'शुक्ला तपः स्वाध्यायध्यानवताम् । - पुण्य कर्मजाति तप, स्वाध्याय और ध्यान करने वालों की होती है ।' शुक्ल वे पुण्य कर्म हैं, जो ब्रह्मचर्य आदि तप, वेद एवं अध्यात्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय तथा परमात्मा के ध्यान आदि के रूप में किये जाते हैं।

(2) कृष्ण- 'तत्र कृष्णा दुरात्मनाम् । - पापात्मक कर्मजाति दुरात्माओं की होती है।' कृष्ण वर्ग में वे पाप कर्म आते हैं, जो दुरात्माओं द्वारा बाह्य साधनों के सहारे अन्य व्यक्तियों को अकारण पीडा पहुँचाये जाने आदि के रूप में किये जाते हैं। हिंसा, असत्य, स्तेय, दुराचार आदि के रूप में ये कार्य किये जाते हैं।

(3) शुक्ल-कृष्ण- 'शुक्लकृष्णा बहिःसाधनसाध्या तत्र परपीडानुग्रहद्वारेणैव कर्माशयप्रचयः। - पाप-पुण्य कर्मजाति बाह्य साधनों से सम्पादित होती है। उसमें दूसरों को दुःख देकर, दूसरों पर दया करने के द्वारा ही कर्माशयों का सङ्ग्रह किया जाता है ।' शुक्ल-कृष्ण मिश्रित-वर्ग में वे कर्म आते हैं, जो बाह्यसाधनों का आश्रय लेकर शुभ-अशुभ रूप में किये जाते हैं। कृषि आदि शुभ कार्य करते हुए उसमें अनेक अशुभकर्म हो जाते हैं जो अनिवार्य हैं। उसमें अनेक प्राणी मारे व ताड़े जाते हैं। फसलों की रक्षा हेतु अन्य प्राणियों को अनभिलषित कष्ट पहुँचता है, यह अनिवार्य है, इसको टाला नहीं जा सकता। ऐसे कर्म साधारण जनता द्वारा होते रहते हैं।

(4) अशुक्ल-अकृष्ण- 'अशुक्लाकृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति । तत्राशुक्लं योगिन एव फलसंन्यासात्, अकृष्णं चानुपादानात्। - पापपुण्य रहित कर्मजाति संन्यासियों, क्षीणक्लेश वालों एवं चरम (अन्तिम) देह वालों की होती है। उनमें से फलसंन्यास करने से पुण्यरहित तथा पाप कर्मों को न अपनाने से पापरहित कर्मजाति योगियों की ही होती है।' अशुक्ल-अकृष्ण वे कर्म हैं, जो आत्मज्ञानियों द्वारा देहादि रक्षा के लिए उस अवस्था में किये जाते हैं, जब वे समस्त कर्मों की फलप्राप्ति कामना का पूर्ण परित्याग कर चुके होते हैं। ऐसे शुभ कर्मों का योगी को चालू जीवन में फल नहीं मिलता। वर्त्तमान में जीवन मुक्त हो जाने पर उनका जीवन केवल प्रारब्ध कर्मो के फल भोगने के रूप में चलता रहता है। क्योंकि इस जीवन में उनका फल नही मिलना है और जीवनमुक्त हो जाने के कारण इस देहपात के तत्काल अनन्तर मोक्ष हो जाने से नया देही जीवन आगे प्राप्त नहीं होता, परन्तु किया कर्म कभी निष्फल नहीं जाता, अतः ये शुभ कर्म-संस्काररूप से मुक्त आत्मा में अवस्थित रहते हैं। मोक्षकाल पूरा हो जाने पर इन्हीं के कारण वह आत्मा पुनः संसार में देहधारण करता है।

जीवनमुक्त होने पर देहपात के अनन्त सद्यः फलप्रद न होने के कारण इन शुभ-शुक्ल कर्मो को 'अशुक्ल' कहा जाता है। ऐसा जीवनमुक्त आत्मा अशुभ कर्म उस अवस्था में कभी कर ही नहीं सकता, इसलिए उसके कर्म 'अकृष्ण' कहे जाते हैं। यह नाम यथार्थ है और पहला 'अशुक्ल' नाम औपचारिक है। भोगने के लिए केवल उतने शुक्ल कर्म रहने पर भी उनका सद्यः फलभोग सम्भव न होने से उन्हें न होने के बराबर समझ लिया जाता है। इसी औपचारिकता के आधार पर उन्हें 'अशुक्ल'

नाम दिया गया। वस्तुत: वे कर्म नितान्त शुक्ल होते हैं एवं मोक्षकाल पूरा होने पर सर्गादिकाल अथवा कभी मध्यसृष्टि काल में ऐसे आत्माओं का पुन: देहधारण करना सम्भव होता है।

इस प्रकार पूर्णयोगी जीवनमुक्त आत्मज्ञानी के कर्म 'अशुक्ल-अकृष्ण' होते हैं। अन्य मानव समुदाय के कर्म यथायथ तीन प्रकार के होते हैं- शुक्ल, कृष्ण तथा मिश्रित, जैसा व्याख्या के प्रारम्भ में निर्देश कर दिया गया है। योगी के कर्म वासनारहित होते हैं, शेष सब वासनामूलक ।

स्मरणीय बिंदु -

1. सामान्य मनुष्यों के तीन प्रकार के कर्म - त्रिविध कर्म

- **शुक्ल (पुण्य) कर्म:** शास्त्रों के अनुकूल, दया और दान से युक्त कर्म, जिनका परिणाम सुखद होता है।
- **कृष्ण (पाप) कर्म:** दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाले और निषिद्ध कर्म, जिनका परिणाम दु:खद होता है।
- **शुक्ल-कृष्ण (मिश्रित) कर्म:** ऐसे कर्म जिनमें पुण्य और पाप दोनों मिले होते हैं। जैसे - खेती या व्यापार, जहाँ लाभ के साथ अनजाने में सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है। साधारण मनुष्यों के कर्म इसी श्रेणी में आते हैं।

2. योगियों का अनूठा कर्म - अशुक्लाकृष्ण कर्म

- **अशुक्ल-अकृष्ण कर्म:** संन्यासियों और उच्च कोटि के योगियों के कर्म न तो शुक्ल होते हैं और न ही कृष्ण।
- **निष्काम भाव:** योगी अपने सभी कर्म फल की इच्छा के बिना और ईश्वर को समर्पित करके करते हैं।
- **कर्मबंधन से मुक्ति:** इस प्रकार के कर्मों से कोई नया संस्कार या वासना उत्पन्न नहीं होती, जो योगी को जन्म-मरण के चक्र से मुक्त करती है।

3. कर्मों का फल और वासनाओं की अभिव्यक्ति - विपाक

- **अनुरूप वासनाओं का प्रकटीकरण:** मनुष्यों को अपने त्रिविध कर्मों के अनुसार जिस जन्म, आयु और भोग की प्राप्ति होती है, केवल उसी के अनुकूल पूर्वजन्मों की वासनाएँ और संस्कार जाग्रत होते हैं।
- **जाति-देश-काल का व्यवधान नहीं:** कर्मों के संस्कार इतने शक्तिशाली होते हैं कि जन्म, स्थान या समय का कितना भी बड़ा अंतर हो, वे नष्ट नहीं होते और अनुकूल अवसर मिलते ही फल देते हैं।

15 अंक के प्रश्न -

1. कैवल्यपाद के सूत्र ''कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्'' के आलोक में कर्मों के चारों प्रकारों शुक्ल, कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण और अशुक्ल-अकृष्ण की दार्शनिक एवं व्यावहारिक व्याख्या कीजिए।
2. सामान्य मनुष्यों के त्रिविध कर्म और योगी के अशुक्ल-अकृष्ण कर्म में क्या मुख्य अंतर है? योगी का कर्म नए कर्मसंस्कारों या वासनाओं का निर्माण क्यों नहीं करता? तार्किक विश्लेषण कीजिए।
3. कर्मों के विपाक अथवा फल और संस्कारों के संबंध को स्पष्ट कीजिए।

''ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्'' सूत्र के आधार पर समझाइए कि कर्मों के फल के अनुसार वासनाएँ किस प्रकार प्रकट होती हैं?

5 अंक के प्रश्न -

1. शुक्ल कर्म और कृष्ण कर्म से क्या तात्पर्य है? इनके अंतर्गत किस प्रकार के कार्य आते हैं? संक्षेप में लिखिए।
2. संसार के अधिकांश मनुष्यों द्वारा किए जाने वाले मिश्रित कर्म का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
3. योगी के कर्म को अशुक्ल-अकृष्ण क्यों कहा जाता है? निष्काम कर्म और ईश्वर प्रणिधान से इसका क्या संबंध है?
4. ''जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्'' सूत्र के आधार पर समझाइए कि जन्म, स्थान और समय का व्यवधान होने पर भी कर्मसंस्कार कैसे जीवित रहते हैं?

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार योगियों अथवा साधकों का कर्म निम्नलिखित में से किस श्रेणी में आता है?

(क) शुक्ल कर्म

(ख) कृष्ण कर्म

(ग) शुक्ल-कृष्ण कर्म

(घ) अशुक्ल-अकृष्ण कर्म

2. ''कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधम्.....।'' रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए सही पद चुनिए जो अन्य मनुष्यों के कर्म को दर्शाता है:

(क) इतरेषाम्
(ख) विवेकिनाम्
(ग) मुक्तानाम्
(घ) चित्तस्य

3. केवल पुण्य, परोपकार, स्वाध्याय और सात्त्विक आचरण से युक्त कर्म को योगदर्शन में क्या कहा गया है?
(क) कृष्ण कर्म
(ख) शुक्ल कर्म
(ग) मिश्रित कर्म
(घ) निष्काम कर्म

4. चोरी, हिंसा, असत्य और पापपूर्ण कार्यों से संचित होने वाले कर्मों को किस श्रेणी में रखा जाता है?
(क) शुक्ल कर्म
(ख) अशुक्ल कर्म
(ग) कृष्ण कर्म
(घ) अकृष्ण कर्म

5. कर्मों के फल भोगने के अनुकूल केवल वैसी ही वासनाएँ प्रकट होती हैं, जैसी योनि प्राप्त होती है। यह सिद्धांत कैवल्यपाद के किस विषय से संबद्ध है?
(क) निर्माण चित्त
(ख) विवेकख्याति
(ग) वासनाओं की अभिव्यक्ति - कर्म विपाक
(घ) कैवल्य स्वरूप

इकाई-5.3 धर्ममेघ समाधि का स्वरूप

उद्देश्य -

- **सर्वोच्च विवेक ज्ञान के प्रति अनासक्ति सिखाना:** साधक को यह समझाना, कि जब विवेकख्याति की सर्वोच्च अवस्था में भी कोई लाभ या इच्छा शेष नहीं रहती, तब धर्ममेघ समाधि सिद्ध होती है।
- **क्लेशों और कर्मों का समूल नाश करना:** चित्त के भीतर छुपे अज्ञान, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशरूप पंच क्लेशों की जड़ों को हमेशा के लिए पूरी तरह से उखाड़ फेंकना।
- **गुणात्मक रूपांतरण का आधार तैयार करना:** प्रकृति के तीनों गुणों सत्व, रज व तम के कार्यों को उनके अंतिम परिणाम तक पहुँचाकर पुरुष को उनके प्रभाव से सर्वथा मुक्त करना।

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ 29 ॥

सूत्रार्थ- जिस साधक को 'विवेकख्याति' नामक उच्चस्तरीय सिद्धि से भी वैराग्य हो जाता है, उसे 'धर्ममेघ' नामक समाधि की उपलब्धि होती है।

व्याख्या- सूत्र के प्रथम 'प्रसंख्यान' पद में **'प्र'** और **'सम्'** उपसर्ग हैं. **'ख्यान'** पद **'ख्याति'** का पर्याय है। जब विवकेख्याति निरन्तर अभ्यास आदि से अपने पूरे रूप में उभर आती है, उस स्थिति को **'प्रसंख्यान'** कहा जाता है। **'कुसीद'** पद का लोक में प्रयोग ब्याज या सूद के लिए होता है, जो ऋणरूप में धन देकर अधमर्ण से अतिरिक्त धन लिया जाता है। इस व्यवहार में उत्तमर्ण का धन के प्रति रागातिरेक प्रकट होता है। इस कारण प्रकृत में कुसीद पद राग अर्थ को कहता है। **'कुत्सितेषु सीदति, इति कुसीदो रागः।'** इसके अनुसार सूत्रार्थ हुआ-जब योगी विवेकख्याति के स्तर पर पहुँच जाता है, वह अवस्था समप्रज्ञात समाधि प्राप्त हो जाने की है। पर योगी और आगे की अवस्था प्राप्त करने के लिए उसमें अनुराग को छोड़ देता है. अर्थात् उतने ही से सन्तुष्ट होकर नहीं बैठ जाता। तब निरन्तर उपयुक्त प्रणव जप आदि अभ्यास में लगे रहने पर विवेकख्याति की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह परमवैराग्य का स्तर है, जहाँ व्युत्थान की समस्त वृत्तियाँ रुद्ध हो जाती हैं तथा विवेकख्यान का प्रवाह निरन्तर निर्बाध प्रवाहित होता रहता है।

व्यास भाष्य- ''यदाऽयं ब्राह्मणः प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदः ततोऽपि न किञ्चित् प्रार्थयते, तत्रापि विरक्तस्य सर्वथा विवेकख्यातिरेव भवतीति संस्कारबीजक्षयान्नास्य प्रत्ययान्तराण्युत्पद्यन्ते, तदास्य धर्ममेघो नाम समाधिर्भवति ॥''

यह योगी जब 'विवेकख्याति' से उत्पन्न सिद्धियों से भी विरक्त हो जाता है और उससे कुछ भी कामना नहीं करता तब उस रागरहित योगी में सब प्रकार से विवेकख्याति ही होती रहती है। इसलिए व्युत्थान संस्कारों के बीजों के दग्ध हो जाने से इसमें विवेकख्याति से भिन्न लौकिक ज्ञान प्रादुर्भूत नहीं होते । तब इससे 'धर्ममेघ' नामक समाधि सिद्ध होती है।

जब साधक 'विवेकख्याति' नामक विशिष्ट सिद्धि से भी विरक्त रह कर किसी लौकिक फल या ऐश्वर्य की कामना नहीं करता है और अपनी साधना में आगे बढ़ता जाता है, तब उसे 'धर्ममेघ' नामक समाधि की सिद्धि होती है, जो सिद्धि के क्षेत्र में सर्वोपम उपलब्धि है। 'धर्ममेघ' समाधि में ज्ञान का प्रवाह कभी खण्डित नहीं होता । वह अखण्ड रूप से निरन्तर प्रवाहित रहता है। इस स्थिति में व्युत्थानकालिक अर्थात् सांसारिक दुख-द्वन्द्वों का रंचमात्र का भी स्पर्श नहीं होता है, क्योंकि व्युत्थानकालिक संस्कारों के बीज समूल नष्ट हो गये होते हैं। दग्धबीज हो जाने से उनके अंकुरण की क्षमता विनष्ट हो गयी होती है। इसीलिए विज्ञानभिक्षु ने 'धर्ममेघ' समाधि को 'सम्प्रज्ञात' समाधि की पराकाष्ठा कहा है-

'धर्ममेघनाम्नी सम्प्रज्ञातायोगस्य पराकाष्ठा भवतीत्यर्थः' ॥ (योगवार्तिक- पृ. 455)

धर्ममेघ समाधि का फल-

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ 30 ॥

सूत्रार्थ- उस 'धर्ममेघ' नामक समाधि की सिद्धि हो जाने पर क्लेश और कर्मों की निवृत्ति हो जाती है।

व्याख्या- **तल्लाभादविद्यादयः क्लेशाः समूलकाषं कषिता भवन्ति ।**
कुशलाकुशलाश्च कर्माशयाः समूलघातं हता भवन्ति ।
क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति ।
कस्मात् ? यस्माद्विपर्ययो भवस्य कारणम् ।
न हि क्षीणविपर्ययः कश्चित् केनचित् क्वचिच्च जातो दृश्यत इति ॥

उस 'धर्ममेघ' नामक समाधि की सिद्धि का लाभ मिल जाने पर अविद्या, अस्मितादि पाँचों क्लेश समूल अर्थात् अपने संस्कारों समेत विनष्ट हो जाते हैं। क्लेश और कर्माशयों की निवृत्ति हो जाने अर्थात् दग्धबीज हो जाने पर जीवन-काल में ही योगी विमुक्त हो जाता है। क्यों? इसलिए कि विपर्यय अर्थात् अज्ञान या 'अविद्या' ही जन्म का कारण है। क्षीण विपर्यय अर्थात् नष्ट अज्ञान या 'अविद्या' वाला कोई (व्यक्ति) किसी के द्वारा और कहीं भी जन्म लेते हुए नहीं देखा जाता है।

उक्त प्रकार से जब योगी की धर्ममेघ समाधि सिद्ध हो जाती है, तब उस योगी के अविद्यादि पाँचों क्लेश तथा शुक्ल, कृष्ण और मिश्रित-ऐसे तीनों प्रकार के कर्म-संस्कार समूल नष्ट हो जाते हैं और वह योगी जीवन्मुक्त कहा जाता है। नष्ट हुई अविद्या वाला कोई आणी प्रत्यक्ष या आगम के द्वारा कहीं भी उत्पन्न हुआ नहीं देखा जाता है। स्मृति का भी कथन है-

'विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि ।
प्राप्नोति योगी योगाग्निर्दग्धकर्मचयोऽचिरात्' ॥
तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ 31 ॥

सूत्रार्थ- उस समय जिसके समस्त आवरण हट चुके हैं, ऐसा ज्ञान असीम हो जाता है। इस कारण ज्ञेय पदार्थ अल्प हो जाते हैं।

व्याख्या- व्यास भाष्य- ''सर्वैः क्लेशकर्मावरणैर्विमुक्तस्य ज्ञानस्यानन्त्यं भवति । आवरकेण तमसाऽभिभूतमावृतज्ञानसत्त्वं क्वचिदेव रजसा प्रवर्तितमुद्घाटितं ग्रहणसमर्थं भवति । तत्र यदा सर्वैरावरणमलैरपगतममलं भवति, तदा भवत्यस्यानन्त्यम् । ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पं सम्पद्यते, यथाऽऽकाशे खद्योतः । यत्रेदमुक्तम् -

'अन्धो मणिमविध्यत् तमनङ्गुलिरावयत् ।
अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत्तमजिह्वोऽभ्यपूजयत्' ॥''

समस्त क्लेशों और कर्माच्छादनों से विमुक्त योगी के ज्ञान में अनन्तता आ जाती है। आच्छादित करने वाले तमोगुण से अभिभूत ज्ञान रजोगुण के द्वारा कहीं एक देश में सक्रिय या अनावृत होकर ज्ञेय का ज्ञान कराने में समर्थ होता है। वही चित्त सभी मलाच्छादनों से रहित होकर जब निर्मल हो जाता है, तब उसका अनन्त विस्तार हो जाता है। ज्ञान की अनन्तता के कारण ज्ञेय स्वल्प हो जाता है। जैसे अनन्त आकाश में जगुनू, जिसके विषय में कहा गया है (उस योगी के शरीरपात के अनन्तर पुनर्जन्म वैसे ही असम्भव हो जाता है, जैसे) कि अन्धे का मणि को बींधना; उस मणि का अंगुली विहीन व्यक्ति द्वारा माला में पिरोया जाना, ग्रीवाहीन के द्वारा उसे मालारूप में धारण किया जाना और जिह्वा रहित व्यक्ति के द्वारा प्रशंसा किया जाना ।

इस सूत्र में धर्ममेघ समाधि की उपलब्धि का वर्णन किया गया है। 'धर्ममेघ' समाधि द्वारा जब रज-तम-मूलक क्लेश और कर्म-वासनाओं के मल का आच्छादन चित्त से हट जाता है, तब साधक का ज्ञान असीम हो जाता है। उस ज्ञान के प्रकाश में कुछ अदृश्य नहीं रह जाता हैं। सांसारिक वस्तुएँ उसकी दृष्टि में अल्प अथवा तुच्छ हो जाती हैं। गगन में खद्योत तुल्य संसार के ज्ञेय पदार्थ अत्यल्प रह जाते हैं। उस समय उस सिद्ध और मुक्त योगी से कुछ अज्ञात नहीं रह जाता है; योगी ससीम से असीम हो जाता है।

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ 32 ॥

सूत्रार्थ- तदुपरान्त अपना कार्य पूरा कर चुकने वाले गुणों के परिणाम सम्बन्धी क्रम की समाप्ति हो जाती है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- ''तस्य धर्ममेघस्योदयात् कृतार्थानां गुणानां परिणामक्रमः परिसमाप्यते । न हि कृताभोगापवर्गाः पि. रसमाप्तक्रमाः क्षणमप्यवस्थातुमुत्सहन्ते ॥''

उस 'धर्ममेध' समाधि के उदय हो जाने से त्रिगुणों के द्वारा पुरुष को प्राप्त कराये जाने वाले भोगापवर्ग रूपी परिणाम-क्रम की परिसमाप्ति हो जाती है। भोगापवर्ग के निष्पन्न तथा परिसमाप्ति क्रम होने पर त्रिगुण-वृत्तियाँ क्षणमात्र को भी (पुरुष के समाने) टिकी नहीं रह सकती है।

जब साधक की 'धर्ममेघ' नाम वाली समाधि सिद्ध हो जाती है, तब उसके सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीनों गुणों की क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है। गुणों का कार्य पुरुष को भोगापवर्ग उपलब्ध कराना होता है। इस प्रयोजन से उनमें परिवर्तन होता रहता है। वे एक के बाद एक आते रहते हैं। इस परिवर्तन से जो परिणाम होते हैं उसी को 'क्रम' कहते हैं। यह परिणामक्रम योगी के लिए 'ध र्ममेघ' समाधि मिलने पर समाप्त हो जाता है। अतः आगे का क्रम अर्थात् पुनर्जन्म का सिलसिला समाप्त हो जाता है। जन्म-मरण और वस्तुओं का आदि-अन्त सब परिणामक्रम का ही परिणाम है। इस परिणामक्रम के अवसान से जन्म-मरण के चक्र का अवसान भी समझना चाहिए । इस स्थिति में पुरुष की अचल एकरूपता स्थिर हो जाती है।

'क्रम' का स्वरूप-

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्गाह्यः क्रमः ॥ 33 ॥

व्याख्या- व्यास भाष्य- ''क्षणानन्तर्यात्मा परिणामस्यापरान्तेनावसानेन गृह्यते क्रमः।

न ह्यननुभूतक्रमक्षणा नवस्य पुराणता वस्त्रस्यान्ते भवति। नित्येषु च क्रमो दृष्टः। द्वयी चेयं नित्यताकूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च । तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य, परिणामिनित्यता गुणानाम्।'

जो क्षण के पश्चात् उपस्थित होने वाले परिणाम की समाप्ति रूपी अवसान से गृहीत होता है, वह 'क्रम' है। नये वस्त्र के अन्त में जो पुरानापन है, वह क्रम के आश्रित क्षणों का अनुभव किये बिना नहीं होता है और नित्य पदार्थों में क्रम देखा जाता है। यह नित्यता दो प्रकार की होती है- कूटस्थ नित्यता और परिणाम नित्यता। उनमें से पुरुष में कूटस्थनित्यता और गुणों में परिण ामनित्यता होती है

इस सूत्र के अन्तर्गत पूर्व सूत्र में प्रयुक्त 'क्रम' शब्द की व्याख्या की गयी है। परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है। यह परिर्वतन प्रतिक्षण हो रहा है, यही उसका क्रम या सिलसिला है। किन्तु उसका ज्ञान तत्काल नहीं होता। कोई वस्त्र इतना पुराना हो गया कि छूते ही फट गया। इस वस्त्र का पुरानापन एकाएक नहीं आया। बनने के बाद प्रतिक्षण वह परिवर्तित होता चला गया और वह अलक्षित परिवर्तन कुछ समय के बाद संज्ञान में आया। ऐसे ही एक शिशु युवा और युवा से वृद्ध हो जाता है, किन्तु उसका आभास तत्काल नहीं होता। शिशु की यह जरठावस्था का परिणाम क्षण-क्षण होने का ही परिणाम है जो काल के अन्तराल के बाद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार एक क्षण के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा-इस तरह क्षणों के प्रवाह में जो पूर्वापर का ज्ञापक निमित्त है, उसी को 'क्रम' कहते है। यह प्रतिक्षण हो रहा है, इसलिए क्षण प्रतियोगी है। क्षण समूह पर आश्रित पौर्वापर्य क्रम से परिणाम लाने के कारण इसका ऐसा नाम है। पुरानापन क्षणों के सोपान के माध्यम से शिखरारूढ़ होकर अपना रूप दिखाता है। नवीन का पौर्वापर्य क्रम ही प्राचीन है। जो दृश्य है, वह परिवर्तन का प्रतिफल है।

गुणाधिकारक्रमसमाप्तौ कैवल्यमुक्तम् । तत्स्वरूपमवधार्यते-

गुणों के अधिकार की समाप्ति होने पर कैवल्य कहा गया है। आगे उसके स्वरूप की अवधारणा की जा रही है-

स्मरणीय बिंदु -

1. सर्वोच्च वैराग्य से उत्पत्ति (प्राप्ति का कारण)

- जब योगी को विवेक ज्ञान से भी सर्वथा वैराग्य अर्थात् परवैराग्य हो जाता है, तब इस समाधि की प्राप्ति होती है।
- विवेक ज्ञान के फल में भी किसी प्रकार की तृष्णा या स्वार्थ की इच्छा न रहने पर चित्त में सर्वथा विवेक ख्याति बनी रहती है।
- इस उच्चतम नि:स्पृहता की अवस्था से ही धर्ममेघ समाधि का उदय होता है।

2. शाब्दिक अर्थ और विशेषता - धर्म की वर्षा करने वाला स्वरूप -

- धर्ममेघ का अर्थ है - धर्म का मेघ या बादल, यह समाधि योगी के ऊपर परम कल्याणकारी आध्यात्मिक धर्मों की वर्षा करती है।
- यह समाधि आत्मज्ञान के प्रकाश से अविद्या जनित सभी भ्रम और अज्ञान के अंधकार को समूल नष्ट कर देती है।
- इस अवस्था में पहुँचकर चित्त के सभी क्लेश अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश और समस्त कर्मसंस्कार पूरी तरह मिट जाते हैं।

3. गुणाधिकार की समाप्ति और कैवल्य की सिद्धि -

- धर्ममेघ समाधि के सिद्ध होने पर प्रकृति के तीनों गुणों सत्व, रज और तम का पुरुष के लिए जो भोग और अपवर्ग का प्रयोजन था, वह समाप्त हो जाता है।
- गुण अपने कारण में विलीन होने लगते हैं, जिससे गुणों के परिणाम का क्रम रुक जाता है।
- इसके तुरंत बाद ही योगी को अपने शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वरूप की उपलब्धि होती है, जिसे 'कैवल्य' कहा जाता है।

15 अंक के प्रश्न -

1. कैवल्यपाद के सूत्र ''प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः'' के आलोक में धर्ममेघ समाधि का वास्तविक दार्शनिक स्वरूप स्पष्ट कीजिए। इसकी प्राप्ति साधक को किस अवस्था में होती है?
2. धर्ममेघ समाधि के परम फल की सविस्तार समीक्षा कीजिए। ''ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः'' सूत्र के आधार पर समझाइए कि यह समाधि किस प्रकार समस्त क्लेशों और कर्मों के बंधनों को समूल नष्ट कर देती है?
3. ''धर्ममेघ समाधि विवेकख्याति की भी अंतिम परिपक्व अवस्था है।'' इस कथन की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कीजिए कि इसके बाद चित्त के तीनों गुणों सत्त्व, रज और तम का परिणाम क्रम किस प्रकार समाप्त हो जाता है और कैवल्य की पृष्ठभूमि कैसे तैयार होती है?

5 अंक के प्रश्न -

1. प्रसंख्यान की स्थिति में भी अकुसीद - नि:स्पृह या वैराग्यवान रहने से क्या तात्पर्य है? धर्ममेघ समाधि के संदर्भ में इसे स्पष्ट कीजिए।

2. धर्ममेघ शब्द का दार्शनिक अर्थ क्या है? इस समाधि को धर्म का मेघ क्यों कहा जाता है? संक्षेप में लिखिए।

3. धर्ममेघ समाधि के सिद्ध होने पर ज्ञेय – जानने योग्य विषयों की क्या स्थिति होती है? ''तदा सर्वावरणमलपेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्'' सूत्र का अर्थ संक्षेप में समझाइए।

4. जीवनमुक्त योगी की स्थिति और धर्ममेघ समाधि के अंतर्संबंध को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न –

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार सर्वोच्च वैराग्य की अवस्था में भी तृष्णा न रहने पर किस समाधि की प्राप्ति होती है?

(क) सवितर्क समाधि

(ख) सविचार समाधि

(ग) धर्ममेघ समाधि

(घ) आनंदानुगत समाधि

2. ''प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्याते:.....।'' रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए सही पद चुनिए:

(क) सबीज: समाधि:

(ख) धर्ममेघ: समाधि:

(ग) निर्बीज: समाधि:

(घ) चित्तवृत्तिनिरोध:

3. धर्ममेघ समाधि का तात्कालिक और मुख्य फल निम्नलिखित में से क्या माना गया है?

(क) अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति

(ख) केवल नए शरीरों का निर्माण

(ग) क्लेश और कर्मों की सर्वथा निवृत्ति

(घ) इंद्रियों का बलवान होना

4. ''तत: क्लेशकर्मनिवृत्ति:'' सूत्र योगदर्शन के किस पाद या अध्याय से उद्धृत है?

(क) समाधिपाद

(ख) साधनपाद

(ग) विभूतिपाद

(घ) कैवल्यपाद

5. धर्ममेघ समाधि के बाद चित्त के तीनों गुणों के कार्यों की क्या स्थिति होती है?

(क) वे और अधिक सक्रिय हो जाते हैं

(ख) उनका परिणाम क्रम समाप्त हो जाता है

(ग) वे पुरुष को पुन: बांधते हैं

(घ) वे विपरीत रूप में कार्य करते हैं

इकाई- 5.4 प्रतिप्रसव या कैवल्य योग

उद्देश्यः-

• **प्रतिप्रसव की दार्शनिक प्रक्रिया को स्पष्ट करनाः** साधक को यह समझाना कि बुद्धि, अहंकार और मन सहित प्रकृति के समस्त कार्य-विकार जब अपने मूल कारण प्रकृति में विलीन हो जाते हैं, तो उसे 'प्रतिप्रसव' कहते हैं।

• **गुणों के प्रयोजन की समाप्ति को प्रतिपादित करनाः** जब पुरुष के लिए प्रकृति के दोनों कार्य - भोग और अपवर्ग पूर्ण हो जाते हैं, तब उन पुरुषार्थशून्य गुणों को उनके मूल स्वरूप में वापस
भेजना।

• **आत्मा की वास्तविक स्थिति को स्थापित करनाः** चौतन्य शक्ति आत्मा को चित्त के सभी पर्दों से मुक्त करके उसके अपने शुद्ध, शाश्वत और केवल स्वरूप में प्रतिष्ठित करना।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ 34 ॥

सूत्रार्थ- त्रिगुणों की सार्थकता पुरुष को भोगापवर्ग प्रदान करने की है। इस प्रयोजन-पूर्ति के उपरान्त त्रिगुणों का अपने कारण प्रकृति में विलीन हो जाना कैवल्य है अथवा द्रष्टा पुरुष का स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है।

व्याख्या- व्यास भाष्य- ''कृतभोगापवर्गाणां पुरुषार्थशून्यानां यः प्रतिप्रसवः कार्यकारणात्मनां गुणानां तत्कैवल्यम्। स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वानभिसम्बन्धात्पुरुषस्य चितिशक्तिरेव केवला, तस्याः सदा तथैवावस्थानं कैवल्यमिति ॥''

हुए भोग और अपवर्ग रूप क्रिया को सम्पन्न कर चुकने के उपरान्त पुरुषार्थ रहित कार्य-कारणात्मक (महदादि प्रकृति-विकृति रूपी) त्रिगुणों का जो अपने कारण प्रकृति में लय हो जाना है, वही 'कैवल्य' है। स्वरूप में प्रतिष्ठा और फिर से पुरुष का बुद्धिसत्त्व से सम्बन्ध न होने के कारण केवल चितिशक्ति मात्र का रहना और उसका सर्वदा उसी प्रकार की स्थिति बने रहना 'कैवल्य' है।

सत्त्व, रजस् और तमस् रूपा यह प्रकृति पुरुष के हेतु उपभोग की सामग्रियाँ प्रस्तुत करती है, और पुरुष जब साधना-लीन होता है, तब सत्त्व गुण आकर अपना ज्ञानमय प्रकाश फैलाता है और साधक को साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ाता है। सम्प्रज्ञात समाधि सत्त्वगुण की विशिष्ट देन है। वहीं सम्प्रज्ञात समाधि आगे असम्प्रज्ञात समाधि का भी पथ प्रशस्त कर साधक को उसका चरम लक्ष्य कैवल्य मोक्ष प्रदान हेतु पुष्ट भूमिका बनाती है। इस प्रकार भोग और अपवर्ग प्रदान रूपी अपना पुरुषार्थ सिद्ध कर चित्त के साथ प्रकृति के गुण अपने कारण 'अव्यक्त' या मूल प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। गुणों का पुरुष से अलग होकर अपने कारण में लय होना 'कैवल्य' है; और इसी प्रकार चितिशक्ति पुरुष का चित्त से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहने पर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाने का नाम भी 'कैवल्य' है। केवलत्व का भाव कैवल्य है। गुणों के सानिध्य से रहित केवल 'पुरुष' का रह जाना कैवल्य है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि साधक प्रारम्भ में अभ्यास-वैराग्य, प्राणायाम, ईश्वरप्रणिधानादि कथित साधनों द्वारा हृदय से रजोगुण और तमोगुण को निष्कासित कर अन्तःकरण निर्मल करे। निर्मल अन्तःकरण में सत्त्व गुण का प्रकाश छा जायेगा। आज की शब्दावली में हृदय से नकारात्मक विचारों (negative thoughts) का पूरा सफाया हो जायेगा और सकारात्मक विचारों (positive thoughts) का साम्राज्य छा जायेगा। इस स्थिति में सत्त्वगुण का समुज्ज्वल प्रकाश हृदय में अलौकिक आनन्द की वृष्टि करेगा और द्वन्द्व-मुक्त साधक 'सम्प्रज्ञातसमाधि' के क्षेत्र में प्रवेश करेगा। सम्प्रज्ञात समाधि सत्त्व गुण की विशिष्ट देन है। इस स्थिति में पहुँचा साधक अनन्त सुख-सौभाग्य और सिद्धियों का स्वामी तो बन जाता है, किन्तु साधना का अन्तिम लक्ष्य कैवल्य-प्राप्ति की स्थिति अभी शेष रह जाती है। मोक्षकामी साधक साधना को आगे बढ़ाता है और वह त्रिगुणातीत स्थिति में पहुँचकर योगसाधना के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष, जिसे योगशास्त्र में 'कैवल्य' कहा गया है, प्राप्त कर जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। 'कैवल्य' 'असम्प्रज्ञात समाधि' द्वारा प्राप्त होता है। 'असम्प्रज्ञात समाधि' योगसाधना का अन्तिम पड़ाव है।

स्मरणीय बिंदु -

1. प्रतिप्रसव का अर्थ - गुणों का कारण में विलीन होना

- प्रतिप्रसव का शाब्दिक अर्थ है - मूल कारण में वापस लौट जाना।
- पुरुष के लिए भोग और मोक्ष का प्रयोजन पूरा हो जाने पर प्रकृति के तीनों गुण अपने मूल कारण प्रधान में लीन हो जाते हैं।
- सृष्टि के विकास क्रम प्रसव का उलट जाना ही प्रतिप्रसव कहलाता है।

2. आत्मा की विशुद्ध अवस्था - स्वरूपप्रतिष्ठा

- प्रतिप्रसव के ठीक बाद पुरुष, बुद्धि और चित्त के बंधनों से पूरी तरह मुक्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाता है।
- चित्त के नष्ट हो जाने पर आत्मा को सुख-दुःख या किसी भी अन्य सांसारिक वृत्ति का आभास नहीं होता।

- इस परम विशुद्ध और निर्विकार अवस्था को ही योगदर्शन में 'कैवल्य' कहा गया है।

3. चितिशक्ति का स्वरूप -

- कैवल्य की अवस्था में केवल चितिशक्ति ही शेष रह जाती है, जो स्वयं के प्रकाश से प्रकाशित होती है।
- इस अवस्था में चित्त का कोई अस्तित्व नहीं बचता, जिससे गुणों के परिणामों का क्रम हमेशा के लिए रुक जाता है।
- यह आत्मा की अत्यंत स्वतंत्र, अचल और अनंत काल तक रहने वाली अपनी मूल स्थिति है।

15 अंक के प्रश्न -

1. योगदर्शन के अंतिम सूत्र ''पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं, स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति'' के आलोक में प्रतिप्रसव और कैवल्य का वास्तविक दार्शनिक स्वरूप सविस्तार स्पष्ट कीजिए।
2. चित्त के तीनों गुणों का अपने मूल कारण प्रकृति में विलीन होना प्रतिप्रसव क्यों कहलाता है? पुरुषार्थ की समाप्ति से इसका क्या संबंध है? तार्किक विवेचना कीजिए।
3. कैवल्य की अवस्था में चितिशक्ति – पुरुष या आत्मा की स्थिति की समीक्षा कीजिए। स्पष्ट कीजिए कि जीवन्मुक्त और विद. ेहमुक्त अवस्था में कैवल्य का स्वरूप किस प्रकार चरितार्थ होता है।

5 अंक के प्रश्न -

1. योगदर्शन में वर्णित प्रतिप्रसव शब्द का शाब्दिक और दार्शनिक अर्थ संक्षेप में समझाइए। यह प्रसव सृष्टि क्रम से किस प्रकार विपरीत है?
2. ''स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेः'' से महर्षि पतंजलि का क्या अभिप्राय है? कैवल्य काल में द्रष्टा अपने किस रूप में स्थित होता है?
3. 'पुरुषार्थशून्यता' किसे कहते हैं? गुणों का कार्य पुरुष के लिए कब समाप्त हो जाता है? संक्षेप में लिखिए।
4. गुणातीत होने पर चित्त और पुरुष के संबंध का क्या परिणाम होता है? स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार योगदर्शन का अंतिम चरम लक्ष्य निम्नलिखित में से क्या है?

(क) ऋतम्भरा प्रज्ञा
(ख) सिद्धियों की प्राप्ति
(ग) कैवल्य या मोक्ष
(घ) चित्त विक्षेप

2. ''पुरुषार्थशून्यानां गुणानां .....कैवल्यम्।'' रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए सही दार्शनिक पद चुनिए:

(क) परिणाम:
(ख) प्रतिप्रसवः
(ग) संयोग:
(घ) निरोध:

3. जब चित्त के तीनों गुण पुरुष के लिए कोई कार्य शेष न रहने पर अपने मूल कारण प्रकृति में विलीन हो जाते हैं, तो उस स्थिति को क्या कहते हैं?

(क) प्रसव
(ख) प्रतिप्रसव
(ग) विक्षेप
(घ) अभ्यास

4. ''स्वरूपप्रतिष्ठा वा .....।'' कैवल्य की स्थिति में किसकी अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थिति होती है?

(क) चित्तशक्तेः
(ख) चितिशक्तेः (पुरुष)
(ग) बुद्धिः
(घ) अहंकारस्य

5. महर्षि पतंजलि योगसूत्र का अंतिम सूत्र (पुरुषार्थशून्यानां...) कैवल्यपाद का कौन सा सूत्र है?
(क) 31वां सूत्र
(ख) 34वां सूत्र
(ग) 195वां सूत्र
(घ) 51वां सूत्र।

॥ ओ३म् ॥

वैदिकेतर दर्शन

BDPHMN—102

दिव्य प्रकाशन

वैदिकेतर
BDPHMN—102

Credits – 03

Marks – 100 (30+70)

उद्देश्य-

- चार्वाक दर्शन की दार्शनिक अवधारणाओं का परिचय कराना।
- जैन दर्शन की आधारभूत अवधारणाओं का परिचय कराना एवं इसके विभिन्न सम्प्रदायों का परिचय कराना।
- बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धान्तों से अवगत कराना एवं इसके प्रमुख सम्प्रदायों (शून्यवाद, विज्ञानवाद, वैभाषिक, सौत्रान्तिक)का परिचय कराना।

परिणाम-

- वैदिक दर्शन से भिन्न भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों से विद्यार्थियों का परिचय होगा
- आस्तिकता, नास्तिकता, आत्मा एवं सृष्टि प्रक्रिया समझने के लिए अन्य भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलनात्मक जानकारी प्राप्त होगी।
- भारतीय दर्शनों की सम्पूर्ण अवधारणाओं एवं सिद्धान्तों को विस्तारपूर्वक समझने का अवसर प्राप्त होगा।

इकाई प्रथम- चार्वाक दर्शन- प्रर्वतक, ज्ञान मीमांसा, जगत सम्बन्धी विचार, आत्म सम्बन्धी विचार, ईश्वर सम्बन्धी विचार, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक आदि सम्बन्धी विचार, आचार मीमांसा, चार्वाक का योगदान, चार्वाक दर्शन की समीक्षा।

इकाई द्वितीय- जैन दर्शन- प्रवर्तक, अर्थ एवं नामकरण, जैन साहित्य, तत्व मीमांसा, अनेकान्तवाद, सत् का स्वरूप, ज्ञान मीमांसा, स्याद्वाद, कर्म सम्बन्धी विचार, महाव्रत, त्रिरत्न, बंधन एवं मोक्ष, जैन दर्शन की समीक्षा।

इकाई तृतीय- बौद्ध दर्शन- चार आर्य सत्य, सम्यक समाधि, कारणता सम्बन्धी सिद्धान्त अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद, अनात्मवाद, सत् सम्बन्धी विचार अथवा क्षणिकवाद, निर्वाण का स्वरूप, अव्यक्तानि, अपोहवाद, बौद्ध मत के धार्मिक सम्प्रदाय।

निर्धारित पाठ्यपुस्तक- सर्वदर्शन संग्रह, प्रो. उमाशंकर शर्मा (ऋषि) प्रकाशक-चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
खण्ड-1 चार्वाक दर्शन	**6-21**
इकाई-1.1 प्रर्वतक, ज्ञान मीमांसा, जगत सम्बन्धी विचार,	6-10
इकाई-1.2 आत्म सम्बन्धी विचार, ईश्वर सम्बन्धी विचार,	11-13
इकाई-1.3 पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक आदि सम्बन्धी विचार, आचार मीमांसा,	14-17
इकाई-1.4 चार्वाक का योगदान, चार्वाक दर्शन की समीक्षा।	18-21
खण्ड-2 जैन दर्शन	**22-37**
इकाई-2.1 प्रवर्तक, अर्थ एवं नामकरण, जैन साहित्य,	22-24
इकाई-2.2 तत्व मीमांसा, अनेकान्तवाद, सत् का स्वरूप,	25-28
इकाई-3.3 ज्ञान मीमांसा, स्याद्वाद, कर्म सम्बन्धी विचार,	29-30
इकाई-3.4 महाव्रत, त्रिरत्न, बंधन एवं मोक्ष, जैन दर्शन की समीक्षा।	31-37
खण्ड-3 बौद्ध दर्शन	**38-50**
इकाई-3.1 चार आर्य सत्य,	38-42
इकाई-3.2 सम्यक समाधि,	43-44
इकाई-3.3 कारणता सम्बन्धी सिद्धान्त अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद,	45-47
इकाई-3.4 अनात्मवाद, सत् सम्बन्धी विचार अथवा क्षणिकवाद,	48-50
खण्ड-4 बौद्ध सम्प्रदाय	**51-62**
इकाई-4.1 निर्वाण का स्वरूप,	51-52
इकाई-4.2 अव्यक्तानि,	53-55
इकाई-4.3 अपोहवाद,	56-57
इकाई-4.4 बौद्ध मत के सम्प्रदाय।	58-62

इकाई 1

चार्वाक दर्शन

(Charvaka Darshan)

पाठ्यक्रम के मुख्य बिन्दु

- ज्ञान मिमांसा- **(Epistemology)**
  (अ) प्रमा (Real Knowledge)
  (ब) प्रमय (Object of Knowledge)
  (स) प्रमाण (Source of Real Knowledge)
  (i) प्रत्यक्ष (Perception)
  (ii) अनुमान का खण्डन (Refutation of Inference)
  (iii) शब्द का खण्डन (Refutation of Words)
  (iv) उपमान का खण्डन (Refutation of Upmana)
- तत्व मीमासा **(Metaphysics)**
  (अ) सत् का मापदण्ड (Criterion of Reality)
  (ब) भौतिकवाद या जड़वाद (Materialism)
  (स) देहात्मवाद (Dehatmavada)
  (द) अनी वरवाद (Atheism)
- आचार मीमांसा **(Ethics)**
  (अ) सुखवाद (Hedonism)
  (ब) धर्म और मोक्ष का खण्डन (Refutation of Dharina & Moksh)
  (स) स्वर्ग-नरक का खण्डन (Refumation of Heavan & Hell)

प्रस्तावना

चार्वाक दर्शन भारतीय पम्परा में नास्तिक शिरोमणि दर्शन के रूप में प्रसिद्ध है, क्योंकि यह दर्शन न केवल वेदों के प्रति अनास्था रखता है बल्कि उनकी घोर निन्दा भी करता है। चार्वाक दर्शन को नास्तिक शिरोमणि कहने के दो कारण हैं-

प्रथम कारण- यह वेदों का विरोध करता है तथा उन्हें प्रामाणिक नहीं मानता। कहा भी गया है 'नास्तिको वेद निन्दक'।

दूसरा कारण- यह ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म, अदृष्ट, स्वर्ग-नरक की सत्ता में विश्वास नहीं करता। यद्यपि जैन, बौद्ध दर्शन भी नास्तिक दर्शन हैं, किन्तु जैन दर्शन में जीव, मोक्ष, पुनर्जन्म, पूर्वजन्म, अदृष्ट आदि को तथा बौद्ध दर्शन में निर्वाण, अविद्या, पुनर्जन्म आदि की सत्ता को स्वीकार किया गया है। इसीलिये चार्वाक दर्शन ही केवल नास्तिक शिरोमणि दर्शन है।

इस दर्शन की पृष्ठभूमि में सन्देहवाद क्रियाशील रही है। कुछ वैदिक मतों जैसे-भौतिकवाद, अक्रियावाद, यदृच्छावाद, नियतिवाद और स्वभाववाद आदि ने दु:ख निवृत्ति के आध्यात्मिक साधन को बदल डाला। स्थूल और भौतिक दृष्टि से सत् का निर्धारण कर दु:ख निवृत्ति के स्थूल साधनों की स्थापना की गई। चार्वाक दर्शन इसी भौतिकवाद की स्थापना करता है।

प्रवर्तक- चार्वाक दर्शन के प्रवर्तक के विषय में कोई निश्चित मत नहीं है तथापि अधिक प्रामाणिक मत यही है कि बृहस्पति ने दानवों को इसी मत का उपदेश दिया था। अत: बृहस्पति इस दर्शन के प्रवर्तक थे। यही कारण है कि इसे बार्हस्पत्य दर्शन भी कहते हैं।

मत का प्रारंभ-चार्वाक अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। इसका प्रमाण यह है कि का संकेत बेट बौद्ध साहित्य और पुराण जैसी प्राचीन कृतियों में भी मिलता है। साथ ही काध चार्वाक का खण्डन प्रत्येक भारतीय दर्शन ने किया। इससे सिद्ध होता है कि चार्वाक का विकास उन दर्शनों से पूर्व अवश्य हुआ होगा। चार्वाक दर्शन का नामकरण-इस दर्शन का नाम चार्वाक क्यों पड़ा, जबकि इसे पहले लोकायत की संज्ञा दी जाती थी। इस सम्बन्ध में निम्न धारणाएँ हैं-

(अ) एक मान्यता यह है कि बृहस्पति के शिष्य चार्वाक ऋषि द्वारा प्रचारित होने के कारण इस दर्शन को 'चार्वाक' कहा गया।

(ब) कुछ लोगों का मत है कि चार्वाक शब्द चर्व से बना है जिसका अर्थ है- 'चबाना'। अत: खाने-पीने पर अत्यधिक बल देने के कारण इसका नाम 'चार्वाक' पड़ा।

(स) चार्वाक दो शब्दों, चाक् + वाक् से मिलकर बना है। जिसका अर्थ है, मीठे वचन। क्योंकि चार्वाक के विचार जनता को लुभावने, सुन्दर आकर्षक लगते थे इसलिये इसका नाम चार्वाक पड़ा।

(द) गुणरतन के अनुसार इस मत द्वारा पुण्य-पाप, परोक्ष तथा वस्तु जात के चर्वण (चट कर जाने) कर जाने से इस मत का नाम चार्वाक पड़ा।

चार्वाक दर्शन का कोई प्रामाणिक साहित्य उपलब्ध नहीं है, केवल बृहस्पति के सूत्रों को साहित्य रूप में स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु वे भी अप्राप्य हैं। अन्य दर्शनों के खण्डन पक्ष से इस मत का ज्ञान होता है।

भट्ट जयराशि विरचित तत्त्वोपप्तवसिह में चार्वाक के तथ्यों का हो प्रतिपादन है। यह तर्कबहूल ग्रन्थ १०वीं शताब्दी के आसपास लिखा गया था। इस मत के सिद्धान्तों का परिचय हमें सब दर्शनों के संग्रहात्मक ग्रन्थों से तया न्याय-वैशेषिक, वेदान्त आदि दर्शनों के ग्रन्थों से मिलता है, जिन में ये पूर्वपक्ष के रूप में बहुलतया निविष्ट किये गये हैं। ब्रह्मसूत्र के ३१३१५३-५४ सूत्रों के भाष्य, न्यायमञ्जरी, विवरणप्रमेय-संग्रह, सर्व सिद्धान्त-संग्रह, सर्वमत-संग्रह, बड्दर्शन-समुच्चय तथा इसकी गुणरत्न-कृत टीका, कमलजीलकृत तत्त्वसंग्रह की पञ्जिका, नैषध काव्य का १७वाँ सर्ग, कृष्णायतिमिय-कृत प्रबोध-बन्द्रोदय नाटक (द्वितीय अंक) के अध्ययन करने से इसके मूलभूत तत्त्वों का पता पर्याप्त रूप से चलता है। सर्वदर्शनसंग्रह के प्रथम अध्याय में माधवाचार्य ने चार्वाकमत का प्रतिपादन कुछ विस्तार के साथ किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में चार्वाक दर्शन के मूल ग्रन्थ भी विद्यमान थे, परन्तु इन सिद्धान्तों के प्रति अवहेलना के कारण उन ग्रत्यों का लोप चार्वाक ग्रन्थ हो गया। पतञ्जलि के समय में (वि०पू० द्वितीय शतक)।

खण्ड-1, चार्वाक दर्शन

इकाई-1.1 प्रर्वतक, ज्ञान मीमांसा, जगत सम्बन्धी विचार,

उद्देश्य-

1. चार्वाक दर्शन के प्रवर्तक एवं उसके उद्‌भव को समझना।
2. चार्वाक ज्ञानमीमांसा में प्रत्यक्ष प्रमाण के महत्व का अध्ययन करना।
3. चार्वाक के भौतिकवादी जगत सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण करना।

चार्वाक का सम्पूर्ण दर्शन उसके प्रमाण विज्ञान या ज्ञान मीमांसा पर आधारित है। भारतीय चिन्तन में मुख्य रूप से चार प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमाप, उपमान और शब्द को स्वीकार किया गया है। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही ज्ञान का एकमात्र साधन मानता है। (प्रत्यक्षमेव प्रमाणम) प्रत्यक्ष की परिभाषा देते हुए चार्वाक का कहना है कि इन्द्रियों का विषयों के साथ सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है। चार्वाक मत में प्रमा ज्ञान उसी को कहते हैं जो प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त हो। प्रत्यक्ष के दो प्रकार हैं- बाह्य प्रत्यक्ष तथा मानस या आन्तरिक प्रत्यक्ष। लेकिन जो ज्ञान प्रत्यक्ष के अतिरिक्त प्रमाणों-अनुमान शब्द आदि द्वारा प्राप्त होता है, वह अप्रमा ज्ञान है।

प्रमा- प्रत्यक्ष प्रमाण से उत्पन्न ज्ञान ही प्रमा है।

अप्रमा-जिस ज्ञान का आधार प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं वह सब अप्रमा है।

प्रत्यक्ष को ज्ञान का एकमात्र साधन प्रमाणित करने हेतु चार्वाक अन्य प्रमाणों का खण्डन करते हैं।

अनुमान का खण्डन (Refutation of Inference)

चार्वाक मत के अनुसार-अनुमान निश्चयात्मक प्रमाण नहीं है।

अनुमान प्रमाण का आधार व्याप्ति सम्बन्ध पर आधारित है।

व्याप्ति सम्बन्ध दो भिन्न वस्तुओं के बीच नित्य, अनिवार्य एवं सामान्य सम्बन्ध है।

व्याप्ति सम्बन्ध का खण्डन चार्वाक निम्न आधारों पर करते हैं -

(1) व्याप्ति स्थापना प्रत्यक्ष द्वारा संभव नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष का क्षेत्र सीमित है अत: उससे एक सार्वभौमिक सम्बन्ध का ज्ञान नहीं सकता।

(2) स्वयं व्याप्ति पर निर्भर होने के कारण अनुमान द्वारा भी व्याप्ति स्थापना संभव नहीं। अन्यया अन्योन्याश्रय दोष (Petitio principal) उत्पन्न हो जाएगा।

(3) शब्द भी व्याप्ति की स्थापना नहीं कर सकते क्योंकि ये विश्वासजन्य वाक्य है जो अनुमान पर आधारित हैं।

(4) यह सम्बन्ध (व्याप्ति) कार्य-कारण (Causal) सम्बन्ध (Relation) द्वारा भी स्थापित नहीं की जा सकती क्योंकि कार्य-कारण सम्बन्ध सामान्य होने के कारण स्वयं व्याप्ति ही है।

(5) व्याप्ति एक अनौपाधिक (Unconditional) सम्बन्ध है अत: चार्वाक इसके विरोध में कहते हैं कि जब तक सभी उपाधियों का ज्ञान हुए बिना व्याप्ति की अनौपाधिकता सिद्ध नहीं जा सकती और सभी उपाधियों का ज्ञान असंभव है।

शब्द प्रमाण का खण्डन (Refutation of Words)

किसी आप्त पुरुष द्वारा कहे गए कचन शब्द प्रमाण माने जाते हैं। इस प्रमाण के खण्डन हेतु चार्वाक निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं

1. आप्त पुरुष, उसके कथन केवल विश्वासजन्य हैं इसलिये इनकी प्रमाणिकता केवल अनुमानजन्य होने के कारण निश्चित नहीं।-

2. आप्त पुरुष (विश्वसनीय व्यक्ति) के कथन कभी सत्य और कभी असत्य हो सकते हैं और उनका सत्य होना एक संयोग मात्र है।

3. शब्द श्रवर्णेन्द्रियों द्वारा महण किये जाने से प्रत्यक्ष पर निर्भर करते हैं।-

4. भारतीय दर्शन में वेद, शब्द प्रमाण का अन्तिम एवं स्वत: प्रामाणिक (Self evident) प्रमाण है। इसका घोर विरोध करते हुए चार्वाक दर्शन कहते हैं

(अ) वेदों में विरोधपूर्ण, व्याघातक, अस्पष्ट और असंगत बाक्य उपलब्ध हैं।

(ब) वेद ब्राह्मणों के स्वार्थपूर्ण प्रयोजनों का परिणाम है। वेदों के निर्माता को धूर्त कहा गया है।

(स) वैदिक कर्मकाण्ड एक वृदान्त है।

उपमान प्रमाण का खण्डन (Refutation of Upmana)

दो पृथक् वस्तुओं के परस्पर सादृश्य द्वारा प्राप्त ज्ञान, उपमिति और उस प्रमाण को उपमान कहते हैं। इसके विरोध में चार्वाक का कहना है कि उपमान में सादृश्यता या तुलना एक अनुमानजन्य ज्ञान ही है क्योंकि इसमें पूर्व ज्ञात सादृश्य ज्ञान (श्रुत ज्ञान) के आधार पर वर्तमान में अनुमित किया जाता है। अत: उपमान भी निश्चित प्रमाण नहीं है।

तत्त्व मीमांसा

चार्वाक दर्शन की तत्त्व मीमांसा उसकी ज्ञान भीमांसा पर आधारित है। यथार्थ का एक मात्र साधन प्रत्यक्ष है। जिसका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा संभव है वहीं सत् (Real) है। अत: प्रत्यक्षेत्तर विषय ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नरक, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि को ये सत् की श्रेणी में नहीं रखते हैं।

चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त सभी अन्य भारतीय दर्शनों ने अनुमान को एक स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। अनुमान वह प्रमाण है जिसमें ज्ञात वस्तु के आधार पर अज्ञात वस्तु का ज्ञान होता है। किन्तु ज्ञात वस्तु से अज्ञात का ज्ञान, उन दोनों में पाया जाने वाली व्याप्ति सम्बन्ध पर निर्भर है। व्याप्ति सम्बन्ध दो भिन्न पदार्थों में पाया जाने वाला अनिवार्य, सामान्य एवं नित्य सम्बन्ध (अविनाभाव) है। जैसे जहाँ-जहाँ धुंआ है वहाँ-वहाँ आग है, यहाँ हेतु धुआ है और साध्य अग्नि। हेतु और साध्य में व्याप्ति सम्बन्ध है तभी धुएँ को देखकर अग्नि (अज्ञात) का ज्ञान प्राप्त होता है।

व्याप्ति ज्ञान की असम्भावना के आधार पर चार्वाक अनुमान प्रमाण का खण्डन निम्न आधारों पर करते हैं-

व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा संभव नहीं-चार्वाक की मान्यता है कि हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान क्षेत्र सीमित है। अत: इसके द्वारा सामान्य सार्वभौमिक सम्बन्ध का ज्ञान संभव नहीं। चार्वाक के इस विरोध के प्रतित्युत्तर में यदि न्याय यह कहे कि सभी धूमवान पदायों को अग्नि युक्त देखना संभव नहीं होने पर भी धूम सामान्य और अग्नि सामान्य (Firencs) का ज्ञान, विशेष धुएँ और अग्नि द्वारा हो सकता है।

इस प्रकार किन्तु चार्वाक सामान्य की सत्ता को स्वीकार नहीं करते क्योंकि सामान्य का जान शायक्ष द्वारा संभव नहीं। हमें केवल विशेषों का ही प्रत्यक्ष होता है अत: वो सम्बन्ध सीमित निरीक्षण का परिणाम है उसे सर्वकालीन और सर्वदेशीय बनना तर्क संगत नहीं।

किन्तु इस पर न्याय आपत्ति करते हैं कि यदि व्याप्ति का सार्वभौमिक प्रत्यक्ष संभव होता तो न व्याप्ति की आवश्यकता होती और न ही अनुमान प्रमाण की आवश्यकता होती। वास्तविकता यह है कि सभी प्रत्यक्ष मनुष्य के लिये एक साथ संभव नहीं है, इसीलिए अनुमान की आवश्यकता है। अत:

चार्वाक मत तर्क संगत नहीं।

अनुमान द्वारा व्याप्ति ज्ञान असंभव व्याप्ति का ज्ञान अनुमान से भी संभव नहीं क्योंकि अनुमान स्वयं व्याप्ति पर निर्भर है। ऐसा करने पर अन्योन्याश्रय का दोष उत्पन्न हो जाता है। शब्द भी व्याप्ति ज्ञान स्थापित नहीं कर सकते क्योंकि शब्द विश्वास पर आधारित है और विश्वास अनुमान का परिणाम है। कार्य-कारण द्वारा भी व्याप्ति की स्थापना नहीं हो सकती क्योंकि कार्य-कारण सम्बन्ध भी सामान्य होने के कारण व्याप्ति ही है। चार्वाक के अनुसार यदि अनुमान द्वारा विशेष वस्तु का ज्ञान होता है तो वह अनुमान नहीं क्योंकि अनुमान का विषय सामान्य होता है। यदि ऐसा है तो अनुमान में सिद्ध साध्यता का दोष आ जाता है क्योंकि अनुमान का विषय पहले से ही सिद्ध है तो उसे पुनः सिद्ध करने से सिद्ध साध्यता का दोष उत्पन्न हो जाता है। चार्वाक मत में व्याप्ति की अनौपाधिकता की पूर्ण सिद्धि संभव नहीं। व्याप्ति सम्बन्ध रभी संभव है जब हम दो वस्तुओं की सभी उपाधियों को जान लें किन्तु सभी उपाधियों को जानना संभव नहीं। अतः जब व्याप्ति ही निश्चित नहीं तो उस पर आधारित अनुमान कैसे निश्चित प्रमाण माना जा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि चार्वाक अनुमान को दैनिक जीवन में स्वीकार करते हैं किन्तु निश्चित प्रमाण स्वीकार नहीं करते।

जगत सम्बन्धी विचार (The Concept of World)- जगत सम्बन्धी चार्वाक मद को जड़वाद या भौतिकवाद (Materialism) कहा जाता है। भौतिकवाद वह तत्त्वमीमांसीय विचारधारा है जिसके अनुसार जगत का एकमात्र परम तत्त्व जड़ है। चेतन तत्त्व भी बड़ की उत्पत्ति है। चार्वाक दर्शन के अनुसार जगत के सभी चेतन और अचेतन वस्तुओं की उत्पत्ति, यास प्रकार के भूतों पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के परमाणुओं से हुई है। जगत इन्हीं भूतों के आकस्मिक संयोजन का फल है। जगत इन चारों परमाणुओं के स्वाभाविक संयोग (बिना किसी निमित्त कारण) का परिणाम है। चार्वाक का यह मत स्वभाववाद कहलाया है।

चार्वाक यंत्रवाद (यदृच्छावाद) का समर्थन करते हैं। यंत्रवाद कार्य-कारण भात्र को अस्वीकार करते हुए जगत की उत्पत्ति के पीछे किसी प्रयोजन को स्वीकार नहीं करते। जगत की वस्तुएँ ज्ञाता से स्वतंत्र हैं। जगत की उत्पत्ति के पीछे किसी प्रयोजन को चार्वाक स्वीकार नहीं करते। जगत की उत्पत्ति निष्मयोजन है। इनका यह मत यंत्रवाद कहलाता है। चार्वाक द्व ारा मान्य परमाणु तन्मात्र रूप नहीं बल्कि स्यूल रूप (त्रस रेणु) रूप है, जो प्रत्यक्षगोचर होते हैं। जगत की उत्पत्ति के पीछे किसी प्रयोजन को चार्वाक स्वीकार नहीं करते। जगत की उत्पत्ति निष्मयोजन है। जगत की उत्पत्ति के पीछे किसी प्रयोजन को चार्वाक स्वीकार नहीं करते। इनका यह मत यंत्रवाद कहलाता है। चार्वाक द्वारा मान्य परमाणु तन्मात्र रूप नहीं बल्कि स्यूल रूप (त्रस रेणु) रूप है, जो प्रत्यक्षगोचर होते हैं। जगत की उत्पत्ति निष्मयोजन है। इनका यह मत यंत्रवाद कहलाता है। चार्वाक द्वारा मान्य परमाणु तन्मात्र रूप नहीं बल्कि स्यूल रूप (त्रस रेणु) रूप है, जो प्रत्यक्षगोचर होते। चार्वाक द्वारा मान्य परमाणु तन्मात्र रूप नहीं बल्कि स्यूल रूप (त्रस रेणु) रूप है, जो प्रत्यक्षगोचर होते हैं।

स्मरणीय बिंदु-

- प्रत्यक्ष ही ज्ञान का एकमात्र साधन है।
- अनुमान निश्चित प्रमाण नहीं है।
- चार्वाक दर्शन भौतिकवादी दर्शन है।
- जगत चार तत्वों - पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु - से बना है।
- वेद अप्रामाणिक माने गए हैं।

शब्दावली-

शब्द		अर्थ
प्रत्यक्ष	–	इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान
अनुमान	–	तर्क द्वारा प्राप्त ज्ञान
लोकायत	–	चार्वाक दर्शन का दूसरा नाम
भौतिकवाद	–	पदार्थ को ही सत्य मानने वाला सिद्धांत
प्रमाण	–	ज्ञान प्राप्ति का साधन

5 अंक के प्रश्न–

1. चार्वाक दर्शन के प्रवर्तक कौन थे?
2. प्रत्यक्ष प्रमाण से क्या अभिप्राय है?
3. चार्वाक द्वारा अनुमान का खण्डन स्पष्ट कीजिए।
4. चार्वाक दर्शन को भौतिकवादी दर्शन क्यों कहा जाता है?
5. लोकायत शब्द का अर्थ बताइए।

15 अंक के प्रश्न–

1. चार्वाक ज्ञानमीमांसा का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. चार्वाक दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण के महत्व का विवेचन कीजिए।
3. चार्वाक दर्शन के जगत सम्बन्धी विचारों की व्याख्या कीजिए।
4. चार्वाक द्वारा शब्द एवं उपमान प्रमाण के खण्डन का विश्लेषण कीजिए।
5. चार्वाक दर्शन की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. चार्वाक दर्शन का दूसरा नाम क्या है?

(क) वेदान्त

(ख) लोकायत

(ग) सांख्य

(घ) योग

2. चार्वाक किस प्रमाण को स्वीकार करता है?

(क) अनुमान

(ख) शब्द

(ग) प्रत्यक्ष

(घ) उपमान

3. चार्वाक दर्शन किस प्रकार का दर्शन है?

(क) आध्यात्मिक

(ख) भौतिकवादी

(ग) अद्वैतवादी

(घ) आस्तिक

4. चार्वाक दर्शन में जगत किससे बना माना गया है?

(क) पंचमहाभूत

(ख) आत्मा

(ग) चार तत्व

(घ) ब्रह्म

5. वेदों को चार्वाक क्या मानता है?

(क) प्रमाण

(ख) अप्रामाणिक

(ग) दिव्य

(घ) शाश्वत

इकाई-1.2 आत्म सम्बन्धी विचार, ईश्वर सम्बन्धी विचार

उद्देश्य-

1. चार्वाक के आत्मा सम्बन्धी विचारों को समझना।
2. चार्वाक दर्शन के निरीश्वरवाद का अध्ययन करना।
3. देहात्मवाद की अवधारणा का विश्लेषण करना।

आत्मा कोई आध्यात्मिक नित्य, अपरिवर्तनशील सत्ता नहीं है। बल्कि चेतना एक आकस्मिक (Accidental) गुण है जो भौतिक परमाणुओं से उसी प्रकार उत्पन्न होता है जिस प्रकार चूना, कत्था, पान और सुपारी के मिश्रण से लाल रंग की उत्पत्ति होती है। चेतना शरीर का आकस्मिक गुण है। अत: चार्वाक के अनुसार वैतरा विशिष्ट देह ही आत्या है। इसीलिये चार्वाक के आत्मा सम्बन्धी विचारों को देहात्मवाद या भूतचैतन्यवाद कहा जाता है। देह नाश के साथ आत्मा भी नष्ट हो जाती है। चार्वाक का जगत से सम्बन्धित यह सिद्धान्त जड़वाद या भौतिकवाद कहलाता है, जिसके अनुसार जगत की सभी चेतन, अचेतन वस्तुओं की उत्पत्ति चार प्रकार के भूतों अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु से हुई है। आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिये प्रत्यक्षगोचर भार भूत से हो जगत की उत्पत्ति होती है। सृष्टि क्रिया इन भूतवतुष्श्य का स्वभाव है। यह मत **स्वभाववाद** कहलाता है।

आत्मा का स्वरूप चार्वाक ने किसी आध्यात्मिक, अपरिवर्तनशील, अविनाशी, इन्द्रयातीत आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं किया क्योंकि ऐसी किसी आत्मा का प्रत्यक्ष बोध नहीं होता। उनके मतानुसार भूत चतुष्ट्य के संघठन विशेष द्वारा देश की उत्पत्ति होती है और उसी के साथ देह में चेतना नामक गुण की उत्पत्ति ठीक उसी प्रकार होती है जिस प्रकार चूना, कत्था, सुपारी और पान के मिश्रण को चबाने से लाल रंग की उत्पत्ति होती है। चेतना देह का आगन्तुक गुण है। अत: चेतना विशिष्ट देह ही आत्या है। इस चैतन्य युक्त देह का ज्ञान मानस प्रत्यक्ष से होता है। इस मत को **देहात्मवाद** कहते हैं। देहात्मवाद के अनुसार शरीर के नाश के साथ चेतना भी नाह हो जाती है अत: आमा न तो नित्य है और न उसका पुनर्जन्म होता है और न परलोक जैसी कोई सत्ता है।

ईश्वर सम्बन्धी विचार (Concept of God)- चार्वाक दर्शन ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा ईश्वर का ज्ञान न तो सुष्टि कर्ता, न कर्म फलदाता न सर्वशक्तिमान रूप में होता है। जगत की उत्पत्ति के पीछे कोई प्रयोजन भी नहीं इसीलिए निमित्त कारण रूप में भी उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। चार्वाक का यह मत अनीश्वरवाद (Atheism) कहलाता है। चार्वाक अनीश्वरवादी दर्शन है। वे किसी सर्वशक्तिमान चेतन सत्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। क्योंकि ऐसी किसी सत्ता का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। निमित्त कारण रूप में ईश्वर की सत्ता केवल अनुमान जनित है और अनुमान एक निश्चित प्रमाण नहीं है। वेद स्वयं अप्रामाणिक है इसलिये वेदों में वर्णित ईश्वर की सत्ता भी प्रमाण संगत नहीं है। जगत की उत्पत्ति चारों परमाणुओं का स्वाभाविक परिणाम है अत: निमित्त कारण के रूप में ईश्वर की सता की आवश्यकता नहीं।

आचार मीमांसा (Ethics)

चार्वाक का नैतिक सिद्धान्त सुखवाद (Hedonism) कहलाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार सुख (स्थूल) ही जीवन का परम लक्ष्य है। चार्वाक ने भारतीय परम्परागत जीवन के पुरुषार्थ धर्म और मोक्ष का खण्डन काले केवल अर्थ और काम को ही स्वीकार किया।

धर्म के सम्बन्ध में चार्वाक दर्शन का कहना है कि धर्म और अधर्म का ज्ञान वेदों के द्वारा होता है और वेद अप्रमाणिक हैं। धार्मिक कृत्य और कर्मकाण्ड ब्राह्मणों की स्वार्थपूर्ति का साधन मात्र है। कर्म सिद्धान्त को भी चार्वाक स्वीकार नहीं करते क्योंकि उनके मत में यह सिद्धान्त केवल समान को व्यवस्थित और मनुष्य को आशावान बनाने वाला एक काल्पनिक सिद्धान्त है। मोक्ष के सम्बन्ध में चार्वाक दार्शनिकों का मत है कि मोक्ष (दु:खों से छुटकारा) इस जीवन में संभव नहीं। शरीर रहते हुए दु:खों से छुटकारा पाना संभव नहीं ऐसा तो मृत्योपरान्त ही संभव है। किंतु कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति मृत्यु की कामना नहीं कर सकता अत: नोक्ष

को कभी जीवन का लक्ष्य या पुरुषार्थ नहीं बनाया जा सकता। इसीलिये चार्वाक के मत में अर्थ और काम ही जीवन का लक्ष्य है। कान जीवन का काम पुरुषार्थ है और अर्थ (धान) उसकी प्राप्ति का एक मात्र साधन। सुख की प्राप्ति के लिये कोई भी मार्ग (साधान) अपनाया जा सकता है। चार्वाक दर्शन का मूल सिद्धान्त-खाओ, पिओ और मौज उड़ाओ। जब तक जिऐं सुख से जिऐं। बुद्धिमान व्यक्ति वही है जो दु:खों में से सुखों को प्राप्त कर ले।

स्मरणीय बिंदु-

- आत्मा शरीर से अलग सत्ता नहीं है।
- चेतना शरीर का गुण है।
- चार्वाक निरीश्वरवादी दर्शन है।
- ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं है।
- देहात्मवाद चार्वाक का मुख्य सिद्धांत है।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
देहात्मवाद	-	शरीर को ही आत्मा मानना
निरीश्वरवाद	-	ईश्वर का निषेध
चेतना	-	ज्ञान एवं अनुभव की शक्ति
आत्मा	-	जीव का तत्व
आकस्मिक गुण	-	संयोग से उत्पन्न गुण

5 अंक के प्रश्न-

1. देहात्मवाद क्या है?
2. चार्वाक आत्मा को कैसे परिभाषित करता है?
3. चार्वाक दर्शन ईश्वर को क्यों नहीं मानता?
4. निरीश्वरवाद से क्या अभिप्राय है?
5. चेतना को चार्वाक किस प्रकार समझाता है?

15 अंक के प्रश्न-

1. चार्वाक दर्शन के आत्मा सम्बन्धी विचारों का वर्णन कीजिए।
2. चार्वाक के निरीश्वरवाद का समालोचनात्मक विवेचन कीजिए।
3. देहात्मवाद की व्याख्या कीजिए।
4. चार्वाक दर्शन में चेतना की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
5. चार्वाक दर्शन में आत्मा एवं ईश्वर सम्बन्धी विचारों की समीक्षा कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. चार्वाक दर्शन आत्मा को क्या मानता है?

(क) ब्रह्म

(ख) शरीर

(ग) परमात्मा

(घ) जीवात्मा

2. चार्वाक दर्शन किसे स्वीकार नहीं करता?

(क) प्रत्यक्ष

(ख) शरीर

(ग) ईश्वर

(घ) सुख

3. चेतना किसका गुण है?

(क) आत्मा

(ख) शरीर

(ग) ब्रह्म

(घ) आकाश

4. चार्वाक दर्शन का स्वरूप क्या है?

(क) आस्तिक

(ख) अद्वैतवादी

(ग) निरीश्वरवादी

(घ) योगवादी

5. देहात्मवाद का संबंध किससे है?

(क) ईश्वर

(ख) आत्मा

(ग) वेद

(घ) मोक्ष

इकाई-1.3 पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक आदि सम्बन्धी विचार, आचार मीमांसा,

उद्देश्य-

1. चार्वाक के पुनर्जन्म सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करना।
2. चार्वाक की सुखवादी नैतिकता को समझना।
3. स्वर्ग-नरक सम्बन्धी अवधारणाओं का विश्लेषण करना।

चार्वाक आत्मा की नित्यता में विश्वास नहीं करते, शरीर का एक आकस्मिक गुण होने के कारण मृत्यु के बाद चेतना भी समाप्त हो जाती है। अतः पुनर्जन्म तथा पूर्वजन्म को चार्वाक स्वीकार नहीं करते। पूर्वजन्म अगर होता तो उसकी हमें स्मृति रहती, किन्तु ऐसी कोई स्मृति हमें नहीं रहती।

प्राणिमात्र के लिए जीवन कर उद्देश्यऐहिक सुख की प्राप्ति होना चाहिए। लौकिक मुख आधिभौतिक ही जीवन का चरम लक्ष्य है और उसकी प्राप्ति अर्थ के हो सुख द्वारा हो सकती है, अतः अर्थ और काम दो ही पुरुषार्थ हैं। चार्वाकों का यह कथन सर्वत्र प्रसिद्ध है कि जब तक जीए, सुखपूर्वक जीए। अपने पास घृत न होने पर ऋण लेकर घृत पीए-आनन्द से मालपुवा चामे। ऋण के लौटाने की व्यर्य चिन्ता न करे, क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने पर भला जीव का पुनरागमन होता है? अतः खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ, यही जीवन का आत्यन्तिक लक्ष्य है। दुःख से मिश्रित होने से सुख त्याज्य नहीं है? विशुद्ध सुख की सत्ता जगत् में नहीं है। तो क्या मिश्रित सुख की चाह हमें नहीं करनी चाहिए? जिस प्रकार मछली खानेवाला कांटे-युक्त मछलियों को ग्रहण कर लेता है और अन्य अंश को छोड़ देता है, जैसे धान्य को चाहने वाला पुरुष पलाल से युक्त धान्य को बहण कर उपादेय अंश को ले लेता है, उसी प्रकार सुखार्थी दुःख से मिश्रित सुख को ग्रहण करता है और उपादेय भाग को लेकर ही तृप्ति-ताम करता है। यह तो मूर्खता की पराकाष्ठा हो ठहरी कि दुःख के भय से सुख का सर्वचा त्याग किया जाय। जगत् में मृग है, तो उनके डर से क्या ध ान नहीं रोपे जाते? माँगनेवाले भिक्षुओं की सत्ता बनी हुई है, तो बया भोजन बनाने के लिए आग पर हाँड़ी न चढ़ायी जाय? विषय के संगम से उत्पन सुख दुःख के साथ होने से त्याज्य है यह मुखों का विचार है। क्या कोई हितेच्छु सफेद, सुन्दर कणों से युक्त धान को इसी कारण छोड़ देता है कि उनके उपर भूसी का हलका छिलका लगा रहता है। सारांश यही है कि जीवन भोगविलास के साथ सुख की प्राप्ति में बिताना चाहिए। स्वर्ग-नरक तो इसी जगत् में विद्यमान है।

चार्वाक किसी परलोक की सत्ता में विश्वास नहीं करता, क्योंकि ऐसी किसी सत्ता का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा नहीं होता। आत्मा कोई शाश्वत सत्ता नहीं है बल्कि देह का एक आकस्मिक गुण है जो देह नाश के साथ समाप्त हो जाती है। अतः न तो पूर्वजन्म था न पुनर्जन्म होगा। स्वर्ग-नरक धूर्त पण्डितों की कल्पना मात्र है। चार्वाक दर्शन की धारणा है कि सुख ही स्वर्ग है तथा दुःख ही नरक है। सुखमेव स्वर्गम् तथा दुःखमेव नरकम्।

चार्वाकों ने इन्द्रिय सुख और स्वार्थ-सुख को अपनाने का आदेश दिया है। मानव को वर्तमान में अधिक-से-अधिक निजी सुख को अपनाना चाहिए। भूत बीत चुका है। भविष्य संदिग्ध है। वर्तमान ही केवल निश्चित है, अतः इन्द्रिय-सुख अर्थात् शारीरिक सुख पर अत्यधिक जोर देने के फलस्वरूप हो चार्वाक निन्दा का विषय हो गया है। परन्तु आलोचकों को यह जानना चाहिये कि सभी चार्वाक इन्द्रिय सुख की कामना नहीं करते थे, यथा-

यावज्जीवेत् सुखं जीवेद ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

चार्वाक सम्प्रदाय- सुखवाद को लेकर चार्वाक में दो सम्प्रदाय हो गए हैं।

(१) धूर्त चार्वाक (Cunning Hedonist)

(२) सुशिक्षित चार्वाक (Cultured Hedonist)

धूर्त चार्वाक शारीरिक सुख को प्रधाानता देते हैं। परन्तु सुशिक्षित चार्वाक निम्नकोटि के सुखवादी नहीं थे। उन्होंने सुखों के बीच गुणात्मक भेद किया है। मदिरा पान से प्राप्त सुख, अधययन से प्राप्त सुख से तुच्छ है। चार्वाकों में कुछ ऐसे भी लोग हैं जिन्होंने आत्म-संयम पर जोर दिया है। उन्होंने चौसठ कलाओं के विकास में सहायता प्रदान की है। उन्होंने नैतिकता में भी विश्वास किया है तथा धार्म (virtue), अर्थ (wealth), काम (enjoyment) को जीवन का आदर्श माना है। अत: सुख को जीवन का लक्ष्य मानने के कारण सभी चार्वाकों को पूणित समझना अमान्य प्रतीत होता है।

चार्वाक मत की आलोचना

1. अनुमान की भांति प्रत्यक्ष भी भ्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न करता है जैसे रेगिस्तान में मारीचिका। तब प्रत्यक्ष को भी निश्चित प्रमाण कैसे माना जा सकता है।
2. चार्वाक द्वारा यह कहना कि सभी प्रत्यक्ष निश्चियात्मक ज्ञान प्रदान करते हैं, एक अनुमान पर ही आधारित है।
3. चार्वाक द्वारा अनुमान प्रमाण के खण्डन में विरोधाभास (Paradox) है क्योंकि आत्मा, ईश्वर आदि के खण्डन में वह स्वयं अनुमान प्रमाण की सहायवा लेता है।

चार्वाक दर्शन अनुमान के आधार व्याप्ति सम्बन्ध का खण्डन निम्न प्रकार करते हैं-

1. व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान प्रत्यक्ष से संभव नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष का क्षेत्र सीमित होने के कारण उससे सार्वभौमिक सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो सकता।

इस पर यदि न्याय कहे कि विशेषों में घूमत्व और अग्नित्व के सामान्य का ज्ञान हो सकता है तो चार्वाक के अनुसार चार प्रत्यक्ष का विषय विशेष वस्तु है न कि सामान्य। अनुमान का विषय सामान्य है तो उसमें सिद्ध साध्यता का दोष उत्पन्न हो जाता है क्योंकि इसमें जो पहले से ही सिद्ध हो उसे पुन: सिद्ध किया जाता है। अत: सीमित निरीक्षण द्वारा प्राप्त निष्कर्ष को सार्वभौमिक निष्कर्ष में परिणित करना तर्क संगत नहीं।

2. चार्वाक मतानुसार अनुमान भी व्याप्ति की स्थापना नहीं कर सकता, क्योंकि वह स्वयं व्याप्ति सापेक्ष है। ऐसा करने पर अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न हो जाता है।
3. शब्द भी व्याप्ति स्थापना नहीं कर सकते क्योंकि यह प्रमाण विश्वास पर आधाारित है और विश्वास अनुमान का परिणाम है।
4. कार्य-कारण सम्बन्ध स्वयं सामान्य होने के कारण व्याप्ति ही है अत: वें व्याप्ति की स्थापना नहीं कर सकते।
5. व्याप्ति की निश्चितता का एक महत्वपूर्ण आधार है अनौपाधिकता। किन्तु चार्वाक मतानुसार सभी उपाधियों का ज्ञान संभव नहीं है।

शब्द प्रमाण का खण्डन किसी भी आप्त पुरुष या विश्वसनीय पुरुष के कचन शब्द प्रमाण माने जाते हैं। चार्वाक इस प्रमाण का खण्डन करते हुए कहते हैं-

1. शब्द प्रमाण अनुमानाधारित है और अनुमान संदिग्ध है।
2. विश्वसनीय व्यक्ति के कथनों का सत्य होना एक संयोग मात्र है।
3. शब्द स्वयं प्रत्यक्ष पर निर्भर करते हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष विषयों से सम्बन्धित शब्द हो तो चार्वाक स्वीकार करते हैं किन्तु वे प्रत्यक्ष से वाधय नहीं।
4. वैदिक शब्द प्रत्यक्ष से परे सत्ताओं की सूचना देते हैं जिन्हें चार्वाक धूर्त, स्वार्थी पण्डित द्वारा रचित विरोधपूर्ण, व्याघातक, अस्पष्ट, असंगत परिकल्पना मात्र कहते हैं।

स्मरणीय बिंदु-

- चार्वाक पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करता।
- सुख ही जीवन का परम लक्ष्य है।
- स्वर्ग और नरक कल्पना मात्र हैं।
- चार्वाक का नैतिक सिद्धांत सुखवाद है।
- अर्थ और काम को ही पुरुषार्थ माना गया है।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
सुखवाद	-	सुख को सर्वोच्च मानने वाला सिद्धांत
पुनर्जन्म	-	मृत्यु के बाद पुनः जन्म
स्वर्ग	-	सुख की अवस्था
नरक	-	दु:ख की अवस्था
पुरुषार्थ	-	जीवन के लक्ष्य

5 अंक के प्रश्न-

1. चार्वाक पुनर्जन्म को क्यों अस्वीकार करता है?
2. सुखवाद क्या है?
3. चार्वाक के अनुसार स्वर्ग और नरक क्या हैं?
4. चार्वाक किन पुरुषार्थों को स्वीकार करता है?
5. चार्वाक की नैतिकता का आधार क्या है?

15 अंक के प्रश्न-

1. चार्वाक दर्शन की आचार मीमांसा का वर्णन कीजिए।
2. चार्वाक के सुखवाद का समालोचनात्मक अध्ययन कीजिए।
3. पुनर्जन्म सम्बन्धी चार्वाक विचारों की व्याख्या कीजिए।
4. स्वर्ग-नरक सम्बन्धी चार्वाक मत का विवेचन कीजिए।
5. चार्वाक दर्शन में पुरुषार्थ की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. चार्वाक दर्शन का नैतिक सिद्धांत क्या है?

(क) मोक्षवाद

(ख) कर्मवाद

(ग) सुखवाद

(घ) योगवाद

2. चार्वाक किसे जीवन का लक्ष्य मानता है?

(क) मोक्ष

(ख) तप

(ग) सुख

(घ) ज्ञान

3. चार्वाक किन पुरुषार्थों को स्वीकार करता है?

(क) धर्म और मोक्ष

(ख) अर्थ और काम

(ग) धर्म और अर्थ

(घ) मोक्ष और काम

4. चार्वाक पुनर्जन्म को क्यों नहीं मानता?

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है

(ख) वेद में वर्णन नहीं है

(ग) आत्मा अमर है

(घ) ईश्वर नहीं चाहता

5. चार्वाक के अनुसार नरक क्या है?

(क) परलोक

(ख) दु:ख

(ग) मोक्ष

(घ) तपस्या

इकाई-1.4 चार्वाक का योगदान, चार्वाक दर्शन की समीक्षा।

उद्देश्य-

1. भारतीय दर्शन में चार्वाक के योगदान को समझना।
2. चार्वाक दर्शन की आलोचनाओं का अध्ययन करना।
3. चार्वाक के तर्कवादी दृष्टिकोण का मूल्यांकन करना।

भारतीय दर्शन को चार्वाक के प्रति घृणा का भाव प्रदर्शन करना सचमुच अमान्य प्रतीत होता है। चार्वाक का योगदान किसी भी दर्शन से कम नहीं है, यथा-

(1) चार्वाकों ने भारतीय दर्शन के विकास में सहायता प्रदान की है। उन्होंने भारतीय दर्शन के सभी सामान्य लक्षणों का खंडन किया है। आत्मा, मोक्ष, कर्मवाद, पुनर्जन्म इत्यादि विचारों को निराधार सिद्ध किया है तथा ईश्वर, स्वर्ग, नरक प्रत्ययों के प्रति विद्रोह का भाव व्यक्त किया है।

(2) इस प्रकार चार्वकों ने प्रत्येक वस्तु को संशय की दृष्टि से देखा जिसका फल यह हुआ कि उन्होंने बाद में आने वाले दार्शनिकों के लिए समस्या उपस्थित की। प्रत्येक दर्शन में चार्वाक के आक्षेपों के विरुद्ध उत्तर देने का प्रयास पाते हैं। इसके फलस्वरूप दार्शनिक साहित्य समृद्ध हुआ है तथा यहां का दर्शन हठवादी (Dogmatist) होने से बच गया है।

(3) भारतीय दर्शन में समीक्षात्मक दृष्टिकोण का विकास चार्वाक के प्रयत्नों से हो सम्भव हो पाया है।

(4) चार्वाक के अभाव में भारतीय दर्शन की रूपरेखा सम्भवत: आज दूसरी होती। इस स्थान पर चार्वाक के योगदान की तुलना ह्यूम के योगदान से की जा सकती है। ह्यूम एक संशयवादी दार्शनिक है। संशयवादी होने के बावजूद भी हयूम के दर्शन का महत्त्व है। महान् जर्मन् दार्शनिक कान्ट ने हयूम के संशयवाद की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहा है ''हघूम के से संशयवाद ने हमें हठवाद की घोर निद्रा से जगाया है।' (Scepticism of Hume has aroused me from dogmatic slumber) जिस प्रकार ह्यूम के दर्शन ने कान्ट को हतवाद से बचाया है उसी प्रकार चार्वाक ने भारतीय दर्शन को हठवाद से मुक्त किया है। अत: भारतीय दर्शन को चार्वाक के प्रति ऋणी रहना चाहिए।

(5) चार्वाक का विकास एक ऐसे युग में हुआ था जब अन्ध-विश्वास एवं रूढ़ विश्वास की प्रधानता थी। बहुत-सी बातों को इसलिये सहाँ माना जाता था कि वे परम्परागत थीं। ब्राह्मण पुरोहित आदि अत्यधिक प्रशंसा के विषय थे। उनके विचार ईश्वरीय विचार के तुल्य समझे जाते थे। लोगों में स्वतन्त्र विचार का अभाव था। वे वाणी के रहते हुए भी मूक थे। चार्वाक दर्शन में उस युग के प्रचलित अन्ध-विश्वासों के विरुद्ध आवाज उठाई गई है।

(6) चार्वाक ने परम्परागत विचारों को मानने से अस्वीकार कर दिया। किसी भी बात को आँख मूंदकर मानने की जो मनोवृत्ति चल पड़ी थी उसके विरुद्ध उसने विद्रोह किया। एक वर्ग विशेष जो पूज्य माना जाता था, उनके विरुद्ध उसने निर्मम शब्दों का व्यवहार किया तथा उनकी अनेक पूर्वाग्रहों और कमजोरियों को सार्वजनिक किया।

(7) उन्होंने उन्हीं बातों को सही मानने का आदेश दिया जो तार्किक और विवेक संगत हों। इस प्रकार चार्वाक में स्वतंत्र विचार की लहर पाते हैं जिसके फलस्वरूप उन्होंने उस युग के मानव को बहुत से दबावों से मुक्त करने में सफलता प्राप्त की। उनकी यह देन अनमोल कही जा सकती है। डॉ. राधाकृष्णन् का कथन उल्लेखनीय है- चार्वाक दर्शन में, अतीत काल के विचारों से, जो उस युग को दबा रहे थे, मुक करने का भीषण प्रयास पाते हैं।

चार्वाक दर्शन की समीक्षा- चार्वाक दर्शन को अत्यधिक निन्दा सुखवाद को लेकर हुई है। सुख को जीवन का लक्ष्य मानते के कारण हो यह घृणा का विषय रहा है। परन्तु सुख को जीवन का उद्देश्य मानना अमान्य नहीं प्रोत होता है। प्रत्येक व्यति

किसी न किसी रूप में सुख की कामना करता है। एक देश-पल मातृ-पत्रि पर अपने को न्यौछावर करता है, क्योंकि उसे उस काम से सुख की प्राप्ति होती है। एक संन्यासी सुख की चाह के निमित्त संसार का त्याग करता है। इसके अतिरिक मिल और बेन्थम ने भी सुख को जीवन का उद्देश्य माना है, फिर भी वे घृणा के विषय नहीं हैं। इस प्रश्न का उत्तर हमें चार्वाक के सुखवाद में मिलता है। चार्वाकों की ये युक्तियाँ हमें प्रभावित करती हैं।

ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नरक इत्यादि सत्ताओं का खंडन करने के लिए चार्वाकों ने जो युक्तियों पेश की हैं उनकों चुनौती देना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। उन मुक्तियों के विरुद्ध आक्षेप उपस्थित करना कृत्रिम प्रतीत होता है। प्रोद्र हिरियाना ने चार्वाक की उन युक्तियों की, जिनके द्वारा वे आत्मा का खंडन करते सराहना करते हुए कहा है, आत्मा का जिसका भारत के अन्य दर्शनों में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, खंडन करने के फलस्वरूप चार्वाक धोर वाद-विवाद का विषय रहा है। परन्तु इसे मानना ही पड़ेगा कि सैद्धान्तिक रूप से चार्वाक का दृष्टिकोण खंडन से परे है। प्रो० हिरिअन्ना का यह कथन आमा के अतिरिक्त ईश्वर, स्वर्ग, नरक इत्यादि प्रत्ययों पर भी लागू होता है। अतः कहा जा सकता है कि चार्वाक दर्शन में केवल जड़ रूप भूत प्रत्यक्षगोचर है। यही सम्पूर्ण सृष्टि के आधार हैं। अतः स्पष्ट है कि सन् प्रत्यक्ष आधारित होने के कारण चार्वाक की तत्त्वमीमांसीय विचारधारा पूर्ण नास्तिक एवं भौतिकवाद पर आधाारित है।

उपमान प्रमाण का खाण्डन सादृश्यता के द्वारा प्राप्त ज्ञान को उपमिति कहते हैं, और उसके प्रमाण को उपमान। चार्वाक इसके खण्डन हेतु कहते हैं कि उपमान अनुमान के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है क्योंकि इसमें पूर्व श्रुत ज्ञान के द्वारा वर्तमान विषय से सादृश्यता के आधार पर अनुमान किया जाता है।

इस प्रकार चार्वाक की तत्त्वमीमांसा उसकी ज्ञान मीमांसा पर आधारित है। चार्वाक के अनुसार प्रत्यक्ष ही ज्ञान का एक मात्र साधन है। जिसका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा होता है, वही सत् है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नरक, बंधान, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि सिद्ध नहीं होते, इसलिये चार्वाक उनको अस्वीकार करता है। प्रत्यक्ष को एक मात्र प्रमाण मानने के कारण उसकी तत्त्वमीमासीय अवधारणाएँ प्रत्यक्ष के मापदण्ड से ही विकसित हुई हैं।

स्मरणीय बिन्दु

- प्रत्यक्ष ज्ञान का एक मात्र साधन है।
- अनुमान एक निश्चित प्रमाण नहीं है।
- वेद-अप्रमाणिक है।
- प्रमा-प्रत्यक्षजन्य ज्ञान ही प्रमा है।
- अप्रमा- अनुमान, उपमान, शब्द द्वारा प्राप्त ज्ञान अप्रमा है।
- सत्-जिसका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा होता है, वही सत् है।
- जड़वाद-जगत की सभी वस्तुओं की उत्पत्ति जड़ से ही हुई है।
- भूतचतुष्ट्य-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के परमाणु।
- आत्मा- चैतन्य विशिष्ट देह ही आत्मा है।
- मरण ही मोक्ष है।
- धर्म-धूर्त पण्डितों द्वारा स्वार्थगत् पूर्ति हेतु परिकल्पनामात्र है।
- स्वर्ग-सुख ही स्वर्ग है।
- नरक-दुःख ही नरक है।

- परम लक्ष्य–काम या सुख ही परम लक्ष्य है।
- व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान शब्द आदि किसी से संभव नहीं है।

स्मरणीय बिंदु–

- चार्वाक ने अंधविश्वास का विरोध किया।
- चार्वाक ने तर्क एवं स्वतंत्र चिंतन को बढ़ावा दिया।
- भारतीय दर्शन में संशयवाद के विकास में चार्वाक का योगदान है।
- चार्वाक ने प्रत्यक्षवाद को महत्व दिया।
- चार्वाक दर्शन की आलोचना उसके सुखवाद के कारण हुई।

शब्दावली–

शब्द		**अर्थ**
संशयवाद	–	संदेह पर आधारित दृष्टिकोण
तर्कवाद	–	तर्क को महत्व देने वाला सिद्धांत
समीक्षा	–	आलोचनात्मक अध्ययन
प्रत्यक्षवाद	–	प्रत्यक्ष अनुभव को सत्य मानना
स्वतंत्र	–	चिंतन बिना बंधन के विचार करना

5 अंक के प्रश्न–

1. चार्वाक का भारतीय दर्शन में क्या योगदान है?
2. चार्वाक दर्शन की प्रमुख आलोचनाएँ लिखिए।
3. चार्वाक को संशयवादी क्यों कहा जाता है?
4. प्रत्यक्षवाद से क्या अभिप्राय है?
5. चार्वाक दर्शन की एक प्रमुख विशेषता बताइए।

15 अंक के प्रश्न–

1. भारतीय दर्शन में चार्वाक के योगदान का विवेचन कीजिए।
2. चार्वाक दर्शन की समालोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
3. चार्वाक दर्शन के तर्कवादी स्वरूप का विश्लेषण कीजिए।
4. चार्वाक दर्शन के महत्व एवं सीमाओं पर प्रकाश डालिए।
5. चार्वाक दर्शन की आलोचनाओं का विस्तृत वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. चार्वाक ने किसका विरोध किया?

(क) तर्क

(ख) प्रत्यक्ष

(ग) अंधविश्वास

(घ) अनुभव

2. चार्वाक दर्शन किस पर आधारित है?

(क) श्रद्धा

(ख) प्रत्यक्ष अनुभव

(ग) वेद

(घ) ईश्वर

व उत्तर: (ठ)

3. चार्वाक दर्शन की सबसे अधिक आलोचना किस कारण हुई?

(क) भक्ति

(ख) मोक्षवाद

(ग) सुखवाद

(घ) योग

4. चार्वाक दर्शन ने किसे बढ़ावा दिया?

(क) अंधविश्वास

(ख) स्वतंत्र चिंतन

(ग) तपस्या

(घ) वेदवाद

5. चार्वाक दर्शन का स्वरूप क्या है?

(क) आध्यात्मिक

(ख) भौतिकवादी

(ग) भक्तिवादी

(घ) अद्वैतवादी

खण्ड- 2 जैन दर्शन

इकाई-2.1 प्रवर्तक, अर्थ एवं नामकरण, जैन साहित्य

उद्देश्य-

1. जैन दर्शन के प्रवर्तकों एवं तीर्थंकरों का अध्ययन करना।
2. जैन दर्शन के नामकरण एवं अर्थ को समझना।
3. जैन साहित्य की प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन करना।

- **ज्ञानमीमांसा**
  - (अ) नयवाद
  - (ब) निक्षेपवाद
  - (स) स्याद्वाद
- **तत्वमीमांसा**
  - (अ) अनेकान्तवाद
  - (ब) द्रव्य का विभाजन

(1) जीव

(2) अजीव

(3) गुण और पर्याय

- **नीति मीमांसा**
  - (अ) बंधन
  - (ब) कैवल्य (मोक्ष)
  - (स) पंचमहाव्रत
  - (द) त्रिरत्न

प्रस्तावना- जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन का समकालीन दर्शन है। क्योंकि बौद्ध के दीर्घ निकाय में महावीर स्वामी का निगण्ठ नातपुत्त के नाम से उल्लेख हुआ है तथा उनकी मृत्यु का वर्णन भी मिलता है।

प्रवर्तक- जैन दर्शन के प्रवर्तक ऋषभदेव माने जाते हैं। जैन दर्शन के 24 तीर्थंकर स्वांकार किये गये हैं, जिसमें महावीर स्वामी अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर थे और पार्श्वनाथ तेइसवें तीर्थंकर थे। तीर्थंकर का अर्थ है, वह आदरणीय पुरुष जिसके बताये हुए मार्ग पर चलकर मनुष्य बंधन से मुक्त हो सकता है। जैन दर्शन का सर्वोत्तम विकास महावीर स्वामी द्वारा ही हुआ है।

नामकरण- जैन दर्शन का नाम जैन शब्द जिन से बना है, जिन का अर्थ है- विषय प्राप्त करने वाला, जिसने राग द्वेष पर विजय प्राप्त कर लिया है। सभी तीर्थंकरों को जिन की संज्ञा से विभूषित किया जाता है।

जैन साहित्य- जैन साहित्य अत्यन्त प्राचीन है। प्रारम्भिक साहित्य प्राकृत भाषा में था किन्तु बाद के साहित्य ने संस्कृत को अपनाया। ततर्याधिगम सूत्र संस्कृत का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पंच है। जैन संघ के दो सम्प्रदाय हैं-

(1) श्वेताम्बर

(2) दिगम्बर।

श्वेताम्बर समुदाय के प्रवर्तक स्थूलभद्र थे और दिगम्बर समुदाय के प्रवर्तक भद्रबाहु।

स्मरणीय बिंदु-

- जैन दर्शन के 24 तीर्थंकर हैं।
- भगवान महावीर अंतिम तीर्थंकर थे।
- अहिंसा जैन दर्शन का मुख्य सिद्धांत है।
- जैन शब्द 'जिन' से बना है।
- जैन साहित्य आगम ग्रंथों पर आधारित है।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
तीर्थंकर	–	मोक्ष मार्ग दिखाने वाला महान पुरुष
जिन	–	इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला
आगम	–	जैन धर्मग्रंथ
अहिंसा	–	किसी को कष्ट न पहुँचाना
संयम	–	आत्मनियंत्रण

5 अंक के प्रश्न-

1. जैन दर्शन के प्रवर्तक कौन माने जाते हैं?
2. जैन शब्द का अर्थ बताइए।
3. तीर्थंकर किसे कहते हैं?
4. भगवान महावीर का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
5. जैन साहित्य क्या है?

15 अंक के प्रश्न-

1. जैन दर्शन के प्रवर्तकों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. जैन दर्शन के नामकरण एवं अर्थ की व्याख्या कीजिए।
3. जैन साहित्य की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
4. भगवान महावीर के जीवन एवं शिक्षाओं का विवेचन कीजिए।
5. जैन दर्शन के ऐतिहासिक विकास पर प्रकाश डालिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. जैन धर्म के अंतिम तीर्थंकर कौन थे?

(क) पार्श्वनाथ

(ख) ऋषभदेव

(ग) महावीर

(घ) बुद्ध

2. जैन शब्द किससे बना है?

(क) धर्म

(ख) जिन

(ग) जीव

(घ) ज्ञान

3. जैन दर्शन का मुख्य सिद्धांत क्या है?

(क) हिंसा

(ख) भक्ति

(ग) अहिंसा

(घ) यज्ञ

4. जैन धर्मग्रंथों को क्या कहा जाता है?

(क) वेद

(ख) पुराण

(ग) आगम

(घ) उपनिषद

5. जैन दर्शन में कुल कितने तीर्थंकर माने गए हैं?

(क) 10

(ख) 12

(ग) 18

(घ) 24

इकाई-2.2 तत्व मीमांसा, अनेकान्तवाद, सत् का स्वरूप,

उद्देश्य-

1. जैन तत्त्वमीमांसा को समझना।
2. अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद का अध्ययन करना।
3. जैन ज्ञानमीमांसा के सिद्धांतों का विश्लेषण करना।

अनेकान्तवाद जैन तत्त्व शास्व वास्तववादी, सापेक्षवादी अनेकवाद है। इसे अनेकान्तवाद की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तु अनंत धार्मक होती है तथा उसमें सकारात्मक धर्म ही नहीं वरन् विरोधी धर्म भी निवास करते हैं। जैसे वस्तु न केवल नित्य है और न केवल क्षणिक बल्कि दोनों है। उत्पत्ति और नाश वस्तु को क्षणिक बनाती है तो स्थिति उस वस्तु को नित्य बनाती है।

सत् का स्वरूप

सत् के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं- उत्पत्ति व्यय (नाश) तथा प्रौव्य द्धस्थितिऋ ही सत के लक्षण हैं। द्रव्य ही सत् है। ऐसे द्रव्य छः प्रकार के हैं और आकाश। काल जीव, धार्म, अधार्म, पुद्गल

द्रव्य- गुण और पर्याय से मुक्त सत्ता को द्रव्य कहते हैं। द्रव्यों का विभाजन दो रूपों में किया गया है-

1. अस्तिकाय (स्थान घेरते वाले) जैसे जीव, धर्म-अधर्म, पुद्गल, आकाश।
2. नास्तिकाय (जो स्थान नहीं घेरते) जैसे काल।

जीव-जैन दर्शन में आत्मा को जीव कहते हैं जो चेतनायुक्त द्रव्य है, चेतना उसका अनिवार्य गुण है। शरीर के अनुसार ही चेतना संकुचित और विस्तृत होती है। जीव भोक्ता, ज्ञाता स्वतंत्रकर्ता है। यह अनंत चतुष्ट्य स्वरूप (अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंतवीर्य, अनंत सुख) है। चेतन द्रव्य को जीव कहते हैं। चौतन्य जीव का सामान्य लक्षण है। संसार के समस्त जीवों में, चाहे वे किसी प्रकार के क्यों न हों, चौतन्य उपलब्ध होता ही है। प्रत्येक जीव नैसगिक रूप से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सामर्थ्य बादि गुणों से सम्पन्न माना गया है, परन्तु जीवों में आवरणीय कर्मों के कारण इन स्वाभाविक धर्मों का उदय नहीं हुआ करता। अपने ही शुभाशुभ कर्मों के प्रभाव से जीव के स्वाभाविक गुणों पर एक प्रकार का आवरण पड़ा रहता है। शुभ कार्यों के अनुष्ठान से इस आवरण के तिरोधान होने से इन गुणों का माक्षात्कार जीव को हुआ करता है। दर्शन, ज्ञानादि गुणों के विपुल तारतम्य के कारण जीवों के अनन्त भेद हैं। जीव शुभाशुभ कर्मों का कर्ता है तथा कर्मफलों का भोक्ता भी वह स्वयं है। जगत् के प्रत्येक भाग में जीवों की सत्ता मानी गयी है। चैतम्यलक्षणो जीवः-

जीवों का विभाजन कई प्रकार से किया गया है-

(1) मुक्त-बद्ध ।

(2) स्थावर-त्रस ।

स्थावर जीव वे हैं जिनमें गति नहीं होती। ये ऐकेन्द्रिय जीव है।

त्रस जीव वे जीव जो गतिशील होते हैं, त्रस जीव कहलाते हैं। ये दो से पाँच इन्द्रियों वाले होते हैं।

जीव ही वस्तुओं को जानता है, कर्मों का सम्पादन करता है, सुख का भोक्ता है। दुःखों को सहता है, अपने को स्वयं प्रकाशित करता है। नित्य होने पर भी जीव परिणामशील है। यह शरीर से भिन्न है और उसकी सत्ता का सबसे प्रबल प्रमाण चैतन्य की उपलब्धि है। जैन दर्शन जीव को मध्यम परिमाणविशिष्ट मानता है। इस विषय में भी आत्मा को विभु मानने वाले बईत बेदान्तियों तथा अणु मानने वाले वैष्णवों

के उभय अन्तों को छोड़कर मध्यम-मार्ग को माननेवाला है। जीव शरीरावच्छिन्न होता है, वह अपने निवासभूत शरीर के परिणाम को धारण करता है। वह दीपक की भाँति अपने निवासभूत शरीर को प्रकाशित करता है। यह स्वयं अमूर्त है, पर दीपक के प्रकाश की तरह आधारभूत शरीर के रूप तथा परिमाण को धारण करता है। इस प्रकार हस्ती के विशालकाय में रहने वाला जीव विपुल परिमाण-विशिष्ट होता है, पर चींटी जैसे अल्पकाय में रहने वाला जीव परिमाण में नितान्त स्वल्य होता है। प्रदीप की तरह जीव भी संकोच एवं विकागमाली होता है। तात्त्विक दृष्टि से अरूपी होने के कारण उसका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता, पर स्वसंवेदन, प्रत्यक्ष तथा अनुमान के बल पर उसका ज्ञान किया जा सकता है।

धर्म- वस्तुओं को चलायमान रखने में सहायक द्रव्य को धर्म कहते हैं। गतिशील जीव तथा पुद्गल के सहकारी कारण इध्यविशेष को धर्म की संज्ञा दी गई है। जल में चलने वाली महनी के लिए जिस प्रकार जन सहकारी कारण माना जाता है, उसी प्रकार जीव तथा पुद्गल द्रव्यों की गति के लिए मस्तिका की करपना की गई है। धर्म स्वयं जीव की गति की प्रेरणा में असमर्थ है, पर उसकी गति के लिए सहायतामात्र करता है। जल मछली को चलने के लिए प्रेरणा नहीं कर सकता, पर उसकी गति के लिए सहायतामात्र देने का कार्य करता है।

अधर्म- वस्तुओं के विश्राम या अवस्थिति में सहायक द्रव्य को अधर्म कहते हैं। स्थितिशील जीव तथा पुद्गल की स्थिति के सहकारी कारण द्रव्यविशेषकों अधर्म की संज्ञा जैनदर्शन में दी गई है। जिस प्रकार थके हुए पथिक के ठहरने के लिए वृक्षों की छाया सहायक होती है उसी प्रकार जीव की स्थिति के लिए अधर्मास्तिकाय की कल्पना स्वीकृत की गई है। इस प्रकार जैन दर्शन में धर्म तथा अधर्म द्रव्यों की कल्पना अन्य दर्शनों में स्वीकृत कल्पना से नितान्त भिन्न है।

पुद्गल- जिसका संयोग और विभाग हो सके उसे पुद्गल कहते हैं। इसके दो भेद है-अणु तथा संहति। जैन दर्शन में पुद्गल शब्द का अर्च कुछ विलक्षण माना जाता है। यह भूत सामान्य के लिए व्यवहुत किया जाता है। पुद्गलास्तिकाय यह संज्ञा जैन शास्त्र में ही प्रसिद्ध है। बग्य दर्शनों में पुद्गल स्थानीय तत्त्व को प्रधान, प्रकृति, परमाणु आदि शब्दों से पुकारते हैं। सर्व-दर्शन-संग्रह में पुद्गल शब्द की निरुक्ति बतलाई गई है- पूरयन्ति गलन्ति च। पुद्गल (जो पूर्ण हो जाय तथा गल जाय), अर्थात् पुद्गल उन द्रव्यों की संज्ञा दी है शरीर का निष्पादन करने वाले होते हैं तथा विनाश होने पर जो छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। पुद्गल के दो रूप उपलब्ध होते हैं अणु तथा संघात। पुद्गल के सूक्ष्मतम निरवयव अंश जिनका और सूक्ष्म रूप में विभाजन नहीं किया जा सकता, एकदेश-व्यापी अथवा अनस्तिकाय पुद्गल कहलाता है तथा जो छिन्न-भिन्न हो जाते हैं वे बहुदेश-व्यापी अथवा अस्तिकाय पुद्गल कहलाता है। **प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्।**

आकाश- जीव, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गलों के स्थान को आकाश कहते हैं। इसके दो भेद हैं- आकाश जीवादि अस्तिकाय द्रब्यों को अवकाश देनेवाला पदार्थ है। आकाश की सत्ता प्रत्यक्ष ज्ञान के ऊपर अवलम्बित न होकर अनुमान के आधार पर अंगीकृत की जाती है। जीव, पुद्गल, धर्म तथा अधर्म पदार्थ बहुप्रदेशब्यापी है। अतः उनके विस्तार की सिद्धि के लिए प्रदेश पर्यायवाले आकाश द्रव्य की सत्ता मानना न्याय संगत है। आकाश दो प्रकार का माना जाता है- (1) लोकाकाश तथा आलोकाकाश। जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों की स्थिति जिस भाग में होती है उसे लोकाकाश की संज्ञा दी जाती है तथा इस लोक से परे आकाश को अलोकाकाश कहा गया है।

काल- यद्यपि यह अजीव द्रव्य का ही प्रकार है किन्तु सार्वभौमिक, सर्वव्यापक होने के कारण यह नास्तिकाय द्रव्य है। यह पुद्गलों और गुणों के परिणाम, वर्तना, क्रिया, नवीनता एवं प्राचीनतः आदि का कारण है। इसके भी दो भेद हैं-

1- व्यावहारिक काल

2- पारमार्थिक काल।

3- काल परत्व तथा अपरत्व।

काल के बिना पदाथों को स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती। स्थिति का अर्थ पदार्थ का अनेक धाणव्यापी अवस्थान है। काल के अवयवों को बिना माने स्थिति की कल्पना निराधार ही है। किसी वस्तु का परिणाम काल की सत्ता पर ही अवलम्बित है। कच्चे आम का पक जाना कालजन्य ही है। पूर्वापरक्षण-व्यापिनी क्रिया काल के ही कारण सम्भव है। ज्येष्ठता तथा कनिष्ठता की कल्पना काल की सिद्धि को प्रमाणभूत बतला रही है। काल का विस्तार नहीं माना जाता, अत: वह अस्तिकाय द्रव्यों से इस विषय में भिन्न ही है। लोकाकाण के एक-एक प्रदेश में अणुरूप काल की सत्ता रलों की रानी के समान मानी जाती है।

स्मरणीय बिंदु-

- अनेकान्तवाद जैन दर्शन का मुख्य सिद्धांत है।
- स्याद्वाद सापेक्ष दृष्टिकोण को व्यक्त करता है।
- सत्य के अनेक पक्ष होते हैं।
- जैन दर्शन में जीव और अजीव का वर्णन मिलता है।
- ज्ञान को मोक्ष का साधन माना गया है।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
अनेकान्तवाद	-	सत्य के अनेक पक्षों का सिद्धांत
स्याद्वाद	-	सापेक्ष कथन का सिद्धांत
जीव	-	चेतन तत्व
अजीव	-	जड़ तत्व
तत्त्वमीमांसा	-	तत्वों का अध्ययन
केवल ज्ञान	-	सर्वोच्च ज्ञान
सप्तभंगी	-	सात प्रकार के कथन

5 अंक के प्रश्न-

1. अनेकान्तवाद क्या है?
2. स्याद्वाद का अर्थ बताइए।
3. जैन दर्शन में जीव किसे कहा गया है?
4. अजीव का क्या अर्थ है?
5. जैन ज्ञानमीमांसा की एक विशेषता लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. जैन अनेकान्तवाद का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. स्याद्वाद की व्याख्या कीजिए।
3. जैन तत्त्वमीमांसा का विवेचन कीजिए।

4. जैन दर्शन में जीव और अजीव की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

5. जैन ज्ञानमीमांसा की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. जैन दर्शन का मुख्य सिद्धांत कौन सा है?

(क) अद्वैतवाद

(ख) अनेकान्तवाद

(ग) योगवाद

(घ) भौतिकवाद

2. स्याद्वाद किससे संबंधित है?

(क) मोक्ष

(ख) सापेक्ष सत्य

(ग) ईश्वर

(घ) वेद

3. चेतन तत्व को क्या कहा जाता है?

(क) अजीव

(ख) पदार्थ

(ग) जीव

(घ) धर्म

4. जैन दर्शन में सत्य कैसा माना गया है?

(क) एकांगी

(ख) निरर्थक

(ग) बहुपक्षीय

(घ) असत्य

5. जैन दर्शन में ज्ञान किसका साधन है?

(क) भोग

(ख) युद्ध

(ग) मोक्ष

(घ) व्यापार

इकाई-2.3 ज्ञान मीमांसा, स्याद्वाद, कर्म सम्बन्धी विचार

उद्देश्य-

1. जैन दर्शन के कर्म सिद्धांत को समझना।
2. जैन धर्म के महाव्रतों का अध्ययन करना।
3. त्रिरत्न की अवधारणा एवं उसके महत्व को स्पष्ट करना।

जैन दर्शन के अनुसार कर्म भौतिक या पौद्गलिक होते हैं। क्योंकि जीव कर्मों के अनुसार ही पुद्गलों के कणों को आवृष्ट करता है। जैन दर्शन कर्म में दो भेद हैं-

(1) भावकर्म- जो राग द्वेषात्मक परिणाम है।

(2) द्रव्यकर्म- जो कार्मण जाति का पुद्गल विशेष आत्मा से संयुक्त होकर कर्म रूप में परिणित होता है।

जैन मत में कर्मोपार्जन के दो कारण हैं- (1) योग तथा (2) कषाय

कषाय ही जीव के बंध का कारण है। कर्मबन्ध के चार प्रकार हैं- प्रदेश बन्ध, प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध तथा अनुभाव बन्ध।

प्रकृति की दृष्टि से जैन दर्शन में दो प्रकार के कर्म माने गए हैं-

1. घातीय- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तरायकर्म,

2. अघातीय- वेदनीय, नामकर्म, गोत्रकर्म, आयुष्यकर्म।

घातीय कर्मों के नाश होने पर भाव मोक्ष तथा अघातीय कर्म के नाश होने पर द्रव्य मोक्ष होता है।

स्मरणीय बिंदु-

- कर्म बंधन का कारण है।
- पाँच महाव्रत जैन आचार का आधार हैं।
- सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक चरित्र त्रिरत्न हैं।
- अहिंसा सर्वोच्च व्रत है।
- मोक्ष के लिए आत्मसंयम आवश्यक है।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
कर्म	-	कार्यों का प्रभाव
महाव्रत	-	महान नैतिक व्रत
त्रिरत्न	-	जैन धर्म के तीन रत्न
सम्यक दर्शन	-	सही दृष्टिकोण
सम्यक ज्ञान	-	सही ज्ञान
सम्यक चरित्र	-	उत्तम आचरण
अपरिग्रह	-	संग्रह न करना

5 अंक के प्रश्न-

1. जैन कर्म सिद्धांत क्या है?
2. त्रिरत्न कौन-कौन से हैं?

3. महाव्रतों का अर्थ बताइए।

4. अहिंसा का महत्व स्पष्ट कीजिए।

5. सम्यक ज्ञान क्या है?

15 अंक के प्रश्न-

1. जैन कर्म सिद्धांत का विस्तार से वर्णन कीजिए।

2. जैन धर्म के पाँच महाव्रतों की व्याख्या कीजिए।

3. त्रिरत्न की अवधारणा का विवेचन कीजिए।

4. जैन नैतिकता में अहिंसा के महत्व पर प्रकाश डालिए।

5. जैन दर्शन में मोक्ष प्राप्ति के साधनों का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. जैन धर्म के तीन रत्न क्या हैं?

(क) वेद, उपनिषद, पुराण

(ख) सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान, सम्यक चरित्र

(ग) धर्म, अर्थ, काम

(घ) ज्ञान, भक्ति, कर्म

2. जैन धर्म में सबसे बड़ा व्रत कौन सा है?

(क) सत्य

(ख) अस्तेय

(ग) अहिंसा

(घ) अपरिग्रह

3. कर्म किसका कारण है?

(क) मोक्ष

(ख) बंधन

(ग) सुख

(घ) ज्ञान

4. सम्यक चरित्र का संबंध किससे है?

(क) आचरण

(ख) व्यापार

(ग) युद्ध

(घ) तपस्या

5. जैन धर्म में कितने महाव्रत हैं?

(क) 2

(ख) 3

(ग) 5

(घ) 7

इकाई-2.4 महाव्रत, त्रिरत्न, बंधन एवं मोक्ष, जैन दर्शन की समीक्षा।

उद्देश्य-

1. जैन दर्शन में बंधन एवं मोक्ष की अवधारणा को समझना।
2. मोक्ष प्राप्ति के साधनों का अध्ययन करना।
3. जैन दर्शन की समीक्षा एवं उसके महत्व का विश्लेषण करना।

जैन दर्शन के अनुसार जीव अनंत चतुष्ट्य रूप है (अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य और अनंत सुख) किंतु ये अनेकताएँ शरीर के साथ संयोग होने पर और चार कषायों (क्रोध, मान, लोभ, माया) के कारण कुप्रवृत्तियों में फंसकर कर्म द्वारा पुद्गलों की ओर आकृष्ट होता है और अपने स्वरूप को भूल जाता है और अपने स्वरूप से विपरीत स्वरूप का ज्ञान होता है जिसे मिथ्या दर्शन कहते हैं। मिथ्या दर्शन से अविरति (अपने स्वरूप के ज्ञान के प्रति निष्क्रियता) तथा परिणामस्वरूप प्रसाद (उचितानुचित के प्रति निष्क्रियता) और प्रकार के कारण कषाय (लोभ, मान, माया, क्रोध) की उत्पत्ति होती है। अतः मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग बंधन का कारण है।

जैन दर्शन के मतानुसार तत्त्वों की संख्या सात बताई गई है-

(१) जीव (२) अजीव (३) आश्रव (४) बन्ध (५) संवर (६) निर्जरा (७) मोक्ष।

योग के द्वारा जीव में कर्म पुगलों के प्रवेश को आस्रव कहते हैं। आस्रव के दो प्रकार हैं- भावास्रव और द्रव्यास्रव।

जीवों का कर्म पुद्गलों से संयोग ही बंधन है इसलिये इससे छुटकारा प्राप्त करने के लिये कर्म पुद्गलों से जीवों का वियोग (मोक्ष) होना आवश्यक है। इसके उपाय हेतु जैन दर्शन में संवर तथा निर्जरा की क्रियाएँ बताई गई है।

संवर का अर्थ है- जीव में नये कर्म पुद्गलों के प्रवेश को रोकना।

निर्धरा का अर्थ है- जीव में विद्यमान प्राचीन कर्म पुगलों का भ्रय करने वाली किया।

कर्म पुद्गलों के सम्पूर्ण क्षय से जीव पुनः अपने अनंत चतुष्ट्ये स्वरूप को प्राप्त कर। निरपेक्ष ज्ञान की प्राप्ति कर लेता है। जीव की इस अवस्था को 'केवली' कहते हैं। जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति के समान जैन दर्शन में आव मोक्ष तया द्रव्य मोक्ष के भेद को स्वीकार किया गया है। जब भाव संवर और भाव निर्जरा द्वारा जीव के चार घातीय कर्मों का नाश हो जाता है तो उसे भाव मोक्ष कहते हैं। जब द्रव्य संवर और द्रव्य निर्जरा द्वारा जीव के चार अघातीय कर्मों का नाश हो जाता है तो उसे द्रव्य मोक्ष कहते हैं।

संवर निर्जरा के अतिरिक्त तत्वार्थाधिगमसूत्र में सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्रणि मोक्ष मार्ग रूप में स्थापित किये गये हैं।

जैन दर्शन के अनुसार वे महान पुरुष जिनके बताये हुए मार्ग पर चलकर मानव बंधन से मुक्त हो जाता है, या भव सागर पार कराने वाले महापुरुष को तीर्थंकर है।

भाव संवर- जीव के कषायजन्य क्रियाओं के निरोध को भाव संवर कहते हैं।

द्रव्य संवर- कर्म पुगलों के आकर्षण के निरोध को द्रव्य संवर कहते हैं।

निर्जरा-अर्जित कर्मों के नाश को निर्जरा कहते हैं इसके भी दो भेद हैं-

1. भाव निर्जरा- कर्म पुद्गलों के नाश की भावना।
2. द्रव्य निर्जरा- कर्म पुद्गलों का नाश।

महाव्रत- प्रकार पंच महाव्रत सभी आचरणों से महत्त्वपूर्ण माना गया है। पंच महाव्रत का पालन बौद्ध धर्म में भी हुआ है। बौद्ध ध र्म में इसे पंचशोल की संज्ञा से विभूषित किया गया है।

अहिंसा- अहिंसा का अर्थ है- हिंसा का परित्याग। जीव का निवास गतिशील द्रव्यों के अतिरिक्त स्थावर द्रव्यों में भी, जैसे- पृथ्वी, वायु, जल इत्यादि में भी माना जाता है अर्थात् जीव का निवास प्रत्येक द्रव्य में है। इस प्रकार अहिंसा का अर्थ सभी प्रकार

के जीवों की हिंसा का परित्याग करना है। अहिंसा का पालन मन, वचन और कर्म से करना चाहिए। संन्यासी इस व्रत का पालन अधिक कठोरता से करते हैं। अहिंसा का अर्थ केवल जीवों की हिंसा का ही त्याग नहीं करना है, बल्कि उनके प्रति प्रेम का भाव भी व्यक्त करना है। हिंसात्मक कर्मों के सम्बन्ध में सोचना तथा दूसरों को हिंसात्मक कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करना भी अहिंसा-सिद्धान्त का उल्लंघन करना है। चूंकि सभी जीव समान हैं, इसलिए किसी जीव की हिंसा करना ही अधर्म कहा गया है।

सत्य- सत्य का अर्थ है- असत्य का परित्याग। सत्य का आदर्श सुनृत है। सुनृत का अर्थ है- वह सत्य जो सभी के लिए प्रिय एवं हितकारी हो। किसी व्यक्ति को सिर्फ मिथ्या वचन का परित्याग ही नहीं करना चाहिए, बल्कि मुधर वचनों का प्रयोग भी करना चाहिए। सत्य व्रत का पालन भी मन, वचन और कर्म से करना चाहिए।

अस्तेय- अस्तेय का अर्थ है- चोरी न करना। प्रायः देखा जाता है कि धन के बिना मानव अपने जीवन का सुचारु रूप से निर्वाह भी नहीं कर सकता है। जीवन का अस्तित्व धन पर निर्भर करता है। इसीलिए धन को मानव का बाहरी जीवन कहा है। किसी व्यक्ति के धन के अपहरण करने की कामना उसके जीवन के अपहरण के तुल्य माना गया है। अतः चोरी का निषेध ही नैतिक अनुशासन है।

अपरिग्रह- अपरिग्रह का अर्थ है- विषयासक्ति का त्याग। मनुष्य सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति रखता है। अतः अपरिग्रह, अर्थात् सांसारिक विनिर्लिप्ता को आवश्यक माना गया है। सांसारिक विषयों के अन्दर रूप, स्पर्श, गन्य, स्वाद एवं शब्द आते हैं। इस प्रकार अपरिग्रह का अर्थ रूप, स्पर्श, गन्ध, स्वाद, शब्द इत्यादि इन्द्रियों के विषयों का परित्याग कहा जा सकता है।

ब्रह्मचर्य- ब्रह्मचर्य का अर्थ है- इच्छाओं का त्याग करना। मानव अपनी वासनाओं एवं कामनाओं के वशीभूत होकर ऐसे कर्मों को कारित कर देता है जो पूर्णतः अनैतिक हैं। ब्रह्मचर्य का अर्थ साधारणतः इन्दियों पर रोक लगाना है। परन्तु जैन ब्रह्मचर्य का अर्थ सभी प्रकार की कामनाओं का त्याग है। मानसिक, लौकिक, पारलौकिक, स्वार्थ व परार्थ सभी प्रकार की कामनाओं का पूर्ण परित्याग ब्रह्मचर्य के लिए नितान्त आवश्यक है। ब्रह्मचर्य का पालन मन, वचन और कई से करने का निर्देश जैनों ने दिया है।

त्रिरत्न- जैन दर्शन में मोक्ष प्राप्ति के लिये सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक चरित्र को आवश्यक माना गया है। उन्हें ही त्रिरल कहा जाता है।

सम्यक् दर्शन- जैन तत्त्वों, सिद्धान्तों तथा आदर्शों के प्रति आस्था रखना तथा उनकी यथार्थता को पूर्णतः मानना ही सम्यक् दर्शन है।

सम्यक ज्ञान- संशय, भ्रम एवं अनिश्चय से रहित जीव-अजीव आदि पदार्थों का उनके वास्तविक रूप में ज्ञान होना ही सम्यक् ज्ञान है।

सम्यक् चरित्र- मनुष्य द्वारा अपनी वासना, इन्द्रिय तथा मन को संयत रखना ही सम्यक् चरित्र है।

इन उपायों को अपनाकर मानव मोक्षानुभूति के योग्य हो जाता है। कर्मों का आश्रय जीव में बन्द हो जाता है तथा पुराने कर्मों का क्षय हो जाता है। इस प्रकार जीव अपनी स्वाभाविक अवस्था की प्राप्त करता है। यही मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ सिर्फ दुःखों का विनाश नहीं है, बल्कि आत्मा के अनन्त बतुष्टक-अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति, अनन्त-दर्शन और अमन्त आनन्द की प्राप्ति-भी है। इस प्रकार जैनों के अनुसार अभावात्मक और भावात्मक रूप से मोक्ष की व्याख्या की जा सकतो है। जिस प्रकार मेधा के हटने से आकाश में सूर्य आलोकित होता है, उसी प्रकार मोक्ष की अवस्था में आत्मा अपनी पूर्णताओं को पुनः प्राप्त कर लेती है।

जीव चौतन्य और अनंत चतुष्ट्य रूप है। किन्तु शरीर धारण करने पर कषायों का जन्म होता है। क्रोध, मान, लोभ माया से प्रभावित जीव कर्म पुद्गलों से संयुक्त हो जाता है और जीव का कर्म पुगलों से संयोग ही बंधन है। बंधन के मूल कारण अविद्या (अपने स्वरूप को भूलना) और अविद्या से मिथ्या दर्शन, मिथ्या दर्शन से अविरति और अविरति से प्रमाद और प्रमाद से कषाय,

कषायों से योग और योग से कर्म पुद्गलों की प्राप्ति होती है, जिसे आस्त्रव कहते हैं। आस्त्रव अर्थात् कर्म पुद्गलों का जीव में प्रवेश। यही जीव को कर्म बंधान में डालता है। अत: बंधन का कारण जीव का अविद्याग्रसित होना है।

ज्ञान मीमांसा

जैन दर्शन में जीव को चेतनायुक्त द्रव्य माना गया है। चेतना उसका स्वाभाविक गुण है। मूल रूप से प्रत्येक जीव अनंत ज्ञान युक्त है, किन्तु कर्मजन्य आवरण उसकी अनंतता को आच्छादित कर सीमित ज्ञान में परिणित कर देते हैं। परिणामस्वरूप जीव का ज्ञान सीमित हो जाता है। जिस प्रकार स्वत: प्रकाशित होते हुए भी मेघाच्छादित होने पर सूर्य के प्रकाश की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार कर्मजन्य आवरण जीव की अनंतता को आच्छादित कर सीमित कर देते हैं।

जैन दर्शन में ज्ञान की चर्चा निरपेक्ष और सापेक्ष अनंत और परिच्छिन्न रूप में की गई है। ज्ञान का अर्थ है जो स्वपरभासी है अर्थात् जो स्वयं को और ज्ञेय को दोनों को प्रकाशित करें। जैन दर्शन में ज्ञान के दो भेद किये गए हैं- निराकार ज्ञान एवं साकार ज्ञान। निराकार ज्ञान को दर्शन भी कहते हैं। इस ज्ञान में विषय को सत्ता मात्र का बोध होता है। अन्य दर्शन इसे निर्विकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं। जबकि साकार दर्शन भाव में विषय की सामान्य सत्ता के साथ-साथ उसके विशेष गुणों का भी ज्ञान होता है। उसे अन्य दर्शनों में सविकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं। साकार ज्ञान को दो रूपों में वर्गीकृत किया गया है- अपरोक्ष ज्ञान अथवा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ज्ञान अथवा अप्रत्यक्ष।

अपरोक्ष ज्ञान- प्रत्यक्ष ज्ञान वास्तव में उस ज्ञान को कहा जाता है जिसकी अभिव्यक्ति में किसी साधन या माध्यम की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु नवीन जैनाचार्यों ने इन्द्रियादि के माध्यम से प्राप्त ज्ञान को भी प्रत्यक्ष के अन्तर्गत माना क्योंकि यह ज्ञान अनुमानादि ज्ञान की तुलना में अपेक्षाकृत प्रत्यक्ष है। इस प्रकार अपरोक्ष ज्ञान के दो प्रकार हैं-

(१) व्यावहारिक अपरोक्ष ज्ञान

(२) पारमार्थिक अपरोक्ष ज्ञान

व्यावहारिक अपरोक्ष ज्ञान- जो ज्ञान इन्द्रियों और मन की सहायता से प्राप्त होता है, वह व्यावहारिक अपरोक्ष ज्ञान कहलाता है।

पारमार्थिक अपरोक्ष ज्ञान- वह ज्ञान जिसमें आत्मा और ज्ञेय वस्तुओं का साक्षात् सम्बन्ध होता है, पारमार्थिक अपरोक्ष ज्ञान कहलाता है। यह तीन प्रकार के होते हैं-

(अ) अवधि ज्ञान (ब) मन: पर्याय ज्ञान (स) केवल ज्ञान।

(2) अप्रत्यक्ष या परोक्ष ज्ञान इन्द्रियों और मन द्वारा विषय का अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त होने वाला ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान कहलाता है। ये दो प्रकार के है-

(अ) मति ज्ञान (ब) श्रुत ज्ञान।

मति ज्ञान- मति ज्ञान उसे कहते हैं जो इन्द्रियों और मन के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त हो। जैसे अनुमान तर्क आदि।

श्रुतज्ञान- श्रुतज्ञान उसे कहते हैं जो आप्त पुरुषों द्वारा कहे गए वचनों को सुनने और प्रामाणिक ग्रंथों से प्राप्त होता है।

इस प्रकार जैन दर्शन में तीन प्रमाण स्वीकार किये गए हैं।

(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) शब्द

अनुमान व शब्द प्रमाण- जैनों का अनुमान सम्बन्धी विचार न्याय के समान है। अनुमान के स्वार्थानुमान और परार्थानुमान भेद, परार्थानुमान के पंचावयवों एवं हेत्वाभास के तीन प्रकार (न्याय के पाँच प्रकारों के स्थान पर) (1) असि) (२) विरुद्ध (३) अनैकान्तिक।

शब्द प्रमाण को जैन दर्शन ने परोक्ष (अप्रत्यक्ष ज्ञान) माना है। उसी शब्द ज्ञान को प्रमाण माना जा सकता है, जिसका प्रत्यक्ष से

विरोध न हो। शब्द के दो प्रकार हैं-

1. लौकिक श्रुतज्ञान 2. शास्त्रा शास्त्रों के अध्ययन से उत्पन्न ज्ञान।

नयवाद- जैन के अनुसार वस्तु अनंत धर्मक होती है। इसीलिये साधारण मनुष्य को वस्तु के कुछ ही धर्मों का ज्ञान हो पाता है। इसी आंशिक ज्ञान को जैन दर्शन में नय कहा जाता है। इसके मुख्य भेद दो प्रकार से किये गए हैं- निश्चय नय तथा व्यवहार नय। द्वितीय (1) द्रव्य नय (2) पर्याय नय।

द्रव्य नय- जन किसी वस्तु के स्वरूप का निर्णय करते समय उसके गुणों को द्रव्य पर आश्रित मानते हैं तो यह दृष्टिकोण द्रव्य नय कहलाता है। इसके तीन प्रकार हैं- नैगम नय, संग्रह नय, व्यवहार नय।

(2) पर्याय नय- द्रव्य नय के विपरीत, इसमें गुणों के पार्थक्य पर जोर दिया जा है। इसके चार भेद हैं- ऋजुसूत्र नय, शब्द नय, समाभिरूढ़ नय तथा एवं भूत नय। निक्षेपवाद-निक्षेपवाद, ज्ञेयात्मक सिद्धान्त है जबकि नयवाद ज्ञानात्मक। निक्षेपवादं के अनुसार निक्षेप का अर्थ है- न्यास। शब्दों का आरोप अर्थ पर करना या अर्थों का आरोप शब्दों पर करना ही निक्षेप है। निक्षेप के चार प्रकार हैं- नाम निशेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्य निक्षेप तथा भाव निक्षेप। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान चार प्रकार से होता है- उसके नाम के द्वारा (नाम निक्षेप), आकार के द्वारा (स्थापना निक्षेप), उसके कारण के द्वारा (दव्य निक्षेप) तथा उसके स्वाभाविक गुणों के आधार पर (भाव निक्षेप)।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

जैन दर्शन ने परम सत्ता में सभी विरोधी गुणों को एक साथ संभव माना, परिवर्तनशीलता, अपरिवर्तनशीलता, सीमितता, असीमितता, अनंतता, सांत्वता, सापेक्ष-निरपेक्ष, नित्यता, अनित्यता, साकार और निराकार सभी परम सत् के गुण हैं। यही कारण है कि जैन दर्शन ने सत का लक्षण उत्पत्ति-व्यय और ध्रौव्यता माना। द्रव्य भी इन्हीं लक्षणों से युक्त है। यही कारण है कि द्रव्य को गुण और पर्याय से युक्त सत्ता कहा गया। गुण वस्तु के स्वाभाविक अपरिवर्तनशील गुण हैं और पर्याय वस्तु के व्यावहारिक परिवर्तनशील गुण हैं जो आगन्तुक धर्म है। सामान्य मनुष्य इन गुण पर्याय को एक समय में नहीं जान सकता इसीलिये जैन दर्शन में ज्ञान मीमांसीय सिद्धान्त के रूप में नयवाद और स्याद्वाद जैसे सिद्धान्तों की स्थापना हुई। अत: सिद्ध होता है कि वस्तु अनंत धर्मक होती है। अनेकान्तवाद जैन दर्शन का तत्त्व मीमांसीय सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तु अनंत धर्मात्मक होती है तथा उसमें सकारात्मक धर्म के साथ विरोधी धर्म भी विद्यमान रहते हैं। जैसे वस्तु न केवल नित्य, न केवल क्षणिक बल्कि दोनों है। ऐसा इसलिये क्योंकि द्रव्य का ध्रौव्यात्मक लक्षण उसे नित्य बनाता है जबकि उत्पत्ति और नाश लक्षण उसे क्षणिक बनाता है। इसी विरोधात्मक स्वरूप के कारण वस्तु के सम्बन्ध में हमारे अलग-अलग दृष्टिकोण होते हैं किन्तु सभी विशेष प्रसंगानुसार सत्य भी होते हैं। इस प्रकार सभी दृष्टिकोण ों की सत्यता में विश्वास रखकर उन्हें तथ्य की विशेष अभिव्यक्ति मानना अनेकान्तवाद कहलाता है।

जैन दर्शन के ज्ञान मीमांसा का वह महत्वपूर्ण सिद्धान्त जिसके अनुसार वस्तु के अनंत धर्मक स्वरूप का साधारण मनुष्य को केवल आंशिक ज्ञान (नय) प्राप्त होता है। इसलिये विशेष देश-काल में आंशिक ज्ञान की सत्यता बनाये रखने के लिये जैन मत में अपने निर्णय (नय) के आगे स्याद् शब्द का प्रयोग करना चाहिए। जैनों की यही अवधारणा स्याद्वाद कहलाता है। जैन मत में हम वस्तु के ज्ञान या दृष्टिकोण को सात सम्भावनाओं द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। इसीलिये इसे सप्तभंगी नय भी कहते हैं, जो इस प्रकार हैं-

1. स्यात् अस्ति च (स्यात् वस्तु है)
2. स्यात् नास्ति च (स्यात् वस्तु नहीं है)
3. स्यात् अस्ति च नास्ति च (स्यात् वस्तु है तथा नहीं भी है)

4. स्यात् अव्यक्तव्य च (स्यात् वस्तु अव्यक्तव्य है)

5. स्यात् अस्ति च अव्यकतव्यम् च (स्यात है तथा अव्यक्तव्य भी है)

6. स्यात् नास्ति च अव्यक्तव्यम् च (स्यात् नहीं है और अव्यक्तव्य भी है)

7. स्यात् अस्ति च नास्ति च अव्यक्तव्यम् च (स्यात् है नहीं है और अव्यक्तव्य भी है)

इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार स्याद्वाद ज्ञान की सापेक्षता का सिद्धान्त है।

जैन धर्म की पृष्ठभूमि और परंपराएँ (श्वेतांबर-दिगंबर संप्रदायों का वैज्ञानिक परिचय)

जैन धर्म, भारत में उत्पन्न होने वाले प्राचीनतम धर्मों में से एक है, जो अहिंसा (Non- violence)सत्य (Truth), अस्तेय (Non-stealing), ब्रह्मचर्य (Celibacy) तथा अपरिग्रह (Non -possession) जैसे मूलभूत सिद्धांतों पर आधारित है। समय के साथ, जैन धर्म दो प्रमुख शाखाओं में विभाजित हो गया- श्वेतांबर (श्वेत वस्त्रधारी) और दिगंबर (आकाश वस्त्रधारी)। यद्यपि ये दोनों परंपराएँ 24 तीर्थंकरों, विशेषत: भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित मूल सिद्धांतों का पालन करती हैं, फिर भी इनकी आचार-प्रथाओं, दार्शनिक व्याख्याओं और संन्यासी परंपराओं में महत्वपूर्ण भिन्नताएँ पाई जाती हैं।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

श्वेतांबर और दिगंबर संप्रदायों के बीच विभाजन लगभग ईसा की पहली शताब्दी में प्रारंभ हुआ और पाँचवीं शताब्दी तक यह विभाजन पूर्ण रूप से स्पष्ट हो गया। इस विभाजन का एक महत्वपूर्ण कारण मगध क्षेत्र में बारह वर्षों तक पड़ा भीषण अकाल भी माना जाता है। इस काल के दौरान, आचार्य भद्रबाहु के नेतृत्व में कुछ जैन संन्यासी दक्षिण भारत (वर्तमान कर्नाटक) की ओर प्रवास कर गए, जबकि शेष संन्यासी उत्तरी भारत में ही रह गए। अकाल की समाप्ति के बाद, दोनों क्षेत्रों के संन्यासियों की आचार-विधियों और धार्मिक मान्यताओं में स्पष्ट अंतर देखने को मिला, जिसके परिणामस्वरूप दो अलग-अलग संप्रदायों अर्थात श्वेतांबर और दिगंबरकृकी स्थापना हुई।

मूल विश्वास और आचार-प्रथाएँ

श्वेतांबर परंपरा- वेशभूषा श्वेतांबर संन्यासी और साध्वियाँ सादा श्वेत वस्त्र धारण करते हैं, जो पवित्रता और संयम का प्रतीक माना जाता है।

शास्त्र- श्वेतांबर संप्रदाय मानता है कि जैन धर्म के मूल आगम (धार्मिक ग्रंथ) सुरक्षित हैं, जिनका संकलन पाँचवीं शताब्दी ई. में वलभी (गुजरात) में हुए एक संगीति (Council) में किया गया।

मोक्ष की अवधारणा- इनके अनुसार स्त्री और पुरुष दोनों ही कठोर तप और साधना के माध्यम से मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। तीर्थंकर यह मान्यता है कि उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ एक स्त्री थीं।

संन्यासी आचार- श्वेतांबर मुनि और आर्यिकाएँ मुखपट्टी (Mouth cover) का प्रयोग करते हैं ताकि सूक्ष्म जीवों की हिंसा न हो।

श्वेतांबर उपसंप्रदाय- मूर्तिपूजक मंदिरों में प्रतिमाओं की पूजा करते हैं।

स्थानकवासी- मूर्तिपूजा को अस्वीकार कर, ध्यान और आत्मशुद्धि पर बल देते हैं।

तेरापंथी- एक नवाचारशील उप-संप्रदाय जो कठोर अनुशासन और एकात्मक नेतृत्व में विश्वास करता है।

दिगंबर परंपरा

वेशभूषा- दिगंबर मुनि पूर्ण नग्नता में रहते हैं, जो पूर्ण वैराग्य और भौतिकता के त्याग का प्रतीक है, जबकि दिगंबर आर्यिकाएँ श्वेत वस्त्र पहनती हैं।

शास्त्र- दिगंबर संप्रदाय मानता है कि मूल आगम नष्ट हो चुके हैं और श्वेतांबर ग्रंथों को वे स्वीकार नहीं करते। इनके प्रमुख ग्रंथों

में षट्खंडागम और आचार्य कुंदकुंद द्वारा रचित ग्रंथ शामिल हैं।

मोक्ष की अवधारणा- इनके अनुसार स्त्रियाँ सीधे मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकतीं, उन्हें पहले पुरुष के रूप में जन्म लेना आवश्यक होता है।

तीर्थंकर- दिगंबरों का मत है कि सभी तीर्थंकर पुरुष थे, और मल्लिनाथ भी पुरुष थे।

संन्यासी आचार- मुनि दिन में एक बार, खड़े होकर, नग्न अवस्था में अपने हाथों से, केवल एक ही गृह से भोजन ग्रहण करते हैं।

दार्शनिक मतभेद

यद्यपि दोनों संप्रदाय पाँच महाव्रतों, यथा- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और मोक्षमार्ग का पालन करते हैं, फिर भी उनके दृष्टिकोण में कुछ मूलभूत अंतर हैं।

सर्वज्ञता और भौतिक आवश्यकताएँ- दिगंबरों का मानना है कि जब आत्मा केवल ज्ञान (Kevala Jnana) प्राप्त कर लेती है, तब वह भोजन या अन्य भौतिक आवश्यकताओं से परे हो जाती है। वहीं श्वेतांबर मानते हैं कि सर्वज्ञ प्राणी भी भोजन करते हैं।

ऐतिहासिक विवरण- श्वेतांबरों के अनुसार, भगवान महावीर ने विवाह किया और उनकी एक पुत्री थी। दिगंबर संप्रदाय इसे नकारता है और मानता है कि महावीर ने सदैव ब्रह्मचर्य का पालन किया।

दिगंबर उपसंप्रदाय

बीसपंथ- मूर्तिपूजा और धार्मिक अनुष्ठानों का पालन करते हैं।

तेरापंथ अनावश्यक अनुष्ठानों का त्याग कर सरल जीवन और साधना को प्राथमिकता देते हैं।

तराणपंथ- आचार्य तरणस्वामी द्वारा स्थापित, यह उप-संप्रदाय आंतरिक आत्मबोध और ग्रंथ-चिंतन पर आधारित है।

निष्कर्ष- श्वेतांबर और दिगंबर परंपराएँ, जैन धर्म की एक ही मूलधारा से उत्पन्न होकर भी, विविधता और दार्शनिक समृद्धि का परिचय देती हैं। इन दोनों परंपराओं के बीच के आचारिक और वैचारिक अंतर यह दर्शाते हैं कि धार्मिक परंपराएँ समय और परिस्थिति के अनुसार कैसे विकसित होती हैं। इनका अध्ययन न केवल जैन धर्म की गहराई को उजागर करता है, बल्कि यह भी दर्शाता है कि आत्मशुद्धि और मोक्ष प्राप्ति के लिए विभिन्न मार्गों और विचारधाराओं का अस्तित्व संभव है।

स्मरणीय बिंदु-

- कर्म बंधन का कारण है।
- मोक्ष आत्मा की शुद्ध अवस्था है।
- जैन दर्शन आत्मसंयम पर बल देता है।
- अहिंसा जैन धर्म का सर्वोच्च सिद्धांत है।
- त्रिरत्न मोक्ष प्राप्ति के मुख्य साधन हैं।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
बंधन	-	कर्मों में फँसना
मोक्ष	-	जन्म-मरण से मुक्ति
तपस्या	-	आत्मसंयम एवं साधना
आत्मशुद्धि	-	आत्मा का पवित्रीकरण
अहिंसा	-	किसी को कष्ट न पहुँचाना
अपरिग्रह	-	संग्रह न करना

5 अंक के प्रश्न-

1. जैन दर्शन में मोक्ष क्या है?
2. कर्म बंधन का कारण कैसे बनता है?
3. जैन दर्शन में तपस्या का महत्व बताइए।
4. आत्मशुद्धि से क्या अभिप्राय है?
5. जैन दर्शन की एक प्रमुख विशेषता लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. जैन दर्शन में बंधन एवं मोक्ष की अवधारणा का वर्णन कीजिए।
2. मोक्ष प्राप्ति के साधनों का विवेचन कीजिए।
3. जैन दर्शन की समालोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
4. जैन दर्शन में आत्मसंयम एवं तपस्या के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
5. जैन दर्शन की प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. जैन दर्शन में मोक्ष किसे कहा गया है?

(क) भोग

(ख) युद्ध

(ग) आत्मा की शुद्ध अवस्था

(घ) तपस्या

2. बंधन का मुख्य कारण क्या है?

(क) ज्ञान

(ख) कर्म

(ग) तपस्या

(घ) भक्ति

3. जैन दर्शन किस पर विशेष बल देता है?

(क) हिंसा

(ख) यज्ञ

(ग) आत्मसंयम

(घ) युद्ध

4. जैन दर्शन की विशेषता क्या है?

(क) भौतिकवाद

(ख) अनेकान्तवाद

(ग) वेदवाद

(घ) अद्वैतवाद

5. जैन दर्शन में मोक्ष प्राप्ति के लिए क्या आवश्यक है?

(क) धन

(ख) युद्ध

(ग) आत्मशुद्धि

(घ) व्यापार

खण्ड - 3 बौद्ध-दर्शन

इकाई- 3.1 चार आर्य सत्य

उद्देश्य-

1. चार आर्य सत्यों की अवधारणा को समझना।
2. दु:ख एवं उसके कारणों का दार्शनिक विश्लेषण करना।
3. निर्वाण प्राप्ति के उपायों का अध्ययन करना।

बौद्ध-दर्शन के संस्थापक महात्मा बुद्ध माने जाते हैं। बुद्ध का जन्म ईसा की छठी शताब्दी पूर्व हुआ था। इनका जन्म हिमालय की तराई में स्थित कपिलवस्तु नामक स्थान के राजवंश में हुआ था। बुद्ध का बचपन का नाम सिद्धार्थ था। राजवंश में जन्म लेने के फलस्वरूप इनके जीवन को सुखमय बनाने के लिए पिता ने भिन्न-भिन्न प्रकार के आमोद-प्रमोद का प्रबन्ध किया, ताकि सिद्धार्थ का मन विश्व की क्षणभंगुरता तथा दु:ख की ओर आकर्षित न हो। पिता के हजार प्रयत्नों के बावजूद सिद्धार्थ का मन संसार की दु:खमय अवस्था की ओर जाने से न बच सका। कहा जाता है कि एक दिन घूमने के समय सिद्धार्थ ने एक रोगग्रस्त व्यक्ति, एक वृद्ध और श्मशान की ओर ले जाये जाते एक मृतक शरीर को देखा। इन दृश्यों का सिद्धार्थ के भावुक हृदय पर अत्यन्त ही गहरा प्रभाव पड़ा। इन दृश्यों के बाद बुद्ध को यह समझने में देर न लगी कि संसार दु:खों के अधीन है। संसार के दु:खों को किस प्रकार दूर किया जाय-यह चिन्ता निरन्तर बुद्ध को सताने लगी। दु:ख के समाधान को ढूँढने के लिए एक दिन वे आधी रात को-अपनी पत्नी यशोधरा और नवजात शिशु राहुल को छोड़कर-राजमहल से निकल पड़े तथा उन्होंने संन्यास को अपनाया। इस प्रकार पत्नी का प्रेम, पुल की महत्ता, महल का वैभव एवं विलास का आकर्षण सिद्धार्थ को सांसारिकता की डोर में बाँधने में असमर्थ साबित हुआ। विभिन्न प्रकार की यातनाएँ झेलने के बाद उन्हें ज्ञान मिला। उन्हें जीवन के सत्य के दर्शन हुए। तत्त्वज्ञान अर्थात् बोधि प्राप्त कर लेने के बाद वे बुद्ध की संज्ञा से विभूषित किये गये। इस नाम के अतिरिक्त उन्हें तथागत (जो वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को जानता है) तथा अर्हत्ता की संज्ञा दी गई।

सत्य का ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद बुद्ध ने लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपने सन्देशों को जनता तक पहुँचाने का संकल्प किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने घूम-घूमकर जनता को उपदेश देना आरम्भ किया। दु:ख के कारणों और दु:ख दूर करने के उपायों पर प्रकाश डालते हुए, उन्होंने दु:ख से हस्त मानव को दु:ख से छुटकारा पाने का आश्वासन दिया। बुद्ध के उपदेशों के फलस्वरूप बौद्ध धर्म एवं बौद्ध-दर्शन का विकास हुआ। बौद्ध धर्म सर्वप्रथम भारत में फैला। बौद्ध-धर्म के भारत में पनपने का मूल कारण उस समय के प्रचलित धर्म के प्रति लोगों का असन्तोष था। उस समय भारत में ब्राह्मण-धर्म का बोलबाला था, जिसमें बलि प्रथा की प्रधानता थी। पशु, यहाँ तक कि मनुष्यों को भी, बलि देने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता था। हिंसा के इस भायानक वातावरण में विकसित होने के कारण बौद्ध-धर्म, जो अहिंसा पर आधारित था, भारत में लोकप्रिय होने का दावा कर सका। कुछ ही समय बाद यह धर्म भारत तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु नृपों एवं भिक्षुओं की सहायता से दूसरे देशों में भी फैला। इस प्रकार यह धर्म विश्व-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

प्राय: सभी भारतीय दार्शनिकों ने जीवन को दुखमय माना किन्तु बौद्ध का सम्पूर्ण दर्शन केवल दु:ख के केन्द्र बिन्दु से विकसित होता है। बुद्ध के सारे उपदेश चार आर्य सत्यों में सन्निहित हैं। आर्य सत्य का अर्थ है- शाश्वत सत्य अथवा 'अर्हत' जिन्हें सत्य रूप में जानते हैं। ये चार सत्य निम्न हैं

1. दुख 2. दुख समुदाय 3. दुख निरोध 4. दु:ख निरोम मार्ग

अर्हत जिन्हें यथार्थ रूप में जानते हैं, उन्हें आर्य सत्य कहा जाता है। आर्य सत्य चार हैं। इनमें प्रथम आर्य सत्य है सर्वम्

दु:खम् अर्थात् संसार दु:खमय है बुद्ध के अनुसार मनुष्य का जन्म लेना ही सबसे बड़ा दु:ख है। बुद्ध के शब्दों में जन्म कष्टमय है, वृद्धावस्था कष्टमय है, रोग एवं मृत्यु कष्टमय है, दु:ख, शोक, उदासीनता कष्टमय है, अरुचिकर वस्तु से सम्बन्ध कष्टमय है, प्रिय से वियोग कष्टकर है, अभीष्ट की अप्राप्ति कष्ट कर है, वास्तव में हमारे जीवन का प्रत्येक अंश कष्टकर, या दु:खमय है। इस प्रकार बुद्ध के प्रथम बार्य सत्य के अनुसार सब कुछ दु:खमय है। यहाँ तक जो सुख की अनुभूति होती है वह बौद्ध दर्शन के अनुसार अर्हत जिन्हें यथार्थ रूप में जानते हैं उन्हें आर्य सत्य कहा जाता है। महात्मा बुद्ध ने चार आर्य सत्यों का साक्षात्कार किया था तथा उनका उपदेश प्रत्येक मानव को दिया। ये चार आर्य सत्य हैं

संसार दु:खमय है- इस आर्य सत्य के अन्तर्गत बुद्ध ने कहा कि जीवन में अनेक प्रकार के दु:ख हैं-रोग, बुढ़ापा, मृत्यु, चिन्ता, असन्तोष, निराशा, शोक आदि। सभी व्यक्तियों को इन दु:खों का सामना करना पड़ता है।

बुद्ध के अनुसार प्रथम आर्य सत्य है कि सर्वत्र दु:ख है। ये द्वितीय आर्य सत्य में कार्य-कारण सिद्धान्त (प्रतीत्यसमुत्पाद) के आधार पर दुख के कारण का पता लगाते हैं तथा इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अविद्या ही समस्त दु:खों का मूल कारण है।

दु:ख समुदय- दु:ख समुदय-दु:ख समुदय का अर्थ है दु:ख का कोई न कोई कारण है। प्रतीत्यसमुत्पाद के आधार पर बुद्ध ने दु:ख का मूल कारण अविद्या को माना है। अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन, पढायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव = से जाति तथा जाति से जरा मरण की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार जरामरण (दु:ख) का मूल कारण अविद्या है। जरामरण से अविद्या के बीच बारह कारणों की इस श्रृंखला को द्वादश निदान कहा जाता है। इस प्रकार द्वितीय आर्यसत्य में दु:खों के कारण की चर्चा है।

दुख समुदाय द्वितीय आर्य सत्य में दुखों के बारह कारणों की स्थापना की गई है, जिसका प्रमुख कारण अविद्या है। बारह कारणों के इस समुदाय को प्रतीत्यसमुत्पाद, भव चक्क्र, द्वादश निदान भी कहते हैं। ये बारह कारण निम्न हैं-

1. अविद्या से संस्कार
2. संस्कार से विज्ञान
3. विज्ञान से नामरूप
4 नामरूप से षडायतन
5. पडायतन से स्पर्श
6. स्पर्श से वेदना
7. वेदना से तृष्णा
8. तृष्णा से उपादान
9. उपादान से भव
10. भव से जाति

11-12 जाति से जरा-मरण।

यही धर्म है, इसे समझ लेने पर दु:खाग्नि से मुक्ति पायी जा सकती है।

कर्मफल- स्वत: ही अपने फल की प्राप्ति कराने में समर्थ होता है। बौद्ध दर्शन में तीन प्रकार के कर्म माने गये हैं

(१) कायिक (२) वाचिक (३) मानसिक।

बौद्धों के अनुसार कर्म वह है जिसमें किसी भी क्रिया की अभिनिष्पत्ति के द्वारा भावना उत्पन्न होती है। वाचिक में यह भावना वाक् द्वारा, कायिक में शरीर द्वारा तथा मानसिक से मनस के द्वारा उत्पन्न होती है।

दु:ख निरोध- अर्थात् दु:खों का निरोध या समाप्ति संभव है। अब चूंकि दुखों का कारण अविद्या है अत: अविद्या को समाप्ति से ही दुखों का नाश सम्भव है। यदि मनुष्य अविद्या प्रेरित इच्छाओं, राग-द्वेष, क्रोधादि पर विजय प्राप्त कर चार आर्य सत्यों का ध्यान रखते हुए अष्टांग मार्ग का अनुसरण करता है तो उसका अन्त:करण तृष्णा-रहित हो जाता है और मनुष्य सदा के लिए जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है। मनुष्य की इसी मुक्तावस्था को बौद्ध दर्शन में निर्वाण कहते हैं। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति अर्हत् कहलाता है। इस अवस्था की प्राप्ति इस जीवन में भी हो सकती है जैसे कि महात्मा बुद्ध ने भी प्राप्त की थी। इस अवस्था में मनुष्य अकर्मण्य नहीं होता वरन् उसके कर्म निष्काम होते हैं। तृतीय आर्य सत्य में बुद्ध ने केवल इतना उपदेश दिया है कि दु:ख के कारणों अविद्यादि का नाश विद्या के द्वारा सम्भव है और इसके द्वारा मनुष्य निर्वाण प्राप्त कर सकता है जो दु:खों से रहित अवस्था है। तृतीय आर्य सत्य के अनुसार दु:ख निरोध सम्भव है। चूंकि दु:ख का कारण अविद्या है अत: विद्या या ज्ञान के द्वारा इसका निरोध सम्भव है ज्ञान की यही अवस्था निर्वाण कहलाती है।

दु:ख निरोध गामिनी प्रतिपद- अर्थात् दु:ख निरोध का मार्ग। बुद्ध ने केवल दु:खों का कारण व उनका निरोध सम्भव नहीं बताया बल्कि दुखों के निरोध का मार्ग भी बतलाया है। चतुर्थ आर्य सत्य के अनुसार दुखों के निरोध का मार्ग भी है। बुद्ध ने दुख निरोध के लिए अष्टांगिक मार्ग का प्रतिपादन किया है। ये ही बुद्ध के चार आर्य सत्य हैं। अन्त में दु:ख में परिणत हो जाती है। चतुर्थ आर्य सत्य में बुद्ध ने दुखों के निरोध के इसी मार्ग का प्रतिपादन किया है जिसे अष्टांगिक मार्ग कहा जाता है। ये अष्टमार्ग निम्न है- महात्मा बुद्ध द्वारा चतुर्थ आर्य सत्य में निर्वाण प्राप्ति या दु:ख निरोध के मार्ग का उपदेश दिया गया है जिसे अष्टांगिक मार्ग कहा जाता है। उसे दु:ख निरोधगामिनी प्रतिपद कहा जाता है। प्रतिपद का अर्थ है 'मार्ग' इसलिये इसे अष्टांगिक मार्ग कहते हैं। इस मार्ग के आठ अंग निम्न हैं-

1. **सम्यक् दृष्टि**- वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को जानना ही सम्यक् दृष्टि है। चार आर्य सत्यों का यथार्थ ज्ञान ही सम्यक् दृष्टि है। इसके दो प्रकार हैं- लौकिक तथा लोकोत्तर।

   अनित्यता, दु:खता, अनात्म व कुशल-अकुशल कर्मों के विपाक पर विश्वास करना लौकिक सम्यक् दृष्टि है। जबकि अष्टांगिक मार्ग में होने वाला ज्ञान लोकोत्तर सम्यक् दृष्टि है।

2. **सम्यक् संकल्प**- जो अशुभ है अथवा आर्य सत्यों के प्रतिकूल है, उसे न करने का संकल्प ही सम्यक् संकल्प है।
3. **सम्यक् वाक्**- सम्यक् वाक् सम्यक् संकल्प की अभिव्यक्तियाँ बाह्य रूप हैं। सत्य एवं प्रिय वचनों का प्रयोग ही सम्यक् वाक् है।
4. **सम्यक् कर्मान्तं**- जीवों की हिंसा न करना, दूसरों की सम्पत्ति को न चुराना और इन्द्रिय सुख का त्याग करना ही सम्यक् कर्मान्त है।
5. **सम्यक् आजीव**- सम्यक् आजीव का अर्थ कि आजीविका के लिये अनैतिक साधनों का त्याग कर नैतिक साधन को अपनाना।
6. **सम्यक् व्यायाम**- सम्यक् व्यायाम अमानसिक क्रियाओं को कहते हैं, जिनसे अशुभसुन: स्थिति का अन्त होता है तथा शुभ मन:स्थिति का प्रादुर्भाव होता है। इसके अन्तर्गत

   (क) पुराने बुरे विचारों को बाहर निकालना,

   (ख) नए बुरे विचारों को मन में आने से रोकना,

   (ग) अच्छे भावों को मन में भरना,

   (घ) इन भावों को मन में रखने के लिये सतत् क्रियाशील रहना।

7 **सम्यक् स्मृति**- सम्यक् स्मृति का अर्थ है वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में जागरूक रहना। निर्वाण की कामना रखने वाले व्यक्ति को शरीर को शरीर, मन को मन, संवेदना को संवेदना समझना आवश्यक है। इनमें से किसी के सम्बन्ध

में यह सोचना कि यह मैं हूँ या यह मेरा है, सदा भ्रमपूर्ण है। इसी स्थिति के बाद व्यक्ति समाधि के योग्य बनता है।

स्मरणीय बिंदु-

- बुद्ध दर्शन का आधार "चार आर्य सत्य" हैं।
- पहला सत्य - संसार दु:खमय है।
- दूसरा सत्य - तृष्णा दु:ख का कारण है।
- तीसरा सत्य - तृष्णा के नाश से दु:ख का अंत संभव है।
- चौथा सत्य - अष्टांगिक मार्ग दु:ख निरोध का साधन है।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
दु:ख	-	कष्ट
तृष्णा	-	इच्छा
निर्वाण	-	दु:ख का अंत
समुदय	-	उत्पत्ति
प्रतिपदा	-	मार्ग

5 अंक के प्रश्न-

1. चार आर्य सत्य क्या हैं?
2. दु:ख समुदय से क्या अभिप्राय है?
3. निर्वाण का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. बुद्ध के अनुसार दु:ख का कारण क्या है?
5. दु:ख निरोध गामिनी प्रतिपदा क्या है?

15 अंक के प्रश्न-

1. चार आर्य सत्यों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।
2. बुद्ध दर्शन में दु:खवाद का समालोचनात्मक अध्ययन कीजिए।
3. निर्वाण की अवधारणा का विवेचन कीजिए।
4. चार आर्य सत्य और आधुनिक जीवन में उनकी प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. बुद्ध दर्शन का आधार क्या है?

(क) वेद

(ख) चार आर्य सत्य

(ग) योग

(घ) न्याय

2. दु:ख का कारण क्या है?

(क) कर्म

(ख) अज्ञान

(ग) तृष्णा

(घ) शरीर

3. निर्वाण किसका अंत है?

(क) जीवन

(ख) तृष्णा

(ग) शरीर

(घ) संसार

4. चौथा आर्य सत्य किससे संबंधित है?

(क) ज्ञान

(ख) मोक्ष

(ग) अष्टांगिक मार्ग

(घ) आत्मा

5. बुद्ध का प्रथम उपदेश कहाँ हुआ?

(क) गया

(ख) सारनाथ

(ग) कुशीनगर

(घ) कपिलवस्तु

इकाई-3.2 सम्यक समाधि

उद्देश्य-

1. अष्टांगिक मार्ग का अध्ययन करना।
2. नैतिक जीवन में सम्यक मार्ग की भूमिका समझना।
3. बौद्ध साधना पद्धति का विश्लेषण करना।

सम्यक् समाधि- कुशल चित्त की एकाग्रता को सम्यक् समाधि कहते हैं। इस अवस्था में मनुष्य की राग द्वेष जनित वृत्तियों का अपूर्ण निषेध हो जाता है। समाधि की चार अवस्थाएँ मानी गई हैं-

इस अवस्था में साधुक चार आर्य सत्यों का मनन एवं चिन्तन करता है। यह तर्क-वितर्क की अवस्था है। इस अवस्था में सभी संदेह दूर हो जाते हैं और आनंद एवं शान्ति की अनुभूति करता है। इस अवस्था में आनंद एवं शान्ति की चेतना के प्रति उदासीनता और तटस्थता के भाव में स्थित रहता है। इस अवस्था में साधक को किसी का भी ध्यान नहीं रहता। राग-द्वेष पूर्णत: नष्ट हो जाते हैं और ऐसे व्यक्ति को सर्हत की संज्ञा दी जाती है। इन आठ मागों पर चलने से मनुष्य की अविद्या का नाश होकर उसे मुक्ति या निर्वाण विड की प्राप्ति हो सकती है।

सम्यक् समाधि- समाधि से पूर्व के सात मार्गों का ठीक ढंग से पालन करने पर व्यक्ति का अन्त:करण ना (चित्त) शुद्ध होकर इस योग्य हो जाता है कि वह एकाध हो सके क्योंकि समाधि के लिए चित्त निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा वस्तु का जो स्वरूप प्राप्त होता है वह स्वलक्षण है। चूंकि वे क्षणिकवाद को स्वीकार करते हैं इसीलिए उन्होंने माना कि 'स्वलक्षण' एक क्षण से अधिक स्थिर नहीं रह सकता। इस प्रकार वसुबन्तु की स्वलक्षण की अवधारणा वस्तु जगत स सीमित थी किन्तु दिडनाग ने माना कि वस्तु ही प्रतिक्षण परिवर्तित नहीं होती चरन् चित्त या विज्ञप्ति भी विज्ञानों की प्रतिक्षण परिवर्तनशील सन्तति मात्र है। विशिष्ट का स्वरूप भी क्षणिकत्व है। इसीलिए उन्होंने क्षणिक विज्ञप्ति मात्रता को स्वलक्षण नाम से अभिहित किया। दिंनाग के अनुसार स्वलक्षण ही परमार्थ सत् है। यह देश, काल, बुद्धि आदि से परे, प्रपंचातीत, सर्वलक्षण शुन्य तथा अनिभर्वचनीय है, यह स्वप्रकाश है। यह अनिर्वचनीय है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह अदृश्य व अग्नेय है बल्कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा हम इसका साक्षात्कार करते हैं तथा इसके परिणाम द्वारा इसका अनुमान लगा सकते हैं। मज्झिम निकाय में स्पष्ट किया गया है कि इसी से (चार आर्य सत्यों) अनासक्ति, वासनाओं का नाश, दु:खों का अन्त, मानसिक शान्ति, ज्ञान, प्रज्ञा तथा निर्वाण संभव हो

स्मरणीय बिंदु-

- सम्यक मार्ग को अष्टांगिक मार्ग कहा जाता है।
- यह मध्यम मार्ग का प्रतिपादन करता है।
- नैतिकता, ध्यान एवं प्रज्ञा इसका आधार हैं।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
सम्यक	-	उचित
स्मृति	-	सजगता
समाधि	-	यान की उच्च अवस्था
व्यायाम	-	प्रयास
मध्यम मार्ग	-	संतुलित जीवन पद्धति

5 अंक के प्रश्न-

1. अष्टांगिक मार्ग क्या है?
2. सम्यक दृष्टि का अर्थ बताइए।
3. सम्यक समाधि क्या है?
4. सम्यक वाणी का महत्व स्पष्ट कीजिए।
5. मध्यम मार्ग से क्या अभिप्राय है?

15 अंक के प्रश्न-

1. अष्टांगिक मार्ग का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. बौद्ध नैतिकता में सम्यक मार्ग का महत्व स्पष्ट कीजिए।
3. मध्यम मार्ग की अवधारणा का विश्लेषण कीजिए।
4. सम्यक मार्ग और मानसिक शुद्धि के संबंध को स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. अष्टांगिक मार्ग में कितने अंग हैं?

(क) 6

(ख) 7

(ग) 8

(घ) 10

2. सम्यक समाधि किससे संबंधित है?

(क) ध्यान

(ख) वाणी

(ग) कर्म

(घ) ज्ञान

3. मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किसने किया?

(क) महावीर

(ख) बुद्ध

(ग) पतंजलि

(घ) शंकराचार्य

4. सम्यक वाणी का संबंध किससे है?

(क) सत्य भाषण

(ख) भोजन

(ग) व्यापार

(घ) ध्यान

5. सम्यक स्मृति का अर्थ है-

(क) ध्यान

(ख) जागरूकता

(ग) कर्म

(घ) मौन

इकाई- 3.3 कारणता सम्बन्धी सिद्धान्त अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद

उद्देश्य-

1. प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त को समझना।
2. कारण-कार्य संबंध का अध्ययन करना।
3. बौद्ध दर्शन में परस्पर निर्भरता का विश्लेषण करना।

बौद्ध दर्शन के कारणता के सिद्धान्त को प्रतीत्यसमुत्पाद या असत् कारवाद कहा मे है। संसार के दुखमय स्वरूप को देखकर महात्मा बुद्ध ने उनके कारणों की खोज की और बारह कारण समुदाय को स्थापित किया, जिसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद को सापेक्ष कारणता भी कहते हैं। बौद्ध कार्य और कारण के अविच्छिन प्रवाह को नहीं मानते फिर भी वे मानते हैं कि एक के होने पर दूसरे की उत्पत्ति होती है। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है एक के प्राप्त होने पर दूसरे का प्रादुर्भाव अर्थात् कारण के प्राप्त होने पर कार्य की उत्पत्ति। प्रतीत्य किसी वस्तु की उपस्थिति होने पर, समुत्पाद किसी अन्य को उत्पत्ति। साथ ही इसका अर्थ यह भी है कि इसके न होने पर यह नहीं होता। जैसे बीज नहीं है तो अंकुर की प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार संसार की जितनी भी घटनाएँ हैं उनका कोई कारण अवश्य होता है। अकस्मात् न तो किसी पदार्थ की उत्पत्ति होती है और न वह किसी कार्य की उत्पत्ति किए बिना रह सकता है। बौद्ध के कारणता के सिद्धान्त को असत कारणवाद इसलिये कहते हैं कि क्योंकि इनके शान मत में कारण के नाश होने पर ही कार्य की उत्पत्ति संभव है। बोरी में पड़े बीज से अंकुर उत्पन्न नहीं होता, हवा, धूप, खाद, पानी आदि सहायक कारणों से बीज में परिवर्तन होता है, बीज का पूर्व रूप नष्ट या असत् हो जाता है तब अंकुर की प्राप्ति होती है। इस प्रकार कारण के नाश के बाद ही कार्य की उत्पत्ति होती है। इसी सिद्धान्त का असत् कारणवाद कहा गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार कई पूर्ववर्ती क्षण (कारण श्रृंखला) मिलकर एक उत्तरवर्ती क्षण (कार्य) को उत्पन्न करते हैं। कारण और कार्य भिन्न-भिन्न हैं। दुख के कारण के रूप में प्रतीत्यसमुत्पाद बारह कारण की स्थापना करते हैं, जिन्हें द्वादश निदान कहते हैं। बारह कारण निम्न हैं-

दु:ख के मूल कारण की खोज में यह विचार किया कि यदि जन्म न हो तो उससे दुख की अनुभूति नहीं है। अत: दु:ख कारण है-जाति (जन्म ग्रहण करना)। जाति का कारण है जन्म ग्रहण करने की इच्छा जिसे बौद्ध दर्शन में भय कहते हैं। भव का कारण है सांसारिक विषयों के प्रति लगाव जिसे उपादान कहा जाता है। उपादान का कारण है तृष्णा अर्थात् सांसारिक विषयों के भोगने की वासना। तृष्णा का कारण है वेदना अर्थात् इन्द्रिय और विषय के संयोग से मन पर जो प्रथम प्रभाव (सुखात्मक या दुखात्मक) होता है। वेदना का कारण है स्पर्श अर्थात् इन्द्रियों और विषयों का सम्पर्क। स्पर्श का कारण है षडायतन, अर्थात् पाँच इन्द्रियाँ और मन। बडायतन को कारण है नापरूय (गर्भस्थ भ्रण के मन और शरीर), नाम रूप का कारण है विज्ञान (चेतना), विज्ञान का कारण है संस्कार अर्थात् पूर्वजन्म के कमों के कारण जिन संस्कारों का सूजन होता है वे ही विज्ञान की उत्पत्ति करते हैं। संस्कारों का कारण है अविद्या अर्थात् वस्तु जैसी है उसे विपरीत रूप में समझना। किन्तु अविद्या का क्या कारण है इस सम्बन्ध में महात्मा बुद्ध का कहना है कि अविद्या अनादि है, जाति से अविद्या तक की यह श्रृंखला भव चक भी कहलाती है। ये हमारे अतीत, वर्तमान और भविष्य जीवन को परस्पर जोड़ते हैं। अविद्या, संस्कार, अतीत जीवन से, विज्ञान से वेदना, वर्तमान जीवन से, तृष्णा, भव और उपादान, भविष्य जीवन से सम्बन्धित है।

अनात्मवाद- प्रतीत्यसमुत्पाद का यह सिद्धान्त शाश्वतवाद तथा उच्छेदवाद दोनों के मध्य का मार्ग, है इसीलिये मध्यम प्रतिपदा कहते हैं। मानव के सम्मुख बौद्ध का यह सिद्धान्त दु:ख के किसी दैवीय कारणों का उल्लेख न करके, उसके (दु:ख) मनोवैज्ञानिक पश्व को स्पष्ट करते हैं। अपने मनोवैज्ञानिक कारणों पर मानव का वंश है अत: दु:ख भाव से मानव स्वयं मुक्त हो सकता है। यही बौ) द्वारा

स्थापित प्रतीत्यसमुत्पाद का है। चाहे वह चेतन हो या अचेतन बौद्ध का आत्मा सम्बन्धी मत अन्य दर्शनों के मत से भिन्न है। इन्होंने अनात्पवाद (Theory of Not Self) की स्थापना की। अनात्मवाद के अनुसार आत्मा शाश्वत, नित्य और अपरिवर्तनशील सत्ता नहीं है। बु) के शब्दों में विश्व में न कोई आत्मा है और न आत्मा की तरह कोई अन्य वस्तु। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के आधाार स्वरूप मन और मन की वेदनाएँ, ये सब आत्मा या आत्मा के समान किसी वस्तु से बिल्कुल शून्य है।

बौद्ध मत के अनुसार आत्मा क्षणिक, परिवर्तनशील विज्ञानों का सतत प्रवाह है। जिस प्रकार नदी में जल की बूंदें निरन्तर परिवर्तित होती रहती हैं फिर भी उनमें एकरूपता रहती है। बौद्ध उपदेशक नागसेन ने कहा कि जिस प्रकार धुरी, पहिए, रस्सियों आदि के संघात विशेष का नाम रथ है, उसी प्रकारें आत्या पंच स्कंधों की समष्टि का नाम है। ये स्कंध है-रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। ये सभी स्कंध परिवर्तनशील हैं, इसलिये आत्मा भी परिवर्तनशील है।

बौद्ध के इस अनात्मवाद से कुछ समस्याएँ जन्म लेती हैं-

1. यदि आमा अनित्य है तो पुनर्जन्म का क्या अर्थ है ?
2. अनित्य आत्मा के द्वारा स्मृति की व्याख्या कैसे की जा सकती है?
3. आत्मा को अनित्य मानने पर कर्म विपाक के सिद्धान्त की संगति किस प्रकार हो सकती है?

पुनर्जन्म की व्याख्या के सम्बन्धा में बौद्धों का उत्तर है कि यद्यपि आत्मा नित्य सत्ता नहीं है किन्तु मनुष्य के जीवन में व्यक्तित्व की एकता का अभाव भी नहीं। पुनर्जन्म को समस्या का समाधान वे दीपक के एक दृष्टान्त द्वारा करते हैं। जिस प्रकार दीपक की एक, लौ दूसरी लौ से भिन्न होते हुए भी उसे प्रकाशित कर सकती है उसी प्रकार वर्तमान जीवन की अन्तिमावस्था अथवा विज्ञान से भविष्यत् जीवन की आरम्भिक अवस्था या विज्ञान की उत्पत्ति होती है।

स्मृति सम्बन्धी आपत्ति की व्याख्या के लिये वे कहते हैं कि विज्ञानों के प्रवाह में पूर्ववर्ती क्षण में होने वाली घटनाओं का प्रभाव अपने उत्तरवर्ती क्षण पर छोड़ देती है और यह क्षण, अपने संबद्ध में आने वाले क्षण पर। इस क्रम में हमें कोई घटना याद रहती है। कर्म विपाक या सिद्धान्त की व्याख्या हेतु बौद्धों का विचार है कि यद्यपि आत्मा विज्ञानों का प्रवाह मात्र है और प्रत्येक क्षण एक नये विज्ञान का जन्म होता है किन्नर के विज्ञान में नष्ट हुए विज्ञान संस्कार रूप में विद्यमान रहता है। अत: वास्तव में कर्म करने वाला और उसे भोगने वाला एकदम भिन्न नहीं बल्कि एक है।

स्मरणीय बिंदु-

- "इदं अस्ति तस्मात् इदं भवति" प्रतीत्यसमुत्पाद का आधार है।
- प्रत्येक घटना किसी कारण पर निर्भर है।
- अविद्या से दु:ख चक्र प्रारंभ होता है।

शब्दावली-

शब्द	**अर्थ**
अविद्या	अज्ञान
संस्कार	मानसिक प्रवृत्तियाँ
तृष्णा	इच्छा
उपादान	आसक्ति
प्रतीत्यसमुत्पाद	परस्पर उत्पत्ति सिद्धान्त

5 अंक के प्रश्न-

1. प्रतीत्यसमुत्पाद क्या है?
2. अविद्या का अर्थ बताइए।
3. द्वादश निदान क्या हैं?
4. कारण-कार्य संबंध की व्याख्या कीजिए।
5. तृष्णा और उपादान में अंतर बताइए।

15 अंक के प्रश्न-

1. प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. द्वादश निदानों का विवेचन कीजिए।
3. बौद्ध दर्शन में कारणवाद का विश्लेषण कीजिए।
4. प्रतीत्यसमुत्पाद और दु:ख चक्र का संबंध स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. प्रतीत्यसमुत्पाद का संबंध किससे है?

(क) ईश्वर

(ख) कारणवाद

(ग) आत्मा

(घ) मोक्ष

2. द्वादश निदानों में प्रथम क्या है?

(क) तृष्णा

(ख) संस्कार

(ग) अविद्या

(घ) भव

3. "इदं अस्ति तस्मात् इदं भवति" किस सिद्धान्त से संबंधित है?

(क) न्याय

(ख) सांख्य

(ग) प्रतीत्यसमुत्पाद

(घ) वेदान्त

4. तृष्णा के बाद कौन-सा निदान आता है?

(क) भव

(ख) उपादान

(ग) जाति

(घ) विज्ञान

5. प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रतिपादन किसने किया?

(क) बुद्ध

(ख) महावीर

(ग) पतंजलि

(घ) गौतम

इकाई-3.4 अनात्मवाद, सत् सम्बन्धी विचार अथवा क्षणिकवाद

उद्देश्य-

1. अनात्मवाद की अवधारणा को समझना।
2. क्षणिकवाद का अध्ययन करना।
3. बौद्ध दर्शन में आत्मा एवं जगत के स्वरूप का विश्लेषण करना।

बौद्ध दर्शन का जगत सम्बन्धी दृष्टिकोण क्षणिकवाद के नाम से जाना जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त के अनुसार बौद्ध मत यह प्रमाणित करते हैं कि कारण के क नष्ट हो जाने पर उस वस्तु की सत्ता भी नष्ट हो जाती है। अत: प्रत्येक वस्तु नश्वर है। क्षणिकवाद प्रतीत्यसमुत्पाद का ही तार्किक निष्कर्ष है।

सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं चाहे वे जड़ हों अथवा चेतन। बुद्ध के शब्दों में जे वृद्ध हो सकता है वह वृद्ध होकर ही रहेगा, जिसे रोगी होना है वह रोगी होकर ही रहेगा, सन जो मृत्यु के है वह अवश्य मरेगा, जो नाश्वान है, उसका नाश अत्यावश्यक है। अनित्यवाद शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का मध्यम मार्ग है। क्योंकि ये दोनों मार्ग एकांगी हैं। मध्यम मार्ग का सिद्धान्त यह है कि जीवन परिवर्तनशील है। जीवन को परिवर्तनशील कहकर सत् और असत् का समन्वय किया है। अनित्यवाद से ही क्षणिकवाद विकसित हुआ। क्षणिकवाद के अनुसार संसार की मूळ प्रत्येक वस्तु सिर्फ अनित्य ही नहीं है अपितु क्षण भंगुर भी है। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व क्षण मात्र के लिये ही रहता है। क्षणिकवाद के समर्थन में बौद्ध एक प्रबल तर्क प्रस्तुत करते ज्ञाता है जिसे अर्थक्रियाकारित्व का तर्क कहते हैं। अर्थक्रियाकारित्व का अर्थ है किसी कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति। बौद्ध के जा अनुसार अर्थक्रियाकारित्व ही सत् का लक्षण है। किसी वस्तु की सत्ता को तभी तक स्वीकार किया जा सकता है जब तक उसमें कार्य उत्पन्न करने की शक्ति विद्यमान हो। जैसे ही यह शक्ति नष्ट हो जाती है, उस वस्तु की सत्ता नहीं रहती।

यदि एक समय में एक वस्तु से एक ही कार्य संभव है और दूसरे समय में दूसरे कार्य का निर्माण होता है। साथ ही वही कार्य उस कारण से पुन: उत्पन्न नहीं किया जा सकता तो इससे यह सिद्ध होता है कि प्रथम वस्तु की सत्ता क्षण मात्र के लिये रहती है। यही नहीं, कार्य उत्पन्न होते ही कारण नष्ट हो जाता है। यदि वह नित्य होता तो उसका कार्य, पौधे को उत्पन्न करना, सदैव चलता रहता। किन्तु बोरे में रखा हुआ बीज पौधे को उत्पन्न नहीं कर पाता और उसे बोने पर उसने निस्ता दु:ख परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन का हर पूर्ववर्ती क्षण (कारण) उत्तरवर्ती क्षण (कार्य) से सम क्षणिक है, भिन्न है और उत्तरवर्ती क्षण को उत्पन्न करने के बाद उसकी सत्ता नहीं रहती। अत: बौद्ध मत में क्षणिक पदार्थ ही सत् है।

आलोचना- क्षणिकवाद के सम्बन्ध में निम्न आपत्तियाँ उठाई गई हैं-

1. क्षणिकवाद को स्वीकार करने पर कारण से कार्य उत्पत्ति संभव नहीं क्योंकि असत है। नाशवान कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती।
2. क्षणिकवाद भी प्रतीत्यसमुत्पाद के साथ संगतता नहीं रखता क्योंकि प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु कारण कार्य श्रृंखला से सम्बद्ध है। प्रत्येक वस्तु कारण भी है और कार्य भी। क्षणिकवाद के अनुसार प्रत्येक नस्तु अर्थक्रियाकारित्व के आधार पर केवल क्षण भर सत्ता रखती है। ऐसी स्थिति में क्षण भर की सत्ता द्वारा किसी कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं क्योंकि कार्य उत्पत्ति के लिये कारण का कम से कम कार्य की उत्पत्ति होने तक अस्तित्व मानना आवश्यक है।

3 चार्वाक क्षणिकवाद को मानने पर कर्मवाद का भी खण्डन होता है। क्योंकि कर्म करने वाला कोई और तथा फल भोगने

वाला कोई और (कृत प्रणाश) मानना होगा साथ ही अकृत कर्मों का फलों का भोग भी करना पड़ेगा। (अकृताभ्यागम)।

4 जब व्यक्ति की सत्ता क्षणिक है तो दुखों से छुटकारा पाने का प्रयत्न (दु:ख निरोष) निरर्थक है।

5 क्षणिकवाद से स्मृति और प्रत्यभिज्ञा (पहचानना) की व्याख्या भी नहीं की जा सकती है।

स्मरणीय बिंदु-

- बौद्ध दर्शन आत्मा की स्थायी सत्ता को स्वीकार नहीं करता।
- सभी वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं।
- परिवर्तन संसार का नियम है।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
अनात्मवाद	–	आत्मा का निषेध
क्षणिकवाद	–	क्षणभंगुरता का सिद्धान्त
पंचस्कन्ध	–	व्यक्तित्व के पाँच समूह
विज्ञान	–	चेतना
संस्कार	–	मानसिक प्रवृत्तियाँ

5 अंक के प्रश्न-

1. अनात्मवाद क्या है?
2. पंचस्कन्धों का वर्णन कीजिए।
3. क्षणिकवाद का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. बौद्ध दर्शन आत्मा के विषय में क्या मानता है?
5. परिवर्तनशीलता का सिद्धान्त क्या है?

15 अंक के प्रश्न-

1. बौद्ध अनात्मवाद का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. क्षणिकवाद का समालोचनात्मक अध्ययन कीजिए।
3. पंचस्कन्ध सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
4. अनात्मवाद एवं क्षणिकवाद के पारस्परिक संबंध को स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. बौद्ध दर्शन किसे स्वीकार नहीं करता?

(क) आत्मा की स्थायी सत्ता

(ख) दु:ख

(ग) कर्म

(घ) निर्वाण

2. पंचस्कन्धों की संख्या कितनी है?

(क) 3

(ख) 4

(ग) 5

(घ) 6

3. क्षणिकवाद के अनुसार संसार कैसा है?

(क) स्थायी

(ख) नित्य

(ग) क्षणभंगुर

(घ) शाश्वत

4. "सर्व क्षणिकम्" किस सिद्धान्त का आधार है?

(क) वेदान्त

(ख) न्याय

(ग) क्षणिकवाद

(घ) योग

5. पंचस्कन्धों में कौन शामिल नहीं है?

(क) रूप

(ख) विज्ञान

(ग) आत्मा

(घ) वेदना

खण्ड-4 बौद्ध सम्प्रदाय

इकाई- 4.1 निर्वाण का स्वरूप

उद्देश्य-

1. निर्वाण की अवधारणा को समझना।
2. बौद्ध दर्शन में मोक्ष के स्वरूप का अध्ययन करना।
3. निर्वाण प्राप्ति के साधनों का विश्लेषण करना।

सभी भारतीय दर्शनों की भाँति बौद्ध दर्शन ने भी जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति को माना है। मोक्ष को बौद्ध दर्शन में 'निर्वाण' की संज्ञा दी गई है। इस मत के अनुसार दुख का कारण जन्म है और जन्म का कारण अविद्या है। अविद्या वस्तु को उसके मूल स्वरूप से विपरीत देखने की एक अनादि प्रवृत्ति है। इसी अविद्या जन्य कर्मों से संस्कार और उन संस्कारों के भोग हेतु संसार चक्र में फंसे रहना ही बंधान है। अतः बंधन से छुटकारा ज्ञान द्वारा ही संभव है। वह ज्ञान है दुःखों के कारणों का ज्ञान दुखों के बारह कारण है अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा-मरण।

इन बारह कारणों की श्रृंखला को नष्टकर दिया जाय तो निश्चित रूप से दुःखों का अंत हो जाता है। अतः वह अवस्था जिसमें दुःखों का पूर्ण क्षय हो जाता है, उसे दुःख निरोध अर्थात् 'निर्वाण' कहते हैं। निर्वाण का अर्थ है- विशेष दुःख के रोध अर्थात् रुक जाने को दुःख निरोध कहते हैं। निर्वाण के अन्य अर्थ है बुझा हुआ या शीतलता। बुझे हुए अर्थ में निर्वाणावस्था में चित्त में उठने वाली राग-द्वेष की अग्नि बुझ जाती है। जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है और उसके बुझ जाने से प्रकाश का अंत हो जाता है। उसी प्रकार निर्वाण प्राप्त करने के बाद समस्त दुःख मिट जाते हैं। शीतलता के अर्थ में निर्वाणावस्था में चित्त शान्त हो जाता है। वासना, क्रोध, मोह, दुःखरूपी अग्नि ठण्डी हो जाती है। निर्वाण प्राप्ति अष्टांग मार्ग-सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक, सम्यक् कर्मान्त, है। जीविका सम्यक् आजी के सम्यक व्यायाम, सम्यक स्मृति, सम्यक् समाधि द्वारा होती है। निर्वाण प्राप्ति इसी जीवन में संभव है। वह व्यक्ति जो संसार में रहकर भी सांसारिकता से निर्लिप्त रहता है, अर्हत कहलाता है और जब मुक्त व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो उस अवस्था को परिनिर्वाण कहा जाता है। परिनिर्वाण का अर्थ है, मृत्यु के उपरान्त निर्वाण की प्राप्ति सकते हैं।

स्मरणीय बिंदु-

- निर्वाण बौद्ध दर्शन का परम लक्ष्य है।
- तृष्णा, द्वेष एवं मोह का पूर्ण क्षय ही निर्वाण है।
- निर्वाण दुःखों से पूर्ण मुक्ति की अवस्था है।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
निर्वाण	-	दुःखों का अंत
तृष्णा	-	इच्छा
शील	-	नैतिक आचरण
समाधि	-	ध्यान की अवस्था
प्रज्ञा	-	ज्ञान

5 अंक के प्रश्न-

1. निर्वाण क्या है?

2. निर्वाण का शाब्दिक अर्थ बताइए।

3. निर्वाण की मुख्य विशेषताएँ लिखिए।

4. बुद्ध के अनुसार मोक्ष का स्वरूप क्या है?

5. निर्वाण प्राप्ति के साधनों का उल्लेख कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. बौद्ध दर्शन में निर्वाण के स्वरूप की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।

2. निर्वाण और मोक्ष में अंतर स्पष्ट कीजिए।

3. निर्वाण प्राप्ति के साधनों का विवेचन कीजिए।

4. आधुनिक जीवन में निर्वाण की प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. बौद्ध दर्शन का परम लक्ष्य क्या है?

(क) स्वर्ग

(ख) मोक्ष

(ग) निर्वाण

(घ) योग

2. निर्वाण का अर्थ क्या है?

(क) जन्म

(ख) तृष्णा का शांत होना

(ग) कर्म

(घ) ज्ञान

3. निर्वाण किससे मुक्ति दिलाता है?

(क) संसार

(ख) दु:ख

(ग) शरीर

(घ) कर्म

4. निर्वाण प्राप्ति का मुख्य साधन क्या है?

(क) यज्ञ

(ख) अष्टांगिक मार्ग

(ग) तप

(घ) पूजा

5. निर्वाण की अवस्था कैसी मानी गई है?

(क) अशांत

(ख) दु:खमय

(ग) शांत

(घ) अस्थिर

इकाई- 4.2 अव्यक्तानि

उद्देश्य-

1. अव्यक्तानि प्रश्नों की अवधारणा को समझना।
2. बुद्ध के मौन सिद्धान्त का अध्ययन करना।
3. बौद्ध दर्शन में व्यावहारिक दृष्टिकोण का विश्लेषण करना।

बुद्ध से जब भी दर्शन-शास्त्र से सम्बन्धित कोई प्रश्न पूछा जाता था तो वे प्रायः मौन रहा करते थे। आत्मा और जगत् से सम्बन्धित अनेक लोकप्रिय प्रश्नों के प्रति वे मौन रहकर उदासीनता का परिचय देते थे। ऐसे प्रश्न, जिनके सम्बन्ध में वे मौन रहा करते थे, ये हैं-

(१) क्या यह विश्व शाश्वत (Eternal) है ?

(२) या यह विश्व अशाश्वत (Non- eternal) है?

(३) या यह विश्व ससीम (Finite) है ?

(४) क्या यह विश्व असीम (Infinite) है ?

(५) क्या आत्मा और शरीर एक हैं ?

(६) क्या आत्मा शरीर से भिन्न है ?

(७) क्या मृत्यु के बाद तथागत का पुनर्जन्म होता है ?

(८) क्या मृत्यु के बाद तथागत का पुनर्जन्म नहीं होता है ?

(९) क्या उनका पुनर्जन्म होना और न होना-दोनों ही बातें सत्य है ?

(१०) क्या उनका पुनर्जन्म होना और न होना-दोनों ही बातें असत्य हैं ?

ऊपर वर्णित दस प्रश्नों को पाली साहित्य में, जिसमें बौद्ध धर्म के उपदेश संग्रहीत हैं, अव्यक्तानि कहा जाता है। इन दस प्रश्नों में प्रथम चार प्रश्न विश्व से सम्बन्धित हैं, बाद के दो प्रश्न आत्मा से सम्बन्धित हैं और अन्तिम चार प्रश्न तथागत से सम्बन्धित हैं। बौद्ध-दर्शन में तथागत उस व्यक्ति को कहा जाता है, जिसने निर्वाण को अंगीकार किया है। इन प्रश्नों के पूछे जाने पर बुद्ध का मौन रहना विचार का विषय रहा है। उनके मौन के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये गये हैं।

कुछ लोगों का मत है कि बुद्ध तत्त्वशास्त्रीय प्रश्नों का उत्तर नहीं जानते थे, इसीलिए वे इन प्रश्नों के उत्तर पूछे जाने पर निरुत्तर रहा करते थे। अतः इन लोगों के अनुसार बुद्ध का मौन रहना उनके अज्ञान का प्रतीक है। बुद्ध के मौन रहने का यह अर्थ निकालना उनके साथ अन्याय करना है। यदि वे तत्त्वशास्त्रीय प्रश्नों का उत्तर नहीं जानते तब वे अपने को बुद्ध की संज्ञा से विभूषित नहीं करते। बुद्ध का अर्थ ज्ञानी (Enlightened) होता है। इस प्रकार बुद्ध को अज्ञानी कहना उनके नाम बुद्ध को निरर्थक बनाना है।

कुछ लोगों का मत है कि बुद्ध आत्मा, विश्व, ईश्वर इत्यादि के अस्तित्व में संशय करते थे। उन लोगों के अनुसार उनका मौन रहना उनके संशयवाद की स्वीकृति है। परन्तु तत्त्वशास्त्रीय प्रश्नों पर बुद्ध के मौन रहने का यह अर्थ लगाना भी समीचीन नहीं है। यदि बुद्ध संशयवादी होते तब वे अपने को बुद्ध नहीं कहते। उनका सारा दर्शन इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि वे संशयवाद के पोषक नहीं।

अनेक विद्वानों ने बुद्ध के मौन का यह अर्थ लगाया है कि उनका मौन रहना किसी निश्चित उद्देश्य को अभिव्यक्ति करता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वे जान-बूझकर तत्वशास्त्रीय प्रश्न पूछे जाने पर मौन हो जाते थे। वे सर्वज्ञानी थे। उन्हें मानव के ज्ञान की सीमायें विदित थीं। उन्होंने देखा कि तत्त्वशास्त्र के जितने प्रश्न हैं उनके उत्तर निश्चित रूप से नहीं दिये गये हैं।

स्मरणीय बिंदु-

- "अव्यक्तानि" वे प्रश्न हैं जिनका उत्तर बुद्ध ने नहीं दिया।
- बुद्ध ने मोक्ष एवं दु:ख-निवारण को अधिक महत्वपूर्ण माना।
- अव्यक्त प्रश्न दार्शनिक जिज्ञासा से जुड़े हैं।
- बुद्ध का दृष्टिकोण व्यावहारिक एवं नैतिक था।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
अव्यक्तानि	-	अनुत्तरित प्रश्न
तथागत	-	बुद्ध
निर्वाण	-	दु:खों का अंत
शाश्वत	-	नित्य
साधना	-	आध्यात्मिक अभ्यास

5 अंक के प्रश्न-

1. अव्यक्तानि का अर्थ बताइए।
2. बुद्ध ने किन प्रश्नों को अव्याकृत कहा?
3. बुद्ध के मौन सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए।
4. अव्यक्त प्रश्नों के दो उदाहरण लिखिए।
5. अव्यक्तवाद का उद्देश्य क्या है?

15 अंक के प्रश्न-

1. अव्यक्तानि का विस्तारपूर्वक विवेचन कीजिए।
2. बुद्ध के मौन सिद्धान्त का दार्शनिक विश्लेषण कीजिए।
3. बौद्ध दर्शन में अव्यक्त प्रश्नों की प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए।
4. अव्यक्तवाद एवं व्यावहारिक जीवन के संबंध का अध्ययन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. "अव्यक्तानि" का अर्थ क्या है?

(क) स्पष्ट प्रश्न

(ख) अनुत्तरित प्रश्न

(ग) धार्मिक प्रश्न

(घ) वैज्ञानिक प्रश्न

2. बुद्ध ने किन प्रश्नों पर मौन धारण किया?

(क) नैतिक प्रश्न

(ख) अव्याकृत प्रश्न

(ग) सामाजिक प्रश्न

(घ) राजनीतिक प्रश्न

3. बुद्ध का मुख्य उद्देश्य क्या था?

(क) तर्क-वितर्क

(ख) दु:ख निवारण

(ग) राजनीति

(घ) कर्मकाण्ड

4. अव्यक्तवाद किस दर्शन से संबंधित है?

(क) न्याय

(ख) वेदान्त

(ग) बौद्ध दर्शन

(घ) सांख्य

5. बुद्ध ने किस पर अधिक बल दिया?

(क) शुष्क तर्क

(ख) व्यावहारिक साधना

(ग) कर्मकाण्ड

(घ) यज्ञ

इकाई- 4.3 अपोहवाद

उद्देश्य-

1. अपोहवाद की अवधारणा को समझना।
2. बौद्ध ज्ञानमीमांसा में शब्द एवं अर्थ संबंध का अध्ययन करना।
3. दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति के विचारों का विश्लेषण करना।

यह अवधारणा भेदाग्रह, अन्यव्यावृत्ति या अतद्व्यावृत्ति भी कहलाती है। बौद्ध दर्शन नैयायिकों की भाँति किसी सामान्य की सत्ता को नहीं मानता है। उनके अनुसार नाम वा शब्द से किसी सामान्य नामक सत्ता का बोध नहीं होता है। उनके अनुसार सामान्य नामक सत्ता नहीं है वरन् वे केवल नाममात्र हैं। जैसे गाय शब्द से गोत्व नामक किसी सामान्य सत्ता का बोध नहीं होता वरन् गाय शब्द से गाय से भिन्न सभी वस्तुओं का बोष होता है। बौद्ध अपोह की अवधारणा को तद भिन्नं-भिन्नं या अतद्व्यावृत्ति से समझाते हैं। तद् अर्थात् वस्तु (गाय) तो (क) भिन्न अर्थात् वस्तु (गाय) से भिन्न समस्त पदार्थ (ख) भिन्न अर्थात् वस्तु (गाय) से भिन्न पदार्थों से भिन्न पदार्थ अर्थात् वस्तु (गाय)। इस प्रकार गाय शब्द से गाय से भिन्न समस्त पदार्थों का निषेधा करते हुए गाय का ज्ञान होता है। न कि किसी गोत्व नामक सामान्य सत्ता का, इस प्रकार सामान्य नाम मात्र है। यही बौद्धों का अपोहवाद कहलाता है जो कि प्रतिषेधात्मक है।

स्मरणीय बिंदु-

- अपोहवाद बौद्ध शब्दार्थ सिद्धान्त है।
- "अपोह" का अर्थ है - अन्य का निषेध।
- शब्द का अर्थ प्रत्यक्ष वस्तु नहीं बल्कि अन्य वस्तुओं का निषेध है।
- दिङ्नाग और धर्मकीर्ति अपोहवाद के प्रमुख आचार्य हैं।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
अपोह	-	निषेध
शब्दार्थ	-	शब्द का अर्थ
दिङ्नाग	-	बौद्ध तर्कशास्त्री
धर्मकीर्ति	-	बौद्ध दार्शनिक
सामान्य	-	Universal

5 अंक के प्रश्न-

1. अपोहवाद क्या है?
2. "अपोह" शब्द का अर्थ बताइए।
3. दिङ्नाग का परिचय दीजिए।
4. धर्मकीर्ति के अनुसार शब्द का अर्थ क्या है?
5. अपोहवाद का महत्व स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. अपोहवाद का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति के विचारों की व्याख्या कीजिए।
3. बौद्ध शब्दार्थ सिद्धान्त का समालोचनात्मक अध्ययन कीजिए।
4. अपोहवाद एवं सामान्यवाद का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. अपोहवाद किससे संबंधित है?

(क) योग

(ख) शब्दार्थ सिद्धान्त

(ग) राजनीति

(घ) नैतिकता

2. "अपोह" का अर्थ क्या है?

(क) स्वीकार

(ख) निषेध

(ग) ज्ञान

(घ) प्रमाण

3. अपोहवाद के प्रमुख आचार्य कौन हैं?

(क) शंकराचार्य

(ख) पतंजलि

(ग) दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति

(घ) कपिल

4. "गाय" शब्द का अर्थ किस प्रकार समझाया गया है?

(क) प्रत्यक्ष ज्ञान

(ख) अगाय का निषेध

(ग) ईश्वर

(घ) आत्मा

5. अपोहवाद किस दर्शन का सिद्धान्त है?

(क) न्याय

(ख) सांख्य

(ग) बौद्ध दर्शन

(घ) मीमांसा

इकाई-4.4 बौद्ध मत के सम्प्रदाय

उद्देश्य-

1. बौद्ध सम्प्रदायों का अध्ययन करना।
2. हीनयान एवं महायान मतों की विशेषताओं को समझना।
3. बौद्ध धर्म के विकास का विश्लेषण करना।

बौद्ध-दर्शन के अनेक अनुयायी थे। अनुयायियों में मतभेद रहने के कारण, बौद्ध-दर्शन की अनेक सम्प्रदाय हुए। जब हम विश्व के धर्मों का सिंहावलोकन करते हैं तो पाते हैं कि उनका विभाजन भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में हो पाया है। इसे हम विश्व के समस्त धर्म के लिए सत्य मानें या न मानें हमें विश्व के अधिकांश धर्मों के सम्बन्ध में यह बात माननी ही पड़ती है। धर्म का इतिहास ही इस बात का साक्षी कहा जा सकता है। ईसाई धर्म का विभाजन प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक मतों में, इस्लाम का विभाजन सुन्नी और शिया मत में, जैन धर्म का विभाजन दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदायों में उक्त कथन की प्रामाणिकता की ओर संकेत करता है। अन्य धर्मों की तरह बौद्ध धर्म का विभाजन भी सम्प्रदायों में हुआ है। ऐसे सम्प्रदाय मूलतः दो हैं। इन्हें हीनयान तथा महायान कहते हैं। हीनयान बौद्ध धर्म का प्राचीनतम रुप है। महायान बौद्ध धर्म का विकसित रुप है।

हीनयान तथा महायान दोनों सम्प्रदाय अपनी-अपनी कल्पना को प्रमुखता देते हैं। हीनयान के अनुसार निर्वाण सत्य, नित्य, पवित्र तथा दुखाभावरूप है, महायानी को अन्तिम विशेषण पर आपत्ति है। वह निर्वाण को दुःख का अभाव नहीं मानता, प्रत्युत बह उसे सुखरूप मानता है। हीनयान में भिक्षु जब 'अहं' की दशा प्राप्त कर लेता है, तब वह निर्माण पा लेता है। निर्वाण वह मानसिक दशा है जब भिक्षु जगत् के अनन्त प्राणियों के साथ अपना विभेद नहीं कर सकता। उसके भ्यक्तित्व का लोप हो जाता है और सब प्राणियों के एकत्व की भावना उसके हृदय में जागरित हो उठती है। वह अष्टांगिक मार्ग के सेवन से अपने दुःखों से मुक्ति पा लेता है। उसे पच्च स्कन्ध-जन्य दुःख किसी प्रकार सताते नहीं है, उसके लिए जगत् के दुखों का पर्यवसान हो जाता है। यही है हीनयानी जीवनमुक्त की दशा। महायान का आदर्श इससे विभिन्न है। उसका आदर्श मानब है बोधिसत्त्व, जगत् के उपकार में समा हुना व्यक्ति। उसके लिए निर्वाण पूर्ण आनन्द की अवस्था है। हीनयान में जहाँ निर्वाण निषेध रूप था। वहाँ महायान में निर्वाण सत्तारूप होता है। ब्राह्मण दर्शन में न्यायसम्मत मुक्ति तथा बेदान्त सम्मत मुक्ति से इसकी क्रमशः तुलना हम कर सकते हैं। न्याय तथा सांख्य अपवर्ग को दुःखाभाव मानता है और बेदान्त आनन्दरूप। सांख्यमत में क्लेशावरण का ही क्षय होता है, परन्तु वेदान्त में शेयावरण का भी लोप हो जाता है। अतः हीनयानी निर्वाण न्याय सांख्य-सम्मत मोक्ष के समान है, जब कि महामानी निर्वाण वेदान्त-मुक्ति का समकक्ष है।

इन्हीं द्वादश निदानों का दूसरा नाम प्रतीत्यसमुत्पाद है, जो बुद्धधर्म का मौलिक सिद्धान्त माना जाता है। इसका अर्थ है- प्रतीत्य प्रतीत्यसमुत्पाद द्य प्रतिह (जाना) ल्यप् किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर, समुत्पाद अन्य दस्तु की उत्पत्ति, अर्थात् सापेक्ष कारणतावाद। प्रतीत्यसमुत्पाद बुद्धसम्मत कारणवाद है। उसका उपयोग मानव व्यक्ति की स्थिति समझाने के लिए किया गया है। मनुष्य की उत्पत्ति श्रृंखलाबद्ध होती है। इस श्रृंखला के बारह अंग तथा तीन काण्ड हैं-

क- अतीत जन्म से सम्बद्ध निदान- १ अविद्या २ संस्कार

ख- बर्तमान जीवन से सम्बद्ध निदान- ३ विज्ञान ४ नामख्य ५ षडायतन ६ स्पर्ण ७ वेदना

८ तृष्णा ९ उपादान १० भव ११

ग- भविष्य जीवन से सम्बद्ध निदान- जाति १२ जरामरण

तृतीय आर्यसत्य दुःखनिरोध या निर्वाण है। कारण की सत्ता पर ही परम्परा का निरोध कर तरह कार्य का निरोध कार्य की सत्ता अवलम्बित रहती है। यदि कारण दिया जाय, तो आप से आप चलने वाली मशीन की स्वतः सम्पन्न हो जायेगा। मूल कारण

अविद्या का विद्या के द्वारा निरोधा कर देने पर दु:खनिरोध अवश्य हो जाता है।

चतुर्थ आर्यसत्य दु:ख-निरोध-गामिनी प्रतिपत्, अर्थात् निर्वाण-मार्ग है। बुद्ध ने सुख-समृद्धि में जीवन-यापन करने बाले सुखमागियों तथा धोर व्रताचरण से इस काञ्चन काया को सुधाकर कोटा बना देनेवाले तापसों के जीवन को निर्वाण के लिए सहायक न मान कर इन उभय मुख तथा दु:ख के छोरों को छोड़कर 'मध्यम प्रतिपदा' को खोज निकाला। इस प्रतियुद्ध को।

विज्ञानवाद- विज्ञानवाद को निर्वाण लाभ में योग को आवश्यक मानने के कारण योगाचार भी कहा जाता है। विज्ञानवाद विज्ञान या चित्त को ही एकमात्र् सत् मानता है। उनके अनुसार बाह्य जगत की सत्ता नहीं है वरन् वह चिताकार ही है। उनके अनुसार विज्ञान से स्वतन्त्र बाह्य वस्तु की कोई सत्ता नहीं है। ज्ञान का विषय बाहर नहीं है वरन् मनुष्य के मनस में ही है। विज्ञानवाद के अनुसार मनुष्य के कोटि-कोटि विज्ञान हेतु प्रत्यय परम्परा से अनादिकाल से प्रवाहित होते आ रहे हैं। इसलिए विज्ञान क्षणिक होते हुए भी हमें उनकी नित्य सत्ता का भ्रम होता है। विज्ञानवादी विज्ञान को क्षणिक व सन्तति रूप मानते हैं, अत: उनकी पारस्परिक सम्बद्धता को सिद्ध करने के लिए वे आलय विज्ञान को स्वीकार करते हैं तथा यह मानते हैं कि आलय विज्ञान में सभी विज्ञानों के बीज संग्रहीत रहते हैं। ये बीज समय आने पर उचित सामग्री पाकर व्यवहार रूप में प्रकट हो जाते हैं।

विज्ञान को ही एकमात्र सत् मानते हैं। आचार्य वसुबन्धु विज्ञान के दो रूप मानते है- (1) प्रवृत्ति विज्ञान (2) आलय विज्ञान। विज्ञान चूँकि क्षणिक व सन्तति रूप है अत: उनकी पारस्परिक सम्बद्धता को स्पष्ट करने के लिए योगाचार दर्शन को आलय विज्ञान की कल्पना करनी पड़ी। आलय विज्ञान को चित्त तथा तथागत गर्भ भी कहा जाता है। आलय शब्द के दो अर्थ हैं- एक शाब्दिक अर्थ है 'स्थान' दूसरा अर्थ है लय पर्यन्त। शाब्दिक अर्थ के अनुसार आलय विज्ञान वह स्थान है जिसमें सभी प्रवृत्ति विज्ञानों के बीज संग्रहित रहते हैं। दूसरे अर्थ के अनुसार जो विज्ञान लय पर्यन्त रहे वह आलय विज्ञान है। यद्यपि आलय विज्ञान अस्थायी होता है किन्तु वह लय तक रहता है। मनुष्य में विज्ञान के विनाश के उपरान्त उसकी वासना तथा नवीन विज्ञान की उत्पत्ति करने की शक्ति आलय विज्ञान में बीज रूप में रहती है जो समय आने पर उचित सामग्री पाकर व्यवहार रूप में प्रकट हो जाते हैं। इसी कारण इस विज्ञान को आलय विज्ञान कहा जाता है।

शून्यवाद- बौद्ध दर्शन का माध्यमिक शून्यवाद सम्प्रदाय के प्रवर्तक नागार्जुन और अश्वघोष ने की। इस मत को शून्यवाद कहा गया, जिसके अनुसार जगत वास्तव में शून्यमय है। 'शून्य' शब्द का अर्थ 'कुछ नहीं' नहीं है। इस मत को सर्ववैनाशिकवाद भी कहते हैं। यदि शून्य का अर्थ कुछ नहीं नहीं है तो इसका क्या अर्थ है? नागार्जुन के अनुसार इसका अर्थ है 'वर्णनातीत'।

मनुष्य जब वस्तुओं के अस्तित्व का अनुभव करता है और उसके तात्विक या वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयास करता है तो बुद्धि उन वस्तुओं के स्वरूप को न तो सत्य, न असत्य, न दोनों और न दोनों नहीं, के रूप में निश्चित कर सकती है।

बाह्य जगत को सत्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि सत्य का अर्थ है निरपेक्ष जबकि जगत- की सभी वस्तुएँ सापेक्ष हैं। वस्तुओं को हम असत्य भी नहीं कह सकते क्योंकि हमें उनका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। बाह्य वस्तुओं को सत् और असत् दोनों इसलिये नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा कहना स्व तो व्याघातक होगा। विश्व के विषयों के सम्बन्ध में यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे न सत्य हैं और न वे असत्य, यह आत्म विरोधाी होगा। इसलिये जगत का स्वरूप शून्य है। नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद को भी शून्यता कहा क्योंकि उसके अनुसार भो वस्तुएँ परस्पर निर्भर है। शून्यवाद को सापेश्ववाद भी कहते हैं। सापेक्षवाद के अनुसार वस्तुओं का स्वभाव अन्य वस्तुओं पर निर्भर होता है। इसे मध्यम मार्ग भी कहते हैं, क्योंकि यह प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग दोनों का समन्वय करता है। वे ये भी नहीं मानते कि वस्तुएँ निरपेक्ष और नित्य होती है और न वे जगत को नितान्त असत्य कहते हैं। इस प्रकार वस्तुओं का स्वरूप चारों कोटियों से परे है इसलिये शून्य को चतुष्ट कोटिर्विनर्मुक्त कहा गया है।

बौद्ध द्वारा स्थापित शून्यवाद केवल नकारात्मक सिद्धान्त नहीं है। यह शून्यता पारमार्थिक रूप से निर्वाण है, नित्य है, निरपेक्ष है और जगत से परे है।

इसलिये नागार्जुन दो प्रकार के सत्यों की स्थापना करते हैं-

(क) संवृत्ति सत्य (ख) पारमार्थिक सत्य ।

(1) संवृत्ति सत्य-यह व्यावहारिक सत्य है, जो साधाारण मनुष्यों के लिये है। यह पुनः दो रूपों में विभक्त किया गया-

(अ) तथ्य संवृत्ति-यह वह वस्तु या घटना है जो किसी कारण से उत्पन्न होता है। इसी से सांसारिक लोग व्यवहार करते हैं।

(ब) मिथ्या संवृत्ति-यह कारण से उत्पन्न तो होते हैं किन्तु इसे सभी सत्य नहीं मानते।

(2) पारमार्थिक सत्य-यह निरपेक्ष रूप से सत्य है। संवृत्ति सत्य पारमार्थिक सत्य को प्राप्त करने का साधान है। इसे अविद्या, मोह भी कहते हैं।

नागार्जुन के अनुसार जो व्यक्ति इन दोनों सत्यों में भेद को नहीं जानते वे बुद्ध की शिक्षाओं के गूढ़ रहस्यों को समझने में असमर्थ रहते हैं।

वैभाषिक- वैभाषिकों ने विषयिगत दृष्टि से छः इन्द्रिय, इन्द्रियों के छः विषय तथा इनसे उत्पन्न छः विज्ञान माने हैं। इससे ही किसी जान की उत्पत्ति हो सकती है। अङ्कारह तत्त्वों को वैभाषिक मत में धाातु कहा गया है। विषयगत दृष्टि से वैभाषिकों ने धर्म की सत्ता भानी है। यह धर्म ही जगत की परम सत्ता है। धर्म दो प्रकार के होते हैं

(क) संस्कृत धर्म (ख) असंस्कृत धर्म।

संस्कृत धर्म चार प्रकार के हैं- रूप, चित्त, चौतसिक एवं चित्त विप्रयुक्त। संस्कृत धर्म तीन हैं-

(1) प्रतिसंख्या एवं निरोध (2) अप्रतिसंख्या निरोध तथा (3) आकाश।

इतने प्रकार के विषयगत तत्त्वों को मानने के कारण वैभाषिकों को सर्वास्तिवादी तथा विषयगत तत्त्वों का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा मानने के कारण इसे बाहा प्रत्यक्षवादी वैभाषिकों के अनुसार जिस प्रकार जगत को परम सत्ता धर्म है, उसी प्रकार वस्तु की रराम सत्ता स्वस्तक्षण है जिसका ज्ञान निर्विकल्प प्रत्यक्ष द्वारा होता है। परम सत्ता स्वलक्षण है जिसका ज्ञान निर्विकल्प प्रत्यक्ष द्वारा होता है।

सौत्रन्तिक- सौत्रन्तिक भी वैभाषिकों की भाँति सर्वास्तिवादी है किन्तु वे बाह्य जगत का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा न मानकर अनुमान द्वारा मानते हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष से बाह्य वस्तु का ज्ञान नहीं होता वरन् तदाकार चित्त का ही ज्ञान होता है। इसलिए बाह्य जगत चिताकारों द्वारा अनुमानित ही होता है। इसी कारण सौत्रन्तिक मत को बाह्यानुमेयवाद भी कहा जाता है।

सौत्रन्तिक क्षणभङ्गवाद को भी स्वीकार करते हैं। सौत्रन्तिक ज्ञान के चार कारण अथवा प्रत्यक्ष मानते हैं

(क) आलम्बन (ख) समनन्तर (ग) अधिपति (घ) सहकारी।

समीक्षा- बुद्ध के दर्शन की मूल परम्परा उपनिषद् ही है। कर्मकाण्ड के मूल में अविद्या का कारण होना, तृष्णा के साथ रागद्वेषादि बन्धनों से युक्त होना, कर्म सिद्धान्त की व्यापकता आदि सामान्य सिद्धान्त जैन बौद्ध दोनों में उपलब्ध होते हैं। असत से सत की उत्पत्ति का तत्व छान्दोग्य में उल्लिखित है। अन्य कतिपय सिद्धान्तों में समानता भले ही हो, परन्तु क्षणिकवाद, अनात्मता, विज्ञानवाद तथा शून्यवाद की वास्तविकता के सिद्धान्त इतने घोर विद्रोही थे कि ब्राह्मण तथा जैन दार्शनिकों मतों में तार्किक युक्तियों के माध्यम से इनका खण्डन किया। परन्तु सभी दर्शन एक नवीन दृष्टि प्रदान करते हुए दार्शनिक धारा को आगे बढ़ाने का कार्य करते हैं।

स्मरणीय बिंदु-

- बौद्ध धर्म में अनेक सम्प्रदाय विकसित हुए।
- हीनयान एवं महायान प्रमुख सम्प्रदाय हैं।

- महायान में बोधिसत्त्व आदर्श को महत्व दिया गया।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
हीनयान	–	प्रारंभिक बौद्ध सम्प्रदाय
महायान	–	व्यापक बौद्ध सम्प्रदाय
बोधिसत्त्व	–	लोककल्याण हेतु समर्पित साधक
वज्रयान	–	तांत्रिक बौद्ध सम्प्रदाय
तंत्र	–	विशेष साधना पद्धति

5 अंक के प्रश्न-

1. हीनयान क्या है?
2. महायान की मुख्य विशेषताएँ लिखिए।
3. बौद्ध सम्प्रदायों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
4. वैभाषिक सम्प्रदाय क्या है?
5. माध्यमिक एवं योगाचार सम्प्रदाय क्या है?

15 अंक के प्रश्न-

1. हीनयान एवं महायान का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
2. बौद्ध सम्प्रदायों के विकास का विवेचन कीजिए।
3. वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक सम्प्रदाय का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
4. माध्यमिक एवं योगाचार सम्प्रदाय का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. महायान में किस आदर्श को महत्व दिया गया?

(क) तप

(ख) बोधिसत्त्व

(ग) यज्ञ

(घ) कर्म

2. हीनयान किस पर बल देता है?

(क) व्यक्तिगत मोक्ष

(ख) पूजा

(ग) भोग

(घ) राजनीति

3. वज्रयान का संबंध किससे है?

(क) तंत्र साधना

(ख) युद्ध

(ग) व्यापार

(घ) वेद

4. बौद्ध धर्म के कितने प्रमुख सम्प्रदाय माने जाते हैं?

(क) 1

(ख) 2

(ग) 5

(घ) 7

5. बोधिसत्त्व आदर्श किस सम्प्रदाय में प्रमुख है?

(क) हीनयान

(ख) महायान

(ग) न्याय

(घ) सांख्य

॥ ओ३म् ॥

संस्कृतसाहित्यम्–I

BDPHID-103(2)

दिव्य प्रकाशन

॥ ओ३म् ॥

BDPHID-103 (1)
संस्कृतसाहित्यम्-I

उद्देश्य-

1. संस्कृत व्याकरण का आधारभूत ज्ञान प्रदान कराना।
2. वर्णोच्चारण शिक्षा का बोध कराना। 3. संज्ञाओं व सन्धि प्रकरण से परिचित कराना।
4. पद्यात्मक काव्यों की अध्ययनशैली से अवगत कराना।

परिणाम-

1. संस्कृत व्याकरण के आधारभूत ज्ञान से शब्दों की वैज्ञानिक पद्धति से परिचित हो जाता है।
2. वर्णोच्चारण शिक्षा, सन्धि व संज्ञाओं के बोध से वर्णो एवं शब्दों के शुद्धतापूर्वक उच्चारण व उत्कृष्ट संस्कृत संभाषण करने व कराने में समर्थ हो जाता है।
3. काव्यात्मक शैली के परिचय से नाटकों के लेखन एवं मंचन में व्यावसायात्मक दृष्टि से सक्षम हो जाते हैं।

प्रथम इकाई-1 शिक्षाप्रकरणं (पाणिनीय शिक्षा) संज्ञाप्रकरणञ्च (क्रेडिट-1)

(1) वर्णो के स्वरूप, स्थान (अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः इत्यादयः) व प्रयत्न (स्पृष्टकरणा स्पर्शाः इत्यादयः) ।
(2) प्रत्याहार सूत्रों का परिचय एवं प्रत्याहार निर्माण विधि।
(3) विविध संज्ञाओं का ज्ञान (वद्धिरादैच्, अदेङ्गुण इत्यादयः) ।

द्वितीय इकाई-2 सन्धिप्रकरणमजन्तपुल्लिङ्गंप्रकरणञ्च (क्रेडिट-1)

(1) अच् सन्धि - इको यणचि, एचोऽयवायावः, आद्गुणः, अकः सवर्णे दीर्घः, अमि पूर्वः, एङि पररूपम्, ऋत् उत्, ङसिङसोश्च, इत्यादयः।
(2) हल् सन्धि - खरि च, ष्टुनाष्टुः, स्तोःश्चुना श्चुः, हलो यमां यमि लोपः, झरो झरि सवर्णे, अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः इत्यादयः।
(3) अथ विसर्गसन्धि-(विसर्जनीयस्य सः इत्यादयः) (4) अजन्तपुल्लिङ्गंप्रकरणम्

तृतीय इकाई-3 : अजन्तस्त्रीलिङ्गंनपुंसकलिङ्गंप्रकरणं
हलन्तपुल्लिङ्गं प्रकरणञ्च। (क्रेडिट-1)

1. अजन्तस्त्रीलिङ्गंप्रकरणम् 2. अजन्तनपुंसकलिङ्गंप्रकरणम्
3. हलन्तपुल्लिङ्गंप्रकरणम्

चतुर्थ इकाई-4 : भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म वृतांत एवं बाल लीलाएँ । (क्रेडिट-1)

-मथुरा में कंस के कारावास में भगवान श्रीकृष्ण का जन्म ।
-वसुदेव जी द्वारा गोकुल जाकर नन्दगोप जी को श्रीकृष्ण को सौंपना ।
-बाल्यावस्था में अनेक राक्षसों का वध करना जैसे- पूतना, केशी, अरिष्टर्षभ आदि।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
खण्ड-1 शिक्षाप्रकरणं (पाणिनीय शिक्षा) संज्ञाप्रकरणञ्च पेज	**5-18**
इकाई-1.1 शिक्षाप्रकरणं (पाणिनीय शिक्षा)	5-11
इकाई-1.2 संज्ञाप्रकरणञ्च पेज	12-18
खण्ड-2 सन्धिप्रकरणमजन्तपुल्लिङ्गप्रकरणञ्च	**19-38**
इकाई-2.1 सन्धिप्रकरणम्	19-27
इकाई-2.2 अजन्तपुल्लिङ्गप्रकरणञ्च	28-38
खण्ड-3 अजन्तस्त्रीलिङ्गनपुंसकलिङ्गप्रकरणं हलन्तपुल्लिङ्ग प्रकरणञ्च।	**39-58**
इकाई-3.1 अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्	39-42
इकाई-3.2 नपुंसकलिङ्गप्रकरणं हलन्तपुल्लिङ्ग प्रकरणञ्च	43-58
खण्ड-4 भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म वृतांत एवं बाल लीलाएँ।	**59-1**
इकाई-4.1 भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म वृतांत	59-69
इकाई-4.2 भगवान श्रीकृष्ण की बाल लीलाएँ	70-74

भूमिका

संस्कृत साहित्य विश्व की प्राचीनतम और समृद्ध साहित्यिक परंपराओं में से एक है, जिसकी जड़ें वैदिक युग में प्रतिष्ठित हैं। यह साहित्य केवल भारत की सांस्कृतिक, धार्मिक और दार्शनिक धरोहर का परिचायक ही नहीं, अपितु समस्त मानवता के लिए ज्ञान, नैतिकता और जीवनदर्शन का एक अमूल्य कोश है। संस्कृत भाषा में रचित साहित्य में वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, पुराण, नाटक, काव्य, नीति-शास्त्र, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष तथा दर्शन के ग्रंथ सम्मिलित हैं, जो विविध क्षेत्रों में अद्वितीय योगदान प्रदान करते हैं।

संस्कृत साहित्य को मुख्यतः तीन कालों में विभाजित किया गया हैख़्रवैदिक काल, उत्तरवै. दिक काल (स्मृति साहित्य), और शास्त्रीय काल। वैदिक साहित्य में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद प्रमुख हैं, जिनमें जीवन, प्रकृति, देवताओं और मानव-धर्म के विषय में गहन चिंतन मिलता है। उत्तरवैदिक काल में ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक, और उपनिषदों का विकास हुआ, जो ब्रह्म और आत्मा के रहस्य पर प्रकाश डालते हैं।

शास्त्रीय संस्कृत साहित्य काल में महाकाव्य, नाट्य और गद्य का अभूतपूर्व विकास हुआ। इस काल के दो महान महाकाव्य-'रामायण' (महर्षि वाल्मीकि) और 'महाभारत' (महर्षि वेदव्यास)-भारतीय संस्कृति के आधारस्तंभ हैं। इनमें न केवल युद्ध, राजनीति और धर्म के गूढ़ रहस्य वर्णित हैं, अपितु आदर्श जीवन मूल्यों की भी झलक मिलती है। कालिदास, भवभूति, भास, माघ, बाणभट्ट, और दण्डी जैसे महान कवियों और नाटककारों ने संस्कृत साहित्य को वैश्विक मंच पर प्रतिष्ठा दिलाई।

कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' और 'मेघदूतम्', भास के नाटक, बाणभट्ट का 'हर्षचरितम्' तथा दण्डी की 'दशकुमारचरितम्' आज भी साहित्यिक दृष्टिकोण से अद्वितीय माने जाते हैं। संस्कृत साहित्य केवल भावनात्मक या धार्मिक नहीं, अपितु तर्कपूर्ण और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी परिपूर्ण है। पाणिनि का 'अष्टाध्यायी' व्याकरण का अद्‌भुत ग्रंथ है, जो आज भी भाषाविज्ञान में एक मानक रूप में स्थापित है।

नीतिशास्त्र में चाणक्य का 'अर्थशास्त्र', भर्तृहरि की 'नीतिशतकम्', तथा हितोपदेश और पंचतंत्र जैसे ग्रंथ नीति और शिक्षाप्रद कहानियों से भरपूर हैं, जो बालकों से लेकर वयस्कों तक के लिए प्रेरणास्पद हैं।

अतः संस्कृत साहित्य एक अमूल्य धरोहर है, जिसे संरक्षित करना और नई पीढ़ी तक पहुँचाना हमारा कर्तव्य है। इसके अध्ययन से न केवल भाषागत कौशल बढ़ता है, अपितु जीवन के गहरे अर्थों की भी अनुभूति होती है। यही इस पुस्तक का उद्देश्य हैख़्रसंस्कृत साहित्य की महानता से पाठकों को परिचित कराना और उनमें इसके प्रति आदर व जिज्ञासा उत्पन्न करना।

खण्ड-1- शिक्षाप्रकरणं (पाणिनीय शिक्षा) संज्ञाप्रकरणञ्च

इकाई-1.1 - शिक्षा प्रकरणम् (पाणिनीय शिक्षा)

उद्देश्य-

1. वर्णोच्चारण शिक्षा का बोध कराना।
2. वर्णों के स्वरूप, स्थान और प्रयत्न का ज्ञान देना।
3. प्रत्याहार निर्माण एवं संज्ञाओं से परिचित कराना।

1. वर्ण व अक्षर का स्वरूप-

अक्षरं नक्षरं विद्यादशनोतेर्वा सरोऽक्षरम्।
वर्ण वाहुः पूर्वसूत्रे किमर्थमुपदिश्यते॥ (महाभाष्य अ.1 । पा. 1 आ. 2)

मनुष्य (अक्षरं नक्षरम्) जो सर्वत्र व्याप्त जिनका कभी विनाश नहीं होता, (वर्ण वाहुः पूर्वसूत्रे) अथवा जिनको पूर्वसूत्र में वर्ण और अक्षर कहते हैं, (विद्यात्) उनको प्रयत्न से जानें।

आकाशवायुप्रभवः शरीरात्समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः॥1॥

आकाश और वायु के संयोग से उत्पन्न होने वाला, नाभि के नीचे से ऊपर उठता हुआ, जो मुख को प्राप्त होता है, उनको 'नाद' कहते हैं। वह कण्ठ आदि स्थानों में विभाग को प्राप्त हुआ वर्णभाव को प्राप्त होता है, उसको 'शब्द' कहते हैं।

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन्मन्दं जनयति स्वरम्॥

जीवात्मा बुद्धि से अर्थों की संगति करके कहने की इच्छा से मन को युक्त करता, विद्युत्-रूप मन जठराग्नि को ताड़ता, वह वायु को प्रेरणा करता और वायु उरः स्थल में विचरता हुआ मन्द स्वर को उत्पन्न करता है।

2. शब्द का स्वरूप और लक्षण-

तमक्षरं ब्रह्म परं पवित्रं गुहाशयं सम्यगुशन्ति विप्राः।
स श्रेयसा चाभ्युदयेन चैव सम्यक् प्रयुक्तः पुरुषं युनक्ति॥2॥

(विप्रः) विद्वान् लोग (तत्) उस आकाशवायु प्रतिपादित (अक्षरम्) नाशरहित (गुहाशयम्) विद्यासुशिक्षासहित बुद्धि में स्थित (परम्) अत्युत्तम (पवित्रम्) शुद्ध (ब्रह्म) शब्दराशि की (सम्यक्) अच्छे प्रकार (उशन्ति) प्राप्ति की कामना करते हैं, और (स एव) वही (सम्यक् प्रयुक्तः) अच्छे प्रकार प्रयोग किया हुआ शब्द (अभ्युदयेन) शब्द आत्मा मन (च) और स्वसम्बन्धियों के लिये इस संसार के सब सुख तथा (श्रेयसा) विद्यादि शुभ गुणों के योग (च) और मुक्तिसुख से (पुरुषम्) मनुष्य को (युनक्ति) युक्त कर देता है। इसलिये इस वर्णोच्चारण की श्रेष्ठ शिक्षा से शब्द के विज्ञान में सब लोग प्रयत्न करें।

श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिर्निर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः॥
(महा. अ. 1, पा.1, सू. अइउण्, आ. 2)

यह 'अइउण्' सूत्र की व्याख्या में लिखा है कि (श्रोत्रोपलब्धिः) जिसका कान इन्द्रिय से ज्ञान (बुद्धिर्निग्राह्यः) और बुद्धि से निरन्तर ग्रहण (प्रयोगेणाभिज्वलितः) जो उच्चारण से प्रकाशित होता तथा (आकाशदेशः) जिसके निवास का स्थान आकाश है (शब्दः) वह

'शब्द' कहता है। वर्णमाला में तिरसठ वर्ण है। उनको हम इस प्रकार वर्गीकरण करते हैं-

ह्रस्व	**दीर्घ**	**प्लुत**
अ	आ	अ ३
इ	ई	ई ३
उ	ऊ	उ ३
ऋ	ॠ	ऋ ३
ऌ	०	ऌ ३
०	ए	ए ३
०	ऐ	ऐ ३
०	ओ	ओ ३
०	औ	औ ३

कवर्ग	–	क ख ग घ ङ
चवर्ग	–	च छ ज झ ञ
टवर्ग	–	ट ठ ड ढ ण
तवर्ग	–	त थ द ध न
पवर्ग	–	प फ ब भ म
अन्तस्थ	–	य र ल व
ऊष्म	–	श ष स ह

अयोगवाहरूप

विसर्जनीय	चारयम	ः
जिह्वामूलीय		◌ॅ
उपध्मानीय		◌ॅ
अनुस्वार		अनुनासिक चिन्ह

(2 का अवशीष्ट)

बरह अक्षरों का स्वरूप

क् + अ	=	क
क् + आ	=	का
क् + इ	=	कि
क् + ई	=	की
क् + उ	=	कु
क् + ऊ	=	कू
क् + ए	=	के
क् + ऐ	=	कै
क् + ओ	=	को
क् + औ	=	कौ
क् + अं	=	कं
क् + अः	=	कः

संयोगचक्रम्

क् + य् + अ	=	क्य
क् + र् + अ	=	क्र
ज् + ञ् + अ	=	ज्ञ
ह् + य् + अ	=	ह्य
ह् + व् + अ	=	ह्व
क् + ऋ	=	कृ
क् + ॠ	=	कॄ
क् + ऌ	=	क्ऌ
क् + व् + अ	=	क्व
क् + ष् + अ	=	क्ष
त् + र् + अ	=	त्र
श् + र् + अ	=	श्र

3. स्वरों का लक्षण एवं संज्ञा-

स्वयं राजन्त इति स्वराः॥ -(महा. अ. 1, पा. 2, सू. 29, आ.1)

जिनके उच्चारण में दूसरे वर्णों के सहाय की अपेक्षा न हो, वे 'स्वर' कहाते हैं।

ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः॥ -(अ. 1, पा. 2, सू. 27)

स्वरों की ह्रस्व दीर्घ और प्लुत भेद से तीन संज्ञा हैं। इनके उच्चारण समय का लक्षण यह है कि जितने समय में अंगुष्ठ के मूल की नाड़ी की गति एक बार होती है, उतने समय में ह्रस्व, उससे दूने काल में दीर्घ और उसके तिगुने काल में प्लुत का उच्चारण करना चाहिये। और स्वरों के उदात्तादि भी गुण हैं।

उच्चैरुदात्तः॥ -(अ. 1, 2, 29)

ऊर्ध्वध्वनि से 'उदात्त'।

नीचैरनुदात्तः॥ -(अ. 1, 2, 30)

नीचे स्वर से 'अनुदात्त' बोला जाता है।

समाहारः स्वरितः॥ -(अ. 1, 2, 31)

उदात्त और अनुदात्त स्वरों को मिलाकर बोलना 'स्वरित' कहाता है।

ह्रस्वं लघु॥ -(अ. 1, 4, 10)

ह्रस्व स्वर की 'लघु' संज्ञा।

संयोग गुरु -(अ. 1, 44, 11)

जो दो वा अधिक व्यञ्जनों का संयोग परे हो, तो पूर्व ह्रस्व अच् की 'गुरु' संज्ञा होती है। जैसे 'विप्रः' यहाँ वकार में इकार की गुरु संज्ञा है, क्योंकि इसके परे पकार और रेफ का संयोग है।

दीर्घं च॥ -(अ. 1, 4, 12)

और दीर्घ की भी 'गुरु' संज्ञा है।

हलोऽनन्तराः संयोगः॥-(अ. 1, 1, 7)

अनन्तर अर्थात् अचों का जो व्यवधान उससे रहित हलों की 'संयोग' संज्ञा है।

4. व्यञ्जन का लक्षण-

अन्वग्भवति व्यञ्जनमिति॥ -(म. अ. 1, पा. 2, सू. 29, आ.1)

जिनका उच्चारण विना स्वर के नहीं हो सकता, वे 'व्यञ्जन' कहाते हैं।

5. उच्चारण करने वालों का गुण एवं दोष-

माधुर्य्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः॥

(माधुर्यम्) वर्णों के उच्चारण में मधुरता (अक्षरव्यक्तिः) भिन्न-भिन्न अक्षर (पदच्छेदः) पृथक्-पृथक् पद (तु) और (सुस्वरः) सुन्दरध्वनि (धैयम्) धीरता (च) और (लयसमर्थम्) विराम यथा सार्थकता और जैसा ह्रस्व दीर्घ प्लुत, उदात्त अनुदात्त स्वरित स्वर, स्पर्श आदि आभ्यन्तर ओर विवारादि बाह्य प्रयत्न से अपने-अपने स्थानों में वर्णों का उच्चारण करना तथा सत्यभाषण ाादि भी वर्णों के उच्चारण करने वालों के गुण हैं।

ग्रस्तं निरस्तमविलम्बितं निर्हतमम्बूकृतं ध्मातमथोविकम्पितम्। सन्दष्टमेणीकृतमर्द्धकं द्रुतं विकीर्णमेताः स्वरदोषभावनाः॥

(महाभाष्य अ., 1, पाद.1, आ.1)

(ग्रस्तम्) जैसे किसी वस्तु को मुख से पकड़ कर बोलना (निरस्तम्) जैसे किसी वस्तु को मुख से ग्रहण करके फेंक देना (अविलम्बितम्) जिसका उच्चारण पृथक्-पृथक् करना चाहिये, उसको वर्णान्तर में मिला के बोलना (निर्हतम्) जैसे किसी को ध क्का देना (अम्बृकृतम्) जैसे मुख में जल भर के बोलना (ध्मातम्) जैसे रुई को धुनना वा लोहार की भाठी के समान उच्चारण करना (विकम्पितम्) जैसे कम्प करके बोलना (सन्दष्टम्) जैसे हरिण कूद के चलते हैं, वैसे ऊपर नीचे ध्वनि से बोलना (अर्द्धकम्) जितने समय में जिस वर्ण का उच्चारण करना चाहिये उसके आधे समय में बोलना (द्रुतम्) त्वरा से बोलना (विकीर्णम्) जैसे कोई वस्तु बिखर जाये वैसा उच्चारण करना, से सब दोष स्वरों के उच्चारण करने वालों के हैं।

अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषाः। शशः षष इति मा भूत्।
पलाशः पलाष इति मा भूत्। मञ्चको मञ्जक इति मा भूत॥

(महाभाष्य अ.1, पा., आ.1)

व्यञ्जनों के उच्चारण में भी दोषों को छोड़कर बोलना चाहिये। जैसे (शशः) इन तालव्य शकरों के उच्चारण में (षष इति मा भूत्) मूर्द्धन्य षकारों का उच्चारण करना (पलाशः पलाषः) यहाँ भी पूर्ववत् जानना। (मञ्चकः) कोई इस च के स्थान में (मञ्जकः) ज का उच्चारण करे, इत्याति व्यञ्जनों के उच्चारण करने वालों के दोष कहाते हैं। इसलिये जिस-जिस अक्षर का जो-जो प्रयत्न और उच्चारण का क्रम है, वैसा ही उस उसका उच्चारण करना योग्य है।

अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः॥

अ,आ अ३, कु अर्थात् क, ख, ग, घ, ङ, ह और : विसर्जनीय इन वर्णों का कण्ठ स्थान है। अर्थात् जो जिह्वा का मूल कण्ठ का अग्रभाग काकल्क के नीचे देश है उस कण्ठ स्थान से इनका शुद्ध उच्चारण होता है।

इचुयशास्तालव्याः॥

जो इ, ई, इ३, चु अर्थात् च, छ, ज, झ, ञ, य और श हैं, इनका तालुस्थान अर्थात् दाँतों के ऊपर से उच्चारण करना चाहिये। जैसे च के उच्चारण में जिस स्थान में जैसी जीभ की क्रिया करनी पड़ती है, वैसे शकारा का उच्चारण करना योग्य है।
ऋटुरषा मूर्द्धन्याः।।

ऋ, ॠ, टु अर्थात् ट, ठ, ड, ढ, ण, र और ष का उच्चारण मूर्द्धास्थान अर्थात् तालु के ऊपर से करना चाहिये। जैसी क्रिया ट के उच्चारण में की जाती है, वैसी ही ष के उच्चारण में करनी उचित है।

लृतुलसा दन्त्याः॥

ल, लृ३, तु अर्थात् त, थ, द, ध, न; ल और स इन वर्णों का दन्तस्थान अर्थात् दाँतों में जिह्वा लगा के उच्चारण करना है।

उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः ॥

उ, ऊ, उ३, पू अर्थात् प, फ, ब, भ, म और ँ इस उपध्मानीय का ओष्ठस्थान से उच्चारण करें।

एदैतौ कण्ठ्यातालव्यौ॥

ए ऐ कण्ठ और तालु से बोलने योग्य हैं।

ओदौतौ कण्ठ्यौष्ठ्यौ॥

ओ औ को कण्ठ और ओष्ठ से बोलना शुद्ध है।

वकारो दन्त्यौष्ठ्यः ॥

व का उच्चारण दाँत और ओष्ठ से होना चाहिये।

ङञणनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः ।।

ङ, ञ, ण, न और म को स्व-स्व स्थान और नासिका स्थान से बोलना चाहिए।

6. अभ्यान्तर प्रयत्न-

प्रयत्नोऽपि द्विविधः॥1।

प्रयत्न भी दो प्रकार के होते हैं।

आभ्यन्तरो बाह्यश्च॥2॥

आभ्यन्तर और बाह्य।

आभ्यन्तरस्तावत्॥3॥

इन दोनों में से प्रथम आभ्यन्तर प्रयत्नों को कहते हैं।

स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः॥4॥

ककार से लेके मकार पर्य्यन्त 25 पच्चीस वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न है, अर्थात् जिह्वा से स्व-स्व स्थानों में स्पर्श करके इन वर्णों का उच्चारण करना शुद्ध है।

ईषत्स्पृष्टकरणाः अन्तस्थाः॥5॥

थोड़े स्पर्श करके अन्तस्थ अर्थात् य, र, ल, व का उच्चारण करना चाहिये।

ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः॥6॥

जिसलिये ऊष्म अर्थात् श, ष, स, ह का अपने-अपने स्थान में जिह्वा का किञ्चित् स्पर्श करके शुद्ध उच्चारण होता है, इसलिए इसका ईषद्विवृत प्रयत्न है।

विवृतकरणा वा॥7॥

और इसमें दूसरा पक्ष यह भी है कि स्व-स्व स्थान को जीभ से स्पर्श के बिना भी इनका उच्चारण करना शुद्ध है। इसलिये श, ष, स, ह का विवृत प्रयत्न भी है।

विवृतकरणाः स्वराः॥8॥

जिसलिये उक्त स्थानों से जीभ को अलग रख के स्वरों का उच्चारण करना योग्य है, इसलिये इनका विवृत प्रयत्न है।

संवृतस्त्वकारः॥9॥

अकार का संवृत प्रयत्न है। क्योंकि इसका उच्चारण कण्ठ को संकोच करके होता है, परन्तु इसका कार्य करने के समय विवृत प्रयत्न ही होता है।

7. बाह्यप्रयत्न-

अथ बाह्याः प्रयत्नाः॥1॥

अब वर्णों के बाह्य प्रयत्नों का वर्णन करते हैं।

वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीया यमौ च प्रथमद्वितीयौ विवृतकण्ठाः श्वासाऽनुप्रदानाश्चाऽघोषाः॥2॥

यहाँ वर्ग शब्द से कु, चु, टु, तु, पु इन पाँचों का ग्रहण है। इनके दो-दो वर्ण अर्थात् कवर्ग में (क, ख), चवर्ग में (च, छ), टवर्ग में (ट, ठ), तवर्ग में (त, थ), पवर्ग में (प, फ), ऊष्मों में (श, ष, स), और (:) विसर्जनीय, ... जिह्वामूलीय, ... उपध्मानीय, (१५) ये दो यम इन अठारह (१८) वर्णों का (विवृतकण्ठ) अर्थात् कण्ठ को फैल (श्वासानुप्रदान) उच्चारण के पश्चात् श्वास को युक्त कर और (अघोष) सूक्ष्म ध्वनि की योजनारूप क्रिया करके इनका उच्चारण करना चाहिये।

एके अल्पप्राणा इतरे महाप्राणाः॥3॥

पाँचों वर्गों के प्रथम तृतीय और पञ्चम अर्थात् (क, ग, ङ, च, ज, ञ, ट, ड, ण, त, द, न, प, ब, म) य, र, ल, व, यम प्रथम तृतीय अर्थात् (ꣳ ँ) इतने सब अल्पप्राण अर्थात् ये थोड़े, और (ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ, भ, श, ष, स, ह, ..., (.), अनुस्वार, ः, ळ और अकारादि स्वर ये सब महाप्राण अर्थात् अधिक बल से बोले जाते हैं।

वर्गाणां तृतीयचतुर्था अन्तस्था हकारानुस्वारौ यमौ च
तृतीयचतुर्थी नासिक्याश्च संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च॥4॥

पाँचों वर्गों के तीसरे और चौथे वर्ण अर्थात् (ग, घ, ज, झ, ड, ढ, द, ध, ब, भ), अन्तस्थ अर्थात् य, र, ल, व, ह, अनुस्वार, और तीसरे चौथे यम अर्थात् ँ ळ सानुनासिक अकारादि स्वर इनका (संवृतकण्ठ) प्रयत्न अर्थात् कण्ठ का संकोच, (नादानुप्रदानाः) इनके उच्चारण में अव्यक्त ध्वनि, और (घोषवन्तः) इनका उच्चारण गम्भीर शब्द से करना चाहिये।

यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः॥5॥

वर्गों के तृतीय वर्णों के समान पञ्चम वर्ण अर्थात् ङ, ञ, ण, न, म के संवृतकण्ठ, नादानुप्रदान और घोष प्रयत्न समझने चाहियें।

आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः॥6॥

पूर्वोक्त ङ, ञ, ण, न, म को मुख से बोले। पश्चात् नासिका से बोलना ही इनका आनुनासिक गुण अधिक है।

शादय ऊष्माणः॥7॥

शादि अर्थात् श, ष, स, ह की ऊष्मसंज्ञा, और ये महाप्राण प्रयत्न से बोले जाते हैं।

स स्थानेन द्वितीयाः॥8॥

जो पाँचों वर्गों के दूसरे वर्ण अर्थात् ख, छ, ठ, थ, फ हैं, वे सकार के समान महाप्राण प्रयत्न से बोलने चाहियें।

हकारेण चतुर्थाः ॥9॥

वर्गों के चतुर्थ अर्थात् घ, झ, ढ, ध, भ इन पाँचों वर्णों का हकार के समान महाप्राण प्रयत्न होता है।

८. स्थानकरणप्रयत्न

यत्रस्था वर्णा उपलभ्यन्ते तत्स्थानम् ॥1॥

स्थान उसको कहते हैं कि जहाँ से प्रसिद्ध हो के वर्ण सुनने में आते हैं।

येन निर्वृत्यते तत्करणम् ॥२॥

स्थानों में जीभ और प्राण के जिस संयोग से वर्णों का उच्चारण करना होता है, उसको करण कहते हैं।

प्रयतनं प्रयत्नः ॥४॥

जो वर्णों के उच्चारण में पुरुषार्थ से यथावत् क्रिया करनी होती है, वह प्रयत्न कहाता है।

नाभिप्रदेशात्प्रयत्नप्रेरितः प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन्नुर आदीनां
स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने प्रयत्नेन विचार्यते ॥५॥

जो ऊपर को श्वास निकलता है, उसको प्राण कहते हैं। जो आत्मा के उच्चारण की इच्छा से विचारपूर्वक नाभि देश से प्रेरणा किया प्राणवायु ऊपर को उठता हुआ कण्ठ आदि स्थानों में से किसी स्थान में उत्तम यत्न के साथ विचारा जाता है, अर्थात् अकारादि वर्णों के पृथक् पृथक् उच्चारण में वायु के संयोग से विचारपूर्वक यथायोग्य क्रिया करनी चाहिये। सब मनुष्यों को उचित है कि जिस-जिस प्रकरण में जिस वर्ण के उच्चारण के लिये जो-जो बात लिखी है, उसको ठीक-ठीक जानकर विद्यार्थियों को जना के शब्दाक्षरों के प्रयोग ज्यों के त्यों कर प्रशंसित हो सदा आनन्द से युक्त रह और सब विद्यार्थियों को भी वर्णोच्चारण शुद्ध कराकर आनन्द में रखें ।

स्मरणीय बिंदु-

1 आत्मा बुद्धि के साथ अर्थों को जोड़कर मन को बोलने की इच्छा से प्रेरित करती है और वह मन शरीर की अग्नि पर प्रहार करता है जिससे वायु ऊपर उठकर नाद उत्पन्न करती है।

2 श्रेष्ठ पाठक में छह गुण (माधुर्य, अक्षरव्यक्ति, पदच्छेद, मधुर स्वर, धैर्य और लय) होने चाहिए और ग्रस्त, निरस्त तथा कम्पित जैसे उच्चारण दोषों से बचना चाहिए।

3 वर्णों की अभिव्यक्ति के लिए उच्चारण स्थान (कण्ठ, तालु आदि) और प्रयत्न (आभ्यन्तर और बाह्य) सबसे महत्वपूर्ण आधार हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1 पाणिनीय शिक्षा के अनुसार शब्द (वर्ण) की उत्पत्ति की पूरी प्रक्रिया का सविस्तार वर्णन कीजिए? मन, वायु और कायाग्नि की भूमिका को स्पष्ट कीजिए?

प्रश्न 2 उच्चारण करने वाले (पाठक) के छह गुणों तथा मुख्य उच्चारण दोषों का विस्तृत विवरण दीजिए?

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1 काल (समय) के आधार पर स्वरों के तीनों भेदों (ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत) का लक्षण क्या है?

प्रश्न 2 आभ्यन्तर प्रयत्न किसे कहते हैं? इसके भेदों का नामोल्लेख करते हुए स्पृष्ट प्रयत्न को स्पष्ट कीजिए

प्रश्न 3 संयोग संज्ञा करने वाले पाणिनीय सूत्र को सोदाहरण समझाइए?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1 पाणिनीय शिक्षा के अनुसार वर्णों की अभिव्यक्ति के समय मन सबसे पहले किसे प्रेरित करता है? (क) कायाग्नि को (ख) बुद्धि को (ग) कण्ठ को (घ) नासिका को

प्रश्न 2 जब कायाग्नि से प्रेरित होकर वायु ऊपर की ओर उठती है तो वह सबसे पहले किस स्थान पर मन्द स्वर उत्पन्न करती है? (क) कण्ठ में (ख) मूर्धा में (ग) उरः स्थल (हृदय) में (घ) नासिका में

प्रश्न 3 निम्नलिखित में से कौन सा एक गुण श्रेष्ठ पाठक (उच्चारणकर्ता) का माना गया है?

(क) द्रुत गति से पढ़ना (ख) पदों का सही विच्छेद करके पढ़ना (ग) अक्षरों को चबाकर बोलना (घ) स्वर को कम्पित करना

प्रश्न 4 पाणिनीय व्याकरण के अनुसार हकार (ह) का उच्चारण स्थान क्या है?

(क) तालु (ख) मूर्धा (ग) कण्ठ (घ) ओष्ठ

प्रश्न 5 संज्ञाप्रकरण के अनुसार जब दो या दो से अधिक व्यंजनों के बीच में कोई स्वर नहीं आता है तो उनकी कौन सी संज्ञा होती है?

(क) गुण संज्ञा (ख) संयोग संज्ञा (ग) वृद्धि संज्ञा (घ) पद संज्ञा

इकाई-1.2 अथ संज्ञाप्रकरणम्

उद्देश्य-

1 पाणिनीय व्याकरण की आधारभूत संज्ञाओं और उनके सूत्रों का बोध कराना।
2 वृद्धि, गुण और संयोग जैसी मुख्य संज्ञाओं के नियमों को स्पष्ट करना।
3 सूत्रों के माध्यम से शब्दों की व्याकरणिक स्थिति को समझने की क्षमता देना।

माहेश्वरसूत्राणि

१. अइउण्। २. ऋलृक्। ३. एओङ्। ४. ऐऔच् । ५. हयवरट्। ६.लण्। ७. ञमङणनम्। ८. झभञ्। ९. घढधष् ।१०. जबगडदश्। ११. खफछठथचटतव्। १२. कपय् । १३. शषसर् ।१४.हल् ।

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि । एषामन्त्या इतः। हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः। लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः ।

महेश्वर की कृपा से प्राप्त चौदह सूत्र अण् आदि प्रत्याहारों की सिद्धि के लिए हैं। **एषामन्त्या इतः।** इनके अन्त्य वर्ण इत्संज्ञक हैं। जो अन्त में रहे उसे अन्त्य कहते हैं। **हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः।** हकार आदि में पठित अकार उच्चारण के लिए है। **लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः।** लण् इस छठे सूत्र में पठित अकार इत्संज्ञक है, उच्चारणार्थ नहीं।

विवरणः- अइउण् आदि चौदह सूत्र हैं, इसलिए इन्हें **चतुर्दशसूत्र** कहते हैं। इनसे प्रत्याहार बनाये जाते हैं, अतः इन्हें प्रत्याहारसूत्र भी कहते हैं। ये वेदतुल्य हैं, इसलिए **वर्णसमाम्नाय** भी कहते हैं। प्रत्येक सूत्र के अन्तिम अक्षरों को छोड़कर उच्चारण करने का भी अभ्यास कर लें । जैसे अ, इ, उ । ऋ. लृ । ए, ओ। ऐ, औ। ह , य, व, र । ल । ञ, म, ङ, ण, न । झ , भ। घ, ढ़, द, ध। ज, ब, ग , ड, द । ख, फ, छ, ठ, थ, च, द, त । क, प। श, ष, स । ह ।

इस व्याकरण के रचयिता महर्षि पाणिनि हैं। कठोर साधना के बाद ईश्वरीय कृपा से उन्होंने व्याकरण के लिए सूत्र बनाये। पाणिनि के द्वारा रचित सूत्रों की संख्या लगभग ४००० हैं। सूत्रों की संख्या में मतभेद है, क्योंकि कहीं कहीं योगविभाग करके एक ही सूत्र को दो सूत्र भी माना गया है। अतः कई विद्वानों के मत में सूत्रों की संख्या केवल ३९६५ ही है तो कुछ लोग इससे ज्यादा मानते हैं। इन सूत्रों के साथ धातुपाठ में लगभग २००० धातुएँ हैं। पाणिनि जी ने सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, लिङ्गानुशासन और उणादिकोश ये पाँच विषयों से पूर्ण व्याकरण बनाया था।

इन चौदह सूत्रों का प्रयोजन बता रहे हैं- **माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि।**

इन चौदह सूत्रों का प्रयोजन बता रहा है अणादि प्रत्याहारों की सिद्धि है। इनसे अण् आदि प्रत्याहार बनाये जाते हैं। प्रत्याहार बनाने की प्रक्रिया आगे बताएंगे।

हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः। संस्कृत भाषा की वर्णमाला में जितने अक्षर हैं उनको दो भागों में बाँटा गया है- स्वर एवं व्यञ्जन। स्वर को अच् और व्यञ्जन को हल् कहते हैं। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ ये स्वर हैं तथा क, ख से लेकर ज्ञ तक के वर्ण व्यञ्जन हैं। ये व्यञ्जन अर्थात् हल् अक्षर क्, ख्, ग्, घ्, ङ् ऐसे न होकर क, ख, ग, घ, ङ ऐसे हैं। इनका ठीक तरह से उच्चारण हो, इसलिए इन वर्णो के बाद स्वर वर्ण लगाये जाते हैं।

इत्संज्ञाविधायकसंज्ञासूत्रम् १.

हलन्त्यम् १।३।३॥

उपदेशेऽन्त्यं हलित् स्यात् ।

उपदेश आद्योच्चारणम्। सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र।

प. वि.- हल् प्रथमान्तम्, अन्त्यं प्रथमान्तम् ।

इस सूत्र में उपदेशेऽजनुनासिक इत् से उपदेश और इत् इन दो पदों की अनुवृत्ति आती है। अर्थ- उपदेश अवस्था में अन्त्य हल् इत्संज्ञक होता है ।

इस सूत्र का कार्य है हल् अक्षरों की इत्संज्ञा करना। उपदेश अवस्था में विद्यमान हल् प्रत्याहार अर्थात् हल् वर्णो की इत्संज्ञा होती है। हम पहले भी बता चुके है कि इत् एक नाम है। इसके द्वारा उन हल् अक्षरों को इत् नाम से जाना जायेगा।

वाक्य के अर्थ को जानने के लिये वाक्य के प्रत्येक पदों का, प्रत्येक शब्दों का भी अर्थ जानना जरूरी है। इस सूत्र के अर्थ में उपदेशे, अन्त्यं, हल, इत, स्यात् ये पाँच पद हैं। अतः प्रत्येक का अर्थज्ञान जरूरी है।

उपदेश आद्योच्चारणम्। पाणिनि कात्यायन और पतञ्जलि के प्रथम उच्चारण को उपदेश कहते हैं अर्थात् पाणिनि, कात्यायन, एवं पतञ्जलि ने जिसका प्रथम उच्चारण या प्रथम पाठ किया उसे उपदेश नाम से जाना जाता है। यहाँ अइउण् आदि चौदह सूत्रों को आचार्य पाणिनि जी ने अपने व्याकरण के अंग के रूप में प्रथम बार उच्चारण किया। अतः ये चौदह सूत्र भी उपदेश

कहलाये। उपदेश के सम्बन्ध में एक पद्य प्रचलित है।

धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम्।
आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः।।

भू आदि धातु, अइउण् आदि सूत्र, उणादिसूत्र, वार्तिक, लिङ्गानुशासन, आगम, प्रत्यय और आदेश ये उपदेश माने जाते हैं। अन्त में उच्चारित वर्ण अन्त्य कहलाते हैं। अतः अइउण् में ण् वर्ण अन्त्य है, ऋलृक् में क् वर्ण अन्त्य है इत्यादि ।

हलन्त्यम् सूत्र के द्वारा अनेक वर्णो की इत्संज्ञा की जाती है और इत्संज्ञा करके प्रत्याहारसिद्धि, उदात्तादि स्वर का विधान आदि अनेक कार्य करने के बाद उसका **'तस्य लोपः'** इस सूत्र से लोप किया जाता है।

पाणिनीय सूत्रों की विशेषता - **सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र।** सूत्रों में अर्थ को पूरा करने के लिए जो पद कम हो, उसे आवश्यकतानुसार अन्य सूत्रों से ले लेना चाहिए। जैसे हलन्त्यम् इस सूत्र में उपदेशे और इत् ये दो पद पाणिनीयाष्टाध्यायी के क्रमानुसार इससे पहले के सूत्र **उपदेशेऽजनुनासिक** इत् से लाये गये हैं। इसी तरह सभी सूत्रों में समझना चाहिए। इस तरह सभी पद सभी सूत्रों में पढ़ने की जरूरत नहीं पड़ेगी किन्तु पूर्वसूत्र से आवश्यकता अनुसार ले लिया जाता है।

लोपसंज्ञाविधायकसंज्ञासूत्रम्

२. अदर्शनं लोपः १।१।६०।।

प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात् ।

प.वि.- अदर्शनं लोपः। न दर्शनम् अदर्शनम्, अदर्शनं प्रथमान्तं, लोपः प्रथमान्तं । **अर्थ** - (पहले) विद्यमान का (बाद में) अदर्शन होना = न सुना जाना लोपसंज्ञक (लोपसंज्ञा वाला) होता है। लोक में लोप का एक अर्थ नाश भी होता है किन्तु पाणिनीय व्याकरण-शास्त्र में लोप का अर्थ अदर्शन माना गया है। अदर्शन अर्थात् जो न दिखाई दे , जो न सुनाई पड़े।

वस्तुतः शब्द कभी दीखता नहीं है, अतः अदर्शन का अर्थ अश्रवण करना चाहिए। इसीलिए जो पहले सुनाई देता था और अब वह न सुनाई दे तो उसे लोप कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो पहले से था किन्तु बाद में किसी सूत्र आदि के द्वारा लुप्त हो जाये तो वह न तो कहीं दिखाई पड़ेगा और न ही वह सुनाई पड़ेगा। जो पहले से था उसी का ही लोप होता है, इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि पाणिनीय व्याकरण में किसी भी अक्षर या शब्द का विनाश नहीं होता। जहाँ-जहाँ भी लोप का विधान किया गया वहाँ-वहाँ अदर्शन मात्र समझना चाहिए। लोपविधायक विधिसूत्र आगे कहा जा रहा है ।

लोपविधायकं विधिसूत्रम्

३. तस्य लोपः १।३।९।।

तस्येतो लोपः स्यात्। णादयोऽणाद्यर्थाः ।

प. वि.- तस्य लोपः। तस्य षष्ठ्यन्तं, लोपः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम् ।

अर्थ- उस इत्संज्ञक वर्ण का लोप होता है ।

तस्य इतः = उस इत्संज्ञक वर्ण का लोपः स्यात् लोप होवे। इस प्रकार से अइउण् में ण् की, ऋलृक् में क् आदि की हलन्त्यम् सूत्र के द्वारा इत्संज्ञा की गई थी, उनका इस सूत्र से लोप हो जाता है । इस प्रकार चौदह सूत्रों में अन्त्य वर्ण की इत्संज्ञा और उसके बाद लोप करके अइउ, ऋलृ, एओ, ऐऔ, हयवर, ल, ञमङणन, झभ, घढध, जबगडद, खफछठथचटत, कप, शषस, ह मात्र शेष बचते हैं। प्रत्याहारों में इन्हीं वर्णो का ग्रहण होगा, इत्संज्ञकवर्णो का नहीं।

प्रत्याहारसंज्ञाविधायकसंज्ञासूत्रम्

४ आदिरन्त्येन सहेता १।१।७१।। अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात्। यथाऽणिति अइउवर्णानां संज्ञा। एवमच्हल्अलित्यादयः ।

प.वि.- आदिरन्त्येन सहेता। अन्ते भवः अन्त्यः आदिः प्रथमान्तम्, अन्त्येन तृतीयान्तं, सह अव्ययपदम्, इता तृतीयान्तम्। इस सूत्र में किसी पद की अनुवृत्तिः नहीं है।

अर्थ- अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण के साथ उच्चारित आदि वर्ण मध्य के वर्णो का और अपना भी संज्ञा बोधक होता है।

आदिरन्त्येन सहेता यह सूत्र प्रत्याहार संज्ञा करता है। जैसे अण् प्रत्याहार, अक् प्रत्याहार, अच् प्रत्याहार, अल् प्रत्याहार, हल् प्रत्याहार आदि।

सूत्रार्थ विचार- अन्त्येन इता सहित आदिः अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण के साथ उच्चारित आदि वर्ण, जैसे अइउण् इस सूत्र में ण् की हलन्त्यम् इस सूत्र से इत्संज्ञा की गई थी। उसके साथ पढ़े गये वर्ण हैं अ, इ, उ, किन्तु इनमें आदि वर्ण है अ, वह आदि वर्ण, मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात् मध्य के इ, उ वर्णो का बोध कराता हुआ अर्थात् ग्रहण कराता हुआ स्वयं अपना अर्थात्

अ का भी बोधक होता है। इस तरह अण् कहने से अ, इ, उ इन तीन वर्णों का बोध हुआ। अब जहाँ भी अण् कहा जायेगा उससे अ, इ, उ इन तीन वर्णों का ग्रहण हुआ करेगा। यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि अइउण् में ण् भी है तो प्रत्याहार में उसका बोध या ग्रहण क्यों नहीं होता? आपको याद दिला दूँ कि ण् इस अन्त्य हल् वर्ण की **हलन्त्यम्** इस सूत्र से इत्संज्ञा और उसका **तस्य लोपः** इस सूत्र से लोप हो गया है, अर्थात् अदर्शन हो गया है। तात्पर्य यह है कि न सुनाई पड़े और उसका ग्रहण न हो सके, ऐसा हो गया है। इसीलिए अण् के ग्रहण में ण् का ग्रहण नहीं होता।

यथाऽणिति अइउवर्णानां संज्ञा। एवमच्हल्अलित्यादयः।जिस प्रकार से अण् से अ, इ, उ इन वर्णों का बोध हुआ, उसी प्रकार से अच्, हल्, अल् आदि प्रत्याहारों के द्वारा मध्यवर्ती वर्ण तथा आदि वर्ण का बोध होता है, ऐसा समझना चाहिए।

अच् प्रत्याहार की सिद्धिः-अइउण्, ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच् ऐसी स्थिति में सूत्र लगा **हलन्त्यम्**। उपदेश अवस्था में अन्त्य हल् वर्ण की इत्संजा होती है। उपदेश अवस्था है- अइउण्, ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच् अन्त्य हल् वर्ण है- अइउण् का ण्, ऋलृक् का क्, एओङ् का ङ् और ऐऔच् का च् इन चारों हल् वर्णो की इत्संज्ञा इस सूत्र से हो गई अर्थात् उनका नाम इत् पड़ गया। इत्संज्ञा का फल प्रत्याहारसिद्धि है। अतः **तस्य लोपः** से पहले ही लोप हो जाय तो प्रत्याहार सिद्ध नहीं होंगे। इसलिए इसको बाधकर सूत्र लगा **आदिरन्त्येन सहेता।** इस सूत्र के बल से आदि वर्णो सहित बीच के अइउ, ऋलृ, एओ, ऐऔ इन नौ वर्णो का ही बोध या ग्रहण या श्रवण हो जाता है। इस प्रकार अच् प्रत्याहार की सिद्धि हो गई और अच् से या अच् प्रत्याहार से अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ इन नौ वर्णों का बोध हुआ। इसी प्रकार ४३ प्रत्याहारों की सिद्धि करना जानें। चौदह सूत्रों से प्रत्याहार तो सैकडों बन सकते हैं। किन्तु पाणिनीय व्याकरण में केवल ४३ प्रत्याहारों का व्यवहार हुआ है। इसलिये ४३ प्रत्याहारों की ही सिद्धि करनी है। कुछ वैयाकरणों का मत है कि प्रत्याहार केवल ४२ ही होते हैं।

प्रत्याहारसूत्रों के विषय में स्मरणीय कुछ बातें-

अच् प्रत्याहार में समस्त स्वर वर्ण आते हैं। ये चार सूत्रों से कहे गये हैं। हल् प्रत्याहार में समस्त व्यञ्जन वर्ण आते हैं। ये दस सूत्रों से कहे गये हैं। वर्गों के सभी पाँचवें वर्ण ञमङणनम् एक ही सूत्र और ञम् प्रत्याहार में आते हैं। वर्गों के चौथे वर्ण दो सूत्रों झभञ्, घढधष् में तथा झष् प्रत्याहार में आते हैं। वर्गों के तीसरे वर्ण जबगडदश् इस एक ही सूत्र में और जश् प्रत्याहार में आते हैं। वर्गों के दूसरे एवं पहले वर्ण खफछठथचटत०, कपय् इन दो सूत्रों में तथा खय् प्रत्याहार में आते हैं।

पाणिनीय व्याकरण में प्रयुक्त ४३ प्रत्याहारों में गृहीत वर्णों का क्रमः-

अण्	अ, इ, उ।
अक्	अ, इ, उ, ऋ. लृ ।
इक्	इ, उ, ऋ, लृ ।
उक्	उ, ऋ, लृ।
एङ्	ए. ओ।

इसी प्रकार एच्, ऐच्, अट्, अण्, यण्, अम्, यम्, ञम्, ङम् ,यञ्, झष्, भष्, अश्, हश्, वश्, जश्, झश्, वश् , छव्, यय्, मय्, झय्, खय् ,चय्, यर्, झर्, ,खर्, चर्, शर्, प्रत्याहारों को समझे।

ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-संज्ञाविधायकसंज्ञासूत्रम्

५. ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः। १।२।२७॥

उश्च ऊश्च उ३श्च वः, वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद् ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतसंज्ञः स्यात्। स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा।

प. वि.- ऊकालः प्रथमान्तम्, अच् प्रथमान्तं, ह्रस्वदीर्घप्लुतः प्रथमान्तं ।

अर्थ- एक मात्रिक उकार, द्विमात्रिक ऊकार और त्रिमात्रिक उ३कार के उच्चारण काल के समान उच्चारण काल वाले अचों की क्रमशः ह्रस्वसंज्ञा, दीर्घसंज्ञा और प्लुतसंज्ञा होती है। ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः। उश्च ऊश्च, ऊ३श्च वः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः), वां काल ऊकालः, ऊकाल इव कालो यस्येति ऊकालः (बहुव्रीहिः) ह्रस्वश्च, दीर्घश्च, प्लुतश्च, तेषां समाहारद्वन्द्वः, ह्रस्वदीर्घप्लुतः। सौत्रं पुंस्त्वम्। समाहार द्वन्द्व होने के बाद नपुंसकलिङ्ग ही होना चाहिए, किन्तु सूत्र में पाणिनि ने कहीं-कहीं ऐसा नहीं किया है, **अतः समाहारेऽपि कवचित् पुंल्लिगो भवति। इति ज्ञाप्यते।**

उश्च ऊश्च उ३श्च वः। एकमात्रिक उ और द्विमात्रिक ऊ एवं तीनमात्रिक उ३ का **चार्थे द्वन्द्वः** से इतरेतरयोगद्वन्द्व समास करके प्रातिपदिकसंज्ञा, विभक्तिलोप, परस्पर में सवर्णदीर्घ करने पर ऊ रूप बनता है । उससे जस् प्रत्यय लाकर ऊ को यण् करके वः यह रूप सिद्ध होता है । वः का ही षष्ठ्यन्त बहुवचने वाम् है । ऊकालः यह पद अच् का विशेषण है । उसी को बताने के लिए मूल में **वां काल इव कालो** यस्य ऐसा कहा गया। पर वह भी ऊकालः इस समस्त (समास किये हुए) पद का विग्रह नहीं है, अपितु फलितार्थकथन मात्र है। अतः वां काल ऊकालः, ऊकाल

इव कालो यस्य ऐसा विग्रह करना चाहिए। यहाँ पर काल शब्द लक्षणावृत्ति से मात्रावाची है । अतः ऊकालः तीनों उकारों का जो उच्चारण काल वाली मात्राएं (ऊकाल इव कालो यस्य) ऐसी ही मात्राएँ हैं जिस अच् की, वह अच् क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञा वाला होता है। प्रकृत सूत्र अच् अर्थात् स्वर वर्णों को मात्रा के आधार पर हस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञा करता है ।

एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक वर्णों का उच्चारण काल प्रश्न यह आता है कि एक मात्रा, दो मात्राएँ और तीन मात्राएँ, इनका उच्चारण के समय एवं अनुपात क्या होना चाहिए? हस्व के उच्चारण में एक सेकेण्ड का समय तो दीर्घ के उच्चारण में दो सेकेण्ड का समय और प्लुत के उच्चारण में तीन सेकेण्ड का समय लगाया जाय। उच्चारण के इस अनुपात का बहुत ध्यान रखना चाहिए। एकमात्रिक के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसका द्विगुना समय द्विमात्रिक के उच्चारण में लगेगा और त्रिगुना समय तीन मात्रा वाले अच् में लगेगा।

उदात्तसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

६. उच्चैरुदात्तः १।२।२९।।

उदात्तसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

उच्चैरुदात्तः। उच्चैः अव्ययपदम्, उदात्तः प्रथमान्तम् । इस सूत्र में ऊकालोऽज्झस्वदीर्घप्लुतः से अच् की अनुवृत्ति आती है। कण्ठ, तालु आदि स्थानों के ऊपरी भाग से उच्चारित अच् की उदात्तसंज्ञा होती है।

७. नीचै**रनुदात्तः १।२।३०।।**

अनुदात्तसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम् ।

नीचैरनुदात्तः। नीचैः अव्ययपदम्, अनुदात्तः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम। इस सूत्र में ऊकालोऽज्झस्वदीर्घप्लुतः से अच् की अनुवृत्ति आती है ।

कण्ठ, तालु आदि स्थानों के निम्न भाग से उच्चारित अच् की अनुदात्तसंज्ञा होती है।

८. समाहारः स्वरितः १।२।३१॥

स्वरितसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम् ।

समाहारः स्वरितः। समाहारः प्रथमान्तं, स्वरितः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में ऊकालोऽज्झस्वदीर्घप्लुतः से अच् की अनुवृत्ति आती है।

जहाँ उदात्त और अनुदात्त दोनों एकत्र बराबर हों, ऐसे अच् की स्वरितसंज्ञा होती है।

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों की सूक्ष्मता एवं उनका ज्ञान जिस अच् के उच्चारण में स्थानों के ऊर्ध्वभाग का प्रयोग हो उस अच् की उदात्तसंज्ञा, जिस अच् के उच्चारण में स्थानों के निम्न भाग का प्रयोग हो उस अच् की अनुदात्तसंज्ञा और जिस अच् के उच्चारण में उदात्त और अनुदात्त का समान उपयोग किया गया हो तो उस अच् को स्वरितसंज्ञा का विधान इन तीन सूत्रों से हुआ। यद्यपि लौकिक हिन्दी आदि भाषाओं में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित की सूक्ष्मता पकड़ में नहीं आती किन्तु संस्कृत भाषा में इनका महत्त्व अधिक है और विशेष करके वैदिक शब्दों के उच्चारण में। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के विपरीत उच्चारण होने पर अर्थ में भिन्नता आ जाती है। इस लिए वैदिक शब्दों के उच्चारण में इन स्वरों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। स्वरों के द्वारा समास आदि का भी निर्णय होता है। जैसे ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत को समझने के लिये मात्राएँ लगी हुई होती हैं, उसी प्रकार उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को समझने के लिये वैदिक ग्रन्थों में विशेष चिह्नों का प्रयोग किया गया है। अनुदात्त अक्षर के नीचे तिरछी लाईन, स्वरित के ऊपर खड़ी लाईन होती है और उदात्त के लिये कोई चिह्न नहीं होता है।

अनुनासिकसंज्ञाविधायकसंज्ञासूत्रम्

९. मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः १।१।८।।

मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात्।

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः। उच्यते इति वचनः। मुखसहिता नासिका मुखनासिका (मध्यमपदलोपिसमासः), तया वचनः (उच्चारितो वर्णः) स मुखनासिकावचनः (तृतीयातत्पुरुषः)। मुखनासिकावचनः प्रथमान्तम्, अनुनासिकः प्रथमान्तम्, ।

मुख और नासिका से एक साथ उच्चारित होने वाले वर्ण अनुनासिकसंज्ञक होते हैं। जैसे एक इ यह वर्ण हस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से तीन तीन प्रकार हुआ है। पुनः ह्रस्व भी उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद से तीन प्रकार का, इसी प्रकार से दीर्घ भी तीन प्रकार का और प्लुत भी तीन प्रकार का, इस तरह कुल मिलाकर नौ प्रकार का हुआ। वह नौ प्रकार का अच् पुनः अनुनासिक और अननुनासिक के भेद से दो दो प्रकार का हो जाता है। नौ अनुनासिक और नौ अननुनासिक करके कुल अठारह प्रकार का हो जाता है। यही प्रक्रिया सभी अचों के सम्बन्ध में समझनी चाहिए।

वास्तव में वर्णों का उच्चारण तो मुख से ही होता है किन्तु ङ, ञ, ण, न, म आदि वर्ण और अनुनासिक (अँ, ईं, उँ

आदि) तथा अनुस्वार (अं, इं, उं आदि) के उच्चारण में नासिका (नाक) को भी सहायता चाहिए। नाक की सहायता से मुख से उच्चारित होने वाले ऐसे वर्ण अनुनासिक कहलाते हैं। य, ०, ल् अनुनासिक तथा निरनुनासिक भी हैं।

१०. तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् १।१।९।।

ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात्। तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्। तुल्यश्च तुल्यश्च तुल्यौ, आस्यञ्च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नौ, तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ ययोः तत्तुल्यास्यप्रयत्नं (द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः)। तुल्यास्यप्रयत्नं प्रथमान्तं, सवर्ण प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम् ।

तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न ये दो जिस वर्ण का जिस वर्ण के साथ तुल्य हो, वे वर्ण आपस में सवर्णसंज्ञक होते हैं।

(वार्तिकम्) ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्। ऋ और लृ इन दो वर्णों में स्थान का भेद है, अतः सूत्र से सवर्णसंज्ञा की प्राप्ति नहीं थी जिसके लिए कात्यायन जी ने वार्तिक बनाकर सवर्णसंज्ञा कर दी है। इससे तवल्कारः आदि की सिद्धि होगी, जिसका विषय आगे स्पष्ट होगा।

सवर्णसंज्ञा के लिए स्थान और प्रयत्न का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है।

(अथ स्थानानि)

अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः	इचुयशानां तालु।
ऋटुरषाणां मूर्धा।	लृतुलसानां दन्ताः।
उपूपध्मानीयानामोष्ठौ।	ञमङणनानां नासिका च।
एदैतोः कण्ठतालु।	ओदौतोः कण्ठोष्ठम्।
वकारस्य दन्तोष्ठम्।	जिह्वामूलीयस्य-जिह्वामूलम्। नासिकाऽनुस्वारस्य ।

अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। अठारह प्रकार के सभी अकार, कवर्ग, हकार और विसर्ग का कण्ठ स्थान है। जिस वर्ण की मुख के जिस भाग से उत्पत्ति होती है, वह स्थान वर्णो का स्थान है। अकार, कवर्ग अर्थात् क, ख, ग, घ, ङ और विसर्जनीय विसर्ग इनका उच्चारण सीधे कण्ठ से ही होता है, इसलिये इन वर्णों का कण्ठस्थान है। इसी प्रकार अन्य सूत्रों को समझ सकते हैं ।

(अथ प्रयत्नाः)

यत्नो द्विधा आभ्यन्तरो बाह्यश्च।

आद्यः पञ्चधा- स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतभेदात्।

तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्तः स्थानाम्। ईषद्विवृतमूष्मणाम् । विवृतं स्वराणाम् । ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव ।

बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति।

खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च । हशः संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः। वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः ।

११. अणुदित् सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः (१/१/६९)

प्रतीयते विधीयत इति प्रत्ययः। अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात् । अत्रैवाण् परेण णकारेण। कु चु टु तु पु एते उदितः। तदेवम्- श्अश इत्यष्टादशानां संज्ञा। तथेकारोकारौ ऋकारस्त्रिंशतः । एवम् लृकारोऽपि। एचो द्वादशानाम। अनुनासिकाननुना. सिकभेदेन यवला द्विधा । तेनाऽननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञा।

अणिति- अविधीयमान अण् तथा उदित् अपनी तथा अपने सवर्ण की संज्ञा होते हैं।

जिसका विधान किया जाता है उसे प्रत्यय कहते हैं। प्रत्यय, आगम, आदेश आदि का विधान किया जाता है। अतः प्रत्यय, आगम व आदेश विधीयमान हैं। इसलिए ये केवल अपने स्वरूप का बोध करायेंगे तथा अपने सवर्ण का बोध नहीं करायेंगे। सूत्र में पठित 'अप्रत्ययः' पद केवल अण् का ही विशेषण है, उदित् का नहीं। तब 'उदित' के सम्बन्ध में विधान या अविधान से कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

क्योंकि 'अण' प्रत्याहार दो प्रकार से बनता है। यथा 'अइउण्' का 'ण्' लेकर तथा 'लण्' का 'ण' लेकर। प्रस्तुत सूत्र में पठित अण् प्रत्याहार पर णकार (अर्थात् लण् वाले) से लिया जाता है तथा शेष सर्वत्र पूर्व (अइउण् वाले) से लिया जाता है। इसके लिए कारिका दी गई है:

'परेणैवेण् ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाण्ग्रहाः मताः। ऋतेऽणुदित्सवर्णस्यैतदेकं परेण तु।।' अर्थात् 'इण्' प्रत्याहार सर्वत्र पर

णकार से तथा 'अण' प्रत्याहार पूर्व णकार से लेना चाहिए। केवल 'अणुदित्' सूत्र में 'अण्' पर णकार से लिया जाता है। कु, चु, टु, तु, पु इन का उत् (अर्थात् ह्रस्व उकार) इत् है। अतः इन्हें उदित् कहा जाता है। इस प्रकार सार यह है कि जिनका विधान न किया गया हो ऐसे अण् (अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ ह य व र ल) तथा उदित् (कु, चु, टु, तु, पु) अपना बोध कराते हैं तथा अपने सवर्ण का भी बोध कराते हैं। उदाहरण के लिए श्इको यणचिश सूत्र से 'इक' के स्थान पर श्यण्श होता है। क्योंकि इक् (इ, उ, ऋ, लृ) अविधीयमान है। अतः इक् के चारों वर्ण अपने सवर्णों का भी बोध करायेंगे अर्थात् अपने दीर्घ प्लुतादि सभी भेदों का बोध करायेंगे। इस प्रकार यण् आदेश न केवल ह्रस्व इकार के स्थान पर ही होगा अपितु दीर्घ ईकार के स्थान पर भी हो जायेगा। फलतः 'गौरी अत्र'- यहाँ पर भी यणादेश होकर 'गौर्यत्र' रूप बन जायेगा।

तदेवमिति - इस प्रकार अकार अपने अठारह रूपों की संज्ञा होगा अर्थात् अकार कहने पर उसके १८ रूपों की उपस्थिति स्वतः हो जायेगी। इकार तथा उकार भी अपने अठारह-अठारह रूपों की संज्ञा होते हैं। ऋकार अपने तीस रूपों का ज्ञान करायेगा क्योंकि ऋकार व लृकार को वार्त्तिक (ऋलृवर्णयो मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्) के द्वारा सवर्ण कहा गया है। अतः अठारह रूप ऋकार के तथा बारह रूप लृकार के मिलकर कुल तीस रूप होते हैं। इसी प्रकार लृकार के तीस रूप समझना चाहिए। एच् वर्ण अपने बारह भेदों का ही बोध कराते हैं। अनुनासिक और अननुनासिक भेद से य, व, तथा ल दो दो प्रकार के हैं। अतः य, व तथा ल अपने दो दो भेदों का बोध कराते हैं।

संहितासंज्ञाविधायकसंज्ञासूत्रम्

१२. परः सन्निकर्षः संहिता (१/४/१०९)

वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात् ।

पर इति-वर्णों की अत्यन्त समीपता की संहिता संज्ञा हो।

अत्यन्त समीपता का अर्थ है- व्यवधान रहित होना। यथा- 'इति अत्र'- यहाँ तकारोत्तरवर्ती इकार व 'अत्र' के अकार के मध्य कोई व्यवधान नहीं है। अतः यह संहिता संज्ञक हुआ।

संयोगसंज्ञाविधायकसंज्ञासूत्रम्

१३. हलोऽनन्तराः संयोगः (१/१/७)

अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञा स्युः ।

हल इति- व्यवधान रहित हल् संयोग संज्ञक हो। श्हल्श एक प्रत्याहार है जिसमें सभी व्यञ्जन आते हैं। अतः जिन दो या अधिक व्यञ्जनों के मध्य व्यवधान न हो तो उनकी संयोग संज्ञा होती है। व्यवधान सर्वदा विजातियों का होता है। अतः अच् वर्णों (अर्थात् स्वरों) का व्यवधान न रहने पर व्यञ्जनों की संयोग संज्ञा होती है। यथा-'इन्द्र' शब्द में नकार, दकार व रेफ के मध्य किसी स्वर का व्यवधान नहीं है। अतः 'न्द्र्' की संयोग संज्ञा हो गई।

पदसंज्ञाविधायकसंज्ञासूत्रम्

१४. सुप्तिङन्तं पदम् (१/४/१४)

सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात् ।

सुबिति - सुप् और तिङ् अन्त में है जिनके ऐसे शब्दों की पद संज्ञा हो।

'सुप्' एक प्रत्याहार है। **'स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्'** सूत्र के द्वारा विहित २१ प्रत्ययों को 'सुप्' कहा जाता है (द्र० सू० १२१)।

इसी प्रकार 'तिङ्' एक प्रत्याहार है। **'तिप्तस्झिसिप्'** सूत्र के द्वारा विहित १८ प्रत्ययों को 'तिङ्' कहा गया है। (द्र० सू० ३७५)। अतः सुप्-प्रत्ययान्त (रामः, देवैः इत्यादि) तथा तिङ् प्रत्ययान्त (पचति, सेवध्वम् इत्यादि) शब्द स्वरूप को 'पद' कहते है ।

व्याकरण के सूत्रों की ६ श्रेणियाँ है अर्थात् ६ प्रकार के सूत्र होते हैं।

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥

१- संज्ञासूत्र, २- परिभाषासूत्र, ३- विधिसूत्र, ४- नियमसूत्र, ५- अतिदेशसूत्र और ६- अधिकारसूत्र।

१- **संज्ञासूत्र** ख्र जो सूत्र संज्ञाओं का विधान करते हैं, ऐसे सूत्र संज्ञासूत्र या संज्ञाविधायक सूत्र कहलाते हैं। जैसे **हलन्यम्, अदर्शनं लोपः, तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** आदि।

२- परिभाषासूत्र- जो अनियम होने पर नियम करते हैं, ऐसे सूत्र परिभाषासूत्र कहलाते हैं। जैसे - **स्थानेऽन्तरतमः, यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्, अनेकाशित् सर्वस्य** आदि।

३- **विधिसूत्र**- जो सूत्र यण, गुण, वृद्धि, दीर्घ, प्रत्यय, आदेश आदि का विधान करते हैं, ऐसे सूत्र विधिसूत्र कहलाते हैं। जैसे **इको**

यणचि, एचोऽयवायावः, आद्गुणः, वृद्धिरेचि, अकः सवर्णे दीर्घः आदि।

४- **नियमसूत्र**- किसी सूत्र के द्वारा कार्य सिद्ध होते हुए उसी कार्य के लिए यदि किसी अन्य सूत्र को पढ़ा गया हो तो वह सूत्र नियमसूत्र कहलाता है। सिद्धे सत्यारभ्यमाणो विधिर्नियमाय भवति अर्थात् सिद्ध होने पर भी पुनः विधान करने से एक विशेष नियम का संकेत उससे प्राप्त होता है। **जैसे - रात्सस्य, पतिः समास एव, एच इग्घ्रस्वादेशे।**

५- अतिदेशसूत्र- जो वैसा नहीं है, उसे वैसा मानना अतिदेश है। जैसे कि शिष्य जो गुरु नहीं है, अब उसे गुरु के तुल्य माना जाय। सूत्र भी बहुत स्थानों पर ऐसा कार्य करते हैं। ऐसे सूत्रों को अतिदेशसूत्र कहा गया है। जैसे **अन्तादिवच्च, स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ, तृज्वत्क्रोष्टुः** इत्यादि।

६- अधिकारसूत्र- कुछ सूत्र ऐसे होते हैं जो अपने क्षेत्र में कोई कार्य नहीं करते किन्तु अन्य सूत्रों के क्षेत्र में अपना अधिकार रखते हैं, उसके सहायक बनते हैं। ऐसे सूत्र अधिकारसूत्र हैं। प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, धातोः आदि)।

स्मरणीय बिंदु-

1 वृद्धिरादैच् सूत्र द्वारा आ, ऐ और औ की वृद्धि संज्ञा होती है तथा अदेङ्गुणः सूत्र द्वारा अ, ए और ओ की गुण संज्ञा की जाती है।

2 हलोऽनन्तराः संयोगः सूत्र के अनुसार जब दो या दो से अधिक व्यंजनों के बीच कोई स्वर नहीं आता है तब उनकी संयोग संज्ञा होती है।

3 सुप्तिङन्तं पदम् सूत्र के अनुसार सुप् (सु, औ, जस् आदि 21 प्रत्यय) और तिङ् (तिप्, तस्, झि आदि 18 प्रत्यय) जिसके अंत में हों उसे पद कहा जाता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1 संज्ञाप्रकरण के आधार पर गुण संज्ञा और वृद्धि संज्ञा करने वाले सूत्रों को उदाहरण सहित विस्तार से समझाइए?

प्रश्न 2 पद संज्ञा किसे कहते हैं? सुप् और तिङ् प्रत्ययों के आधार पर पद संज्ञा की पूरी प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए?

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1 संयोग संज्ञा किसे कहते हैं? इसके लिए पाणिनीय व्याकरण में क्या नियम बताया गया है?

प्रश्न 2 वृद्धि संज्ञा के अंतर्गत कौन कौन से वर्ण आते हैं और इसका मुख्य सूत्र क्या है?

प्रश्न 3 व्याकरण में संज्ञाप्रकरण का क्या महत्व है और यह आगे की संधियों में कैसे सहायता करता है?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1 निम्नलिखित में से कौन सा वर्ण गुण संज्ञा के अंतर्गत नहीं आता है?

(क) अ (ख) ए (ग) ओ (घ) औ

प्रश्न 2 वृद्धि संज्ञा करने वाला पाणिनीय सूत्र कौन सा है?

(क) अदेङ्गुणः (ख) वृद्धिरादैच् (ग) सुप्तिङन्तं पदम् (घ) हलोऽनन्तराः संयोगः

प्रश्न 3 सुप् और तिङ् प्रत्यय जिसके अंत में जुड़े होते हैं उसकी कौन सी संज्ञा होती है?

(क) गुण संज्ञा (ख) संयोग संज्ञा (ग) पद संज्ञा (घ) वृद्धि संज्ञा

प्रश्न 4 हलोऽनन्तराः संयोगः सूत्र के अनुसार व्यंजनों के बीच में किसका व्यवधान नहीं होना चाहिए?

(क) स्वरों का (ख) विसर्ग का (ग) अनुस्वार का (घ) अन्य व्यंजनों का

प्रश्न 5 अदेङ्गुणः सूत्र के अनुसार किन वर्णों की गुण संज्ञा की जाती है?

(क) आ ऐ औ (ख) अ ए ओ (ग) इ उ ऋ (घ) क च ट

खण्ड- 2- सन्धिप्रकरणमजन्तपुल्लिङ्गप्रकरणञ्च

इकाई-2.1 अच्-सन्धिप्रकरणम्

उद्देश्य-

1. स्वर सन्धि के मुख्य सूत्रों और उनके नियमों का बोध कराना।
2. सन्धि विच्छेद करने और सन्धि युक्त पद बनाने की वैज्ञानिक पद्धति सिखाना।
3. श्रेष्ठ संस्कृत वाचन के लिए पदों के मेल के नियमों से परिचित कराना।

१. इको यणचि (६/१/७४)

इकः स्थाने 'यण्' स्यादचि संहितायां विषये। 'सुधी उपास्यः' इति स्थिते ।

इक इति-इक् (इ, उ, ऋ, लृ) के स्थान में श्यण्श (य्, व्, र्, ल्) आदेश हो, अच् (स्वर) परे रहते संहिता के विषय में । संहिता के सम्बन्ध में कहा गया है-

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥

अर्थ यह है कि संहिता एक पद में, धातु और उपसर्ग के योग में और समास में नित्य है, पर वाक्य में वक्ता की इच्छा पर निर्भर होती है।

सूत्र में विभक्ति योजना- 'इकः' यहाँ षष्ठी है। 'यण' प्रथमान्त पद है। 'अचि' परसप्तमी है। प्रकृत सूत्र में 'संहितायाम्' (पा० ६.१.७०) का अधिकार आता है। षष्ठी स्थानेयोगा परिभाषा के अनुसार स्थाने ऐसा अर्थ किया गया है। **असति बाधके प्रथमाया विधेयविभक्तित्वम्** अर्थात् यदि कोई बाधक न हो तो विधेय प्रथमान्त होता है। अतः इस नियम के अनुसार प्रथमान्त 'यण' विधेय हो गया।

'सुधी उपास्यः' ऐसा होने पर सन्देह होता है कि तीन इक् (उ, ई, उ) में से कौन से वर्ण के स्थान पर 'यण्' आदेश हो अर्थात् सकारोत्तरवर्ती उकार के स्थान पर आदेश हो या धकारोत्तरवर्ती ईकार के स्थान पर हो अथवा 'उपास्यः' के आदि में स्थित उकार के स्थान पर हो। इसके समाधान के लिए परिभाषा सूत्र दिया है।

२. **तस्मिन्निति निर्दिष्ट पूर्वस्य (१/१/६५)**

सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम्।

तस्मिन्निति - सप्तम्यन्त के उच्चारण के द्वारा विहित कार्य वर्णान्तर से व्यवधानरहित पूर्व वर्ण के स्थान पर होता है अर्थात् जिन दो वर्णों में कार्य हो उन के बीच में व्यवधान स्वरूप अन्य वर्ण न हो तथा वह कार्य पूर्व वर्ण को हो।

प्रकृत सूत्र में 'अचि' सप्तम्यन्त पद है तथा 'अच' के परे रहते हुए कार्य का विधान है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा ऐसे वर्ण के स्थान पर कार्य होगा जो 'अच' से पूर्व स्थित है तथा अन्य वर्ण के व्यवधान से रहित है। प्रस्तुत उदाहरण में 'यण' आदेश न तो 'सु धी' के स्थान पर हो सकता है तथा न ही 'उ पास्यः' के स्थान पर हो सकता है। दोनों अवस्थाओं में क्रमशः 'ध्' तथा 'प्' वर्ण का व्यवधान है। अतः 'यण्' आदेश सुधी उपास्यः के स्थान पर ही होगा। कारण कि धकारोत्तरवर्ती ईकार तथा उकार के बीच किसी अन्य वर्ण का व्यवधान नहीं है।

१७. स्थानेऽन्तरतमः (१/१/४९)

प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात् । 'सुध्य् उपास्यः' इति जाते-

स्थान इति- प्रसङ्ग उपस्थित होने पर जो सबसे अधिक सदृश होता है वह आदेश स्थानी के स्थान पर हो अर्थात् एक स्थानी के स्थान पर कई आदेशों की प्राप्ति होने पर उनमें जो स्थानी के सबसे अधिक सदृश हो, वह आदेश होता है।

शङ्का है कि स्थानी (इक्) भी चार वर्ण (इ, उ, ऋ, लृ) हैं तथा आदेश (यण्) भी चार वर्ण (य्, व्, र्, ल्) हैं। अतः आदेश किसे किया जाए ?

सादृश्य चार प्रकार का होता है- १. स्थानकृत, २. अर्थकृत, ३. गुणकृत, ४. प्रमाणकृत। जहाँ अनेक प्रकार का सादृश्य हो, वहाँ स्थानकृत ही बलवान् होता है। द्रष्टव्यम्- **यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्य बलीयः ।**

सुधी उपास्यः उदाहरण में ईकार स्थानी है जिसके स्थान पर 'यण' (य्, व्, र्, ल्) आदेश का विधान हैं। क्योंकि (य्, व्, र्, ल्) इन चार वर्णों में से 'य' ही ईकार (स्थानी) का अधिक सदृश है। 'य' तथा 'ई' दोनों का उच्चारण स्थान तालु है। अतः ईकार के स्थान पर 'य' हो जाएगा अब 'सुध् य् उपास्यः' हो गया।

१८. अनचि च (८/४/४६)

अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि। (इति धकारस्य द्वित्वम)

अनचीति- 'अच' से परे 'यर्' को विकल्प से द्वित्व होता है, 'यर्' के आगे 'अच' न होने की अवस्था में। इस प्रकार ध कार को द्वित्व हो जायेगा। एक पक्ष में कार्य का होना तथा दूसरे पक्ष में न होना विकल्प कहलाता है। एक वर्ण या पद को दो करने को द्वित्व कहते हैं। सुध्य् उपास्यः उदाहरण में **अच्** (सकारोत्तरवर्ती उकार) से परे 'यर्' (धकार) है तथा आगे **अच्** नहीं है (यकार है, जो व्यञ्जन है।) अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा विहित द्वित्व कार्य (धकार को) हो जायेगा। अब 'सुध्ध् य् उपास्यः' हो गया।

१९. झलां जश् झशि (८/४/५२)

स्पष्टम्। इति पूर्वधकारस्य दकारः।

झलामिति- झलों के स्थान पर जश् होता है, झश् परे रहने पर। प्रकृत सूत्र की वृत्ति में वरदराज लिखते हैं- स्पष्टम् अर्थात् अर्थ स्पष्ट है। विधिसूत्र में स्थानी, आदेश तथा निमित्त की आवश्यकता होती है। प्रकृत सूत्र में स्थानी (झलाम्), विधेय अर्थात् आदेश (जश्) तथा निमित्त (झशि) तीनों हैं। अतः अर्थ स्पष्ट है। इस सूत्र के अनुसार पूर्व धकार के स्थान पर दकार हो गया। सुध् ध् य् उपास्य यहाँ प्रथम धकार (झल्) के स्थान पर दकार (जश्) हो गया है, द्वितीय धकार (झश्) के परे रहते।

२२. एचोऽयवायावः (६/१/७५)

एचः क्रमाद् अय्, अव्, आय्, आव् एते स्युरचि । एच इति- एच् (ए, ओ, ऐ, औ) के स्थान पर क्रमशः अय्, अव्, आय् तथा आव् आदेश हों, अच् के परे रहने पर।

२३. यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (१/३/१०)

समसम्बन्धी विधिर्यथासंख्यं स्यात्। हरये। विष्णवे। नायकः। पावकः।

यथेति - सम सम्बन्धी विधि यथासंख्य होती है अर्थात् स्थानी और आदेश दोनों की संख्या समान होने पर आदेश क्रमशः ही होता है।

प्रकृत सूत्र में चार स्थानी (एच्- ए, ओ, ऐ, औ) हैं तथा चार ही आदेश (अय्, अव, आय, आव) हैं। अतः चारों उद्देश्यों के स्थान पर चारों प्रतिनिर्देश्य यथासंख्य अर्थात् क्रमपूर्वक होंगे। इस प्रकार ए को अय्, ओ को अव्, ऐ को आय् तथा औ को आव् आदेश होगा। 'हरे ए' इस अवस्था में पूर्ववर्ती 'ए' के स्थान पर 'अय' आदेश हो गया है अच् (परवर्ती एकार) के परे रहने पर। इस प्रकार हरये रूप सिद्ध हो गया।

'विष्णो ए' इस अवस्था में ओकार के परे अच् (ए) रहने पर ओकार को यथासंख्य आदेश (अव्) होकर विष्णवे रूप सिद्ध हुआ। नै अकः तथा पौ अकः रूपों में क्रमशः आय् तथा आव् आदेश होकर नायकः तथा पावकः रूप सिद्ध होते हैं।

अन्य उदाहरण - पो अनः-पवनः, ने अनम्-नयनम्। चे अनम्-चयनम्। गै अकः-गायकः। भो अनम्-भवनम्। लो अनः लवणः। पो इत्रम् पवित्रम्। भौ उकः भावुकः।

२७. आद् गुणः (६/१/८४)

अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुणादेशः स्यात्। उपेन्द्रः । गङ्गोदकम् ।

आदिति- अवर्ण से अच् परे होने पर पूर्व और पर दोनों के स्थान पर गुण एकादेश हो संहिता के विषय में।

'उप इन्द्रः' इस दशा में अकार तथा इकार दोनों के स्थान पर गुण एकादेश प्राप्त होता है। क्योंकि गुणसंज्ञा ह्रस्व अकार, एकार तथा ओकार इन तीन वर्णों की होती है। इसलिए शङ्का होती है कि इन तीनों में से कौन सा आदेश हो। क्योंकि अकार कण्ठस्थानीय है तथा इकार तालुस्थानीय। अतः दोनों के स्थान पर स्थानकृत सादृश्य से कण्ठतालु स्थानीय गुणसंज्ञक श्एश आदेश होकर उपेन्द्रः रूप सिद्ध हुआ।

गंगा उदकम् इस दशा में आकार (दीर्घ अकार) से आगे अच् (उकार) होने पर दोनों के स्थान पर गुण आदेश होना चाहिए। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि आदेश रूप में कौन सा वर्ण हो। आकार कण्ठ स्थानीय है तथा उकार ओष्ठ स्थानीय है। अतः दोनों के स्थान पर **स्थानेऽन्तरतमः** परिभाषा के बल पर कण्ठोष्ठस्थानीय 'ओ' एकादेश होकर गङ्गोदकम् रूप सिद्ध हो गया।

अन्य उदाहरण- नर ईशः नरेशः। मुका ईशः मुकेशः। नर इन्द्रः नरेन्द्रः। महा-इन्द्रः महेन्द्रः। सूर्य उदयः सूर्योदयः। महा उदयः- महोदयः ।

३२. वृद्धिरादैच् (१/१/१)

आदैच्च वृद्धिसंज्ञः स्यात्।

वृद्धिरिति - आकार और ऐच् (ऐ, औ) की वृद्धि संज्ञा होती है। सूत्र में पठित आत् पद के द्वारा तपर परिभाषा के बल पर केवल दीर्घ आकार का तथा तपर होने के कारण ऐच् पद के द्वारा केवल दीर्घ ऐ व औ का ग्रहण होता है। छात्रों के लिए ध्यातव्य है कि ऋकार व लृकार के स्थान पर जब आकार वृद्धि एकादेश होगा तो **उरण रपरः** के बल से रपर तथा लपर होकर क्रमशः आर् तथा आल् के रूप में ही होगा।

३३. वृद्धिरेचि (६/१/८५)

आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । गुणाऽपवादः । कृष्णैकत्वम् । गङ्गौघः । देवैश्वर्यम्। कृष्णौत्कण्ठ्यम्।

वृद्धिरिति - अवर्ण से एच् (ए, ओ, ऐ, औ) परे हो तो पूर्व एवं पर दोनों के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो। ग्रहणक शास्त्र के बल पर अकार से दीर्घ आकार का भी ग्रहण होता है। अतः अकार वा आकार से परे एच् रहने पर दोनों के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है। यह सूत्र गुण सन्धि का अपवाद है। जिस विधि (अर्थात् गुण आदि कार्य) को कहीं अवकाश नहीं मिलता है, वह अपवाद कहलाती है। **(द्र०- निरवकाशो विधिरपवादो भवति)**। सार यह है कि जिस सूत्र को कहीं अवसर प्राप्त नहीं होता है वह अपवाद बन जाता है और अपने में बाधा पहुँचाने वाले (अर्थात् उत्सर्ग) सूत्र के काम को रोक देता है। यथा जहाँ-जहाँ **वृद्धिरेचि** सूत्र की प्राप्ति होती है वहाँ-वहाँ **आद्गुणः** की भी प्राप्ति होती है क्योंकि 'अच्' परे रहते गुण होता है और 'अच' के अन्तर्गत एच् भी आते हैं। यदि सर्वत्र गुण ही होगा तो वृद्धि कहीं भी न हो सकेगी। अतः **वृद्धिरेचि** सूत्र एच् परे रहने पर गुण को रोक देता है।

कृष्ण एकत्वम् यहाँ अकार से परे एकार है। इन दोनों के स्थान पर वृद्धि (आ, ऐ, औ) एकादेश प्राप्त होता है। अकार कण्ठस्थानीय है तथा एकार कण्ठतालुस्थानीय है। अब अत्यधिक सदृश होने के कारण दोनों के स्थान पर ऐकार एकादेश हो गया। कृष्णैकत्वम्। श्गङ्गा ओघः यहाँ आकार तथा ओकार के स्थान पर औ एकादेश होकर गङ्गौघः रूप सिद्ध हो गया। **देव ऐश्वर्यम्** यहाँ पर अकार तथा ऐकार के स्थान पर ऐकार वृद्धि एकादेश होकर **देवैश्वर्यम्** रूप निष्पन्न होता है।

कृष्ण औत्कण्ठ्यम् में अकार तथा औकार दोनों के स्थान पर 'औ' वृद्धि एकादेश होकर कृष्णौत्कण्ठ्यम् रूप सिद्ध होता है। **आद्गुणः** उत्सर्ग (अर्थात् सामान्यशास्त्र) सूत्र है तथा **वृद्धिरेचि** अपवादशास्त्र है। उत्सर्ग से अपवाद बलवान् होता है। अतः यहाँ **आद् गुणः** की प्राप्ति होने पर वृद्धिरेचि के द्वारा विहित वृद्धिकार्य ही होता है।

अन्य उदाहरण- महता ऐश्वर्येण महतैश्वर्येण। नाम औषधम् नामौषधम। पञ्च एते-पञ्चैते। महा एनः महैनः । मा एवम्-मैवम्।

३८. एङि पररूपम् (६/१/९१)

आदुपसर्गाद् एजादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यात्। प्रेजते उपोषति ।

एङीति - अवर्णान्त उपसर्ग से परे एजादि धातु हो तो पूर्व तथा पर दोनों के स्थान पर पररूप आदेश हो। पररूप का अर्थ है दोनों वर्णों के स्थान पर उत्तरवर्ती वर्ण का हो जाना।

'प्र एजते' यहाँ पर **वृद्धिरेचि** सूत्र के द्वारा वृद्धि आदेश की प्राप्ति होती है, परन्तु इसे बाधकर प्रकृत सूत्र के द्वारा पररूप आदेश होगा क्योंकि अवर्णान्त उपसर्ग (प्र) से एजादि धातु (एजते) परे है। इस प्रकार प्रेजते रूप सिद्ध हुआ। इसी प्रकार **उप ओषति** में प्रकृत सूत्र के द्वारा पररूप होकर श्उपोषतिश रूप सिद्ध होता है।

अन्य उदाहरण- प्र एषणीयम्-प्रेषणीयम् । प्र ओषति-प्रोषति। अव एजते-अवेजते।

४२. अकः सवर्णे दीर्घः (६/१/९७)

अकः सवर्णे अचि परे पूर्वपरयोर्दीर्घ एकादेशः स्यात्। दैत्यारिः। श्रीशः। विष्णूदयः । होतृकारः।

अक इति- अक् से सवर्ण अच् परे होने पर पूर्व पर दोनों के स्थान पर दीर्घ एकादेश हो। **दैत्य अरिः** में अकार को आकार आदेश होकर दैत्यारिः रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार श्री ईशः, विष्णु उदयः होतृ ऋकारः उदाहरणों में दीर्घ आदेश होकर क्रमशः श्रीशः, विष्णूदयः, होतृकारः रूप सिद्ध होते हैं।

अन्य उदाहरण- विद्या आलयः विद्यालयः। कवि इन्द्रः-कवीन्द्रः। मुनि ईशः मुनीशः। भानु उदयः भानूदयः। वधू उत्सवः वधूत्सवः । होतृऋद्धिः- होतृद्धिः ।

४३. एङः पदान्तादति (६/१/१०५)

पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। हरेऽव। विष्णोऽव।

एङ इति- पदान्त एङ् से अत् (ह्रस्व अकार) परे रहते पूर्व तथा पर दोनों को पूर्वरूप एकादेश हो।

सुप्तिङन्तं पदम् के अनुसार सुबन्त व तिङन्त को पद कहते हैं। सुबन्त होने के कारण श्हरेश तथा विष्णो पद हैं। हरे अव तथा **विष्णो अव** उदाहरणों में पदान्त एङ् (क्रमशः ए तथा ओ) है। इससे परे ह्रस्व अकार है। अतः दोनों के स्थान पर पूर्वरूप (पूर्व वर्ण जैसा स्वरूप) हो जाएगा। इस प्रकार हरेऽव तथा विष्णोऽव रूप सिद्ध होंगे। पूर्वरूप को (ऽ) इस चिह्न के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।

अन्य उदाहरण- विष्णो अत्र विष्णोऽत्र। रामो अस्ति-रामोऽस्ति । वने अस्ति-वनेऽस्ति। को अपि-कोऽपि।

६०. अचो रहाभ्यां द्वे (८/४/४५)

अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः। गौर्य्यौ। (वा०) न समासे। वाप्यश्वः।

अच इति- अच् से पर रेफ तथा हकार हों तथा उन से पर यर् हो तो उस यर् को विकल्प से द्वित्व होता है।

गौरी औ यहाँ इको यणचि से यणादेश होने पर गौ य् औ इस दशा में अच् (औ) से परे रेफ है तथा उससे पर यर् (यकार) है, अतः प्रस्तुत सूत्र से विकल्प से द्वित्व होगा। द्वित्व पक्ष में गौर् य् य् औ (गौर्य्यौ) तथा द्वित्व अभाव पक्ष में **गौर्यौ** रूप सिद्ध होगा। अन्य उदाहरण - धर्म्मः, धर्मः । शर्म्मा, शर्मा । कार्य्यम्, कार्यम्। कर्म्म, कर्म।

न इति- असवर्ण अच् परे रहते समास में पदान्त इक् को ह्रस्व नहीं होता है।

वापी अश्वः यहाँ समास है। पदान्त ईकार है। असवर्ण अच् (अकार) परे है। अतः प्रकृत वार्तिक के द्वारा ह्रस्व आदेश नहीं होगा। तब सामान्य यणादेश होकर वाप्यश्वः रूप सिद्ध हुआ।

हल्सन्धिप्रकरणम्

१. **स्तोः श्चुना श्चुः (८/४/३९)**

सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः। रामश्शेते। रामश्चिनोति। सच्चित्।

स्तोरिति - सकार तथा तवर्ग का शकार और चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) के साथ योग होने पर सकार तथा तवर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न्) के स्थान पर शकार तथा चवर्ग हों।

यहाँ पूर्व में छह वर्ण (स्, त्, थ्, द्, ध्, न्) कहे हैं तथा पर में भी छह वर्ण (श्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) कहे गये हैं। इसी प्रकार आदेश भी छह (श्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) ही हैं। अतः समान होने के कारण यथासंख्यमनु० परिभाषा के द्वारा ये आदेश क्रमशः होते हैं अर्थात् स् के स्थान पर श्, त् के स्थान पर च्, थ् के स्थान पर छ्, द् के स्थान पर ज्, ध् के स्थान पर झ् तथा न् के स्थान पर ञ् होता है।

२. **ष्टुना ष्टुः (८/४/४०)**

स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात्। रामष्षष्ठः। रामष्टीकते। पेष्टा। तट्टीका । चक्रिण्ढौकसे।

ष्टुनेति - सकार और तवर्ग तथा षकार और टवर्ग के योग में सकार तथा तवर्ग के स्थान पर षकार और टवर्ग होता है।

यहाँ पर भी योग होने पर यथासंख्य कार्य नहीं होता है। केवल आदेश के सम्बन्ध में यथासंख्य अपेक्षित है। यहाँ श्तोः षिश् सूत्र प्रमाण है।

रामस् षष्ठः- सकार और षकार के योग में षकार आदेश होकर रामष्षष्ठः रूप सिद्ध हुआ। रामस् टीकते यहाँ पूर्ववत् समझें। रामष्टीकते। पेष् ता- यहाँ षकार तथा तकार का योग है। स्थानी तकार के स्थान पर यथासंख्य आदेश टकार ही होता है। पेष्टा।

तद् टीका- ष्टुत्व (पा० ८.४.४०) की दृष्टि में चर्च (पा० ८.४.५४) असिद्ध है। प्रथम ष्टुना ष्टुः से ष्टुत्व। तड् टीका चर्त्व होकर डकार के स्थान पर टकार हुआ तट्टीका। चक्रिन् ढौकसे- यहाँ नकार (तवर्ग) और ढकार (टवर्ग) का योग है। स्थानी नकार के स्थान पर टवर्गीय यथासंख्य आदेश (ण्) होकर चक्रिण्ढौकसे रूप सिद्ध हुआ।

६७. झलां जशोऽन्ते (८/२/३९)

पदान्ते झलां जशः स्युः। वागीशः ।

झलामिति - पदान्त में झल् के स्थान पर जश् हो। वाक् ईशः यहाँ अन्तर्वर्त्तिनी विभक्तियों का लुक् हो जाने से प्रत्यय लक्षण से वाच् शब्द पद है। चोः कुः से कुत्व हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा ककार (झल्) के स्थान में स्थानेऽन्तरतमः से स्थान साम्य के कारण गकार (जश्) होकर वागीशः रूप सिद्ध हुआ। अन्य उदाहरण - दिक् गजः दिग्गजः। जगत् ईश जगदीशः। चित् आनन्दः -चिदानन्दः । मधुलिट् अस्ति- मधुलिडस्ति। षट् एते षडेते। क्षुत् भिः क्षुद्भिः ।

६८. यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (८/४/४४)

यरः पदान्तस्यानुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात्। एतन्मुरारिः, एतद्मुरारिः। (वा०) प्रत्यये भाषायां नित्यम्। तन्मात्रम्। चिन्मयम्।

यर इति - पदान्त में यर् के स्थान पर विकल्प से अनुनासिक हो, अनुनासिक परे रहते।

प्रत्यय इति- अनुनासिक से प्रारम्भ होने वाले प्रत्यय के परे रहते पदान्त यर् के स्थान पर नित्य अनुनासिक हो। एतद् मुरारिः यहाँ एतद् एक पद है। दकार पदान्त में है। इससे परे मकार (अनुनासिक) है। अतः दकार के स्थान पर प्रस्तुत सूत्र से विकल्प से अनुनासिक होगा। एतन्मुरारिः तथा पक्ष में एतद्मुरारिः रूप सिद्ध होगा। अन्य उदाहरण- जगत् नाथः जगद्नाथः, जगन्नाथः। षट् मासाः षड्मासाः, षण्मासाः। क्षुत् मे- क्षुद्मे, क्षुन्मे। अप् मूलम् अब्मूलम्, अम्मूलम्। सत् मार्गः -सद्मार्गः, सन्मार्गः ।

तद् मात्रम् यहाँ यरोऽनु० सूत्र के द्वारा दकार को विकल्प से अनुनासिक प्राप्त होता है जिसे बाध कर प्रकृत वार्तिक के द्वारा नित्य अनुनासिकत्व होता है- तन्मात्रम्। इसी प्रकार चित् मयम्-चिन्मयम् सिद्ध होता है। वाक् मयम्- वाङ्मयम्। वाक् मात्रम् - वाङ्मात्रम्। मृट् मयम्- मृण्मयम्।

६९. तोर्लि (८/४/५९)

तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः। तल्लयः। विद्वाँल्लिखति । नस्यानुनासिको लँः ।

तोरिति - लकार परे रहते तवर्ग के स्थान पर परसवर्ण हो। तद् लयः- दकार से लकार परे है। अतः दकार के स्थान पर परसवर्ण हुआ-तल्लयः । विद्वान् लिखति- यहाँ नकार के स्थान पर परसवर्ण लकार होगा। विद्वाँल् लिखति। क्योंकि स्थानी अनुनासिक है । अतः परसवर्ण आदेश भी अनुनासिक (लँ) होकर विद्वाँल्लिखति रूप बना ।

अन्य उदाहरण- तद् लयः तल्लयः। तद् लीनः तल्लीनः। तद् लीला-तल्लीला। श्रीमान् लिखति श्रीमाँल्लिखति। जगत् लीयते- जगल्लीयते।

७३. झरो झरि सवर्णे (८/४/६४)

हलः परस्य झरो वा लोपः सवर्णे झरि।

झर इति- हल् से पर झर् का विकल्प से लोप हो सवर्ण झर् परे रहते। यहाँ निमित्त और स्थानियों का यथासंख्य नहीं होता है। उद् थ् थानम् में हल् (दकार) से पर झर् (थकार) है। इससे परे सवर्ण झर् (द्वितीय थकार) है। अतः पूर्व थकार का विकल्प से लोप होकर दो रूप बने- उत्थानम्, उद् थ् थानम्।

७४. खरि च (८/४/५४)

खरि झलां चरः स्युः इत्युदो दस्य तः उत्थानम्, उत्तम्भनम् ।

खरीति - खर् के परे रहते झल् के स्थान पर चर् हो। इस प्रकार दोनों रूपों में खर् (थकार) परे रहते झल् (दकार) के स्थान पर अत्यन्त सादृश्य के आधार पर चर् (त्) होकर उत्थानम् व उत्थ्थानम् रूप बने। इसी प्रकार उद् स्तम्भनम् इस स्थिति में सकार को थकार, वैकल्पिक लोप तथा चर् होकर दो रूप बनेंगे- उत्तम्भनम्, उत्थ्तम्भनम्।

अन्य उदाहरण- उद् स्थापयति उत्थापयति, उत्स्थापयति।

७५. झयो होऽन्यतरस्याम् (८/४/६१)

झयः परस्य हस्य वा पूर्वसवर्णः। नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य (हस्य) तादृशो वर्गचतुर्थः वाग्घरिः, वाग्हरिः।

झय इति- झय् से पर हकार को विकल्प से पूर्वसवर्ण हो।

हकार का नाद, घोष, संवार तथा महाप्राण यत्न हैं। वर्गों के चतुर्थ वर्णों का नाद, घोष, संवार तथा महाप्राण यत्न हैं। अतः आन्तरतम्य (अत्यन्त सादृश्य) के कारण हकार के स्थान पर वर्गों के चतुर्थ वर्ण आदेश ही होंगे।

वाक् हरिः - यहाँ जश्त्व तथा पूर्वसवर्ण (घ) होकर वाग्घरिः रूप बनता है।

ध्यान रहे कि जश्त्व विधायक सूत्र झला० (पा० ८.२.३९) की दृष्टि में पूर्वसवर्ण सूत्र झयो हो० (पा० ८.४.६२) असिद्ध है। अतः प्रथम जश्त्व (वाग् हरिः) होकर तत्पश्चात् पूर्वसवर्ण होता है। वाग् हरिः इस स्थिति में झय् (गकार) से परे हकार है। अतः हकार के स्थान पर अत्यन्त सादृश्य के बल पर घकार वाग्घरिः हुआ पक्ष में वाग्हरिः हुआ।

अन्य उदाहरण-अच् हीनम् अज्झीनम्, अज्हीनम्। वाक् हन्ति वाग्घन्ति, वाग्हन्ति। रत्नमुट् हरति- रत्नमुड्डरति, रत्नमुड्हरति।

जगत् हरति- जगद्धरति, जगद्हरति । ककुप् हस्ती- ककुब्भस्ती, ककुब्हस्ती।

७७. मोऽनुस्वारः (८/३/२३)

मान्तस्य पदस्यानुस्वारो हलि। हरिं वन्दे। हल् परे होने पर मकारान्त पद के स्थान पर अनुस्वार हो। हरिम् वन्दे- यहाँ सम्पूर्ण पद के स्थान पर आदेश प्राप्त होने पर अलोऽन्त्यस्य के अनुसार अन्त्य मकार को अनुस्वार होकर हरिं वन्दे रूप सिद्ध हुआ। अन्य उदाहरण - ग्रामम् गच्छति ग्रामं गच्छति। गुरुम् नमामि गुरुं नमामि। शिवम् भजामि - शिवं भजामि।

७८. नश्चापदान्तस्य झलि (८/३/२४)

नस्य मस्य चाऽपदान्तस्य झल्यनुस्वारः । यशांसि, आक्रंस्यते। झलि किम्- मन्यसे ।

अपदान्त नकार तथा मकार से झल् के परे रहते उनके स्थान पर अनुस्वार हो।

यशान् सिश्- यहाँ यशान् अपद है। अतः नकार पदान्त में नहीं है। अब नकार के स्थान पर झल् (स्) परे रहते अनुस्वार होकर यशांसि रूप सिद्ध हुआ। आक्रम् स्यते- यहाँ पूर्ववत् अपद होने से म् के स्थान पर अनुस्वार होकर आक्रंस्यते रूप बना। मन् यसे यहाँ मन् पद नहीं है। अतः 'न्' अपदान्त है, परन्तु इससे परे यकार है, जो झल् नहीं है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा अनुस्वार नहीं होगा। सूत्र में झलि ऐसा कहने का फल यही है, ताकि मन्यसे में अनुस्वार न हो।

अन्य उदाहरण - स्रोतान् सि- स्रोतांसि । मनान् सि- मनांसि। संगम् स्यते-संगंस्यते।

७९. अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८/४/५७) स्पष्टम्। शान्तः ।

अनुस्वारस्येति- यय् परे रहते अनुस्वार के स्थान पर परसवर्ण हो। अनुस्वार स्थानी है तथा परसवर्ण आदेश है। अतः नासिका स्थान साम्य होने के कारण आदेश के रूप में वर्गों के पञ्चम वर्ण होंगे। शाम् तः यहाँ नश्चापदा० के द्वारा अनुस्वार तथा अनुस्वार को प्रकृत सूत्र के द्वारा तकार का परसवर्ण (नकार) हो गया। शाम् तः- शांतः - शान्तः ।

अन्य उदाहरण - शम् का शङ्का गुम् फितः- गुम्फितः । उम्-छितः उञ्छितः।। अम् कितः अङ्कितः। कुम् ठितः- कुण्ठितः । नम् दितः नन्दितः। गम् गा- गङ्गा।

९३. खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८/३/१५)

खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः । (वा०) संपुङ्कानां सो वक्तव्यः। सँस्स्कर्ता, संस्स्कर्ता। खरिति-ख ँपरे रहते और अवसान में पदान्त रेफ को विसर्ग हो। उपर्युक्त दोनों स्थलों में रेफ से ख ँ(सकार) परे है, अतः रेफ को विसर्ग हो गया।

समिति-सम्, पुम् और कान् शब्दों के विसर्ग के स्थान पर सकार हो।

सरु स्कर्त्ता- यहाँ 'रु' से पूर्ववर्ती अकार को क्रमशः अनुनासिक और अनुस्वार करने पर सँरुस्कर्त्ता, तथा सं्र स्कर्त्ता। सँस् स्कर्त्ता, संस् स्कर्त्ता। इन दोनों स्थितियों में विसर्जनीयस्य सः से प्राप्त विसर्ग को बाध कर वा शरि से विकल्प से विसर्ग हुआ। तब प्रस्तुत वार्तिक से नित्य सकारादेश होगा। सँस् स्कर्त्ता तथा संस् स्कर्त्ता-इन दोनों स्थलों पर वार्तिक के द्वारा विसर्ग के स्थान पर सकार होकर सँस्स्कर्त्ता तथा संस्स्कर्त्ता रूप सिद्ध होंगे। इसी प्रकार सम् स्कृतम् से सँस्स्कृतम् तथा संस्स्कृतम् रूप बनेंगे।

९६. विसर्जनीयस्य सः (८/३/३४)

खरि। चक्रिँस्त्रायस्व, चक्रिंस्त्रायस्व। अप्रशान् किम्-प्रशान्तनोति । पदान्तस्येति किम्-हन्ति ।

विसर्जनीयस्येति-खर् परे रहते विसर्ग को सकार आदेश हो।

चक्रिन् त्रायस्व- में पदान्त नकार के परे छव् (तकार) है तथा उसके पश्चात् अम् (रेफ) भी है। अतः यहाँ नकार को 'रु' होकर चक्रि रु त्रायस्व बन गया। अब अनुनासिक तथा पक्ष में अनुस्वार होकर चक्रि रु त्रायस्व चक्रिं रु त्रायस्व बनेंगे। अब रु के स्थान पर विसर्ग तथा विसर्ग के स्थान पर सकार होकर चक्रिँस्त्रायस्व' तथा चक्रिंस्त्रायस्व बनेंगे।

पूर्व सूत्र में विहित कार्य प्रशान् के विषय में निषेध न किया होता तो प्रशान् तनोति में प्रशांस्तनोति होता, जो अभीष्ट नहीं है। अतः सूत्र में अप्रशान् का पाठ किया गया। सूत्रकार्य पदान्त में ही हो अन्यथा उक्त कार्य हन् तिश् यहाँ होकर हंस्ति होगा। अतः पूर्व सूत्र में पदान्त ऐसा कहा गया, क्योंकि हन् पद नहीं है।

अथ विसर्गसन्धिः

१. **विसर्जनीयस्य सः (८/३/३३) खरि। विष्णुस्त्राता ।**

विसर्जनीयस्येति- खर् परे रहते विसर्जनीय के स्थान पर सकार आदेश हो। विष्णुः त्राता यहाँ विसर्ग से परे खर् (त्) है। अतः सकार होकर **विष्णुस्त्राता** हो गया।

अन्य उदाहरण- रामः तिष्ठति रामस्तिष्ठति। देवः तत्र देवस्तत्र। छात्रः चलति छात्रस् चलति - छात्रश्चलति (श्चुत्व होकर)।

२. **वा शरि (८/३/३६)**

शरि विसर्गस्य विसर्गो वा। हरिः शेते, हरिश्शेते। वेति-शर् परे रहते विसर्ग के स्थान पर विकल्प से विसर्ग हो। हरिः शेते यहाँ विसर्ग से परे शकार शर् है। अतः विकल्प से विसर्ग होगा। हरिःशेते। विसर्ग अभाव पक्ष में खर् परे रहते **विसर्जनीयस्य सः** इससे सकार तथा **स्तोः श्चुना श्चुः** के द्वारा चुत्व होकर **हरिस्शेते-हरिश्शेते** रूप बन गया।

अन्य उदाहरण- बालः शेते बालः शेते, बालश्शेते।

३. **(विसर्जनीयस्य सः)** विसर्ग के बाद खर् (वर्ग के १, २, श, ष, स) हो तो विसर्ग को स् हो जाता है। (श् या चवर्ग के बाद मे हो तो श्चुत्व सन्धि भी।) जैसे,

हरिः + त्रायते = हरिस्त्रायते ।	बालः + चलति = बालश्चलति ।
रामः + तिष्ठति = रामस्तिष्ठति ।	राम + शेते = रामश्शेते ।
कः + चित् = कश्चित् ।	जनाः + तिष्ठन्ति = जनास्तिष्ठन्ति ।
निः + चलः = निश्चलः ।	रामः + च = रामश्च ।

(१४) (ससजुषो रुः) पद के अन्तिम स् को रु (:) होता है। सजुष् शब्द के ष् को भी रु होता है। सूचना - इस रु का साधारणतया विसर्ग (:) ही बचता है। इसी रु को सन्धिनियम १५, १६ और १७ से उ या य् होता है। जहाँ उ या य् नही होगा, वहाँ पर या तो विसर्ग बचेगा या र् बचेगा।

(१५) (अतो रोरप्लुतादप्लुते) ह्रत्व अ के बाद रु (: या र्) को उ हो जाता है, बाद मे ह्रस्व अ हो तो । (सूचना- इस उ को पूर्ववर्ती अ के साथ सन्धि नियम ३ से गुणसन्धि करके ओ हो जाता है और बाद के अ को सन्धि-नियम ५ से पूर्वरूप सन्धि होती है। अतएव अ + अ = ओऽ होता है।) जैसे,

रामः + अस्ति = रामोऽस्ति ।	रामः + अवदत् = रामोऽवदत् ।
कः + अपि = कोऽपि ।	नृपः + अगच्छत् = नृपोऽगच्छत् ।
सः + अपि = सोऽपि ।	देवः + अधुना = देवोऽधुना ।
सः + अपठत् = सोऽपठत् ।	कः + अयम् = कोऽयम् ।

सूचना- स्मरण रखें कि रामः, कः आदि में सब स्थानों पर स् का ही सन्धि-नियम १४ के अनुसार विसर्ग (:) दीखता है। यह विसर्ग मूलरूप मे सु (स्) है, उसी को रु (र् या :) होता है। जहाँ पर उ या य् नहीं होगा, जहाँ पर र् शेष रहता है। अतः सन्धि-नियम १४ से अ आ के अतिरिक्त अन्य स्वरों के बाद विसर्ग का 'र्' शेष रहता है, बाद में कोई स्वर या व्यजन (३, ४, ५) हो तो । जैसे,

हरिः + अवदत् = हरिरवदत् ।	लक्ष्मीः + इयम् = लक्ष्मीरियम् ।
गुरुः + अस्ति = गुरुरस्ति ।	वधूः + एषा = वधूरेषा ।
शिशुः+ आगच्छत् = शिशुरागच्छत् ।	गुरोः + भाषणम् = गुरोर्भाषणम्
पितुः + इच्छा = पितुरिच्छा ।	हरेः + द्रव्यम् = हरेर्द्रव्यम् ।

(हशि च)

ह्रस्व अ के बाद रु (र् याः) को उ हो जाता है, बाद में हश् (वर्ग के ३, ४, ५, ६, ह, य, व, र, ल) हो तो। (**सूचना**- सन्धि-नियम १५ बाद में अ हो तब लगता है, यह बाद में हश् हो तो। उ करने के बाद सन्धि-नियम ३ से गुण होकर ओ होगा। अतः अः + हश् = ओ + हश् होगा, अर्थात् अः को ओ) जैसे-

रामः + वन्द्यः = रामो वन्द्यः ।	देवः + गच्छति = देवो गच्छति ।

कृष्णः + वदति = कृष्णो वदति । बालः + हसति = बालो हसति ।
बालः + लिखति = बालो लिखति । नृपः + रक्षति = नृपो रक्षति ।
रामः + जयति = रामो जयति । शिष्यः + यजति = शिष्यो यजति ।

(१७) (भोभगोअधोभपूर्वस्य योऽशि)

भोः, भगो., अधोः शब्द और अ या आ के बाद रु (र् या) को य् होता है, बाद मे अस् (स्वर, ह, य, व, र, ल, वर्ग के ३, ४, ५) हो तो । (सूचना - १. हलि सर्वेषाम्, २ लोपः शाकल्यस्य । य् के बाद यदि कोई व्यजन होगा तो य् का लोप अवश्य होगा। य् के बाद यदि कोई स्वर होगा तो य् का लोप ऐच्छिक है। यदि लोप करेंगे तो कोई दीर्घ, गुण, वृद्धि आदि सन्धि-कार्य नही होगा । अर्थात् अः या आः + अश् = अ या आ + अश् ।) जैसे,

देवाः + गच्छन्ति = देवा गच्छन्ति । रामः + इच्छति = राम इच्छति ।
नराः + हसन्ति = नरा इसन्ति । शिष्याः + एते = शिष्या एते ।
देवाः + इह = देवा इह, देवायिह । छात्राः + लिखन्ति = छात्रा लिखन्ति ।
कन्याः + इच्छन्ति = कन्या इच्छन्ति । पुत्रः आगच्छति = पुत्र आगच्छति ।

(१८) **(एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे इलि)**

सः और एषः के विसर्ग का लोप होता है, बाद मे कोई हल् (व्यंजन) हो तो। (सकः, एषकः, असः, अनेषः के विसर्ग का लोप नहीं होगा ।) (**सूचना**- सः, एषः के बाद अ होगा तो सन्धि-नियम १५ से 'ओऽ' होगा। अन्य स्वर बाद में होगें तो सन्धिनियम १७ से विसर्ग का लोप होगा ।)

(१) सः + पठति = स पठति । (२) सः + अयम् = सोऽयम् ।
सः + लिखति = स लिखति । सः + आगतः = सः आगतः ।
एषः + वदति = एष वदति । सः + इच्छति = स इच्छति ।
एषः + गच्छति = एष गच्छति । एषः + अपि = एषोऽपि ।

स्मरणीय बिंदु-

1 इको यणचि सूत्र द्वारा इ उ ऋ लृ के स्थान पर क्रमशः य व र ल आदेश होता है यदि बाद में कोई स्वर हो।

2 एचोऽयवायावः सूत्र द्वारा ए ओ ऐ औ के स्थान पर क्रमशः अय अव आय आव् आदेश होता है जब बाद में कोई स्वर हो।

3 आद्गुणः सूत्र द्वारा अ या आ के बाद इ उ ऋ लृ आने पर क्रमशः ए ओ अर्अल् रूप एकादेश होता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 यण सन्धि और अयादि सन्धि करने वाले पाणिनीय सूत्रों को उदाहरण सहित विस्तार से समझाइए?

प्रश्न 2 गुण सन्धि किसे कहते हैं? आद्गुणः सूत्र के विविध उदाहरणों द्वारा इसकी पूरी प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए?

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 इको यणचि सूत्र में इक् और यण् प्रत्याहार के अन्तर्गत कौन कौन से वर्ण आते हैं?

प्रश्न 2 उपेन्द्रः और गङ्गोदकम् पदों का सन्धि विच्छेद करते हुए सूत्र का नामोल्लेख कीजिए?

प्रश्न 3 नायकः और पावकः पदों में किस सूत्र से सन्धि कार्य किया गया है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1 इको यणचि किस सन्धि का विधायक सूत्र है?

(क) गुण सन्धि (ख) यण सन्धि (ग) वृद्धि सन्धि (घ) दीर्घ सन्धि

प्रश्न 2 आद्गुणः सूत्र द्वारा अ और इ के मिलने पर क्या आदेश होता है?

(क) ए (ख) ओ (ग) ऐ (घ) औ

प्रश्न 3 नायकः पद का सही सन्धि विच्छेद क्या होगा?

(क) ने + अकः (ख) नै + अकः (ग) नो + अकः (घ) ना + अकः

प्रश्न 4 एचोऽयवायावः सूत्र में ऐ के स्थान पर क्या आदेश बताया गया है?

(क) अय् (ख) अव् (ग) आय् (घ) आ०

प्रश्न 5 इत्यपि पद में कौन सी सन्धि हुई है?

(क) गुण सन्धि (ख) वृद्धि सन्धि (ग) यण सन्धि (घ) अयादि सन्धि

इकाई-2.2 अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम्

उद्देश्य-

1 अजन्त पुल्लिंग शब्दों की रूप सिद्धि के नियमों और पाणिनीय सूत्रों का बोध कराना।

2 सुप् प्रत्ययों (सु, औ, जस् आदि) के जुड़ने की वैज्ञानिक प्रक्रिया को स्पष्ट करना।

3 राम और सर्व जैसे मुख्य शब्दों के रूप बनाने की विधि सिखाना।

१. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (१/२/४५)

धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वा अर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात्। अर्थवदिति जो धातु न हो, प्रत्यय न हो तथा प्रत्ययान्त न हो ऐसे अर्थवान् (सार्थक) शब्द प्रातिपदिक संज्ञक हो। अधातुः अर्थात् जो धातु न हो। इस प्रकार अपठन् की प्रा. तिपदिक संज्ञा न हुई, अन्यथा प्रातिपादिक संज्ञा होकर नकार का लोप प्राप्त हो जायेगा। अप्रत्ययः अर्थात् प्रत्यय को छोड़कर हो अन्यथा रामेषु पद में सुप् की प्रातिपदिक संज्ञा हो जायेगी। प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् अर्थात् प्रत्यय ग्रहण के सम्बन्ध में तदन्त का ग्रहण किया जाता है। अतः श्प्रत्ययान्त की उक्त संज्ञा न होश ऐसा कहा गया। ऐसा न कहने से नदीभिः (प्रत्ययान्त) सम्पूर्ण शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा हो जायेगी और सुपो धातुप्रतिपदिकयोः के द्वारा सुप् विभक्ति का लोप हो जायेगा। अर्थवद् अर्थात् सार्थक हो ऐसा कहा गया है। यदि अर्थहीन शब्द की उक्त संज्ञा हो जायेगी तो अनर्थ हो जायेगा। तब धन शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा के साथ-साथ इसके अवयव स्वरूप ध, अ. न्, अ इन निरर्थक वर्णों की भी प्रातिपदिक संज्ञा हो जायेगी। उन वर्णों की उक्त संज्ञा न हो इसलिए अर्थवद् ऐसा कहा गया।

२. कृत्तद्धितसमासाश्च (१/२/४६) कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च तथा स्युः।

कृदिति कृत् प्रत्ययान्त, तद्धित प्रत्ययान्त तथा समास भी प्रातिपदिक संज्ञक हों।

पूर्व सूत्र में प्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा वर्जित की गयी है। अतः प्रकृत सूत्र में कृत् प्रत्ययान्त तथा तद्धित प्रत्ययान्त का ग्रहण किया गया है।

कृदन्त-कर्ता, गायक, कारक आदि कृदन्त होने के कारण इनकी प्रातिपदिक संज्ञा हो गई । तद्धितान्त शब्द का अर्थ है- तद्धित प्रत्यय से युक्त। यहाँ ध्यान रहे कि कुछ प्रत्यय (अकच्) टि से पूर्व में भी होते हैं। औपगवः तथा नाडायनः तद्धितान्त शब्द है। समास। यथा राजपुरुषः।

११८. प्रत्ययः (३/१/१)

प्रत्यय इति- सु आदि की प्रत्यय संज्ञा हो। पूर्व सूत्र तथा प्रकृत सूत्र अधिकार सूत्र हैं।

११९. परश्च् (३/१/२)

इत्यधिकृत्य। ङ्न्ताद् आबन्तात् प्रातिपदिकात् च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः। परश्च इति- यह अधिकार सूत्र है। ङ्यन्त, आबन्ता तथा प्रातिपदिक से परे 'सु' आदि प्रत्यय हों।

अधिकार सूत्र की परिभाषा इस प्रकार है-

स्वदेशे **वाक्यार्थबोधशून्यत्वे सति परदेशे वाक्यार्थबोधकत्वमधिकारत्वम्** अर्थात् अपने स्थान पर जिन सूत्रों का अपना अपना अर्थ बोध नहीं होता परन्तु दूसरे स्थान (सूत्रों) में जाकर उनके साथ मिलकर अपना अर्थबोध कराते हैं, उन्हें अधिकार सूत्र कहते हैं।

१२०. ङ्याप्रातिपदिकात् (४/१/१)

ङीति- ङ्यन्त, आबन्त तथा प्रातिपदिक से (प्रत्यय) होते हैं। ङ्यन्त के द्वारा ङीप्, ङीष्, ङीन् तथा आबन्त के द्वारा टाप्, डाप्, चाप् लिङ्ग विधायक प्रत्ययों का ग्रहण होता है। ये न कृत् है तथा न ही तद्धित हैं। अतः इनकी (कृत्तद्धित० से) प्रातिपदिक. संज्ञा नहीं हो सकती। इनसे 'सु' की प्राप्ति प्रकृत सूत्र द्वारा कही है। प्रत्ययग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् इस परिभाषा के बल पर सभी स्त्रीप्रत्ययों का ग्रहण होता है।

१२१. स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् (४/१/२)

सु औ जस् इति प्रथमा। अम् औट् शस् इति द्वितीया। **टा भ्याम् भिस्** इति तृतीया। ङे भ्याम् भ्यस् इति चतुर्थी। ङसि भ्याम् भ्यस् इति पञ्चमी। ङस् ओस् आम् इति षष्ठी। ङि ओस् सुप् इति सप्तमी। स्वौजसिति-सु आदि २१ प्रत्यय हैं। इन्हें सुप् प्रत्याहार के नाम से जाना जाता है। विभक्तियाँ सात होती हैं तथा प्रत्येक के तीन-तीन वचन होते हैं। प्रत्येक विभक्ति के तीनों वचनों में

प्रत्यय होंगे। तथा अनुबन्धसंज्ञक वर्णो का लोप हो जाता है।

१२२. सुपः (१/४/१०२)

सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचन द्विवचन बहुवचन-संज्ञानि स्युः।

सुप इति- सुप् प्रत्याहार के तीन-२ के सात विभाग होंगे। जिन्हें विभक्ति कहा जाता है। सातों विभक्तियों के वचनों की क्रमशः एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन संज्ञा होती है।

१२३. द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने (१/४/२२) द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः ।

द्वयेकयोरिति- एक और दो की विवक्षा में क्रमशः एकवचन तथा द्विवचन होता है।

अपदं न प्रयुञ्जीत अर्थात् भाषा में निर्विभक्तिक (सु आदि विभक्ति रहित) शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसलिए प्रत्येक शब्द के साथ कोई न कोई विभक्ति अवश्य लगेगी। शब्द को प्रयोग के लिए साधु बनाने के उद्देश्य से सामान्यतः प्रथमा एकवचन (सु) का निर्देश कर दिया जाता है। कहा भी है **एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते**। अतः 'सु' का प्रयोग एकत्व संख्या के उद्देश्य के बिना केवल शब्द की साधुता प्रदर्शन के उद्देश्य से भी होता है।

१२४. बहुषु बहुवचनम् (१/४/२१) बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यात् ।

बहुष्विति - बहुत की विवक्षा में बहुवचन हो।

१२५. विरामोऽवसानम् (१/४/१०९) वर्णानामभावोऽवसानसंज्ञः स्यात् ।

रुत्वविसर्गौ- रामः। विराम इति - वर्णो के अभाव की अवसान संज्ञा हो।

ह्रस्व अकारान्त शब्द - राम शब्द की अर्थवद् अधातु० सूत्र के द्वारा प्रातिपदिक संज्ञा होकर ङ्याप्प्राति०- प्रत्ययः तथा परश्च इन तीनों सूत्रों के अधिकार बल से स्वौजस्० से सु आदि प्रत्ययो की प्राप्ति हुई। अब प्रथमा एकवचन की विवक्षा में द्वयेकयो० के द्वारा सु प्रत्यय हुआ। **राम सु**। **उपदेशेऽजनु०** के द्वारा 'सु' के उकार की इत्संज्ञा तथा तस्य लोपः से उकार का लोप हुआ। राम स्। ससजुषो रुः के द्वारा 'रु' तथा उकार की पूर्ववत् इत् संज्ञा व लोप हो गया। राम र् । 'विरामोऽवसानम्' के द्वारा रेफ की अवसान संज्ञा तथा खरवसानयोः ० के द्वारा विसर्ग हुआ। रामः। इस सुबन्त प्रकरण में रामः शब्द की सिद्धि में 'सु' की उत्पत्ति पर्यन्त जो प्रक्रिया दिखलाई गई है, उसकी पुनरावृत्ति सर्वत्र होगी। प्रक्रिया के चरण इस प्रकार होंगे-

१. अर्थवदधा०-कृत्तद्धि० से प्रातिपदिक संज्ञा। २. प्रत्ययः अधिकार ३. परश्च-अधिकार ४. ङ्याप्प्राति०- अधिकार ५. स्वौजसम्०- सु आदि की उत्पत्ति। ६. सुपः-त्रिक विभाग। छात्रों को प्रत्येक सुबन्त शब्द की सिद्धि में इस प्रक्रिया को दोहराना चाहिए।

राम शब्द की प्रथमा विभक्ति में प्रकृत सूत्र के द्वारा एक ही 'राम' शब्द अवशेष रह गया तथा द्विवचन का बोध कराने के लिए 'द्वयेकयो०' से **औ** प्रत्यय की प्राप्ति हुई। 'राम औ' यहाँ 'वृद्धिरेचि' के द्वारा वृद्धि प्राप्त हुई।

१२७. प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६/१/९८)

अकः प्रथमाद्वितीययोरचि पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्याद् इति प्राप्ते- प्रथमयोरिति-अक् से प्रथमा तथा द्वितीया का अच् परे रहते पूर्व सवर्ण दीर्घ आदेश होता है।

सूत्र में पठित प्रथमयोः पद में द्विवचन होने से प्रथमा तथा द्वितीया का ग्रहण होता है। राम औ' यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा पूर्व सवर्ण दीर्घ आदेश आकार प्राप्त है। इसके अनुसार अकार तथा औकार मिलकर दोनों के स्थान दीर्घ एकादेश (आकार) होना चाहिए।

१२८. नाऽऽदिचि (६/१/१००) आदिचि न पूर्वसवर्णदीर्घः। वृद्धिरेचि-रामौ।

नेति- अवर्ण से इच् परे रहते पूर्व सवर्णदीर्घ एकादेश न हो। **राम औ** यहाँ प्राप्त दीर्घ आदेश का बाध प्रकृत सूत्र के द्वारा हो जाता है। अब **वृद्धिरेचि** के द्वारा वृद्धि होकर **रामौ** बन गया।

१२९. चुटू (१/३/७) प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ स्तः।

चुट्वि-प्रत्यय के आदि में स्थित चवर्ग और टवर्ग इत्संज्ञक हों। इस प्रकार जस् के जकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो गया। राम अस् । अस् के सकार की **हलन्त्यम्** के द्वारा इत्संज्ञा प्राप्त है।

१३०. विभक्ति (१/४/१०३) सुप्तिङौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः।

विभक्तिरिति - सुप् और तिङ् विभक्ति संज्ञक हों।

सुप् एक प्रत्याहार है जिसमें सु से लेकर सुप् तक २१ प्रत्ययों का परिगणन किया गया है। तिङ् १८ प्रत्यय हैं जो लकार के स्थान पर होते हैं।

१३१. न विभक्तौ तुस्माः (१/३/४) विभक्तिस्थास् तवर्गसमा नेतः। इति सस्य नेत्त्वम् । रामाः।
नेति- विभक्ति में स्थित तवर्ग, सकार तथा मकार की इत्संज्ञा नहीं होती। बहुत की विवक्षा में राम शब्द से प्रथमा में जस् की उत्पत्ति हुई ।

जस् के सकार की हलन्त्यम् से प्राप्त इत्संज्ञा का प्रस्तुत सूत्र से निषेध हो गया। राम अस् । प्रथमयोः पूर्वसवर्णः के द्वारा पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश हो गया। रामास् । ससजुषो रुः के द्वारा 'रु' तथा विरामोऽ० से अवसान संज्ञा, खरवसान० से विसर्ग होकर रूप बन गया। रामाः ।

१३२. एकवचनं सम्बुद्धिः (२.३.४९) सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धिसंज्ञं स्यात् । एकवचनमिति-सम्बोधन में प्रथमा के एकवचन की सम्बुद्धि संज्ञा हो।

१३३. यस्मात्प्रत्ययविधि स्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १ (१/४/१३)
यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते, तदादि शब्दस्वरूपं तस्मिन्नङ्गं स्यात् । यस्मादिति जो प्रत्यय जिस (शब्द) से किया जाता है, वह है आदि में जिस समुदाय के, वह शब्द उस प्रत्यय के परे रहते अङ्ग संज्ञक हो। जैसे- भू अ मि में भू धातु से मि किया गया है। वह भू अ इस समुदाय के आदि में है। भू अ की मि प्रत्यय परे रहते अङ्ग संज्ञा हुई।

१३४. एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (६/१/६७)
एङन्तात् ह्रस्वान्ताच्चाङ्गात् हल् लुप्यते, सम्बुद्धेश्चेत्। हे राम, हे रामौ, हे रामाः।
एङिति - एङन्त और ह्रस्वान्त अंग से परे हल् का लोप हो, सम्बुद्धि की अवस्था में।

हे राम सु। व्यपदेशिवद् भाव से राम शब्द की अङ्ग संज्ञा हो गई। राम ह्रस्वान्त है। इससे परे स् (हल्) है। जो सम्बुद्धि का है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा सकार का लोप होकर हे राम रूप सिद्ध हुआ। द्विवचन तथा बहुवचन में क्रमशः हे रामौ तथा हे रामाः पूर्ववत् हो जायेंगे।

१३५. अमि पूर्वः (६/१/१०३) अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । रामम् । रामौ।

अमीति-अक् से अम् (द्वितीया विभक्ति के एकवचन) का अच् परे रहते पूर्वरूप एकादेश हो।

राम अम् - द्वितीया विभक्ति का एकवचन का अम् प्रत्यय है। अकः सवर्णे दीर्घः से प्राप्त दीर्घ को बाधकर अतो गुणे से पररूप की प्राप्ति हुई। प्रथमयोः पूर्व० के द्वारा पूर्व सवर्ण दीर्घ की प्राप्ति हुई। अब प्रकृत सूत्र के द्वारा पूर्वसवर्ण दीर्घ का बाध हो गया तथा पूर्वरूप एकादेश हो गया। रामम् । द्वितीया विभक्ति द्विवचन में राम औट् ऐसी स्थिति हुई। अब प्रथमा विभक्ति द्विवचन में सिद्ध रामौ रूप की तरह समग्र प्रक्रिया होकर रामौ बन गया।

१३३. यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १ (१/४/१३) यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते, तदादि शब्दस्वरूपं तस्मिन्नङ्गं स्यात् ।

यस्मादिति जो प्रत्यय जिस (शब्द) से किया जाता है, वह है आदि में जिस समुदाय के, वह शब्द उस प्रत्यय के परे रहते अङ्ग संज्ञक हो।

जैसे- भू अ मि में भू धातु से मि किया गया है। वह भू अ इस समुदाय के आदि में है। भू अ की मि प्रत्यय परे रहते अङ्ग संज्ञा हुई।

१३४. एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (६/१/६७)
एङन्तात् ह्रस्वान्ताच्चाङ्गात् हल् लुप्यते, सम्बुद्धेश्चेत् । हे राम, हे रामौ, हे रामाः। एङिति - एङन्त और ह्रस्वान्त अंग से परे हल् का लोप हो, सम्बुद्धि की अवस्था में।

हे राम सु। व्यपदेशिवद् भाव से राम शब्द की अङ्ग संज्ञा हो गई। राम ह्रस्वान्त है। इससे परे स् (हल्) है। जो सम्बुद्धि का है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा सकार का लोप होकर हे राम रूप सिद्ध हुआ। द्विवचन तथा बहुवचन में क्रमशः हे रामौ तथा हे रामाः पूर्ववत् हो जायेंगे।

१३५. अमि पूर्वः (६/१/१०३) अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । रामम् । रामौ। अमीति-अक् से अम् (द्वितीया विभक्ति के एकवचन) का अच् परे रहते पूर्वरूप एकादेश हो।

राम अम् - द्वितीया विभक्ति का एकवचन का अम् प्रत्यय है। अकः सवर्णे दीर्घः से प्राप्त दीर्घ को बाधकर अतो गुणे से पररूप की प्राप्ति हुई। प्रथमयोः पूर्व० के द्वारा पूर्व सवर्ण दीर्घ की प्राप्ति हुई। अब प्रकृत सूत्र के द्वारा पूर्वसवर्ण दीर्घ का बाध हो गया तथा पूर्वरूप एकादेश हो गया। रामम। द्वितीया विभक्ति द्विवचन में राम औट् ऐसी स्थिति हुई। अब प्रथमा विभक्ति द्विवचन में सिद्ध रामौ रूप की तरह समग्र प्रक्रिया होकर रामौ बन गया।

१३६. लशक्वतद्धिते (१/३/८) तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या लशकवर्गा इतः स्युः।

लशक्विति-तद्धितभिन्न प्रत्यय के आदि स्वरूप ल्, श्, कवर्ग की इत् संज्ञा हो।

१३७. तस्माच्छसो नः पुंसि (६/१/९९) पूर्वसवर्णदीर्घात्परो यः शसः सस्तस्य नः स्यात् पुंसि।

तस्मादिति-पूर्वसवर्ण दीर्घ से परे स्थित शस् के सकार के स्थान में नकार होता है, पुँल्लिङ्ग के विषय में। राम शस् (द्वितीया बहुवचन) यहाँ शस् का शकार प्रत्यय के आदि में विद्यमान है तथा तद्धित का विषय भी नहीं है, अतः शकार की लशक्वतद्धिते के द्वारा इत्संज्ञा होकर तस्य लोपः के द्वारा लोप हो गया। राम अस् । अब रामाः की प्रक्रिया की तरह पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर रामास् रूप बन गया। प्रकृत सूत्र के द्वारा सकार को नकार होकर रामान् रूप सिद्ध हो गया।

१३८. अट्**कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८/४/२)** अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् एतैर्व्यस्तैः समस्तैर्यथासंभवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः समानपदे। इति प्राप्ते। अटिति- अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ् तथा नुम् इनका पृथक् पृथक्, सबका एक साथ या यथा सम्भव मिलकर (दो या तीन या चार) व्यवधान होने पर भी रेफ तथा षकार से परवर्ती नकार को णकार हो समान पद के विषय में। समानपद से अभिप्राय अखण्ड पद से है अर्थात् जिसके अन्य खण्ड न हों। रामान् यह अखण्ड पद भी है तथा रेफ से परवर्ती नकार के मध्य में अट् (आकार), पवर्ग (मकार) का व्यवधान भी है, अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा नकार को णकार होना चाहिए।

१३९. पदान्तस्य (८/४/३६) नस्य णो न । रामान् ।

पदान्तस्येति- पदान्त में स्थित नकार को णकार न हो। रामान् एक पद है क्योंकि इसके अन्त में सुप् विभक्ति है। सुप्तिङन्तं पदम् के अनुसार इसकी पद संज्ञा हो गई। यहाँ नकार को जो णत्व प्राप्त था, उसका पदान्तस्य सूत्र के द्वारा निषेध हो गया। अब रामान् रूप सिद्ध हो गया।

१४०. टाङसिङसामिनात्स्याः (७/१/१२)

अदन्तात् टादीनामिनादयः स्युः। णत्वम् । रामेण । अदन्त अङ्ग से परवर्ती टा,ङसि तथा ङस् के स्थान पर इन, आत् तथा स्य आदेश हों। स्थानी तीन हैं तथा आदेश भी तीन हैं, अतः यथासंख्य आदेश होंगे। यथा टा इन; ङसि आत्; डस् स्य। अब तृतीया विभक्ति एकवचन टा प्रत्यय की उत्पत्ति होकर राम टा ऐसी स्थिति हो गई। प्रकृत सूत्र से तथा अनेकाल् शित् सर्वस्य से सम्पूर्ण स्थानी (टा) को इन आदेश हुआ। 'आद्गुणः' के द्वारा गुण एकादेश होकर राम इन- रामेन रूप बना। अट्कुप्वाङ्0 के द्वारा रेफ से परवर्ती व्यवहित नकार को णत्व होकर रामेण रूप सिद्ध हुआ।

१४१. सुपि च (७/३/१०२) यञादौ सुपि अतोऽङ्गस्य दीर्घः। रामाभ्याम् ।

सुपीति- यञ् है आदि में जिसके, ऐसे सुप् प्रत्यय के परे रहते अदन्त अङ्ग को दीर्घ आदेश हो।

राम भ्याम् ऐसा होने पर। भ्याम् प्रत्यय यञ् (भकार) से प्रारम्भ होता है तथा राम अदन्त अङ्ग है। अतः राम अङ्क को दीर्घ होकर रामाभ्याम् बन गया।

१४२. अतो भिस ऐस् (६/१/९)

अदन्तात् अङ्गात् परस्य भिस ऐस् स्यात् । अनेकाल् शित् सर्वस्य। रामैः।

अत इति-अदन्त अङ्ग से परवर्ती भिस् को ऐस् आदेश हो।

क्योंकि ऐस् आदेश में अनेक अल् है, अतः अनेकाल्शित् सर्वस्य के द्वारा यह आदेश भिस् इस समग्र शब्द के स्थान पर होगा। राम भिस् ऐसा होने पर प्रकृत सूत्र के द्वारा भिस् के स्थान पर ऐस् आदेश हो गया। राम ऐस् । अब वृद्धिरेचि के द्वारा वृद्धि आदेश होकर रामैस् तथा सकार को रुत्व व विसर्ग आदेश होकर रामैः बन गया।

१४३. ङेर्यः (७/१/१३)। अतोऽङ्गात् परस्य ङेर्यादेशः।

ङेरिति-अदन्त अङ्ग से परवर्ती ङे (चतुर्थी एकवचन) के स्थान पर य आदेश हो। राम ङे ऐसा होने पर प्रकृत सूत्र के द्वारा ङे के स्थान पर य आदेश हो गया।

१४५. बहुवचने झल्येत् (७/३/१०३)

झलादौ बहुवचने सुपि अतोऽङ्गस्यैकारः। रामेभ्यः। सुपि किम् - पचध्वम् ।

बहुवचन इति- झलादि बहुवचन सुप् परे रहते अदन्त अङ्ग के स्थान पर एकार आदेश हो। अलोऽन्त्यस्य परिभाषा के द्वारा अन्त्य अल् के स्थान पर आदेश हो गया।

राम भ्यस् यहाँ राम की अङ्ग संज्ञा हो गई। राम से परे भ्यस् है जो झलादि और सुप् भी है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा राम के मकारोत्तरवर्ती अकार को एकार आदेश तथा सकार को रुत्व व विसर्ग होकर रामेभ्यः बन गया।

प्रकृत सूत्र का कार्य झलादि सुप् के परे रहते होगा, अन्य प्रकार के झलादि प्रत्यय के परे रहते नहीं होगा। यदि सुपि ऐसा न कहा जाता तो पचध्वम् यहाँ पचेध्वम् रूप बन जाता। क्योंकि ध्वम् प्रत्यय झलादि तो है परन्तु सुप् नहीं है। अतः यहाँ एकारादेश नहीं होगा। राम ङसि (पञ्चमी एकवचन) यहाँ टाङसिङसाम्० सूत्र के द्वारा ङसि के स्थान पर आत् आदेश हो

गया। तब अकः सवर्णे दीर्घः के द्वारा सवर्ण दीर्घ होकर राम ङसि (आत्) - रामात् बन गया। अब **झलां जशोऽन्ते** के द्वारा तकार के स्थान पर दकार हुआ। रामाद्।

१४६. वाऽवसाने (८/४/५५)

अवसाने झलां चरो वा स्युः। रामात् रामाद्, रामाभ्याम्, रामेभ्यः। रामस्य ।

वेति- अवसान में झर् के स्थान पर विकल्प से चर् हो।

रामाद् के दकार को विकल्प से चर् हुआ। रामात् । पक्ष में रामाद्। पञ्चमी के द्विवचन तथा बहुवचन में चतुर्थी विभक्ति के रामाभ्याम् तथा रामेभ्यः की तरह प्रक्रिया होगी। राम ङस् - यहाँ टाङसिङसाम्० सूत्र के द्वारा ङस् के स्थान पर स्य आदेश हो गया। स्य की विभक्ति सञ्ज्ञा है। यह झलादि भी है परन्तु बहुवचन का नहीं है। अतः बहुवचने झल्येत् प्रवृत्त न हुआ। रामस्य ।

१४७. ओसि च (७/३/१०४) अतोऽङ्गस्यैकारः। रामयोः ।

ओसीति- अदन्त अङ्ग के स्थान में एकार आदेश हो ओस् परे रहते।

राम ओस् (षष्ठी द्विवचन) में ओस् परे रहते राम की अङ्ग सञ्ज्ञा। प्रकृत सूत्र तथा अलोऽन्त्यस्य के द्वारा राम शब्द के अकार को एकार आदेश होकर रामे ओस् बन गया। एचोऽयवायावः के द्वारा अयादेश होकर रामयोः रूप सिद्ध हुआ। १४८. ह्रस्वनद्यापो नुट् (७/१/५४) ह्रस्वान्तान् नद्यन्ताद् आबन्ताच्चाङ्गात् परस्यामो नुडागमः।

ह्रस्वेति- ह्रस्वान्त, नद्यन्त तथा आबन्त अङ्ग से परवर्ती आम् प्रत्यय को नुट् आगम हो।

नुट् का टकार व उकार इत्संज्ञक है। टित् होने से आद्यन्तौ० सूत्र के द्वारा आदि अवयव होगा। राम आम् (षष्ठी बहुवचन) । प्रकृत सूत्र के द्वारा नुट् आगम होकर राम न् आम् हुआ।

१४९. नामि (६/४/३) अजन्ताङ्गस्य दीर्घः (नामि)। रामाणाम् । रामे। रामयोः।

एत्वे कृते- नामीति- नाम् परे रहते अजन्त अङ्ग को दीर्घ हो। अलोऽन्त्यस्य के बल पर राम शब्द के अन्त्य वर्ण को ही होगा। राम नाम् यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा दीर्घ होकर तथा अट्कुप्वाङ्नुम् ० के द्वारा नकार को णकार होकर रामाणाम् हो गया। राम ङि सप्तमी एक वचन में ङि के ङकार का लशक्वतद्धिते के द्वारा इत् सञ्ज्ञा होकर राम इ हो गया। आद्गुणः से गुण होकर रामे रूप सिद्ध हुआ। रामयोः की रूप सिद्धि षष्ठी विभक्ति के द्विवचन की भाँति होगी। राम सुप् सप्तमी बहुव० में हलन्त्यम् के द्वारा पकार की इत्संज्ञा तथा बहुवचने झल्येत् के द्वारा राम के अन्त्य अकार को एकारादेश होकर रामे सु हो गया।

१५०. आदेशप्रत्यययोः (८/३/५९)

इण्कुभ्यां परस्यापदान्तस्य आदेशः प्रत्ययावयवश्च यः सकारस्तस्य मूर्धन्यादेशः स्यात् । ईषद्विवृतस्य सस्य तादृश एव ष। रामेषु। एवं कृष्णादयोऽप्यदन्ताः।

आदेशेति- इण् और कवर्ग से परवर्ती सकार को मूर्धन्य आदेश हो यदि सकार अपदान्त, आदेश स्वरूप या प्रत्यय का अवयव हो। रामे सु यहाँ सकार इण् से परे है, अपदान्त भी है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा उसे मूर्धन्य आदेश होगा। सकार ईषद्विवृत है, अतः इसके स्थान पर ईषद् विवृत षकार ही होगा। रामेषु।

राम शब्द के आठों विभक्तियों के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	रामः	रामौ	रामाः
द्वि०	रामम्	रामौ	रामान्
तृ०	रामेण	रामाभ्याम्	रामैः
च०	रामाय	रामाभ्याम्	रामेभ्यः
पं०	रामात्-द्	रामाभ्याम्	रामेभ्यः
ष०	रामस्य	रामयोः	रामाणाम्
स०	रामे	रामयोः	रामेषु
सं०	हे राम	हे रामौ	हे रामाः

ह्रस्व अकारान्त शब्द - सर्व

१५१. सर्वादीनि सर्वनामानि (१/१/२६)

सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसञ्ज्ञानि स्युः। सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर, डतम, अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम,

सम, सिम।

(ग. सू) पूर्वपराऽवरदक्षिणोत्तराऽपराधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम् ।

(ग.सू) स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्।

(ग.सू) अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः।

त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम्।

सर्वादीनीति- सर्व आदि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा होती है। सर्वादि एक गण है। ये शब्द जब सभी के अर्थ में प्रयुक्त हों तभी इनकी सर्वनाम संज्ञा होती है, अन्यत्र नहीं। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति का नाम सर्व है तो उस व्यक्ति के बोधक सर्व शब्द की सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी। कहा गया है- **संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः** अर्थात् संज्ञा या गौण होने की अवस्था में सर्वादिशब्दों की उक्त संज्ञा न हो। यह अन्वर्थक अर्थात् अर्थानुसार संज्ञा है। इसीलिए आचार्य ने सर्वनाम ऐसी बड़ी संज्ञा कहीं है, अन्यथा टि , घु की तरह इसे भी छोटा नाम दे देते।

अब सर्व शब्द के रूप सिद्ध किए जाते हैं। प्रथमा के एकवचन तथा द्विवचन में राम शब्द की तरह सर्वः , सर्वौ होंगे।

१५२. जसः शी (७/१/१७)

अदन्तात् सर्वनाम्नो जसः शी स्यात् । अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः। सर्वे।

जश इति- अदन्त सर्वनाम से परवर्ती जस् के स्थान पर शी आदेश हो। अदन्त के द्वारा सर्व आदि अदन्त शब्दों का ग्रहण होता है तथा उन सर्वनाम शब्दों का भी ग्रहण होता जो प्रकिया दशा में अदन्त बन जाते हैं। यथा- इदम् शब्द मकारान्त है, परन्तु बाद में **त्यदादी०** सूत्र के द्वारा अकारान्त हो जाता है। अतः यहाँ इस का भी ग्रहण किया जाए। सर्व जस् यहाँ शी के अनेकाल् होने से **अनेकाल्शित्सर्वस्य** के बल पर शी आदेश समग्र जस् के स्थान पर होगा। सर्व शी। स्थानिवद् आदेशो० के द्वारा शी आदेश में जस् का प्रत्ययत्व धर्म (सुप्त्व इत्यादि) प्राप्त हो गए। अब लशक्वतद्धिते के द्वारा शी के शकार की इत्संज्ञा हो गई। तस्य लोपः के द्वारा इत्सञ्ज्ञंक श् का लोप हो गया। सर्व ई। आद्गुणः के द्वारा गुण होकर। सर्वे।

आगे के रूप राम शब्द की तरह सर्वम्, सर्वान्, सर्वेण, सर्वाभ्याम्, सर्वैः ।

१५३. सर्वनाम्नः स्मै (७/१/१४) अतः सर्वनाम्नो ङेः स्मै। सर्वस्मै।

सर्वनाम्न इति- अदन्त सर्वनाम से परवर्ती ङे के स्थान पर स्मै हो।

सर्व ङे - यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा ङे के स्थान में स्मै होकर सर्वस्मै रूप बना। यह सूत्र ङेर्यः का अपवाद है।

१५४. ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (७/१/१५) अतः सर्वनाम्न एतयोरेतौ स्तः। सर्वस्मात् ।

ङसीति- अदन्त सर्वनाम से परवर्ती ङसि और ङि के स्थान पर क्रमशः स्मात् तथा स्मिन् आदेश हों। स्मात् के त् की तथा स्मिन् के न् की हलन्त्यम् से इत्सञ्जा प्राप्त है। न विभक्तौ तुस्माः से निषेध हो गया। दो स्थानी (ङसि, ङि) हैं तथा दो ही आदेश (स्मात्, स्मिन्) हैं। यथा संख्यमनुदेशः समानाम् से ङसि के स्थान पर स्मात् और ङि के स्थान पर स्मिन् होता है। सर्वाभ्याम् । सर्वेभ्यः। सर्व ङसि यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा स्मात् आदेश होकर सर्वस्मात् रूप सिद्ध हुआ। आगे सर्वाभ्याम्, सर्वेभ्यः, सर्वस्य, सर्वयोः रूप राम की तरह होते हैं।

१५५. आमि सर्वनाम्नः सुट् (७/१/५२)

अवर्णान्तात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्याऽऽमः सुडागमः स्यात् । एत्वषत्वे-सर्वेषाम्। सर्वस्मिन् । शेषं रामवत् । एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः। उभशब्दो (नित्यं) द्विवचनान्तः। उभौ, उभाभ्याम्, उभयोः तस्येह पाठोऽकजर्थः। उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्ति। डतरडतमौ प्रत्ययौ। प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् इति तदन्ता ग्राह्याः। नेम इत्यर्धे । समः सर्वपर्यायः, तुल्यपर्यायस्तु न, यथासंख्यमनुदेशः समानाम् इति निर्देशात् ।

आमीति - अवर्णान्त से पर और सर्वनाम से विहित आम् । को सुट् आगम हो।

सुट् का टकार इत्संज्ञक है तथा उकार उच्चारणार्थ है। यह टित् होने से आदि अवयव बनेगा। सर्व आम् । प्रकृत सूत्र के द्वारा सुट् आगम होकर सर्व स् आम् । यह साम् सुप् माना जायेगा। कहा है **यदागमास्तदुणीभूतास्तग्रहणेन** गृह्यन्ते अर्थात् आगम स्थानी का अवयव बन जाता है और स्थानी के ग्रहण से उसका भी ग्रहण हो जाता है। अब साम् के सुप् होने से बहुवचने झल्येत् के द्वारा वकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर एकार हो जायेगा **सर्वेसाम्** । आदेशप्रत्यययोः के द्वारा एकार से परवर्ती सकार को षकार (मूर्धन्य आदेश) होकर सर्वेषाम् रूप सिद्ध हुआ। सर्व ङि यहाँ ङसिङ्यो० के द्वारा ङि के स्थान पर स्मिन् आदेश होकर सर्वस्मिन् रूप सिद्ध हुआ। शेष रूप राम की तरह होंगे। इसी प्रकार विश्व आदि अकारान्त सर्वनाम शब्दों के भी रूप होंगे। ह्रस्व इकारान्त शब्द -हरि (विष्णु) प्रथमा के एकवचन में हरि स् इस दशा में सकार को रु और रेफ को विसर्ग होकर हरिः रूप बना। द्विवचन में हरि औ इस स्थिति में इको यणचि से यण् प्राप्त हुआ। यण् को बाधकर

प्रथमयोः० सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होकर हरी रूप सिद्ध हुआ।

१६८. जसि च (७/३/१०९) ह्रस्वान्तस्याऽङ्गस्य गुणः। हरयः।

जसीति- ह्रस्वन्त अङ्ग को गुण हो जस् परे रहते।

गुणविधान अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य वर्ण को होता है। बहुवचन में हरि अस् यहाँ ह्रस्वान्त अंग हरि है उससे परे जस् भी है। अतः उसके अन्त्य इकार के स्थान में एकार गुण हो गया। हरे अस् यहाँ एचोऽयवायावः के द्वारा अयादेश होकर हरयस् तथा ससजुषो रुः के द्वारा रु आदेश तथा **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** के द्वारा विसर्ग होकर हरयः रूप सिद्ध हुआ।

१६९. ह्रस्वस्य गुणः (७/३/१०८) सम्बुद्धौ। हे हरे। हरिम्, हरी, हरीन्। ह्रस्वस्येति- ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण हो सम्बुद्धि परे रहते। सम्बोधन के एकवचन को सम्बुद्धि कहते हैं।

सम्बोधन के एकवचन में हे हरि स् इस दशा में हरि के अन्त्य इकार को सम्बुद्धि परे होने से गुण एकार हुआ। तब अंग के हल् सकार का एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः से लोप होकर हे हरे रूप सिद्ध हुआ। सम्बोधन के द्विव० और बहुव० में प्रथमा के समान हे हरी, हे हरयः रूप बनते हैं। द्वितीया के एकवचन में हरि अम् इस दशा में अमि पूर्वः से पूर्व रूप आदेश होकर रूप सिद्ध होता है। हरिम् । प्रथमा के द्विवचन के समान सिद्ध होता है। हरी। द्वितीया बहुवचन में हरि अस् इस दशा में प्रथमयोः० सूत्र से पूर्व इकार का सवर्ण दीर्घ (अर्थात् ईकार) एकादेश होकर हरी स् बन गया। अब तस्माच्छसो न पुंसि के द्वारा सकार को नकार होकर हरीन् सिद्ध हुआ।

१७०. शेषो घ्यसखि (१/४/७)

अनदीसंज्ञौ ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्तं सखिवर्ज घिसंज्ञम्।

शेष इति नदी संज्ञक को छोड़कर ह्रस्व इकारान्त और उकारान्त शब्द की घि संज्ञा हो, सखि शब्द की न हो। नदी संज्ञा दो अवस्थाओं में नहीं होती है:

१. पुल्लिङ्ग में ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्द नदीसंज्ञक नहीं होते हैं। यथा- कवि, साधु आदि।

२. स्त्रीलिङ्ग में ङित् विभक्तियों के परे होने पर ङिति ह्रस्वश्च के द्वारा जिस पक्ष में नदी संज्ञा नहीं होती है। क्योंकि घि संज्ञा उन्हीं शब्दों की होगी, जिनकी नदी संज्ञा नहीं है। अतः शेषः शब्द का पाठ व्यर्थ है। वस्तुतः शेषः शब्द का पाठ स्पष्टार्थ के लिए हैं। हरि शब्द की घि संज्ञा होने पर-

१७१. आङो नास्त्रियाम्० (७/३/११९)

घेः परस्याङो ना स्यादस्त्रियाम्। आङ् इति टा संज्ञा (प्राचाम्)। हरिणा, हरिभ्याम्, हरिभिः।

न हो। आङ इति- घि संज्ञक शब्द से परवर्ती आङ् को ना आदेश हो स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर।

प्राचीन आचार्यों की परम्परा के अनुसार आङ् टा की संज्ञा है। अतः उसी परम्परा के अनुसार आचार्य ने टा ऐसा न कहकर आङ् ऐसा कहा है। हरि टा इस दशा में शेषो घ्यसखि के द्वारा घिसंज्ञक होने के कारण हरि शब्द से पर टा के स्थान में ना आदेश हुआ। तब हरिना इस स्थिति में अट्कुप्वाङ् सूत्र से नकार को णकार आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ। हरिणा। द्विवचन में हरिभ्याम् , बहुवचन में- हरिभिः रूप सिद्ध होते हैं। घेरिति- घिसंज्ञक अङ्ग को ङित् (ङे, ङसि, ङस् और ङि) सुप् प्रत्यय परे रहते गुण हो।

१७२. घेर्ङिति (७/३/१११) घिसंज्ञस्य ङिति सुपि गुणः। हरये।

चतुर्थी के एकवचन में हरि ए इस दशा में घिसंज्ञक अङ्ग के अन्त्य वर्ण को ङित् । सुप् परे होने से घेर्ङिति से गुण (एकार) आदेश हुआ। तब हरे ए इस स्थिति में एकार को एचोऽयवा० से अय् आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ। हरये। द्वि वचन में हरिभ्याम्, और बहुवचन में हरिभ्यः रूप बनते हैं ।

१७३. ङसिङसोश्च (६/१/१०६)

एङो ङसिङसोरति पूर्वरूपमेकादेशः। हरेः। हर्योः। हरीणाम्। ङसीति-एङ् से ङसि और ङस् का अकार परे रहते पूर्वरूप एकादेश हो। ए तथा ओ को एङ् कहते हैं। पञ्चमी के एकवचन में हरि अस् इस दशा में पहले **घेर्ङिति** सूत्र से इकार को गुण हुआ। तब हरे अस् ऐसी स्थिति होने पर ङसि० के द्वारा ङसि के अकार के परे होने से पूर्वरूप एकादेश हुआ। एकार दोनों के स्थान में हुआ। सकार को रुत्व विसर्ग करने पर हरेः रूप सिद्ध हुआ। द्विवचन में- हरिभ्याम् , बहुवचन में हरिभ्यः चतुर्थी के समान। षष्ठी के एकवचन में हरेः पञ्चमी के समान ही रूप बनता है। षष्ठी के द्विवचन में हरि ओस् इस स्थिति में इकार के स्थान में **इको यणचि** सूत्र से यण और सकार को रुत्व तथा विसर्ग हुए। हर्योः। षष्ठी बहुवचन में हरि आम् इस अवस्था में ह्रस्वान्त अङ्ग होने से आम् को ह्रस्वनद्यापो नुट् आगम और नामि से दीर्घ हुआ। अट्कुप्वा0 सूत्र से न को ण हो गया। हरीणाम् ।

१७४. अच्च घेः (७/३/११८)

इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत् , घेरत् । हरौ, हर्योः, हरिषु। एवं कव्यादयः।

अच्चेति- ह्रस्व इकार और उकार से पर ङि को औत् और घिसंज्ञक अङ्ग को अकार आदेश हो। यह अकार आदेश अलोऽन्त्य० परिभाषा से अङ्ग के अन्त्य वर्ण को होगा।

हरि ङि हरि की घिसंज्ञा हो गई। घेर्ङिति के द्वारा हरि को गुण प्राप्त हुआ। उसे प्रकृत सूत्र ने बाध दिया। ङि को औत् तथा हरि को अकार अन्तादेश हो गया। अब **वृद्धिरेचि** के द्वारा वृद्धि एकादेश हो गया। हरि ङि-हर औ हरौ। हर्योः - सप्तमी विभक्ति के द्विवचन का रूप है। षष्ठी विभक्ति द्विवचन के समान प्रक्रिया है। हरि सुप् (सु) - **आदेशप्रत्यययोः** के द्वारा मूर्द्धन्य आदेश होकर हरिषु बन गया।

इसी प्रकार कवि (पुँल्लिङ्ग इकारान्त) आदि शब्दों के रूप होगे।

ह्रस्व इकारान्त शब्द - सखि

१७५. अनङ् **सौ (७/१/९३)** सख्युरङ्गस्यानङ् आदेशोऽसम्बुद्धौ सौ ।

अनङिति-सम्बुद्धि भिन्न सु के परे रहते सखि अङ्ग को अनङ् आदेश हो।

अनङ् के ङकार तथा अकार की क्रमशः हलन्त्यम् तथा उपदेशेऽजनु० के द्वारा इत्संज्ञा होती है। यह ङित् है। अतः ङिच्च सूत्र के द्वारा अन्त्य अल् को होगा।

सखि सु - प्रकृत सूत्र के द्वारा सखि अङ्ग को अनङ् (अन्) आदेश हुआ। सख् अन् स् ।

१७६. अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा (१/१/६४) अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधासंज्ञः।

अल इति-अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण की उपधा संज्ञा हो। सखन् स् यहाँ अन्त्य अल् नकार है, उस से पूर्व वर्ण अकार है, उसकी उपधा संज्ञा हुई।

१७७. सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ (६/४/८) नान्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने ।

सर्वनामस्थाने इति-सम्बुद्धि भिन्न सर्वनाम स्थान परे होने पर नकारान्त अङ्ग की उपधा के स्थान पर दीर्घादेश हो। नकारान्त अङ्ग है सखन् । सर्वनामस्थान पर है स् । वह सम्बुद्धिभिन्न भी है। अतः उपधा अकार को दीर्घ हुआ। तब सखान् स् यह स्थिति बनी। सखान् स् यहाँ स् यह प्रत्यय है और एक अल् रूप है, अतः इसकी अपृक्त संज्ञा हुई।

१७८. अपृक्त एकाल् प्रत्ययः (१/२/४१) एकाल् प्रत्ययो यः, सोऽपृक्तसंज्ञः स्यात् । अपृक्त इति-एक अल् रूप जो प्रत्यय, उसकी अपृक्त संज्ञा हो।

१७९. हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् (६/१/६८)

हलन्तात् परम्, दीर्घौ यौ ङ्यौ तदन्ताच्च परम्, सु ति सि इत्येतद् अपृक्तं हल् लुप्यते। हलिति- हल्, दीर्घ (ङी, आप्) से परवर्ती सु, ति, सि के अपृक्त हल् का लोप हो।

तात्पर्य है कि हलन्त से तथा ङी और आप् तदन्त से पर सु, ति तथा सि के अपृक्त हल् का लोप होता है। सु सुप् है, प्रथमा विभक्ति का एकवचन है। ति और सि तिङ् हैं। क्रम से प्रथम और मध्यम पुरुष के एकवचन हैं। सु के उकार की उपदेशेऽजनु० के द्वारा इत्संज्ञा होती है। ति और सि के इकार की इतश्च के द्वारा इत्संज्ञा होती है। ङी से ङीप् ङीष् और ङीन् का ग्रहण होता है। आप् से टाप्, डाप् तथा चाप् का ग्रहण होता है। सखान् स् यहाँ अपृक्त एकाल्० से स् की अपृक्तसंज्ञा होकर प्रकृत सूत्र के द्वारा स् का लोप हो गया। 1

१८०. नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८/२/७) प्रातिपदिकसंज्ञकं यत्पदं तदन्तस्य नस्य लोपः। सखा।

तात्पर्य यह है कि नकार प्रातिपादिक का अवयव हो और साथ ही पद के अन्त में भी हो।

नलोप इति- प्रातिपदिक सञ्ज्ञक जो पद, उस के अन्त्य नकार का लोप हो।

सखान् यहाँ सुबन्त होने से यह पद है, उसके अन्त में नकार है और वह प्रातिपदिक का अवयव भी है। लोप होकर सखा रूप सिद्ध हुआ।

१८१. सख्युरसम्बुद्धौ (७/१/९२)

सख्युरङ्गात्परं सम्बुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं णिद्वत् स्यात्।

सख्युरिति - सखि रूप अङ्ग से पर सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान प्रत्यय णिद्वत् (णित् के समान) हो अर्थात् णित् परे रहते जो कार्य होते हैं, उसके परे रहते भी वे कार्य हों।

सखि औ यहाँ अङ्ग से परे सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान औ है। यह णिद्वत् हुआ।

१८२. अचो ञ्णिति (७/२/११५)

अजन्ताङ्गस्य वृद्धिः ञिति णिति च परे। सखायौ, सखायः। हे सखे। सखायम्, सखायौ, सखीन्। सख्या। सख्ये।

अच इति-अजन्त अङ्ग को वृद्धि हो, ञित् तथा णित् प्रत्यय परे रहते।

सखि औ इस दशा में पूर्व सूत्र से औ णिद्वत् हुआ। अतः अजन्त अङ्ग सखि के अन्त्य अच् इकार को प्रकृत सूत्र से वृद्धि आदेश हुआ। तब सखै औ इस स्थिति में एचोऽयवायावः सूत्र से ऐकार को आय् आदेश होकर सखायौ रूप बनता है।

सखि जस् (अस्) - यहाँ सख्युरसः के द्वारा णित्वत् होकर अचो ञ्णिति के द्वारा वृद्धि एचोऽयवायावः के द्वारा आय् आदेश होकर सखायः सिद्ध हो गया।

सखि सु (सम्बोधन) - यहाँ पर ह्रस्वस्य गुणः से गुण होकर एङ् ह्रस्वात्० के द्वारा सकार का लोप होकर। सखि स्-सखे स् ।। सखे। हे सखायौ तथा हे सखायः प्रथमा के समान होंगे। सखि अम् यहाँ सभी कार्य सखायौ की तरह होकर सखायम् बनेगा। सखि शस्(अस्) - यहाँ पूर्वसवर्ण दीर्घ करके तस्माच्छसो नः० के द्वारा सकार के स्थान पर नकार हो गया। सखि अस् । सखी स् । सखीन्। सखि टा (आ) इको यणचि के द्वारा यणादेश होकर सख्या बन गया। सखि भ्याम् - सखिभ्याम् तथा सखि भिस् में रुत्व इत्यादि होकर सखिभिः बन गया।

सखि ङे (ए) यहाँ इको यणचि के द्वारा यण् होकर सख्ये बन गया। चतुर्थी द्विवचन में तृतीया की तरह रूपसिद्धि होती है। बहुव० में सखि भ्यस् रुत्व तथा विसर्ग होकर सखिभ्यः रूप सिद्ध हुआ।

१८३. ख्यत्यात् परस्य (६/१/१०८)

खि ति शब्दाभ्यां खी ती शब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसिङसोरत उः। सख्युः। खीति- जिन्हें यणादेश किया गया है, उन ह्रस्वान्त खि तथा ति शब्द तथा दीर्घान्त खी व ती शब्द से परवर्ती ङसि और ङस् के अकार को उकार आदेश हो।

पञ्चमी के एकवचन में सखि अस् इस स्थिति में इकार को यण् आदेश होकर सख्य् अस् ऐसी अवस्था में प्रकृत सूत्र से ख्य् रूप खि शब्द से पर ङसि के अकार को उकार आदेश हो गया। तब सकार को रुत्व तथा विसर्ग होकर रूप बना। सख्युः ।

द्विवचन में-सखिभ्याम्, बहुवचन में सखिभ्यः, चतुर्थी के समान। षष्ठी में सख्युः पञ्चमी के समान। सख्योः में यण् आदेश, सखीनाम् में नुट् और दीर्घ होते हैं। ह्रस्वनद्यापो नुट् । नामि।

१८४. औत् (७/३/११८)

इदुतोः परस्य ङेरौत् । सख्यौ। शेषं हरिवत् ।

औदिति- ह्रस्व इकार और उकार से पर ङि को औत् आदेश हो। अनेकान् होने से यह सम्पूर्ण ङि के स्थान में होता है। औत् का तकार इत्संज्ञक है।

सख्यौ-सप्तमी के एकवचन में सखि ङि इस दशा में ङि को औकार आदेश होने पर यण् आदेश हुआ। द्विवचन- सख्योः, इकोयणचि। बहुवचन- सखिषु। शेषं इति- सखि शब्द के शेष रूप हरि शब्द के समान बनेंगे।

ओकारान्त गो (बैल) शब्द

२१३. गोतो णित् (७/१/९०)

ओकाराद् विहितं सर्वनामस्थानं णिद्वत्। गौः, गावौ, गावः।

गो इति- ओकारान्त शब्द से विहित सर्वनामस्थान प्रत्यय णिद्वत् हो।

गो शब्द के प्रथमा के एकवचन में गो स् इस दशा में प्रकृत सूत्र से सर्वनामस्थान प्रत्यय सु णिद्वत् हुआ, णिद्वत् होने पर अचो ञ्णिति सूत्र से अङ्ग गो के अन्त्य ओकार को वृद्धि (औकार) होने से गौः रूप बना।

गो औ में गोतो णित् के द्वारा औ प्रत्यय णिद्वत् हो गया। अब अचो ञ्णिति के द्वारा वृद्धि (औकार) होकर एचोऽयवायावः के द्वारा आव् आदेश हो गया।

गो औ - गौ औ - गावौ। गो जस् यहाँ पूर्ववत् प्रक्रिया होकर गावः रूप बन गया।

२१४. औतोऽम्शसोः (६/१/९०)

ओकारादम्शसोरचि आकार एकादेशः। गाम्, गावौ, गाः। गवा। गवे। गोः। इत्यादि।

औत इति ओकारान्त शब्द से अम् और शस् का अच् परे रहते आकार एकादेश हो।

गो अम् में गोतो णित् के द्वारा णिद्वद्भाव प्राप्त है। प्रकृत सूत्र के द्वारा अम् का अच् परे रहते आकार एकादेश हो गया। ग् आ म् गाम्। गो औट्- गावौ (पूर्ववत्) गोतो णित्। गो शस् झ प्रकृत सूत्र के द्वारा आकार एकादेश होकर गास् बन गया। तब विसर्ग आदि होकर गाः बन गया। **तस्माच्छसो नः पुंसि** सूत्र से सकार को नकार नहीं हुआ। क्योंकि यहाँ अकार

औतोऽम्शसोः सूत्र से हुआ है और तस्माच्छसो० सूत्र वहीं लगता है जहाँ पूर्वसवर्ण दीर्घ हुआ हो। गवा-तृतीया के एकवचन में गो आ यहाँ एचोऽयवायावः सूत्र से ओकार को अव् आदेश हुआ। गवे- चतुर्थी के एकवचन में गो ए यहाँ भी केवल अव् आदेश होकर रूप सिद्ध हो गया। गोः पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में गो अस् यहाँ पर ङसिङसोश्च सूत्र से अकार का पूर्वरूप होकर गोः रूप सिद्ध हुआ।

प्र०	गौः	गावौ	गावः
द्वि०	गाम्	गावौ,	गाः
तृ०	गवा,	गोभ्याम्	गोभिः
च०	गवे	गोभ्याम्	गोभ्यः
पं०	गोः	गोभ्याम्	गोभ्यः
ष०	गोः	गवोः	गवाम्
स०	गवि	गवोः	गोषु
सं०	हे गौः	हे गावौ	हे गावः।

स्मरणीय बिंदु-

1 अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् और कृत्तद्धितसमासाश्च सूत्रों द्वारा प्रातिपदिक संज्ञा की जाती है जिसके बाद सुँ औ जस् आदि 21 प्रत्यय जुड़ते हैं।

2 राम शब्द की सिद्धि में स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिसङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् सूत्र द्वारा प्रथमा विभक्ति में सु प्रत्यय आता है।

3 विरामोऽवसानम् सूत्र से वर्णों के अभाव की अवसान संज्ञा होती है और ससजुषो रुः तथा खरवसानयोर्विसर्जनीयः सूत्रों से अन्त में विसर्ग होता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1 प्रातिपदिक संज्ञा करने वाले पाणिनीय सूत्रों को उदाहरण सहित विस्तार से समझाइए?

प्रश्न 2 रामः पद की रूप सिद्धि करने वाले मुख्य सूत्रों का नामोल्लेख करते हुए इसकी पूरी प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए?

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 सुप् प्रत्यय कितने होते हैं और इनके द्वारा कौन सी विभक्तियाँ बनती हैं?

प्रश्न 2 अवसान संज्ञा किसे कहते हैं और इसका मुख्य सूत्र क्या है?

प्रश्न 3 राम शब्द के प्रथमा विभक्ति के तीनों वचनों (एकवचन, द्विवचन, बहुवचन) के रूप क्या बनते हैं?

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1 सुप् प्रत्ययों की कुल संख्या कितनी बताई गई है?

(क) 14 (ख) 18 (ग) 21 (घ) 24

प्रश्न 2 अर्थवदधातुरप्रत्ययः सूत्र द्वारा कौन सी संज्ञा की जाती है?

(क) पद संज्ञा (ख) प्रातिपदिक संज्ञा (ग) संयोग संज्ञा (घ) गुण संज्ञा

प्रश्न 3 वर्णों के अभाव की कौन सी संज्ञा होती है?

(क) अवसान संज्ञा (ख) संयोग संज्ञा (ग) गुरु संज्ञा (घ) पद संज्ञा

प्रश्न 4 राम शब्द के प्रथमा विभक्ति एकवचन में कौन सा प्रत्यय जुड़ता है?

(क) सुँ (ख) औ (ग) जस् (घ) अम्

प्रश्न 5 रामौ पद में प्रथमा विभक्ति का कौन सा वचन प्रयुक्त हुआ है?

(क) एकवचन (ख) द्विवचन (ग) बहुवचन (घ) बहुवचन और एकवचन दोनों

खण्ड-3 - अजन्तस्त्रीलिङ्गनपुसकलिङ्गप्रकरणं हलन्तपुल्लिङ्गप्रकरणञ्च

इकाई-3.1 अथ अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

उद्देश्य-

1 अजन्त स्त्रीलिंग शब्दों की रूप सिद्धि के नियमों और विशिष्ट पाणिनीय सूत्रों का बोध कराना।
2 स्त्रीलिंग प्रत्ययों (टाप्, ङीप् आदि) के जुड़ने की वैज्ञानिक प्रक्रिया को स्पष्ट करना।
3 रमा और मति जैसे मुख्य स्त्रीलिंग शब्दों के रूप बनाने की विधि सिखाना।

रमा- रमा शब्द टाप् प्रत्ययान्त है। अतः 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' सूत्र के द्वारा रमा शब्द से सु आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई।

'रमा सु स'-यहाँ 'हल्ङ्याब्भ्यो०' सूत्र के द्वारा सकार का लोप हो गया। तब 'रमा' रूप बना। यद्यपि विभक्ति का लोप हो गया है, तथापि 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' के बल पर 'रमा' शब्द की पद संज्ञा हो जाती है।

१. **औङ आपः (७/१/१८)**

आबन्तादङ्गात् परस्यौङः शी स्यात् ।। 'औङ्' इति औकारविभक्तेः संज्ञा। रमे, रमाः।

औङ इति-आबन्त अङ्ग से पर औङ् हुआ **'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः'** से प्राप्त पूर्व सवर्ण का दीर्घाञ्जसि च से निषेध। वृद्धिरेचि से प्राप्त वृद्धि एकादेश को बाधकर प्रकृत सूत्र के द्वारा प्रत्यय को 'शी' आदेश हुआ । औङ् यह औ और औट् की संज्ञा है। रमा शब्द से प्रथमा के द्विवचन में आबन्त अङ्ग रमा से पर औङ् को 'शी' आदेश हुआ। शकार की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से लोप हो गया। रमा शी- रमा ई। 'स्थानिवदादेशोऽनल्0' के अनुसार 'शी' में सुप्त्व धर्म उत्पन्न हुआ। अब 'आद् गुणः' के द्वारा गुण होकर 'रमे रूप' सिद्ध हुआ।

'रमा जस् अस्' यहाँ 'अकः सवर्णे दीर्घः' के द्वारा दीर्घ होकर 'रमाः' रूप बना। यहाँ 'प्रथमयोः पूर्वसवर्ण०' के द्वारा प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का 'दीर्घाञ्जसि च' के द्वारा निषेध हो गया। २. **सम्बुद्धौ च (७/३/१०६)**

आप एकारः स्यात् सम्बुद्धौ। एङ् ह्रस्वादिति सम्बुद्धिलोपः । हे रमे, हे रमे, हे रमाः। रमाम्, रमे, रमाः।

सम्बुद्धौ चेति- आबन्त अङ्ग को एकार आदेश हो सम्बुद्धि परे रहते। 'हे रमा स' इस दशा में प्रकृत सूत्र से आबन्त अङ्ग से सम्बुद्धि परे होने के कारण अन्त्य आकार को एकार हो गया। तब हे रमे स' इस स्थिति में 'एङ् ह्रस्वा संबुद्धेः' सूत्र से सम्बुद्धि के सकार का लोप होने से 'हे रमेश रूप सिद्ध हुआ। हे रमे, हे रमाः ये प्रथमा के समान ही सिद्ध होंगे। द्वितीया के एकवचन में **'अमि पूर्वः'** से अम् के अकार का पूर्वरूप होने से रूप बना- रमाम्। द्विवचन और बहुवचन में 'रमे' और 'रमाः' रूप प्रथमा के समान ही हैं। 'रमा शस्' इस दशा में **'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः'** (६/१/९८) सूत्र से पूर्व आकार और अकार दोनों के स्थान में सवर्ण दीर्घ आकार एकादेश हुआ। तब सकार के स्थान में 'रु' और उसके रेफ के स्थान में विसर्ग होने पर रूप सिद्ध हुआ रमाः। यद्यपि यहाँ **'अकः सवर्णे दीर्घः'** (६/१/९७) होने पर भी रूप सिद्ध हो सकता है, परन्तु पूर्वसवर्ण दीर्घ विधायक सूत्र पर है, अतः शास्त्रमर्यादा के अनुसार ऐसा करना उचित है। २१८. आङि चाऽऽपः (७/३/१०५) आङि ओसि चाप एकारः। रमया, रमाभ्याम्, रमाभिः।

आङीति-आङ् या ओस् परे रहते आबन्त अङ्ग को एकार आदेश हो। 'टा' को आङ् कहते हैं-ऐसी प्राचीन आचार्यों की संज्ञा है। **'रमा टा'** में अकः सवर्णे- से प्राप्त सवर्ण दीर्घ को बाध कर प्रकृत सूत्र के द्वारा एकार आदेश हुआ। रमे आ। अब **'एचोऽयवायावः'** के द्वारा अय् आदेश होकर 'रमय् आ' हुआ। रमया। रमा भ्याम् - रमाभ्याम्। रमा भिस्-रमाभिः। रुत्व तथा विसर्ग हुआ है।

२१९. याङ् आपः (७/३/११३)

आपो ङितो याट्। वृद्धिः। रमायै, रमाभ्याम्, रमाभ्यः, रमायाः। रमयोः। रमाणाम्। रमायाम्। रमासु। एवं दुर्गाऽम्बिकादयः ।

याङ् इति-आबन्त अङ्ग से परे ङित् को 'याट्' आगम हो। 'याट्' में 'टकार' इत्संज्ञक है। टित् होने से ङित् प्रत्यय के आदि में होता है।

चतुर्थी के एकवचन में 'रमा ए' इस अवस्था में आबन्त अङ्ग से परे ङित् प्रत्यय को 'याट्' आगम हुआ। तब 'रमाया ए' इस दशा में 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि हुई। इस प्रकार रूप बना 'रमायै'। द्विवचन में 'रमाभ्याम्' तथा बहुवचन में 'रमाभ्यः' हो जायेगा।

'रमा ङसि अस्' में प्रकृत सूत्र के द्वारा याट् आगम होगा। अब अकः सवर्णे० से सवर्ण दीर्घ होकर रमा याट् अस्-रमायास्। विसर्ग इत्यादि होकर रमायाः। शेष पूर्ववत्। 'रमा डस्' में पूर्ववत् प्रक्रिया होकर 'रमायाः' रूप होगा। 'रमा ओस्' में 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि आदेश प्राप्त हुआ। **'आङि चापः'** के द्वारा आकार को एकार हुआ। 'एचोऽयवायावः' के द्वारा अयादेश तथा रुत्वादि कार्य

होकर रमा ओस्–रमे ओस्–रमय् ओस् रमयोः। 'रमा आम्' में 'ह्रस्वनद्यापो०' के द्वारा 'नुट्' आगम हुआ। 'अट्कुप्वाङ्नुम् ०' के द्वारा रेफोत्तरवर्ती नकार को णकार हो गया। रमा नुट् आम्–रमा नाम्–रमाणाम्। 'रमा ङि' यहाँ 'ङे राम्नद्याम्नीभ्यः' के द्वारा 'ङि' को आम् आदेश हुआ । उसे स्थानिवद्भाव होकर 'याडापः' से याट् आगम होकर सवर्णदीर्घ हुआ। रमा आम्–रमा याट् आम्–रमायाम्। रमा सुप्– रमासु । एवमिति– इसी प्रकार आकारान्त स्त्रीलिङ्ग दुर्गा तथा अम्बिका आदि शब्दों के रूप बनेंगे।

प्र०	रमा	रमे	रमाः
द्वि०	रमाम्	रमे	रमाः
तृ०	रमया	रमाभ्याम्	रमाभिः
च०	रमायै	रमाभ्याम्	रमाभ्यः
पं०	रमायाः	रमाभ्याम्	रमाभ्यः
ष०	रमायाः	रमयोः	रमाणाम्
स०	रमायाम् रमयोः	रमासु	
सं०	हे रमे	हे रमे	हे रमाः

ह्रस्व इकारान्त शब्द – मति (बुद्धि)

मति शब्द के द्वितीया के बहुवचन में पूर्वसवर्णदीर्घ होकर 'मतीस्' ऐसी स्थिति हुई। तब सकार को रुत्व, विसर्ग होकर रूप सिद्ध हुआ। मतीः।

'मति टा आ' में 'इको यणचि' के द्वारा यणादेश होकर 'मत्या' हो गया।

२२२. ङिति ह्रस्वश्च (१/४/६)

इयङुवस्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ ह्रस्वौ च इवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदीसंज्ञौ स्तः ङिति । मत्यै, मतये। मत्याः। मतेः।

ङितीति– स्त्री शब्द को छोड़कर अन्य जिनके स्थान पर इयङ् उवङ् आदेश होते हों, उन नित्य स्त्रीलिङ्ग इकार, ईकार और उकार, ऊकार की ङित् (ङे, ङसि, ङस्, ङि) प्रत्यय परे रहते विकल्प से नदी संज्ञा हो।

'मति ङे' में मति शब्द की प्रकृत सूत्र के द्वारा विकल्प से नदी संज्ञा हुई। नदी संज्ञा पक्ष में श **'आण् नद्याः'** के द्वारा आट् आगम और **'आटश्च'** के द्वारा वृद्धि तथा इकार को 'यण' होकर–मति ए–मति आट् ए मति ऐ–मत्यै रूप बना। अभाव पक्ष में घि संज्ञा होगी और 'घेर्डिति' के द्वारा गुण होकर 'अय' आदेश होकर मति ए–मते ए–मतय् ए–मतये बन गया।

मत्याः– पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में नदी संज्ञा, आट् आगम, वृद्धि, यण्, रुत्व और विसर्ग कार्य होकर उक्त रूप सिद्ध हुआ। नदीसंज्ञा के अभावपक्ष में घिसंज्ञा, गुण और **'ङसिङसोश्च'** से अकार का पूर्वरूप तथा सकार को रुत्व विसर्ग होकर रूप बना। मतेः। मति आम् ह्रस्वनद्यापो० नामि। मतीनाम् ।

२२३. ''इदुद्भ्याम् (७/३/११७)

इदुद्भ्यां नदीसंज्ञकाभ्यां परस्य ङेराम्। मत्याम्, मतौ। शेषं हरिवत्। एवं बुद्ध्यादयः।

इदुदिति–नदीसंज्ञक ह्रस्व इकार और उकार से पर 'ङि' को 'आम' तथा औत् से 'औ' आदेश की युगपत् प्राप्ति।

'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' से परकार्य 'औ' आदेश प्राप्त हुआ। 'मति ङि' में **'डेराम्नद्याम्नीभ्यः'** (७.३.११६) से 'ङि' को 'आम्' तब प्रकृत सूत्र के द्वारा पुनः 'आम्' आदेश हुआ। 'यण' होकर 'मत्याम्' बन गया। नदी संज्ञा के अभाव में 'घि' संज्ञा होने से **'अच्च घेः'** सूत्र से 'ङि' को 'औ' और इकार को अकार आदेश हुआ। तब 'मत औ' इस दशा में वृद्धि होकर रूप बना। मतौ। शेषमिति शेष रूप हरि शब्द के समान ही बनेंगे।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	मतिः	मती	मतयः
द्वि०	मतिम्	मती	मतीः
तृ०	मत्या	मतिभ्याम्	मतिभिः
च०	मत्यै, मतये	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
पं०	मत्याः, मतेः	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
ष०	मत्याः, मतेः	मत्योः	मतीनाम्
स०	मत्याम्, मतौ	मत्योः	मतिषु
सं०	हे मते	हे मती	हे मतयः

एवमिति- इस प्रकार बुद्धि आदि इकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप बनेंगे।

दीर्घ ईकारान्त शब्द गौरी (पार्वती)

'गौरी सु' इस अवस्था में 'हल्ङ्याब्भ्यो०' के द्वारा अपृक्त सकार का लोप हो गया। गौरी।

'गौरी औ'- यहाँ पूर्व सवर्ण दीर्घ प्राप्त हुआ। 'दीर्घाज्जसि च' के द्वारा निषेध हो गया। तब 'यण' होकर 'गौर्यौ' रूप बना। **'इको यणचि'।**

'गौरी जस्'- पूर्ववत् कार्य होकर 'गौर्यः' रूप बना।

'हे गौरी सु'- नित्य स्त्रीलिङ्ग होने के कारण नदीसंज्ञक हो गया। तब 'अम्बार्थ०' के द्वारा ह्रस्व तथा 'एङ् ह्रस्वात्०' के द्वारा सकार लोप होकर 'हे गौरि' रूप बना। गौरी अम्। **'अमि पूर्वः'।** गौरी शस् प्रथमयोः पूर्वसवर्णः। गौरी आम्- ह्रस्वनद्यापो०। अट्कुप्वाङ्नु०। 'गौरी ङे' - इस अवस्था में 'आण्नद्याः' के द्वारा आट् तथा 'आटश्च' के द्वारा वृद्धि होकर 'गौरी आ 'ए-गौरी ऐ' बन गया। तब 'यण्' होकर 'गौर्यै' रूप बना। 'गौरी ङि' -**'ङे राम्नद्याम्नीभ्यः'।** गौरी आम् आण नद्याः। गौरी आट् आम् आटश्च। गौरी आम् इको यणचि। गौर्याम्।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	गौरी	गौर्यौ	गौर्यः
द्वि०	गौरीम्	गौर्यौ	गौरीः
तृ०	गौर्या	गौरीभ्याम्	गौरीभिः
च०	गौर्यै	गौरीभ्याम्	गौरीभ्यः
पं०	गौर्याः	गौरीभ्याम्	गौरीभ्यः
ष०	गौर्याः	गौर्योः	गौरीणाम्
स०	गौर्याम्	गौर्योः	गौरीषु
सं०	हे गौरि	हे गौर्यौ	हे गौर्यः

इसी प्रकार नदी इत्यादि।

ओकारान्त शब्द- द्यो

द्यौः- यह रूप प्रथमा के एकवचन का है। 'द्यो स्' इस दशा में सु को 'ओतो णिदिति वाच्यम्' इस वार्तिक से णिद्वद्भाव हो जाता है। तब 'अचो ञ्णिति' से ओकार को औकार वृद्धि हो गई। द्यो औ- णिद्वत्, वृद्धि, आव्। द्यो अम्- **'औतोऽम् शसोः'**। आकार आदेश। शस् में पूर्ववत्। द्यो ङसि 'ङसिङसोश्च' से पूर्वरूप।

गोवदिति- इसके रूप 'गो' शब्द के समान बनेंगे।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	द्यौः	द्यावौ	द्यावः
द्वि०	द्याम्	द्यावौ	द्याः
तृ०	द्यावा	द्योभ्याम्	द्योभिः
च०	द्यवे	द्योभ्याम्	द्योभ्यः
पं०	द्योः	द्योभ्याम्	द्योभ्यः
ष०	द्योः	द्यवोः	द्यवाम्
स०	द्यवि	द्यवोः	द्योषु
सं०	हे द्यौः	हे द्यावौ	हे द्यावः

औकारान्त शब्द - नौ

नौः- यह रूप नौ (नाव) शब्द के प्रथमा के एकवचन का है। सकार रुत्व विसर्ग होकर बनता है। ग्लौवदिति-नौ शब्द के रूप ग्लौ के समान बनते हैं। **'एचोयवायावः'** सूत्र आवादेश होगा ।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	नौः	नावौ	नावः
द्वि०	नावम्	नावौ	नावः
तृ०	नावा	नौभ्याम्	नौभिः
च०	नावे	नौभ्याम्	नौभ्यः

पं०	नावः	नौभ्याम्	नौभ्यः
ष०	नावः	नावोः	नावाम्
सं०	नावि	नावोः	नौषु
सं०	हे नौः	हे नावौ	हे नावः।

स्मरणीय बिंदु-

1 अजाद्यतष्टाप् सूत्र द्वारा अज आदि गण के शब्दों और अकारान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिंग की विवक्षा में टाप् प्रत्यय जुड़ता है।

2 रमा शब्द के प्रथमा विभक्ति एकवचन में हलङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यप्रृक्तं हल् सूत्र से सु प्रत्यय का लोप होकर रमा रूप ही शेष रहता है।

3 औङ् आपः सूत्र द्वारा आकारान्त स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों से परे औ और औट् के स्थान पर शी आदेश होता है जिससे रमे रूप सिद्ध होता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 अजन्त स्त्रीलिंग प्रकरण के आधार पर रमा शब्द की प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के सभी वचनों की रूप सिद्धि सूत्रों सहित विस्तार से समझाइए?

प्रश्न 2 स्त्रीलिंग प्रत्यय करने वाले मुख्य पाणिनीय सूत्रों का नामोल्लेख करते हुए टाप् प्रत्यय की पूरी प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए?

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 औङ् आपः सूत्र का क्या कार्य है और यह रमे पद की सिद्धि में कैसे सहायता करता है?

प्रश्न 2 हलङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यप्रृक्तं हल् सूत्र से रमा शब्द के प्रथमा एकवचन में सु प्रत्यय का क्या होता है?

प्रश्न 3 मति शब्द के चतुर्थी विभक्ति एकवचन में कौन कौन से दो रूप बनते हैं?

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1 अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिंग की विवक्षा में कौन सा प्रत्यय जुड़ता है?

(क) टाप् (ख) ङीप् (ग) ङीन् (घ) सुँ

प्रश्न 2 औङ् आपः सूत्र द्वारा आप् से परे औ के स्थान पर क्या आदेश होता है?

(क) शी (ख) अमू (ग) लुक् (घ) औट्

प्रश्न 3 रमा शब्द के प्रथमा विभक्ति द्विवचन में क्या रूप बनता है?

(क) रमाः (ख) रमे (ग) रमाम (घ) रमया

प्रश्न 4 मति शब्द की इकारान्त होने के कारण कौन सी संज्ञा कुछ विशेष स्थानों पर विकल्प से होती है? (क) नदी संज्ञा (ख) पद संज्ञा (ग) संयोग संज्ञा (घ) प्रातिपदिक संज्ञा

प्रश्न 5 रमाः रूप रमा शब्द के किस विभक्ति और वचन में बनता है?

(क) प्रथमा विभक्ति बहुवचन (ख) प्रथमा विभक्ति एकवचन (ग) द्वितीया विभक्ति एकवचन (घ) तृतीया विभक्ति एकवचन।

इकाई-3.2 अथ अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

उद्देश्य-

1. अजन्त नपुंसकलिङ्ग और हलन्त पुल्लिंग शब्दों की रूप सिद्धि के नियमों का बोध कराना।
2. सुँ औ जस् आदि प्रत्ययों के स्थान पर होने वाले विशिष्ट आदेशों को स्पष्ट करना।
3. ज्ञान और राजन् जैसे मुख्य शब्दों के रूप बनाने की विधि सिखाना।

ज्ञानम्

१. **'अतोऽम् (७/१/२४)**

अतोऽङ्गात् क्लीबात् स्वमोरम्। अमि पूर्वः। ज्ञानम्। 'एङ्ह्रस्वाद्' इति हल्लोपः। हे ज्ञान।

अत इति - अदन्त नपुंसकलिङ्ग अङ्ग से पर 'सु' और 'अम्' को 'अम्' आदेश हो। ज्ञान शब्द के प्रथमा के एक वचन में स्वमोर्नपुंसकात् से प्राप्त सुलुक् का बाधा 'सु' को 'अम्' आदेश हुआ। तब 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप होने पर रूप सिद्ध हो गया। ज्ञानम्। सम्बुद्धि में अम् आदेश और पूर्वरूप होने पर 'हे ज्ञानम्' बन गया। तब **'एङ्ह्रस्वात् सम्बु०'** से हल् का लोप हुआ। हे ज्ञान।

२. **नपुंसकाच्च (७/१/१९)** क्लीबात्परस्यौङः शी स्यात्। भसंज्ञायाम्।

नपुंसकाच्चेति नपुंसक अङ्ग से पर औङ् को 'शी' आदेश हो। 'ज्ञान औ' इस दशा में नपुंसक अङ्ग से पर औङ् को 'शी' आदेश हुआ। 'शो' स्थानिव द्भाव से प्रत्यय हुआ। तब आदि शकार का **'लशक्वतद्धिते'** से इत्संज्ञा होकर लोप हो गया। ज्ञान ई। अब ज्ञान शब्द की 'यचि भम्' से भसंज्ञा 'सुडनपुंसकस्य के अनुसार हो गई।

२३६. यस्येति च (६/४/१४८) ईकारे तद्धिते च परे भस्येवर्णावर्णयोर्लोपः। इत्यल्लोपे प्राप्ते- (वा०) औडः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः। ज्ञाने।

यस्येति- ईकार और तद्धित प्रत्यय परे रहते भसंज्ञक अङ्ग के इकार और अकार का लोप हो। इतीति- 'ज्ञान ई' यहाँ ज्ञान शब्द की भसंज्ञा हो गई। ईकार परे रहते इसके अकार का लोप प्राप्त होता है।

औङ इति- औङ् स्थानीय (अर्थात् जो औङ् के स्थान पर आदेश हो) 'शी' परे रहते 'यस्येति च' के द्वारा होने वाले लोप का प्रतिषेध हो। अब प्रकृत वात्तिक के द्वारा पूर्व प्राप्त लोप का निषेध हो गया। तब 'आद्गुणः' के द्वारा गुण होकर 'ज्ञाने' रूप सिद्ध हुआ।

२३७. जश्शसोः शिः (७/१/२०) क्लीबादनयोः शिः स्यात् ।

जशिति नपुंसकलिङ्ग अङ्ग से परवर्ती जस् और शस् को 'शि' आदेश हो। 'शि' का शकार 'लशक्वतद्धिते' के द्वारा इत्संज्ञक है। 'ज्ञान जस्' यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा जस् को 'शि' आदेश हो गया। ज्ञान शि-ज्ञान इ।

२३८. शि सर्वनामस्थानम् (१/१/४१) शि इत्येतत् उक्तसंज्ञं स्यात्।

शीति- (पूर्व सूत्र से प्राप्त) शि की सर्वनामस्थान संज्ञा हो।

२३९. नपुंसकस्य झलचः (७/१/७२)

झलन्तस्याजन्तस्य च क्लीबस्य नुम् स्यात् सर्वनामस्थाने परे।

नपुंसकेति- झलन्त और अजन्त नपुंसकलिङ्ग अङ्ग को सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्यय परे रहते नुम् आगम हो। 'नुम्' के मकार की 'हलन्त्यम्' के द्वारा तथा उकार की **'उपदेशेऽजनुनासि०'** के द्वारा इत्संज्ञा होती है। शेष 'न्' बचता है।

२४०. 'मिदचोऽन्त्यात् परः (१/१/४६)

अचां मध्ये योऽन्त्यः, तस्मात् परस्तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात्। उपधादीर्घः-ज्ञानानि। पुनस्तद्वत्। शेषं पुंवत्। एवं धन-वन-फलादयः।

मिदिति- अचों में जो अन्त्य अच्, उससे परवर्ती और जिस समुदाय को विधान किया गया हो, उसी का अन्त्यावयव मित् होता है।

ज्ञान शि-ज्ञान इ। अब शि आदेश की **'शि सर्वनामस्थानम्'** के द्वारा सर्वनामस्थान संज्ञा हो गई। ऐसा होने पर 'नपुंसकस्य झलचः' के द्वारा 'नुम्' (न्) आगम हो गया। प्रश्न उठता है कि यह आगम कहाँ हो? 'मिदचोऽन्त्यात् परः' के बल पर यह आगम 'ज्ञान' का अन्त्यावयव बनेगा। ज्ञान शब्द का अन्त्य अच् अकार है, वह 'ज्ञान' इस समुदाय के अन्त में है। अतः इस समुदाय का अन्त्य अवयव बन जायेगा। ज्ञान नुम् ई-ज्ञानन् इ। तब **'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ'** के द्वारा उपधा का दीर्घ कर देने पर 'ज्ञानानि' रूप सिद्ध हो गया।

इसी प्रकार 'ज्ञान शस्' में पूर्ववत् प्रक्रिया होकर 'ज्ञानानि' रूप बन जायेगा। पुनरिति-द्वितीया में प्रथमा के समान

रूप होंगे। शेषमिति-शेष तृतीया आदि के रूप पुँल्लिङ्ग अकारान्त शब्द के समान बनेंगे।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि
द्वि०	ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि
तृ०	ज्ञानेन	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानैः
च०	ज्ञानाय	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानेभ्यः
पं०	ज्ञानात्	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानेभ्यः
ष०	ज्ञानस्य	ज्ञानयोः	ज्ञानानाम्
स०	ज्ञाने	ज्ञानयोः	ज्ञानेषु
सं०	हे ज्ञान	हे ज्ञाने	हे ज्ञानानि

एवमिति - इसी प्रकार अकारान्त नपुंसकलिङ्ग धन, वन तथा फल आदि शब्दों के रूप होंगे। कुछ अन्य नपुंसकलिङ्ग शब्द-नेत्र, मुख, मूल्य, जल, पुष्प, पत्र, सत्य, आज्य (घी) आदि।

उकारान्त शब्द - मधु

मधु- मधु सु यहाँ **स्वमोर्नपुंसकात्** के सु का लोप होकर मधु रूप बन गया। मधु औ में शी आदेश हो गया। तब नुम् आगम हुआ। मधु शी-मधु नुम् ई-मधुनी। मधु शस् -शि आदेश, नुम् आगम तथा उपधादीर्घ होकर मधु शि-मधु नुम् इ-मधू न्इ-मधूनि

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	मधु	मधुनी	मधूनि
द्वि०	मधु	मधुनी	मधूनि
तृ०	मधुना	मधुभ्याम्	मधुभिः
च०	मधुने	मधुभ्याम्	मधुभ्यः
पं०	मधुनः	मधुभ्याम्	मधुभ्यः
ष०	मधुनः	मधुनोः	मधूनाम्
स०	मधुनि	मधुनोः	मधुषु
सं०	हे मधो, हे मधु	हे मधुनी	हे मधूनि

ऋकारान्त शब्द - धातृ (धारण करने वाला)

धातृ सु - यहाँ सु का लोप होकर धातृ रूप बना। इसी प्रकार द्वितीया एकव० में धातृ अम् में अम् का लोप होकर धातृ बना। धातृ औ यहाँ शी आदेश होकर नुम् आगम हुआ। धातृ शी-धातृ नुम् ई। तब णत्व इत्यादि कार्य होकर धातृण ी। धातृ जस् - मधूनि की तरह प्रक्रिया होगी। एक णत्व कार्य विशेष होगा। धातृणि। हे धातृ सु - सु का लोप होगा, गुण अर् होगा, रेफ को **खरवसानयोः** के द्वारा विसर्ग होगा। धातृ-धातर्-धातः। पक्ष में धातृ ही होगा। **न लुमताङ्गस्य** शास्त्र अनित्य है। धातृ शब्द भाषितपुंस्क है। अतः तृतीयादि अजादि विभक्तियों में विकल्प से पुंवद्भाव होगा। धातृ टा -पुंवद्भाव होकर यण आदेश हो जायेगा। धात्रा। पक्ष में नुम् आगम तथा णत्व इत्यादि कार्य होंगे। धातृणा। धातृ आम् - पुवंद्भाव पक्ष में नुट् आगम होकर तथा **नामि** से दीर्घ हो कर धातृणाम् रूप सिद्ध हुआ। अभाव पक्ष में नुमचिर तृज्वद् के द्वारा नुम् की अपेक्षा नुट् के प्रबल होने के कारण पूर्वविप्रतिषेध बल से नुट् आगम होकर पूर्ववत् ध ातृणाम् रूप बन गया।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	धातृ	धातृणी	धातृणि
द्वि०	धातृ	धातृणी	धातृणि
तृ०	धात्रा, धातृणा	धातृभ्याम्	धातृभिः
च०	धात्रे, धातृणे	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
पं०	धातुः, धातृणः	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
ष०	धातुः, धातृणः	धात्रोः, धातृणोः	धातृणाम्
सं०	धातरि, धातृणि	धात्रोः, धातृणोः	धातृषु

सं० हे धातः, धातृ हे धातृणी हे धातृणि

इसी प्रकार ज्ञातृ (जानने वाला) इत्यादि के रूप होंगे। अन्य ऋकारान्त शब्द-कर्तृ (करने वाला), हर्तृ (हरनेवाला), जेतृ (जीतने वाला) तथा दातृ (दाता)।

अथ हलन्तपुँल्लिङ्ग प्रकरणम्।

हकारान्त शब्द लिह् (चाटने वाला)

१. हो ढः (८/२/३१)

हस्य ढः स्याज् झलि पदान्ते च। लिट्, लिड्। लिहौ। लिहः लिड्भ्याम् । लिट्त्सु-लिट्सु। ह इति-पदान्त में और झल् परे रहते हकार को ढकार हो। लिह् सु - हल्ङ्याब्भ्यो० के द्वारा अपृक्त सकार का लोप हो गया। पदान्त होने से हकार को ढकार आदेश। तब **झलां जशोऽन्ते** के द्वारा डकार हुआ। **वाऽवसाने** के द्वारा पदान्त डकार को विकल्प से च ँहो गया। लिह् सु-लिह् स्-लिह् -लिट्-लिड्, लिट्। लिह् औ लिहौ। लिह् जस्-लिह् अस्-लिहः। लिह् शस्, लिह् डसि तथा लिह् डस्-तीनों स्थलों में पूर्ववत् कार्य होकर लिहः रूप होगा। लिह् भ्याम् **हो ढः** के द्वारा झल् परे रहते ढकार हो गया। **झलां जशोऽन्ते** के द्वारा डकार हो गया। लिद्भ्याम् लिड्भ्याम् । **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** । लिह् सुप्-यहाँ हो ढः के द्व ारा ढकार हुआ। लिल्ढ् सु। **झलां जशोऽन्ते** के द्वारा ढकार को डकार हुआ। लिड्सु। डः सि धुट् के द्वारा धुट् आगम। खरि च से धकार को तकार और तकार परे रहते **खरि च** से डकार को टकार। लिड्सु-लिड् धुट् सु-लिङ् ध् सु- लिड् त् सु-लिट्त्सु। धुट् अभाव पक्ष में लिड्सु तथा खरि च से टकार होकर लिट्सु बन गया।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	लिट्,लिड्	लिहौ	लिहः
द्वि०	लिहम्	लिहौ	लिहः
तृ०	लिहा	लिड्भ्याम्	लिड्भिः
च०	लिहे	लिड्भ्याम्	लिड्भ्यः
पं०	लिहः	लिड्भ्याम्	लिड्भ्यः
ष०	लिहः	लिहोः	लिहाम्
स०	लिहि	लिहोः	लिट्सु, लिट्त्सु
सं०	हे लिट्, लिड्	हे लिहौ	हे लिहः

अनडुह् (बैल) शब्द

२. चतुरनडुहोराम् उदात्तः (७/१/९८) अनयोराम् स्यात् सर्वनामस्थाने परे।

चतुर् इति- सर्वनाम-स्थानिक प्रत्यय परे रहते चतुर् और अनडुह् शब्द को आम् आगम हो। आम् का मकार इत्संज्ञक है। **मिदचोऽन्त्यात्परः** परिभाषा के बल पर अन्त्य अच् का अवयव होगा। अनडुह् सु झ स् - यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा आम् आगम हुआ। अनडु आम् ह्सु ।

२६०. सावनडुहः (७/१/८२) अस्य नुम् स्यात् सौ परे। अनड्वान्।

साविति- सु परे रहते अनडुह् शब्द को नुम् आगम हो। नुम् के मकार की इत्संज्ञा है और उकार मुख सुखार्थ है। अनडु आम् ह् स् को प्रकृत सूत्र के द्वारा नुम् आगम हुआ। मित् होने के कारण अन्त्य अच् का अवयव बन गया। अनडु आम् नुम् ह्स्। **इको यणचि** के द्वारा यण् हुआ। अनड्वान्ह् ङस् । हल्ङ्याब्भ्य् के द्वारा अपृक्त सकार का लोप हो गया। अनड्वान् ह् स। अनड्वान् ह। **संयोगान्तस्य लोपः** के द्वारा हकार का लोप हो गया। अनड्वान् ।

२६१. अम् सम्बुद्धौ (७/१/९९)

हे अनड्वन्। अनड्वाहौ। अनड्वाहः। (अनडुहः)। अनडुहा। अमिति- सम्बुद्धि परे रहते चतुर् और अनडुह को अम् आगम हो। अम् का मकार इत्संज्ञक है। हे अनडुह् सु - यहाँ **अम्सम्बुद्धौ** सूत्र के द्वारा अम् आगम तथा **सावनडुहः** से नुम् भी हो गया। अनडु अम् न् ह् स्। अब **इको यणचि** के द्वारा यण, **हल्ङ्याब्भ्यो०** के द्वारा सकार का लोप तथा **संयोगान्तस्य लोपः** के द्वारा हकार का लोप हुआ। हे अनड्वन् ह् स्-हे अनड्वन् ह-हे अनड्वन्।

अनडुह् औ - यहाँ **चतुरनडुहो०** के द्वारा आम् आगम हुआ। यण् आदेश होकर अनडु

आम् ह् औ-अनड्वाह् औ-अनड्वाहौ। अनडुह् शस् - यहाँ आम् आगम नहीं होगा। रुत्व आदि होकर अनडुहः बन गया। इसी प्रकार जस् प्रत्यय परे रहते अनड्वाहः रूप सिद्ध हुआ।

२६२. वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः (८/२/७२)

सान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात् पदान्ते। अनडुद्भ्याम् इत्यादि। सान्तेति किम्- विद्वान्। पदान्तेति किम्- स्रस्तम्, ध्वस्तम्। वस्विति- सकारान्त वसु प्रत्ययान्त, स्रंसु, ध्वंसु, और अनडुह शब्दों को दकार आदेश हो, पदान्त में। अनडुह् भ्याम् - यहाँ **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** के द्वारा अनडुह् की पद संज्ञा हुई। अब पदान्त में हकार को दकार हो गया। अनडुद्भ्याम् । अनडुह् सुप् - यहाँ पूर्ववत् पदसंज्ञा होकर हकार के स्थान पर दकार हो गया। तब खरि च सूत्र के द्वारा च र्(तकार) हो कर अनडुद् सु-अनडुत्सु रूप सिद्ध हुआ।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अनड्वान्	अनड्वाहौ	अनड्वाहः
द्वि०	अनड्वाहम्	अनड्वाहौ	अनडुहः
तृ०	अनडुहा	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भिः
च०	अनडुहे	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भ्यः
पं०	अनडुहः	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भ्यः
ष०	अनडुहः	अनडुहोः	अनडुहाम्
स०	अनडुहि	अनडुहोः	अनडुत्सु
सं०	हे अनड्वन्	हे अनड्वाहौ	हे अनड्वाहः

किम् (कौन) शब्द

२७१. किमः कः (७/२/१०३)

किमः कः स्याद् विभक्तौ। कः, कौ, के इत्यादि। शेषं सर्ववत्। किम इति किम् शब्द को क आदेश हो विभक्ति परे रहते। विभक्ति आने के बाद सब से पहले किम् शब्द को क आदेश होगा। और स्थानिवद्भाव से तत्स्थानिक क भी सर्वनाम संज्ञक हो गया। अजन्त बन जाने से इसके रूप सर्व शब्द के समान बनेंगे।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	कः	कौ	के
द्वि०	कम्	कौ	कान्
तृ०	केन	काभ्याम्	कैः
च०	कस्मै	काभ्याम्	केभ्यः
पं०	कस्मात्-द्	काभ्याम्	केभ्यः
ष०	कस्य	कयोः	केषाम्
स०	कस्मिन्	कयोः	केषु

इदम् (यह)

२७२. इदमो मः (७/२/१०८)

इदमो मस्य मः स्यात्। (सौ)। त्यदाद्यत्वापवादः । इदम इति- सु परे रहते इदम् शब्द के मकार को मकार ही हो। इदम् सु - यहाँ **त्यदादीनामः** के द्वारा अकार आदेश प्राप्त है जिसका प्रकृत सूत्र के द्वारा बाध हो जाता है।

२७३. इदोऽय् पुंसि (७/२/१११)

इदम इदोऽय् स्यात् सौ पुंसि। अयम्। त्यदाद्यत्वे-इद इति-पुँल्लिङ्ग के विषय में सु परे रहते इदम् शब्द के इद् अवयव को अय् आदेश हो। इदम् सु - यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा अय् आदेश करने पर अय् अम् स् हो गया। तब **हल्ङ्याब्भ्यो०** के द्वारा सकार का लोप हो गया। अयम् बन गया। त्यदाद्यत्व इति- इदम् औ इस स्थिति में **त्यदादीनामः** सूत्र से मकार को अकार हो गया। तब इद अ औ ऐसी स्थिति हुई।

२७४. अतो गुणे (६/१/९४)

अपदान्तादतो गुणे पररूपमेकादेशः। अत इति- पदान्तभिन्न ह्रस्व अकार से गुण परे रहते पररूप एकादेश हो। इद अ औ यहाँ पर अकार रूप एकादेश हुआ। तब इद औ यह बना। २७५. दश्च (७/२/१०९)

इदमो दस्य मः स्याद् विभक्तौ। इमौ, इमे। त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः । दश्वेति- इदम् शब्द के दकार को मकार हो विभक्ति परे रहते। तब प्रथमयोः पूर्व० के द्वारा पूर्व सवर्ण दीर्घ की प्राप्ति हुई। तब **नादिचि** के द्वारा पूर्व सवर्णदीर्घ का निषेध हुआ। तब सामान्य वृद्धि होकर इमौ रूप बना। इद औ-यहा दकार को मकार हुआ। इम औ। **वृद्धिरेचि** के द्वारा वृद्धि प्राप्त हुई। इदम् अस् इस स्थिति में मकार को अकार **त्यदादीनामः** हुआ। पररूप एकादेश (अतो गुणे) हो गया। तब दकार को मकार **(दश्च)** हो गया। इम यह अदन्त सर्वनाम हो गया जस् परे रहते उसे जसः शी के द्वारा शी आदेश हो गया। शकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो गया। अब **आद्गुणः** के द्वारा गुण हो गया। इम शी-इम ई इमे। त्यदादेरिति- त्यदादियों का सम्बोधन नहीं होता है। यह उत्सर्ग अर्थात् साधारण नियम है।

२७६. अनाऽऽप्यकः (७/२/११२) अककारस्येदम इदोऽन् स्याद् आपि विभक्तौ। आबिति प्रत्याहारः। अनेन । अनापीति-आप् (टा से लेकर सुप् तक) विभक्ति परे रहते ककार रहित इदम् के इद भाग को अन् आदेश हो। आबिति-आप् प्रत्याहार है। टा (आ) से लेकर सुप् पर्यन्त सभी प्रत्ययों का आप् प्रत्याहार के द्वारा बोध होता है। इदम् अम्-इमम्-पूर्ववत् समझें। इदम् औट् प्रथमा की तरह। इमौ। इदम् शस् - यहाँ **तस्माच्छसो नः पुंसि** के द्वारा सकार को नकार हो जाता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् समझें। **त्यदादीनामः** । इद अ अस् **अतो गुणे** से पररूप। इद अ स् दश्च से मत्व। इम अस् प्रथमयोः पूर्वसवर्णः । इमास् । इमान्। इदम् टा आ -यहाँ **त्यदादीनामः** से मकार को अकार आदेश हुआ। तब **अतो गुणे** के द्वारा पररूप आदेश हुआ। इदम् आ-इद अ आ इद आ। **दश्च** के द्वारा टा परे रहते मकार प्राप्त हुआ। परन्तु **अनाप्यकः** सूत्र के द्वारा टा परे रहते इद् भाग को अन् आदेश हुआ। तब **टाङसिङसामि०** के द्वारा टा को इन आदेश हो गया। **आद् गुणः** के द्वारा गुणादेश हो गया। इद् अ आ इद् आ-अन् अ आ-अन आ इन-अनेन। इदम् भ्याम् - यहाँ **त्यदादीनामः** के द्वारा अकार हुआ। **दश्च** के द्वारा मकार प्राप्त था, परन्तु **अनाप्यकः** के द्वारा इद् के स्थान पर अन् आदेश प्राप्त हुआ। इद् अ भ्याम् इद् भ्याम् ।

२७७. हलि लोपः (७/२/११३) अककारस्येदम इदो लोप आपि हलादौ। (प.) नाऽनर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे । हलीति- हलादि आप् विभक्ति परे रहते ककाररहित इदम् शब्द के इद् भाग का लोप हो। अब **अलोऽन्त्यस्य** के बल पर उक्त लोप इद् समुदाय के अन्त्य वर्ण (द्) का होता है। नेति- अभ्यास के विकार को छोड़कर अन्यत्र अनर्थक में अन्त्यविधि की प्रवृत्ति न हो। समुदाय सार्थक होता है और उसका एक भाग निरर्थक होता है। कहा गया है- समुदायो ह्यर्थवान्, तस्यैकदेशोऽनर्थकः । इदम् एक समुदाय है तथा इद् एक भाग है जो निरर्थक है। अतः इस के विषय में **अलोऽन्त्यस्य** की प्रवृत्ति नहीं होगी और प्रकृत सूत्र के द्वारा समग्र इद् भाग का लोप हो जायेगा। इद भ्याम्-अ भ्याम् ।

२७८. आद्यन्तवद् एकस्मिन् (१/१/२१) एकस्मिन् क्रियमाणं कार्यमादाविवान्त इव स्यात्। **सुपि च** इति दीर्घः- आभ्याम् । आदीति- आदि और अन्त को विधीयमान कार्य एक में भी हो। इसे व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं। यह एक लोकन्याय है। यथा- देवदत्त का एक पुत्र है, उसे ही ज्येष्ठ तथा उसे ही कनिष्ठ कहा जायेगा। यद्यपि ज्येष्ठत्व तथा कनिष्ठत्व सापेक्ष है, तथापि अमुख्य में भी मुख्य व्यवहार किया जाता है। अ भ्याम् इस स्थिति में **सुपि च** से प्राप्त दीर्घत्व अन्त्य को होगा। तब व्यपदेशिवन्न्याय से अकार को ही अन्त्य मानकर दीर्घ हो गया। आभ्याम् । २७९. नेदमदसोरकोः (७/१/११) अककारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न। एभिः। अस्मै। एभ्यः। अस्मात्। अस्य। अनयोः । एषाम्। अस्मिन्। एषु। नेदमदसोरिति- ककाररहित इदम् और अदस् से परे भिस् को ऐस् आदेश न हो। इदम् भिस् - यहाँ **त्यदादीनामः** के द्वारा अकार आदेश तथा **अतो गुणे** के द्वारा पररूप आदेश हो गया। हलादि (भिस्) विभक्ति परे रहते **हलि लोपः** के द्वारा इद् भाग का लोप हो गया। इद भिस्- अ भिस्। यहाँ व्यपदेशिवद्भाव से अकार को अदन्त अंग मानकर **अतो भिस ऐस्** की प्रवृत्ति होती है जिसका प्रकृत सूत्र के द्वारा बाध हो गया है। तब **बहुवचने झल्येत्** के द्वारा एकार आदेश हो गया। सकार को विसर्गादि होकर- अ भिस्-ए भिस्-एभि रु-एभिः । इदम् ङे - यहाँ **त्यदादीनामः** के द्वारा अकार आदेश आदि पूर्ववत् कार्य होकर-इदअ ङे-इद ङे। बन गया। **सर्वनाम्नः स्मै** के द्वारा स्मै आदेश हुआ। इदस्मै। अब स्थानिवद् भाव के बल पर स्मै आदेश में विभक्ति धर्म की उत्पत्ति होकर हलि लोपः के द्वारा इद् का लोप होकर अस्मै। एभ्यः इदम् भ्यस् इस दशा में त्यदाद्यत्व और पररूप होने पर इद् भाग का लोप हुआ। तब व्यपदेशिवद्भाव से अदन्त अङ्ग के अकार को **बहुवचने झल्येत्** के द्वारा एकार हो गया। तब एभ्यः बना। इदम् ङसि इस अवस्था में त्यदाद्यत्व, पररूप हो गया। तब स्मात् आदेश हुआ। इद स्मात्। इद् भाग का लोप होकर अस्मात् रूप बना। इदम् डस् - यहाँ डस् को स्य आदेश हो गया। शेष कार्य पूर्ववत् होंगे। अस्य। षष्ठी तथा सप्तमी द्विवचन में त्यदाद्यत्व तथा पररूप हो गया। इद ओस्। तब **अनाप्य०** के द्वारा अन् आदेश हो गया। ओसि च के द्वारा एकार होकर अनयोः रूप बना। इदम् आम् - यहाँ अदन्त अङ्ग बनने के पश्चात् सुट् आगम **आमि सर्वनाम्नः सुट्** हुआ। इद् भाग का लोप

हलि लोपः हो गया। अ सुट् आम्। तब एकार आदेश **बहुवचने झल्येत्** हो गया। ए साम्। मूर्धन्य आदेश होकर एषाम् बना। सप्तमी एक वचन में स्मिन् आदेश तथ अदन्त अङ्ग बन कर अस्मिन् रूप बनेगा।

२८०. द्वितीयाटौस्स्वेनः (२/४/३४) इदमेतदोरेनादेशः स्यादन्वादेशे। किञ्चित् कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानम् अन्वादेशः। यथा-अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं छन्दोऽध्यापयेति। अनयोः पवित्रं कुलम्, एनयोः प्रभूतं स्वम्-इति। एनम्, एनौ, एनान्। एनेन। एतयोः। एनयोः राजा। द्वितीयेति- द्वितीया (सब वचन), टा तथा ओस् परे रहते अन्वादेश के विषय में इदम् तथा एतद् को एन आदेश हो। ओस् के द्वारा षष्ठी द्विव० तथा सप्तमी द्विव० दोनों का ग्रहण होता है। जिसका पहले किसी कार्य के लिए ग्रहण किया गया हो तथा उसका अन्य कार्य के लिए पुनः ग्रहण करना अन्वादेश कहलाता है। यथा- अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं म्, छन्दोऽध्यापय। यहाँ किसी ने अपने शिष्य वा पुत्र के लिए व्याकरण अध्ययन रूप कार्य का विधान किया। पुनः उसी के लिए वेद अध्ययन रूप कार्य का विधान किया गया। अतः उत्तरवर्ती वाक्य में अन्वादेश सिद्ध हुआ। तब अन्वादिष्ट इदम् शब्द को द्वितीया (अम्) में एन आदेश हो गया। एनम् रूप सिद्ध हुआ। अनयोः पवित्रं कुलम्, एनयोः प्रभूतं स्वम् यहाँ प्रथम वाक्य में कुल की पवित्रता के विधानार्थ ग्रहण किये हुये का द्वितीय वाक्य में अन्य विधान के लिए प्रयोग हुआ है। अतः अन्वादेश सिद्ध हुआ। इदम् अम् -ऐसी स्थिति होने पर अन्वादेश में इदम् को एन आदेश प्रकृत सूत्र के द्वारा हो गया। तब **अमि पूर्वः** के द्वारा पूर्वरूप आदेश होकर एनम् रूप सिद्ध हुआ। इसी प्रकार इदम् औ तथा इदम् शस् को अन्वादेश में एन आदेश होकर एनौ तथा एनान् रूप सिद्ध होते हैं । तृतीया में टा तथा षष्ठी में ओस् परे रहते एनेन तथा एनयोः रूप सिद्ध हुए।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	अयम्	इमौ	इमे
द्वि०	इमम्	इमौ	इमान्
तृ०	अनेन	आभ्याम्	एभिः
च०	अस्मै	आभ्याम्	एभ्यः
पं०	अस्मात्-द्	आभ्याम्	एभ्यः
ष०	अस्य	अनयोः	एषाम्
स०	अस्मिन्	अनयोः	एषु

नकारान्त शब्द राजन् (राजा) राजन् सु झ स् यहाँ **सर्वनामस्थाने०** के द्वारा उपधा को दीर्घ आदेश तथा **हल्ङ्याब्भ्यः** के द्वारा सकार लोप हो गया। राजान् स्-राजान्-राजान्। **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** के द्वारा नकार का लोप हो गया। राजा।

२८१. न डिसम्बुद्ध्योः ७ (८/२/८) नस्य लोपो न ङौ सम्बुद्धौ च। हे राजन् । (वा०) ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः। ब्रह्मनिष्ठः। राजानौ, राजानः राज्ञः। नेति- ङि और सम्बुद्धि परे रहते नकार का लोप न हो। हे राजन् सु-अपृक्त सकार का लोप हो जाने पर पदान्त में स्थित नकार का नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य के द्वारा लोप प्राप्त हुआ। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा लोप का निषेध हो गया। तब हे राजन् बन गया। ङाविति- उत्तरपद है परे जिसके, उस ङि के परे रहते नकारलोप का निषेध नहीं होता अर्थात् नक. ारलोप हो ही जाता है। ब्रह्मनिष्ठः- ब्रह्मणि निष्ठा यस्य स ब्रह्मनिष्ठः। यहाँ समास होने पर **सुपो धातुप्रातिपदिकयोः** विभ. क्ति का लोप हो गया। प्रत्ययलक्षण से उसके लाने पर यहाँ प्राप्त नकारलोप का पूर्व सूत्र से निषेध प्राप्त था, उसका इस वार्तिक से निषेध हो गया। तब नकार लोप हो गया। यहाँ उत्तरपद निष्ठा परे है, यह समास का अन्त्य अवयव है। राजन् औ यहाँ उपधा को **सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ** सूत्र से दीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ। राजानौ। राजन् शस् - यहाँ **अल्लोपोऽनः** के द्वारा भसंज्ञक के अकार का लोप हुआ। स्तोः श्चुना श्चुः के द्वारा नकार को ञकार आदेश। राजन् अस्-राज् न् अस् राज् ञ् अस। विसर्गादि कार्य होकर राज्ञः बन गया।

२८२. नलोपः सुप्स्वर संज्ञा तुग्विधिषु कृति (८/२/२) सुब्विधौ स्वरविधौ संज्ञाविधौ कृति तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धः, नान्यत्रराजाश्व इत्यादौ । इत्यसिद्धत्वाद्-आत्वम्, एत्वम्, ऐस्त्वं च न। राजभ्याम्, राजभिः। राजभ्यः । राज्ञि, राजनि। राजसु । यज्वा, यज्वानौ, यज्वानः । नलोप इति- सुब्विधि, स्वरविधि, संज्ञाविधि और कृत् प्रत्यय परे रहते तुग्विधि के विषय में ही नकार का लोप असिद्ध होता है अन्यत्र नहीं। सुप् सम्बन्धी विधि दो प्रकार की होती है-१. सुप् निमित्तक तथा २. सुप्स्थानिक । यद्यपि **पूर्वत्रासिद्धम्** के द्वारा ही नकार-लोप असिद्ध है तथा पुनः नकार लोप की असिद्धि का कथन नियमार्थ है। सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिर्नियमाय कल्पते अर्थात् स्वतः सिद्ध कार्य के लिए पुनः विधान करना नियमार्थ होता है। इसके अनुसार यदि नकार का लोप असिद्ध हो तो सुप् आदि में ही हो, अन्यत्र नहीं। अतः राज्ञः अश्वः राजन् अश्वः इस अवस्था में नकार

लोप असिद्ध नहीं है, क्योंकि लोपविधायक सूत्र सुबादि विधियों में नहीं है। अब असिद्ध न होने से **अकः सवर्णे दीर्घः** के द्वारा दीर्घ होकर राजाश्वः ऐसा रूप सिद्ध होगा। इत्यसिद्धत्वादिति- इस सूत्र से नकारलोप के असिद्ध होने से आत्व, एत्व और ऐस् आदेश नहीं होते। राजन् भ्याम् यहाँ स्वादिष्वसर्वनाम० के द्वारा राजन् शब्द की पद संज्ञा हो गई। न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य के द्वारा नलोप हो गया। अब सुपि च के द्वारा दीर्घ आकार की प्राप्ति होती है। परन्तु न लोप के असिद्ध होने से दीर्घत्व नहीं होगा। राजभ्याम् । राजन् भिस् यहाँ नकार लोप हो गया। अब अतो भिस ऐस् के द्वारा सुप् स्थ. ानिक ऐस् आदेश प्राप्त हुआ। परन्तु नकार के लोप के असिद्ध होने के कारण यह आदेश न होकर राजभिः बन गया। राजन् ङि यहाँ विभाषा ङि श्योः के द्वारा विकल्प से अकार का लोप होता है। लोप पक्ष में राजन् इ-राज् न् इ-राज्ञ् इ-राज्ञि। अभावपक्ष में राजनि रूप होगा। राजन् सुप् में नकार लोप होने पर बहुवचने झल्येत् के द्वारा एकार आदेश की निवृत्ति होकर राजसु रूप बन गया।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	राजा	राजानौ	राजानः
द्वि०	राजानम्	राजानौ	राज्ञः
तृ०	राज्ञा	राजभ्याम्	राजभिः
च०	राज्ञे	राजभ्याम्	राजभ्यः
पं०	राज्ञः	राजभ्याम्	राजभ्यः
ष०	राज्ञः	राज्ञोः	राज्ञाम्
स०	राज्ञि, राजनि	राज्ञोः	राजसु
सं०	हे राजन्	हे राजानौ	हे राजानः

पथिन् (मार्ग, रास्ता) शब्द

२९३. पथिमथ्यृभुक्षामात्। (७/१/८५) एषामाकारोऽन्तादेशः स्यात् सौ परे। पथि इति- पथिन् (मार्ग), मथिन् (मथनी,) ऋभुक्षिन् (इन्द्र) इन शब्दों को आकार अन्तादेश हो सु परे रहते। पथिन् स् इस दशा में नकार को आकार हो गया। पथि आ स् ऐसी स्थिति बन गई।

२९४. इतोऽत् सर्वनामस्थाने (७/१/८६) पथ्यादेरिकारस्याऽकारः स्यात् सर्वनामस्थाने परे। इत इति- पथिन् आदि के इकार को अकार हो, सर्वनामस्थान परे रहते। पथि आ स् इस स्थिति में पथिन् के इकार को अकार होकर पथ आ स् यह अवस्था हुई। थ इति- पथिन् और मथिन् शब्दों के थकार को न्थ् आदेश हो सर्वनामस्थान परे रहते।

२९५. थो न्थः (७/१/८७) पथिमथोस्थस्य न्थाऽऽदेशः सर्वनामस्थाने। पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः । पथ आ स् ऐसी स्थिति बन जाने पर इस सूत्र से थ् को न्थ् आदेश हुआ। पन्थ आ स् इस दशा में सवर्णदीर्घ और सकार को रुत्व तथा विसर्ग होकर पन्थाः रूप सिद्ध हुआ। पथिन् औ पूर्वोक्त रीति से प्रक्रिया होकर पन्थानौ रूप सिद्ध हुआ। पि. थन् जस् यहाँ पर पूर्ववत् प्रक्रिया होगी। रुत्व तथा विसर्ग कार्य अधिक होगा। पन्थानः । द्वितीया के एकवचन में पन्थानम्, द्वि वचन में पन्थानौ। २९६. भस्य टेर्लोपः १ (७/१/८८) भस्य पथ्यादेष्टेर्लोपः। पथः। पथा। पथिभ्याम्। एवम्- मथिन्, ऋभुक्षिन् । भस्येति- भसंज्ञक पथिन् आदि अङ्ग के टि का लोप हो। पथिन् शस् इस स्थिति में भसंज्ञक अङ्ग होने पथिन् की टि इन् का लोप हो गया। तब पथ् अस् ऐसी स्थिति बन जाने पर रुत्व आदि कार्य होकर पथः रूप सिद्ध हुआ। तृ० एकव० में पथा। पथिन् भ्याम् इस स्थिति में नकार का लोप न लोपः० सूत्र से होने पर रूप सिद्ध होता है। पथिभ्याम् ।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**वहु०**
प्र०	पन्थाः	पन्थानौ	पन्थानः
द्वि०	पन्थानम्	पन्थानौ	पथः
तृ०	पथा	पथिभ्याम्	पथिभिः
च०	पथे	पथिभ्याम्	पथिभ्यः
पं०	पथः	पथिभ्याम्	पथिभ्यः
ष०	पथः	पथोः	पथाम्
स०	पथि	पथोः	पथिषु
सं०	हे पन्थाः	हे पन्थानौ	हे पन्थानः

इसी प्रकार मथिन् तथा ऋभुक्षिन् के रूप होंगे।

मथिन्

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	मन्था:	मन्थानौ	मन्थान:
द्वि०	मन्थानम्	मन्थानौ	मथ:
तृ०	मथा	मथिभ्याम्	मथिभि:
च०	मथे	मथिभ्याम्	मथिभ्य:
पं०	मथ:	मथिभ्याम्	मथिभ्य:
ष०	मथ:	मथो:	मथाम्
स०	मथि	मथो:	मथिषु
सं०	हे मन्था:	हे मन्थानौ	हे मन्थान:

ऋभुक्षिन्

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	ऋभुक्षा:	ऋभुक्षाणौ	ऋभुक्षाण:
द्वि०	ऋभुक्षाणम्	ऋभुक्षाणौ	ऋभुक्ष:
तृ०	ऋभुक्षा	ऋभुक्षिभ्याम्	ऋभुक्षिभि:
च०	ऋभुक्षे	ऋभुक्षिभ्याम्	ऋभुक्षिभ्य:
पं०	ऋभुक्ष:	ऋभुक्षिभ्याम्	ऋभुक्षिभ्य:
ष०	ऋभुक्ष:	ऋभुक्षो:	ऋभुक्षाम्
स०	ऋभुक्षि	ऋभुक्षो:	ऋभुक्षिषु
सं०	हे ऋभुक्षा:	हे ऋभुक्षाणौ	हे ऋभुक्षाण

दकारान्त शब्द

त्यद् (वह), तद् (वह), यद् (जो), एतद् (यह) शब्द।

३१०. तदो: स: सावनन्त्ययो: (७/२/१०६) त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययो: स: स्यात् सौ। स्य:, त्यौ, त्ये। स:, तौ, ते। य:, यौ, ये। एष: एतौ, एते, (एतम्। अन्वादेशे-एनम्, एनौ, एनान्, एनेन एनयो:।) तदोरिति-त्यद् आदियों के अनन्त्य तकार और दकार को सकार हो, सु परे रहते। अनन्त्य का अर्थ है जो अन्त में नहीं है। त्यद् स् इस दशा में सबसे पहले **त्यदादीनाम:** सूत्र से दकार को अकार हुआ। अतो गुणे सूत्र से पूर्व अकार को पररूप एकादेश होकर त्य स् यह स्थिति बनी, प्रकृत सूत्र से आदि तकार को सकार हुआ और प्रत्यय रेफ को रु और रेफ को विसर्ग। स्य: । त्यद्, तद्, यद् और एतद् इन चारों शब्दों में विभक्ति आने पर त्यदादीनाम: से दकार को अकार आदेश होता है। पूर्व पर दोनों अकारों के स्थान में अतो गुणे से पररूप एकादेश होकर क्रमश: त्य, त, य, और एत-इस रूप में अकारान्त बन जाते हैं। छात्रों को इतना कार्य सभी विभक्तियों में कर लेना चाहिए। इसके पश्चात् विभक्ति कार्य करने चाहिए।

तद्

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	स:	तौ	ते
द्वि०	तम्	तौ	तान्
तृ०	तेन	ताभ्याम्	तै:
च०	तस्मै	ताभ्याम्	तेभ्य:
पं०	तस्मात्	ताभ्याम्	तेभ्य:
ष०	तस्य	तयो:	तेषाम्
स०	तस्मिन्	तयो:	तेषु

यद्

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**

प्र०	यः	यौ	ये
द्वि०	यम्	यौ	यान्
तृ०	येन	याभ्याम्	यैः
च०	यस्मै	याभ्याम्	येभ्यः
पं०	यस्मात्	याभ्याम्	येभ्यः
ष०	यस्य	ययोः	येषाम्
स०	यस्मिन्	ययोः	येषु

एतद्

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	बहु०
प्र०	एषः	एतौ	एते
द्वि०	एतम्	एतौ	एतान्
तृ०	एतेन	एताभ्याम्	एतैः
च०	एतस्मै	एताभ्याम्	एतेभ्यः
पं०	एतस्मात्	एताभ्याम्	एतेभ्यः
ष०	एतस्य	एतयोः	एतेषाम्
स०	एतस्मिन्	एतयोः	एतेषु

अन्वादेश इति' एतद् शब्द को अन्वादेश में **'द्वितीया०'** सूत्र से एन आदेश होकर द्वि० में- एनम्, एनौ, एनान्, टा में एनेन, ओस् में एनयोः- ये रूप इदम् शब्द के समान ही बनते हैं।

युष्मद् (तू), अस्मद् (मैं) शब्द -

इन दोनों शब्दों की रूप सिद्धि एकसमान है। अतः दोनों के रूप साथ साथ सिद्ध किये जाते हैं। ३११. ङेप्रथमयोरम् (७/१/२८) युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङे इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चाऽमादेशः । ङ इति- युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे ङे और प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के स्थान पर 'अम्' आदेश होता है।

३१२. त्वाऽहौ सौ (७/२/९४) अनयोर्मपर्यन्तस्य त्वाऽहौ आदेशौ स्तः (सौ परे।)

त्वाऽहा इति- युष्मद् और अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त (युष्म् और अस्म्) भाग को क्रम से त्व और अह आदेश हों, सु परे रहते।

३१३. शेषे लोपः (७/२/९०) एतयोष्टिलोपः। त्वम। अहम्। शेष इति- शेष (अर्थात् आत्व और यत्व की निमित्त विभक्ति से भिन्त्र) विभक्ति परे रहते इनकी टि का लोप हो। युष्मद् सु - यहाँ ङे प्रथमयोरम् सूत्र के द्वारा अम् आदेश हो गया। युष्मद् अम्। तब त्वाऽऽहौ सौ के द्वारा सु विभक्ति में युष्मद् के युष्म् भाग को त्व आदेश हो गया। त्व अद् अम्। अकः सवर्णे दीर्घः से प्राप्त दीर्घादेश को बाधकर **अतो गुणे** के द्वारा पररूप हो गया। त्वद् अम्। **शेषे लोपः** के द्व ारा टि का लोप होकर त्वद् अम्-त्व् अम्-त्वम् सिद्ध हो गया। इसी प्रकार अस्मद् सु में समस्त प्रक्रिया पूर्ववत् होगी। अस्मद् अम्-अह्अद् अम्- अहद् अम्-अह अम्- अहम् । आत्व की निमित्त विभक्तियाँ-औ, द्वितीया और आदेश रहित हलादि। यत्व की निमित्त ये हैं-आदेश रहित अजादि विभक्तियाँ।

३१४. युवाऽऽवौ द्विवचने (७/२/९२) द्वयोरुक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ । युवेतिविभक्ति परे रहते द्वित्व संख्या के वाचक युष्मद् और अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त (युष्म्, अस्म्) भाग को क्रम से युव और आव आदेश हों। इससे सभी द्विवचनों में युव और आव आदेश हो जायेंगे। औ, औट् तीनों भ्याम् और दोनों ओस् में यह सूत्र कार्य करता है। ३१५. प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् (७/२/८८) औङ्येतयोरात्वं लोके । युवाम्। आवाम्। प्रथमाया इति औङ् परे रहते युष्मद् और अस्मद् शब्दों को आकार अन्तादेश हो लोक में। प्रथमायाश्च० सूत्र आत्व विधायक है। युष्मद् औ यहाँ डेप्रथमयोरम् के द्व ारा औ को अम् आदेश हो गया। युष्मद् अम्। अब युवाऽऽवौ द्विवचने के द्वारा युव आदेश हो गया। युव अद् अम्। अतो गुणे से पर रूप हो गया। युवद् अम्। प्रथमायाश्च- के द्वारा आकार अन्त्यादेश हो गया। युव आ अम्। **अकः सवर्णे दीर्घः** के द्वारा युवा अम्- युवाम् बन गया। अस्मद् औ पूर्ववत् प्रक्रिया होगी। अस्मद् अम्-आव अद् अम्-आवद् अम्-आवआ अम्- आवा अम्- आवाम्।

३१६. यूय- वयौ जसि (७/२/९३) अनयोर्मपर्यन्तस्य (यूयवयौ स्तो जसि।) यूयम्। वयम्। यूयेति- जस् परे रहते इनके (अर्थात् युष्मद् व अस्मद् के) मपर्यन्त भाग को यूय और वय आदेश हों। युष्मद् जस् ङे प्रथमयोरम् के द्वारा अम्

आदेश। तब यूयवयौ० के द्वारा यूय आदेश हो गया। युष्मद् अम्-यूय अद् अम्-पररूप होकर यूयद् अम्। शेषे लोपः से टि का लोप होकर यूय् अम् यूयम् बन गया। अस्मद् जस् - पूर्ववत् प्रक्रिया जानें। अस्मद् अम्-वय अद् अम् वयद् अम् वय् अम् वयम्।

३१७. त्वमावेकवचने (७/२/९७) एकस्योक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ। त्वमाविति- विभक्ति परे रहते युष्मद् तथा अस्मद् के मपर्यन्त भाग को त्व और म आदेश हों एकवचन में। युष्मद् अम् सर्वप्रथम अमादेश हुआ। तब **त्वमावेकव. चने०** के द्वारा त्व आदेश हुआ। त्व अद् अम्। पररूप होकर त्वद् अम्।

३१८. द्वितीयाया च (७/२/८७) अनयोरात् स्यात्। त्वाम्। माम्। द्वितीयायामिति-द्वितीया विभक्ति परे रहते युष्मद् और अस्मद् शब्द को आकार अन्तादेश हो। यह सूत्र भी आत्व विधायक है। त्वद् अम्- यहाँ **द्वितीयायां च** के द्वारा आकार अन्तादेश हो गया। त्व आ अम्। **अकः सवर्णे दीर्घः** से दीर्घ होकर त्वाम् बन गया। अस्मद् अम् - यहाँ पूर्ववत् प्रक्रिया होगी। म अद् अम्-मद्- अम् आ अम्-माम्। द्वितीया के द्विवचन में प्रथमा के समान युवाम्, आवाम् रूप बनेंगे।

३१९. शसो न (७/१/२९) आभ्यां शसो न स्यात्। अमोऽपवादः। आदेः परस्य । संयोगान्तलोपः । युष्मान्। अस्मान्। शस इति-युष्मद् और अस्मद् शब्द से परे शस् को नकार आदेश हो। अम इति- यह नकार आदेश ङेप्रथमयोः सूत्र से प्राप्त अम् आदेश का अपवाद है। पर को विहित होने से यह नकारादेश **आदेः परस्य** सूत्र के बल पर इस के आदि को होगा। युष्मद् शस् अस् यहाँ शसो नः के द्वारा शस् के अकार को नकार हो गया। युष्मद् न् स्। द्वितीयायां च के द्वारा आकारादेश हो गया। युष्म आन्स्। **अकः सवर्णे दीर्घः** के द्वारा दीर्घ हो गया। युष्मान् स्। **संयोगान्तस्य लोपः** के द्वारा सकार का लोप हो गया। युष्मान्। इसी प्रकार अस्मद् शस्-अस्मद् न् स्-अस्म आन्स् अस्मान् स्-अस्मान्।

३२०. योऽचि (७/२/८९) अनयोर्यकारादेशः स्यादनादेशेऽजादौ परतः। त्वया। मया। योऽचीति-अनादेश अजादि विभक्ति परे रहते युष्मद् और अस्मद् शब्दों को यकार आदेश हो। यह यत्व विधायक सूत्र है। अनादेश का अर्थ है जिसको कुछ आदेश न हुआ हो तथा अजादि का अर्थ है जिस के आदि में कोई स्वर हो। ध्यान रहे कि जहाँ कोई आदेश होकर विभक्ति अजादि होगी तो वहाँ यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा। यथा- युष्मत् तथा अस्मद् आदि रूपों में भ्यस् के स्थान पर अत् आदेश (पञ्चम्या अत्) होकर अजादि विभक्ति प्राप्त होती है। परन्तु आदेश होने के कारण यहाँ पर इस सूत्र की प्रवृत्ति (यकारादेश) नहीं होगी। युष्मद् टा - यहाँ त्वमा० के द्वारा त्व आदेश हो गया। त्व अद् आ। पररूप होकर-त्वआ, हो गया। अब प्रकृत सूत्र के द्वारा यकार आदेश हो गया। त्वय् आ-त्वया। अस्मद् टा - अस्मद् आ-मअद् आ-मआ-मय् आ-मया।

३२१. युष्मदस्मदोरनादेशे (७/२/८६) अनयोरात् स्याद् अनादेशे हलादौ विभक्तौ। युवाभ्याम्। आवाभ्याम् । युष्माभिः। अस्माभिः। युष्मदिति- अनादेश हलादि विभक्ति परे रहते युष्मद् और अस्मद् अङ्ग को आकार आदेश हो। युष्मद्भ्याम्- युवावौ० के द्व ारा युवअद्भ्याम् । पररूप होकर युवद्भ्याम् । प्रकृत सूत्र के द्वारा आकार आदेश तथा सवर्ण दीर्घ हो गया। युव आ भ्याम् युवाभ्याम् । अस्मद्भ्याम् आव अद्भ्याम् आवद्भ्याम् आव आ भ्याम् आवाभ्याम् । युष्मद् भिस् - दकार को आकार हो गया। युष्म आ भिस्-युष्माभिस्-युष्माभिः। अस्मद् भिस्-अस्म आ भिस् अस्माभिस्- अस्माभिः ।

३२२. तुभ्यमह्यौ ङयि (७/२/९५) अनयोर्मपर्यन्तस्य तुभ्यमह्यौ स्तो ङयि। टिलोपः। तुभ्यम्। मह्यम। तुभ्येति-ङे परे रहते (युष्मद् तथा अस्मद् के) मपर्यन्त भाग को तुभ्य और **मह्य** आदेश हों। युष्मद् ङे - ङे प्रथमयोरम् के द्वारा ङे को अम् आदेश। तुभ्यमह्यौ० के द्वारा तुभ्य आदेश हो गया। युष्मद् अम्। तुभ्य अद् अम्। अतो गुणे से पररूप हो गया। तुभ्यद् अम्। शेषे लोपः के द्वारा टि का लोप हो गया। तुभ्य् अम्-तुभ्यम्। अस्मद् ङे- अस्मद् अम्-मह्यअअम् मह्यद् अम्-मह्य अम्- मह्यम्।

३२३. भ्यसोऽभ्यम् (७/१/३०) आभ्यां परस्य (भ्यसो अभ्यम् आदेशः।) युष्मभ्यम्। अस्मभ्यम्। भ्यस इति-युष्मद् और अस्मद् से परे भ्यस् को अभ्यम् आदेश हो। युष्मद् भ्यस् - भ्यसोऽभ्यम् के द्वारा अभ्यम् आदेश हो गया। शेषे लोपः से टि का लोप हो गया। युष्मद् अभ्यम्-युष्म् अभ्यम्- युष्मभ्यम्। एकवचनस्येति (युष्मद् और अस्मद्) इन दोनों से परवर्ती ङस् को अत् आदेश हो। इसी प्रकार अस्मभ्यम् ।

३२४. एकवचनस्य च (७/१/३२) आभ्यां ङसेरत्। त्वत्। मत्। युष्मद् ङसि - त्वमावेकवचन० के द्वारा त्व अद् ङसि हो गया। पररूप होकर एकवचनस्य च के द्वारा अत् आदेश हो गया। त्वद् ङसि। त्वद् अत्। शेषे लोपः से टि का लोप हो गया। त्व् अत्-त्वत्। मत्। अस्मद् ङसि -पूर्ववत् प्रक्रिया समझें। म अद् ङसि-मद् ङसि-मद् अत्-म् अत्-

३२५. पञ्चम्या अत् (७/१/३१) आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत् स्यात। युष्मत्। अस्मत्। पञ्चम्या इति-युष्मद् और अस्मद् से परे पञ्चमी के भ्यस् को अत् आदेश हो। पञ्चमी के बहुवचन में युष्मद् भ्यस् इस दशा में भ्यस् को अत् आदेश हुआ। तब **शेषे लोपः** के द्वारा टि (अद्) का लोप होकर युष्मत् रूप सिद्ध हुआ। इसी प्रकार अस्मत् बनेगा यहाँ

भ्यस् को अत् आदेश हो गया। तब अनादेश विभक्ति न मिलने के कारण आत्व नहीं हुआ। आत्व निमित्तक विभक्ति न होने से **शेषे लोपः** से टि का लोप हुआ। तब रूप बना। इसी प्रकार अस्मद् भ्यस् प्रकृत सूत्र के द्वारा अत् आदेश हो गया। पूर्ववत् प्रक्रिया होकर अस्मत् रूप सिद्ध हो गया। अस्मद् अत्-अस्म् अत्-अस्मत्।

३२६. तवममौ ङसि (७/२/९६) अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो ङसि। तवममाविति-ङस् परे रहते युष्मद् और अस्मद् के मपर्यन्त भाग को तव और मम आदेश हों। युष्मद् ङस् - यहाँ तवममौ के द्वारा तव आदेश हो गया। पररूप होकर तव अद् ङस्-तवद् ङस् हो गया।

३२७. युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् (७/१/२७) (युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङसोऽशादेशः स्यात्)। तव। मम। युवयोः। आवयोः । युष्मदिति-युष्मद् और अस्मद् शब्दों से ङस् को अश् आदेश हो। अश् का शकार इत् है। अश् शित् होने से **अनेकाल् शित्**- के द्वारा सम्पूर्ण के स्थान पर होगा। युष्मद् ङस् में तवममौ० से तव आदेश, पररूप हो गया। तवद् ङस् प्रकृत सूत्र के द्वारा अश् आदेश। तवद् अश्-तवद् अ। अब शेषे लोपः के द्वारा टि का लोप हो गया। तव् अ-तव। इसी प्रकार अस्मद् ङस्-मम। युष्मद् ओस् - युवावौ० के द्वारा युव आदेश, पररूप आदि होकर। युव अद् ओस्। अनादेश अजादि विभक्ति परे रहते योऽचि के द्वारा दकार को यकार आदेश हो गया। युवद् ओस्-युवय् ओस्-युवयोः । इसी प्रकार अस्मद् ओस् में समग्र प्रक्रिया पूर्ववत् होकर आवयोः बनेगा।

३२८. साम आकम् (७/१/३३) आभ्यां परस्य साम आकम् स्यात्। युष्माकम्। अस्माकम्। त्वयि । मयि। युवयोः । आवयोः। युष्मासु। अस्मासु । साम इति- युष्मद् और अस्मद् से परे साम् को आकम् आदेश हो। आम् को सुट् आगम होने से साम् बनता है अतः साम् का तात्पर्य है-आम्। सुट् सहित आम् को आकम् आदेश का इसमें विधान है। क्योंकि युष्मद् और अस्मद् शब्द हलन्त हैं। अतः इनसे परे आम् को सुट् की प्राप्ति नहीं। अतः सूत्र में साम् यह सकार सहित पढना व्यर्थ है। इसका समाधान यह है कि यदि आम् को ही आकम् कर दिया जाय तो शेषे लोपः से अन्त्यलोप पक्ष में दकार का लोप होगा तथा ये शब्द अकारान्त बन जायेंगे और सुट् की प्राप्ति होगी। उस (भावी) सुट् की निवृत्ति के लिए सुट् विशिष्ट आम् को आकम् का विधान किया है। अतः आकम् होने के अनन्तर सुट् नहीं होता। शेषे लोपः सूत्र के अर्थ के विषय में दो पक्ष हैं। एक पक्ष के अनुसार अन्त्य का लोप होता है। इसे ही अन्त्यलोप पक्ष कहते हैं। उनके अनुसार **आत्वयत्वनिमित्तेतरविभक्तौ एतयोरन्त्यस्य लोपः** है। दूसरा पक्ष टिलोप पक्ष कहलाता है। इसके अनुसार मपर्यन्त भाग से अवशिष्ट भाग अर्थात् टि (अद्) का लोप होता है। शेषे इति षष्ठ्यर्थे सप्तमी तथा च मपर्यन्ताच्छेषस्य लोपः। अन्त्यलोप पक्ष में ही अकारान्त बन जाने से सुट् की प्राप्ति होती है। उसी भावी सुट् के निवारण के लिए साम् कहा गया है। टिलोप पक्ष में ये हलन्त ही रहते हैं। अतः वहाँ सुट् सहित निर्देश की आवश्यकता नहीं। युष्मद् आम् - यहाँ आम् को आकम् आदेश हुआ **शेषे लोपः** के द्वारा अन्त्य लोप हुआ। तब युष्म आकम् इस स्थिति में सवर्ण दीर्घ होकर युष्माकम् बना। टिलोप पक्ष में युष्म् आकम्- युष्माकम् रूप बनेगा। इसी प्रकार अस्माकम् बन गया। युष्मद् ङि - यहाँ त्वमावेकवच० के द्वारा त्व आदेश हुआ। त्व अद् इ। अतो गुणे के द्वारा पररूप हुआ। योऽचि के द्वारा यकार आदेश होकर त्वयि रूप बना। अस्मद् ङि यहाँ मयि रूप बना। सुप् में युष्मदस्मदो के द्वारा दकार को आकार आदेश होगा। तब सवर्ण दीर्घ होकर युष्मासु तथा अस्मासु रूप बनेंगे।

३२९. युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वानावौ (८/१/२०) पदात्परयोरपादादौ स्थितयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोः युष्मदस्मदोः वाम् नौ इत्यादेशौ स्तः। युष्मदिति- किसी पद से पर षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीया विभक्तियों से युक्त युष्मद् और अस्मद् शब्दों को क्रमशः वाम् तथा नौ आदेश होते हैं, परन्तु ये पाद के प्रारम्भ में न हों।

३३०. बहुवचनस्य वस्नसौ (८/१/२१) उक्तविधयोरनयोः षष्ठ्यादिबहुवचनान्तयोर्वस्नसौ स्तः । बहुव०- पद से पर, जो पाद के आदि में नहीं है, ऐसे षष्ठी आदि बहुवचनान्त युष्मद् और अस्मद् शब्दों को क्रमशः वस् तथा नस् हों। सभी विभक्तियों के द्विवचन में पूर्वसूत्र के द्वारा वाम् तथा नौ होते हैं तथा बहुवचन में प्रकृतसूत्र के द्वारा वस् और नस् होते हैं।

३३१. तेमयावेकवचनस्य (८/१/२२) उक्तविधयोरनयोः षष्ठीचतुर्थेकवचनान्तयोस्ते मे एतौ स्तः। तेमया इति- पद से पर, जो पाद के आदि में नहीं है, ऐसे षष्ठ्यादि के एकवचनान्त युष्मद् तथा अस्मद् को क्रमशः ते तथा मे आदेश हों।

३३२. त्वामौ द्वितीयायाः (८/१/२३) द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा मा इत्यादेशौ स्तः। श्रीशस्त्वाऽवतु माऽपीह दत्तात्ते ते मेऽपि शर्म सः। स्वामी ते मेऽपि स हरिः पातु वामपि नौ विभुः ।। सुखं वां नौ ददात्वीशः, पतिर्वामपि नौ हरिः। सोऽव्याद् वो नः शिवं वो नो दद्यात् सेव्योऽत्र वः स नः।। (वा०) समानवाक्ये युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः। एकतिङ् वाक्यम्। तेनेह न- ओदनं पच, तव भविष्यति। इह तु स्यादेव-शालीनां ते ओदनं दास्यामि। (वा०) एते वांनावादयोऽनन्वादेशे वा वक्तव्याः। अन्वादेशे तु नित्यं स्युः। (अनन्वादेशे) धाता ते भक्तोऽस्ति, धाता तव भक्तोऽस्ति वा। (अन्वादेशे) तस्मै ते नमः इत्येव। सुपात्, सुपाद्। सुपादौ। त्वामा इति (पूर्वोक्त दशा में) द्वि

तीया के एकवचन में युष्मद् व अस्गद् को क्रमशः त्वा तथा मा आदेश हों। श्लोकों का हिन्दी अर्थ- श्रीश इति इस संसार में लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु तुम्हें पाले (रक्षा करे) तथा मुझे भी। वह तेरे लिये तथा मेरे लिये कल्याण को देवे। वह भगवान् विष्णु तुम्हारा और मेरा भी स्वामी है। व्यापक भगवान् तुम दो की तथा हम दो की भी रक्षा करे ॥१॥ सर्वशक्तिमान् परमात्मा तुम दो के लिए तथा हम दो के लिए सुख देवे। भगवान् तुम दो का तथा हम दो का भी स्वामी है। वह भगवान् तुम सब की तथा हम सब की रक्षा करे और तुम सब के लिए तथा हम सबके लिए कल्याण देवे। इस संसार में वह भगवान् तुम सबका तथा हम सब का सेवनीय है। एकेति- युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर होने वाले आदेश (वाम्, नौ आदि) एक वाक्य में ही होते हैं। जिसमें एक तिङन्त पद रहता है, उसे वाक्य कहते हैं अर्थात् एक मुख्य क्रिया वाले शब्द समूह को वाक्य कहते हैं। यथा ओदनं पच, तव भविष्यति यहाँ दो वाक्य होने के कारण प्रस्तुत वार्तिक से तव के स्थान पर ते नहीं हुआ। एक वाक्य का उदाहरण है- शालीनां ते ओदनं दास्यामि। अतः यहाँ तुभ्यं के स्थान पर ते आदेश हो जाता है। एत इति- अन्वादेश न होने पर पूर्वोक्त (वाम् इत्यादि) आदेश विकल्प से होते हैं। अन्वादेश के विषय में नित्य हों। यथा धाता ते भक्तोऽस्ति में अन्वादेश नहीं है, अतः इसके स्थान पर धाता तव भक्तोऽस्ति इस प्रकार वैकल्पिक रूप हो सकता है। अन्वादेश होने पर ये आदेश नित्य होगा। यथा तस्मै ते नमः में अन्वादेश होने के कारण तुभ्यम् के स्थान पर नित्य ते आदेश होगा।

युष्मद्

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	त्वम्	युवाम्	यूयम्
द्वि०	त्वाम्	युवाम्	युष्मान्
	त्वा	वाम्	वः
तृ०	त्वया	युवाभ्याम्	युष्माभिः
च०	तुभ्यम्	युवाभ्याम्	युष्मभ्यम्
	ते	वाम्	वः
पं०	त्वत्	युवाभ्याम्	युष्मत्
ष०	तव	युवयोः	युष्माकम्
	ते	वाम्	वः
स०	त्वयि	युवयोः	युष्मासु

अस्मद्

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	अहम्	आवाम्	वयम्
द्वि०	माम्	आवाम्	अस्मान्
	मा	नौ	नः
तृ०	मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः
च०	मह्यम्	आवाभ्याम्	अस्मभ्यम्
	मे	नौ	नः
पं०	मत्	आवाभ्याम्	अस्मत्
ष०	मम	आवयोः	अस्माकम्
	मे	नौ	नः
स०	मयि	आवयोः	अस्मासु

तकारान्त महत् (बड़ा)

३४२. सान्तमहतः संयोगस्य (६/४/१०) सान्तसंयोगस्य महतश्च यो नकारः, तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । महान्, मह. ान्तौ, महान्तः हे महन्, महद्भ्याम्। सान्त इति- सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे रहते सकारान्त संयोग और महत् शब्द का जो नकार उसकी उपधा को दीर्घ हो महत् स् इस दशा में उगित् होने से उगिदचां सर्वनाम० से नुम् आगम हुआ। मित् होने से अन्त्य अच् से परे हुआ। तब महन् त् स् इस स्थिति में उपधादीर्घ, हल्ङ्यादिलोप और संयोगान्तलोप हुए। महान् त् स्। महान् त्। महान्। **संयोगान्तस्य लोपः** असिद्ध है। अतः **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** के द्वारा नलोप नहीं होता है। महत् औ-नुम् तथा उपधादीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ। महान्तौ। महत् जस्-पूर्ववत् प्रक्रिया समझें। महान्तः । हे महत् सु- यहाँ पूर्ववत् प्रक्रिया होगी।

हे महन्। उपधा दीर्घ नहीं होगी। महत् भ्याम् जश्त्व करके रूप सिद्ध हो जायेगा–महद्भ्याम् ।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	महान्	महान्तौ	महान्तः
द्वि०	महान्तम्	महान्तौ	महतः
तृ०	महता	महद्भ्याम्	महद्भिः
च०	महते	महद्भ्याम्	महद्भ्यः
पं०	महतः	महद्भ्याम्	महद्भ्यः
ष०	महतः	महतोः	महताम्
स०	महति	महतोः	महत्सु
सं०	हे महन्	हे महान्तौ	हे महान्तः

भवत् (आप) शब्द।

भातेरिति भा धातु से डवतु प्रत्यय हुआ। ड की चुटू से और उकार की उपदेशे० से इत्संज्ञा होकर **तस्य लोपः** से लोप हुआ। डित्वेति भा अवत् इस स्थिति में। क्योंकि सु कप् प्रत्यय के बीच डवतु नहीं आता। अतः डवतु परे रहते भसंज्ञा नहीं होती तथापि डित् करने के सामर्थ्य से टि (आकार) का लोप हुआ, अन्यथा डित् करना व्यर्थ हो जाता। इस प्रकार भवत् शब्द बन गया। प्रथमा के एकवचन में उगिदचां० से नुम् आगम अत्वन्त होने से उपधा को दीर्घ हल्ङ्याब्भ्यः० से अपृक्त सकार का लोप और संयोगान्तस्य– सूत्र के द्वारा तकार का लोप हो गया। भवान् रूप सिद्ध हुआ। अन्य सर्वनामस्थानों में भी इसी प्रकार नुम् होता है। शेष स्थलों पर कोई विशेष कार्य नहीं होता। **विभक्तिएक० द्विव० बहुव०**

प्र०	भवान्	भवन्तौ	भवन्तः
द्वि०	भवन्तम्	भवन्तौ	भवतः
तृ०	भवता	भवद्भ्याम्	भवद्भिः
च०	भवते	भवद्भ्याम्	भवद्भ्यः
पं०	भवतः	भवद्भ्याम्	भवद्भ्यः
ष०	भवतः	भवतोः	भवताम्
स०	भवति	भवतोः	भवत्सु

घृतस्पृश् (घी का स्पर्श करने वाला)

३५०. स्पृशोऽनुदके क्विन् (३/२/५८) अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन्। घृतस्पृक्, घृतस्पृग्, घृतस्पृशौ, दधृक्, दधृग्। दधृषौ। दधृषः। दधृग्भ्याम्। रत्नमुट्, रत्नमुड्। रत्नमुषौ। रत्नमुद्भ्याम्। षट्, षड्। षड्भिः। षड्भ्यः २। षण्णाम्। षट्सु, षट्त्सु । घृतस्पृशः। (इति शक. ारान्ताः ।) रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वात् **ससजुषो रुः** इति रुत्वम् । स्पृश इति– उदक शब्द को छोडकर सुबन्त उपपद रहते स्पृश् से क्विन् प्रत्यय हो। घृतं स्पृशति इस विग्रह में घृत सुबन्त उपपद रहते स्पृश् धातु से क्विन् प्रत्यय हुआ। उसका सर्वापहारी लोप हुआ। तब घृतस्पृश् शब्द बना। कृदन्त होने से कृत्तद्धितसमासाश्च के द्वारा इसकी प्रातिपदिकसंज्ञा हुई। प्रातिपदिकसंज्ञक होने से सु आदि की उत्पत्ति हुई। प्रत्ययः। परश्च। स्वौजसमौट्०। घृतस्पृश् शब्द क्विन् प्रत्ययान्त है। अतः इसके रूप तादृश् के समान होते हैं, सर्वप्रथम षकार आदेश, जश्त्व तथा क्विन्प्रत्यय० से कुत्व आदि कार्य होते है। सुप् में **आदेशप्रत्यययोः** के द्वारा मूर्धन्य आदेश होता है।

विभक्ति	**एक०**	**द्विव०**	**बहुव०**
प्र०	घृतस्पृक्–ग्	घृतस्पृशौ	घृतस्पृशः
द्वि०	घृतस्पृशम्	घृतस्पृशौ	घृतस्पृशः
तृ०	घृतस्पृशा	घृतस्पृग्भ्याम्	घृतस्पृग्भ्यः
च०	घृतस्पृशे	घृतस्पृग्भ्याम्	घृतस्पृग्भ्यः
पं०	घृतस्पृशः	घृतस्पृग्भ्याम्	घृतस्पृग्भ्यः
ष०	घृतस्पृशः	घृतस्पृशोः	घृतस्पृशाम्
स०	घृतस्पृशि	घृतस्पृशोः	घृतस्पृक्षु
सं०	हे घृतस्पृक्–ग्	हे घृतस्पृशौ	हे घृतस्पृशः

सकारान्त शब्द विद्वस् (विद्वान्) विद्वस् सु- नुम् आगम वसु प्रत्ययान्त शब्द है। वसु प्रत्यय उगित् है। अतः उगिदचाम्० के द्वारा सर्वनाम-स्थान विभक्ति परे रहते नुम् आगम होगा। विद्वस् होकर विद्वन् स् सु बना। अपृक्त सकार का लोप हो गया। तब संयोगान्त सकार का लोप हो गया। विद्वन् स्-विद्वन्। क्योंकि **संयोगान्तस्य लोपः (८/२/२३)** असिद्ध है। अतः सर्वनामस्थाने० के द्वारा दीर्घ की प्राप्ति नहीं हुई। तब सान्तमहतः - के द्वारा दीर्घ हुआ। विद्वान। सम्बुद्धि में दीर्घत्व का निषेध होता है। विद्वन्।

३५३. वसोः सम्प्रसारणम् (६/४/१३१) वस्वन्तस्य भस्य संप्रसारणं स्यात्। विदुषः। वसुस्रंसु- इति दः- विद्वद्भ्याम्। वसोरिति- वसु प्रत्यय जिसके अन्त में है, ऐसे भसंज्ञक अङ्ग को सम्प्रसारण हो। विद्वस् शस् प्रकृत सूत्र के द्वारा सम्प्रसारण हुआ, पररूप हुआ। विदुस् अस्। **आदेशप्रत्यययोः** के द्वारा मूर्धन्य आदेश हुआ। विदुषः। विद्वस् भ्याम् वसुस्रंसु0 के द्वारा सकार को दकार हो गया। विद्वद्भ्याम्।

विभक्ति	**एक०**	**द्विव०**	**बहुव०**
प्र०	विद्वान्	विद्वांसौ	विद्वांसः
द्वि०	विद्वांसम्	विद्वांसौ	विदुषः
तृ०	विदुषा	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भिः
च०	विदुषे	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भ्यः
पं०	विदुषः	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भ्यः
ष०	विदुषः	विदुषोः	विदुषाम्
स०	विदुषि	विदुषोः	विद्वत्सु
सं०	हे विद्वन्	हे विद्वांसौ	हे विद्वांसः

अदस् (वह)

३५५. अदस औ सुलोपश्च (७/२/१०७)

अदस औत् स्यात् सौ परे, सुलोपश्च। तदोः सः0 इति सः असौ। त्यदाद्यत्वम्, पररूपत्वम्, वृद्धिः। अदस इति- सु परे रहते अदस् को औकार आदेश हो तथा सु का लोप भी हो। अदस् सु - यहाँ त्यदादीनामः के द्वारा अकार आदेश प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा इसका बाध होकर सुलोप और औ अन्तादेश होगा। अद औ सु- अदऔ। वृद्धिरेचि के द्वारा वृद्धि आदेश हो गया। अदौ। अदसोऽसे० से ऊ प्राप्त हुआ, परन्तु तदोः सः (पा० ७.२.१०६) की दृष्टि में असिद्ध होने से प्रवृत्त न हुआ। तब तदोः सः साव० के द्वारा अनन्त्य दकार को सकार हुआ। असौ। अदस् औ में त्यदादीनामः के द्वारा अकार आदेश हुआ। अतो गुणे के द्वारा पररूप हुआ। अद अ औ-अद औ। वृद्धिरेचि के द्वारा वृद्धि आदेश प्राप्त था। प्रथमयोः पूर्व० के द्वारा पूर्वसवर्ण दीर्घ की प्राप्ति हुई। तब **नादिचि** के द्वारा इसका निषेध हुआ। पुनः वृद्धि आदेश होकर अदौ बन गया। ३५६. अदसोऽसेर्दादु दो मः (८/२/८०) अदसोऽसान्तस्य दात् परस्य उदूतौ स्तो दस्य मश्च। आन्तरतम्याद् ह्रस्वस्य उः, दीर्घस्य ऊः। अमू। जसः शी, गुणः। अदस इति- जिसके अन्त में सकार न हो, ऐसे अदस् के दकार से परवर्ती वर्ण को उकार तथा ऊकार हो व दकार को मकार हो। आन्तर०- परिणाम रूप सादृश्य से ह्रस्व को ह्रस्व तथा दीर्घ वर्ण को दीर्घ वर्ण होता है। अदौ ऐसा हो जाने पर प्रकृत सूत्र के द्वारा दीर्घ ऊकार हुआ। दकार को मकार हुआ। तब अमू बन गया। जसः शीति- जस् में त्यदाद्यत्व और पररूप होने पर अकारान्त बन जाने से जस् को **जसः शी** से शी आदेश हुआ। अदस् जस्। अद अ जस्। अद शी। गुण इति- शकार के लोप होने पर गुण एकादेश हुआ। तब अदे यह स्थिति हुई। अदे।

३५७. एत ईद् बहुवचने (८/२/८१) अदसो दात् परस्यैत ईद्, दस्य च मो बह्वर्थोक्तौ। अमी। **पूर्वत्रासिद्धम्** इति विभक्तिकार्य प्राक्, पश्चादुत्वमत्वे। अमुम्, अमू, अमून्। मुत्वे कृते घिसंज्ञायां ना भावः। एत इति- बहुत्व की विवक्षा में अदस् शब्द के दकार से परवर्ती एकार को ईत् आदेश हो तथा दकार को मकार आदेश हो। अदस् जस् - यहाँ सकार को **त्यदादीनामः** से अकार तथा **अतो गुणे** से पररूप हुआ। तब **जसः शी** के जस् को शी आदेश हुआ। शकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो गया। तब **आद् गुणः** के द्वारा गुण आदेश हुआ। अदस् जस्- अद अ जस् अद जस्- अद शी-अद ई-अदे। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा एकार को ईकार तथा दकार को मकार होकर अमी रूप सिद्ध हुआ। पूर्वत्रा० - उत्व तथा मत्व कार्य विधायक सूत्र त्रिपादी में स्थित हैं, वे असिद्ध हैं। अतः पहले विभक्ति कार्य होगे। पीछे उत्व आदि कार्य होंगे। अदस् अम् यहाँ सकार को अकार हो गया। पररूप हो गया। अद अ अम्-अद अम्। अमि पूर्वः के द्वारा पूर्व सवर्ण हो गया। अदम्। अब पूर्व सूत्र के द्वारा उत्व तथा मत्व कार्य होकर अमुम् रूप सिद्ध हुआ। शस् में पररूप आदि होकर अद अस् यह रूप बना। प्रथमयोः पूर्व के द्वारा नकार हुआ। अदान्। तब उत्व तथा मत्व होकर अमून् बना। मुत्वे कृते- तृतीया एकवचन में अद टा ऐसा बन जाने पर मुत्व हुआ। अमु टा। **शेषो घ्यसखि** के द्वारा घिसंज्ञा हुई तब टा को ना आदेश हुआ।

अमुना। आङो नाऽस्त्रि०। ३५८. न मु ने (८/२/३) ना भावे कर्तव्ये कृते च मुभावो नासिद्धः। अमुना। अमूभ्याम् । अमीभिः । अमुष्मै। अमीभ्यः। अमुष्मात। अमुष्य। अमुयोः। अमीषाम्। अमुष्मिन्। अमीषु। न मु इति- ना भाव करना हो अथवा कर लिया हो तो मु भाव असिद्ध नहीं होता। अमु टा इस दशा में **अदसोऽसेर्दादु दो मः (पा० ८.२.८०)** से प्राप्त मकार व उकार आडो नाऽस्त्रियाम् (पा० ७.३.११९) के प्रति असिद्ध है। अतः ना आदेश की प्राप्ति न होगी। इसका समाधान है कि नाभाव करने में मुभाव असिद्ध नहीं होता है। जब नाभाव करने में मुभाव असिद्ध न हुआ तो ह्रस्व उकारान्त मिल जाने से घिसंज्ञा होकर ना आदेश हो गया। ना आदेश किये जाने पर भी मुभाव असिद्ध नहीं है। अतः **सुपि च** के द्वारा दीर्घ भी नहीं हुआ। अतः अमुना रूप बना। भ्याम् में त्यदाद्यत्व और पररूप होने पर सुपि च से दीर्घ हो गया। अदस् भ्याम्। अद अभ्याम्। अदभ्याम्। अदाभ्याम्। अदसोऽसे० से मुत्व होकर अमूभ्याम् बना। अदस् भिस् में त्यदाद्यत्व, पररूप होकर अद भिस् इस स्थिति में मुत्व, रुत्व व विसर्ग होकर अमीभिः बनेगा। अदस् ङे में इस प्रकार कार्य होंगे। अद अ ङे । अद ङे । सर्वनाम्नः स्मै । अदस्मै । मुत्व होकर अमुष्मै बना। अदस् भ्यस्। अद अभ्यस्। अद भ्यस्। अमीभ्यः। अदस् ङसि। अद अ ङसि। अद ङसि। अदस्मात्। अमुस्मात्। अमुष्मात्। अदस् ङस् में त्यदाद्यत्व और पररूप करने पर अद ङस् इस दशा में टाङसि० सूत्र से ङस् को स्य आदेश हुआ। तब मुत्व होने पर अमुस्य इस दशा में स्य (स्थानिवद्भाव से) के सकार को मूर्धन्य षकार हुआ। अमुष्य। षष्ठी व सप्तमी के द्विवचन में पूर्ववत् कार्य होकर अद ओस् ऐसी स्थिति बनी। एकार आदेश (ओसि च) तथा अयादेश होकर अदयोः बना। तब मुत्व होकर अमुयोः बना। अदस् आम् में त्यदाद्यत्व व पररूप होकर अद आम् इस अवस्था में आमि सर्वनाम्नः सुट् के द्वारा सुट् हुआ। बहुव. चने झल्येत् के द्वारा एकारादेश हुआ। अदे स् आम्। तब एत ईद् के द्वारा ईकार हुआ। मकार आदेश होकर अमीषाम् । सप्तमी एकवचन में अद ङि ऐसा बन जाने पर ङसि ङ्योः० के द्वारा स्मिन् आदेश हुआ। मुत्व तथा मूर्धन्य आदेश होकर अमुष्मिन् बनेगा। सप्तमी बहुवचन में एकार आदेश आदि कार्य होकर अदेसु बना। एत ईद् के द्वारा ईकार आदेश हुआ। तब मकार आदेश तथा मूर्द्धन्य आदेश होकर अमीषु बना।

स्मरणीय बिंदु-

1 स्वमोर्नपुंसकात् सूत्र द्वारा नपुंसकलिङ्ग में प्रातिपदिक से परे सुँ और अम् प्रत्ययों का लुक् (लोप) होता है।

2 अतोऽम् सूत्र से अदन्त (अकारान्त) नपुंसकलिङ्ग प्रातिपदिक से परे सुँ और अम् के स्थान पर अम् आदेश हो जाता है जिससे ज्ञानम् रूप बनता है।

3 हलङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यप्रृक्तं हल् सूत्र से हलन्त पुल्लिंग शब्दों (जैसे राजन्) के प्रथमा एकवचन के सु प्रत्यय का लोप हो जाता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1 अजन्त नपुंसकलिङ्ग प्रकरण के आधार पर ज्ञान शब्द की प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के सभी वचनों की रूप सिद्धि सूत्रों सहित विस्तार से समझाइए?

प्रश्न 2 हलन्त पुल्लिंग शब्दों की सिद्धि में सुँ प्रत्यय के लोप और नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य सूत्र की भूमिका को राजन् शब्द के उदाहरण से स्पष्ट कीजिए?

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1 अतोऽम् सूत्र का क्या कार्य है और यह ज्ञानम् पद की सिद्धि में कैसे सहायता करता है?

प्रश्न 2 नपुंसकलिङ्ग में जस् और शस् प्रत्यय के स्थान पर किस सूत्र से शि आदेश होता है?

प्रश्न 3 राजा पद की सिद्धि में राजन् शब्द के नकार का लोप किस सूत्र से किया जाता है?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1 अदन्त नपुंसकलिङ्ग प्रातिपदिक से परे सुँ और अम् के स्थान पर क्या आदेश होता है?

(क) अम् (ख) शि (ग) लुक् (घ) औ

प्रश्न 2 नपुंसकलिङ्ग में जस् और शस् के स्थान पर होने वाले शि आदेश में क्या शेष बचता है?

(क) श (ख) इ (ग) म (घ) अ

प्रश्न 3 ज्ञान शब्द के प्रथमा विभक्ति बहुवचन में क्या रूप बनता है?

(क) ज्ञानम् (ख) ज्ञाने (ग) ज्ञानानि (घ) ज्ञानेन

प्रश्न 4 राजन् शब्द के प्रथमा विभक्ति एकवचन का शुद्ध रूप क्या होता है?

(क) राजन् (ख) राजा (ग) राजानः (घ) राजम्

प्रश्न 5 हलन्त प्रातिपदिक के अन्त में स्थित नकार का लोप करने वाला सूत्र कौन सा है?
(क) अतोऽम् (ख) नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (ग) विरामोऽवसानम् (घ) स्वमोर्नपुंसकात्

॥ हलन्त पुँल्लिङ्गः प्रकरण समाप्त ॥

खण्ड-4 - भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म वृतांत एवं बाल लीलाएँ।

इकाई 4.1- भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म वृतांत

उद्देश्य-

1. श्रीमद्भागवत पुराण और शास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर भगवान् श्रीकृष्ण के जन्म की आलौकिक कथा का बोध कराना।
2. तत्कालीन समाज में व्याप्त अधर्म का नाश करने के लिए ईश्वर के अवतार लेने के कारणों को स्पष्ट करना।
3. कंस के कारागार की परिस्थितियों और योगमाया की भूमिका से परिचित कराना।

अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले तीनों लोकों में प्रसिद्ध नारद जी, ब्रह्मलोक से वृष्णिकुल में उत्पन्न भगवान् नारायण (श्रीकृष्ण) को देखने के लिये आते है। तथा उनकी प्रदक्षिणा करते है। छः पुत्रों की हत्या से अत्यन्त शोक से संतप्त देवकी सातवें पुत्र की रक्षा करती है। वासुदेव जी भगवान श्रीकृष्ण को लेकर नन्दगोप जी के पास जाते है तथा वहाँ से उनकी पुत्री को लेकर आते है। वहाँ नन्दगोप जी के घर भगवान् श्रीकृष्ण जी का लालन-पालन बहुत अच्छे प्रकार से होता है तथा वो बाल्यावस्था में ही अनेकों राक्षसों का वध करते है। भगवान श्रीकृष्ण जी के साथ-साथ पांचो शस्त्र और गरूण का प्रवेश भी भगवान् के द्वारा कार्यसिद्धि के लिये होता है तथा उनके द्वारा पूतना, शकट, यमल, अर्जुन, प्रलम्ब, धेनुक, केशी, अरिष्टर्षभ, आदि अनेकों असुरों का वध किया तथा कालिय नाग के प्रभाव से यमुना को मुक्त एवं शुद्ध किया।

(नान्द्यन्तेततः प्रविशतिसूत्रधारः।)

सूत्रधारः-

शङ्खक्षीरवपुः पुरा कृतयुगे नाम्ना तु नारायणस्-
त्रेतायां त्रिपदार्पितत्रिभुवनो विष्णुः सुवर्णप्रभः।
दूर्वाश्यामनिभः स रावणवधे रामो युगे द्वापरे
नित्यं योऽञ्जनसन्निभः कलियुगे वः पातु दामोदरः ॥ १ ॥

एवमार्यमिश्रान् विज्ञापयामि । अये, किन्नु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते ।
अङ्ग ! पश्यामि ।

पर्यायवाचिशब्दाः- शंख इव = कम्बुरिव । क्षीरम् = दुग्धम् । अयनं = स्थानं । विष्णुः = व्यापकः । **दूर्वाश्यामनिभः = दूर्वाश्यामसदृशः । सन्निभः = सदृशः । पातु = रक्षतु ।**
पदविग्रहः - शङ्खक्षीरवपुः = शंख इव क्षीरम् इव वपुः यस्य सः । **त्रिपदार्पितत्रिभुवन् = त्रिपदा अर्पितं त्रिभुवनं येन सः । अञ्जनसन्निभः = अञ्जनेन सन्निभः ।**

अर्थः- पहले सतयुग में जो शंख और दूध के समान नारायण नाम से प्रसिद्ध थे, त्रेता युग में कुन्दन की कान्ति वाले जिस विष्णु (वामन) ने तीन पादक्रमों (पगों) से तीनों लोकों को नाप लिया था, द्वापर में दूर्वा के समान श्यामल जिस रामचन्द्र ने रावण का वध किया और जो दामोदर कलियुग में अञ्जन के समान कृष्ण शरीर वाले हैं वे सर्वदा तुम लोगों की रक्षा करें ।।१।।

मैं आप महानुभावों को सूचित करता हूँ। अरे, मेरे सूचना देने में व्यग्र होने पर यह कैसा शब्द सुनाई पड़ता है ? अच्छा, देखता हूँ ।

(नेपथ्ये)

अहं गगनसंचारी ।
सूत्रधारः- भवतु, विज्ञातम् ।
(नेपथ्य में) मैं आकाश में घूमने वाला हूँ ।
सूत्रधार- अच्छा, समझ गया

पतत्यसौ पुष्पमयी च वृष्टिर्नदन्ति तूर्याणि च देवतानाम् ।
द्रष्टुं हरिं वृष्णिकुले प्रसूतमभ्यागतो नारद एष तूर्णम् ॥ २ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- तूर्याणि = दुन्दुभयः । नदन्ति = नादं कुर्वन्ति । प्रसूतम् = प्रादुर्भूतम् । तूर्णम् = शीघ्रम् । अभ्यागतः = समायातः ।

अर्थः- यह (आकाश से) पुष्पवृष्टि हो रही है । देवताओं की भेरी बज रही है । वृष्णिकुल में उत्पन्न हुए श्री कृष्ण के दर्शन की इच्छा से नारद जी शीघ्रता पूर्वक आ रहे हैं ।।२।।

(निष्क्रान्तः।) (चला जाता है ।)

स्थापना (ततः प्रविशति नारदः ।) तत्पश्चात् नारद आते हैं ।

नारदः -

अहं गगनसञ्चारी त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
ब्रह्मलोकादिह प्राप्तो नारदः कलहप्रियः ॥ ३ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- गगनसञ्चारी = व्योमयायी । ब्रह्मलोकाद् = परमेष्ठिसकाशात् । प्राप्तः = समागतः ।

पदविग्रहः - गगनसञ्चारी = गगने सञ्चरितुं शीलमस्य सः । ब्रह्मलोकाद् = ब्रह्मणः लोकस्तस्मात् ।

अर्थः- नारद - मैं अन्तरिक्ष में घूमनेवाला, तीनों लोकों में प्रसिद्ध, कलहप्रिय नारद ब्रह्मलोक से यहाँ आ पहुँचा हूँ ।। ३ ।।

भोः !

क्षीणेषु देवासुरविग्रहेषु नित्यप्रशान्ते न रमेऽन्तरिक्षे ।
अहं हि वेदाध्ययनान्तरेषु तन्त्रीश्च वैराणि च घट्टयामि ॥ ४ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- देवासुरविग्रहेषु = सुरासुरकलहेषु । क्षीणेषु = नष्टेषु । तन्त्रीः = महतीवीणाऽयःसूत्राणि । घट्टयामि = संयोजयामि ।

पदविग्रहः - देवासुरविग्रहेषु = देवाश्च असुराश्च तेषां विग्रहाः तेषु । वेदाध्ययनान्तरेषु = वेदस्याध्ययनं तस्य अन्तराणि तेषु ।

अर्थः- अरे ! देवताओं और राक्षसों में कलह के नष्टप्राय होने से मैं सर्वदा शान्त अन्तरिक्ष में रमण नहीं करता। मैं वेदाध्ययन के मध्य वीणा का वादन और कलह की सृष्टि भी करता हूँ ।।४।।

अपि च,

भक्तिः परा मम पितामहभाषितेषु
सर्वाणि मे बहुमतानि तपोवनानि ।
सत्यं ब्रवीमि करजाग्रहता च वीणा,
वैराणि भीमकठिनाः कलहाः प्रिया मे ॥ ५ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- भाषितानि = लपितानि । पितामहभाषितेषु = परमेष्ठिवचनेषु । परा = उत्कृष्टा। सर्वाणि = अशेषाणि । वनानि = विपिनानि । भीमकठिनाः = अत्यन्तकठिनाः ।

पदविग्रहः - पितामहभाषितेषु = पितामहस्य भाषितानि तेषु । तपोवनानि = तपसः वनानि तानि । करजाग्रहता = करेजातः करजः तस्य अग्रः तेन हता ।

और भी,

अर्थः- मेरी पितामह के वचनों में परम भक्ति है । सब तपोवन मेरे लिए सम्मान करने के योग्य है । मैं सत्य कहता हूँ कि अंगुलियों से छेड़ी गई वीणा और कठिन से कठिन वैर तथा कलह मुझे प्रिय हैं ।। ५ ।।

तद् भगवन्तं लोकादिमनिधनमव्ययं लोकहितार्थे कंसवधार्थे वृष्णिकुले प्रसूतं नारायणं द्रष्टुमिहागतोऽस्मि । अये, इयमत्रभवती देवकी । मायया शिशुत्वमुपागतं त्रिलोकेश्वरं प्रगृह्य वसुदेवेन सह शनैः स्वगृहान्निष्क्रामति । यैषा,

लोकों के आदि, अमर, अव्यय, लोकहित के लिए कंस को मारने के लिए वृष्णिकुल में उत्पन्न भगवान् नारायण को देखने के लिए आया हूँ । अरे, यह भगवती देवकी हैं। माया से शिशुरूप को प्राप्त त्रिभुवनपति को लेकर वसुदेव के साथ धीरे-धीरे अपने घर से निकल रही हैं ।

लोकानामभयंकरं गुरुं सुराणां
दैत्यानां निधनकरं रथाङ्गपाणिम् ।
शोकार्ता शशिवदना निशि प्रशान्ता
बाहुभ्यां गिरिमिव मन्दरं वहन्ती ॥ ६ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- अभयंकरम् = भयहर्तारम् । वदनम् = मुखम् । प्रशन्ता = स्थिरा । वहन्ती = धारयन्ती ।

पदविग्रहः - निधनकरम् = करोतीति करः, निधनस्य करः तम् । रथाङ्गपाणिम् = रथस्याङ्गं पाणौ यस्य तम् । शशिवदना = शशी इव वदनं यस्याः सा ।

अर्थः- यह जो, दुःख में डूबी हुई चन्द्रमा के समान मुख वाली (देवकी), सारे संसार को अभय प्रदान करने वाले, देवताओं के गुरु और दानवों का संहार करने वाले चक्रधर (भगवान् श्रीकृष्ण) को, रात्रि के सन्नाटे में अपनी भुजाओं से मन्द. राचल पर्वत की तरह धारण किए जा रही हैं ।।६।।

एष भगवान् नारायणः, (यह भगवान् नारायण हैं।)

अनन्तवीर्यः कमलायताक्षः सुरेन्द्रनाथोऽसुरवीर्यहन्ता
त्रिलोककेतुजगतश्च कर्ता भर्ता जनानां पुरुषः पुराणः ॥ ७ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- अनन्तवीर्यः = अपरिमितपराक्रमः । कमलायताक्षः = पद्मनेत्रः । भर्त्ता = पालकः । पुराणः = सनातनः । पुरुषः = पुरुषविशेषः नारायणः ।

पदविग्रहः - अनन्तवीर्यः = अनन्तं वीर्यं यस्य सः । कमलायताक्षः = कमले इव आयते अक्षिणी यस्य सः । असुरवीर्यहन्ता = असुराणां वीर्यं तस्य हन्तीति हन्ता । त्रिलोककेतुः = त्रयाणां लोकानां केतुः ।

अर्थः- इनकी शक्ति का अन्त नहीं, कमल-दल के समान इनके नेत्र विशाल हैं । ये देवताओं के भी अधिदेव हैं और राक्षसों की शक्ति के नाशक हैं। तीनों लोकों की पताका हैं, संसार के कर्ता हैं, प्राणिमात्र के पोषक और पुराण पुरुष हैं ।।७।।

हन्तैतदुत्पन्नं कलहस्य मूलम् । यावदहमपि भगवन्तं नारायणं प्रदक्षिणीकृत्य ब्रह्मलोकमेव यास्यामि । नमो भगवते त्रैलोक्यकारणाय ।

अहा, यह कलह का कारण उत्पन्न हो गया। तब तक मैं भगवान नारायण की प्रदक्षिणा करके ब्रह्मलोक को चला जाऊंगा। तीनों लोकों के आदि कारण भगवान को नमस्कार है ।

नारायणाय नरलोकपरायणाय
लोकाननाय कमलामललोचनाय ।
रामाय रावणविरोचनपातनाय
वीराय वीर्यनिलयाय नमो वराय ॥८॥

पर्यायवाचिशब्दाः- नारायणाय = त्रिविक्रमाय । अयनम् = स्थानम् । अमले = स्वच्छे। विरोचनस्य = एतन्नामकदानवस्य । निलयः = स्थानम् । नमः = प्रह्वीभावः ।

पदविग्रहः - नरलोकपरायणाय = नरलोकः परम् अयनं यस्य तस्मै । कमलामललोचनाय = कमले इव अमले लोचने यस्य तस्मै । रावणविरोचनपातनाय = रावणस्य विरोचनस्य च पातनं तस्मै । वीर्यनिलयाय = वीर्यं तस्य निलयः तस्मै ।

अर्थः- भगवान नारायण को क्षीरशायी मानव लोक ही जिनका सबसे सुन्दर निवास स्थान है अथवा मनुष्य लोक के लिए परम प्राप्य, भुवनमुख, कमलवत् स्वच्छ नेत्रों वाले, रावण, विरोचन आदि राक्षसों का नाश करने वाले, महान बलशाली, श्रेष्ठ, महान शक्तिवाले भगवान राम को नमस्कार है ।।८।।

(निष्क्रान्तः ।)

(ततः प्रविशप्ति बालहस्ता देवकी ।)

देवकी- (परिक्रम्य अग्रतो विलोक्य) हा धिक्, पुत्रकस्य मे महानुभावत्वं सूचयिष्यन्ति जन्मसमयसमुद्भूतानि महानिमित्तानि प्रत्यक्षीकुर्वत्यपि कंसहतक नृशं सत्वं चिन्तयन्ती सुष्ठु न प्रत्येभि मन्दमागिनी । क्व नु गत आर्यपुत्रः । अम्मो, एष आर्यपुत्रो हर्षविस्मयफुल्लनयन एवागच्छति ।

(चला जाता है)

(हाथों में बालक को लिये देवकी का प्रवेश)

देवकी - हाय, धिक्कार है, यद्यपि जन्म के समय के शुभ शकुन मेरे बालक की महानता सूचित करते हैं, तथापि मुझ मन्दभाग्य वाली को क्रूर कंस की निर्दयता के कारण पूर्ण विश्वास नहीं होता। हे आर्यपुत्र आप कहाँ गये ! यह आर्यपुत्र अत्यन्त हर्ष और विस्मयपूर्वक आते हैं।

(ततः प्रविशति वसुदेवः) । (वसुदेव का प्रवेश।)

वसुदेवः - (सविमर्शम्) भोः ! किः नु खल्विदम् । वसुदेव- (आश्चर्य से)अरे ! यह सब क्या है।

भ्रमति नभसि विद्युच्चण्डवातानुविद्धैर्-
नवजलदनिनादैर्मेदिनी सप्रकम्पा।
इह तु जगति नूनं रक्षणार्थं प्रजानाम्-
असुरसमितिहन्ता विष्णुरद्यावतीर्णः ॥ ९ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- विद्युता = चपलया । अनुविद्धाः = अनुस्यूताः । नवानाम् = प्रत्यग्राणाम् । जलदानाम् = मेघानाम् । निनादाः = गर्जिताः । समितिः = सभा । नूनं = निश्चितम् । अवतीर्णः = प्रादुर्भूतः ।

पदविग्रहः - विद्युच्चण्डवातानुविद्धैः = विद्युता चण्डवातेन अनुविद्धाः तैः । नवजलदनिनादैः = नवानां जलदानां निनादाः तैः । असुरसमितिहन्ता = असुराणां समितिः तस्य हन्ता ।

अर्थः - आकाश में बिजली और तेज हवा से युक्त नए बादलों के गर्जन से पृथ्वी काँप रही है । आज इस संसार में प्रजा की रक्षा और समस्त असुरों का विनाश करने के लिये भगवान विष्णु अवश्य ही अवतीर्ण हुए हैं । ॥९॥

(विलोक्य) एषा देवकी, (देखकर) यह देवकी है -

अगणितपरिखेदा याति षण्णां सुतानाम् -
अपचयगमनार्थं सप्तमं रक्षमाणा ।
बहुगुणकृतलोभा जन्मकाले निमित्तैः
सुत इति कृतसंज्ञं कंसमृत्युं वहन्ती ॥ १०॥

पर्यायवाचिशब्दाः- अपचयः = विनाशः । गमनार्थम् = प्राप्तिनिमित्तकम् । जन्मकाले = प्रादुर्भावसमये । निमितैः = शुभकारणैः ।

पदविग्रहः - अगणितपरिखेदा = अगणिताः परितः खेदाः यस्याः सा । बहुगुणकृतलोभा = बहुगुणैः कृतो लोभो यस्याः सा । कृतसंज्ञम् = कृता संज्ञा यस्या तम् ।

अर्थः - अनेक प्रकार के दुःखों से एवं छः पुत्रों के विनाश के कारण अत्यन्त शोक से सन्तप्त सातवें पुत्र की रक्षा करती हुई, पुत्र जन्म के अनेकों शुभलक्षणों से युक्त होकर तथा उत्पन्न बालक का 'पुत्र' ऐसा नाम रखकर अपनी गोद में (कंस की मृत्यु को) धारण करके ले जा रही है ॥१०॥

देवकी - उपसृत्य जयन्त्वार्यपुत्रः । वसुदेवः - देवकि ! अर्धरात्रः खलु वर्तते । प्रसुप्तो मधुरायां सर्वो जनः । तस्माद् यावन्न कश्चित् पश्यति, तावद् बालं गृहीत्वाऽपक्रामामि । देवकी- क्वार्यपुत्र इमं नेष्यति। वसुदेवः-देवकि! सत्यं ब्रवीषि। अहमपि न जाने । किन्तु, एकच्छत्रच्छायां पृथिवीं समाज्ञापयति दुरात्मा कंसः । तत् क्व नु खल्वयमायुष्मान् नेतव्यो भविष्यति । अथवा यत्र दैवं विधास्यति, तत्र बालं गृहीत्वाऽपक्रामामि ।

देवकी- आर्यपुत्र ! इच्छामि तावदेनं सुदृष्टं कर्तुम् ।

देवकी - (समीप जाकर) आर्यपुत्र की जय । वसुदेव - हे देवकी यह आधी रात है । मधुरा में सब लोग सोए हुए हैं। तो जब तक कोई दूसरा नहीं देखता तब तक बालक को लेकर में चल रहा हूँ। देवकी - आर्यपुत्र ! इसे कहाँ ले जाएंगे ? वसुदेव- देवकी ! सत्य कहती हो । मुझे भी नहीं मालूम । क्योंकि दुरात्मा कंस का सारी पृथ्वी पर एकच्छत्र राज्य है । तो इस चिरंजीव को कहाँ ले जाना चाहिए । अथवा जहाँ भाग्य हमें ले जाय वही बालक को ले जायेंगे ।

देवकी - आर्यपुत्र ! तो इसे मैं नजर भरकर देखना चाहती हूँ ।

वसुदेवः- अयि अतिपुत्रवत्सले !

कि द्रष्टव्यः शशाङ्कोऽयं राहोर्वदनमण्डले ।
त्वयाऽप्यस्य सुदृष्टस्य कंसो मृत्युर्भविष्यति ॥ ११॥

पर्यायवाचिशब्दाः- शशाङ्कः = चन्द्रमाः । सुदृष्टस्य = सुप्रेक्षितस्य ।
अर्थ - वसुदेव - अरी अत्यन्त पुत्रवत्सले !

राहु के मुख में स्थित इस चन्द्र को क्या देखना चाहिये। (यद्यपि) तुम्हारे लिए यह सुदर्शन है (पर) कंस इसकी मृत्यु बनेगा ।। ११ ।।

देवकी - सर्वथा न भविष्यति। वसुदेवः यद् भवत्याऽभिहितं, तत् सर्वदैवतैरभिहितं भवतु । आनय । देवकी - गृह्णात्वार्यपुत्र ।

देवकी - ऐसा कदापि न होगा ।
वसुदेव-जो आपने कहा यह सब देवताओं का कथन हो । (बालक को) लाओ ।
देवकी - आर्यपुत्र ! (इसे) लें ।

वसुदेवः - (गृहीत्वा) अहो गुरुत्वं बालस्य । साधु,

विन्ध्यमन्दरसारोऽयं बालः पद्मदलेक्षणः ।
गर्भे यया धृतः श्रीमानहो धैर्यं हि योषितः ॥ १२ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- पद्मदले = कमलपत्रे । ईक्षणे = नेत्रे । गर्भे = स्वोदरे । धृतः = ऊढः ।
पदविग्रहः - विन्ध्यमन्दरसारः = विन्ध्यमन्दरयोः सार इव सारो यस्य सः । पद्मदलेक्षणः = पद्मदले इव ईक्षणे यस्य सः ।
अर्थः- वसुदेव - (लेकर) अहा, बालक की गम्भीरता । निश्चित ही -
यह कमलदल के समान नेत्रों वाला बालक विन्ध्याचल पर्वत व मन्दर पर्वत की भाँति सारवान है। इस शोभा सम्पन्न बालक को जिसने गर्भ में धारण किया, उस स्त्री का धैर्य धन्य है ।। १२ ।।
देवकि ! प्रविश त्वमभ्यन्तरम्। देवकी - निष्क्रान्ता । एषां गच्छामि मन्दभागा ।
देवकी ! अन्दर चली जाओ । देवकी - जाती है । यह अभागिन जाती हूँ ।

वसुदेवः- एषा देवकी,

हृदयेनेह तत्राङ्गैर्द्विधाभूतेव गच्छति ।
यथा नभसि तोये च चन्द्रलेखा द्विधाकृता ॥ १३ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- हृदयेन = चेतसा । अङ्गैः = स्वशरीरैः । द्विधाकृता = भागद्वविभक्ता । चन्द्रलेखा = इन्दुकला । तोये = जले ।
अर्थः- वसुदेव - यह देवकी,

यहाँ से हृदय और शरीर से दो भागों में बंटी हुई जाती है । जैसे आकाश और जल में प्रतिबिम्ब रूप से चन्द्रमा की कला दो भागों में बंट जाती है । ।।१३।।

हन्त प्रविष्टा देवकी । यावदहमपि नगरद्वारं संश्रयामि।
हा, देवकी चली गयी । तो मैं भी नगर के द्वार का आश्रय लेता हूँ ।
एष भोः,

प्रथमसुतविनाशजातमन्युर्नृपतिभयाकुलितः प्रगृह्य बालम् ।
त्वरिततरमिह प्रयामि मार्गे गिरिमिव मन्दरमुद्वहन्भुजाभ्याम् ॥ १४ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- सुतस्य = पुत्रस्य । मन्युः = क्रोधः । आकुलितः = व्याकुलः । प्रगृह्य = गृहीत्वा । मन्दरम् = एतन्नामकं गिरिम् । उद्वहन् = नयन् । मार्गे = अध्वनि । त्वरिततरम् = शीघ्रतरम् । प्रयामि = गच्छामि ।
पदविग्रहः - çFkelqrfouk'ktkreU;q% ¾ izFkeL; lqrL; fouk'ksu tkr% eU;q% ;L; l% A u`ifrHk;kdqfyr% ¾ u`irsHkZ;a rsu vkdqfyr% A
अर्थः- अरे यह !

मैं पहले के पुत्रों के नाश से क्रुद्ध और राजा के भय से व्याकुल इस बालक को लेकर यहाँ से शीघ्र ही भुजाओं से मन्द.

राचल पर्वत के समान पुत्र को उठाए हुए रास्ते में जा रहा हूँ ।।१४।।

(परिक्रम्य) इदं नगरद्वारम्। यावत् प्रविशामि । (प्रविश्य) अये प्रसुप्तो मधुरायां सर्वो जनः । यावदपक्रामामि । (परिक्रम्य) निष्क्रान्तोऽस्मि मधुरायाः । अहो बलवांश्चायमन्धकारः ।

(घूमकर) यह नगर का दरवाजा है । तो इसमें प्रवेश करूं । (प्रवेश करके) अरे मथुरा के सब लोग सो गये । तो भागता हूँ । (भागकर) मैं मथुरा से निकल आया हूँ । अरे ! बहुत गाढ़ा अन्धकार है ।

(परिक्रम्य) इदं नगरद्वारम्। यावत् प्रविशामि । नाहं गन्तुं समर्थः । (घूमकर) यह नगर का दरवाजा है । तो इसमें प्रवेश करूं । मैं जाने में असमर्थ हूँ ।

अये ! दीपिकालोकः। (अरे ! दीपक का प्रकाश।)

तमसा संवृते लोके मम मार्गमपश्यतः ।
अपक्रमणहेतोस्तु कुमारेण प्रभा कृता ।।१५।।

पर्यायवाचिशब्दाः- संवृत्ते = आच्छादिते । मार्गम् = अध्वानम् । अपक्रमणस्य = पलायनस्य । कुमारेण = शिशुना । प्रभा = प्रकाशः (कान्तिः) ।

पदविग्रहः - अपक्रमणहेतोः = अपक्रमणस्य हेतुः ।

अर्थः- चारों ओर अन्धकार की गहनता के कारण मुझे मार्ग नहीं दिखाई देता अतः मेरे यहाँ से निकलने के लिए कुमार ने प्रकाश कर दिया ।।१५।।

एष मार्गः । यावदपक्रामामि । अये इयं भगवती यमुना कालवर्ष-सम्पूर्णा स्थिता । अहो व्यर्थो मे परिश्रमः । कि. मिदानीं करिष्ये ।

यह मार्ग है । अब मैं निकलता हूँ । अरे, यह भगवती यमुना इस समय वर्षा के जल से भर गई है । अरे ! मेरा परिश्रम व्यर्थ गया । इस समय क्या करना चाहिये !

भवतु, दृष्टम् । (अच्छा, समझा।)

इमां नदीं ग्राहभुजङ्गसङ्कुलां
महोर्मिमालां मनसापि दुस्तराम् ।
भुजप्लवेनाशु गतार्थविक्लवो
वहामि सिद्धिं यदि दैवतं स्थितम् ।। १६।।

पर्यायवाचिशब्दाः- ग्राहैः = मकरादिभिः । भुजङ्गैः = सर्पादिभिः । सङ्कुलाम् = व्याप्ताम् । ऊर्मीणाम् = लहरीणाम् । दुस्तराम् = तर्तुमशक्याम् । आशु = शीघ्रम् । विक्लवः = वैक्लव्यम् ।

पदविग्रहः - ग्राहभुजङ्गसङ्कुलाम् = ग्राहैः भुजङ्गैः सङ्कुलाम् । महोर्मिमालाम् = महती चासौ ऊर्मिमाला तां । ऊर्मिमालां = ऊर्मीणां माला । भुजप्लवेन = भुजौ एव प्लवः तेन । गतार्थविक्लवः = गतः अर्थस्य विक्लवः यस्य सः ।

अर्थः- यदि मेरा भाग्य होगा तो मकर, सर्प आदि से व्याप्त और उत्ताल तरंगों वाली मन से भी दुस्तर इस नदी कालिन्दी को मैं धैर्यपूर्वक अपनी भुजा रूपी नौका से (पार करके) कार्य सिद्ध करूंगा ।।१६।।

(तथा कृत्वा सविस्मयम्) हन्त ! द्विधा छिन्नं जलम्, इतः स्थितम्, इतः प्रधावति । दत्तो मे भगवत्या मार्गः । यावदपक्रामामि । (अवतीर्य) निष्क्रान्तोऽस्मि यमुनायाः ।

(ततः प्रविशति दारिकां गृहीत्वा नन्दगोपः।) नन्दगोपः- (सशोकम्) दारिके ! दारिके ! किमिदानीं नो गेहलक्ष्म्यां न रन्त्वा ततो न उज्झित्वा ननु गच्छसि । संप्रति हि महिषशतसंपातसदृशोऽहो बलवानन्धकारः ।

(वैसा करके आश्चर्य से) अरे ! यह जल दो भागों में बंट गया, इधर ठहरा है, उधर बह रहा है । भगवती (यमुना) ने मुझे मार्ग दिया है । तो पार करता हूँ । (पार करके) यमुना से निकल आया।

(बच्ची को लेकर नन्द गोप का प्रवेश) । नन्द गोप (शोक से) - पुत्रि ! पुत्रि !! आज तुम हमारी गृहलक्ष्मी में रमण न करके, हम लोगों को छोड़कर जा रही हो । इस समय तो सैकड़ो भैसों के समूह की भाँति भयंकर अन्धकार है ।

दुर्दिनविनष्टज्योत्स्ना रात्रिर्वर्तते निमीलिताकारा ।
संप्रावृतप्रसुप्ता नीलनिवसना यथा गोपी ॥१७॥

पर्यायवाचिशब्दाः - दुर्दिनेन = मेघच्छन्नेन । ज्योत्स्ना = चन्द्रिका । निमीलितः = प्रच्छन्नः । प्रसुप्ता = कृतशयना । निवसनम् = वस्त्रम् ।
पदविग्रहः - दुर्दिनविनष्टज्योत्स्ना = दुर्दिनेन विनष्टा ज्योत्स्ना यस्यां सा । निमीलिताकारा =निमीलितः आकारः यस्याः सा । संप्रावृतप्रसुप्ता = संप्रावृता चासौ प्रसुप्ता च । नीलनिवसना = नीलं निवसनं यस्याः सा ।
अर्थः- मेघ से आच्छत्र होने के कारण चन्द्रप्रकाश से हीन छिपाने वाली यह रात्रि, नीले वस्त्र से अङ्गों को ढंके हुए गोपी की भाँति मालूम पड़ती है ॥१७॥

अद्य ह्यर्धरात्रेऽस्माकं कुटुम्बिन्या यशोदया प्रसूतेयं च दारी तपस्विनी जातमात्रैवापगतप्राणा संवृत्ता । श्वोऽस्माकं घोषस्योचित इन्द्रयज्ञो नामोत्सवो भविष्यति । तद् मा खल्वेतद् दुःखं गोपजनैरनभूयमानमिति मयैकाकिना निगलगुरुचरणेनेमां दारिकां गृहीत्वा निर्गतोऽस्मि । यशोदापि तपस्विनी नैव जानाति दारको वा दारिका वा प्रसूत इति मोहं गता । दारिके ! दारिके ! ।
वसुदेवः - को नु खल्वयं रात्रौ परिदेवयति । अस्मत्सब्रह्मचारी खल्वयं तपस्वी।
नन्दगोपः - किमिदानीं नो गेहलक्ष्म्यां न रन्त्वा ततो न उज्झित्वा ननु गच्छसि । वसुदेवः- स्वरेण प्रत्यभिजानामि । मम वयस्येन नन्दगोपेन भवितव्यम् । यावच्छब्दापयामि । वयस्य ! नन्दगोप ! इतस्तावत् ।
सब आकारों को किसी सोती हुई आज रात्रि में मेरी गृहिणी यशोदा की यह बेचारी पुत्री पैदा होते ही मर गई । कल हमारे गोपग्राम के उचित इन्द्रयज्ञ नामक उत्सव होगा । अतएव मैं इसे लेकर (दुख से) बोझिल चरणों से एकाकी निकल आया हूँ । जिससे इतर गोपगणों के द्वारा इसका दुःख न अनुभव किया जाए । बेचारी यशोदा भी मूर्च्छा के कारण यह नहीं जानती कि पुत्र उत्पन्न हुआ है अथवा पुत्री । (हा) पुत्री -पुत्री ।
वसुदेव- इस रात्रि में कौन रो रहा है ? अवश्य ही यह हमारे समान बेचारा दुःखी है ?
नन्दगोप - इस समय हमारी गृहलक्ष्मी में रमण न करके हमें छोड़कर चली जा रही हो ।
वसुदेव - स्वर से पहचानता हूँ। यह मेरा मित्र नन्दगोप होना चाहिये (अच्छा) तो पुकारता हूँ । मित्र नन्दगोप, इधर आओ ।
वसुदेवः - हन्त भोः ! न शक्यं लोकस्याधिष्ठानभूतं कृतान्तं वञ्चयितुम् । वयस्य ! काष्ठभूतं कलेवरं त्यज्यताम् । नन्दगोपः - न शक्नोमि भर्तः ! न शक्नोमि । वसुदेवः - ईदृशो लोकधर्मः । त्यज्यताम् । नन्दगोपः- (इति रोदिति ।) यद् भर्ताज्ञापयति । दारिके ! दारिके ! वसुदेवः - वयस्य ! अलमलं रुदितेन । उत्तिष्ठोत्तिष्ठ । नन्दगोपः- (तथा कृत्वोपगम्य) जयतु भर्ता । अनेन दासजनेन किं कर्तव्यम् । वसुदेवः - वयस्य ! ननु त्वमपि जानासि दुरात्मना कंसेन मम षट् पुत्रा निधनमुपानीता इति । नन्दगोपः - जानामि भर्तः ! जानामि । वसुदेवः - तत् सप्तमोऽयं दीर्घायुः । नास्ति मम पुत्रेषु भाग्यम् । तव भाग्याज्जीवितुं गृह्यताम् । नन्दगोपः - बिभेमि भर्तः ! बिभेमि । यदि कंसो राजा श्रृणोति-वसुदेवस्य दारको नन्दगोपस्य हस्ते न्यासो निक्षिप्त इति, किं बहुना, गतमेव मे शीर्षम् । वसुदेवः- (आत्मगतम्) हन्त विपन्नं कार्यम् । उक्तज्ञाः खलु नृशंसाः । तदेवं कथयामि ।
वसुदेव - हाय ! सब भुवनों के स्वामी काल को ठग नहीं सकते । मित्र, इस काठ के समान मृत शरीर को छोड़ दो । नन्दगोप - नहीं हो सकता, स्वामी नहीं हो सकता । वसुदेव - संसार की ऐसी ही रीति है । छोड़ दो । नन्दगोप - जैसी श्रीमान् की आज्ञा । बेटी-बेटी (विलाप करता है) । वसुदेव - मित्र मत रोओ । उठो, उठो । नन्दगोप - (वैसा करके पास जाकर) जय हो स्वामी ! इस दास को क्या करना चाहिये ? वसुदेव - मित्र तुम्हीं जानते हो कि पापी कंस के द्वारा मेरे छः पुत्र मार डाले गए । नन्दगोप -जानता हूँ स्वामी, जानता हूँ । वसुदेव - तो यह आयुष्मान् सातवां (पुत्र) है। मेरे भाग्य में पुत्र नहीं है । यह तुम्हारे भाग्य से जीवित रहे अतः लो । नन्दगोप - डरता हूँ स्वामी, डरता हूँ । यदि राजा कंस ने सुना कि वसुदेव का लड़का नन्दगोप के हाथ में घरोहर की भाँति रखा है तो अधिक क्या कहूँ मेरा सिर ही चला जायगा । वसुदेव (मन में) - हाय कार्य बिगड़ गया । पापीजन अनिष्ट को समझ जाया करते हैं । तो ऐसा कहता हूँ -
(प्रकाशम्) वयस्य नन्दगोप ! (प्रकट होता है) मित्र नन्दगोप !

यद्यस्मि भवतः किञ्चिन्मया पूर्वकृतं भवेत् ।
तस्य प्रत्युपकारस्य कालस्ते समुपागतः ॥ १८॥

पर्यायवाचिशब्दाः- किञ्चित् = ईषद् । पूर्वकृतम् = पूर्वोकारः । समुपागतः = प्राप्तः ।
अर्थः- यदि मैंने पहले कभी आपके साथ कोई उपकार किया हो तो यह उसके प्रत्युपकार का समय आ गया है ।। १८ ।।

नन्दगोपः - किं किं प्रत्युपकार इति । यदि कंसो वा भवतु, कंसस्य पितोग्रसेनो वा भवतु । आनयतु भर्ता दारकम् । वसुदेवः - वयस्य । गृह्यताम् । नन्दगोपः - मुहूर्तकं प्रतिपालयतु भर्ता, यावद् यमुनाजलं गत्वा शौचं करोमि । वसुदेवः- वयस्य । घोषवासात् प्रकृत्या शुचिरेव भवान् । नन्दगोपः- तेन ह्यस्माकं घोषस्योचितं पांसुना शौचं करोमि । वसुदेवः- कोऽत्र दोषः । क्रियतां शौचम् ।
नन्दगोप - वया, क्या ? प्रत्युपकार ? यदि कंस हो चाहे उसका पिता उग्रसेन हो स्वामी पुत्र को लाइए । वसुदेव - मित्र लो इसे । नन्दगोप - थोड़ी देर रुकिए स्वामिन् तब तक मैं जमुना जल में जाकर स्नान कर लूं । वसुदेव - मित्र आभीर ग्राम में रहने से तो आप स्वयं ही पवित्र हैं । नन्दगोप - तो मैं अपनी बस्ती के योग्य मिट्टी से ही अपने को पवित्र कर लूँ । वसुदेव - इसमें क्या दोष ? पवित्र हो जाइए ।
ततः प्रविशन्ति पञ्चायुधानि गरुडश्च - पांचों शस्त्र और गरुड़ का प्रवेश -
गरुडः-

अहं सुपर्णो गरुडो महाजवः शार्ङ्गयुधस्यास्य रथो ध्वजश्च।
पुरा हि देवासुरविग्रहेषु वहामि भो विष्णुबलेन विष्णुम् ॥१९॥

पर्यायवाचिशब्दाः- आयुधम् = शस्त्रम् । ध्वजः = केतुः । विष्णुबलेन = भगवच्छक्त्या । वहामि = वहनमकार्षम् ।
पदविग्रहः - सुपर्णो = शोभनं पर्णं यस्य सः । महाजवः = महान् जवो यस्य सः । शार्ङ्गयुधस्य = शार्ङ्गम् आयुधं यस्य तस्य । देवासुरविग्रहेषु = देवानामसुराणाञ्च विग्रहाः तेषु ।
अर्थः-
मैं सुन्दर पंखों वाला, अत्यन्त वेगगामी, (भगवान) शार्ङ्गपाणि का रथ और ध्वजा भी है । प्राचीन काल में देवासुर संग्राम में मैंने भगवान विष्णु को उनकी ही कृपा से धारण किया है ।।१९।।

चक्रः-

चक्रोऽस्मि कृष्णस्य कराग्रशोभी मध्याह्नसूर्यप्रतिमोग्रतेजाः ।
त्रिविक्रमे चामृतमन्थने च मया हता दानवदैत्यसङ्घाः ॥ २० ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- मध्याह्ने = वासरमध्ये । प्रतिमम् = सदृशम् । विक्रमाः = विशिष्टपादविक्षेपाः । अमृतस्य = पीयूषस्य । मन्थनम् = आलोडनम् । दानवानाम् = दनुपुत्राणाम् । दैत्यानाम् = दितिपुत्राणाम् ।
पदविग्रहः - कराग्रशोभी = करस्य अग्रं तस्मिन् शोभते । मध्याह्नसूर्यप्रतिमोग्रतेजाः = मध्याह्ने यः सूर्यः तस्य प्रतिमम् उग्रं तेजः यस्य सः । दानवदैत्यसङ्घाः =दानवानां दैत्यानां संघाः ।
अर्थः- चक्र- मैं कृष्ण की अँगुलियों पर शोभित होने वाला, दोपहर के सूर्य की भांति तीक्ष्ण तेज वाला चक्र हूँ। मैंने त्रिविक्रम (वामनावतार) के समय और अमृतमन्थन के समय अनेक दानवों के समूह को मारा है ।। २०।।
शार्ङ्गः-

शार्ङ्गोऽस्मि विष्णुकरलग्नसुवृत्तमध्या।
स्त्रीविग्रहात् पुरुषवीर्यबलातिदर्पा ।
यस्यार्थमाहवमुखेषु मयारिसङ्घाः
प्रभ्रष्टनागरथवाजिनराः प्रभग्नाः ॥ २१ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- शार्ङ्गः =शृंगविकारः । अर्थम् = कार्यसाधनम् । आहवमुखेषु = युद्धभूमिषु । प्रभाग्नाः = पराजिताः ।
पदविग्रहः - विष्णुकरलग्नसुवृत्तमध्या = विष्णोः करे लग्नं सुवृत्तं मध्यं यस्याः सा । पुरुषवीर्यबलातिदर्पा = पुरुषस्य वीर्यबलयोः दर्पमतिक्रान्ता । प्रभ्रष्टनागरथवाजिनराः = प्रभ्रष्टाः नागाः रथाः वाजिनः नराश्च येषां ते ।
अर्थः- शार्ङ्ग- भगवान विष्णु के हाथ के स्पर्श से सुन्दर मध्यभाग वाला, स्त्री स्वरूप होने पर भी पुरुष के बल और पराक्रम के घमण्ड को दूर करने वाला, मैं शार्ङ्ग हूँ । जिन भागवान विष्णु के कार्य की सिद्धि के लिए मैंने युद्धभूमि में शत्रुसमूह के हाथी,

रथ, घोड़े और पैदल सैनिकों को नष्ट करके उन्हें पराजित किया है ।।२१।।

कौमोदकीः-

कौमोदकी नाम हरेर्गदाहमाज्ञावशात् सर्वरिपून् प्रमथ्य ।
मया हतानां युधि दानवानां प्रक्रीडितं शोणितनिम्नगासु । ॥ २२॥

पर्यायवाचिशब्दाः- प्रमथ्य = पराजित्य । युधि = आहवे । निम्नगाः = सरितः ।

पदविग्रहः - सर्वरिपून् = सर्वे च ते रिपवस्तान् । शोणितनिम्नगासु = शोणितानां निम्नगाः तासु ।

अर्थः- कौमोदकी-

मैं कौमोदकी नामक विष्णु की गदा हूँ । (विष्णु की) आज्ञा से मैंने शत्रुओं का मन्थन करके और युद्धक्षेत्र में अपने द्व ारा मारे गए दानवों के रुधिर की नदियों में क्रीड़ा की है ।।२२।।

शङ्खः-

अहं हि शङ्खः क्षीरोदाद् विष्णुना स्वयमुद्धृतः ।
मम शब्देन नश्यन्ति युद्धे ते देवशत्रवः ॥ २३ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- क्षीरोदाद् = दुग्धसागरात् । उद्धृतः = निष्कासितः । देवशत्रवः = सुरद्वेषिणः । शब्देन = रवेण ।

अर्थः- शङ्ख-

मैं क्षीरसागर से स्वयं विष्णु के द्वारा निकाला गया शंख हूँ । मेरे घोष मात्र से युद्ध में देवताओं के शत्रु नष्ट हो जाते हैं ।। २३ ।।

नन्दकः-

नन्दकोऽहं न मे कश्चित् सङ्ग्रामेष्वपराङ्मुखः ।
गच्छामि स्मृतमात्रेण विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ २४ ॥

अर्थः- नन्दक -

मैं नन्दक नामक कृपाण हैं युद्ध में मेरे सामने कोई परांमुख न होने वाला नहीं हैं। अर्थात् सब भाग जाते हैं। भगवान विष्ण ु के स्मरण करने मात्र से मैं उनके पास पहुँच जाता हूँ ।।२४।।

चक्रः-

चक्रशार्ङ्गगदाशङ्खनन्दका दैत्यमर्दनाः।
वासुदेवस्य कार्यार्थं प्राप्ताः परिषदा वयम् ॥ २५ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- दैत्यमर्दनाः = दानवविनाशकाः । परिषदा = पार्श्ववर्तिनः । प्राप्ताः = समुपस्थिताः ।

अर्थः- चक्र- चक्र, शार्ङ्ग, गदा, शंख और नन्दक नामक विष्णु के सभासद हम सब उनके कार्य की पूर्णता के लिए पहुँच गए हैं ।।२५।।

तस्मादागम्यताम् वयमपि मनुष्यलोकमवतीर्णस्य भगवतो विष्णोर्बाल चरितमनुचरितुं गोपाल कवेषप्रच्छन्ना घोषमेवावतरिष्यामः। सर्वेः- तथास्तु । (विष्णुमुपस्थिताः) वसुदेवः- वयस्य ! बाल एव नमस्यताम् । नन्दगोपः- भर्तः ! तथा । राजदारक ! नमस्ते नमस्ते । ही, भवतु, आत्मनैवात्मानं निर्वाहय । अस्माकं गोपजनस्य त्वां ग्रहीतुं को बलपराक्रमः]

तो हम सब चलें, नरलोक में अवतीर्ण हुए भगवान विष्णु के बालचरित का रसास्वादन करने केलिए ग्वालों के वेष में छिपकर हम सब आमीर ग्राम में अवतीर्ण हों । सब - ऐसा ही हो । (विष्णु के समीप जाते हैं ।) वसुदेव -- मित्र ! बालक को नमस्कार करो । नन्दगोप - स्वामिन् ! ऐसा, राजकुमार ! नमस्कार नमस्कार । अच्छा, बाप स्वयं ही अपना निर्वाह करें। हम ग्वालों में तुम्हें ग्रहण करने की बल-पराक्रम कहाँ है ?

चक्रः- नमो भगवते नारायणाय । भगवन् ! महाविष्णो !

कार्याण्यकार्याण्यमरासुराणां
त्वया भविष्यन्ति बहूनि लोके
तस्माज्जनस्यास्य लघुत्वयोगात्
कुरु प्रसादं यदुवंशकेतो ! ॥ २६ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- अमरासुराणाम् - कार्याण्यकार्याणि = देवानां रक्षारूपाणि दानवानाञ्च विनाशरूपाणि कर्माणि । लघुत्वयोगात् =

तुच्छत्वभावात् । प्रसादम् = अनुग्रहम् । कुरु = विधेहि ।
पदविग्रहः - यदुवंशकेतो = यदुवंशस्य केतुः तत्सम्बुद्धौ । अमरासुराणाम् = अमराश्च असुराश्च तेषाम् ।
अर्थः- चक्र - भगवान नारायण को नमस्कार । भगवन् ! महाविष्णु ! -
संसार में आपके द्वारा अनेकों बार देवों की रक्षा और दानवों का विनाश होगा। अतएव हे यदुवंशियों में श्रेष्ठ ! इस अकिंचन नन्द गोप पर आप कृपा करें ।।२६।।
वसुदेवः - गृह्यताम् । नन्दगोपः- (गृह्णाति) यद् भर्ताज्ञापयति । वसुदेवः- वयस्य ! प्रभाता रजनी । प्रतिनिवर्ततां भवान् । नन्दगोपः- आश्चर्यमाश्चर्यं भर्तुः ! आश्चर्यम् । इमे बन्धने पतिते । वसुदेवः - सर्वमेतत् कुमारस्य प्रभावः । प्रतिनिवर्ततां भवान् । नन्दगोपः - यद् भर्ताज्ञापयति । वसुदेवः- अथवा एहि तावत् । नन्दगोपः- भर्तः ! अयमस्मि ।
वसुदेव--इन्हें लीजिये । नन्दगोप - जैसी स्वामी की आज्ञा ।
वसुदेव -- मित्र ! रात्रि समाप्त हो गई आप वापस चले जायें ।
नन्दगोप -- आश्चर्य, आश्चर्य स्वामी आश्चर्य । ये दोनों बन्धन गिर पड़े ।
वसुदेव -- यह सब कुमार का प्रभाव है । आप लौट जाँय ।
नन्दगोप -- जैसी स्वामी की आज्ञा । वसुदेव ! अथवा इधर आओ ।
नन्दगोप - - स्वामी मैं यह हूँ ।
वसुदेवः- (हे नन्दगोप)

जाने नित्यं वत्सलं त्वां प्रकृत्या,
स्नेहोऽप्यस्मिन्नर्थ्यते रूढभावः॥
अस्मिन् काले दग्धभूयिष्ठशेषं,
न्यस्तं बीजं रक्षितुं यादवानाम् ॥ २७ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- अर्थ्यते = प्रार्थ्यते । दग्धभूयिष्ठशेषम् = भृशदाहावशिष्टम् । बीजम् = निदानं । रक्षितुम् = पालयितुम् ।
अर्थः- वसुदेवः- (हे नन्दगोप !) मैं तुम्हें स्वभाव से ही नित्य वात्सल्य भावयुक्त मानता हूँ । अब इस बालक में तुम्हारे बढ़े हुए स्नेह को देखना चाहता हूँ अर्थात् मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप इस पुत्र को विशेष प्रीति प्रदान करेंगे तथा इस समय अत्यन्त जलने के बाद बचे हुए यादववंश के बीजस्वरूप इस धरोहर श्री कृष्ण के पालन की याचना करता हूँ ।।२७।।

वसुदेवः- कुमारस्य किं करिष्यति भवान् । नन्दगोपः- शृणोतु भर्ता । एकस्मिन् गेहे गत्वा दधि भक्षयति । अपरस्मिन् गेहे गत्वा नवनीतं गिलति । अन्यस्मिन् गेहे गत्वा पायसं मुङ्क्ते । इतरस्मिन् गेहे गत्वा तक्रघटं प्रलोकते । कि बहुना, अस्माकं घोषस्य पतिर्भवति । वसुदेवः-एवमस्तु । प्रतिनिवर्ततां भवान्। नन्दगोपः -यद् भर्ताज्ञापयति। वसुदेवः - ईश्वरः स्वस्तिं कुर्वन्तु । (निष्क्रान्तः)
वसुदेवः- कुमार के लिए आप क्या करेंगे ? नन्दगोप - स्वामी सुनें । एक घर में जाकर दूध पीयेगा, दूसरे घर में जाकर दही खाएगा और अन्य घर में जाकर मक्खन खाएगा, किसी घर में जाकर खीर खाएगा और कहीं मट्ठा टटोलेगा । अधिक क्या कहूँ हमारे आभीर ग्राम का यह स्वामी बनेगा। वसुदेव - ऐसा ही हो । आप लौट जाँय । नन्दगोप - जैसी स्वामी की आज्ञा । वसुदेव - ईश्वर कल्याण करे। (प्रस्थान करते हैं।)
स्मरणीय बिंदु-
1 मथुरा के राजा कंस ने अपनी बहन देवकी और वसुदेव को कारागार में बन्दी बनाया था क्योंकि आकाशवाणी ने भविष्यवाणी की थी कि देवकी की आठवीं सन्तान उसका वध करेगी।
2 भाद्रपद मास की कृष्णपक्ष की अष्टमी तिथि को रोहिणी नक्षत्र में मध्यरात्रि के समय भगवान् श्रीकृष्ण ने चतुर्भुज रूप में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण कर देवकी के गर्भ से अवतार लिया था।
3 भगवान् की आज्ञा से वसुदेव जी नवजात बालक को सूप में रखकर यमुना पार कर गोकुल में नन्दबाबा के घर छोड़ आए और वहाँ जन्मी योगमाया को मथुरा ले आए।
दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
प्रश्न 1 भगवान् श्रीकृष्ण के जन्म की पूरी परिस्थितियों का वर्णन कीजिए और कंस द्वारा देवकी के पुत्रों के वध तथा आठवीं सन्तान से जुड़ी आकाशवाणी के प्रभाव को स्पष्ट कीजिए?
प्रश्न 2 वसुदेव जी द्वारा नवजात श्रीकृष्ण को गोकुल ले जाने की कथा का सविस्तार वर्णन कीजिए और इसमें यमुना नदी तथा

शेषनाग की भूमिका को समझाइए?

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1 भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म किस मास, पक्ष, तिथि और नक्षत्र में हुआ था?

प्रश्न 2 कंस ने देवकी और वसुदेव को कारागार में क्यों बन्दी बनाया था?

प्रश्न 3 गोकुल में नन्द जी के घर से वसुदेव जी मथुरा के कारागार में किसे वापस लेकर आए थे?

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1 भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म किस राजा के कारागार में हुआ था?

(क) कंस (ख) उग्रसेन (ग) शिशुपाल (घ) जरासन्ध

प्रश्न 2 देवकी के किस नंबर की सन्तान के रूप में भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार हुआ था?

(क) चौथी (ख) छठी (ग) सातवीं (घ) आठवीं

प्रश्न 3 श्रीकृष्ण जन्म के समय वसुदेव जी उन्हें मथुरा से कहाँ ले गए थे?

(क) अयोध्या (ख) गोकुल (ग) द्वारका (घ) हस्तिनापुर

प्रश्न 4 भगवान् श्रीकृष्ण के जन्म के समय कौन सा नक्षत्र विद्यमान था?

(क) कृतिका (ख) रोहिणी (ग) मघा (घ) पुष्य

प्रश्न 5 वसुदेव जी जब श्रीकृष्ण को ले जा रहे थे तब मूसलाधार वर्षा से रक्षा करने के लिए किसने अपना फन तान दिया था?

(क) शेषनाग ने (ख) तक्षक ने (ग) वासुकी ने (घ) कालिया ने।

.....

इकाई-4.2 भगवान श्रीकृष्ण की बाल लीलाएँ

(ततः प्रविशति दामकः)

उद्देश्य-

1 भगवान् श्रीकृष्ण की बाल सुलभ क्रीड़ाओं और उनके आध्यात्मिक महत्व का बोध कराना।

2 गोकुल और वृन्दावन में श्रीकृष्ण द्वारा की गई विभिन्न लीलाओं के घटनाक्रम को स्पष्ट करना।

3 माखन चोरी और पूतना वध जैसी मुख्य बाल लीलाओं के माध्यम से दुष्ट दमन की प्रक्रिया को समझाना।

दामकः- अहो महत् तृणजालं स्वामिनो नन्दगोपस्य । सुतजननदिनादारभ्याधिकतर-मानन्दाद्भुतं वर्धते । भवतु, इह तिष्ठतु गोधनं, यावन्मातुलमुपसस्यामि । मातुल ! वन्दे । **वृद्धगोपालकः**- शान्तिर्भवतु शान्तिर्भवत्वस्माकं गोधनस्य च । **दामकः**- मातुल! यदाप्रभूति नन्दगोपपुत्रः प्रसूतः, तदाप्रभृत्यस्माकं गोधनं वर्जितरोगं संवृत्तम् । ननु सर्वेषां गोपजनानां प्रीतिर्वर्धते, अन्यच्च, खाते खाते मूलानि, फलानि गुल्मे गुल्मे । मधु कियद् दुह्यते क्षीरं तावद् एव घृतम् । **वृद्धगोपालकः**- अन्यच्चेदमाश्चर्यम् । दशरात्रप्रसूते नन्दगोपपुत्रे पूतना नाम दानवी विषसम्पू-रितस्तना नन्दगोप्या रूपं गृहीत्वागता । ततस्तया दारकं गृहीत्वा तस्य मुखे स्तनः प्रक्षिप्तः । ततस्तां विज्ञाय सुप्ता पातिनता सापि दानवी भूत्वा तत एव मृता । ततो मासमात्रे नन्दगोपपुत्रे शकटो दानवः शकटवेषं गृहीत्वागतः । तमपि ज्ञात्वैकपादप्रहारेण चूर्णीकृतः सोऽपि दानवो भूत्वा तत एव मृतः । ततो मास-परिवृत्तो नन्दगोपपुत्र एकस्मिन् गेहे गत्वा क्षीरं पिबति, अन्यस्मिन् गेहे गत्वा दधि भक्षयति, एकस्मिन् गेहे गत्वा नवनीतं गिरति, अन्यस्मिन् गेहे गत्वा पायसं मुक्त अपर. स्मिन् गेहे गत्वा तक्रघटं प्रलोकते । ततो रूष्टाभिर्गोपयुवति-भिर्नन्दगोप्यै उक्तम् । ततो रुष्टया नन्दगोप्या दाम गृहीत्वा तस्य मध्ये बद्ध्वा शेषमुलूखले बद्धम् । ततस्तदप्युलूखलमाघट्टयत् प्रेक्ष्य यमलार्जुनयोर्नाम दानवयोनिक्षिप्तम् । ततो द्वावेकी भूतौ । तयोरन्तरेण गच्छता नन्दगोपपुत्रेणाघट्टयता - समूलविटपं चूर्णीकृतौ तावपि दानवी भूत्वा तत एव मृतौ । ततो गोपजनै रुक्तं -महाबलपराक्रमोऽद्य प्रभृति भर्तृदामोदरो नाम भवतु इति । तत आधावनप्रवावन-मात्रे नन्दगोपपुत्रे प्रलम्बो नाम दानवो नन्दगोपवेषं गृहीत्वागतः ततः संकर्षणं कण्ठे निक्षिप्य गच्छन्तं विज्ञाय भर्त्रा संकर्षणेन तस्य दानत्रस्य शीर्षे मुष्टिप्रहारः कृतः । तेन प्रहारेणोत्क्षिप्तचक्षुः सोऽपि दानवो भूत्वा तत एव मृतः । गोपजनैः परिवृतस्तालफलानि ग्रहीतुं तालवनं गतः । तत्र तालबने धेनुको नाम दानवो गर्दभवेषं गृहीत्वागतः । ततस्तमपि ज्ञात्वा भर्तृदामोदरेण तस्य वामपादं गृहीत्वो-त्क्षिप्य पातितानि तालफलानि । सोऽपि दानवो भूत्वा तत एव मृतः । ततः केशी नाम दानवः तुरङ्गवेषं गृहीत्वागतः । ततस्तमपि ज्ञात्वा भर्तृदामोदरेण तस्य मुखे कूर्परो दत्तः । ततस्तेन द्विधा पाटितस्तुरङ्गः । सोऽपि दानवो भूत्वा तत एव मृतः । एतान्यन्यानि (च) कर्माणि कृतानि भर्तृदामोदरेण ।

(दामक का प्रवेश)

दामक - स्वामी नन्दगोप का यहाँ पर्याप्त घास है । पुत्र जन्म के बाद से यहाँ विचित्र आनन्द छाया हुआ है। अच्छा, गौओं को यहीं रोक दूं ! मैं मामा के पास जाऊंगा । (पास जाकर) मामा ! नमस्कार । वृद्ध गोपालकख्रहमारा और हमारी गौओं का कल्याण हो । दामक -मामा जब से नन्दगोप को पुत्र हुआ है तब से हम लोगों का गोधन नीरोग हो गया है, सभी गोपवृन्दों में परस्पर प्रेम बढ़ रहा है। गढ़ों में मूल, लताओं में फल लग गए हैं। कितना मधु है, दूध को दुहते ही ऊपर

मक्खन आ जाता है । वृद्ध गोपालक - और भी अनेक आश्चर्य हैं। दस दिन का ही जब नन्दगोप कुमारया तो विष से पूर्ण स्तनों वाली पूतना नामक राक्षसी नन्दगोपी (यशोदा) का वेष बनाकर आई। उसने कुमार को लेकर उसके मुख में स्तन डाल दिया । (कृष्ण ने) उसे सोई हुई जानकर पटक दिया । वह भी दानवी के रूप में आकर वहीं मर गई । एक मास में शकट नामक दानव शकट का वेष धारण करके आया । (कृष्ण ने) उस (के भी असली रूप) को जान कर एक पैर के प्रहार से ही चूर कर दिया । वह भी दानव होकर वहीं मर गया । एक महीने के बाद

से नन्दगोप पुत्र एक घर में जाकर दूध पीता, दूसरे में जाकर दही खाता, तीसरे में जाकर मक्खन खाता, इतर में जाकर खीर खाता और अन्येतर में जाकर मट्ठा बिखराता है । तो रुष्ट गोपयुवतियों ने नन्दगोपी से (सब कुछ) कहा । क्रुद्ध नन्दगोपी ने रस्सी लेकर (एक छोर से) उसकी कमर बाँध कर शेष को ओखली में बाँध दिया। उसने ओखली को घसीटते हुए यमल और अर्जुन नामक दो दानवों पर फेंक दिया । तब दोनों एक हो गए। तदनन्तर नन्दगोपपुत्र ने समूल बिटप को उखाड़ कर चूर कर दिया और वे दोनों दानव होकर वहीं मर गए । सब गोपवृन्दों ने कहा- यह बड़ा पराक्रम किया है अतः माज से लेकर इसका नाम भर्तृ दामोदर होगा । जब कुमार उछलने-कूदने में चतुर हुआ तो प्रलम्ब नामक दानव नन्दगोप का वेष धारण करके आया । संकर्षण को अपने कंठ पर लेकर जाते हुए उसे जानकर भाई संकर्षण ने उस दानव के सिर पर मुक्के से प्रहार किया । उस आघात से उसके नेत्र बाहर निकल आए और वह दानव होकर वहीं मर गया । ग्वालों के साथ तालफलों को लेने तालवन में गया । उस ताल-वन में धेनुक

नामक दानव गदद्दे का वेष धारण करके आया । स्वामी दामोदरने उसे भी पहचान कर वाएँ पैर को पकड़ कर भूमि पर दे पटका और सारे तालफल गर पड़े । वह भी दानव होकर वहीं मर गया, तब केशी नामक दानव घोड़े का वेष धारण करके आया । भर्तृ दामोदर ने उसे भी जानकर उसके मुख के अन्दर केहुनी डाल दिया जिससे वह घोड़ा दो टुकड़े होकर गिर पड़ा । वह भी दानव होकर वहीं मर गया । इसी तरह भर्ता दामोदर ने अनेक लीलाएँ की।

(प्रविश्य) वृद्धगोपालकः-

अनुदितमात्रे सूर्ये प्रणमत सर्वादरेण शीर्षेण ।
नित्यं जगन्मातृणां गवाममृतपूर्णानाम् ॥२८॥

पर्यायवाचिशब्दाः- अमृतेन = दुग्धेन । नित्यम् = अहरहः । प्रणमतं = नमस्कारं कुरुत ।
पदविग्रहः - अमृतपूर्णानाम् = अमृतेन पूर्णाः तासाम् ।
अर्थः- (प्रवेश करके) वृद्ध गोपालक -
सूर्य उदय होने से पूर्व पहले बड़े आदर के साथ अमृत (दुग्ध) से पूर्ण, सम्पूर्ण विश्व की माता गायों को सर्वदा सिर झुकाकर नमस्कार करो ॥१॥

वृद्धगोपालकः- एष भर्ता दामोदरः गोक्षीर-पाण्डरेण भर्त्रा सङ्कर्षणेन सह गोपालकैश्च परिवृतः गुहानिक्षिप्तः सिंह श्वेत एवागच्छति । (ततः प्रविशति गोपजनपरिवृतो दामोदरः सङ्कर्षणश्च।)
वृद्ध गोपालक - यह स्वामी दामोदर गोदुग्ध की भाँति शुभ्र वर्ण बाले भाई बलराम के साथ और ग्वालों से घिरे हुए गुफा में स्थित सिंह की तरह इधर ही आ रहे हैं ।
(ग्वालों से घिरे हुए दामोदर और संकर्षण का प्रवेश)
गोपालकः- हा हा भर्ता अपक्रामत्वस्माद् देशाद्। **दामोदरः-** दामक! किमसि सम्भ्रान्तः। **गोपालकः-** एषोऽरिष्टवृषभो नाम दानवः पिण्डीकृतनिर्घातरूपो भूमितलं खुरपुटैर्लिखन्, यस्य घोषो मेघरव इति शङ्कितो जातः। **दामोदरः-** एवं प्राप्तोऽरिष्टर्षभः इमा नो गोपदारिका दारकांश्च गृहीत्वैतत् पर्वतशिखरमारुह्य दुरात्मनो मम च युद्धविशेषणं पश्यत्वार्यः । अहमस्य दर्पप्रशमनं करोमि।
(प्रवेश करके) गोपालक - हा हा स्वामी ! इस देश से भाग चलें । दामोदर - दामक ! तुम क्यों घबड़ाए हो ? गोपालक - संहार का पुंजीमूतस्वरूप अरिष्ट नामक दानव अपने खुर के अगले भाग से भूमि को सोद रहा है । जिसके रंभाने पर मेघ गर्जन की शंका होती है । दामोदर - ऐसा, अरिष्टषंभ आ गया । आयं आप इन गोपकुमारियों और कुमारों को लेकर इस पर्वत के ऊपर चढ़कर पापी दानव और मेरा विशेष युद्ध देखिए । मैं इसके गर्व को चूर करूंगा । (उनके साथ संकर्षण का प्रस्थान) दामोदर - यह, यह पापी अरिष्टर्षभ -
दामोदरः- एष एष दुरात्मारिष्टर्षभः ।

कृत्वा खुरैर्भूमितलं प्रभिन्नं शृङ्गैश्च कूलानि समाक्षिपंश्च ।
भयार्तगोपैः प्रसमीक्ष्यमाणो नदन् समाधावति गोवृषेन्द्रः ॥२९॥

पर्यायवाचिशब्दाः- भूमितलम् = मेदिनीम् । प्रभिन्नम् = विदीर्यम् । कूलानि = नदीतटानि । भयार्तगोपैः = भीरुगोपालकैः । नदन् = नादं कुर्वन् ।
अर्थः- अपने खुर से भूमि तल को खोदता हुआ और सींग से (यमुना) तट को गिराता हुआ तथा जोर-जोर से गर्जन करता हुआ वृषभश्रेष्ठ आ रहा है तथा भयभीत गोपगण उसको बार-बार देख रहे हैं । ।।üùAA
ततः प्रविशत्यरिष्टर्षभः। क्व नु खलु गतो नन्दगोपपुत्रः । भो नन्दगोपपुत्र ! क्वासि । दामोदरः- भो गोवृषाधम ! इत इतः । एष स्थितोऽस्मि । अरिष्टर्षभः- (दृष्ट्वा) अहो,
वह नन्दगोप का पुत्र कहाँ है ? अरे, नन्दगोप - पुत्र तू कहाँ है ? दामोदर -- अरे, नीच गोवृषभ इधर-इधर, मैं यहाँ हूँ । अरिष्टर्षभ (देखकर)- अरे,

सारवान् खल्वयं बालो यो मां दृष्ट्वा महाबलम्।
उग्ररूपं महानादं नैव भीतो न विस्मितः ॥३०॥

पर्यायवाचिशब्दाः- महाबलम् = अत्यन्तपराक्रमिणम् । दृष्ट्वा = अवलोक्य । उग्ररूपम् = प्रचण्डस्वरूपम् । महानादम् = भीतिप्रदं शब्दम् ।

अर्थः- यह बालक निश्चित ही बड़ा पराक्रमी है जो मेरे भयंकर स्वरूप, गर्जन और महान पराक्रम को देखकर न तो डरा और न ही आश्चर्यचकित हुआ अर्थात् यह कोई विशेष शक्ति सम्पन्न मनुष्य है। ।।३०।।

दामोदरः-

किमेतद् भो ! भयं नाम भवतोऽद्य मया श्रुतम् ।
भीतानामभयं दातुं समुत्पन्नो महीतले । ।।३१।।

पर्यायवाचिशब्दाः- अद्य = इदानीम् । भवतः = त्वत्तः । श्रुतम् = आकर्णितम् । समुत्पन्नः = प्रादुर्भूतः ।

अर्थः- दामोदर - अरे, यह क्या आज मेरे द्वारा भय का नाम तुम्हीं से सुना गया है । भयभीत व्यक्तियों को अभय देने के लिए ही मैं पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ हूँ अर्थात् मेरा जन्म दुष्टों के विनाश के लिये ही हुआ है ।।३१।।

अरिष्टर्षभः- भो ! बालस्त्वम् । अतः खलु भयं न जानासि । दामोदरः- भो गोवृषाधम ! कि बाल इति मां प्रधर्षयसि ।

अरिष्टर्षभ -- तू बालक है ? इसीलिए तू भय नहीं जानता । दामोदर -- अरे नीच गोवृषभ ! क्या मुझे बालक कहकर मेरी निन्दा करता है ?

किं दष्टः कृष्णसर्पेण बालेन न निहन्यते।
बालेन हि पुरा क्रौञ्चः स्कन्देन निधनं गतः ।।३२।।

पर्यायवाचिशब्दाः- दष्टः = दंशितः । निहन्यते = न म्रियते । स्कन्धेन = कुमारेण । निधनं गतः = विदारितः ।

अर्थः- क्या काले (विषैले) सर्प-शिशु के डसने पर कोई मरता नहीं ? पहले बालक कुमार द्वारा ही क्रौञ्च असुर का वध हुआ था अर्थात् भगवान श्रीकृष्ण ने ही बाल्यावस्था में पर्वत रूप धारण करने वाले क्रौञ्च नामक असुर का वध किया था ।।३२।।

भवितव्यम् ।

अपीदं शृणु मूर्ख ! त्वं कठिनोपलसञ्चयः ।
किं न पल्लवमात्रेण शैलो वज्रेण पातितः ।।३३।।

पर्यायवाचिशब्दाः- शृणु = आकर्णय । वज्रेण = कुलिशेन । उपलानाम् = प्रस्तराणाम् । शैलः = गिरिः ।

पदविग्रहः - कठिनोपलसञ्चयः = कठिनानाम् उपलानां सञ्चयः यस्मिन् सः ।

अर्थः- ऐसा होना चाहिए ।

अरे मूर्ख सुन ! कठिन पत्थरों से बने हुए पर्वत को पल्लव (पत्ते) के समान वज्र से नहीं गिराया गया था (क्या) ? ।।३३।।

अरिष्टर्षभः- भो नन्दगोपपुत्र ! कि व्यवसितम् । दामोदरः- त्वां निधनमुपनेतुम् । अरिष्टर्षभः- समर्थो भवान् । दामोदरः- कः संशयः । अरिष्टर्षभः- तेन हि गृह्यतां स्वजातिसदृशं प्रहरणम् । दामोदरः- प्रहरणमिति । हं भोः -

अरिष्टर्षभ-- रे नन्दगोप पुत्र ! क्या सोचा है ? दामोदर - तुम्हें मारने के लिए । अरिष्टर्षभ - समर्थ हो तुम ? दामोदर - (इसमें) संशय क्या ? अरिष्टर्षभ - तो अपनी जाति के अनुकूल शस्त्र लो । दामोदर - शस्त्र ? अरे हे -

गिरितटकठिनांसावेव बाहू मर्मतौ
प्रहरणमपरं तु त्वादृशां दुर्बलानाम् ।
अथ मम भुजदण्डैः पीड्यमानश्च शीघ्रं
यदि न पतसि भूमौ नास्मि दामोदरोऽहम् । ।।३४।।

पर्यायवाचिशब्दाः- अंसौ = उभौ भुजौ । अपरम् = अन्यत् । भुजदण्डैः = दोर्दण्डैः । शीघ्रम् = द्राक् ।

पदविग्रहः - गिरितटकठिनांसौ = गिरितटयोरिव कठिनौ अंसौ ययोस्तौ ।

अर्थः- पर्वत के अधोभाग के समान कठिन दोनों कन्धे वाले ही मेरे भुजा शस्त्र हैं पर तुम जैसे दुर्बलों के लिए दूसरा शस्त्र है। यदि मेरी भुजा से चूर्णित होकर तू शीघ्र ही भूमि पर नहीं गिरेगा तो मेरा नाम दामोदर नहीं ।।३४।।

अरिष्टर्षभः- तेन हि प्रवर्ततां युद्धम् । **दामोदरः**- भो गोवृषाधम ! यदि ते शक्तिरस्ति, मां पादेनैकेन स्थितं स्थानात् कम्पय ।

अरिष्टर्षभः- कोऽत्र संशयः (तथा कर्तु चेष्टयित्वा मूर्च्छितः पतति ।)

दामोदरः- भो गोवृष ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि । अनेन वीर्येण भवान् गर्वितः।

अरिष्टर्षभः- (आश्वस्य, आत्मगतम्) अहो दुष्प्रसह्योऽयं बालः ।

अरिष्टर्षभ - तो युद्ध प्रारम्भ करो । दामोदर- अरे, नीच गोवृषभ ! यदि तुम में शक्ति है तो पृथ्वी पर रखे हुए मेरे पैर को हिला दो । अरिष्टर्षभ - इसमें क्या संदेह है। (वैसा करने की चेष्टा करके मूर्छित होकर गिर पड़ता है।) दामोदर - हे गोवृषभ ! धैर्य धारण करो, धैर्य धारण करो । इसी पराक्रम पर आप गर्वित थे । अरिष्टर्षभ- (धैर्य धारण करके, थोड़ा श्वास लेकर) - इस वालक का सामना करना बड़ा कठिन है ।

रुद्रो वाऽयं भवेच्छक्रो विष्णुर्वापि स्वयं भवेत् ।
अमिथ्या खलु मे तर्कः स एव पुरुषोत्तमः ॥३५॥

अर्थः-
चाहे शंकर हों, इन्द्र हों अथवा स्वयं विष्णु भगवान् हो मेरा तर्क-वितर्क करना व्यर्य है यह पुरुषोत्तम ही हैं ॥३५॥
आ,

यत्र यत्र वयं जातास्तत्र तत्र त्रिलोकधृत् ।
दानवानां वधार्थाय वर्तते मधुसूदनः ॥३६॥

पर्यायवाचिशब्दाः- जाताः = उत्पन्नाः । मधुम् = मधुनामानं राक्षसम् । सूदयति = विनाशयति।
पदविग्रहः - त्रिलोकधृत् = त्रिलोकान् धरतीति । **मधुसूदनः = मधुं सूदयति**
अर्थः- अरे ! जहाँ-जहाँ हम असुर उत्पन्न हुए वहाँ-वहाँ हम लोगों (साधु पुरुषों) के लिए स्वयं त्रिलोकी रक्षक मधुसूदन भी उत्पन्न हुए ॥३६॥
भवतु। विष्णुना हतस्याप्यक्षयो लोको मे भविष्यति। तस्माद् युद्धं करिष्यामि । (प्रकाशम्) भो नन्दगोपपुत्र। पुनरवि जातो में दर्पः। दामोदरः- हम् । तिष्ठ तिष्ठेदानीम्।
अच्छा । विष्णु के द्वारा मारे जाने पर अमर लोक की प्राप्ति होगी । इसलिए युद्ध करूँगा । (प्रकाश में) हे नन्दकुमार ! मुझे पुनः अहंकार हो गया है । दामोदर - हुं हुं : ठहरो ठहरो अभी ।

कि गर्जसे भुजगतो मम गोवृषेन्द्र !
पातप्रवृद्ध इव वार्षिककालमेघः ।
एहि क्षिपामि धरणीतलमभ्युपेहि
वज्राहतस्तट इवाञ्जनपर्वतस्य ॥३७॥

पर्यायवाचिशब्दाः- पातेन = जलवर्षणेन । मेघः = अम्बुदः । भुजगतः = बाहुमध्यगतः । क्षिपामि = पातयामि । अञ्जनपर्वतस्य = कज्जलगिरेः । अभ्युपेहि = प्राप्नुहि ।
पदविग्रहः - पातप्रवृद्धः = पातेन प्रवृद्धः । वार्षिककालमेघः = वर्षायां भवः स चासौ कालश्च तस्मिन् मेघः । वज्राहतः = वज्रेणाहतः ।
अर्थः- रे अरिष्टर्षभ, वर्षा काल में उमड़ते हुए बादल की तरह मेरी भुजाओं में पड़ा हुआ कैसा गर्जन करता है । आओ तुम्हें मैं पृथ्वीपर गिराकर वज्र से आहत कज्जल पर्वत की भाँति खण्ड कर डालूं अर्थात् भगवान कृष्ण ने उस अरिष्टर्षभ नामक राक्षस को अपनी भुजाओं में दबा लिया जिसके कारण जोर-जोर से चिल्लाने लगा फिर भगवान कृष्ण ने उसको जोर से धरती पर पटक कर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥३७॥
(तथा कृत्वा) एष एष दुरात्मारिष्टर्षभः - (वैसा करके) अरे, यह, यह पापी अरिष्टर्षभ,

विसृतरुधिरधाराक्लिन्ननासास्यनेत्रं
चलितककुदवालः प्रस्फुरत्पादकर्णः ।
निपतति विगतात्मा भूतले वज्रभिन्नो
गिरिरिव शिखराग्रैर्गोवृषो दानवेन्द्रः ॥३८॥

पर्यायवाचिशब्दाः- विसृता = प्रसृता । रुधिरधारा = रक्तश्रेणी । क्लिन्नम् = आर्द्रम् । नासास्यनेत्रम् = नासिकामुखनयनम् । चलिताः = प्रकम्पिताः । ककुदवालाः = वृषाङ्गकचाः । भिन्नः = खण्डितः।
पदविग्रहः - विसृतरुधिरधाराक्लिन्ननासास्यनेत्रम् = विसृता रुधिरधारा तया क्लिन्नं नासास्यनेत्रम् । चलितककुदवालः = चलिताः ककुदवालाः यस्य सः । प्रस्फुरत्पादकर्णः = प्रस्फुरन्तौ पादौ कर्णौ यस्य सः ।

अर्थः- रुधिर की धारा से इसका मुख, नासिका और नेत्र तर हो रहे हैं । वृषांग के बाल थरथरा रहे हैं । पैर और कान कांप रहे हैं । यह दैत्यराज वृषभश्रेष्ठ वज्र से आहत चोटी वाले पर्वत की भाँति पृथ्वी पर गिरता है । ।।३८।।

इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण ने शिशु अवस्था से ही अपने अद्‌भुत पराक्रम के माध्यम से संसार को समस्त आसुरी शक्तियों से मुक्त किया तथा सम्पूर्ण मानवता को समाज कल्याण हेतु पुरुषार्थ करने का संदेश भी दिया।

स्मरणीय बिंदु-

1 नन्द भवन में रहते हुए घुटनों के बल चलना और गोकुल की गोपियों के घरों से माखन चुराकर मित्रों व बन्दरों को खिलाना श्रीकृष्ण की सबसे प्रिय बाल लीला थी।

2 कंस द्वारा भेजी गई भयंकर राक्षसी पूतना का वध बालक श्रीकृष्ण ने उसके स्तनों से प्राणों को चूसकर पालने में ही कर दिया था।

3 मिट्टी खाने के बहाने जब माता यशोदा ने श्रीकृष्ण का मुख खुलवाया तब उन्होंने बालक के मुख के भीतर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के दर्शन किए थे।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 भगवान् श्रीकृष्ण की माखन चोरी लीला का सविस्तार वर्णन कीजिए और इसमें गोपियों के उलाहने तथा यशोदा माता के वात्सल्य भाव को स्पष्ट कीजिए?

प्रश्न 2 बालक श्रीकृष्ण द्वारा किए गए पूतना वध और मिट्टी खाने वाले प्रसंग में ब्रह्माण्ड दर्शन की घटना का तार्किक एवं आध्यात्मिक विवरण दीजिए?

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 बालक श्रीकृष्ण माखन चुराकर स्वयं खाने के अतिरिक्त और किसे खिलाया करते थे?

प्रश्न 2 कंस ने कृष्ण को मारने के लिए सबसे पहले किस राक्षसी को गोकुल भेजा था?

प्रश्न 3 मिट्टी खाने वाले प्रसंग में माता यशोदा ने श्रीकृष्ण के मुख के भीतर क्या देखा था?

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1 भगवान् श्रीकृष्ण की किस लीला को वात्सल्य रस की सर्वश्रेष्ठ लीला माना जाता है?

(क) माखन चोरी लीला (ख) कंस वध लीला (ग) महाभारत उपदेश लीला (घ) द्वारका निर्माण लीला

प्रश्न 2 पूतना नाम की राक्षसी का वध श्रीकृष्ण ने किस अवस्था में किया था?

(क) बाल्यावस्था में पालने में ही (ख) युवावस्था में मथुरा में (ग) किशोरावस्था में वृन्दावन में (घ) कुरुक्षेत्र के मैदान में

प्रश्न 3 माता यशोदा ने श्रीकृष्ण को क्या खाते हुए देखकर उनका मुख खोलने के लिए कहा था?

(क) माखन (ख) मिश्री (ग) मिट्टी (घ) फल

प्रश्न 4 गोपियाँ बालक श्रीकृष्ण की शिकायतों को लेकर किसके पास जाती थीं?

(क) राजा कंस के पास (ख) माता यशोदा के पास (ग) देवकी के पास (घ) वसुदेव के पास

प्रश्न 5 श्रीकृष्ण के मुख के भीतर यशोदा माता को किसके दर्शन हुए थे?

(क) केवल धन-दौलत के (ख) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के (ग) केवल कंस के (घ) घने अन्धकार के।

.....

॥ ओ३म् ॥

प्राचीन भारत का इतिहास

BDPHID-103(2)

दिव्य प्रकाशन

BDPHID-103(2)

प्राचीन भारत का इतिहास

Credit- 04

Marks-100 (30+70)

खण्ड-1 भारतीय इतिहास को जानने के स्रोत **Credit-** 01

इकाई-1 इतिहास में स्रोतों का महत्व

इकाई-2 साहित्यिक स्रोत

इकाई-3 पुरातात्विक स्रोत

इकाई-4 विदेशी यात्रियों का विवरण

खण्ड-2 सैंधव सभ्यता उत्पत्ति एवं विकास **Credit-** 01

इकाई-1 सैंधव सभ्यता का परिचय

इकाई-2 सैंधव सभ्यता की नगर योजना

इकाई-3 सैंधव सभ्यता की सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक व्यवस्था

इकाई-4 सैंधव सभ्यता का पतन

खण्ड-3 वैदिक सभ्यता **Credit-** 01

इकाई-1 वैदिक काल का परिचय

इकाई-2 ऋग्वैदिक कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक परम्पराएं

इकाई-3 उत्तरवैदिक कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक परम्पराएं

इकाई-4 उपनिषदीय धर्म एवं विभिन्न शिक्षाएं

खण्ड-4 छठीं शताब्दि ई.पू. से मौर्य काल तक का राजनीति इतिहास **Credit-** 01

इकाई-1 हर्यक वंश

इकाई-2 नन्द वंश

इकाई-3 मौर्य काल- मौर्य वंश का परिचय, चन्द्रगुप्त एवं बिन्दुसार

इकाई-4 सम्राट अशोक

विषय सूची

विषय		पृष्ठ सं.
खण्ड-1	**भारतीय इतिहास को जानने के स्रोत**	**5-22**
इकाई-1.1	इतिहास में स्रोतों का महत्व	5-8
इकाई-1.2	साहित्यिक स्रोत	9-13
इकाई-1.3	पुरातात्विक स्रोत	14-18
इकाई-1.4	विदेशी यात्रियों का विवरण	19-22
खण्ड-2	**सैंधव सभ्यता उत्पत्ति एवं विकास**	**23-38**
इकाई-2.1	सैंधव सभ्यता का परिचय	23-26
इकाई-2.2	सैंधव सभ्यता की नगर योजना	27-31
इकाई-2.3	सैंधव सभ्यता की आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था	32-36
इकाई-2.4	सैंधव सभ्यता का पतन	37-38
खण्ड-3	**वैदिक सभ्यता**	**39-56**
इकाई-3.1	वैदिक काल का परिचय	39-41
इकाई-3.2	ऋग्वैदिक कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक परम्पराएं	42-49
इकाई-3.3	उत्तरवैदिक कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक परम्पराएं	50-53
इकाई-3.4	उपनिषदीय धर्म एवं विभिन्न शिक्षाएं	54-56
खण्ड-4	**छठीं शताब्दी ई.पू. से मौर्य काल तक का राजनीति इतिहास**	**57-80**
इकाई-4.1	हर्यक वंश	62-65
इकाई-4.2	नन्द वंश	66-68
इकाई-4.3	मौर्य काल- मौर्य वंश का परिचय, चन्द्रगुप्त एवं बिन्दुसार	69-73
इकाई-4.4	सम्राट अशोक	74-80

भूमिका

महान मौर्यों ने सम्पूर्ण भारत को पहली बार एक राजनीतिक सूत्र में बांधा था और अशोक ने अपने धम्म के द्वारा उसे एक सर्वमान्य आदर्श और चेतना से जोड़ा था, परन्तु स्वयं अशोक और उसके पश्चात् के मौर्य सम्राटों ने कदाचित् परम्परागत ब्राह्मण धर्म एवं संस्कृति को वह सम्मान अथवा विशेष महत्त्व प्रदान नहीं किया जो भारत में स्थायी रूप से संस्कृति और सभ्यता की उत्पत्ति और उसके विकास के लिये उत्तरदायी रही थी। नयी परिस्थितियों में भले ही उसके बहुत से नियम समय के अनुकूल न रह गये हों परन्तु उसका अनुपालन करने वाले तथा उसे महत्व देने वाले लोगों का प्रभाव कम नहीं था। अत: मौयों को हटाकर उनके ही ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने मगध में अपने ब्राह्मण राजवंश की स्थापना की। दक्षिण-पश्चिम की ओर सातवाहन ब्राह्मण राजवंश का उदय हुआ। बगली-तीन-चार शताब्दियों तक ब्राह्मण राजवंशों की ही प्रधानता रही और इस काल में ब्राह्मण धर्म और संस्कृति के पुनरुत्थान एवं विस्तार के प्रयास किये गये। दूसरी ओर उत्तरी एवं पश्चिमी भारत से विदेशियों के भी आक्रमण हुये और उत्तर-पश्चिम में भारतीय यवनों और फिर कुषाणों तथा पश्चिम में शकों के राज्य स्थापित हुए। इसके साथ ही उत्तर-मध्य एवं दक्षिण-पूर्वी भारत में भी कुछ स्थानीय सत्ताओं का उदय हुआ जिनमें कुछ गणराज्य थे और कुछ राजतन्त्र। इस प्रकार मौर्यों के पतन के साथ ही भारत में राजनी. तिक विघटन का प्रारम्भ हुआ जो गुप्त साम्राज्य की स्थापना के बाद ही समाप्त हुआ। इस काल में आर्थिक विकास की नई दिशाएं खुलीं। ब्राह्मण धर्म और संस्कृति ने अपनी जड़ें और मजबूत की और उसका सम्पूर्ण भारत में विस्तार हुआ। विदेशियों ने ब्राह्मण-हिन्दू एवं बौद्ध दोनों ही भारतीय धर्मों को अपनाया।

खण्ड-1 भारतीय इतिहास को जानने के स्रोत

इकाई-1.1 इतिहास में स्रोतों का महत्त्व

उद्देश्य-

1. ऐतिहासिक स्रोतों की अवधारणा को समझना।
2. प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों में अंतर जानना।
3. इतिहास लेखन में स्रोतों के महत्व का अधययन करना।

इतिहास मानव सभ्यता के अतीत का अध्ययन है, जिसका उद्देश्य यह समझना है कि समाज समय के साथ कैसे विकसित हुए। यह राजनीतिक घटनाओं, आर्थिक व्यवस्थाओं, सामाजिक संरचनाओं, सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों और मानवीय उपलब्धियों को समाहित करता है। लेकिन इतिहास को शून्य में नहीं लिखा जा सकता। इसके लिए विश्वसनीय और विविध प्रमाणों की आवश्यकता होती है। यही प्रमाण ऐतिहासिक स्रोत कहलाते हैं। ये स्रोत ऐतिहासिक अनुसंधान की नींव होते हैं और अतीत की घटनाओं को समझने, उनके विश्लेषण करने और मानव व्यवहार की व्याख्या करने में अनिवार्य भूमिका निभाते हैं।

ऐतिहासिक स्रोत हमें प्राचीन सभ्यताओं के जीवन, क्रियाकलापों, विश्वासों और संस्थाओं की झलक प्रदान करते हैं। चाहे वे प्राचीन पांडुलिपियों, अभिलेखों, पुरातात्विक अवशेषों, मौखिक परंपराओं, मुद्राओं, विदेशी विवरणों या साहित्यिक ख़तियों के रूप में होंकृये सभी इतिहासकारों को अतीत की एक सटीक और गूढ़ समझ विकसित करने में सहायता करते हैं। इन स्रोतों के बिना इतिहास केवल मिथकों या अनुमानों तक सीमित रह जाता।

ऐतिहासिक स्रोतों के प्रकार

ऐतिहासिक स्रोतों को मुख्यत: दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है-

1. प्राथमिक स्रोत (Primary Sources)-

ये वे प्रत्यक्ष और मौलिक प्रमाण होते हैं जो घटनाओं के घटने के समय या उसके कुछ समय बाद लिखे या निर्मित किए गए। उदाहरण के लिए ऐतिहासिक साहित्य यथा वेद, उपनिषद, स्मृतियां, पुराण जैसे धार्मिक ग्रन्थों के साथ ही अनेक धर्मेतर साहित्य जैसे कौटिल्य का अर्थशास्त्र, बाणभट्ट का हर्षचरित, कल्हण की राजतरंगिणी, विल्हण का विक्रमांकदेवचरित इत्यादि, शिलालेख (जैसे अशोक के अभिलेख, कनिष्क के अभिलेख, समुद्रगुप्त के स्तम्भ अभिलेख), सिक्के और मुद्राएं, पांडुलिपियाँ, विधिक दस्तावेज, राजकीय आदेश और अभिलेख, प्रत्यक्षदर्शी विवरण, पुरातात्विक खोजें (जीवाश्म, मिटी के बर्तन, औजार, संरचनाएँ आदि)।

2. द्वितीयक स्रोत (Secondary Sources)-

ये वे स्रोत होते हैं जो प्राथमिक स्रोतों के आधाार पर लिखे गए विश्लेषण या व्याख्याएँ होते हैं। उदाहरण के लिए इतिहास की पाठ्यपुस्तकें, शोधापत्र और अकादमिक लेख, जीवनियाँ, वृत्तचित्र (Documentarie)।

ऐतिहासिक स्रोतों का महत्त्व

1. अतीत के पुनर्निर्माण में सहायता-

इतिहासकार प्राथमिक स्रोतों की सहायता से अतीत की घटनाओं, राजवंशों, युद्धों, संधियों और कूटनीतिक संबंधों का पुनर्निर्माण करते हैं। द्वितीयक स्रोत इस जानकारी को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए अशोक के अभिलेखों से मौर्य प्रशासन, धम्म की नीति और कलिंग युद्ध के बाद उनके परिवर्तन की जानकारी मिलती है।

2. कालक्रम की स्थापना-

प्राथमिक स्रोतों की सहायता से सटीक तिथियों और घटनाओं के अनुक्रम को स्थापित करने के लिए शिलालेख, मुद्राएँ और अभिलेखों में अंकित तिथियाँ सहायक होती हैं। यथा 'राजा चंद्रगुप्त के तृतीय वर्ष' जैसे उल्लेख कालक्रम निर्धारण में सहायक हैं। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग कर हम इन स्रोतों के माध्यम से विभिन्न शासकों के कालखण्ड़ के साथ ही समकालीन अन्य शासकों के विषय में भी जानकारी प्राप्त होती है।

3. प्रामाणिकता की पुष्टि-

इतिहास में सत्य और मिथक में अंतर करने के लिए स्रोत प्रमाणस्वरूप कार्य करते हैं। जब विभिन्न स्रोत एक ही घटना की पुष्टि करते हैं, तो उसका ऐतिहासिक सत्यापन होता है। उदाहरणस्वरूप गुप्त काल को 'स्वर्ण युग' कहने की पुष्टि चीनी यात्री फाह्यान के विवरण, गुप्तकालील सिक्कों और गुप्त शासकों के अभिलेखों से होती है।

4. सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की जानकारी-

स्रोतों के माध्यम से साहित्य, चित्रकला, मंदिरों की कलाकृतियाँ और धार्मिक ग्रंथ सामाजिक संरचना, पर्वों, रीति-रिवाजों और शिक्षा प्रणाली की जानकारी प्रदान करते हैं। यथा मनुस्मृति, जातक कथाएँ और संगम साहित्य से प्राचीन समाज की झलक मिलती है।

5. राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था की जानकारी-

शिलालेखों और ग्रंथों से शासन प्रणाली, कर संग्रह, भूमि अनुदान आदि की जानकारी मिलती है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कामन्दक के नीतिशास्त्र, अलग अलग स्मृतियों से हमें तत्कालिन प्रशासन और अर्थव्यवस्था का प्रामाणिक जानकारी प्राप्त होती है।

6. धार्मिक विकास का अधययन-

प्राचीन भारतीय मनिषियों ने अपने महानतम् ज्ञान को श्रुति परम्प.
रा व लेखन परम्परा के माध्यम से हम सभी को प्रदान की। ऋषियों द्वारा रचित धार्मिक ग्रंथों, मंदिरों के अभिलेख, पुरातात्विक स्रोतों और तीर्थ यात्रओं के विवरण से विभिन्न धर्मो के उद्‌भव, विकास और समाज पर प्रभाव की जानकारी मिलती है। यथा वेद, स्मृतियां, पुराण, बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य के साथ ही अनेक धर्मेतर साहित्य तथा विभिन्न विदेशी यात्रियों जैसे ह्वेनसांग आदि के यात्रा-वृत्तांतों से हमें प्राचीन धार्मिक परम्पराओं का ज्ञान प्राप्त होता है।

7. आर्थिक जीवन और व्यापार की जानकारी-

सिक्के, व्यापारिक अभिलेख और विदेशी यात्रियों के विवरण मुद्रा प्रणाली, कर व्यवस्था, कृषि और व्यापार मार्गो की जानकारी देते हैं। रोमन सिक्कों की खोज दक्षिण भारत में भारत-रोम व्यापार की पुष्टि करती है।

8. विदेशी विवरणों से तुलनात्मक प्रमाण-

विदेशी यात्री और राजदूत भारत के समाज का बाहरी दृष्टिकोण से विवरण देते हैं। ये विवरण स्वदेशी स्रोतों के पूरक होते हैं। उदाहरणस्वरूप मेगस्थनीज का इंडिका, फाह्यान और वेनसांग की यात्राएँ, अल-बरूनी की किताब-उल-हिंद।

9. ऐतिहासिक मिथकों का खंडन-

विश्लेषणात्कम इतिहास लेखन से इतिहास में कई बार मिथकों या अतिशयोक्तियों की भरमार हो जाती है। वैज्ञानिक स्रोत इनके तथ्यात्मक विश्लेषण से मिथकों का खंडन करते हैं।

10. सामूहिक स्मृति का संरक्षण-

ऐतिहासिक स्रोतों से सभ्यताओं की स्मृति सुरक्षित रहती है। सिंधु घाटी सभ्यता या मौर्य साम्राज्य की जानकारी इन्हीं स्रोतों

से आज तक उपलब्ध है।

11. राष्ट्रीय और सांस्कृतिक पहचान का निर्माण-

ऐतिहासिक स्रोत देश की सांस्कृतिक और बौद्धिक धरोहर का गौरव बढ़ाते हैं। विश्व के महान ज्ञान के प्रमाण वेद और वैदिक साहित्य, कोटिल्य का अर्थशास्त्र, आर्यभट द्वारा रचित ग्रंथ आर्यभट्टियम, महर्षि चरक व सुश्रुत की संहिता और अजन्ता व एलोरा की गुफाएं, कोणार्क का सूर्य मन्दिर, खजुराहो के मंदिर, दक्षिण भारत के अनेक मन्दिर, प्राचीन भारत की वैज्ञानिक और कलात्मक उपलब्धियों के प्रतीक हैं।

ऐतिहासिक स्रोतों की व्याख्या में चुनौतियाँ

पक्षपात और पूर्वाग्रह

कुछ स्रोत विशेष रूप से राजकीय या धार्मिक उद्देश्य से लिखे गए होते हैं, जिनमें पक्षपात हो सकता है।

अपूर्णता

कई स्रोत समय के साथ खंडित या नष्ट हो जाते हैं।

भाषा और लिपि की कठिनाई

प्राचीन लिपियाँ (ब्राह्मी, खरोष्ठी, संस्कृत, प्राकृत आदि) जटिल होती हैं और इनका विशेषज्ञों द्वारा अध्ययन आवश्यक होता है।

विरोधाभास

विभिन्न स्रोतों में एक ही घटना को लेकर विरोधाभासी विवरण हो सकते हैं।

अंतरविषयी दृष्टिकोण (Interdisciplinary Approach)

पुरातत्व, भाषाविज्ञान, मानवविज्ञान और विज्ञान के साथ समन्वित अध्ययन।

5 अंक के प्रश्न-

1. ऐतिहासिक स्रोत क्या हैं?
2. प्राथमिक स्रोतों की परिभाषा दीजिए।
3. द्वितीयक स्रोतों का महत्व बताइए।
4. इतिहास लेखन में अभिलेखों की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
5. ऐतिहासिक स्रोतों की प्रमुख समस्याएँ बताइए।

15 अंक के प्रश्न

1. ऐतिहासिक स्रोतों के प्रकारों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. इतिहास के पुनर्निर्माण में स्रोतों की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।
3. प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों की तुलना कीजिए।
4. ऐतिहासिक स्रोतों की व्याख्या में आने वाली चुनौतियों पर चर्चा कीजिए।

MCQ

1. इतिहास के प्रत्यक्ष प्रमाण को क्या कहा जाता है?

(क) द्वितीयक स्रोत

(ख) प्राथमिक स्रोत

(ग) साहित्यिक स्रोत

(घ) विदेशी विवरण

उत्तर (ख)

2. अशोक के अभिलेख किस प्रकार के स्रोत हैं?

(क) साहित्यिक

(ख) पुरातात्विक

(ग) मौखिक

(घ)धार्मिक

उत्तर (ख)

3.इतिहास की पाठड्पुस्तकें किस श्रेणी में आती हैं?

(क) प्राथमिक स्रोत

(ख) द्वितीयक स्रोत

(ग) अभिलेख

(घ) सिक्के

उत्तर (ख)

4. इतिहास के अधययन में कालक्रम स्थापित करने में कौन सहायक है?

(क) अभिलेख

(ख) चित्रकला

(ग) लोकगीत

(घ) नाटक

उत्तर (क)

महत्वपूर्ण बिंदु-

- स्रोत इतिहास की नींव हैं।
- प्राथमिक स्रोत प्रत्यक्ष प्रमाण होते हैं।
- द्वितीयक स्रोत विश्लेषणात्मक होते हैं।
- अभिलेख, सिक्के और पुरातत्व अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

शब्दावली-

- स्रोत - प्रमाण सामग्री
- अभिलेख -शिलालेख या लिखित प्रमाण
- कालक्रम -घटनाओं का क्रम
- प्राथमिक स्रोत - प्रत्यक्ष प्रमाण
- द्वितीयक स्रोत - व्याख्यात्मक सामग्री

इकाई-1.2 साहित्यिक स्रोत

उद्देश्य-

1. वैदिक साहित्य का परिचय प्राप्त करना।
2. महाकाव्यों एवं पुराणों का अधययन करना।
3. साहित्यिक स्रोतों के ऐतिहासिक महत्व को समझना।

वैदिक साहित्य

भारत में इतिहास के ज्ञान को बहुत उच्च स्थान दिया जाता था। उसे वेद के समान पवित्र माना जाता था। अथर्ववेद, ब्राहाण ाों, उपनिवेदों में इतिहास-पुराण को ज्ञान की एक शाखा के रूप में शद्धि किया गया है। कौटिल्य की अपने अर्थशास्त्र में राजा को यह सलाह दी है कि उसे प्रतिदिन अपनी कुछ समय इतिहास का वर्णन सुनने में लगाना चाहिए।

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत वेद तथा उससे संबंधित ग्रंथ, पुराण, महाकाव्य, स्मृति आदि आते हैं। भारत के सबसे प्राचीन ग्रंथ वेद का शब्दिक अर्थ ज्ञान है। श्रवण परंपरा में सुरक्षित होने के कारण इसे श्रुति भी कहा जाता है। वेदों को अपौरूषेय भी कहा गया है। कालान्तर में वेदव्यास ने वेदों को संकलित किया। वेद चार हैं ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद। वर्तमान काल के हिन्दुओं के सभी देवताओं और धार्मिक विश्वासों का मूल स्रोत वेद ही हैं।

ऋग्वेद-

ऋग्वेद को भारत का सबसे प्राचीन ग्रंथ माना जाता है और यह विश्व के सबसे पुराने ज्ञात साहित्यिक ग्रंथों में से एक है। यह वैदिक साहित्य का प्रारंभिक और पहला वेद है, जिसकी रचना संस्कृत भाषा में की गई थी। इसमें कुल 10 मंडल हैं, जिनमें 1028 सूक्त (स्तुति गीत) और लगभग 10,600 मंत्र (ऋचाएं) संकलित हैं। इन मंत्रों की रचना विभिन्न ऋषियों द्वारा की गई, जिन्हें 'ऋषि' कहा जाता है। ऋग्वेद में प्रमुख रूप से प्रकृति से जुड़ी शद्धियों की आराधना की गई है, जैसे इंद्र (वर्षा के देवता), अग्नि, वायु, सूर्य, उषा (प्रभात की देवी) और वरुण (सृष्टि के पालनकर्ता)। इन देवताओं को यज्ञ और स्तुतियों के माध्यम से संतुष्ट करने की परंपरा थी। इस ग्रंथ में वैदिक युग के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक पहलुओं का भी उल्लेख मिलता है। उस समय की जीवनशैली मुख्यत: गोपालन, कृषि, युद्ध और यज्ञों पर आधारित थी। राजा का चयन जनसमूह द्वारा किए जाने के प्रमाण भी मिलते हैं। धार्मिक महत्व के साथ-साथ ऋग्वेद ऐतिहासिक, भाषिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी अत्यंत मूल्यवान ग्रंथ है, जो वैदिक सभ्यता और भारतीय संस्कृति की गहराई को समझने में सहायता करता है।

सामवेद (1000-500 ई.पू.)-

सामवेद को भारतीय संगीत का जनक माना जाता है। साम का अर्थ संगीत या गान होता है। इसमें यज्ञों के अवसर पर गेय मंत्रें का संग्रह है।

यजुर्वेद-

यजुष का अर्थ यज्ञ है। यजुर्वेद संहिता में यज्ञों को सम्पन्न कराने में सहायक मंत्रों का संग्रह है, यजुर्वेद कर्मकांड प्रधान है और इसमें यज्ञ करने की विधियों का वर्णन है। यजुर्वेद की रचना गद्य और पढ़ा दोनों में की गई है।

अथर्ववेद-

वेदत्रयी में अथर्ववेद नहीं आता है। काफी समय तक इसे वेद ही नहीं माना जाता था। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद में जहां परलोक संबंधी एवं यज्ञों से संबंधित विषयों की चर्चा है वहीं अथर्ववेद मुख्यत: लौकिक एवं तंत्र-मंत्र विषयों का संकलन मात्र है।

ब्राह्मण ग्रंथ-

ब्रह्म का शब्दार्थ यज्ञ है। वेद (संहिता) जहां स्तुति प्रधान हैं, वहीं ब्राह्मण ग्रंथ विधि प्रधान हैं, जो अधिकांशतः गद्य में लिखे गये हैं। ब्राह्मण ग्रंथों की रचना यज्ञादि विधानों के प्रतिपादन तथा उसकी क्रिया को समझने के उद्देश्य से की गयी थी। प्रत्येक वेद हेतु ब्राह्मण ग्रंथ लिखखे गये।

उपनिषद-

उपनिषद 108 हैं। इनमें से 12-13 ही प्रमुख माने जाते हैं। उपनिषद मुख्यतः ज्ञानमार्गी रचनायें हैं। इनका मुख्य विषय ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन है। उपनिषदों को श्वेदांतश् भी कहा जाता है। भक्ति उपासना पद्धति की चर्चा की शुरुआत उपनिषदों से ही माना जाती है।

वेदांग-

वेदों के अर्थ को सरलता से समझने तथा वैदिक कर्मकांडों के सम्पादन में सहायतार्थ वेदांग नामक नवीन साहित्य की रचना की गयी। जिसकी संख्या छः है शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छंद तथा ज्योतिष। वेदांगों से वैदिक काल के लोगों के धार्मिक तथा सामाजिक विचारधाराओं की जानकारी मिलती है।

पुराण-

पुराण का शाब्दिक अर्थ प्राचीन आख्यान होता है। पांचवी से चौथी शताब्दी ई.पू. में पुराण ग्रंथ अस्तित्व में आ चुके थे। वर्तमान उपलब्ध पुराण गुप्तकाल के आसपास के हैं। मुख्य पुराण 18 हैं। इनमें मार्कण्डेय, ब्राह्मण, वायु, विष्णु, भागवत और मत्स्य प्राचीन पुराण हैं। अठारह पुराणों में सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रामाणिक मत्स्य पुराण है। इसके द्वारा सातवाहन वंश के विषय में जानक. ारी मिलती है। पुराणों के अन्तर्गत हम प्राचीन शासकों की वंशावलियां पाते हैं। विष्णु पुराण से मौर्य वंश एवं गुप्त वंश की एवं वायु पुराण से शुंग एवं गुप्त वंश की विशेष जानकारी मिलती है। इनके संकलनकर्ता महर्षि लोमहर्ष अथवा उनके सुपुत्र उग्रश्रवा माने जाते हैं। पुराणों से प्राचीन ज्ञान-विज्ञान, पशु-पक्षी, वनस्पति विज्ञान आयुर्वेद इत्यादि की जानकारी मिलती है। पुराणों में वर्णित काल-क्रम में तर्क-संगतता का अभाव है।

सूत्र साहित्य-

प्राचीन भारतीय इतिहास के पुनर्निर्माण में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सूत्र शब्द का शाब्दिक अर्थ संक्षिप्त वाक्य होता है। सूत्र साहित्य मुख्यतः उत्तरवैदिक काल में विकसित हुआ और इसका उद्देश्य जटिल ज्ञान को संक्षिप्त तथा स्मरणीय रूप में सुरक्षित रखना और प्रसारित करना था। यद्यपि सूत्र ग्रंथ ऐतिहासिक उद्देश्य से नहीं लिखे गए थे, फिर भी ये प्राचीन भारतीय सभ्यता के ध ार्मिक, सामाजिक, विधिक, शैक्षणिक और आर्थिक पक्षों की मूल्यवान परोक्ष जानकारी प्रदान करते हैं।

सूत्र साहित्य की प्रमुख शाखाएँ-

सूत्र ग्रंथ सामान्यतः वेदांगों (वेदों के सहायक अंगों) से संबंधित माने जाते हैं और इन्हें व्यापक रूप से कल्पसूत्रों की श्रेणी में रखा जाता है। इनके प्रमुख प्रकार निम्नलिखित हैं-

श्रौत सूत्र-वैदिक यज्ञों और सामूहिक अथवा राजकीय अनुष्ठानों से संबंधित।

गृह्य सूत्र- घरेलू संस्कारों जैसे जन्म, विवाह, मृत्यु आदि से संबंधित।

धर्म सूत्र- सामाजिक आचरण, विधि, नैतिकता तथा विभिन्न वर्गों के कर्तव्यों से संबंधित।

शुल्ब सूत्र- यज्ञ वेदियों के निर्माण हेतु ज्यामिति और गणित से संबंधित।

कल्प सूत्र- उपर्युक्त सभी शाखाओं को समाहित करते हुए वेदांग साहित्य का हिस्सा होते हैं।

सूत्र साहित्य के माध्यम से हमें सामाजिक संरचना की झलक प्राप्त होती है। धर्मसूत्र और गृह्यसूत्र वर्ण व्यवस्था, आश्रम पद्धति, विवाह प्रथाएँ, उत्तराधिकार कानून और पारिवारिक ढाँचे जैसे विषयों पर जानकारी प्रदान करते हैं। ये प्राचीन भारतीय समाज की सामाजिक-विधिक व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण आपस्तम्ब धर्मसूत्र में अंतरवर्ण विवाह और घरेलू अनुशासन के नियम वर्णित हैं। साथ ही श्रौत और गृह्य सूत्रों से हमें वैदिक अनुष्ठानों, यज्ञों और आध्यात्मिक परंपराओं का विवरण मिलता हैं, जो उस समय की धार्मिक मान्यताओं, पुरोहित कर्तव्यों और आध्यात्मिक अनुक्रम को स्पष्ट करते हैं। जैसे बौधायन श्रौत सूत्र में विभिन्न प्रकार के यज्ञों का विस्तृत वर्णन मिलता है। सूत्र साहित्य गुरु-शिष्य परंपरा, आचार्य की भूमिका, ब्रह्मचारी के कर्तव्य और मौखिक परंपरा द्वारा ज्ञान के संप्रेषण पर प्रकाश डालते हैं। प्राचीप काल में विद्यार्थियों से ब्रह्मचर्य पालन और गुरु की सेवा अपेक्षित थी। धर्मसूत्र विश्व की प्रारंभिक विधिक ग्रंथों में से हैं। इनमें दंड, दीवानी विवाद, संपत्ति अधिकार, ऋण, अनुबंध आदि विषयों का वर्णन है, जिससे प्राचीन भारत की विधिक परंपराओं को समझने में सहायता मिलती है। शुल्ब सूत्र गणितीय ज्ञान के संरक्षण के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं, जिनमें प्रारंभिक ज्यामिति, माप प्रणाली और पाइथागोरस प्रमेय जैसे सिद्धांत शामिल हैं। सूत्र साहित्य में प्रमुख रूप से आपस्तम्ब धर्मसूत्र, गौतम धर्मसूत्र, वसिष्ठ धर्मसूत्र, बौधयन श्रौत एवं गृह्य सूत्र, मानव गृह्य सूत्र तथा शुल्ब सूत्र (बौधयन, आपस्तम्ब, कात्यायन) इतिहास के स्रोत के रूप में सहायक हैं।

महाकाव्य-

रामायण और महाभारत ये दो महाकाव्य न केवल धार्मिक ग्रंथ हैं, बल्कि उनमें सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जानकारी भी मिलती है। इनसे तत्कालीन जीवन की वास्तविकताओं की झलक मिलती है।

रामायण-

रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि थे। 9 वीं शताब्दी ई.पू. के आस-पास रचित भगवान श्रीराम के जीवन पर आधारित यह ग्रन्थ इतिहास के स्रोत के रूप में बहुत महत्वपूर्ण है। रामायण भारत का एक प्रमुख महाकाव्य है, जिसे संस्कृत साहित्य की प्रथम काव्य रचना माना जाता है। इसमें भगवान श्रीराम के जीवन, आदर्शों और संघर्षों का वर्णन है। रामायण केवल एक धार्मिक ग्रंथ ही नहीं है, बल्कि भारतीय संस्कृति, नैतिकता और पारिवारिक मूल्यों का प्रतीक भी है। इस महान ग्रंथ में कुल 7 कांड (अध्याय) हैं- बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किंधाकाण्ड, सुंदरकाण्ड, युद्धकाण्ड (लंकाकाण्ड), उत्तरकाण्ड। इस महाकाव्य से हमें आदर्श पुरुष (मर्यादा पुरुषोत्तम) श्रीराम का चरित्र, सीता का त्याग, नारी सम्मान और शुद्धता का प्रतीक, भक्ति, धर्म, कर्तव्य और नीति का उपदेश का ज्ञान प्राप्त होता है।

महाभारत-

महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास हैं। महाभारत संसार का सबसे बड़ा महाकाव्य है, जिसमें लगभग 1 लाख श्लोक, 18 पर्व (अध्याय) और 100 से अधिक उपाख्यान हैं। इसका केंद्रीय विषय कौरवों और पांडवों के बीच कुरुक्षेत्र युद्ध है, लेकिन यह युद्ध केवल बाहरी संघर्ष नहीं बल्कि मानव मन, धर्म और अधर्म की गहराईयों का भी चित्रण करता है। आदिपर्व, सभा पर्व, वन पर्व, भीष्म पर्व, द्रोण पर्व, कर्ण पर्व, शल्य पर्व, शांतिपर्व, स्वर्गारोहण पर्व आदि प्रमुख पर्व हैं। महाभारत से हमें प्राचीन काल के जीवन के सभी पक्षों यथा धार्म, राजनीति, नीति, युद्ध, न्याय प्रणाली का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त होता है।

पुराण-

पुराण प्राचीन भारतीय साहित्य की एक महत्वपूर्ण श्रेणी हैं, जो प्राचीन भारत की सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिदृश्य के पुनर्निर्माण में अत्यंत मूल्यवान सिद्ध होती हैं। पुराण शब्द का अर्थ है प्राचीन या पुराना। इन ग्रंथों की रचना मिथकों, कथाओं, वंशावलियों, ब्रह्मांड विज्ञान, अनुष्ठानों और नैतिक शिक्षाओं को संरक्षित और संप्रेषित करने के लिए की गई थी। यद्यपि इनका मूल स्वरूप धार्मिक और पौराणिक है, फिर भी इनमें निहित ऐतिहासिक सूचनाएँ यदि समालोचनात्मक दृष्टिकोण से विश्लेषित की जाएँ, तो वे प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन में महत्वपूर्ण योगदान देती हैं।

पुराणों की प्रकृति और वर्गीकरण

परंपरागत रूप से 18 महापुराण और 18 उपपुराण माने जाते हैं, यद्यपि विभिन्न परंपराओं में इनकी संख्या और विषयवस्तु में कुछ भिन्नता हो सकती है। प्रमुख पुराणों में शामिल हैं- ब्रह्मा पुराण, पद्म पुराण, विष्णु पुराण, शिव (रुद्र) पुराण, भागवत पुराण,

नारद पुराण, मार्कण्डेय पुराण, अग्नि पुराण, भविष्य पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, लिंग पुराण, वराह पुराण, स्कन्द पुराण, वामन पुराण, कूर्म पुराण, मत्स्य पुराण, गर्भ पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण। प्रत्येक पुराण सामान्यतः पाँच प्रमुख विषयों को समाहित करता है, जिन्हें पंचलक्षण कहा जाता है- सर्ग (ब्रह्मांड की उत्पत्ति), प्रतिसर्ग (पुनः सृष्टि या द्वितीयक सृजन), वंश (देवताओं और ऋषियों की वंशावलियाँ), मन्वंतर (मनुओं के युगों का विवरण), वंशनुचरित (राजवंशों का इतिहास)।

पुराणों का ऐतिहासिक महत्व

1. वंशावलियाँ और राजवंशों का विवरण-

पुराणों के वंश और वंशनुचरित खंडों में सूर्यवंश, चंद्रवंश आदि प्रमुख वंशों की विस्तृत वंशावलियाँ दी गई हैं। इनमें मौर्य, शुंग, गुप्त और आंध्र (सातवाहन) जैसे प्रसिद्ध राजवंशों का भी उल्लेख मिलता है। यद्यपि इनमें पौराणिकता मिश्रित होती है, फिर भी ये ऐतिहासिक कालक्रम के पुनर्निर्माण में सहायक हैं। विष्णु पुराण और वायु पुराण में गुप्त राजवंश और मौर्य सम्राटों के उत्तराधि कारियों का उल्लेख है।

2. राजनीतिक और भौगोलिक जानकारी-

पुराणों में विभिन्न राज्यों, राजधानियों, नदियों, पर्वतों और क्षेत्रों का उल्लेख मिलता है, जिससे तत्कालीन राजनीतिक भूगोल की जानकारी मिलती है। भागवत पुराण में मगध, काशी, कोशल आदि ऐतिहासिक क्षेत्रों का वर्णन है।

3. सामाजिक और सांस्कृतिक परिदृश्य-

पुराणों में वर्ण व्यवस्था, सामाजिक रीति-रिवाज, जीवन के विभिन्न आश्रमों की जिम्मेदारियाँ, धार्मिक अनुष्ठान, पर्वों तथा वैष्णव और शैव जैसे संप्रदायों के विकास का विवरण मिलता है। उदाहरणस्वरूप अग्नि पुराण और स्कन्द पुराण में मंदिर वास्तुकला, तीर्थस्थलों और धार्मिक विधियों का वर्णन है।

4. धार्मिक एवं दार्शनिक विचार-

यद्यपि पुराण धार्मिक ग्रंथ हैं, इनमें वैदिक धर्म से लेकर शास्त्रीय हिंदू धर्म तक की वैचा. रिक यात्र, भक्ति आंदोलनों की उत्पत्ति और संप्रदायों के विकास को दर्शाया गया है। उदाहरण के लिए भागवत पुराण में विष्णु और कृष्ण के प्रति भक्ति (भक्ति योग) को प्रमुखता दी गई है।

5. आर्थिक पक्ष-

पुराणों में व्यापार, कृषि, दान, कर व्यवस्था और नगरीकरण जैसे विषयों का अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख मिलता है, जो उस समय की भौतिक स्थितियों को समझने में सहायक हैं। यथा वायु पुराण में नगरों, व्यापार मार्गों और शासकों के आर्थिक कर्तव्यों का उल्लेख है।

6. विज्ञान और ब्रह्मांड विज्ञान-

कई पुराणों में खगोल शास्त्र, ब्रह्मांड की रचना, समय-गणना प्रणाली आदि का वर्णन मिलता है, जो उस युग की वैज्ञानिक सोच को दर्शाते हैं।

ऐतिहासिक ग्रंथ

हर्षचरित (बाणभट) सम्राट हर्षवर्धन के जीवन पर आधारित है। राजतरंगिणी (कल्हण) यह ग्रंथ कश्मीर के राजाओं का इतिहास प्रस्तुत करता है। पंचतंत्र, कथा सरित्सागर, हितोपदेश ये कथात्मक ग्रंथ सामाजिक जीवन और नैतिक शिक्षाओं का दर्पण हैं। इसी प्रकार कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कामन्दक का नीतिशास्त्र, चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, गार्गी संहिता, वराहमिहिर की बृहत्संहिता, आर्यभट्ट की आर्यभट्टियम, कालिदास के ग्रंथ रघुवंशम्, मालविकाग्निमित्रम्, मेघदूतम्, अभिज्ञानशाकुंतलम्, विशाखदत्त की मुद्राराक्षस और देवीचन्द्रगुप्तम्, शुद्रक का मृच्छकटिकम् आदि ग्रंथ प्रमुख हैं।

5 अंक के प्रश्न-

1. ऋग्वेद का महत्व बताइए।
2. उपनिषद क्या हैं?
3. रामायण का ऐतिहासिक महत्व लिखिए।
4. महाभारत की विशेषताएँ बताइए।
5. पुराणों का महत्व स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. वैदिक साहित्य का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. रामायण एवं महाभारत का तुलनात्मक अधययन कीजिए।
3. पुराणों के ऐतिहासिक महत्व का विश्लेषण कीजिए।
4. सूत्र साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

MCQ

1.ऋग्वेद में कितने मंडल हैं?

(क) 8

(ख)10

(ग) 12

(घ) 18

उत्तर (ख)

2.रामायण के रचयिता कौन हैं?

(क) वेदव्यास

(ख) वाल्मीकि

(ग) कालिदास

(घ)कौटिल्य

उत्तर (ख)

3.महाभारत के रचयिता कौन हैं?

(क) वाल्मीकि

(ख) कालिदास

(ग) वेदव्यास

(घ) पाणिनि

उत्तर (ग)

4. उपनिषदों को किस नाम से जाना जाता है?

(क)वेदांत

(ख)स्मृति

(ग)श्रुति

(घ)ब्राह्मण

उत्तर (क)

महत्वपूर्ण बिंदु-

- वेद भारतीय संस्ख्रति का आधाार हैं।
- रामायण और महाभारत महत्वपूर्ण महाकाव्य हैं।
- पुराणों में वंशावलियाँ मिलती हैं।
- सूत्र साहित्य सामाजिक व्यवस्था का दर्पण है।

शब्दावली-

- वेद - प्राचीन धाार्मिक ग्रंथ
- उपनिषद -दार्शनिक ग्रंथ
- महाकाव्य - विशाल काव्य रचना
- पुराण - प्राचीन कथाएँ
- सूत्र - संक्षिप्त नियम

इकाई-1.3 पुरातात्विक स्रोत

उद्देश्य-

1. पुरातात्विक स्रोतों के प्रकार जानना।
2. अभिलेख एवं सिक्कों का महत्व समझना।
3. स्मारकों एवं मूर्तियों की ऐतिहासिक उपयोगिता समझना।

पुरातात्विक स्रोत भौतिक अवशेष हैं जो अतीत के मानव समाजों द्वारा छोड़े गए हैं। ये प्रत्यक्ष और मूर्त साक्ष्य प्रदान करते हैं जो हमें प्राचीन जीवन के भौतिक पहलुओं को समझने में मदद करते हैं। इसके अंतर्गत अभिलेख, मुद्रायें, स्मारक एवं भवन, मूर्तियां, चित्रित गुफायें एवं अन्य सामग्रियों जैसे साक्ष्यों का अध्ययन किया जाता है।

अभिलेख-

अभिलेखों के अध्ययन को पुरालेखशास्त्र कहते हैं। पुरातात्विक स्रोतों के अंतर्गत सर्वाधिक महत्वपूर्ण साक्ष्य अभिलेख हैं। ये अभिलेख पाषाण शिलाओं, स्तंभों, ताम्रपात्रें एवं दीवारों पर उत्कीर्णित हैं। कर्नाटक राज्य में स्थित मास्की और मध्यप्रदेश स्थित गुर्जरा अभिलेख में अशोक के नाम का स्पष्ट उल्लेख है। अशोक के अधिकांश अभिलेख ब्राह्मी लिपि में लिखे गये हैं। पश्चिमोत्तर भारत से प्राप्त उसके अभिलेख खरोष्ठी लिपि में हैं। पाकिस्तान तथा अफगानिस्तान से प्राप्त अशोक के अभिलेख अरमाइक एवं यूनानी लिपि में हैं। अभिलेखों में अशोक को देवताओं के प्रिय, प्रियदर्शी कहा गया है। अशोक के अभिलेखों का सर्वप्रथम 1837 में जेम्स प्रिंसेप ने स्कल अध्ययन किया। गुप्त सम्राटों का इतिहास अधिकार उनके अभिलेखों के आधार पर लिखे गये हैं। प्राचीन अभिलेख देश के विभिन्न संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। सबसे अधिक अभिलेख मैसूर में स्थित मुख्य पुरालेखशास्त्री के कार्यालय में संग्रहीत हैं। संस्कृत भाषा में अभिलेख ईसा की दूसरी सदी से मिलने लगते हैं। लगभग नवीं दसवीं सदी से अभिलेखों में प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग होने लगा। सर्वाधिक प्राचीन अभिलेख 2500 ईपू के सिंधु सभ्यता के अभिलेख हैं जो मुहरों पर चित्रत्मक लिपि में अंकित हैं किन्तु अभी तक इनका अध्ययन नहीं किया जा सका है।

अभिलेखों के प्रकार-

अभिलेखों के अनेक प्रकार हैं। कुछ अभिलेखों में अधिकारियों एवं जनता के लिए जारी किये गये सामाजिक, आर्थिक व प्रशासनिक शासनादेशों एवं निर्णयों की सूचना दी गयी है। कुछ अभिलेख अनुष्ठानिक प्रकृति के हैं जिन्हें बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव आदि संप्रदायों के मतावलम्बियों ने स्तंभों प्रस्तर फलकों मंदिरों एवं प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण करवाया है। कुछ अन्य अभिलेख राजाओं की विजय प्रशस्तियों के रूप में हैं। प्रशस्ति अभिलेखों में प्रसिद्ध हैं- खारवेल का हाथी गुम्फा अभिलेख, रुद्रदामन का गिरिनार अभिलेख, सातवाहन राजा पुलुमावी का नासिक गुफालेख, समुद्रगुप्त का प्रयाग प्रशस्ति, स्कन्दगुप्त के भितरी तथा जुनागढ़ अभिलेख इत्यादि। गैर राजकीय अभिलेखों में सर्वाधिक प्रसिद्ध अभिलेख यवन राजदूत हेलियोडोरस का मध्यप्रदेश के बेसनगर से प्राप्त गरुड़ स्तंभ अभिलेख है। जिससे द्वितीय शताब्दी ई.पू. के मध्य भारत में भागवत धर्म के मौजूद होने का प्रमाण मिलता है। गुप्तकालीन उदयगिरि स्थित वराह की मूर्ति पर हूण शासक तोरमाण का लेख अंकित है। विदेशों से प्राप्त अभिलेखों में एशिया माइनर में बा. गजकोई नामक स्थल से लगभग 1400 ई.पू. का संधिपत्र अभिलेख मिला है, जिसमें वरुण, मित्र, इन्द्र तथा नासत्य देवताओं के नाम उत्कीर्णित हैं। इस प्रकार के अभिलेख देवताओं की मूर्तियों एवं धार्मिक भवनों पर उत्कीर्णित हैं। ये तत्कालीन भारतीय साहित्य एवं भाषा पर प्रकाश डालते हैं। साथ ही ये अभिलेख तत्कालीन भारतीय कला-धर्म-समाज तथा राजनीति पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। कुछ अभिलेख सुदूरपूर्व के देशों में भी प्राप्त हुए हैं जो यह प्रमाणित करते हैं कि प्राचीन काल में भारत का इन देशों के साथ सांस्कृतिक एवं राजनीतिक संबंधा था।

भूमिदान पत्र-

ये प्रायः तांबे के चादरों पर उत्कीर्ण हैं। इनमें राजाओं और सामंतों द्वारा ब्राह्मणों, बौद्ध भिक्षुओं, मंदिरों, विहारों, जागीरदारों और अधिकारियों को दिये गये गांवों, भूमियों तथा राजस्व से संबंधित दानों का विवरण है। ये प्राकृत, संस्कृत तथा अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में लिखे गये हैं। बड़ी मात्र में पूर्व मध्यकालीन भूमि अनुदान पत्र प्राप्त होने से यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि पूर्व मध्यकालीन भारत (600 ई. से 1200 ई.) में पूर्णतया सामंती अर्थव्यवस्था स्थापित हो गयी थी। दक्षिण भारत के पल्लव, चालुक्य, राष्ट्रकूट, पाण्डय और चोल का इतिहास लिखने के लिए ये दानपत्र कहुत ही उपयोगी साबित हुए हैं।

मुद्रायें-

सिक्कों के अधययन को मुद्राशास्त्र कहते हैं। ईसा पूर्व 206 से लेकर 300 ई. तक के भारतीय इतिहास का ज्ञान हमें मुख्य रूप से मुद्राओं की सहायता से ही प्राप्त हो पाता है। इसके पहले के सिक्कों पर कोई लेख नहीं है और उनपर जो चिन्ह बने हैं उनका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है। ये सिक्के आहत सिक्केश् कहलाते हैं। ते हैं। बाद के सिक. कों पर राजाओं और देवताओं के नाम तथा तिथियां भी उत्कीर्णित हैं। इस प्रकार का प्रथम सिक्का हिन्द-यूनानी शासक डेमेट्रियस ने दूसरी शताब्दी ई.पू. में यूनानी तथा खरोष्ठी लिपि में जारी किया था। इस प्रकार के मुद्राओं के आधाार पर अनेक राजवंशों के इतिहासों का पुर्ननिर्माण संभव हो सका है। हिन्द-बैक्ट्रियन शासकों ने सर्वप्रथम भारत में अंकित स्वर्ण मुद्रायें बड़ी संख्या में जारी किये। मुद्राओं का उपयोग दान-दक्षिणा, क्रय-विक्रय तथा वेतन-मजदूरी के भुगतान में होता था। शासकों की अनुमति से व्यापारिक संघों (श्रेणियों) ने भी अपने सिक्के चलाये थे। सर्वाधिक सिक्के उत्तरी मौर्यकाल में मिलते है, जो प्रधानतः सीसे, पोटीन, तांबे, कांसे, चांदी और सोने के होते थे। इसके सहारे बड़ी मात्र में नकदी और जिन्सी लेन-देन संभव हुआ और व्यापार को बढ़ावा मिला। गुप्तोत्तर काल के बहुत कम सिक्के मिले हैं। इससे यह प्रकट होता है कि उन दिनों व्यापार वाणिज्य नीचे गिरा था। गुप्त सम्राटों का इतिहास अधिकतर उनके अभिलेखों के आधार पर लिखा गया है, परंतु उनके सिक्कों से भी उनकी उपलब्धियों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सिक्के यदि बड़ी संख्या में एक स्थान पर मिलते हैं तो यह अनुमान लगाया जाता है कि सिक्कों का प्राप्ति स्थान उस शासक के राज्य का भाग था तथा संभवतः वह स्थान वाणिज्य व्यापार का मुख्य केंद्र था। यदि सिक्कों पर कोई तिथि उत्कीर्ण हो तो उसका राज्यकाल पता चल जाता है। सिक्कों के पृष्ठ भाग पर अंकित देवी-देवता की आकृति से शासक के ध ार्मिक विश्वास की जानकारी मिलती है। सिक्कों को धातु तथा उनकी मात्र से तत्कालीन आर्थिक दशा की जानकारी मिलती है। इसी प्रकार इन सिक्कों से शासकों के काल की प्रमुख घटनाओं की जानकारी भी मिलती है। उदाहरण के लिए समुद्र गुप्त के कुछ सिक्कों में यूप बने हैं और अश्वमेघ पराक्रम शब्द खुदे हैं। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि उसने अश्वमेघ यज्ञ किया था। सातवाहन राजायज्ञ श्री शतकर्णि की एक मुद्रा पर जलपोत उत्कीर्ण है, जो उसके समुद्रीय व्यापार के प्रति प्रेम का द्योतक है। उसी प्रकार चंद्रगुप्त द्वितीय की व्याघ्रशैली (चांदी की मुद्राओं) से उसके द्वारा पश्चिम भारत के शकों पर विजय सूचित होती है।

स्मारक एवं भवन-

स्मारक धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। प्राचीन काल के महलों एवं मंदिरों की शैली से वास्तुकला के विकास का पर्याप्त ज्ञान हो सका है। उत्तर भारतीय मंदिरों की कला शैली नागर शैली, दक्षिण भारतीय मंदिर कला द्रविड़ शैली और दक्षिणापथ के वे मंदिर जिनमें नागर एवं द्रविड़ दोनों शैलियों का प्रयोग हुआ है बेसर शैली के मंदिर कहलाते हैं। हड़प्पा, मोहनजोदड़ों, तक्षशिला, नालंदा, रोपड़, हस्तिनापुर आदि प्राचीन नगरों के उत्खन से प्राप्त विभिन्न प्रकार की कलात्मक स्मारकों से सिंधु सभ्यता पर तथा तक्षशिला से प्राप्त स्मारकों से कुषाण वंश के राजाओं तथा गांधार कालीन कला पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। भारतीय इतिहास से संबंधित कुछ विदेशी स्मारक भी प्रकाश में आये हैं- कंबोडिया के अंकोरवाट का मंदिर, जावा के बोरोबुदूर

मंदिर तथा मलाया एवं बाली से प्राप्त अनेक स्मारकों से ज्ञात होता है कि वहां पर भारतीय धर्म और संस्कृति का प्रसार हुआ था। इसी तरह बोर्नियों के मूक-रमण स्थल से प्राप्त विष्णु की मूर्ति से तत्कालीन सांस्कृतिक स्थिति का आभास होता है।

मूर्ति-

भारतीय इतिहास के महत्वपूर्ण स्रोत के रूप में मूर्तियों का बहुत बड़ा योगदान है। उत्खनन से प्राप्त मूर्तियां तत्कालीन धार्मिक विस्वासों तथा मूर्तिकला शैली पर व्यापक प्रकाश डालती हैं। सैंधव सभ्यता में मातृदेवी की मूर्ति, योगी की मूर्ति, बुद्ध के समकालीन अनेक यक्ष यक्षिणियों की मूर्ति के अतिरिक्त गांधार कला और मथुरा कला में बनी असंख्य बुद्ध की मूर्तियां उस काल के धार्मिक आस्थाओं की प्रतीक हैं। मथुरा से प्राप्त कनिष्क की सिर विहीन मूर्ति से तत्कालीन वस्त्र विन्यास की जानकारी मिलती है। कुषाण कालीन मूर्तिकला में स्वाभाविकता परिलक्षित होती है।

चित्रकला-

चित्रकला तत्कालीन समाज की उन्नति और अवनति के द्योतक होते हैं। चित्रकला समाज के दपर्ण होते हैं और उनमें तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक मान्यताओं एवं विश्वासों की झलक मिलती है। अजंता की गुफा में उत्कीर्णित माता और शिशु तथा मरणासन्न राजकुमारी जैसे चित्रों की शाश्वतता सार्वकालिक है, जिससे गुप्तकालीन कलात्मकता और तत्कालीन जीवन शैली की झलक मिलती है। अजन्ता की गुफाओं एवं अन्य स्थानों के चित्रें की रंग-सज्जा के चटकीलेपन को देखकर, उनके उन्नत रसायन विज्ञान प्रौद्योगिकी के संबंधा में जानकारी प्राप्त होती है।

भौतिक अवशेष-

प्राचीन सभ्यताओं तथा संस्कृतियों के टीलों एवं राजाप्रसादों की खुदाई से अनेक भौतिक वस्तुएं प्राप्त हुई हैं। बस्तियों के स्थलों के उत्खनन से जो अवशेष मिले हैं उनसे प्रागैतिहास और आद्य इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ा है। आदिमानवों ने किस प्रकार उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का उपयोग करके अपने जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न किया, इसकी जानकारी हमें उनकी बस्तियों से प्राप्त पत्थर और हड्डी के उपकरणों, मिटी के बर्तनों, भवनाशेषों से ही होती है। उदाहरण के लिए पाकिस्तान में सोहन नदी की घाटी में पुरापाषाण युग के मिले पत्थर के खुरदरे उपकरणों से अनुमान लगाया जाता है कि भारत में आदिमानव ईसा से चार लाख से दो लाख वर्ष पूर्व निवास करता था। ईसा से 10 हजार से 6 हजार वर्ष पूर्व के काल में मानव के जीवन में बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन हुए।

मृदभांड़-

मृदभांड़ों से संस्कृति के विकास क्रम पर भी व्यापक प्रकाश पड़ता है। जैसे कि गंगा-जमुना दोआब में सबसे नीचे की सतह पर गेरु, रंग के मृदभांड मिले हैं। उनके ऊपर के सतहों में मृदभांड़ों का क्रम यह है कि पहले काले और लाल मृदभांड़ और फिर चित्रित भूरे रंग के मृदभांड़ मिले हैं। मृदभांड के बनावट एवं रंग-सज्जा से काल विशेष तथा संस्कृति विशेष की जानकारी मिलती है। इसी आधार पर कुछ इतिहासकारों ने प्राचीन इतिहास का काल विभाजन मृदभांड़ों के रंग-सज्जा के आधार पर किया है। उदाहरणस्वरूप, चित्रित धूसर मृदभांड उत्तर वैदिक काल के हैं, उत्तरी काले पालिशदार मृदभांड़-मौर्य काल के हैं तथा लाल मृदभांड-गुप्तकाल के हैं।

मुहरें-

सिन्धु सभ्यता के स्थलों से लगभग दो हजार मुहरें मिली हैं जिनके आधार पर हड़प्पावासियों के धार्मिक तथा आर्थिक मान्यताओं का अनुमान लगाया गया है। इसी प्रकार बसाढ़ (प्राचीन वैशाली) से 274 मिट्टी की मुहरें मिली हैं, उनसे चौथी शताब्दी ईस्थी के एक ऐसी श्रेणी का पता लगा जिसमें साहूकार, व्यापारी तथा माल ढ़ोने वाले सभी प्रकार के सदस्य थे।

5 अंक के प्रश्न-

1. अभिलेख क्या हैं?
2. सिक्कों का ऐतिहासिक महत्व बताइए।
3. स्मारकों का महत्व स्पष्ट कीजिए।
4. मूर्तिकला से क्या जानकारी मिलती है?
5. मृदभांड का महत्व लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. पुरातात्विक स्रोतों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. अभिलेखों के प्रकारों की व्याख्या कीजिए।
3. सिक्कों से प्राप्त ऐतिहासिक जानकारी का विश्लेषण कीजिए।
4. स्मारक एवं भवन इतिहास के स्रोत के रूप में कैसे उपयोगी हैं?

MCQ

1. अशोक के अभिलेखों को सबसे पहले किसने पढा?

(क) मेगस्थनीज

(ख) जेम्स प्रिन्सेप

(ग) फाह्यान

(घ) ह्वेनसांग

उत्तर (ख)

2. सिक्कों के अधययन को क्या कहते हैं?

(क) पुरालेखशास्त्र

(ख) मुद्राशास्त्र

(ग) वास्तुशास्त्र

(घ) नाटङशास्त्र

उत्तर (ख)

3. अशोक के अधिाकांश अभिलेख किस लिपि में हैं?

(क) देवनागरी

(ख) ब्राह्मी

(ग) संस्ख्रत

(घ) खरोष्ठी

उत्तर (ख)

4. हडप्पा सभ्यता से क्या प्राप्त हुआ?

(क) अभिलेख

(ख) मुद्राएँ

(ग) स्तूप

(घ) मंदिर

उत्तर (ख)

महत्वपूर्ण बिंदु–

- पुरातत्व इतिहास का प्रत्यक्ष प्रमाण है।
- अभिलेख प्रशासनिक जानकारी देते हैं।
- सिक्कों से आर्थिक स्थिति का ज्ञान होता है।
- स्मारक सांस्ख्रतिक विकास दर्शाते हैं।

शब्दावली–

- पुरातत्व – प्राचीन अवशेषों का अधययन
- अभिलेख – शिलालेख
- मुद्राशास्त्र – सिक्कों का अधययन
- स्मारक – ऐतिहासिक भवन
- मृदभांड – मिटी के बर्तन

इकाई-1.4 विदेशी यात्रियों का विवरण

उद्देश्य-

1.विदेशी यात्रियों के योगदान को समझना।

2.भारतीय समाज के विदेशी वर्णनों का अधययन करना।

3.विदेशी स्रोतों की उपयोगिता जानना।

प्राचीन भारतीय इतिहास के पुनर्निर्माण हेतु विभिन्न प्रकार के स्रोतों पर निर्भर रहना पड़ता है, जिनमें पुरातात्विक साक्ष्य, अभिलेख, देशज साहित्यिक ग्रंथ तथा विदेशी वृत्तांत सम्मिलित हैं। इनमें विदेशी यात्रियों, राजदूतों, इतिहासकारों और भूगोलव. ेत्ताओं द्वारा रचित विवरण एक विशिष्ट दृष्टिकोण प्रदान करते हैं। ये वृत्तांत, यद्यपि बाह्य और कभी-कभी पूर्वाग्रही या अपूण र् होते हैं, फिर भी देशज स्रोतों के लिए महत्त्वपूर्ण पूरक सामग्री सिद्ध होते हैं। वे प्राचीन भारत के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक जीवन की अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं, विशेषत: उन अवधियों या घटनाओं के लिए जिन्हें देशज स्रोत संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं या पूर्णत: उपेक्षित करते हैं। विदेशी वृत्तांतों को प्राय: उनके भौगोलिक मूल के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है जैसे यूनानी, रोमन, फारसी, चीनी, अरबी इत्यादि। इन वृत्तांतों के पीछे प्रेरणाएँ भी विविध थीं उनमें कुछ यात्री व्यापारी थे, कुछ धार्मिक तीर्थयात्री, तो कुछ राजनयिक दूत। इन वृत्तांतों में लेखक की सांस्कृतिक दृष्टि परिलक्षित होती है, परंतु सावधानीपूर्वक विश्लेषण द्व ारा इतिहासकार इन स्रोतों की पुष्टि करते हुए ऐसे तथ्यों तक पहुँच सकते हैं जो अन्यथा समय की धूल में खो चुके होते।

यूनानी एवं मैसेडोनियाई वृत्तांत-

चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में सिकंदर महान के भारत आगमन से भारत-यूनानी संबंधों में एक निर्णायक मोड़ आया। सिकंदर के साथ अथवा उसके पश्चात कई यूनानी इतिहासकारों एवं विवरण लेखकों ने भारत के विषय में अपने अनुभवों को लिपिबद्ध किया।

1. हेरोडोटस (लगभग 484-425 ई.पू.)-

हेरोडोटस स्वयं कभी भारत नहीं गया, परंतु उसने (Histories) नामक ग्रंथ में भारत का वर्णन फारसी स्रोतों से प्राप्त जानकारी के आधार पर किया। उसने भारत को एक समृद्ध भूमि के रूप में दर्शाया और सोने खोदने वाली चींटियों जैसी कथाओं का उल्लेख किया, जो मिथकीय प्रतीत होती हैं, परंतु तत्कालीन पश्चिमी विश्व में भारत की छवि को दर्शाती हैं।

2. टेसियस (5वीं शताब्दी ई.पू.)

टेसियस, जो फारसी दरबार में राजवैद्य था, ने इंडिका नामक ग्रंथ की रचना की। यद्यपि यह सिकंदर की आक्रमण-पूर्व की रचना है, परंतु इसमें वर्णित घटनाएँ अतिरेकपूर्ण हैं। इसमें भारत को एक रहस्यमय एवं चमत्कारों से परिपूर्ण भूमि के रूप में चित्रित किया गया है। तथापि, यह ग्रंथ यूनानी कल्पना में भारत की छवि निर्मित करने में प्रभावी रहा।

3. मेगस्थनीज (लगभग 350-290 ई.पू.)

भारत पर सबसे विस्तृत यूनानी विवरण मेगस्थनीज द्वारा दिया गया है, जो सेल्यूकस प्रथम निकेटर का राजदूत था और चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में नियुक्त था। मेगस्थनीज ने इंडिका नामक पुस्तक लिखी। यद्यपि मूल ग्रंथ विलुप्त हो चुका है, परंतु इसके अंश एरियन, डियोडोरस सिकुलस एवं स्त्रौबो जैसे लेखकों के माध्यम से उपलब्ध हैं। मेगस्थनीज ने भारतीय भूगोल, सामाजिक संरचना, अर्थव्यवस्था, धर्म एवं प्रशासनिक प्रणाली का व्यवस्थित वर्णन किया है। मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र नगर एवं उसके किलेबंदी का वर्णन तो किया ही इसके अतिरिक्त भारतीय समाज को सात वर्गों में विभाजित भी बताया जिसमें पुरोहित, दार्शनिक, कृषक, पशुपालक, शिल्पकार, सैनिक तथा निरीक्षक आते थे। उसने मौर्य प्रशासन, न्यायिक प्रणाली और सैन्य संगठन का विवरण भी दिया

साथ ही भारत की जलवायु, वनस्पति एवं जीव-जंतुओं का उल्लेख किया। यद्यपि कुछ विवरण अतिरंजित हैं, तथापि यह भारत का पहला विस्तृत विदेशी वर्णन है और ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

4. ओनेसिक्रिटस और नियार्कस-

ये दोनों सिकंदर की सेना से संबद्ध थे। ओनेसिक्रिटस नौसैनिक अधिकारी था, जिसने भारत के समुद्री व्यापार एवं धार्मिक जीवन पर विवरण लिखा। उसने भारतीय 'जिम्नोसोफिस्ट्स' (नग्न दार्शनिकों) का उल्लेख किया है, जो संभवत: जैन या आजीवक संन्यासियों की ओर संकेत करता है। नियार्कस ने सिंधु से फारस की खाड़ी तक सिकंदर के नौसैनिक अभियान का नेतृत्व किया। उसने भारत के समुद्र तटीय भागों एवं भौगोलिक परिस्थितियों का वर्णन किया, जो प्राचीन व्यापार मार्गों की पुनर्रचना में सहायक है।

5. एरियन (द्वितीय शताब्दी ई.)

एरियन एक यूनानी मूल का रोमन युगीन इतिहासकार था उसने सिकंदर के भारत अभियान, भारतीय रीति-रिवाजों एवं नगरों का वर्णन किया। Indica मुख्यत: नियार्कस एवं मेगस्थनीज पर आधारित है, परंतु इसकी संरचना अधिक व्यवस्थित है।

6. स्ट्रैबो (64 ई.पू.- 24 ई.)

स्ट्रैबो एक भूगोलवेत्ता एवं इतिहासकार था, जिसने Geography में भारत के बारे में विस्तृत जानकारी दी। वह मेगस्थनीज की आलोचना करते हुए उसे अतिशयोक्तिपूर्ण बताता है, फिर भी उसने प्राचीन भारतीय जीवन के अनेक पहलुओं को सुरक्षित रखा है।

7. प्लिनी-

प्लिनी ने अपने Natural History ग्रंथ में भारत के वनस्पति, जीव-जंतु, और मसालों, कपास आदि के उत्पादन की जानकारी दी है। उसने भारत-रोम व्यापार एवं भारतीय भूगोल का उल्लेख भी किया है।

8. डायोनिसियस (द्वितीय शताब्दी ई.पू.)

मिस्र के सम्राट टॉलेमी फिलाडेल्फस द्वारा मौर्य दरबार में भेजा गया डायोनिसियस भारत-हेल्लेनिस्टिक संबंधों के निरंतरता का संकेत देता है। यद्यपि उसका विवरण उपलब्धा नहीं है, परंतु उसकी राजनयिक भूमिका ऐतिहासिक ख्रष्टि से उल्लेखनीय है।

रोमन वृत्तांत

प्रथम दो-तीन शताब्दियों में भारत का रोमन साम्राज्य के साथ व्यापारिक संबंध अत्यंत समृद्ध था। दक्षिण भारत एवं पश्चिमी तटों पर पाए गए रोमन सिक्के इस व्यापारिक संपर्क के प्रमाण हैं।

1. पेरिप्लस ऑफ द एरिथ्रियन सी (प्रथम शताब्दी ई.)-

एक अज्ञात यूनानी नाविक द्वारा लिखित यह समुद्री मार्गदर्शिका लाल सागर, अरब सागर एवं हिन्द महासागर के व्यापार मार्गों का वर्णन करती है। इसमें भृगुकच्छ (भरुचऋ, मुजिरिस (संभवत कोडुंगल्लूर) और सोपात्मा जैसे भारतीय बंदरगाहों का उल्लेख है। मसाले, मोती, हाथीदांत, वस्त्र जैसे व्यापारिक वस्तुओं एवं मानसून आधारित नौवहन ऋतुओं का वर्णन किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारत और रोमन साम्राज्य के बीच एक संगठित समुद्री व्यापार तंत्र था।

2. टॉलेमी (द्वितीय शताब्दी ई.)

विख्यात भूगोलवेत्ता क्लॉडियस टॉलेमी ने अपने ग्रंथ Geographia में भारत का अत्यंत विस्तृत मानचित्र प्रस्तुत किया। यद्यपि कुछ स्थलों की स्थिति त्रुटिपूर्ण है, परंतु उसने प्राचीन भारत के नगरों, नदियों एवं प्रदेशों की जानकारी दी है।

चीनी यात्री

1. **फाह्यान**- गुप्तकाल में भारत आया और उसने तत्कालीन समाज, धर्म, शिक्षा प्रणाली का वर्णन किया।
2. **ह्वेनसांग**- सम्राट हर्षवर्धान के शासनकाल में भारत आया। नालंदा विश्वविद्यालय और बौद्ध धर्म की विस्तृत जानकारी दी।
3. **इत्सिंग**- ई-त्सिंग एक प्रसिद्ध चीनी बौद्ध भिक्षु, विद्वान और यात्री थे, जिन्होंने 7वीं शताब्दी ईस्वी में भारत की यात्रा की थी। उनके यात्रा-वृत्तांत प्राचीन भारत की संस्कृति, शिक्षा व्यवस्था और सामाजिक जीवन को समझने के लिए एक महत्वपूर्ण गैर-धार्मिक ऐतिहासिक स्रोत माने जाते हैं विशेष रूप से हर्षवर्धन के शासन के पश्चात के समय को जानने में।

इसी प्रकार अरब देश से आये अल-बरूनी एक फारसी विद्वान थे जिसने 'तहकीक-ए-हिंद' नामक ग्रंथ में भारत के समाज, विज्ञान, धर्म और खगोलशास्त्र पर चर्चा की।

5 अंक के प्रश्न-

1. मेगस्थनीज कौन था?
2. फाह्यान के विवरण का महत्व बताइए।
3. ह्वेनसांग का परिचय दीजिए।
4. विदेशी यात्रियों के विवरण क्यों महत्वपूर्ण हैं?

15 अंक के प्रश्न-

1. विदेशी यात्रियों के विवरणों का ऐतिहासिक महत्व बताइए।
2. मेगस्थनीज एवं ह्वेनसांग की तुलना कीजिए।
3. विदेशी स्रोत भारतीय इतिहास के पुनर्निर्माण में कैसे सहायक हैं?

MCQ

1. 'इंडिका' किसने लिखी?

(क) फाह्यान

(ख) ह्वेनसांग

(ग) मेगस्थनीज

(घ) इत्सिंग

उत्तर (ग)

2. फाह्यान किस देश से आया था?

(क) यूनान

(ख) चीन

(ग) अरब

(घ) फारस

उत्तर (ख)

3. ह्वेनसांग किस शासक के समय भारत आया?

(क) अशोक

(ख) समुद्रगुप्त

(ग) हर्षवर्धान

(घ) चंद्रगुप्त मौर्य

उत्तर (ग)

महत्वपूर्ण बिंदु-

- विदेशी यात्री भारतीय समाज का बाहरी ख्रष्टिकोण देते हैं।
- इंडिका महत्वपूर्ण यूनानी ग्रंथ है।
- चीनी यात्रियों ने बौद्ध धार्म का वर्णन किया।

शब्दावली-

- यात्री - भ्रमण करने वाला
- विवरण - वर्णन
- इंडिका -मेगस्थनीज की पुस्तक
- बौद्ध विहार - बौद्ध मठ

खण्ड-2 सैंधव सभ्यता उत्पत्ति एवं विकास

इकाई-2.1 सैंधव सभ्यता का परिचय

उद्देश्य-

1. सिंधु सभ्यता की खोज को समझना।
2. प्रमुख स्थलों की जानकारी प्राप्त करना।
3. सिंधु सभ्यता की विशेषताओं का अधययन करना।

सिंधु घाटी सभ्यता (Indus Valley Civilization), जिसे हड़प्पा सभ्यता (Harappan Civilization) के नाम से भी जाना जाता है, प्राचीन विश्व की प्रारंभिक नगरीय संस्कृतियों में से एक थी। यह सभ्यता लगभग 2600 ईसा पूर्व से 1900 ईसा पूर्व के बीच फली-फूली और इसका विस्तार वर्तमान पाकिस्तान और उत्तर-पश्चिमी भारत के विशाल क्षेत्र तक था। यह सभ्यता अपनी उन्नत नगर योजना, वास्तुकला, धातुकर्म और लेखन प्रणाली के लिए प्रसिद्ध है। हालांकि इसके उल्लेखनीय उपलब्धियों के बावजूद, इसकी उत्पत्ति की सटीक जानकारी आज भी विद्वानों के लिए शोध और विवाद का विषय बनी हुई है। यह निबंध सिंधु घाटी सभ्यता की उत्पत्ति से जुड़े भौगोलिक, पर्यावरणीय, सांस्कृतिक और तकनीकी कारकों का विश्लेषण करता है तथा पुरातात्विक प्रमाणों और शैक्षणिक सिद्धांतों के आधार पर इसके विकास की समग्र समझ प्रदान करता है।

भौगोलिक और पर्यावरणीय पृष्ठभूमि

सिंधु घाटी का भौगोलिक स्थान इस सभ्यता के विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण था। यह क्षेत्र सिंधु नदी और उसकी सहायक नदियोंकृरावी, ब्यास, सतलुज, झेलम और घग्घर-हकराकृद्वारा निर्मित उपजाऊ मैदानों से युक्त था। इन नदियों ने जल की स्थायी आपूर्ति, कृषि विकास और व्यापार-संचार को संभव बनाया।

नदी तंत्र के लाभ

इन नदियों की सतत धारा ने सिंचाई आधारित कृषि के विकास को संभव बनाया। इससे खाद्य अधिशेष उत्पन्न हुआ, जिसने जनसंख्या वृद्धि, कार्य-विभाजन और नगरीय केंद्रों के उदय को प्रोत्साहित किया।

जलवायु की स्थिरता

सिंधु सभ्यता के प्रारंभिक चरण में इस क्षेत्र की जलवायु अपेक्षाकृत स्थिर थी। मानसूनी वर्षा और जल संसाधनों की उपलब्ध ाता ने कृषि उत्पादन को निरंतर बनाए रखा और स्थायी बस्तियों के विस्तार को बढ़ावा दिया।

जलोढ़ मिट्टी और प्राकृतिक संसाधन

सिंधु घाटी की उपजाऊ मिटी गेहूं, जौ, दालें और कपास उगाने के लिए उपयुक्त थी। क्षेत्र में बलूचिस्तान से तांबा, अफगा. निस्तान से लैपिस लाजुली और अरब सागर से समुद्री संसाधन भी उपलब्ध थे।

कालक्रम और विकास के चरण

सिंधु सभ्यता की उत्पत्ति किसी एक घटना से नहीं, बल्कि धीरे-धीरे विभिन्न सांस्कृतिक चरणों के माध्यम से हुई। विद्वानों ने इसके विकास को तीन प्रमुख चरणों में विभाजित किया है-

1. **प्रारंभिक हड़प्पा चरण (c- 3300-2600 ईसा पूर्व)**

इस चरण में सिंधु क्षेत्र में कृषि पर आधारित ग्राम समुदायों की स्थापना हुई। बलूचिस्तान स्थित मेहरगढ़ (लगभग 7000 ईसा पूर्व) में कृषि, पशुपालन, मिट्टी के बर्तन और सरल उपकरणों के प्रमाण मिलते हैं। प्रारंभिक व्यापारिक नेटवर्क भी इसी काल

में विकसित हुए।

2. परिपक्व हड़प्पा चरण (c- 2600-1900 ईसा पूर्व)

यह चरण नगर निर्माण और सामाजिक संगठन की पराकाष्ठा का प्रतीक है। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, धोलावीरा और लोथल जैसे नगरों में योजनाब, गलियां, जल निकासी व्यवस्था, अन्नागार, स्नानागार और मानकीकृत माप-तौल प्रणाली देखने को मिलती है। इस काल में आंतरिक और समुद्री व्यापार भी चरम पर था।

3. उत्तर-हड़प्पा चरण (c-1900-1300 ईसा पूर्व)

इस काल में नगरीय केंद्रों का पतन होने लगा। बस्तियों में बदलाव, व्यापार में कमी और सांस्कृतिक रूपांतरण परिलक्षित होता है। कुछ विद्वान इसके लिए जलवायु परिवर्तन या बाह्य आक्रमणों को उत्तरदायी मानते हैं, यद्यपि यह निष्कर्ष पूर्णत: प्रमाणित नहीं है।

सांस्कृतिक और तकनीकी आधार

इस सभ्यता की उत्पत्ति नवपाषाण और ताम्रपाषाण युग की सांस्कृतिक प्रवृत्तियों से भी जुड़ी हुई है।

नवपाषाणीय आधार- पाकिस्तान के बलूचिस्तान में स्थित मेहरगढ़ को हड़प्पा संस्कृति का पूर्ववर्ती माना जाता है। लगभग 7000 ईसा पूर्व की यह बस्ती दक्षिण एशिया में सबसे पुरानी कृषि एवं पशुपालन पर आधारित बस्तियों में से एक थी। यहाँ से मिट्टी के बर्तन, मनके, उपकरण और यहां तक कि प्रारंभिक दंत चिकित्सा के प्रमाण मिले हैं।

ताम्रपाषाणीय संक्रमण

इस काल में तांबे के उपकरणों और आभूषणों का उपयोग शुरू हुआ। धातुकर्म में सुधार हुआ और कृषि अधिशेष ने व्यापार और सामाजिक जटिलता को बढ़ावा दिया।

व्यापार और संपर्क

सिंधु क्षेत्र की प्रारंभिक बस्तियों के ईरानी पठार और मेसोपोटामिया जैसे क्षेत्रों से व्यापारिक संपर्क थे, जिनसे शिल्पकला, नगरीकरण और प्रशासनिक प्रणाली प्रभावित हुई।

उत्पत्ति से संबंधित सिद्धांत

सैंधव सभ्यता की उत्पत्ति को लेकर अनेक विचार व्यक्त किये गये हैं।

1. स्वदेशी उत्पत्ति सिद्धांत-

अमलानन्द घोष, धर्मपाल अग्रवाल, ब्रिजेट एवं अलचिन आदि विचारकों की यह मान्यता है कि सिंधु सभ्यता मेहरगढ़ जैसी स्थानीय संस्कृतियों के क्रमिक विकास से उत्पन्न हुई। मिट्टी के बर्तनों, उपकरणों और कृषि पद्धतियों में निरंतरता इस सिद्धांत को समर्थन देती है। लक्ष्मणस्वरूप पुसाल्कर ने आर्य संस्कृति से इसके उद्भव की बात कहते हैं।

2. पाश्चात्य प्रभाव सिद्धांत-

पहले कुछ विद्वान मानते थे किफेयर सर्विस, रोमिला थापर आदि ने तो मेसोपोटामिया या ईरान उद्भव की बात कही लेकिन स्वदेशी विकास के प्रबल प्रमाणों के कारण यह सिद्धांत अब अस्वीकृत हो चुका है।

3. नदी केन्द्रित विकास सिद्धांत

यह मानता है कि सिंधु और उसकी सहायक नदियों की उपलब्धता ने स्थायी बस्तियों और सभ्यता के विकास को अनुकूल बनाया।

4. बहु-रेखीय विकास सिद्धांत- आधुनिक शोध इस सिद्धांत का समर्थन करता है कि विभिन्न क्षेत्रीय संस्कृतियों के पारस्परिक

संपर्क और नवाचारों से सिंधु सभ्यता का विकास हुआ।

5 अंक के प्रश्न-

1. सिंधु सभ्यता की खोज किसने की?
2. हडप्पा कहाँ स्थित है?
3. मोहनजोदडो का महत्व बताइए।
4. सिंधु सभ्यता की दो विशेषताएँ लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. सिंधु सभ्यता का विस्तृत परिचय दीजिए।
2. सिंधु सभ्यता के प्रमुख स्थलों का वर्णन कीजिए।
3. सिंधु सभ्यता की प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए।

MCQ

1. सिंधु सभ्यता की खोज कब हुई?

(क) 1826

(ख) 1921

(ग) 1947

(घ) 1857

उत्तर (ख)

2. मोहनजोदडो का अर्थ क्या है?

(क) मृतकों का टीला

(ख) देवताओं का नगर

(ग) व्यापारिक नगर

(घ) किलेबंद नगर

उत्तर (क)

3. हडप्पा सभ्यता किस नदी से संबंधित है?

(क) गंगा

(ख) नर्मदा

(ग) सिंधु

(घ) गोदावरी

उत्तर (ग)

महत्वपूर्ण बिंदु-

- हडप्पा सभ्यता नगरीय सभ्यता थी।
- नियोजित नगर इसकी प्रमुख विशेषता थी।

- व्यापार एवं शिल्प विकसित थे।

शब्दावली-

- सभ्यता - विकसित समाज
- नगर योजना -शहर की संरचना
- दुर्ग - किला क्षेत्र
- जल निकासी - पानी निकालने की व्यवस्था

इकाई-2.2 सैंधव सभ्यता की नगर योजना

उद्देश्य-

1. नगर योजना की विशेषताओं को समझना।
2. जल निकासी व्यवस्था का अधययन करना।
3. भवन निर्माण प्रणाली की जानकारी प्राप्त करना।

विश्व की पहली नगरीय सभ्यता सिंधु घाटी सभ्यता की नगर योजना अत्यन्त सुव्यवस्थित थी है, जिसमें नगर की योजना, सड़कों का नियोजन, जल निकासी प्रणालियाँ, आवासीय संरचनाएँ, सार्वजनिक भवन, जल प्रबंधन और नियोजन दर्शन जैसे विभिन्न पहलुओं की समीक्षा की गई है।

नगर नियोजन की सामान्य विशेषताएँ

सिंधु सभ्यता के नगर एक पूर्वनिर्धारित और मानकीकृत योजना के अनुसार बनाए गए थे, जो एक उच्च स्तरीय नागरिक संगठन और केंद्रीकृत प्रशासनिक प्रणाली का संकेत देते हैं। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, धोलावीरा, कालीबंगा, लोथल और राखीगढ़ी जैसे प्रमुख शहरी केंद्रों की खुदाई से यह सिद्ध हुआ है कि नगर नियोजन की एक समान संरचना पूरे क्षेत्र में लागू थी।

प्रमुख विशेषताएँ-

1. समान आयामों वाली पकी ईंटों का प्रयोग।
2. ग्रिड पैटर्न में सड़कों का निर्माण।
3. विकसित जल निकासी प्रणाली की उपस्थिति।
4. नगरों का दुर्ग (गढ़) और निम्न नगर में विभाजन।
5. आवासीय, वाणिज्यिक और सार्वजनिक उपयोग के क्षेत्रों का जोन निर्धारण।

ग्रिड प्रणाली और सड़कों का नियोजन

हड़प्पा नगरों की सबसे प्रभावशाली विशेषताओं में से एक थी ग्रिड प्रणाली एक ऐसी अवधारणा जिसे बहुत बाद की सभ्यताओं, जैसे रोमन साम्राज्य में देखा गया।

सड़क नियोजन की विशेषताएँ-

नगर आयताकार खंडों में विभाजित थे। सड़कें एक-दूसरे को समकोण पर काटती थीं, जिससे ग्रिड संरचना बनती थी। मुख्य सड़कें चौड़ी और सीधी होती थीं (कुछ स्थानों पर 10 मीटर तक)। छोटी गलियाँ मुख्य सड़कों से निकलती थीं और आवासीय क्षेत्रों की ओर जाती थीं। कुछ सड़कों पर पैदल यात्री मार्ग ऊँचे बनाए गए थे। यह एकरूपता इस बात का संकेत देती है कि यह नियोजन किसी केंद्रीकृत निकाय या नागरिक प्राधिकरण द्वारा संचालित था।

नगर का विभाजन-

दुर्ग और निम्न नगर लगभग हर बड़े हड़प्पा नगर को दो भागों में विभाजित किया गया था।

1. दुर्ग (गढ़)-

सामान्यत: दुर्ग ऊँचे चबूतरों पर स्थित थे। इसमें सार्वजनिक भवन, अन्नागार, स्नानागार और प्रशासनिक भवन होते थे। यह राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक गतिविधियों का केंद्र होता था।

2. सामान्य नगर-

यह सामान्य जनता का आवासीय क्षेत्र था जो ग्रिड पैटर्न में बसा हुआ था। मानकीकृत आवास इकाइयों के साथ। चौड़ी

सड़कों द्वारा दुर्ग से जुड़ा हुआ। यह विभाजन सामाजिक पदानुक्रम और संगठित शासन प्रणाली के संकेत देता है।

जल निकासी प्रणाली-

सिंधु सभ्यता की जल निकासी प्रणाली को उसकी सबसे उत्कृष्ट उपलब्धियों में से एक माना जाता है। ढंकी हुई नालियाँ सड़कों के दोनों ओर बनी होती थीं। पकी ईंटों से निर्मित नालियाँ, निरीक्षण छेदों के साथ। नालियाँ ढलान पर बनाई जाती थीं जिससे जल और कचरा सरलता से प्रवाहित हो सके। घरेलू कचरा स्नानगृह और शौचालयों से सड़कों की नालियों में प्रवाहित किया जाता था। मानव द्वार (मैनहोल) और सोखता गड्ढे सफाई और छानने हेतु बनाए गए थे। यह प्रणाली स्वच्छता, शहरी इंजीनियरिंग और स्वास्थ्य विज्ञान की गहरी समझ को दर्शाती है।

आवासीय वास्तुकला-

हड़प्पा के घरों में आकार भिन्न-भिन्न थे, लेकिन सभी में मानकीकृत पकाई ईंटों का उपयोग हुआ था। इस सभ्यता में एक कक्षीय से लेकर बहु-कक्षीय आवास के अवशेष प्राप्त होते हैं। अधिकांश आवास दो मंजिला, समतल छत और आंतरिक आँगन वाले होते थे। प्रत्येक आवास में निजी कुएँ, रसोई और स्नानघर होने के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। घरों का प्रवेश आमतौर पर सीधो सड़क की ओर न होकर, भीतर की ओर होता था। यह गोपनीयता का प्रतीक है। बड़े घरों में भंडारगृह और सीढ़ियाँ होती थीं। निजी स्वच्छता और जल स्रोतों की उपलब्धता उच्च जीवन स्तर और व्यक्तिगत स्वच्छता की चेतना को दर्शाती है।

जल प्रबंधन-

कुएँ, स्नानागार और जलाशय-

अर्ध-शुष्क जलवायु में भी हड़प्पावासियों ने उत्कृष्ट जल प्रबंधन तकनीक विकसित की। मोहनजोदड़ो जैसे नगरों में सैकड़ों कुएँ थे, कई तो घरों के भीतर भी हुआ करते थे। जो घरों के बाहर थे ऐसे सार्वजनिक कुएँ सामुदायिक उपयोग हेतु उपयोग में लाये जाते थे।

ग्रेट बाथ-

सैंधव सभ्यता के अधिकांश केन्द्र में एक विशाल जलाशय भी हुआ करता था जो धार्मिक और सामाजिक जीवन के प्रमुख केंद्र के रूप में प्रतीत होती है जिसका क्षेत्रफल 12 मीटर x 7 मीटर x 2.5 मीटर था और इसके चारों ओर स्तंभों वाले बरामदे और कमरे भी बने थे संभवत: यह धार्मिक अनुष्ठानों हेतु प्रयुक्त होता था। इस स्नानागार में कुओं से जलापूर्ति की जाती थी और जल निकासी प्रणाली अत्यन्त व्यवस्थित थी। धोलावीरा में वर्षाजल संग्रह के लिए भी जलाशय थे जो इस सभ्यता में जलविज्ञान की वैज्ञानिक समझ को प्रमाणित करता है।

सार्वजनिक भवन और अन्न भंडार-

अन्नागार (Granaries)-

सैंधव सभ्यता के अधिकांश केन्द्रों खासकर हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में विशाल अन्नागार प्रमुखता से पाए गए हैं। इनमें वेंटिलेशन के लिए वायु छिद्र होते थे साथ ही इसमें कृषि अधिशेष का भंडारण किया जाता था और राज्य द्वारा इसके नियंत्रण के उपाय किये जाने के संकेत प्राप्त होते हैं।

सभा भवन और बाजार स्थल-

सैंधव सभ्यता के अधिकांश केन्द्रों खासकर हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में खुले क्षेत्र और बड़े हॉल प्राप्त हुए हैं जो संभवत: सामाजिक समारोह, व्यापार और शासन के लिए उपयोग में लाये जाते रहे होंगे। लोथल में गोदी, कार्यशालाएँ और बाजार मंच पाए गए जो इसे व्यापारिक केंद्र के रूप में स्थापित करता है।

मिट्टी के बर्तन-

हड़प्पा सभ्यता के स्थलों के मिटी के बर्तनों में एकरूपता है। ये बर्तन सादे हैं और उन पर लाल पट्टी के साथ-साथ काले रंग की चित्रकारी मिलती है। बर्तनों पर तराजू, पक्षियों, मछलियों, पत्तियों, ताड़, पीपल वृक्ष आदि के चित्र मिलते हैं। मिट्टी के बर्तनों पर मुद्रा के निशान भी है। जिससे पता चलता है कि उन बर्तनों का व्यापार भी होता था। विभिन्न प्रकार के मिट्टी के बर्तन मिले हैं। जैसे पैडेस्टल थाली, पान पात्र आदि। यहां के बर्तन भारी तथा उपयोग्य थे। धातु के बर्तनों में सबसे ज्यादा तांबे के बने हैं, वैसे सबसे ज्यादा मात्र में मिट्टी के बर्तन मिले हैं। हड़प्पा से प्राप्त एक बर्तन पर मानवीय आकृति बनी है। अधिकतर बर्तन चाक पर बने हैं। मोहनजोदड़ों से एक बर्तन पर कनखजूरे के अंकन का साक्ष्य मिला है। चांदी के बर्तन अत्यंत कम संख्या में मिले हैं।

औजार एवं उपकरण-

हड़प्पा सभ्यता के स्थलों से प्राप्त औजार एवं उपकरणों के आकार-प्रकार तथा उत्पादन की तकनीक में एकरूपता है। उनके मूल औजार तांबे तथा कांसे के थे। मुख्य औजार चपटी कुल्हाड़ी, छैनी, वाणाग्र आदि थे। हड़प्पावासी कांसे तथा तांबे की ढलाई की तकनीक जानते थे। सिंध में सुक्कूर में औजारों का निर्माण व्यापक पैमाने पर किया जाता था।

कला तथा शिल्प

पाषाण एवं धातु की कलाकृतियां-

हड़प्पा सभ्यता की सबसे प्रसिद्ध कलाकृक्ति है- मोहनजोदड़ो से प्राप्त नृत्य की मुद्रा में नग्न स्त्री की कांस्य प्रतिमा। हड़प्पा एवं चन्हुदड़ों से प्राप्त एक-एक कांसे की गाड़ियां भी अत्यंत प्रसिद्ध कलाकृति हैं और दोनों में अद्‌भुत समानता भी है। मोहनजोदड़ों से प्राप्त दाढ़ी वाले सिर की पत्थर की मूर्ति भी प्रसिद्ध कलाकृति हैं। इसकी आंखे अर्ध-मुद्रित है। संभवतः यह पुजारी की प्रतिमा है। चान्हुदड़ो से बैलगाड़ी, इक्का गाड़ी लोथल से तांबे की बैल की आकृति एवं कालीबंगा से तांबे की वृषभ की आकृति मिली है। बलूचिस्तान के झाब नामक स्थल से रौद्र रूप वाली स्त्री तथा कुल्ली से सौम्य रूप वाली स्त्री की लघु प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। बहुमूल्य पत्थर से निर्मित नारी की प्रतिमाएं नहीं मिली हैं। धातु से लघु मूर्तियां बनाने के लिए मोम के सांचे का प्रयोग किया जाता था। स्वास्तिक चिह्न हड़प्पावासियों की ही देन माना जाता है। मोहनजोदड़ों से बने हुए सूती कपड़े का एक टुकड़ा मिला है। कालीबंगा से मिट्टी के बर्तन के टुकड़े पर सूती कपड़े की छाप मिली है। कताई में प्रयोग होने वाली तकलियों के भी प्रमाण मिले हैं। इस सभ्यता के लोग कलाकृतियों के निर्माण के लिए धातु एवं पत्थर का उपयोग कम करते थे।

मनके एवं आभूषण-

हड़प्पा सभ्यता के लोग सेलखड़ी, लाल पत्थर, फीरोजा, गोमेद आदि कीमती, अर्धकीमती पत्थरों का उपयोग मनके बनाने में करते थे। मनके उनके आभूषण थे। सोने एवं चांदी के मनके भी पाए गए हैं। लेकिन अधिकतर मनके सेलखड़ी के बने हैं। मोहनजोदड़ों से गहने भी पाए गए हैं। चांदी की थाली भी मिली है। चन्हूदड़ों एवं लोथल में मनके बनाने के कारखाने थे। मोहनजोदड़ों से 12 पत्थर की मूर्तियां एवं हड़प्पा से दो मूर्तियां प्राप्त हुई है। हड़प्पा सभ्यता की मूर्तिकला मिस्र की कला के समान उन्नत नहीं थी। मोहनजोदड़ो से प्राप्त हाथी दांत पर मानव आकृति खुदी हुई है। मिटी के बर्तनों पर मानव चित्र भी अक्कत हैं। बर्तनों पर वनस्पति का चित्रंकन पशुओं की अपेक्षा ज्यादा है।

मृण्मूर्तियां-

सभी स्थलों से विभिन्न आक्तियों वाली छोटी मृण्मूर्तियां पाई गई हैं। ये मूत्तियां बन्दर, कुत्तों, वृषभ, स्त्री, पुरुष आदि की हैं। ये मूर्तियां पकी मिट्टी की बनी हुई हैं। टेरीकोटा की इन मूत्तियों में अद्‌भुत समानता है। वर्तमान बैलगाड़ी के स्वरूप की आकृक्तिनुमा टेरीकोटा की बैलगाड़ी भी प्राप्त हुई है। सबसे ज्यादा संख्या में मानव मृण्मूर्तियां मिली हैं। मानव मृण्मूर्तियां ठोस है लेकिन पशुओं की खोखली। मानवीय मृण्मूर्तियों में सर्वाधिक मृण्मूर्तियां स्त्रियों की है। गाय की टेरीकोटा की मूर्ति नहीं मिली है। सिंह का चित्रण

या मृण्मूर्तियां नहीं मिली है। हड़प्पा सभ्यता से सिंह का चित्रण या मृण्मूर्तियां नहीं मिली है। ढोलक (मृदंग) लटकाये मानव मृण्मूर्ति और वीणा सख्रश्य कोई वाद्य यंत्र लटकाये मृण्मूर्ति मिली है। लगभग 75 प्रतिशत मृण्मूर्तियां पशुओं की आकृक्ति वाली हैं और ज्यादातर ये खिलौने के रूप में हैं। सुरकोतड़ा और मोहनजोदड़ों से बैल की मूर्तिकाएं मिली हैं। लोथल से गैंडे और आलमगीरपुर से रीछ, सांप की आकृति मिली हैं।

लिपि-

इस लिपि का सर्वाधिक प्राचीन नमूना 1853 में मिला था पर यह लिपि 1923 तक प्रकाश में आई। सिंधु लिपि में लगभग 64 मूल चिन्ह एवं 250 से 400 तक अक्षर है जो सेलखड़ी क आयताकार मुहरों, तांबे की गुटिकाओं आदि पर मिलते हैं। यह लिफि चित्रात्मक थी। सिंधु घाटी की लिपि का अंकन सोने के आभूषणों तथा मिट की चूड़ियों पर भी हुआ है। लिपि का सबसे ज्यादा चिंह आकार का है। लिपि के चिह्नों में सबसे ज्यादा प्रचलित चिह्न मछली का है।

मुहरें-

हड़प्पा सभ्यता की लगभग 2000 मुहरें प्राप्त हुई हैं। ये मुहरें बेलनाकार वृत्ताकार, वर्गाकार तथा आयताकार रूप में हैं। आमतौर पर ये मुहरें चौकोर होती थीं। कुछ मुहरें गोमेद, मिट्टी एवं चर्ट की बनी हुई भी हैं, लेकिन अधिकांश सेलखड़ी की बनी हुई हैं। मुहरों पर सर्वाधिक चित्र एक सींग वाले सांड (वृषभ) की है। इन मुहरों पर बनी आकृतियों में कुत्ते, भैंस, गैंडा, हिरन, बाघ, हाथी, बकरी एवं संयुक्त पशु प्रमुख हैं। कुत्ते का चित्रंकन सर्वाधिक हुआ है, लेकिन पक्षियों का चित्र नहीं मिला है। लोथल और देशलपुर से तांबे की बनी मुहरें मिली हैं। मुहरों पर मानव और अर्द्धमानव के भी चित्र बने हैं। मोहनजोदड़ों से प्राप्त एक मुहर पर पशुपति शिव की आकृति बनी है। ऊंट का अंकन मुद्राओं पर नहीं किया गया है। सिंधु लेख अधिाकांशत: मुहरों पर ही मिले हैं। संभवत: इन मुहरों का उपयोग उन वस्तुओं के गांठों पर मुहर लगाने के लिए किया जाता था जिनका निर्यात विदेशों में किया जाता था।

5 अंक के प्रश्न-

1. सिंधु सभ्यता की नगर योजना की विशेषताएँ बताइए।
2. महान स्नानागार क्या है?
3. जल निकासी व्यवस्था का वर्णन कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. सिंधु सभ्यता की नगर योजना का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. सिंधु सभ्यता की स्थापत्य कला का विश्लेषण कीजिए।
3. महान स्नानागार का महत्व स्पष्ट कीजिए।

MCQ

1. महान स्नानागार कहाँ मिला?

(क) हडप्पा

(ख) लोथल

(ग) मोहनजोदडो

(घ) कालीबंगा

उत्तररू (ग)

2. सिंधु सभ्यता में सडकें कैसी थीं?

(क) टेढी–मेढी

(ख) नियोजित

(ग) संकरी

(घ) कच्ची

उत्तररू (ख)

3. सिंधु सभ्यता में घर किससे बने थे?

(क) लकडी

(ख) पत्थर

(ग) पक्की ईंट

(घ) मिटी

उत्तर (ग)

महत्वपूर्ण बिंदु–

- नगर योजना अत्यंत उन्नत थी।
- जल निकासी वैज्ञानिक थी।
- भवन पक्की ईंटों से बने थे।

शब्दावली–

- महान स्नानागार – सार्वजनिक स्नान स्थल
- निकासी – पानी बाहर निकालना
- स्थापत्य – भवन निर्माण कला

इकाई-2.3 सैंधव सभ्यता की आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था

उद्देश्य-

1. सिंधु सभ्यता की आर्थिक व्यवस्था को समझना।
2. व्यापार एवं उद्योग की जानकारी प्राप्त करना।
3. सामाजिक एवं धार्मिक जीवन का अधययन करना।

आर्थिक स्थिति-

कृषि-

हड़प्पा सभ्यता की अधिकांश आबादी का मुख्य पेशा कृषि था। शहरी आबादी, कृषि उत्पादन पर निर्भर थी। यहां के स्थलों से गेहूं की दो किस्में ट्रिटिकम कम्पैक्टम तथा टिटिकम स्फीरोकोकम मिली हैं। हड़प्पा सभ्यता के लोग ही सर्वप्रथम कपास उगाना प्रारंभ किये। इसलिए यूनानियों ने इस क्षेत्रको सिंडोन नाम दिया और यही सिंडोन कालान्तर में सिन्धु नाम से जाना जाने लगा। सैंधव सभ्यता की मुख्य कृषि उत्पाद थे मटर, खजूर, तिल, सरसों, राई, बाजरे, अनार, कपास, नीम, नींबू, केला, पीपल, बाजरे, जौ, आदि। सिन्धु नदी एवं उसकी सहायक नदियों के मैदान अत्यंत उपजाऊ थे। अत: अनाज उत्पादन पर्याप्त मात्र में होता था। यहां मुख्य रूप से जौ एवं गेहूं की खेती की जाती थी। सैंधव सभ्यता की अधिकांश आबादी ग्रामीण बस्तियों में रहती थी। चावल के अवशेष केवल रंगपुर और लोथल से मिले हैं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से छ: धारियों वाले जौ के साक्ष्य मिले हैं। कालीबंगा से जुते हुए खेत का साक्ष्य मिला है। बनवाली से मिटी का बना हुआ खिलौना हल का साक्ष्य मिला है। नहरों के साक्ष्य नहीं मिले हैं, लेकिन अफगा. निस्तान और ब्लूचिस्तान में पानी रोकने के लिए बांध के साक्ष्य मिले हैं। फसल की कटाई मुख्यत: पत्थर के हसिया से होती थी।

पशुपालन-

हड़प्पा सभ्यता के मुख्य पालतू पशु भेड़, हड़प्पा काल के लोग लकड़ी के हल का प्रयोग करते थे। हड़प्पा सभ्यता में खेती के लिए किसी खाद या उर्वरक के प्रयोग के प्रमाण नहीं मिले हैं। बकरी, कुत्ता और मुर्गा थे। ऊंट की हड्डियां भी प्राप्त हुई है। सुअर, गधे के भी साक्ष्य मिले हैं। बंदर, हिरण, मोर, तोता, खरगोश, उल्लू, कछुआ, गिलहरी के मृण्मूर्तियों के मिलने से लगता है कि इनमें से कुछ को पाला जाता था। घोड़े पालने का साक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ है। हाथी को पालतू बना लिया गया था।

उद्योग-

हड़प्पा सभ्यता में बर्तन बनाना अत्यंत महत्वपूर्ण व्यवसाय था। यहां का मुख्य उद्योग था- बुनाई उद्योग, मुद्रा निर्माण, मूर्ति एवं मृण्मूर्तियों का निर्माण, मनका बनाने का उद्योग, ईंट का निर्माण, धातु उद्योग, आभूषण उद्योग, बर्तन निर्माण आदि। बर्तन मुख्य रूप से चाक पर बनाया जाता था, लेकिन बिना चाक वाले बर्तन भी मिले हैं। हड़प्पा सभ्यता के नगरों में ईंटों से बने मकान मिले हैं। अत: यह निश्चित अनुमान है कि वहां ईंट उद्योग विकसित अवस्था में था। मोहनजोदड़ो से ईंट-भुटों के अवशेष मिलें हैं। हड़प्पावासी लौह-प्रौद्योगिकी से परिचित नहीं थे। वे तांबा में टिन मिलाकर कांस्य बनाना जानते थे। तांबे, कांसे एवं चांदी के बर्तन अत्यंत कम प्राप्त हुए हैं। इस युग में गलाई और ढलाई प्रौद्योगिकी प्रचलित थी। धातुओं से लघु मूर्तियां बनाने के लिए मोम-सांचा विधि प्रचलित था। उनके पत्थर, तांबा तथा कांसा से बने औजारों में प्रमुख थे- कुल्हाड़ी, धनुषबाण, भाला, भारीगदा, छेनी, आरी आदि।

व्यापार और वाणिज्य-

हड़प्पा सभ्यता में देशी एवं विदेशी दोनों प्रकार के व्यापार उन्नत अवस्था में थे। हड़प्पा का व्यापारिक संबंध राजस्थान, अफगानिस्तान, ईरान एवं मध्य एशिया के साथ था। देशी व्यापार का मुख्य कारण यह था कि नगरों के लोग विभिन्न प्रकार के उद्योग

धंधों में लगे थे उनके भोजन की आपूर्ति हेतु ग्रामीण क्षेत्रों से अनाज आता था और ग्रामीण बस्तियों में शहरी केन्द्रों से बने आभूषण, धातु निर्मित वस्तुएं, औजार, मनका, कपड़े आदि जाते थे और इस तरह एक व्यापार तंत्र खड़ा हो गया था। देशी व्यापार के परिवहन का साधन बैलगाड़ी एवं पशु तथा विदेशी व्यापार मुख्यत: नौ परिवहन द्वारा होता था। व्यापार मुख्यत: विनिमय पद्धति से किया जाता था। तौल की इकाई संभवत 16 के अनुपात में थी। मुख्य बंदरगाह या व्यापार तंत्र से जुड़े नगर थे- बालाकोट, डाबरकोट, सुतकागेंडोर, सोत्काकोह, मुण्डीगाक, मालवान, भगतराव, प्रभासपाटन। मेसोपोटामियाई वर्णित शहर मेलुहा, सिंध क्षेत्र का हो प्राचीन नाम है, मेसोपोटामिया (ईराक) में सैंधव व्यापारियों के निवास के साक्ष्य मिले हैं, लेकिन मेसोपोटामिया बस्तियों के साक्ष्य सैंधव स्थलों में नहीं मिले हैं। मेसोपोटामिया और सैंधव सभ्यता के विनिमय स्थल दिलमुन और माकन थे। दिलमुन संभवत: बहरीन द्वीप था। माकन संभवत: ओमान था। मेसोपोटामिया से सिंधु घाटी के नगरों में आयातित वस्तुत थीं-ऊन, खुशबूदार तेल, कपड़े आदि। ये वस्तुएं जल्दी नष्ट हो जाने वाली वस्तुएं थी। संभवत: इसी कारण इनके अवशेष नगरों से नहीं मिले हैं।

हड़प्पाई लोगों की निर्यात की वस्तुएं-

1. तांबा, 2. मोर, 3. हाथी दांत की वस्तुएं, 4. कंघा, 5. सूती वस्त्र

विदेशी व्यापार-

मोहनजोदड़ों, हड़प्पा, से प्राप्त बेलनाकार फारस की मुद्रायें। तेल अगराब (मेसोपोटामिया) से प्राप्त ककुदमान वृषभ की आकृति वाले मिट्टी के टुकड़े। मोहनजोदड़ों से प्राप्त मुहरों पर मानव एवं बाघ के लड़ाई के चित्र, जो सुमेरियन कहानी पर आधारित हैं। हड़प्पा से प्राप्त मुहरों के चित्र में मानव एवं बैल युद्ध का अंकन है जो क्रीट-कला से संबंधित है। नाल एवं सूसा से सांप को पकड़े गरुड़ का चित्र मिला है। उर से हड़प्पा प्रकार के पांसे मिले हैं। किश, शाह, टंप, तेल-अस्मार से रेखांकित मनके (हड़प्पा सभ्यता टाइप) मिले हैं। सुमेरिया (लासी) के राजा गुंगूनुम की एक कीलाक्षर पटिका पर हड़प्पा संस्कृति के साक्ष्य मिले हैं। मोहनजोदड़ों से मिस्र कला से संबंधित पकी मिटी से बने नालीदार मनके मिले हैं। उर तथा कार्केशिया से सीमित लेप वाले बर्तन मिले हैं।

समाज-

सैंधव समाज मातृप्रधान था। इस सभ्यता के लोग युद्धप्रिय कम, शांतिप्रिय अधिक थे। हड़प्पा सभ्यता के पुरातात्विक अवशेषों एवं नगरों के भग्नावशेषों से पता चलता है कि शहरों के लोग विलासितापूर्ण जीवन जीते थे। समाज में भिन्न-भिन्न वर्गों का अस्तित्व था। समाज में कृषक, शिल्पकार, मजदूर वर्ग, आदि सामान्य लोग थे। चिकित्सक, पुरोहित, अधिकारी समाज के शिक्षित वर्ग थे। व्यापारी वर्ग समाज का सबसे प्रभावशाली वर्ग था। समाज में योद्धावर्ग के अस्तित्व का साक्ष्य नहीं मिला है। दस्तकारों में कुम्हारों को समाज में विशेष स्थान प्राप्त था। धनी वर्ग (अधिकारी एवं व्यापारी) बड़े-बड़े मकानों में रहते थे। सर्वहारा वर्ग के लोग एक या दो कमरे के मकानों में रहते थे। हड़प्पा नगर के दुर्ग के बाहर मिले सार्वजनिक अन्नागार के पास मिले घटिया प्रकार के अग्वासों से विदित होता है कि उनमें दास या बंधुआ मजदूर रहा करते होंगे। कालीबंगा और लोथल से ऐसे आवास नहीं मिले हैं अत: ऐसा अनुमान है कि वहां का समाज अपेक्षाकृत उदार था। नगरवासियों के वेशभूषा के संबंध में जानकारी मृण्मूर्तिकाओं से मिलती है। हड़प्पा के लोग वर्तमान उत्तर भारत के लोगों जैसे ही दिखते थे। उनके चेहरे, रंग-रूप एवं लंबाई इन क्षेत्रों के निवासियों के समान प्रतीत होते हैं। सामान्यत: सूती वस्व का उपयोग किया जाता था। पुरुष ऊपरी भाग पर शालनुमा वस्त्र लपेटे रहते थे और निचले भाग पर धोतीनुमा ढीले-ढाले वस्त्र लपेटे रहते थे। पुरुष की प्रतिमाएं अधिकतर नंगी है। अत: प्रतीत होता है कि पुरुषों का ऊपरी भाग वस्त्ररहित होता रहा होगा। स्त्रियां अपने कमर में स्कर्टनुमा वस्त्र पहनती थीं। पुरुष और स्त्री दोनों आभूषणों का प्रचुर मात्र में प्रयोग करते थे। दोनों लंबे बाल रखते थे। आभूषण

ों में अंगूठी, कंगन, गले के हार प्रयोग होता था। समाज में नाई वर्ग का अस्तित्व था। हड़प्पा निवासी अत्यंत प्रसाधान प्रिय थे। महिलाओं के सौंदर्य प्रसाधन में काजल, सफेद पाउडर, लिपिस्टिक, दर्पण आदि थे। उनके आभूषण थे केशबन्ध, हार, बाजूबन्ध, अंगूठी, कंगन, नाक की कील, कर्णफूल, नुपुर, शंख के बने आभूषण, तांबे का बालपिन, झुमका, चूड़ियां, कमर की करधनी आदि। उपरोक्त आभूषणों में से कुछ के तो अवशेष मिले हैं और कुछ के चित्र मृणमूर्तियों में मिले हैं।

भोजन-

उनके भोजन का क्षेत्रवार मिले अनाजों के अवशेषों से पता चलता है। सिन्ध और पंजाब के लोग गेहूं और जी, राजस्थान में रहने वाले लोग जौ, गुजरात के रंगपुर आदि के लोग चावल, बाजरे खाते थे। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार की सब्जियां, दालें भी खाते थे। फलों में वे केले, अनार, अंजीर, नींबू, आम आदि का सेवन करते थे। वे शाकाहारी एवं मांसाहारी दोनों प्रकार के पदार्थों का भक्षण करते थे। मुर्गा, बकरी, कछुआ, मछली आदि के अवशेषों से पता चलता है कि वे मांसाहार करते थे। वे घी, तेल का प्रयोग करते थे। गन्ने की खेती के बारे में निश्चित साक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ है।

मनोरंजन-

हड़प्पा काल की मुद्राएं, मूर्तियों और खिलौनों आदि उनके मनोरंजन के साधन का पता चलता है। वहां से किसी से साहित्यिक वर्ग का साक्ष्य नहीं मिला है। ढोल एवं वीणानुमा वाद्ययंत्र का चित्र मिला है इससे संगीत में उनकी रूचि का पता चलता है। नृत्य के भी साक्ष्य मिले हैं। विभिन्न पासों जैसे उपकरण से उससे खेले जाने वाले खेल का संकेत मिलता है। चेस की गोटियांनुमा आकृक्ति मिली है। शायद वे शतरंज भी खेलते थे। बच्चों के खेलने की गोटियां, गेंद व मनके मिले हैं। खिलौने के रूप में स्त्री-पुरुष की प्रतिमाएं, पशु-पक्षियों के मिटी के खिलौने का उपयोग होता था, खिलौना बैलगाड़ी, इक्का गाड़ी (तांबा) भी बच्चों के खेलने के खिलौने थे। शिकार करना, मछली पकड़ना तथा पशुओं का युद्ध उनके नरंजन के प्रिय साधन थे।

दाह-संस्कार-

शवाधान के मुख्य रूप से तीन तरीके प्रचलित थे- पूर्ण शवाधान इसके अन्तर्गत शव को दफनाया जाता था। आशिंक शवाध ान-इसमें शव के शरीर को जंगल में पशुओं के खाने के लिए छोड़ दिया जाता था और बाद में बचे हुए अवशेष को दफना दिया जाता था। दाह संस्कार- इसके अंतर्गत मृतकों को अच्छी तरह जलाकर, बचे हुए भस्म अवशेषों को बड़े-बड़े कलशों में रखकर दफना दिया जाता था। इन कलशों में अवशेषों के अतिरिक्त, घरेलू उपयोग की सामग्री, बर्तन, मनके, चिड़ियों तथा पशुओं की प्रतिमाएं भी दफना दी जाती थी। मोहनजोदड़ो से तीनों प्रकार के शवादान के साक्ष्य मिले हैं। मृतकों को सामान्यतः उत्तर-दक्षिण दिशा में लिटाकर दफनाया जाता था। रोपड़ में एक कंकाल पश्चिम-पूर्व, लोथल में पूर्व-पश्चिम और कालीबंगा में दक्षिण-उत्तर दिशा में पाया गया है। लोथल में युग्म शवाधान के साक्ष्य मिले हैं। हड़प्पा से एक ताबूत मिला है। कुछ विशिष्टि प्रकार के बर्तन भी मिले हैं जिनसे ये पता चलता है कि इन बर्तनों का उपयोग शवाधान कलश के रूप में किया जाता रहा होगा। हड़प्पा से आर-37 कब्रिस्तान भी मिला है, सुरकोतड़ा से अंडाकार शव के अवशेष मिले हैं, रूपनगर की एक कब्र में मालिक के साथ कुत्ते का भी अवशेष मिला है। मोहनजोदड़ो से सामूहिक नर कंकाल भी मिले हैं जिससे सामूहिक दाह-संस्कार करने के प्रमाण भी उजागर होते है।

धर्म एवं दर्शन-

वर्तमान हिंदू धर्म में प्रचलित विभिन्न मान्यतायें, प्रतीकों एवं विश्वासों की जड़ें, हड़प्पा सभ्यता के धार्म में हैं। हड़प्पा की धार्मिक जानकारी और हिंदू धर्म की जानकारी लगभग समान हैं। 'हड़प्पा सभ्यता में प्रचलित, मातृ-पूजा, पृथ्वी एवं उर्वरता की पूजा, नाग पूजा, यक्ष पूजा, वृक्षों एवं पशुओं की पूजा (पीपल), अग्निपूजा आदि वर्तमान में हिन्दू धर्म में भी प्रचलित

हैं।' शिव या पशुपति, लिंग उपासना हड़प्पा सभ्यता की हिन्दूधर्म को महत्वपूर्ण देन हैं। मोहनजोदड़ों के विशाल स्नानागार को धार्मिक महत्व प्राप्त था। उसके पास बनी अन्य विशाल इमारत शायद पुरोहित का मठ था। कई मुहरों में एक त्रिमुखी देवता जिसके सिर पर भैंस के सींग का मुकुट है, जो योगी की मुद्रा में बैठा हुआ है। देवता, बकरी, हाथी, शेर तथा हरिण से घिरा हुआ है। इसे पशुपति शिव माना जाता है। मातृदेवी की पूजा होती थी। वृक्षों की आत्माओं की पूजा होती थी। एक स्थान पर वृक्ष के सामने सात मानवीय आकृतियां खड़ी दिखाई गयी हैं और वृक्ष के अंदर एक आकृति जिस पर सींग है, दिखाई गयी है। ये सात आकृतियां सप्तऋषियों का आभास दिलाती हैं। मुहर पर दो शेरों से युद्धरत पुरुष की आकृक्ति पौराणिक नायकों के सदृश हैं। वृषभ एवं बाघ का अनुष्ठानिक महत्व था। कुछ मिथकीय जानवरों की आकृतियां प्राप्त हुई हैं। इन जानवरों का अगला हिस्सा मनुष्य जैसा है और पिछला हिस्सा शेर जैसा है। ये निश्चित रूप से पूज्य आकृक्तियां रही होंगी। यह आकृति नरसिंह का आभास दिलाती है। एक श्रृंगी पशु का चित्र जो सबसे अधिक प्राप्त होता है बहुत ही पवित्र पशु था। लोग भूत-प्रेत एवं तंत्र-मंत्र में भी विश्वास करते थे। कालीबंगन से अग्निवेदिकाएं मिली हैं इसका अर्थ है वहां अग्निपूजा प्रचलित थी। मंदिर पूजा का कोई साक्ष्य नहीं मिला है। हड़प्पा सभ्यता का अन्य तत्कालीन प्राचीन सभ्यताओं (सुमेर, मिस्र, मेसोपोटामिया) से मुख्य अंतर धार्मिक विश्वासों एवं शवों को दफनाने की विधि में था। सिंधु सभ्यता के लोग कुमारी (नारी) की पूजा करते थे।

राजनीतिक संरचना-

प्रत्येक शहर (धौलावीरा को छोड़कर) के पश्चिमी भाग के दुर्ग में प्रशासनिक या धार्मिक क्रियाकलाप किया जाता था। हड़प्पा सभ्यता के नगरों की एकरूपता, सफाई व्यवस्था, व्यापार-वाणिज्य के विस्तृत रूप यह प्रमाणित करते हैं कि वहां कोई केन्द्रीय प्रशासनिक तंत्र अवश्य था जो इन क्रिया-कलापों पर नियंत्रण रखता था। विभिन्न शहरों की भिन्न-भिन्न स्वतंत्र गणतंत्रीय सत्ताएं इतने बड़े क्षेत्र में समरूपता स्थापित नहीं कर सकती थी। हड़या के नगरों की सड़क योजना हजारों वर्षो तक यधावत बनी रही। मोहनजोदड़ों नगर सात बार उजड़ा और बसा। प्रत्येक बार बसने पर यह नगर अपने पूर्व विनष्ट रूप को पुनरावृति करता है। लिपि भी अपरिवर्तित रही। अतः यह तो निश्चित रूप से अनुमान लगाया जा सकता है कि वहां राजतंत्र पद्धति के आधार पर शासन प्रणाली थी। संभवतः वहां का शासन वणिकवर्ग के हाथों में था। स्टुअर्ट पिग्गॉट महोदय ने कहा है कि सिंधु प्रदेश के शासन पर पुरोहित वर्ग का प्रभाव था। हंटर के अनुसार मोहनजोदड़ों का शासन राजतंत्रात्मक न होकर जनतंत्रात्मक था।

5 अंक के प्रश्न-

1. सिंधु सभ्यता की अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषताएँ बताइए।
2. सिंधु सभ्यता में व्यापार का महत्व स्पष्ट कीजिए।
3. सिंधु सभ्यता के प्रमुख उद्योग कौन-कौन से थे?
4. सिंधु सभ्यता के सामाजिक जीवन का वर्णन कीजिए।
5. मातृदेवी की उपासना पर टिप्पणी लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. सिंधु सभ्यता की आर्थिक व्यवस्था का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. सिंधु सभ्यता के व्यापारिक संबंधों का विश्लेषण कीजिए।
3. सिंधु सभ्यता के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
4. सिंधु सभ्यता में शिल्प एवं उद्योगों के विकास का अधययन कीजिए।

MCQ

1. सिंधु सभ्यता के लोग मुख्यतः किस पर निर्भर थे?

(क) पशुपालन

(ख) कृषि

(ग) शिकार

(घ) उद्योग

उत्तर (ख)

2. लोथल किस लिए प्रसिद्ध था?

(क) दुर्ग

(ख) बंदरगाह

(ग) मंदिर

(घ) स्तूप

उत्तर (ख)

3. सिंधु सभ्यता में किस धातु का ज्ञान नहीं था?

(क) तांबा

(ख) कांसा

(ग) लोहा

(घ) सोना

उत्तर (ग)

4. सिंधु सभ्यता में मातृदेवी किसका प्रतीक थी?

(क) युद्ध

(ख) शिक्षा

(ग) उर्वरता

(घ) व्यापार

उत्तर (ग)

महत्वपूर्ण बिंदु-

- ख़षि सिंधु सभ्यता का मुख्य आधार थी।
- मेसोपोटामिया से व्यापारिक संबंधा थे।
- मनके निर्माण एवं धातु उद्योग विकसित थे।
- मातृदेवी एवं पशुपति पूजा प्रचलित थी।

शब्दावली-

- अर्थव्यवस्था - आर्थिक व्यवस्था
- शिल्प - हस्तकला
- व्यापार - वस्तुओं का आदान-प्रदान
- मातृदेवी - उर्वरता की देवी
- बंदरगाह - जहाज रुकने का स्थान

इकाई-2.4 सैंधव सभ्यता का पतन

उद्देश्य-

1. सिंधु सभ्यता के पतन के कारणों को समझना।
2. विभिन्न सिधांतों का अधययन करना।
3. सभ्यता के ऐतिहासिक महत्व को जानना।

हड़प्पा सभ्यता का पतन-

वर्तमान में हड़प्पा सभ्यता के आकस्मिक हास का सिद्धांत स्वीकार नहीं किया जाता। 1800-1750 ई.पू. के पश्चात नगरीय चरण का अंत हो गया, अर्थात अब सैन्धव सभ्यता नगरीय सभ्यता नहीं रही। नगरों का हास हो गया, लेकिन काफी वस्तुएं उसी पुरानी शैली में चलती रही। पौसेल एवं मलिक ने हड़प्पा संस्कृति के निरंतरता पर खोज किया है। सिंधु सभ्यता के पतन के कारणों में आर्यों के आक्रमण को कुछ इतिहासकार उत्तरदायी मानते हैं वहीं कुछ जल प्लावन को तो कुछ अग्नि से या प्राकृतिक आपदाओं को उत्तरदायी मानते हैं। अधिकांश इतिहासकारों का मानना है कि कुछ क्षेत्रों में सुखा पड़ने तथा कुछ क्षेत्रों में बाढ़ आ जाने से इस महान सभ्यता का अंत हुआ। तथापि उत्तर-हड़प्पा काल में कुछ बस्तियां तो खाली कर दी गई पर अधिकांश बस्तियां अभी भी उजड़ी नहीं थीं। उत्तर हड़प्पा काल में एकरूप लेखन, मुहर बांट, मिट्टी के बर्तनों की परंपरा समाप्त हो गई। वाणिज्य का विस्तार अत्यंत सीमित हो गया। नगर की केन्द्रीयकृत अर्थव्यवस्था समाप्त हो गयी। एक ओर जहां कुछ बस्तियों की आबादी कम हो गयी, वहीं गुजरात, राजस्थान, हरियाणा आदि क्षेत्रें की ग्रामीण बस्तियों की संख्या एवं आचादी भी बहुत बढ़ गई। इस काल में प्रवासी कृषक समुदायों का बहुत बड़ी संख्या में आविर्भाव हुआ। सिंघ और भारत-ईरानी प्रदेशों में अब भी लोग ईटों के मकान में रहते थे, लेकिन मकान की सुनियोजित बनावट व्यवस्था नहीं थी। वहां की वस्तुएं विकसित सैंधव संस्कृति के सकृश्य हैं। पंजाब, हरियाणा और राजस्थान, उत्तर-हड़प्पा युग के मुख्य केंद्र थे। गुजरात में उत्तर-हड़प्पा काल की सबसे ज्यादा बस्तियां थी। मकानों के विन्यास, नगर योजना, मातृ देवी एवं शिव को उपासना, पवित्र वृक्षों और पशुओं की उपासना, अग्निपूजा, जलापूर्ति एवं नाली व्यवस्था, पवित्र स्नान, तौल एवं मुद्रा की 16 के अनुपात वाली परंपरा वर्तमान तक चल रही है यही सिंधु संस्कृति की निरंतरता है।

5 अंक के प्रश्न-

1. सिंधु सभ्यता के पतन के दो कारण लिखिए।
2. बाढ सिधांत क्या है?
3. आर्य आक्रमण सिधांत पर टिप्पणी लिखिए।
4. सिंधु सभ्यता का ऐतिहासिक महत्व बताइए।
5. प्राकृतिक कारणों की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. सिंधु सभ्यता के पतन के कारणों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. सिंधु सभ्यता के पतन से संबंधित विभिन्न सिधांतों का विश्लेषण कीजिए।
3. सिंधु सभ्यता के ऐतिहासिक महत्व एवं योगदान का अधययन कीजिए।
4. पर्यावरणीय कारणों एवं आर्थिक कारणों का तुलनात्मक अधययन कीजिए।

MCQ

1. सिंधु सभ्यता के पतन का एक प्रमुख कारण क्या माना जाता है?

(क) औद्योगिक क्रांति

(ख) प्राकृतिक **आपदा**

(ग) समुद्री युद्ध

(घ) विदेशी व्यापार

उत्तर (ख)

2. आर्य आक्रमण सिद्धांत किससे संबंधित है?

(क) सभ्यता की स्थापना

(ख) सभ्यता का विस्तार

(ग) सभ्यता का विनाश

(घ) सभ्यता का निर्माण

उत्तर (ग)

महत्वपूर्ण बिंदु-

- 1800-1750 ई.पू. के पश्चात नगरीय चरण का अंत
- सैंधव सभ्यता के पतन में प्राकृतिक आपदाओं का योगदान था।
- आर्यों के आक्रमण की कोई संभावना बन ही नही सकती।
- सैंधव वासियों ने ही आगे सभ्यता के दूसरे रूप का विस्तार किया।

शब्दावली-

- केन्द्रीयकृत अर्थव्यवस्था - आर्थिक व्यवस्था का एकीकरण
- प्रवासी कृषक - सभ्यता के परिधि के बाहर से आये किसान
- वाणिज्य - व्यापार की नियमावली
- जल प्लावन - बाढ़ की विभीषिका
- निरंतरता - चलायमान

खण्ड-3 वैदिक काल

प्रस्तावना-

भारत में हड़प्पा सभ्यता के अवसान के पश्चात् एक नवीन संस्कृति प्रकाश में आयी। इस सभ्यता के बारे में मुख्य रूप से जानकारी वैदिक साहित्य या वेद से होती है। इसलिए इस सभ्यता का नाम वैदिक रख दिया गया और वर्तमान में यह सभ्यता वैदिक सभ्यता के नाम से जानी जाती है। इस 'वैदिक सभ्यता' के प्रर्वतक को आर्यजन के नाम से संबोधित किया जाता है।

पहले यह विश्वास किया जाता था कि आर्यजन कहीं बाहर से आये और यहां के मूल निवासियों पर विजय प्राप्त कर यहां बस गये। लेकिन वर्तमान में इस सिद्धांत पर विश्वास नहीं किया जाता है। पुरातात्विक एवं जीन संबंधी साक्ष्यों का गहन विश्लेषण कर यह प्रमाणित किया गया है कि 1500 ई.पू. के आस-पास मध्य या पश्चिमी एशिया से भारतीय उपमहाद्वीप में बड़े पैमाने पर पलायन नहीं हुआ था क्योंकि ऐसा पुरातात्विक साक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ है। अब यह माना जाता है कि आर्यजन भारत के ही मूल निवासी थे। वैदिक युग को दो कालों में विभाजित किया जाता है। ऋग्वैदिक युग (1500-1000 ई.पू.) और उत्तर वैदिक युग (1000-600 ई. पू.)। ऋवैदिक की अपेक्षा उत्तर वैदिक युग में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धर्म-दर्शन संबंधी अवधारणाओं में काफी परिवर्तन आया। इन परिवर्तनों के सूक्ष्म अधययन के लिए ही वैदिक काल को दो भागों में बांट दिया गया ताकि दोनों काल की विशेषताओं का ज्ञान हो सके।

इकाई-1 वैदिक काल का परिचय- ऋग्वैदिक युग (1500-1000 ई.पू.)

उद्देश्य-

1. वैदिक काल की विशेषताओं को समझना।
2. आर्यों के जीवन का अधययन करना।
3. वैदिक साहित्य का महत्व जानना।

भौगोलिक क्षेत्र-

ऋग्वैदिक काल में आर्यजन सात नदियों वाले सप्त सिन्धु क्षेत्र में रहते थे। यह क्षेत्र वर्तमान में पंजाब एवं हरियाणा के कुछ भागों में पड़ता है। (गोमल) गोमती का मैदान, दक्षिणी जम्मू कश्मीर, दक्षिण अफगानिस्तान भी ऋग्वेद के भौगोलिक क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। वैदिक साहित्य में उल्लिखित नदी, पर्वत, प्रदेश राज्य आदि के नामों के आधार पर ही ऋग्वैदिक कालीन भौगोलिक क्षेत्रों से परिचय होता है। उनका मुख्य क्षेत्र पंजाब तथा सरस्वती से लगा अम्बाला क्षेत्र था।

नदियों एवं समुद्रों का दर्णन-

ऋग्वेद में लगभग 40 नदियों का वर्णन प्राप्त होता है। आर्यजनों की सबसे महत्वपूर्ण नदी सरस्वती थी। इस नदी की चर्चा सबसे ज्यादा की गयी है। उनकी दूसरी महत्वपूर्ण नदी सिन्धु नदी है। सरस्वती नदी को नदीतमा (नदियों में अग्रवर्ती) तथा सिन्धु माता कहा गया है। इसी नदी के तट पर वैदिक मंत्रों की रचनाएं हुई थी। अन्य नदियों में सतलज, रावी (रावी नदी के तट पर प्रसिद्ध वैदिक दाशराज्ञ युद्ध सुदास एवं दिवोदास के बीच हुआ था) चेनाब, झेलम व्यास क्रमशः प्रसिद्ध नदियां हैं। ऋग्वेद में गंगा का केवल एक बार नदी सूक्त में उल्लेख है। यमुना नदी का उल्लेख तीन मंत्रों में है। नदी स्तुति की अन्तिम नदी गोमती (गोमल) है। सरयू नदी का उल्लेख तीन बार हुआ है। ऋग्वेद में समुद्र का उल्लेख हुआ है। सौ पतवार वाले नाव की चर्चा मिलती है। समुद्री उत्पाद मोती की भी चर्चा मिलती है। ऋग्वेद में चार समुद्रों का उल्लेख है।

पर्वत-

वैदिक साहित्य में उल्लिखित मुख्य पर्वत हैं- हिमालय (हिमवन्त), त्रिकोटा तथा मूजवंत पर्वत् (हिन्दू-कुश)। आर्यजनों का मादक पेय सोम मूजवंत पर्वत से आता था। ऋग्वेद में मरुस्थलों (धन्व)की चर्चा भी है। एक छन्द में तीन मरुस्थलों की चर्चा मिलती है और मरुस्थल को पार करना जैसे वाक्य मिले हैं। अत: अनुमान है कि आर्यजन मरुस्थल से होकर यात्र करते रहे होंगे।

नामकरण: ऋग्वैदिक कालीन लोग यमुना नदी के दक्षिणी क्षेत्र से परिचित नहीं थे और न ही उन्होंने विंध्यपवर्तमाला की चर्चा की है।

इसके प्रसिद्ध वंश भरत वंश के राजा (भरत) के नाम के आधार पर ही वर्तमान में इस देश का नाम 'भारत' पड़ा है। आर्यजन सर्वप्रथम अफगानिस्तान एवं पंजाब के क्षेत्र में रहते थे। उसले बाद वे कुरुक्षेत्र (हरियाणा) के आसपास बढ़ आये और इस क्षेत्र को उन्होंने ब्रह्मवर्त कहकर पुकारा। उसके बाद वे गंगा-यमुना के मैदानी क्षेत्रों को अपने निवास योग्य पाये और वहीं कृषि-कर्म करते हुए रहने लगे। गंगा-यमुना के मैदानी थे। प्रदेशों को उन्होंने 'ब्रहर्षि देश' की संज्ञा दी। इसके उपरान्त वे हिमालय के दक्षिण एवं नर्मदा नदी के उत्तर (विन्धयाचल के उत्तर) के मध्य के कुछ प्रदेशों तक बढ़ आये और उस प्रदेश का नामांकरण मध्यदेश किया क्योंकि यह प्रदेश उनके प्रदेशों के बाच में पड़ता था। जब उन्होंने वर्तमान के बिहार, बंगाल के आस-पास तक पहुंच गये तब वे लगभग समस्त उत्तरी भारत के क्षेत्र को अपने अधीन कर चुके थे। इस समस्त उत्तरी भारत को उन्होंने आर्यावर्त के नाम से संबोधित किया। आर्यावर्त अर्थात आर्यों के रहने का प्रदेश या स्थान।

इन सभी मतों में सर्वाधिक मान्य मत आयर्यों के मूल निवास के संबंध में मध्य एशिया में 'बैक्ट्रिया' को माना गया है।

5 अंक के प्रश्न-

1. आर्य कौन थे?
2. ऋग्वैदिक समाज की विशेषताएँ बताइए।
3. वैदिक काल की अर्थव्यवस्था का वर्णन कीजिए।
4. ऋग्वेद का महत्व स्पष्ट कीजिए।
5. वैदिक सभ्यता की प्रमुख विशेषताएँ लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. वैदिक काल का विस्तृत परिचय दीजिए।
2. वैदिक समाज एवं संस्व्रति का वर्णन कीजिए।
3. वैदिक धार्म की प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए।
4. वैदिक साहित्य के ऐतिहासिक महत्व पर चर्चा कीजिए।

MCQ

1. वैदिक सभ्यता का प्रमुख ग्रंथ कौन है?

(क) रामायण

(ख) ऋग्वेद

(ग) महाभारत

(घ) पुराण

उत्तर (ख)

2. आर्यों का मुख्य व्यवसाय क्या था?

(क) व्यापार

(ख) पशुपालन

(ग) उद्योग

(घ) नौकायन

उत्तररू (ख)

3.वैदिक समाज किस पर आधाारित था?

(क) जाति व्यवस्था

(ख) वर्ण व्यवस्था

(ग) औद्योगिक व्यवस्था

(घ) दास प्रथा

उत्तर (ख)

4.ऋग्वेद में कितने मंडल हैं?

(क) 8

(ख) 10

(ग) 12

(घ) 18

उत्तर (ख)

महत्वपूर्ण बिंदु-

- ऋग्वेद सबसे प्राचीन ग्रंथ है।
- आर्य पशुपालक एवं ख्रषक थे।
- वर्ण व्यवस्था विकसित हुई।
- वैदिक सभ्यता ग्रामीण सभ्यता थी।

शब्दावली-

- आर्य - वैदिक लोग
- वर्ण - सामाजिक वर्ग
- यज्ञ - धार्मिक अनुष्ठान
- ऋग्वेद - प्राचीन वैदिक ग्रंथ

इकाई-3.2 ऋग्वैदिक कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक परम्पराएं

उद्देश्य-

1. वैदिक धार्म की विशेषताओं को समझना।
2. उपनिषदों एवं दार्शनिक विचारों का अधययन करना।
3. वैदिक यज्ञ परंपरा का महत्व जानना। सामाजिक व्यवस्था

पारिवारिक संरचना-

प्रारम्भिक वैदिक समाज एक कबीलाई समाज था। वह समाज जलीय एवं पारिवारिक संबंधों पर आधारित था। समाज विभिन्न जातियों के आधार पर विभाजित नहीं था और विभिन्न व्यवसायिक समूह जैसे कारीगर, पुरोहित, मुखिया, पशुपालक आदि सभी एक ही समुदाय के थे। उनमें केवल वर्ण एवं व्यवसाय के आधार पर ही कृत्रिम विभाजन था। एक ही परिवार के लोग, विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में लगे होते थे। जैसे कोई पुरोहित था तो कोई योद्धा तो कोई कृषक या कारीगर। जन्म या जाति के आधार पर कार्य विभाजन की व्यवस्था ऋग्वैदिक कालीन समाज में नहीं थी। वैदिक समाज पितृसत्तात्मक समाज था। समाज में पुरुषों को ज्यादा महत्व दिया जाता था। पुत्र प्राप्ति हेतु धार्मिक अनुष्ठान किये जाते थे। महिलाओं की स्थिति संतोषजनक थी। पारिवारिक अनुशासन कठोर था। पुत्र के आयोग्य होने पर पिता उसे अपनी संपत्ति के अधिकार से वंचित कर सकता था। ऋग्वेद में एक जुआड़ी पुत्र को उसके पिता ने अपनी संपत्ति देने से वंचित कर दिया था। समाज में संयुक्त परिवार की प्रथा प्रचलित थी। पिता के बाद पुत्र ही परिवार का प्रधान होता था। उस काल में अतिथि-सत्कार की परंपरा का सबसे ज्यादा महत्व था। माता-पिता, गुरु तथा अग्रजों की आज्ञा पालन करना अत्यंत महत्वपूर्ण सामाजिक कर्तव्य था। परिवार का मुखिया कुलप कहलाता था और परिवार कुल कहलाता था। विभिन्न कुल मिलकर ग्राम का निर्माण करते थे और कई ग्राम मिलकर विश का। कई विश मिलकर जन (कबीला) का निर्माण करते थे। कालान्तर में यही जन-समूहों में इकट्ठे होकर महाजनपद के निर्माण का आधार बने।

सामाजिक वर्ग-

समाज में दो प्रकार के वर्ण थे। एक स्वयं आर्यजन जो गोरे, तीखे नाक वाले, लंबे कद के थे और दूसरे दास या दस्यु जो मोटे ओठ वाले, काले चपटी नाक वाले नाटे कद के आर्यजनों एवं दास या दस्यु जनों से बराबर संघर्ष चलता रहता था। समाज में एक और वर्ग 'पणियों' का था जो धनी थे और व्यापार आदि कार्य करते थे। इन पणियों से भी कभी आर्यजनों की शत्रुता होती थी तो कभी मित्रता। समाज में सारथी एवं बढ़ई समुदाय को विशेष आदर प्राप्त था। समाज में भिखारियों या कृषि दासों का अस्तित्व नहीं था। समाज में धनी एवं निर्धन व्यक्तियों की चर्चा है। धनी व्यक्ति के पास अधिक संख्या में गायें होती थीं। गाय ही उनकी प्रमुख छन संपत्ति थी। गाय को लेकर ही उनमें आपस में युद्ध हुआ करते थे। समाज में पशुओं की चोरी की समस्या थी। ऋवेद के पुरुष सूक्त में ब्राह्मण की उत्पत्ति मुख से क्षत्रिय वर्ग को उत्पत्ति बाहु से, वैश्य वर्ग की जांघ से और शूद्र वर्ग की उत्पत्ति पैरों से बताई गई है। ऋग्वेद के दशम् मंडल के पुरुष सूक्त में चार जातियों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र की चर्चा है। दशम् मंडल परवर्ती काल का माना जाता है अर्थात् बाद में इस मंडल को ऋग्वेद में जोड़ दिया गया था। उस काल में कोई भी वर्ग वंशानुगत नहीं था।

सामाजिक विशेषताएं-

ऋग्वैदिक काल में विभिन्न वर्गों एवं व्यवसायियों के बीच खान-पान एवं परस्पर वैवाहिक संबंध कायम होते थे। इस तरह का कोई प्रतिबंध उस समाज में नहीं था। समाज में अस्पृश्यता के साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं। सती प्रथा, पर्दा प्रथा तथा बाल विवाह का प्रचलन नहीं था। ऋग्वेद में परिवार के लिए कुल का नहीं बल्कि गृह का प्रयोग हुआ है। वैदिक काल में बहु विवाह की प्रथा

नहीं थी। दासों का उपयोग कृषि कार्य में नहीं किया जाता था, केवल घरेलू कार्यों में उपयोग किया जाता था। वैदिक साहित्यों में दान के रूप में दास-दासी देने का वर्णन प्राप्त होता है। समाज में असमानता कम थी लेकिन कलांतर में युद्ध आदि से प्राप्त संपत्ति के असमान वितरण के कारण असमानता बढ़ने लगी थी। लिंग के आधार पर शिक्षा प्रदान करने में भेदभाव नहीं किया जाता था। ऋग्वेद में जन शब्द का उल्लेख 275 बार और विश शब्द का उल्लेख 170 बार हुआ है। ऋग्वेद में अनायों को मृद्धवाच (अस्पष्ट बोलने वाला), अव्रत (नियमों व्रतों का नहीं पालन करने वाला), अनास (चपटी नाक वाला), बताया गया है। ऋग्वेद में जनपद की चर्चा नहीं की गयी है। आश्रम व्यवस्था उत्तर वैदिक काल में चारों आश्रमों का स्पष्ट चित्र नहीं मिलता। सर्वप्रथम जाबालोपनिषद् में चारों आश्रमों का विवरण मिलता है। इसमें संन्यास आश्रम उत्तर वैदिक काल में विशेष महत्व नहीं पा सका था। बाकि तीनों का उत्तर वैदिक काल में उल्लेख मिलता है। इसमें गृहस्थ आश्रम को विशेष महत्व दिया जाता था।

नारियों की स्थिति-

ऋग्वैदिक कालीन समाज में नारियों को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त था। धार्मिक अनुष्ठानों में पुरुष और स्त्री समान रूप से भाग लेते थे। पत्नी के बिना कोई धार्मिक कार्य मान्न नहीं होता था। नारियों को भी उच्च शिक्षा दी जाती थी। उनका उपनयन संस्कार भी होता था। वयस्क होने पर ही उनका विवाह होता था। शारीरिक दोष युक्त कन्याओं के विवाह में दहेज भी दिया जाता था। समाज में विधावा विवाह का प्रचलन था। अथर्ववेद में विधवा के दस बार तक पुनर्विवाह का उल्लेख है। आयों में पिता-पुत्री, भाई-बहन के अतिरिक्त अन्य संबंधियों के आपस में विवह पर कोई प्रतिबंध नहीं था। आर्य वर्ण का दस्यु वर्ण के साथ विवाह पर प्रतिबंध था। विवाह का सबसे मुख्य उद्देश्य संतान की प्राप्ति था। विशेष रूप से पुत्र की प्राप्ति था। समाज में सन्तानहीन विधवा को पुत्र प्राप्ति हेतु अस्थायी देवर-भाभी विवाह की 'नियोग' प्रथा प्रचलित थी। गंधर्व विवाह एवं अंतर्जातीय विवाह का भी समाज में प्रचलन था। विवाह में वर चुनने की पर्याप्त स्वतंत्रता स्त्रियों को प्राप्त थी। विदुषी स्त्रियों को समाज में पर्याप्त सम्मान प्राप्त था तथा वे धार्मिक अनुष्ठान स्वयं भी कर लेती थीं। वे मंत्रों की रचना भी कर ऋषिपद भी प्राप्त कर लेतीं थीं। कन्या की विदाई के समय उपहार एवं द्रव्य दिये जाते थे। जिसे वहतु कहते थे। आरंभ में स्त्रियां राजनीति में भी भाग लेती थीं कुछ स्त्रियां जीवन भर अविवाहित रहकर विद्या अध्ययन या अध्यापन करती थीं। समाज में उन्हें आदर प्राप्त था।

वस्त्र एवं आभूषण-

पुरुष सामान्यतया अपने ऊपरी हिस्से में कोई वस्त्र धारण नहीं करते थे। निचले हिस्से में धोतीनुमा वस्त्र पहनते थे। सिर पर पगड़ी (उष्णीष) और पैरों में जूतें (उपान) पहनते थे। मुनिगण गेरुवे वस्त्र या पशुचर्म धारण करते थे। लोग सूत, ऊन एवं मृग चर्ग के वस्त्र धारण करते थे। स्त्रियों में आभूषण का प्रचलन था। कर्णशोभन (कान का आभूषण), सिर पर धारण करने वाले अंगूठी, गले के आभूषण (निष्क एवं मणि), कान की बाली (प्रवतं) आदि प्रचलित थे। स्त्रियां ऊपरी हिस्से में कंचुकी और निचले हिस्से में घाघरानुमा या साड़ीनुमा वस्त्र धारण करतीं थीं। सामान्यतः पुरुष लंबे बाल और दाढ़ी रखते थे। वस्त्र कपास, ऊन, रेशम तथा चमड़े निर्मित होते थे। स्त्री और पुरुष दोनों ही पगड़ी का प्रयोग करते थे।

भोजन-

आर्यों के प्रमुख भोज्य पदार्थ थे दूध से बने पदार्थ, ओदन, भुने हुए अनाज, शहद, सत्तू आदि। आर्यों का मुख्य अनाज जौ (यव) था। वे अन्न को पीसकर और दूध में मिलाकर अपूप का सेवन करते थे। वे अन्न को दूध में मिलाकर क्षीरपाकम बनाते थे। शाकाहारी एवं मांसाहारी दोनों प्रकार का भोजन करते थे। मांस भी उनके भोजन का एक महत्वपूर्ण अंग था। अश्वमेघ के अवसर पर अश्व के मांस का सेवन किया जाता था। सोमरस नामक मादक पेय मुख्य मादक पेय था। धार्मिक अनुष्ठानों के समय इसका सेवन किया जाता था। पूतिका, अर्जुनानि अन्य मादक पेय थे। सुरा एवं शहद का भी प्रचलित थे।

मनोरंजन-

आर्यजनों के मनोरंजन का प्रमुख साधन संगीत था। ऋग्वेद में बांसुरी (नाड़ी), ढोल, कर्करि (वीणा सकृश्य वाद्य यंत्र) का उल्लेख मिलता है। समाज में नृत्य का प्रचलन था। उषा का नर्तकी के रूप में वर्णन प्राप्त होता है। पासे से खेले जाने वाला खेल, जुआ, घुड़दौड़ रथदौड़, मल्लयुद्ध, शिकार आदि उनके अन्य मनोरंजन के साधन साधन थे। थे। यद्यपि जुआ को अच्छी नजर से नहीं देखा जाता था। ऋग्वेद के संवाद सूक्तों से नाटकों की उत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है।

चिकित्सा-

उस काल में सामान्य एवं शल्य चिकित्सा का आरंभ हो चुका था। समाज में चिकित्सकों को (वैद्य) विशेष आदर प्राप्त था। ऋग्वेद में अश्विन नामक चिकित्सक का उल्लेख है जिन्होंने विश्पला के कटे पैर के स्थान पर लोहे का पैर लगा दिया था। अथर्ववेद में कुष्ट रोग, पागलपन, सर्पदंश, पीत रोग, अतिसार, क्षय रोग, मिरगी आदि व्याधियों की चर्चा है।

शिक्षा व्यवस्था-

ऋग्वेद में उपनयन संस्कार का स्पष्ट वर्णन नहीं है। उस समय के समाज में गुरु के आश्रम में जाकर विद्यार्थियों को कठोर अनुशासन में रहकर विद्याध्ययन करना पड़ता था। शिक्षा मौखिक रूप से प्रदान की जाती थी। गार्गी, मैत्रयी, घोषा, अपाला, विश्ववारा आदि स्त्रियां विदुषी थीं और शिक्षा प्रदान करने का कार्य भी करती थीं। शिक्षा के प्रमुख विषय थे वेद, ब्रह्मविद्या, गणित, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, इतिहास, सैन्य-विज्ञान, ज्योतिष विज्ञान, व्याकरण, पुराण आदि।

आर्थिक स्थिति

पशुपालन-

प्रारंभिक वैदिक समाज की अर्थव्यवस्था का आधाार पशुपालन था। पशुओं का चारण ही उनके आजीविका का मुख्य साधन था। ऋग्वेद में चारागाह के लिए उत्यति या गव्य शब्द का प्रयोग हुआ है। जिनके पास ज्यादा पालतू पशु थे उन्हें गोमत कहा जाता था। दूरी को गवयुती और समय को मापने के लिए गोधुली शब्द का प्रयोग किया जाता था। पुत्री को दुहिता अर्थात गाय दुहने वाली की संज्ञा दी गयी है। युद्धों के लिए भी गविष्टि जैसे शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे पता चलता है गाय उनके जीवन से बहुत ही गहरे रूप से जुड़ी हुई थी। गाय की हत्या करने वाले या उसे घायल करने वाले के लिए में मृत्युदंड अथवा देश निकाले की व्यवस्था दी गई है। गाय ही विनिमय का प्रमुख साधन थी। दान आदि कार्यों में वेदों में मृत्युदंड गाय का ही उपयोग किया जाता था। भू-स्वामित्व की अवधारणा विकसित नहीं हुई थी।

व्यापार-

उस काल में अत्यंत सीमित व्यापार प्रथा का चलन था। व्यापार, विनिमय पद्धति पर आधारित था। राजा को नियमित कर देने या भूराजस्व देने की अवधारणा विकसित नहीं हुई थी। राजा या कबीला के प्रधान को स्वेच्छा से बलि या भोग या नजराना दिया जाता था। पराजित कबीला समूह, विजयी कबीला सरदार को बलि या नजराना देता था। उत्सवों के अवसर पर राजा अपने कबीले के सदस्यों को भोज देता था और विजय होकर लौटने पर प्राप्त धान को अपने कबीले के अन्य सदस्यों में बांटता भी था। उस काल में ऋण लेने और देने की प्रथा अस्तित्व में थी। तैत्तिरीय संहिता में 'कुसीद' का प्रयोग ऋण के अर्थ में हुआ है। लेकिन वैदिक साहित्यों में ब्याज की चर्चा नहीं है।

विनिमय के साधन-

वैदिक साहित्य में उल्लिखित निष्क संभवत, आभूषण अथवा मुद्रा था। समाज में वस्तुओं की भेंट, विनियम एवं पुनर्वितरण प्रणाली का प्रचलन था। ऋग्वैदिक कालीन लोगों को लौह तकनीक का ज्ञान नहीं था, परंतु तांबा एवं पत्थर के औजारों का वर्णन

प्राप्त होता है। ऋग्वैदिक कालीन लोग सोना एवं चांदी से परिचित थे। ऋग्वेद में उल्लिखत धातुओं में सर्वप्रमुख धातु अयस है। संभवत: अयस का संबंध तांबा अथवा कांसा से था।

यातायात के साधन-

बैलगाड़ी, रथ, जलयान (नाव) यातायात के साधान थे। ऋग्वेद में सौ पतवारों वाली नौका का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में उल्लिखित पशुओं के नाम हैं- गाय, घोड़ा, भेड़, बकरी (अज), बैल, भैंस, कुत्ता, गाा आदि।

आवास-

उस काल के आवास घास-फूस एवं काष्ठ द्वारा निर्मित होते थे। पुर मिटी से निर्मित सुरक्षा दीवार से घिरे भवनों का समूह था। हरियाणा के भगवानपुरा नामक स्थल में अनेक कमरों वाला एक मकान का अवशेष प्राप्त हुआ है।

कृषि-

अग्नि को पथ निर्माता (पथिकृत) कहा गया है। ऋग्वेद के चौथे मंडल में कृषि का वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण में ख्रषि की समस्त प्रक्रियाओं का उल्लेख मिलता है। काठक संहिता में 24 बैलों द्वारा हल खींचे जाने का उल्लेख है। अध र्ववेद में वर्षा, कूष एवं नहर का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में केवल यव (जी) नामक अनाज की चर्चा प्राप्त होती है। यजुर्वेद में हल को सीर कहा गया है। ऋग्वेद में मात्र 24 बार ही कृषि की चर्चा मिलती है। उस काल में कृत्रिम सिंचाई की व्यवस्था भी थी। हल (लांगल) वृक (बैल), करीष (गोबर की खाद), कीवांश (हलवाहे), ऊर्दर (अनाज नापने का पात्र) आदि की चर्चा भी प्राप्त होती है। ऋग्वेद के पहले और दशम् मंडलों में बुआई, जुताई फसल की गहाई ओसाई, कटायी आदि का उल्लेख है। ज्ञातव्य है कि पहला और दसवां मंडल को क्षेपक माना जाता है। ऋग्वेद में पांच ऋतुओं का वर्णन है। खाद्यान्नों को सामूहिक रूप से धन और धान्य कहा जाता था। वैदिक साहित्य के परवर्ती ग्रन्थों में दस प्रकार के अन्न उगाए जाने का उल्लेख है। परवर्ती वैदिक साहित्यों में ही अन्य अनाजों जैसे गेहूं (गोधूम), ब्रीही अर्थात चावल, मसूर, तिल आदि की चर्चा मिलती है।

उद्योग-

ऋग्वैदिक काल के उद्योग आवश्कताओं की पूर्ति हेतु हुआ करते हैं। वस्त्र-निर्माण उद्योग, बर्तन बनाने का उद्योग, लकड़ी एवं पातु उद्योग, चर्म-कार्य आदि उस काल के प्रमुख उद्योग थे। स्त्रियां भी इन उद्योगों में कार्य करतीं थीं। स्त्रियां चटाई बुनने का कार्य करती थीं। बढ़ई और धातुकार का कार्य अत्यंत महत्वपूर्ण था। बढ़ई रथ एवं बैलगाड़ी बनाता था। ये सब उद्योग धंधो व्यक्तिगत रूप से ही किये जाते थे। ऋग्वैदिक काल में व्यापार करने वाले एवं व्यापार हेतु सुदूरवर्ती प्रदेशों में भ्रमण करने वाले व्यक्ति को पणि कहा जाता था।

राजनीतिक अवस्था

1. राजतंत्र

ऋग्वैदिक काल में राजा को गोमत भी कहा जाता था। वह किसी क्षेत्र विशेष का प्रधान नहीं होता था बल्कि वह किसी जन विशेष का प्रधान होता था। प्रारंभिक वैदिक समाज में राजा का निर्वाचन, आम व्यक्ति युक्त में नेतृत्व करने के उद्देश्य से करते थे। वंशानुगत राजा की अवधारणा नहीं थी। जनता चाहे तो राजा को पद से हटा सकती थी। युद्ध आदि में वृद्धि होने के कारण राजा के पद का विशेष महत्व हो गया और धीरे-धीरे उच्च और छोटी वंशीय परंपराओं के बीच विभाजन अधिक स्पष्ट होने लगा था। राजा की सहायता पुजारी या पुरोहित करता था। राजा को प्राप्त होने वाले भाग में से पुरोहितों को को भी हिस्सा मिलता था। राजा के लिए नियमित कर व्यवस्था स्थापित नहीं, हुई थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अभिषेक होने पर राजा महान बन जाता है। राजसूय यज्ञ करने वाले की उपाधि राजा थी और वाजपेय यज्ञ करने वाले की सम्राट। रावी नदी के तट पर भरतवंश के राजा सुदास

एवं अन्य दस जनों के मध्य प्रसिद्ध दसराज्ञ युद्ध हुआ था। जिसमें राजा सुदास विजयी हुआ था। राजा सुदास के पुरोहित वशिष्ठ थे तथा अन्य दस जनों के पुरोहित विश्वामित्र थे। राजा की सहायता हेतु सेनानी, ग्रामणी, पुरोहित आदि 12 रत्लिन होते थे। स्पर्श गुप्तचरों को और पुरप दुर्गपति को कहा जाता था। पुरु वंश एवं भरत वंश ने साथ मिलकर कुरु वंश की स्थापना की थी। उग्र नामक अधिकारी आधुनिक पुलिस की भांति था। राजा राजसूय यज्ञ के अवसर पर बारह रत्नियों की पर जाता था। ऋग्वेद में राजा के लिए राजन, जनस्य गोपा आदि शब्द आया है। युद्ध के अवसर पर जो सेना एकत्र की जाती थी, उनमें बात, गण, ग्राम एवं शर्थ नामक विविध कवीलाई सैनिक होते थे।

राजनीतिक संस्थाएं-

ऋग्वैदिक काल में तीन प्रकार की राजनीतिक संस्था के होने का ज्ञान हमें ऋग्वेद के अनुशीलन से प्राप्त होता है।

विदथ-

विदथ वैदिक काल की सबसे प्राचीन संस्था थी। ऋग्वेद में विदथ का सबसे ज्यादा 122 बार उल्लेख आया है। विदथ एक वृहद आम सभा थी। इसके सदस्य स्त्री-पुरुष दोनों होते थे। विदथ में नव-बंधुओं का स्वागत भी किया जाता था। विदथ, सैनिक, असैनिक, धार्मिक, सामाजिक आदि के नियम बनाने का कार्य करती थी। उपज का वितरण भी इसी संस्था में किया जाता था। ध ार्मिक अनुष्ठान भी यहीं होते थे।

समिति-

समिति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य राजा का चुनाव करना था। समिति में सभी व्यक्ति (विश) सम्मिलित होते थे। इसमें राज्य-कार्यों की मंत्रणा होती थी और सहमति के आधार पर निर्णय लिये जाते थे। समिति का प्रधान ईशान या पति कहलाता था। राजा भी कभी-कभी इसका प्रधान होता था। राजा के लिए इसमें जाना अनिवार्य था। यह राजा की शक्ति पर नियंत्रण रखती थी।

सभा-

सभा सभ्रांत एवं श्रेष्ठ लोगों की संस्था थी। इसके सदस्य बुजुर्ग होते थे। ब्राह्मण और धर्म संरक्षक ही इसके सदस्य होते थे। सभा के सदस्य सभेय कहलाते थे। ऋग्वेद में सभा का उल्लेख 8 बार है। इसका निर्णय सभी को मान्य होता था। सभा का प्रमुख सभापति कहलाता था। इसमें स्त्रियां उपस्थित नहीं होती थीं। सभा राष्ट्रीय न्यायाधिकरण के रूप में भी कार्य करती थी। सभा और समिति को प्रजापति की पुत्रियां बताया गया है।

प्रमुख यज्ञ-

1. राजसूय यज्ञ-

राजसूय यज्ञ एक ऐसा माना जाता था कि इस अनुष्ठानिक यज्ञ से राजा को दिव्यशक्ति मिल जाती है। राजयूस यज्ञ करने वाले की उपाधि राजा होती थी।

2. अवश्वमेध यज्ञ-

अवश्वमेध यज्ञ इसमें राजा द्वारा छोड़ा गया अश्व, जिन-जिन क्षेत्रों से बेरोक-टोक गुजरता था, उस पर राजा का अधिकार समझा जाता था।

3. वाजपेय यज्ञ-

वाजपेय यज्ञ (रथदौड़) इसमें राजा का अश्वचालित रथ अन्य सभी बंधु-बांधवों के रथों से आगे निकलता था। वाजपेय यज्ञ राजा शक्ति की अभिवृद्धि हेतु करता था। वाजपेय यज्ञ करने वाले शासक सम्राट उपाधि धारण करते थे।

4. अग्निष्टोम यज्ञ-

अग्निष्टोम यज्ञ एक दिन का होता था। इसमें अग्नि को पशुबलि दी जाती थी।

ऋग्वैदिक काल में धर्म एंव दर्शन-

वैदिक धर्म की सबसे प्रमुख विशेषता थी उसका व्यवहारिक तथा उपयोगितावादी स्वरूप। आर्यजन का मुख्य रूप से प्रकृति के पूजक थे। उनके धार्मिक जीवन में यज्ञों का महत्वपूर्ण स्थान था। यज्ञों तथा मंत्रोपचार का मुख्य उद्देश्य सांसारिक लाभों की प्राप्ति तक ही सीमित था। वैदिक धर्म मुख्य रूप से पुरोहितों से नियंत्रित धर्म था। आरम्भिक वैदिक साहित्य में स्वर्ग तथा अमृत्व की कामना का वर्णन अत्यंत अल्प है। पुरोहित देवताओं एवं मानवों के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाते थे। यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठानों से दीर्घायु समृद्धि, विजय, वीरपुत्र आदि भौतिक सुखों की प्राप्ति की अपेक्षा की जाती थी। वैदिक धर्म पुरुष प्रधाान धार्म था। ऋग्वैदिककालीन लोग प्राकृतिक शक्तियों पर दैवी शक्ति का आरोपण करके उनकी मानव रूपों में पूजा करते थे। आरंभिक वैदिक काल के धर्म में स्वर्ग एवं अमरत्व की कल्पना नहीं थी। वैदिक धर्म में यज्ञ तथा बलि की प्रधानता थी। उपनिषद में ब्रह्म का अर्थ परमत्व या परम ज्ञान से है। भक्ति की अवधारणा का स्रोत उपनिषदों को माना जाता है। नरकलोक की कल्पना अथर्ववेद में की गयी है। आरंभिक वैदिक काल में पुनर्जन्म की अवधारणा नहीं थी। जन-साधारण के धर्म का वर्णने मुख्य रूप से अथर्ववेद तथा गृहसूत्रों में हुआ है। वैदिक धर्म में जो निवृति मार्ग के तत्व हैं उन पर ऋषि मुनियों की सन्यास संबंधी विचारधारा का प्रभाव है। वैदिक देवताओं का स्वरूप महिमामंडित मानवों का है। देवताओं की कल्पना उन्होंने ऐसे दिव्य मानवों के रूप में की जिन्हें अमरत्व प्राप्त था। वैदिक काल में अधिकांश देवताओं की पूजा-अर्चना मानवरूप भारतीय इतिहास में की जाती थी। कुछ देवताओं का स्वरूप पशुरूप में भी था। मरूतों की माता एक चितकबरी गाय थी। इन्द्र की गायें खोजने वाली सरमा नामक कुतिया थी।

ऋग्वैदिक देवता-

ऋग्वेद में देवताओं की कुल संख्या लगभग 33 है। प्रारंभिक वैदिक काल के देव-समूहों में पुरुष देवताओं की संख्या अधिक है। वैदिक, देवियों में सरस्वती, इड़ा तथा भारती प्रमुख हैं। जो कालान्तर में क्रमशः सरस्वती, दुर्गा और लक्ष्मी में बदल गयीं। अन्य देवियां उषा, अदिति, सूर्या, सावित्री, आदि हैं। वैदिक देवतागण वैदिक देवता गण में इन्द्र, अग्नि और वरूण को सबसे अधिक महत्व प्राप्त है।

इन्द्र-

यह मुख्य रूप से वीरता और शक्ति का देवता था। ऋग्वैदिक काल का सबसे महत्वपूर्ण देवता था। इसका उल्लेख 250 सूक्तों में हुआ है। इन्द्र का दूसच नाम बज्रबाहु भी था वज्र इसका हथियार था। वह दुर्गो का भेदक था। उसने अनावृष्टि के राक्षस वृत्र का वध कर, जल को मुक्त किया था। कहीं, कहीं उसके हथियार अंकुश भी बताये गये हैं। इन्द्र बादल और तड़ित का देवता भी था।

अग्नि-

यह देवता पृथ्वी स्थानीय देवताओं में सबसे महत्वपूर्ण था। इसका उल्लेख 200 सूक्तों में हुआ है। उसे पृथ्वी पर अग्नि, अंतरिक्ष में तड़ित और आकाश में सूर्य बताया गया है। अग्नि की उपाधि धूमकेतु थी। अग्नि को घौस और पृथ्वी का पुत्र बताया गया है। इसे पणियों पर विजय प्राप्त करने वाला और दुर्गो का भेदक भी बताया गया है। इन्हें अतिथि भी कहा जाता था। अग्नि को देवताओं का मुख कहा गया है।

वरूण-

इन्द्र के पश्चात वैदिक देवताओं में वरूण का महत्व था। इसका वर्णन 30 सूक्तों में किया गया है। उसे ऋतुओं का नियामक और नैतिक एवं भौतिक व्यवस्था बनाए रखने वाला देवता बताया गया है। वरूण जल का देवता था। वरूण का संबंध

वायु तथा जल दोनों से जोड़ा गया है।

सोम देवता-

सोम देवता का उल्लेख ऋग्वेद के नवें मंडल में 114 सूक्तों में किया गया है। सोम औषधि और वनस्पति का देवता था। सोम का संबंध चन्द्रमा के साथ है।

देवी-

इंड़ा (दुर्गा) इस देवी को अन्नपूर्णा और समृद्धि की देवी बताया गया है। उषा एवं अदिति नामक देवियां प्रातः काल का प्रतिनिधित्व करती थी। लक्ष्मी (भारती) को वैभव की देवी माना जाता था। सरस्वती (विधा की देवी) सबसे महत्वपूर्ण देवी थी।

अन्य ऋग्वैदिक देव-

धौ आकाश देवता, अश्विन विपत्तियों को हरने वाले देवता, पूषन् पशुओं के देवता रुद्र देवता जो नैतिकता की रक्षा करने वाले तथा महामारी के प्रकोप से बचाने वाले अति क्रोधी देवता, मरुत आंधी-तफूान के देवता, विष्णु- विश्व संरक्षक देवता तथा अर्धदेव के रूप में मनु, त्रित, ऋभु, गंधर्व और अप्सरा आदि के नाम प्राप्त होते हैं। सूर्य की स्तुति गायत्री मंत्र में सावित्री देवता के रूप में की गयी है।

धार्मिक क्रिया कलाप-

प्रारंभिक वैदिक काल में मूर्तिपूजा और मंदिर पूजा का प्रचलन नहीं था। श्रौत यज्ञों का संबंध सोम पूजा से था। सोम यज्ञों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण यज्ञ अश्वमेध तथा राजसूय यज्ञ हैं। इस काल में यज्ञों का महत्व देवताओं से ज्यादा था। यजुर्वेद एवं ऐतरेय में रुद्र को जनसाधारण का देवता बताया गया है। ऋग्वेद में ब्रह्म का अर्थ यज्ञ से है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में निर्गुण ब्रह्म का उल्लेख है। वैदिक लोगों का विश्वास था कि जगत् का उदभव एक विशाल ब्रह्मांड यज्ञ से हुआ है। बोगजकोई (एशिया माइनर) में 1400 ई.पू. का एक अभिलेख मिला है इसमें इन्द्र, वरूण, मित्र और नास्तय देवताओं का उल्लेख है। यज्ञकर्ता वेद यज्ञों को सम्पादित करने वाले ऋत्विज कहलाते थे।

कर्मफल एवं पुनर्जन्म-

आर्यजनों का कर्मफल एवं पुनर्जन्म पर विश्वास था। ऋग्वैदिक काल में यज्ञाहुति में शाक और जो डाला जाता था। लेकिन याज्ञिक मंत्रोच्चार नहीं किया जाता था, क्योंकि शब्दों में जादुई असर उतना नहीं माना जाता था। जितना कि उत्तर वैदिक काल में।

5 अंक के प्रश्न-

1. उत्तर वैदिक काल की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
2. उत्तर वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
3. सभा एवं समिति क्या थीं?
4. उत्तर वैदिक काल की आर्थिक व्यवस्था पर टिप्पणी लिखिए।
5. उत्तर वैदिक काल में धाार्मिक जीवन का वर्णन कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. ऋग्वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल की तुलना कीजिए।
2. उत्तर वैदिक समाज एवं संस्ख्रति का विस्तृत वर्णन कीजिए।
3. उत्तर वैदिक काल में राजनीतिक संस्थाओं का विश्लेषण कीजिए।
4. उत्तर वैदिक काल में धाार्मिक परिवर्तनों का अधययन कीजिए।

MCQ

1. उत्तर वैदिक काल में समाज किस पर आधाारित था?

(क) जनजाति

(ख) वर्ण व्यवस्था

(ग) दास प्रथा

(घ) औद्योगिक व्यवस्था

उत्तर (ख)

2. सभा एवं समिति किससे संबंधित थीं?

(क) धार्म

(ख) राजनीति

(ग) व्यापार

(घ) शिक्षा

उत्तर (ख)

3. उत्तर वैदिक काल में मुख्य धातु कौन-सी थी?

(क) कांसा

(ख) तांबा

(ग) लोहा

(घ) सोना

उत्तर (ग)

4. उत्तर वैदिक काल में यज्ञों का महत्व क्यों बढ ा?

(क) व्यापार के कारण

(ख)धार्मिक विश्वास के कारण

(ग) ख़षि के कारण

(घ) युद्ध के कारण

उत्तर (ख)

महत्वपूर्ण बिंदु-

- उत्तर वैदिक काल में ख़षि का विकास हुआ।
- वर्ण व्यवस्था कठोर हुई।
- लौह तकनीक का उपयोग बढा।
- यज्ञ एवं कर्मकांड महत्वपूर्ण बने।

शब्दावली-

- सभा - जनसभा
- समिति - प्रशासनिक संस्था
- कर्मकांड - धार्मिक अनुष्ठान
- लौह - आयरन

इकाई-3.3 उत्तरवैदिक कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक परम्पराएं

उद्देश्य-

1. वैदिक धार्म की विशेषताओं को समझना।
2. उपनिषदों एवं दार्शनिक विचारों का अधययन करना।
3. वैदिक यज्ञ परंपरा का महत्व जानना।

उत्तर वैदिक काल

उत्तर वैदिक युग 1000 ई.पू. से 600 ई.पू. माना जाता है। इस काल के प्राप्त बर्तनों को चित्रित धूसर मृदभांड कहा जाता है। इस काल के निवासी गण मिट्टी के चित्रित और भूरे रंग के कटोरों तथा थालियों का प्रयोग करते थे। इस काल में आर्यजन गंगा-यमुना दोआब के अंतर्गत समूचे उत्तर प्रदेश में फैल गये थे। शीघ्र ही उनका अधिकार कुरुक्षेत्र प्रदेश पर हो गया। दिल्ली तथा दोआब के ऊपरी एवं मध्य भाग पर कुरू-पांचलों की संयुक्त सत्ता स्थापित हुई एंव हस्तिनापुर (मेरठ) उनकी राजधानी बनी। अतरंजीखेड़ा, अहिछत्र, नूह, जखेड़ा आदि इस काल के मुख्य स्थल हैं। लगभग 1000 ई.पू. में पाकिस्तान के गंधार क्षेत्र में लोहे का प्रयोग होने लगा था। इसी समय बलूचिस्तान, पूर्वी-पंजाब, राजस्थान एवं पश्चिमी उत्तर प्रदेश में भी लोहे का इस्तेमाल हो रहा था। तीर के नोक बरने के फाल आदि लोहास्त्रों का प्रयोग 800 ई.पू. में नियमित रूप से होने लगा था। वैदिक काल के अंतिम दौर में लोहे का ज्ञान-पूर्वी उत्तर प्रदेश और विदेह में भी फैल गया था। इस काल में लोहे को श्याम या कृष्ण अयास कहा गया है। अतरंजीखेड़ा से सबसे अधिक लोहे के हथियार, जैसे तीर, भाले आदि प्राप्त हुए हैं। जखेडा से एक हल का फाल प्राप्त हुआ है। लोहे का प्रयोग केवल हथियार बनाने तक ही सीमित था। इस काल में गंगा-दोआब के ऊपरी जंगलों को आग से जलाकर साफ किया गया।

आर्थिक अवस्था-

इस काल में भी पशुपालन का महत्व बना रहा लेकिन कृषि पर आधारित स्थायी जीवन प्रणाली का आरंभ और विस्तार होने लगा था।

कृषि-

उत्तर वैदिक काल में कृषि से संबंधित कार्यों का महत्व बढ़ गया है। इस काल में मिश्रित कृषि (कृषि पशुपालन) व्यवस्था प्रचलित थी। शतपथ ब्राह्मण में कृषि से संबंधित कार्यों का विस्तृत वर्णन किया गया है। 8, 10 या 12 बैलों से हल को जोतने का वर्णन परवर्ती साहित्यों में प्राप्त हुआ है। अथर्ववेद के एक उल्लेख के अनुसार पृथुवैन्य ने सर्वप्रथम हल तथा कृषि को जन्म दिया। काठक संहिता में 24 बैलों द्वारा हल खींचे जाने का उल्लेख है। यजुर्वेद में हल को सीर कहा गया है। लोग खाने में चावल का प्रयोग करने लगे थे। रोपाई द्वारा धान उत्पादन की तकनीक प्रचलन में नहीं थी। अब भूमि का महत्व बढ़ने लगा था। जमीन पर कृषि कार्यों में दासों और घरेलू नौकरों का उपयोग होने लगा था। वैश्य वर्ग अब उत्पादक वर्ग बन गया था जो इस घरेलू अर्थव्यवस्था के मुख्य आधार थे। भूमि के क्रय या विक्रय करने की कोई प्रथा नहीं थी।

उद्योग धंधो-

इस काल में व्यापार एवं उद्योग धंधों को उन्नति हुई। वाजसनेयी संहिता एवं तैत्तिरीय उपनिषद में विभिन्न प्रकार के उद्योग धंधों जैसे, धातु-उद्योग, बर्तन उद्योग आदि की चर्चा मिलती है। इस काल में व्यापार का विस्तार हो रहा था। ऐतरेय ब्राह्मण में श्रेष्ठी शब्द मिला है। व्यापार वस्तु विनिमय प्रणाली पर आधारित था। व्यापार में लेन-देन का माध्यम गाय तथा निष्क थे। इस काल में बड़े पैमाने पर स्त्रियां बुनाई का कार्य करतीं थीं। समाज में श्रम विभाजन शुरू हो चुका था। परंतु इसका स्वरूप अभी कठोर नहीं

हुआ था। कृषकों द्वारा अधिशेष उत्पादन किया जाने लगा था। इस अधिशेष का बंटवारा राजा तथा विभिन्न अनुत्पादक वर्गों में बनाई एवं ऊन पर कढ़ाई का कार्य प्राय: स्त्रियांही करती ऐसी औरतों को पेशस्कारी कहा जाता था।

सामाजिक अवस्था-

उत्तर वैदिक काल में समाज की रचना असमानता पर आधारित जन्म के आधार पर सामाजिक स्तर निर्धारित होने लगा था। क्रम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र का स्थान उच्च से निम्न की ओ था। अब भी किसी के द्वारा व्यवसाय किया जाना जन्म पर आध नहीं था। घरेल अर्थव्यवस्था के मजबूत हो जाने पर गृह स्वामी की स्थिति महत्वपूर्ण हो गयी थी। अब अस्पृश्यता की प्रथा नहीं थी। धीरे-धीरे बड़े ग्राम और नगरों का अस्तित्व आने लगाया जिन्हें महाग्राम एवं नागरिन कहा जाता था। शूद्रों को उपनयन संस्कार का अधिकार नहीं था। उरखं अधिकार सीमित कर दिये गये थे। शतपथ ब्राह्मण में गृहों को सोमयज्ञ में भाग लेने की बात कही गयी है। इस काल में गोत्र-व्यवस्था प्रचलन में आ गया था। गोत्र या गोष्ठ का शाब्दिक अर्थ होता है वह स्थान जहां समूचे कुत के गाय को एक साथ रखा जाता था। अब एक ही गोत्र के लोगों के परस्पर विवाह संबंध पर प्रतिबंध लग गया था। स्त्रियों की दशा में गिरावट आ गयी थी। उनके अधिका सीमित हो गये थे। नीति-निर्धारण में उनका कोई योगदान नहीं होता था। उनके उपनयन संस्कार पर प्रतिबंध लगा दिया गया था। स्त्रियों का पैतृक संपत्ति पर अधिकार नहीं रहा। इस काल की प्रमुख विदुषी स्त्रियां, गार्गी, गृहीता, मैत्रयी आदि थीं। अब पुत्री के जन्म पर खेद और पुत्र के जन्म पर हर्ष प्रकट किया जाता था। इस काल में मुख्यत: तीन आश्रम प्रचलन में थे। ब्रह्मचर्य (विद्यार्थी जीवन), गृहस्थाश्रम (घरेलू जीवन), वान प्रस्थाश्रम (घरेलू जीवन को त्याग कर वन में निवास करना)। इस कात में संन्यासी व्यक्तिगत स्तर पर होते थे। अब मिटी के परकोटे से बने अधिक टिकाऊ घर बनने लगे थे। उत्तर वैदिक काल में विद्यार्थियों को शारीरिक प्रशिक्षण में प्रदान किया जाता था। इस काल में भी स्त्रियों को शिक्षा का अधि कार था। इस काल में दास वर्ग के आर्य समाज में समाहित होने कथा विभिन्न प्रकार के वैवाहिक संबंधों के कारण अनेक मिश्रि जातियां अस्तित्व में आयीं। स्त्रियों को जुआ एवं शराब के बाद तीसरी सबसे बुरी बा माना जाने लगा था। धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में चारों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के कर्तव्यों, अधिकारों और स्थिति में विर किया जाने लगा था। वर्ण अब जाति का रूप लेने लगे थे लेकिन इसमें अभी कठोरता नहीं आयी थी। विभिन्न व्यवसाय करने वाले अब व्यवसाय से ही जाति में पि. रवर्तित होने लगे थे। इस काल में शूद्रों की स्थिति में गिरावट आनी शुरू हो गयी उनपर विभिन्न प्रकार के प्रतिबंध लगने शुरू हो गये थे। शूद्रों के लिए आश्रम व्यवस्था निषिद्ध थी। बाल-विवाह, पर्दा प्रथा तथा सती प्रथा में भी निषिद्ध थी। स्त्रियों को विधवा विवाह की अनुमति थी।

राजनितिक अवस्था-

उत्तर वैदिक काल में जनपद का अस्तित्व आ गया था। राष्ट्र का प्रयोग होने लगा था। अब राजा या मुखिया केवल युद्ध नेता नहीं बल्कि क्षेत्र का रक्षक भी हो गया था। इस काल में विदध का अस्तित्व समाप्त हो गया, समिति के अधिकार कम हो गये और सभा अधिक शक्तिशाली बन गयी। स्त्रियां सभा में भाग नहीं लेतीं थीं। राजा अब विशाल पैमाने पर यज्ञ का आयोजन अपनी सत्ता को धार्मिक एवं सामाजिक वैधता प्रदान करने के लिए करता था। अब राजा को नियमित कर मिलने लगा था। अब भी राजा एक संप्रभुता संपन्न शासक नहीं था, उसका चुनाव होता था। अब भूमि पर अधिपत्य स्थापित करने के लिए ही मुख्य रूप से युद्ध होते थे। ब्राह्मण-पुरोहित समुदाय का महत्व भी बढ़ गया था क्योंकि वे राजा के पद को वैधता प्रदान करते थे। इस काल में कहीं-कहीं गणराज्यों के उदाहरण भी मिलते हैं। राजा के राज्याभिषेक में 17 प्रकार के जल का प्रयोग होता था। संभवत: उत्पादन का 16वां भाग कर के रूप में लिया जाता था। छह दर्शनों में पहली बार राजा के दैविक सिद्धांत को स्वीकारा गया है। इस काल में स्थापति नामक अधि कारी गवर्नर के सदृश्य था। इस काल में राजा को दैव पद भी दिया जाने लगा था। अधार्ववेद में राजा परीक्षित को मृत्युलोक का

देवता कहा गया है।

धार्मिक अवस्था-

उत्तर वैदिक काल में धार्मिक अनुष्ठान अत्यंत जटिल और व्यय साध्य हो गये थे। यज्ञ आम व्यक्ति के वश के बाहर हो गये थे। इस काल में इन्द्र, वरूण एवं अग्नि देवताओं का महत्व कम हो गया था। अब सर्वश्रेष्ठ देवता 'प्रजापति' बन गया था। रुद्र की उपासना शिव के रूप में होने लगी थी। पूषण शूद्रों के देवता के रूप में प्रचलित था। उत्तर वैदिक कालीन साहित्यों में 14 प्रकार के पुरोहितों का वर्णन है। विष्णु को विश्व का पालनकर्ता मानकर पूजा किया जाता था। पुरुषार्थ का उद्देश्य व्यक्ति के भौतिक सुख एवं अध्यात्मिक मुखों के बीच संतुलन बनाना है। ये चार हैं- 1. धर्म 2. अर्थ 3. काम 4. मोक्ष। इस काल में राजा द्वारा विशाल धार्मिक अनुष्ठान किये जाने का उद्देश्य था समाज में भौतिक एवं अध्यात्मिक प्रभुता स्थापित करना। प्रारम्भिक देवता जो प्राकृतिक विशेषताओं के प्रतीक थे इनके गुणों को उत्तर वैदिक काल में धीरे-धीरे त्याग दिया गया। कृषि की रक्षा करने के लिए अस्विनों की पूजाय नया घर के लिए सावित्री की पूजा, बच्चे के सुरक्षित जन्म के लिए पूषण की पूजा, भूत-प्रेत भगाने के लिए सूर्य की पूजा की जाती थी यज्ञों में जटिलता आ जाने से एवं बलि प्रथा के विस्तार से ब्राह्मण धर्म के विरोध स्वरूप दर्शन में एक नये सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ जिसका मूर्तरूप उपनिषदों में दिखाई पड़ता है। उत्तर वैदिक कालीन साहित्य में स्वर्ग प्राप्ति के लक्ष्य को महत्व दिया गया है, और यज्ञों के आयोजन को इस लक्ष्य प्राप्ति का प्रमुख मार्ग बताया गया है, लेकिन उपनिषद के अनुसार स्वर्ग के सुख।

5 अंक के प्रश्न-

1. वैदिक धार्म की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
2. उपनिषद क्या हैं?
3. यज्ञ का महत्व स्पष्ट कीजिए।
4. ब्रह्म एवं आत्मा की अवधाारणा समझाइए।
5. वैदिक देवताओं का वर्णन कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. वैदिक धार्म का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. उपनिषदों के दार्शनिक विचारों का विश्लेषण कीजिए।
3. वैदिक यज्ञ परंपरा एवं उसके महत्व का अधययन कीजिए।
4. वैदिक धार्म एवं उपनिषद दर्शन की तुलना कीजिए।

MCQ

1. उपनिषदों को क्या कहा जाता है?

(क) स्मृति

(ख) वेदांत

(ग) पुराण

(घ) ब्राह्मण

उत्तर (ख)

2. इंद्र किसके देवता थे?

(क) जल

(ख) अग्नि

(ग) युद्ध एवं वर्षा

(घ) सूर्य

उत्तर (ग)

3. 'अहं ब्रह्मास्मि' का संबंधा किससे है?

(क) पुराण

(ख) उपनिषद

(ग) रामायण

(घ) महाभारत

उत्तर (ख)

4. यज्ञ किससे संबंधित था?

(क) व्यापार

(ख) धार्मिक अनुष्ठान

(ग) शिक्षा

(घ) युद्ध

उत्तर (ख) महत्वपूर्ण बिंदु-

- वैदिक धार्म प्रख्रति पूजा पर आधारित था।
- उपनिषद दार्शनिक ग्रंथ हैं।
- ब्रह्म एवं आत्मा की अवधारणा महत्वपूर्ण थी।
- यज्ञ धार्मिक जीवन का केंद्र था।

शब्दावली-

- ब्रह्म - परम सत्य
- आत्मा - जीव तत्व
- यज्ञ - धार्मिक अनुष्ठान
- उपनिषद - दार्शनिक ग्रंथ

इकाई-3.4 उपनिषदीय धर्म एवं विभिन्न शिक्षाएं

उद्देश्य-

1. वैदिक समाज की संरचना को समझना।
2. वैदिक अर्थव्यवस्था का अधययन करना।
3. महिलाओं एवं परिवार की स्थिति को जानना।

उपनिषद्, जो लगभग 800 ईसा पूर्व से 300 ईसा पूर्व के बीच रचित हुए, हिंदू दर्शन के मूलग्रंथ हैं। ये ग्रंथ वैदिक काल की कर्मकांड आधरित परंपराओं से आत्मनिरीक्षण और दार्शनिक चिंतन की ओर संक्रमण को चिह्नित करते हैं। इनमें ब्रह्म (परम सत्य) और आत्मा (व्यक्तिगत आत्म) जैसे प्रमुख दार्शनिक अवधारणाओं पर केंद्रित विमर्श मिलता है। उपनिषद् आत्मबोध, नैतिक जीवन और गुरु-शिष्य परंपरा के माध्यम से ज्ञान की खोज पर बल देते हैं।

उपनिषदों की धार्मिक संरचना

1. कर्मकांड से दर्शन की ओर

उपनिषदों में वैदिक युग की बाह्य अनुष्ठानिक परंपराओं से हटकर आंतरिक आध्यात्मिक अनुभव और आत्मचिंतन की प्रवृत्ति दिखाई देती है। ये ग्रंथ सृष्टि, आत्मा और ब्रह्म की वास्तविकता को गहराई से विश्लेषित करते हैं। इस दार्शनिक बदलाव ने अद्वैत वेदांत सहित विभिन्न हिन्दू दर्शन शास्त्रों की नींव रखी, जिसमें आत्मा और ब्रह्म की एकता पर बल दिया गया है।

अवधारणाएँ-

1. **ब्रह्म**- वह परम और अपरिवर्तनीय सत्य जो भौतिक जगत के परे है।
2. **आत्मा**- व्यक्ति का आंतरिक आत्म, जो अद्वैत वेदांत के अनुसार ब्रह्म के समरूप है।
3. **मोक्ष**- जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति, जो आत्मा और ब्रह्म के यथार्थ बोध द्वारा प्राप्त होती है।
4. **'तत्त्वमसि'**- यह महावाक्य है जिसका अर्थ है कृ 'वह तू है', जो आत्मा और ब्रह्म की एकता को दर्शाता है।

नैतिक जीवन

उपनिषद् एक सद्गुणपूर्ण जीवन की संस्तुति करते हैं, जिसमें सत्यनिष्ठा, आत्मसंयम, करुणा और तप जैसे गुणों को प्रमुखता दी गई है। उनका मत है कि नैतिक जीवन आध्यात्मिक उन्नति और मोक्ष प्राप्ति के लिए अनिवार्य है।

उपनिषदों में शैक्षिक दर्शन

गुरु-शिष्य परंपरा

उपनिषदिक काल में शिक्षा गुरु-शिष्य परंपरा के माध्यम से दी जाती थी, जिसमें विद्यार्थी अपने गुरु के आश्रम (गुरुकुल) में निवास कर शिक्षा ग्रहण करते थे। यह निकट संबंध वाला वातावरण विद्यार्थियों के आधयात्मिक, नैतिक और बौद्धिक विकास के लिए उपयुक्त था।

पाठ्यक्रम और शिक्षण पद्धति

पाठ्यविषय-

इसमें वेदों का अध्ययन, दर्शन, नीति, खगोलशास्त्र तथा विविध कलाएं और विज्ञान शामिल थे।

शिक्षण पद्धति-

संवाद, प्रश्नोत्तर, चिंतन और मनन पर विशेष बल दिया जाता था। प्रश्न उपनिषद जैसे ग्रंथों में शिष्य गूढ़ प्रश्न करते हैं

और गुरु उत्तर द्वारा उन्हें मार्गदर्शन देते हैं।

अनुशासन की भूमिका

विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य, तप, श्रद्धा जैसे नियमों का पालन करते हुए संयमित जीवन जीने की अपेक्षा की जाती थी। यह अनुशासन ज्ञानार्जन और आत्मविकास के लिए आवश्यक माना जाता था।

शिक्षा में समावेशिता

यद्यपि मुख्य रूप से पुरुषों को शिक्षा दी जाती थी, किंतु कुछ उपनिषदों में स्त्री ऋषियों और विचारशील महिलाओं का उल्लेख मिलता है। इससे यह संकेत मिलता है कि ज्ञान की खोज में स्त्रियाँ भी भाग लेती थीं और उपनिषदिक काल में शिक्षा में आंशिक समावेशिता थी।

उपनिषदों की विरासत और आधुनिक प्रासंगिकता

उपनिषदों का शैक्षिक ढाँचा जिसमें समग्र विकास, नैतिक जीवन और आत्मबोध पर बल है, आज के शैक्षिक दर्शन को भी प्रेरित करता है। नागपुर स्थित **'श्री वेदविद्यावर्धिनी गुरुकुलम्'** जैसे संस्थान इस प्राचीन प्रणाली को पुनर्जीवित करने का प्रयास कर रहे हैं, जो वैदिक शिक्षा को आधुनिक जीवन के साथ समन्वित करता है। ऐसे प्रयास यह दर्शाते हैं कि उपनिषदों की शिक्षाएँ आज भी शिक्षा और अध्यात्म के क्षेत्र में प्रासंगिक हैं।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि उपनिषद् ब्रह्मांड, आत्मा और मुक्ति के मार्ग के विषय में गहन अंतदृष्टि प्रदान करते हैं। आत्म-निरीक्षण, नैतिकता और गुरु-शिष्य संबंधों पर उनका जोर आज भी एक कालातीत शिक्षा प्रणाली की नींव रखता है। उपनिषदों के अधययन और उनके सिद्धांतों को आत्मसात करके व्यक्ति एक उद्देश्यपूर्ण, विवेकशील और शांतिपूर्ण जीवन की ओर अग्रसर हो सकता है।

5 अंक के प्रश्न-

1. वैदिक समाज की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
2. वैदिक काल में महिलाओं की स्थिति कैसी थी?
3. वैदिक अर्थव्यवस्था का आधाार क्या था?
4. परिवार व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
5. पशुपालन का महत्व स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. वैदिक समाज एवं परिवार व्यवस्था का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. वैदिक काल की आर्थिक व्यवस्था का विश्लेषण कीजिए।
3. वैदिक काल में महिलाओं की स्थिति का अधययन कीजिए।
4. कृषि एवं पशुपालन के महत्व का वर्णन कीजिए।

MCQ

1. वैदिक अर्थव्यवस्था का मुख्य आधाार क्या था?

(क) उद्योग

(ख) कृषि एवं पशुपालन

(ग) व्यापार

(घ) समुद्री व्यापार

उत्तर (ख)

2. वैदिक समाज की सबसे छोटी इकाई क्या थी?

(क) ग्राम

(ख) कुल

(ग) जन

(घ) राष्ट्र

उत्तर (ख)

3. वैदिक काल में गाय को किसका प्रतीक माना जाता था?

(क) युद्ध

(ख) समृद्धि

(ग) शिक्षा

(घ) धार्म

उत्तर (ख)

4. वैदिक काल में परिवार का मुखिया कौन होता था?

(क) माता

(ख) पुरोहित

(ग) पिता

(घ) राजा

उत्तर (ग)

महत्वपूर्ण बिंदु

- परिवार पितृसत्तात्मक था।
- ख्रषि एवं पशुपालन मुख्य व्यवसाय थे।
- महिलाओं को शिक्षा का अधिकार था।
- गाय समृद्धि का प्रतीक थी।

शब्दावली

- पितृसत्तात्मक - पिता प्रधाान व्यवस्था
- कुल - परिवार समूह
- पशुपालन - पशुओं का पालन
- समृद्धि - आर्थिक उन्नति

खण्ड- 4 छठीं शताब्दी ई.पू. से मौर्य काल तक का राजनीति इतिहास

उद्देश्य-

1. हर्यक वंश के उदय को समझना।
2. बिंबिसार एवं अजातशत्रु का अधययन करना।
3. मगधा साम्राज्य के विस्तार को जानना।

छठी शताब्दी ई.पू. की राजनीतिक स्थिति और मगध साम्राज्य का उदय-

छठीं शताब्दी ईसा पूर्व अथवा उत्तर वैदिक काल के अन्तिम चरण तक वैदिक जनों एवं उनकी संस्कृति का पूर्व में अंग तक तथा दक्षिण में विन्ध्य मेखला और कदाचित उसके नीचे भी आन्ध्र या गोदावरी क्षेत्र तक विस्तार हो चुका था। गंगा यमुना का दो-आब उनकी गतिविधियों का नया केन्द्र बन चुका था। इस विस्तार का सम्बन्ध आर्थिक स्थितियों में आये परिवर्तन से भी था। आर.एस. शर्मा के अनुसार प्रारम्भ में सिन्धु और गंगा के बीच के प्रदेश की उपरीली मिट्टी में सामान्य प्रस्तर अथवा ताम्रयुगीन औजारों से खेती करना सम्भव था, परन्तु गंगा के पूर्व में स्थित घने जंगलों को काट एवं साफकर कृषि योग्य बनाना तभी सम्भव हुआ होगा जब लोहे का कृषि औजारों के रूप में प्रयोग प्रारम्भ हुआ होगा। सामान्यरुप से भारत में लोहे के प्रयोग की सूचना 1000 ईसापूर्व से मिलने लगती है परन्तु प्रारम्भ में यह केवल युद्ध से सम्बन्धित अस्त्र-शस्त्रें के निर्माण तक सीमित रहा। सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व से लोहे के कृषि यन्त्रों के रूप में भी प्रयोग का पता चला है और इसके लिए लोहा बिहार में स्थित उन प्राचीनतम लौह क्षेत्रों से ही प्राप्त किया गया जान पड़ता है जहां तक वैदिक जनों का विस्तार उत्तर वैदिक काल के अन्तिम चरण तक हो चुका था। लोहे की कुल्हाड़ियां, फावड़े और हल का फाल भी बनाया गया जो गंगा यमुना व इसके इर्द-गिर्द क्षेत्रों से प्राप्त हुआ है। लोहे के प्रयोग ने ही क्षेत्र के निर्माण और फिर कृषि उत्पादन को त्वरितता प्रदान की जिसके फलस्वरुप इस क्षेत्र में अनेक मानव बस्तियों की की स्थापना हुई और और इसी ने अनेक व्यापारिक केन्द्रों व नगरों के विकास को भी प्रेरित किया। छठीं शताब्दी ईसा पूर्व में अधिकाँश नगर एवं जनपदों को इसी क्षेत्र में बसा हुआ देखा जा सकता है।

इस काल तक वैदिक जनों को दो प्रमुख घाराओं में बंटा हुआ पाते हैं। एक धारा ऐसे जनपदों की है जो मैदानी क्षेत्रों में स्थित हैं जिनमें प्रारम्भ से ही विकसित हो रही राजतन्त्रात्मक व्यवस्था पूर्णतया स्थापित दिखायी देती है। जनपद से तात्पर्य जहाँ जनों के पैर पड़े हैं से है। ये जनपद अब केवल प्रचीन वैदिक जनों के निवास क्षेत्रों जैसे ही नहीं रह गये थे बल्कि, उनमें अनेक वैदिकेतर लोग भी सम्मिलित थे जिनके साथ हो रहे सम्मिश्रण और समन्वय के फलस्वरूप एक विशेष प्रकार के वर्ण बिभाजित वैदिक समाज का विकास भी किया गया था। अतः छठीं शताब्दी ईसा पूर्व के इन जनपदों को महाजनपदों के रुप में देखा जाता है। इनमें से कुछ के नाम किसी वैदिक जन विशेष के नाम पर थे, यथा- कुरू, पाल्चाल आदि और कुछ के नाम क्षेत्र पर जैसे- मगध, कोसल अवन्ति आदि।

दूसरी धारा गणतन्त्रीय परम्परा के राज्यों की थी जो बहुत विस्तृत नहीं थे और इनमें से लगभग सभी पूर्व में हिमालय की पहाड़ियों और तराई क्षेत्रों में स्थित थे। केवल सुत्सुमारगिरि के भग्ग ही मिर्जापुर के पहाड़ी क्षेत्र में स्थित थे। इन राज्यों को गणराज्यों के रुप में जाना गया है जिनकी एक प्रमुख विशेषता यह थी कि यह सभी क्षत्रिय गण कहे गये हैं। इनमें चतुर्वर्षीय व्यवस्था का भी पूर्णतया विकास हुआ नहीं लगता। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने ऋग्वैदिक आर्यों की सामूहिक निर्णय पद्धति की परम्परा को ही बनाये रखने की इच्छा से अपने को ऐसे वैदिक जनों से अलग कर लिया था जो मैदानी क्षेत्रों में फैलते हुए अनेक आर्येतर लोगों को आत्मसात करने के लिए विवश हुये थे और जिन्होंने वर्ण व्यवस्था का विकास किया था।

बुद्ध कालीन गणराज्य-

बुद्ध कालीन गणराज्यों का विशेष परिचय बौद्ध त्रिपिटक साहित्य से मिलता है। बौद्ध और जैन दोनों ही धर्मों के प्रवर्तक गणराज्यों से ही सम्बन्धित थे। गण-राज्यों का कहीं एक साथ क्रमबद्ध उल्लेख नहीं हुआ है। रिज डेविड्स ने बौद्ध साहित्य के आधार पर कुल 10 गणराज्यों के अस्तित्व की बात कही है जो क्रमशः इस प्रकार हैं- कपिलवस्तु के शाक्य, रामगाम के कोलिय, पिप्पलीवन के मोरिय, पावा और कुशीनारा के मल्ल, केसपुत्त के कालाम, मिथिला के विदेह, अल्लकप्प के बुली तथा वैशाली के लिच्छवी। ये सभी पूर्वी भारत में ही स्थित थे जबकि पांचवी शताब्दी ईसा पूर्व के ग्रन्थ पाणिनी की अष्टाध्यायी में जिन अराजतन्त्रीय राज्यों का उल्लेख है वे सभी उस पश्चिमोत्तर क्षेत्र में स्थित थे जो चौथी शताब्दी ईसा पूर्व के अन्तिम चरण में सिकन्दर द्वारा आक्रान्त हुआ। इसीलिये सिकन्दर के साथ बाये यूनानी लेखकों द्वारा उल्लिखित राज्यों के नाम अष्टाध्यायी के नामों से मेल खाते

हैं, जैसे-अष्टाध्यायी के छुड़कों को यूनानी आक्सिड्रेकामी से मिलागा जाता है, इसी प्रकार मालबों को मेलोई से, अम्बष्ठों को अवस्तनोइयों से, हस्ति-नायनों को अष्टकेनोई से, शिवि को सिवाई से आश्वायन को अस्पतिओयी, आश्व-कायन को अस्सकेनाई आदि से मिलता जाता है। कुछ परवर्ती बौद्ध एवं जैन बन्यों से भी यह पता चलता है कि बुद्ध और महावीर के काल में भिन्न-भिन्न प्रकार की शासन पद्धतियां प्रचलित थीं। बौद्ध अवदानशतक में एक स्थान पर कहा गया है कि, उस काल में कुछ राज्य राजाओं के अधीन थे और कुछ गणों के। जैन आचारांगसूत्र से भी इस प्रकार की सूचनायें मिलती हैं। जहाँ तक बुद्ध काल का प्रश्न है हमारा सम्बन्ध पूर्वी गणराज्यों से ही है जो भग्गों को छोड़कर सभी पूर्वी हिमालय के पद तल में स्थित थे और जिनके राज्यों का आकार बहुत सीमित था। ये सभी क्षत्रिय गण कहलाते थे और सामान्य निष्कर्ष यही निकाला जा सकता है कि ये ऐसे प्राचीन आर्य जन थे जिन्होंने अपनी जातीय रक्तशुद्धता बनाये रखने के लिए आयेंतर जनों से समन्वय स्थापित नहीं किया था और अपने ही लोगों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध बनाये रखे थे। इसलिए इनमें चचेरे-ममेरे भाई बहनों के बीच विवाह का भी प्रचलन था। इनमें किसी अन्य वर्ण या वर्ग का निर्माण नहीं हुआ था और इनके सेवकों को केवल दासों के रूप में देखा जा सकता था जो सम्भवत: विजित आर्येतर जन रहे होंगे। इन्होंने पूर्ववैदिक काल की सामूहिक निर्णय पद्धति एवं ज्येष्ठ तथा गण परम्परा को अपनाया हुआ था और अन्य आर्य-जनों की राजतन्त्रीय पद्धति को स्वीकार नहीं किया था। बी.सी.ला का एक विचार यह भी है कि ये गणराज्य भी पहले राजतन्त्र रहे होंगे जिनमें राजाओं की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध विद्रोह हुआ होगा और गणराज्य की स्थापना की गई होगी। रमाशंकर त्रिपाठी ने उन्हें अराजक राज्य कहा है अर्थात् जहां राजाओं का शासन नहीं था। परन्तु उन्हें गणराज्य कहा जाना ही उचित होगा। बुद्धकालीन गणराज्यों के बारे में जो कतिपय सूचनायें मिलती है, वे इस प्रकार हैं-

कपिलवस्तु के शाक्य- गणराज्यों में शाक्यों का विशेष महत्व है क्योंकि गौतम बुद्ध इन्हीं में उत्पन्न हुए थे। शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु थी और उनका राज्य क्षेत्र उत्तर में नेपाल की तराई, पूर्व में रोहिणी नदी तथा दक्षिण-पश्चिम में सपिका या सई नदी निर्धारित करती थी। कपिलवस्तु को बस्ती जिले में पिपरहवा से 10 मील उत्तर पश्चिम आधुनिक तिलोराकोट से मिलाया जाता है। इनके अनेक नगर कहे गये हैं, इनमें नौ प्रमुख थे। इनके अस्सी हजार परिवारों का उल्लेख हुआ है जिससे इनकी जनसंख्या 5 लाख तक अनुमानित की जा सकती है। शाक्य। 16ोसल राज्य की उत्तरी सीमा पर थे और कहीं कहीं इनके उसके अधीन होने 15/27 सर्वस्वतन्त्र राज्य की स्थिति में होने का भी संकेत मिलता है। कोसल के राजवंश से भी ये सम्बन्धित थे और ये अपने को इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय ही मानते थे। बुद्ध के पिता शुद्धोदन इनके गण प्रमुख थे।

रामगाम के कोलीय

कोलीय शाक्यों के पूर्वी पड़ोसी थे और रोहिणी नदी इन दोनों की सीमा निर्धारित करती थी। शाक्यों और कोलियों में वैवाहिक संबंध भी थे और शत्रुता भी। इनका जातिनाम संयुक्त निकाय में व्याघवज्ज मिलता है। कोलियों की लाल टोपीघारी पुलिस का भी उल्लेख हुआ है।

पिप्पलीवन के मोरीय-

इनकी राजधानी पिप्पलीवन कुशी नगर से 50 मील पश्चिम स्थित थी। वी.सी.लॉ ने इन्हें शाक्यों की ही शाखा बताया है। मोरीय मौर्य वंश से सम्बन्धित किये गये हैं।

पावा के मल्ल-

पावा को कनिघन ने आधुनिक देवरिया के पडरौना गांव से मिलाया है। कुछ अन्य विद्वान इसे फजिलपुर से मिलाते हैं।

कुशीनारा के मल्ल-

कुशीनारा को आधुनिक कसिया से मिलाया जाता है जहाँ बुद्ध के महापरिनिर्वाण की मूर्ति प्राप्त हुयी है।

मिथिला के विदेह-

मिथिला को नेपाल में स्थित आधुनिक जनकपुर से मिलाया जाता है। उत्तर वैदिक काल में यहाँ राजा जनक के राजतन्त्र का पता चलता है।

अल्ल-कप्प के बुली-

इन्हें शाहाबाद एवं मुजफ्फरपुर जिले के बीच स्थित प्राचीन वेद्यद्वीप राज्य के समीप कहीं स्थित माना गया है।

केशपुत्त के कालाम-

शतपथ ब्राह्मण में कालामों और कैसियों के सम्बन्धा का उल्लेख हुआ है। वुद्ध के गुरु आलार कालाम इन्हीं से सम्बन्धि थे ।

सुम्सुमारगिरि के भग्ग-

ये भी प्राचीन जनजाति लगते हैं। अष्टाध्यायी, महाभारत एवं हरिवंश पुराण में वत्स एवं भग्ण का निकट सम्बन्ध बताया गया है। ये सम्भवत: वत्स महाजनपद के अन्तर्गत ही कहीं स्थिति थे जो एक मात्र ऐसे गण थे जो हिमालय से दूर स्थित थे। जायसवाल ने इन्हें मिर्जापुर की चतुदिक पहाड़ियों में स्थित माना है।

वैशाली के लिच्छवी-

बुद्ध कालीन गर्षो में लिच्छवी सबसे प्रधान गण मालूम पड़ते हैं। वैशाली को मुजफ्फरपुर जिले के आधुनिक बसाढ़ नामक स्थान से मिळाया जाता है। इनके 7707 राजाओं के संघ का उल्लेख हुआ है जिनका प्रमुख राजा चेटक था, जिसके नेतृत्व में लिच्छवियों एवं मगध के बीच लम्बा संघर्ष चला ।16 लिच्छवियों को वुज्जी महाजनपद के रूप में पोडश महाजनपदों में भी स्थान छड़ियों की व्यवस्था करने वाले एवं उनकी गिनती करने वाले मतगणना अधिकारी को सलाका गाहापक करते थे। बहुमत का निर्णय मान्य होता था और अधिक विवादास्पद विषयों को आज की ही तरह विशेष समितियों के विचारार्थ सौंपने की व्यवस्था थी। सभा में लिये गये निर्णयों को रिकार्ड भी किया जाता था ।

बुद्ध घोष से गणों की पुलिस एवं दण्ड व्यवस्था का भी कुछ संकेत मिलता है। वृज्जियों की न्याय-व्यवस्था आठ स्तरीय थी। अपील के लिये सबसे पहले विनिच्चय महामात्र या जज के पास लाया जाता था। आवश्यकता होने पर फिर क्रमश: प्राड्विवाक या वोहारिक, सूत्रधार अर्थात् कानून का पण्डित, अष्ठकुलका अर्थात आठ परिवारों का मुखिया, उपराजा और फिर राजा के पास अपील की जाती थी। संयुक्त निकाय में कोलीय गणों की पुलिस का भी उल्लेख हुआ है जो लाल टोपी धारण करती थी परन्तु भ्रष्ट मानी जाती थी।

महापरिनिब्बान सुत्तन्त में अजात्रशत्रु एवं बुद्ध के बीच हुये वार्तालाप से वृज्जिगणों के संगठन के गुण-दोषों का भी संकेत मिलता है। गणों का सबसे बड़ा गुण उनमें लोकतन्त्रीय व्यवस्था का होना तथा अपनी परम्पराओं एवं वृद्धों का आदर करना था। उनकी एकता उनकी शक्ति थी। परन्तु भतभेद होने पर यही उनकी दुर्बलता का कारण भी बनती थी। इसके अतिरिक्त किसी भी प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन की इच्छा वे नहीं कर सकते थे। सभी गण क्षत्रिय थे और समान थे, परन्तु शेष समुदाय उनके दासों या सेवकों की ही स्थिति में था। उन्होंने अन्य लोगों से अपने सम्बन्ध का समन्वय और अपना विस्तार नहीं किया या और यही कारण भी था कि उनके राज्य संकुचित रहे जो लम्बे समय तक साम्राज्यवादी शक्तियों का प्रतिरोध नहीं कर सके।

षोडष महाजनपद-

जहाँ एक ओर प्रारम्भिक आर्यजनों की रक्त शुद्धता एवं परम्पराओं को बनाए रखने के प्रयास में हिमालय की तराई या पहाड़ी क्षेत्रों तक सीमित गणराज्यों की स्थापना हुई थी वहीं दूसरी ओर गंगा-यमुना के मैदानी क्षेत्रों में बड़े-बड़े जनपदों का उदय हो रहा था जो कमश: अपना विस्तार करते हुये साम्राज्य के निर्माण की ओर उन्मुख थे। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तर निकाय में षोडष महाजनपदों या सोलह राज्यों की सूची मिलती है जो इस प्रकार है- अंग, मगध, काशी, कोसल, बुज्जि, मल्ल, वत्स, चेदि, कुरु, पान्बाल, मत्स्य, सुरसेन, अवन्ति, गान्धार और: कम्बोज।

इनमें से अधिकांश राजतन्त्र थे और कुछ गणों के महासंघ। एक अन्य महत्व-पूर्ण बात यह थी कि इनमें से अधिकांश गंगा-यमुना के मैदानी क्षेत्र अथवा आधुनिक उत्तर प्रदेश और बिहार में स्थित थे और कुछ उन क्षेत्रों में जो वैदिक आर्यों के पूर्व की और प्रसार के पहले तक उनके निवास क्षेत्र रहे थे। एक अन्य विशेषता यह थी कि इन्हें अभी राज्य न कहकर महाजनपद कहा जा रहा था जो कदाचित इस बात का परिचायक था कि ये भिन्न-भिन्न जन-विशेष के विस्तृत निवास क्षेत्र थे जिनमें उनके अतिरिक्त अन्य लोग भी सम्मिलित थे। इन महाजनपदों में से अधिकांश का नाम किसी जन-विशेष के नाम पर था और कुछ का स्थान-विशेष के नाम पर। यह ध्यान देने योग्य है कि स्थान-विशेष के नाम से परिचित महाजनपद ही आगे चलकर प्रभावी राजनीतिक शक्ति के रूप में बने रहे जिनमें मगध सर्वविजेता सिद्ध हुआ। इन महाजनपदों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

अंग-

महाजनपदों में अंग सबसे पूर्वी राज्य था, जो आधुनिक भागलपुर और मुंगेर (मोगयार) जिले के बीच फैला हुआ था। चम्पा इसकी राजधानी थी जो इसी नाम की नदी और गंगा के संगम पर स्थित थी। बंगाल की ओर जाने वाले नदी मार्ग पर स्थित सबसे पूर्वी द्वार होने के कारण यह आर्थिक सम्पन्नता का क्षेत्र बना। महाभारत में अंग का राजा कर्ण को बनाया गया मिलता है। जातकों में अंग के राजाओं के रूप में ब्रह्मदत्तों का उल्लेख हुआ है।

मगध-

मगध आधुनिक पटना और गया के बीच फैला हुआ था। गिरिव्रज इसकी राजधानी थी। बुद्ध के समकालीन यहाँ हर्यक वंश के राजा बिम्बिसार और फिर उसके पुत्र अजातशत्रु का शासन रहा। महाभारत में मगध के प्राचीन राजाओं के रूप में वृहद्रथ और जरासंध का उल्लेख हुआ है। मगध ने ही आगे चलकर लाम्राज्य की स्थापना की।

काशी-

यह आधुनिक वाराणसी और उसके आस-पास के क्षेत्रें में फैला हुआ जनपद था। बुद्ध के काल में इसके किसी विशेष राजनीतिक महत्व का पता नहीं चलता। जातकों में काशी के राजाओं को ब्रह्मदत्त बताया गया है।

कोसल-

यह काशी के उत्तर पश्चिम गण्डक और सई नदियों से घिरा हुआ महाजनपद था, जिसकी उत्तरी सीमा नेपाल की तराई तक विस्तृत थी, और पश्चिमी सीमा पांचाल महाजनपद की सीमा को छूती थी। श्रावस्ती, अयोध्या और साकेत इसके प्रमुख नगर बताये गये हैं। माकेत को आधुनिक गोण्डा में सहेत- महेत नामक स्थान से मिलाया जाता है। सम्भवत: यह जनपद दो भागों में बंटा हुआ था, क्योंकि उत्तरी कोसल की राजधानी श्रावस्ती थी और दक्षिणी कोसल की कुशावती। यहाँ इच्छ्वाकुवंशीय राजाओं का शासन था और बुद्ध के समकालीन यहाँ प्रसिद्ध राजा प्रसेनजित के राज्य करने का पता चलता है।

वृज्जि या बज्जि यह सम्भवत: आठ या नौ गणों का महासंघ था जिसका महाजनपदों में उल्लेख हुआ है। इनमें विदेह, लिच्छवी, ज्ञात्रिक क्षत्रिय, एवं वृज्जि सम्मिलित थे। इनका केन्द्र भी लिच्छवियों की राजधानी वैशाली ही था। कुछ विद्वानों के अनुसार यह प्रारम्भ में राजतन्त्र था ।

मल्ल-

पावा और कुशिनारा के मल्लों को संयुक्त रूप से महाजनपदों में सम्मिलित किया गया है, जो मूलत: गणराज्य थे।

चेदि-

यह महाजनपद आधुनिक बुन्देलखन्ड में स्थित था, जिसकी राजधानी 'शुक्तमती' या 'सोत्यवती' थी। सम्भवत: मत्स्य पर भी चेदि राजाओं का अधिाकार था, और इन्हीं की एक शाखा बाद में कलिंग भी गयी।

वत्स-

यह आधुनिक इलाहाबाद और प्रतापगढ़ के इर्द-गिर्द फैला हुआ था। कौशाम्बी इसकी राजधानी थी और इसका राजा उदयन अनेक कथाओं का नायक बना।

कुरु-

यह आधुनिक दिल्ली या प्राचीन इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुर में फैला हुआ प्राचीन जनपद था, जिसका उल्लेख महाभारत में हुआ है। बुद्ध के समका लीन यहां 'कौरव्य' नामक राजा का उल्लेख हुआ है। इसके गणराज्यीय स्वरूप का भी आभास मिलता है।

पान्चाल-

यह आधुनिक रुहेलखण्ड में स्थित कुरू और कोसल के बीच का राज्य था। इसके भी उत्तरी और दक्षिणी दो भागों का पता चलता है। उत्तर की राजधानी अहिश्क्षत्र और दक्षिण की काम्पिल्य बताई गई है।

मत्स्य- मत्स्य को आधुनिक जयपुर के आस-सास के क्षेत्र में स्थित महाजनपद के रुप में बताया गया है जिसकी राजधानी विराटनगर जयपुर से मिलायी जाती है। इसका संस्थापक राजा विराट था। महाभारत में भी इसका उल्लेख हुआ है। मस्त्यों एवं सूरसेनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पता चलता है।

सूरसेन-

सूरसेन दिल्ली के दक्षिण-पूरब में स्थित थे जिनकी राजधानी मधुरा या मदुरा वतायी गयी है। यहाँ अवन्ति पुत्र नामक राजा का उल्लेख हुआ है।

अवन्ति-

यह मध्य भारत का प्रमुख जनपद या जिसकी उत्तरी व दक्षिणी वो राजधानियाँ थीं, जिन्हें क्रमश: उज्जैन तथा महिष्मती बताया गया है। बुद्ध के समकालीन यहां है, वंश के राजा चण्डप्रद्योत के शासन का पता चलता है।

अश्मक या अस्सक-

ये सामान्य रूप से नर्मदा के दक्षिण अथवा विन्ध्य पर्वत श्रृंखला के दक्षिण में स्थित एकमात्र दक्षिणी महाजनपद था। इसे आधुनिक गोदावरी जिले में स्थिति माना जाता है। फिर भी अश्मकों की भौगोलिक स्थिति बहुत स्पष्ट नहीं है। बहुत से विद्वान

इसे प्रारम्भ में उत्तर-पश्चिम भारत अथवा नर्मदा के ऊपर मध्य भारत में स्थित मानते हैं जो बाद में दक्षिणी महाजनपद के रूप में दिखाई देता है।

गान्धार-

इसे पूर्वी अफगानिस्तान और पाकिस्तान में रावलपिण्डी जिले के बीच स्थित माना गया है, जिसकी राजतानी 'तक्षशिला' थी।

कम्बोज-

कम्बोज को पाकिस्तान में आधुनिक हजारा जिला में स्थित बताया गया है। इस प्रकार गान्धार और कम्बोज उत्तर पश्चिम में स्थित महाजनपद थे।

मगध का उदय और साम्राज्य का निर्माण

छठी शताब्दी ईसा पूर्व तक राजतन्त्रीय एवं गण-तन्त्रीय दोनों ही प्रकार की शक्तियां अस्तित्व में थीं। जहां एक ओर गणराज्यों की सीमायें अत्यन्त संकुचित थी वहीं राजतन्त्रों के अधीन राज्यों का विस्तार हो रहा था। यह राज्य प्रमुख रुप से गंगा-यमुना के उस मैदानी क्षेत्र में फैल रहे थे जिसे मानव के निवास के सबसे सुगम क्षेत्र के रूप में जल्दी ही विकसित किया गया था। इसका सम्बन्ध लोहे के औजारों के रुप में प्रयोग और जंगलों की कटाई और स्फाई से था जिसके फलस्वरुप कृषि उत्पादक क्षेत्रें का निर्माण हुआ और अतिरिक्त उत्पादन ने मनुष्य को विभिन्न प्रकार की आर्थिक गतिविधियों की ओर अभिप्रेरित किया। इस क्षेत्र में बहने वाली अनेक जल-धाराओं ने आवागमन को सुगम बनाया और देखते ही देखते यह सम्पूर्ण क्षेत्र संस्कृति, सभ्यता और राजनीति का सबसे सक्रिय क्षेत्र बन गया।

इकाई-4.1 हर्यंक वंश

हर्यंक वंश की स्थापना बिम्बिसार ने की थी, जो बृहद्रथ और प्रद्योत वंशों के बाद सत्ता में आए। बिम्बिसार ने युवावस्था में ही सिंहासन ग्रहण किया और सैन्य विजय एवं रणनीतिक गठबंधनों पर आधारित नीतियाँ अपनाई। उनके शासनकाल में अंग राज्य का विलय और पड़ोसी राज्यों के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित किए गए, जिससे मगध की क्षेत्रीय स्थिति सुदृढ़ हुई।

राजनीतिक एवं प्रशासनिक ढाँचा-

हर्यंक शासकों ने एक केंद्रीकृत राजतंत्र स्थापित किया। प्रशासनिक भूमिकाएँ स्पष्ट थींकृग्रामक गाँवों की देखरेख करते थे जबकि महामात्र कार्यपालिका, न्याय और सैन्य कार्यों का संचालन करते थे। इस प्रकार की संरचित शासन व्यवस्था ने मगधा के विस्तारशील साम्राज्य पर प्रभावी नियंत्रण को संभव बनाया।

बिम्बिसार

बिम्बिसार हर्यंक वंश के संस्थापक प्राचीन भारतीय इतिहास के एक प्रभावशाली शासक माने जाते हैं। उन्होंने लगभग 544 ई.पू. में केवल पंद्रह वर्ष की आयु में मगध का सिंहासन संभाला और उत्तर भारत में मगध को एक प्रमुख शक्ति में परिवर्तित कर दिया। उनकी विजय केवल सैन्य क्षेत्र में नहीं थी, बल्कि उसमें कूटनीतिक स्फलता, प्रशासनिक सुधार, और धार्मिक संरक्षण जैसे तत्व भी शामिल थे, जिनका भारतीय इतिहास पर दीर्घकालीन प्रभाव पड़ा।

मगध का रणनीतिक विस्तार-

1. अंग पर विजय-

बिम्बिसार की सबसे प्रमुख सैन्य उपलब्धियों में अंग राज्य की विजय थी, जो मगध के पूर्व में स्थित था और जिसकी राजधानी चम्पा एक प्रमुख व्यापारिक केंद्र थी। बिम्बिसार के पिता को अंग के राजा ब्रह्मदत्त के हाथों पराजय मिली थी, जिससे यह युद्ध व्यक्तिगत और राजनीतिक प्रतिशोध का रूप भी रखता था। बिम्बिसार ने सफल सैन्य अभियान चलाकर ब्रह्मदत्त को पराजित किया और अंग को मगध में मिला लिया। चम्पा को मगध की पूर्वी प्रशासकीय राजधानी बनाया गया। परिणामस्वरूप बिम्बिसार की शक्ति को महाजनपदों में मान्यता मिली। अंग की समृद्धि से मगध की अर्थव्यवस्था सशक्त हुई। गंगा डेल्टा के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का मार्ग प्रशस्त हुआ।

2. वैवाहिक गठबंधनों द्वारा कूटनीतिक सफलता-

बिम्बिसार केवल पराक्रमी सेनानायक नहीं थे, वे कुशल राजनयिक भी थे। उन्होंने वैवाहिक संबंधों का उपयोग युद्ध के बिना साम्राज्य विस्तार हेतु किया।

3. कोशल की राजकुमारी से विवाह

बिम्बिसार ने कोशल के राजा प्रसेनजित की बहन से विवाह किया। दहेज में काशी का क्षेत्र मिला, जो अत्यंत उपजाऊ और आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था। कोशल से युद्ध की संभावना समाप्त हुई। काशी के कारण मगध की कृषि और सांस्कृतिक समृद्धि में वृद्धि हुई।

4. लिच्छवी राजकुमारी से विवाह

यह संबंध वैशाली केंद्रित वज्जि संघ के साथ कूटनीतिक संबंध स्थापित करने हेतु था।

5. मद्र देश की राजकुमारी से विवाह

उत्तर-पश्चिम भारत में मद्र राज्य से यह संबंध राजनैतिक संतुलन हेतु था।

7. प्रशासनिक और राजनीतिक उपलब्धियाँ-

बिम्बिसार ने संगठित प्रशासनिक व्यवस्था लागू की। प्रांतीय प्रशासकों (अमात्य) की नियुक्ति की गई। कर संग्रह और कानून व्यवस्था के लिए नौकरशाही को सुव्यवस्थित किया गया। व्यापार और संचार हेतु सड़कें और बुनियादी ढांचे विकसित किए गए।

8. धार्मिक नीति-

बिम्बिसार ने धार्मिक नेताओं जैसे गौतम बुद्ध और महावीर को संरक्षण दिया, जिससे उन्हें एक धर्मनिष्ठ शासक के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। उसने बौद्ध धर्म का समर्थन किया और बिम्बिसार ने स्वयं बुद्ध से भेंट की और उन्हें राजकीय संरक्षण प्रदान किया। उन्होंने राजगृह के समीप वेणुवन (बाँसों का उपवन) बौद्ध संघ को दान में दिया। इसके साथ ही जैन धर्म का भी समर्थन

किया। बिम्बिसार महावीर के संपर्क में भी आए। उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता को प्रोत्साहित किया और दोनों धर्मों के प्रसार में सहयोग किया। इस नीति के परिणामस्वरूप बिम्बिसार को जनता का विश्वास प्राप्त हुआ साथ ही धर्म का उपयोग राज्य की नैतिक नींव को मजबूत करने हेतु किया गया।

9. आंतरिक शांति और सुरक्षा-

बिम्बिसार ने आंतरिक विद्रोहों को रोकने हेतु कुशल प्रशासन और सेनात्मक ताकत का प्रयोग किया। उनके शासन में मगध राजनीतिक रूप से स्थिर और आर्थिक रूप से समृद्ध रहा।

10. विदेशी व्यापार-

मगध की भौगोलिक स्थिति और अंग की विजय के बाद, व्यापार मार्गों को सुरक्षित किया गया। पश्चिम, पूर्व, दक्षिण भारत और संभवत: विदेशों तक व्यापार संपर्क विकसित हुए।

बिम्बिसार का शासन सैन्य विजय, कूटनीतिक कौशल और सुव्यवस्थित शासन व्यवस्था का अद्भुत संगम था। उन्होंने न केवल क्षेत्रेय विस्तार किया, बल्कि स्थायी सांस्कृतिक और धार्मिक प्रभाव भी छोड़ा। वे केवल एक विजेता ही नहीं थे, बल्कि एक दूरदर्शी शासक थे जिन्होंने सत्ता की जटिलताओं को समझा और उन्हें सफलता पूर्वक अपनाया। उनका शासन इस बात का प्रमाण है कि युद्ध, राजनीति और धर्म के संतुलन से एक सशक्त और स्थायी राज्य की स्थापना संभव है।

अजातशत्रु

अजातशत्रु, बिंबिसार का पुत्र और हर्यंक वंश का एक शक्तिशाली शासक था, जिसने पाँचवीं शताब्दी ईसा-पूर्व में मगध साम्राज्य पर शासन किया। उसका शासनकाल अनेक महत्वपूर्ण सैन्य विजयों, विस्तारवादी नीतियों और प्रशासनिक सुधारों से परिपूर्ण था, जिसने मगध को प्राचीन भारत का सर्वाधिक प्रभावशाली महाजनपद बनने में सहायता की। यद्यपि उसका सिंहासनारोहण पितृहत्यावाद से कलंकित था, फिर भी अजातशत्रु का शासनकाल मगध की राजनीतिक शक्ति के शिखर का प्रतिनिधित्व करता है, जो बाद में नंद और मौर्य राजवंशों के उत्थान के लिए आधार बना। यह लेख अजातशत्रु की प्रमुख विजयों का अध्ययन करता है, विशेषकर उसके युद्धों, कूटनीति, युद्धक तकनीकी नवाचारों और स्थायी विरासत पर केंद्रित है।

सिंहासनारोहण-

अजातशत्रु ने लगभग 492 ईसा-पूर्व में विवादास्पद परिस्थितियों में मगधा के सिंहासन पर अधिकार किया। ऐतिहासिक विवरण, विशेषकर बौद्ध ग्रंथों में उल्लेख है कि उसने अपने पिता बिंबिसार को बंदी बनाकर या उनकी हत्या कर सत्ता प्राप्त की। इस अंधकारमय प्रारंभ के बावजूद, अजातशत्रु एक महत्वाकांक्षी और प्रभावी शासक सिद्ध हुआ। उसे बिंबिसार द्वारा सुदृढ़ किया गया राज्य उत्तराधिकार में मिला था, जिसे वह और भी विस्तृत करना चाहता था।

अजातशत्रु की उपलब्धियाँ-

1. लिच्छवियों और वज्जि संघ पर विजय-

अजातशत्रु के शासनकाल की सबसे महत्वपूर्ण और दीर्घकालिक सैन्य घटनाओं में लिच्छवियों के विरुद्ध युद्ध था, जो वैशाली स्थित शक्तिशाली वज्जि गणराज्य का अंग थे। यह युद्ध राजनीतिक और रणनीतिक दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण था। अजातशत्रु वैशाली सहित वज्जि प्रदेश को मगध के अधीन लाना चाहता था। वज्जि संघ गणराज्य प्रणाली पर आधारित था, जबकि मगध एक राजशाही राज्य था। यह शासन प्रणालियों का टकराव था। इसके अतिरिक्त बौद्ध ग्रंथों के अनुसार, अजातशत्रु वज्जियों को अपने राजनीतिक शत्रुओं का संरक्षक मानता था।

रणनीति और गुप्तचरी-

वज्जि संघ की शक्ति उसकी एकता और लोकतांत्रिक प्रणाली में थी। सीधे सैन्य संघर्ष से सफलता नहीं मिली, इसलिए अजातशत्रु ने विभाजन और असंतोष फैलाने की नीति अपनाई। बौद्ध ग्रंथ महापरिनिब्बान सुत्त के अनुसार, उसके मंत्री वस्सकार को वैशाली भेजा गया ताकि वह वज्जियों में फूट डाल सके।

युद्धक तकनीकी नवाचार

अजातशत्रु ने युद्ध में नवीन तकनीकें अपनाईं रथमुसल (कांटेदार रथ) ऐसे रथ जिनमें घूमने वाले फलक होते थे जो शत्रु सेना को भारी क्षति पहुँचा सकते थे। महाशिलाकंटक (गोलाभिक्षेपक)पत्थर फेंकने वाली यंत्र जो दुर्गों को तोड़ सकती थी। लगभग 16 वर्षों के लंबे युद्ध के बाद अजातशत्रु ने वज्जि संघ को पराजित किया और उसका क्षेत्र मगध में मिला लिया। वैशाली सहित

उत्तर बिहार का उपजाऊ और समृद्ध प्रदेश अब मगध के अधीन था।

2. काशी पर विजय और कोशल से संघर्ष–

अजातशत्रु के शासन का एक अन्य उल्लेखनीय पहलू कोशल राज्य के साथ संघर्ष था। काशी जो बिंबिसार को दहेज में मिला था, अजातशत्रु के शासनकाल में खो गया। अजातशत्रु और कोशल के राजा प्रसेनजीत के बीच युद्ध हुआ। अंततः संधि हुई, और प्रसेनजीत ने न केवल काशी लौटाई, बल्कि अतिरिक्त उपहार भी भेजे। इसके साथ ही अपनी पुत्री वजिरा का विवाह अजातशत्रु से किया। यह एक कूटनीतिक सफलता थी, जिससे मगध और कोशल के संबंध पुनः सुदृढ़ हुए और काशी को स्थायी रूप से मगध में मिला लिया गया।

3. मगध साम्राज्य का विस्तार–

अजातशत्रु की सैन्य और कूटनीतिक सफलताओं से मगध का भौगोलिक और राजनीतिक विस्तार हुआ। राजधानी राजगृह से उसका साम्राज्य अब उत्तर बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश और बंगाल के कुछ भागों तक फैल गया। कौशल और वज्जियों के अधीन आने से शत्रु राज्यों की घेराबंदी हो गई और महत्वपूर्ण व्यापार मार्ग सुरक्षित हुए। ये विजय भविष्य में नंद और मौर्य साम्राज्य की नींव बन गई।

4. धार्मिक संरक्षण और सांस्कृतिक प्रभाव–

अपने प्रारंभिक निर्दय आचरण के बावजूद अजातशत्रु ने धार्मिक आन्दोलनों का समर्थन किया। वह गौतम बुद्ध का समकालीन था और उससे कई बार मिला। बौद्ध ग्रंथों में उसे बौद्ध धर्म का संरक्षक कहा गया है। उसने जैन धर्म के तीर्थंकर महावीर का भी समर्थन किया। उसने बौद्ध संघ को राजगृह के पास वेणुवन (बांस उपवन) भूमि दान की। इस धार्मिक संरक्षण से उसकी एक धर्मनिष्ठ और सांस्कृतिक दृष्टि रखने वाले शासक की छवि बनी, जिससे जनता का विश्वास और अन्य शासकों का सम्मान प्राप्त हुआ।

5. प्रशासनिक सुधार–

अजातशत्रु ने बिंबिसार द्वारा स्थापित केंद्रीकृत प्रशासन को और सशक्त किया। वज्जि युद्ध के बाद विद्रोह की संभावना को नियंत्रित करने हेतु आंतरिक सुरक्षा को मजबूत किया। नवनियुक्त क्षेत्रें में अधिकारियों (अमात्य) की नियुक्ति की। शहरी विकास को बढ़ावा दिया कृ पाटलिग्राम (बाद में पाटलिपुत्र) का विकास अजातशत्रु के शासनकाल में प्रारंभ हुआ, जो मौर्यों के अधीन राजधानी बना।

अजातशत्रु का शासन प्राचीन भारत के इतिहास में एक निर्णायक मोड़ था। सैन्य दृष्टि से उसने मगध को सबसे शक्तिशाली महाजनपद बना दिया। राजनीतिक रूप से गणराज्यों और शत्रु राज्यों को पराजित कर शासन का केंद्रीकरण किया। प्रशासनिक रूप से एक संगठित शासन प्रणाली का निर्माण किया जो आगे की राजवंशों द्वारा अपनाई गई। सांस्कृतिक रूप से धार्मिक विचारों और आंदोलन को संरक्षण देकर भारत की दार्शनिक परंपरा को सुदृढ़ किया। अजातशत्रु की विजयों की परिभाषा केवल युद्ध में नहीं थी, बल्कि वह कूटनीति, वैचारिक श्रेष्ठता, प्रशासनिक दूरदर्शिता और धार्मिक सहिष्णुता में भी परिलक्षित होती है। वज्जि संघ की पराजय ने गणराज्य की शक्ति को समाप्त कर दिया और राजशाही को निर्णायक रूप से स्थापित किया। अजातशत्रु ने युद्ध, राजनीति और शासन की समरसता से एक साम्राज्य की नींव रखी। उसका शासन मौर्य साम्राज्य की ओर जाने वाली यात्र का पहला और ठोस कदम था। वह भारतीय इतिहास में महत्वाकांक्षा, नवाचार और साम्राज्य निर्माण का प्रतीक बन गया।

5 अंक के प्रश्न–

1. हर्यक वंश का संस्थापक कौन था?
2. बिंबिसार की उपलब्धियाँ बताइए।
3. अजातशत्रु का परिचय दीजिए।
4. मगधा के उत्थान के कारण लिखिए।
5. हर्यक वंश का ऐतिहासिक महत्व बताइए।

15 अंक के प्रश्न–

1. हर्यक वंश का विस्तृत इतिहास लिखिए।
2. बिंबिसार एवं अजातशत्रु की उपलब्धियों की तुलना कीजिए।
3. मगधा साम्राज्य के उत्थान के कारणों का विश्लेषण कीजिए।
4. हर्यक वंश की प्रशासनिक व्यवस्था का वर्णन कीजिए।

MCQ

1. हर्यक वंश का संस्थापक कौन था?

(क) अजातशत्रु

(ख) बिंबिसार

(ग) महापद्मनंद

(घ) चंद्रगुप्त

उत्तर (ख)

2.अजातशत्रु किसका पुत्र था?

(क) अशोक

(ख) बिंबिसार

(ग) धानानंद

(घ) चंद्रगुप्त

उत्तररू (ख)

3. मगधा की राजधाानी क्या थी?

(क) वैशाली

(ख) पाटलिपुत्र

(ग) उज्जैन

(घ) तक्षशिला

उत्तर (ख)

4. हर्यक वंश किस राज्य से संबंधित था?

(क) कोशल

(ख) मगधा

(ग) अवंति

(घ) गांधाार

उत्तर (ख)

महत्वपूर्ण बिंदु -

- मगधा एक शद्रिशाली राज्य बना।
- बिंबिसार कुशल शासक था।
- अजातशत्रुने विस्तार नीति अपनाई।
- पाटलिपुत्र महत्वपूर्ण राजधाानी बनी।

शब्दावली-

- मगधा - प्राचीन राज्य
- साम्राज्य - विस्तृत राज्य
- राजधाानी - शासन केंद्र
- विस्तार - राज्य वृद्धि

इकाई-4.2 नंद वंश का राजनीतिक इतिहास (लगभग 344-322 ईसा पूर्व)

उद्देश्य-

1. नंद वंश के उदय को समझना।
2. महापद्मनंद की उपलब्धियाँ जानना।
3. नंद प्रशासन एवं आर्थिक शक्ति का अधययन करना।

नंद वंश प्राचीन भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण कड़ी है, जो हर्यक-शिशुनाग शासन और मौर्य साम्राज्य की स्थापना के मध्य एक संक्रमणकालीन चरण के रूप में कार्य करता है। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में विकसित हुआ यह वंश मगध पर शासन करता था और इसने इसकी सीमाओं का अभूतपूर्व विस्तार किया, जिससे भारत के एक महानतम साम्राज्य की नींव पड़ी। यह लेख नंद वंश के राजनीतिक इतिहास का अध्ययन करता है, जिसमें इसके उद्गम, प्रशासनिक व्यवस्था, विस्तार, सैन्य शक्ति, समकालीन शक्तियों से संबंध और अंततः इसके पतन को सम्मिलित किया गया है।

उत्पत्ति-

नंद वंश की स्थापना लगभग 344 ईसा पूर्व में महापद्मनंद द्वारा मानी जाती है, जो शिशुनाग वंश के अंत के पश्चात् हुई। पुराणों, बौद्ध ग्रंथों और यूनानी इतिहासकारों (विशेष रूप से मेगस्थनीज और डियोडोरस सिकुलस) के विवरण इस वंश की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न और कभी-कभी परस्पर विरोधी मत प्रस्तुत करते हैं।

महापद्मनंद-

पुराणों के अनुसार, महापद्मनंद एक शूद्र महिला और नाई (या निम्न कुल अधिकारी) का पुत्र था, जिससे यह परंपरागत क्षत्रिय शासकों से एक भिन्नता का परिचय देता है। अपने निम्न कुल के बावजूद, महापद्मनंद ने शासनिक प्रणाली में प्रगति कर एक शक्तिशाली सम्राट के रूप में उदय किया। उन्होंने अंतिम शिशुनाग शासक को अपदस्थ कर एक केंद्रीकृत शासन की शुरुआत की। उनका शासन वैदिक सामाजिक पदानुक्रम के स्थान पर सैन्य क्षमता और आर्थिक प्रभुत्व पर आधारित वंशात्मक शासन की ओर एक संक्रमण को चिह्नित करता है।

केंद्रीयकृत शासन की स्थापना-

नंद वंश ने एक नए प्रकार के केंद्रीकृत नौकरशाही और निरंकुश राजतंत्र की स्थाप. ना की। महापद्मनंद ने स्वयं को 'एकरत' अर्थात् एकमात्र सार्वभौम के रूप में प्रतिष्ठित किया, जो सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप को एक राज्य के अधीन लाने की उनकी महत्वाकांक्षा को दर्शाता है। नंदों ने एक सुव्यवस्थित प्रशासनिक तंत्र का निर्माण किया। राजा द्वारा प्रत्यक्ष नियुक्त वफादार अधिकारियों की एक केंद्रीकृत नौकरशाही का गठन हुआ। पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) को प्रशासन का प्रमुख केन्द्र बनाया गया। कर व्यवस्था संगठित और कठोर थी, जिससे राज्य को अपार संपत्ति प्राप्त होती थी। ऐतिहासिक स्रोतों से ज्ञात होता है कि नंदों के पास एक विस्तृत गुप्तचर व्यवस्था थी, जिससे वे अपने विस्तृत क्षेत्रों पर कड़ा नियंत्रण रख पाते थे।

साम्राज्य विस्तार-

नंदों ने विशाल सैन्य शक्ति का निर्माण किया और पूर्ववर्ती वंशों की तुलना में कहीं अधिक भू-क्षेत्र पर अधिकार स्थापित किया। यूनानी विवरणों में उल्लेख है कि नंदों के पास 2,00,000 पैदल सैनिक, 20,000 घुड़सवार, 2,000 युद्ध रथ, 3,000 युद्ध हाथी थे। यह संभवतः उस काल की सबसे बड़ी स्थायी सेना थी।

विजयाभियान-

महापद्मनंद ने कई क्षत्रिय राजाओं को परास्त किया। पुराणों में आठ वंशों को उखाड़ फेंकने का वर्णन है, जो उनके व्यापक अभियान की पुष्टि करता है। उनके शासन के अधीन क्षेत्रीय विस्तार में सम्मिलित थे। वर्तमान बिहार, बंगाल और उत्तर प्रदेश के भाग, उड़ीसा और मध्य प्रदेश के भाग, संभवतः दक्षिण भारत तक भी विस्तार किया। इन सैन्य अभियानों का उद्देश्य केवल विजय नहीं, अपितु स्थानीय स्वायत्तता को समाप्त कर, उन्हें मगध की केंद्रीय व्यवस्था में समाहित करना था।

समकालीन शासकों के साथ सम्बन्ध-

नंदों के शासनकाल में मगध की शक्ति सम्पूर्ण उपमहाद्वीप में प्रभावी थी, परंतु उनके आक्रामक विस्तारवाद ने अन्य शक्तियों के साथ तनाव उत्पन्न किया। नंद शासन के उत्तरार्ध में भारत के उत्तर-पश्चिम से बाह्य आक्रमण हुए। सिकंदर ने 327 ईसा पूर्व में

भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग पर आक्रमण किया। यद्यपि वह मगध तक नहीं पहुँचा, उसकी सेना का बीस नदी के पास रुक जाना।

नंद वंश का पतन-

अपनी अपार संपत्ति और शक्ति के बावजूद, नंद वंश शीघ्र ही आंतरिक विद्रोह और असंतोष के कारण पतित हो गया। अंतिम नंद शासक, विशेष रूप से धनानंद, को अत्याचारी और लालची कहा गया है। अधिक कराधन और निरंकुश शासन से जन असंतोष फैला। क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्ग से उनके अपमानजनक व्यवहार ने प्रभावशाली वर्गों को दूर कर दिया। चंद्रग. ुप्त मौर्य का उदय, नंदों के दरबार में क्रांति के बीज बोए गए। चाणक्य (कौटिल्य), एक ब्राह्मण और रणनीतिकार, को धनानंद द्वारा अपमानित किया गया। चाणक्य ने प्रतिशोध की शपथ ली और चंद्रगुप्त मौर्य को एक न्यायप्रिय शासक के रूप में प्रतिष्ठित किया। चाणक्य के मार्गदर्शन में चंद्रगुप्त ने असंतुष्ट तत्वों को संगठित कर पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया। लंबी संघर्ष के बाद, चंद्रगुप्त ने 322 ईसा पूर्व में धनानंद को परास्त कर मौर्य साम्राज्य की स्थापना की।

नंद वंश का राजनीतिक इतिहास, यद्यपि मौर्य साम्राज्य की भव्यता के कारण प्रायः उपेक्षित रहा है, प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था की प्रगति को समझने हेतु अत्यंत आवश्यक है। उन्होंने मगध को एक क्षेत्रीय राज्य से अखिल भारतीय साम्राज्य में रूपांतरित करने की संरचनात्मक और संस्थागत नींव रखी। उनका उदय निम्न वर्ग से हुआ, उन्होंने केंद्रीकृत शासन, सैन्य संगठन और आर्थिक समेकन की कला में प्रवीणता दिखाई। नंद शक्ति का चरम बिंदु समृद्धि और अधिनायकवाद का मिला-जुला रूप था। नंदों की विरासत उस सेतु के रूप में जीवित है जिसने गणराज्यीय विखंडन को साम्राज्यीय एकता में रूपांतरित किया।

5 अंक के प्रश्न-

1. नंद वंश का संस्थापक कौन था?
2. महापद्मनंद की उपलब्धियाँ बताइए।
3. नंद वंश की आर्थिक शक्ति पर टिप्पणी कीजिए।
4. धानानंद कौन था?
5. नंद वंश का पतन क्यों हुआ?

15 अंक के प्रश्न-

1. नंद वंश का विस्तृत इतिहास लिखिए।
2. नंद वंश की प्रशासनिक व्यवस्था का विश्लेषण कीजिए।
3. नंद वंश के पतन के कारणों का वर्णन कीजिए।
4. महापद्मनंद की उपलब्धियों का अधययन कीजिए।

MCQ

1. नंद वंश का संस्थापक कौन था?

(क) धानानंद

(ख) महापद्मनंद

(ग) चंद्रगुप्त मौर्य

(घ) बिंबिसार

उत्तर (ख)

2. सिकंदर के समय मगधा का शासक कौन था?

(क) अशोक

(ख) चंद्रगुप्त

(ग) धानानंद

(घ) बिंबिसार

उत्तर (ग)

3. नंद वंश किस राज्य से संबंधित था?

(क) अवंति

(ख) मगधा

(ग) कोशल

(घ) गांधाार

उत्तर (ख)

4. नंद वंश किस लिए प्रसिद्धि था?

(क) धाार्मिक सुधाार

(ख) विशाल सेना एवं धान

(ग) समुद्री व्यापार

(घ) कला संरक्षण

उत्तर (ख)

महत्वपूर्ण बिंदु–

- नंद वंश अत्यंत समृद्धि था।
- महापद्मनंद शक्तिशाली शासक था।
- विशाल सेना नंदों की विशेषता थी।
- धानानंद अंतिम नंद शासक था।

शब्दावली–

- धानानंद – अंतिम नंद शासक
- सेना – सैनिक शक्ति
- प्रशासन – शासन व्यवस्था
- समृद्धि – आर्थिक शक्ति

इकाई-4.3 मौर्य वंश मौर्य काल- मौर्य वंश का परिचय, चन्द्रगुप्त एवं बिन्दुसार (भारतीय साम्राज्य की स्थापना) चंद्रगुप्त मौर्य की विजयगाथा

उद्देश्य-

1. मौर्य साम्राज्य की स्थापना को समझना।
2. चंद्रगुप्त मौर्य की उपलब्धियाँ जानना।
3. बिंदुसार के शासन का अधययन करना।

परिचय

चंद्रगुप्त मौर्य, मौर्य साम्राज्य के संस्थापक, भारतीय इतिहास की सबसे प्रतिष्ठित विभूतियों में से एक माने जाते हैं। उनका शासनकाल, जिसकी शुरुआत लगभग 322 ईसा पूर्व मानी जाती है, भारतीय उपमहाद्वीप के अधिकांश भाग के राजनीतिक एकीकरण का प्रतीक है कृ एक ही केंद्रीय सत्ता के अंतर्गत। विनम्र उत्पत्ति से उठकर और महान रणनीतिकार चाणक्य (कौटिल्य) के मार्गदर्शन में, चंद्रगुप्त ने सैन्य, कूटनीतिक और रणनीतिक विजयों की एक श्रृंखला का नेतृत्व किया। इन विजयों ने नंद वंश को समाप्त किया, विदेशी शक्तियों को खदेड़ा, और उत्तर-पश्चिमी सीमा से लेकर भारत की पूर्वी सीमाओं तक साम्राज्य का विस्तार किया। यह निबंधा चंद्रगुप्त मौर्य की प्रमुख सैन्य और राजनीतिक विजयों का विश्लेषण करता है, उनके कारणों, परिणामों और भारतीय इतिहास पर उनके दीर्घकालिक प्रभावों को समझाता है।

प्रारंभिक जीवन

चंद्रगुप्त मौर्य का प्रारंभिक जीवन आंशिक रूप से पौराणिक और आंशिक रूप से ऐतिहासिक है। माना जाता है कि उनका जन्म एक साधारण परिवार में हुआ था, संभवतः मौर्य जनजाति से। एक साधारण युवक से साम्राज्य निर्माता बनने की उनकी यात्रा में उनके गुरु चाणक्य का प्रमुख योगदान रहा, जो अर्थशास्त्र के लेखक भी थे।

चाणक्य, जिन्हें अंतिम नंद राजा धनानंद द्वारा अपमानित किया गया था, ने उसे नष्ट करने की प्रतिज्ञा की और चंद्रगुप्त को नेतृत्व के लिए प्रशिक्षित करना शुरू किया। चंद्रगुप्त की सैन्य प्रतिभा और चाणक्य की राजनीतिक दूरदृष्टि ने एक प्रभावशाली युगल का निर्माण किया। इनकी पहली बड़ी जीत मगध में नंद वंश के पतन के रूप में सामने आई।

नंद वंश का पतन (लगभग 322 ईसा पूर्व)-

नंद वंश का पतन चंद्रगुप्त की पहली प्रमुख सैन्य और राजनीतिक विजय थी। नंदों के पास विशाल धन-संपदा और सेना थी, किंतु उनका शासन करों की कठोरता और केंद्रीकृत सत्ता के कारण अलोकप्रिय था। धनानंद की ब्राह्मणों और कुलीनों के प्रति उपेक्षा ने समाज में असंतोष उत्पन्न किया, जिसे चाणक्य और चंद्रगुप्त ने कुशलता से भुनाया।

रणनीतिक योजना-

चाणक्य ने असंतुष्ट सेनापतियों, मंत्रियों और स्थानीय राजाओं का एक गठबंधन तैयार किया। उन्होंने गुप्तचरी और प्रचार तंत्र का भी उपयोग किया ताकि धनानंद के आंतरिक समर्थन को कमजोर किया जा सके।

सैन्य अभियान-

पाटलिपुत्र (नंदों की राजधानी) की लड़ाई निर्णायक रही। चंद्रगुप्त ने युद्ध कौशल और आंतरिक विश्वासघातों के माध्यम से राजधानी की रक्षा प्रणाली को भेद दिया और नंद शासन का अंत किया। मगधा की विजय ने चंद्रगुप्त को राजनीतिक और आर्थिक आधार प्रदान किया, जिससे उन्होंने मौर्य साम्राज्य की स्थापना की। पाटलिपुत्र को राजधानी बनाकर उन्होंने एक नवीन साम्राज्यात्मक प्रशासन की शुरुआत की।

यवनों पर विजय-

एक और महत्वपूर्ण विजय वह थी जो चंद्रगुप्त ने सिकंदर के प्रस्थान के बाद भारत में शेष रहे यूनानी शासकों (सात्रपों) के विरुद्ध प्राप्त की। सिकंदर की मृत्यु (323 ईसा पूर्व) के पश्चात उसके क्षेत्रों का विभाजन हुआ। भारत में ईयूडेमस और पैथॉन जैसे सात्राप उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र पर शासन कर रहे थे। चंद्रगुप्त ने राजनीतिक रिक्तता और यूनानी मतभेदों का लाभ उठाया। उन्होंने इन विदेशी शासकों के विरुद्ध सैन्य अभियान चलाए और उन्हें खदेड़कर पंजाब और आधुनिक पाकिस्तान के क्षेत्रों में मौर्य शासन स्थापित किया। इस विजय ने भारत की संप्रभुता को विदेशी आधिपत्य से मुक्त किया और मौर्य प्रभाव को अफगानिस्तान और बाक्ट्रिया तक विस्तार दिया। साथ ही, यह मध्य एशिया और पश्चिम के व्यापार मार्गों की सुरक्षा के लिए अत्यंत आवश्यक था।

सेल्यूकस प्रथम निकेटर से युद्ध (305-303 ईसा पूर्व)-

चंद्रगुप्त के सैन्य जीवन का एक निर्णायक क्षण था सिकंदर के सेनापति और सेल्यूकस साम्राज्य के संस्थापक सेल्यूकस निकेटर से संघर्ष। लगभग 305 ईसा पूर्व में, सेल्यूकस ने भारत में खोए हुए क्षेत्रों को पुनः प्राप्त करने के उद्देश्य से मौर्य साम्राज्य पर आक्रमण किया। चंद्रगुप्त की सेना ने सेल्यूकस की सेनाओं का डटकर मुकाबला किया। यद्यपि युद्ध के विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं हैं, किंतु सभी स्रोत इस पर सहमत हैं कि चंद्रगुप्त विजयी हुए। यह युद्ध एक कूटनीतिक 303 ईसा पूर्व की संधि के साथ समाप्त हुआ, जो चंद्रगुप्त के लिए अत्यंत लाभकारी सिद्ध हुई। ग्रीक इतिहासकारों (जैसे स्त्राबो और प्लूटार्क) के अनुसार चंद्रगुप्त ने अरेकौसिया, गेद्रोसिया और पैरापामिसाडे (आधुनिक अफगानिस्तान और पाकिस्तान के भाग) पर नियंत्रण बनाए रखा। सेल्यूकस ने अपनी पुत्री का विवाह चंद्रगुप्त (या उनके पुत्र) से किया कृ यह एक राजनीतिक गठबंधन का संकेत है। बदले में, चंद्रगुप्त ने सेल्यूकस को 500 युद्ध हाथी भेंट किए, जो उसके बाद के युद्धों (जैसे इप्सस का युद्ध) में निर्णायक भूमिका में रहे। इस विजय ने चंद्रगुप्त की अंतरराष्ट्रीय स्थिति को सुदृढ़ किया। यह संधि मौर्य और यूनानी सभ्यताओं के बीच सांस्कृतिक, तकनीकी और व्यापारिक विनिमय का माध्यम बनी।

मध्य और दक्षिण भारत में विस्तार-

उत्तर-पश्चिम की सुरक्षा और गंगा के मैदानों के एकीकरण के बाद चंद्रगुप्त ने दक्षिण की ओर रुख किया।

दक्षिणी अभियान-

तमिल स्रोतों और जैन ग्रंथों के अनुसार, चंद्रगुप्त ने मध्य और दक्षिण भारत में सैन्य अभियान चलाए। उन्होंने कलिंग (जिसे बाद में अशोक ने पूर्ण रूप से जीता), आंध्र और कर्नाटक के क्षेत्रों को मौर्य प्रभाव में लाया। हर क्षेत्र को पूर्ण रूप से अधि ग्रहित करने के बजाय, उन्होंने अनेक स्थानों पर सामंती शासन और कराधान स्वीकार करने की नीति अपनाई, जिससे संसाधनों पर अत्यधिक दबाव नहीं पड़ा।

धार्मिक नीति-

जैन परंपरा के अनुसार, अंत में चंद्रगुप्त ने राज-पद त्याग दिया और कर्नाटक के श्रवणबेलगोला में एक जैन मुनि के रूप में जीवन बिताया। इससे दक्षिण भारत से उनके सांस्कृतिक और राजनीतिक संबंध प्रमाणित होते हैं।

प्रशासनिक नीति-

चंद्रगुप्त की विजय केवल युद्ध भूमि तक सीमित नहीं थी। उन्होंने एक केंद्रीकृत और प्रभावी प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित की, जो शासन कौशल में उनकी विजय का प्रमाण है। अर्थशास्त्र चाणक्य के निर्देशन में, उन्होंने अर्थशास्त्र के सिद्धांतों को शासन में लागू किया जैसे गुप्तचरी, न्यायिक सुधार, आर्थिक योजना और सामाजिक नियंत्रण। नौकरशाही उन्होंने एक पदानुक्रमित प्रशासनिक ढांचा स्थापित किया जिसमें अमात्य (अधिकारियों) द्वारा जनपद, जिले और नगरों का संचालन होता था। केंद्र सरकार व्यापार, कृषि और सैन्य भरती पर पूर्ण नियंत्रण रखती थी।

सेना-

स्थायी सेना चंद्रगुप्त ने एक विशाल, पेशेवर स्थायी सेना बनाई जिसे सुव्यवस्थित कराधान प्रणाली द्वारा पोषित किया गया। यूनानी इतिहासकारों के अनुसार, इस सेना में थे- 6,00,000 पैदल सैनिक, 30,000 अश्वारोही, 9,000 हाथी, 8,000 रथ।

पाटलिपुत्र राजधानी-

उनकी राजधानी पाटलिपुत्र को प्रशासन, नगर योजना और रक्षा व्यवस्था के क्षेत्र में एक आदर्श माना जाता था। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने इसे एक भव्य नगर के रूप में वर्णित किया जिसमें राजमहल, अन्नागार और खाई (moat) थे।

बिंदुसार

बिंदुसार का परिचय

बिंदुसार, जिन्हें 'अमित्रघात' (शत्रुओं का संहारक) जैसे नामों से भी जाना जाता है, मौर्य वंश के दूसरे सम्राट थे और उन्होंने लगभग 297 ईसा पूर्व से 273 ईसा पूर्व तक शासन किया। वे मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य के पुत्र एवं उत्तराधिकारी तथा भ. ारतीय इतिहास के महानतम शासकों में से एक अशोक के पिता थे। यद्यपि वे अक्सर अपने पिता और पुत्र की महानता के कारण पृष्ठभूमि में छा जाते हैं, फिर भी बिंदुसार स्वयं एक महत्वपूर्ण शासक थे, जिन्होंने चंद्रगुप्त द्वारा स्थापित विशाल साम्राज्य को बनाए रखने और सुदृढ़ करने में अहम भूमिका निभाई। उनका शासन मौर्य वंश के विकास में एक संक्रमणकालीन चरण था, जो संस्थापक

युग और अशोक के स्वर्ण युग के बीच एक पुल के रूप में कार्य करता है।

प्रारंभिक जीवन-

बिंदुसार का जन्म एक शक्तिशाली मौर्य परिवार में हुआ था, जिसने चंद्रगुप्त मौर्य के नेतृत्व में भारतीय उपमहाद्वीप के अधिकांश भाग पर शीघ्र ही प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। परंपरा के अनुसार उनकी माता का नाम दुर्धरा था, हालाँकि ऐतिहासिक स्रोतों में इस विषय में मतभेद हैं और कुछ ग्रंथों में भिन्न माताओं का उल्लेख मिलता है। पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) के राजमहल में पले-बढ़े बिंदुसार को साम्राज्य की विशाल जिम्मेदारियों को सँभालने के लिए बचपन से ही प्रशिक्षित किया गया था। उनके प्रारंभिक जीवन पर चंद्रगुप्त द्वारा स्थापित प्रशासनिक एवं सैन्य परंपरा का गहरा प्रभाव था, साथ ही चाणक्य (कौटिल्य) जैसे रणनीतिक राजनीतिक गुरु का मार्गदर्शन भी उन्हें मिला।

बिंदुसार ने एक ऐसे वातावरण में शिक्षा प्राप्त की, जो अनुशासित शासन व्यवस्था, सैन्य उत्कृष्टता और राजनीतिक सूझबूझ से परिपूर्ण था। हालाँकि वे अपने पिता जैसे महान विजेता नहीं थे, फिर भी उनका शासन सैन्य विस्तार की अपेक्षा साम्राज्य के स्थायित्व और सुदृढ़ता के लिए जाना जाता है।

सिंहासनारोहण

बिंदुसार के सिंहासन पर बैठने की परिस्थितियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से पूरी तरह स्पष्ट नहीं हैं, और इस विषय में कई किंवदंतियाँ व मतभेदित विवरण मिलते हैं। सामान्यत: यह स्वीकार किया जाता है कि उन्होंने लगभग 297 ईसा पूर्व में अपने पिता चंद्रगुप्त मौर्य के सन्यास लेकर दक्षिण भारत में जैन संन्यासी बनने के बाद शासन संभाला। कुछ जैन ग्रंथों के अनुसार चंद्रगुप्त ने सत्ता बिंदुसार को सौंप दी थी। बिंदुसार को वह साम्राज्य उत्तराधिकार में मिला, जो उत्तर और मध्य भारत के अधिकांश हिस्सों तक विस्तृत था, जिसमें वर्तमान बिहार, बंगाल, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश आदि क्षेत्र शामिल थे।

राजनीतिक और प्रशासनिक उपलब्धियाँ-

बिंदुसार का शासन काल चंद्रगुप्त और चाणक्य द्वारा स्थापित केंद्रीकृत प्रशासनिक व्यवस्था के संरक्षण और सुदृढ़ीकरण के लिए जाना जाता है। उनके काल में किसी बड़े क्षेत्रीय सैन्य विस्तार का उल्लेख नहीं मिलता, लेकिन उन्होंने आंतरिक रूप से साम्राज्य को संगठित और स्थिर बनाए रखा।

प्रशासनिक प्रणाली-

मौर्य प्रशासनिक प्रणाली अत्यधिक केंद्रीकृत थी, जिसमें 'अमात्य' नामक अधिकारियों का एक सुगठित ढाँचा था जो जनपदों, जिलों और नगरों का संचालन करते थे। बिंदुसार ने इस व्यवस्था को बनाए रखते हुए राजस्व संग्रह, व्यापार नियंत्रण, और कानून व्यवस्था को प्रभावी बनाए रखा। पाटलिपुत्र उनकी राजधानी बनी रही, जो प्रशासन, अर्थव्यवस्था और संस्कृति का प्रमुख केंद्र था। यूनानी राजदूत मेगास्थनीज, जिन्होंने चंद्रगुप्त के समय मौर्य दरबार का दौरा किया था, इस नगर को एक भव्य नगरी के रूप में वर्णित करते हैं। बिंदुसार ने इस समृद्धि को बनाए रखा और संभवत: इसमें वृद्धि भी की। उन्होंने चंद्रगुप्त की नीतियों जैसे कि खनन, वनों, और सिंचाई प्रणालियों पर राज्य नियंत्रण को जारी रखा, जिससे आर्थिक समृद्धि को बल मिला।

सैन्य और कूटनीतिक गतिविधियाँ-

जहाँ चंद्रगुप्त ने आक्रामक सैन्य विस्तार के माध्यम से साम्राज्य की सीमाएँ बढ़ाई, वहीं बिंदुसार का सैन्य दृष्टिकोण अधिक संयमित था और उन्होंने सीमाओं की रक्षा एवं आंतरिक शांति बनाए रखने पर ध्यान केंद्रित किया। कुछ प्रमाणों से संकेत मिलता है कि उन्होंने दक्षिण भारत की ओर मौर्य प्रभाव का विस्तार किया। जैन ग्रंथों और तमिल साहित्य जैसे ऐतिहासिक स्रोतों में यह संकेत मिलता है कि मौर्य प्रभाव दक्षिण भारत के क्षेत्रों जैसे वर्तमान कर्नाटक, आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु कृ तक पहुँच गया था। ऐसा माना जाता है कि बिंदुसार ने सीधे सैन्य विजय के बजाय कूटनीति और अधीनस्थता (vassalage) के माध्यम से इन क्षेत्रों में प्रभाव कायम किया। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बिंदुसार ने यूनानी दुनिया से कूटनीतिक संबंध बनाए रखे, जो सिकंदर के साम्राज्य के विघटन के बाद अस्तित्व में आए थे। यूनानी स्रोतों में उल्लेख मिलता है कि बिंदुसार के शासनकाल में डेमाकस नामक एक मौर्य राजदूत सेल्यूकस के दरबार में भेजा गया था, जो इस बात का प्रमाण है कि मौर्य-सेल्यूकस संधि बनी रही।

धार्मिक एवं सांस्कृतिक नीति-

बिंदुसार का शासन धार्मिक सहिष्णुता और विविधता से परिपूर्ण था, जो प्राचीन भारत की बहुलतावादी समाज व्यवस्था को दर्शाता है। जहाँ चंद्रगुप्त जीवन के उत्तरार्ध में जैन धर्म अपनाते हैं और अशोक बाद में बौद्ध धर्म के प्रमुख संरक्षक बनते हैं, वहीं बिंदुसार की धार्मिक आस्थाओं के बारे में स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती। प्राचीन ग्रंथों के अनुसार बिंदुसार ने ब्राह्मण धर्म, जैन धर्म,

और बौद्ध धर्म सहित विभिन्न परंपराओं को संरक्षण दिया। यह बहुलतावादी नीति सामाजिक सौहार्द बनाए रखने में सहायक रही।

कला, स्थापत्य और साहित्य का विकास-

मौर्य युग में कला, स्थापत्य और साहित्य का विकास जारी रहा। यद्यपि बिंदुसार के व्यक्तिगत सांस्कृतिक योगदानों का उल्लेख कम मिलता है, फिर भी उनके शासन ने उन सांस्कृतिक नींवों को मजबूत किया, जिनका पूर्ण विकास अशोक के काल में हुआ।

चुनौतियाँ और आंतरिक घटनाक्रम-

इतना विशाल साम्राज्य संचालित करने के लिए बिंदुसार को विभिन्न प्रकार की आंतरिक चुनौतियों का सामना करना पड़ा। क्षेत्रीय असंतोष, विद्रोह, और दरबारी षड्यंत्रों से उन्हें सतर्क रहना पड़ा। ऐतिहासिक परंपराओं में उत्तराधिकार संघर्ष और दरबारी राजनीति के संकेत मिलते हैं, यद्यपि उनके विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं हैं। बिंदुसार की मृत्यु के पश्चात उनके पुत्र अशोक ने सत्ता संभाली, जिसके लिए पहले कुछ पारिवारिक संघर्षों से गुजरना पड़ा। फिर भी, बिंदुसार ने मौर्य साम्राज्य की राजनीतिक स्थिरता को बनाए रखा और विविधा क्षेत्रों व जातीयताओं को एकीकृत करने में सफल रहे, जो अपने आप में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी।

बिंदुसार का शासन एक संगठित और स्थायित्वपूर्ण काल था, जिसने चंद्रगुप्त द्वारा रखी गई नींव को मजबूत किया और अशोक के स्वर्ण युग के लिए मार्ग प्रशस्त किया। भले ही उन्हें अपने पिता के विजयों और पुत्र के धार्मिक सुधारों के कारण कम प्रसिद्धि मिली हो, परंतु वे मौर्य साम्राज्य के विकास में एक निर्णायक कड़ी के रूप में उभरे। उन्होंने प्रशासनिक प्रणाली को बनाए रखा, केंद्रीय सत्ता को सुदृढ़ किया, और आर्थिक समृद्धि सुनिश्चित की। उनकी कूटनीतिक सफलताओं ने विदेशों से शांतिपूर्ण संबंध बनाए रखे और सांस्कृतिक एवं आर्थिक आदान-प्रदान को प्रोत्साहित किया।

5 अंक के प्रश्न-

1. चंद्रगुप्त मौर्य कौन था?
2. कौटिल्य का परिचय दीजिए।
3. बिंदुसार की उपलब्धियाँ बताइए।
4. अर्थशास्त्र का महत्व स्पष्ट कीजिए।
5. मौर्य प्रशासन की विशेषताएँ लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. मौर्य साम्राज्य की स्थापना का वर्णन कीजिए।
2. चंद्रगुप्त मौर्य की उपलब्धियों का विश्लेषण कीजिए।
3. कौटिल्य के अर्थशास्त्र का महत्व स्पष्ट कीजिए।
4. मौर्य प्रशासन की प्रमुख विशेषताओं का अधययन कीजिए।

MCQ

1. मौर्य साम्राज्य का संस्थापक कौन था?

(क) अशोक

(ख) चंद्रगुप्त मौर्य

(ग) बिंदुसार

(घ) धानानंद

उत्तर (ख)

2. चंद्रगुप्त का मार्गदर्शक कौन था?

(क) मेगस्थनीज

(ख) कौटिल्य

(ग) ाह्यान

(घ) अशोक

उत्तर (ख)

3. 'अर्थशास्त्र' के लेखक कौन हैं?

(क) कालिदास

(ख) कौटिल्य

(ग) वेदव्यास

(घ) बाणभट

उत्तर (ख)

4. बिंदुसार किसका पुत्र था?

(क) अशोक

(ख) बिंबिसार

(ग) चंद्रगुप्त मौर्य

(घ) धानानंद

उत्तर (ग)

महत्वपूर्ण बिंदु-

- चंद्रगुप्त ने मौर्य साम्राज्य स्थापित किया।
- कौटिल्य महान राजनीतिज्ञ थे।
- अर्थशास्त्र प्रशासनिक ग्रंथ है।
- मौर्य प्रशासन अत्यंत संगठित था।

शब्दावली-

- मौर्य - प्राचीन राजवंश
- अर्थशास्त्र - शासन संबंधी ग्रंथ
- सम्राट - सर्वोच्च शासक
- प्रशासन - शासन व्यवस्था

इकाई-4.4 सम्राट अशोक

उद्देश्य

1. अशोक के जीवन एवं शासन को समझना।
2. कलिंग यद्ध के प्रभाव का अधययन करना।
3. अशोक के धाम्म की विशेषताओं को जानना।

परिचय एवं प्रारंभिक जीवन-

सम्राट अशोक, जिन्हें अशोक महान के नाम से भी जाना जाता है, भारतीय इतिहास की सर्वाधिक प्रख्यात और विशिष्ट विभूतियों में से एक माने जाते हैं। लगभग 268 ईसा पूर्व से 232 ईसा पूर्व तक उनका शासनकाल मौर्य साम्राज्य के लिए एक रूपांतरणकारी युग था, जो कि महत्त्वपूर्ण सैन्य विजय, गहन व्यक्तिगत परिवर्तन तथा नैतिक मूल्यों पर आधारित शासन प्रणाली की प्रतिबद्धता से परिभाषित होता है। यह निबंध सम्राट अशोक के जीवन, उनकी विजयों तथा उनके चिरस्थायी विरासत का विश्लेषण करता है।

प्रारंभिक जीवन-

सम्राट अशोक का जन्म लगभग 304 ईसा पूर्व सम्राट बिंदुसार और रानी शुभद्रंगी के पुत्र के रूप में हुआ था। वे मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चंद्रगुप्त मौर्य के पौत्र थे। अनेक राजपुत्रों में होते हुए भी अशोक ने अपनी बौद्धिक क्षमता और सैन्य कुशलता के बल पर विशेष पहचान बनाई। उन्हें उज्जैन और तत्पश्चात तक्षशिला का राज्यपाल नियुक्त किया गया, जहाँ उन्होंने कुशल प्रशासनिक कार्यों का निर्वहन किया और स्थानीय विद्रोहों को सफलतापूर्वक शांत किया। बिंदुसार की मृत्यु के पश्चात उत्तराधिकार को लेकर राजकुमारों में संघर्ष प्रारंभ हुआ। अशोक इस संघर्ष में विजयी रहे, और यह कहा जाता है कि उन्होंने अपने प्रतिद्वंद्वियों को पराजित कर सत्ता प्राप्त की। अंततः 268 ईसा पूर्व में उन्हें मौर्य साम्राज्य का तीसरा सम्राट घोषित किया गया।

सैन्य विजय एवं कलिंग युद्ध-

अपने शासन के प्रारंभिक वर्षों में सम्राट अशोक ने एक आक्रामक विस्तारवादी नीति अपनाई। उनका सबसे प्रसिद्ध सैन्य अभियान कलिंग (आधुनिक ओडिशा) का विजय अभियान था, जो लगभग 261 ईसा पूर्व सम्पन्न हुआ। यह युद्ध अत्यंत भीषण था, जिसमें भारी संख्या में जनहानि हुई। अशोक के अभिलेखों के अनुसार, इस युद्ध में लगभग 1,00,000 लोग मारे गए, 1,50,000 लोगों को बंदी बनाया गया तथा असंख्य लोग परोक्ष प्रभावों से मृत हुए।

अशोक ने कलिंग पर विजय प्राप्त करने का निश्चय क्यों किया, यह स्पष्ट नहीं है। संभवतः बंगाल केलियाच्या मौर्य राज्यों के मध्य स्थित होने के कारण स्वतंत्र साम्राज्य राजनीतिक-शरीर में एक कांटे के रूप में स्वतंत्र कलिंग मौर्य साम्राज्य के लिए संकट उत्पन्न कर सकता था। इसके अतिरिक्त दक्षिणी भारत के राज्यों के साथ मौर्य साम्राज्य के बड़े ही मधुर सम्बन्ध थे। सामाजिक तथा आर्थिक दोनों दृष्टियों से भी कलिंग विजय मौर्य साम्राज्य के लिए महत्त्वपूर्ण थी। यह गंगा घाटी से जाने वाले दक्षिणी मार्गों के मध्य में स्थित था तथा यह एक शक्तिशाली सामुद्रिक तटवर्ती प्रदेश भी था, जिसे यदि साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया जाता तो यह मौर्य साम्राज्य के लिए आय का एक अच्छा स्रोत हो सकता था। कलिंग विजय के उपरान्त अशोक के द्वारा अन्य प्रदेशों पर विजय करना अनावश्यक था।

अशोक ने तेरहवें बृहद् शिलालेख में कलिंग विजय, उसके दुष्परिणामों एवं उनके प्रति सम्राट के गहन पश्चात्ताप को इस प्रकार व्यक्त किया है- राज्याभिषेक के आठ वर्ष उपरान्त देवानामुप्रिय प्रियदर्शी राजा ने कलिंग को विजित किया। (इस युद्ध में) वहाँ डेढ़ लाख मनुष्यों का अपहरण हुआ, एक लाख लोग मारे गए और उससे कई गुना अधिक हताहत हुए। कलिंग को विजित करके देवानाम्प्रिय राजा को वास्तविक पश्चात्ताप हुआ है, क्योंकि जब कोई अविजित (प्रदेश) विजित किया जाता है, तो उसमें होने वाली हत्या, मृत्यु एवं अपहरण (अवश्यंभावी) होता है। यह देवानामम्प्रिय के लिए वेदना का कारण भी है तथा साथ ही गम्भीर बात भी है। कलिंग को विजित करने में जितने लोग मरे हैं, मारे या अपहृत किए गए हैं, उनका सौवाँ या हजारवाँ भाग भी देवानाम्प्रिय के लिए एक दुख का विषय है। कलिंग युद्ध के दुष्परिणामों का अशोक के मन पर बहुत गम्भीर प्रभाव पड़ा और उसने इस आघात से जनित पीड़ा को बार-बार एवं विभिन्न रूपों में व्यक्त किया है।

कलिंग युद्ध का अशोक की सार्वजनिक नीतियों तथा व्यक्तित्त्व पर गहरा प्रभाव पड़ा। कलिंग युद्ध की भीषणता ने अशोक की मानसिकता पर गहरा प्रभाव डाला। युद्ध के परिणामस्वरूप जनमानस की व्यापक पीड़ा को देखकर उन्होंने गहन पश्चाताप अनुभव किया, जिसके फलस्वरूप उनके दृष्टिकोण में नाटकीय परिवर्तन हुआ। यह घटना उनके शासन की दिशा बदलने का निर्णायक मोड़

बनी। इस युद्ध के बाद उसने कभी कोई और युद्ध न करने का निश्चय किया और अपने पुत्रों तथा पौत्रों को निर्देश दिया कि वे कभी भी ऐसा युद्ध न करें।

तेरहवें शिलालेख में अशोक ने घोषणा की है कि वास्तविक विजय शस्त्रों से नहीं अपितु दया और धर्म से होती है (धर्मविजय) । कलिंग विजय के उपरान्त अशोक ने अपना जीवन लोगों के नैतिक और भौतिक कल्याण के लिए समर्पित कर दिया और तदनुसार उसने अपनी शासकीय नीतियों का पुनर्निर्धारण किया। युद्ध की नग्न हिंसा को अशोक ने प्रत्यक्ष रूप से अनुभव किया था, जिससे अनुप्राणित होकर उसने अपने और शान्ति को अपनाया। उसने अपना व्यक्तिगत धर्म त्यागकर बौद्ध धर्म को अंगीकार कर लिया। एक बौद्ध के रूप में अशोक ने संभवतया अपने राज्याभिषेक के नौंवें वर्ष अर्थात कलिंग विजय के उपरांत बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया। श्रीलंकाई इतिवृत्त महावंश के अनुसार अशोक को निग्रोध नाम के एक बाल भिक्षु, जिसकी आयु मात्र सात वर्ष थी, ने बौद्ध धर्म की दीक्षा दी थी और बाद में वह मोग्गलिपुत्त तिस्स के सम्पर्क में आया, जिसने अशोक द्व ारा बुलाई गई तीसरी बौद्ध संगीति की अध्यक्षता की थी। महावंश में उल्लेख है कि इस संगीति के उपरान्त अशोक ने भारत के विभिन्न भागों तथा श्रीलंका में बौद्ध धर्म प्रचारकों को भेजा। श्रीलंका में उसने अपने पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा को बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए भेजा। ऐतिहासिक रूप से बौद्ध धर्म पहली बार अशोक के शासन काल में ही भारत से बाहर गया था। उसके बौद्ध धर्म अपना लेने के बाद उसके परिवार के अन्य सदस्यों ने भी बौद्ध धर्म को अंगीकार कर लिया। बौद्ध स्रोतों से पता चलता है कि अशोक का भाई तिस्स, उसका पुत्र, उसकी पुत्री तथा रानी कारूवाकी ने भी बौद्ध धर्म को अपनाया था। महारानी के प्रसिद्ध (लघुस्तम्भ) अभिलेख में उसकी दूसरी रानी कारूवाकी द्वारा बौद्ध संघ को दिए गए पवित्र दान का उल्लेख है। बौद्ध संघ के साथ अशोक का सम्बन्ध एक महान राजकीय संरक्षक का था और इसी संदर्भ में उसने बौद्ध संघ की एकता को कठोरता पूर्वक बनाए रखने का प्रयास किया। अपने लघु शिलालेख में उसने बार-बार यह चेतावनी दी थी कि 'जो कोई भी भिक्षु या भिक्षुण ी संघ में विघटन पैदा करेगा उसे श्वेत वस्त्र पहनाकर संघ से बाहर निकाल दिया जाएगा।' बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के उपरान्त उसने विभिन्न पवित्र बौद्ध स्थलों की तीर्थयात्रएँ कीं तथा बहुत से स्तूप तथा विहार बनवाए।

धार्मिक सहिष्णुता की नीति-

अशोक एक कट्टर बौद्ध था, फिर भी वह धार्मिक मामलों में सहिष्णु था और सभी धर्मों की मूल एकता में विश्वास करता था। अशोक ने सातवें शिलालेख में स्वयं कहा है-'सभी पंथों के मध्य आत्म-नियंत्रण और मन की पवित्रता विद्यमान होनी चाहिए। बारहवें शिलालेख में उसने धार्मिक सहिष्णुता की अपनी नीति अधिक स्पष्टता से उद्घोषित की है- देवानाम्प्रिय, राजा प्रियदर्शी सभी धर्मों का सम्मान करता है, इसलिए वह संन्यासियों तथा साधारण व्यक्तियों, दोनों को ही भेंट तथा विभिन्न प्रकार की मान्यताएँ प्रदान करता है। फिर, 'जो कोई भी अपने धर्म का आदर करता है और अपने धर्म के प्रति लगाव के कारण दूसरों के धर्म का अनादर करता है, वह इस प्रकार स्वयं अपने ही धर्म को अधिक हानि पहुँचाता है। स्तम्भ शिलालेख- में वह जोर देकर कहता है- मैं सभी सम्प्रदायों का ध्यान रखता हूँ क्योंकि मैं सभी सम्प्रदायों के अनुयायियों का सम्मान करता हूँ। फिर भी उनके प्रति व्यक्तिगत आदर प्रदर्शित करना मेरे विचार से मुख्य बात है। स्पष्टतया वह जो कुछ चाहता है, वह वस्तुतः सभी धर्मों के मूलतत्त्वों या 'सार वृद्धि' का विकास ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने सभी धार्मिक सम्प्रदायों के विचारों का सावधानी से अध्ययन किया था और इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि सभी धर्मों में मूल एकता होती है क्योंकि उन सभी का उद्देश्य आत्म-संयम और मन की पवित्रता है और सभी धर्म एकसमान नैतिक व्यवहार की शिक्षा देते हैं।

अशोक का धम्म-

कलिंग युद्ध के बाद अशोक के सम्मुख महानतम् आदर्श तथा उद्देश्य धम्म का प्रचार करना था, जिसकी पूर्ति के लिए उसने अनवरत कार्य किया। जैसा कि अशोक के शिलालेखों में स्पष्ट किया गया है। धम्म केवल एक धर्म या ध ार्मिक व्यवस्था नहीं, अपितु एक नैतिक कानून, एक सामान्य आचार संहिता या एक नैतिक व्यवस्था है जो कि सभी धामा. ं का एकसमान मिलन-स्थल है। द्वितीय स्तम्भ लेख में अशोक स्वयं ही यह प्रश्न करता है-धम्म अच्छा है। वास्तव में यह है क्या? (धम्म साधु, कियम् च बम्मति)? फिर वह धाम्म की दो मूल विशेषताओं या घटकों का उल्लेख करता है- कम से कम दुष्कर्म या पाप (अपानिसवे) और अधिाक से अधिक सत्कर्म या कल्याणकारी कार्य (बहुकयाने)। फिर उसने इसी तथा अन्य शिलालेखों में उल्लेख किया है-अपासिनवे या पापों, जैसे क्रोध या उन्माद, नृशंसता, क्रोध, अभिमान और ईर्ष्या, जिनसे बचना चाहिए और बहुत से सत्कर्म (बहुकयाने) दया, उदारता, सत्त्य, सज्जनता, आत्म-नियंत्रण, मन की पवित्रता, नैतिकता से लगाव, आन्तरिक और बाह्य शुद्धि आदि, जिनका अधिकाधिक अनुगमन किया जाना चाहिए। उपर्युक्त दो विशेषताएँ अशोक के

धम्म के 'सैद्धान्तिक' या नकारात्मक 'आसिनव) और सकारात्मक (बहुकयाने) पक्ष हैं।

किन्तु जीवन में इन गुणों का अनुपालन कैसे करें? इस सम्बन्ध में अशोक ने अपने तेरहवें तथा अन्य बहुत से शिलालेखों में कर्त्तव्य संहिता या व्यावहारिक धाम्म का वर्णन किया है, जिसमें निम्नलिखित निर्देश सम्मिलित हैं-

1. सुश्रूषा-माता-पिता, बड़ों, गुरुओं तथा अन्य श्रद्धेय व्यक्तियों की आज्ञा का पालन ।
2. अपिचिति- गुरुओं का आदर ।
3. सम्प्रतिपत्ति- संन्यासियों, ब्राह्मणों और श्रमणों दोनों, सम्बन्धियों, दासों, सेवकों और आश्रितों, जैन तथा दु:खी जनों, मित्रों, परिचितों और मित्रें से अच्छा व्यवहार करना।
4. दान- संन्यासियों, मित्रें, साथियों, सम्बन्धियों तथा वृद्ध व्यक्तियों के प्रति उदारता।
5. अनारम्भो प्राणानाम्- जीवित प्राणियों के प्रति अहिंसा की भावना।
6. अविहिंसा भूतानाम्-सभी जीवित प्राणियों के प्रति अक्षति की भावना ।
7. अपव्ययता- कम धन व्यय करना तथा कम धान का संचय करना या खर्च और बचत में संयम बरतना
8. मार्दवम्- सभी जीवित प्राणियों से सौम्य व्यवहार करना।
9. सत्यम्- सच्चाई (लघु शिलालेख-2 स्तम्भ लेख-11)
10. धम्म-रति- नैतिकता का पालन ।
11. भाव-शुद्धि- मन या विचारों की पवित्रा ।

शिलालेखों में निर्दिष्ट धम्म केवल कर्त्तव्य का पथप्रदर्शक ही नहीं हैं, इसकी साम्यता अनेक विशिष्ट सिद्धान्तों तथा दार्शनिक अवधारणाओं से की गई है, जिनसे अशोक के नैतिक सुधार सम्बन्धी या धाम्म के आदर्शों दर्शी की की मौलिकता मौलिकत स्पष्ट होती है। भारत जैसे बहुधार्मी देश में धार्मिक सहिष्णुता को परम कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार करने पर जोर दिया गया था। अशोक ने जीवन के हर क्षेत्र में इस नैतिक संहिता (बम्म) को शासी सिद्धान्त और नियंत्रक शद्रि के रूप में प्रतिष्ठापित करने तथा राजनीति और सभी मानवीय क्रियाकलापों को आध्यात्मिक रूप देने का प्रयास किया। इस प्रकार इन शिलालेखों में प्रतिपादित किया गया धाम्म केवल नैतिक या सदाचारी जीवन का पर्याय है तथा सभी धर्मों का समान मिलन स्थल ही इसका केन्द्र बिन्दु है। किसी भी रूप में यह साम्प्रदायिक नहीं है बल्कि पूर्णतया सर्वदेशीय है, जो कि सभी धर्मों के सारतत्त्व के रूप में सार्वभौम अनुप्रयोग तथा स्वीकृति योग्य है। इस प्रकार उसने एक सार्वभौम धार्म की आधारशिला रखी और शायद वह ऐसा करने वाला इतिहास में पहला व्यक्ति था।

अशोक ने धम्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन क्यों किया और इतनी उत्सुकता से उसका प्रचार-प्रसार क्यों किया? कलिंग युद्ध के उपरान्त अशोक ने धाम्म विजय को धर्मनिष्ठा और नैतिकता पर आधारित विजय माना, जो कि वास्तविक विजय है। प्रथम स्तम्भ लेख में उसने यह कहते हुए अपने उद्देश्यों की संक्षेप में प्रकट किया है कि वह धम्म का अनुसरण करने वाले लोगों के संपोषण, शासन, सुख और सुरक्षा की कामना करता है। उसने राजतंत्र की पितृवादी अवधाारणा पर भी जोर दिया- सभी मनुष्य मेरी सन्तान (प्रजा) है। जैसे मैं अपनी सन्तान के लिए इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण की कामना करता हूँ, उसी प्रकार में सब मनुष्यों के लिए भी कामना करता हूँ। अशोक के धम्म का उद्देश्य सामाजिक एकता या सामाजिक सम्बन्धों को सुदृढ़ करना था, चाहे वे सम्बन्ध माता-पिता और बच्चों, बड़ों और छोटों के बीच के हो या विभिन्न वैचारिक सम्प्रदायों के बीच के। इस उद्देश्य को एक नैतिक अवधारणा के रूप में लिया गया था, जिसका सम्बन्ध उसके समाज के संदर्भ में व्यक्ति से था।

धाम के प्रचार के उपाय-

अशोक ने अपने सम्पूर्ण साम्राज्य में धम्म के प्रचार के लिए बहुत से उपाय किए। उसने अपने में धाम के प्रतया सार्वजनिक नीतियों के शासी सिद्धान्त के रूप में धम्म के सिद्धान्तों को क्रियान्वित किया। इस सम्बन्ध उसने जो महत्त्वपूर्ण उपाय किए, उनमें से कुछ निम्नलिखित इस प्रकार थे-

1. शिलालेखों तथा स्तम्भ लेखों के रूप में क्रमश: धम्म लिपियाँ और धाम्म स्तम्भ प्रस्थापित करना, जिनमें धम्म के गुणों का वर्णन किया गया।
2. धम्म-महामात्रों की नियुक्ति।
3. धम्म-यात्राएँ, धम्म के प्रचारार्थ राजकीय यात्राएँ।
4. धम्म-मंगल, धम्म की भावना के अनुसार सार्वजनिक कल्याणकारी कार्य।
5. विनियमों तथा अनुनय-विनय के द्वारा धम्म का प्रचार करना, और

6. धाम्म के सिद्धान्तों के अनुरूप प्रशासनिक उपाय ।

अशोक द्वारा शुरू किए गए जनकल्याणकारी कार्य और प्रशासनिक सुधार अशोक के चौदह वृहद् शिलालेखों तथा स्तम्भलेखों से हमें उसके द्वारा शुरू किए गए कल्याणकारी उपायों तथा प्रशासनिक सुधाारों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। अशोक द्वारा प्रारम्भ किए गए कुछ कल्याणकारी कार्यों तथा प्रशासनिक सुधारों की सूची आगे दी गई है, जिनके साथ आवश्यकतानुसार सम्बन्धित शिलालेखों का उल्लेख भी किया गया है-

1. समाजों या हर्षोत्सवों तथा राजकीय पाकशाला में दो मयूरों एवं एक हिरण के अतिरिद्र सभी पशुओं की हत्या पर प्रतिबन्ध (बृहत् शिलालेख- 1) ।

2. सार्वजनिक उपयोगिता के कार्य, मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सालय खोलना, जड़ी-बूटियों, कन्द-मूल और फलों सहित औषधीय पौधों के संवर्धन के लिए वानस्पतिक उद्यान, यात्रियों और पशुओं की सुविधा के लिए सड़कों के किनारे कुएँ खुदवाना तथा वृक्ष लगाना (बृहत् शिलालेख-2)।

3. धर्म के प्रचार तथा प्रशासनिक कार्य के लिए अधिकारियों द्वारा पंचवार्षिक दौरे या निरीक्षण यात्राएँ करना (बृहत् शिलालेख-3)।

4. धम्म के प्रचार के लिए धाम्म महामात्रें की नियुक्ति, उनके द्वारा अन्याय एवं प्रजा की शिकायतों का निराकरण तथा मौर्य साम्राज्य की प्रजा के साथ-साथ विदेशियों को धमार्थ उपहार प्रदान करने की व्यवस्था करना।

5. स्त्रियों के कल्याण के लिए तथा उनमें धम्म हेतु स्त्री-अध्यक्ष महामात्रों की नियुक्ति।

6. संन्यासियों, वृद्धों तथा शारीरिक रूप से अशक्त व्यक्तियों को दान देना तथा धाम्म का प्रचार करने के लिए धार्मिक राजकीय यात्रएँ करना।

7. पशु-पक्षियों जैसे-तोता, मैना, चक्रवाक (चकई) हंस, कबूतर, चमगादड़, केंकड़े, अस्थिविहीन मछली, हिरण, पालतू पशुओं और ऐसे सभी चौपायों, जिनका कोई भी उपयोग न होता हो और जो न भोजन रूप में खाए जाते हों, ऐसे सभी पशुओं की हत्या एवं अंग-भंग को प्रतिबंधित करने के सम्बन्ध में नियम बनाए गए। प्रत्येक माह के कुछ दिनों में पशु-पक्षियों को पकड़ने, उनकी हत्या एवं वंध्याकरण पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया (स्तम्भ लेख-ट)।

8. अशोक के राज्याभिषेक की वर्षगांठ के अवसरों पर मानवीय आधार पर बंदियों की समय-पूर्व मुक्ति (स्तम्भ लेख-ट)।

9. मृत्युदण्ड से दण्डित अपराधियों के प्राणदण्ड को तीन दिनों में प्रविलम्बित किया गया ताकि वे अपने पापों का प्रायश्चित्त कर सकें तथा 'अगले जीवन में बेहतर पुनर्जन्म (या उत्तम योनि में पुनर्जन्म) के लिए उपवास एवं दान दे सकें।'

10. निष्पक्ष न्याय, न्यायिक एवं दण्ड प्रक्रिया में समानता की स्थापना के लिए न्यायिक सुधार। न्यायिक व्यवस्था का दुरुपयोग रोकने के लिए उपाय ।

11. जनकल्याण सम्बन्धी कार्यों के अंतर्गत मनुष्यों एवं पशुओं के लिए चिकित्सालय खोले गए, औषधीय पौधों को उगाने के लिए वानस्पतिक उद्यान, जड़ी-बूटियों तथा फलों के बाग लगाए गए और पशुओं एवं यात्रियों की सुख-सुविधा के लिए सड़कों के किनारे छायादार वृक्ष लगाए गए।

12. सार्वजनिक निर्माण कार्यों का कार्यक्रम, जिसके अन्तर्गत सड़कों के किनारे छायादार बरगद के पेड़ और आम के वृक्षों के बाग लगाना, सड़क पर प्रत्येक आधो कोस की दूरी पर कुएँ खुदवाना, विश्राम-गृहों का निर्माण, मानव तथा पशुओं आदि के उपयोग के लिए प्याऊ और जलकुटीरों की व्यवस्था करना आदि शामिल थे (स्तम्भ लेख-7)।

अशोक ने अपने राज्याभिषेक के तेरह वर्ष पश्चात् धम्म-महामात्रों के पद का सृजन किया था। इसका उल्लेख पाँचवें शिलालेख में है। इस शिलालेख में कुछ विस्तार से उनके कर्त्तव्यों के बारे में बताया गया है। सातवें स्तम्भ लेख से भी उनके कर्त्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है। धम्म महामात्रों का कर्त्तव्यों देश में सभी सम्प्रदायों के बीच धम्म प्रवर्तन करना तथा उसको बढ़ावा देना और धम्म में निरत लोगों की सुख-शान्ति का संवर्धन करना था। वे न्यायालयों द्वारा प्रदान किए गए समस्त दण्डों का पुनर्विलोकन करते थे तथा प्रत्येक मामले की विशेष परिस्थितियों को धयान में रखते हुए दण्ड को कम समाप्त कर सकते थे।

बौद्ध धर्म का प्रचार एवं सांस्कृतिक योगदान-

अशोक के संरक्षण में बौद्ध धार्म का भारतीय उपमहाद्वीप और उससे परे क्षेत्रें में भी तीव्र गति से विस्तार हुआ। उन्होंने तृतीय बौद्ध संगीति का आयोजन किया तथा बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु भिक्षुओं को श्रीलंका, मधय एशिया और भूमधयसागरीय क्षेत्रों में प्रेषित किया। इस प्रयास से बौद्ध शिक्षाएँ विश्वव्यापी हुई और अनेक बौद्ध मठों की स्थापना संभव हो सकी।

वास्तुकला-

वास्तुकला की ख्रष्टि से भी अशोक का योगदान उल्लेखनीय है। उन्होंने स्तूपों, विहारों और अभिलेख युक्त स्तंभों का निर्माण कराया, जिनमें नैतिक और धार्मिक सन्देश अंकित किए गए थे। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध सारनाथ स्थित अशोक स्तंभ का सिंह-शीर्ष है, जिसे आधुनिक भारत ने अपने राष्ट्रीय प्रतीक के रूप में स्वीकार किया है।

सम्राट अशोक की विरासत और प्रभाव-

सम्राट अशोक का शासन काल भारतीय इतिहास में एक उत्कृष्ट युग के रूप में स्मरणीय है, जो कुशल प्रशासन, सामाजिक कल्याण तथा धार्मिक सहिष्णुता से समृद्ध था। एक विजेता सम्राट से शांति एवं नैतिकता के समर्थक बनने की उनकी यात्रा नैतिक नेतृत्व का एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करती है। उन्होंने जिन सिद्धांतों का प्रचार किया, वे आज भी भारत में ही नहीं, अपितु वैश्विक शासन और नैतिक विमर्शों में भी प्रभावी रूप से प्रतिधवनित होते हैं। अशोक का जीवन और उनके प्रशासनिक निर्णय इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि व्यक्तिगत रूपांतरण संभव है, और करुणा आधारित नेतृत्व दीर्घकालिक प्रभाव उत्पन्न कर सकता है।

सम्राट अशोक की यात्रा-एक शक्तिशाली विजेता से एक कल्याणकारी एवं नैतिक शासक बनने तक-नैतिक शासन व्यवस्था की प्रभावशीलता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। उनका जीवन और कार्य आज भी इस बात का सशक्त उदाहरण हैं कि करुणा, नैतिक उत्तरदायित्व और सहिष्णुता से परिपूर्ण नेतृत्व न केवल प्रजा के जीवन को उन्नत बनाता है, अपितु इतिहास में चिरस्थायी स्मृति भी अर्जित करता है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि मानव इतिहास में अशोक एक ऐसा महानतम शासक था, जिसका शासन-काल 'राष्ट्रों के आख्यान' में एक अनुपम तथा उज्ज्वल युग का प्रतीक है। उसकी महानता इस बात में निहित थी कि इतने प्राचीन काल में और इतने सुस्पष्ट रूप से उसने मानवीय मूल्यों की अनुमति की थी, जिनके माधयम से उसने भारत में एक नैतिक जागृति पैदा करने के लिए आजीवन कर्मठ प्रयास किए। उसकी महत्ता इस बात में भी अंतर्निहित है कि उसने जिन सिद्धान्तों का प्रचार किया, उन्हें उसने अपने प्रायोगिक जीवन तथा प्रशासन में क्रियान्वित किया। एक सर्वोच्च एवं सक्रिय मानवतावादी शासक के रूप में उसका दृष्टान्त अद्वितीय है। अपने छठे वृहत् शिलालेख में वह किसी व्यक्ति द्वारा अपने साथियों के प्रति उत्तरदायित्वों का प्रभावपूर्ण ढंग से उल्लेख करता है। एक युद्ध ही शस्त्रों के उपयोग के विरुद्ध सदा के लिए उसके मन को परिवर्तित करने तथा उसे यह विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त था कि सच्ची विजय प्रेम और दया की होती है, यही धम्मविजय है। उसने विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में आपसी सद्भाव और समादर को बढ़ावा दिया और विभिन्न सम्प्रदायों को अपना संरक्षण प्रदान किया। अशोक में नैतिकता और सामाजिक मूल्यों को बढ़ावा देने का अदम्य साहस था। इन मूल्यों को मानवजाति की सामूहिक प्रवृत्ति माना जा सकता है। अशोक ने 'विश्वशान्ति तथा मनुष्यों में सद्भाव का संदेश दिया। किसी राजा की कीर्ति और यश उसके साम्राज्य के भौतिक विस्तार पर नहीं, बल्कि उसकी प्रजा के नैतिक स्तर में वृद्धि करने में सहायता प्रदान करने पर निर्भर करती है। अशोक ने इस आदर्श को पूरी तरह से चरितार्थ किया।

मौर्य साम्राज्य का पतन

मौर्य साम्राज्य की स्थापना चंद्रगुप्त मौर्य ने 322 ईसा पूर्व में की थी, जो सम्राट अशोक के शासनकाल में अपने चरम पर पहुँचा। तथापि, अशोक की मृत्यु के पश्चात 232 ईसा पूर्व में यह साम्राज्य धीरे-धीरे पतन की ओर अग्रसर होने लगा और अंततः 185 ईसा पूर्व में इसका विघटन हो गया। इस पतन के पीछे राजनैतिक, प्रशासनिक, आर्थिक, सामाजिक तथा बाह्य आक्रमणों जैसे जटिल कारणों का सम्मिलित योगदान रहा।

1. कमजोर उत्तराधिकारी और राजनैतिक अस्थिरता-

अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य सिंहासन पर ऐसे उत्तराधिकारी विराजमान हुए जो दुर्बल और अक्षम सिद्ध हुए। उनमें उनके पूर्ववर्तियों जैसी दूरदृष्टि तथा प्रशासनिक दक्षता का अभाव था, जिससे राजनैतिक अस्थिरता उत्पन्न हुई और केंद्रीय सत्ता का क्षरण हुआ। इस विशाल साम्राज्य को प्रभावी रूप से संचालित करने में अस्फलता के कारण विकेंद्रीकरण बढ़ा और प्रादेशिक शक्तियों का उदय हुआ।

2. अति-केंद्रीकृत प्रशासन-

मौर्य प्रशासन अत्यधिक केंद्रीकृत था, जिसमें अधिकांश अधिकार सम्राट और उनके निकटस्थ अधिकारियों के हाथों में निहित थे। यह प्रणाली चंद्रगुप्त और अशोक जैसे शक्तिशाली शासकों के अधीन प्रभावी रही, परंतु कमजोर उत्तराधिकारियों के काल में यह व्यवस्था बोझ बन गई। प्रांतीय अधिकारियों को स्वायत्तता की कमी ने प्रशासनिक जटिलताओं को जन्म दिया और स्थानीय जनता में असंतोष फैलाया, जिससे

साम्राज्य के विघटन को बल मिला।

3. आर्थिक दबाव और वित्तीय संकट-

एक विशाल साम्राज्य को बनाए रखने के लिए अपार वित्तीय संसाधनों की आवश्यकता होती है। मौर्य शासन की स्थायी सेना, विस्तृत नौकरशाही और जनकल्याण योजनाओं पर अत्यधिक व्यय ने कोष पर भारी दबाव डाला। अशोक द्वारा बौद्ध धार्म को दिए गए उदार संरक्षण तथा बुनियादी ढाँचे में किए गए निवेश ने भी संसाधनों की क्षति की। परिणामस्वरूप, समय के साथ एक गहरा वित्तीय संकट उत्पन्न हुआ, जिससे करों में वृद्धि हुई और जनसामान्य को आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

4. सैन्य उपेक्षा और बाह्य आक्रमण-

अशोक के द्वारा अपनाई गई अहिंसा की नीति और सैन्य अभियानों की समाप्ति ने साम्राज्य की सैन्य शक्ति की उपेक्षा को जन्म दिया। इस शांतिवादी दृष्टिकोण के कारण मौर्य साम्राज्य बाहरी आक्रमणों के प्रति असुरक्षित हो गया। विशेषकर उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की रक्षा उपेक्षित रहने से यूनानी (इंडो-ग्रीक) शक्तियाँ भारत में प्रवेश करने और साम्राज्य के कुछ हिस्सों पर अधिकार जमाने में सफल रहीं।

5. प्रादेशिक शक्तियों का उदय-

जब केंद्रीय सत्ता कमजोर हुई, तब प्रांतीय शासकों और स्थानीय मुखियाओं ने स्वतंत्रता की घोषणा करनी शुरू की। केंद्र द्वारा प्रभावी नियंत्रण के अभाव में ये क्षेत्रीय शक्तियाँ स्वतंत्र शासन स्थापित करने लगीं, जिससे साम्राज्य का विघटन और तेज हो गया। इस विकेंद्रीकरण ने मौर्य शासन की एकता और अखंडता को गंभीर क्षति पहुँचाई।

6. धार्मिक और सामाजिक कारण-

अशोक द्वारा बौद्ध धर्म को संरक्षण तथा पशु बलि जैसे वैदिक कर्मकांडों पर प्रतिबंध लगाने से ब्राह्मण वर्ग अप्रसन्न हो गया। यह असंतोष ब्राह्मणवादी शद्रियों, विशेषकर शुंग वंश के उदय में सहायक बना, जिसने बौद्ध प्रभाव का विरोधा किया। इस प्रकार की धार्मिक असहमति और संरक्षण की दिशा में आए परिवर्तनों ने साम्राज्य की वैचारिक एकता को कमजोर कर दिया।

7. अंतिम मौर्य सम्राट की हत्या-

मौर्य साम्राज्य को अंतिम आघात तब लगा जब 185 ईसा पूर्व में सम्राट बृहद्रथ की हत्या उनके ही सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने कर दी। पुष्यमित्र ने इसके पश्चात शुंग वंश की स्थापना की, जिससे मौर्य साम्राज्य का औपचारिक अंत हो गया। यह घटनाक्रम इस बात का प्रमाण है कि मौर्य साम्राज्य भीतर से कितना कमजोर और विभाजित हो चुका था।

मौर्य साम्राज्य का पतन किसी एकल कारण का परिणाम नहीं था, बल्कि यह विभिन्न परस्पर संबद्ध कारकों के समायोजन का परिणाम था। कमजोर नेतृत्व, अत्यधिक केंद्रीकरण, आर्थिक संकट, सैन्य उपेक्षा, प्रादेशिक विघटन, धार्मिक टकराव और आंतरिक विश्वासघात। इन सभी ने मिलकर भारत के इस प्राचीन और महान साम्राज्य के विघटन में योगदान दिया। मौर्य साम्राज्य का पतन यह ऐतिहासिक शिक्षा देता है कि शासन व्यवस्था को लचीला, आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर और सत्ता को केंद्र तथा प्रांतों के मध्य संतुलित बनाए रखना आवश्यक है।

5 अंक के प्रश्न-

1. अशोक का परिचय दीजिए।
2. कलिंग युद्ध का महत्व बताइए।
3. अशोक के धाम्म की विशेषताएँ लिखिए।
4. अशोक के अभिलेखों का महत्व बताइए।
5. अशोक द्वारा बाद्ध धार्म के प्रचार का वर्णन कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. सम्राट अशोक के शासन का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. कलिंग युद्ध एवं उसके प्रभावों का विश्लेषण कीजिए।
3. अशोक के धाम्म की नीति का मूल्यांकन कीजिए।
4. अशोक के अभिलेखों का ऐतिहासिक महत्व स्पष्ट कीजिए।

MCQ

1. कलिंग युद्ध कब हुआ?

(क) 261 ई.पू.

(ख) 326 ई.पू.

(ग) 185 ई.पू.

(घ) 273 ई.पू.

उत्तर (क)

2. अशोक किस वंश का शासक था?

(क) नंद

(ख) गुप्त

(ग) मौर्य

(घ) हर्यक

उत्तर (ग)

3. अशोक के अभिलेख मुख्यत: किस लिपि में हैं?

(क) ब्राह्मी

(ख) देवनागरी

(ग) संस्ख्रत

(घ) ग़रसी

उत्तर (क)

4. अशोक ने किस धार्म को अपनाया?

(क) जैन धार्म

(ख) बौद्ध धार्म

(ग) वैदिक धार्म

(घ) शैव धार्म

उत्तर (ख)

महत्वपूर्ण बिंदु-

ख कलिंग युद्ध के बाद अशोक ने हिंसा त्याग दी।

ख अशोक ने धाम्म नीति अपनाई।

ख अभिलेख प्रशासनिक जानकारी देते हैं।

ख अशोक ने बौद्ध धार्म का प्रचार किया।

शब्दावली-

ख धाम्म - नैतिक नीति

ख कलिंग - प्राचीन राज्य

ख अभिलेख - शिलालेख

ख स्तंभ - पत्थर का खंभा।

|| OM ||

ENGLISH COMMUNICATION SKILLS

BDPHAE-104

DIVYA PRAKASHAN

Table of Content

Block-1: Fundamentals of English language	**3-29**
Unit-1.1: Basics of Grammar	3-14
Unit-1.2: Vocabulary Building	15-20
Unit-1.3: Pronunciation and Phonetics	21-24
Unit-1.4: Everyday Expressions	25-29
Block-2: Reading and Listening Skills	**30-47**
Unit-2.1: Reading Comprehension	30-34
Unit-2.2: Summarizing and Paraphrasing	35-39
Unit-2.3: Active Listening	40-43
Unit-2.4: Note-Taking Strategies	44-47
Block-3: Speaking Skills	**48-66**
Unit-3.1: Introduction to Speaking	48-52
Unit-3.2: Speaking for social interaction	53-57
Unit-3.3: Descriptive and Narrative Speaking	58-61
Unit-3.4: Oral Presentation	62-66
Block-4: Writing Skills	**67-82**
Unit-4.1: Paragraph Writing	67-70
Unit-4.2: Letter Writing	71-74
Unit-4.3: Email Writing	75-78
Unit-4.4: Article Writing	79-82

BLOCK-1

FUNDAMENTALS OF ENGLISH LANGUAGE

Unit-1.1: Basics of Grammar

Learning Objectives

By the end of this unit, students will be able to:

1. Understand the meaning and importance of grammar in communication.
2. Identify and use the eight parts of speech correctly.
3. Differentiate between different types of nouns, pronouns, adjectives, verbs, and adverbs.
4. Use prepositions, conjunctions, and interjections appropriately in sentences.
5. Understand the use of articles “a,” “an,” and “the.”
6. Recognize and apply different tenses in English grammar.
7. Form affirmative, negative, interrogative, and negative interrogative sentences.
8. Improve sentence construction and communication skills through correct grammar usage.

1.1 Introduction

Grammar is the system and structure of a language. It provides the rules that help us form words and sentences correctly, so we can communicate clearly and effectively. Understanding basic grammar is essential for both speaking and writing.

At the core of grammar are the parts of speech, which are categories that define the function of words in a sentence. The main parts of speech include nouns (names of people, places, or things), pronouns (used in place of nouns), verbs (actions or states), adjectives (describe nouns), adverbs (describe verbs or adjectives), prepositions (show relationships), conjunctions (connect ideas), and interjections (express emotion).

Another important element of grammar is the use of articles — "a," "an," and "the." These small words come before nouns and help specify whether we’re talking about something general or specific.

Tenses are also a key part of grammar. They indicate the time an action takes place: the present (now), past (before now), and future (after now). Each tense helps us organize and express our thoughts clearly.

Mastering these basics of grammar builds a strong foundation for effective communication and is the first step in becoming confident in any language.

1.2

1.3 Parts of Speech

In the English language, every word has a job to do in a sentence. We group these words based on how they work or what they do. These groups are called parts of speech. Learning about the parts of speech helps us make correct and meaningful sentences.

There are eight main parts of speech in English. Let’s take a closer look at each of them.

1. **Nouns**

Definition: A noun is a word that is used to identify a person, place, thing, or idea.

Types of Nouns:

- Proper Nouns: These are specific names of people, places, or organizations. Examples: John, Paris, Microsoft
- Common Nouns: These are general names for people, places, or things. Examples: boy, city, company
- Abstract Nouns: These refer to ideas, feelings, or qualities that cannot be seen or touched. Examples: love, freedom, happiness
- Material Nouns: These are things you can see, touch, hear, smell, or taste. Examples: book, apple, car
- Collective Nouns: These are words used to name a group of people, animals, or things. Examples: team, family, flock

Examples

- 'Dog' is a common noun because it names a general animal.
- 'London' is a proper noun since it names a specific city.
- 'Courage' is an abstract noun because it refers to a quality we cannot touch.
- 'Sand' is a concrete noun as it is something we can see and touch.
- 'Army' is an example of a collective noun, as it names a group acting as one unit.

2. **Pronouns**

Definition: A pronoun is a word that takes the place of a noun to avoid repetition in a sentence.

Types of Pronouns:

- Personal Pronouns: Refer to specific people or things.
  Examples: he, she, it, they
- Possessive Pronouns: Indicate ownership or possession.
  Examples: my, your, his, her
- Relative Pronouns: Connect clauses or phrases to a noun.
  Examples: who, whom, whose, which, that
- Demonstrative Pronouns: Point to particular items or people.
  Examples: this, that, these, those
- Interrogative Pronouns: Used to ask questions.
  Examples: who, what, which
- Indefinite Pronouns: Refer to people or things without naming them exactly.
  Examples: someone, everyone, anything, nobody
- Reflexive Pronouns: Refer back to the subject of the sentence.
  Examples: myself, yourself, himself

Examples:

- He is laughing. *("He" replaces a specific person's name.)*
- This belongs to me. *("This" refers to a particular item.)*
- Who is at the door? *("Who" is used to ask a question.)*

3. **Adjectives**

Definition: An adjective is a word that gives more information about a noun or pronoun by describing, identifying, or quantifying it.

Types of Adjectives:

- Descriptive Adjectives: Describe the characteristics or qualities of a noun.
  Examples: happy, tall, green
- Quantitative Adjectives: Tell us how much or how many.
  Examples: few, several, many
- Demonstrative Adjectives: Indicate specific nouns.
  Examples: this, that, these, those
- Possessive Adjectives: Show who owns something.
  Examples: my, your, their
- Interrogative Adjectives: Used to ask questions about nouns.
  Examples: which, what, whose
- Comparative and Superlative Adjectives: Show differences in degree or quantity.
  Examples: smaller (comparative), smallest (superlative)

Examples:

- A red rose *(Descriptive – describes color)*
- Many books are on the shelf *(Quantitative – shows number)*
- That building is tall *(Demonstrative – points out a specific noun)*

4. **Verbs**

Definition: A verb is a word that shows an action, an event, or a state of being. Every complete sentence must contain at least one verb.

Types of Verbs:

- Action Verbs: These verbs describe something that a person, animal, or thing does—either physically or mentally.
  Examples: run, jump, think, write
- Linking Verbs: These do not show action. Instead, they link the subject of the sentence to more information about it.
  Examples: is, seem, become, appear
- Auxiliary (Helping) Verbs: These verbs are used along with the main verb to create different tenses, moods, or voices.
  Examples: is, are, was, have, will
- Modal Verbs: These verbs express ideas such as ability, possibility, necessity, or permission.
  Examples: can, should, must, might

Examples:

- She runs five miles every day. *(Action verb – "runs")*
- He is tired after work. *(Linking verb – "is")*
- They are going to the park. *(Auxiliary verb – "are" + main verb "going")*

- You should listen carefully. *(Modal verb – "should")*

5. **Adverbs**

Definition: An adverb is a word that modifies or gives more information about a verb, adjective, or another adverb. It often answers questions like how, when, where, or to what extent.

Types of Adverbs:

- Adverbs of Manner: Tell how something is done.
  Examples: gently, loudly, quickly
- Adverbs of Time: Tell when something happens.
  Examples: today, soon, yesterday
- Adverbs of Place: Tell where something happens.
  Examples: here, there, upstairs
- Adverbs of Frequency: Tell how often something happens.
  Examples: always, never, sometimes
- Adverbs of Degree: Show the intensity or extent of an action or quality.
  Examples: very, almost, quite

Examples:

- She speaks softly. *(Manner – describes how she speaks)*
- We'll leave soon. *(Time – tells when we'll leave)*
- The kids are playing outside. *(Place – tells where)*
- He often forgets his keys. *(Frequency – tells how often)*
- That movie was very interesting. *(Degree – tells how interesting)*

6. **Prepositions**

Definition: A preposition is a word that shows how a noun or pronoun relates to another word in a sentence. It often tells us location, time, direction, or relationship.

Common Prepositions:

- in, on, at, by, for, with, about, against, between, among, through, over, under, after, before, beside

Example Sentences:

- The book is on the table.
- She walked through the park.
- He sat beside her.

7. **Conjunctions**

Definition: A conjunction is a word that joins two or more words, phrases, or clauses within a sentence.

Types of Conjunctions:

- Coordinating Conjunctions: Join elements of equal grammatical importance.
  Examples: and, but, or, so, yet, nor, for
  Sentence: She likes tea and coffee.
- Subordinating Conjunctions: Link a dependent clause to an independent one.
  Examples: because, although, since, if, when
  Sentence: I'll go if you go.

- Correlative Conjunctions: Work in pairs to join similar elements.
  Examples: either...or, neither...nor, not only...but also
  Sentence: Neither you nor I am wrong.

8. **Interjections**

Definition: An interjection is a word or short phrase used to express sudden emotion, surprise, or reaction. Interjections are often followed by an exclamation mark.

Common Interjections:

- Oh!, Wow!, Ouch!, Hooray!, Alas!, Hey!, Bravo!

Example:

- Wow! That's amazing!
- Ouch! That really hurt!
- Hooray! We won the match!

1.3 Articles

Articles are words that define a noun as specific or unspecific. In English, there are three articles: a, an, and the. They are a type of determiner and are placed before nouns.

Types of Articles

1. Indefinite Articles – a and an

Indefinite articles are used when referring to a non-specific item or person. They are used only with singular countable nouns.

- Use "a" before words that begin with a consonant sound.
  Examples: a cat, a book, a university
  (Note: "university" starts with a "you" sound, a consonant sound)
- Use "an" before words that begin with a vowel sound (a, e, i, o, u).
  Examples: an apple, an elephant, an hour
  (Note: "hour" starts with a silent "h" and a vowel sound)

Examples:

- I saw a dog in the street. *(Any dog, not a specific one)*
- She ate an orange for breakfast. *(Any orange, not a particular one)*

2. Definite Article – the

The definite article "the" is used when referring to a specific noun—something that is already known to the speaker and listener, or is unique in context.

Use "the" when:

- The noun has already been mentioned.
- There is only one of something.
- The thing is unique or widely known.
- A phrase describes the noun and makes it specific.

Examples:

- I saw a cat. The cat was sleeping on the sofa. *(second mention = specific)*
- The sun is bright today. *(only one sun)*

- The book on the table is mine. *(specific due to description)*

1.4 Tenses

Tenses tell us when an action happens. They show if the action is happening now, happened before, or will happen later. The three main tenses are:

1. Present Tense
2. Past Tense
3. Future Tense

Each tense is divided into different types. Let's start with the Present Tense.

1. Simple Present Tense

This tense is used for facts that are always true, scientific truths, and actions we do regularly.

- Affirmative (Positive) sentence: Subject + base verb (add s/es for he, she, it) + object
  Example: She writes a letter.
- Negative sentence: Subject + does not + base verb + object
  Example: She does not write a letter.
- Question: Does + subject + base verb + object?
  Example: Does she write a letter?
- Negative question: Does + subject + not + base verb + object?
  Example: Does she not write a letter?

2. Present Continuous Tense

This tense is used for actions happening right now at the moment of speaking.

- Affirmative: Subject + is/am/are + verb + ing + object
  Example: She is writing a letter.
- Negative: Subject + is/am/are + not + verb + ing + object
  Example: She is not writing a letter.
- Question: Is/am/are + subject + verb + ing + object?
  Example: Is she writing a letter?
- Negative question: Is/am/are + subject + not + verb + ing + object?
  Example: Is she not writing a letter?

3. Present Perfect Tense

This tense shows an action that started in the past and is just finished or has a connection to the present.

- Affirmative: Subject + has/have + past participle (verb 3rd form) + object
  Example: She has written a letter.
- Negative: Subject + has/have + not + past participle + object
  Example: She has not written a letter.
- Question: Has/have + subject + past participle + object?
  Example: Has she written a letter?
- Negative question: Has/have + subject + not + past participle + object?
  Example: Has she not written a letter?

4. Present Perfect Continuous Tense

This tense is used for an action that started in the past and is still continuing now.

- Affirmative: Subject + has/have + been + verb + ing + object
  Example: She has been writing a letter.
- Negative: Subject + has/have + not + been + verb + ing + object
  Example: She has not been writing a letter.
- Question: Has/have + subject + been + verb + ing + object?
  Example: Has she been writing a letter?
- Negative question: Has/have + subject + not + been + verb + ing + object?
  Example: Has she not been writing a letter?

5. Simple Past Tense

It is used to:

- To describe actions that finished in the past.
- Often used with time words like *yesterday*, *last year*, or *two days ago*.
- Also used to talk about habits or repeated actions in the past.

Structure:

- Affirmative: Subject + past form of the verb (V2) + object
  Example: She wrote a letter.
- Negative: Subject + did not (didn't) + base verb (V1) + object
  Example: She didn’t write a letter.
- Question: Did + subject + base verb (V1) + object?
  Example: Did she write a letter?
- Negative Question: Did + subject + not + base verb (V1) + object?
  Example: Did she not write a letter?

6. Past Continuous Tense

It is used to describe an action that was happening at a specific time in the past.

Structure:

- Affirmative: Subject + was/were + verb + ing + object
  Example: She was writing a letter.
- Negative: Subject + was/were + not + verb + ing + object
  Example: She was not writing a letter.
- Question: Was/Were + subject + verb + ing + object?
  Example: Was she writing a letter?
- Negative Question: Was/Were + subject + not + verb + ing + object?
  Example: Was she not writing a letter?

7. Past Perfect Tense

It is used to show an action that was completed before another action or time in the past.

Structure:

- Affirmative: Subject + had + past participle (V3) + object
  Example: She had written a letter.

- Negative: Subject + had + not + past participle (V3) + object
  Example: She had not written a letter.
- Question: Had + subject + past participle (V3) + object?
  Example: Had she written a letter?
- Negative Question: Had + subject + not + past participle (V3) + object?
  Example: Had she not written a letter?

8. Past Perfect Continuous Tense

It is used to describe an action that started before a certain past time and continued up to that time.

Structure:

- Affirmative: Subject + had been + verb + ing + object
  Example: She had been writing a letter.
- Negative: Subject + had not been + verb + ing + object
  Example: She had not been writing a letter.
- Question: Had + subject + been + verb + ing + object?
  Example: Had she been writing a letter?
- Negative Question: Had + subject + not + been + verb + ing + object?
  Example: Had she not been writing a letter?

9. Simple Future Tense

It is used when talking about something that will happen in the future.

Structure: Subject + will/shall + base verb (V1)

Examples:

- Affirmative: She will write a letter.
- Negative: She will not write a letter.
- Interrogative: Will she write a letter?
- Interrogative Negative: Will she not write a letter?

10. Future Continuous Tense

It is used to describe an action that will be happening at a particular time in the future.

Structure: Subject + will/shall + be + verb (V1) + ing

Examples:

- Affirmative: She will be writing a letter.
- Negative: She will not be writing a letter.
- Interrogative: Will she be writing a letter?
- Interrogative Negative: Will she not be writing a letter?

11. Future Perfect Tense

It is used to describe an action that will be completed before a certain time in the future.

Structure: Subject + will/shall + have + past participle (V3)

Examples:

- Affirmative: She will have written a letter.
- Negative: She will not have written a letter.

- Interrogative: Will she have written a letter?
- Interrogative Negative: Will she not have written a letter?

12. Future Perfect Continuous Tense

It is used to describe an action that will start in the future and continue for some time before another point in the future.

Structure: Subject + will/shall + have been + verb (V1) + ing

Examples:

- Affirmative: She will have been writing a letter.
- Negative: She will not have been writing a letter.
- Interrogative: Will she have been writing a letter?
- Interrogative Negative: Will she not have been writing a letter?

1.5 Summary

Grammar plays a crucial role in developing strong communication skills. It provides the foundation for constructing clear, coherent, and meaningful sentences, enabling individuals to express their thoughts accurately. Whether in speaking or writing, proper grammar ensures that messages are understood as intended, reducing the risk of confusion or misinterpretation.

When learning communication skills, grammar helps in organizing ideas logically and presenting them professionally. It supports effective sentence structure, proper use of tenses, and appropriate word choices, all of which contribute to fluent and persuasive communication. For example, knowing how to use conjunctions and transition words improves the flow of conversation or writing, while correct punctuation adds clarity and impact.

Moreover, good grammar enhances credibility. In both personal and professional contexts, well-structured language reflects competence and attention to detail, helping build trust and respect. It also fosters better listening and comprehension skills, as understanding grammatical patterns aids in processing information more efficiently.

In summary, grammar is more than just a set of rules—it is a vital tool in mastering communication. A strong grasp of grammar strengthens both verbal and written interactions, allowing learners to express themselves with confidence, clarity, and precision in any situation.

1.6 Self-Assessment

Exercise 1: Identify the part of speech for each italicized word in the following sentences:

1. The *cat* sat on the mat.
2. She *quickly* finished her homework.
3. They are going to the *store.*
4. *Oh*! I forgot my keys.
5. I have *two* books to read.

Exercise 2: Fill in the blanks with the correct part of speech:

1. She runs _____ (Adverb) to catch the bus.
2. The _____ (Noun) is blue.
3. I will call you _____ (Preposition) the morning.
4. He is a _____ (Adjective) student.
5. _____ (Interjection)! You made it!

1.7 Points to Remember

- Grammar provides rules for correct language use.
- A sentence must contain at least one verb.
- Nouns name people, places, things, or ideas.
- Pronouns replace nouns to avoid repetition.
- Adjectives describe nouns or pronouns.
- Adverbs describe verbs, adjectives, or other adverbs.
- Prepositions show relationship, time, or position.
- Conjunctions join words, phrases, or clauses.
- Interjections express sudden emotions.
- Use “a” before consonant sounds and “an” before vowel sounds.
- Use “the” for specific nouns.
- Tenses show the time of an action.
- Present tense describes current or habitual actions.
- Past tense describes completed actions.
- Future tense describes actions that will happen later.

1.5 Vocabulary

- Subject – The person or thing doing the action.
- Object – The receiver of the action.
- Clause – A group of words with a subject and a verb.
- Phrase – A group of words without complete meaning.
- Specific – Clearly identified or particular.
- General – Not specific.
- Continuous – An action still happening.
- Habitual Action – An action done regularly.
- Emotion – A strong feeling.
- Modify – To change or add meaning to something.

1.6 Check Your Progress

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

1. Which part of speech names a person, place, or thing?

a) Verb

b) Noun

c) Adjective

d) Adverb

2. Which pronoun is used to ask a question?

a) He

b) This

c) Who

d) They

3. Which of the following is an adjective?

a) Quickly

b) Beautiful

c) Run

d) Under

4. Which verb is a modal verb?

a) Jump

b) Is

c) Can

d) Write

5. “She sings sweetly.” The word “sweetly” is:

a) Noun

b) Pronoun

c) Adjective

d) Adverb

6. Which preposition is used in the sentence: “The book is on the table”?

a) Book

b) Is

c) On

d) Table

7. Which conjunction joins equal words or clauses?

a) Subordinating conjunction

b) Coordinating conjunction

c) Interjection

d) Pronoun

8. Which article is used before a vowel sound?

a) A

b) An

c) The

d) No article

9. “She is writing a letter” is in:

a) Simple Present Tense

b) Present Perfect Tense

c) Present Continuous Tense

d) Simple Past Tense

10. Which tense describes an action completed before another action in the past?

a) Past Continuous

b) Simple Past

c) Past Perfect

d) Future Perfect

B. Short Answer Questions

1. Define noun with one example.
2. What is the function of a pronoun?
3. What are adjectives?
4. Define verb with an example.
5. What does an adverb modify?
6. What is a preposition?
7. What is the use of the definite article “the”?
8. Differentiate between present tense and past tense.
9. Define interjection with an example.
10. What is the use of the present perfect tense?

C. Long Answer Questions

1. Explain the importance of grammar in communication.
2. Discuss the eight parts of speech with suitable examples.
3. Explain the kinds of adjectives with examples.
4. Differentiate between simple, continuous, perfect, and perfect continuous tenses.

1.8 Suggested Readings

Murphy, Raymond. *English Grammar in Use: A Self-Study Reference and Practice Book for Intermediate Learners of English*. 5th ed., Cambridge University Press, 2019.

Swan, Michael. *Practical English Usage*. 4th ed., Oxford University Press, 2016.

Unit-1.2: Vocabulary building

Learning Objectives

By the end of this unit, students will be able to:

1. Understand the importance of vocabulary building in communication.
2. Define and identify synonyms and antonyms.
3. Use synonyms to improve variety and expression in language.
4. Recognize antonyms and understand opposite meanings of words.
5. Understand the role of prefixes and suffixes in word formation.
6. Identify common prefixes and suffixes with their meanings.
7. Develop strategies for learning and remembering new vocabulary.

2.1 Introduction

Vocabulary building is a fundamental part of mastering any language. A strong vocabulary enhances reading comprehension, writing clarity, and effective communication. It allows individuals to express thoughts more precisely and understand others more accurately. Building vocabulary involves more than just memorizing definitions; it includes learning word usage, pronunciation, synonyms, antonyms, and context. Daily reading, keeping a vocabulary journal, and using new words in conversation or writing can significantly improve word retention. Tools such as flashcards, word games, and vocabulary apps also make learning engaging and interactive. Additionally, understanding word roots, prefixes, and suffixes can help learners deduce meanings of unfamiliar words. Consistent exposure to new words across different subjects and settings ensures gradual and lasting vocabulary growth. Whether for academic success, professional advancement, or personal enrichment, developing a rich and varied vocabulary is an essential skill that benefits all areas of communication and lifelong learning.

2.2 Synonyms

Synonyms are words that have similar meanings and can be used in place of other words. While synonyms often convey the same idea, they do not always mean exactly the same thing. Instead, they are often close in meaning, serving as near-equivalents or suitable alternatives depending on the context.

Category	Word	Synonyms	Synonym
Noun	Paramour	Lover	Beau
Adjective	Pleasing	Alluring	Fetching
Verb	Scan	Swindle	Deceive
adverb	Candidly	Blatantly	Flagrantly

Use of Synonyms

Synonyms help add variety and richness to language, preventing repetition and making communication more engaging. They also allow speakers and writers to adjust their language to suit the level of formality or the specific situation.

In many cases, certain synonyms are more suitable for written language, while others are better suited for spoken communication. Typically, formal or refined words are used in writing, whereas simpler or more casual terms are preferred in everyday speech.

Additionally, the choice of synonym can depend on the speaker's tone or the emotion they wish to convey. Sometimes, a word may not fully express the intended feeling, so a more fitting synonym is chosen to reflect the right emotional intensity or mood.

2.3 Antonyms

Unlike synonyms, which share similar meanings, antonyms are words that have opposite meanings. Interestingly, one of the most effective ways to understand the meaning of a word is by exploring its opposite. Seeing how a word contrasts with its antonym often helps us grasp its true meaning more clearly.

List of Synonyms and Antonyms

Words	Synonyms	Antonyms
Abundant	Plentiful	Scarce
Benevolent	Kind-hearted	Malevolent
Candid	Frank	Deceitful
Diligent	Industrious	Negligent
Eloquent	Articulate	Inarticulate
Frivolous	Trivial	Serious
Gregarious	Sociable	Reserved
Hostile	Antagonistic	Friendly
Impeccable	Flawless	Imperfect
Judicious	Wise	Foolish
Keen	Sharp	Dull
Lucid	Clear	Confusing
Mundane	Ordinary	Extraordinary
Nefarious	Wicked	Virtuous
Obsolete	Outdated	Modern
Pragmatic	Practical	Idealistic
Quell	Suppress	Provoke
Resilient	Tough	Fragile
Skeptical	Doubtful	Trusting

Tedious	Boring	Exciting
Ubiquitous	Omnipresent	Rare
Versatile	Adaptable	Inflexible

2.4 Prefixes and Suffixes

- Prefix: A prefix is a group of letters added before a root word to alter its meaning. For example, adding "un-" to "happy" forms "unhappy," indicating the opposite.
- Suffix: A suffix is a group of letters added after a root word to change its form or grammatical function. For instance, adding "-ness" to "happy" creates "happiness," transforming the adjective into a noun.

Prefix	Meaning	Example Words
un-	not, opposite of	unhappy, unclear
re-	again	redo, rewrite
dis-	not, opposite of	disconnect, disagree
pre-	before	preview, preheat
mis-	wrongly	misplace, misunderstand
in-	not	inactive, incomplete
sub-	under	submarine, subterranean
inter-	between	international, interact
super-	above, beyond	supernatural, superhuman
anti-	against	antibiotic, antifreeze

Common Suffixes and Their Meanings

Suffix	Meaning	Example Words
-ness	state or quality of	kindness, darkness
-ly	characteristic of	quickly, softly
-ful	full of	joyful, careful
-able	capable of	readable, understandable
-ment	action or process	development, achievement
-er	one who performs an action	teacher, writer
-ous	having qualities of	dangerous, curious

2.5 Summary

Synonyms, antonyms, prefixes, and suffixes play a vital role in vocabulary development. Synonyms enhance language variety by providing alternative words with similar meanings, improving expression and writing style. Antonyms help learners understand word meanings through contrast, deepening comprehension. Prefixes and suffixes, known as affixes, modify the meanings of base words. Prefixes are added to the beginning of a word to change its meaning, while suffixes are added to the end to alter its form or function. Learning these elements helps decode unfamiliar words, boosts word recognition, and strengthens overall

2.6 Self-Assessment

Exercise 1: Choose the word closest in meaning to the highlighted word:

1. She was feeling very **weary**, so she decided to take a nap.
   (Synonym for "weary"): _____
2. The movie was so **hilarious** that everyone laughed out loud.
   (Synonym for "hilarious"): _____
3. Please be **quiet** during the presentation.
   (Synonym for "quiet"): _____

Exercise 2: Choose the word opposite in meaning to the highlighted word:

1. The water was very **hot**, but soon it turned _____.
   (Antonym for "hot")
2. He is always **generous**, unlike his _____ brother.
   (Antonym for "generous")
3. The room was full of **light**; now it's completely _____.
   (Antonym for "light")

Exercise 3: Add a prefix to change the meaning:

1. She was very _____happy after hearing the bad news.
   (Prefix meaning "not")
2. They had to _____build the house after the storm.
   (Prefix meaning "again")
3. This book is _____legal in some countries.
   (Prefix meaning "not" or "opposite of")

Exercise 4: Add a suffix to form a new word:

1. He is a very help_____ person.
   (Suffix to form a noun from "help")
2. She sang the song beautiful_____.
   (Suffix to form an adverb from "beautiful")
3. The child was very play_____ all day.
   (Suffix to form an adjective from "play")

2.7 Points to Remember

- Vocabulary building improves communication skills.
- A strong vocabulary helps in reading, writing, listening, and speaking.

- Synonyms are words with similar meanings.
- Antonyms are words with opposite meanings.
- Synonyms help avoid repetition in writing and speech.
- The choice of synonym depends on context and tone.
- Prefixes are added before root words to change meaning.
- Suffixes are added after root words to change form or function.
- Regular reading and practice improve vocabulary retention.
- Using new words in daily conversation strengthens learning.

2.6 Vocabulary List

- Context – The situation in which a word is used.
- Pronunciation – The way a word is spoken.
- Retention – The ability to remember something.
- Root Word – The basic form of a word.

2.7 Check Your Progress

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

1. What is the meaning of vocabulary building?

a) Learning grammar only

b) Improving word knowledge

c) Writing essays

d) Memorizing poems

2. Which of the following is a synonym of “diligent”?

a) Lazy

b) Industrious

c) Careless

d) Weak

3. Which word is an antonym of “hostile”?

a) Friendly

b) Angry

c) Dangerous

d) Proud

4. What does the prefix “re-” mean?

a) Before

b) Wrongly

c) Again

d) Against

5. Which suffix means “full of”?

a) -ly

b) -ful

c) -ness

d) -ment

B. Short Answer Questions

1. What is vocabulary building?
2. Define synonyms with one example.
3. Why are synonyms important in communication?
4. What is a prefix?
5. Define suffix with an example.

C. Long Answer Questions

1. Explain the importance of vocabulary building in language learning.
2. Describe different methods for improving vocabulary.
3. Explain the importance of context while learning new words.

2.8 Suggested Readings

Flemming, Lara. *Vocabulary 4000: Essential Words for the GRE and Other Tests*. Nova Press, 2011.

Nurnberg, Maxwell, and Morris Rosenblum. *1100 Words You Need to Know*. 7th ed., Barron's Educational Series, 2013.

Sedita, Joan. *Keys to Vocabulary Building*. Sopris West Educational Services, 2005.

Unit -1.3: Pronunciation and Phonetics

Learning Objectives

By the end of this unit, students will be able to:

1. Understand the concepts of pronunciation and phonetics.
2. Identify different types of syllables in English words.
3. Recognize and apply word stress and sentence stress correctly.
4. Understand the role of intonation in spoken communication.
5. Improve speaking clarity and listening skills through proper pronunciation.

3.1 Introduction

Pronunciation and phonetics are essential aspects of effective spoken communication. Pronunciation refers to the way words are spoken, including sounds, stress, and intonation. Phonetics is the study of speech sounds and how they are produced, transmitted, and perceived. It helps learners understand how sounds function in different languages and how to accurately produce them. Mastering pronunciation improves clarity, reduces misunderstandings, and boosts confidence in speaking. Phonetic tools, like the International Phonetic Alphabet (IPA), assist in learning correct sounds. Together, pronunciation and phonetics play a crucial role in developing strong speaking and listening skills in any language.

3.2 Syllables in English

A syllable is a part of a spoken word that is bigger than a single sound (called a phoneme). It is a unit of pronunciation that we say without any break. A syllable often has one vowel sound (or a diphthong), and it can be surrounded by consonants. Every word has at least one syllable.

There are different types of words based on how many syllables they have:

- Monosyllabic words (1 syllable): examples – *was*, *book*
- Disyllabic words (2 syllables): examples – *water*, *sister*, *apple*
- Trisyllabic words (3 syllables): examples – *inferno*, *linguistics*

3.3 Stress

Stress in phonetics can be divided into several types:

a. Word Stress

This refers to emphasis on a particular syllable in a word. English words of more than one syllable usually have one syllable that is stressed more than the others.

Examples:

- ‘TAble (/ˈteɪ.bəl/) – stress on the first syllable
- a’bout (/əˈbaʊt/) – stress on the second syllable

Word stress patterns can vary between nouns and verbs:

- ‘REcord (noun) vs. re’CORD (verb)

b. Sentence Stress

In sentences, certain words are stressed while others are not. Content words (nouns, main verbs, adjectives, and adverbs) are usually stressed, while function words (articles, auxiliaries, prepositions) are usually unstressed.

Example:

- *She ‘BOUGHT a new ‘CAR.*
  (“Bought” and “car” are stressed because they are content words.)

c. Primary and Secondary Stress

Longer words can have more than one stressed syllable. The main stress is called primary stress, and the less prominent one is secondary stress.

Example:

- /ˌɪn.təˈnæʃ.ə.nəl/ – the word *international* has secondary stress on the first syllable and primary stress on the third.

3.4 Intonation

Intonation is how the rise and fall of voice shows what a speaker feels or means. By changing the pitch (how high or low the voice sounds), we can show if we are sure, unsure, excited, bored, and more. For example, we can say “yes” in a way that actually sounds like “no.”

When we listen, we often understand people’s feelings just by hearing small changes in how they speak. We might say someone sounded sad, tired, proud, sarcastic, or something else. These feelings are shown through small changes in pitch and loudness.

Even though intonation is very important in spoken English, it is only shown a little in written English, using punctuation like full stops, commas, question marks, and exclamation marks.

Good writers try to show these feelings in writing using other ways. One simple way is using adverbs. For example: *“How are you today?” he asked cheerfully.*

3.4 Summary

Pronunciation and phonetics are closely connected to syllables, stress, and intonation, all of which influence spoken language clarity and meaning. Syllables are the basic units of sound in words, and understanding those helps with proper word division and rhythm. Stress refers to the emphasis placed on certain syllables or words, which can change meaning (e.g., *record* as a noun vs. *record* as a verb). Intonation involves the rise and fall of pitch in speech, conveying emotions, questions, or statements. Together, these elements form the foundation of natural and effective pronunciation, enhancing both communication and comprehension skills.

3.5 Self-Assessment

Exercise 1: Syllable Counting and Stress Placement

Instructions: Read each word aloud. Count the number of syllables and mark the stressed syllable by underlining it or saying it louder.

1. **computer**
2. **elephant**
3. **photograph**
4. **banana**
5. **important**

Example answer: com**PU**ter (3 syllables, stress on 2nd syllable)

Exercise 2: Word Stress Practice

Instructions: Some English words change meaning depending on stress. Pronounce each pair and identify the difference:

1. **REcord** (noun) / reCORD (verb)
2. **PREsent** (noun) / preSENT (verb)
3. **CONtract** (noun) / conTRACT (verb)

Try to say each word with the correct stress and notice how meaning changes.

Exercise 3: Intonation Patterns

Instructions: Read the sentences aloud with the indicated intonation.

- **Rising intonation (used for yes/no questions):**
  "Are you coming to the party?"
- **Falling intonation (used for statements):**
  "I'm going to the store."
- **Rising-falling intonation (used for surprise or strong feelings):**
  "Wow, that's amazing!"

Record yourself and listen for natural pitch changes.

3.6 Points to Remember

1. Pronunciation is the correct way of speaking words.
2. Phonetics is the study of speech sounds.
3. Clear pronunciation improves communication and confidence.
4. A syllable is a unit of pronunciation containing a vowel sound.
5. Every English word has at least one syllable.
6. Stress means giving extra emphasis to certain syllables or words.
7. Word stress changes the pronunciation and sometimes the meaning of words.
8. Content words are usually stressed in sentences.
9. Intonation refers to the rise and fall of the voice while speaking.
10. Intonation helps express feelings, attitudes, and emotions in communication.

Vocabulary List

- Phonetics – The study of speech sounds.
- Speech Sound – A sound produced during speaking.
- IPA (International Phonetic Alphabet) – A system of symbols used to represent sounds.
- Pitch – The highness or lowness of the voice.
- Content Words – Important meaning words in a sentence.
- Function Words – Grammatical words used for structure.
- Tone – The emotional quality of speech.
- Articulation – The clear production of speech sounds.

Check Your Progress

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

1. What does pronunciation refer to?

a) Writing words

b) Reading silently

c) The way words are spoken

d) Learning grammar

2. What is phonetics?

a) Study of sentences

b) Study of speech sounds

c) Study of literature

d) Study of grammar

3. How many syllables does the word “book” have?

a) One

b) Two

c) Three

d) Four

4. Which of the following is a disyllabic word?

a) Pen

b) Apple

c) Inferno

d) Cat

5. Stress on a particular syllable in a word is called:

a) Sentence stress

b) Word stress

c) Intonation

d) Pitch

B. Short Answer Questions

1. What is pronunciation?
2. Define phonetics.
3. What is a syllable?
4. Give two examples of monosyllabic words.
5. What are disyllabic words?
6. Define stress in phonetics.
7. What is intonation?

C. Long Answer Questions

1. Explain the importance of pronunciation and phonetics in spoken communication.
2. Explain primary and secondary stress in detail.
3. What is intonation? Explain its functions in communication.
4. Explain the importance of the International Phonetic Alphabet (IPA).
5. Discuss the importance of syllables in English pronunciation.

3.7 Suggested Readings

Clark, John, and Colin Yallop. *An Introduction to Phonetics and Phonology*. 4th ed., Wiley-Blackwell, 2016.

Cruttenden, Alan. *Gimson's Pronunciation of English*. 8th ed., Routledge, 2014.

Ladefoged, Peter, and Keith Johnson. *A Course in Phonetics*. 7th ed., Cengage Learning, 2014.

Roach, Peter. *English Phonetics and Phonology: A Practical Course*. 4th ed., Cambridge University Press, 2009.

Unit-1.4: Everyday Expressions

Learning Objectives

By the end of this chapter, learners will be able to:

1. Understand the meaning and use of everyday expressions in English.
2. Use greetings and social expressions appropriately in conversations.
3. Express likes, dislikes, and opinions using common phrases.
4. Recognize and use idiomatic expressions in daily communication.
5. Improve fluency and confidence in informal spoken English.

4.1 Introduction

Everyday expressions, also called common phrases or idiomatic expressions, are frequently used in spoken and informal English. These expressions help make conversations sound natural, fluent, and more expressive. They are often non-literal, meaning their meanings are not always clear from the individual words. Let's look at different types of everyday expressions with examples.

1.2 **Greetings and Social Expressions**

These are used to start or end conversations or express politeness.

- Hi! / Hello! – Informal ways to greet someone.
    - *Hi! How are you today?*
- How's it going? – A casual way of asking how someone is.
    - *Hey, John! How's it going?*
- Take care! – Used when saying goodbye, showing concern.
    - *See you tomorrow. Take care!*

1.3 **Expressing Likes, Dislikes, and Opinions**

These help express what we feel or think.

- I'm into... – I like or enjoy something.
    - *I'm really into photography these days.*
- Not my cup of tea – Not something I enjoy.
    - *Horror movies are not my cup of tea.*
- In my opinion... – To share what you think.
    - *In my opinion, we should leave early.*

1.4 **Making and Responding to Requests**

These are useful in polite conversation.

- Can you give me a hand? – Can you help me?
    - *Can you give me a hand with this box?*
- No problem! / Sure! – Common replies to requests.
    - *Can I borrow your pen? – Sure, no problem!*

1.5 **Idiomatic Expressions**

Idioms are fixed expressions whose meanings are different from the literal meanings.

- Break the ice – To start a conversation in a social situation.

- *He told a joke to break the ice.*

- Hit the books – To study hard.
  - *I have exams next week, so I need to hit the books.*
- Under the weather – Feeling sick or unwell.
  - *I'm feeling a bit under the weather today.*

1.6 Everyday Exclamations and Reactions

These show emotions like surprise, happiness, or frustration.

- No way! – Used to show surprise or disbelief.
  - *You met Taylor Swift? No way!*
- That's great! – To show happiness or support.
  - *You got the job? That's great!*
- What a pity! – To show sympathy or regret.
  - *She missed the concert? What a pity!*

1.7 Small Talk Phrases

These help in casual, friendly conversations.

- Nice weather, isn't it? – Common small talk about the weather.
- Long time no see! – Used when you haven't seen someone for a while.
  - *Hey, long time no see! How have you been?*

1.8 Summary

Everyday expressions are common phrases used in daily conversations to communicate effectively and naturally. They include greetings, polite requests, apologies, and casual remarks that help build rapport and ease interactions. Learning these expressions improves fluency and cultural understanding, making conversations smoother and more meaningful. Using everyday expressions appropriately also boosts confidence in speaking and listening, aiding communication in social, academic, and professional settings.

1.9 Self-Assessment

Exercise 1: Fill in the blanks with the correct everyday expression from the box:

(Thank you, How are you?, Excuse me, Sorry, See you later, Congratulations)

1. "_____ for helping me with my homework!"
2. "_____, could you please pass me the salt?"
3. "_____ on your new job!"
4. "_____, I didn't mean to bump into you."
5. "_____, what's new with you?"
6. "I have to go now. _____!"

Exercise 2: Match the expressions on the left with the correct situation on the right:

Expressions	Situations
1. Good morning	a) Greeting someone in the morning
2. Sorry to bother you	b) Apologizing politely

Expressions	Situations
3. Nice to meet you	c) Meeting someone for the first time
4. Take care	d) Saying goodbye
5. No problem	e) Responding to thanks

1.10 Points to Remember

- Everyday expressions make English sound natural and fluent.
- Idioms often have meanings different from the literal words.
- Polite expressions are important in social communication.
- Small talk helps build friendly relationships and conversations.
- Regular practice of common expressions improves speaking skills.

Vocabulary

- Greeting – Words used to welcome someone.
- Idiomatic Expression – A phrase whose meaning is different from the literal meaning of the words.
- Opinion – A personal belief or idea.
- Exclamation – A sudden expression of emotion.
- Casual – Informal and relaxed.
- Fluency – The ability to speak smoothly and naturally.
- Request – A polite way of asking for help or something.
- Sympathy – Feelings of care or sadness for someone.
- Conversation – A talk between two or more people.
- Expression – A phrase or way of speaking to communicate feelings or ideas.

Check Your Progress

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

1. "How's it going?" is used to:

a) Say goodbye

b) Ask how someone is

c) Express anger

d) Give directions

2. "Take care!" is commonly used when:

a) Greeting someone

b) Asking for help

c) Saying goodbye

d) Expressing surprise

3. "Not my cup of tea" means:

a) I love tea

b) I dislike something

c) I want tea

d) I am thirsty

4. “Break the ice” means:

a) To destroy something

b) To cool a drink

c) To start a conversation comfortably

d) To stop talking

5. “Hit the books” means:

a) Throw books away

b) Buy books

c) Study hard

d) Read for fun

6. “Under the weather” means:

a) Feeling sick

b) Enjoying rain

c) Feeling energetic

d) Travelling outside

7. “No way!” expresses:

a) Happiness

b) Surprise or disbelief

c) Anger

d) Fear

8. “Can you give me a hand?” means:

a) Shake hands

b) Help someone

c) Clap hands

d) Draw a hand

9. “Long time no see!” is used when:

a) Meeting after a long time

b) Saying goodbye

c) Asking for help

d) Giving advice

10. “In my opinion...” is used to:

a) Ask questions

b) Share ideas or beliefs

c) Express surprise

d) Give commands

B. Short Answer Questions

1. What are everyday expressions?

2. Why are idiomatic expressions important in communication?

3. Give two examples of greetings.
4. What does “under the weather” mean?
5. Write one phrase used for making requests.

B. Long Answer Questions

1. Explain the importance of everyday expressions in spoken English.
2. Describe different types of greetings and social expressions with examples.
3. Explain the meaning and use of idiomatic expressions with suitable examples.

1.11 Suggested Readings

McCarthy, Michael, and Felicity O’Dell. *English Idioms in Use: Advanced*. Cambridge University Press, 2005.

Murphy, Raymond. *English Grammar in Use*. 5th ed., Cambridge University Press, 2019.

BOCK-2 Reading and Listening Skills
Unit-2.1: Reading Comprehension

Learning Objectives

After studying this topic, learners will be able to:

1. Understand the meaning and importance of reading comprehension.
2. Differentiate between skimming and scanning techniques.
3. Use skimming to identify the main idea of a passage quickly.
4. Use scanning to locate specific information in a text.
5. Improve reading speed, vocabulary, and critical thinking skills.

1.1 Introduction

Reading comprehension is the ability to understand, interpret, and analyze written texts effectively. It goes beyond simply decoding words to grasping the meaning, context, and purpose of the material. Strong reading comprehension skills enable readers to identify main ideas, make inferences, and evaluate information critically. These skills are essential for academic success, professional communication, and everyday life. Developing reading comprehension involves practicing active reading strategies such as summarizing, questioning, and predicting. Regular reading of diverse materials, from stories to articles, enhances vocabulary and critical thinking, helping readers become confident and effective learners and communicators.

1.2 Reading Strategies: Skimming and Scanning Techniques

There are different ways to read a text quickly when you just need to get the main idea or find specific details. Two useful techniques are called skimming and scanning. These methods are helpful when you're reading something difficult or doing early research. They save time and help you decide if the text is useful before reading it completely.

What is Skimming?

Skimming means reading quickly to understand the main ideas of a text. It helps you read faster and decide if the material is worth reading in full.

How to Skim:

1. Start by reading the first few paragraphs carefully to understand the general topic.
2. Then, read only the first sentence of each paragraph. These sentences often give the main idea.
3. If a paragraph seems important, skim through it for key details like dates, names, or events.
4. In the last paragraphs, where the conclusion or summary is usually found, read more carefully.

What is Scanning?

Scanning is used when you are looking for specific information (like a date, name, or answer to a question) in a text. You don’t read the whole thing—just the parts that help you find what you need.

How to Scan:

1. First, quickly skim the text to see if it might contain the information you're looking for.
2. Think of keywords related to your question, then look through the text for those words.
3. Once you find a keyword, read the surrounding sentences to see if they contain the information you need.

Why Use Skimming and Scanning?

These two techniques are helpful when:

- You need to go through a lot of material quickly
- You're doing research and want to see if a source is useful
- You're short on time but still need to understand or find key information

1.2 Summary

Skimming and scanning are fast reading techniques that improve comprehension. Skimming involves quickly glancing through a text to grasp the main ideas and overall meaning. Scanning focuses on locating specific information or keywords without reading everything. Both strategies save time and help readers understand content efficiently. Using skimming and scanning together enhances reading speed and accuracy, making it easier to process large amounts of information in academic, professional, and everyday contexts.

1.3 Self-Assessment

1. Read the passage and answer the following questions:

This past decade has witnessed a surge in wildlife tourism that has doubled and tripled the tourist load in several of the more accessible national parks and reserves. But serious infrastructural shortcomings have brought us precariously close to a breakdown of the ecosystem‘s capacity to absorb this load. The result is an unsatisfactory tourist experience (and an opportunity to impart conservation values lost), overworked, pressurized and confused wildlife staff, and occasional man-animal confrontation crises such as man-killing by tigers. Not to speak of the ecosystem that is being battered by humans. A road area, which accommodated four vehicles a day, ten years ago, is now being used by 12 a day. The road area wildlife population of that area has in any case gone up. A collision of interests is inevitable. An important function of wildlife refuges is to encourage tourism, recognizing that it forms an ideal —hands-on method of orienting, educating, and winning the hearts and minds of the general public over to conservation values and concepts. This can only be achieved by communication with tourists before and during their visits to a wildlife refuge. The —interpretation as it is generally referred to, is properly done by having an interpretation centre7, consisting of photographic, written and audio-visual exhibits supplemented by free or priced literature and a person on hand to answer the queries of visitors. Tourists should perforce be routed through this facility by the simple expedient they have some time to see it while their entry permits are being prepared. The general message should be the history of the wildlife refuge as a conservation microcosm, interesting facts of some of the species it supports, and an explanation of the mechanics of an ecosystem and its relevance to man, plus codes of conduct specific to the area and to wildlife and jungles in general. This should be backed up by a cadre of trained naturalist guides, preferably from the local population, who should accompany the tourists in the refuge. In some of our wildlife refuges, very poor facilities for this sort of thing exist. In most, none exist at all. The result is tourist traffic, which is generally quite ignorant of wildlife, ecology, and conservation values, who leave the refuge no wiser than when they came in, leaving behind for good measure the detritus of their presence: plastic bags, cigarette packets, bottle, paper, a lot of which is non-biodegradable and toxic. Added to this is the fact that wildlife guards and rangers are often diverted from their normal work monitoring and managing wildlife and the ecosystem –and made to guide tourists and generally be at the back and call of people, irrelevant to the priorities of the wildlife refuge.

A. Which of the following is not true in the context of the passage?

(a) The forest staff are diverted from their normal work
(b) The priorities of the wildlife are sometime ignored by the forest staff.
(c) The tourists are generally equipped with the necessary knowledge of wildlife
(d) The tourists leave behind lots of toxic disposals

B. According to the passage, the main purpose of bringing tourists in the forest areas is

(a) to involve the general public in maintaining the ecosystem
(b) to educate the general public about wildlife and ecosystem
(c) to reduce the wildlife population
(d) to make them understand the codes of conduct of the jungles

C. Which of the following best explain this according to the passage?

(a) Unwillingness to build more road area vis-à-vis load of vehicular traffic
(b) Development of tourism vis-à-vis the conservation of the ecosystem
(c) Better tourist capability vis-à-vis lack of funds
(d) Positioning people to ecosystem and also destruction of the ecosystem.

D. What, according to the author, should be the step to improve the situation?

(a) Tourists should be briefed about the nature of wildlife and jungle
(b) Tourists should be briefed about the inter-relation between man and animals
(c) Tourists should be briefed about the information before they enter the jungle
(d) All of these.

E. What according to the author, will win the hearts and minds of the general public?

(a) Providing them with better facilities.
(b) Providing them with trained guides
(c) Providing them with good food articles
(d) Providing them with better communication about the wildlife refuge

F. What, according to the passage, should the forest staff be engaged in?

(a) They should look after the well-being of wildlife
(b) They should take care of the habitat of wildlife
(c) They should provide tourists with necessary information about wildlife.
(d) They should take the help of the local people to take care of the tourists.

G. The main concern expressed by the author in the above passage is to

(a) improve facilities for tourists
(b) build more road areas
(c) restrict wildlife population
(d) balance the ecosystem by careful planning.

H. Which of the following words is most nearly the same in meaning as the words —on hand as used in the passage?

(a) practical
(b) available
(c) useful
(d) knowledgeable

I. Man-animal confrontation, according to the passage leads to

(a) Killing of tigers by man
(b) Killing of animals by other animals
(c) Confusion of wildlife staff
(d) Destruction of mutual bond

J. What, according to the author, is the main reason for the near collapse of the capacity of the ecosystem of wildlife refuges?

(a) Increase in tourist inflow
(b) Felling of trees indiscriminately
(c) Absence of adequate wildlife habitat
(d) Absence of adequate infrastructural

1.4 Points to Remember

1. Reading comprehension means understanding and interpreting written text.
2. Skimming helps readers get the general idea of a passage quickly.
3. Scanning helps readers find specific information such as dates, names, or facts.
4. Active reading strategies improve understanding and memory.
5. Regular reading practice develops vocabulary and communication skills.

Vocabulary

1. Comprehension – the ability to understand something clearly.
2. Interpret – to explain or understand the meaning of something.

3. Analyze – to examine something carefully in detail.
4. Inference – a conclusion reached using evidence and reasoning.
5. Context – the situation or background related to a text or event.
6. Strategy – a planned method used to achieve a goal.
7. Skimming – reading quickly to get the main idea of a text.
8. Scanning – searching a text quickly for specific information.
9. Vocabulary – the collection of words a person knows and uses.
10. Critical Thinking – careful and logical thinking used to understand or evaluate ideas.

Check Your Progress

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

1. What is reading comprehension?

a) Reading loudly

b) Understanding and interpreting a text

c) Memorizing words

d) Writing quickly

2. Which technique is used to find the main idea quickly?

a) Scanning

b) Writing

c) Skimming

d) Speaking

3. Scanning is mainly used to:

a) Read every word carefully

b) Find specific information

c) Improve handwriting

d) Translate a text

B. Short Answer Questions

1. What is reading comprehension?
2. Define skimming.
3. Define scanning.
4. Mention one benefit of skimming.
5. Why is vocabulary important in reading comprehension?

C. Long Answer Questions

1. Explain the importance of reading comprehension in academic and daily life.
2. Describe the steps involved in skimming a passage.
3. Differentiate between skimming and scanning.

1.5 Suggested Readings

Anderson, Neil J. *Active Skills for Reading*. 4th ed., Cengage Learning, 2017.

Kintsch, Walter. *Learning and Understanding: A Cognitive Approach to Reading*. Cambridge University Press, 1998.

Unit-2.2: Summarizing and Paraphrasing

Learning Objectives

After studying this topic, learners will be able to:

1. Understand the meaning and purpose of summarizing and paraphrasing.
2. Differentiate between summarizing and paraphrasing.
3. Identify the important points in a text for summarizing.
4. Rewrite sentences and paragraphs using their own words.
5. Use summarizing and paraphrasing skills in academic and everyday communication.

2.1 Introduction

Summarizing and paraphrasing are essential skills for understanding and communicating information clearly. Summarizing involves briefly stating the main ideas of a text in your own words, focusing on the most important points. Paraphrasing means restating the original content more fully but using different wording and sentence structure while preserving the meaning. Both techniques help avoid plagiarism, improve comprehension, and enhance writing. Effective summarizing and paraphrasing require reading carefully, identifying key ideas, and expressing them concisely or in a new way. These skills are valuable for academic writing, research, and everyday communication.

2.2 Summarizing

It's hard to remember all the details of a long text. That's why it helps to write down the main points. A summary is a short version of a full text, giving only the most important information. You can summarize an article, a conversation, or a research paper in one paragraph or a few bullet points.

Why Do We Summarize?

- To understand long texts more easily.
- To focus on key points and remove unneeded details.
- To explain difficult ideas in a simple way.

A summary is usually much shorter than the original. It may be about one-third the length, but it depends on how detailed the text is.

Steps for Writing a Good Summary

Step 1: Understand the Text

- First, read the text carefully.
- For long texts like reports, summarize one section at a time.
- For short texts like news articles, read the whole thing first.

Step 2: Pick Out Important Information

- Go through each paragraph and ask: *What is the main idea?*
- Write full, clear sentences if possible.
- You can also underline or highlight key words and sentences.

Step 3: Shorten and Simplify

- Change long or complex sentences into shorter ones.
- Use active voice and keep your words simple.
- Use one word instead of long phrases (e.g., *monopolizes* instead of "exclusively controls and possesses").

Step 4: Use Linking Words

- Make sure ideas are connected clearly.
- Use linkers like *because, however, but, therefore*, etc.
- Use pronouns like *who, which, that* to avoid repeating words.

Step 5: Check the Length

- If there is a word limit, count your words.
- Add or remove information to fit the required length.

2.3 Paraphrasing

To paraphrase means to rewrite something using different words but keeping the same meaning. This is also called saying something "in your own words."

Paraphrasing is often used instead of quoting directly. It helps explain information more clearly.

When to Paraphrase

- A sentence or short part of a text.
- A paragraph.
- Descriptions of tables or data.

Steps for Paraphrasing

Step 1: Read the Text Carefully

- Understand the meaning of the sentence or paragraph.
- Mark key words or technical terms.

Step 2: Look Up Hard Words

- Find synonyms or easier ways to say difficult words.

Step 3: Rephrase Phrases

- Try different ways to say the same thing using simpler words.

Step 4: Rewrite Each Sentence

- Change the structure and vocabulary but keep the meaning.

Step 5: Cover the Text and Write from Memory

- Try writing the paraphrase without looking at the original.

Step 6: Check Your Work

- Compare your version with the original.
- Make sure the meaning is the same and your wording is clear.

Difference between Summarizing and Paraphrasing

Summarizing	Paraphrasing
i. You only need to show the main ideas of the writer. ii. You want to give a short overview of the whole text. iii. You want to simplify a long or complex piece of writing.	You want to use someone else's ideas in your own words. You do not want to use direct quotes. The ideas are more important than how they were originally written.

2.4 Summary

Summarizing condenses a text to its main ideas using fewer words, while paraphrasing restates information in different words without changing the meaning. Both skills improve understanding, prevent plagiarism, and enhance writing by allowing clear and original expression of others' ideas in academic and everyday contexts.

2.5 Self-Assessment

Exercise 1: Summarising

Instructions: Read the short paragraph below and write a summary in 2-3 sentences focusing on the main points.

Paragraph: Regular exercise improves physical and mental health. It strengthens the heart, muscles, and bones, and helps maintain a healthy weight. Exercise also reduces stress, boosts mood, and increases energy levels.

Write your summary here:

Exercise 2: Paraphrasing

Instructions: Rewrite the following sentences in your own words without changing the meaning.

1. The sun rises in the east and sets in the west.

2. Drinking plenty of water helps keep the body hydrated and functioning properly.

3. Reading books regularly can improve vocabulary and comprehension skills.

2.6 Points to Remember

1. A summary gives only the main ideas of a text in a shorter form.
2. Paraphrasing rewrites the original text using different words while keeping the same meaning.
3. Summarizing and paraphrasing help avoid plagiarism.
4. Good summaries are clear, concise, and connected with linking words.
5. Effective paraphrasing requires changing both vocabulary and sentence structure.

Vocabulary

1. Plagiarism – copying someone else's work without giving credit.
2. Concise – brief but clear and complete.

3. Simplify – to make something easier to understand.
4. Technical Terms – special words used in a particular subject or field.
5. Linking Words – words used to connect ideas, such as however, because, and therefore.
6. Overview – a general summary or outline of something.

Check Your Progress

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

1. What is the main purpose of summarizing?

a) To copy the whole text
b) To explain only grammar
c) To present the main ideas briefly
d) To translate the text

2. Paraphrasing means:

a) Memorizing a text
b) Rewriting in different words with the same meaning
c) Copying directly from a book
d) Shortening every sentence

3. Which of the following helps avoid plagiarism?

a) Direct copying
b) Ignoring the source
c) Summarizing and paraphrasing
d) Repeating the same sentence

4. Which is commonly used in summaries to connect ideas?

a) Numbers
b) Linking words
c) Symbols
d) Diagrams

5. In paraphrasing, you should:

a) Keep the exact wording
b) Change only punctuation
c) Change vocabulary and sentence structure
d) Remove all important ideas

B. Short Answer Questions

1. What is summarizing?
2. What is paraphrasing?
3. Why do we summarize texts?
4. Mention two steps in writing a good summary.
5. Why is paraphrasing important in academic writing?

C. Long Answer Questions

1. Differentiate between summarizing and paraphrasing with examples.
2. Discuss the importance of summarizing and paraphrasing in communication and research.
3. Explain how summarizing and paraphrasing help improve writing skills and comprehension.

2.7 Suggested Readings

Langan, John. *College Writing Skills with Readings*. 10th ed., McGraw-Hill Education, 2014.

Purdue Online Writing Lab. "Paraphrase: Write It in Your Own Words." *Purdue OWL*, Purdue University.

Unit-2.3: Active Listening

Learning Objectives

After studying this topic, learners will be able to:

1. Understand the meaning and importance of active listening.
2. Differentiate between hearing and listening.
3. Identify the benefits of active listening in communication.
4. Apply the five key elements of active listening in conversations.
5. Improve communication and relationship-building skills through effective listening.

1.1 Introduction to Listening

Listening is a very important part of good communication, but most students are not taught how to listen well. Many people think that just hearing someone speak is the same as listening — but it's not.

- Hearing is a natural, physical action. You hear sounds without trying.
- Listening means you are paying attention on purpose. It takes effort and practice to become a good listener.

3.2 Why Active Listening Is Important?

Being able to share your thoughts and feelings clearly is part of communication. But it's just as important to listen carefully to what others are saying. Active listening helps improve understanding between people.

If you listen actively:

- You understand the speaker better.
- You show respect and interest.
- You avoid misunderstandings.
- You create better connections with others.

Benefits of Active Listening

When you listen actively, you:

- Encourage others to share more.
- Show that you're paying attention.
- Make the conversation feel comfortable.
- Show that you're interested and care.

Even if you don't agree with someone, listening helps you understand their point of view and prevents confusion.

Using active listening in conversations can help you:

- Reduce stress and tension.
- Communicate better with teachers and classmates.
- Build stronger relationships.

3.3 Five Key Elements of Active Listening

Here are five important things to do when listening actively:

1. Pay Attention

- Face the person who is speaking.
- Focus fully on them.

- Don’t check your phone, watch, or look around.
- Avoid talking to others at the same time.

2. Show You’re Listening
   - Use open and friendly body language.
   - Don’t cross your arms or look bored.
   - Nod or smile when appropriate.
   - Use small words like “yes,” “I see,” or “uh-huh” to encourage the speaker.
3. Give Feedback
   - Ask questions to show interest.
   - Repeat back what the speaker said in your own words.
   - Ask for clarification if you don’t understand.
   - Give short summaries of what you’ve heard.
4. Respond Respectfully
   - Share your opinion politely.
   - Don’t interrupt or speak in a rude way.
   - Be honest but kind in your response.
   - Use a calm and respectful tone.
5. Hold Back Judgment
   - Don’t jump to conclusions.
   - Try to understand how the speaker feels.
   - Let the person finish before you reply.
   - Be open-minded and patient.

1.4 Summary

Active listening is a communication skill that involves fully concentrating, understanding, and responding thoughtfully to a speaker. It requires paying attention to verbal and nonverbal cues, avoiding interruptions, and providing feedback such as nodding or asking questions. This technique improves mutual understanding, builds trust, and prevents misunderstandings. Practicing active listening enhances relationships in personal, academic, and professional settings by fostering clearer, more effective communication.

1.5 Self-Assessment

Exercise 1: Listen and Repeat

Instructions**:** Have a partner read a short paragraph or statement aloud. Your task is to:

1. Listen without interrupting.
2. Repeat back what they said in your own words (paraphrase).
3. Ask one clarifying question.

Exercise 2: Multiple Choice Questions

1. Which of the following is a key element of active listening?
   a) Interrupting politely
   b) Thinking of your reply while others speak
   c) Giving full attention to the speaker

d) Multitasking while listening

2. What does paraphrasing help demonstrate in active listening?
   a) Disagreement with the speaker
   b) Understanding of what was said
   c) Memorization skills
   d) Ability to summarize text

3. Which is an example of nonverbal active listening?
   a) Rolling your eyes
   b) Maintaining eye contact
   c) Checking your phone
   d) Tapping your fingers

1.6 Points to Remember

1. Hearing is automatic, but listening requires attention and effort.
2. Active listening improves understanding and reduces misunderstandings.
3. Good listeners use positive body language and feedback.
4. Respectful responses help create comfortable conversations.
5. Active listening strengthens relationships and communication skills.

Vocabulary

1. Active Listening – listening carefully with full attention and understanding.
2. Communication – the process of sharing information and ideas.
3. Attention – focusing carefully on something.
4. Feedback – a response or reaction to what someone says.
5. Body Language – communication through gestures, posture, and expressions.
6. Open-minded – willing to consider different ideas and opinions.
7. Encourage – to give support or confidence to someone.

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

1. What is the difference between hearing and listening?

a) Hearing needs effort
b) Listening is automatic
c) Listening requires attention and focus
d) Hearing and listening are the same

2. Which of the following is a benefit of active listening?

a) More confusion
b) Better understanding
c) Poor communication
d) Less interaction

3. Which action shows active listening?

a) Checking your phone

b) Interrupting the speaker

c) Nodding and maintaining eye contact

d) Looking away frequently

4. Why is feedback important in active listening?

a) It ends the conversation quickly

b) It shows attention and understanding

c) It changes the topic

d) It avoids communication

5. What should a good listener avoid?

a) Paying attention

b) Asking questions

c) Jumping to conclusions

d) Responding politely

B. Short Answer Questions

1. What is active listening?
2. How is listening different from hearing?
3. Mention two benefits of active listening.
4. What is the role of feedback in communication?

C. Long Answer Questions

1. Explain the importance of active listening in communication.
2. Describe the five key elements of active listening.
3. Explain how body language supports active listening.

1.7 Suggested Readings

Nichols, Ralph G., and Leonard A. Stevens. *Are You Listening?*. McGraw-Hill, 1957.

Purdy, Michael, and Deborah Borisoff. *Listening in Everyday Life: A Personal and Professional Approach*. 3rd ed., University Press of America, 1997.

Unit-2.4: Note Taking Strategies

Learning Objectives

After studying this topic, learners will be able to:

1. Understand the importance of note-taking during listening activities.
2. Identify effective strategies for taking notes while listening.
3. Use abbreviations, symbols, and headings in notes.
4. Distinguish between main ideas and supporting details.
5. Improve concentration, memory, and revision skills through note-taking

4.1 Introduction

Note-taking is an essential skill for academic success, especially during listening activities such as lectures, seminars, group discussions, or audio lessons. It allows students to record key ideas, understand the content better, and recall important information later. While reading allows you to go back and re-read, listening is time-bound — once the words are spoken, they're gone. This is why having strong note-taking strategies is vital.

Taking notes while listening is not about writing down everything you hear. Instead, it's about identifying and recording main points, supporting details, and key concepts in a way that makes sense to you and is easy to review later.

4.2 Why Note-Taking during Listening is Important?

1. Improves concentration: You stay focused when you actively listen for important points.
2. Boosts understanding: Writing key ideas down helps you process and understand the content more deeply.
3. Helps memory retention: You're more likely to remember information when you write it in your own words.
4. Supports revision: Notes act as a personalized summary of what you learned.
5. Encourages critical thinking: While listening, you evaluate what's worth noting and what's not.

Before You Start Listening: Preparation Tips

Effective note-taking starts before the listening activity begins. Here are steps to help you prepare:

- Review related materials: If you know the topic in advance, read up on it or review your previous notes.
- Understand the purpose: Know why you're listening. Are you preparing for an exam? Writing a report?
- Choose a note-taking method: Be ready with a system that suits you (explained below).
- Set up your tools: Have a notebook, pens, highlighters, or a laptop ready.
- Sit where you can hear clearly: Good listening depends on good audio.

While Listening: Strategies for Effective Note-Taking

1. Focus on Main Ideas

You won't be able to write down everything. Instead, focus on:

- Main topics and themes
- Definitions and explanations
- Lists or steps in a process
- Important dates, names, places
- Repeated or emphasized points

Signal phrases such as *"The key point is…"*, *"This means…"*, or *"For example…"* often indicate something important.

2. Use Abbreviations and Symbols

Speed matters during listening, so shorten your writing:

- b/c = because
- w/ = with; w/o = without
- ex. = example
- vs. = versus
- → = leads to/result
- & = and
- ↑ = increase; ↓ = decrease

3. Use Headings and Highlight Key Information

Make your notes easier to review:

- Use headings and subheadings to break up the content.
- Underline, highlight, or use asterisks to mark important points.
- Use bullet points to list related items clearly.

4. Leave Space for Review and Editing

Leave blank lines between sections or topics. This gives you space to:

- Add missing information later
- Clarify unclear points
- Add page numbers or symbols during revision

4.3 Summary

Note-making after listening involves recording key ideas, facts, and concepts from spoken information. It helps improve understanding, memory, and focus. By identifying main points and organizing them clearly, listeners can retain information more effectively. This skill is especially useful in lectures, meetings, or presentations. Good note-making requires active listening, selecting relevant content, and using formats like bullet points or mind maps to capture and review essential details efficiently.

4.4 Self-Assessment

Exercise 1: Listen and Note

Instructions: Listen to a short audio clip (e.g., a TED Talk, podcast, or class lecture) for 2–3 minutes.

While listening, write down the main ideas, supporting details, and keywords.

After Listening:

- Organize your notes using bullet points or headings.
- Summarize the content in 2–3 sentences based on your notes.

Exercise 2: Note-Making from a Video

Instructions: Watch a short educational video (e.g., on YouTube or Khan Academy).

While watching, create a mind map or outline with these sections:

- Topic
- Key concepts

- Examples
- Conclusion or summary

4.5 Points to Remember

1. Note-taking helps record and organize important information.
2. Good notes focus on key ideas rather than every spoken word.
3. Abbreviations and symbols make note-taking faster and easier.
4. Headings, bullet points, and highlights improve readability.
5. Leaving space in notes helps during revision and clarification.

Vocabulary

1. Seminar – a group discussion or class focused on a topic.
2. Retention – the ability to remember information.
3. Revision – reviewing material for better understanding or exams.
4. Abbreviation – a shortened form of a word or phrase.
5. Highlight – to mark important information.
6. Concentration – focused attention on a task.
7. Critical Thinking – careful analysis and evaluation of ideas.

Check Your Progress

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

1. Why is note-taking important during listening activities?

a) It wastes time

b) It improves understanding and memory

c) It replaces listening completely

d) It avoids concentration

2. Which of the following should you mainly focus on while taking notes?

a) Every spoken word

b) Main ideas and key points

c) Unrelated details

d) Only difficult words

3. Why should you leave space in your notes?

a) To make notes longer

b) To decorate the page

c) To add information during revision

d) To avoid writing

Short Answer Questions

1. What is note-taking?
2. Mention two benefits of note-taking during listening.
3. How do headings and highlights help in reviewing notes?

Long Answer Questions

1. Explain the importance of note-taking during listening activities.
2. Discuss the strategies for effective note-taking while listening.
3. Explain how abbreviations and symbols improve note-taking speed.

4.6 Suggested Readings

Hamp-Lyons, Liz, and Ben Heasley. *Study Writing: A Course in Written English for Academic and Professional Purposes*. 2nd ed., Cambridge University Press, 2006.

Gilchrist, Pamela. *Effective Note Taking*. 3rd ed., Learning Matters, 2014.

BLOCK-3 SPEAKING SKILLS
Unit-3.1: Introduction to Speaking

Learning Objectives

After studying this topic, learners will be able to:

1. Understand the importance of speaking skills in communication.
2. Identify the elements of good speaking.
3. Differentiate between verbal and non-verbal communication.
4. Recognize common challenges in speaking and communication.
5. Apply strategies to improve speaking and communication skills.

1.1 Introduction to Speaking

Speaking is one of the most essential skills in human communication. It is the primary method of expressing thoughts, ideas, and emotions. Whether we are interacting in daily life, giving a presentation, attending an interview, or making friends, speaking plays a key role in how we connect with others.

Speaking is more than just producing sounds or words; it involves clarity, tone, emotion, confidence, and sometimes body language. It is a skill that can be improved with practice, feedback, and active listening.

Importance of Speaking Skills

i. For Personal Growth

- Speaking helps you build confidence.
- It improves your ability to express ideas clearly and logically.
- Good speaking skills help in making friends, participating in discussions, and expressing emotions in a healthy way.

ii. For Academic and Professional Success

- In education, students with strong speaking skills can present ideas effectively, participate in group discussions, and perform well in interviews.
- In professional life, speaking is essential for teamwork, leadership, negotiations, and client interactions.
- Clear communication avoids misunderstandings and builds trust and cooperation.

iii. For Social Interaction

- Speaking allows people to share information, ask questions, and build relationships.
- It is essential for effective communication in both formal and informal settings.

iv. For Leadership and Influence

- Great leaders are also great speakers. They inspire others with their words.
- Public speaking and the ability to communicate a vision are critical leadership qualities

1.2 Elements of Good Speaking

To speak well, one must focus on several important elements:

- Fluency: Speaking smoothly without unnecessary pauses.
- Clarity: Pronouncing words clearly and using correct grammar.
- Confidence: Speaking with self-assurance and a clear voice.
- Vocabulary: Using the right words to express meaning accurately.

- Tone and pitch: Changing your voice depending on the emotion or purpose.
- Engagement: Keeping the listener interested through eye contact, gestures, and energy.

1.3 Verbal Communication: Definition and Basics

Verbal communication refers to the use of spoken or written words to convey a message. It is the most direct and commonly used form of communication.

Types of Verbal Communication

1. Oral Communication:
    - Face-to-face conversations
    - Presentations or speeches
    - Telephone or video calls
    - Meetings or interviews
2. Written Communication:
    - Emails, letters, and memos
    - Text messages and chat
    - Reports and academic writing

Features of Effective Verbal Communication

- Clarity of message: The listener or reader should understand what you mean.
- Conciseness: Avoid unnecessary words.
- Relevance: Stick to the topic.
- Proper tone: Adjust your voice or writing style depending on the situation (formal or informal).
- Active listening: Communication is a two-way process.

1.4 Non-Verbal Communication: Definition and Basics

Non-verbal communication involves expressing ideas or emotions without using words. It includes body language, facial expressions, and tone of voice, gestures, posture, and even eye contact.

Sometimes, non-verbal cues communicate more than words. They support or contradict what is being said and can often reveal true feelings.

Types of Non-Verbal Communication

1. Facial Expressions
    - Smiling, frowning, or raising eyebrows can express happiness, confusion, or surprise.
2. Gestures
    - Hand movements, nodding, or shaking the head indicate agreement or disagreement.
3. Posture and Body Movement
    - Standing straight shows confidence, while slouching may show lack of interest.
4. Eye Contact
    - Good eye contact shows attention and honesty. Avoiding it may suggest nervousness or dishonesty.
5. Tone and Voice Quality
    - A calm tone can make you seem trustworthy. Loud or harsh tones can create discomfort.
6. Appearance and Dress

- The way you dress or groom yourself can communicate professionalism or personal attitude.

7. Space (Proxemics)
    - Physical distance between people during conversation reflects familiarity or formality.
8. Touch (Haptics)
    - A handshake or pat on the back may convey friendliness or approval.

1.5 Relationship between Verbal and Non-Verbal Communication

Verbal and non-verbal communication work together. Often, non-verbal cues:

- Reinforce what is being said.
- Contradict verbal communication (e.g., saying "I'm fine" with a sad face).
- Substitute words (e.g., nodding instead of saying "yes").
- Regulate conversation (e.g., raising a hand to speak).

Understanding and using both forms effectively helps you become a better communicator.

1.6 Common Challenges in Speaking and Communication

- Fear of public speaking: Many people feel nervous when speaking in front of others.
- Lack of vocabulary: Not knowing the right words to use.
- Pronunciation issues: Difficulties with sounding out words clearly.
- Poor body language: Sending mixed or negative signals unintentionally.
- Cultural differences: Gestures or tones can mean different things in different cultures.

1.7 How to Overcome These Challenges

- Practice speaking in front of a mirror or with friends.
- Read books and listen to good speakers (TED Talks, news, etc.).
- Improve vocabulary through regular learning.
- Work on voice clarity and body posture.
- Learn about cultural sensitivities when communicating globally.

1.8 Tips to Improve Speaking and Communication Skills

- Think before you speak: Organize your thoughts.
- Use simple and clear language: Avoid jargon or complex words unless necessary.
- Practice active listening: Pay attention to others and respond thoughtfully.
- Be aware of your body language: Match your gestures with your words.
- Record and listen to yourself: This helps you notice mistakes and improve.
- Seek feedback: Ask others how you can improve your speaking skills.
- Participate in group discussions or public speaking forums: Practice is key.

1.9 Summary

Speaking is a vital communication skill that allows individuals to express thoughts, share ideas, and build relationships. It plays a key role in personal, academic, and professional settings. Effective speaking enhances confidence, clarity, and influence. It also helps in problem-solving, collaboration, and leadership. Developing speaking skills improves the ability to persuade, inform, and connect with others, making it essential for success

in everyday interactions and future opportunities.

1.10 Self-Assessment

Exercise 1: Role-Play

Instructions: Pair up and act out a common real-life scenario. Example topics:

- Ordering food at a restaurant
- Asking for directions
- Attending a job interview
- Making a phone call

Goal: Practice formal and informal speaking, tone, and clarity.

Exercise 3: Topic Talk (1-Minute Challenge)

Instructions: Pick a random topic (e.g., hobbies, travel, technology, etc.) and speak about it for 60 seconds without stopping.

Tips:

- Don't worry about mistakes—focus on fluency.
- Use transition words like "first," "next," "for example," and "in conclusion."

1.11 Points to Remember

1. Speaking is an essential skill for expressing thoughts, ideas, and emotions.
2. Good speaking involves fluency, clarity, confidence, and proper vocabulary.
3. Verbal communication uses spoken or written words, while non-verbal communication uses body language and gestures.
4. Active listening is an important part of effective communication.
5. Regular practice and feedback help improve speaking skills.

Vocabulary

1. Communication – the exchange of information, ideas, or feelings.
2. Fluency – the ability to speak smoothly and easily.
3. Clarity – the quality of being clear and understandable.
4. Confidence – belief in one's abilities and self-assurance.
5. Vocabulary – the set of words a person knows and uses.
6. Gesture – a movement of the hands or body used to express meaning.
7. Posture – the way a person holds their body while standing or sitting.
8. Eye Contact – looking directly at someone during communication.

Check Your Progress

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

1. Why are speaking skills important?

a) They only help in exams

b) They improve communication and confidence

c) They are useful only in professional life

d) They reduce interaction

2. Which of the following is an element of good speaking?

a) Silence

b) Fluency

c) Ignoring listeners

d) Hesitation

3. What is verbal communication?

a) Communication through body language

b) Communication using spoken or written words

c) Communication through signs only

d) Communication without sound

4. Which is an example of non-verbal communication?

a) Writing a letter

b) Giving a speech

c) Smiling and nodding

d) Sending an email

B. Short Answer Questions

1. Mention two benefits of good speaking skills.
2. What is verbal communication?
3. Give two examples of non-verbal communication.
4. Why is active listening important in communication?

C. Long Answer Questions

1. Explain the importance of speaking skills in personal, academic, and professional life.
2. Differentiate between verbal and non-verbal communication with examples.
3. Explain the tips and strategies to improve speaking and communication skills.

1.12 Suggested Readings

Carnegie, Dale. *The Quick and Easy Way to Effective Speaking*. Pocket Books, 1990.

Bailey, Kathleen. *Practical English Language Teaching: Speaking*. McGraw-Hill Education, 2005.

Unit-3.2: Speaking for Social Interaction

Learning Objectives

After studying this topic, learners will be able to:

1. Understand the importance of speaking for social interaction.
2. Introduce themselves confidently in different situations.
3. Use polite and appropriate expressions while speaking.
4. Share personal information clearly and effectively.
5. Develop confidence in social and academic communication.

2.1 Introduction

2.2 Introducing Yourself

Introducing yourself is important — it helps make a good first impression. A good introduction can help start a new friendship, partnership, or conversation in a positive way.

Why Is It Important?

The first time you meet someone, how you introduce yourself can affect how they see you. Whether you're meeting classmates, teachers, or new colleagues, a confident introduction makes you seem friendly and open.

What Should You Say?

When introducing yourself, keep it short, polite, and friendly. Depending on the place and situation, you can use different phrases.

Imagine you're in a college classroom, and the teacher asks everyone to introduce themselves. Here are some ways to do it:

Common Expressions to Introduce Yourself:

- My name is [Your Name].
  Example: My name is Priya.
- I'm [Your Name].
  Example: I'm Rahul.
- Nice to meet you, I'm [Your Name].
  Example: Nice to meet you, I'm Anjali.
- Pleased to meet you, I'm [Your Name].
  Example: Pleased to meet you, I'm Zaid.
- Let me introduce myself. I'm [Your Name].
  Example: Let me introduce myself. I'm Vikram.
- I'd like to introduce myself. I'm [Your Name].
  Example: I'd like to introduce myself. I'm Neha.

Example Introduction (in a college setting):

"Hi everyone!

My name is Aisha. I'm from Hyderabad. I've just joined the English Literature course. I enjoy reading novels and listening to music. I'm really excited to be here and looking forward to learning with all of you!"

List to comprise in your introduction:

Your name	My name is Murgesh Vadivel. My name's Ragini Pillai. I'm Suresh Gopinathan I'm Ismail. I'm Priyanka Sundar…. I'm Rajalakshmi, people call me Raji. Never say, "Myself Rajiv". This is wrong.
The school you premeditated in	I studied at GRT school. I have completed my schooling at MMT, Vellore. I studied in the prestigious Vivekananda Vidyalaya in Coimbatore. I studied in a famous school in Mysore, the Sri Vidyalaya. I am a proud product of the Chennai School. I studied in the same school in which our former President, APJ Abdul Kalam studied.
The place you live/come from	I'm from Vellore. I live in T Nagar I live in Gopal Nagar while my home town is in Trichy. I come from Madurai. I'm put up in the hostel on campus .I come from Delhi. I am staying at my aunt's. I come from Meenakshi's abode, Madurai. I come from the mango district, Salem. (Remember not to use My native place is)
A little about your hobbies	I'm deeply interested in football, I was part of my school team I love playing the sitar I take a special interest in philately and I have 2000 stamps of 175 countries. Folk music has always fascinated me. I have been learning Karagattam for the past five years. I like watching tennis and cricket: they are my favourite sports.

A few details of your family	We are six at home, including me I have two siblings. I have a sister, who is older to me I have a brother younger than I. I have a brother and two sisters. All my siblings are older than me. I have four siblings, I am the youngest. I am the only child. I live with my grandparents.

2.3 Summary

Speaking for social interaction involves using language to build relationships, express feelings, and engage in everyday conversations. It includes greetings, small talk, asking questions, and showing interest in others. Effective social speaking enhances connection, cooperation, and empathy. It requires active listening, appropriate tone, and clear expression. Developing this skill helps individuals communicate confidently in personal, academic, and professional settings, fostering stronger bonds and a sense of belonging in social groups.

2.4 Self-Assessment

Exercise 1: Greetings and Introductions

Instructions: Practice greeting people in different situations (formal and informal). Then introduce yourself and ask basic questions like:

- "What's your name?"
- "Where are you from?"
- "What do you do?"

Goal: Build confidence in starting conversations.

Exercise 2: Small Talk Practice

Instructions: In pairs or groups, have short conversations about common topics:

- Weather
- Weekend plans
- Hobbies
- Favorite food

Try to keep the conversation going with follow-up questions.

Exercise 3: Question and Response

Instructions: Prepare a list of common social questions (e.g., "How was your day?" "Do you have any pets?"). Take turns asking and answering these questions naturally.

Exercise 4: Expressing Opinions and Feelings

Instructions: Practice expressing simple opinions and feelings:

- "I like this movie because…"
- "I feel happy when…"
- "I think the food here is…"

Encourage using polite phrases like “I believe,” “In my opinion,” or “That sounds interesting.”

2.5 Points to Remember

1. A good introduction creates a positive first impression.
2. Introduce yourself politely, clearly, and confidently.
3. Use simple and friendly language during social interaction.
4. Maintain eye contact and positive body language while speaking.

Vocabulary

1. Interaction – communication between people.
2. Confidence – belief in your abilities.
3. Conversation – an informal talk between people.
4. Colleague – a person you work or study with.
5. Impression – an opinion formed about someone.

Check Your Progress

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

1. Why is introducing yourself important?

a) To avoid communication

b) To create a good first impression

c) To end conversations quickly

d) To confuse others

2. Which of the following is a correct introduction?

a) Myself Rahul

b) My Rahul

c) I’m Rahul

d) Me Rahul

3. What should you include in a self-introduction?

a) Only your name

b) Name, background, hobbies, and interests

c) Only your hobbies

d) Only your family details

4. Which quality is important during social interaction?

a) Rudeness

b) Confidence

c) Silence

d) Anger

B. Short Answer Questions

1. What is social interaction?
2. Why is self-introduction important?
3. Mention two expressions used for introducing yourself.

C. Long Answer Questions

1. Explain the importance of speaking for social interaction.
2. Discuss the role of confidence and politeness in social communication.
3. How can good speaking skills help in building relationships and creating opportunities?

2.6 Suggested Readings

Burns, Anne, and Helen Joyce. *Focus on Speaking*. Cambridge University Press, 1997.

Bygate, Martin. *Speaking*. Oxford University Press, 1987.

Unit-3.3: Descriptive and Narrative Speaking

Learning Objectives

After studying this topic, learners will be able to:

1. Understand the meaning and purpose of descriptive and narrative speaking.
2. Identify the features of descriptive speaking.
3. Recognize the structure and elements of narrative speaking.
4. Use vivid language and storytelling techniques effectively.
5. Improve speaking skills through descriptive and narrative communication.

3.1 Introduction

In spoken communication, different purposes call for different styles of speaking. Two common and important types are descriptive speaking and narrative speaking. These forms help speakers effectively express details and share experiences with clarity and engagement. Mastering these techniques is essential for improving overall speaking skills, whether in academic presentations, storytelling, interviews, or casual conversations.

This guide explores the meaning, structure, features, and examples of both descriptive and narrative speaking, and offers practical tips to develop these skills.

3.2 What is Descriptive Speaking?

Descriptive speaking is the act of using spoken language to describe a person, place, object, event, or situation in detail. It paints a mental picture for the listener by using vivid language and sensory details.

Purpose:

- To help the listener visualize or understand something
- To create a clear and detailed impression
- To express feelings or opinions about the subject

When is it used?

- Describing a scene in storytelling
- Introducing people or places in a speech
- During interviews (e.g., "Describe your hometown")
- Explaining settings or environments in presentations

Key Features of Descriptive Speaking:

1. Sensory Details – Involves the five senses: sight, sound, smell, touch, and taste. *E.g., "The bakery smelled of fresh cinnamon and warm bread."*
2. Vivid Adjectives and Adverbs – These add depth to descriptions. *E.g., "She wore a bright red dress with flowing sleeves."*
3. Spatial Order – Descriptions may be organized from top to bottom, left to right, etc., to help structure speech logically.
4. Use of Figurative Language – Metaphors, similes, and personification make speech more expressive. *E.g., "The lake was a mirror, reflecting the golden sun."*
5. Clear Focus – The speaker focuses on one subject at a time for clarity

Structure of Descriptive Speaking:

1. Introduction: Briefly introduce what you are going to describe.

2. Main Body: Use sensory and vivid language to describe features, characteristics, or surroundings.
3. Conclusion: End with a personal comment or summary that reflects the importance or impact of the description.

Example: Descriptive Speaking Sample

"My grandmother's kitchen is a small, cozy space filled with warmth and memories. The walls are painted a soft yellow, like sunlight captured in a room. The smell of fresh herbs, onions, and garlic fills the air, and the sound of bubbling curry from the stove brings comfort. The wooden table, worn by time, tells stories of family meals and laughter."

3.3 What is Narrative Speaking?

Narrative speaking involves telling a story or recounting an event or series of events. It includes characters, setting, conflict, and resolution, just like in written storytelling. The goal is to entertain, inform, or share experiences.

Purpose:

- To entertain an audience
- To share personal or fictional stories
- To connect emotionally with listeners
- To teach a lesson or convey a message through storytelling

When is it used?

- Storytelling sessions
- Giving a personal experience in a speech or interview
- Recounting events in a historical or social context
- Delivering motivational or inspirational talks

Key Features of Narrative Speaking:

1. Chronological Order – Events are usually shared in the order they happened.
2. Characters and Setting – The speaker introduces people and places involved.
3. Conflict or Problem – A challenge or situation gives the story direction.
4. Climax and Resolution – The most intense point followed by how things ended.
5. Dialogue and Emotions – Including direct speech and emotional elements adds realism and engagement.

Structure of Narrative Speaking:

1. Introduction: Set the scene. Mention the time, place, and background.
2. Beginning of the Story: Introduce characters and the starting situation.
3. Middle/Conflict: Explain the main events and any problems faced.
4. Climax: Share the turning point or most exciting moment.
5. Resolution/Ending: Tell how the situation ended and what was learned.

Example: Narrative Speaking Sample

"Last summer, I got lost during a hiking trip in the Western Ghats. I had set out early in the morning with just a backpack and map, but halfway through the trail, I took a wrong turn. As I walked further into the woods, I realized I was alone and had no signal. Panic set in. I remembered my guide's advice: stay calm and follow the stream downhill. After nearly two hours of wandering, I saw a familiar sign and eventually found my way back

to the group. That day, I learned to never underestimate the power of preparation and calm thinking."

3.4 Summary

Descriptive and narrative speaking are key oral communication styles. Descriptive speaking focuses on vividly detailing people, places, or events using sensory language to help listeners visualize. Narrative speaking tells a story or recounts events in a structured, engaging way, often including characters, settings, and a clear sequence. Both styles enhance speaking fluency, creativity, and listener engagement, making them valuable for storytelling, presentations, and effective everyday communication.

3.5 Self-Assessment

Exercise 2: Tell a Personal Story (Narrative Speaking)

Instructions: Talk for 1–2 minutes about a real experience. Include:

- When and where it happened
- Who was involved
- What happened (beginning, middle, end)
- How you felt

Examples:

- Your first day at school
- A holiday or celebration
- A time you learned a lesson

💬 Exercise 3: Describe Without Naming

Instructions:

Choose an object, place, or person and describe it **without saying the name**. Others must guess what it is.

Example:

"It's small, round, and you use it every morning to wake up." (Answer: Alarm clock)

3.6 Points to Remember

1. Descriptive speaking creates a clear mental picture using sensory details and vivid language.
2. Narrative speaking tells a story or recounts events in sequence.
3. Descriptive speaking focuses on details, while narrative speaking focuses on events and actions.
4. Good descriptive and narrative speaking includes emotions, clarity, and engagement.
5. Proper structure helps listeners understand and enjoy the speech.

Vocabulary

1. Descriptive Speaking – speaking that explains or describes something in detail.
2. Narrative Speaking – speaking that tells a story or sequence of events.
3. Sensory Details – descriptions related to sight, sound, smell, touch, and taste.
4. Figurative Language – expressive language such as similes and metaphors.
5. Chronological Order – arranging events in the order they happened.
6. Conflict – a problem or challenge in a story.
7. Climax – the most exciting or important moment in a story.
8. Resolution – the ending or solution to a problem in a story.

Check Your Progress

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

1. What is the purpose of descriptive speaking?

a) To argue with others

b) To create a clear picture for listeners

c) To give instructions only

d) To memorize facts

2. Which of the following is a feature of descriptive speaking?

a) Chronological order

b) Sensory details

c) Conflict

d) Dialogue

3. Narrative speaking mainly involves:

a) Describing objects only

b) Telling a story or event

c) Giving definitions

d) Listing facts

4. What is the climax in a narrative?

a) The introduction

b) The setting

c) The most exciting moment

d) The conclusion only

5. Which type of language makes descriptive speaking more expressive?

a) Technical language

b) Figurative language

c) Mathematical language

d) Formal language only

B. Short Answer Questions

1. What is descriptive speaking?
2. What is narrative speaking?
3. Mention two features of descriptive speaking.

C. Long Answer Questions

1. Explain the meaning and importance of descriptive speaking.
2. Describe the structure and features of narrative speaking.
3. Differentiate between descriptive and narrative speaking with examples.

3.7 Suggested Readings

Heathfield, David. *Storytelling with Our Students: Techniques for Telling Tales from Around the World*. DELTA Publishing, 2014.

Unit-3.4: Oral Presentation

Learning Objectives

After studying this topic, learners will be able to:

1. Understand the importance of oral presentations in academic and professional settings.
2. Identify the stages of planning, practicing, and presenting effectively.
3. Organize presentation content with a clear introduction, body, and conclusion.
4. Use body language, voice, and visual aids confidently during presentations.
5. Develop effective speaking and audience engagement skills.

4.1 Introduction

Oral presentations are a common requirement in colleges and professional settings. Students, teachers, researchers, and business professionals all need to share information with others—and speaking effectively is key. Whether it's in a classroom, at a conference, or during a team meeting, being able to present ideas clearly and confidently is an essential skill for academic and career success.

4.2 How to deliver successful presentation?

1. Planning
2. Practicing
3. Presenting

Step 1: Planning the Presentation

Good presentations begin with good planning. In fact, most mistakes in oral presentations happen during this stage because of poor preparation.

Know Your Audience

- Focus on what your audience needs to understand—not just what you want to say.
- Think about their background knowledge and interest level in your topic.
- Limit your presentation to three to five main points so the audience can remember them easily.

Structure Your Content

Organize your presentation clearly:

Introduction

- Introduce yourself and your credentials if necessary.
- Start with something interesting: a surprising fact, a question, or a short story.
- State your topic clearly and explain its importance.
- Give a brief overview of the main points you'll cover.

Main Body

- Go into detail on each key point.
- Use clear explanations, examples, data, or visuals to support your ideas.
- Help the audience follow along by using transitions, such as "Next," "In contrast," or "Let's move on."
- Include analogies or stories to make complex ideas easier to understand.

Conclusion

- Signal that you're wrapping up (e.g., "To conclude…").
- Summarize the main points briefly.

- Suggest any next steps or actions if applicable.
- End with a polite “Thank you.”
- Invite questions: “I’d be happy to take any questions now.”

Step 2: Practicing the Presentation

Once your content is ready, practice is crucial to smooth delivery and confidence.

Tips for Practicing

- Record yourself and play it back to check for pace, clarity, body language, and filler words.
- Use highlighters or symbols in your notes to remind you when to pause, change slides, or emphasize key ideas.
- Practice in front of friends or classmates and ask for feedback on:
    - Clarity and tone of voice
    - Flow and organization
    - Engagement level
- Repeat your practice multiple times. The more familiar you are with your material, the more natural and confident you will be.

Step 3: Presenting with Confidence

When it’s time to deliver your presentation, your goal is to connect with your audience and present your message clearly.

Tips for Delivering the Presentation

- Make Eye Contact: Don’t just read from your slides or notes. Look at different people in the audience to keep them engaged.
- Stand up Straight: Good posture shows confidence.
- Smile and Show Enthusiasm: If you care about your topic, your audience will too.
- Speak Clearly and Slowly: Nervous speakers often talk too fast. Pause between points and give your audience time to absorb the information.
- Use Gestures: Hand movements can help emphasize points and make your presentation more dynamic.
- Project Your Voice: Make sure everyone, even at the back of the room, can hear you.
- Avoid Filler Words: Try not to use “um,” “like,” “you know,” or “okay” too often. Practice can help reduce these.
- Dress Neatly: Wear something suitable for the occasion to show respect for your audience.

Using Visual Aids in Presentations

Visual aids are useful tools that can help explain your ideas, support your points, and make your presentation more interesting. However, they must be used correctly to be effective.

Tips for Using Visual Aids:

- Face the Audience: Don’t turn your back to look at the screen or block the view with your body.
- Explain the Visual: Tell the audience what they’re looking at. For example, describe what the X and Y axes show on a graph.
- Guide Attention: Point out the key parts of the visual that you want the audience to focus on. Then, clearly explain those parts.

- Keep It Clear and Attractive: Make sure your visuals are easy to read and look neat and organized.
- Support, Don't Compete: Your visual aids should support your speech—not distract from it. Avoid putting too much text or too many pictures on one slide. Your visuals and your spoken words should work together so the audience can follow easily.

4.3 Summary

An oral presentation is a structured spoken delivery of information, ideas, or arguments to an audience. It helps develop communication, organization, and public speaking skills. Effective presentations involve clear speech, logical structure, visual aids, and audience engagement. They are commonly used in academic, professional, and public settings to inform, persuade, or entertain. Practicing oral presentations builds confidence, enhances clarity, and improves the ability to convey messages with impact.

4.4 Self-Assessment

Exercise 1: Oral Presentation Practice

Objective: Practice organizing and delivering a short oral presentation (2–3 minutes).

Instructions:

1. **Choose a Topic**
   Pick a simple, familiar topic (e.g., "My Favorite Hobby," "The Importance of Reading," or "A Place I Want to Visit").
2. **Prepare an Outline**
   Structure your talk using three parts:
   - **Introduction**: Greet the audience, introduce your topic.
   - **Body**: Give 2–3 main points with supporting details or examples.
   - **Conclusion**: Summarize your points and end confidently.
3. **Use Visual Aids (Optional)**
   Prepare a simple visual (e.g., a picture or a slide) to support your main ideas.
4. **Practice Delivery**
   - Speak clearly and at a moderate pace.
   - Make eye contact or look at the camera if recorded.
   - Use natural gestures and facial expressions.
5. **Present to a Partner or Group**
   After presenting, ask for feedback on:
   - Clarity
   - Organization
   - Confidence
   - Use of language

4.5 Points to Remember

1. A successful presentation requires proper planning and preparation.
2. Presentations should have a clear structure: introduction, body, and conclusion.
3. Regular practice improves confidence, clarity, and fluency.

4. Eye contact, posture, and voice projection help engage the audience.
5. Visual aids should support the presentation and remain clear and simple.

Vocabulary

1. Presentation – a speech or talk given to an audience.
2. Audience – the group of people listening to a presentation.
3. Credentials – qualifications or achievements of a person.
4. Transition – words or phrases that connect ideas smoothly.
5. Visual Aids – charts, slides, images, or graphs used to support a presentation.
6. Engagement – keeping the audience interested and involved.
7. Projection – speaking loudly and clearly so everyone can hear.

Check Your Progress

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

1. What are the three main stages of a presentation?

a) Writing, reading, and editing

b) Planning, practicing, and presenting

c) Listening, speaking, and reading

d) Designing, printing, and publishing

2. Why is knowing your audience important?

a) To make the presentation longer

b) To focus on their needs and understanding

c) To avoid preparation

d) To impress only the teacher

3. Which of the following is important during presentation delivery?

a) Looking only at the slides

b) Speaking too quickly

c) Making eye contact with the audience

d) Avoiding gestures

4. What is the purpose of visual aids?

a) To distract the audience

b) To replace the speaker completely

c) To support and explain ideas clearly

d) To make presentations longer

5. Which of the following should be avoided in presentations?

a) Clear explanations

b) Proper posture

c) Excessive filler words

d) Audience engagement

B. Short Answer Questions

1. What is an oral presentation?
2. Why is planning important in presentations?
3. Mention two tips for practicing a presentation.

C. Long Answer Questions

1. Explain the importance of oral presentations in academic and professional life.
2. Discuss the role and effective use of visual aids in oral presentations.

4.6 Suggested Readings

Carnegie, Dale. *The Quick and Easy Way to Effective Speaking*. Pocket Books, 1990.

Lucas, Stephen E. *The Art of Public Speaking*. 13th ed., McGraw-Hill Education, 2020.

BLOCK-4 WRITING SKILLS
Unit-4.1: Paragraph Writing

Learning Objectives

After studying this topic, learners will be able to:

1. Understand the meaning and purpose of a paragraph.
2. Identify the structure and components of a paragraph.
3. Write clear and organized paragraphs with one main idea.
4. Use supporting details and evidence effectively in writing.
5. Apply the P-E-E structure in academic paragraph writing.

1.1 Introduction

A paragraph is a group of related sentences that talk about a single main idea. A single sentence usually isn't enough to fully explain an idea, which is why we use paragraphs to give more detail and support.

A helpful rule to follow when writing is:

"One paragraph, one idea."

This means each paragraph should focus on only one main point or topic.

1.2 Structure of a Paragraph

While the structure of a paragraph may vary based on its purpose, most paragraphs include three key parts:

1. Topic Sentence (Main Idea):
    - This is usually the first sentence of the paragraph.
    - It tells the reader what the paragraph is about.
2. Explanation or Development:
    - After stating the main idea, the writer explains it more clearly.
    - This section helps the reader understand the topic better.
3. Supporting Details:
    - These are examples, facts, or reasons that support the explanation.
    - They make the paragraph stronger and more convincing.

1.3 Writing a Paragraph

When writing an academic essay, it is essential to conduct thorough research and reflect critically on the issues and arguments presented in the texts you explore. Once you have gained a solid understanding of the topic and evaluated the supporting evidence, you can begin the writing process.

A common challenge for many students is having a range of relevant ideas but struggling to organize them effectively.

To overcome this, the first step is to create a clear essay plan, with particular focus on the body paragraphs—these form the core of your argument.

Main Idea / Topic Sentence

Each paragraph in an academic essay should focus on a single main point, which is introduced in the topic sentence. Typically, the topic sentence appears at the beginning of the paragraph, though this is not always the case. In the example given, the main idea is that chocolate can support heart health. The remainder of the

paragraph should remain focused on this point and work to demonstrate its validity.

Explanation, Development, and Evidence

Once you have established your topic sentence, the next step is to elaborate on it by offering explanations, further development, and supporting evidence. A helpful strategy is to ask yourself a series of questions about the topic sentence, such as "how," "what," or "why." Each answer will lead to the next, helping you build a logical and well-supported argument.

Keep in mind that although a paragraph contains several sentences, it should convey only one central idea. All explanation, development, and evidence should directly relate to and support the main point.

To ensure your paragraph is cohesive and coherent, consider the following strategies:

- Stay on topic by repeating or rephrasing key words from the topic sentence and ensuring every sentence supports the main idea.
- Use pronouns (e.g. "it," "they," "these") to refer back to previously mentioned ideas or terms.
- Include transition signals and linking words (e.g. "For example," "As a result") to guide the reader through your reasoning.
- Follow the natural structure of English sentences, presenting information in a logical and expected order.

A Basic Guide to Writing Paragraphs

This guide is intended to support students in writing effective paragraphs as part of longer academic tasks, such as essays and reports.

1. Fundamental Structure

Regardless of the topic or writing format, all paragraphs share a basic structure. The following principles apply to paragraphs in any type of writing, whether it's a letter, essay, or even a PhD thesis:

1. One main idea per paragraph: Each paragraph should focus on a single central idea, which is clearly stated and supported.
2. Contribution to the overall argument: Every paragraph should contribute to the development of the main argument or purpose of the entire piece—whether it’s a job application or an academic essay.
3. Use of evidence and explanation: Paragraphs should include evidence (from research or reading) and an explanation of how that evidence supports the main point.
4. Appropriate length: A paragraph should typically be longer than three sentences to provide sufficient development of the idea.
5. Conciseness and relevance: Avoid overly long paragraphs. Include only the most relevant information to support your point—don’t include everything you’ve found on the topic.
6. Use of the P-E-E structure: A helpful method for constructing clear and focused paragraphs is the P-E-E structure:
    - Point – State the main idea of the paragraph.
    - Evidence – Support your point with research or examples.
    - Explanation – Explain the significance of the point and evidence, and how they relate to your overall argument or purpose.

1.4 Summary

Paragraph writing involves organizing ideas into a clear, unified section of text focused on a single topic. A good

paragraph begins with a topic sentence, followed by supporting details and a concluding sentence. It helps convey thoughts logically and effectively. Strong paragraph writing improves overall writing structure, clarity, and coherence, making it essential for academic, professional, and creative writing. Practicing this skill enhances both written communication and critical thinking.

1.5 Self-Assessment

Exercise 1: Write a paragraph on the following topics:

a) The importance of reading every day
b) A Time I Helped Someone
c) How to Stay Healthy
d) The View from My Window

1.6 Points to Remember

1. A paragraph focuses on one main idea only.
2. The topic sentence introduces the main point of the paragraph.
3. Supporting details and examples strengthen the paragraph.
4. Linking words and pronouns improve cohesion and flow.
5. The P-E-E structure helps organize ideas clearly and logically.

Vocabulary

1. Cohesion – the smooth connection of ideas within writing.
2. Coherence – logical and clear organization of ideas.
3. Evidence – information or examples used to support an argument.
4. Conciseness – expressing ideas clearly without unnecessary words.

Check Your Progress

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

1. Which part of a paragraph introduces the main idea?

a) Supporting detail
b) Conclusion
c) Topic sentence
d) Transition signal

2. What does the “E” stand for in the P-E-E structure?

a) Editing
b) Example only
c) Evidence
d) Essay

3. Which of the following improves cohesion in writing?

a) Random ideas
b) Repetition without meaning
c) Transition signals and pronouns
d) Very short sentences only

B. Short Answer Questions

1. Mention two features of a good paragraph.
2. What is the role of supporting details?

C. Long Answer Questions

1. Discuss the importance of paragraph writing in academic communication.
2. Describe the role of explanation, development, and evidence in paragraph writing.
3. Explain the strategies used to make a paragraph cohesive and coherent.
4. Discuss the P-E-E structure and its usefulness in academic writing.

1.7 Suggested Readings

Langan, John. *College Writing Skills with Readings*. 10th ed., McGraw-Hill Education, 2014.

Reid, Joy M. *The Process of Paragraph Writing*. 2nd ed., Pearson Education ESL, 1993.

Unit-4.2: Letter Writing

Learning Objectives

After studying this topic, learners will be able to:

1. Understand the purpose and importance of letter writing.
2. Differentiate between formal and informal letters.
3. Identify the standard structure of a letter.
4. Write clear and effective formal and informal letters.
5. Use appropriate tone and formatting in letter writing.

2.1 Introduction to Letter Writing

Letter writing is an essential skill in both personal and professional communication. It serves as a means to convey messages, express emotions, request information, or address concerns. Understanding the structure, types, and nuances of letter writing can enhance clarity and effectiveness in communication.

Letter writing involves composing a message to convey information, emotions, or requests to a recipient. It is categorized into two main types:

- Formal Letters: These are written for official or professional purposes, such as business correspondence, job applications, or complaints.
- Informal Letters: These are personal letters written to friends, family, or acquaintances.

2.2 Structure of a Letter

Regardless of the type, all letters follow a standard structure:

1. Sender's Address: The writer's address is placed at the top left corner.
2. Date: The date on which the letter is written follows the sender's address.
3. Recipient's Address: For formal letters, the recipient's address is written below the date. In informal letters, this is omitted.
4. Salutation/Greeting: A polite greeting to the recipient. For formal letters, "Dear Sir/Madam" is commonly used, while informal letters may use "Dear [Name]".
5. Subject: A brief statement indicating the purpose of the letter. This is primarily used in formal letters.
6. Body: The main content of the letter, divided into paragraphs for clarity.
7. Closing: A polite way to end the letter. Formal letters often use "Yours faithfully" or "Yours sincerely", while informal letters may use "Best wishes" or "Warm regards".
8. Signature: The writer's signature is placed below the closing.

2.3 Types of Letters with Examples

1. Formal Letters

a. Application for Leave

Sender's Address:

123 Student Lane

New Delhi, 110001

Date: 11 September 2024

Recipient's Address:

The Principal

XYZ Public School
456 Education Road
Mumbai, 400001
Subject: Request for Leave
Salutation: Dear Sir/Madam,
Body: I am writing to inform you that I am unable to attend school from 15th to 18th September due to a family function. I kindly request you to grant me leave for these days.
Closing:
Yours faithfully,
[Your Signature]
Rahul Kumar
b. Complaint Letter
Sender's Address:
M 114, Mall Road
Delhi
Date:13 June 20XX
Recipient's Address:
The Manager
ABC Electronics
Connaught Place
Delhi
Subject: Complaint Regarding Faulty Mobile Phone
Salutation: Dear Sir/Madam,
Body: I purchased a mobile phone (Model XYZ) from your store on 1st June. However, the device has been malfunctioning since the second day of use. I request a replacement or a full refund.
Closing
Yours sincerely,
[Your Signature]
Karan
2. Informal Letters
a. Letter to a Friend
Sender's Address
A-114, Mall Road
Delhi
Date: 25th February 20XX
Recipient's Address
Dear Neha,
Body: I hope this letter finds you in good health. I wanted to share with you my recent trip to Manali. The weather was perfect, and we had a wonderful time trekking in the hills. I missed you and wish you could have

joined us.
Closing:
Take care and write back soon.
Warm regards,
Amna
b. Letter to a Family Member
Sender's Address:
123 Student Lane
New Delhi, 110001
Date: 5th March 20XX
Recipient's Address:
Dear Grandma,
Body: I am doing well and hope you are too. School has been busy, but I always look forward to our weekend calls. I miss your stories and hope to visit you during the upcoming holidays.
Closing:
With love,
[Your Name]
Tips for Effective Letter Writing

- Clarity and Conciseness: Be clear and to the point. Avoid unnecessary details.
- Tone Appropriateness: Match the tone to the recipient. Use formal language for official letters and a friendly tone for personal letters.
- Proofreading: Always proofread your letter for grammatical errors and clarity before sending.
- Proper Formatting: Follow the standard structure to ensure your letter is professional and easy to read.
- or colleagues or students.
- Invitations: Inviting someone to an event or gathering.

2.4 Summary

Paragraph writing is the foundation of effective written communication. A well-structured paragraph focuses on a single idea, beginning with a clear topic sentence, followed by supporting details, and ending with a concluding sentence. It ensures clarity, coherence, and logical flow of information. Mastering paragraph writing helps in organizing thoughts, improving essay structure, and enhancing overall writing skills for academic, creative, and professional purposes. It is essential for clear and impactful expression.

2.5 Self-Assessment

1. Write a letter to the editor of a local newspaper expressing your views on the importance of environmental conservation.
2. Draft a letter to a friend describing your recent vacation and the experiences you had.
3. Write a complaint letter to a hotel regarding poor service during your stay.
4. Create an invitation letter for a family event, detailing the date, time, and venue.

2.6 Points to Remember

1. Letter writing is used for both personal and professional communication.

2. Formal letters use polite and professional language.
3. Informal letters use a friendly and personal tone.
4. Every letter should follow a proper structure and format.
5. Proofreading helps avoid grammatical and spelling mistakes.

Vocabulary

1. Letter Writing – the process of composing written messages to communicate information or feelings.
2. Formal Letter – a letter written for official or professional purposes.
3. Informal Letter – a personal letter written to friends or family.
4. Recipient – the person who receives the letter.
5. Salutation – the greeting used at the beginning of a letter.
6. Subject – a brief statement showing the purpose of the letter.
7. Body – the main content of the letter.
8. Closing – the polite ending of a letter.
9. Signature – the writer's name or signed identification.
10. Proofreading – checking writing for errors before sending it.

Check Your Progress

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

1. Which type of letter is written for official purposes?

a) Informal letter

b) Friendly letter

c) Formal letter

d) Personal note

2. Which salutation is commonly used in formal letters?

a) Dear Friend

b) Hi Buddy

c) Dear Sir/Madam

d) Hello

B. Short Answer Questions

1. Name the two main types of letters.
2. Mention two differences between formal and informal letters.

C. Long Answer Questions

1. Describe the structure of a formal letter in detail.
2. Differentiate between formal and informal letters with examples.

2.7 Suggested Reading

Strunk, William, and E.B. White. *The Elements of Style*. 4th ed., Pearson, 2000.

Unit-4.3: Email Writing

Learning Objectives

After studying this topic, learners will be able to:

1. Understand the purpose and importance of email writing.
2. Identify the structure and components of an effective email.
3. Use appropriate tone and language in different email contexts.
4. Write clear, concise, and professional emails.
5. Apply formatting and organization techniques to improve readability.

3.1 Introduction

The primary purpose of an email is often to inform or persuade the reader. Compared to traditional letters sent by post, emails offer a much faster method of communication, making them particularly suitable for ongoing conversations or situations requiring timely responses.

Emails can be used to share immediate feedback, express opinions, or provide important information on a particular subject. In persuasive contexts, emails may be written to convince the reader of the writer's perspective and encourage a specific action or decision.

Alternatively, emails can also present a balanced discussion by outlining different viewpoints and suggesting possible alternatives, allowing the reader to form their own opinion.

The tone, language, and vocabulary used in an email should always be tailored to suit the The audience: Emails are often addressed to a single recipient, but they can also be sent to multiple people at once. When writing to a group, the tone should generally be semi-formal, and informal language or slang should be avoided.

3.2 Tips for writing an email

- The context and your relationship with the recipient: The tone of the email typically falls within a semi-formal range. However, if you are writing to someone you know well and who is of a similar age, the tone may be more relaxed. Conversely, emails to superiors or in professional contexts—such as writing to a manager—should maintain a formal tone.
- The reader's time constraints: Many professionals receive a high volume of emails daily. To ensure your message is read and understood, a formal email should be concise, well-structured, polite, and to the point.
- The impression you convey: Unless you are writing to a friend in an informal or social context, avoid using emoji, slang, or casual abbreviations such as "ASAP". Maintaining professionalism in language helps create a respectful and credible impression.

3.3 Planning and Structuring an Effective Email

Before you begin writing an email, it is important to plan the key points you intend to cover. An effective email should focus on a single overall topic and avoid unnecessary detail or unrelated information. Emails—particularly those written in a professional or semi-formal context—generally follow a three-part structure:

1. Subject Line and Introduction

   The subject line should be brief—typically just two or three words—that clearly indicate the topic of the email.

Begin your message with a short introduction that explains the reason for writing.

- If you are contacting someone for the first time, briefly introduce yourself and then move directly to the main point.
- If you are writing to someone you know or replying to a previous message, it is helpful to briefly remind the recipient of the context or situation.

2. Body of the Email
   This section should contain the main content of your message. Develop your ideas clearly, and divide the information into concise paragraphs, each addressing a specific aspect of the topic. Support your points with relevant details, and ensure your message remains focused and logically organised.
3. Closing Section
   End your email by stating what should happen next. If you are requesting a specific action, be clear—for example: *"Please confirm by Thursday if you are available."*
   Alternatively, if you wish to maintain an open line of communication, use a friendly and polite tone—e.g., *"Thank you for your assistance—let's keep in touch."*

Tips for Clarity and Professionalism

- Ensure readability: Use headings, bullet points, or short lists where appropriate to break up information and make it easier to scan.
- Use formatting selectively: Important points can be highlighted using bold text, but this should be done sparingly to avoid visual clutter. In many cases, transitional words and phrases such as *"However,"* or *"In addition,"* can be just as effective in guiding the reader.
- Choose appropriate greetings and closings: The tone of your email should reflect your relationship with the recipient.
  - For formal communication: *"Dear Mr Green"* / *"Yours faithfully"*
  - For semi-formal communication: *"Dear Sarah"* / *"Best regards"*
  - For group emails in informal contexts: a neutral greeting such as *"Greetings"* /7may be suitable.

Example:

Subject: Request for Extension on Assignment Submission

Dear Dr. Sharma,

I hope this message finds you well. I am writing to request a short extension for submitting the final assignment for the "Modern Literature" course, which is currently due on Friday, 31st May.

Unfortunately, I have been unwell over the past week and have not been able to complete the assignment to the standard I aim for. I have attached a medical certificate for your reference. I am requesting an extension of three days and hope to submit the assignment by Monday, 3rd June, if possible.

I understand the importance of meeting deadlines and do not take this request lightly. I assure you that I will use the extra time to produce a stronger piece of work.

Thank you very much for considering my request. Please let me know if this extension is acceptable or if you need any additional documentation.

Best regards,

Ananya Mehra

BA English, 3rd Year

Roll No. 2021984

3.4 Summary

Email writing is a vital communication skill for personal, academic, and professional contexts. Effective emails are clear, concise, and well-organized, typically including a subject line, greeting, body, closing, and signature. Proper tone and etiquette vary depending on the audience and purpose. Mastering email writing helps convey messages efficiently, maintain professionalism, and build relationships. It also involves proofreading to avoid errors and ensure clarity and politeness in digital communication.

3.5 Self-Assessment

1. How should the tone of an email change depending on the recipient?
2. How can you make your emails more effective and professional?
3. Write an email to your friend sharing your travel plans for the holiday
4. Write an email to apply for an internship.

3.6 Points to Remember

1. Emails are used for quick and effective communication.
2. The tone of an email should match the relationship with the recipient.
3. A good email has a clear subject line, body, and closing.
4. Professional emails should be concise, polite, and well-organized.
5. Avoid slang, emojis, and unnecessary abbreviations in formal emails.

Vocabulary

1. Professionalism – appropriate and respectful behavior in communication.
2. Concise – brief but clear and complete.
3. Tone – the attitude or style of writing used in communication.
4. Formal – official and professional in style.
5. Semi-formal – partly formal and polite but less strict.
6. Formatting – arranging text to improve readability and appearance.

Multiple Choice Questions (MCQs)

1. What is the primary purpose of an email?

a) Decoration

b) Entertainment only

c) Communication and information sharing

d) Storytelling only

2. Which tone is suitable for professional emails?

a) Informal and slang-filled

b) Polite and formal

c) Angry and emotional

d) Casual abbreviations only

3. Why should professional emails be concise?

a) To confuse the reader

b) Because readers often have limited time

c) To make emails incomplete

d) To avoid communication

4. Which of the following should be avoided in formal emails?

a) Clear paragraphs

b) Professional greetings

c) Emojis and slang

d) Proper closings

Short Answer Questions

1. What is email writing?
2. Mention two tips for writing professional emails.
3. What is the purpose of the closing section in an email?

Long Answer Questions

1. Explain the importance of email writing in modern communication.
2. Describe the structure of an effective email.

3.7 Suggested Reading

Locker, Kitty O., and Donna S. Kienzler. *Business and Administrative Communication*. 11th ed., McGraw-Hill Education, 2019.

Tracy, Brian. *The Quick and Easy Way to Effective Speaking and Writing*. AMACOM, 2011.

Unit-4.4: Article Writing

Learning Objectives

After studying this topic, learners will be able to:

1. Understand the meaning and purpose of article writing.
2. Identify the structure and format of an article.
3. Develop engaging introductions and logical conclusions.
4. Use appropriate tone, language, and style for different audiences.
5. Write clear, organized, and informative articles on various topics.

4.1 Introduction

An article is a form of non-fiction writing primarily intended for publication in newspapers, magazines, or journals and is designed to reach a broad audience. The purpose of article writing is to inform, explain, or express an opinion on a particular topic, which may range from serious social or political issues to everyday subjects such as health, lifestyle, entertainment, or the environment.

Articles are crafted to appeal to a wide readership, so the language should be engaging, accessible, and easy to understand. To maintain the reader's interest, writers often include real-life examples, anecdotes, facts, or short narratives.

The tone of an article can be either formal or informal, depending on the target audience and the publication. However, the style is generally less formal than that of a report. Regardless of tone, the language should be clear, vivid, and relevant to the topic being discussed, while also ensuring that the message is communicated effectively.

4.2 Purpose and Scope of an Article

An article is more than just a record of events or facts; it is a versatile form of writing that can serve a variety of purposes. Unlike reports, articles can:

- Offer advice or suggestions
- Provide information on a wide range of topics
- Draw comparisons between ideas or subjects
- Describe a place, person, object, or technological innovation
- Entertain and engage readers, sometimes simply to amuse
- Encourage reflection and influence readers' thoughts and decisions

4.3 Format of an Article

Articles are typically considered part of informal or semi-formal writing. While there are no rigid rules, an organised and coherent structure is essential for clarity and effectiveness. A commonly accepted format includes the following components:

- Title/Heading: This should be attention-grabbing and reflect the central theme of the article.
- Byline: The writer's name, usually placed beneath the title on the right-hand side.
- Introduction: Establishes the context of the article and captures the reader's interest. This can be achieved through anecdotes, startling facts, statistics, rhetorical questions, or relevant quotations.
- Body: Typically consists of 2–3 paragraphs exploring various dimensions of the topic. These may in-

clude causes, effects, advantages, disadvantages, or comparisons.

- Conclusion: Summarizes the content and brings the article to a logical close. It may include a final opinion, recommendation, or a call to action, such as an appeal, warning, or expression of hope.

Key Guidelines to Remember

- Choose topics that are original, relevant, and engaging.
- Identify your target audience before you begin.
- Clearly define the purpose of your article—whether to inform, advise, entertain, compare, or describe.
- Use a title that is concise and compelling.
- Begin with a strong opening sentence to immediately engage the reader.
- Ensure that you have enough content to explore your topic thoroughly. Plan your points in advance.
- Maintain consistency in your argument throughout the article.
- Be concise and avoid repetition or irrelevant details.
- Break your content into paragraphs to enhance readability.
- Pay close attention to tense, tone, and voice.
- Conclude with a clear, logical ending.

Steps in Article Writing

Like any form of structured writing, articles benefit from a step-by-step approach:

Step 1: Identify the Target Audience

Before writing, determine who your readers will be. Are they students, professionals, or the general public? The language, tone, and style should align with the audience's needs and expectations.

Step 2: Define the Purpose

Clarify your aim. Are you writing to advise, inform, describe, entertain, or persuade? This will influence the tone and structure of your article.

Example: If the topic is *"Careers in Commerce"*, the target audience would likely be commerce students. The article should be informative, covering various career paths, educational requirements, and entrance procedures. The tone should be formal, and the language straightforward.

If the article is intended for doctors, it is acceptable to include technical terminology specific to the medical field.

Step 3: Collect and Select Relevant Information

Gather authentic and credible information from books, interviews, articles, or research papers. Evaluate and select only the most relevant content to support your article.

Step 4: Organise the Content Logically

Arrange the collected information in a logical and sequential manner. Tools such as mind maps or flowcharts can be helpful in structuring your ideas clearly.

Step 5: Write the Article

With your structure in place, begin writing the article. Start with a strong and engaging headline followed by an introduction that grabs attention. Present a coherent and well-supported argument, elaborating your points using evidence, examples, or explanation. Ensure your ideas are well-developed and substantial.

Conclude with your strongest point or a thought-provoking statement that leaves a lasting impression.

Language and Style Considerations

- Use vocabulary and expressions appropriate to your subject and audience.
- Incorporate linking words and transitional phrases to improve flow.
- Use passive voice, humour, or rhetorical questions to create specific effects.
- Avoid using first-person references (e.g., "I," "myself")—your article is meant for a general audience, not a personal blog. Your views should be supported by evidence or explanation, not just personal opinion.

4.5 Summary

Article writing involves creating informative, engaging, and well-structured content for newspapers, magazines, or online platforms. A good article has a clear headline, introduction, body, and conclusion. It presents facts, opinions, or stories to inform, persuade, or entertain readers. Effective article writing requires research, clarity, and a strong voice to connect with the audience. Mastering this skill improves communication and enhances readers' understanding of various topics.

4.5 Self-Assessment

1. Write an article on 'The Role of Technology in Modern Life'.
2. Write an article on 'The Importance of Time Management'.

4.6 Points to Remember

1. An article is a form of non-fiction writing meant for a broad audience.
2. The title of an article should be short, clear, and attention-grabbing.
3. Articles should have a proper structure: introduction, body, and conclusion.
4. The tone and language depend on the target audience and purpose.
5. Relevant examples, facts, and logical organization improve the quality of an article.

Vocabulary

1. Persuade – to influence someone's thoughts or actions.
2. Anecdote – a short and interesting story related to the topic.
3. Coherent – logical and well-organized.
4. Credible – reliable and trustworthy.

Multiple Choice Questions (MCQs)

1. What is the main purpose of article writing?

a) To confuse readers

b) To inform, explain, or express opinions

c) To write only stories

d) To memorize facts

2. What should be included in the body of an article?

a) Unrelated ideas

b) Random opinions only

c) Main points with explanations and examples

d) Only quotations

Short Answer Questions

1. What is an article?
2. Mention two purposes of article writing.

Long Answer Questions

1. Explain the structure and format of an article in detail.
2. Describe the steps involved in writing an effective article.
3. Explain the language and style considerations in article writing.
4. Discuss the role of examples, facts, and organization in making an article effective.

4.7 Suggested Readings

Bailey, Stephen. *Academic Writing: A Handbook for International Students*. 5th ed., Routledge, 2018.

Langan, John. *College Writing Skills with Readings*. 10th ed., McGraw-Hill Education, 2014.

॥ ओ३म् ॥

योगचिकित्सा-1

BDPHSE-105 (1)

दिव्य प्रकाशन

योगचिकित्सा-1
(BDPHSE-105(1))

उद्देश्यः

- भारतीय पुरातन चिकित्सा पद्धति के समन्वित् स्वरूप का बोध कराना ।
- समन्वित चिकित्सा पद्धति के व्यावहारिक एवं प्रयोगात्मक अभ्यास द्वारा साध्य एवं असाध्य रोगों का निदान।
- योग, आयुर्वेद, पञ्चकर्म, षट्कर्म, नेचुरोपैथी, आहार चिकित्सा, यज्ञचिकित्सा, एक्यूपंचर, एक्यूप्रेशर एवं फिजियो थैरेपी जैसे समन्वित् भारतीय पुरातन चिकित्सा पद्धतियों के सैद्धांन्तिक एवं प्रयोगात्मक बोधा द्वारा योग्य एवं प्रशिक्षित -व्यक्तित्व का निर्माण करना।

खण्ड -1 मानव शरीर विज्ञान

इकाई-1 मानव शरीर परिचय,

इकाई-2 श्वसन तंत्र, शरीर संरचना विज्ञान एवं क्रिया विज्ञान की अवधाारणा,
श्वसन तंत्र पर योगिक प्रभाव (आसन, प्राणायाम, षट्कर्म, मुद्रा, बंध, औषधि)

इकाई-3 पाचन तंत्र- पाचन तंत्र की अवधारणा, पाचन तंत्र पर योगिक प्रभाव (आसन
प्राणायाम षट्कर्म, मुद्रा, बंध, औषधि)

इकाई-4 तंत्रिका तंत्र- तंत्रिका तंत्र की अवधारणा, तंत्रिका तंत्र पर योगिक प्रभाव
(आसन प्राणायाम षट्कर्म, मुद्रा, बंध, औषधि)

खण्ड -2 योग एवं स्वास्थ्य का समग्र स्वरूप

इकाई-1 योग एवं स्वास्थ्य का अर्थ, स्वरूप एवं प्रयोजन,
योग की प्रमुख धारायें, योग से व्याधि निरोग के उपाय।

इकाई-2 मुख्य प्राणायाम एवं रोगानुसार प्राणायाम विधियॉ।

इकाई-3 व्याधि के अनुसार आहार, औषधि एवं योगाभ्यास।

इकाई-4 मोटापा, मेरुदंड एवं विद्यार्थी व युवाओं के लिए योगाभ्यास व प्राणायाम

खण्ड -3 आयुर्वेद के आधारभूत तत्व

इकाई-1 त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) के गुण, लक्षण, कारण एवं उपचार एवं आहार।

इकाई-2 त्रिउपस्तंभ-आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य

इकाई-3 स्वस्थवृत्त (दिनचर्या एवं रात्रिचर्या)

इकाई-4 त्रिदण्डवत्-शरीर, मन, आत्मा

खण्ड-4 प्राथमिक चिकित्सा विधि

इकाई-1 सामान्य परिचय , हड्डी का टूटना व मोच का उपचार श्वसन
व हृदय संकट ,रक्त स्त्राव का उपचार ।

इकाई-2 विशेष आपातकालीन स्थितियॉ-नशे की स्थिति,
बच्चों एवं गर्भवती महिलाओं के लिए प्राथमिक चिकित्सा।

इकाई-3 रसोई घर में प्रयोग होने वाली मुख्य औषधि, एवं मसाले का प्रयोग ।

इकाई-4 प्राथमिक घरेलू उपचार ।

परिणाम :

समन्वित चिकित्सा पद्धति में प्रशिक्षित विद्यार्थी समाज में साध्य-असाध्य रोगों से पीड़ित रोगियों को उपचार देकर उन्हें सम्पूर्ण आरोग्य का लाभ प्रदान करता है एवं भारतीय पुरातन चिकित्सा व्यवस्था के प्रचार प्रसार में अपना महत्वपूर्ण योगदान देता है ।

सेवा निष्ठा आजीविका का आलम्बन लेकर स्वयं आत्मनिर्भर होता हुआ अन्यों को भी रोजगार परक सेवा क्षेत्र में नियोजित करता है, उपकार परख उपचार की एक स्वस्थ परम्परा का संवाहक बनकर समाज को शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य के मार्ग पर अग्रसर करता है ।

सहायक ग्रन्थः- उपचार पद्धति, आचार्य बालकृष्ण, दिव्य प्रकाशन पतंजलि योगपीठ महर्षि दयानन्द ग्राम, दिल्ली हरिद्वार राष्ट्रीय राजमार्ग-58 निकट- बहादराबाद, हरिद्वार- 249405 (उत्तराखण्ड)

आयुर्वेद सिद्धान्त रहस्य, आचार्य बालकृष्ण, दिल्ली हरिद्वार राष्ट्रीय राजमार्ग-58 निकट- बहादराबाद, हरिद्वार- 249405 (उत्तराखण्ड)

मानव शरीर रचना एवं क्रिया विज्ञान, प्रो. (डॉ.) अनन्त प्राश गुप्ता, प्रकाशक-सुमित प्रकाशन (आगरा,दल्ली)

विषय-सूची

खण्ड -1 मानव शरीर विज्ञान **6-21**

इकाई-1.1 मानव शरीर परिचय, 6-9

इकाई-1.2 श्वसन तंत्र, शरीर संरचना विज्ञान एवं क्रिया विज्ञान की अवधाारणा, श्वसन तंत्र पर योगिक प्रभाव (आसन, प्राणायाम, षट्कर्म, मुद्रा, बंध, औषधि) 10-13

इकाई-1.3 पाचन तंत्र- पाचन तंत्र की अवधारणा, पाचन तंत्र पर योगिक प्रभाव (आसन प्राणायाम षट्कर्म, मुद्रा, बंध, औषधि) 14-17

इकाई-1.4 तंत्रिका तंत्र- तंत्रिका तंत्र की अवधारणा, तंत्रिका तंत्र पर योगिक प्रभाव (आसन प्राणायाम षट्कर्म, मुद्रा, बंध, औषधि) 18-21

खण्ड -2 योग एवं स्वास्थ्य का समग्र स्वरूप **22-42**

इकाई-2.1 योग एवं स्वास्थ्य का अर्थ, स्वरूप एवं प्रयोजन, योग की प्रमुख धारायें, योग से व्याधि निरोग के उपाय। 22-24

इकाई-2.2 मुख्य प्राणायाम एवं रोगानुसार प्राणायाम विधियॉ। 25-27

इकाई-2.3 व्याधि के अनुसार आहार, औषधि एवं योगाभ्यास। 28-37

इकाई-2.4 मोटापा, मेरुदंड एवं विद्यार्थी व युवाओं के लिए योगाभ्यास व प्राणायाम 38-42

खण्ड -3 आयुर्वेद के आधारभूत तत्व **43-64**

इकाई-3.1 त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) के गुण, लक्षण, कारण एवं उपचार एवं आहार। 43-49

इकाई-3.2 त्रिउपस्तंभ-आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य 50-52

इकाई-3.3 स्वस्थवृत्त (दिनचर्या एवं रात्रिचर्या) 53-59

इकाई-3.4 त्रिदण्डवत्-शरीर, मन, आत्मा 60-64

खण्ड-3.4 प्राथमिक चिकित्सा विधि **65-86**

इकाई-4.1 सामान्य परिचय , हड्डी का टूटना व मोच का उपचार श्वसन व हृदय संकट ,रक्त स्त्राव का उपचार । 65-67

इकाई-4.2 विशेष आपातकालीन स्थितियॉ-नशे की स्थिति, बच्चों एवं गर्भवती महिलाओं के लिए प्राथमिक चिकित्सा 68-70

इकाई-4.3 रसोई घर में प्रयोग होने वाली मुख्य औषधि, एवं मसाले का प्रयोग । 71-79

इकाई-4.4 प्राथमिक घरेलू उपचार । 80-86

प्रस्तावना

योग चिकित्सा एक प्राचीन भारतीय प्रणाली है जो योग और अभ्यासो का उपयोग करके शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य को बढ़ावा देती है। यह योग की एक चिकित्सीय शाखा है, जो रोगों के उपचार, तनाव प्रबंधन, और समग्र कल्याण पर केंद्रित है। योग चिकित्सा में आसन, प्राणायाम, ध्यान, और जीवनशैली में बदलाव के माध्यम से शरीर और मन को संतुलित किया जाता है। यह सनातन संस्कृति का एक अभिन्न अंग है, जिसकी जड़ें वेद, उपनिषद, और पतंजलि के योग सूत्रो में पाई जाती हैं।

योग चिकित्सा का आधारः-

वेद और उपनिषद, ऋग्वेद और अथर्ववेद में स्वास्थ्य और चिकित्सा के लिए प्राकृतिक और आध्यात्मिक उपायों का उल्लेख है। कठोपनिषद् (1.3.3-4) में शरीर को रथ और आत्मा को रथी बताया गया है, जो यह दर्शाता है कि शरीर और मन का संतुलन स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। योग चिकित्सा इसी सिद्धांत पर आधारित है, जिसमें शरीर, मन, और आत्मा के बीच सामंजस्य स्थापित किया जाता है।

पतंजलि योग सूत्रः-

पतंजलि ने योग को **''चित्तवृत्ति निरोधः''** (1.2) के रूप में परिभाषित किया है, अर्थात् मन की वृत्तियों को नियंत्रित करना। योग चिकित्सा में इस सि(ांत का उपयोग मानसिक तनाव, चिंता, और अवसाद को कम करने के लिए किया जाता है। अष्टांग योग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि योग चिकित्सा का आधार बनता है।

आयुर्वेद के साथ संबंधः-

योग चिकित्सा आयुर्वेद के साथ मिलकर काम करती है। आयुर्वेद में दोष ;वात, पित्त, कफ के संतुलन पर जोर दिया जाता है, और योग चिकित्सा में इन दोषों को संतुलित करने के लिए विशिष्ट आसन और प्राणायाम का उपयोग किया जाता है।

योग चिकित्सा के मुख्य सिद्धांत्ः-

1: समग्र –ष्टिकोणः योग चिकित्सा केवल लक्षणों का इलाज नहीं करती, बल्कि रोग के मूल कारण को लक्षित करती है। यह शारीरिक, मानसिक, और भावनात्मक स्वास्थ्य को एक साथ ठीक करती है।

2 : स्व-जागरुकताः योग चिकित्सा व्यक्ति को अपने शरीर और मन की जागरुकता बढ़ाने में मदद करती है। इससे व्यक्ति अपनी समस्याओं को बेहतर ढंग से समझ पाता है और उन्हें ठीक करने के लिए सही कदम उठा सकता है।

3 : प्रा—तिक चिकित्साः यह दवाओं पर निर्भरता कम करती है और प्राकृतिक तरीकों जैसे आसन, प्राणायाम, और ध्यान के माधयम से स्वास्थ्य को पुनर्स्थापित करती है।

4 : वैयDRkO उपचारः योग चिकित्सा में हर व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक स्थिति को ध्यान में रखकर उपचार योजना बनाई जाती है। उदाहरण के लिए, उच्च रक्तचाप वाले व्यक्ति के लिए शीतली प्राणायाम और मधुमेह के लिए भुजंगासन की सलाह दी जा सकती है।

योग चिकित्सा के लाभ

शारीरिक स्वास्थ्यः आसन जैसे ताड़ासन, भुजंगासन, और सर्वांगासन मांसपेशियों को मजबूत करते हैं, रक्त संचार बढ़ाते हैं, और रीढ़ की समस्याओं को ठीक करते हैं। यह मधुमेह, उच्च रक्तचाप, और जोड़ों के दर्द जैसी बीमारियों में लाभकारी है।

मानसिक स्वास्थ्यः प्राणायाम जैसे अनुलोम-विलोम, भ्रामरी और ध्यान तनाव, चिंता, और अवसाद को कम करते हैं। यह नींद की गुणवत्ता में सुधार करता है और एकाग्रता बढ़ाता है।

आध्यात्मिक विकासः योग चिकित्सा आत्म-जागरूकता और आत्म-साक्षात्कार की ओर ले जाती है। यह व्यक्ति को अपनी आत्मा से जोड़ती है और जीवन में शांति और संतुलन लाती है।

प्रतिरक्षा बढ़ाना : नियमित योग अभ्यास प्रतिरक्षा प्रणाली को मजबूत करता है, जिससे रोगों से लड़ने की क्षमता बढ़ती है।

विश्व स्वास्थ्य के संदर्भ में :-

यह बच्चों और युवाओं को स्वस्थ जीवनशैली अपनाने के लिए प्रेरित करती है, ताकि वे शारीरिक और मानसिक रूप से मजबूत हों और भविष्य में स्वस्थ समाज का निर्माण कर सकें। योग चिकित्सा नवजात शिशुओं और माताओं के लिए भी लाभकारी है, जैसे कि गर्भवती महिलाओं के लिए प्राणायाम और हल्के आसन जो प्रसव को आसान बनाते हैं।

खण्ड-1 मानव शरीर विज्ञान

इकाई-1.1 : मानव शरीर परिचय

उद्देश्य-

1. मानव शरीर की संरचना एवं संगठन के विभिन्न स्तरों का ज्ञान प्राप्त करना।
2. शरीर के प्रमुख तंत्रों एवं उनके कार्यों को समझना।
3. स्वास्थ्य एवं शरीर क्रियाओं में विभिन्न अंगों और तंत्रों के महत्व को जानना।

मानव शरीर विभिन्न संरचनात्मक स्तरों का एक जटिल संगठन है, जिसकी शुरूआत परमाणुओं अणुओं एवं योगिकों से होती है तथा कोशिकाएँ, ऊतक, अंग एवं जटिल संस्थान, या तन्त्र परस्पर मिलकर सम्पूर्ण मानव का सृजन करते है ।

कोशिकाएँ :-

कोशिकाएँ शरीर का सूक्ष्मतम रूप होती है । हमारा शरीर करोड़ो कोशिकाओं से मिलकर बना है , आकार में सूक्ष्म होने के कारण इन्हें सूक्ष्मदर्शी के द्वारा ही देखा जा सकता है । नेत्रों से प्रत्यक्षत: नहीं देखा जा सकता । कोशिका को जीवन की इकाई भी कहॉ जाता है , क्योंकि इनमें जीवन की समस्त मूलभूत क्रियायें जैसे वृ(, चयापचयए, श्वसनए, पाचनए, उत्सर्जन, उत्तेजनशीलता एवं प्रजनन आदि सम्पन्न होती है। कोशिकाएँ अलग-अलग प्रकार एवं आकार की होती है।

ऊतक :-

समान गुणों वाली , एक ही आकार की तथा एक ही कार्य करने वाली कोशिकाओं के समूह को ऊतक (टिशु) कहते हैं इन्हें कई समूह में विभाजित किया गया है जो की उपकला ऊतक जपेनम पेशी ऊतक तथा तंत्रिका उत्तक है ।

अंग :-

अंग दो या अधिक तरह के ऊतकों का एक युग्मज संग्रह होता है जो एक साथ कार्य करके एक विशेष क्रिया करता है अमाशय इसका एक बहुत ही अच्छा उदाहरण है एपिथेलियल टिश्यू आमाशय को स्तरित करता है तथा इसे आमाशय की दीवार से स्रावित होने वाले विभिन्न एंजाइम तथा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की क्रिया से बचाने में सहायक होता है, अरेखित पेशी ऊतक भोजन को मथता है छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़ता है, नर्वस टिशु तंत्रिका के आवेग का प्रषेण करता है, जो पेशी संकुचनों का प्रारंभ तथा उनका समन्वय करता है तथा कनेक्टिव टिशु अन्य समस्त ऊतकों को एक साथ थामे रखने में सहायता करता है।

संस्थान या तंत्र :-

शरीर के विभिन्न अंग एक साथ सामूहिक होकर किसी एक विशिष्ट क्रिया को करने का कार्य करते हैं जिसे सामूहिक रूप से संस्थान या तंत्र कहते हैं उदाहरण श्वसन संस्थान में अनेक अंग होते हैं जो शरीर के बाहर की वायु तथा अंदर के रक्त के बीच यांत्रिक विधि से विनिमय करते हैं। पाचन संस्थान के विभिन्न अंग भोजन के जटिल पदार्थों को सरल पदार्थो में परिवर्तित कर देते है। जिससे सारभूत तत्व सहज ही शरीर द्वारा अवशेषित कर लिए जाते है । शरीर के समस्त संस्थान विशिष्ट होते हैं तथा उनके कार्य मानव शरीर को प्रगतिशील एवं कार्य कुशल बनाए रखने के लिए समन्वयित होते हैं । प्रत्येक संस्थान के अंग अपने कार्यों को करने के लिए परस्पर सम्ब(होते हैं ।

विभिन्न संस्थान या तंत्र एक साथ समूहित होकर मानव शरीर की रचना करते हैं जो यहां संक्षेप में व॒णत है।

1. त्वचीय (आच्छादी) संस्थान :-

इस स्थान में त्वचा, बाल, नाखून, स्वेद पसीना एवं तेलिय ग्रंथियों का समावेश होता है । यह तंत्र अंतरांगों को आच्छादित किये रहता है तथा उनकी रक्षा करता है शरीर के तापमान के नियमन में सहायक होता है । इसमें संवेदी ग्राही भी सम्मिलित रहते हैं जो उ॒ीपनों को ग्रहण करके उनकों संचारित करते हैं।

2. अस्थि -संस्थान या कंकाल-तन्त्र :-

इस संस्थान में अस्थियों हड्डियों-एवं उपस्थितियों का समावेश होता है यह शरीर को सहारा देता है उसे आकृति प्रदान करता है तथा शरीर के अंगों को सुरक्षा प्रदान करता है। कंकालीय पेशियों एवं तंत्रिका तंत्र के सहयोग से जोड़ों में गति होती है इसके अतिरिक्त यह तंत्र रक्त कोशिकाओं का निर्माण करता है।

3. पेशीय संस्थान :-

शरीर का संपूर्ण अस्थि-संस्थान पेशियों से आच्छादित होता है , जिसे सामूहिक रूप से पेशी संस्थान कहा जाता है इसी संस्थान के माध्यम से संपूर्ण शरीर गतिशील रहता है अस्थि एवं पेशीय संस्थान को एक साथ मिलाकर कभी-कभी गति संस्थान

भी कहते हैं यह शरीर में गमह्न उत्पन्न करता है तथा शरीर के अंगों द्वारा पदार्थों को गतिशील बनाए रखता है । इस संस्थान में तीन विभिन्न तरह की पेशियॉ-कंकालीय, चिकनी तथा हृदयी पेशियॉ सन्निहित होती हैं इनके अतिरिक्त इसमें प्रावरणियों एवं कण्डराओं का समावेश होता है जो पेशियों को अस्थियों से जोड़ती है।

4. तंत्रिका तंत्र या नाडी संस्थान :-

तन्त्रिका-तन्त्र संपूर्ण शरीर की अधिकांश क्रियाओं को नियमित एवं नियंत्रित करता है, संवेदी अंगों से संदेश प्राप्त करता है तथा इनका विश्लेषण करता है एवं पेशियों की गतियों को आरंभ करता है। इस संस्थान के केंद्रीय तंत्रिका तंत्र तथा परिसरीय तंत्रिका तंत्र दो भाग होते हैं। केंद्रीय तंत्रिका तंत्र में मस्तिष्क एवं सुषुम्ना-रज्जु का समावेश होता है तथा परिसरिय तंत्रिका तंत्र में मस्तिष्क से निकलने वाली 12 जोड़ी कपालिया तंत्रिकाओं एवं सुषुम्ना से निकलनें वाली 31 जोडी सुषुम्ना तन्त्रिकाओं का समावेश होता है । इनके अतिरिक्त एवं स्वायत्त या अनैच्छिक तंत्रिका तंत्र भी होता है, जो तन्त्रिका-तन्त्र का अनैच्छिक भाग होता है । यह शरीर में स्वत: होने वाली क्रियाओं जैसे दिल धड़कने, पाचक नली की ग्रंथियों को कैसे स्रावों आदि को नियंत्रित करता है। इसमें अनुकंपी एवं परानुकम्पी दो प्रकार की तंत्रिकाएं होती हैं ।

5. अंत: स्रावी संस्थान :-

यह शरीर का एक प्रमुख संस्थान है जो तंत्रिका-तंत्र के साथ मिलकर शरीर की विभिन्न क्रियोओं का नियमन करता है। इसमें वाहिकाविहीन या अंत:स्रावी ग्रंथियॉ, पीयूष ग्रंथि, परावटु ग्रंथियाँ, अधिवृक्क ग्रंथियाँ, अग्नाशय के लैंगरहैन्स की दीपिकाएँ, जनन ग्रंथियॉ पुरुषों में शुक्र ग्रंथियाँ तथा स्त्रियों में डिम्बग्रन्थियॉ होती हैं। इन ग्रंथीयों में बनने वाले रसों को हारमोन्स कहते हैं, जो इनसे स्रावित होकर के सीधे रक्त में पहुंच जाते हैं और रक्त के साथ भ्रमण करते हुए शरीर के उस भाग में पहुंच जाते हैं जिस पर क्रिया विशेष होती है।

6. रक्त परिसंचरण संस्थान :-

यह शरीर का परिवहन तन्त्र है तथा शरीर के प्रत्येक अंग का पोषण करता है। इसके अंतर्गत हृदय, रक्त, एवं रक्त वाहिकाएँ आती हैं । हृदय की पंपिंग क्रिया द्वारा रक्त रक्तवाहिकाओं द्वारा संपूर्ण शरीर के ऊतकों में पहुँचता है। रक्त, एक अंग से दूसरे अंग तक आहार, ऑक्सीजन वर्ज्य-पदार्थ एवं अन्य आवश्यक पदार्थ का वहन करता है । रक्त वाहिकाएँ दो प्रकार की होती हैं धमनियॉ जो हृदय से ऊतको तक शु(रक्त ऑक्सीजन सहित ले जाती हैं और शिराएँ जो ऑक्सीजन रहित रक्त को ऊतकों से हृदय तक लाती हैं।

7. लसीका संस्थान :-

इस संस्थान के अंतर्गत लसीका, लसीका वाहिनियॉ एवं लसीका पर्व तथा अन्य लसीका ऊतक, प्लीहा, टॉन्सिल्स एवं थाइमस ग्रंथि आते हैं। यह संस्थान भी रक्त परिसंचरण संस्थान के समान ही होता है तथा दोनों का आपस में घनिष्ठ संबंध होता है। लसीका संस्थान इम्यून सिस्टम का एक भाग है।

8. श्वसन संस्थान :-

यह संस्थान शरीर एवं वायुमण्डल के बीच ऑक्सीजन एवं कार्बन डाइऑक्साइड गैसों का आदान प्रदान करता है । इसके अन्तर्गत अनेकों वायुमार्गो-नासिका, नासिका -गुहा, ग्रसनी स्वरयन्त्र श्वास-प्रणाल, श्वास नलियॉ, श्वास नलिकाएँ फेफड़े, अन्तरापर्शुकी पेशियॉ फुफ्फुसावरण तथा डायफ्राम का समावेश होता हैं ।

9. पाचन -संस्थान :-

यह संस्थान भोजन के पाचन और अवशोषण तथा वर्ज्य पदार्थों के उत्सर्जन से संबंध रखता है। इसके अंतर्गत मुख, ग्रसनी, ग्रासनली आमाशय, छोटी ऑत, बड़ी ऑत, मलाशय एवं गुर्दा तथा विभिन्न सहायक अंग दॉत, जीभ, 3 जोड़ी लार ग्रंथियॉ, अग्न्याशय, यकृत, पित्ताशय एवं पित्त नली का समावेश होता है। पाचन संस्थान अनेक भागों में से मिलकर के बना एक संस्थान है जिसमें प्रत्येक भाग अपना विशेष कार्य करता है ।

10. मूत्रीय संस्थान :-

यह शरीर का मुख्य उत्सर्जन संस्थान है, जो चयापचयी वर्ज्य-पदार्थों को शरीर से बाहर निकलता है तथा रक्त दाब का नियमन करने जल एवं लवणों का तथा अम्ल एवं क्षारीय संतुलन बनाए रखने में सहायक होता है। इसके अंतर्गत गुर्दों, दो मूत्रनलियों मूत्राशय तथा मूत्र मार्ग का समावेश होता है ।

11. प्रजनन संस्थान :-

यह सॅस्थान उसी प्रकार के जीव की उत्पत्ति कर प्रजाति के अस्तित्व को बनाए रखता। है इसमें ललग कोशिकाएँ पैदा होती

हैं पुरुषों में शुक्राणु और स्त्रियों में डिम्ब या अंडाणु बनते हैं। इस संस्थान का संबंध संन्तानोत्पत्ति से है । इसके अंतर्गत पुरुष एवं स्त्री के बाह्य एवं ऑतरिक जननॉगों का समावेश होता है ।

स्मरणीय बिन्दु-

1. कोशिका को जीवन की इकाई क्यों कहा जाता है?
2. मानव शरीर में तंत्रिका तंत्र का क्यामहत्व है?
3. रक्त परिसंचरण तंत्र शरीर के लिए क्यों आवश्यक है?
4. श्वसन तंत्र का मुख्य कार्य क्या है?
5. पाचन तंत्र शरीर को कैसे पोषण प्रदान करता है?

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
कोशिका	शरीरकीसूक्ष्मइकाई
ऊतक	समानकोशिकाओंकासमूह
अंग	विभिन्नऊतकोंसेबनाभाग
तंत्र	अंगोंकासमूह
अस्थि	हड्डी
पेशी	मांसपेशी
रक्तवाहिका	रक्त ले जाने वाली नलिका
श्वसन	सांस लेने की प्रक्रिया
पाचन	भोजन को सरल बनाना
उत्सर्जन	अपशिष्ट पदार्थ बाहर निकालना

5 अंक के प्रश्न-

1. कोशिका एवं ऊतक में अंतर स्पष्ट कीजिए।
2. अस्थि तंत्र के मुख्य कार्य लिखिए।
3. पेशीय तंत्र का वर्णन कीजिए।
4. रक्त परिसंचरण तंत्र के प्रमुख अंगों का वर्णन करें।
5. पाचन तंत्र के प्रमुखअंगों एवं कायों को लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. मानव शरीर के विभिन्न संगठन स्तरों का विस्तारपूर्वक वर्णनकीजिए।
2. तंत्रिका तंत्र की संरचना एवं कार्यों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
3. मानव शरीर के प्रमुख तंत्रों का वर्णन करते हुए उन के कार्य स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. शरीर की सबसे छोटी संरचनात्मक इकाई कौन-सी है?

(क) ऊतक

(ख) अंग

(ग) कोशिका

(घ) तंत्र

2. समान कार्य करने वाली कोशिकाओं के समूह को क्या कहते हैं?

(क) अंग

(ख) **ऊतक**

(ग) तंत्र

(घ) पेशी

3. शरीर को आकार एवं सहारा कौन-सा तंत्र देता है?

(क) पाचनतंत्र
(ख) श्वसनतंत्र
(ग) अस्थितंत्र
(घ) रक्ततंत्र
4. गैसों का आदान-प्रदान किस तंत्र का कार्य है?
(क) श्वसनतंत्र
(ख) पाचनतंत्र
(ग) उत्सर्जनतंत्र
(घ) प्रजननतंत्र
5. रक्त को पूरे शरीर में पहुंचाने का कार्य कौन करता है?
(क) फेफड़े
(ख) **हृदय**
(ग) आमाशय
(घ) गुर्दे

इकाई-1.2 : मानव श्वसन तंत्र

उद्देश्य-

1. मानव श्वसन तंत्र की संरचना एवं कार्यों का ज्ञान प्राप्त करना।
2. श्वसन प्रक्रिया तथा गैसों के आदान-प्रदान को समझना।
3. श्वसन तंत्र से संबंधित रोगों एवं योगिक उपायों की जानकारी प्राप्त करना।

मानव श्वसन तंत्र कम्र अंगों से बना होता है जैसे नाक, नाक गुहा, ग्रसनी, स्वरयंत्र, श्वासनली, ब्रोंकाम्र और फेफड़ों की एक जोड़ी लेकिन फेफड़े मुख्य श्वसन अंग हैं जहाँ गैसों का आदान-प्रदान होता है। मानव श्वसन तंत्र का विवरण निम्नलिखित है।

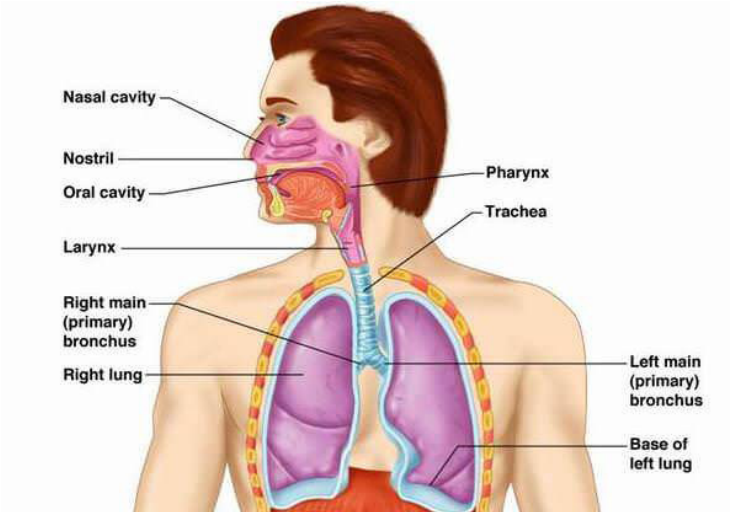

1. नाक गुहा-

मनुष्यों में ऑक्सीजन युक्त हवा नाक के माध्यम से शरीर में प्रवेश करती है। हमारी नाक में दो छिद्र होते हैं जिन्हें नासिका कहते हैं। नासिका छिद्र नाक गुहा में पीछे की ओर खुलता है। नाक गुहा मुख गुहा के ऊपर स्थित होती है। नाक गुहा का कार्य नाक के माध्यम से आने वाली हवा में मौजूद धूल कणों को नम, गर्म और फंसाना है। नाक गुहा ग्रसनी में पीछे की ओर खुलती है।

2. ग्रसनी-

ग्रसनी श्वसन और पाचन तंत्र दोनों के लिए एक सामान्य मार्ग है। यह स्वरयंत्र (आवाज बॉक्स) में जाता है।

3. स्वरयंत्र-

इसे आवाज बॉक्स के रूप में भी जाना जाता है। यह श्वासनली के शीर्ष पर स्थित है। ग्रसनी एक छिद्र जैसे उद्घाटन के माध्यम से स्वरयंत्र में खुलती है जिसे ग्लोटिस कहा जाता है। ग्लोटिस को उपास्थि के एक पत्ती के आकार के फ्लैप द्वारा संरक्षित किया जाता है जिसे एपिग्लॉटिस कहा जाता है। जब हम भोजन निगलते हैं तो एपिग्लॉटिस ग्लोटिस के मुंह को ढक लेता है, ताकि भोजन श्वासनली में प्रवेश न कर सके। स्वरयंत्र के अंदर स्वर रज्जुओं की एक जोड़ी मौजूद होती है। जब वायु स्वरयंत्र से होकर गुजरती है, तो स्वर रज्जुओं में कंपन पैदा होता है और इसके परिणामस्वरूप ध्वनि उत्पन्न होती है।

4. श्वासनली-

इसे वायु नली के नाम से भी जाना जाता है। यह 10-12 सेमी. लंबी नली होती है जिसका व्यास 2-3 सेमी. होता है। श्वासनली को 15-20 काल्टलाजिनस लरग्स द्वारा सहारा दिया जाता है। ये लरग्स श्वासनली को हवा न होने पर बंद होने से रोकते हैं और लचीलापन और मजबूती भी प्रदान करते हैं।

इसके निचले सिरे पर श्वासनली दो छोटी नलियों में विभाजित हो जाती है जिन्हें ब्रोंची (एकवचन ब्रोंकस) कहते हैं जो दाएं और बाएं फेफड़ों में प्रवेश करती हैं। ब्रोंची की दीवारें भी काल्टलाजिनस लरग्स द्वारा सहारा दी जाती हैं। फेफड़ों में, प्रत्येक ब्रोंकस आगे और भी छोटी नलियों में विभाजित हो जाता है जिन्हें ब्रोंकियोल कहा जाता है। प्रत्येक ब्रोंकियोल के सिरों पर छोटी और पतली दीवार वाली थैलियों का एक समूह होता है जिसे एल्वियोली कहा जाता है। प्रत्येक एल्वियोली बहुत महीन रक्त कोशिकाओं के एक नेटवर्क से घिरी होती है।

5. फेफड़े

मनुष्यों में, फेफड़ों की एक जोड़ी वक्ष गुहा में मौजूद होती है, जो हृदय के प्रत्येक तरफ एक होती है। इन्हें क्रमशः दायाँ

फेफड़ा और बायाँ फेफड़ा कहा जाता है। दायाँ फेफड़ा बाएँ फेफड़े से बड़ा होता है। दाएँ फेफड़े में तीन लोब और दो दरारें होती हैं। जबकि, बाएँ फेफड़े में दो लोब और सिर्फ एक दरार होती है। दोनों फेफड़े दो झिल्लियों से ढके होते हैं जिन्हें प्लूरा कहते हैं। इन दोनों झिल्लियों के बीच मौजूद तरल पदार्थ को प्ल्यूरल द्रव कहते हैं। यह फेफड़ो को यांत्रिक चोटों से बचाता है।

सांस लेने की क्रियाविधि

हवा दबाव में अंतर के जवाब में फेफड़ो में अंदर और बाहर जाती है। जब वायुकोशीय रिक्त स्थान के भीतर हवा का दबाव वायुमंडलीय दबाव से कम हो जाता है, तो हवा फेफड़ो में प्रवेश करती है (श्वास), बशर्ते स्वरयंत्र खुला हो (जब वायुकोशीय के भीतर हवा का दबाव वायुमंडलीय दबाव से अधिक हो जाता है, तो हवा फेफड़ों से बाहर निकलती है (श्वसन)। हवा का प्रवाह दबाव अंतर की मात्र के अनुपात में तेज़ या धीमा होता है। चूँकि वायुमंडलीय दबाव अपेक्षाकृत स्थिर रहता है, इसलिए प्रवाह इस बात से निर्धारित होता है कि फेफड़ा के भीतर दबाव वायुमंडलीय दबाव से कितना ऊपर या नीचे बढ़ता या गिरता है।

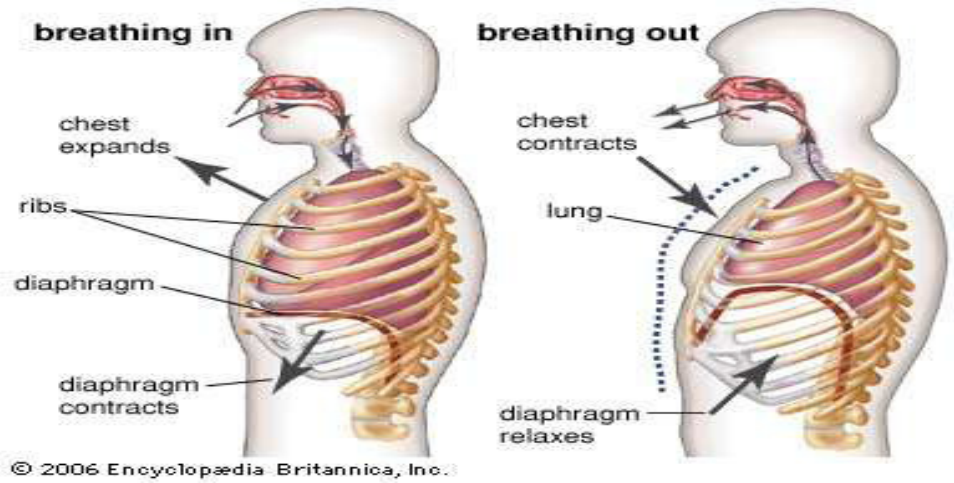

<u>श्वसन तंत्र से संबंधित प्रमुख रोगः-</u>

1.**दमा**-यह एक क्रक्नि क (लंबे समय तक रहने वाला) रोग है जिसमें सांस की नलिकाएं सिकुड़ जाती हैं।

लक्षणः सांस फुलना, घरघराहट, खांसी, सीने में जकड़न।

2.निमोनिया-यह फेफड़ो का संक्रमण होता है जो बैक्टीरिया, वायरस या फंगस के कारण होता है।

लक्षणः तेज बुखार, खांसी, बलगम, सीने में दर्द, सांस लेने में कठिनाम्र।

3.टीबी / क्षय रोग

यह Mycobacterium tuberculosis नामक बैक्टीरिया से होता है।

लक्षणः लम्बे समय तक खांसी, बलगम में खून, वजन कम होना, रात को पसीना आना।

4.ब्रोंकाइटिस यहश्वसन नलिकाओं की सूजन है।

लक्षणः लगातार खांसी, बलगम बनना, सांस नूलना।

5.सीओपीडी यह दीर्घकालिक रोग है जो मुख्यतः धूम्रपान करने वालों में होता है।

लक्षणः सांस लेने में कठिनाम्र, खांसी, घरघराहट।

6. एलजह्न राइनाइटिस-यह नाक की एलजह्न होती है जो धूल, पराग आदि से होती है।

लक्षणः छह्नक आना, नाक बहना, आंखों में पानी आना।

7. फेफड़ों का कैंसर- यह फेफड़ो में होने वाला एक घातक ट्यूमर होता है।

लक्षणः लगातार खांसी, खून की खांसी, वजन घटना, सांस में तकलीफ।

8. सांस फूलना- यह कोम्र रोग नहह्न बल्कि एक लक्षण है, जो दिल या फेफड़ो की बीमारियों का संकेत हो सकता है।

9. इन्"लुएंजा- यह एक वायरल संक्रमण है जो सांस की नलियों को प्रभावित करता है।

लक्षणः बुखार, खांसी, गले में खराश, बदन दर्द।

आसन (योग मुद्राएँ)

ये योगासन हमारे फेफड़ों को मजबूत बनाते हैं और छाती की जकड़न को कम करने में मदद करते हैं। इस आसन से फेफड़ों में जगह बनती है, जिससे सांस लेने में आसानी होती है।

धनुरासन यह छाती को फैलाता है और सांस की नलियों को ताकत देता है। यह आसन गले और फेफड़ो की नलियों को खोलकर

सांस लेने की प्रक्रिया को आसान बनाता है।
पवनमुक्तासन यह गैस और अपच के साथ-साथ सीने की जकड़न को भी कम करता है।
उष्ट्रासन- इस आसन से छाती खुलती है और फेफड़ो की कार्यक्षमता बढ़ती है।

प्राणायाम (श्वास व्यायाम)

प्राणायाम से हम अपने श्वसन तंत्र को गहराग्र से साफ कर सकते हैं और उसमें नग्र ऊर्जा भर सकते हैं:
अनुलोम-विलोम- यह नाड़ी शु(करने वाला अभ्यास है, जिससे फेफड़ो की शक्ति बढ़ती है।
कपालभाति- इसमें फेफड़ो से गंदगी और बलगम बाहर निकलता है।
भ्रामरी- भौंरे जैसी ध्वनि करने से मानसिक शांति मिलती है और श्वसन तंत्र मजबूत होता है।
उज्जायी Çाणायाम- गले और फेफड़ों में होने वाले संक्रमणों में राहत देता है।
भ्रस्त्रिका Çाणायाम- तेज़ गति से सांस लेने और छोड़ने से शरीर में ऑक्सीजन की मात्रा बढ़ती है।

षट्कर्म / शु(करण क्रियाएँ

यह योग की वो प्रक्रियाएँ हैं जो शरीर को गहराग्र से शु(करती हैं:
जल नेति- नाक की सफाई करती है और साइनस या एलर्जी से राहत देती है।
सूत्र नेति- यह नाक के भीतर गहराई से सफाई करने वाली प्रक्रिया है।
कुंजल Øिया- इससे पेट और श्वसन मार्ग दोनों की सफाई होती है।
कपालभाति- यह केवल प्राणायाम ही नहह्न, बल्कि एक शु(करण क्रिया भी है।

मुद्राएँ (हस्त मुद्राएँ)

ये सरल हाथ की मुद्राएँ शरीर में ऊर्जा का संतुलन बनाती हैं:
Çाण मुद्रा- शरीर में ऊर्जा और फेफड़ों की क्षमता बढ़ाने में मदद करती है।
Çलग मुद्रा- खासकर ठंड, बलगम और जुकाम में असरदार है।
वायु मुद्रा- वायु विकारों से राहत देती है और फेफड़ों को हल्का महसूस कराती है।
अपान वायु मुæा- दिल और फेफड़ों को संतुलित करती है।

बन्ध (ऊर्जा का नियंत्रण)

बन्ध हमारे शरीर की ऊर्जा को नियंत्रित करने का तरीका है:
मूल बंèा- शरीर की ऊर्जा को नीचे से ऊपर की ओर उठाने में सहायक है।
उèीयान बंèा- डायाफ्राम को मजबूत करता है और फेफड़ों की शक्ति बढ़ाता है।
जालंèार बंèा- यह गले और श्वसन मार्ग को नियंत्रित करता है।

आयुर्वेदिक/प्रा—तिक औषधियाँ

कुछ जानी-पहचानी जड़ी-बूटियाँ जो फेफड़ों को स्वस्थ रखने में कारगर हैं:
मुलैठी- गले की खराश और सूखी खांसी में बहुत उपयोगी।
अदरक- शरीर में जमा बलगम को साफ करने और सूजन कम करने में मदद करता है।
तुलसी- रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाती है और सांस की बीमारियों से लड़ती है।
पिप्पली- खासकर अस्थमा और खांसी में फायदेमंद है।
वासा - यह जड़ी-बूटी खासकर अस्थमा और ब्रोंकाइटिस जैसी बीमारियों में उपयोगी मानी जाती है।
त्रिकटु चूर्ण- यह तीन औषधियों का मिश्रण है जो बलगम हटाने, पाचन सुधारने और फेफड़ो की सफाई में काम आता है।

स्मरणीय बिन्दु:

1. मानव श्वसन तंत्र का मुख्य कार्य क्या है?
2. एपिग्लॉटिस भोजन को श्वास नली में जाने से कैसे रोकता है?
3. फेफड़ों में गैसों का आदान-प्रदान कहाँ होता है?
4. प्राणायाम श्वसन तंत्र को कैसे लाभ पहुंचाता है?
5. अस्थमा एवं ब्रोंकाइटिस में क्या अंतर है?

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
श्वसन	सांस लेने की प्रक्रिया

नासिका	नाक का छिद्र
ग्रसनी	भोजन एवं वायु का मार्ग
स्वरयंत्र	आवाज उत्पन्न करने वाला अंग
श्वासनली	वायु लेजाने वाली नली
ब्रोंकाई	श्वासन लीकी शाखाएँ
फेफड़े	मुख्य श्वसन अंग
एल्विओलाई	गैस विनिमय की सूक्ष्म थैलियाँ
प्लूरा	फेफड़ों की झिल्ली
प्राणायाम	श्वास संबंधी योग अभ्यास

5 अंक के प्रश्न-

1. नाक गुहा के कार्य लिखिए।
2. स्वर यंत्र की संरचना एवं कार्य का वर्णन कीजिए।
3. श्वास नली एवं ब्रोंकाई का वर्णन करें।
4. फेफड़ों की संरचना का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
5. प्राणायाम का श्वसन तंत्र पर प्रभाव लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. मानव श्वसन तंत्र की संरचना एवं कार्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. श्वसन प्रक्रिया की क्रियाविधि को विस्तार से समझाइए।
3. श्वसन तंत्र से संबंधित प्रमुख रोगों एवं उनके योगिक उपचारों का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न :

1. मानव शरीर का मुख्यश्वसन अंग कौन-सा है?

(क) हृदय

(ख) फेफड़े

(ग) यकृत

(घ) आमाशय

2. स्वर यंत्र को किस नाम से भी जाना जाता है?

(क) वायुकोष

(ख) भोजन नली

(ग) आवाजबॉक्स

(घ) रक्त नली

3. श्वास नली की शाखाओं को क्या कहते हैं?

(क) ब्रोंकाइ

(ख) एल्विओलाई

(ग) प्लूरा

(घ) ग्रसनी

4. गैसों का आदान-प्रदान कहाँ होताहै?

(क) नाक

(ख) ग्रसनी

(ग) एल्विओलाई

(घ) स्वरयंत्र

5. निम्न में से कौन-सा प्राणायाम वसन तंत्र को शुद्ध करता है?

(क) कपालभाति

(ख) ताड़ासन

(ग) वृक्षासन

(घ) शवासन

इकाई-1.3 : पाचन तन्त्र

उद्देश्य-

1. पाचन तंत्र की संरचना एवं कार्यों का ज्ञान प्राप्त करना।
2. भोजन के पाचन, अवशोषण एवं उत्सर्जन की प्रक्रिया को समझना।
3. योग, प्राणायाम एवं आयुर्वेद के माध्यम से पाचन तंत्र को स्वस्थ रखने के उपाय जानना।

पाचन एक रासायनिक एवं यांत्रिक प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत भोजन अत्यंत सूक्ष्म कणों में विभक्त होता है तथा उसके साथ विभिन्न एंजाइम्स एवं पाचक रसों की क्रिया द्वारा उसका उसी रूप में परिवर्तन होता है जिससे उसके घटक रक्त द्वारा अवशोषित हो सके तथा कोशिकाओं द्वारा उपयोग में लाया जा सके वह मिली जुली विभिन्न भौतिक एवं रासायनिक प्रक्रियाएं इनके द्वारा भोजन के अघुलनशील पदार्थ को घुलनशील बना करके स्वांगीकरण के लिए सुचारू रूप से तैयार किया जाता है पाचन कहलाती है।

पाचन की यह प्रक्रिया प्रमुख रूप से पाचक अंगों से स्रावित रसों की क्रिया से संपन्न होती है। इस क्रिया में कार्बोहाइड्रैड, ग्लूकोज फेक्टर, गैलक्सी, सुक्रोज, माल्टोज, लैक्टोज, आदि सरल शर्कराओं में परिवर्तन होकर के अवशेष्य बनते हैं। प्रोटेंन्स, अमीनो एसिड्स एवं वसा, वसीय अम्ल तथा ग्लिासरॉल में परिवर्तन हो जाती है । कार्बोहाइड्रेट एवं प्रोटीन पाचन संस्थान द्वारा विखंडित होकर के ऐसे सरलतम द्रव्यों में परिवर्तन हो जाते हैं ताकि वह आसानी से ऊतक द्रव में अवशोषित हो सके जिस रूप में जल खनिज लवण एवं विटामिन का सेवन किया जाता है। वह उसी रूप में अवशोषित हो जाता है और शरीर की कोशिकाएं उनका उपयोग कर लेती है। जो पदार्थ आंतों में खंडित नहह्र होते तथा पच नही पाते , वे मल के रूप में मल द्वार से होकर शरीर से बाहर निकल जाते हैं ।

पाचक अंगों में मुख्य रूप से **पाचक नली** होती है जिसे पोषण नाल भी कहा जाता है जिसमें पाचक रसों की सहायता से पाचन क्रिया संपन्न होती है पाचन नली का डायफ्राम के नीचे वाला भाग जठरान्त्र-नली कहलाता है। पाचक नली या पोषण नाल मुंह से लेकर गुदा द्वार तक फैली हुग्र लगभग 9 मीटर 30 फुट लंबी नली होती है। इस नली की भित्ति अनैच्छिक पेशियों की बनी होती है जिसके अंतर्गत निम्न अंगों का समावेश रहता है-

1.मुख अथवा मुख गुहा 2. ग्रसनी 3. ग्रासनली 4. आमाशय 5. छोटी आंत 6. बड़ी आत
7. मलान्त्र या मलाशय 8. गुदीय नली 9. गुदा या मल द्वार

उपर्युक्त के अतिरिक्त पाचन संस्थान में पाचन से संबंधित निम्न सहायक अंग भी समावेश होते हैं -

1.दांत 2.होंठ 3.जीब 4.कपोल या गाल 5.तीन जोड़ी लार ग्रंथियां 6.अग्नाशय या पेक्रियाज़ 7.यकृत
8. पित्ताशय

पाचक नली या पोषण नाल के सभी भाग एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े रहते हैं कि भोजन मुंह से भीतर जाकर प्रत्येक भाग से होते हुए गुदामार्ग से अवशिष्ट रूप से निकल जाता है। पोषण नाल मुंह से आरंभ होती है मुंह के पीछे ग्रसनी रहती है जिसमें नासा नलिका इयूस्टेचियन टड्ब एवं स्वास्थ्य प्रणाली के छिद्र खुलते हैं। पोषण नाल ग्रसनी के बाद एक नली के रूप में जिसे ग्रासनली कहते हैं श्वासनली के पीछे की ओर आती है जो ग्रीवा से होती है दसवें वर्टिवा के स्तर पर डायाफ्राम के छिद्र से होकर के उदर गुहा में प्रवेश कर जाती है । डायाफॉर्म के बाद उदर में यह आम की आकृति की एक थैली का आकार ले लेती है जिसे आमाशय कहते हैं। आमाशय के बाद पोषण नाल नली का रूप धारण कर लेती है नली के भीतरी क्षेत्र को जठर निर्गम कहते हैं जिसे जठर निर्गम कपाट लगा रहता है। इसकी निरंतरता में छोटी आंत होती है जो उदर गृह में सांप की कुंडल की भांति अवस्थित रहती है छोटी आंत के आरम्भ में 25 सेंटीमीटर लंबे भाग को ग्रहणी कहते हैं इसी में पित्ताशय से आने वाली पित्त नलिका और अग्नाशय से आने वाली नलिका खुलती है। यकृत से आने वाली नलिकाएं भी इसी में खुलती हैं छोटी आंत के अंत में बड़ी आंत होती है बड़ी ऑत जिस स्थान से आरंभ होती है वहह्र छोटी आंत से 10 से 15 सेंटीमीटर लंबी एक नली निकलती है जिसका अंतिम भाग बंद रहता है इसे एपैण्डिक्स कहते हैं । बड़ी ऑत का पहला भाग दाहिनी और नीचे से ऊपर की ओर जाता है और दूसरा भाग दाहिनी ओर से बायी ओर जाता है तथा अंतिम भाग पुनः बाएँ भाग से सीधे नीचे की ओर चला जाता है और गुदाद्वार में खुलता है अंतिम भाग को मलाशय कहते हैं।

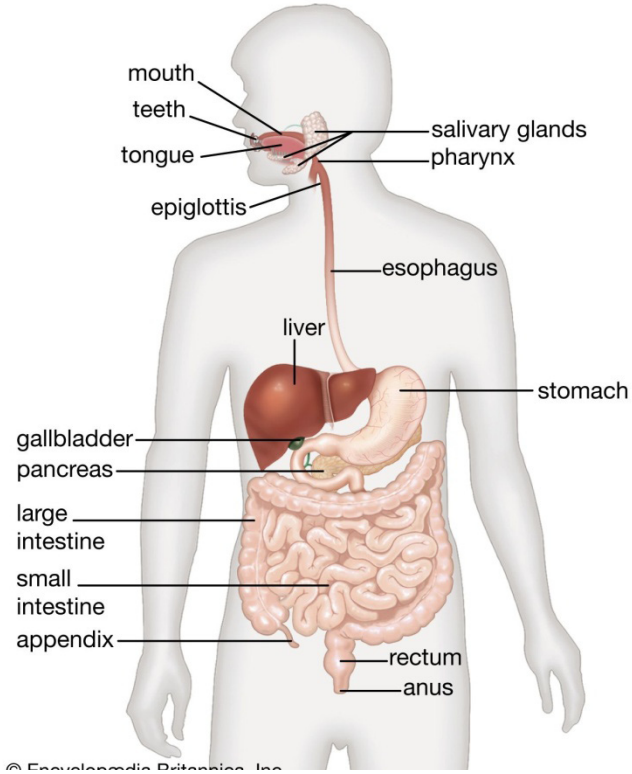

पाचन तंत्र को मजबूत और संतुलित बनाए रखने के लिए योग, प्राणायाम, शुि(करण क्रियाएं, मुद्राएं, बंध और आयुर्वेदिक औषधियाँ बहुत फायदेमंद होती हैं।

पाचन के लिए उपयोगी योगासन :-

कुछ योगासन ऐसे हैं जिन्हें नियमित करने से खाना अच्छे से पचता है और गैस या कब्ज जैसी समस्याॅए दूर होती हैं:

पवनमुDrासन- यह पेट की गैस निकालने में बहुत असरदार होता है।

वज्रासन- खाना खाने के बाद बस 10 मिनट बैठ जाइए, पेट हल्का महसूस होगा।

भुजंगासन- इससे पेट और आंतों की मालिश होती है और पाचन सुधरता है।

मंडूकासन- यह मुद्रा पेट की चर्बी कम करने और भूख बढ़ाने में मदद करती है।

त्रिकोणासन- शरीर में खिंचाव लाकर पाचन अंगों को सक्रिय करता है।

2. पाचन सुधारने वाले प्राणायाम :-

सांस की कुछ साधारण तकनीकों से पाचन अग्नि बढ़ाग्र जा सकती है:

कपालभाति- रोज़ सुबह कुछ मिनट करें, पेट साफ और दिमाग हल्का लगेगा।

अनुलोम-विलोम- यह शरीर के अंदरूनी सिस्टम को बैलेंस करता है और पाचन भी सुधरता है।

भस्त्रिका- ऊर्जा और मेटाबोलिज्म बढ़ाकर खाना जल्दी पचाने में मदद करता है।

उज्जायी- यह थायरॉइड को बैलेंस करता है, जिससे पाचन तंत्र भी प्रभावित होता है।

3. शुि(करण क्रियाएँ (षट्कर्म) %&

पेट की गहराग्र से सफाग्र करने के लिए योग की कुछ खास क्रियाएँ हैं:

कुंजल f)या- पेट में जमा एसिड या खाना बाहर निकालने में मदद करता है।

शंख Çक्षालन- नमक मिले पानी से पूरा पाचन तंत्र साफ होता है।

बस्ती- ये एक तरह की योगिक एनिमा है जो कब्ज में राहत देती है।

नौली-पेट की मांसपेशियों को हिलाकर पाचन शक्ति बढ़ाने वाली तकनीक है।

4. पाचन के लिए लाभकारी हस्त मुद्राएं-

हाथों की कुछ विशेष मुद्राएं शरीर में ऊर्जा को पाचन की ओर निर्देशित करती हैं:

अपान मुद्रा- मल साफ करने और पेट को हल्का रखने में मदद करती है।

सूर्य मुद्रा- शरीर में गर्मी बढ़ाकर भोजन को जल्दी पचाती है।

वायु मुद्रा- पेट में बनी गैस को कम करती है और बेचैनी दूर करती है।
ज्ञान मुद्रा- मानसिक तनाव कम करने से अप्रत्यक्ष रूप से पाचन सुधरता है।

5. बन्ध (ऊर्जा को नियंत्रित करने की तकनीके)-

ये क्रियाएं शरीर के भीतर की मांसपेशियों और ऊर्जा को सक्रिय करती हैं:
उ ीयान बंध- पेट के अंदर खिंचाव पैदा करके पाचन को तेज करता है।
मूल बंध- शरीर की जड़ ऊर्जा को ऊपर उठाने में मदद करता है, पाचन पर अच्छा असर पड़ता है।
जालंधर बंध- गले, थायरॉइड और हार्मोन संतुलन के जरिए पाचन सुधारता है।

6. आयुर्वेदिक औषधियाँ जो पाचन में मदद करें :-

कुछ जड़ी-बूटियाँ और मिश्रण जो घर पर भी लिए जा सकते हैं:
त्रिफला- हर रात लेने से पेट साफ और कब्ज दूर रहता है।
हिंगवष्टक चूर्ण- गैस और अपच होने पर इसे गर्म पानी से लें।
अजवाइन + सैंधव नमक- खाना न पचे तो चुटकी भर लेने से राहत मिलती है।
आंवला-सुबह- आंवले का रस या चूर्ण पाचन अग्नि को सुधारता है।
इसबगोल कब्ज होने पर इसे गर्म पानी या दूध के साथ लें।
त्रिकटु चूर्ण- पाचन को तेज करता है, साथ ही बलगम और कफ भी कम करता है।

स्मरणीय बिन्दु :

1. पाचन तंत्र का मुख्य कार्य क्या है?
2. छोटी आंत को पाचन का मुख्य स्थान क्यों कहा जाता है?
3. भोजन के अवशोषण की प्रक्रिया कैसे होती है?
4. वज्रासन पाचन के लिए लाभकारी क्यों माना जाताहै?
5. त्रिफला एवं त्रिकटुचूर्ण का पाचन तंत्र पर क्या प्रभाव पड़ता है?

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
पाचन	भोजन को सरल रूप में बदलने की प्रक्रिया
अवशोषण	पोषक तत्वों का रक्त में मिलना
आमाशय	भोजन संग्रह करने वाला अंग
छोटीआंत	पाचन एवं अवशोषण का मुख्य भाग
बड़ीआंत	जल अवशोषण करने वाला भाग
मलाशय	मल संग्रह करने वाला भाग
अग्न्याशय	पाचक रस बनाने वाली ग्रंथि
यकृत	पित्त बनाने वाला अंग
पित्ताशय	पित्त संग्रह करने वाला अंग
प्राणायाम	श्वास संबंधी योगअ भ्यास

5 अंक के प्रश्न-

1. पाचन की परिभाषा लिखिए।
2. पाचन तंत्र के प्रमुख अंगों का वर्णन कीजिए।
3. छोटी आंत एवं बड़ी आंत में अंतर स्पष्ट कीजिए।
4. पाचन तंत्र के लिए उपयोगी योगासनों का वर्णन करें।
5. पाचन सुधारने वाले प्राणायामों के लाभ लिखिए।

5 अंक के प्रश्न-

1. मानव पाचन तंत्र की संरचना एवं कार्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. भोजन के पाचन एवं अवशोषण की प्रक्रिया को विस्तार से समझाइए।

3. पाचन तंत्र को स्वस्थ रखने में योग, षटकर्म, मुद्राओं एवं आयुर्वेदिक औषधियों की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. पाचन प्रक्रिया कहाँ से प्रारम्भ होती है?

(क) आमाशय

(ख) मुख

(ग) छोटी आंत

(घ) बड़ी आंत

2. भोजन का अधिकांश पाचन कहाँ होता है?

(क) मुख

(ख) बड़ी आंत

(ग) छोटी आंत

(घ) ग्रसनी

3. पित्त रस का निर्माण कौन करता है?

(क) अग्न्याशय

(ख) यकृत

(ग) आमाशय

(घ) बड़ी आंत

4. भोजन के बाद कौन-सा आसन करना लाभकारी माना जाता है?

(क) ताड़ासन

(ख) वज्रासन

(ग) भुजंगासन

(घ) पद्मासन

5. निम्न में से कौन-सा प्राणायाम पाचन शक्ति बढ़ाने में सहायक है?

(क) अनुलोम-विलोम

(ख) भस्त्रिका

(ग) कपालभाति

(घ) उपरोक्त सभी

इकाई-1.4 : कंकाल तन्त्र

उद्देश्य-

1. मानव कंकाल तंत्र की संरचना एवं प्रकारों का ज्ञान प्राप्त करना।
2. अक्षीय एवं उपांगीय कंकाल के अंगों एवं हड्डियों की जानकारी प्राप्त करना।
3. शरीर को सहारा, सुरक्षा एवं गति प्रदान करने में कंकाल तंत्र की भूमिका को समझना।

मानव कंकाल में कुल 206 पृथक पृथक अस्थियॉ होती हैं। ऑस्ट्रोलॉजी के अध्ययन की सुविधा के लिए पूरे कंकाल को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है

1. अक्षीय कंकाल 2. उपांगीय कंकाल

अक्षीय कंकाल :-

इसे अक्षीय कंकाल इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह है शरीर का अनुलम्ब अक्ष बनता है। इसके अंतर्गत खोपड़ी, कशेरूक दण्ड, उपस्थि खोपडी, एवं पशुकाओं या पसलियों का समावेश होता है इसमें कुल 80 अस्थियॉ होती हैं ।

उपांगीय कंकाल :-

इसके अंतर्गत उर्ध्व भुजाओं के साथ स्कन्ध में खुला एवं निम्न भुजाओं के साथ श्रोणिमेखला की अस्थियों का समावेश होता है इसमें कुल 126 अस्थियां होती हैं।

अक्षीय कंकाल :-

अक्षय कंकाल में निम्न 80 अस्थियों का समावेश होता है

खोपड़ी में 22 अस्थियों का समावेश होता है कान में 6 अस्थिकाएॅ तथा एक गले की अस्थि भी होती है। तकनीकी रूप से गले की अस्थि खोपड़ी का भाग नहह्ल है। कशेरूका दंड में 26 अस्थियां तथा वक्ष में 25 शक्तियों का समावेश होता है

खोपड़ी में 22 अस्थियों का वर्णन-

कपाल की 8 अस्थियॉ	चेहरे में 14 अस्थियॉ	कान की 6 अस्थिकाएॅ	मेरूदण्ड 26 अस्थियॉ	वक्ष
फ्रंन्टल - 1	मैक्जीलरी -2	मैलियस -2	सर्वाइकल वर्टिब्री -7	रिब्स - 24
पैराइटल - 2	जाइगोमेटिकया मैलर -2	इंकस -2	थोरैसिक या डॉसल वर्टिब्री - 12	स्टर्नम - 1
टैम्पोरल - 3	लैक्राइमल -2	स्टैपिस -2	लम्बर वर्टिब्री -5	
इथमॉइड - 1	नेजल -2		सैक्रम - 1	
स्फीनॉइड- 1	इन्फीरिया नेजल का. चा -2		कौक्सिक्स -1	
ऑक्सिपिटल-1	पैलटाईन -2			
	मैण्डिबल् -1			

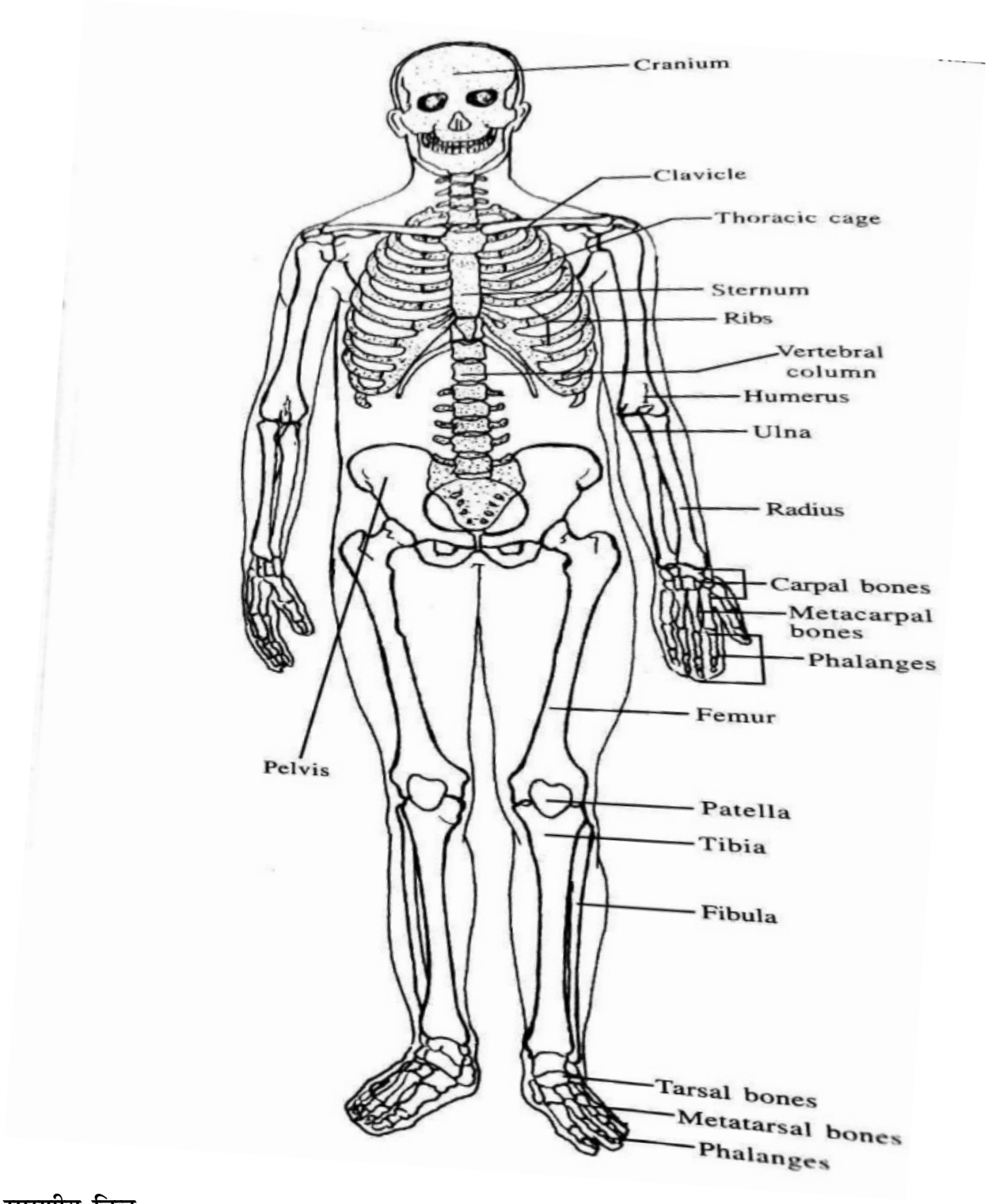

स्मरणीय बिन्दु :

1. मानव शरीर में कंकाल तंत्र का क्या महत्व है?
2. अक्षीय कंकाल में कौन-कौन सी हड्डियाँ शामिल होती हैं?
3. मेरुदंड शरीर के लिए क्यों आवश्यक है?
4. खोपड़ी मस्तिष्क की सुरक्षा कैसे करती है?
5. उपांगीय कंकाल शरीर की गति में कैसे सहायता करता है?

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
कंकाल	शरीर की हड्डियों का ढाँचा
अक्षीय कंकाल	शरीर के मध्य भाग का कंकाल
उपांगीय कंकाल	हाथ-पैरों का कंकाल
खोपड़ी	सिर की हड्डियों का समूह
मेरुदंड	रीढ़ की हड्डी
वक्ष	छाती का भाग
पसलियाँ	छाती की हड्डियाँ
अस्थि	हड्डी
कशेरुका	मेरुदंड की एक हड्डी
स्टर्नम	उरोस्थिया छाती की मध्य हड्डी

5 अंक के प्रश्न-

1. कंकाल तंत्र की परिभाषा एवं कार्य लिखिए।
2. अक्षीय कंकाल का वर्णन कीजिए।
3. उपांगीय कंकाल क्याहै? स्पष्ट कीजिए।
4. खोपड़ी की हड्डियों का संक्षिप्त वर्णन करें।
5. मेरुदंड की संरचना एवं महत्व लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. मानव कंकाल तंत्र का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. अक्षीय एवं उपांगीय कंकाल में अंतर स्पष्ट करते हुए वर्णन कीजिए।
3. खोपड़ी, वक्ष एवं मे रुदंड की हड्डियों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. मानव शरीर में कुल कितनी हड्डियाँ होती हैं?

(क) 180

(ख) 206

(ग) 250

(घ) 300

2. अक्षीय कंकाल में कितनी हड्डियाँ होती हैं?

(क) 80

(ख) 126

(ग) 206

(घ) 150

3. उपांगीय कंकाल में कितनी हड्डियाँ होती हैं?

(क) 60

(ख) 80

(ग) 126

(घ) 106

4. खोपड़ी में कुल कितनी हड्डियाँ होती हैं?

(क) 14

(ख) 20

(ग) 22

(घ) 26

5. मेरुदंड में कुल कितनी कशेरुकाएँ होती हैं?

(क) 12

(ख) 24

(ग) 36

(घ) 26

खण्ड-2 योग एवं स्वास्थ्य का समग्र स्वरूप

इकाई-2.1 : योग का स्वरूप

उद्देश्य-

1. योग के वास्तविक अर्थ को समझना।
2. महर्षि व्यास एवं महर्षि पतंजलि के अनुसार योग की परिभाषा जानना।
3. चित्त वृत्तियों एवं उनकी अवस्थाओं का अध्ययन करना।
4. योग के विभिन्न प्रकारों का ज्ञान प्राप्त करना।
5. गीता में वर्णित कर्मयोग, ध्यानयोग एवं सांख्ययोग का महत्व समझना।
6. योग द्वारा आत्मा एवं परमात्मा के संबंध को समझना।
7. योग के आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक महत्व का अध्ययन करना।

महलृष व्यास योग का अर्थ **समाधि** कहते हैं व्याकरणशास्त्र में युज् धातु से भाव में अर्थ धञ् प्रत्यय करने पर योग शब्द व्युत्पन्न होता है। महलृष पाणिनि के धातुपाठ के दिवादिगण में युज् समाधौ, रूधाादिगण में युजिर् योगे तथा चुरादिगण में युज् संयमने इस रूप में युज् धातु आती है संक्षेप में हम कह सकते हैं कि **संयमपूर्वक साधना करते हुए आत्मा का परमात्मा के साथ योग संयोग कर समाधि का आनंद लेना योग है।** आत्मा जब परमात्मा की उपासना करता है तो भगवान के दिव्य ज्ञान, दिव्य प्रेरणा, दिव्य सामर्थ्य , दिव्य सुख शांति एवं दिव्य आराम से युक्त हो जाता है भगवान की दिव्यता से जुड़ना ही यही योग है।

कर्म क्षेत्र तक के लिए योग का व्यापक व्यवहार हमारे शास्त्रों में हुआ है योग दर्शन के उपदेष्टा महलृष पतंजलि योग शब्द का अर्थ चित्तवृत्ती का निरोध करते हैं। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति से यह पंचविध वृत्तियां जब अभ्यास एवं वैराग्य आदि साधानों के द्वारा निरू; हो जाती हैं और आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है तब योग होता है ।

उपयुक्त)षियों की मान्यताओं के अनुसार योग का तात्पर्य स्वचेतना और पराचेतना के मुख्य केंद्र परमचैतन्य प्रभु के साथ संयुक्त हो जाता है । सम्यक बोध से रागोपहत होने पर जब व्यक्ति वैराग्य के भाग से अभिभूत होता है तब वह समस्त क्षणिक भावों वृत्तियों से ऊपर उठकर आत्मसत्ता के संपर्क में आता है। चित्त की पांच अवस्थाएॅ हैं क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरु(। इनमें से प्रथम तीन अवस्थाओं में योग एवं समाधि नहह्न होती । एकाग्र और निरु(अवस्थाओ में अविद्या आदि पंच कलेशों एवं कर्म के बंधन के शिथिल होने पर क्रमशः संप्रज्ञात समाधि वितर्कानुगत, विचारानुगात, आनंदानुगत, अस्मितानुगत और असंम्प्रज्ञात समाधि भवप्रत्ययगत एवं उपायप्रत्ययगत की प्राप्ति होती है। भारतीय वा्मय में गीता का अपना महत्वपूर्ण स्थान है, भारत के आधुनिक संतों ने तो गीता का योग का प्रचार विश्वभर मे किया है । गीता में योगेश्वर श्री कृष्ण योग को विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त करते हैं अनुकूलता-प्रतिकूलता, सि(-असि(सफलता-विफलता, जय-पराजय इन समस्त भावों में आत्मसाथ रहते हुए सम रहने का योग कहते हैं। असंग भाव से दृष्टा बनकर अन्तर की दिव्य प्रेरणा से प्रेरित होकर कुशलतापूर्वक कर्म करना ही योग है।

<u>योग के प्रकार</u>

दत्तात्रय योग शास्त्र तथा योगराज उपनिषद् में मंत्रयोग, लययोग, हठयोगी, तथा राजयोग के रूप में योग के चार प्रकार माने गए हैं, महलृष पतंजलि का अष्टांग योग सार्वभौमिक, प्रामाणिक व वैज्ञानिक माना गया है ।

1-मंत्र योग- ओम् एवं गायत्री आदि मत्रों का विधिपूर्वक जप करने से योग की सि(यां एवं दिव्य शक्तियां प्राप्त होती हैं ।

2-लययोग- दैनिक क्रियाओं को करते हुए सदैव ग्रश्वर का ध्यान करना लययोग है।

3-**हठयोग**- विभिन्न मुद्राओं, आसनों, प्राणायाम, एवं बन्धों के अभ्यास से शरीर को निर्मल एवं मन को एकाग्र करना हठयोग कहलाता है ।

4-राजयोग- यम-नियम आदि के अभ्यास से चित्त को निर्मल कर ज्योतिर्मय आत्मा का साक्षात्कार करना राजयोग कहलाता है। राजयोग शब्द राजृ दीप्तौ धातु से निष्पन्न हुआ है। राज का अर्थ दीप्तिमान, ज्योतिर्मय तथा योग का अर्थ समाधि अथवा अनुभूति है । गीता में ध्यान योग, सॉख्या योग एवं कर्म योग के बारे में विस्तृत विवेचन है। गीता के पंचम अभ्यास में संन्यास योग एवं कर्म योग में कर्म योग को श्रेष्ठ माना गया है।

<u>योग के तीन पहलू-</u>

योग के मुख्य रूप से तीन पहलू हैं -एक योग का ज्ञान, दूसरा अभ्यास, तीसरा आचरण पक्ष। योग एक बहुत ही, प्राचीन,

वैज्ञानिक, व्यावहारिक एवं पंथ निरपेक्ष सत्य है । योग विद्या का प्रामाणिक रूप में यथार्थ बोध होना बहुत ही आवश्यक है क्योंकि योग के नाम पर आंशिक, आधा अधूरा, अल्पज्ञान, मिथ्याज्ञान एवं आप प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक ज्ञान भी प्रचलित हो रहा है।

अत: योग के क्षेत्र में कार्य कर रही संस्थाओं संगठनों का यह बहुत बड़ा कर्तव्य है कि योग के संदर्भ में प्रमाणिक यथार्थ ज्ञान का ही प्रचार प्रसार करें तथा उसी के अनुरूप योग के अभ्यास करायें तथा योग्यअभ्यास में एक रूपता होने से विश्व के स्तर प्रयोग की ब्विसनीयता, लोकप्रियता एवं प्रमाणिकता बढ़ेगी। योग एवं स्वास्थ्य समृ(प्रगतिशील शब्द है इसका संबंध मात्र कुछ ही योग क्रियाओं एवं अभ्यासों से ही नहह्न है अपितु श्रेष्ठतम दिव्य आचरण या दिव्य जीवन जीना ही योग का अंतिम धयेय है।

(बीमारियों, बुराइयों एवं तनाव आदि से मुक्त, स्वास्थ्य, सुखमय में, शांतिमय में जीवन यह योग का एक पहलू है ।)

योगी व्यक्ति सब अविद्या, अज्ञान एवं अज्ञानजनित दोषों एवं समस्त दोषपूर्ण प्रवृत्तियों व दु:खों से मुक्त हो जाता है यही निर्वाण, मोक्ष या मुक्ति है । जब योग साधना सेवा पुरुषार्थ परमार्थ, योग व कर्मयोग से योगी का शरीर, इंद्रियॉ चित्तंव चरित्र शु(हो जाता है और शु(विवेक जागृत हो जाता है वह शील ,समाधि व प्रज्ञा से युक्त होकर स्वयं एवं समष्टि में पूर्णता की अनुभूति करता हुआ पूर्ण कृतज्ञतापूर्वक निर्वहन करता है । योगी का ऐसा दिव्यता युक्त आचरण या दिव्य जीवन ही योग का अंतिम परिणाम है।

योग से जब मनुष्य का विचार, आहार व व्यवहार शु(हो जाएगा तो संसार में विश्वबंधुत्व, सहअस्तित्व एवं एकत्व अपने आप स्थापित होगा ।

हेल्थ हैप्पीनेस, एवं हर्मनी का माध्यम है योग स्वास्थ्य, विश्वशॉति एवं विश्व की समग्र स्थायी विकेंद्रित एवं न्यायपूर्ण सात्विक समृ(का भी एकमात्र साधन है योग । यह योग विद्या ही पराविद्या, ब्रह्मविद्या या आध्यात्मिक विद्या है।

योग के सभी पहलुओं को कोम्र यथार्थ रूप से समझने अभ्यास करने एवं योग युक्त आचरण करने की आज के विविध चुनौतीपूर्ण वातावरण में नितांत आवश्यकता है । हठयोग, क्रियायोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग एवं अष्टांगयोग, राजयोग का जब यथार्थ ज्ञान अभ्यास एवं आचरण के स्तर पर मनुष्य के जीवन में अवतरण होगा तभी यह जीवन, समाज एवं विश्व बहुत ही स्वस्थ, सुंदर, सुख शॉतिमय में एवं पूर्ण समृ(मय में होगा।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
समाधि	आत्मिक एकाग्रता की उच्च अवस्था
चित्तवृत्ति	मन की गतिविधियाँ
वैराग्य	आसद्रि का त्याग
निरोध	रोकना या नियंत्रण
संप्रज्ञात	ज्ञान सहित समाधि
असंप्रज्ञात	ज्ञान सेपरे समाधि
लययोग	ईश्वर में मन का लय
हठयोग	शरीर एवं मन की साधना
राजयोग	आत्म साक्षात्कार का योग
उपासना	ईश्वर की आराधना

5 अंक के प्रश्न-

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार योग की व्याख्या कीजिए।
2. चित्त की पाँच अवस्थाओं का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
3. मंत्रयोग एवं लययोग में अंतर स्पष्ट कीजिए।
4. गीता में कर्मयोग का क्या महत्व बताया गया है?
5. राजयोग का अर्थ एवं उद्देश्य लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. योग का अर्थ एवं स्वरूप स्पष्ट करते हुए विभिन्न ऋषियों की मान्यताओं का वर्णन कीजिए।
2. योग के चार प्रकारों का विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिए।
3. गीता में वर्णित योग के सिद्धांतों एवं कर्मयोग के महत्व पर प्रकाश डालिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. योग शब्द किस धातु से बना है?

(क) भू

(ख) युज्

(ग) कृ

(घ) गम्

2. पतंजलि के अनुसार योग क्या है?

(क) शरीर का विकास

(ख) ध्यान

(ग) चित्त वृत्तिनिरोध

(घ) पूजा

3. निम्न में से कौन-सा योग का प्रकार नहीं है?

(क) मंत्रयोग

(ख) लययोग

(ग) भक्तियोग

(घ) राजयोग

4. हठयोग में मुख्य रूप से किसका अभ्यास किया जाता है?

(क) युद्ध

(ख) आसन एवं प्राणायाम

(ग) व्यापार

(घ) संगीत

5. गीता में किस योग को श्रेष्ठ माना गया है?

(क) कर्मयोग

(ख) लययोग

(ग) मंत्रयोग

(घ) हठयोग

इकाई-2.2 : स्वस्थ व्यक्ति की दिनचर्या

उद्देश्य-

1. स्वस्थ व्यक्ति की परिभाषा को समझना।
2. आयुर्वेद में वर्णित स्वास्थ्य के मूल सिद्धांतों का अध्ययन करना।
3. आहार, निद्राए व ब्रह्मचर्य के महत्व को जानना।
4. शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य का ज्ञान प्राप्त करना।
5. संतुलित दिनचर्या एवं संयमित जीवन के महत्व को समझना।
6. योग एवं स्वास्थ्य के पारस्परिक संबंध का अध्ययन करना।
7. आध्यात्मिक स्वास्थ्य एवं धर्म के लक्षणों को समझना।

उत्तम स्वास्थ्य ही सम्पूर्ण सुखों का आधार है । स्वास्थ्य है तो जहान है, नही तो श्मशान है। स्वस्थ कौन है आयुर्वेद के प्रसि(ग्रन्थ सुश्रुत संहिता में महर्षि सुश्रुत लिखते है-

समदोषः समाग्नि'च समधातु मलक्रियाः । प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थः इत्यभिधीयते॥

सुश्रुत संहिता 15/10

जिसके तीनों दोष -वात, पित्त एवं कफ सम हों, जठराग्नि सम, न अति मंद, ना अति तीव्र हो शरीर को धारण करने वाली सप्त धातुएँ, रसरक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा वीर्य उचित अनुपात में हों मल-मूत्र की क्रिया सम्यक् प्रकार से होती हो और दस इंद्रियों का नाक, आंख, त्वचा रचना, गुदा उपस्थ, हाथ पैर एवं जीव, मन एवं इनका स्वामी आत्मा भी प्रसन्न हो तो ऐसे व्यक्ति को स्वस्थ कहा जाता है। महलृष सुश्रुत ने स्वस्थ शब्द की बहुत ही व्यापक एवं वैज्ञानिक परिभाषा की है । महलृष चरक के अनुसार इस स्वस्थता की प्राप्ति हेतु आहार निद्रा एवं ब्रह्मचर्य यह तीन उपस्तंभ खंम्भे है ।

त्रय उपस्तम्भा इति-आहारः स्वप्नो निद्रा ब्रहाचर्यमिति । (च.सू .11.35)

वात, पित्त, कफ रूपी तीन स्तंभों पर स्थित यह शरीर पूर्वोक्त तीन उपस्तंभों आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य द्वारा स्वस्थ व दृढ बना है, गीता में योगेश्वर श्री कृष्ण भी कहते हैं-

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु । युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

(गीता-6/17)

जिसके आहार विहार, विचार एवं व्यवहार संतुलित तथा संयमित है, जिसके कार्यो में दिव्यता, मन में सदा पवित्रता, एवं शुभ के प्रति अभिप्सा है, जिसका शयन एवं जागरण नियमित है, वही सच्चा योगी है।

वर्तमान समय में योग से व्याधि निरोध एवं स्वास्थ्य रक्षण हेतु विविध आयाम-

1-शारीरिक स्वास्थ्य

मनुष्य का शरीर पंचमहाभूत, पंच प्राण, पंच ज्ञानेन्द्रियॉ, पंच कर्मेंद्रियॉ, पंचकोश, आन्तरिक यंत्रों को चलाने वाले रसायन तत्व इन सभी का सन्तुलित अवस्था में होना शारीरिक स्वास्थ्य है ।

स्वरूप

स्वस्थ शरीर संयम पर निर्भर है , इन्द्रियों का संयम आहार का संयम , ब्रहाचर्य का संयम, दिनचर्या का संयम उत्तेजनाओं का संयम, यदि रखा जा सके तो फिर स्वास्थ्य बिगड़ने का प्रारब्धजन्य कर्म-भोगों के अतिरिक्त और कोई कारण शेष नही रह जाता है ।

शीतोष्णोचैव वायुश्च त्रयः वायुश्च यः शरीरजा गुणाः!
तेष गुणानां साम्यं यत्रदाहुः स्वस्थलक्षणम् ॥

(महाभारत शांतिपर्व)

अर्थात सर्दी-गर्मी और वायु, वात, पित्त और कफ ये तीन शारीरिक गुण है, इन तीनों का साम्यावस्था में रहना ही स्वास्थ्य का लक्षण बताया गया है ।

2 मानसिक स्वास्थ्य-

मानसिक स्वास्थ्य का संबंध केवल व्यक्ति से ही नहह्ल होता, बल्कि व्यक्ति के समुदाय से भी होता है। समाज जिसमें वह रहता है जिसका सामुदायिक भाग होता है तथा सामाजिक संस्थाएं जो उसके अधिकांश जीवन को निर्देशित करती हैं। जीवन शैली, कार्यपद्धति धनोपार्जन के तरीके, व्यय के तरीके, प्रसन्नता प्राप्त करने के तरीके, जिनमें स्थायित्व तथा सुरक्षा निश्चित होती है ।

3-सामाजिक स्वास्थय-

सामाजिक स्वास्थ्य से तात्पर्य है, जिसमें व्यक्ति समूह परिवार में श्रेष्ठता सुसंस्कारिता, वातावरण में स्वच्छता, सभी के

मन में कल्याण के भाव का होना। जिस समूह परिवार में यह गुण होंगे वह अपने वातावरण को भी परिष्कृत करेंगे जिससे हमारा समाज स्वस्थ होगा ।

सामाजिक स्वास्थ्य वह जिसमें सभी की उन्नति के भाव हो और समाज में आ गम्र दुष्टप्रवृत्तियों को निकालने के लिए बहदता हो ।

जिन मनुष्य में मैत्री, करुणा, मुदिता और अपेक्षा के भाव है, उनका मन निर्मल हो जाता है चित्त शु(हो जाता है।

सगंच्छध्वं, संवदध्वं, संवोमनांसि जानताम्।

देवा भागं यथा पूर्वे संजानानाम् उपासते॥ (ऋग्वेद-10/191)

अर्थात साथ-साथ मिलकर चलो, मिलकर बोलो, तुम्हारी मानसिक भावनाएं समान हो, जैसे-पहले देवता लोग मिल-जुलकर विचार और कार्य करते थे। वैसे ही तुम भी करो।

4. आध्यात्मिक स्वास्थ्य-

आध्यात्मिक स्वास्थ्य वह होता है जिसमें व्यक्ति स्व में स्थिर होता है और संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए शरीर तथा मन के पोषण के साथ-साथ आत्मा का पोषण करता है अन्यथा जिस प्रकार पेड़ पौधों की जड़े समय-समय पर खाद पानी इत्यादि में देख-रेख नहह्र की जाए तो वह मुरझा जातें हैं , उसी प्रकार आत्मा रूपी जड़ का संपूर्ण विकास नहह्र हो पाता आध्यात्मिक ही एक ऐसा विज्ञान है, जिसकी विभिन्न तकनीकों द्वारा शारीरिक, मानसिक, सामाजिक व आध्यात्मिक उन्नति की जा सकती है ।

आध्यात्मिक स्वास्थ्य के अंतर्गत हमारे भाव, विचार, क्रिया, संवेदनाएँ, संकल्प, चरित्र आदि का समावेश होता है। हमारे भावों-विचारों का यही रूपांतरण ही आध्यात्म की आधारशिला माने जाते हैं और हमारे भाव विचार संवेदनाएँ संकल्प चरित्र इनका सन्मार्ग सत्कर्मों में संलग्न होना ही **आध्यात्मिक स्वास्थ्य** है।

व्याकरण की दृष्टि से आत्मनिष्ठ दृष्टि विग्रह के द्वारा अव्ययीभाव समास करके, **आध्यात्मिक** शब्द की निष्पत्ति हुम्र जिसका अर्थ है **आत्मा में स्थित।**

आध्यात्मिक का स्वरूप :-

आध्यात्मिक की त्रिवेणी तीन धाराओं में प्रभावित होती है-

1. प्रेम **2.** ज्ञान **3.** बल

इन तीनों का संतुलित अभिवर्धन करने से ही कोम्र समग्र अध्यात्मवादी हो सकता है।

मनु स्मृति के अनुसार-

धृतिः क्षमा दमो *स्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनुस्मृति 6/92)

अर्थात धृति ,क्षमा, मन को वश में रखना, चोरी न करना, बाह्म एंव आंतरिक पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह, इन्द्रियों का वश में रखना सत्य वाणी और मन की यर्थाथता और अक्रोध ये धर्म के दस लक्षण हैं।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
समदोष	वात, पित्त, कफ का संतुलन
जठराग्नि	पाचन शक्ति
ब्रह्मचर्य	इन्द्रिय संयम
धातु	शरीर को धारण करने वाले तत्व
मलक्रिया	शरीर से अपशिष्ट बाहर निकालने की क्रिया
इन्द्रियनिग्रह	इन्द्रियों का नियंत्रित करना
आध्यात्मिक	आत्मा में स्थित
मुदिता	प्रसन्नता का भाव
करुणा	दया का भाव
संयम	नियंत्रण एवं संतुलन

5 अंक के प्रश्न-

1. स्वस्थ व्यक्ति की परिभाषा लिखिए।
2. आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य का स्वास्थ्य में क्या महत्व है?
3. शारीरिक स्वास्थ्य का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
4. मानसिक एवं सामाजिक स्वास्थ्य में अंतर बताइए।
5. आध्यात्मिक स्वास्थ्य का अर्थ एवं महत्व समझाइए।,

15 अंक के प्रश्न-

1. आयुर्वेद के अनुसार स्वस्थ व्यक्ति के लक्षणों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य का विस्तृत वर्णन कीजिए।
3. योग एवं संयमित दिनचर्या का स्वास्थ्य संरक्षण में क्या महत्व है? विस्तार से समझाइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. चरक संहिता के अनुसार स्वास्थ्य का उपस्तंभ कौन-सा है?

(क) धन

(ख) आहार

(ग) क्रोध

(घ) आलस्य

2. निम्न में से कौन-सा स्वास्थ्य का प्रकार नहीं है?

(क) शारीरिक

(ख) मानसिक

(ग) सामाजिक

(घ) आर्थिक

3. ''युक्ता हार विहारस्य'' श्लोक कि सग्रंथ से लिया गया है?

(क) रामायण

(ख) महाभारत

(ग) गीता

(घ) वेद

4. आध्यात्मिक स्वास्थ्य की मुख्य धारा कौन-सी है?

(क) प्रेम

(ख) ज्ञान

(ग) बल

(घ) उपर्युक्त सभी

5. मनुस्मृति के अनुसार धर्म का लक्षण कौन-सा है?

(क) क्रोध

(ख) चोरी

(ग) सत्य

(घ) हिंसा

इकाई- 2.3 : प्राणायाम के सामान्य नियम

उद्देश्य-

1. प्राणायाम के सामान्य नियमों एवं अभ्यास विधियों का ज्ञान प्राप्त करना।
2. विभिन्न प्रकार के प्राणायामों के लाभ एवं सावधानियों को समझना।
3. शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य में प्राणायाम के महत्व को जानना।

1. प्राणायाम करने का स्थान स्वच्छ एवं हवादार होना चाहिए। यदि खुले स्थान में अथवा जल (नदी, तालाब आदि) के समीप बैठकर अभ्यास करें, तो सबसे उत्तम है।
2. नगरों में जहां पर प्रदूषण का प्रभाव अधिक हो, वहां पर प्राणायाम करने से पहले घी का दीपक, अगरबत्ती या धूपबत्ती जलाकर उस स्थान को सुगन्धित करने से बहुत अच्छा रहता है।
3. प्राणायाम करते वक्त बैठने के लिए आसन के रूप में कम्बल, दरी, चादर, रबरमैट अथवा चटाई का प्रयोग करें।
4. प्राणायाम के लिए सि(ासन/सुखासन या पद्मासन में मेरुदण्ड को सीधा रखकर बैठें। जो लोग जमीन पर नहीं बैठ सकते, वे कुर्सी पर बैठकर भी प्राणायाम कर सकते हैं।
5. प्राणायाम करते समय अपनी गर्दन, रीढ़, छाती एवं कमर को सीधा रखें।
6. श्वास सदा नासिका से ही लेना चाहिए, इससे श्वास फिल्टर होकर अन्दर जाता है। मुख से श्वास नहीं लेना चाहिए, सामान्यावस्था में भी नासिका से ही श्वास लें।
7. प्राणायाम करने वाले व्यक्ति को अपने आहार-विहार-आचार-विचार पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। सदैव सात्त्विक एवं चिकनाई युक्त आहार ही लें, जैसे-फल एवं उनका रस, हरी तरकारी-सब्जी, दूध, घी आदि।

भस्त्रिका-प्राणायाम :-

विधि- किसी ध्यानात्मक-आसन में सुविधानुसार कमर, गर्दन सीधी करके बैठकर दोनों नासापुटों से श्वास को पूरा अन्दर डायफ्राम (महाप्राचीरा पेशी) तक भरना तथा धीरे-धीरे सहजता के साथ छोड़ना भस्त्रिका प्राणायाम कहलाता है। प्रारम्भ में ढाई सेकेन्ड में श्वास अन्दर लेना एवं उतने ही समय में श्वास को एक लय के साथ बाहर छोड़ना चाहिये, जिससे कि बिना रुके एक मिनट में 12 बार के औसत से पांच मिनट की एक आवृत्ति में साठ बार (12X5=60) बार आभ्यास कर सकें।

कफ की अधिकता या साइनस आदि रोगों के कारण जिनके दोनों नासाछिद्र ठीक से खुले हुए नहीं होते, उन लोगों को पहले दायें नासापुट को बन्द करके बायें से रेचक और पूरक करना चाहिए। फिर बायें को बन्द करके दायें से यथाशक्ति मन्द, मध्यम या तीव्र गति से रेचक तथा पूरक करना चाहिए; फिर अन्त में दोनों नासापुटों से अर्थात् इड़ा एवं पिंगला से रेचक, पूरक करते हुए भस्त्रिका प्राणायाम करना चाहिए। इसे **डायप्रफैग्मेटिक डीप** ब्रीदिंग भी कहते हैं।

सावधानी:

1. जिनको उच्च रक्तचाप, दमा या हृदयरोग हो, उन्हें तीव्र गति से भस्त्रिका नहीं करनी चाहिये।
2. इस प्राणायाम को करते समय जब श्वास को अन्दर भरें, तब उदर नहीं फुलाना चाहिये। श्वास डायफ्राम तक भरें, इससे उदर नहीं फूलेगा, पसलियों तक छाती ही फूलेगी।
3. इससे शरीर में गर्मी आती है। अत: ग्रीष्म ऋतु में धीमी गति से करना चाहिये।

लाभ:

1. भस्त्रिका प्राणायाम के अभ्यास से प्रतिक्रिया समय अर्थात् किसी भी उद्दीपक के प्रति प्रतिक्रिया में लिया गया समय में कमी आती है।
2. सर्दी-जुकाम, एलर्जी, श्वासरोग, दमा, पुराना नजला, साइनस आदि समस्त कफ रोग नष्ट होते हैं। फेफड़े सबल बनते हैं तथा हृदय एवं मस्तिष्क को शु(प्राणवायु मिलने से उनको आरोग्य-लाभ होता है।
3. रक्त परिशु(होता है। त्रिदोष सम होते हैं। यह प्राणोत्थान और कुण्डलिनी जागरण में बहुत सहायक है।

कपालभाति-प्राणायाम

विधि- कपालभाति में मात्र रेचक पर ही पूरा ध्यान दिया जाता है। पूरक के लिये प्रयत्न नहीं करते; अपितु सहज रूप से जितना श्वास अन्दर चला जाता है, जाने देते हैं, पूरी एकाग्रता श्वास को बाहर छोड़ने में ही होती है। ऐसा करते हुए स्वाभाविक रूप से उदर में भी आकुञ्चन और प्रसारण की क्रिया होती है।

एक सेकेन्ड में एक बार श्वास को लय के साथ छोड़ना एवं सहज रूप से धारण करना चाहिये। इस प्रकार बिना रुके एक मिनट में 60 बार तथा पांच मिनट में 300 बार कपालभाति प्राणायाम होता है। कपालभाति प्राणायाम की एक आवृत्ति 5 मिनट की अवश्य होनी चाहिये।

स्वस्थ एवं सामान्य रोगों से ग्रस्त व्यक्ति को कपालभाति 15 मिनट तक करना चाहिये। 15 मिनट में 3 आवृत्तियों में 900 बार यह प्राणायाम हो जाता है। कैंसर, एड्स, मधुमेह, डिप्रेशन आदि असाध्य रोगों में प्रातः-सायं दोनों समय कपालभाति आधा-आधा घण्टा करने से शीघ्र लाभ होता है।

सावधानीः

1. पेट की शल्यक्रिया (ऑपरेशन) के लगभग 3 से 6 महीने के बाद ही इसका अभ्यास करें।
2. गर्भावस्था, अल्सर, आन्तरिक रक्तस्राव एवं मासिक धर्म की अवस्था में इस प्राणायाम का अभ्यास न करें।
3. हृदय रोगी व उच्च रक्तचाप से ग्रसित रोगी इसे धीमे-धीमे करें। 2 मिनट में 40-45 आवृत्ति ही करें।

लाभः

1. मोटापा, मधुमेह, गैस, कब्ज, अम्लपित्त, गुर्दे तथा प्रोस्टेट से सम्ब(सभी रोग निश्चित रूप से दूर होते हैं। हृदय की ध मनियों में आये हुये अवरोध खुल जाते हैं। डिप्रेशन, भावनात्मक असन्तुलन, घबराहट, नकारात्मकता आदि समस्त मनोरोगों से छुटकारा मिलता है।
2. इस प्राणायाम के अभ्यास से आमाशय, अग्नाशय (पेन्क्रियाज), लीवर, प्लीहा व आंतों का आरोग्य विशेष रूप से बढ़ता है।
3. कपालभाति के अभ्यास से एकाग्रता बढती है।
4. मोटे व्यक्तियों में जिन्हें उच्च रक्तचाप (Hypertension) या मधुमेह (Diabetes) है, वे कपालभाति के अभ्यास से लाभ प्राप्त कर सकते हैं; किन्तु उन्हें अपनी रक्त शर्करा मात्रा (Blood Sugar Level) तथा रक्तचाप की नियमित जाँच करवानी होगी।
5. कपालभाति छात्रों के लिए, विशेष तौर पर धीमें सीखने वाले छात्रों तथा कम से कम 45 मिनट तक एकाग्रता न रख पाने वालों के लिए अति उपयोगी है।

3. बाह्य-प्राणायाम :

विधि- सि(ासन या पद्मासन में विधिपूर्वक बैठकर श्वास को एक ही बार में यथाशक्ति पूरा बाहर निकाल दें। श्वास बाहर निकालकर त्रिबन्ध अर्थात् मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध एवं जालन्धर बन्ध लगाकर श्वास को यथाशक्ति बाहर ही रोककर रखें। जब श्वास लेने की इच्छा बलवती हो, तब बन्धों को हटाते हुए धीरे-धीरे श्वास लें। श्वास भीतर लेकर उसे बिना रोके ही पुनः पूर्ववत् श्वसन क्रिया कीजिये।

3 से 5 सेकेन्ड में श्वास को सहजता से पूरा अन्दर भरना एवं 3 से 5 सेकेन्ड में ही सहजता से श्वास को बाहर छोड़कर बाहर ही 10 से 15 सेकेन्ड रोककर रखना तथा पुनः इसी क्रिया को बिना रुके लगातार करना उत्तम है।

इस प्रकार 2 मिनट में सामान्यतः 3 से 5 बार बाह्य प्राणायाम आराम से हो जाता है और 5 बार बाह्य प्राणायाम करना सामान्यतः पर्याप्त है।

गुदाभ्रंश, योनिभ्रंश, पाइल्स (बवासीर), फिस्टुला (भगन्दर), यौन रोगों आदि से पीड़ित व्यक्ति इसका एक बार में 11 बार तक अभ्यास कर सकते हैं। कुण्डलिनी जागरण के इच्छुक साधक एवं ऊर्ध्वरेता होने की प्रबल इच्छा रखने वाले साधक इस प्राणायाम का एक समय में अधिकतम 21 बार तक अभ्यास कर सकते हैं।

समस्त स्त्री-रोगों यथा-बन्ध्यत्व/अप्रजनितृत्व (इन्फर्टिलिटी), प्रदर (ल्यूकोरिया) आदि तथा गर्भाशयगत दोष में भी यह प्राणायाम बहुत लाभप्रद है।

सावधानीः

1. उच्च व निम्न रक्तचाप एवं हृदय रोगों से पीड़ित व्यक्ति को इस प्राणायाम का अभ्यास नहीं करना चाहिये।
2. सिर-दर्द, माइग्रेन से ग्रसित रोगी भी इसका अभ्यास न करें।
3. प्रारम्भ में ही व्यक्ति को इसका अभ्यास न करके अन्य प्राणायामों का अभ्यास करके शरीर व मन को इस अभ्यास के अनुकूल बना लेना चाहिये। यह एक उच्च कोटि का यौगिक अभ्यास है।

लाभः

1. बाह्य प्राणायाम में ऑक्सीजन (Oxygen) की अधिक मात्र का व्यवहार होने के कारण ऊर्जा की खपत (Energy Expenditure) ज्यादा होती है।

2. जब पूरक अथवा रेचक के समय की तुलना में बाह्य कुम्भक की अवधि अधिक होगी, तब शरीर में ऑक्सीजन (Oxygen) की खपत 99 प्रतिशत तक गिर जाती है। ऑक्सीजन का कम खपत होना तनावजन्य उत्तेजनाओं (Stress Related Arousal) के कम बनने तथा मनुष्य सहित सभी प्राणियों के दीर्घकाल पर्यन्त जीवित रहने से सम्ब(है।
3. जब पूरक अथवा रेचक के समय की तुलना में बाह्य कुम्भक की अवधि कम होगी, तब शरीर में ऑक्सीजन (Oxygen) की खपत 52 प्रतिशत तक बढ़ जाती है। अम्लजन का अधिक खपत होना ऊर्जा के अधिक खर्च होने तथा अधिक उत्तेजित होने का परिचायक है।
4. पाइल्स (बवासीर), फिस्टुला (भगन्दर), फिशर, गुदाभ्रंश, योनिभ्रंश आदि रोगों में लाभप्रद है। वीर्य की ऊर्ध्वगति करके स्वप्नदोष, शीघ्रपतन आदि धातु-विकारों की निवृत्ति करता है।
5. बु(सूक्ष्म और तीव्र होती है। ब्रह्मचर्य की रक्षा एवं कुण्डलिनी जागरण में अतीव उपयोगी है।

4. उज्जायी प्राणायामः

विधि- ध्यानोपयोगी आसन में बैठकर दोनों नासापुटों से पूरक करते हुए गले को सिकोड़ते हैं, और जब गले को सिकोड़कर श्वास अन्दर भरते हैं, तब जैसे खर्राटे लेते समय गले से आवाज होती है, वैसे ही इसमें पूरक करते हुए कण्ठ से ध्वनि होती है। हवा का घर्षण नाक में नहीं होना चाहिये। इस प्राणायाम में सदैव दायीं नासापुट को बन्द करके बायीं नासापुट से ही रेचक करना चाहिये।

प्रारम्भ में कुम्भक का प्रयोग न करके केवल पूरक-रेचक का ही अभ्यास करना चाहिये। धीरे-धीरे कुम्भक का समय पूरक जितना तथा कुछ दिनों के अभ्यास के बाद कुम्भक का समय पूरक से दोगुना कर दीजिये। कुम्भक 10 सेकेन्ड से ज्यादा करना हो, तो जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध भी लगायें।

विशेषः प्राणायाम से सम्ब(सामान्य सावधानियों का अवश्य ध्यान रखें।

लाभः 1. थायरॉइड, स्नोरिंग (सोते समय खर्राटे की आवाज), टॉन्सिल, स्लीपएप्निया, फुफ्फुस एवं कण्ठविकार, अजीर्ण, आमवात, जलोदर, ज्वर आदि रोगों में बड़ा कारगर है। आवाज को मधुर बनाता है, अतः गायकों के लिए विशेष उपयोगी है।
2. इससे बच्चों का हकलाना, तुतलाना भी ठीक होता है।

5. अनुलोम-विलोम प्राणायाम :-

विशेषः किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठकर कमर-गर्दन व सिर को सीधा रखते हुए बायें हाथ को ज्ञानमुद्रा में बायें घुटने पर रखकर, दाहिने हाथ से नासाग्र-मुद्रा बनाकर, अंगूठे से दायें नासापुट को बन्द करके, बायें नासापुट से धीरे-धीरे लम्बी, गहरी श्वास भरिए। पूरा श्वास भरने के उपरान्त मध्यमा व अनामिका उंगलियों से वामनासापुट को बन्द करके अंगूठा हटाकर दायें नासापुट से श्वास को धीरे-धीरे बाहर निकाल दीजिये; तब दाया नासापुट बायें नासापुट से धीरे-धीरे रेचक कीजिये यह एक आवृत्ति हुई। पुनः इसी प्रकार से बिना रुके निरन्तर आवृत्तियाँ करते रहिये। इडा नाड़ी (वाम स्वर) चूँकि सोम, चन्द्रशक्ति या शान्ति की प्रतीक है, इसलिये अनुलोम-विलोम प्राणायाम को बायें नासापुट से प्रारम्भ करते हैं।

बायें नासापुट से लगभग ढाई सेकेन्ड में श्वास लय के साथ भरना एवं बिना रोके दायें नासापुट से लगभग ढाई सेकेन्ड में श्वास को बाहर छोड़ देना तथा दायें से छोड़ने के तुरन्त बाद दायें से ही सहज रूप से ढाई सेकेन्ड में श्वास को लेना एवं बिना श्वास को रोके बायें नासापुट से लगभग ढाई सेकेन्ड में ही श्वास को एक लय के साथ बाहर छोड़ना। यह एक चक्र या आवृत्ति पूरी हुई, इसी तरह कम से कम 5 मिनट तक इस प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये।

अनुलोम-विलोम से बार-बार प्राणों को साधना चाहिए। स्वस्थ एवं सामान्य रोगों से ग्रस्त व्यक्ति को अनुलोम-विलोम प्राणायाम का अभ्यास लगातार 15 मिनट तक करना चाहिये।

कैंसर, सोराइसिस, मस्क्यूलर डिस्ट्रॉफी, माइग्रेन आदि असाध्य रोगों से पीड़ित व्यक्ति को इस प्राणायाम का अभ्यास सुबह-शाम लगातार 30-30 मिनट तक करने से शीघ्र लाभहोता है।

लाभः-

1. इस प्राणायाम से शरीर में विद्यमान सम्पूर्ण नाड़ियाँ अर्थात् बहत्तर करोड़ बहत्तर लाख दस हजार दो सौ एक (72,72,10,201) नाड़ियाँ (प्रश्नोपनिषद्-3.6) परिशु(हो जाती हैं।
2. अनुलोम-विलोम के 20 मिनट अभ्यास से, स्वस्थ व्यक्तियों में हृदय के प्रकुँचन तथा प्रसारण चाप (Systolic and Diastolic Pressure) में गुरुत्वपूर्ण गिरावट पायी गई।
3. इस प्राणायाम के 10 दिन तक लगातार अभ्यास से, स्पेशल मैमरी (Spatial Memory) अंक में 86 प्रतिशत तक की गिरावट रिकॉर्ड की गयी; यहाँ स्पेशल मैमरी (चंजपंस डमउवतल) से तात्पर्य किसी रास्ते, आकृति इत्यादि की पहचान कर पाने की शक्ति से है।

4. 20 मिनट तक किये गये अनुलोम-विलोम द्वारा केन्द्रीय (Focused) एवं चयनात्मक (Selective) एकाग्रता तथा दृष्टि सम्बन्धी अध्ययन (Visual Scanning) में बढ़ोत्तरी पाई गई।
5. 20 मिनट पर्यन्त किये गये अनुलोम-विलोम के अभ्यास से, सम्भवतः शर्करा (Glucose) के अच्छे ऑक्सीकरण (Oxidation) के कारण हाथों की मुट्ठी शक्ति (Hand Grip Strength) में वृ(पाई गई।
6. इस प्राणायाम से व्यक्ति किसी भी मनोवैज्ञानिक तनाव से रहित होकर श्वास को रोक पाने में समर्थ होता है।
7. अनुलोम-विलोम प्राणायाम एडीएचडी (ADHD; Attention Deficit Hyperactivity Disorder) एकाग्रता के अभाव से उत्पन्न असाधारण / उत्तेजनात्मक क्रियाशीलता जन्य विकार) का प्रबन्धन कर एकाग्रता तथा स्मृति शक्ति को बढ़ाने में सहायक हो सकता है।
8. संधिवात तथा बार-बार होने वाली तनावजन्य व्याधियाँ, जैसे कि कॉरपल् टनल सिन्ड्रोम (Carpel Tunnel Syndrome), जिसमें अँगुलियों में पीड़ा तथा मुठी कसने में समस्या होती है, ऐसे रोगों के प्रबन्धन में अनुलोम-विलोम प्राणायाम कारगर हो सकता है।
9. संधिवात, आमवात, गठिया, कम्पवात, स्नायु-दुर्बलता, अवसाद, ओ.सी.डी., सीजोफ्रेनिया, डाइमेंशिया आदि समस्त वातरोग नष्ट होते हैं।
10. कॉलेस्ट्रॉल, ट्राइग्लिसराइड्स, धमनियों में आये हुये अवरोध आदि हृदय-सम्बन्धी रोग दूर होते हैं।

6. भ्रामरी-प्राणायामः-

विधि- किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठकर श्वास को पूरा अन्दर भरकर तर्जनी अंगुली को मस्तिष्क पर मध्यमादि अंगुलियों से नासिका के मूल में आँख के पास से दोनों ओर से थोड़ा दबाएँ, मन को आज्ञाचक्र में केन्द्रित रखें। अंगूठों के द्वारा दोनों कानों को पूरा बन्द कर लें। अब भ्रमर की भाँति गुञ्जन करते हुये नाद रूप में ओउम् का उच्चारण करते हुए श्वास को बाहर छोड़ दें। पुनः इसी प्रकार आवृत्ति करें।

3 से 5 सेकेन्ड में श्वास को अन्दर भरना एवं विधिपूर्वक कान, आँख आदि बन्द करके 15-20 सेकेन्ड में नाद रूप में श्वास बाहर छोड़ना। एक बार भ्रामरी पूरा होने पर तुरन्त पुनः इसी प्रकार अभ्यास करना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को लगातार कम से कम 5 से 7 बार यह प्राणायाम अवश्य करना चाहिये।

कैंसर, पार्किन्सन, डिप्रेशन, माइग्रेन आदि असाध्य रोगों से ग्रस्त रोगी अथवा योग की गहराइयों में उतरने के इच्छुक साधक एक समय में 11 से 21 बार तक भ्रामरी प्राणायाम का निरन्तर अभ्यास कर सकते हैं।

सावधानीः-

नाद भौरे की गुञ्जन की तरह मधुर और सहज रखना चाहिए; कर्कश और कठोर गुंजन का प्रयोग कदापि न करें। आँखों के ऊपर अंगुलियों से अत्यधिक दबाव न दें।

लाभः 1. भ्रामरी प्राणायाम के द्वारा नाड़ियों की स्पन्दन गति (Pulse rate) में कमी आती है, ॲड्रीनलिन (Adrenalin) तथा नोर-ॲड्रीनलिन (Nor-adrenalin) के उपापचयी पदार्थ (Metabolites) कम बनते हैं, चर्म प्रतिरोधक क्षमता (Skin Resistance Power) में बढ़ोत्तरी होती है।

2. भ्रामरी प्राणायाम का लाभ (Anñiety Neurosis) तथा घबराहट सम्बन्धी विकारों (Panic Disorder) के प्रबन्धन में लिया जा सकता है।

3. मानसिक रोगों में बेहद लाभप्रद है। माइग्रेन, पार्किन्सन, उन्माद, मानसिक उत्तेजना, मन की चंचलता को दूर कर स्वास्थ्य एवं शान्ति प्रदान करता है। ध्यान के लिये अत्यन्त उपयोगी है।

7. उद्गीथ-प्राणायामः-

विधि- 3 से 5 सेकेन्ड में श्वास को एक लय के साथ अन्दर भरना एवं पवित्र ओ३म् शब्द का विधिवत् उच्चारण करते हुए लगभग 15 से 20 सेकेन्ड में श्वास को बाहर छोड़ना। एक बार उच्चारण पूरा होने पर पुनः इसी प्रकार से अभ्यास करना चाहिये। 3 मिनट की 1 आवृत्ति में लगभग 7 बार प्रत्येक व्यक्ति को इस प्राणायाम का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। असाध्य (दुःसाध्य) रोगों से ग्रस्त एवं ध्यान की गहराइयों में उतरने के इच्छुक योग-साधक 5 से 10 मिनट या इससे भी अधिक समय तक इस प्राणायाम का अभ्यास कर सकते हैं।

लाभः 1. उद्गीथ प्राणायाम के अभ्यास से नाड़ियों की स्पन्दन गति (Pulse rate), श्वास-प्रश्वास गति (Breath rate), ऑक्सीजन की खपत (Oxygen Consumption) तथा निरन्तर उत्पन्न हुए पसीने में कमी आती है। अतः यह निष्कर्ष

निकाला जा सकता है कि, उद्गीथ प्राणायाम उत्तेजना का ह्रास करने का एक प्रभावशाली माध्यम है। इसका उपयोग तनाव प्रबन्धन में भी किया जा सकता है।

2. सभी लाभ भ्रामरी प्राणायाम की तरह हैं। समस्त असाध्य रोगों में निरन्तर अभ्यास से लाभ मिलता है।
3. तनावग्रस्त, निराश, हताश व विक्षिप्त व्यक्ति को इसके अभ्यास से सम्बल मिलता है।
4. ध्यान की गहराइयों में उतरने के इच्छुक साधकों के लिये अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

8. प्रणव प्राणायाम या ध्यान योगः-

विधि- पूर्वनिर्दिष्ट सभी प्राणायाम करने के बाद श्वास-प्रश्वास पर अपने मन को टिकाकर प्राण के साथ उद्गीथ ओ३म् का ध्यान करें। भगवान् ने भ्रुवों की आकृति ओंकारमयी बनाई है। यह पिण्ड (देह) तथा समस्त ब्रह्माण्ड ओंकारमय है। 'ओंकार' कोई व्यक्ति या आकृति विशेष नहीं है, अपितु एक दिव्यशक्ति है, जो इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका संचालन कर रही है। द्रष्टा बनकर दीर्घ एवं सूक्ष्म गति से श्वास को लेते एवं छोड़ते समय श्वास की गति इतनी सूक्ष्म होनी चाहिए कि स्वयं को भी श्वास की ध्वनि की अनुभूति न हो तथा यदि नासिका के आगे रूई भी रख दें तो वह हिले नहीं। धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ाकर प्रयास करें कि एक मिनट में एक श्वास तथा एक प्रश्वास चले। इस प्रकार श्वास को भीतर तक देखने का भी प्रयत्न करें। प्रारम्भ में श्वास के स्पर्श की अनुभूति मात्र नासिकाग्र पर होगी।

धीरे-धीरे श्वास के गहरे स्पर्श को भी अनुभव कर सकेंगे। इस प्रकार कुछ समय तक श्वास के साथ द्रष्टा, अर्थात् साक्षीभाव पूर्वक ओंकार का जप करने से ध्यान स्वतः होने लगता है। आपका मन अत्यन्त एकाग्र तथा ओंकार में तन्मय और तद्रूप हो जायेगा। प्रणव के साथ-साथ वेदों के महान् मन्त्र गायत्री का भी अर्थपूर्वक जप एवं ध्यान किया जा सकता है। इस प्रकार साधक ध्यान करते-करते सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म के स्वरूप में तद्रूप होता हुआ समाधि के अनुपम दिव्य आनन्द को भी प्राप्त कर सकता है।
लाभः सोते समय भी इस प्रकार ध्यान करते हुए सोना चाहिए। ऐसा करने से निद्रा भी योगमयी हो जाती है, दुःस्वप्न से भी छुटकारा मिलेगा तथा निद्रा शीघ्र आयेगी एवं प्रगाढ़ रहेगी।

स्मरणीय बिन्दु-

1. प्राणायाम करते समय रीढ़ सीधी रखना क्यों आवश्यक है?
2. कपालभाति को शुद्धिकरण क्रिया क्यों कहा जाता है?
3. अनुलोम-विलोम मानसिक शांति कैसे प्रदान करताहै?
4. भ्रामरी प्राणायाम ध्यान के लिए उपयोगी क्यों माना जाता है?
5. उद्गीथ प्राणायाम तनाव कम करने में कैसे सहायक है?

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
प्राणायाम	श्वास नियंत्रण की योग क्रिया
पूरक	श्वास अंदर लेना
रेचक	श्वास बाहर छोड़ना
कुम्भक	श्वास रोकना
नाड़ी	प्राण प्रवाह का मार्ग
आसन	बैठन की योग मुद्रा
ध्यान	मन की एकाग्रता
भस्त्रिका	तीव्र श्वसन वाला प्राणायाम
कपालभाति	शुद्धिकरण प्राणायाम
भ्रामरी	भौंरे जैसी ध्वनि वाला प्राणायाम

5 अंक के प्रश्न-

1. प्राणायाम के सामान्य नियम लिखिए।
2. भस्त्रि का प्राणायाम की विधि एवं लाभ बताइए।
3. कपाल भाति प्राणायाम का वर्णन कीजिए।
4. अनुलोम-विलोम प्राणायाम की विधि एवं लाभ लिखिए।
5. भ्रामरी प्राणायाम के लाभ एवं सावधानियाँ बताइए।

15 अंक के प्रश्न-

1. प्राणायाम के सामान्य नियमों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. भस्त्रिका, कपालभाति एवं बाह्य प्राणायाम की विधि, लाभ एवं सावधानियों का वर्णन कीजिए।
3. अनुलोम-विलोम, भ्रामरी एवं उद्गीथ प्राणायाम के शारीरिक एवं मानसिक लाभों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. प्राणायाम करते समय श्वास किससे लेनी चाहिए?

(क) मुख

(ख) नाक

(ग) कान

(घ) गला

2. निम्न में से कौन-सा प्राणायाम शुद्धिकरण क्रिया भी माना जाता है?

(क) भ्रामरी

(ख) उद्गीथ

(ग) कपालभाति

(घ) प्रणव

3. भ्रामरी प्राणायाम में कैसी ध्वनि निकाली जाती है?

(क) शंख जैसी

(ख) घंटी जैसी

(ग) भौंरे जैसी

(घ) वीणा जैसी

4. अनुलोम-विलोम प्राणायाम का मुख्य लाभ क्या है?

(क) पाचन बढ़ाना

(ख) नाड़ीशोधन

(ग) वजन बढ़ाना

(घ) नींद कम करना

5. उद्गीथ प्राणायाम में किस ध्वनि का उच्चारण किया जाता है?

(क) राम

(ख) ओम्

(ग) शिव

(घ) ह्रीं

इकाई : 2.3 - व्याधि के अनुसार आहार, औषधि एवं योगाभ्यास

उद्देश्य-

1. विभिन्न रोगों के अनुसार उचित आहार योजना समझना।
2. आयुर्वेदिक औषधियों एवं औषधीय जल का ज्ञान प्राप्त करना।
3. योग एवं प्राणायाम द्वारा रोगों के उपचार की विधि जानना।

1. वात रोगी आहार कल्प-

- मुख्य आहार- टोफू कल्प/सोया दूध कल्प (सोयाबीन, नारियल, बादाम, अखरोट एवं तिल को जल में रात में भिगो दें, प्रातः जल में पीसकर लें।) खजूर कल्प/केला शतावर दूध कल्प/दूध+आम्र कल्प, लौकी शाक या सूप कल्प, द्राक्षा कल्प इत्यादि। तीन दिन उपवास करवाएँ तथा अंतिम दिन सामान्य भोजन करवाएँ।
- वैकल्पिक आहार - बादाम, अखरोट, बाजरे की रोटी आदि।
  गिलोय निर्गुण्डी, पारिजात एवं सहिजन के पत्तों का रस रोगानुसार दें।
  10-20 मिली. ऐलोवेरा जूस दिन में तीन बार दे सकते हैं।
  फल- आम, केला, खजूर आदि।
  शाक ऋतु अनुसार उबला (Boiled) हुआ शाक।
  औषधयुक्त जल गिलोय।

2. पित्त रोगी आहार कल्प-

- मुख्य आहार- लौकी कल्प/ खजूर कल्प/ मुनक्का कल्प।
- वैकल्पिक आहार- घृतकुमारी, लौकी व गेहूँ का ज्वारे का रस, अँकुरित अन्न।
  फल - 20 ग्राम अनार, खूब पका केला, । सेब, खजूर आदि।

शाक - ऋतु अनुसार उबला (Boiled) हुआ शाक जैसे कच्चा पपीता, गाजर, चुकंदर, लौकी, कच्चा केला व वेजीटेबल सूप।
औषधयुक्त जल- मुलेठी, धनिया, सौंफ, गुलाब, जीरायुक्त पित्तहर पेय।

3. कफ रोगी आहार कल्प-

- मुख्य आहार-खजूर कल्प के साथ भुना चना।
- वैकल्पिक-पतंजलि पुष्टाहार दलिया, गुड़।
  फल- भुना सेब, भुना अमरूद, अनार काली मिर्च सैन्धव नमक, पपीता।
  शाक - ऋतु अनुसार उबला (Boiled) हुआ शाक।
  औषधयुक्त जल-दिव्य पेय।

4. मोटापा आहार कल्प-

- मुख्य आहार- उपवास, आशिक उपवास नींबू शहद पानी / नींबू मेथी पानी / मेथी पानी।
- वैकल्पिक आहार- लौकी/तरबूज कल्प, पतंजलि पुष्टाहार दलिया, सलाद, टमाटर सूप।
  फल- सन्तरा, मौसमी, पपीता, तरबूज, अनार, अमरुद, खरबूजा आदि।
  शाक ऋतु अनुकूल उबला (Boiled) हुआ शाक।
  औषधयुक्त जल- गिलोय।

5. मधुमेह आहार कल्प-

- मुख्य आहार- लौकी कल्प खीरा टमाटर करेला, गिलोय, सदाबहार का जूस/चिरायता, कालमेघ, कुटकी, गिलोय क्वाध/ अंकुरित मेथी।
- वैकल्पिक आहार- सोयाबीन, एंटीडायबिटिक आटा रोटी, अंकुरित अनाज का सलाद।
  फल- पपीता, जामुन, सेब, अमरुद, स्ट्रॉबेरी, सिंघाड़ा आदि।
  शाक - ऋतु अनुकूल उबला (Boiled) हुआ शाक। जैसे पालक, एलोवेरा, लौकी, तुरई, केला, टिंडा, परवल आदि।
  औषधयुक्त जल- गिलोय।

6. हृदय रोग/उच्चरक्तचाप/हाई कोलेस्ट्रॉल आहार कल्प-

- मुख्य आहार-लौकी कल्प (सूप, जूस और शाक के रूप में दें)।
- वैकल्पिक आहार- टमाटर सूप, सलाद।

फल अनार, पपीता, सेब, अँगूर, तरबूज ।
शाक ऋतु अनुकूल उबला (Boiled) हुआ शाक।
औषधयुक्त जल अर्जुन दालचीनी छोटी इलायची तुलसी Lemon Grass युक्त।

7. सन्धिशूल/ऑर्थराइटिस आहार कल्प-

- मुख्य आहार- सूखा द्राक्षा/खजूर/लौकी कल्प।
- वैकल्पिक आहार- मूंग दाल सूप, मिक्सवैज सूप।

(Hyperacidity होने पर सूप में नींबू का प्रयोग न करें।)
फल- पपीता, तरबूज, मीठा सेव कालीमिर्च सैन्या नमक।
शाक - वातवर्धक मटर, फूलगोभी, चना, टमाटर को छोड़कर अन्य।
औषधयुक्त जल- गिलोय।

8. यकृत विकार - आहार कल्प-

- मुख्य आहार- लौकी कल्प (Raw Diet)।
- वैकल्पिक आहार सलाद, टमाटर सूप, मूंगदाल सूप, मिक्स वेज सूप।

फल- तरबूज, पपीता, अँगूर, सेब, संतरा, चकौतरा, अनार।
शाक - ऋतु अनुकूल उबला (Boiled) हुआ शाक जैसे घृतकुमारी, कच्चा पपीता, मूलीपत्र/मूली, पालक।
औषधयुक्त जल- सर्वकल्प।

9. त्वचा विकार- आहार कल्प-

मुख्य आहार- आर्द्र द्राक्षा/लौकी/एलोवेरा कल्प।
वैकल्पिक आहार- सलाद, फल।
फल- तरबूज, पपीता, खरबूज आदि।
शाक - ऋतु अनुकूल उबला (Boiled) हुआ शाक बिना नमक एवं नींबू के।
औषधयुक्त जल- गिलोय ।

10. ग्रहणी विकार आहार कल्प :-

- मुख्य आहार- तक्र/बेल/साठी चावल कल्प।
- वैकल्पिक आहार - Toned Milk, ताजा दही, मसूर दाल, खिचड़ी, अँकुरित अन्न ।

फल- उबला सेब, पका केला, अनार मीठा।
शाक - ऋतु अनुकूल उबला (Boiled) हुआ शाक, लौकी, टिंडा, तोरई, परवल।
औषधयुक्त जल- बिल्वेला।

11. दुर्बलता आहार कल्प-

- मुख्य आहार पनीर/ सोया/ खर्जूर दूध केला शतावर।
- वैकल्पिक आहार दही छाछ (प्रकृति के अनुरूप)।

फल- आम, केला, चीकू, खजूर आदि।
शाक- सामान्य आहार (ऋतु अनुकूल)।
औषधयुक्त जल- पञ्चामृत पेय।

12. विबन्ध (कब्ज) आहार कल्प-

- मुख्य आहार - पपीता/सेब/नाशपाती कल्प।
- वैकल्पिक आहार सलाद, हरीतकी मुरव्वा, गुलकन्द।

फल- पपीता, सेब, नाशपाती, पका अमरुद आदि।
शाक ऋतु अनुकूल उबला (Boiled) हुआ शाक।
औषधयुक्त जल- पञ्चामृत पेय।

13. अर्बुद/कैन्सर आहार कल्प-

- मुख्य आहार- घृतकुमारी कल्प/ ज्वनि कल्प / ठवली गाजर, चुकंदर, ब्रोकली, पत्तागोभी, टमाटरू अलसी, खुवानी की मींग, लहसुन का पेस्ट (एण्टी कैंसर पेस्ट)।

- वैकल्पिक आहार- सलाद, सूप।
  फल- पपीता, सेब, अनार आदि।
  शाक ऋतु अनुकूल उबला (Boiled) हुआ शाक।
  औषधयुक्त जल गिलोय तुलसी नीम घृतकुमारी गेहूँ का ज्वारा।

14. वृक्क विकार आहार कल्प-

- मुख्य आहार- जौ लौकी कल्प (Raw Diet)।
- वैकल्पिक आहार- सलाद।
  फल- पपीता, सेब।
  शाक ऋतु अनुकूल उबला (Boiled) हुआ शाक जैसे लौकी, टिण्डा, चिचिंडा, गाजर, परवल आदि।
  औषधयुक्त जल- गोखरू।

व्याधि के अनुसार योगाभ्यास :-

सूक्ष्म व्यायाम :- योगासनों के पूर्व शरीर को स्फूर्तिपूर्वक बनाने तथा जो दिन में आसन व व्यायाम आदि करने में असमर्थ हैं वे केवल सूक्ष्म व्यायाम, प्राणायाम व ध्यान का पूर्ण निष्ठा से अधिक अभ्यास करके अपने समस्त रोगों से मुक्ति पा सकते हैं। विशेष रूप से गठिया के रोगी एक-एक सूक्ष्म व्यायाम 10 से 100 बार तक करें। सूक्ष्म व्यायाम दीर्घ श्वसन के साथ करने पर विशेष लाभ होता है।

मुख्य प्राणायाम

1. भस्त्रिका 2. कपालभाति 3. बाह्य 4. उज्जायी 5. अनुलोम-विलोम 6. भ्रामरी
7. उद्गीथ 8. प्रणव

स्मरणीय बिन्दु-

1. वातरोग में कौन-से ड्राई फ्रूट्स लाभकारी हैं?
2. मधुमेह में कौन-सी सब्जियाँ उपयोगी हैं?
3. मोटापे में कौन-सा प्रमुख आहार दिया जाता है?
4. हृदय रोग में कौन-सा फल विशेष रूप से लाभकारी है?
5. कब्ज में कौन-सा फल सबसे अधिक उपयोगी है?

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
वात	शरीर का वायु दोष
पित्त	अग्नि एवं पाचन तत्व
कफ	शरीर का स्थिरता देने वाला तत्व
औषधीयजल	औषधि युक्त जल
उपवास	भोजन न करना
काढ़ा	औषधीय उबाल
सलाद	कच्ची सब्जियों का मिश्रण
रस	तरल रूप
आहार	भोजन
योगाभ्यास	योग का अभ्यास

5 अंक के प्रश्न-

1. वातरोग के लिए मुख्य आहार एवं औषधीय विकल्प लिखिए।
2. पित्तरोग में कौन-कौन से आहार लाभकारी हैं?
3. मधुमेह रोग के आहार एवं उपयोगी फल बताइए।
4. मोटापे के लिए आहार योजना लिखिए।
5. हृदय रोग एवं उच्च रद्र चाप में आहार का वर्णन कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. विभिन्न रोगों (वात, पित्त, कफ) के अनुसार आहार, फल, सब्जियाँ एवं औषधीय जल का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. मधुमेह, हृदय रोग एवं मोटापे में आहार एवं योग चिकित्सा का विस्तृत वर्णन कीजिए।
3. कैंसर, किडनी रोग एवं त्वचा रोग में आहार एवं औषधीय उपायों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. वातरोग में मुख्य आहार क्या है?

(क) तली हुई चीज

(ख) टॉफू एवं सोया दूध

(ग) मिठाइ

(घ) चाय

2. निम्न में से कौन-सा स्वास्थ्य का प्रकार नहीं है?

(क) आम

(ख) अंगूर

(ग) जामुन

(घ) केला

3. हृदय रोग में मुख्य आहार क्या है?

(क) तला भोजन

(ख) लौकी

(ग) मिठाई

(घ) मैदा

4. मोटापे में क्या उपयोगी है?

(क) उपवास

(ख) मिठाई

(ग) तला भोजन

(घ) तेल युद्र आहार

5. मनुस्मृति के अनुसार धर्म का लक्षण कौन-सा है?

(क) केला

(ख) पपीता

(ग) आम

(घ) अंगूर

इकाई-2.4 : मोटपा, मेरूदण्ड एवं विद्यार्थी व युवाओं के लिए योगाभ्यास व प्रणायाम

उद्देश्य-

1. मोटापे को नियंत्रित करने वाले योगाभ्यासों का ज्ञान देना।
2. मेरुदण्ड को स्वस्थ एवं मजबूत बनाने वाले आसनों का अभ्यास कराना।
3. विद्यार्थियों एवं युवाओं के लिए मानसिक एवं शारीरिक संतुलन विकसित करना।

मोटापा के लिए योगाभ्यासः- यौगिक जॉगिंग , सूर्यनमस्कार दौडना-तैरना व खेलना आदि यथारूचि अनुसार कर सकते हैं । मुख्य रूप से 12 आसन मोटापा हेतु, 2 विश्रामात्मक आसन तथा 6 प्राणायाम अवश्य करें।

योगासनः 1. तिर्यक्ताडासन 2. भुजंगासन 3. त्रिकोणासन 4. शलभासन 5. कोणासन 6. अ(र्हलासन 7. पादहस्तासन 8.स्थितकोणासन 9. द्विचक्रिकासन 10.चक्की आसन 11. मर्कटासन 12. पादवृत्तासन 13. पश्चिमोत्तानासन 14. शवासन

प्राणायाम : 1.भस्त्रिका 2. अनुलोम-विलोम 3. कपालभाति 4. भ्रामरी 5. उज्जायी 6. उद्गीथ

<u>मेरूदण्ड के लिए योगाभ्यास</u>

1. सूक्ष्म व्यायाम-7 अभ्यास 2.शलभासन-4 अभ्यास 3. ताडासन 4. उष्ट्रासन/अ(उस्ट्रासन 5. मर्कटासन-3 अभ्यास 6. स्थित ताड़ासन 7, अ(चन्द्रासन 8.धानुरासन 9. अ(चक्रासन 10. मकरासन-2 अभ्यास, 11.एकपाद उत्तानासन 12. भुजंगासन-4 अभ्यास 13. सेतुबंधाासन 14. भुजंगासन-4 अभ्यास, 15. कटि उत्तानासन

प्राणायाम :-

1. भस्त्रिका 2. अनुलोम-विलोम 3. कपालभाति 4. भ्रामरी 5. उज्जायी 6. उद्गीथ

7. ओ3म् का ध्यान

विद्यार्थी व युवाओं के लिए योगाभ्यास :-

योगासन : 1.सूर्यनमस्कार 2.चक्रासन 3.यथाशक्ति प्रतिस्पर्धात्मक आसन 4. शीर्षासन 5.पश्चिमोत्तानासन 6.सर्वांगासन 7. यौगिक जॉगिक 8. हलासन 9. 12-दण्ड बैठक

<u>प्राणायाम</u>:-मुख्य प्राणायाम व ओ3म् गायत्रीमंत्र, ध्यान आदि ।

स्मरणीय बिन्दु

1. मोटापा कम करने के लिए कौन-सा प्रमुख आसन है?
2. मेरुदण्ड के लिए कौन-सा आसन सबसे अधिक उपयोगी है?
3. विद्यार्थियों के लिए कौन-सा योग विशेष लाभकारी है?
4. सूर्य नमस्कार का मुख्य लाभ क्या है?

5. प्राणायाम का शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है?

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
मोटापा	शरीर में अत्यधिक चर्बी
मेरुदण्ड	रीढ़ की हड्डी
आसन	योग की स्थिति
प्राणायाम	श्वास नियंत्रण की क्रिया
ध्यान	मन को एकाग्र करना
लचीलापन	flexibility
संतुलन	balance
शारीरिक	शरीर से संबंधित
मानसिक	मन से संबंधित
अभ्यास	नियमित अभ्यास

5 अंक के प्रश्न-

1. मोटापा कम करने हेतु योगाभ्यासों का वर्णन कीजिए।
2. मोटापे के लिए उपयोगी प्राणायामों के नाम लिखिए।
3. मेरुदण्ड के लिए उपयोगी योगासनों का वर्णन कीजिए।
4. विद्यार्थियों के लिए उपयोगी योगासन एवं उनके लाभ बताइए।
5. सूर्य नमस्कार का महत्व लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. मोटापा कम करने हेतु योगासन एवं प्राणायामों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. मेरुदण्ड को स्वस्थ रखने के लिए योगाभ्यासों का विस्तृत विवरण दीजिए।
3. विद्यार्थियों एवं युवाओं के शारीरिक व मानसिक विकास में योग एवं प्राणायाम की भूमिका समझाइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. मोटापा कम करने के लिए कौन-सा आसन उपयोगी है?

(क) शवासन

(ख) त्रिकोणासन

(ग) ताड़ासन

(घ) मकरासन

2. मेरुदण्ड को मजबूत करने वाला आसन है-

(क) भुजंगासन

(ख) शवासन

(ग) सुखासन

(घ) वज्रासन

3. विद्यार्थियों के लिए सबसे अच्छा योग है-

(क) प्रतिद्वंद्विता

(ख) सूर्यनमस्कार

(ग) नींद

(घ) भोजन

4. प्राणायाम का मुख्य उद्देश्य क्या है?

(क) भोजन

(ख) श्वास नियंत्रण

(ग) दौड़ना

(घ) खेलना

5. ध्यान का संबंध किससे है?

(क) शरीर

(ख) मन

(ग) भोजन

(घ) खेल

खण्ड-3 आयुर्वेद के आधारभूत तत्व

इकाई-3.1 त्रिदोष सिद्धान्त

उद्देश्य-

1. विद्यार्थियों को त्रिदोष सिद्धान्त की मूल अवधारणा समझाना।
2. वात, पित्त और कफ के गुण, कारण व लक्षणों की जानकारी देना।
3. स्वास्थ्य संरक्षण हेतु आयुर्वेदिक जीवन शैली का ज्ञान कराना।

त्रिदोष दो शब्दों के मेल से बना है- त्रि+दोष, अर्थात् तीन मूल तत्त्व (वात, पित्त व कफ), इनको त्रि शब्द से कहा जा रहा है तथा दोष का अर्थ है- **दूषणात् दोषाः, धारणात् धातवः,** अर्थात् वात, पित्त व कफ जब दूषित होते हैं, तो रोग उत्पन्न कर देते हैं तथा जब ये समत्व अर्थात् अपनी स्वाभाविक अवस्था में रहते हैं तो सप्त धातुओं व शरीर को धारण करते व संतुलित रखते हैं। अतः यहाँ दोष शब्द का सामान्य भाषा में प्रचलित 'विकार' अर्थ नहीं है। त्रिदोष का अर्थ- वात, पित्त, कफ की विकृति या विकार नहीं है, अपितु ऐसे ये तीन तत्त्व, जो स्वास्थ्य के आधार स्तम्भ हैं तथा अनुचित आहार-विहार से दूषित होकर रोग पैदा कर देते हैं, त्रिदोष कहलाते हैं। इस प्रकार वात, पित्त, कफ, इन तीनों तत्त्वों के लिए शरीर-विज्ञान या चिकित्सा शास्त्र का यह पारिभाषिक शब्द है- त्रिदोष ।

वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः। -अ.हृ.सू. १.६

आयुर्वेद में शरीर की मूल धारक शक्ति को व शरीर के त्रिगुणात्मक (वात, पित्त, कफ रूप) मूल आधार को 'त्रिदोष' शब्द से कहा गया है। इनके साथ दोष शब्द इसलिए जुड़ा है कि सीमा से अधिक बढ़ने घटने पर ये स्वयं दूषित हो जाते हैं तथा धातुओं को दूषित कर देते हैं।

वात - वायुद्ध का परिचय :-

वात या वायु तीनों दोषों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'वात' एवं 'वायु' ये दोनों ही शब्द संस्कृत के **'वा गतिगन्धनयोः'** धातु से बने हैं, इसके अनुसार जो तत्त्व शरीर में गति या उत्साह उत्पन्न करे, वह 'वात' अथवा 'वायु' कहलाता है। इस प्रकार शरीर में सभी प्रकार की गतियाँ इसी वात के कारण होती हैं। वात को ही 'प्राण' भी कहा गया है। अथर्ववेद में- **'प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे'** कहकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्राण के वश में कहा गया है।

यह प्राण शब्द जीवनीय शक्ति का द्योतक है। यह मन, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को अपने-अपने विषयों और कर्मों में नियुक्त करता है। शरीर की पाचक अग्नि और धात्वग्नियों को भी यही प्रदीप्त करता है। हमारे शरीर में जो विभिन्न स्रोत हैं, उनके छोटे बड़े विवरों (खाली स्थानों) का निर्माण भी यह वात (वायु) ही करता है। रस, रक्त आदि प्रत्येक धातु की सूक्ष्म व स्थूल रचना तथा शरीर के एक अंग का दूसरे अंग से सम्बन्ध का कारण भी यह वात है। इसी के कारण गर्भ में स्थित भ्रूण का विकास व उसके आकार का निर्माण हो पाता है। नाड़ीमण्डल (Nervous System) की सभी क्रियाओं का नियन्त्रण इसी वात के अधीन है। वात के बिना तो दूसरे दोनों दोष- पित्त और कफ भी पंगु के समान निष्क्रिय से रहते हैं, क्योंकि यह वात ही इन दोषों तथा मलों को अपने-अपने स्थान पर स्थिर रखता है तथा आवश्यकता पड़ने पर अन्यत्र पहुंचाता है। इस प्रकार मल, मूत्र, स्वेद आदि मलों को शरीर से बाहर निकालने वाला यह वात दोष ही है। जब यह अपनी सम अवस्था में रहता है तो सभी दोषों, धातुओं और मलों को भी सम अवस्था में रखता है।

यह वात स्थान और कर्म के भेद से पाँच प्रकार का माना गया है- 1. प्राण 2. उदान 3. समान 4. व्यान और 5. अपान।

वात के स्वाभाविक गुण

वात रूक्ष, शीतल, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद (चिपचिपाहट से रहित) और खर होता है। ये रूक्षता आदि वात के स्वाभाविक गुण हैं।

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलो·थ विशदः खरः।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः सम्प्रशाम्यति॥ (च. सू.- 1.59)

जब वात सम अवस्था में होता है तो, इन गुणों का अनुभव नहीं हो पाता है। अपितु, उत्साह, श्वास लेना और छोड़ना आदि कर्मों से ही वात की उपस्थिति का पता चलता है। जब वात प्रकुपित होता है, तभी रूक्षता आदि लक्षण शरीर में प्रकट होते हैं।

वात के प्रकुपित होने के कारण :-

वेगरोध अर्थात् मल-मूत्र, छींक आदि स्वाभाविक इच्छाओं को दबा कर रखना, खाये हुए भोजन के पचने से पहले ही फिर कुछ खा लेना, रात को देर तक जागते रहना, ऊँचा बोलना, अपनी शक्ति की अपेक्षा अधिक शारीरिक श्रम करना, लम्बी यात्रा के समय वाहन में धक्के लगना, रूखे, तीते (तिक्त) अर्थात् कड़वे और कसैले खाद्य-पदार्थों का अधिक मात्रा में सेवन करना, सूखे

मेवे अधिक खाना, बहुत अधिक चिन्ता करना, मानसिक परेशानी में रहना, अधिक सम्भोग करना, डरना, उपवास रखना, अधिक मात्रा में खाना तथा अधिक ठण्डा खाना, इन सब कारणों से शरीर में वात दोष प्रकुपित हो जाता है। वर्षा-ऋतु एवं वृ(ावस्था में तो इन कारणों के बिना भी वात का प्रकोप स्वाभाविक रूप से हो जाता है। वात-प्रकृति वाले लोगों में तो बहुत अल्प कारणों से ही वात का प्रकोप हो जाता है।

प्रकुपित वात के लक्षण :-

r=] okr{k;s eUnp"VrkYiokDRoeigZ"kk e<lKrk pA (सु. सू.- 15.11)

जब शरीर में वात प्रकुपित हो जाता है, तो उससे शुष्कता, रूखापन अंगों व शरीर में जकड़न, सुई की चुभन जैसा दर्द, सन्धि-शैथिल्य (हड्डियों के जोड़ों में ढीलापन), सन्धि-च्युति (हड्डियों का खिसकना), हड्डी का टूटना, कठोरता, अंगों में कार्य करने की अशक्ति, अंगों में कम्पन व अस्वाभाविक गति से अंगों का सुन्न पड़ना, शीतलता, कमजोरी, कब्ज, शूल (तेज पीड़ा), नाखून, दांतों और त्वचा के रंग का कुछ काला या फीका पड़ना, मुख का स्वाद कसैला या फीका होना आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

वात का मूल स्थान पक्वाशय (आँत) है। अन्न का मल भाग जब पक्वाशय में पहुँचता है, तो वात उत्पन्न होती है, जो दूषित या प्रकुपित वात ही होती है।

प्रकुपित वात का उपचारः-

वातक्षये कटुतिक्तकषायरूक्षलघुशीतानाम्। (च. शा.- 6.11)

जिन कारणों से वात का प्रकोप होता है, उन कारणों को दूर करने तथा वात के विरोधी खान-पान, औषधियों और साधनों का प्रयोग करने से वात शान्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त वात के जो अपने गुण-कर्म हैं, उनसे विपरीत (उल्टी) चिकित्सा करनी चाहिए। वात को सभी दोषों में प्रधान माना गया है पित्त व कफ को भी वायु की गति प्रदान करता है अतः वायु दोष को साम्यावस्था में रखने के लिए विशेष ध्यान देना चाहिए। इस दृष्टि से निम्नलिखित उपायों का प्रयोग करना चाहिए।

1. स्नेहन-अर्थात् स्नेह पदार्थों (घी, तेल, वसा, मज्जा) का सेवन। उष्ण जल से स्नान करना तथा स्नेहयुक्त बस्ति (एनिमा) देना।
2. स्वेदन या सेंक (गर्म जल से तथा वातनाशक औषधियों के काढ़े से स्नान व अवगाहन (काढ़े वाले टब आदि में बैठना) एवं अन्य गर्म पदार्थों का प्रयोग करके पसीना लाना।
3. मृदु विरेचन अर्थात् स्निग्ध, उष्ण तथा मधुर (मीठे), अम्ल (खट्टे) तथा लवण (नमकीन) रस वाले, द्रव्यों से तैयार औषधि से हल्का विरेचन कराना, जिससे मल बाहर निकल जाए।
4. रोग वाले अंगों पर पुल्टिस व पट्टी (कपड़े से) बाँधना, पादाघात अर्थात् पैर से दबाव, वातनाशक द्रव्यों का नस्य लेना (नाक में डाल कर ऊपर की ओर खींचना), उनका उबटन मलना, स्नान, संवाहन (हाथ से अंगों को दबाना) और मालिश करना।
5. वातहर औषधियों के काढ़े की धारा सिर पर डालना। (शिरोधारा, परिषेक)
6. वातशामक औषधियों से तैयार आसव आदि पिलाना।
7. पाचक, दीपक (पाचक अग्नि को तेज करने वाली), उत्तेजक (stimulant) वात को शान्त करने वाली तथा विरेचक (मल को बाहर निकालने वाली) औषधियों से पकाये गये घी, तेल आदि स्नेह पदार्थों का खाने, पीने व मालिश करने के रूप में प्रयोग करना।
8. गेंहूँ तिल, अदरक, लहसुन और गुड़ आदि डालकर तैयार किये गये खाद्य-पदार्थों का सेवन।
9. स्निग्ध और उष्ण औषधियों से तैयार अनेक प्रकार के एनिमा का प्रयोग।
10. रोग व परिस्थिति के अनुसार मानसिक उपचार जैसे- रोगी को डराना, एकदम चौंकाना तथा विस्मरण करवाना, जिस किसी विशेष घटना से रोगी परेशान हुआ हो, उसे भुलाने की कोशिश करना।

स्निग्ध द्रव्यों में वात की शान्ति के लिए तेल सबसे अधिक श्रेष्ठ है। तिल का तेल और मांसाहारी लोगों के लिए मांस, मांसरस तथा वसा (fat) युक्त मांस तथा अनुवासन-बस्ति (एक प्रकार का एनिमा) विशेष रूप से लाभकारी है। (मांस का सेवन करने से क्रूरता, जीवहत्या, ग्लोबल वार्मिंग व अन्य घोर पाप या दोष होते हैं तथा यह आसुरी चिकित्सा है, अतः सात्त्विक लोग इसे न करें।) जैसा कि पहले कहा गया है, वात का मूल स्थान पक्वाशय (बड़ी आँत) है, अतः इसे शान्त करने के लिए तो निरूह और अनुवासन बस्तियाँ (एनिमा के दो प्रकार) सबसे उत्तम उपाय हैं क्योंकि यह एनिमा पक्वाशय में जल्दी प्रवेश कर सभी दूषित पदार्थों को बाहर निकाल देता है, जिससे वात का प्रशमन हो जाता है।

वात-क्षय के लक्षण और उपचार :-

यदि शरीर में वात का क्षय (कमी) हो जाए, तो शरीर की विभिन्न क्रियाओं में कमी, बोलने में असमर्थता, हर्ष की कमी, अंगों में शिथिलता, ज्ञानेन्द्रियों और मन के द्वारा ठीक प्रकार से ज्ञान प्राप्त न कर सकना, वात के स्वाभाविक कार्यों में कमी तथा

कफज (कफ से उत्पन्न) रोगों जैसे- अग्निमांद्य (पाचन की कमजोरी), जी मिचलाना आदि लक्षण दिखाई देते हैं।

वात का क्षय होने पर वात को बढ़ाने वाले आहार-विहार का सेवन करना चाहिए। जैसे- कटु (कड़वे), तीखे (चरपरा), तिक्त (कड़वा) कसैले रस वाले, लघु (हल्के), रूखे एवं शीतल (ठण्डे) द्रव्य वात को बढ़ाते हैं। इसके अतिरिक्त वातप्रकोपक कारणों में बताये गये आहार-विहार का प्रयोग करना चाहिए। योग में वायु को ही प्राण कहा गया है, इसके लिये प्राणायाम का विधान किया गया है। जिसके द्वारा अनेक रोगों को ठीक किया जा सकता है तथा अनागत रोगों से बचा जा सकता है।

पित्त का परिचय :-

पित्त शब्द संस्कृत के 'तप्' धातु से बना है- **'तपति इति पित्तम्'** अर्थात् जो तत्त्व शरीर में ताप (दाह) या गर्मी (उष्णता) उत्पन्न करता है, वह पित्त कहलाता है। यह शरीर में उत्पन्न होने वाले पाचक रसों (enzymes) और हार्मोन्स (hormones) का नियमन करता है। हम जो कुछ भी खाते-पीते या श्वास के रूप में वात का ग्रहण करते हैं, उन्हें शरीर के तत्त्वों (दोषों, धातुओं अर्थात् रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र तथा दोषों-अर्थात् मल, मूत्र, पसीना आदि) के रूप में परिणत करने का कार्य यह 'पित्त' ही करता है। वैसे पित्त और अग्नि दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं, फिर भी शरीर में अग्नि का प्रतिनिधित्व यह पित्त ही करता है- अर्थात् अग्नि के समान ही यह शरीर के तापमान को बनाये रखता है, भोजन का पाचन करता है, रक्त, त्वचा आदि को वर्ण प्रदान करता है, रूप का ग्रहण और प्रकाशन करता है, हृदय में एकत्र श्लेष्मा को दूर करता है, मालिश आदि करने से त्वचा में जो स्निग्धता आती है, उसका ग्रहण भी यह पित्त करता है। इसके अतिरिक्त मानसिक कार्यों, जैसे-मेधा, शौर्य, साहस, हर्ष आदि का संचालन भी यह दोष ही करता है।

जब पित्त अपनी सम अवस्था में नहीं होता तो भोजन का पाचन ठीक प्रकार से नहीं हो पाता, पाचक-अग्नि मन्द (कमजोर) हो जाती है जिससे कफज भाव की अभिवृद्धि होती है। इसके कारण उत्साह में कमी हो जाती है तथा हृदय, फेफड़ों आदि में कफ इकट्ठा होने लगता है।

1. पाचक पित्त, 2. रञ्जक पित्त, 3. साधक पित्त, 4. आलोचक पित्त, 5. भ्राजक पित्त।

केवल पित्त के प्रकोप से होने वाले नानात्मज रोगों की संख्या 40 मानी गई है।

पित्त के स्वाभाविक गुण :-

तीनों दोषों में वात के पश्चात् पित्त का स्थान आता है। इससे सम्बन्धित विविध पक्षों का वर्णन इस प्रकार है-

पित्त कुछ स्निग्ध (चिकना), उष्ण (गर्म), तीक्ष्ण, द्रव (तरल), अम्ल, सर तथा कटु होता है। इसके अतिरिक्त यह पाचन और दाह (जलन) करने वाला, आशु (तीव्र गति वाला) तथा विस्रगन्धि (कच्चे मांस जैसी गन्ध वाला) होता है। निराम (आम से रहित-पक्व) दशा में पित्त-रस तिक्त स्वाद वाला तथा रंग में पीला होता है। जबकि साम (कच्ची-अपक्व) दशा में यह स्वाद में खट्टा (अम्ल) और रंग में नीला होता है।

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति॥ (च. सू.- 1.60)

पित्त के गुणों का शरीर और स्वभाव पर प्रभाव :-

वात के समान शरीर में विद्यमान पित्त भी शरीर की बनावट और स्वभाव के निर्माण में सहायक होता है। इसके विभिन्न गुणों का भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है, जो निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है-

जिस व्यक्ति में पित्त दोष अधिक मात्रा में पाया जाता है, वह पित्त-प्रधान प्रकृति का माना जाता है। पित्त की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर उसका बल, जीवन की अवधि, आध्यात्मिक और भौतिक ज्ञान, धन एवं जीवन की अन्य प्रतिभाएं मध्यम प्रकार की होती हैं।

पित्त-प्रकोप के कारण :-

शरद ऋतु तथा युवावस्था में पित्त प्रकोप की ज्यादा संभावना रहती है। अधिक श्रम, अधिक तनाव व क्रोध करने से भी पित्त की वृ(होती है। इसके अतिरिक्त चरपरे, खट्टे, नमकीन, गर्म, विदाही (जलन पैदा करने वाले) तथा बहुत तीखे (लाल मिर्च, आदि) पदार्थों एवं मादक द्रव्यों का अधिक मात्रा में सेवन करने से शरीर में पित्त दोष बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त सूखी सब्जियां और क्षार पदार्थों का प्रयोग, धूप और अग्नि का अधिक सेवन, अधिक मैथुन, अनियमित रूप से भोजन करना (निश्चित समय पर भोजन न करना, या बिना भूख के भोजन करना, या भूख लगने पर भोजन न करना) अपच (बदहजमी), क्रोध, भय और निराशा के विचार भी शरीर में पित्त-दोष को प्रभावित कर देते हैं; कुछ विशेष पदार्थ, जैसे- तिल का तेल, कुलत्थ, सरसों, दही, छाछ, मस्तु, सौवीरक (काञ्जी-खट्टा सिरका), मद्य-पदार्थ, खट्टे फल, तथा गोह, मछली, भेड़ व बकरी का मांस खाने से भी पित्त में

वृद्धि होती है।

पित्त–प्रकोप के लक्षण :

जब किसी व्यक्ति के शरीर में पित्त-दोष का प्रकोप-अर्थात् अधिकता हो जाती है, तो थकावट, बल और नींद में कमी, अधिक पसीना, शरीर में जलन व तापमान की अधिकता, त्वचा का रंग पहले की अपेक्षा गाढ़ा हो जाना, अंगों से दुर्गन्ध आना, चिपचिपाहट, मुँह, गला आदि का पकना, क्रोध, मूर्च्छा (बेहोशी) तथा चक्कर आना, आदि लक्षण दिखाई देते हैं। त्वचा, मल, मूत्र, नाखूनों और नेत्रों का पीलापन, पित्त प्रकोप के विशेष लक्षण हैं। मुँह का कड़वा और खट्टा स्वाद एवं शीतल आहार-विहार की इच्छा भी पित्त की अधिकता के सूचक होते हैं।

प्रकुपित पित्त को शान्त करने के उपाय :-

सबसे पहले तो उन सब कारणों से दूर रहना चाहिए, जिनके फलस्वरूप पित्त प्रकुपित हुआ है।

विरेचन- (पेट साफ करने की औषधि का सेवन) पित्त प्रकोप को शान्त करने के लिए विरेचन सर्वश्रेष्ठ उपाय है, क्योंकि मूल रूप से प्रारम्भ में पित्त आमाशय और ग्रहणी में इकट्ठा होता है और विरेचन औषधि इन्हीं अंगों में पहुंच कर वहाँ एकत्र हुए पित्त को पूरी तरह बाहर निकाल देती है।

पित्त के शमन के लिए घी का सेवन (घृतपान) भी बहुत उपयोगी रहता है; क्योंकि इसमें पित्त-विरोधी मधुर, शीत और मन्द गुण पाये जाते हैं। पित्त शमन के लिये ऐसे ही अन्य स्निग्ध व सौम्य पदार्थों का सेवन करना चाहिए। आयुर्वेद में पित्त के पुराने रोगों में तो अलग-अलग प्रकार से औषधियुक्त घी का सेवन कराया जाता है। घृतकुमारी का रस, अंकुरित अन्न, सलाद तथा दलिया आदि का सेवन पित्तप्रकोप को शान्त करता है।

पित्त-क्षय के लक्षण व उपचार :-

जब शरीर में पित्त का क्षय (कमी) हो जाता है, तो अग्निमान्द्य (पाचन-शक्ति की कमी), शरीर के तापमान में कमी व मुख की कान्ति और चमक में कमी हो जाती है तथा ठण्ड की अनुभूति होती है। पित्त के जो अपने गुण कर्म हैं, वे भी कम मात्रा में कार्य करते हैं।

पित्त की कमी होने पर, उपर्युक्त पित्त की वृ(करने वाले आहार-विहार का सेवन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त ऐसे खाद्य पदार्थों और औषधियों को प्रयोग में लाना चाहिए, जो आग्नेय हों अर्थात् जिनमें अग्नि तत्त्व अधिकता से पाया जाए।

कफ - श्लेष्माद्ध का परिचय-

'कफ' शब्द का अर्थ संस्कृत के अनुसार इस प्रकार है- **केन जलेन फलति निष्पद्यते इति कफः**, अर्थात् जो जल से उत्पन्न होता है, उसे कफ कहते हैं। कफ का ही दूसरा नाम 'श्लेष्मा' है, इसका अर्थ है- **श्लिष्यति इति श्लेष्मा,** अर्थात् जो संयोग करता है या संश्लेषण करता है, वह श्लेष्मा कहलाता है। यह दोष शरीर के सभी अंगों का पोषण करता है तथा शेष दोनों दोषों वात और पित्त को नियमित करता है। शरीर को स्निग्धता (चिकनाहट) और आर्द्रता (गीलापन) प्रदान करना, सन्धियों (हड्डियों के जोड़ों) को आपस में मिलाना भी कफ का कार्य है। वृ(, काम-शक्ति, बल, उत्साह, घावों का भरना, रोगों के आक्रमण को रोकने की शक्ति, मानसिक और शारीरिक श्रम करने की क्षमता, क्षमा, धैर्य, ज्ञान, विवेक, मानसिक स्थिरता आदि सभी कार्य और गुण कफ के अधीन हैं। यदि शरीर में पित्त की गर्मी और वात की रुक्षता बढ़ जाए, तो 'कफ' दोष ही स्निग्ध (चिकने) स्रावों की मात्रा बढ़ा कर ऊतकों (tissues) की रक्षा करता है। हमारी नींद का प्रमुख कारण इस कफ में उपस्थित तमोभाव ही है।

यदि किसी कारणवश शरीर में कफ की मात्रा में कमी आ जाए, तो उसके विरोधी दोषों- पित्त और वात - की वृ(हो जाती है। इससे पित्त धातुओं का शोषण करने लगता है, जिससे कोषों के बीच (सछिद्रता होने से) वात एकत्र होने लगती है। इसी प्रकार, सन्धियों, हृदय व शरीर के दूसरे अंगों में भी वात का प्रकोप होने लगता है, जबकि सम अवस्था में यही कफ शरीर के कोषों को पुष्टि प्रदान करके उनमें सुषिरता (पोलापन) नहीं रहने देता, जिससे वात का संचार नहीं हो पाता।

अपने आश्रय-स्थान और कार्यों के आधार पर कफ दोष के भी पाँच भेद माने गये हैं-

1- क्लेदक, 2. अवलम्बक, 3. बोधक, 4. तर्पक, और 5. श्लेषक।

2- आयुर्वेद में कफ के प्रकोप से होने वाले रोगों की संख्या-20 मानी गयी है।

कफ (श्लेष्मा) के स्वभाविक गुण :-

दोषों में महत्त्व और क्रम की दृष्टि से कफ का स्थान तीसरा है। यहाँ इससे सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

कफ गुरु (भारी), शीतल, मृदु (मुलायम), स्निग्ध (चिकना), मधुर, स्थिर तथा पिच्छिल (चिपचिपा) होता है। यही इसके स्वाभाविक गुण हैं। इसके अतिरिक्त यह मन्द तथा क्लिन्न (गीला) होता है, इसका रंग सफेद तथा रस (स्वाद) मधुर होता है।

गुरुशीतमृदुस्निग्धामधुरस्थिरपिच्छिलाः।

श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः॥ (च. सू.- 1.61)

जिस व्यक्ति के शरीर में कफ-दोष की अधिकता होती है, वह कफ-प्रकृति वाला कहलाता है। ऐसे व्यक्ति पर ये गुण विशेष-रूप से प्रभाव डालते हैं। कफ का कौन-सा गुण क्या प्रभाव डालता है, इसका विवरण निम्न प्रकार से है-

कफ-प्रकृति वाले व्यक्ति में बल, धन, ज्ञान, शक्ति, शान्ति जैसे गुण अधिक मात्रा में पाये जाते हैं तथा वह दीर्घायु (लम्बी आयु वाला) होता है।

कफ-प्रकोप के कारण :-

मधुर (मीठे), अम्ल (खट्टे), भारी, चिकने एवं क्लेदक खाद्य और पेय पदार्थों, माँस-मछली तिल से तैयार खाद्य पदार्थों, गन्ने, दूध, नमक और जलीय पदार्थों का अधिक मात्रा में सेवन करने से, कार्बनयुक्त शीतल पेय से, फ्रिज आदि का ठण्डा पानी पीते रहने से, आवश्यकता से अधिक मात्रा में खाने से, पहले खाये गये भोजन के पचे बिना ही फिर भोजन, दिन के समय सोने से, आलस्य करने और व्यायाम न करने से शरीर में कफदोष प्रबल हो जाता है। वसन्त-ऋतु, प्रातः काल, रात्रि के पहले प्रहर में, भोजन के बाद और बाल्य अवस्था में कफ स्वाभाविक रूप से ही प्रबल रहता है।

कुछ खाद्य पदार्थ जैसे दही, दूध, घी, कृशरा, (तिल और उड़द की खिचड़ी) खीर, कुछ विशेष जन्तुओं (पानी में रहने वाले, आनूप प्रदेश में रहने वाले) का मांस, चर्बी, कमलनाल, सिंघाड़ा, नारियल, घिया, कद्दू आदि कफ को बढ़ाते हैं।

प्रकुपित कफ के लक्षण :-

जब शरीर में कफ-दोष अधिक मात्रा में हो जाता है, तो तन्द्रा (सुस्ती), अधिक नींद, मुँह का मीठा स्वाद, त्वचा में सफेदी, शीतलता, स्निग्धता और खुजली होना, शरीर में भारीपन, उपदेह अर्थात् शरीर से निकलने वाले मल पदार्थों जैसे मल, मूत्र, पसीना आदि में चिपचिपापन, स्तिमितता अर्थात् ऐसा अनुभव होना जैसे कि शरीर या प्रभावित अंग गीले कपड़े से लिपटा हो, लेप अर्थात् ऐसा लगना जैसे कोई बाहर का पदार्थ शरीर से चिपका हो, सूजन, बलगम, आखों और नाक के मल आदि का अधिक मात्रा में स्राव, चिरक्रिया अर्थात् शरीर पर किसी भी प्रतिक्रिया का देर से होना, अंगों में ढीलापन, श्वास, खाँसी तथा अवसाद (किसी कार्य को करने में उदासी) आदि लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

प्रकुपित कफ को शान्त करने के उपाय :-

जिन उपर्युक्त कारणों से कफ-दोष-प्रकुपित होता है, उन कारणों को दूर करके कफ को शान्त किया जा सकता है। इसके लिए निम्नलिखित उपाय करने चाहिए-

1. तीक्ष्ण (तेज) और उष्ण (गर्म प्रभाव वाले) औषधि द्रव्यों से वमन (उल्टी) और विरेचन क्रियाओं का उचित रूप से प्रयोग।
2. कफ-विरोधी गुणों वाले पदार्थों, यथा-कटु, तिक्त और कषाय रसों वाले तथा रूक्ष (रूखे), तीक्ष्ण और उष्ण आहार-विहार का सेवन।
3. ऐसे द्रव्यों का सेवन जिनका वीर्य, विपाक और प्रभाव कफ का विरोधी हो।
4. पुराने आसव व अरिष्टों एवं पुराने शहद का उचित मात्रा के अनुसार सेवन।
5. औषधीय धूमपान और लंघन-क्रिया (शरीर का वजन कम करने वाले) का प्रयोग।
6. विविध प्रकार से स्वेदन सेक, धूप सेंकना, सूखी मालिश व उबटन मलना।
7. विभिन्न प्रकार के व्यायाम, जैसे दौड़ना ऊँची व लम्बी कूद, कुश्ती, दण्ड बैठक, तेजी से टहलना, तैरना आदि।
8. गर्म वस्त्रों का अधिक प्रयोग एवं रात्रि जागरण।
9. नस्य या शिरोविरेचन (नाक में औषधीय तेल डाल कर ऊपर की ओर खींचना)।
10. आराम तलबी की आदतों से दूर रहना (क्योंकि क्रियाशीलता से कफ का क्षय होता है।
11. किसी चिन्ता या शोक से ग्रस्त रहने से भी कफ-जन्य विकारों का शमन होता है, परन्तु अधिक चिन्ता व शोक से अन्य विकार उत्पन्न होते हैं।

इन कफ निवारक उपायों में वमन क्रिया सबसे श्रेष्ठ है; क्योंकि यह कफ के मूल स्थान सहित आमाशय और उरःस्थल (छाती) में प्रकुपित हुए कफ को जड़ से बाहर निकाल देती है ; परन्तु वमन का योग तीक्ष्ण और उष्ण द्रव्यों से तैयार होना चाहिए।

कफ-क्षय के लक्षण और उपचार :-

श्लेष्मक्षये रूक्षतान्तर्दाह आमाशयेतरश्लेष्मा-

शयशून्यता सन्धिशैथिल्यं तृष्णा दौर्बल्यं प्रजागरणं च। (सु. सू.- 15.11)

तत्र (श्लेष्मक्षये) स्वयोनिवर्धानान्येव प्रतिकारः॥ (सु. सू.- 15.12)

यदि शरीर में कफ की मात्रा कम हो जाए, तो शरीर में रूखापन, अन्दर से जलन, कफ के आश्रय-स्थानों (फेफड़ों, हृदय, हड्डियों के जोड़ों और विशेषत: सिर में) खालीपन (शून्यता) महसूस होना, सन्धियों में ढीलापन, अत्यधिक प्यास, कमजोरी और नींद की कमी जैसे लक्षण प्रकट होने लगते हैं। कफ के स्वाभाविक गुण और कर्मों में कमी आ जाती है।

शरीर में तीनों दोषों का आश्रय स्थान एवं सकारात्मक गुण

यद्यपि सम्पूर्ण देह में तीनों दोष व्याप्त रहते हैं परंतु ये दोष ऋतु, भोजन, शरीरगत अग्नि के अनुसार घटते-बढ़ते रहते हैं। अंगविशेष कोई एक दोष मुख्य रूप से रहता है, उसे उस दोष का मुख्य आश्रय-स्थान कहा जाता है।

दोषों का आश्रय स्थान एवं सकारात्मक गुण

दोष	आश्रय स्थान	सकारात्मक गुण
वात	नाभि से नीचे का भाग, बस्ति छोटी व बड़ी आंतें, कमर, जंघा, टाँगें एवं हड्डियाँ।	कल्पनाशील, संवेदनशील, स्वत:प्रवर्तित, लचीलापन, उल्लासित।
पित्त	छाती व नाभि का मध्य भाग, स्वेद (पसीना), लसीका, रक्त व पाचन संस्थान व मूत्र संस्थान।	प्रज्ञात्मक, दृढ़ विश्वास, उद्यमी, आह्लादपूर्ण।
कफ	कण्ठ के ऊपर का भाग, कण्ठ, शिर, गर्दन, छाती, सन्धि या (हड्डियों के जोड़) उदर का ऊपरी भाग एवं शरीर की मेद धातु।	शांत, सहानुभूति, साहसी, क्षमावान, स्नेही।

त्रिदोष और पंच महाभूत का सम्बन्ध

आयुर्वेद में शरीर की उत्पत्ति आकाश, वात, अग्नि, जल और पृथ्वी, इन पंच महाभूतों से मानी जाती है। अन्य पदार्थों की तरह वात आदि दोषों की संरचना भी पाँच महाभूतों के मेल से ही हुई है। विभिन्न दोषों में प्रधान महाभूतों के मेल की स्थिति निम्न प्रकार से है-

दोष	प्रमुख महाभूत
वात	आकाश तथा वायु
पित्त	अग्नि (तेजस्) तथा जल (अप्)
कफ	जल एवं पृथ्वी

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
त्रिदोष	तीन दोष (वात, पित्त, कफ)
वात	गति देने वाला तत्व
पित्त	पाचन एवं ताप तत्व
कफ	स्थिरता देने वाला तत्व
प्रकोप	असंतुलन/वृद्धि
शमन	शांत करना
गुण	विशेषता
लक्षण	पहचान
दोष	संतुलनकारी तत्व
आयुर्वेद	जीवन का विज्ञान

5 अंक के प्रश्न-

1. त्रिदोष सिद्धान्त क्या है? समझाइए।
2. वात दोष के कारण एवं लक्षण लिखिए।
3. पित्त दोष के गुण और कार्य बताइए।
4. कफ दोष के लक्षण लिखिए।
5. त्रिदोष संतुलन का महत्व लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. वात दोष का विस्तृत वर्णन करते हुए उसके कारण, लक्षण और उपचार समझाइए।
2. पित्त दोष की भूमिका, गुण, कारण, लक्षण एवं शमन उपाय विस्तार से लिखिए।
3. कफ दोष का वर्णन करते हुए उसके स्वास्थ्य पर प्रभाव स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. वात का मुख्य कार्य क्या है?

(क) पाचन

(ख) गति

(ग) स्थिरता

(घ) रक्तनिर्माण

2. पित्त किस तत्व से संबंधित है?

(क) जल

(ख) अग्नि

(ग) वायु

(घ) आकाश

3. कफ का गुण क्या है?

(क) लघु

(ख) गुरु

(ग) तीक्ष्ण

(घ) उष्ण

4. त्रिदोष में कितने दोष होते हैं?

(क) 2

(ख) 3

(ग) 4

(घ) 5

5. वात का स्थान कहाँ है?

(क) छाती

(ख) नाभि के नीचे

(ग) मस्तिष्क

(घ) त्वचा

इकाई-3.2 : आयुर्वेद में निर्दिष्ट तीन उपस्तंभ (त्रय उपस्तम्भाः)

उद्देश्य-

1. विद्यार्थियों को आयुर्वेद के तीन उपस्तम्भों का ज्ञान कराना।
2. आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य के महत्व को समझाना।
3. स्वस्थ जीवनशैली अपनाने के लिए संतुलित आदतों का विकास करना।

आयुर्वेद के अनुसार शरीररूपी भवन पंच महाभूतों के मिश्रण वाले तीन तत्त्वों (वात, पित्त, कफ) से बना है। शरीररूपी इस भवन को सुदृढ़ व स्वस्थ रखने के लिए आयुर्वेद में इसके तीन उपस्तंभ इस प्रकार बताए गए है- **आहार, निद्रा** व **ब्रह्मचर्य।**

त्रितयं चेदमुपष्टम्भनमाहारः स्वप्नो·ब्रã चय च। एभिर्युDैरुपष्टब्धामुपस्तम्भैः
शरीरं बलवर्णोपचश्सेवचितमनुवर्तत यावदायुष संस्कारः। (अ. सं. सू.- 9.36)

जिस प्रकार किसी भवन को स्थिर खड़ा रखने के लिए उसके आधारभूत स्तम्भों (खम्भों-च्पससंते) का महत्त्व है (क्योंकि इनके बिना भवन खड़ा नही रह सकता), उसी प्रकार शरीर को धारण करने के लिए इन उपस्तंभों का महत्त्व है। इन तीनों के आधार पर वात आदि सन्तुलित रहते हैं और उनके आधार पर शरीर रूपी भवन सन्तुलित व स्वस्थ रहता है।

१. आहार- उत्तम स्वास्थ्य के निर्धारक तत्त्वों में आहार प्रमुख है। युक्ति संगत आहार के बिना स्वस्थ रहना असम्भव है। हमारे उपनिषद् आदि ग्रन्थों में तो आहार को ही जीवन कहा गया है- **'अन्नं वै प्राणाः।'** वास्तव में आहार स्वयं में औषधि है। इससे शरीर के दोष, धातु और मलों का प्रीणन (पोषण) और प्राणों का आप्यायन (वृ(व पुष्टि) होता है। इसके विज्ञान को जानकर हम अनेक व्याधियों की चिकित्सा कर सकते हैं। आहार का प्रभाव केवल शरीर पर ही नहीं मन पर भी समान रूप से पड़ता है। लोकप्रसि(भी है- **जैसा खायें अन्न, वैसा बने मन।** स्पष्टतः आहार हमारे शरीर व इन्द्रियों को पुष्ट करता है, प्राणों को बलवान् बनाता है और अन्ततोगत्वा मन की प्रवृत्तियों का भी पोषण करता है।

वस्तुतः आहार हमारे स्वास्थ्य के लिए तभी हितकर सि(होगा, जब हम इसका सेवन मात्र स्वाद की दृष्टि से न करके स्वास्थ्य की दृष्टि से करेंगें। सदा स्मरण रखना चाहिए **कि 'हमारा जीवन खाने के लिए नहीं, अपितु खाना जीवन जीने के लिए है।'** एक किवदंती है कि-)षि चरक ने प्रश्न किया- कौन व्यक्ति स्वस्थ रहता है? इसके उत्तर में वाग्भट नामक विद्वान् ने कहा- **'हितभुक्, मितभुक्,)तभुक्'**- अर्थात् अपनी प्रकृति के अनुसार हितकारी, उचित मात्रा में और उचित प्रकार से कमाया (अर्जित) भोजन करने वाला व्यक्ति ही स्वस्थ रहता है। इसके विपरीत रूप में भोजन करने वाला अनेक कष्टकर रोगों से ग्रस्त हो जाता है। अपनी जीभ पर नियन्त्रण रखने वाला जितेन्द्रिय व्यक्ति ही ऐसा आचरण कर सकता है। आहार सेवन के लिए आठ विशेष बातें चरक)षि ने बताई है; जिन्हें आदर्श आहार-संहिता कहा गया है । इनका पालन करने से आहार का यह उपस्तम्भ दृढ़ रहेगा, अन्यथा डगमगा जाएगा

चरक)षि ने भी कहा-'अन्न प्राणियों के लिए प्राण है,' इसीलिए लोग अन्न की ओर दौड़ते हैं। हमारा वर्णप्रसाद (रंग का निखार), सुन्दर, स्वर, जीवन, प्रतिभा, सुख, तुष्टि, पुष्टि, बल और मेधा, ये सभी अन्न पर ही आश्रित हैं।

२. निद्रा- हमारे स्वास्थ्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण उपस्तम्भ निद्रा है। पूरे दिन की विभिन्न क्रियाओं के पश्चात् जब मनुष्य का शरीर और मन पूरी तरह थक जाते हैं, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, तो नींद आ घेरती है। यह नींद ईश्वरीय वरदानों में अमूल्य है। हम कल्पना कर सकते हैं कि यदि इस सृष्टि व्यवस्था में से केवल नींद को हटा दिया जाए, तो कुछ दिनों में संसार एक पागलखाने के रूप में परिवर्तित हो जाएगा। इन्द्रियों और मन सहित शिथिल और निष्क्रिय हुआ शरीर निद्रा देवी की गोद में जाकर पुनः तरोताजा और स्फूर्तिमान् हो जाता है। तभी तो शिशु के तीव्र शारीरिक और मानसिक विकास के लिए ईश्वर ने 24 घंटों में से लगभग 18-20 घंटे सोने की व्यवस्था की है। जबकि एक स्वस्थ और वयस्क व्यक्ति के लिए दिन में छह से आठ घंटे की नींद पर्याप्त और हितकर है। उचित समय पर गाढ़ी नींद में सोने से प्रसन्नता, पुष्टि, शक्ति, पौरुष, ओज, तेज, कान्ति, ज्ञान और आयु की वृ(होती है। इसके विपरीत, नींद न आने से मनुष्य कमजोर, दुबला-पतला, निस्तेज, नपुंसक, जड़बु(और मानसिक रूप से दुःखी व चिड़चिड़ा हो जाता है।

यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रातः जल्दी उठना और रात को जल्दी सोना ही स्वास्थ्यप्रद है। यह भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। कहा भी गया है- **'ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत पुरुषो रक्षार्थमायुषः।'** अंग्रेजी में भी यह कथन प्रसि(है- **'Early to bed and early to rise, makes a man healthy, wealthy & wise'** परन्तु आज भोगवाद और भौतिकवाद के इस युग में रात को देर से (12-1 बजे) सोना और सुबह देर से (8-9 बजे) उठना सभ्यता की निशानी बन गयी है। यह शरीर व मन के स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत ही घातक है।

इस प्रसंग में यह स्मरण रखना भी परम आवश्यक है कि जहाँ अनिद्रा या कम सोना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, वहीं अधिक सोना (अतिनिद्रा) भी आलस्य, निष्क्रियता, कफ-प्रकोप, मोटापा, मन्दाग्नि आदि रोगों का जनक है।

३. ब्रह्मचर्य- शरीर का तीसरा महत्त्वपूर्ण उपस्तम्भ 'ब्रह्मचर्य' है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है- संयम पूर्वक जीवनचर्या रखते हुए वीर्य की रक्षा करना। हम जो भी आहार-द्रव्य खाते हैं, उनका पाचन होने के पश्चात् सार रूप में जो धातु बनती है, उसे ही वीर्य (शुक्र) व रज कहा जाता है। आयुर्वेद के अनुसार शरीर का बल इसी शुक्र व रज पर आधारित है। इस तथ्य की सि(इन वचनों से भी होती है- 'अग्नि पर बल तथा शुक्र पर जीवन निर्भर हैं, अन्यत्र भी कहा है-**'मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात्।'** अर्थात् बिन्दुपात से जीवन का क्षरण तथा बिन्दुधारण से जीवन की वृ(होती है'। यहाँ बिन्दु शब्द शुक्र का ही द्योतक है। ब्रह्मचर्य के विपरीत विलासिता-पूर्वक संभोग से वीर्य का क्षरण या नाश होता है, अत: बल का भी क्षय होता है। ब्रह्मचर्य धारण से अर्थात् अति संभोग से बचे रहने से व्यक्ति ओजस्वी, प्रज्ञावान्, बलवान् व तेजस्वी होता है। अत: इसे शरीर का आवश्यक उपस्तम्भ कहा गया है। कहीं-कहीं आयुर्वेद में 'अब्रह्मचर्य' शब्द का प्रयोग भी है। इसका तात्पर्य यह है कि विवाहितों को भी एक सीमा के अन्दर ही संभोग करना चाहिए, स्वच्छन्द रूप से नहीं। वीर्य शब्द से जहाँ पुरुष के 'शुक्र' से सम्बन्ध है, वहीं स्त्रियों के लिए इसका अर्थ 'रज' समझना चाहिए। ब्रह्मचर्य पालन का विधान स्त्री-पुरुष दोनों के लिए समान रूप से निर्दिष्ट किया गया है।

यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात है कि ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए व्यक्ति को उत्तेजक खान-पान, उत्तेजक दृश्यों और उत्तेजक रहन-सहन से बचकर रहना आवश्यक है। शु(और सादा आचरण और खान-पान ही इसके लिए सहायक है। व्यक्ति ब्रह्मचर्य के महत्त्व को समझने पर ही ऐसा कर सकता है। इसका महत्त्व बताते हुए वेद में कहा है- **'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत'**। (अथर्ववेद-11.5.19) अर्थात् ब्रह्मचर्य के तप से देवों ने मृत्यु को भी परास्त कर दिया।

स्मरणीय बिन्दु-

1. आहार को जीवन क्यों कहा गया है?
2. निद्रा का मुख्य कार्य क्या है?
3. ब्रह्मचर्य से क्या लाभ होता है?
4. अत्यधिक नींद से क्या हानि होती है?
5. संतुलित आहार का महत्व क्या है?

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
आहार	भोजन
निद्रा	नींद
ब्रह्मचर्य	संयमित जीवन
ओज	शरीर की शक्ति
तेज	चमक/ऊर्जा
धातु	शरीर क`तत्त्व
मल	शरीर के अपशिष्ट
संयम	नियंत्रण
उपस्तम्भ	आधार स्तम्भ
आयु	जीवन अवधि

5 अंक के प्रश्न-

1. आहार का महत्व विस्तार से लिखिए।
2. निद्रा के लाभ बताइए।
3. ब्रह्मचर्य का अर्थ और महत्व लिखिए।
4. असंतुलित नींद से होने वाले दुष्प्रभाव बताइए।
5. आयुर्वेद में आहार को जीवन क्यों कहा गया है?

15 अंक के प्रश्न-

1. आयुर्वेद में त्रय उपस्तम्भ का विस्तृत वर्णन कीजिए।

2. आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य का मानव जीवन में महत्व समझाइए।
3. असंतुलित जीवनशैली से होने वाले दुष्प्रभाव और समाधान लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. आयुर्वेद में त्रय उपस्तम्भ कौन-से हैं?

(क) जल, वायु, अग्नि

(ख) आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य

(ग) रस, रक्त, मांस

(घ) वात, पित्त, कफ

2. ''अन्नंवैप्राणा:'' का अर्थ है-

(क) जल जीवन है

(ख) अन्न ही प्राण है

(ग) वायु जीवन है

(घ) मन शक्ति है

3. ब्रह्मचर्य का अर्थ है-

(क) अधिक भोजन

(ख) संयमित जीवन

(ग) आलस्य

(घ) नींद

4. उचित नींद से क्या बढ़ता है?

(क) क्रोध

(ख) आलस्य

(ग) ओज और शक्ति

(घ) रोग

5. अत्यधिक नींद से क्या होता है?

(क) शक्तिवृद्धि

(ख) आलस्य और मोटापा

(ग) स्मरण शक्तिबढ़ती है

(घ) ऊर्जा बढ़ती है

इकाई-3.3 : स्वस्थवृत्त (दिनचर्या एवं रात्रिचर्या)

उद्देश्य-

1. विद्यार्थियों को स्वस्थ जीवन जीने की वैज्ञानिक एवं आयुर्वेदिक पद्धति से परिचित कराना।
2. दिनचर्या एवं रात्रिचर्या के नियमों का पालन कर स्वास्थ्य संरक्षण की समझ विकसित करना।
3. शरीर, मन और आत्मा के संतुलन द्वारा निरोग जीवन की अवधारणा को समझाना।

आयुर्वेद का प्रमुख उद्देश्य स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा और रोगों से बचाव करना है। स्वास्थ्य का बना रहना और बिगड़ना, शरीर में त्रिदोष की स्थिति पर निर्भर करता है। इन दोषों की साम्यावस्था बनाये रखने के लिए ही आयुर्वेद में दिन और रात्रि तथा विभिन्न ऋतुओं के आचरण (आहार-विहार) का उल्लेख किया गया है, जिसे स्वस्थवृत्त के नाम से जाना जाता है। इनके अनुसार आचरण करने से जहाँ स्वास्थ्य की रक्षा होती है, वहीं रोगों के आक्रमण से भी बचा जा सकता है। इनका संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है-

दिनचर्या (जागरण)- स्वस्थ व्यक्ति को ब्राह्म-मुहूर्त में (सूर्योदय से दो घण्टे पूर्व) उठ जाना चाहिए। यह समय शुभ माना जाता है, क्योंकि वातावरण में सब जगह शान्ति, सात्त्विकता, स्वच्छता और प्रसन्नता छाई रहती है। जागते ही अपने इष्ट देव का स्मरण करके प्रार्थना करनी चाहिए। इससे मानसिक शान्ति और प्रसन्नता बनी रहती है, क्योंकि इस समय बु(, मन आदि सब तरोताजा होते हैं तथा थकान मिटी होती है, अत: जो याद किया जाता है, वह स्मरण रहता है। इस समय उठने पर शौच, स्नान, योगाभ्यास व व्यायाम आदि नित्यकर्म करने का पर्याप्त समय भी मिल जाता है, अत: रोग नहीं होते और आयु की रक्षा होती है। प्रात:काल ही यदि दिनभर के कार्यों की योजना बना ली जाए तो कार्य ठीक समय पर और उत्तम रीति से सम्पन्न होते हैं।

मुख धोना- बिस्तर छोड़ने के तुरन्त बाद, सभी ऋतुओं में स्वच्छ जल से मुख धोना चाहिए। इससे आँख, नाक, मुख तथा चेहरे पर जमी हुई गन्दगी साफ हो जाती है तथा सुस्ती दूर होकर ताजगी आती है। शीत ऋतु में थोड़े गुनगुने जल से मुख धोया जा सकता है।

खाली पेट जल पीना- प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन और हर ऋतु मे मुख धोने के पश्चात् खाली पेट कम से कम एक गिलास और अधिक से अधिक चार गिलास जल अवश्य पीना चाहिए। यह जल रात को ही एक बर्तन में (विशेषकर ताँबे के बर्तन में) भरकर रख देना चाहिए और प्रात: इसी जल का पान करना लाभप्रद रहता है।

शीतकाल में या मोटापे से ग्रसित रोगियों को जल गर्म करके पीना चाहिए। इससे मल तथा मूत्र का त्याग ठीक प्रकार से होता है। जिससे शरीर से अनेक प्रकार के विषैले तत्त्व बाहर निकलते हैं और अनेक रोगों से छुटकारा मिलता है। इसे ही उषापान कहा जाता है। सुबह उठकर जो जल पिया जाता है, उसे बैठकर ही पीना चाहिए। खड़े-खड़े पानी पीने से घुटने में या जोड़ों में दर्द हो सकता है। यदि उकड़ बैठकर जल पिया जाये तो अधिक उत्तम है।

कुछ लोग इस जल के स्थान पर प्रात:काल चाय का सेवन करते हैं। उनके कथनानुसार, इससे शौच क्रिया सुविधापूर्वक हो जाती है, परन्तु इसका प्रभाव जल से अलग प्रकार का होता है। यह चाय आँतों पर दबाव डाल कर उन्हें उत्तेजित करती है। इसके परिणामस्वरूप मल-त्याग की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। वस्तुत: गर्म एवं उत्तेजक होने के कारण चाय आँतो में तीव्र उत्तेजना उत्पन्न कर देती है और यह उत्तेजक प्रभाव कुछ दिनों के पश्चात् समाप्त होने लगता है। इस प्रकार व्यक्ति पुन: कब्ज का शिकार हो जाता है। इसके अतिरिक्त, चाय और कॉफी में पाया जाने वाला 'कैफीन' नामक तत्त्व आमाशय तथा आँतों की ग्रन्थियों पर भी बुरा प्रभाव डालता है, परन्तु ठण्डे जल के सेवन से किसी प्रकार का कुप्रभाव नहीं होता। हाँ, खाँसी, जुकाम एवं गला खराब होने पर इस जल को गुनगुना करके लेना चाहिए।

मल-त्याग- इसके पश्चात् मल-त्याग के लिए जाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को प्रात: ही नियमित रूप से इसकी आदत बनानी चाहिए। आज के इस तनावपूर्ण और व्यस्त जीवन में बहुत से लोगों को नियमित रूप से तथा समय पर मल के वेग का अनुभव नहीं होता। इसके अनेक कारण हैं, जैसे-देर रात्रि में खाये गये भोजन का पाचन न होना, पूरी नींद न ले पाना, बहुत अधिक चिन्ताग्रस्त, क्रोधी, संवेदनशील और असन्तुलित स्वभाव का पाया जाना आदि। इन सब कारणों से अथवा वातकारक भोजन (जैसे भारी दालें, तले हुए पदार्थ) के सेवन से रात को आँतो में वात जमा हो जाती है। इससे मल त्याग की गति में रुकावट पैदा होती है। परिणामत: थोड़ा मल त्याग करने पर लगता है कि पेट पूरी तरह साफ हो गया है, परन्तु कुछ समय बाद फिर मल त्याग की आवश्यकता महसूस होती है। कुछ लोगों को तो पेट साफ करने के लिए प्रात:काल ही तीन-चार बार जाना पड़ता है।

कई बार दफ्तर या दुकान आदि के लिए जाने की जल्दी के कारण भी व्यक्ति मल त्याग की क्रिया की उपेक्षा करता है और पेट पूरी तरह साफ नहीं हो पाता। परिणामत: भूख समाप्त हो जाती है तथा गैस, अपच, सिरदर्द, उदासी, ग्लानि, बेचैनी, थकान, सुस्ती, नींद न आना आदि शिकायतें उत्पन्न हो जाती हैं। अधिक वात एकत्रित होने से हृदय पर दबाव पड़ता है और दिल

की धड़कन बढ़ जाती है। अधिक समय तक कब्ज रहने से जुकाम, दमा, बवासीर, जोड़ों का दर्द तथा गठिया जैसे भयंकर रोग भी आक्रमण कर सकते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रतिदिन नियमित रूप से मल त्याग करना आवश्यक होता है। व्यक्ति को प्रतिदिन नियमित रूप से मल-त्याग की क्रिया के लिए जाना चाहिए। कुछ सावधानियाँ बरतनी चाहिए, जैसे वातकारक पदार्थ, भारी दालें- राजमा, चने, उड़द व चने की दाल, पिज्जा, बर्गर, चाउमीन व तले हुए पदार्थ कम से कम मात्रा में लेने चाहिए। पत्ते वाली सब्जियाँ पालक, मेथी तथा बथुआ आदि तथा घीया, तोरी, जिमीकन्द, सेव, अमरूद, मुनक्का, अंजीर, पपीता एवं अन्य रेशेदार पदार्थ अधिक मात्रा में सेवन करने चाहिए। एक से अधिक बार मल का वेग उपस्थित होने पर टालना नहीं चाहिए, मल त्याग के लिए समय पर अवश्य जाना चाहिए। कब्ज व अन्य उदर रोगों को स्थायी रूप से दूर करने के लिए कपालभाति प्राणायाम का अभ्यास प्रातः खाली पेट अवश्य करना चाहिए।

दातुन या दांत साफ करना- आयुर्वेद में मल-त्याग के पश्चात् दाँतों को साफ करने का विधान है।

1. कटु, तिक्त या कषाय रस वाले औषधीय वृक्षों की अंगुली जितनी मोटी 6 इंच लगभग लम्बी, सीधी, छिलकेयुक्त ताजी शाखा को लेकर आगे के लगभग 1-2 इंच के भाग को दाँत से चबाकर कूंची (ब्रश) बनाकर उससे दाँत साफ करने का विधान है। करोड़ों भारतीय आज भी इस तरह से दातुन से दाँत साफ करते हैं। इस दातुन से मुख के अनेक रोग व बैक्टिरिया का शमन होता है। रोगशमन की दृष्टि से बबूल, करंज, मालती, असन, नीम, अपामार्ग आदि तथा इसी प्रकार के गुण और रस वाले वृक्षों की टहनी को प्रयोग में लाया जा सकता है।

- गण्डूष/कवल करना, सिर पर तेल लगाना ,तेल मालिश (अभ्यंग) ,कान मे तेल डालना (कर्णपूरण), पैरों मे तेल मालिश (पादाभ्यंग) ,नस्य कर्म या नाक मे तेल डालना, व्यायाम, उबटन, मुख पर लेप, स्नान, वस्त्र धारण, इत्र व सुगन्ध (परफ्युम) का निषेध, आभुषण मणि आदि धारण करना, बालों और नाखुनों की देखभाल, भोजन, आदि इनका संतुलित रूप से प्रयोग करना चाहिए।

कैसे आचरण से दूर रहें :-

- पर्वत की ऊबड़-खाबड़ ढलानों और पेड़ों पर नहीं चढ़ना चाहिए। खतरनाक वाहनों की सवारी तथा तेज खतरनाक बहाव वाली नदी में स्नान करना उचित नहीं।
- ठीक प्रकार से न ढ़के हुए, तकिये से रहित, छोटे और असमतल बिस्तर पर न सोयें।
- इन वस्तुओं व व्यक्तियों को न लाँधें किसी सम्बन्धी, अच्छे वंश में उत्पन्न व्यक्ति, अध्यापक, गुरु, पूज्य व्यक्ति, पवित्र वृक्ष एवं अवांछित व्यक्ति की परछाई को।
- पूज्य व्यक्तियों एवं शुभ वस्तुओं को अपनी बाई ओर न रखें तथा अन्य हीन व्यक्तियों व वस्तुओं को दाई ओर न रखें और न ही पूज्य जनों का अतिक्रमण करें।
- अशिष्ट व्यवहार न करें, जैसे सभा में जोर से हँसना, अधोवात (गैस) और डकार को ऊँची आवाज में छोड़ना, मुख को ढके बिना जम्भाई लेना, छोंक, खाँसी करना और बड़ों के सामने जोर से हँसना, नासिका में खुजली करना, दाँत किटकिटाना, नाखूनों से आवाज निकालना, जमीन कुरेदना, हड्डियों से आवाज निकालना, मिट्टी के ढेले को कुचलना, हाथ-पैर आदि अंगों को अनुचित ढंग से रखना, हिलाना आदि।
- टकटकी बाँधकर न देखें किसी ग्रह एवं बहुत चमकीली, अनिच्छित, अपवित्र और निन्दित वस्तु को।
- रात के समय इन स्थानों में प्रवेश और निवास न करें- मन्दिर (धार्मिक स्थान), पवित्र माने जाने वाले वृक्ष, सार्वजनिक प्रांगण, बाग-बगीचे, चौराहे, श्मशान एवं एकान्त निर्जन स्थान।
- इनके समीप जाना ठीक नहीं- साँप, खरतनाक सींगों व दाँतों वाले जानवर।
- मन को स्थिर किये बिना अग्नि के पास नहीं जाना चाहिए और भोजन के पश्चात् मुँह-हाथ धोए बिना ही नहीं चल देना चाहिए।
- बच कर रहें पूर्व दिशा से आने वाली हवा, तेज धूप, गिरते ओलों एवं आँधी से।
- अनुचित है अपनी शक्ति से अधिक कार्य करना और दुस्साहस, आवश्यकता में अधिक सोना व स्नान करना, रात में जागना, अधिक मात्रा में पेय पदार्थों को पीना।

अनुचित व अधार्मिक कार्य को करना, दुश्चरित्र व्यक्तियों, स्त्रियों व नौकर से मित्रता करना, सच्चरित्र व अच्छे लोगों से शत्रुता करना, अधिक समय तक घुटनों को ऊँचा करके (उकडू) बैठना, चारपाई आदि के नीचे अग्नि रख कर तापना, थकावट में तुरन्त

स्नान करना एवं कुल्ले और गरारे किये बिना स्नान करना उचित नहीं है। पूर्णत: वस्त्रहीन होकर स्नान करना, स्नान के बाद पहले पहने हुए वस्त्र फिर पहनना निषि(है ।

कैसा आचरण करें :-

जीवन में स्वस्थ और सुखी रहने के लिए प्रत्येक मनुष्य को आध्यात्मिक व मर्यादित आचरण का पालन करना चाहिए। ध र्म, अर्थ और काम (इन्द्रिय-सुख) का सेवन इस प्रकार करना चाहिए कि इन तीनों में आपसी विरोध न हो। भाव यह है कि ध र्मपूर्वक अर्थोपार्जन करना चाहिए तथा धर्म व अर्थ को बाधित न करते हुए मर्यादापूर्वक ही काम (इन्द्रिय-सुखों) का सेवन करना चाहिए। ऐसा करने से धर्म, अर्थ व काम, इस त्रिवर्ग का परस्पर विरोध नहीं रहता है। इस प्रकार से लोक व परलोक, दोनों में सुख व सद्गति मिलती है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति अधर्मपूर्वक धन कमाता है, इन्द्रिय-सुखों को ही जीवन का सार मान कर अमर्यादित रूप से उन्हें भोगता है तथा इसके लिए अनुचित रूप से पैसा बहाता है, उस व्यक्ति के आचरण में धर्म, अर्थ व काम का आपसी विरोध हो जाता है। ऐसे व्यक्ति का पतन व संकटग्रस्त होना निश्चित है। इस विषय में आदिकवि वाल्मीकि की यह चेतावनी ध्यान में रखने योग्य है- 'जो धर्म, अर्थ व काम का समुचित व सन्तुलित सेवन करता है, वही व्यक्ति समझदार है। इसके विपरीत जो धर्म व अर्थ को छोड़कर काम-सुखों में ही लिप्त हो जाता है, वह संकटग्रस्त होने पर उस प्रकार होश में आता है, जिस प्रकार पेड़ के ऊपर सोने वाला नीचे गिरने पर ही होश में आता है।

सदा सत्य बोलना चाहिए। चींटी, कीड़े-मकोड़े आदि तुच्छ जन्तुओं को भी अपने समान देखना चाहिए। निर्धनता, रोग और शोक से पीड़ित लोगों की सहायता के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। याचक को निराश नहीं भेजना चाहिए न ही उसका तिरस्कार करना चाहिए। देवता, गाय, ब्राह्मण (विद्वान), वृ(, वैद्य, राजा और अतिथि का आदर करना चाहिए।

दूसरों की किसी वस्तु या सम्पत्ति पर अपना अधिकार नहीं जमाना चाहिए और न ही किसी की सम्पत्ति या परस्त्री आदि की इच्छा करनी चाहिए। किसी भी प्रकार के पाप कर्म से दूर रहना चाहिए। दुष्ट व्यक्ति के प्रति भी दुष्ट व्यवहार नहीं करना चाहिए।

दूसरों की गुप्त बातों और दोषों का खुलासा नहीं करना चाहिए। विश्वासघाती, कपटी, अधर्मी, दुराचारी, गर्भपात करने वाले, कंजूस और कुटिल स्वभाव वाले लोगों से दूर रहें। कल्याण करने वाले लोगों व मित्रो से सलाह लेनी चाहिए और अकल्याण करने वालों से सदा सावधान रहें।

रात्रिचर्या (रात में खान-पान और आचार-व्यवहार) :-

दिन और रात को मिलाकर 24 घण्टों की पूरी अवधि को ही एक दिवस कहा जाता है। अत: रात्रिचर्या भी दिनचर्या का ही अंग होता है। दिन भर के सभी काम और परिश्रम करने के बाद रात्रि में विश्राम की आवश्यकता होती है। क्योंकि नींद या सोने की क्रिया ही रात में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, अत: रात्रिचर्या में सबसे पहले नींद के विषय में ही जानकारी प्रस्तुत करते हैं।

नींद या निद्रा- सभी जानते हैं कि शरीर को स्वस्थ और स्फूर्तिमान् बनाए रखने के लिए ठीक प्रकार नींद लेना बहुत आवश्यक है। सारे दिन के कार्यों को करने के बाद जब शरीर और मस्तिष्क थक कर निष्क्रिय से हो जाते हैं तथा ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ भी थक जाती हैं तो व्यक्ति नींद की अवस्था में आ जाता है। इस प्रकार वह स्थिति, जब मन का सम्पर्क ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से टूट जाता है तथा वे एकदम निष्क्रिय-सी हो जाती हैं, नींद या निद्रा कहलाती हैं। नींद की स्थिति में शरीर में सांस लेना, छोड़ना, रक्त-संचार आदि बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य ही चलते रहते हैं, शेष कार्य रुक जाते हैं। इससे शरीर की बहुत कम ऊर्जा ही खर्च होती है, शेष बची ऊर्जा (शक्ति) बल आदि को बढ़ाती है। यही कारण है कि सोने के बाद व्यक्ति अपने को स्वस्थ, तरोताजा और उत्साह से युक्त अनुभव करता है।

रात का समय नींद के लिए अनुकूल होता है, क्योंकि रात में शरीर का कफ दोष और मन का तमस् दोष नींद लाने में सहायक होते हैं। रात्रि में अन्धकार, शोर की कमी तथा दिन की अपेक्षा ठण्डक अधिक होने से ये दोनों दोष बढ़ जाते हैं, अत: अच्छी नींद आने में सहायता मिलती है।

रात को सोने से पहले अपने रूम में टी.वी. है, तो उसे अच्छी तरह से बन्द करके, फोन व मोबाइल को हो सके तो कक्ष से बाहर अन्यथा बिस्तर से दूर रखकर ही सोना चाहिए। यथासम्भव सबको अलग-अलग बिस्तर पर सोना चाहिए, जो स्वस्थ रहने के लिए परम आवश्यक है। आयुर्वेद के अनुसार रात्रि को जल्दी सोकर सुबह जल्दी उठना चाहिए; क्योंकि रात्रि के समय तम का प्रभाव होता है, तब निद्रा अच्छी आती है। प्रात: शीघ्र उठने से वात तथा कफ की प्रधानता होती है, उस समय पर मलविसर्जन की क्रिया भी ठीक से होती है। अत: प्रात: शीघ्र उठना चाहिए। उससे मन भी प्रसन्न रहता है। शरीर में स्फूर्ति, ताजगी, आनन्द व उत्साह की वृ(होती है। प्रात: उठकर भ्रमण करें, इस समय की शुद्ध वायु एवं शान्त वातावरण देह की निरोगता के लिए अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण होता है।

1. स्वप्न-अवस्था :-

इसमें व्यक्ति निद्रावस्था में सपने देखता रहता है। अवचेतन मन संकल्प-विकल्पों से घिरा रहता है। इस प्रकार यह नींद गहरी और पूरी तरह विश्राम देने वाली नहीं होती।

2. सुषुप्त-अवस्था :-

इसमें मन और इन्द्रियाँ दोनों निष्क्रिय होती हैं, नींद बड़ी प्रगाढ़ होती है।

सुषुप्त-अवस्था की कम समय की नींद भी मनुष्य के शरीर और मन को स्वस्थ एवं ताजा बना देती है। जबकि स्वप्न अवस्था की अधिक नींद भी थकावट दूर नहीं करती और ताजगी प्रदान नहीं करती।

अच्छी नींद लाने के लिए शारीरिक श्रम और थकावट के साथ-साथ मानसिक रूप से पूरी तरह शान्त अर्थात् क्रोध, भय, शोक, चिन्ता आदि मानसिक विकारों से रहित होना भी आवश्यक है। जिन व्यक्तियों को नींद नहीं आती वे 'अनिद्रा' रोग से ग्रस्त माने जाते हैं तथा अनेक प्रकार के मानसिक, शारीरिक विकारों से पीड़ित रहते हैं।

अनिद्रा के कारण और उपचार :-

- मानसिक विकार, जैसे- भय, चिन्ता, शोक और क्रोध।
- अत्यधिक शारीरिक परिश्रम से पूरे शरीर में अति पीड़ा।
- रक्त-मोक्षण अर्थात् शरीर से रक्त निकलवाने की क्रिया।
- अति उपवास।
- धूम्रपान।
- असुविधाजनक बिस्तर व स्थान।
- सत्त्व गुण की अधिकता और तमोगुण की कमी।
- वृ(ावस्था तथा कुछ रोग, विशेषकर वात दोष से उत्पन्न शूल रोग।
- वमन (उल्टी) और विरेचन (दस्त) की क्रियाओं द्वारा सिर एवं शरीर में से दोषों का अधिक मात्रा में निकलना।
- स्वाभाविक रूप से ही कम नींद आना।

अनिद्रा को दूर करने के उपाय :-

- मालिश, उबटन और स्नान व हाथ-पैर आदि अंगों को दबाना।
- स्निग्ध पदार्थों, दही के साथ शालि चावल या दूध का सेवन ।
- प्याज का सेवन
- मानसिक रूप से प्रसन्न रहना।
- रुचि के अनुसार संगीत सुनना।
- आँखों, सिर और मुख के लिए आरामदायक मलहमों का प्रयोग करना।
- सोने के लिए आरामदायक बिस्तर और शान्त स्थान।
- प्राकृतिक इत्र (चमतनिउम) एवं अन्य सुगन्धियों को सूंघना व कमरे में सुन्दर पुष्पगुच्छ आदि रखना।

ब्रह्मचर्य (संयम) में प्रीति रखने, विलासिता (कामुकता) से दूर रहने एवं सन्तोष का भाव रखने से अनिद्रा जन्य कष्ट नहीं होता है-

ब्रह्मचर्यरतेग्राम्यसुख-निःस्पृहचेतसः।
निद्रा सन्तोषतृप्तस्य स्वं कालं नातिवर्त्तते ॥ (अ. सं. सू. 9.66)

दिन के समय सोने की मनाही- दिन में सोने से शरीर में कफ और पित्त दोष बढ़ जाते हैं, जिससे रोग उत्पन्न हो सकते हैं। अतः दिन के समय सोना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। दिन के समय सोने से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं, जैसे- हलीमक (खतरनाक प्रकार का पीलिया), सिर दर्द, शरीर का भारीपन, शरीर में दर्द, पाचन शक्ति की कमजोरी, हृदयोपलेप (ऐसा महसूस होना जैसे हृदय पर बलगम जमी हो), सूजन, भोजन में अरुचि, उल्टी अथवा उल्टी की इच्छा, नाक में सूजन (नासाशोथ), आधे सिर में दर्द, शीतपित्त या छपाकी, विस्फोट या छाले होना, फोड़े-फुसियाँ, खुजली, तन्द्रा, (सुस्ती), खाँसी, गले के रोग, बु(और स्मरण शक्ति की कमी, शरीर के रसवह, रक्तवह आदि स्रोतों में रुकावट, ज्वर, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में कमजोरी, कृत्रिम विषों का अधिक विषैला प्रभाव व इस प्रकार के अन्य रोग। अतः मोटे शरीर वाले, अधिक स्निग्ध पदार्थों का सेवन करने वाले, कफ प्रकृति वाले कफज रोगों से पीडित, जोड़ों के दर्द से ग्रस्त तथ कृत्रिम विष के शिकार लोगों को दिन में

बिल्कुल नहीं सोना चाहिए।

अपवाद- ग्रीष्म ऋतु में रात्रि की अवधि कम हो जाती है तथा गर्मी के कारण शरीर के जलीय तत्त्वों का अधिक शोषण होने से वात बढ़ जाता है। अतः इस ऋतु में सभी मनुष्यों के लिए दिन में सोने की अनुमति है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य स्थितियों में भी दिन के समय सोने की मनाही नहीं है, जैसे संगीत, गायन, अध्ययन व मादक द्रव्यों के सेवन तथा अधिक चलने से थकान होने पर, क्षय, थकावट, प्यास, दस्त, शूल, दमा, हिचकी जैसे रोगों से पीड़ित होने पर, वृ(ावस्था और बाल्यावस्था में, क्षीण देह होने पर, गिरने अथवा आक्रमण आदि से घायल होने पर किसी वाहन पर यात्रा करने, रात्रि जागरण, क्रोध, शोक एवं भय से थके होने की स्थिति में दिन में सोने पर भी धातुएँ एवं शक्ति सन्तुलित रहती हैं। निद्रावस्था में बढ़ा हुआ कफ दोष भी शरीर के अंगों का पोषण करता है तथा दीर्घायु होती है।

रात के भोजन के मुख्य नियम- भोजन के पाचन और नींद का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। भोजन ठीक प्रकार से पचता नहीं तो नींद में बाधा उत्पन्न हो सकती है, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक है कि रात के समय जितना सम्भव हो सके, भोजन जल्दी ही करना चाहिए। भोजन और सोने के समय के बीच कम से कम दो घण्टे का अन्तर तो अवश्य होना चाहिए। इसके अतिरिक्त रात्रि का भोजन सुपाच्य और हल्का होना चाहिए। भोजन करने के बाद

कुछ दूर पैदल भ्रमण के लिए भी जाना चाहिए। इससे भोजन का पाचन ठीक प्रकार से हो जाता है और नींद अच्छी आती है।

रात के समय दही का सेवन निषि(:-

सामान्यतः स्वास्थ्य के लिए हितकारी होते हुए भी दही अभिष्यन्दी (शरीर के स्रोतों में रुकावट करने वाला) होता है। इसी गुण के कारण आयुर्वेद में रात के समय दही खाने की मनाही है, क्योंकि रात को भोजन करने के कुछ समय बाद ही सोना पड़ता है। भोजन-पाचन की प्रक्रिया सोते सोते चलती रहती है, जो बहुत धीमी होती है। ऐसी स्थिति में स्रोतों में रुकावट की सम्भावना अधिक रहती है। परिणामस्वरूप नींद तथा चयापचय की क्रिया में भी बाधा उत्पन्न होती है। यही कारण है कि रात्रि के समय सामान्यतः सभी के लिए दही सेवन की मनाही है। श्वास (दमा), खाँसी, जुकाम, जोड़ों के दर्द से पीड़ित रोगियों के लिए तो रात के अतिरिक्त दिन में भी दही खाने का निषेध किया गया है, क्योंकि इस प्रकार के रोग तो स्रोतों में रुकावट होने के कारण ही पैदा होते हैं।

रात्रि के समय पढ़ना- आँखों को स्वस्थ बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि पढ़ते-लिखते समय प्रकाश की व्यवस्था उचित रूप से व पर्याप्त हो, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि सूर्य का प्रकाश जितना अनुकूल है, कृत्रिम प्रकाश उतना अनुकूल नहीं होता है। इससे नेत्रों की दृष्टि धीरे-धीरे कम होती जाती है। इस लिए जहाँ तक सम्भव हो, रात के समय कम पढ़ना चाहिए। लिखने से आँखों पर अधिक जोर पड़ता है, अतः रात्रि में लेखन कार्य न करें तो अच्छा है ।

वेग-निरोध से बचें (अधारणीय वेग)- यह अनुभव में आया है कि भूख लगने पर जब भोजन आदि नहीं किया जाता, तो एकदम कमजोरी आने लगती है, प्यास लगने पर पानी न पीने से शरीर बेजान सा हो जाता है तथा चक्कर, मूर्च्छा आदि भी आ सकते हैं। इसी प्रकार मूत्र का वेग होने पर यदि मूत्रत्याग न किया जाए, तो पेडू में दर्द होने लगता है, इसी प्रकार मल का वेग होने पर मलत्याग न करने से पेट में गैस, दर्द आदि लक्षण पैदा हो जाते हैं। इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर में कोई भी वेग होने पर उसका समय पर निस्तारण अवश्य किया जाना चाहिए, विलम्ब नहीं करना चाहिए। भूखप्यास लगना, मल-मूत्र के त्याग के लिए वेग होना तथा इसी प्रकार की अन्य इच्छाएं शरीर में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती रहती हैं। इन्हें स्वाभाविक वेग कहा जाता है। प्रत्येक चेतन प्राणी में ये स्वाभाविक इच्छाएं पाई जाती हैं, जो समय-समय पर वेगों के रूप में अपने आप प्रकट होती रहती हैं। इनकी समय पर निवृत्ति करना बहुत आवश्यक है। ऐसा न करने से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं। प्रमुख वेग 13 माने गये हैं, जो निम्नलिखित हैं- **1. मूत्रवेग 2. मलवेग 3. शुक्र (वीर्य) का वेग 4. अधोवात या अपान वायु का वेग 5. वमन या उल्टी का वेग 6. छींक का वेग 7. डकार का वेग 8. जम्भाई का वेग 9. भूख का वेग 10. प्यास का वेग 11. आंसुओं का वेग 12. तीव्र श्वास का वेग 13. निद्रा का वेग**

नियन्त्रण करने योग्य प्रवृत्तियां :-

ऊपर लिखित अधारणीय (न रोकने योग्य) वेगों के अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य के कुछ वेग ऐसे होते हैं, जो धारणीय (रोकने योग्य) ही होते हैं, क्योंकि वे स्वयं उसके लिए तथा समाज के लिए हानिकारक होते हैं। इस प्रकार के वेगों या प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य लोभ, लालच, भय, क्रोध, शोक, ईर्ष्या, अहंकार, निर्लज्जता और आसक्ति के अधीन होकर कार्य करता है। प्रत्येक मनुष्य को अपने शान्त और सुखी जीवन के लिए इस प्रकार के सभी मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक वेगों, अनुचित कर्मों और अविवेक पूर्ण इच्छाओं को नियन्त्रण में रखना चाहिए।

इन धारणीय वेगों को तीन भागों में बाँट सकते हैं-

1. मन के वेग- लोभ, ईर्ष्या-द्वेष (दूसरे की सफलता और उन्नति को देखकर मन में होने वाली ईर्ष्या या जलन), मत्सरता (दूसरों को दु:खी देखकर प्रसन्न होना), राग (विषयों में आसक्ति), क्रोध, शोक, भय, अभिमान, निर्लज्जता, अभिध्या (दूसरे का धन हड़पने की प्रबल इच्छा) आदि।

2. वाचिक (वाणी के) वेग- क्रोधपूर्वक कठोर वचन बोलना, आवश्यकता से अधिक बोलना, चुगली करना, झूठ बोलना, एक ही बात को दोहराते रहना तथा समयानुकूल न बोलना

अर्थात् असामयिक या अप्रासंगिक बात करना, ये सब वाणी के वेग एवं दोष हैं। इनसे बचना चाहिए।

3. शारीरिक वेग- दूसरों को मारना-पीटना, लूटना, किसी प्रकार का बलात्कार करना, चोरी करना, डाका डालना, लाठी आदि से प्रहार करना, लड़ाई-झगड़ा व इसी प्रकार के अन्य कार्य शरीर के वेगों के अर्न्तगत आते हैं। अनैतिक, असामाजिक, व अवैध कार्यों से प्रयत्नपूर्वक बचना चाहिए।

यदि मनुष्य इन अविवेकपूर्वक वेगों से होने वाली हानियों के विषय में चिन्तन करे, तो वह इनसे बच सकता है। इससे वह स्वयं तो शान्त रहता ही है, उसके परिवार में भी सुख-शान्ति बनी रहती है। ऐसा व्यक्ति समाज में भी आदरणीय होता है। इस प्रकार धारणीय वेगों को नियन्त्रित कर उत्तम आचरण करने से व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम, इस त्रिवर्ग का सञ्चय व उपभोग कर सकता है। यह धारणीय वेगों को रोकने का शुभ है। परिणाम होता है

स्मरणीय बिन्दु-

1. ब्रह्ममुहूर्त का समय क्या है?
2. स्वस्थ जीवन के लिए नींद क्यों आवश्यक है?
3. दिन में अधिक सोना क्यों हानिकारक है?
4. दातून किन पेड़ों की जा सकती है?
5. वेगों को रोकना क्यों हानिकारक है?

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
ब्रह्ममुहूर्त	प्रात: सूर्योदय से लगभग 2 घंटे पूर्व का समय
स्वास्थवृत्त	स्वस्थ जीवन के नियमों का समूह
त्रिदोष	वात, पित्त, कफ
दिनचर्या	दैनिक जीवन के नियम
रात्रिचर्या	रात्रि के आचरण नियम
मल-त्याग	शरीर से अपशिष्ट पदार्थों का निष्कासन
दंत-धावन	दाँत साफ करना
वेग	प्राकृतिक शारीरिक इच्छा
अनिद्रा	नींद न आना
सात्त्विक	शुद्ध, शांत एवं पवित्र

5 अंक के प्रश्न-

1. स्वास्थ वृत्त क्या है? इसके महत्व को समझाइए।
2. दिनचर्या का अर्थ एवं उसके प्रमुख नियम लिखिए।
3. मल-त्याग के महत्व पर प्रकाश डालिए।
4. दंत-धावन के लाभ लिखिए।
5. रात्रिचर्या के नियमों का वर्णन कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. स्वास्थ वृत्त क्या है? दिनचर्या का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. रात्रिचर्या के महत्व एवं नियमों को विस्तार से समझाइए।
3. वेगों के प्रकार एवं उनके नियंत्रण का विस्तृत वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. स्वास्थ वृत्त का अर्थ क्या है?

(क) रोग उपचार

(ख) जीवन नियर्म

(ग) औषधि

(घ) भोजन

2. ब्रह्ममुहूर्त कब होता है?

(क) दोपहर

(ख) शाम

(ग) सूर्योदय से पहले

(घ) रात

3. त्रिदोष में कौन शामिल है?

(क) वात, पित्त, कफ

(ख) रक्त, मांस, मेद

(ग) रस, वीर्य, मज्जा

(घ) इनमें से कोई नहीं

4. दिन में सोना कैसा माना गया है?

(क) लाभकारी

(ख) हानिकारक

(ग) आवश्यक

(घ) अनिवार्य

5. नींद का मुख्य लाभ क्या है?

(क) थकान बढ़ाना

(ख) ऊर्जा देना

(ग) भूख बढ़ाना

(घ) रोग बढ़ाना

इकाई- 3.4 - त्रिदण्डवत्-शरीर,सत्व (मन) व आत्मा

उद्देश्य-

1. शरीर, मन और आत्मा के त्रिदण्ड व त्संयोग को समझना।
2. पंच महाभूतों और शरीर संरचना का ज्ञान प्राप्त करना।
3. आयुर्वेद में मन एवं आत्मा की भूमिका को स्पष्ट करना।

मन, आत्मा व शरीर, इन तीनों के संयोग को आयुर्वेद में त्रिदण्डवत् संयोग कहा गया है। तिपाई के समान ऊपर से सिरा जोड़ने पर जैसे तीन दण्ड किसी अन्य सहारे के बिना आपसी सहारे से ही खड़े रहते हैं, इसी प्रकार शरीर, मन व आत्मा, ये तीनों पारस्परिक सहारे से स्थित रहते हैं। इन तीनों का संयोग त्रिदण्डवत् संयोग है। इसी से जीवन की सत्ता बनती है।
इन तीनों के संयोग से ही यह लोक अर्थात् जीवात्मा-युक्त शरीर रहता है और इसी शरीर में सब कुछ प्रतिष्ठित है।

सÚवमात्माशरीरं च त्र्यमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सवः प्रतिष्ठितम्॥
स पुमांतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदथः हि वेदोऽयं सम्प्रकाÓतः॥ (च. सू.- 1.46-47)

इन तीनों के सूक्ष्म ज्ञान अर्थात् शरीर, मन व आत्मा के स्वरूपबोध द्वारा ही योग्य चिकित्सक व्याधि की प्रकृति तथा उसके कारण की जानकारी करता है। तत्पश्चात् रोगी के लिये अनुकूल औषधियों व आहार-विहार आदि का चयन करता है।

शरीर

आयुर्वेदानुसार इस समस्त स्थूल जगत् की उत्पत्ति पंच महाभूतों के सम्मिश्रण से हुई है। इसी क्रम में सब प्राणियों के शरीर के साथ-साथ मानव-शरीर की उत्पत्ति भी इन्हीं पाँच महाभूतों से ही हुई। इन पाँच महाभूतों से उत्पन्न होने के कारण ये सब पदार्थ 'पांचभौतिक' कहलाते हैं। ये पाँच महाभूत, जिन्हें मूलभूत तत्त्व (basic elements) भी कहा जाता है, इस प्रकार हैं- (1. आकाश, 2. वायु, 3. अग्नि (तेजस्), 4. जल और 5. पृथ्वी)

मानव-शरीर के सन्दर्भ में पंच महाभूतों को कारण रूप में जानने के लिए यह समझना भी आवश्यक है कि हमारे शरीर का धारण और पोषण कौन-कौन से तत्त्व कर रहें हैं? शरीर को धारण करने में मुख्य रूप से सहायक हैं- पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। शरीर का पोषण षड्रस (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त व कषाय) से युक्त आहार-द्रव्यों द्वारा होता है। शरीर का संगठन- रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र, इन सात धातुओं, वात, पित्त और कफ, इन तीन दोषों तथा मल-पदार्थों (मल, मूत्र और स्वेद) से होता है। इन सभी धारक, पोषक और संगठनकर्त्ता तत्त्वों का निर्माण पंच महाभूतों से ही हुआ है।

हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं- 1. श्रोत्र, 2. त्वचा, 3. चक्षु, 4. रसना, 5. घ्राण (नासिका)। यद्यपि ये सभी इन्द्रियाँ पाँच भूतों के संयोग से ही बनी हैं, तो भी इनमें क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी महाभूत की प्रधानता है। ये इन्द्रियाँ क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इन विषयों का ज्ञान प्राप्त कर शरीर का धारण और पोषण करती हैं।

इसके अतिरिक्त शरीर रचना को समझने के लिये आयुर्वेद में अनेक अंगों व उपांगों के अतिरिक्त शरीर रचना का विस्तृत वर्णन किया गया है।

शारीरिक रचना (अंगों की दृष्टि से) :-

आयुर्वेद के शास्त्रों में सम्पूर्ण शरीर को मुख्यतः निम्न आठ अंगों में बाँटा गया है- सिर, ग्रीवा (गर्दन), हाथ, पैर, पार्श्व (उरःस्थल के दोनों ओर का भाग), पृष्ठ भाग, उदर तथा उरःस्थल । इन आठ अंगों में पृथ्वी महाभूत का प्राधान्य माना गया है। वही नाक, ठोड़ी, होंठ, कान, हाथों व पैरों की अंगुलियाँ, कलाई, गुल्फ (एड़ी के ऊपर वाली गाँठ), ये प्रत्यंग माने जाते हैं।
कुछ ग्रन्थों में सम्पूर्ण शरीर को छः भागों में भी बाँटा गया है, उसे 'षडंग' कहा जाता है-
(1) गर्दन सहित सिर (2) धड़ (उरःस्थल और उदर) (3,4) दो बाहु तथा (5,6) दो सक्थि या पैर। दो बाहु और दो पैर, इन को शाखा कहते हैं। धड़ को मध्य का कोष्ठ कहते हैं[2]।

इन छः अंगों को पुनः प्रत्यंगों में विभक्त किया गया है। यथा - सिर का प्रत्यंग नेत्र तथा धड़ का हृदय माने गये हैं।

विसर्जन मार्ग

आयुर्वेद में पुरुषों के विसर्जन या उत्सर्जन मार्ग 9 माने गये हैं

तत्रायं शरीरस्यांगविभागःतद्यथा- द्वौ बाहू, द्वे सक्थिनी, शिरोग्रीवम्,
अन्तराधिः, इति षडंगमंगम्। (च. शा.- 7.5)
नव महान्तिच्छिद्राणि सप्त शिरसि, द्वे चाधोः। (च. शा.- 7.12)

दो नेत्र, दो कान, दो नासिका-छिद्र, एक मुख, एक गुद मार्ग तथा एक मूत्र मार्ग। स्त्रियों में ये 12 माने गये हैं- उपरोक्त 9 के अतिरिक्त एक योनिमार्ग तथा दो वक्षस्थल के स्तनाग्र।

इसके अतिरिक्त आयुर्वेद में शारीरिक रचना का विस्तृत वर्णन करते हुए शिराएँ, धमनियाँ, स्रोत, नाड़ियाँ, पेशियाँ, स्नायु, कण्डराएँ, कूर्च (स्नायु व धमनियों का समूह), जाल, सीमन्त, सीवनियाँ, कलाएँ, आशय, मर्म, इन अनेकानेक अंग-प्रत्यंगों के स्थान, संख्या, कार्य आदि सभी पहलुओं पर विस्तृत रूप से विचार किया गया है।

मन (सत्त्व)

शरीर में इन्द्रियाँ जो भी कार्य करती हैं, वे सब मन के सहयोग से ही करती हैं। . **मनःपुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति। (च. सू.- 8.7)**

मन के बिना कोई भी इन्द्रिय ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती। अतः मन को महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। इसकी गणना ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय, इन दोनों में की जाती है, इसलिए यह उभयेन्द्रिय (दोनों प्रकार की इन्द्रिय) कहलाता है।

अतीन्द्रियं पुनर्मनः सऽवसंज्ञकं चेत इत्याहुरेके,
तदर्थात्मसंपऽादायऽाचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम्। (च. सू.- 8.4)

आयुर्वेद, योगशास्त्र और इससे सम्बन्धित अन्य ग्रन्थों में मन (Mind) के लिए 'मनस्' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह 'मन ज्ञाने' धातु से बना है, जिसका अर्थ है, वह साधन या उपकरण, जो किसी घटना, विचार व ज्ञान के लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार होता है। अर्थों में व्युत्पत्तिकृत अन्तर होते हुए भी चित्, हृदय, स्वान्तः तथा हृद्, ये सब संस्कृत में 'मनस्' के पर्यायवाची शब्द हैं।

मन का महत्त्व इसलिए अधिक माना गया है, क्योंकि यह ज्ञानेन्द्रियों और आत्मा को आपस में जोड़ने वाली कड़ी है, जिसकी सहायता से ज्ञान की प्राप्ति होती है। अपने आप में यह निर्जीव (जड़) तत्त्व है, जिसमें रंग, स्पर्श आदि का ज्ञान और आनन्द, पीड़ा आदि की अनुभूतियाँ नहीं पाई जातीं। हाँ, इन सब की अनुभूति तभी हो पाती है, जब यह मन आत्मा के संसर्ग में आता है। प्रत्येक आत्मा के साथ मन होता है, जो उसका आन्तरिक सहायक माना जाता है। इसलिए आयुर्वेद में मन को सत्त्व भी कहा गया है। जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्त करने का बाहरी साधन हैं, उसी प्रकार 'मन' ज्ञान-प्राप्ति का आन्तरिक साधन है, क्योंकि यह अन्तःकरण के चार अंगों में एक प्रमुख अंग है।

आत्मा रथी (रथ का स्वामी), शरीर रथ, बुि(सारथी और मन लगाम है। विद्वानों ने इन्द्रियों को घोड़ों के रूप में तथा विषयों को उनके विचरण-क्षेत्र के रूप में माना है। इस प्रकार मन-बुि(युक्त आत्मा को इन सबका प्रयोगकर्त्ता माना है। जो व्यक्ति विवेकहीन, असंयमी व चंचल चित्तवृत्ति वाला होता है, उसकी इन्द्रियाँ उसे सारथी-रहित रथ के दुष्ट घोड़ों की भाँति संकटग्रस्त कर देती हैं।

मन का स्थान :-

मन का निवास हृदय और मस्तिष्क में माना गया है। ये दोनों ही अंग आपस में सम्बन्धित हैं, अतः इनके कार्य भी एक-दूसरे पर आधारित हैं। आयुर्वेद के ग्रन्थों में 'हृदय' को मन का निवास स्थान कहा गया है, तो योग के ग्रन्थों में हृदय और मस्तिष्क दोनों को। यजुर्वेद के शिवसंकल्प मंत्रों में मनस्तत्त्व को सर्वव्यापक कहा गया है-

यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। (यजुः- 34.5)

आकार तथा संख्या :-

आयुर्वेद के अनुसार मन अणु परिमाण वाला माना जाता है। यह संख्या में एक है तथा भौतिक तत्त्व है।

मन का कार्य :-

मन का प्रमुख कार्य ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त किए विषयों के ज्ञान को अहंकार, बुि(आदि तक पहुँचाना है। मन ही प्रतिक्रिया के रूप में इस ज्ञान को कर्मेन्द्रियों तक पहुँचाता है। इसके परिणामस्वरूप ही कर्मेन्द्रियाँ अपने कर्मों में प्रवृत्त होती हैं।

मन के गुण और शक्तियाँः-

मन सम्पूर्ण ज्ञान का केन्द्र त्रयी-विद्या (वेदविद्या) तथा त्रिकाल का ज्ञाता एवं बन्धन व मोक्ष का कारण है। मन में अपरिमित ज्ञान, शक्ति व अनन्त सामर्थ्य है। शरीर में वात आदि तीनों दोषों की ही भाँति सभी के मन में भी तीन गुण पाये जाते हैं- 1. सत्त्व, 2. रज और 3. तम। इन्हें गुण इसलिए भी कहा जाता है कि ये 'गुण' (रस्सी की लड़ियों) के समान एक दूसरे पर अवलम्बित रहते हैं, न्यूनाधिक मात्रा में होते हुए भी परस्पर आश्रित रहते हैं। ये तीनों ही गुण सभी मनुष्यों में पाये जाते हैं, किन्तु किसी में कोई

एक गुण अधिक मात्रा में पाया जाता है, तो किसी में कोई दूसरा। सत्त्व गुण लघु, प्रकाशक व ज्ञान का कारण होता है। रजोगुण क्रियाशीलता (कार्य में प्रवृत्ति) का तथा तमोगुण जड़ता और आलस्य का कारण होता है।

इन तीनों गुणों के आधार पर मानसिक शक्तियाँ भी तीन प्रकार की हैं- सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। ये तीनों ही मन की प्रकृतियाँ मानी जाती हैं। सात्त्विक प्रकार के मन में शुभ लक्षण, चेतना तथा पवित्रता आदि की अधिकता होती है। राजसिक प्रकार का मन कामनाबहुल, क्रोधी एवं चंचल होता है, तो तामसिक प्रकार के मन में अज्ञान और जड़ता अधिक पाई जाती है। इसी आधार पर तीनों प्रकार की प्रकृतियों वाले मनुष्यों में जो सामान्य लक्षण पाये जाते हैं, वे निम्नलिखित हैं-

१. सात्त्विक-प्रकृति मनुष्य :-

सात्त्विक प्रकृति वाले मनुष्य में सत्त्व गुण की प्रधानता और दूसरे दो गुणों की न्यूनता होती है। इस कारण उसमें विवेक, क्षमा, सन्तोष, मृदुता, दया, लज्जा, सरलता, मन तथा इन्द्रियों की निर्मलता, विषयों में अनासक्ति, परोपकार आदि गुण अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। सात्त्विक प्रकृति के मनुष्य में स्वच्छता, शु(ता एवं पवित्रता की स्वाभाविक प्रकृति होती है एवं इनमें बीमारियां कम होती हैं। इनके अन्दर सरलता एवं बु(मता सहज रूप से पाई जाती है जो कि उनके कर्मों व स्वभाव में झलकती है। जल्दी घबराना, चिंतित होना, हड़बड़ाहट, भ्रम, लालच, क्रोध तथा ईर्ष्या आदि भाव इनमें नहीं होता है। वह हर कार्य सुव्यवस्थित एवं शांतिपूर्ण ढंग से करते हैं। ऐसा व्यक्ति सबका रमणीय होता है।

२. राजसिक-प्रकृति मनुष्य :-

राजसिक प्रकृति वाले मनुष्य में रजोगुण की प्रधानता और दूसरे दो गुणों की न्यूनता होती है। इस व्यक्ति में चंचलता, द्वेष, तृष्णा, अहंकार, मद, लोभ, बहुभाषिता, शोक, विषयासक्ति तथा इन सबके परिणामस्वरूप दु:ख की प्राप्ति अधिक मात्रा में होती है। राजसिक प्रकृति के व्यक्तियों में अधिक से अधिक पाने की भूख रहती है, पर वे अपने आप से संतुष्ट नहीं रहते। ऐसे व्यक्ति बहादुर परन्तु ईर्ष्यालु प्रकृति के होते हैं। इनमें स्थिरता एवं संतोष का अभाव रहता है तथा अपने द्वारा किये गये कार्यो से संतुष्ट नहीं रहते जो कि उनकी प्रकृति के साथ स्पष्ट होता है।

३. तामसिक-प्रकृति मनुष्य :-

तामसिक प्रकृति वाले मनुष्य में तमोगुण की अधिकता और दूसरे दो गुणों की न्यूनता पाई जाती है। इस प्रकृति के व्यक्ति में मिथ्या ज्ञान, अज्ञान, तन्द्रा, आलस्य, प्रमाद, निष्क्रियता, दीनता, मोह आदि प्रवृत्तियाँ अधिक मात्रा में पाई जाती हैं। इस प्रकृति का मनुष्य कार्य करने से कतराता है व लापरवाह होता है।

इन तीनों गुणों की मात्रा में न्यूनता और अधिकता होने तथा अलग-अलग अनुपात में इनका संयोग होने से मन की दशा-दिशा या स्थिति असंख्य प्रकार की दिखाई देती है।

मन और आयुर्वेद :-

यह अनुभूत तथ्य है कि प्रत्येक व्यक्ति के शारीरिक गुणों का प्रभाव उसके मन पर पड़ता है, तो उसके मानसिक गुणों का प्रभाव उसके शारीरिक गुणों पर भी पड़ता है। अत: आयुर्वेद में रोगों की चिकित्सा करते हुए रोगी के शरीर व मन की स्थिति को भी ध्यान में रखा गया है। वैसे आयुर्वेद में रोगों को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा गया है-

1. शारीरिक और
2. मानसिक।

शारीरिक रोगों का मुख्य आधार शरीर को माना गया है, तो मानसिक रोगों में मन को, परन्तु दोनों ही प्रकार के रोगों की उत्पत्ति में मन की भूमिका रहती है। शरीर की भौतिक और शारीरिक क्रियाओं का नियन्त्रण मानसिक तत्त्व करते हैं तथा मानसिक क्रियाओं का नियन्त्रण शारीरिक तत्त्व। अत: शरीर और मन का आपस में गहरा सम्बन्ध है। इसीलिए शारीरिक रोगों की चिकित्सा में जहाँ मन को स्वस्थ रखने का प्रयत्न किया जाता है, वहीं अनेक मानसिक उपायों का प्रयोग भी किया जाता है।

आत्मा - एक परिचय :-

आयुर्वेद शास्त्र का मुख्य उद्देश्य पुरुष को स्वस्थ रखना है। आयुर्वेद के अनुसार इस पुरुष का निर्माण केवल कुछ महाभूतों और रासायनिक जड़ पदार्थों के मिश्रण से ही नहीं हुआ है, बल्कि पंच महाभूत, मन, बु(और आत्मा के संयोग का नाम ही पुरुष या जीवन है। पंचमहाभूतों के साथ-साथ उनसे निर्मित चक्षु आदि इन्द्रियाँ और मन भी जड़ हैं। इनमें आत्मा एक चेतन तत्त्व है। इसे ही सब कर्मों का कर्ता और कर्म-फलों का भोक्ता माना जाता है, क्योंकि सारी इन्द्रियों के विद्यमान रहने पर भी यदि आत्मा निकल जाए, तो शरीर मृत कहलाता है। इस अवस्था में कोई भी इन्द्रिय कार्य नहीं कर सकती और न ही शरीर किसी प्रकार के सुख-दु:ख का अनुभव कर सकता है। अत: आत्मा को ही चेतना का अधिष्ठान (आधार) माना गया है।

शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता। यह नित्य है तथा शरीर व मन से भिन्न है। मृत्यु के समय देह का

नाश होने पर यह कर्मानुसार दूसरे देह में प्रवेश करता है। चेतन होते हुए भी स्वतन्त्र रूप से शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों की अनुभूति के लिए इसके साथ करणों अर्थात् मन, बु(और इन्द्रियों का संयोग होना आवश्यक है। जब आत्मा मन से, मन इन्द्रिय से और इन्द्रिय विषय से जुड़ता है, तभी ज्ञान प्राप्त हो पाता है। आत्मा निर्विकार है, पर यह मन, भूत, गुण तथा इन्द्रियों के साथ मिलकर शरीर में चेतना का कारण बनती है तथा विषयों का अनुभव कर सुख-दु:ख की अनुभूति करती है। यह नित्य तथा साक्षी होकर समस्त क्रियाओं को देखती है।

आत्मा के गुण :-

सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, श्वास-उच्छ्वास, (श्वास लेना और बाहर निकालना), निमेष-उन्मेष (पलक झपकना), बु((विचार), मन का संकल्प, स्मृति, विज्ञान (शास्त्र का ज्ञान), शब्द आदि विषयों का ग्रहण, प्रेरणा, धारणा, स्वप्न में स्थानान्तर (दूसरे स्थान पर गमन), इन्द्रियान्तर-संचार अर्थात् एक इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान का दूसरी इन्द्रिय में पहुँचना, जैसे- बाईं आँख से देखी गई वस्तु का ज्ञान दाईं आँख को भी होना, धैर्य तथा अहंकार, ये सब गुण आत्मा के माने जाते हैं, क्योंकि ये सब लक्षण केवल जीवित मनुष्य में ही मिलते हैं, मृत में नहीं। वस्तुत: आत्मा की विद्यमानता में ही सब इन्द्रियाँ और मन आदि करण कार्य करने में समर्थ होते हैं। आत्मा द्रष्टा रूप में ही स्थित रहता है।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदु:खज्ञानान्यात्मनो लिक्ष्म। **(न्याय दर्शन)**

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनो गतीन्द्रियान्तरविकारा:

सुखदु:खेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनोलिक्ष्मानि। (वैशेषिकदर्शन)

शरीर की चिकित्सा भी तभी तक की जाती है, जब तक उसमें आत्मा विद्यमान रहता है। आत्मा के निकल जाने पर मृत कहलाने वाले शरीर की चिकित्सा करना निरर्थक होता है।

आधुनिक आयुर्विज्ञान में आत्मा के अस्तित्व को लेकर शरीरविज्ञानी मौन हैं, परन्तु भारतीय चिकित्साशास्त्र के जनक धन्वन्तरि, चरक, सुश्रुत व पतंजलि आदि सभी ऋषि-मुनि आत्मा के अस्तित्व को बु(, तर्क, युक्ति व विज्ञानपूर्वक सि(करते व मानते हैं। हमें विश्वास है कि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान भी बहुत शीघ्र ही नास्तिकता के भ्रमजाल से बाहर निकलेगा।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
त्रिदण्डवत्	तीन सहायक तत्वों का संयोग
पंचमहाभूत	पाँच मूल तत्व
सत्त्व	शुद्धता/प्रकाश
रज	क्रियाशीलता
तम	जड़ता/अज्ञान
आत्मा	चेतन तत्व
इन्द्रिय	ज्ञान/कर्म का साधन
धातु	शरीर के पोषक तत्व
दोष	शरीर की जैविक शक्तियाँ
मन	विचार और ज्ञान का साधन

5 अंक के प्रश्न-

1. शरीर की पंच महाभूतों से उत्पत्ति को समझाइए।
2. मन की भूमिका शरीर और आत्मा के संबंध में स्पष्ट कीजिए।
3. त्रिदोष सिद्धांत का वर्णन कीजिए।
4. ज्ञानेंद्रियों का कार्य लिखिए।
5. आत्मा की विशेषताओं को समझाइए।

15 अंक के प्रश्न-

1. शरीर, मन और आत्मा के त्रिदण्ड व त्संयोग का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. पंच महाभूतों के आधार पर शरीर संरचना और कार्य प्रणाली समझाइए।
3. मन के गुणों एवं मनुष्य के स्वभाव पर उनके प्रभाव का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. त्रिदण्ड व त्संयोग किसका है?

(क) शरीर, धन, आत्मा

(ख) शरीर, मन, आत्मा

(ग) मन, बुद्धि, इन्द्रिय

(घ) आत्मा, प्रकृति, अहंकार

2. पंच महाभूत में कौन शामिल नहीं है?

(क) जल

(ख) अग्नि

(ग) वायु

(घ) मन

3. मन के कितने गुण हैं?

(क) 2

(ख) 3

(ग) 4

(घ) 5

4. आत्मा का स्वरूप क्या है?

(क) जड़

(ख) चेतन

(ग) भौतिक

(घ) स्थूल

5. ज्ञानेंद्रियों की संख्या कितनी है?

(क) 3

(ख) 4

(ग) 5

(घ) 6

खण्ड-4 : प्राथमिक चिकित्सा विधि

इकाई-4.1 सामान्य परिचय , हड्डी का टूटना व मोच का उपचार श्वसनव हृदय संकट ,रक्त स्त्राव का उपचार

उद्देश्य-

1. इस अध्याय का उद्देश्य शरीर, मन और आत्मा के पारस्परिक सम्बन्ध को समझाना है।
2. आयुर्वेद के अनुसार जीवन की संरचना एवं कार्य प्रणाली का ज्ञान प्रदान करना है।
3. स्वास्थ्य एवं रोग की अवस्था में त्रिदोष, मन और आत्मा की भूमिका को स्पष्ट करना है।

हमारे जीवन में कभी भी, कहह्न भी अचानक कोम्र दुर्घटना या स्वास्थ्य से जुड़ी आपात स्थिति आ सकती है। ऐसे समय में जब डॉक्टर या अस्पताल तुरंत उपलब्ध न हों, तब जो मदद सबसे पहले दी जाती है, उसे प्राथमिक चिकित्सा कहते हैं। यह एक तरह की शुरुआती सहायता होती है जो किसी घायल या बीमार व्यक्ति की स्थिति को संभालने, उसकी तकलीफ कम करने और उसके जीवन को बचाने के लिए दी जाती है।

रक्तस्राव का उपचार :-

जब किसी व्यक्ति को चोट लगती है और उससे खून बहने लगता है, तो इसे रक्तस्राव कहते हैं। यदि समय रहते इसका सही उपचार न किया जाए, तो यह स्थिति गंभीर भी हो सकती है इसलिए जरूरी है कि हम तुरंत और सही कदम उठाएं।
सबसे पहले, घायल व्यक्ति को शांत करें और उसे सुरक्षित जगह पर बैठाएं या लिटाएं फिर साफ कपड़े या पटी की मदद से घाव को दबाकर खून रोकने की कोशिश करें। यदि संभव हो तो घाव वाले अंग को, ताकि रक्तस्राव कम हो सके।

पटी को बार-बार न हटाएं, क्योंकि इससे फिर से खून बह सकता है। यदि खून अधिक बह रहा हो और खुद से बंद न हो रहा हो, तो तुरन्त डॉक्टर की सहायता लें। कभी-कभी खून अंदरूनी चोट की वजह से भी बहता है, जो बाहर से दिखाम्र नहह्न देता। ऐसे मामलों में च्नर आना, कमजोरी महसूस होना, त्वचा का पीला पड़ जाना जैसे लक्षण हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में भी तुरंत चिकित्सकीय मदद जरूरी है।

हढी टूटना और मोच का उपचार :-

जब कोम्र ज़ोर की चोट लगती है तो हमारी हढी टूट सकती है या मांसपेशियों और जोड़ों पर ज़ोर पड़ने से मोच आ सकती है। ये दोनों ही बहुत दर्दनाक होते हैं और तुरंत देखभाल की जरूरत होती है।

अगर किसी की हढी टूट गम्र हो, तो सबसे पहले उसे ज्यादा हिलने-डुलने न दें। टूटे हुए हिस्से को जितना हो सके स्थिर रखें । लकड़ी की पटी या कपड़े से सहारा दें ताकि हढी और न हिले। सूजन या दर्द कम करने के लिए बर्फ की सिकाम्र की जा सकती है, लेकिन बर्फ सीधे त्वचा पर न रखें।

मोच आने पर तुरंत भी बर्फ की सिकाम्र करें, आराम दें और प्रभावित अंग को ऊंचा रखें। दर्द ज्यादा हो तो डॉक्टर से सलाह लें। इन दोनों स्थितियों में प्राथमिक उपचार के बाद डॉक्टर की जांच बहुत ज़रूरी है, क्योंकि हढी का सही जुड़ना और मोच का पूरी तरह ठीक होना लापरवाही पर निर्भर करता है।

श्वसन व हृदय संकट के लिए प्राथमिक चिकित्सा :-

जब किसी व्यक्ति की सांसें अचानक रुक जाएं या उसका दिल धड़कना बंद कर दे, तो वह श्वसन या हृदय संकट कहलाता है। यह स्थिति बेहद गंभीर होती है और अगर तुरंत सही कदम न उठाए जाएं, तो व्यक्ति की जान भी जा सकती है।

ऐसे समय में घबराने की बजाय शांत रहकर प्राथमिक चिकित्सा देना बेहद जरूरी होता है। सबसे पहले जांचें कि व्यक्ति होश में है या नहह्न। अगर वह प्रतिक्रिया नहह्न दे रहा और सांस नहह्न ले रहा है, तो तुरंत सीपीआर शुरू करें।
सीपीआर में छाती को जोर से और तेजी से दबाया जाता है ताकि दिल की धड़कन कृत्रिम रूप से चलाम्र जा सके और शरीर में रक्त प्रवाह बना रहे। अगर आपको कृत्रिम सांस देना आता है (मुँह से मुँह), तो हर 30 बार छाती के दबावों के बाद 2 बार सांस दें।

अगर आपके पास ऑटोमैटिक डिफाइब्रिलेटर जैसी मशीन है, तो उसका उपयोग करें। यह दिल को दोबारा चालू करने में मदद कर सकती है। जब तक डॉक्टर या एम्बुलेंस न पहुंचे, तब तक लगातार करते रहें। यही कुछ मिनट किसी की जान बचा सकते हैं।

स्मरणीय बिन्दु

1. जीवन का आधार किन तीन तत्वों को माना गया है?
2. शरीर किन से निर्मित है?
3. मन का मुख्य कार्य क्या है?
4. आत्मा को क्या माना गया है?
5. त्रिदण्ड वत्का उदाहरण क्या है?

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
त्रिदण्डवत्	तीन सहायक स्तम्भों जैसा
संयोग	मिलन
पंचमहाभूत	पाँच मूल तत्व
ज्ञानेन्द्रियाँ	ज्ञान प्राप्त करने वाली इन्द्रियाँ
कर्मेन्द्रियाँ	कार्य करने वाली इन्द्रियाँ
सत्त्व	शुद्धता/प्रकाश
रजस	क्रियाशीलता
तमस	अज्ञान/आलस्य
धातु	शरीर के पोषक तत्व
आत्मा	चेतन तत्व

5 अंक के प्रश्न-

1. त्रिदण्ड व त्संयोग का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. पंचमहाभूतों का वर्णन कीजिए।
3. मन के गुणों का वर्णन कीजिए।
4. आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
5. शरीर की संरचना पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. शरीर, मन और आत्मा के पारस्परिक सम्बन्ध का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. आयुर्वेद में शरीर की संरचना (धातु, दोष एवं मल व्यवस्था)का विस्तृत वर्णन कीजिए।
3. मन के स्वरूप, गुणों तथा उसके कार्यों का विस्तृत विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. त्रिदण्ड व त्संयोग किसका है?

(क) शरीर-आत्मा-इन्द्रियाँ

(ख) शरीर, मन, आत्मा

(ग) शरीर-धातु-दोष

(घ) मन-इन्द्रियाँ-आहार

2. मन किस प्रकार की इन्द्रिय है?

(क) केवल कर्मेन्द्रिय

(ख) केवल ज्ञानेन्द्रिय

(ग) उभयेन्द्रिय

(घ) कोई नहीं

3. शरीर किससे निर्मित है?

(क) सप्तधातु

(ख) पंचमहाभूत

(ग) त्रिदोष

(घ) अन्न

4. आत्मा कैसी होती है?

(क) नाशवान

(ख) भौतिक

(ग) शाश्वत

(घ) दृश्य

5. तमस गुण का सम्बन्ध है–

(क) ज्ञान

(ख) क्रिया

(ग) आलस्य/अज्ञान

(घ) प्रकाश

इकाई-4.2 : विशेष आपातकालीन स्थिति में प्राथमिक चिकित्सा

उद्देश्य-

1. विद्यार्थियों को आपातकालीन परिस्थितियों की पहचान कराना।
2. प्राथमिक चिकित्सा के सही एवं सुरक्षित उपाय सिखाना।
3. जीवन रक्षक स्थिति में तुरंत सही निर्णय लेने की क्षमता विकसित करना।

लज़दगी में कुछ पल ऐसे आते हैं जो बेहद नाजुक होते हैं जैसे अचानक किसी को दौरा पड़ना, ज़हर खा लेना, दम घुटना, जल जाना या कहह्न फॅस जाना। ऐसी विशेष आपातकालीन परिस्थितियाँ बहुत डरावनी हो सकती हैं, लेकिन अगर हम उस समय घबराए बिना सही प्राथमिक चिकित्सा दें, तो किसी की जान बच सकती है।

हर स्थिति में सबसे पहली बात यही है कि आप खुद को और पीड़ित को सुरक्षित रखें। फिर स्थिति को समझें और उसी अनुसार कदम उठाएं।

उदाहरण के लिए :-

- जहर खाने की स्थिति में तुरंत उल्टी न कराएं, बल्कि पता लगाएं कि कौन सा ज़हर लिया गया है और नजदीकी अस्पताल या विष नियंत्रण केंद्र से संपर्क करें।
- जलने पर जलन वाले हिस्से को ठंडे पानी से धोएं, लेकिन बर्फ या टूथपेस्ट न लगाएं।
- दौरे पड़ने पर व्यक्ति के पास से चीजें हटा दें ताकि उसे चोट न लगे, और दौरा खत्म होने तक उसे न हिलाएं।
- दम घुटने पर व्यक्ति को झुकाकर उसकी पीठ पर थपकी दें या जरूरत पड़े तो हेम्लिक तकनीक का प्रयोग करें।
- हर स्थिति की अलग प्राथमिक चिकित्सा होती है, लेकिन एक चीज समान रहती है तत्काल, सोच-समझकर की गम्र मदद।

नशे की स्थिति में प्राथमिक चिकित्सा :-

जब कोम्र व्यक्ति अधिक मात्रा में शराब, ड्रग्स या किसी अन्य नशीले पदार्थ का सेवन कर लेता है, तो उसकी शारीरिक और मानसिक स्थिति बिगड़ जाती है। वह व्यक्ति ठीक से सोच नहह्न पाता, बोल नहह्न पाता, चल नहह्न पाता और कभी-कभी बेहोश भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में समय पर दी गम्र प्राथमिक चिकित्सा बहुत जरूरी हो जाती है, क्योंकि यह जानलेवा भी हो सकती है।

सबसे पहले, उस व्यक्ति को अकेला न छोड़ें। उसे सुरक्षित और खुली हवा वाली जगह पर रखें। अगर वह होश में है, तो उससे बात करते रहें ताकि वह सतर्क बना रहे। उसे जबरदस्ती खड़ा न करें, क्योंकि संतुलन बिगड़ने से चोट लग सकती है।

अगर व्यक्ति उल्टी कर रहा हो, तो उसे बाईं करवट लिटाएं ताकि उल्टी श्वास नली में न जाए। अगर वह बेहोश हो लेकिन सांस ले रहा हो, तो उसे रिकवरी पोजिशन (बाईं करवट पर लेटाना) में रखें। अगर सांस नहह्न ले रहा, तो तुरंत ब्व्त दें और एम्बुलेंस बुलाएं। इस दौरान किसी घरेलू नुस्खे, दवा या झाड़-फूंक से इलाज करने की कोशिश न करें। जहरीले पदार्थ या नशे की स्थिति में देरी करना जानलेवा हो सकता है इसलिए तुरंत डॉक्टर की सहायता लेना ही सबसे सही कदम है।

बच्चों के लिए प्राथमिक चिकित्सा :-

बच्चे बहुत जिज्ञासु और सक्रिय होते हैं, इसलिए वे अक्सर खेलते-खेलते चोटिल हो जाते हैं। बच्चों के लिए प्राथमिक चिकित्सा का सही ज्ञान होना बेहद ज़रूरी है, ताकि हम उन्हें सही समय पर मदद दे सकें।

- यदि बच्चे को हल्की चोट लगी हो ;खरोंच या घावद्ध, तो सबसे पहले घाव को साफ पानी से धोएं और हल्के हाथ से सुखा लें। फिर उस पर एंटीसेप्टिक क्रीम या मलहम लगाएं। अगर घाव बड़ा हो या ज्यादा खून बह रहा हो, तो डॉक्टर से संपर्क करें।
- यदि बच्चे को बुखार हो, तो उसे आराम करने के लिए एक शांत स्थान पर रखें और गीले कपड़े से उसकी शरीर को पोंछें। उसे खूब पानी पिलाएं ताकि शरीर हाइड्रेटेड रहे। अगर बुखार बहुत ज्यादा हो या दवा से राहत न मिले, तो तुरंत डॉक्टर से संपर्क करें।
- यदि बच्चा बेहोश हो या सांस लेने में समस्या हो, तो उसे शांति से लेटा दें और उसकी सांसों को चेक करें। यदि वह सांस नहह्न ले रहा हो, और तुरंत एम्बुलेंस को कॉल करें।
- यदि बच्चे ने कोई जहरीला पदार्थ खा लिया हो, तो उसे उल्टी करने के लिए न कहें तुरंत डॉक्टर से संपर्क करें या

नजदीकी विष नियंत्रण केंद्र से सलाह लें।

- बच्चों की प्राथमिक चिकित्सा में सबसे जरूरी है कि शांति बनाए रखें और सही कदम उठाएं, ताकि उनकी स्थिति बिगड़ने से बच सके।

गर्भवती महिलाओं के लिए प्राथमिक चिकित्सा :-

गर्भवती महिलाओं के शरीर में बहुत सारे बदलाव होते हैं, और इस दौरान उनका ख्याल रखना अत्यंत जरूरी होता है। गर्भावस्था में कोम्र भी मामूली सी समस्या भी गंभीर हो सकती है, इसलिए प्राथमिक चिकित्सा का सही ज्ञान होना आवश्यक है।

1. बेहोशी या च्कर आना:-

गर्भवती महिलाओं को कभी-कभी च्कर आ सकता है , या वह बेहोश भी हो सकती हैं। यदि ऐसा हो, तो सबसे पहले उन्हें शांत जगह पर लिटाएं और पैरों को थोड़ा ऊंचा करें। यह रक्त प्रवाह को दुरुस्त करने में मदद करेगा। उन्हें थोड़ा पानी दें और आराम करने के लिए कहें। यदि यह समस्या बार-बार हो या गंभीर हो, तो तुरंत डॉक्टर से संपर्क करें।

2. ऐंठन :-

गर्भावस्था के दौरान महिलाओं को ऐंठन (पेट के निचले हिस्से में दर्द) हो सकता है, इसके लिए, गर्म पानी की बोतल या हीट पैड से आराम देने की कोशिश करें। महिला को लेटाकर आराम से रखने का प्रयास करें और अधिक पानी पीने के लिए कहें। अगर ऐंठन बहुत तेज हो या रक्तस्राव हो, तो तुरंत डॉक्टर से संपर्क करें।

3. रक्तस्राव :-

गर्भवती महिला को अगर रक्तस्राव हो तो यह बेहद गंभीर स्थिति हो सकती है। उसे तुरंत लेटाकर आराम से रखें और न कोम्र दवाम्र दें न कोम्र अन्य उपाय करें। रक्तस्राव की स्थिति में तुरंत अस्पताल या डॉक्टर से संपर्क करें, क्योंकि यह गर्भपात या अन्य गंभीर समस्याओं का संकेत हो सकता है।

4. सांस में समस्या :-

यदि गर्भवती महिला को सांस लेने में कठिनाम्र हो रही हो, तो उसे ताजे हवा में ले जाएं। महिला को आराम देने की कोशिश करें और किसी डॉक्टर से तुरंत संपर्क करें। कभी-कभी गर्भावस्था में सांस की समस्याएं अस्थमा या अन्य श्वसन समस्याओं का कारण बन सकती हैं, जो उपचार के बिना बढ़ सकती हैं।

5. उल्टी और घबराहट :-

गर्भवती महिलाओं को अक्सर उल्टी या घबराहट हो सकती है, खासकर पहले तीन महीनों में, इसके लिए, उन्हें हल्का भोजन दें और पानी पीने के लिए कहें, मुँह में पानी रखें और ताजे वायु में सांस लें, अगर उल्टी अधिक हो, तो डॉक्टर से सलाह लें।

6. गर्भवती महिला को बहुत दर्द या गंभीर समस्याएं महसूस हो रही हों :-

अगर महिला को बहुत ज्यादा दर्द (जैसे पीठ या पेट में) हो रहा हो या कोम्र और गंभीर समस्या हो रही हो, तो इसे नजर अंदाज न करें। उसे अस्पताल लेकर जाये और डॉक्टर से पूरी जॉच करवाएं।

स्मरणीय बिन्दु

1. प्राथमिक चिकित्सा क्यों आवश्यक है?
2. जलने पर बर्फ क्यों नहीं लगानी चाहिए?
3. विषसेवन में उल्टी क्यों नहीं करानी चाहिए?
4. दौरे के समय रोगी को क्यों नहीं पकड़ना चाहिए?
5. गर्भवती महिला में बेहोशी होने पर क्या करना चाहिए?

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
आपातकालीन	अचानक उत्पन्न गंभीर स्थिति
प्राथमिक चिकित्सा	शुरुआती उपचार
विष	जहर
बेहोशी	चेतना का अभाव
रक्तस्राव	खून बहना
जलन	आग या गर्मी से क्षति

दौरा	मिर्गी जैसी स्थिति
सांस	श्वसन क्रिया
उपचार	इलाज
चिकित्सक	डॉक्टर

5 अंक के प्रश्न-

1. प्राथमिक चिकित्सा क्या है? इसके महत्व को समझाइए।
2. विषसेवन की स्थिति में प्राथमिक चिकित्सा के उपाय लिखिए।
3. दौरे (Fits) की स्थिति में क्या सावधानियाँ रखनी चाहिए?
4. जलने की स्थिति में प्राथमिक चिकित्सा कैसे दी जाती है?
5. बच्चों में बुखार और बेहोशी की स्थिति में क्या करना चाहिए?

15 अंक के प्रश्न-

1. विशेष आपातकालीन स्थितियों में प्राथमिक चिकित्सा का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. बच्चों एवं गर्भवती महिलाओं की प्राथमिक चिकित्सा के उपाय विस्तार से समझाइए।
3. विषसेवन, जलना और दम घुटने की स्थिति में प्राथमिक चिकित्सा प्रक्रिया लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. प्राथमिक चिकित्सा का उद्देश्य है-

(क) बीमारी बढ़ाना

(ख) तुरंत सहायता देना

(ग) देरी करना

(घ) इनमें से कोई नहीं

2. जलने पर सबसे पहले क्या करें?

(क) तेल लगाएँ

(ख) ठंडा पानी डालें

(ग) मसाज करें

(घ) ढक दें

3. विष सेवन की स्थिति में क्या करना चाहिए?

(क) उल्टी कराएँ

(ख) जहर पहचानें और डक्टर से संपर्क करें

(ग) नींद दें

(घ) पानी बंद करें

4. दौरे के समय क्या करना चाहिए?

(क) पकड़ कर रोकना

(ख) वस्तुएँ हटा देना

(ग) मारना

(घ) दौड़ाना

5. दम घुटने पर क्या करें?

(क) पानी पिलाएँ

(ख) पीठ पर थपकी दें

(ग) नींद दें

(घ) भोजन दें

इकाई-4.3 : प्राथमिक चिकित्सालय

उद्देश्य-

1. रसोई में उपलब्ध सामान्य औषधीय पदार्थो के घरेलू उपचारात्मक उपयोग का ज्ञान प्राप्त करना।
2. विभिन्न रोगों की प्राथमिक चिकित्सा एंव प्राकृतिक उपचार विधियों को समझकर स्वास्थ्य संरक्षण करना।
3. आयुर्वेदिक एंव घरेलू नुस्खों द्वारा रोग-निवारण, प्रतिरोधक क्षमता वृद्धि तथा स्वस्थ जीवनशैली अपनाने की प्रेरणा देना।

रसोई घर में प्रयोग होने वाली मुख्य औषधि-

अजवायन

- जो ज्यादा एल्कोहल पीते हों तथा एल्कोहल वाला पेय (शराब) छोड़ना चाहते हों, वे 1/2 किग्रा अजवायन को 4 लीटर पानी में पकाकर तथा लगभग 2 लीटर बचने पर छानकर रखें, इसे प्रतिदिन भोजन के पहले 1-1 कप पीएं। इससे लिवर भी ठीक रहेगा। शराब पीने की इच्छा भी कम होगी।
- अजवायन को हल्का भूनकर 2-3 ग्राम की मात्रा में प्रातः-सायं गुनगुने पानी या दूध के साथ लेने से सर्दी, जुकाम या पेट के रोगों में लाभ होगा।
- 2-3 ग्राम अजवायन को पाउडर करके छांछ के साथ लेने से पेट के कीड़े समाप्त होते हैं।
- 10 ग्राम अजवायन को 1 लीटर पानी में पकाकर 1/4 शेष रहने पर छानकर प्रातः-सायं प्रसूता स्त्री को पिलाने से प्रसूतिजन्य विकार नहीं होते। इससे बढ़ा हुआ शरीर भी अपनी स्थिति में आता है।
- 10 ग्राम अजवायन को बारीक पीसकर उसमें 1/2 नींबू का रस निचोड़ कर डालें, 5 ग्राम फिटकरी पाउडर व छांछ को मिलाकर बालों में मलने से बालों की रूसी ठीक होती है, साथ ही लीखें तथा जूएँ मर जाती हैं।
- 1 चम्मच अजवाइन को एक गिलास पानी में चतुर्थांश शेष रहने तक उबालें, फिर इसे छानकर गुनगुना कर प्रातः एवं सायं भोजन के आधा घण्टा बाद या भोजन के पहले सेवन करने से अम्लपित्त में लाभ होता है।
- एक चौथाई चम्मच अजवाइन चूर्ण को प्रातः एवं सायं गुनगुने पानी के साथ भोजन के आधा घण्टा बाद सेवन कराने से शैय्या मूत्र में लाभ होता है।
- दो मुट्ठी अजवाइन के फूलों को पानी में 20 मिनट तक भिगो दें। फिर एक टब में ठण्डा पानी और दूसरे टब में गर्म पानी भरकर दोनों टबों में बराबर मात्रा में अजवाइन के फूल डाल दें। फिर 5 मिनट तक दोनों पैरों को गर्म पानी में डूबोकर 5 मिनट तक ठण्डे पानी में भिगोकर रखें। यह प्रक्रिया 20 मिनट तक दोहराने से हाथ-पैरों की जलन की समस्या में चमत्कारी लाभ होता है।
- 1 चम्मच अजवाइन, आधा चम्मच हल्दी को एक गिलास पानी में चतुर्थांश शेष रहने तक उबालें। फिर इसे छानकर गुनगुना कर 1 चम्मच शहद मिलाकर प्रातः एवं सायं भोजन के बाद सेवन करने से बलगम युक्त खाँसी में लाभ होता है। यह छाती की जकड़न या छाती में जमे कफ को कम करने में भी मदद करता है।
- 20 ग्राम अजवाइन को 100 मिली सरसों के तैल में धीमी आँच पर 10 मिनट तक पकाकर छानकर ठण्डा कर सुरक्षित रख लें, फिर तैल को हल्का गर्म कर 2-2 बूँद कान में प्रातः एवं सायं डालने से बाधिर्य (बहरेपन) में लाभ होता है।
- 100 ग्राम अजवाइन में 100 ग्राम गुड़ मिलाकर छोटी-छोटी गोली बनाकर सुरक्षित रख लें। फिर एक-एक गोली प्रातः दोपहर सायं गुनगुने पानी के साथ सेवन करने से उदर कृमि में लाभ होता है। यह प्रक्रिया एक हफ्ते तक दोहरा सकते हैं।
- आधा चम्मच अजवाइन का तैल, आधा चम्मच सरसों के तैल में मिलाकर गुनगुना करें। इसकी 3-4 बूँदे कान में डालने से कान के दर्द में लाभ मिलता है।

इलायची-

- मुंह में छाले हों तो इलायची को पीसकर शहद मिलाकर लगाने से छाले ठीक होते हैं।
- 2-3 ग्राम इलायची को पीसकर और उसमें मिश्री मिलाकर लेने से मूत्र की जलन व कम पेशाब आने की समस्या में तुरन्त लाभ होता है।
- हिचकी नहीं रुक रही हो तो 2 इलायची व 3 लौंग को पानी में चाय की तरह उबालकर पिला दें, ठीक हो जाएगी। यदि ठीक न हो तो यह प्रयोग दिन में 3-4 बार तक कर सकते हैं।

बड़ी इलायची-

- 1 चम्मच बड़ी इलायची दाना, 1 चम्मच मिश्री, आधा चम्मच खरबूजा के बीज को एक गिलास पानी में रातभर भिगोकर रख दें, फिर प्रातः इसे छानकर खाली पेट सेवन करने से वृक्क अश्मरी में लाभ होता है।
- 250 ग्राम बड़ी इलायची को तवे पर भूनकर चूर्ण बनाकर सुरक्षित रख लें, फिर एक चम्मच चूर्ण को 2 चम्मच शहद में मिलाकर प्रातः-सांय खाली पेट सेवन करने से उच्च रक्तचाप में लाभ मिलता है।

काली मिर्च-

- खाँसी अधिक आने पर यदि सो नहीं पा रहे हों तो 1-2 कालीमिर्च मुँह में रखकर चूसते रहें, खाँसी में आराम हो जाएगा तथा नींद भी आ जाएगी।
- थोड़ा अदरक व 3-4 काली मिर्च मिलाकर काढ़ा बनाकर पीने से खाँसी में तुरन्त लाभ होता है, चाय के स्थान पर इसका प्रयोग कर सकते हैं।
- शीतपित्त होने पर 4-5 काली मिर्च पीसकर उसमें 1 चम्मच गुनगुने घी और शक्कर मिलाकर पिलाने पर लाभ मिलेगा।
- खाँसी व उसके साथ कमजोरी भी हो तो 20 ग्राम काली मिर्च, 100 ग्राम बादाम, 150 ग्राम खाँड या मिश्री मिलाकर, कूटकर पाउडर कर शीशी में भरकर रखें, 1 ग्राम प्रातः-सायं गुनगुने दूध या गुनगुने पानी के साथ लेने से पुरानी खाँसी ठीक होती है। इससे कमजोरी में भी लाभ होता है।
- हिचकी या सिर दर्द में काली मिर्च के 3-4 दानों को जलाकर उसके धूएँ को सूंघने से लाभ मिलता है।
- आधा चम्मच काली मिर्च को आधा चम्मच देशी गाय के घी में भूनकर प्रातः एवं सायं भोजन के बाद सेवन करने से कफ युक्त खाँसी में लाभ होता है।
- 1 चम्मच नींबू रस, 1 चम्मच शहद तथा 1 चुटकी काली मिर्च इन सभी को एक गिलास पानी में मिलाकर प्रतिदिन सेवन करने से मोटापे की समस्या दूर होती है।
- 1-2 चम्मच काली मिर्च पाउडर को 3-4 चम्मच गाय के घी में मिलाकर प्रभावित स्थान पर हल्के हाथ से मालिश करें। यह प्रक्रिया एक महीने तक दोहराने से लकवा रोग में लाभ होता है।
- 5 नग काली मिर्च, 4 चम्मच खाँड तथा 4 चम्मच देशी गोघृत को मिलाकर प्रातः एवं सायं खाली पेट सेवन करने से शीतपित्त में लाभ होता है।

जीरा -

- जब कभी दस्त लगें, तब 4-6 ग्राम जीरे को हल्का भूनकर, पीसकर दही या दही की लस्सी के साथ लेने से तुरन्त लाभ होता है।
- भूना हुआ जीरा व उतनी ही सौंफ को थोड़ा भूनकर, पीसकर 1-1 चम्मच पानी के साथ दिन में 3-4 बार लेने से मरोड़ के साथ होने वाले पतले दस्त में लाभ होता है।
- 5-7 ग्राम जीरे को 400 मिली पानी में पकाकर 1/4 भाग शेष रहने पर प्रतिदिन दो बार पीने से आँतों के कृमि मर जाते हैं।
- 3-4 ग्राम जीरे को पानी में उबालकर छानकर मिश्री मिलाकर पीने से मूत्र-विकार व प्रदर रोग आदि में लाभ होता है।
- 25 ग्राम भुने हुए जीरे में 25 ग्राम साबुत धनिया मिलाकर पाउडर बना लें। फिर इसमें 50 ग्राम चीनी मिलाकर शीशी में भरकर सुरक्षित रख लें, फिर इस चूर्ण को आधा-आधा चम्मच प्रातः एवं सायं भोजन के आधा घण्टा बाद सेवन करने से हाइपर एसिडिटी में लाभ होता है।
- 1 चम्मच जीरे को दो गिलास पानी में चतुर्थांश शेष रहने तक उबालें, फिर इसे छानकर 1 चम्मच शहद मिलाकर गर्म-गर्म चाय की तरह सेवन करने से कष्टार्तव में लाभ होता है।
- चम्मच जीरे के चूर्ण में एक चौथाई चम्मच चीनी मिलाकर प्रातः एवं सायं सेवन करने से स्तन्याल्पता (दुग्ध की कमी) की समस्या में लाभ होता है।
- बादी बवासीर में दर्द और जलन होने पर जीरे के दानों को पानी के साथ पीसकर लेप बना लें। इसे मस्सों वाली जगह पर लगाने से लाभ होता है।

दालचीनी -

- दालचीनी पाचन-शक्ति को बढ़ाती है और सर्दी-जुकाम, खाँसी में लाभ करती है।
- दालचीनी का फाण्ट बनाकर और उसमें अदरक, लौंग तथा इलायची मिलाकर पीने से वातज एवं कफज-विकारों का शमन

होता है।

- दालचीनी चूर्ण में शहद मिलाकर सेवन करने से श्वास-कास में लाभ होता है।
- आधा चम्मच दालचीनी पाउडर में आधा चम्मच शहद मिलाकर चेहरे पर 10-15 मिनट तक लगाकर सादे पानी से धो लें। यह प्रक्रिया हफ्ते में 2-3 बार दोहराने से मुँहासों की समस्या में लाभ होता है।
- एक चौथाई चम्मच दालचीनी पाउडर में आधा चम्मच शहद मिलाकर देने से शैय्यामूत्रता में लाभ होता है। अगर बच्चे की उम्र 10 वर्ष से ज्यादा है तो आधा चम्मच दालचीनी पाउडर में 1 चम्मच शहद मिलाकर प्रातः या शाम भोजन से आधा घण्टा पहले सेवन करने से शैय्यामूत्रता में अवश्य लाभ होता है।
- आधा चम्मच दालचीनी पाउडर या 2-3 दालचीनी के टुकड़े को एक गिलास पानी में चतुर्थांश शेष रहने तक पकाएं, फिर इसे छानकर हल्का गुनगुना कर प्रातः खाली पेट सेवन करने से लिवर की सूजन में लाभ होता है।
- 1 चम्मच दालचीनी को 1 चम्मच शहद में मिलाकर पेस्ट बनाकर प्रभावित स्थान में 15-20 मिनट लगाकर सादे पानी से धो लें। यह प्रक्रिया प्रतिदिन 2-3 बार दोहराने से पामा रोग में लाभ होता है।
- आधा चम्मच दालचीनी पाउडर को एक गिलास पानी में चतुर्थांश शेष रहने तक उबालें। फिर इसे छानकर हल्का गुनगुना कर प्रातः एवं सायं खाली पेट सेवन करने से पी.सी.ओ.एस. की समस्या में लाभ होता है।
- आधा चम्मच दालचीनी चूर्ण को आधा गिलास गुनगुने पानी में आधा चम्मच शहद मिलाकर प्रातः एवं सायं भोजन के आधा घण्टा बाद सेवन करने से स्तन्यल्पता (दुग्ध की कमी) में लाभ होता है।
- आधा चम्मच दालचीनी को 250 मिली पानी में 10-15 मिनट तक उबालें। फिर इसे छानकर ठण्डा कर 1 चम्मच शहद मिलाकर प्रातः एवं सायं खाली पेट सेवन करने से स्थौल्यता (मोटापा) कम होती है।

धनिया -

- सूखा धनिया पीस लें, उससे 4 गुना मिश्री मिलाकर शीशी में भरकर रखें। 1-1 चम्मच दो बार पानी के साथ लेने से अम्ल-पित्त में अत्यन्त लाभ होता है। इससे पेशाब भी खुलकर होता है।
- 3-4 ग्राम धनिया को 400 मिली पानी में पकाकर जब 100 मिली शेष बचे, तब छानकर शीतल कर लें, उसमें थोड़ा शहद मिलाकर पीने से रक्तप्रदर या शरीर में होने वाली गर्मी में लाभ होता है।
- गर्भावस्था में वमन होने पर या बच्चों को वमन होने पर 2-3 ग्राम धनिये को कूटकर लगभग 400 मिली पानी में भिगोकर उसे छान लें, उसमें थोड़ा शहद मिलाकर थोड़ी-थोड़ी देर में पिलाते रहें। उससे बेचैनी भी कम होगी व वमन शान्त हो जाएगा। इस प्रयोग से खूनी दस्त में भी लाभ मिलेगा।
- 4-5 ग्राम धनिया व उसकी थोड़ी पत्तियों को पीसकर चेहरे पर लगाने से चेहरा सुन्दर एवं युवान पिड़िका व झाँइयों से रहित हो जाता है।
- जिन्हें कामवासना ज्यादा परेशान करती हो, वे 2-3 ग्राम धनिया का पाउडर कुछ समय तक नियमित रूप से ठण्डे पानी के साथ लें। इससे कामवासना कम हो जाती है। प्रतिदिन 5-7 नीम के पत्ते चबाकर ऊपर से थोड़ा पानी पीने वाले की कामवासना शान्त हो जाती है। ऐसा करने से अम्लपित्त (हाईपर एसिडिटी) में भी तुरन्त लाभ होता है।
- 2 छोटे चम्मच धनिया पाउडर, 1 चम्मच आँवला चूर्ण को 400 मिली पानी में 100 मिली शेष रहने तक पकाएं, फिर इसे छानकर हल्का गुनगुना कर प्रातः एवं सायं खाली पेट सेवन करने से रसौली में लाभ होता है।

मेथी-

- 1 चम्मच मेथी को रात को 1 कप पानी में भिगो दें। प्रातः उस पानी को पीकर मेथी को भी चबाकर खाएं। इससे मधुमेह में लाभ होगा व इससे होने वाली कमजोरी, वातरोगों व हृदयरोगों में भी लाभ होगा।
- मेथी, हल्दी तथा सोंठ को बराबर मात्रा में लेकर पाउडर करके रखें। 1-1 चम्मच प्रातः-सायं गुनगुने पानी या गुनगुने दूध से सेवन करें। इससे जोड़ों का दर्द व सभी प्रकार के वातरोग व सूजन में लाभ होता है।
- पुराने आर्थराइटिस के रोगियों को नियमित रूप से लम्बे समय तक इसके सेवन से आशातीत लाभ होता है।
- आर्थराइटिस व मधुमेह के रोगियों को मेथी को अंकुरित करके प्रतिदिन सेवन करने से भी लाभ मिलेगा।
- मेथी को भूनकर, पीसकर, कॉफी की तरह काढ़ा बनाकर, थोड़ा सा अदरक मिलाकर पीने से सर्दी, कफ में लाभ होता है।
- आधा चम्मच मेथी चूर्ण का सेवन गुनगुने जल के साथ प्रातः नाश्ते से आधा घण्टा पहले सेवन करने से एजोस्पर्मिया में लाभ होता है।

- 1-2 बड़े चम्मच मेथी दानों को एक कप पानी में रातभर भिगोकर रख दें। प्रात: मेथी के दानों का पेस्ट बनाकर उसमें 1 चम्मच नींबू रस मिलाकर बालों की जड़ पर लगाकर 30 मिनट के लिए छोड़ दें, फिर बालों को हर्बलयुक्त शैम्पू से धोएं। यह प्रक्रिया हफ्ते में 1-2 बार दोहराने से रूसी में शीघ्र लाभ होता है।
- 1 चम्मच मेथी को एक कप पानी में रातभर भिगोकर रख दें, फिर प्रात: छानकर खाली पेट मेथी के पानी का सेवन करने से कष्टार्तव एवं आमवात में लाभ होता है।

राई -

- राई को बारीक पीसकर शोथयुक्त स्थान पर लगाकर पट्टी बाँधने से सूजन में लाभ होता है।
- सिर दर्द में राई को पीसकर माथे पर लेप करने से शक्ति मिलती है।
- राई के चूर्ण में सिरका (विनेगर) मिलाकर पीसें, इसे त्वचा रोग (दाद, खाज, खुजली) में लगाने से लाभ मिलेगा।

लौंग-

- अचानक तेज सिर दर्द हो या आधाशीशी का दर्द हो तब 4-5 ग्राम लौंग को पीसकर थोड़ा पानी मिलाकर माथे (कनपटियों) पर लगाने से लाभ मिलता है।
- लौंग को हल्का भूनकर उसको चूसते रहने से खाँसी में चमत्कारी लाभ होता है।
- शरीर में कहीं भी नासूर या फोड़ा हो गया हो तो 5-7 लौंग व हल्दी को पीसकर लगाने से लाभ होता है।
- जाड़ (दाढ़) या दाँत के दर्द में लौंग को दर्द वाले स्थान पर दबाने से या पाउडर करके उस स्थान पर लगाने से पीड़ा शान्त हो जाती है।
- लौंग को पानी में घिसकर पेस्ट बना लें। फिर इस पेस्ट को प्रभावित स्थान में 5-10 मिनट तक लगाकर सादे पानी से धो लें। यह प्रक्रिया हफ्ते में 2-3 बार दोहराने से मुँहासों की समस्या तथा मुँहासों से हुए दाग धब्बों में भी लाभ होता है।
- 2-4 लौंग को आधा कप पानी में 4 घण्टे तक भिगोकर रख दें, फिर पानी को छानकर प्रात: खाली पेट सेवन करने से शुक्राणुनाश और शुक्राणुअल्पता में लाभ होता है।
- छोटे से रूई के टुकड़े में 2-3 बूँद लौंग तैल की डालकर दाँतों में 5-10 मिनट तक लगाकर रखें। यह प्रक्रिया हफ्ते में तीन बार दोहराने से कृमिदन्त में रामबाण सि(होती है।
- 1-2 लौंग को चुटकी भर नमक के साथ चबाकर खाने से कास रोग में लाभ होता है।
- एक चौथाई चम्मच सोंठ चूर्ण, 1-2 लौंग, 5-6 तुलसी के पत्तों को पानी में पीसकर गाढ़ा पेस्ट बना लें। फिर इस पेस्ट को माथे और नाक के ऊपर 5 मिनट तक लगाकर गीले कपड़े से साफ कर लें। यह प्रक्रिया हफ्ते में 2-3 बार दोहराने से प्रतिश्याय में लाभ होता है।

हल्दी -

- हल्दी, नमक और थोड़ा सा सरसों के तैल को मिलाकर अंगुली से प्रतिदिन मसूड़ों की मालिश करना पायरिया, मुखदुर्गन्ध व दाँतों के रोग में अत्यन्त लाभकारी है।
- 1 चम्मच हल्दी पाउडर को प्रतिदिन 1 गिलास गुनगुने दूध के साथ पीने से शरीर की रोगप्रतिरोधक-क्षमता में वृ(होती है। सर्दी, जुकाम आदि नहीं होते। शरीर के दर्द, चोट व पीड़ा में भी लाभ होता है।
- 1/2 चम्मच हल्दी को थोड़ा भूनकर शहद से लेने से गला बैठना या खाँसी में तुरन्त लाभ होता है।
- यदि कहीं कट या जल जाए तो हल्दी पाउडर को लगाने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है। जले में फफोला भी नहीं पड़ता है।
- शरीर में कहीं मोच आ जाए तो एक मोटी रोटी बनाकर, उस पर सरसों का तैल व हल्दी डालकर, गर्म रोटी को मोच वाले स्थान पर बाँधने से सूजन व मोच में तुरन्त लाभ होता है।
- चेहरे की झाँइयों या फुन्सियों में हल्दी व चन्दन और नीम की पत्तियों को पीसकर लगाने से फुन्सियाँ ठीक होकर चेहरे की सुन्दरता भी बढ़ती है।
- 2-4 चम्मच हल्दी को पानी में घोलकर पेस्ट बना लें। फिर इस पेस्ट को तलवे में 20-25 मिनट तक लगा कर गीले साफ कपड़े से साफ कर लें। यह प्रक्रिया हफ्ते में 2-4 बार दोहराने से हाथ-पैरों की जलन में लाभ होता है।
- आधा चम्मच हल्दी पाउडर में आधा चम्मच काली मिर्च पाउडर मिलाकर प्रात: एवं सायं गुनगुने पानी के साथ खाली पेट सेवन करने से कैंसर रोग में लाभ होता है।
- आधा चम्मच हल्दी पाउडर को पानी में मिलाकर पेस्ट बना लें। फिर इस पेस्ट को दाँतों की गुहा (खाली जगह) में 5-10

मिनट तक लगाकर गुनगुने पानी से गरारे कर लें। यह प्रक्रिया हफ्ते में 2-3 बार दोहराने से कृमिदन्त में लाभ होता है।

- आधा चम्मच हल्दी पाउडर को गर्म पानी के साथ प्रातः खाली पेट सेवन करने से पित्ताशयगत शोथ में लाभ होता है।
- आधा चम्मच हल्दी पाउडर को एक गिलास गाय के दूध में 5 मिनट तक उबालकर गुनगुना कर सायं भोजन के आधा घण्टे बाद सेवन करने से कफ वाली खाँसी में लाभ होता है। इसका सेवन करने के बाद पानी का सेवन कदापि न करें।
- आधा चम्मच हल्दी पाउडर को एक गिलास दूध में 5-7 मिनट तक उबालें, फिर इसे गर्म-गर्म चाय की तरह सेवन करने से मासिकधर्म के दौरान होने वाले पेट दर्द में लाभ होता है।

हींग -

- हींग को जल में घिसकर नाभि के आस-पास लेप करने से अफारा व दर्द में लाभ होता है।
- हींग को दुग्ध में घिसकर वक्षःस्थल (छाती) पर लेप करने से सर्दी-जुकाम में लाभ होता है।
- आधा चम्मच हींग पाउडर को आधा गिलास पानी में 5-7 मिनट तक उबालें फिर इसे हल्का गुनगुना कर गरारे करें। यह प्रक्रिया हफ्ते में 1-2 बार दोहराने से कृमिदन्त में लाभ होता है।
- 1 चम्मच दूध में एक चुटकी हींग मिलाकर 2-2 बूँद कान में डालने से कर्णबाधिर्य में लाभ होता है।

अदरक -

- भोजन के आरम्भ में 3-4 ग्रास के साथ थोड़ा अदरक खाने से भूख बढ़ती है। भोजन के उपरान्त थोड़ा अदरक खाने से भोजन का पाचन होता है।
- 2 चम्मच अदरक के रस में थोड़ा शहद मिलाकर लेने से सर्दी, जुकाम व खाँसी में लाभ मिलेगा।
- यदि ठण्ड से दाँत में दर्द हो तो एक टुकड़ा अदरक को दाँत में दबाकर रखने से तुरन्त लाभ मिलेगा।
- अदरक को भूनकर इसे चूसने से खाँसी में लाभ होता है।
- 2-3 ग्राम सोंठ पाउडर में 1/2 या 1 ग्राम दालचीनी मिलाकर दूध या पानी के साथ लेने से हृदयशूल (एञ्जायना) में लाभ होता है, यह हृदय को ताकत प्रदान कर पाचन प्रक्रिया को भी ठीक रखता है।
- अदरक के रस में नींबू का रस मिलाकर पीने से मन्दाग्नि दूर होकर भूख बढ़ती है।
- 2 गिलास पानी में 5 ग्राम अदरक को कूटकर और उसे उबालकर थोड़ा नींबू व शहद डालकर प्रातः खाली पेट गर्म-गर्म पीने से मोटापा कम होता है।
- 1 चम्मच अदरक जूस में 4 चम्मच नारियल तैल मिलाकर पैरों में 20 मिनट तक मालिश करने से हाथ-पैरों की जलन में लाभ होता है।
- कुटे हुए एक छोटे अदरक के टुकड़े को एक कप पानी में 5 मिनट तक उबालें, फिर इसे छानकर 1 चम्मच शहद मिलाकर प्रातः एवं सायं खाली पेट या भोजन के बाद सेवन करने से लिवर सिरोसिस में लाभ होता है।
- आधा चम्मच अदरक रस, 3-4 तुलसी की पत्तियों में आधा चम्मच शहद के साथ मिलाकर प्रातः एवं सायं भोजन के बाद सेवन करने से गले का कफ साफ होता है।
- 1 छोटा चम्मच अदरक रस में एक चुटकी दालचीनी पाउडर, एक चुटकी हल्दी, 1 चम्मच शहद मिलाकर इस मिश्रण का दिन में कम से कम तीन बार सेवन करवाने से बालातिसार में लाभ होता है।
- 5 ग्राम अदरक पेस्ट 10 ग्राम उड़द दाल को 50 मिली सरसों तैल में 10 मिनट तक पकाकर छानकर 2 ग्राम कपूर पाउडर मिलाकर प्रभावित स्थान पर प्रातः मालिश करने से लकवा रोग में लाभ होता है।

नींबू -

- नींबू के रस में शहद मिलाकर चेहरे पर लगाने से ब्लीचिंग करने से चेहरे के कील-मुहासों में लाभ मिलेगा।
- जिन स्त्रियों को अतिरक्तस्राव (ओवर ब्लीडिंग) या रक्तार्श की समस्या हो, तो 1/2 नींबू निचोड़कर 1 कप पीने लायक गुनगुने दूध में डालकर दूध फटने से पहले ही पी जाएं। यह प्रयोग प्रातः खाली पेट या ऋतुकाल में कभी भी कर सकते हैं। इससे रक्तस्राव में तुरन्त लाभ होगा। यह चमत्कारिक प्रयोग है। यह प्रयोग 3-4 दिन करें। यदि पूर्ण लाभ न मिले तो चिकित्सक को अवश्य दिखाएं।
- 10 मिली नींबू रस में प्याज का रस 20 मिली व इच्छानुसार शहद मिलाकर पीने से लिवर के रोग, मन्दाग्नि व अजीर्ण में लाभ होता है।
- नींबू के रस में थोड़ा अदरक व थोड़ा नमक मिलाकर भोजन के साथ लेने से भूख बढ़ती है। इससे पाचन क्रिया भी

सुधरती है।

- गाड़ी में यात्रा करते समय जिन्हें उलटी होती हो या जी मिचलाता हो, उन्हें थोड़ा नमक लगाकर नींबू चूसने से लाभ होगा।
- 1-2 चम्मच नींबू रस को एक गिलास गुनगुने पानी में मिलाकर प्रातः एवं सायं खाली पेट सेवन करने से पित्ताशयगत शोथ में लाभ होता है।

घृतकुमारी (एलोवेरा)-

- घृतकुमारी के गुद्दे को निकालकर, टुकड़े बनाकर सब्जी की तरह पकाकर खाने से सन्धिवात, वायु विकार, पेट व यकृत् के विकारों का शमन होता है।
- कटे हुए या जले हुए स्थान पर उसी समय एलोवेरा जेल या रस लगाने से फफोला नहीं पड़ता, रक्त रुक जाता है तथा जख्म जल्दी ठीक हो जाता है।
- 4-6 चम्मच एलोवेरा रस प्रतिदिन पीने से पेट के समस्त रोगों व शरीरगत कमजोरी में लाभ होता है।
- एलोवेरा जेल को चेहरे पर लगाने से चेहरे की कान्ति बढ़ती है तथा झाँइयां, कील, मुँहासों में लाभ होता है।
- हाथ-पैरों की रूक्षता में एलोवेरा जेल लगाने से तुरन्त लाभ होता है।
- ताजा पत्ता लेकर छिलका उतारकर अन्दर के गुद्देदार भाग या रस को निकालकर 20 से 40 मिली मात्रा में सेवन करें। यह सभी वात-रोग, जोड़ों का दर्द, उदर-रोग, अम्लपित्त, मधुमेह इत्यादि में लाभप्रद है।
- 20 मिली एलोवेरा जूस में 40 मिली गुनगुना पानी मिलाकर प्रातः एवं सायं खाली पेट सेवन करने से अम्लपित्त एवं रक्ताल्पता में लाभ होता है।
- 1-2 चम्मच एलोवेरा जेल को चेहरे पर लगाकर सो जाएं। फिर प्रातः उठकर चेहरे को सादे पानी से धो लें। यह प्रक्रिया लगातार 15 दिन तक दोहराने से मुँहासे की समस्या में चमत्कारी लाभ होता है।
- 1-2 चम्मच एलोवेरा जेल को रात में सोते समय तलवों में मालिश कर लगाकर सो जाए। यह क्रिया दिन में 1-2 बार दोहराने से पैरों की जलन में लाभ होता है।
- 3-4 चम्मच एलोवेरा जेल को लेकर बालों की जड़ों में हल्के हाथ से मालिश कर 2-3 घण्टे के लिए लगाकर छोड़ दें फिर बालों को हर्बल जड़ी-बूटी युक्त शैम्पू से धोएं। इस प्रक्रिया को हफ्ते में 1-2 बार दोहराने से बालों की रूसी में शीघ्र लाभ मिलेगा।
- 2 चम्मच ऐलोवेरा जेल में चौथाई चम्मच हल्दी मिलाकर पेस्ट (लेप) बना लें। फिर इस पेस्ट को प्रभावित स्थान पर 20 मिनट तक लगाकर गुनगुने पानी से साफ कर लें। यह प्रक्रिया दिन में 1-2 बार दोहराने से कक्षा (हरपीज़) रोग में लाभ होता है।
- 2 चम्मच एलोवेरा जेल में 1 चम्मच लैवेंडर ऑयल के साथ सिर पर हल्के हाथ से मालिश कर आधे घण्टे तक लगाकर रखने से सिर पर हुई सोरायसिस में काफी आराम मिलता है।

शहद -

- आधा चम्मच दालचीनी पाउडर एवं एक चम्मच शहद के नियमित प्रयोग से रोगप्रतिरोधक क्षमता की वृ(होती है एवं यह साइनस और तीव्र जुकाम में भी लाभदायक है।
- आँखों की ज्योति बढ़ाने के लिए 2 चम्मच शहद को गाजर के रस में मिलाकर नियमित सेवन करें।
- सर्दी-जुकाम, खाँसी में 2 चम्मच शहद और उसके बराबर मात्रा में अदरक रस मिलाकर बार-बार चाटें।
- काली मिर्च पाउडर, शहद और अदरक रस बराबर मात्रा में, नित्य दिन में तीन बार लेने से श्वास, कास में आराम मिलता है।
- रक्तचाप नियन्त्रण के लिए 1 चम्मच लहसुन रस में 2 चम्मच शहद मिलाकर नियमित सेवन करें।
- 1 गिलास गुनगुने जल में 2 चम्मच शहद एवं 1 चम्मच नींबू रस मिलाकर रोज प्रातः-सायं खाली पेट सेवन करने से मोटापा कम होता है।
- रोज एक चम्मच शहद का सेवन करने से मनुष्य लम्बी और स्वस्थ जीवन व्यतीत कर सकता है।

पंचामृत -

- गिलोयरस 10 से 20 मिली, घृतकुमारी स्वरस 10 से 20 मिली, गेहूँ के ज्वारे 10 से 20 मिली, तुलसी 5 पत्ते तथा नीम 7 पत्ते प्रातः एवं सायं खाली पेट सेवन करने से कैंसर से लेकर सभी असाध्य रोगों में अत्यन्त लाभ होता है यह पंचामृत शरीर की शु(व रोगप्रतिरोधक क्षमता के लिए अत्यन्त लाभकारी है।

गिलोय -

- सर्दी जुकाम, बुखार आदि में एक अंगुल मोटी व 4 से 6 इंच लम्बी गिलोय लेकर 400 मिली पानी में उबालें, 100 मिली रहने पर पिएं। यह रोगप्रतिरोधक क्षमता (इम्यून-सिस्टम) को मजबूत कर त्रिदोष का शमन करती है व सभी रोगों, बार-बार होने वाली सर्दी-जुकाम, बुखार आदि को ठीक करती है।
- 5 से 7 गिलोय के तने को 400 मिली पानी में उबाल लें, फिर 100 मिली शेष रहने पर छानकर गुनगुना होने पर प्रातः एवं सांय खाली पेट सेवन करने से अम्लपित्त में लाभ होता है।
- गिलोय के 8-10 पत्तों को 400 मिली पानी में उबालें, फिर 100 मिली शेष रहने पर छानकर गुनगुना होने पर प्रातः एवं सायं खाली पेट सेवन करने से रक्ताल्पता और वातरक्त (गठिया वात) में लाभ होता है।
- 10 मिली गिलोय, 10 मिली आँवला जूस को 40 मिली गुनगुने पानी में मिलाकर प्रातः एवं सायं खाली पेट सेवन करने से कैंसर रोग में लाभ होता है।
- आधा चम्मच गिलोय पत्तियों के चूर्ण में आधा चम्मच शतावरी चूर्ण मिलाकर आधा गिलास पानी में 5-10 मिनट तक उबालकर छानकर गुनगुना कर प्रातः एवं सायं खाली पेट सेवन करने सेश्वेतप्रदर में लाभ होता है।
- गिलोय की ताजी डण्डियों (तने) के 2-3 छोटे टुकड़े कर 400 मिली पानी में चतुर्थांश शेष रहने तक उबालें फिर इसे छानकर गुनगुना कर प्रातः एवं सायं खाली पेट सेवन करने से मस्कुलर डिस्ट्रॉफी और डेंगू फीवर में लाभ होता है।
- 20 मिली गिलोय रस में आधा चम्मच सोंठ चूर्ण मिलाकर प्रातः एवं सायं खाली पेट सेवन करने से शीतपित्त में अवश्य लाभ होता है।

तुलसी -

- प्रातःकाल खाली पेट 5 से 10 ताजा तुलसी के पत्ते पानी के साथ लें। इसमें प्रचुर मात्रा में एन्टी-ऑक्सीडेन्ट होते हैं। यह रोगप्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाकर सर्दी-जुकाम बुखार से लेकर कैंसर तक में लाभकारी है।
- 10-15 तुलसी की पत्तियों को पानी में पीसकर लेप (पेस्ट) बनाकर एक चुटकी हल्दी मिलाकर चेहरे पर 10-15 मिनट तक लगाकर सादे पानी से धो लें। यह प्रक्रिया हफ्ते में 2-3 बार दोहराने से मुँहासों की समस्या में अवश्य लाभ होता है।
- 4-5 तुलसी के पत्ते, एक छोटा टुकड़ा अदरक को एक कप पानी में 5 मिनट तक उबालकर छानकर गुनगुना कर प्रातः एवं सायं भोजन के बाद या भोजन से आधा घण्टा पहले सेवन करने से मानसिक तनाव कम होता है।
- एक चौथाई चम्मच तुलसी बीज को एक पान के पत्ते में रखकर प्रातः एवं सायं भोजन के बाद सेवन करने से शुक्राणु अल्पता एवं शुक्राणुनाश में चमत्कारी लाभ होता है।
- 1-2 चम्मच तुलसी के रस को हल्का गर्म करके 2-2 बूँद कान में डालने से बहरेपन में लाभ होता है।
- 3-4 तुलसी के पत्तों को एक कप पानी में 5 मिनट तक उबालें, फिर इसे छानकर गर्म-गर्म चाय की तरह सेवन करने से थकान में एवं माइग्रेन (आधाशीशी) में लाभ होता है।
- 7-8 तुलसी के पत्तों का रस निकालकर एक चम्मच शहद के साथ मिलाकर प्रतिदिन प्रातः एवं सायं एक हफ्ते तक सेवन करने सेश्वेत प्रदर में लाभ होता है।
- तुलसी के 10 पत्तों को एक गिलास पानी में तब तक उबालें जब तक चतुर्थांश शेष रह जाए। तुलसी के काढ़े को सुबह-शाम पिएं। इस क्वाथ के सेवन से रोगप्रतिरोधक क्षमता प्रबल (इम्यूनिटी) होगी और बीमारी दूर होगी।

बेल-

- 1 चम्मच बेलपत्र रस में आधा चम्मच शहद मिलाकर प्रातः एवं सायं भोजन के बाद सेवन करने से कफ युक्त खाँसी में लाभ होता है।
- बेल के पत्तों में एक काली मिर्च रखकर प्रातः खाली पेट दो सप्ताह तक सेवन करने से वृक्काश्मरी (किडनी स्टोन) में लाभ होता है।
- 100 ग्राम बेल की सूखी गिरी को 400 मिली पानी में 100 मिली शेष रहने तक उबालें। फिर इसे छानकर 1 चम्मच मिश्री मिलाकर प्रातः एवं सायं खाली पेट सेवन करने से राजयक्ष्मा में अवश्य लाभ होता है।
- 1 चम्मच बेल फल के गुदे को एक गिलास पानी में अच्छे से मिला लें। इस मिश्रण का प्रतिदिन सेवन करने से लाभ होता है।

नाशपाती–

- प्रतिदिन 1–2 नाशपाती का सेवन करें क्योंकि नाशपाती में पेक्टिन नामक प्राकृतिक यौगिक पाया जाता है जो पित्ताशयगत पथरी को नरम बनाने में मदद करता है ताकि पित्ताशय से अश्मरी आसानी से बाहर निकल सके।

5 शब्दावली–

शब्द	अर्थ
अजवाइन	पाचक
एलोवेरा	घृतकुमारी
हाइपर एसिडिटी	अम्लता
वात	वायु
कफ	श्लेष्मा
प्रतिरोधक क्षमता	रोग प्रतिरोधक
काढ़ा	औषधि पेय
सूजन	शोध
अपच	**अजीर्ण**
वातरोग	**गठिया**

5 अंक के प्रश्न–

1. अजवाइन के औषधीय उपयोग लिखिए।
2. काली मिर्च के कोई पाँच उपयोग बताइए।
3. अदरक के स्वास्थ्य लाभ लिखिए।
4. हल्दी के औषधीय गुण समझाइए।
5. तुलसी के प्रमुख उपयोग लिखिए।

15 अंक के प्रश्न–

1. रसोई में प्रयुक्त औषधियों (अजवाइन, जीरा, हल्दी, अदरक) के उपयोग विस्तार से लिखिए।
2. काली मिर्च एवं दाल चीनी के औषधीय गुण एवं उपयोग समझाइए।
3. नींबू, एलोवेरा और शहद के स्वास्थ्य लाभों का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. अजवाइन का उपयोग मुख्यत: किसमें होता है?

(क) त्वचा रोग

(ख) पाचन समस्या

(ग) आँख दर्द

(घ) बाल झड़ना

2. हल्दी किसके लिए उपयोगी है?

(क) घाव भरने

(ख) बाल सफेद

(ग) दाँत टूटना

(घ) सिर दर्द

3. तुलसी का मुख्य लाभ क्या है?

(क) नींद बढ़ाना

(ख) प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाना

(ग) वजन बढ़ाना

(घ) भूख कम करना

4. अदरक किसमें मदद करताहै?

(क) पाचन

(ख) केवल त्वचा

(ग) केवल आँख

(घ) हड्डी वृद्धि

5. नींबू किसमें लाभकारी है?

(क) अपच

(ख) बाल झड़ना

(ग) दाँत टूटना

(घ) हड्डी टूटना

इकाई-4.4 : समान्य घरेलू उपचार

उद्देश्य-

1. विद्यार्थियों को सरल घरेलू उपचारों की जानकारी देना।
2. प्राकृतिक औषधियों के उपयोग का ज्ञान कराना।
3. स्वस्थ जीवनशैली को प्रोत्साहित करना।

हृदयरोग, अम्लपित्त, उदररोग एवं मोटापे में लाभप्रद लौकी का रस

1. लौकी 500 ग्राम + पुदीना पत्र 7 नग + तुलसी पत्र 7 नग

उक्त सभी को मिलाकर रस निकालकर प्रतिदिन प्रातः काल खाली पेट पीने से हृदय की धमनियों में हुए अवरोध भी खुल जाते हैं। अम्लपित्त एवं समस्त उदररोगों का शमन करने के लिए लौकी रस का सेवन नियमित रूप से करना चाहिए। कोलेस्ट्रोल, हृदयरोग व मोटापे के लिए लौकी का रस सर्वश्रेष्ठ है।

सावधानी - कड़वी लौकी का जूस न पिएं।

2. अर्जुन क्षीरपाक

5-10 ग्राम अर्जुन चूर्ण में 1 कप दूध तथा 3 कप पानी मिलाकर पकाएँ। 1 कप शेष रहने पर छानकर प्रातःकाल खाली पेट पी लें। उक्त क्षीर पाक का नियमित सेवन, कमजोर हृदय वालों को अति लाभकारी होता है।

- **मोतियाबिन्द व ग्लूकोमानाशक 'दृष्टि आई ड्रॉप'** -

सफेद प्याज का रस	-	10 मिली
अदरक का रस	-	10 मिली
नीबू का रस	-	10 मिली
शहद	-	50 मिली

उक्त सभी को मिलाकर एक काँच की शीशी में भरकर धूप में रखें। धूप में रखने के कुछ समय बाद तलछट नीचे बैठ जाता है तथा स्वच्छ तरल उपर रह जाता है। इस स्वच्छ तरल को साफ वस्त्र से छानकर कांच की शीशी में भरकर रख लें। नियमित रूप से 2-2 बूँद दवा आँखों में डालने से मोतियाबिन्द कट जाता है। ग्लूकोमा के रोगी का आँख का दबाव कम हो जाने से धीरे-धीरे ठीक हो जाता है।

उक्त दवा आश्रम में पतंजलि दृष्टि (आई ड्रॉप) के नाम से विशेष रूप से तैयार की जाती है, जिसके प्रयोग से अनेकों रोगी लाभ पा चुके हैं।

नेत्रज्योतिवर्धक घरेलू उपचार :-

100 मिली शु(गुलाब जल में 10 ग्राम सूखे आँवले की साबुत कली को डुबाकर रखें। इसे 2 दिन तक रखा रहने दें। 2 दिन बाद इसे निथारकर 8 तह किए कपड़े से छान लें, इसके पश्चात् शीशी में भर कर रखें, 2-2 बूँद की मात्रा में आँखों में डालने से अश्रुस्रावाधिक्य, नेत्रलालिमा, नेत्रदाह एवं खुजली में आराम हो जाता है।

थायरायड, टॉन्सिल व कफज रोगों का घरेलू उपचारः-

दिव्य त्रिकटु चूर्ण - 50 ग्राम
दिव्य बहेड़ा चूर्ण - 20 ग्राम
दिव्य प्रवाल पिष्टी - 10 ग्राम

सेवन विधि- सबको चूर्ण करके मिलाकर रख लें। वयस्क व्यक्ति एक-एक ग्राम मात्रा में चूर्ण लेकर प्रातः-सायं खाली पेट मधु (शहद) या गुनगुने पानी के साथ सेवन करें। निरन्तर सेवन करने से थायरायड के रोग में विशेष लाभ होता है तथा बच्चों में टॉन्सिल्स की समस्या भी दूर हो जाती है। श्वास व कफ रोगों में भी यह प्रयोग लाभप्रद है।

नकसीर :-

1. पीपल के पत्रों को लेकर कूट-पीस कर रस निकाल लें। 5-5 बूँद दोनों नासिकाओं में टपका देने से शीघ्र ही नकसीर बन्द हो जाती है। 30-40 पत्रों का रस निकालकर मिश्री मिलाकर पीने से शीघ्र लाभ होता है।

2. रक्तस्राव में 5 से 10 मिली तक पीपल के पत्तों का रस प्रातः खाली पेट पीने से रक्तस्राव में शीघ्र ही लाभ होता है।
3. 2-4 बूँद दूर्वा स्वरस को नाक में डालने से शीघ्र ही नकसीर बन्द हो जाती है।

पुरानी खाँसी की अचूक दवा :-

मुलेठी का एक छोटा टुकड़ा, 2 काली मिर्च तथा मिश्री का एक छोटा टुकड़ा इन तीनों को मुँह में रखकर दिन में दो-तीन बार खाली पेट या खाने के बाद चूसें। इससे पुरानी से पुरानी खाँसी, गले की खराश, गला बैठना, स्वरभंग आदि में तत्काल एवं स्थायी लाभ होता है।

श्वास, कफ, साइनस, पीनस व सिरदर्द में लाभदायक रीठा जल :-

रीठा चूर्ण 1 ग्राम तथा 2-3 ग्राम त्रिकटु चूर्ण को 50 मिली पानी में डालकर रखें। प्रातः जल को निथार कर अलग शीशी में भरकर रखें। इस जल की 4-5 बूँद प्रातःकाल खाली पेट कुछ दिन नाक में डालने से अन्दर जमा हुआ कफ बाहर निकल जाता है। इससे नासारन्ध्र खुल जाते हैं व सिददर्द में भी तुरन्त लाभ पहुँचता है।

नोट : सोंठ, काली मिर्च व पिप्पली को समान मात्रा में मिलाकर बने चूर्ण को 'त्रिकटु चूर्ण' कहते हैं।

खाँसी में लाभदायक वासापत्र :-

वासा पत्रों का रस 1 चम्मच, अदरक का रस 1 चम्मच तथा शहद 1 चम्मच तीनों को मिलाकर सेवन करने से सभी प्रकार की खाँसी में आराम हो जाता है।

कब्ज (Constipation) की घरेलू दवा :-

1. नाश्ते में एवं सायंकाल के भोजन में एक सेब नियमित रूप से खाने से कब्ज तथा माइग्रेन का शमन होता है।
2. प्रातः काल 1 कप लौकी (घिया) का जूस पीने से पेट पूर्णतः साफ रहता है। साथ ही पेट के समस्त विकारों को दूर करता है एवं भविष्य में होने से रोकता है।
3. पपीता का यदि नियमित रूप से सेवन किया जाए तो कब्ज की स्थिति उत्पन्न ही नहीं होती।
4. किसी भी प्रकार की कब्ज में अमलतास का गूदा 10-20 ग्राम तक लेने से कब्ज में तुरन्त आराम हो जाता है।

कब्ज, गैस व अन्य रोग :-

आँवला व एलोवेरा स्वरस 4-4 चम्मच की मात्रा में मिलाकर खाली पेट गुनगुने पानी के साथ सेवन करने से कब्ज में तुरन्त राहत मिलती है। आँवला व एलोवेरा जूस कब्ज दूर करता है और साथ-ही-साथ पूरे शरीर को शक्ति देता है यह शरीर की कोशिकाओं को क्षय से बचाकर उत्तम स्वस्थ एवं दीर्घायु प्रदान करता है।

कब्ज व अन्य उदररोगों में उपयोगी आहार :-

अमरूद, पपीता, सेब, गाजर, लौकी एवं सभी हरी सब्जियाँ, मुनक्का, अंजीर आदि। कब्ज को दूर करने के लिए खाना चबा-चबाकर खाएं एवं प्रातः उठकर खाली पेट 300 मिली से लेकर 1 लीटर गुनगुना पानी (उषःपान) पिएं। यदि यह जल ताँबे के बर्तन में रखा हो तो और भी लाभप्रद होता है।

शुष्कार्श एवं रक्तार्श की अचूक दवाएँ :-

1. 100-200 मिग्रा (1 चने की दाल जितना) देशी कपूर को केले के एक टुकड़े में रखकर खाली पेट निगल जाएँ। एक ही खुराक में रक्तस्राव बन्द हो जाता है। रक्तस्राव नहीं रुकने पर उक्त प्रयोग को तीन दिन तक दिन में तीन बार कर सकते हैं। इससे अधिक बार न करें। (इस प्रयोग के बाद केले का सेवन निषि(है।)
2. गाय के 1 कप पीने लायक गुनगुने दूध में आधे नीबू का रस निचोड़ कर दूध फटने से पहले तुरन्त पी जाएँ। यह प्रयोग भी रक्तार्श जन्य रक्तस्राव को तुरन्त बन्द कर देता है। उक्त प्रयोग एक या दो बार से अधिक न करें। आवश्यकता होने पर चिकित्सकीय परामर्श लें।

बवासीर व अति मासिकस्त्राव :-

1. नारियल की दाढ़ी (भूरे रेशे) को जलाकर राख बनाकर छानकर रख लें। तीन-तीन ग्राम नारियल की यह भस्म प्रातः-दोपहर खाली पेट छाछ से सायं गुनगुने जल के साथ सेवन करें। एक बार लेने से ही बवासीर में आशातीत लाभ होता है। यह मासिकधर्म में अति रक्तस्राव तथा श्वेतप्रदर में भी लाभप्रद है।
2. वमन (उल्टी), हैजा व हिचकी में इस भस्म को 1-1 ग्राम की मात्रा में थोड़े जल के साथ सेवन करने से विशेष लाभ होता है।
3. बकायन के बीजों का चूर्ण बनाकर प्रातः छाछ के साथ तथा सायं जल के साथ सेवन करने से बवासीर, रक्तस्राव व कब्ज में

लाभ होता है।
4. नागदौन के 4-5 पत्तों को चबाकर खाने से रक्तार्श तथा अति मासिकस्राव में लाभ होता है।

श्वेतप्रदर, प्रमेह, धातुरोग एवं मासिकधर्म सम्बन्धी विकारों, अति रक्तस्राव में लाभप्रद शीशम के पत्ते

1. शीशम के पत्ते 8-10 व मिश्री 25 ग्राम दोनों को मिलाकर घोट-पीस कर प्रातःकाल सेवन करें। कुछ ही दिनों के सेवन से स्त्रियों के श्वेतप्रदर तथा पुरुषों के प्रमेह आदि रोगों में निश्चित लाभ होता है। मासिकधर्म के अन्तर्गत होने वाला अतिरक्तस्राव सामान्य हो जाता है।
2. सर्दियों के मौसम में उक्त दवा में 4-5 काली मिर्च मिलाकर सेवन करना चाहिए। यह अत्यन्त शीतल है। अतः गर्मी से होने वाले रक्तस्राव में भी अत्यन्त लाभप्रद, निरापद एवं सरल प्रयोग है।

नोट : मधुमेह के रोगी मिश्री के बिना ही प्रयोग करें।

बन्ध्यत्वनाशक योग :-

दिव्य शिवलिंगी बीज - 100 ग्राम
दिव्य पुत्रजीवक बीज - 200 ग्राम

सर्वप्रथम पुत्रजीवक बीज से गिरी निकालकर तत्पश्चात् दोनों को मिलाकर चूर्ण बनाएँ। 1/4-1/4 चम्मच प्रातः-सायं नाश्ते व खाने से पूर्व गाय के दूध से लें। कुछ ही समय के नियमित सेवन से बन्ध्यत्व में लाभ मिलता है तथा शीघ्र ही सन्तान की प्राप्ति होती है। जिन स्त्रियों को बार-बार गर्भपात होता है, उनका गर्भपात होना रुक जाता है।

सुखप्रसव (नॉर्मल डिलिवरी) के लिए अपामार्ग :-

अपामार्ग (Achyranthes asperaLinn.) की मूल (जड़) को उखाड़कर 3-3 इंच के टुकड़ों में काटकर ऊनी धागे में बाँध कर माला बना लें। प्रसव पीड़ा प्रारम्भ होने पर इस माला को स्त्री की कमर में बाँधने से 5-10 मिनट में ही सामान्य प्रसव हो जाता है। यदि प्रसव न हो तो अपामार्ग की जड़ के चूर्ण का लेप भी नाभि के चारों ओर पेड़ू भाग पर लगाया जा सकता है। यह शतशोनुभूत व चमत्कारी योग है जिसका प्रयोग हमने कई रोगियों पर किया है।

सावधानी :-

1. प्रसव के तुरन्त बाद कमर में बंधी हुई अपामार्ग मूल की माला या लेप को हटा दें अन्यथा हानि होने की सम्भावना रहती है।
2. अपामार्ग मूल या अपामार्ग की टहनी का दातुन करने से दाँत मजबूत होते हैं तथा पायरिया आदि दन्त रोग मिटते हैं।
3. अपामार्ग के पत्तों को पीसकर किसी भी तरह की गाँठ पर लेप करने से रोगी को विशेष लाभ होता है।
4. अपामार्ग के बीजों को चावल की तरह दूध में पकाकर खीर बनाकर खाने से भस्मक रोग ठीक होता है। जिनको बहुत अधिक भूख लगती हो, वे व्यक्ति इस खीर का सेवन करके अपनी भूख को नियन्त्रित कर सकते हैं। कई योगी पुरुष भी लम्बा उपवास करने से पहले अपामार्ग के बीजों की यह खीर खा लेते हैं। इससे उनको भूख नहीं सताती।

माताओं के लिए दुग्धवर्धक योग :-

1. 3 से 5 ग्राम शतावर चूर्ण को प्रातः-सायं गाय के दूध से लेने से, जिन माताओं के स्तनों में दूध सूख जाता है या कम हो जाता है, उनको पुनः यथेष्ट दूध स्तनों में उतर आता है।
2. शतावर चूर्ण गर्भवती माताएँ 2-3 ग्राम की मात्रा में गर्भावस्था के दौरान भी सेवन कर सकती हैं। ऐसा करने से प्रसव के बाद स्तनों में दूध की अल्पता नहीं होगी। प्रसव के बाद भी माताएँ शतावर का सेवन करती रहें। शतावर चूर्ण 50-50 ग्राम प्रातः-सायं गाय-भैंसों को देने से उनके दूध में भी वृ(हो जाती है।
3. चावल + सफेद जीरा की खीर बनाकर खाने से स्तनों में दुग्ध की वृ(होती है।
4. 1 चम्मच सफेद जीरा चूर्ण में समभाग मिश्री मिलाकर 1 गिलास दूध के साथ प्रातः एवं सायं पीने से स्तनों में दुग्ध की वृ(होती है। स्त्रियों के लिए अति लाभदायक 'बला' चारों प्रकार की बला (Sida cordifoliaLinn.) (बला, महाबला, अतिबला, नागबला) पञ्चाङ्ग चूर्ण को पीस-छानकर शहद या दूध के साथ पीने से स्त्रीरोगों का शमन होता है।

कर्णशूल की दवा :-

1. सुदर्शन के पत्तों को कूट-पीस कर रस निकाल लें। गुनगुना कर 2-2 बूँद दोनों कानों में दिन में दो तीन बार डालें, पहले ही दिन से कर्णशूल में लाभ होने लगता है।

2. पर्णबीज के पीले पत्तों को कूटकर स्वरस निकालकर गुनगुना करके 2-2 बूँद कान में डालने से कर्णशूल का शमन होता है।
3. तुलसी के पत्तों का स्वरस निकालकर गुनगुना करके 2-2 बूँद कान में डालने से कर्णशूल तथा कर्णस्राव का शमन होता है।
4. 30-40 नीम पत्र तथा 10 लहसुन की कली को पीसकर 50 मिली कटु तैल में पकाकर, छानकर रख लें। 4-4 बूँद कान में डालने से कर्णशूल, कान से साँय-साँय की आवाज होना, कर्णस्राव व कर्णबधिरता में लाभ होता है।

मधुमेह के लिए घरेलू उपचार :-

1. एक खीरा, करेला और टमाटर का जूस निकालकर, प्रातः खाली पेट पीने से मधुमेह में लाभ होता है।
2. जामुन की गुठली का पाउडर करके, एक-एक चम्मच प्रातः-सायं खाली पेट पानी के साथ सेवन करने से मधुमेह नियन्त्रित होता है।
3. नीम के 7 पत्ते प्रातः खाली पेट चबाकर अथवा पीसकर पानी के साथ लेने से मधुमेह में लाभ मिलता है।
4. सदाबहार के 7 पुष्पों को खाली पेट जल के साथ चबाकर सेवन करने से भी मधुमेह में लाभ मिलता है।
5. गिलोय, जामुन, कुटकी, निम्बपत्र, चिरायता, कालमेघ, सूखा करेला, कालीजीरी, मेथी इनको समान मात्रा में लेकर चूर्ण कर लें। यह चूर्ण 1-1 चम्मच प्रातः-सायं खाली पेट पानी के साथ सेवन करने से मधुमेह में विशेष लाभ मिलता है।
6. करंजबीज चूर्ण को आधा-आधा चम्मच की मात्रा में प्रातः एवं सायं गुनगुने जल के साथ सेवन करने से मधुमेह में लाभ होता है।

मोच, शोथ एवं अस्थिभग्न के लिए घरेलू उपचार :-

1. मंजिष्ठा चूर्ण, शतधौत घृत, रक्तचन्दन, शालि चावल तथा यष्टीमधु चूर्ण को बराबर मात्रा में मिलाकर स्थानिक प्रयोग करके बन्धन बांधने से मोच, अस्थिभग्न में चामत्कारिक लाभ मिलता है।
2. एरण्ड या आक के पत्तों में पीड़ान्तक तैल लगाकर, हल्का गर्मकर प्रभावित स्थान पर बाँधने से शोथ, मोच तथा वेदना में लाभ होता है।
3. गेहूँ की मोटी रोटी बनाकर उसमें हल्दी तथा सरसों का तैल लगाकर, एक तरफ गर्मकर मोच व शोथयुक्त स्थान पर बाँधने से लाभ होता है।

सिरदर्द, अनिद्रा तथा माइग्रेन में लाभकारी नस्य :-

1. बादाम का तैल प्रातः खाली पेट तथा सायंकाल सोते समय नाक में डालने से सिर दर्द, माइग्रेन, अनिद्रा, स्मृति-दौर्बल्य, सिर में भारीपन, पक्षाघात, कम्पवात, डिप्रेशन व साइनस में विशेष लाभ होता है। सिर दर्द व अनिद्रा में तुरन्त प्रभाव करता है। बादाम रोगन की सिर में मालिश करने से भी उपरोक्त सभी रोगों में शीघ्र लाभ होता है।
2. 4-4 बूँद गाय के घी को दोनों नथुनों में डालने से अनिद्रा तथा माइग्रेन में लाभ होता है।
3. निर्गुण्डी के पत्रों का स्वरस निकालकर 4-4 बूँद नाक में डालने से शिरःशूल, कफज-विकारों तथा माइग्रेन में लाभ होता है।

रूसी (क्वंदकतनर्ीं) नाशक सरल प्रयोग :-

1. 200 ग्राम नीम के पत्तों को कूटकर 200 मिली तिल तैल में मिलाकर मन्द अग्नि पर धीरे-धीरे पकाएँ। पकाने के बाद छानकर रख लें। इस तैल को सिर में लगाने से डेन्ड्रफ व बालों का झड़ना आदि रोग दूर होते हैं। सिर में सोराइसिस या फोड़े-फुन्सियाँ होने पर इसे लगाने से शीघ्र ही लाभ मिलता है।
2. सुहागे (टंकण) का फूला - 5 ग्राम (1 छोटा चम्मच)
   - नारियल का तैल - 5 मिली (1 चम्मच)
   - दही - 15 मिली (3 चम्मच)
   - नीबू स्वरस - 5 मिली (1 चम्मच)

उक्त तीनों को ठीक प्रकार से मिलाकर बालों में लगाएँ। लगभग 1 घण्टा बाद बालों को धो लें। साथ ही आश्रम में तैयार किए गए दिव्य केश तैल का प्रयोग करने से शीघ्र लाभ होता है।

शीतपित्त (न्तजपबंतपं) की घरेलू दवा :-

1. 50 मिली नारियल तैल तथा 5 ग्राम देशी कपूर दोनों को मिलाकर, शीत-पित्त पर लगाने से तुरन्त आराम मिलता है और जलन तथा खुजली शान्त हो जाती है।
2. 5 नग काली मिर्च 4 चम्मच खाँड तथा 4 चम्मच देशी गोघृत को मिलाकर सेवन करने से शीतपित्त में लाभ होता है।

होठों का फटना (ब्लंबो वि स्पचे) :-

नित्य प्रतिदिन स्नान के बाद, नाभि में सरसों का तैल मलने से होठों का फटना बन्द हो जाता है। साथ ही चेहरे की रूक्षता दूर होकर कान्ति बढ़ती है।

कील-मुहासों के लिए :-

पानी ज्यादा पिएं, नीम के पत्ते 3-3 प्रातः एवं सायं खाएं, मिर्च-मसाला एवं गर्म चीजें कम खाएं।

त्वचारोग एवं चेहरे के दाग धब्बे व झुर्रियाँ :-

एलोवेरा के पत्ते को छीलकर गूदेदार भाग को मुख व त्वचा पर लगाने से त्वचा की कान्ति बढ़ती है तथा दाग, धब्बे व झुर्रियाँ दूर होती है।

चेहरे पर निखार लाने के लिए :-

1. 5 ग्राम चिरौंजी, 1 चम्मच हल्दी, 1 चम्मच शहद तथा 1 चम्मच बेसन को कच्चे दूध में मिलाकर चेहरे पर लगाएं।
2. 1 पके टमाटर के रस में 1/2 चम्मच नींबू का रस मिलाकर चेहरे पर लगाएं।
3. जैतून के तैल में नींबू का रस मिलाकर पूरे शरीर की मालिश करें।

दुर्बलता के लिए अश्वगन्धा चूर्ण :-

अश्वगन्धा चूर्ण 1-1 चम्मच (3 से 5 ग्राम) प्रातः-सायं दूध से सेवन करने से दुबले व्यक्तियों का एक माह में लगभग 3 से 5 किलो वजन बढ़ जाता है। इस चूर्ण का सेवन करने से शारीरिक दुर्बलता, वातरोग व स्नायुरोग में भी विशेष लाभ होता है।

मुँह के छालों के लिए घरेलू दवा :-

1. कायाकल्प तैल में फिटकरी भस्म मिलाकर रूई की फुहेरी से प्रभावित स्थान पर लगाने से मुख के छाले ठीक हो जाते हैं।
2. चमेली और अमरूद के 5-5 पत्ते लेकर थोड़ी देर तक मुँह में धीरे-धीरे चबाएँ। थोड़ी देर बाद पानी बाहर निकाल दें। ऐसा करने से भी मुँह के छाले ठीक हो जाते हैं।
3. 1 या 2 खदिरादि वटी को मुख में रख कर चूसने से छालों में लाभ होता है।

Platelets **को बढ़ाने के लिए घृतकुमारी :-**

1. प्रतिदिन खाली पेट 25-50 ग्राम घृतकुमारी का गूदा खाने से अथवा घृत कुमारी स्वरस को पीने से कम हुई च्संजमसमजे की संख्या बढ़ जाती है।
2. घृतकुमारी का गूदा च्संजमसमज को बढ़ाने के साथ-साथ उदर के समस्त विकारों एवं स्त्रियों के रोगों में बहुत लाभ करता है।
3. वात रोग, थैलेसीमिया, हिपेटाइटिस 'बी', पेट का फूल जाना, भूख न लगना, भोजन करने पर पेट में जलन होना, स्त्रियों में मासिकधर्म की अनियमितता, मूत्र में जलन होना, मूत्र का रुक-रुक कर आना आदि रोगों में घृतकुमारी के सेवन से आराम हो जाता है।
4. पपीते के पत्तों का रस निकालकर 25-50 मिली मात्रा में प्रातः एवं सायं सेवन करने से Platelets बढ़ते हैं।

गोमूत्र के उपयोग :-

प्रथम प्रयोग-

गोमूत्र साधारण रोगों के साथ-साथ कैंसर, दमा, वृक्क-निष्क्रियता, जलोदर एवं यकृत्-शोथ आदि अनेकों रोगों की निरापद औषध है। 10-15 मिली गोमूत्र का नियमित रूप से प्रतिदिन दो बार सेवन करने से उक्त सभी रोगों में शीघ्र लाभ होना प्रारम्भ हो जाता है। आधुनिक विश्लेषणों के आधार पर गोमूत्र में नाइट्रोजन, फास्फेट, केल्शियम, मैग्निशियम, यूरिया, यूरिक अम्ल, पोटैशियम, सोडियम कार्बोलिक अम्ल, लैक्टोज एवं हार्मोन्स पाए जाते हैं, जो सभी रोगों पर अपना-अपना प्रभाव दिखाकर रोग को समाप्त करने में सहयोग करते हैं।

गोमूत्र को यथासम्भव ताजा ही आठ तह किए कपड़े से छानकर प्रयोग करना चाहिए। तुरन्त ब्यायी या जरसी गाय का मूत्र प्रयोग नहीं करना चाहिए। बच्चा देने के 1-2 माह के पश्चात् ही गोमूत्र प्रयोग करना उचित है। प्रतिदिन ताजे गोमूत्र की अनुपलब्धता की अवस्था में गोमूत्र को छानकर शीशी में भरकर रख लें। जो मधुमेह के रोगी नहीं हैं, वे लोग इस गोमूत्र में मधु मिलाकर भी रख सकते हैं। इससे वह अधिक दिनों तक सुरक्षित रहेगा

द्वितीय प्रयोग- गोमूत्र को ताम्बे के पात्र में लेकर उसको पका लें। जब आधा से भी कम रह जाए तब छानकर शीशी में भरकर रख लें। 1-1 या 2-2 बूँद प्रातः एवं सायं आँख में डालने से आँखों के समस्त रोगों में लाभ पहुँचता है।

हरड़, बहेड़ा तथा आंवला फल के समभाग मिश्रण को त्रिफला कहते हैं। त्रिफला को आयुर्वेद में रसायन माना गया है। इसके विधि पूर्वक सेवन से रोगों का शमन तथा शरीर में बल की वृ(होती हैं।

त्रिफला के गुण :-

1. त्रिफला कफ, पित्त, प्रमेह तथा कुष्ठ को हरने वाला, दस्तावर, नेत्रों को हितकारी, अग्नि प्रदीप्त करने वाला, रुचिवर्धक एवं विषमज्वरनाशक है।
2. 2-5 ग्राम त्रिफला चूर्ण में 125 मि. ग्रा. लौह भस्म मिलाकर प्रातः एवं सायं सेवन करने से बाल झड़ने बंद हो जाते हैं।
3. एक चम्मच त्रिफला चूर्ण को रात्रि को ठंडे पानी में भिगोकर प्रातः उस जल से नेत्रों को धोने से नेत्रों के रोग मिटते हैं।
4. पित्तजनित गुल्म में द्राक्षा एवं हरड़ का 1-2 चम्मच स्वरस गुड़ मिलाकर पीना अथवा त्रिफला चूर्ण की 3-5 ग्राम मात्रा को खाँड में मिलाकर दिन में 3 बार खाना चाहिए।
5. त्रिफला, दाडिम, राजादन यें सब वायुनाशक, मूत्रदोष को मिटाने वाले हैं। हृदय के लिए पिपासानाशक है एवं रुचि उत्पन्न करने वाले हैं।
6. रात्रि में सोते समय एक चम्मच त्रिफला चूर्ण का सेवन गुनगुने जल के साथ करने से कब्ज मिटती है।
7. त्रिफला का क्वाथ बनाकर 20 मिली मात्रा में पीने से विषम ज्वर का शमन होता है।
8. आधा चम्मच त्रिफला चूर्ण को प्रातः, दोपहर व सायं जल के साथ सेवन करने से अम्लपित्त में लाभ होता है।
9. 1 चम्मच त्रिफला चूर्ण को रात्रि में 200 मिली पानी में भिगोकर रखें। प्रातः गर्म करें आधा शेष रहने पर छान लें, ठण्डा होने पर इसमें 2 चम्मच शहद मिलाकर सेवन करें। कुछ ही दिनों के सेवन से कई किलो वजन कम हो जाता है।

स्मरणी बिन्दु-

1. लौकी के रस में किन पत्तों का प्रयोग किया जाता है?
2. अर्जुनक्षीर पाक कैसे तैयार किया जाता है?
3. नकसीर में कौन सा रस उपयोगी है?
4. कब्ज में कौन-कौन से ल लाभकारी हैं?
5. शतावरी का उपयोग किसके लिए किया जाता है?

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
क्षीरपाक	दूध में पकाया गया औषधीय काढ़ा
अम्लपित्त	एसिडिटी
नकसीर	नाक से रक्त स्राव
उदररोग	पेट संबंधी रोग
त्रिकटु	सोंठ, काली मिर्च, पिप्पलीमिश्रण
क्षय	कमजोरी/नाश
वर्धक	बढ़ाने वाला
रस	तरल अर्क
चूर्ण	पाउडर रूप औषधि
भस्म	जली हुई औषधीय राख

5 अंक के प्रश्न-

1. त्रिकटु चूर्ण क्या है?
2. नकसीर के दो घरेलू उपाय लिखिए।
3. बंध्यत्व में कौन सा योग प्रयोग होता है?
4. शतावरी के दो लाभ लिखिए।
5. माइग्रेन में उपयोगी उपाय बताइए।

15 अंक के प्रश्न-

1. हृदय रोग में लौकी रस एवं अर्जुनक्षीर पाक की विधि एवं लाभ लिखिए।
2. विभिन्न नेत्र रोगों में उपयोग होने वाले घरेलू उपचारों का वर्णन कीजिए।
3. मधुमेह एवं कब्ज के घरेलू उपचार विस्तार से समझाइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. लौकी रस किसके लिए लाभकारी है?

(क) केवल बुखार

(ख) हृदय रोग व मोटापा

(ग) केवल सिर दर्द

(घ) त्वचा रोग

2. अर्जुन किसक लिए प्रयोग होता है?

(क) नेत्र

(ख) हृदय

(ग) दाँत

(घ) त्वचा

3. नकसीर में क्या डाला जाता है?

(क) नींबू

(ख) दूर्वारस

(ग) शहद

(घ) घी

4. शतावरी किसके लिए उपयोगी है?

(क) बाल बढ़ाने

(ख) दूध वृद्धि

(ग) बुखार

(घ) खांसी

5. जामुन गुठली चूर्ण उपयोगी है?

(क) मधुमेह

(ख) आंख

(ग) कान

(घ) दांत

॥ ओ३म् ॥

गायन एवं वादन का प्रारम्भिक बोध

BDPHSE-105 (2) (SLM)

दिव्य प्रकाशन

गायन एवं वादन का प्रारम्भिक बोध

CRDITS - 3

उद्देश्यः-

- संगीत की मूलभूत जानकारी प्रदान करना। भारतीय संगीत की परंपरा और विकास से परिचित कराना।
- धवनि, नाद, स्वर, ताल व राग की समझ विकसित करना। उत्तर दक्षिण भारतीय संगीत की विशेषताओं को समझाना।
- ताल वाद्य और उसकी संरचना का ज्ञान देना। अलंकार और अभ्यासों द्वारा गायन क्षमता बढ़ाना।
- स्वर में नियंत्रण लाना, संगीत में योग के माधयम से एकाग्रता, अनुशासन व रचनात्मकता को बढ़ावा देना

क्र.सं.	**खंड -1**	**संगीत का सांक्षिप्त इतिहास क्रेडिट**	**क्रेडिट**
1	इकाई-1	संगीत परिचय एवं परिभाषा	सैद्धान्तिक **2**
2	इकाई-2	संगीत की उत्पत्ति प्रकार	
3	इकाई-3	उत्तर एवं दक्षिण भारतीय संगीत	
4	इकाई-4	मार्गी एवं देज़ी संगीत	
	खंड-2	**संगीत शास्त्र, पारिभाषिक शब्द**	
1	इकाई -5	धवनि, धवनि की उत्पत्ति, नाद, प्रकार	
2	इकाई -6	अलंकार एवं स्वर प्रकार	
3	इकाई -7	श्रुति, सप्तक	
4	इकाई -8	पाँच श्लोक (राग-ताल परिचय)	
	खण्ड -3	**ताल, वाद्य परिचय**	
1	इकाई -9	वाद्यों के प्रकार	क्रियात्मक 1
2	इकाई -10	मात्र, लय, सम, विभाग, ठेका, ताली खाली	
3	इकाई -11	तीनताल परिचय एवं ठाह की लय	
4	इकाई -12	12 स्वर सप्तक एवं 5 स्वस्तिवाचन्मंत्र	
	खंड-4	**संगीत, योग और धयान**	
1	इकाई -13	ओउम् का स्थान एवं खरज साधाना	
2	इकाई -14	सासों का अभ्यास (आवाज बनाने हेतु)	
3	इकाई -15	1 से 5 अलंकार (क्रमिक पु.म.भाग-1)	
4	इकाई -16	प्राथमिक संगीत धयान	

परिणम :-

- विद्यार्थी संगीत की मूल परिभाषा व इतिहास को समझ सकेंगे। उत्तर व दक्षिण भारतीय संगीत के मुख्य अतंर व विशेषताओं को पहचान सकेंगे। खरज साधाना व साँसों के अभ्यास से स्वर नियंत्रण बेहतर होगा।
- संगीत और धयान के अभ्यास से एकाग्रता व मानसिक संतुलन में वृद्धि होगी। प्राथमिक गायन अभ्यास (अलंकार) द्वारा गायन की बुनियादी क्षमता विकसित होगी।

विषय-सूची

खंड -1 संगीत का सांक्षिप्त इतिहास	**5-15**
इकाई-1.1 संगीत परिचय एवं परिभाषा	5-6
इकाई-1.2 संगीत की उत्पत्ति प्रकार	7-11
इकाई-1.3 उत्तर एवं दक्षिण भारतीय संगीत	12-13
इकाई-1.4 मार्गी एवं देशी संगीत	14-15
खंड-2 संगीतशास्त्र, पारिभाषिक शब्द	**16-26**
इकाई-2.1 धवनि, धवनि की उत्पत्ति, नाद, प्रकार	16-18
इकाई-2.2 अलंकार एवं स्वर प्रकार	19-21
इकाई-2.3 श्रुति, सप्तक	22-24
इकाई-2.4 पाँच श्लोक (राग-ताल परिचय)	25-26
खण्ड-3 ताल, वाद्य परिचय	**27-36**
इकाई-3.1 वाद्यों के प्रकार	27-28
इकाई-3.2 मात्र, लय, सम, विभाग, ठेका, ताली खाली	29-31
इकाई-3.3 तीनताल परिचय एवं ठाह की लय	32-33
इकाई-3.4 बारह स्वर सप्तक एवं 5 स्वस्तिवाचन्मंत्र	34-36
खंड-4 संगीत, योग और धयान	**37-42**
इकाई-4.1 ओउम् का स्थान एवं ख़रज साधाना	37-38
इकाई-4.2 सासों का अभ्यास (आवाज बनाने हेतु)	39-39
इकाई-4.3 1 से 5 अलंकार (क्रमिक पु.म.भाग-1)	40-40
इकाई-4.4 प्राथमिक संगीत धयान	41-42

प्रस्तावना

संगीत मानव जीवन की आत्मा है, जो मन, शरीर और आत्मा को जोड़ने का माध्यम बनता है। भारतीय संगीत एक प्राचीन और समृद्ध परंपरा है, जो न केवल मनोरंजन का माध्यम है, बल्कि आत्मानुभूति, ध्यान और आध्यात्मिक उन्नति का भी सशक्त साधन है। यह पाठ्यक्रम विद्यार्थियों को भारतीय शास्त्रीय संगीत की मूलभूत अवधारणाओं से परिचित कराते हुए उन्हें संगीत की गहराई और व्यावहारिकता से जोड़ता है। यह पाठ्यक्रम संगीत के माध्यम से आत्मविकास, अनुशासन और आंतरिक संतुलन को विकसित करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

पाठ्यक्रम की शुरुआत संगीत के इतिहास और उसकी उत्पत्ति एवं प्रकार से होती है, जिससे छात्र यह जान सकें कि संगीत कैसे विकसित हुआ और इसके कौन-कौन से स्वरूप हैं। इसके बाद उत्तर भारतीय (हिंदुस्तानी) और दक्षिण भारतीय (कर्नाटघ) संगीत शैलियों का तुलनात्मक परिचय कराया जाता है।

मार्गी और देशी संगीत, जो शास्त्रीय और लोक परंपराओं के रूप में विकसित हुए हैं, इनका अध्ययन छात्रों को सांस्कृतिक विविधता की समझ प्रदान करता है।

ध्वनि, नाद, स्वर, श्रुति, सप्तक, अलंकार और ताल-लय जैसे संगीत के वैज्ञानिक पक्ष को सरल उदाहरणों के माध्यम से समझाया गया है।

पाठ्यक्रम में तीनताल, मात्रा, सम, ताली-खाली, विभाग आदि की जानकारी के साथ-साथ वाद्य यंत्रों के प्रकार और उनका परिचय भी शामिल है, ताकि विद्यार्थी संगीत को समग्रता में समझ सकें। संगीत का संबंध केवल ध्वनि या अभ्यास तक सीमित नहीं है। योग, ध्यान और साँसों के संयम से जुड़कर यह साधना का रूप ले लेता है। इस हेतु ओउम् का महत्व, खरज साधना, तथा साँसों का अभ्यास भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया है।

राग-ताल से संबंधित श्लोक, स्वस्तिवाचन मंत्र, और क्रमिक पु.मालिका भाग-1 से 1 से 5 अलंकारों का अभ्यास, विद्यार्थियों की व्यावहारिक दक्षता और मानसिक एकाग्रता को सशक्त बनाते हैं। यह पाठ्यक्रम विद्यार्थियों को शास्त्रीय संगीत की बुनियादी शिक्षा, भावनात्मक अभिव्यक्ति, और आत्मिक संतुलन की ओर अग्रसर करता है, जिससे वे संगीत को जीवन का अभिन्न अंग बना सकें।

खण्ड-1 संगीत का संक्षिप्त इतिहास

इकाई-1.1 संगीत परिचय एवं परिभाषा

1- स्मरणीय बिंदु

संगीत ध्वनि (स्वर) और मौन के संयोजन से उत्पन्न होने वाली एक कला है।

संगीत में लय, गति (तालगा) ताद्ध, पिच तथा बनावट जैसे तत्वों का समावेश होता है।

संगीत का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि भावनाओं की अभिव्यद्रि और आध्यात्मिक साधना भी है।

भारतीय संगीत को श्रवणीय कला कहा जाता है, जो मन और आत्मा को प्रभावित करती है।

संगीत शास्त्रें और वेदों में संगीत का विस्तृत वर्णन मिलता है।

संगीत एक ऐसी कला है जो ध्वनि (स्वर) और मौन के संयोजन से उत्पन्न होती है। यह समय के साथ प्रवाहित होती है और इसमें विभिन्न तत्वों जैसे लय, पिच, गति (गतिकी) और बनावट का समावेश होता है। संगीत का उद्देश्य न केवल मनोरंजन है, बल्कि यह भावनाओं की अभिव्यक्ति, सांस्कृतिक पहचान, और आध्यात्मिक साधना का भी माध्यम है।

संगीत रत्नाकर में कहा गया है कि "नृत्य वादन पर और वादन गायन पर आश्रित है"

''नृत्यं वाद्यनुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्चितम्''। (राग परिचय भाग-१)

इसका अर्थ है कि नृत्य वाद्य (वाद्य यंत्रोक) के साथ होता है और वादन (वाद्य यंत्रों का बजाना) गायन के अनुसार होता है।

अत: इन सब में गायन सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होता है।

संगीत भारतीय संस्कृति में एक अत्यंत प्राचीन और समृद्ध कला है। इसे ''श्रवणीय कला'' कहा जाता है, जो मन, आत्मा और भावना को प्रभावित करती है। संगीत का शास्त्रीय रूप में वर्णन वेदों और ग्रंथों में विस्तार से किया गया है। ''संगीत'' वह मधुर कला है जिसमें स्वर (ध्वनि) और लय (तालबद्धता) के माध्यम से भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। यह मानव की आत्मा को स्पर्श करने वाली कला है, जो मन को शांति, आनंद और ऊर्जा प्रदान करती है।

संगीत की परिभाषा

श्लोक 1:

''गीतम्, वाद्यम् तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।'' (संगीतरत्नाकर)

भावार्थ:

गीत (गायन), वाद्य (वाद्ययंत्रों का वादन) और नृत्य (शारीरिक मुद्राओं द्वारा भाव व्यक्त करना) ❍ इन तीनों का समुच्चय संगीत कहलाता है।

श्लोक 2:

''राग: स्वरपृथक्त्वं च ताल: समया संगम:।
रागतालसमायुक्तं संगीतं इति कथ्यते''

भावार्थ:

जब स्वरों का पृथक-पृथक उपयोग (राग), और लयबद्ध समय-नियोजन (ताल) के साथ संयोजन किया जाता है, तब उसे संगीत कहते हैं।

शब्दावली

संगीत- स्वर और लय के माध्यम से भावों की अभिव्यद्रि की कला।

स्वर - ध्वनि का वह रूप जो संगीत में प्रयुद्र होता है।

लय - समय का नियमित एवं तालगा) प्रवाह।

ताल - लय को मापने की निश्चित प्रणाली।

गायन - स्वर के माध्यम से संगीत की प्रस्तुति।

वादन - वाद्य यंत्रें द्वारा संगीत का प्रदर्शन।

नृत्य - शारीरिक मुद्राओं द्वारा भावों की अभिव्यद्रि।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. संगीत का निर्माण किन तत्वों के संयोजन से होता है?

क) रंग और रूप

ख) स्वर और मौन

ग) शब्द और भाव

घ) गति और नृत्य

2. संगीत रत्नाकर के अनुसार नृत्य किस पर आधारित है?

क) केवल ताल पर

ख) गायन पर

ग) वादन पर

घ) वादन और गायन पर

3. भारतीय संगीत को किस प्रकार की कला कहा गया है?

क) ख्रश्य कला

ख) शिल्प कला

ग) श्रवणीय कला

घ) अभिनय कला

4. संगीत का प्रमुख उद्देश्य क्या है?

क) केवल मनोरंजन

ख) व्यवसाय

ग) भावनाओं की अभिव्यद्रि

रिक्त स्थान भरें

1. संगीत स्वर और -------- के संयोजन से उत्पन्न होता है।
2. संगीत रत्नाकर के अनुसार वादन -------- पर आधारित है।
3. संगीत मन को -------- और आनंद प्रदान करता है।
4. संगीत का शास्त्रेय वर्णन -------- और ग्रंथों में मिलता है।

1. मौन
2. गायन
3. शांति
4. वेदों

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. संगीत को श्रवणीय कला क्यों कहा जाता है?
2. संगीत के प्रमुख तत्व कौन-कौन से हैं?
3. संगीत का आध्यात्मिक महत्व बताइए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. संगीत की परिभाषा स्पष्ट करते हुए उसके उद्देश्य पर प्रकाश डालिए।

इकाई-1.2 संगीत की उत्पत्ति एवं प्रकार

शब्दावली

संगीत – स्वर, लय और ताल के माध्यम से भावों की अभिव्यद्रि की कला।
राग – स्वरों की विशेष संयोजना जिससे विशेष भाव उत्पन्न होता है।
ताल – संगीत की लय को व्यवस्थित करने वाली मात्रओं की संरचना।
ध्वनि – वायुमंडल में कंपन से उत्पन्न स्वर, जो संगीत का आधार है।
मौन – ध्वनियों के बीच का ठहराव, जो संगीत में संतुलन लाता है।
गुरु-शिष्य परंपरा – गुरु के सान्निध्य में रहकर संगीत सीखने की पारंपरिक विधि।

संगीत की उत्पत्ति :

संगीत की उत्पत्ति को लेकर भिन्न-भिन्न मान्यताये प्राप्त होती है:

1. **प्राकृतिक ध्वनियों से उत्पत्ति:**
   ऐसा माना जाता है कि संगीत की शुरुआत प्रकृति की ध्वनियों से हुई – जैसे पक्षियों का कलरव, बहती हवा, पानी की ध ारा आदि।
2. **पौराणिक मान्यता:**
   एक मान्यता के अनुसार ब्रह्मा ने संगीत का वरदान देवी सरस्वती को दिया। फिर सरस्वती ने यह ज्ञान नारद मुनि को दिया, और उन्होंने इसे संसार में फैलाया।
3. **वैदिक कालीन स्रोत:**
   संगीत की उत्पत्ति वैदिक काल से भी पहले मानी जाती है। विशेष रूप से सामवेद को संगीत का मूल माना गया है। सामवेद में मंत्रों का गान (सामगान) किया जाता था, जिससे सुर और लय की परंपरा शुरू हुई।
   इस प्रकार, भारतीय संगीत की जड़ें आध्यात्मिक, प्राकृतिक और वैदिक परंपरा में गहराई से जुड़ी हुई हैं।

संगीत के प्रकार :

1. **भारतीय संगीत को मुख्यत: ? दो भागों में विभाजित किया जाता है:**

1. शास्त्रीय संगीत (Classical Musixत)

- हिंदुस्तानी संगीत (उत्तर भारत)
- कर्नाटिक संगीत (दक्षिण भारत)

यह संगीत राग और ताल की बारीक समझ पर आधारित होता है।

संगीत के मूलभूत घटक

1. **ध्वनि और मौन:**

- ध्वनि: संगीत का आधार स्वर है, जो वायुमंडल में कंपन के कारण उत्पन्न होता है।
- मौन: ध्वनियों के मध्य मौन संगीत में ठहराव और संतुलन लाता है, जिससे भाव अधिक स्पष्ट होते हैं।

2. **समय (Time):**

- संगीत समय में घटित होती है, जिसमें ताल, गति और रचना की अवधि महत्त्वपूर्ण होती है।

3. **मुख्य तत्व (Elements):**

तत्व विवरण

- लय (Rhythm) संगीत की गति, ठहराव और दोहराव का निर्धारण करती है।
- पिच (Pitch) ध्वनि की ऊँचाई या गहराई को दर्शाती है, जिससे संगीत में माधुर्य आता है।
- गतिकी (Dynamics) ध्वनि की तीव्रता और हल्के या तेज होने के भाव को दर्शाती है।
- बनावट (Teñture) विभिन्न ध्वनियों और स्वर-यंत्रों का संयोजन, जो संगीत को गहराई प्रदान करता है।

संगीत के तीन प्रमुख अंग

1. **गायन** – स्वर के माध्यम से भावों की अभिव्यक्ति।
2. **वादन** – वाद्य यंत्रों द्वारा स्वर और ताल का निर्माण।

3. **नृत्य** – शरीर की गति द्वारा संगीत का दृश्य रूप से प्रदर्शन।

संगीत के उपयोग और महत्त्व

उद्देश्य	**विवरण**
भावना की अभिव्यक्ति	संगीत के माध्यम से हम अपने भीतर की भावनाओं को शब्दहीन रूप में व्यक्त कर सकते हैं।
सांस्कृतिक पहचान	हर संस्कृति का अपना संगीत होता है, जो उसकी परंपराओं और मान्यताओं को दर्शाता है।
आध्यात्मिक साधना	भारतीय शास्त्रीय संगीत को साधना का मार्ग माना जाता है, जो आत्मा को शांति और उन्नति देता है।

निष्कर्ष:

संगीत एक कला के साथ-साथ उच्च अध्यात्मिक अनुभूति, एक संवाद और एक साधना है। यह हमें न केवल आनंद की प्राप्ति देता है, बल्कि हमारे मन, मस्तिष्क और आत्मा के वास्तविक स्वरूप का बोध कराने में एक सशक्त साधन के रूप में विद्यमान है।

संगीत सीखने की विधियाँ (Music Learning Methods) :- प्रमुख संगीत शिक्षण पद्धतियाँ भारतीय शास्त्रीय संगीत, पश्चिमी संगीत या आधुनिक संगीत शिक्षा से संबंधित हो सकती हैं।

1. **गुरु-शिष्य परंपरा - पारंपरिक भारतीय विधि**

- यह भारतीय शास्त्रीय संगीत की मूल शिक्षण प्रणाली है।
- विद्यार्थी (शिष्य) गुरु के सान्निध्य में रहकर संगीत की गूढ़तम बातों को व्यवहारिक रूप में सीखता है।
- इसमें रागों का अभ्यास (रियाज), बंदिश, अलंकार, तान, मींड आदि का प्रशिक्षण मौखिक रूप से होता है।

2. **नोटेशन प्रणाली (** Notation Metho?**ा)**

- पश्चिमी और आधुनिक संगीत शिक्षा में प्रयोग होता है।
- इसमें धुन, राग, लय आदि को लिखित रूप में सिखाया जाता है (स्वरलिपि प्रणाली)।
- हिंदुस्तानी संगीत में विष्णु नारायण भातखंडे और पं. विष्णु दिगंबर पलुस्कर की पद्धतियाँ प्रसिद्ध हैं।

3. **ऑनलाइन या डिजिटल लर्निंग (** Modern Metho?**ा)**

- आज के समय में संगीत सिखाने के लिए वीडियो ट्यूटोरियल, ऐप्स, वर्चुअल क्लास आदि का प्रयोग किया जाता है।
- इसमें इंटरऐक्टिव अभ्यास, रिकॉर्डिंग, और फीडबैक की सुविधा होती है।

संगीत सीखने के अन्य तरीके:

- संगीत विद्यालय
- ऑनलाइन कोर्स
- संगीत शिक्षक (गुरु)

विभिन्न शैलियों के तरीके:

- भारतीय शास्त्रीय संगीत:
  - राग + ताल = संगीत

  उदाहरण: राग यमन, राग भैरव आदि।
- **पश्चिमी शास्त्रीय संगीत:**
  - स्केल + इंटरवल + कॉर्ड = रचना

  उदाहरण: मेजर स्केल, माइनर स्केल आदि।

निष्कर्ष:

संगीत रचना एक कला है, जिसे नियम, अभ्यास, और कल्पना से सीखा जा सकता है।अलग-अलग शैलियों को समझकर संगीत में निपुणता पाई जा सकती है।

भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास :-

भारतीय संगीत का इतिहास अत्यंत समृद्ध, गूढ़ और विविधताओं से परिपूर्ण है। यह न केवल भारत की सांस्कृतिक धरोहर

का हिस्सा है, बल्कि इसकी आत्मा का प्रतिबिंब भी है।

भारतीय संगीत का इतिहास वैदिक काल से भी प्राचीन है। ऋषि-मुनियों ने इसकी रचना की और इसे साधना का माध्यम माना, सामवेद में गान और स्वर की जानकारी मिलती है।

भारतीय संगीत की उत्पत्ति कब, कैसे, और किसके द्वारा हुयी,अंधकार के गर्त में हैद्य वास्तव में संगीत का इतिहास स्वयं मानव का इतिहास हैद्य जैसे-जैसे मानव का अध्यात्मिक विकास होता गया, संगीत की उन्नति होती गयीद्य

संगीत का सम्पूर्ण इतिहास मुख्या रूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :-

(1) प्राचीन काल - आदिकाल से 800 ई. तक

(2) मध्य काल - 800 ई. से 1800 ई. तक

(3) आधुनिक कल काल - 1800 ई. से आज तक का समय

(1) प्राचीन काल - आदि काल से 800 ई. तक: प्राचीन काल को तीन भागों में विभक्त किया गया है:-

वैदिक काल : इस काल का प्रारम्भ आदि काल से 1000 ईसा पूर्व तक मन जाता है। इस काल में चारो वेदों की रचना हुयी है, पूरा एक वेद सामवेद संगीत - युक्त है

संदिग्ध काल : इस काल की अवधि 1000 ईसा पूर्व से 1 ई० तक हैद्य संगीत की दृष्टि से इस समय ऐसा कोई भी ग्रन्थ है जिससे उस समय के संगीत का थोड़ा बहुत आभास मिले इसलिए इसे संदिग्ध काल कहते हैद्य

भरत काल : पांचवी शताब्दी में रचित भरत मुनि का नाट्यशास्त्र भारतीय संगीत के शास्त्रबद्ध स्वरूप की आधारशिला बना। इसमें स्वर, ताल, राग, और रसों का अत्यंत वैज्ञानिक व कलात्मक विश्लेषण मिलता है। इस काल में गंधर्व संगीत की परंपरा भी उभरती है, जो देवताओं के संगीत के रूप में जानी जाती थी।

(2) मध्य काल - 800 ई. से 1800 ई. तक:- इस काल को 2 भागों में विभाजित किया गया है:

पूर्व मध्य काल: इस काल में संगीत ने साहित्य, चित्रकला और स्थापत्य के साथ मिलकर एक स्वर्णिम त्रिवेणी का रूप लिया। इस समय रियासतों में संगीत को संरक्षण मिला जिससे संगीत का प्रचार-प्रसार और विकास हुआ। हिंदुस्तानी और कर्नाटक संगीत की शाखाएँ स्पष्ट रूप से अलग-अलग स्वरूपों में ढलने लगीं। **यह काल संगीत का स्वर्ण-युग माना जाता है।**

उत्तर मध्य काल: उत्तर मध्यकालीन भारत में संगीत एक समृद्ध और आध्यात्मिक स्वरूप में विकसित हुआ। यह काल लगभग 13वीं से 18वीं शताब्दी तक फैला हुआ था। इस युग में संगीत ने धार्मिक भक्ति, दरबारी रस, और जनमानस के भावों को स्वर दिया।

संगीत भक्ति और भावनाओं की अभिव्यक्ति बन गया। इस समय भक्ति आंदोलन के प्रभाव से संगीत कमअवजपवदंस (भक्तिपूर्ण) हो गया। कबीर, सूरदास, तुलसीदास, मीरा बाई जैसे संतों ने अपने पदों और भजनों को रागों में ढालकर जन-जन तक पहुँचाया। इसी काल में ध्रुपद गायन का उत्कर्ष हुआ, जो गंभीरता, शांति और नियमबद्धता का प्रतीक था। साथ ही, वीणा, रुद्रवीण ा, पखावज जैसे वाद्य यंत्रों का प्रयोग प्रचलित हुआ।

संक्षेप में:

उत्तर मध्यकालीन संगीत भक्ति, भव्यता और भावनाओं की त्रिवेणी था ख़ जहाँ मंदिरों से लेकर महलों तक, स्वर और लय की गूंज सुनाई देती थी।

(3) आधुनिक कल काल - 1800 ई. से आज तक का समय:

आधुनिक काल में संगीत विविधता, नवाचार और वैश्विक प्रभाव का संगम बन गया है। यह केवल परंपरा में बंधा नहीं रहा, बल्कि नित नए रूपों में ढलता गया। अब संगीत केवल शास्त्रीय या लोक नहीं रहा, बल्कि फिल्मी गीत, पॉप, रॉक, जैज, और फ्यूजन जैसी कई विधाओं में विकसित हुआ।

रिकॉर्डिंग, रेडियो, टीवी और अब डिजिटल प्लेटफॉर्म ने संगीत को घर-घर तक पहुँचा दिया। कंप्यूटर और इलेक्ट्रॉनिक वाद्ययंत्रों ने नई ध्वनियाँ रचीं।संगीत अब मनोरंजन ही नहीं, आत्म-अभिव्यक्ति और सामाजिक संदेश का माध्यम भी बन गया है।

शास्त्रीय और लोक संगीत (Classical & Folk Musix ा)

शास्त्रीय संगीत (Classical Musix ा)

- ❒ नियमों और राग-ताल पर आधारित।
- ❒ गहराई, साधना, और अनुशासन आवश्यक।
- ❒ दो प्रकार: हिन्दुस्तानी और कर्नाटक।

लोक संगीत (Folk Musix ा)

- ❒ आम लोगों की सांस्कृतिक भावनाओं से जुड़ा।
- ❒ सरल भाषा और धुन।
- ❒ **उदाहरण:** लोकगीत, भजन, झूमर, गिद्धा आदि।

राग (Raag)

- ❒ राग स्वरों की विशेष संयोजना है जो भाव उत्पन्न करती है।
- ❒ हर राग का समय, मौसम और भावना से संबंध होता है।
- ❒ **उदाहरण:** राग यमन, राग भैरव, राग दरबारी।

ताल (Taal)

- ❒ ताल संगीत की लय को व्यवस्थित करता है।
- ❒ यह माप (मात्राएँ) और चक्र (आवर्तन) में चलता है।
- ❒ **उदाहरण:** तीनताल (16 मात्रा), झपताल (10 मात्रा), एकताल (12 मात्रा)।

वाद्य यंत्र (Instruments):

तार वाद्य (String Instruments):

- ❒ वीणा, सितार, सरोद, संतूर।

ताल वाद्य (Percussion Instruments):

- ❒ तबला, मृदंगम, पखावज, ढोलक।

सुषिर वाद्य (Wind Instruments):

- ❒ बांसुरी, शंख, शहनाई।

गायन शैलियाँ (Vocal Stylè):

ध्रुपद – सबसे पुरानी शास्त्रीय शैली, गंभीर और आध्यात्मिक।

ख्याल – लचीली और रचनात्मक गायकी, सबसे लोकप्रिय।

ठुमरी – भावपूर्ण और रोमांटिक शैली।

भजन/कीर्तन – भक्ति से जुड़ी गायन शैली।

नृत्य और संगीत (Dance and Musix ा)

- ❒ संगीत और नृत्य का गहरा संबंध है।
- ❒ नृत्य शैलियाँ शास्त्रीय संगीत पर आधारित होती हैं।

प्रसिद्ध शास्त्रीय नृत्य:

- ❒ भरतनाट्यम (तमिलनाडु)
- ❒ कथक (उत्तर भारत)
- ❒ ओडिशी (ओडिशा)
- ❒ कुचिपुड़ी, मणिपुरी, मोहिनीअट्टम आदि।

निष्कर्ष: भारतीय संगीत एक विशाल और गहराई से भरा हुआ परंपरा है जिसमें राग, ताल, वाद्य, गायन, और नृत्य सभी एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। इसका अभ्यास न केवल कला है, बल्कि आत्मा की साधना भी मानी जाती है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. भारतीय शास्त्रीय संगीत के मुख्य कितने प्रकार हैं?
   क) एक
   ख) दो
   ग) तीन
   घ) चार
2. सामवेद किससे संबंधित है?
   क) नृत्य

ख) चित्रकला
ग) संगीत
घ) स्थापत्य

3. संगीत का आधार क्या माना जाता है?
क) शब्द
ख) मौन
ग) ध्वनि
घ) गति

4. तीनताल में कितनी मात्रएँ होती हैं?
क) 10
ख) 12
ग) 14
घ) 16

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. शास्त्रीय संगीत से आप क्या समझते हैं?
2. संगीत के तीन प्रमुख अंग कौन-कौन से हैं?
3. गुरु-शिष्य परंपरा का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय संगीत के प्रकारों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
2. भारतीय संगीत के इतिहास को संक्षेप में समझाइए।

इकाई-1.3 उत्तर भारत एवं दक्षिण भारतीय संगीत

भारतवर्ष में मुख्य दो प्रकार का संगीत प्रचार में है जिन्हें संगीत पद्धति कहते हैद्य उनके नाम है उत्तरी अथवा हिन्दुस्तानी संगीत और दक्षिणी अथवा कर्नाटक संगीत पद्धति।

भारतीय संगीत की पद्धतियाँ :

उत्तरी अथवा हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति (उत्तर भारत)

- ❖ यह उत्तर भारत में प्रचलित है।
- ❖ इसमें ख्याल, ध्रुपद, ठुमरी, भजन आदि शैलियाँ शामिल हैं।
- ❖ प्रमुख वाद्यः सितार, तबला, बांसुरी, सारंगी।

दक्षिणी अथवा कर्नाटक संगीत पद्धति (दक्षिण भारत)

- ❖ यह दक्षिण भारत में विकसित हुआ है।
- ❖ इसमें कृति, वर्णम, कीर्तन जैसे स्वरूप होते हैं।

भारतीय संगीत के प्रकारः भारतीय संगीत मूलतः दो प्रकार के हैः

1. **शास्त्रीय संगीतः**- भारतीय संगीत की एक महत्वपूर्ण और परंपरागत विधा है, जो नियमों और सिद्धांतों के अनुसार गाई और बजाई जाती है। इसे दो मुख्य भागों में बांटा जाता हैः

1. हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत (उत्तर भारत का शास्त्रीय संगीत)
2. कर्नाटक शास्त्रीय संगीत (दक्षिण भारत का शास्त्रीय संगीत)

2. **भाव संगीत :** एक प्रकार का भारतीय संगीत है जिसमें भावनाओं की अभिव्यक्ति पर विशेष जोर दिया जाता है। इसमें गीतों के माध्यम से प्रेम, करुणा, विरह, भक्ति आदि भावनाओं को व्यक्त किया जाता है। भाव संगीत में संगीत, शब्द और गायकी का मेल भावनाओं को गहराई से व्यक्त करता है।

भाव संगीत के तीन प्रकार निम्नलिखित हैंः

1. **चित्रपट संगीत**

   यह फिल्मों में प्रयुक्त भावपूर्ण गीत होते हैं, जो कहानी और पात्रों की भावनाओं को दर्शाते हैं।

2. **लोक संगीत**

   यह जनता के बीच गाया जाने वाला पारंपरिक संगीत होता है, जिसमें गाँव-देहात की भावनाएँ और सांस्कृतिक रंग झलकते हैं।

3. **भजन गीत**

   ये धार्मिक और भक्ति रस से भरे गीत होते हैं, जो ईश्वर की स्तुति और भक्ति भाव को व्यक्त करते हैं।

   यह तीनों प्रकार भावनाओं के विविध रूपों को संगीत के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं।

शब्दावली

हिंदुस्तानी संगीत - उत्तर भारत में प्रचलित भारतीय शास्त्रीय संगीत पद्धति।
कर्नाटक संगीत - दक्षिण भारत में विकसित शास्त्रीय संगीत पद्धति।
ख्याल - हिंदुस्तानी संगीत की एक लोकप्रिय गायन शैली।
ख्रति - कर्नाटक संगीत की प्रमुख रचना शैली।
भाव संगीत - भावनाओं की अभिव्यद्रि पर आधारित संगीत।
लोक संगीत - आम जनता से जुड़ा पारंपरिक संगीत।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. हिंदुस्तानी संगीत किस क्षेत्र में प्रचलित है?
   क) दक्षिण भारत
   ख) पूर्व भारत
   ग) उत्तर भारत

घ) पश्चिम भारत

2. कर्नाटक संगीत की प्रमुख शैली कौन-सी है?
   क) ठुमरी
   ख) ख्याल
   ग) ख़्रति
   घ) ग़ज़ल
3. भाव संगीत में किस पर अधिक जोर दिया जाता है?
   क) नियम
   ख) ताल
   ग) भावना
   घ) वाद्य
4. लोक संगीत किससे जुड़ा होता है?
   क) शास्त्रें से
   ख) आम जनता से
   ग) राजदरबार से
   घ) मंदिर से

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. हिंदुस्तानी संगीत की कोई दो गायन शैलियाँ लिखिए।
2. कर्नाटक संगीत की कोई दो विशेषताएँ बताइए।
3. भाव संगीत से आप क्या समझते हैं?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. उत्तर भारतीय एवं दक्षिण भारतीय संगीत का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
2. भाव संगीत के प्रकारों का वर्णन कीजिए।

इकाई-1.4 मार्गी एवं देशी संगीत मार्गी संगीत अथवा गन्धर्व संगीत

मार्गी संगीत वह संगीत होता है जो शास्त्रीय, आध्यात्मिक और गंभीर स्वरूप का होता है। इसका उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि शास्त्रों द्वारा निर्धारित नियमों और विधियों के अनुसार संगीत प्रस्तुत करना होता है। यह संगीत धार्मिक, आध्यात्मिक या शास्त्रीय होता है और इसमें गंभीर भाव और उच्च कोटि की कला होती है।

विशेषताएँ:

- शास्त्रीय और पारंपरिक संगीत होता है।
- इसमें नियम, ताल और स्वरों का सख्त पालन होता है।
- इसका उद्देश्य श्रोताओं के मन में आध्यात्मिक या उच्च कोटि की भावना जगाना होता है।
- इसे "मार्ग" यानी सही रास्ता माना जाता है।

उदाहरण:

भारतीय शास्त्रीय संगीत (हिंदुस्तानी और कर्नाटक संगीत), वेद मंत्र, भजन, गीता के श्लोक, और शास्त्रीय राग।

देशी संगीत अथवा गान

देशी संगीत वह संगीत होता है जो आम जनता के बीच चलता है और जो आम बोलचाल, लोक संस्कृति और दिनचर्या से जुड़ा होता है। यह अधिकतर लोक संगीत और क्षेत्रीय संगीत होता है, जो लोगों की भावनाओं और जीवन शैली को सरल और सहज रूप में प्रस्तुत करता है।

विशेषताएँ:

- यह आम जनता के जीवन, संस्कृति और परंपराओं से जुड़ा होता है।
- इसमें नियमों की कड़ाई नहीं होती, बल्कि सरलता और भाव प्रधान होते हैं।
- मनोरंजन, सामाजिक उत्सव, और दैनिक जीवन से जुड़ा होता है।
- इसे "देशी" यानी स्थानीय और ग्रामीण संगीत कहा जाता है।

उदाहरण:

लोकगीत, भांगड़ा, राक्सी गीत, लोक नृत्य गीत, और क्षेत्रीय लोक संगीत जैसे भोजपुरी, राजस्थानी, पंजाबी, बंगाली आदि।

सारांश:

विषय	**मार्गी संगीत**	**देशी संगीत**
स्वरूप	शास्त्रीय, आध्यात्मिक	लोक, क्षेत्रीय, सरल और सहज
उद्देश्य	आध्यात्मिक, गंभीर, नियमबद्ध	मनोरंजन, सामाजिक उत्सव, दैनिक जीवन
नियम	सख्त नियम और शास्त्रीयता	कम नियम, सरलता और भाव प्रधान

उदाहरण :- शास्त्रीय संगीत, भजन, वेद मंत्र लोकगीत, भांगड़ा, क्षेत्रीय गीत।

शब्दावली

मागह्ल संगीत - शास्त्रीय, आध्यात्मिक और नियमगा) संगीत।
गंधर्व संगीत - मागह्ल संगीत का पारंपरिक नाम।
देशी संगीत - आम जनता और लोक जीवन से जुड़ा संगीत।
शास्त्रीयता - नियमों और सिद्धांतों पर आधारित संगीत गुण।
लोकगीत - क्षेत्रेय और सांस्ह्रतिक गीत।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. मागह्ल संगीत का मुख्य उद्देश्य क्या है?
   क) मनोरंजन

ख) व्यवसाय
ग) आध्यात्मिक अनुभूति
घ) लोकप्रसिद्धि

2. देशी संगीत किससे संबंधित है?
क) शास्त्र
ख) मंदिर
ग) आम जनता
घ) राजदरबार

3. किस संगीत में नियमों का सख्त पालन होता है?
क) लोक संगीत
ख) देशी संगीत
ग) मागह्ल संगीत
घ) भाव संगीत

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मागह्ल संगीत की दो विशेषताएँ लिखिए।
2. देशी संगीत क्या है?
3. मागह्ल और देशी संगीत में एक अंतर लिखिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. मागह्ल एवं देशी संगीत का तुलनात्मक वर्णन कीजिए।

खण्ड- 2 परिभाषिक शब्द एवं श्लोक
इकाई-2.1 ध्वनि की परिभाषा एवं उत्पत्ति

ध्वनि की परिभाषा (Definition of Soun):

जो कुछ भी हम अपने कानों से सुनते हैं, वह ''ध्वनि'' (ध्वनि तरंग) होती है।

ध्वनि वह कंपन (vibration) है, जो किसी माध्यम (जैसे वायु, जल, ठोस) में तरंगों के रूप में गति करता है और जिसे हमारे कान (श्रवणेंद्रिय) द्वारा सुना जा सकता है।

सरल शब्दों में:

ध्वनि एक प्रकार की यांत्रिक तरंग (mechanical wave) है, जो कंपन के कारण उत्पन्न होती है और माध्यम में गति करती है।

ध्वनि की उत्पत्ति (Origin of Soun?ा):

ध्वनि की उत्पत्ति कंपन (vibration) से होती है। जब कोई वस्तु कंपन करती है, तो वह आस-पास के वायुमंडल में कणों को भी कंपनित करती है। ये कंपनित कण आगे पास के कणों को कंपनित करते हैं, जिससे ध्वनि तरंगें बनती हैं और हमारे कान तक पहुँचती हैं।

उदाहरण:

❖ जब हम ढोल बजाते हैं, तो उसकी झिल्ली कंपन करती है। यह कंपन हवा में तरंगें उत्पन्न करता है, जिसे हम ''ध्वनि'' के रूप में सुनते हैं।

ध्वनि के लिए आवश्यकताएँ:

1. कंपन करने वाला स्रोत (Vibrating source)
2. माध्यम (Medium) - जैसे वायु, जल, या ठोस पदार्थ।
3. श्रवण करने वाला (Listener)

नोट: ध्वनि निर्वात (vacuum) में नहीं फैल सकती, क्योंकि वहाँ कोई माध्यम नहीं होता।

नाद एवं नाद के प्रकार

नाद की परिभाषा

नाद वह नियमित और मधुर ध्वनि है जो निरंतर कंपन से उत्पन्न होती है और संगीत के लिए उपयुक्त होती है। यह संगीत का मूल आधार है।

नाद के प्रकार

I. आहत नाद

यह वह ध्वनि है जो किसी वस्तु पर प्रहार या कंपन द्वारा उत्पन्न होती है। यह सुनने योग्य और संगीत रचना में प्रयुक्त होती है।

2. अनाहत नाद

यह वह आंतरिक ध्वनि है जो बाहरी कारणों से नहीं, बल्कि ध्यान या साधना में अनुभव की जाती है। यह सूक्ष्म और आध्यात्मिक माना जाता है।

नाद की विशेषताएँ : नाद की प्रमुख 3 विशेषताओं को प्रस्तुत किया गया है:

1. नाद का छोटा-बड़ापन :

यह नाद की तीव्रता (intensity) या ध्वनि की ऊर्जाशीलता को दर्शाता है। जब कोई ध्वनि तेज होती है तो वह ''बड़ी'' प्रतीत होती है, और जब मन्द होती है तो ''छोटी'' लगती है।

❍ **बड़ा नाद** - जिसकी ध्वनि तेज हो, ऊर्जा अधिक हो, जैसे ढोल या ड्रम की आवाज।

❍ **छोटा नाद** - जिसकी ध्वनि धीमी हो या हल्की हो, जैसे बांसुरी या सितार का कोमल स्वर।

यह नाद की ''ध्वनि तीव्रता (Amplitude)'' पर निर्भर करता है।

2. नाद की ऊँचाई-निचाई:

यह नाद की आवृत्ति (frequency) से जुड़ी होती है।

- **ऊँचा नाद (High Pitch):** जिसकी आवृत्ति अधिक हो, जैसे बच्चे की आवाज या बांसुरी की तीखी ध्वनि।
- **नीचा नाद (Low Pitch):** जिसकी आवृत्ति कम हो, जैसे पुरुषों की भारी आवाज या मृदंग का गंभीर स्वर।

यह स्वर की तीव्रता नहीं, बल्कि पिच (pitch) से संबंधित है।

संगीत में ''सा रे ग म प ध नि'' जैसे स्वरों में श्साश की अलग-अलग ऊँचाइयाँ होती हैं - जैसे मंद्र ''सा'', मध्य ''सा'', और तार ''सा''।

3. नाद की जाति व गुण:

नाद की जाति :

यह नाद की स्वर संख्या या विविधता को दर्शाता है, जो उसे एक राग, सुर या ध्वनि विशेष बनाता है।

- **शुद्ध स्वर (Pure note)** - जैसे ''सा'', ''रे'', ''ग'' आदि।
- **कोमल और तीव्र स्वर** - जैसे कोमल ''रे'', तीव्र ''म''।

यह रागों की रचना में विशेष महत्व रखता है।

([ा) नाद के गुण:

नाद क निम्नलिखित गुण होते हैं:

1. **गंभीरता (Gravitation):** आवाज कितनी भारी या गहरी है।
2. **मधुरता (Sweetness):** नाद कितना कोमल और सुरम्य है।
3. **स्थिरता (Stability):** नाद कितना स्थायी और संतुलित है।
4. **गूंज (Resonance):** ध्वनि कितनी देर तक सुनाई देती है।

ये गुण ही एक नाद को दूसरे से अलग बनाते हैं और संगीत को सौंदर्य प्रदान करते हैं।

निष्कर्ष:

नाद एक जटिल लेकिन सुंदर ध्वनि तत्व है, जिसकी ऊँचाई, तीव्रता, जाति और गुण मिलकर संगीत की आत्मा बनाते हैं। यह न केवल विज्ञान बल्कि भावनाओं और कला का भी अद्‌भुत संगम है।

शब्दावली

ध्वनि - कंपन से उत्पन्न वह तरंग जिसे कानों से सुना जा सके।
कंपन - किसी वस्तु की आगेख्रपीछे होने वाली गति जिससे ध्वनि उत्पन्न होती है।
माध्यम - वह पदार्थ जिसमें होकर ध्वनि चलती है, जैसे वायु, जल।
नाद - नियमित और मधुर ध्वनि जो संगीत के लिए उपयुद्र हो।
आहत नाद - प्रहार से उत्पन्न सुनने योग्य ध्वनि।
अनाहत नाद - ध्यान या साधना में अनुभव की जाने वाली आंतरिक ध्वनि।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. ध्वनि की उत्पत्ति किससे होती है?
   क) मौन
   ख) कंपन
   ग) प्रकाश
   घ) ताप
2. ध्वनि निर्वात में क्यों नहीं ैलती?
   क) कंपन नहीं होता
   ख) कान नहीं होते
   ग) माध्यम नहीं होता
   घ) तरंग नहीं बनती
3. संगीत के लिए उपयुद्र नाद कौन-सा है?

क) अनियमित
ख) कर्कश
ग) मधुर और नियमित
घ) तीव्र

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. ध्वनि की परिभाषा लिखिए।
2. नाद क्या है?
3. आहत और अनाहत नाद में अंतर बताइए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. नाद की विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

इकाई-2.2 अलंकार एवं स्वर प्रकार

स्वर की परिभाषा:

स्वर वह ध्वनि है जिसे निश्चित आवृत्ति (pitch) पर गाया या बजाया जाता है। हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में कुल 12 स्वर होते हैं ख़ इनमें 7 शुद्ध स्वर और 5 विकृत स्वर होते हैं।

अलंकार की परिभाषा:

अलंकार का शाब्दिक अर्थ है ''सजावट'' या ''सजाना''। संगीत में अलंकार का तात्पर्य स्वरों के ऐसे विशेष क्रम और गति से है, जिससे राग और धुन की सुंदरता और अभिव्यक्ति बढ़ जाती है। ये स्वरकुशलता के साथ स्वरगति में किए जाने वाले प्रभाव, झुकाव, आरोह-अवरोह के विशेष चालन होते हैं, जो संगीत में रंग और भाव भरते हैं। अलंकार संगीत की रचना में एक सजावटी तत्व है, जो श्रोताओं को आकर्षित करता है और संगीत को जीवंत बनाता है। अलंकार → संगीत की वह सजावट है जिसमें स्वरगति के विशेष पैटर्न बनाकर संगीत को और प्रभावी, मनोहर और भावपूर्ण बनाया जाता है।

स्वरसंगमे यदा स्फुरति सुन्दरं भावाभिनयम्।
तदा अलंकार: कथ्यते, संगीतं भवति रमणीयम्॥

अर्थ: जब स्वरों के सम्मिलन से सुंदर भाव अभिव्यक्त होता है, तब उसे अलंकार कहा जाता है, जो संगीत को मनमोहक बनाता है।

भातखंडे जी के क्रमिक पुस्तक मालिक 1 के अनुसार(1-10) अलंकार-

अलंकार - 1

आरोह (Ascending): सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सां
अवरोह (Descending): सां, नि, ध, प, म, ग, रे, सा

अलंकार - 2

आरोह (Ascending): सा सा, रे रे ,ग ग, म म, प प, ध ध, नी नी सां सां
अवरोह (Descending): सां सां, नी नी, ध ध, प प, म म, ग ग, रे रे, सा सा

अलंकार - 3

आरोह (Ascending): सा सा सा, रे रे रे, ग ग ग, म म म, प प प, ध ध ध, नी नी नी, सां सां सां
अवरोह (Descending): सां सां सां, नी नी नी, ध ध ध, प प प, म म म, ग ग ग, रे रे रे, सा सा सा

अलंकार - 4

आरोह (Ascending): सा रे, रे ग, ग म, म प, प ध, ध नी, नी सां
अवरोह (Descending): सां नी, नी ध, ध प, प म, म ग, ग रे, रे सा

अलंकार - 5

आरोह (Ascending): सा रे सा, रे ग रे, ग म ग, म प म, प ध प, ध नि ध, नि सा नि, सां रे सां
अवरोह (Descending): सां नि सां, नि ध नि, ध प ध, प म प, म ग म, ग रे ग, रे सा रे, सा नि सा

अलंकार - 6

आरोह (Ascending): सा रे रे सा सा, रे रे ग ग रे रे, ग ग म म ग ग, म म प प म म, प प ध ध प प, ध ध नि नि ध ध, नि नि सां सां नि नि, सां सां रें रें सां सां
अवरोह (Descending): सां सां नि नि सां सां, नि नि ध ध नि नि, ध ध प प ध ध, प प म म प प, म म ग ग म म, ग ग रे रे ग ग, रे रे सा सा रे रे, सा सा नि नि सा सा

अलंकार - 7

आरोह (Ascending): सा रे ग, रे ग म, ग म प, म प ध, प ध नि, ध नि सां
अवरोह (Descending): सां नि ध, नि ध प, ध प म, प म ग, म ग रे, ग रे सा

अलंकार - 8

आरोह (Ascending): सा रे ग म, रे ग म प, ग म प ध, म प ध नि, प ध नि सां
अवरोह (Descending): सां नि ध प, नि ध प म, ध प म ग, प म ग रे, म ग रे सा

अलंकार - 9

आरोह (Ascending): सा ग, सा, ग प, म ध, प नि, ध सां
अवरोह (Descending): सां ध, नि प, ध म, प ग, म रे, ग सा

अलंकार - 10

आरोह (Ascending): सा सा ग ग, रे रे म म, ग ग प प, म म ध ध, प प नि नि, ध ध सां सां
अवरोह (Descending): सां सां ध ध, नि नि प प, ध ध म म, प प ग ग, म म रे रे, ग ग सा सा

स्वर के प्रकार:

1. **शुद्ध स्वर (Natural Notes):**

ये मूल और स्थिर स्वर होते हैं। कुल 7 शुद्ध स्वर होते हैं:

- सा, रे, ग, म, प, ध, नि

उदाहरण:

- ''सा'' और ''प'' हमेशा शुद्ध ही गाए जाते हैं, इनका कोई विकृत रूप नहीं होता।

2. **विकृत स्वर** (Altered Notè):

ये स्वर अपनी शुद्ध स्थिति से थोड़ा ऊपर या नीचे गाए जाते हैं।

विकृत स्वर दो प्रकार के होते हैं:

(घ) कोमल स्वर (Flat Notes):

ये स्वर शुद्ध स्वर से आधा सुर (semitone) नीचे गाए जाते हैं।कोमल स्वर को दिखाने के लिए ''रे'' के नीचे एक छोटी पड़ी रेखा (–) लगाई जाती है।

उदाहरण:

- रे → कोमल रे = रे_
- ग → कोमल ग = ग_

(ख) तीव्र स्वर (Sharp Note):

यह केवल एक ही स्वर होता है - म, जिसे शुद्ध स्थिति से आधा सुर ऊपर गाया जाता है। तीव्र स्वर को दिखाने के लिए "म'' के ऊपर एक खड़ी रेखा लगाई जाती है। यहाँ (क) का मतलब है कि म के ऊपर खड़ी रेखा है, जो यह दर्शाता है कि यह तीव्र स्वर है।

उदाहरण:

- मं (तीव्र म)

शब्दावली

स्वर - निश्चित आवृत्ति पर गाई या बजाई जाने वाली ध्वनि।
अलंकार - स्वरों की सजावट और विशेष चालन।
शुद्ध स्वर - अपने प्राख़तिक रूप में गाए जाने वाले स्वर।
विख़त स्वर - शुद्ध स्वर से ऊपर या नीचे गाए जाने वाले स्वर।
कोमल स्वर - आधा सुर नीचे गाया जाने वाला स्वर।
तीव्र स्वर - आधा सुर ऊपर गाया जाने वाला स्वर (केवल म)।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. हिंदुस्तानी संगीत में कुल कितने स्वर होते हैं?
   क) 7

ख) 10
ग) 12
घ) 14

2. तीव्र स्वर कौन-सा होता है?
क) रे
ख) ग
ग) म
घ) ध
3. अलंकार का मुख्य उद्देश्य क्या है?
क) नियम बनाना
ख) स्वर सजावट
ग) ताल बढ़ाना
घ) वादन

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अलंकार की परिभाषा लिखिए।
2. शुद्ध और विख्रत स्वर में अंतर बताइए।
3. कोमल स्वर से आप क्या समझते हैं?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अलंकार का संगीत में महत्व स्पष्ट कीजिए।

इकाई-2.3 श्रुति , सप्तक

श्रुति की परिभाषा:

प्रत्येक प्रकार की ध्वनि चाहे संगीतोपयोगी हो या न हो, श्रुति कहलाती है।

- **प्राचीन ग्रंथों में:**

श्रूयतेइति श्रुतिः ख़ जिसका अर्थ है ष्जो कुछ भी सुना जा सकेष।
अर्थात् वह ध्वनि जो मानव कान द्वारा सुनी जा सके वाही श्रुति है।

- **आधुनिक परिभाषा:**

वह सबसे छोटी ध्वनि या पिच अंतराल जिसे संगीत में उपयोग किया जा सकता है और जो स्पष्ट रूप से पहचाना जा सके।

- **संक्षेप में:**

श्रुति संगीत में सबसे छोटी पिच अंतराल है जिसे मानव कान सुन सकता है।

भारतीय संगीत की 22 श्रुतियों के नाम:

1. तीव्रा
2. कुमुद्वती
3. मंदा
4. छंदोवती
5. दयावती
6. रंजनी
7. रक्तिका
8. रौद्री
9. क्रोधा
10. वज्रिका
11. प्रसारिणी
12. प्रीति
13. मार्जनी
14. क्षिति
15. रक्ता
16. संदीपनी
17. आलापिनी
18. मदंती
19. रोहिणी
20. रम्या
21. उग्रा
22. क्षोभिनी

इन नामों का प्रयोग आज की व्यवहारिक संगीत प्रणाली में तो कम होता है, लेकिन शास्त्रीय संगीत के सिद्धांत पक्ष में इनका ऐतिहासिक महत्व बहुत गहरा है।

सप्तक की परिभाषा:

- सात शुद्ध स्वरों के क्रमिक समुदाय को सप्तक कहते हैं।
- सप्तक का मतलब है – सात स्वरों का एक समूह।
- भारतीय शास्त्रीय संगीत में ये सात स्वर होते हैं: सा, रे, ग, म, प, ध, नि।
- हर सप्तक एक खास ऊँचाई (pitch) के स्वरों को दर्शाता है। जब कोई स्वर ऊँचा या नीचा होता है, तो वह अलग सप्तक में आता है।

सप्तक के तीन प्रकार होते हैं:

1. मंद्र सप्तक (Lower Octave)

परिभाषा:

मंद्र सप्तक वह सप्तक होता है जो मुख्य सप्तक से एक पूरा सप्तक नीचे होता है। इसमें स्वर की आवृत्ति मुख्य सप्तक से आधी होती है, इसलिए आवाज इसमें गहरा और धीमा होता है। मंद्र सप्तक के स्वरों के नीचे बिंदु लगाया जाता है। उदाहरण :- सा नि़ ध़

विशेषता: स्वर भारी, धीमे और गहरे होते हैं।

उदाहरण: अगर मुख्य सप्तक में "सा" की आवृत्ति 256 Hz है, तो मंद्र सप्तक में "सा़" की आवृत्ति लगभग 128 Hz होती है।

2. मध्य सप्तक (Main Octave / Middle Octave)

परिभाषा:

मध्यम सप्तक वह सप्तक है जो सामान्यत: संगीत में प्रयुक्त होता है और जिसके स्वर सबसे स्पष्ट और मधुर होते हैं। यह सप्तक मंद्र सप्तक और तार सप्तक के बीच होता है। मध्य सप्तक के स्वर के ऊपर-नीचे कोई चिह्न नहीं होता है, जैसे:- सा रे ग म

विशेषता: स्वर स्पष्ट, मधुर और संतुलित होते हैं।

उदाहरण: इसे सामान्य सप्तक भी कहते हैं, जो अधिकांश गीतों और संगीत रचनाओं में इस्तेमाल होता है।

3. तार सप्तक (Upper Octave)

परिभाषा:

तार सप्तक वह सप्तक होता है जो मुख्य सप्तक से एक पूरा सप्तक ऊपर होता है। इसमें स्वर की आवृत्ति मुख्य सप्तक की तुलना में दोगुनी होती है, इसलिए आवाज अधिक तीव्र और ऊँची होती है। **तार सप्तक के स्वर के ऊपर बिंदु लगाई जाती है,** जैसे:-सां, रें, गं, मं

विशेषता: स्वर तेज, ऊँचे और स्पष्ट होते हैं।

उदाहरण: अगर मुख्य सप्तक में "सा" की आवृत्ति 256 Hz है, तो तार सप्तक में "सां" की आवृत्ति लगभग 512 Hz होती है।

सारांश:

सप्तक	परिभाषा	स्वर की विशेषता
मंद्र सप्तक	मुख्य सप्तक से एक सप्तक नीचे	गहरा, धीमा, भारी
मध्यम सप्तक	मुख्य सप्तक, सामान्य प्रयुक्त	मधुर, स्पष्ट, संतुलित
तार सप्तक	मुख्य सप्तक से एक सप्तक ऊपर	तीव्र, ऊँचा, तेज

सप्तक का महत्व:

- **रागों की संरचना:** सप्तक का उपयोग संगीत में रागों की संरचना के लिए किया जाता है।
- **स्वरों के संबंध को समझना:** यह स्वरों के बीच के तारतम्य और संबंध को समझने में मदद करता है।
- **स्वरों की स्थिति ज्ञात करना:** सप्तक से संगीत के विभिन्न भागों में स्वरों की स्थिति को पहचानना आसान होता है।
- **भारतीय शास्त्रीय संगीत की मूल अवधारणा:** सप्तक भारतीय शास्त्रीय संगीत का एक महत्वपूर्ण आधार है।
- **संगीत की विविधता:** सप्तक के माध्यम से विभिन्न ऊँचाई (pitch) के स्वर पैदा कर संगीत की विविधता उत्पन्न होती है।
- **ताल और स्वर संयोजन:** सप्तक ताल और स्वर के सही संयोजन में सहायता करता है।
- **संगीत शिक्षा:** सप्तक का ज्ञान संगीत सीखने और सिखाने में अत्यंत आवश्यक होता है।

स्मरणीय बिंदु

श्रुति संगीत में ध्वनि की सबसे छोटी इकाई है।
प्राचीन ग्रंथों के अनुसार जो सुना जा सके वही श्रुति है।
भारतीय संगीत में 22 श्रुतियाँ मानी गई हैं।
सप्तक सात शुद्ध स्वरों का समूह होता है।
सप्तक के तीन प्रकार ख्र मंद्र, मध्य और तार।

सप्तक से स्वर की ऊँचाई और गहराई स्पष्ट होती है।

रिक्त स्थान भरिए

1. संगीत में सबसे छोटी पिच इकाई को ---------- कहते हैं।
2. भारतीय संगीत में कुल ---------- श्रुतियाँ मानी गई हैं।
3. सात स्वरों के समूह को ---------- कहते हैं।
4. मुख्य रूप से प्रयोग में आने वाला सप्तक ---------- है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1. श्रुति का संबंध किससे है?

क) ताल

ख) लय

ग) पिच

घ) गति

प्रश्न 2. सप्तक में कितने स्वर होते हैं?

क) पाँच

ख) छह

ग) सात

घ) नौ

प्रश्न 3. सबसे ऊँचे स्वर किस सप्तक में होते हैं?

क) मंद्र

ख) मध्य

ग) तार

घ) कोई नहीं

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. श्रुति की परिभाषा लिखिए।

प्रश्न 2.सप्तक के नाम लिखिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न. सप्तक का संगीत में महत्व स्पष्ट कीजिए।

इकाई-2.4 पाँच श्लोक (राग एवं ताल परिचय)

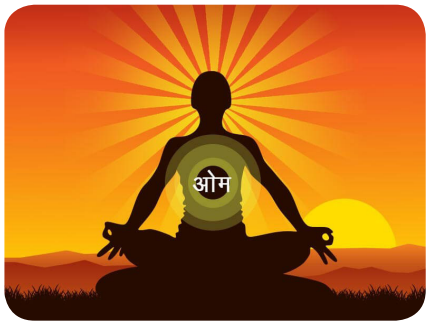

(१) **स्वर-संग्रहः भावनां जनयेत्।**
अरोह-अवरोहः सुमधुरं व्यञ्जयेत्॥
वादी-सम्वादी स्वरयोर्नादः सुललितः।
संगीतं रागात् मोदं हृदये प्रवहति॥

अर्थः

राग स्वर-संग्रह है जो भावनाएं उत्पन्न करता है।
अरोह और अवरोह से वह मधुरता से प्रकट होता है।
वादी और सम्वादी स्वर संगीत को सजीव बनाते हैं।
राग से संगीत हृदय में आनंद प्रवाहित करता है।

(राग परिचय भाग -३)

(२) **योऽयं ध्वनि-विशेषस्तु स्वर वर्ण विभूषितः।**
रंजको जनचित्तानां स राग कथितो बुधैः॥

अर्थः

''जो यह एक विशेष प्रकार की ध्वनि है, जो स्वर और वर्ण से अलंकृत है, और जो जनों के चित्त (मन) को आकर्षित करने वाली है ख़ उसी को ज्ञानी लोगों ने श्रागश कहा है।''

(संगीत रत्नाकर)

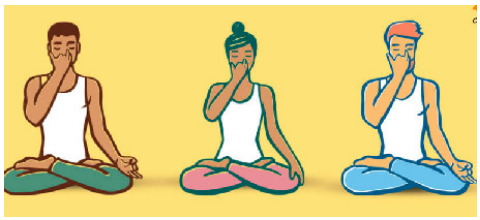

(३) **रागः स्वररचनामयी**
भावनात्मका च सदा।
संगीतस्य मणिर्भूता
श्रोतृणां हृदि वसति॥

अर्थः

राग स्वर की रचना से बनता है और वह भावों से परिपूर्ण होता है। राग संगीत का मणि है जो श्रोताओं के हृदय में वास करता है।

(संगीत विशारद)

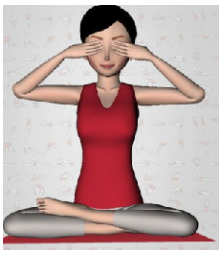

(४) **अलंकारैः सज्जितं गीतं**
सुखप्रदम् हृदयस्पदम्।
रागसंगीतसम्पूर्ण
रसपरिप्लुतं तद् भवेत्॥

अर्थः

अलंकारों से सुसज्जित गीत हृदय को सुख और स्पर्श देने वाला होता है। वह राग-संगीत से पूर्ण और रस से भरपूर होता है।

(संगीत विशारद)

(५) **तालोऽस्य प्राण एव स्यात्**
संगीतस्य नित्यम् फलम्।
यथा नादेन वाद्येन
संपद्यते शोभा सदा॥

अर्थः

ताल संगीत का प्राण होता है, जो संगीत को निरंतर फल प्रदान करता है। जैसे वाद्ययंत्रों से नाद उत्पन्न होता है, वैसे ही

ताल से संगीत की शोभा बढ़ती रहती है।

स्मरणीय बिंदु

राग स्वरों का भावात्मक संयोजन है।
अरोह-अवरोह राग की पहचान होते हैं।
वादी और सम्वादी स्वर राग को जीवंत बनाते हैं।
अलंकार गीत को सजाते हैं।
ताल संगीत का प्राण माना गया है।
राग और ताल के बिना संगीत अपूर्ण है।

रिक्त स्थान भरिए

1. राग ---------- का समूह होता है।
2. वादी के साथ ---------- स्वर का विशेष महत्व होता है।
3. ---------- संगीत का प्राण है।
4. अलंकार गीत को ---------- बनाते हैं।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1. राग का मुख्य उद्देश्य क्या है?
क) नियम बनाना
ख) भाव उत्पन्न करना
ग) ताल दिखाना
घ) गति बढ़ाना
प्रश्न 2. वादी-सम्वादी किससे संबंधित हैं?
क) ताल
ख) स्वर
ग) नृत्य
घ) वादन
प्रश्न 3. ताल का संबंध किससे है?
क) स्वर
ख) गति
ग) भाव
घ) शब्द

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. राग किसे कहते हैं?
प्रश्न 2. अलंकार का महत्व लिखिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न. राग और ताल का संगीत में महत्व स्पष्ट कीजिए।

खण्ड-3 स्वर, ताल और वाद्य
इकाई-3.1 वाद्यों के प्रकार

वाद्य परिभाषा-

परिभाषा-

''वे यंत्र या उपकरण जिनसे संगीत उत्पन्न होता है, उन्हें वाद्य या वाद्य यंत्र कहते हैं।''

इनका उपयोग संगीत को मधुरता, लय और ताल देने के लिए किया जाता है। वाद्य यंत्रों को बजाने से ध्वनि उत्पन्न होती है, जो संगीत का अभिन्न अंग है।

भारतीय संगीत में वाद्य यंत्र (Musical Instruments) मुख्य रूप से 4 प्रकार के होते हैं:

1. **तंत्री वाद्य :**

इन्हें तार वाले वाद्य यंत्र कहते हैं।

इनमें तार (string) होती है, जिसे बजाकर संगीत उत्पन्न किया जाता है।

उदाहरण:

- ❒ सितार
- ❒ वीणा
- ❒ सारंगी
- ❒ वायलिन
- ❒ संतूर

2. **अवनद्ध वाद्य (Avanaddh Vadyd)**

इन्हें झिल्ली या चमड़ी वाले वाद्य यंत्र कहते हैं।

इन वाद्यों पर चमड़ी या झिल्ली चढ़ी होती है, जिसे हाथ या छड़ी से बजाया जाता है।

उदाहरण:

- ❒ तबला
- ❒ मृदंग
- ❒ ढोलक
- ❒ पखावज
- ❒ नगाड़ा

3. **घन वाद्य (Ghan Vadyd)**

ये ठोस वस्तु से बने होते हैं और इन्हें बिना किसी तार या झिल्ली के बजाया जाता है।

इन्हें बजाने के लिए टकराया जाता है, जैसे थपकी या ठनकार।

उदाहरण:

- ❒ मंजीरा
- ❒ झांझ
- ❒ घंटी
- ❒ घुँघरू
- ❒ खड़ताल

4. **सुषिर वाद्य (Sushir Vadyd)**

यह फूँक से बजाए जाने वाले वाद्य यंत्र होते हैं।

उदाहरण:

- ❒ बांसुरी
- ❒ शहनाई

❒ हारमोनियम

❒ पूंगी

स्मरणीय बिंदु

जिन यंत्रें से संगीत उत्पन्न होता है उन्हें वाद्य यंत्र कहते हैं।
वाद्य यंत्र संगीत में लय, ताल और मधुरता लाते हैं।
भारतीय संगीत में वाद्य यंत्र चार प्रकार के होते हैं।
तंत्री वाद्य तारों से बजाए जाते हैं।
अवनद्ध वाद्य चमड़ी या झिल्ली से बजते हैं।
घन वाद्य ठोस पदार्थ से बने होते हैं।
सुषिर वाद्य फूँक से बजाए जाते हैं।

रिक्त स्थान भरिए

1. जिन यंत्रें से संगीत उत्पन्न होता है उन्हें ---------- कहते हैं।
2. सितार और वीणा ---------- वाद्य हैं।
3. तबला और पखावज ---------- वाद्य हैं।
4. बांसुरी ---------- वाद्य का उदाहरण है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1. मंजीरा किस प्रकार का वाद्य है?
क) तंत्री
ख) अवनद्ध
ग) घन
घ) सुषिर
प्रश्न 2. झिल्ली वाले वाद्य कौन से हैं?
क) सितार
ख) तबला
ग) बांसुरी
घ) मंजीरा
प्रश्न 3. सुषिर वाद्य किस प्रकार बजते हैं?
क) तार से
ख) फूँक से
ग) चोट से
घ) झिल्ली से

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. तंत्री वाद्य क्या होते हैं?
प्रश्न 2. घन वाद्य के दो उदाहरण लिखिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न. भारतीय संगीत में वाद्यों के प्रकारों का वर्णन कीजिए।

इकाई-3.2- मात्रा, लय, सम, विभाग ठेका, ताली, खाली

मात्रा की परिभाषा :-

परिभाषा:-

''मात्रा'' ताल का वह सबसे छोटा इकाई (यूनिट) होती है, जिसमें ताल की गिनती की जाती है। यह समय की एक निश्चित माप होती है, जिसके आधार पर लय का निर्माण होता है। किसी भी ताल में जितने खंड (बीट्स) होते हैं, उन्हें मिलाकर उस ताल की कुल मात्रा बनती है।

हर ताल में अलग-अलग मात्रा हो सकती हैं, और संगीत की रचना इन्हीं मात्राओं की गणना पर आधारित होती है।

उदाहरण: तीनताल (16 मात्राएँ):

यह सबसे प्रसिद्ध ताल है। इसमें 16 मात्राएँ होती हैं, और 4-4 मात्राओं के 4 विभाजन (विभाग) होते हैं।

ताल संरचना:

1	2	3	4	।	5	6	7	8	।	9	10	11	12	।	13	14	15	16
धा	धिं	धिं	धा	।	धा	धिं	धिं	धा	।	धा	तिं	तिं	ता	।	ता	धिं	धिं	धा

(यहाँ हर शब्द एक-एक मात्रा है)

कुल: 16 मात्राएँ

ठेका की परिभाषा:-

ठेका वह नियमित तालबद्ध ढांचा होता है जिसे तबला, ढोलक या अन्य तालवाद्य बजाकर बनाया जाता है। यह ताल की एक निश्चित प्रणाली होती है जिसमें विभिन्न स्वर (जैसे ध, ता, की, ना) एक क्रम में बजाए जाते हैं और जो किसी ताल की लय और माप को दर्शाता है। ठेका संगीत में लयबद्धता बनाए रखने का आधार होता है और इसके जरिए गायक या नर्तक को ताल की जानकारी मिलती है।

सरल शब्दों में:

ठेका = ताल का वह विशिष्ट और नियमित तालवाद्य पैटर्न जो लय और माप को स्थापित करता है।

उदाहरण:

कहरवा ताल का ठेका - धा गे न ती । न क धी न

''सम'' की परिभाषा:-

''सम'' ताल का मुख्य अथवा पहला भाग होता है, प्रथम मात्रा को सम कहा जाता है। यही वह स्थान होता है जहाँ अवर्त (बलबसम) की समाप्ति होती है और नया चक्र आरंभ होता है। जहाँ लय की पुनरावृत्ति (तमचमंज) होती है और जिसे सबसे ज्यादा महत्व दिया जाता है। सम को ताली द्वारा दिखाया जाता है और इसे आमतौर पर एक विशेष चिह्न (X) से दर्शाया जाता है।

विशेषताएँ:

- सम पर ही अक्सर मुख्य बोल (मुखड़ा) या प्रमुख तानें आती हैं।
- यह ताल का सबसे स्थिर बिंदु होता है।
- गायन, वादन, या नृत्य में सम पर पहुँचने को विशेष महत्त्व दिया जाता है - इसे ''सम पर आना'' कहते हैं।

उदाहरण:

तीनताल (16 मात्राएँ, 4 विभाग):

बोल:

धा धिं धिन धा ।

यहाँ पहले ''धा'' (प्रथम मात्रा) को सम कहा जाता है।

सम = पहली मात्रा = ''धा''

इसे ''X'' से लिखा जाता है

लय (Lay) की परिभाषा :-

''लय'' का शाब्दिक अर्थ है - गति या चलन।

संगीत में लय वह व्यवस्था है जो समय (Time) के अनुसार स्वरों (ध्वनियोक) और मौन (विश्राम) को एक नियमित क्रम में रखती है। यह संगीत को गति, प्रवाह और तालबद्धता देती है। लय के बिना संगीत असंगठित और बिखरा हुआ प्रतीत होता है।

सरल शब्दों में लय का अर्थ:

लय वह समयबद्ध गति है, जिसमें स्वर और मौन एक निश्चित क्रम और ताल के अनुसार आगे बढ़ते हैं।

उदाहरण:

जब कोई कलाकार ष्सा रे ग मष् गाता है, तो वह अगर उसे नियमित, एक-से अंतरालों पर गाए (जैसे - एक-एक मात्रा पर), तो यह लयबद्ध गायन कहलाएगा।

सा - (1 मात्रा)

रे - (1 मात्रा)

ग - (1 मात्रा)

म - (1 मात्रा)

तो यह एक समतल लय होगी।

ताली की परिभाषा:-

''ताली'' का अर्थ है **ताल के किसी विशेष स्थान (मात्रा) पर ताली बजाकर उसका संकेत देना।** यह उस मात्रा को चिह्नित करता है जहाँ ताल में **प्रमुखता** होती है, लेकिन वह **सम (पहली मात्रा)** नहीं होती। ताली ताल के चक्र (cycle) को समझने और गिनने में मदद करती है। ताली ताल के महत्वपूर्ण हिस्सों को चिह्नित करती है और संगीत या नृत्य को व्यवस्थित लय में बांधने में मदद करती है।

सरल शब्दों में, **ताली एक प्रकार की ताल है** जो हाथ के थपथपाने से बनती है।

उदाहरण:

कहरवा ताल (8 मात्रा)

ताली होती है मात्रा 1 और मात्रा 5 पर।

ताली का क्रम: ताली - १, ताली - ५

इसे दिखाने का तरीका:

ताली बजाने के लिए **हथेलियों को एक-दूसरे से जोर से टकराएं** ताकि स्पष्ट आवाज निकले। यह **''थप्पड़'' या ''ताली''** कहलाता है।

खाली की परिभाषा:

खाली वह मात्रा होती है **जहाँ ताली नहीं बजती आमतौर पर ताल के बीच में,** खाली दिखाने के लिए हम हाथ को हवा में ऊपर उठाने की दिशा में **हाथ हिला कर या लहराकर** दिखाते हैं। जिससे ताल का विभाजन और लय स्पष्ट रहती है। खाली का चिन्ह (0) होता है।

उदाहरण:-

धा गे न ती । न क धी न

X । 0 **(खाली)**

विभाग की परिभाषा:-

भारतीय संगीत और ताल में **विभाग** का अर्थ है ताल के कुल समय (मात्राओक) को छोटे-छोटे हिस्सों में बाँटना। प्रत्येक भाग को विभाजन या विभाग कहते हैं। **ये विभाग ताल को समझने, गिनने और बजाने में मदद करते हैं।**

सरल शब्दों में, विभाग ताल के माप (मात्राओक) के समूह होते हैं, जो ताल की लय और संरचना को स्पष्ट करते हैं।

उदाहरण:

कहरवा ताल (8 मात्रा):

इस ताल को दो विभागों में बाँटा जाता है:

- पहला विभाग: ४ मात्रा (1 से 4 तघ)
- दूसरा विभाग: ४ मात्रा (5 से 8 तघ)

इस प्रकार, कहरवा ताल के 8 मात्रा दो 4-मात्रा के विभागों में विभाजित होते हैं।

संक्षेप:

- **विभाग = ताल के हिस्से (मात्राओं का समूह)**
- **उदाहरण - 8 मात्रा का ताल दो विभागों में (4 + 4) विभाजित।**

स्मरणीय बिंदु

मात्र ताल की सबसे छोटी इकाई होती है।
लय संगीत की गति और प्रवाह को दर्शाती है।
सम ताल की पहली और सबसे महत्वपूर्ण मात्र होती है।
ठेका ताल का निश्चित तालगा) ढांचा होता है।
ताली ताल के प्रमुख स्थान को दर्शाती है।
खाली में ताली नहीं बजाई जाती।
विभाग ताल को भागों में बाँटने का तरीका है।

रिक्त स्थान भरिए

1. ताल की सबसे छोटी इकाई को ---------- कहते हैं।
2. ताल की पहली मात्र को ---------- कहा जाता है।
3. खाली का चिन्ह ---------- होता है।
4. ताल के ढांचे को ---------- कहते हैं।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1. तीनताल में कुल कितनी मात्रएँ होती हैं?
क) 8
ख) 10
ग) 12
घ) 16
प्रश्न 2. ताली का प्रयोग किस लिए किया जाता है?
क) स्वर के लिए
ख) ताल गिनने के लिए
ग) राग के लिए
घ) अलंकार के लिए
प्रश्न 3. लय का संबंध किससे है?
क) गति
ख) शब्द
ग) भाव
घ) वाद्य

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. सम की परिभाषा लिखिए।
प्रश्न 2. ठेका क्या है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न. मात्रा, लय और ताल का आपसी संबंध स्पष्ट कीजिए।

इकाई-3.3 तीनताल का परिचय

तीनताल (Teen Taal)

तीनताल हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की सबसे प्रसिद्ध और बहुप्रयुक्त ताल है। इसमें **कुल 16 मात्राएँ** होती हैं, **जिन्हें 4-4 मात्राओं** के **4 विभागों** (विभाग = भाग) में बाँटा गया है। **इसकी पहली मात्रा** को **सम** कहा जाता है, और **पाँचवीं, नौवीं और तेरहवीं** मात्रा पर ताली (हाथ से ताली बजाई जाती है) और नवमी **(9वीक)** मात्रा पर खाली **(हाथ घुमाया जाता है)** दी जाती है।

तीनताल का तालिकाबद्ध रूप निम्नलिखित है:

मात्रा । 1 2 3 4 । 5 6 7 8 । 9 10 11 12 । 13 14 15 16

ठेका द्य धा धिं धिं धा । धा धिं धिं धा । धा तिन तिन ता । ता धिं धिं धा

मात्रा	1	2	3	4	।	5	6	7	8	।	9	10	11	12 ।	13	14	15	16
ठेका	धा	धिं	धिं	धा	।	धा	धिं	धिं	धा	।	धा	तिं	तिं	ता ।	ता	धिं	धिं	धा
चिन्ह	X			।	2			।	0			।	3					

स्मरणीय बिंदु

तीनताल हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की सबसे प्रसिद्ध ताल है।
इसमें कुल 16 मात्रएँ होती हैं।
इसे 4-4 मात्रओं के 4 विभागों में बाँटा जाता है।
पहली मात्र को सम कहते हैं।
इसमें 3 ताली और 1 खाली होती है।
ताली क्रम 1, 5, 13
खाली 9वीं मात्र
तीनताल का प्रयोग गायन, वादन और नृत्य ख्र तीनों में होता है।

शब्दावली

1. नाद - ध्वनि का मूल एवं सूक्ष्म स्वरूप
2. स्वर - निश्चित ऊँचाई और अवधि वाली ध्वनि
3. राग - स्वर समूह जो विशेष भाव उत्पन्न करे
4. श्रुति - स्वर का सूक्ष्मतम भाग
5. सप्तक - सात स्वरों का समूह

रिक्त स्थान भरिए

1. तीनताल में कुल ------ मात्रएँ होती हैं।
2. तीनताल के ------ विभाग होते हैं।
3. तीनताल की पहली मात्र को ------ कहते हैं।
4. तीनताल में ------ ताली और ------ खाली होती है।
5. तीनताल की नौवीं मात्र पर ------ होती है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. तीनताल में कुल कितनी मात्रएँ होती हैं?

क) 8
ख) 10
ग) 12
घ) 16

2. तीनताल में खाली किस मात्र पर होता है?
क) पहली
ख) पाँचवीं
ग) नौवीं
घ) तेरहवीं

3. तीनताल के कितने विभाग होते हैं?
क) 2
ख) 3
ग) 4
घ) 5

लघु प्रश्न-उत्तर

प्रश्न 1. तीनताल क्या है?
प्रश्न 2. तीनताल में सम क्या होता है?
प्रश्न 3. तीनताल में ताली और खाली का क्रम लिखिए।

दीर्घ प्रश्न

प्रश्नरू तीनताल का परिचय देते हुए उसका ठेका लिखिए।

इकाई-3.4 बारह स्वर सप्तक एवं 5 स्वस्तिवाचनमंत्र

उद्देश्यः सभी स्वरों की पहचान और गायन में उपयोग।

स्वर परिचयः

- **शुद्ध स्वरः** सा, रे, ग, म, प, ध, नी
- **कोमल स्वरः** रे, ग, ध, नी (धीरे से गाए जाते हैक)
- **तीव्र स्वरः** मं (तीव्रता के साथ)

अभ्यास विधिः

- आरोह (नीचे से ऊपर): सा रे ग म प ध नी सां
- अवरोह (ऊपर से नीचे): सां नी ध प म ग रे सा
- हर स्वर पर 2 सेकंड रुककर गाएं।

नोटः याद रखने हेतु हर स्वर को रंग या भावनाओं से जोड़ें।

पाँच स्वस्तिवाचन मंत्र - उच्चारण और अर्थ सहित -

1. **"ऊँ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।**
   स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः। स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु"॥

अर्थः

ऊँ! इंद्र, जो वृद्धश्रव (जो बहुत प्रसिद्ध हैक), हमारे लिए शुभ और कल्याणकारी हों।
पूषा (सूर्य देवता), जो सब कुछ जानते हैं, हम सबके लिए शुभ हों।
तार्क्ष्य (एक देवता) जो सभी प्रकार के कष्टों से रक्षा करता है, हम सब पर अपनी कृपा बनाए रखे।
और बृहस्पति (गुरु देव), हमारे लिए भला करें और हमें आशीर्वाद दें।

2. **स्वस्ति नौ मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः ।**
   स्वस्ति पूषा असुंरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुंचेतुना॥

अर्थः

हमारे लिए अश्विनीकुमार (आयुर्वेद के देवता, जो स्वास्थ्य और जीवन देते हैक) शुभ हों।
देव्यदिति (आकाश की देवी) हम सबके लिए कल्याणकारी हो।
पूषा (सूर्य देवता) जो असुरों (बाधाओक) को दूर करता है, हमारे लिए शुभ करें।
आकाश (द्यौ) और पृथ्वी (पृथ्वी) हमारी रक्षा करें और हम पर कृपा करें।

3. **स्वस्तये वायुमुपं ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवंनस्य यस्पतिः ।**
   बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तयं आदि त्यासनो भवन्तु नः॥

अर्थः

हम वायु (हवा के देवता) के लिए शुभकामनाएँ करते हैं।
सोम (चन्द्रमा) जो इस विश्व का अधिपति है, वह शुभ हो।
बृहस्पति और सभी देवता हमारे लिए कल्याणकारी हों।
आदित्य (सूर्य) के आसन वाले देवता हमारे लिए शुभ रहें।

4. **विश्वे देवा ननो अद्या स्वस्तये वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये ।**
   देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये स्वस्ति ननो रुद्रः पात्वंहसः॥

अर्थः

सभी देवता, आज और हमेशा हमारे लिए शुभ और कल्याणकारी हों।
वैश्वानर (अग्नि) और वसु (धन के देवता) भी हमारे लिए शुभ रहें।
देवता हमेशा हमारे भले के लिए उपस्थित रहें।
रुद्र (शिव), जो हमारे कष्ट दूर करते हैं, हमें रक्षा दें।

5. स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पंथ्ये रेवति।
स्वस्ति न इन्द्रंश्चाग्निश्च स्वस्ति नौ अदिते कृधि॥

अर्थः

मित्र और वरुण (आकाश और जल के देवता) हमारे लिए शुभ रहें।
पंथ्ये और रेवति (दो देवता या नक्षत्र) भी हमारे लिए कल्याणकारी हों।
इन्द्र और अग्नि हमारे लिए शुभ और सुरक्षा देने वाले हों।
अदिति (आदिदेवी, जो सभी देवताओं की माता हैक) हमारी रक्षा करें।

(ऋग्वेद, प्रथम मंडल, ८९ सूक्त)

स्मरणीय बिंदु

भारतीय संगीत में कुल 12 स्वर होते हैं।
7 शुद्ध स्वर होते हैं।
4 कोमल स्वर होते हैं।
1 तीव्र स्वर होता है।
स्वस्तिवाचन मंत्र शुभारंभ के लिए गाए जाते हैं।
ये मंत्र ग्वेद से लिए गए हैं।

शब्दावली

1. ताल - मात्रओं का निश्चित एवं आवर्तक क्रम
2. मात्र - ताल की गणनात्मक इकाई
3. सम - ताल की प्रथम एवं प्रमुख मात्र
4. विभाग - ताल का खंड
5. लय - गति का संतुलित प्रवाह

रिक्त स्थान भरिए

1. भारतीय संगीत में कुल ------ स्वर होते हैं।
2. शुद्ध स्वरों की संख्या ------ होती है।
3. कोमल स्वर ------ होते हैं।
4. तीव्र स्वर केवल ------ है।
5. स्वस्तिवाचन मंत्र ------ वेद से लिए गए हैं।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. निम्न में से कौन-सा तीव्र स्वर है?
   क) रे
   ख) गा
   ग) मा
   घ) धा

2. निम्न में से कौन-सा कोमल स्वर है?
   क) सा
   ख) प
   ग) नी
   घ) मा

3. स्वस्तिवाचन मंत्र किस वेद से लिए गए हैं?

क) सामवेद

ख) यजुर्वेद

ग) अथर्ववेद

घ) ऋग्वेद

लघु प्रश्न-उत्तर

प्रश्न 1, सप्तक किसे कहते हैं?

प्रश्न 2, शुद्ध स्वर कितने होते हैं?

प्रश्न 3, स्वस्तिवाचन मंत्रों का उद्देश्य क्या है?

दीर्घ प्रश्न

प्रश्न, बारह स्वरों का वगह्नकरण एवं स्वस्तिवाचन मंत्रें का महत्व लिखिए।

खण्ड- 4

इकाई-13. संगीत और ध्यान- प्रारंभिक अभ्यास

इकाई 13 : ''ऊँ'' का उच्चारण और ख़रज की साधना

उद्देश्य: स्वर में स्थिरता, ध्यान की एकाग्रता और शारीरिक कंपन का अनुभव।

अभ्यास:

- ❒ लंबी साँस लेकर ''ऊँ'' का उच्चारण करें - 3 से 5 बार।
- ❒ फिर ''सा'' स्वर को धीमे सुर में पेट से गाते हुए गुनगुनाएं (इसे ख़रज कहा जाता है)।
- ❒ ऊँ+ खरज = 5 मिनट का दैनिक अभ्यास।

लाभ:

- ❒ गले और आवाज की गर्माहट बढ़ती है।
- ❒ साँस नियंत्रित होती है।
- ❒ मानसिक शांति और एकाग्रता आती है।

नोट : आवाज गले से नहीं, नाभि से निकालने की कोशिश करें।

स्मरणीय बिंदु

'ॐ' का उच्चारण ध्यान और स्वर-स्थिरता के लिए किया जाता है।
खरज साधना में हसाह्न स्वर का अभ्यास किया जाता है।
आवाज़ नाभि से निकालनी चाहिए, गले से नहीं।
यह अभ्यास प्रतिदिन 5 मिनट लाभकारी है।

शब्दावली

1. आलाप - राग की प्रारंभिक प्रस्तुति
2. बंदिश - राग का स्थायी स्वरूप
3. तान - तीव्र गति में स्वर संचालन
4. स्थायी - बंदिश का पहला भाग
5. अंतरा - बंदिश का दूसरा भाग

रिक्त स्थान भरिए

1. 'ॐ' का उच्चारण ---------- के लिए किया जाता है।
2. खरज साधना में ---------- स्वर का अभ्यास होता है।
3. सही आवाज़ ---------- से निकलती है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. 'ॐ' उच्चारण का मुख्य उद्देश्य क्या है?
   क) मनोरंजन
   ख) स्वर स्थिरता व ध्यान
   ग) ताल अभ्यास
   घ) राग निर्माण
2. खरज साधना किस स्वर से जुड़ी है?

क) रे
ख) ग
ग) सा
घ) प

लघु प्रश्न-उत्तर

प्रश्न 1. 'ॐ' उच्चारण से क्या लाभ होता है?
प्रश्न 2. खरज साधना का अर्थ क्या है?
प्रश्न 3. खरज साधना में साँस का क्या महत्व है?

दीर्घ प्रश्न

प्रश्न. 'ॐ' उच्चारण एवं खरज साधना का संगीत साधना में महत्व समझाइए।

इकाई-4.2 - साँसों के अभ्यास - (आवाज़ बनाने हेतु)

उद्देश्यः साँस का नियंत्रण, स्वर सीमा (वॉयस रेंज) में विस्तार।

मुख्य अभ्यासः

1. अनुलोम-विलोम प्राणायाम - 5 मिनट।
2. एक साँस में ''सा रे गा मा...'' बोलें, जितना आगे जा सकें।
3. हम्मिंग (गुनगुनाना) - सिर्फ ''म्म्म'' ध्वनि निकालें, होठ बंद रखकर।

रोजाना की दिनचर्याः

5 मिनट प्राणायाम → 5 मिनट ऊँ+हम्मिंग → 5 मिनट सुरों का उच्चारण।

लाभः आवाज में गहराई और पकड़ आती है।

स्मरणीय बिंदु

साँसों का अभ्यास स्वर-नियंत्रण के लिए आवश्यक है।
अनुलोम-विलोम, हम्मिंग प्रमुख अभ्यास हैं।
नियमित अभ्यास से आवाज़ में गहराई आती है।

शब्दावली

1. तानपुरा - स्वर सहायक वाद्य
2. तबला - प्रमुख ताल वाद्य
3. वाद्य संगीत - वाद्यों द्वारा प्रस्तुत संगीत
4. सहगायन - गायन के साथ वादन
5. लयकारी - ताल में विविध गति प्रयोग

रिक्त स्थान भरिए

1. साँस अभ्यास का उद्देश्य ---------- है।
2. ह्म्म्म्ह्ह ध्वनि को ---------- कहते हैं।
3. प्राणायाम से आवाज़ में ---------- आती है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. हम्मिंग किस प्रकार की ध्वनि है?
   क) खुली
   ख) तीव्र
   ग) बंद होंठों की
   घ) तालबद्ध

लघु प्रश्न-उत्तर

प्रश्न 1. अनुलोम-विलोम का लाभ क्या है?
प्रश्न 2. हम्मिंग क्यों की जाती है?
प्रश्न 3. साँस अभ्यास किसे मजबूत करता है?

दीर्घ प्रश्न

प्रश्न. आवाज़ निर्माण में साँसों के अभ्यास का महत्व बताइए।

इकाई-4.3 1-5 अलंकारों का अभ्यास (क्र.पु.मा.भाग-1)

उद्देश्यः गले में लचीलापन, स्वर के बीच की स्पष्टता और तालमेल बढ़ाना।

5 प्रमुख अलंकारः

1. सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सां
2. सा सा, रे रे, ग ग, म म, प प, ध ध, नि नि, सा सां
3. सा सा सा, रे रे रे, ग ग ग, म म, प प, ध ध, नि नि, सा सां
4. सा रे, रे ग, ग म, म प, प ध, ध नि, नि सां
5. सा रे ग, रे ग म, ग म प, म प ध, प ध नि, ध नि सां

विधिः

- पहले बोलकर अभ्यास करें।
- फिर ताल के साथ गा कर रोज कम से कम 5 बार दोहराएं।

नोटः तानपूरा चला कर पृष्ठभूमि में सा-प स्वर रखें।

स्मरणीय बिंदु

अलंकार स्वर-साधना का आधार हैं।
अलंकार से गले में लचीलापन आता है।
तानपूरा के साथ अभ्यास श्रेष्ठ माना जाता है।

शब्दावली

1. अभिनय - भावों की अभिव्यद्रि
2. रस - सौंदर्य अनुभूति
3. भाव - मन की अनुभूति
4. नृत्य - तालबद्ध शारीरिक अभिव्यद्रि
5. समन्वय - विभिन्न कलाओं का मेल

रिक्त स्थान

1. अलंकार से ---------- बढ़ती है।
2. अलंकार पहले ---------- बोलकर किए जाते हैं।
3. तानपूरा ---------- देता है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. अलंकारों का मुख्य उद्देश्य है
   क) मनोरंजन
   ख) लय
   ग) स्वर स्पष्टता
   घ) नृत्य

लघु प्रश्न-उत्तर

प्रश्न 1. अलंकार क्या हैं?
प्रश्न 2. अलंकार अभ्यास कैसे करना चाहिए?
प्रश्न 3. अलंकार में ताल क्यों आवश्यक है?

दीर्घ प्रश्न

प्रश्न. अलंकार अभ्यास का संगीत शिक्षा में महत्व स्पष्ट कीजिए।

इकाई-4.4 प्राथमिक संगीत ध्यान (Musical Meditation)

उद्देश्यः एकाग्रता बढ़ाना, मन को स्वर में स्थिर करना।

विधिः

- ❒ 5 मिनट – आँखें बंद करके तानपुरा के स्वर पर ध्यान लगाएं।
- ❒ 5 मिनट – ''सा'' स्वर पर ध्यान केंद्रित करें, मन भटकता है तो साँस पर लौट आएं।
- ❒ 5 मिनट – कोई मधुर आलाप या मंत्र ध्यानपूर्वक सुनें।

1. एकाग्रताः आधुनिक छात्र जीवन की आवश्यकता

आज के प्रतिस्पर्धात्मक और सूचना-प्रधान युग में एकाग्रता एक अत्यंत आवश्यक मानसिक योग्यता है। स्नातक स्तर पर अध्ययन की गहराई बढ़ जाती है और विषयवस्तु अधिक विश्लेषणात्मक होती है, जिसके लिए मानसिक स्थिरता, फोकस और विचारों की स्पष्टता अनिवार्य होती है। इसलिए, एकाग्रता का प्रशिक्षण आत्म-विकास की नींव है।

2. म्यूजिकल मेडिटेशनः सरल पर प्रभावी ध्यान विधिः

म्यूजिकल मेडिटेशन यानी संगीत के माध्यम से ध्यान एक ऐसी विधि है जो संगीत की मधुरता को मानसिक स्थिरता के साथ जोड़ती है। इसमें व्यक्ति धीमे, सुरम्य वाद्य संगीत के साथ अपनी सांसों, विचारों और वर्तमान क्षण पर ध्यान केंद्रित करता है। यह अभ्यास तनाव को कम करने और मानसिक स्पष्टता लाने में अत्यंत प्रभावी है।

3. अभ्यास की प्रक्रियाः

- ❒ एक शांत वातावरण चुनें जहाँ कोई व्यवधान न हो।
- ❒ बैठने की आरामदायक मुद्रा अपनाएं ख्र पालथी मारकर या कुर्सी पर पीठ सीधी रखें।
- ❒ आंखें बंद करें और हल्का, बिना बोल वाला वाद्य संगीत (जैसे बांसुरी, सितार, पियानो) चलाएं।
- ❒ अपने ध्यान को केवल ध्वनि और सांसों पर केंद्रित करें।
- ❒ यदि विचार भटकें, तो हमदजसल उन्हें वापस संगीत की ओर लाएं।
- ❒ प्रतिदिन 10-15 मिनट का अभ्यास करें, विशेषकर पढ़ाई से पहले या बाद में।

4. मनोवैज्ञानिक एवं शारीरिक लाभ

म्यूजिकल मेडिटेशन नियमित रूप से करने से न्यूरोलॉजिकल सिस्टम में सकारात्मक परिवर्तन आते हैं। इससे ब्वतजपेवस (तनाव हार्मोन) का स्तर कम होता है और डोपामिन व सेरोटोनिन जैसे हार्मोन का स्राव बढ़ता है, जिससे मन प्रसन्न और शांत रहता है। इसके अलावा यह नींद की गुणवत्ता, स्मरण शक्ति और एकाग्रता को भी बेहतर करता है।

5. अध्ययन की गुणवत्ता में वृद्धि

एकाग्र मन ही गहन अध्ययन की कुंजी है। जब मन स्थिर होता है, तो जटिल विषयों को समझना, लंबे समय तक ध्यान बनाए रखना और महत्वपूर्ण बातों को याद रखना आसान हो जाता है। म्यूजिकल मेडिटेशन छात्रों को क्पेजतंबजपवद से बचाता है और उन्हें वर्तमान कार्य में पूरी तरह समर्पित करता है।

निष्कर्षः म्यूजिकल मेडिटेशन कोई धार्मिक या जटिल प्रक्रिया नहीं, बल्कि एक वैज्ञानिक, सरल और अत्यधिक प्रभावशाली अभ्यास है जो विद्यार्थियों को मानसिक शांति, एकाग्रता और बेहतर प्रदर्शन की ओर ले जाता है। यदि प्रतिदिन कुछ ही मिनट इस ध्यान विधि को दिया जाए, तो यह जीवन की दिशा ही बदल सकता है।

नोटः एक ही स्वर पर ध्यान केंद्रित करने से मन में स्थिरता आती है।

स्मरणीय बिंदु

संगीत ध्यान से एकाग्रता बढ़ती है।
तानपूरा या एक स्वर पर ध्यान किया जाता है।
यह अभ्यास तनाव कम करता है।

शब्दावली

1. साधना - निरंतर अभ्यास
2. भद्रि - समर्पण भाव
3. अनुशासन - नियमितता
4. स्वर साधना - स्वर का अभ्यास
5. संगीत साधक - संगीत का अभ्यास करने वाला

रिक्त स्थान

1. संगीत ध्यान से ---------- बढ़ती है।
2. ध्यान के लिए ---------- वातावरण आवश्यक है।
3. एक स्वर पर ध्यान से ---------- आती है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. म्यूजिकल मेडिटेशन का उद्देश्य है
   क) शोर
   ख) तनाव
   ग) एकाग्रता
   घ) नृत्य

लघु प्रश्न-उत्तर

प्रश्न 1. म्यूजिकल मेडिटेशन क्या है?
प्रश्न 2. संगीत ध्यान का समय कितना होना चाहिए?
प्रश्न 3. एक स्वर पर ध्यान का लाभ क्या है?

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

प्रश्न-1. विद्यार्थियों के लिए म्यूजिकल मेडिटेशन का महत्व समझाइए।

॥ ओ३म् ॥

सनातन सस्कृति बोध–१

BDPHVA-106

दिव्य प्रकाशन

सनातन सस्कृति बोध-१ (BDPHVA-106(1)

उद्देश्य-

- **ऋग्वेद एवं यजुर्वेद के चयनित सूक्त एवं मन्त्रों से अवगत कराना।**
- वैदिक षड्दर्शनों का सामान्य परिचयात्मक ज्ञान कराना।
- गीता एवं उपनिषद् के प्रसिद्ध प्रसंगों का बोध कराना।
- भारतीय नीति ग्रन्थों एवं षोडश संस्कारों से अवगत कराना।

खण्ड क्र.	खण्ड का नाम	पृष्ठ क्र.
खण्ड-1	ऋग्वेद एवं यजुर्वेद के चयनित मन्त्र	7-35
खण्ड-2	वैदिक षड्दर्शनों का सामान्य परिचय	36-80
खण्ड-3	श्रीमद्भगवद्गीता एवं उपनिषद् परिचय	81-117
खण्ड-4	सोलह संस्कार एवं नीतिग्रन्थों का परिचय	118-164

परिणाम :-

- वेद के कतिपय प्रसिद्ध सूक्त एवं मन्त्रों का शुद्धतापूर्वक वाचन एवं व्याख्यान करने में विद्यार्थी समर्थ हो जाता है।
- वैदिक षड्दर्शनों के सिद्धान्तों के तुलनात्मक विश्लेषण में दक्ष हो जाता है।
- गीता एवं उपनिषद् के उपर्युक्त चयनित प्रसंगों का अधिगम होगा।
- नीति-शास्त्रों एवं षोडश संस्कारों का विशद् ज्ञान अर्जित होगा।

सहायक ग्रन्थः-

1. सनतन संस्कृति के श्रेष्ठ जीवन मूल्य, डॉ. साध्वी देवप्रिया, दिव्य प्रकाशन पतंजलि योगपीठ महर्षि दयानन्द ग्राम, दिल्ली हरिद्वार राष्ट्रीय राजमार्ग-58 निकट- बहादराबाद, हरिद्वार- 249405 (उत्तराखण्ड)
2. वेदामृत- डॉ. साध्वी देवप्रिया, दिव्य प्रकाशन पतंजलि योगपीठ महर्षि दयानन्द ग्राम, दिल्ली हरिद्वार राष्ट्रीय राजमार्ग-58 निकट- बहादराबाद, हरिद्वार- 249405 (उत्तराखण्ड)।

विषय-सूची

खण्ड- 1	ऋग्वेद एवं यजुर्वेद के चयनित मन्त्र	**6-23**
इकाई-1.1	वेद का अर्थ, परिचय, वेदों के प्रतिपाद्य विषय	6-8
इकाई-1.2	ऋग्वेद के प्रमुख सूक्त (अग्नि, श्रद्धा, संगठन)	9-13
इकाई-1.3	ऋग्वेद के प्रमुख सूक्त (पुरूष , नासदीय)	14-19
इकाई-1.4	यजुर्वेद के प्रमुख मन्त्रों के अर्थ	20-23
खण्ड- 2	**वैदिक षड्दर्शनों का सामान्य परिचय**	**24-51**
इकाई-2.1	योगदर्शन के चयनित सूत्रों का परिचय	24-30
इकाई-2.2	सांख्यदर्शन के चयनित सूत्र का परिचय	31-37
इकाई-2.3	न्याय एव वैशेषिक दर्शनों के चयनित सूत्र	38-45
इकाई-2.4	वेदान्त एवं मीमांसा दर्शन के चयनित सूत्र	46-51
खण्ड- 3	**श्रीमद्भगवद्गीता एवं उपनिषद् परिचय**	**52-73**
इकाई-3.1	गीता-योग की परिभाषा, स्थितप्रज्ञता, साधना की विधि आदि	52-59
इकाई-3.2	दैवासुर सम्पद्, तीन प्रकार के (तप, सुख, कर्ता, आहार)	60-63
इकाई-3.3	उपनिषद्- ईशोपनिषद् के मन्त्रों की व्याख्या	64-68
इकाई-3.4	केनोपनिषद एवं कठोपनिषद् के चयनित मन्त्रों की व्याख्या	69-73
खण्ड- 4	**सोलह संस्कार एवं नीतिग्रन्थों का परिचय**	**74-105**
इकाई-4.1	सोलह संस्कार- गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तो., जातकर्म, नामकरण	74-79
इकाई-4.2	निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन	80-83
इकाई-4.3	वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह , वानप्रस्थ, संन्यास, अन्त्येष्टि	84-88
इकाई-4.4	चाणक्य नीति, विदूर नीति, भर्तृहरि के चयनित श्लोक	89-105

प्रस्तावना

सनातन संस्कृति का बोध वेद, उपनिषद, दर्शन शास्त्र, भगवद् गीता और नीति ग्रंथों के माध्यम से होता है। ये सभी ग्रंथ सनातन धर्म के महत्वपूर्ण स्तंभ हैं जो मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं पर ज्ञान और मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। चाहे वे ज्ञान के स्रोत हों, धार्मिक उत्सवों का संचालन करने वाले हों, या मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए प्रेरणा प्रदान करने वाले हों, ये ग्रंथ सदैव मानवता के लिए मार्गदर्शन के स्त्रोत रहे हैं।

सनातन संस्कृति विश्व की प्राचीनतम और सर्वाधिक समृद्ध संस्कृतियों में से एक है, जो अनादि काल से मानवता को जीवन जीने की कला, आध्यात्मिकता, और नैतिकता का मार्गदर्शन करती आई है। इसका आधार वे मूलभूत सिद्धांत हैं जो वेद, उपनिषद्, दर्शन, भगवद्गीता, और नीति ग्रंथों में निहित हैं। ये ग्रंथ न केवल धार्मिक या आध्यात्मिक ज्ञान के स्रोत हैं, बल्कि जीवन के हर पहलू सामाजिक, नैतिक, और वैज्ञानिक को प्रकाशित करने वाले अमूल्य रत्न हैं। सनातन संस्कृति का बोध इन्हीं ग्रंथों के माध्यम से प्राप्त होता है, जो मानव को सत्य, धर्म, और कर्तव्य के पथ पर चलने की प्रेरणा देते हैं। आइए, इनके महत्व को संक्षेप में समझें:

1. वेद

वेद सनातन संस्कृति की नींव हैं और इन्हें अपौरुषेय (ईश्वर **प्रदत्त) माना जाता है। चार वेद हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद। इनकी रचना अनादि काल में ऋषियों द्वारा दर्शन और श्रुति के माध्यम से की गई। वेदों में यज्ञ, मंत्र, और ब्रह्मांड की उत्पत्ति से संबंधित ज्ञान समाहित है।**

- **ऋग्वेद: इसमें देवताओं की स्तुति और सृष्टि के रहस्यों का वर्णन है, जैसे पुरुष सूक्त और संगठन सूक्त।**
- यजुर्वेद: यज्ञ की विधियों और कर्मकांड का आधार है।
- सामवेद: संगीत और भक्ति का स्रोत, जिसमें मंत्रों को गाकर उच्चारण करने की विधि है।
- अथर्ववेद: दैनिक जीवन, स्वास्थ्य, और सामाजिक व्यवस्था से संबंधित ज्ञान देता है।वेदों का मूल संदेश सत्यं वद, धर्म चर (सत्य बोलो, धर्म का पालन करो) है, जो सनातन संस्कृति का आधार है।

2. उपनिषद्

उपनिषद् वेदों का अंतिम भाग हैं, इसलिए इन्हें वेदांत भी कहा जाता है। ये ग्रंथ आध्यात्मिक ज्ञान और दर्शन के शिखर हैं। उपनिषदों की संख्या 108 से अधिक है, लेकिन प्रमुख 11 उपनिषद् हैं, जैसे ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छांदोग्य, बृहदारण्यक, और श्वेताश्वतर।

- उपनिषद् आत्मा, परमात्मा, और ब्रह्मांड के संबंध को समझाते हैं। इनमें अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ) और तत्त्वमसि (वह तुम हो) जैसे महावाक्य हैं, जो अद्वैत दर्शन की नींव रखते हैं।
- ये ग्रंथ साधक को माया से मुक्त होकर मोक्ष की ओर ले जाते हैं।
- उपनिषद् सनातन संस्कृति के मूल्य सत्यं शिवं सुंदरम् (सत्य, शिव, और सुंदर) को प्रतिबिंबित करते हैं।

3. दर्शन

सनातन संस्कृति में छह प्रमुख दर्शन शास्त्र हैं, जिन्हें षड्दर्शन कहा जाता है। ये हैं न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, और वेदांत।

- न्याय: तर्क और प्रमाण के आधार पर सत्य की खोज करता है।
- वैशेषिक: विश्व के पदार्थों और उनके गुणों का विश्लेषण करता है।
- सांख्य: प्रकृति और पुरुष के द्वैत को समझाता है।
- योग: पतंजलि का योगसूत्र, जिसमें अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) के माध्यम से आत्म-नियंत्रण और मोक्ष का मार्ग बताया गया है।
- मीमांसा: कर्मकांड और यज्ञों का विश्लेषण करता है।
- वेदांत: अद्वैत और एकता का दर्शन, जो ब्रह्म और आत्मा की एकता पर बल देता है।

ये दर्शन जीवन को तार्किक, वैज्ञानिक, और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से समझने का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

4. भगवद्गीता

भगवद्गीता सनातन संस्कृति का एक अनमोल रत्न है, जो महाभारत के भीष्म पर्व में संनिहित है। यह भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच संवाद के रूप में 18 अध्यायों और 700 श्लोकों में रचित है।

- गीता कर्म, भक्ति, और ज्ञान योग का समन्वय करती है।

- इसका मूल संदेश कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन (कर्म में अधिकार है, फल में नहीं) है, जो निष्काम कर्म की शिक्षा देता है।
- गीता सनातन मूल्य जैसे धर्म, सत्य, और कर्तव्यनिष्ठा को जीवन में उतारने की प्रेरणा देती है।
- यह मानव को जीवन के संकटों से उबारकर सही मार्ग पर चलने का रास्ता दिखाती है।

5. नीति ग्रंथ

नीति ग्रंथ सनातन संस्कृति में नैतिकता, शासन, और जीवन जीने की कला सिखाते हैं। इनमें प्रमुख हैं चाणक्य नीति, विदुर नीति, पंचतंत्र, और हितोपदेश।

- चाणक्य नीतिः चाणक्य (कौटिल्य) द्वारा रचित, जो शासन, अर्थशास्त्र, और जीवन प्रबंधन की नीतियाँ सिखाती है।
- विदुर नीतिः महाभारत में विदुर द्वारा दी गई नीतियाँ, जो धर्म, नैतिकता, और कर्तव्य का पाठ पढ़ाती हैं।
- पंचतंत्रः विष्णु शर्मा द्वारा रचित, जिसमें नीतिपरक कहानियों के माध्यम से जीवन मूल्य सिखाए गए हैं।
- हितोपदेशः नारायण पंडित द्वारा रचित, जो पंचतंत्र की तरह कहानियों के माध्यम से नीति और बुद्धिमत्ता की शिक्षा देता है।

ये ग्रंथ सामाजिक जीवन को संतुलित और नैतिक बनाने का मार्ग दिखाते हैं।

सनातन संस्कृति बोध का महत्वः

- आध्यात्मिक जागरूकताः वेद और उपनिषद् आत्मा और परमात्मा की एकता का बोध कराते हैं, जो साधक को आंतरिक शांति और मोक्ष की ओर ले जाता है।
- नैतिक जीवनः गीता और नीति ग्रंथ नैतिकता और कर्तव्यनिष्ठा की शिक्षा देते हैं, जो सामाजिक सद्भाव के लिए आवश्यक हैं।
- संतुलित जीवनः दर्शन शास्त्र तार्किक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रदान करते हैं, जो जीवन को संतुलित और सार्थक बनाते हैं।

खण्ड-1 ऋग्वेद एवं सामवेद के चयनित मंत्र

इकाई-1.1 वेद का अर्थ, परिचय, वेदों के प्रतिपाद्य विषय

उद्देश्य-

1. विद्यार्थी वेद शब्द के अर्थ, उत्पत्ति एवं उसकी दार्शनिक महत्ता को समझ सके।
2. चारों वेदों-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद-के स्वरूप एवं विषय-वस्तु का ज्ञान प्राप्त करे।
3. वेदों के ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान पक्ष का अध्ययन कर भारतीय संस्कृति की मूल चेतना को समझ सके।

१. वेद का अर्थ-

वेद शब्द 'विद सत्तायाम्' (दिवादि), 'विद ज्ञाने' (अदादि), 'विद्लृ लाभे' (तुदादि), 'विद विचारणे' (रुधादि) तथा 'विद चेतनाख्याननिवासेषु' (चुरादि) धातुओं से करण और अधिकरण कारक में घञ् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। जिसमें विविध ज्ञान-विज्ञानों की सत्ता है (विद सत्तायाम्), जिससे या जिसमें विविध विद्याएँ जानी जाती हैं (विद ज्ञाने), जिससे या जिसमें विविध विद्याओं को पाते हैं (विद्लृ लाभे), जिससे या जिसमें विविध विद्याओं का विचार किया जाता है (विद विचारणे), जिससे गुरु द्वारा शिष्यों को चेताया जाता है, जिससे या जिसमें विविध विषयों का आख्यान किया जाता है, जिसमें विविध विद्याएँ निवास करती हैं अथवा जिससे शिष्यों के हृदय में अध्यात्म, अधिदैवत, अधिभूत आदि विद्याओं का निवास कराया जाता है (विद चेतनाख्याननिवासेषु) उसका नाम वेद है।

२. वेद ४ होते है- (1) **ऋग्**वेद (2) यजुर्वेद (3) सामवेद (4) अथर्ववेद ।

३. वेदों के प्रतिपाद्य विषय

प्रत्येक वेदों का अपना-अपना महत्त्व है। ऐसा नहीं है कि किसी वेद का कम महत्त्व हो, दूसरे वेद का अधिक हो। वेदों के चार वर्ण्य विषय हैं- ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान। ज्ञान किसी पदार्थ के सामान्य बोध को तथा विज्ञान उसके साक्षात् बोध को कहते हैं। चारों विषयों में विज्ञान सबसे मुख्य है, अतः उसमें परमेश्वर से लेकर तृण-पर्यन्त सब पदार्थों का हस्तामलकवत् साक्षात् बोध होता है। उसमें भी परमेश्वर का अनुभव सर्वमुख्य है, क्योंकि सब वेदों का प्रधानतः उसी में तात्पर्य है।

चारों ही वेदों में ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और विज्ञानकाण्ड के विषय वर्णित हैं। तथापि प्रधानतः ऋग्वेद में गुण-गुणियों के ज्ञान-विज्ञान का उपदेश अर्थात् ईश्वर से लेकर भूमिपर्यन्त पदार्थों का गुण वर्णन-रूप ज्ञानकाण्ड एवं विज्ञानकाण्ड हैं, और यजुर्वेद में ईश्वर-पूजा, विद्वत्सत्कार, शिल्पादि क्रियाओं से संगतिकरण, शुभ विद्या, गुण, धन आदि का दान एवं यज्ञादि कर्तव्य कर्मों का उपदेशरूप कर्मकाण्ड वर्णित है। सामवेद में ज्ञान-विज्ञान, कर्म और उपासना तीनों का समन्वय है अर्थात् यह बतलाया गया है कि मनुष्य ज्ञान-विज्ञान, कर्म और उपासना की कहाँ तक उन्नति कर सकता है तथा उसका क्या फल होता है।

ऋग्वेद- ऋग्वेद सबसे प्राचीन वेद है। यह ऋचाओं का वेद है। ऋचा का तात्पर्य स्तुति होता है। यह विज्ञान का ग्रन्थ है। इसमें विभिन्न देवताओं की स्तुति में गाये गए मन्त्रों का संग्रह है। **इस ग्रन्थ में १० मण्डल, १०२८ सूक्त** तथा **१०४६२ मन्त्र** हैं। ऋग्वेद का पहला तथा दसवाँ मण्डल क्षेपक माना जाता है। मन्त्रों को ऋचा अथवा श्लोक भी कहते हैं। देवताओं की स्तुति मन्त्रों द्वारा ही होती है। ऋग्वेद में मन्त्रों के उच्चारक को **होता** कहा जाता था।

ऋग्वेद में तीन पाठ मिलते हैं

1.साकल 2.बालखिल्य 3.वाष्कल

ऋग्वेद की मन्त्र रचयिता स्त्रियों के नाम लोपमुद्रा, अपाला, घोषा, गार्गी आदि थे। ऋग्वेद के तृतीय मण्डल में 'गायत्री मन्त्र' मिलता है।

ऋग्वेद के प्रमुख मण्डल एवं उनके रचयिता

मण्डल	**रचयिता**	**मण्डल**	**रचयिता**
द्वितीय	ग्रत्समद	षष्टम्	भारद्वाज
तृतीय	विश्वामित्र	सप्तम्	वशिष्ठ
चतुर्थ	वामदेव	अष्टम्	कण्व ऋषि
पंचम्	अत्रि		

स्मरणीय बिन्दु-

1. वेद शब्द की उत्पत्ति किस धातु से हुई है?
2. चार वेदों के नाम क्रम से लिखिए।
3. ऋग्वेद में कितने मंडल हैं?
4. गायत्री मंत्र किस मंडल में है?
5. यजुर्वेद का मुख्य विषय क्या है?

शब्दावली-

शब्द	**अर्थ**
वेद	ज्ञान
प्रतिपाद्य	वर्णन करने योग्य विषय
सूक्त	मंत्र समूह
मंडल	अध्याय/भाग
उपासना	आराधना
कर्मकाण्ड	यज्ञादि क्रियाएँ
विज्ञान	विशेष ज्ञान
स्तुति	प्रशंसा
ऋषि	मंत्रद्रष्टा
गायत्री	प्रसिद्ध वैदिक मंत्र

5 अंक के प्रश्न

1. वेद शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. चारों वेदों के नाम लिखिए।
3. वेदों के चार प्रतिपाद्य विषय कौन-कौन से हैं?
4. ऋग्वेद को सबसे प्राचीन वेद क्यों कहा जाता है?
5. ऋग्वेद की संरचना (मंडल, सूद्र, मंत्र) का वर्णन कीजिए।

15 अंक के प्रश्न

1. वेद शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उसके विभिन्न अर्थों की व्याख्या कीजिए।
2. चारों वेदों का परिचय एवं उनके प्रतिपाद् विषयों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
3. ऋग्वेद की विशेषताओं, संरचना एवं महत्व पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. वेदों की संख्या है-

(क) 2

(ख) 3

(ग) 4

(घ) 5

2. सबसे प्राचीन वेद है-

(क) सामवेद

(ख) ऋग्वेद

(ग) अथर्ववेद

(घ) यजुर्वेद

3. गायत्री मंत्र प्राप्त होता है-

(क) यजुर्वेद

(ख) ऋग्वेद

(ग) सामवेद

(घ)अथर्ववेद

4. यजुर्वेद मुख्यत: संबंधित है-

(क) उपासना

(ख) कर्म

(ग) चिकित्सा

(घ) संगीत

5. ऋग्वेद में सूद्रों की संख्या हैख्न

(क) 500

(ख) 1028

(ग) 2000

(घ) 1500

इकाई- १.२ ऋग्वेद के प्रमुख सूक्त (अग्नि, श्रद्धा, संगठन)

उद्देश्य-

1. विद्यार्थी ऋग्वेद के प्रमुख सूक्तों-अग्नि, श्रद्धा और संगठन-के मूल भाव एवं शिक्षाओं को समझ सके।
2. वैदिक मंत्रों में निहित आध्यात्मिक, नैतिक एवं सामाजिक आदर्शों का अध्ययन कर सके।
3. यज्ञ, श्रद्धा, एकता एवं सामूहिक जीवन के महत्व को वैदिक दृष्टि से समझ सके।

१. अग्निसूक्तम्

ऋ. मं 1 सू 1 मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ऋषिः। अग्निः देवता। गायत्री छन्दः।

ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥1॥

यज्ञस्य-यज्ञ के **पुरोहितम्**- (होम सम्पादन करने वाले) पुरोहित, **देवम्**-दान आदि गुणों से युक्त देव या (यज्ञ के) प्रकाशक, **ऋत्विजम्** (देवों के यज्ञ में) होता नामक ऋत्विक् या ऋतु के अनुरूप यज्ञ करने वाले, **होतारम्** (देवों को) आहूत करने वाले, **रत्नधातमम्**- (और याग-फल रूप) रत्नों को धारण करने वाले, **अग्निम्**-अग्नि (देव) की, **ईळे** (मैं) स्तुति करता हूँ।

भावार्थ- मैं अग्नि की स्तुति करता हूँ, जो यज्ञ के पुरोहित हैं, देवताओं के ऋत्विज (यज्ञ संपादक) हैं, हवन करने वाले (होतृ) हैं, और सबसे उत्तम रत्नों (सुख, समृद्धि, और आध्यात्मिक वैभव) को प्रदान करने वाले हैं ।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति ॥ २॥

अग्निः- (यह) अग्नि, **पूर्वेभिः**- पहले के, **ऋषिभिः** (भृगु, अङ्गिरा प्रभृति) ऋषियों से, **ईड्यः** स्तुत्य या प्रशंसा योग्य (थे, और), **नूतनैः** (हम) आधुनिकों के द्वारा, **उत**-भी (स्तुत्य), **सः**-वह (अग्नि), **इह**-इस (यज्ञ) में, **देवान्**-देवों को, **आ वक्षति-प्राप्त करावें।**

भावार्थ- अग्नि को प्राचीन ऋषियों और आज के ऋषियों (नए भक्तों) द्वारा भी पूजा जाता है। वे (अग्नि) देवताओं को यहाँ लाते हैं। इस मंत्र से यह स्पष्ट होता है कि अग्नि सदैव कालों में पूज्य रहे हैं और उनका कार्य है देवताओं को यज्ञ में बुलाना।

अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे। यशसं वीरवत्तमम्॥३॥

अग्निना-(मनुष्य इस स्तुत्य) अग्नि से, **दिवेदिवे**-प्रतिदिन पोषण को प्राप्त होने वाले, **यशसम्**-यश देने वाले, **वीरवत्तमम्**- (और पुत्रभृत्य आदि) श्रेष्ठ पुरुषों से युक्त या श्रेष्ठ वीरता को देने वाले, **रयिम्**-धन या ऐश्वर्य को, **एव**-अवश्य, अश्नवत्-प्राप्त करता है।

भावार्थ- इस मंत्र में कहा गया है कि अग्नि के माध्यम से यज्ञ करने वाला व्यक्ति हर दिन ऐसे धन और समृद्धि को प्राप्त करता है जो यश, वीरता, और पोषण से परिपूर्ण होती है। अग्निदेव यज्ञ के माध्यम से हमें उन देवताओं तक पहुँचाते हैं जो हमें वैभव प्रदान करते हैं ।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद्देवेषु गच्छति॥ 4॥

अग्ने-हे अग्ने (आप), **यम्**-जिस (राक्षसादिकों से अधृष्य), **अध्वरम्**-हिंसा-रहित **यज्ञम्**-यज्ञ को, **विश्वतः**- सभी दिशाओं में सब ओर से, **परिभूःअसि**-प्राप्त करते हैं, **सः इत्**-वह (यज्ञ) ही, **देवेषु**-देवों को (तृप्ति हेतु, स्वर्ग में), **गच्छति**-प्राप्त होता है।

भावार्थ - इस मंत्र में अग्नि की वाहक और संरक्षक शक्ति का वर्णन है। यह कहा गया है कि जो यज्ञ अग्नि की उपस्थिति और रक्षा में किया जाता है, वह सही रूप से देवताओं तक पहुँचता है।

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः। देवो देवेभिरा गमत् ॥ 5॥

होता-(जो देवों को) आहूत करने वाले, या होम के निष्पादक **कविक्रतुः-क्रान्तपज्ञ या क्रान्तकर्मा (अर्थात् अतीत एवं अनागत कर्मों को जानने वाले या करने वाले), सत्यः**- मिथ्या रहित, (अतएव निश्चित रूप से फलों को देने वाले) **चित्रश्रवस्तमः** - विविध (प्रकार की) कीर्ति से युक्त (और), **देवः** देव स्वरूप (हैं) **अग्निः** (वह तेजस्वी) अग्नि, **देवेभिः** (अन्य) देवताओं के साथ, **आ गमत्**- (इस यज्ञ में) आवे।

भावार्थ- अग्नि देवता देवताओं तक यज्ञ की आहुति पहुँचाने वाले दूत हैं।

इस मंत्र में अग्नि की चार विशेषताओं का उल्लेख है:

1. **होता** यज्ञ का मुख्य कर्ता और आहुति ग्रहण करने वाला
2. **कविक्रतुः** कवि के समान ज्ञान और प्रेरणा रखने वाला
3. **सत्यः** सत्य स्वरूप
4. **चित्रश्रवस्तमः** अद्भुत कीर्ति वाला, जिसकी यशोकीर्ति महान है

इस मंत्र के माध्यम से यजमान अग्निदेव से प्रार्थना करता है कि वे अन्य देवताओं के साथ इस यज्ञ में उपस्थित हों ।

यदङ्ग द्वाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ॥ 6॥

अङ्गअग्ने- हे प्रिय अग्ने!, **यत्**-जो, **त्वम्**-आप, **दाशुषे**-हवि का दान करने वाले (यजमान) के लिए, **भद्रम**-(वित्त, गृह, प्रज्ञा एवं पशु रूप) कल्याण, **करिष्यसि**-करते हो, **तत्**-वह (कल्याण), **तव इत्**-आपका ही (है), **अङ्गिरः** हे अङ्गिरा रूपी अग्नि देवता! (अथवा) हे अङ्गिरा मुनि को जन्म देने वाले अग्नि देवता!, **सत्यम्** (यह) सत्य (ही) है, (अर्थात्) इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

भावार्थ- इस मंत्र में अग्निदेव से विश्वास और श्रद्धा के साथ प्रार्थना की गई है। कहा गया है कि अग्नि यजमान के लिए यदि कुछ कल्याणकारी करता है, तो वह निश्चित रूप से सफल और सत्य सिद्ध होता है क्योंकि यह केवल मानव विश्वास नहीं, बल्कि ऋषियों की अनुभूति और वाणी है।

उपत्वाग्ने दिवेदिवे दोषावावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि ॥7॥

अग्ने-हे अग्ने!, **वयम्**-हम (याज्ञिक अनुष्ठान करने वाले) लोग, **दिवेदिवे**-प्रतिदिन (और), **दोषावस्तः** रातदिन, **धिया**-बुद्धि से बुद्धिपूर्वक, (आपको), **नमः** नमस्कार, **भरन्तः**-करते हुए, **त्वा**-आपके, **उप**-समीप, **एमसि**-आते हैं।

भावार्थ- यह मंत्र अग्निदेव के प्रति नियमित उपासना और भक्ति को दर्शाता है। यजमान कहता है कि हम प्रतिदिन, प्रातः और सायंकालीन दो समयों पर, अग्नि के समीप श्रद्धा और नम्रता के साथ उपस्थित होते हैं, और नमस्कार (नमः) अर्पण करते हैं ।

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्। वर्धमानं स्वे दमें। ॥8॥

राजन्तम् दीप्यमान, **अध्वराणाम्**-(राक्षसादि के द्वारा की जाने वाली) हिंसा से रहित यज्ञों के, **गोपाम्**-रक्षक, **ऋतस्य**- (अटल) सत्य के या अवश्यम्भावी कर्म-फल के, **दीदिविम्**-पुनः पुनः प्रकाशित करने वाले, **स्वे**-अपने, **दमे**-घर में अर्थात् यज्ञशाला में, **वधमानम्**- (हविष्य के निक्षेप से) बढ़ने वाले (जो पूर्वमन्त्रोक्त-अग्नि देव हैं, उनको हम नमस्कार करते हुए समीप आते हैं।)

भावार्थ - इस मंत्र में अग्निदेव के गुणों का काव्यमय वर्णन है, यह मंत्र अग्नि की दिव्यता, जीवनदायिनी शक्ति, और अंतरंग उपस्थिति को दर्शाता है। इस मंत्र में बताया गया है कि जो यज्ञों का तेजस्वी अधिपति है, अमृत का रक्षक है, जो प्रकाशमान है और अपने घर में निरंतर बढ़ रहा है उस (अग्नि) की हम वंदना करते हैं ।

स नः पितेव सुनवेऽग्ने सूपायनो भव। सर्चस्वा नः स्वस्तये ॥9॥

अग्ने-हे अग्ने, (पूर्व मन्त्रोक्त गुणों से प्रसिद्ध या युक्त) वह, (आप), **नवे**-पुत्र के लिए, **पिता**-पिता (की), **इव**-तरह, **नः**-हम लोगों के लिए, **सूपायनः**-सुप्राप्य या कल्याण करने वाले, **भव**-होइए (और), नः- हम लोगों के, **स्वस्तये**-कल्याण के लिए, सचस्व-संग रहिए या सहायक होइए।

भावार्थ- यह मंत्र अग्निदेव से आत्मीय प्रार्थना है जैसे एक पिता अपने पुत्र का हितचिंतक होता है, उसकी रक्षा करता है और उसे सही मार्ग दिखाता है, उसी प्रकार अग्निदेव से यजमान शुभ पथ के पथदर्शक बनने की याचना करता है। साथ ही, वह प्रार्थना करता है कि अग्नि हमारे लिए स्वस्ति (सर्वतोभद्र मंगल, कल्याण) के साधक बनें।

२ श्रद्धासूक्तम्

ऋषिः- श्रद्धाः कामायनी॥ देवता-श्रद्धा॥ छन्दः- १,४, ५ अनुष्टुप्; २ विराडनुष्टुप्; ३ निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः- गान्धारः॥ अथ नवमो वर्गः ॥१॥ ऋ मं १० सू १५१

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥१॥

सत्य धारणा (श्रद्धा) से ही अग्नि प्रज्वलित की जाती है। श्रद्धा से ही यज्ञ में आहुति दी जाती है। श्रद्धा को ऐश्वर्य के मुख्य स्थान में रख कर, विभूतियों में सर्वोपरि मान कर वेदवाणी से प्रकट किया जाता है।

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥२॥

श्रद्धा दान देने वालों को, दान देने के इच्छुक जन को, भोगार्थियों को और यज्ञकर्ताओं को प्रिय करे और इनके मन में मेरी उन्नति के प्रति प्रिय भाव हों।

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे ।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥३॥

जिस प्रकार विद्वान वीर पुरुषों के प्रति श्रद्धा रखते हैं, उसी प्रकार भोगी और याज्ञिक जनों में हमारी उन्नति प्रिय और विश्वसनीय हो।

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।
श्रद्धां हृदय्य१याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥४॥

विद्वानों और वीरों से रक्षित यजमान श्रद्धा की उपासना करते हैं। हृदय में श्रद्धा रखने वालों को धन और ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि ।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥५॥

हम प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल श्रद्धापूर्वक उपासना करें। श्रद्धा का आह्वान करें। वह प्रभु हमें श्रद्धावान करें।

३ संगठनसूक्तम्

ऋ. मं १० सू १९१ संवनन आङ्गिरसः। १ अग्निः, २-४ संज्ञानम्। अनुष्टप, ३ त्रिष्टुप् ।

ओ३म् संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
डुळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥१॥

वृषन्-कामनाओं की वर्षा करने वाले **अग्ने** हे अग्नि, **अर्यः**-सबके स्वामी तुम, **विश्वानि**-समस्त तत्त्वों को, **इत्**-निश्चित रूप से, आ-सब ओर से, **युवसे**-मिश्रित करते हो, **इळः** पृथिवी के, पदे-उत्तरवेदी रूप स्थान पर, **समिध्यसे** ऋत्विजों द्वारा तुम्हें ही सम्यक् रूप से प्रज्वलित किया जाता है, **सः** इस प्रकार के तुम, नः हमें, **वसूनि**-धन, **भर**-प्रदान करो।

भावार्थ- कामनाओं की वर्षा करने वाले हे अग्नि, सबके स्वामी तुम समस्त तत्त्वों को निश्चित रूप से , सब ओर से, मिश्रित करते हो, पृथिवी के, पदे-उत्तरवेदी रूप स्थान पर, ऋत्विजों द्वारा तुम्हें ही सम्यक् रूप से प्रज्वलित किया जाता है, इस प्रकार के तुम, हमें, धन, प्रदान करो।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥२२॥

संगच्छध्वम्-तुम परस्पर मिलकर रहो, संवदध्वम्-परस्पर विरोध छोड़कर एक ही प्रकार की बात कहो, **वः**-तुम्हारे, **मनांसि**-मन, **संजानताम्**-परस्पर अविरुद्ध एक की ही प्रकार से अर्थ को समझें, जैसे **पूर्वे**-पूर्वज, **देवाः**-देवता, **संज्ञानानाः**-अविरुद्ध रूप से एक मत होकर, **भागम्**-अपने-अपने हविर्भाग को, उपासते-प्राप्त करते हैं।

भवार्थ- तुम परस्पर मिलकर रहो परस्पर विरोध छोड़कर एक ही प्रकार की बात कहो, तुम्हारे, मन, परस्पर अविरुद्ध एक की ही प्रकार से अर्थ को समझें, जैसे-पूर्वज, देवता, अविरुद्ध रूप से एक मत होकर, अपने-अपने हविर्भाग को, उपासते-प्राप्त करते हैं।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥३॥

एषाम्-एक ही कर्म में एक साथ प्रवृत्त हुए इन ऋत्विजों और स्तोताओं का, **मन्त्रः**-स्तुति अथवा विचार विमर्श **समानः**- एक जैसा हो **समितिः** इनकी प्राप्ति अथवा इनका एक दूसरे से मिलना, समानी भेदभाव से रहित एक समान हो, **मनः** इनका मन, **समानम्**-एक जैसा हो. **चित्तम्**-इनका चित्त अर्थात् इनका पारस्परिक विचार अथवा चिन्तन, **सह**-एक दूसरे के साथ मिलने वाला हो, **वः**-तुम्हें, **समानम्**-एक जैसे, **मन्त्रम्**-मन्त्र से, **अभि मन्त्रये**-अभिमन्त्रित करता हूँ, **वः**-तुम सबसे, **समानेन**-सामान्य अर्थात् सबके एक जैसे **हविषा**-चरु पुरोडाश हविष्यान्त्र से, **जुहोमि**-होम करता हूँ।

भावार्थ- सभी का मंत्र (प्रार्थना या संकल्प) एक हो, अर्थात् सभी का उद्देश्य और विचार एक ही दिशा में हों। सभी एकजुट हो, अर्थात् समूह में कोई मतभेद न हो और सभी एक साथ कार्य करें। सभी का मन और चित्त एक हो, अर्थात् सभी के विचार और भावनाएँ एकजुट हों, ताकि कोई आंतरिक द्वंद्व न रहे। मंत्र जपने वाला (ऋषि या यजमान) कहता है कि वह सभी के लिए एक ही मंत्र से प्रार्थना करता है और एक ही हवि (आहुति) से हवन करता है। यह एकता के प्रतीक के रूप में है सभी के लिए एक ही प्रार्थना और एक ही कर्म (हवन)।

यह मंत्र सामूहिक कार्यों में एकता और समन्वय की आवश्यकता को दर्शाता है। यह सिखाता है कि जब सभी लोग एक ही उद्देश्य, विचार, और भावना के साथ कार्य करते हैं, तो वह कार्य सफल होता है ।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥४॥

वः- तुम्हारा, **आकूतिः** संकल्प, समानी एक जैसा हो, **वः**-तुम्हारे, **हृदयानि**- हृदय, समाना- एक जैसे हों, **वः**-तुम्हारा, **मनः**-अन्तःकरण, **समानम्**- एक समान, **अस्तु**-हों, यथा- जिससे, वः-तुम्हारा, **सुसह**- शोभन रूप से संगठित साथ, **असति** बनी रहे।

भावार्थ- यह मंत्र एकता, सामंजस्य, और मेलजोल की प्रेरणा देता है। यह कहता है कि यदि हमारे स्वर, भाव, और हृदय समान हों, और मन भी एकता के साथ कार्य करे, तो हमारे बीच प्रेम, शांति और सौहार्द बना रहेगा। यह मंत्र अक्सर सामूहिक प्रार्थना, सभा, और समूह कार्यों में सौहार्द बढ़ाने के लिए उपयोग किया जाता है ।

स्मरणीय बिन्दु-

1. 'अग्निमीळे पुरोहितम' किस वेद का मंत्र है?
2. अग्नि सूक्त में अग्नि को क्या कहा गया है?
3. श्रद्धा सूक्त का मुख्य विषय क्या है?
4. ''सं गच्छध्वं'' किस सूक्त से लिया गया है?
5. संगठन सूक्त किस मूल्य पर बल देता है?

शब्दावली-

शब्द	**अर्थ**
अग्नि	ऊर्जा/यज्ञ की अग्नि
पुरोहित	आगे बैठकर मार्गदर्शन करने वाला
यज्ञ	वैदिक अनुष्ठान
श्रद्धा	विश्वासपूर्ण निष्ठा
हवि	आहुति
संगठन	एकता
मंत्र	पवित्र वैदिक वचन
समन्वय	मेल-जोल
ऐश्वर्य	समृद्धि
कल्याण	मंगल/हित

5 अंक के प्रश्न

1. अग्नि सूक्त का मूल भाव लिखिए।
2. अग्नि को पुरोहित क्यों कहा गया है?
3. श्रद्धा सूक्त में श्रद्धा का क्या महत्व है?
4. संगठन सूक्त का सामाजिक संदेश क्या है?
5. 'सं वदध्वं' का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न

1. अग्नि सूक्त के प्रमुख मंत्रों के आधार पर अग्नि देव के स्वरूप एवं महत्व की व्याख्या कीजिए।
2. श्रद्धा सूक्त में वर्णित श्रद्धा के आध्यात्मिक एवं सामाजिक महत्व पर विस्तार से प्रकाश डालिए।
3. संगठन सूक्त के आधार पर वैदिक समाज में एकता, समन्वय और संगठन की भावना का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. ऋग्वेद का प्रथम सूक्त है-

(क) पुरुष सूक्त

(ख) अग्नि सूक्त

(ग) श्रद्धा सूक्त

(घ) नासदीय सूक्त

2. श्रद्धा सूक्त का मुख्य आधार हैख्र

(क) युद्ध

(ख) तप

(ग) श्रद्धा

(घ) दान

3. ''सं गच्छध्वं'' का अर्थ है-

(क) युद्ध करो

(ख) साथ चलो

(ग) तप करो

(घ) दान करो

4. अग्नि किसका प्रतीक है?

(क) अंधकार

(ख) आलस्य

(ग) प्रकाश और ऊर्जा

(घ) मोह

5. संगठन सूक्त का मुख्य संदेश हैख्न

(क) एकता

(ख) भोग

(ग) वैर

(घ) त्याग

इकाई- १.३ ऋग्वेद के प्रमुख सूक्त (पुरुष, नासदीय)

उद्देश्य-

1. विद्यार्थी पुरुष सक्त एवं नासदीय सूक्त के माध्यम से सृष्टि, ब्रह्मांड और परमात्मा के वैदिक स्वरूप को समझ सके।
2. सृष्टि उत्पत्ति, ब्रह्मांडीय पुरुष तथा सृष्टि रहस्य के दार्शनिक पक्ष का अध्ययन कर सके।
3. वैदिक चिंतन में ब्रह्म, जगत, समाज व्यवस्था और सृष्टि-विज्ञान की अवधारणा को जान सके।

४. पुरुषसूक्तम्

ऋ. मं 10 सू 90 नारायणः। परमपुरुषः। अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् ।

ओ३म् सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥1॥

पुरुषः- सभी प्राणियों की समष्टि ब्रह्माण्डरूप देह वाला पुरुष; **सहस्त्रशीर्षा**- हजारों अर्थात् अनन्त शिरों वाला है; **सहस्त्राक्षः**-इसी प्रकार उसके हजारों अर्थात् अनन्त नेत्र हैं; **सहस्त्रपात्**- हजारों अर्थात् अनन्त पैर हैं; **सः** - वह पुरुषः **भूमिम्**- इस ब्रह्माण्ड को; **विश्वतः**- सब और से; **वृत्वा**- घेर कर; **दशाङ्गुलम्**- दश अंगुल परिमित स्थान को ही; **अत्यतिष्ठत्**- घेरे हुए स्थित है।

भावार्थ - पुरुष जिसकी हजारों सिर, हजारों आँखें और हजारों पैर हैं, वह सारी पृथ्वी को चारों ओर से घेरते हुए, दस अंगुलों की दूरी पर बड़ा है। यह मंत्र ब्रह्मांडीय पुरुष का एक महाकाय और सर्वव्यापी स्वरूप दर्शाता है। वह सम्पूर्ण सृष्टि को अपने विस्तार से घेरता है और सर्वत्र व्याप्त है। उसकी महिमा अतुलनीय है ।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ 2 ॥

इदम्- यह वर्तमान जगत; **सर्वम्**- सब कुछ; **पुरुष एव**- पुरुष ही है; **यत्**- जो; **भूतम्**- अतीत का जगत् है; **च** और; **यत्**-जो; **भव्यम्**- आने वाले समय में उत्पन्न होने वाले प्राणी आदि जो कुछ है, वह भी सब कुछ पुरुष ही है; **उत**- और; **अमृतत्वस्य**-देवत्व का; **ईशानः**- यह स्वामी है; **यत्**-जो; **अन्नेन**- प्राणियों द्वारा खाने वाले अन्न से; **अतिरोहति**- अपनी अगोचर अर्थात् अदृश्य ब्रह्म अवस्था का अतिक्रमण करके दृश्य जगत् अवस्था को प्राप्त करता है।

भावार्थ - पुरुष ही यह समस्त ब्रह्मांड है जो अतीत और भविष्य दोनों है। वह अमरता का स्वामी है, जिसके द्वारा सब जीवित रहते हैं और भोजन प्राप्त करते हैं। यह मंत्र पुरुष (परमात्मा) की

सर्वव्यापकता और सर्वोच्चता को दर्शाता है। इसमें कहा गया है कि जो कुछ भी अतीत में था, जो वर्तमान में है, और जो भविष्य में होगा वह सब पुरुष ही है। पुरुष यहाँ ब्रह्मांड की मूल सत्ता है, जो समय और काल से परे है। **उतामृतत्वस्येशानः** से यह संकेत मिलता है कि पुरुष अमृतत्व (मोक्ष या अनंत जीवन) का स्वामी है, अर्थात् वह साधक को मृत्यु और पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति प्रदान करता है। **यदन्नेनातिरोहति** का अर्थ है कि पुरुष भौतिक साधनों (अन्न, जो जीवन का आधार है) के माध्यम से भी सृष्टि में फैलता है। यहाँ 'अन्न' भौतिक जगत और सृष्टि के पोषण का प्रतीक है, जो पुरुष की शक्ति से ही संचालित होता है ।

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यमृतं दिवि ॥ 3 ॥

एतावान्-अतीत, वर्तमान तथा आने वाला जगत् जितना भी है यब सब; **अस्य**- इस पुरुष की महिमा सामर्थ्यमात्र है, उसका वास्तविक रूप नहीं है; **च**- और: **पुरुषः**- जो वास्तविक पुरुष है वह; **अतः**- इस महिमा से भी; **ज्यायान्**- बहुत अधिक बड़ा है; **विश्वा**- समस्तः **भूतानि** तीनों कालों से सम्बन्धित प्राणियों सहित यह ब्रह्माण्ड; **अस्य**- इस पुरुष का; **पादः**-मात्र चतुर्थांश है; **अस्य**- इस पुरुष के; **त्रिपात्**- तीन पाद अर्थात् तीन अंश; **अमृतम्**- विनाश रहित होकर; **दिवि**- स्वयं प्रकाश रूप में अवस्थित हैं।

भावार्थ - यह मंत्र पुरुष सूक्त का तीसरा मंत्र है और पुरुष (परमात्मा) के ब्रह्मांडीय स्वरूप को और गहराई से दर्शाता है। इसमें कहा गया है कि पुरुष की महिमा अनंत है, और वह उस महिमा से भी बड़ा है। **पादोऽस्य विश्वा भूतानि** से यह संकेत मिलता है कि पुरुष का केवल एक चौथाई हिस्सा ही समस्त सृष्टि (विश्व के प्राणी और तत्व) में प्रकट हुआ है। शेष तीन चौथाई हिस्सा (त्रिपाद्) अमृतमय और स्वर्ग (दिव्य लोक) में है, जो उसकी अनंतता और दिव्यता को दर्शाता है। यहाँ पाद और त्रिपाद् प्रतीकात्मक रूप से पुरुष के ब्रह्मांडीय स्वरूप को समझाने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। यह मंत्र यह सिखाता है कि सृष्टि पुरुष का एक छोटा सा हिस्सा मात्र है, और उसकी वास्तविक महिमा अनंत और अलौकिक है ।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरूषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ्व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥4॥

त्रिपाद्: तीन पाद (तीन चौथाई हिस्सा, प्रतीकात्मक रूप से)। **ऊर्ध्वः** ऊपर की ओर (दिव्य लोक की ओर)। **उदैत्**- गया (उभरा, बढ़ा)। **पुरुषः**-पुरुष (विराट पुरुष, परमात्मा)। **पादः**-एक पाद (एक चौथाई हिस्सा)। **अस्य**- इसका (पुरुष का)। **इह**- यहाँ (इस विश्व में, इस सृष्टि में)। **अभवत्**- हुआ (प्रकट हुआ)। **पुनः**- फिर से (पुनर्जनन या पुनः प्रकट होने का संकेत)। **ततः**-इसके बाद (तदनंतर)। **विष्वङ्** -चारों ओर (सर्वत्र)। **व्यक्रामत्**- फैलाया (विस्तार किया, व्याप्त हुआ)। **साशनः**- खाने वाले (सजीव प्राणी जो भोजन करते हैं)। **अनशने**- न खाने वाले (निर्जीव पदार्थ जो भोजन नहीं करते)। **अभिः** -दोनों (सजीव और निर्जीव दोनों की ओर)।

भावार्थ- संसार के स्पर्श से रहित ब्रह्म स्वरुप यह पुरुष अज्ञान के कार्य इस संसार के बाहर इसके गुण दोषों से अस्पृष्ट रहकर उत्कर्ष के साथ स्थित हुवा इसका जो लेश मात्र है वह यहाँ अंश माया रूप इस ब्रह्माण्ड के रूप में माया के रूप में अस्तित्व में आने के पश्चात् उस ब्रह्म ने भोजन आदि के व्यवहार से आदि के जीवन को चलने वाले चेतन प्राणियों का संसार तथा अनशन अर्थात् भोजन आदि के व्यव्हार से रहित अचेतन पर्वत नदियाँ आदि इसको माध्यम बनाकर सब ओर देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि विविध रूप धारण करते हुए सबको व्याप्त कर लिया ।

तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥5॥

तस्मात्-आदिपुरुष उस परब्रह्म से; **विराट**-इस ब्रह्माण्डरूपी देह को धारण करने वाला विराट् पुरुष; **अजायत**- उत्पन्न हुआ; **विराजःअधि**- उस विराट् देह के ऊपर, उस देह को ही आधार बनाकर: **पुरुषः**- उस देह का अभिमानी पुरुष उत्पन्न हुआ; **सः**-वह: **जातः**- उत्पन्न हुआ विराट पुरुष; **अत्यरिच्यत**- विराट् से अतिरिक्त देवता, पक्षी, मनुष्य आदि के रूप में अस्तित्व में आया; **पश्चात्**- जीवरूप में इन रूपों में विभक्त होने के पश्चात्; **भूमिम्**-शरीर रूप में इनके रहने के लिए उस ब्रह्म ने इस भूमि की सृष्टि की; **अधो** भूमि की सृष्टि के पश्चात्: **पुरः**- उन जीवों के आश्रय रूप शरीरों की रचना की।

भावार्थ- आदिपुरुष उस परब्रह्म से इस ब्रह्माण्डरूपी देह को धारण करने वाला विराट् पुरुष उत्पन्न हुआ उस विराट् देह के ऊपर, उस देह को ही आधार बनाकर उस देह का अभिमानी पुरुष उत्पन्न हुआ वह उत्पन्न हुआ विराट पुरुष विराट् से अतिरिक्त देवता, पक्षी, मनुष्य आदि के रूप में अस्तित्व में आया जीवरूप में इन रूपों में विभक्त होने के पश्चात् शरीर रूप में इनके रहने के लिए उस ब्रह्म ने इस भूमि की सृष्टि की भूमि की सृष्टि के पश्चात् उन जीवों के आश्रय रूप शरीरों की रचना की।

यत्पुरूषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥६॥

यत्-शरीरों के उत्पन्न हो जाने पर **देवाः** देवताओं ने; **पुरुषेण हविषा**- पुरुष के स्वरूप को ही मन से हविः के रूप में कल्पित करके; **यज्ञम्**- मानस यज्ञः **अतन्वत** किया; **अस्य** इस यज्ञ में; **वसन्तः**- वसन्त ऋतु; **आज्यम्**- घृत; **आसीत्**- था; **ग्रीष्मः**-ग्रीष्म ऋतुः **इध्मः**- इन्धन था; **शरदः** शरद ऋतुः **हविः**- हविर्द्रव्य था।

भावार्थ-शरीरों के उत्पन्न हो जाने पर देवताओं ने पुरुष के स्वरूप को ही मन से हवि के रूप में कल्पित करके मानस यज्ञ किया इस यज्ञ में बसन्त ऋतु घृत था ग्रीष्म ऋत इन्धन था शरद ऋतु हविर्द्रव्य था।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥7॥

अग्रतः- समस्त सृष्टि से पूर्व अर्थात् आरम्भ में; **पुरुषम्**-सहस्त्रशीर्षा, सहस्त्रपात् पुरुष के रूप में; **जातम्**- उत्पन्नः **यज्ञम्**-यज्ञ के साधनभूत; **तम्**- उस पुरुष को; **बर्हिषि**- मानस यज्ञ में; **प्रौक्षन्**-युप से बाँन्धे हुए पशु की भावना से प्रोक्षित किया; **तेन**-उस पुरुष रूप पशु से; **साध्याः**- सृष्टि का साधन (निर्माण) करने के लिए सक्षम प्रजापति आदि; **देवाः** देवताओं ने; **च**- और; **ये**- जो; **ऋषयः**- मन्त्रदृष्टा ऋषि थे उन्होंने भी; **अयजन्त**- मानस यज्ञ किया।

भावार्थ- समस्त सृष्टि से पूर्व अर्थात् आरम्भ में सहस्त्रशीर्षा, सहस्त्रपात् पुरुष के रूप में उत्पन्न यज्ञ के साधनभूत उस पुरुष को मानस यज्ञ में युप से बाँन्धे हुए पशु की भावना से प्रोक्षित किया; उस पुरुष रूप पशु से सृष्टि का साधन (निर्माण) करने के लिए सक्षम प्रजापति आदि देवताओं ने; और जो मन्त्रदृष्टा ऋषि थे उन्होंने भी मानस यज्ञ किया।

तस्मायज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशून्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये ॥8॥

सर्वहुतः- सर्वात्मक पुरुष का जिस यज्ञ में होम किया गया ऐसे सर्वहुत; **तस्मात्**- उस; **यज्ञात्**-मानस यज्ञ से; **पृषदाज्यम्**-दधिमिश्रित आज्य; **सम्भृतम्**- बनाया गया; **वायव्यान्**- वायु अधिष्ठातृ देवता वाले; **आरण्यान्**- अरण्यों में रहने वाले हरिण आदि; **तान्**- उन

सब; **पशून**- पशुओं को; **चक्रे** बनाया; **च**-और; **ये**-जो; **ग्राम्याः**- गौ अश्व आदि ग्राम्य पशु हैं उनको भी बनाया।

भावार्थ- सर्वात्मक पुरुष का जिस यज्ञ में होम किया गया ऐसे सर्वहुत उस मानस यज्ञ से दधि मिश्रित आज्य बनाया गया वायु अधिष्ठातृ देवता वाले अरण्यों में रहने वाले हरिण आदि उन सब पशुओं को बनाया और जो गौ अश्व आदि ग्राम्य पशु हैं उनको भी बनाया।

तस्मायज्ञात्सर्वहुत ऋ चः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥७॥

सर्वहुतः- सर्वहुत; **तस्मात्**- उस; **यज्ञात्**- मानस यज्ञ से; **ऋचः-ऋग्वेद के मन्त्र; सामानि**- सामगान; **जज्ञिरे**- उत्पन्न हुए; **तस्मात्**-उस यज्ञ से: **छन्दांसि**- गायत्री आदि छन्द; **जज्ञिरे** - उत्पन्न हुए; **तस्मात्**- उस यज्ञ से; **यजुः**- यजुर्वेद के मन्त्र; **अजायत**- उत्पन्न हुए।

भावार्थ- सर्वहुत उस मानस यज्ञ से ऋग्वेद के मन्त्र सामगान उत्पन्न हुए उस यज्ञ से गायत्री आदि छन्द उत्पन्न हुए उस यज्ञ से यजुर्वेद के मन्त्र उत्पन्न हुए।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥१०॥

तस्मात्-उस यज्ञ से; **अश्वाः** अश्व; **अजायन्त**- उत्पन्न हुए; **ये के च**- अश्वों के अतिरिक्त और जो कोई भी; **उभयायतः** मुख में ऊपर नीचे दोनों भागों में दाँतों से युक्त हैं वे भी सब उत्पन्न हुए; **तस्मात्** - उस यज्ञ से; **गावः**- गौएँ; **जज्ञिरे**- उत्पन्न हुई; **तस्मात्** - उस यज्ञ से **अजावयः**- बकरियाँ और भेड़ें; **जाताः**-उत्पन्न हुई। **यत्**-जब उत्पन्न हुए; **ये के** च अश्वों के अतिरिक्त और जो कोई भी; **उभयादतः** मुख में ऊपर नीचे दोनों भागों में दाँतों से युक्त हैं वे भी सब उत्पन्न हुए।

भावार्थ- उस यज्ञ से अश्व उत्पन्न हुए अश्वों के अतिरिक्त और जो कोई भी मुख में ऊपर नीचे दोनों भागों में दाँतों से युक्त हैं वे भी सब उत्पन्न हुए उस यज्ञ से गौएँ उत्पन्न हुई उस यज्ञ से बकरियाँ और भेड़ें उत्पन्न हुई। जब उत्पन्न हुए च अश्वों के अतिरिक्त और जो कोई भी मुख में ऊपर नीचे दोनों भागों में दाँतों से युक्त हैं वे भी सब उत्पन्न हुए।

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥११॥

यत्- जब: **पुरुषम्**-देवताओं ने विराट् रूप पुरुष को; **व्यदधुः**-संकल्प से उत्पन्न किया; **कतिधा** कितने प्रकार से; **व्यकल्पयन्**-विविध रूपों में इसे कल्पित किया; **अस्य**- इस पुरुष का; मुखम्-मुख: **किम्**- क्या था; **कौ बाहू**- इसकी भुजाएँ कौन बने; **का ऊरू**- इसकी जंघाएँ कौन सी हैं; **पादा** और इसके पैर कौन से; **उच्येते**-कहे जाते हैं।

भावार्थ - जब देवताओं ने विराट् रूप पुरुष को संकल्प से उत्पन्न किया कितने प्रकार से विविध रूपों में इसे कल्पित किया इस पुरुष का मुख क्या था इसकी भुजाएँ कौन बने इसकी जंघाएँ कौन सी हैं और इसके पैर कौन से कहे जाते हैं।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अंजायत ॥१२॥

अस्य- इस पुरुष का; **मुखम्**- मुख; **ब्राह्मणः**- ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मविद्: **आसीत्**- था; **बाहू**- इस पुरुष की भुजाएँ; **राजन्यः**-क्षत्रिय अर्थात् रक्षा करने में समर्थ शूर पुरुष को; **कृतः**- बनाया गया; **यत्**- जो; **वैश्यः**- वैश्य है; **तत्**- वह; **अस्य**- इस विराट पुरुष की; **ऊरू**-जंघाएँ हैं; **पद्भ्याम्** इस विराट् पुरुष के पैरों से: **शूद्रः**- शूद्र; **अजायत**- उत्पन्न हुआ।

भावार्थ- इस पुरुष का मुख ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मविद् था इस पुरुष की भुजाएँ क्षत्रिय अर्थात् रक्षा करने में समर्थ शूर पुरुष को बनाया गया जो वैश्य है वह इस विराट पुरुष की जंघाएँ हैं इस विराट् पुरुष के पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥१३॥

मनसः-उस यज्ञपुरुष के मन से; चन्द्रमा; **जातः**- उत्पन्न हुआ; **चक्षोः**- उसकी चक्षु से; **सूर्यः**- सूर्य; **अजायत**-उत्पन्न हुआ; **मुखात्**- उसके मुख से **इन्द्रः च अग्निः च** इन्द्र और अग्नि; **प्राणात्**- उसके प्राण से; **वायुः** वायुः **अजायत**-उत्पन्न हुआ।

भावार्थ- उस यज्ञपुरुष के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ उसकी चक्षु से सूर्य उत्पन्न हुआ उसके मुख से इन्द्र और अग्नि उसके प्राण से वायु उत्पन्न हुआ।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥१४॥

नाभ्याः- उस विराट् यज्ञपुरुष की नाभि से; **अन्तरिक्षम्**- अन्तरिक्ष; **आसीत्**- उत्पन्न हुआ; **शीर्ष्णः**- उसके शिर से; **द्यौः** द्युलोक; **समवर्तत**- उत्पन्न हुआ; **पद्भ्याम्**- उसके पैरों से; **भूमिः**- भूमि उत्पन्न हुई; **श्रोत्रात्**- उसके श्रोत्र से; **दिशः**- दिशाएँ उत्पन्न हुई; **तथा**- जैसे विराट यज्ञपुरुष के मन, चक्षु, मुख और प्राण से चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, अग्नि तथा वायु उत्पन्न हुए वैसे ही; **लोकान्**-उसकी नाभि आदि से अन्तरिक्ष आदि लोकों को; **अकल्पयन्**-देवताओं ने उत्पन्न किया।

भावार्थ- भूमि उत्पन्न हुई उसके श्रोत्र से दिशाएँ उत्पन्न हुई जैसे विराट यज्ञपुरुष के मन, चक्षु, मुख और प्राण से चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, अग्नि तथा वायु उत्पन्न हुए वैसे ही उसकी नाभि आदि से अन्तरिक्ष आदि लोकों को देवताओं ने उत्पन्न किया।

सप्तास्याऽसन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥१५॥

यत्- जब; **यज्ञं तन्वानाः**- मानस यज्ञ करते हुए; **देवाः**- प्रजापति आदि देवताओं ने; **पुरुषम्**- उस विराट् यज्ञपुरुष को; **पशुम्**- यज्ञ का पशु मानकर; **अबध्नन्**- यूप से बाँन्धने की कल्पना की उस समय; **अस्य**- इस मानस यज्ञ की; **सप्त**- गायत्री आदि सात छन्द; **परिधयः**- परिधियाँ; **आसन्**-थीं; **त्रिःसप्त**-त्रिगुणीकृत सात संख्या अर्थात् इक्कीस; समिधः समिधाएँ; **कृताः** बनाई गई।

भावार्थ- जब मानस यज्ञ करते हुए प्रजापति आदि देवताओं ने उस विराट् यज्ञपुरुष का यज्ञ का पशु मानकर यूप से बाँन्धने की कल्पना की उस समय इस मानस यज्ञ की गायत्री आदि सात छन्द परिधियाँ थीं त्रिगुणीकृत सात संख्या अर्थात् इक्कीस समिध समिधाएँ बनाई गई।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्तिदेवाः ॥16॥

देवाः- प्रजापति के प्राण रूप देवताओं ने; **यज्ञेन**- मानस संकल्परूप यज्ञ से; **यजम्**- यज्ञपुरुष प्रजापति की; **अयजन्त**- उपासना की, उसका यज्ञ किया; **तानि**- उस उपासना अथवा मानस यज्ञ के परिणाम स्वरूप स्थापित हुए; **धर्माणि**- उनके धर्म: **प्रथमानि**-मुख्य अथवा श्रेष्ठ; **आसन्**- हुए; **यत्र**- विराट् की प्राप्ति रूप जिस स्वर्ग में; **पूर्वे**- पुरातन; **साध्याः**- विराट की उपासना करने वाले साधक; **देवाः**- देवता: **सन्ति**- स्थित हैं; **ते**-विराट् रूप ब्रह्म की उपासना करने वाले वे; **महिमानः**- महिमाशाली लोग; **नाकम्**- विराट् प्राप्तिरूप स्वर्ग को; **ह**-निश्चित रूप से; **सचन्त-प्राप्त करते हैं।**

भावार्थ- प्रजापति के प्राण रूप देवताओं ने मानस संकल्परूप यज्ञ से यज्ञपुरुष प्रजापति की उपासना की उसका यज्ञ किया उस उपासना अथवा मानस यज्ञ के परिणाम स्वरूप स्थापित हुए उनके धर्म मुख्य अथवा श्रेष्ठ हुए विराट् की प्राप्ति रूप जिस स्वर्ग में पुरातन विराट की उपासना करने वाले साधक देवता स्थित हैं विराट् रूप ब्रह्म की उपासना करने वाले वे महिमाशाली लोग विराट् प्राप्तिरूप स्वर्ग का निश्चित रूप से प्राप्त करते हैं।

५. नासदीयसूक्तम्

ऋषिः-प्रजापतिः परमेष्ठी। देवता-भाववृत्तम्॥ छन्दः १-३ निचृत्त्रिष्टुप्; ४-६ त्रिष्टुप्; ७ पादनिवृत्त्रिष्टुप् । स्वरः- धैवतः॥ अथ सप्तदशो वर्गः॥१७॥ ऋ. मं सू १२९

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्।१॥

उस समय न तो असत् अर्थात अभाव या शून्य था और न सत् अर्थात व्यक्त जगत था। न परमाणु थे, न आकाश और न अन्य लोक-लोकान्तर। न कोई आवरण था और न कोई घर अर्थात निश्चित सीमायुक्त स्थान था। गहन जल (समुद्र) भी नहीं था। सब कुछ घने कुहांसे के समान था।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चुनास॥२॥

तब न मृत्यु थी, न जीवन था, न रात या दिन का कोई ज्ञान या चिन्ह था और न वायु थी। अपनी शक्ति और सूक्ष्म प्रकृति के साथ वही एक (परमेश्वर) था। उसके अतिरिक्त कहीं कुछ न था।

तम आसीत्तमसा गुळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥३॥

प्रलय काल में केवल अन्धकार ही अन्धकार था। एक अव्यक्त प्रवाह था। सब कुछ अन्धकार से ढका हुआ था। सर्वत्र एक गतिशील तत्व व्याप्त था, जिसने अपने तप से प्रकट होकर इस दृश्यमान जगत को प्रकट किया।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥

सर्वप्रथम उस एक प्रभु के मन में काम (सृष्टि रचना की इच्छा) जागृत हुआ और यही व्यक्ति जगत की उत्पत्ति का प्रथम बीज था। क्रान्तिदर्शी विद्वान अव्यक्त से व्यक्ति जगत की उत्पत्ति मानते हैं।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् ।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥५॥

प्रकट पदाथों की किरणें चारों ओर नीचे-ऊपर फैल गई। कर्मफल से बद्ध वीर्यवान जीव (रेतोधा) तथा महिमासम्पन्न मुक्त जीव भी प्रकट हुये। प्रकृति तत्व छोटा या नीचे था, किन्तु ईश्वर का प्रयास महान था।

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥६॥

ठीक-ठीक कौन जानता है? कौन कह सकता है कि कहां से यह रूपवती सृष्टि उत्पन्न हुई? सब विद्वान सृष्टि रचना के बाद ही हुये हैं। अतः उस परमेश्वर के अतिरिक्त कौन जानता है कि संसार कहां से उत्पन्न हुआ है।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥७॥

यह सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई, या जो इसे धारण करता है अथवा नहीं धारण करता है, इस बात को तो केवल इसका स्वामी ईश्वर ही पूर्णतया जानता है, अन्य कोई नहीं जानता।

स्मरणीय बिन्दु-

1. पुरुष सूक्त किस वेद में है?
2. ''सहस्रशीर्षा पुरुषः'' का क्या अर्थ है?
3. नासदीय सूक्त किस विषय पर आधारित है?
4. पुरुष सक्त में चार वर्णों की उत्पत्ति कैसे बताई गई है?
5. नासदीय सूक्त के अनुसार सृष्टि का अंतिम ज्ञाता कौन है?

शब्दावली-

शब्द	**अर्थ**
पुरुष	विराट ब्रह्म
सहस्रशीर्ष	हजार सिर वाला (सर्वव्यापक)
यज्ञ	सृष्टि रचना का प्रतीक
विराट	विशाल
नासदीय	सृष्टि पूर्व अवस्था का वर्णन
असत	अव्यक्त/अभाव
सत	व्यक्त अस्तित्व
प्रजापति	सृष्टिकर्ता
ब्रह्मांड	सम्पूर्ण जगत
अमृतत्व	अमरता

5 अंक के प्रश्न

1. पुरुष सूक्त का मूल विषय क्या है?
2. ''सहस्रशीर्षा पुरुषः'' का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. पुरुष सूक्त में समाज व्यवस्था का क्या स्वरूप बताया गया है?
4. नासदीय सूक्त में सृष्टि पूर्व अवस्था का वर्णन कीजिए।
5. नासदीय सूक्त को दार्शनिक सूक्त क्यों कहा जाता है?

15 अंक के प्रश्न

1. पुरुष सूक्त के आधार पर विराट पुरुष एवं सृष्टि रचना का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. पुरुष सूक्त में वर्णित सामाजिक व्यवस्था एवं उसके प्रतीकात्मक अर्थ को स्पष्ट कीजिए।
3. नासदीय सूक्त के आधार पर सृष्टि उत्पत्ति संबंधी वैदिक चिंतन का विश्लेषण कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. पुरुष सूक्त में वर्णित पुरुष है7

(क) राजा

(ख) साधु

(ग) विराट ब्रह्म

(घ) ऋषि

2. ''नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्'' का संबंध है-

(क) युद्ध

(ख) सृष्टि पूर्व अवस्था

(ग) यज्ञ

(घ) समाज व्यवस्था

3. पुरुष सूक्त के अनुसार ब्राह्मण उत्पन्न हुए-

(क) चरणों से

(ख) भुजाओं से

(ग) मुख से

(घ) जंघाओं से

4. नासदीय सूक्त में सृष्टि से पूर्व क्या नहीं था?

(क) जल

(ख) अग्नि

(ग) सत और असत दोनों

(घ) पृथ्वी

5. नासदीय सक्त का मुख्य स्वर है-

(क) भक्ति

(ख) युद्ध

(ग) दार्शनिक जिज्ञासा

(घ) चिकित्सा

इकाई- १.४ यजुर्वेद के प्रमुख मन्त्रों के अर्थ

उद्देश्य-

1. यजुर्वेद के प्रमुख मंत्रों के माध्यम से सत्य, धर्म, कर्म, आत्मबल और ईश्वर-तत्त्व की समझ विकसित करना।
2. विद्यार्थियों में सत्याचरण, विश्वबंधुत्व, आत्मानुशासन तथा वैदिक जीवन-मूल्यों के प्रति जागरूकता उत्पन्न करना।
3. यजुर्वेद के मंत्रों द्वारा मानव जीवन में नैतिकता, आध्यात्मिकता और लोककल्याण की भावना को समझाना।

संकल्प से सिद्धि

1. अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥ यजुर्वेद 1/5

हे सत्यपते परमेश्वर! (व्रतम्) मैं जिस सत्यधर्म का अनुष्ठान करना चाहता हूँ, उसकी सिद्धि आपकी कृपा से ही हो सकती है। इसी मन्त्र का अर्थ शतपथब्राह्मण में भी लिखा है कि-जो मनुष्य सत्य के आचरणरूप व्रत को करते हैं वे देव कहाते हैं, और जो सत्य-असत्य का आचरण करते हैं उनको मनुष्य कहते हैं। इससे मैं उस सत्यव्रत का आचरण करना चाहता हूं। (तच्छकेयम्) मुझ पर आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे मैं सत्यधर्म का अनुष्ठान पूरा कर सकूं। (तन्मे राध्यताम्) उस अनुष्ठान की सिद्धि करनेवाले एक आप ही हो। सो कृपा करके सत्यरूप धर्म के अनुष्ठान को सदा के लिये सिद्ध कीजिये। (इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि) सो यह व्रत है कि जिसको मैं निश्चय से चाहता हूं। उन सब असत्य कार्यों से छूटके सत्य के आचरण करने में सदा दृढ़ रहूं।

2. ओ३म् कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वायुनक्ति ।
कर्मणे वां वेषाय वाम् ॥ - यजुर्वेद 1/6

कः-कौन सुख स्वरूप **त्वा** तुझको अच्छी-अच्छी क्रियाओं के सेवन करने के लिये **युनक्ति** आज्ञा देता है। **सः**- वो जगदीश्वर **त्वा**-तुमको विद्या आदि शुभगुणों के प्रकट करने के लिये विद्वान वा विद्यार्थी होने के लिये **युनक्ति**-आज्ञा देता है। **कस्मै** वह किस-किस प्रयोजन के लिये **त्वा**-तुझको **युनक्ति**-युक्त करता है **तस्मै** पूर्वोक्त सत्यव्रत के आचरण रूप यज्ञ के लिये **त्वा**-धर्म के प्रचार करने में उद्योगी को **युनक्ति**-आज्ञा देता है **सः** = वही ईश्वर **कर्मणे**-उक्त श्रेष्ठ कर्म के लिये **वाम्**-कर्म करने और कराने वालों को नियुक्त करता है **वेषाय**-शुभ गुण और विद्याओं में व्याप्ति के लिये **वाम्**-विद्या पढ़ने और पढ़ाने वाले तुम लोगों को उपदेश करता है।

३. तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥ यजुर्वेद 6/5

विष्णोः अर्थात् व्यापक जो परमेश्वर है उसका **परमम्** अत्यन्त उत्तम आनन्द स्वरूप **पदम्** जो प्राप्ति होने के योग्य अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है, उसको **सूरयः** विद्वान् लोग **सदा पश्यन्ति** सबकाल में देखते हैं। वह कैसा है? सब में व्याप्त हो रहा है, और इस देश काल और वस्तु में है और इस वस्तु में नहीं (ऐसा भेद नहीं है) इसी कारण से वह पद सब जगह में सबको प्राप्त होता है। क्योंकि वह ब्रह्म सब ठिकाने में परिपूर्ण है। इसमें यह दृष्टान्त है कि **दिवीव चक्षुराततम्** जैसे आकाश में व्याप्त सूर्य के प्रकाश में नेत्र की दृष्टि व्याप्त होती है, इसी प्रकार परब्रह्म पद भी स्वयंप्रकाश, सर्वत्र व्याप्तवान् हो रहा है। उस पद की प्राप्ति से कोई भी प्राप्ति उत्तम नहीं है। इसलिये चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने के लिये विशेष करके प्रतिपादन कर रहे हैं।

शौर्य-वीर्य, ओज, तेज से युक्त जीवन

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन् ।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्त्रो घर्मो हविरस्मि नाम ॥ यजुर्वेद 18/66

मैं अग्नि हूँ, दहकता देदीप्यमान हुआ अङ्गारा हूँ, स्वभाव से ही जागरूक हूँ। मेरी आँख में तेज है, मेरे मुख में अमृत है। मैं सूर्य हूँ, शरीर, मन व आत्मा के तीन तेजों से युक्त हूँ, सारे भूमण्डल को अपने कदमों से माप लेने वाला हूँ, अक्षय हूँ, प्रज्ज्वलित यज्ञकुण्ड हूँ व आहुति हूँ।

असत्य और अश्रद्धा पापः-
दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्र द्धाः सत्ये प्रजापतिः - यजुर्वेद 19/77

प्रजापतिः सब जगत् का अध्यक्ष जो ईश्वर है, सो **सत्यानृते** सत्य जो धर्म और असत्य जो अधर्म है, जिनके प्रकट और गुप्त लक्षण है। **व्याकरोत्** उनको ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञ विद्या से ठीक-ठीक विचार से देखकर सत्य और झूठ को अलग-अलग किया है। सो इस प्रकार से है कि **अश्रद्धाम्** हे मनुष्य लोगों! तुम प्रतिदिन अनृत अर्थात् झूठ अन्याय के करने में अश्रद्धा अर्थात प्रीति कभी मत करो। वैसा ही **श्रद्धां स** सत्य अर्थात् जो वेदशास्त्रोक्त, और जिसकी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परीक्षा की गई हो, या की जाय, वही पक्षपात से अलग न्यायरूप धर्म है, उसके आचरण में प्रतिदिन प्रीति रखो और जो-जो तुम लोगों के लिये मेरी आज्ञा है, उस-उस में अपने आत्मा प्राण और मन को पूर्ण पुरुषार्थ तथा कोमल स्वभाव से युक्त करके सदा सत्य ही में प्रवृत्त करो।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ यजुर्वेद 19/30

व्रतेन0 जो मनुष्य सत्य के आचरण का दृढ़ता से पालन करता है, तब वह दीक्षा अर्थात् उत्तम अधिकार के फल को प्राप्त होता है। **दीक्षयाप्नोति0** जब मनुष्य उत्तमगुणों से युक्त होता है, तब सब लोग सब प्रकार से उसका सत्कार करते हैं। क्योंकि धर्म आदि शुभगुणों से ही उस दक्षिणा को मनुष्य प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। **दक्षिणा श्र0** जब ब्रह्मचर्य आदि सत्य व्रतों से अपना और दूसरे मनुष्यों का अत्यन्त सत्कार होता है, तब उसी में दृढ़ विश्वास होता है। क्योंकि सत्यधर्म का आचरण ही मनुष्यों का सत्कार कराने वाला है। **श्रद्धया0** फिर सत्य के आचरण में जितनी-जितनी अधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है, उतना-उतना ही मनुष्य लोग व्यवहार और परमार्थ के सुख को प्राप्त होते जाते हैं, अधर्माचरण से नहीं। इससे क्या सिद्ध हुआ, कि सत्य की प्राप्ति के लिये सब दिन श्रद्धा और उत्साह आदि पुरुषार्थ को मनुष्य लोग बढ़ाते ही जायें, जिससे सत्यधर्म की यथावत् प्राप्ति हो।

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूण्इं
राजा मे प्राणो अमृतसम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥ यजुर्वेद 20/5

मेरे सिर मे बड़े-बड़े ज्ञान-विज्ञान का ऐश्वर्य भरा है, चेहरे पर यशस्विता छाई है, केश और श्मश्रुओं से दीप्ति फूटी पड़ रही है। मेरा प्राण-राजा अमर है, मेरी आंख सम्राट् के तुल्य है, मेरा श्रोत्र विराट् शक्ति से सम्पन्न है।

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदः स च वि चौति सर्वः सऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥ -यजुर्वेद 22/8

1. वेन शब्द वेन् धातु से बना है। इसके अर्थ हैं (क) क्रियाशील (ख) ज्ञान प्राप्त करने वाला (ग) प्रभु का पुजारी एवं वेनः- क्रियाशील, ज्ञानी, प्रभुभक्त व्यक्ति तत् उस प्रभु को पश्यत् देखता है। प्रभु के दर्शन के लिये **कर्म, ज्ञान व भक्ति** का समन्वय आवश्यक है।

2. वेन उस प्रभु को देखता है जो गुहा निहितम् **हृदयरूप गुहा में निहित हैं। प्रभु तक वही पहुंचता है जो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय व विज्ञानमय कोशों को पार करके आनन्दमयकोश में पहुंचता है। यही अन्तर्मुख यात्रा हमें प्रभु तक ले जाती है। वे प्रभु गुहा में विचरने वाले हैं। उनको ढूंढने के लिये हमें कहीं बाहर थोड़े ही भटकना है?**

3. सत् वे प्रभु सत् हैं। यद्यपि प्रकृति व जीव भी सत् हैं तथापि प्रकृति सदा विकृत होती रहती है और जीव भी विविध शरीरों को धारण करता है और इस प्रकार इनमें परिवर्तन है, प्रभु एकरस, निर्विकार सत् ही सत् हैं। सत् शब्द की भावना यह है कि हम प्रभु को मिलने जाते हैं तो वे सदा सत्-उपस्थित होते हैं, उनके अनुपस्थित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वे सर्वव्यापक हैं, मेरे जाने की देर हैं, जाऊंगा दरवाजा थपथपाऊंगा तो प्रभु मिलेगे ही, दरवाजा खुलेगा ही।

4 .ये प्रभु वे हैं यत्र-जिनमें विश्वम् यह सारा संसार एकनीडम् एक घोंसलेवाला भवति होता है। जैसे एक घर में परस्पर प्रेम का अनुभव होता है, वैसे ही प्रकार प्रभु का अनुभव करने पर यह सारी वसुधा एक परिवार प्रतीत होने लगती हैं, हम सब उस प्रभु के ही तो पुत्र हैं।

5. तस्मिन् उस प्रभु में इदं सर्वम् यह सारा जगत् प्रलयकाल के समय **सम् एति** समा जाता है च और सृष्टिकाल में विएति-विविध रूपों में गति करने लगता है। प्रलय में भी कारणरूप प्रकृति का आधार प्रभु है और सृष्टि में भी सब लोक-लोकान्तरों का आधार वे प्रभु ही हैं।

6 वे प्रभु ओतः च. सः प्रोतः च इस संसार में ओत-प्रोत हैं। संसार-वस्त्र के वे प्रभु ही ताने-बाने के सूत्र हैं। वे प्रभु प्रजासु-सब **प्रजाओं के अन्दर विभूः**- व्याप्त होकर रह रहे हैं। प्रभु यम्बक है। **त्रीणि अम्बकानि नेत्राणि** यस्य यह विग्रह की परिपाटी चली

आ रही है इस त्रीणि अम्बकानि यस्मै

इस रूप में कर दें तो अर्थ का सौन्दर्य बढ़ जाता है। उस प्रभु को देखने के लिये **कर्म, ज्ञान व भक्ति** रूप तीन आंखें हैं। भावार्थ-प्रभु-दर्शन के लिये ज्ञान, क्रिया व भक्ति का समुच्चय आवश्यक है। वे प्रभु हृदय में ही निहित हैं, सर्वव्यापक हैं।

ईश्वर का स्वरूप-

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥- यजुर्वेद 31/18

उस परमेश्वर ही को यथावत् जानकर ठीक-ठीक ज्ञानी होता है, अन्यथा नहीं। जो सबसे बड़ा, सबका प्रकाश करनेवाला और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञान आदि दोषों से अलग है, उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव जानता हूँ। उसको जाने बिना कोई मनुष्य यथावत ज्ञानवान् नहीं हो सकता। क्योंकि (तमेव विदित्वा०) उसी परमात्मा को जानकर और प्राप्त होकर जन्म-मरण आदि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूटकर परमानन्दस्वरूष मोक्ष को प्राप्त होता है,

अन्यथा किसी प्रकार से मोक्षसुख नहीं हो सकता। इससे क्या सिद्ध हुआ कि उसी की उपासना सब मनुष्य लोगों को करनी उचित है। उससे भिन्न की पदार्थ उपासना करना किसी मनुष्य को नहीं चाहिये। क्योंकि मोक्ष को देनेवाला एक परमेश्वर के बिना दूसरा कोई भी नहीं है। इसमें यह प्रमाण है कि व्यवहार और परमार्थ के दोनों सुख का मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उसका जानना ही है। क्योंकि इसके बिना मनुष्य को किसी प्रकार से सुख नहीं हो सकता।

विश्व बन्धुत्व-

दृते दृह मा मित्रस्य मा? चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ - यजुर्वेद 36/18

दृते० हे सब दुःखों के नाश करने वाले परमेश्वर। आप हम पर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग आपस में वैर को छोडकर एक दूसरे के साथ प्रेमभाव से बरते। **मित्रस्य मा०** और

सब प्राणी मुझको अपना मित्र जानकर बन्धु के समान बरतें। ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों को **दृह** सत्य सुख और शुभगुणों से सदा बढ़ाइये। **मित्रस्याह** इसी प्रकार से मैं भी सब मनुष्यादि प्राणियों को अपना मित्र जानू, और हानि-लाभ, सुख और दुःख में अपने आत्मा के समतुल्य ही सब जीवों को मानू। **मित्रस्य च** हम सब लोग आपस में मिलके सदा मित्रभाव रखें, और सत्यधर्म के आचरण के सत्य सुखों को नित्य बढ़ावें। जो ईश्वर का कहा धर्म है, यही एक सब मनुष्यों को मानने के योग्य है।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरः शुद्धमपापविद्धम्।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ - यजुर्वेद 40/8

वह आत्मा सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायु से रहित, निर्मल, अपापहत, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट और स्वयंभू (स्वयं ही होने वाला) हैं। उसी ने नित्य सिद्ध संवत्सर नामक प्रजापतियों के लिये यथा योग्य रीति से अर्थों (कर्त्तव्यों अथवा पदार्थों) का विभाग किया है ।

स्मरणीय बिन्दु

1. ''अग्ने व्रतपते'' मंत्र हमें क्या प्रेरणा देता है?
2. सत्य और असत्य के विषय में यजुर्वेद का क्या दृष्टिकोण है?
3. यजुर्वेद में विश्वबंधुत्व की भावना कैसे व्यक्त हुई है?
4. ईश्वर को ''अकायम्'' क्यों कहा गया है?
5. वैदिक जीवन में श्रद्धा और व्रत का क्या महत्व है?

शब्दावली

शब्द	**अर्थ**
व्रतपते	व्रतों के स्वामी
सत्य	सत्यता / सच्चाई
अनृत	असत्य
दीक्षा	श्रेष्ठ गुणों की प्राप्ति

श्रद्धा	विश्वास
मित्र	स्नेही / बंधु
प्रजापति	सृष्टिकर्ता
विश्व	संसार
आत्मा	जीवस्वरूप
पुरुष	परमात्मा / महान सत्ता

5 **अंक के प्रश्न**

1.''अग्ने व्रतपते'' मंत्र का भावार्थ लिखिए।

2.''ऋतेन दीक्षामाप्नोति'' मंत्र में सत्य के महत्व को स्पष्ट कीजिए।

3. ''मित्रस्य चक्षुषा'' मंत्र का सामाजिक संदेश क्या है?

4. यजुर्वेद के अनुसार ईश्वर का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

5. ''स पर्यगाच्छुक्रमकायम्'' मंत्र का संक्षिप्त अर्थ लिखिए।

15 **अंक के प्रश्न**

1. यजुर्वेद के प्रमुख मंत्रों के आधार पर सत्य, धर्म और आत्मोन्नति का विवेचन कीजिए।

2. ''विश्वबंधुत्व'' की भावना को यजुर्वेद के मंत्रों के संदर्भ में विस्तारपूर्वक समझाइए।

3. यजुर्वेद में वर्णित ईश्वर के स्वरूप एवं मानव जीवन के आदर्शों का विश्लेषण कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. ''ऋतेन दीक्षामाप्नोति'' में 'ऋत' का अर्थ है-

(क) युद्ध

(ख) सत्य

(ग) धन

(घ) राज्य

2. ''मित्रस्य चक्षुषा'' मंत्र का संबंध है-

(क) यद्ध नीति

(ख) विश्वबंधुत्व

(ग) कृषि

(घ) तपस्या

3. ''स पर्यगाच्छुक्रमकायम्'' में ईश्वर को कहा गया है-

(क) शरीरधारी

(ख) नश्वर

(ग) सर्वव्यापक

(घ) दु:खी

4. यजुर्वेद का प्रमुख विषय है-

(क) भक्ति

(ख) कर्म और यज्ञ

(ग) कथा

(घ) इतिहास

5. ''व्रतेन'' शब्द का अर्थ है-

(क) यद्ध से

(ख) व्रत से

(ग) धन से

(घ) ज्ञान से

खण्ड- 2 वैदिक षड्दर्शनों का सामान्य परिचय
इकाई-2.1 योगदर्शन के चयनित सूत्रों का परिचय

उद्देश्य-

1. विद्यार्थियों को योग के अर्थ, परिभाषा तथा अष्टांग योग के आठ अंगों का ज्ञान कराना।
2. यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि के माध्यम से नैतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास को समझाना।
3. चित्तवृत्ति निरोध, अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा आत्मोन्नति और समाधि की प्राप्ति का मार्ग स्पष्ट करना।

(१) अष्टांग योग

योग शब्द की उत्पत्ति- योग शब्द युज- समाधौ आत्मनेपदी दिवादिगणीय धातु में घञ् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है- 'समाधि'।

योग की परिभाषा -''योगश्चित्त वृत्तिनिरोधः।''

योग का अर्थ है **समाधि** अर्थात् चित (मन) की वृत्तियों का निरोध (रूक जाना) योग है।

योग के 8 अंग हैं। (1) यम (2) नियम (3) आसन (4) प्राणायाम (5) प्रत्याहार (6) धारणा (7) **ध्यान (८)**समाधि ।

योग के 8 अंग-

''यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावाङ्गानि॥''

यम, नियम, आसन, **प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान,** समाधि ये योग के 8 अंग है।

(१) यम- ''अंहिसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यपरिग्रहायमाः''

अंहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रहाचर्य, परिग्रह ये पाँच यम कहलाते हैं। अर्थात् योगप्राप्ति के ये पांच आवश्यक कर्तव्य है।

(क) अंहिसा -''तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः''

अर्थात् सर्वथा सर्वदा सभी प्राणियों के साथ वैरभाव को छोड़कर प्रीति से वर्त्तना, अंहिसा है।

यदि माता-पिता, आचार्य आदि बालक-बालिकाओं को दोषों से दूर करने के लिए और उनको गुणवान बनाने के लिये प्रेमपूर्वक उनको उचित दण्ड देते हैं, तो वह अंहिसा है। इसी प्रकार से अंहिसा के विषय में सर्वत्र जानना चाहिए।

अंहिसा का पालन करने से व्यक्ति अपने सूक्ष्म दोषों को जानने मे और उनको दूर करने में समर्थ हो जाता है ।

(ख) सत्य- ''सत्यं यथार्थे बाङ्मनसे''

'यथा दृष्टं यथानुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति।'

वेद का उपदेश है -

''अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि''॥

(यजुर्वेद)

जो पदार्थ जैसा हो उसके संबंध में वैसी ही वाणी और वैसा ही मन में होना **सत्य** है। जिस प्रकार देखा (प्रत्यक्ष) किया, जिस प्रकार अनुमान से जाना और जिस प्रकार सुना उसी प्रकार वाणी और मन का होना सत्य है।

अपने ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाने के लिए कही गई वह वाणी यदि धोखा देने वाली न हो, भ्रान्त न हो, अभिप्राय को व्यक्त करने में असमर्थ न हो, तो वह सत्य है। इसलिए परीक्षण करके समस्त प्राणियों के लिए हितकर सत्य बोले ।

(ग) अस्तेय-''स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्,तत्प्रतिषेधःपुनरस्पृहारुपमस्तेयमिति''

अशास्त्रीय अर्थात् अवैधरुप से दूसरों के पदार्थों को लेना **स्तेय** है, चोरी करने जैसा है तथा उसका प्रतिषेध अर्थात् वस्तु के स्वामी की आज्ञा के बिना किसी वस्तु को ना तो शरीर से लेना, न लेने के लिए किसी को वाणी से कहना और ना ही मन में लेने की इच्छा करना **अस्तेय** कहलाता है।

वेद का उपदेश है-

''ईशा वास्यमिद्ँ सर्व यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेना भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥'' (यजुर्वेद)

(घ) ब्रह्मचर्य

''ब्रह्मचर्य गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः''॥

गुप्तेन्द्रिय उपस्थ का संयम ब्रह्मचर्य है तथा मन, श्रोत्र, नेत्र आदि इन्द्रियों पर संयम करना अर्थात् वीर्य की रक्षा करना, ऋषिकृत सत्यशास्त्रों का अध्ययन करना तथा आत्मस्थ पुरूष के तुल्य व्यवहार करना ब्रह्मचर्य है।

वेदों में ब्रह्मचर्य पालन के लाभ बताये हैं -

''ब्रह्मचर्य तपसा देवा मृत्युमापाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥'' (अर्थर्ववेद)

(ङ) अपरिग्रह- ''विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणम् परिग्रहः।''

विषयो के अर्जन रक्षण, क्षय, आसक्ति, हिंसा आदि दोषों को देखकर विषय भोग की दृष्टि से उनका संग्रह न करना, अपरिग्रह है।

दूसरे शब्दों में- हानिकारक एवं अनावश्यक वस्तुओं का शारीरिक स्तर पर तथा हानिकारक एवं अनावश्यक विचारों का मान. सिक स्तर पर संग्रह न करना अपरिग्रह कहलाता है ।

अथर्ववेद का उपदेश है- ''शतहस्त समाहर सहस्त्रहस्त स किर।''

सौ हाथों से कमाओ और हजार हाथ से दान करो ।

(२) नियम -''शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।''

नियम पाँच है-(1) शौच (2) संतोष (3) तप (4) स्वाध्याय (5) ईश्वरप्रण-प्रणिधान

(क) शौच - शौच शुद्धि को कहते है । जो कि दो प्रकार की होती है -

(१) बाह्य शुद्धि (२) आन्तरिक शुद्धि (आभ्यन्तर)

(1) बाह्य शुद्धि ''तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम् ।"

मिट्टी, जल आदि से उत्पन्न होने वाली पवित्रता तथा शरीर, वस्त्र, खान-पान आदि व्यवहारों को पवित्र रखना बाहय शुद्धि कहलाती है ।

(2) आन्तरिक (आभ्यन्तर) शुद्धिः-''आभ्यन्तर चित्तमलानामाक्षालनम्'' ॥11॥

चित्त के अविद्या, राग, द्वेष आदि मलों को दूर करना तथा सुविधा, सत्संग, स्वाध्याय, सत्याचरण के द्वारा अपने अन्तः करण को शान्त - निर्मल - पवित्र रखना, आन्तरिक शुद्धि कहलाती है ।

शौच सिद्धि **का** फल -

शौच की सिद्धि से फल की प्राप्ति होती है।-

''शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।''

जब योगी की बाह्याय तथा आन्तरिक शुद्धि हो जाती है, तब अपने (स्व-अङ्ग-जुगुप्सा) अपने अङ्ङ्गो से घृणा करता है = अनासक्त हो जाता है (परैः) तथा अन्यों के शरीर से भी (अ-संसर्गः) आसक्तिरहित हो जाता है।

किञ्च -

''सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रयेन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥''

शौच से बुद्धि की शुद्धि, मन की प्रशन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों पर नियन्त्रण तथा आत्मदर्शन व ईशदर्शन की भी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

(ख) संतोष- ''सन्तोषः संनिहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा॥''

अपने पास विद्यमान साधनों के द्वारा पूर्ण -पुरुषार्थ करने के बाद जो भी परिणाम या फल प्राप्त हो, उसे बिना किसी शिकायत भाव के प्रेमपूर्वक स्वीकार कर लेना, सन्तोष कहलाता है।

संतोष-सिद्धि का फल- **'सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः'** पूर्ण सन्तोष का पालन करने वाले योगी को समस्त सांसारिक सुखों से भी सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है।

तथा चोक्तम् - यच्च कामसूखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षय सुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ इति।

लोक में जो कामजन्य सुख है और जो महान् स्वर्ग सुख है, ये दोनों सुख तृष्णा के क्षेय से होने वाले सुख का सोलहवाँ भाग भी नहीं हो सकते ।

(ग) तप- ''तपो द्वन्द्वसहनम् ।''

धर्माचरण करते हुए परिस्थितिवश उपस्थित होने वाले सर्दी- गर्मी, भूख-प्यास, मान-अपमान, हार-जीत आदि के द्वन्द्वात्मक प्रसङ्गों को प्रसन्नता पूर्वक शान्तचित्त से सहन करना तप है ।

नातपस्विनो योगः सिद्धयति । - व्याभा0

तप सिद्धि का फल - ''कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।''

तप के अनुष्ठान द्वारा वात, पित, कफ की विषमता से उत्पन्न विकार, तमोगुण से उत्पन्न आलस्यादि दोषों के नाश हो जाने से शरीर स्वस्थ, बलवान्, स्वच्छ और स्फूर्तिमान होता है तथा इन्द्रियों में विषयों को दूर से तथा स्पष्ट देखने - सुनने की आदि की सामर्थ्य बढ़ जाती है।

(घ) स्वाध्याय - ''स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राणमध्यनं वा''।

आत्मोन्नति में सहायक साहित्य का अध्ययन करना व प्रतिदिन स्वयं का आत्मनिरक्षण करना व ओ३म् आदि मंत्रों का श्रद्धापूर्वक जप करना, स्वाध्याय कहलाता है ।

स्वाध्याय सिद्धि **का फल- ''स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।''**

वेदादि मोक्ष शास्त्रों के पठन पाठन, प्रणव तथा गायत्री मन्त्रों के अर्थ सहित जप से इष्ट देवता, यथा-देव, ऋषि, सिद्धगण (योगी) - यदि धार्मिक महापुरुषों के साथ सम्बन्ध हो जाता है तथा उनसे विविध उत्तम कार्यों में सहायता प्राप्त होती है।

व्यास भाष्य के अनुसार-

देवाः ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्याय शीलस्य
दर्शन गच्छन्ति, कार्ये चास्य वर्तन्त इति॥

(ङ) ईश्वर प्रणिधान-''ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम् तत्फल संन्यासो वा।''

अपने समस्त क्रियाकलापों को अन्यन्य भक्ति के साथ परमपिता प्रभु को सबकुछ समर्पित कर देना उसकी भक्ति करना व्यवहार में उसके आदेशों का पालन करना कर्मों का लौकिक फल न चाहना ईश्वर साक्षात्कार को ही लक्ष्य बनाकर कार्यो को करना ।

ईश्वर प्रणिधान का फल-**''समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।''**

ईश्वर की भक्ति विशेष तथा समस्त कार्यों को ईश्वरार्पित कर उनका कई लौकिक पदवितउंब्रुपद से समाधि की प्राप्ति होती है अर्थात् ईश्वर, जीव, प्रकृति तथा शरीरादि का यथार्थज्ञान हो जाता है।

(3) आसन -''स्थिरसुखमासनम् ''

बैठने की स्थिति ही आसन कहलाती है। जिस अवस्था में शरीर स्थिरतापूर्वक व सुखपूर्वक बैठ सके, वह आसन कहाता है । आसन की सिद्धि के लिए उपाय- **''प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ।''**

प्रयत्नशैथिल्य अर्थात् शरीरिक परिश्रम न्यून करना चाहिए क्योंकि शारीरिक परिश्रम से आसान का कोई सीधा संबंध नहीं। **आसन की सिद्धि का दूसरा उपाय है** - अनन्त समापत्ति। अनन्त अर्थात् जिसकी कोई सीमा न हो । ईश्वर की कोई सीमा नहीं । जब साधक ईश्वर को अनन्त मानकर उस अनन्त परमात्मा में ध्यान लगाता है, तब आसन की सिद्धि होती है ।

आसन, की, सिद्धि **का फल- 'ततो द्वन्द्वानभिघातः।'**

'शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते ।'

आसन के सिद्ध हो जाने पर योगी शीतोष्ण आदि अर्थात् सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास व संकल्प विकल्प रुप , द्वन्द्व न्यून सताते हैं और ध्यान लगाने में सुविधा होती है।

आसन के सिद्ध हो जाने से प्राणायाम की सिद्धि होती है। बिना आसन सिद्धि के प्राणायाम की सिद्धि कठिन है । प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की सिद्धि, के लिए आसन का सिद्ध होगा आवश्यक है।

(4) प्राणायाम

मनुजी ने कहा है- ''प्राणायामः परं तपः।''

प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नही है ।

''तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।''

आसन की सिद्धि हो जाने पर श्वास-**प्रश्वास की गति को यथाशक्ति रोक** देना प्राणायाम कहलाता है । बाहर के वायु को अन्दर ले लेना श्वास है तथा अन्दर के वायु को निकाल देना **'प्रश्वास'** है। इन दोनों की गति को यथाशक्ति रोक देना प्राणायाम है ।

प्राणायाम के प्रकार-

''बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।
बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः॥''

प्राणायाम ४ प्रकार का है बाह्य प्राणायाम, आभ्यन्तर प्राणायाम, स्तम्भवृत्ति प्राणायाम तथा बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी प्राणायाम ।
प्राणायाम की दीर्घता तथा सूक्ष्मता देश, काल तथा संख्या द्वारा परिदृष्ट अर्थात् नियमित होने से होती है १ ''प्राणः पिता प्राणो माता।'' अर्थात प्राण माता-पिता हैं। जैसे- माता-पिता के मिलन से सन्तान उत्पन्न होती है, वैसे ही प्राण रुपी माता -पिता हमें एक नया जन्म देते है ।

प्राणायाम (सिद्धि) का फल-

''ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।''
''धारणासु च योग्यता मनसः ॥''

प्राणायाम के अनुष्ठान से विवेक ज्ञान को आच्छादित करने वाला आवरण = अज्ञान क्षीण हो जाता है। इससे सत्वगुण की वृद्धि और रजोगुण, तमोगुण का ह्रास होता है। उससे अज्ञान का नाश और ज्ञान की वृद्धि होती है।

और उस प्राणायाम के अनुष्ठान से धारणाओं में अर्थात् मस्तिष्कादि विभिन्न स्थानों में मन को लगाने की योग्यता हो जाती है अर्थात् योगाभ्यासी जहाँ कहीं भी मन को रोकना चाहे, वहीं रोकने में समर्थ हो जाता है ।

(5) प्रत्याहार- ''स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरुपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।''
इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में सम्बन्ध न रहने पर वे चित का अनुकरण करती है। जब चित्त निरुद्ध हो जाता तो इन्द्रियाँ भी रुक जाती है। यह **प्रत्याहार है। इसकी सिद्धि होने पर एक-एक इन्दिय को वश में करने के लिए भिन्न-भिन्न अभ्यासों की आवश्यकता नहीं रहती।**

यथा-मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुविविशन्ते तयेन्द्रियाणि
चित्तनिरोधे निरूध्दानीत्येष प्रत्याहारः।

जैसे - मधुमक्खियों की रानी चलती है तो सभी मधुमक्खियाँ उसके साथ-साथ चलती है और जहाँ पर वह बैठ जाती है वहाँ पर सभी बैठ जाती हैं। इसी प्रकार से, सभी इन्द्रियाँ चित का अनुकरण करती है।

प्रत्याहार का फल- 'ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ।'

प्रत्याहार की सिध्दि हो जाने पर साधक को सहज ही इन्द्रियों पर परम वश्यता प्राप्त हो जाती है।
इस अवस्था को उपलब्ध व्यक्ति को ही शास्त्रों में 'जितेन्द्रिय' शब्द से सम्बोधित किया जाता है।

(6) धारणा- 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।'

किसी स्थानविशेष पर चित्त को रोक लेना धारणा है। वह स्थान विशेष शरीर के अंदर भी हो सकता है । शरीर के अन्दर यथा नाभिचक्र आज्ञाचक्र हदयकमल , नासिकाग्र आदि तथा शरीर के बाहर यथा कोई पुष्प, कोई चित्र, धुव्र, चन्द्र, आदि नक्षत्र, किसी बहती नदी की कल-कल ध्वनि आदि ।

(7) ध्यान- ''तत्रप्रत्यैयेकत्तानता ध्यानम् ।'' ''रागोपहतिर्ध्यानम्''॥ (सांख्य)

धारणा के स्थान में चित्त स्थिर हो जाने के बाद, जब उस स्थिरता में एक प्रकार की सततता बनी रहती है, तो वही अवस्था ध्यान कहलाती है।

राग का रुक जाना ध्यान है। अर्थात् ईश्वर का ध्यान करते समय अन्य किसी भी विषय में राग का न होना **ध्यान है।**

(8) समाधि- ''तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरुपशून्यमिव समाधिः ।''

धारणा, ध्यान और ध्यान की ही प्रगाढ़तम अवस्था समाधि है। अर्थात वह ध्यान ही जब केवल ध्येय वस्तु को **प्रकाशित करने वाला हो जाता है** तथा अपने स्वरूप के होने की प्रतीति से शून्य सा हो जाता है। तब वह ध्यान ही समाधि इस नाम से जाना जाता है ।

समाधि के विषय में ऋषियों ने बताया है कि, चित्त की वृतियों का रोक देना योग है। इसी वृत्तिनिरोध का नाम समाधि है।

(2) चितवृत्तियां-''वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः।''

चित्त में उठने वाली वृत्तियाँ पांच प्रकार की होती है। ये पांचों वृत्तियाँ क्लिष्ट (दुःखों को उत्पन्न करने वाली) और अक्लिष्ट

(दु:खो को नष्ट करने वाली) भेद से दो-दो प्रकार की है।
वृत्तियाँ - (1)**प्रमाण** (2)विपर्यय (3)विकल्प (4) निद्रा (5) स्मृति

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय:।

मन मे उठने वाली ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति हैं।

(1)प्रमाण- **''प्रत्यक्षानुमानागमा: प्रमाणानि ।''**

प्रमाण शब्द का अर्थ है यथार्थ ज्ञान । जिस साधना के द्वारा पदार्थ के स्वरूप को ठीक-2 जाना जाता है, वह प्रमाण कहलाता है। तथा **''प्रमाकरणं**-प्रामाणम्'' प्रमा (ज्ञान) का साधन प्रमाण कहलाता है ।

(2) विपर्यय- **''विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।''**

मिथ्याज्ञान को विपर्यय कहते है अर्थात् वह ज्ञान जो पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित नही करता है । विपर्यय का दूसरा नाम 'अविद्या' है।

अविद्या -'अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।'

अविद्या के चार क्षेत्र समझने चाहिए -

(१) अनित्य पदार्थों को नित्य, नित्य पदार्थों को अनित्य ।
(२) अशुद्ध को शुद्ध और शुद्ध को अशुद्ध ।
(३) दु:ख को सुख और सुख को दु:ख ।
(4) अनात्मा को आत्मा और आत्मा को अनात्मा समझना अविद्या है अर्थात् मिथ्याभ्रान्ति है।
जैसे- अन्धेरे में रस्सी को देखने पर यह तो साँप है मन में ऐसी वृत्ति उठना विपर्यय वृत्ति कहलाएगी ।

(3) विकल्प: - **''शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प: ।''**

शब्द से उत्पन्न जो ज्ञान, उसका अनुगमन करना जिसका स्वभाव है और जो वस्तु से रहित है।, वह विकल्पवृत्ति है। जैसे-आकाश का फूल ।

(४) निद्रा- **''अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा''॥**

जागृत और स्वप्न ज्ञान के अभाव की प्रतीति की आश्रय लेने वाली वृत्ति निद्रा वृत्ति है।
निद्रा एक वृत्ति (ज्ञान) है, क्योंकि सोने के पश्चात् जागकर मनुष्य कहता है, आज में सुख पूर्वक सोया दु:ख पूर्वक सोया अथवा गाढ़ निद्रा में मूढ़ावस्था में सोया ।
उसके इस कथन से ज्ञात होता है कि वह सोते समय भी सुख-दु:ख आदि का ज्ञान कर रहा था। अत: निद्रा भी एक वृत्ति है।
(5) स्मृति-वृत्ति- ''अनुभूतविषयासम्प्रमोष: स्मृति:''।

पूर्व अनुभव किये गये विषयों का पुन: चित में स्मरण होना, स्मृतिवृत्ति है। स्मृतियाँ चाहे अच्छी हो या बुरी उनको जगाना जीवात्मा के अधीन है ।

वृत्तियों के निरोध के लिए उपाय- ''अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध: ।''

अभ्यास और वैराग्य के द्वारा (तन्निरोध:- तेषाँ चित्तवृत्तीनां निरोध:) उन पाँच चित्तवृत्तियों का निरोध होता है।
योग के ये दो तत्व गीता 6/35 में भी प्रतिपादित हुए है
' अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते ।''

(क) अभ्यास- तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास: ।

उन अभ्यास और वैराग्य में से चित्त को वृत्तिरुपी तरङ्ग से रहित बनाने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, वह अभ्यास है।
अभ्यास की परिपक्वता - ''स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमि:।''

वह अभ्यास तो दीर्घकालपर्यंत किया गया, सतत किया गया तथा तपस्या, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धापूर्वक किया गया सत्क. ारवान् अभ्यास दृढ़ अवस्था वाला होता है अर्थात आसानी से भग्न नहीं होता ।

(ख) वैराग्य - ''दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥''

वर्तमान जीवन में अनुभव किये हुए और सुने हुए विषयों की तृष्णा से रहित की मन, इन्द्रियों पर पूर्ण वशीकरण की अनुभूति 'अपरवैराग्य' है।

स्मरणीय बिन्दु

1. ''योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:'' का अर्थ लिखिए।
2. अहिंसा का वास्तविक स्वरूप क्या है?
3. शौच के कितने प्रकार हैं?
4. अभ्यास और वैराग्य से क्या लाभ होता है?
5. समाधि की अवस्था किसे कहते हैं?

शब्दावली

शब्द	**अर्थ**
योग	चित्तवृत्ति निरोध
यम	संयमात्मक कर्तव्य
नियम	पालन करने योग्य आचरण
अहिंसा	किसी को कष्ट न देना
सत्य	यथार्थ कथन
अस्तेय	चोरी न करना
ब्रह्मचर्य	इन्द्रिय संयम
अपरिग्रह	संग्रह न करना
प्राणायाम	श्वास-प्रश्वास नियंत्रण
समाधि	परम एकाग्रता की अवस्था

5 अंक के प्रश्न

1. योग शब्द की उत्पत्ति एवं अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. यम के पाँच भेदों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
3. नियम के अंतर्गत शौच और संतोष का महत्व बताइए।
4. प्राणायाम की परिभाषा एवं उसके प्रकार लिखिए।
5. प्रत्याहार और धारणा में अंतर स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न

1. अष्टांग योग के आठों अंगों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. यम और नियम को योग साधना की आधारशिला क्यों कहा जाता है? स्पष्ट कीजिए।
3. चित्तवृत्तियों के पाँच प्रकार तथा उनके निरोध के उपाय (अभ्यास और वैराग्य) का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. योग के जनक माने जाते हैं-

(क) महर्षि कणाद

(ख) महर्षि पतंजलि

(ग) जैमिनि

(घ) गौतम

2. अष्टांग योग में चौथा अंग है-

(क) नियम

(ख) आसन

(ग) प्राणायाम

(घ) प्रत्याहार

3. यम में शामिल नहीं है-

(क) अहिंसा

(ख) संतोष

(ग) सत्य

(घ) अस्तेय

4. ''तप:'' का अर्थ है-

(क) अध्ययन

(ख) सहनशीलता

(ग) ध्यान

(घ) निद्रा

5. चित्तवृत्ति का कौन-सा भेद मिथ्याज्ञान है?

(क) प्रमाण

(ख) स्मृति

(ग) विपर्यय

(घ) निद्रा

इकाई- 2.2 सांख्य दर्शन के चयनित सूत्र का परिचय

उद्देश्य-

1. छात्र सांख्य दर्शन के अनुसार त्रिविध दु:ख, पुरुषार्थ तथा मोक्ष की अवधारणा को समझ सके।
2. छात्र सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया, पंचविंशति तत्त्व तथा प्रकृति-पुरुष भेद का ज्ञान प्राप्त करे।
3. छात्र विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि के माध्यम से आत्मज्ञान एवं दु:ख-निवृत्ति के उपायों को जान सके।

अत्यन्त पुरूषार्थ -मनुष्य संसार मे रहते हुये तीन प्रकार के दु:खों से अत्यन्त पीड़ित रहता है, क्षणिक सुख की प्राप्ति के लिये अपार दु:ख उठाने के लिये तत्पर रहता है परन्तु फिर भी उसे वास्तविक सुख की प्राप्ति नही हो पाती है। अब प्रश्न उठता है कि ये तीन प्रकार के दु:ख कौन से है जिनसे छुटकारा पाकर व्यक्ति अत्यन्त सुखी हो सकता है। इसके लिये यह प्रसंग है।

''अथ त्रिविधदु:खात्यन्त निवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थ:।।'' (सां0 द01/1)

(त्रिविधदु:खात्य) तीन प्रकार के दु:खों (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक) की अतिशय निवृत्ति (अत्यन्तपुरुषार्थ:) परम पुरुषार्थ (मोक्ष) है।

''पुरुषार्थ'' पद का तात्पर्य है - पुरुष का प्रयोजन पुरुष (जीवात्मा) के दो प्रयोजन है-

(1) भोग (2) अपवर्ग

समस्त दु:खों को तीन वर्गो में बांटा जा सकता है-

(1) आध्यात्मिक दु:ख - जो अपने आन्तरिक कारणों से होता है, वह आध्यात्मिक दु:ख उत्पन्न है। यह दो प्रकार प्रकार का है -**(अ) शारीरिक दु:ख**- शरीर के वात, पित्त, कफ आदि की विषमता से अथवा आहार-विहार आदि की विषमता से जो दु:ख उत्पन्न होता है, उसे आध्यात्मिक शरीर दु:ख कहते हैं।

(ब) मानसिक दु:ख - जिसे चाहते हैं वह न मिले और जो नहीं चाहिये वह मिल जाये यह मानस दु:ख है। जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, राग द्वेष आदि मनोविकारों के कारण दु:ख उत्पन्न होता है, उसे आध्यात्मिक मानस दु:ख कहते हैं।

(२) आधिभौतिक - जो दु:ख अन्य भूतों प्राणियों द्वारा हमें प्राप्त होता है, उसे आधिभौतिक दु:ख कहते हैं। जैसे- सांप, बिच्छु आदि के काटने से, अन्य हिंसक प्राणियों के आधात से, किसी के मारने-पीटने या कटु वाक्य कहने से ।

(3) आधिदैविक दु:ख- जो दु:ख वर्षा धूप, हिमपात, विद्युत्पात, भूकम्प, वायु आदि उत्पातों से उत्पन्न होता है, उसे आधिदैविक दु:ख कहते है ।

इन तीनों प्रकार के दु:खों से जीवात्मा की अतिशय निवृत्ति हो जाना अत्यन्त पुरुषार्थ है अर्थात् मोक्ष है ।

सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया-

सांख्यदर्शन में कुल २5 तत्व है, जिससे सृष्टि (सर्ग) उत्पत्ति होती है -

''सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति:, प्रकृतेर्महान,
महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं
तन्मात्रेभ्य: स्थूलभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गण:'' सां0.द01/26

सत्व, रजस, तमस् की- साम्यावस्था (अकार्यावस्था) प्रकृति कहलाती है। (इन तीन प्रकार के मूल तत्वों को गुण भी कहते हैं।) अर्थात् जब ये तत्व कार्यरूप में परिणत नहीं होते, अपितु मूलकारण रूप में अवस्थित रहते हैं, तब प्रकृति कहलाते हैं।

जब चेतन (ईश्वर) की प्रेरणा से सत्वादि की साम्यावस्था समाप्त हो जाती है, तब मूल तत्त्व कार्योन्मुख हो जाते हैं और सृष्टि रचना प्रारम्भ हो जाती है। इनका प्रथम, परिणाम महत्तत्व (बुद्धितत्व) होता है, महत्त्व से अहङ्कार उत्पन्न होता है, अहङ्कार से पञ्च तन्मात्र तथा (बाह्य और आन्तर) दोनों प्रकार की इन्द्रियां बनते है । इनमे से आन्तर इन्द्रियां केवल एक मन है तथा बाह्य इन्द्रियाँ दस है जो कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय के रूप में दो वर्गो में विभक्त हैं, जिनमें वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पांच कमेन्द्रिय तथा श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण, ये पाँच, ज्ञानेन्द्रिय है। ये इन्द्रिय केवल विकार है, आगे किसी तत्वान्तर को उत्पन्न नहीं करती।

तन्मात्र अर्थात सूक्ष्मभूतों से स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है। शब्द, स्पर्श, रुप, रस, गन्ध इन पांच तन्मात्राओं से क्रमश: आकाश, वायु, अग्नि (तेज), जल, पृथिवी-ये पांच स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं।

इनमें मूल प्रकृति केवल उपादान, तथा महत् आदि 23 पदार्थ उसके विकार हैं। जगत् के ये २४ अचेतन तत्व है। इनसे अतिरिक्त २५ वाँ तत्व पुरुष अर्थात चेतन है।

चेतन तत्व के भी दो वर्ग हैं-एक परमात्मा और दूसरा जीवात्मा । इनमें से परमात्मा एक है और जीवात्मा संख्या की दृष्टि से अनन्त है।

ये ही पच्चीस तत्व है, जिनके वास्तविक स्वरूप को समझकर चेतन और अचेतन के भेद का साक्षात्कार करना है।

सांख्यकारिकानुसार इनका **प्रकृति - विकृति स्वरूप निम्न प्रकार है-**

''मूलप्रकृतिरविकृतिर्महादाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो, न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः। (सा0का03)

अर्थात् मूलप्रकृति स्वयं अविकृति (किसी का कार्य नहीं है। महदादि सात महतत्व, अहङ्कार, पंचतन्मात्र) तत्व प्रकृति - विकृतिरुप है (कारण भी है और कार्य भी है) तथा सोलह तत्व (ग्यारह इन्द्रिय और पाँच स्थूलभूत विकारमात्र (केवल कार्यरूप ही है) किन्तु पुरुषतत्व इन सब से विलक्षण है। वह न किसी का उपादान कारण है, और न किसी का कार्य है।

अब प्रतिलोम क्रम से कार्य के अस्तित्व से कारण के अस्तित्व का अनुमान का प्रकार बताते हुए सूत्रकार ये कहते हैं । **''स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य।''** स्थूल से पञ्चतन्मात्र का बोध ज्ञान अनुमान से होता है ।

अब तन्मात्रों (सूक्ष्मतत्वों) के उपादान् कारण अहंकार के अनुमान का प्रकार बताते हैं - **''बाह्याभ्यन्ताभ्यां तैश्चाहङ्कारस्य।''**

बाह्य **तथा आभ्यन्तर इन्द्रियों** से और उन (तन्मात्रों) से अहंकार के अनुमान से बोध-विवेक होता है। पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय मिलकर दस बाह्य-**इन्द्रिय और एक आभ्यन्तर इंन्द्रिय मन, ये सब अहंकार के कार्य है। इसी प्रकार पाँच तन्मात्र भी अहंकार के कार्य हैं। इन सब कार्यों के अस्तित्व से,** इनके उपादान कारण अहंकार के अस्तित्व का अनुमान से बोध होता है।

अहंकार भी किसी का कार्य है, मूल तत्व नहीं इसलिए, सूत्रकार अहंकार के उपादान कारण का अनुमान बताते हैं- **''तेन. न्तः करणस्य'' ।**

उस अहंकार से अन्तः करण का अनुमान से बोध (विवेक) होता है। यहाँ ''अन्तः करण'' पद बुद्धि के लिए प्रयुक्त है, जिसे महत् भी कहते हैं।

सांख्य में तेरह करण माने गये हैं-पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन, अहंकार, बुद्धि। यद्यपि प्रारम्भिक दस बाह्य**करण** और तीन (मन, अहंकार, बुध्दि) अन्तःकरण है । किन्तु इन तीन अन्तः करणों में बुद्धि की प्रधानता है, क्योंकि वह इन सबका कारण है और चेतन (आत्मा) के साथ इसका सीधा सम्पर्क रहता है, इसी कारण प्रकृत सूत्र में बुद्धि के लिये अन्तः करणों पद का प्रयोग कर दिया गया है।

बुद्धि भी मूलतत्व नहीं, वह भी किसी का कार्य है। इसलिए सूत्रकार अन्तः करण (बुद्धि/ महत्) के उपादान कारण का अनुमान बताते है-**''ततः प्रकृतेः ।''**

उस अन्तः करण से प्रकृति के अनुमान से बोध होता है। उस अन्तः करण (बुद्धि/महतत्व) से प्रकृति (साम्यावस्था में विद्यमान सत्व-रजस-तमस) का अनुमान से बोध होता है, क्योंकि सुख-दुःख-मोह धर्म वाले बुद्धि, सुख-दुःख मोह धर्म वाले द्रव्य (**प्रकृति) से ही उत्पन्न हो सकती है।**

प्रत्येक कार्य अपने उपादान कारण का अनुमापक होता है, अत एव बुद्धितत्व भी, अपने मूलकारण प्रकृति का अनुमान कराता है। यह प्रकृति ही कार्य-मात्र का उपादान कारण है किन्तु इसका कोई अन्य उपादान कारण नहीं है। इसमें उपादान मूलक कार्यकारण की समाप्ति हो जाती है अत एव **प्रकृति के द्वारा, अन्य** उपादान का अनुमान नही हो सकता है । इस प्रकार संसार चक्र सृष्टि की उत्पत्ति (सर्गारम्भ) उत्पत्ति आरम्भ प्रलय तक तथा सृष्टि का प्रलय काल प्रलय आरम्भ से सर्गारम्भ तक इसी क्रम से यह संसार चक्र चलता रहता है।

बुद्धि सर्ग/ प्रत्ययसर्ग-

विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि के रूप में 50 प्रत्ययसर्ग अथवा बुद्धिसर्ग नाम से प्रसिद्ध है।

विपर्यय- 'विपर्यय भेदाः पञ्च।'

विपर्यय के पांच भेद है - अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश । इनके दूसरे शास्त्रीय नाम क्रमशः ये है - तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र ।

(1) अविद्या- अनित्य, अशुचि, दुःख, तथा अनात्मरूप तत्वों, में नित्य शुचि, सुख तथा आत्मरूप की भावना होना अविद्या है इसी को तमस कहते हैं।

(2) अस्मिता - देह, अथवा बुद्धि आदि जो आत्मा के भोग साधन है, उनको आत्मा मानना अस्मिता है इसी का अपर नाम-मोह है।

(3) राग - अनुकूल प्रतीति में रागभावना इसी का नाम महामोह है।

(4) द्वेष- प्रतिकूल अनुभूति में द्वेष = अ**प्रीति म**न्यु की भावना, इसी का नाम तामिस्र है।

(2) अभिनिवेश- मैं कभी न मरूं सदा जीवित रहूं की भावना अभिनिवेश है। पर उत्पन्न वस्तु नश्वर है। यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं, फिर भी अपने शरीर को अमरणधर्मा समझे रहना घोर अन्धकार अन्धतामिस्र है । इन सब विपर्ययों का मुख्य आधार (नेता) अविद्या है।

अशक्ति ''अशक्तिरष्टाविंशतिधा तु''॥

(अशक्तिः) अशक्ति (तु) = तो, अष्टाविंशतिधा अट्ठाईस प्रकार की है।

'तु' शब्द अतिप्रसिद्ध का सूचक है । अर्थात् अशक्ति के भेद तो बहुत हो सकते है, किन्तु 28 प्रसिद्ध है न शक्ति अशक्ति, अर्थात् किसी भी इन्द्रिय का शक्तिहीन (विधात) हो जाना अशक्ति है। इसमें 1 इन्द्रियों की शक्ति के बिद्यात (5 ज्ञानेन्द्रिया+5 कमेन्दि+1 मन) और (9 अतुष्टि +8 असिद्धि) = 17 बुद्धिविघात ये २8 प्रकार की अशक्तियाँ विघातरूप है।

आत्मज्ञान, अशक्तों अपाहिजों निर्बलों वृद्धों, अभिमानियों आडम्बरियों के वश का नहीं हैं **''नायामात्मा बलहीनेन लभ्यः। (मुण्डको०)**

इतिहास में जो अष्टवक्रादि अपगों के उदाहरण मिलते है । वहाँ आत्मज्ञान उनकी पूर्व जन्म की सम्पत्ति का परिणाम है।

एकादश इन्द्रियवध

ज्ञानेन्द्रियवध

1. घ्राणवध – अजिघ्रता (प्राणयाक)
2. **रसनवध** – सुप्तिता (जडता)
3. चक्षुर्वध – अन्धता
४. **त्वग्वध** – कुष्ठता
5- श्रोत्रवध – बधिरता

कर्मेन्द्रियवध

6. वाग्वध – मूकता
7 पाणिवध – कुणिता
8. पादवध – पंगुता
९. **पायुवध** – गुदावर्त (उदाकर्त)
10. उपस्थवध- क्लीवता

आन्तरिन्द्रयवध

11. मनोवध – उन्माद

सप्तदश बुद्धिवध

तुष्टिवध

12.प्रकृतिवध – अनम्भ
13.उपादानवध – असलिल
14. कालवध – अनोध
15. भाग्यवध – अवृष्टि
16.अर्जनोपरमवध – अपार
17. रक्षणोपरम वध – असुपार
18. क्षयोपरम वध – अपारपार
19. अतृत्युपरमवध – अननुत्तमाम्भ
20. हिंसोपरमवध – अनुत्तमाम्भ

सिद्धिवध

21. **ऊहवध** – अतार

22. शब्दवध – असुतार
23 अध्ययनवध – अतारतार
25. आत्मिक दु:ख विघात वध – अप्रमोद
25 भौतिक दु:ख विघात वध – अप्रमुदित
26. दैविक दु:ख विघात वध – अमोदमान
27. सुहृत्प्राप्तिवध – अरम्यक
28. दानवध – असदाप्रमुदित

तुष्टि- ''तुष्टिर्नवधा''

तुष्टि नौ प्रकार की है। परितोष = संतोष का नाम तुष्टि है अर्थात मञ्जिल पर पहुंचने से पहले ही सन्तुष्ट होकर परिश्रम छोड़ देना। तुष्टि के भेदों का निरुपण निम्नांकित है- **''आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टि:''॥**

बाह्यविषयक मे अध्यात्मिक आदि भेद से तुष्टि = प्रसनन्ता = (सन्तुष्ट होकर पुरुषार्थ का त्याग) नौ प्रकार की है।

आध्यात्मिका के चार भेद हैं, और बाह्यविषयक के पाँच, ये मिलाकार नौ हो जाते हैं ।

आध्यात्मिक तुष्टियाँ चार प्रकार की हैं -

(1) प्रकृति (अम्भ)- यह सब कुछ प्रकृति का परिणाम है, वही सब करती रहती है, मैं तो अपरिणामी कूटस्य चेतन हूँ, मुझे क्या करना? इस प्रकार, संन्तुष्ट होकर बैठ जाना प्रकृति नामक तुष्टि है। इसका दूसरा नाम - अम्भ कहा जाता है।

(२) उपादान (सलिल)- दण्ड, कमण्डलु मृगचर्मादि ग्रहण या संन्यास लेने से ही मुक्ति हो जाएगी, अब क्या करना ? ऐसी संतुष्टि उपादान नामक तुष्टि है। इसका दूसरा नाम सलिल है।

(३) काल (ओध)- संन्यास ले लेने पर कुछ जप तप के कष्ट से बचने के लिए यह सोचना । जब समय आएगा तब स्वयं मुक्ति हो जाएगी । यह काल काल नामक तुष्टि है। इसका दूसरा नामा (ओघ) है ।

(४) भाग्य (वृष्टि) - जब भाग्य में होगा तब स्वयं आत्मज्ञान होकर, मुक्ति हो जाएगी, योगांगानुष्ठान अनावश्यक है । ऐसी तृष्टि को भाग्य (वृष्टि) कहते हैं ।

बाह्यविषयक तुष्टि- पार, सुपार, पारापार, अनुतम **उत्तमाम्भ, ये पाँच बाह**यविषयक तुष्टि है**;** इसमें बाहय के उपनिपाता ही भावनाओं के विषय 8 में रहते हैं। । शब्द आदि पाँच विषयों में अर्जन, रक्षण, क्षय, भोग, हिंसा इन दोषों को देखकर उनसे उपरम की भावना जागृत हो जाती है, इतने मात्र के लिए से सन्तुष्ट होकर विवेक के लिए श्रम न करना।

(5)पार (अर्जन)- पाँचो विषयों के अर्जन के लिए खेती, पशुपालन, व्यवसाय, उद्योग-धन्धे आदि बहुत कष्टकर कार्य करने पड़ते हैं, यह विचार कर श्रमरुपी दोष को देखकर विषयों से उपरत होकर संतुष्ट हो जाना, अन्य श्रम न करना पार नामक तुष्टि है।

(६) सुपार (रक्षण)- विषयों का अर्जन करके भी राजा, बन्धु बान्धव, चोर आदि से उनकी रक्षा करना कष्टकर है, इस भावना से विषयों से उपरत होकर संतुष्ट हो जाना 'सुपार' नामक छठीं तुष्टि है ।

(7) पारापार (क्षय) -रक्षा करने पर भी विषयों के उपभोग के कारण फिर से वे क्षीण-समाप्त हो जावेंगे, इनके अर्जन-रक्षण में कष्ट-ही-कष्ट है, ऐसा सोचकर विषयों से उपरत होकर, उतने मे ही सन्तुष्ट हो जाना पारापार नामक सातवीं तुष्टि है ।

(8) अनुत्तमाम्भ (संग) - अर्जन, रक्षण तथा क्षय आदि का प्रतिकार होने पर भी विषयों के भोग से तृष्णा बढ़ती है, भोगों में क्लेश-ही-क्लेश हैं, ऐसा सोचकर विषयों से उपरत होकर उपरत होकर ही उतने मे सन्तुष्ट हो जाना अनुत्तमाम्भ तुष्टि है।

(9) उत्तमाम्भ (हिंसा)- ये सारे भोग अन्य प्राणियों को कष्ट पहुंचाये बिना नहीं मिलते, इसलिए विषयों को भोगना दूसरी प्राणियों की हिंसा करना है। ऐसा सोचकर विषयों से उपरत होकर सन्तुष्ट हो जाना, आत्मसाक्षात्कार का प्रयत्न न करना उत्तमाम्भ, नामक नवीं तुष्टि है।

''नानुपहत्यभूतानि भोगसिद्धि:''॥

ये तुष्टियाँ यद्यपि उत्तम है, किन्तु इतने मात्र से सन्तुष्ट होकर बैठे रहना, अन्य प्रयास छोड़ देना मोक्षमार्ग में अत्यन्त बाधक है। सांख्यकारिका में नौ तुष्टियों को गिनाया है।

''आध्यात्मिकाश्चतस्र: प्रकृत्युपादानकालभाव्याख्या।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च नव तुष्टयोऽभिमता:।''

अर्थात्**, प्रकृति, उपादान, काल** और भाग्य से चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ है तथा विषयों के अर्जन, रक्षण, क्षय आदि में दोष देखकर शब्द, स्पर्श, आदि पांच विषयों के उपरम (वैराग्य) से पाँच बाहय तुष्टियों है। सब मिलाकर नौ तुष्टियाँ कहीं गयी है।

सिद्धि -''ऊहादिभिः सिद्धिरष्टधा''

ऊह, आदि भेदों से सिद्धि आठ प्रकार की होती है निरन्तर अभ्यास से दिव्य गन्धादि की अनुभूति होना, कठिन समस्याओं का स्वतः मिल जाना, सूक्ष्म व्यवहित आदि ज्ञान का होना-सिद्धि है।

'' ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविधातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः
दानं च सिध्दयोष्टौ सिद्धः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः'' (सांख्यसकारिका)

ऊह, शब्द, अध्ययन, सुहत्प्राप्ति, दान, आध्यात्मिक दुःखविद्यात, आधिभौतिक दुःख-विधात, आधिदैविकदुःखविघात से आठ सिद्धियाँ है।

सिद्धिः

(१) ऊह	**तार**
(२) शब्द	**सुतार**
(३) अध्ययन	**तारतार**
(४) आध्यात्मिकदुःखविधात	**प्रमोद**
(५) भौतिकदुःखविधात	**प्रमुदित**
(६) दैविकदुःखविधात	**मोदमान मुदित**
(७) सुहत्प्राप्ति	**रम्यक**
(८) दान	**सदामुदित**

(१) ऊह (तार) - जब कोई व्यक्ति सोचने लगता है कि आत्मा क्या है? मौत क्या है ? किस तरह उसकी प्राप्ति की जा सकती है? इस प्रकार की भावनाओं से प्रेरित होकर, प्रयत्न करता हुआ वहा। जिज्ञासु स्वयं या शास्त्र सार के स्वाध्याय तथा किसी गुरु की सहायता से आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है यह ऊह (तार) नाम की सिध्दि है।

(2) शब्द (सुतार)

ऐसे ही अध्ययन करते हुए, किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा शब्द को सुनकर ज्ञान हो जाए, कि मैं आत्मा चेतन स्वरूप हूँ, यह प्रकृति जड़ तथा मुझसे सर्वथा पृथक है, इस यथार्थता को जानकर आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रयत्न करता हुआ, आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है। यह दूसरी शब्द (सुतार) नाम की सिद्धि है।

(३) अध्ययन (तारतार) -

जब विधिपूर्वक (गुरु-शिष्य प्रणाली से) गुरु के समीप रहकर , उनकी सेवा - सुश्रूषा करते हुए भात्मशास्त्र का अध्ययन करके, आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए यत्न करता हुआ, वह आत्मसाक्षात्कार कर लेता है। तब यह तीसरी अध्ययन (तारतार) नाम की सिद्धि कही जाती है

(४) सुहत्प्राप्ति (रम्यक)-

बिना प्रत्युपकार की इच्छा से अर्थात् किसी प्रकाश के प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखते हुए हुए, करुणा से (पूर्वजन्म के पुण्योदय के कारण स्वयमेव उपदेश के लिए आए हुए तत्ववेत्ता (किस सुहृद द्वारा) द्वारा ज्ञान प्राप्ति होना, जो अध्यात्ममार्ग में सहायता देता हुआ विवेक ज्ञान तक पहुंचा दे इस प्रकार से सम्पन्न सिद्धि का नाम सुहत्प्राप्ति (रम्यक) कहा गया है। यहा सातवीं सिद्धि है।

(५) दान (सदामुदित) - यह आठवीं सिध्दि है। जहाँ धन अथवा अन्य उपयोगी सामग्री देकर गुरु की आराधना करते हुए, प्रसन्न किए हुए विद्वान् गुरु द्वारा ज्ञान **प्राप्ति (आत्मज्ञान प्राप्त) किया जाए तो यह दान (सदामुदित) नाम की सिद्धि** कहलाती है।

पूर्वोक्त ५ सिद्धियों में से ये फलरूप सिद्धियों को **प्राप्त करते हैं।**

ये हैं-

(६) आत्मिकदुःखविघात (प्रमोद)

(७) भौतिकदुःखविघोत (मुदित अथवा प्रमुदित)

(5) दैविकदुःखनिघोत (मोदमान)

प्रारम्भ में कहे हुए त्रिविध दुःखों से छुटकारा पाने के लिए, जब व्यक्ति व ऊह आदि पाँच प्रकार के सिद्धि उपायों का

आश्रय लेकर प्रयत्नशील होता है, और कालान्तर में अभ्यास द्वारा समाधि अवस्था को सतत अभ्यास प्राप्त करता है ।

तब आत्मज्ञानी होकर आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक दु:खो से छुट जाता है, उनका विघात कर लेता है।

यही तीन प्रकार की मुख्य सिद्धि, हैं तथा शेष पाँच प्रकार की सिद्धि इनको प्राप्त करने के साधनमात्र हैं। जिनको क्रमश: 'आत्मिक-दु:खविघात (प्रमोद), भौतिकदु:खविघात (प्रमुदित अथवा मुदित) तथा दैविकदु:खविघात (मोदमान) के नाम से कहा गया है।

इस प्रकार ऊह आदि भेदों के द्वारा आठ प्रकार की सिद्धि होती है। इनमें तीनों प्रकार के दु:खों का विघात मुख्य सिद्धि है क्योंकि इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए सब प्रयत्न किया जाता है। शास्त्ररम्भ मानव-जीवन का यही परम लक्ष्य है। शेष पाँच प्रकार की सिद्धि, इन मुख्य सिद्धियों को प्राप्त करने के साधनमात्र है।

स्मरणीय बिन्दु

1. सांख्य दर्शन का मुख्य लक्ष्य क्या है?
2. त्रिविध दु:ख कौन-कौन से हैं?
3. पंचविंशति तत्त्वों में पुरुष का स्थान क्या है?
4. प्रकृति और विकृति में क्या अंतर है?
5. मोक्ष प्राप्ति का साधन क्या है?

शब्दावली

शब्द	**अर्थ**
पुरुषार्थ	जीवन का परम प्रयोजन
मोक्ष	दु:खों से मुक्ति
प्रकृति	मूल कारण
पुरुष	चेतन तत्व
महत्	बुद्धि
अहंकार	'मैं' भाव
तन्मात्रा	सूक्ष्म तत्व
विपर्यय	मिथ्या ज्ञान
तुष्टि	संतोष
सिद्धि	आत्मज्ञान की उपलब्धि

5 अंक के प्रश्न

1. त्रिविध दु:खों का वर्णन कीजिए।
2. पुरुषार्थ से क्या अभिप्राय है?
3. प्रकृति और पुरुष में अंतर स्पष्ट कीजिए।
4. पंचमहाभूतों की उत्पत्ति कैसे होती है?
5. सांख्य दर्शन में मोक्ष का स्वरूप बताइए।

15 अंक के प्रश्न

1. सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. पंचविंशति तत्त्वों का क्रमवार वर्णन कीजिए।
3. विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि का विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. सांख्य दर्शन में कुल तत्त्व हैं-

(क) 24

(ख) 25

(ग) 26

(घ) 27

2. त्रिविध दु:खों में कौन शामिल नहीं है?

(क) आध्यात्मिक
(ख) आधिभौतिक
(ग) आधिदैविक
(घ) आध्यात्मिक-वैदिक

3. महत् का दूसरा नाम क्या है?
(क) मन
(ख) बुद्धि
(ग) चित्त
(घ) आत्मा

4. पंचमहाभूतों में प्रथम है
(क) पृथ्वी
(ख) जल
(ग) आकाश
(घ) अग्नि

5. सांख्य दर्शन के अनुसार मोक्ष है-
(क) स्वर्ग प्राप्ति
(ख) कर्मफल
(ग) दुःख निवृत्ति
(घ) पुनर्जन्म

इकाई- 2.3 न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों के चयनित सूत्र

उद्देश्य-

1. इस अध्याय का उद्देश्य न्याय दर्शन के प्रमाण, प्रमेय तथा तर्क-पद्धति का ज्ञान कराना है।
2. विद्यार्थियों को वैशेषिक दर्शन के द्रव्य, गुण, कर्म आदि तत्त्वों की समझ विकसित कराना है।
3. न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों के माध्यम से सत्य, तर्क, धर्म और मोक्ष की भारतीय दार्शनिक परंपरा को समझाना है।

न्याय- ''नीयते विवक्षितार्थः अनेन इति न्यायः ।''

अर्थात् जिस साधन से मूल तत्व (अर्थ) का ज्ञान होता है, वह साधन न्याय है।

''**प्रमाणों के सहारे किसी** निर्णय पर पहुंचना ही न्याय है ।

वात्स्यायन ऋषि ने कहा है - ''**प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः**''

प्रमाणों द्वारा अर्थ : सिद्धान्त का परीक्षण ही न्याय है।

न्याय को तर्कशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, हेतुविद्या, वादविद्या तथा आन्वीक्षकी भी कहा जाता है।

जब कोई मनुष्य किसी विषय में कोई सिद्धान्त बनाता है, तो वहाँ न्याय की सहायता लेता है। अतः न्यायदर्शन विचारशील मानव समाज की मौलिक आवश्यकता है और उद्भावना है

न्याय के बिना मनुष्य अपने विचारों एवं सिद्धान्तों को न सुव्यवस्थित कर सकता है न विपक्षी के सैद्धान्तिक आघातों से अपने सिद्धान्त की रक्षा कर सकता है।

न्यायशास्त्र बुद्धि को सुपरिष्कृत, तीक्ष्ण और मेधावी बनाने वाला है शास्त्र है।

प्रमाण- गौतमऋषि के अनुसार प्रमाण के निम्नांकित स्वरूप है-

(1) प्रमाण शब्द की उत्पत्ति- प्रमाण शब्द का अर्थ है- यथार्थज्ञान । अर्थात् जिस साधन के द्वारा किसी पदार्थ के स्वरूप को ठीक-ठीक जाना जाता है या निश्चय किया जाता है, उसे प्रमाण कहते है।

दूसरे शब्दों में -''प्रमाकरणं प्रमाणम्।'' अथवा 'प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्।' अर्थात्, **प्रमा (ज्ञान) का करण (साधन), प्रमाण कहलाता है। प्रमा**-यथार्थानुभवः(नवीन ज्ञान) **करण** साधन (साधकतम करणम्) अनुभव की प्राप्ति साधन प्रमाण है। संशय रहित होता है। बिना प्रमाण के किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता है और वस्तु ज्ञान के बिना उसमें प्रवृत्ति नहीं होती है, इसलिए प्रमाण प्रयोजन वाला होता है । **प्रमाण से ही ज्ञाता, किसी वस्तु को** जानकर उसके पाने या छोड़ने की इच्छा करता है।

(३) प्रमाण के प्रकार न्यायदर्शन में चार प्रमाण स्वीकार किये गये हैं। वह है -

''प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि''। (न्या. सू. (१/१/३)]

(1) प्रत्यक्ष प्रमाण, (2) अनुमान प्रमाण, (3) शब्द प्रमाण, (4) उपमान प्रमाण ।

(1) प्रत्यक्ष प्रमाण- सब प्रमाणों में प्रधान होने से प्रत्यक्ष-प्रमाण का सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है

''इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपेदश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।।'[न्या0सू0 (1/1/4)]

(इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्)इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष - सम्बन्ध से उत्पन्न ऐसा (ज्ञानम्) ज्ञान, जो (अव्यपदेश्य) व्यपदेश्य न हो (शब्द द्वारा जिसका बोध न कराया जा सके), (अव्यभिचारी) व्यभिचारी न हो (व्यवसायात्मकम्) निश्चयात्मक हो, वह (प्रत्यक्षम्] **प्रत्यक्ष कहा जाता है।**

अर्थात्, आँखों से देखा, कानों से सुना, नाक से सूंघा, जिह्वा से स्वाद लिया और त्वचा से छुआ यही प्रत्यक्ष है । **उदाहरण** अयं मनुष्यः। अयं घटः । ''भूतले घटोऽस्ति'' । अर्थात् भूतल में घट है, इसका तात्पर्य हैं किः- चक्षु इन्द्रिय का घट के साथ प्रत्यक्ष होता है। अतः इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होने से यह प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

(2)अनुमान प्रमाण - साध्य-साधन के सम्बन्ध देखने में जो ज्ञान होता है, उसको अनुमान कहते हैं।

दूसरे शब्दों में - प्रत्यक्ष है कारण जिसका, ऐसा अनुमान प्रमाण होता है। अर्थात्, पहले प्रत्यक्ष कर लेने के बाद वस्तु के एक अंश को जानकर, पूरे को जान लेने को अनुमान कहते हैं ।

जैसे- जहाँ, जहाँ अग्नि होती है, वहाँ-वहाँ धुंआ होता है।।

अनुमान प्रमाण के प्रकार- **''अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टं च।।''** (अथ) अनन्तर (तत्पूर्वकम्) प्रत्यक्षपूर्वक होनेवाला (त्रिविधम्) तीन प्रकार का (अनुमानम्) अनुमान - प्रमाण है। वे तीन प्रकार है-

अनुमान प्रमाण-

(१) पूर्ववत् अनुमान- जहाँ, कारण से कार्य का अनुमान होता है।

जैसे- उमड़ते-घुमड़ते बादलों को देखकर, होने वाली वृष्टि का अनुमान करना।
(2) शेषवत् अनुमान- जहाँ, कार्य से कारण का अनुमान होता हैं।
जैसे- नदी के बाढ़ को देखकर, उससे पहले हुई, वर्षा का अनुमान करना ।
(३) सामान्यतो दृष्ट- सामान्यत: किसी पदार्थ को देखकर, उसकी गति का अनुमान लगाना।
जैसे- एक देशस्थ को दूसरे देश में देखकर। (सूर्य और चन्द्र को गति में होने वाले परिवर्तन का अनुमान)
(३) उपमान प्रमाण- ''प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ।''- (न्या. सू० (१/१/६))
अर्थात्, (**प्रसिद्धसाधर्म्मात्**) जाने हुए साधर्म्य-सादृश्य से (साध्यसाधनम्) साध्य का साधन (उपमानम्) उपमान होता है।
दूसरे शब्दों में, **''उपमितिकरणम् उपमानम्''** ।
पूर्वज्ञान के आधार पर दिया गया ज्ञान उपमान है अथवा, उपमा (सादृश्यता) पर आधारित प्रमाण उपमान है।
जैसे -गौ (गाय)-गवय (नीलगाय), सादृश्यज्ञानं से बोध हो जाता है ।
ग्रामीण: गवय कीदृश:, **आरण्यक:** गो सहयोगवय:
कोई ग्रामीण व्यक्ति, गवय से अज्ञात हैं। वह किसी अरण्यवासी से पूछता है कि, क्या आप गवय से परिचित है? तो इसमें अरण्यवासी कहता है कि, जैसे गो (गाय) होती है, वैसे ही गवय (नीलगाय) होती है। इससे ग्रामीण को गो और गवय के परस्पर सादृश्य का ज्ञान हो जाता है।
उपमान प्रमाण, शब्दपूर्वक होने के साथ प्रत्यक्षपूर्वक भी है । पहला सादृश्यज्ञान शब्द **प्रमाणमूलक है, और संज्ञासंज्ञिसम्बधज्ञान से पहले वस्तु का दीखना प्रत्यक्ष है।**
साधर्म्य के समान वैधर्म्यज्ञान से भी कभी -कभी वस्तु का बोध हो जाता है। भैंस के समान भारी-भरकम शरीर होने पर भी एक वनचारी प्राणी गैण्डा की नाक पर सींग होता है, सिर पर नहीं
इस प्रकार नाक पर सींग के वैलक्षण्य से गैण्डा (खड्गमृग) की पहचान हो जाती है ।
उदा.-(2) ग्रामीण- आरण्यक
माषपर्णी और मुद्गपर्णी कैसे होता है?
(उदड के पौधे) और मूंग के पौधे मुद्गपर्णी होता है।
(4) शब्द प्रमाण- ''आप्तोपदेश: शब्द:'' ।- (न्या०सू० (१/१/७))
(आप्तोपदेश:) आप्त का उपदेश - कथन (शब्द:) शब्द नामक प्रमाण है।
अर्थात्, जो पदार्थ को जैसा देखा, सुना, स्पर्श किया, सूंघा, स्वाद लिया हो, उसको ठीक-ठीक निश्चय पूर्वक जानना और उसको उसी रूप में उपदेश - कथन करने वाले का नाम आप्त है।
चाहे वह (आप्त व्यक्ति) आर्य, ब्राह्मण, क्षेत्रिय आदि वंशोत्पन्न क्यों न हो । ऐसे यथार्थ वक्ता को प्रमाणिक कहते हैं। अपने विषय में उपदेश कथन शब्द प्रमाण है।
जैसे - आत्मा है। इसे शब्द प्रमाण एवं अनुमान के द्वारा जाना जाता है।
शब्द प्रमाण के भेद- ''स द्विविधो दृष्टाऽदृष्टार्थत्वात्''। (न्या०द० (१/१/8)
(स:)वह (प्रमाणभूत शब्द) (द्विविध:) दो प्रकार का है, (दृष्टादृष्टा-येत्वान्ट) दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ होने से ।

शब्द-प्रमाण
(१) दृष्टार्थ (शब्द प्रमाण) शब्द प्रमाण से जाने गये, जिस अर्थ को प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भी जाना जा सके, वह दृष्टार्थ है। जैसे- यत्र यत्र धूम: तत्र-तत्र वह्नि: । अर्थात् जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। इसमें शब्द प्रमाण के साथ प्रत्यक्ष का भी बोध होता है।
(२) अदृष्टार्थ (शब्द प्रमाण) -अन्य प्रमाण के बिना जो केवल शब्दप्रमाण से जाना जाये ।
जैसे- अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम: इसमें शब्द के आलावा और अन्य प्रमाणों का बोध नहीं होता है।

प्रमेय- गौतमत्रऋषि के अनुसार, प्रमेय के निम्नांकित स्वरूप है-
(1) प्रमेय का अर्थ- ''प्रमाकरणं प्रमाणं''।
प्रमा (ज्ञान) का करण (साधन) प्रमाण है, और जो प्रदार्थ, प्रमाण से जाना जाता है, वह सब प्रमेय कहलाता है। प्रमेय के अन्दर ऐसे विषयों का उल्लेख है, जिनका, वास्तविक ज्ञान करना आवश्यक है।

न्यायदर्शन में मुख्यत: 12 प्रमेय माने गये हैं, जिनका यथार्थज्ञान-तत्वज्ञान सम्यग्ज्ञान होने से सभी दुखों का अभाव होता है, और अपवर्ग मोक्ष की प्राप्ति होती है।

वे 12 प्रमेय इस प्रकार हैं-

''आत्मशरीरेन्द्रियार्थ बुध्दिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभाव -फलदु:खापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥''

- व्या०सू (१/१/९)

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ (विषय), बुद्धि**,मन,प्रवृति दोष, प्रेत्यभाव,फल ,दु:ख तो प्रमेय है।**

इन 12 प्रमेयों का निरूपण इस प्रकार है -

निर्दिष्ट 12 प्रमेयों में सबसे प्रधान केवल आत्मा है, क्योंकि शेष 11 प्रमेय, इन्हीं आत्मा के भोग साधन है तथा आत्मा को अपवर्ग (मोक्ष) व कल्याण करवाने वाले तत्व है।

यहाँ, अपवर्ग प्राप्ति के प्रसंग में आत्मा का स्थान सर्वोपरि है, इसलिए उक्त सूत्र में आत्मा को प्रथम स्थान पर रखा गया है। अत: सर्वप्रथम उसी का स्वरूप निरुपण करते हैं -

प्रमेयं (१) आत्मा के स्वरूप- जो आत्मत्व जाति से युक्त हो, उसे आत्मा कहते हैं। अर्थात, मैं हूँ या मेरा अस्तित्व है। इसकी प्रतीति का जो आलम्बन है, उसी का नाम आत्मा है। आत्मा सबका द्रष्टा व भोक्ता है। यह शरीरादि से भिन्न है तथा यह नित्य एवं विभु (व्यापक) है।

आत्मा के लिङ्ग- ''इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदु:ख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्''॥ न्या0 सू0 (1/1/10)

[इच्छाद्वेष प्रयत्न सुखदु:खज्ञानानि] इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख और ज्ञान **[आत्मन:] आत्मा के [लिङ्गम्] चिन्ह हैं।**

जैसे- पृथ्वी का विशेष गुण - गन्ध है । अर्थात् पृथ्वी का लक्षण है। इसी प्रकार, इच्छा आदि आत्मा के लिङ्ग (लक्षण) है, सूत्रकार ने स्पष्ट किया है।

आत्मा के लिङ्ग-(1) इच्छा (2) द्वेष (3)प्रयत्न (4)सुख (5) दु:ख (6) ज्ञान

प्रमेय - (2) शरीर - यह शरीर आत्मा के भोग का आधार है।

शरीर का लक्षण- ॥ ''चेष्टेन्द्रियार्थाश्रय: शरीरम्।'' (न्या०सू० (१/१/११)

(चेष्टेन्द्रियार्थाश्रय:) चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थों का आश्रय शरीर है।

शरीर का लिङ्ग

(1) चेष्टाश्रय शरीर- इष्ट या अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति या त्याग के प्रयत्न का नाम चेष्टा है।

अब शरीर, आत्मा से अधिष्ठित रहता है तभी चेष्टा का अस्तित्व होना सम्भव होता है, इसलिए शरीर का लक्षण - चेष्टाश्रय शरीर कहा है।

(२) इन्द्रियाश्रय शरीर- इन्द्रियों की अपने विषय में प्रवृति, शरीर-आधार के बिना सम्भव नहीं। (वैसे, सूक्ष्म अतीन्द्रिय इन्द्रियाँ, शरीर सम्बन्ध न होने पर भी सदा आत्मा के साथ रहती है, परन्तु उनकी कार्य-क्षमता (भोगसाधन) शरीर में विद्यमान होने पर सम्भव होता है। इन्द्रियों की कार्यक्षमता, शरीर में सार्थक सफल होती है। अत: शरीर का लक्षण इन्द्रिया साधक कहा है ।

(३) अर्थाश्रय शरीर-

अर्थ पद का तात्पर्य यहाँ- सुख, दु:ख आदि का उपभोग्य हैं। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष (संयोग) से उत्पन्न सुख-दु:ख आदि का ज्ञान, शरीर में आत्मा को अनुभव होता है अत: शरीर का लक्षण -अर्थाश्रय कहा है।

प्रमेय - (3) इन्द्रिय- ''घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रादीन्द्रियाणि भूतेभ्य:'' - (न्या०स (१/१/१२)

(घ्राणरसनचक्षुस्त्वकश्रोत्राणि)घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् श्रोत्र थे (इन्द्रियाणि) इन्द्रिय हैं, जो (भूतेभ्य:) भूतों से उत्पन्न हुई हैं। वे पंचमहाभूत है-

''पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि''॥ (न्या: सू: (1/1/13)

(पृथिवी) पृथ्वी (आप:) जल (तेज:) अग्नि (वायु:) वायु (आकाशम्) आकाश (इति) ये (भूतानि) भूत हैं। और इन्हीं पंचमह. ाभूतों से इन्द्रियाँ बनीं हैं।

प्रमेय (४) अर्थ (विषय) -''गन्धरसरूपस्पर्शशब्दा: पृथिव्यादिगुणास्तदर्था:॥''

(न्या. सू. (१/१/28)

(गन्धरसरूपस्पर्शशब्दा:) गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, यथाक्रम (पृथिव्यादिगुणा: पृथ्वी आदि के गुण है, और (तदर्था:) उन प्राण आदि इन्द्रियों के विषय है ।

प्रमेय (5) ''बुद्धि'' - ''बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्''।- (न्या.सू. (1/१/२५)

(बुद्धिः उपलब्धि, ज्ञानम) बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान, (इति) ये तीनो पद (अनर्थान्तरम) एक ही अर्थ के वाचक है, विभिन्न अर्थो के नही।

''सम्यक् बुध्यते अनया सा बुद्धिः''।

अच्छी प्रकार से, जिससे जाना व समझा जाए, वह बुद्धि है।

''इन्द्रियार्थ''- सन्निकर्षरूप **प्रत्यक्ष तथा अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा, आत्मा को जो विषय का बोध होता है, वहीं बुद्धि, ज्ञान अथवा उपलब्धि है।**

प्रमेय -(६) मन- ''युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्''। (न्यान्सू (१/1/२६)

(युगपत्) एक-साथ (ज्ञानानुत्पत्तिः) ज्ञानों की उत्पत्ति न होना (मनसः) मन का (लिङ्गम) लिङ्ग-चिन्ह है। मन आन्तर इन्द्रिय है। बाहय इन्द्रिय केवल एक नियत अर्थ का ग्राहक होता है, परन्तु आन्तर इन्द्रिय मन प्रत्येक विषय के ग्रहण में साधन है। जिस इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध होगा, उसी इन्द्रिय के विषय का ग्रहण आत्मा करेगा ।

प्रमेय-(७)- ''प्रवृति'' - प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः। (न्याःयू-१/१/२७)

(प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति है (वाग्बुद्धिशरीरारम्भः) वाणी, बुद्धि शरीर से किया गया आरम्भ = क्रिया ।

इस सूत्र में, बुद्धि पद करण **प्रत्ययान्त होने से मन का** वाचक है। अर्थात्, जो कुछ हम वाणी द्वारा, मन (बुद्धि) द्वारा तथा शरीर द्वारा क्रिया पाप-पुण्यरुप **क्रिया या** चेष्टा आदि करते हैं, वह प्रवृत्ति के अन्तर्गत आता है।

प्रमेय - (८) दोष - ''प्रवर्तनालक्षणा दोषाः''। - (न्या. द.(१/१/१८)

(प्रवर्तनालक्षणाः) प्रवृत्ति के हेतु होना, जिनका लक्षण है, ऐसे (दोषाः) दोष कहे जाते हैं ।

प्रवर्तना पद का अर्थ है- प्रवृति का हेतु । प्रवृत्ति का कारण होना, दोष का स्वरूप है।

प्रवृत्ति और दोष वे हैं, जो शरीर, आदि इन्द्रिय, अर्थ, अर्थबोध, सुख-दुःख आदि की उत्पत्ति के कारण है।

प्रमेय (९) - प्रेत्यभाव -''पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः।'' (न्या.सू. (१/१/१९))

(पुनः) फिर (उत्पत्तिः) पैदा होना (**प्रेत्यभावः**) प्रत्येभाव ।

प्रेत्य + भाव = प्रेत्यभाव, । (मरकर फिर होना) ।

आत्मा तो कभी न जन्मता है और न मरता है, लेकिन जब वह (आत्मा) एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण या ग्रहण करता है। आत्मा की ऐसी स्थिति को प्रेत्यभाव कहते हैं।

प्रेमय- (10) फल का लक्षण - ''प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् ।''(न्या.सू. (१/१/२०)

(प्रवृतिदोषजनितः) प्रवृत्ति और दोषों से उत्पन्न हुआ, जो (अर्थ) अर्थ-भोग हैं, वह फलम् । फल है। फल वह उपभोग है, जो साधनों द्वारा सुख-दुःख आदि के रूप में आत्मा को प्राप्त होता है।

आत्मा को फलोपभोग केवल आत्मा को केवल शरीरादि के साथ सम्बद्ध **होने पर सम्भव है। आत्मा की देहरहित अवस्था में,** इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले सुख-दुःख का फल सम्भव नहीं।

प्रमेय-(११) दुःख का स्वरूप- ''बाधनालक्षणं दुःखम् ।'' (न्या.द.: (१/३/२१)

बन्धन का कारण ही दुःख है, तात्पर्य है - प्रतिकूल अनुभूति है का होना । अर्थात् जब आत्मा का शरीरादि से सम्बद्ध हो जाना ही, तो यही दुःख है।

वस्तुतः सुख का न होना दुःख नहीं हैं बल्कि, आत्मा का सुख-साधनों के साथ देहधारण के क्षण से ही दुःख इसके साथ लगा रहता है।

न्यायदर्शन में 16 पदार्थ-

न्याय दर्शन में 16 तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है। जिनका समग्र रूप से तत्त्वज्ञान हो जाने पर निःश्रेयस (कैवल्य) की प्राप्ति होती है। वे 16 तत्त्व इस प्रकार हैं-

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवाद-जल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनि-ग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निः श्रेयसाधिगमः।

(1) प्रमाण- ज्ञान के साधन को प्रमाण कहा जाता है। न्याय के मतानुसार प्रमाण चार हैं। वे हैं-

(1) प्रत्यक्ष (2) अनुमान (3) उपमान (4) शब्द।

प्रमेय - ज्ञान के विषय को प्रमेय कहा जाता है। प्रमेय के अन्दर ऐसे विषयों का उल्लेख है, जिनका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

(3) संशय- मन की अनिश्चित अवस्था को जिसमें मन के सामने दो या दो से अधिक विकल्प उपस्थित होते हैं। इस अवस्था में विषय के विशेष का ज्ञान नहीं होता है।
(4) प्रयोजन - जिस वस्तु की प्राप्ति के लिए जो कार्य किया जाता है, उसे प्रयोजन कहा जाता है।
(5) दृष्टान्त - ज्ञान के लिए अनुभव किये हुए उदाहरणों को दृष्टान्त कहा जाता है। उदाहरण हमारे तर्क से सबल बनता है।
(6) सिद्धान्त - सिद्ध स्थापित को सिद्धान्त को मानकर ज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ना सिद्धान्त है।
(7) अवयव - अनुमान के अवयव को अवयव कहा जाता है। अनुमान के अवयव पाँच है ।
(8) तर्क - यदि किसी बात को साबित करना है, तब उसके उलटे को सीधी मानकर उसकी अप्रमाणिकता को दिखलाना तर्क कहा जाता है।
(9) निर्णय - निश्चित ज्ञान को निर्णय कहा जाता है। निर्णय को अपनाने के लिए संशय का त्याग करना आवश्यक हो जाता है।
(10) वाद - वाद उस विचार को कहा जाता है जिसमें सभी प्रमाणों को और तर्कों की सहायता से विपक्षी के निष्कर्ष काटने का प्रयास किया जाता है।
(11) जल्प - जीतने की अभिलाषा से तर्क करना जल्प कहा जाता है। इसमें वादी और प्रतिवादी का उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करने के बजाय विजय को शिरोधार्य करना रहता है।
(12) वितण्डा - यह भी केवल जीतने के उद्देश्य से अपनाया जाता है। इसमें प्रतिवादी के विचारों को काटने की चेष्टा की जाती है।
(13) हेत्वाभास - प्रत्येक अनुमान हेतु पर निर्भय रहता है। हेतु में कोई दोष हो तो अनुमान भी यदि है दूषित हो जाता है। हेतु के दोष को हेत्वाभास कहा जाता है. साधारणत: अनुमान के दोष को हेत्वाभास कहते हैं ।
(13) छल - किसी व्यक्ति की कही हुई बात को अर्थ बदलकर उसमें दोष संकेत करना छल कहा जाता है। उदारण के रूप में, यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि रमेश के पास नव कम्बल है। उस व्यक्ति के कहने का अर्थ है कि उस व्यक्ति के पास नया कम्बल है। अब: प्रतिवादी इसके विपरीत नव का अर्थ नया न लेकर नौ संख्या समझ है, तब यह छल कहा जाएगा । समझ लेता यह छल कहा जाएगा ।
छल तीन प्रकार के होते हैं- (1)वाक् छल,(2) सामान्य छल,(3) उपचार छल ।
(15) जाति- जाति भी छल की तरह एक प्रकार का दुष्ट उत्तर है। समानता और असमानता के आधार पर जो दोष दिखलाया जाता है, वह जाति है।
(16) निग्रह स्थान- वाद-विवाद के सिलसिले में जब वादी ऐसे स्थान में पर पहुँच जाता है जहाँ उसे हार माननी पड़ती है, तो वह निग्रह स्थान कहलाता है।

न्यायदर्शन के अनुसार 10 प्रकार के पुण्य कर्म-
जब प्रवृत्ति पाप व अशुभ कार्यों की ओर झुकी रहती हैं, तब व्यक्ति -
शरीर से हिंसा, चोरी, प्रतिषिद्ध मैथुन आदि का आचरण करता है। **वाणी से** -मिथ्याभाषण, कठोर वचन बोलता, चुगलखोरी, असम्बद्ध प्रलाप आदि करता है। मन से दूसरों के प्रति द्रोह, दूसरे के धन को अन्याय से हड़पने की चाहना तथा नास्तिकता आदि का पोषक बन जाता है। यह पापरूप प्रवृत्ति अधर्म को बढ़ाती है ।

जब प्रवृत्ति का झुकाव पुण्य की ओर होता है, तब प्रवृत्त हुआ व्यक्ति शरीर से दान, दूसरों की रक्षा परिचर्या-सेवा आदि किया करता है। वाणी से सत्यभाषण, परकल्याण के प्रवचन, मधुर वार्तालाप एवं वेदादि सत्य सर्व-हितकारी शास्त्रों का स्वाध्याय आदि करने में तत्पर रहता है। मन से - सब प्राणियों के प्रति दयाभाव, अस्पृहा और अभिवन्दनीय में श्रद्धाभाव रखने लगता है। यह शुभ प्रवृत्ति है, जो धर्म का विस्तार करती है। यह उभय प्रकार की प्रवृत्ति अच्छे-बुरे जन्म का कारण है।

पञ्चावयव परिचय-
''प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा:।''
प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन ये पांच अवयव कहे जाते हैं।
प्रतिज्ञा- साध्यनिर्देश: प्रतिज्ञा ॥33॥
(साध्यनिर्देश:) साध्य का निर्देश-कथन (**प्रतिज्ञा**) **प्रतिज्ञा-नामक प्रथम अवयव है।**

जो अर्थ अभी सिद्ध नहीं है, जिसके विषय में सन्देह बना हुआ है। सन्देह की निवृत्तिपूर्वक उस साध्य अर्थ का निश्चय करने के लिए सर्वप्रथम उसका कथन करना प्रतिज्ञा है जैसे शब्द नित्य है या अनित्य ? यह शब्द के नित्यत्व-अनित्यत्व में सन्देह

है। अनित्यत्ववादी अपना पक्ष पाँच अवयववाक्यों के साथ-प्रस्तुत करता है। वे वाक्य यथाक्रम इस **प्रकार होंगे** -

1. प्रतिज्ञा- शब्दः अनित्यः । शब्द अनित्य है। इसमें दो पद हैं- शब्दः और अनित्यः, यहाँ अनित्यत्व धर्म साध्य है, उसका अधिकरण शब्द है । तात्पर्य हुआ - शब्द-धर्मी में अनित्यत्व धर्म साध्य है, क्योंकि शब्द के नित्य-अनित्य होने में सन्देह है। सन्दिग्ध साध्य के अधिकरण को पक्ष कहा जाता है- सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः । जो पदार्थ निश्चितरूप से अनित्य हैं, वे शब्द के सपक्ष कहे जायेंगे; जैसे घट, पट, मठ (मकान) आदि । जो अनित्य नहीं हैं, अर्थात् नित्य हैं, वे शब्द के विपक्ष कहे जायेंगे, जैसे आत्मा, आकाश आदि ।

इनको यथाक्रम सधर्मा और विधर्मा भी कहा जा सकता है। प्रतिज्ञा के अनन्तर दूसरा वाक्य है-

2 हेतु- उत्पत्तिधर्मकत्वात् । यो यो उत्पत्तिधर्मकः सः स अनित्यः (व्याप्ति) उत्पत्तिधर्मक होने से । जो जो उत्पत्तिधर्मक होता है, वह अनित्य होता है; हेतु की पुष्टि व स्पष्टता के लिए यह व्याप्ति का निर्देश-कथन किया जाता है।

3. उदाहरण- घटादिवत् । घट आदि के समान ।

4. उपनय- तथा शब्दः । जैसा उत्पत्तिधर्मक घट है, वैसा उत्पत्तिधर्मक शब्द है।

5. निगमन- तस्मात्तथा । घट के समान उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द अनित्य है ।।

वैशषिक दर्शन-धर्म का स्वरूप व तत्वज्ञान की प्राप्ति-

वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद हैं। उनके इस शास्त्र में संसार के परमाणु पर्यन्त मूल तत्त्वों का, उनकी समानता और भिन्नताओं का, सांसारिक पदार्थ-विद्या के साथ-साथ आध्यात्मिक विद्या का एवं मानवीय व्यवहारों का जिस प्रकार सूक्ष्मता से व्यवस्थित विवेचन किया है, उससे संसार आश्चर्यचकित है।

वैशेषिक शास्त्र के अनुसार धर्म का लक्षण

''यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'' जिससे अभ्युदय (लौकिक उन्नति अर्थात् अपवर्ग से पूर्व बाह्य और आन्तरिक विकास अभ्युदय के अन्तर्गत ही आता है) और निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि या प्राप्ति होती है, वह धर्म है।

वैशेषिक दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय

वैशेषिक में 6 पदार्थों का निरूपण किया गया है उनके यथार्थ ज्ञान-तत्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ।

धर्म विशेष **(दिव्य-योगज सामर्थ्य)** से उत्पन्न ज्ञान विशेष से - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय नामक 6 पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य के तत्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

द्रव्य - द्रव्य ९ हैं। पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशंकालोदिगात्मामनइतिद्रव्याणि' पृथिवी, जल, तेज (अग्नि), वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, व मन ये 9 द्रव्य हैं इनके असंख्य अवान्तर भेद हैं दुनिया के समस्त द्रव्य इन 9 द्रव्यों के समूह में ही सम. ाहित हो जाते हैं।

गुण- वैशेषिक शास्त्र के अनुसार गुणों की संख्या 24 है-

'रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुख दुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः' ।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि (ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये 17 गुण आचार्य कणाद ने कण्ठ से कहे हैं अन्य 7 गुण चकार से गृहीत होते हैं जिनका यथास्थान वैशेषिक में दिग्दर्शन किया गया है। यथा-गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेहत्व, संस्कार, (वेग, स्थितिस्थापक, भावना) धर्म, अधर्म और शब्द।

कर्म- कर्मजाति 5 प्रकार की है। **उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि।**

उत्क्षेपण (ऊपर उठाना या फेंकना) अवक्षेपण (नींचे फेंकना या गिराना), आकुञ्चन (सिकोड़ना या सिकुड़ना), प्रसारण (फैलना या फैलाना), गमन (शेष सब प्रकार की सामान्य क्रिया) ये पाँच प्रकार के कर्म हैं।

द्रव्य का लक्षण- क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् । क्रियावाला और गुण वाला होना, समवायिकारण होना यह द्रव्य का लक्षण है।

गुण का लक्षण- द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।

द्रव्य के आश्रय से रहने वाला, जो स्वयं अन्य गुण का आश्रय न हो, संयोग और विभाग में (अन्य किसी की) अपेक्षा न करता हुआ जो कारण न हो अर्थात् जो संयोग विभाग में अनपेक्ष अकारण हो, वह गुण नामक पदार्थ का सामान्य लक्षण है।

कर्म का लक्षण- एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्'। एक ही द्रव्य में आश्रित, गुण का अनाश्रय, संयोग और विभाग की उत्पत्ति में अनपेक्ष कारण होना यह कर्म का सामान्य लक्षण है।

कारण तीन प्रकार के होते हैं-

(1) समवायिकारण, (2) असमवायिकारण, (3) निमित्त कारण

सामान्य और विशेष का लक्षण- 'सामान्यं विशेष इति बुद्धयपेक्षम्' । सामान्य और विशेष बुद्धि की अपेक्षा से होते हैं। जो पदार्थ बहुतों से सम्बन्ध रखे, वह अनुवृत्ति-बुद्धि वाला सामान्य और जो थोडों से सम्बन्ध रखे वह व्यावृत्ति बुद्धि वाला पदार्थ विशेष कहलाता है।

सामान्य - सामान्य दो प्रकार के होते हैं (1) पर सामान्य (2) अपर सामान्य।

सत्ता का स्वरूप- 'सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता'। जिसके द्वारा द्रव्य, गुण व कर्मों में सत्-सत् अर्थात् यह है ऐसा अस्तित्व का ज्ञान या व्यवहार होता है वह सत्ता सामान्य हैं।,

द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता। जिसके द्वारा **द्रव्य, गुण और कर्म से भिन्न पदार्थ है सत्ता सामान्य।.**

समवाय पदार्थ का स्वरूप- इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः। कार्य और कारण में परस्पर इस आधार में यह आधेय है इस प्रकार का ज्ञान या व्यवहार जिस सम्बन्ध से होता है वह सम्बन्ध 'समवा' है।

आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार- **अयुतसिद्धानामाधार्याधार - भूतानां यः सम्बन्धः इह प्रत्ययहेतुः स समवायः।** अपृथक सिद्ध आधार और आधेय रूप पदार्थों में इस आधार में ये आधेय हैं। इस सम्बन्ध का हेतु समवाय नामक पदार्थ है।

विशेष गुण का स्वरूप- जिनसे वस्तु की पहचान हो सकती है वे विशेष गुण कहलाते हैं, उनसे अतिरिक्त सभी सामान्य गुण है। विशेष गुण निम्न हैं-

रूपं गन्धो रसः स्पर्शः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः।
बुद्धयादि भावनान्ताश्च शब्दो वैशेषिको गुणः।।

रूप, गन्ध, रस, स्पर्श स्नेहः सांसिद्धिको द्रवत्व, बुद्धि ,सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना और शब्द ये16 विशेष गुण हैं ।

स्मरणीय बिन्दु

1. न्याय दर्शन के अनुसार प्रमाण कितने और कौन-कौन से हैं?
2. प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण में क्या अंतर है?
3. न्याय दर्शन के 12 प्रमेय कौन-कौन से हैं?
4. वैशेषिक दर्शन में धर्म की परिभाषा क्या है?
5. वैशेषिक दर्शन के नौ द्रव्यों के नाम लिखिए।

शब्दावली

शब्द	**अर्थ**
न्याय	तर्क द्वारा सत्य ज्ञान
प्रमाण	यथार्थ ज्ञान का साधन
प्रमेय	ज्ञान का विषय
प्रत्यक्ष	इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान
अनुमान	तर्क से प्राप्त ज्ञान
उपमान	समानता द्वारा ज्ञान
शब्द	आप्त वचन से ज्ञान
द्रव्य	पदार्थ का आधार
गुण	द्रव्य में स्थित विशेषता
मोक्ष	दुःखों से मुक्ति

5 अंक के प्रश्न

1. त्रिविध दुःखों का वर्णन कीजिए।
2. पुरुषार्थ से क्या अभिप्राय है?
3. प्रकृति और पुरुष में अंतर स्पष्ट कीजिए।

4. पंचमहाभूतों की उत्पत्ति कैसे होती है?
5. सांख्य दर्शन में मोक्ष का स्वरूप बताइए।

15 अंक के प्रश्न

1. न्याय दर्शन के चार प्रमाणों का विस्तृत वर्णन उदाहरण सहित कीजिए।
2. न्याय दर्शन के 16 पदार्थों का क्रमवार वर्णन कीजिए।
3. वैशेषिक दर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय का विस्तारपूर्वक विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. न्याय दर्शन के प्रवर्तक कौन हैं?

(क) कपिल

(ख) गौतम

(ग) कणाद

(घ) पतंजलि

2. न्याय दर्शन में प्रमाणों की संख्या है-

(क) 2

(ख) 3

(ग) 4

(घ) 5

3.'आप्तोपदेशः शब्दः' किस प्रमाण से संबंधित है?

(क) प्रत्यक्ष

(ख) अनुमान

(ग) शब्द

(घ) उपमान

4. वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक हैं

(क) गौतम

(ख) जैमिनि

(ग) कणाद

(घ) बादरायण

5. वैशेषिक दर्शन में द्रव्य हैं-

(क) 5

(ख) 7

(ग) 9

(घ) 12

इकाई- 2.4 वेदान्त एवं मीमांसा दर्शन के चयनित सूत्र

उद्देश्य-

1. वेदान्त दर्शन एवं मीमांसा दर्शन के मूल स्वरूप, प्रमुख आचार्यों तथा सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करना।
2. ब्रह्मसूत्र, साधन चतुष्टय, अद्वैतवाद तथा मीमांसा के प्रमाण एवं कर्म सिद्धान्त को समझना।
3. भारतीय दर्शन की ज्ञान मीमांसा, मोक्षमार्ग और वैदिक व्याख्या-पद्धति का अध्ययन करना।

वेदान्त दर्शन-

वेदान्त शब्द का अभिप्राय- 'वेदानामन्तः वेदान्तः' अर्थात् वेदों के उत्तरभाग (ज्ञानकाण्ड) को वेदान्त कहते हैं। वेदों के मुख्यतः दो भाग हैं। पूर्व भाग जिसे कर्मकाण्ड कहते हैं तथा उत्तर भाग जिसे ज्ञानकाण्ड कहते हैं।

वेदान्त दर्शन के रचयिता बादरि पुत्र बादरायण हैं जिन्हें महर्षि वेदव्यास के नाम से भी जाना जाता है। वेदान्त दर्शन के अपर नाम हैं- ब्रह्मसूत्र, शारीरक सूत्र, उत्तर मीमांसा, भिक्षुसूत्र।

ब्रह्मसूत्र में अध्याय सूत्र तथा अधिकारणों की संख्या- ब्रह्मसूत्र शास्त्र में (1) समन्वय (2) विरोधपरिहार (3) साधन एवं (4) फल नामक चार अध्यायों का वर्णन किया गया है, प्रत्येक अध्याय चार पादों में विभक्त है। इस शास्त्र में कुल सूत्रों की संख्या 555 है तथा 191 अधिकरण हैं।

प्रस्थान-त्रयी -उपनिषद, श्रीमद्भगवद्गीता एवं वेदान्त के समुच्चय को प्रस्थानत्रयी के नाम से जाना जाता है जिन्हें क्रमशः श्रुति प्रस्थान, स्मृति प्रस्थान, एवं न्याय प्रस्थान भी कहते हैं।

अनुबन्ध चतुष्टय - किसी भी शास्त्रग्रन्थ का आरंभ अनुबंध चतुष्टय से होता है, जिसके चार अंश होते हैं- विषय, संबन्ध, प्रयोजन, और अधिकारी।

ब्रह्मसूत्र का विषय- प्रत्येक शास्त्र में प्रतिपादित होने वाला अर्थ ही विषय होते है अर्थात् जिसके बारे में चर्चा की जाती है वही विषय है इस ग्रन्थ में जगत, ब्रह्म और जीव को विषय बनाया गया है।

ब्रह्मसूत्र का प्रयोजन - सांसारिक व्यवहार में मानव के चार उद्देश्य रहते हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये ही चार पुरुषार्थ हैं इस ग्रन्थ के अध्ययन के पश्चात् परा-विद्या से प्राप्त होने वाला मोक्ष, ही इस ग्रन्थ का प्रयोजन है।

ब्रह्मसूत्र के लिए उपयुक्त अधिकारी - किसी भी ग्रन्थ से लाभ प्राप्त करने के लिए कुछ विशेष अधिकार की आवश्यकता होती है। इस प्रकार शास्त्राध्ययन के लिए तत्तद् योग्यतायुक्त व्यक्ति ही अधिकारी होता है। ब्रह्मसूत्र के चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति हेतु साधन चतुष्टय की संपत्ति से युक्त व्यक्ति ही अधिकारी है।

साधन चतुष्टय- नित्यानित्यवस्तु-विवेक, इहामुत्रार्थ-फल-भोगविराग, शमादि-षट्कसंपत्ति, मुमुक्षुत्व-इन चारों की साधना ही साध न-चतुष्टय कहलाती है।

नित्यानित्यवस्तु-विवेक -निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा अयथार्थ को छोड़कर यथार्थ को स्वीकार करना यह ही विवेक है। त्रिकालाबाधित सत्तात्मक वस्तु जो उत्पत्ति और विनाश धर्म से रहित है, नित्य कहलाती हैं इस प्रकार वह सत्तात्मक वस्तु जो काल सापेक्ष उत्पत्ति-विनाश धर्म से युक्त हो अनित्य कहलाती हैं।

स्वबुद्धि द्वारा उपरोक्त धर्मों से युक्त वस्तुओं का पृथक् पृथक् रूप से जानना नित्यानित्यवस्तु-विवेक हैं।

इहामुत्रार्थ-फल-भोग विराग- इस जगत में, मृत्यु के अनन्तर अनुभव में आने वाले आनुश्रविक विषयों के सुख भोगों से चित्त का आसक्ति रहित होना विराग कहलाता है। इसे ही योगशास्त्र में दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम् (1.15) कहा है।

षट्क- संपत्ति- शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान इन छः गुणों का समूह ही शमादि षट्कसंपत्ति है ।

शम -उद्देश्य की प्राप्ति हेतु मन को अन्य कामना से हटाकर ध्येय में दृढ़तापूर्वक स्थिर रखना शम हैं।

दम - भागवत् दृष्टि बढ़ाते हुये अपनी चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों को तथा वागादि कर्मेन्द्रियों को स्व-स्व विषयों में अपनी इच्छा के बिना विचरण न करने देना अर्थात् बाह्येन्द्रियों को वश में करने का नाम दम है। **पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभूः तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्** । (कठो०2.1.1) अर्थात् इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति बाहरी विषयों में होती है। प्रयत्नपूर्वक निग्रह करना दम है।

उपरति- इन्द्रियों का बाह्य विषय-भोगों से उपरम होकर आत्माभिमुख होना।

तितिक्षा- सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, निन्दा-स्तुति, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी इत्यादि द्वन्दों को द्वेष रहित होकर सहन करना तितिक्षा कहलाती है। इसी को योगदर्शन में महर्षि पतञ्जलि ने तप कहा है।

श्रद्धा- मोक्षाभिलाषी के लिए श्रुति और गुरु दोनों को छोड़कर अन्य कोई मार्ग ही नहीं है। इस बात को ध्यान में रखकर श्रुतिवाक्यों में तथा गुरुवाक्यों में चित्त की परम पवित्रतापूर्वक पूर्ण विश्वास रखना चाहिए। यह पूर्ण विश्वास ही श्रद्धा हैं। **यस्य देवे परा**

भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः। (श्वे.उप.6.23)
श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः, सा हि जननीव कल्याणी योगिनां पाति। (यो०व्या० भा० 1/20)

समाधान - मन में समत्व का आधार होना अर्थात् मन का संशय रहित होकर भगवान एवं गुरु में स्थित होना समाधान कहलाता है।
मुमुक्षुत्व - ताप-त्रय से पीड़ित व्यक्ति समस्त बंधनों एवं समस्त दुःखों से पूर्ण रूप से मुक्त होने की अभिलाषा रखता है। यही मुमुक्षुत्व है ।
अन्तरंग साधना-श्रवण, मनन, निदिध्यासन को अन्तरंग साधना कहा गया है। गुरु उपदेश तथा वेदादि शास्त्रों का श्रवण तत्पश्चात् श्रवण किये हुए का चिन्तन तथा तदनन्तर चिन्तन से निश्चय किये हुए को आचरण में लाना यही अन्तरंग साधना है ।
वेदान्त दर्शन के आचार्य एवं सिद्धान्त-

आचार्य	सिद्धान्त	भाष्य
शंकराचार्य	अद्वैत वेदान्त	शारीरिक भाष्य
रामानुजाचार्य	विशिष्टाद्वैत	श्रीभाष्य
भास्कराचार्य	भेदाभेद	भास्कर भाष्य
निम्बार्काचार्य	द्वैताद्वैत	वेदान्त पारिजात
मध्वाचार्य	द्वैतवेदान्त	पूर्ण प्रज्ञा भाष्य
वल्लभाचार्य	शुद्धाद्वैत	अणुभाष्य

अद्वैतवाद-

वस्तुतः वेदान्त दर्शन का प्रमुख प्रश्न यह रहा कि जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध है? इसी प्रश्न के उत्तर विभिन्न रूपों में दिए गए, जिस कारण वेदांत दर्शन के अन्तर्गत विभिन्न सम्प्रदायों का जन्म हुआ, जिसमें अद्वैतवाद सर्वप्रथम स्थान है।

जीव और ब्रह्म के बीच सम्बन्ध के प्रश्न का उत्तर देते हुए शंकराचार्य ने कहा कि जीव और ब्रह्म अलग-अलग नहीं हैं। वे वस्तुतः अद्वैत हैं। यही कारण है शंकर के दर्शन को अद्वैतवाद कहा जाता है ।

सत्ता त्रैविध्य-

शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन में सत्ता केवल एक ही है और वह है ब्रहा। इसलिए इसे वे अद्वैत ब्रह्म कहते हैं तथा अद्वैतवादी कहलाते हैं। शंकर के अनुसार, आत्मा भी ब्रह्म है, परन्तु एकमात्र ब्रह्म को सत् कहने का मतलब यह नहीं है कि बाकी सब कुछ को वे असत् कहते हैं। जीवरूप में हमारा अस्तित्व, हमारी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, हमारे कर्म और यह सारा दृश्य, जगत के सब आकाश-कुसुम या बांझ औरत के पुत्र के समान असत् नहीं है, परन्तु ब्रहा के समान ये पूर्ण सत् भी नहीं है।

वस्तुतः शंकर मानते हैं कि स्पष्ट वह है, जो तीनों कालों में अबाधित हो, परन्तु ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ ऐसा नहीं है जो तीनों कालों में अस्तित्ववान हो। सांसारिक वस्तुएँ नश्वर हैं, इसलिए वे केवल ब्रह्म को ही परम सत् कहते हैं, परन्तु अनुभूत पदार्थों के अस्तित्व के लिए वे सत्ता के अन्य रूप भी बताते हैं, जो निम्नलिखित हैं-

प्रातिभासिक सत्ता- प्रातिभासिक सत्ता ऐसी सत्ता को कहते हैं, जिसका सम्बन्ध केवल कल्पनालोक से होता है। ऐसी सत्ता का हमें केवल आभास ही होता है। ऐसी सत्ता केवल क्षणभर के लिए ही प्रकट होती है। स्वप्न पदार्थ और भ्रम पदार्थ इसी स्तर के हैं। स्वप्न पदार्थ जाग्रतावस्था में बाधित होते हैं और भ्रम पदार्थों का निराश भी अधिष्ठान वस्तु के ज्ञान से हो जाता है।

सर्वविदित है कि स्वप्न के पदार्थ सत्य नहीं होते, क्योंकि जाग जाने पर उनका कहीं कोई अस्तित्व नहीं होता। इसी प्रकार भ्रम जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम भी सत्य नहीं होता, क्योंकि प्रकाशादि के कारण जब भ्रम टूटता है, तो सर्प कहीं भी नहीं दिखाई देता। केवल रस्सी का ही अस्तित्व रहता है। प्रातिभासिक सत्ता सभी के लिए नहीं होती, केवल व्यक्ति विशेष ही उसका अनुभव कर पाता है। आकाश-कुसुम, शशश्रृंग, बंध्यापुत्र इत्यादि प्रातिभासिक सत्ता के उदाहरण हैं।

व्यावहारिक सत्ता- व्यावहारिक सत्ता उन पदार्थों की सत्ता है, जो स्वाभाविक जाग्रतावस्था में प्रकट होते हैं और सभी के अनुभव में आते हैं; जैसे- मेज, कुर्सी, घर, कार आदि। भविष्य में तर्कतः बाधित होने की सम्भावना के कारण इन्हें भी पूर्णतया सत् नहीं

कहा जा सकता। शंकर के अनुसार, प्रातिभासिक सत्ता तभी हमारे लिए भ्रामक होती है, जब हम व्यावहारिक जगत में आते हैं।

स्वप्न तभी तक स्वप्न है, जब तक कि हम निद्रावस्था से बाहर न आ जाएँ। भ्रम के सर्प से भी भय तभी तक रहता है, जब तक कि रस्सी की वास्तविकता से हम परिचित नहीं हो जाते। आशय यह है कि प्रातिभासिक सत्ता की तुलना में व्यावहारिक सत्ता में सत्यता अधिक है। इस प्रकार यह सत्ता न पूर्णत: सत् है और न ही असत। शंकर सगुण ब्रह्म को भी व्यावहारिक रूप में सत् कहते हैं। इसी प्रकार शंकर जीव को भी व्यावहारिक सत्ता मानते हैं।

पारमार्थिक सत्ता- पारमार्थिक सत्ता तात्विक सत्ता है, जो कभी भी बाधित नहीं होती। इसका तीनों कालों में नाश नहीं होता। यह सत्ता सभी प्रतीतियों में प्रकट होती है। शंकर वेदान्त में एकमात्र ब्रह्म ही ऐसी सत्ता है। शंकर कहते हैं कि प्रातिभासिक सत्ता तब तक सत्य प्रतीत होती बैजल तक कि हम व्यावहारिक स्तर पर न पहुँच जाएँ, इसलिए शंकर के दर्शन में जगत मिथ्या प्रतीत होने लगता है

मीमांसा दर्शन-

मीमांसा शब्द का अर्थ वैयाकरणों के मतानुसार मीमांसा शब्द **मानबधदानान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य** नियम से जिज्ञासा अर्थ में सन् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। इस प्रकार मीमांसा शब्द का अर्थ होता है-**जिज्ञासा जानने की इच्छा।**

जिज्ञासा अथवा मीमांसा का अर्थ जानने की इच्छा मात्र होने पर भी इच्छा की परिणति विचार में होती है। अत: मीमांसा का अर्थ विचार भी उपपन्न होता है।

सम्प्रति मीमांसाशास्त्र एक होते हुए भी विषय विभाग की दृष्टि से पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दो भागों में विभक्त माना जाता है। पूर्वमीमांसा में 16 अध्याय और उत्तरमीमांसा में 4 अध्याय प्राप्त होते हैं। मीमांसा के 13-16 तक 4 अध्यायों को **सङ्कर्षकाण्ड** अथवा **सङ्कर्षण-काण्ड** के नाम से जाना जाता है। इन 4 अध्यायों के पठन-पाठन की शिथिलता के कारण यह भाग उत्सन्नप्राय हो चुका है। इसकी उत्सन्नता का मुख्य कारण शबर स्वामी का इन अध्यायों पर भाष्य न लिखना है।

मीमांसा शास्त्र विंशति अध्यायात्मक है। उसके 16 अध्यायों में निबद्ध पूर्वमीमांसा शास्त्र पूर्वकाण्ड धर्मविचार (कर्मविचार) परक महर्षि जैमिनि कृत है तथा उससे भिन्न 4 अध्याय उत्तरमीमांसा शास्त्र उत्तरकाण्ड ब्रह्मविचारपरक महर्षि व्यासकृत है।

मीमांसा-शास्त्र के रचयिता **महर्षि जैमिनि** हैं। ये कृष्णद्वैपायन (महर्षि वेदव्यास) के शिष्य थे। इन्हें महर्षि वेदव्यास ने सामवेद पढ़ाया था।

मीमांसा-दर्शन को **पूर्व-मीमांसा, धर्म-मीमांसा विचारशास्त्र, न्यायमाला और जैमिनिनय** के नामों से भी जाना जाता है।

उत्तर-वर्तमान में मीमांसाशास्त्र में 12 अध्याय पठन-पाठन के प्रचलन में है, इन 12 अध्यायों में 60 पाद हैं। अध्याय 3,6 और 10 में 8-8 पाद हैं तथा शेष अध्यायों में 4-4 पाद उपलब्ध होते हैं। सूत्रों की कुल संख्या श2761श है, जो कि अन्य पाँचों वैदिक दर्शनों के कुल सूत्र संख्या से भी अधिक है। इन अध्यायों में अधिकरणों की संख्या 890 है। अधिकरणों को न्याय नाम से भी जाना जाता है

मीमांसाशास्त्र का प्रयोजन - मीमांसाशास्त्र का प्रयोजन कर्मकाण्ड एवं अध्यात्मकाण्ड (ब्रह्मकाण्ड) के वचनों का तात्पर्य स्पष्ट करना है। सुदीर्घकाल में कर्मकाण्ड एवं अध्यात्मकाण्ड में अनेक वाद उत्पन्न हो गये थे। अनेक विषयों में तो परस्पर विरुद्ध व्यवहार भी चल पड़ा था। इसीलिये मीमांसकों ने शाखा, ब्राह्मण एवं उपनिषद्गत वचनों के तात्पर्य के स्पष्टीकरण और विरोध परिहार के लिये मीमांसा शास्त्र का समय-समय पर प्रवचन किया।

पूर्वमीमांसा के भाष्यकार - पूर्वमीमांसा के बोधायन, उपवर्ष, देवस्वामी, भवदास और शबर स्वामी भाष्यकार हुए हैं। इनमें बोधायन ने पूर्व मीमांसा पर कृतकोटि नाम का भाष्य लिखा था।

मीमांसा दर्शन में प्रमाण-

मीमांसक, ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करने के कारण अनीश्वरवादी हैं, किन्तु नास्तिक नहीं हैं, क्योंकि ये वेदों को प्रामाणिक मानते हैं। मीमांसा दर्शन का मुख्य उद्देश्य वेदों के प्रामाण्य को स्थापित करना था, फलत: इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रमाण मीमांसा के विभिन्न तत्त्वों की विस्तृत विवेचना की गई है। उल्लेखनीय है कि मीमांसकों की प्रमाण मीमांसा यथार्थवादी है।

मीमांसकों के अनुसार प्रमा किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान है। महर्षि जैमिनी ने इस यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द प्रमाणों का विवेचन किया था। जैमिनी के बाद बहुत-से टीकाकार एवं स्वतन्त्र ग्रन्थकार हुए, उनमें दो मुख्य हैं-कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर। इन दोनों के नाम पर मीमांसा में क्रमश: दो सम्प्रदाय चल पड़े-भट्टमीमांसा एवं प्रभाकर मीमांसा।

प्रभाकर ने यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने के पाँच प्रमाणों-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द तथा अर्थापत्ति को स्वीकार किया था, जबकि कुमारिल भट्ट ने प्रभाकर के पाँच प्रमाणों के अतिरिक्त अनुपलब्धि को भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के

प्रमाण (साधन) के रूप में स्वीकार किया। उल्लेखनीय है।

यज्ञादि कर्म -

कर्म तीन प्रकार के हैं। 1. नित्यकर्म, 2. नैमित्तिक कर्म और 3. काम्य कर्म।

नित्यकर्म - नित्यकर्म वे हैं जिन्हें नित्य नियतसमयानुसार करना चाहिये तथा जिन्हें करने से फलविशेष की प्राप्ति हो न हो पर न करने पर दोष अवश्य होता हैं। जैसे- संध्या, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास।

नैमित्तिक - नैमित्तिक कर्म उसे कहते हैं, जिन्हें किसी निमित्त विशेष के उपस्थित होने पर करने का शास्त्रों में विधान है। जैसे- गृहदाहेष्टि प्रायश्चित्तेष्टि।

काम्यकर्म - काम्यकर्म वो हैं जो किसी विशेष कामना की पूर्ति की अपेक्षा से किया जाता है। जैसे- पुत्रकामेष्टि, वर्षेष्टि।

मीमांसकों के मत में यज्ञादि कर्मो के फल की प्राप्ति- यज्ञादि कमों के फल की प्राप्ति अपूर्व के द्वारा होती है। यागादि कम से प्राप्त होने वाली फलप्रदा शक्ति विशेष को अपूर्व कहते हैं। जो कर्ता के आत्मा में समाहित हो जाती है और समय विशेष में फलप्रदायिनी होती है ।

मीमांसा दर्शन का ज्ञान सिद्धान्त-

मीमांसा दर्शन में ज्ञान सिद्धान्त आत्मा से सम्बन्धित है। इन दार्शनिकों की मान्यता है कि आत्मा अनेक है तथा यह नित्य एवं विभुद्रव्य है। मीमांसा दर्शन में ज्ञान के सम्बन्ध में मुख्यत: दो सिद्धान्त प्रचलित हैं- **त्रिपुटि प्रत्यक्षवाद तथा ज्ञाततावाद।** जिनका प्रतिपादन क्रमश: प्रभाकर तथा कुमारिल भट्ट द्वारा किया गया।

त्रिपुटि-संवित (प्रभाकर)-

वस्तुत: तीन (ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय) का समूह त्रिपुटि कहलाता है, जबकि संवित का अर्थ चेतना या समझ है। प्रभाकर के अनुसार ज्ञान के तीन आयाम हैं-ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान। प्रत्येक ज्ञान की अभिव्यक्ति में इस त्रिपुटि का प्रत्यक्ष होता है, इसीलिए प्रभाकर का ज्ञान विषयक मत **त्रिपुटि प्रत्यक्षवाद** कहलाता है।

प्रभाकर के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश है, उसे अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। अत: स्पष्ट है कि ज्ञान की उत्पत्ति तथा उसकी प्रामाणिकता के सन्दर्भ में प्रभाकर परत: प्रामाण्यवाद को स्वीकार न करके स्वत:प्रामाण्यवाद को स्वीकार करते हैं। इनकी मान्यता है कि ज्ञान के प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिए अन्य ज्ञान की कल्पना से अनावस्था दोष पैदा होता है।

ज्ञाततावाद या ज्ञातता (कुमारिल भट्ट)-

कुमारिल का ज्ञान विषयक मत ज्ञाततावाद कहलाता है। कुमारिल का मत है कि ज्ञान सर्वप्रकाश नहीं होता है। ज्ञान न तो स्वयं प्रकाशित होता है और न ही आत्मा को ज्ञाता के रूप में प्रकाशित करता है। ज्ञान केवल ज्ञेय (विषय) को ही प्रकाशित करता है। कुमारिल के अनुसार ज्ञान किसी अन्य ज्ञान द्वारा प्रकाशित नहीं होता। अत: स्पष्ट है कि ज्ञान के प्रामाण्य के सन्दर्भ में यहाँ परत:प्रामाण्यवाद को अस्वीकार किया गया है। प्रश्न यह उठता है कि आत्मा तो ज्ञाता है फिर ऐसी स्थिति में आत्मा का ज्ञान कैसे प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में कुमारिल का मत है कि आत्मा स्वयं अपने ही द्वारा अपना ज्ञान प्राप्त करती है तथा इस स्थिति में आत्मा स्वयं ज्ञाता एवं ज्ञेय दोनों होती है।

अन्विताभिधानवाद (प्रभाकर मिश्र)-

यह विचारधारा मीमांसा दर्शन से सम्बन्धित है। इस विचारधारा के समर्थक प्रभाकर का गुरु सम्प्रदाय है। कुमारिल का भट्ट सम्प्रदाय ने इसका समर्थन नहीं किया है। अन्विताभिधानवाद विचारधारा के अनुसार शब्दों के अर्थ केवल उसी अवस्था में जाने जा सकते हैं जबकि वे ऐसे वाक्य में आते हैं, जो किसी कर्तव्य का आदेश करता है। इस प्रकार शब्द पदार्थों को केवल इस प्रकार के वाक्य के अन्य अवयवों से सम्बद्ध रूप से ही घोषित करते हैं ।

यदि वे एक आदेश से सम्बद्ध नहीं हैं, बल्कि केवल अर्थों के ही स्मरण कराते हैं, तो यह स्मृति का विषय है, जो प्रामाणिक बोध नहीं है। इस प्रकार प्रभाकर का मत है कि भाषा अर्थ का निर्धारण तभी होता है, जब पहले उसमें प्रयुक्त शब्दों का अर्थ ज्ञात हो जाए अर्थात् छोटे-छोटे शब्दों के अर्थों के अन्वय से ही भाषा का अभिधान होता है।

अभिहितान्वयवाद (कुमारिल भट्ट)-

यह विचारधारा भी मीमांसा दर्शन से ही सम्बद्ध है। इस विचारधारा के प्रतिपादक भट्ट सम्प्रदाय के कुमारिल हैं। जबकि

प्रभाकर का गुरु सम्प्रदाय ने इसका समर्थन नहीं किया है।

अभिहितान्वयवाद के अनुसार, अर्थ का ज्ञान शब्दों के ज्ञान के कारण होता है, परन्तु यह ज्ञान स्मरण या बोधग्रहण के कारण नहीं, बल्कि द्योतक के कारण होता है। शब्द, अर्थों को प्रकट करते हैं जो संयुक्त होने पर एक वाक्य का ज्ञान देते हैं। इस सिद्धान्त का यह भी मत है कि वेदवाक्य विधिवाक्य हैं। वेद हमें कर्म करने का या न करने का आदेश देते हैं ।

मीमांसीय आचार्य एवं साहित्य-

साहित्य	आचार्य	साहित्य	आचार्य
मुरारीमत	मुरारी मिश्र	लध्वी	**प्रमाकर मिश्र**
त्रिपादी नीतिनयन	मुरारी मिश्र	दीपिका	वरदराज
एकाद शाध्याधिकरण	मुरारी मिश्र	वर्तिका भरण	वेंकट दीक्षित
श्लोकवर्तिक	कुमारिल भट्ट	न्याय सुधा	सोमेश्वर मट्ट
तन्त्र-वर्तिक	कुमारिल भट्ट	काशिका	सुचरित मिश्र
दुप्टीका	कुमारिल भट्ट	विधि विवेक	मण्डन मिश्र
वृहती	**प्रभाकर मिश्र**	मीमांसानुक्रमणी	मण्डन मिश्र

ख्यातिवाद से सम्बन्धित सिद्धान्त एवं सिद्धान्तकार-

मत	सिद्धान्त
प्रभाकर	अख्यातिवाद
कुमारिल	विपरीतख्यातिवाद
बौद्ध दर्शन	आत्मख्यातिवाद
शून्यवाद	शून्यख्याति या असत्ख्यातिवाद
रामानुज	सत्ख्याति या सद्सत्तरख्यातिवाद
शंकर	अनिर्वचनीय ख्याति
न्यायदर्शन	अन्यथाख्याति

स्मरणीय बिन्दु

1. प्रस्थानत्रयी क्या है?
2. शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप क्या है?
3. मीमांसा दर्शन का मुख्य उद्देश्य क्या है?
4. प्रभाकर और कुमारिल भट्ट के मतों में अंतर क्या है?
5. वेदान्त में मोक्ष प्राप्ति के साधन कौन-कौन से हैं?

शब्दावली

शब्द	**अर्थ**
वेदान्त	वेद का उत्तरभाग / ज्ञानकाण्ड
ब्रह्मसूत्र	वेदान्त दर्शन का सूत्रग्रंथ
साधन चतुष्टय	मोक्ष के चार साधन
विवेक	नित्य-अनित्य का ज्ञान
वैराग्य	विषयों से विरक्ति
मीमांसा	विचार / जिज्ञासा
प्रमाण	यथार्थ ज्ञान का साधन
नित्यकर्म	प्रतिदिन किया जाने वाला कर्म

अद्वैत	जीव और ब्रह्म की अभिन्नता
अपूर्व	कर्मफल देने वाली अदृश्य शक्ति

5 अंक के प्रश्न

1. वेदान्त शब्द का अर्थ एवं स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
2. ब्रह्मसूत्र के चार अध्यायों के नाम लिखिए।
3. साधन चतुष्टय का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
4. मीमांसा दर्शन में प्रमाणों का वर्णन कीजिए।
5. नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य कर्म में अंतर स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न

1. शंकराचार्य के अद्वैतवाद तथा सत्ता-त्रैविध्य (प्रातिभासिक, व्यवहारिक, पारमार्थिक) का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. वेदान्त दर्शन में साधन चतुष्टय एवं अन्त:करण साधना (श्रवण, मनन, निदिध्यासन) का विस्तार से विवेचन कीजिए।
3. मीमांसा दर्शन के ज्ञान सिद्धान्त, प्रमाण व्यवस्था तथा कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर के मतों की व्याख्या कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. ब्रह्मसूत्र के रचयिता हैं-

(क) जैमिनि

(ख) बादरायण

(ग) गौतम

(घ) कणाद

2. मीमांसा दर्शन का संबंध मुख्यत: किससे है?

(क)भक्ति

(ख) कर्मकाण्ड

(ग) योग

(घ) न्याय

3. 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का सिद्धान्त किसने दिया?

(क) रामानुज

(ख) मध्वाचार्य

(ग) शंकराचार्य

(घ) जैमिनि

4. साधन चतुष्टय में कौन सम्मिलित नहीं है?

(क) विवेक

(ख) वैराग्य

(ग)समाधि

(घ) मुमुक्षुत्व

5. मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक हैं-

(क) पतंजलि

(ख) जैमिनि

(ग) वेदव्यास

(घ) कपिल

खण्ड- 3 श्रीमद्भगवद्गीता एवं उपनिषद् परिचय

इकाई-3.1 गीता-योग की परिभाषा, स्थितप्रज्ञता, साधना की विधि आदि

उद्देश्य-

1. विद्यार्थी गीता में वर्णित योग, कर्मयोग, स्थितप्रज्ञ तथा भक्तियोग के स्वरूप को समझ सके।
2. समत्वबुद्धि, निष्काम कर्म, ध्यानयोग और भक्ति के व्यावहारिक महत्व का ज्ञान प्राप्त कर सके।
3. श्रीकृष्ण द्वारा बताए आदर्श योगी और प्रिय भक्त के गुणों को जीवन में धारण करने की प्रेरणा प्राप्त करे।

योग की परिभाषा-

कर्म की सफलता या अफलता दोनों ही अवस्थाओं में एक समान रहने वाली समत्वबुद्धि का नाम ही योग है, क्योंकि समत्वबुद्धि से निष्काम कर्म करने वाले की अपेक्षा सकाम कर्म की स्थिति बहुत ही तुच्छ है ।

श्री कृष्ण ने अर्जुन से स्पष्ट कहा कि तेरा अधिकार तो अपने कर्तव्य-कर्म करने में है ,जो कर्म करेगा, वह फल भी पाएगा- ऐसा माना जाता है , पर कर्म करने के पश्चात् फल के निर्धरण में और भी कई कारकों का योग होता है यह निश्चित नहह्ल है कि अभीष्ट फल उसे मिलेगा ही । अतः फल में आसद्र मत हो ,तु केवल फल को लक्ष्य बनाकर के कर्म करने वाला भी मत बन क्योंकि ऐसी स्थिति में फल न दीनता अवश्यम्भावी है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ (22/48)
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ (2/49)
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुdतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ (2/50)

जो व्यक्ति साम्यबुद्धि से युक्त है, वह अन्तःकरण की शुद्धि व ज्ञानप्राप्ति के द्वारा इस लोक में पाप और पुण्य दोनों से ही अलिप्त रहता है। अतः तू समत्वबुद्धि रूप योग का आश्रय ले क्योंकि योग समत्वबुद्धि योग ही कर्म करने के विषय में सबसे बडी कुशलता (चतुराई) है। इसी के प्रभाव से कर्मबन्धन स्वभाव वाले होने पर भी व्यक्ति को बॉध नहीं पाते।

स्थित प्रज्ञ के लक्षण-

भगवान् श्रीकृष्ण युद्ध क्षेत्र में विचलित हुए अर्जुन को स्थिरबुद्धि मनुष्य बनाने का प्रयास कर रहे हैं ताकि उसका मोह दूर हो सके, वह आत्मयोग में स्थित होकर बिना किसी ग्लानि के युद्ध कर सके।

अब यह सब सुनकर अर्जुन के मन में जिज्ञासाएँ उभरी हैं कि एक स्थिरबुद्धि मनुष्य कैसा होता है, उसका आचार-विचार, व्यवहार कैसा होता है? उसकी शारीरिक भाषा, उठना, बैठना आदि कैसा होता है? वह कुछ विशेष दिखता है या सामान्य मनुष्य की तरह ही दिखता है? उसकी क्या-क्या विशेषताएँ हैं।

इसके लिए भगवान ने दूसरे अध्याय में स्थित प्रज्ञ के लक्षण बताते हुये कहते है-

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ 55॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥56॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥57॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 58

जब कोई मनुष्य अपनी समस्त मनोगत कामनाओं या इच्छाओं, वासनाओं को त्याग देता है और अपने ही द्वारा अपने में सन्तुष्ट रहता है तब उसे स्थित प्रज्ञ कहा जाता है। जो दुखों में उद्विग्न मन वाला नहीं होता सुख अर्थात अनुकूल परिस्थितियों की प्राप्ति में जिसकी स्पृहा-तृष्णा नष्ट हो गयी है तथा राग, भय क्रोध आदि जिसके नष्ट हो गये हैं, उसको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं।

सब बातों में जो लगावरहित-आसक्तिरहित (अनभिस्नेहः) है, जिसको यथाप्राप्त शुभ-अशुभ का आनन्द या विषाद नहीं होता, कहना चाहिए कि उस व्यक्ति की बुद्धि स्थिर हो गई है। जिस प्रकार कछुआ अपने अंग सब ओर से सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब कोई पुरुष अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच लेता है, तब यह कहना चाहिए कि उसकी बुद्धि स्थिर हो गयी है अर्थात् वह स्थित-धीः बन गया है ।

विषया विनिवर्तन्त निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज रसोप्यस्य परं दृष्टवा निवर्तते ॥ 59
तानि सर्वाणि संसम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥61

निराहार पुरूष के विषय इन्द्रिय-दौर्बल्य के कारण बाह्य रूप से छूट जाते हैं, परन्तु विषयों के प्रति इसकी कामना (लालसा) बनी रहती है। जिसने परब्रह्म को प्राप्त कर लिया उसकी सभी प्रकार की कामनाएं भी स्वतः छूट जाती हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि समत्वबुद्धि द्वारा सांसारिक द्वन्द्वों (सुख-दुख,जय-पराजय, लाभ-हानि) में स्वयं को निर्लिप्त रखकर मनः शान्ति हर परिस्थिति में बनाए रखने वाला ही स्थितप्रज्ञ है। इसी अवस्था को सिद्धावस्था भी कहते हैं । गीता का सन्देश है-स्थितप्रज्ञ होकर मत्परायण (ब्रह्मनिष्ठ)बनो ।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥64॥

जो विधेयात्मा (अन्तःकरण को वश में रखने वाला) व्यक्ति विषयों में होने वाले राग व द्वेष से रहित की गई एवं वशीभूत इन्द्रियों द्वारा विषयों का सेवन (समुचित उपयोग) करता है, वह विषयगत राग व द्वेष रूप मलों से रहित होने से प्रसाद (मन की निर्मलता) को प्राप्त कर लेता है । विषयगत राग व द्वेष ही मन है, इनसे मन मलिन व अशान्त रहता है । जैसे ही विषयों में राग व द्वेष को छोडकर अनासक्त भाव से इन्द्रियों द्वारा उनका समुचित उपयोग किया जाएगा, वैसे ही मन के ये दोनों मल नष्ट होकर मन निर्मल हो जाएगा । यही प्रसाद (मन की स्वच्छता) है। जैसे ही मनः प्रसाद होता है ,तुरन्त ही इसका परिणाम दुःखहानि (प्रसन्नता) के रूप में मिलता है ।

साधना की विधि-

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।6/10

योगी एकान्त में अकेला रहकर चित्त एवं आत्मा (देह) का संयमन करें, किसी भी कामना को मन मे न रखते हुए परिग्रह अर्थात सांसारिक वस्तुओं पर अधिकार भाव का अन्दर से त्याग कर सतत अपने अन्तःकरण को ध्यान में स्थित किया करें।

शचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम॥6/11॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशद्धये॥6/12॥

(11) योगाभ्यासी व्यक्ति शुद्ध स्थान (जहॉ न तो अशुद्ध पुरूष रहतें हों और न अशुद्ध वस्तुओं के द्वारा जो स्पर्श ही किया हुआ हो , वहॉ) पर अपना स्थिर आसन स्थापित करें, वह आसन न अधिक ऊंचा हो और न अति नीचा, उस पर पहले दर्भ, फिर मृग-छाला और वस्त्र विछावे ।

(12) (एकान्त स्थान में) उस आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों के व्यापार को रोककर तथा मन को एकाग्र कर आत्मशुद्धि (अन्तःकरणशुद्धि) हेतु वृत्तिनिरोधरूप योग का अभ्यास करे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥6/13॥

(13) स्थिर होकर काय अर्थात् पीठ, गर्दन और मस्तक को सम अर्थात सीधी खडी रेखा में रखकर तथा उनको निश्चल धारण करता हुआ, दृष्टि को ईधर-उधर न घुमाकर जैसे कोई अपनी नाक की नोक पर दृष्टि जमाकर त्राटक करता है ।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥6/14॥

(14)उसी प्रकार स्थिरदृष्टि होकर शान्त-अन्त:करण, भयरहित , ब्रहाचारी-व्रत में स्थित, मन को संयम में रखकर, मुझ में चित्तवाला, मुझ में चित्तवाला ,मुझ परमेश्वर के आश्रित होकर मेरा (परब्रह्म का) ध्यान करते हुए योग-युक्त हो जाये ।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानस:।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥6/15॥

(14) इस प्रकार योगी सदा अपने आपको योग में नियुक्त करता हुआ , मन को नियन्त्रण में रखकर (स्थिर चित्त से आन्तरिक ध्यान के द्वारा परब्रहा के स्वरूप में मग्न होने से) मुझमें प्रतिष्ठा वाली निर्वाण-रूप परमा शान्ति को प्राप्त करता होता है ।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नत:।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥6/16॥

(16) हे अर्जुन! यह योग अधिक खाने वाले को या बिल्कुल न खाने वाले को और खूब सोने वाले को या अत्यधिक जागने वाले को सिद्ध नही होता ।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेस्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु:खहा॥6/17॥

(17)जिसका आहार-विहार नियमित है,कर्मो मे चेष्टाएं जिसकी संयमित है(जिसकी मन: शान्ति निश्चल है) और जिसका सोना-जागना उचित है, केवल उसी को यह योग सिद्ध होता है उसके दु:खों का नाश करने वाला होता है ।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
नि:स्पृह: सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥6/18॥

(18) जब संयत चित्त आत्मा में स्थिर हो जाता है अर्थात् किसी भोग की इच्छा नहीं करता, तब वह सर्वकामनाओं से नि:स्पृह होने से योगी कहा जाता है अर्थात् सब कामनाएं जब उसमें विलीन हो जाती है, तभी वह योगयुक्त होता है ।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतिचितस्य युञ्जतो योगमात्मन:॥6/19॥

(19) वायुरहित स्थान पर रखे दीपक की ज्योति जैसे निश्चल होती है, वही उपमा चित्त को संयत कर योगाभ्याास करने वाले योगी के लिए दी जाती है महाभारत मे योगी के चित्त की स्थिरता की तुलना तैल से लबालब भरे पात्र को लेकर सीढियों पर चढते हुए व्यक्ति की एकाग्रता से तथा तुफान में फंसी नाव को बचाने मे लगे नाविक की एकाग्रता से की गई है।

ध्यान द्वारा समाधि वर्णन

समदृष्टि को ध्यानयोग का साधन और ध्यानयोग का साधन और ध्यानयोग को कर्मयोग की साधन माना गया है। समदृष्टि होगी तो ध्यान होगा, भगवान् में ध्यान होगा तो कर्मयोग सफल होगा । कर्मयोग में निरन्तर बने रहने के लिए गीता में ध्यानयोग के साधनों का वर्णन किया है।

यत्रोपरमते चित्तं निरूद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नत्मनि तुष्यति!! 6/20॥

(20) योगानुष्ठान से निरूद्ध हुआ चित्त जिस स्थिति में उपरति को प्राप्त हो जाता है और जब आत्मा से (समाधि द्वारा परिशुद्ध अन्त:करण से) चिन्मय स्वरूप आत्मा को देखते हुए उसी शुद्ध आत्मा में सन्तुष्ट होकर रहता है (तब साधक योगयुक्त कहा जाता है)।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वत:॥6/21॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं तत:।
यस्मिनन्स्थितो न दु:खेन गुरूणापि विचाल्यते ॥6/22॥
तंविद्याद् दु:खसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥६/२३॥

(21-23) जहॉ उसे इन्द्रियातीत अर्थात् इन्द्रियों की ग्रहणशक्ति से परे विद्यमान बुद्धिगम्य अत्यन्त सुख का अनुभव होता है और जिस आत्यन्तिक सुख में स्थित हुआ योगी तत्वज्ञान (परमात्मस्वरूप) से कभी पृथक नही होता ।

इसी प्रकार जिस स्थिति को प्राप्त करने पर उसकी अपेक्षा दूसरा कोई लाभ उससे अधिक प्रतीत नही होता । जहॉ स्थिर पर बडे से बडे दु:ख के द्वारा भी उसे विचलित नहीं कियाा जा सकता। दु:ख के संयोग का वियोग है जिसमें ऐसी उस अवस्था को योग इस नाम से जानना चाहिए इस योग का आचरण प्रफुल्लित मन से अर्थात् बिना उकताये पूर्ण निश्चय के साथ करना चहिए।

भक्त के गुण

जिस प्रकार से **ब्राह्मण वही कहलाता है जिसमें ब्राह्मण के लक्षण हों। क्षत्रिय वही कहला**ता है जिसमें क्षत्रियत्व के लक्षण हों । वैश्य, शूद्रादि भी वही कहलाते हैं जिनमें वैश्यत्व और शूद्रत्व के लक्षण हों। इसी प्रकार से श्रीभगवान् जी कहते है भक्त भी कुछ विशेष लक्षणों (गुणों से युक्त होता है। तभी वह मेरा सच्चा भक्त बन सकता है।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता:॥12/2॥

(2) श्री भगवान ने कहा-जो निर्गुण और सगुण के समुच्चय स्वरूप मुझ विश्वरूप परमेश्वर में मन लगाकर सदा युक्तचित्त होकर परम श्रद्धा से मेरी उपासना या स्मरण-ध्यान आदि करते है, वे मेरे मतानुसार (युक्ततमा:)**उत्तम योगी हैं (परा कोटि की श्रद्धा वह होती है जो ईश्वर को सबमें देखती है अर्थात उसकी दृष्टि में व्यक्त और अव्यक्त सब एकतम परमेश्वर ही हैं । पूर्णयुक्तता (युक्ततमता) वह स्थिति है जिसमें योगी** प्रत्येक क्षण में, प्रत्येक कर्म में और अपनी सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ भगवान् से मिलता है) ।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रागमचिन्तयं च कूटस्थमचलं ध्रवम्॥ ॥12/3॥
सत्रियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धय:
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता:॥12/4॥

(3) परन्तु जो सर्वत्रग (सर्वव्यापी-सबके मूल में रहने वाले), अचिन्त्य (जिसको चिन्तन में न लाया जा सके), कूटस्थ (निर्विकार) अचल , ध्रुव अनिर्देश्य (जिसको निर्देशित न किया जा सके), अव्यक्त (अमूर्त्त) अक्षर (अविनाशीस्वरूप) की उपासना करते है । (4) वे भी अपनी समस्त इन्द्रियों को संयत करके, सर्वत्र समबुद्धि होकर, समस्त प्राणियों के हित में संलग्न रहते हुए मुझे ही (अर्थात व्यक्त और अव्यक्त के समुदाय विराट्स्वरूप मुझ पुरषोत्तम को ही) प्राप्त होते है ।

उपासना का अर्थ है- उपास्य वस्तु को शास्त्रोक्त विधि का विषय बनाकर उसके समीप पहुॅचकर तैल धारा के तुल्य समान-वृत्तियों के प्रवाह से दीर्घकाल तक उसमें स्थित रहना ।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा: ।
अनन्येनैव योगेन मॉ ध्यायन्त उपासते ॥12/6॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥12/7॥

(6-7) परन्तु जो मुझ पुरषोत्तम में ही समस्त कर्मो का सन्न्यास कर अर्थात् नियति से प्रात्त कर्मो का कर्तव्य रूप में निर्वहरण कर मुझे अर्पित कर, मत्परायण (पूर्णतया मुझ में अनुरक्त) हो अनन्य भाव से ध्यान करते हुए मुझे भेजते है। हे पार्थ! अपने सम्पूर्ण चित्त को मुझ में निविष्ट करने वाले उन लोगों का मैं इस मृत्युमय संसार-सागर से बिना कोई विलम्ब किए उद्धार कर देता हुॅ। इसमें कोई सन्देह नही।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्व न संशय:॥12/8॥

अत एव केवल मुझ विश्वरूप परमेश्वर में ही मन लगा, मुझमें ही बुद्धि को स्थिर कर, इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा । इसमें कुछ भी संशय नही ।

इन श्लोंकों (6,7 व 8) में भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। इस प्रकार यौगिक कियाओं द्वारा इन्द्रिय-संयम कर, स्थिरबुद्धि होकर ध्यान करने वाले भी पहुंचते है, पर उनका मार्ग कष्टसाध्य और जन-साधारण के लिए अगम्य है । इसके विपरित श्रद्धापूर्वक किसी प्रतीक से साधना प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर विकास द्वारा चित्त स्थिर कर अव्यक्त की और कदम बढाना ज्यादा सुगम है ।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्र: करूण एव च।
निर्ममो निरहड्कार: समदु:खसुख: क्षमी ॥12/13॥

(13) जो किसी भी प्राणी से द्वेष नही करता, भले ही कोई उसे दुख देने वाला भी क्यों न हो। जो सभी प्राणियों से मित्रवत् व्यवहार करता है, जो (दुखियों के प्रति)करूणावन् है, पदार्थो के प्रति मेरा है-इस अधिकार से रहित तथा अहंकार रहित है,जो

सुख-दु:ख आदि द्वन्द्वों में सम भाव रखता है , क्षमाशील है। (किसी के सुख में सुख मानना मैत्री और दु:ख आदि द्वन्द्वों मे सम भाव रखता है, क्षमाशील है। (किसी के सुख में सुख मानना मैत्री और दु:ख में दु:खी होना करूणा होती है) क्षमाशील है ।(किसी के सुख में सुख मानना मैत्री और दु:ख होना करूणा होती है)।

सन्तुस्ष्ट: सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चय:।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्त: स मे प्रिय:॥12/14॥

(14) जो सदा सन्तुष्ट है, योगयुक्त है, अपने आपको वश में रखता है , जिसका निश्चय दृढ है, जिसने अपने मन और बुद्धि को मेरे अर्पण कर दिया है, वही मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च य:।
हर्षामर्षभयोद्वेगैमुक्तो य: स च मे प्रिय:॥12/15 ॥

(15) जिससे न तो लोगों का उद्वेग होता है और न ही जो लोक से उद्विग्न होता है अर्थात लोकसम्पर्क से जिसमें भावात्मक विक्षोभ नही होते । जो हर्ष , अमर्ष (असहिष्णुता) , भय और उद्विग्नता से अलिप्त रहता है , वही मुझे प्रिये है ।

अनपेक्ष: शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथ:।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्त: स मे प्रिय:॥12/16॥

वही मेरा भक्त मुझे प्यारा है, जो निरपेक्ष है, पवित्र है , कार्य में कुशल है तथा उदासीन (तटस्थ) है, जिसे कोई व्यथा (मानसिक पीडा) विचलित नहीं कर सकती , जिसने फल की आशा से प्रयत्न (उद्योग करना छोड दिया है अर्थात् निष्काम भाव से कर्म करता है ।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभशुभपरित्यागी भक्तिमान्य: स मे प्रिय:॥12/17॥

(17) जो साधक अनुकूल स्थिति में न तो हर्षित होता है (प्रसन्न होता है) और न ही (प्रतिकूल स्थिति में) किसी से द्व ेष करता है, न किसी प्रिय वस्तु या व्यक्ति का वियोग होने पर शोक (चिन्ता) करता है और न किसी प्रकार का आकांक्षा रखता है । जिसने शुभ और अशुभ बुद्धि से प्रेरित होकर किए जाने वाले कर्मो का त्याग कर दिया है, अर्थात् कर्त्तव्य रूप में कर्म करता है, वही प्रशास्त भक्ति वाला साधक मुझे प्रिय है।

सम: शत्रो च मित्र च तथा मानापमानयो:।
शीतोष्णसुखदु:खेषु सम: सङ्गविवर्जित:॥12/18॥

(18) जिसके लिए शत्रु और मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण , सुख-दु:ख आदि द्वन्द्व समान है और जिसकी किसी में आसक्ति नहीं है ।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मोनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेत: स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नर:॥12/19॥

जिसके लिए निन्दा और स्तुति एक समान हैं जो मननशील , मितभाषी है, जो प्राप्य-अप्राप्य दोनो ही स्थितियों में सन्तुष्ट रहता है ।अर्थात् जो कुछ मिल जाए उसी से सन्तुष्ट रहता है, जो अनिकेत अर्थात् जिसका कोई अपना धर नहीं है जो स्थिरमति है, वही भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है ।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया:॥12/20॥

(20) जो मत्परायण (मुझे ही परम आश्रय समझने वाले) है तथा श्रद्धापूर्वक उपयुक्त अमृत तुल्य धर्म की उपासना करते हैं अर्थात अपने स्वभाव में धारण करते है, वे मुझे अत्यन्त प्रिय है।

शरणागति का फल

भगवान् कहते हैं- समर्पण भाव से जो कुछ भी यथाशक्ति मुझे दोगे, चाहे वह तुलसी का पत्ता या जल ही हो, उसे प्रसन्नता से ग्रहण करता हूँ। भगवान् भाव का भूखा , न कि सामग्री का ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरूष्व मदर्पणम्॥9/27॥

जो भी कर्म जीवनयात्रा में तुम करते हो , फलाशा त्याग कर उन्हें मुझे अर्पित कर दो। ऐसा करने वाला व्यक्ति अपने

कर्त्तव्य का ठीक से निर्वहन कर रहा होगा और यह सब यदि सजग होकर करेगा तो अशुभ से शनैः-शनैः स्वतः ही मुक्त हो जाएगा; क्योकि कोई भी अपने पूज्य या इष्ट देव को तुच्छ भेंट नही देना चाहता । अपने सामर्थ्य के अनुसार अच्छी से अच्छी भेंट ही देना चाहता है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥9/30॥
क्षिप्रं भवति शश्वच्छान्ति निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥9/31॥

(30-31) कोई बड़ा दुराचारी भी क्यों न हो यदि वह मुझे अनन्यभाव से भजता है (स्मरण एवं ध्यान करता है) तो उसे बडा साधु ही समझना चाहिए; क्योकि उसकी बुद्धि का निश्चय अच्छा हो गया है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और वह स्थायी शान्ति को पाता है । हे कौन्तेय! तू यह निश्चित रूप से जान कि मेरा भक्त कभी नष्ट नही होता ।

तीसवें श्लोक में कहा गया कि यदि कोई बडा दुराचारी व्यक्ति भी अनन्य भाव से मेरा भजन (स्मरण और ध्यान) करने लगे तो समझ लो वह बडा साधु हो गया; क्योकि जिसने अनन्य भाव से स्मरण करना प्रारम्भ कर दिया, वह दुराचारी कैसे रह सकता हो। दुराचार करना तो दूर, दुराचार की बात वह सोच भी नहीं सकता, भले ही पूर्व में दुराचारी रहा हो । अनन्य भाव से तभी स्मरण कर सकेगा, जब उसका चित्त शुद्ध होगा । धीरे-धीरे वह धर्मात्मा अर्थात कर्तव्यों को निष्काम भाव से पूर्ण करने वाला हो जाएगा । कृष्ण ने कहा है कि हे अर्जुन! मेरा स्मरण और ध्यान करने वाला, अपने कर्मफल मुझे अर्पण करने वाला भक्ति अपनाकर भी दुराचरण नही छोडता है तो वह भक्त कहाँ है वह तो फिर ढोंगी है, पापी है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरू।
मामेवैष्यसि युक्तवैवमात्मानं मत्परायणः॥9/34॥

(34) मुझमें मन लगाने वाला हो जो , मेरा भक्त बन, मेरा ही यजन कर, अर्थात मेरी पूजा कर, जो कुछ तुम्हारे पास है उसे मुझे ही अर्पण कर, मुझे नमस्कार कर । इस प्रकार मत्परायण होकर एकमात्र मेरी अभीप्सा करता हुआ और मुझे आत्मसमर्पण करता हुआ ।तू अपने सम्पूर्ण अन्तःकरण को मेरे साथ युक्त करके मुझे ही प्राप्त होगा ।

कहने का अर्थ है राजविद्या अर्थात भक्तियोग पर किसी वर्गविशेष का अधिकार नही, इसे अपनाकर समाज के निम्न वर्ग या पतित पापयोनि जन भी भक्ति के प्रभाव से मुक्ति के अधिकारी हो जाते है ।

जो सांख्य-योग द्वारा मन को स्थिर कर स्थितप्रज्ञ बन समाधि अवस्था प्राप्त करने में असमर्थ है , उनके लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने भक्ति (स्मरण एवं ध्यान) द्वारा चित्त की एकाग्रता और मन को वश में करने का सुगम मार्ग बतलाया है- अनन्य श्रद्धा-युक्त होकर भगवन्नाम-स्मरण एवं अपने सभी कर्मफलों का भगवान् को समपर्ण कर्म तो करना है, कर्मो से पीछा नहीं छूट सकता किन्तु समपर्ण भाव से कर्त्तव्य कर्म का पालन कर कर्मबन्धन से मुक्त होना है ।

योगी के लक्षण

प्रस्तुत अध्याय में योगी के लक्षण बताये गये है-

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥12/14॥

(14) जो सदा सन्तुष्ट है, योगयुक्त है,अपने आपको वश में रखता है , जिसका निश्चय दृढ है, जिसने अपने मन और बुद्धि को मेरे अर्पण कर दिया है , वही मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥12/15॥

(15) जिससे न तो लोगों को उद्वेग होता है और न ही जो लोक से उद्विग्न होता है अर्थात लोकसम्पर्क से जिसमें भावत्मक विक्षोभ नहीं होते । जो हर्ष , अर्मष (असहिष्णुता), भय और उद्विग्नता से अलिप्त रहता है, वही मुझे प्रिय है ।

अनपेक्षः शुचिर्दश उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥12/16॥

वही मेरा भक्त मुझे प्यारा है जो निरपेक्ष है, पवित्र है, कार्य में कुशल है तथा उदासीन (तटस्थ) है, जिसे काई व्यथा (मानसिक पीडा) विचलित नहीं कर सकती, जिसने फल की आशा से प्रयत्न (उद्योग) करना छोड दिया है। अर्थात निष्काम भाव से कर्म करता है ।

यो न हृष्यति न द्वष्टि न शोचति न काङ्क्षति।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥12/17॥

जो साधक अनुकूल स्थिति में न तो हर्षित होता है (प्रसन्न होता है) और न ही (प्रतिकूल स्थिति में) किसी द्वेष करता है ,न किसी प्रिय वस्तु या व्यक्ति का वियोग होने पर शोक (चिन्ता) करता है। और न किसी प्रकार की आकांशा रखता है । जिसने शुभ और अशुभ बुद्धि से प्रेरित होकर किए जाने वाले कर्मो का त्याग कर दिया है , अर्थात कर्त्तव्य रूप में कर्म करता है , वही प्रशस्त भक्ति वाला साधक मुझे प्रिय है ।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥12/18॥

(18) जिसके लिए शत्रु और मित्र, अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुख आदि द्वन्द्व समान है और जिसकी किसी में आसक्ति नही है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।

श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥12/20॥

(20) जो मत्परायण (मुझे ही परम आश्रय समझने वाले)है तथा श्रद्धापूर्वक उपयुक्त अमृत धर्म की उपासना करते है अर्थात् अपने स्वभाव में धारण करते है, वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं ।

स्मरणीय बिन्दु

1. 'समत्वं योग उच्यते' का अर्थ क्या है?
2. स्थितप्रज्ञ किसे कहा गया है?
3. निष्काम कर्म क्यों श्रेष्ठ है?
4. भगवान को प्रिय भक्त के गुण क्या हैं?
5. ध्यानयोग में संयम का क्या महत्व है?

शब्दावली

शब्द	**अर्थ**
समत्व	समान भाव
निष्काम	बिना इच्छा
स्थितप्रज्ञ	स्थिर बुद्धि वाला
इंद्रियनिग्रह	इंद्रियों का नियंत्रण
भक्त	ईश्वर का उपासक
समर्पण	अर्पण करना
योग	आत्मसंयम / मिलन
मोक्ष	मुक्ति
ध्यान	एकाग्र चिंतन
वैराग्य	आसक्ति का अभाव

5 अंक के प्रश्न

1. योग की परिभाषा गीता के अनुसार लिखिए।
2. निष्काम कर्मयोग क्या है?
3. स्थितप्रज्ञ के दो लक्षण लिखिए।
4. ध्यानयोग के लिए आवश्यक अनुशासन क्या हैं?
5. भक्त के प्रमुख गुण क्या हैं?

15 अंक के प्रश्न

1. श्रीमद्भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ के स्वरूप का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. कर्मयोग और भक्तियोग का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।
3. गीता में वर्णित आदर्श भक्त के गुणों का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' का मुख्य संदेश क्या है?

(क) कर्म त्याग
(ख) केवल फल की इच्छा
(ग) कर्म करते रहो, फल की चिंता मत करो
(घ) संन्यास
2. स्थितप्रज्ञ कौन है?
(क) क्रोधी व्यक्ति
(ख) स्थिर बुद्धि वाला
(ग) आलसी व्यक्ति
(घ) लोभी व्यक्ति
3. योग के लिए कौन आवश्यक है?
(क) अधिक भोजन
(ख) अधिक निद्रा
(ग) संयमित जीवन
(घ) क्रोध
4. भक्तियोग का आधार क्या है?
(क) धन
(ख) समर्पण
(ग) युद्ध
(घ) भोग
5. भगवान को प्रिय भक्त कैसा होता है?
(क) अहंकारी
(ख) द्वेषपूर्ण
(ग) समदर्शी
(घ) क्रूर

इकाई- 3.2 दैवासुर सम्पद् तीन प्रकार के (तप, सुख, कर्ता, आहार)

उद्देश्य-

1. विद्यार्थी दैवी और आसुरी गुणों के स्वरूप तथा उनके जीवनगत प्रभाव को समझ सके।
2. शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप के माध्यम से आत्मविकास के मार्ग को जान सके।
3. सात्त्विक, राजसिक और तामसिक कर्ता एवं सुख के भेदों को समझकर श्रेष्ठ जीवन मूल्यों को अपनाने की प्रेरणा प्राप्त करे।

दैवी सम्पद-

जिस प्रकार सूर्योदय होने के पहले उसकी प्रभा फैलने लगती है, उसी प्रकार जीवन में कर्म, भक्ति, और ज्ञान से पूर्ण पुरषोत्तम-योग के उदय होने के पहल सद्गुणों की प्रभा बाहर प्रकट होने लगती है। परिपूर्ण जीवन की इस अगामी प्रभा का वर्णन इस सोलहवें अध्याय में किया गया है। किस अंधकार से झगड़कर यह प्रभा प्रकट होती है, उसका भी वर्णन इसमें किया गया है,

किसी वस्तु को मानने के लिए हम कोई प्रत्यक्ष प्रमाण देखना चाहते हैं। सेवा,भक्ति और ज्ञान हमारे जीवन में आ गये हैं, यह कैसे समझा जाये? खेत पर हम मेहनत करते हैं, तो उसके

फलस्वरूप अनाज की फसल हम तौल-नापकर घर ले आते हैं। इसी तरह हम जो साधना करते हैं, उसमें हमें क्या-क्या अनुभव हुए , कितनी सद्वृतियॉ गहरी पैठीं, कितने सद्गुण हममें आये, जीवन सचमुच सेवामय कितना हुआ- इसकी जॉच करने की ओर यह अ**ध्याय संकेत करता है।**

जीवन की कला कितनी ऊँची चढी, इसे नापने के लिए यह अध्याय है। जीवन की इस वर्धमान कला को गीता **दैवी संपत्ति** का नाम देती है। इसके विरूद्ध **जो वृत्तियॉ हैं, उन्हें आसुरी** कहा है। सोलहवे अ**ध्याय में दैवी और आसुरी संपत्तियों का वर्णन किया गया है।**

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥16/1॥

(1) श्री भगवान् ने कहा- निर्भयता, सत्त्वसंशुद्धि (अन्तःकरण की पूर्ण निर्मलता अर्थात् व्यवहार में दूसरे के साथ ठगाई,कपट और झूठ आदि अवगुणों को छोडकर शुद्ध भाव से आचरण करना),ज्ञान-योगव्यवस्थिति अर्थात ज्ञान और योग मे दृढ स्थिति (शास्त्र और आचार्य से पदार्थों को जानना ज्ञान है और उन जाने हुए पदार्थों का इन्द्रियादि के निग्रह से प्राप्त एकाग्रता द्वारा अपने आत्मा में प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना योग है।

उस ज्ञान और योग दोनों मे स्थिति अर्थात स्थिर होजाना-यही प्रधान सात्विक दैवी सम्पद् है । दान, दम, यज्ञ (देवयज्ञ इत्यादि), स्वाध्याय (वेद-प्रतिपादित सत्यों को समझकर उनको अपने अनुभव मे लाना),तप, आर्जव (सरलता)।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥16/2॥

(2) अहिंसा ,सत्य (अप्रियता से रहित यथार्थ वचन), अ**क्रोध** (दूसरो की ओर से गाली या ताडना आदि मिलने पर उत्पन्न हुए **क्रोध** को शान्त कर लेना), त्याग अहंकार व स्वार्थ का परित्याग), शान्ति, अपैशुन (चुगली न करना), सब भूतों (प्राणियों) पर दया, विषयलालसा न रखना, मार्दव (कोमलता), ह्री (बुरे कामों में लज्जा) अचापल (चञ्चलता का अभाव अर्थात् बिना प्रयोजन वाणी , हाथ, पैर आदि की व्यर्थ क्रियायों का न करना)।

तेजः क्षमा धृतिः शैचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवान्ति सम्पदं दैवीमभि जातस्य भारत॥16/3॥

(3) तेजस्विता, क्षमा, धृति (महान् विपत्ति में भी कर्त्तव्य-निश्चय की क्षमता तथा मन को विषयासक्ति से रोके रखने की क्षमता का नाम धृति है) शौच (बाह्य शुद्धि), अद्रोह(द्रोह न करना अर्थात किसी के साथ विश्वासघात न करना), अतिमानिता (घमण्ड) न करना, हे भारत! ये गुण दैवी सम्पत्ति को अभिलक्ष्य कर जन्म लेने वाले पुरूष के होते है ।

आसुरी सम्पत्ति-

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारूष्यमेव च।
अज्ञानं चाभि जातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥16/4॥

हे पार्थ! दम्भ जैसा है उससे अन्य रूप में स्वयं को प्रकट करना/झूठा दिखावा करना), दर्प (धन,रूप,बल या कुल आदि का गर्व), अतिमान (अपने में ही उत्कृष्टता समझना तथा अपनी वास्तविक योग्यता से अपना अधिक आकलन करना), क्रोध पारूष्य वाणी की कठोरता और अज्ञान-ये दोष आसुरी सम्पत्ति को अभिलक्ष्य कर जन्मे हुए मनुष्य के होते है।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभि जातोऽसि पाण्डव॥16/5॥

(5) इनमें दैवी सम्पत्ति परिणाम में मोक्षदायक और आसुरी बन्धनकारक मानी जाती है। हे पाण्डव! तू दैवी सम्पत्ति को साथ लेकर जन्मा हुआ है, अतः शोक मत कर।

शारीरिक, मानसिक, वाचिक तप

प्रत्येक मनुष्यों की प्रकृति सत्व, राजस् ,तमस् स्वरूप त्रिगुणात्मक होती हैं प्रकृति त्रिगुणात्मक होती हैं। प्रकृति के त्रिगुण ात्मक होने पर किसी एक गुण विशेष की प्रधानता हमारे जीवन में होती रहती है। गीता के 17वें अ**ध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि-श्रद्धमयोऽयं पुरूषो यो यच्छ्रद्ध** स एव सः अर्थात जैसी जिसकी श्र**द्धा कैसी ही उस व्यक्ति का व्यक्तित्व। प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति ओर स्वभावानुसार व्यवहार करता है,**

देवद्विजगुरूप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥17/14॥

(14) देवता, ब्राह्माण, गुरू और विद्वानों की पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा ये सब शरीर से सम्बन्धित अर्थात् कायिक तप है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्
स्वाध्यायभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥17/15॥

(15) दूसरे के मन को उद्विग्न न करने वाले, सत्य प्रिय और हितकारक सम्भाषण को तथा स्वाध्याय के अभ्यास को वाङ्मय या वाचिक तप कहते है ।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥17/16॥

(16) मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन अर्थात् मुनियों के समान वृत्ति रखना (आवश्यकतानुसार ही बोलना), आत्मविनिग्रह (अपने आप को वश में रखना) और भावसंशुद्धि (दूसरों के साथ व्यवहार में छल-कपट रहित होना)इनको मानसिक तप कहा है ।

तीन प्रकार के कर्ता

किसी भी कार्य की सिद्धि उस कार्य को करने वाले कर्ता के स्वभाव पर निर्भर करती है । यदि कर्ता सात्विक,उत्साही लक्ष्य सिद्धि पर **ध्यान केन्द्रित कर कार्य को करने वाला हो तो उसका कार्य की** शीघ्रता से सिद्ध होगी यदि वह आलसी प्रमादी व मुढ बु**द्धि का** होगा तो उसका कार्य अति विलम्ब से सिद्ध होगा, इस प्रकार कर्ता के गुणो का वर्णन गीता के 18वे अ**ध्याय में** किया गया है।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारः कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः॥18/26॥

(26) जो संग (आसक्ति से मुक्त है, जिसमें मैं और मेरा का भाव (अहंकार) नही हैा जो सदा धैर्य और उत्साह से युक्त रहता है, कार्य की सिद्धि हो या न हो-दोनों स्थितियों में जो निर्विकार (हर्ष-विषाद रहित/समत्व युक्त) रहता है , उसे सात्त्विक कर्त्ता कहते हैं ।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः॥18/27॥

(27) विषयासक्त, कर्मफल पाने की इच्छा रखने वाला, लोभी , हिंसात्मक और अपवित्र भाव वाला, सिद्धि में शोक से पागल हो जाने वाला कर्त्ता राजस कहलाता है ।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते॥18/28॥

(28) अयुक्त अर्थात् असावधान-अस्थिर-धर्य और उत्साह से रहित (चञ्चल बुद्धि वाला)शिक्षा से रहित (प्राकृत), स्तब्ध-ऐंठ, अकड वाला (अनम्र), शठ-धूर्त्त नैष्कृतिक प्रतिशोध लेने की भावना रखने वाला, आलसी अप्रसन्नचित्त (विषादी), दीर्घसूत्री अर्थात् देरी करने वाला (अल्पकाल साध्य कार्य में बहुत विलम्ब करने वाला) कर्त्ता तामस कहलाता है ।

त्रिविध सुख-

निद्रा , आलस्य और प्रमाद। जहॉ क्रियाशीलता रजोगुण का धर्म है वहॉ आलस्य तमोगुण का धर्म है। तामसी पुरूष की कर्म को टालने की प्रवृति होती है और इस प्रकार आलस्य में ही वह अपने समय को व्यतीत कर देता है। यही उसका सुख है। प्रमाद -यह सत्त्वगुण के लक्षण सजगता और विवेक के सर्वथा विपरीत लक्षण है। प्रमादशील मनुष्य अपने हृदय के उच्च गुणों के आह्वान की अवहेलना और उपेक्षा करके निम्नस्तर के भागों में रमा रहता है।

सच्चा सुख आत्मनिष्ठ होता है, वह भौतिक पदार्थो के इन्द्रिय-सम्बन्धों से प्राप्त नहीं हो सकता वास्तविक (सात्विक) सुख अतीन्द्रिय होता है जिसे बुद्धि द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है बुद्धि ही एक ऐसा तत्व है जो प्रकृति के त्रिगुणात्मक व्यवहार का भी अनुभव करती है और आत्मस्वरूप परब्रह्म का बोध भी उस से होता है ।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥18/37॥

(37) जो ज्ञान, वैराग्य घ्यान-साधना का सुख कष्टसाध्य,अनभ्यस्त और अननुभूत होने से प्रारम्भ में विष तुल्य प्रतीत होता है, परन्तु धीरे-धीरे अभ्यास बढने पर परिणाम (परिपाक) की दशा में अमृत तुल्य बन जाता है। अन्तर्मुखी बनी हुई आत्मविषयिणी बुद्धि की निर्मलता से मिलने वाला वह सुख सात्विक होता है ।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥18/38॥

विषयों और इन्द्रियों के संयोग से जो सुख प्राप्त होता है, जो आरम्भ में अमृत के समान प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम में रोगादि जनक होने से विषतुल्स कष्टदायक हो जाता है, ऐसा वह (आधि**भौतिक) सुख राजस कहा जाता है। बल,वीर्य, बुद्धि, धन, उत्साह और परिलोक का नाशक होने से विषय और इन्द्रियों के संयोग से होने वाले इस सुख को परिणाम में विष तुल्य कहा गया है।**

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम॥18/39॥

(39) और जो आरम्भ में (भोगकाल में) भी तथा अनुबन्ध में भी अर्थात् अन्त में (परिणाम में) भी, आत्मा को मोह में फॅसाने वाला होता है और निद्रा, आलस्य, प्रमाद (कर्त्तव्य-विस्मृति) से उत्पन्न होता है, उसे तामस सुख कहा जाता है।

स्मरणीय बिन्दु

1. दैवी संपदा के मुख्य गुण कौन-कौन से हैं?
2. आसुरी संपदा मनुष्य को किस दिशा में ले जाती है?
3. त्रिविध तप के प्रकार कौन से हैं?
4. सात्त्विक कर्ता किसे कहा गया है?
5. सात्त्विक और तामसिक सुख में क्या अंतर है?

शब्दावली

शब्द	**अर्थ**
दैवी	देवतुल्य गुणयुक्त
आसुरी	दुष्प्रवृत्तियुक्त
तप	आत्मसंयम
शौच	शुद्धता
स्वाध्याय	शास्त्र अध्ययन

अहिंसा	हिंसा का अभाव
कर्ता	कर्म करने वाला
सात्त्विक	शुद्ध गुणयुक्त
राजसिक	रागयुक्त
तामसिक	अज्ञानयुक्त

5 अंक के प्रश्न

1. दैवी संपदा से क्या अभिप्राय है?
2. आसुरी संपदा के प्रमुख दोष लिखिए।
3. वाचिक तप क्या है?
4. सात्त्विक कर्ता की विशेषताएँ लिखिए।
5. सात्त्विक सुख क्या है?

15 अंक के प्रश्न

1. दैवी और आसुरी संपदा का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।
2. गीता में वर्णित त्रिविध तप का विस्तार से वर्णन कीजिए।
3. त्रिविध कर्ता एवं त्रिविध सुख का विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. निम्न में से कौन दैवी गुण है?

(क) क्रोध

(ख) दंभ

(ग) अहिंसा

(घ) अभिमान

2.'अनुद्वेगकरं वाक्यं' किससे संबंधित है?

(क) मानसिक तप

(ख) वाचिक तप

(ग) शारीरिक तप

(घ) राजसिक तप

3. तामसिक कर्ता कौन है?

(क) उत्साही

(ख) समभावयुक्त

(ग) आलसी

(घ) संयमी

4. सात्त्विक सुख कैसा होता है?

(क) प्रारंभ में सुख, अंत में दुःख

(ख) प्रारंभ में कठिन, अंत में आनंद

(ग) केवल भोगप्रधान

(घ) आलस्यपूर्ण

5. आसुरी संपदा का परिणाम क्या है?

(क) मोक्ष

(ख) शांति

(ग) बंधन

(घ) ज्ञान

इकाई- 3.3 ईशोपनिषद् के मन्त्रों की व्याख्या

उद्देश्य-

1. ईशोपनिषद् के प्रमुख मंत्रों के माध्यम से ईश्वर, आत्मा, जगत और कर्म के वास्तविक स्वरूप को समझना।
2. निष्काम कर्म, त्याग, समत्वभाव तथा विद्या-अविद्या के संतुलन का ज्ञान प्राप्त करना।
3. आत्मिक उन्नति, नैतिक जीवन और मोक्षमार्ग के लिए उपनिषद् के सिद्धांतों को व्यवहार में लाना।

उपनिषद- उप-समीप , नि-निश्चय पूर्वक, सद्-बैठना। गुरू/आप्त पुरूषों के समीप निश्चय पूर्वक बैठकर ब्रह्मज्ञान, रहस्यज्ञान को प्राप्त करना ही उपनिषद् है।

ॐ ईशावास्यमिंद सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन व्यकतेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विध्दनम्॥

ॐ यह परमेश्वर का निज नाम है प्रत्येक शुभकार्य के प्रारम्भ में इस नाम को ही मंगलाचरण के रूप में स्मरण किया जाता है।

'ओ३म्' यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है क्योकि इसमें अ, उ और म् तीन अक्षर मिलकर एक (ओ३म्) समुदाय हुआ है।

इस एक नाम मे ही परमेश्वर के सभी नाम आते है । जैसे -अकार से विराट्, अग्नि और विश्वादि, उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तेजसादि

अकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है।

इस संसार में जो कुछ भी जंगम -स्थावर पदार्थ समूह है, वह सब इसके स्वामी ईश्वर द्वारा व्याप्त किया हुआ है वह ईश प्रत्येक गतिमान कण में एक-एक अणु में बसा हुआ है। यह सृष्टि उसी का है हमारा कुछ भी नही है।

अतः उससे प्राप्त पदार्थो का त्याग पूर्वक, मर्यादापूर्वक निर्लेप, निःसंग ,भाव से उपभोग करो
जब सब कुछ ईश्वर का ही है हमारा कुछ है ही नही तो मेरापन की भावना कैसी यह संसार रूपी धन किसका है ? किसी का भी नहीं अतः दूसरे के धन की आकांक्षा मत करो ।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

ॐ ईशावास्यमिदँ सर्व अर्थात् इस संसार में जो कुछ भी जंगम-स्थावर पदार्थ समूह है वह सब उस परमपिता परमेश्वर का ही है हमारा कुछ भी नही। इसका यह अभिप्राय नहीं कि हम कर्म ही करना छोड़ दें। कर्म तो करें पर इस संसार में कर्तव्य कर्मो को निष्काम भाव से करते हुए सौ वर्षो तक जीने की इच्छा करें । ऐसा करने से मनुष्य में कर्म लिप्त नही होते अर्थात् अनासक्ति के कारण कर्मो के संस्कार नही बनते, अतः मनुष्य कर्म करता हुआ भी निर्लिप्त रहता है, कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है। यहॉ 'न' शब्द 'न' व 'र' से बना है इसका अर्थ न रमण करने वाला अर्थात नर वही है जो रमा न रहे निष्काम रहे अरमण रहे। इसके अलावा कोई अन्य मार्ग नही है । **भोगा न भुक्ता वयमेव भोगः** अर्थात् बिना नियम के अमर्यादित जीवन जीना ।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तॉस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना॥3॥

कर्म सिद्धांन्तानुसार दो प्रकार के कर्म होते है प्रथम आत्मा के विकास (जीवन) का मार्ग जिसमें चलनें से आत्मा में प्रकाश का उत्साह का, आत्मस्फूरण का संचार होता है मर्यादित जीवन, वेदोक्त कर्म, धर्माचरण , यम-नियम का पालन ही आत्म विकास का मार्ग है ।

इसके विपरित दूसरा आत्मा के ह्रास (हनन) का मार्ग , जिसमें चलनें से आत्मा में अन्धकार , निरूत्साह का आत्म हीनता का संचार होता है । पञ्च महाव्रत-सत्य, अहिंसा ,अस्तेय, अपरिग्रह ब्रहाचर्य का पालन न करना , व ऐसे कर्म करना जिसमे भय, शंका लज्जा क्रोध हो ।

जो लोग आत्म-अनुकूल आचरण नही करते वे भयॅकर गहरे अंधकार-तमस से आच्छादित (ढके हुए) असुर लोक में चले जाते है।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरि श्वा दधाति॥4॥

वह परमपिता परमेश्वर कहने को तो वह हिलता तक नहीं गति न करते हुए भी मन से भी अधिक वेगवान है, इन्द्रियॉ

उसे प्राप्त नही कर सकती (क्योंकि इन्द्रियॉ एक जैसी है) वह ईश इन्द्रियों से भी पूर्व विद्यमान है (क्योकि वह सर्वदेशी है) वह ठहरा हुआ ही अन्य दौड़ते हुए को पीछे छोड़ देती है, उसी के कारण वायु स्वयं हल्की है, अपने से भारी जल को बादल के रूप में धारण किए /रहती है समय-समय पर सृष्टि को सिंचित करती रहती है।

तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥5॥

वह परमपिता परमेश्वर एक देशी नहीं सर्वदेशी है वह सर्वत्र व्याप्त है अविद्वानो का मत है कि ईश्वर चलता है गति करता है, वही विद्वानों का मत है कि ईश्वर गतिरहित है नही चलता है। जो उसके अस्तिव को मानता है ईश्वर उसके अति निकट है तथा जो नास्तिक है ईश्वर उससे अति दूर है । वह ईश्वर सबके अन्दर (भीतर) विद्यमान है, सबकी आत्मा में है । व साथ ही भौतिक जगत में प्रत्येक वस्तु में जड़ -चेतन मे विद्यमान है ।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मनं ततो न विजुगुत्सते॥6॥

'वीक्षण' अर्थात् साधारण देखनें से इस संसार में विविधता 'अनेकता' दिखती है परन्तु 'अनु-वीक्षण' से अर्थात् एक-एक वस्तु के भीतर जाकर देखनें से तो अनेकता में छिपी एकता दीख पड़ती है। (इस प्रकार से जो अनुवीक्षक सभी भूतों-चैतन्य प्राणियों को समता के भाव से, एकत्व भाव से देखता है किसी को अलग नही समझता अपनें से) इस प्रकार से जो अनुवीक्षक सभी भूतों-चेतन प्राणी को आत्मा में ही देखता है और आत्मा को सब भूतों में देखता है वह इस अनुवीक्षण के कारण किसी से ईर्ष्या, द्वेष, धृणा नही करता है क्योकि वह सभी को समत्व भाव से एकत्व भाव से, एक ही समान दृष्टि से अपनत्व भाव से देखता है किसी को अपनें से अलग नही समझता ।

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥7॥

जिस अनुवीक्षक (जानने वाले) के ज्ञान में सब भूत आत्मवत् हो गये इसलिये आत्मवत् हो गये क्योंकि ईश कण-कण में व्याप्त है प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थो में ईश्वर का वास है । तब भूतों के अनेकत्व में आत्मा का एकत्व करनें वाले के लिए मोह कैसा व शोक कैसा ?

इस भवसागर रूपी संसार में मनुष्य दो ही चीजों में फॅसता है, विषय-सुख मिलता रहता है तो इसके मोह में फॅसा रहता है और विषय सुख छूट जानें से शोकावस्था में सिर धुननें लगता है। यदि संसार में न फॅसें, आत्म-भाव में बना रहे निर्लेप निःसंग, आसक्ति रहित रहें, निष्काम रहते हुए कर्म करे तब नहीं फॅसता व मोह-शोक से बच जाता है।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमश्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् कविर्मनीषी।
परिभूः स्वयं भूर्याथातथ्योऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥8॥

वह सब जगह गया हुआ है। वह शुध्दता की चरम-सीमा है ,वह शुक्र है, तेजस्वी है वह कायारहित है (घावरहित)व्रणरहित, तथा नस-नाडी रहित है छिद्रमुक्त है । पाप से बिंधा हुआ नही है। भौतिक दृष्टि से पाप रहित कहते है वह सर्वज्ञ क्रॉतदर्शी उपदेशक कवि है। वह मनन करनें वाला, मानसिक संसार का स्वामी अंतर्यामी है । वह 'परिभू' है सव जगह मौजूद है परन्तु साथ ही वह स्वयं-भू है अजन्मा , अनादि है जो स्वयं सत्ता वाला है। उसे कोई पैदा नहीं कर सकता है । शाश्वत काल से जो यह सृष्टि चल रही है , निरन्तर सृष्टि का प्रवाह चलता चला जा रहा है, प्रत्येक समय जो कुछ होना चहिए यह सारा प्रबन्ध , वही कर रहा है ।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते,
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥9॥

जो अविद्या अर्थात अपराविद्या, भौतिक मिथ्या ज्ञान युक्त विद्या की उपासना करते है। जो अशुचि को शुचि, अनित्य को नित्य , दुःखमय को सुखमय देखता है, इन्ही की ही उपासना करता है वह गहरे अंधकार में प्रवेश करता है । और जो केवल विद्या की उपासना करता है वह गहरे अंधकार में प्रवेश करता है और जो केवल विद्या अर्थात पराविद्या, अ**ध्यात्म ज्ञान में ही लगा रहता है। रत रहता है भौतिक जगत की परवाह नहीं करता वह उससे भी अधिक गहरे अंधकार में जा पहॅुचता है। अविद्या, अस्मिता, राग , द्वेष , अभिनिवेश पञ्च क्लेश है । सा विद्या या विमुक्तये सा विद्या या बन्धनाय** अर्थात् सम्यक ज्ञान , मर्यादित जीवन ही मुक्ति का कारण है व मिथ्याज्ञान ही दुःखो का बन्धन का कारण है। **एकः शब्दः सम्यक ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुक भवति ॥**

अर्थात् एक शब्द भी यदि जान गए तो उसे जीवन में उतारनें से व्यक्ति स्वर्ग लोक में जाता है। अपने व्यवहारों ,संस्कारों, आदतों को ठीक करना ही विद्या है ।

अन्य देवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥10॥

विद्या अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान से अन्य ही कुछ फल होता है और अविद्या अर्थात् भौतिक ज्ञान से अन्य ही फल प्राप्त होता है। धीर लोग, मनस्वी ऋषियों, विशेषज्ञों विद्या और अविद्या की जो व्याख्या की उससे हम ऐसा ही सुनते आये है। ॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयंसह।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥11॥

विद्यां (यथार्थ ज्ञान) एवं अविद्या (कर्म या पुरुषार्थ) इन दोनों को जो एक साथ जानता है वह अविद्या अर्थात् भौतिक-विज्ञान से मृत्यु लाने वाले प्रवाहों को तर जाते है और विद्या अर्थात अ**ध्यात्म-ज्ञान से 'अमृत' को चखते है (मोक्ष) को प्राप्त होते है।**

अन्धतमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः॥12॥

जो असम्भूति अर्थात् व्यक्तिवाद कारण जगत असंगठन, असम्भव कारण प्रकृति , विनाशशील अनुत्पन्न, अजन्मा, सत्व, रजस् तमोगुण मय प्रकृति रूप जड़ वस्तु ,अनादि , नीचता आदि की उपासना करते है, महत्व देते हैं । जो लोग सिर्फ पञ्चभूतों की उपासना करते है अपने स्वार्थ के लिए सभी भागों की उपासना करते है सिर्फ व्यक्तिवाद को ही मानते है। वे गहन अंधकार में प्रवेश करते हैं और जो संभूति अर्थात् समष्टिवाद , कार्यजगत में ही रत रहते है वे उससे भी गहन अंधकार में प्रवेश करते है।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरें ॥13॥

संभव अर्थात् समष्टिवाद, कार्यजगत का कुछ और फल है , अंभव अर्थात व्यक्ति को समाज में मुख्य मानकर 'व्यक्तिवाद' से चलने का, परार्थ की भावना रखते हुए स्वार्थ रूपी कार्य करनें का कुछ और ही फल है । धीर , बुद्धिमान लोगों ने इन दोनों की जो व्याख्या की है उससे ऐसा ही सुनते आये है।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयंसह।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥14॥

जो 'संभूति' अर्थात् समष्टि-वाद (कार्यजगत्) तथा असंभूति अर्थात व्यक्तिवाद (कारणजगत) इन दोनों को एक साथ जानते हैं, वे अंसभूति से मृत्यु के प्रवाह को तो तैर लेते है।

''अमृतस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेन'' अर्थात् भौतिक जगत से वित्त मिल सकता है अमृत नहीं मिल सकता । क्योंकि व्यक्तिवाद से मनुष्य केवल मृत्यु से बच जाता है , खाना-पीना-पहनना-ओढना, मात्र कर लेता है, इससे आगे नही बढ़ सकता है। अमरता प्राप्त करनें के लिए इससे आगे बढना होगा, समष्टि में अपने लिये नहीं , परन्तु अपनें को समाज के लिए साधन बनाना होगा ।

आजकल के युग में भौतिक विज्ञान को ही विद्या कहा जाता है जबकि आ**ध्यात्मिक जगत में भौतिक-विज्ञान अर्थात् अविद्या से केवल मृत्यु को तर सकते है, अमृत नहीं प्राप्त कर सकते है ।**

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्

तत्वं पूषन्नपावृण सत्याधर्माय दृष्टये ॥14॥

सुवर्ण (अच्छे रंग) से बने हुए ,चमक-दमक युक्त आकर्षक (इस संसार में) मोहमाया रूपी, चकाचौध विषयों सें युक्त पात्र के द्वारा अध्यात्मरूपी वैदिकरूपी ,ज्ञान रूपी जो सत्य का मुख है वह ढकॉ हुआ है। उसको तुम हे पुष्टिकर्ता सबके पोषणकर्ता ,पालनकर्ता हटा दो जिससे मैं सत्य धर्म का वास्तविकता का यथार्थ ज्ञान का दर्शन कर सकुॅ जान सकूॅ।

''अयं लोको जालयासीच्छक्रस्य महतो महान''

इस मोहमाया रूप संसार जाल को काटकर जो मनुष्य निकल जाता हैं वह महान हो जाता है ।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि

योऽसावसौ पुरूषः सोऽहमस्मि॥16॥

भक्त सूर्यरूपी ईश्वर से प्रार्थना कर रहा है कि हे सबका भरणपोषण करने वाले ईश्वर है पुष्टिप्रदाता भगवान सब ऋषियों के ऋषि महर्षि अर्थात् सब वेदों के ज्ञाता विज्ञाता। यम हे सबका नियॅत्रण करने वाले न्यायकर्ता नियमन कर्त्ता ,प्रबन्धक , प्रचण्ड प्रकाशमान । - 'सूर्य' हे भक्तों , ज्ञानियों, सुरियों के परमलक्ष्य रूप ,प्रकाशक, सबमे जीवनी शक्ति का संचार करने वाले , सबको प्रेरणा देने वाले । -प्राजापत्य हे सम्पूर्ण भूमण्डल रूप प्रजाओं के स्वामिन हे प्रज्ञाओं के पालक अधिष्ठाता , रक्षा करने वाले विधाता , आप कृपा करके- 'रश्मीन समूह' रश्मी समुच्चय को, किरणो के समूह को इकट्ठा कर लीजिए, चकाचौंध को दूर कर दीजिए ।

– 'व्यूह' हमसे दूर कर दीजिए अथवा समेट लीजिए, हटा दीजिए , एकत्र कर लीजिए ।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर॥१७॥

यह जो प्राण–वायु शरीर में रहता है , तथा मृत्यु के समय विश्व के अनिल अर्थात् विश्व के प्राण में लीन हो जाता है ।

''नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनंदहति पावकः न चैन क्लेदयन्तापों न शोषयति मारूतः ॥''

अर्थात्– यह जो प्राण है वह अदनशील, आद्रतायुक्त व नित्य अजर अमर अविनाशी है परंन्तु यह शरीर भस्मी भूत है भष्म,नष्ट होने वाला है अतः हे कर्मशील मानव तू ॐकार का स्मरण कर । ॐकार–अकार, उकार व मकार से निर्मित ईश्वर का निज नाम है । हे कर्मशील मानव तू आधारशीला, निर्माणशीला व परिणामशीला को **ध्यान में रखते हुए भविष्य में जो कर्म करता है व भूत में जो कर्म कर चुका है इनके परिणामों को स्मरण रखते हुए वर्तमान में कर्मरत होगा ।**

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां तेनम उक्तिं विधेम॥१८॥

हे दिव्यस्वरूप, स्वप्रकाश, स्वरूप, करूणामय जगदीश्वर तू सर्वज्ञ है तू हमसे कुटिलता और पापाचरण को दूर कर वह हमें विज्ञान, धन व धन से प्राप्त होनें वाले सुख की प्राप्ति के लिए धर्म–पथ से, सब श्रेष्ठ ज्ञान एवं श्रेष्ठ बुद्धि को प्राप्त ऐसे पथ पर ले चलो जहॉ अभ्युदय व निःश्रेयस हो। जिससे हम तेरे लिए बहुत अधिक सत्कार पूर्वक प्रशंसा करते हैं।

'अग्नि शब्द' उत्साह न्यायकारिता ,न्याय अदम्य साहस सारी मलिनता अशुचिता कितना भी दोष हो वो सब को अग्नि पिघला कर शुचि पवित्र –निर्मल नवीनतम स्वरूप प्रदान करती है ।

स्मरणीय बिन्दु

1. 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' मंत्र का जीवन में क्या महत्व है?
2. ईशोपनिषद् में कर्म और ज्ञान का समन्वय कैसे किया गया है?
3. आत्मदृष्टि से समत्वभाव कैसे उत्पन्न होता है?
4. ईशोपनिषद् में संसार को मोहजाल क्यों कहा गया है?
5. मृत्यु और अमरत्व के संबंध में ईशोपनिषद् का क्या दृष्टिकोण है?

शब्दावली

शब्द	**अर्थ**
उपनिषद्	ब्रह्मज्ञान
ईश	परमेश्वर
त्यक्तेन	त्यागपूर्वक
भुञ्जीथा	उपभोग करो
अविद्या	अज्ञान / भौतिक ज्ञान
विद्या	आत्मज्ञान
आत्मा	चेतन तत्व
मोक्ष	मुक्ति
संभूति	सृष्टि / समष्टि
निष्काम	बिना फल की इच्छा के

5 अंक के प्रश्न

1. 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' मंत्र का भावार्थ लिखिए।
2. निष्काम कर्म का सिद्धांत ईशोपनिषद् में कैसे प्रतिपादित हुआ है?
3. विद्या और अविद्या का अंतर स्पष्ट कीजिए।
4. ईश्वर की सर्वव्यापकता का वर्णन ईशोपनिषद् के अनुसार कीजिए।
5. मोह और शोक से मुक्ति का उपाय ईशोपनिषद् में क्या बताया गया है?

15 अंक के प्रश्न

1. ईशोपनिषद् के प्रथम मंत्र की विस्तृत व्याख्या करते हुए त्याग और भोग के समन्वय को स्पष्ट कीजिए।
2. ईशोपनिषद् में वर्णित विद्या-अविद्या, संभूति-असंभूति के सिद्धांतों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
3. ईशोपनिषद् के अनुसार आत्मा, परमात्मा और जगत के संबंध की विवेचना कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' का अर्थ हैख्र
(क) सब कुछ मनुष्य का है
(ख) सब कुछ ईश्वर से व्याप्त है
(ग) संसार मिथ्या है
(घ) केवल आत्मा सत्य है
2. 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' का संदेश है-
(क) संग्रह करो
(ख) त्यागपूर्वक उपभोग करो
(ग) कर्म छोड़ दो
(घ) केवल भोग करो
3. ईशोपनिषद् के अनुसार अविद्या का परिणाम है-
(क) मोक्ष
(ख) अमरत्व
(ग) अंधकार
(घ) समत्व
4. विद्या का संबंध है-
(क) भौतिक सुख
(ख) आत्मज्ञान
(ग) इंद्रिय भोग
(घ) धन संचय
5. ईशोपनिषद् का मुख्य लक्ष्य है-
(क) राज्य प्राप्ति
(ख) धन संचय
(ग) आत्मज्ञान और मोक्ष
(घ) कर्मत्याग

इकाई- 3.4 केनोपनिषद् एवं कठोपनिषद् के चयनित मन्त्रों की व्याख्या

उद्देश्य-

1. विद्यार्थियों को केनोपनिषद् में वर्णित ब्रह्म के स्वरूप, इन्द्रियों के नियंता तथा आत्मज्ञान की अवधारणा का ज्ञान कराना।
2. कठोपनिषद् के माध्यम से नचिकेता-यम संवाद द्वारा आत्मा, मृत्यु, श्रेय-प्रेय तथा मोक्ष के सिद्धांत को समझाना।
3. वैदिक उपनिषदों के नैतिक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक संदेशों को जीवन में धारण करने की प्रेरणा देना।

केनोपनिषद्:-

ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन-

यह सामवेद की शाखा है, केनोपनिषद-केन आचार्य द्वारा रचित है। केनोपनिषद के द्वारा ब्रह्म **के गुण -कर्म स्वभाव का वर्णन निम्नलिखित मंत्रों द्वारा किया जा रहा है-**

ॐ केनेषिंत पतति प्रेषितं मनःकेन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥1॥
(प्रथम खण्ड)

किसकी प्रेरणा से मन मानों विषय पर टूट पड़ता है ? किसके द्वारा नियुक्त किया हुआ प्राण जन्म ही पहले गति करने लगता है किसकी प्रेरणा से इस वाणी को हम बोलते हैं ?चक्षु और श्रोत्र का कौन देव अपने-अपने विषयों में नियुक्त करता है।

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥2॥

हे ज्ञिज्ञासु ! श्रोत्र का वही श्रोत्र है , मन का वही मन है वाणी की वही वाणी है, प्राण का वही प्राण है ,चक्षु का वही चक्षु हैं। यह जानकर धीर लोग इन्द्रियों के विषयों का संग छोड देते है। और मृत्यु के अनन्तर इस लोक से अमृत हो जाते है॥2॥ **न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विहो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये न नस्तद्व्याचचक्षिरे॥ 3॥**

वहॉ ना आंख पहुंचती, ना वाणी पहुॅचती है, न मन पहुॅचता है । उसका शिष्यों के प्रति उपदेश कैसे दिया जाए यह भी हम नहीं जानते, वह विदित से भी अन्य है अविदित से भी अन्य हैं विदित से भी अन्य है विदित वह है जिसे हम जानते हैं इसलिये वह विदित से अन्य है अविदित वह है जिसे हम नहीं जानते वह है जिसे हम नहीं जानते उसे हम बिल्कुल नहीं जानते ऐसा भी नहीं है इस विशाल संसार मे उसका आभास तो नास्तिक से नास्तिक को भी हो जाता है इसलिए वह अविदित से भी अन्य है । हमसे पूर्व जिन ऋषियों ने उसकी व्याख्या की है उनसे हम ऐसा ही सुनते चले आए है ।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥4॥

वाणी जिसे प्रकट नहीं कर सकती, जिससे वाणी प्रकट होती है, उसी को तू 'ब्रह्म' ज्ञान, जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह नहीं॥4॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मातम्।
तदेव बह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥5॥

जो मन से मनन नहीं करता है परंतु जिसके द्वारा मन मनन करता है उसी को तु 'ब्रह्म' जान, जिसकी लोग उपासना करते हैं वह नहीं ॥5॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥7॥

जो चक्षु से नहीं देखता, जिसके द्वारा चक्षु देखती है , उसी को तु 'ब्रह्म' ज्ञान जिसकी लोग उपासना करते हैं वह नहीं ॥6॥

यच्छ्रोत्रेण न श्रृणोति येन श्रोत्रमिंद श्रुतम्।
तदेव ब्रह त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥7॥

जो श्रोत्र से नहीं सुनता, जिसके द्वारा श्रोत्र सुनते हैं उसी को तू ब्रह्म जान जिसकी लोग उपासना करते हैं वह नहीं ॥7॥

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥8॥

जो प्राण वायु से सांस नहीं लेता , जिससे प्राण में प्रणीत हो रहा है उसी को तू ब्रह्म जान जिसकी लोग उपासना करते हैं वह नहीं ।

कठोपनिषद् (प्रथमवल्ली)

<u>नचिकेता एवं यमाचार्य (मृत्यु का संवाद)</u>

वाजश्रवस नामक **ऋषि** को मुक्ति की कामना हुई, उन्होंने अपना संपूर्ण धन-धान्य दान कर दिया । उनका नचिकेता नामक एक पुत्र था । पिता के सबकुछ दान में देते देखकर उसने अपने पिता से कहा- तात्! मुझे किनको दोगे ? पिता चुप रह फिर उसने फिर दूसरी बार पूछा तीसरी बार पूछा पिता ने उत्तर दिया तुझे मृत्यु को दूंगा नचिकेता सोचने लगा मैं अपने साथियों में से बहुतों में प्रथम रहता हूं बहुतों में मध्य रहता हूँ बिल्कुल निकम्मा तो नहीं हूं । फिर मृत्यु को आज मुझसे क्या करना है।

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः॥6॥

मरने से जो भया उत्पन्न हुआ उसका वह स्वयं समाधान करता है - ''जो तुझसे पहले ही हो चुके हैं उन्हें देख, जो तेरे पीछे होंगें उन्हें देख वह यह मृत्यु - मरने वाला मनुष्य अन्न की तरह पैदा होता है पकता है नष्ट हो जाता है, और फिर उत्पन्न हो जाता है''।।6।।

आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सूनृतां, चेष्टापूर्ते पुत्रपशूश्च सर्वान्।
एतद् वृ.डक्ते पुरूषस्याल्पमेधसो, यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे॥8॥

जिस छोटी बुद्धि वाले मनुष्य के घर में ब्राह्मण बिना भोजन के रहता है वह उसका सब कुछ हर लेता है। जो बातें निश्चित है उनके पाने की मनुष्य को आशा होती है जो अनिश्चित है उनकी प्रतीक्षा होती है । ऐसे व्यक्ति के आशा प्रतीक्षा दोनों फल नष्ट हो जाते हैं साधु पुरुषों की संगति और मीठी वाणी का फल भी नष्ट हो जाता है । ईष्ट अर्थात् उसने किए हैं, और आपूर्त अर्थात् जो कुंए बावली धर्मशाला आदि उसने बनवाए हैं इन सब का फल हरा जाता है पुत्र और पशु जो कुछ उसका है सब बेकार हो जाता है1।।8।।

तिस्त्रो रात्रीर्यदवात्सीगृहे मेऽनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु,तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीश्व॥९॥

यामाचार्य अब आए तो उन्होंने कहा है नमस्कार के योग्य ब्राह्मण हे अतिथि , तीन रात तक बिना भोजन के तूने मेरे घर में वास किया है तुझे मेरा नमस्कार हो । तुम्हारी पूछताछ की गई थी पर फिर भी तुमने स्वयं मेरी प्रतीक्षा में भोजन नहीं किया । तो भी मैं पाप का भाग न होऊ इसलिए भोजन न करने के बदले मुझसे तीन बार मांग लो ।।9।।

(प्रथम वर)

नचिकेता का प्रथम वर-पिता शान्त हो

शान्तसंकल्प सुमनः यथा स्याद्वीतमन्युगौतमो माभि मृत्त्योः।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत, एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे।।10।।

नचिकेता ने पहली पहली बार मांगा है -हे मृत्यु मेरे ! मेरे पिता गौतम शांत संकल्प हो, प्रसन्न मन हो, क्रोध रहित हो , और जब मैं आपके पास सें अपने पिता के पास लौट तो मुझसे प्रसन्न होकर बोले । तीनों वरों मे से पहला वर तो मैं यह मॉगता हूँ ।।10।।

यमाचार्यः

यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत औद्दालकिरारूणिर्मत्सृष्टः।
सुखॅ रात्रीः शयिता वीतमन्युस्तवां ददृश्विान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्।।११।।

यमाचार्य ने वर देते हुए कहा- तेरे पिता और उद्दाल्क वा अरुण का पुत्र गौतम मृत्यु के मुख से तुझे छुटा हुआ देखकर जैसे पहले तुझसे प्रसन्न था वैसे ही प्रसन्न होगा । तुझे मृत्यु के मुख से छुटा हुआ देख कर क्रोधरहित होकर सुख की नींद सोएगा ।।11।।

स्वर्ग साधक अग्नि क्या है? (द्वितीय वर)

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो, प्रब्रूहि त्वं श्रद्दधानाया मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण।।13।।

हे यमाचार्य! आप उसे स्वर्ग प्राप्त कराने वाली अग्नि को जानते हैं। हे मृत्यु मैं **श्रद्धापूर्वक पूछता हूं, आप मुझे उसका उपदेश दें । जो स्वर्गलोक में जाते हैं उन्हें अमृततत्व- अमृत प्राप्त होती है इसलिए स्वर्ग साधक का आप उपदेश दीजिए । द्वितीय वर सें मैं यही मांगता हूँ ।।१३।।**

त्रिणाचिकेता अग्नि

यमाचार्य

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम्।।१४।।

यामाचार्य बोले- हे नचिकेत! मैं उस स्वर्ग साधक अग्नि को जानता हूं मैं कहूंगा तू समझ उसके द्वारा अनंत-लोकों की प्राप्ति होती है उन लोकों को यह वह आधार है । परंतु हां यह समझ ले कि वह है अग्नि गुहा में निहित है- उसका जानना समझना एक रहस्य को समझने के समान है ।।14।।

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यु।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमॉ शान्तिमत्यन्तमेति।।17।।

जो 'त्रि-नचिकेत' होगा, अर्थात् नचिकेत-अग्नि को ब्रह्मचर्य, ग्रृहस्थ, वानप्रस्थ-इन तीन आश्रमों में उपासना करेगा, वह तीनों संधियों में से गुजर कर, तीनों कर्मों को करके, जन्म और मृत्यु को तर जाएगा । यह तीन 'संन्धि' तथा तीन कर्म क्या है? जब ब्रह्मचारी ग्रहस्थ में प्रवेश करता है तो इन दोनों आश्रमों के बीच की संन्धि में से गुजर जाता है।

जब गृहस्थी वानप्रस्थ मे प्रवेश करता है तब गृहस्थ तथा वानप्रस्थ की संन्धि में से गुजरता है, जब वानप्रस्थ से संन्यास में प्रवेश करता है तब पर सदा वानप्रस्थ तथा संन्यास की संधि में से गुजरता है जो इन तीन संन्धियों में से नही गुजरता वह किसी न किसी एक आश्रम में अटक जाता है। इस प्रकार प्रत्येक संधि में से गुजरने से एक एक स्वर्ग सड़क अग्नि उत्पन्न होती है। अग्नि उत्पन्न ही संधि से-दो वस्तुओं के मेल से होती है एक-एक संधि के बाद एक-एक नचिकेत अग्नि प्रकट होती है जो मनुष्य को स्वर्ग अर्थात् अमृत की ओर ले जाती है इस प्रकार तीनों संधियों में से गुजर कर जो जीवन क्रम बनता है वह ब्रह्म यज्ञ को जान जाता है उसके विषय में निश्चय कर लेता है वह अत्यन्त शान्ति को प्राप्त होता है।।17।।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा स एवं विद्वानश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्यशोकातिगो मोदते स्वर्गलोक

तीनों नचिकेत-अग्नीयों को जो इस प्रकार जान जाता है, और नचिकेत अग्नि को चयन करता है वह आगे से मृत्यु के पाशों को काटकर शोक से पार होकर स्वर्ग लोक में आनंदित रहता है।

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।

एतमग्नि तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥१९॥

हे नचिकेत! स्वर्ग-साधक जिस अग्नि की तूने अपने दूसरे वर से जिज्ञासा की थी उसका तुझे उपदेश दे दिया। इस अग्नि को लोग तेरे ही नाम से कहा करेंगे। हे नचिकेतः ! अब तू तीसरा वर मांग ॥१९॥

(तीसरा वर)

मृत्यु के अनन्तर क्या होता है

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः

अब नचिकेता तीसरा वर मांगता है- मनुष्य के मर जाने पर जो जिज्ञासा रहती है, कोई कहते हैं मरने पर भी मनुष्य बना रहता है, कोई कहते हैं नहीं बना रहता-आपसे शिक्षा पाकर मैं इसका समाधान जानना चाहता हूं। मैने जो वर मॉगने है उनमे तीसरा वर यही है।

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्वस्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥ 2४॥

यम ने कहा- ''सौ-सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र-पौत्रों को मांग; अनेक पशुओं को मांग; हाथी, सुवर्ण, घोड़े मांग; बड़ी-बड़ी जमीनें, जायदाद मांग; जब तक जीना चाहे तब तक का जीवन मांग''॥३॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानाँ कामभाजं करोमि ॥24॥

अगर इस वर के बराबर तू कोई चीज समझता है धन-धान्य, दीर्घ-जीवन-वह मांग । हे नचिकेता पृथिवी के बड़े भाग पर शासन करना चाहे, तो वह मांग । जितनी कामनाएं हैं वे तेरी इच्छा-मात्र से पूर्ण हो जांए, ऐसा चाहे तो वह मॉग ॥2४॥

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥२६॥

नचिकेता ने उत्तर दिया- 'हे अन्तक ! हे मृत्यो ! ये सुख-भोग मनुष्य के लिये हैं-आज है।, कल नहीं । ये इन्द्रियों के तेज को क्षीण कर देते हैं । इन भोगों को भोगने के लिये सारा-का-सारा जीवन भी बहुत-थोड़ा है। ये हाथी-घोड़े, यह नाचना-गाना अपने ही पास रख, ये मुझे नहीं चाहिये !!26!!

मनुष्य धन से तृप्त नहीं होता

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो, लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं, वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥२७॥

''मनुष्य धन से तृप्त नहीं हो सकता । अगर हमने तेरा दर्शन कर लिया, तेरे रहस्य को समझ लिया, तो धन-धान्य सब प्राप्त हो जायगा । हे मृत्यु, जितना तू चाहेगा उतना ही तो हम जी सकेंगे -ज्यादा तो नहीं। मैं तो वही वर मांगता हूं ॥27॥

स्मरणीय बिन्दु

1.''केनेषितं पतति प्रेषितं मनः'' मंत्र का भावार्थ क्या है?
2.केनोपनिषद् में ब्रह्म को ''वाणी का भी आधार'' क्यों कहा गया है?
3.नचिकेता ने मृत्यु के रहस्य को जानने की इच्छा क्यों की?
4.यमराज ने नचिकेता की परीक्षा किस प्रकार ली?
5.कठोपनिषद् आत्मविद्या को सर्वोच्च क्यों मानता है?

शब्दावली

शब्द	**अर्थ**
ब्रह्म	परम सत्य
प्राण	जीवन शक्ति
श्रोत्र	कान / श्रवण शक्ति

मनस्	मन
अमृत	मोक्ष / अमरत्व
नचिकेता	वाजश्रवस का पुत्र
यम	मृत्यु के देवता
वर	आशीर्वाद / इच्छा पूर्ति
श्रेय	कल्याणकारी मार्ग
प्रेय	प्रिय लगने वाला सांसारिक सुख

5 अंक के प्रश्न

1. केनोपनिषद् के अनुसार ब्रह्म इन्द्रियों से परे कैसे है?
2. ''श्रोत्रस्य श्रोत्रम्'' मंत्र का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. नचिकेता के प्रथम वर का वर्णन कीजिए।
4. नचिकेता अग्नि विद्या क्या है?
5. यमराज द्वारा दिए गए प्रलोभनों को नचिकेता ने क्यों अस्वीकार किया?

15 अंक के प्रश्न

1. केनोपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन विस्तारपूर्वक कीजिए।
2. नचिकेता-यम संवाद के आधार पर आत्मा, मृत्यु और मोक्ष की व्याख्या कीजिए।
3. कठोपनिषद् में श्रेय और प्रेय के सिद्धांत का जीवनोपयोगी विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. ''श्रोत्रस्य श्रोत्रम्'' का अर्थ है-

(क) कान की ध्वनि

(ख) श्रवण शक्ति का आधार

(ग) संगीत

(घ) वाणी

2. नचिकेता के पिता का नाम था-

(क) जनक

(ख) वाजश्रवस

(ग) उद्दालक

(घ) विश्वामित्र

3. नचिकेता ने यमराज से तीसरे वर में क्या पूछा?

(क) धन

(ख) स्वर्ग

(ग) मृत्यु के बाद आत्मा का रहस्य

(घ) राज्य

4. केनोपनिषद् मुख्यतः किसका विवेचन करता है?

(क) यज्ञ

(ख) कर्मकाण्ड

(ग) ब्रह्मज्ञान

(घ) राजनीति

5. कठोपनिषद् में 'श्रेय' का अर्थ है-

(क) भोग

(ख) सांसारिक सुख

(ग) कल्याणकारी मार्ग

(घ) धन।

खण्ड- 4 सोलह संस्कार एवं नीतिग्रन्थों का परिचय

इकाई-4.1 सोलह संस्कार- गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तो., जातकर्म, नामकरण

उद्देश्य-

1. विद्यार्थियों को भारतीय वैदिक संस्कृति में षोडश संस्कारों के महत्व, आवश्यकता एवं उद्देश्य का ज्ञान कराना।
2. गर्भाधान से नामकरण तक प्रारम्भिक संस्कारों की प्रक्रिया, सामाजिक उपयोगिता एवं नैतिक प्रभाव को समझाना।
3. संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक विकास की भूमिका स्पष्ट करना।

सोलह संस्कार

भारतीय वैदिक संस्कृति में सोलह संस्कारों का अत्यधिक महत्व माना जाता है। संस्कार वैदिक परम्परा का अभिन्न अंग है।

संस्कार शब्दस्य निष्पत्तिः संस्क्रियते इति संस्कारः।

पवित्रीकरणं क्रियते इति संस्कारः॥

संस्कार वह धार्मिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा शरीर मन-मस्तिष्क एवं आत्मा को पवित्र किया जाता है। जिस प्रकार सोने को तपाकर कुन्दन बनाया जाता है उसी प्रकार इन संस्कार रूपी अग्नि में तपकर व्यक्ति समाज के योग्य बनता है। एक आदर्श मानव की भूमिका निभाता है।

महर्षि चरक लिखते है- **"संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते"**

(चरक,विमानस्थानअ.1)

अर्थात् पहले से विद्यमान दुर्गुणों को हटाकर सद्गुणों का आधान करने को संस्कार कहा जाता है। संस्कार दो प्रकार के होते है- एक तो जीवात्मा के जन्म-जन्मान्तरों के किये गये कर्मों के संस्कार तथा दूसरे वे जिन्हें व्यक्ति अपने माता-पिता के संस्कारों के रूप में वंश परम्परा से प्राप्त करता है। ये संस्कार अच्छे भी हो सकते है और बुरे भी।

वैदिक संस्कृति का मुख्य ध्येय है, बुरे संस्कारों को हटाकर व्यक्ति का नव निर्माण करना। अतः मानव के नवनिर्माण हेतु ही सोलह संस्कारों की पद्धति प्रचलित हुई।

जीवात्मा जब-जब शरीर धारण करता है, तब-तब वैदिक संस्कृति की व्यवस्था में संस्कारों की श्रृंखला में उसे इस प्रकार से व्यवस्थित कर दिया जाता है, जिससे उस पर अशुभ संस्कारों की छाया भी न पड़ सकें।

प्रत्येक कर्म के जीवात्मा पर संस्कार पड़ते है, अच्छे अथवा बुरे। इसलिये भारतीय परम्परा में संस्कारों की व्यवस्था का नियमन किया गया। वैदिक संस्कृति की यह विचारधारा है, उसके अनुसार (यह जन्म पिछले जन्म व अगले जन्म यह सब संस्कारों द्वारा आत्मशोधन की प्रक्रिया है संस्कारों के लगातार प्रवाह से आत्म तत्व पर आरोपित मैल को धो डालने का प्रयत्न है।)

आज का समाज सोलह संस्कारों की परम्परा को भूलता जा रहा है, बिना संस्कार, बिना परम्पराओं का पालन किये ही मानव समाज में बालकों का जन्म हो रहा है। और यही कारण है, कि हमारा **धर्म,** हमारी संस्कृति, हमारे जीवन मूल्य नष्ट होते प्रतीत हों रहे है। गिरते हुये जीवन मूल्य, टूटती हुई परम्पराओं और भूले हुये संस्कारों को पुनः समाज मे लाने के लिये मानव को ७२ संस्कार अपनाने होंगे। भारत की आस्था, संस्कार, परम्पराएं जो हमें विरासत में प्राप्त हुई उसको आधुनिक चकाचौध भरी अज्ञ. ानता ने पूरी तरह विस्मृत कर दिया है।

हमने अपने संस्कार मूल्यों को आडम्बर मान लिया है। हमारी संस्कृति में संस्कारों की बहुत उन्नत परम्परा है, जिसके द्वारा इस विश्व में परिवर्तन लाया जा सकता है। श्रेष्ठ मनुष्यों का निर्माण किया जा सकता है। जिससे यह धरती सज्जनों से समृद्ध हो जाये। समाज के नव-निर्माण के लिये नये समाज को बनाना होगा, समाज तब बदलेगा जब एक-एक मनुष्य बदलेगा, और मनुष्य में बदलाव तब होगा जब उसके उत्पन्न होने से पूर्व ही संस्कारों की व्यवस्था निर्धारित होगी, क्योंकि मकान की मजबूती नींव पर आधारित होती है, यदि नींव ही कमजोर है, तो निश्चित रूप से मकान भी कमजोर ही होगा।

अतः मानव की नींव को शक्तिशाली बनाना होगा एक रूपरेखा तय करनी होगी, उस रूपरेखा के अनुसार ही जब उसकी रचना होगी, तब संसार में परिवर्तन आ सकता हैं। आदर्श भावी सृष्टि के निर्माण हेतु सोलह संस्कारों की महत्ती आवश्यकता है। वे सोलह संस्कार इस प्रकार हैं-

(७)	गर्भाधान	(८)	पुंसवन	(९)	सीमन्तोन्नयन
(०)	जातकर्म	(१)	नामकरण	(२)	निष्क्रमण

(३) अन्नप्राशन (४) चूड़ाकर्म (५) कर्णवेध
(७६) उपनयन (७७) वेदारम्भ (७८) समावर्तन
(७९) विवाह/पाणिग्रहण (७०) वानप्रस्थ (७१) संन्यास
(७२) अन्त्येष्टि

१. गर्भाधान संस्कार

वैदिक संस्कृति में गर्भाधान को उत्तम संस्कार माना गया है। गर्भाधान संस्कार के द्वारा हमारी संस्कृति यह सन्देश देती है, कि स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध पशुवत् न होकर सत्सन्तोत्पत्ति का ही हेतु है। गर्भाधान के समय ही मनुष्य की रूपरेखा तैयार हो जाती है, और यही से शिशु का निर्माण होता है। दाम्पत्य जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य श्रेष्ठ गुणों वाली संतान उत्पन्न करना है, जो समाज में कल्याणकारी हो। गर्भाधान रूपी धार्मिक संस्कार के द्वारा पवित्र आत्मा का आह्वान किया जाता है। यह प्रक्रिया यज्ञानुष्ठान के साथ ही प्रारम्भ होती है। इस कार्य में पति-पत्नी यज्ञ करते है, अपने बड़ो को निमन्त्रित करते हैं, कुलदेवों का आशीर्वाद प्राप्त करते है। यह एक स्वार्थमयी भोग की क्रिया नहीं हैं, अपितु समाज के उपकार हेतु है, क्योंकि इसके परिणामस्वरूप अगर श्रेष्ठ आत्मा इस संसार में आती है, तो संसार के बड़े परिवर्तन सम्भव है। गर्भाधान के समय शरीर तथा मन की अवस्था का संतान पर गहरा प्रभाव पड़ता है। गर्भाधान की सम्पूर्ण विधियों का वर्णन महर्षि दयानन्द रचित संस्कार विधि पुस्तक में किया गया है।

२. पुंसवन संस्कार

द्वितीय संस्कार के रूप में पुंसवन संस्कार को माना जाता है। यह गर्भ के ८-९ महीने के अन्तर्गत किया जाता है। जब तक संतान मां के गर्भ में रहती है, तब तक उसके शरीर तथा मन को अपनी इच्छानुसार ढ़ाला जा सकता है। यह समय ऐसा है जिसमें माँ जिस प्रकार की संतान चाहे- तेजस्वी, ओजस्वी, पराक्रमी, निर्मल चरित्र युक्त संतान का निर्माण कर सकती है।

जब बालक का गर्भ में शारीरिक निर्माण हो रहा होता है, उस समय बच्चे के विकास पर मां विशेष ध्यान देती है। शारीरिक विकास के लिये ही पुंसवन संस्कार का विधान किया गया है। इस समय जो भी आहार ग्रहण करेगी, उसी के अनुसार बालक के अङ्गों का निर्माण होगा। गर्भ ठहरने के पश्चात् माता को गर्भ की रक्षा वृद्धि विकास के लिये विशेष सावधानियाँ रखनी पड़ती है। चरक-सुश्रुत आदि ऋषियों ने इसका विस्तार से वर्णन किया है।

जैसे कि उकड़ू बैठने, ऊँचे-नीचे स्थानों में फिरने कठिन आसन पर बैठने, वायु-मल-मूत्र के वेग को रोकने, कठोर परिश्रम करने, गर्म तथा तेज वस्तुओं का सेवन करने एवं अत्यधिक भूख सहने से गर्भ सूख जाता है मर जाता है, अथवा उसका स्त्राव हो जाता है। अतः इस समय माता को आहार-विहार का पूरी सावधानी के साथ पालन करना चाहिये।

इसका सम्पूर्ण विवरण चरक संहिता शरीर स्थान में किया गया है।

३. सीमन्तोन्नयन संस्कार

'सीमन्त' का अर्थ होता है मस्तिष्क और 'उन्नयन' से तात्पर्य है-विकास। जिस प्रकार संतान के शारीरिक विकास हेतु पुंसवन संस्कार का विधान किया है, वैसे ही यह सीमन्तोन्नयन संस्कार बच्चे के मानसिक विकास के लिये किया जाता है। यह संस्कार गर्भस्थ शिशु के चौथे महीने में किया जाता है। सीमन्त का अर्थ बताते हुये महर्षि सुश्रुत लिखते है - **"पंचसंधयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ताः, तत्राघाते वा उन्मादभयचेष्टानाशैः मरणम्"।** *(सुश्रुतसंहिताशरीरस्था.अ.6)*

अर्थात् सिर पांच सन्धियों में बंटा हुआ है, उनमें चोट लगने से उन्माद होने से, भय से, चेष्टा न कर सकने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। हमारे सिर में पांच हड्डियाँ हैं, वे पांचां जहां जुड़ती हैं, यह मस्तिष्क का उन्नत भाग होता है।

सीमन्तोन्नयन का अर्थ है - मस्तिष्क का विकास। अतः सीमन्तोन्नयन संस्कार का अभिप्राय हुआ ऐसा संस्कार जिसमें मां का ध्यान संतान के मानसिक विकास पर केन्द्रित हो जाता हैं। पुंसवन संस्कार शारीरिक विकास के लिये किया जाता है। इन दोनों संस्कारों के माध्यम से गर्भस्थ संतान के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को सुदृढ़ करने का प्रयास किया जाता है। संस्कार विधि में सीमन्तोन्नयन संस्कार की विधि इस प्रकार बतायी गयी है-सीमन्तोन्नयन संस्कार में पति अपने से स्वपत्नी के केशों में सुगन्धित तेल डाले, कंघी से सुधारे, पट्टी निकाले, जूड़ा सुन्दर बांध कर दोनों यज्ञशाला में आयें।

इसका अभिप्राय यही है, कि इस समय पति तथा पत्नी दोनों का ध्यान अपने तथा संतान के मानसिक विकास पर केन्द्रित हो जाना चाहिये।

जैसा माता चिन्तन करेगी वैसा ही संतान पर प्रभाव होगा, वैसी ही संतान निर्मित होती जायेगी। ऐसे कई सारे प्राचीन उदाहरण हमारे शास्त्रों में वर्णित है, जैसे माता मदालसा ने अपने आठों पुत्रों को ही अध्यात्म की दिशा प्रदान कर ब्रह्मवेला बना दिया। जब उनके पति ने कहा कि इस प्रकार हमारा राजवंश कैसे चलेगा तब नवें पुत्र के उत्पन्न होने के समय उसने अपने संस्कारों की पि. रस्थिति को बदल दिया और नवां पुत्र सर्वगुण सम्पन्न क्षत्रिय धर्म का पालन करने वाला उत्पन्न हुआ।

वैसे ही महाभारत काल की भी घटना आती है कि अभिमन्यु जब माता सुभद्रा के गर्भ में था, तब अर्जुन ने उसे चक्रव्यूह के भेदन की शिक्षा दी थी इसी के प्रभाव से अभिमन्यु चक्रव्यूह को तोड़ता हुआ भीतर घुस गया था। कहते हैं अर्जुन ने सुभद्रा को कथा सुनातें हुये उस व्यूह में से निकल आने का हिस्सा नहीं कहा था, इसीलिये व्यूह से अभिमन्यु बाहर न आ सका वैसे ही अष्टावक्र जी ने गर्भावस्था में ही वेदान्त सीख लिया था।

इन सब प्रसंगो से यह स्पष्ट होता है कि संस्कारों का कितना बड़ा प्रभाव होता है, व्यक्ति के जीवन में अर्थात् व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन संस्कारो पर ही आधारित है। सीमन्तोन्नयन संस्कार का मूल उद्देश्य मात्र इतना है, कि माता इस बात को अच्छी तरह समझें कि अबसे अपनी संतान के मानसिक विकास की जिम्मेवारी उसकी अपनी है। अब मां जो कुछ भी करें, सोच-समझकर करें। क्योंकि उसके हर विचार का प्रभाव उसके गर्भ में प्राण ले रही संतान के मस्तिष्क पर पड़ रहा है।

मनुस्मृति में भी कहा है-

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम्।
तस्मात् प्रजाविशुद्धयर्थं स्त्रियं रक्षेत् प्रयत्नतः॥ *(मनु.1.1)*

गर्भवती स्त्री जिस प्रकार की तस्वीर अपने मन में खींच लेती है, वह उसी प्रकार की संतान को जन्म देती है, इसीलिये उत्तम संतान की प्राप्ति के लिये स्त्री को ऐसे वातावरण में रखना चाहिये, जिससे संतान उत्तम तथा शुद्ध (पवित्र) संस्कारो वाली हो।

४. जातकर्म

गर्भाधान इत्यादि पूर्वोक्त तीनों संस्कार तब किये जाते है, जब संतान मां के गर्भ में होती हैं, किन्तु अगले जातकर्म से लेकर अन्य संस्कार मानव के धरती पर आते ही अर्थात् गर्भ के बाहर आने से प्रारम्भ होकर मृत्युपर्यन्त सम्पन्न होते है।

जिसमें प्रथम है-जातकर्म संस्कार संतान के जन्म होने के बाद जो कर्म किये जाते है, वे जातकर्म कहलाते हैं।

इसे संस्कार का नाम इसीलिये दिया गया है, क्योंकि उत्पन्न होने के बाद किये जाने वाले कर्मो के अतिरिक्त इसमें कुछ संस्कार डालने का प्रयत्न किया जाता हैं।

संतान के जन्म के समय किये जाने वाले कर्म :

बच्चे को मुख, नाक आदि साफ करना-उत्पन्न होने से पूर्व बालक गर्भावस्था में होता है, और ऐसे में वह मुख से भोजन नहीं लेता नाक से सांस नहीं लेता है। अपितु उसका भोजन नाभि द्वारा माता से सीधा पहुँचता है। गर्भावस्था में बालक अर्थात् पुत्र अथवा पुत्री एक थैली में बन्द रहते हैं, जिसमे पानी भरा होता है। यह पानी मुख या नाक में न चला जाये इसीलिये प्रकृति ने उनका मुख तथा नाक श्लेष्मा से बन्द कर दिया होता है। बाह्य जगत् में आने के बाद बालक का मुख और नाक साफ करना होता है। क्योंकि माता से उसका गर्भावस्था का सम्बन्ध विच्छेद हो चुका है, तो माता से पूर्व की भांति पोषण की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसीलिये मुख आदि साफ करने के पश्चात् वह दुग्धपान कर सकता है, नाक साफ करने के बाद वह सांस ले सकता है। यह सफाई प्रायः अनुभवी दाई, नरम, मुलायम कपड़े से करती है। बच्चे के नाक तथा गले में भी श्लेष्मा भरा होता है, इसीलिये कफ आदि हटाकर उसका गला, नाक आदि साफ करने पड़ते है।

आयुर्वेद के अनुसार सैंधा नमक घी में मिलाकर देने से नाक और फेफड़े साफ हो जाते है। सुश्रुत संहिता में लिखा है-**अथ जातस्य उल्वं मुखे च सैधव सप्रिषा विशोध्य घृताक्तं पिचुं मूर्ध्नि दद्यात्।** *(सुश्रुतसंहिताशरीरस्था.अ.३)*

संस्कार विधि में जातकर्म संस्कार के बारे में कुछ इस प्रकार से लिखा है। जब प्रसव का समय हो, तब मंत्रों के द्वारा मां के शरीर पर जल से मार्जन करें। यथा-

ओम् एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह।
यथायं वायुरेजति यथा समुद्र एजति
एवायं दशमास्यो अरत्रज्जरायुणा सह॥ *(यजुर्वेद४.८४)*

इत्यादि मंत्रों द्वारा स्त्री के शरीर का मार्जन करें। जब संतान का जन्म हो जावें तब प्रथम दायी आदि अनुभवी स्त्री बालक के शरीर का जरायु पृथक् कर मुख-नासिका, कान, आंख आदि के मल को दूर कर कोमल वस्त्र से पोंछ कर पिता के गोद में बालक को देवे। जिस स्थान पर शीत एवं वायु का प्रवेश न हो वहां पिता बैठकर एक बीता भर नाड़ी को छोड़, ऊपर सूत से बांध के उस बन्धन के ऊपर से नाड़ी छेदन करके किञ्चित् उष्ण जल से बालक को स्नान करा शुद्ध वस्त्र से पोंछ, नवीन शुद्ध वस्त्र पहनाकर विधि अनुसार यज्ञ का अनुष्ठान कराया जाता है।

तत्पश्चात घी और मधु को सोने की शलाका से बालक को चटायें इस प्रयोग के अलावा सुवर्ण शलाका से बालक की जीभ पर 'ओ९म् लिखने का भी विधान है। यह बच्चे के आध्यात्मिक विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त बालक के कान में पिता द्वारा
'वेदोऽसि' मंत्र बोलने का भी विधान है।

५. नामकरण संस्कार

जातकर्म संस्कर के अनन्तर पांचवा संस्कार नामकरण संस्कार है जिसमें सन्तान का नाम रखा जाता है। किसी भी पदार्थ की पहचान एवं उसके सम्बन्ध में दूसरों के साथ व्यवहार करने में उस पदार्थ का कोई न कोई नाम अवश्य होता है। बिना नाम के व्यवहार करना असम्भव सा है। संस्कार पद्धति का उद्देश्य केवल नाम देना मात्र नहीं है, अपितु श्रेष्ठतम मानव का निर्माण करना है।

इसीलिये हमारे ऋषि कहते है, बच्चों के ऐसे नाम रखने चाहिये जिससे बच्चों में शौर्य-पराक्रम, ओज-तेज, धैर्य-क्षमा-सत्य इत्यादि गुणों का विकास हों सकें। यह समस्त जीवन यात्रा एक अनुष्ठान हैं। अत: व्यक्ति इस अनुष्ठान को श्रद्धापूर्वक निर्वहन कर सकें यही संस्कार पद्धति का प्रयोजन है। महर्षि दयानन्द लिखतें हैं, कि जिस दिन बालक का जन्म हो उस दिन से लेकर ७७वे दिन अथवा ७६७ वें दिन या दूसरे वर्ष के प्रारम्भ में जिस दिन बच्चे का जन्म हुआ, उसी दिन नामकरण का संस्कार करें।

यह संस्कार अति प्रसन्न चित्त से इष्टमित्र, हितैषी लोगों को बुलाकर यथावत सत्कार कर यजमान-बालक का पिता ऋत्विज का वरण करके वैदिक मंत्रों के अनुसार यज्ञानुष्ठान करवाता है।

स्मरणीय बिन्दु

1. षोडश संस्कार कितने हैं?
2. प्रथम संस्कार कौन-सा है?
3. जातकर्म कब किया जाता है?
4. नामकरण संस्कार किसलिए किया जाता है?
5. सीमन्तोन्नयन किससे संबंधित है?

शब्दावली

शब्द	**अर्थ**
संस्कार	शुद्धिकरण प्रक्रिया
गर्भाधान	गर्भ स्थापना संस्कार
पुंसवन	गर्भस्थ शिशु विकास संस्कार
सीमन्तोन्नयन	मानसिक विकास संस्कार
जातकर्म	जन्मोपरांत संस्कार
नामकरण	नाम रखने की विधि
वैदिक	वेद संबंधी
शुद्धि	पवित्रेकरण
आत्मशोधन	आत्मा का परिष्कार
परंपरा	सांस्कृतिक निरंतरता

5 अंक के प्रश्न

1. संस्कार की परिभाषा देते हुए उसके महत्व को स्पष्ट कीजिए।
2. गर्भाधान संस्कार का उद्देश्य क्या है?
3. पुंसवन संस्कार की आवश्यकता क्यों मानी गई है?
4. सीमन्तोन्नयन संस्कार का अर्थ एवं प्रयोजन लिखिए।
5. नामकरण संस्कार का सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्व बताइए।

15 अंक के प्रश्न

1. षोडश संस्कारों की भारतीय संस्कृति में भूमिका का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. गर्भाधान, पुंसवन एवं सीमन्तोन्नयन संस्कारों का शारीरिक एवं मानसिक विकास में योगदान स्पष्ट कीजिए।

3. जातकर्म एवं नामकरण संस्कार की विधि, उद्देश्य तथा महत्व का विस्तृत विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. षोडश संस्कारों में प्रथम संस्कार है–

(क) नामकरण

(ख) जातकर्म

(ग) गर्भाधान

(घ) उपनयन

2. पुंसवन संस्कार का संबंध है–

(क) विवाह

(ख) गर्भस्थ शिशु के शारीरिक विकास

(ग) शिक्षा

(घ) संन्यास

3. सीमन्तोन्नयन संस्कार किया जाता है–

(क) जन्म के बाद

(ख) विवाह के समय

(ग) गर्भकाल में

(घ) मृत्यु के बाद

4. जातकर्म संस्कार होता है–

(क) गर्भधारण से पूर्व

(ख) जन्म के तुरंत बाद

(ग) विवाह के समय

(घ) उपनयन में

5. नामकरण संस्कार का उद्देश्य है–

(क) शिक्षा देना

(ख) नाम रखना एवं गुण विकास

(ग) विवाह कराना

(घ) संन्यास देना

इकाई- 4.2 निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन

उद्देश्य-

1. विद्यार्थियों को बाल्यावस्था से शिक्षा-आरंभ तक के प्रमुख वैदिक संस्कारों की जानकारी देना।
2. निष्क्रमण से उपनयन तक संस्कारों के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक महत्व को समझाना।
3. भारतीय संस्कृति में संस्कारों द्वारा व्यक्तित्व निर्माण एवं अनुशासन की परंपरा को स्पष्ट करना।

६. निष्क्रमण संस्कार

निष्क्रमण नामक छठा संस्कार है। निष्क्रमण का अर्थ है-बाहर निकलना। नामकरण के पश्चात् बच्चा विकसित होने लगता है, चलने योग्य हो जाता है, तब घर के वातावरण से बाहर निकालकर उसका बाहर के वातावरण, समाज के वातावरण से परिचय कराया जाता है। शरीर के विकास के लिये तथा मन के विकास के लिये हवा और सूर्य की रोशनी अत्यन्त आवश्यक है। इसी उद्देश्य हेतु बालक के लिये एक धार्मिक संस्कार का विधान कर दिया गया है ताकि वह शुद्ध हवा एवं सूर्य की प्राणपद किरणों का सेवन कर सकें।

निष्क्रमण संस्कार का समय पारस्करगृह्यसूत्र में इस प्रकार आता है-

चतुर्थी मासि निष्क्रमणिका। *(पा.गृ.1.17.5)*

सूर्यमदीक्षयति तच्चक्षुरिति॥ *(पा.गृ.1.17.6)*

निष्क्रमण संस्कार के काल के पूर्वोक्त दो प्रकार से भेद है-एक बालक के जन्म के चौथे महीने में जिस तिथि को बालक का जन्म हुआ हो, उस समय अथवा दूसरा बालक के जन्म के पश्चात् तीसरे शुक्लपक्ष की तृतीया को निष्क्रमण संस्कार करें।

वेद की ऋचाओं के साथ यज्ञानुष्ठान के द्वारा निष्क्रमण संस्कार सम्पन्न कराया जाता है।

७. अन्नप्राशन संस्कार

संस्कारों की लम्बी प्रक्रिया में अन्नप्राशन सातवां संस्कार हैं। 'अन्नप्राशन' का अर्थ है-जीवन में प्रथम बार अन्न का सेवन करना। छः महीने तक बालक को मां का दूध ही पिलाना चाहिये क्योंकि मां का दूध इस समय बालक के विकास हेतु सर्वोत्तम आहार होता हैं।

'अन्नप्राशन' संस्कार तभी करें जब बालक की शक्ति अन्न पचाने योग्य हो जावें। इसमें पारस्कर गृह्यसूत्र का प्रमाण है-

षष्ठे मास्यन्नप्राशनम्॥ *(पा.गृ.1.11.1)*

अर्थात् छठे महिने बालक को अन्नप्राशन कराना चाहिए। जिन माता-पिता को अपनी संतान को तेजस्वी बनाना हो, वह घृतयुक्त भात अथवा दही, मधु और घृत इन तीनों को भात के साथ मिलाकर विधि अनुसार पकाकर वेद के मन्त्रों के उच्चारण के साथ यज्ञानुष्ठान में आहुति देकर बचे हुये भात में दही, मधु और उसमें घी यथायोग्य किञ्चित्-किञ्चित् मिलाकर सुगन्धियुक्त चावल बालक के मुख में निम्नलिखित मंत्र पढ़कर देना चाहिए।

ओम् अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्रप्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥ *(यजुर्वेद11.83)*

८. चूड़ाकर्म संस्कार

संस्कारों की श्रृंखला में आठवां संस्कार चूड़ाकर्म हैं। इस संस्कार को मुण्डन संस्कार (केशछेदन संस्कार) भी कहा जाता हैं। यह चूड़ाकर्म अर्थात् मुण्डन बालक के जन्म के तीसरे अथवा एक वर्ष के भीतर कराया जाता है। उत्तरायणकाल शुक्लपक्ष में जिस दिन आनन्द मंगल हो, उस दिन यह संस्कार करना चाहिये। इस संस्कार के करने से बालक के सिर का मैल साफ हो जाता है, खाज-खुजली इत्यादि नहीं होते एवं गर्भ से ही जो मलिन बाल लिये है, उनको हटा देने से नये स्वच्छ बालों को आने में मदद मिलती हैं।

अतः नाई को बुलाकर यज्ञानुष्ठान के पश्चात् बालक का मंत्रों के साथ चूड़ाकर्म संस्कार सम्पन्न कराया जाता है।

९. कर्णवेध संस्कार

नौंवे संस्कार का नाम कर्णवेध संस्कार हैं। 'कर्णवेध' का अर्थ है-कान को बीधना अर्थात् छेद करना। महर्षि सुश्रुत कहते हैं-बालक के कान दो उद्देश्य से बींधे जाते है। एक तो बालक की रक्षा तथा दूसरा बालक के कानो की शोभा बढ़ाने के लिये आभूषण डालना। कान बींधवाने से हार्निया जैसी बीमारी नहीं होती। बालक के कर्ण वा नासिका के वेध का समय जन्म से तीसरे अथवा पांचवे वर्ष का उचित है। जिस दिन बालक के कर्णवेध करने हो उसी दिन बालक को प्रातःकाल शुद्ध जल से स्नान और वस्त्रालङ्कार धारण कराके बालक की माता को यज्ञशाला में लाकर यज्ञ के मंत्रो द्वारा यज्ञ करके कर्णवेध संस्कार को सम्पन्न कराया जाता है।

१०. उपनयन संस्कार

'उपनयन' का शब्दार्थ है-'उप'=समीप, 'नयन'=ले जाना। विद्याध्ययन के लिये गुरु या आचार्य के समीप ले जाने को 'उपनयन' कहा जाता है। 'उपनयन' का अर्थ है-गुरु के समीप हो जाना।

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

(पार.गृ.2.2.16)

यहां गुरु और शिष्य अत्यन्त निकट होते है, शिष्य अपना सबकुछ गुरु को सौंप देता है, और इस जिम्मेदारी का पूर्ण रूप से गुरु निर्वहन करता है। उपनयन संस्कार में मुख्य कर्म यज्ञोपवीत धारण करना है। गृह्यसूत्रों के अनुसार-

अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्। *(पार.गृ.८.८.७)*
एकादश वर्षेऽराजन्यम्। *(पार.गृ.८.८.८)*
द्वादशवर्षं वैश्यम्। *(पार.गृ.८.८.९)*

अर्थात् ब्राह्मण का आठवें वर्ष, क्षत्रिय का ग्यारहवें वर्ष तथा वैश्य बालक का बारहवें वर्ष में यज्ञोपवीत धारण करने का विधान है।

अत ऊर्ध्वं त्रयोप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्री पतिता व्रात्या भवन्त्यार्यवि गर्हिताः। *(मनुस्मृति८.९५)*

जिनका इन वर्षों में उपनयन संस्कार नहीं होता, वैदिक संस्कृति के अनुसार वे पतित माने जाते हैं। इससे यह स्पष्ट होता हैं, कि जो लोग अपनी संतान को सुसंस्कृत एवं गुणवान बनाना चाहते हैं, उनकी संतान का उपनयन संस्कार अतिशीघ्र करा लेना चाहिये। अतः मनु ने तो उपनयन का समय गृह्यसूत्रों के निद्रिष्ट समय से भी पूर्व निश्चित किया हैं-

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्ये हार्थिनोऽष्टमे॥ *(मनुस्मृति2.37३)*

अर्थात् जिसे शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार करने की इच्छा हो, और बालक भी पढ़ने में समर्थ हो तब ब्राह्मण के बालक का जन्म या गर्भ से पांचवें, क्षत्रिय के बालक का जन्म वा गर्भ से छठे और वैश्य के लड़के का जन्म वा गर्भ से आंठवे वर्ष में यज्ञोपवीत कर लेना चाहिए।

किन्तु यह तभी सम्भव है, जब बालक के माता-पिता का विवाह पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन के पश्चात् हुआ हो। उन्हीं के बालक ऐसे उत्तम, बुद्धि में श्रेष्ठ और पढ़ने में शीघ्र समर्थ होते हैं।

उपनयन संस्कार करने के लिये सर्वप्रथम यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है, और आचार्य बालक को निम्नलिखित मंत्रो के द्वारा यज्ञोपवीत धारण करवाता हैं।

ओ३म् यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥ *(पार.गृ.2.2.10)*

अर्थात् यज्ञोपवीत परम पवित्र है, आदिकाल से यह प्रजापति के साथ रहा है, यह आयु और बल को देने वाला हैं।

यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि॥ *(पार.गृ..2.2.11)*

इन मंत्रो को बोलकर आचार्य बायें स्कंध के ऊपर कण्ठ के पास से सिर बीच में निकाल, दाहिने हाथ के नीचे बगल में

निकाल कटि तक धारण करवाता है।

इस प्रकार यज्ञ के साथ यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न कराया जाता है।

यज्ञोपवीत का महत्व-

यज्ञोपवीत में तीन सूत्र होते है, जो तीन ऋणों के सूचक है-

(७) ऋषि-ऋण (८) पितृ-ऋण (९) देव-ऋण

प्रथम ऋण ब्रह्मचर्य धारण कर वेद-विद्या के अध्ययन से, द्वितीय ऋण धर्मपूर्वक गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सन्ताना. ेत्पत्ति से तथा तृतीय ऋण गृहस्थ का त्याग कर देश-सेवा के लिये स्वयं को तैयार करने के लिये होता है। इन सब कार्यों से व्यक्ति पूर्वोक्त ऋणों से निवृत्त होता है।

स्मरणीय बिन्दु

1. निष्क्रमण संस्कार कौन-सा संस्कार है?
2. अन्नप्राशन किस महीने में होता है?
3. चूड़ाकर्म का दूसरा नाम क्या है?
4. कर्णवेध संस्कार में क्या किया जाता है?
5. यज्ञोपवीत में कितने सूत्र होते हैं?

शब्दावली

शब्द	**अर्थ**
निष्क्रमण	बाहर निकलना
अन्नप्राशन	प्रथम बार अन्न ग्रहण
चूड़ाकर्म	मुण्डन संस्कार
कर्णवेध	कान छेदन
उपनयन	गुरु के समीप ले जाना
यज्ञोपवीत	जनेऊ
ब्रह्मचर्य	विद्यार्थी जीवन
संस्कार	शुद्धिकरण प्रक्रिया
आचार्य	गुरु
त्रि-ऋण	कृषि, देव, पितृ ऋण

5 अंक के प्रश्न

1. निष्क्रमण संस्कार का उद्देश्य एवं महत्व लिखिए।
2. अन्नप्राशन संस्कार की विधि और उपयोगिता स्पष्ट कीजिए।
3. चूड़ाकर्म संस्कार क्यों किया जाता है?
4. कर्णवेध संस्कार के स्वास्थ्य एवं सांस्कृतिक लाभ बताइए।
5. उपनयन संस्कार का अर्थ, उद्देश्य एवं महत्व स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न

1. निष्क्रमण से कर्णवेध तक के संस्कारों का बालक के विकास में योगदान विस्तारपूर्वक लिखिए।
2. उपनयन संस्कार की विधि, यज्ञोपवीत का महत्व एवं ब्रह्मचर्य जीवन में उसकी भूमिका का वर्णन कीजिए।
3. वैदिक संस्कृति में बाल्यावस्था के संस्कारों की वैज्ञानिकता एवं सामाजिक उपयोगिता का विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. निष्क्रमण संस्कार का संबंध है-

(क) शिक्षा

(ख) विवाह

(ग) शिशु को बाहर ले जाना

(घ) संन्यास

2. अन्नप्राशन संस्कार किया जाता है-

(क) जन्म के तुरंत बाद

(ख) छठे महीने में

(ग) विवाह के समय

(घ) उपनयन में

3. चूड़ाकर्म संस्कार को अन्य किस नाम से जाना जाता है?

(क) विवाह

(ख) नामकरण

(ग) मुण्डन

(घ) दीक्षा

4. कर्णवेध संस्कार का उद्देश्य है–

(क) शिक्षा देना

(ख) कान छेदन

(ग) नाम रखना

(घ) भोजन कराना

5. उपनयन संस्कार में मुख्य रूप से क्या धारण कराया जाता है?

(क) मुकुट

(ख) वस्त्र

(ग) यज्ञोपवीत

(घ) आभूषण

इकाई- 4.3 वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह , वानप्रस्थ, संन्यास, अन्त्येष्टि

उद्देश्य-

1.विद्यार्थियों को जीवन के उत्तरार्ध एवं सामाजिक उत्तरदायित्व से जुड़े प्रमुख वैदिक संस्कारों का ज्ञान कराना।
2. शिक्षा, गृहस्थ जीवन, त्याग, लोककल्याण और मृत्युोत्तर कर्तव्यों की भारतीय सांस्कृतिक परंपरा को समझाना।
3. संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति के आध्यात्मिक, नैतिक एवं सामाजिक विकास का बोध कराना।

११. वेदारम्भ संस्कार

उपनयन संस्कार के साथ-साथ एक दूसरा संस्कार होता है, जिसका नाम वेदारम्भ हैं। वेदारम्भ का अर्थ है-वेदाध्ययन के प्रारम्भ करने का संस्कार।

गायत्री मंत्र से लेकर साङ्गोपाङ्ग (अङ्ग=शिक्षा, कल्प व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष) (उपाङ्ग=पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त) (उपवेद=आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद अर्थात् शिल्पशास्त्र) (ब्राह्मण=ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ)
(वेद=ऋक्, यजुः, साम और अथर्व)

इन सबका अध्ययन करने के लिये नियम धारण करने की प्रक्रिया ही वेदारम्भ कहलाती है। महर्षि दयानंद संस्कार विधि में लिखते हैं, कि जो दिन उपनयन संस्कार का है, वही दिन वेदारम्भ का है यदि वेदारम्भ उसी दिन न हो सके तो दूसरे दिन कराना चाहिए। यदि दूसरा दिन भी अनुकूल न हो तो एक वर्ष के भीतर किसी दिन किया जा सकता है।

वेदारम्भ संस्कार का वैदिक शिक्षा प्रणाली को समझने में बड़ा महत्व है। वेदारम्भ-संस्कार शिक्षा प्रारम्भ करने का संस्कार है। इस संस्कार में 'गुरु', 'कुल', 'आचार्य', 'शिष्य', 'ब्रह्मचारी' आदि शब्दों को समझने की आवश्यकता है। संस्कारों का प्रयोजन ही बालक को सम्पूर्ण रूप से सुसस्कृत करना है और इस प्रक्रिया में शिक्षा की मुख्य भूमिका हैं। क्योंकि शिक्षा ही मानव को व्यवहार करना सिखाती है, सभ्य बनाती है। समस्त वेद-वेदाङ्गों का अध्ययन बालक गुरु के सान्निध्य में रहकर करता है, गुरु-शिष्य की पवित्र भावनाओं के साथ वेदारम्भ संस्कार सम्पन्न होता है। अथर्ववेद में कहा है-

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे विभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

(अथर्ववेद.७७.१.९)

अर्थात् बालक को शिक्षा देने के उद्देश्य से स्वीकर करते हुये आचार्य उसे इस प्रकार सुरक्षित रखता है, जैसे कोई मां पुत्र को अपने गर्भ में सुरक्षित संभाल कर रखती है।

शिक्षा से लेकर आयुर्वेद तक ७० विद्याओं को (९७) इकत्तीस वर्षों में पढ़कर, महाविद्वान बनकर अपने और जगत् के कल्याण एवं उन्नति करने में सदा प्रयत्न किया करें।

१२. समावर्त्तन संस्कार

समावर्त्तन संस्कार उसको कहा जाता है, जिसमे ब्रह्मचर्यव्रत, साङ्ग्येपाङ्ग वेदविद्या, उत्तम शिक्षा और पदार्थविज्ञान की शिक्षा पूर्ण रूप से प्राप्त करके विवाह के हेतु अर्थात् गृहस्थाश्रम को ग्रहण करने के लिए विद्यालय को छोड़ के घर की ओर पुनः लौटना होता है। इसमें प्रमाण हैं-**वेदं समाप्य स्नायात्॥** *(पार.गृ..२.6.2)*

जब वेदों का अध्ययन पूर्ण हो जाये, तब समावर्त्तन संस्कार होता है। जब बालक ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुल में विद्याध्ययन समाप्त कर घर लौटता है, तब आचार्य उसे निम्न उपदेश देता हैं-

सत्यं वद धर्मं चर स्वाध्यायान्मा प्रमदः।
आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः॥

(तैत्ति.शि.अनु.11.1)

आचार्य कहता है-हे शिष्य! अब तू इस आश्रम को छोड़कर समाज रूपी बड़े संसार में प्रवेश करने जा रहा है। इसीलिये यहाँ से ग्रहण की हुई शिक्षाओं का पूर्ण रूप से पालन करना। सत्यवादी होना, धर्म का आचरण करना, स्वाध्याय में कभी प्रमाद मत करना, आचार्य को जो धन प्रिय है, वह उसे लाकर देना इस प्रकार आचार्य की शिष्य रूपी जो प्रजा हैं, उसका सिलसिला मत तोड़

देना। आचार्य का प्रिय धन रुपया-पैसा नहीं है, अपितु उसके शिष्य ही उनका धन है, प्रजा है, उनकी संतान हैं। जैसे तू शिक्षाध्ययन के लिये आया, इसी प्रकार तेरे अन्य कुटुम्बी, तेरे पुत्र-पौत्र भी आचार्य के पास विद्याध्ययन के लिये आते रहें।

तानि कल्पद ब्रह्मचारी सलिलस्य
पृष्ठे तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते॥

(अथर्ववेदका.11,प्रपा.24.व.16,मंत्र-26)

जो ब्रह्मचारी समुद्र के समान गम्भीर, बड़े उत्तम व्रत ब्रह्मचर्यमें निवास कर महातप करता हुआ वेदपठन, वीर्यनिग्रह, आचार्य के प्रियाचरणादि कर्मों को पूरा कर स्नानविधि करके पूर्ण विद्याओं को धारण करके, सुन्दर वर्णयुक्त होकर पृथिवी में अनेक शुभ गुण-कर्म और स्वभाव से प्रकाशमान होता है, वही धन्यवाद के योग्य है।

समावर्त्तन संस्कार को अग्निहोत्र से वेद की ऋचाओं के द्वारा आहुति प्रदान करते हुये यज्ञानुष्ठान के साथ सम्पन्न कराया जाता है।

१३. विवाह संस्कार

'विवाह' उसे कहते है, जो पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत द्वारा विद्या-बल को प्राप्त कर तथा सब प्रकार से शुभ गुण-कर्म स्वभावों में तुल्य एवं, परस्पर प्रीतियुक्त होकर सन्तानोत्पत्ति और अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिये स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होता है। विवाह के पूर्व वर-वधु के गुण-कर्म और स्वभाव की परीक्षा अवश्य करनी चाहिये। यथा-दोनों का तुल्य शील, समान बुद्धि, समान आचार, समान रुपादि गुण, अहिंसकता, सत्य, मधुर भाषण, कृतज्ञता, दयालुता, निर्लोभता, विद्याग्रहण सत्योपदेश करने मे निर्भयता, उत्साह, अहंकार, मत्सर, ईर्ष्या, काम-क्रोध-कपट, द्यूत-चोरी-मद्य-मांसाहारादि दोषों का त्याग, गृहकार्यों में अति चतुर होना।

यथावत उत्तम रीति से ब्रह्मचर्य और विद्या को ग्रहण कर गुरू की आज्ञा से स्नान करके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य उत्तम लक्षणयुक्त स्त्री-पुरुष परस्पर विवाह करते हैं। ऐसा प्रमाण है कि विवाह की आयु ७४ वर्ष की कन्या एवं ८७ वर्ष के वर की श्रेष्ठ मानी जाती है। अतः
शुभ मुहूर्त-नक्षत्र युक्त शुभदिन में वेद के मंत्रों की विधि अनुसार विवाह संस्कार को सम्पन्न करना चाहिये।

१४. वानप्रस्थ संस्कार

वानप्रस्थ संस्कार उसको कहा जाता हैं जो विवाह से सन्तानोत्पति करके पूर्ण ब्रह्मचर्य से पुत्र भी विवाह करे और पुत्र के भी एक संतान हो जावें, अर्थात् जब पुत्र का भी पुत्र हो जाये तब पुरुष या स्त्री को वानप्रस्थाश्रम का ग्रहण कर लेना चाहिए। वेद-उपनिषद का इसमें प्रमाण हैं-

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी
भवेद् वनी भूत्वा प्रवजेत्॥ *(शतपथब्राह्मणेकाण्ड-14)*

मनुष्य को ब्रह्मचर्याश्रम को सम्पन्न कर गृहस्थी होना तथा गृहस्थी होकर वानप्रस्थाश्रम का ग्रहण करना तथा वानप्रस्थ के अनन्तर संन्यास धारण कर लेना चाहिए।

वानप्रस्थाश्रम करने का समय १६ वर्ष के उपरान्त है। जब पुत्र का भी पुत्र हो जावे, तब अपनी संतान को गृहस्थाश्रम की शिक्षा देकर स्त्री या पुरुष वन की ओर प्रस्थान करते हैं।

अग्निहोत्रं समादाय गृहां चाग्निपरिच्छादम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः॥ *(मनुस्मृति२.०)*

जब गृहस्थी को वानप्रस्थी होने की इच्छा करें, तब अग्निहोत्र को साम्रगी-सहित लेकर गांव से निकलकर जंगल में जितेन्द्रिय होकर निवास करना चाहिये।

५5. संन्यास संस्कार

संन्यास=सम्+न्यास, सम्यक् प्रकार से न्यस्त होना ही संन्यास हैं।

सम्यङ् अधर्माचरणानि न्यस्यन्ति येन स संन्यासः।

(संस्कारविधिसं.प्रसं.)

सम्यक् रूप से जिसके द्वारा अधर्मादि आचरण को छोड़ दिया जाता है, वह संन्यास है।

वा सम्यङ् नित्यं सत्यकर्मस्वास्त उपविशति
स्थिरीभवति येन स 'संन्यासः'॥ *(संस्कारविधि.सं.प्र.)*

अथवा जिसके द्वारा नित्य सत्य कर्मों में स्थिर हुआ जाता है, वह संन्यास है।

'संन्यास संस्कार' उसे कहते हैं, जिसमें मोहादि आवरण पक्षपात छोड़के, विरक्त होकर सब पृथिवी में परोपकार के लिये ही विचरण किया जाता हैं। **संन्यासो विद्यते यस्य स 'संन्यासी'** *(संस्कारविधि.सं.प्र.)*संन्यास विद्यमान है, जिसका वह संन्यासी है।

जिस व्यक्ति को सहज ही सांसारिक आकर्षणों से विरक्ति हो गयी है, वह संन्यासी है। जो इस जगत् में उत्तम संन्यजासी परमात्मा को यथार्थता से जानते है, वे सम्पूर्ण प्राणियों को शुद्ध करने और जीवनमुक्ति की अवस्था में रहकर अपने को स्थिर कर संयमी होकर रहते है।

संन्यास के तीन प्रकार

१. क्रम संन्यास : ब्रह्मचर्य पूर्ण करके गृहस्थ, गृहस्थ आश्रम से वानप्रस्थ तथा वानप्रस्थ होकर जो संन्यास ग्रहण करता है, यह **'क्रम संन्यास'** कहलाता है। अर्थात् क्रम से आश्रमों का अनुष्ठान करते-करते वृद्धावस्था में जो संन्यास लेना है, उसी को क्रम संन्यास कहा जाता है।

२. गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ से सीधा संन्यास : संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है। जिस दिन वैराग्य हो जाये, उसी दिन चाहे वानप्रस्थ का समय पूरा भी न हुआ हो अथवा वानप्रस्थाश्रम का अनुष्ठान न करके गृहाश्रम से ही संन्यासाश्रम ग्रहण कर ले।

३. ब्रह्मचर्य से सीधा संन्यास : पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त होकर विषयासक्ति से मन हट जाये, पक्षपात रहित होकर सबके उपकार करने की इच्छा होंवे,

और जिसको दृढ़ निश्चय हो जावें कि मैं अन्तिम श्वास तक संन्यास धर्म का निर्वहन कर सकूँगा तो वह न तो गृहाश्रम अपनाये और न ही वानप्रस्थाश्रम, अपितु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण करके तुरन्त संन्याश्रम को ग्रहण कर लेवें। जो संन्यासी यथार्थ ज्ञान से युक्त है, वह दुष्ट कर्मो से बद्ध नहीं होता। और जो ज्ञान, विद्या-योगाभ्यास, सत्संग-धर्मानुष्ठान से रहित, विज्ञानहीन होकर संन्यास लेता है, वह संन्यास-पदवी अथवा मोक्ष को प्राप्त न होकर जन्म-मरणरूप संसार को प्राप्त होता हैं। जो

निर्वैर, इन्द्रियों के विषय बन्धन से पृथक, वैदिक कर्माचरणों और प्राणायाम, सत्यभाषाणादि उत्तम कर्म करने वाले संन्यासी लोग होते हैं, वे इसी जन्म में परमेश्वर की प्राप्तिरूप पद को प्राप्त कर लेते हैं।

"विधि-संन्यास व्रत धारण" जो व्यक्ति संन्यास लेना चाहे, वह जिस दिन सर्वथा प्रसन्न और वैराग्य से युक्त हो, उस दिन नियम और व्रत धारण करें, अर्थात् तीन दिन तक दुग्धपान करके उपवास और भूमि पर शयन और प्राणायाम, ध्यान तथा एकान्तदेश में ओंकार का जप करता है।

१५. अन्त्येष्टि संस्कार

शरीर के अन्त का संस्कार अन्त्येष्टि संस्कार कहलाता है। जिसके आगे उस शरीर के लिये कोई भी अन्य संस्कार नहीं है। इसी को नरमेध, पुरुषमेध, नरयाग, पुरुषयाग भी कहते है।

भस्मान्तःशरीरम्। *(यजुर्वेदअ.०4.14)*यह भौतिक शरीर भस्म से अन्त अर्थात् नष्ट होने वाला है। इस संस्कार के पश्चात् मृतक के लिये कुछ भी कर्म, कर्त्तव्य नहीं हैं।

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः॥ *(मनुस्मृति2.16)*

गर्भाधान से प्रारम्भ होकर मृत्युपर्यन्त संस्कारों की विधि होती है। इन संस्कारों के द्वारा मन, शरीर एवं आत्मा को शुद्ध पवित्र किया

जाता है।

प्राणान्त से पूर्व का कर्त्तव्य-कर्म : जब यह निश्चय हो जाए कि व्यक्ति की मृत्यु होने वाली है, तो उसके अत्यन्त निकटतम बन्धु-बान्धव, इष्ट-मित्रों को इसकी सूचना दे देनी चाहिये। मृत्यु होने से तत्काल पूर्व मृतप्राण व्यक्ति को चारपाई से नीचे उतारना, उस समय उसका बिछावन या उसके वस्त्र बदलना, जरूरी नहीं होता है, उचित यही है कि यथा पूर्व स्थिति में रहने दिया जाता है। मरने वाले के मुख में अन्त समय में यथोचित सुगन्धित शुद्ध पानी डाला जाता है। और यदि उस व्यक्ति की इच्छा हो और ऐसा अवसर हो तो यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय अथवा शान्तिकरणम् का पाठ भी अवश्य कराया जाना चाहिये।

मृत्यु होने के पश्चात् के कर्त्तव्य-कर्म : मृत शरीर के शवयात्रा की तैयारी करके श्मशान में ले जाकर अग्नि आदि प्रज्वलित करके मृतक का दाह संस्कार विधि-विधान के साथ किया जाता है। जो मनुष्य इस प्रकार से अन्त्येष्टि कर्म-विधि करते हैं, वे सब प्राणियों के मंगल करने वाले होते हैं। जो लोग सुगन्धितयुक्त घृतादि सामग्री से शरीर को विधिपूर्वक जलाते है, वे पुण्यसेवी होते है।

स्मरणीय बिन्दु

1. वेदारम्भ संस्कार क्यों आवश्यक माना गया है?
2. समावर्तन संस्कार में गुरु के उपदेश का क्या महत्व है?
3. विवाह संस्कार के लिए वर-वधू में कौन-कौन से गुण अपेक्षित हैं?
4. वानप्रस्थ आश्रम का उद्देश्य क्या है?
5. संन्यास के कितने प्रकार बताए गए हैं?

शब्दावली

शब्द	**अर्थ**
वेदारम्भ	वेद अध्ययन का प्रारम्भ
समावर्तन	शिक्षा पूर्ण कर लौटना
विवाह	परिणय संस्कार
वानप्रस्थ	वन की ओर प्रस्थान
संन्यास	त्याग
अन्त्येष्टि	अंतिम संस्कार
ब्रह्मचर्य	संयमपूर्वक विद्यार्थी जीवन
गुरु	शिक्षक
लोककल्याण	समाज हित
मोक्ष	मुक्ति

5 अंक के प्रश्न

1. वेदारम्भ संस्कार का अर्थ एवं महत्व लिखिए।
2. समावर्तन संस्कार क्या है?
3. विवाह संस्कार का मुख्य उद्देश्य क्या है?
4. वानप्रस्थ संस्कार कब ग्रहण किया जाता है?
5. संन्यास संस्कार का तात्पर्य क्या है?

15 अंक के प्रश्न

1. वेदारम्भ से समावर्तन तक की वैदिक शिक्षा पद्धति का वर्णन कीजिए।
2. विवाह, वानप्रस्थ और संन्यास संस्कारों का सामाजिक महत्व स्पष्ट कीजिए।
3. अन्त्येष्टि संस्कार की प्रक्रिया एवं महत्व लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. वेदारम्भ संस्कार किसके बाद होता है?

(क) विवाह

(ख) उपनयन

(ग) अन्त्येष्टि

(घ) वानप्रस्थ

2. समावर्तन संस्कार किस आश्रम की समाप्ति है?
(क) गृहस्थ
(ख) वानप्रस्थ
(ग) ब्रह्मचर्य
(घ) संन्यास
3. वानप्रस्थ ग्रहण करने की उपयक्त अवस्था क्या है?
(क) बाल्यावस्था
(ख) शिक्षा काल
(ग) पारिवारिक दायित्व पूर्ण होने पर
(घ) जन्म के समय
4. संन्यास का मुख्य उद्देश्य क्या है?
(क) धनार्जन
(ख) लोककल्याण व मोक्ष
(ग) विवाह
(घ) व्यापार
5. अन्त्येष्टि संस्कार किससे संबंधित है?
(क) शिक्षा
(ख) जन्म
(ग) मृत्यु
(घ) विवाह

इकाई- 4.4 चाणक्य नीति, विदूर नीति, भर्तृहरि के चयनित श्लोक

उद्देश्य-

1. इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों को प्राचीन भारतीय मनीषियों (चाणक्य, विदुर और भर्तृहरि) के नीतिगत ज्ञान और जीवन मूल्यों से परिचित कराना है।
2. इसके माध्यम से शिक्षार्थी सच्चे मित्र की पहचान, समय का प्रबंधन, संगति का प्रभाव और 'अति'के दुष्परिणामों को समझकर अपने चरित्र का निर्माण कर सकते हैं।
3. यह पाठ व्यक्ति को विपरीत परिस्थितियों में भी धैर्य बनाए रखने, निरंतर अभ्यास से विद्या अर्जित करने और समाज में एक आदर्श नागरिक बनने की प्रेरणा देता है।

चाणक्य नीतिः

१. अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्या अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।
यत्सारभूतं तदुपासनीयं हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमम्यात्।

शास्त्र अत्यन्त विशाल और अनन्त हैं, विद्याएँ भी बहुत-सी हैं, मनुष्य की आयु बहुत कम है और उसके मार्ग में मुश्किलें भी बहुत हैं, इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति को शास्त्रों में से सारभूत तत्व को उसी प्रकार ग्रहण कर लेना चाहिए, जिस प्रकार हंस दूधा ग्रहण करके पानी को छोड़ देता है।

चाणक्य के अनुसार ज्ञान अनन्त है। अतः आलस्य आदि को छोड़कर जितना हमारे लिये उपयोगी है, उसे शीघ्र प्राप्त करना चाहिये।

२. आतुरे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रु-संकटे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः॥

बीमार होने पर, दुःख के समय, अकाल पड़ने पर, शत्रु की ओर से संकट आने पर, राजदरबार में तथा किसी परिजन की मृत्यु के समय आदि में जो व्यक्ति साथ नहीं छोड़ता, वास्तव में वही सच्चा मित्र होता है।

आचार्य कहते हैं कि व्यक्ति का सच्चा मित्रा या बंधु वही होता है, जो दैहिक, दैविक या भौतिक किसी भी प्रकार की विपत्ति के समय उसका साथ नहीं छोड़ता।

३. मनसा चिन्तितं कार्यं वाचा नैव प्रकाशयेत्।
मन्त्रेण रक्षयेद् गूढं कार्ये चाह्यपि नियोजयेत्।

मन से सोचे हुए कार्य को कभी किसी से नहीं कहना चाहिए परन्तु मननपूर्वक उसकी रक्षा करनी चाहिए और मौन रहते हुए उस बात को कार्यरूप में बदलना चाहिए। चाणक्य का मानना है कि व्यक्ति को कभी अपने मन का भेद कार्य पूर्ण होने तक नहीं खोलना चाहिए। उसे जो भी कार्य करना है, उसे अपने मन में रखे और पूरी तन्मयता के साथ समय आने पर उसे पूरा करना चाहिए पर माता-पिता, गुरुजन आदि से कुछ भी नहीं छुपाना चाहिये अपितु उनसे सलाह लेनी चाहिये।

४. परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्॥

जो मित्र छिपकर आपके कार्य को बिगाड़े और सामने आने पर मीठी-मीठी बातें करे, ऐसे मित्र को उस घड़े के समान त्याग देना चाहिए, जिसके मुंह पर तो दूध लगा हो परन्तु अन्दर विष भरा हुआ हो।

जो मित्र, आपके सामने चिकनी-चुपड़ी बातें करता हो और पीठ पीछे आपके कार्य को बिगाड़ देता हो, उसे त्याग देने में ही भलाई है। चाणक्य कहते हैं कि वह उस बर्तन के समान है, जिसके ऊपर के हिस्से में दूध लगा है, परन्तु अन्दर विष भरा हुआ होता है।

५. शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न वने वने॥

सभी पहाड़ों पर मणियाँ नहीं मिलतीं, प्रत्येक हाथी के मस्तक में मोती उत्पन्न नहीं होते हैं। इसी प्रकार सज्जन पुरुष सब स्थानों पर नहीं मिलते और सभी जंगलों में चंदन भी उत्पन्न नहीं होता।

जिस प्रकार सभी पर्वतों पर माणिक्य प्राप्त नहीं हो सकता, बहुमूल्य मोती सभी हाथियों के मस्तक में नहीं मिलता और सभी वनों में चंदन के वृक्ष नहीं मिलते, उसी प्रकार सज्जन व्यक्ति भी सभी स्थानों पर नहीं मिलते अर्थात् श्रेष्ठ वस्तुएँ कठिनता से प्राप्त होती हैं।

६. **माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।**
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥

वे माता-पिता अपने बच्चों के लिए शत्रु के समान हैं, जिन्होंने बच्चों को अच्छी शिक्षा नहीं दी। क्योंकि अनपढ़ बालक का विद्वानों के समूह में उसी प्रकार अपमान होता है, जैसे हंसों के झुण्ड में बगुले की स्थिति होती है।

शिक्षाविहीन मनुष्य बिना पूँछ के जानवर जैसा होता है, इसलिए माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वे बच्चों को ऐसी शिक्षा दें, जिससे वे समाज को सुशोभित करें।

७. **दुर्जनस्य च सप्रस्य च वरं सर्पो न दुर्जनः।**
सर्पो दंशति कालेन दुर्जनस्तु पदे पदे॥

दुष्ट व्यक्ति और सांप में से किसी एक को चुनना हो तो सांप को चुनना उचित रहेगा, क्योंकि सांप समय आने पर ही काटेगा, जबकि दुर्जन व्यक्ति हर समय हानि पहुंचाता रहेगा।

चाणक्य ने कहा है कि दुष्ट व्यक्ति सांप से भी अधिक खतरनाक होता है। सांप तो आत्मरक्षा के लिए ही आक्रमण करता है, परन्तु दुष्ट व्यक्ति सदैव किसी न किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाता ही रहता है।

8. **एतदर्थं कुलीनानां नृपाः कुर्वन्ति संग्रहम्।**
आदिमध्याह्नवसानेषु न त्यजन्ति च ते नृपम्॥

राजा लोग अच्छे खानदान वाले व्यक्तियों को अपने पास इसलिए रखते हैं, क्योंकि वे राजा का साथ उन्नति के समय तथा विपत्ति के समय भी नहीं छोड़ते।

चाणक्य के अनुसार उच्च संस्कारों तथा अच्छी शिक्षा वाले व्यक्तियों का यह स्वाभाविक गुण होता है कि वे राजा के हर काम में सहायक होते हैं। वे उसकी उन्नति के समय तथा संकट आने के समय भी साथ नहीं छोड़ते। इसीलिए बुधिमान राजा राज्य के महत्वपूर्ण पदों पर ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति करते हैं।

9 **प्रलये भिन्नमर्यादा भवन्ति किल सागराः।**
सागरा भेदमिच्छन्ति प्रलयेह्यपि न सामवः॥

प्रलय की स्थिति में समुद्र भी अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर देता है परन्तु सज्जन व्यक्ति प्रलय में भी अपनी मर्यादा नहीं छोड़ते।

चाणक्य के अनुसार धैर्यवान, गम्भीर और सज्जन व्यक्ति सागर की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है। प्रलय के समय सागर सारी मर्यादा भूलकर अपनी सभी सीमाएं तोड़ देता है, परन्तु श्रेष्ठ व्यक्ति अनेक संकटों के आने पर भी गम्भीर बना रहता है, उन्हें सहन करता है और अपनी मर्यादाओं का कभी उल्लंघन नहीं करता।

१०. **कोकिलानां स्वरो रूपं स्त्रीणां रूपं पतिवतम्।**
विद्या रूपं कुरूपाणां क्षमा रूपं तपस्विनाम्॥

कोयल का सौन्दर्य उसके स्वर में है, स्त्रियों का सौन्दर्य उसके पतिव्रत धर्म में है, कुरूप व्यक्ति का सौन्दर्य उसके विद्यावान होने में है और तपस्वियों की शोभा उनके क्षमावान होने में है।

अर्थात् व्यक्ति का सौन्दर्य उसके गुणों में निहीत रहता है। जिस प्रकार कोयल को उसकी मीठी कूक के कारण सभी पसन्द करते हैं। इसी प्रकार स्त्री का सौन्दर्य उसका पतिव्रत धर्म है। शरीर से कुरूप व्यक्ति भी विद्या के कारण आदरणीय बन जाता है। तप करने वाले व्यक्ति की शोभा उसकी क्षमाशीलता के कारण होती है।

११. **लालयेत् पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत्।**
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्॥

पांच वर्ष की आयु तक अपने पुत्र से प्यार करना चाहिए, इसके बाद दस वर्ष तक उसको ताड़ना के द्वारा अनुशासित किया जा सकता है, परन्तु सोलह वर्ष की आयु के बाद उससे मित्र के समान व्यवहार करना चाहिए।

चाणक्य के अनुसार पांच वर्ष की आयु तक के बच्चे के साथ प्यार-दुलार किया जा सकता है, इसके पश्चात् दस वर्ष व पन्द्रह वर्ष की आयु तक उसे दण्ड दिया जा सकता है, परन्तु सोलह वर्ष की आयु तक पहुंचने पर उसके साथ मित्र जैसा व्यवहार करना चाहिए।

१२. **अतिरूपेण वै सीता अतिगर्वेण रावणः।**
अतिदानं बलिर्बद्धो अति सर्वत्र वर्जयेत्॥

अत्यन्त सुन्दर होने के कारण ही सीता का हरण हुआ, अधिक अहंकार के कारण रावण मारा गया, अत्यधिक दान

देने के कारण राजा बलि को कष्ट उठाना पड़ा। इसलिए अति का सर्वत्र त्याग कर देना चाहिए।

चाणक्य ने इस श्लोक में यह समझाने का प्रयत्न किया है कि प्रत्येक कार्य की एक सीमा होती है। अतः व्यक्ति को अपनी सीमा में रहना चाहिए। उसे सभी स्थानों पर अति का त्याग कर देना चाहिए।

१३. त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधुसमागमम्।
कुरु पुण्यमहोरात्रं स्मर नित्यमनित्यताम्॥

दुष्टों की संगति को त्याग दो और सज्जन पुरुषों की संगति करो। दिन-रात धार्मिक आचरण करो और प्रतिदिन परमेश्वर का धयान करो। इस श्लोक में चाणक्य ने मनुष्यों को सार्थक जीवन बिताने के लिए कुसंगति को छोड़कर धार्मिक आचरण करते हुए प्रभु का स्मरण करने के लिए कहा है।

१४. कुग्रामवासः कुलहीनसेवा कुभोजनं क्रोधामुखी च भार्या।
पुत्रश्च मूर्खो विधावा च कन्या विनाह्यग्निना षट् प्रदहन्ति कायम्॥

अनुपयुक्त स्थान में रहना, नीच व्यक्ति की सेवा, अरूचिकर भोजन करना, झगड़ालू स्त्री, मूर्ख पुत्र और विधवा कन्या, ये छः दुःख बिना अग्नि के ही व्यक्ति को जलाते रहते हैं। कुछ कष्ट ऐसे होते हैं, जिनसे व्यक्ति जवीन-भर दुःखी रहता है। जैसे अनुपयुक्त स्थान पर रहना, किसी नीच व्यक्ति की नौकरी करना, पौष्टिकता से रहित व अरुचिकर भोजन करना, झगड़ालू पत्नी का होना, इसी प्रकार मूर्ख पुत्र और अपनी लड़की का विधवा हो जाना।

१५. अनभ्यासे विषं शास्त्रमजीर्णे भोजनं विषम्।
छरि=द्रस्य विषं गोष्ठी वृद्धस्य तरुणी विषम्।

अभ्यास के बिना शास्त्र अर्थात् विद्या विष बन जाती है, अजीर्ण अर्थात् बिना पचा भोजन विष के समान हानिकारक होता है। निर्धन के लिए स्वजनों के समाज में रहना विष के समान होता है, इसी प्रकार बूढ़े पुरुष के लिए युवा स्त्री विष के समान होती है।

शास्त्र ज्ञान के लिए निरन्तर अभ्यास आवश्यक है। अपचन की स्थिति में भोजन करना विष के समान कष्ट देता है। दरिद्र व्यक्ति को सभा, समाज में अपमान सहना पड़ता है, इसी प्रकार बूढ़ा व्यक्ति शारीरिक रूप से निर्बल होने के कारण किसी नवयौवना को यौन संस्तुष्टि प्रदान नहीं कर सकता।

१६. कः कालः कानि मित्रणि को देशः कौ व्ययाह्यह्यगमौ।
कश्चाह्यहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः॥

बुद्धिमान व्यक्ति को निम्न बातों पर हर समय विचार करते रहना चाहिए कि मेरा समय कैसा (अनुकूल या प्रतिकूल) है? मेरे मित्र कितने और कैसे हैं? मैं जिस स्थान पर रहता हूँ, वह कैसा है? मेरी आय और व्यय कितनी है? मैं कौन हूँ? मेरी शक्ति क्या है यानी मैं क्या करने में समर्थ हूँ?

चाणक्य कहते हैं कि विचारवान् व्यक्ति को सदैव अपने जीवन और परिस्थितियों के सम्बन्ध में गहनता से विचार करते रहना चाहिए और उसके अनुसार ही आवश्यक परिवर्तन भी करना चाहिए।

१७. जनिता चोपनेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति।
अन्नदाता भयत्राता पत्रचैते पितरः स्मृताः॥

जन्म देने वाला पिता, यज्ञोपवीत कराने वाला गुरु, विद्या देने वाला अध्यापक, अन्न देने वाले और भय से मुक्त रखने वाले पाँच व्यक्तियों को पितर माना गया है।

चाणक्य का मत है कि पंचपितरों को सदैव संतुष्ट रखना चाहिए। मनुष्य के जीवन में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है, अतः उनका सम्मान करना चाहिए।

१८. राजपत्नी गुरोः पत्नी मित्रपत्नी तथैव च।
पत्नीमाता स्वमाता च पोचैता मातरः स्मृताः॥

राजा की पत्नी, गुरु की पत्नी, मित्र की पत्नी, पत्नी की माता अर्थात् सास और जन्म देने वाली अपनी माता- ये पाँच माताएं मानी गई हैं। इस श्लोक में चाणक्य ने पाँच माताओं को प्रतिष्ठापित करते हुए उनके प्रति कर्त्तव्यों के निर्वहन की बात कही है। अर्थात् राजा की पत्नी, गुरु की पत्नी, मित्र की पत्नी, सास और अपनी जननी के साथ मान व्यवहार करना चाहिए।

१९. एकोदरसमुद्भूता एक नक्षत्रजातकाः।
न भवन्ति समाः शीले यथा बदरिकण्टकाः॥

एक ही माता के गर्भ और एक ही नक्षत्र में उत्पन्न हुई संतान गुण, कर्म और स्वभाव से एक जैसे नहीं होते। जैसे बेर वृक्ष

में फल और उनके कांटे।

चाणक्य कहते हैं कि जिस प्रकार बेर के एक ही वृक्ष पर फल और कांटे भी होते हैं, उसी प्रकार यह आवश्यक नहीं कि एक ही माता-पिता से जन्म लेने वाले बच्चों के गुण, कर्म और स्वभाव एक जैसे हों।

२०. नाह्यस्ति कामसमो व्याधिर्नाह्यस्ति मोहसमो रिपुः।
नाह्यस्ति कोपसमो वद्रिर्नाह्यस्ति ज्ञानात् परं सुखम्॥

कामवासना के समान दूसरा कोई रोग नहीं। मोह के समान कोई शत्रु नहीं। क्रोध के जैसी कोई आग नहीं और ज्ञान से बढ़कर सुख देने वाली कोई वस्तु नहीं।

चाणक्य के अनुसार कामवासना में लिप्त रहने वाला व्यक्ति अनेक रोगों का शिकार हो जाता है, व्यभिचारी होने से वह अपना नाश कर लेता है। व्यक्ति को क्रोध जला डालता है और जो व्यक्ति बुद्धि और विवेक से कार्य करता है, वह सदा सुखी रहता है। इस संसार में ज्ञान से बढ़कर कोई सुख नहीं होता है।

२१. वित्तेन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।
मृदुना रक्ष्यते भूपः सत्स्त्रिया रक्ष्यते गृहम्॥

धर्म की रक्षा धन से की जाती है। विद्या को योग साधना के द्वारा बचाया जा सकता है। मृदुल स्वभाव से राजा की रक्षा होती है और सच्चरित्र स्त्रियाँ घर की रक्षक होती हैं।

धर्म की रक्षा अर्थात् धार्मिक अनुष्ठान के लिए धयान की आवश्यकता होती है। विद्या को स्थिर रखने के लिए निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता होती है। राजा की रक्षा मधुर व्यवहार के कारण होती है। यानी राजा को अपनी प्रजा के प्रति मृदुल व्यवहार करना चाहिए। इसी प्रकार कुलीन स्त्रियों से घर-परिवार की रक्षा होती है।

२२. दारिद्र्यनाशनं दानं शीलं दुर्गतिनाशनम्।
अज्ञाननाशिनी प्रज्ञा भावना भयनाशिनी॥

दान देने से दरिद्रता नष्ट होती है, शालीनता से कष्ट दूर होते हैं, बुद्धि से अज्ञान नष्ट होता है, इसी तरह ईश्वर की भक्ति से भय दूर होता है।

आचार्य चाणक्य ने कहा है कि दान देने से दरिद्रता नष्ट होती है। अच्छे गुणों और सुशीलता से कष्ट दूर हो जाता है, इसी प्रकार जो व्यक्ति नित ईश्वर की प्रार्थना करते हैं, वे सदैव दुर्गुणबचेरहते हैं।

२३. सन्तोषाह्यमृत-तृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
न च तद् धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥

व्यक्ति को संतोष- रूपी अमृत से तृप्त होने पर जो सुख-शांति मिलती है, वह धन की प्राप्ति के लिए इधर-उधर भटकने से प्राप्त नहीं हो सकती।

चाणक्य कहते हैं कि इस संसार में संतोष से बढ़कर दूसरा कोई सुख नहीं होता।

२४. सिंहादेकं बकादेकं शिक्षेच्चत्वारि कुक्कुटात्।
वायसात्पञ्च शिक्षेच्च षट् शुनस्त्रीणि गर्दभात्॥

शेर और बगुले से एक-एक गुण, गधे से तीन, मुर्गे से चार, कौए से पाँच गुण और कुत्ते से छह गुण सीखे जा सकते हैं। आगामी चार श्लोकों में इन गुणों का वर्णन किया गया है।

चाणक्य के अनुसार हमें अच्छे गुण जहाँ भी मिलें उसे अवश्य ग्रहण कर लेना चाहिए।

२५. प्रभूतं कार्यमल्पं वा यन्नरः कर्तुमिच्छति।
सर्वारम्भेण तत्कार्यं सिंहादेकं प्रचक्षते॥

कार्य छोटा हो या बड़ा, उसे पूरी शक्ति लगाकर करना चाहिए। जैसे सिंह अपने हर शिकार को कभी नहीं छोड़ता।

इसका अर्थ है कि व्यक्ति जो भी कार्य करे, वह छोटा हो या बड़ा, उसे पूरी तन्मयता के साथ करना चाहिए, तभी उसमें सफलता प्राप्त होती है।

२६. इन्द्रियाणि च संयम्य बकवत् पण्डितो नरः।
देशकालबलं ज्ञात्वा सर्वकार्याणि साधयेत्॥

बुद्धिमान व्यक्ति को अपनी इन्द्रियों को वश में करके बगुले के समान पूरी एकाग्रता से अपने कार्य को सिद्ध करना चाहिए।

चाणक्य के अनुसार बुद्धिमान व्यक्ति को देश, काल के अनुसार अपने सामर्थ्य को पहचानते हुए पूरी एकाग्रता से कार्य को करना चाहिए। तभी सफलता प्राप्त होती है।

२७. प्रत्युत्थानं च युद्धं च संविभागं च बन्धुषु।
स्वयमाक्रम्य भुक्तं च शिक्षेच्चत्वारि कुक्कुटात्॥

सूर्योदय से पहले जागना, युद्ध के लिए सदा तैयार रहना, अपने बंधुओं को उनका उचित हिस्सा देना ओर स्वयं आक्रमण करके अपना भोजन प्राप्त करना–ये चार बातें मुर्गे से सीखनी चाहिए। अथर्ववेद में बताए गए उपदेश को चाणक्य ने मुर्गे के उदाहरण से समझाया है।

२८. गूढं च मैथुनं धाष्टर्यं काले काले च संग्रहम्।
अद्यमळामविश्वासं पोच शिक्षेच्च वायसात्॥

गुप्त स्थान पर सम्भोग करना, ढीठ होना, समय–समय पर आवश्यक वस्तुएं संग्रहीत करना, निरन्तर सावधान रहना और किसी दूसरे पर पूरी तरह विश्वास नहीं करना, ये पाँच बातें कौए से सीखनी चाहिए।

२९. बह्वाशी स्वल्पसन्तुष्टः सुनिद्रो लघुचेतनः।
स्वामिभक्तश्च शूरश्च षडेते श्वानतो गुणाः॥

कुत्ते को जब खाने को मिलता है, तो बहुत अधिक खाता है और जब उसे कुछ भी नहीं मिलता तो भी वह संतुष्ट रहता है। वह गहरी नींद सोता है, परन्तु थोड़ी–सी आहट होने पर एकदम जग जाता है। वह स्वामिभक्त होता है। स्वामी के प्रति वफादारी रखता है और लड़ने में जरा भी नहीं घबराता–ये छः गुण कुत्ते से सीखने चाहिए।

३०. सुश्रान्तोह्यपि वहेद् भारं शीतोष्णं न च पश्यति।
सन्तुष्टश्चरते नित्यं त्रीणि शिक्षेच्च ग=भात्॥

व्यक्ति को गधे से तीन बातें सीखनी चाहिए–अत्यंत थके हुए होने पर भी बोझ ढोना, सर्दी–गर्मी की चिन्ता न करना, सदा संतोष से विचरण करना।

चाणक्य कहते हैं कि व्यक्ति को जो काम सौंपा जाए, उसे अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर करना चाहिए। उसे सर्दी–गर्मी अर्थात् सुख–दुःख की परवाह नहीं करनी चाहिए और उसे अपनी स्थिति से संतुष्ट रहकर जीवन को अच्छी तरह बिताना चाहिए।

३१. अत्यन्तकोपः कटुका च वाणी दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम्।
नीचप्रसत्रः कुलहीनसेवा चिद्रानि देहे नरकस्थितानाम्॥

अत्यंत क्रोधी, कड़वी वाणी बोलने वाले, दरिद्र, अपने सम्बन्धियों से बैर रखने वाले, दुष्ट व्यक्तियों के साथ रहने वाले और नीच कुल के लोगों की सेवा करने वाले मनुष्य को पृथ्वी लोक में ही नरक के दुःखों का आभास हो जाता है।

३२. पुष्पे गन्धां तिले तैलं काष्ठेह्यग्निं पयसि घृतम्।
इक्षौ गुडं तथा देहे पश्याह्यह्यत्मानं विवेकतः॥

जिस प्रकार फूल में सुगन्ध, तिलों में तेल, सूखी लकड़ी में अग्नि, दूध में घी और ईख में मिठास अदृश्य रूप में उपस्थित होते हैं, वैसे ही शरीर में आत्मा और परमात्मा विद्यमान रहते हैं।

इस श्लोक में चाणक्य कहते हैं कि विवेक के सहारे अपने भीतर अदृश्य रूप में उपस्थित आत्मा को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

३३. अधामा धनमिच्छन्ति धनं मानं च मध्यमाः।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम्।

नीच कोटि के लोग केवल धन की इच्छा करते हैं, मध्यम श्रेणी के लोग धन और सम्मान दोनों की और उत्तम कोटि के मनुष्य केवल आदर–सम्मान की ही इच्छा रखते हैं।

इस श्लोक में चाणक्य यश–सम्मान की महत्ता को बताते हुए कहते हैं कि उत्तम कोटि के लोग धन की अपेक्षा सम्मान की कामना करते हैं।

३४. नाग्निहोत्रं विना वेदा न च दानं विना क्रिया।
न भावेन विना सिद्धिस्तस्माद्भावो हि कारणम्।

यज्ञ किए बिना वेदों का अध्ययन करना व्यर्थ है तथा दान के बिना यज्ञ करना व्यर्थ है। भाव के बिना किसी भी कार्य में फलता प्राप्त नहीं होती है।

चाणक्य के अनुसार किसी भी कार्य को सिद्ध करने के लिए उसमें आस्था होना आवश्यक है।

३५. अजीर्णे भेषजं वारि जीर्णे वारि बलप्रदम्।
भोजने चामृतं वारि भोजनान्ते विषप्रदम्।।

अपच की स्थिति में जल पीना दवा के समान होता है, भोजन पचने के बाद जल पीने से शरीर का बल बढ़ता है, भोजन के बीच में जल पीना अमृत के समान होता है, परन्तु भोजन के अंत में जल पीना विष के समान हानिकारक होता है।

३६. मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत् त्यज।
क्षमाह्यह्यार्जवं दया शौचं सत्यं पीयूषवद् भज।।

यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो बुरी आदतों का विष के समान त्याग कर दो और क्षमा, सहनशीलता, दया, पवित्रता और सत्य को अमृत के समान ग्रहण करो।

चाणक्य कहते हैं कि मुक्ति की इच्छा रखने वालों को विषय भोगों का त्याग कर देना चाहिये और सहनशीलता, धैर्य, विनम्रता, उदारता, दया, पवित्रता और सत्य का आचरण करना चाहिए। इससे ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

३७. सर्वौषधीनाममृता प्रधान सर्वेषु सौख्येष्वशनं प्रधानम्।
सर्वेन्द्रियाणां नयनं प्रधानं सर्वेषु गात्रेषु शिरः प्रधानम्।।

सभी ओषधियों में अमृता (गिलोय) सबसे प्रमुख है, सुख देने वाले पदार्थों में भोजन सबसे प्रमुख है, मनुष्य की इन्द्रियों में आँखें सबसे प्रमुख हैं तथा शरीर के सभी अंगों में मनुष्य का सिर अर्थात् बुद्धि सर्वश्रेष्ठ है।

३८. दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।
शास्त्रपूतं वदेद् वाक्यं मनः पूतं समाचरेत्।।

अच्छी तरह आंख से देखकर आगे कदम बढ़ाना चाहिए, कपड़े से छानकर जल पीना चाहिए, शास्त्रों के अनुसार ही कोई बात कहनी चाहिए और कोई भी कार्य अच्छी तरह सोच-समझकर ही करना चाहिए।

इस श्लोक में चाणक्य ने मनुष्य को अपने प्रत्येक कार्य को पूरी एकाग्रता और ध्यान से करने के लिये कहा है।

३९. सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम्।
सुखार्थिनः कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतः सुखम्।।

यदि सुख की इच्छा हो तो विद्या अध्ययन छोड़ देना चाहिए और यदि विद्यार्थी विद्या सीखने की इच्छा रखता है तो उसे सुख का त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि सुख चाहने वाला विद्या प्राप्त नहीं कर सकता और जो विद्या प्राप्त करना चाहता है, उसे सुख नहीं मिल सकता।

४०. येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।।

जिसके पास न विद्या है, न तप है, न उसमें दान देने की प्रवृत्ति है, न ज्ञान है, नम्रता नहीं है, गुण और धर्माचरण की भावना भी नहीं है, ऐसे मनुष्य पशु के रूप में इस संसार में विचरते हैं।

इस प्रसिद्ध श्लोक में चाणक्य ने विद्या के महत्व को इंगित करते हुए विद्याहीन मनुष्य को पशु के समान बताया है।

४१. यस्य नास्ति स्वयं द्यज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दद्यणः किं करिष्यति।।

जिसके पास अपनी बुद्धि नहीं है, शास्त्र उसका क्या कर सकेगा। जिस प्रकार अंधो के लिये दप्रण का क्या उपयोग है?

४२ बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धस्तु कुतो बलम्।
वने सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः।।

जिसके पास बुद्धि है, उसके पास बल भी होता है, बुद्धिहीन व्यक्ति के पास शक्ति नहीं होती। जिस प्रकार जंगल में अपनी शक्ति के मद में मस्त सिंह को एक खरगोश ने मार डाला था।

कहने का अर्थ यह है कि बुद्धिमान व्यक्ति ही बल का सही उपयोग कर सकता है जबकि बुद्धिहीन, बलवान होते हुए भी उसका उपयोग नहीं कर पाता।

४३. दातृत्वं प्रियवक्तृत्वं धीरत्वमुचितज्ञता।
अभ्यासेन न लभ्यन्ते चत्वारः सहजा गुणाः।।

दान देने की इच्छा, मधुर वचन बोलना, सहनशीलता और उचित-अनुचित का ज्ञान-ये चार बातें मनुष्यों में सहज स्वभाव से ही होती हैं, इन्हें अभ्यास से प्राप्त नहीं किया जा सकता।

चाणक्य मानते हैं कि दानशीलता, मृदुभाषिता, सहनशीलता और प्रबद्ध वैचारिकता पूर्वजन्म के संस्कार व कुल की वमपा से प्राप्त होती हैं।

४४. न दुर्जनः साधुदशामुपैति बहुद्यकारैरपि शिक्ष्यमाणः।
आमूलसिक्तः पयसा घृतेन न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति॥

जिस प्रकार नीम के वृक्ष की जड़ को दूध और घी से सींचने पर भी उसमें मधुरता पैदा नहीं होती, उसी द्यकार दुर्जन व्यक्ति को अनेक प्रकार के उपदेश देने पर भी उसमें सज्जनता नहीं आती।

४५. न विप्रपादोदककमानि न वेदशास्त्रध्वनिगर्जितानि।
स्वाहा-स्वधाकार-विवर्जितानि श्मशानतुल्यानि गृहाणि तानि॥

जिन घरों में साधु-सन्तों के पांव नहीं धोए जाते, जहां वेद शास्त्रों के पाठ की ध्वनि न गूंजती हो, जिस घर में स्वाहा और स्वधा शब्दों का उच्चारण नहीं होता, वे घर श्मशान के समान होते हैं।

इस श्लोक में चाणक्य ने विद्वानों के समान सभी मनुष्यों के लिये वेद अध्ययन और यज्ञ को आवश्यक बताया है।

४६. सत्यं मातापिता ज्ञानं धर्मो भ्राता दया स्वसा।
शान्तिः पत्नी क्षमा पुत्र षडेते मम बान्धवाः॥

सत्य मेरी माता है, ज्ञान मेरा पिता है, धर्म मेरा भाई है और दया ही मेरी बहन है, शांति मेरी पत्नी है और क्षमा मेरा पुत्र है-यह छह ही मेरे परिवार के सदस्य हैं।

चाणक्य ने इस श्लोक में संत महात्मा के परिवारीजनों के बारे में बताया है।

४७. साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधावः।
कालेन फलते तीर्थं सद्यः साधुसमागमः॥

सज्जन पुरुष के दर्शन से तीर्थ के समान पुण्य प्राप्त होता है, तीर्थाटन समय के अनुसार फल देता है, परन्तु साधुओं की सत्संगति करने से ही मन की सभी आशाएं तत्काल पूर्ण हो जाती हैं।

४८. नाहारं चिन्तयेत् प्राज्ञो धर्ममेकं हि चिन्तयेत्।
आहारो हि मनुष्याणां जन्मना सह जायते॥

बुद्धिमान व्यक्ति को भोजन के सम्बन्ध में चिंता नहीं करनी चाहिए, उसे केवल धर्म का ही चिन्तन करना चाहिए, क्योंकि मनुष्य के भोजन का प्रबन्ध तो उसके जन्म के साथ ही हो जाता है।

४९. मातृवत् परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति॥

जो व्यक्ति दूसरी स्त्रियों को माता के समान, दूसरों के धन को मिट्टी के ढेले के समान समझता है और संसार के सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान देखता है, वही सत्य को देखता है।

चाणक्य कहते हैं कि इस संसार में वही व्यक्ति बुद्धिमान है जो दूसरे की स्त्री को माता, दूसरों के धन को मिट्टी और सभी प्राणियों को अपने समान समझता है।

५०. धर्मे तत्परता मुखे मधुरता दाने समुत्साहिता
मित्रेह्यवेत्र्चकता गुरौ विनयता चित्तेऽति गम्भीरता॥
आचारे शुचिता गुणे रसिकता शास्त्रेषु विज्ञानिता
रूपे सुन्दरता शिवे भजनता सत्स्वेव संदृश्यते॥

धर्म में निरन्तर लगे रहना, मुख से मीठे वचन बोलना, दान देने में उत्सुक रहना, मित्र के प्रति भेद-भाव न रखना, गुरु के प्रति नम्रता और हृदय में गंभीरता, आचरण में पवित्रता, अच्छे गुणों के ग्रहण करने में रुचि, शास्त्रों का विशेष ज्ञान, रूप में सौन्दर्य और प्रभु में भक्ति का होना आदि गुण सज्जन पुरुषों के लक्षण होते हैं।

५१. मुहूर्तमपि जीवेच्च नरः शुक्लेन कर्मणा।
न कल्पमपि कष्टेन लोकद्वयविरोधिना॥

मनुष्य को यदि एक मुहूर्त यानी कुछ पलों का जीवन मिले तो भी उसे उत्तम कार्य करना चाहिए, जबकि इस लोक-परलोक में कुकर्म करते हुए हजारों वर्ष जीना भी व्यर्थ है।

चाणक्य कहते हैं कि मनुष्य का जीवन बहुत छोटा हो तो भी उसे अच्छे कर्म करते रहना चाहिए। अर्थात् मनुष्य का धर्म अच्छे कर्म करना है।

५२. **बन्धाय विषयाह्यासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः।**
मन एवं मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।।

मनुष्य अपने विचारों का दास है, मनुष्य अपने विचारों के कारण ही बंधनों में फंसता है, उसी के कारण स्वयं को बंधनों से मुक्त समझता है। विषय-वासनाओं से मुक्त होकर ही मनुष्य को मोक्ष प्राप्त होता है।

चाणक्य कहते हैं कि मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण उसका मन होता है, अतः उसे वश में करना चाहिए।

५३. **यथा धेनुसहत्रेषु वत्सो गच्छति मातरम्।**
तथा यच्च कृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति।।

जैसे हजारों गायों के मध्य में खड़ा बछड़ा केवल अपनी माँ के ही पास जाता है, उसी प्रकार कर्त्ता के द्वारा जो कर्म किया जाता है, वह करने वाले के पीछे-पीछे चलता है।

चाणक्य कहते हैं कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसी के अनुरूप उसे फल प्राप्त होता है।

५४. **स जीवति गुणा यस्य यस्य धर्मः स जीवति।**
गुणधर्मविहीनस्य जीवितं निष्प्रयोजनम्।।

वास्तव में वही जीवित कहे जाने योग्य है, जिसमें गुण और धर्म उपस्थित रहता है। गुणों और धर्म से हीन मनुष्य का जीवन व्यर्थ है। उसी व्यक्ति का जीवन सार्थक कहा जा सकता है, जो सद्गुणी और धार्मिक है। अधर्मी और गुणहीन व्यक्ति के जीवन की कोई उपयोगिता नहीं होती।

५५. **पठन्ति चतुरो वेदान् धर्मशास्त्रण्यनेकशः।**
आत्मानं नैव जानन्ति दर्वी पाकरसं यथा।।

जो लोग वेद शास्त्रों का अध्ययन करने के बाद भी आत्मज्ञान से रहित होते हैं, वे उस कलछी जैसे होते हैं, जो स्वादिष्ट व्यंजनों में रहती है, परन्तु उसे स्वाद का ज्ञान नहीं होता।

चाणक्य के अनुसार अर्जित ज्ञान को जीवन में उतारना आवश्यक है। यदि मनुष्य ऐसा नहीं करता तो उसका जीवन व्यर्थ होता है।

५६. **अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति।**
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं तद् विनश्यति।।

गलत तरह से कमाया हुआ धन मात्र दस वर्ष तक आदमी के पास ठरहता है और ग्यारहवां वर्ष प्रारम्भ होते ही वह धान समूल नष्ट हो जाता है।

इस श्लोक में चाणक्य ने अनुचित विधि से कमाए गए धन की परिणति को स्पष्ट किया है।

५७. **छिन्नोह्यपि चन्दनतरुर्न जहाति गन्धं**
वृद्धोऽपि वारणपतिर्न जहाति लीलाम्।
यन्त्रार्पितो मधुरतां न जहाति चेक्षुः
क्षीणोऽपि न त्यजति शीलगुणान् कुलीनः।।

कटा हुआ चन्दन का वृक्ष अपनी सुगन्ध नहीं छोड़ता, बूढ़ा हो जाने पर भी हाथी अपनी क्रीड़ाएं नहीं छोड़ता, कोल्हू से पेरने के बाद भी ईख अपनी मिठास नहीं छोड़ती। इसी प्रकार कुलीन मनुष्य निर्धन हो जाने पर भी अपनी सुशीलता, शालीनता को नहीं छोड़ता।

कहने का अशय है कि परिस्थितियाँ प्रतिकूल होने पर भी सज्जन व्यक्ति अपनी सज्जनता का त्याग नहीं करते हैं।

५८. **गुणैरुत्तमतां याति नौच्चैरासनसंस्थिताः।**
प्रासादशिखरस्थोह्यपि काकः ञ्क गरुडायते।।

मनुष्य अपने उत्कृष्ट गुणों के कारण ही श्रेष्ठता को प्राप्त होता है। मात्र ऊँचे स्थान पर बैठने से श्रेष्ठ नहीं बना जा सकता। राजभवन की ऊँची चोटी पर बैठने से ही कौआ गरुड़ नहीं बन सकता।

५९. **गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते न महत्योऽपि सम्पदः।**
पूर्णेन्दु किं तथा वन्द्यो निष्कलङ्को यथा स्त्रशः।।

अच्छे गुणों की सभी जगह पूजा होती है। गुणहीन मनुष्य के पास यदि धन के भण्डार भी हों तो भी उसे आदर-सम्मान प्राप्त

नहीं होता। बहुत थोड़े से प्रकाश वाला, दाग-धब्बों से रहित दूज के चाँद को जिस प्रकार पूजा जाता है, क्या पूर्णिमा के चन्द्रमा को वैसा सम्मान प्राप्त होता है।

६०. पुस्तकेषु च या विद्या परहस्तेषु यद्धनम्।
उत्पन्नेषु च कार्येषु न सा विद्या न तद्धनम्॥

जो विद्या पुस्तकों में लिखी है, पर आचरण में नहीं है। जो धन दूसरों के पास है, आवश्यकता पड़ने पर न तो वह विद्या काम आती है और न ही वह धन।

कहने का आशय यह है कि आवश्यकता पड़ने पर काम आने वाली विद्या और धन ही सार्थक होता है।

६१. प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता॥

मधुर वचन से सभी प्राणी प्रसन्न और संतुष्ट रहते हैं। अतः व्यक्ति को सदैव मीठा ही बोलना चाहिए, मनुष्य को वाणी से दरिद्र नहीं होना चाहिए।

चाणक्य कहते हैं कि मृदुभाषी व्यक्ति सभी को प्रिय होते हैं। मधुर भाषण में सम्मोहन शक्ति होती है।

६२. संसारविषवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे।
सुभाषितं च सुस्वादु सद्भ तिः सुजने जने॥

इस संसाररूपी विष-वृक्ष पर दो फल ही अमृत जैसे मीठे होते हैं, एक मधुर वाणी और दूसरी सज्जनों की संगति।

चाणक्य के अनुसार मधुर वचन और सत्संगति से व्यक्ति का कल्याण हो जाता है।

६३. आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मोहितेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

भोजन, नींद, भय और संतान की उत्पत्ति (संभोग) करना-ये सब मनुष्य और पशु में एक समान होती हैं। पशुओं की अपेक्षा मनुष्य में ज्ञान अधिक होता है, अर्थात् ज्ञानहीन मनुष्य पशु के ही समान होता है।

विदुर नीतिः

1- **षड् दोषा पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।**
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता।।

कल्याण अथवा उन्नति चाहने वाले मनुष्य को निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध आलस्य और प्रमाद ये छः दोष त्याग देने चाहिये।

विशेष-क्रोध से यहाँ क्रोधमूलक द्वेष का ग्रहण करना चाहिए। तेरे पुत्र में पाण्डवों के प्रति द्वेष है, उससे वह नष्ट हो जाएगा यह संकेत किया है।

2- **दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोध तान्।**
मत्तः प्रमत्तः उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभूक्षितः।।
त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी च ते दश।
तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पण्डितः।।

हे घृतराष्ट्र! दस प्रकार के लोग धर्म को नहीं जानते उन्हें तुम जानो। वे ये हैं-मद्यपान से मत्त, विषयासक्त मन वाला होने से प्रमत्त, उन्माद आदि रोग से युक्त उन्मत्त, थका हुआ, क्रोध से युक्त, भूखा, शीघ्रता करने वाला, लोभी, डरा हुआ और दसवां कामी। इसलिए पण्डित को चाहिए कि इनसे सम्पर्क न रखे।

विशेष-त्वरमाण ओर क्षिप्रकारी में अन्तर है। क्षिप्रकारी वह होता है जो किसी कार्य को ठीक ढंग से अल्प समय में कर लेता है और त्वरमाण कहते हैं जल्दबाज को जो कार्य के सम्बन्ध में पूर्वापर का विचार किये बिना ही कार्य में प्रवृत हो जाता है। इसलिए क्षिप्रकारित्व गुण माना जाता है और त्वरमाणत्व दोष।।७६२, ७६३।।

3- **अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं चं।**
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च।।

हे राजन्-प्रज्ञा (=विशेष ज्ञान), कुलीनता, इन्द्रिय-दमन, ज्ञान, पराक्रम, मितभाषी होना, यथाशक्ति दान और कृतज्ञता ये आठ गुण पुरुष को प्रकाशित करते हैं, बढ़ाते हैं।

विशेष-कुलीनता का सम्बन्ध वैभव-सम्पन्न घराने से नहीं है। इस का सम्बन्ध है अपने कुल की प्रतिष्ठा का ध्यान रखने से, चाहे वह धनवान् हो चाहे निर्धन। जिन कुलों में अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान रखा जाता है उस कुल के पुरुषों में अनेक गुण स्वभावतः प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसे कुलीन घराने के मनुष्य अपने कुल को अप्रतिष्ठा से बचाने के जिन विविध प्रकार के कष्टों को सहन कर लेते हैं, परन्तु कुल की अप्रतिष्ठा नहीं होने देते। इस प्रकार के कुल में उत्पन्न हुए पुरुष कुलीन कहलाते हैं।

शास्त्रकारों ने राजपरिषद् और मन्त्रीमण्डल के पुरुषों के चुनाव में एक गुण कुलीनता का भी निर्देश किया है, उसका कारण यह है कि ऐसे महनीय गोप्य पदों पर रखे गए व्यक्तियों से यदि कोई राजा दुर्भाग्य वश दुर्व्यवहार कर बैठे तो वे स्वयं राजकीय यातना को सहर्ष सहन कर लेते हैं, पर बदला लेने की भावना से वे राज्य के विशेष रहस्य अन्य जनों को प्रकट नहीं करते। यही बात सेवकों पर लागू होती है। ऐसे सेवक कभी नमक-हरामता प्रदर्शित नहीं करते हैं।

कुलीनता=अभिजातता का वैशिष्ट्य सदा रहा है और रहेगा, परन्तु इसका सम्बन्ध धन-सम्पन्नता के साथ नहीं है, यह ध्यान रखना चाहिए। आजकल कुल की महत्ता उसके सद्गुणों से न आंकी जाकर धन से आंकी जा रही है, यह मूर्खता है।

4- **त्यजेद् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।**
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।।

मनुष्य को चाहिए कि कुल की उन्नति और सुख शान्ति के लिए एक अहितकारी व्यक्ति को छोड़े देवे उसकी उपेक्षा कर दे, ग्राम की उन्नति व सुख समृद्धि के लिए कुल को छोड़ देवे, प्रदेश के कल्याण के लिए ग्राम को छोड़ देवे और अपनी आत्मा की उन्नति वा सुख समृद्धि के लिए पृथिवी के राज्य को भी छोड़ देवे।

विशेष-यह नियम है देश जाति और समाज की सुख शान्ति एवं उन्नति का। जो परिवार का नायक वा राजा इस नियम का आश्रयण नहीं करते वह अपनी हानि तो करते ही हैं, अपने कुल, ग्राम, नगर एवं प्रदेश के दुःख के कारण भी बनते हैं।।17।।

वैराग्य एवं नीति शतकम् (भर्तृहरि)

1. **यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्,**
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।

यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतम्,
तदा मूर्वोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥

(भर्तृहरिकृत-नीतिशतक, श्लो0 07)

व्याख्या- जब मुझे कुछ ज्ञान हुआ तो मैं हाथी के समान मदांध होकर अपने मन में ज्ञानी होने का गर्व करने लगा और समझने लगा कि मैं सर्वज्ञ हूँ। मेरे जैसा कोई नहीं। लेकिन जब मैं विद्व-समाज से, ज्ञानीजनों से, सद-संगति से कुछ-कुछ प्राप्त कर सका या जब मुझे यथार्थ का कुछ-कुछ ज्ञान हुआ, तब मेरा वह मद ज्वर के समान उतर गया और मैंने जाना कि मैं तो निपट मूर्ख हूँ।

2. **शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्त्रेण सूर्यातपो,**
नागेन्द्रो निशतांकुशेन समदो दण्डेन गोगद्रभौ।
व्याधिभैषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषम्,
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥

(भर्तृहरिकृत-नीतिशतक, श्लो0 11)

व्याख्या- अग्नि का जल से, धूप का छाते से, मदोन्मत्त हाथी का अंकुश से, बैल व गधे आदि का डंडे से, रोगों का औषधियों से और विष का मन्त्रादि प्रयोगों द्वारा निवारण हो जाता है। इस तरह शास्त्रों में अनेक प्रकार के विकारों की अनेक औषधियाँ वर्णित हैं, किन्तु मूर्खता की शास्त्रों में कोई औषधि नहीं बताई गई है।

3. **केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्जवला,**
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्द्धजाः।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम॥

(भर्तृहरिकृत-नीतिशतक, श्लो० १९)

व्याख्या- चन्द्रमा के समान चमचमाते हुए हीरे मोती से बने आभूषण, जो हाथों में और गले में धारण किये जाते हैं, वे मनुष्य को शोभायमान नहीं करते और न ही स्नान, तैल, इत्र, पुष्पादि से किया हुआ श्रृंगार तथा सजाये-सँवारे हुए बाल मनुष्य को भूषित करते हैं। मनुष्य का सच्चा आभूषण तो शुद्ध, सरल, सत्य, सुमधुर वाणी ही है। अन्य सभी आभूषण तो धीरे-धीरे काल-क्रम सेन हो जाते हैं, परन्तु वाणी रूपी सच्चा आभूषण सदैव जगमगाता रहता है।

4. **विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्न गुप्तं धनं,**
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बंधुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता,
विद्या राजसु पूज्यते न तु धनं विद्याविहीनः पशुः॥

(भर्तृहरिकृत-नीतिशतक, श्लो0 11)

व्याख्या- विद्या मनुष्य की शोभा है। विद्या ही मनुष्य का अत्यन्त गुप्त धन है। विद्या भोग्य पदार्थ, यश और सुख देने वाली गुरुओं की भी गुरु है। विदेश यात्रा में विद्या कुटुम्बीजनों और मित्रों के समान सहायक होती है। विद्या ही सबसे बड़ी देवता है, हर स्थान पर विद्या की ही पूजा होती है न कि धन की। वास्तव में देखा जाये तो विद्याहीन मनुष्य पशु के तुल्य ही है।

5. **प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,**
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारभ्यचोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥ (भर्तृहरिकृत-नीतिशतक, श्लो. २६)

व्याख्या- नीच अधम श्रेणी के मनुष्य कठिनाईयों के भय से किसी उत्तम कार्य को प्रारम्भ ही नहीं करते। मध्यम श्रेणी के मनुष्य कार्यों को प्रारम्भ करके विघ्नों से घबराकर बीच में हो छोड़ देते हैं, परन्तु उत्तम श्रेणी के वीर मनुष्य विघ्न बाधाओं से बार-बार पीड़ित होने पर भी प्रारम्भ किये हुए उत्तम कार्य को पूरा किये बिना नहीं छोड़ते।

6 . **मनसि वचसि काये**
पुण्यपीयूषपूर्णात्रिभुवनमुपकारश्रेणीभिः प्रीणयन्तः ।

परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं,
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥

(भर्तृहरिकृत-नीतिशतक, श्लो० ७४)

व्याख्या-मन, वचन, और शरीर के द्वारा प्राणिमात्र का कल्याण करने की भावना से युक्त हुए, शुभकर्मों से तीनों लोकों का उपकार करके सबको तृप्त करने वाले तथा दूसरों के छोटे-छोटे गुणों को भी पर्वत के समान बड़ा मानकर अपने हृदय में प्रसन्न होने वाले महात्मा संसार में कितने हैं? अर्थात् बहुत कम हैं।

7. **क्वचित् भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनं,**
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो,
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥

(भर्तृहरिकृत-नीतिशतक, श्लो० ७७)

व्याख्या- कभी सुन्दर शय्याओं पर शयन करते हैं तो कभी भूमि पर ही सो जाते हैं। कभी अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट पकवानों का आनन्द लेते हैं तो कभी शाक-पात खाकर ही निर्वाह कर लेते हैं। कभी सुन्दर वस्त्रों को धारण करते हैं, तो कभी गुदड़ी से ही शरीर को ढक लेते हैं। विचारशील-विवेकी व्यक्ति अपने लक्ष्य की ओर ही दृष्टि रखे होते हैं, मार्ग में आने वाले सुख-दुःख की परवाह नहीं किया करते।

भावार्थ- मनस्वियों का अपने कार्य से ही प्रयोजन होता है उन्हें सुख-दुःख की चिन्ता नहीं सताती। वस्तुतः वे इस प्रकार की प्रवृत्ति के होते हैं कि जो मिला उसी में संतोष कर लिया और लगनपूर्वक अपने कार्य में लगे रहे।

8. **निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,**
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

(भर्तृहरिकृत-नीतिशतक, श्लो० ७९)

व्याख्या- नीति में निपुण व्यक्ति चाहे निन्दा करें या प्रशंसा, धन-ऐश्वर्य की प्राप्ति हो या जो पास में हो वह भी चला जावे, आज ही मृत्यु हो जाए या लम्बे काल तक जीवन बना रहे, किन्तु जो धीर व्यक्ति हैं, वे सत्य, न्याय, आदर्श के मार्ग से एक कदम भी इधर-उधर नहीं हटते, प्रसन्न होकर कष्टों को सहन करते हुए दृढ़ता से उसी मार्ग पर चलते रहते हैं।

९. **आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।**
नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कुर्वाणो नावसीदति॥

(भर्तृहरिकृत-नीतिशतक, श्लो0 85)

व्याख्या- महाराज भर्तहरि का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु उसके शरीर में रहने वाला उसका आलस्य ही है। बाहरी शत्रु उसे इतनी हानि नहीं पहुँचाते जितनी हानि आलस्य पहुँचाता है। वे कहते हैं कि मनुष्य का सबसे बड़ा मित्र उसका पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ के करते रहने पर उसे सदा ही सुख की अनुभूति होती है।

10. **वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या,**
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला,
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः॥

(भर्तृहरिकृत-नीतिशतक, श्लो0 45)

व्याख्या- मुनि राजा से कहता है कि हे राजन् ! हम वृक्षों की छाल से बने वस्त्रों को पहिन कर सन्तुष्ट हैं और तुम सोना-चाँदी, हीरे-जवाहरात आदि लक्ष्मी को प्राप्त करके सन्तुष्ट हैं। इस प्रकार हम दोनों का संतोष तो समान ही है, क्योंकि सन्तोष में कोई भेद नहीं है। संसार में दरिद्र तो वह व्यक्ति होता है जिसकी तृष्णाएँ बहुत होती हैं। मन के सन्तुष्ट होने पर कौन निर्धन है और कौन धनवाद

11. **एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान्परित्यज्य ये,**

सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये तु निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥

(भर्तृहरिकृत-नीतिशतक, श्लो० ७९)

व्याख्या- संसार में वे मनुष्य सत्पुरुष हैं। जो अपने स्वार्थ को छोड़कर दूसरों की भलाई के लिए अपने तन-मन-धन को लगा देते हैं। दूसरे प्रकार के मनुष्य सामान्य कहलाते हैं जो अपने काम न बिगाड़ते हुए दूसरों की भी भलाई करते हैं। तीसरे प्रकार के मनुष्य राक्षस कहलाते हैं जो अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए दूसरों के बने बनाये काम को बिगाड़ देते हैं। परन्तु जो लोग बिना किसी स्वार्थ के (=अपने लाभ के बिना ही) व्यर्थ ही दूसरों की हानि करते हैं, ऐसे चौथे प्रकार के मनुष्यों को किस नाम से पुकारा जाय हम नहीं जानते, आप स्वयं ही सोचें।

12. **परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।**
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम।

(भर्तृहरिकृत-नीतिशतक, श्लो० ३५)

व्याख्या- परिवर्तनशीलता इस संसार का नियम है। इस संसार में कौन नहीं मरता? कौन जन्म नहीं लेता? लेकिन जन्म लेना उसका ही सार्थक है जो अपने कुल को गौरवान्वित करता है तथा अपने वंश की अभिवृद्धि करता है।

१३. **ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो,**
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता,
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषण

(भर्तृहरिकृत-नीतिशतक, श्लो० ८२)

व्याख्या- ऐश्वर्य का आभूषण सज्जनता है, शौर्य का आभूषण वाणी संयम है, ज्ञान का आभूषण शान्ति है, शास्त्र का आभूषण विनय है, धन का मान सद्व्यय से, तप की महत्ता अक्रोध से, प्रभुत्व की शोभा क्षमादान से है, धर्म की शोभा निष्कपटता से है और सदाचार सभी आभूषणों का आभूषण है।

14. **मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा,**
धृष्टः पार्श्वे वसति च सदा दूरतश्चाऽप्रगल्भः।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः,
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥

(भर्तृहरिकृत-नीतिशतक, श्लो० ५८)

व्याख्या-सेवक यदि मौन रहे तो उसे गूंगा, चतुर अर्थात् वाक्पटु हो तो बकवादी, समीप रहे तो ढीठ और दूर रहे तो मूर्ख, क्षमाशील हो तो भीरू, असहनशील हो तो अकुलीन कहा जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सेवा धर्म अत्यन्त कठिन है, योगीजन भी उसे ठीक से समझ नहीं पाते।

१५. **धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरं गेहिनी,**
सत्यं मित्रमिदं दया च भगिनी भ्राता मनः संयमः।
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनम्,
होते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्माद् भयं योगिनः॥

(भूर्तहरिकृत- वैराग्यशतक, श्लो० १००)

व्याख्या- धैर्य जिसका पिता है. क्षमा जिसकी माता है, लम्बे काल तक साथ देने वाली शान्ति जिसकी स्त्री है, सत्य जिसका मित्र है. दया जिसकी बहिन है, मन का संयम जिसका भाई है. भूमि ही जिसकी शय्या है, दिशाएँ ही जिसके वस्त्र हैं और जान रूपी अमृत का पान करना ही जिसका भोजन है. हे मित्र! जिस योगी के ऐसे कुटुम्बीजन हैं, उसे संसार में किससे भय होगा? अर्थात् किसी से भी भय नहीं होगा।

16. **भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः। ?**
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

(भर्तृहरिकृत-वैराग्यशतक, श्लो० १२)

व्याख्या- हम सांसारिक विषय भोगों का उपभोग नहीं कर पाये, अपितु उन भोगों को प्राप्त करने की चिन्ता ने हम को

भोग लिया। हमने तप नहीं किया, बल्कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक आधिदैविक ताप हम को ही जीवन-भर तपाते रहे। भोगों को भोगते-भोगते हम काल को नहीं काट पाये, प्रत्युत काल ने हम को ही नष्ट कर दिया। इसी प्रकार भोगों को प्राप्त करने स्वरूप तृष्णा तो बूढ़ी नहीं हुई अपितु हम ही बूढ़े हो गये।

17. **भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं,**
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जरायाः भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयं,
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

(भर्तृहरिकृत. वैरागयशतक,श्लो०३१)

व्याख्या- विषय भोगों में रोगों का भय है, वंश में आचार भ्रष्टता या सन्तान विच्छेद का भय है, धन में राजा का भय है, मान में दीनता का भय है, बल प्राप्त करने पर शत्रुओं का भय है, रूप-सौन्दर्य में बुढ़ापे का भय है, शास्त्र पढ़ने पर पराजित होने का भय है, गुण प्राप्त करने में दुष्टों द्वारा व्यर्थ की निन्दा का भय है, शरीर में मृत्यु का भय है, इस प्रकार पृथ्वी पर सारी वस्तुएँ भय से युक्त हैं, केवल एक वैराग्य ही निर्भय बनाने वाला है।

18 **गङ्गातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य,**
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्रते निर्विशङ्काः,
कण्डूयन्ते जरठहरिणाः स्वाङ्गमङ्गे मदीये॥

(भर्तृहरिकृत - वैराग्यशतक, श्लो0 37)

व्याख्या- कैसे भले होंगे वे दिन, जब मैं गंगा नदी के किनारे हिमालय पर जाकर किसी शिला पर पदमासन् में बैठकर ब्रह्म के ध्यान में लीन हो जाऊँगा और बूढ़े हिरण अपने शरीर की खुजली मिटाने के लिए अपना शरीर मेरे शरीर से रगड़ेंगे, तब भी मेरी समाधि नहीं टूटेगी। क्या ऐसा सम्भव होगा? क्या ऐसे दिन मेरे जीवन में आएँगे?

19. **आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला,**
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी,
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः॥

(भर्तृहरिकृत-वैराग्यशतक, श्लो0 40)

व्याख्या-इस संसार में एक आशा नाम की नदी है। यह नदी मनोरथ-इच्छारूपी जल से भरी हुई है। इस में तृष्णालोभ रूपी तरङ्गे उठ रही हैं। यह राग-द्वेष रूपी मगरमच्छों से परिपूर्ण है तथा तर्क-वितर्क रूपी जल पक्षी इसमें तैर रहे हैं। धैर्यरूपी वृक्षों को उखाड़ने वाली इस नदी में अज्ञान रूपी भँवर उठ रहे हैं। इस बड़ी-बड़ी इच्छाओं के तटों से युक्त भयंकर नदी को पार करना बहुत कठिन है, परन्तु इस नदी को शुद्ध अन्तःकरण वाले त्यागी तपस्वी, विरक्त योगी पार करके बन्धनों से छूटकर ब्रह्मानन्द का भोगते हैं।

20. **चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथ किं तापसः,**
किं वा तत्त्वविवेकपेशलमतिर्योगीश्वरः
कोऽपि किम। इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैराभाष्यमाणा जनैर्न क्रुद्धाः
पथि नैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः ॥

(भर्तृहरिकृत-वैराग्यशतक, श्लो0 51)

व्याख्या-यह चाण्डाल है, अथवा ब्रह्मण है? शूद्र है या कोई तपस्वी है? अथवा कोई चतुर बुद्धिमान् तत्त्ववेत्ता है, या योगीश्वा है, अथवा कोई धूर्त है? इस प्रकार विभिन्न प्रकार के तर्क-वितर्क करने वाले व्यक्तियों पर योगी लोग न तो क्रोध करते हैं और न ही हर्षित होते हैं, किन्तु अपने अध्यात्म मार्ग पर स्वतन्त्रता पूर्वक चलते रहते हैं।

21. **यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो,**
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

(भर्तृहरिकृत-वैराग्यशतक, श्लो0 79)

व्याख्या- जब तक यह शरीर स्वस्थ अर्थात् रोगरहित है, जब तक बुढ़ापा दूर है, जब तक सभी इन्द्रियों में शक्ति विद्यमान है। और आयु बची हुई है, तभी तक बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि आत्मकल्याण के लिए महान् पुरुषार्थ करे, अन्यथा जैसे घर में आग लग जाने पर कुआँ खोदने से कोई लाभ नहीं होता वैसे मृलु काल में कुछ भी नहीं हो सकेगा।

22. आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्थं गतं,
तस्यार्द्धस्य परस्य चार्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते,
जीवे वारितरङ्गचञ्चलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम्॥
(भर्तृहरिकृत-वैराग्यशतक, श्लो010

व्याख्या- सामान्य रूप से मनुष्य की आयु सौ वर्ष की मा गई है। इसका आधा भाग अर्थात् पचास वर्ष तो सोने में ही चले जाते हैं। शेष बचा आधे का आधा भाग अर्थात् पच्चीस वर्ष, वह बाल्यावस्था और वृद्धावस्था में बीत जाता है। शेष पच्चीस वर्ष का समय रोग, वियोग, आजीविका, बच्चों के लालन-पालन आदि दुःखों में बीत जाता है। जल की चञ्चल तरङ्गों के समान जीवन में मनुष्य को सुख कहाँ है? सुख तो ईश्वरोपासना में ही है।

23. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनु0 6-22)

भावार्थ- धैर्य रखना, सहनशील होना, मन को अधर्म से रोकना, चोरी-त्याग, रागद्वेष न करना, इन्द्रियों को धर्म में चलाना, बुद्धि बढ़ाना, विद्वान् बनना, सत्याचरण एवं क्रोध न करना ये दश धर्म के लक्षण हैं।

24. पृष्टं घृष्टं पुनरपि पुनश्चन्दनं चारु गन्धं,
छिन्नं छिन्नं पुनरपि पुनः स्वादु चौवेक्षुदण्डम् ।
दग्धं दग्धं पुनरपि पुनः काञ्चनं कान्तवर्ण,
प्राणान्तेऽपि प्रकृतिविकृतिर्जायते नोत्तमानाम्॥
(सुभाषितरन्नभाण्डागारम् 53.229)

व्याख्या-चन्दन को ज्यों-ज्यों घिसेंगे, त्यों-त्यों वह मधुर सुगन्ध प्रदान करेगा। ईख गन्ने को ज्यों-ज्यों पेलेंगे, त्यों-त्यों वह अधिक मीठा रस देगा। सोने को ज्यों-ज्यों तपायेंगे, त्यों-त्यों वह और अधिक चमकता जायेगा। ठीक ऐसे ही जो महान् आत्माएँ हैं, उनको कोई कितना ही अपमानित करे, पीड़ा दे, बाधा पहुँचावे, वे अपने सत्य, न्याय, परोपकार, प्रसन्नता, नम्रता एवं प्रेम युक्त स्वभाव को कभी भी नहीं छोड़ते हैं, चाहे प्राण भी क्यों न चले जावें।

25. उदयदि यदि भानुः पश्चिमे दिग्विभागे,
प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्निः।
विकसति यदि पद्म पर्वताग्रे शिलायां,
न भवति पुनरुक्तं भाषितं सज्जनानाम् ॥
(नी शिवपुराणम 2.30.25.)

व्याख्या- सूर्य चाहे पूर्व की अपेक्षा पश्चिम दिशा में उदय क्यों न हो, पर्वत चाहे चलने क्यों न लग जावे, अग्नि चाहे ठण्डी क्यों न हो जाये, कमल चाहे पर्वत की कठोर शिला पर क्यों न हो जाएँ, किन्तु जो सज्जन लोग हैं वे अपनी प्रतिज्ञा को, अपने दिये हुए वचन को नहीं बदलते, उस पर दृढ़ रहते हैं।

26. महाशय्या पृथ्वी विपुलमुपधानं भुजलता,
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः ।
शरच्चन्द्रो दीपो विरतिवनितासङ्गमुदितः,
सुखी शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव॥
(भर्तृहरिकृत-वैराग्यशतक, श्लो० १००)

व्याख्या- पृथ्वी जिसकी शय्या है, मजबूत और गुंदाज बाजुएँ जिसकी तकिया हैं, जिस पर आकाश रूपी चादर तनी रहती है, पवन जिसे पंखा करती है, चन्द्रमा ही जिसके लिए दीपक है, विरक्ति, वैराग्य एवं अनासक्ति जिसकी सहचरी हैं, अतुल ऐश्वर्यशाली सम्राट् की भांति निश्चिन्त होकर जो सुख की नींद सोता है, वह कोई योगी-मुनि ही है

स्मरणीय प्रश्न-

1. सच्चे मित्र या भाई की पहचान किन छह संकटों के समय होती है?
2. कुत्ते से मनुष्य को कौन से मुख्य गुण सीखने चाहिए?
3. मनुष्य के वे पाँच 'पिता' कौन से हैं जिनका सदा आदर करना चाहिए?
4. पाप या अन्याय के रास्ते से कमाए गए धन का क्या अंत होता है?
5. वाणी को ही मनुष्य का असली आभूषण क्यों माना गया है?

शब्दावली-

शब्द	**अर्थ**
अनंतशास्त्रं	असीमित या अंतहीन शास्त्र
आतुरे	बीमार होने पर या रोग की स्थिति में
परोक्षे	पीठ पीछे या अनुपस्थिति में
माणिक्यं	बहुमूल्य रत्न या मणि
भिन्नमर्यादा	मर्यादा को लांघने वाला या सीमा तोड़ने वाला
दीर्घसूत्रता	काम को कल पर टालने की आदत या ढील
द्विप	हाथी
धृतराष्ट्र	विदुर नीति में संबोधित राजा धृतराष्ट्र
दिव्याम्बर	अलौकिक या सुंदर वस्त्र
न्यायात्पथः	न्याय और धर्म का मार्ग

5 अंक के प्रश्न

1. दुष्ट व्यक्ति और सांप में से सांप को बेहतर क्यों माना गया है? चाणक्य के विचार स्पष्ट कीजिए।
2. चाणक्य ने परिस्थितियों के अनुसार 'विष' (जहर) किसे-किसे माना है?
3. समुद्र और सज्जन पुरुष की मर्यादा में क्या अंतर होता है?
4. विदुर नीति के अनुसार, मनुष्य की उन्नति को रोकने वाले कौन से छह मुख्य दोष हैं?
5. गधे से मनुष्य को कौन सी तीन बातें सीखनी चाहिए और क्यों?

15 अंक के प्रश्न

1. चाणक्य द्वारा बताए गए आत्म-निरीक्षण के छह प्रश्नों की विस्तार से व्याख्या कीजिए और समझाइए कि यह आज के समय में कैसे प्रासंगिक हैं।
2. भर्तृहरि के 'नीति शतक' के आधार पर मनुष्यों की तीन श्रेणियों (अधम, मध्यम, उत्तम) का सविस्तार वर्णन कीजिए। उनके संकल्प की तुलना कीजिए।
3. विदुर नीति के ''त्याग के व्यापक नियम'' की व्याख्या कीजिए। यह नियम किसी समाज या राष्ट्र के कल्याण में किस प्रकार भूमिका निभाता है?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. चाणक्य के अनुसार मनुष्य का सबसे बड़ा और विनाशकारी शत्रु कौन सा है?

(क) सांप

(ख) मोह

(ग) दरिद्रता

(घ) अपच

2. किस आयु में पहुँचने पर माता-पिता को अपने पुत्र या पुत्री के साथ मित्र जैसा व्यवहार करना चाहिए?

(क) 5 वर्ष

(ख) 10 वर्ष

(ग) 15 वर्ष

(घ) १६ वर्ष

3. ''अति सर्वत्र वर्जयेत्'' को समझाने के लिए चाणक्य ने किसका उदाहरण दिया है?

(क) कौआ, कुत्ता और गधा

(ख) सीता, रावण और राजा बलि

(ग) शेर और बगुला

(घ) चंदन और नीम

4. विदुर के अनुसार, जल्दबाज़ी करने वाला व्यक्ति और अत्यंत क्रोधी व्यक्ति किसे नहीं जान पाते?

(क) शास्त्रें को

(ख) धन को

(ग) धर्म को

(घ) राजनीति को

5. भर्तृहरि के अनुसार, किस बीमारी या विकार की पूरे ब्रह्मांड में कोई दवा या औषधि नहीं बनी है?

(क) अहंकार का बुखार

(ख) सांप का विष

(ग) मतवाला हाथी

(ग) मूर्ख की मूर्खता।

UNIVERSITY OF PATANJALI

NAAC A+ GRADE ACCREDITED

Open & Distance Learning (ODL)

SELF-LEARNING MATERIAL (SLM)

B.A Darshan

Semester -2

ACADEMIC SESSION

2026 — 2027

Department of Philosophy

UNIVERSITY OF PATANJALI

Haridwar-Delhi Highway, Haridwar, Uttarakhand — 249405

www.universityofpatanjali.com

लेखक

1. साध्वी देवसाधना
2. डा.सावर सिङ्ह यादव
3. स्वामी भद्रदेव
4. डा. बिपिन दुबे
5. डा. शैफालि जोशि
6. स्वामी आदिदेव
7. डा.अर्चना तीवारि
8. स्वामी आदिदेव
9.

समीक्षक

डा. ब्रजभूषण ओझा प्रध्यापक (व्याकरण) बनारस हिन्दु विश्वविद्याल काशिफ्फ्

संपादक

डा , साध्वि देवप्रिया संकायाध्याक्षा पतंजलि विश्वविद्यालय हरिद्वार

।। ओ३म्।।

न्यायदर्शनम्–1

BDPHMJ – 201

दिव्य प्रकाशन

B.A. दर्शन प्रथम वर्ष Semester-II
BDPHMJ-201 (प्रथम एवं द्वितीय अध्याय)

उद्देश्यः-

- न्याय के ऐतिहासिक एवं पौराणिक तथ्यों से अवगत कराना।
- न्याय के सम्बन्धित भाष्य, वार्तिक एवं विभिन्न टीकाओं से परिचय करवाना।
- प्रथम दो अध्यायों के सूत्राों के सूत्राार्थ एवं व्याख्या को स्पष्ट कराना तथा साथ ही सूत्राों को कण्ठस्थ कराना।
- न्यायदर्शन के अध्ययन से बुद्धि को सूक्ष्म व स्थिर बनाकर अत्यंत जटिल समस्याओं का भी समाधान करवाना।

परिणामः-

- न्याय के षोडश पदार्थो के उद्देश्य एवं लक्षण का बोध कर लेता है।
- चतुर्विध प्रमाणों के विस्तृत विवेचन करने में कुशल हो जाता है।
- उपरोक्त सूत्राों का कण्ठस्थ कर लेता है।
- बुद्धि के सूक्ष्म व स्थिर बनने से अत्यंत जटिल समस्याओं का समाधान करने में समर्थ हो जाता है।

इकाई प्रथम- प्रमाण से निर्णय पर्यन्त तत्वों का उद्देश एवं लक्षण- प्रमाण व प्रमेय का स्वरूप, संशय एवं प्रयोजन, दृष्टान्त और सिद्धान्त, अवयव, तर्क तथा निर्णय।

इकाई द्वितीय- कथा, हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रहस्थान का स्वरूप एवं प्रभेद- वाद, जल्प एवं वितण्डा का स्वरूप, हेत्वाभास का लक्षण एवं प्रभेद, छल का स्वरूप एवं प्रकार, जाति एवं निग्रहस्थान का स्वरूप।

इकाई तृतीय- सभी प्रमाणों की परीक्षा एवं वेद का प्रामाण्य - प्रमाण सामान्य परीक्षा, प्रत्यक्ष प्रमाण परीक्षा, अनुमान प्रमाण परीक्षा, उपमान प्रमाण परीक्षा, शब्द प्रमाण परीक्षा एवं वेद का प्रामाण्य।

इकाई चतुर्थ- प्रमाण का चतुष्ट्वत्व एवं शब्द का अनित्यत्व - प्रमाण का चतुष्ट्वत्व, शब्द का अनित्यत्व।

निर्धारित पाठ्यपुस्तक - न्यायदर्शन, आचार्य उदयवीर शास्त्राी ,
प्रकाशक-विजयकुमार, गोविन्दराम हासानन्द, 4408, नई सड़क, दिल्ली- 110006
एवं न्यायदर्शनम्, प्रकाशक-दिव्य प्रकाशन, पतंजलि योगपीठ, हरिद्वार।

विषय सूची

विषय	पृष्ठ सं.
खण्ड-1 प्रमाण से निर्णय पर्यन्त तत्वों का उद्देश एवं लक्षण	**6-30**
इकाई-1.1 प्रमाण व प्रमेय का स्वरूप	6-17
इकाई-1.2 संशय एवं प्रयोजन	18-20
इकाई-1.3 दृष्टान्त और सिद्धान्त	21-24
इकाई-1.4 अवयव, तर्क तथा निर्णय	25-30
खण्ड-2 कथा, हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रहस्थान का स्वरूप एवं प्रभेद	**31-44**
इकाई-2.1 वाद, जल्प एवं वितण्डा का स्वरूप	31-33
इकाई-2.2 हेत्वाभास का लक्षण एवं प्रभेद	34-37
इकाई-2.3 छल का स्वरूप एवं प्रकार	38-41
इकाई-2.4 जाति एवं निग्रहस्थान का स्वरूप	42-44
खण्ड-3 सभी प्रमाणों की परीक्षा एवं वेद का प्रामाण्य	**45-72**
इकाई-3.1 प्रमाण सामान्य परीक्षा	45-49
इकाई-3.2 प्रत्यक्ष प्रमाण परीक्षा	50-55
इकाई-3.3 अनुमान प्रमाण परीक्षा	56-60
इकाई-3.4 उपमान प्रमाण परीक्षा	61-64
इकाई-3.5 शब्द प्रमाण परीक्षा एवं वेद का प्रामाण्य	65-72
खण्ड-4 प्रमाण का चतुष्ट्वत्व एवं शब्द का अनित्यत्व	**73-81**
इकाई-4.1 प्रमाण का चतुष्ट्वत्व	73-76
इकाई-4.2 शब्द का अनित्यत्व।	77-81

भूमिका

'दृश्यते ज्ञायते वस्तुतत्त्वमनेनेति दर्शनम्' अर्थात् जिस शास्त्रा के द्वारा वस्तु तत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो सके, उसे दर्शन कहते हैं। अर्थात् जिसके द्वारा किसी भी वस्तु के मूलभूत तात्त्विक स्वरूप से अवगत हुआ जाये, उसे दर्शन शास्त्रा के नाम से जाना जाता है। पदार्थ तत्त्वज्ञान के लिये प्रवृत्त भारतीय दर्शन ने स्वदेश तक सीमित न रहकर विदेशों में भी अपना वर्चस्व स्थापित किया है। मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? कहाँ जाना है? मेरा कर्तव्य क्या है? यह संसार कैसे बना? इसका कारण कौन है? यह सृष्टि चेतन है या जड़? इत्यादि प्रश्न चिन्तनशील मनुष्य के मन में अहर्निश उठा करते हैं। उन सबका समाधान एक मात्र दर्शनशास्त्रा ही करता है। भारतीय दर्शनों में छह दर्शनों को आस्तिक दर्शन के रूप में मान्यता प्राप्त है तो कुछ नास्तिक दर्शन भी हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा व वेदान्त ये छह आस्तिक दर्शन हैं। यह सिद्ध है कि विभिन्न दर्शनों में विभिन्न मत होते हैं, अन्यथा एक ही दर्शन होता। यद्यपि सभी दर्शनों का लक्ष्य एक ही है- **'सांसारिक दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति।'** फिर भी रुचिभिन्नता व चिन्तन-मनन की प्रक्रिया सबकी अलग-अलग हो सकती है, अतः दर्शनों में मतभेद होना स्वाभाविक है। देश, काल, अवस्था व अधिकारी के भेद से भले ही दर्शनों में मतभेद हों किन्तु विवेकी पुरुष उन सभी मतों का समन्वय करते हैं।

सांख्यदर्शन में तीन तत्त्वों को बताया गया है- व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ। अव्यक्त- प्रकृति को कहते हैं, जो व्यक्त तो नहीं है किन्तु सब कुछ व्यक्त उसी से ही प्रकट हुआ है। व्यक्त उसे कहते हैं, जो अव्यक्त प्रकृति से निकलकर बुद्धि, अहंकार, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि के रूप में विद्यमान है। व्यक्त और अव्यक्त का ज्ञाता पुरुष (ज्ञ) है। इन तीनों तत्त्वों के सम्यक् ज्ञान से सांसारिक समस्त दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। योगशास्त्रा में भी लगभग यही विषय है किन्तु योग वही है, जो भोग की निवृत्ति के बाद अपनी सुदृढ़ प्रखरता के साथ उत्पन्न होता है और वही सार्थक भी है। मीमांसा दर्शन कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करता है। वेदान्तदर्शन में आत्मचिन्तन ही मुख्य है। न्यायदर्शन और वैशेषिक दर्शनों में प्रमाण और प्रमेय पर विचार किया गया है। इन सभी विचारों का मुख्य लक्ष्य यही है कि सांसारिक दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति अर्थात् मोक्ष। पदार्थों के चिन्तन से उनकी वास्तविकता का ज्ञान होता है और मनुष्य भोग की अपेक्षा योग अर्थात् ज्ञान से परिपूर्ण होकर अपने स्वरूप में स्थित होने का प्रयत्न करता है, जो उसे मोक्ष तक पहुँचाता है।

न्यायदर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम माने जाते हैं। ये अक्षपाद नाम से भी प्रसिद्ध हैं। अत एव न्यायदर्शन को अक्षपाददर्शन भी कहा जाता है। न्यायदर्शन सूत्राों के रूप में उपलब्ध है और इसकी अनेक व्याख्यायें विद्यमान हैं। महर्षि वात्स्यायन ने इस पर विस्तृत भाष्य लिखा है। न्यायदर्शन के अध्ययन से युक्तियुक्त विचार तथा समालोचना करने की शक्ति प्राप्ति होती है। न्यायभाष्यकार के अनुसार **'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः'** अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रमाणों के द्वारा वस्तुतत्त्व का परीक्षण ही न्याय है। इसलिए उक्तदर्शन को न्यायदर्शन, तर्कशास्त्रा और आन्वीक्षिकी विद्या भी कहते हैं। उक्तदर्शन में प्रमाण को सर्वोपरि महत्व दिया गया है। अतः इसे प्रमाणशास्त्रा कहा जाता है। बाद में जाकर न्यायदर्शन की दो धारायें हो गयीं। महर्षि गौतम की धारा प्राचीनन्याय नाम से और गंगेशोपाध्याय आदि की धारा नव्यन्याय नाम से प्रचलित हो गयीं।

महर्षि यास्क ने अपने निरुक्त में एक इतिहास प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है-

पूर्वकाल में ऋषियों के न रहने पर मनुष्य देवजनों के पास गये और बोले- **'को न ऋषिर्भविष्यति ?'** अब हमारा कौन ऋषि होगा ? तब देवों ने उन्हें तर्क-ऋषि प्रदान किया - **'तेभ्य एतं तर्कमृषि प्रायच्छन्' (निरुक्त 13/12)**। तर्क को लक्ष्य करके भगवान् मनु ने कहा है-

यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म वेद नेतरः। (मनु० 12/106)

अर्थात् जो तर्क के द्वारा अनुसन्धान करता है वही धर्म के तत्त्व को जानता है, अन्य नहीं।

यहाँ तर्क से अभिप्राय है- प्रमाणों के अनुसार सत्य का निश्चय करना। प्रमाण ही न्याय का देवता अथवा मुख्य प्रतिपाद्य है। लोक में उसी को तर्कविज्ञान या तर्कशास्त्रा भी कहते हैं। जब तक वादी-प्रतिवादी होकर वाद न किया जाय तब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता। इसीलिए लोकोक्ति बन गई है- **'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'**। अपनी इस शक्ति के कारण न्यायशास्त्रा विभिन्न नामों से विभिन्न रूपों में देश-काल की सीमाओं का उल्लंघन कर विश्व भर में लोक-व्यवहार में भी उतना ही उपयोगी हो गया है जितना धार्मिक अथवा दार्शनिक ऊहापोह में। अनुमान की पूरी प्रक्रिया (जिसमें प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन पाँचों अवयव शामिल हैं) का आधार यही दर्शन है। समस्त दार्शनिक, धार्मिक तथा व्यावहारिक ऊहापोह का नियमन न्यायदर्शन के सिद्धान्तों के द्वारा ही होता है। अन्यथा चिरकाल तक मन्थन करते रहने पर भी तत्त्वार्थ-नवनीत की प्राप्ति नहीं होती।

न्याय और वैशेषिक दर्शन एक-दूसरे के पूरक हैं। जहाँ वैशेषिक पदार्थों और उनके धर्मों का उल्लेख, संगमन एवं स्वरूप का विवेचन करता है, वहाँ न्यायदर्शन उन पदार्थों एवं धर्मों के जानने और समझने की प्रक्रिया का निरूपण करता है। यास्क प्रत्येक

साधारण मनुष्य के तर्क को तर्क नहीं मानते। वे ऐसे मनुष्य के ऊहापोह को ही ऋषि समझते हैं जो अनेक विद्याओं में पारंगत हो, बहुश्रुत हो, तपस्वी हो और प्रकरणानुसार चिन्तन करनेवाला आप्तपुरुष हो।

समस्त भारतीय दर्शन अध्यात्म और अधिभूत का विवेचन प्रस्तुत करता है। इनमें छह वैदिक दर्शन-न्याय-वैशेषिक, योग-सांख्य, वेदान्त-मीमांसा हैं, और तीन अवैदिक-चार्वाक, आर्हत, बौद्ध दर्शन हैं। यद्यपि सामूहिक रूप से सभी दर्शनों का प्रतिपाद्य विषय अध्यात्म-अधिभूत के अन्तर्गत आ जाता है। परन्तु प्रत्येक दर्शन अपने प्रधान प्रतिपाद्य विषय के रूप में मूलभूत विषय के किसी-एकदेश अथवा एक अंश को लेकर प्रवृत्त हुआ है, और उसी का सांगोपांग व शाखा-प्रशाखा रूप से पूर्ण वर्णन प्रस्तुत करता है; फिर भी अध्यात्म-अधिभूत के मौलिक आधार को किसी ने उपेक्षित नहीं किया है। जहाँ अधिभूत प्रधान है, वहाँ अध्यात्म आंशिक है; और जहाँ अध्यात्म प्रधान है, वहाँ अधिभूत का विवेचन आंशिक हुआ है। इसी दृष्टि से न्याय दर्शन को परखें, तो निम्न रूपरेखा सामने आती है-

न्याय-का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'प्रमाण' है। आद्योपान्त दर्शन का अधिक भाग प्रमाण के स्वरूप और उसके प्रयोग की प्रक्रियाओं को प्रस्तुत करने के लिए लिखा गया है। न्याय के प्रथम सूत्रा में जिन सोलह विधाओं का निर्देश है, उनमें प्रमेय के अतिरिक्त शेष 'संशय' आदि समस्त विधाओं का उपयोग केवल 'प्रमाण' के पूर्ण एवं निर्दोष स्वरूप को प्रस्तुत करने के लिए है। प्रमेय भी प्रमाणों का लक्ष्य-क्षेत्र होने के कारण उनके स्वरूप को निखारने में सहयोगी है। प्रमाण की सार्थकता या सफलता तभी है, जब उसके द्वारा जाना हुआ अर्थ-उपादान एवं परिहार की भावना से प्रवृत्ति के अनन्तर अपने वास्तविक रूप में पाया जाता है।

'आत्मा' आदि प्रमेयों में भी गम्भीरता से देखा जाय, तो उनमें एकमात्र 'आत्मा' मुख्य ज्ञात होता है। शेष-शरीर, इन्द्रिय, अर्थ (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द), बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दु:ख, अपवर्ग, ये सब आत्मा से सम्बद्ध हैं। साक्षात् या परम्परा से इन सबका उपयोग आत्मा के लिए है। सूत्राकार ने शास्त्रा के मुख्य प्रतिपाद्य 'प्रमाण' के लक्ष्य-क्षेत्र में 'आत्मा' को विशेष स्थान देकर उसका और उससे सम्बद्ध परिस्थितियों का प्रमेय में परिगणन कर दिया है। इससे यह भी लक्षित होता है कि सूत्राकार का संकेत प्रमाणों द्वारा शरीरादि से भिन्न आत्मा के स्वरूप को पहचानना ही मुख्य है। ऐसे सब विवेचनों का प्रधान आधार 'प्रमाण' ही रहता है।

अथ प्रथमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम्

खण्ड-1 प्रमाण से निर्णय पर्यन्त तत्वों का उद्देश एवं लक्षण

इकाई- 1.1 प्रमाण व प्रमेय का स्वरूप

उद्देश्य-

1.यथार्थ ज्ञान का निर्धारण प्रमाण प्रकरण का प्राथमिक उद्देश्य ज्ञान के सही साधनों - प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण का स्पष्ट लक्षण बताना है, जिससे सत्य और असत्य के बीच भेद किया जा सके।

2.प्रमेयों का तत्वज्ञान प्रमेय प्रकरण का उद्देश्य आत्मा, शरीर, इन्द्रिय आदि ङ्क्छ प्रमेयों के वास्तविक स्वरूप का बोध कराना है। इन प्रमेयों का सही ज्ञान ही अज्ञान को दूर करने का आधार बनता है।

3.दु:ख निवृत्ति का मार्ग इस पूरे प्रकरण का व्यापक उद्देश्य मनुष्य को संसार के दु:खों के मूल कारण मिथ्या ज्ञान से अवगत कराकर उसे मुद्रि के मार्ग पर अग्रसर करना है।

परमकारुणिक महामुनि गौतम ने जन समाज, जिस वातावरण के बीच रहता है, एवं उसके चारों ओर जो यह स्थूल जगत बिछा पड़ा है, और इसके पीछे जो अंतर्हित व्यक्त-अव्यक्त तत्व है, उस सबकी की यथार्थ जानकारी के लिए उपयुक्त एवं व्यवहारिक साधनों का परिचय लेना मानव जीवन के सर्वविध कल्याण के लिए आवश्यक है। अत: उन्होंने प्रस्तुत शास्त्रा का प्रवचन किया, जिसका प्रथम सूत्रा है-

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वा-
भासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्नि:श्रेयसाधिगम:॥ 1॥

सूत्राार्थ-प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थानों के यथार्थ ज्ञान से मोक्ष एवं कल्याण की प्राप्ति होती है।

व्याख्या- सूत्रा में तीन समस्त पद हैं। पहला है 'प्रमाण' से लगाकर 'निग्रहस्थानानां' तक। 'च' के अर्थ में यहाँ इतरेतरयोग द्वन्द्व समास है। दूसरा पद है- 'तत्वज्ञानात्' और तीसरा है- 'नि:श्रेयसाधिगम:'। इन दोनों में षष्ठी तत्पुरुष समास है। तत्व क्या है? जो जैसा पदार्थ है, उसका उसी रूप में प्रतीत होना। जैसे सत् पदार्थ सद्रूप में जाना गया तत्व है उसी प्रकार असत् पदार्थ असद्रूप में जाना गया तत्व है इस प्रकार प्रमाण आदि पथार्थो को वास्तविक रूप में जान लेना मानव के सब प्रकार के कल्याण का साधक है।

''किं पुनस्तत्त्वम्। सतश्च सद्भावोऽसतश्चाऽसद्भाव:। सत्सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति। असच्चाऽसदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति।'' (न्या.वा.भाष्य)

इस शास्त्रा के आरंभ करने का मुख्य प्रयोजन प्रमाण के यथार्थस्वरूप को सर्वांगपूर्ण रूप में प्रस्तुत करना व समझाना है। इसी कारण सूत्रा में इसका सर्वप्रथम निर्देश हुआ। प्रमाण प्रत्येक पदार्थ के ज्ञान का साधन है। जो पदार्थ प्रमाण से जाना जाता है, वह सब प्रमेय कहा जाता है। प्रस्तुत शास्त्रा में प्रमेय पद से जिनका संकलन हुआ है, वह केवल उपलक्षण है, प्रतीक व संकेतमात्र। प्रमाण का लक्ष्य-क्षेत्र प्रमेय है, प्रमाण के अनंतर प्रमेय का पाठ है। सूत्रा में समस्त पदों की आनुपूर्वी सुसंघटित एवं सप्रयोजन है। ऐसा नहीं है कि बिना किसी भावना के चाहे जो पद चाहे जहाँ रख दिया हो॥ 1॥

प्रमाण आदि के तत्वज्ञान से मोक्ष प्राप्ति का उल्लेख किया गया। क्या तत्वज्ञान के अनंतर तत्काल मोक्ष हो जाता है अथवा उसका कोई अन्य प्रकार है? सूत्राकार ने समाधान किया-

दु:खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तराऽपाये तदनंतरापायादपवर्ग:॥ 2॥

सूत्राार्थ- दु:ख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष मिथ्याज्ञान के उत्तर-उत्तर के अर्थात् अगले-अगले के नष्ट हो जाने पर उसके अनंतर सम्पूर्ण दु:खों की आत्यंतिक निवृत्ति या विनाश हो जाने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

व्याख्या-सूत्राानुसार दु:ख, जन्म प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान- ये पांच पदार्थ है। इनमें उत्तर अर्थात् अगला पदार्थ अपने से पहले का कारण है। इस प्रकार दु:ख का कारण जन्म, जन्म का कारण प्रवृत्ति, प्रवृत्ति के कारण हैं दोष और दोषों का कारण मिथ्याज्ञान है। यह एक तर्क पूर्ण व्यवस्था है कि कारण के नाश हो जाने पर कार्य का नाश हो जाता है। फलत: मिथ्याज्ञान के नाश से जन्म का नाश और जन्म के नाश से सम्पूर्ण दु:खों का नाश संभव है।

मिथ्याज्ञान से अनुकूल विषय में राग तथा प्रतिकूल विषय में द्वेष होता है। इस राग - द्वेष के प्रभाव एवं प्रबलता से व्यक्ति मिथ्याभाषण, ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट, दम्भ, लोभ, आदि दोषों में फंस जाता है तथा इन दोषों से प्रेरित होकर शरीर, वाणी और मन

के द्वारा पाप-पुण्य (शुभाशुभ) आचरण करता है।

जब प्रवृत्ति पाप - (अशुभ) कार्यों की ओर होती है, तब व्यक्ति शरीर से हिंसा, चोरी, प्रतिषिद्ध मैथुन आदि का आचरण करता है। मन से - दूसरों के प्रति द्रोह, दूसरे का धन अन्याय से हड़पने की इच्छा तथा नास्तिकता (ईश्वर व वेदनिन्दा) आदि का पोषक बन जाता है। यह पापरूप प्रवृत्ति अधर्म को बढ़ाती है, जो कि दारुण दु:ख का कारण है।

''दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण प्रवर्त्तमानो हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति, वाचाऽनृतपरुष सूचनाऽसम्बद्धानि, मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति। सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय। अथ शुभा-शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणं च, वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायं चेति, मनसा दयामस्पृहां श्रद्धां चेति। सेयं धर्माय।'' (न्या.वा.भाष्य)

जब प्रवृत्ति शुभ (पुण्य) की और होती है, तब व्यक्ति शरीर से - दान, दूसरों की रक्षा, परिचर्या (सेवा) आदि करता है। वाणी से - सत्यभाषण, परकल्याण के प्रवचन, मधुर वार्तालाप एवं वेदादि सत्य सर्वहितकारी शास्त्राों का स्वाध्याय आदि करने में तत्पर रहता है।

मन से - सब प्राणियों के प्रति दयाभाव, अस्पृहा (लोभत्याग) और अभिनन्दनीय (व्यक्ति एवं शास्त्रा) में श्रद्धाभाव तथा दृढविश्वास रखने लग जाता है। यह शुभ प्रवृत्ति धर्म का विस्तार करती है। यही शुभ-अशुभ प्रवृत्ति अच्छे - बुरे जन्म का कारण होती है।

क्योंकि आत्मा को दु:खादि का अनुभव देहादि से सम्बद्ध होने पर ही सम्भव है, इसलिए जन्म को दु:ख का कारण कहा गया है (4/1/55)।

मिथ्याज्ञान से लेकर दु:खपर्यन्त परिस्थितियों के निरन्तर चलने रहने का नाम ही 'संसार' है। जब तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है, तब उससे होने वाले दोष स्वत: विलीन हो जाते हैं। दोषों के न रहने पर प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है। प्रवृत्ति के अभाव में पुन: जन्म नहीं होता। जन्म न होने पर दु:ख रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। दु:ख की इस अत्यन्त निवृत्ति का नाम अपवर्ग (मोक्ष, नि:श्रेयस) है।

यह शास्त्राकार पदार्थों का प्रतिपादन तीन स्तरों से करता है - उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा। शास्त्रा में प्रथम उद्दिष्ट पदार्थ का विभाग बताकर पुन: उसका लक्षण किया है [जैसे- प्रमाण और प्रमेय आदि का] प्रथम सूत्रा में इनका नाममात्र लिया था, फिर तीसरे सूत्रा में प्रमाणों के तथा नौवें सूत्रा में प्रमेय के विभाग बताकर चौथे से सातवें सूत्रा तक विभक्त प्रमाणों के लक्षण तथा दसवें से बाईसवें सूत्रा तक विभक्त प्रमेयों के लक्षण दिए हैं। परन्तु कहीं ऐसा भी है, कि उद्दिष्ट पदार्थ का पहले लक्षण कर दिया, फिर उसके विभाग बताए हैं। जैसे छल के प्रसंग में (सूत्रा 1/2/10, 11) आदि।।। 2।।

अब सर्वप्रथम उद्दिष्ट 'प्रमाण' पदार्थ के विभाग का कथन करते हैं -

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।। 3।।

सूत्रार्थ- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द ये चार प्रमाण हैं।

व्याख्या- सूत्रा के प्रथम पद में इतरेतर द्वन्द्व समास है। यद्यपि उद्देश्य - विधेय पदार्थों का लिङ्ग और वचन समान होना चाहिए, परन्तु 'प्रमाण' पद नियत - नपुंसकलिङ्ग होने से उद्देश्य पद पुल्लिंग होने पर भी विधेय पद नपुंसक लिङ्ग में ही प्रयुक्त है। 'प्रमाण' शब्द 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'माङ् (मा)' धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय (अष्टा. 3/3/117) होकर निष्पन्न होता है। अर्थ होगा - **'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्'** - जिस साधन द्वारा कोई पदार्थ जाना जाता है, उसे 'प्रमाण' कहते हैं। दूसरे शब्दों में **'प्रमाकरणं प्रमाणम्'**। अर्थात् जो प्रमा (ज्ञान) का करण (साधन) हो, उसे 'प्रमाण कहते हैं। यह अर्थ प्रमाण शब्द के निर्वचन से ही अभिव्यक्त हो जाता है।

चारों प्रमाणों में प्रधान होने से प्रत्यक्ष का सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है। अन्य प्रमाणों द्वारा पदार्थ को जान लेने पर भी उस विषय में कुछ जिज्ञासा बनी रहती है, परन्तु प्रत्यक्ष जान लेने पर वह समाप्त हो जाती है, यही प्रत्यक्ष की प्रधानता है। अनुमान के प्रत्यक्षपूर्वक होने से प्रत्यक्ष के साथ अनुमान का पाठ है। इसका विषय त्रैकालिक होने से यह अन्यों से पहले पढ़ा गया है। अनुमान के समान होने तथा प्रत्यक्ष होने पर इस प्रमाण की प्रवृत्ति होने से अनुमान के पश्चात् 'उपमान' पढ़ा है। यथाप्रसंग प्रत्यक्ष या अनुमान की अपेक्षा होने और शब्द का विषय प्राय: अतीन्द्रिय रहने से 'शब्द' का अन्त में उल्लेख है।। 3।।

गत सूत्रा में प्रमाण को चार भागों में विभक्त बताकर, विभाग के अनुसार प्रमाणों के लक्षण बताते हुए सूत्राकार सर्वप्रथम कथित प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण (स्वरूप) बताते हैं -

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।। 4।।

सूत्रार्थ- इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष-सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला अशाब्द, व्यभिचार से रहित और निश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है।

व्याख्या- सूत्रा छः पदों में से 'ज्ञानम्' उद्देश्य और 'प्रत्यक्षम्' विधेय पद है। सूत्रा का पहला पद ज्ञान के स्वरूप का और अगले तीन पद ज्ञान की कुछ विशेषताओं का निर्देश करते हैं।

प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ व फल -

अक्षस्याऽक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्। वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा। यदा सन्निकर्षः तदा ज्ञानं तथा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।

अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय का अपने ग्राह्य विषय के प्रति वृत्ति (व्यापार, सन्निकर्ष) प्रत्यक्ष है।

इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के अनन्तर ज्ञान (प्रमा, प्रमिति) होता है, जो उसका फल है।

परन्तु जब इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न 'ज्ञान' को प्रत्यक्षप्रमाण माना जाता है, तब उसका ज्ञात वस्तु के विषय में उसके हान, उपादान अथवा उपेक्षा बुद्धि रूप फल उत्पन्न होता है। अर्थात् तब उस वस्तु के विषय में बुद्धि (ज्ञान) उत्पन्न होना फल है, कि वस्तु (दुःखद होने से) त्याज्य है, अथवा (सुखद होने से) उपादेय है, अथवा (अनपेक्ष होने से) उपेक्षा करने योग्य है।

प्रत्यक्षज्ञान के इस सूत्रा में तीन विशेषण बताए हैं -

१. **अव्यपदेश्यः**- व्यपदेश शब्द का अर्थ है - कथन करना, शब्द द्वारा किसी अर्थ का बोध कराना। अतः अव्यपदेश्य पद का अर्थ हुआ 'शब्द द्वारा जिसका बोध न कराया जा सके'। जैसे- नींबू के खट्टे रस और गुड़ के मधुर रस का भोग करने वाला व्यक्ति - 'खट्टे रस, मधुर रस' इन शब्दों के द्वारा अन्य किसी श्रोता को खट्टे रस या मीठे रस का बोध अर्थात् अनुभूति नहीं करा सकता, न अन्य वस्तुओं के रस से उन रसों की भिन्नता की अनुभूति करा सकता है। 'खट्टा रस, मीठा रस' आदि का जो बोध श्रोता को होता है, वह केवल शाब्दिक (शब्द प्रमाण जन्य) होता है। यदि प्रत्यक्ष ज्ञान शब्द द्वारा बोध्य होता, तो 'मीठा' शब्द सुनते ही श्रोता को मीठे रस की अनुभूति हो जाती। यह मान्यता तब और सुपुष्ट हो जाती है, जब किसी वस्तु के वाचक (नाम) को न जानने वाले और जानने वाले दोनों व्यक्तियों को मधुर आदि पदार्थ का उपभोग कराया जाता है, तो उस रस की अनुभूति में कोई अन्तर नहीं आता। तथा एक ही व्यक्ति जब किसी वस्तु के वाचक शब्द को नहीं जानता, उस अवस्था में वस्तु के उपभोग से जिस रस का अनुभव करता है, वैसा ही अनुभव उसे तब होता है, जब वह उसके वाचक शब्द को जान लेता है।

इससे स्पष्ट है, कि किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान में शब्द की अपेक्षा नहीं होती। अर्थ ज्ञान के समय वाचक शब्द का कोई उपयोग नहीं होता। केवल बाह्यव्यवहार के लिए वाचक शब्द का प्रयोग किया जाता है। लोक व्यवहार के लिए शब्द और अर्थ के वाचक - वाच्य सम्बन्ध का जानना आवश्यक है। यहाँ रहस्य यह है, कि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाले अनुभूत्यात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान का कोई ऐसा वाचक शब्द नहीं है, जिससे उसका तद्रूप्र (बिल्कुल वैसा ही) बोध कराया जा सके। परन्तु किसी न किसी रूप में बोध कराए बिना लोकव्यवहार नहीं चल सकता। अतः उस अर्थ के लिए संज्ञा शब्द (वाचक शब्द) नियत किए जाते है, कि यह रस है, मधुर रस है, खट्टा रस है, पीला रूप है, लाल रूप है, रस का ज्ञान, रूप का ज्ञान ..... इत्यादि।

फलतः इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान अव्यपदेश्य (अशाब्द) होता है।

२. **अव्यभिचारीः**- यह प्रत्यक्ष ज्ञान का दूसरा विशेषण है। अन्य वस्तु में अन्य का ज्ञान (भ्रम) हो जाना व्यभिचारि ज्ञान कहा जाता है। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न वही ज्ञान प्रत्यक्ष माना जाएगा, जो व्यभिचारी न हो। जैसे :-

i) सायंकाल के झुटपुटे (अत्यल्प प्रकाश) में मार्ग में पड़ी हुई टेड़ी - मेड़ी रस्सी को सांप समझना। यहाँ इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होने पर भी प्रकाश की न्यूनता तथा भय की भावना से रस्सी में सांप का ज्ञान व्यभिचारि है, जो कि उपयुक्त प्रकाश, भय की आशंका न रहने पर समाप्त हो जाता है। तब 'यह रस्सी है' ऐसा अव्यभिचारि ज्ञान प्रत्यक्ष माना जाता है।

ii) इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु में जब नंगी (वृक्षहीन) मरुभूमि पर सूर्य की तीव्र किरणें पडती हैं और भूमि से ऊष्मा उभर आती है, तब ऊष्मा और गतिशील किरणें मिलकर दूरस्थित पुरुष को ऐसी दीखती हैं, जैसे लहरों के साथ पानी बह रहा हो। यहाँ पार्थिव ऊष्मा और किरणों के आपस में मिलने की परिस्थिति को दूर से जल समझना व्यभिचारि ज्ञान है। उस स्थान के समीप जाने पर नहीं रहता, क्योंकि वहाँ उस रूप में जल का सर्वथा अभाव है। केवल रेत, हवा और गर्मी का अनुभव होता है। इसे **मृगमरीचिका** भी कहते हैं, जहाँ हिरन आदि प्राणी प्यासे तड़फ कर मर जाते हैं। जहाँ जिसका अभाव है, वहाँ उसका दीखना हो व्यभिचारि ज्ञान है। इसके इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न होने पर भी ऐसा भ्रमयुक्त ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं माना जाता।

३. **व्यवसायात्मक** :- यह प्रत्यक्ष की तीसरी विशेषता है। जिसका अर्थ है -

निश्चयात्मक अर्थात् जो ज्ञान अन्तिम स्तर (निश्चय) तक पहुँच जाता है, उसी को प्रत्यक्ष माना जाता है। (वि+अव+षो

अन्तकर्मणि+घञ् (अष्टा.3/3/18) व्यवसाय+आत्मक-व्यवसायात्मक)। जैसे सामने गाय या कुत्ते को उचित प्रकाश में देखकर यह निश्चित ज्ञान हो जाता है, कि यह गाय या कुत्ता है।

किन्तु जब सायंकालीन कुछ अन्धेरे में धनादि से युक्त अकेले व्यक्ति का सामने की पुरुष - सदृश आकृति को देखकर यह संशय (द्विविधा) होना कि क्या यह कोई घातक (अवांछनीय) पुरुष है, जो मेरे धन को भी छीन ले और जान से भी मार डाले, अथवा कोई व्यक्ति न होकर यह आकृति सूखा ठूंठ (तने को मध्य से टूटा हुआ वृक्ष) खड़ा है। दोनों में से किसी एक का निश्चय नहीं हो पा रहा, क्योंकि कुछ अन्धेरा घिर आने से व्यक्ति के हाथ, पैर, शिर आदि तथा ठूँठ के कोटर (खोखल), टेढ़ापन, शाखा, पत्तियाँ आदि विशेष धर्म दिखाई नहीं दे रहे। जो दोनों के समान धर्म हैं - ऊँचाई, उतार-चढ़ाव आदि, वे दिखाई दे रहे हैं। इससे पथिक द्विविधा (संशय) में पड़ा है, कि वह इसे ठूँठ समझे या कोई व्यक्ति ?

यह ज्ञान इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-जन्य होने पर भी निश्चयात्मक न होने से प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं आता। यदि सूत्रा में 'व्यवसायात्मक' विशेषण न होता, तो ऐसा ज्ञान भी प्रत्यक्ष मान लिया जाता, जो दोषयुक्त होता।

इसी प्रकार अग्नि के इच्छुक व्यक्ति का कुछ दूरी पर धुंध सी उठती देख कर द्विविधा में पड़ जाना, कि यह धूल उड़ रही है, या अग्नि का ज्ञापक (लिंग) धूम है। यह इन्द्रियार्थ - सन्निकर्ष जन्य होने पर भी निश्चयात्मक न होने से प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता।

अतः प्रत्यक्ष के लक्षण का निष्कर्ष हुआः संशय, भ्रम तथा शाब्द ज्ञान से भिन्न इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।। 4।।

प्रत्यक्ष लक्षण के अनन्तर क्रम प्राप्त अनुमान का लक्षण तथा उसके भेद बताते हैं -

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टं च।। 5।।

सूत्रार्थ- प्रत्यक्ष प्रमाण के अनन्तर अनुमान प्रमाण का वर्णन करते हैं- प्रत्यक्ष-पूर्वक अनुमिति का साधन अनुमान प्रमाण कहलाता है। वह तीन प्रकार का होता है-पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट।

व्याख्या- सूत्रा में अनुमान प्रमाण का लक्षण बताया है 'तत्पूर्वकम् अनुमानम्'। इसमें भी लक्षण का स्वरूप है 'तत्पूर्वकम्' और 'अनुमानम्' लक्ष्य पद है। लक्षण में 'तत्' पद प्रत्यक्ष का बोधक है, और 'पूर्व' पद कारण का। अतः लक्षण हुआ - प्रत्यक्ष है कारण जिसका ऐसा अनुमान प्रमाण होता है।

सूत्रा में 'तत्' शब्द से बोध्य प्रत्यक्ष से साध्य साधन के परस्पर सम्बन्ध (व्याप्ति) का प्रत्यक्ष एवं अनन्तर अनुमान काल में साधन का प्रत्यक्ष होना अभिप्रेत है। अनुमान में सर्वप्रथम व्याप्ति का प्रत्यक्ष होना चाहिए। यथा - व्यक्ति महानस (पाकशाला, रसोई घर) में देखता है, कि जब आग जलाई जाती है, तो उससे धूम उठता है। इसी प्रकार वह अन्यत्र भी देखकर यह जान लेता है, कि धूम का कारण अग्नि है। ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान ही व्याप्ति ज्ञान है। तार्किक भाषा में इसी को **'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः'** बोला जाता है, क्योंकि अग्नि के बिना धूम नहीं होता।

हेतु, साधन, लिंग ये पद एकार्थक हैं। इसी प्रकार हेतुमान्, साध्य, लिंगी भी पर्याय पद हैं। हेतु और हेतुमत् अथवा साध्य और साधन अथवा लिंग और लिंगी का सम्बन्ध प्रत्यक्ष हो जाने पर चित्त में उसका भावना रूप संस्कार रह जाता है, कालान्तर में जब व्यक्ति कहीं धूम देखता है, तो उसका धूम-अग्नि सम्बन्ध का संस्कार जाग जाता है। उस समय धूम के दीखने और साध्य-साधन के सम्बन्ध का स्मरण हो आने से वहाँ अग्नि का ज्ञान हो जाता है। इसी अनुमान प्रमाण से हुए ज्ञान को 'अनुमिति ज्ञान' कहते हैं।

अनुमान के पाँच अवयव : -

१. **प्रतिज्ञाः**- पुरः प्रदेशो वह्निमान्।

२. **हेतुः**- धूमात् (यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः)।

३. **उदाहरणः**- महानसवत्।

४. **उपनयः**- तथा चायम्।

५. **निगमनः**- तस्माद् धूमत्वात् पुरः प्रदेशो वह्निमान्।

इस प्रकार वर्तमान में साधन (धूम) के दीखने तथा साध्य - साधन के सम्बन्ध की स्मृति से अप्रत्यक्ष अर्थ (साध्य अग्नि) का अनुमान द्वारा ज्ञान हो जाता है। इस स्मृति का मूल महानस आदि में साध्य साधन के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष ज्ञान है। इस सम्बन्ध (व्याप्ति) ज्ञान के बिना कोई अनुमान नहीं हो सकता। इसलिए अनुमान के लक्षण में प्रत्यक्षपूर्वकता की प्रधानता है।

अनुमान के तीन भेद :-

१. **पूर्ववत् :-** जहाँ कारण से कार्य का अनुमान होता है। जैसे- बादलों के घिर जाने पर वर्षा होगी, ऐसा अनुमान होता है।

२. **शेषवत् :-** जहाँ कार्य से कारण का अनुमान होता है। जैसे- साधारण जलप्रवाह के विपरीत नदी का पानी बहुत बढ़ा

देखकर तथा बहुत तीव्र प्रवाह एवं जल मिट्टी, सूखे पत्ते, कूड़ा कवाड़, झाड़ झंखाड़ से युक्त देखकर 'ऊपरी भागों में वृष्टि हुई है' ऐसा अनुमान होता है। धूम कार्य से अग्नि कारण का अनुमान होता है, इत्यादि।

शेषवत् अनुमान से परिशेष (बचा हुआ) का व्याख्यान भी हो सकता है। जैसे- परिशेष-न्याय से शब्द, आकाश का तथा ज्ञान, आत्मा का ही लिङ्ग है, अन्य का नहीं।

३. **सामान्यतोदृष्ट** - (एकत्वेन दृष्ट):- जिसे पहले कहीं देखा हो और बाद में कहीं अन्यत्र देखे, तो उसमें गति का अनुमान होता है। जैसे - सूर्य को प्रात:काल पूर्व में और सायंकाल पश्चिम में देखा गया, तो यह अनुमान हुआ कि 'सूर्य में गति है।' देवदत्त को दिल्ली में देखकर फिर भाग्यनगर (हैदराबाद) में देखने से उसकी गति का अनुमान होता है।

अनुमान प्रमाण के महान् विस्तृत क्षेत्र का होना इसी से स्पष्ट है, कि प्रत्यक्ष का क्षेत्र केवल वर्तमानकालिक है, जबकि अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति अतीत, अनागत, वर्तमान तीनों कालों में विद्यमान पदार्थों के ग्रहण करने में होती है। अर्थात् तीनों कालों में होने वाले पदार्थों का ज्ञान अनुमान प्रमाण द्वारा होना सम्भव है।। 5।।

अब सूत्राकार क्रमप्राप्त उपमान प्रमाण का लक्षण बताते हैं -

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।। 6।।

सूत्रार्थ- प्रसिद्ध जाने हुए के साधर्म्य-सादृश्य ज्ञान से साध्य के साधन को 'उपमान' प्रमाण कहते हैं।

व्याख्या- यहाँ 'साधन' इस पद में भाव में ल्युट् प्रत्यय है। पूर्वज्ञात को प्रसिद्ध और समान धर्म (सादृश्य) को साधर्म्य कहते हैं। पूर्व ज्ञात पदार्थ के समान धर्म द्वारा साध्य (उपमेय) की सिद्धि को उपमान (उपमिति) कहते हैं। जिस कारण (साधन) द्वारा साध्य (उपमेय) का ज्ञान होता है, उसे 'उपमान' कहते हैं। जैसे- किसी नागरिक ने किसी ग्रामीण से पूछा गवय (नीलगाय कैसी होती है ? ग्रामीण ने बताया- 'यथा गौ: तथा गवय:' (जैसी गौ वैसी ही गवय होती है)। इस उपमान के प्रयुक्त होने पर सदृश (समान) धर्म को इन्द्रियार्थसन्निकर्ष (प्रत्यक्ष) से प्राप्त करता हुआ 'इसकी संज्ञा गवय शब्द है' - ऐसा संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध ज्ञान को उपमान प्रमाण मानें तो उसका फल हान, उपादान, उपेक्षाबुद्धि होगा।

इसी प्रकार जैसी मूंग वैसी मुद्गपर्णी, जैसी उड़द वैसी माषपर्णी। इस उपमान के प्रयुक्त होने पर संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध को जानता हुआ व्यक्ति उस औषध को दवा के लिए ले आता है।

इसी प्रकार लोक में व्यवहृत अन्य उपमानों को भी समझ लेना चाहिए। कभी-कभी वैधर्म्य से भी वस्तु का ज्ञान होता है। जैसे-भैंसे से विपरीत गेंडे की नाक पर सींग होता है। इससे वैधर्म्य द्वारा खड्गमृग (गेंडा) ज्ञात होता है।। 6।।

अब क्रम प्राप्त शब्द प्रमाण का लक्षण बताते हैं -

आप्तोपदेश: शब्द:।। 7।।

सूत्रार्थ- आप्त का उपदेश कथन 'शब्द' नामक प्रमाण कहलाता है।

व्याख्या- किसी पदार्थ के साक्षात्कृतधर्मा पुरुष को 'आप्त' कहते हैं। साक्षात्कार का अर्थ है- जो वस्तु जैसी है, उसको उसी रूप में जानना। ऐसा जानकार व्यक्ति जब उस वस्तु के विषय में अन्यों को बताने के लिए प्रवृत्त होता है, तब वह उपदेष्टा है, उसका उपदेश (कथन) शब्द प्रमाण है। अर्थात् **'साक्षात्करणमर्थस्याऽऽप्ति:, तया प्रवर्तत इत्याप्त:'**।- किसी पदार्थ का साक्षात्करण (पूर्ण जानकारी) 'आप्ति' है, उस आप्ति के साथ अपने कार्य में प्रवृत्त होने वाला पुरुष 'आप्त' कहलाता है। आप्लृ व्याप्तौ + क्तिन् - आप्ति + अण् - आप्त् + अ = आप्त:।

आप्त का यह लक्षण ऋषि (तत्त्ववेत्ता), आर्य (निष्पाप), साधारण जन, अनपढ़ तथा निकृष्ट, म्लेच्छ सब में समान रूप से घट सकता है। कैसा भी व्यक्ति अपने सीमित विषय में विशेष जानकारी रखने के कारण साक्षात्कृतधर्मा होने से 'आप्त' होता है। अपने विषय में उसका उपदेश (कथन) शब्द प्रमाण है।

संसार में इन (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द) प्रमाणों से ही विशेष विद्वानों, साधारण मनुष्यों एवं पशु-पक्षियों में समग्र (लौकिक-अलौकिक) व्यवहार चलते हैं। उन व्यवहारों का इनसे भिन्न अन्य कोई साधन नहीं।। 7।।

शब्द प्रमाण के लक्षण के अनन्तर सूत्राकार शब्द प्रमाण के भेद बताते हैं -

स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्।। 8।।

सूत्रार्थ- वह शब्द प्रमाण दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ होने से, दो प्रकार का होता है।

व्याख्या- दृष्टार्थ: - दृष्ट: प्रत्यक्षत उपलब्धोऽर्थोऽस्येति दृष्टार्थ: (शब्द प्रमाण द्वारा जाने गए किसी अर्थ (विषय) को प्रत्यक्ष प्रमाण से जाना जा सके, वह दृष्टार्थ है)। जैसे किसी प्रत्यक्षदर्शी ने दूसरे से कहा- 'क्रीडाक्षेत्र में बारह खिलाड़ी खेल रहे हैं'। श्रोता क्रीडाक्षेत्र में जाकर बारह खिलाड़ी देख लेता है। वक्ता का ऐसा प्रमाण 'दृष्टार्थ' शब्द प्रमाण है।

अदृष्टार्थ :- अदृष्टोऽप्रत्यक्ष: शब्देनैवोपलब्धोऽर्थोऽस्येति - अदृष्टार्थ: (शब्द प्रमाण द्वारा जाने गए जिस अर्थ (विषय)

को प्रत्यक्ष से नहीं अपितु शब्द प्रमाण से ही जाना जा सके वह 'अदृष्टार्थ' शब्द प्रमाण है)। जैसे ईश्वर, मोक्ष, 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'- इत्यादि। इनका तत्काल प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः ये अदृष्टार्थ हैं। ये दोनों विभाग लौकिक और वैदिक वाक्यों के आधार पर हैं।। 8।।

प्रमाणों के लक्षण और विभाग बताने के पश्चात् सूत्राकार प्रमाणों से बोध्य प्रमेयों के विभाग का कथन करते हैं-

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्।। 9।।

सूत्रार्थ- आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग (ये बारह) तो प्रमेय (प्रमाणों से जानने योग्य) हैं।

व्याख्या- यद्यपि आत्मादि समस्त प्रमेयों का वर्णन आगे सूत्राकार ने स्वयं किया है, पुनरपि इन्हें संक्षेप में इस प्रकार समझना चाहिए -

१. **आत्मा :-** चेतन आत्मा सभी साधनों का द्रष्टा और सभी सुख-दुःखों का भोक्ता है। सब इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य समस्त विषयों को जानने वाला है, क्योंकि वही सब विषयों का अनुभव करता है।

२. **शरीर :-** उसी आत्मा के भोगों का आधार शरीर है। अर्थात् आत्मा इस स्थूल शरीर में रहने पर ही सुख-दुःख आदि को भोग पाता है।

३. **इन्द्रिय :-** आत्मा के भोग के साधन इन्द्रिय हैं। ये पाँच हैं- घ्राण, रसन, चक्षुः, त्वक्, श्रोत्र। ये बाह्य इन्द्रिय कहलाती हैं।

४. **अर्थः-** आत्मा के भोगने योग्य विषय अर्थ हैं। ये पाँच हैं गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द। ये क्रमशः घ्राणादि इन्द्रियों द्वारा गृहीत आत्मा के भोग का विषय बनते हैं।

५. **बुद्धि :-** आत्मा को गन्धादि विषयों का जो ज्ञान या अनुभव होता है वह बुद्धि कहलाती है।

६. **मन :-** यह आन्तर इन्द्रिय है। बाह्य इन्द्रियाँ केवल एक-एक नियत विषय को ग्रहण कराती है, किन्तु आन्तर इन्द्रिय मन प्रत्येक विषय के ग्रहण में साधन है। वह जिस इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध हो जाता है, उसी विषय का ग्रहण आत्मा करता है।

७. **प्रवृत्ति :-** शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, अर्थबोध, सुख, दुःख आदि की उत्पत्ति का निमित्तकारण 'प्रवृत्ति' है।

८. **दोष :-** प्रवृत्ति के हेतु (कारण) दोष हैं। शरीर आदि की उत्पत्ति के मूल 'प्रवृत्ति' और 'दोष' हैं।

९. **प्रेत्यभावः-** मरकर होना अर्थात् एक शरीर को त्यागकर दूसरा शरीर ग्रहण करना 'प्रेत्यभाव' है। आत्मा के देहग्रहण का निरन्तर प्रवाह अनादिकाल से है। इस प्रवाह का नैरन्तर्य अपवर्ग दशा में समाप्त हो जाता है।

१०. **फलः-** आत्मा का वह उपभोग फल है, जो उसे साधनों द्वारा सुख -दुःख आदि के रूप में प्राप्त होता है।

११. **दुःख :-** बाधना (पीड़ा, ताप, कष्ट, प्रतिकूल अनुभूति) को दुःख कहते हैं।

१२. **अपवर्गः-** उस दुःख का अत्यन्त छूट जाना 'अपवर्ग' (मोक्ष) कहलाता है।

(1) आत्मलक्षणम् -

पूर्वोक्त १२ प्रमेयों में आत्मा बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता, तो क्या वह केवल आप्तोपदेश (शब्द प्रमाण) से ही जाना जा सकता है ? इस शंका के निवारणार्थ अनुमान प्रमाण से भी उसकी सिद्धि के लिए आत्मा के लक्षण बताते हैं -

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।। 10।।

सूत्रार्थ- इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान ये आत्मा के लिङ्ग-चिह्न या परिचायक हैं।

व्याख्या- ये इच्छादि गुण देहादि से भिन्न आत्मा के साधक हैं। जैसे-

१. जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु के सन्निकर्ष से सुख प्राप्त करता है, तो वैसी वस्तु को पुनः देखकर वह उसको लेना चाहता है। तब दर्शन और स्मरण के द्वारा उत्पन्न इच्छा, अनेक विषयों के एक द्रष्टा आत्मा का लिंग (चिह्न ज्ञापक) है, क्योंकि एक-एक विषय के ग्रहण में नियत इन्द्रियों में अन्य इन्द्रिय द्वारा ज्ञात विषय की इच्छा नहीं होती, जिस प्रकार एक शरीर से अनुभूत सुखादि का दूसरे शरीर में स्मरण नहीं होता। जैसे -

एक व्यक्ति ने मीठा अंगूर खाकर सुख अनुभव किया। कालान्तर में वैसा ही अंगूर देखकर उस व्यक्ति की उसे लेने की इच्छा होती है। यदि पहले रसास्वाद और पश्वात् अंगूर दर्शन इन दोनों विषयों के पीछे दोनों का ग्रहण करने वाला एक आत्मा हो, तो जैसे देवदत्त के गृहीत विषय का यज्ञदत्त स्मरण नहीं कर सकता, वैसे ही रसनेन्द्रिय से गृहीत रस का अंगूर को देखकर नेत्र द्वारा स्मरण सम्भव नहीं। रसन रस का और नेत्र रूप का ग्राहक है। ये एक दूसरे के रस व रूप को ग्रहण करने में असमर्थ हैं। इस उदाहरण में रसनेन्द्रिय से गृहीत रस का चक्षुः द्वारा वैसा ही अंगूर देखने पर स्मरण हो आता है और उस फल को

लेने की इच्छा होती है। नेत्र द्वारा फल देखकर उसे लेने की इच्छा उसी को हो सकती है, जिसने उसके रस का स्वाद लिया हो। इससे इन दोनों इन्द्रियों के विषय को ग्रहण करने वाला, इन दोनों से भिन्न जो तत्त्व है, वह आत्मा है। इस प्रकारइच्छा का होना आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

२. इसी प्रकार जिस पदार्थ से किसी व्यक्ति को दु:ख प्राप्त होता है, तो वैसे पदार्थ को पुन: देखने से उसके प्रति द्वेषभाव प्रकट हो जाता है, वह उससे दूर रहने का प्रयत्न करता है। यह सब उनके अर्थों के साक्षात्कर्ता एक आत्मतत्त्व के कारण सम्भव है, जो अनुभव और स्मरण करने वाला है।

३. पूर्वानुभूत सुखदायक पदार्थ को देखकर व्यक्ति उसे प्राप्त करने का एवं दु:खप्रद पदार्थ को देखकर उससे दूर रहने का प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न द्रष्टा और स्मर्त्ता एक आत्म तत्त्व को स्वीकार किए बिना सम्भव नहीं। अत: इस प्रयत्न से अनेक विषयों के द्रष्टा एक आत्म तत्त्व का शरीर में अस्तित्व सिद्ध होता है।

४,५. अनुभूत सुख-दु:ख के स्मरण से जब व्यक्ति प्रयत्नपूर्वक सुख-दु:ख के साधनों को प्राप्त कर लेता है, तब उनके उपभोग से सुख-दु:ख की अनुभूति करता है। यह भी एक द्रष्टा और स्मर्त्ता आत्मतत्त्व से सम्भव है। अनात्म तत्त्व (शरीरादि) में सुख-दु:ख की अनुभूति नहीं होती।

६. किसी विषय को जानने की इच्छा करता हुआ व्यक्ति विचार करता है, कि यह है, और विविध कोटियों (पहलुओं) के आधार पर यह जान लेता है, कि यह अमुक वस्तु है। वस्तु का ऐसा ज्ञान पहले हुई बुभुत्सा (ज्ञान की इच्छा) और विभिन्न पहलुओं से विचार (विमर्श) करने वाले एक द्रष्टा व कर्ता (आत्मा) के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

इच्छादि विशेष गुण :-

जिस प्रकार पृथिवी का विशेष गुण गन्ध, पृथिवी का लक्षण (चिह्न, ज्ञापक, बोधक) है, वैसे ही 'इच्छा' आदि गुण आत्मा के लिंग (ज्ञापक, बोधक) हैं, क्योंकि जिस प्रकार गन्ध का समवायिकारण पृथिवी है, वैसे ही इच्छा आदि का समवायिकारण आत्मा है।

आत्मा शरीरादि से भिन्न है:- जो अनात्मवदी देहादि से अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, वे जिस प्रकार यह मानते हैं, कि देवदत्त-देह से अनुभूत किसी नियत विषय का अन्य यज्ञदत्त - देह द्वारा स्मरण नहीं हो सकता, उसी प्रकार एक देह में विभिन्न इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषय का एक-दूसरे के द्वारा स्मरण नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों जगह स्थिति समान है। अपने देखे हुए का स्मरण हो सकता है, अन्य के देखे हुए का अथवा कभी न देखे हुए का नहीं।

जिस प्रकार एक व्यक्ति के विषय में है, वैसे ही समस्त प्राणियों के विषय में यह समझना चाहिए कि - **'अन्यदृष्टमन्यो न स्मरति'**। इन दोनों परिस्थितियों (अन्यदृष्ट तथा अदृष्ट) की व्यवस्था अनात्मवादी नहीं कर सकता। इससे देह, इन्द्रिय आदि से अतिरिक्त चेतन आत्मतत्त्व का अस्तित्व सिद्ध होता है। और मरने पर इच्छा द्वेष आदि के न होने से, ये इच्छा आदि शरीर के लक्षण नहीं हो सकते।। 10।।

(२) शरीरलक्षणम् -

अब सूत्राकार प्रमेयों में पठित क्रमप्राप्त आत्मा के भोग के आश्रय 'शरीर' का लक्षण बताते हैं -

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रय: शरीरम्।। 11।।

सूत्रार्थ- चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थों का आश्रय-आधार 'शरीर' कहलाता है।

व्याख्या- सूत्रा के 'आश्रय' पद का सम्बन्ध चेष्टा, इन्द्रिय, अर्थ तीनों के साथ है।

चेष्टाश्रय :- चेष्टा का आश्रय शरीर है। चेष्टा उस क्रिया का नाम है जो ज्ञान, इच्छा व प्रयत्नपूर्वक होती है। अर्थात् प्रयत्नजन्य, इष्टप्राप्ति तथा अनिष्टत्याग के अनुकूल क्रियाविशेष को चेष्टा कहते हैं (ज्ञान+इच्छा+क्रिया - चेष्टा)। आत्मा शरीर में अधिष्ठित है। ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आत्मा के गुण हैं। इनके उभरने पर जो क्रिया होती है, उसका आधार 'शरीर' है। इससे स्पष्ट है, कि आत्मा से अनधिष्ठित जड़ पदार्थों में बिना ज्ञान व इच्छा के जो क्रिया होती है, वह 'चेष्टा' नहीं, अपितु केवल क्रिया है। जैसे वायु का चलना, पानी का बहना, हवा में तिनकों का उड़ना, लोक-लोकान्तरों का भ्रमण करना आदि।

इन्द्रियाश्रय:- शरीर में ही आत्मा को भोग-दशा प्राप्त होती है। इन्द्रियाँ भोग के साधन हैं, क्योंकि इन्द्रियों की भोग साधनता शरीर में ही सम्पन्न होती है, इसलिए शरीर को 'इन्द्रियाश्रय', कहा है।।

अर्थाश्रय:- 'अर्थ' पद का तात्पर्य यहाँ सुख-दु:ख आदि का उपभोग है (क्योंकि 1/1/14 में वर्णित गन्धादि अर्थ तो शरीर से बाहर रहते हैं)। इन्द्रिय और विषयों के सन्निकर्ष से उत्पन्न सुख-दु:ख आदि का जिस आयतन (आश्रय) में आत्मा को अनुभव होता है, वह 'शरीर' है।। 11।।

(3) इन्द्रियलक्षणम्

अब सूत्राकार प्रमेयों में पठित क्रमप्राप्त भोगसाधन इन्द्रियों का वर्णन करते हैं -

घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः॥12॥

सूत्रार्थ- घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र (ये पांच) इन्द्रियाँ भूतों से उत्पन्न व सम्बद्ध होती हैं।

व्याख्या-

१. **घ्राणम् - जिघ्रत्यनेनेति घ्राणम्, गन्धं गृह्णातीति**। (व्यक्ति जिससे सूंघता है, अर्थात् गन्ध ग्रहण करता है, वह घ्राण है) ।

२. **रसनम् - रसयत्यनेनेति रसनम्, यद्रसं गृह्णातीति** (व्यक्ति जिससे चखता है, अर्थात् रस ग्रहण करता है, वह रसनेन्द्रिय है।)

३. **चक्षुः- चष्टेऽनेनेति चक्षुः यद् रूपं पश्यतीति**। (जिससे देखता है अर्थात् रूप ग्रहण करता है, वह चक्षु इन्द्रिय है। चक्षिङ् (अदादि) + उस् (उणा.२/११९)- चक्षुः

४. **त्वक्ः-(स्पर्शन)- स्पृशत्यनेनेति स्पर्शनम् (स्पर्श गृह्णातीति), त्वक्स्थानमिन्द्रियम्, त्वक् तदुपचारः स्थानादिति**। (जिससे छूता है, अर्थात् स्पर्शगुण को ग्रहण करता है, वह त्वक् स्पर्शनेन्द्रिय है)। क्योंकि इसका स्थान त्वक् है, अतः त्वगिन्द्रिय कहलाती है। ऐसा त्वक् स्थान होने से अभेद उपचार (व्यवहार) द्वारा उस स्थान के नाम पर ही 'त्वक्' व्यवहार किया जाता है। जैसे नासिकाग्र में रहने से घ्राणेन्द्रिय को नासिका, जिह्वाग्र में रसनेन्द्रिय रहने से उसे जीभ कहते हैं- इत्यादि।

५. **श्रोत्रम्ः- शृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्, यत् शब्दं गृह्णातीति।** (जिससे सुनता है, श्रोत्रेन्द्रिय है)। अधिष्ठान रूप इन्द्रियों की रचना भूतों से हुई है। बाह्यगोलक अधिष्ठान पाञ्चभौतिक होते हुए भी जिस इन्द्रिय में जिस भूत की अधिकता है, वह इन्द्रिय उसी भूत से उत्पन्न कही जाती है। और उसी भूत के विशेष गुण का ग्रहण कराती है। परन्तु श्रोत्रेन्द्रिय आकाश से उत्पन्न नहीं, अपितु आकाश से सम्बद्ध अर्थात् आकाशरूप ही समझी जाती है।। 12।।

भूतलक्षणम् -

गत सूत्रा में कहे गए इन्द्रियों के उपादान कारण भूत कौन से हैं ?

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि॥ 13॥

सूत्रार्थ- पृथिवी, जल, तेज, अग्नि, वायु, आकाश ये पांच भूत हैं।

व्याख्या- पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश ये पाँच भूत क्रमशः- घ्राण, रसन, चक्षुः, त्वक् और श्रोत्र - इन्द्रियों से सम्बद्ध हैं।

भूत :- बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष-योग्य गन्ध आदि विशेष गुण वाले द्रव्य को 'भूत' कहते हैं। सूत्रा में भूतों के वाचक ''पृथिवी'' आदि शब्द अलग-अलग पढ़े हैं। इन पदों को सूत्रा में समासरूप में भी रखा जा सकता था। परन्तु ऐसा न करके प्रत्येक संज्ञा शब्द को अलग-अलग पढ़ने से सूत्राकार का यह अभिप्राय अभिव्यक्त होता है, कि-

(१) भूत संज्ञक पृथिवी आदि पाँचों तत्त्व एक-दूसरे से पृथक् स्वतन्त्रा हैं। इनकी रचना में इनका परस्पर सम्मिश्रण नहीं होता। ये अपने-अपने उपादानों से स्वतन्त्रा रूप में बनते हैं।

(२) गत सूत्रा में पठित घ्राण आदि इन्द्रियों के क्रमशः पृथिवी आदि भूत कारण हैं। अर्थात् घ्राण का कारण पृथिवी, रसन का कारण जल, चक्षुः का कारण तेज, त्वगिन्द्रिय का कारण वायु है। परन्तु श्रोत्रेन्द्रिय आकाश से उत्पन्न न होकर आकाशरूप ही है।। 13।।

(4) अर्थ (विषय)- लक्षणम् -

अब सूत्राकार अर्थ (विषय) का स्वरूप बताते हैं -

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः॥ 14॥

सूत्रार्थ- गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द पृथिवी आदि के गुण हैं और क्रमशः उन घ्राण आदि इन्द्रियों के अर्थ-विषय हैं।

व्याख्या- सूत्रा में 'अर्थ' शब्द 'विषय' का पर्यायवाची है।

अर्थ :- जो केवल एक बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने योग्य विशेष गुण है, उसको 'अर्थ' कहते हैं।

१. गन्ध गुण - पृथिवी का गुण है उसका ग्रहण घ्राण से होता है।

२. रस गुण - पृथिवी और जल दोनों में रहता है। उसका ग्रहण रसन इन्द्रिय से होता है।

३. रूप गुण - पृथिवी, जल, तेज तीनों में रहता है। उसका ग्रहण चक्षु से होता है।

४. स्पर्श गुण - पृथिवी, जल, तेज, वायु चारों में रहता है। उसका ग्रहण त्वगिन्द्रिय से होता है।

५. शब्द गुण - केवल आकाश का है, जिसका ग्रहण श्रोत्र से होता है।। 14।।

(5) बुद्धिलक्षणम् -

अब सूत्राकार प्रमेयपठित क्रमप्राप्त बुद्धि का लक्षण (स्वरूप) बताते हैं -

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्॥१५॥

सूत्रार्थ- बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान ये तीनों पद समानार्थक (पर्यायवाची) हैं। इन पर्यायों से जो अर्थ कहा जाए वह बुद्धि है।

व्याख्या- 'बुद्धि' पद का दो प्रकार से निर्वचन हो सकता है। एक 'भाव' अर्थ में क्तिन्-प्रत्यय द्वारा, दूसरा 'करण' अर्थ में क्तिन्-प्रत्यय द्वारा। इस सूत्रा में 'बुद्धि' शब्द भावार्थक क्तिन्-प्रत्ययान्त है। **'बोधनं बुद्धिः'** (जानना बुद्धि है)। इस रूप में यह बुद्धि शब्द 'ज्ञान' का पर्यायवाची हो जाता है। 'उपलब्धि' शब्द भी ज्ञान का पर्याय है। इस प्रकार ये तीनों शब्द समान अर्थ के वाचक हैं। अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जिस विषय का बोध होता है, वही 'बुद्धि', 'उपलब्धि' अथवा 'ज्ञान' है।

जब 'बुद्धि' शब्द करण कारक में क्तिन्-प्रत्ययान्त निष्पन्न होता है - **'बुध्यतेऽनया सा बुद्धिः'** (जिसके द्वारा जाना जाए, वह बुद्धि है) अर्थात् ज्ञान का साधन। तब 'बुद्धि' शब्द अन्तःकरण का वाचक होता है। ज्ञान (बुद्धि) का बोद्धा चेतन आत्मा ही है। अन्य बुद्धि (अन्तः करण), इन्द्रिय, देह आदि उसके साधन हैं। प्रमेयों में पठित क्रमप्राप्त बुद्धि का सूत्राकार ने यहाँ लक्षण न कहकर केवल पर्यायवाची शब्दों के निर्देशरूप युक्ति के द्वारा यह स्पष्ट किया है, कि प्रस्तुत प्रसंग में बुद्धि शब्द से ज्ञानार्थक बुद्धि का ग्रहण करना चाहिए, ज्ञानसाधन बुद्धि (अन्तः करण) का नहीं। इससे प्रमेयों में पठित बुद्धि का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है॥ 15॥

(6) मनोलक्षणम् -

अब सूत्राकार प्रमेयों में पठित क्रमप्राप्त मन का लक्षण बताते हैं -

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्॥ 16॥

सूत्रार्थ- एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति न होना मन का लिंग (ज्ञापक-लक्षण-चिह्न) है।

व्याख्या- यद्यपि स्मृति, अनुमान, शब्द प्रमाण, संशय, प्रतिभा (अकस्मात् किसी ज्ञान का उभर आना), स्वप्नज्ञान, ऊहा (तर्क, संकल्प आदि) सुख, दुःख, इच्छा आदि भी आन्तर इन्द्रिय (साधन) 'मन' के लिंग (लक्षण) हैं, क्योंकि इनके होने में बाह्य घ्राण आदि इन्द्रियों का कोई व्यापार (उपयोग) नहीं होता। तथापि सूत्राकार ने मन की सिद्धि के लिए सुगम साधन बताया है, कि विषयों के साथ चक्षुरादि इन्द्रियों का युगपत् सम्बन्ध होने पर भी अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति न होना 'मन' की सिद्धि में लिङ्ग है। क्योंकि परिमाण की दृष्टि से मन अत्यन्त अणु है, उसका अनेक इन्द्रियों से एक साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। वह जिस इन्द्रिय ये साथ संयुक्त होता है, उसी इन्द्रिय के विषय का ज्ञान आत्मा को होता है, अन्य का नहीं। यदि मन के संयोग की अपेक्षा के बिना ही 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' ज्ञान की उत्पत्ति का कारण हो, तो एक समय में अनेक ज्ञान उत्पन्न हुआ करें। परन्तु ऐसा नहीं होता ऐसी स्थिति में मन का अस्तित्व सिद्ध होता है॥ 16॥

(7) प्रवृत्तिलक्षणम् -

अब सूत्राकार प्रमेयों में पठित क्रमप्राप्त 'प्रवृत्ति' का स्वरूप बताते हैं :-

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः॥ 17॥

सूत्रार्थ- वाणी, बुद्धि (मन) और शरीर से की जाने वाली क्रिया-चेष्टा प्रवृत्ति कहलाती है।

व्याख्या- प्रस्तुत सूत्रा में 'बुद्धि' पद करणार्थक क्तिन् प्रत्ययान्त होने से 'मन' (अन्तःकरण) का वाचक है - **'बुद्धयतेऽनया सा बुद्धिः'**। इस प्रकार मन, वाणी व शरीर द्वारा की जाने वाली पाप-पुण्य रूप क्रियाओं (चेष्टाओं) का नाम 'प्रवृत्ति' है। जिनमें दस प्रकार की पाप रूप और दस प्रकार की पुण्यरूप क्रियाओं का वर्णन गत द्वितीय सूत्रा की व्याख्या में कर दिया है॥ 17॥

(8) दोषलक्षणम् -

अब सूत्राकार प्रमेयपठित क्रमप्राप्त 'दोष' का लक्षण बताते हैं -

प्रवर्तननालक्षणा दोषाः॥ 18॥

सूत्रार्थ- प्रवृत्ति के हेतु होना, लक्षण-स्वरूप है जिनका, वे दोष कहे जाते हैं।

व्याख्या- 'प्रवर्तना (प्रवर्तकत्वम्) एव लक्षणं (स्वरूपम्) येषां ते प्रवर्तनालक्षणा दोषा रागादयः'। प्रवृत्ति का कारण होना दोषों का स्वरूप है, वे हैं- राग, द्वेष और मोह। इन्हीं से प्रेरित होकर व्यक्ति मन, वाणी, शरीर द्वारा पाप या पुण्य की ओर प्रवृत्त होता है। जब तक तत्त्वज्ञान (आत्मसाक्षात्कार) नहीं हो जाता, ऐसे मिथ्याज्ञान की दशा में राग आदि उभरते हैं और आत्मा को पाप व पुण्य की ओर प्रवृत्त कराते हैं। इस प्रकार राग, द्वेष, मोह को दोष समझना चाहिए।

इनमें सुखानुशयी 'राग', दुःखानुशयी 'द्वेष' तथा कर्तव्याकर्तव्य को न समझना या स्वस्वामिसम्बन्ध जोड़ना 'मोह' है। ईर्ष्या, लोभ आदि भी इन्हीं दोषों में आ जाते हैं। इन दोषों से युक्त व्यक्ति जो कर्म करता है, उनसे उसे सुख या दुःख मिलता है॥ 18॥

(9) प्रेत्यभावलक्षणम् -

अब सूत्राकार क्रमप्राप्त 'प्रेत्यभाव' प्रमेय का लक्षण बताते हैं -

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः॥ 19॥

सूत्रार्थ- मरकर फिर उत्पन्न होना प्रेत्यभाव कहलाता है।

व्याख्या- सूत्रा में जो लक्षण किया है, वह 'प्रेत्यभाव' शब्द के अन्दर ही छिपा हुआ है। इसके दो भाग हैं - 'प्रेत्य' और 'भाव'। पहला पद 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'इण् गतौ' धातु से 'क्त्वा' (-ल्यप्) प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है (प्र + इण्+क्त्वा - प्र+इ+त्+ य - प्रेत्य)। अर्थ है - प्रकृष्ट रूप से यहाँ से जाकर (ऐसा जाकर, कि फिर उसी रूप में वापस न आवे) अर्थात् मरकर। दूसरे पद 'भाव' (भू+घञ्) का अर्थ है - होना। पूरे पद का तात्पर्य हुआ - मरकर फिर होना। आत्मा का एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण या ग्रहण करना या सम्बद्ध होना- प्रेत्यभाव है।

सूत्रा में 'पुनः' पद अभ्यास (बार-बार होना) अर्थ में प्रयुक्त है। अर्थात् जन्म-मरण का क्रम लगातार चलता रहता है। इसका कोई आदि या अन्त नहीं। केवल अपवर्ग (मोक्ष) मिलने पर ही यह सिलसिला निश्चित समय के लिए छूटता है। यह प्रेत्यभाव का सिलसिला विभिन्न योनियों में कर्मानुसार बराबर चलता रहता है।। 19।।

(10) फललक्षणम् -

अब सूत्राकार प्रमेयपठित क्रमप्राप्त 'फल' का लक्षण बताते हैं -

प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम्॥ 20॥

सूत्रार्थ- प्रवृत्ति और दोषों से उत्पन्न हुआ अर्थ-भोग फल कहलाता है।

व्याख्या- गत १७ और १८ वें सूत्राों में क्रमशः प्रवृत्ति और दोषों का स्वरूप बताया है। राग, द्वेष आदि दोष प्रवृत्ति के कारण हैं। रागादि से प्रेरित होकर प्रवृत्त हुआ व्यक्ति पाप-पुण्यरूप कर्मों का अनुष्ठान करता है। उनके अनुसार उसे सुख, दुःख रूप भोग प्राप्त होते हैं, वही मुख्य फल है। और यह सुख, दुःख आदि का भोग शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि एवं विषयों के बिना नहीं हो सकता, अतः शरीरादि भी गौणरूप से 'फल' कहला सकते हैं।

रागादि से प्रेरित व्यक्ति पाप-पुण्यरूप कर्म करता रहता है, और उसका फल प्राप्त करता रहता है। इस क्रम का कहीं अन्त (किनारा) नहीं। हाँ, आत्म-साक्षात्कार हो जाने पर, यह क्रम सीमित काल के लिए विच्छिन्न हो जाता है। इसी निर्बाध प्रवाह में यह संसार बह रहा है। शास्त्राकार ने मुमुक्षु को वैराग्य-लाभ के लिए यहाँ फल का उपदेश कर दिया है।

(11) दुःखलक्षणम् -

अब सूत्राकार प्रमेयपठित क्रमप्राप्त दुःख का लक्षण बताते हैं-

बाधनालक्षणं दुःखम्॥ 21॥

सूत्रार्थ- बाधनास्वरूप दुःख है।

व्याख्या- बाधना, पीड़ा, ताप, दुःख ये सब शब्द एक अर्थ को कहते हैं। वह अर्थ है - प्रतिकूल अनुभूति का होना। ये अनुभूतियाँ सांसारिक अथवा भौतिक पदार्थों के संसर्ग में आने पर होती हैं। दुःखराशि से दृढतापूर्वक सम्बद्ध होने के कारण सांसारिक भोगों तथा उनके साधनभूत भोग्य पदार्थों को विवेकी व्यक्ति दुःखरूप समझता हुआ, उनकी ओर से खिन्न व विरक्त हो जाता है। इस प्रकार अध्यात्म मार्ग पर चलता हुआ व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यही मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है।। 21।।

(12) अपवर्गलक्षणम्-

अब सूत्राकार अन्तिम प्रमेय अपवर्ग का स्वरूप बताते हैं-

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः॥ 22॥

सूत्रार्थ- उस दुःख से अत्यन्त छूट जाना अपवर्ग (मोक्ष-मुक्ति-कैवल्य) कहलाता है।

व्याख्या- जिस दशा में सांसारिक कष्ट की अत्यल्प मात्रा भी मुक्तात्मा को पीड़ित नहीं करती, उस त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्ति को अपवर्ग (मोक्ष) कहते हैं। - (द्र. सांख्य. १/१)

दुःखों से छुटकारा मिल जाने पर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो जाती है। परन्तु सूत्राकार ने जो दुःखों की परम्परा से अत्यन्त छूट जाना 'अपवर्ग' बताया है, वह केवल इस भावना से, कि इसके बिना ब्रह्मानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु दुःख की निवृत्ति हो जाने पर ब्रह्मानन्द की अनुभूति अनायास हो जाती है। उसके लिए अन्य प्रयत्नों की अपेक्षा नहीं रहती। फलतः दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति द्वारा ब्रह्मानन्द की अनुभूति होना अपवर्ग (मोक्ष) का वास्तविक स्वरूप है।

इस विषय में एक बात और ध्यान देने की है, कि यदि मुमुक्षु नित्यसुख की इच्छा से अध्यात्म मार्ग पर चलता है, तो निश्चित ही उसका नित्यसुख-विषयक राग निरन्तर बना रहेगा। तब उसे मोक्ष की प्राप्ति होना असम्भव है, क्योंकि राग बन्धन का कारण तथा मोक्ष के प्रतिकूल है। रागरूप बन्धन के रहते कोई मुक्त हो जाए, यह सर्वथा अप्रामाणिक एवं असंगत है।। 22।।

अब सूत्राकार क्रमप्राप्त तृतीय उद्दिष्टपदार्थ 'संशय' का लक्षण बताते हैं-

प्रमुख स्मरणीय बिंदु

1.प्रमाण - न्यायदर्शन में यथार्थ अनुभव के साधन को प्रमाण कहा गया है।
प्रमाण के भेद न्यायदर्शन चार स्वतंत्र प्रमाण स्वीकार करता हैरू प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।
प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न वह ज्ञान जो शब्दों द्वारा अभिव्यद्र न हो, संशय रहित हो और निश्चित हो।
अनुमान प्रत्यक्ष पर आधारित वह ज्ञान जो साध्य (जैसे - अग्नि) और हेतु (जैसे - धुआँ) के अविनाभाव संबंध -व्याप्ति पर टिका हो। इसके तीन प्रकार हैंरू पूर्ववत, शेषवत् और सामान्यतोख्रष्ट।
उपमानरू प्रसिद्ध वस्तु के साथ समानता - साधर्म्य के आधार पर किसी अपरिचित संज्ञा का ज्ञान होना।
शब्द किसी आप्त पुरुष या यथार्थ वद्रा का उपदेश शब्द प्रमाण कहलाता है।
2.प्रमेय - प्रमेय वे विषय हैं, जिनका यथार्थ ज्ञान मोक्ष प्राप्ति के लिए अनिवार्य है।
आत्मा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख और ज्ञान जिसके लिंग - चिन्ह या पहचान हैं।
शरीर चेष्टा, इन्द्रिय और विषयों का आश्रय।
इन्द्रियाँ नासिका, जिवा, नेत्र, त्वचा और कान जो पृथ्वी आदि भूतों से उत्पन्न हैं।
अर्थ गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द विषय।
बुद्धि उपलब्धि या ज्ञान को ही बुद्धि कहा गया है।
मन सुख-दु:ख आदि का एक साथ ज्ञान न होने का कारण।
प्रवृत्ति वाणी, मन और शरीर की क्रियाएँ।
दोष राग, द्वेष और मोह जो प्रवृत्ति के मूल कारण हैं।
प्रेत्यभाव पुनर्जन्म।
फल कर्म और दोषों से उत्पन्न सुख-दु:ख का अनुभव।
दु:ख बाधा या पीड़ा पहुँचाने वाला स्वभाव।
अपवर्ग दु:खों से पूर्ण या आत्यंतिक निवृत्ति ही मोक्ष है।
न्यायदर्शन के अनुसार, इन प्रमेयों का तत्त्वज्ञान होने से मिथ्या ज्ञान का नाश होता है, जिससे दु:खों की निवृत्ति और अंतत: नि:श्रेयस - मोक्षकी प्राप्ति होती है।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न -

1.न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र की व्याख्या कीजिए।
2.प्रमाण के स्वरूप और भेदों का सविस्तार वर्णन कीजिए।
3.प्रमेय का विवेचन करते हुए इसके भेदों को स्पष्ट कीजिए।
4.प्रत्यक्ष प्रमाण की परिभाषा देते हुए अव्यपदेश्य, अव्यभिचारि और व्यवसायात्मक पदों की व्याख्या कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न -

1.न्यायदर्शन के अनुसार आप्त किसे कहते हैं?
2.अनुमान प्रमाण के तीन प्रकार (पूर्ववत, शेषवत, सामान्यतोख्रष्ट) को उदाहरण सहित समझाएं।
3.आत्मा के लिंग (लक्षण) क्या हैं?
4.अपवर्ग (मोक्ष) की न्यायोद्र परिभाषा क्या है?
5.मन के लक्षण स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1.न्यायदर्शन के अनुसार प्रमाणों की संख्या कितनी है?
क) दो
ख) तीन

ग) चार

घ) छह

2.इनमें से कौन-सा प्रमेय की श्रेणी में नहीं आता?

क) संशय

ख) इन्द्रिय

ग) बुद्धि

घ) दोष

3.इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम.. किस प्रमाण का लक्षण है?

क) अनुमान

ख) शब्द

ग) उपमान

घ) प्रत्यक्ष

4.शब्द प्रमाण के कितने भेद बताए गए हैं?

क) ख़ष्ट और अख़ष्ट

ख) पूर्ववत् और शेषवत

ग) सविकल्पक और निर्विकल्पक

घ) इनमें से कोई नहीं

5.प्रमेय की कुल संख्या कितनी है?

क) 16

ख) 12

ग) 24

घ) 5

इकाई- 1.2 संशय एवं प्रयोजन

उद्देश्य-

1.न्याय प्रक्रिया का आरम्भ संशय द्वारा जिज्ञासा उत्पन्न करना और प्रयोजन द्वारा उस जिज्ञासा को लक्ष्य प्रदान करना, जिससे न्याय या तर्क की प्रक्रिया शुरू हो सके।

2.तत्वज्ञान के प्रति रुचि विषय की अनिश्चितता - संशय को दिखाकर और उससे होने वाले लाभ या प्रयोजन को बताकर साधक को सत्य की खोज के लिए प्रेरित करना।

3.निरर्थक चर्चा का निषेध यह सुनिश्चित करना कि शास्त्रार्थ या विचार केवल उन्हीं विषयों पर हो, जहाँ संशय विद्यमान हो और जिसका कोई ठोस प्रयोजन या लक्ष्य हो।

समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलबध्यनुपलब्ध्य-
व्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः॥23॥

सूत्रार्थ- समान धर्मों की उपलब्धि से तथा अनेक धर्मों की उपलब्धि से, विप्रतिपत्ति-एक अधिकरण में विरुद्ध धर्मों के ज्ञान से और उपलब्धि की अव्यवस्था-अनियम से तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था-अनियम से विशेष ज्ञान की अपेक्षा रखने वाला अनिश्चयात्मक-द्विकोटिक ज्ञान संशय कहलाता है।

व्याख्या- एक धर्मी में दो विरुद्ध धर्मों का ज्ञान होना संशय है। **(सम्यक् शेते निर्णयो यस्मिन्निति संशयः)**। यह तभी उभरता है, जब धर्मिविषयक विशेष ज्ञान की अपेक्षा हो।

सूत्रा में संशय उत्पन्न होने की पाँच अवस्थाएँ बताई हैं -

१. समानधर्मोपपत्ति, २. अनेकधर्मोपपत्ति, ३. विप्रतिपत्ति, ४. उपलब्धि-अव्यवस्था और

५. अनुपलब्धि-अव्यवस्था

१. **समानधर्मोपपत्ति :-** सामने के किसी धर्मी में ऐसे धर्मों का दीखना, जो दो धर्मियों में समान रूप से रहते हों। जैसे सामने की वस्तु में स्थाणु और पुरुष के समान (तुल्य) धर्म (उतार-चढ़ाव, लम्बाई-चौड़ाई) आदि को देखता हुआ प्रमाता, उनके विशेष धर्म (शाखा-कोटर आदि एवं हस्त-पाद, ग्रीवा आदि) जानना चाहता हुआ, यह निश्चय नहीं कर पाता, कि 'यह वस्तु क्या है।' यह अनिश्चयरूप ज्ञान 'संशय' कहलाता है।

२. **अनेकधर्मोपपत्ति :-** अनेक (समानजातीय और असमानजातीय से विशेषक - विभेदक - भिन्न) धर्म की उपपत्ति (उप. लब्धि) से भी धर्मी के विषय में विशेष जानकारी की अपेक्षा वाला विमर्श (अनिश्चयात्मक ज्ञान, विचार) संशय कहलाता है। जैसे- 'गन्धवती पृथिवी'। यहाँ गन्धवत्त्व धर्म समानजातीय (द्रव्यों- जल, तेज आदि) से तथा असमानजातीय (गुण आदि) से विशेषक (विभेदक- भिन्न) है। इससे पृथिवी के विषय में संशय होता है, कि पृथिवी को द्रव्य मानें अथवा गुण या कर्म ? क्योंकि 'गन्धवत्त्व का अभाव' जलादि द्रव्यों, गुण और कर्म तीनों में समानरूप से विद्यमान है तथा किसी एक का व्यवस्थापक धर्म प्राप्त नहीं हो रहा है।

इसी प्रकार शब्द में 'विभागजत्व' विशेष धर्म द्रव्य, गुण, कर्म तीनों से भिन्न होने से शब्द के विषय में विशेष ज्ञान की अपेक्षा वाला अनिश्चयात्मक ज्ञान संशय को उत्पन्न करता है, कि शब्द को द्रव्य मानकर गुण, कर्म से भिन्न कहा जाए ? अथवा गुण मानकर द्रव्य, कर्म से भिन्न कहा जाए? या कर्म मानकर द्रव्य, गुण से भिन्न कहा जाए? 'किसी एक का व्यवस्थापक धर्म प्राप्त नहीं कर पा रहा हैं' ऐसी विशेषापेक्षाबुद्धि संशय को उत्पन्न करती है।

३. **विप्रतिपत्ति :-** वि (विरोधी) + प्रतिपत्ति (ज्ञान) - विप्रतिपत्ति। एक अधिकरण में परस्पर विरोधी ज्ञान 'विप्रतिपत्ति' है। जो विशेष जानकारी की अपेक्षा होने पर संशय को उत्पन्न करती है। जैसे कोई आचार्य कहते हैं- 'आत्मा है', अन्य आचार्य कहते हैं - 'आत्मा नहीं है'। यहाँ एक ही अधिकरण आत्मा में 'है' और 'नहीं हैं' ये दो विरोधी ज्ञान किसी तीसरे व्यक्ति के सामने आते हैं, तो उसे 'संशय' हो जाता है, कि आत्मा है या नहीं ? क्योंकि होना और न होना ये दोनों विरोधी धर्म एक ही अधिकरण (धर्मी) में नहीं हो सकते। इनमें से जब तक किसी एक का निश्चयात्मक हेतु नहीं मिलता तब तक संशय बना ही रहता है।

४. **उपलब्धि-अव्यवस्था :-** उपलब्धि की अव्यवस्था से भी विशेष जानकारी की अपेक्षा से 'संशय' उत्पन्न होता है। जैसे तालाब, नदी आदि में, विद्यमान जल उपलब्ध होता है और मरुमरीचिका में भी, अविद्यमान जल प्रतीत होता है। कालान्तर में वैसी ही कोई वस्तु प्रतीत होने पर 'संशय' उत्पन्न हो जाता है, कि यह प्रतीति मरुमरीचिका में जल के समान अविद्यमान

की प्रतीति है, अथवा नदी आदि में जल के समान विद्यमान की ? विशेष की अपेक्षा होने पर जब तक विशेष के निश्चय का हेतु नहीं मिलता, तब तक यह संशय बना रहता है। विद्यमान अविद्यमान दोनों प्रकार की वस्तु का उपलब्ध हो जाना ही उपलब्धि विषयक अव्यवस्था है।

५. **अनुपलब्धि-अव्यवस्था :-** पूर्वोक्त स्थिति के विपरीत अनुपलब्धि की अव्यवस्था से भी विशेष जानकारी की अपेक्षा से 'संशय' उत्पन्न हो जाता है। जैसे- कभी विद्यमान वस्तु भी उपलब्ध नहीं होती अर्थात् अनुपलब्ध रहती है। जैसे- विद्यमान भी वृक्ष आदि की जड़ें नहीं दीखतीं, दीवाल में गड़ी कील का अथवा भूमि में गड़े हुए खूँटे का बहुत सा भाग नहीं दीखता। तथा अविद्यमान वस्तु जो उत्पन्न नहीं हुई अथवा उत्पन्न होकर नष्ट हो गई भी यथार्थ अनुपलब्धि होती है। कालान्तर में ढूँढने पर भी जब कोई वस्तु उपलब्ध नहीं होती, तो विशेष निश्चय का हेतु न मिलने पर यह संशय होता है, कि वस्तु की अनुपलब्धि अविद्यमानता में है, या विद्यमान ही दिखाई नहीं दे रही ? यहाँ विद्यमानता-अविद्यमानता दोनों अवस्थाओं में वस्तु की अनुपलब्धि 'अनुपलब्धि अव्यवस्था' है।

ये सब प्रकार के संशय विशेष जानकारी की अपेक्षा से ही होते हैं। यहाँ इतना समझ में रखना चाहिए कि समानधर्म और अनेक धर्म ज्ञेय वस्तु में रहते हैं तथा उपलब्धि और अनुपलब्धि ज्ञाता व्यक्ति में रहती है। और विप्रतिपत्ति दोनों में प्रतीत होती है। वैशेषिक में भी कहा है - **''सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः'' - (वैशे. 2/2/17)**॥ 23॥

अब सूत्राकार चतुर्थ क्रमप्राप्त प्रयोजन का स्वरूप बताते हैं -

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्॥ 24॥

सूत्रार्थ- जिस पदार्थ को लक्ष्य करके कोई व्यक्ति प्रवृत्त होता है, वह अर्थ प्रयोजन कहलाता है।

व्याख्या- प्रत्येक व्यक्ति लाभकर व सुखद पदार्थ की प्राप्ति करना चाहता है और हानिकर व दुःखद स्थिति से बचना चाहता है। यह अनुकूल का ग्रहण करना और प्रतिकूल का छोड़ना प्रत्येक प्रवृत्ति का लक्ष्य होता है। सूत्रा के 'अधिकृत्य' पद में अन्तर्हित 'अधिकार' का तात्पर्य है- 'इस अर्थ को प्राप्त करूँगा, अथवा इसको छोडूंगा' ऐसा निश्चय (इच्छा)। अतः सूत्रा का तात्पर्य हुआ जिस प्राप्तव्य या त्यक्तव्य पदार्थ का निश्चयपूर्वक उद्देश्य रखकर व्यक्ति प्रवृत्त होता है, वह प्रयोजन कहलाता है।

प्रयोजन के बिना प्रवृत्ति नहीं होती। मूर्ख व्यक्ति भी बिना प्रयोजन के कोई काम नहीं करता **(प्रयोजनमन्तरेण मन्दोऽपि न प्रवर्तते)**। प्रवृत्ति को देखकर ही प्रयोजन का अनुमान हो जाता है। यह प्रयोजन सुखप्राप्ति या दुःखत्याग के रूप में हो सकता है। जैसे- ज्ञान के उद्देश्य से अध्ययन में प्रवृत्त होने का 'ज्ञान' प्रयोजन है। शम, दम आदि के अनुष्ठान में अपवर्ग (मोक्ष) प्रयोजन है। नौकरी करने का 'धनप्राप्ति' प्रयोजन है। ऊनी-वस्त्र पहनने या अग्नि सेकने का 'शीतनिवारण' प्रयोजन है॥ 24॥

अब सूत्राकार पंचम क्रमप्राप्त दृष्टान्त का स्वरूप बताते हैं -

प्रमुख स्मरणीय बिंदु

1.संशय - संशय वह ज्ञान है, जिसमें किसी एक धमह्न या वस्तु में परस्पर विरोधी अनेक धर्मों का भान होता है। संशय का स्वरूपरू न्यायसूत्र (1.1.23) के अनुसार, संशय न तो पूर्ण अज्ञान है और न ही निश्चित ज्ञान, बल्कि यह एक धमह्न में अनेक विरुद्ध धर्मों का विमर्श है।

संशय के पाँच कारण

समानधर्मोपपत्ति दो वस्तुओं में समान धर्म को देखकर होने वाला संशय (जैसे- ठूँठ और पुरुष दोनों में ऊँचाई समान देखकर - यह स्थाणु है या पुरुष? का संदेह)।

अनेकधर्मोपपत्ति असाधारण धर्म के कारण होने वाला संशय (जैसे- शब्द में ऐसा धर्म होना, जो न नित्य में है और न अनित्य में)।

विप्रतिपत्ति एक ही विषय पर विद्वानों के परस्पर विरोधी मत होना।

उपलब्धि-अव्यवस्था किसी वस्तु के विद्यमान होने पर भी उसकी उपलब्धि में अनिश्चितता।

अनुपलब्धि-अव्यवस्था वस्तु के न होने पर भी उसकी अनुपलब्धि का स्पष्ट न होना।

संशय को न्यायदर्शन में न्याय की प्रवृत्ति का मूल माना गया है, क्योंकि बिना संशय के कोई भी व्यद्रि सत्य की खोज या विचार (अन्वीक्षा) में प्रवृत्त नहीं होता।

2.प्रयोजन - प्रयोजन वह लक्ष्य है, जिसे सामने रखकर मनुष्य किसी कार्य में प्रवृत्त होता है।

प्रयोजन की परिभाषारू सूत्र (1.1.24) के अनुसार- 'यमर्थमधिख्त्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम' अर्थात् जिस ऋल या अर्थ की प्राप्ति या त्याग के लिए व्यद्रि क्रिया करता है, वही प्रयोजन है।

प्रवृत्ति का आधाररू संसार में कोई भी मनुष्य, चाहे वह विद्वान हो या सामान्य बालक बिना प्रयोजन के किसी कार्य में हाथ नहीं डालता।

प्रयोजन के प्रकार मुख्य रूप से इसके दो स्वरूप माने गए हैंरू

1.हेय (त्यागने योग्य) दु:ख और उसके कारणों का त्याग।

2.उपादेय (ग्रहण करने योग्य) सुख और मोक्ष (नि:श्रेयस) की प्राप्ति।

संशय जिज्ञासा उत्पन्न करता है और प्रयोजन उस जिज्ञासा को शांत करने के लिए पुरुषार्थ की दिशा तय करता है। इन दोनों के बिना सत्य का निर्णय संभव नहीं है।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न -

1.न्यायदर्शन के अनुसार संशय के स्वरूप और उसके कारणों की सविस्तार व्याख्या कीजिए।

2.प्रयोजन किसे कहते हैं? न्याय प्रक्रिया और मानव प्रवृत्ति में इसके महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न -

1.समानधर्मोपपत्ति से संशय कैसे उत्पन्न होता है? एक उदाहरण देकर स्पष्ट करें।

2.विप्रतिपत्ति जन्य संशय का क्या अर्थ है?

3.न्यायदर्शन में प्रयोजन की परिभाषा क्या दी गई है?

4.संशय को ज्ञान की श्रेणी में क्यों नहीं रखा जाता?

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1.संशय का मुख्य लक्षण क्या है?

क) निश्चित ज्ञान

ख) विमर्श

ग) प्रत्यक्ष अनुभव

घ) उपमान

2.जिस अर्थ या लक्ष्य को लेकर प्रवृत्ति होती है, उसे क्या कहते हैं?

क) संशय

ख) सिद्धान्त

ग) प्रयोजन

घ) खष्टान्त

3.न्यायसूत्रा के अनुसार संशय के कितने प्रमुख कारण या प्रकार बताए गए हैं?

क) तीन

ख) चार

ग) पाँच

घ) आठ

4.अनेक मतों के विरोध से उत्पन्न होने वाला संशय कहलाता हैरू

क) विप्रतिपत्तिजन्य

ख) समानधर्मजन्य

ग) उपलब्धिजन्य

घ) अनुपलब्धिजन्य

5.प्रयोजन के विषय में कौन-सा कथन सत्य है?

क) यह केवल विद्वानों के लिए होता है

ख) इसके बिना कोई भी क्रिया नहीं होती

ग) यह केवल मोक्ष है

घ) यह ज्ञान का बाधक है

इकाई- 1.3 दृष्टान्त और सिद्धान्त

उद्देश्य-

1.अविवादास्पद आधार प्रदान करना ख्रष्टान्त के माध्यम से एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करना जिसे वादी और प्रतिवादी दोनों स्वीकार करें, जिससे सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिए एक सर्वसम्मत धरातल मिल सके।

2.तत्व व्यवस्था का निर्धारण विभिन्न मतों और परीक्षाओं के उपरांत वस्तु के वास्तविक स्वरूप को एक सिद्धान्त के रूप में स्थापित करना,जिससे ज्ञान में स्थिरता आए।

3.व्याप्ति ज्ञान की सुगमता ख्रष्टान्त के सहयोग से हेतु (कारण) और साध्य (लक्ष्य) के अविनाभाव संबंध - व्याप्ति को समझाना, जिससे सिद्धान्त को तर्कसंगत बनाया जा सके।

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः॥ 25॥

सूत्रार्थ- जिस अर्थ-विषय में लौकिक और परीक्षकों की बुद्धि या जानकारी का साम्य- अविरोध है, वह अर्थ दृष्टान्त कहलाता है।

व्याख्या- सूत्रा में 'लौकिक' पद का तात्पर्य है- वे साधारण जन, जो अन्य साधारण जनों से आगे बढ़े हुए नहीं हैं। अर्थात् जो स्वाभाविक अथवा शिक्षा आदि द्वारा बुद्ध्यतिशय (विशेष ज्ञान) को प्राप्त नहीं हुए हैं। और परीक्षक वे कहलाते हैं- जिन्होंने शास्त्रा के अभ्यास द्वारा बुद्धि (ज्ञान) का उत्कर्ष प्राप्त कर लिया है। जो तर्क तथा प्रमाणों आदि के द्वारा किसी विषय की परीक्षा करने में समर्थ होते हैं।

जिस अर्थ (विषय) को लौकिक एवं परीक्षक दोनों समान रूप से समझें (स्वीकार करें) वह दृष्टान्त होता है। वाद-प्रतिवाद के प्रसंग में दृष्टान्त-विरोध होने पर प्रतिपक्ष का निषेध (खण्डन) और दृष्टान्त के समान (अनुकूल) होने से अपने पक्ष का स्थ. ापन (मण्डन) किया जाता है। स्वयं दृष्टान्त पद से भी यही भावना अभिव्यक्त होती है, क्योंकि यह 'दृष्ट' और 'अन्त' दो पदों से मिलकर बना है। जिस में पहले का अर्थ है 'ज्ञात' और दूसरे का अर्थ है - 'ऐसा होने का निश्चय (उसकी पूर्णता)। किसी ज्ञात अर्थ का पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों के द्वारा उसी रूप में अर्थात् समान रूप में स्वीकार करना 'दृष्टान्त' है। जैसे धूम के हेतु से 'अग्नि' का अस्तित्व सिद्ध करने मे 'महानसवत्' (रसोईघर के समान)। यह दृष्टान्त दोनों पक्षों को स्वीकार्य है। आगे वर्णित (सू. ३२-३७) पञ्चावयवों में ऐसे विषय का उपयोग उदाहरण (दृष्टान्त)-रूप में किया जाता है॥ 25॥

अब सूत्राकार क्रमप्राप्त सिद्धान्त का लक्षण बताते हैं -

तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः॥ 26॥

सूत्रार्थ- तन्त्रा (शास्त्रा), अधिकरण और अभ्युपगम के द्वारा अर्थ या विषय का बाधारहित निश्चय, सिद्धान्त कहलाता है।

व्याख्या- 'सिद्धान्त' पद 'सिद्ध' और 'अन्त' दो शब्दों के मेल से बना है। जिसमें सिद्ध का अर्थ है- इस रूप में जाना गया या स्वीकार किया गया पदार्थ। 'अन्त' का तात्पर्य है- पूर्णता, वैसा होने का निश्चय। अतः सिद्धान्त का स्वरूप हुआ पदार्थ विषयक ज्ञान की पूर्णता, अर्थात् यह ऐसा हो सकता है, अन्य प्रकार का नहीं।

यही भाव 'संस्थिति' पद से अभिव्यक्त होता है। इसमें 'सम्' उपसर्ग का अर्थ है- सम्यक् प्रकार से (अच्छी तरह से-पूर्ण रूप से)। स्थिति का अर्थ है- ठहराव। अतः संस्थिति का तात्पर्य हुआ जो वस्तु जैसी जानी गई है, उसका पूर्णता से उसी रूप में होना (इत्थंभाव-व्यवस्था)।

संस्थिति के साथ अन्य पद जुड़कर सिद्धान्त के प्रकारों को प्रकट करते हैं -

क. तन्त्रा-संस्थिति :- तन्त्रा शब्द शास्त्रा का पर्यायवाची है। एक दूसरे के साथ सम्बद्ध अर्थसमूह का जो उपदेश किया जाता है, वह शास्त्रा है। उसमें उपपादित (बताए गए) विचार 'तन्त्रासंस्थिति' अर्थात् 'तन्त्रा-सिद्धान्त' कहे जाते हैं।

ख. अधिकरण-संस्थितिः- जहाँ एक अर्थ के सिद्ध हो जाने पर उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ आवश्यकरूप से स्वतः सिद्ध हो जाता है, उस 'अधिकरणसंस्थिति' या 'अधिकरण-सिद्धान्त' कहते हैं।

ग. अभ्युपगम -संस्थितिः- जो विषय अभी निश्चित नहीं हुआ, उसको किसी कारण से कुछ समय के लिए स्वीकार कर लेना 'अभ्युपगम-संस्थिति' या 'अभ्युपगम-सिद्धान्त' है॥ 26॥

संक्षेप में:- प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया जाने वाला अर्थ 'सिद्धान्त' कहलाता है।

अब सूत्राकार सिद्धान्त के भेद बताते हैं -

स चतुर्विधः सर्वतन्त्राप्रतितन्त्राधिकरणाऽभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात्॥ 27॥

सूत्रार्थ- सर्वतन्त्रा, प्रतितन्त्रा, अधिकरण और अभ्युपगम संस्थिति के परस्पर भिन्न होने से, वह सिद्धान्त चार प्रकार का है।

व्याख्या- संस्थिति (सिद्धान्त) पद को प्रत्येक के साथ जोड़कर सिद्धान्त के ये चार भेद स्पष्ट हो जाते हैं -

(i) सर्वतन्त्रा-सिद्धान्त, (ii) प्रतितन्त्रा-सिद्धान्त,

(iii) अधिकरण-सिद्धान्त, (vi) अभ्युपगम-सिद्धान्त।

इनकी व्याख्या सूत्राकार स्वयं आगे करेंगे।। 27।।

अब सूत्राकार सर्वतन्त्रा-सिद्धान्त का स्वरूप बताते हैं -

सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रोऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रासिद्धान्तः।। 28।।

सूत्रार्थ- सब शास्त्राों से अविरूद्ध-स्वीकृत तथा किसी एक शास्त्रा में प्रतिपादित अर्थात् विशेष रुप से वर्णित विषय 'सर्वतन्त्रा-सिद्धान्त' कहलाता है।

व्याख्या- कोई विषय किसी शास्त्रा में विशेषरूप से वर्णित किया गया हो, तथा अन्य सब शास्त्राों ने उस विषय को बिना किसी विरोध के स्वीकार कर लिया हो, उस अर्थ (विषय मान्यता) को 'सर्वतन्त्रा सिद्धान्त' कहते हैं। जैसे- इस शास्त्रा में घ्राण आदि इन्द्रियाँ, इनके क्रमशः गन्धादि विषय, पृथिवी आदि पाँच भूत, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रमेय की सिद्धि वर्णित है, जिनको सब शास्त्राों ने बिना विरोध के स्वीकार किया है। अतः ये मान्यताएँ 'सर्वतन्त्रा-सिद्धान्त' की सीमा में आती हैं।।। 28।।

अब सूत्राकार दूसरे भेद 'प्रतितन्त्रा-सिद्धान्त' का स्वरूप बताते हैं।

समानतन्त्रासिद्धः परतन्त्राासिद्धः प्रतितन्त्रासिद्धान्तः।। 29।।

सूत्रार्थ- समान शास्त्रा में सिद्धान्तरूप से जो विषय सिद्ध-निश्चित या स्वीकृत है, अन्य शास्त्रा में स्वीकृत नहीं है, वह 'प्रतितन्त्रा-सिद्धान्त' कहलाता है।

व्याख्या- यहाँ गत सूत्रा से 'तन्त्रोऽधिकृतोऽर्थः' की अनुवृत्ति है। अतः सूत्रा का तात्पर्य होगा- एकतन्त्रा (शास्त्रा) में जो अर्थ (विषय) अधिकृत है, उस तन्त्रा में उसी विषय के अनुरूप प्रतिपादन होता है, उस शास्त्रा के समान शास्त्रा में उक्त विषय को उसी रूप में मान लिया जाता है। परन्तु अन्य शास्त्राों में उक्त विषय को उसी रूप में नहीं माना जाता, प्रत्युत उसका वर्णन अन्य प्रकार से होता है। ऐसे विषय शास्त्राों के अपने-अपने 'प्रतितन्त्रा-सिद्धान्त' कहे जाते हैं। जैसे- पाणिनीय व्याकरण में 'अ, ए, ओ' वर्णों को गुण कहते हैं, जबकि काणाद वैशेषिक में 'रूप, रस' आदि को गुण माना जाता है और सांख्य-योग में 'सत्त्व, रजस्, तमस्' गुण हैं। ये सब अपने अपने शास्त्राों के 'प्रतितन्त्रा सिद्धान्त' हैं। मीमांसक शब्द को नित्य, किन्तु नैयायिक अनित्य मानते हैं।

सांख्य की मान्यता है- असत् का कभी सद्भाव नहीं होता, सत् का कभी अभाव नहीं होता, समस्त आत्मा चैतन्य रूप से समान हैं, देह, इन्द्रिय, मन, स्थूलभूत, तन्मात्र, अहंकार, महत् आदि में परस्पर भेद पाया जाता है। नैयायिकों का सिद्धान्त है, कि भूतसृष्टि पुरुषकर्मनिमित्तक है, दोष कर्म (प्रवृत्ति) के हेतु हैं, चेतन (आत्मा) अपने राग-द्वेष आदि गुणों से भिन्न है, असत् उत्पन्न होता है और उत्पन्न नष्ट हो जाता है इत्यादि।

आपाततः ये सिद्धान्त (मान्यताएँ) एक-दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हैं, परन्तु वस्तुतः यह उन शास्त्राों के प्रतिपाद्य विषय की सीमा के कारण प्रतीत होता है, क्योंकि प्रत्येक शास्त्रा अपनी सीमाओं के अन्दर रहकर ही विषय का प्रतिपादन करता हैं। ऐसी स्थिति में ये मान्यताएँ 'प्रतितन्त्रा सिद्धान्त' कहलाती हैं। **'तन्त्रां तन्त्रां प्रति सिद्धान्तः - प्रतितन्त्रा-सिद्धान्तः।'** - प्रत्येक तन्त्रा (शास्त्रा) का अपना सिद्धान्त (मान्यता)।। 29।।

अब सूत्राकार क्रमप्राप्त तीसरे अधिकरण-सिद्धान्त का स्वरूप बताते हैं

यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः।। 30।।

सूत्रार्थ- जिसमें मुख्य अर्थ के सिद्ध हो जाने पर प्रकरण के साथ लगे अन्य अर्थों की सिद्धि भी स्वतः हो जाती है, वह 'अधिकरणसिद्धान्त' कहलाता है।

व्याख्या- मुख्य प्रसंग के सिद्ध हो जाने पर उसके साथ लगे हुए अर्थों का अनायास सिद्ध (निश्चय) हो जाना 'अधि करणसिद्धान्त' कहलाता है। जैसे- आत्मा देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न है **'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्' (3/1/1)** - दर्शन (चक्षु) तथा स्पर्शन (त्वक्) इन्द्रियों के द्वारा एक अर्थ के ग्रहण से (आत्मा इन्द्रिय आदि संघात से अतिरिक्त है।) क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों से तो एक-एक विषय का ही ज्ञान होता है, किन्तु आत्मा को प्रतिसन्धान (प्रत्यभिज्ञान) होता है- कि जिस घट आदि को मैंने चक्षुरिन्द्रिय से देखा था, उसी को अब मैं त्वक् से छू रहा हूँ। अथवा जिसको त्वक् से छुआ था, उसी को चक्षु से देख रहा हूँ। इससे सिद्ध होता है, कि इन दोनों से भिन्न, इन दोनों के विषय को ग्रहण और स्मरण करने वाला 'आत्मा' है।

इस मुख्य विषय (आत्मभिन्नत्व) के सिद्ध हो जाने पर इसके अनुषंगी (साथ में संलग्न) विषय स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। जैसे इन्द्रियों का नानात्व, इन्द्रियों का नियतविषयत्व, अपने विषय के ग्रहण से इन्द्रियों के अस्तित्व की पहचान होना, ज्ञाता के लिए

इन्द्रियों का ज्ञानसाधनमात्र होना, गन्ध आदि गुणों से द्रव्य का अतिरिक्त होना, द्रव्य को गुणों का अधिकरण मानना, चेतनों का अनियतविषय होना आदि। देह, इन्द्रिय आदि से आत्मा के भिन्न सिद्ध हो जाने पर ये सब अर्थ स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। क्योंकि इनकी सिद्धि के बिना देहादि से अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि का स्थिर होना भी सम्भव नहीं होगा। इस प्रकार मुख्य प्रसंग आत्म तत्त्व की सिद्धि हो जाने पर अन्य मान्यताओं का सिद्ध हो जाना अधिकरण सिद्धान्त का उदाहरण है। इसी प्रकार पृथिवी आदि के कर्त्ता ईश्वर की सिद्धि हो जाने पर, उसकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता स्वयं सिद्ध हो जाती है।। 30।।

अब सूत्राकार अन्तिम 'अभ्युपगमसिद्धान्त' का स्वरूप बताते हैं -

अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः।। 31।।

सूत्रार्थ- परीक्षा के बिना किसी अर्थ को स्वीकार करने से उसकी विशेष परीक्षा के निमित्त 'अभ्युपगम-सिद्धान्त' माना जाता है।

व्याख्या- जैसे- शब्दविषयक चर्चा में न्याय की मान्यता है, कि शब्द गुण है और अनित्य है। किन्तु प्रतिवादी शब्द को न गुण मानता है, न अनित्य। शब्द का द्रव्यत्व और नित्यत्व दोनों अपरीक्षित हैं। इनकी परीक्षा अपेक्षित है। वादी कहता है अच्छा। थोड़ी देर के लिए मान लेते हैं, कि 'शब्द द्रव्य है'। शब्द के द्रव्य होने पर 'वह नित्य है, अथवा अनित्य' ? इस विशेष धर्म की परीक्षा कर लेनी चाहिए। ऐसे अवसर पर शब्द के अपरीक्षित धर्म 'द्रव्यत्व' को स्वीकार कर लेना 'अभ्युपगम-सिद्धान्त' का उदाहरण है।

इस अभ्युपगम-सिद्धान्त का उपयोग अपनी बुद्धि की उत्कृष्टता दिखाने तथा प्रतिवादी की बुद्धि के तिरस्कार के लिए किया जाता है। अर्थात् यह प्रदर्शन करने के लिए कि हमारी ऐसी तीक्ष्ण बुद्धि है, जिससे तुम्हारे असत्य कथन को मानकर भी हम तुम्हारा खण्डन कर सकते हैं।।। 31।।

सिद्धान्त का निरूपण करके अब सूत्राकार उद्देश सूत्रा के अनुसार सातवें क्रमप्राप्त अवयवों के भेद बताते हैं -

प्रमुख स्मरणीय बिंदु

1. ख्रष्टान्त - ख्रष्टान्त वह उदाहरण है, जो वादी (पक्ष रखने वाला) और प्रतिवादी (विरोध करने वाला) दोनों के लिए समान रूप से मान्य हो।

परिभाषा (सूत्र 1.1.25) जिस विषय में साधारण मनुष्य और विद्वान दोनों की बुद्धि या समझ एक समान हो, उसे ख्रष्टान्त कहते हैं।

महत्त्व न्याय प्रक्रिया में अनुमान प्रमाण को सिद्ध करने के लिए ख्रष्टान्त अनिवार्य है। यह वह आधार है, जहाँ साध्य (जो सिद्ध करना है) और हेतु (साधन) का संबंध प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है।

उपयोगिता ख्रष्टान्त के माध्यम से ही किसी गूढ़ विषय को लोक-प्रसिद्धि के आधार पर समझाया जाता है। जैसे - रसोईघर (महानस) अग्नि और धुएं के संबंध को समझाने के लिए एक सर्वमान्य ख्रष्टान्त है।

2. सिद्धान्त - सिद्धान्त वह सत्य या मत है, जिसे प्रमाणों के आधार पर परीक्षित कर स्वीकार किया गया हो।

परिभाषा (सूत्र 1.1.26) तन्त्र (शास्त्र) के आधार पर व्यवस्थित रूप से प्राप्त ज्ञान, जिसे विभिन्न युद्रियों से सिद्ध किया गया हो, वह सिद्धान्त कहलाता है।

सिद्धान्त के चार भेद (सूत्र 1.1.27) इन चारों का वगह्लकरण इस प्रकार किया है

1.सर्वतन्त्र सिद्धान्तरू वह मत जो सभी शास्त्रों या संप्रदायों में समान रूप से मान्य हो (जैसे- इन्द्रियाँ ज्ञान के साधन हैं)।

2.प्रतितन्त्र सिद्धान्त वह मत जो केवल अपने ही शास्त्र में मान्य हो, दूसरे के शास्त्र में नहीं (जैसे- न्याय दर्शन का पीलुपाक विचार)।

3.अधिकरण सिद्धान्त वह सत्य जिसके सिद्ध होने पर उससे संबंधित अन्य गौण बातें स्वतः सिद्ध हो जाती हैं।

4.अभ्युपगम सिद्धान्त किसी विशेष चर्चा या वाद के उद्देश्य से किसी अपरीक्षित या दूसरे के मत को थोड़ी देर के लिए सत्य मान लेना जिससे उस पर आगे विचार किया जा सके।

ख्रष्टान्त तर्क का आधार है, जबकि सिद्धान्त तर्क का निष्कर्ष है। इन दोनों का स्पष्ट ज्ञान होने पर ही न्याय की प्रक्रिया पूर्ण होती है।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न -

1.ख्रष्टान्त का लक्षण बताते हुए न्याय प्रक्रिया में इसकी उपयोगिता सिद्ध कीजिए।

2.सिद्धान्त किसे कहते हैं? इसके चारों भेदों (सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम) का सोदाहरण वर्णन कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न -

1.ख्रष्टान्त में लौकिक और परीक्षक शब्दों से क्या अभिप्राय है?
2.सर्वतन्त्र सिद्धान्त और प्रतितन्त्र सिद्धान्त में मुख्य अंतर क्या है?
3.अधिकरण सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए।
4.अनुमान प्रमाण की सिद्धि में ख्रष्टान्त का क्या महत्त्व है?

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1.ख्रष्टान्त वह है, जहाँ लौकिक और परीक्षकों की बुद्धि में होती हैरू
क) भिन्नता
ख) साम्यता (समानता)
ग) अनिश्चितता
घ) शून्यता
2.सिद्धान्त के कुल कितने भेद न्यायदर्शन में वर्णित हैं?
क) दो
ख) तीन
ग) चार
घ) पाँच
3.वह सिद्धान्त जो एक तन्त्र या शास्त्र में प्रसिद्ध हो किन्तु दूसरे में न हो, कहलाता है
क) सर्वतन्त्र
ख) प्रतितन्त्र
ग) अधिकरण
घ) अभ्युपगम
4.'किसी पक्ष को बिना सिद्ध किए केवल विचार के लिए मान लेना' कौन सा सिद्धान्त है?
क) अधिकरण
ख) अभ्युपगम
ग) सर्वतन्त्र
घ) इनमें से कोई नहीं
5.न्यायदर्शन के अनुसार ख्रष्टान्त का प्रयोग मुख्य रूप से कहाँ होता है?
क) केवल पूजा में
ख) संशय उत्पन्न करने में
ग) व्याप्ति और परार्थानुमान में
घ) नींद आने में

इकाई- 1.4 अवयव, तर्क तथा निर्णय

उद्देश्य

1.अनुमान की पूर्णता अवयव- प्रतिज्ञा, हेतु आदि के माध्यम से पंचावयव वाक्य की संरचना करना,जिससे परार्थानुमान अर्थात् दूसरों को समझाने हेतु तर्क को व्यवस्थित स्वरूप दिया जा सके।

2.तत्व ज्ञान का शोधन तर्क द्वारा संशय की स्थिति में कारण-कार्य की संभावनाओं पर विचार करना, जिससे किसी विषय के वास्तविक स्वरूप को जानने की भूमिका तैयार हो सके।

3.संशय रहित निश्चय निर्णय का उद्देश्य पक्ष और प्रतिपक्ष की परीक्षा के उपरांत सत्य का अंतिम निर्धारण करना है, जिससे बुद्धि भ्रम से मुद्र हो सके।

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः॥ 32॥

सूत्रार्थ- प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन ये पाँच अवयव कहलाते हैं।

व्याख्या- किसी समूह के विभिन्न अंशों को अवयव कहा जाता है। किन्तु यहाँ अनुमान -वाक्य के पाँच अंशों को अवयव कहा गया है। इसीलिए उस अनुमान-वाक्य को 'पञ्चावयव- वाक्य' कहा जाता है।

विशेष :- अनुमान के दो भेद हैं स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

१. **स्वार्थानुमानः**- अपनी अनुमिति का हेतु स्वार्थानुमान है, अर्थात् व्यक्ति स्वयं किसी अर्थ को समझने के लिए उसके साधक हेतु, उदाहरण आदि का चिन्तन करता है, और यथार्थ को समझ लेता है। इसमें प्रतिज्ञा आदि के उच्चारण की आवश्यकता नहीं होती। जैसे स्वयं अग्नि और धूम के साहचर्य को बार-बार देखने से व्याप्ति-ज्ञान हो जाने पर, अनन्तर वह व्यक्ति पर्वत आदि पर धूम को देखकर पहले व्याप्ति का स्मरण करता है, फिर उसे वर्तमान धूम से सम्बद्ध करके 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमिति हो जाती है, जो स्वार्थानुमान है।

२. **परार्थानुमानः**- पर (अन्य) अर्थात् अपने से भिन्न किसी व्यक्ति की अनुमिति का हेतु जो अनुमान है, वह परार्थानुमान है। इसमें व्यक्ति स्वयं अनुमान कर चुकने पर दूसरे व्यक्ति को बताने के लिए पञ्चावयव का प्रयोग करता है। जैसे -

१. प्रतिज्ञा :- पर्वतो वह्निमान्,

२. हेतु :- धूमत्वात् (यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः),

३. उदाहरण :- महानसवत्,

४. उपनय :- तथा चायम्,

५. निगमन :- तत्मात् धूमत्वात् पर्वतोऽयं वह्निमान्।

जब श्रोता को वक्ता द्वारा प्रस्तुत शब्द प्रमाण पर विश्वास नहीं होता, तब यह अनुमान वाक्य अत्यन्त उपयोगी होता है। और शिष्यों के समक्ष पञ्चावयव का प्रयोग उसके स्वरूप- ज्ञानार्थ होता है। और जिज्ञासा आदि अतिरिक्त पाँच अवयवों का अर्थ की सिद्धि में सीधा कोई उपयोग नहीं है। परम्परा से दूर का सहयोग अलग बात है। इस प्रकार पाँच अवयव आवश्यक और पूर्ण हैं।। ३२।।
अब सूत्राकार प्रथम अवयव 'प्रतिज्ञा' का स्वरूप बताते हैं -

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा॥ 33॥

सूत्रार्थ- अनुमान वाक्य में साध्य का निर्देश या कथन प्रतिज्ञा कहलाता है।

व्याख्या- जैसे- 'शब्द नित्य है या अनित्य' ऐसा सन्देह होने पर अनित्यत्ववादी पाँच अवयववाक्यों के साथ अपना पक्ष प्रस्तुत करता है। उनमें प्रथम अवयव है -

प्रतिज्ञा :- अनित्यः शब्दः (शब्द अनित्य है) इसी प्रकार-

पर्वतो वह्निमान् (पर्वत वह्नि/अग्नि वाला है)।

यहाँ अनित्यत्व एवं वह्निमत्व धर्म साध्य हैं, उनके अधिकरण शब्द एवं पर्वत हैं।। 33।।
अब सूत्राकार 'हेतु' का स्वरूप बताते हैं -

उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः॥ 34॥

सूत्रार्थ- उदाहरण के साधर्म्य-सादृश्य से साध्य धर्म का जो साधन होता है, वह 'हेतु' कहलाता है।

व्याख्या- साधर्म्य और वैधर्म्य भेद से उदाहरण दो प्रकार का होता है। प्रस्तुत सूत्रा में उदाहरण के साधर्म्य से हेतु का

स्वरूप बताया है, कि दृष्टान्त की समानता बताकर साध्य को सिद्ध करने वाला वचन हेतु है। जैसे -

प्रतिज्ञा :- अनित्यः शब्दः,

उत्पत्तिधर्मकत्वात् अथवा उत्पत्तिमत्त्वात् (उत्पत्तिधर्मवाला होने से)।

इसी के साथ व्याप्ति का निर्देश होना चाहिए- यद्यद् उत्पत्तिधर्मकं तत्तद् अनित्यम् (जो-जो उत्पत्ति धर्म वाला होता है, वह वह अनित्य होता है। इसी प्रकार -

प्रतिज्ञा :- पर्वतो वह्निमान्।

प्रतिज्ञा :- धूमत्वात् (धूमवला होने से)।

व्याप्ति-यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः (जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है)।। 34।।

क्या साधर्म्य से ही हेतु होता है ? समा.:- नहीं -

तथा वैधर्यात्।। 35।।

सूत्रार्थ- जैसे उदाहरण के साधर्म्य से साध्य का साधन हेतु होता है, वैसे ही उदाहरण के वैधर्म्य से साध्य का साधन हेतु भी होता है।

व्याख्या- यहाँ गत सूत्रा से 'उदाहरण. साध्यसाधनं हेतुः' की अनुवृत्ति आती है। इससे पूरा वाक्य बनेगा **'तथा उदाहरण ावैधर्यात् साध्यसाधनं हेतुः'**।

जैसे प्रतिज्ञाः- अनित्यः शब्दः (शब्द अनित्य है),

हेतुः- उत्पत्तिधर्मकत्वात् (अनुत्पत्तिधर्मकं न अनित्यम् (नित्यम्), यथा- आत्मा, आकाश आदि द्रव्यम्)। (उत्पत्तिधर्म वाला होने से, क्योंकि जो अनुत्पत्ति धर्म वाला होता है, वह अनित्य नहीं होता, अपितु नित्य होता है। जैसे- आत्मा, आकाश आदि द्रव्य) । इसी प्रकार -

यत्र यत्र वह्नेः-अभावस्तत्र तत्र धूमाभावः।। 35।।

अब सूत्राकार ३४ वें सूत्रा के अनुसार अन्वय-व्याप्ति वाले उदाहरण का स्वरूप बताते हैं -

साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्।। 36।।

सूत्रार्थ- साध्य के साधर्म्य-सादृश्य से उस साध्य के धर्म से सम्बद्ध धर्म का भाव जिसमें हो, वह दृष्टान्त अन्वयव्याप्तिक उदाहरण कहलाता है।

व्याख्या- 'साध्य' पद के दूसरे निर्देश के अनुसार सूत्रार्थ होगा-साध्य अर्थात पक्ष के समानधर्मा होने से दृष्टान्त उसके (पक्ष के) धर्म को हुआनेवाला अर्थात प्रमाणित करने वाला होता है। पक्ष और दृष्टान्त दोनों में 'उत्पत्तिवाला होना' यह समानधर्म है। शब्द उत्पत्तिधर्मक है और घट भी। इस साधर्म्य से दृष्टान्त, पक्ष-शब्द में उसके 'अनित्यत्व' धर्म को प्रमाणित करता है। देखा जाता है-घट उत्पन्न होता है; उत्पत्ति से पहले वह नहीं था, उत्पन्न हो जाने पर कालान्तर में नहीं रहता, नष्ट हो जाता है, अतः अनित्य है। इस प्रकार एक धर्मी घट में जब हम अनित्यत्व और उत्पत्तिधर्मकत्व के साध्यसाधनभाव को जानलेते हैं, तब यह निर्धारित हो जाता है कि जो पदार्थ उत्पत्तिधर्मक है, वह अवश्य अनित्य होता है। शब्द को हम उत्पन्न होता हुआ अनुभव करते हैं; इसलिए उत्पन्न होनेवाले घट एवं निर्मित अन्य पात्र आदि के समान शब्द के अनित्य होने का निश्चय हो जाता है।

प्रतिज्ञा :- अनित्यः शब्दः,

हेतु :- उत्पत्तिधर्मकत्वात्,

उदाहरणम् :- घटादिवत्,

एवमेव :- पर्वतो वह्निमान्, धूमत्वात्।

महानसवत् :- इत्युदाहरणम्।

इस तृतीय अवयव का 'उदाहरण' नाम इसीलिए रखा गया है, क्योंकि **(उदाह्रियतेऽनेन द्वयोर्धर्मयोः साध्यसाधनभाव इत्युदाहरणम्)** इसके द्वारा दो धर्मों के साध्यसाधनभाव का आहरण (प्रकाशन) होता है।।। 36।।

अब सूत्राकार ३५ वे सूत्रा के अनुसार 'व्यतिरेक व्याप्तिक' उदाहरण का स्वरूप बताते हैं -

तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्।।37।।

सूत्रार्थ- उस साध्य के विपर्यय-वैधर्म्य या असादृश्य से विपरीत, अतद्धर्मभावी - साध्य के धर्म से असम्बद्ध दृष्टान्त व्यतिरेकव्याप्तिक उदाहरण कहलाता है।

व्याख्या- यहाँ गत सूत्रा से 'दृष्टान्त उदाहरणम्' की अनुवृत्ति भी आती है। अतः व्यवस्था से अन्वय होगा- **साध्यवैधर्म्यात् अतद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्**। (उसी के अनुसार ऊपर शब्दार्थ किया है।) जैसे-

प्रतिज्ञा :- अनित्यः शब्दः,

हेतु :- उत्पत्तिधर्मकत्वात्। व्यतिरेकव्याप्ति यदनुत्पतित्तधर्मकं भवति, तन्नित्यं भवति, नानित्यम्। यथा - आत्माऽऽकाशादि। (जो अनुत्पत्तिधर्मवाला होता है, वह नित्य होता है, अनित्य नहीं। जैसे आत्मा, आकाश आदि।) इसी प्रकार -

प्रतिज्ञाः - पर्वतो वह्निमान्,

हेतुः- धूमत्वात्। व्यतिरेकव्याप्ति- यो यो वह्निमान् न भवति, स स धूमवान् न भवति। यथा - ह्रदः। (जो-जो वह्नि / अग्नि वाला नहीं होता, वह वह धूमवान् नहीं होता। जैसे- तालाब आदि।

यहाँ आत्मा आदि दृष्टान्त हैं। साध्य की असमानता से अनुत्पत्तिधर्मा होने से तद्धर्मभावी (साध्यधर्म का) अनित्यत्व उस (आत्मा) में नहीं है। अतः प्रमाता 'आत्मा आदि दृष्टान्त में उत्पत्तिधर्मत्व न रहने से अनित्यत्व नहीं बनता'- ऐसा अनुभव करता हुआ शब्द के विषय में विपरीत अनुमान करता है, कि 'उत्पत्तिधर्म वाला होने से शब्द अनित्य है'। इसी प्रकार- ह्रद (तालाब) में वह्नि / अग्नि का अभाव समझ लें। यह सब स्थिति हेत्वाभास प्रसंगों में सम्भव नहीं। इसलिए हेत्वाभास हेतु नहीं होते।

वस्तुतः यह हेतु और उदाहरण का साधर्म्य परमसूक्षम और दुर्बोध्य है। साध्य को सिद्ध करने में हेतु और उदाहरण की पूर्ण वास्तविकता को समझने और उसका प्रयोग करने के लिए सूक्ष्म बुद्धि एवं प्रतिभा की अपेक्षा रहती है। शास्त्रा के प्रशस्त पाण्डित्य एवं अभ्यास से ही इसमें पार पा सकते हैं।। 37।।

अब सूत्राकार क्रमप्राप्त चतुर्थ अवयव 'उपनय' स्वरूप बताते हैं-

उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः।। 38।।

सूत्रार्थ- उदाहरणापेक्षः - उदाहरण की अपेक्षा करता हुआ, उदाहरण के अधीन उदाहरण के अनुसार 'तथा इति'- वैसा ही यह है या 'न तथा इति'- वैसा यह नहीं है, ऐसा साध्य का उपसंहार 'उपनय' कहलाता है।

व्याख्या- अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति के आधार पर उदाहरण दो प्रकार के होते हैं - (१) अन्वयव्याप्तिमूलक (२) व्यतिरेकव्याप्तिमूलक। उसके अनुसार उपनय भी दो प्रकार के हो जाते हैं-

(१) उदाहरणापेक्षः 'तथा' इति साध्यस्य उपसंहारः उपनयः। अथवा (२) उदाहरणापेक्षः 'न तथा' इति उपसंहारः उपनयः। जैसे-

(१) अन्वयि- उदाहरणमूलक (साधर्म्यवाले)उपनय में 'घट' आदि उदाहरण हैं। उसके अनुसार 'तथा' कहकर उपनय वचन बनेगा- 'यथा घट उत्पत्तिधर्मकः, तथा शब्दः' (जैसा घट उत्पत्ति ध र्म वाला है, वैसा ही शब्द है)। इसी प्रकार- 'यथा धूमवान् महानसः तथा चायं पर्वतः'। (जैसा महानस्/रसोई धूमवान् है, वैसे ही यह पर्वत है)।

(२) व्यतिरेकि- उदाहरणमूलक (वैधर्म्य वाले) उपनय में 'आत्मा' आदि उदाहरण हैं। उसके अनुसार 'न तथा' कहकर उपनय वचन बनेगा- 'यथा आत्मा अनुत्पत्ति-धर्मकः, न तथा शब्दः'। (जैसा आत्मा अनुत्पत्तिधर्म वाला है, वैसा शब्द अनुत्पत्ति धर्म वाला नहीं है)। इसी प्रकार 'यथा ह्रदः धूमरहितः, न तथा पर्वतः'। (जैसा तालाब धूमरहित है, वैसा पर्वत धूम रहित नहीं है)।

'उपनीयते उदाहरणधर्मः साध्यधर्म येन स उपनयः'। 38।।

अब सूत्राकार अन्तिम अवयव 'निगमन' का स्वरूप बताते हैं-

हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्।। 39।।

सूत्रार्थ- हेतु के कथन से अर्थात् हेतुकथनपूर्वक प्रतिज्ञा का फिर दोहराना निगमन नामक पाँचवाँ, अन्तिम अवयव है।

व्याख्या- साधर्म्य से अथवा वैधर्म्य से कहे गए उदाहरण के अनुसार हेतु के कथनपूर्वक प्रतिज्ञा का फिर दोहराना निगमन कहलाता है।

'निगमन' शब्द से ही यह भाव प्रकट होता है, जिसका अर्थ है- पूर्णरूप से जानकारी या प्राप्ति। **निगम्यन्ते- समर्थ्यन्ते- सम्बध्यन्ते प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनया एकत्राऽनेनेति निगमनम्।** अर्थात् जिसके द्वारा प्रतिज्ञा आदि चारों अवयवों का एकत्र ज्ञान या सम्बन्ध कराया जाता है, वह अन्तिम अवयव निगमन है।

अन्वयव्याप्ति के अनुसार पञ्चावयव वाक्य जैसे :-

१. **प्रतिज्ञा** :- अनित्यः शब्दः (शब्द अनित्य है)।
२. **हेतु** :- उत्पत्तिधर्मकत्वात् (उत्पत्तिधर्म वाला होने से) (व्याप्ति)- उत्पत्तिधर्मकं द्रव्यमनित्यं दृष्टम्।
३. **उदाहरण** :- घटादिवत् (घट आदि के समान)।
४. **उपनय** :- तथा चायम् (वैसा ही घट के समान उत्पत्ति धर्म वाला यह शब्द है)।
५. **निगमन** :- तस्मात् तथा (इसलिए घट के समान उत्पत्तिधर्म वाला होने से शब्द अनित्य है)।

व्यतिरेक व्याप्ति के अनुसार पञ्चावयव वाक्य :-

१. **प्रतिज्ञा** :- अनित्यः शब्दः (शब्द अनित्य है)।

२. **हेतु** :- उत्पत्ति धर्म वाला होने से (व्याप्ति) अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं दृष्टम्, यथा- आत्मा - आदि द्रव्यम् (अनुत्पत्ति धर्म वाला पदार्थ नित्य माना जाता है)।

३. **उदाहरण** :- यथा आत्मादि द्रव्यम् (आत्मा आदि द्रव्य के समान)

४. **उपनय** :- न चायं शब्दः तथाऽनुत्पत्तिधर्मकः (यह शब्द वैसा अनुत्पत्ति धर्म वाला नहीं है)

५. **निगमन** :- तस्मात्तथा (अनुत्पत्तिधर्मकत्वाभावात्-उत्पत्तिधर्मकत्वात् आत्मादि विपरीतोऽनित्यः शब्दः) (इसलिए अनुत्पत्तिधर्म वाला न होने से आत्मा आदि से विपरीत शब्द अनित्य है)।

पञ्चावयव वाक्यों में सभी प्रमाणों का समावेशः-

पञ्चावयवयुक्त वाक्य में अनेक प्रमाण मिलकर अर्थ सिद्ध करते हैं। जैसेः-

१. **प्रतिज्ञा** :- 'अनित्यः शब्दः' इत्यादि प्रतिज्ञा वाक्य शब्दप्रमाण- स्थानीय है।

२. **हेतु** :- 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' इत्यादि हेतुवाक्य को अनुमान रूप समझना चाहिए, जो कि उदाहरण में सादृश्य प्रकट करता है। इसका व्याख्यान (१/१/३६) में कर दिया है।

3. **उदाहरणः**- 'घटवत्' इत्यादि उदाहरण वाक्य को प्रत्यक्ष का प्रतीक समझना चाहिए, क्योंकि उदाहरण पदार्थ में साध्य-साधनरूप दो धर्मो को प्रत्यक्ष कर लिया जाता है।

4. **उपनयः**- चौथा उपनय वाक्य उपमान प्रमाण का प्रतीक है, क्योंकि दोनों में 'यथा, तथा' शब्दों द्वारा अर्थ को प्रकट किया जाता है। जैसे (उपमान में)- 'यथा गौः तथा गवयः, वैसे ही (उपनय में) 'यथा घटः तथा शब्दः', 'यथा आत्मा न तथा शब्द'।

5. **निगमनम्**:- अन्तिम अवयव में सब प्रमाणों को सफलता पूर्वक प्रकट कर दिया जाता है।। 39।।

अवयवों के वर्णन के पश्चात् अब सूत्राकार आठवें क्रमप्राप्त 'तर्क' का स्वरूप बताते हैं -

अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः।। 40।।

सूत्रार्थ- जिसका यथार्थ स्वरूप अभी तक ज्ञात नहीं है, ऐसे पदार्थ के विषय में तत्त्वज्ञान- पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए कारण अथवा साधक-हेतु की उपस्थिति से ऊहा या विचार करना तर्क कहलाता है।

व्याख्या- 'ऊह' पद ऊह वितर्के धातु से घञ् प्रत्यय होकर (ऊह+घञ् = ऊहः) बना है। जिसका अर्थ है- विविध प्रकार से तर्क (विचार) करना।

जैसे -(१) एक व्यक्ति ने अनुमान किया 'पर्वतो वह्निमान्। धूमात्।' (पर्वत अग्नि वाला है, धूम होने से)। तब दूसरा व्यक्ति शंका करता है- ऐसा क्यों मान लिया जाय कि- 'धूमोऽस्तु वह्निर्मास्तु' (धूम हो, पर अग्नि वहाँ न हो)। तब तर्क (विचार) उठता है, कि 'यदि वह्निर्न स्यात्, धूमोऽपि न स्यात्' (यदि अग्नि न होती तो धूम भी न होता) क्योंकि अग्नि, धूम का कारण है, कारण के बिना कार्य कैसे हो सकता है। अतः उक्त शंका उचित नहीं हो सकती। जबकि धूम है, तो उसका कारण अग्नि भी अवश्य होनी चाहिए।

(२) इसी प्रकार ज्ञाता (आत्मा) को तात्त्विक रूप से जानने का इच्छुक व्यक्ति जब ज्ञाता को देहेन्द्रिय आदि संघात के रूप में देखता है, तो विचार उत्पन्न होता है, कि ज्ञाता (आत्मा) को उत्पत्तिधर्म वाला मानना चाहिए अथवा अनुत्पत्तिधर्म वाला ? दीखने वाले ये देहेन्द्रिय आदि तो उत्पत्तिधर्मक हैं। ऐसा मानने पर इस ज्ञाता को यह देहादिरूप फल अपने किए कर्मो का नहीं मिला। कर्म किए बिना विभिन्न रूप में देहादिफल प्राप्ति अभीष्ट नहीं है। तब ज्ञाता को अनुत्पत्तिधर्मक मानना ही युक्त होगा।

ज्ञाता को अनुत्पत्तिधर्मक मानने का तात्पर्य है, कि आत्मा नित्य पदार्थ है और वर्तमान देहादि की प्राप्ति से पहले, ज्ञाता (आत्मा) का अस्तित्व था। पूर्व शरीर में किए कर्मों के अनुसार ज्ञाता को वर्तमान देहादिरूप फल प्राप्त हुआ है। ऐसी मान्यता में ज्ञाता अपने किए कर्मों का फल प्राप्त कर रहा है, जो कि अभीष्ट है। इसी से ज्ञाता के जन्म-मरण के सतत क्रम का बोध होता है। यह ज्ञाता (आत्मा) का संसार-सम्बद्ध रूप है।

किन्तु श्रेष्ठ कर्म और अध्यात्म मार्ग पर निरन्तर चलने से ज्ञाता को जब अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है, तब ज्ञाता को देहादि-सम्बन्ध से युक्त करने के कारणभूत मिथ्या ज्ञान का नाश हो जाता है। मिथ्याज्ञान के नाश से क्रमशः दोष, प्रवृत्ति, देहादिसम्बन्धरूप जन्म नहीं रहते। तब सांसारिक दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति हो पाती है। इसी को ज्ञाता का 'अपवर्ग' कहते हैं। इस प्रकार आत्मा को अनुत्पत्तिधर्मक मानने पर संसार और अपवर्ग की उचित व्यवस्था बन पाती है। उत्पत्तिधर्मक मानने पर यह कदापि सम्भव नहीं।

ज्ञाता को उत्पत्तिधर्मक मानने पर देह, इन्द्रिय, बुद्धि, सुख, दुःख आदि के साथ उसका सम्बन्ध, उसके अपने किए हुए

कर्मों का फल नहीं कहा जा सकेगा। और फिर उत्पन्न हुए ज्ञाता (आत्मा) का नाश भी अवश्यम्भावी होगा। तब इस जन्म में उसके अपने कर्मों का फल भोगने वाला वह न रहने से वे निष्फल हो जाएंगे। इस प्रकार 'कृतहान' और 'अकृताभ्यागम' रूप भारी शास्त्रीय दोष आता है।

(३) सूत्रा में 'तर्क' को 'तत्त्वज्ञानार्थ' कहा है। इससे स्पष्ट है, कि 'तर्क' स्वयं तत्त्वज्ञान नहीं, अपितु तत्त्वज्ञान में सहयोगी है। प्रमाणों को बल देता है।। 40।।

अब सूत्राकार क्रमप्राप्त नौवें 'निर्णय' का स्वरूप बताते हैं -

विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः।।४१।।

सूत्रार्थ- संशयपूर्वक तर्क द्वारा विचार करके पक्ष और प्रतिपक्ष के द्वारा स्वपक्षस्थापन एवं प्रतिपक्षखण्डन करके एक अर्थ का अवधारण-निश्चय करना निर्णय कहलाता है।

व्याख्या- निर्णय का प्रकार :- एक धर्मी में दो विरुद्ध धर्मों की प्रतीति होने पर 'संशय' उत्पन्न होता है, कि इस पदार्थ का वास्तविक स्वरूप क्या है? तर्क के आधार पर दोनों ओर हेतु की खोज होती है। तत्पश्चात् पक्ष-प्रतिपक्ष के रूप में उन हेतुओं को प्रस्तुत करके अपने पक्ष की सिद्धि और दूसरे के कथन का प्रतिषेध किया जाता है। उनमें से किसी एक का प्रतिषेध हो जाने पर वह निवृत्त हो जाता है। जो शेष रहता है, वह अर्थ का अवधारण (निश्चय) है। उसी का नाम 'निर्णय' है।

यदि किसी धर्मी में हेतु द्वारा दो विरुद्ध धर्म सिद्ध होते हैं, तो वहाँ धर्मों का समुच्चय समझना चाहिए। जैसे 'क्रियावद् द्रव्यम्' (द्रव्य क्रियावाला होता है) यथा- पृथिवी आदि। परन्तु प्रत्येक द्रव्य क्रियावाला नहीं होता। जैसे- आकाश आदि व्यापक द्रव्य। ये किसी प्रकार की गति नहीं कर सकते। अतः यह समझना चाहिए, कि एकदेशी द्रव्य में क्रिया होती है, (ईश्वर को छोड़कर) विभु द्रव्य में नहीं। अतः व्यक्तिभेद से द्रव्य जाति वाले धर्मी में 'सक्रियत्व' और 'अक्रियत्व' दो विरुद्ध धर्म रह सकते हैं। तथा एकदेशी एक द्रव्य में भी कालभेद से 'सक्रियत्व' और 'अक्रियत्व' दोनों धर्म सम्भव हैं। अर्थात् जब द्रव्य में क्रिया हो रही हो तब वह 'सक्रिय' और जब तक उसमें क्रिया उत्पन्न नहीं हुई हो, अथवा उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हो, तब बही द्रव्य 'अक्रिय' हो जाता है।

अतः यह समझना चाहिए, कि एक ही द्रव्य में एक ही काल में दो विरुद्ध धर्म नहीं रहते। वास्तव में किसी बात का निश्चय कर लेना ही 'निर्णय' है। सर्वत्र 'संशय' खड़ा करना या पक्ष प्रतिपक्ष उपस्थित करना आवश्यक नहीं। संशय एवं पक्ष-प्रतिपक्ष की अपेक्षा वहीं होती है, जहाँ अनुमान प्रमाण द्वारा अर्थ का निर्णय किया जाता है। जहाँ प्रत्यक्ष अथवा शब्द-प्रमाण से अर्थ का अवध ारण (निश्चय) होता है, वहाँ संशय आदि की अपेक्षा नहीं होती।। 41।।

प्रमुख स्मरणीय बिंदु

1. अवयव - न्याय की सम्पूर्ण प्रक्रिया अनुमान को सिद्ध करने के लिए जिन पाँच वाक्यों का प्रयोग किया जाता है, उन्हें अवयव कहते हैं। ये पाँच अवयव हैं

प्रतिज्ञा साध्य (जिसे सिद्ध करना है) का निर्देश करना। जैसे - पर्वत अग्निमान है।

हेतु साध्य को सिद्ध करने वाला साधन या कारण। जैसे - क्योंकि वहाँ धुआँ है।

उदाहरण जहाँ हेतु और साध्य के व्याप्ति संबंध को दिखाया जाए। जैसे - जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे रसोईघर।

उपनय ख्रष्टान्त के आधार पर हेतु को पक्ष पर घटाना। जैसे - वैसे ही इस पर्वत पर भी धुआँ है।

निगमन हेतु के आधार पर प्रतिज्ञा को पुनः सिद्ध करना। जैसे - इसलिए यह पर्वत अग्निमान है।

2.तर्क - जब किसी तत्व का वास्तविक स्वरूप ज्ञात न हो, तब कारण-कार्य की संगति लगाकर सत्य को प्राप्त करने की मानसिक प्रक्रिया तर्क है।

परिभाषा (सूत्र 1.1.40) अज्ञात तत्व वाले विषय में कारण की उपपत्ति के माध्यम से तत्वज्ञान के लिए किया गया विचार तर्क कहलाता है।

विशेषता तर्क स्वयं प्रमाण नहीं है, बल्कि यह प्रमाण का सहायक है। यह संशय को दूर कर निर्णय तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करता है।

उदाहरण यदि कोई कहे कि 'ईश्वर जगत का कर्ता नहीं है' तो तर्क दिया जाता है कि 'यदि कर्ता न होता, तो इस व्यवस्थित जगत की रचना भी संभव न होती।'

3. निर्णय - विवाद या विचार के उपरांत सत्य का निश्चय हो जाना निर्णय है।

परिभाषा (सूत्र 1.1.41) पक्ष और प्रतिपक्ष के तर्कों का विचार करने के बाद जो वस्तु का यथार्थ स्वरूप निश्चित होता है, उसे निर्णय कहते हैं।

महत्त्व यह न्याय प्रक्रिया का ंल है। निर्णय होने पर संशय का पूरी तरह नाश हो जाता है और वस्तु का वास्तविक ज्ञान - तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है।

प्रक्रिया प्रमाणों द्वारा परीक्षा और तर्क द्वारा समर्थन मिलने पर ही बुद्धि किसी निष्कर्ष को निर्णय के रूप में स्वीकार करती है।

अवयव वाक्य के माध्यम से सत्य को प्रस्तुत करते हैं, तर्क उस पर उठने वाली शंकाओं का समाधान करता है, और अंत में निर्णय सत्य की स्थापना करता है।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न -

1.न्यायदर्शन के पञ्चावयव (पाँच अवयवों) का सविस्तार वर्णन कीजिए।

2.तर्क के स्वरूप और उसकी आवश्यकता पर प्रकाश डालिए।

3.निर्णय का लक्षण बताते हुए स्पष्ट कीजिए कि यह संशय और तर्क से किस प्रकार भिन्न है?

लघुउत्तरीय प्रश्न -

1.प्रतिज्ञा और निगमन में क्या अंतर है?

2.तर्क को प्रमाणों का उपकारक अथवा सहायक क्यों माना जाता है?

3.उपनय अवयव का क्या कार्य है?

4.क्या निर्णय के लिए हमेशा पक्ष-प्रतिपक्षकी आवश्यकता होती है?

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1.न्याय वाक्य के कितने अवयव अथवा अंग बताए गए हैं?

क) तीन

ख) चार

ग) पाँच

घ) सात

2.'धूमवत्त्वात' (धुआँ होने के कारण) न्याय के किस अवयव का उदाहरण है?

क) प्रतिज्ञा

ख) हेतु

ग) उदाहरण

घ) उपनय

3.अविज्ञात तत्त्व वाले अर्थ में कारण की उपपत्ति से जो ऊह (ऊहापोह) होता है, उसे क्या कहते हैं?

क) संशय

ख) तर्क

ग) निर्णय

घ) उपमान

4.पक्ष और प्रतिपक्ष के माध्यम से होने वाला निश्चित ज्ञान कहलाता है

क) निर्णय

ख) जल्प

ग) वितण्डा

घ) हेतु

5.इनमें से कौन-सा अवयव नहीं है?

क) उपनय

ख) निगमन

ग) तर्क

घ) उदाहरण

अथ प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्
खण्ड-2 कथा, हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रहस्थान का स्वरूप एवं प्रभेद

इकाई- 2.1 वाद, जल्प एवं वितण्डा का स्वरूप

उद्देश्य

1.सत्य का संरक्षण और निर्धारण वाद के माध्यम से तत्व निर्णय करना और जल्प व वितण्डा के माध्यम से सत्य ज्ञान को कुतर्कों या विरोधियों के प्रहार से बचाना।

2.तत्वज्ञान की परिपक्वता शिष्य और गुरु के बीच स्वस्थ चर्चा द्वारा सूक्ष्म रहस्यों को स्पष्ट करना, जिससे ज्ञान में कोई संशय शेष न रहे।

3.विपक्ष का निग्रह जब कोई हठधर्मिता से सत्य को दबाने का प्रयास करे, तो उसे परास्त कर सत्य की विजय पताका फहराना।

(1) कथालक्षणम्-

प्रथम आह्निक में निर्णय पर्यन्त प्रमाणादि पदार्थों का निरूपण करके, अब वाद आदि शेष पदार्थों के लिए यह दूसरा आह्निक है। इनमें प्रथम तीन वाद, जल्प और वितण्डा 'कथा' कहलाते हैं। उनमें से क्रमप्राप्त दसवें, 'वाद' कथा का स्वरूप बताते हैं -

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः
पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः॥ 1॥ (42)

सूत्रार्थ- प्रमाण और तर्क द्वारा स्वपक्षस्थापन और परपक्षनिषेध से युक्त, स्वस्वीकृत सिद्धान्त के अविरुद्ध या अनुकूल, प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव से युक्त तथा पक्ष-प्रतिपक्ष सहित वाक्यसमूह 'वाद' कहलाता है।

व्याख्या- एक ही विषय में प्रतीत होने वाले दो विरुद्ध धर्मों को पक्ष प्रतिपक्ष कहते हैं। जैसे- आत्मा के विषय में एक मत है 'अस्त्यात्मा' (आत्मा है), दूसरा कहता है- 'नास्त्यात्मा' (आत्मा नहीं है)। इनका परिग्रह अर्थात् अभ्युपगम व्यवस्था या स्वीकार नियम (एक 'अस्ति' मानकर चलता है, दूसरा 'नास्ति' मानकर ही विचार में प्रवृत्त होता है, यह चर्चा (विचार) ही 'वाद' नामक कथा है। सूत्रा के शेष पद 'वाद' के तीन विशेषण हैं, जो उसकी प्रक्रिया बताते हैं-

१. **प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः** - 'वाद' कथा में भाग लेने वाले के लिए यह आवश्यक है, कि वह अपने पक्ष का साधन (स्थापना) और दूसरे के द्वारा स्थापित पक्ष (प्रतिपक्ष) का उपालम्भ (प्रतिषेध-खण्डन) प्रमाण और तर्क के आधार पर करे। इसी प्रकार दूसरा प्रतिवादी भी अपने मत की स्थापना एवं दूसरे (वादी) के स्थापित मत का प्रतिषेध (खण्डन) प्रमाण और तर्क के आधार पर प्रस्तुत करे।

२. **सिद्धान्ताविरुद्धः** - वादी या प्रतिवादी ने जिस सिद्धान्त को स्वीकार करके 'वाद' कथा के रूप में जो चर्चा आरम्भ की है, उस सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं बोलना चाहिए। सिद्धान्त का पूरा ज्ञान न होने से कभी कोई बात सिद्धान्त के विरुद्ध भी कही जा सकती है। सिद्धान्त-विरुद्ध कथन 'विरुद्ध हेत्वाभास' (1/2/6) होता है, जो कि निग्रहस्थान (पराजय) में गिना गया है। कथा में छल, जाति और निग्रहस्थान के प्रयोग से स्वपक्ष साधन और परपक्ष प्रतिषेध करना 'जल्प' कहलाता है, 'वाद' नहीं।

   अतः वाद में निग्रहस्थान का निषेध होने पर भी एक की अभ्यनुज्ञा (स्वीकृति) के लिए सूत्रा में 'सिद्धान्ताविरुद्धः' पद रखा गया है। अर्थात् इस विरुद्धहेत्वाभास रूप निग्रहस्थान के होते हुए भी, इस कथा को 'वाद' ही समझना चाहिए, 'जल्प' नहीं। हाँ ! उस सिद्धान्त-विरुद्ध हेत्वाभास का प्रमाण और तर्क से खण्डन करना चाहिए। निग्रहस्थान मानकर 'वाद' कथा का समापन नहीं करना चाहिए।

३. **पञ्चावयवोपपन्न** :- इस विशेषता के अनुसार वादी और प्रतिवादी को अपनी बात प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों से युक्त कहनी चाहिए। यहाँ सूत्राकार यह भी बताना चाहते हैं, कि चर्चा में यदि किसी अवयव का प्रयोग न हो पाए, अथवा किसी अवयव का प्रयोग अधिक हो जाए, तो भी उसे 'वाद' ही समझना चाहिए, जल्प नहीं। यद्यपि वहाँ 'हीन' या 'न्यून' नामक निग्रहस्थान होता है [हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् (5/2/12), 'हेतूदाहरणाधिकमधिकम्' (5/2/13)]॥ 1॥

(2) जल्पलक्षणम् -

अब सूत्राकार क्रमप्राप्त ग्यारहवें, 'जल्प' का स्वरूप बताते हैं -

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः॥ 2॥ (43)

सूत्रार्थ- पूर्वोक्त वाद के लक्षणों से युक्त तथा जिसमें छल, जाति, निग्रहस्थान के द्वारा स्वपक्ष का स्थापन और परपक्ष का उपालम्भ-खण्डन हो, वह वाक्यसमूह 'जल्प' नामक कथा है।

व्याख्या- यहाँ गत सूत्रा से 'वादः' को छोड़कर शेष सभी पदों की अनुवृत्ति है। वाद कथा की सभी व्यवस्थाएं आवश्यकतानुसार जल्प कथा में लागू होती हैं। तदनुसार जल्प भी 'प्रमाणतर्क-साधनापालम्भ, सिद्धान्ताविरुद्ध, पञ्चावयवोपपन्न, पक्ष-प्रतिपक्षपरिग्रह' होता है। परन्तु इनके साथ इतना और है, कि जल्प में छल, जाति, निग्रहस्थान के द्वारा भी साधन तथा उपालम्भ होता है।

इस प्रकार प्रमाणों द्वारा प्रतिपक्ष का खण्डन किए जाने पर जब प्रतिपक्षी छल, जाति, निग्रहस्थान के द्वारा स्वपक्ष का खण्डन करता है, तब उसका विघात (खण्डन) करके ये छल आदि स्वपक्ष के साधन बन जाते हैं। अतः प्रमाण आदि के सहयोगी होकर ये स्वपक्ष के साधन होते हैं परन्तु प्रतिषेध (खण्डन) करने में ये स्वतन्त्रा रह सकते हैं॥ 2॥

(3) वितण्डालक्षणम् -

अब सूत्राकार क्रमप्राप्त बारहवें, 'वितण्डा' कथा का स्वरूप बताते हैं -

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा॥ 3॥ (44)

सूत्रार्थ- प्रतिपक्ष की स्थापना से रहित वह जल्प ही वितण्डा कहलाता है।

व्याख्या- जल्प में पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों की स्थापना होती है, परन्तु वैतण्डिक (वितण्डा का प्रयोक्ता-वितण्डावादी) अपने साध्य पक्ष की स्थापना, प्रतिज्ञा किए बिना परपक्ष का प्रतिषेध- खण्डन ही करता रहता है।

इन तीनों प्रकार की कथाओं में 'वाद' कथा तो वस्तुतत्त्व को यथार्थ रूप में समझने के लिए होती हैं। शेष दोनों कथाएं विजय की भावना से प्रवृत्त होती हैं॥ 3॥

अब क्रमप्राप्त तेरहवें, हेत्वाभासों का स्वरूप बताने की इच्छा से सूत्राकार उनके विभाग बताते हैं -

प्रमुख स्मरणीय बिंदु

1.वाद

उद्देश्य इसका एकमात्र उद्देश्य तत्त्वज्ञान अर्थात् सत्य की प्राप्ति है। यह प्रायः गुरु-शिष्य या दार्शनिक मित्रें के बीच होता है।

लक्षण इसमें प्रमाणों और तर्कों के माध्यम से पक्ष और प्रतिपक्ष की स्थापना की जाती है।

नियमरूवाद में सिद्धान्त के विरुद्ध कोई बात नहीं कही जाती। इसमें छल, जाति या निग्रहस्थान का प्रयोग वर्जित है।

2. जल्प

उद्देश्य इसका मुख्य उद्देश्य विजय प्राप्त करना है। यह तब किया जाता है, जब सत्य की रक्षा के लिए विपक्षी को हराना आवश्यक हो।

साधन इसमें प्रमाणों के साथ-साथ छल, जाति और निग्रहस्थान का प्रयोग भी अपने पक्ष की जीत के लिए किया जाता है।

उपयोगिता इसे 'सत्य के बीज की रक्षा के लिए काँटों की बाड़' के समान बताया जाता है, जिससे कुतर्क सत्य का विनाश न कर सकें।

3. वितण्डा

स्वरूप यह जल्प का ही एक प्रकार है, लेकिन इसमें वादी का अपना कोई स्वपक्ष (स्वयं का मत) स्थापित करने का लक्ष्य नहीं होता।

मुख्य लक्षण वैतण्डिक केवल दूसरे के मत का खंडन या विरोध करता है। वह, यह सिद्ध करने की चिंता नहीं करता कि उसका अपना मत क्या है।

ख्रष्टिकोण यह पूरी तरह से विखंडनकारी तर्क प)ति है।

इन तीनों को कथा के अंतर्गत रखा गया है। जहाँ वाद मुमुक्षु द्धमोक्ष चाहने वालेऋ के लिए है, वहीं जल्प और वितण्डा विजिगीषु द्धजीत चाहने वालेऋ के लिए हैं।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न -

1.वाद कथा के स्वरूप और उसकी विशेषताओं का सविस्तार वर्णन कीजिए।

2.जल्प और वितण्डा में मुख्य अंतर क्या है? इन दोनों का उद्देश्य क्या होता है?

3.कथा अथवा शास्त्रर्थ के तीनों प्रकारों का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न -

1.वाद में 'सिद्धान्ताविरुद्ध' पद का क्या महत्त्व है?

2.सिद्धांती जल्प और वितण्डा का प्रयोग करना कब उचित समझता है?

3.वाद में 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः' पद का भावार्थ स्पष्ट कीजिये।

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1.तत्वज्ञान की प्राप्ति और सत्य के निर्णय के लिए की जाने वाली चर्चा क्या कहलाती है?

क) जल्प

ख) वाद

ग) वितण्डा

घ) छल

2.वह कथा जिसमें छल, जाति और निग्रहस्थानों द्वारा विजय प्राप्त करने का प्रयास किया जाता हैरू

क) वाद

ख) जल्प

ग) वितण्डा

घ) तर्क

3.'स्वप्रतिपक्षस्थापनाहीनो' (अपना पक्ष स्थापित न करना) किसका मुख्य लक्षण है?

क) वाद

ख) सिद्धान्त

ग) वितण्डा

घ) निर्णय

4.न्यायदर्शन के अनुसार कथा के कितने प्रकार हैं?

क) दो

ख) तीन

ग) चार

घ) पाँच

5.वाद कथा मुख्य रूप से किनके बीच होती है?

क) विजिगीषु (जीतने की इच्छा रखने वाले)

ख) वीतराग (तत्त्वज्ञान के इच्छुक गुरु-शिष्य)

ग) मूर्ख और विद्वान

घ) इनमें से कोई नहीं

इकाई- 2.2 हेत्वाभास का लक्षण एवं प्रभेद

उद्देश्य-

छद्म तर्कों की पहचान उन हेतुओं या कारणों की पहचान करना जो हेतु न होते हुए भी हेतु जैसे प्रतीत होते हैं, जिससे तर्क में होने वाली त्रुटियों को पकड़ा जा सके।

सत्य ज्ञान की सुरक्षा अनुचित तर्कों और गलत निष्कर्षों को रोककर सत्य - तत्वज्ञान को दूषित होने से बचाना।

तार्किक शुद्धता अनुमान की प्रक्रिया में शुद्धता लाना जिससे केवल सेतु (सही कारण) के आधार पर ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जाए।

सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः।। 4।। (45)

सूत्रार्थ- सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम, कालातीत ये पाँच प्रकार के हेत्वाभास हैं।

व्याख्या- इस सूत्रा में हेत्वाभास के भेद ही गिनाए हैं, लक्षण या स्वरूप का निर्देश नहीं किया, क्योंकि 'हेत्वाभास' पद के निर्वचन से ही उसका स्वरूप प्रकट हो जाता है। जैसे- **'हेतुवद् आभासन्त इति हेत्वाभासाः'** (जो हेतु न होते हुए भी, हेतु के समान आभासित (प्रतीत) हों वे हेत्वाभास कहलाते हैं)। साध्य को सिद्ध करने का सामर्थ्य 'हेतु' कहलाता है। परन्तु कभी-कभी पञ्चम्यन्त आदि प्रयोग से अहेतु भी हेतु जैसा प्रतीत होने लगता है। वही हेत्वाभास (दुष्टहेतु) है।। 4।।

(1) सव्यभिचारलक्षणम् -

अब सूत्राकार विभागसूत्रा में प्रथम पठित सव्यभिचार हेत्वाभास का स्वरूप बताते हैं -

अनैकान्तिकः सव्यभिचारः।। 5।। (46)

सूत्रार्थ- जो हेतु एक पक्ष में व्यवस्थित न हो, वह सव्यभिचार नामक हेत्वाभास कहलाता है।

व्याख्या- **''एकस्मिन्नन्ते विद्यत इति ऐकान्तिकः, विपर्ययादनैकान्तिकः'' (न्या.भा.)**- एक कोटि (पक्ष) में व्यवस्थित रहने वाले हेतु को 'ऐकान्तिक' और इसके विपरीत को 'अनैकान्तिक' कहते हैं।

हेतु के व्यवस्थित होने का तात्पर्य है हेतु का साध्य के अधिकरण में रहना। परन्तु जो हेतु साध्याभाव के अधिकरण में भी रहता है, वह एकत्र व्यवस्थित नहीं है। ऐसे हेतु को सव्यभिचार हेतु कहते हैं। व्यभिचार का भी तात्पर्य है-एकत्र व्यवस्थित न रहना (विभिन्न स्थानों में अभिचरण करना, पक्ष और विपक्ष दोनों जगह रहना)। इसी रूप में इस हेत्वाभास को 'अनैकान्तिक' या 'सव्यभिचार' कहते हैं। जैसे-

नित्यः शब्दः, अस्पर्शत्वात्, आत्मवत्, तथा चायं शब्दः, तस्मादस्पर्शत्वाद् नित्यः शब्दः। :- शब्द नित्य है, अस्पर्श (स्पर्शरहित) होने से, आत्मा के समान, जैसे आत्मा स्पर्शरहित है, वैसा ही शब्द है, अतः अस्पर्श (स्पर्शरहित) होने से शब्द नित्य है। यह अन्वयी दृष्टान्त है। इसी प्रकार व्यतिरेकी दृष्टान्त में- शब्द नित्य है, अस्पर्श होने से, जो स्पर्शवाले होते हैं वे नित्य नहीं होते (अनित्य होते हैं), जैसे- घट, पट आदि, परन्तु शब्द वैसा (स्पर्शवाला) नहीं है। अतः अस्पर्श (स्पर्शरहित) होने से शब्द नित्य है।। 5।।

(2) विरुद्धलक्षणम् -

अब सूत्राकार क्रमप्राप्त 'विरुद्ध हेत्वाभास' का स्वरूप बताते हैं -

सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः।। 6।। (47)

सूत्रार्थ- अपने एक सिद्धान्त को स्वीकार करके उसी सिद्धान्त के विरोधी हेतु देना 'विरुद्ध हेत्वाभास' कहलाता है।

व्याख्या- अर्थात् जो हेतु प्रतिज्ञातार्थ (अभ्युपगतार्थ) का ही विरोधी हो, वह 'विरुद्ध-हेत्वाभास' कहलाता है। जैसे -

(१) किसी ने कहा 'अयं प्रदेशे वह्निमान्' ह्रदत्वात्

(यह स्थान अग्निवाला है, तालाब होने से)।

यहाँ 'ह्रदत्व' हेतु अग्नि का साधक न होकर अग्नि के अभाव का साधक है, क्योंकि तालाब में अग्नि सम्भव नहीं।

(२) नित्यः शब्दः, कृतकत्वात्, घटादिवत् (शब्द नित्य है, उत्पन्न होने से, घटादि के समान)। यहां भी 'कृतकत्व' हेतु नित्यत्व का नहीं अपितु अनित्यत्व का हेतु है। अतः जो हेतु साध्य के अधिकरण अर्थात् सपक्ष में न रहकर विपक्ष में रहता है, वह 'विरुद्ध हेत्वाभास' है।। 6।।

(3) प्रकरणसमलक्षणम् -

अब सूत्राकार क्रमप्राप्त 'प्रकरणसम' हेत्वाभास का स्वरूप बताते हैं -

यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः॥ 7॥ (48)

सूत्रार्थ- जिस हेतु से पक्ष-प्रतिपक्षरूप प्रकरण की जिज्ञासा हुई है वही हेतु निर्णय के लिए कहा गया प्रकरणसम हेत्वाभास कहलाता है।

व्याख्या- चर्चा में संशय के आधार पर अनिर्णीत पक्ष-प्रतिपक्ष 'प्रकरण' कहलाते हैं। वह प्रकरण किसी जिज्ञासा के आधार पर प्रवृत्त होता है। वह जिज्ञासा जिस कारण से उभरती है, यदि उसी कारण को निर्णय के लिए हेतुरूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है, तो वह पक्ष प्रतिपक्ष में से किसी को समाप्त नहीं कर पाता। जैसे-

वादी - 'अनित्यः शब्दो, नित्यधर्मानुपलब्धेः, अनुपलभ्यमान नित्यधर्मकमनित्यं दृष्टं, घटादिवत्' (शब्द अनित्य है, नित्यधर्म की उपलब्धि न होने से, जिसके नित्यता के धर्म उपलब्ध नहीं होते, वह घट आदि के समान अनित्य देखा जाता है)।

प्रतिवादी :- नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेः, अनुपलभ्यमानानित्यधर्मकं नित्यं दृष्टम्, आकाशादिवत्। (शब्द नित्य है, अनित्य धर्म की उपलब्धि न होने से, जिसके अनित्यता के धर्म उपलब्ध नहीं होते, वह आकाश आदि के समान नित्य देखा जाता है)।

यहाँ नित्य के धर्म या अनित्य के धर्म उपलब्ध न होने से ही तो जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी, उसी कारण को हेतु के रूप में प्रस्तुत कर दिया, इसलिए यह 'प्रकरणसम' हेत्वाभास है। क्योंकि इससे प्रकरण (पक्ष-प्रतिपक्ष) की समाप्ति नहीं होती। यदि इनमें से नित्य या अनित्य किसी एक के धर्म को जान लिया जाता है, तो प्रकरण अर्थात् चर्चा का प्रसंग समाप्त हो जाता है।

'प्रकरणसम' का 'अनैकान्तिक' से भेदः- दोनों हेत्वाभासों में अन्तर इतना है, कि 'अनैकान्तिक' में एक ही धर्म सपक्ष और विपक्ष में हेतुरूप से प्रस्तुत होता है। जैसे 'पर्वतो धूमवान्, बह्निमत्त्वात्'। यह वह्निमत्त्व हेतु धूम के भाव और अभाव दोनों अवस्थाओं में विद्यमान रहने से 'अनैकान्तिक' हेत्वाभास है। जबकि 'प्रकरणसम' में सपक्ष और विपक्ष में अलग-अलग हेतु होते हैं। जैसे- नित्यधर्मानुपलब्धेः, अनित्यधमनुपिलब्धेः॥ 7॥

(4) साध्यसमलक्षणम् -

अब सूत्राकार क्रमप्राप्त 'साध्यसम हेत्वाभास' का स्वरूप बताते हैं-

साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः॥ 8॥ (49)

सूत्रार्थ- साध्य से अविशिष्ट-समान या साधनीय हेतु स्वयं साध्य होने से साध्यसम नामक हेत्वाभास कहलाता है।

व्याख्या- ऐसा धर्म जो अभी साध्य है (सिद्ध नहीं है), उसको यदि हेतु के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तो वह साधक हेतु न होकर 'साध्यसम' (साध्य के समान) हेत्वाभास ही होता है। जैसे - द्रव्यं छाया, गतिमत्त्वात् (छाया द्रव्य है, गतिमान् होने से)। इस अनुमान में जहां छाया का द्रव्यत्व साध्य है, वहीं छाया का गतिमत्त्व धर्म भी साध्य है, क्योंकि यह हेतु भी असिद्ध है। अतः साध्य के समान इसे भी सिद्ध करना पड़ेगा। इसलिए यह 'साध्यसम' हेत्वाभास है।

इस हेतु के विषय में भी विचारणीय है, कि क्या छाया वस्तुतः चलती है, या आवरण के सातत्य से तेज के असन्निधि-सातत्य के रूप में है ? वस्तुतः चलते हुए द्रव्य से तेज का जो-जो भाग ढक जाता है, उससे उस तेज की अविच्छिन्न असन्निधि ही 'छाया' है। उस द्रव्य के चलने से ही छाया का चलना प्रतीत होता है॥ 8॥

(5) कालातीतलक्षणम् -

अब सूत्राकार क्रमप्राप्त 'कालातीत' हेत्वाभास का लक्षण बताते हैं -

कालात्ययापदिष्टः कालातीतः॥ 9॥ (50)

सूत्रार्थ- जिस प्रयुज्यमान हेतु का एकदेश कालात्यय-काल के बीत जाने से युक्त हो, वह 'कालातीत' हेत्वाभास कहलाता है।

व्याख्या- किसी साध्य की सिद्धि के लिए जो हेतु प्रयुक्त होता है, यदि वह साध्य की सिद्धि के अवसर को लांघ जाता है, तो वह 'कालातीत' हेत्वाभास है। इससे हेतु के काल में साध्य की सिद्धि (प्रतीति) नहीं हो पाती, कालान्तर में होती है। जैसे- नित्यः शब्दः, संयोगव्यंग्यत्वात्, रूपवत्। शब्द नित्य है। (अवस्थित है-सुनाई देने से पहले भी विद्यमान रहता है), दारु-परशु के अथवा भेरी-दण्ड के संयोग से अभिव्यक्त (प्रकट) होने से, रूप से समान।

जैसे घर में रखे घट, पट आदि रूपवान् द्रव्य अन्धकार में नहीं दीखते, किन्तु प्रकाश होने पर दीखने लग जाते हैं अभिव्यक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार लकड़ी पर कुल्हाड़ी मारने से अथवा भेरी (नगाड़े) पर संयोग (चोट) देने पर पहले से ही विद्यमान शब्द (ध्वनि) सुनाई देता है (अभिव्यक्त हो जाता है)। वादी के द्वारा इस प्रकार अपना पक्ष प्रस्तुत करने पर, सिद्धान्ती कहता है- शब्द की नित्यता सिद्ध करने के लिए 'संयोग व्यंग्यत्व' हेतु नहीं, अपितु 'कालातीत' नामक हेत्वाभास है, क्योंकि व्यंग्य 'रूप' की अभिव्यक्ति व्यंजक संयोग के काल को अतिक्रान्त नहीं करती। घट से प्रदीप का संयोग रहने पर ही रूप की अभिव्यक्ति होती है, संयोग के न रहने पर नहीं हो पाती। परन्तु आपके हेतुवाक्य में भेरीदण्डसंयोग के निवृत्त हो जाने पर दूरस्थ व्यक्ति को संयोगभाग में भी शब्द सुनाई देता है। इस प्रकार यह शब्द की अभिव्यक्ति संयोगकाल को अतिक्रान्त कर जाती है। अतः संयोग से व्यंग्य नहीं

कही जा सकती। इस प्रकार शब्द को 'संयोगव्यंग्य' कहना 'कालातीत' हेत्वाभास है।। 9।।

प्रमुख स्मरणीय बिंदु

1.सव्यभिचार –

परिभाषा वह हेतु जो केवल साध्य के साथ न रहकर अन्यत्र (विपक्ष में) भी रहे। इसे अनैकान्ति कभी कहते हैं।

उदाहरण 'शब्द नित्य है, क्योंकि वह अमूर्त है।' यहाँ 'अमूर्तहोना' हेतु दोषपूर्ण है, क्योंकि बुद्धि भी अमूर्त है, पर वह अनित्य है।

2.विरुद्ध –

परिभाषा वह हेतु जो साध्य को सिद्ध करने के स्थान पर उसके विपरीत (अभाव) को सिद्ध कर दे।

उदाहरण यदि कोई कहे कि 'जगत नित्य है, क्योंकि यह कार्य (बनाया हुआ) है।' यहाँ 'कार्य होना' नित्यत्व के विरुद्ध है, क्योंकि जो कार्य है, वह अनित्य होता है।

3. प्रकरणसम –

परिभाषा जहाँ हेतु साध्य के पक्ष और विपक्ष दोनों में समान रूप से संशय उत्पन्न कर दे। इसे 'सत्प्रतिपक्ष' भी कहा जाता है।

विशेषता इसमें निर्णय नहीं हो पाता, क्योंकि दोनों ओर के तर्क समान रूप से प्रभावी लगते हैं।

4. साध्यसम –

परिभाषा वह हेतु जिसे सिद्ध करने के लिए स्वयं दूसरे प्रमाण की आवश्यकता हो। अर्थात् हेतु उतना ही असिद्ध है, जितना कि साध्य।

उदाहरण 'छाया एक द्रव्य है, क्योंकि उसमें गति है।' यहाँ पहले यह सिद्ध करना होगा, कि छाया में वास्तव में गति है या वह केवल प्रकाश का अभाव है।

5. कालातीत –

परिभाषा वह हेतु जिसका प्रयोग उचित समय बीत जाने पर किया जाए या जो प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों से पहले ही गलत सिद्ध हो चुका हो।

विशेष इसे 'बाधित' हेत्वाभास भी कहते हैं। जैसे – 'अग्नि ठंडी है, क्योंकि वह द्रव्य है।' यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण (स्पर्श) से ही अग्नि का गर्म होना सिद्ध है, अतः हेतु कालातीत है।

इन हेत्वाभासों का ज्ञान इसलिए आवश्यक है,जिससे हम स्वयं दोषपूर्ण तर्क न दें और दूसरे के द्वारा दिए गए गलत तर्कों को पहचान कर उनका खंडन कर सकें।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न –

1.हेत्वाभास का लक्षण बताते हुए इसके पाँच भेदों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

2.सव्यभिचार (अनैकान्तिक) हेत्वाभास को उदाहरण सहित समझाइए।

लघुउत्तरीय प्रश्न –

1.विरुद्ध हेत्वाभास किसे कहते हैं?

2.प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) हेत्वाभास को स्पष्ट कीजिए।

3.साध्यसम (असिद्ध) हेत्वाभास से क्या अभिप्राय है?

4.कालातीत (बाधित) हेत्वाभास का क्या अर्थ है?

बहुविकल्पीय प्रश्न –

1.न्यायदर्शन के अनुसार हेत्वाभास की कुल संख्या कितनी है?

क) तीन

ख) चार

ग) पाँच

घ) छह

2.'अनैकान्तिक' किस हेत्वाभास का दूसरा नाम है?

क) विरुद्ध

ख) सव्यभिचार

ग) साध्यसम

घ) कालातीत

3.वह हेतु जो साध्य के विपरीत (अभाव) के साथ व्याप्त हो, कहलाता हैरू

क) विरुद्ध

ख) प्रकरणसम

ग) निगमन

घ) उपनय

4.'शब्द अनित्य है क्योंकि वह चक्षु से दिखाई देता है' - यहाँ शब्द का चक्षु से दिखना किस प्रकार का हेत्वाभास है?

क) सव्यभिचार

ख) साध्यसम (क्योंकि शब्द सुनाई देता है, दिखाई नहीं)

ग) विरुद्ध

घ) कालातीत

5.प्रमाणों द्वारा बाधित विषय में प्रयुद्र हेतु क्या कहलाता है?

क) प्रकरणसम

ख) कालातीत

ग) उदाहरण

घ) हेतु

इकाई- 2.3 छल का स्वरूप एवं प्रकार

उद्देश्य-

1. शब्दिक कपट की पहचान उन तर्कों को उजागर करना, जहाँ विरोधी शब्द के अर्थ में हेर-फेर करके सत्य को छिपाने का प्रयास करता है।
2. तत्वज्ञान की रक्षा कुतर्कों और शाब्दिक छल के प्रहार से यथार्थ ज्ञान - सत्य को सुरक्षित रखना, जिससे जिज्ञासु भ्रमित न हो।
3. विजयाकांक्षा का निरोध केवल जीतने की इच्छा से किए गए छलपूर्ण व्यवहार को शास्त्रर्थ में प्रतिबंधित करना और उसे दोष के रूप में स्थापित करना।

छललक्षणम् -

हेत्वाभास के निरूपण के पश्चात् अब सूत्राकार चौदहवें क्रमप्राप्त 'छल' का लक्षण बताते हैं -

वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्॥ 10॥ (51)

सूत्रार्थ- वक्ता के तात्पर्य से विरुद्ध अर्थ की कल्पना द्वारा वादी के वचन-वाक्य का खण्डन करना 'छल' कहलाता है।

व्याख्या- इस छल के सामान्य लक्षण में उदाहरण देना सम्भव नहीं। अतः उदाहरण आगे (विभागों में) दिए जाएंगे॥ 10॥

तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं चेति॥ 11॥ (52)

सूत्रार्थ- वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल भेद से, छल तीन प्रकार का होता है।

व्याख्या- वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल-ये तीन प्रकार के छल चर्चा प्रसंगों में व्यवहत होते रहते हैं॥ 11॥

(1) वाक्छल-लक्षणम् -

सबसे पहले सूत्राकार वाक्छल का लक्षण बताते हैं -

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्॥ 12॥ (53)

सूत्रार्थ- सामान्य द्वारा कथित अर्थ में वक्ता के अभिप्राय से अन्य अर्थ की कल्पना करना 'वाक्छल' है।

व्याख्या- वार्तालाप में कुछ ऐसे शब्द भी हो सकते हैं, जिनके एक से अधिक अर्थ होते हैं। परन्तु ऐसा होते हुए भी वहाँ कुछ ऐसे कारण होते हैं, जिनसे विशेष अर्थ प्रकट होता है। उन कारणों के होने पर वक्ता के अभिप्राय को समझने में सन्देह नहीं होता। तो भी वक्ता के कथन को काटने अथवा उपहास आदि के लिए जानबूझकर अन्य अर्थ की कल्पना कर ली जाती है। जैसे- 'नवकम्बलोऽयं ब्रह्मचारी' (यह ब्रह्मचारी नवकम्बल है)। यहाँ 'नवकम्बल' इस समस्त पद में 'नव' शब्द के दो अर्थ हैं - नया और नौ संख्या। इस समस्त पद का विग्रह दो प्रकार से सम्भव है - 'नवः कम्बलोऽस्य' तथा 'नव कम्बला अस्य' (बहुव्रीहि समास)।

यहाँ वक्ता का तात्पर्य है- 'नवः कम्बलोऽस्य' (इसका नया कम्बल है)। इस पद के विग्रह में विशेषता है, समास में नहीं। परन्तु छलवादी वक्ता के अभिप्राय को जानता हुआ भी उसके विरुद्ध अन्य अर्थ 'नव कम्बला अस्य' (इसके नौ कम्बल हैं) की कल्पना करके असम्भव अर्थ से उसका खण्डन करता है- एकोऽस्य कम्बलः कुतो नव कम्बलाः (अरे ! इसके पास तो एक ही कम्बल है, नौ कम्बल कहाँ से आए/ नौ कम्बल कहाँ है ?)। इस प्रकार वाणी (उच्चरित वाक्) के आधार पर छल होने से इसको वाक्छल कहते हैं।

अब छलवादी को उत्तर देता हुआ, मूल वक्ता कहता है- आपने कहा कि मैंने इस ब्रह्मचारी के पास नौ कम्बल बताए हैं, आपने यह किस हेतु से जाना ? मैंने तो कहा था-'इसका नया कम्बल है' जो सामने दिखाई दे रहा है। आपके पास यह सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण है, कि मैंने इसके पास नौ कम्बल बताए हैं? अतः मेरे ऊपर आपका आरोप नितान्त मिथ्या है॥ 12॥

(2) सामान्यच्छललक्षणम् -

वाक्छल के पश्चात् अब सूत्राकार सामान्यच्छल का लक्षण बताते हैं-

सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम्॥ 13॥ (54)

सूत्रार्थ- अत्यन्त सामान्य के साथ सम्बन्ध जोड़ देने से सम्भव होने वाले अर्थ के असम्भव अर्थात् न हो सकने वाले अर्थ की कल्पना करके परवाक्य में दोष दिखाना, सामान्यच्छल कहलाता है।

व्याख्या- एक वक्ता के द्वारा किसी पदार्थ में कोई सम्भावना व्यक्त करने पर, उस सम्भावना को अत्यन्त सामान्य आधार में ले जाकर जो एक असम्भव अर्थ की कल्पना कर ली जाती है, और वक्ता की सम्भावना को असत्य ठहराया जाता है, तो उसे 'सामान्यच्छल' कहते हैं। जैसे- किसी ने कहा- 'अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्नः' (बड़े हर्ष की बात है, कि यह ब्राह्म

विद्या और आचरण से युक्त है- विद्वान् और सदाचारी है)। इस पर छलवादी अतिसामान्य के साथ असम्भव अर्थ की कल्पना से अर्थात् जन्म मात्र के समस्त ब्राह्मण समुदाय के साथ जोड़कर कहता है-'यदि ब्राह्मण में विद्याचरणसम्पत् सम्भवति, व्रात्येऽपि ब्राह्मणः' (यदि ब्राह्मण में विद्याचरण, शीलता सम्भव है, तो व्रात्य (वर्णधर्मों का आचरण न करने से पतित) में भी होनी चाहिए, क्योंकि व्रात्य भी ब्राह्मण है)। इस छल का वादी प्रतीकार करता है- मैंने ब्राह्मणत्व को विद्या और सदाचार का हेतु नहीं बताया, अपितु प्रशंसा के रूप में विषय बताया है, क्योंकि यहाँ हेतु की विवक्षा नहीं है, इसलिए इसमें असम्भव अर्थ की कल्पना नहीं हो सकती।

जैसे- यह कहा जाता है, कि 'सम्भवन्ति अस्मिन् क्षेत्रे शालयः' (इस खेत में धान बहुत अच्छे हो सकते हैं)। सो यहाँ बीज बोने का निषेध नहीं है, अपितु खेत की सम्भावना के आधार पर प्रशंसा मात्र है। इसी प्रकार ब्राह्मण के विद्याचरण से युक्त होने में तप और अध्ययन का निषेध नहीं और न ब्राह्मणकुल में जन्म लेने मात्र से विद्याचरण सम्पन्न होना विवक्षित है। अतः असम्भव अर्थ की कल्पना के आधार पर उक्त कथन में दोष दिखाना युक्त नहीं।। 13।।

(3) उपचारच्छलम्-

अब सूत्राकार क्रमप्राप्त उपचारच्छल का लक्षण बताते हैं-

धर्मविकल्पनिर्देशेऽअर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्।। 14।। (55)

सूत्रार्थ- धर्म के विकल्प से शब्द का निर्देश होने पर अर्थ के सद्भाव का प्रतिषेध करना, उपचारच्छल कहलाता है।

व्याख्या- अर्थात् मुख्य तथा गौण (लाक्षणिक) अर्थों में से किसी एक का प्रयोग करने पर वक्ता के अभिप्राय वाले अर्थ का प्रतिषेध करना 'उपचारच्छल' कहलाता है।

जैसे - 'मञ्चाः क्रोशन्ति' ऐसा किसी के द्वारा प्रयोग होने पर छलवादी, वक्ता के अभिप्रेत अर्थ का निषेध करता है 'मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति, न तु मञ्चाः क्रोशन्ति' (मञ्चस्थ पुरुष चिल्ला रहे हैं, न कि मञ्च चिल्ला रहे हैं)। यहाँ पर गौण (उपचार विषयक) प्रयोग में मुख्य अर्थ की कल्पना से खण्डन करना ही 'उपचारच्छल' है।

इसका प्रकार- लोक में अभिधा, लक्षणा, व्यंजना मूलक सभी प्रकार के प्रयोग होते हैं, जो कि मान्य हैं। जिस पद्धति से वक्ता वाक्य प्रयोग करता है, उसी के अनुसार उसका स्वीकार या निषेध होना चाहिए, स्वेच्छा से नहीं। अतः लक्षणामूलक वाक्य का अभिधामूलक पद्धति से प्रतिषेध आदि अनुचित है।। 14।।

छल की परीक्षा-

प्रथम सूत्रा में उद्देश (नामनिर्देश) तथा प्रस्तुत प्रसंग में लक्षण बता दिए। छलविषयक परीक्षा अत्यल्प होने से अब सूत्राकार उसकी परीक्षा के उद्देश्य से पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं -

पूर्व०- वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात्।। 15।। (56)

सूत्रार्थ- वाक्छल ही उपचारच्छल है, उन दोनों में अविशेष (अभिन्नता-समानता) होने से।

व्याख्या- वाक्छल से उपचारच्छल में कोई भेद नहीं है, क्योंकि जैसे वाक्छल में नवीन अर्थ वाले 'नव' शब्द में संख्यार्थक 'नव' शब्द की अर्थान्तर कल्पना से वाक्य का प्रतिषेध किया गया, उसी प्रकार 'उपचारच्छल' के 'मञ्चाः क्रोशन्ति' वाक्य में जो प्रधान (अभिधाशक्तिबोध्य) अर्थ, स्थान तथा गुणभूत (लक्षणाशक्तिबोध्य) अर्थ स्थानी (उस स्थान पर बैठने वाला व्यक्ति) है, उसमें वक्ता के अभिप्रेत गुणभूत (मञ्चस्थ पुरुषबोधक) 'मञ्च' शब्द को प्रधान (मञ्च) अर्थ में ही कल्पित करके छलवादी ने प्रतिषेध किया।

इस प्रकार अर्थान्तर की कल्पना से वाक्छल और उपचारच्छल दोनों में वक्ता द्वारा कथित अर्थ का प्रतिषेध समान है। अतः दोनों में कोई भेद नहीं है।। 15।।

अब सूत्राकार पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं -

सिद्धान्ती- न, तदर्थान्तरभावात्।। 16।। (57)

सूत्रार्थ- उन दोनों में अर्थभेद होने से वाक्छल ही उपचारच्छल नहीं है।

व्याख्या- यहाँगतसूत्रासे'वाक्छलमेवोपचारच्छलम्'कीअनुवृत्तिहै।क्योंकिअर्थान्तर-कल्पनासेअर्थसद्भावकाप्रतिषेधभिन्नहै।अतःवाक्छल और उपचारच्छल एक नहीं हो सकते। जैसे- वाक्छल में कम्बल के सद्भाव (अस्तित्व) का प्रतिषेध नहीं, केवल 'नव' पद के भिन्न अर्थ की कल्पना है, उसी से वक्ता के कथन में दोष दिखाया है। परन्तु उपचारच्छल में क्रोशन (चिल्लाना) क्रिया में मचान का निषेध करके उस पर स्थित पुरुष को स्वीकार किया है- 'मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति, न तु मञ्चाः'। अतः दोनों में भिन्नता होने से वाक्छल और उपचारच्छल को एक नहीं समझना चाहिए।। 16।।

यदि वाक्छल और उपचारच्छल को भिन्न न मानें तो -

सिद्धान्ती- अविशेषे वा किञ्चित् साधर्म्यादेकच्छलप्रसङ्गः।। 17।। (58)

सूत्राार्थ- थोड़े से साधर्म्य अर्थात् सादृश्य से भेद न मानने पर तो एक छल का मान लेना प्राप्त हो जाएगा।

व्याख्या- सूत्राकार ने छल के तीन भेद बताए हैं। कुछ सादृश्य के कारण छल का द्वित्व मानकर यदि उसके त्रित्व (तीन प्रकार) का प्रतिषेध करते हैं, तो जैसे यह सादृश्य हेतु उसके त्रित्व का प्रतिषेध करेगा, उसी प्रकार उसके द्वित्व का भी प्रतिषेध करता है, क्योंकि शेष दो (वाक्छल और सामान्यच्छल) में भी तो कुछ सादृश्य है ही। वह सादृश्य है- किसी के कथित वाक्य में भिन्न अर्थ की कल्पना से, उस अर्थ को काटने का प्रयत्न करना। इससे मिलती-जुलती स्थिति प्रत्येक छल में है। यदि इस प्रकार थोड़े से सादृश्य के रहने पर भी दो भेद स्वीकार किए जाते हैं। तो तीन भेद क्यों स्वीकार नहीं किए जा सकते ? थोड़ा सादृश्य होने पर भी प्रत्येक छल में कुछ भिन्नता भी है, जिसे लक्षणसूत्राों में स्पष्ट कर दिया गया है। अत: छल के तीनों भेद मानने चाहिए।। 17।।

प्रमुख स्मरणीय बिंदु

छल का स्वरूप - जब कोई वद्रा किसी शब्द का प्रयोग किसी एक अर्थ में करे, लेकिन प्रतिवादी जानबूझकर उसका दूसरा अर्थ निकालकर वद्रा का खंडन कर दे, तो उसे छल कहते हैं।

छल के तीन भेद (सूत्र 1.2.10-14)

1.वाक्छल -

परिभाषा किसी शब्द के अनेकाथह्न होने पर उसका गलत अर्थ निकालना।

उदाहरण किसी ने कहा 'यह बालक नव-कम्बल (नया कम्बल) वाला है।' प्रतिवादी ने नव का अर्थ नौ (संख्या-9) लेकर खंडन कर दिया ख्र 'इसके पास नौ कम्बल कहाँ हैं? इसके पास तो एक ही है।' यहाँ शब्द के छल से विरोध किया गया।

2.सामान्यछल -

परिभाषा किसी ऐसी बात का विरोध करना जो सामान्य - जाति के रूप में तो सत्य है, पर विशिष्ट परिस्थिति में नहीं।

उदाहरण किसी ने कहा 'यह ब्राह्मण विद्या और आचरण से संपन्न है।' प्रतिवादी कहता है -'यदि ब्राह्मण होने से ही विद्या-संपन्न होते हैं, तो क्या एक अज्ञानी या नीच बालक (जो ब्राह्मण कुल का है) भी वैसा ही होगा?' यहाँ ब्राह्मण जाति के सामान्य गुण को गलत तरीके से घटाया गया।

3. उपचारछल -

परिभाषा शब्द के लाक्षणिक अर्थ को छोड़कर मुख्य या भौतिक अर्थ निकालना।

उदाहरण किसी ने कहा 'मंच चिल्ला रहे हैं' (अर्थात् मंच पर बैठे लोग चिल्ला रहे हैं)। प्रतिवादी कहता है -'मंच तो लकड़ी के बने हैं, वे कैसे चिल्ला सकते हैं?' यहाँ मुहावरेदार भाषा का जानबूझकर गलत अर्थ लिया गया।

छल का प्रयोग सत्य के प्रतिपादन में नहीं, बल्कि जल्प और वितण्डा में विपक्षी को निरुत्तर करने के लिए किया जाता है। एक न्यायवेत्ता को इनका ज्ञान इसलिए होना चाहिए, जिससे वह विपक्षी के छल को पहचान सके।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न -

1.छल का सामान्य लक्षण बताते हुए इसके तीनों भेदों का सोदाहरण वर्णन कीजिए।

2.वाक्छल और उपचार छल में मुख्य अंतर क्या है? उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न -

1.वाक्छल किसे कहते हैं? उदाहरण दें।

2.सामान्यछल का स्वरूप क्या है?

3.उपचारछल को परिभाषित कीजिए।

4.न्याय प्रक्रिया में छल को निग्रहस्थान (हार का कारण) क्यों माना जाता है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1.'वचनविघातो*र्थविकल्पोपपत्त्या छलम' किसका लक्षण है?

क) जाति

ख) छल

ग) निग्रहस्थान

घ) हेत्वाभास

2.न्यायदर्शन के अनुसार छल के कितने भेद हैं?

क) दो

ख) तीन

ग) चार

घ) पाँच

3.'यह बालक नया (नव) कंबल ओढ़े है' पर 'इसके पास नौ कंबल नहीं हैं' कहना कौन-सा छल है?

क) सामान्यछल

ख) उपचारछल

ग) वाक्छल

घ) इनमें से कोई नहीं

4.उपचारछल का संबंध मुख्य रूप से शब्दों के किस व्यापार से है?

क) अभिधा (शाब्दिक अर्थ)

ख) लक्षणा (लाक्षणिक अर्थ)

ग) व्यंजना

घ) ये सभी

5.'ब्राह्मण होने के कारण यह विद्वान है' - इस कथन का विरोध करना कौन-सा छल कहलाएगा?

क) सामान्यछल

ख) वाक्छल

ग) उपचारछल

घ) निग्रहस्थान

इकाई- 2.4 जाति एवं निग्रहस्थान का स्वरूप

उद्देश्य-

1.कुतर्कों का समूल नाश उन निरर्थक उत्तरों - जाति को पहचानना जो केवल समानता या भिन्नता के आधार पर सत्य को भ्रमित करने के लिए दिए जाते हैं।

2.वाद की मर्यादा की रक्षा शास्त्रर्थ में वद्रा की उन भूलों या कमियों (निग्रहस्थान) को निर्धारित करना जिनसे चर्चा दिशाहीन होती है, जिससे विमर्श अनुशासित रहे।

3.सत्य की विजय सुनिश्चित करना यह स्पष्ट करना, कि तत्वज्ञान का पक्षधर व्यद्रि किस प्रकार विरोधियों के भ्रामक जाल को काटकर सत्य की स्थापना कर सकता है।

जातिलक्षणम् -

अब सूत्राकार पन्द्रहवें क्रमप्राप्त जाति का सामान्य लक्षण बताते हैं -

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः॥ 18॥ (59)

सूत्रार्थ- साधर्म्य तथा वैधर्म्य के द्वारा वादी के हेतु का प्रतिषेध-खण्डन करना, जाति कहलाती है।

व्याख्या- वादी के द्वारा अपना पक्ष हेतु की व्याप्ति से युक्त सोदाहरण प्रस्तुत किए जाने पर, जब प्रतिवादी उसका ठीक उत्तर देने में अपने को असमर्थ पाता है, तो पराजय से बचने के लिए और किसी न किसी प्रकार वादी को निरुत्तर करने एवं श्रोता समुदाय को प्रभावित करने की भावना से 'जाति' का प्रयोग करता है। यदि वादी उससे दब जाता है, या जाति के प्रयोग का निराकरण नहीं कर पाता, तो प्रतिवादी चर्चा में विजयी मान लिया जाता है। इसके लिए प्रतिवादी अपने हेतु की व्याप्ति की अपेक्षा नहीं करता। अर्थात् वह व्याप्ति आदि नियमों की अपेक्षा से रहित केवल साधर्म्य- द्वारा वादी के हेतु का प्रतिषेध (खण्डन) करता है, इसी का नाम जाति है।

जैसे - वादी - 'अनित्यः शब्दः, कृतकत्वात्, सर्वं कृतकमनित्यं भवति, घटवत्, तथा चायं शब्दः कृतकः, तस्मात् कृत. कत्वादनित्यः शब्दः' (शब्द अनित्य है, कृतक (किया हुआ, उत्पन्न) होने से, जो कृतक होता है, वह अनित्य होता है, जैसे-घट, शब्द भी कृतक है, अतः अनित्य है)।

इस प्रकार वादी के द्वारा साधर्म्यव्याप्तिक हेतु के साथ अपना पक्ष स्थापित हो गया, तो जातिवादी ने देखा कि बात ठीक कही गई है, इसका ठीक उत्तर देना सरल नहीं, परन्तु भरी सभा में अपमान भी उचित नहीं, इसलिए उसने जाति का प्रयोग किया। यदि वादी इस जाति के लपेट में आ गया तो हमारी विजय निश्चित, अन्यथा पराजय तो दोनों ओर है ही। दाव लगाकर देख लेना ही ठीक होगा। वह वैधर्म्यव्याप्तिक हेतु के आधार पर कहता है -

वादी ने कहा है, कि 'कृतक होने से शब्द अनित्य है, घट के समान'। हम देखते हैं, कि घट मूर्त पदार्थ है। इसका तात्पर्य हुआ कि जो मूर्त होता है, वह अनित्य होता है, परन्तु जो मूर्त नहीं होता वह अनित्य भी नहीं होता। जैसे आकाश। आकाश मूर्त भी नहीं है, अतः अनित्य भी नहीं है। शब्द भी मूर्त नहीं है। तब वह घट के साथ अमूर्तत्व वैधर्म्य से घट के समान अनित्य नहीं होना चाहिए।

अतः वादी द्वारा शब्द को अनित्य बताना दोषपूर्ण है। जब वादी पूर्वोक्त उदाहरण में वैधर्म्यव्याप्तिक हेतु के आधार पर अपना पक्ष स्थापित करता है, तो प्रतिवादी साधर्म्य व्याप्तिक हेतु से उसका प्रतिषेध करता है। जैसे- वादी ने कहा- 'अनित्यः शब्दः, कृतकत्वात्, यत् कृतकं न भवति तदनित्यमपि न भवति, यथा आकाशः, न चायं शब्दस्तथा (आकाशवत्) अकृतकः, तस्मात् कृतकत्वात् - अनित्यः शब्दः' (शब्द अनित्य है, कृतक अर्थात् उत्पन्न किया हुआ होने से, जो कृतक नहीं होता वह अनित्य भी नहीं होता, जैसे आकाश, यह शब्द आकाश के समान अकृतक नहीं है, अतः आकाश के साथ अकृतकत्व वैधर्म्य से कृतक होने के कारण शब्द अनित्य है)।

इस पर प्रतिवादी जाति के प्रयोग द्वारा साधर्म्य व्याप्तिक हेतु से उस का खण्डन करता है - यदि आकाश के साथ 'अकृतकत्व' वैधर्म्य से शब्द अनित्य है, तो आकाश के साथ 'अमूर्तत्व' साधर्म्य से शब्द को आकाश के समान नित्य क्यों न माना जाए? फलतः वादी के द्वारा शब्द को अनित्य बताना दोषपूर्ण है।

इसी प्रकार जब वादी यह कहता है कि 'पर्वतो वाह्निमान्, धूमात्, यत्र वह्निर्न भवति तत्र धूमोऽपि न भवति, यथा ह्रदः, न चायं तथा धूमरहितः, तस्माद् धूमत्वात् पर्वतो वह्निमान्,' वादी की इस वैधर्म्य से स्थापना पर जातिवाद (प्रतिपक्षी) कहता है- यदि ह्रद (तालाब) के साथ 'अधूमत्व' वैधर्म्य से पर्वत वह्निमान् है, तो ह्रद के साथ द्रव्यत्व साधर्म्य से पर्वत को वह्निरहित क्यों न माना जाए। अतः वादी के द्वारा पर्वत को वह्निसहित बताना दोषपूर्ण है।

ऐसी स्थिति में वादी यह बताकर कि प्रतिवादी के हेतु में अव्याप्ति है, तथा 'साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्ष' (5/1/1) में से अमुक आधार पर जाति प्रयोग किया है, उसे पराजित कर देता है। और यदि चुप रह जाए तो वादी स्वयं पराजित माना जाता है।। 18।।

निग्रहस्थानलक्षणम्-

अब सूत्राकार जाति के पश्चात् क्रमप्राप्त सोलहवें / अन्तिम 'निग्रहस्थान' का लक्षण बताते हैं-

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्।। 19।। (60)

सूत्रार्थ- विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति 'निग्रहस्थान' कहलाती है।

व्याख्या- विप्रतिपत्ति का अर्थ है 'विपरीत ज्ञान' और 'अज्ञान' को अप्रतिपत्ति कहते हैं।

अर्थात् विपरीत या निन्दित प्रतिपादन 'विप्रतिपत्ति' कहलाती है। इस प्रकार प्रतिपादन करता हुआ 'वाद' में पराजय प्राप्त करता है, और पराजय की प्राप्ति का कारण ही 'निग्रहस्थान' है।

'अप्रतिपत्ति' उसे कहते हैं कि वादी, बोलना आवश्यक होने पर भी न बोले अर्थात् प्रतिवादी द्वारा स्थापित पक्ष का खण्डन या अपने पक्ष का मण्डन न करे।। 19।।

क्या पूर्वोक्त दृष्टान्त के समान जाति और निग्रहस्थान के कोई भेद नहीं होते ? अथवा सिद्धान्त के समान इनके भी भेद होते हैं ? सूत्राकार इस शंका का समाधान करते हैं-

तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम्।। 20।। (61)

सूत्रार्थ- साधर्म्य-वैधर्म्य तथा विप्रतिपत्ति-अप्रतिपत्ति विविध प्रकार के होने से जाति और निग्रहस्थान भी बहुत प्रकार के हो जाते हैं।

व्याख्या- सूत्रा में 'तत्' सर्वनाम से अठारह वें सूत्रा के साधर्म्य-वैधर्म्य और उन्नीसवें सूत्रा के विप्रतिपत्ति-अप्रतिपत्ति की ओर संकेत है। साधर्म्य और वैधर्म्य तथा विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति के विविध एवं विरोधी प्रकारों के कारण जाति और निग्रहस्थान के बहुत से भेद हो जाते हैं। जिनमें पञ्चमाध्याय के प्रथमाह्निक में २४ प्रकार की जातियों और द्वितीयाह्निक में २२ प्रकार के निग्रहस्थानों का विवरण है।

इन प्रमाण आदि १६ पदार्थों का प्रथम सूत्रा में उद्देश (नामनिर्देश) करके सम्पूर्ण प्रथमाध्याय में यथाक्रम लक्षण और भेद बताए गए हैं। अगले अध्यायों में लक्षणों के अनुसार उनकी परीक्षा की जाएगी। इस प्रकार उद्देश, लक्षण, परीक्षा के रूप में इस शास्त्रा की त्रिविध प्रवृत्ति समझनी चाहिए।। 20।।

इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

प्रमुख स्मरणीय बिंदु

1.जाति - जाति का अर्थ है - केवल साधर्म्य (समानता) या वैधर्म्य (भिन्नता) के आधार पर झूठा विरोध करना।

परिभाषा (सूत्र 1.2.18) 'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः।' अर्थात् बिना किसी ठोस व्याप्ति के, केवल शब्दों की समानता या भिन्नता दिखाकर विपक्षी को रोकना जाति है।

स्वरूप यह एक प्रकार का असदुत्तर (गलत उत्तर) है। इसमें वादी के तर्क को काटने के लिए ऐसा तर्क दिया जाता है, जो स्वयं दोषपूर्ण होता है।

उद्देश्य इसका प्रयोग जल्प में विपक्षी को भ्रमित करने या समय बिताने के लिए किया जाता है। न्यायदर्शन के 5वें अध्याय में इसके 24 भेदोंका विस्तार से वर्णन है।

2.निग्रहस्थान - निग्रहस्थान वह स्थिति है, जहाँ पहुँचने पर वादी या प्रतिवादी की हार निश्चित हो जाती है।

परिभाषा (सूत्र 1.2.19) 'विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम।'

1.विप्रतिपत्ति विषय का उल्टा या गलत ज्ञान होना।

2.अप्रतिपत्ति उत्तर न दे पाना या विषय को समझ न पाना।

मुख्य बिंदु जब चर्चा के दौरान कोई व्यद्रि अपने पक्ष को सिद्ध न कर पाए, विषय से भटक जाए, या चुप हो जाए, तो उसे निग्रहीत (पराजित) माना जाता है।

संख्या न्यायदर्शन के 5वें अध्याय में इसके 22 भेदों (जैसे - प्रतिज्ञाहानि, अर्थान्तर, विक्षेप आदि) की विस्तृत व्याख्या है।

इन दोनों पदार्थों का ज्ञान इसलिए अनिवार्य है, जिससे

1.चर्चा के दौरान हम स्वयं जाति (कुतर्क) का प्रयोग न करें।

2.विपक्षी द्वारा किए गए कुतर्कों को पहचान कर उसका निग्रहस्थान (पराजय बिंदु) सिद्ध कर सकें।

3.सत्य की रक्षा के लिए वाद-विवाद के नियमों का पालन सुनिश्चित हो।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न -

1.जाति का लक्षण बताते हुए इसके स्वरूप की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

2.निग्रहस्थान किसे कहते हैं? इसके भेदों का सामान्य परिचय देते हुए शास्त्रर्थ में इसके महत्त्व को समझाइए।

लघुउत्तरीय प्रश्न -

1.जाति को असदुत्तर (झूठा उत्तर) क्यों कहा जाता है?

2.विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति में क्या अंतर है?

3.निग्रहस्थान का प्रयोग मुख्य रूप से किस प्रकार की कथा (कथा के भेदों) में होता है?

4.जाति और छल में मुख्य अंतर क्या है?

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1.'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः' किस पदार्थ का लक्षण है?

क) छल

ख) जाति

ग) निग्रहस्थान

घ) हेत्वाभास

2.पराजय के स्थान या हार के कारण को न्यायदर्शन में क्या कहा गया है?

क) वितण्डा

ख) अपवर्ग

ग) निग्रहस्थान

घ) हेतु

3.न्यायदर्शन के प्रथम अध्याय के अनुसार निग्रहस्थान के कितने भेद बताए गए हैं?

क) 12

ख) 16

ग) 22

घ) 24

4.इनमें से कौन-सा निग्रहस्थान का मुख्य कारण है?

क) यथार्थ ज्ञान

ख) अप्रतिपत्ति (ज्ञान का अभाव)

ग) संशय

घ) प्रमाण

5.जाति के कुल कितने प्रकार (भेदों) का वर्णन न्यायदर्शन के पांचवें अध्याय में विस्तार से मिलता है?

क) 22

ख) 24

ग) 10

घ) 5

अथ द्वितीयोऽध्यायः प्रथमाह्निकम्

खण्ड-3 सभी प्रमाणों की परीक्षा एवं वेद का प्रामाण्य

इकाई-3.1 प्रमाण सामान्य की परीक्षा

उद्देश्य-

1.संशय का निवारण प्रमाणों की सत्ता पर उठाए गए आक्षेपों (जैसे- क्या प्रमाण स्वयं सिद्ध हैं या उन्हें सिद्ध करने के लिए अन्य प्रमाण चाहिए) का तार्किक समाधान करना।

2.प्रमाणों की प्रामाणिकता सिद्ध करना यह स्थापित करना कि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि ज्ञान के साधन यथार्थ हैं और इनके माध्यम से प्राप्त ज्ञान सत्य की कसौटी पर खरा उतरता है।

3.तत्वज्ञान का आधार पुष्ट करना बिना प्रमाणों की परीक्षा के आत्मा आदि प्रमेय का ज्ञान संदिग्ध रहता है, अतः मोक्ष के मार्ग को निष्कंटक बनाने के लिए ज्ञान के साधनों को दोषमुद्र सिद्ध करना।

अब प्रमाणसामान्य की परीक्षा प्रस्तुत की जा रही है। सूत्राकार उसमें पूर्वपक्ष दिखाते हैं -

पूर्व०- प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः॥ 8॥ (69)

सूत्रार्थ- प्रमेय पदार्थ की तीनों-भूत, भविष्यत्, वर्तमान कालों में सिद्धि न हो पाने से प्रत्यक्षादि (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द) प्रमाणों की प्रामाणिकता नहीं है।

व्याख्या- प्रत्येक प्रमाण तीनों कालों मे प्रमेय को सिद्ध नहीं करता। प्रत्यक्ष केवल वर्तमान कालिक विषय का बोध कराता है, वह भी सर्वथा निर्बाध नहीं। यही दशा उपमान प्रमाण की भी है। शब्द-प्रमाण भूतकालिक घटनाओं के अतिरिक्त, यद्यपि वर्तमान और अनागत का भी बोधक होने की स्थिति को प्रमाणित करता है, परन्तु उसकी सत्यता सदा सन्दिग्ध रहती है। अनुमान-प्रमाण का प्रयोग तीनों कालों में होते हुए भी वह सर्वदा असन्दिग्ध नहीं रहता। दीर्घ अतीत और दीर्घ अनागत का बोध कराना अनिश्चित ही रहता है। अतः प्रत्यक्षादि चारों प्रमाणों की प्रामाणिकता सम्भव नहीं।। 8।।

अब सूत्राकार प्रत्यक्षादि की अप्रामाणिकता में प्रस्तुत पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं -

सिद्धान्ती- त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः॥ 12॥ (73)

सूत्रार्थ- तीनों कालों में सिद्धि न होने से पूर्वपक्षी का प्रतिषेध सिद्ध नहीं माना जा सकता है।

व्याख्या- कोई प्रतिषेधवाक्य जिसका प्रतिषेध (खण्डन) करता है, उसे प्रतिषेध्य कहते हैं। अब विचारना है, कि १. यदि प्रतिषेध्य की अविद्यमानता में प्रतिषेध (प्रतिषेधवाक्य) पहले प्रवृत्त होता है, तब वह किसका प्रतिषेध करता है ?

प्रतिषेध्य (प्रत्यक्षादि प्रामाण्य) तो तब तक है नहीं। ऐसी स्थिति में प्रतिषेध व्यर्थ है।

२. यदि प्रतिषेध्य (प्रत्यक्षादि) उपस्थित होता है, तो प्रतिषेध स्वयं असिद्ध हो जाएगा, क्योंकि पहले से सिद्ध प्रतिषेध्य (प्रमेय) का प्रतिषेधवाक्य (प्रमाण) द्वारा प्रतिषेध ठीक नहीं। सिद्ध वस्तु का प्रतिषेध असम्भव है।

३. और यदि प्रतिषेध्य (प्रमेय) तथा प्रतिषेध (प्रमाण) को युगपत् मानें तो प्रतिषेध्य (प्रमेय) की सिद्धि को स्वीकार कर लेने से उसका प्रतिषेध (प्रमाण) व्यर्थ एवं अनुचित है।

इस प्रकार आपके प्रतिषेध वाक्य के सर्वथा अनुपपन्न (असंगत-अयुक्त) हो जाने से हमारे प्रत्यक्षादि की प्रमाणिकता स्वयं सिद्ध है, क्योंकि इन परिस्थितियों में आप जिन प्रत्यक्षादि से प्रतिषेध कर रहे हैं, उनकी प्रामाणिकता स्वयं सिद्ध हो जाती है।। 12।।

अब सूत्राकार प्रकारान्तर से प्रतिषेध की अयुक्तता स्पष्ट करते हैं -

सिद्धान्ती- सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधानुपपत्ति॥ 13॥ (74)

सूत्रार्थ- सब प्रमाणों का प्रतिषेध करने से भी प्रतिषेध की सिद्धि नहीं हो सकती।

व्याख्या- सब प्रमाणों का प्रतिषेध कर देने पर प्रमाणों का प्रतिषेध प्रमाणसिद्ध (प्रामाणिक) नहीं हो सकता ; क्योंकि 'प्रमेय की सिद्धि प्रमाणों से ही हो सकती है' (मानाधीना मेयसिद्धिः) इस नियम के अनुसार प्रमाण प्रतिषेधरूप प्रमेय की सिद्धि भी किसी न किसी प्रमाण से ही सम्भव है। परन्तु प्रतिषेध की सिद्धि के लिए वादी के पास कोई प्रमाण न होने से प्रतिषेधरूप प्रमेय असिद्ध ही रहता है।

वादी ने प्रत्यक्षादि की प्रामाणिकता के प्रतिषेध के लिए अनुमान वाक्य का प्रयोग किया है - **'प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं**

त्रैकाल्यासिद्धेः' (२/१/८)। इसमें साध्य प्रत्यक्षादि के अप्रामाणिकत्व की सिद्धि में 'त्रैकाल्यासिद्धेः' हेतु दिया है। किन्तु हेतु और साध्य की व्याप्ति को पुष्ट करने के लिए उदाहरण नहीं दिखाया। उदाहरण का निर्देश करने पर हेतु, अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ समझा जाता है। अतः यदि वादी अपने हेतु की व्याप्ति दिखाने के लिए उदाहरण का निर्देश करता है, तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अप्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि दृष्टान्त का विषयभूत पदार्थ प्रत्यक्षसिद्ध होता है, और प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थ को स्वीकार करने से प्रमाणों की भी सिद्धि हो जाती है। जैसा कि पहले कह चुके हैं प्रतिज्ञा शब्दस्थानी, हेतु अनुमानस्थानी, उदाहरण प्रत्यक्षस्थानी तथा उपनय उपमानस्थानी होता है।

यदि वादी अपने प्रयुक्त अनुमान में उदाहरण का निर्देश नहीं करता, तो हेतु और साध्य की व्याप्ति के असिद्ध रहने से हेतु अपने साध्य को सिद्ध करने में असमर्थ रहता है। तब भी प्रत्यक्षादि की अप्रमाणिकता सिद्ध न होने से, उनकी प्रामाणिकता स्वतः बनी रहती है। इसके अतिरिक्त प्रतिषेधवाक्य का हेतु वस्तुतः **'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः' (१/२/६)** के अनुसार विरुद्ध हेत्वाभास भी है, क्योंकि उसका यह सिद्धान्त है, कि-प्रत्यक्षादि प्रमाण किसी अर्थ को सिद्ध नहीं करते, अतः उनकी प्रामाणिकता नहीं माननी चाहिए। परन्तु प्रतिषेधवाक्य में प्रतिज्ञा आदि अवयवों का प्रयोग भी अर्थसिद्धि के लिए कर रहा है, अन्यथा उसकी बात ही सिद्ध नहीं हो सकती। अतः यदि सब प्रमाणों की प्रामाणिकता का प्रतिषेध किया जाता है, तो इसका साधक प्रतिषेध स्वयं ही असिद्ध हो जाता है।। 13।।

अब सूत्राकार पूर्वपक्षी के मत में अन्य दोष दिखाते हैं -

सिद्धान्ती- तत्प्रामाण्ये वा न सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः।। 14।। (75)

सूत्रार्थ- उस प्रतिषेधवाक्यरूप प्रमाण की प्रामाणिकता स्वीकार करने पर सभी प्रमाणों का प्रतिषेध नहीं होता है।

व्याख्या- यदि प्रतिषेध के अनुमानवाक्य में प्रयुक्त प्रतिज्ञा आदि अवयवों में आश्रित प्रत्यक्षादि प्रमाणों की प्रामाणिकता मानी जाती है, तो सिद्धान्ती के द्वारा प्रयुक्त अनुमान वाक्य के प्रतिज्ञा आदि अवयवों में आश्रित प्रत्यक्ष आदि की प्रामाणिकता को भी स्वीकार करना होगा; क्योंकि सभी अनुमान समान हैं। इस प्रकार सब प्रमाणों का प्रतिषेध नहीं हो सकता; क्योंकि प्रामाण्यप्रतिषेध वाक्य स्वयं प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उसी के अनुसार सभी प्रमाणों की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है।

सूत्रा के 'विप्रतिषेध' शब्द में 'वि' उपसर्ग 'विशेष' अर्थ में समझना चाहिए, न कि 'विरोध' अर्थ में। विरोध अर्थ मानने पर 'विप्रतिषेध' का अर्थ होगा- प्रतिषेध का विरोध (प्रतिषेधाभाव)। उसका सूत्रापठित 'न' पद से निषेध होने पर सूत्रार्थ होगा- सब प्रमाणों का प्रतिषेध। यह प्रतिपाद्य प्रयोजन से विपरीत है।। 14।।

अब सूत्राकार तीनों कालों में प्रमाणों की प्रमेयबोधकता दिखाकर पूर्वपक्षी के 'त्रैकाल्यासिद्धेः' हेतु का खण्डन करते हैं -

सिद्धान्ती- त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धिवत् तत्सिद्धेः।। 15।। (76)

सूत्रार्थ- ध्वनिरूप शब्द से वाद्ययन्त्र की सिद्धि के समान उन सभी प्रमाणों की सिद्धि होने से तीनों कालों में उनका प्रतिषेध नहीं हो सकता है।

व्याख्या- शब्द से वाद्ययन्त्र (बाजे) की सिद्धि के समान ही प्रमाणों से तीनों कालों में प्रमेय की सिद्धि होने से तीनों कालों में प्रमाणों की प्रमेयग्राहकता का निषेध करना अनुचित है।

प्रमाण और प्रमेय के परस्पर पूर्वापरसहभाव के लक्ष्य से यहाँ त्रैकाल्य कहा है। जो यह कहा था, कि 'प्रमाण के द्वारा प्रमेय का ग्रहण, उसके पहले, पीछे या साथ रहकर नहीं हो सकता' ऐसा प्रतिषेध सर्वथा असंगत है, क्योंकि यथासम्भव सभी स्थितियों में प्रमाण द्वारा प्रमेय का ग्रहण होता है। जैसे 'शब्दादातोद्यसिद्धिवत्' (ध्वनिरूप शब्द से बाजे / आतोद्यकी सिद्धि के समान)। जैसे- किसी बाह्य देश में स्थित अथवा व्यवहित व्यक्ति को भिन्न स्थान में वाद्य की ध्वनि सुनाई देती है, तो ध्वनि की विशेषता से अनुमान होता है, कि वीणा बजाई जा रही है, अथवा बांसुरी, या सितार, गिटार, हारमोनियम बजाया जा रहा है। यहाँ पहले विद्यमान साध्य (वाद्य) का पश्चाद्भावी साधन (प्रमाण) से बोध होता है। इसी प्रकार मकान में पहले से विद्यमान पदार्थों को जानने के लिए उपलब्धि का हेतु प्रमाणरूप प्रमेय का प्रयोग बाद में होता है।

और सद्यः सभी उत्पन्न होने वाले पदार्थों (प्रमेयों) को जानने के लिए प्रकाशरूप प्रमाण पहले ही विद्यमान रहता है। यहाँ प्रमाण पहले और उत्पन्न होने वाला पदार्थ (प्रमेय) पीछे आते हैं। जहाँ धूम से अग्नि का अनुमान होता है, वहाँ धूम प्रमाण और अग्नि प्रमेय दोनों साथ-साथ विद्यमान रहते हैं। अतः इनके पूर्वादिभाव का नियत नियम न होने से जहाँ जैसा देखा जाए, उसी के अनुसार पूर्व-अपर (पश्चात्) - सहभाव समझ लेना चाहिए। अतः उक्त आधारों पर प्रत्यक्ष आदि की प्रामाणिकता का खण्डन उचित नहीं।

लोक में भी इसका 'प्रवृत्तिनिमित्त' (नाम का कारण) मानना आवश्यक है। अन्यथा व्यवहार नहीं चल सकता। जैसे कोई व्यक्ति कहता है 'पाचक लाओ, वह भोजन पकाया करेगा', लावक लाओ, खेत काटेगा। यहाँ पाचक का प्रवृत्तिनिमित्त 'भोजन पक.

ाना' और लावक का 'खेत की फसल काटना' है। इसकी व्यवस्था भविष्यत् में होने पर भी 'पाचक' या 'लावक' पदों का प्रयोग पहले ही हो जाता है। व्याकरण शास्त्रा में भी ऐसी संज्ञा 'भाविनी संज्ञा' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका प्रवृत्तिनिमित्ति भविष्यत् में घटता है। अतः इन हेतुओं से प्रमाणों की प्रामाणिकता का प्रतिषेध करना उचित नहीं।। 15।।

अब सूत्राकार दृष्टान्त द्वारा प्रमाण-प्रमेय के व्यवहार को स्पष्ट करते हैं -

सिद्धान्ती- प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्।। 16।। (77)

सूत्रार्थ- प्रमेयता-प्रमाण की परीक्षा के समय प्रमाण का प्रमेय होना, तुला प्रमाण-के प्रमेय होने के समान है।

व्याख्या- प्रत्येक वस्तु का भार जानने में तुला (तराजू / कांटा की सहायता से उपयुक्त होने वाले बाट) को प्रमाण समझा जाता है। परन्तु जब यह संशय हो जाता है, कि इस बाट का भार ठीक है अथवा नहीं, तब उसकी प्रामाणिकता की परीक्षा के लिए अन्य बाट की आवश्यकता होती है। उस समय अन्य बाट प्रमाण तथा पहला बाट प्रमेय हो जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक प्रमाण और प्रमेय के विषय में समझना चाहिए कि, जब वह ज्ञान का साधन होगा तब प्रमाण कहलाएगा और जब ज्ञान का विषय होगा, तब प्रमेय कहलाएगा।

इसी के अनुसार उपलब्धि का विषय होने से आत्मा प्रमेयों में पढ़ा है (१/१/९), किन्तु उपलब्धि (ज्ञान) में स्वतन्त्राता होने से वह 'प्रमाता' भी कहलाता है। इसी प्रकार बुद्धि (अन्तः करण) को उपलब्धि (ज्ञान) का साधन होने से 'प्रमाण' और ज्ञान का विषय होने से 'प्रमेय' कहते हैं। किन्तु विषय और साधन दोनों न होने से वह 'प्रमिति' है। (अर्थात् बुद्ध्यतेऽनया सा बुद्धिः, बोधनं बुद्धिः)। इस प्रकार प्रवृत्तिनिमित्त के भेद से इन पदों का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता रहता है।

इसी प्रकार प्रत्यक्षादि, उपलब्धि (ज्ञान) के साधन हों तो 'प्रमाण' और जब उपलब्धि के विषय हों, तो 'प्रमेय' मानने चाहिए। जैसा कि लोक में प्रसिद्ध है -'प्रत्यक्षेण उपलभे' (प्रत्यक्ष से उपलब्ध कर रहा हूँ)। यहाँ उपलब्धि का साधन होने से प्रत्यक्ष 'प्रमाण' है, और 'प्रत्यक्षं मे ज्ञानम्' (मेरा प्रत्यक्ष ज्ञान है) यहाँ ज्ञान का विषय होने से प्रत्यक्ष 'प्रमेय' है। अतः प्रमाण - प्रमेय के पूर्वापर सहभाव के आधार पर प्रमाणों का प्रतिषेध करना असंगत है।। 16।।

पूर्वपक्षी जिज्ञासा करता है यह प्रत्यक्षादि विषयक ज्ञान क्या किसी अन्य प्रमाण से होता है, अथवा बिना प्रमाण के हो जाता है ?

सिद्धान्ती - किसी प्रकार हो, इसमें क्या विशेषता आएगी ?

पूर्वपक्षी प्रमाणान्तर से प्रत्यक्षादि की सिद्धि में दोष दिखाता है -

पूर्व० - प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः।। 17।। (78)

सूत्रार्थ- प्रत्यक्षादि प्रमाणों की प्रमाण से सिद्धि होने से अन्य प्रमाणों की सिद्धि का प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

व्याख्या- यदि प्रत्यक्षादि चारों प्रमाणों की सिद्धि (उपलब्धि ज्ञान) अन्य किसी प्रमाण से होती है, तो प्रत्यक्षादि से अतिरिक्त उन प्रमाणों को मानना पड़ेगा, तथा जिनके द्वारा प्रत्यक्षादि को जाना गया है, उनको मान लेने पर, उनको जानने के लिए, उनसे अतिरिक्त अन्य प्रमाणों की अपेक्षा होगी तथा अन्यों को जानने के लिए, अन्य प्रमाणों की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार आगे-आगे अन्य प्रमाण मानने से अनवस्था दोष उपस्थित होगा। और सूत्राकार ने प्रमाणों क विभाग प्रकरण (१/१/३) में चार ही प्रमाण माने हैं, उनमें न्यूनता का दोष आएगा। अतः प्रमाणों का मानना ठीक नहीं।। 17।।

अब सूत्राकार पूर्वपक्षी के रूप में द्वितीय विकल्प (बिना प्रमाण के प्रमाण की सिद्धि) में दोष दिखाते हैं -

पूर्व० - तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणसिद्धिवत् प्रमेयसिद्धिः।। 18।। (79)

सूत्रार्थ- प्रत्यक्षादि की सिद्धि-उपलब्धि में प्रमाणान्तर की निवृत्ति से प्रमाणों की सिद्धि के समान आत्मा आदि प्रमेयों की सिद्धि का होना प्राप्त होगा।

व्याख्या- यदि अनवस्था दोष से बचने के लिए प्रमाणान्तरों की विनिवृत्ति (अनुपस्थिति- अस्वीकृति) मानें, तो जैसे प्रमाण ान्तर के बिना प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि (उपलब्धि) होगी, वैसे ही प्रमाणों के बिना आत्मा आदि समस्त प्रमेयों का ज्ञान हो जाएगा। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्षादि प्रमाणों का मानना व्यर्थ है।।१८।।

सिद्धान्ती पूर्वपक्ष का समाधान करता है -

सिद्धान्ती- न प्रदीपप्रकाशवत् तत्सिद्धे :।। 19।। (80)

सूत्रार्थ- दीपक के प्रकाश की सिद्धि के समान उन प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि होने से।

व्याख्या- प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि के लिए न तो अन्य प्रमाणों की अपेक्षा है, और न बिना प्रमाणों के इनकी सिद्धि (उपलब्धि) होती है।

जैसे- दीपक का प्रकाश किसी दृश्य (रूपवाली वस्तु) को दिखाने में प्रत्यक्ष का अंग (साधन) होने से 'प्रमाण' है, परन्तु जब वही प्रदीप, प्रत्यक्षान्तर (प्रत्यक्ष के अन्य साधन) चक्षुः सन्निकर्ष से स्वयं गृहीत होता है, तो प्रमेय की सीमा में आ जाता है।

इसी प्रकार आत्मा आदि पदार्थ भी जब स्वयं ज्ञान का विषय होता है तो 'प्रमेय' और जब अन्य पदार्थ के ज्ञान का साधन बन जाता है, तो प्रमाण कहलाता है। कहीं एक प्रत्यक्ष का अन्य प्रत्यक्ष से, कहीं प्रत्यक्ष का अनुमान से, कहीं अनुमान का प्रत्यक्ष से ज्ञान हो जाता है। अतः न तो प्रमाणान्तर की आवश्यकता है, और न प्रत्यक्षादि का ज्ञान बिना साधन के होता है।। 19।।

प्रमुख स्मरणीय बिंदु

1. प्रमाणों पर आक्षेप - पूर्वपक्ष -

विपक्षी मुख्यतः शून्यवादी यह तर्क देते हैं, कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से किसी विषय की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि

त्रैकाल्य परीक्षा यदि प्रमाण प्रमेय वस्तु से पहले है, तो बिना वस्तु के प्रमाण किसका होगा? यदि बाद में है, तो वह सिद्ध क्या करेगा? और यदि साथ में है, तो गंध और ज्ञान की तरह दोनों स्वतंत्र होंगे, एक-दूसरे का बोध कराने वाले नहीं।

अनवस्था दोष यदि प्रमेय को सिद्ध करने के लिए प्रमाण चाहिए, तो उस प्रमाण को सिद्ध करने के लिए दूसरा प्रमाण चाहिए। इस प्रकार यह श्रृंखला कभी समाप्त नहीं होगी।

2. आक्षेपों का समाधान - उत्तरपक्ष -

इन शंकाओं का समाधान न्यायसूत्रें के आधार पर इस प्रकार करते हैं

त्रैकाल्य व्याप्ति प्रमाण और प्रमेय का संबंध काल के अनुसार बदल सकता है। जैसे - सूर्य के प्रकाश से वस्तु दिखती है - पूर्व, वाद्य यंत्र से शब्द निकलता है - सह, और पदचिह्नों से व्यद्रि का ज्ञान होता है - पश्चात। अतः तीनों कालों में प्रमाण ों की प्रमाणिकता संभव है।

दीपक का ख्रष्टान्त जैसे - दीपक स्वयं को भी प्रकाशित करता है और दूसरी वस्तुओं को भी, वैसे ही प्रमाण स्वयं की सत्ता भी सिद्ध करते हैं और प्रमेय विषय को भी सिद्ध करते हैं। इसके लिए अलग से प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती, अतः अनवस्था दोष नहीं आता।

3.प्रमाण और प्रमेय का सापेक्ष संबंध -

महर्षि गौतम जी स्पष्ट करते हैं, कि एक ही वस्तु संदर्भ के अनुसार प्रमाण भी हो सकती है और प्रमेय भी।

उदाहरण तुला अथवा तराजू जब सोना तौलती है तो वह प्रमाण है, लेकिन जब तराजू की शुद्धता की जाँच की जाती है, तब वही तराजू प्रमेय बन जाती है।

4.परीक्षा का निष्कर्ष -

प्रमाणों का अस्तित्व स्वतः सिद्ध और लोक-व्यवहार द्वारा पुष्ट है।

बिना प्रमाणों को स्वीकार किए प्रमाण नहीं हैं - यह तर्क देना भी अपने आप में एक प्रमाण का ही सहारा लेना है, जो विरोधियों के तर्क को व्याघात बना देता है।

प्रमाणों की परीक्षा केवल संदेह के लिए नहीं, बल्कि सत्य को और अधिक सुख्रढ़ बनाने के लिए की जाती है।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न -

1.प्रमाणों की त्रिकाल परीक्षा (पूर्व, पश्चात् और युगपत) का सविस्तार वर्णन कीजिए।

2.'प्रमाणों की अनुपपत्ति' (प्रमाण स्वयं अप्रमाण हैं) - इस पूर्वपक्ष के तर्कों और उत्तरपक्ष (न्याय) के समाधानों की समीक्षा कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न -

1.प्रमाणों की परीक्षा क्यों आवश्यक है?

2.अनवस्था दोष किसे कहते हैं?

3.प्रमाण और प्रमेय के बीच 'साध्य-साधक' भाव क्या है?

4.'प्रमाणों की त्रिकाल परीक्षा' में पूर्वपक्ष का मुख्य तर्क क्या है?

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1.न्यायदर्शन के द्वितीय अध्याय का मुख्य विषय क्या है?

क) पदार्थों का लक्षण

ख) प्रमाणों की परीक्षा

ग) मोक्ष का मार्ग

घ) सृष्टि रचना

2.प्रमाणों को सिद्ध करने के लिए अन्य प्रमाणों की अनंत आवश्यकता होने पर कौन-सा दोष आता है?

क) व्याघात

ख) अनवस्था

ग) आत्माश्रय

घ) अन्योन्याश्रय

3.'प्रमाण और प्रमेय की सिद्धि तुला या तराजू के समान है' - यह उदाहरण क्या सिद्ध करता है?

क) प्रमाणों की व्यर्थता

ख) प्रमाण और प्रमेय का विनिमय (एक-दूसरे को सिद्ध करना)

ग) संशय का अभाव

घ) इनमें से कोई नहीं

4.पूर्वपक्ष के अनुसार, यदि प्रमाण प्रमेय से पहले विद्यमान है, तो वह कैसा होगा?

क) असिद्ध

ख) नित्य

ग) प्रत्यक्ष

घ) अनुपपन्न (असंगत)

5.प्रमाणों की परीक्षा कुल कितने प्रकार के काल भेदों से की गई है?

क) दो

ख) तीन (पूर्व, पश्चात, युगपत)

ग) चार

घ) पाँच

इकाई- 3.2 प्रत्यक्ष प्रमाण परीक्षा

उद्देश्य-

1.लक्षण की निर्दोषता सिद्ध करना महर्षि गौतम जी द्वारा दिए गए प्रत्यक्ष के लक्षण (इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम...) पर उठने वाले आक्षेपों का समाधान कर उसे तर्कसंगत सिद्ध करना।

2.प्रत्यक्ष की प्रधानता स्थापित करना यह स्पष्ट करना कि प्रत्यक्ष ही सभी प्रमाणों का मूल है, क्योंकि अनुमान और शब्द प्रमाण भी प्रत्यक्ष पर ही आधारित होते हैं।

3.अवयव-अवयवी संबंध का स्पष्टीकरण प्रत्यक्ष ज्ञान में अवयवी का ज्ञान कैसे होता है, इस पर शंकाओं का निवारण कर वस्तु के वास्तविक स्वरूप को सिद्ध करना।

सामान्य प्रमाणों की परीक्षा के पश्चात् अब सूत्राकार विशेष प्रमाण 'प्रत्यक्ष' की परीक्षा आरम्भ करते हुए पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं-

पूर्व0 - प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिरसमग्रवचनात्॥ 20॥ (81)

सूत्रार्थ- असमग्र कथन होने से प्रत्यक्ष का लक्षण सिद्ध नहीं होता है।

व्याख्या- **'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम्' (1/1/4)** प्रत्यक्ष के इस लक्षणसूत्रा में जो प्रत्यक्षज्ञान के कारण बताए हैं, उनमें असमग्रता दिखाई देती है, क्योंकि जब आत्मा मन से युक्त होता है, मन इन्द्रियों और इन्द्रिय-अर्थों से, तब प्रत्यक्ष होता है। उनमें से प्रत्यक्षलक्षणसूत्रा में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को ही प्रत्यक्ष का कारण बताया है। आत्ममन:सन्निकर्ष तथा मन-इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं कहा। अत: प्रत्यक्ष का लक्षण अधूरा है।

जो गुण किसी द्रव्य के संयोग से उत्पन्न होता है, वह उस द्रव्य के संयोग के बिना नहीं होता। जैसे- प्रकाश के संयोग के बिना रूप का ज्ञान नहीं होता, वैसे ही आत्ममन:सन्किर्ष के बिना प्रत्यक्ष- ज्ञान नहीं हो सकता।। 20।।

सूत्राकार प्रत्यक्षलक्षण की असमग्रता को स्वयं स्पष्ट करते हैं -

पूर्व0 - नात्ममनसो: सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्ति:॥ 21॥ (82)

सूत्रार्थ- आत्मा और मन का सन्निकर्ष न होने पर प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

व्याख्या- आत्मा तथा मन के सन्निकर्ष के बिना प्रमेय का प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के बिना उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के समान, आत्म-मन:सन्निकर्ष का भी उल्लेख होना चाहिए था, जो कि नहीं हुआ। अत: उसके बिना प्रत्यक्ष का लक्षण अधूरा है।। 21।।

अब सूत्राकार पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं -

सिद्धान्ती- ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनो नाऽनवरोध:॥ 23॥ (84)

सूत्रार्थ- आत्मा के ज्ञानलिङ्गवाना होने से प्रत्यक्षलक्षण में आत्ममन:सन्निकर्ष का असंग्रह नहीं है।

व्याख्या- आत्मा का विशेष गुण होने से ज्ञान आत्मा का लिङ्ग (अस्तित्व का बोधक) है। अत: कहीं ज्ञान उत्पन्न होने से यह स्पष्ट हो जाता है, कि यहाँ ज्ञान का समवायिकारण आत्मा है और असमवायिकारण आत्ममन: संयोग है। इसलिए आत्मा और आत्ममन: संयोग को प्रत्यक्षलक्षणसूत्रा में न पढ़ने पर भी उनका संग्रह हो जाता है।। 23।।

अब सूत्राकार प्रत्यक्षलक्षण में बिना ग्रहण किए इन्द्रियमन:सन्निकर्ष की प्राप्ति दिखाते हैं -

सिद्धान्ती- तदयौगपद्यलिङ्गत्वाच्च न मनस:॥ 24॥ (85)

सूत्रार्थ- एक क्षण में अनेक ज्ञान न होना लिंग होने से मन का प्रत्यक्षलक्षण में असंग्रह नहीं है।

व्याख्या- यहाँ गतसूत्रा से 'अनवरोध:' की अनुवृत्ति है। **''युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्'' (१/१/१६)** अर्थात् एक साथ अनेक ज्ञानों का न होना मन का लिंग (अस्तित्व का बोधक) है। अत: जब एक समय में एक विषय का ज्ञान होता है, तो यह स्पष्ट हो जाता है, कि मन का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष हो रहा है। इसलिए प्रत्यक्षलक्षणसूत्रा में मन: सन्निकर्ष न पढ़ने पर भी इन्द्रिय-मन:सन्निकर्ष का संग्रह हो जाता है। अत: प्रत्यक्षलक्षण में अधूरापन नहीं है।। 24।।

यदि प्रत्यक्षज्ञान में आत्ममन: सन्निकर्ष और मन-इन्द्रियसन्निकर्ष कारणरूप में स्वीकृत है, तो फिर लक्षणसूत्रा में इनका उल्लेख क्यों नहीं किया ? केवल इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का ही उल्लेख क्यों किया ?

सिद्धान्ती- प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थयो: सन्निकर्षस्य स्वशब्देन वचनम्॥ 25॥ (86)

सूत्रार्थ- केवल प्रत्यक्ष का निमित्त होने से इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष का स्वशब्द से 'इन्द्रिय' और 'अर्थ' ऐसा नामग्रहण ापूर्वक लक्षणसूत्रा में कथन है।

व्याख्या- प्रत्यक्षलक्षणसूत्रा में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष का साक्षात् नाम लेकर इसलिए कथन किया है, कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष केवल प्रत्यक्ष ज्ञान में निमित्त होता है, अनुमिति आदि ज्ञानों में नहीं। जबकि आत्ममन:सन्निकर्ष आदि प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्द इन सभी ज्ञानों में सहयोगी कारण होते हैं। जो केवल प्रत्यक्ष ज्ञान में कारण है, अन्यत्र कारण नहीं, उन्हीं का निर्देश लक्षण में किया गया है। आत्ममन: सन्निकर्ष आदि की कारणता का निषेध नहीं है। अत: प्रत्यक्षलक्षणसूत्रा में कोई न्यूनता नहीं है।। 25।।

सूत्राकार प्रकारान्तर से प्रत्यक्षलक्षण में केवल इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के ग्रहण का औचित्य बताते हैं-

सिद्धान्ती- सुप्तव्यासक्तमनसां चेन्द्रियार्थयो: सन्निकर्षनिमित्तत्वात्।। 26।। (87)

सूत्रार्थ- सोए हुए तथा किसी एक विषय में संलग्न मन वाले व्यक्तियों के जागने/प्रबोध तथा विषयान्तर प्रवृत्ति में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्षरूप निमित्तकारण होने से भी इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को नामग्रहणपूर्वक प्रत्यक्षलक्षण में पढ़ा गया है।

व्याख्या- यहाँ गत सूत्रा से 'स्वशब्देन वचनम्' की अनुवृत्ति है। जब कोई व्यक्ति ऐसा निश्चय करके सो जाता है, कि मैं अमुक समय अवश्य उठ जाऊँगा, तो उस निश्चय के अनुसार वह दृढ़ निश्चय वाला व्यक्ति जग जाता है। परन्तु जब कोई तीव्र शब्द (घंटानाद, बमविस्फोट आदि का) या किसी वस्तु का विशेष स्पर्श जागने में कारण बन जाए, तो उस सोए हुए को बीच में इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-हेतुक प्रबोध ज्ञान हो जाता है। उस प्रबोध ज्ञान में आत्मा या मन का सन्निकर्ष प्रधान (मुख्य) नहीं होता, अपितु इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष की ही प्रधानता होती है, क्योंकि उस समय आत्मा किसी जिज्ञासा से प्रयत्नपूर्वक मन को प्रेरित नहीं करता।

ऐसे ही कोई व्यक्ति किसी समय किसी विषय में संलग्न होने पर भी संकल्प (इच्छा) से अन्य विषय की जिज्ञासा करता हुआ मन से इन्द्रिय को लगाकर विषयान्तर को जान लेता है। परन्तु वही व्यक्ति नि:संकल्प या कोई जिज्ञासा न करता हुआ भी किसी विषय में आसक्त (संलग्न) हो, तो भी तीव्रध्वनि या आघात से बाह्य विषय का जो अकस्मात् ज्ञान होता है, उसमें इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष ही प्रधान होता है। आत्ममन: सन्निकर्ष नहीं, क्योंकि इसमें भी आत्मा कोई प्रयत्न करके मन को प्रेरित नहीं करता। इस प्रकार प्रत्यक्षलक्षण में मुख्य होने से इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का ही ग्रहण करना चाहिए, न कि गौण आत्मन: सन्निकर्ष का, जो प्रत्येक प्रकार के ज्ञान में कारण है।। 26।।

इस इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के मुख्य (प्रधान) होने में सूत्राकार अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं -

सिद्धान्ती- तैश्चापदेशो ज्ञानविशेषाणाम्।। 27।। (88)

सूत्रार्थ- उन इन्द्रिय और अर्थों के द्वारा चाक्षुष व घ्राणज आदि ज्ञानविशेषों का कथन होना निश्चित होता है।

व्याख्या- उन इन्द्रिय और अर्थों से प्रत्यक्ष होने वाले विभिन्न ज्ञानों का कथन (निर्देश व्यवहार) होता है। जैसे - घ्राण (नाक) से सूंघता है, आँख से देखता है। अथवा यह घ्राण से प्रत्यक्ष हुआ ज्ञान है, यह चक्षु से प्रत्यक्ष हुआ ज्ञान है। इसी प्रकार गन्धविषयक ज्ञान, रूपविषयक ज्ञान आदि इन्द्रिय और उनके अर्थ (विषय) के भेद से यह ज्ञान पाँच प्रकार का है। इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिय तथा अर्थ की प्रधानता होने से प्रत्यक्षलक्षणसूत्रा में 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' का निर्देश है, अन्य कारणों का नहीं। इसके अतिरिक्त 'आत्ममन:सन्निकर्ष' अनुमिति आदि ज्ञानों में भी कारण होने से प्रत्यक्षलक्षणसूत्रा में कथन करने से अतिव्याप्ति दोष भी हो जाएगा। अत: प्रत्यक्ष का लक्षण निर्दोष है।। 27।।

आपने जो यह कहा था, कि 'प्रत्यक्ष-लक्षण में इन्द्रियार्थ -सन्निकर्ष का ही ग्रहण करना चाहिए, आत्ममन: सन्निकर्ष का नहीं, क्योंकि सुप्त और व्यासक्त मन वाले व्यक्तियों के आकस्मिक ज्ञान में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष ही प्रधान कारण है' (2/1/26) वह -

पूर्व० - व्याहतत्वादहेतु:।। 28।। (89)

सूत्रार्थ- विरोधी होने से ('सुप्तव्यासक्त'० - सूत्रोक्त) हेतु ठीक नहीं है।

व्याख्या- यदि आत्ममन: सन्निकर्ष को कहीं प्रत्यक्ष में कारण नहीं मानेंगे तो 'युगपत् ज्ञान की अनुत्पत्ति मन का लिंग (ज्ञापक) है' (1/1/16) यह वचन भंग हो जाएगा, क्योंकि सुप्तव्यासक्त मन वाले व्यक्तियों का इन्द्रियार्थसन्निकर्षज ज्ञान यदि मन: सन्निकर्ष की अपेक्षा नहीं रखेगा, तो युगपत् अनेक ज्ञान भी उत्पन्न होने लगेंगे, क्योंकि सभी इन्द्रियाँ युगपत् अपने-अपने विषयों से सम्बद्ध हो सकती हैं। और यदि उक्त वचन भंग न होने देने के लिए सभी प्रत्यक्ष ज्ञानों में आत्ममन:सन्निकर्ष मानोगे तो वही बात मान्य होगी, कि ज्ञान का कारण होने से आत्ममन:सन्निकर्ष का भी प्रत्यक्षलक्षणसूत्रा में उल्लेख होना चाहिए।।।। 28।।

अब उक्त पूर्वपक्ष का सूत्राकार समाधान करते हैं

सिद्धान्ती- नार्थविशेषप्राबल्यात्।। 29।। (90)

सूत्रार्थ- अर्थविशेष की प्रबलता से कभी सुप्त तथा व्यासक्त मन वाले व्यक्ति को ज्ञानोत्पत्ति होने के कारण विरोध नहीं है।

व्याख्या- ज्ञान की उत्पत्ति में आत्ममन: सन्निकर्ष की कारणता का निषेध नहीं है, ज्ञानोत्पत्ति में केवल इन्दियार्थ-सन्निकर्ष

की ही प्रबलता दिखाई है। कभी-कभी सुप्त व व्यासक्तमन_ वाले व्यक्ति को ज्ञान की उत्पत्ति बाह्य अर्थविशेष की प्रबलता अर्थात् बाहर की तीव्र ध्वनि अथवा पटुस्पर्श आदि के कारण होती है।

बाह्य तीव्र ध्वनि या पटुस्पर्श का सम्बन्ध इन्द्रिय के साथ पहले होता है, आत्मा और मन के साथ बाद में। यद्यपि ज्ञानोत्पत्ति तो आत्ममनःसन्निकर्ष से ही होगी, किन्तु इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष प्रथम होने से प्रधान कारण कहा है और आत्ममनःसन्निकर्ष को गौण। अतः प्रधान होने के कारण प्रत्यक्षलक्षणसूत्रा में केवल इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का निर्देश किया है, अन्य कारणों का नहीं।। 29।।

अब पूर्वपक्षी प्रत्यक्ष को अनुमान सिद्ध करता है

पूर्व० - प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धेः।। 30।। (91)

सूत्राार्थ- प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमान ही है एकदेश के ग्रहण से, शेष की उपलब्धि होने से।

व्याख्या- किसी पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर जो यह वृक्ष है, घट है, वस्त्र है - इत्यादि ज्ञान होता है, जिसे प्रत्यक्ष कहते हैं, वह वस्तुतः अनुमान ही है, क्योंकि यह वृक्ष, शरीर आदि के एक भाग (कुछ अवयवों) का ग्रहण करके ही होता है। वृक्ष के अगले हिस्से को देखकर वृक्ष का ज्ञान होता है, किन्तु अगला हिस्सा ही तो वृक्ष या शरीर नहीं है। अतः अनुमान में जैसे धूम को देखकर वह्नि का अनुमान होता है, वैसी ही स्थिति यहाँ वृक्ष के प्रत्यक्ष में भी है। अतः प्रत्यक्षादि चार प्रमाण मानना भी उचित नहीं है।। 30।।

अब सूत्राकार उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं -

सिद्धान्ती- न, प्रत्यक्षेण यावत्तावदप्युपलम्भात्।। 31।। (92)

सूत्राार्थ- प्रत्यक्ष को अनुमान कहना उचित नहीं, प्रत्यक्ष से भी जितना उपलब्ध होता है उतना उपलब्ध होने से।

व्याख्या- प्रत्यक्ष को अनुमान कहना उचित नहीं, क्योंकि सामने के पदार्थ के एकदेश का ज्ञान इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से होने के कारण पूर्वपक्षी ने भी उसे प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। तब जितना प्रत्यक्ष से जाना, उतने से प्रत्यक्ष प्रमाण का अस्तित्व तो सिद्ध हो ही जाता है। 'प्रत्यक्ष से देख रहा हूँ' ऐसा ज्ञान निर्विषय नहीं होता।

अन्य प्रकार से भी प्रत्यक्ष को अनुमान नहीं कह सकते, क्योंकि अनुमान के लक्षणसूत्रा (१/१/५) के अनुसार अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है। यदि प्रत्यक्ष को न मानें तो अनुमान की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। अनुमान को स्वीकार करने का अर्थ है, प्रत्यक्ष को स्वीकार करना। धूम-अग्नि की व्याप्ति पहले प्रत्यक्ष से ज्ञात होती है। कालान्तर में धूम हेतु का प्रत्यक्ष से ज्ञान होने पर अप्रत्यक्ष अग्नि का अनुमान से ज्ञान होता है। धूम के ज्ञान को आनुमानिक ज्ञान नहीं कह सकते, क्योंकि यह इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है।। 31।।

पूर्वपक्षी ने जो यह कहा, कि पुरोवर्ती वृक्षादि का केवल एक भाग प्रत्यक्ष होता है, अतः वृक्षज्ञान को अनुमानजन्य मानना चाहिए (२/१/३०), इस विषय में सूत्राकार कहते हैं -

सिद्धान्ती- न चौकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात्।। 32।। (93)

सूत्राार्थ- एकदेश की उपलब्धि नहीं होती है, अवयवी के विद्यमान होने से।

व्याख्या- एकदेश का ही प्रत्यक्ष नहीं होता, अपितु उसके साथ अवयवी का भी प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि वहाँ अवयवी भी रहता है। वृक्ष आदि के प्रत्यक्ष ज्ञान में केवल एकदेश (अवयवों) की ही उपलब्धि नहीं होती, अपितु अवयवों और उनमें रहने वाले एकदेशी (अवयवी) दोनों की उपलब्धि होती है। अर्थात् अवयवों में रहने वाले अवयवी के साथ इन्द्रिय-संयोग होने से 'यह वृक्ष है' ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, आनुमानिक नहीं, क्योंकि अवयवी सम्पूर्ण अवयवों में समवेत रहता हुआ भी, अवयवों से अतिरिक्त है। अतः यत्किञ्चित् अवयवों का प्रत्यक्ष होने पर भी अवयवी का प्रत्यक्ष माना जाता है, जिससे हम पुरोवर्ती घट, पट, वृक्ष आदि को प्रत्यक्ष कह देते हैं, क्योंकि किसी अवयवी के सम्पूर्ण अवयवों का एक साथ पूर्णरूप से प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं। सामने के अवयवों से पीछे के अवयवों का व्यवधान बना ही रहता है।। 32।।

गतसूत्रा में वृक्ष आदि के प्रत्यक्षज्ञान की सिद्धि के लिए जो अवयवी की विद्यमानता को हेतुरूप में प्रस्तुत किया गया है, उस पर पूर्वपक्षी सन्देह प्रकट करता है -

पूर्व० - साध्यत्वादवयविनि सन्देहः।। 33।। (94)

सूत्राार्थ- साध्य-सिद्ध करने योग्य होने से, अवयवों से भिन्न अवयवी के विषय में सन्देह- संशय है।

व्याख्या- गतसूत्रा में जो 'अवयविसद्भावात्' हेतु दिया है, वह ठीक नहीं, अपितु प्रमाणों से साध्य होने के कारण 'साध्यसम' हेत्वाभास है। क्योंकि अभी यह सिद्ध नहीं किया गया कि अवयवसमुदाय के रूप में प्रतीत होने वाला पदार्थ अवयवों से अतिरिक्त है। इस प्रकार साध्य होने से अवयवी है या नहीं है, यह सन्देह बना रहता है। यह केवल विप्रतिपत्ति है। अतः साध्य को ही सिद्ध समझकर हेतु रूप में प्रस्तुत करना उचित नहीं है।। 33।।

सूत्राकार पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं –

सिद्धान्ती– सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः॥ 34॥ (95)

सूत्रार्थ– अवयवों से भिन्न अवयवी की असिद्धि से द्रव्य व गुण आदि सबका अग्रहण हो जाएगा।

व्याख्या– यदि अवयवों से भिन्न अवयवी को न मानेंगे, तो द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय में से किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं होगा। परमाणुओं से जो पदार्थ बनते हैं, उनके परमाणुओं का तो अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी प्रकार परमाणुओं के रूप आदि का भी प्रत्यक्ष नहीं होता। तब केवल परमाणुसमुदाय मानने पर इनका चक्षु आदि से ज्ञान सम्भव नहीं। परन्तु स्पष्ट रूप से इनका प्रत्यक्षत्व पाया जाता है। जैसे – यह घट है, वृक्ष है, काला है, हरा है, छोटा है, बड़ा है, जुड़ा है, अलग है, सक्रिय है, सत्तावाला है, मृद्विकार है या स्वर्णविकार है – इत्यादि। इन सब पदार्थों के ग्रहण होने से सिद्ध होता है, कि अवयवों से अतिरिक्त अवयवी अवश्य है। जो उन्हीं अवयवों से उत्पन्न होकर उन्हीं में समवेत रहता है। अतः गत (२/१/३२) सूत्रा में 'अवयविसद्भावात्' हेतु 'साध्यसम-हेत्वाभास' नहीं हो सकता॥ 34॥

अब सूत्राकार अवयवी की सिद्धि (सद्भाव) में अन्य हेतु देते हैं –

सिद्धान्ती– धारणाकर्षणोपपत्तेश्च॥ 35॥ (96)

सूत्रार्थ– धारण और आकर्षण की सिद्धि से भी अवयवी का स्वतन्त्रा अस्तित्व सिद्ध होता है।

व्याख्या– किसी वस्तु को इकट्ठा पकड़कर उठाना 'धारण' तथा इकट्ठा खींचना 'आकर्षण' कहलाता है। जब घड़े के एक किनारे को पकड़कर उठाते हैं, तो पूरा घड़ा उठा चला आता है। इसी प्रकार जब वस्त्र के एक किनारे को पकड़कर खींचते हैं, तो सारा वस्त्र खिंचा चला आता है। यह स्थिति पत्थर, तिनका, लकड़ी पत्ता आदि सभी पदार्थों में देखी जाती है। यह धारणाकर्षण अग्नि, जल व लाख आदि की सहायता से अवयवों के दृढ़ संयोग के कारण होता है। अवयवों के साधारण संयोग से यह धारण व आकर्षण नहीं होता। जैसे- बालू या अनाज के ढेर आदि में।

इस धारण व आकर्षण के होने से सिद्ध होता है, कि अवयवी का अवयवों से भिन्न एवं स्वतन्त्रा अस्तित्व है। जो एक अवयवी को भिन्न रूप में मानकर परमाणु समुच्चय या अणुसमुच्चय ही मानता है, उससे पूछना चाहिए कि 'एक वृक्ष है, एक घट है'– इत्यादि में एकत्व का विषय एक ही अर्थ (पदार्थ) है, या अनेक हैं? यदि एक है, तो अवयवी को निर्बाधरूप से स्वीकार कर लिया। यदि अनेक हैं, तो अनेक में एकत्व का ज्ञान होना विषय-विरुद्ध ज्ञान होने से वह भ्रान्तिपूर्ण अर्थात् मिथ्याज्ञान है। अतः समस्त व्यवहार की सिद्धि के लिए धारण-आकर्षण के आधार पर 'अवयवी' को मानना अनिवार्य है॥ 35॥

अब सूत्राकार 'अणुसमुच्चयवादी' के मत एकत्व-बुद्धि की असिद्धि दिखलाते हैं –

सिद्धान्ती– सेनावनवद् ग्रहणमिति चेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम्॥ 36॥ (97)

सूत्रार्थ– सेना तथा वन के समान अनेक में एक का ग्रहण अर्थात् ज्ञान होता है, यदि ऐसा कहो, तो वह उचित नहीं, परमाणुओं के अतीन्द्रिय होने से।

व्याख्या– मनुष्य, घोड़े, रथ, हाथी आदि के समूह विशेष को 'सेना' तथा वनस्पति, लता, औषधि, वृक्ष आदि के समूह को 'वन' कहते हैं। पूर्वपक्षी का कहना है, कि जैसे सेना के अंगों या वन के अवयवों में दूर से उनकी पृथकता दिखाई न देने से, अनेकों में गौणरूप से एक है, ऐसा ज्ञान होता है, मुख्यरूप से नहीं, वैसे ही अनेक परमाणुओं के समुदाय में भेद का ज्ञान न होने से अनेक में 'यह एक वृक्ष है, यह एक घट है, ऐसी एकत्व की गौण बुद्धि हो जाती है, मुख्य नहीं।

इस पर सिद्धान्ती का उत्तर है, कि यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि सेना और वन के अंग मनुष्य और वृक्ष आदि का प्रत्यक्ष होता है, अतः उनके समूह का भी प्रत्यक्ष होता है। परन्तु परमाणु अतीन्द्रिय हैं, दूर या समीप कहीं हों, दिखाई नहीं देते। अतः उनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि, दूरी के कारण उनके पृथक्त्व का ग्रहण नहीं होता, उनके समूह का ग्रहण हो जाएगा। इसलिए सेना या वन का दृष्टान्त उचित नहीं है। अवयवों से अतिरिक्त अवयवी को अवश्य मानना पड़ेगा, जिससे थोड़े अवयवों के दीखने से उसके समस्त अवयवी पदार्थ का प्रत्यक्ष हो जाता है। अवयवी के प्रत्यक्ष के लिए सम्पूर्ण अवयवों का प्रत्यक्ष होना आवश्यक नहीं। अवयवी उनसे पृथक् है। जितने भी अवयव गृहीत हो जाएँ, उन्हीं के साथ अवयवी गृहीत हो जाता है, क्योंकि सभी अवयवों में एक ही अवयवी समवेत है। अतः कुछ अवयव दीखने से अवयवी का प्रत्यक्ष हो जाता है॥ 36॥

प्रमुख स्मरणीय बिंदु

1.प्रत्यक्ष पर पूर्वपक्ष – आक्षेप –

विपक्षी तर्क देते हैं, कि प्रत्यक्ष का जो लक्षण (इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष) बताया गया है, वह अधूरा है क्योंकि अव्याप्ति दोष केवल इन्द्रिय और विषय के जुड़ाव से ज्ञान नहीं होता। इसमें मन और आत्मा का संयोग भी अनिवार्य है,

जिसका उल्लेख सूत्र में नहीं है।

अनुमान के समान कुछ विद्वान मानते हैं, कि प्रत्यक्ष भी अनुमान ही है, क्योंकि हम वस्तु के केवल एक भाग (जैसे - घड़े का बाहरी हिस्सा) को देखकर पूरी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

2. आक्षेपों का समाधान - उत्तरपक्ष -

इन शंकाओं का समाधान करते हुए स्पष्ट करते हैं

मन-आत्मा का अंतर्भाव यद्यपि आत्मा और मन का संयोग ज्ञान के लिए सामान्य कारण है, लेकिन इन्द्रिय-अर्थ सन्निकर्ष प्रत्यक्ष का असाधारण या विशिष्ट कारण है, इसलिए लक्षण में उसे ही मुख्यता दी गई है।

अवयव और अवयवी प्रत्यक्ष केवल अनुमान नहीं है। जब हम किसी वस्तु के एक हिस्से को देखते हैं, तो हमारी बुद्धि उस अवयवी - संपूर्ण वस्तु को ग्रहण करती है, जो अपने अवयवों में व्याप्त है।

3. प्रत्यक्ष की सत्ता और प्रामाणिकता ख्र

वर्तमान काल की सिद्धि विपक्षी कहते हैं, कि वर्तमान काल जैसा कुछ नहीं है, सब कुछ या तो बीत चुका है या आने वाला है। महर्षि गौतम जी तर्क देते हैं, कि यदि वर्तमान काल नहीं होगा, तो प्रत्यक्ष प्रमाण ही असंभव हो जाएगा। क्रिया की गति (जैसे - ्नल गिर रहा है) वर्तमान की सत्ता को सिद्ध करती है।

संशय का निराकरण प्रत्यक्ष ज्ञान तभी प्रमाण है, जब वह अव्यभिचारी (भ्रम रहित) और व्यवसायात्मक (निश्चित) हो।

प्रत्यक्ष सभी प्रमाणों का मूल है, क्योंकि अनुमान और शब्द प्रमाण भी अंतत: किसी न किसी प्रत्यक्ष अनुभव पर ही आध. ारित होते हैं।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न -

1.प्रत्यक्ष के लक्षण (इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम...) पर पूर्वपक्ष द्वारा किए गए आक्षेपों और उनके समाधानों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

2.'प्रत्यक्ष अनुमान के अंतर्गत ही आता है' - इस आक्षेप का न्याय दर्शन किस प्रकार खंडन करता है?

लघुउत्तरीय प्रश्न -

1.पूर्वपक्ष के अनुसार प्रत्यक्ष के लक्षण में आत्मा और मन का उल्लेख क्यों आवश्यक माना गया?

2.अवयव और अवयवी के संबंध में न्याय का क्या मत है?

3.क्या प्रत्यक्ष केवल वर्तमान काल का ही बोध कराता है?

4.अव्यपदेश्यपद का प्रत्यक्ष परीक्षा में क्या महत्त्व है?

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1.पूर्वपक्ष के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान वास्तव में क्या है?

क) शब्द प्रमाण

ख) अनुमान

ग) उपमान

घ) संशय

2.प्रत्यक्ष के सूत्र में इन्द्रिय और अर्थ के संबंध को मुख्य क्यों माना गया है?

क) क्योंकि यह साधारण कारण है

ख) क्योंकि यह असाधारण (विशेष) कारण है

ग) क्योंकि आत्मा निष्क्रिय है

घ) इनमें से कोई नहीं

3.न्यायदर्शन के अनुसार हम वृक्ष को देखते समय किसका प्रत्यक्ष करते हैं?

क) केवल पत्तों का

ख) केवल जड़ों का

ग) सम्पूर्ण अवयवी (वृक्ष) का

घ) केवल छाया का

4.'आत्मा और मन का संयोग ज्ञान का सामान्य कारण है' - यह विचार किसका है?

क) पूर्वपक्षी का

ख) चार्वाक का

ग) न्याय के उत्तरपक्ष का

घ) बौद्धों का

5.इनमें से कौन-सा पद प्रत्यक्ष के लक्षण को शब्द-ज्ञान से अलग करता है?

क) अव्यभिचारि

ख) व्यवसायात्मक

ग) अव्यपदेश्य

घ) सन्निकर्ष

इकाई- 3.3 अनुमान प्रमाण परीक्षा

उद्देश्य-

1.त्रिकालविषयक प्रामाणिकता सिद्ध करना यह स्पष्ट करना कि अनुमान केवल वर्तमान ही नहीं, बल्कि भूत और भविष्य के विषयों का भी यथार्थ ज्ञान कराने में समर्थ है।

2.आक्षेपों का निराकरण अनुमान को भ्रामक कहने वाले तर्कों (जैसे- नदी की बाढ़ देखकर वर्षा का गलत अनुमान संभव है) का समाधान कर इसकी वैज्ञानिकता सिद्ध करना।

3.व्याप्ति संबंध को पुष्ट करना हेतु (साधन) और साध्य (साध्य वस्तु) के बीच के अविनाभाव संबंध को तर्क की कसौटी पर कसना, जिससे अनुमान दोषरहित हो।

अनुमानप्रमाण परीक्षा-

प्रत्यक्ष की परीक्षा के पश्चात् अब सूत्राकार अनुमान की परीक्षा में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं -

पूर्व- रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमानमप्रामाण्यम्॥ 37॥ (98)

सूत्रार्थ- रोध-रुकावट, उपघात-तोड़-फोड़ और सादृश्य-समानता के कारण व्यभिचार-दोष मिथ्या सिद्ध होने से अनुमान अप्रामाणिक है।

व्याख्या- सूत्रा (१/१/५) में अनुमान के तीन भेद बताए हैं पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। इनमें से एक भी, अर्थ का यथार्थप्रतिपादन नहीं करता। जैसे -

१. **पूर्ववत्-अनुमान :-** इसमें कारण से कार्य का अनुमान होता है। जैसे - उमड़ते - घुमड़ते बादलों को देखकर, अथवा चींटियों को अण्डे लेकर आते-जाते देखकर भविष्यत् में होने वाली वृष्टि का अनुमान किया जाता है। परन्तु यह अनुमान व्यभिचार दोष से युक्त है, क्योंकि कभी-कभी बादल घिरने पर भी वर्षा नहीं होती, तथा किसी कारण चींटियों का भिटा टूट-फूट जाने पर, वे अण्डे लेकर चल पड़ती हैं। उससे वर्षा का अनुमान करना मिथ्या होगा।

२. **शेषवत्-अनुमानः**- इसमें कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है। जैसे- नदी की बाढ़ को देखकर ऊपर हुई वृष्टि का अनुमान करते हैं। परन्तु आगे कहीं अवरोध (रुकावट) होने से, अथवा ऊपर किसी कारण पानी रुक जाने से, फिर खुलकर एक साथ पानी आने से नदी भरी हुई दिखाई दे सकती है, या नदीं में बाढ़ आ सकती है। इससे ऊपर हुई वृष्टि का अनुमान व्यभिचारी (मिथ्या) होगा।

३. **सामान्यतोदृष्ट :-** इसमें कार्य-कारणभाव न होने पर साधक से साध्य का अनुमान किया जाता है। जैसे मोरों या पपीहे की ध्वनि से आने वाली वर्षा का अनुमान किया जाता है। परन्तु किसी व्यक्ति के द्वारा परिहास या आजीविका के लिए मोर आदि की ध्वनि का समान अनुकरण करने से उसके आधार पर वृष्टि का अनुमान मिथ्या होगा।

अतः इन स्थितियों में तथा ऐसी ही अन्य स्थितियों में अर्थ का साधक न होने से अनुमान अप्रमाण है।। 37।।

अब सूत्राकार उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं -

सिद्धान्ती- न, एकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात्॥ 38॥ (99)

सूत्रार्थ- उक्त कथन ठीक नहीं एकदेश, त्रास और सादृश्य हेतुओं के कारण अर्थान्तर हो जाने से।

व्याख्या- आपके द्वारा अनुमान का खण्डन ठीक नहीं, क्योंकि एकदेश - किसी एक नदी में ऊपर अवरोध (रुकावट) के हट जाने से अधिक पानी आ जाना, त्रास चींटियों के भिटे का टूट जाना, सादृश्य व्यक्ति के द्वारा मयूरसदृश ध्वनि का करना इन अवस्थाओं से अनुमान का साधन भिन्न है। अतः उक्त उदाहरण ठीक अनुमान नहीं, अपितु अननुमान में अनुमानाभिमान है; क्योंकि बिना विशेषण के हेतु नहीं हो सकता। नदी में पहले के जल से विशिष्ट (दूषित और अधिक) जल, प्रवाह का वेग, बहुत से झाग, जंगली फल, पत्ते, टहनियाँ, पेड़, झाड़ झंकार बहते आते हैं, किनारे से बाहर पानी फैल जाता है। इससे ऊपर हुई वृष्टि का अनुमान होता है। यह स्थिति रुके हुए पानी के खुल जाने पर नदी में पानी आने से सर्वथा भिन्न है। केवल पानी के बढ़ जाने से वृष्टि का अनुमान नहीं होता।

इसी प्रकार बहुत सी चींटियों के अनेकत्र अण्डे लेकर गमनागमन से आने वाली वृष्टि का अनुमान होता है, किसी एक जगह चींटियों का भिटा टूट जाने से उनका इधर-उधर जाना अनुमान का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि इसका कारण ऋतुपरिवर्तन नहीं होता इसी प्रकार अन्य कीड़े मकोड़े उस ऊष्मा (घमस) को समझते हैं, वे स्थानान्तरण करने लगते हैं।

ऐसे ही जब मोर के शब्द का निश्चित ज्ञान होता है, तब व्यक्ति समझ लेता है, कि यह मनुष्य का शब्द है, मोर का

नहीं, तभी यथार्थ अनुमान होता है। अतः जो भली भांति विचार किए बिना झटपट साधारण हेतु से अनुमान कर बैठता है, प्रायः उसी का अनुमान मिथ्या होता है। इसमें अनुमान करने वाले का ही दोष है, अनुमान का नहीं। अतः अनुमान-प्रमाण अपनी जगह निर्दोष है।। 38।।

अनुमान के द्वारा तीनों कालों के विषयों की सिद्धि मानने वाले सिद्धान्ती के मत में पूर्वपक्षी वर्तमान काल की असिद्धि दिखाता है-

पूर्व० - वर्तमानाभावः पततः पतितपतितव्यकालोपपत्तेः।। 39।। (100)

सूत्रार्थ- गिरते हुए फल आदि के पतित और पतितव्य काल की सिद्धि होने से, वर्तमान काल का अभाव सिद्ध होता है।

व्याख्या- क्रिया के आधार पर काल का व्यावहारिक विभाजन होता है। कोई क्रिया कहीं से आरम्भ होकर कहीं समाप्त हो जाती है। क्रिया की चालू स्थिति में जो अंश पूरा हो चुका, वह अतीत (भूत) काल है, और जो आगे होना है, वह अनागत (भविष्यत्) वर्तमान काल कहीं नहीं दीखता। जैसे वृक्ष की डाल से टूटकर फल के भूमि की ओर आते समय किसी केन्द्र बिन्दु से ऊपर (डाल और फल के बीच) का मार्ग पतितमार्ग हुआ, उसमें लगने वाला काल 'पतितकाल' (अतीतकाल) है। जो नीचे भूमि तक आने का मार्ग है, वह 'पतितव्य मार्ग' हुआ, उसमें लगने वाला काल 'पतितव्यकाल' (अनागतकाल-भविष्यत् काल) है। यहाँ वर्तमानकाल का कहीं पता नहीं लगता, जहाँ 'पतति' क्रिया का प्रयोग कर सकें ऐसी स्थिति में (वर्तमान काल के अभाव में) अनुमान को 'त्रिकालविषय' बताना निराधार है। इसी प्रकार भोजन पकाने आदि में समझा जा सकता है।। 39।।

अब सूत्राकार उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं-

सिद्धान्ती- तयोरप्यभावो वर्तमानभावे तदपेक्षत्वात्।। 40।। (101)

सूत्रार्थ- वर्तमान के न होने पर उन दोनों भूत-भविष्यत् का भी अभाव प्राप्त होता है, भूत और भविष्यत् के अस्तित्व में उस वर्तमान की अपेक्षा होना, वर्तमान काल के न होने पर भूत- भविष्यत् भी नहीं हो सकते; क्योंकि ये दोनों वर्तमान की अपेक्षा से ही होते हैं।

व्याख्या- काल का विभाजन क्रिया पर आश्रित है। जब यह कहा जाता है, कि 'फलं पतति' (फल गिर रहा है), यह गिरने की क्रिया प्रारम्भ से लेकर समाप्ति पर्यन्त जब तक चालू रहती है, वह वर्तमान काल है (प्रारब्धोऽपरिसमाप्तश्च वर्तमानः)। क्रिया प्रारम्भ होने से पहले वह पतन (गिरना) क्रिया अनागत (भविष्यत्-पतितव्यकाल) है। जब क्रिया पूरी होकर समाप्त हो जाती है, तब वह क्रिया का भूतकाल हो जाता है। यदि द्रव्य में चालू (वर्तमानकालिक) क्रिया को स्व. ीकार नहीं किया जाता, तो उत्पत्ति और समाप्ति किसकी मानी जाएगी। उस वर्तमानकालिक क्रिया की समाप्ति ही उसका भूतकाल है, और जब तक क्रिया उत्पन्न नहीं हुई, वह अनागत (भविष्यत्) काल होता है। अर्थात् उन दोनों स्थितियों में द्रव्य क्रियारहित होता है। जब द्रव्य सक्रिय होता है, वही क्रिया का वर्तमान काल है। उसी के आश्रय से भूत और भविष्यत् काल रहते हैं। अतः यदि द्रव्य के सक्रिय काल (वर्तमान) की उपेक्षा की जाए, तो भूत भविष्यत् का अस्तित्व भी नहीं रहेगा।। 40।।

भूत और भविष्यत् की परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा से सिद्धि क्यों न मान लें, उनके लिए एक पृथक् वर्तमानकाल मानने की क्या आवश्यकता है ? सूत्राकार उत्तर देते हैं -

सिद्धान्ती- नातीतानगतयोरितरेतरापेक्षा सिद्धिः।। 41।। (102)

सूत्रार्थ- वर्तमान के अभाव में भूत तथा भविष्यत् की एक-दूसरे की अपेक्षा अर्थात् सहायता से सिद्धि नहीं हो सकती है।

व्याख्या- यहाँ गतसूत्रा से 'वर्तमानाभावे' की अनुवृत्ति है। वर्तमान के अभाव में भूत की अपेक्षा से भविष्यत् की तथा भविष्यत् की अपेक्षा से भूत की सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि उनकी परस्पर सिद्धि में अन्योऽन्याश्रय दोष प्राप्त होता है। यह प्रसिद्ध है, कि **'अन्योऽन्याश्रयाणि च कार्याणि न सिद्ध्यन्ति'** (अन्योऽन्याश्रय दोष वाले कार्य सिद्ध नहीं होते)। अतः ये दोनों परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध नहीं हो सकते।

यदि यह मानें कि, जैसे हस्व-दीर्घ की, ऊँचे-नीचे स्थल की, प्रकाश व अन्धकार की अन्योऽन्य (एक-दूसरे) की अपेक्षा से सिद्धि हो जाती है, वैसे ही भूत-भविष्यत् भी एक-दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध हो सकते हैं। तो यह मान्यता ठीक नहीं; क्योंकि एक तो इस मान्यता में कोई हेतु नहीं दिया गया। हेतु के बिना केवल दृष्टान्त द्वारा साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। फिर दृष्टान्त के समान प्रतिदृष्टान्त (विपरीत दृष्टान्त) भी प्रस्तुत किया जा सकता है, जो इस मान्यता के विपरीत अर्थ का साधक हो। जैसे- रूप-रस अथवा गन्ध-स्पर्श एक दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध नहीं होते। इसी प्रकार अतीत-अनागत (भूत-भविष्यत्) भी एक दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध नहीं हो सकते।। 41।।

अब सूत्राकार वर्तमान की सिद्धि में अन्य हेतु देते हैं -

सिद्धान्ती- वर्तमानाभावे सर्वाग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्तेः।। 42।। (103)

सूत्रार्थ- वर्तमान काल के अभाव में प्रत्यक्ष की असिद्धि होने से सभी अर्थात् किसी भी पदार्थ का ग्रहण नहीं होगा।

व्याख्या- इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यह सन्निकर्ष विद्यमान (वर्तमान) पदार्थ के साथ हो सकता है। अतीत और अनागत में पदार्थ अविद्यमान (अवर्तमान) रहता है। उस अविद्यमान के साथ इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष सम्भव नहीं। यह पूर्वपक्षी विद्यमान (वर्तमान) किसी पदार्थ को स्वीकार नहीं करता। तब न तो प्रत्यक्ष का निमित्त (इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष) रहता है, न प्रत्यक्ष का विषय (घटादि), और न प्रत्यक्ष ज्ञान होना सम्भव है। जब प्रत्यक्ष न होगा, तो प्रत्यक्षपूर्वक होने वाले अनुमान और शब्द प्रमाण भी सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

इस प्रकार सभी प्रमाणों के अभाव में किसी भी वस्तु का ग्रहण (ज्ञान) नहीं हो सकेगा। जो कि सदा अव्यावहारिक है। अतः वर्तमान काल को अवश्य स्वीकार करना चाहिए।। 42।।

वर्तमान काल दो प्रकार से गृहीत होता है। कहीं वह पदार्थ की सत्ता से व्यक्त होता है, जैसे- घट है, द्रव्य है आदि। यह विशुद्ध वर्तमान काल है, क्योंकि इसमें भूत और भविष्यत् का प्रवेश नहीं होता।

कहीं क्रिया-सन्तान (क्रिया के सतत चालू रहने) से वर्तमान होता है, जिसमें उनके अवान्तर क्रियाएँ मिलकर मुख्य क्रिया को सम्पन्न करती हैं। जैसे 'पकाता है, काटता है' आदि। इसमें भूत-भविष्यत् से सम्बद्ध वर्तमानकाल का ग्रहण होता है। इसी क्रियमाण (क्रिया के चालू रहने की) स्थिति में वर्तमान काल की सिद्धि के लिए सूत्राकार कहते हैं -

सिद्धान्ती- कृततताकर्तव्यतोपपत्तेस्तूभयथा ग्रहणम्।। 43।। (104)

सूत्रार्थ- कृतता- भूतव्यापार और कर्तव्यता- भविष्यत् व्यापार, की सिद्धि से तो दोनों प्रकार से वर्तमानकाल का ग्रहण होता है।

व्याख्या- पकाना या काटना आदि किसी क्रिया के होते हुए, उसमें अनेक अवान्तर क्रियाएँ चलती रहती हैं। इनमें से मुख्य क्रिया की जो अवान्तर क्रियाएँ हो चुकी हैं, वे 'कृत' (भूतकालिक) हो गई, जो आगे होने वाली हैं, वे 'कर्तव्य' (भविष्यत् कालिक) हैं। जैसे- 'पचति' क्रिया के मध्य में पतीला चूल्हे पर चढ़ाना, उसमें पानी डालना, चावल छोड़ना, अग्नि जलाना, आदि जितनी अवान्तर क्रियाएँ हो गई हैं, उनमें 'कृतता' आ गई अर्थात् भूतकालिक हो गई। और जो अवान्तर क्रियाएँ कड़छी से चलाना, चावल के गलने की जाँच करना, अधिक अग्नि होने पर लकड़ी पीछे खींचकर कम करना, माँड निकालना, पक जाने पर नीचे उतारना आदि आगे होने वाली हैं, वे 'कर्तव्यता' (भविष्यत्काल) की कोटि में आती हैं। परन्तु मुख्य 'पचति' क्रिया आरम्भ से अन्त तक चलती रहती है। इस प्रकार अवान्तर क्रियाओं के द्वारा जब 'पचति' क्रिया का कथन होता है, तब वर्तमानकाल भूत (कृत) और भविष्यत् (कर्तव्य) दोनों से सम्बद्ध होकर अभिहित (कथित) होता है। परन्तु जब सद्भाव (विद्यमानता) के आधार पर क्रिया आदि के द्वारा वर्तमान काल कहा जाता है, तब वह विशुद्ध वर्तमानकाल होता है।

इस प्रकार क्रिया की चालू अवस्था में वर्तमान का ग्रहण भूत-भविष्यत् से सम्बद्ध तथा अन्यत्र असम्बद्ध इन दोनों प्रकार से होता है। सम्बद्ध में तीनों कालों का समाहार है, असम्बद्ध में विशुद्ध वर्तमान रहता है। व्याकरण के अनुसार आसन्न (समीपी) भूत और भविष्यत् में भी वर्तमान का प्रयोग देखा जाता है। इस सबका निष्कर्ष यह निकला कि वर्तमान काल का भी अस्तित्व है। अतः अनुमान प्रमाण से त्रैकालिक विषयों का ग्रहण हो सकता है।। 43।।

प्रमुख स्मरणीय बिंदु

1. अनुमान पर पूर्वपक्ष - आक्षेप -

विपक्षी तर्क देते हैं, कि अनुमान प्रमाण प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि इसके तीनों प्रकारों में व्यभिचार दोष पाया जाता है

पूर्ववत् पर आक्षेप नदी में पानी का बढ़ना देखकर वर्षा का अनुमान करना गलत हो सकता है, क्योंकि पानी बाँध टूटने से भी बढ़ सकता है।

शेषवत् पर आक्षेप मोर की आवाज सुनकर मोर का अनुमान करना गलत हो सकता है, क्योंकि कोई मनुष्य भी वैसी आवाज निकाल सकता है।

सामान्यतोख्रष्ट पर आक्षेप एक स्थान पर धुआँ देखकर आग का अनुमान करना गलत हो सकता है, क्योंकि वह धुआँ नहीं बल्कि धूल का बादल भी हो सकता है।

2. आक्षेपों का समाधान - उत्तरपक्ष -

इन शंकाओं का तार्किक समाधान करते हुए अनुमान की शुद्धता सिद्ध करते हैं

विशेष ज्ञान की आवश्यकता अनुमान केवल सामान्य लक्षण पर नहीं, बल्कि विशिष्ट लक्षणों पर आधारित होता है। वर्षा के कारण बढ़ा हुआ पानी और बाँध टूटने के कारण बढ़ा हुआ पानी - दोनों के वेग और गंदगी में अंतर होता है। चतुर व्यद्रि उस अंतर को पहचान कर ही सही अनुमान लगाता है।

अविनाभाव संबंध (व्याप्ति) अनुमान का आधार व्याप्ति है। यदि हेतु या कारण साध्य के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा है, तो अनुमान कभी गलत नहीं होता। मनुष्य द्वारा निकाली गई मोर की आवाज और असली मोर की आवाज में जो सूक्ष्म भेद है, उसे न पहचान पाना देखने वाले का दोष है, प्रमाण का नहीं।

3. त्रैकाल्य सिद्धि (तीनों कालों का ज्ञान) –

महर्षि गौतम जी स्पष्ट करते हैं, कि अनुमान ही वह साधन है, जो हमें तीनों कालों का ज्ञान कराता हैरू

पूर्ववत कारण से कार्य का ज्ञान (भविष्य – जैसे बादलों से वर्षा का ज्ञान)।

शेषवत कार्य से कारण का ज्ञान (भूत – जैसे नदी की बाढ़ से हुई वर्षा का ज्ञान)।

सामान्यतोख्रष्ट वर्तमान के अख्रश्य संबंधों का ज्ञान (जैसे – सूर्य की गति से उसके स्थान परिवर्तन का ज्ञान)।

4. वर्तमान काल की परीक्षा –

इसी प्रकरण में वर्तमान काल की सत्ता सिद्ध की गई है। महर्षि गौतम जी के अनुसार, यदि वर्तमान नहीं मानेंगे, तो भूत और भविष्य भी सिद्ध नहीं हो सकेंगे, क्योंकि वे वर्तमान के सापेक्ष ही होते हैं।

अनुमान एक ठोस प्रमाण है, बशर्ते उसका प्रयोग सावधानी और व्याप्ति के पूर्ण ज्ञान के साथ किया जाए।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न –

1.अनुमान प्रमाण पर किए गए आक्षेपों का वर्णन करते हुए न्याय दर्शन द्वारा उनका खंडन स्पष्ट कीजिए।

2.अनुमान के त्रिकाल विषयक (पूर्ववत, शेषवत, सामान्यतोख्रष्ट) होने की परीक्षा कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न –

1.नदी की बाढ़ (पूर) को देखकर होने वाले वर्षा के अनुमान पर क्या आपत्ति दी गई है?

2.विशिष्ट हेतु से होने वाले अनुमान की सत्यता कैसे सिद्ध होती है?

3.मोर की बोली (मयूर–वाशित) के उदाहरण से पूर्वपक्ष क्या सिद्ध करना चाहता है?

4.अनुमान को 'तत्पूर्वकम' (प्रत्यक्ष पूर्वक) क्यों कहा गया है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1.अनुमान प्रमाण की परीक्षा मुख्य रूप से किस दोष के आधार पर की गई है?

क) अनवस्था

ख) व्यभिचार (अपवाद होने की संभावना)

ग) असंभव

घ) आत्माश्रय

2.नदी की बाढ़ से वर्षा का अनुमान किस प्रकार का अनुमान माना जाता है?

क) पूर्ववत

ख) शेषवत

ग) सामान्यतोख्रष्ट

घ) इनमें से कोई नहीं

3.शुद्ध अनुमान के लिए हेतु का कैसा होना आवश्यक है?

क) साधारण

ख) विशिष्ट (विशेष लक्षणों युद्र)

ग) केवल शब्द रूप

घ) संशयात्मक

4.पूर्वपक्ष के अनुसार अनुमान प्रमाण नहीं है, क्योंकि

क) यह प्रत्यक्ष पर आधारित है

ख) इसके हेतु कभी-कभी भ्रामक होते हैं

ग) यह केवल भविष्य का ज्ञान देता है

घ) यह बहुत कठिन है

5.धूम (धुआँ) को देखकर अग्नि का ज्ञान किस काल का अनुमान है?

क) केवल भूतकाल

ख) केवल भविष्यकाल

ग) वर्तमान काल

घ) त्रिकाल (प्रकरण के अनुसार)

इकाई- 3.4 उपमान प्रमाण परीक्षा

उद्देश्य-

1.उपमान की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध करना पूर्वपक्षी विशेषकर वैशेषिक या बौद्ध उपमान को प्रत्यक्ष या अनुमान के अंतर्गत मानते हैं। इस प्रकरण का प्रथम उद्देश्य यह सिद्ध करना है, कि उपमान एक स्वतंत्र प्रमाण है, क्योंकि इसमें साधर्म्य (समानता) का ज्ञान और संज्ञा-संज्ञी संबंध द्धनाम और वस्तु का संबंधऋ का बोध विशिष्ट प्रक्रिया से होता है।

2.पूर्वपक्ष के आक्षेपों का निराकरण उपमान पर यह आरोप लगता है, कि साख्रश्य (समानता) से पूर्ण ज्ञान नहीं होता। इस प्रकरण का उद्देश्य उन तर्कों का खंडन करना है, जो उपमान को केवल एक तुलनात्मक अनुमान मा> कहते हैं।

3.उपमिति ज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करना महर्षि गौतम जी का उद्देश्य यह बताना है, कि जब कोई व्यद्रि 'जैसी गाय होती है, वैसा ही नीलगाय (गवय) होता है' जैसा उपदेश सुनकर वन में उस साख्रश्य को देखता है, तो होने वाला उपमिति ज्ञान अन्य प्रमाण ाों से किस प्रकार भिन्न और प्रामाणिक है।

उपमानप्रमाण परीक्षा-

अब क्रमप्राप्त उपमानप्रमाण की परीक्षा प्रारम्भ करते हुए सूत्राकार पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं -

पूर्व० - अत्यन्तप्रायैकतेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धिः॥ 44॥ (105)

सूत्राार्थ- अत्यन्त सादृश्य से, प्रायः सादृश्य से तथा एक देश सादृश्य से, उपमान की सिद्धि नहीं हो सकती।

व्याख्या- साधर्म्य के आधार पर उपमान प्रमाण किसी पदार्थ का ज्ञान कराता है, जो कि अत्यन्त साधर्म्य, प्रायः साधर्म्य और एकदेश साधर्म्य के भेद से तीन प्रकार का हो सकता है। परन्तु हम देखते हैं कि किसी प्रकार का साधर्म्य (सादृश्य) उपमान की सिद्धि नहीं कर पाता। जैसे-

(१) अत्यन्त साधर्म्य सजातीय पदार्थों में ही हो सकता है। परन्तु ऐसा प्रयोग कभी कोई नहीं करता- 'यथा गोरेवं गौः, यथा घटस्तथा घटः, यथा महिषस्तथा महिषः' (जैसी गाय वैसी गाय, जैसा घट वैसा घट, जैसा भैंसा वैसा भैंसा) इत्यादि।

(२) इसी प्रकार प्रायः (बाहुल्येन, अधिकतर) साधर्म्य में भी कहीं ऐसा प्रयोग नहीं होता कि - 'यथा गौरेवं महिषी' (जैसी गाय वैसी भैंस होती है) इत्यादि।

(३) इसी प्रकार एकदेशसाधर्म्य (थोड़ी सी समानता) के आधार पर भी उपमान की सिद्धि नहीं होती। ऐसा होने पर तो प्रत्येक वस्तु से प्रत्येक को उपमित किया जा सकेगा, जो कि सर्वथा असम्भव है। कोई ऐसा प्रयोग नहीं करता कि- 'यथा सर्षपस्तथा हिमालयः मूर्तिमत्त्वात्' (जैसा सरसों का दाना होता है, वैसा ही हिमालय पर्वत है, क्योंकि दोनों मूर्तिमान् हैं) इत्यादि।

अतः उपमान प्रमाण का कोई कार्यक्षेत्र न होने से उसे असिद्ध समझना चाहिए॥ 44॥

सूत्राकार उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं -

सिद्धान्ती- प्रसिद्धसाधर्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषानुपपत्तिः॥ 45॥ (106)

सूत्राार्थ- प्रसिद्ध के साधर्म्य से उपमान की सिद्धि होने के कारण पूर्वोक्त दोष नहीं बन सकते।

व्याख्या- उपमान प्रमाण का लक्षण है- **'प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्'(१/१/६)** (प्रसिद्ध के साधर्म्य से जहाँ साध्य का साधन हो, वह उपमान है)। अर्थात् जिन पदार्थों का परस्पर साधर्म्य लोक में प्रसिद्ध (प्रकृष्टरूप से ज्ञात) है, वहीं उपमान प्रमाण प्रवृत्त होता है। अतः अत्यन्त (पूर्ण) साधर्म्य, प्रायः (अधिकतर) साधर्म्य, एवं अत्यल्प साधर्म्य के आधार पर उपमान का खण्डन करना उचित नहीं। प्रकरण ाानुसारी प्रसिद्ध-साधर्म्य में ही उपमान प्रवृत्त होता है। जैसे- गवय (नीलगाय) को जानने वाले किसी ग्रामीण से किसी नागरिक ने पूछा- गवय कैसा होता है ? ग्रामीण ने बताया- 'जैसी गाय वैसा गवय होता है', जो जंगल में रहता है। इस उपमान का फल है 'गवय' पिण्ड का ज्ञान।

यथायोग्य प्रकरण के अनुसार तो अत्यन्त साधर्म्य, प्रायः साधर्म्य और एकदेश साधर्म्य से भी उपमान का प्रयोग देखा जाता है। जैसे-

१. जहाँ उपमेयगत क्रिया द्वारा ही उपमेय क्रिया की उपमिति होती है, वहाँ 'अत्यन्त साधर्म्य' से भी उपमान की सिद्धि होती है। जैसे -

गगनं गगनाकारं, सागरं सागरोपमम्।
रामरावणयोर्युद्धं, रामरावणयोरिव।।

इसी को 'अन्वयालंकार' भी कहते हैं।

२. जहाँ गौ के बल को जानने की इच्छा होती है, तब 'यथा महिषस्तथा गौः' (भैंसा के समान बैल बलवान होता है)। यहाँ पर 'प्रायः सादृश्य' भी उपमान का साधक है।

३. इसी प्रकार जहाँ पदार्थ की सत्ता की जिज्ञासा होती है, वहाँ 'एकदेश (यत्किञ्चित्) सादृश्य' भी उपमान प्रमाण को सिद्ध करता है। जैसे - 'यथा श्वेततिलस्य सत्ता तथा हिमालयस्य' (श्वेततिल के समान ही हिमालय की सत्ता है)।

अतः गत सूत्रा में उपमान प्रमाण के विषय में दिखाए गए दोष अनुचित हैं।। 45।।

उपमान प्रमाण को अनुमान के अन्तर्गत मानता हुआ पूर्वपक्षी कहता है-

पूर्व० - प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षसिद्धेः।। 46।। (107)

सूत्राार्थ- प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की सिद्धि होने से उपमान प्रमाण को अनुमान ही समझना चाहिए।

व्याख्या- जिस प्रकार प्रत्यक्ष जाने हुए धूमलिंग से अप्रत्यक्ष अग्नि का ग्रहण अनुमान कहलाता है, उसी प्रकार उपमान में प्रत्यक्ष जानी हुई गौ से अप्रत्यक्ष गवय का ग्रहण होता है। इस प्रकार का यह प्रमाण अनुमान से भिन्न नहीं है। अतः इसे अनुमान के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। उपमान को पृथक् प्रमाण मानना व्यर्थ है।। 46।।

सूत्राकार पूर्वपक्ष का समाधान करने के लिए अनुमान और उपमान प्रमाण में भेद दिखाते हैं -

सिद्धान्ती- नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्यामः।। 47।। (108)

सूत्राार्थ- प्रत्यक्ष न दीखने वाले गवय में उपमान प्रमाण के प्रयोजन को हम नहीं देखते।

व्याख्या- अर्थात् गवय के अप्रत्यक्ष रहने पर उपमान प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती, जबकि अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति अग्नि के अप्रत्यक्ष रहने पर होती है। अतः उपमान प्रमाण अनुमान प्रमाण से भिन्न है। जैसे-

'यथा गौस्तथा गवयः' (जैसी गाय वैसा गवय होता है)। इस प्रकार उपमान का प्रयोग करने वाला, गाय को जानकर नागरिक जंगल में जाकर गाय के समान पशु को देखता है, तो गाय की स्मृति के आधार पर यह समझ लेता है, कि गाय के सदृश होने से पुरोवर्ती (सामने) का पशु 'गवय' है। तात्पर्य यह है, कि गाय के सदृश होने से पुरोवर्ती (सामने) का पशु 'गवय' है। तात्पर्य यह है, कि उपमान प्रमाण उपमेय के प्रत्यक्ष होने पर प्रवृत्त होता है जब कि अनुमान में अनुमेय अप्रत्यक्ष रहता है। इसके अतिरिक्त दोनों में दूसरा भेद यह है, कि अनुमान प्रमाण अपने और दूसरे दोनों के लिए (स्वार्थ और परार्थ) होता है, परन्तु उपमान प्रमाण केवल परार्थ होता है। अर्थात् जिसके लिए उपमेय अज्ञात है, उसी के लिए केवल प्रमाण का प्रयोग होता है, जिसे उपमेय का अच्छी तरह ज्ञान है उसके लिए नहीं।। 47।।

अनुमान से उपमान की भिन्नता का सूत्राकार एक अन्य कारण बताते हैं -

सिद्धान्ती- तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेषः।। 48।। (109)

सूत्राार्थ- इस प्रकार उपसंहार से उपमान की सिद्धि होने से, अनुमान और उपमान में अविशेष-अभेद या समानता नहीं है।

व्याख्या- उपमान में अनुमान से यह भी भिन्नता है, कि उपमान प्रमाण में 'यथा गौः तथा गवयः' (जैसी गाय वैसा यह गवय है) इत्यादि वाक्यों के 'तथा' (वैसा यह) पद का प्रयोग करके प्रतिपाद्य विषय का उपसंहार होता है। परन्तु अनुमान प्रमाण में ऐसा उपसंहार नहीं होता। अर्थात् अनुमान में 'यथा धूमस्तथाऽग्निः' (जैसा धूम है, वैसी अग्नि है) इस प्रकार 'तथा' पद से उपसंहार नहीं होता। यह इन दोनों प्रमाणों की भिन्नता है। अतः दोनों प्रमाणों को अलग-अलग माना गया है।। 48।।

प्रमुख स्मरणीय बिंदु

1. उपमान पर पूर्वपक्ष - आक्षेप -

विपक्षी मुख्यतः बौद्ध और वैशेषिक मत के अनुयायी उपमान को एक स्वतंत्र प्रमाण मानने से इनकार करते हैं और दो मुख्य आक्षेप लगाते हैंरू

अनुमान में अंतर्भाव विपक्षी कहते हैं, कि उपमान वास्तव में अनुमान ही है। जब हम कहते हैं कि 'गवय (नीलगाय) गाय के समान है,'तो हम साख्रश्य के आधार पर एक निष्कर्ष निकाल रहे हैं, जो अनुमान की प्रक्रिया है।

प्रत्यक्ष से भिन्नता नहीं कुछ का मत है, कि जब व्यद्रि वन में जाकर नीलगाय को देखता है, तब उसे जो ज्ञान होता है वह केवल प्रत्यक्ष है, इसमें उपमान जैसा कुछ नया नहीं है।

2. आक्षेपों का समाधान - उत्तरपक्ष -

इन शंकाओं का समाधान करते हुए उपमान की स्वतंत्रता सिद्ध करते हैं

संज्ञा-संज्ञी संबंध का ज्ञान उपमान का मुख्य कार्य किसी नाम - संज्ञा और उस वस्तु - संज्ञी के संबंध को जोड़ना है। जब व्यद्रि किसी आप्त पुरुष से सुनता है, कि 'गाय जैसी नीलगाय होती है' और फिर वन में उसे देखकर पहचानता है, तो यह

नाम और रूप का संबंध जोड़ना ही उपमान है। यह केवल अनुमान या प्रत्यक्ष से संभव नहीं है।

साधर्म्य (समानता) का आधार अनुमान में अनिवार्य संबंध व्याप्ति की आवश्यकता होती है, जबकि उपमान केवल साधर्म्य द्धसमानताक्ष पर आधारित है। अतः यह अनुमान से भिन्न है।

3. उपमान की प्रक्रिया –

महर्षि गौतम जी के अनुसार उपमान की सिद्धि तीन चरणों में होती है

1.अतिदेश वाक्य आप्त पुरुष से समानता का वर्णन सुनना।

2.प्रत्यक्ष वन में जाकर उस सख्रश वस्तु को देखना।

3.अतिदेशार्थ स्मरण पहले सुनी हुई बात को वर्तमान ख्रश्य से जोड़कर यह निर्णय लेना, कि 'यही वह नीलगाय है।'

यदि उपमान को स्वतंत्र प्रमाण न माना जाए, तो लोक-व्यवहार में शब्दों के माध्यम से अज्ञात वस्तुओं का ज्ञान कराना असंभव हो जाएगा। यह प्रमाण उन लोगों के लिए अत्यंत उपयोगी , जो किसी विशिष्ट वस्तु के स्वरूप से अनभिज्ञ हैं।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1.उपमान प्रमाण पर पूर्वपक्ष द्वारा किए गए आक्षेपों और न्यायदर्शन द्वारा उनके समाधान की समीक्षा कीजिए।

2.'उपमान प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं है' – इस तर्क का खंडन करते हुए उपमान की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1.उपमान को अनुमान मानने के पक्ष में पूर्वपक्षी क्या तर्क देता है?

2.संज्ञा-संज्ञी संबंध का क्या अर्थ है?

3.उपमान में अतिदेश वाक्य (उपदेश) का क्या महत्व है?

4.उपमान और अनुमान में मुख्य अंतर क्या है?

बहुविकल्पीय प्रश्न –

1.पूर्वपक्ष के अनुसार उपमान को किस प्रमाण में अंतर्भूत (शामिल) किया जा सकता है?

क) प्रत्यक्ष

ख) अनुमान

ग) शब्द

घ) अर्थापत्ति

2.उपमान का मुख्य ऋल या परिणाम क्या है?

क) व्याप्ति ज्ञान

ख) संज्ञा-संज्ञी संबंध का ज्ञान

ग) अख्रश्य का बोध

घ) संशय निवृत्ति

3.'गवय गाय के समान होता है'– यह वाक्य क्या कहलाता है?

क) हेतु

ख) अतिदेश वाक्य

ग) प्रतिज्ञा

घ) निगमन

4.न्यायदर्शन के अनुसार उपमान प्रमाण की सिद्धि किस पर आधारित है?

क) केवल प्रत्यक्ष पर

ख) केवल तर्क पर

ग) प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य या समानता पर

घ) केवल शब्द पर

5.महर्षि गौतम जी के अनुसार क्या उपमान एक स्वतंत्र प्रमाण है?

क) नहीं, यह अनुमान है
ख) हाँ, यह स्वतंत्र प्रमाण है
ग) यह प्रत्यक्ष का भाग है
घ) यह केवल भ्रम है

इकाई- 3.5 शब्द प्रमाण परीक्षा एवं वेद का प्रामाण्य

उद्देश्य-

1.शब्द की स्वतंत्र प्रमाणिकता सिद्ध करना यह तार्किक रूप से स्थापित करना, कि आप्तोपदेश - शब्द एक स्वतंत्र प्रमाण है और इसे केवल अनुमान में घटाया नहीं जा सकता।

2.वेदों की अपौरुषेयता और प्रामाणिकता की रक्षा वेदों पर किए गए आक्षेपों (जैसे- अनृत, व्याघात और पुनरुद्र दोष) का वैज्ञानिक समाधान करना और उन्हें (षियों द्वारा साक्षात्व्रत सत्य के रूप में सिद्ध करना।

3.आप्त - यथार्थ वद्रा का लक्षण निर्धारित करनारू यह स्पष्ट करना कि वही शब्द प्रमाण है, जो छल-कपट से रहित, दयालु और यथार्थ वद्रा - आप्त पुरुष द्वारा कहा गया हो, जिससे साधक भ्रान्तियों से बच सके।

शब्दप्रमाण परीक्षा-

क्रमप्राप्त शब्दप्रमाण की परीक्षा प्रारम्भ करते हुए सूत्राकार पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं -

पूर्व. - शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात्॥ 49॥ (110)

सूत्रार्थ- शब्द प्रमाण अनुमान प्रमाण ही है, अर्थ की प्रत्यक्ष से अनुपलब्धि होने के कारण अनुमेय होने से।

व्याख्या- शब्द प्रमाण अनुमान ही है; क्योंकि शब्द से जो अर्थ जाना जाता है, वह अनुपलब्ध (अप्रत्यक्ष) रहता है। वह शब्दरूप हेतु से अनुमेय है। जैसे प्रत्यक्ष से ज्ञात धूम आदि लिंग से अग्नि आदि लिंगी का अनुमान होता है, वैसे ही प्रत्यक्ष से ज्ञात शब्दरूप हेतु से अप्रत्यक्ष अर्थ का अनुमान होता है। अत: शब्द से अनुमान के समान अर्थ की प्रतीति होने के कारण शब्द प्रमाण को अनुमान ही मानना चाहिए, अतिरिक्त प्रमाण नहीं।। 49।।

शब्द को अनुमानरूप सिद्ध करने में सूत्राकार अन्य हेतु देते हैं -

पूर्व० - उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वात्॥ 50॥ (111)

सूत्रार्थ- उपलब्धि अर्थात् ज्ञान की दो प्रकार से प्रवृत्ति न होने के कारण शब्द प्रमाण अनुमान ही है।

व्याख्या- यहाँ गत सूत्रा से 'शब्दोऽनुमानम्' की अनुवृत्ति है। यदि शब्द, अनुमान से भिन्न प्रमाण होता, तो इससे उपलब्धि की प्रवृत्ति भिन्न प्रकार से होती, जैसे ४८ वें सूत्रा के अनुसार उपमान और अनुमान की होती है। परन्तु हम देखते हैं, कि अर्थबोध कराने में दोनों का प्रकार समान है। जिस प्रकार अनुमान में धूम-हेतु से अग्नि अर्थ का बोध होता है, उसी प्रकार शब्द, प्रमाण में वाक्य हेतु से घट आदि अर्थों का बोध होता है। अत: अर्थबोध में अनुमान के समान होने से शब्द प्रमाण को अनुमान के अन्तर्गत ही समझना चाहिए, अलग नहीं।। 50।।

पूर्वपक्षी के मत से सूत्राकार शब्द प्रमाण के अनुमान होने में तीसरा हेतु देते हैं -

पूर्व०- सम्बन्धाच्च॥ 51॥ (112)

सूत्रार्थ- सम्बन्ध रूप हेतु से भी शब्द प्रमाण अनुमान प्रमाण ही है।

व्याख्या- यहाँ भी 'शब्दोऽनुमानम्' की अनुवृत्ति है। जैसे लिंग-लिंगी का नियत सम्बन्ध ज्ञात होने पर लिंग (हेतु) से लिंगी (साध्य) का अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ का नियत सम्बन्ध ज्ञात होने पर शब्द से अर्थ का बोध होता है। इस प्रकार लिंग-लिंगी में और शब्द-अर्थ में परस्पर सम्बन्ध दोनों जगह समान होने से शब्द को अनुमान ही समझना चाहिए।। 51।।

अब सूत्राकार पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं -

सिद्धान्ती- आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थसम्प्रत्यय:॥ 52॥ (113)

सूत्रार्थ- आप्त के उपदेश सामर्थ्य से, शब्दप्रमाण के द्वारा अर्थ का निश्चित ज्ञान होता है।

व्याख्या- १. 'शब्द या वाक्य से होने वाला अर्थ का बोध आनुमानिक ज्ञान के समान है' यह कथन उचित नहीं है; क्योंकि अनुमान प्रमाण में हेतु और साध्य का परस्पर व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध होता है, जबकि शब्द और अर्थ में परस्पर वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध होता है, जिसके मूल में आप्तोपदेश रहता है। यह सम्बन्ध वेदरूप में ईश्वर द्वारा और लौकिक शब्दों के विषय में आप्तपुरुषों द्वारा व्यवस्थित होता है, कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ है। जबकि अनुमान में अर्थबोध का यह प्रकार नहीं होता। अत: स्पष्टरूप से शब्द प्रमाण अनुमान से भिन्न है।

२. अप्रत्यक्ष पदार्थ कुछ अतीन्द्रिय होते हैं, कुछ इन्द्रिय-ग्राह्य होते हुए भी व्यवहित। उनमें से अतीन्द्रिय पदार्थों को शब्द प्रमाण से ही जान सकते है, अनुमान से नहीं; क्योंकि अतीन्द्रिय अर्थों में शब्द (लिङ्ग) और अर्थ (लिंगी) की व्याप्ति नहीं दीखती और व्याप्ति ज्ञान के बिना अनुमान की प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं। अत: दोनों प्रमाणों की प्रवृत्ति भिन्न होने से भी शब्द प्रमाण

अनुमान से भिन्न है।

३. शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध के आधार पर भी शब्दप्रमाण को अनुमान बताना उचित नहीं, क्योंकि शब्द और अर्थ का परस्पर वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध है, अनुमान के समान 'प्राप्ति' अर्थात् संयोग (दो पदार्थों का मेल) रूप सम्बन्ध नहीं, जिससे कि धूम के समान शब्द को लिंग मानकर अर्थबोध हो सके।। 52।।

अब सूत्राकार अन्य कारणों से भी शब्द अर्थ के संयोगसम्बन्ध को अग्राह्य बताते हैं -

सिद्धान्ती- पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः।। 53।। (114)

सूत्रार्थ- पूरण-भर जाना, प्रदाह-जल जाना, पाटन-कट जाना आदि की अप्राप्ति से तथा शब्द और अर्थ का प्राप्तिरूप संयोग सम्बन्ध नहीं है।

व्याख्या- अनुमान प्रमाण से शब्द और अर्थ का प्राप्ति-लक्षण (संयोगरूप) - सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता; क्योंकि.-

१. यदि अर्थ 'शब्दाधिकरण' (शब्द के पास आने वाला) हो, तो मुँह से 'मोदक' (लड्डू) कहते ही लड्डू वहाँ उपस्थित हो जाए और उसका मुँह भर जाए 'अग्नि' शब्द कहते ही मुँह जल जाए तथा 'असि' (तलवार) शब्द बोलते ही मुँह कट-फट जाए। परन्तु ऐसा कुछ भी नहीं होता। इससे स्पष्ट है, कि शब्द के पास अर्थ नहीं आता। अतः उनका प्राप्तिरूप (परस्पर संयोगरूप) सम्बन्ध भी नहीं है।

सूत्रोक्त 'च' पद का उपलक्षित अर्थ है 'स्थान, करण, प्रयत्न आदि के अभाव से भी'।

२. यदि यह मानें कि शब्द 'अर्थाधिकरण' (अर्थ के पास संयुक्त होने वाला) है, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि शब्दोच्चारण वहीं होता है, जहाँ कण्ठ, तालु आदि स्थान तथा जिह्वा, ओष्ठ आदि करण हों। ये स्थान, करण आदि देश - विदेश में विद्यमान घट, पट आदि अर्थों में न होने से उच्चारण भी असम्भव है। इसलिए 'अर्थाधिकरण पक्ष' में भी इन दोनों के संयोग सम्बन्ध की सम्भावना नहीं हो सकती।

३. इस प्रकार शब्दाधिकरणता तथा अर्थाधिकरणता का प्रतिषेध हो जाने से दोनों का दोनों के समीप जाकर संयुक्त होने का तो प्रश्न ही समाप्त हो जाता है।

फलतः शब्द और अर्थ का परस्पर प्राप्तिलक्षण (संयोगरूप) सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।। 53।।

पूर्वोक्त विषय में पूर्वपक्षी कहता है-

पूर्व० - शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः।। 54।। (115)

सूत्रार्थ- लोक में शब्द तथा अर्थ की व्यवस्था से शब्द और अर्थ के प्राप्तिरूप संयोग-सम्बन्ध का प्रतिषेध नहीं हो सकता है।

व्याख्या- लोक में 'घट' आदि विशेष शब्द से 'घड़ा' आदि का ही ग्रहण होता है, वस्त्र, पुस्तक आदि का नहीं। इससे अनुमान होता है, कि शब्दार्थ-सम्बन्ध, व्यवस्था का कारण है। यदि दोनों का व्यवस्थित (निश्चित) सम्बन्ध न हो, तो प्रत्येक शब्द से प्रत्येक अर्थ का ज्ञान हो जाना चाहिए, जो कि नहीं होता। इसलिए शब्द अर्थ के सम्बन्ध का प्रतिषेध नहीं होना चाहिए।। 54।।

अब सूत्राकार पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं-

सिद्धान्ती- न, सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य।। 55।। (116)

सूत्रार्थ- शब्द से अर्थ प्रत्यय-ज्ञान या बोध के सामयिक अर्थात् सांकेतिक होने से पूर्वपक्षी का मत ठीक नहीं है।

व्याख्या- किसी विशेष शब्द से जो विशिष्ट अर्थ का बोध होता है, उसका कारण 'समय' है, प्राप्तिलक्षण (संयोग) सम्बन्ध नहीं। इस शब्द का यह अर्थ वाच्य (अभिधेय) है, ऐसा निर्धारित संकेत 'समय' कहलाता है। इनमें से वेद के शब्दों के अर्थ के लिए 'ईश्वरेच्छा' को संकेत माना जाता है, अन्य सब लौकिक शब्दों के अर्थ समयानुसार आप्तपुरुषों एवं आभिधानिक आचार्यों के संकेत से जाने जाते हैं। ये संकेत स्थानभेद और भाषाभेद से विभिन्न हो सकते हैं। इस संकेत का ज्ञान न हो, तो विदेशी भाषा का शब्द सुनने पर भी हमें अर्थ का ज्ञान नहीं हो पाता।

इस संकेत की रक्षा के लिए ही पदात्मक अर्थात् वाचक शब्द का अन्वाख्यान रूप व्याकरण शास्त्रा बनाया जाता है। उन पदों के समूह (वाक्यों) के द्वारा अभिमत अर्थ का बोध होता है। इस प्रकार शब्द अर्थ का वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध पूर्णरूप से मान्य है, संयोग सम्बन्ध नहीं।। 55।।

वेद का प्रामाण्य-

अब पूर्वपक्षी शब्द की अप्रामाणिकता दिखाता है।

पूर्व० - तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः।। 57।। (118)

सूत्रार्थ- शब्द में अनृत-मिथ्या, व्याघात-विरोध तथा पुनरुक्त दोष होने से उस शब्द या वाक्य की प्रामाणिकता नहीं है।

व्याख्या- सूत्रा में 'तत्' पद से ब्राह्मणग्रन्थ आदि के विशिष्ट वाक्यों का ग्रहण है, सामान्य शब्दमात्र का नहीं। अर्थात् वैदिक साहित्य के वाक्यों को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता; क्योंकि उनमें अनेक दोष हैं। जैसे -

1. **अनृत (मिथ्यात्व) दोष :** वैदिक साहित्य में एक वाक्य है - 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' (पुत्र की इच्छा करने वाला व्यक्ति पुत्रेष्टि से यजन करे)। परन्तु अनेक बार इष्टि का अनुष्ठान करने पर भी यजमान दम्पति को पुत्र की प्राप्ति नहीं होती। अतः उक्त वाक्य मिथ्या है। इसी प्रकार 'वृष्टिकाम कारीर्या यजेत' (वृष्टि का इच्छुक कारीरी से यजन करे) के विषय में अनेक बार वृष्टि न होने से इसे मिथ्या समझना चाहिए। जब ऐसे दृष्टफल वाले वाक्य मिथ्या होते दीखते हैं, तो अदृष्टफल वाले 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' (मै.उ. ६/३७) (स्वर्ग की इच्छा वाला अग्निहोत्र करे)- इत्यादि वाक्यों में भी मिथ्यापन सम्भव है। ऐसी स्थिति में शास्त्रा में से विश्वास उठ जाता है।
2. **व्याघात (विरोध) दोष :-** शास्त्रीय वाक्यों में परस्पर विरोध भी पाया जाता है। जैसे- दैनिक हवन के विधान में कहा है **'उदिते होतव्यम्, अनुदिते होतव्यम्, समयाध्युषिते होतव्यम्' (द्र.- तैत्ति.ब्रा.२/१/९-११)**। (सूर्योदय होने पर हवन करे, सूर्योदय न होने पर (जब तक तारागण अस्त न हुए हों) हवन करे, अध्युषित समय में (जब तारागण अस्त हो चुके हों, किन्तु सूर्योदय न हुआ हो, ऐसे प्रभातकाल में हवन करे)। प्रातः दैनिक हवन के ये तीन काल बताए हैं। अतः पहले तो इन्हीं में परस्पर विरोध है, क्योंकि ये सब एक-दूसरे के विरुद्ध काल हैं। यदि विरोध दोष से बचने के लिए इसे काल-विषयक विकल्प मान लें, तो भी आगे विधि का स्पष्ट विरोध दीखता है। जैसे- **'श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति'** (श्याव-भूरा कुत्ता, उसकी आहुति को खा जाता है, जो उदित में हवन करता है), **'शबलाऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति'** (शबल-चितकबरा कुत्ता, उसकी आहुति को खा जाता है, जो अनुदित में हवन करता है), **'श्यावशबलावस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति'** (श्याव-शबल दोनों मिलकर उसकी आहुति को खा जाते हैं, जो समयाध्युषित में हवन करता है)। अर्थात् आहुति को लक्ष्य तक नहीं पहुँचने देते, जिससे वह नष्ट (व्यर्थ) हो जाती है।

यहाँ पहले तो हवन का विधान किया, फिर श्याव आदि के द्वारा आहुति को खा जाने के रूप में उसे व्यर्थ बता दिया। यह विधि और उसकी व्यर्थता बताने के रूप में परस्पर विरोध स्पष्ट है। अध्युषित समय के विषय में एक प्राचीन उक्ति है-

तथा प्रभातसमये नष्टे नक्षत्रमण्डले।
रविर्यावन्न दृश्येत समयाऽध्युषितं हि तत्॥
''अहर्वै शबलो रात्रिः श्यामः'' (कौषी.ग्रा.२/९, जै.ग्रा.१/६)

3. **पुनरुक्तदोष :-** वैदिक साहित्य में अनेकत्र मन्त्रों को बार-बार उच्चारण का विधान है। जैसे **'त्रिः प्रथमामन्वाह, त्रिरुत्तमाम्' (ऐत.ब्रा.३/३, शत. ब्रा. १/३/५/६)। 'प्रवो वाजा'... (ऋग् ३/२७/१)** - इत्यादि। (सामिथेनी ग्यारह ऋचाओं में से पहली को तीन बार पढ़े और अन्तिम ऋचा को तीन बार पढ़े)। यह एक ही ऋचा को अनेक बार पढ़ना पुनरुक्त दोष है, जो कि वक्ता के प्रमाद को प्रकट करता है। इससे सिद्ध होता है, कि अनृत, व्याघात तथा पुनरुक्त दोषों के कारण शब्द को प्रमाण नहीं मानना चाहिए।।। 57।।

अब सूत्राकार पूर्वपक्षी द्वारा बताए गए दोषों में से प्रथम 'अनृत' दोष का समाधान करते हैं -

सिद्धान्ती- न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्॥ 58॥ (119)

सूत्रार्थ- कर्म, कर्ता और साधनों के विगुण अर्थात् गुणहीन होने से अनृतदोष उचित नहीं है।

व्याख्या- यहाँ गतसूत्रा से 'अनृतदोष' की अनुवृत्ति है। पुत्र आदि किसी अभीष्ट फल की प्राप्ति में तीन कारण होते हैं।

१. **कर्म** - अनुष्ठान की प्रक्रिया, २. कर्त्ता अनुष्ठानशील यजमान, ३. साधन - हवि, आदि द्रव्य। यदि ये तीनों कारण अपने गुणों से युक्त रहते हैं, तो सफलता मिलती है, अन्यथा असफलता ही मिलती है। जैसे पुत्र जन्म का साधन इष्टि में १. कर्मवैगुण्य है - अनुष्ठान की प्रक्रिया का ठीक न होना, शास्त्रोक्त-विधि का पालन न किया जाना।

२. **कर्तृवैगुण्य है** - यजमान में न्यूनता होना, अथवा इष्टि कराने वाले ऋत्विजों का अविद्वान्, मन्त्रों का ठीक उच्चारण न करने वाले, निन्दित आचरण वाले होना।

३. **साधनवैगुण्य है** - हवि द्रव्य का असंस्कृत होना, मन्त्रों का न्यून या अधिक बोला जाना एवं स्वर तथा वर्ण से हीन होना, दी जाने वाली दक्षिणा कम, निन्दित या पाप से कमाई गई होना। इन कमियों के होने पर अनुष्ठान निष्फल हो जाएगा।

इसी प्रकार पुत्रोत्पत्ति में १. कर्मवैगुण्यः पति-पत्नी का शास्त्रीय-विधि से विरुद्ध सम्बन्ध होना, **२. कर्तृवैगुण्य :-** पति-पत्नी का रुग्ण या असमर्थ होना,

३. **साधनवैगुण्यः**- भक्ष्य पदार्थों का असंस्कृत (अपवित्र) होना आदि।

इन इष्टि आदि दोषों के होने पर पुत्र की प्राप्ति नहीं हो पाती। इसमें शास्त्रीय शब्द (वाक्य) का कोई दोष नहीं है।

अन्य लौकिक व्यवहारों में भी यह स्थिति देखी जा सकती है। जैसे- 'अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात्' (अग्नि चाहने वाला अरणियों का मन्थन करे) - यह विधिवाक्य है। यदि यहाँ कर्म, कर्ता, साधन में कोई दोष न होता, तो अग्नि अवश्य उत्पन्न होती है। परन्तु यदि इन में विगुणता हो, अर्थात् -

१. कर्मवैगुण्यः- मन्थन ठीक न होने से,

२. कर्तृवैगुण्य :- मन्थनकर्ता प्रमादी, बुद्धिहीन, मन्थन विधि को न जानने वाले होने से,

३. साधनवैगुण्यः- काष्ठ गीले हों, अथवा कीड़ों के खाए हों, तो मन्थन होने पर भी अग्नि उत्पन्न नहीं हो पाती।

इसमें मन्थन से अग्नि की प्राप्ति बताने वाले शास्त्रा का कोई दोष नहीं है। यही स्थिति-'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' इस वाक्य की है।

इसी प्रकार भवन निर्माण, भोजन निर्माण आदि में भी समझा जा सकता है। अतः 'अनृतदोष' दिखाकर शब्द को अप्रमाण नहीं कह सकते।। 58।।

अब सूत्राकार दूसरे 'व्याघातदोष' का समाधान करते हैं -

सिद्धान्ती- अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्।। 59।। (120)

सूत्रार्थ- स्वीकार करके काल का भेद (उल्लंघन) होने पर दोष के कथन से, व्याघातदोष नहीं है।

व्याख्या- यहाँ गतसूत्रों से 'न, व्याघातदोषः' की अनुवृत्ति समझनी चाहिए। जो व्यक्ति आरम्भ में उदित, अनुदित, अध्युषित काल में हवन करते रहने की प्रतिज्ञा करके, उस स्वीकृत हवनकाल को छोड़कर अन्य काल में हवन करता है, उसके लिए यह कार्य दोषपूर्ण बताया है : **'श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति.'** - इत्यादि। यह विधि के भ्रष्ट (स्वीकृत काल का परित्याग) होने पर निन्दावचन है, अतः वचनव्याघातदोष शब्द की अप्रामाणिकता में हेतु नहीं कहा जा सकता।

नोटः- हवन किसी भी समय किया जाए, पुण्य ही है, परन्तु दोषवचन का रहस्य यही है, कि व्यक्ति अपने इस सत्कार्य में सदा सन्नद्ध रहे, क्योंकि प्रतिज्ञात समय को छोड़ने में उसके आलस्य, प्रमाद, अनुष्ठान में उपेक्षा तथा शिथिलता के भाव प्रकट होते हैं।। 59।।

अब सूत्राकार तीसरे 'पुनरुक्तदोष' का समाधान करते हैं -

सिद्धान्ती- अनुवादोपपत्तेश्च।। 60।। (121)

सूत्रार्थ- अनुवाद की सिद्धि अर्थात् सम्भावना से पुनरुक्तदोष उचित नहीं है।

व्याख्या- यहाँ गतसूत्रों से 'न, पुनरुक्तदोषः' की अनुवृत्ति है- पूर्वोक्त जिन वाक्यों में पुनरुक्तदोष दिखाया है, वस्तुतः वहाँ पुनरुक्तदोष नहीं है, क्योंकि उनमें अनुवाद होने की सम्भावना है। निरर्थक अभ्यास (आवृत्ति) 'पुनरुक्तदोष' होता है, परन्तु सार्थक अभ्यास 'अनुवाद' कहलाता है। सार्थक होने से 'प्रथम मन्त्र की तीन आवृत्ति करे तथा अन्तिम की तीन आवृत्ति करे' (शत. ब्रा. १/३/५/६) इस श्रुति में अभ्यास कथन अनुवाद है, क्योंकि प्रथम और अन्तिम ऋचाओं के त्रिरावर्तन से ही ग्यारह सामिधेनियों में पञ्चदशत्व आ पाता है। जैसा कि ब्राह्मण में कहा है- **'इदमहं भ्रातृव्यं पञ्चदशावरेण वाग्वज्रेण बाधे.' (द्र. कौषी. १२/२, ३/२)** (में इस शत्रु को १५/ पन्द्रह अरों वाले सामिधेनीरूप वाग्वज से बाधित करता हूँ)। अतः मन्त्रों का यह अभ्यास (आवृत्ति) सप्रयोजन होने से 'अनुवाद' मानना चाहिए, पुनरुक्त दोष नहीं।। 60।।

अब सूत्राकार अनुवाद वाक्यों की सार्थकता में अन्य हेतु देते हैं -

सिद्धान्ती- वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्।। 61।। (122)

सूत्रार्थ- वाक्यविभाग के अर्थग्रहण से-अर्थवान् होने से भी शब्द-वाक्य प्रमाण है।

व्याख्या- जैसे लोक में शिष्ट लोग विधि, अनुवाद आदि वाक्यों का विभाग करते हैं और अनुवाद वाक्यों को सार्थक मानते हैं, वैसे ही शास्त्रा में भी 'त्रिःप्रथमाम्' इत्यादि अनुवादवाक्य सार्थक माने जाते हैं ।। 61।।

अब सूत्राकार उक्त ब्राह्मणवाक्यों के भेद बताते हैं -

सिद्धान्ती- विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात्।। 62।। (123)

सूत्रार्थ- विधिवचन, अर्थवादवचन, अनुवादवचन के विनियोग-उपयोग या समन्वय से ब्राह्मणवाक्य तीन प्रकार के होते हैं।

व्याख्या- कर्मकाण्ड सम्बन्धी समस्त ब्राह्मणग्रन्थ इन्हीं विभागों में समन्वित हैं। इनके लक्षण सूत्राकार क्रमशःस्वयं लिखेंगे।। 62।।

सूत्राकार विधिवचन का स्वरूप बताते हैं -

सिद्धान्ती- विधिर्विधायकः।। 63।। (124)

सूत्रार्थ- विधायक अर्थात् प्रेरक-वाक्य विधि कहलाती है।

व्याख्या- जो शास्त्रीय वाक्य किसी कर्म के अनुष्ठान के लिए प्रेरणा देता है, वह विधिवाक्य कहलाता है। उसके भी दो भेद हैं -

१. **नियोगविधिः**- व्यक्ति को कार्य के लिए प्रवृत्त करना।
जैसे -'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की कामना वाला व्यक्ति यज्ञ करे) अर्थात् जिस वाक्य से 'इदं कुर्यात्' (यह करे) ऐसी प्रेरणा मिले।

२. **अनुज्ञाविधिः**- जो जानते हुए व्यक्ति को विशेष जनाता है, वह अनुज्ञाविधि वाक्य कहलाता है। जैसे- 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' यहाँ जानते हुए व्यक्ति को अग्निहोत्र के साधन जुटाने के लिए प्रेरणा है; क्योंकि साधनों के बिना अग्निहोत्र सम्भव नहीं, उसके लिए धनोपार्जन आदि में प्रवृत्ति जगाता है।

दोनों में भेद यह है, कि- नियोगविधि वाक्य अप्रवृत्त को प्रवृत्त करते हैं और अनुज्ञावाक्य- प्रवृत्ति की भावना वाले पुरुष को साधनोपार्जन की ओर सचेत करते हैं।। 63।।

अब सूत्राकार क्रमप्राप्त अर्थवाद वचनों का स्वरूप एवं विभाग बताते हैं -

सिद्धान्ती- स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः।। 64।। (125)

सूत्रार्थ- स्तुति-प्रशंसा, निन्दा, परकृति-अन्य के लिए हुए कार्य का विवरण देना, पुराकल्प- पुरानी घटना को बताना, यह चार प्रकार का अर्थवाद-वचन कहलाता है।

व्याख्या- अर्थस्य (प्रयोजनस्य) वदनम् - अर्थवादः (जो वाक्य विधि के उपयोगी प्रयोजन (उद्देश्य) का कथन करे, उसे 'अर्थवाद' कहते हैं)। इसके चार भेद हैं - स्तुति, निन्दा, परकृति और पुराकल्प।

१. **स्तुति-अर्थवाद :-** विधि (कर्मानुष्ठान) से मिलने वाले फल की प्रशंसा करने वाले वाक्य को 'स्तुति अर्थवाद' कहते हैं। इससे लोग उस विधि के प्रति विश्वस्त होकर, श्रद्धापूर्वक उसके अनुष्ठान में प्रवृत्त हो जाते हैं। जैसे **''सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन् सर्वस्याप्त्यै, सर्वस्य जित्यै, सर्वमेवैतेनाप्नोति, सर्व जयति य एतेन यजते'' (द्र.- तां. ब्रा. १६/७/२)** इत्यादि। (सब की प्राप्ति और सबकी विजय के लिए देवों (विद्वानों) ने सर्वजित्, (विश्वजित्) नामक याग से यजन किया और उन्होंने सबको जीत लिया। वह व्यक्ति सब कुछ प्राप्त कर लेता है और सब को जीत लेता है, जो सर्वजित् नामक याग से यजन करता है)। ऐसे स्तुतिवाक्य व्यक्ति की कर्मानुष्ठान में श्रद्धा उत्पन्न करके प्रवृत्ति कराते हैं।
इसी प्रकार **''मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयेते'' (महा. १/१/२)**

२. **निन्दा-अर्थवादः** कर्म के अनिष्ट फलों को बताने वाले वाक्य को 'निन्दा अर्थवाद' कहते है। ये निन्दित कर्मों को छोड़ने की प्रवृत्ति जगाते हैं। जैसे-

''स एष वाव प्रथमो यज्ञो, यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः, य एतेनाऽनिष्ट्वाऽन्येन यजते, गर्ते पतति, अयमेवैतज्जीर्यते वा प्रमीयते वा'' (द्र.-तां. ब्रा. १६/१/१) इत्यादि। (यह जो ज्योतिष्टोम है, वह यज्ञों में प्रथम यज्ञ है। जो इससे यजन न करके अन्य याग से यजन करता है, वह पतित हो जाता है, जीर्ण-शीर्ण होकर नष्ट हो जाता है)। यह सोमप्रधान यागों में सर्वप्रथम ज्योतिष्टोम को छोड़कर अन्य याग के अनुष्ठान की निन्दा की गई है, जिससे कोई ऐसा न करे।

३. **परकृति-अर्थवाद :-** अन्य कर्त्ताओं द्वारा अनुष्ठित परस्पर विरुद्धविधि का कथन 'परकृति अर्थवाद' है।

जैसे-**''हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिघारायन्ति, अथ पृषदाज्यम्, तदुह चरकाध्वर्यवः_पृषदाज्यमेवाऽभिघारयन्ति, अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यं स्तोममित्यभिदधाति'' (द्र.-मा.शत. ३/८/२/२४)**- कुछ याजक हवन आरम्भ करते वपा (वसा / घृत) का ही पहले अग्नि में सेचन करते हैं, परन्तु (यजु.) चरक शाखा के अध्वर्यु लोग पृषदाज्य **(पृषदाज्यमिति प्रोक्तं दधिसर्पिरिति द्वयम् - दधि मिश्रितघृत)** की ही अग्नि में पहले आहुति देते हैं, (और कहते हैं, कि स्तुत्य दधि-घृत अग्नि के प्राण हैं)। यहाँ भिन्न कर्ता वाली परस्पर विरोधी दो विधियों का उल्लेख किया गया है, इसी को 'परकृति अर्थवाद' कहते हैं।

४. **पुराकल्प-अर्थवादः**- इतिहास युक्त विधिवाक्य को 'पुराकल्प अर्थवाद' कहते हैं। जैसे - **''तस्माद्वा एतेन पुरा ब्राह्मणा बहिष्पवमानं सामस्तोममस्तौषन्-योने यज्ञं प्रतनवामहे''** (वेदज्ञ ऋत्विजों ने प्राचीन काल में इस बहिष्पवमान नामक सामस्तोत्र की इसलिए स्तुति की, कि इससे वे अपने यज्ञों का विस्तार कर सकें)।- यह इतिहास के समान प्रतीत होने वाला, बीते हुए अर्थ का विवरण 'पुराकल्प अर्थवाद' है।

अब सूत्राकार पूर्वोद्दिष्ट (६२) अनुवाद का स्वरूप बताते हैं -

सिद्धान्ती- विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः॥ 65॥ (126)

सूत्रार्थ- विधि द्वारा विधान किए गए अर्थ का किसी प्रयोजन से पुनः कथन करना अनुवाद कहलाता है।

व्याख्या- अनुवाद दो प्रकार का होता है -

१. **शब्दानुवाद** :- जिसमें विधिवाक्य को उन्हीं शब्दों में दोहराया जाता है।

२. **अर्थानुवाद** :- जिसमें शब्दों को न दोहराया, विहित अर्थ का कथन होता है। जैसे- 'अनित्यः अनित्यः' यह शब्द-पुनरुक्त है और 'अनित्यः-विनाशी' यह अर्थ - पुनरुक्त है। इसी प्रकार विधि-अनुवादः- १.(शब्दानुवाद)- **''दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'' (इ.तै.सं. २/५/४/१)** (स्वर्ग चाहने वाला दर्शपौर्णमस से याग करे)। इस विधि के पश्चात् उसकी विशेषता प्रकट करने के उद्देश्य (प्रयोजन) से **''एते वै संवत्सरस्य चक्षुषी यद् दर्शपूर्णमासौ, य एवं विद्वान् दर्शपूर्णमासौ यजते, ताभ्यामेव सुवर्ग लोकमनुपश्यति'' (द्र.-तै.सं. २/५/६/१)।**

२. अर्थानुवाद- ------ **'अग्निहोत्रं जुहोति'** इससे विधान किया गया। इस विहित अग्निहोत्र का दधिसाधन (विधिशेष) बताने के लिए जब इसका पुनः कथन होता है - **'दध्ना जुहोति'**, तब यह अर्थानुवाद है।

विहितानुवाद का मुख्य प्रयोजन है- स्तुति, निन्दा, या विधिशेष का कथन करना।

लोक में भी विधि, अर्थवाद, अनुवाद का प्रयोग देखा जाता है। जैसे 'ओदनं पचेत्' 'नगरं गच्छेत्' इत्यादि विधिवाक्य हैं। **'आयुर्वर्ची बलं सुखं प्रतिभानं चान्ने प्रतिष्ठितम्, आयुर्वे घृतम्, आपोमयः प्राणा'** इत्यादि अर्थवाद वाक्य हैं।

'पचतु-पचतु भवान्', 'लिखतु-लिखतु भवान' इत्यादि शब्द, अनुवाद हैं। यह कार्य में शीघ्रता करने, प्रोत्साहन देने तथा अवधारण के लिए किया जाता है। ऐसे ही वैदिक वाक्य, विभाग के साथ अर्थबोध कराने में प्रमाण हैं। अतः शब्द की प्रामणिकता निश्चित है॥ 65॥

अनुवाद का प्रयोजन न जानने वाला पूर्वपक्षी आक्षेप करता है -

पूर्व० - नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेष : शब्दाभ्यासोपपत्तेः॥ 66॥ (127)

सूत्रार्थ- अनुवाद और पुनरुक्त में परस्पर भेद या अन्तर नहीं है, अनुवाद और पुनरुक्त दोनों में शब्द का अभ्यास अर्थात् पुनः कथन होने से।

व्याख्या- पुनरुक्त दोष है और अनुवाद निर्दोष है ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि दोनों में ही जिसका अर्थ पहले से जान लिया है, उसी शब्द को दोहराया जाता है। चरितार्थ (ज्ञात अर्थवाले) शब्द के दोहराने से दोनों ही निरर्थक हैं॥ 66॥

सूत्राकार उक्तपूर्वपक्षी के आक्षेप का समाधान करते हैं -

सिद्धान्ती- शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः॥ 67॥ (128)

सूत्रार्थ- अधिक जल्दी चलने के उपदेश या आदेश के समान अभ्यास-पुनः उच्चारणमात्र की समानता से अनुवाद और पुनरुक्त का अभेद अर्थात् समानता नहीं है।

व्याख्या- अनुवाद और पुनरुक्त में अभिन्नता (समानता) नहीं है; क्योंकि सार्थक आवृत्ति को अनुवाद और निरर्थक (निष्प्रयोजन) आवृत्ति को पुनरुक्त कहते हैं। जैसे कि- 'गच्छतु, गच्छतु' (जल्दी जाइये, जल्दी चलिए)। यहाँ गमन क्रिया की शीघ्रता अभ्यास (आवृत्ति) से ही जानी जाती है। अतः सप्रयोजन होने से यह आवृत्ति अनुवाद है। इसी उदाहरण के समान अन्य उदाहरणों की कल्पना की जा सकती है। जैसे- 'ग्रामो ग्रामो रमणीयः' (प्रत्येक गांव रमणीय है)। यहाँ व्याप्ति (प्रत्येक गांव की रमणीयता) द्योतित हो रही है। 'तिक्तं तिक्तम्' (अदरक आदि तीखा ही तीखा है)। यहाँ तिक्त के अभ्यास से प्रकार द्योतित है।

ऐसे प्रयोगों का विशेष अर्थ को द्योतित करना प्रयोजन होने से इन वाक्यों को निरर्थक नहीं कहा जा सकता। अतः ये पुनरुक्त नहीं, अपितु अनुवाद की कोटि में आते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्य हैं, जो स्तुति, निन्दा, शेषविधियों में अधिकार तथा विहित आनन्तर्य आदि के बोधक होने के कारण सार्थक होने से प्रमाण हैं॥ 67॥

क्या शब्द की प्रामाणिकता का प्रतिषेध करने वाले हेतुओं का खण्डन करने से ही शब्द का प्रमाणत्व सिद्ध हो जाएगा ?

समा.:- नहीं, और भी कारण हैं -

सिद्धान्ती- मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यम्, आप्तप्रामाण्यात्॥ 68॥ (129)

सूत्रार्थ- मन्त्रगत-वेद के अन्तर्गत, आयुर्वेद के प्रामाण्य के समान उस वेद का प्रामाण्य है, आप्तप्रामाण्य होने से।

व्याख्या- सूत्रागत 'मन्त्र' शब्द का तात्पर्य है 'वेद'। वेद के अन्तर्गत जो आयुर्वेद भाग है, उसकी प्रामाणिकता के समान ही सम्पूर्ण वेद की प्रामाणिकता समझनी चाहिए; क्योंकि वह परमपुरुष पूर्ण आप्त परमात्मा द्वारा उपदिष्ट है।

आयुर्वेद का क्या प्रामाण्य है ?

आयुर्वेद में यह उपदेश हैं ऐसा आचरण करके अभीष्ट फल (स्वास्थ्य) प्राप्त होता है, और इन-इन बातों को छोड़कर अनिष्ट

(रोग) से बचा जा सकता है। इन उपदेशों का पूर्णतया पालन करने पर वैसा ही फल प्राप्त होता है। यही इन उपदेशों की यथार्थता और प्रामाणिकता है। इसमें 'आप्तप्रामाण्य' हेतु है। अर्थात् उसका उपदेष्टा आप्त है। यह उसकी प्रामाणिकता में कारण है। आप्त के प्रामाण्य का आधार है –

१. किसी विषय का साक्षात्कृतधर्मा होना,

२. प्राणियों के प्रति दयाभाव (अहित की परिहार इच्छा होना),

३. साक्षात्कार से जाने हुए पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने की इच्छा होना।

क्योंकि साधारण प्राणी बहुत सी बातों की सच्चाई को नहीं जान पाते, अत: उन्हें ऐसे व्यक्तियों पर निर्भर रहना पड़ता है, जिससे वे ग्रहण करने योग्य का ग्रहण तथा त्यागने योग्य का त्याग कर सकें।

इस दृष्टफल वाले वेदैकदेश आयुर्वेद के प्रामाण्य से अदृष्टफल वाले शेष वेद के प्रामाण्य को भी समझा जा सकता है; क्योंकि समस्त वेद का उपदेष्टा एकमात्र चेतन तत्त्व परमात्मा ही है। अत: जिस प्रकार पतीले में एक चावल के टटोलने से सब पक गए अथवा अभी कच्चे हैं, इसका ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार (स्थालीपुलाक-न्याय से) दृष्टफल वाले वाक्य के प्रमाण से अदृष्टफल वाले वाक्यों का भी प्रामाण्य सिद्ध है। इस प्रकार समस्त वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं रहती।

इसी प्रकार वेदमूलक शेष आयुर्वेद (चरक, सुश्रुत) तथा अन्य शास्त्राों को भी प्रमाण मानना चाहिए, क्योंकि आयुर्वेद तथा अन्य लौकिक शास्त्राों के प्रवक्ता वे ही ऋषि, मुनि और आचार्य हैं, जो वेदमन्त्रों के द्रष्टा हैं।

प्रमुख स्मरणीय बिंदु

1.शब्द प्रमाण परीक्षा –

विपक्षी तर्क देते हैं, कि शब्द कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं है, बल्कि अनुमान के अंतर्गत आता है।

आक्षेप जैसे धुएँ से अग्नि का अनुमान होता है, वैसे ही शब्द से अर्थ का अनुमान होता है। अत: शब्द अनुमान ही है।

समाधान महर्षि गौतम जी स्पष्ट करते हैं, कि शब्द और अर्थ के बीच प्राकृतिक संबंध व्याप्ति नहीं होती, बल्कि संकेत आधारित सामयिक संबंध होता है। शब्द का ज्ञान यथार्थ वक्ता – आप्त पुरुष की विश्वसनीयता पर टिका होता है, जबकि अनुमान वस्तु के स्वभाव पर। अत: शब्द एक स्वतंत्र प्रमाण है।

2. वेद प्रामाण्य परीक्षा –

विपक्षी वेदों की प्रमाणिकता पर तीन मुख्य दोष लगाते हैं, जिनका समाधान महर्षि गौतम जी ने विस्तार से दिया है

1.अनृत दोष (झूठ का आरोप)

क.आक्षेप पुत्रेष्टि यज्ञ करने पर भी कभी पुत्र प्राप्त नहीं होता, अत: वेद असत्य हैं।

ख.समाधान फल न मिलना वेद का नहीं, बल्कि 'कर्ता, कर्म और साधन' की कमी का दोष है। यदि यज्ञ विधि – विधान से, शु) सामग्री और योग्य विद्वान द्वारा न किया जाए, तो फल नहीं मिलता।

2.व्याघात दोष (विरोधाभास)

आक्षेप वेदों में कहीं उदित (सूर्योदय के बाद) और कहीं अनुदित (सूर्योदय से पहले) हवन का निर्देश है, जो परस्पर विरोधी है।

समाधान यह विरोध नहीं बल्कि विकल्प है। व्यक्ति अपनी शाखा या परंपरा के अनुसार किसी एक का चुनाव कर सकता है।

3.पुनरुक्ति दोष

आक्षेप एक ही बात को बार-बार कहना पुनरुक्ति दोष है।

समाधान वेदों में पुनरावृत्ति दोष नहीं बल्कि महत्व समझाने के लिए दोहराना या अनुवाद है। जैसे किसी महत्वपूर्ण निर्देश को याद करने के लिए दोबारा कहा जाता है।

3. वेदों की प्रमाणिकता का आधार –

आप्त प्रामाण्य महर्षि गौतम जी के अनुसार, जैसे आयुर्वेद के मंत्र और औषधियाँ परीक्षित होने के कारण विश्वसनीय हैं, वैसे ही वेद भी परम आप्त या परमेश्वर एवं आप्त ;षियों द्वारा याष्ट होने के कारण प्रमाण हैं।

मंत्र-आयुर्वेद याष्टान्त जिस प्रकार मंत्रें के प्रभाव और औषधियों के गुण प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, उसी के आधार पर अयाश्य फल स्वर्ग एवं मोक्ष देने वाले वेदों के अन्य भागों पर भी विश्वास करना तार्किक है।

वेदों की प्रमाणिकता उनके रचयिता की आप्तता के कारण यथार्थवादिता और उनके द्वारा बताए गए मार्गों के सत्यापन योग्य परिणामों पर आधारित है।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न -

1.शब्द प्रमाण पर किए गए आक्षेपों का वर्णन करते हुए न्यायदर्शन द्वारा उसकी प्रमाणिकता कैसे सिद्ध की गई है?

2.वेदों की प्रमाणिकता (वेद-प्रामाण्य) के विरु) दिए गए तर्कों (अनृत, व्याघात, पुनरुद्र) का समाधान महर्षि गौतम जी ने किस प्रकार किया है?

3.आप्त के लक्षणों की व्याख्या कीजिए और यह सिद्ध कीजिए कि वेदों का प्रामाण्य परम आप्त - ईश्वर के कारण है।

लघुउत्तरीय प्रश्न -

1.शब्द को अनुमान क्यों नहीं माना जा सकता?

2.वेदों में पुनरुद्रि दोष का समाधान क्या है?

3.व्याघात (कथनों में विरोध) दोष का उत्तर क्या दिया गया है?

4.महर्षि गौतम जीके अनुसार शब्द और अर्थ का संबंध कैसा है?

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1.पूर्वपक्ष के अनुसार शब्द को किस में समाहित किया जा सकता है?

क) प्रत्यक्ष

ख) अनुमान

ग) उपमान

घ) अर्थापत्ति

2.वेदों की प्रमाणिकता को सिद्ध करने के लिए न्यायदर्शन किसका उदाहरण देता है?

क) व्याकरण का

ख) आयुर्वेद और मंत्रें का

ग) ज्योतिष का

घ) संगीत का

3.पूर्वपक्ष ने वेदों पर कुल कितने मुख्य दोष लगाए हैं?

क) दो

ख) तीन (अनृत, व्याघात, पुनरुद्र)

ग) चार

घ) पाँच

4.यथार्थ उपदेष्टा को न्यायदर्शन में क्या कहा गया है?

क) शिष्य

ख) आप्त

ग) नास्तिक

घ) वैतण्डिक

5. महर्षि गौतम जी के अनुसार वेदों का प्रामाण्य किस कारण से है?

क) क्योंकि वे बहुत पुराने हैं

ख) क्योंकि वे परम आप्त - ईश्वर द्वारा प्रोद्र हैं

ग) क्योंकि वे संस्ख्रत में हैं

घ) क्योंकि वे लोकप्रिय हैं

इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

खण्ड-4 प्रमाण का चतुष्ट्वत्व एवं शब्द का अनित्यत्व

इकाई-4.1 प्रमाण का चतुष्टत्व

उद्देश्य-

1.प्रमाणों की संख्या का निर्धारण यह सिद्ध करना कि प्रमाण केवल चार ही हैं (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द) और अथ. र्पत्ति, संभव, ऐतिह्य आदि अन्य कथित प्रमाण इन्हीं चार में समाहित हो जाते हैं।

2.अन्य मतों का निराकरण उन दार्शनिक मतों का तार्किक खंडन करना जो प्रमाणों की संख्या चार से कम (जैसे - केवल प्रत्यक्ष) या चार से अधिक मानते हैं।

3.समग्र ज्ञान प्रक्रिया की स्थिरता यह स्पष्ट करना कि मानवीय और आध्यात्मिक ज्ञान के सभी आयाम इन चार प्रमाणों द्वारा पूर्णत: सिद्ध किए जा सकते हैं, अत: अन्य साधनों की स्वतंत्र आवश्यकता नहीं है।

उद्देशसूत्रा (1/1/3) में प्रमाणों की चार संख्या को यथार्थ न मानता हुआ पूर्वपक्षी कहता है-

पू०- न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥ 1॥ (130)

सूत्रार्थ- ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव इन चारों प्रमाणों के प्रमाण होने से प्रमाणों का चार होना उचित नहीं है।

व्याख्या- उद्देश सूत्रा (१/१/३) में जो चार प्रमाण गिनाए हैं, उनमें न्यूनता है; क्योंकि उनके अतिरिक्त ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव एवं अभाव ये चार प्रमाण और हैं। अत: प्रमाण आठ माने जाने चाहिए।

ऐतिह्य :- 'इति होचु:' (ऐसा किसी ने कहा था) इस प्रकार प्रथम वक्ता का नामनिर्देश न होते हुए भी जो प्रवाद (जन. श्रुति) परम्परा चली आती है, उसे 'ऐतिह्य' कहते हैं। जैसे:- इस वटवृक्ष के नीचे पिशाच (अपक्वमांसाहारी) रहता था, इत्यादि।

अर्थापत्ति :- जहाँ एक अर्थ के कहने से दूसरे अर्थ की प्राप्ति हो जाती है, अर्थात् जान लिया जाता है, उसे 'अर्थापत्ति' प्रमाण कहते हैं। जैसे :-

क. - किसी ने कहा - **'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'** (देवदत्त मोटा-ताजा है, परन्तु दिन में भोजन नहीं करता) इस कथन से देवदत्त का रात्रिभोजन अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध हो जाता है; क्योंकि बिना भोजन के मोटा-ताजा (हृष्ट-पुष्ट) नहीं हो सकता।

ख. - किसी ने कहा कि 'बादलों के न होने पर वर्षा नहीं होती', इससे यह ज्ञात हुआ कि बादलों के होने पर ही वर्षा होती है।

सम्भव :- जहाँ किसी ऐसे अर्थ का बोध हो, जिसके बिना अन्य अर्थ का सद्भाव सम्भव न हो, उसे 'सम्भव' प्रमाण कहते हैं। जैसे :- एक किलो भार कहने पर उसमें सौ ग्राम भार का बोध अवश्य हो जाता है, क्योंकि सौ ग्राम भार के बिना एक किलो भार का सद्भाव सम्भव नहीं होता। इसी प्रकार क्विंटल कहने पर एक किलो भार की सत्ता का ग्रहण हो जाता है। ऐसे ही 'मुक्ति' कहने पर 'ज्ञान' के अस्तित्व का बोध हो जाता है।

अभाव :- जिससे विरोधी अर्थ का ज्ञान होता है, उसे 'अभाव' प्रमाण कहते हैं। जैसे - बादलों के घिरे होने पर भी वर्षा का अभाव (न होना) अपने विरोधी विधारकवायु मेघ-संयोग का ज्ञान करा देता है।

इस प्रकार केवल चार प्रमाणों का ही निर्देश होने से उद्देश - सूत्रा (१/१/३) में अधूरापन स्पष्ट है।। 1।।

अब सूत्राकार उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं -

सिद्धान्ती- शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्ति-
सम्भवाभावाऽनर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेध:॥ 2॥ (131)

सूत्रार्थ- शब्द प्रमाण में ऐतिह्य का अन्तर्भाव होने से और अनुमान प्रमाण में अर्थापत्ति, सम्भव तथा अभाव का अन्तर्भाव होने से प्रमाण-चतुष्ट्व का प्रतिषेध नहीं हो सकता है।

व्याख्या- आप्तोपदेश (१/१/७) होने से ऐतिह्य शब्द-प्रमाण से भिन्न नहीं है। दोनों में भेद यही है, कि ऐतिह्य के प्रवक्ता का निर्देश नहीं रहता। इतने पर भी वह आप्तोपदेश तो है ही। अत: शब्दरूप होने से ऐतिह्य को पृथक् नहीं पढ़ा। प्रत्यक्ष से सम्बद्ध अप्रत्यक्ष का ज्ञान अनुमान कहलाता है। और अर्थापत्ति, सम्भव तथा अभाव भी यही करते हैं, क्योंकि 'अर्थापत्ति' में एक वाक्यार्थ के ज्ञान से उसके विरोधी अनुक्त अर्थ का ज्ञान हो जाता है। यही अनुमान का स्वरूप है।

'सम्भव' में भी यही स्थिति है। अविनाभाव से सम्बद्ध अवयवों के बिना अवयवी नहीं रह सकता। अतः जब अवयवी विद्यमान है, तब अनुमान से उसके अवयवों का ज्ञान होने में क्या बाधा हो सकती है। इसी प्रकार कारण के अभाव से कार्य के अभाव का ज्ञान भी अनुमान से हो जाएगा, उसे पृथक् प्रमाण मानना अनावश्यक है। इस विवरण से यह सिद्ध है, कि ऐतिह्य आदि प्रमाण तो हैं, परन्तु पृथक् प्रमाण नहीं। पहले जो प्रत्यक्षादि चार प्रमाण कहे हैं, उन्हीं में इन का अन्तर्भाव है।। 2।।

आपने जो यह कहा, कि ऐतिह्य आदि प्रमाण तो हैं; परन्तु प्रमाणान्तर नहीं; किन्तु हमें तो 'अर्थापत्ति' के प्रमाण होने में भी सन्देह है, क्योंकि-

सिद्धान्ती- अर्थापत्तिरप्रमाणनैकान्तिकत्वात्।। 3।। (132)

सूत्रार्थ- अर्थापत्ति प्रमाण नहीं है, अनैकान्तिक-सव्यभिचार होने से।

व्याख्या- 'मेघों के न होने पर वृष्टि नहीं होती' यहाँ अर्थापत्ति से यह प्रमाणित हुआ कि 'मेघों के होने पर वृष्टि होती है'। परन्तु यह कथन अनैकान्तिक (सव्यभिचार) होने से दोषयुक्त है, क्योंकि अनेक बार मेघों के होने पर भी वर्षा नहीं होती। अतः अर्थापत्ति को प्रमाण नहीं मान सकते।। 3।।

सिद्धान्ती कहता है, कि अर्थापत्ति में अनैकान्तिक (सव्यभिचार) दोष नहीं है, क्योंकि-

सिद्धान्ती- अनर्थापत्तावर्थापत्त्यभिमानात्।। 4।। (133)

सूत्रार्थ- जो अर्थापत्ति नहीं है, उसमें अर्थापत्ति के अभिमान से अर्थापत्ति विषयक आशंका उचित नहीं है।

व्याख्या- 'मेघों से वृष्टि' तथा 'भोजन से मोटा-ताजा होना' कहने से यह सिद्ध होता है, कि कारण के विद्यमान रहने पर ही कार्य उत्पन्न होता है, क्योंकि कारण के न रहने पर कार्य की उत्पत्ति कभी नहीं होती। यह स्थिति अनैकान्तिक (व्यभिचारी) नहीं है। और जो कारण की विद्यमानता में भी किसी निमित्त के प्रतिबन्ध से कार्य न हो, तो यह कारण का धर्म है, अर्थापत्ति का प्रमेय नहीं। अर्थापत्ति का प्रमेय तो इतना ही है, कि 'कारण के विद्यमान रहने पर ही कार्य होता है'। अतः पूर्वपक्षी द्वारा अनर्थापत्ति में अर्थापत्ति का अभिमान करके (मानकर के) उसका खण्डन करना अनुचित है।। 4।।

अब पूर्वपक्षी अभाव के प्रमाणत्व में आक्षेप करता है -

सिद्धान्ती- नाभावप्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेः।। 7।। (136)

सूत्रार्थ- अभाव का प्रामाण्य नहीं है, उसके द्वारा प्रमेय की सिद्धि न होने से।

व्याख्या- जिसका कोई प्रमेय (ज्ञातव्य विषय) नहीं, उस अभाव को प्रमाण (ज्ञानसाधन) मानना अनावश्यक और निराधार है। जहाँ भूतल आदि में घटादि का 'अभाव' बताया जाता है, वहाँ केवल भूतल आदि का ग्रहण होता है, जो प्रत्यक्ष आदि का विषय है। अतः अभाव को प्रमाण मानना व्यर्थ है।। 7।।

अब सूत्राकार उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं -

सिद्धान्ती- लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वादलक्षितानां तत्प्रमेयसिद्धिः।। 8।। (137)

सूत्रार्थ- लक्षित-चिन्हित या चित्रित पदार्थों के बीच चिन्हिरहित पदार्थों का, लक्षण के अभाव द्वारा ज्ञान होने से उस अभाव के द्वारा प्रमेय की सिद्धि होती है।

व्याख्या- जैसे कहीं एक ही स्थान पर कुछ चिन्ह (छींट) वाले और कुछ बिना चिन्ह के वस्त्र रखे हैं। किसी मनुष्य ने दूसरे से कहा, कि उन वस्त्रों में से बिना चिन्ह के वस्त्र ले आ। तो वह व्यक्ति जिन वस्त्रों में चिन्ह का अभाव देखता है, उनको ले आता है। यहाँ लक्षणों के अभाव से ज्ञान हुआ और जो ज्ञान का हेतु है, वह प्रमाण कहलाता है। इसलिए 'अभाव' भी प्रमाण है।। 8।।

प्रमुख स्मरणीय बिंदु

1.अन्य प्रमाणों का आक्षेप - पूर्वपक्ष -

विपक्षी जैसे - मीमांसक और पौराणिक तर्क देते हैं, कि प्रमाण केवल चार (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द) नहीं, बल्कि आठ होने चाहिए। वे निम्नलिखित चार अतिरिद्र प्रमाण और जोड़ते हैंरू

ऐतिह्य 'ऐसा सुना जाता है' - परंपरा से चली आ रही बातें।

अर्थापत्ति किसी बात से दूसरी बात का स्वतः सिद्ध होना। जैसे- 'देवदत्त दिन में नहीं खाता, फिर भी मोटा है' से यह अर्थ निकलता है, कि वह रात में खाता है।

संभव बड़ी संख्या में छोटी संख्या का होना। जैसे- 100 में 50 का होना।

अभाव वस्तु की अनुपस्थिति से उसका ज्ञान होना। जैसे- यहाँ घड़ा नहीं है।

2.आक्षेपों का समाधान और प्रमाण चतुष्ट्वत्व सिद्धि – उत्तरपक्ष –
महर्षि गौतम जीने न्यायसूत्रें के आधार पर सिद्ध करते हैं, कि ये चार अतिरिद्र प्रमाण इन्हीं चार मूल प्रमाणों में समाहित हैं
ऐतिह्य का शब्द में अंतर्भाव यदि परंपरा से चली आ रही बात का वद्रा आप्त – सत्यवादी है, तो वह शब्द प्रमाण है। यदि वद्रा ब्विसनीय नहीं है, तो वह प्रमाण ही नहीं हो सकता है।
अर्थापत्ति का अनुमान में अंतर्भाव अर्थापत्ति वास्तव में व्यतिरेकी अनुमान है। जहाँ हम कार्य–कारण के अविनाभाव – साहचर्य नियत संबंध से अर्थ निकालते हैं। अत: इसे अलग प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।
संभव का अनुमान में अंतर्भाव यह भी एक प्रकार का अनुमान ही है। जब हम जानते हैं, कि 100 की सत्ता है, तो उसमें 50 की सत्ता का ज्ञान तार्किक अनुमान द्वारा हो जाता है।
अभाव की परीक्षा महर्षि गौतम जी स्पष्ट करते हैं, कि अभाव का ज्ञान प्रत्यक्षया अनुमान के अंतर्गत आता है। किसी अधिकरण या स्थान का खाली दिखना ही, उस वस्तु के अभाव का ज्ञान कराता है।

3. अभाव प्रमाण पर विशेष विचार
विपक्षी कहते हैं, कि जो अभाव है, उसका ज्ञान कैसे होगा?
समाधान – महर्षि गौतम जी तर्क देते हैं, कि अभाव दो प्रकार का होता है प्रागभाव (उत्पत्ति से पहले) और प्रध्वंसाभाव (विनाश के बाद)। वस्तु के होने पर उसका भाव दिखता है और न होने पर उसका अभाव। यह दोनों एक–दूसरे के सापेक्ष हैं। अत: अभाव का ज्ञान भी प्रमाणिक है, लेकिन वह प्रत्यक्ष आदि में ही शामिल है।
महर्षि गौतम जी ने जो चार प्रमाण बताए हैं, वे पूर्ण हैं। संसार का कोई भी ज्ञान इन चारों की सीमा से बाहर नहीं है। अन्य मतों द्वारा बताए गए प्रमाण, इन्हीं के सूक्ष्म रूप या भेद मात्र हैं।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न –
1.न्यायदर्शन द्वारा स्वीख्रत चार प्रमाणों – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द के अतिरिद्र अन्य प्रमाणों – ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव का खंडन या अंतर्भाव किस प्रकार किया गया है?
2.अर्थापत्ति प्रमाण के स्वरूप की व्याख्या कीजिए और सिद्ध कीजिए कि यह अनुमान से भिन्न नहीं है।
लघुउत्तरीय प्रश्न
1.ऐतिह्य प्रमाण को शब्द प्रमाण में क्यों शामिल किया गया है?
2.सम्भव प्रमाण का उदाहरण देते हुए उसकी समीक्षा कीजिए।
3.अभाव को प्रमाण क्यों नहीं माना जा सकता?
4.प्रमाणों की संख्या चार ही रखने का मुख्य दार्शनिक तर्क क्या है?

बहुविकल्पीय प्रश्न –
1.न्यायदर्शन के अनुसार प्रमाणों की निश्चित संख्या कितनी है?
क) दो
ख) चार
ग) छह
घ) आठ
2.'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंद्रे' (मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता) यह किस प्रमाण का प्रसिद्ध उदाहरण है?
क) उपमान
ख) अर्थापत्ति
ग) ऐतिह्य
घ) सम्भव
3.न्यायदर्शन के अनुसार 'ऐतिह्य' का अंतर्भाव किसमें होता है?
क) प्रत्यक्ष
ख) अनुमान

ग) शब्द

घ) उपमान

4.'एक हज़ार में सौ का होना' किस प्रमाण का विषय माना जाता था?

क) सम्भव

ख) अभाव

ग) अर्थापत्ति

घ) शब्द

5.इनमें से कौन-सा प्रमाण मीमांसा या वेदान्त द्वारा तो मान्य है, किन्तु न्याय द्वारा अलग से स्वीकार नहीं किया गया?

क) अनुमान

ख) अर्थापत्ति

ग) प्रत्यक्ष

घ) शब्द

इकाई- 4.2 शब्द का अनित्यत्व

उद्देश्य

1.शब्द के स्वरूप का निर्धारण यह सिद्ध करना कि शब्द आकाश का गुण है और वह उत्पन्न होने वाला कार्य है, न कि सर्वदा रहने वाला - नित्य।

2.नित्यता के तर्कों का खंडन उन मतों जैसे - मीमांसक का तार्किक निराकरण करना जो शब्द को नित्य मानते हैं, और यह स्पष्ट करना कि शब्द श्रवण इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किए जाने के कारण विनाशशील है।

3.अभिव्यद्रि बनाम उत्पत्ति का निर्णय यह स्पष्ट करना कि शब्द पहले से कहीं मौजूद नहीं रहता, जिसे हम केवल सुनते या अभिव्यद्र करते हैं, बल्कि वह संयोग या विभाग से उत्पन्न होता है।

इस शास्त्रा का सिद्धान्त है, कि 'शब्द अनित्य है'। सूत्राकार इस मान्यता के लिए हेतु प्रस्तुत करते हैं -

सिद्धान्ती- आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च॥ 13॥ (142)

सूत्रार्थ- आदिमान्-कारणवाला होने से, श्रोत्ररूप इन्द्रियसन्निकर्ष से ग्राह्य होने से और अनित्य के समान व्यवहार अर्थात् प्रयोग होने से शब्द अनित्य है।

व्याख्या- शब्द के अनित्य होने में सूत्राकार ने यहाँ तीन हेतु प्रस्तुत किए हैं -

1. **आदिमत्त्वात् :-** आदिवाला (कारणजन्य) होने से शब्द अनित्य है, जो कारणवान् है, वह अनित्य देखा जाता है, घड़े के समान (शब्दोऽनित्यः, आदिमत्त्वात्, घटवत्) अर्थात् जैसे- घट अपने कपाल आदि कारणों से उत्पन्न होने से शब्द अनित्य सिद्ध होता है। यदि कहें कि कण्ठ-तालु आदि के अभिघात (संयोगविशेष) से 'वर्णात्मक तथा भेरी दण्ड के अभिघात से 'ध्वन्यात्मक' शब्द की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु दीपक के प्रकाश से पूर्वस्थित घटगत रूप की भांति वह अभिव्यक्त (प्रकट) होता है। वस्तुतः शब्द नित्य व एकरूप है। इस संशय की निवृत्ति के लिए सूत्राकार ने अगला हेतु दिया-
2. **ऐन्द्रियकत्वात् :-** ऐन्द्रिक होने से अर्थात् शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय से सन्निकर्ष होने पर ग्रहण होने से शब्द अनित्य है, क्योंकि जो इन्द्रियग्राह्य होता है, वह रूपादि के समान अनित्य होता है। यदि यह कहें, कि इन्द्रियग्राह्य होने पर भी घटत्व, द्रव्यत्व आदि जाति को नित्य माना जाता है, अतः यह हेतु अनैकान्तिक है, तो सूत्राकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया-
3. **कृतकवदुपचारात् :-** कृतक (अनित्यपदार्थ) के समान, शब्द में व्यवहार होने से उसे अनित्य माना जाता है। जैसे अनित्य सुख, दुःख आदि में तीव्र, मन्द होने का व्यवहार होता है, कि तीव्रसुख है, तीव्रदुःख है, मन्दसुख है, मन्ददुःख है, इत्यादि। वैसे ही शब्द के विषय में व्यवहार होता है- तीव्र शब्द है, मन्द शब्द है, इत्यादि। इससे सुखादि के समान शब्द की अनित्यता सिद्ध होती है।। 13।।

स्थूणानिखनन-न्यायानुसार शब्द की अनित्यता को गम्भीरता से समझने के उद्देश्य से पूर्वपक्षी के रूप में सूत्राकार पूर्वोक्त हेतुओं में अनैकान्तिक दोष दिखाते हैं -

सिद्धान्ती- न, घटाभावसामान्यनित्यत्वान्नित्येष्वप्यनित्यवदुपचाराच्च॥ 14॥ (143)

सूत्रार्थ- आदिमत्त्वादि हेतुओं से, शब्द अनित्य नहीं घटाभाव और घटत्व आदि सामान्य के नित्य होने से और नित्य पदार्थो में भी अनित्य पदार्थों के समान व्यवहार होने से।

व्याख्या- शब्द के अनित्यत्व की सिद्धि के लिए जो हेतु बताए गए हैं, वे सब अनैकान्तिक (सव्यभिचार) हैं, अतः साध्य को सिद्ध करने में असमर्थ हैं। जैसेः-

1. **आदिमत्त्वात् :-** उत्पत्तिवाला होने से 'शब्द' को अनित्य कहा गया है। परन्तु आदिमान घटाभाव (घट का प्रध्वंसाभाव) का नित्यत्व देखा गया है, क्योंकि घटादि के टूट-फूट जाने पर उसका प्रध्वंसाभाव आदिवाला है। वह उत्पन्न तो हो गया किन्तु वह टूटा हुआ घट व्यक्ति अपने भावरूप में कभी नहीं आता। अतः ध्वंसाभाव नित्य है। इस ध्वंसाभाव के कभी नष्ट न होने से नित्य ही रहता है।
2. **ऐन्द्रियकत्वात् :-** यह नियम है, कि जिस इन्द्रिय से जो पदार्थ जाना जाता है, उसमें रहने वाली जाति (सामान्य धर्मः जैसे द्रव्य में द्रव्यत्व, घट में घटत्व आदि) का भी ग्रहण उसी इन्द्रिय से होता है। और जाति को नित्य माना जाता है। अतः यह ऐन्द्रियक हेतु भी अपने साध्य से भिन्न अधिकरण 'घटत्व' आदि सामान्य में विद्यमान रहने से अनैकान्तिक है।
3. **कृतकवदुपचारात् :-** यह हेतु भी अनैकान्तिक है, क्योंकि नित्यों में भी अनित्य के समान व्यवहार देखा जाता है। जैसे- अनित्य पदार्थों में 'कम्बल का एक भाग, वृक्ष का एक भाग'- ऐसा व्यवहार यथार्थरूप में होता है, वैसे ही नित्य पदार्थो

में भी होता है- 'आकाश के एकदेश में पक्षी उड़ रहे हैं, ईश्वर के एक देश में जगत् है'।

अत: शब्द के अनित्यत्व की सिद्धि में दिए हुए सब हेतुओं के अनैकान्तिक होने से अनित्यत्व असिद्ध ही रह जाता है।। 14।।

अब सूत्राकार पूर्वप्रदर्शित 'आदिमत्त्व' हेतु की अनैकान्तिकता का समाधान करते हैं -

सिद्धान्ती- तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वविभागादव्यभिचार:।। 15।। (144)

सूत्रार्थ- तत्त्व-यथार्थ-वास्तविक और भाक्त-गौण-औपचारिक में परस्पर नानात्वरूप भेद होने से प्रथम हेतु में व्यभिचार दोष नहीं है।

व्याख्या- वास्तविक रूप से नित्य वही है, जिसकी कभी उत्पत्ति और विनाश न हों, सब कालों में एकरूप से विद्यमान हो, जैसे- आत्मा व आकाश आदि पदार्थ। ध्वंसाभाव में उक्त प्रकार का नित्यत्व नहीं, क्योंकि घटादि का 'ध्वंसाभाव' उत्पत्तिवाला है। उसमें वास्तविक नित्यत्व नहीं माना जा सकता। उसके एक अंश में नित्यता होने से, वहाँ भाक्त (गौण) नित्यत्व है। जिस प्रकार का शब्द है, वैसा कोई भी कार्य नित्य देखने में नहीं आता। अत: शब्द के अनित्यत्व की सिद्धि के आदिमत्त्व हेतु में अनैकान्तिक (व्यभिचार) दोष नहीं है।। 15।।

नित्य सामान्य (घटत्व आदि जाति) के इन्द्रियग्राह्य होने से जो 'ऐन्द्रियकत्व' हेतु को अनैकान्तिक कहा था, सूत्राकार उसका समाधान करते हैं -

सिद्धान्ती- सन्तानानुमानविशेषणात्।। 16।। (145)

सूत्रार्थ- शब्द में सन्तान परम्परा के अनुमान की विशेषता से सामान्य-नित्य में ऐन्द्रियकत्व हेतु अनैकान्तिक नहीं है। अत: शब्द का अनित्यत्व सिद्ध है।

व्याख्या- यहाँ गत सूत्राों से 'नित्येषु' और 'अव्यभिचार:' इन दोनों पदों की अनुवृत्ति है। ऐन्द्रियक पद का अर्थ केवल इन्द्रिय से ग्राह्य होना नहीं है, अपितु 'इन्द्रिय से सन्निकृष्ट होकर गृहीत होना' है। शब्द का निमित्त (संयोग आदि) जहाँ है, वहाँ शब्द उत्पन्न हुआ, उससे सब ओर सजातीय शब्द उत्पन्न हुआ, उससे फिर अन्य सजातीय शब्द उत्पन्न हुआ। इस प्रकार 'शब्द-सन्तान-क्रम' (बीचीतरंगन्याय) से शब्द श्रोत्र से सन्निकृष्ट (संयुक्त) होने पर सुना जाता है। यह श्रोत्र के सामीप्य से ग्राह्य होना शब्द के सन्ततिक्रम का अनुमान कराता है। यह सन्ततिक्रम शब्द के अनित्य होने पर ही सम्भव है। अत: सामान्यनित्य में 'ऐन्द्रियक' हेतु अनैकान्तिक नहीं है। अनैकान्तिक तब होता जब इन्द्रियग्राह्य होने से शब्द को अनित्य कहा जाता। यहाँ तो इन्द्रियग्राह्यता शब्दसन्तति का अनुमान कराती है। उससे शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होता है।। 16।।

अब सूत्राकार अन्तिम हेतु 'कृतकवदुपचार' में दिए गए अनैकान्तिक दोष का समाधान करते हैं -

सिद्धान्ती- कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानान्नित्येष्वप्यव्यभिचार इति।। 17।। (146)

सूत्रार्थ- 'प्रदेश' शब्द के द्वारा कारण द्रव्य का कथन होने से नित्य पदार्थों में भी व्यभिचार दोष नहीं हो सकता है।

व्याख्या- 'कम्बल का प्रदेश, वृक्ष का प्रदेश (एक भाग)' इत्यादि उदाहरणों में 'प्रदेश' शब्द से उस पदार्थ के कारण द्रव्य का कथन होता है। किसी कार्य द्रव्य के अवयव उसके कारण होते हैं। यह 'प्रदेश' शब्द उस कार्य द्रव्य के किसी अवयव (भाग-अंश) का निर्देश करता है। परन्तु 'आत्मा, आकाश' आदि कार्य द्रव्य नहीं है। अत: उनके कारणद्रव्य का होना सम्भव नहीं है। आकाश के साथ 'प्रदेश' शब्द का प्रयोग तभी होता है, जब उसके साथ किसी एकदेशी द्रव्य का संयोग बताया जाए। और परस्पर संयुक्त होने वाले दो द्रव्य सर्वांश में संयुक्त नहीं होते, अपितु उनका एक भाग ही संयुक्त होता है। अत: आकाश के साथ 'प्रदेश' पद गौण प्रयोग है, और कार्य द्रव्यों में यह मुख्य या प्रधान है, क्योंकि कार्य द्रव्य के प्रदेश (कारण द्रव्य-अवयव) विद्यमान हैं।

संयोग के समान किसी स्थान पर किन्हीं निमित्तों से उत्पन्न हुआ शब्द भी समस्त आकाश में व्याप्त नहीं होता, अपितु वहाँ निमित्तों की क्षमता के अनुसार सजातीय शब्दों की उत्पत्तिपरम्परा से पास या दूर सुनाई देता है। अत: ये तीव्रता व मन्दता शब्द के धर्म हैं। ये शब्द की वैसी ही उत्पत्ति को प्रकट करके उसके अनित्यत्व को सिद्ध करते हैं।। 17।।

शब्द को नित्य मानने वाले वादी से पूछना चाहिए, कि वह ऐसा किस हेतु से मानता है ?

पूर्व०- अस्पर्शत्वात्।। 22।। (151)

सूत्रार्थ- स्पर्शरहित होने से शब्द नित्य है।

व्याख्या- शब्द नित्य है, स्पर्शरहित होने से, जो स्पर्शरहित होता है, वह नित्य देखा जाता है, जैसे- आकाश, इसी प्रकार शब्द स्पर्शरहित है, इसलिए स्पर्शरहित होने से आकाश के समान शब्द नित्य है।। 22।।

सूत्राकार पहले, साध्यसाधर्म्य (अन्वय) के अनुसार पूर्वपक्षी के हेतु की अनैकान्तिकता दिखाते हैं -

सिद्धान्ती- न कर्मानित्यत्वात्।। 23।। (152)

सूत्रार्थ- अस्पर्श होने पर भी कर्म के अनित्य होने से, अस्पर्श हेतु ठीक नहीं है।

व्याख्या- वादी द्वारा प्रस्तुत 'अस्पर्शत्व' हेतु साध्याधिकरण के अतिरिक्त साध्याभाव (अनित्यत्व) के अधिकरण (कर्म) में भी रहने से अनैकान्तिक है, क्योंकि जो-जो अस्पर्श हो वह-वह नित्य होता है- ऐसी व्याप्ति नहीं है। अतः साध्य (शब्द के नित्यत्व) को सिद्ध करने में असमर्थ है।। 23।।

अब सूत्राकार साध्यवैधर्म्य (व्यतिरेक) से वादी के हेतु की अनैकान्तिकता दिखाते हैं -

सिद्धान्ती- नाणुनित्यत्वात्।। 24।। (153)

सूत्रार्थ- स्पर्शवाले होते हुए भी अणुओं अर्थात् परमाणुओं के नित्य होने से, अस्पर्शत्व हेतु उचित नहीं है।

व्याख्या- पृथिवी आदि के परमाणु स्पर्शवाले होते हुए भी नित्य होते हैं। अतः अस्पर्शत्व हेतु से शब्द को नित्य सिद्ध नहीं कर सकते। इस प्रकार दोनों ही उदाहरणों में साधर्म्य-वैधर्म्य से अनैकान्तिकता देखे जाने से शब्द के नित्यत्व की सिद्धि में 'अस्पर्शत्व' हेतु नहीं है।। 24।।

शब्द की नित्यता में पूर्वपक्षी अन्य हेतु देता है -

पूर्व०- सम्प्रदानानात्।। 25।। (154)

सूत्रार्थ- सम्प्रदान से शब्द नित्य सिद्ध होता है।

व्याख्या- दूसरे को दिया जाने वाला पदार्थ स्थिर (विद्यमान) देखा जाता है। शब्द भी आचार्य के द्वारा छात्र को दिया जाता है। आचार्य शब्द का उच्चारण करता है, छात्र उसको ग्रहण करता है। अर्थात् शब्द नित्य है, सम्प्रदानात्, गवादिवत्। जैसे गौ, घट आदि पदार्थ सम्प्रदान के कर्म (विषय) हैं, और स्थिर रहते हैं। इसी प्रकार सम्प्रदान का कर्म होने से शब्द को भी स्थिर (नित्य) मानना चाहिए।। 25।।

अब सूत्राकार शब्द की नित्यता में दिए गए हेतु का खण्डन करते हैं-

सिद्धान्ती- तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः।। 26।। (155)

सूत्रार्थ- उन आचार्य और छात्र दोनों के मध्य में शब्द के उपलब्ध न होने से, सम्प्रदान उचित हेतु नहीं।

व्याख्या- जो वस्तु विद्यमान होती है, वह देने और लेने वालों के बीच देखी जा सकती है, परन्तु शब्द के विषय में यह स्थिति नहीं है। इसलिए 'सम्प्रदान' हेतु से शब्द नित्य नहीं हो सकता। फिर यह भी नियम नहीं कि जो वस्तु दी जाती है, वह नित्य ही हो, क्योंकि गो, घट आदि पदार्थ अनित्य होते हैं।। 26।।

पूर्वपक्षी 'सम्प्रदान' हेतु का समर्थन करता है -

पूर्व०- अध्यापनादप्रतिषेधः।। 27।। (156)

सूत्रार्थ- अध्यापन अर्थात् पढ़ाने के कारण 'सम्प्रदान' हेतु का निषेध नहीं हो सकता।

व्याख्या- आचार्य द्वारा छात्र को दिया हुआ उपदेशरूप शब्द, इन दोनों के मध्य में स्थित होता है। इसमें अध्यापन ही साधक लिंग है। यदि दोनों के मध्य में शब्द न हो, तो अध्यापन असम्भव होगा। शब्द की विद्यमानता से ही बहुत से छात्रों में से अन्तिम छात्र तक ज्ञान ग्रहण करते हैं। पुनरपि आचार्य और शिष्य के मध्य कण्ठ, तालु आदि के साथ अभिघातरूप कारण न होने से शब्द की प्रतीति का अभाव होता है, अनित्य होने से नहीं।। 27।।

अब सूत्राकार शब्द की नित्यता में पूर्वपक्षी के 'अध्यापन' हेतु का खण्डन करते हैं -

सिद्धान्ती- उभयोः पक्षयोरन्यतस्याध्यापनादप्रतिषेधः।। 28।। (157)

सूत्रार्थ- शब्द की नित्यता तथा अनित्यता इन दोनों पक्षों में से किसी एक का अध्यापन हेतु से प्रतिषेध नहीं हो सकता है।

व्याख्या- नित्य शब्दवादी तथा अनित्यशब्दवादी दोनों मतों में अध्यापन के समान रूप से सम्भव होने के कारण, अध्यापन किसी एक पक्ष का साधक या बाधक नहीं हो सकता। अतः अध्यापन हेतु से अनित्यत्व का प्रतिषेध करना उचित नहीं।

दोनों पक्षों में अध्यापन समान होने से यह सन्देह भी बना रहता है, कि आचार्य के पास विद्यमान शब्द छात्र को उपलब्ध होता है, अथवा नटक्रिया के अनुकरण के समान आचार्यकृत शब्दोच्चारण का छात्र अनुकरण करता है। अतः सन्दिग्ध होने से 'अध्यापन' किसी एक पक्ष का साधक नहीं।। 28।।

अब पूर्वपक्षी शब्द की नित्यता में अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं -

पूर्व० - विनाशकारणानुपलब्धेः।। 33।। (162)

सूत्रार्थ- विनाश के कारण की उपलब्धि न होने से, शब्द नित्य सिद्ध है।

व्याख्या- जो अनित्य है, उस पदार्थ का विनाश उसके करणों से होता है। जैसे-घट, पट आदि अनित्य द्रव्यों का विनाश, उनके कारण-द्रव्यों का विभाग हो जाने पर हो जाता है। यदि शब्द अनित्य होता, तो उसका विनाश जिन कारण से होता है, वह

उपलब्ध होना चाहिए, किन्तु उपलब्ध नहीं होता। अतः शब्द नित्य है।।। 33।।

पूर्वपक्ष के 'विनाशकारणानुपलब्धेः' हेतु का वास्तविक प्रत्याख्यान (खण्डन) करते हैं -

सिद्धान्ती- उपलभ्यमाने चानुपलब्धेरसत्वादनपदेशः॥ 35॥ (164)

सूत्रार्थ- शब्दविनाशकारण के उपलब्ध हो जाने पर शब्दविनाशकारण की अनुपलब्धि के न रहने से उक्त 'विनाशकारण ानुपलब्धेः' हेतु उचित नहीं है।

व्याख्या- शब्द की उत्पत्ति का कारण अभिघात आदि संयोग है, और उत्पत्तिकारण संयोग का नाश हो जाना शब्द के विनाश कारण है। यह पहले कहा जा चुका है, कि शब्द 'बीचीतरंगन्याय' से दूर तक सुनाई देता है। परन्तु हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि जब कोई व्यक्ति कुछ कहता है, तो जिधर खुला वातावरण रहता है, कोई दीवार आदि की बाधा नहीं रहती, उधर दूर तक शब्द सुनाई देता है, जिस ओर दीवार आदि की बाधा हो, उसे पार करके दूसरी ओर शब्द सुनाई नहीं देता। इससे स्पष्ट है, कि शब्द-सन्तति का क्रम, बाधा आ जाने पर नष्ट हो जाता है।

अनुमान के द्वारा भी शब्द के नाश को जाना जा सकता है। जैसे- शब्द अनित्य (विनाशशील) है, उत्पत्तिधर्म वाला होने से, जो भावपदार्थ उत्पन्न होता है, वह अनित्य (विनाशशील) होता है, घट आदि के समान, वैसा ही यह शब्द उत्पत्ति वाला है, अतः उत्पत्तिवाला होने से घट आदि के समान शब्द भी विनाशशील (अनित्य) है। यहाँ विनाशकारण अनुमित है।

अतः शब्द की नित्यता को सिद्ध करने के लिए 'विनाशकारणानुपलब्धेः' हेतु ठीक नहीं है।। 35।।

प्रमुख स्मरणीय बिंदु

1.शब्द की अनित्यता के कारण - पूर्वपक्ष का खंडन -

मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं, परंतु न्यायदर्शन इसे अनित्य सि) करता है। महर्षि गौतम जी ने इसके तीन मुख्य कारण बताए हैं

आदिमत्त्वात् (उत्पत्ति होने से) शब्द प्रयत्न से उत्पन्न होता है। जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका विनाश निश्चित है।

इन्द्रियकत्वात् (इन्द्रिय ग्राह्य होने से) शब्द का ज्ञान श्रवण इन्द्रिय और विषय के संयोग से होता है। यह संयोग क्षणिक है, अतः शब्द भी क्षणिक और अनित्य है।

ख़तकत्वात् (कार्य होने से) जैसे घड़ा बनाया जाता है और नष्ट हो जाता है, वैसे ही शब्द भी कण्ठ-तालु आदि के व्यापार से उत्पन्न किया जाता है, इसलिए वह अनित्य है।

2.नित्यता के तर्कों का समाधान -

विपक्षी - मीमांसक कहते हैं, कि शब्द तो आकाश में हमेशा रहता है, हम केवल उसे प्रकट करते हैं। महर्षि गौतम जी इसका समाधान इस प्रकार करते हैंरू

अभिव्यद्रि का अभाव यदि शब्द नित्य और सर्वव्यापी है, तो वह हमेशा सुनाई देना चाहिए। यदि कहा जाए कि आवरण के कारण नहीं सुनाई देता, तो शब्द को ढंकने वाले उस आवरण का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता।

परम्परागत श्रवण शब्द लहरों की तरह (वीचि-तरंग न्याय से) उत्पन्न होता है। एक शब्द दूसरे को उत्पन्न करता है और अंत में कान के पर्दे तक पहुँचकर नष्ट हो जाता है।

3.शब्द के विनाश की प्रक्रिया -

महर्षि गौतम जी के अनुसार, शब्द का विनाश उसके उत्तरवतह्न बाद वाले शब्द या उसके विरोधी संस्कार से होता है।

शब्द का विनाश वैसा ही है, जैसा अन्य कार्यों का होता है। यदि शब्द नित्य होता, तो व्याकरण के नियम जैसे - सन्धि. विच्छेद और स्व-दीर्घ (छोटा-बड़ा स्वर) का भेद संभव नहीं होता।

4. वेदों की नित्यता और शब्द -

यहाँ एक महत्वपूर्ण स्पष्टीकरण दिया गया है, कि वेदों को नित्य उनकी विषय-वस्तु और परम्परा के कारण कहा जाता है, न कि भौतिक ध्वनि के कारण। ध्वन्यात्मक शब्द तो उत्पन्न और नष्ट होने वाला ही है।

शब्द आकाश का गुण है, परंतु वह गुण उत्पन्न और विनष्ट होने वाला है। अतः शब्द अनित्य है।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न -

1.शब्द को अनित्य सिद्ध करने के लिए न्यायदर्शन द्वारा दिए गए तर्कों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

2.'शब्द नित्य है' - इस पूर्वपक्ष (मीमांसक मत) के तर्कों का महर्षि गौतम जी ने किस प्रकार खंडन किया है?

लघुउत्तरीय प्रश्न -

1.'आदिमत्त्वात' हेतु से शब्द की अनित्यता कैसे सिद्ध होती है?

2.शब्द के विभु या व्यापक होने पर भी उसे अनित्य क्यों माना गया है?

3.'पुनरावृत्ति' के आधार पर पूर्वपक्षी शब्द को नित्य कैसे कहता है?

4.शब्द की उत्पत्ति में संयोग और विभाग की भूमिका स्पष्ट करें।

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1.न्यायदर्शन के अनुसार शब्द कैसा पदार्थ है?

क) नित्य

ख) अनित्य

ग) न नित्य न अनित्य

घ) केवल काल्पनिक

2.शब्द किसका विशेष गुण माना गया है?

क) पृथ्वी

ख) जल

ग) अग्नि

घ) आकाश

3.'ऐन्द्रियकत्वात' का अर्थ है कि शब्द

क) श्रवण इन्द्रिय द्वारा ग्रहण योग्य है

ख) आँखों से दिखता है

ग) मन की कल्पना है

घ) अख्श्य है

4.इनमें से कौन सा मत शब्द को नित्य मानता है, जिसका न्यायदर्शन खंडन करता है?

क) वैशेषिक

ख) मीमांसा

ग) बौद्ध

घ) चार्वाक

5.शब्द के विनाश का मुख्य कारण क्या माना गया है?

क) उसका न सुनाई देना

ख) उसका उत्पन्न होना

ग) वद्रा का मौन होना

घ) इनमें से कोई नहीं

पाश्चात्य दर्शन

BHPHMN202

विषय-सूची

खण्ड-1 सुकरात पूर्व के दार्शनिक

इकाई-1.1 थेल्स, एनेक्जीमेंडर, एनेक्जिमेनीज, पाइथागोरस, हेरेक्लाइट्स,

पाइथागोरस, हेरेक्लाइट्स, पार्मेनीडिज, सॉफिस्ट प्रोटेगोरस, जॉर्जियस

इकाई-1.2 सुकरात- दार्शनिक पद्धति, सद्गुण,

इकाई-1.3 लेटा- प्रत्यय, ज्ञानमीमांसा, आत्मा की अमरता

इकाई-1.4 अरस्तु- द्रव्य एवं स्वरूप, कारणता का सिद्धान्त,

खण्ड-2 आधुनिक दर्शन (बुद्धिवाद)

इकाई-2.1 रेने देकार्त- द्रव्य विचार, आत्मा का विचार, क्रिया-प्रतिक्रियावाद

इकाई-2.2 स्पिनोजा- द्रव्य विचार, सर्वेश्वरवाद, समानान्तरवाद

इकाई-2.3 लाईब्नित्ज- चिदणुवाद।

इकाई-2.4 पूर्व स्थापित सामंजस्य

खण्ड-3 अनुभवाद

इकाई-3.1 बर्कले- जड़वाद की आलोचना, आत्मगत प्रत्ययवाद

इकाई-3.2 ह्यूम-संशयवाद,

इकाई-3.3 कार्य कारणता का सिद्धान्त,

इकाई-3.4 आत्मा एवं ईश्वर विचार

खण्ड-4 काण्ट का समीक्षावाद

इकाई-4.1 संश्लेषणात्मक एवं विश्लेषणात्मक ज्ञान

इकाई-4.2 बुद्धि की कोटियाँ

इकाई-4.3 देश काल की अवधरणा

इकाई-4.4 अज्ञेयवाद।

पाश्चात्य दर्शन

पाश्चात्य दर्शन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

काल की दृष्टि से सम्पूर्ण पाश्चात्य दर्शन को पाँच युगों में विभाजित किया जा सकता है-

1. **ग्रीक यूनानी युग**- ईसा से छठी शताब्दी पूर्व से चौथी शताब्दी तक।
2. **मध्ययुग**- पांचवी शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक ।
   पन्द्रहवी शताब्दी के मध्य से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के मध्य (1450-1644) का काल सन्धि-काल कहलाता है।
3. **आधुनिक युग**- सत्रहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक।
4. **अर्वाचीन युग**- उन्नीसवीं शताब्दी।
5. **समकालीन युग**- बीसवीं शताब्दी।

पाश्चात्य-दर्शन का जन्म ग्रीस में हुआ। ग्रीक दर्शन में सर्वप्रथम हमें जड़-जगत् के विषय में विवेचन मिलता है। थेलीज से डेमॉक्रिटस तक का दर्शन जड़-जगत् का ही दर्शन है। इसमें संसृति विज्ञान पर विशेष ध्यान दिया गया है। दर्शन के इतिहास की यह सामान्य विशेषता है कि पहले उसमें तत्त्व-विज्ञान की प्रतिष्ठा की जाती है। तत्त्व-विज्ञान पर विचार करते-करते जब हमारे अन्दर क्लान्ति उत्प हो जाती है तो तत्त्व-विज्ञान से हम संसति-विज्ञान की ओर अग्रसर होते हैं। यह प्रवृत्ति ग्रीक दर्शन, आधुनिक दर्शन और समकालीन दर्शन, तीनों में समान रूप से पाई जाती है। प्लेटो एवं एरिस्टॉटल के दर्शन समन्वयात्मक दर्शन के ज्वलन्त उदाहरण हैं। उनमें वस्तुनिष्ठा, आत्मनिष्ठा और तत्त्वनिष्ठा, तीनों का समावेश पाया जाता है।

पांचवी शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक का दर्शन-काल अन्धकार का युग कहलाता है। क्योंकि इस समय दर्शन स्वतन्त्र न होकर ईसाई धर्म, विशेषकर कैथोलिक चर्च की मान्यताओं का दास रहा। इस काल में स्वतन्त्र चिन्तन के अभाव के कारण दर्शन में कोई प्रगति नहीं हुई और बुद्धि अथवा तर्क का स्थान अन्धविश्वासों ने ले लिया। एरिजेना मध्ययुग के प्रथम प्रसिद्ध दार्शनिक हैं और विलियम ओखम अन्तिम। मध्ययुग को शास्त्रीय युग भी कहते हैं।

पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर सत्रहवीं सदी के मध्य (1450-1644) तक का काल सन्धि-काल कहलाता है। मध्य युग और आधुनिक युग के सन्धि-काल का इतिहास सांस्कृति पुनर्जागरण और धार्मिक सुधार का इतिहास है। इस काल में धार्मिक परम्पराओं एवं उनके प्रभुत्व का क्रमिक ह्रास तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं भौतिक विज्ञान की उत्तरोत्तर उन्नति होती है। निकोलस ऑव क्यूसा (1401-1464) से लेकर फ्रांसिस बेकन (1561-1626) तक का इतिहास सन्धि-काल का इतिहास है।

आधुनिक दर्शन का प्रारम्भ फ्रान्स के सुप्रसिद्ध दार्शनिक रेने देकार्त (1596-1650) से होता है। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी का दर्शन धर्म से बिल्कुल ही प्रभावित न होकर 'विज्ञान' द्वारा संचालित है।' इस काल के **देकार्त, स्पिनोजा** और **लाइब्नित्ज** केवल दार्शनिक ही नहीं थे, वे प्रथम श्रेणी के गणितज्ञ और वैज्ञानिक भी थे। उनके दर्शन पर उनके गणित और विज्ञान की गहरी छाप है। लॉक, बर्कले और ह्यूम ने विज्ञान की निरीक्षण एवं आगमन-पद्धति से प्रभावित होने के कारण ही दर्शन में अनुभववाद की स्थापना की। उनके दर्शन के ऊपर प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन की प्रिन्सिपिया का प्रभाव स्पष्ट है। काण्ट का दर्शन भी विज्ञान के प्रभाव से अछुता नहीं रहा है। उन्होंने स्वयं विज्ञान पर पुस्तकें लिखी थी। काण्ट के बाद के दार्शनिकों के ऊपर, जैसे हेगल और ब्रैडले पर विकासवादी दर्शन का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

अर्वाचीन दर्शन उननिसवीं शताब्दी का दर्शन है। यह हेगल के दर्शन के विज्ञानवाद, सर्वेश्वरवाद, बुद्धिवाद एवं प्रागनुभविक पद्धति के प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुआ।

समकालीन दर्शन बीसवीं शताब्दी का दर्शन है। इस दर्शन के ऊपर विज्ञान एवं गणित की अपूर्व छाप है। समकालीन दर्शन बर्ट्रेण्ड रसेल से प्रारम्भ होता है जो स्वयं एक महान् गणितज्ञ और वैज्ञानिक थे। वे और उनके गुरु ह्वाइटहेड नयी अनुभववादी क्रान्ति के जनक व प्रवर्त्तक माने जाते हैं।

(खण्ड- 1, सुकरात के पूर्व दार्शनिक)

इकाई-1.1 ग्रीक् युग- थेलीज, ऐनिक्जिमेण्डर, एनेक्ज़िमेनीज, पाइथेगोरस, हेरेक्लाइटस, पार्मेनाइडीज, सोफिस्ट, प्रोटेगोरस, जॉर्जियस

उद्देश्य-

1. प्रारम्भिक यूनानी दर्शन की विशेषताओं को समझना।
2. प्रकृति संबंधी दार्शनिक विचारों का अध्ययन करना।
3. सोफिस्टों एवं प्रारम्भिक दार्शनिकों के योगदान का विश्लेषण करना।

ग्रीक दर्शन का सबसे प्राचीन मत 'माइलेशियन मत' है, जिसके तीन प्रतिनिधि - थेलीज़, ऐनिक्जिमेण्डर और एनेक्ज़िमेनीज़ हैं।

थेलीज- थेलीज पाश्चात्य दर्शन के सर्वप्रथम दार्शनिक हैं। इनकी गणना ग्रीस के 'सप्तर्षियों' में की जाती है। इन्होंने मिस्त्र का रेखा-गणित प्रणाली का ग्रीस में प्रथम बार प्रचार किया। इनका समय ईसा से पूर्व छठीं शताब्दी है इन्होने 585 ई0 पूर्व में होने वाले सूर्य ग्रहण की भविष्यवाणी कर दी थी। थेलीज के अनुसार विश्व का परम तत्व 'जल' है। जल से ही सृष्टि की उत्पत्ति है, जल के ऊपर ही इसकी स्थिति है और जल में ही इसका प्रलय है। जल, बिन्दु रूप से, सबका जनक है। जल गति और परिणाम का सूचक है और उस परिणाम का आधारभूत तत्व भी है। जल तरल है, किन्तु उड़नेवाली भाप के रूप में और घन बर्फ के रूप में भी बदलता है। जल जीवन और पोषण के लिए आवश्यक है।

ऐनिक्ज़िमेन्डर- ऐनिक्ज़िमेन्डर के अनुसार जल या अन्य किसी भौतिक द्रव्य को परम तत्व नहीं माना जा सकता । परम तत्व अनन्त होना चाहिए। चारों भौतिक द्रव्य, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, सान्त हैं। इनमें परस्पर संघर्ष है। यदि इनमें कोई द्रव्य या महाभूत अनन्त होता तो अन्य महाभूतों की सत्ता नहीं रहती। इस परम तत्व को उन्होंने केवल 'असीम' कह कर पुकारा है।

एनेक्ज़िमेनीज-ये एनेक्जिमेण्डर के शिष्य हैं। इन्होंने वायु को परम तत्व माना और उसे असीम और अनन्त बताया। वायु ही अग्नि का रूप लेती है और तरल होकर जल बन जाती है एवं जम कर पृथ्वी के रूप में परिणत हो जाती है। आत्मा भी प्राणवायु ही है। इससे गति और जीवन का संचार होता है। समस्त लोक वायु के आधार पर टिके हुए हैं।

पाइथेगोरस- माइलेशियन मत के बाद पाइथेगोरस मता का जन्म हुआ। इसके संस्थापक पाइथेगोरस थे। इनमें वैज्ञानिक विश्लेषण और रहरस्वादी साधना का समन्वय था। इनका समय ईसा से पूर्व छठीं शताब्दी है। गणित के ये संस्थापक माने जाते है। रेखागणित में इनके नाम से इनका एक सिद्धान्त अभी तक प्रचलित है। इनके अनुसार सब पदार्थ संख्यामात्र है। संगीत को ये मानसिक दोष दूर करने का साधन मानते थे और दर्शन को 'सर्वोत्तम संगीत' कहते थे। जैसे संगीत मे विविध स्वर एक ही तीन को ध्वन्ति करते हैं, वैसे ही दर्शन में भी सब सांसारिक पदार्थ, परस्पर भिन्न होते हुए भी एक ही तत्व का राग अलापते हैं। पाइथेगोरस ने 'स्वरूप' की प्रतिष्ठा की। स्वरूप अतीन्द्रिय सामान्य और विज्ञानरूप है। अभेद, समन्वय और सांमजस्य इसी कारण संभव होते हैं।

हेरेक्लाइटस-ये ईसा से पूर्व छठीं शताब्दी के अन्त और पांचवी शताब्दी के आरम्भ में हुए। हेरेक्लाइटस के अनुसार अग्नि या तेजस्तत्व पर तत्व है। इसी से जल और पृथ्वी उत्प होता है। यह तत्व ज्वलन्त और गतिशील है। अग्नि और परिणाम दोनों एक है। संसार में कुछ भी नित्य नहीं है। सब अनित्य और क्षणिक हैं। वस्तुतः कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो गतिशील या परिणामी हो, किन्तु गति या परिणाम ही एक मात्र तत्व है। विश्व गति है, परिणाम है, धारा है, प्रवाह है, सन्तान है।

पार्मेनाइडीजः - इनका समय ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी है। प्लेटो के अनुसार जब एथेन्स में इनका वार्तालाप सॉक्रेटीज से हुआ तव इनकी अवस्था 65 वर्ष की थी। पार्मेनाइडीज का दर्शन हेरेक्लाइटस के क्षणिकवाद का तीव्र खण्डन करता है। इनके अनुसार तत्व 'सत्य' है, परिणाम या गति नहीं । तत्व 'शुद्ध सत्ता' है। वह एक, अद्वितीय, नित्य, अपरिणामी, अविनाशी और कूटस्थ है। गति, परिवर्तन या परिणाम केवल भ्रान्ति है । वस्तुतः गति असम्भव है।

जीनोः- जीनो ईलिया के निवासी और पार्मेनाइडीज के शिष्य थे। उनके प्रखर तर्कों के प्रहार भयंकर होते थे। उन्होंने विरोधियों का प्रबल खण्डन करके भेद-प्रपंच और गति को भ्रान्तिमात्र सिद्ध किया। यदि 'सत्' अनेक-रूप हो तो उसे

एक साथ 'सान्त और अनन्त' दोनों होना पड़ेगा जो असंगत है। यदि 'सत्' अनेक रूप हो तो उसकी सत्ता आकाश में माननी पड़ेगी और आकाश से परिच्छिन्न होने के कारण वह 'सत्' नहीं रहेगा।

गति के विरुद्ध जीनो के तर्क ये हैं-

गति का प्रारम्भ ही नहीं हो सकता, क्योंकि एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के पहले इस दूरी की आधी दूरी तक जाना पड़ेगा और इस आधी दूरी के पहले इसकी भी आधी दूरी तय कर लेनी पड़ेगी और इस प्रकार आधी दूरी की संभावना सदा बनी रहने के कारण गति का प्रारम्भ ही नहीं हो सकता। 'सान्त' समय में यह 'अनन्त' दूरी तय नहीं की जा सकती।

सोफिस्ट सम्प्रदायः- ईसा पूर्व पाँचवीं सदीं के मध्य में ग्रीस में सन्देहवाद की धारा वेग से बही। धार्मिक अन्धविश्वास उखड़ रहे थे और सामाजिक तथा नैतिक जीवन की रूढ़ियों पर भी आँच आ रही थी। जिन लोगों ने इस विचार-स्वातन्त्र्य को लाने में सहायता दी वो **'सोफिस्ट'** कहलाते हैं। ये लोग अपने समय की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों की उपज हैं।

प्रोटेगोरसः- ५ वीं सदीं ई.पू. प्लेटो ने अपनी एक कृति इन्हीं के नाम पर लिखी है जिससे सिद्ध होता है कि प्लेटो इनका आदर करते थे। प्रोटेगोरस का सिद्धान्त, ''मानव सव पदार्थों का मानदण्ड है'', प्रसिद्ध हैं।

जॉर्जियसः - दूसरे प्रसिद्ध सोफिस्ट जॉर्जियस हैं। उनके अनुसार सत्य सापेक्ष ही है, निरपेक्ष सत्य असम्भव है। उनका मत है कि प्रथम तो कोई सत्य ही नहीं है, द्वितीय, यदि हो भी तो उसे हम नहीं जान सकते; तृतीय, यदि जान भी लें तो उसे दूसरे को समझा नहीं सकते।

स्मरणीय बिन्दु-

- यूनानी दर्शन का जन्म ग्रीस में हुआ।
- थेलीज पश्चिमी दर्शन के प्रथम दार्शनिक माने जाते हैं।
- हेराक्लाइटस परिवर्तन को वास्तविकता मानते थे।
- परमेनाइड्स ने परिवर्तन को भ्रम कहा।

शब्दावली-

- तत्व – Element
- परिवर्तनवाद – Doctrine of Change
- सत् – Being
- असीम – Infinite
- सोफिस्ट – Sophist

5 अंक के प्रश्न-

1. थेलीज के जल सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।
2. एनेक्सिमेण्डर के 'असीम' सिद्धांत को समझाइए।
3. हेराक्लाइटस के परिवर्तनवाद पर टिप्पणी कीजिए।
4. परमेनाइड्स के सत् सिद्धांत का वर्णन कीजिए।
5. सोफिस्टों की मुख्य विशेषताएँ बताइए।

15 अंक के प्रश्न-

1. प्रारम्भिक यूनानी दर्शन का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. पाइथागोरस के दार्शनिक विचारों का विश्लेषण कीजिए।
3. हेराक्लाइटस एवं परमेनाइड्स के विचारों की तुलना कीजिए।
4. सोफिस्ट दर्शन की समीक्षा कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. थेलीज ने जगत का मूल तत्व किसे माना?

(क) अग्नि

(ख) जल

(ग) वायु

(घ) पृथ्वी

2. 'सब कुछ प्रवाहमान है' किसका कथन है?

(क) परमेनाइड्स

(ख) सुकरात

(ग) हेराक्लाइटस

(घ) प्लेटो

3. सोफिस्ट किस लिए प्रसिद्ध थे?

(क) विज्ञान

(ख) तर्कशास्त्र

(ग) राजनीति एवं वाद-विवाद

(घ) गणित

इकाई 1.2 सुकरात- दार्शनिक पद्धति, सद्‌गुण

उद्देश्य-

1. सुकरात की प्रश्नोत्तर पद्धति को समझना।
2. ज्ञान एवं सद्‌गुण के संबंध का अध्ययन करना।
3. सुकरात के नैतिक दर्शन का विश्लेषण करना।

सुकरात यूनान के महान दार्शनिक थे। उन्हें पाश्चात्य दर्शन का जनक माना जाता है। उनका जन्म लगभग 469 ईसा पूर्व एथेंस में हुआ था। सुकरात ने दर्शन को केवल प्रकृति और ब्रह्मांड के अध्ययन तक सीमित न रखकर मानव जीवन, नैतिकता, ज्ञान तथा आत्मा से संबंधित प्रश्नों की ओर मोड़ा। वे सत्य, नैतिकता और ज्ञान की खोज को जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य मानते थे।

सुकरात ने स्वयं कोई पुस्तक नहीं लिखी, परंतु उनके विचारों का वर्णन उनके शिष्य च्संजव ने अपनी रचनाओं में किया। सुकरात की दार्शनिक पद्धति तथा सद्‌गुण संबंधी विचारों ने सम्पूर्ण पश्चिमी दर्शन पर गहरा प्रभाव डाला।

सुकरात की दार्शनिक पद्धति को मुख्यतः संवाद पद्धति अथवा प्रश्नोत्तर पद्धति कहा जाता है। इस पद्धति का उद्देश्य सत्य की खोज करना था। वे लोगों से प्रश्न पूछकर उनके विचारों की परीक्षा करते थे और तर्क द्वारा सही निष्कर्ष तक पहुँचते थे।

संवाद पद्धति

सुकरात का विश्वास था कि सत्य तक पहुँचने का सबसे अच्छा मार्ग संवाद है। वे किसी विषय पर सीधे उपदेश नहीं देते थे, बल्कि प्रश्न पूछते थे। प्रश्नों के माध्यम से वे सामने वाले व्यक्ति के विचारों में उपस्थित त्रुटियों को उजागर करते थे।

उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति कहता कि "साहस सबसे बड़ा गुण है", तो सुकरात उससे पूछते-

- साहस क्या है?
- क्या हर परिस्थिति में साहस अच्छा होता है?
- क्या मूर्खता और साहस में अंतर है?

इन प्रश्नों के माध्यम से व्यक्ति स्वयं अपने विचारों की कमजोरियों को समझने लगता था।

संवाद पद्धति की विशेषताएँ

1. **प्रश्न और उत्तर पर आधारित**- यह पद्धति पूर्णतः प्रश्नोत्तर शैली पर आधारित थी।

2. **तर्क का महत्व**- सुकरात तर्क और बुद्धि को ज्ञान का आधार मानते थे।

3. **सत्य की खोज**- उनका उद्देश्य केवल बहस जीतना नहीं, बल्कि सत्य तक पहुँचना था।

4. **आत्म-चिंतन को प्रेरणा**- वे व्यक्ति को अपने विचारों की जाँच करने के लिए प्रेरित करते थे।

सुकरात अक्सर स्वयं को अज्ञानी प्रदर्शित करते थे। वे कहते थे- "मैं यह जानता हूँ कि मैं कुछ नहीं जानता।"

इसका उद्देश्य सामने वाले व्यक्ति को अधिक बोलने और अपने विचार स्पष्ट करने के लिए प्रेरित करना था। जब व्यक्ति अपने विचार प्रकट करता, तब सुकरात तर्क के द्वारा उसकी गलतियों को दिखाते थे।

इस पद्धति का उद्देश्य-

- व्यक्ति के मिथ्या ज्ञान को समाप्त करना
- वास्तविक ज्ञान की ओर ले जाना
- अहंकार को तोड़ना

सुकरात की माता दाई का कार्य करती थीं, इसलिए वे कहते थे कि जैसे दाई बच्चे को जन्म देने में सहायता करती है, वैसे ही दार्शनिक व्यक्ति के भीतर छिपे ज्ञान को बाहर लाने में सहायता करता है। सुकरात का विश्वास था कि ज्ञान मनुष्य के भीतर पहले से मौजूद होता है। शिक्षक केवल उचित प्रश्न पूछकर उस ज्ञान को प्रकट करता है; यह पद्धति स्वतंत्र चिंतन को बढ़ावा देती है। विद्यार्थी स्वयं निष्कर्ष तक पहुँचता है। ज्ञान स्थायी और गहरा बनता है।

सुकरात प्रत्येक नैतिक शब्द की स्पष्ट परिभाषा चाहते थे। वे पूछते थे-

- न्याय क्या है?
- सद्गुण क्या है?
- सत्य क्या है?

उनका मानना था कि जब तक किसी वस्तु की सही परिभाषा ज्ञात न हो, तब तक उसका वास्तविक ज्ञान संभव नहीं।

सद्गुण- उनके अनुसार यदि व्यक्ति को सही ज्ञान प्राप्त हो जाए, तो वह कभी गलत कार्य नहीं करेगा।

ज्ञान और सद्गुण का संबंध- सुकरात के अनुसार-

- अच्छा कार्य सही ज्ञान से उत्पन्न होता है।
- बुरा कार्य अज्ञान का परिणाम है।
- कोई व्यक्ति जानबूझकर बुरा कार्य नहीं करता।

यदि कोई व्यक्ति चोरी करता है या अन्याय करता है, तो उसका कारण यह है कि वह वास्तविक अच्छाई को नहीं समझता।

उदाहरण- यदि किसी व्यक्ति को यह ज्ञान हो जाए कि सत्य और न्याय अंततः लाभदायक हैं, तो वह कभी अन्याय नहीं करेगा।

अज्ञान ही बुराई का कारण- सुकरात ने कहा कि मनुष्य की सभी बुराइयों का मूल कारण अज्ञान है। इसलिए समाज में सुधार लाने के लिए शिक्षा और ज्ञान आवश्यक हैं।

मुख्य विचार-

- ज्ञान से नैतिकता उत्पन्न होती है।
- अज्ञान से अनैतिकता उत्पन्न होती है।
- शिक्षा मनुष्य को श्रेष्ठ बनाती है।

आत्मा का महत्व- सुकरात शरीर की अपेक्षा आत्मा को अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। उनके अनुसार-

- धन और शक्ति अस्थायी हैं।
- आत्मा का विकास स्थायी है।
- नैतिक जीवन आत्मा को शुद्ध बनाता है।

वे कहते थे कि मनुष्य को बाहरी सुखों की बजाय आत्मिक उन्नति पर ध्यान देना चाहिए।

आत्म-नियंत्रण और संयम- सुकरात संयम, आत्म-नियंत्रण और सादगी को महत्वपूर्ण सद्गुण मानते थे। उनका जीवन अत्यंत सरल था। वे भौतिक सुखों की अपेक्षा नैतिकता और सत्य को अधिक महत्व देते थे।

सुकरात के प्रमुख सिद्धांत

1. अपने आप को जानो- यह सुकरात का प्रसिद्ध सिद्धांत था। उनका मानना था कि आत्म-ज्ञान के बिना सच्चा ज्ञान संभव नहीं।

2. अपरिक्षित जीवन जीने योग्य नहीं- वे कहते थे, "अपरिक्षित जीवन जीने योग्य नहीं है।" अर्थात मनुष्य को अपने जीवन, विचारों और कर्मों की निरंतर परीक्षा करनी चाहिए।

3. नैतिकता सर्वोच्च है- सुकरात ने नैतिकता को जीवन का सर्वोच्च मूल्य माना। उनके अनुसार सत्य, न्याय और सदाचार के बिना जीवन अधूरा है।

सुकरात की मृत्यु और उसका महत्व

एथेंस के शासकों ने सुकरात पर युवाओं को भटकाने और देवताओं का अपमान करने का आरोप लगाया। उन्हें मृत्युदंड दिया गया।

सुकरात ने अपने सिद्धांतों से समझौता नहीं किया और विष का प्याला (हेमलॉक) पीकर मृत्यु स्वीकार कर ली। उनकी मृत्यु सत्य और नैतिकता के प्रति समर्पण का प्रतीक मानी जाती है।

सुकरात के दर्शन का प्रभाव

सुकरात के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ाख़

- प्लेटो पर
- अरस्तु पर
- सम्पूर्ण पाश्चात्य नैतिक दर्शन पर

उनकी प्रश्नोत्तर पद्धति आज भी शिक्षा और तर्कशास्त्र में उपयोग की जाती है।
सुकरात ने दर्शन को मानव जीवन और नैतिकता से जोड़ा। उनकी दार्शनिक पद्धति ने तर्क, प्रश्न और आत्म-चिंतन को महत्व दिया। उनका सद्गुण सिद्धांत इस विचार पर आधारित था कि "ज्ञान ही सद्गुण है" और अज्ञान ही बुराई का कारण है।
इस प्रकार सुकरात केवल एक दार्शनिक ही नहीं, बल्कि नैतिक चेतना और सत्य की खोज के महान मार्गदर्शक थे।

स्मरणीय बिन्दु-

- सुकरात को पश्चिमी नैतिक दर्शन का जनक कहा जाता है।

- उनका विश्वास था कि सही ज्ञान सही कर्म उत्पन्न करता है।
- प्रश्नोत्तर पद्धति आज भी शिक्षण में उपयोगी है।

शब्दावली-

- सद्‌गुण – Virtue
- आत्मज्ञान – Self Knowledge
- संवाद पद्धति – Dialectic Method
- नैतिकता – Ethics

5 अंक के प्रश्न-

1. सुकरात की संवाद पद्धति क्या है?
2. 'ज्ञान ही सद्‌गुण है' की व्याख्या कीजिए।
3. सुकरात आत्मज्ञान को क्यों महत्त्व देते हैं?
4. सुकरात की मृत्यु का कारण बताइए।

15 अंक के प्रश्न-

1. सुकरात की दार्शनिक पद्धति का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. सुकरात के सद्‌गुण सिद्धांत की विवेचना कीजिए।
3. पश्चिमी नैतिक दर्शन पर सुकरात के प्रभाव का वर्णन कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. सुकरात की प्रसिद्ध उक्ति है ख

(क) मैं सब जानता हूँ

(ख) अपने आपको जानो

(ग) परिवर्तन ही सत्य है

(घ) ज्ञान भ्रम है

2. सुकरात के अनुसार बुराई का कारण क्या है?

(क) गरीबी

(ख) अज्ञान

(ग) राजनीति

(घ) धर्म

3. सुकरात ने कौन-सा विष पिया था?

(क) हेमलॉक

(ख) अफीम

(ग) शराब

(घ) धतूरा

इकाई 1.3 प्लेटो- प्रत्यय, ज्ञान मीमांसा, आत्मा की अमरता

उद्देश्य-

1. प्लेटो के प्रत्ययवाद को समझना।
2. प्लेटो की ज्ञानमीमांसा का अध्ययन करना।
3. आत्मा की अमरता संबंधी विचारों का विश्लेषण करना।

सम्प्रत्ययवाद

सम्प्रत्ययवाद के अनुसार सम्प्रत्यय जाति भावना है जो किसी एक प्रकार की विशिष्ट वस्तुओं में देखी जाती है। जैसे- गोत्व सभी विशिष्ट काली, उजली, चित्तकवरी गायों में पाया जाता है। इसके अनुसार सदृश वस्तुओं में पाये जाने वाले सामान्य गुण को सम्प्रत्यय कहा जाता है। सम्प्रत्यय विशिष्ट वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य कोई अपनी सत्ता नहीं रखते हैं। हाँ सम्प्रत्यय मानव मन की उपज है, पर विशिष्ट वस्तुएँ इसका आश्रय होती है।

नाममात्रवाद

नामात्रवाद के अनुसार सम्प्रत्यय नाम है, या शब्द मात्र है जो किसी एक प्रकार की वस्तुओं की ओर निर्देश करता है। इसके अनुसार केवल विशिष्ट वस्तुओं की ही सत्ता है और संप्रत्यय की अपनी कोई सत्ता नहीं है।

प्रत्ययस्ा्ावाद

प्रत्यय सत्यवाद का अर्थ है, वही ब्रह्मवाद जिसमें आदर्श को स्थान दिया जाता है। पर **प्लेटो** तथा **हेगेल** के दर्शन में प्कमंसपेउ का अर्थ है, वह वाद जिसमें प्रत्यय की अपनी निजी और स्वतन्त्र सत्ता स्वीकारी जाती है।

सुकरात ने यह अवश्य कहा कि ज्ञान संप्रत्ययों के ही आधार सच्चा ज्ञान हो सकता है क्योंकि सम्प्रत्यय सर्वव्यापी और सर्वमान्य सामान्य होता है। जब सुकरात के अनुसार संप्रत्यय क्या वंस्तुविशेषों में पाये जाते हैं? सुकरात के अनुसार वस्तुविशेषों और सर्वव्यापी सामान्यों से विरोध है। अतः वस्तुविशेषों में सम्प्रत्यय नहीं होते है। तब सम्प्रत्यय कहाँ से आए? सुकरात कहेंगे कि सभी मनुष्यों में सुषुप्तावस्था में कैसे और कहाँ से आए? उनकी **'धातृविधि'** के आधार पर दो बातें स्पष्ट है-

(i) सामान्य मानव मन में सुषुप्तावस्था में रहते है।

(ii) फिर वस्तुविशेष का काम यही है कि सुषुप्तावस्था में पडे सामान्यों को जागृत करें। इन दोनों बातों को स्पष्ट करने के लिए प्लेटो ने प्रत्ययवाद की स्थापना की है-

प्लेटो ने ऐसी स्थिति में प्रत्ययों की अपनी निजी-स्वतन्त्रता मानी है। इसलिए प्लेटो के प्रत्ययवाद को प्रत्ययात्मक वास्तववाद भी कहा जात है।

प्लेटो के दर्शन में प्रत्ययों का स्थान उनके चिन्तन का केन्द्र है, पर इसकी व्याख्या करने के लिए प्लेटो की ज्ञान मीमांसा के दो भागों में बाँटा जाता है, अर्थात् **नकारात्मक** और **स्वीकारात्मक** पक्ष, नकारात्मक पक्ष में बताया जाता है कि ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है और स्वीकारात्मक पक्ष को प्रत्यय सिान्त जेमवतल वि पकमें कहा जाता है।

प्लेटो का प्रत्यय सिद्धान्त

प्लेटो का प्रत्यय सिद्धान्त सुकरात के संप्रत्यय सिद्धान्त का ही विकसित रुप है, प्लेटो के मत को प्रत्ययों का वास्तववाद कहा जाता है। यहाँ प्रत्यय केवल सम्प्रत्यय नहीं है, पर ये आदर्श है। जिस प्रकार से विशिष्ट गाय, घोडे

इत्यादि को मानसिक नहीं माना जाता है, पर कहा जाता है कि ये विशिष्ट पशु एवं वस्तुओं की मानव मन से परे उनकी स्वतन्त्र सत्ता प्लेटो ने स्वीकारी है। इसलिये प्लेटो के अनुसार प्रत्ययों की स्वतन्त्र निजी सत्ता है। चूँकि प्रत्यय इन्द्रियग्राह्य नहीं होते और न दिक्-काल में होते है। इसलिये इन्हें वास्तविक नहीं काह जा सकता।

अद्वैत वेदान्त की भाषा में वास्तविक सत्ता परम् सत् नहीं है। वह माया है। उसकी सत्ता व्यावहारिक है, पर इसके विपरीत पारलौकिक ब्रह्म ही परम सत् है। प्लेटो का प्रत्ययवाद भी बहुत कुछ अद्वैत वेदान्त के समान ही है।

सम्प्रत्यय और प्रत्यय

सुकरात के अनुसार वस्तुविशेषों को प्रत्यक्ष करने के बाद ही उनका सम्प्रत्यय प्राप्त किया जाता है। इसके विपरीत प्लेटो का कहना है कि सामान्य प्रत्यय का ज्ञान वस्तु विशेषों के प्रत्यक्ष करने के पूर्व ही हम में होता है, और तब उनके आधार पर उन्हें मानदंड समझकर हम वस्तुओं को समझ पाते है। प्लेटो का प्रत्यय सुकराती सम्प्रत्यय नहीं है और प्रत्ययों का सच्चा ज्ञान पूर्व जन्म में हुई अनुभूतियों के अनुस्मरण मात्र से होता है। इसलिये अब प्रत्ययों के लक्षणों पर ध्यान देना चाहिए।

प्रत्ययों का अनुतंत्र

प्लेटो के प्रत्यय सिद्धान्त में प्रत्यय अनेक है। जितने जाति सम्प्रत्यय है, उतने ही प्रत्यय भी है। प्लेटो के अनुसार प्रत्यय अनेक अवश्य है पर उनमें सोपानक्रमिक व्यवस्था होती है। इस प्रकार की व्यवस्था को पिरौमिडी कहा जाता है। प्रत्येक पिरौमिडी व्यवस्था की आधारभूमि में अनेक निम्नतर वस्तुएँ रहती है। और जैसे-जैसे निम्नतर से उच्चतर वस्तुओं की ओर प्रगति होती जाती है, वैसे-वैसे अधिक अमूर्त प्रत्यय देखने में आते है, और अन्त में चोटी पर केवल सर्वव्यापक अति अमूर्त प्रत्यय एक ही रह जाता है। प्लेटो की पिरौमिडी व्यवस्था में शुभ का प्रत्यय चोटी पर रहता है।

प्लेटो को सोपानक्रमिक व्यवस्था का आभास संभवत: प्रत्ययों के वर्गीकरण की प्रक्रिया से प्राप्त हुआ होगा। वर्गीकरण की प्रक्रिया में नीचे से ऊपर प्रगति की जाती है, अर्थात् विशेष से सामान्य की ओर और सामान्यता की अमूर्तता के आधार पर कम सामान्य से अधिक और अन्त में अधिकतम सामान्य की ओर प्रगति की जाती है।

शुभ का प्रत्यय विश्व की सभी वस्तुओं, मानव विचार में अन्तर्निहित सभी सम्प्रत्ययों और प्रत्ययों की अन्तर्वर्ती शक्ति है। अत: सामान्यता की दृष्टि से शुभ का प्रत्यय सभी प्रत्यक्षों और प्रत्ययों से अतीतज है पर संचालन की दृष्टि से शुभ का प्रत्यय सभी प्रत्यक्षों और प्रत्ययों में उनकी अन्तर्वर्ती अनुप्रमाणित करने वाली शक्ति है।

प्लेटो का दर्शन केवल ज्ञानपिपासा को शान्त नहीं करता है। इनका मुख्य उदेद्श्य है कि मानव अपनी चरम गति को प्राप्त करे, जिसमें मानव देवत्व को प्राप्त कर अमर हो जाता है।

शुभ प्रत्यय का स्वरुप

सुकरात ने शुभ सम्प्रत्यय के द्वारा सभी सद्गुणों को व्यवस्थित किया था। इसी प्रकार प्लेटो भी शुभ प्रत्यय के आधार पर सभी प्रत्ययों को क्रमबद्ध करते हैं।

शुभ प्रत्यय के द्वारा ज्ञान और सत्यता को प्राप्त किया जाता है, पर याद रखना चाहिये कि शुभ प्रत्यय ज्ञान और सत्यता से उच्चतर भी है। फिर शुभ का प्रत्यय न केवल प्रत्ययों का सारतत्व होता है, परन्तु वह उनकी शक्तियों और सारतत्वों की अपेक्षा कहीं अधिक बढकर होता है।

प्लेटो ने शुभा के प्रत्यय को विश्व और प्रत्ययों का कारण कहा है पर यह कारण अधिकतर अरस्तू के द्वारा प्रतिपादित प्रयोजन कारण के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। शुभ का प्रत्यय इस अर्थ में कारण है कि सभी वस्तुएँ उसी से निकलती है और अन्तिम रुप में फिर उसी ओर प्रगति करती है।

ईश्वर विचार

प्लेटो का ईश्वर सम्पूर्णतया शुभ और नैतिक है। प्लेटो ने ईश्वर को सृष्टिकर्ता माना है, कहा गया है कि गर्त में से तथा चार अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु के आधार पर ईश्वर ने इस विश्व की व्यवस्था की है, विश्व की रचना के साथ उसने काल की भी रचना की है। इस रुप में ईश्वर को शिल्पकार कहा जा सकता है, क्योंकि पूर्व स्थापित पदार्थ के आधार पर ईश्वर ने विश्व की व्यवस्था की है।

ईश्वर और शुभ प्रत्यय

प्लेटो को धर्म के संरक्षण हेतु ईश्वर की अवधारणा को स्थान देना पडा था। वास्तव में न्यायसंगत रीति से ईश्वर का कोई स्थान उनके प्रत्यय सिद्धान्त में नहीं है। कोई भी प्रत्यय ऐसा नहीं है जो गति उत्पनन करे। इसलिए ईश्वर प्रत्यय यदि हो तो भी उसे सृष्टिकर्ता अथवा रचयिता नहीं कहा जा सकता है। फिर प्रत्यय परिभाषा तुल्य है, तथा वैज्ञानिक नियम। इनमें व्यक्तित्व, इच्छा, संकल्प तथा अभिप्रेरणाओं का अभाव ही कहा जायेगा। पर ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण माना गया है जो प्लेटो के प्रत्यय सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

न्यायसंगत रुप में यदि प्रत्यय सिद्धान्त सही हो तो ईश्वरवाद नहीं स्वीकारा जा सकता है और यदि ईश्वरवाद को उचित माना जाये तो प्रत्यय सिद्धान्त, सही नहीं होता है। संभव है कि प्रत्यय सिद्धान्त और ईश्वरवाद के बीच न्यायसंगत संबद्धता न हो, पर दोनों का लक्ष्य एक ही था कि मानव सदगुणी हो, इसी जीवन में अमरता का पान करे, और देव तुल्य भव्य आत्माएँ हो जाये।

जीव और जगत् विचार

प्लेटो के दर्शन में मानव आत्मा के संदर्भ में दो उल्लेखनीय बाते हैं- अर्थात् आत्मा का जन्म जन्मान्तरों में आवागमन का सिद्धान्त और जन्म के पूर्व प्रत्यय ज्ञान का अनुस्मरण का सिद्धान्त।

प्लेटो ने आत्मा की अमरता के पक्ष में कई प्रमाणों को प्रस्तुत किया है-

(1) आत्मा ही एक प्रकार का अस्तित्व है जो स्वत: संचालित होता है और अन्य सभी वस्तुओं को संचालित करता है। यह आत्म संचालित अस्तित्व आत्मा है। चूँकि गति का अन्त कभी नहीं होता, इसलिए स्वत: संचालित आत्मा अमर कही जा सकती है।

- जहाँ दो अवस्थाएँ सापेक्ष हो तो एक के रहने पर दूसरी की भी अपेक्षा की जाती है। प्लेटो के कहने का अभिप्राय है कि सापेक्ष प्रत्यय बिना एक दूसरे के सम्भव नहीं है। जन्म-मरण सापेक्ष है। अत: आत्मा का जन्म-मरण का चक्कर चलता रहता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा अमर है।
- प्लेटो का कहना है कि जो वस्तु मिश्रित है, केवल उसी वस्तु के टुकडों में विभाजन हो सकता है और इस विभाजन को उस वस्तु का विनाश कहा जा सकता है, परन्तु आत्मा सरल और निरवयव है। इसलिए आत्मा अमर है। क्यों समझा जाये कि आत्मा सरल और निरवयव है और आत्मा प्रत्ययों से उच्चतर है।
- प्लेटो के अनुसार सभी प्रत्ययों का ज्ञान अनुस्मरण मात्र है। प्लेटो के अनुसार इसके पूर्व ही मानव ने इस भूतल पर जन्म लिया उसे प्रत्ययों का पूरा ज्ञान था और ज बवह देहधारी होकर जन्म लेता है तब प्रत्यक्षों के द्वारा उसे अपने पूर्व जन्म के प्रत्ययों के ज्ञान का संकेत मिलता है और उसे इस ज्ञान का अनुस्मरण मात्र होता है।

सत्य यही है कि सभी ज्ञान मानव के अन्दर सर्वदा विद्यमान रहते हैं। अनुभव अथवा प्रत्यक्षों के द्वारा हमें केवल इसका अनुस्मरण होता है। इस अनुस्मरण की वास्तविकता के आधार पर कहा जा सकता है कि आत्मा अमर है।

प्लेटो का विज्ञानवाद उनके सत्य के **यथार्थवाद** या **संवादिता सिद्धान्त** पर आधारित है। यथार्थवाद का अर्थ यह है कि सत्य हमारे मानसिक प्रत्ययों और बाह्य तथ्यों के सामंजस्य का प्रतिफल है। प्लेटो इसे ही माध्यम बनाकर विज्ञानवाद का प्रतिपादन करते है- वास्तविक ज्ञान प्रत्ययात्मक होता है अर्थात् ज्ञान यथार्थ तभी होगा जब प्रत्यय होगा, पर प्रत्यय यथार्थ तभी समझा जाएगा जब इसकी संगति बाह्य और वस्तुनिष्ठ विज्ञानों के साथ हो, इस प्रकार प्रत्ययों की यथार्थता के लिए बाह्य विज्ञानों का होना अनिवार्य है, अत: विज्ञान सत्य है।
संवादिता सिद्धान्त का तात्पर्य है कि सत्य (ज्ञान) मानसिक प्रत्ययों ओर बाह्य तथ्यों के सामंजस्य अथवा सादृश्य का प्रतिफल होता है। उदाहरणार्थ- यदि हमारे मन में **'झील'** का प्रत्यय है तो यह प्रत्यय वास्तविक तभी समझा जाएगा, जबकि हमारे स्वतन्त्र जगत् में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है तो हमारा प्रत्यय असत्य अथवा अयथार्थ समझा जाएगा। याथार्थ्य बिम्ब और प्रतिबिम्ब की परस्पर संगति का परिणाम होता है। यही संवादिता सिद्धान्त है।

प्लेटो के अनुसार इन्द्रिय जगत और प्रत्यय जगत में अंश और प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध नहीं है। अंश मानने पर यह मानना पडेगा कि वह सत् में सहभागी है। ऐसा मानने पर व्यवहार और परमार्थ का भेद मिट जाता है तथा विज्ञान जगत् की अनिवार्य एकता भी भंग होती है।
दूसरी ओर **'प्रतिबिम्बवाद'** को मानने पर व्यावहारकि जगत् पूर्णतया असत् और निरर्थक बन जाता है तथा अनावस्था दोष आ जाता है। अत: प्लेटो इन दोनों सिद्धान्तों को न मानते हुए यह मत प्रतिपादित करते हैं कि इन्द्रिय जगत् की वस्तुएँ विज्ञानों के अनुकरण मात्र है।

स्मरणीय बिन्दु-

- प्लेटो ने प्रत्ययों को वास्तविक सत्ता माना।
- ज्ञान को पूर्वजन्म की स्मृति कहा।
- आत्मा अमर एवं शाश्वत है।

शब्दावली-

- प्रत्यय – Idea
- ज्ञानमीमांसा – Epistemology
- अमरता – Immortality
- शुभ – Good

5 अंक के प्रश्न-

1. प्लेटो के प्रत्ययवाद की व्याख्या कीजिए।
2. प्लेटो के अनुसार 'शुभ' क्या है?
3. आत्मा की अमरता पर प्लेटो के विचार बताइए।
4. ज्ञान को स्मृति क्यों कहा गया?

15 अंक के प्रश्न-

1. प्लेटो के प्रत्यय सिद्धांत का समालोचनात्मक वर्णन कीजिए।
2. प्लेटो की ज्ञानमीमांसा का विश्लेषण कीजिए।
3. प्लेटो के आत्मा संबंधी विचारों की विवेचना कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. प्लेटो के दर्शन का केंद्र क्या है?

(क) पदार्थ

(ख) प्रत्यय

(ग) अनुभव

(घ) राजनीति

2. प्लेटो के अनुसार वास्तविक ज्ञान किसका है?

(क) इन्द्रिय जगत का

(ख) प्रत्ययों का

(ग) कल्पना का

(घ) अनुभव का

3. प्लेटो ने आत्मा को माना

(क) नश्वर

(ख) अमर

(ग) भौतिक

(घ) परिवर्तनशील

इकाई 1.4 अरस्तू- द्रव्य एवं स्वरूप, कारणता का सिद्धांत

1. अरस्तू के कारणता सिद्धांत को समझना।
2. द्रव्य एवं स्वरूप के संबंध का अध्ययन करना।
3. अरस्तू के ईश्वर संबंधी विचारों को समझना।

कारणता सिद्धान्त

अरस्तू की कारणता की अवधारणा व्यापक एवंत त्व मीमांसक है। अरस्तू ने चार कारणों का उल्लेख किया है- उपादान, निमित आकारिक एवं प्रयोजन कारण।

उदाहरणार्थ- कढ़ई किसी न किसी प्रकार की लकडी से कुर्सी बनाता है। लकडी को उत्पादन कारण कहा जा सकता है। फिर बढ़ई आरा, छैनी, बटाली इत्यादि औजार के द्वारा लकडी को काँट-छाँट कर लकडी को परिवर्तित कर देता है, इसे निमित कारण कहा जाता है। निमित कारण परितर्वन का मुख्य आधार होता है। इसका सम्बन्ध शक्ति अथवा ऊर्जा के साथ रहता है। आकारिक कारण वस्तु का सार होता है जो उस वस्तु की परिभाषा के द्वारा व्यक्त किया जाता है, पर वस्तु के सारतत्व अथवा उसकी परिभाषा के प्लेटो ने प्रत्यय कहा है। अत: आकारिक कारण वास्तव में प्लेटो द्वारा निर्दिष्ट प्रत्यय ही है। अन्त में प्रयोजन कारण है जिसके लिये कुर्सी बनाई जाती है। प्रयोजन कारण वह परमलक्ष्य है जिसकी ओर बढ़ई की सभी प्रक्रियाएँ संचालित होती है।

मैटर और फोर्म

अरस्तू ने उपादन, निमित्त आकारिक एवं प्रयोजन कारण को उत्पादन और प्रयोजन कारण में रुपान्तरित कर दिया है। सर्वप्रथम देखा जाये तो आकारिक और प्रयोजन कारण वास्तव में दोनों एक ही है। आकारिक किसी भी वस्तु का सार उसका समप्रत्यय और प्रत्यय होता है, जिसे प्रयोजन कारण कहा जाता है। वह वास्तव में प्रत्यय को लक्ष्य रुप में साकार किया जाता है।

फिर निमित्त कारण का सम्बन्ध बनना, बनाना, होना के साथ होता है। वास्तव में निमित्त, आकारिक और प्रयोजन कारण तीनों एक ही हुए और इस एक को अरस्तू ने फोर्म कहा है। अब उत्पादन को फोर्म में रुपान्तरति नहीं किया जा सका है। इसलिये अरस्तू विश्व के परम सत् को **'मैटर'** और **'फोर्म'** के द्वारा स्पष्ट करते हैं, अर्थात् विश्व की अनेकता, वस्तुओं की गतिशीलता और उनमें पिरैमिड़ी व्यवस्था।

लोहा, लकडी मिट्टी इत्यादि में भी अपने गुण हैं। गुण तो फोर्म न हो? हाँ, अरस्तू के विश्व की पिरौमिडी व्यवस्था में तल पर फोर्म विहीन मैटर होता है और चोटी पर मैटर विहीन फोर्म रहता है। पर फोर्म विहीन मैटर ही यथार्थ नहीं होता है। यथार्थ से समझा जाता है इन्द्रियानुभेत हो जो दिक् काल में इन्द्रियों के द्वारा जाना जाये इसलिए मैटर जो फोर्म विहीन रुप में समझा जाये तो उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। पर सभी वास्ताविक अथवा यथार्थ वस्तुओं में मैटर और फोर्म का सम्मिश्रण रहता है। मैटर और फोर्म वास्तव में सापेक्ष है।

संभाव्यता और वास्तविकता

मैटर सभी गुणों से रिक्त है, पर शून्य नहीं है। चूँकि मैटर में कोई रुप-रंग स्वाद आकार नहीं है, इसलिये इसमें किसी भी रुप और आकार को आरोपित किया जा सकता है। अत: वास्तविक वस्तुओं को फोर्म मंडित मैटर कहा जा सकता है। चूँकि फोर्मरहित मैटर में किसी भी फोर्म को ग्रहण करने की संभावना अथवा क्षमता रहती है इसलिये अरस्तू ने मैटर को संभाव्यता कहा है।

फिर जब किसी एक निश्चित रुप में इस संभाव्यता को वास्तविक वस्तु का रुप फोर्म के द्वारा साँचे में ढाल दिया जाता है तब एक प्रकार की संभाव्यता साकार हो जाती है। अत: फोर्म संभाव्यता को साकार करता है। इसलिये फोर्म संभवन की व्याख्या करता है कि किस प्रकार एक वस्तु में अपना नियमित परिवर्तन होता है।

संभाव्यता से साकारीकरण का संभवन फोर्म के द्वारा स्पष्ट किया गया है, जिसमें संभवन होता है वह है मैटर और जो संभवित होकर वास्तविकत रुप ले लेता है वह है; व्यष्टि अथवा व्यष्टिपूर्ण वस्तु है।

गुणों से विहीन मैटर शून्यवत् होकर असत् समझा जा सकता है और असत् से वास्तविक जगत् की व्याख्या नहीं हो सकती है, पर संभाव्य तो किसी भी रुप में वास्तविक हो सकता है। यही कारण है कि अरस्तू ने मैटर के स्थान पर संभाव्यता की अवधारणा को प्रयुक्त किया है। मैटर संभाव्यता है, जिसमें अनेक वस्तुओं में वास्तविक होने की शक्यता अथवा क्षमता रहती है और फोर्म वास्तवीकरण का सिद्धान्त होता है। फोर्म संभाव्यता को किसी न किसी वस्तु के रुप में संभाव्यता को साकार करता है। साकार संभाव्यता ही वास्तविक वस्तुविशेष कहलाता है। वास्तवीकरण का सिद्धान्त विश्व में परिवर्तन गति और विकास का आधार होता है।

ईश्वर विचार

मैटर और फोर्म के योग से विश्व की सभी वस्तुएँ रची हुई है। इन वस्तुओं में नीची और ऊँची अवस्थाओं का भेद दिखाई देता है जिसे सोपान क्रमिक व्यवस्था कहा जाता है। नीच ऊँच की क्या कसौटी है? जिस वस्तु में अधिक मैटर, संभाव्यता हो और फोर्म की मात्रा कम हो, उसे निम्न श्रेणी में रखा जायेगा। इसकी तुलना में जिस वस्तु में कम मैटर और अधिक फोर्म अथवा वास्तविकता की मात्रा हो, उसे अपेक्षाकृत उच्चतर श्रेणी में रखा जाएगा। इस वास्तविकता और संभाव्यता की दृष्टि से विश्व की सभी वस्तुओं को एक पिरौमिडी अनुक्रम में देखा जा सकता है।

सिद्धान्तत: उच्चतम चोटी में मैटरविहीन फोर्म रह जाता है और निम्नतल में फोर्मविहीन मैटर रह जाता है। मैटर विहीन उच्चतम फोर्म को अरस्तू ने ईश्वर की संज्ञा दी है। अरस्तू की सोपनाक्रमिक व्यवस्था को विकासक्रम की सांा दी गई है। अरस्तू अपने विकासक्रम को प्रयोजन कारण से प्रभावित होकर प्रयोजनात्मक मानते है।

जिसमें जितनी अधिक फोर्म की मात्रा होगी और उसी अनुपात में जितनी मात्रा मैटर की कम होगी; उसे अधिक सत् कहा जायेगा। इसलिए उच्चतम चोटी में केवल फोर्म ही रहेगा और मैटर की सभी सम्भाव्यता साकार मानी जायेगी। अत: यदि इस उच्चतम चोटी को ईश्वर कहा जाये तो इसमें कुछ भी ऐसी संभाव्यता नहीं कही जायेगी जो ईश्वर में साकार नहीं कही जाये। इसलिये ईश्वर सम्पूर्णतया परिपूर्ण कहा जायेगा। इसी को परम सत् कहा जायेगा और इसकी तुलना में सभी यथार्थ वस्तुओं को न्यूनाधिक मात्रा में असत् कहा जायेगा।

ईश्वर वह परम लक्ष्य है जिसकी ओर सभी नीची-ऊँची स्तरों की वस्तुएँ आकृष्ट होती और संचालित रहती है। पुन: ईश्वर विश्व का निमित्त कारण भी है और निमित्त कारण की हैसियत से सभी प्रकार के परिवर्तन अथवा संभवन का हेतु है। अत: ईश्वर को सम्पूर्ण विश्व का प्रेरक कहा गया है।

अरस्तू के अनुसार विकास शृंखला की उच्चतम स्थिति द्रव्य विहिन आकार अथवा शुद्ध आकार ही ईश्वर है जो जगत् का प्रयोजन, लक्ष्य व निमित्त कारण है। ईश्वर संसार की गति का साध्य अर्थात् प्रवर्तक है परन्तु वह स्वंय अप्रवर्तित है क्योंकि वह विकास की उच्चतम स्थिति है तथा उसका कारण मानने से अनवस्था दोष आता है।

ईश्वर **''स्वरुप का स्वरुप''** है। वह आनन्द स्वरुप है परन्तु वह पुरुष विशेष नही है क्योंकि उसमें न तो सत्ता है, न ही वैयक्तिकता। ईश्वर स्वरुप मात्र है उसमें विशेष तत्त्व का अभाव है, वह सामान्य प्रत्ययात्मक है। फलस्वरुप हुआ। लोगों की देवी-देवताओं के स्थान पर मनुष्य में आस्था जागी। अब समाज की सेवा को ही ईश्वर की यथार्थ सेवा का रुप दिया गया।

स्मरणीय बिन्दु-

- अरस्तू ने चार कारणों का सिद्धांत दिया।
- पदार्थ और स्वरूप मिलकर वस्तु बनाते हैं।
- ईश्वर को 'अचल प्रेरक' कहा गया।

स्मरणीय बिन्दु-

कारणता – Causation

द्रव्य – Substance

स्वरूप – Form

संभाव्यता – Potentiality

वास्तविकता – Actuality

5 अंक के प्रश्न-

1. अरस्तू के चार कारणों का वर्णन कीजिए।
2. द्रव्य और स्वरूप में अंतर बताइए।
3. संभाव्यता एवं वास्तविकता क्या है?
4. अरस्तू के ईश्वर सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. अरस्तू के कारणता सिद्धांत की विवेचना कीजिए।
2. अरस्तू के द्रव्य-स्वरूप सिद्धांत का वर्णन कीजिए।
3. अरस्तू के ईश्वर संबंधी विचारों का विश्लेषण कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. अरस्तू ने कितने कारण बताए?

(क) दो

(ख) तीन

(ग) चार

(घ) पाँच

2. अरस्तू के अनुसार 'शुद्ध स्वरूप' क्या है?

(क) आत्मा

(ख) पदार्थ

(ग) ईश्वर

(घ) मन

3. संभाव्यता को अरस्तू ने किससे जोड़ा?

(क) स्वरूप

(ख) पदार्थ

(ग) ईश्वर

(घ) ज्ञान

खण्ड-2, आधुनिक दर्शन (बुद्धिवाद)

इकाई 2.1 रेने देकार्त- द्रव्य विचार, आत्मा का विचार, क्रिया - प्रतिक्रियावाद

आधुनिक युग की विशेषताएं¡

उद्देश्य-

1. आधुनिक दर्शन की विशेषताओं को समझना।
2. देकार्त के बुद्धिवाद का अध्ययन करना।
3. आत्मा एवं शरीर संबंधी विचारों का विश्लेषण करना।

15वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी के दार्शनिक विचारों को आधुनिक विचार कहा जाता है। इसे सांस्कृतिक पुनर्जागरण काल भी कहते हैं। इसे प्रबुद्धकाल भी कहते हैं, क्योंकि चर्च युग की रात्रि बीत चुकी थी तथा वैज्ञानिक अनुसन्धानों की रश्मियों ने जनता को जगा दिया।

(1) **चर्चा की अवनति**- नवजागरण के पश्चात् चर्च की प्रभृता के प्रति विद्रोह होने लगा।

(2) **वैज्ञानिक उन्नति**- वैज्ञानिक खोजों के कारण मनुष्य के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन हो गया। वैज्ञानिकों ने यह असिद्ध कर दिया कि ईश्वर सृष्टि का सम्राट है, वह स्वर्गधाम में स्थित है तथा वहीं से अपने साम्राज्य की देखभाल करता है।

इन दोनों के अतिरिक्त भी कई विशेषताएँ हैं-

- **बौद्धिकता**- मध्ययुगीन दर्शन धर्म के केन्द्रित होने के कारण विश्वास प्रधान दर्शन था। ज्ञान धर्मग्रन्थों तक सीमित था तथा धर्मग्रन्थ धर्मगुरुओं तक। इस युग में प्रत्येक सत्य की परीक्षा प्रारम्भ हुई। इस प्रकार अन्धविश्वास और रुढ़िवादिता का अन्त हो गया।
- **व्यक्तिवाद**- चर्च के प्रति विद्रोह के कारण आधुनिक दर्शन व्यक्तिवादी हैं। वैज्ञानिक प्रगति के कारण लोगों का आप्तवचन में विश्वास समाप्त हो गया। सभी विषयों का स्वतन्त्र विचार से उन्मुक्त वातावरण में निरपेक्ष और परीक्षण करने के कारण व्यक्तिगत विचारों का महत्व बढ़ा।

चिन्तन पर बल के कारण ही इस युग को बुद्धि प्रधान या बौद्धिक युग कहा गया है। इस युग को वैज्ञानिक भी कहा गया है।

धार्मिक आन्दोलन

धार्मिक आन्दोलन के लिए **मार्टिन लूथर** का नाम विख्यात है। लूथर पहले कैथोलिक था। वहाँ पोप की विलासप्रियता और अत्याचार को देखकर लूथर को बहुत सन्ताप हुआ और चर्च के प्रति उसकी श्रद्धा समाप्त होने लगी।

मनवतावाद

मानवतावाद पुनर्जागरण और धार्मिक आन्दोलन के फलस्वरूप हुआ। लोगों की देवी-देवताओं के स्थान पर मनुष्य में आस्था जागी। अब समाज की सेवा को ही ईश्वर की यथार्थ सेवा का रूप दिया गया।

आधुनिक दर्शन की धाराए¡

(1) **बुद्धिवाद**- आधुनिक युग में इस प्रकार के प्रश्न उठने लगे, ज्ञान क्या है? ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है? ज्ञान की सीमा क्या है? अर्थात् किन-किन विषयों का यथार्थ ज्ञान मनुष्य प्राप्त कर सकता है?

बुद्धिवादी दार्शनिकों की सामान्य मान्यता है कि ज्ञान आत्मा का गुण है। जिस प्रकार शरीर का गुण विस्तार है; उसी प्रकार मन या आत्मा का गुण विचार है। बुद्धि ही ज्ञान की जननी है। बुद्धिवादी ज्ञान को सार्वभौम और अनिवार्य मानते है। इस प्रकार ज्ञान जन्मजात प्रत्ययों पर आधारित रहता है।

उदाहरणार्थ- दो वस्तु यदि किसी एक वस्तु के बराबर हो तो आपस में भी बराबर होंगी।

इस प्रकार बुद्धिवाद की मान्यताएँ निम्न हैं-

(1) बुद्धि निष्क्रिय नहीं वरन् सक्रिय है। बुद्धि की क्रिया से ही आत्मा में अन्तर्निहीत जन्मजात प्रत्यय बाहर निकलते है। इस प्रकार बुद्धि ही ज्ञान की जननी हे।

(2) जन्मजात प्रत्ययों की पहचान स्पष्टता है।
उदाहरणार्थ- गाणितशास्त्र में स्पष्ट ज्ञान पाया जाता है, इसीलिए गणित ही आदर्श ज्ञान है।

(3) बुद्धिवादी ज्ञान को अनिवार्य तथा सर्वाभौम मानते है। अनिवार्य तथा सार्वभौम ज्ञान हमें अनुभव से कदापि प्राप्त नहीं हो सकता।

(2) **अनुभववाद**- अनुभववाद के अनुसार अनुभव हो ज्ञान की जननी है और मान्यताएँ निम्न है-

- जन्म के समय मन कोरे कागज या साफ स्लेट के समान रहता है। इसे अन्धकारमय कमरा बतलाया गया है जो अनुभव के प्रकाश से भरता है। संवेदना और स्व-संवेदना ही ज्ञान के वातायन है।

- कोई भी ज्ञान जन्मजात नहीं सभी ज्ञान अर्जित है। अनुभाववादी आगमनात्मक प्रणाली को आदर्श मानते है।

देकार्त बुद्धिवादी है और बौद्धिक ज्ञान में उनका अटूट विश्वास है। अपनी **''प्रणाली विमर्श''** में देकार्त ने बुद्धि का विश्लेषण करते हुए दो मुख्य सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है–

(क) बुद्धि में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य है।

(ख) बुद्धि में यथार्थ अयथार्थ ज्ञान को पृथक् करने की भी सामर्थ्य है।

देकार्त बुद्धिवादी है इसके अनुसार बुद्धि ही यथार्थ ज्ञान की जननी है। यह यथार्थ ज्ञान सार्वभौम, सुनिश्चित और अनिवार्य है। इस प्रकार के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के दो साधन है–

(क) सहज ज्ञान

(ख) निगमन

सहज ज्ञान या अन्तर्बोध

यह स्वयंसिद्ध सधः ज्ञान है। यह पूर्णतः सुस्पष्ट तथा सुभिन्न होता है। यह इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं होता। अन्य प्रमाणों में प्रमाणिकता का आधार तो सध; अनुभूति ही है। यह मौलिक ज्ञान है।

यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान

देकार्त के अनुसार सार्वभौम और सुनिश्चित ज्ञान ही सत्य या यथार्थ ज्ञान है, जिसकी प्राप्ति हमें अन्तर्बोध तथा निगमन से होती है। अन्तर्बोध और निगमन के अतिरिक्त जो भी ज्ञान हमें प्राप्त होता है वह असत्य या भ्रमात्मक ज्ञान है। इस भ्रम की उत्पत्ति के कई कारण हैं जैसे–

(क) बचपन से ही हमारी बुद्धि शरीर में निमग्न है। हम बाल्यकाल से ही अनेक भ्रान्त धारणाओं और पूर्वाग्रहों के शिकार है। इसी कारण हमें सुभिन्न तथा स्पष्ट बोध नहीं हो पाता।

(ख) ज्ञान की अभिव्यक्ति शब्दों के माध्यम से होती है। शब्दों के आवरण में यथार्थ ज्ञान छुप जाता है।

(ग) परम्परा अन्धविश्वास और जनश्रुति आदि के कारण भी सत्य ज्ञान नहीं हो पाता।

बुद्धि से भ्रम के निराकरण के लिए हमें संशय का सहारा लेना होगा। संशय के सहारे ही हमस त्य और असत्य में भेद कर सकते हैं और सत्य को अपनाकर असत्य का परित्याग कर सकते है। इस प्रकार भ्रान्त और निर्भ्रान्त में सत्य और असत्य में भेद तो संशय या सन्देह से सम्भव है।

सन्देह और सत्य

देकार्त ने सन्देह के ही सत्य का माध्यम स्वीकार किया है। निस्संदेह सत्य तभी प्राप्त हो सकता है जब हम सभी मान्यता की सन्देहतात्मक दृष्टि से परीक्षा करे। हम परम्परागत विचार को स्वीकार कर सकते है, परन्तु परीक्षा के बाद। तात्पर्य यह है कि परीक्षित सत्य ही निश्चित सत्य माना जा सकता है। प्रारम्भ से ही देकार्त गणित के प्रेमी थे। उनकी दृष्टि में गणित शास्त्र के सत्य ही निश्चयात्मक तथा स्वयंसिद्ध है।

अतः सुनिश्चित तथा स्वयंसिद्ध गणित की प्रणाली ही दशग्न शास्त्र की प्रणाली होनी चाहिये। देकार्त का उत्तर है कि स्वयंसिद्ध आधार वाक्यों की प्राप्ति हमें आन्तरिक दृष्टि से होगी जिसे देकार्त प्रज्ञा प्दजनपजपवद कहते है। प्रज्ञा से प्राप्त सत्य मापदण्ड है। इन सत्यों पर ही दूसरे वाक्यों की सत्यता निर्भर है, अर्थात् अन्य वाक्यों की सत्यता आधार वाक्यों से निकलेगी या अनुमानजन्य होगी।

अतः संक्षेप में देकार्त के अनुसार दार्शनिक पद्धति दो है। पहली प्रज्ञात्मक पद्धति है। यह पद्धति सद्यः अनुभूति है जो विचार या तर्क के परे है। दूसरी पद्धति निगमनात्मक है। इस पद्धति के अनुसार हम आधार वाक्यों को सत्य मानकर कुछ निष्कर्ष निकालते है अर्थात् अनुमान करते है।

मुझे धोखा हो रहा है का अर्थ है कि मेरे चिन्तन का विषय गलत है; परन्तु मेरा चिन्तन करना गलत नहीं है अत: चिन्तन कार्य भ्रम नहीं। भले ही चिन्तन का विषय भ्रम हो। निराकरण करने से ही निराकर्ता की सत्त सिद्ध है।

आत्मा का स्वरुप

देकार्त की प्रसिद्ध उक्ति है- मैं सोचता हूँ इसीलियें मैं हूँ इसीलिए मेरी सत्ता स्वयंसिद्ध है।

(1) ''मैं सोचता हूँ इसीलिए मैं हूँ।'' यह अनुमान नहीं वरन् सद्य: अनुभूति है। आत्मा की सत्ता तो स्वयं सबका आधार है। यह तो ज्ञान की पूर्व मान्यता है।

(2) ''मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ'' का अर्थ कि मेरी (आत्मा की) सत्ता चिन्तन करने पर निर्भर है। चिन्तन के अनेक स्वरुप हैं, जैसे सन्देह करना, समझना, स्वीकार करना, अस्वीकार करना, इच्छा करना, कल्पना करना आदि।

(3) ''मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ'' से स्पष्ट सिद्ध है कि मानसिक क्रिया आत्मा के अस्तित्व पर ही निर्भर है; परन्तु इसी प्रकार हम शारीरिक क्रियाओं के आधार पर आत्मा का अस्तित्व निर्भर नहीं मान सकते। यह नहीं कहा जा सकता कि ''मैं घूमता हूँ इसलिए मैं हूँ।'' घूमना शारीरिक क्रिया है। इससे आत्मा का अस्तित्व नहीं वरन् शरीर का अस्तित्व स्पष्टत: सिद्ध होता है।

(4) ''मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ।'' अर्थात् ज्ञाता होने के कारण आत्मा की सत्ता स्वत: सिद्ध है, इससे स्पष्ट पता चलता है कि ज्ञान आत्मा का गुण है।

(5) ''मैं सोचता हूँ इसीलिए मैं हूँ।'' यह सर्वप्रथम असंदिग्ध, निश्चयात्मक ज्ञान है। देकार्त के लिये यह मापदण्ड है।

(ईश्वर विचार)

सर्वप्रथम उन्होने आत्म तत्व की सत्ता को सन्देहातीत, स्वयंसिद्ध माना है। अत: देकार्त के अनुसार जो वस्तु आत्म तत्व के समान निस्सन्देह, स्वयंसिद्ध हो वही सत्य है।

देकार्त के अनुसार हमारे विचार तीन प्रकार के हैं-

- **नैसर्गिक विचार**
- **आकस्मिक विचार**
- **काल्पनिक विचार**

नैसर्गिक विचार जन्मजात प्रत्यय है, जिन्हें मनुष्य बाह्य संसार से नहीं प्राप्त करता। आकस्मिक विचार बाह्य संसार से जन्य होते हैं तथा काल्पनिक विचार शुद्ध कल्पना प्रसुत है। उपरोक्त तीन प्रकार के विचारों में ईश्वर विचार नैसर्गिक या जन्मजात है। हममें ईश्वर की धारणा जन्म से ही विद्यमान है। देकार्त ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिये अग्रलिखित प्रमाण देते हैं-

(1) **कार्य-कारण मूलक तर्क**- सम्पूर्ण विश्व इसी कार्य कारण नियम से बँधा है। बिना कारण के कार्य नहीं होता असत् से सत् की उत्पति नहीं। इस नियम का एक दूसरा स्वरुप है कि कार्य की सत्ता कारण से न्यून नहीं हो सकती।

सर्वप्रथम हमारी बुद्धि में 'ईश्वर है' ऐसा विचार जन्म से विद्यमान है। यह विचार कार्य हुआ। अत: इसका भी कारण अवश्य होना चाहिये, अन्यथा इसमें अकारण घटना नदबंनेमक मअमदज को दोष होगा। देकार्त है कि 'ईश्वर है' ऐसे विचार का कारण ईश्वर ही हो सकता है दूसरा कोई नहीं। हम सर्वज्ञ पूर्ण और अनन्त के रुप

में जानते है। अल्पज्ञ अपूर्ण और शान्ति जीवन इसका कारण नहीं हो सकते। अत: सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ईश्वर ही इसका कारण है, क्योंकि कारण की सत्ता कार्य से न्यून नहीं हो सकती।

(2) **सा॰ामूल्क तर्क**- देकार्त का कहना है कि पूर्ण ईश्वर का ज्ञान ही उसकी सत्ता का द्योतक है। ईश्वर के अस्तित्व के बिना उसके पूर्ण तथा अनन्त होने का ज्ञान असंभव है।

साधारणत: विचार और वस्तु में भेद है। यह आवश्यक नहीं कि हमारे सभी विचारों के अनुरुप भी हो; परन्तु पूर्ण तथा अनन्त ईश्वर का विचार ईश्वर के बिना असम्भव है। संसार के सभी पदार्थ अपूर्ण हैं, परन्तु अपूर्ण ईश्वर तो वदतोव्याघात है। तात्पर्य यह है कि यदि ईश्वर की सत्ता न होती तो हम उसे पूर्ण तथा अनन्त कैसे जानते। देकार्त का तर्क एन्सेल्म से भिन्न है। एन्सेल्म का तर्क सत्तामूलक है तथा देकार्त का तर्क कार्य कारण मूलक है।

एन्सेल्म के अनुसार ईश्वर विचार से ही ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है, देकर्त के अनुसार हममें पूर्ण ईश्वर का विचार है। इस विचार का कारण केवल ईश्वर ही हो सकता है। सत्तामूलक तर्क में अनिवार्यता नहीं परन्तु कार्य कारण मूलक तर्क में अनिवार्यता है। देकार्त के अनुसार अनिवार्यता वस्तु में है, विचार में नही। हम किसी काल्पनिक विषय पर विचार कर सकते हैं, जिसका कोई अस्तित्व न हो।

(3) **सृष्टिमूलक तर्क**- ईश्वर ही सृष्टि क कर्ता है। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई इसका कर्ता नहीं हो सकता, मनुष्य शान्त है वह अनन्त सृष्टि का कर्ता नहीं हो सकता।

सृष्टि जड है, वह स्वयं अपना कारण नहीं हो सकती हे। जड वस्तु केवल उत्पादन कारण हो सकती है। ईश्वर ही सृष्टि का निमित्त कारण स्वीकार किया गया है।

(4) **निगमनात्मक तर्क**- देकार्त का कहना है कि आत्म तत्व के समान ही ईश्वर तत्व का भी हमें स्पष्टत: अनुभव होता है। अत: ईश्वर की सत्त भी सिद्ध है। दोनों में अन्तर भी इतना ही है कि आत्म तत्व स्वत: सिद्ध साक्षात् अनुभूति है, परन्तु ईश्वर की सिद्धि आत्मा के समान सुस्पष्ट होने पर निर्भर है। अत: ईश्वर तत्व सिद्धि ही सुस्पष्टता का आधार है। इसी कारण इस तर्क को निगमनात्मक माना गया है।

(मन और शरीर)

देकार्त ईश्वर के अतिरिक्त चित् तथा अचित् दो और तत्व मानते है। मन का गुण है विचार तथा शरीर का गुण विस्तार है। इस प्राकर चित् तथा अचित् के विचार तथा विस्तार दो गुण हुए। मन सक्रिय है तथा शरीर निष्क्रिय।

द्वैतवाद

उपरोक्त विवरण से मन तथा शरीर का द्वैत स्पष्ट है। चेतना तथा जड दोनों विरोधी है, अत: इनमें कोई पारस्परिक सम्बन्ध सम्भव नहीं। हमम न तथा शरीर में अन्त क्रिया का प्रतिदिन अनुभव करते है। हमारे शरीर को भूख, प्यास लगती है। मन खिन्न हो जाता हे।

हमारा मन प्रसन्न रहता है तो चेहरा भी खिला हुआ लगता है। यह कैसे संभव है? इसका उत्तर देकार्त अपने चिद्चित् संयोगवाद के द्वारा देते हैं। यहीं देकार्त का अन्त क्रियावाद या क्रिया-प्रतिक्रियावाद का सिद्धान्त कहलाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा और शरीर में पीनियल ग्रन्थि के द्वारा क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। शरीर की क्रिया से आत्मा में प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, जिसके फलस्वरुप आत्मा को बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त होता है। इसी प्रकार आत्मा की क्रिया से शरीर में प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, जिसके फलस्वरुप शरीर में विचार के अनुकूल व्यवहार होने लगता है।

पुरीतन गाडी ही मन और शरीर के मिलन शैय्या है। जैनों के जीव और अजीव समाज के चित् और अचित् सांख्य के पुरुष और प्रकृति के समान ही देकार्त के मन और शरीर में द्वैत स्पष्ट है।

स्मरणीय बिन्दु-

- देकार्त आधुनिक दर्शन के जनक हैं।
- बुद्धि को ज्ञान का मुख्य स्रोत माना गया।
- आत्मा और शरीर को पृथक द्रव्य माना।

शब्दावली-

बुद्धिवाद – Rationalism

आत्मा – Soul

द्रव्य – Substance

प्रतिक्रियावाद – Interactionism

5 अंक के प्रश्न-

1. देकार्त के 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ' सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।
2. देकार्त के अनुसार ज्ञान का स्रोत क्या है?
3. क्रिया-प्रतिक्रियावाद क्या है?
4. आधुनिक दर्शन की विशेषताएँ लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. देकार्त के बुद्धिवाद का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. देकार्त के आत्मा एवं शरीर संबंधी विचारों की विवेचना कीजिए।
3. आधुनिक दर्शन की प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. आधुनिक दर्शन का जनक किसे कहा जाता है?

(क) प्लेटो

(ख) अरस्तू

(ग) देकार्त

(घ) लॉक

2. देकार्त का प्रसिद्ध कथन है ख

(क) ज्ञान ही शक्ति है

(ख) मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ

(ग) परिवर्तन ही सत्य है

(क) आत्मा अमर है

3. देकार्त किस विचारधारा के समर्थक थे?

(क) अनुभववाद

(ख) बुद्धिवाद

(ग) व्यवहारवाद

(घ) संशयवाद

इकाई 2.2 स्पिनोजा- द्रव्य विचार, सर्वे'वरवाद, समानान्तरवाद

(हॉलैण्ड के दार्शनिक 1632 से 1677 ई.)

उद्देश्य-

1. स्पिनोजा के द्रव्य सिद्धांत को समझना।
2. ईश्वर एवं प्रकृति संबंधी विचारों का अध्ययन करना।
3. स्पिनोजा के अद्वैतवाद का विवेचन करना।

स्पिनोजा की प्रणाली

देकार्त के समान भी गणित के महान् प्रेमी थे, गणित प्रणाली का आरम्भ देकार्त से होता है, परन्तु स्पिनोजा के दर्शन में इसका चरण उत्कर्ष है।

देकार्त ने सत्य की प्राप्ति के लिए सन्देह का मार्ग बनाया, परन्तु स्पिनोजा ने सत्य से सत्य प्राप्ति की। स्पिनोजा का कहना है कि सत्य स्वयं सिद्ध है, स्वप्रकाश है। इसकी सिद्धि के लिए किसी साधन की आवश्यकता नहीं।

द्रव्य विचार

स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर ही परम द्रव्य है जिससे सम्पूर्ण सृष्टि अद्‌भूत है। स्पिनोजा के अनुसार द्रव्य वह है जिसकी सत्ता स्वतन्त्र हो, जिसका ज्ञान किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा न करता है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य की सत्ता तथा ज्ञान दोनों स्वतन्त्र हैं। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर ही परम द्रव्य है। वह एक अद्वैत, परम स्वतन्त्र, सबका कारण होते हुए भी स्वयं अकारण स्वयंभू, स्वत: सिद्ध है।

1. द्रव्य स्वतन्त्र है।, द्रव्य को स्वतन्त्र कहने का तात्पर्य यह है कि द्रव्य सबका आधार होते हुए भी स्वंय निराधार है।
2. द्रव्य निरपेक्ष है। द्रव्य स्वयं अकारण होने के कारण सापेक्ष नहीं। जो कारण होते हैं, वे कारणापेक्ष कहे जाते है। अकारण होने से द्रव्य निरपेक्ष हैं।
3. द्रव्य अद्वितीय है। द्रव्य को एक से अधिक मानने से उसकी सत्ता सीमित होगी। अत: द्रव्य की स्वतन्त्र मानने के लिए उसे अद्वितीय स्वीकार करना आवश्यक है।
4. द्रव्य अपरिच्छिन्न तथा अपरिमित है। सर्वाभौम एक परम स्वतन्त्र होने से द्रव्य की सत्ता किसी अन्य पर आश्रित नहीं। एक होने से वह असीम है।
5. द्रव्य स्वत: सिद्ध है। स्वत: सिद्ध कहने से तात्पर्य यह है कि द्रव्य ज्ञान का आधार द्रव्य ही है। द्रव्य ज्ञान में किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं, अर्थात् द्रव्य स्वयं अपना प्रमाण है, स्व संबेध है।

ईश्वर विचार

स्पिनोजा के दर्शन में ईश्वर विचार बहुत महत्त्वपूर्ण विषय है। स्पिनोजा की दृष्टि में ईश्वर ही एक अद्वैत, अनन्त, निरपेक्ष, पूर्णद्रव्य है। चित्-अचित् आदि सभी ईश्वर के गुण हैं। ईश्वर ही समस्त सृष्टि का कारण है, परन्तु स्वयं अकारण है।

जिसक प्रकर त्रिभुज के तीनों कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होते है; उसी प्रकार संसार के समस्त गुण और कार्य सर्वाभौम ईश्वर की आवश्यक अभिव्यक्ति हैं।सर्वाभौम ईश्वर के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं। विश्व उसकी आवश्यक अभिव्यक्ति है, जैसे तीनों कोण त्रिभुज की।

ईश्वर का विश्वरूप तथा विश्वातीत रूप

सर्वप्रथम विश्व ईश्वर की अनिवार्य अभिव्यक्ति होने के कारण ईश्वर रूप ही है। कार्य कारण से पृथक् नहीं, आधेय आधार से भिन्न नहीं है, अत: विश्व की सत्ता भी ईश्वर से अलग नहीं।

इसी कारण स्पिनोजा सम्पूर्ण विश्व को ईश्वर रूप मानते हैं। ईश्वर का विश्वात्मरूप है, परन्तु ईश्वर अनन्त है। इसकी सत्ता सीमा नहीं, अर्थात् वह केवल विश्व रूप ही नहीं, विश्वातीत भी हैं। कार्य कारण की अभिव्यक्ति होने से कारण रूप ही है; परन्तु कारण की सत्ता कार्य करे परे भी हैं। जगत् अनन्त ईश्वर की सीमा नहीं वह असीम हैं, ईश्वर अनन्त है, उसके गुण भी अनन्त है, उसके अनन्त गुणों में प्रत्येक गुण अनन्त सत्ताओं की अभिव्यक्ति करता है।

स्पिनोजा के ईश्वर का विश्वरूप तथा विश्वातीत रूप भगवद्गीता के व्यक्त तथा अवयक्त रूप से मिलता-जुलता है। गीता में भी दो रूप बतलाये गये हैं। सम्पूर्ण जगत् ईश्वर का व्यक्त स्वरूप या विभक्त रूप है; परन्तु वस्तुतः ईश्वर अविभक्त है।

सर्वेश्वरवाद

कारण से पृथक् कार्य की सत्ता नहीं, अतः विश्व की भी ईश्वर से अलग कोई सत्ता नहीं। सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर से ही व्याप्त है। यही स्पिनोजा का सर्वेश्वरवाद है। विश्व का अधिष्ठान ईश्वर है। अतः ईश्वर से पृथक विश्व की सत्ता नहीं।

स्पिनोजा का सर्वेश्वरवाद उपनिषद् के बहुत निकट है। उपनिषद् में भी बतलाया गया है कि यह सारी सृष्टि ब्रह्ममय है (सर्वम् खलु इदं ब्रह्म)

ईश्वर का निर्गुण रूप

ईसाई मत में ईश्वर गुण है। ईश्वर के तीन रूप हैं, अतः ईश्वर को निराकर नहीं कहा जा सकता। स्पिनोजा के ईश्वर निर्गुण और निराकर है। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर के सगुण होने का अर्थ है कि ईश्वर सीमित है तथा सीमित का अर्थ परतन्त्र है, ईश्वर का निर्वचन मिथ्या है वस्तुतः विशेषण से तो वह सीमित हो जाता है।

गुण विचार

स्पिनोजा ने बतलाया कि गुण वे धर्म है जिनको बुद्धि द्रव्य का स्वरूप समझती है। इस परिभाषा में यदि पूर्वार्द्ध अर्थात् गुण वे धर्म हैं, पर बल दिया जाये तो स्पष्टत्तः गुण द्रव्य के धर्म या स्वरूप प्रतीत होते हैं, परन्तु यदि परिभाषा के उत्तरार्द्ध अर्थात् जिनको बुद्धि दृव्य का स्वरूप समझती है, पर बल दिया जाये तो निश्चित रूप से प्रतीत होता है कि गुण बुद्धिगत विचार है, द्रव्यगत स्वरूप नहीं। अतः दोनों व्याख्याएँ प्रामाणिक प्रतीत होती हैं। अतः स्पिनोजा के गुण भी मायारूप कारण उपाधि के समान है। इन्हों से समस्त प्रपंचात्मक जगत की सृष्टि होती है।

समानान्तरवाद

स्पिनोजा चित् और अचित् को द्रव्य का गुण मानते हैं। चित् विचार है अथा अचित् विस्तार है। स्पिनोजा के अनुसार ये दोनों एक ही द्रव्य के दो स्वरूप है। देकार्त मन और शरीर में अन्तःक्रिया के लिए अन्तःक्रियावाद का सिद्धान्त बतलाते हैं। स्पिनोजा चित् और अचित् की उत्पत्ति एक हो ईश्वर से मानते हैं इनमें कार्य कारण सम्बन्ध स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं। स्पिनोजा का कहना है कि समान ही समान को उत्पन्न कर सकता है। मन और शरीर तो असमान हैं। ये एक-दूसरे का कारण नहीं बन सकते । स्पिनोजा का द्रव्य द्विरूपात्मक है, अर्थात् चित् और अचित् इसके दोनों स्वरूप है। चित् और अचित् आपस में समानान्तर है, इनमें कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं।

पर्याय

स्पिनोजा के अनुसार पर्याय द्रव्य के परिणामी धर्म है। इनका अस्तित्व है, परन्तु इनका अस्तित्व निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष है। ये द्रव्य सापेक्ष है तथा द्रव्य के बिना इनका ज्ञान नहीं हो सकता है।

पर्याय के इस स्वरूप से ज्ञात होता है कि पर्याय द्रव्य के विकार हैं, परन्तु स्पिनोजा के अनुसार द्रव्य निर्विकारी, अपरिणामी बतलाया गया है। स्पिोनजा का कहना है कि पर्याय द्रव्य में विकार नहीं उत्पन्न कर सकते, वरन् पर्याय गुणों के विकार हैं। विश्व की व्याख्या के लिए विकार का सिद्धान्त आवश्यक है। इसी अनित्य तथा अपरिणामी विश्व की व्याख्या के लिए स्पिनोजा ने विकार सिद्धान्त को अपनाया है। ईश्वर एक अनन्त होते हुए भी पर्यायों के माध्यम से ही विश्व में अभिव्यक्त होता है। स्पिनोजा के अनुसार पर्याय दो प्रकार के हैं- अनन्त तथा सान्त। अनन्त ईश्वर का स्वरूप होने के कारण पर्याय भी अनन्त है, परन्तु व्यक्तिगत रूप में पर्याय सास्त है। स्पिनोजा इसक समाधान करते हुए कहते हैं कि पर्याय को नित्य कहने का तात्पर्य यही है कि पर्याय अकारण नहीं। वन्ध्यापुत्र के समान मिथ्या पंदार्थ भी नहीं। अभिव्यक्ति के अर्थ में द्रव्य ही पर्याय का कारण है। अतः पर्यायों का नित्य स्वरूप ईश्वर स्वरूप का द्योतक तथा इनका अनित्य स्वरूप विश्व के विभिन्न पदार्थों का द्योतक है।

स्पिनोजा ज्ञान के तीन स्तर बतलाते हैं

इन्द्रिय जन्य ज्ञान, तर्क जन्य ज्ञान या बौद्धिक ज्ञान, प्रज्ञा जन्य ज्ञान।

(1) इन्द्रिय जन्य ज्ञान- यह ज्ञान अस्पष्ट तथा अपर्याप्त है, क्योंकि इससे हमें वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं प्राप्त होता। यह ज्ञान विशेष तक ही सीमित रहता है तथा वैयक्तिक है।

इसमें पूर्णता नहीं, क्योंकि पूर्ण ज्ञान तो केवल ईश्वर बोध में है। इसी कारण स्पिनोजा इन्द्रिय अन्य ज्ञान को आधार के बिना निष्कर्ष कहते हैं।

(2) तर्क जन्य ज्ञान- यह बौद्धिक ज्ञान है जो संश्लेषणात्मक होता है। इस स्तर पर हमें वस्तुओं के बाह्य स्वरूप का ही नहीं, वरन् उनके आपसी सम्बन्ध का भी ज्ञान प्राप्त होता है। इस स्तर पर हमें वस्तुओं का सार तथा उनके ईश्वर से सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान को स्पिनोजा वैज्ञानिक मानते हैं। इस स्तर पर हमें ईश्वर के विश्वव्यापी तथा विश्वात्मा स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है।

(3) ç ज्ञा जन्य ज्ञान- यह जान सर्वोच्च है, क्योंकि इससे समग्रता तथा ईश्वरता का स्पष्ट बोध होता है। इससे हमें संपूर्ण प्रकृति की व्यवस्था का स्पष्ट ज्ञान होता है। यह ईश्वर के एक, अनन्त अद्वैत रूप की निर्विकल्प अनुभूति है। स्पिनोजा इस ज्ञान को साक्षात् या सद्यः अनुभूति मानते हैं।

स्मरणीय बिन्दु-

- स्पिनोजा ने एक ही द्रव्य को स्वीकार किया।
- ईश्वर और प्रकृति एक ही हैं।
- उनका दर्शन अद्वैतवादी है।
- द्रव्य अनंत एवं स्वतंत्र है।
- विचार और विस्तार द्रव्य के गुण हैं।

शब्दावली-

शब्द	**अर्थ**
द्रव्य	Substance
गुण	Attribute
प्रकार	Mode
अद्वैतवाद	Monism
ईश्वर अथवा प्रकृति	God or Nature

5 अंक के प्रश्न-

1. स्पिनोजा के अनुसार द्रव्य क्या है?
2. स्पिनोजा ईश्वर को किस रूप में स्वीकार करते हैं?
3. स्पिनोजा के अद्वैतवाद का अर्थ क्या है?
4. द्रव्य के गुण एवं प्रकार क्या हैं?
5. "ईश्वर अथवा प्रकृति" कथन स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. स्पिनोजा के द्रव्य सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।
2. स्पिनोजा के ईश्वर संबंधी विचारों का विवेचन कीजिए।
3. स्पिनोजा के अद्वैतवाद का समालोचनात्मक अध्ययन कीजिए।
4. स्पिनोजा के दर्शन में द्रव्य, गुण एवं प्रकार का संबंध स्पष्ट कीजिए।
5. स्पिनोजा के दर्शन का मूल्यांकन कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. स्पिनोजा किस देश के दार्शनिक थे?

(क) फ्रांस

(ख) हालैंड

(ग) इंग्लैंड

(ख) जर्मनी

2. स्पिनोजा के अनुसार द्रव्य है?

(क) अनेक

(ख) दो

(ग) एक

(घ) शून्य

3. स्पिनोजा का दर्शन कहलाता है?

(क) द्वैतवाद

(ख) अद्वैतवाद

(ग) भौतिकवाद

(घ) संशयवाद

4. स्पिनोजा ने ईश्वर को माना?

(क) प्रकृति से अलग

(ख) प्रकृति के समान

(ग) आत्मा से अलग

(घ) शून्य

5. स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर है?

(क) सीमित

(ख) अनंत

(ग) नश्वर

(घ) परिवर्तनशील

इकाई 2.3 लाइबनिट्ज- चिदणुवाद

उद्देश्य-

1. लाइबनित्ज के चिदणुवाद को समझना।
2. चिदणु (डवदंक) की प्रकृति एवं विशेषताओं का अध्ययन करना।
3. जगत एवं आत्मा संबंधी लाइबनित्ज के विचारों का विवेचन करना।

(जर्मन दार्शनिक 1646 से 1716 ई.)

लाइबनिट्ज-दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त की व्याख्या

(1) निरन्तरता का नियम- उन्होंने गणित के गहरे अध्ययन के पश्चात् यह पता लगाया कि संख्या का कोई अन्त नहीं। संख्या को असीमित बढ़ाया जा सकता है साथ ही साथ इस असीमितता को छोटे से छोटे भाग में बाँटा जा सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला कि किसी पदार्थ के विभाजन में कोई सीमा नहीं; परन्तु अंशों के योग्य को भी सीमा नहीं, परन्तु अंशों में निरन्तरता अवश्य है।

लाइबनिट्ज के अनुसार विश्व के मूलतत्त्व चिद्णु है। सभी चिद्णु एक समान । चिद्णु में चेतना का भेद है। निम्न, उच्च, उच्चतर और उच्चतम आदि चिद्णु को अनेक श्रेणियों है; परन्तु ये श्रेणियों आकस्मिक नहीं। एक स्तर दूसरे स्तर से पूर्णत: सम्बद्ध है।

उदाहरणार्थ- निम्नतम से लेकर उच्चतम श्रेणी तक चेतना के विभिन्न स्तर हैं। इनमें परिणाम के भेद अवश्य है, परन्तु इनमें गुणात्मक भेद नहीं। इसका आधार निरन्तरता का नियम है। इस नियम के आधार पर हो लाइबनिट्ज सजीव और निर्जीव, चेतन और अचेतन का भेद समाप्त करते हैं।

(2) व्यक्तित्व का नियम- लाइबनिट्ज के दर्शन परम तत्त्व व्यक्ति विशेष है। विशेष पदार्थ चिद्णु है। चिद्णु अनेक है परन्तु सभी चिद्णु व्यक्ति विशेष है। एक चिद्णु दूसरे के समान नहीं, अत: सभी विशेष है। सभी चिद्णु को अलग-अलग मानने के कारण लाइबनिट्ज परम तत्त्व की अनेकता स्वीकार करते हैं। विश्व में चिद्णु असंख्य हैं।

ये चिद्णु हो लाइबनिट्ज के द्रव्य है। चिद्णु विश्व के परम तत्त्व तो हैं, परदा अन्तिम, अविभाज्य, न्यूनतम पदार्थ नहीं। परमाणुवादियों के अनुसार विश्व का अविभाज्य पदार्थ ही परमाणु कहलाता है।

दूसरी बात यह है कि वैज्ञानिकों के परमाणु अचेतन पदार्थ है। लाइबनिट्ज के परमाणु चेतन है। विकास का कोई स्तर वेतनाशून्य नहीं। अत: लाइबनिट्ज नही परमाणुवादी दार्शनिकों न्यूनतम, अविभाज्य पदार्थ को ही मानते हैं और न अचेतन रूप ही स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार लाइबनिट्ज के चिद्णु गणित के बिन्दु से भी भिन्न हैं। गणितीय बिन्दु निर्जिव है, उनमें शक्ति नहीं। लाइबनिट्ज के अनुसार शक्ति ही द्रव्य का सार है। लाइबनिट्ज चिद्णु को शक्तिमान विशेष पदार्थ मानते हैं। पुन: लाइबनिट्ज का द्रव्य देकार्त के समान परम स्वतन्त्र भी है।

लाइबनिट्ज ने चिद्णु के माध्यम से ही विश्व के विविधता ने व्याख्या की है। चिद्णु अनेक हैं, परन्तु सभी एक से नहीं। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक चिद्णु का अपन स्वत्व है। वनस्पति जगत से लेकर मानव तक भी स्तरों में जीव व्याप्त हैं। सभी चेतन सम्पन्न हैं, हैं परन्तु चेतना में में न्यूनाधिक मात्रा है यह भेद चिदण का स्वत्व या निजत्व सिद्ध करता है।

(3) सामंजस्य का नियम- चिद्णु अनेक है तथा संबधा अपना-अपना स्वत्व है, परन्तु सबों में एकता भी है। चिद्णु भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु सबमे चेतना शक्ति है, कोई भी चिद्णु अचेतन तथा शक्तिहीन नहीं। चिद्णु में आन्तरिक एकता है। इसी कारण विश्व में सामंजस्य तथा व्यवस्था है। इस एकता का कारण ईश्वर है।

लाइबनिट्ज इसे पूर्व स्थापित सामजस्य कहते है। चिद्णु में पारस्परिक एकता तथा विश्व में व्यवस्था ईश्वर के द्वारा पहले से स्थापित है। इसी पूर्व स्थापित सामंजस्य के सूत्र में बंधकर सभी चिद्णु एक से कार्य करते हैं।

(4) पर्याप्त कारण का नियम- विश्व में कार्य-कारण ही श्रृंखला है परन्तु सर्वप्रथम कारण तो स्वंय-भू या अकारण होता है यह परम कारण ईश्वर है। लाइबनिट्ज उसे अनिवार्य और ''सह सम्भाव्य'' सत्य के द्वारा स्पष्ट करते हैं। अनिवार्य सत्य अविरोध नियम पर आधारित रहते है। परन्तु सम्भाव्य पर्याप्त कारणता नियम पर सिद्ध किये जाते है। ईश्वर ने अनेक सम्भव विश्वों में विश्व का चयन किया, क्योंकि इसमें अधिक पूर्णता थी, यहीं पर्याप्त कारणता है। अंत यह संसार सभी संसारों में श्रेष्ठ है। ईश्वर हो सम्भाव्यों में में किसी एक को संभव बनाता है

द्रव्य विचार

देकार्त के अनुसार स्वतन्त्र होने का अर्थ असीम होना है। श्री अर्थ के अनुसार स्पिनोजा ईश्वर को ही एकमात्र द्रव्य मानते हैं, क्योंकि ईश्वर हो मग तथा अनन्त है। लाइबनिट्ज के अनुसार स्वतन्त्र होने का अर्थ स्वतन्त्र शक्ति अतः द्रव्य वह नहीं जिसकी सत्ता अपने आप पर आत हो, वरन (यदि यहीं द्रव्य तो लक्षण हो तो सान्त द्रव्य नहीं हो सकते) वह जिसमें स्वतन्त्र किया हो तथा सभी फार के परिणामों का जो स्वतः आधार हो, अतः द्रव्य परिणामी है, क्रियात्मक है।

लाइबनिट्ज परमाणुओं के भौतिक स्वरूप निषेध करते हैं। उनके अनुसार भौतिक पदार्थ निस्वयव, अविभाज्य नहीं हो सकता। भौतिक या जड़ात्मक होने के के कारण वह नित्य भी नहीं हो सकता। भौतिक कण यदि जितना भी छोटा हो, विभाज्य है तथा अनित्य है। अतः इन परमाणुओं का स्वरूप भौतिक, आध्यात्मिक या चिदात्मक स्वीकार करना होगा। तात्पर्य यह है कि विश्व की तम, अविभाज्य इकाई आध्यात्मिक है, इसे लाइबनिट्ज चिद्णु कहते हैं

चिद्णुवाद

लाइबनिट्ज का द्रव्य सिद्धान्त चिद्णुवाद कहलाता है, क्योंकि चिद्णु ही द्रव्य है। चिद्णु ग्रीक शब्द है, जो एकतावाचक है। संभवतः लाइबनिट्ज ने 'मोनाड शब्द' वान हेलमोण्ट से लिया था। वान हेलमोण्ट ने ही सर्वप्रथम सरल, सूक्ष्म, न्यूनतम अवयव को चिद्णु माना है।

लाइबनिट्ज के अनुसार द्रव्य एक नहीं अनेक हैं, परन्तु ये चित् रूप हैं। ये चिद्णु जगत के मूल कारण है। ये अचेतन अणुरूप नहीं वरन चेतन शक्तिरूप है। संसार प्रत्येक पदार्थ इन्हीं सरल शक्तिरूप तत्त्वों का संघात हैं, जिसमें विस्तार नहीं वह भौतिक भी नहीं, वह तात्विक है। ये शक्तिरूप सरल द्रव्य ही तात्विक पदार्थ हैं जिन्हें लाइबनिट्ज मोनाड कहते हैं। लाइबनिट्ज भौतिक पदार्थों का गुण विस्तार नहीं मानते। उनके अनुसार भौतिक पदार्थों का आवश्यक गुण शक्ति है। जड़ पदार्थ शक्ति सम्पन्न है। जड़ पदार्थों में परिणाम या परिवर्तन होता है, क्योंकि वे शासक है। लाइबनिट्ज के दर्शन में इसी शक्ति का नाम चिद्णु है।

वैज्ञानिक परमाणुओं को शक्ति रूप तो मानते हैं, परन्तु अचेतन स्वीकार करते हैं। लाइबनिट्ज के अनुसार परमाणु चेतन है, क्योंकि ये अभौतिक हैं। इन्हों अभौतिक शक्ति सम्पन्न, परमाणुरूप पदार्थ को लाइबनिट्ज चिद्णु कहते हैं। शक्ति विस्तार शून्य है, क्योंकि यह जड़ पदार्थ नहीं, अतः शक्ति का विभाजन भी सम्भव नहीं। अविभाज्य होने के कारण शक्ति सरल है। सरलता तथा अविभाज्यता के कारण शक्ति को मौलिक द्रव्य भी माना गया है।

चिद्णु और चेतना

लाइबनिट्ज के अनुसार चेतन परमाणु ही चिद्णु है। अतः चेतन ही चिद्णु का लक्षण माना गया है। विश्व असंख्य वेतन परमाणुओं से भरा है। प्रत्येक चिदणु अपने। आपमें शक्ति विशेष है। चिद्णु की विशिष्टता उसकी स्वगत चेतना से सिद्ध होती है तात्पर्य यह है चेतना ही चिद्णु का गुण है जिसके कारण चिद्णु का सजातीय भेद सम्भव है।

इस दृष्टि से कहा गया है कि चिद्णु में गुणात्मक तथा संख्यात्मक दोनों भेद है तात्पर्य यह है कि न्यूनाधिक चेतना के कारण चिद्णु भिन्न है तथा अनेक होने के कारण उनमें संख्यात्म भेद अवयव ही हैं। चेतना के आधार पर लाइबनिट्ज चिद्णु की तारतम्यस श्रेणी की व्याख्या बतलाते है।

यदि चिद्णु भिन्न-भिन्न है तो उनकी श्रेणी कैसी? इसकी व्याख्या लाइबनिट्ज क्रमबद्धता से करते हैं। लाइबनिट्ज के अनुसार चेतना के विकार की एक श्रृंखला है। चेतना के पाँच स्तर हैं। अचेतन, उपचेतन, चेतन, स्वचेतन और पूर्ण चेतन।

- **अचेतन** - अचेतन का अर्थ चेतना का नितान्त अभाव नहीं, वरन् चेतना की न्यूनतम मात्रा है। यह निम्नतम श्रेणी है जिसे लाइबनिट्ज सरल या निम्न चिदणु का स्तर बतलाते हैं। इस स्तर के चिद्णु में चेतना सोयी हुई सी रहती है। यह जड़ जगत है।
- **उपचेतन** - इस स्तर की चेतना स्वप्नावस्थित जैसी है। इस स्तर में स्मृति विद्यमान रहती है। यह पशुजगत तथा वनस्पति जगत है।
- **चेतन** - इस स्तर पर चेतना जागृतावस्था में रहती है। अतः प्राणी को प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तथा उसे अहं बोध में रहता है। यह मानव का स्तर है।

- **स्वचेतन** - यह भी मानव का स्तर है। मानव विचारशील होता है, क्योंकि विचार आत्मा का गुण होता है, इसलिए इस स्तर को आत्मा का स्तर कहते हैं। पशु में भी आत्मा है, परन्तु आत्म चेतन नहीं, विचार नहीं।
- **पूर्ण चेतन** - यह स्तर ईश्वर का है। ईश्वर को बह्माण्ड की सभी वस्तुओं का पूर्ण बोध रहता है।

चेतन के कारण ही चिद्णु में संवेदन शक्ति में होती है, जो अधिक चेतन है वह अधिक संवेदन शक्ति सम्पन्न है। यह संवेदन शक्ति हो प्रत्येक चिद्णु का कार्य कही जाती है। प्रत्येक चिद्णु चेतन होने से संवेदनशील है, परन्तु संवेदना की मात्रा भिन्न-भिन्न है।

क्षीणतम चिद्णु में ज्ञानात्मक शक्ति अवश्य रहती है, परन्तु नहीं के बराबर। वह निर्जीव जगत है। इन्हें लाइबनिटज् नग्न चिद्णु कहते हैं।

द्वितीय प्रकार क्षीणतर चिद्णु का है। (वनस्पति जगत)

तृतीय प्रकार के चिद्णु क्षीण कहे जाते हैं। इस जगत में संवेदन स्पष्ट होता है। यह पशु जगत है। लाइबनिट्ज इसे चेतन जगत मानते हैं।

चौथे प्रकार का चिद्णु स्पष्टतर ज्ञान का होता है। यह स्वचेतन मानव जगत का है। लाइबनिट्ज इसे आत्मजगत मानते हैं।

पंचम प्रकार के चिद्णु केवल एक है, जिसे लाइबनिट्ज ईश्वर कहते हैं। ईश्वर भी स्पष्टतम ज्ञान होता है।

चिद्णु का स्वभाव

चिद्णु बाह्य प्रभाव से रहित हैं। इसी दृष्टि से चिद्णु को गंवाक्षहीन Windowless माना गया है। क्योंकि प्रत्येक चिद्णु छिद्र रहित हैं। यह चिंद्णु की स्वतन्त्रता सिद्ध और करता है। पूर्णत: स्पष्टतम रूप में प्रतिबिम्बित करना तो केवल उच्चतम चिद्णु (ईश्वर) का कार्य है, परन्तु अन्य चिद्णु न्यूनाधिक भाव से प्रतिबिम्बित करते हैं, जिसमें जितनी जड़ता है, वह उतने ही निम्न ढंग से या अस्पष्ट रूप से विश्व को प्रतिबिम्बित करता हैं। अत: उच्चतम चिद्णु ईश्वर ही पूर्णत: सक्रिय है। शक्ति सबमें समानत: है, परन्तु शक्ति के विकास में भेद में भेद हैं।

स्मरणीय बिन्दु-

ख लाइबनित्ज ने चिदणुवाद का प्रतिपादन किया।
ख जगत असंख्य चिदणुओं से निर्मित है।
ख चिदणु अविभाज्य एवं आध्यात्मिक तत्व हैं।
ख प्रत्येक चिदणु स्वतंत्र सत्ता है।
ख ईश्वर सर्वोच्च चिदणु है।
ख पूर्व-स्थापित सामंजस्य चिदणुवाद का महत्वपूर्ण सिद्धांत है।

शब्दावली-

शब्द	**अर्थ**
चिदणु	Monad
चिदणुवाद	Monadology
आत्मचेतना	Self - consciousness
आध्यात्मिक	Spiritual
सामंजस्य	Harmony
ईश्वर	God
बुद्धिवाद	Rationalism
अविभाज्य	Indivisible

5 अंक के प्रश्न-

1. चिदणु से क्या अभिप्राय है?
2. लाइबनित्ज के अनुसार चिदणु की मुख्य विशेषताएँ लिखिए।

3. लाइबनित्ज ने जगत की उत्पत्ति को कैसे स्पष्ट किया?
4. चिदणुवाद में ईश्वर की क्या भूमिका है?
5. लाइबनित्ज के अनुसार चिदणु कितने प्रकार के होते हैं?

15 अंक के प्रश्न-

1. लाइबनित्ज के चिदणुवाद की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. चिदणुओं की प्रकृति एवं विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
3. लाइबनित्ज के अनुसार ईश्वर, आत्मा एवं जगत के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
4. चिदणुवाद का समालोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
5. "जगत असंख्य चिदणुओं से निर्मित है"? स्पष्ट कीजिए।

बहु बिकल्पीय प्रश्न-

1. चिदणुवाद के प्रतिपादक हैं?
   (क) देकार्त
   (ख) स्पिनोजा
   (ग) लाइबनित्ज
   (घ) लॉक
2. लाइबनित्ज के अनुसार जगत बना है?
   (क) परमाणुओं से
   (ख) द्रव्य से
   (ग) चिदणुओं से
   (घ) प्रकृति से
3. चिदणु होते हैंख्र
   (क) भौतिक
   (ख) अविभाज्य एवं आध्यात्मिक
   (ग) नश्वर
   (घ) परिवर्तनशील
4. सर्वोच्च चिदणु कौन है?
   (क) मनुष्य
   (ख) आत्मा
   (ग) ईश्वर
   (घ) प्रकृति
5. लाइबनित्ज किस विचारधारा से संबंधित हैं?
   (क) अनुभववाद
   (ख) बुद्धिवाद
   (ग) संशयवाद
   (घ) यथार्थवाद

इकाई 2.4 पूर्व स्थापित सामंजस्य

उद्देश्य-

1. लाइबनित्ज के पूर्व-स्थापित सामंजस्य सिद्धांत को समझना।
2. आत्मा एवं शरीर संबंधी विचारों का अध्ययन करना।
3. ईश्वर की भूमिका एवं मोनाडों के संबंध का विवेचन करना।

लाइबनिट्ज 17वीं शताब्दी के प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक, गणितज्ञ तथा बुद्धिवादी चिंतक थे। उन्होंने संसार की व्याख्या करने के लिए "मोनाडवाद" का सिद्धांत प्रस्तुत किया। लाइबनिट्ज के अनुसार संसार असंख्य मोनाडों से मिलकर बना है। मोनाड सूक्ष्म, अविभाज्य तथा आध्यात्मिक तत्व हैं। प्रत्येक मोनाड स्वतंत्र और आत्मनिर्भर है तथा किसी दूसरे मोनाड को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं करता। इसके बावजूद संसार में जो व्यवस्था, एकता और सामंजस्य दिखाई देता है, उसकी व्याख्या लाइबनिट्ज ने अपने "पूर्व-स्थापित सामंजस्य" सिद्धांत के माध्यम से की।

लाइबनिट्ज के अनुसार ईश्वर ने सृष्टि के प्रारंभ में ही सभी मोनाडों की गतिविधियों को इस प्रकार व्यवस्थित कर दिया कि वे बिना किसी प्रत्यक्ष संपर्क के भी एक-दूसरे के अनुरूप कार्य करते रहें। अर्थात संसार में दिखाई देने वाला सामंजस्य पहले से ही ईश्वर द्वारा स्थापित कर दिया गया है। प्रत्येक मोनाड अपने निश्चित नियमों के अनुसार कार्य करता है, फिर भी उसकी क्रियाएँ अन्य मोनाडों की क्रियाओं से मेल खाती हैं। यही कारण है कि विश्व में एक सुव्यवस्थित व्यवस्था दिखाई देती है।

इस सिद्धांत को स्पष्ट करने के लिए लाइबनिट्ज ने दो घड़ियों का उदाहरण दिया। यदि दो घड़ियाँ समान समय दिखाती हैं, तो ऐसा तीन प्रकार से हो सकता है- पहला, एक घड़ी दूसरी को नियंत्रित करे; दूसरा, कोई व्यक्ति बार-बार उन्हें ठीक करता रहे; और तीसरा, दोनों घड़ियाँ प्रारंभ से ही इतनी पूर्ण बनाई गई हों कि वे स्वतः समान गति से चलें। लाइबनिट्ज ने तीसरे मत को स्वीकार किया। उनके अनुसार ईश्वर ने संसार के सभी मोनाडों को इस प्रकार निर्मित किया है कि वे स्वतः सामंजस्यपूर्ण ढंग से कार्य करें।

पूर्व-स्थापित सामंजस्य का सिद्धांत विशेष रूप से मन और शरीर के संबंध को समझाने के लिए महत्वपूर्ण है। लाइबनिट्ज के अनुसार मन और शरीर दोनों अलग-अलग मोनाड हैं। दोनों के बीच कोई प्रत्यक्ष कारण-कार्य संबंध नहीं है, फिर भी दोनों में सामंजस्य दिखाई देता है। उदाहरण के लिए, जब मन में चलने का विचार उत्पन्न होता है, उसी समय शरीर चलने लगता है। ऐसा इसलिए नहीं कि मन शरीर को नियंत्रित करता है, बल्कि इसलिए कि ईश्वर ने पहले से ही दोनों की क्रियाओं में समन्वय स्थापित कर दिया है।

इस सिद्धांत में ईश्वर को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। ईश्वर ही समस्त विश्व-व्यवस्था और सामंजस्य का निर्माता है। लाइबनिट्ज का मानना था कि यह संसार "सर्वोत्तम संभावित संसार" है, क्योंकि इसे एक सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ईश्वर ने बनाया है। उनका सिद्धांत विश्व की व्यवस्था, एकता तथा नियमबद्धता को समझाने का महत्वपूर्ण प्रयास है।

हालाँकि इस सिद्धांत की आलोचना भी की गई। कई दार्शनिकों ने इसे अत्यधिक काल्पनिक और अव्यावहारिक माना। आलोचकों का कहना था कि संसार में वस्तुओं के बीच प्रत्यक्ष कारण-कार्य संबंध स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, जबकि लाइबनिट्ज उसे स्वीकार नहीं करते। इसके अतिरिक्त, इस सिद्धांत में हर व्यवस्था का आधार ईश्वर को माना गया है, जिससे वैज्ञानिक व्याख्या कमजोर पड़ती है।

फिर भी लाइबनिट्ज का पूर्व-स्थापित सामंजस्य सिद्धांत दर्शन के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है। इस सिद्धांत ने मन और शरीर संबंधी समस्या को समझाने का नया दृष्टिकोण प्रदान किया तथा आधुनिक तर्कवाद और आदर्शवाद को गहराई से प्रभावित किया। इस प्रकार यह सिद्धांत विश्व की व्यवस्था और एकता की दार्शनिक व्याख्या का एक महत्वपूर्ण प्रयास है।

लाइबनिट्ज के अनुसार चिद्णु गवाक्षहीन है, छिद्ररहित है अर्थात वे बाह्य प्रभावविहीन है। वे अपने आन्तरिक नियमों से ही परिचालित होते हैं। सभी स्वतन्त्र हैं।

यदि सभी चिद्‌णु स्वतन्त्र रूप से शक्ति के पुंज है तो उनमें अन्तक्रिया कैसे? शरीरात्म सम्बन्ध तथा विश्व में साम्य, एकरूपता की व्याख्या पूर्व स्थापित सामंजस्य से होती है। चिद्‌णु स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष होकर भी एक दूसरे के सहयोगी हैं। इसी कारण संसार में नियम तथा व्यवस्था है, विश्व में नियम तथा व्यवस्था, एकता तथा सामंजस्य का कारण ईश्वर है। यह सामंजस्य ईश्वर के द्वारा सृष्टि के पूर्व हो स्थापित है। चिद्‌णु की सृष्टि करने के समय ईश्वर ने ऐसी व्यवस्था निश्चित कर दी है कि सभी चिद्‌णु में समान परिवर्तन हो। एक की क्रिया के समान दूसरे में भी क्रिया उत्पन्न हो। अतः चिद्‌णु गवाक्षहीन होकर भी एक दूसरे के सहचारी हैं, सभी चिद्‌णुओं में एक समान ही क्रिया उत्पन्न होती है।

स्मरणीय बिन्दु-

लाइबनित्ज ने पूर्व-स्थापित सामंजस्य सिद्धांत का प्रतिपादन किया।
जगत मोनाडों से निर्मित है।
मोनाड स्वतंत्र एवं आध्यात्मिक तत्व हैं।
ईश्वर ने सभी मोनाडों में सामंजस्य स्थापित किया।
आत्मा और शरीर प्रत्यक्ष रूप से एक-दूसरे को प्रभावित नहीं करते।
दो घड़ियों का उदाहरण इस सिद्धांत का प्रसिद्ध उदाहरण है।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
पूर्व-स्थापित सामंजस्य	Pre & established Harmony
मोनाड	Monad
आत्मा	Soul
शरीर	Body
सामंजस्य	Harmony
बुद्धिवाद	Rationalism
ईश्वर	God
आध्यात्मिक सत्ता	Spiritual Substance

5 अंक के प्रश्न-

1. पूर्व-स्थापित सामंजस्य से क्या अभिप्राय है?
2. लाइबनित्ज के अनुसार मोनाड क्या हैं?
3. आत्मा और शरीर के संबंध को लाइबनित्ज ने कैसे समझाया?
4. पूर्व-स्थापित सामंजस्य में ईश्वर की क्या भूमिका है?
5. लाइबनित्ज के मोनाडवाद की मुख्य विशेषताएँ लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. लाइबनित्ज के पूर्व-स्थापित सामंजस्य सिद्धांत की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. आत्मा एवं शरीर संबंधी लाइबनित्ज के विचारों का विवेचन कीजिए।
3. मोनाडवाद एवं पूर्व-स्थापित सामंजस्य के पारस्परिक संबंध को स्पष्ट कीजिए।
4. लाइबनित्ज के पूर्व-स्थापित सामंजस्य सिद्धांत का समालोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
5. "ईश्वर द्वारा स्थापित सामंजस्य के कारण जगत व्यवस्थित रूप से संचालित होता है" स्पष्ट कीजिए।

बहु बिकल्पीय प्रश्न-

1. पूर्व-स्थापित सामंजस्य सिद्धांत के प्रतिपादक हैं?

(क) देकार्त

(ख) स्पिनोजा

(ग) लाइबनित्ज

(घ) लॉक

2. लाइबनित्ज के अनुसार जगत बना है?

(क) परमाणुओं से

(ख) पदार्थ से

(ग) मोनाडों से

(घ) आत्मा से

3. मोनाड होते हैं?

(क) भौतिक

(ख) अविभाज्य एवं आध्यात्मिक

(ग) नश्वर

(घ) परिवर्तनशील

4. पूर्व-स्थापित सामंजस्य की स्थापना किसने की?

(क) मनुष्य ने

(ख) प्रकृति ने

(ग) ईश्वर ने

(घ) आत्मा ने

5. लाइबनित्ज किस विचारधारा से संबंधित हैं?

(क) अनुभववाद

(ख) बुद्धिवाद

(ग) संशयवाद

(घ) भौतिकवाद

खण्ड-3, अनुभववाद

इकाई 3.1 जॉन लॉक- जन्मजात प्रत्ययों का खण्डन, गुण विचार
(इंग्लैण्ड के दार्शनिक) (1632 से 1704)

1. जॉन लॉक के अनुभववाद को समझना।
2. जन्मजात प्रत्ययों के खंडन का अध्ययन करना।
3. प्राथमिक एवं गौण गुणों का विवेचन करना।

अनुभववादी

लॉक अनुभववाद के पिता माने जाते हैं। क्योंकि सर्वप्रथम इन्होंने बुद्धिवाद की मान्यताओं को विशेष कर अनुभववाद की नई नींव डाली। लॉक के अनुभववाद के अनुसार हमारा समस्त ज्ञान अनुभवजन्य है। बाह्य जगत का ज्ञान हमें बाह्य इन्द्रियों से होता है और आन्तरिक जगत का आन्तर्निरीक्षण से होता है। अत: इन्द्रियों के बिना हमें ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अर्थात् ज्ञान इन्द्रिय सापेक्ष है। उच्च से उच्च विचार भी अनुभवजन्य है।

जन्मजात प्रत्ययों का खण्डन

लॉक जन्मजात प्रत्ययों के खण्डन के लिए निम्न तर्क देते हैं-

(1) बुद्धिवादी दार्शनिक सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान को जन्मजात मानते हैं। लॉक के अनुसार ऐसा कोई दार्शनिक या व्यावहारिक सिद्धान्त नहीं। जिसे सारे विश्व लोग स्वीकार करते हों। यदि सारा विश्व किसी एक विचार से सहमत हो तो वे सार्वभौम माना जा सकता है। परन्तु सार्वभौम होने से यह विचार जन्मजात नहीं। किसी दूसरे कारणवश भी एकमत हो सकता है।

(2) लाइबनिटज कहते हैं कि जन्मजात प्रत्यय हममें जन्म से विद्यमान रहते है परन्तु हमें सर्वदा उनकी प्रतीती नहीं होती. क्योंकि वे प्रत्यय अचेतन मस्तिष्क में हैं। लॉक का कहना है है कि वस्तु का होना एवं उसकी प्रतीती का न होना असम्भव है अत: अप्रतीयमान अस्तित्व तो विरोधसूचक हैं।

(3) यदि कोई सार्वभौम अनिवार्य ज्ञान है तो उसकी सत्ता सब में होनी चाहिए। पागल, मुर्ख आदि सब में वह ज्ञान विद्यमान होना चाहिये। कोई भी बच्चा जन्म से यह नहीं जानता कि 3 + 4 = 7 वरन् एक से सात तक गिनती सीखकर ही जाना है कि तीन और चार का योग सात होगा।

(4) बुद्धिवादी दार्शनिकों का कहना है कि तादात्म्य का नियम तथा विरोध का नियम आदि मौखिक जन्मजात प्रत्यय है। यदि ये नियम जन्मजात होते तो बच्चे, मूर्ख, जंगली, असभ्य आदि सभी इसे जानते।

(5) कुछ लोगों का कहना है कि नैतिक नियम जन्मजात है परन्तु लॉक का कहना है कि कोई भी नैतिक नियम नहीं, जिसे सारे संसार के लोग स्वीकार करते है। प्रत्येक समाज के लिये आचार के नियम अपने देश तथा परिस्थिति के अनुसार होते है।

न्याय आदि के सिद्धान्त को अधिकतर लोग स्वीकार करते हैं, इसलिये नहीं कि वह जन्मजात है वरन् वह हितकर है। हित या भलाई की धारणा भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न हैं। अत: न्याय आदि नैतिक सिद्धान्त भी अलग-अलग हैं।

(6) कुछ लोग ईश्वर प्रत्यय को जन्मजात मानते हैं। लॉक का कहना है कि दुनिया में बहुत-सी जातियाँ हैं जिनको ईश्वर का ज्ञान तक नहीं। पुन: यदि ईश्वर का प्रत्यय जन्मजात होता तो नास्तिक क्यों होते ?

(7) कुछ लोगों का कहना है कि जन्मजात ज्ञान तो हममें जन्म से ही विद्यमान रहते हैं, परन्तु बुद्धि विकसित हो जाने पर हम उन्हें पहचानते हैं। यदि बुद्धि के विकजित होने पर हम उन्हें पहचानते हैं तो केवल जन्मजात प्रत्ययों की क्षमता ही जन्म से समय हो सकती है, जन्मजात प्रत्यय नहीं।

जन्म के समये हमारा मन कोरे कागज। अन्धेरे कमरे, साफ स्लेट के समान रहता है। इस पर कुछ भी अंकित नहीं रहता। ज्ञान की रश्मियाँ जिन वातायन से भीतर प्रवेश करती हैं उन्हें संवेदना तथा स्वसंवेदना कहते हैं। संवेदना से बाह्य जगत का ज्ञान प्राप्त होता है तथा स्वसंवेदना से आन्तरिक जगत की अनुमति होती है।

प्रत्यय-

लॉक के अनुसार ज्ञान प्रत्ययों से बनता है। प्रत्यय दो प्रकार के हैं-

1. सरल **2.** मिश्रित

भेद- **(अ)** सरल प्रत्ययों को ग्रहण करने में हमारी बुद्धि निष्क्रिय रहती है तथा मिश्रित प्रत्ययों में सक्रिय ।

(ब) सरल एक ही प्रकार की इन्द्रियानुभूति है। ये चार प्रकार माने गए हैं-

(क) एक बाह्य इद्रियों से प्राप्त होने वाले प्रत्यय, जैसे-रूप, रस, रंग, गन्ध इत्यादि ।

(ख) एक से अधिक बाह्य इद्रियों से प्राप्त होने वाले, जैसे विस्तार, आकृति, गति इत्यादि।

(ग) अन्तःकरण के स्वसंवेदन से प्राप्त होने वाले जैसे-चिन्तन, मनन, संकल्प, स्नेह, स्मृति इत्यादि।

(घ) बाह्येन्द्रिय तथा अन्तःन्द्रिय (मन) के संवेदन से प्राप्त होने वाले जैसे सुख,दुःख सत्ता, शक्ति, एकता आदि।

मिश्रित प्रत्यय-

सरल प्रत्ययों के निर्माण में हमारी बुद्धि निष्क्रिय होती है क्योंकि यह बाह्य वस्तुओं से जन्य संवेदनाओं को ज्यों का त्यों ग्रहण करती है। मिश्रित प्रत्ययों के निर्माण में निम्न छः अवस्थाओं का वर्णन किया गया है-

(1) सरल प्रत्ययों का ग्रहण- सरल प्रत्यय संवेदना तथा स्वसंवेदना के द्वारा ही बुद्धि को प्राप्त होते हैं।

(2) सरल प्रत्ययों का धारण- प्रत्ययों का धारण करना स्मृति का काम है। अतः स्मृति न रहे तो प्राप्त संवेदनाएँ विस्मृत हो जाएँगी तथा आगे की ज्ञान प्रक्रिया भी समाप्त हो जायेगी।

(3) प्रत्ययों का पृथक्करण- वस्तुतः बुद्धि की पहली सक्रिय अवस्था यही है। बुद्धि को असंख्य संवेदनाएँ प्राप्त होती है। बुद्धि उन सबों को अलग-अलग वर्गों में विभाजित करती हैं।

(4) सरल विज्ञानों का सन्तुलन- संतुलन का अर्थ है विज्ञानों को क्रम से व्यवस्थित करना। यहाँ समान सरल प्रत्ययों को ही व्यवस्थित कर बटिकार उन्हें सन्तुलित करती है।

(5) प्रत्ययों का मिश्रण- इस अवस्था में बुद्धि संतुलित प्रत्ययों का योग कराती हैं।

(6) नामकरण- हम किसी व्यक्ति या वस्तु विशेष का नामकरण उसके सामान्य तथा सार गुणों के आधार पर ही करते हैं।

पर्याय- पर्याय सरल प्रत्ययों के योग से बनते हैं तथा द्रव्याश्रित है। द्रव्याश्रित कहने का तात्पर्य यह है कि द्रव्य ही पर्याय का आधार है, अर्थात् पर्याय की सत्ता स्वतन्त्र नहीं।

उदाहरणार्थ- त्रिभुज, कृतज्ञता, हत्या आदि विचार पर्याय माने गये हैं।

पर्याय दो प्रकार के माने गये हैं- **(क)** सरल, **(ख)** मिश्रित

(क) सरल- यदि एक ही प्रकार की विभिन्न वस्तुएँ एक ही वर्ग में रखी जाये तो वह सरल प्रत्यय है।

उदाहरणार्थ- दर्जन, कौड़ी, इत्यादि ।

(ख) मिश्रित- मिश्र पर्याय वे हैं जिसमें वस्तु के विभिन्न प्रकार हों।

उदाहरणार्थ- सौन्दर्य के विचार में रूप, आकृति तथा दृष्टा का आनन्द आदि अनेक प्रत्यय सम्मिलित हैं।

(2) द्रव्य- द्रव्य भी सरल प्रत्ययों का योग है। द्रव्य की सत्ता स्वतन्त्र है। द्रव्य गुण का आश्रय है। गुण का हम प्रत्यक्ष करते हैं, परन्तु गुण के आधार (द्रव्य) का प्रत्यक्ष नहीं होता।

द्रव्य प्रत्यय के भी दो प्रकार हैं- व्यष्टि रूप या समष्टि रूप।
उदाहरणार्थ- मनुष्य व्यष्टि रूप द्रव्य प्रत्यय है तथा सेना समष्टि रूप प्रत्यय है।

(3) सम्बन्ध- ये भी सरल प्रत्ययों से ही बनते हैं। किन्हीं दो व्यक्तियों या वस्तुओं में तुलना के आधार पर निर्मित प्रत्यय को सम्बन्ध प्रत्यय कहा जाता है। सम्बन्ध प्रत्यय सर्वदा दो सम्बन्धियों के बीच रहता है।
उदाहरणार्थ - (पिता-पुत्र), (बड़ा छोटा)।

गुण विचार

गुण की अवधारणा द्रव्य ज्ञान के लिये आवश्यक है, गुर्गों के ज्ञान के बिना हमें द्रव्य का ज्ञान नहीं हो सकता। अत: गुणों का ज्ञान आवश्यक है। लॉक ने स्पष्टत: बतलाया है कि गुणों के आधार को द्रव्य कहते हैं। गुणों का प्रत्यक्ष ज्ञान हमें होता है। द्रव्य का नहीं। गुणों का आधार गुणी (द्रव्य) अवश्य है, क्योंकि गुण निराधार नहीं रह सकते, क्योंकि निराधार का ज्ञान सम्भव नहीं। गुणों का ज्ञान हमें होता है आधार द्रव्य भी अवश्य है।

गुणों के विचार

लॉक महोदय का कहना है कि गुण के दो प्रकार है-
(क) मूल गुण - मूल गुण किसी द्रव्य या वस्तु का अपना स्वतन्त्र धर्म या स्वभाव है। इन्हें वस्तु या द्रव्य का अविच्छेद धर्म भी कहा गया है।
उदाहरणार्थ- आकृति किसी वस्तु का मूलगुण है। आकृति के बिना हमे वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता।
मूल गुण के स्वतन्त्र कहने का तात्पर्य यह है कि आकृति, गति आदि प्रत्युयों का ज्ञान तो हमें इन्द्रियों से होता है; परन्तु इनका अस्तित्व इन्द्रिय ज्ञान से स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार ज्ञान की दृष्टि से मूलगुण परतंत्र है, परन्तु सत्ता की दृष्टि से स्वतन्त्र ।

(ख) उपगुण- उपगुण वस्तु के स्वतन्त्र नहीं। उपगुण मूलगुणों के माध्यम से उत्पन्न होते हैं। अत: उपगुण के कारण मूलगुण हैं।
उदाहरणार्थ- रूप उपगुण है। रूप आकार के बिना नहीं रह सकता। लॉक के अनुसार रूप संवेदना है। इसकी उत्पत्ति आकृति के अधीन हैं। अत: उपगुण संवेदना है जो मूलगुणों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार विभिन्न संवेदनाओं को उत्पन्न करने वाली शक्ति का नाम ही उपगुण है। उपगुण अपनी उत्पत्ति और ज्ञान दोनों दृष्टि से परतन्त्र है। इनकी उत्पत्ति मूलगुणों के कारण होती है तथा इनका ज्ञान भी ज्ञाता पर निर्भर है। रूप संवेदना है, जो देखने वाले पर निर्भर है। लॉक महोदय का कहना है कि उपगुण वस्तु के धर्म नहीं, वरन् मूलगुणों के माध्यम से उत्पन्न संवेदना है।

मूलगुण और उपगुण में भेद

(क) मूलगुण द्रव्य के अविच्छेद धर्म या स्वभाव है। इन्हें द्रव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता। उपगुण वस्तु के धर्म नहीं, वरन् मूलगुण के धर्म है।
(ख) मूल गुण द्रव्य के स्वतन्त्र हैं। उपगुण ज्ञाता पर निर्भर है। यदि ज्ञाता न हो तो रूप की संवेदना नहीं होगी। अत: मूलगुण की सत्ता स्वतन्त्र हैं, उपगुण परतन्त्र है।
(ग) मूलगुण किसी वस्तु का वास्तविक धर्म है। इसके बिना वस्तु की सत्ता नहीं रह सकती। उपगुण तो संवेदना है। संवेदनाओं का स्वरूप बदलता रहता है।
(घ) लॉक के अनुसार मूलगुण निरपेक्ष है तथा उपगुण सापेक्ष ।
(ङ) लॉक के अनुसार उपगुणों का सम्बन्ध हमारी इन्द्रियों से है, बुद्धि से नहीं, परन्तु मूलगुणों का सम्बन्ध हमारी बुद्धि से है। हमारी बुद्धि इन गुणों को द्रव्य का आवश्यक, अविच्छेद धर्म मानती है। अत: पहला बाह्य इन्द्रियों से गम्य है तथा दूसरा आन्तरिक इन्द्रियों से गम्य है।

द्रव्य विचार

लॉक के अनुसार गणों के आश्रय या आधार का नाम ही द्रव्य है। उनका कहना है कि गुणों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा हम यह भी जानते हैं कि गुण निराधार नहीं रह सकते। अत: गुणों के आधार का नाम ही द्रव्य है। परन्तु द्रव्य की सत्ता गुणों के समान प्रत्यक्ष नहीं। उसकी सत्ता अनुमेय है।

लॉक का कहना है कि द्रव्य अज्ञेय है, अर्थात् द्रव्य के अपने स्वरूप के सम्बन्ध में हम कुछ भी नहीं जानते, गुणों का सन्निधान का कारण हम द्रव्य मान लेते हैं।

गुणों का प्रत्यक्ष हमें होता है। अत: उनके आधार की कल्पना सत् है। अत: बाह्य वस्तु का वे निराकरण नहीं करते। इसलिए लॉक को बाह्य प्रत्यक्षवादी नहीं माना गया है, क्योंकि उनके अनुसार बाह्य वस्तु का हमें प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रत्यक्ष तो गुणों का होता है।

लॉक के अनुसार द्रव्य मिश्र प्रत्यय है। इस मिश्र प्रत्यय की उत्पत्ति तीन सरल प्रत्ययों के योग से होती है।

(क) मूलगुण, **(ख)** उपगुण, **(ग)** निष्क्रिय तथा सक्रिय शक्ति।

जिस प्रकार शरीर द्रव्य गुण विस्तार है, उसी प्रकार आत्म द्रव्य का गुण विचार है। विचार और विस्तार का हमें स्पष्ट अनुभव होता है; परन्तु जड़ और चेतन के निजी स्वरूप का हमें पता नहीं, हम केवल गुणों को जानते हैं। इसी प्रकार लॉक ईश्वर की सत्ता भी गिद्ध करते हैं। ईश्वर परम पुरुष है। वह माननीय ज्ञान, अनन्त मुख आदि से सम्पन्न परम पुरुष है। अत: यह नहीं कहा जा सकता कि इन्य है और अज्ञेय हैं। यदि है तो ज्ञेय है और अज्ञेय है तो नहीं है। इसका अस्तित्व मानकर भी इसे ज्ञान का विषय न मानना (अज्ञेय मानना) तो विरोध है।

लॉक द्रव्य के तीन प्रकार बतलाते हैं- भौतिक (जड़), आध्यात्मिक (आत्मा), ईश्वर (द्रव्य) ।

(1) जड़ द्रव्य- संवेदन के सरल विज्ञानों को संकलित कर हम भौतिक पिण्डों का निर्माण करते हैं। लॉक इस प्रकार जड़ द्रव्य की सत्ता सिद्ध करते हैं।

(क) बाह्य पदार्थ ही हमारी संवेदनाओं के कारण हैं। इन्द्रियों के रहने पर भी बाह्य वस्तु का होना आवश्यक है।

(ख) संवेदना और स्मरण में स्पष्ट अन्तर भी बाह्य वस्तु की सत्ता प्रामाणित करता है। दिन में सूर्य देखने से प्रकाश की संवेदना अधिक स्पष्ट होती है, परन्तु सूर्य के स्मरण में यह बात नहीं पाई जाती। इससे बाह्य वस्तु (सूर्य) का अस्तित्व प्रामाणित होता है।

(ग) हमारी विभिन्न इन्द्रियाँ बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व प्रमाणित करती है। हम बर्फ के ठण्डापन का प्रत्यक्ष करते हैं। इसे अपने हाथों पर रखने से असह्य ठंडक जन्य कष्ट की अनुभूति कर पाते हैं। यदि बर्फ बाह्य वस्तु नहीं होती तो इससे ठंडापन का कष्ट किस प्रकार होता ?

(घ) आत्म द्रव्य- स्व-संवेदन के सरल विज्ञानों प्रत्यक्ष, कल्पना, स्मरण, तर्क, भय इत्यादि को संकलित कर हम जीवात्माओं के मिश्र विज्ञान का निर्माण करते हैं। लॉक की आत्मा विषयी होने के साथ-साथ विषय भी है।

(ङ) ईश्वर द्रव्य- अनुभववादी लॉक ने आत्मा के साथ-साथ ईश्वर को भी स्वीकार इस किया है। इन्होंने ईश्वर को परोक्ष ज्ञान का विषय बताया है। इसका ज्ञान हमें निदर्शन से मिलता है जो एक प्रकार का श्रृंखलाबद्ध प्रातिभज्ञान है।

लॉक के अनुसार विश्व की सभी वस्तुएँ कार्य-कारण की श्रृंखला में बँधी है। अनवस्था दोष से बचने के लिए यह आवश्यक है कि उनका कोई न कोई आदि कारण हो अवश्य होना चाहिए। इसी आदि कारण को ईश्वर की संज्ञा दी जाती है। यह लॉक. का कारणतामूलक या विश्वमूलक प्रमाण है। अनुभववादी होने पर भी उन्होंने कारणता नियम को एक नित्य सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया है।

लॉक ने ईश्वर के प्रत्यय को जन्मजात न कहकर अनुभव जन्य बताया है। हमें अनुभव में अस्तित्व, ज्ञान, शक्ति, सुख, आनन्द आदि प्रत्ययों की प्राप्ति होती रहती है। इनकी सार्थकर्ता के लिए इनकी पराकाष्ठा के रूप में ईश्वर का अस्तित्व मानना पड़ता है। लॉक देकार्त की भाँति ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानते हैं, जड़ तत्त्व विश्व का उपादान कारण है।
लॉक के अनुसार सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान अनुभवजन्य है। इसमें जन्मजात कोई भी अंश नहीं है। ज्ञान प्रत्ययों के मेल से बनता है। प्रत्यय दो प्रकार के हैं- सरल और मिश्र । अनुभव से ही प्रत्ययों की प्राप्ति होती है। अनुभव दो प्रकार के हैं संवेदन और स्वसम्वेदन। सम्पूर्ण ज्ञान इन्हीं दो दरवाजों से होकर आत्मा में प्रवेश करता है। जन्म के समय मन या आत्मा कोरे कागज के समान होता है। अनुभव द्वारा ही इनमें विभिन्न प्रत्यय या विचार आते हैं। इन्होंने श्जन्मजात प्रत्ययों का खण्डन किया है।श

ज्ञान का स्वरूप- ज्ञान के विषय केवल प्रत्यय हैं। इनके अनुसार आत्मा को बाह्य वस्तुओं का साक्षात् ज्ञान नहीं होता। प्रत्ययों के माध्यम से ही इन वस्तुओं का ज्ञान आत्मा को होता है। प्रत्यय ही ज्ञान की सामग्रिया है। इन्हीं से ज्ञान का निर्माण होता है। लॉक के अनुसार प्रत्ययों के बीच चार प्रकार की अनुकूलता या प्रतिकूलता है।

(क) तादात्म्य एवं वैधम्य- दो प्रत्ययों की अभिन्नता को तादात्म्य कहते हैं तथा इसी प्रकार दो प्रत्ययों की भिन्नता को बैषम्य कहते हैं।

(ख) सम्बन्ध- प्रत्ययों के बीच जो अमूर्त सम्बन्ध पाया जाता है, उसे सम्बन्ध कहते हैं।

(ग) सह-अस्तित्व- जब दो प्रत्ययों का किसी उद्देश्य में युगपद भाव या अभाव हो तो उसे सह-अस्तित्व कहते हैं।

(घ) वास्तविक अस्तित्व- जब मन किसी प्रत्यय से समानता रखने वाले किसी वास्तविक अस्तित्व का प्रत्यक्षीकरण करता है, जैसे- श्परमात्मा हैश तो वास्तविक अस्तित्व की प्राप्ति होती है।

ज्ञान की प्रामाणिकता

हमारे प्रत्ययों के कुछ आदिरूप होते हैं। यदि प्रत्ययों की संगति उनके आदिरूपों के साथ हो, उन गुणों के साथ हो जिनके कारण प्रत्यय उत्पन्न होते हैं तो हमारा ज्ञान यथार्थ कहा जाएगा। यदि संगति न हो तो ज्ञान अयथार्थ कहा जाएगा। जितनी अधिक संगति होगी, ज्ञान की यथार्थता भी उतनी ही अधिक होगी। आदि रूप से प्रत्ययों की समानता जितनी अधिक होगी, वह ज्ञान उतना ही अधिक प्रामाणिक होगा। प्रत्ययों और वस्तुओं की सत्ता के बीच अनुरूपता ही सत्य है। इस प्रकार लॉक सत्यता के संवादिता सिद्धान्त के समर्थक हैं। लॉक स्वत: प्रामाण्यवाद को मानते हैं।

ज्ञान के प्रकार-लॉक के अनुसार ज्ञान के तीन प्रकार हैं-

(क) अपरोक्ष या प्रातिभ ज्ञान- जब प्रत्ययों में संगति या असंगति का प्रत्यक्ष बिना किसी तृतीय प्रत्यय की मदद से हो जाता है तो इसे श्प्रातिभ ज्ञानश कहते हैं। यह ज्ञान स्वत: सिद्ध, निश्चयात्मक, असंदिग्ध एवं सबसे अधिक प्रामाणिक है।

(ख) निदर्शनात्मक ज्ञान - जब प्रत्ययों के बीच संगति. या असंगति का प्रत्यक्ष किसी तृतीय प्रत्यय के माध्यम से होता है तो उसे निदर्शनात्मक ज्ञान कहते हैं। तर्कशास्त्र व गणित के ज्ञान कुछ इस प्रकार के होते हैं।

(ग) संवेदन ज्ञान - यह निकृष्टतम ज्ञान की अवस्था है। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान ही संवेदन ज्ञान है। यह स्वप्न या भ्रम से अधिक प्रामाणिक है, परन्तु प्रातिभ ज्ञान तथा निदर्शनात्मक ज्ञान से कम प्रामाणिक है। विश्व की वस्तुओं का ज्ञान इसी प्रकार का ज्ञान है।

स्मरणीय बिन्दु-

लॉक अनुभववाद के जनक माने जाते हैं।
मन जन्म के समय "ज्ंइनसं तें" होता है।
सभी ज्ञान अनुभव से प्राप्त होते हैं।
प्राथमिक गुण वस्तु में निहित होते हैं।
गौण गुण मन पर निर्भर होते हैं।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
अनुभववाद	Empiricism

जन्मजात प्रत्यय	Innate Ideas
प्राथमिक गुण	Primary Qualities
गौण गुण	Secondary Qualities
कोरी पट्टिका	Tabula Rasa

5 अंक के प्रश्न-

1. जॉन लॉक के अनुसार ज्ञान का स्रोत क्या है?
2. जन्मजात प्रत्यय से क्या अभिप्राय है?
3. प्राथमिक गुण एवं गौण गुण में अंतर लिखिए।
4. लॉक के अनुभववाद की विशेषताएँ बताइए।
5. "मन कोरी पट्टिका है"? स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. जॉन लॉक के अनुभववाद का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. लॉक द्वारा जन्मजात प्रत्ययों के खंडन की विवेचना कीजिए।
3. लॉक के गुण-विचार का समालोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
4. लॉक के ज्ञान-सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।
5. लॉक को अनुभववाद का जनक क्यों कहा जाता है?

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. जॉन लॉक किस विचारधारा के दार्शनिक थे?

(क) बुद्धिवाद

(ख) अनुभववाद

(ग) आदर्शवाद

(घ) संशयवाद

2. लॉक के अनुसार मन जन्म के समय होता है?

(क) पूर्ण ज्ञानयुक्त

(ख) आत्मसंपन्न

(ग) कोरी पट्टिका

(घ) शून्य

3. प्राथमिक गुण का उदाहरण है?

(क) रंग

(ख) गंध

(ग) आकार

(घ) स्वाद

4. लॉक ने जन्मजात प्रत्ययों का?

(क) समर्थन किया

(ख) खंडन किया

(ङ) संशोधन किया

(क) प्रचार किया

5. लॉक के अनुसार ज्ञान प्राप्त होता है?

(क) ईश्वर से

(ख) आत्मा से

(ग) अनुभव से

(घ) कल्पना से

इकाई 3.2 जार्ज बर्कले जड़वाद की आलोचना, आत्मगत प्रत्ययवाद
[आयरलैण्ड के दार्शनिक] [1685 से 1753 ई.]

उद्देश्य-

1. बर्कले के आत्मगत प्रत्ययवाद को समझना।
2. जड़ पदार्थ के निषेध का अध्ययन करना।
3. आत्मा एवं ईश्वर संबंधी विचारों का विवेचन करना।

जार्ज बर्कले-

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में बर्कले का विज्ञानवाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विज्ञानवाद का प्रारम्भ प्राय: प्लेटो से माना जाता है। बर्कले की यहां विशेषता है कि उन्होंने जड़ पदार्थ का पूर्णत: निषेध किया है तथा अध्यात्मवाद की स्थापना की है। बर्कले मूलत: धार्मिक दार्शनिक हैं। ईश्वर और आत्मा की सत्ता सिद्ध करना ही वे अपना पुनीत कर्त्तव्य समझते हैं।

बर्कले अपने विज्ञानवाद की सिद्धि से ईश्वर, आत्मा आदि आध्यात्मिक विषयों की सिद्धि करते थे। वस्तुत: जिसे हम देख करके या स्पर्श करके जानते हैं, वह भौतिक वस्तु नहीं, विज्ञान रूप ही है। विज्ञान के अतिरिक्त हम किसी वस्तु को देख या स्पर्श नहीं कर सकते। इन विज्ञानों का अस्तित्व मन या आत्मा पर निर्भर है। अत: वस्तुओं का अस्तित्व भी आत्मा सापेक्ष या आत्मनिर्भर है। अत: सम्पूर्ण जगत् मन या आत्मा पर निर्भर है। आत्मा ही दृष्टा या अनुभवकर्ता है। आत्मा में अनुभव करने की शक्ति परमात्मा या ईश्वर की देन है। ईश्वर प्रदत्त शक्ति के कारण ही आत्मा इन्द्रिय विज्ञानों का अनुभवकर्ता होता है।

'बर्कले दोषरहित लॉक है।' तात्पर्य यह है कि लॉक के अनुभववाद में कुछ असंगति है। बर्कले ने इनका निराकरण कर अनुभववाद को पूर्ण बनाने का प्रयास किया है। बर्कले के अनुसार यदि हमारा ज्ञान प्रत्ययों तक सीमित है तो हम प्रत्ययों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानते। दूसरे शब्दों में हमारा ज्ञान संवेदना या अनुभव तक सीमित है। इसी कारण बर्कले अपने प्रसिद्ध निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सत्ता अनुभवमूलक है अर्थात् अस्तित्व संवेदना पर निर्भर है या ज्ञान केवल विज्ञान या प्रत्यय तक सीमित है।

अमूर्त प्रत्यय

बर्कले के अनुसार अमूर्त विचारों (जाति विज्ञानों) का निषेध किये बिना हम जड़ वस्तु की सत्ता का निराकरण नहीं कर सकते, क्योंकि अमूर्त विचार ही जड़ की सत्ता के साधक हैं। हम अमूर्त विचार या काल्पनिक सामान्य के आधार पर जड़ वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

बर्कले अमूर्त प्रत्ययों का खण्डन करते हैं तथा इसे भाषा का दुष्प्रयोग बतलाते हैं। बर्कले अमूर्त प्रत्यय के खण्डन के लिए निम्न तर्क देते हैं-

(1) अमूर्त प्रत्ययों को उत्पन्न करने की शक्ति मनुष्य में नहीं। मानवी बुद्धि केवल विशेष प्रत्ययों को ही उत्पन्न कर सकती है, सामान्य प्रत्ययों को नहीं, मानव के लिए यह असम्भव है कि वह गतिमान वस्तु से पृथक् गति के अमूर्त प्रत्यय का निर्माण करे।

(2) लॉक के अनुसार अमूर्तिकरण या सामान्यीकरण पशु की अपेक्षा मानव की विशेषता है। पशु में सामान्यीकरण की शक्ति नहीं। बर्कले का कहना है कि शब्द सामान्य प्रत्यय के संकेत होने के कारण नहीं, वरन् विशेष प्रत्ययों का संकेत बना लिया जाता है जो परोक्ष रूप से वस्तु का निर्देश करता है।

उदाहरणार्थ- गति प्रत्यय । बर्कले का कहना है कि ऐसी कोई गति नहीं जो गतिशील वस्तु से पृथक हो।

(3) लॉक का कहना है कि अमुर्त प्रत्यय का निर्माण सरल नहीं कष्ट साध्य के बार बर्कले का कहना है कि अमूर्तिकरण असाध्य है।

उदाहरणार्थ-त्रिभुज के अमूर्त प्रत्यय (सामान्यीकरण) से हम ऐसे सामान्य प्रत्यय की कल्पना करते हैं जो न समबाहु है, न समद्विबाहु है और न विषमबाहु तथा वह इन सभी का सूचक या बोधक भी है। यह तो वदतोव्याघात हैं।

(4) लॉक का कहना है कि सामान्य प्रत्यय निर्माण अमूर्तिकरण के द्वारा होता है। बर्कले का कहना है कि कोई भी प्रत्यय सामान्य इसलिये हो जाता है कि वह अपने समान विशेष प्रत्ययों का प्रतीक बन जाता है।
बर्कले सामान्यीकरण का निषेध नहीं करते वरन् अमूर्तिकरण का खण्डन करते हैं। अमूर्तिकरण के बिना भी सामान्य प्रत्यय बन सकते हैं।
(5) अमूर्त प्रत्ययों के प्रतिपादक लॉक स्वीकार करते हैं कि अमूर्त प्रत्यय नामकरण के लिये बनाये जाते हैं या अभियान के हेतु हैं।
उदाहरणार्थ–मनुष्य शब्द सामान्य प्रत्यय है, जिसके कारण हम प्रत्येक मनुष्य को एक नाम से पुकारते हैं।

सत्ता अनुभवमूलक है

जड़ तत्त्व के निराकरण के पश्चात् बर्कले इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सत्ता अनुभवमूलक है। तात्पर्य यह है कि अनुभवविहीन सत्ता मान्य नहीं अर्थात् अस्तित्व अनुभवात्मक है। होना तथा प्रत्यक्ष होना, दोनों एक हैं।
बर्कले विज्ञानवादी हैं, वे विज्ञान के अतिरिक्त बस्तु की सत्ता स्वीकार नहीं करते। वस्तु विज्ञानरूप ही है, जिसे हम बाह्य बस्तु कहते हैं, वह वस्तुतः आन्तरिक विज्ञान है। हमारे ज्ञान के विषय अर्थात् ज्ञेय विज्ञान ही है, क्योंकि विज्ञान के अतिरिक्त हमें किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता। इसी कारण बर्कले कहते हैं कि जो कुछ भी ज्ञेय है, वहीं सत्य है। अनुभवकर्ता तो केवल आत्मा है तथा अनुभव के विषय विज्ञान है। अतः ज्ञाता और ज्ञेय के अतिरिक्त किसी की सत्ता नहीं है ।

यदि कोई देखने वाला नहीं, अर्थात् अनुभवकर्ता नहीं, तो अनुभव का विषय नहीं। इसीलिये कहा गया है कि अनुभव का विषय अनुभवकर्ता पर आश्रित है। अनुभव हमें सत्ता या अस्तित्व का ही होता है, अर्थात् सत्ता अनुभवमूलक है अथवा ज्ञेय का अस्तित्व ज्ञाता के प्रत्यक्ष पर आश्रित है ।

विज्ञानवाद

वर्कले विज्ञानवादी है, क्योंकि उनके अनुसार ज्ञान का विषय विज्ञान है, वस्तु नहीं। ये विज्ञान मनुष्य की आत्मा पर निर्भर है या आत्मगत है। अतः बर्कले आत्मनिष्ठ विज्ञानवादी कहे जाते हैं। हमारा ज्ञान इंद्रियजन्य संवेदनाओं पर निर्भर है। ये संवेदनाएँ विज्ञानजन्य होती हैं. वस्तुजन्य नहीं। अतः सभी बाह्य वस्तुओं के रूप में हम मनः प्रसूत विज्ञानों की ही उपलब्धि करते हैं।
विज्ञान क्या है, तथा इसकी उत्पत्ति कैसे होती है? इसका उत्तर है कि विज्ञान हमारे ज्ञान के प्रत्यक्ष विषय है अथवा हमारे मन के प्रत्यक्ष गम्य ज्ञेय विषय ही विज्ञान था प्रत्यय है। इन प्रत्ययों या विज्ञानों की उत्पत्ति हमारे मन में ही होती है, अर्थात् मन या आत्मा ही विज्ञान का अधिष्ठान है।
जिसे हम वस्तु कहते हैं, बर्कले उसे प्रत्ययों का समूह कहते हैं। हम प्रत्ययों के समूह या विज्ञान संघात को ही वस्तु की संज्ञा प्रदान करते हैं। वस्तुतः वह वस्तु नहीं, विज्ञान है ।इन विज्ञानों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बर्कले का कहना है कि ये विज्ञान मानसिक होने के कारण मनाश्रित ही हैं। किसी भी विचार विज्ञान का कारण वस्तु नहीं, मन ही है, अर्थात् विज्ञान आत्मनिष्ठ है।

आत्मा

जड़ तत्त्व तो निष्क्रिय हैं, उनमें प्रत्ययों को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं। हम कह सकते हैं कि प्रत्यय ही प्रत्यय के कारण है। बर्कले के अनुसार यह भी उचित नहीं, क्योंकि प्रत्यय तो निष्क्रिय है। अतः उनमें दूसरे को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं। साथ ही साथ प्रत्यय निराधार भी नहीं हो सकते। अतः पारिशेण्यात् यह स्वीकार करना होगा कि प्रत्ययों का कारण कोई द्रव्य अवश्य है जो इनका आधार या आश्रय है।

बर्कले के अनुसार इस प्रकार का सक्रिय तथा अजड़ तत्त्व आत्मा है। यह आत्मा ही ज्ञान का अधिष्ठान है। आत्मा ज्ञाता है तथा विज्ञान या प्रत्यय ही इसके विषय हैं। बर्कले इसी ज्ञाता को मन, आत्मा तथा अहं आदि विभिन्न संज्ञा प्रदान करते हैं। ज्ञान निराधार नहीं हो सकता, अत: ज्ञाता या आत्मा ही उसका आधार है।

ईश्वर या परमात्मा-

बर्कले के अनुसार, ईश्वर का अस्तित्व अन्य आत्मा के समान अनुमानगम्य है। ईश्वर की सिद्धि करते हुए बर्कले कहते हैं कि यदि हम ध्यानपूर्वक प्राकृतिक वस्तुओं की नियमानुकूल व्यवस्था और श्रृंखला पर विचार करें तथा प्रकृति के अपार सौन्दर्य को देखें और यह जानने का प्रयत्न करें कि नित्य, अनित्य ज्ञान, शिव, पूर्ण आदि शब्दों से किन गुणों का परिचय मिलता है तो हमें स्पष्ट जान होगा कि एक सर्वोपरि आत्मा है, जिसके द्वारा सब कुछ संचालित है तथा जो सबके अस्तित्व का कारण है।

वह सर्वशक्तिमान है, अत: सभी प्रकार के विज्ञानों को उत्पन्न करने की शक्ति है। उसी के बनाये हुए नियमों से जागतिक विज्ञानों में नियमानुकूलता तथा क्रमबद्धता है।

स्मरणीय बिन्दु-

- बर्कले ने भौतिक पदार्थ का निषेध किया।
- सत्ता अनुभूति पर आधारित है।
- आत्मा ही ज्ञाता है।
- ईश्वर सर्वोच्च आत्मा है।
- प्रत्यय ही वास्तविकता हैं।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
प्रत्ययवाद	Idealism
आत्मगत प्रत्ययवाद	Subjective Idealism
अनुभूति	Perception
जड़वाद	Materialism
आत्मा	Soul

5 अंक के प्रश्न-

1. बर्कले का प्रसिद्ध सिद्धांत क्या है?
2. "Esse est Percipi" का अर्थ लिखिए।
3. बर्कले जड़ पदार्थ का निषेध क्यों करते हैं?
4. बर्कले के अनुसार आत्मा क्या है?
5. बर्कले के ईश्वर संबंधी विचार लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. बर्कले के आत्मगत प्रत्ययवाद की व्याख्या कीजिए।
2. बर्कले द्वारा जड़वाद की आलोचना का वर्णन कीजिए।
3. बर्कले के आत्मा एवं ईश्वर संबंधी विचारों की विवेचना कीजिए।

4. "सत्ता अनुभूति पर निर्भर है" स्पष्ट कीजिए।

5. बर्कले के दर्शन का समालोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. बर्कले किस देश के दार्शनिक थे?

(क) फ्रांस

(ख) जर्मनी

(ग) आयरलैंड

(घ) यूनान

2. "Esse est Percipi" का अर्थ है?

(क) ज्ञान ही शक्ति है

(ख) सत्ता अनुभूति है

(ग) आत्मा अमर है

(घ) ईश्वर सत्य है

3. बर्कले ने किसका निषेध किया?

(क) आत्मा

(ख) ईश्वर

(ग) जड़ पदार्थ

(घ) ज्ञान

4. बर्कले के अनुसार वास्तविकता है?

(क) पदार्थ

(ख) प्रत्यय

(ग) शरीर

(घ) प्रकृति

5. बर्कले के अनुसार ज्ञान का आधार है?

(क) अनुभूति

(ख) तर्क

(ग) विज्ञान

(घ) गणित

इकाई 3.3 ह्यूम- संशयवाद, कार्य कारणता का सिद्धांत
[स्कॉटलैण्ड के दार्शनिक] (1711 से 1776 ई.)

उद्देश्य-

1. ह्यूम के संशयवाद को समझना।
2. कार्य-कारण संबंध की व्याख्या करना।
3. आत्मा एवं पदार्थ संबंधी विचारों का अध्ययन करना।

लॉक और बर्कले के समान ही ह्यूम स्वीकार करते हैं कि हमारे ज्ञान का एकमात्र स्रोत अनुभव है। ह्यूम के अनुसार हमारे ज्ञान के दो साधन हैं-संस्कार तथा विज्ञान। ह्यूम का कहना है कि हमारे ज्ञान की सम्पूर्ण सामग्री इन्हीं दो मार्गों से प्राप्त होती है। दोनों में स्पष्टता और प्रबलता का भेद है।

ह्यूम का अनुवाद-

(1) संस्कार- संवेदना तथा स्व-संवेदना को ही ह्यूम संस्कार कहते हैं। हमारी इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं। बाह्य तथा आन्तरिक। पाँच प्रकार की बाह्य संवेदनाएँ हैं। आन्तरिक इन्द्रिय केवल मन है जिसे सुख-दु:ख आदि का ज्ञान होता है। सुख-दु:ख का ज्ञान ही स्व-संवेदना है। इन दोनों का सम्मिलित नाम ह्यूम ने संस्कार दिया है।

ह्यूम के अनुसार ये संस्कार प्रबल, सजीव स्पष्ट होते हैं। ये हमारे सध: अनुभूति के विषय हैं। विज्ञान संस्कार अपना प्रतिबिम्ब या प्रतिरूप मन में छोड़ते हैं, इन्हें विज्ञान कहा गया है। विज्ञान को संस्कार का प्रतिरूप कहा गया है।

उदाहरणार्थ- सर्दी, गर्मी, सुख-दु:ख आदि का हम सध: अनुभव करते हैं। ये संस्कार हैं जो पूर्णत: सजीव तथा स्पष्ट हैं, बाद में ये संस्कार क्षीण हो जाते हैं तथा अपना प्रतिरूप ही मानस पटल पर छोड़ देते हैं। इन्हें ही विज्ञान कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि विज्ञान संस्कार पर निर्भर है। संस्कार प्राथमिक है तथा विज्ञान गौण।

(2) विज्ञान- ह्यूम के अनुसार विज्ञान के दो प्रकार हैं- सरल तथा मिश्रित । ह्यूम के अनुसार सरल मूज संस्कारों के प्रतिरूप हैं, परन्तु मिश्र विज्ञानों के लिये मूल संस्कारों का होना आवश्यक नहीं अर्थात् ये अपने मूल संस्कारों के प्रतिबिम्बित भी हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं

विज्ञानों का पारस्परिक सम्बन्ध-

ह्यूम के अनुसार हमारा मन विज्ञानों का भण्डार है। इसमें विज्ञानों का प्रवाह सर्वदा नियमित रूप से चलता रहता है। यदि इनमें सम्बन्ध नहीं होता तो ये विज्ञान अर्थहीन हो जाते, लेकिन ऐसा नहीं है। अत: ये विज्ञान आकस्मिक और असम्बद्ध नहीं, इनमें साहचर्य स्वाभाविक है। ह्यूम के अनुसार यह **सहचार्य नियम** में सम्बन्ध है, परन्तु ये नियम सार्वभौम तथा अनिवार्य नहीं। ये विज्ञान एक के बाद एक आते रहते हैं तथा हम स्वभावत: इनमें सम्बन्ध की कल्पना कर लेते है। इनका सम्बन्ध अनिवार्य नहीं, वरन् केवल आनन्तर्य हैं।

सहचार्य नियम निम्न तीन सम्बन्धों में किसी एक के अनुसार कार्य करता है-

(क) सादृश्य सम्बन्ध।

(ख) कालगत या देशगत साहचर्य सम्बन्ध।

(ग) कार्य कारण सम्बन्ध

(क) सादश्य सम्बन्ध- इसका आधार समानता है। यदि दो वस्तुएँ समान हो तो एक का विज्ञान उपस्थित होने पर दूसरे का भी विज्ञान उपस्थित हो जाता है क्योंकि 21 दोनों में समानता है।

(ख) देशगत या कालगत सम्बन्ध- इसके अनुसार यदि दो घटनाओं में एक घटना दूसरी घटना के बाद एक ही स्थान, एक ही समय में घटित हो तो उनमें देशगत या कालगत साहचर्य सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तथा एक के विज्ञान के उपस्थित होने पर दूसरे का विज्ञान भी उपस्थित हो जाता है।

(ग) **कारण-कार्य सम्बन्ध**- इसके अनुसार भी एक विज्ञान के उपस्थित होने पर दूसरे का विज्ञान उपस्थित हो जाता है।

उदाहरणार्थ- अग्नि और ताप, विषपान और मृत्यु में एक के उपस्थित होने पर दूसरा भी उपस्थित हो जाता है।

इन तीनों नियमों से ही हमारे विज्ञानों में संयोग-वियोग होते रहते हैं, जिनसे हमारा ज्ञान बढ़ता है।

मानव ज्ञान

ह्यूम के अनुसार मानव ज्ञान दो प्रकार का होता है-

(क) विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान ।

(ख) वस्तुजगत का ज्ञान ।

गणितशास्त्र तर्क आदि का ज्ञान प्रथम कोटि का है। यह केवल प्रत्ययात्मक ज्ञान है तथा निश्चित और असन्दिग्ध ज्ञान है। कोई भी ज्ञान जो स्वत: सिद्ध या निर्देशन द्वारा सिद्ध हो, वह इस कोटि में आ सकता है।

उदाहरणार्थ - त्रिभुज की तीनों भुजाएँ मिलकर दो समकोण के बराबर होती है। क्योंकि इस कोटि का ज्ञान कोरी कल्पना है। वस्तु जगत् से इनका कोई सम्बन्ध नहीं। ह्यूम के अनुसार यह केवल मनोवैज्ञानिक अन्वेषण है।

दूसरे प्रकार का ज्ञान वस्तु जगत् का ज्ञान है। यह इन्द्रियानुभव पर आश्रित होने के कारण पूर्णत: निश्चित तथा असन्दिग्ध नहीं होता। इनमें अनिवार्यता केवल सम्भाव्य है। वस्तु जगत् का सम्पूर्ण ज्ञान कार्य कारण नियम पर आधारित है। इसी नियम के आधार पर हम प्रत्यक्ष तथा स्मृति की परिधि को पार करते हैं। हम कार्य से कारण तथा कारण से कार्य के आधार पर ज्ञान प्राप्त करते हैं; परन्तु कार्य कारण नियम तो केवल विश्वास पर आधारित है, इसमें अनिवार्यता नहीं। कार्य कारण नियम के संदिग्ध होने से सम्पूर्ण वस्तु जगत् में असन्दिग्ध तथा अनिवार्य ज्ञान असम्भव है।

कार्य-कारण सिद्धान्त

यहाँ प्रश्न यह है कि हम कारण से क्या समझते हैं? यदि कारण का निश्चय हो जाये तभी हम संवेदना का कारण भौतिक या आध्यात्मिक द्रव्य स्वीकार करते हैं। अत: ह्यूम के दर्शन में द्रव्य से पूर्व कारण का निश्चय करना आवश्यक है।

हम केवल इतना ही अनुभव कर पाते हैं कि एक घटना दूसरे की अनुवर्ती या पश्चातवर्ती है। यदि कारण कार्य में अनिवार्य सम्बन्ध है तो हमें इसकी अनिवार्यता का अनुभव होना चाहिये परन्तु ऐसा होता नहीं ।

इस अनुमान का आधार हमारा पूर्वानुभव है तथा हभारा स्वभाव है। यदि दो घटनाओं को एक साथ हम कई बार घटित होते देखें तो भविष्य में एक को देखकर दूसरे का हम स्वभावत: अनुमान कर लेते हैं, परन्तु इस अनुमान में अनिवार्यता नहीं। बादल तथा वृष्टि में कार्य कारण सम्बन्ध मान लेते हैं। इसी मान्यता के आधार पर हम कहते हैं कि भविष्य भूत के समान होगा, समान कारणों का समान कार्य होगा, परन्तु यह मान्यता तो केवल मनोवैज्ञानिक है।

ह्यूम कार्य-कारण सम्बन्ध पर दो दृष्टि से विचार करते हैं-

(1) **तार्किक**- तार्किक दृष्टि से ह्यूम का कहना है कि जब हम दो घटनाओं को बिना अपवाद के एक साथ घटते हुए देखते हैं तो पहले को कारण तथा दूसरे को कार्य मान लेते हैं।

(2) **मनोवैज्ञानिक**- ह्यूम के अनुसार कार्य-कारण की व्याख्या मनोबैज्ञानिक दृष्टि से सम्भव है। हम जब दो घटनाओं में देशगत, कालगत सामीप्य और आनन्तर्य देखते हैं तो स्वभावत: उन दोनों घटनाओं के बीच अपने मन में साहचर्य सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। इसी आदत के कारण हम कल्पना करते हैं कि घटनाओं में कोई अनिवार्य सम्बन्ध है, परन्तु इस अनिवार्यता के अनुमान का वस्तुत: कारण तो केवल मानसिक आदत है।

भविष्य की सभी घटनाओं का भूत के समान ही हों, यह केवल संभावना है।

द्रव्य विचार

ह्यूम का द्रव्य विचार भी पूर्णत: अनुभववादी ही है। उनके अनुसार अनुभव के परे कोई द्रव्य नहीं। इसी कारण वे आत्मा, परमात्मा तथा जड़ आदि सभी द्रव्यों का खण्डन करते हैं।

ह्यूम के अनुसार हमारे ज्ञान का एकमात्र साधन इन्द्रियानुभव है। इन्द्रियों के द्वारा हमें केवल संस्कार और विज्ञान का ही अनुभव प्राप्त होता है। संस्कार तथा विज्ञान दोनों से हमें किसी प्रकार के द्रव्य का अनुभव नहीं होता। ह्यूम के अनुसार गुणों के आधार रूप द्रव्य की कल्पना करना मिथ्या है।

कारण और कार्य का सम्बन्ध नियत तथा अनिवार्य नहीं। अत: हम गुणों के कारण रूप द्रव्य की सत्ता नहीं स्वीकार कर सकते। कोई भी वस्तु केवल गुणों का संघात या समुदाय मात्र है। हम इसी संघात को भ्रान्ति से द्रव्य कहते हैं। जिस प्रकार हम केवल स्वभाव से ही किसी को किसी का कारण मान लेते हैं, उसी प्रकार हम स्वभावत: गुणों के संघात को द्रव्य की संज्ञा प्रदान करते हैं। यदि नेत्र से प्राप्त होता है, तो रूप है। यदि त्वचा से तो स्पर्श है, परन्तु रूप, रस, शब्द, गन्ध आदि सभी गुण है। अत: द्रव्य की सत्ता सिद्ध नहीं। जिस प्रकार भौतिक द्रव्य की सत्ता असिद्ध है, उसी प्रकार आध्यात्मिक द्रव्य की भी। हमारा ज्ञाने केवल इन्द्रियानुभव तक ही सीमित है।

स्मरणीय बिन्दु-

- ह्यूम कट्टर अनुभववादी थे।
- कार्य-कारण संबंध आवश्यक नहीं, केवल आदत है।
- आत्मा अनुभूतियों का समूह है।
- ईश्वर एवं पदार्थ पर भी संदेह किया।
- संशयवाद को दार्शनिक आधार दिया।

शब्दावली-

• शब्द	अर्थ
• संशयवाद	Skepticism
• कार्य-कारण	Cause and Effect
• अनुभूति	Impression
• प्रत्यय	Idea
• अनुभव	Experience

5 अंक के प्रश्न-

1. ह्यूम के अनुसार ज्ञान का आधार क्या है?
2. कार्य-कारण संबंध पर ह्यूम का मत लिखिए।
3. ह्यूम के संशयवाद का अर्थ क्या है?
4. ह्यूम आत्मा के अस्तित्व को क्यों अस्वीकार करते हैं?
5. ह्यूम के अनुसार पदार्थ क्या है?

15 अंक के प्रश्न-

1. ह्यूम के संशयवाद की विस्तृत विवेचना कीजिए।
2. ह्यूम के कार्य-कारण सिद्धांत की समीक्षा कीजिए।
3. ह्यूम के आत्मा एवं पदार्थ संबंधी विचारों की व्याख्या कीजिए।
4. ह्यूम के अनुसार ज्ञान की सीमाओं का वर्णन कीजिए।
5. अनुभववाद के विकास में ह्यूम के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. ह्यूम किस देश के दार्शनिक थे?

(क) इंग्लैंड

(ख) स्कॉटलैंड

(ग) फ्रांस

(घ) जर्मनी

2. ह्यूम किस विचारधारा से संबंधित हैं?

(क) आदर्शवाद

(ख) अनुभववाद

(ग) यथार्थवाद

(घ) द्वैतवाद

3. ह्यूम ने किस सिद्धांत पर संदेह किया?

(क) आत्मा

(ख) ईश्वर

(ग) कार्य-कारण

(घ) उपर्युक्त सभी

4. ह्यूम के अनुसार ज्ञान का आधार है?

(क) तर्क

(ख) अनुभव

(ग) ईश्वर

(घ) आत्मा

5. ह्यूम के अनुसार आत्मा है?

(क) शाश्वत सत्ता

(ख) अनुभूतियों का समूह

(ग) परम सत्य

(घ) पदार्थ

इकाई 3.4 आत्मा एवं ईश्वर विचार

उद्देश्य-

1. अनुभववाद में आत्मा की अवधारणा को समझना।
2. ईश्वर संबंधी विचारों का अध्ययन करना।
3. ह्यूम एवं बर्कले के मतों की तुलना करना।

आत्मा-

गुणों के समूह के अतिरिक्त द्रव्य का अनुभव हमें नहीं होता। इस प्रकार द्रव्य प्रत्यय तो कल्पना के माध्यम से सरल प्रत्ययों का संयोग मात्र है। हम इन सरल प्रत्ययों के एकीकरण को एक नाम द्रव्य दे देते हैं।

स्पष्ट है कि घृणा, द्वेष, सुख, दु:ख रूप अनुभवों के अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्य नहीं। हमारा ज्ञान संस्कार और विज्ञान तक सीमित है। सभी संस्कार तथा विज्ञान क्षणिक है तथा परिणामी है। इनसे नित्य तथा अपरिणामी आत्मा का बोध सम्भव नहीं।

ईश्वर विचार

आत्मा के समान परमात्मा को भी ह्यूम असिद्ध बतलाते हैं। जिस प्रकार आत्मा के अस्तित्व को हम बुद्धि से प्रमाणित नहीं कर सकते, उसी प्रकार ईश्वर की सत्ता उनका रूप गुण आदि भी मानव बुद्धि के परे है। वस्तुत: ईश्वर प्रमाणगम्य नहीं, ईश्वर की प्रकृति तथा गुण मानव बुद्धि के परे हैं।

सन्देहवाद

लॉक के अनुभववाद का अन्त ह्यूम के सन्देहवाद में हुआ। ह्यूम शुद्ध अनुभववादी है। यदि हमारा ज्ञान इन्द्रियानुभव तक ही सीमित है। यदि इन्द्रियानुभव ही हमारे ज्ञान का मापदण्ड है तो अनिवार्य ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी कारण उन्होंने कार्य कारण जैसे सर्वमान्य सिद्धान्त को सम्भाव्य बतलाया है। अनिवार्य नहीं। यदि हमारा ज्ञान केवल विशेषों तक ही सीमित है तो सामान्य कोरी कल्पना है। अत: कार्य कारण, द्रव्य, परमात्मा आदि सभी पर सन्देह करने के कारण हम निश्चय रूप से ह्यूम को सन्देहवादी कह सकते हैं।

धर्म और तत्त्व मीमांसा के विषयों में वे कुछ दूर तक अवश्य सन्देहवादी हैं, परन्तु गणित, प्राकृतिक विज्ञान तथा पामाजिक विज्ञान की यथार्थता वे स्वीकार करते हैं। अत: इन विज्ञानों में वे सन्देहवादी नहीं।

स्मरणीय बिन्दु-

बर्कले ईश्वर को सर्वोच्च आत्मा मानते हैं।
ह्यूम आत्मा को अनुभूतियों का समूह मानते हैं।
अनुभववाद में प्रत्यक्ष अनुभव का महत्व सर्वोपरि है।
ह्यूम ने ईश्वर के पारंपरिक प्रमाणों पर संदेह किया।
बर्कले ने आध्यात्मिक सत्ता को स्वीकार किया।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
आत्मा	Soul
ईश्वर	God
अनुभूति	Perception
संशयवाद	Skepticism

प्रत्यय Idea

5 अंक के प्रश्न-

1. ह्यूम के अनुसार आत्मा क्या है?
2. बर्कले ईश्वर को कैसे सिद्ध करते हैं?
3. अनुभववाद में आत्मा की समस्या क्या है?
4. ह्यूम ईश्वर के विषय में क्या कहते हैं?
5. आत्मा एवं अनुभूति का संबंध स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. अनुभववादी दार्शनिकों के आत्मा संबंधी विचारों का वर्णन कीजिए।
2. बर्कले एवं ह्यूम के ईश्वर संबंधी विचारों की तुलना कीजिए।
3. ह्यूम के अनुसार आत्मा और ईश्वर की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
4. अनुभववाद में आत्मा की अवधारणा का समालोचनात्मक अध्ययन कीजिए।
5. बर्कले और ह्यूम के दार्शनिक मतों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. बर्कले के अनुसार सर्वोच्च आत्मा कौन है?

(क) मनुष्य

(ख) प्रकृति

(ग) ईश्वर

(घ) पदार्थ

2. ह्यूम के अनुसार आत्मा है?

(क) शाश्वत तत्व

(ख) अनुभूतियों का समूह

(ग) ईश्वर का अंश

(घ) पदार्थ

3. अनुभववाद का मुख्य आधार है?

(क) तर्क

(ख) अनुभव

(ग) आत्मा

(घ) धर्म

4. बर्कले के अनुसार वास्तविक सत्ता है?

(क) पदार्थ

(ख) प्रत्यय

(ग) शरीर

(घ) विज्ञान

5. ह्यूम किसके प्रति संशयवादी थे?

(क) ईश्वर

(ख) आत्मा

(ग) कार्य-कारण

(घ) उपर्युक्त सभी

खण्ड-4 इमैनुएल कांट एवं समीक्षात्मक दर्शन

काण्ट-

काण्ट के सिद्धान्त को समीक्षावाद कहते हैं, क्योंकि काण्ट बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों की समीक्षा करते हैं। काण्ट सर्वप्रथम बुद्धिवादी बने, परन्तु उनके अनुसार बुद्धिवाद का अन्त अन्धविश्वास है। पुनः वे अनुभववादी बने, परन्तु, उनके अनुसार अनुभववाद का अन्त सन्देहवाद है, अतः दोनों दोषपूर्ण हैं; परन्तु इनमें गुण भी है। काण्ट ने दोनों के दोषों का परिहार कर दोनों के गुर्णो का समन्वय किया है। इसे ही समीक्षावाद कहते हैं।

काण्ट ने अपनी समीक्षा में बतलाया है कि अनुभव ही ज्ञान का आरम्भ है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान संवेदनाओं से भी प्रारम्भ होता है, परन्तु संवेदनाएँ विश्रृंखल तथा असम्बद्ध होती है। इन इन्द्रिय संवेदनाओं के ज्ञान बनाने के लिए बुद्धि विकल्प के साँचे में ढालना पड़ता है। बुद्धि में कुछ जन्मजात विकल्प होते हैं। बुद्धि इन विकल्पों के द्वारा ही असम्बद्ध संवेदनाओं को सुसम्बद्ध बनाती हैं। अतः स्पष्ट है कि साँचा बुद्धि से ही प्राप्त होता है तथा सामग्री संवेदना से मिलती है। यह सत्य है कि ज्ञान अनुभव से ही होता है। अतः काण्ट का स्पष्ट कथन है कि इन्द्रिय संवेदनों के बिना बुद्धि विकल्प पंगु है और बुद्धि विकल्पों के बिना इन्द्रिय-संवेदन अन्धे हैं।

प्राणानुभव विकल्पों के बिना संवेदनाएँ अनियमित, अनिश्चित और विश्रृंखल होंगी। अतः ज्ञान का आरम्भ अनुभव से है, परन्तु ज्ञान की उत्पत्ति अनुभव से नहीं होती है।

इकाई-4.1 कांट का संश्लेषणात्मक एवं विश्लेषणात्मक ज्ञान

उद्देश्य-

1. कांट के विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषणात्मक ज्ञान को समझना।
2. पूर्वानुभविक एवं अनुभवजन्य ज्ञान का अध्ययन करना।
3. ज्ञानमीमांसा में कांट के योगदान का विवेचन करना।

ज्ञान-

काण्ट के अनुसार ज्ञान संश्लेषणात्मक अनुभव निरपेक्ष निर्णय है या अनुभवातीत यथार्थ निर्णय है। मारे निर्णय दो प्रकार के होते हैं-

(1) विश्लेषणात्मक

(2) संश्लेषणात्मक

विश्लेषणात्मक निर्णय में विधेय केवल उद्देश्य के निहित गुणों को स्पष्ट करता है, अर्थात् विधेय उद्देश्य का केवल विश्लेषण करता है तथा कोई नयी बात नहीं बतलाता ।

उदाहरणार्थ- शरीर विसत होना है। सभी अविवाहित कुंआरे हैं।

संश्लेषणात्मक निर्णयों में विधेय उद्देश्य के बारे में नया ज्ञान देता है।

उदाहरणार्थ- कुछ मानव निरक्षर होते हैं, यह संश्लेषणात्मक निर्णय है, क्योंकि निरक्षरता मानव के बारे में एक नया ज्ञान देता है।

निर्णय का उपरोक्त वर्गीकरण ज्ञान के विषय-वस्तु के अनुसार है, परन्तु उत्पत्ति की दृष्टि से पुनः दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

(क) अनुभव निरपेक्ष

(ख) अनुभव सापेक्ष

अनुभव निरपेक्ष निर्णय वह है जिसकी सत्यता हमारे अनुभव पर आधारित नहीं, अर्थात् जो अनुभव के बिना भी सत्य स्वीकार किया जा सकता है।

उदाहरणार्थ- प्रत्येक घटना सारण होती है।

अनुभव सापेक्ष निर्णय हमारे अनुभव पर आश्रित रहते हैं।

उदाहरणार्थ- सफेद फूलों में सुगन्ध होती है। इन निर्णयों में अनिवार्यता नहीं होती।

प्रत्यय-

प्रत्यय परीक्षा में काण्ट सिद्ध करते हैं कि संश्लेषणात्मक प्रागानुभविक निर्णय भौतिक विज्ञान में प्राप्त होते हैं अतः भौतिक विज्ञान में भी वैज्ञानिक या यथार्थ ज्ञान सम्भव है। भौतिक विज्ञान कार्य कारण नियम, गुरुत्वाकर्षण नियम, पदार्थों का स्वरूप गुण आदि विषयों पर प्रकाश डालता है।

बुद्धि के कार्यों या व्यापारों को काण्ट महोदय प्रत्यय की संज्ञा देते हैं। बुद्धि के कार्य या व्यापार संयोजन, वियोजन, वर्गीकरण, एकीकरण आदि है। ये सभी प्रत्ययात्मक हैं। तात्पर्य यह है कि बुद्धि संवेदनाओं पर अपने नियमों को लागू कर क्षेत्र बना देती है, परन्तु संवेदनाओं को ग्रहण करने में निष्क्रिय तथा संवेदनाओं को ज्ञान का रूप देने में (ज्ञेय बनाने में) सक्रिय है। संवेदनाएँ तो प्रकृति प्रसूत या बाह्य विषयों से उत्पन्न होती है। इन्हें काण्ट प्रत्यक्ष कहते हैं, परन्तु संवेदनाओं को संयोजित करना, व्यवस्थित या क्रमबद्ध बनाना बुद्धि का कार्य है। इसे 'प्रत्यय' कहा गया है।

बुद्धिवाद एवं अनुभववाद का समन्वयः- सभी बुद्धिवादी दार्शनिकों ने बुद्धि को ही ज्ञान का ,कमात्र स्त्रोत माना तथा समस्त ज्ञान को जन्मजात ;ा सहज स्वीकार कर तत्त्व के ज्ञान को अनिवार्यता तथा सार्वभौमिकता प्रदान करने का प्रयास किया किन्तु इस प्रयास में इन्होंने यथार्थता एवं सत्यता को अपने ज्ञान विचार से दूर कर दिया। स्वयं काण्ट ने इस सन्दर्भ में कहा था कि ''ह्यूम ने मुझे गहरी निद्रा से जगा दिया'' इससे यह स्पष्ट होता है कि काण्ट ने ह्यूम के संशयवाद को बड़ी गम्भीरता से लिया।

स्मरणीय बिन्दु-

- कांट ने ज्ञान को विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषणात्मक रूपों में विभाजित किया।
- विश्लेषणात्मक निर्णय नया ज्ञान नहीं देते।
- संश्लेषणात्मक निर्णय ज्ञान-वृद्धि करते हैं।
- गणितीय ज्ञान संश्लेषणात्मक पूर्वानुभविक होता है।
- कांट ने बुद्धिवाद एवं अनुभववाद का समन्वय किया।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
विश्लेषणात्मक ज्ञान	Analytic Knowledge
संश्लेषणात्मक ज्ञान	Synthetic Knowledge
पूर्वानुभविक।	Priori
अनुभवजन्य	Empirical
उद्देश्य	Subject
विधेय	Predicate
निर्णय	Judgment
ज्ञानमीमांसा	Epistemology

5 अंक के प्रश्न-

1. विश्लेषणात्मक निर्णय से क्या अभिप्राय है?
2. संश्लेषणात्मक निर्णय की परिभाषा दीजिए।
3. कांट के अनुसार पूर्वानुभविक ज्ञान क्या है?
4. विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषणात्मक ज्ञान में अंतर लिखिए।
5. कांट ने संश्लेषणात्मक पूर्वानुभविक निर्णय को क्यों महत्वपूर्ण माना?

15 अंक के प्रश्न-

1. कांट के विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषणात्मक ज्ञान की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषणात्मक निर्णयों में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. कांट के अनुसार पूर्वानुभविक एवं अनुभवजन्य ज्ञान का विवेचन कीजिए।
4. "संश्लेषणात्मक पूर्वानुभविक निर्णय ज्ञान-वृद्धि करते हैं" ? स्पष्ट कीजिए।
5. कांट के ज्ञान-सिद्धांत का समालोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. कांट के अनुसार वह निर्णय जिसमें विधेय पहले से ही उद्देश्य में निहित हो कहलाता हैख्र

(क) संश्लेषणात्मक निर्णय

(ख) विश्लेषणात्मक निर्णय

(ग) नैतिक निर्णय

(घ) अनुभवजन्य निर्णय

2. संश्लेषणात्मक निर्णय में?

(क) नया ज्ञान प्राप्त होता है

(ख) कोई नया ज्ञान नहीं मिलता

(ग) केवल अनुभव होता है

(घ) केवल तर्क होता है

3. "सभी कुंवारे अविवाहित हैं" यह उदाहरण है?

(क) संश्लेषणात्मक निर्णय

(ख) विश्लेषणात्मक निर्णय

(ग) अनुभवजन्य निर्णय

(घ) नैतिक निर्णय

4. कांट के अनुसार गणितीय ज्ञान होता है?

(क) विश्लेषणात्मक

(ख) संश्लेषणात्मक पूर्वानुभविक

(ग) केवल अनुभवजन्य

(घ) काल्पनिक

5. कांट किस देश के दार्शनिक थे?

(क) फ्रांस

(ख) इंग्लैंड

(ग) जर्मनी

(घ) यूनान

इकाई 4.2 बुद्धि की कोटियाँ

उद्देश्य-

1. कांट की बुद्धि की कोटियों की अवधारणा को समझना।
2. ज्ञान निर्माण में बुद्धि की भूमिका का अध्ययन करना।
3. कोटियों के प्रकार एवं महत्व का विवेचन करना।

बुद्धिवाद एवं अनुभववाद का समन्वयः- काण्ट ने ज्ञान में अनिवार्यता तथा सत्यता दोनों लक्ष्य प्राप्त करने के लिए बुद्धि तथा अनुभव दोनों स्त्रोतों को पर्याप्त महत्त्व दिया। बुद्धिवादी केवल बुद्धि को ही ज्ञान का स्त्रोत मानते हैं तथा अनुभववादी केवल अनुभव को ही ज्ञान का स्त्रोत मानते है जबकि काण्ट ने माना कि केवल न बुद्धि द्वारा ही ज्ञान पूर्ण हो सकता है और न केवल अनुभव द्वारा ही, वरन् ज्ञान की पूर्णता के लिए दोनों आवश्यक है। काण्ट के अनुसार अनुभव ज्ञान के लि, उपादान सामग्री प्रदान करता है जबकि बुद्धि उस उपादान सामग्री को आकार प्रदान कर प्रत्ययों का निर्माण करती है। इसी सन्दर्भ में काण्ट ने कहा है कि ''इन्द्रिय संवेदनों के बिना बुद्धि विकल्प पंगु है या शून्य है तथा बुद्धि विकल्पों के बिना इन्द्रिय संवेदन अन्धें है।

ज्ञान प्राप्ति के लिए काण्ट ने निम्नलिखित 12 बुद्धि कोटियों का वर्णन किया है जो इस प्रकार है-

- परिमाणात्मक

- पूर्णता
- अनेकता
- एकता
- गुणात्मक
- सत्ता
- अभाव
- सीमा
- सम्बन्धात्मक
- द्रव्य–गुण
- कार्य–कारण
- अन्योन्य–सम्बन्ध
- प्रकारात्मक
- सम्भावना असम्भावना
- भाव–अभाव
- अनिवार्यता–आगन्तुकता

इन बुद्धि विकल्पों के माध्यम से ज्ञान की प्रमाणिकता सिद्ध होती है।

स्मरणीय बिन्दु-

कांट ने बुद्धि की 12 कोटियाँ स्वीकार कीं।

कोटियाँ पूर्वानुभविक (। च्तपवतप) हैं।

बुद्धि अनुभव को व्यवस्थित करती है।

कार्य-कारण संबंध बुद्धि की कोटि है।

ज्ञान संवेदन एवं बुद्धि के समन्वय से उत्पन्न होता है।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
कोटियाँ	Categories
बुद्धि	Understanding
पूर्वानुभविक	A Priori
कार्य-कारण	Cause and Effect
संवेदन	Sensibility
संबंध	Relation
परिमाण	Quantity
गुण	Quality
संभावना	Possibility
अनिवार्यता	Necessity

5 अंक के प्रश्न-

1. कांट के अनुसार बुद्धि की कोटियाँ क्या हैं?

2. कांट ने बुद्धि की कितनी कोटियाँ स्वीकार की हैं?

3. ज्ञान निर्माण में बुद्धि की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

4. कांट के अनुसार कोटियाँ क्यों आवश्यक हैं?

5. परिमाण एवं गुण की कोटियों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. कांट की बुद्धि की कोटियों का विस्तृत विवेचन कीजिए।

2. कांट के अनुसार ज्ञान निर्माण में बुद्धि एवं संवेदन के संबंध की व्याख्या कीजिए।

3. कांट की बारह कोटियों का वर्गीकरण स्पष्ट कीजिए।

4. "कोटियाँ अनुभव को व्यवस्थित करती हैं"? स्पष्ट कीजिए।

5. कांट की बुद्धि की कोटियों का समालोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. कांट के अनुसार कोटियाँ संबंधित हैं?

(क) संवेदन से

(ख) बुद्धि से

(ग) आत्मा से

(घ) धर्म से

2. कांट ने कुल कितनी कोटियाँ स्वीकार की हैं?

(क) 8

(ख) 10

(ग) 12

(घ) 14

3. कांट के अनुसार ज्ञान का निर्माण होता है?

(क) केवल अनुभव से

(ख) केवल बुद्धि से

(ग) संवेदन और बुद्धि के समन्वय से

(घ) केवल आत्मा से

4. "कार्य-कारण" किस कोटि के अंतर्गत आता है?

(क) परिमाण

(ख) संबंध

(ग) गुण

(घ) प्रकार

5. कांट के अनुसार कोटियाँ होती हैं?

(क) अनुभवजन्य

(ख) पूर्वानुभविक

(ग) काल्पनिक

(घ) धार्मिक

इकाई 4.3 देश और काल सम्बन्धी अवधारणा

उद्देश्य-

1. कांट की देश-काल संबंधी अवधारणा को समझना।
2. पूर्वानुभविक ज्ञान का अध्ययन करना।
3. संवेदन एवं अनुभव के संबंध का विवेचन करना।

देश और काल इन्द्रिय संवेदन और बुद्धि विकल्पों के बीच के दो द्वार हैं। इन्द्रिय संवेदन इन्हीं दो द्वारों के माध्यम से बुद्धि विकल्प तक पहुँचते हैं। काण्ट के अनुसार वे कोई बाह्य वस्तुएँ नहीं हैं वरन मानसिक हैं जिनके माध्यम से हमे बाह्य वस्तु का कोई संवेदन प्राप्त होता है तो वह संवेदन देश और काल के माध्यम से ही प्राप्त होता है। जो भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है वे सभी संवेदनों के माध्यम से होता है और संवेदन देशकाल के माध्यम से प्राप्त होते हैं।

काण्ट के अनुसार देश और काल बाहरी संसार की वास्तविक वस्तुएँ नहीं हैं, बल्कि वे मानव मन की जन्मजात संरचनाएँ हैं जिनके माध्यम से हम संसार का अनुभव करते हैं। काण्ट का मानना था कि मनुष्य किसी भी वस्तु को देश और काल के बिना नहीं जान सकता। देश वह रूप है जिसके द्वारा हम बाहरी वस्तुओं को स्थान में व्यवस्थित रूप से देखते हैं, जबकि काल वह रूप है जिसके द्वारा हम घटनाओं को क्रम में अनुभव करते हैं। इस प्रकार देश और काल अनुभव से प्राप्त नहीं होते, बल्कि अनुभव को संभव बनाने वाली पूर्व शर्तें हैं। काण्ट ने इन्हें "अनुभवातीत" रूप कहा, क्योंकि ये अनुभव से पहले ही मन में विद्यमान रहते हैं।

काण्ट के अनुसार मनुष्य वस्तुओं को वैसा नहीं जानता जैसी वे अपने वास्तविक स्वरूप में हैं, बल्कि वैसा जानता है जैसी वे देश और काल के माध्यम से उसे दिखाई देती हैं। उन्होंने वस्तु के वास्तविक स्वरूप को "वस्तु-स्वरूप" कहा, जिसे प्रत्यक्ष रूप से नहीं जाना जा सकता। हम केवल "प्रतीति जगत" का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि हमारा मन हर अनुभव को देश और काल के ढाँचे में व्यवस्थित करता है। इस प्रकार कांट ने बुद्धिवाद और अनुभववाद के बीच समन्वय स्थापित करते हुए यह सिद्ध किया कि ज्ञान की रचना में मन की सक्रिय भूमिका होती है।

स्मरणीय बिन्दु-

- देश और काल संवेदन के पूर्व रूप हैं।
- अनुभव के लिए देश-काल आवश्यक हैं।
- कांट ने पूर्वानुभविक ज्ञान को स्वीकार किया।
- देश-काल वस्तुओं के गुण नहीं हैं।
- ज्ञान संवेदन एवं बुद्धि के समन्वय से बनता है।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
देश	Space
काल	Time
पूर्वानुभविक	A Priori
संवेदन	Sensibility
अनुभव	Experience

5 अंक के प्रश्न-

1. कांट के अनुसार देश और काल क्या हैं?
2. पूर्वानुभविक ज्ञान से क्या अभिप्राय है?
3. कांट के अनुसार संवेदन का क्या महत्व है?
4. देश-काल को कांट ने किस रूप में स्वीकार किया?
5. कांट के अनुसार अनुभव कैसे संभव होता है?

15 अंक के प्रश्न-

1. कांट की देश-काल संबंधी अवधारणा की व्याख्या कीजिए।
2. कांट के पूर्वानुभविक सिद्धांत का विवेचन कीजिए।
3. कांट के अनुसार संवेदन एवं बुद्धि के संबंध का वर्णन कीजिए।
4. "देश और काल अनुभव की पूर्व शर्तें हैं" ख्र स्पष्ट कीजिए।
5. कांट के देश-काल सिद्धांत का समालोचनात्मक अध्ययन कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. कांट के अनुसार देश और काल हैंख्र

(क) वस्तुगत वास्तविकता

(ख) अनुभवजन्य तत्व

(ग) संवेदन के पूर्व रूप

(घ) ईश्वर की रचना

2. कांट के अनुसार ज्ञान का प्रारंभ होता हैख्र

(क) अनुभव से

(ख) आत्मा से

(ग) धर्म से

(घ) ईश्वर से

3. देश और काल संबंधित हैं?

(क) बुद्धि से

(ख) संवेदन शक्ति से

(ग) नैतिकता से

(घ) धर्म से

4. कांट के अनुसार पूर्वानुभविक ज्ञान होता हैख्र

(क) अनुभव पर आधारित

(ख) अनुभव से पूर्व

(ग) ईश्वर पर आधारित

(घ) कल्पना पर आधारित

5. कांट का दर्शन कहलाता हैख्र

(क) संशयवाद

(ख) प्रत्ययवाद

(ग) समीक्षावाद

(घ) भौतिकवाद।

इकाई 4.4 काण्ट का अज्ञेयवाद

उद्देश्य-

1. कांट के अज्ञेयवाद को समझना।
2. वस्तु-स्वरूप की अवधारणा का अध्ययन करना।
3. ज्ञान की सीमाओं का विवेचन करना।

काण्ट के अनुसार वस्तु के दो रूप हैं, दृश्य या प्रतीती तथा यथार्थ। हमारा ज्ञान केवल वस्तु के प्रतीयमान या दृश्यरूप तक ही सीमित है। हमारी बुद्धि के विकल्प केवल संवेदनाओं पर ही कार्य करते हैं। इन अनुभवेतर विषयों पर हम विचार कर सकते हैं, क्यों इनकी सत्ता हैं। इनका ज्ञान नहीं हो सकता पर इनकी सत्ता का निषेध भी सम्भव नहीं, अर्थात् ये भावरूप हैं।

जिन विषयों का हमें अनुभव नहीं होता, वे हमारे ज्ञान के परे हैं, अर्थात् अनुभवेतर विषय अज्ञेय है। 'परमार्थ अज्ञेय है' का अर्थ है कि परमार्थ की संवेदनाएँ हमें नहीं प्राप्त होती, अतः परमार्थ ज्ञान का विषय नहीं बन सकता।

काण्ट के दर्शन में अज्ञेयवाद का अर्थ है कि मनुष्य वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को पूर्णतः नहीं जान सकता। काण्ट के अनुसार हमारा ज्ञान केवल उन्हीं वस्तुओं तक सीमित है जो हमें अनुभव में दिखाई देती हैं। मनुष्य का मन देश और काल के माध्यम से अनुभवों को व्यवस्थित करता है, इसलिए हम संसार को वैसा नहीं जानते जैसा वह वास्तव में है, बल्कि वैसा जानते हैं जैसा वह हमें दिखाई देता है। काण्ट ने दिखाई देने वाले जगत को "प्रतीति जगत" कहा। इसके विपरीत वस्तुओं का वास्तविक और स्वतंत्र स्वरूप "वस्तु-स्वरूप" कहलाता है, जिसे मनुष्य प्रत्यक्ष रूप से नहीं जान सकता।

काण्ट का मानना था कि मानव बुद्धि की अपनी सीमाएँ हैं। ईश्वर, आत्मा और जगत के अंतिम स्वरूप जैसे विषयों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है, क्योंकि ये अनुभव की सीमा से परे हैं। मनुष्य केवल अनुभवजन्य संसार का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, जबकि वस्तु-स्वरूप सदैव अज्ञेय बना रहता है। इस प्रकार कांट ने यह सिद्ध किया कि ज्ञान की सीमा निश्चित है और मानव बुद्धि हर सत्य को नहीं जान सकती। उनके अज्ञेयवाद ने दर्शन में ज्ञान की सीमाओं को स्पष्ट किया तथा आधुनिक दार्शनिक चिंतन को गहराई से प्रभावित किया।

स्मरणीय बिन्दु-

- कांट ने वस्तु-स्वरूप को अज्ञेय माना।
- मनुष्य केवल प्रपंच को जान सकता है।
- ज्ञान की सीमाएँ निर्धारित हैं।
- अनुभव से परे वस्तु का ज्ञान संभव नहीं।
- कांट का अज्ञेयवाद आधुनिक दर्शन में महत्वपूर्ण है।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
अज्ञेयवाद	Agnosticism
वस्तु-स्वरूप	Thing-in-itself
प्रपंच	Phenomenon
ज्ञान	Knowledge
सीमा	Limitation

5 अंक के प्रश्न-

1. अज्ञेयवाद से क्या अभिप्राय है?
2. कांट के अनुसार वस्तु-स्वरूप क्या है?
3. कांट ने ज्ञान की सीमा क्यों निर्धारित की?
4. कांट के अनुसार हम क्या जान सकते हैं?
5. प्रपंच और वस्तु-स्वरूप में अंतर लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. कांट के अज्ञेयवाद की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. वस्तु-स्वरूप संबंधी कांट के विचारों का विवेचन कीजिए।
3. कांट द्वारा ज्ञान की सीमाओं के निर्धारण का अध्ययन कीजिए।
4. "वस्तु-स्वरूप अज्ञेय है"? स्पष्ट कीजिए।
5. कांट के अज्ञेयवाद का समालोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. कांट के अनुसार वस्तु-स्वरूप है?

(क) ज्ञेय

(ख) प्रत्यक्ष

(ग) अज्ञेय

(घ) अनुभवजन्य

2. कांट ने ज्ञान को सीमित किया?

(क) अनुभव तक

(ख) धर्म तक

(ग) ईश्वर तक

(घ) आत्मा तक

3. प्रपंच का संबंध है?

(क) अनुभव से

(ख) आत्मा से

(ग) ईश्वर से

(घ) धर्म से

4. कांट के अनुसार वस्तु-स्वरूप को?

(क) जाना जा सकता है

(ख) अनुभव किया जा सकता है

(ग) नहीं जाना जा सकता

(घ) सिद्ध किया जा सकता है

5. अज्ञेयवाद संबंधित है?

(क) ज्ञान की सीमा से

(ख) नैतिकता से

(ग) राजनीति से

(घ) धर्म से।

॥ ओ३म् ॥

संस्कृतसाहित्यम्–II

BDPHID-203(1)

दिव्य प्रकाशन

॥ ओ३म् ॥

BDPHID-203 (1)
संस्कृतसाहित्यम्-II

पाठ्यक्रम के उद्देश्य :-

1. संस्कृत साहित्य के सम्यक् ज्ञान हेतु संस्कृत वाक्यों में प्रयुक्त विभिन्न कारकों व विभक्तियों में ज्ञान कराना।
2. सुसंस्कृत पदों की रचना हेतु समास की विधा से परिचय कराना ।
3. संस्कृत साहित्यिक विधा से परिचय कराना ।

परिणाम-

1. संस्कृत व्याकरण के आधारभूत ज्ञान से शब्दों की वैज्ञानिक पद्धति से परिचित होकर शब्दार्थ व वाक्यार्थ बोध करने व कराने में सक्षम हो जाता है।
2. संस्कृत वाक्यों में प्रयुक्त विभिन्न कारकों, विभक्तियों, समास के ज्ञान में पारंगत हो जाता है ।
3. नाट्य शैली की साहित्यिक विधा से परिचित होकर व्यावसायिक कुशलता प्राप्त कर लेता है।

प्रथम इकाई- कारकप्रकरणं विभक्तिश्च - **क्रेडिट**-1

संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त विभिन्न कारकों (कर्त्ता, कर्म आदि) तथा विभक्तियों (प्रथमा, द्वितीया आदि) का सूत्र एवं उदाहरणों सहित परिचय ।

द्वितीय इकाई- समासप्रकरणम् - **क्रेडिट**-1 संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त प्रमुख समासों (तत्पुरुष समास, बहुब्रीहि समास आदि) तथा उनके विभिन्न प्रभेदों का सूत्रों एवं उदाहरणों सहित वर्णन ।

तृतीय इकाई- कालिय नाग का मानमर्दन एवं कंस का वध । **क्रेडिट**-1

भगवान श्रीकृष्ण द्वारा कालिन्दी नदी में प्रवेश कर अत्यन्त भयानक कालिय नाग के आतंक से गोकुलवासियों के साथ-साथ प्राणि मात्र को अभय प्रदान करना तथा मथुरा जाकर कंस का वध कर उसके आतंक से समस्त जनता को मुक्त करना ।

चतुर्थ इकाई- शब्दरूप, धातुरूप (1-15 अभ्यास पर्यन्त)ए अनुवाद, संख्याएँ (1-100)। **क्रेडिट**-1

विषय-सूची

क्र. सं.	विषय	पृष्ठ संख्या
खण्ड-1	**कारकप्रकरणम्**	**5-12**
खण्ड-2	**समासप्रकरणम्**	**13-28**
इकाई-2.1	समास परिचय	13-14
इकाई-2.2	अव्ययीभावसमासप्रकरणम्	15-18
इकाई-2.3	तत्पुरुषसमासप्रकरणम्	19-28
खण्ड-3	**कालिय नाग का मानमर्दन एवं कंस का वध**	**29-5**
इकाई-3.1	कालिय नाग का मानमर्दन	29-35
इकाई-3.2	भगवान श्रीकृष्ण द्वारा कंस का वध।	36-42
खण्ड-4	**शब्दरूप, धातुरूप, संख्याएँ (1-100), अनुवाद (1-15 अभ्यास पर्यन्त)**	**43-0**
इकाई-4.1	शब्दरूप,	43-62
इकाई-4.2	संख्याएँ (1-100), धातुरूप	63-89
इकाई-4.3	अनुवाद (1-15 अभ्यास पर्यन्त)	90-104

भूमिका

प्रस्तुत पाठ्यक्रम में कारक व समास को सम्मिलित किया गया है जिससे व्याकरण को समझने व पढ़ने में सुगमता सरलता और व्याकरण का यर्थाथ बोध हो सके। इससे संस्कृत साहित्य को पढ़ने व समझने में सरलता होती है। कारक के माध्यम से ही वाक्य में क्रिया के संयोग के सम्बन्ध, संज्ञा, सर्वनाम के मध्य सम्बन्ध स्पष्ट होता है। वाक्य में कर्त्ता, कर्म, करण आदि को स्पष्ट करता है। पाणिनीय परम्परा में इन्हें विभक्तियाँ कहा जाता है। अष्टाध्यायी सूत्र में इन्हें संज्ञा सूत्र के नाम से जाना जाता है। जैसे **'स्वतन्त्रः कर्त्ता' 'कर्तुरिप्सितमं कर्म', 'कर्तृकरणयोस्तृतीया'** आदि। समास भाषा को संक्षिप्त, प्रभावशाली और बौद्धिक बनाता है। दो या उससे अधिक शब्दों को संक्षिप्त रूप में एक नवीन अर्थ में प्रस्तुत करता है। इससे अर्थ की गहराई बढ़ती है, और भाषा का सौन्दर्य भी बढ़ता है। कारक वाक्य के क्रियात्मकता को और समास शब्दों की गूढ़ता को बढ़ाता है। समास का प्रयोग कालिदास जैसे प्राचीन व तुलसीदास जैसे आधुनिक कवियों ने भी काव्य की सुन्दनता के लिये किया।

कालिय मानमर्दन व कंस वध 'बालचरितम्' नाटक से लिया गया है। इसमें **भगवान श्रीकृष्ण की बाल-लीलाएं** हैं। बालचरितम् के कवि **महाकवि 'भास'** जी है। इसके माध्यम से संस्कृत साहित्य का दिग्धदर्शन होता है।

संस्कृत साहित्य की आधारशिला है, शब्दरूप व धातुरूप इसके बिना संस्कृत साहित्य की परिकल्पना भी लगभग असम्भव है। शब्दरूप में विभिन्न शब्दों का रूप सम्मिलित है। जो वाक्य निर्माण में सहायक होते है इसमें कुछ प्रातिपदिक रूप कुछ सर्वनाम रूप व संख्याओं के रूप भी सम्मिलित हैं। धातुरूप में विभिन्न धातुओं की जिसे क्रिया भी कहा जाता उनके रूप पंचलकारों में है। ये भी वाक्य निर्माण में महत्वपूर्ण है। तथा जो १५ अभ्यास हैं इसमें व्याकरण के कुछ महत्वपूर्ण प्रारम्भिक व सरल नियम सहित कुछ संस्कृत शब्दकोश को सम्मिलित किया गया है। और उनसे सम्बन्धित अभ्यास है जो संस्कृत वाक्य रचना व संस्कृत भाषा की समझ और अध्ययन में सहायक है।

खण्ड-1 अथ कारकप्रकरणम्

उद्देश्य-

- **पाणिनीय कारक व्यवस्था का परिचयः** विद्यार्थियों को पाणिनीय व्याकरण (अष्टाध्यायी) के अनुसार कारकों, संज्ञाओं (जैसे- कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण) और विभक्तियों के अन्तर्सम्बन्धों से अवगत कराना।
- **सूत्रों की सूक्ष्म व्याख्याः** मूल संस्कृत वृत्तियों (जैसे- नियतौपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः) के माध्यम से सूत्रों के वास्तविक अर्थ और उनमें प्रयुक्त मात्र तथा तमप् (जैसे-ईप्सिततमम्, साधकतमम्) जैसे प्रत्ययों की सार्थकता को स्पष्ट करना।
- **वाक्य प्रयोग की शुद्धताः** विभिन्न विभक्तियों के विशिष्ट नियमों (जैसे- उपपद विभक्ति और कारक विभक्ति) के अंतर को समझाकर संस्कृत भाषा में शुद्ध वाक्य-रचना की योग्यता विकसित करना।

५३२. प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा (२.३.४६)

नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात्। उच्चैः। नीचैः। कृष्णः। श्रीः। ज्ञानम्। अलिङ्गा नियतलिङ्गाश्च प्रातिपदिकार्थमात्र इत्यस्योदाहरणम्। अनियतलिङ्गास्तु लिङ्गमात्राधिक्यस्य। तटः, तटी, तटम्। परिमाणमात्रे द्रोणो व्रीहिः। द्रोणरूपं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः। प्रत्ययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थोऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम्, प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहौ विशेषणमिति विवेकः। वचनं संख्या । एकः । द्वौ। बहवः। इहोक्तार्थत्वाद्विभक्तेरप्राप्तौ वचनम्।

पद० - प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे 7.1, प्रथमा 1.1

अर्थ - नियत उपस्थिति वाले अर्थ को प्रातिपदिकार्थ कहा जाता है। 'मात्र' शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है। केवल प्रातिपदिकार्थ में, लिङ्गमात्राधिक्य में, परिमाण मात्र में तथा वचनमात्र में प्रथमा विभक्ति होती है। जिनका कोई लिङ्ग नहीं होता है और जिनका लिङ्ग निश्चित होता है, वे शब्द ही प्रातिपदिकार्थमात्र के उदाहरण हैं। अनियत लिङ्ग शब्द लिङ्गमात्राधिक्य के उदाहरण है।

'द्रोण' शब्द का अर्थ है- द्रोणरूप परिमाण से नापा हुआ धान्यादि।

व्याख्या- 'प्रातिपदिकार्थ ..... मात्रे केवल प्रातिपदिकार्थ में, लिङ्गमात्राधिक्य में, परिमाणमात्र में तथा वचनमात्र में प्रथमा विभक्ति होती है ऐसा जानना चाहिए।

अलिङ्गा अनियत० - संस्कृत भाषा में लिङ्ग के आधार पर शब्दों को 3 तीन वर्गों में रखा जाता है-

अलिङ्ग-नीचैः, शनैः आदि ।

नियतलिङ्ग-वृक्षः, कन्या, फलम् इत्यादि ।

अनियतलिङ्ग-तटः तटी, तटम् ।

सभी अव्यय शब्द अलिङ्ग होते हैं। उनका कोई विशेष लिङ्ग नहीं होता।

(५३३) सम्बोधने च (२.३.४७)

इह प्रथमा स्यात् । हे राम ।

इति प्रथमा ।

पद० सम्बोधने 7.1, च-अव्य० ।

अनु०- 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०' (पा० 2.3.46) से 'प्रथमा' की अनुवृत्ति है।

अर्थ- सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति होती है। दूर से बुलाने को अथवा अपनी ओर अभिमुख करने को 'सम्बोधन' कहते है। सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति होती है।

उदा०- (1) हे राम ! - हे राम सु - प्रकृत सुत्र से प्रथमा हुई। उकार की इत्सञ्ज्ञा और लोप होकर। **'एकवचनं सम्बुद्धिः'** से अपृक्त 'सु' की सम्बुद्धिसञ्ज्ञा हुई। **'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः'** से 'स्' का लोप हो गया।

५३५. कारके (१.४.२३)

इत्यधिकृत्य।

पद० - कारके 7.1

व्याख्या - यह अधिकारसूत्र है । 'कारके' सप्तम्यन्त पद है। 'अतः' यह विशेषण है। सञ्ज्ञा का निर्देश प्रथमा के द्वारा किया जाता है। आगे कहे जाने वाले अपादान आदि का यह विशेषण बनेगा। अभिप्राय यह है कि आगे जो-जो सूत्र कहे जायेंगे, उनमें 'कारके' इस प्रकार सम्बन्ध जानना चाहिए।

५३५. कर्तुरीप्सिततमं कर्म (१.४.४९)

कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसञ्ज्ञं स्यात्।

कर्तुः किम्? माषेष्वश्वं बध्नाति। कर्मण ईप्सिता माषाः, न तु कर्तुः। तमब्ग्रहणं किम्? पयसा ओदनं भुङ्क्ते। 'कर्म' इत्यनुवृत्तौ पुनः कर्मग्रहणमाधारनिवृत्त्यर्थम्। अन्यथा गेहं प्रविशतीत्यत्रैव स्यात्।

पद० - कर्तुः 6.1, ईप्सिततमम् 1.1, कर्म 1.1

अनु० - 'कारके' का अधिकार जाता है।

अर्थ - कर्त्ता क्रिया से (जिसे) सर्वाधिक प्राप्त करना चाहता है, (अर्थात् कर्ता को जो इष्टतम है) उस कारक की कर्म सञ्ज्ञा होती है ।

व्याख्या - 'ईप्सित' का अर्थ है - इष्ट।

कर्त्ता क्रिया के द्वारा जिसे सर्वाधिक चाहता है, उसकी कर्म सञ्ज्ञा होती है।

कर्तुः किम्? - सूत्र में 'कर्तुः' पद का क्या प्रयोजन है। कर्ता का प्रयोजन है कि कर्त्ता को जो सर्वाधिक इष्ट होता है, उसकी कर्मसञ्ज्ञा होती है। यथा -

माषेष्वश्वं बध्नाति (= उड़द के खेत में घोड़े को बाँधता है)- यहाँ 'माष' अश्व को इष्ट है जो कर्म है। कर्ता को सर्वाधिक इष्ट नहीं है। 'माष' अतः आधार की अधिकरण सञ्ज्ञा हुई। तब सप्तमी विभक्ति हुई। अतः इसकी कर्म सञ्ज्ञा नहीं होती है।

तमब्ग्रहणं०? - 'तमप्' प्रत्यय के ग्रहण का प्रयोजन है कि जो कर्ता को सर्वाधिक इष्ट होता है, उसकी कर्मसञ्जा होती है अन्य की नहीं। यथा-

पयसा ओदनं भुङ्क्ते (= दूध से भात खाता है)- यहाँ कर्ता को 'पयस्' और 'ओदन' दोनों इष्ट है परन्तु इनमें सर्वाधिक ईप्सित 'ओदन' है। इसकी कर्म सब्क्षा होती है। ईप्सितों में सर्वाधिक ईप्सित न होने से 'दूध' की कर्मसञ्ज्ञा नहीं हुई।

(५३६) अनभिहिते (२.३.१)

इत्यधिकृत्य।

पद० - अनभिहिते 7.1

अनु० - यह अधिकार है। इसका अधिकार पाद की समाप्ति पर्यन्त जाता है, तथापि यह कारक विभक्तियों में ही सक्रिय होता है उपपद विभक्तियों में नहीं। इसका अर्थ है- अनुक्त कर्म आदि कारकों में वक्ष्यमाण विभक्तियाँ होती हैं।

(५३७) कर्मणि द्वितीया (२.३.२)

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात् । हरिं भजति। अभिहिते तु कर्मणि 'प्रातिपदिकार्थमात्रे' इति प्रथमैव। अभिधानं तु प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः । तिङ्-हरिः सेव्यते । कृत्-लक्ष्म्या सेवितः । तद्धितः-शतेन क्रीतः शत्यः । समासः प्राप्तः आनन्दो यं स प्राप्तानन्दः । क्वचिन्निपातेनाभिधानम् । यथा-'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' । साम्प्रतमित्यस्य हि युज्यत इत्यर्थः ।

पद०- कर्मणि 7.1, द्वितीया 1.1

अनु०- 'अनभिहिते' का अधिकार आता है।

अर्थ- तिङ्कृत्तद्धितसमास के द्वारा अनुक्त कर्म में द्वितीया होती है। कर्म के उक्त होने पर प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा ही होती है।

५३८. तथायुक्तं चानीप्सितम् (१.४.५०)

ईप्सिततमवत्क्रियया युक्तमनीप्सितमपि कारकं कर्मसञ्ज्ञं स्यात्।

ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति। ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते।

पद० - तथायुक्तम्- अव्य०, च-अव्य०, अनीप्सितम् 1.1

अनु० 'कारके' का अधिकार आता है। 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (पा० 1.4.49) से 'कर्म' की अनुवृत्ति है।

अर्थ- ईप्सिततम के समान क्रिया से युक्त अनीप्सिततम कारक की भी कर्मसञ्ज्ञा होती है।

व्याख्या- 'अनीप्सित' का अर्थ है-जो कर्त्ता को इष्ट न हो।

उदा०- ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति- यहाँ गमनक्रिया के सम्बन्ध से कर्ता का ईप्सिततम 'ग्राम' है। गमन करते हुए स्पर्श क्रिया भी सहसा हो जाती है। अतः अनीप्सित तृण की कर्म सञ्ज्ञा हो गई।

ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते - यहाँ 'विष' अनीप्सित है। तथापि कर्मसञ्ज्ञा हो जाती है।

(५४२) अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म (१.४.४६)

अधिपूर्वाणामेषामाधारः कर्म स्यात् । अधिशेते, अधितिष्ठति, अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः

पद० - अधिशीङ्ख्यासाम् **६.३**, कर्म **१.१**

अनु० - 'कारके' का अधिकार आता है। **'आधारोऽधिकरणम्' (पा० १.४.४५)** से 'आधारः' की अनुवृत्ति है।

अर्थ- अधिपूर्वक शी, स्था तथा आस् के आधार की कर्मसञ्ज्ञा होती है।

व्याख्या-अधिपूर्वक शी, अधिपूर्वक स्था तथा अधिपूर्वक आस्-इनके आधार की कर्मसञ्ज्ञा होती है।

उदा०- अधिशेते वैकुण्ठं हरिः - अधिपूर्वक शी धातु है। इसका आधार 'वैकुण्ठ' है। अतः इसकी कर्मसञ्ज्ञा हुई। अकथित कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

अधितिष्ठति वैकुण्ठं हरिः - पूर्ववत् कर्मसञ्ज्ञा ।

अध्यास्ते वैकुण्ठं हरिः - पूर्ववत् कर्मसञ्ज्ञा ।

(५४४) उपान्वध्याङ्वसः (१.४.४८)

उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्म स्यात्। उपवसति, अनुवसति, अधिवसति, आवसति वा वैकुण्ठं हरिः । 'अभुक्त्यर्थस्य न' । वने उपवसति ।

'उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु । द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' ॥ (वा० १४४४) उभयतः कृष्णं गोपाः । सर्वतः कृष्णम्। धिक् कृष्णाभक्तम्। उपर्युपरि लोकं हरिः । अध्यधि लोकम् । अधोऽधो लोकम्। 'अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' (वा० १४४२-१४४३)। अभितः कृष्णम् । परितः कृष्णम्। ग्रामं समया। निकषा लङ्काम् । हा कृष्णाभक्तम् । तस्य शोच्यते इत्यर्थः । 'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्' ।

पद० - उपान्वध्याङ्वसः 6.1

अनु०- 'कारके' का अधिकार आता है। **'अधिशीङ्स्थासां कर्म' (पा० १.४.४६)** से 'कर्म' का तथा **'आधारोऽधिकरणम् (पा० १.४.४५)** से 'आधारः' की अनुवृत्ति है।

अर्थ- उप आदि के पूर्व में रहते वस् धातु के आधार की कर्मसञ्ज्ञा होती है। 'भूखा रहना' अर्थ में कर्मसञ्ज्ञा नहीं होती है। तस्प्रत्ययान्त 'उभ' और 'सर्व' शब्द, धिक् व आम्रेडितान्त उपरि आदि शब्दों के योग में द्वितीया होती है। इससे अन्यत्र भी कहीं-कहीं द्वितीया देखी जाती है।

अभितः, परितः, समया, निकषा, हा तथा प्रति-इनके योग में भी द्वितीया विभक्ति होती है।

व्याख्या- उप, अनु, अधि तथा आङ्-ये उपसर्ग हैं। प्रत्येक के साथ वस् का योग है। सूत्र का अर्थ इस प्रकार है- उपवस्, अनुवस्, अधिवस् और आवस्- इनके योग में आधार की कर्मसञ्ज्ञा होती है।

उदा०- उपवसति वैकुण्ठं हरिः - उपपूर्वक वस् धातु के आधार 'वैकुण्ठ' की कर्मसञ्ज्ञा हो गई। अनुवसति वैकुण्ठं हरिः । अधि वसति वैकुण्ठं हरिः - पूर्ववत् । आवसति वैकुण्ठं हरिः । उपवसति वने-भोजननिवृत्ति अर्थ है। अतः इसकी कर्मसञ्ज्ञा नहीं हुई । उभयतः कृष्णं गोपाः - 'उभयतः' के योग में वार्त्तिक के द्वारा 'कृष्ण' से द्वितीया विभक्ति होती है। सर्वतः कृष्णं गोपाः - पूर्ववत् । धिक् कृष्णाभक्तम् - द्वितीया हो गई। उपर्युपरि लोकं हरिः - 'उपर्यध्यधसस्सामीप्ये' से द्विर्वचन होता है। 'लोक' शब्द से द्वितीया हुई। अध्यधि लोकम् । अधोऽधो लोकम्-पूर्ववत्।

५५९. स्वतन्त्रः कर्ता (१.४.५४)

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात् ।

पद० - स्वतन्त्रः **१.१**, कर्त्ता **१.१**

अनु० - 'कारके' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- क्रिया की सिद्धि में स्वतन्त्ररूप से विवक्षित कर्त्ता की कारकसञ्ज्ञा होती। देवः पठति। रामः स्वपिति। बालका रोदिति।

(५६०) साधकतमं करणम् (१.४.४२)

क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसञ्ज्ञं स्यात् । 'तमब्ग्रहणं' किम्? गङ्गायां घोषः

पद० - साधकतमम् **१.१**, करणम् **१.१**

अनु०- 'कारके' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- 'साधकतम' का अर्थ है कि जो क्रिया की सिद्धि में सबसे अधिक उपकारक होता है। उसे 'करण' कहते हैं।

उदा०- (1) असिना छिनत्ति (मूलेऽनुपलब्धः) - यहाँ छेदन क्रिया में 'असि' सर्वाधिक उपकारक है। इसकी करण सञ्ज्ञा हुई। 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' से तृतीया विभक्ति हुई।)

(५६१) कर्तृकरणयोस्तृतीया (२.३.१८)

अनभिहिते कर्त्तरि करणे च तृतीया स्यात् । रामेण बाणेण हतो वाली । 'प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' (वा० १४६६) १ प्रकृत्या चारुः । प्रायेण याज्ञिकः। गोत्रेण गार्ग्यः । समेनैति। विषमेणैति । द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति । सुखेन दुःखेन वा यातीत्यादि ।

पद० – कर्तृकरणयोः ७.२, तृतीया १.१

अनु० 'अनभिहिते' **(पा० २.३.१)** का अधिकार आता है।

व्याख्या– 'अनभिहिते' पद को वचनविपरिणाम के द्वारा द्विवचनान्त 'अनभिहितयोः' बना लिया जाता है। अर्थ इस प्रकार है– अकथित कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है।

उदा०– रामेण बाणेन हतो वाली–हन् से कर्म अर्थ में 'क्त' प्रत्यय हुआ है। कर्मकारक उक्त है। शेष कारक अनुक्त हैं। अतः अनुक्त कर्ता 'राम' में तृतीया विभक्ति हो गई। हनन क्रिया में सर्वाधिक उपकारक 'बाण' है। इसलिए इसकी करण सञ्ज्ञा हुई और इससे तृतीया विभक्ति हो गई।

प्रकृत्या चारुः – प्रकृति शब्द से तृतीया हुई । प्रायेण याज्ञिकः वार्त्तिक से तृतीया हुई। गोत्रेण गार्ग्यः पूर्ववत् । समेनैति 'सम' शब्द से तृतीया विभक्ति हुई। विषमेणैति–पूर्ववत् तृतीया। द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति तृतीया विभक्ति हुई। सुखेन याति वार्तिक से तृतीया विभक्ति हुई। दुःखेन याति–पूर्ववत् तृतीया विभक्ति ।

५६५. येनाङ्गविकारः (२.३.२०)

येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततः तृतीया स्यात् ।

अक्ष्णा काणः। अक्षिसम्बन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः। 'अङ्गविकारः' किम्? अक्षि काणमस्य।

पद० येन ३.१. अङ्गविकारः १.१

अनु० **'कर्त्तृकरणयोस्तृतीया' (पा० २.३.१८)** से 'तृतीया' की अनुवृत्ति है।

अर्थ– जिस विकृत अङ्ग के द्वारा अङ्गी का विकार लक्षित होता है, उसके वाचक शब्दों से तृतीया विभक्ति होती है।

उदा० – (1) अक्ष्णा काणः – यहाँ काणत्व विकार है। ये विकृत अङ्ग आँख के द्वारा लक्षित होता है। अतः तृतीया विभक्ति हो गई। पादेन खञ्जः। पाणिना कुण्ठः।

५६९. कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् (१.४.३२)

दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसञ्ज्ञः स्यात्।

पद० – कर्मणा 3.1, यम् 2.1, अभिप्रैति – ति० सः–1.1,

सम्प्रदानम् 1.1

अनु० – 'कारके' इस का अधिकार आता है।

व्याख्या– 'कर्मणा' यह तृतीयान्त पद है। यहाँ करण में तृतीया विभक्ति है। 'सम्प्रदान' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है– 'सम्यग् दीयते प्रकर्षेणाऽस्मा इति सम्प्रदानम्' अर्थात् जिसे कुछ दिया जाय और पुनः वापिस न लिया जाये, उसे सम्प्रदान कहते हैं।

अर्थ – दान कर्म के द्वारा कर्ता जिस के अभिप्राय को सिद्ध करता है, उसकी सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है।

'दान' का अर्थ है– किसी द्रव्य को अपने अधिकर से सदा के लिए त्याग करके दूसरे के अधिकर में देना उसे दान कहते हैं।

५७०. चतुर्थी सम्प्रदाने (२.३.१३)

विप्राय गां ददाति। अनभिहित इत्येव। दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः। 'क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्' (वा.१०८४)। पत्ये शेते। 'यजेः कर्मणः करणसञ्ज्ञा सम्प्रदानस्य च कर्मसञ्ज्ञा' (वा.१०८६)। पशुना रुद्रं यजते। पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः ।

पद० – चतुर्थी १.१, सम्प्रदाने ७.१

अनु०– 'अनभिहिते' का अधिकार आता है।

अर्थ– यह चतुर्थीविभक्ति अनभिहित सम्प्रदान में ही होती है। (वा०) क्रिया के द्वारा कर्ता जिसे लक्षित करता है, उसकी सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है। (वा०) यज् धातु के कर्म की करणसञ्ज्ञा होती है तथा सम्प्रदान सञ्ज्ञा की कर्मसञ्ज्ञा होती है।

व्याख्या – अकथित सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है। यथा–विप्राय गां ददाति– यहाँ कर्ता दान कर्म के द्वारा विप्र के अभिप्राय को सिद्ध कर रहा है। अतः इसकी सम्प्रदान सञ्ज्ञा हुई ।

५७१. रुच्यर्थानां प्रीयमाणः (१.४.३४)

रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणोऽर्थः सम्प्रदानं स्यात्। हरये रोचते भक्तिः । अन्यकर्तृकोऽभिलाषों रुचिः। हरिनिष्ठप्रीतेर्भक्तिः कर्त्री। प्रीयमाणः किम्? देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि।

पद० – रुच्यर्थानाम् ६.३, प्रीयमाणः १.१

अनु०– 'कारके' का अधिकार आता है। **'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' (पा० १.४.३२)** से 'सम्प्रदानम्' की अनुवृत्ति है।

अर्थ– रुच्यर्थक धातुओं के योग में प्रीयमाण की सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है। अन्यकर्तृक अभिलाष को रुचि कहते हैं। हरि में रहने वाली प्रीति ही 'कर्ता' है। 'प्रीयमाण' क्यों कहा? ताकि 'देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि' यहाँ 'पथि' की सम्प्रदानसञ्ज्ञा न हो।

५७३. धारेरुत्तमर्णः (१.४.३४)

धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्ण उक्तसञ्ज्ञः स्यात्।

भक्ताय धारयति मोक्ष हरिः। उत्तमर्णः किम्? देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे।

पद० – धारेः **६.१**, उत्तमर्णः **१.१**

अनु०– 'कारके' का अधिकार आता है। 'कर्मणा यमभिप्रैति०' से 'सम्प्रदानम्' की अनुवृत्ति है।

अर्थ – णिच् प्रत्ययान्त धृ धातु के योग में उत्तमर्ण (ऋण देने वाला) की सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है।

उदा०– भक्ताय धारयति मोक्ष हरिः– यहाँ 'भक्त' उत्तमर्ण तथा 'हरि' अधमर्ण है। 'भक्त' की सम्प्रदान सञ्ज्ञा हुई। 'चतुर्थी सम्प्रदाने' से समप्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है।

५८३. नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च (२.३.१५)

एभिर्योगे चतुर्थी स्यात्। हरये नमः। 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' (प.१०३)। नमस्करोति देवान्। प्रजाभ्यः स्व. स्ति। अग्नये स्वाहा। पितृभ्यः स्वधा। 'अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्' (वा.१४६२)। तेन दैत्येभ्यो हरिरलं, प्रभुः। समर्थः, शक्तः इत्यादि। प्रभ्वादियोगे षष्ठ्यपि साधुः। 'तस्मै प्रभवति' (सु.१७६५) 'स एषां ग्रामणीः' (सू.१८७८) इति निर्देशात्। तेन 'प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य' इति सिद्धम्। चकारः पुनर्विधानार्थः, तेनाशीर्विवक्षायां परामपि 'चतुर्थी चाशिषि' (सु. ६३१) इति षष्ठीं बाधित्वा चतुथ्यैव भवति। स्वस्ति गोभ्यो भूयात्।

पद० – नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगात् 5.1. च–अव्यय ।

अनु० – **'चतुर्थी सम्प्रदाने' (पा० २.३.१३)** से 'चतुर्थी' की अनुवृत्ति है।

अर्थ– 'नमः' आदि के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है। (परि०) उपपद विभक्ति से कारक विभक्ति बलवान् होती है। (वा०) अलम् का 'पर्याप्त' अर्थ होता है। 'प्रभु' आदि शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति भी साधु है। पाणिनिमुनि ने दोनों का प्रयोग किया है। यथा– 'तस्मै प्रभवति' तथा 'स' एषां आमणीः । अतः 'प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य' प्रयोग साधु है। चकार का ग्रहण विभक्ति के पुनर्विधान के लिए है। इसलिए आशीर्वाद की विवक्षा में परकार्य होने के कारण 'चतुर्थी चाऽऽशिषि०' से प्राप्त षष्ठी को बाधकर चतुर्थी ही होती है।

५८६. ध्रुवमपायेऽपादानम् (१.४.२४)

अपायो विश्लेषः, तस्मिन् साध्ये ध्रुवमवधिभूतं कारकमपादानं स्यात्।

पद० – ध्रुवम् 1.1, अपाये 7.1, अपादानम् 1.1

अनु० – 'कारके' का अधिकार आता है।

व्याख्या– 'अपाय' का अर्थ है– पृथक् होना। 'ध्रुवम्' का अर्थ है–निश्चित अथवा स्थिर।

पार्थक्य साध्य होने पर अवधिभूत (कुटस्थ) की अपादान कारक सञ्जा होती है।

उदा०– वृक्षात् पत्रं पतति – यहाँ 'वृक्ष' की अपादान सञ्ज्ञा हुई। 'अपादाने पञ्चमी' से अपादान में पञ्चमी हुई। ग्रामाद् आगच्छति। पर्वतादवरोहति।

(५८७) अपादाने पञ्चमी (२.३.२८)

ग्रामादायाति । धावतोऽश्वात्पतति । 'कारकं' किम्? वृक्षस्य पर्णं पतति । 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसङ्ख्यानम्' (वा० १०७९) । पापाज्जुगुप्सते, विरमति । धर्मात्प्रमाद्यति ।

पद ० – अपादाने **७.१**, पञ्चमी **१.१**

अनु० – 'अनभिहिते' का अधिकार आता है।

अर्थ – 'कारक' कहने का क्या फल है? 'वृक्षस्य पर्णं पतति' में 'वृक्ष' की अपादानसञ्ज्ञा नहीं होर्ती। (वा०) निन्दा, विराम तथा प्रमाद वाची धातुओं के कारक की अपादानसञ्ज्ञा होती है।

व्याख्या– अनभिहित अपादान कारक में पञ्चमी विभक्ति होती है।

उदा०– ग्रामाद् आयाति– यहाँ विश्लेष है। 'ग्राम' अवधिभूत है। इसलिए इसकी अपादानसञ्ज्ञा हुई। इससे पञ्चमी विभक्ति हुई। ध ावतोऽश्वात् पतति पूर्ववत् अपादानसंज्ञा। पर्वतादवरोहति।

५८८. भीत्रार्थानां भयहेतुः (१.४.२४)

भयार्थानां त्राणार्थानां च प्रयोगे भयहेतुरपादानं स्यात्। चोराद् बिभेति। चोरात् त्रायते। भयहेतुः किम्? अरण्ये बिभेति, त्रायते वा।

पद० – भीत्रार्थानाम् **६.३**, भयहेतुः **१.१**

उदा०– 'कारके' का अधिकार आता है। **'ध्रुवमपायेऽपादानम्' (पा० १.४.२४)** से 'अपादानम्' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- 'अर्थ' शब्द का द्वन्द्वसमास के प्रत्येक पद के साथ सम्बद्ध होकर 'भीत्रार्थानाम्' का अर्थ है- भयवाची तथा रक्षावाची धातुओं के प्रयोग में भय का जो निमित, उस कारक की अपादानसञ्ज्ञा होती है।

उदा०- चौराद् बिभेति - भयार्थक 'भी' धातु का प्रयोग है। भयका हेतु 'चौर' है। इसलिए इसकी अपादानसञ्ज्ञा होने से पञ्चमी विभक्ति हो गयी।

चौरात् त्रायते - पूर्ववत् अपादानसञ्ज्ञा और पञ्चमी विभक्ति हो गयी।

भयहेतुः किम्? 'भयहेतुः' का प्रयोजन यह है कि भयार्थक और रक्षार्थक धातुओं के प्रयोग में जो भय का हेतु हो उसकी अपादान सञ्ज्ञा हो अन्यत्र न हो है। यथा-अरण्ये बिभेति- 'अरण्य' भयहेतु नहीं है। अतः इसकी अपादानसञ्ज्ञा नहीं हुई। आधार की अधि कारणसञ्ज्ञा हो गई।

५९२. आख्यातोपयोगे (१.४.२९)

नियमपूर्वकविद्यास्वीकारे वक्ता प्राक्सञ्ज्ञः स्यात्।

उपाध्यायादधीते। उपयोगे किम्? नटस्य गाथां शृणोति ।

पद० - आख्याता **१.१**, उपयोगे **७.१**

अनु० - 'कारके' का अधिकार आता है । 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' (पा० 1.4.24) से 'अपादानम्' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- नियमपूर्वक विद्याग्रहण करने में अध्यापक की अपादानसञ्ज्ञा होती है।

उदा०- उपाध्यायाद् अधीते - उपाध्याय की अपादान-सञ्ज्ञा हुई। 'अपादाने पञ्चमी' से पञ्चमी विभक्ति हुई। सूत्र में 'उपयोगे' का प्रयोजन यह है कि नियमपूर्वक विद्या ग्रहण में ही आख्याता (अध्यापक) की अपादानसञ्ज्ञा होती है। नटस्य गाथां शृणोति - यहाँ नियमपूर्वक विद्याग्रहण नहीं है। अतः यहाँ नट की अपादानसञ्ज्ञा नहीं हुई। सम्बन्धलक्षणा नट से षष्ठी विभक्ति हो गई।

६०६. षष्ठी शेषे (२.३.५०)

कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः शेषः, तत्र षष्ठी स्यात्।

राज्ञः पुरुषः। कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षयां षष्ठ्येव । सतां गतम्। सर्पिषो जानीते।

मातुः स्मरति। एधोदकस्योपस्कुरुते। भजे शम्भोश्चरणयोः। फलानां तृप्तः।

पद० - षष्ठी **१.१**, शेषे **७.१**

व्याख्या - उक्तादन्यो यः स 'शेषः' अर्थात् जो कहा जा चुका है, उससे अतिरिक्त को 'शेष' कहा जाता है। अतः 'शेष' शब्द के द्वारा कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण इन सब कारकों को और प्रातिपदिकार्थ को छोड़कर जो शेष है, उसका प्रकृत सूत्र में ग्रहण होता है।

६०७. षष्ठी हेतुप्रयोगे (२.३.२६)

हेतुशब्दप्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात् अन्नस्य हेतोर्वसति।

पद० - षष्ठी **१.१**, हेतुप्रयोगे **७.१**

अनु० - 'हेतौ' **(पा० २.३.२३)** की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- यह योग 'हेतौ' से प्राप्त 'तृतीया' का अपवाद है। अर्थ - हेतु शब्द के प्रयोग में हेतु द्योत्य रहते हेतुवाची शब्द से तथा हेतु शब्दों से षष्ठी विभक्ति होती है। यथा-

अन्नस्य हेतोर् वसति । विद्यायाः हेतोर्वसति।

६३२. आधारोऽधिकरणम् (१.४.४५)

कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणसञ्ज्ञः स्यात्।

पद० - आधारः **१.१**, अधिकरणम् **१.१**

अनु० - 'कारके' का अधिकार आता है।

व्याख्या- कर्त्ता और कर्म के द्वारा तन्निष्ठ क्रिया के आधारभूत कारक की अधिकरण सञ्ज्ञा होती है। 'आश्रियते क्रियाऽस्मिन्नित्याधारः' अर्थात् जिसमें क्रिया आधृत रहती है, उसे आधार कहते हैं।

(६३३) सप्तम्यधिकरणे च (२.३.३६)

अधिकरणे सप्तमी स्यात्। चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः । औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्या- पकश्चेत्याधारस्त्रिधा । कटे आस्ते । स्थाल्यां पचति । मोक्षे इच्छास्ति । सर्वस्मिन्नात्मास्ति । वनस्य दूरे अन्तिके वा। 'दूरान्तिकार्थेभ्यः-' (सू० ६०५) इति विभक्तित्रयेण सह चतस्रोऽत्र विभक्तयः फलिताः । 'क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसङ्ख्यानम्' (वा० १४७५) । अधीती व्याकरण े । अधीतमनेनेति विग्रहे-'इष्टादिभ्यश्च' (सू० १८८८) इति कर्तरीनिः । 'साध्वसाधुप्रयोगे च' (१४८६) । साधुः कृष्णो

मातरि, असाधुर्मातुले । 'निमित्तात्कर्मयोगे' (१४९०) १ निमित्तमिह फलम् । योगः संयोगसमवायात्मकः ।
'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः ।।' इति भाष्यम् ।
हेतुतृतीयाऽत्र प्राप्ता तन्निवारणार्थमिदम् । सीमा अण्ड-कोशः । पुष्कलको गन्धमृगः । योगविशेषे किम्? वेतनेन धान्यं लुनाति ।
पद० - सप्तमी 1.1, अधिकरणे 7.1, च- अव्य० ।
अनु० - 'अनभिहिते' का अधिकार है। 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' (पा० 2.3.35) से 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' की अनुवृत्ति है।
व्याख्या- दूरवाची व समीपवाची शब्दों से तथा अकथित अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति होती है। आधार तीन प्रकार का होता है-

औपश्लेषिक- उपश्लेष संयोग को कहते हैं। जहाँ आधेय और आधार का संयोग हो, वहाँ औपश्लेषिक आधार होता है। यह सर्वत्र न होकर एकदेशी हुआ करता है। जैसे।
कटे आस्ते (देवः) । स्थाल्यां यचति - आधार (कट) और आधेय (देव) का एकदेशी संयोग है। अधिकरण सञ्ज्ञा हुई, और अधि करण में सप्तमी विभक्ति हो गयी।

वैषयिक - विषय से सम्बद्ध आधार वैषयिक कहलाता है । यथा-

मोक्षे इच्छा अस्ति-मोक्ष की अधिकरणसञ्ज्ञा हुई।

अभिव्यापक - जहाँ आधेय आधार के सब अवयवों में व्याप्त रहे, वहाँ अभिव्यापक आधार कहलाता है। यथा- सर्वस्मिन्नात्माऽस्ति। तिलेषु तैलम् अस्ति - अधिकरण सञ्ज्ञा। सप्तमी विभक्ति हुई। वनस्य दूरे-'दूर' शब्द में सप्तमी हुई। वनस्याऽन्तिके-'अन्तिक' शब्द में सप्तमी हुई।

इति कारकप्रकरणम् ।।

स्मरणीय बिंदु-

1. **प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमाः** प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा (२-३-४६) सूत्र द्वारा नियतोपस्थितिक अर्थ में प्रथमा होती है। लिंग के आधार पर शब्द त्रिविध हैं: अलिङ्ग (उच्चैः, नीचैः), नियतलिङ्ग (कृष्णः, श्रीः, ज्ञानम्) और अनियतलिङ्ग (तटः, तटी, तटम्)।
2. **अभिहिते प्रथमाः** जब कर्म या कर्ता तिङ्, कृत्, तद्धित या समास द्वारा कह दिया जाता है (अभिहित/उक्त), तब उसमें प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा ही होती है (जैसे- हरिः सेव्यते)।
3. **ईप्सिततम की कर्म संज्ञाः** कर्ता अपनी क्रिया द्वारा जिसे सर्वाधिक प्राप्त करना चाहता है, उसकी कर्तुरीप्सिततमं कर्म (१-४-४९) से कर्म संज्ञा होती है।
4. **कथ्य से भिन्न (अनीप्सित) की भी कर्म संज्ञाः** तथायुक्तं चानीप्सितम् (१-४-५०) सूत्र से अनचाहे पदार्थों (जैसे-विष खाना, तृण स्पर्श करना) की भी कर्म संज्ञा होती है।
5. **तृतीया विभक्तिः** अनभिहित कर्ता और करण (साधकतम) में कर्तृकरणयोस्तृतीया (२-३-१८) से तृतीया होती है। येनाङ्गविकारः (२-३-२०) से विकृत अंगवाचक शब्द में तृतीया होती है।
6. **सम्प्रदान और चतुर्थीः** दान के कर्म द्वारा कर्ता जिसे संतुष्ट करता है, उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है और चतुर्थी सम्प्रदाने (२-३-१३) से चतुर्थी होती है। नमःस्वस्तिस्वाहा... (२-३-१५) उपपद सूत्र से भी चतुर्थी होती है।
7. **अपादान (पञ्चमी):** अपाय (विलेष/अलग होना) होने पर जो अवधिभूत (स्थिर या ध्रुव) है, उसकी ध्रुवमपायेऽपादानम् (१-४-२४) से अपादान संज्ञा और पञ्चमी होती है। नियमपूर्वक विद्या स्वीकार करने में वक्ता (शिक्षक) की आख्यातोपयोगे (१-४-२९) से अपादान संज्ञा होती है।
8. **षष्ठी शेषेः** कारक और प्रातिपदिकार्थ से बचे हुए स्व-स्वामीभाव आदि संबंधों को शेष कहा जाता है, जहाँ षष्ठी शेषे (२-३-५०) से षष्ठी होती है।
9. **त्रिविध आधार (सप्तमी):** आधार की अधिकरण संज्ञा होती है। आधार तीन प्रकार का होता है:

1. औपश्लेषिकः भौतिक जुड़ाव (जैसे-कटे आस्ते)।
2. वैषयिकः विषय से संबन्धित (जैसे-मोक्षे इच्छास्ति)।
3. अभिव्यापकः सर्वत्र व्याप्त (जैसे-सर्वस्मिन् आत्मास्ति, तिलेषु तैलम्)।

5 अंक के प्रश्न-

1. नियतौपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः का क्या अभिप्राय है? उदाहरण सहित स्पष्ट करें।

2. तथायुक्तं चानीप्सितम् सूत्र का क्या कार्य है? उदाहरण देकर समझाएँ।
3. उपान्वध्याङ्वसः सूत्र के अनुसार आधार की कर्म संज्ञा कब होती है और कब नहीं?
4. येनाङ्गविकारः सूत्र को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
5. उपपद विभक्ति और कारक विभक्ति में कौन सी बलवती होती है? पाठ के आधार पर स्पष्ट करें।

15 **अंक के प्रश्न**–

1. प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा सूत्र की विस्तृत व्याख्या कीजिए। इसमें प्रयुक्त मात्र शब्द का प्रत्येक पद के साथ संबंध दिखाते हुए उदाहरण सहित विवेचन करें।
2. कर्तुरीप्सिततमं कर्म सूत्र में कर्तुः, ईप्सिततमम् तथा पुनः कर्म ग्रहण करने का क्या प्रयोजन है? सोदाहरण प्रतिपादित कीजिए।
3. अधिकरण किसे कहते हैं? सप्तम्यधिकरणे च सूत्र के आलोक में आधार के तीनों प्रकारों का सोदाहरण सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. तटः, तटी, तटम् यह किस प्रकार के लिंग का उदाहरण है?
(क) अलिङ्ग
(ख) नियतलिङ्ग
(ग) अनियतलिङ्ग
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
2. माषेष्ववं बध्नाति (उड़द के खेत में घोड़े को बाँधता है) यहाँ माष (उड़द) की कर्म संज्ञा क्यों नहीं हुई?
(क) क्योंकि माष कर्ता को ईप्सिततम नहीं है, वह घोड़े को ईप्सित है।
(ख) क्योंकि माष अनभिसंहित है।
(ग) क्योंकि यहाँ करण संज्ञा प्रभावी है।
(घ) क्योंकि माष अचल नहीं है।
3. हरिः सेव्यते में हरि शब्द में किस सूत्र से प्रथमा विभक्ति हुई है?
(क) सम्बोधने च
(ख) प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा
(ग) कर्मणि द्वितीया
(घ) कर्तुरीप्सिततमं कर्म
4. उपाध्यायदधीते (उपाध्याय से पढ़ता है) यहाँ उपाध्याय की अपादान संज्ञा किस सूत्र से हुई है?
(क) ध्रुवमपायेऽपादानम्
(ख) भीत्रार्थानां भयहेतुः
(ग) आख्यातोपयोगे
(घ) जनिकर्तुः प्रकृतिः
5. मोक्षे इच्छा अस्ति यहाँ मोक्ष किस प्रकार का आधार है?
(क) औपश्लेषिक आधार
(ख) वैषयिक आधार
(ग) अभिव्यापक आधार
(घ) सामीप्य आधार

खण्ड-27 समासप्रकरणम्

इकाई-2.1 समास परिचय

उद्देश्य -

- **पाणिनीय समास-विधियों का बोधः** विद्यार्थियों को अष्टाध्यायी के द्वितीय अध्याय (२.१) के अंतर्गत आने वाले समास-शास्त्र के आधारभूत नियमों, अधिकार सूत्रों और अव्ययीभाव समास की प्रक्रिया से अवगत कराना।
- **सामर्थ्य और संज्ञाओं का ज्ञानः** पदविधि में सामर्थ्य (व्यपेक्षा और एकार्थीभाव) के महत्त्व को समझाना तथा उपसर्जन संज्ञा, अव्ययीभाव संज्ञा और उनके कार्यों (जैसे पूर्वनिपात, सुप्-लुक्-निषेध) का सैद्धांतिक ज्ञान देना।

(६४७) समर्थः पदविधिः (२.१.१)

पदसम्बन्धी यो विधिः स समर्थाश्रितो बोध्यः ।

(**पद**० - समर्थः 1.1, पदविधिः 1.1

व्याख्या - पदविधि समर्थ पदों के आश्रित होती है। **'पदविधि'** का अर्थ है- पदों से सम्बद्ध कार्य। भाष्यकार के अनुसार निम्नलिखित तीन स्थानों पर ही पदविधि होती है।

यथा-

(क) **समास** - देवस्य गृहम्- यहाँ दोनों पद परस्पर सम्बद्ध हैं। अतः पदविधि (अर्थात् समास) होती है।

(ख) **विभक्तिविधान**- विभक्ति भी एक प्रकार की पदविधि है। **'अपादाने पञ्चमी'** इत्यादि सूत्रों के द्वारा सामान्य विभक्तियों का नियमन होता है, अतः सम्बद्धार्थता होने से इनमें पदविधि होती है।

(ग) पराङ्गवद्भाव- तादात्म्य का अतिदेश ही पराङ्गवद्भाव कहलाता है। यथा- 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे'। इस सूत्र के द्वारा सुबन्त का आमन्त्रित में प्रवेश कर अतिदेश किया गया है अतः यह पदविधि है।

सामर्थ्य दो प्रकार का होता है - (क) व्यपेक्षाभावसामर्थ्य - यह सामर्थ्य वाक्य में होता है। क्योंकि वाक्य में सभी-पद परस्पर अपेक्षा रखते हैं। अतः वाक्य में व्यपेक्षाभावसामर्थ्य विद्यमान रहता है।

(ख) **एकार्थीभावसामर्थ्य**- दो या दो से अधिक पदब्द मिल कर एक समस्तपद बनता है। यह समस्तपद एक नवीन अर्थ का बोध कराता है। यहाँ एकार्थीभावसामर्थ्य होता है। अभिप्राय यह है कि एकार्थी- भावसामर्थ्य में पद प्रधान अर्थ के लिए अपने अर्थ को गौण बना लेता है तथा दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति करता है।

(६४८) प्राक्कडारात्समासः (२.१.३)

'कडाराः कर्मधारये' (सू० ७५१) इत्यतः प्राक् समास इत्यधिक्रियते ।

(**पद**०- प्राक्-अव्य०, कडारात् **५.१**, समासः **१.१**

व्याख्या- यह अधिकार लक्षण है। **'कडाराः कर्मधारये'** (**पा० २.२.३८**) इस सूत्र तक इसका अधिकार जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि 'कडाराः कर्मधारये' सूत्र से पूर्व-पूर्व तक जो भी कहा जायेगा, उसकी समाससञ्ज्ञा होती है।)

(६४९) सह सुपा (२.१.४)

'सह' इति योगो विभज्यते । सुबन्तं समर्थेन सह समस्यते । योगविभागस्येष्टसिद्धयर्थत्वात्क- तिपयतिङन्तोत्तर-पदोऽयं समासः। स च छन्दस्येव । पर्यभूषयत् । अनुव्यचलत्। 'सुपा'। सुप्सुपा सह समस्यते। समासत्वात्प्रातिपदिकत्वम्।

(६५०) सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२.४.७१)

एतयोरवयवस्य सुपो लुक् स्यात् । इति निर्देशाद् भूतशब्दस्य पूर्वनिपातः । पूर्वं भूतो भूतपूर्वः । 'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' । जीमूतस्येव ।

(**पद**० - सुपः **६.१**, धातुप्रातिपदिकयोः **६.२**

अनु०- 'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः' (**पा० २.४.५८**)

से 'लुक्' की अनुवृत्ति है।

अर्थ- धातु और प्रातिपदिक के अवयव सुप् का लुक् होता है। इस निर्देश से 'भूत' शब्द का पूर्वनिपात होता है। (वा०) 'इव' के

साथ समास होने पर विभक्ति का लोप नहीं होता है।

(व्याख्या) सूत्रार्थ है- (धातु और प्रातिपदिकसञ्ज्ञक शब्द के अवयवभूत सुप् का लुक् होता है। **'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'** (**पा० १.२.४५**)

उदा०- (1) भूतपूर्वः- पूवं भूतः- पूर्व अम् भूत सु-'सह सुपा' से समास हुआ। **'कृत्तद्धितसमासाश्च' (पा० १.२.४६)**, (650) **'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' (पा० २.४.७१)** - पूर्वभूत- 'प्रथमानिर्दिष्टं समास०' से 'पूर्व' और 'भूत' दोनों की उपसर्जन सञ्ज्ञा होती है। 'उपसर्जनं पूर्वम्' **(पा० २.२.३०)** से पर्याण दोनों शब्दों का पूर्वनिपात प्राप्त होता है। ये पक्ष में वाक्य रहेगा-पूर्व भूतः । किन्तु पाणिनिमुनि के निर्देशानुसार (भूतपूर्वे चटट्) भूत शब्द का पूर्व निपात हुआ।

(2) जीमूतस्येव - जीमूतस्य इव - जीमूत ङस् इव। सुपो धातुप्राति० से विभक्तिलोप प्राप्त हुआ। वार्त्तिक से निषेध हुआ, सु। तदन्तविधि से समस्तपद की अव्ययसञ्ज्ञा। सु का लुक।

इकाई- 2.2 अथ अव्ययीभावसमासप्रकरणम्

(६५१) अव्ययीभावः (२.१.५)
अधिकारोऽयम् ।

पद० अव्ययीभावः 1.1
अनु०- 'समासः' का अधिकार आता है।
व्याख्या- यह अधिकार सूत्र है। 'तत्पुरुषः' **(पा० २.१.२१)** तक इसका अधिकार जाता है। अभिप्राय यह है कि **पा० २.१.२१** से पूर्व जो कहा जायेगा, उसकी अव्ययीभाव सञ्ज्ञा होती है। और साथ ही इसकी 'समास' सञ्ज्ञा भी होती है)

६५२. अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावा त्ययासम्प्रतिशब्दप्रादुर्भाव- पश्चाद्यथानुपूर्व्ययौग पद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु (२.१.६)

'अव्ययम्' इति योगो विभज्यते । अव्ययं समर्थेन सह समस्यते । सोऽव्ययीभावः ।
पद०-अव्ययम् **१.१.** विभक्ति वचनेषु **७.३** ।
अनु०- 'सह सुपा', 'समासः' तथा 'अव्ययीभावः' इनका सबका का अधिकार आता है।
व्याख्या- 'अव्ययम्' यह प्रथमान्त पद है। 'सह सुपा' का अधिकार है। सूत्रार्थ इस प्रकार है-विभक्ति, समीप, समृद्धि, व्यृद्धि, अथ. र्भाव, अत्यय, असम्प्रति, शब्द प्रादुर्भाव, पश्चात्, यथा, आनुपूर्व्य, यौगपद्य, सादृश्य, सम्पत्ति, साकल्य तथा अन्त इन सभी अर्थों में अव्यय शब्द का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है' और उसकी अव्ययीभावसञ्ज्ञा होती है।

(६५३) प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् (१.२.४३)
समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनसञ्ज्ञं स्यात् ।

(**पद०** - प्रथमानिर्दिष्टम् 1.1, समासे 7.1, उपसर्जनम् 1.1
व्याख्या- 'समासे' समास-विधायक शास्त्र (= सूत्र) में जो प्रथमान्त पद, उसके द्वारा बोध्य शब्द की उपसर्जनसञ्ज्ञा होती है। यथा- प्रकृत सूत्र में 'अव्ययम्' यह प्रथमान्त पद है। 'उपकुम्भम्' में 'उप' शब्द अव्यय शब्द के द्वारा बोध्य है। इसलिए इसकी उपसर्जनसञ्ज्ञा होकर इसका पूर्वनिपात हो गया ।

(६५४) उपसर्जनं पूर्वम् (२.२.३०)
समासे उपसर्जनं प्राक्प्रयोजम्।

पद० - उपसर्जनम् 1.1, पूर्वम् 1.1
अनु०- 'प्राक्कडारात् समासः' से 'समासः' की अनुवृत्ति है।
व्याख्या - समास में उपसर्जन-सञ्ज्ञक पद का पहले प्रयोग किया जाता है। इसको ही शब्द का **पूर्वनिपात** कहते हैं।

(६५७) नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः (२.४.८३)
अदन्तादव्ययीभावात्सुपो न लुक्, किन्तु तस्य पञ्चमीं विना अमादेशः । दिशयोर्मध्येऽपदिशम् । 'क्लीबव्ययं त्वपदिशं दिशोर्मध्ये विदिक् स्त्रियाम्' - इत्यमरः ।

पद०-न-अव्य०, अव्ययीभावात् 5.1, अतः 5.1. अम् 1.1, तु-अव्य०, अपञ्चम्याः 6.1
अनु० - 'अव्ययादाप्युपः' (पा० 2.4.82) से 'सुपः' का तथा 'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि०' (पा० 2.4.58) से 'लुक्' की अनुवृत्ति है।
व्याख्या- सूत्र में 'अतः' ये पद 'अव्ययीभावात्' का विशेषण है। इससे तदन्तविधि होकर 'अदन्तात्' पद बन जाता है। 'अतः' में तपरकरण तत्काल के ग्रहण के लिए किया है। 'अत्' का अर्थ होगा-ह्रस्व अकार। अनुवृत्त 'सुपः' षष्ठ्यन्त पद है। यहाँ स्थानेयोगा षष्ठी विभक्ति है। 'सुपः' पद का 'अव्ययीभावात्' के साथ अन्वय होता है। 'अपञ्चम्याः' यह प्रतिषेध है। 'सुपः' पद की आवृत्ति करके सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है ह्रस्व अकारान्त (अदन्त) अव्ययीभाव समास से उत्तर सुप् का लुक् नहीं होता अपितु। सुप् के स्थान पर अम् आदेश होता है, पञ्चमी विभक्ति को छोड़कर उसका तो श्रवण ही होता है।
उदा०- अपदिशम् - दिशयो र्मध्ये। दिशा ओस् अपसु। 'अव्ययं विभक्तिसमीप०' **(पा० २.१.६)** से समास ।' **'कृत्तद्धितसमासाश्च' (पा० १.२.४६)**। 'सुपोधातु- प्राति०' **(पा० २.४.७१)**। 'एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते' **(पा० १.२.४४)** से 'दिशा' की उपसर्जनसञ्ज्ञा। गोस्त्रियोरुपसर्जस्य अपदिश सु-अव्ययीभावश्च । 'सु' का **'अव्ययादाप् सुपः'** से लुक् प्राप्त हुआ। परन्तु अदन्त अव्ययीभाव (अपदिश) से उत्तर सु के लुक् का प्रकृत सूत्र से निषेध हो गया । अम् आदेश। 'अमि पूर्वः' **(पा० ६.१.१०७)** से पूर्वरूप एकादेश होकर अपदिशम्।
(ख) 'अपञ्चम्याः' ग्रहण का प्रयोजन है कि अदन्त अव्ययीभाव समास के उत्तर सुप् के स्थान पर अम् आदेश होता है परन्तु

पञ्चमी का न तो लुक् होता है और न ही सुप् के स्थान पर अम् आदेश होता है। उसका ताश्रवण ही होता है। यथा- उपकुम्भादानया उपकुम्भ। अदन्त अव्ययीभाव है। इससे पर 'ङसि' सुप् का लुक् प्राप्त हुआ किन्तु। 'अपञ्चम्याः' प्रतिषेध से न तो ङसि का लुक् हुआ और नहीं इसके स्थान पर अम् आदेश होता है अपितु पञ्चभी का श्रपण होता है। टाङसिङसामिनात्स्याः ।)

(६५८) तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् (२.४.८४)

अदन्तादव्ययीभावात्तृतीयासप्तम्योर्बहुलमम्भावः स्यात्। अपदिशम्-अपदिशेन। अपदिशम् अपदिशे। बहुलग्रहणात् सुमद्रम्, उन्मत्तगङ्गम् इत्यादौ सप्तम्याः नित्यमम्भावः । 'विभक्ति' इत्यादेरयमर्थः । विभक्त्यर्थादिषु वर्तमानमव्ययं सुबन्तेन सह समस्यते, सोऽव्ययीभावः । विभक्तौ तावत् हरौ इत्यधिहरि। सप्तम्यर्थस्यैवात्र द्योतकोऽधिः। हरि ङि अधि इत्यलौकिकं विग्रहवाक्यम्। अत्र निपातेनाभिहितेऽ प्यधिकरणे वचनसामर्थ्यात्सप्तमी।

पद० - तृतीयासप्तम्योः **६.२**, बहुलम् **१.१**

अनु० - नाऽव्ययीभावादतोऽम्०' **(पा० २.४.८३)** से 'अतः', 'अम्' तथा 'अव्ययीभावात्' पदों की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- अदन्त अव्ययीभाव से उत्तर तृतीया और सप्तमी के सुप् के स्थान पर बहुल करके अम् आदेश होता है।

उदा०- अपदिशम् - दिशोर् मध्ये- इस अर्थ में समास होकर 'अपदिश' शब्द बनता है। अपदिश टा- यहाँ लुक् प्राप्त है। इस स्थिति में 'नाऽव्ययीभावाद०' **(पा० २.४.८३)** से लुक् का निषेध होकर 'नाऽव्ययीभावाद०' से अम् आदेश हुआ। अपदिशेन- 'बहुलम्' ग्रहण से अम् की अप्रवृत्ति हुई। 'टाङसिङसामिनात्स्याः' **(पा० ७.१.१२)** से इन आदेश हो गया। अपदिशम्- अपदिश ङि-प्राप्त अम् आदेश का प्रकृत से बहुलतया प्राप्ति। अम्पक्ष। अपदिशे- अम् अमाव पक्ष में 'आद्गुण' । सुमद्रम्- सुमद्र ङि-बहुलग्रहणात् से नित्य अम्। उन्मत्तगङ्गम्-ङि - बहुलग्रहणात् नित्य अम्। यथा- उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन्। अधिहरि-हरौ इति। यहां विभक्ति के अर्थ में समास हुआ है। 'अव्ययं विभक्तिसमीप०' **(पा० २.१.६)** सूत्र में विभक्त्यर्थ से अभिप्राय कारक से है। परन्तु यहाँ सभी कारकों का ग्रहण नहीं होता है, अपितु केवल अधिकरण ही इष्ट है। हरि ङि- अधिकरण अर्थ में 'अधि' हुआ। हरि अधि-समास। सुप्लुक् । अधि की उपसर्जनसञ्ज्ञा। उपसर्जन का पूर्वनिपात- अधि हरि - 'अव्ययीभावः' **(पा० २.१.५),** सु, लुक् ।

(६६२) यावदवधारणे (२.१.८)

यावन्तः श्लोकास्तावन्तोऽच्युतप्रणामाः यावच्छ्लोकम् ।

पद० - यावत्-अव्य०, अवधारणे **७.१**

अनु०- सुप्, समासः, अव्ययम्, सह, सुपा, अव्ययी

भावः- इनकी अनुवृत्ति है।

व्याख्या- इयत्तापरिच्छेद अर्थ में वर्त्तमान 'यावत्' अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है और वह अव्ययीभाव सञ्ज्ञक होता है।

उदा०-यावच्छ्लोकम् - यावन्तः श्लोकास्तावन्तो- ऽच्युतप्रणामाः 'यावत्' का पूर्वनिपात होकर यावत् छ्लोक-यावच्छ्लोक - 'शश्छोऽटि, 'स्तोः श्चुना श्चुः'। सु। अव्ययीभावश्च । अव्ययादाप्०, नाऽव्ययी० । अमि पूर्वः इत्यादयः।

(६६३) सुप्प्रतिना मात्रार्थे (२.१.९)

शाकस्य लेशः शाकप्रति । मात्रार्थे किम्? वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् ।

पद० - सुप् **१.१**, प्रतिना **३.१**, मात्रार्थे **७.१**

अनु० - समासः, सह, सुपा, अव्ययीभावः- इनकी अनुवृत्ति है।

व्याख्या- 'मात्रा' का अर्थ है- स्वल्प। स्वल्प अर्थ में वर्तमान प्रति शब्द का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है और वह अव्ययीभाव समास होता है।

उदा०- शाकप्रति- शाकस्य लेशः। स्वल्प अर्थ में वर्तमान प्रति का समास हुआ। समर्थ सुबन्त 'शाकस्य' का पूर्वनिपात होकर शाक ङस् प्रति- प्रातिपदिक सञ्ज्ञा, सुक्लुक् अव्ययसञ्ज्ञा, नपुंसकलिङ्ग- शाकप्रति सु 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुलुक् ' ।

(६६५) विभाषा (२.१.११)

अधिकारोऽयम् । एतत्सामर्थ्यादेव प्राचीनानां नित्य समासत्वम् । 'सुप्सुपा' इति तु न नित्यसमासः, 'अव्ययम्' इत्यादिसमासविधानज्ञापकात् ।

पद० - विभाषा 1.1

व्याख्या-यह अधिकारसूत्र है। यहाँ से समासविधि का विकल्प प्रारम्भ होता है। यह 'चार्थे द्वन्द्वः' **(पा० २.२.२९)** पर्यन्त अधिकार आता है। प्रकृत सूत्र से पूर्व समासविधि नित्य होती है। परन्तु सुप्सुपा समास नित्य नहीं है। इसमें 'अव्ययं विभक्ति०' **(पा० २.१.६)** सूत्र प्रमाण है। यदि 'सह सुपा' के द्वितीय योग 'सुपा' से विधीयमान समास नित्य होता तो नित्यसमासार्थ 'अव्ययं विभक्ति०'

सूत्र व्यर्थ होता है। यह व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि 'सह सुपा' से विधीयमान समास नित्य नहीं है। प्रकृत सूत्र को महाविभाषा कहा जाता है। अतः पक्ष में वाक्य भी रहता है।

(६६७) आङ् मर्यादाऽभिविध्योः (२.१.१३)

एतयोराङ् पञ्चम्यन्तेन वा समस्यते सोऽव्ययीभावः । आमुक्ति संसारः आ मुक्तेः । आबालं हरिभक्तिः-आ बालेभ्यः ।

पद० - आङ् **१.१**, मर्यादाऽभिविध्योः **७.२**

अनु०- विभाषा, पञ्चम्या, सुप, सह, सुपा, समासः, अव्ययीभावः की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- मर्यादा और अभिविधि- इन दो अर्थों में वर्त्तमान 'आङ्' अव्यय का पञ्चम्यन्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह अव्ययीभाव सञ्ज्ञक होता है।

उदा०- आमुक्ति-आ मुक्तेः । मर्यादा अर्थ है। समास हुआ। 'आङ्' का पूर्वनिपात। अव्ययसञ्ज्ञा, सु, 'अव्ययादाप्सुपः' **(पा० २.४. ८२)** सुलुक् 1

आबालम्-आ बालेभ्यः। अभिविधि अर्थ है। शेष पूर्ववत्। आ बाल सु 'अव्ययादाप्०', 'नाऽव्ययी-भावादतोऽम्० (पा० 2.4.83)। 'अमि पूर्वः' (**पा० ६.१.१०५**)। पक्ष में वाक्य रहता है।

(६७३) सङ्ख्या वंश्येन (२.१.१९)

वंशो द्विषा, विद्यया जन्मना च। तत्र भवो वंश्यः । तद्वाचिना सह सङ्ख्या वा समस्यते। द्वौ मुनी वंश्यौ द्विमुनि । व्याकरणस्य त्रिमुनि । विद्यातद्वतामभेदविवक्षायां त्रिमुनि व्याकरणम् । एकविंशति भारद्वाजम् ।

पद० - सङ्ख्या 1.1, वंश्येन 3.1

अनु०- सुप, सह, सुपा, समासः, अव्ययीभावः, विभाषा ।

व्याख्या- वंश द्विविधा होता है- एक विद्या से और दूसरा जन्म से। वंश में होने वाला 'वंश्य' कहलाता है। वंश्यवाची समर्थ सुबन्त के साथ संख्यावाची सुबन्त का विकल्प से समास होता है और वह अव्ययीभाव समास होता है।

उदा०- द्विमुनि (व्याकरणम्) द्वौ मुनी व्याकरणस्य वंश्यौ। द्विमुनि- 'प्रथमानिर्दिष्टं' **(पा० १.२.४३)** से 'द्वि' की उपसर्जनसञ्ज्ञा होकर उसका पूर्वनिपात हुआ । सु, अव्ययसञ्ज्ञा, 'अव्ययादाप्सुपः' **(पा० २.४.८२)** इति सुलुक् । त्रिमुनि-त्रयो मुनयो व्याकरणस्य । पूर्ववत् समासादि कार्य। एकविंशति (भारद्वाजम्) - एकविंशतिर् भारद्वाजा वंश्याः - 'तृतीयासप्तम्योर् बहुलम्' **(पा० २.४.८४)** के भाष्य में उपकादि में भरद्वाज शब्द पठित है। 'यञञोश्च' **(पा० २.४.६४)** से लुक् का अभाव है। परन्तु विग्रह में लुक् हुआ है।

स्मरणीय बिंदु-

1. पदविधि और सामर्थ्यः समर्थः पदविधिः (२.१.१) के अनुसार पदों से संबंधित कार्य समर्थ पदों में ही होते हैं। सामर्थ्य दो प्रकार का होता है- व्यपेक्षा (वाक्य में परस्पर आकांक्षा) और एकार्थीभाव (समस्तपद में एक नवीन विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति) ।
2. समास का अधिकारः प्राक्कडारात् समासः (२.१.३) सूत्र कडाराः कर्मधारये (२.२.३८) तक समास संज्ञा का अधिकार देता है।
3. अव्ययीभाव संज्ञाः अव्ययीभावः (२.१.५) एक अधिकार सूत्र है, जो तत्पुरुषः (२.१.२१) से पूर्व तक अव्ययीभाव संज्ञा करता है।
4. विभक्त्यादि अर्थों में समासः अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धि... (२.१.६) सूत्र विभक्ति, समीप, समृद्धि, अभाव आदि १६ अर्थों में विद्यमान अव्यय का समर्थ सुबंत के साथ नित्य समास करता है।
5. उपसर्जन संज्ञा और पूर्वनिपातः प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् (१.२.४३) से समास-विधायक सूत्र में प्रथमा विभक्ति द्वारा निर्दिष्ट पद की उपसर्जन संज्ञा होती है, और उपसर्जनं पूर्वम् (२.२.३०) से उसका समस्तपद में पूर्व-प्रयोग (पूर्वनिपात) होता है।
6. सुप् का लुक् और निषेधः सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२-४-७१) से धातु और प्रातिपदिक के अवयव सुप् का लुक् होता है। परंतु नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः (२.४.८३) के अनुसार अदंत (अकारान्त) अव्ययीभाव समास से परे सुप् का लुक् नहीं होता, बल्कि पञ्चमी को छोड़कर अन्य सुप् के स्थान पर अम् आदेश होता है। तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् (२.४.८४) से अदंत अव्ययीभाव में तृतीया और सप्तमी विभक्ति में अम् आदेश विकल्प (बहुल) से होता है।
7. संख्या वंश्येन (२.१.१९): वंश्यवाचक (विद्या या जन्म से) सुबंत के साथ संख्यावाचक सुबंत का विकल्प से अव्ययीभाव समास होता है (जैसे-द्विमुनि, त्रिमुनि)।
8. महाविभाषाः विभाषा (२.१.११) एक अधिकार सूत्र है, जहाँ से समास का वैकल्पिक विधान आरंभ होता है। इसके पूर्व के समास (जैसे अव्ययीभाव के कुछ रूप) नित्य होते हैं।

5 **अंक के प्रश्न-**

1. व्यपेक्षा और एकार्थीभाव सामर्थ्य में मुख्य अंतर क्या है? संक्षिप्त में स्पष्ट कीजिए।
2. प्राक्कडारात् समासः किस प्रकार का सूत्र है और इसका अधिकार कहाँ तक जाता है?
3. उपसर्जनं पूर्वम् सूत्र का समास प्रक्रिया में क्या कार्य है? उदाहरण सहित समझाइए।
4. नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः सूत्र के अनुसार उपकुम्भात् रूप में अम् आदेश क्यों नहीं हुआ?
5. विद्या वंश्य और जन्म वंश्य के संदर्भ में संख्या वंश्येन सूत्र को द्विमुनि उदाहरण के द्वारा स्पष्ट कीजिए।

15 **अंक के प्रश्न-**

1. समर्थः पदविधिः सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार के अनुसार उन तीन स्थानों का सोदाहरण विस्तृत विवेचन कीजिए जहाँ पदविधि घटित होती है।
2. अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धि... (२.१.६) सूत्र के आधार पर अधिहरि पद का अलौकिक विग्रह करते हुए इसकी सम्पूर्ण रूप-सिद्धि की प्रक्रिया को पाणिनीय सूत्रों की सहायता से चरणबद्ध रूप में लिखिए।
3. अव्ययीभाव समास में सुप् के लुक् और उसके निषेध से संबंधित सूत्रों- सुपो धातुप्रातिपदिकयोः, नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः तथा तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. समर्थः पदविधिः (२.१.१) इस सूत्र के अनुसार सामर्थ्य कितने प्रकार का माना गया है?
(क) एक प्रकार का
(ख) दो प्रकार का
(ग) तीन प्रकार का
(घ) चार प्रकार का
2. समास-विधायक शास्त्र में प्रथमा विभक्ति द्वारा निर्दिष्ट पद की कौन-सी संज्ञा होती है?
(क) प्रातिपदिक संज्ञा
(ख) अव्ययीभाव संज्ञा
(ग) उपसर्जन संज्ञा
(घ) नदी संज्ञा
3. अदंत (अकारान्त) अव्ययीभाव समास से परे किस विभक्ति को छोड़कर अन्य सुप् के स्थान पर अम् आदेश होता है?
(क) तृतीया
(ख) चतुर्थी
(ग) पञ्चमी
(घ) सप्तमी
4. त्रिमुनि व्याकरणम् में त्रिमुनि पद में किस सूत्र से समास हुआ है?
(क) अव्ययं विभक्तिसमीप...
(ख) संख्या वंश्येन
(ग) सह सुपा
(घ) प्राक्कडारात् समासः
5. भूतपूर्वः इस समस्तपद में भूत शब्द का पूर्वनिपात (पूर्व-प्रयोग) पाणिनी के किस निर्देश/नियम के अनुसार हुआ है?
(क) उपसर्जनं पूर्वम्
(ख) भूतपूर्वे चरट्
(ग) वासरूपोऽस्त्रियाम्
(घ) प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्

इकाई- 2.3 अथ तत्पुरुषसमासप्रकरणम्

उद्देश्य-

- **समास-नियमों का शास्त्रीय बोधः** विद्यार्थियों को पाणिनीय अष्टाध्यायी के द्वितीय अध्याय के अनुसार तत्पुरुष, बहुव्रीहि तथा द्वन्द्व समास के अधिकार-सूत्रों, संज्ञाओं और उनके व्यावहारिक नियमों से परिचित कराना।
- **विग्रह एवं पद-सिद्धि का ज्ञानः** विद्यार्थियों को विभिन्न विभक्तियों में होने वाले तत्पुरुष, अन्यपदार्थ-प्रधान बहुव्रीहि तथा चार्थ-प्रधान द्वन्द्व समास के पदों का लौकिक-अलौकिक विग्रह करने तथा सूत्रों के अनुप्रयोग की समझ विकसित करना।
- **पूर्वनिपात और निषेध नियमों का अवबोधः** समस्तपदों में पदों के क्रम (पूर्वनिपात) निर्धारण के नियमों (जैसे-द्वन्द्वे घि, अल्पाच्तरम्) तथा समास-निषेध के सूत्रों को स्पष्ट करना।

(६८४) तत्पुरुषः (२.१.२२)

अधिकारोऽयम् । प्राग्बहुव्रीहेः ।

पद० - तत्पुरुषः **१.१**

व्याख्या- यहां 'समासः' का अधिकार आता है। यह अधिकार 'शेषो बहुव्रीहिः' **(पा० २.२.२३)** सूत्र तक जाता है। भाव यह है कि 'शेषो बहुव्रीहिः' से पूर्व-पूर्व जो कहा जायेगा उसकी तत्पुरुष सञ्ज्ञा होती है। यह अधिकारसूत्र व सञ्ज्ञासूत्र दोनों है सात प्रकार का तत्पुरुष समास होता है।

(६८६) द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः (२.१.२४)

द्वितीयान्तं श्रितादिप्रकृतिकैः सुबन्तैः सह वा समस्यते स तत्पुरुषः । कृष्णं श्रितः कृष्णश्रितः । दुःखमतीतो दुःखातीतः इत्यादि । 'गम्यादीनामुपसङ्ख्यानम्' (वा० १२०७) । ग्रामं गमी ग्रामगमी । अन्नं बुभुक्षुः अन्नबुभुक्षुः । ३.३

पद० - द्वितीया **१.१**, श्रितातीतपतितगताऽत्यस्तप्राप्ताऽऽपन्नैः

अनु०- सुप, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, विभाषा-

इन सबका अधिकार आता है।

व्याख्या - द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त का श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त और आपन्न - प्रकृतियों वाले इन समर्थ सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष होता है।

उदा०- कृष्णश्रितः - कृष्णं श्रितः- 'द्वितीया श्रितातीत०' **(पा० २.१.२४)**, 'कृत्तद्धितसमासाथ' **(पा० १.२.४६),** 'सुपो धातुप्राति०' **(पा० २.४.७१)**-कृष्णश्रित- प्रकृत सूत्र में 'द्वितीया' पद प्रथमान्त है। इसके द्वारा 'कृष्णम्' यह बोध्य है। अतः 'प्रथमानिर्दिष्टं०' **(पा० १.२.४३)** कृष्ण की से उपसर्जनसञ्ज्ञा, 'उपसर्जनं पूर्वम्' **(पा० २.२.३०),** तत्पुरुषः, सु विसर्जनीय ।

गम्यवादी० (वा०) 'गम्यादीनाम' पद की विभक्ति-विपरिणाम के द्वारा तृतीयान्त (गम्यादिभिः) बना लिया जाता है। यहाँ 'द्वितीया' तथा 'तत्पुरुषः' की अनुवृत्ति है। अर्थ इस प्रकार है- द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त का गामिन् आदि प्रकृत्ति वाले समर्थ सुबन्तों के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष होता है। ग्रामगमी- ग्रामं गमी वार्त्तिक से समास होकर शेष पूर्ववत् होता है। अत्रबुभुक्षुः - अनं बुभुक्षुः गम्यादि गण में बहुत शब्द हैं - यथा ओदनबुभुक्षुः ग्रामगामी। मधुपिपासुः। गुरुशुश्रूषु इत्यादि।

(६९०) कालाः (२.१.२८)

'क्तेन' इत्येव । अनत्यन्तसंयोगार्थं वचनम्। मासप्रमितः प्रतिपच्चन्द्रः ।

मासं परिच्छेत्तुमारब्धवानित्यर्थः।

पद०- कालाः **१.३**

अनु०- सुप, सह, सुपा, समासः, विभाषा, तत्पुरुषः- इन सबका अधिकार आता है। 'द्वितीया श्रिताऽतीत०' **(पा० २.१.२३)** से 'द्वितीया' की तथा 'स्वयं तेन' **(पा० २.१.२४)** से 'क्तेन' की अनुवृत्ति आती है।

व्याख्या-कालवाची द्वितीयान्त सुबन्त का क्तप्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष सामास होता है।

उदा०- मासप्रमितः (प्रतिपच्चन्द्रः) - मासे परिच्छेत्तुम् आरब्धवान् । मासं प्रमितम् - समास हुआ। प्रतिपद् के चन्द्रमा के द्वारा क्रमशः मास वृद्धि को प्राप्त होता है। प्रतिपद् का चन्द्रमा मास भर नहीं रहता। अतः अत्यन्त संयोग नहीं है इसलिये समास हो गया ।

(६९१) अत्यन्तसंयोगे च (२.१.२९)

'काला' इत्येव । अक्तान्तार्थं वचनम्। मुहूर्तं सुखम् मुहूर्तसुखम् ।

पद० – अत्यन्तसंयोगे **७.१**, च–अव्य० ।

अनु०– सुप, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, विभाषा–इन सबका अधिकार आता है। 'कालाः' **(पा० २.१.२७)** से 'कालाः' का तथा 'द्वितीया श्रिताऽतीतपतित०' **(पा० २.१.२३)** से 'द्वितीया' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या – अत्यन्त संयोग अर्थ गम्यमान हो तो कालवाची द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष होता है। यहाँ 'क्तेन' की अनुवृत्ति नहीं आती है। अतः यह विधान अक्तान्त के लिए किया है ।

उदा०– मुहूर्त्तसुखम् – मुहूर्त सुखम् – समास हुआ।

(६९२) तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन (२.१.३०)

'तत्कृत' इति लुप्ततृतीयाकम्। तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थ-कृतगुणवचेनार्थशब्देन च सह प्राग्वत्। शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्डः धान्येनार्थो धान्यार्थः तत्कृत' इति किम्? अक्ष्णा काणः।

पद०– तृतीया **१.१**, तत्कृत–लुप्ततृतीयान्तकरुपम्, अर्थेन **३.१**, गुणवचनेन **३.१**

अनु० – सुप्, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, विभाषा की अनुवृत्ति है।

अर्थ – तृतीयान्त जो सुबन्त शब्द, उसके अर्थ के द्वारा सम्पादित जो गुण, तद्विशिष्ट द्रव्यवाची सुबन्त के साथ तथा सुबन्त 'अर्थ' शब्द के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष होता है।

उदा०– शङ्कुलाखण्डः – 'शङ्कुलया खण्डः' – यहाँ

'कर्तृकरणयोस्तृतीया' **(पा० २.३.१८)** से तृतीया विभक्ति हुई। शङ्कुला के द्वारा भेदनक्रिया रूप गुण है। तद्विशिष्ट खण्ड द्रव्य है। **पा० ५.२.९४** से मतुप् प्रत्यय हुआ। 'गुणवचनेभ्यो मतुपो लुक्०' **(पा० ५.२.९४ वा०)** से मतुप् प्रत्यय का लुक्, समास, सुब्लुक् शङ्कुलाखण्ड– 'प्रथमानिर्दिष्टं०' **(पा० १.२.४३),** 'उपसर्जनं पूर्वम्' **(पा० २.२.३०),** सु विसर्जनीय ।

धान्यार्थः– धान्येनाऽर्थः। 'हेतौ' से तृतीया विभक्ति, समास । पूर्ववत् बस कार्य।

(क) 'तत्कृत' का प्रयोजन यह है कि तृतीयान्त के अर्थ के द्वारा सम्पादित जो गुण, तद्विशिष्ट पदार्थ के वाचक सुबन्त के साथ ही समास होता है अन्यत्र नहीं। यथा–अक्ष्णा काणः– अतः यहाँ समास नहीं हुआ।

(६९७) भक्ष्येण मिश्रीकरणम् (२.१.३५)

गुडेन धानाः गुडधानाः । मिश्रणक्रियाद्वारा सामर्थ्यम् ।

पद० – भक्ष्येण **३.१**, मिश्रीकरणम् **१.१**

अनु० – सुप, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, तृतीया, विभाषा की अनुवृत्ति आती है।

व्याख्या–मिश्रीकरणवाची तृतीयान्त सुबन्त का भक्ष्यवाची सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष समास होता है।

उदा०– गुडधानाः– गुडैर् मिश्रा धानाः। मिश्रीकरण–वाची 'गुडैः' सुबन्त का भक्ष्यवाची 'धानाः' सुबन्त के साथ समास हो गया । 'प्रथमानिर्दिष्टं०' **(पा० १.२.४३),** 'उपसर्जनं पूर्वम्' **(पा० २.२.३०)** – गुडधाना जस् ।

(६९८) चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः (२.१.३६)

चतुर्थ्यन्तार्थाय यत्तद्वाचिनार्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत्। तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एव गृह्यते, बलिरक्षित ग्रहणाज्ज्ञापकात्। यूपाय दारु यूपदारु। नेह-रन्धनाय स्थाली। अश्वघासादयस्तु षष्ठी-समासाः। 'अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्' (वा० १२७३-१२७४)। द्विजायायं द्विजार्थः सूपः। द्विजार्था यवागूः । द्विजार्थं पयः । भूतबलिः । गोहितम्। गोसुखम् । गोरक्षितम् ।

पद०– चतुर्थी **१.१**. तदर्घार्थबलिहितसुखरक्षितैः **३.३**

अनु०– सुप्, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, विभाषा।

व्याख्या–चतुर्थ्यन्त सुबन्त का तदर्थ, अर्थ, बलि, हित, सुख, एवं रक्षित प्रकृतिक समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष होता है। पक्ष में वाक्य रहता है। 'तस्मै इदं तदर्थम्' अर्थात् उस (चतुर्थ्यन्त) के लिए ।

अर्थेन (वा०)– चतुर्थी, सह, सुपा–इनकी अनुवृत्ति है। चतुर्थ्यन्त सुबन्त का अर्थप्रकृतिक समर्थ सुबन्त के साथ नित्य समास होता है तथा विशेष्यलिङ्गता (अर्थात् विशेष्य के अनुसार लिङ्ग) होती है।

उदा०–यूपदारु– यूपाय दारु। यूप ङे दारु सु–चतुर्थ्यन्त सुबन्त (यूपाय) का चतुर्थ्यन्त अर्थ दारु प्रकृति वाले (दारु) सुबन्त के साथ विकल्प से समास हुआ और ('परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' (पा० 2.4.42) से नपुंसकलिङ्ग हो गया । द्विजार्थः (सूपः) द्विजार्था (यवागूः

(६९९) पञ्चमी भयेन (२.१.३७)

चोराद्भयं चोरभयम् । 'भयभीतभीतिभीभिरिति वाच्यम्' (वा० १२७५) । वृकभीतः। वृकभीतिः। वृकभीः ।

पद०- पञ्चमी 1.1, भयेन 3.1

अनु०- सुए, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, विभाषा की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- पञ्चम्यन्त सुबन्त का भयप्रकृतिक समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है। और वह तत्पुरुष समास होता है। 'भय' शब्द के द्वारा स्वरूप का ग्रहण होता है, अर्थ का नहीं। अतः 'सिंहात् त्रासः' में समास नहीं होता है।

भयभीतभीति० (वा०) - पञ्चम्यन्त सुबन्त का भीत, भीति, भी-प्रकृतियों से युक्त सुबन्त के साथ समास होता है।

उदा०- चोरभयम्-चोराद् भयम् चोर ङसि सु समास, प्रातिपदिक सञ्ज्ञा वृकभीतः - वृकाद् भीतः - वार्त्तिक से समास हुआ।

(७०२) षष्ठी (२.२.८)

राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः ।

पद ० - षष्ठी **१.१**

अनु० - सुप, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, विभाषा की अनुवृत्ति है।

व्याख्या - षष्ठयन्त समर्थ सुबन्त का सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष समास होता है।

उदा०- राजपुरुष राज्ञः पुरुषः। राजन् ङस् पुरुष सु-प्रकृत सुत्र से समास हुआ। सूत्र में 'षष्ठी प्रथमान्त है। तद्बोध्य 'राज्ञः' की उपसर्जन सञ्ज्ञा, 'उपसर्जनं पूर्वम्' **(पा० २.१.३०)** - राजन् पुरुष 'कृत्तद्धितसमासाश्च' **(पा १.२.४६),** 'सुपो धातुप्राति०' **(पा० २.४.७१),** अन्तर्वर्तिनी विभक्ति को मानकर प्रत्ययलक्षणेन पदसञ्ज्ञा, 'नलोपः प्राति०' **(पा० ८.२.७)**- राज पुरुष सु विसर्जनीय।

(७०४) न निर्धारणे (२.२.१०)

निर्धारणे या षष्ठी सा न समस्यते। नृणां द्विजः श्रेष्ठः । 'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यत इति वाच्यम्' (वा0 १३२०)। सर्पिषो ज्ञानम् ।

पद०-न-अव्य०, निर्धारणे **७.१**

अनु०-सुप, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, षष्ठी इनकी अनुवृत्ति है।

व्याख्या - निर्धारण अर्थ में वर्तमान को षष्ठी विभक्ति, तदन्त समर्थ सुबन्त का सुबन्त के साथ समास नहीं होता है।

(वा०) प्रतिपद विधान वाली षष्ठी विभक्ति का समास नहीं होता है। 'षष्ठी शेषे' से विहित षष्ठी को छोड़कर सूत्रविशेष के द्वारा विधीयमाना षष्ठी प्रतिपदधियाना कहलाती है।

उदा०- नृणां द्विजः श्रेष्ठः- सञ्ज्ञा, जाति, गुण अथवा क्रिया के आधार पर अनेक में से एक को पृथक् करना निर्धारण कहलाता है। सर्पिषो ज्ञानम् 'ज्ञोऽविदर्थस्य०' (पा० 2.3.51) से षठी विभक्ति हुई है। यह प्रतिपदविधाना षष्ठी है। अतः समास नहीं हुआ।

(७०८) कर्मणि च (२.२.१४)

'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (सू0 ६२४) इति या षष्ठी सा न समस्यते । आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन।

पद०-कर्मणि **७.१**, च-अव्य० ।

अनु०- सुप्, सह, सुपा, समासः, षष्ठी, इनकी अनुवृत्ति है।

व्याख्या 'उभयप्राप्ती कर्मणि' **(पा० २.३.६६)** सूत्र के द्वारा कर्म अर्थ में विहित जो षष्ठी, तदन्त सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ समास नहीं होता है।

उदा०- आश्चयों गवां दोहोऽगोपेन- 'गवाम्' में कर्म में षष्ठी हुई है। अतः 'दोहः' इस सुबन्त के साथ षष्ठ्यन्त 'गवाम्' का समास नहीं हुआ।

(७१७) सप्तमी शौण्डैः (२.१.४०)

सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्राग्वद्वा । अक्षेषु शौण्डः अक्षशौण्डः । अधिशब्दोऽत्र पठ्यते । 'अध्युत्तरपदात्-' (सू0 २०७९) इति खः । ईश्वराधीनः ।

पद० - सप्तमी **१.१**, शौण्डैः **३.३**

अनु०- सुप, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, विभाषा इनकी अनुवृत्ति है।

व्याख्या - शौण्ड आदि प्रकृतियों से युक्त सुबन्त शब्दों के साथ सप्तम्यन्त सुबन्त का विकल्प से समास होता है और वह सप्तमी तत्पुरुष होता है। शौण्डः यहाँ बहुवचन के निर्देश से इसका (शौण्डादि) तदादिगण होना सूचित होता है।

उदा०- अक्षशौण्डः- अक्षेषु शौण्डः । 'सप्तमी' प्रथमान्त पद है। तद्बोध्य पद 'अक्षेषु' को 'प्रथमा-निर्दिष्टं०' **(पा० १.२.४३)** से उपसर्जनसञ्ज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्' **(पा० २.२.३०)**। 'कृत्तद्धितसमासाश्च' **(पा० १.२.४६),** 'सुपो धातुप्राति० **(पा० २.४.७१)** विभक्ति लुक्।

(७१९) ध्वाङ्क्षेण क्षेपे (२.१.४२)

ध्वाङ्क्षवाचिना सह सप्तम्यन्तं समस्यते निन्दायाम्। तीर्थे ध्वाङ्क्ष इव तीर्थध्वाङ्क्षः। तीर्थकाकः।

पद० – ध्वाङ्क्षेण **३.१** क्षेपे **७.१**

अनु० सुप्, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, विभाषा, सप्तमी इनकी अनुवृत्ति है।

व्याख्या – निन्दा अर्थ में वर्त्तमान ध्वांक्षवाची सुबन्त के साथ सप्तम्यन्त सुबन्त का विकल्प से समास होता है और व तत्पुरुष समास होता है। 'ध्वाङ्क्षेण' में अर्थ का ग्रहण होता है स्वरुप का नहीं।

उदा० – तीर्थध्वाङ्क्षः – तीर्थे ध्वाङ्क्षः – पूर्ववत् सभी कार्य होकर।

(७२४) क्षेपे (२.१.४७)

सप्तम्यन्तं क्तान्तेन प्राग्वन्निन्दायाम् । 'अवतप्तेनकुल स्थितं त एतत्' ।

पद० – क्षेपे **७.१**

अनु०– सुप् सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, विभाषा, क्तेन, सप्तमी इनकी अनुवृत्ति है।

व्याख्या– निन्दा अर्थ में वर्त्तमान सप्तम्यन्त समर्थ सुबन्त का क्तप्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष समास होता है।

उदा०– अवतप्तेनकुलस्थितम्– 'अवतप्ते' सप्तम्यन्त सुबन्त का क्त प्रत्ययान्त सुबन्त (नकुलस्थितम्) के साथ समास हुआ। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' **(पा० ६.३.१४)** से सुप् का उत्तरपद के परे रहते अलुक् होगया ।

७३६) विशेषणं विशेष्येण बहुलम् (२.१.५७)

भेदकं समानाधिकरणेन भेद्येन बहुलं प्राग्वत् । नीलमुत्पलं-नीलोत्पलम् । बहुलग्रहणात् क्वचिन्नित्यम्-कृष्णसर्पः । क्वचिन्न-रामो जामदग्न्यः ।

पद० – विशेषणम् **१.१**, विशेष्येण **३.१**, बहुलम् **२.१**

अनु०– सह, सुपा, सुप्, समासः, तत्पुरुषः, समानाधि करणेन इनकी अनुवृत्ति है।

व्याख्या– भेदक **विशेषण** को कहते है और भेद्य **विशेष्य** को कहते है । विशेषण (भेदक) सुबन्त का समानाधिकरण विशेष्य (भेद्य) सुबन्त के साथ बहुलता से समास होता है और वह तत्पुरुष समास होता है। 'बाहुलम्' कथन से कहीं नित्य, कहीं विकल्प और कही समास की प्रवृत्ति नहीं होती है।।

उदा०– नीलोत्पलम्– नीलम् उत्पलम् । समास, सुप् लुक् गुणादेश सु को अमादेश होकर।

(७४०) सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः (२.१.६१)

सद्वैद्यः । वक्ष्यमाणेन महतः आकारः । महावैयाकरणः । पूज्यमानैः किम् ?

उत्कृष्टो गौः । षड्कादुद्धृत इत्यर्थः ।

पद० – सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः **१.३**, पूज्यमानैः **३.३**

अनु०– सुप्, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, विभाषा, समानाधिकरणेन इनकी अनुवृत्ति है।

व्याख्या– सत्, महत्, परम, उत्तम और उत्कृष्ट-इन प्रकृतियों से युक्त सुबन्तों का समानाधिकरण पूजा के योग्य अर्थ में वर्तमान सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष समास होता है।

उदा०– सद्वैद्यः– सन् वैद्यः– 'कृत्तद्धितसमा साश्च' **(पा० १.२.४६)**, 'प्रथमानिर्दिष्टं' **(पा० १.२.४३)**, 'उपसर्जनं पूर्वम्' **(पा० २.२.३०)**, 'सुपो धातुप्राति०' **(पा० २.४.७१)**, सु, 'झलां जशोऽन्ते' **(पा० ८.२.३९)**। इत्यादि कार्य हुये। महावैयाकरणः – महांश्चाऽसौ वैयाकरणः । महत् वैयाकरण– 'आन्महतः समानाधिकरण०' **(पा० ६.३.४६)** से उत्तरपद परे रहते आकार आदेश– महावैयाकरणः । परमपुरुषः । उत्तमपुरुषः । उत्कृष्टपुरुषः

(७५६) नञ् (२.२.६)

नञ्सुपा सह समस्यते ।

अनु० सुप् सह सुपा समासः सत्पुरुष विभाषा की अनुवृत्ति है।

व्याख्या– नञ् का समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और यह तत्पुरुष होता है।

नञ् के ञ्कारकी हलन्त्यम' से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है।

(७५७) नलोपो नञ् : (६.३.७३)

नञो नस्य लोपः स्यादुत्तरपदे । न ब्राह्मणोऽब्राह्मणः ।

पद०– न-लुप्तषष्ठ्यन्तरूपम्, लोपः **१.१.** नमः **६.१**

अनु०– 'अलुगुत्तरपदे' **(पा० ६.३.१)** से 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- अर्थ- उत्तरपद परे रहते (पूर्वपद में स्थित) नञ् के नकार का लोप होता है। ञकार की इत्सञ्ज्ञा होकर 'तस्य लोपः' **(पा० १.३.९)** से इसका लोप होता है। नकार का प्रकृत सूत्र से लोप होता है। शेष 'अ' रहता है।

उदा०- अब्राह्मणः - न ब्राह्मणः- नञ् ब्राह्मण सु-समास, 'प्रथमानिर्दिष्टं०' **(पा० १.२.४३)**, 'उप-सर्जनं पूर्वम्' **(पा० २.२.३०)**, हलन्त्यम्, नलोपो नञः अब्राह्मण सु विसर्जनीय।

(७५८) तस्मान्नुडचि (६.३.७४)

लुप्तनकारान्नञ उत्तरपदस्याजादेर्नुमागमः स्यात्। अनश्वः । अर्थाभावेऽव्ययीभावेन सहायं विकल्प्यते। 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' इति 'अद्रुतायामसंहितम्' (वा० ११६७) इति च भाष्यवार्तिकप्रयोगात् । तेन अनुपलब्धिः, अविवादः, अविघ्नम् इत्यादि सिद्धम्। 'नञो नलोपस्तिङि क्षेपे' (वा० ३९८४) । अ-पचसि त्वं जाल्म। नैकधा इत्यादौ तु न-शब्देन 'सह सुपा' (सू० ६४९) इति समासः ।

पद०- तस्मात् ५.१, नुट् १.१, अचि ७.१

अनु० - 'उत्तरपदे' तथा 'नञ्:' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या - जिसके नकार का लोप हो चुका है, ऐसे नञ् से उत्तर अजादि उत्तरपद को नुट् आगम होता है।

उदा०- अनश्वः - न अश्वः - नञ् अथ सु। 'नञ्' **(पा० २.२.६)** से समास नलोपो नञः' **(पा० ६.३.७३)**- अ अश्व - 'तस्मान्नुडचि' **(पा० ६.३.७४)** - न नुट अश्व- अनुबन्धलोप, सु विसर्जनीय।

अर्थाभावे० - अर्थाभाव अर्थ में नञ् अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ अव्ययीभाव समास होता है और यह नपुंसकलिङ्ग में होता है। 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' इस भाष्यवचन में 'असन्देहः' इस प्रकार पुँल्लिङ्ग निर्देश से सूचित होता है कि अर्थाभाव में अव्ययीभाव विकल्प से होता है। पक्ष में अर्थाभाव में तत्पुरुष भी होता है। 'अद्रुतायामसंहितम्' इस वार्त्तिक में नपुँसकलिङ्ग का निर्देश किया गया है।

(८२९) शेषो बहुव्रीहिः (२.२.२३)

अधिकतोऽयम् । 'द्वितीया श्रित' (सू० ६८६) इत्यादिना
यस्य त्रिकस्य विशिष्य समासो नोक्तः स शेषः प्रथमान्तमित्यर्थः ।

पद०- शेषः १.१. बहुव्रीहि १.१

व्याख्या- यह अधिकार सूत्र है जो 'चाऽर्थे द्वन्द्वः' **(पा० २.२.२९)** तक जाता है। समासप्रकरण में 'द्वितीया श्रितातीत०' इत्यादि सूत्रों के द्वारा द्वितीया से लेकर सप्तमी विभक्ति पर्यन्त सभी विभक्तियों का उल्लेख करके समास का विधान है। पूर्वपद की प्रधानता में, उत्तरपद की प्रधानता में भी समास कहा जा चुका है। तब प्रथमा विभक्त्यन्त सुबन्त का तथा अन्य पद के अर्थ में किसी समास का विधान नहीं कहां है। सूत्रस्थ 'शेष' शब्द के द्वारा इसी का ग्रहण होता है।

(८३०) अनेकमन्यपदार्थे (२२.२४)

अनेकं प्रथमान्तमन्यपदार्थ वर्तमानं वा समस्यते स बहुव्रीहिः । अप्रथमाविभक्त्यर्थे बहुव्रीहिरिति समानाधिकरणानामिति च फलितम् । प्राप्तमुदक यं सः प्राप्तोदको ग्रामः । ऊढरथोऽनड्वान् । उपहृतपशू रुद्रः । उद्धृतौदना स्थाली । पीताम्बरो हरिः । वीरपुरुषको ग्रामः। प्रथमार्थे तु न । वृष्टे देवे गतः । व्यधिकरणानामपि न । पञ्चभिर् भुक्तमस्य । 'प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' (वा० १३६०) । प्रपतितपर्णः प्रपर्णः । 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' (वा० १३६१) । अविद्यमानपुत्रः अपुत्रः । 'अव्ययानां च' । उच्चैर्मुखः । 'सप्तम्युपमानपूर्व पदस्योत्तरपदलोपश्च' । सप्तम्यन्तम् उपमानं च पूर्वपदं यस्य तस्य पदान्तरेण समासः उत्तरपदलोपश्च भवतीत्यर्थः । कण्ठेस्थः कालः यस्य सः कण्ठेकालः । उष्ट्रमुखमिव मुखं यस्य सः उष्ट्रमुखः ।

पद०- अनेकम् १.१, अन्यपदार्थे ७.१

अनु०- सुप्, समासः, विभाषा, शेषः, बहुव्रीहिः की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- अन्य पद के अर्थ में विद्यमान दो या अधिक प्रथमान्त सुबन्तों का विकल्प से बहुव्रीहि समास होता है। यह समास प्रथमा विभक्ति के अर्थ में नहीं होता है, अपितु समानाधिकरणों का होता है।

उदा०- प्राप्तोदकः (ग्रामः) - प्राप्तम् उदकं यं सः (ग्रामः) - प्राप्त सु उदक सु-दोनों प्रथमान्त पद अन्य पदार्थ (अर्थात् ग्राम) को कहते हैं अतः समास हो गया । ऊढरथो (अनड्वान्) - ऊढो रथो येन सः उपहतपशू रुद्रः। उपहृतः पशुर् यस्मै सः उद्धृतौदना (स्थाली)- उद्धृत ओदनो यस्याः सा समास होकर 'उद्धृतौदन' शब्द बनता है। विशेष्यानुसार स्त्रीत्व, टाप्, इसी प्रकार- भीतशत्रु (एन्थ) । निर्घृणः। पीताम्बरः (हरिः) पीते अम्बरे यस्य सः पीत अम्बर सवर्ण दीर्घ।

प्रथमार्थे०- प्रथमा के अर्थ में समास नहीं होता है। यथा-वृष्टे देवे गतः। व्यधिकरण पदों का समास भी नहीं होता है। यथा-पञ्चभिर्

भुक्तम् अस्य।

प्रादिभ्यो० (वा०) अर्थ-प्र आदि से अव्यवहित उत्तर धातु से निष्पन्न जो शब्द तदन्त प्रथमान्त समर्थ सुबन्त प्रथमान्त के साथ अन्य पद के अर्थ में समास होता है तथा उत्तरपद का विकल्प से लोप होता है। यथा-

प्रपतितपर्णः - प्रपर्णः- पक्ष में उत्तरपद का लोप हो गया।

नञोऽस्त्य० (वा०) नञ् से अव्यवहित परे जो अस्त्यर्थ-वाची शब्द, तदन्त प्रथमान्त का समर्थ प्रथमान्त सुबन्त के साथ अन्य पद के अर्थ में समास होता है और पूर्वपदस्थ उत्तरपद का विकल्प से लोप होता है। यथा-

अविद्यमानपुत्रः अविद्यमानः पुत्रो यस्य सः। उत्तरपद (विद्यमान) का पाक्षिक लोप हो गया है।

अपुत्रः- पक्ष में उत्तरपद का लोप हुआ है।

अव्ययानां च (वा०) - अव्यय शब्दों का भी बहुव्रीहि समास होता है। उच्चैर्मुखः इस शब्द में अधिकरण शक्ति प्रधान होने में प्रथमान्त न होने से समास की अप्राप्ति में विधान कर दया है।

सप्तम्युपमा० (वा०) - सप्तम्यन्त अथवा उपमानवाची जो पूर्वपद, उसका समर्थ सुबन्त के साथ अन्य पद के अर्थ में समास होता है और उत्तरपद का लोप भी होता है।

कण्ठेकालः - कण्ठेस्थः कालो यस्य सः। 'कण्ठे' सप्तम्यन्त है अतः इसका समास होगया। उष्ट्रमुखः- उष्ट्रस्य मुखमिव मुखं यस्य।।

(८४३) सङ्ख्ययाऽव्ययाऽऽसन्नादूराधिकसङ्ख्याः सङ्ख्येये (२.२.२५)

सङ्ख्येयार्थया सङ्ख्ययाव्ययादयः समस्यन्ते स बहुव्रीहिः ।

दशानां समीपे ये सन्ति ते उपदशाः । नव एकादश वेत्यर्थः । 'बहुव्रीहौ सङ्ख्येये-' (सू० ८५१) इति वक्ष्यमाणो डच् ।

पद० - सङ्ख्यया **३.१**, अव्ययाऽऽसन्नाऽदूराऽधिकसंख्या **१.३**, सङ्ख्येये **७.१**

अनु० - विभाषा, सुप्, समासः - इनका अधिकार आता है। 'शेषो बहुव्रीहिः' **(पा० २.२.२३)** से 'बहुव्रीहिः' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- संख्येय अर्थ में वर्त्तमान संख्यावाची सुबन्त के साथ अव्यय, आसन्न, अदूर, अधिक और संख्यावाची इन सुबन्त शब्दों का समास होता है तथा वह बहुव्रीहिसञ्ज्ञक होता है।

उदा०- उपदशाः - दशानां समीपे ये सन्ति ते- समास, सुब्लुक्-दशन् उप-अव्यय (उप) की उपसर्जनसञ्ज्ञा, 'उपसर्जनं पूर्वम्' **(पा० २.२.३०)** - उप दशन् डच्- 'बहुव्रीहौ सङ्ख्येये डजबहुगणात् **(पा० ५.४.७३)**। चुटू हलन्त्यम् - उपदश् अ - 'नस्तद्धिते' **(पा० ६.४.१४४),** टिलोप जस्।

(८४८) तेन सहेति तुल्ययोगे (२.२.२८)

तुल्ययोगे वर्तमानं सहेत्येतत्तृतीयान्तेन प्राग्वत् ।

पद०-तेन 3.1. सह-अव्य०, इति-अव्य०, तुल्ययोगे 3-1

अनु०- विभाषा, सुप्, समासः, बहुव्रीहिः की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- 'सह' अव्यय का तृतीयान्त सुबन्त के साथ बहुव्रीहि समास होता है, तुल्य योग में। 'तुल्ययोगे' यदि किसी एक कार्य में दोनों समानरूप्प से भाग ले रहे हो तो उसके विषय में समास होता है। तुल्य= समान । योग = सम्बन्ध ।

(८४९) वोपसर्जनस्य (६.३.८२)

बहुव्रीहेरवयवस्य सहस्य सः स्याद्वा। पुत्रेण सह सपुत्रः, सहपुत्रो वा आगतः ।

तुल्ययोगवचनं प्रायिकम् । सकर्मकः । सलोमकः ।

पद० - वा-अव्य०, उपसर्जनस्य **६.१**

अनु० - 'सहस्य सः सञ्ज्ञायाम्' **(पा० ६.३.७७)** से 'सहस्य सः' की अनुवृत्ति आती है।

व्याख्या- जिसके सब अवयव उपसर्जन है, उस वहुव्रीहि समास के अवयवभूत 'सह' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश विकल्प से होता है उत्तरपद के परे रहते ।

उदा०- सपुत्रः- पुत्रेण सह (आगतः) । **(८४८)** 'तेन सहेति तुल्ययोगे' **(पा0 २.२.२८)**। उपसर्जन होने से 'सह' का पूर्वनिपात हुआ । प्रकृत सुत्र से 'स' आदेश, सु।

सहपुत्रः- पक्ष में -'स' आदेश नहीं हुआ। सूत्र में 'उपसर्जनस्य' ग्रहण का प्रयोजन है कि 'सहयुध्वा' में 'स' आदेश नहीं होता है। उपसर्जन नहीं है।

तुल्ययोग०- 'तेन सहेति तुल्ययोगे' में 'तुल्ययोगे' यह कथन प्रायिक जानना चाहिए। तुल्ययोग न होने पर भी 'सह' शब्द के साथ समास प्राप्त होता है। इसके अनित्य होने में सूत्रस्थ 'इति' पद का ग्रहण प्रमाण है। अतः अतुल्ययोग में भी समास हो गया ।

सकर्मकः । (सलोमकः ।

(९०१) चार्थे द्वन्द्वः (२.२.२९)

अनेकं सुबन्तं चार्थे वर्तमानं वा समस्यते, स द्वन्द्वः । समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः । परस्परनिरपेक्ष स्थानेकस्यैकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः । अन्तरस्यानुषङ्गकत्वेऽन्वाचयः । मिलितानामन्वये इतरेतरयोगः । समूहः समाहारः । तत्रेश्वरं गुरुं च भजस्व इति समुच्चये, भिक्षामट गां चानय इत्यन्वाचये च न समासोऽसामर्थ्यात् । धवखदिरौ । सञ्ज्ञापरिभाषम् । अनेकोक्तेर्होतृपोतृनेष्टोद्गातारः । द्वयोर्द्वयोर्द्वन्द्व कृत्वा पुनर्द्वन्द्वे तु होतापोतानेष्टोद्गातारः ।

पद० - चाऽर्थे **७.१**, द्वन्द्वः **१.१**

अनु० - 'अनेकमन्यपदार्थे' **(पा० २.२.२४)** से 'अनेकम्'। 'सुवान्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे' **(पा० २.१.२)** से 'सुप्' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या - 'सुप्' से तदन्तविधि होकर 'सुबन्तम्' बन जाता है। 'विभाषा' का अधिकार होने से पक्ष में वाक्य भी रहता है। 'च' के अर्थ में वर्तमान अनेक सुबन्त विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं और वह द्वन्द्वसमास होता है।

समुच्चय० 'च' के चार अर्थ है- समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग और समाहार । जब परस्पर निरपेक्ष अनेक पद किसी एक पद में अन्वित होते हैं तो 'च' समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा-ईश्वरं गुरुं च भज। जहाँ एक अप्रधान रूप से क्रिया में अन्वित हो, वहाँ 'च' का अर्थ अन्वाचय होता है। यथा भिक्षामट गां चाऽऽनय । पूर्वोक्त दोनों अर्थों में सामर्थ्य न होने से समास नहीं होता है। जहाँ अनेक पदार्थ मिलकर एक क्रिया आदि में अन्वित होते हैं, वहाँ 'च' का अर्थ इतरेतर योग होता है। यथा- धवखदिरौ । (समाहार का अर्थ समूह है। जहाँ समूह एकीभूत होकर क्रियादि में अन्वित होता है, वहाँ 'च' का अर्थ समाहार है। यथा-सञ्ज्ञापरिभाषम् ।

(९०२) राजदन्तादिषु परम् (२.२.३१)

एषु पूर्वप्रयोगार्हं परं स्यात् । दन्तानां राजा राजदन्तः । 'धर्मादिष्वनियमः' (वा० १४१८) । अर्थधर्मौ धर्मार्थौ । दम्पन्ती-जम्पती-जायापती । जायाशब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च वा निपात्यते । आकृतिगणोऽयम् ।

पद०-राजदन्तादिषु **७.३**, परम् **२.१**-

व्याख्या- राजदन्त आदि (समस्तपदों) में पूर्वप्रयोग के योग्य पद का परनिपात होता है। राजदन्तादि आकृति गण है।

उदा०- राजदन्तः **(नै० ७.४६)**- दन्तानां राजा 'षष्ठी' **(पा० २.२.८)** से समास, 'दन्तानाम्' की उपसर्जन सञ्ज्ञा, 'उपसर्जनं पूर्वम्' **(पा० २.२.३०)** से इसका पूर्वनिपात प्राप्त हुआ। प्रकृत से परनिपात-राजन् दन्त-सुब् लुक्-राजन् की पदसञ्ज्ञा, 'नलोपः प्रातिपदि०' **(पा० ८.२.७)**- राजदन्त सु नलोप ।

धर्मादिष्वनियमः (पा०) - अर्थ-धर्म आदि शब्दों के विषय में पूर्वनिपात अथवा परनिपात का कोई नियम नहीं होता है। धर्मार्थी- धर्म शब्द का पूर्वनिपात । अर्थधर्मौ - अर्थ शब्द का पूर्वनिपात। दम्पती- जाया च पतिश्च। विकल्प से 'दम् आदेश। जम्पती- विकल्प से 'जम्' आदेश। जायापती- जम् अथवा दम् अभाव पक्ष ।

(९०३) द्वन्द्वे घि (२.२.३२)

द्वन्द्वे घिसञ्ज्ञं पूर्व स्यात्। हरिश्च हरिहरौ । 'अनेकप्रतावेकत्र नियमोनियमः शेषे' (वा० १४१०) १ हरिपुम्हराः करिहरगुरुवः ।

पद० - द्वन्द्वे 7.1, घि 1.1

अनु० - 'उपसर्जनं पूर्वस्' (पा० 2.2.30) से 'पूर्वम्' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- द्वन्द्व समास में घिसञ्ज्ञक शब्द का पूर्वनिपात होता है। 'शेषो घ्यसखि' के द्वारा घिसञ्ज्ञा कही गई है।

उदा०-(1) हरिहरौ- हरिश्च- हरश्च चाऽर्थे द्वन्द्वः 'हरि' की घिसञ्ज्ञा, पूर्वनिपात हो गया ।

(९०४) अजाद्यदन्तम् (२.२.३३)

इदं द्वन्द्वे पूर्वं स्यात् । ईशकृष्णौ । बहुष्वनियमः । अश्वरथेन्द्राः इन्द्राश्वरथाः । 'घ्यन्तादजाद्यदन्तं विप्रतिषेधेन'

(वा० 1426)। इन्द्राग्नी ।

पद० - अजाद्यदन्तम् 1.1

अनु० 'द्वन्द्वे घि' (पा० 2.2.32) से 'द्वन्द्वे' की तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' (पा० 2.2.30) से 'पूर्वम्' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या - अदन्त-ह्रस्व अकारान्त शब्द द्वन्द समास में अजादिगणपठित शब्द जो अदन्त भी हो, उसका पूर्वनिपात होता है।

उदा०- (1) ईशकृष्णौ-ईशश्च कृष्णश्च - (901) 'चाऽर्थे द्वन्द्वः' (पा० 2.2.29) ईश शब्द का अजादिगण में पाठ है। यह अदन्त भी है अतः इसका पूर्वनिपात हो गया।

(९०५) अल्पाच्तरम् (२.२.३४)

शिवकेशवौ । 'ऋतुनक्षत्राणां समाक्षराणामानुपूर्व्येणं' (वा० १४२१)। हेमन्त-शिशिर-वसन्ताः । कृत्तिका रोहिण्यौ । समाक्षराणां किम्? ग्रीष्मवसन्तौ । लघ्वक्षरं पूर्वम् (वा० १४१३) । कुशकाशम् । 'अभ्यर्हितं च' (वा० १४१२) । तापसपर्वतौ । 'वर्णानामानुपूर्व्येण' (वा० १४१५) । ब्राह्मणक्षत्रियविट्छूद्राः । 'भ्रातुर्ज्यायसः' (वा० १४१६) । युधिष्ठिरार्जुनौ ।

पद० – अल्पाच्तरम् 1.1

अनु० – 'द्वन्द्वे घि' (पा० 2.2.32) से 'द्वन्द्वे' की तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' (पा० 2.2.30) से 'पूर्वम्' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या– द्वन्द्व समास में अल्प अच् वाले पद का पूर्वनिपात होता है।

उदा०– शिवकेशवौ-शिवश्च केशवश्च- 'शिव' द्वयच् है, 'केशव' त्रयच् है, औ।

इसी प्रकार धवखदिरौ । प्लक्षन्यग्रोधौ । इन्दु दिवाकरौ । उमामहेश्वरौ धूमज्योतिः सलिलमरुताम् । धवखदिरपलाशाः।

स्मरणीय बिंदु-

1. **तत्पुरुष अधिकारः तत्पुरुषः** (२.१.२२) एक अधिकार सूत्र है, जिसका अधिकार शेषो बहुव्रीहिः (२.२.२३) से पहले तक जाता है।
2. **द्वितीया तत्पुरुष और वार्तिकः** द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः (२.१.२४) से द्वितीयान्त का श्रित आदि के साथ समास होता है। गम्यादीनामुपसंख्यानम् वार्तिक से गम्यगामी आदि शब्दों में भी द्वितीया तत्पुरुष होता है (जैसे-ग्रामगमी)।
3. **कालवाची समासः कालाः** (२.१.२८) सूत्र से कालवाची का क्तान्त के साथ समास तब होता है जब अत्यन्त संयोग (निरंतरता) न हो (जैसे-मासप्रमितः)। अत्यन्त संयोग होने पर अत्यन्तसंयोगे च (२.१.२९) से समास होता है (जैसे-मुहूर्तसुखम्)।
4. **तृतीया तत्पुरुष की शर्तः** तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन (२.१.३०) में तृतीयान्त पद द्वारा किए गए गुणवाचक शब्द के साथ ही समास होता है; इसी कारण अक्ष्णा काणः में समास नहीं होता क्योंकि काणत्व आँख द्वारा किया गया गुण नहीं है।
5. **चतुर्थी और पञ्चमी तत्पुरुषः** चतुर्थी समास में प्रकृति-विकृति भाव अनिवार्य है (जैसे-यूपाय दारु = यूपदारु)। पञ्चमी भयेन (२.१.३७) में भय शब्द से स्वरूप का ग्रहण होता है, अर्थ का नहीं; इसलिए सिंहात् त्रासः में समास नहीं होता।
6. **षष्ठी समास और निषेधः** षष्ठी (२.२.८) से सामान्य षष्ठी समास होता है (जैसे-राजपुरुषः)। परंतु न निर्धारणे (२.२.१०) निर्धारण अर्थ में (जैसे-नृणां द्विजः श्रेष्ठः) तथा कर्मणि च (२.२.१४) उभयप्राप्ति में कर्म की षष्ठी का समास निषेध करते हैं।
7. **निन्दा अर्थ में सप्तमीः** सप्तमी तत्पुरुष में ध्वाङ्क्षेण क्षेपे (२.१.४२) और क्षेपे (२.१.४७) सूत्र निन्दा (क्षेपे) अर्थ प्रकट होने पर ही समास करते हैं (जैसे-तीर्थध्वाङ्क्षः, अवतप्तेनकुलस्थितम्)।
8. **बहुव्रीहि और उत्तरपदलोपः** अनेकमन्यपदार्थे (२.२.२४) से अन्य पदार्थ प्रधान होने पर प्रथमान्त पदों का बहुव्रीहि समास होता है। वार्तिकों द्वारा प्रादि और नञ् के बाद उत्तरपद का लोप विकल्प से होता है (जैसे-प्रपतितपर्णः = प्रपर्णः, अविद्यमानपुत्रः = अपुत्रः)।
9. **द्वन्द्व समास के चार्थः** चार्थे द्वन्द्वः (२.२.२९) के चार अर्थ हैं- समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग और समाहार। इनमें से पहले दो में सामर्थ्य न होने से समास नहीं होता, अंतिम दो में ही द्वन्द्व समास होता है।

द्वन्द्व में पूर्वनिपात के नियमः

1. राजदन्तादिषु परम् (२.२.३१) से पूर्वनिपात के योग्य पद का परनिपात होता है।
2. द्वन्द्वे घि (२.२.३२) से घि-संज्ञक (इकारान्त/उकारान्त) पद पूर्व में आता है (जैसे-हरिहरौ)।
3. अजाद्यदन्तम् (२.२.३३) से अजादि और अदन्त पद पूर्व में आता है (जैसे-ईशकृष्णौ)।
4. अल्पाच्तरम् (२.२.३४) से कम अच् (स्वर) वाला पद पहले आता है (जैसे-शिवकेशवौ)।

5 **अंक के प्रश्न-**

1. मासप्रमितः और मुहूर्तसुखम् की समास-प्रक्रिया की शर्तों में मुख्य अंतर क्या है? सूत्रों सहित स्पष्ट कीजिए।
2. चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः सूत्र के अंतर्गत प्रकृति-विकृति भाव का क्या महत्त्व है? रन्धनाय स्थाली में समास क्यों नहीं होता?
3. सिंहात् त्रासः में पञ्चमी विभक्ति होने पर भी पञ्चमी भयेन सूत्र से समास क्यों नहीं होता? शास्त्रीय कारण बताइए।
4. आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन वाक्य में गवाम् पद का दोहः के साथ समास क्यों निषिद्ध है? सूत्र का उल्लेख कीजिए।
5. राजदन्तादिषु परम् सूत्र उपसर्जनं पूर्वम् के सामान्य नियम का किस प्रकार अपवाद है? राजदन्तः उदाहरण से समझाइए।
6. द्वन्द्व समास के संदर्भ में घि-संज्ञा का क्या महत्त्व है? हरिहरौ पद के माध्यम से स्पष्ट कीजिए।

15 **अंक के प्रश्न-**

1. नञ् (२.२.६) सूत्र के अधिकार में आने वाले नलोपो नञः तथा तस्मान्नुडचि सूत्रों की सोदाहरण विस्तृत व्याख्या कीजिए तथा

अब्राह्मणः और अनुद्वेगः / अनवः पदों की संपूर्ण रूप-सिद्धि चरणबद्ध रूप में प्रस्तुत कीजिए।

2. अनेकमन्यपदार्थे (२.२.२४) सूत्र द्वारा विहित बहुव्रीहि समास के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए। साथ ही, निम्नलिखित वार्तिकों के अर्थ और उनके अंतर्गत आने वाले उदाहरणों की सांगोपांग विवेचना कीजिए:

(क) प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः

(ख) सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपच

3. चार्थे द्वन्द्वः (२.२.२९) सूत्र की व्याख्या करते हुए चकार के चारों अर्थों (समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग, समाहार) को सोदाहरण प्रतिपादित कीजिए तथा शास्त्रीय दृष्टिकोण से स्पष्ट कीजिए कि किन अर्थों में समास संभव है और किनमें नहीं।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. तत्पुरुषः (२.१.२२) इस अधिकार सूत्र की सीमा अष्टाध्यायी में कहाँ तक मानी गई है?

(क) चार्थे द्वन्द्वः तक

(ख) प्राक्कडारात् समासः तक

(ग) शेषो बहुव्रीहिः से पूर्व तक

(घ) अनेकमन्यपदार्थे तक

2. ग्रामगमी (ग्रामं गमी) में किस वार्तिक के आधार पर द्वितीया तत्पुरुष समास सिद्ध होता है?

(क) अत्यन्तसंयोगे च

(ख) गम्यादीनामुपसंख्यानम्

(ग) तद्गुणसंविज्ञाने च

(घ) नञोऽस्त्यर्तानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः

3. अक्ष्णा काणः में तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन सूत्र से समास क्यों नहीं होता?

(क) यहाँ तृतीया विभक्ति नहीं है।

(ख) यहाँ काणत्व रूपी गुण अक्षी (आँख) द्वारा संपादित/कृत नहीं है।

(ग) यह केवल नित्य समास का विषय है।

(घ) यहाँ काण शब्द गुणवचन नहीं है।

4. नृणां द्विजः श्रेष्ठः में न निर्धारणे सूत्र का क्या कार्य है?

(क) निर्धारण अर्थ में षष्ठी तत्पुरुष का विधान करना

(ख) निर्धारण अर्थ में विद्यमान षष्ठी का समास-निषेध करना

(ग) पूर्वनिपात का नियमन करना

(घ) उपसर्जन संज्ञा का निषेध करना

5. अवघसादयस्तु षष्ठीसमासाः इस शास्त्रीय निर्देश का तात्पर्य किस सूत्र के अपवाद या नियमन के संदर्भ में है?

(क) पञ्चमी भयेन

(ख) चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः

(ग) तृतीया तत्कृतार्थेन...

(घ) सप्तमी शौण्डैः

6. अपुत्रः (अविद्यमानपुत्रः) इस समस्तपद में किस वार्तिक से समास और उत्तरपद का लोप हुआ है?

(क) प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः

(ख) नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः

(ग) सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपच

(घ) तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्

7. चकार (च) के चार अर्थों में से किन दो अर्थों में असामर्थ्य के कारण द्वन्द्व समास नहीं होता है?

(क) इतरेतरयोग और समाहार

(ख) समुच्चय और अन्वाचय

(ग) समुच्चय और इतरेतरयोग

(घ) अन्वाचय और समाहार

8. ईशकृष्णौ में ईश शब्द का पूर्व-प्रयोग (पूर्वनिपात) किस पाणिनीय सूत्र के नियम के अनुसार हुआ है?

(क) द्वन्द्वे घि

(ख) अल्पाच्तरम्

(ग) अजाद्यदन्तम्

(घ) राजदन्तादिषु परम्

खण्ड–3

इकाई- 3.1 कालिय नाग का मानमर्दन एवं कंस का वध

उद्देश्य

- **साहित्यिक एवं नाट्य बोधः** शिक्षार्थियों में महाकवि भास की नाट्य शैली, रंग–निर्देशों के महत्त्व और पौराणिक आख्यानों के नाटकीय रूपान्तरण को समझने की क्षमता विकसित करना।
- **व्याकरणिक दक्षताः** पाठ में आए विशिष्ट पाणिनीय सूत्रों, कृदंत–तद्धित प्रत्ययों, सन्धि तथा नञ्–समास के भेदों (पर्युदास एवं प्रसज्यप्रतिषेध) का व्यावहारिक ज्ञान कराना।
- **भाषाई कौशलः** देवनागरी लिपि के माध्यम से मूल संस्कृत पाठ के अर्थ, भाव और अन्तर्निहित सन्देशों को ग्रहण करने की योग्यता उत्पन्न करना।
- **नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यः** विपरीत परिस्थितियों में भी विचलित न होने तथा लोक–कल्याण के लिए तत्पर रहने की भावना का विकास करना।

भगवान श्रीकृष्ण ने बाल्यावस्था में कालिय नाग के प्रभाव से यमुना को मुक्त एवं शुद्ध किया। राजा कंस द्वारा पराक्रमी दामोदर (भगवान् कृष्ण) और संकर्षण (बलराम जी) को व्रज से धनुषोत्सव में सम्मिलित होने के लिए आने पर उन्हें मल्लशाला में योद्धाओं से लड़ाकर मरवाने का षड्यन्त्र रचना । मथुरा आगमन पर महाबलशाली उत्पलापीड नामक गन्धहस्ती (हाथी) के दांत को उखड़ कर उसे मार डाला तथा मदनिका नाम की कुब्जा का कूबड़ापन दूर किया। तथा धनुषशाला के रक्षक सिंहबल के कान पर प्रहार करके और उसको मारकर धनुष के दो टुकड़े करके सभामण्डप की ओर चले गये। तथा वहाँ दामोदर और संकर्षण दोनों भाईयों ने मिलकर राजा कंस के सम्मुख मल्लशाला में दो राजकीय पहलवानों चाणूर और मुष्टिक को मार डाला। तथा फिर राजभवन पर चढ़कर कंस को सिर पकड़कर गिराकर उसका वध कर दिया।

(प्रविश्य)

दामकः- जयतु भर्ता । एष भर्ता संकर्षणः ''पर्वताद् यमुनाह्रदे कालियो नाम महानाग उत्थित'' इति श्रुत्वा तं प्रति गतः । वारय वारय भर्तः ! संकर्षणम् । दामोदरः- कालियो नाम मयापि श्रूयते सदर्पः पन्नगपतिः । भवत्वहमस्य दर्पप्रशमनं करोमि ।
(प्रवेश करके)

दामक - स्वामी की जय हो । यह स्वामी आपके भाई संकर्षण'' यमुना नदी में कालिय नामक महानाग उठा है'' ऐसा सुनकर पर्वत से वहीं गए हैं । रोकिये, स्वामिन् संकर्षण को रोकिये । दामोदर - मैंने भी कालिय नामक महा अहंकारी सर्पराज के बारे में सुना है । अच्छा, मैं इसका दर्प चूर्ण करता हूँ ।

गोब्राह्मणादयस्तेन सुजूष्यन्ते किल प्रजाः ।
अद्यप्रभृति शान्तात्मा निष्प्रभः स भविष्यति ॥१॥

पर्यायवाचिशब्दाः- सुजूष्यन्ते = व्यथिता भवन्ति । शान्तः = दर्परहितः।

अर्थः- वह (कालिय नाग) गो, ब्राह्मण आदि प्रजाओं को कष्ट देता है (अतः) आज से प्रभारहित और (दर्परहित) शान्त हो जायगा अर्थात् आज मैं उसकी शक्ति को पराजित कर उसके घमण्ड को चूर-चूर कर दूँगा ॥३९॥ **(निष्क्रान्तौ) ।**

(ततः प्रविशन्ति गोपकन्यकाः ।)

सर्वाः- मा खलु मा खलु भर्तः ! एतं जलाशयं प्रवेष्टुम् । एषः खलु दुष्टमहोरगकुलावासः।

दामोदरः- न खलु न खलु विषादः कार्यः । पश्यन्तु भवत्यः ।

(गोपकुमारियों का प्रवेश)

सब - ऐसा न करना स्वामिन्, ऐसा न करना । जलाशय में प्रवेश न करना । यह क्रोधी महानाग के कुल का निवास स्थान है । दामोदर - नहीं । देखें, आप चिन्ता न करें ।

निष्पक्षिव्यालयूथं भयचकितकरिव्रातविप्रेक्षिताम्भो
गम्भीरं स्निग्धनीरं ह्रदमुदधिनिभं क्षोभयन् सम्प्रविश्य ।
गोपीभिः शङ्किताभिः प्रियहितवचनैः पेशलैर्वार्यमाणः
कालिन्दीवासरक्तं भुजगमतिबलं कालियं धर्षयामि ॥२॥

पर्यायवाचिशब्दाः- पक्षिणाम् = विहगानाम् । व्यालानाम् = श्वापदानाम् । करिव्रातेन = हस्तिसमूहेन । विप्रेक्षितम् = अवलोकितम् । स्निग्धम् = मसृणम् । गोपीभिः = गोपाङ्गनाभिः । वार्यमाणः = निषिद्ध्यमानः । रक्तम् = अनुरक्तम् । धर्षयामि = हठान्निष्कासयामि ।

पदविग्रहः - निष्पक्षिव्यालयूथम् = निर्गतानि पक्षिणां व्यालानां यूथानि यस्मिन् तत् । भयचकितकरिव्रातविप्रेक्षिताम्भः = भयचकितेन करिव्रातेन विप्रेक्षितम् अम्भः यस्य तत् । प्रियहितवचनैः = प्रियाणि हितानि वचनानि तैः । पेशलैर्वार्यमाणः = गोपीभिः वार्यमाणः । कालिन्दीवासरक्तम् = कालिन्द्यां वासः तस्मिन् रक्तम् ।

अर्थः- पक्षी और पशुओं के समूह से रहित, भयचंचल हाथियों के समूह द्वारा जिसका अगाध और स्वच्छ जल देखा जाता है, अर्थात् कोई वन्य प्राणी उस जलाशय में प्रवेश नहीं करता है। उस समुद्र के समान जलाशय में दामोदर भगवान कृष्ण प्रवेश करके उसके जल को क्षुब्ध करते हुए, भयशंकित गोपियों के द्वारा मधुर कल्याणकारी वचनों से अनेक प्रकार से मना किए जाने पर भी, कहते है कि मैं यमुना में निवास करने वाले महापराक्रमी कालिय नाग को बलपूर्वक निकाल फेकूंगा ।।४०।।

सर्वाः- भर्तः । संकर्षण ! वारय वारय भर्तृदामोदरम् ।

सब - स्वामिन् ! संकर्षण ! रोको भाई दामोदर को रोको ।

(प्रविश्य) सङ्कर्षणः- अलमलं भयविषादाभ्याम् । दर्शितोऽनुरागः । पश्यन्तु भवत्यः ।

(प्रवेश करके) संकर्षण- आप लोग भय और दुख न करें। तुम्हारा प्रेम देख लिया है । आप देखें ।

विषदहनशिखाभिर्यन्मुखात् प्रोद्गताभिः
कपिशितमशिवाभिश्चक्रवालं दिशानाम्।
सरभसमभियान्तं कृष्णमालक्ष्य शङ्की
नमयति शिरसान्तर्मण्डलं चण्डनागः ।।४१।।

पर्यायवाचिशब्दाः- प्रोद्गताभिः = निःसृताभिः । अशिवाभिः = अकल्याणकारिणीभिः । विषम् = गरलम् । दहनः = अनलः । चक्रवालम् = मण्डलम् । कपिशितम् = कृष्णलोहितम् । चण्डनागः = क्रुद्धसर्पः । सरभसम् = वेगसहितम् । नमयति = नम्रीकरोति ।

पदविग्रहः - विषदहनशिखाभिः = विषं एव दहनः तस्य शिखाः ताभिः । यन्मुखात् = यस्य (कालियस्य) मुखं तस्मात् ।

अर्थः- जिस कालिय नाग के मुख से निकलने वाले प्राणघातक विष की प्रचण्ड ज्वालाओं से सारी दिशाएं लाल हो रही हैं वह क्रुद्ध सर्प कृष्ण को जल्दी-जल्दी अपनी ओर आते हुए देख कर, भय की आशंका से अपने फणों को नीचा कर रहा है ।।४१।।

दामोदरः- सर्वप्रजाहितार्थं द्रुततरं नागं मे वशं करोमि (इति ह्रदं प्रविष्टः) । सर्वाः-हा ! हा! धूम उत्थितः। दामोदरः- अहो ह्रदस्य गाम्भीर्यम् । इह हि,

दामोदर - सारे प्राणियों के हित के लिए मैं नाग को शीघ्र ही वश में करता हूँ ।

(तालाब में प्रवेश करता है) सब - हाय ! हाय ! धुआं उठ रहा है । दामोदर - अये, यह तालाब की इतनी गहराई ! यहाँ तो,

सितेतराभुग्नदुकूलकान्तिद्रुतेन्द्रनीलप्रतिमानवीचिम्।
इमामहं कालियधूमधूम्नां सान्तर्विषाग्निं यमुनां करोमि ।।४२।।

पर्यायवाचिशब्दाः- सितेतरेण = कृष्णकान्तिना । आभुग्नम् = संमिश्रम् । दुकूलम् = क्षौमम् । द्रुतस्य = द्रवीभूतस्य। प्रतिमाना = तुल्या । वीचि = तरंगः । यमुनाम् = कालिन्दीम् । करोमि = विदधामि ।

पदविग्रहः - सितेतराभुग्नदुकूलकान्तिद्रुतेन्द्रनीलप्रतिमानवीचिम् = सितेतरेण आभुग्नं यद् दुकूलमं तस्य कान्तिः यस्याः सा तथा द्रुतस्य इन्द्रनीलस्य प्रतिमाना वीचिः यस्याः सा ताम् । कालियधूमधूम्नाम् = कालियेन निःसृतो यो धूमः तेन धूम्रः वर्णः यस्याः ताम् । सान्तर्विषाग्निम् = अन्तः (मध्ये) विषाग्निना सहितां ताम् ।

अर्थः- विष की अग्नि से व्याप्त तथा कालिय के धुएँ से धूमिल रंग वाली इस यमुना को मैं शीघ्र ही इन्द्रनील मणि के समान नीली छवियुक्त लम्बी तरंगों वाली करूँगा अर्थात् दामोदर कहते है कि शीघ्र ही वह कालिन्दी के जल को कालिय नाग के आतंक से मुक्त करायेंगे ।।४२।।

(ततः प्रविशति वृद्धगोपालकः ।)

वृद्धगोपालकः- आरुह्यावलोक्य (हा भर्तः ! एष कन्यकाभिर्वार्यमाणो यमुनाह्रदं प्रविष्टः । मा खलु मा खलु साहसं कृत्वा प्रवेष्टुम् । अत्र व्याघ्रा वराहा हस्तिनः पानीयं पीत्वा तत्र तत्रैव विम्रियन्ते । कथं न दृश्यते । किमिदानीं करोमि । भवतु, इमं तावत् कुम्भपलाशमारुह्य निध्यायामि । हा हा धूम उत्थितः।)

(वृद्ध गोपालक का प्रवेश) वृद्धगोपालक - हा स्वामी ! गोपकुमारियों के द्वारा बारम्बार मना किये जाने पर भी यह कृष्ण यमुना नदी में घुस गया ! नहीं, प्रवेश करने का साहस न करो । बाघ, सुअर और हाथी इसके जल को पीकर वहीं मर जाते हैं । क्या देखते नहीं ? इस समय मैं क्या करूं ? अच्छा मैं पलाश के पेड़ पर चढ़- कर ध्यान करूंगा । चढ़कर हाय हाय धुआं उठ रहा है।

सङ्कर्षणः- पश्यन्तु भवत्यः । संकर्षण - अरे, तुम देखो ।

दामोदरोऽयं परिगृह्य नागं विक्षोभ्य तोयं च समूलमस्य।
भोगे स्थितो नीलभुजङ्गमस्य मेघे स्थितः शक्र इवावभाति ।।४३।।

पर्यायवाचिशब्दाः- दामोदरः = श्रीकृष्णः । परिगृह्य =करे धृत्वा । विक्षोभ्य = विलोड्य । तोयम् = जलम् । भोगे = मस्तके फणे वा । स्थितः = उपविष्टः । मेघे = बलाहके । अवभाति = शोभते ।

अर्थः- यह दामोदर तो नाग को पकड़ कर और इस यमुना नदी के सम्पूर्ण जल को मथकर, नीले सर्प के फण पर इस प्रकार विराजमान मालूम पड़ता है जैसे बादल पर इन्द्र भगवान विराजमान दिखाई पड़ते है। ।।४३।।

वृद्धगोपालकः- ही ही साधु भर्तः ! साधु । ततः प्रविशति कालियं गृहीत्वा दामोदरः ।

वृद्धगोपालक - हा, हा ! बहुत ठीक किया स्वामिन् ! बहुत ठीक किया ।

(कालिय को पकड़ कर दामोदर का प्रवेश)

दामोदरः - एष भोः । दामोदर - अरे यह -

निर्भर्त्स्य कालियमहं परिविस्फुरन्तं
मूर्धाञ्चितैकचरणश्चलबाहुकेतुः।
भोगे विषोल्बणफणस्य महोरगस्य
हल्लीसकं सललितं रुचिरं वहामि ।।४४।।

पर्यायवाचिशब्दाः- विस्फुरन्तम् = देदीप्यमानम् । निर्भत्स्य = तिरस्कृत्य । उल्बणाः = उग्राः ।

पदविग्रहः - परिविस्फुरन्तम् = परितः विस्फुरन्तम् । मूर्धाञ्चितैकचरणः = मूर्ध्नि अञ्चितम् एकचरणं यस्य सः । चलबाहुकेतुः = चलः (चञ्चलः) बाहुरेव केतुः यस्य सः । विषोल्बणफणस्य = विषेण उल्बणाः फणाः यस्य तस्य । महोरगस्य = महांश्चासावुरगः तस्य ।

अर्थः- उग्र कालिय नाग का तिरस्कार करके अर्थात् उसका मान मर्दन करके, मस्तक पर एक पैर रखकर, चञ्चल भुजाओं को ही ध्वजा बनाकर, गरल से उग्र फण वाले इस महासर्प के फणों के ऊपर मैं सविलास, सुन्दर हल्लीसक नृत्य करता हूँ अर्थात् इतनी विषम परिस्थितियों में भी सहज और प्रसन्न रहने की प्रेरणा भगवान श्रीकृष्ण हम सभी को दे रहे हैं ।।४४।।

सर्वाः - आश्चर्य भर्तः ! आश्चर्यम् । कालियस्य पञ्च फणानाक्रामन् हल्लीसकं प्रक्रीडति।

दामोदरः- यावदहमपि पुष्पाण्यपचिनोमि ।

सब - आश्चर्य स्वामिन् ! आश्चर्य । कालिय के पाँचों फणों पर यह हल्लीसक नृत्य कर रहा है ।

दामोदर - मैं अभी पुष्प चुनूंगा ।

कालियः - आः, कालिय- अरे,

लोकालोकमहीधरेण भुवनाभोगं यथा मन्दरं
शैलं शर्वधनुर्गुणेन फणिना यद्वच्च यादोनिधौ।
स्थूलाखण्डलहस्तिहस्तकठिनो भोगेन संवेष्टितं
त्वामेव त्रिदशाधिवासमधुना सम्प्रेषयामि क्षणात् ।।४५।।

पर्यायवाचिशब्दाः- आभोगम् = परिपूर्णताम् । यादांसि = जलजन्तवः । निधिः = आकरः । गुणः = रज्जुः । आखण्डलस्य = इन्द्रस्य । हस्तः = शुण्डः । भोगेन = स्वफणेन । क्षणात् = लवानन्तरमेव । त्रिदशस्य = यमस्य ।

पदविग्रहः - लोकालोकमहीधरेण = लोकश्च अलोकश्च स चासौ महीधरश्च तेन। भुवनाभोगम् = भुवनस्य आभोगम् । शर्वधनुर्गुणेन = शर्वस्य (शङ्करस्य) धनुषः गुणः तेन । यादोनिधौ = यादांसि तेषां निधिः तस्मिन् । स्थूलाखण्डलहस्तिहस्तकठिनो = स्थूलः आखण डलस्य हस्ती तस्य हस्तः तद्वत् कठिनः । त्रिदशाधिवासम् = त्रिदशस्य अधिवासम् ।

अर्थः- दामोदर को देखकर कालिय नाग गर्जना करता है कि - जैसे लोकालोक पर्वतों ने सारे भुवनों को घेर रखा है तथा जिस प्रकार से (समुद्रमन्थन के समय) समुद्र में शंकर के धनुष के प्रत्यंचाभूत शेष नाग ने मन्दराचल पर्वत को लपेट लिया था उसी प्रकर से आज मैं महान ऐरावत की सूंड़ की भांति कठिन अपने फण से तुम्हें लपेटकर क्षण भर में ही यम के घर भेज दूंगा ।।४५।।

दामोदरः-

विध्वस्तमीनमकराद् यमुनाह्रदान्ताद्
दर्पोच्छ्रयेण महता दृढमुच्छ्वसन्तम् ।
आशीविषं कलुषमायतवृत्तभोगम्-
एष प्रसह्य सहसा भुवि विक्षिपामि ।।४६।।

पर्यायवाचिशब्दाः- मीनाः = मत्स्याः । मकराः =नक्राः । दर्पस्य = अवलेपस्य । उच्छ्रयः = आधिक्यः । उच्छ्वसन्तम् = निश्वसन्तम् । कलुषम् = दुष्टम् । आशीविषम् = सर्पम् । आयतः = प्रसारितः । वृत्तः = वर्तुलः । भोगः = फटा । प्रसह्य = हठात् ।

पदविग्रहः - विध्वस्तमीनमकराद् = विध्वस्ताः मीनाः मकराः यस्मात् । यमुनाह्रदान्ताद् = यमुनायाः ह्रदः तस्य अन्तः तस्मात् । दर्पोच्छ्रयेण = दर्पस्य उच्छ्रयः तेन । आयतवृत्तभोगम् = आयतः वृत्तः वर्तुलो भोगः यस्य तम् ।

अर्थः- दामोदर - कालिय नाग के विष से मछली और मगरमच्छ का भी विनाश हो गया है। अतः उस यमुना नद के भीतर से, बड़े गर्व से फुंकार और तेज उच्छ्वास छोड़ने वाले, अपने चौड़े फण को फैलाने वाले, दुष्ट कालियनाग को मैं हठपूर्वक शीघ्र ही पृथ्वी पर निकाल फेकूंगा ।।४६।।

दामोदरः- कालिय ! यदि ते शक्तिरस्ति, दह्यतां ममैको भुजः।

दामोदर -- कालिय यदि तुममें शक्ति हो तो मेरे एक हाथ को जला दो ।

कालियः- हहह, कालिय- अरे -

चतुःसागरपर्यन्तां ससप्तकुलपर्वताम् ।
दहेयं पृथिवीं कृत्स्नां किं भुजं न दहामि ते ।।४७।।

पर्यायवाचिशब्दाः- पर्यन्तः = अवधिः । पृथिवीम् = महीम् । कृत्स्नाम् = अशेषाम् ।

पदविग्रहः - चतुःसागरपर्यन्ताम् = चत्वारः सागराः पर्यन्तः यस्यास्ताम् । ससप्तकुलपर्वताम् = सप्तमुख्यगिरिणां सहिताम् ।

अर्थः- गर्वोक्ति के साथ कालिय नाग अपनी शक्ति का वर्णन करते हुए कहता है कि सात पर्वतों से युक्त चार समुद्रों तक फैली हुई इस सम्पूर्ण पृथ्वी को जला सकता हूँ तो फिर क्या तुम्हारी एक भुजा को नहीं जला सकता ? ।।४७।।

हं. तिष्ठेदानीम् । एष त्वां भस्मीकरोमि । (विषाग्निं मुञ्चति)

दामोदरः- हन्त दर्शितं ते वीर्यम् । **कालियः**- प्रसीदतु प्रसीदतु भगवान नारायणः ।

दामोदरः- अनेन वीर्येण भवान् गर्वितः । **कालियः**- प्रसीदतु भगवान् ।

ठहर तो जरा यह तुझे भस्म करता हूँ । (विषाग्नि छोड़ता है)

दामोदर - ओह, तुम्हारे पराक्रम को देख लिया। कालिय - प्रसन्न हों ! भगवान नारायण प्रसन्न हों।

दामोदर - इसी पराक्रम पर आपको इतना गर्व था ?

कालिय - भगवान, प्रसन्न हों--

गोवर्द्धनोद्धरणमप्रतिमप्रभावं
बाहूं सुरेश ? तव मन्दरतुल्यसारम् ।
का शक्तिरस्ति मम दग्धुमिमं सुवीर्यं
यं संश्रितास्त्रिभुवनेश्वर ! सर्वलोकाः ।।४८।।

पर्यायवाचिशब्दाः- उद्धरणम् = उत्थापनम् । सारः = बलः ।
पदविग्रहः - अप्रतिमप्रभावम् = न विद्यते प्रतिमा यस्य सः तादृशः प्रभावो यस्य तम् । गोवर्धनोद्धरणम् = गोवर्धनस्य उद्धरणम् । मन्दरतुल्यसारम् = मन्दरेण तुल्य सारः यस्य तम् ।
अर्थः- देवेश ! अनुपम प्रभाव वाले, गोवर्धन पर्वत को धारण करने वाले, मन्दराचल के समान बल से युक्त आपकी भुजा, जिस भुजा पर सभी लोक आश्रित हैं, हे देवेश ! उसे जलाने की शक्ति मुझमें कहाँ है अर्थात् भगवान के पराक्रम को जानकर उसका घमण्ड चूर-चूर हो जाता है। ।।४८।।

भगवन् ! अज्ञानादतिक्रान्तवान्, सान्तःपुरः शरणागतोऽस्मि । दामोदरः- कालिय ! किमर्थमिदानीं यमुनाह्रदं प्रविष्टोऽस्मि । कालियः- भगवतो वरवाहनाद् गरुडाद् भीतोऽहमिह प्रविष्टोऽस्मि। तदिच्छामि गरुडादभयं भगवत्प्रसादात् । दामोदरः- भवतु भवतु ।
हे भगवन् - अज्ञान के कारण मैंने यह भूल की । मैं अपनी रानियों के साथ आपकी शरण में आया है । दामोदर - कालिय किसलिए तुम यमुना नदी में प्रविष्ट हुए हो ? कालिय-- आपके श्रेष्ठ वाहन गरुड से डरकर ही मैंने यहां प्रवेश किया है । तो मैं आपकी कृपा से गरुड़ के भय से मुक्त होना चाहता हूँ । दामोदर - अच्छा, ऐसा ही होगा।

पादेन नागेन्द्र ! चिह्नितं तव मूर्धनि ।
सुपर्ण एव दृष्ट्वेदमभयं ते प्रदास्यति ।।४९।।
पर्यायवाचिशब्दाः- सुपर्णः = गरुडः । प्रदास्यति = अर्पयिष्यति ।
अर्थः- हे सर्पराज, मेरे चरणचिह्नों से चिह्नित तुम्हारे सिर को देख करके ही गरुड़ तुम्हें अभय प्रदान करेंगे ।।४९।।
कालियः- अनुगृहीतोऽस्मि । दामोदरः- प्रविशतु भवान् । कालियः- यदाज्ञापयति भगवान् नारायणः । दामोदरः- अथवा एहि तावत् । कालियः- भगवन् ! अयमस्मि । दामोदरः- अद्यप्रभृति गोब्राह्मणपुरोगासु सर्वप्रजास्वप्रमादः कर्तव्यः । कालियः- भगवन् ! मद्विषदूषितमिदं जलम् । तदिदानीमेव विषं संहृत्य यमुनाह्रदान्निष्क्रामामि। दामोदरः- प्रतिनिवर्ततां भवान् । कालियः- यदाज्ञापयति भगवान् नारायणः ।
कालिय - अनुगृहीत हूँ । दामोदर - आप प्रवेश करें । कालिय - भगवान नारायण की जैसी आज्ञा । दामोदर - अच्छा यहाँ आओ। कालिय - भगवान मैं यह हूँ । दामोदर - आज से लेकर गायों, ब्राह्मणों और प्रजाओं से प्रमाद न करना । कालिय- भगवन् ! यह जल विष से कलुषित हो गया है तो इस समय ही सारा विष लेकर यमुना नद से निकल जाता हूँ । दामोदर - लौट जाओ । कालिय-- जैसी भगवान नारायण की इच्छा ।
भटः- (उपगम्य) भो नन्दगोपपुत्र! अनुगतार्थनामधेयस्य महाराजस्योग्रसेनस्य पुत्रः कंसराजो भवन्तमाज्ञापयति यत् मथुरायां धनुर्महो नाम महोत्सवो भविष्यति। तमनुभवितुं सपरिजनाभ्यां भवद्भ्यामागन्तव्यमिति। सङ्कर्षणः- शीघ्रमिदानीं गमिष्यावः । दामोदरः- बाढम् । प्रथमः कल्पः । तथा एवं कृत्वा भगवान् श्रीकृष्णः दैवसंयोगवशात् कंसभयात् सर्वेषां प्राणीनां मुक्त्यै वदति -
भट - (पास जाकर) हे नन्दगोपपुत्र ! सार्थक नाम वाले उग्रसेन महाराज के पुत्र राजा कंस ने आपको आज्ञा दी है कि मथुरा में महाधनु नामक महोत्सव होगा उसमें आप दोनों भाईयों को परिवार सहित उपस्थित होना चाहिए । संकर्षण - हम दोनों अब शीघ्र चलेंगे ।
दामोदर - बहुत ठीक । उत्तम विचार है । तथा इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण दैवसंयोग को ध्यान में रखकर कंस के आतंक से सभी प्राणियों को मुक्त कराने के लिये कहते हैं -

प्रभ्रष्टरत्नमुकुटं परिकीर्णकेशं
विच्छिन्नहारपतिताङ्गदलम्बसूत्रम्।
आकृष्य कंसमहमद्य दृढं निहन्मि
नागं मृगेन्द्र इव पूर्वकृतावलेपम् ।।५०।।
पर्यायवाचिशब्दाः- प्रभ्रष्टम् = पतितम् । परिकीर्णाः = विसृताः । केशाः = कचाः । हारः = मुक्तावली । अंङ्गदम् = केयूरम् । नागम् = करिणम् । निहन्मि = घातयामि ।
पदविग्रहः - प्रभ्रष्टरत्नमुकुटम् = प्रभ्रष्टं रत्नमुकुटं यस्य तम् । परिकीर्णकेशम् = परिकीर्णाः केशाः यस्य तम् । विच्छिन्नहारपतिताङ्गदलम्बसूत्रम्

= विच्छिन्नो हारो यस्य स च पतितं अङ्गदं लम्बं सूत्रं यस्य तम् । पूर्वकृतावलेपम् = प्राक्कृतो अवलेपः येन तम् ।
अर्थः- जिसका रत्नखचित मुकुट गिर गया है, जिसके केश बिखर गए हैं, मुक्तावली टूट गई है, केयूर गिर गए हैं, उस कंस को सिंहासन से खींच कर मैं वैसे ही मारूँगा जैसे गर्वीले हाथी को सिंह मारता है ।। ५०।।

(सपरिजनो निष्क्रान्तः।)

स्मरणीय बिन्दु-

1. **दामोदर एवं संकर्षणः** नाटक में श्रीकृष्ण के लिए दामोदर तथा बलराम के लिए संकर्षण नाम का प्राधान्य है।
2. **हल्लीसक नृत्यः** यह एक मण्डलाकार (गोलाकार) रास-नृत्य है, जिसे दामोदर ने कालिया नाग के उग्र फणों के ऊपर अत्यंत विलासपूर्वक और प्रसन्नता के साथ किया।
3. **शब्दार्थ सूक्ष्मताः** सुलूच्यन्ते पद का अर्थ व्यथित/पीड़ित होना है, तथा अवलेप का अर्थ गर्व या अहंकार है।
4. **गरुड़ से अभयः** कालिया नाग यमुना के ह्रद (कुंड) में गरुड़ के डर से छिपा था। श्रीकृष्ण ने उसके मस्तक पर अपने चरण-चिह्न अंकित कर उसे गरुड़ से अभय प्रदान किया।
5. **उपमा विधानः** कंस के वध के संकल्प वाले लोक में कंस की तुलना पूर्वकृत-अवलेप (पहले से मदमत्त) हाथी से तथा दामोदर की तुलना मृगेन्द्र (सिंह) से की गई है।

5 अंक के प्रश्न-

1. दामोदर को कालियादह की ओर जाते देख गोपियों ने उन्हें रोकने के लिए क्या तर्क दिए? मूल पाठ के आधार पर स्पष्ट कीजिए।
2. संकर्षण (बलराम) ने जब चण्डनाग (कालिया) को दामोदर की ओर आते देखा, तब उन्होंने नाग की शारीरिक चेष्टाओं का क्या वर्णन किया?
3. श्रीकृष्ण ने विष की अग्नि से दूषित यमुना नदी को पुनः किस रूप में बदलने का संकल्प लिया? सितेतराभुग्न... लोक के प्रकाश में लिखिए।
4. पराजित होने के बाद कालिया नाग ने श्रीकृष्ण की भुजा की स्तुति किन विशेषणों से की और अपनी असमर्थता कैसे प्रकट की?
5. मल्लशाला (अखाड़े) के बाद श्रीकृष्ण ने राजभवन में प्रवेश कर कंस का वध किस प्रकार किया? पाठ की भूमिका के अनुसार स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. पाठ्यांश के आधार पर श्रीकृष्ण द्वारा किए गए हल्लीसक नृत्य के स्वरूप और उसकी विशेषताओं की समीक्षा कीजिए। अत्यधिक विषैली एवं विपरीत परिस्थितियों में भी उनके द्वारा इस नृत्य को करने का क्या दार्शनिक और व्यावहारिक सन्देश है?
2. कालिया नाग के प्रारम्भिक गर्व-वर्णन (यथा मन्दरं शैलं...) तथा दामोदर के अलौकिक पराक्रम को देखने के बाद उसके शरण ागति-भाव (प्रलपतु... भगवान् नारायणः) का तुलनात्मक विश्लेषण कीजिए। एक अभिमानी जीव का ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण किन चरणों में सिद्ध हुआ है?
3. कंस वध के संकल्प को प्रकट करने वाले अंतिम श्लोक प्रभ्रष्टरत्नमुकुटं परिकीर्णकं... आकृष्य कंसमहमध्ये दृढं निहन्मि की साहित्यिक व्याख्या कीजिए। स्पष्ट कीजिए कि कंस की बाह्य विकृतियाँ उसके किस मानसिक पतन को रेखांकित करती हैं?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. विध्वस्तमीनमकरम्... लोक के अनुसार यमुना ह्रद की क्या विशेषता थी और उसमें आशीविषम् पद किसके लिए प्रयुक्त हुआ है?
(क) जिसके मीन और मगरमच्छ नष्ट हो चुके थे, कालिया नाग के लिए
(ख) जो स्वच्छ जल से युक्त था, गरुड़ के लिए
(ग) जहाँ केवल पक्षी रहते थे, श्रीकृष्ण के लिए
(घ) जो गोपियों का क्रीड़ास्थल था, कंस के लिए
2. पाठ्यां में प्रयुक्त सुलूच्यन्ते (ोब्राह्म.ाद;स्तेमद सुजूष्;न्ते) पद का सन्दर्भानुसार सटीक अर्थ क्या है?
(क) आनन्दित होते हैं
(ख) व्यथित/पीड़ित होते हैं या सताए जाते हैं
(ग) स्नान करते हैं
(घ) रक्षा करते हैं
3. सितेतराभुग्नदुकूलकान्ति... पद में सितेतर शब्द का क्या अर्थ है और यह किसे ध्वनित करता है?

(क) श्वेत (सफेद) वर्ण को
(ख) श्वेत से भिन्न अर्थात् कृष्ण/नीला वर्ण (यमुना का जल/श्रीकृष्ण का रंग)
(ग) पीला वस्त्र
(घ) लाल रंग की आभा

4. कालिया नाग ने दामोदर को डराने के लिए अपनी उपमा किससे दी और समुद्र-मंथन के किस प्रसंग का उल्लेख किया?
(क) ऐरावत हाथी से और मन्दराचल पर्वत को लपेटने वाले शेषनाग से
(ख) सिंह से और शिव के धनुष की डोरी से
(ग) गरुड़ से और अमृत कला से
(घ) वरुण देव से और पाताल लोक से

5. कंस वध के संकल्प वाले लोक में पूर्वकृतावलेपम् नागम् में अवलेप शब्द का क्या अर्थ विवक्षित है?
(क) सुगन्धित चन्दन का लेप
(ख) पूर्व जन्म का पुण्य
(ग) मद/गर्व/अहंकार
(घ) शरीर की कान्ति

इकाई- 3.2 भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा कंस का वध

उद्देश्य-

• **नाटकीय रूपांतरण का बोध:** शिक्षार्थियों को यह समझाना कि भास ने किस प्रकार महाभारत और पुराणों के कंस वध आख्यान को रंगमंच के अनुरूप अत्यंत गतिशील और सजीव बनाया है।

• **वीर एवं रौद्र रस का ज्ञान:** नाटक के लोकों में आए वीर, रौद्र और भयानक रसों की अभिव्यक्ति तथा उनके स्थायी भावों को पहचानने की क्षमता विकसित करना।

• **व्याकरणिक और भाषाई कौशल:** पाठ्यांश में प्रयुक्त जटिल सामासिक पदों का विग्रह, पाणिनीय सन्धि नियमों, और पर्यायवाची शब्दों के माध्यम से संस्कृत शब्दावली को सुदृढ़ करना।

• **ऐतिहासिक एवं नैतिक शिक्षण:** अधर्म के प्रतीक कंस के पतन और धर्म की पुन: स्थापना (उग्रसेन के राज्याभिषेक) के माध्यम से यतो धर्मस्ततो जय: के शाश्वत मूल्य को स्थापित करना।

(ततः प्रविशति राजा ।) - राजा प्रवेश करता है -

राजा-

श्रुत्वा व्रजे विपुलविक्रमवीर्यसत्त्वं
दामोदरं सह बलेन समाचरन्तम् ।
आदिश्य कार्मुकमहं तमिहोपनीय
मल्लेन रङ्गतमद्य तु घातयामि ॥१॥

पर्यायवाचिशब्दा:- श्रुत्वा = निशम्य । कार्मुकं = धनुर्व्याजेन । उपनीय = आहूय ।

पदविग्रह: - विपुलविक्रमवीर्यसत्त्वम् = विपुलं विक्रम: वीर्यं सत्त्वं यस्य तम् ।

अर्थ:- राजा - व्रज में अतुल पराक्रमशाली एवं शौर्यवान दामोदर को बलराम के साथ आता हुआ सुनकर उन्हें धनुष महोत्सव के बहाने से यहाँ बुलाकर मल्लशाला में पहलवानों को आदेश देकर मैं कृष्ण को मरवा देता हूँ अर्थात् राजा कंस दामोदर और संकर्षण की हत्या कराने की योजना बनाता है ॥१॥

राजा - ध्रुवसेन ! ध्रुवसेन ! (प्रविश्य) भट :- जयतु महाराज:। राजा- ध्रुवसेन! किमागतो नन्दगोपपुत्र: । भट:- श्रोतुमर्हति महाराज: - प्रविशन्नेव दामोदर: ससङ्कर्षणो गोपजनपरिवृतो रजकेभ्यो वस्त्राण्याच्छिद्य गृहीतवानिति श्रुत्वा महामात्रेणोत्पलापीडो नाम गन्धहस्ती सञ्चोदितस्तमभिघातयितुम् । **तत:,**

राजा - ध्रुवसेन ! ध्रुवसेन (प्रवेश करके) भट :- महाराज की जय हो । राजा - ध्रुवसेन ! क्या, नन्द गोप का पुत्र यहाँ आया है ? भट - महाराज सुनें - (नगर में) प्रवेश करते ही दामोदर और बलराम ने ग्वालबालों के साथ धोबी से वस्त्र छीन कर ले लिया, यह सुनकर महामात्य ने उत्पालापीड नामक गन्धहस्ती को उन्हें मारने के लिए प्रेरित किया । तब -

तमापतन्तं सहसा समीक्ष्य सभीतगोपालकवृन्दमध्ये ।
बालो बलेनाद्रिनिभं गजेन्द्रं दन्तं समाकृष्य जघान शीघ्रम् ॥२॥

पर्यायवाचिशब्दा:- निभम् = तुल्यम् । शीघ्रम् = तूर्णम् । दन्तम् = हस्तिविषाणम् । समाकृष्य = उत्पाट्य । जघान = ममार ।

पदविग्रह: - सभीतगोपालकवृन्दमध्ये = सभीतानां गोपालकानां वृन्दं तस्य मध्ये । अद्रिनिभम् = अद्रे: निभम् ।

अर्थ:- अत्यन्त भयभीत ग्वालबालों के बीच, विशाल पर्वत के समान गजराज को एकाएक आता हुआ देखकर, बालक (कृष्ण) ने बलपूर्वक गजराज के दांत को तोड़ कर उसे मार डाला ।। २ ।।

राजा- कथं जघानेति । गच्छ । भूयो ज्ञायतां वृत्तान्त: । भट: - यदाज्ञापयति महाराज: । (निष्क्रम्य प्रविश्य) जयतु महाराज: । एष इदानीं नन्दगोपपुत्र उत्सवाधिकारोच्छ्रितध्वजपताकमवसक्तमाल्यदामालङ्कृतमुत्थापितागुरुधूपसमाकुलं राजमहापथं प्रविश्य राजकुलद्वारे गन्धसमुद्रावसक्तहस्तां मदनिकां नाम कुब्जिकां दृष्ट्वा तस्या हस्ताद् गन्धमादाय स्वगात्रमनुलिप्य तेनैव हस्तेन कुब्जस्यानुमार्जनेन विगतकुब्जभावां तां कृत्वा मालाकारापणेभ्य: पुष्पाण्याहृत्यावबध्य धनु:शालाभिमुखो गत: । राजा - किन्तु खलु तेन व्यवसितम् । तेन हि शीघ्रं गच्छ । भूयो ज्ञायतां वृत्तान्त: ।

राजा - क्या, मार डाला ? जाओ । फिर से खबर की जांच करो । भट-जैसी महाराज की आज्ञा । (जाकर और पुन: आकर) महाराज की जय हो । इस समय दामोदर उत्सव के योग्य ध्वजा और पताका से युक्त, पुष्प और माला से अलंकृत, अगर और धूप की गन्ध से युक्त विस्तृत राजमार्ग पर पहुँचकर राजकुल के दरवाजे पर गन्धादि को लिए हुए मदनिका नाम की कुब्जा को देखकर

उसके हाथ से सुगन्धित द्रव्य लेकर अपने अंगों पर लेप करके तथा उसी हाथ से कुब्जा का कूबड़ापन दूर करके, फूलों के बाजार से पुष्प लेकर और उन्हें (मालियों को) मारकर धनुष - शाला की ओर गया है । राजा - उसने वहाँ क्या किया । जल्दी जाओ । पुनः सब समाचार प्राप्त करो ।

भटः- यदाज्ञापयति महाराजः (निष्क्रम्य प्रविश्य) जयतु महाराजः । धनुःशालारक्षकेण सिंहबलेन वार्यमाणस्तं कर्णमूले प्रहृत्य हत्वा धनुः समादाय द्विखण्डं कृत्वा साम्प्रतमुपस्थानाभिमुखो यतः ।

भट -- जैसी महाराज की आज्ञा । (जाकर और पुनः प्रवेश करके) महाराज की जय की जय हो । धनुष शाला के रक्षक सिंहबल के मना करने पर उसके कान पर प्रहार करके और मारकर धनुष को लेकर उसके दो टुकड़े कर के इस समय सभामण डप की ओर गया है।

स हि,

आपीडदामशिखिबर्हविचित्रवेषः
पीताम्बरः सजलतोयदराशिवर्णः।
अभ्येति रोषपरिवृत्तविशालनेत्रो
रामेण सार्धमिह मृत्युरिवावतीर्णः ॥३॥

पर्यायवाचिशब्दाः- पीतम् = कनकाभम् । आपीडदाम्ना = शेखरस्रजा । शिखिबर्हेण = मयूरपिच्छेन । परिवृत्ते = अन्यथावृत्ते ।

पदविग्रहः - सजलतोयदराशिवर्णः = जलेन सहितः स चासौ तोयदश्च (तोयं ददातीति तोयदः) तस्य राशिः तस्य वर्ण इव वर्णो यस्य सः । पीताम्बरः = पीतम् अम्बरं यस्य सः । आपीडदामशिखिबर्हविचित्रवेषः = आपीडदाम्ना शिखिबर्हेण च विचित्रः वेषः यस्य स । रोषपरिवृत्तविशालनेत्रः = रोषेण परिवृत्ते विशाले नेत्रे यस्य सः ।

अर्थः- वह तो - जलपूर्ण मेघसमूह की भाँति श्यामवर्ण वाले, पीले वस्त्र को धारण किये हुए पुष्पमालाओं और मयूर पंखों से अद्‌भुत वेष बनाए हुए, क्रुद्ध विशाल नेत्रों वाले बलराम के साथ यहाँ (साक्षात्) मृत्यु ही उत्पन्न हो गया है अर्थात् दामोदर और संकर्षण के रौद्र रूप के विषय में कंस को सूचित कर रहे हैं ।।३।।

राजा- सावेगमिव मे हृदयम् । गच्छ, यथानिर्दिष्टौ चाणूरमुष्टिकौ प्रवेशय, वृष्णिकुमाराणां सन्नाहमाज्ञापय । भटः- यदाज्ञापयति महाराजः (निष्क्रान्तः ।) राजा :- यावदहमपि प्रासादमारुह्य चाणूरमुष्टिकयोर्युद्धं पश्यामि । (आरुह्य) मधुरिके ! विघाट्यतां द्वारम् । प्रतिहारी :- यद् भर्ताज्ञापयति।

राजा - मेरा हृदय धड़क रहा है। जाओ, पहले बतलाए चाणूर और मुष्टिक को भेजो। (यादव- कुमारों को) युद्ध के लिए तैयार होने का आदेश दो । भट - महाराज की जैसी आज्ञा ।

(प्रस्थान) राजा - मैं भी भवन पर चढ़ कर चाणूर और मुष्टिक का युद्ध देखता हूँ। (चढ़कर) मधुरिके, दरवाजा खोल दो । प्रतिहारी - जैसी स्वामी की आज्ञा ।

(राजा प्रविश्योपविशति। ततः प्रविशतश्चाणूरमुष्टिकौ ।)

(राजा प्रवेश करके बैठता है । चाणूर और मुष्टिक का प्रवेश)

चाणूरः-

एषोऽस्मि युद्धसज्जो मत्तो हस्तीव दर्पसंपूर्णः ।
भनज्म्यद्य बालं दामोदरं रङ्गमध्ये ॥४॥

पर्यायवाचिशब्दाः- सज्जः = बद्धपरिकरः । बालम् = अर्भकं दामोदरम् । भनज्मि = चूर्णयिष्यामि ।

अर्थः- चाणूर - यह मैं मदमस्त हाथी की भांति गर्व से भरा हुआ युद्ध करने के लिए तैयार हूँ । आज मैं बालक दामोदर को मल्लशाला में चूर-चूर कर दूंगा ।।४।।

मुष्टिकः-

लोहमयमुष्टिहस्तो रामेण मुष्टिकः रुष्टः।
पातयामि अद्य रामं गिरिवरकूटं तथा वज्रः। ॥५॥

पर्यायवाचिशब्दाः- गिरिवरकूटम् = पर्वतशिखरम् । पातयामि = हनिष्यामि ।

पदविग्रहः - लोहमयमुष्टिहस्तः = अयस्सारमयी मुष्टिः हस्ते यस्य सः ।

अर्थः- मुष्टिक - मैं अत्यन्त क्रुद्ध, लोहे की भाँति कठिन मुक्कों वाला, मुष्टिक नामक योद्धा, बलराम को युद्ध में वैसे ही गिरा दूंगा जैसे महान पर्वतों की चोटी को वज्र गिरा देता है अर्थात् बलराम को आसानी से परास्त कर दूंगा ।। ५।।

भट :- एष महाराजः । उपसर्पेतां भवन्तौ ! उभौ :- (उपेत्य) जयतु भर्ता । राजा :- चाणूरमुष्टिकौ ! सर्वप्रयत्नेन युवाभ्यामानृण्यं कर्तव्यम् । उभौ :- श्रृणोतु भर्ता । (अट्टादि!) करणसन्धाबन्धप्रहारैर्युद्धविशेषैः सिद्धिं गच्छामः। हं पश्यतु भर्ता। राजा :- बाढमेवं क्रियताम् । ध्रुवसेन ! प्रवेश्येतां गोपदारकौ । भट :- यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रान्तः ।)
भट - यह महाराज हैं । तुम दोनों चले जाओ । दोनों - (जाकर) स्वामी की जय हो । राजा - चाणूर और मुष्टिक ! सब प्रकार से प्रयत्न करके तुम दोनों मुझे कर्ज से छुटकारा दिलाओ । दोनों - स्वामी सुनें, हम अनेक करणसंघ और आबन्ध प्रहारों से विशेष युद्ध के द्वारा सफलता प्राप्त करेंगे । अच्छा स्वामी, देखें । राजा - ठीक ऐसा ही करो । ध्रुवसेन, गोपकुमारों को अन्दर भेजो। भट - जैसी महाराज की आज्ञा । (प्रस्थान)
(ततः प्रविशतो दामोदरसङ्कर्षणौ ध्रुवसेनेन सह ।)
(ध्रुवसेन के साथ दामोदर और संकर्षण का प्रवेश)

दामोदरः- आर्यः !

मर्त्येषु जन्म विफलं मम तानि घोषे
कर्माणि चाद्य नगरे धृतये न तावत्।
यावन्न कंसहतकं युधि पातयित्वा
जन्मान्तरासुरमहं परिकर्षयामि ॥६॥

पर्यायवाचिशब्दाः- कंसहतकम् = नीचकंसम् ।
अर्थः- दामोदर - आर्य !
मनुष्य लोक में मेरा जन्म निष्फल है । उस बस्ती में और इस नगर में मुझे अपने कर्मों से तब तक धैर्य नहीं जब तक जन्मजन्मान्तर के राक्षस पापी कंस को युद्ध में गिराकर मारता नहीं।।६।।
सङ्कर्षणः-

प्रविश्य रङ्गं कृतलोहमुष्टिं तं मुष्टिना मुष्टिकमद्य रुष्टम् ।
हत्वा चरिष्याम्यनिलप्रचण्डः प्रलम्बमम्भोदमिवान्तरिक्षे ॥७॥

पर्यायवाचिशब्दाः- रुष्टम् = क्रुद्धम् । कृता = विहिता । अन्तरिक्षे = वियति । अनिलप्रचण्डः = प्रखरवायुः । अम्भोदम् = मेघम् ।
पदविग्रहः - कृतलोहमुष्टिम् = कृता लोहवत् कठिना मुष्टिर्येन तम् ।
अर्थः- संकर्षण - आकाश में जैसे झुके हुए बादलों को झंझावात छिन्न-भिन्न करता है, वैसे मैं आज अत्यन्त क्रुद्ध, लोहे के समान कठिन मुष्टि वाले मुष्टिक को मल्लशाला में जाकर उसका विनाश कर डालूंगा ।।७।।

भटः - एष महाराजः । उपसर्पेतां भवन्तौ । उभौ- आः कस्य महाराजः । भटः-- सर्वस्य जगतोऽस्माकं च । दामोदरः- अद्यप्रभृति न भविष्यति। भटः- जयतु महाराजः । एतौ तौ । राजा- (विलोक्य) अयं स दामोदरः ।
भट - यह महाराज हैं, तुम दोनों आओ । दोनों - अरे, किसका महाराज ? भट - सबका, सारे संसार का और हम लोगों का । दामोदर - आज से नहीं रह जाएगा । भट - महाराज की जय हो । ये दोनों यहाँ हैं । राजा - (देखकर) यह वही दामोदर है ! **अहो,**

श्रीमान् मदान्धगजधीरविलासगामी
श्यामः स्थिरांसभुजपीनविकृष्टवक्षाः।
पूर्वं श्रुतानि चरितानि न चित्रमस्य
लोकत्रयं हि परिवर्तयितुं समर्थः ॥८॥

पर्यायवाचिशब्दाः- मदान्धगजधीरविलासगामी = मत्तगजेन्द्रगम्भीरलीलागमनकारी । अंसौ = स्कन्धौ । पीनम् = मांसलम् । विकृष्टम् = विस्तृतम् । परिवर्तयितुम् = अन्यथा कर्तुम् ।
पदविग्रहः - मदान्धगजधीरविलासगामी = मदेन अन्धः स चासौ गजश्च तद्वत् धीरं विलासशीलं गमनमस्ति अस्य । स्थिरांसभुजपीनविकृष्टवक्षाः

= स्थिरौ अंसौ भुजौ पीनं विकृष्टं वक्षः यस्य सः ।

अर्थः- अरे,

मदमत्तं गजराज की भांति गम्भीर एवं सविलास गति वाले दृढ़ स्कन्ध, भुजा और मांसल तथा विस्तृत वक्षःस्थल वाले, शोभा से युक्त, कृष्ण वर्ण के इस दामोदर के पहले सुने हुए चरित्र आश्चर्यजनक (झूठे) नहीं हैं किन्तु यह तीनों लोक को परिवर्तित करने में समर्थ है अर्थात् भगवान कृष्ण के शरीर सौष्ठव व उनके द्वारा किये गये महान कार्यों का स्मरण करा रहे हैं ।।८।।

अयं नु ललितगम्भीराकृतिः पूर्वजोऽस्य राम इति श्रूयते । यह सुन्दर गम्भीर आकृति वाले, इनके अग्रज राम हैं, ऐसा सुना जाता है । **बलरामस्य विषये वर्णयन्ति -**

अभिनवकमलामलायताक्षः शशिनिभमूर्तिरुदारनीलवासाः ।
रजतपरिघवृत्तदीर्घबाहुश्चलदसितोत्पलपत्रचित्रमालः ॥९॥

पर्यायवाचिशब्दाः- शशिनिभा = चन्द्रतुल्या । उदारम् = रुचिरम् । वृत्तौ = वर्तुलौ । दीर्घौ = आयतौ । असितोत्पलपत्रम् = नीलकमलदलम् ।

पदविग्रहः - अभिनवकमलामलायताक्षः = अभिनवञ्च तत् कमलं तद्वत् अमले आयते अक्षिणी यस्य सः । शशिनिभमूर्तिः = शशिनिभा मूर्तिः यस्य सः । उदारनीलवासाः = उदारं नीलं वासः यस्य सः । रजतपरिघवृत्तदीर्घबाहुः = रजतस्य परिघः तद्वत् वृतौ दीर्घौ बाहू यस्य सः । चलदसितोत्पलपत्रचित्रमालः = चलत् यत् असितोत्पलपत्रं तस्य चित्रा माला स्रक् यस्य सः।

अर्थः- बलराम जी के विषय में वर्णन करते हुए कहते हैं कि -

नूतन और निर्मल कमल की भांति दीर्घ नेत्रों वाला, चन्द्र की भांति विग्रह वाला, रुचिर नीले वस्त्रों को धारण किए हुए रुपहले परिघ की भांति वर्तुल एवं विशाल भुजाओं वाला (यह बलराम) नीलकमल की विचित्र माला को धारण किए हुए हैं ।। ९ ।।

दामोदरः- आर्य ! एतावेवावाभ्यां युद्धसन्नद्धाविति मन्ये । सङ्कर्षणः - भवितव्यम् । राजा- ध्रुवसेन ! प्रवर्ततां युद्धम् । भटः- यदाज्ञापयति महाराजः (मालां क्षिपति ।) मल्लौः- वादयत वादयत सङ्ख्यपटहान् । (सर्वे नियुद्धं कुर्वन्ति।) दामोदरः- (चाणूरं निहत्य) भग्नास्थिरेष निहतः । सङ्कर्षणः - (मुष्टिकं निहत्य) निहतो मयापि ।

दामोदर - आर्य, मालूम होता है हमारे साथ युद्ध के लिए यही लोग तैयार हैं । सङ्कर्षण - होना चाहिए। राजा - ध्रुवसेन, युद्ध प्रारम्भ करो । भट - महाराज की जैसी आज्ञा । (माला फेंकता है)। दोनों मल्ल - अरे बजाओ, युद्ध दुन्दुभियों को बजाओ (सब मल्लयुद्ध करते हैं ।) दामोदर - (चाणूर को मारकर) यह टूटी हुई हड्डियों वाला मरा पड़ा है ।

संकर्षण (मुष्टिक को मारकर) - मैंने भी इसका वध कर दिया ।

दामोदरः- (प्रासादमारुह्य कंसं शिरसि निगृह्य पातयित्वा) एष एष दुरात्मा कंसः -

(भवन पर चढ़कर कंस को सिर से पकड़ कर भूमि पर गिरा कर) यह, यह दुरात्मा कंस है -

विस्तीर्णलोहितमुखः परिवृत्तनेत्रो
भग्नांसकण्ठकटिजानुकरोरुजङ्घः ।
विच्छिन्नहारपतिताङ्गदलम्बसूत्रो
वज्रप्रभग्नशिखरः पतितो यथाद्रिः ॥१०॥

पर्यायवाचिशब्दाः- परिवृते = पर्यावर्तितते । अंसः = स्कन्धः । कण्ठः = गलः । कटिः = श्रोणिः । जानुः = ऊरुपर्वः । ऊरुः = सक्थिः । सूत्रम् = यज्ञोपवीतम् । प्रभग्नम् = खण्डितम् । शिखरम् = कूटम् ।

पदविग्रहः - विस्तीर्णलोहितमुखः = विस्तीर्णं लाहितं यस्मात्तद् मुखम् यस्य सः । परिवृत्तनेत्रः = परिवृते नेत्रे यस्य । भग्नांसकण्ठकटिजानुकरोरुजङ्घः = भग्नं अंसः कण्ठः कटिः जानुः करः ऊरुः जंघा एषां समाहारः तद् यस्य सः । विच्छिन्नहारपतिताङ्गदलम्बसूत्रम् = विच्छिन्नः हारः पतितः अङ्गदः लम्बं सूत्रं यस्य सः। वज्रप्रभग्नशिखरः = वज्रेणः प्रभग्नं शिखरं यस्य सः ।

अर्थः- इसके मुख से खून बह रहा है, नेत्र ऊपर चढ़ गये हैं, कन्धें, गला, कमर, हाथ, घुटनें और जंघायें टूट गयी हैं। मणिमाला टूट गई है, केयूर गिर गए हैं, यज्ञोपवीत भी गिर गया है और यह कंस इन्द्र के अस्त्र वज्र के द्वारा चूर किए गए शिखर वाले पर्वत की भांति गिरा हुआ मालूम होता है ।।१०।।

(नेपथ्ये) हा हा महाराजः । (पुनर्नेपथ्ये) भो भो वृष्णियोधाः ! अनावृष्टिशिवकहृदिक - पृथुकसोमदत्ताक्रूरप्रमुखाः ! अयं खलु भर्तृपिण्डनिष्क्रयस्य कालः । शीघ्रमागच्छन्तु भवन्तः । दामोदरः - आर्य ! संवार्यतां सैन्यम्। सङ्कर्षणः - अयमहं वारयामि ।

(नेपथ्य में) हा हा महाराज ! (पुनः नेपथ्य में) अरे, हे यादव कुल के योद्धाओं, अनावृष्टि, शिवक, हृदिक, पृथुक, सोमदत्त और अक्रूर आदि ! यह स्वामी के ऋण चुकाने का समय है । आप सब जल्दी आइए । दामोदर - आर्य ! सेना को दूर कीजिए । संकर्षण - यह हटा रहा है।

द्रुततुरगरथेभभ्रान्तयोधोग्रनादं,
विलसदमलखड्गप्रासशक्त्यष्टिकुन्तम्।
पवनबलविकीर्णं फेनजालोर्मिमालं,
जलनिधिमिव दोर्भ्यां क्षोभयाम्येष सैन्यम् ॥११॥

पर्यायवाचिशब्दाः- इभाः = गजाः । भ्रान्तयोधाः = सम्भ्रान्तसैनिकाः । विलसद् = शोभमानम् । प्रासः = कुन्तः । ऋष्टिः = आयुधविशेषः । विकीर्णः = प्रक्षिप्तः । फेनानाम् = जलविकृतीनाम् । दोर्भ्याम् = बाहुभ्याम् ।

पदविग्रहः - द्रुततुरगरथेभभ्रान्तयोधोग्रनादम् = द्रुताः तुरगाः रथाः इभाः भ्रान्तयोधाः तैः उग्रः नादः यस्मिन् तत् । विलसदमलखड्गप्रासशक्त्यष्टिकुन्तम् = विलसद् अमलं खड्गः प्रासः शक्तिः ऋष्टिः कुन्तः एषां समाहारः यस्मिन् तत् । पवनबल. विकीर्णम् = पवनस्य बलेन विकीर्णः तम् । फेनजालोर्मिमालम् = फेनानां जालः ऊर्मिमालः विद्यते यस्मिन् तम् ।

अर्थः- शीघ्रगामी घोड़े, रथ गज और विक्षिप्त सैनिकों के कोलाहल से युक्त, निर्मल तलवार, भाले, शक्ति, ऋषि, कुन्त आदि से शोभित सेना को मैं अपनी भुजाओं से ऐसा क्षुभित करुँगा जैसे तूफान समुद्र के फेनजाल और तरंगावलियों को छिन्न-भिन्न कर देता है ॥ ११ ॥

(ततः प्रविशति वसुदेवः ।) वसुदेवः - भो भो मधुरावासिनः ! अलमलं साहसेन।

(वसुदेव का प्रवेश) वसुदेव- अरे, हे मथुरावासियो ! अधिक साहस न करो ।

ज्येष्ठोऽयं मम तनयस्तु रौहिणेयो,
देवक्यास्तनयमिमं च किं न वित्थ ।
सन्नाहं त्यजत किमायुधैश्च कार्यं,
कंसार्थं स्वयमिह विष्णुराजगाम ॥ १२॥

पर्यायवाचिशब्दाः- तनयः = सूनुः । तनयम् = पुत्रम् । सन्नाहम् = युद्धोद्योगम् । आयुधैः = हेतिभिः । आजगाम = अवतीर्णः ।

अर्थः- यह (मेरी पत्नी) रोहिणी का पुत्र मेरा पहला कुमार है । इस (मेरी पत्नी) देवकी के पुत्र को क्या नहीं जानते ? युद्ध के विचार को छोड़ दो और शस्त्रों का क्या काम । इस लोक में कंस के वध के लिए स्वयं भगवान विष्णु अवतीर्ण हुए हैं अर्थात् वसुदेव जी राज्य के सैनिकों के समक्ष भगवान कृष्ण व बलराम के विषय में बताते हैं कि वो उनके ही पुत्र है जिसे सुनकर सभी राज्य के सैनिक शान्त हो जाते हैं तथा युद्ध करना बंद कर देते हैं ॥१२॥

सङ्कर्षणः - (विलोक्य) अये तातः । तात ! सङ्कर्षणोऽहमभिवादये । दामोदरः - तात ! दामोदरोऽहमभिवादये । वसुदेवः - अक्षयविजयिनौ भवेतां भवन्तौ । सत्पुत्रजन्मफलमद्य प्राप्तवानस्मि । उभौ - अनुगृहीतौ स्वः । वसुदेवः - कोऽत्र ! (प्रविश्य) भटः - जयत्वार्यपुत्रः । वसुदेवः - अपविध्यन्तां कलेवराणि । भटः - यदाज्ञापयत्यार्यपुत्रः ! गोपालकाः सर्वे - ही ही गोपालकानां राज्यं संवृत्तम् । वसुदेवः - कोऽत्र । भटः - जयत्वार्यपुत्रः । वसुदेवः- गच्छ, शीघ्रं दामोदरस्यादेशाद नावृष्टिमाज्ञापय-महाराजमुग्रसेनमपनीय निगलान्निर्वृत्ताभिषेकं कृत्वा प्रवेशयेति । भटः - यदाज्ञापयत्यार्यपुत्रः । (निष्क्रान्तः ।) संकर्षण - (देखकर) अरे, पिता जी ! पिता जी, मैं संकर्षण आपको अभिवादन करता हूँ । दामोदर - पिताजी, मैं दामोदर आपको अभिवादन करता हूँ। वसुदेव- तुम दोनों सर्वदा विजयी रहो। आज मुझे सुपुत्रों के पैदा करने का फल प्राप्त हुआ । दोनों- हम लोग अनुगृहीत हुए ।वसुदेव- यहां कौन है ? (प्रवेश करके) भट - आर्यपुत्र की जय हो । वसुदेव - इन शवों को फेंक दो। भट-आर्यपुत्र की जैसी आज्ञा । सभी ग्वालें - ही ही, ग्वालों का राज्य हो गया । वसुदेव - यहाँ कौन है। भट - आर्यपुत्र की जय हो । वसुदेव - जाओ, दामोदर की आज्ञा से अनावृष्टि को सूचित करो कि शीघ्र ही महाराज उग्रसेन को कारावास से निकाल कर

उनका अभिषेक करके यहाँ भेज दें । भट - आर्यपुत्र की जैसी आज्ञा । (प्रस्थान करते हैं)

वसुदेवः - अये, वसुदेव - अरे,

नदन्ति सुरतूर्याणि वृष्टिः पतति कौसुमी ।
कंसान्तकस्य पूजार्थं प्रायो देवाः समागताः ॥१३॥

पर्यायवाचिशब्दाः- कौसुमी = कुसुमस्य इयम् (पुष्पमयी) । तूर्याणि = वाद्यप्रभेदाः । कंसान्तकस्य = कंसस्य अन्तकः (मृत्युः) तस्य । समागताः = संप्राप्ताः । पूजार्थम् = अर्चनार्थम् ।

अर्थः- देव दुन्दुभियाँ बज रही हैं, पुष्प की वृष्टि हो रही है, कंस के निधन कर्ता (कृष्ण) की पूजा के लिए देवता लोग आ पहुँचे हैं अर्थात् मथुरा के राजमहल में उत्सव का वातावरण उपस्थित हो गया है। ॥१३॥

.....

स्मरणीय बिन्दु-

1. **गन्धहस्ती का नामः** मथुरा प्रवेश पर जिस मतवाले हाथी को श्रीकृष्ण ने मारा, उसका नाम मूल पाठ्यांश में उत्पलापीड (या कुवलयापीड) उल्लिखित है।

2. **मदनिका (कुब्जा):** कंस की दासी कुब्जा का नाम मदनिका था, जिसके हाथ से चन्दन लेकर प्रभु ने अंगों पर लगाया और उसका कूबड़ ठीक किया।

3. **धनुषशाला का रक्षकः** धनुष की रक्षा करने वाले सैनिक का नाम सिंहबल था, जिसके कान पर प्रहार करके श्रीकृष्ण ने धनुष के दो टुकड़े (द्विखण्ड) किए।

4. **राजकीय पहलवानः** कंस के अखाड़े के दो प्रसिद्ध पहलवान चाणूर और मुष्टिक थे। चाणूर को दामोदर ने तथा मुष्टिक को संकर्षण (बलराम) ने मल्ल-युद्ध में मारा।

5. **उपमा विधानः** मृत कंस की तुलना इन्द्र के वज्र द्वारा खंडित शिखर वाले विशाल पर्वत से की गई है (वज्रप्रभग्नशिखरः इव अद्रिः)।

6. **धर्मराज की स्थापनाः** कंस वध के तुरंत बाद वासुदेव ने कंस के बंदी पिता उग्रसेन को कारागार से मुक्त कर उनका राज्याभिषेक (वृत्ताभिषेक) करने की आज्ञा दी।

5 **अंक के प्रश्न**-

1. कंस ने दामोदर और संकर्षण को ब्रज से मथुरा बुलाने के लिए क्या षड्यंत्र रचा था? प्रथम श्लोक के आलोक में स्पष्ट कीजिए।
2. सैनिक (भट) ने श्रीकृष्ण के मथुरा प्रवेश के समय किए गए किन-किन प्रारम्भिक पराक्रमों का वर्णन कंस के सम्मुख किया?
3. धनुषशाला में पहुँचकर दामोदर ने क्या किया और भट ने उनके क्रोधित रूप को देखकर क्या आशंका व्यक्त की?
4. श्रीकृष्ण ने मल्लशाला में प्रवेश करते समय कंस को अपनी उपस्थिति का बोध कराते हुए क्या गर्जना की?
5. कंस वध के उपरान्त वासुदेव ने मथुरा की प्रजा और सैनिकों को क्या रहस्य बताया जिससे युद्ध शांत हो गया?

15 **अंक के प्रश्न**-

1. कंस वध के पश्चात् कंस के मृत शरीर की जो अवस्था श्लोक (विस्तीर्णलोहितमुखः...) में वर्णित है, उसकी साहित्यिक एवं दार्शनिक समीक्षा कीजिए। यह श्लोक अधर्म के अंत को किस प्रकार चित्रित करता है?
2. कंस द्वारा श्रीकृष्ण को देखने पर श्लोक (श्रीमन् मदान्धगजधीरविलासगामी...) में श्रीकृष्ण के शारीरिक सौष्ठव और प्रभाव का जो वर्णन किया गया है, उसका विस्तृत विश्लेषण कीजिए। कंस के मन पर इसका क्या प्रभाव पड़ा?
3. संकर्षण (बलराम) द्वारा श्लोक में सेना को भयभीत और व्याकुल करने का जो चित्रण किया गया है, उसमें प्रयुक्त उपमाओं को स्पष्ट कीजिए। साथ ही, कंस वध के तुरंत बाद उग्रसेन को राजा बनाने के निर्णय के पीछे क्या राजनीतिक और नैतिक संदेश छिपा है?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. कंस के महल के द्वार पर सुगन्धित द्रव्य (चन्दन) लेकर खड़ी दासी का नाम क्या था और दामोदर ने उसके साथ क्या कौतुक किया?

(क) मध्विका; उसे धन दिया

(ख) मदनिका (कुब्जा); उसके हाथ से गन्ध लेकर उसका कूबड़ ठीक किया

(ग) सुलोचना; उसे दासी पद से मुक्त किया

(घ) देवकी; उसे प्रणाम किया

2. लोक में प्रयुक्त सजलतोयदराराशिवर्णः पद किसके स्वरूप को प्रकट करता है और इसका क्या अर्थ है?

(क) बलराम जी के गोरे रंग को

(ख) जल से भरे बादलों के समूह के समान श्यामवर्ण श्रीकृष्ण को

(ग) कंस के रक्त रंजित मुख को

(घ) अखाड़े के लाल रंग को

3. मल्लशाला में संकर्षण (बलराम) ने किस पहलवान को मारा और श्लोक के अनुसार उनकी तुलना किससे की गई है?

(क) चाणूर को; सिंह से

(ख) सिंहबल को; वज्र से

(ग) मुष्टिक को; प्रचण्ड वायु (अनिलप्रचण्डः) से जो बादलों को छिन्न-भिन्न कर देती है

(घ) कंस को; गरुड़ से

4. वज्रप्रभग्नशिखरः पतितो यथाद्रिः- कंस के भूमि पर गिरने के बाद उसकी तुलना किससे की गई है?

(क) इन्द्र के वज्र से टूटे हुए पर्वत के शिखर से

(ख) आकाश से टूटते हुए तारे से

(ग) उखड़े हुए पेड़ से

(घ) मदमत्त हाथी से

5. कंस वध के पश्चात् मथुरा के राजभवन का वातावरण कैसा हो गया? श्लोक के आधार पर सही विकल्प चुनिएः

(क) चारों ओर शोक की लहर दौड़ गई

(ख) देव-दुन्दुभियाँ बजने लगीं और फूलों की वर्षा (वृष्टिः पतति काशैसुमी) होने लगी

(ग) सभी सैनिक युद्ध के लिए तत्पर हो गए

(घ) मथुरा नगरी शून्य हो गई

खण्ड-4 शब्दरूप, धातुरूप, संख्याएँ (1-100), अनुवाद (1-15 अभ्यास पर्यन्त)

इकाई- 4.1. शब्दरूप-संग्रह (क)

उद्देय-

• **व्याकरणिक आधार सुदृढ़ करना:** संस्कृत भाषा की रीढ़ माने जाने वाले संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और संख्यावाची शब्दों के तीनों लिंगों (पुल्लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिङ्ग) तथा वचनों में रूप संचालन की समझ पैदा करना।

• **विभक्ति प्रयोग की क्षमता:** वाक्य रचना और अनुवाद करते समय सही कारक विभक्ति (प्रथमा से सम्बोधन तक) का चयन करने की दक्षता विकसित करना।

• **शब्दों के अंत्य-स्वर का ज्ञान:** अजन्त (स्वरान्त जैसे: अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त, ऋकारान्त) और हलन्त (व्यंजनान्त जैसे: तकारान्त, नकारान्त) शब्दों के बीच संरचनात्मक भेद समझाना।

• संख्या बोध: १ से १०० तक की संस्कृत संख्याओं के शुद्ध लेखन, उच्चारण और उनके लिंग-भेद (विशेषकर १ से ४ तक) के प्रयोग का अभ्यास कराना।

(१) राम (राम) उकारान्त पु० शब्द

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	रामः	रामौ	रामाः
द्वितीया	रामम्	''	रामान्
तृतीया	रामेण	रामाभ्याम्	रामैः
चतुर्थी	रामाय	''	रामेभ्यः
पंचमी	रामात्	''	''
षष्ठी	रामस्य	रामयोः	रामाणाम्
सप्तमी	रामे	''	रामेषु
संबोधन	हे राम!	हे रामौ!	हे रामाः!

(२) हरि (विष्णु) इकारान्त पु०

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	हरिः	हरी	हरयः
द्वि०	हरिम्	''	हरीन्
तृ०	हरिणा	हरिभ्याम्	हरिभिः
च०	हरये	''	हरिभ्यः
पं०	हरेः	''	''
ष०	हरेः	हर्योः	हरीणाम्
स०	हरौ	''	हरिषु
सं०	हे हरे!	हे हरी!	हे हरयः!

(३) गुरु (गुरु) उकारान्त पु०

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन

प्र०	गुरुः	गुरू	गुरवः
द्वि०	गुरुम्	''	गुरून्
तृ०	गुरुणा	गुरुभ्याम्	गुरुभिः
च०	गुरवे	''	गुरुभ्यः
पं०	गुरोः	''	''
ष०	''	गुर्वोः	गुरुणाम्
स०	गुरौ	''	गुरुषु
सं०	हे गुरो !	हे गुरू !	हे गुरवः !

(४) कर्तृ (करनेवाला) ऋकारान्त पु०

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	कर्ता	कर्तारौ	कर्तारः
द्वि०	कर्तारम्	''	कर्तॄन्
तृ०	कर्त्रा	कर्तृभ्याम्	कर्तृभिः
च०	कर्त्रे	''	कर्तृभ्यः
पं०	कर्तुः	''	''
ष०	''	कर्त्रोः	कर्तॄणाम्
स०	कर्तरि	''	कर्तृषु
सं०	हे कर्तः !	हे कर्तारौ !	हे कर्तारः !

(५) पितृ (पिता) ऋकारान्त पु०

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	पिता	पितरौ	पितरः
द्वि०	पितरम्	''	पितॄन्
तृ०	पित्रा	पितृभ्याम्	पितृभिः
च०	पित्रे	''	पितृभ्यः
पं०	पितुः	''	''
ष०	''	पित्रोः	पितॄणाम्
स०	पितरि	''	पितृषु
सं०	हे पितः !	हे पितरौ !	हे पितरः !

(६)गो (गाय या बैल) ओकारान्त पु०, स्त्री०

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	गौः	गावौ	गावः
द्वि०	गाम्	''	गाः
तृ०	गवा	गोभ्याम्	गोभिः
च०	गवे	''	गोभ्यः

पं०	गोः	’’	’’
ष०	’’	गवोः	गवाम्
स०	गवि	’’	गोषु
सं०	हे गौः !	हे गावौ !	हे गावः !

(७) भगवत् (भगवान्) तकारान्त पु०

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथमा	भगवान्	भगवन्तौ	भगवन्तः
द्वितीया	भगवन्तम्	’’	भगवतः
तृतीया	भगवता	भगवद्भ्याम्	भगवद्भिः
चतुर्थी	भगवते	’’	भगवद्भ्यः
पंचमी	भगवतः	’’	’’
षष्ठी	’’	भगवतोः	भगवताम्
सप्तमी	भगवति	’’	भगवत्सु
संबोधन	हे भगवन् !	हे भगवन्तौ !	हे भगवन्तः!

(८) करिन् (हाथी) इन्नन्त पु०

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	करी	करिणौ	करिणः
द्वि०	करिणम्	’’	’’
तृ०	करिणा	करिभ्याम्	करिभिः
च०	करिणे	’’	करिभ्यः
पं०	करिणः	’’	’’
ष०	’’	करिणोः	करिणाम्
स०	करिणि	’’	करिषु
सं०	हे करिन् !	हे करिणौ !	हे करिणः !

(९) आत्मन् (आत्मा) अन्नन्त पु०

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	आत्मा	आत्मानौ	आत्मानः
द्वि०	आत्मानम्	''	आत्मनः
तृ०	आत्मना	आत्मभ्याम्	आत्मभिः
च०	आत्मने	''	आत्मभ्यः
पं०	आत्मनः	''	''
ष०	''	आत्मनोः	आत्मनाम्
स०	आत्मनि	''	आत्मसु
सं०	हे आत्मन् !	हे आत्मानौ !	
हे आत्मानः !			

(१०) राजन् (राजा) अन्नन्त पु०

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	राजा	राजानौ	राजानः
द्वि०	राजानम्	''	राज्ञः
तृ०	राज्ञा	राजभ्याम्	राजभिः
च०	राज्ञे	''	राजभ्यः
पं०	राज्ञः	''	''
ष०	''	राज्ञोः	राज्ञाम्
स०	राज्ञि, राजनि	''	राजसु
सं०	हे राजन् !	हे राजानौ !	हे राजानः !

(११) रमा (लक्ष्मी) आकारान्त स्त्री०

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	रमा	रमे	रमाः
द्वि०	रमाम्	''	''
तृ०	रमया	रमाभ्याम्	रमाभिः
च०	रमायै	''	रमाभ्यः
पं०	रामायाः	''	''
ष०	''	रमयोः	रमाणाम्
स०	रमायाम्	''	रमासु
सं०	हे रमे !	हे रमे !	हे रमाः !

(१२) मति (बुद्धि) इकारान्त स्त्री०

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	मतिः	मती	मतयः
द्वि०	मतिम्	''	मतीः
तृ०	मत्या	मतिभ्याम्	मतिभिः
च०	मत्यै, मतये	''	मतिभ्यः

पं०	मत्याः, मतेः	''	''
ष०	'' ''	मत्योः	मतीनाम्
स०	मत्याम्, मतौ	''	मतिषु
सं०	हे मते !	हे मती !	हे मतयः !

(१३) नदी (नदी) ईकारान्त स्त्री० शब्द

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथमा	नदी	नद्यौ	नद्यः
द्वितीया	नदीम्	''	नदीः
तृतीया	नद्या	नदीभ्याम्	नदीभिः
चतुर्थी	नद्यै	''	नदीभ्यः
पंचमी	नद्याः	''	''
षष्ठी	''	नद्योः	नदीनाम्
सप्तमी	नद्याम्	''	नदीषु
संबोधन	हे नदि!	हे नद्यौ !	हे नद्यः !

(१४) धेनु (गाय) उकारान्त स्त्री०

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	धेनुः	धेनू	धेनवः
द्वि०	धेनुम्	''	धेनूः
तृ०	धेन्वा	धेनुभ्याम्	धेनुभिः
च०	धेन्वै, धेनवे	''	धेनुभ्यः
पं०	धेन्वाः, धेनोः	''	''
ष०	'' ''	धेन्वोः	धेनूनाम्
स०	धेन्वाम्, धेनौ	''	धेनुषु
सं०	हे धेनो !	हे धेनू !	हे धेनवः !

(१५) वधू (बहू) ऊकारान्त स्त्री० शब्द

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	वधूः	वध्वौ	पध्वः
द्वि०	वधूम्	''	वधूः
तृ०	वध्वा	वधूभ्याम्	वधूभिः
च०	वध्वै	''	वधूभ्यः
पं०	वध्वाः	''	''
ष०	''	वध्वोः	वधूनाम्
स०	वध्वाम्	''	वधूषु

सं०	हे वधु !	हे वध्वौ !	हे वध्वः !

(१६) वाच् (वाणी) चकारान्त स्त्री०

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	वाक्-ग्	वाचौ	वाचः
द्वि०	वाचम्	''	''
तृ०	वाचा	वाग्भ्याम्	वाग्भिः
च०	वाचे	''	वाग्भ्यः
पं०	वाचः	''	''
ष०	''	वाचोः	वाचाम्
स०	वाचि	''	वाक्षु
सं०	हे वाक्-ग् !	हे वाचौ !	हे वाचः !

(१७) सरित् (नदी) तकारान्त स्त्री०

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	सरित्	सरितौ	सरितः
द्वि०	सरितम्	''	''
तृ०	सरिता	सरिद्भ्याम्	सरिद्भिः
च०	सरिते	''	सरिद्भ्यः
पं०	सरितः	''	''
ष०	''	सरितोः	सरिताम्
स०	सरिति	''	सरित्सु
सं०	हे सरित् !	हे सरितौ !	हे सरितः !

(१८) गृह (घर) अकारान्त नपुं०

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	गृहम्	गृहे	गृहाणिः
द्वि०	''	''	''
तृ०	गृहेण	गृहाभ्याम्	गृहैः
च०	गृहाय	''	गृहेभ्यः
पं०	गृहात्	''	''
ष०	गृहस्य	गृहयोः	गृहाणाम्
स०	गृहे	''	गृहेषु
सं०	हे गृह !	हे गृहे !	हे गृहाणि !

(१९) वारि (जल) इकारान्त नपुं०

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	वारि	वारिणी	वारीणि
द्वितीया	वारि	वारिणी	वारीणि
तृतीया	वरिणा	वारिभ्याम्	वारिभिः
चतुर्थी	वारिणे	वारिभ्याम्	वारिभ्यः
पंचमी	वारिणः	वारिभ्याम्	वारिभ्यः
षष्ठी	वारिणः	वारिणोः	वारीणाम्
सप्तमी	वारिणि	''	वारिषु
संबोधन	हे वारि-वारे!	हे वारिणी!	हे वारिणि!

(२०) दधि (दही) इकारान्त नपुं०

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	दधि	दधिनी	दधीनि
द्वि०	दधि	दधिनी	दधीनि
तृ०	दध्ना	दधिभ्याम्	दधिभिः
च०	दध्ने	दधिभ्याम्	दधिभ्यः
पं०	दध्नः	दधिभ्याम्	दधिभ्यः
ष०	दध्नः	दध्नों	दध्नाम्
स०	दध्नि, दधनि	दध्नों	दधिषु
सं०	हे दधि-दधे!	हे दधिनी!	हे दधीनि!

(२१) मधु (शहद) उकारान्त नपुं०

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	मधु	मधुनी	मधूनि
द्वि०	मधु	मधुनी	मधूनि
तृ०	मधुना	मधुभ्याम्	मधुभिः
च०	मधुने	मधुभ्याम्	मधुभ्यः
पं०	मधुनः	मधुभ्याम्	मधुभ्यः
ष०	मधुनः	मधुनोः	मधूनाम्
स०	मधुनि	मधुनोः	मधुषु
सं०	हे मधु-मधो!	हे मधुनी!	हे मधूनि!

(२२) पयस् (दूध, जल) असन्त नंपु०

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	पयः	पयसी	पयांसि
द्वि०	पयः	पयसी	पयांसि
तृ०	पयसा	पयोभ्याम्	पयोभिः
च०	पयसे	पयोभ्याम्	पयोभ्यः
पं०	पयसः	पयोभ्याम्	पयोभ्यः
ष०	पयसः	पयसोः	पयसाम्
स०	पयसि	पयसोः	पयस्सु, पयःसु
सं०	हे पयः!	हे पयसी!	हे पयांसि!

(२३) नामन् (नाम) अन्नन्त नंपु०

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	नाम	नाम्नी, नामनी	नामानि
द्वि०	नाम	नाम्नी, नामनी	नामानि
तृ०	नाम्ना	नामभ्याम्	नामभिः
च०	नाम्ने	नामभ्याम्	नामभ्यः
पं०	नाम्नः	नामभ्याम्	नामभ्यः
ष०	नाम्नः	नाम्नोः	नाम्नाम्
स०	नाम्नि, नामनि	नाम्नोः	नामसु
सं०	हे नान, नामन्!	हे नामनी!	हे नामानि!

(२४) अहन् (दिन) अन्नन्त नंपु०

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	अहः	अहनी	अहानि

द्वि०	अहः	अहनी	अहानि
तृ०	अह्ना	अहोभ्याम्	अहोभिः
च०	अह्ने	अहोभ्याम	अहोभ्यः
पं०	अह्नः	अहोभ्याम	अहोभ्यः
ष०	अह्नः	अह्नोः	अह्नाम्
स०	अह्नि, अहनि	अह्नो	अहःसु
सं०	हे अहः!	हे अहनी!	हे अहानि!

(२५) जगत् (संसार) तकारान्त नपुं०

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथमा	जगत्	जगती	जगन्ति
द्वितीया	जगत्	जगती	जगन्ति
तृतीया	जगता	जगद्भ्याम्	जगद्भिः
चतुर्थी	जगते	जगद्भ्याम्	जगद्भ्यः
पंचमी	जगतः	जगद्भ्याम्	जगद्भ्यः
षष्ठी	जगतः	जगतोः	जगताम्
सप्तमी	जगति	जगतोः	जगत्सु
संबोधन	हे जगत्!	हे जगती!	हे जगन्ति!

(२६) क. सर्व (सब) सर्वनाम पु०

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	सर्वः	सर्वौ	सर्वे
द्वि०	सर्वम्	सर्वौ	सर्वान्
तृ०	सर्वेण	सर्वाभ्याम्	सर्वैः
च०	सर्वस्मै	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः
पं०	सर्वस्मात्	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः
ष०	सर्वस्य	सर्वयोः	सर्वेषाम्
स०	सर्वस्मिन्	सर्वयोः	सर्वेषु

(२७) ख. सर्व (सब) नपुं०

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	सर्वम्	सर्वे	सर्वाणि
द्वि०	सर्वम्	सर्वे	सर्वाणि
तृ०	सर्वेण	सर्वाभ्याम्	सर्वैः
च०	सर्वस्मै	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः
पं०	सर्वस्मात्	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः

ष०	सर्वस्य	सर्वयोः	सर्वेषाम्
स०	सर्वस्मिन्	सर्वयोः	सर्वेषु

(२८) ग. सर्व (सब) स्त्रीलिंग

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	सर्वा	सर्वे	सर्वा
द्वि०	सर्वाम्	सर्वे	सर्वा
तृ०	सर्वया	सर्वाभ्याम्	सर्वाभिः
च०	सर्वस्यै	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्यः
पं०	सर्वस्याः	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्यः
ष०	सर्वस्याः	सर्वयोः	सर्वासाम्
स०	सर्वस्याम्	सर्वयोः	सर्वासु

(२९) (क) किम् (कौन) पुलिंग

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	कः	कौ	के
द्वि०	कम्	कौ	कान्
तृ०	केन	काभ्याम्	कैः
च०	कस्मै	काभ्याम्	केभ्यः
पं०	कस्मात्	काभ्याम्	केभ्यः
ष०	कस्य	कयोः	केषाम्
स०	कस्मिन्	कयोः	केषु

(३०) (ख) किम् (कौन) नपुं०

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	किम्	के	कानि
द्वि०	किम्	के	कानि
तृ०	केन	काभ्याम्	कैः
च०	कस्मै	काभ्याम्	केभ्यः
पं०	कस्मात्	काभ्याम्	केभ्यः
ष०	कस्य	कयोः	केषाम्
स०	कस्मिन्	कयोः	केषु

(३१) (ग) किम् (कौन) स्त्रीलिंग

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	का	के	काः
द्वितीया	काम्	के	काः
तृतीया	कया	काभ्याम्	काभिः
चतुर्थी	कस्यै	काभ्याम्	काभ्यः
पंचमी	कस्याः	काभ्याम्	काभ्यः
षष्ठी	कस्याः	कयोः	कासाम्
सप्तमी	कस्याम्	कयोः	कासु

(३२) क. एतद् (यह) पुलिंग

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	एषः	एतौ	एते
द्वि०	एतम्	एतौ	एतान्
तृ०	एतेना	एताभ्याम्	एतैः
च०	एतस्मै	एताभ्याम्	एतेभ्यः
पं०	एतस्मात्	एताभ्याम्	एतेभ्यः
ष०	एतस्य	एतयोः	एतेषाम्
स०	एतस्मिन्	एतयोः	एतेषु

(३३) ख. एतद् (यह) नपुं०

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	एतत्	एते	एतानि
द्वि०	एतत्	एते	एतानि
तृ०	एतेन	एताभ्याम्	एतैः
च०	एतस्मै	एताभ्याम्	एतेभ्यः
पं०	एतस्मात्	एताभ्याम्	एतेभ्यः
ष०	एतस्य	एतयोः	एतेषाम्
स०	एतस्मिन्	एतयोः	एतेषु

(३४) ग. एतद् (यह) स्त्रीलिंग

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	एषा	एते	एताः

द्वि०	एताम्	एते	एताः
तृ०	एतया	एताभ्याम्	एताभिः
च०	एतस्यै	एताभ्याम्	एताभ्यः
पं०	एतस्याः	एताभ्याम्	एताभ्यः
ष०	एतस्याः	एतयोः	एतेसास्
स०	एतस्याम्	एतयोः	एतासु

(३५) (क) यद् (जो) पुलिंग

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	यः	यौ	ये
द्वि०	यम्	यौ	यान्
तृ०	येन	याभ्याम्	यैः
च०	यस्मै	याभ्याम्	येभ्यः
पं०	यस्मात्	याभ्याम्	येभ्यः
ष०	यस्य	ययोः	येषाम्
स०	यस्मिन्	ययोः	येषु

(३६) (ख) यद् (जो) नपुं०

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	यत्	ये	यानि
द्वि०	यत्	ये	यानि
तृ०	येन	याभ्याम्	यैः
च०	यस्मै	याभ्याम्	येभ्यः
पं०	यस्मात्	याभ्याम्	येभ्यः
ष०	यस्य	ययोः	येषाम्
स०	यस्मिन्	ययोः	येषु

(३७) (ग) यद् (जो) स्त्रीलिंग

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथमा	या	ये	याः
द्वितीया	याम्	ये	याः
तृतीया	यया	याभ्याम्	याभिः
चतुर्थी	यस्यै	याभ्याम्	याभ्यः

पंचमी	यस्याः	याभ्याम्	याभ्यः
षष्ठी	यस्याः	ययोः	यासाम्
सप्तमी	यस्याम्	ययोः	यासु

(३८) क. इदम् (यह) पुं०

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	अयम्	इमौ	इमे
द्वि०	इमम्	इमौ	इमान्
तृ०	अनेन	आभ्याम्	एभिः
च०	अस्मै	आभ्याम्	एभ्यः
पं०	अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः
ष०	अस्य	अनयोः	एषाम्
स०	अस्मिन्	अनयोः	एषु

(३९) ख. इदम् (यह नपुं०

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	इदम्	इमे	इमानि
द्वि०	इदम्	इमे	इमानि
तृ०	अनेन	आभ्याम्	एभिः
च०	अस्मै	आभ्याम्	एभ्यः
पं०	अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः
ष०	अस्य	अनयोः	एषाम्
स०	अस्मिन्	अनयोः	एषु

(४०) ग. इदम (यह) स्त्रीलिंग

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	इदम्	इमे	इमाः
द्वि०	इमाम्	इमे	इमाः
तृ०	अनया	आभ्याम्	आभिः
च०	अस्यै	आभ्याम्	आभ्यः
पं०	अस्याः	आभ्याम्	आभ्यः
ष०	अस्याः	अनयोः	आसाम्
स०	अस्याम्	अनयोः	आसु

(४१) एक (एक) (दे० अ० 28)

विभक्ति	**पुंलिंग**	**नपुंसक**	**स्त्रीलिंग**
प्र०	एकः	एकम्	एका
द्वि०	एकम्	एकम्	एकाम्
तृ०	एकेन	एकेन	एकया
च०	एकस्मै	एकस्मै	एकस्यै
पं०	एकस्मात्	एकस्मात्	एकस्याः
ष०	एकस्य	एकस्य	एकस्याः
स०	एकस्मिन्	एकस्मिन्	एकस्याम्

(४२) द्वि (दो) (देखो अ० 28)

विभक्ति	**पुंलिंग**	**नपुंसक, स्त्रीलिंग**
प्र०	द्वौ	द्वे
द्वि०	द्वौ	द्वे
तृ०	द्वाभ्याम्	द्वाभ्याम्
च०	द्वाभ्याम्	द्वाभ्याम्
पं०	द्वाभ्याम्	द्वाभ्याम्
ष०	द्वयोः	द्वयोः
स०	द्वयोः	द्वयोः

(४३) चतुर् (चार) (देओ अ० 29)

विभक्ति	**पु0**	**नपुं0**	**स्त्री0**
प्रथमा	चत्वारः	चत्वारि	चतस्र :
द्वितीया	चतुरः	चत्वारि	चतस्रः
तृतीया	चतुर्भिः	चतुर्भिः	चतसृभिः
चतुर्थी	चतुर्भ्यः	चतुर्भ्यः	चतसृभ्यः
पंचमी	चतुर्भ्यः	चतुर्भ्यः	चतसृभ्यः
षष्ठी	चतुर्णाम्	चतुर्णाम्	चतसृणाम्
सप्तमी	चतुर्षु	चतुर्षु	चतसृषु

(४४) सप्तन् (सात) (49) **आष्टन् (आठ)**

विभक्ति			
प्र०	सप्त	अष्ट	अष्टौ

द्वि०	सप्त	अष्ट	अष्टौ
तृ०	सप्तभिः	अष्टभिः	अष्टाभिः
च०	सप्तभ्यः	अष्टभ्यः	अष्टाभ्यः
पं०	सप्तभ्यः	अष्टभ्यः	अष्टाभ्यः
ष०	सप्तभ्यः	अष्टानाम्	अष्टानाम्
स०	सप्तानाम्	अष्टसु	अष्टासु

(४५) त्रि (तीन) (दे० अ० 29)

विभक्ति	**पु०**	**नपुं०**	**स्त्री०**
प्र०	त्रयः	त्रीणि	तिस्रः
द्वि०	त्रीन्	त्रीणि	तिस्रः
तृ०	त्रिभिः	त्रिभिः	तिसृभिः
च०	त्रिभ्यः	त्रिभ्यः	तिसृभ्यः
पं०	त्रिभ्यः	त्रिभ्यः	तिसृभ्यः
ष०	त्रयाणाम्	त्रयाणाम्	तिसृणाम्
स०	त्रिषु	त्रिषु	तिसृषु

(४५) पञ्चन् (पाँच), 7 **षष् (छः)**

विभक्ति	**पुंलिंग**	**नपुंसक, स्त्रीलिंग**
प्र०	पञ्च	षट्
द्वि०	पञ्च	षट्
तृ०	पञ्चभिः	षड्भिः
च०	पञ्चभ्यः	षड्भ्यः
पं०	पञ्चभ्यः	षड्भ्यः
ष०	पञ्चानाम्	षण्णाम्
स०	पञ्चसु	षट्सु

(४६) नवन् (नौ), (52) **दशन् (दस)**

विभक्ति		
प्र०	नव	दश
द्वि०	नव	दश
तृ०	नवभिः	दशभिः

च०	नवभ्यः	दशभ्यः
पं०	नवभ्यः	दशभ्यः
ष०	नवानाम्	दशानाम्
स०	नवसु	दशसु

(४७) मनस् (मन) असन्त नपुं०

विभक्ति	**पुंलिंग**	**नपुंसक, स्त्रीलिंग**	
प्र०	मनः	मनसी	मनांसि
द्वि०	मनः	मनसी	मनांसि
तृ०	मनसा	मनोभ्याम्	मनोभिः
च०	मनसे	मनोभ्याम्	मनोभ्यः
पं०	मनसः	मनोभ्याम्	मनोभ्यः
ष०	मनसः	मनसोः	मनसाम
स०	मनसि	मनसोः	मनः सु-स्सु
सं०	हे मन!	हे मनसी!	हे मनांसि!

(४८) युष्मद् (तू) (देखो अ० 13)

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथमा	त्वम्	युवाम्	यूयम्
द्वितीया	त्वाम्	युवाम्	युष्मान्
	त्वा	वाम्	वः
तृतीया	त्वया	युवाभ्याम्	युष्माभिः
चतुर्थी	तुभ्यम्	युवाभ्याम्	युष्मभ्यम्
	ते	वाम्	वः
पंचमी	त्वत्	युवाभ्याम्	युष्मत्
षष्ठी	तव	युवयोः	युष्माकम्
	ते	वाम्	वः
सप्तमी	त्वयि	युवयोः	युष्मासु

(४९) (ख) अदस् नपुं० (देखो अ० १४)

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	अदः	अमू	अमूनि
द्वि०	अदः	अमू	अमूनि
तृ०	अमुना	अमूभ्याम्	अमीभिः
च०	अमुष्मै	अमूभ्याम्	अमीभ्यः

पं०	अमुष्मात्	अमूभ्याम्	अमीभ्यः
ष०	अमुष्य	अमुयोः	अमीषाम्
स०	अमुष्मिन्	अमुयोः	अमीषु

(५०) (क) अदस् (वह) (पुं०) (देओ अ० 13)

विभक्ति	**पु०**	**नपुं०**	**स्त्री०**
प्र०	असौ	अमू	अमी
द्वि०	अमुम्	अमू	अमून्
तृ०	अमुना	अमूभ्याम्	अमीभिः
च०	अमुष्मै	अमूभ्याम्	अमीभ्यः
पं०	अमुष्याः	अमूभ्याम्	अमीभ्यः
ष०	अमुष्याः	अमुयोः	अमूषाम्
स०	अमुष्याम्	अमुयोः	अमुषु

(५१) अस्मद् (मैं)

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथमा	अहम्	आवाम्	वयम्
द्वितीया	माम्	आवाम्	अष्मान्
	मा	नौ	नः
तृतीया	मया	आवाभ्याम्	अष्माभिः
चतुर्थी	मह्यम्	आवाभ्याम्	अष्मभ्यम्
	मे	नौ	नः
पंचमी	मत्	आवाभ्याम्	अस्मत्
षष्ठी	मम	आवयोः	अस्माकम्
	मे	नौ	नः
सप्तमी	मयि	अवयोः	अस्मासु

(५२) क. तद् (वह) पुंलिंग (दे०अ० 10-12)

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	सः	तौ	ते
द्वि०	तम्	तौ	तान्
तृ०	तेन	ताभ्याम्	तैः
च०	तस्मै	ताभ्याम्	तेभ्यः
पं०	तस्मात्	ताभ्याम्	तेभ्यः
ष०	तस्य	तयोः	तेषाम्
स०	तस्मिन्	तयोः	तेषु

(५३) (ख) तद् (वह) नपुं.

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**

प्र०	तत्	ते	तानि
द्वि०	तत्	ते	तानि
तृ०	तेन	ताभ्याम्	तैः
च०	तस्मै	ताभ्याम्	तेभ्यः
पं०	तस्मात्	ताभ्याम्	तेभ्यः
ष०	तस्य	तयोः	तेषाम्
स०	तस्मिन्	तयोः	तेषु

(५५) (ग) अदस् स्त्री०

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	असौ	अमू	अमूः
द्वि०	अमूम्	अमू	अमूः
तृ०	अमुया	अमूभ्याम्	अमूभिः
च०	अमुष्यै	अमूभ्याम्	अमूभ्यः
पं०	अमुष्याः	अमूभ्याम्	अमूभ्यः
ष०	अमुष्याः	अमुयोः	अमूषाम्
स०	अमुष्याम्	अमुयोः	आमूषु

(५४) (ग) तद् (वह) स्त्रीलिंग

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथमा	सा	ते	ताः
द्वतीया	ताम्	ते	ताः
तृतीया	तया	ताभ्याम्	ताभिः
चतुर्थी	तस्यै	ताभ्याम्	ताभ्यः
पंचमी	तस्याः	ताभ्याम्	ताभ्यः
षष्ठी	तस्याः	तयोः	तासाम्
सप्तमी	तस्याम्	तयोः	तासु

स्मरणीय बिंदु-

1. **समान रूप की तिकड़ीः** सभी शब्दरूपों के द्विवचन में प्रथमा-द्वितीया समान होते हैं, तृतीया-चतुर्थी-पंचमी के रूप एक जैसे (भ्याम् प्रत्यय वाले) होते हैं, तथा षष्ठी-सप्तमी के रूप समान होते हैं।

2. **सर्वनामों की विषेताः** सर्वनाम शब्दों (जैसे-सर्व, किम्, यद् आदि) में सम्बोधन विभक्ति नहीं होती है।

3. **अस्मद् और युष्मद्ः** ये दोनों सर्वनाम त्रिषु लिंगेषु समानाः (तीनों लिंगों में समान) चलते हैं। इनके द्वितीया, चतुर्थी और षष्ठी विभक्ति में दो-दो रूप बनते हैं (जैसेः मा/मे/नः और त्वा/ते/वः)।

4. **ऋकारान्त पितृ और कर्तृ:** पितृ (सम्बन्धवाचक) और कर्तृ (साधन/विशेषण वाचक) दोनों ऋकारान्त हैं, किंतु इनके प्रथमा विभक्ति के रूपों में भिन्नता होती है (पितरौ/पितर: और कर्तारौ/कर्तार:)।

संख्याओं के नियम:

1. एक, द्वि, त्रि और चतुर् शब्दों के रूप तीनों लिंगों में अलग-अलग चलते हैं।
2. एक शब्द केवल एकवचन में, द्वि केवल द्विवचन में, तथा त्रि से आगे की संख्याएँ केवल बहुवचन में चलती हैं।
3. पञ्चन् से आगे की संख्याएँ तीनों लिंगों में समान रहती हैं।

5 **अंक के प्रश्न**-

1. रामेण और रामस्य पदों में प्रयुक्त विभक्ति और वचन स्पष्ट कीजिए।
2. पितृ और मातृ अथवा कर्तृ जैसे ऋकारान्त शब्दों के प्रथमा विभक्ति बहुवचन के रूपों में क्या मुख्य अंतर दिखाई देता है?
3. संस्कृत सर्वनामों में युष्मद् शब्द के प्रथमा विभक्ति के तीनों वचनों के रूप लिखिए।
4. राजन् (नकारान्त पुल्लिंग) शब्द का सप्तमी विभक्ति के एकवचन में कौन-से दो रूप बनते हैं?
5. संख्या ३९ और ७९ को संस्कृत में किन दो-दो रूपों में व्यक्त किया जा सकता है? लिखिए।

15 **अंक के प्रश्न**-

1. अजन्त (स्वरान्त) और हलन्त (व्यंजनान्त) शब्दों से आप क्या समझते हैं? पाठ में दिए गए गुरु (उकारान्त) तथा आत्मन् (नकारान्त) शब्दों के सभी विभक्तियों और वचनों में रूप लिखकर दोनों के संरचनात्मक अंतर को स्पष्ट कीजिए।
2. संस्कृत व्याकरण में सर्वनाम शब्दों के रूप संचालन के नियमों की व्याख्या कीजिए। किम् (कौन) सर्वनाम का पुल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनों रूपों में प्रथमा से सप्तमी विभक्ति तक का तुलनात्मक चार्ट बनाइए।
3. संस्कृत संख्यावाचक शब्दों की विोषताओं पर सविस्तार प्रकाश डालिए। विशेष रूप से स्पष्ट कीजिए कि संख्या १ से ४ तक के पदों का प्रयोग वाक्यों में लिंग के आधार पर किस प्रकार परिवर्तित होता है? उदाहरण सहित समझाइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. हरि (इकारान्त पुल्लिंग) शब्द का चतुर्थी विभक्ति एकवचन में शुद्ध रूप क्या होगा?

(क) हरिणा

(ख) हरये

(ग) हरे:

(घ) हरौ

2. नदी शब्द का द्वितीया विभक्ति बहुवचन का रूप पहचानिए:

(क) नद्य:

(ख) नदीम्

(ग) नदी:

(घ) नदीभ्य:

3. सर्वनाम शब्द अस्मद् का षष्ठी विभक्ति बहुवचन में कौन-सा वैकल्पिक रूप सही है?

(क) मे

(ख) न:

(ग) व:

(घ) ते

4. संख्या ९६ को संस्कृत में शुद्ध रूप में क्या लिखा जाता है?

(क) षट्सप्तति:

(ख) षण्णवति:

(ग) षडशीति:

(घ) नवषष्टि:

5. निम्नलिखित वाक्यों में से चत्वार: पद का प्रयोग किस लिंग के साथ उचित है?

(क) चत्वार: बालका:

(ख) चत्वार: कन्या:

(ग) चत्वार: फलानि

(घ) चत्वार: नद्य:

इकाई-4.2 संख्याएँ (1-100), धातुरूप

संख्याएँ (1-100)

उद्देश्य-

- **धातु-रूपों का ज्ञानः** विद्यार्थियों को भ्वादि, अदादि, जुहोत्यादि, दिवादि, स्वादि, तुदादि, रुधादि, तनादि, क्र्यादि और चुरादि गणों की मुख्य धातुओं के रूपों से परिचित कराना।
- **पद-भेद की समझः** परस्मैपद, आत्मनेपद और उभयपद (जैसे- नी, हृ आदि) के अंतर को स्पष्ट करना।
- **लकार-विनियोगः** पाठ्यक्रम के मुख्य पाँच लकारों- लट् (वर्तमान), लोट् (आज्ञा), लङ् (भूतकाल), विधिलिङ् (चाहिए/आज्ञा) और लृट् (भविष्यत्) में रूपों के निर्माण और उनके प्रयोग की क्षमता विकसित करना।
- **धातु परिवर्तन का बोधः** विशेष धातुओं में लकारों के अनुसार होने वाले परिवर्तनों (जैसेः गम्=गच्छ, दृ=पय, स्था=तिष्ठ, पा=पिब आदि) को समझाना।

१. एकः, एकम्, एका
२. द्वौ, द्वे, द्वे
३. त्रयः, त्रीणि, तिस्रः
४. चत्वारः, चत्वारि, चतस्रः
५. पञ्च
६. षट्
७. सप्त
८. अष्ट, अष्टौ
९. नव
१०. दश
११. एकादश
१२. द्वादश
१३. त्रयोदश
१४. चतुर्दश
१५. पञ्चदश
१६. षोडश
१७. सप्तदश
१८. अष्टादश
१९. नवदश, एकोनविंशतिः
२०. विशतिः
२१. एकविशतिः
२२. द्वाविंशतिः
२३. त्रयोविंशतिः
२४. चतुर्विशतिः
२५. पञ्चविंशतिः
२६. षड्विशतिः
२७. सप्तविशतिः
२८. अष्टाविंशतिः
२९. नवविंशतिः, एकोनत्रिशत्
३०. त्रिशत्

३१. एकत्रिंशत्
३२. द्वात्रिंशत्
३३. त्रयस्त्रिंशत्
३४. चतुस्त्रिंशत्
३५. पञ्चत्रिंशत्
३६. षट्त्रिंशत्
३७. सप्तत्रिंशत्
३८. अष्टात्रिंशत्
३९. नवत्रिंशत्, एकोनचत्वारिंशत्
४०. चत्वारिंशत्
४१. एकचत्वारिंशत्
४२. द्विचत्वारिंशत्, द्वाचत्वारिंशत्
४३. त्रिचत्वारिंशत्, त्रयश्चत्वारिंशत्
४४. चतुश्चत्वारिंशत्
४५. पञ्चचत्वारिंशत्
४६. षट्चत्वारिंशत्
४७. सप्तचत्वारिंशत्
४८. अष्टचत्वारिंशत्, अष्टाचत्वारिंशत्
४९. नवचत्वारिंशत्, एकोनपञ्चाशत्
५०. पञ्चाशत्
५१. एकपञ्चाशत्
५२. द्विपञ्चाशत्, द्वापञ्चाशत्
५३. त्रिपञ्चाशत्, त्रयः पञ्चाशत्
५४. चतुःपञ्चाशत्
५५. पञ्चपञ्चाशत्
५६. षट्पञ्चाशत्
५७. सप्तपञ्चाशत्
५८. अष्टपञ्चाशत् अष्टापञ्चाशत्
५९. नवपञ्चाशत्, एकोनषष्टिः
६०. षष्टिः
६१. एकषष्टिः
६२. द्विषष्टिः, द्वाषष्टिः
६३. त्रिषष्टिः, त्रयःषष्टिः
६४. चतुःषष्टिः
६५. पञ्चषष्टिः
६६. षट्पष्टिः
६७. सप्तषष्टिः
६८. अष्टषष्टिः, अष्टाषष्टिः
६९. नवषष्टिः, एकोनसप्ततिः
७०. सप्ततिः
७१. एकसप्ततिः
७२. द्विसप्ततिः, द्वासप्ततिः

७३. त्रिसप्तति:, त्रय: सप्तति:
७४. चतु:सप्तति:
७५. पञ्चसप्तति:
७६. षट्सप्तति:
७७. सप्तसप्तति:
७८. अष्टसप्तति:, अष्टासप्तति:
७९. नवसप्तति:, एकोनाशीति
८०. अशीति:
८१. एकाशीति:
८२. द्वयशीति:
८३. त्र्यशीति:
८४. चतुरशीति:
८५. पञ्चाशीति:
८६. षडशीति:
८७. सप्ताशीति:
८८. अष्टाशीति:
८९. नवाशीति:, एकोननवति:
९०. नवति:
९१. एकनवति:
९२. द्विनवति:, द्वानवति:
९३. त्रिनवति:, त्रयोनवति:
९४. चतुर्नवति:
९५. पञ्चनवति:
९६. षण्णवति:
९७. सप्तनवति:
९८. अष्टनवति:, अष्टानवति:
९९. नवनवति: एकोनशतम्
१००. शतम्

(१) भ्वादिगण (परस्मैपदी धातुएँ)

(१) भू (होना)

लट् (वर्तमान)

पुरुष	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पु.	भवति	भवत:	भवन्ति
मध्यम पु.	भवसि	भवथ:	भवथ
उत्तम पु.	भवामि	भवाव:	भवाम:

लोट् (आज्ञा अर्थ)

प्र.	भवतु	भवताम्	भवन्तु
म.	भव	भवतम्	भवत
उ.	भवानि	भवाव	भवाम

लङ् (भूतकाल, अनद्यतन)

प्र.	अभवत्	अभवताम्	अभवन्
म.	अभवः	अभवतम्	अभवत
उ.	अभवम्	अभवाव	अभवाम

विधिलिङ् (आज्ञा या चाहिए अर्थ)

प्र.	भवेत्	भवेताम्	भवेयुः
म.	भवेः	भवेतम्	भवेत
उ.	भवेयम्	भवेव	भवेम

लृट (भविष्यत्)

प्र.	भविष्यति	भविष्यतः	भविष्यन्ति
म.	भविष्यसि	भविष्यथः	भविष्यथ
उ.	भविष्यामि	भविष्यावः	भविष्यामः

(२) हस् (हँसना)

सूचना - भू के तुल्य रूप चलेंगे।

लट्

पुरुष	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम पु.	हसति	हसतः	हसन्ति
मध्यम पु.	हससि	हसथः	हसथ
उत्तम पु.	हसामि	हसावः	हसामः

लोट्

प्रथम पु.	हसतु	हसताम्	हसन्तु
मध्यम पु.	हस	हसतम् हसत	म०
उत्तम पु.	हसानि	हसाव	हसाम

लङ्

प्रथम पु.	अहसत्	अहसताम्	अहसन्
मध्यम पु.	अहसः	अहसतम्	अहसत
उत्तम पु.	अहसम्	अहसाव	अहसाम

विधिलिङ्

प्रथम पु.	हसेत्	हसेताम्	हसेयुः
मध्यम पु.	हसेः	हसेतम्	हसेत
उत्तम पु.	हसेयम्	हसेव	हसेम

लृट्

प्रथम पु.	हसिष्यति	हसिष्यतः	हसिष्यन्ति
मध्यम पु.	हसिष्यसि	हसिष्यथः	हसिष्यथ
उत्तम पु.	हसिष्यामि	हसिष्यावः	हसिष्यामः

(३) पठ् (पढ़ना)

सूचना - भू के तुल्य रूप चलेंगे।

लट्

पुरुष	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	पठति	पठतः	पठन्ति
म०	पठसि	पठथः	पठथ
उ०	पठामि	पठावः	पठामः

लोट्

प्र०	पठतु	पठताम्	पठन्तु
पठ	पठतम्		पठत
उ०	पठानि	पठाव	पठाम

लङ्

प्र०	अपठत्	अपठताम्	अपठन्
म०	अपठः	अपठतम्	अपठत
उ०	अपठम्	अपठाव	अपठाम

विधिलिङ्

प्र०	पठेत्	पठेताम्	पठेयुः
म०	पठेः	पठेतम्	पठेत
उ०	पठेयम्	पठेव	पठेम

लृट्

प्र०	पठिष्यति	पठिष्यतः	पठिष्यन्ति
म०	पठिष्यसि	पठिष्यथः	पठिष्यथ
उ०	पठिष्यामि	पठिष्यावः	पठिष्यामः

(४) **रक्ष्** (रक्षा करना) (दे० अ०५-९) (५)

सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगें।

लट्

प्रथम पु.	रक्षति	रक्षतः	रक्षन्ति
मध्यम पु.	रक्षसि	रक्षथः	रक्षथ
उत्तम पु.	रक्षामि	रक्षावः	रक्षामः

लोट्

प्रथम पु.	रक्षतु	रक्षताम्	रक्षन्तु
मध्यम पु.	रक्ष	रक्षतम्	रक्षत
उत्तम पु.	रक्षाणि	रक्षाव	रक्षाम

लङ्

प्रथम पु.	अरक्षत्	अरक्षताम्	अरक्षन्
मध्यम पु.	अरक्षः	अरक्षतम्	अरक्षत
उत्तम पु.	अरक्षम्	अरक्षाव	अरक्षाम

विधिलिङ्

(5) **वद्** (बोलना) (दे० अ०५-९)

सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगे

लट्

प्र०	वदति	वदतः	वदन्ति
म०	वदसि	वदथः	वदथः
उ०	वदामि	वदावः	वदामः

लोट्

प्र०	वदतु	वदताम्	वदन्तु
म०	वद	वदतम्	वदत
उ०	वदानि	वदाव	वदाम

लङ्

प्र०	अवदत्	अवदताम्	अवदन्
म०	अवदः	अवदतम्	अवदत
उ०	अवदम्	अवदाव	अवदाम

विधिलिङ्ः

प्रथम पु.	रक्षेत्	रक्षेताम्	रक्षेयुः
मध्यम पु.	रक्षेः	रक्षेतम्	रक्षेत
उत्तम पु.	रक्षेयम्	रक्षेव	रक्षेम
	लृट्		
प्रथम पु.	रक्षिष्यति	रक्षिष्यतः	रक्षिष्यन्ति
मध्यम पु.	रक्षिष्यसि	रक्षिष्यथः	रक्षिष्यथ
उत्तम पु.	रक्षिष्यामि	रक्षिष्यावः	रक्षिष्यामः

(६) पच् (पकाना) (दे० अ०५-९)

सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगें।

	लट्		
प्रथम पु.	पचति	पचतः	पचन्ति
मध्यम पु.	पचसि	पचथः	पचथ
उत्तम पु.	पचामि	पचावः	पचामः
	लोट्		
प्रथम पु.	पचतु	पचताम्	पचन्तु
मध्यम पु.	पच	पचतम्	पचत
उत्तम पु.	पचानि	पचाव	पचाम
	लङ्		
प्रथम पु.	अपचत्	अपचताम्	अपचन्
मध्यम पु.	अपचः	अपचतम्	अपचत
उत्तम पु.	अपचम्	अपचाव	अपचाम
	विधिलिङ्		
प्रथम पु.	पचेत्	पचेताम्	पचेयुः
मध्यम पु.	पचेः	पचेतम	पचेत
उत्तम पु.	पचेयम्	पचेव	पचेम
	लृट्		
प्रथम पु.	पक्ष्यति	पक्ष्यतः	पक्ष्यन्ति
मध्यम पु.	पक्ष्यसि	पक्ष्यथः	पक्ष्यथ
उत्तम पु.	पक्ष्यामि	पक्ष्यावः	पक्ष्यामः

(७) नम् (प्रणाम करना) (दे० अ०५-९)

सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगें।

	लट्		
प्र०	नमति	नमतः	नमन्ति
म०	नमसि	नमथः	नमथ
उ०	नमामि	नमावः	नमामः
	लोट्		
प्र०	नमतु	नमताम्	नमन्तु
म०	नम	नमतम्	नमत
उ०	नमानि	नमाव	नमाम
	लङ्		
प्र०	अनमत्	अनमताम्	अनमन्
म०	अनमः	अनमतम्	अनमत
उ०	अनमम्	अनमाव	अनमाम
	विधिलिङ्		
प्र०	नेमत	नमेताम्	नमेयुः
म०	नमेः	नमेतम्	नमेत
उ०	नमेयम्	नमेव	नमेम
	लृट्		
प्र०	नंस्यति	नंस्यतः	नंस्यन्ति
म०	नंस्यसि	नंस्यथः	नंस्यथ
उ०	नंस्यामि	नंस्यावः	नंस्यामः

(८) **गम्** (जाना) (दे० अ० ५-९)

सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगें।

गम् को लट्, लोट्, लङ्,

विधि-लिङ् में गच्छ होता है।

	लट्		
प्रथम पु.	गच्छति	गच्छतः	गच्छन्ति
मध्यम पु.	गच्छसि	गच्छथः	गच्छथ

(९) दृश् (देखना) (दे० अ०५-९)

सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगें।

दृश् को लट्, लोट्, लङ्,

विधि-लिङ् में पश्य् होता है।

	लट्		
प्र०	पश्यति	पश्यतः	पश्यन्ति
म०	पश्यसि	पश्यथः	पश्यथ

उत्तम पु.	गच्छामि	गच्छावः	गच्छामः	उ०	पश्यामि	पश्यावः	पश्यामः
	लोट्					**लोट्**	
प्रथम पु.	गच्छतु	गच्छताम्	गच्छन्तु	प्र०	पश्यतु	पश्यताम्	पश्यन्तु
मध्यम पु.	गच्छ	गच्छतम्	गच्छत	म०	पश्य	पश्यतम्	पश्यत
उत्तम पु.	गच्छानि	गच्छाव	गच्छाम	उ०	पश्यानि	पश्याव	पश्याम
	लङ्					**लङ्**	
प्रथम पु.	अगच्छत्	अगच्छताम्	अगच्छन्	प्र०	अपश्यत्	अपश्यताम्	अपश्यन्
मध्यम पु.	अगच्छः	अगच्छतम्	अगच्छत	म०	अपश्यः	अपश्यतम्	अपश्यत
उत्तम पु.	अगच्छम्	अगच्छाव	अगच्छाम	उ०	अपश्यम्	अपश्याव	अपश्याम
	विधिलिङ्					**विधिलिङ्**	
प्रथम पु.	गच्छेत्	गच्छेताम्	गच्छेयुः	प्र०	पश्येत्	पश्येताम्	पश्येयुः
मध्यम पु.	गच्छेः	गच्छेतम्	गच्छेत	म०	पश्येः	पश्येतम्	पश्येत
उत्तम पु.	गच्छेयम्	गच्छेव	गच्छेम	उ०	पश्येयम्	पश्येव	पश्येम
	लृट्					**लृट्**	
प्रथम पु.	गमिष्यति	गमिष्यतः	गमिष्यन्ति	प्र०	द्रक्ष्यति	द्रक्ष्यतः	द्रक्ष्यन्ति
मध्यम पु.	गमिष्यसि	गमिष्यथः	गमिष्यथ	म०	द्रक्ष्यसि	द्रक्ष्यथः	द्रक्ष्यथ
उत्तम पु.	गमिष्यामि	गमिष्यावः	गमिष्यामः	उ०	द्रक्ष्यामि	द्रक्ष्यावः	द्रक्ष्यामः

(१०) सद् (बैठना) (दे० अ०५-९)

सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगें।
सद् को लट्, लोट्, लङ्,
विधि-लिङ् में सीद् होता है।

	लट्		
प्रथम पु.	सीदति	सीदतः	सीदन्ति
मध्यम पु.	सीदसि	सीदथः	सीदथ
उत्तम पु.	सीदामि	सीदावः	सीदामः
	लोट्		
प्रथम पु.	सीदतु	सीदताम्	सीदन्तु
मध्यम पु.	सीद	सीदतम्	सीदत
उत्तम पु.	सीदानि	सीदाव	सीदाम
	लङ्		
प्रथम पु.	असीदत्	असीदताम्	असीदन्
मध्यम पु.	असीदः	असीदतम्	असीदत
उत्तम पु.	असीदम्	असीदाव	असीदाम
	विधिलिङ्		
प्रथम पु.	सीदेत्	सीदेताम्	सीदेयुः
मध्यम पु.	सीदेः	सीदेतम्	सीदेत
उत्तम पु.	सीदेयम्	सीदेव	सीदेम

(११) स्था (देखना) (दे० अ०५-९)

सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगें।
स्था को लट्, लोट्, लङ्,
विधि-लिङ् में तिष्ठ होता है।

	लट्		
प्र०	तिष्ठति	तिष्ठतः	तिष्ठन्ति
म०	तिष्ठसि	तिष्ठथः	तिष्ठथ
उ०	तिष्ठामि	तिष्ठावः	तिष्ठामः
	लोट्		
प्र०	तिष्ठतु	तिष्ठताम्	तिष्ठन्तु
म०	तिष्ठ	तिष्ठतम्	तिष्ठत
उ०	तिष्ठानि	तिष्ठाव	तिष्ठाम
	लङ्		
प्र०	अतिष्ठत्	अतिष्ठताम्	अतिष्ठन्
म०	अतिष्ठः	अतिष्ठतम्	अतिष्ठत
उ०	अतिष्ठम्	अतिष्ठाव	अतिष्ठाम
	विधिलिङ्		
प्र०	तिष्ठेत्	तिष्ठेताम्	तिष्ठेयुः
म०	तिष्ठः	तिष्ठतम्	तिष्ठेत
उ०	तिष्ठेयम्	तिष्ठेम	तिष्ठेव

	लृट्		
प्रथम पु.	सत्स्यति	सत्स्यतः	सत्स्यन्ति
मध्यम पु.	सत्स्यसि	सत्स्यथः	सत्स्यथ
उत्तम पु.	सत्स्यामि	सत्स्यावः	सत्स्यामः

		लृट्	
प्र०	स्थास्यति	स्थास्यतः	स्थास्यन्ति
म०	स्थास्यसि	स्थास्यथः	स्थास्यथ
उ०	स्थास्यामि	स्थास्यावः	स्थास्याम)

(१२) पा (पीना) (भू के तुल्य)

सूचना-पा को लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ् में पिब् होता है।

	लट्		
प्रथम पु.	पिबति	पिबतः	पिबन्ति
मध्यम पु.	पिबसि	पिबथः	पिबथ
उत्तम पु.	पिबामि	पिबावः	पिबामः
	लोट्		
प्रथम पु.	पिबतु	पिबताम्	पिबन्तु
मध्यम पु.	पिब	पिबतम्	पिबत
उत्तम पु.	पिबानि	पिबाव	पिबाम
	लङ्		
प्रथम पु.	अपिबत्	अपिबताम्	अपिबन्
मध्यम पु.	अपिबः	अपिबतम्	अपिबत
उत्तम पु.	अपिबम्	अपिबाव	अपिबाम
	विधिलिङ्		
प्रथम पु.	पिबेत्	पिबेताम्	पिबेयुः
मध्यम पु.	पिबेः	पिबेतम्	पिबेत
उत्तम पु.	पिबेयम्	पिबेव	पिबेम
	लृट्		
प्रथम पु.	पास्यति	पास्यतः	पास्यन्ति
मध्यम पु.	पास्यसि	पास्यथः	पास्यथ
उत्तम पु.	पास्यामि	पास्यावः	पास्यामः

(13) **स्मृ** (स्मरण करना)

सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगें।

		लट्	
प्र०	स्मरति	स्मरतः	स्मरन्ति
म०	स्मरसि	स्मरथः	स्मरथ
उ०	स्मरामि	स्मरावः	स्मरामः
		लोट्	
प्र०	स्मरतु	स्मरताम्	स्मरन्तु
म०	स्मर	स्मरतम्	स्मरत
उ०	स्मराणि	स्मराव	स्मराम
		लङ्	
प्र०	अस्मरत्	अस्मरताम्	अस्मरन्
म०	अस्मरः	अस्मरतम्	अस्मरत
उ०	अस्मरम्	अस्मराव	अस्मराम
		विधिलिङ्	
प्र०	स्मरेत्	स्मरेताम्	स्मरेयुः
म०	स्मरेः	स्मरेतम्	स्मरेत
उ०	स्मरेयम्	स्मरेव	स्मरेम
		लृट्	
प्र०	स्मरिष्यति	स्मरिष्यतः	स्मरिष्यन्ति
म०	स्मरिष्यसि	स्मरिष्यथः	स्मरिष्यथ
उ०	स्मरिष्यामि	स्मरिष्यावः	स्मरिष्यामः

(१४) **जि** (जीतना) (भू के तुल्य) **लट्**- जयति, जयतः, जयन्ति। जयसि, जयथः, जयथ। जयामि, जयावः, जयामः। लोट्- जयतु जयताम्, जयन्तु। जय, जयतम्, जयत। जयानि, जयाव, जयाम। लङ् अजयत्, अजयताम्, अजयन्। अजयः, अजयतम्, अजयत। अजयम्, अजयाव, अजयाम। विधिलिङ् जयेत्, जयेताम्, जयेयुः। जये., जयेतम्, जयेत। जयेयम्, जयेव, जयेम। लृट् जेष्यति, जेष्यतः, जेष्यन्ति। जेष्यसि, जेष्यथः, जेष्यथ। जेष्यामि, जेष्यावः, जेष्यामः)

आत्मनेपदी धातुएँ

(१५) सेव् (सेवा करना) लट् (वर्तमान)

प्रथम पु.	सेवते	सेवेते	सेवन्ते
मध्यम पु.	सेवसे	सेवेथे	सेवध्वे
उत्तम पु.	सेवे	सेवावहे	सेवामहे
	लोट् (आज्ञा अर्थ)		

(१५) लट् (सं० रूप)

प्र०	अते	एते	अन्ते
म०	असे	एथे	अध्वे
उ०	ए	आवहे	आमहे
		लोट् (सं० रूप)	

प्रथम पु.	सेवताम्	सेवेताम्	सेवन्ताम्	प्र०	अताम्	एताम्	अन्ताम्
मध्यम पु.	सेवस्व	सेवेथाम्	सेवध्वम्	म०	अस्व	एथाम्	अध्वम्
उत्तम पु.	सेवै	सेवावहै	सेवामहै	उ०	ऐ	आवहै	आमहै
	लङ् (अनद्यतन भूतकाल)				**लङ् (सं० रूप)**		
प्रथम पु.	असेवत	असेवेताम्	असेवन्त	प्र०	अत	एताम्	अन्त
मध्यम पु.	असेवथा:	असेवेथाम्	असेवध्वम्	म०	अथा:	एथाम्	अध्वम्
उत्तम पु.	असेवे	असेवावहि	असेवामहि	उ०	ए	आवहि	आमहि
					सूचना - धातु के पहले 'अ' लगेगा।		
	विधिलिङ् (आज्ञा या चाहिए अर्थ)				**विधिलिङ् (सं० रूप)**		
प्रथम पु.	सेवेत	सेवेयाताम्	सेवेरन्	प्र०	एत	एयाताम्	एरन्
मध्यम पु.	सेवेथा:	सेवेयाथाम्	सेवेध्वम्	म०	एथा:	एयाथाम्	एध्वम्
उत्तम पु.	सेवेय	सेवेवहि	सेवेमहि	उ०	एय	एवहि	एमहि
	लृट् (भविष्यत्)				**लृट् (सं० रूप)**		
प्रथम पु.	सेविष्यते	सेविष्येते	सेविष्यन्ते	प्र०	इष्यते	इष्येते	इष्यन्ते
मध्यम पु.	सेविष्यसे	सेविष्येथे	सेविष्यध्वे	म०	इष्यसे	इष्येथे	इष्यध्वे
उत्तम पु.	सेविष्ये	सेविष्यावहे	सेविष्यामहे	उ०	इष्ये	इष्यावहे	इष्यामहे

सूचना- (१) कुछ धातुओं में इष्यते वाले रूप लगते हैं और कुछ में स्यते, स्येते, स्यन्ते आदि बिना इ वाले रूप लगते हैं।

(२) भ्वादिगण (१) की आत्मनेपदी सभी धातुओं के रूप पाँचों लकारों में सेव् धातु के तुल्य चलते हैं। उपर्युक्त संक्षिप्त रूप अन्त में लगेंगे)

(१६) लभ् (पाना)

सूचना-सेव् के तुल्य रूप चलेंगे।

	लट्				**लट्**		
प्रथम पु.	लभते	लभेते	लभन्ते	प्र०	वर्धते	वर्धेते	वर्धन्ते
मध्यम पु.	लभसे	लभेथे	लभध्वे	म०	वर्धसे	वर्धेथे	वर्धध्वे
उत्तम पु.	लभे	लभावहे	लभामहे	उ०	वर्धे	वर्धावहे	वर्धामहे
	लोट्				**लोट्**		
प्रथम पु.	लभताम्	लभेताम्	लभन्ताम्	प्र०	वर्धताम्	वर्धेताम्	वर्धन्ताम्
मध्यम पु.	लभस्व	लभेथाम्	लभध्वम्	म०	वर्धस्व	वर्धेथाम्	वर्धध्वम्
उत्तम पु.	लभै	लभावहै	लभामहै	उ०	वर्धै	वर्धावहै	वर्धामहै
	लङ्				**लङ्**		
प्रथम पु.	अलभत	अलभेताम्	अलभन्त	प्र०	अवर्धत	अवर्धेताम्	अवर्धन्त
मध्यम पु.	अलभथा:	अलभेथाम्	अलभध्वम्	म०	अवर्धथा:	अवर्धेथाम्	अवर्धध्वम्
उत्तम पु.	अलभे	अलभावहि	अलभामहि	उ०	अवर्धे	अवर्धावहि	अवर्धामहि
	विधिलिङ्				**विधिलिङ्**		
प्रथम पु.	लभेत	लभेयाताम्	लभेरन्	प्र०	वर्धेत	वर्धेयाताम्	वर्धेरन्
मध्यम पु.	लभेथा:	लभेयाथाम्	लभेध्वम्	म०	वर्धेथा:	वर्धेयाथाम्	वर्धेध्वम्
उत्तम पु.	लभेय	लभेवहि	लभेमहि	उ०	वर्धेय	वर्धेवहि	वर्धेमहि
	लृट्				**लृट्**		

(१७) वृध् (बढ़ना)

सूचना-सेव् के तुल्य रूप चलेंगे।

प्रथम पु.	लप्स्यते	लप्स्येते	लप्स्यन्ते
मध्यम पु.	लप्स्यसे	लप्स्येथे	लप्स्यध्वे
उत्तम पु.	लप्स्ये	लप्स्यावहे	लप्स्यामहे

(१८) मुद् (प्रसन्न होना)

सूचना-सेव् के तुल्य रूप चलेंग।

लट्

प्रथम पु.	मोदते	मोदेते	मोदन्ते
मध्यम पु.	मोदसे	मोदेथे	मोदध्वे
उत्तम पु.	मोदे	मोदावहे	मोदामहे

लोट्

प्रथम पु.	मोदताम्	मोदेताम्	मोदन्ताम्
मध्यम पु.	मोदस्व	मोदेथाम्	मोदध्वम्
उत्तम पु.	मोदै	मोदावहै	मोदामहै

लङ्

प्रथम पु.	अमोदत	अमोदेताम्	अमोदन्त
मध्यम पु.	अमोदथा:	अमोदेथाम्	अमोदध्वम्
उत्तम पु.	अमोदे	अमोदावहि	अमोदामहि

विधिलिङ्

प्रथम पु.	मोदेत	मोदेयाताम्	मोदेरन्
मध्यम पु.	मोदेथा:	मोदेयाथाम्	मोदेध्वम्
उत्तम पु.	मोदेय	मोदेवहि	मोदेमहि

लृट्

प्रथम पु.	मोदिष्यते	मोदिष्येते	मोदिष्यन्ते
मध्यम पु.	मोदिष्यसे	मोदिष्येथे	मोदिष्यध्वे
उत्तम पु.	मोदिष्ये	मोदिष्यावहे	मोदिष्यामहे

(२०) याच् (माँगना) (सेव् के तुल्य)

लट्

प्रथम पु.	याचते	याचेते	याचन्ते
मध्यम पु.	याचसे	याचेथे	याचध्वे
उत्तम पु.	याचे	याचावहे	याचामहे

लोट्

प्रथम पु.	याचताम्	याचेताम्	याचन्ताम्
मध्यम पु.	याचस्व	याचेथाम्	याचध्वम्
उत्तम पु.	याचै	याचावहै	याचामहै

लङ्

प्रथम पु.	अयाचत	अयाचेताम्	अयाचन्त
मध्यम पु.	अयाचथा:	अयाचेथाम्	अयाचध्वम्
उत्तम पु.	अयाचे	अयाचावहि	अयाचामहि

प्र०	वर्धिष्यते	वर्धिष्येते	वर्धिष्यन्ते
म०	वर्धिष्यसे	वर्धिष्येथे	वर्धिष्यध्वे
उ०	वर्धिष्ये	वर्धिष्यावहे	वर्धिष्यामहे

(१९) सह् (सहना)

सूचना-सेव् के तुल्य रूप चलेंगें।

लट्

प्र०	सहते	सहेते	सहन्ते
म०	सहसे	सहेथे	सहध्वे
उ०	सहे	सहावहे	सहामहे

लोट्

प्र०	सहताम्	सहेताम्	सहन्ताम्
म०	सहस्व	सहेथाम्	सहध्वम्
उ०	सहै	सहावहै	सहामहै

लङ्

प्र०	असहत	असहेताम्	असहन्त
म०	असहथा:	असहेथाम्	असहध्वम्
उ०	असहे	असहावहि	असहामहि

विधिलिङ्

प्र०	सहेत	सहेयाताम्	सहेरन्
	सहेथा:	सहेयाथाम्	सहेध्वम्
उ०	सहेय	सहेवहि	सहेमहि

लृट्

प्र०	सहिष्यते	सहिष्येते	सहिष्यन्ते
म०	सहिष्यसे	सहिष्येथे	सहिष्यध्वे
उ०	सहिष्ये	सहिष्यावहे	सहिष्यामहे

(२१) नी (ले जाना) उभयपदी धातु

लट्

प्र०	नयति	नयत:	नयन्ति
म०	नयसि	नयथ:	नयथ
उ०	नयामि	नयाव:	नयाम:

लोट्

प्र०	नयतु	नयताम्	नयन्तु
म०	नय	नयतम्	नयत
उ०	नयानि	नयाव	नयाम

लङ्

प्र०	अनयत्	अनयताम्	अनयन्
म०	अनय:	अनयतम्	अनयत
उ०	अनयम्	अनयाव	अनयाम

	विधिलिङ्					**विधिलिङ्**	
प्रथम पु.	याचेत	याचेयाताम्	याचेरन्	प्र०	नयेत्	नयेताम्	नयेयुः
मध्यम पु.	याचेथाः	याचेयाथाम्	याचेध्वम्	उ०	नयेः	नयेतम्	नयेत
उत्तम पु.	याचेय	याचेवहि	याचेमहि	म०	नयेयम्	नयेव	नयेम
	लृट्					**लृट्**	
प्रथम पु.	याचिष्यते	याचिष्येते	याचिष्यन्ते	प्र०	नेष्यति	नेष्यतः	नेष्यन्ति
मध्यम पु.	याचिष्यसे	याचिष्येथे	याचिष्यध्वे	म०	नेष्यसि	नेष्यथः	नेष्यथ
उत्तम पु.	याचिष्ये	याचिष्यावहे	याचिष्यामहे	उ०	नेष्यामि	नेष्यावः	नेष्यामः

(२१) नी (आत्मनेपद) - लट् नयते, नयेते, नयन्ते। नयसे, नयेथे, नयध्वे। नये, नयावहे, नयामहे। **लोट्**- नयताम्, नयेताम्, नयन्ताम्। नयस्व, नयेथाम्, नयध्वम्। नयै, नयावहै, नयामहै। **लङ्**- अनयत, अनयेताम्, अनयन्त। अनयथाः, अनयेथाम्, अनयध्वम्। अनये, अनयावहि, अनयामहि। **विधिलिङ्** नयेत, नयेयाताम्, नयेरन् नयेथाः, नयेयाथाम्, नयेध्वम्। नयेय, नयेवहि, नयेमहि। **लृट्** - नेष्यते, नेष्येते, नेष्यन्ते। नेष्यसे, नेष्येथे, नेष्यध्वे। नेष्ये, नेष्यावहे, नेष्यामहे)

(२२) हृ (ले जाना) उमयपदी धातु (भू और सेव् के तुल्य)

	परस्मैपद - लट्				**आत्मनेपद - लट्**		
प्रथम पु.	हरति	हरतः	हरन्ति	प्र०	हरते	हरेते	हरन्ते
मध्यम पु.	हरसि	हरथः	हरथ	म०	हरसे	हरेथे	हरध्वे
उत्तम पु.	हरामि	हरावः	हरामः	उ०	हरे	हरावहे	हरामहे
	लोट्					**लोट्**	
प्रथम पु.	हरतु	हरताम्	हरन्तु	प्र०	हरताम्	हरेताम्	हरन्ताम्
मध्यम पु.	हर	हरतम्	हरत	म०	हरस्व	हरेथाम्	हरध्वम्
उत्तम पु.	हराणि	हराव	हराम	उ०	हरै	हरावहै	हरामहै
	लङ्					**लङ्**	
प्रथम पु.	अहरत्	अहरताम्	अहरन्	प्र०	अहरत	अहरेताम्	अहरन्त
मध्यम पु.	अहरः	अहरतम्	अहरत	म०	अहरथाः	अहरेथाम्	अहरध्वम्
उत्तम पु.	अहरम्	अहराव	अहराम	उ०	अहरे	अहरावहि	अहरामहि
	विधिलिङ्					**विधिलिङ्**	
प्रथम पु.	हरेत्	हरेताम्	हरेयुः	प्र०	हरेत	हरेयाताम्	हरेरन्
मध्यम पु.	हरेः	हरेतम्	हरेत	म०	हरेथाः	हरेयाथाम्	हरेध्वम्
उत्तम पु.	हरेयम्	हरेव	हरेम	उ०	हरेय	हरेवहि	हरेमहि
	लृट्					**लृट्**	
प्रथम पु.	हरिष्यति	हरिष्यतः	हरिष्यन्ति	प्र०	हरिष्यते	हरिष्येते	हरिष्यन्ते
मध्यम पु.	हरिष्यसि	हरिष्यथः	हरिष्यथ	म०	हरिष्यते	हरिष्येथे	हरिष्यध्वे
उत्तम पु.	हरिष्यामि	हरिष्यावः	हरिष्यामः	उ०	हरिष्ये	हरिष्यावहे	हरिष्यामहे

(२३) अस् (होना)

सूचना-अस् को लट् में भू हो जाता है।

अदादिगण-लृट्

प्रथम पु.	अस्ति	स्तः	सन्ति	प्र०	ददाति	दत्तः	ददति

(२४) दा (देना)

(परस्मैपद के रूप ये हैं)

जुहोत्यादिगण-लट्

मध्यम पु.	असि	स्थः	स्थ	म०	ददासि	दत्थः	दत्थ
उत्तम पु.	अस्मि	स्वः	स्मः	उ०	ददामि	दद्वः	दद्मः
	लोट्					**लोट्**	
प्रथम पु.	अस्तु	स्ताम्	सन्तु	प्र०	ददातु	दत्ताम्	ददतु
मध्यम पु.	एधि	स्तम्	स्त	म०	देहि	दत्तम्	दत्त
उत्तम पु.	असानि	असाव	असाम	उ०	ददानि	ददाव	ददाम
	लङ्					**लङ्**	
प्रथम पु.	आसीत्	आस्ताम्	आसन्	प्र०	अददात्	अदत्ताम्	अददुः
मध्यम पु.	आसीः	आस्तम्	आस्त	म०	अददाः	अदत्तम्	अदत्त
उत्तम पु.	आसम्	आस्व	आस्म	उ०	अददाम्	अदद्व	अदद्म
	विधिलिङ्					**विधिलिङ्**	
प्रथम पु.	स्यात्	स्याताम्	स्युः	प्र०	दद्यात्	दद्याताम्	दद्युः
मध्यम पु.	स्याः	स्यातम्	स्यात	म०	दद्याः	दद्यातम्	दद्यात
उत्तम पु.	स्याम्	स्याव	स्याम	उ०	दद्याम्	दद्याव	दद्याम
	लृट्					**लृट्**	
प्रथम पु.	भविष्यति	भविष्यतः	भविष्यन्ति	प्र०	दास्यति	दास्यतः	दास्यन्ति
मध्यम पु.	भविष्यसि	भविष्यथः	भविष्यथ	म०	दास्यसि	दास्यथः	दास्यथ
उत्तम पु.	भविष्यामि	भविष्यावः	भविष्यामः	उ०	दास्यामि	दास्यावः	दास्याम)

(२५) दिव् (चमकना आदि)

सूचना-धातु में य लगाकर भू के तुल्य।

दिवादिगण-लट्

प्रथम पु.	दीव्यति	दीव्यतः	दीव्यन्ति	प्र०	नृत्यति	नृत्यतः	नृत्यन्ति
मध्यम पु.	दीव्यसि	दीव्यथः	दीव्यथ	म०	नृत्यसि	नृत्यथः	नृत्यथ
उत्तम पु.	दीव्यामि	दीव्यावः	दीव्यामः	उ०	नृत्यामि	नृत्यावः	नृत्यामः
	लोट्					**लोट्**	
प्रथम पु.	दीव्यतु	दीव्यताम्	दीव्यन्तु	प्र०	नृत्यतु	नृत्यताम्	नृत्यन्तु
मध्यम पु.	दीव्य	दीव्यतम्	दीव्यत	म०	नृत्य	नृत्यतम्	नृत्यत
उत्तम पु.	दीव्यानि	दीव्याव	दीव्याम	उ०	नृत्यानि	नृत्याव	नृत्याम
	लङ्					**लङ्**	
प्रथम पु.	अदीव्यत्	अदीव्यताम्	अदीव्यन्	प्र०	अनृत्यत्	अनृत्यताम्	अनृत्यन्
मध्यम पु.	अदीव्यः	अदीव्यतम्	अदीव्यत	म०	अनृत्यः	अनृत्यतम्	अनृत्यत
उत्तम पु.	अदीव्यम्	अदीव्याव	अदीव्याम	उ०	अनृत्यम्	अनृत्याव	अनृत्याम
	विधिलिङ्					**विधिलिङ्**	
प्रथम पु.	दीव्येत्	दीव्येताम्	दीव्येयुः	प्र०	नृत्येत्	नृत्येताम्	नृत्येयुः
मध्यम पु.	दीव्येः	दीव्येतम्	दीव्येत	म०	नृत्येः	नृत्येतम्	नृत्येत
उत्तम पु.	दीव्येयम्	दीव्येव	दीव्येम	उ०	नृत्येयम्	नृत्येव	नृत्येम
	लृट्					**लृट्**	

(२६) नृत् (नाचना)

सूचना- दिव् के तुल्य रूप चलेंगे।

प्रथम पु.	देविष्यति	देविष्यत:	देविष्यन्ति
मध्यम पु.	देविष्यसि	देविष्यथ:	देविष्यथ
उत्तम पु.	देविष्यामि	देविष्याव:	देविष्याम:

(२७) **नश्** (नष्ट होना)

सूचना-दिव् के तुल्य रूप चलेंगे।

लट्

प्रथम पु.	नश्यति	नश्यत:	नश्यन्ति
मध्यम पु.	नश्यसि	नश्यथ:	नश्यथ
उत्तम पु.	नश्यामि	नश्याव:	नश्याम:

लोट्

प्रथम पु.	नश्यतु	नश्यताम्	नश्यन्तु
मध्यम पु.	नश्य	नश्यतम्	नश्यत
उत्तम पु.	नश्यानि	नश्याव	नश्याम

लङ्

प्रथम पु.	अनश्यत्	अनश्यताम्	अनश्यन्
मध्यम पु.	अनश्य:	अनश्यतम्	अनश्यत
उत्तम पु.	अनश्यम्	अनश्याव	अनश्याम

विधिलिङ्

प्रथम पु.	नश्येत्	नश्येताम्	नश्येयु:
मध्यम पु.	नश्ये:	नश्येतम्	नश्येत
उत्तम पु.	नश्येयम्	नश्येव	नश्येम

लृट्

(क)

प्रथम पु.	नशिष्यति	नशिष्यत:	नशिष्यन्ति
मध्यम पु.	नशिष्यसि	नशिष्यथ:	नशिष्यथ
उत्तम पु.	नशिष्यामि	नशिष्याव:	नशिष्याम:

(ख)

प्रथम पु.	नङ्क्ष्यति	नङ्क्ष्यत:	नङ्क्ष्यन्ति
मध्यम पु.	नङ्क्ष्यसि	नङ्क्ष्यथ:	नङ्क्ष्यथ
उत्तम पु.	नङ्क्ष्यामि	नङ्क्ष्याव:	नङ्क्ष्याम:

२९. **श्रु** (सुनना)

भ्वादिगण-लट् (श्रु को शृ)

प्रथम पु.	शृणोति	शृणुत:	शृण्वन्ति
मध्यम पु.	शृणोषि	शृणुथ:	शृणुथ
उत्तम पु.	शृणोमि	शृणुव:	शृणुम:

लोट् (श्रु को शृ)

प्रथम पु.	शृणोतु	शृणुताम्	शृण्वन्तु
मध्यम पु.	शृणु	शृणुतम्	शृणुत
उत्तम पु.	शृणवानि	शृणवाव	शृणवाम

लङ् (श्रुको शृ)

(२८) **भ्रम्** (घूमना)

सूचना-दिव् के तुल्य रूप चलेंगे।

लट्

प्र०	भ्राम्यति	भ्राम्यत:	भ्राम्यन्ति
म०	भ्राम्यसि	भ्राम्यथ:	भ्राम्यथ
म०	भ्राम्यामि	भ्राम्याव:	भ्राम्याम:

लोट्

प्र०	भ्राम्यतु	भ्राम्यताम्	भ्राम्यन्तु
म०	भ्राम्य	भ्राम्यतम्	भ्राम्यत
उ०	भ्राम्याणि	भ्राम्याव	भ्राम्याम

लङ्

प्र०	अभ्राम्यत्	अभ्राम्यताम्	अभ्राम्यन्
म०	अभ्राम्य:	अभ्राम्यतम्	अभ्राम्यत
उ०	अभ्राम्यम्	अभ्राम्याव	अभ्राम्याम

विधिलिङ्

प्र०	भ्राम्येत्	भ्राम्येताम्	भ्राम्येयु:
म०	भ्राम्ये:	भ्राम्येतम्	भ्राम्येत
उ०	भ्राम्येयम्	भ्राम्येव	भ्राम्येम

लृट्

प्र०	भ्रमिष्यति	भ्रमिष्यत:	भ्रमिष्यन्ति
म०	भ्रमिष्यसि	भ्रमिष्यथ:	भ्रमिष्यथ
उ०	भ्रमिष्यामि	भ्रमिष्याव:	भ्रमिष्याम:

प्र० **सूचना** - भ्रम् के रूप भू धातु के
म० तुल्य भी चलते है। जैसे- भ्रमति,
उ० भ्रमतु, अभ्रमत्, भ्रमेत्, भ्रमिष्यति।

(३०) आप् (पाना)

स्वादिगण-लट्

प्र०	आप्नोति	आप्नुत:	आप्नुवन्ति
म०	आप्नोषि	आप्नुथ:	आप्नुथ
उ०	आप्नोमि	आप्नुव:	आप्नुम:

लोट्

प्र०	आप्नोतु	आप्नुताम्	आप्नुवन्तु
म०	आप्नुहि	आप्नुतम्	आप्नुत
उ०	आप्नवानि	आप्नवाव	आप्नवाम

लङ्

प्रथम पु.	अश्रृणोत्	अशृणुताम्	अशृण्वन्	प्र०	आप्नोत्	आप्नुताम्	आप्नुवन्
मध्यम पु.	अशृणोः	अशृणुतम्	अशृणुत	म०	आप्नोः	आप्नुतम्	आप्नुत
उत्तम पु.	अश्रृणवम्	अशृणुव	अशृणुम	उ०	आप्नवम्	आप्नुव	आप्नुम
	विधिलिङ्					**विधिलिङ्**	
प्रथम पु.	शृणुयात्	शृणुयाताम्	शृणुयुः	प्र०	आप्नुयात्	आप्नुयाताम्	आप्नुयुः
मध्यम पु.	शृणुयाः	शृणुयातम्	शृणुयात	म०	आप्नुयाः	आप्नुयातम्	आप्नुयात
उत्तम पु.	शृणुयाम्	शृणुयाव	शृणुयाम	उ०	आप्नुयाम्	आप्नुयाव	आप्नुयाम
	लृट्					**लृट्**	
प्रथम पु.	श्रोष्यति	श्रोष्यतः	श्रोष्यन्ति	प्र०	आप्स्यति	आप्स्यतः	आप्स्यन्ति
मध्यम पु.	श्रोष्यसि	श्रोष्यथः	श्रोष्यथ	म०	आप्स्यसि	आप्स्यथः	आप्स्यथ
उत्तम पु.	श्रोष्यामि	श्रोष्यावः	श्रोष्यामः	उ०	आप्स्यामि	आप्स्यावः	आप्स्यामः

(३१) **शक्** (सकना)। **सूचना**- आप् के तुल्य रूप चलेंगें।

लट् - शक्नोति, शक्नुतः, शक्नुवन्ति। शक्नोषि, शक्नुथः, शक्नुथ। शक्नोमि, शक्नुवः, शक्नुमः। **लोट्** - शक्नोतु, शक्नुताम्, शक्नुवन्तु। शक्नुहि, शक्नुतम्, शक्नुत। शक्नवानि, शक्तवाव, शक्नवाम। **लङ्** अशक्नोत्, अशक्नुताम्, अशक्नुवन्। अशक्नोः, अशक्नुतम्, अशक्नुत। अशक्नवम्, अशक्नुव, अशक्नुम। **विधिलिङ्** - शक्नुयात्, शक्नुयाताम्, शक्नुयुः। शक्नुयाः शक्नुयातम्, शक्नुयात। शक्नुयाम्, शक्नुयाव, शक्नुयाम। **लृट्** - शक्ष्यति, शक्ष्यतः, शक्ष्यन्ति। शक्ष्यसि, शक्ष्यथः, शक्ष्यथ। शक्ष्यामि, शक्ष्यावः, शक्ष्यामः)

(३२) तुद् (दुःख देना)

सूचना - तुद् को लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् में गुण नहीं होगा।
भू के तुल्य रूप चलेंगे।

तुदादिगण-लट्

प्रथम पु.	तुदति	तुदतः	तुदन्ति
मध्यम पु.	तुदसि	तुदथः	तुदथ
उत्तम पु.	तुदामि	तुदावः	तुदामः

लोट्

प्रथम पु.	तुदतु	तुदताम्	तुदन्तु
मध्यम पु.	तुद	तुदतम्	तुदत
उत्तम पु.	तुदानि	तुदाव	तुदाम

लङ्

प्रथम पु.	अतुदत्	अतुदताम्	अतुदन्
मध्यम पु.	अतुदः	अतुदतम्	अतुदत
उत्तम पु.	अतुदम्	अतुदाव	अतुदाम

विधिलिङ्

प्रथम पु.	तुदेत्	तुदेताम्	तुदेयुः
मध्यम पु.	तुदेः	तुदेतम्	तुदेत
उत्तम पु.	तुदेयम्	तुदेव	तुदेम

लृट्

प्रथम पु.	तोत्स्यति	तोत्स्यतः	तोत्स्यन्ति
मध्यम पु.	तोत्स्यसि	तोत्स्यथः	तोत्स्यथ
उत्तम पु.	तोत्स्यामि	तोत्स्यावः	तोत्स्यामः

(३३) इष् (चाहना)

सूचना- इष् को लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् में इच्छ् होता है।
भू के तुल्य रूप चलेंगे।

लट्

प्र०	इच्छति	इच्छतः	इच्छन्ति
म०	इच्छसि	इच्छथः	इच्छथ
उ०	इच्छामि	इच्छावः	इच्छामः

लोट्

प्र०	इच्छतु	इच्छताम्	इच्छन्तु
म०	इच्छ	इच्छतम्	इच्छत
उ०	इच्छानि	इच्छाव	इच्छाम

लङ्

प्र०	ऐच्छत्	ऐच्छताम्	ऐच्छन्
म०	ऐच्छः	ऐच्छतम्	ऐच्छत
उ०	ऐच्छम्	ऐच्छाव	ऐच्छाम

विधिलिङ्

प्र०	इच्छेत्	इच्छेताम्	इच्छेयुः
म०	इच्छेः	इच्छेतम्	इच्छेत
उ०	इच्छेयम्	इच्छेव	इच्छेम

लृट्

प्र०	एषिष्यति	एषिष्यतः	एषिष्यन्ति
म०	एषिष्यसि	एषिष्यथः	एषिष्यथ
उ०	एषिष्यामि	एषिष्यावः	एषिष्यामः

(३४) प्रच्छ् (पूछना)

सूचना - लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् में प्रच्छ् को पृच्छ् हो जाता है।
भू या तुद् के तुल्य रूप चलेंगे।

लट्

प्रथम पु.	पृच्छति	पृच्छतः	पृच्छन्ति
मध्यम पु.	पृच्छसि	पृच्छथः	पृच्छथ
उत्तम पु.	पृच्छामि	पृच्छावः	पृच्छामः

लोट्

प्रथम पु.	पृच्छतु	पृच्छताम्	पृच्छन्तु
मध्यम पु.	पृच्छ	पृच्छतम्	पृच्छत
उत्तम पु.	पृच्छानि	पृच्छाव	पृच्छाम

लङ्

प्रथम पु.	अपृच्छत्	अपृच्छताम्	अपृच्छन्
मध्यम पु.	अपृच्छः	अपृच्छतम्	अपृच्छत
उत्तम पु.	अपृच्छम्	अपृच्छाव	अपृच्छाम

विधिलिङ्

प्रथम पु.	पृच्छेत्	पृच्छेताम्	पृच्छेयुः
मध्यम पु.	पृच्छेः	पृच्छेतम्	पृच्छेत
उत्तम पु.	पृच्छेयम्	पृच्छेव	पृच्छेम

(३५) लिख् (लिखना)

सूचना- लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् में लिख् को गुण नहीं होगा।
भू या तुद् के तुल्य रूप चलेंगे।

लट्

प्र०	लिखति	लिखतः	लिखन्ति
म०	लिखसि	लिखथः	लिखथ
उ०	लिखामि	लिखावः	लिखामः

लोट्

प्र०	लिखतु	लिखताम्	लिखन्तु
म०	लिख	लिखतम्	लिखत
उ०	लिखानि	लिखाव	लिखाम

लङ्

प्र०	अलिखत्	अलिखताम्	अलिखन्
म०	अलिखः	अलिखतम्	अलिखत
उ०	अलिखम्	अलिखाव	अलिखाम

विधिलिङ्

प्र०	लिखेत्	लिखेताम्	लिखेयुः
म०	लिखेः	लिखेतम्	लिखेत
उ०	लिखेयम्	लिखेव	लिखेम

लृट्

प्रथम पु.	प्रक्ष्यति	प्रक्ष्यतः	प्रक्ष्यन्ति
मध्यम पु.	प्रक्ष्यसि	प्रक्ष्यथः	प्रक्ष्यथ
उत्तम पु.	प्रक्ष्यामि	प्रक्ष्यावः	प्रक्ष्यामः

(३६) कृ (करना)

(केवल परस्मैपद के रूप यहाँ दिये हैं।)

तनादिगण-लट्

प्रथम पु.	करोति	कुरुतः	कुर्वन्ति
मध्यम पु.	करोषि	कुरुथः	कुरुथ
उत्तम पु.	करोमि	कुर्वः	कुर्मः

लोट्

प्रथम पु.	करोतु	कुरुताम्	कुर्वन्तु
मध्यम पु.	कुरु	कुरुतम्	कुरुत
उत्तम पु.	करवाणि	करवाव	करवाम

लङ्

प्रथम पु.	अकरोत्	अकुरुताम्	अकुर्वन्
मध्यम पु.	अकरोः	अकुरुतम्	अकुरुत
उत्तम पु.	अकरवम्	अकुर्व	अकुर्म

विधिलिङ्

प्रथम पु.	कुर्यात्	कुर्याताम्	कुर्युः
मध्यम पु.	कुर्याः	कुर्यातम्	कुर्यात
उत्तम पु.	कुर्याम्	कुर्याव	कुर्याम

लट्

प्रथम पु.	करिष्यति	करिष्यतः	करिष्यन्ति
मध्यम पु.	करिष्यसि	करिष्यथः	करिष्यथ
उत्तम पु.	करिष्यामि	करिष्यावः	करिष्यामः

लृट्

प्र०	लेखिष्यति	लेखिष्यतः	लेखिष्यन्ति
म०	लेखिष्यसि	लेखिष्यथः	लेखिष्यथ
उ०	लेखिष्यामि	लेखिष्यावः	लेखिष्यामः

(३७) क्री (खरीदना)

(केवल परस्मैपद के रूप यहाँ दिये हैं।)

क्रयादिगण-लट्

प्र०	क्रीणाति	क्रीणीतः	क्रीणन्ति
म०	क्रीणासि	क्रीणीथः	क्रीणीथ
उ०	क्रीणामि	क्रीणीवः	क्रीणीमः

लोट्

प्र०	क्रीणातु	क्रीणीताम्	क्रीणन्तु
म०	क्रीणीहि	क्रीणीतम्	क्रीणीत
उ०	क्रीणानि	क्रीणाव	क्रीणाम

लङ्

प्र०	अक्रीणात्	अक्रीणीताम्	अक्रीणन्
म०	अक्रीणाः	अक्रीणीतम्	अक्रीणीत
उ०	अक्रीणाम्	अक्रीणीव	अक्रीणीम

विधिलिङ्

प्र०	क्रीणीयात्	क्रीणीयाताम्	क्रीणीयुः
म०	क्रीणीयाः	क्रीणीयातम्	क्रीणीयात
उ०	क्रीणीयाम्	क्रीणीयाव	क्रीणीयाम

लट्

प्र०	क्रेष्यति	क्रेष्यतः	क्रेष्यन्ति
म०	क्रेष्यसि	क्रेष्यथः	क्रेष्यथ
उ०	क्रेष्यामि	क्रेष्यावः	क्रेष्यामः

(३८) ज्ञा (जानना)

सूचना- लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ् में ज्ञा को 'जा' हो जाता है।

क्री के तुल्य रूप चलेंगे

लट्

प्रथम पु.	जानाति	जानीत :	जानन्ति
मध्यम पु.	जानासि	जानीथः	जानीथ
उत्तम पु.	जानामि	जानीवः	जानीमः

लोट्

प्रथम पु.	जानातु	जानीताम्	जानन्तु
मध्यम पु.	जानीहि	जानीतम्	जानीत
उत्तम पु.	जानानि	जानाव	जानाम

लङ्

प्रथम पु.	अजानात्	अजानीताम्	अजानन्
मध्यम पु.	अजानाः	अजानीतम्	अजानीत
उत्तम पु.	अजानाम्	अजानीव	अजानीम

विधिलिङ्

(३९) ग्रह् (लेना)

सूचना- लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ् में ग्रह् को गृह हो जाता है।

क्री के तुल्य रूप चलेंगे।

लट्

प्र०	गृह्णाति	गृह्णीतः	गृह्णन्ति
म०	गृह्णासि	गृह्णीथः	गृह्णीथ
उ०	गृह्णामि	गृह्णीवः	गृह्णीमः

लोट्

प्र०	गृह्णातु	गृह्णीताम्	गृह्णन्तु
म०	गृहाण	गृह्णीतम्	गृह्णीत
उ०	गृह्णानि	गृह्णाव	गृह्णाम

लङ्

प्र०	अगृह्णात्	अगृह्णीताम्	अगृह्णन्
म०	अगृह्णाः	अगृह्णीतम्	अगृह्णीत
उ०	अगृह्णाम्	अगृह्णीव	अगृह्णीम

विधिलिङ्

प्रथम पु.	जानीयात्	जानीयाताम्	जानीयुः	प्र०	गृह्णीयात्	गृह्णीयाताम्	गृह्णीयुः
मध्यम पु.	जानीयाः	जानीयातम्	जानीयात	म०	गृह्णीयाः	गृह्णीयातम्	गृह्णीयात
उत्तम पु.	जानीयाम्	जानीयाव	जानीयाम	उ०	गृह्णीयाम्	गृह्णीयाव	गृह्णीयाम
	लृट्					**लृट्**	
प्रथम पु.	ज्ञास्यति	ज्ञास्यतः	ज्ञास्यन्ति	प्र०	ग्रहीष्यति	ग्रहीष्यतः	ग्रहीष्यन्ति
मध्यम पु.	ज्ञास्यसि	ज्ञास्यथः	ज्ञास्यथ	म०	ग्रहीष्यसि	ग्रहीष्यथः	ग्रहीष्यथ
उत्तम पु.	ज्ञास्यामि	ज्ञास्यावः	ज्ञास्यामः	उ०	ग्रहीष्यामि	ग्रहीष्यावः	ग्रहीष्यामः

(४०) **चुर्** (चुराना) **(४१) चिन्त्** (सोचना)

सूचना - चुर् और चिन्त् के अन्त में अय लगाकर भू के तुल्य रूप चलते हैं। केवल परस्मैद के रूप यहाँ दिये हैं।

	चुरादिगण-लट्				लट्		
प्रथम पु.	चोरयति	चोरयतः	चोरयन्ति	प्र०	चिन्तयति	चिन्तयतः	चिन्तयन्ति
मध्यम पु.	चोरयसि	चोरयथः	चोरयथ	म०	चिन्तयसि	चिन्तयथः	चिन्तयथ
उत्तम पु.	चोरयामि	चोरयावः	चोरयामः	उ०	चिन्तयामि	चिन्तयावः	चिन्तयामः
	लोट्					**लोट्**	
प्रथम पु.	चोरयतु	चोरयताम्	चोरयन्तु	प्र०	चिन्तयतु	चिन्तयताम्	चिन्तयन्तु
मध्यम पु.	चोरय	चोरयतम्	चोरयत	म०	चिन्तय	चिन्तयतम्	चिन्तयत
उत्तम पु.	चोरयाणि	चोरयाव	चोरयाम	उ०	चिन्तयानि	चिन्तयाव	चिन्तयाम
	लङ्					**लङ्**	
प्रथम पु.	अचोरयत्	अचोरयताम्	अचोरयन्	प्र०	अचिन्तयत्	अचिन्तयताम्	अचिन्तयन्
मध्यम पु.	अचोरयः	अचोरयतम्	अचोरयत	म०	अचिन्तयः	अचिन्तयतम्	अचिन्तयत
उत्तम पु.	अचोरयम्	अचोरयाव	अचोरयाम	उ०	अचिन्तयम्	अचिन्तयाव	अचिन्तयाम
	विधिलिङ्					**विधिलिङ्**	
प्रथम पु.	चोरयेत्	चोरयेताम्	चोरयेयुः	प्र०	चिन्तयेत्	चिन्तयेताम्	चिन्तयेयुः
मध्यम पु.	चोरयेः	चोरयेतम्	चोरयेत	म०	चिन्तयेः	चिन्तयेतम्	चिन्तयेत
उत्तम पु.	चोरयेयम्	चोरयेव	चोरयेम	उ०	चिन्तयेयम्	चिन्तयेव	चिन्तयेम
	लृट्					**लृट्**	
प्रथम पु.	चारयिष्यति	चोरयिष्यतः	चोरयिष्यन्ति	प्र०	चिन्तयिष्यति	चिन्तयिष्यतः	चिन्तयिष्यन्ति
मध्यम पु.	चोरयिष्यसि	चोरयिष्यथः	चोरयिष्यथ	म०	चिन्तयिष्यसि	चिन्तयिष्यथः	चिन्तयिष्यथ
उत्तम पु.	चोरयिष्यामि	चोरयिष्यावः	चोरयिष्यामः	उ०	चिन्तयिष्यामि	चिन्तयिष्यावः	चिन्तयिष्यामः

(४२) **कथ्** (कहना) **(४३) भक्ष्** (खाना)

सूचना- कथ् और भक्ष् के अन्त में 'अय' लगाकर भू या चुर् के तुल्य रूप चलते हैं। केवल परस्मैपद के रूप यहाँ दिये हैं।

	लट्					**लट्**	
प्रथम पु.	कथयति	कथयतः	कथयन्ति	प्र०	भक्षयति	भक्षयतः	भक्षयन्ति
मध्यम पु.	कथयसि	कथयथः	कथयथ	म०	भक्षयसि	भक्षयथः	भक्षयथ
उत्तम पु.	कथयामि	कथयावः	कथयामः	उ०	भक्षयामि	भक्षयावः	भक्षयामः
	लोट्					**लोट्**	
प्रथम पु.	कथयतु	कथयताम्	कथयन्तु	प्र०	भक्षयतु	भक्षयताम्	भक्षयन्तु
मध्यम पु.	कथय	कथयतम्	कथयत	म०	भक्षय	भक्षयतम्	भक्षयत
उत्तम पु.	कथयानि	कथयाव	कथयाम	उ०	भक्षयाणि	भक्षयाव	भक्षयाम
	लङ्					**लङ्**	
प्रथम पु.	अकथयत्	अकथयताम्	अकथयन्	प्र०	अभक्षयत्	अभक्षयताम्	अभक्षयन्

मध्यम पु.	अकथय:	अकथयतम्	अकथयत	म०	अभक्षय:	अभक्षयतम्	अभक्षयत
उत्तम पु.	अकथयम्	अकथयाव	अकथयाम	उ०	अभक्षयम्	अभक्षयाव	अभक्षयाम
	विधिलिङ्					**विधिलिङ्**	
प्रथम पु.	कथयेत्	कथयेताम्	कथयेयु:	प्र०	भक्षयेत्	भक्षयेताम्	भक्षयेयु:
मध्यम पु.	कथये:	कथयेतम्	कथयेत	म०	भक्षये:	भक्षयेतम्	भक्षयेत
उत्तम पु.	कथयेयम्	कथयेव	कथयेम	उ०	भक्षयेयम्	भक्षयेव	भक्षयेम
	लृट्					**लृट्**	
प्रथम पु.	कथयिष्यति	कथयिष्यत:	कथयिष्यन्ति	प्र०	भक्षयिष्यति	भक्षयिष्यत:	भक्षयिष्यन्ति
मध्यम पु.	कथयिष्यसि	कथयिष्यथ:	कथयिष्यथ	म०	भक्षयिष्यसि	भक्षयिष्यथ:	भक्षयिष्यथ
उत्तम पु.	कथयिष्यामि	कथयिष्याव:	कथयिष्याम:	उ०	भक्षयिष्यामि	भक्षयिष्याव:	भक्षयिष्याम:

धातुरूप-संगह (ख)

(४४) वस् (रहना) (भू के तुल्य)

	लट्					**लट्**	
प्रथम पु.	वसति	वसत:	वसन्ति	प्र०	अत्ति	अत्त:	अदन्ति
मध्यम पु.	वससि	वसथ:	वसथ	म०	अत्सि	अत्थ:	अत्थ
उत्तम पु.	वसामि	वसाव:	वसाम:	उ०	अद्मि	अद्व:	अद्म:
	लोट्					**लोट्**	
प्रथम पु.	वसतु	वसताम्	वसन्तु	प्र०	अत्तु	अत्ताम्	अदन्तु
मध्यम पु.	वस	वसतम्	वसत	म०	अद्धि	अत्तम्	अत्त
उत्तम पु.	वसानि	वसाव	वसाम	उ०	अदानि	अदाव	अदाम
	लङ्					**लङ्**	
प्रथम पु.	अवसत्	अवसताम्	अवसन्	प्र०	आदत्	आत्ताम्	आदन्
मध्यम पु.	अवस:	अवसतम्	अवसत	म०	आद:	आत्तम्	आत्त
उत्तम पु.	अवसम्	अवसाव	अवसाम	उ०	आदम्	आद्व	आद्म
	विधिलिङ्					**विधिलिङ्**	
प्रथम पु.	वसेत्	वसेताम्	वसेयु:	प्र०	अद्यात्	अद्याताम्	अद्यु:
मध्यम पु.	वसे:	वसेतम्	वसेत	म०	अद्या:	अद्यातम्	अद्यात
उत्तम पु.	वसेयम्	वसेव	वसेम	उ०	अद्याम्	अद्याव	अद्याम
	लृट्					**लृट्**	
प्रथम पु.	वत्स्यति	वत्स्यत:	वत्स्यन्ति	प्र०	अत्स्यति	अत्स्यत:	अत्स्यन्ति
मध्यम पु.	वत्स्यसि	वत्स्यथ:	वत्स्यथ	म०	अत्स्यसि	अत्स्यथ:	अत्स्यथ
उत्तम पु.	वत्स्यामि	वत्स्याव:	वत्स्याम:	उ०	अत्स्यामि	अत्स्याव:	अत्स्याम:

(४६) ब्रू (कहना)

सूचना- दोनों पदों में लृट् में ब्रू को 'वच्' हो जाता है।

	परस्मैपद					आत्मनेपद	
	लट्					**लट्**	
प्रथम पु.	ब्रवीति	ब्रूत:	ब्रूवन्ति	प्र०	ब्रूते	ब्रूवाते	ब्रूवते
	आह	आहतु:	आहु:				
मध्यम पु.	ब्रवीषि	ब्रूथ:	ब्रूथ	म०	ब्रूषे	ब्रूवाथे	ब्रूध्वे
	आत्थ	आहतु:					
उत्तम पु.	ब्रवीमि	ब्रूव:	ब्रूम:	उ०	ब्रूवे	ब्रूवहे	ब्रूमहे
	लोट्					लोट्	
प्रथम पु.	ब्रवीतु	ब्रूताम्	ब्रूवन्तु	प्र०	ब्रूताम्	ब्रूवाताम्	ब्रूवताम्
मध्यम पु.	ब्रूहि	ब्रूतम्	ब्रूत	म०	ब्रूष्व	ब्रूवाथाम्	ब्रूध्वम्

उत्तम पु.	ब्रवाणि	ब्रवाव	ब्रवाम	उ०	ब्रवै	ब्रवावहै	ब्रवामहै
	लङ्					**लङ्**	
प्रथम पु.	अब्रवीत्	अब्रूताम्	अब्रूवन्	प्र०	अब्रूत	अब्रूवाताम्	अब्रुवत
मध्यम पु.	अब्रवीः	अब्रूतम्	अब्रुत	म०	अबूथाः	अनुवाथाम्	अब्रूध्वम्
उत्तम पु.	अब्रवम्	अब्रूव	अब्रूम	उ०	अनुवि	अब्रूवहि	अब्रूमहि
	विधिलिङ्					**विधिलिङ्**	
प्रथम पु.	ब्रूयात्	ब्रूयाताम्	ब्रूयुः	प्र०	ब्रुवीत	ब्रूवीयाताम्	ब्रूवीरन्
मध्यम पु.	ब्रूयाः	ब्रूयातम्	ब्रूयात	म०	ब्रूवीथाः	ब्रूवीयाथाम्	ब्रूवीध्वम्
उत्तम पु.	ब्रूयाम्	ब्रूयाव	ब्रूयाम	उ०	ब्रूवीय	ब्रुवीवहि	ब्रूवीमहि
	लृट् (ब्रू को वच्)					**लृट् (ब्रू को वच्)**	
प्रथम पु.	वक्ष्यति	वक्ष्यतः	वक्ष्यन्ति	प्र०	वक्ष्यते	वक्ष्येते	वक्ष्यन्ते
मध्यम पु.	वक्ष्यसि	वक्ष्यथः	वक्ष्यथ	म०	वक्ष्यसे	वक्ष्येथे	वक्ष्यध्वे
उत्तम पु.	वक्ष्यामि	वक्ष्यावः	वक्ष्यामः	उ०	वक्ष्ये	वक्ष्यावहे	वक्ष्यामहे

(४७) **दुह्** (दुहना) परस्मैपद

(४८) रुद् (रोना) परस्मैपद

सूचना- धातु उभयपदी है।
यहाँ केवल परस्मैपद के रूप दिये गये हैं।

	लट्					**लट्**	
प्रथम पु.	दोग्धि	दुग्धः	दुहन्ति	प्र०	रोदिति	रुदितः	रुदन्ति
मध्यम पु.	धोक्षि	दुग्धः	दुग्ध	म०	रोदिषि	रुदिथः	रुदिथ
उत्तम पु.	दोह्मि	दुह्वः	दुह्मः	उ०	रोदिमि	रुदिवः	रुदिमः
	लोट्					**लोट्**	
प्रथम पु.	दोग्धु	दुग्धाम्	दुहन्तु	प्र०	रोदितु	रुदिताम्	रुदन्तु
मध्यम पु.	दुग्धि	दुग्धम्	दुग्ध	म०	रुदिहि	रुदितम्	रुदित
उत्तम पु.	दोहानि	दोहाव	दोहाम	उ०	रोदानि	रोदाव	रोदाम
	लङ्					**लङ्**	
प्रथम पु.	अधोक्	अदुग्धाम्	अदुहन्	प्र०	अरोदीत्, अरोदत्	अरुदिताम्	अरुदन्
मध्यम पु.	अधोक्	अदुग्धम्	अदुग्ध	म०	अरोदीः अरोदः	अरुदितम्	अरुदित
उत्तम पु.	अदोहम्	अदुह्व	अदुह्म	उ०	अरोदम्	अरुदिव	अरुदिम
	विधिलिङ्					**विधिलिङ्**	
प्रथम पु.	दुह्यात्	दुह्याताम्	दुह्युः	प्र०	रुद्यात्	रुद्याताम्	रुद्युः
मध्यम पु.	दुह्याः	दुह्यातम्	दुह्यात	म०	रुद्याः	रुद्यातम्	रुद्यात
उत्तम पु.	दुह्याम्	दुह्याव	दुह्याम	उ०	रुद्याम्	रुद्याव	रुद्याम
	लृट्					**लृट्**	
प्रथम पु.	धोक्ष्यति	धोक्ष्यतः	धोक्ष्यन्ति	प्र०	रोदिष्यति	रोदिष्यतः	रोदिष्यन्ति
मध्यम पु.	धोक्ष्यसि	धोक्ष्यथः	धोक्ष्यथ	म०	रोदिष्यसि	रोदिष्यथः	रोदिष्यथ
उत्तम पु.	धोक्ष्यामि	धोक्ष्यावः	धोक्ष्यामः	उ०	रोदिष्यामि	रोदिष्यावः	रोदिष्यामः

(४९) **स्वप्** (सोना) परस्मैपद

(५०) हन् (मारना) परस्मैपद

	लट्					**लट्**	
प्रथम पु.	स्वपिति	स्वपितः	स्वपन्ति	प्र०	हन्ति	हतः	घ्नन्ति
मध्यम पु.	स्वपिषि	स्वपिथः	स्वपिथ	म०	हन्सि	हथः	हथ

उत्तम पु.	स्वपिमि	स्वपिवः	स्वपिमः	उ०	हन्मि	हन्वः	हन्मः
	लोट्					**लोट्**	
प्रथम पु.	स्वपितु	स्वपिताम्	स्वपन्तु	प्र०	हन्तु	हताम्	घ्नन्तु
मध्यम पु.	स्वपिहि	स्वपितम्	स्वपित	म०	जहि	हतम्	हत
उत्तम पु.	स्वपानि	स्वपाव	स्वपाम	उ०	हनानि	हनाव	हनाम
	लङ्					**लङ्**	
प्रथम पु.	अस्वपीत् अस्वपत्	अस्वपिताम्	अस्वपन्	प्र०	अहन्	अहताम्	अघ्नन्
मध्यम पु.	अस्वपीः अस्वपः	अस्वपितम्	अस्वपित	म०	अहः	अहतम्	अहत
उत्तम पु.	अस्वपम्	अस्वपिव	अस्वपिम	उ०	अहनम्	अहन्व	अहन्म
	विधिलिङ्					**विधिलिङ्**	
प्रथम पु.	स्वप्यात्	स्वप्याताम्	स्वप्युः	प्र०	हन्यात्	हन्याताम्	हन्युः
मध्यम पु.	स्वप्याः	स्वप्यातम्	स्वप्यात	म०	हन्याः	हन्यातम्	हन्यात
उत्तम पु.	स्वप्याम्	स्वप्याव	स्वप्याम	उ०	हन्याम्	हन्याव	हन्याम
	लट्					**लट्**	
प्रथम पु.	स्वप्स्यति	स्वप्स्यतः	श्स्वप्स्यन्ति	प्र०	हनिष्यति	हनिष्यतः	हनिष्यन्ति
मध्यम पु.	स्वप्स्यसि	स्वप्स्यथः	स्वप्स्यथ	म०	हनिष्यसि	हनिष्यथः	हनिष्यथ
उत्तम पु.	स्वप्स्यामि	स्वप्स्यावः	स्वप्स्यामः	उ०	हनिष्यामि	हनिष्यावः	हनिष्यामः

(५१) इ (जाना) परस्मैपद

	लट्					**लट्**	
प्रथम पु.	एति	इतः	यन्ति	प्र०	आस्ते	आसाते	आसते
मध्यम पु.	एषि	इथः	इथ	म०	आस्से	आसाथे	आध्वे
उत्तम पु.	एमि	इवः	इमः	उ०	आसे	आस्वहे	आस्महे
	लोट्					**लोट्**	
प्रथम पु.	एतु	इताम्	यन्तु	प्र०	आस्ताम्	आसाताम्	आसताम्
मध्यम पु.	इहि	इतम्	इत	म०	आस्स्व	आसाथाम्	आध्वम्
उत्तम पु.	अयानि	अयाव	अयाम	उ०	आसै	आसावहै	आसामहै
	लङ्					**लङ्**	
प्रथम पु.	ऐत	ऐताम्	आयन्	प्र०	आस्त	आसाताम्	आसत
मध्यम पु.	ऐः	ऐतम्	ऐत	म०	आस्थाः	आसाथाम्	आध्वम्
उत्तम पु.	आयम्	ऐव	ऐम	उ०	आसि	आस्वहि	आस्महि
	विधिलिङ्					**विधिलिङ्**	
प्रथम पु.	इयात्	इयाताम्	इयुः	प्र०	आसीत	आसीयाताम्	आसीरन्
मध्यम पु.	इयाः	इयातम्	इयात	म०	आसीथाः	आसीयाथाम्	आसीध्वम्
उत्तम पु.	इयाम्	इयाव	इयाम	उ०	आसीय	आसीवहि	आसीमहि
	लृट्					**लृट्**	
प्रथम पु.	एष्यति	एष्यतः	एष्यन्ति	प्र०	आसिष्यते	आसिष्येते	आसिष्यन्ते
मध्यम पु.	एष्यसि	एष्यथः	एष्यथ	म०	आसिष्यसे	आसिष्येथे	आसिष्यध्वे
उत्तम पु.	एष्यामि	एष्यावः	एष्यामः	उ०	आसिष्ये	आसिष्यावहे	आसिष्यामहे

(५२) आस् (बैठना) आत्मनेपद

(५३) शी (सोना)

अदादिगण। आत्मनेपद

	लट्		
प्रथम पु.	शेते	शयाते	शेरते
मध्यम पु.	शेषे	शयाथे	शेध्वे
उत्तम पु.	शये	शेवहे	शेमहे
	लोट्		
प्रथम पु.	शेताम्	शयाताम्	शेरताम्
मध्यम पु.	शेष्व	शयाथाम्	शेध्वम्
उत्तम पु.	शयै	शयावहै	शयामहे
	लङ्		
प्रथम पु.	अशेत	अशयाताम्	अशेरत
मध्यम पु.	अशेथाः	अशयाथाम्	अशेध्वम्
उत्तम पु.	अशयि	अशेवहि	अशेमहि
	विधिलिङ्		
प्रथम पु.	शयीत	शयीयाताम्	शयीरन्
मध्यम पु.	शयीथाः	शयीयाथाम्	शयीध्वम्
उत्तम पु.	शयीय	शयीवहि	शयीमहि
	लृट्		
प्रथम पु.	शयिष्यते	शयिष्येते	शयिष्यन्ते
मध्यम पु.	शयिष्यसे	शयिष्येथे	शयिष्यध्वे
उत्तम पु.	शयिष्ये	शयिष्यावहे	शयिष्यामहे

(५४) हु (हवन करना)

जुहोत्यादिगण। परस्मैपद

		लट्	
प्र०	जुहोति	जुहुतः	जुह्वति
म०	जुहोषि	जुहुथः	जुहुथ
उ०	जुहोमि	जुहुवः	जुहुमः
		लोट्	
प्र०	जुहोतु	जुहुताम्	जुह्वतु
म०	जुहुधि	जुहुतम्	जुहुत
उ०	जुहवानि	जुहवाव	जुहवाम
		लङ्	
प्र०	अजुहोत्	अजुहुताम्	अजुहवुः
म०	अजुहोः	अजुहुतम्	अजुहुत
उ०	अजुहवम्	अजुहुव	अजुहुम
		विधिलिङ्	
प्र०	जुहुयात्	जुहुयाताम्	जुहुयुः
म०	जुहुयाः	जुहुयातम्	जुहुयात
उ०	जुहुयाम्	जुहुयाव	जुहुयाम
		लृट्	
प्र०	होष्यति	होष्यतः	होष्यन्ति
म०	होष्यसि	होष्यथः	होष्यथ
उ०	होष्यामि	होष्यावः	होष्यामः

(५५) भी (डरना) परस्मैपद

	लट्		
प्रथम पु.	बिभति	बिभीतः	बिभ्यति
मध्यम पु.	बिभेषि	बिभीथः	बिभीथ
उत्तम पु.	बिभेमि	बिभीवः	बिभीमः
	लोट्		
प्रथम पु.	बिभेतु	बिभीताम्	बिभ्यतु
मध्यम पु.	बिभीहि	बिभीतम्	बिभीत
उत्तम पु.	बिभयानि	बिभयाव	बिभयाम
	लङ्		
प्रथम पु.	अबिभेत्	अबिभीताम्	अबिभयुः
मध्यम पु.	अबिभेः	अबिभीतम्	अबिभीत
उत्तम पु.	अबिभयम्	अबिभीव	अबिभीम
	विधिलिङ्		
प्रथम पु.	बिभीयात्	बिभीयाताम्	बिभीयुः
मध्यम पु.	बिभीयाः	बिभीयातम्	बिभीयात
उत्तम पु.	बिभीयाम्	बिभीयाव	बिभीयाम
	लृट्		
प्रथम पु.	भेष्यति	भेष्यतः	भेष्यन्ति
मध्यम पु.	भेष्यसि	भेष्यथः	भेष्यथ
उत्तम पु.	भेष्यामि	भेष्यावः	भेष्यामः

(५६) दा (देना) आत्मनेपद

		लट्	
प्र०	दत्ते	ददाते	ददते
म०	दत्से	ददाथे	दद्ध्वे
उ०	ददे	दद्वहे	दद्महे
		लोट्	
प्र०	दत्ताम्	ददाताम्	ददताम्
म०	दत्स्व	ददाथाम्	दद्ध्वम्
उ०	ददै	ददावहै	ददामहै
		लङ्	
प्र०	अदत्त	अददाताम्	अददत
म०	अदत्थाः	अददाथाम्	अदद्ध्वम्
उ०	अददि	अदद्वहि	अदद्महि
		विधिलिङ्	
प्र०	ददीत	ददीयाताम्	ददीरन्
म०	ददीथाः	ददीयाथाम्	ददीध्वम्
उ०	ददीय	ददीवहि	ददीमहि
		लृट्	
प्र०	दास्यते	दास्येते	दास्यन्ते
म०	दास्यसे	दास्येथे	दास्यध्वे
उ०	दास्ये	दास्यावहे	दास्यामहे

(५७) धा (धारण करना)

जुहोत्यादिगण। उभयपदी

	लट्-परस्मैपद				**लट्-आत्मनेपद**		
प्रथम पु.	दधाति	धत्तः	दधति	प्र०	धत्ते	दधाते	दघते
मध्यम पु.	दधासि	धत्थः	धत्थ	म०	धत्से	दधाथे	दद्ध्वे
उत्तम पु.	दधामि	दध्वः	दध्मः	उं०	दधे	दध्वहे	दध्महे
	लोट्				**लोट्**		
प्रथम पु.	दधातु	धत्ताम्	दधतु	प्र०	धत्ताम्	दधाताम्	दधताम्
मध्यम पु.	धेहि	धत्तम्	धत्त	म०	धत्स्व	दधाथाम्	धद्ध्वम्
उत्तम पु.	दधानि	दधाव	दधाम	उ०	दधै	दधावहै	दधामहै
	लङ्				**लङ्**		
प्रथम पु.	अदधात्	अधत्ताम्	अदधुः	प्र०	अधत्त	अदधाताम्	अदधत
मध्यम पु.	अदधाः	अधत्तम्	अधत्त	म०	अधत्थाः	अदधाथाम्	अधद्ध्वम्
उत्तम पु.	अदधाम्	अदध्व	अदध्म	उ०	अदधि	अदध्वहि	अदध्महि
	विधिलिङ्				**विधिलिङ्**		
प्रथम पु.	दध्यात्	दध्याताम्	दध्युः	प्र०	दधीत	दधीयाताम्	दधीरन्
मध्यम पु.	दध्याः	दध्यातम्	दध्यात	म०	दधीथाः	दधीयाथाम्	दधीध्वम्
उत्तम पु.	दध्याम्	दध्याव	दध्याम	उ०	दधीय	दधीवहि	दधीमहि
	लृट्				**लृट्**		
प्रथम पु.	धास्यति	धास्यतः	धास्यन्ति	प्र०	धास्यते	धास्येते	धास्यन्ते
मध्यम पु.	धास्यसि	धास्यथः	धास्यथ	म०	धास्यसे	धास्येथे	धास्यध्वे
उत्तम पु.	धास्यामि	धास्यावः	धास्यामः	उ०	धास्ये	धास्यावहे	धास्यामहे

(५८) युध् (लड़ना) आत्मनेपद

	लट्				**लट् (जन् को जा)**		
प्रथम पु.	युध्यते	युध्येते	युध्यन्ते	प्र०	जायते	जायेते	जायन्ते
मध्यम पु.	युध्यसे	युध्येथे	युध्यध्वे	म०	जायसे	जायेथे	जायध्वे
उत्तम पु.	युध्ये	युध्यावहे	युध्यामहे	उ०	जाये	जायावहे	जायामहे
	लोट्				**लोट् (जन् को जा)**		
प्रथम पु.	युध्यताम्	युध्येताम्	युध्यन्ताम्	प्र०	जायताम्	जायेताम्	जायन्ताम्
मध्यम पु.	युध्यस्व	युध्येथाम्	युध्यध्वम्	म०	जायस्व	जायेथाम्	जायध्वम्
उत्तम पु.	युध्यै	युध्यावहै	युध्यामहे	उ०	जायै	जायावहै	जायामहै
	लङ्				**लङ् (जन् को जा)**		
प्रथम पु.	अयुध्यत	अयुध्येताम्	अयुध्यन्त	प्र०	अजायत	अजायेताम्	अजायन्त
मध्यम पु.	अयुध्यथाः	अयुध्येथाम्	अयुध्यध्वम्	म०	अजायथाः	अजायेथाम्	अजायध्वम्
उत्तम पु.	अयुध्ये	अयुध्यावहि	अयुध्यामहि	उ०	अजाये	अजायावहि	अजायामहि
	विधिलिङ्				**विधिलिङ् (जन् को जा)**		
प्रथम पु.	युध्येत	युध्येयाताम्	युध्येरन्	प्र०	जायेत	जायेयाताम्	जायेरन्
मध्यम पु.	युध्येथाः	युध्येयाथाम	युध्येध्वम्	म०	जायेथाः	जायेयाथाम्	जायेध्वम्
उत्तम पु.	युध्येय	युध्येवहि	युध्येमहि	उ०	जायेय	जायेवहि	जायेमहि
	लृट्				**लृट्**		

(५९) जन् (उत्पन्न होना) आत्मनेपद

सूचना- लट्, लोट्, लङ्, विधि-लिङ् में जन् को जा होता है।

प्रथम पु.	योत्स्यते	योत्स्येते	योत्स्यन्ते	प्र०	जनिष्यते	जनिष्येते	जनिष्यन्ते
मध्यम पु.	योत्स्यसे	योत्स्येथे	योत्स्यध्वे	म०	जनिष्यसे	जनिष्येथे	जनिष्यध्वे
उत्तम पु.	योत्स्ये	योत्स्यावहे	योत्स्यामहे	उ०	जनिष्ये	जनिष्यावहे	जनिष्यामहे

(६०) सु (स्नान करना या कराना, रस निकालना)

स्वादिगण। उभयपदी

	लट्-परस्मैपद				**लट्-आत्मनेपद**		
प्रथम पु.	सुनोति	सुनुतः	सुन्वन्ति	प्र०	सुनुते	सुन्वान्ते	सुन्वते
मध्यम पु.	सुनोषि	सुनुथः	सुनुथ	म०	सुनुषे	सुन्वाथे	सुनुध्वे
उत्तम पु.	सुनोमि	सुनुवः	सुनुमः	उ०	सुन्वे	सुनुवहे	सुनुमहे
		सुन्वः	सुन्मः			सुन्वहे	सुन्महे
	लोट्					**लोट्**	
प्रथम पु.	सुनोतु	सुनुताम्	सुन्वन्तु	प्र०	सुनुताम्	सुन्वाताम्	सुन्वताम्
मध्यम पु.	सुनु	सुनुतम्	सुनुत	म०	सुनुष्व	सुन्वाथाम्	सुनुध्वम्
उत्तम पु.	सुनवानि	सुनवाव	सुनवाम	उ०	सुनवै	सुनवावहै	सुनवामहै
	लङ्					**लङ्**	
प्रथम पु.	असुनोत्	असुनुताम्	असुन्वन्	प्र०	असुनुत	असुन्वाताम्	असुन्वत
मध्यम पु.	असुनोः	असुनुतम्	असुनुत	म०	असुनुथाः	असुन्वाथाम्	असुनुध्वम्
उत्तम पु.	असुनवम्	असुनुव	असुनुम	उ०	असुन्वि	असुनुवहि	असुनुमहि
						असुन्वहि	असुन्महि
	विधिलिङ्					**विधिलिङ्**	
प्रथम पु.	सुनुयात्	सुनुयाताम्	सुनुयुः	प्र०	सुन्वीत	सुन्वीयाताम्	सुन्वीरन्
मध्यम पु.	सुनुयाः	सुनुयातम्	सुनुयात	म०	सुन्वीथाः	सुन्वीयाथाम्	सुन्वीध्वम्
उत्तम पु.	सुनुयाम्	सुनुयाव	सुनुयाम	उ०	सुन्वीय	सुन्वीवहि	सुन्वीमहि
	लृट्					**लृट्**	
प्रथम पु.	सोष्यति	सोष्यतः	सोष्यन्ति	प्र०	सोष्यते	सोष्येते	सोष्यन्ते
मध्यम पु.	सोष्यसि	सोष्यथः	सोष्यथ	म०	सोष्यसे	सोष्येथे	सोष्यध्वे
उत्तम पु.	सोष्यामि	सोष्यावः	सोष्यामः	उ०	सोष्ये	सोष्यावहे	सोष्यामहे

(६१) स्पृश् (छूना) परस्मैपद

(६२) मृ (मरना) आत्मनेपद

सूचना- लृट् में मृ धातु परस्मैपदी होती है।

	लट्					**लट्**	
प्रथम पु.	स्पृशति	स्पृशतः	स्पृशन्ति	प्र०	म्रियते	म्रियेते	म्रियन्ते
मध्यम पु.	स्पृशसि	स्पृशथः	स्पृशथ	म०	म्रियसे	म्रियेथे	म्रियध्वे
उत्तम पु.	स्पृशामि	स्पृशावः	स्पृशामः	उ०	म्रिये	म्रियावहे	म्रियामहे
	लोट्					**लोट्**	
प्रथम पु.	स्पृशतु	स्पृशताम्	स्पृशन्तु	प्र०	म्रियताम्	म्रियेताम्	म्रियन्ताम्
मध्यम पु.	स्पृश	स्पृशतम्	स्पृशत	म०	म्रियस्व	म्रियेथाम्	म्रियध्वम्
उत्तम पु.	स्पृशानि	स्पृशाब	स्पृशाम	उ०	म्रिये	म्रियावहै	म्रियामहै
	लङ्					**लङ्**	
प्रथम पु.	अस्पृशत्	अस्पृशताम्	अस्पृशन्	प्र०	अम्रियत	अम्रियेताम्	अम्रियन्त्
मध्यम पु.	अस्पृशः	अस्पृशतम्	अस्पृशत	म०	अम्रियथाः	अम्रियेथाम्	अम्रियध्वम्
उत्तम पु.	अस्पृशम्	अस्पृशाव	अस्पृशाम	उ०	अम्रिये	अम्रियावहि	अम्रियामहि
	विधिलिङ्					**विधिलिङ्**	

प्रथम पु.	स्पृशेत्	स्पृशेताम्	स्पृशेयुः	प्र०	म्रियेत	म्रियेयाताम्	म्रियेरन्
मध्यम पु.	स्पृशेः	स्पृशेताम्	स्पृशेत	म०	म्रियेथाः	म्रियेयाथाम्	म्रियेध्वम्
उत्तम पु.	स्मृशेयम्	स्पृशेव	स्पृशेम	उ०	म्रियेय	म्रियेवहि	म्रियेमहि
	लृट् (क)					**लृट्**	
प्रथम पु.	स्प्रक्ष्यति	स्प्रक्ष्यतः	स्प्रक्ष्यन्ति	प्र०	मरिष्यति	मरिष्यतः	मरिष्यन्ति
मध्यम पु.	स्प्रक्ष्यसि	स्प्रक्ष्यथः	स्प्रक्ष्यथ	म०	मरिष्यसि	मरिष्यथः	मरिष्यथ
उत्तम पु.	स्प्रक्ष्यामि	स्प्रक्ष्यावः	स्प्रक्ष्यामः	उ०	मरिष्यामि	मरिष्यावः	मरिष्यामः
	(ख)						
प्रथम पु.	स्पर्क्ष्यति	स्पर्क्ष्यतः	स्पर्क्ष्यन्ति				
मध्यम पु.	स्पर्क्ष्यसि	स्पर्क्ष्यथः	स्पर्क्ष्यथ				
उत्तम पु.	स्पर्क्ष्यामि	स्पर्क्ष्यावः	स्पर्क्ष्यामः				

(६३) मुच् (छोड़ना)

तुदादिगण। उभयपद

लट्-परस्मैपद

प्रथम पु.	मुञ्चति	मुञ्चतः	मुञ्चन्ति
मध्यम पु.	मुञ्चसि	मुञ्चथः	मुञ्चथ
उत्तम पु.	मुञ्चामि	मुञ्चावः	मुञ्चामः
	लोट्		
प्रथम पु.	मुञ्चतु	मुञ्चताम्	मुञ्चन्तु
मध्यम पु.	मुञ्च	मुञ्चतम्	मुञ्चत
उत्तम पु.	मुञ्चानि	मुञ्चाव	मुञ्चाम
	लङ्		
प्रथम पु.	अमुञ्चत्	अमुञ्चताम्	अमुञ्चन्
मध्यम पु.	अमुञ्चः	अमुञ्चतम्	अमुञ्चत
उत्तम पु.	अमुञ्चम्	अमुञ्चाव	अमुञ्चाम
	विधिलिङ		
प्रथम पु.	मुञ्चेत्	मुञ्चेताम्	मुञ्चेयुः
मध्यम पु.	मुञ्चेः	मुञ्चेतम्	मुञ्चेत
उत्तम पु.	मुञ्चेयम्	मुञ्चेव	मुञ्चेम
	लृट्		
प्रथम पु.	मोक्ष्यति	मोक्ष्यतः	मोक्ष्यन्ति
मध्यम पु.	मोक्ष्यसि	मोक्ष्यथः	मोक्ष्यथ
उत्तम पु.	मोक्ष्यामि	मोक्ष्यावः	मोक्ष्यामः

सूचना- आत्मनेपद में सेव् के तुल्य रूप चलेंगे। लट्-मुञ्चते, लोट्-मुञ्चताम्, लङ् अमुञ्चत, विधिलिङ्-मुञ्चेत, लट्-मोक्ष्यते।

(६४) रुध् (रोकना, ढकना)

रुधादिगण। उभयपद

लट्-परस्मैपद

प्र०	रुणद्धि	रुन्धः	रुन्धन्ति
म०	रुणत्सि	रुन्धः	रुन्ध
उ०	रुणध्मि	रुन्ध्वः	रुन्ध्मः
		लोट्	
प्र०	रुणध्दु	रुन्धाम्	रुन्धन्तु
म०	रुन्धि	रुन्धम्	रुन्ध
उ०	रुणधानि	रुणधाव	रुणधाम
		लङ्	
प्र०	अरुणत्	अरुन्धाम्	अरुन्धन्
म०	अरुणः	अरुन्धम्	अरुन्ध
उ०	अरुणधम्	अरुन्ध्व	अरुन्ध्म
		विधिलिङ	
प्र०	रुन्ध्यात्	रुन्ध्याताम्	रुन्ध्युः
म०	रुन्ध्याः	रुन्ध्यातम्	रुन्ध्यात
उ०	रुन्ध्याम्	रुन्ध्याव	रुन्ध्याम
		लृट्	
प्र०	रोत्स्यति	रोत्स्यतः	रोत्स्यन्ति
म०	रोत्स्यसि	रोत्स्यथः	रोत्स्यथ
उ०	रोत्स्यामि	रोत्स्यावः	रोत्स्यामः

सूचना- आत्मनेपद में रुध् के रूप भुज् लट-रुन्धे, लोट्-रुन्धाम्, लड्-अरुन्ध, विधिलिङ् रुन्धीत, लृट्-रोत्स्यते।

(६५) भुज् (१. पालन करना, २. भोजन करना)

सूचना- भुज् धातु पालन करने के अर्थ में परस्मैपदी होती है और भोजन करना, उपभोग करना अर्थ में आत्मनेपदी होती है।

	लट्-परस्मैपद				**लट्-आत्मनेपद**		
प्रथम पु.	भुनक्ति	भुङ्क्तः	भुञ्जन्ति	प्र०	भुङ्क्ते	भुञ्जाते	भुञ्जते
मध्यम पु.	भुनक्षि	भुङ्क्थः	भुङ्क्थ	म०	भुङ्क्षे	भुञ्जाथे	भुङ्ग्ध्वे
उत्तम पु.	भुनज्मि	भुवः	भुञ्जमः	उ०	भुञ्जे	भुञ्जवहे	भुञ्जमहे
	लोट्					**लोट्**	
प्रथम पु.	भुनक्तु	भुङ्क्ताम्	भुञ्जन्तु	प्र०	भुङ्क्ताम्	भुञ्जाताम्	भुञ्जताम्
मध्यम पु.	भुङ्ग्धि	भुङ्क्तम्	भुङ्क्त	म०	भुङ्क्ष्व	भुञ्जाथाम्	भुङ्ग्ध्वम्
उत्तम पु.	भुनजानि	भुनजाव	भुनजाम	उ०	भुनजै	भुनजावहै	भुनजामहै
	लङ्					**लङ्**	

प्रथम पु.	अभुनक्	अभुङ्क्ताम्	अभुञ्जन्	प्र०	अभुङ्क्त	अभुञ्जाताम्	अभुञ्जत
मध्यम पु.	अभुनक्	अभुङ्क्तम्	अभुक्त	म०	अभुङ्क्थाः	अभुञ्जाथाम्	अभुङ्ग्ध्वम्
उत्तम पु.	अभुनजम्	अभुञ्ज्व	अभुञ्ज्म	उ०	अभुञ्जि	अभुञ्ज्वहि	अभुञ्जमहि
	विधिलिङ्					**विधिलिङ्**	
प्रथम पु.	भुञ्ज्यात्	भुञ्ज्याताम्	भुञ्ज्युः	प्र०	भुञ्जीत	भुञ्जीयाताम्	भुञ्जीरन्
मध्यम पु.	भुञ्ज्याः	भुञ्ज्यातम्	भुञ्ज्यात	म०	भुञ्जीथाः	भुञ्जीयाथाम्	भुञ्जीध्वम्
उत्तम पु.	मुञ्ज्याम्	भुञ्ज्याव	भुञ्ज्याम	उ०	भुञ्जीय	भुञ्जीवहि	भुञ्जीमहि
	लृट्					**लृट्**	
प्रथम पु.	भोक्ष्यति	भोक्ष्यतः	भोक्ष्यन्ति	प्र०	भोक्ष्यते	भोक्ष्येते	भोक्ष्यन्ते
मध्यम पु.	भोक्ष्यसि	भोक्ष्यथः	भोक्ष्यथ	म०	भोक्ष्यसे	भोक्ष्येथे	भोक्ष्यध्वे
उत्तम पु.	भोक्ष्यामि	भोक्ष्यावः	भोक्ष्यमः	उ०	भोक्ष्ये	भोक्ष्यावहे	भोक्ष्यामह

(66) तन् (फैलाना)

तनादिगण। उभयपदी

	लट्-परस्मैपद				**लट्-आत्मनेपद**		
प्रथम पु.	तनोति	तनुतः	तन्वन्ति	प्र०	तनुते	तन्वाते	तन्वते
मध्यम पु.	तनोषि	तनुथः	तनुथ	म०	तनुषे	तन्वाथे	तनुध्वे
उत्तम पु.	तनोमि	(तनुवः तन्वः)	(तनुमः तन्मः)	उ०	तन्वे	(तनुवहे तन्वहे)	(तनुमहे तन्महे)
	लोट्					**लोट्**	
प्रथम पु.	तनोतु	तनुताम्	तन्वन्तु	प्र०	तनुताम्	तन्वाताम्	तन्वताम्
मध्यम पु.	तनु	तनुतम्	तनुत	म०	तनुष्व	तन्वाथाम्	तनुध्वम्
उत्तम पु.	तनवानि	तनवाव	तनवाम	उ०	तनवै	तनवावहै	तनवामहै
	लङ्					**लङ्**	
प्रथम पु.	अतनोत्	अतनुताम्	अतन्वन्	प्र०	अतनुत	अतन्वाताम्	अतन्वत
मध्यम पु.	अतनोः	अतनुतम्	अतनुत	म०	अतनुथाः	अतन्वाथाम्	अतनुध्वम् उत्तम
पु.	अतनवम्	(अतनुव अतन्व)	(अतनुम अतन्म)	उ०	अतन्वि	(अतनुवहि अतन्वहि)	(अतनुमहि अतन्महि)
	विधिलिङ्					**विधिलिङ्**	
प्रथम पु.	तनुयात्	तनुयाताम्	तनुयुः	प्र०	तन्वीत	तन्वीयाताम्	तन्वीरन्
मध्यम पु.	तनुयाः	तनुयातम्	तनुयात	म०	तन्वीथाः	तन्वीयाथाम्	तन्वीध्वम्
उत्तम पु.	तनुयाम्	तनुयाव	तनुयाम	उ०	तन्वीय	तन्वीवहि	तन्वीमहि
	लृट्					**लृट्**	
प्रथम पु.	तनिष्यति	तनिष्यतः	तनिष्यन्ति	प्र०	तनिष्यते	तनिष्येते	तनिष्यन्ते
मध्यम पु.	तनिष्यसि	तनिष्यथः	तनिष्यथ	म०	तनिष्यसे	तनिष्येथे	तनिष्यध्वे
उत्तम पु.	तनिष्यामि	तनिष्यावः	तनिष्यामः	उ०	तनिष्ये	तनिष्यावहे	तनिष्यामहे

स्मरणीय बिंदु-

1. **भ्वादिगण की समानताः** अधिकांश परस्मैपदमयी धातुओं (जैसे-हस्, पठ्, रक्ष्, वद्) के रूप भू (भवति) धातु के समान चलते हैं।

विशेष आदेश (परिवर्तन):

1. गम् धातु को लृट् लकार को छोड़कर अन्य चार लकारों में गच्छ आदेश होता है।
2. दृश् धातु को लृट् लकार (द्रक्ष्यति) को छोड़कर अन्य चार लकारों में पय आदेश होता है।

3. स्था को तिष्ठ और पा (पीना) को पिब आदेश होता है।
4. चुरादिगण की विशेषता: चुर् चिन्त्, कथ्, भक्ष् आदि धातुओं के अंत में अय जोड़कर (जैसे-चोरयति, चिन्तयति) भू धातु की तरह रूप चलाए जाते हैं।
5. लृट् लकार में इ का आगम: कुछ धातुओं में लृट् लकार में इ जुड़ता है (जैसे-हसिष्यति, लेखिष्यति), जबकि कुछ में नहीं जुड़ता (जैसे-स्थास्यति, पास्यति, नङ्क्ष्यति/नशिष्यति)।
6. आत्मनेपद के प्रत्यय: आत्मनेपद में लट् लकार में अते, एते, अन्ते (जैसे-सेवते, सेवेते, सेवन्ते) प्रत्यय जुड़ते हैं।
7. उभयपद धातुओं का व्यवहार: नी (नयति/नयते) और हृ (हरति/हरते) जैसी धातुएं परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों में रूप बनाती हैं।

5 **अंक के प्रश्न**-

1. स्था (तिष्ठ्) धातु का लोट् लकार (आज्ञा अर्थ) मध्यम पुरुष तीनों वचनों में रूप लिखिए।
2. उभयपदी धातु से आप क्या समझते हैं? पाठ में से कोई दो उदाहरण दीजिए।
3. न (नष्ट होना) धातु का लृट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में कौन-से दो रूप बनते हैं?
4. कृ (करना) धातु का लट् लकार उत्तम पुरुष के तीनों वचनों के रूप लिखिए।
5. लभे और मोदते पदों में मूल धातु और लकार का निर्देश कीजिए।

15 **अंक के प्रश्न**-

1. गम् और दृश् धातुओं में लकारों के अनुसार होने वाले परिवर्तनों को स्पष्ट कीजिए। इन दोनों धातुओं के लट् और लृट् लकार के प्रथम पुरुष के रूपों की तुलनात्मक तालिका बनाइए।
2. अस् (होना) और दा (देना) धातु के लोट् लकार (आज्ञा अर्थ) और लङ् लकार (भूतकाल) के रूप सभी पुरुषों और वचनों में विस्तार से लिखिए।
3. आत्मनेपदी सेव् (सेवा करना) धातु के रूपों का पाँचों लकारों (लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ्, लृट्) में प्रथम पुरुष के तीनों वचनों में उल्लेख कीजिए तथा आत्मनेपद के सामान्य संक्षिप्त प्रत्ययों की उपयोगिता समझाइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. गम् धातु का लृट् लकार (भविष्यत् काल) प्रथम पुरुष एकवचन में क्या रूप होगा?
(क) गच्छति
(ख) अगच्छत्
(ग) गमिष्यति
(घ) गच्छेत्
2. पश्यति रूप किस मूल धातु का है?
(क) पा
(ख) दृश्
(ग) पश्
(घ) स्था
3. अभवत् में प्रयुक्त लङ् लकार किस काल का बोध कराता है?
(क) वर्तमान काल
(ख) भूतकाल
(ग) भविष्यत् काल
(घ) आज्ञार्थक
4. चोरयति पद किस गण की धातु से संबद्ध है?
(क) भ्वादिगण
(ख) अदादिगण
(ग) तुदादिगण
(घ) चुरादिगण
5. सेवते रूप धातु के किस पद-भेद के अंतर्गत आता है?

(क) परस्मैपद
(ख) आत्मनेपद
(ग) उभयपद
(घ) इनमें से कोई नहीं

इकाई-४.३ अनुवाद (१-१५ अभ्यास पर्यन्त)

शब्दकोष - २५ अभ्यास १ (व्याकरण)

उद्देश्य-

• **कारक एवं विभक्ति बोधः** प्रथमा (कर्ता) से लेकर सप्तमी (अधिकरण) और सम्बोधन तक की विभक्तियों के व्यावहारिक प्रयोग और उनके नियमों (जैसे-अभितः, परितः, सह, नमः, भीतः, जुगुप्सा आदि के योग में विशेष विभक्तियाँ को समझाना।

• **धातु एवं पुरुष संगतिः** कर्ता के पुरुष (प्रथम, मध्यम, उत्तम) और वचन (एकवचन, द्विवचन, बहुवचन) के अनुसार क्रिया पदों (लट्, लोट्, विधिलिंग आदि) की सटीक संगति स्थापित करना।

• **शब्दकोष विस्तारः** व्यावहारिक और शास्त्रीय संस्कृत शब्दों (जैसे-वनस्पति, प्राकृतिक वस्तुएं, सम्बन्धबोधक, सर्वनाम, अव्यय तथा संख्यावाचक शब्दों) का ज्ञान देकर अनुवाद की क्षमता विकसित करना।

• **संधि-नियमः** पाणिनीय व्याकरण के अनुसार प्रमुख स्वर संधियों (यण्, गुण, वृद्धि, अयादि, पूर्वरूप) के व्यावहारिक प्रयोगों और सूत्रों (जैसे-इको यणचि, आद् गुणः, वृद्धिरेचि) का बोध कराना।

(क) सः (वह), तौ वे दोनों), ते (वे सब), भवान् (आप, पुंलिंग), भवती (आप, स्त्रीलिंग), (सर्वनाम शब्द)। रामः (राम), ईश्वरः (ईश्वर या स्वामी), बालकः (बालक), (13)। गम् (जाना), मनुष्यः (मनुष्य), नरः (मनुष्य), ग्रामः (गाँव), नृपः (राजा), विद्यालयः (विद्यालय)। (6) (ख) भू (होना), पठ् (पढ़ना), लिख (लिखना), हस् (हँसना) आगम् (आना) (ग) अत्र (यहाँ), इह (यहाँ), यत्र (जहाँ), तत्र (वहाँ), कुत्र (कहाँ), क्व (कहाँ)। (6)

नियम १- कर्ता के अनुसार क्रिया का वचन और पुरुष होता है। जैसे-सः पठति। कर्ता प्रथमपुरुष एकवचन है तो क्रिया भी प्रथमपुरुष एकवचन होगी।

नियम २- 'भवत्' (आप) शब्द के साथ सदा प्रथमपुरुष आता है।

नियम ३- तीनों लिंगों में धातु का रूप वही रहता है।

नियम ४- कर्ता में प्रथमा होती है और कर्म में द्वितीया होती है।

नियम ५- (अपदं न प्रयुञ्जीत) बिना प्रत्यय लगाये शब्द या धातु का प्रयोग न करें। रामः पठति, प्रयोग होगा। राम पठ्, नहीं।

नियम ६- एक अर्थवाले (पर्यायवाची) शब्दों में से एक शब्द का ही प्रयोग करें)

१. **उदाहरण-वाक्यः-** १. वह पढ़ता है- सः पठति। २. वे दो पढ़ते हैं (पढ़ रहे हैं)- तौ पठतः। ३. वे सब पढ़ते हैं- ते पठन्ति। ४. आप यहाँ आते हैं- भवान् अत्र आगच्छति। ५. आप दोनों हँसते हैं- भवन्तौ हसतः। ६. आप सब जाते हैं- भवन्तः गच्छन्ति। ७. आप लिखती हैं- भवती लिखति। ८. वहाँ क्या हो रहा है? तत्र किं भवति ?

२. **अनुवादः :- (क)** १. वह लिखता है। २. वह गाँव को जाता है। ३. वह आता है। ४. बालक पढ़ता है। ५. राम लिखता है। ६. मनुष्य हँसता है। ७. राजा यहाँ आता है। ८. राम विद्यालय जाता है। ९. आप वहाँ जाते हैं। १०. वह मनुष्य कहाँ जाता है?

(ख) ११. वे दोनों हँसते हैं। १२. वे दोनों कहाँ जाते हैं? १३. दो आदमी यहाँ आ रहे हैं। १४. दो राजा वहाँ जा रहे हैं। १५. वे दोनों जहाँ जाते हैं, वहाँ हँसते हैं। १६. आप दोनों आते हैं।

(ग) १७. वे सब यहाँ आते हैं। १८. सब बालक विद्यालय जा रहे हैं। १९. वे मनुष्य कहाँ जा रहे हैं ? २०. आप सब पढ़ रहे हैं। २१. वे सब पढ़ते हैं। २२. वे सब लिखते हैं।

३. **शुद्ध करो तथा नियम बताओ** - सः पठन्ति। तौ लिखति। ते आगच्छति। भवान् पठन्ति। भवती हसतः। बालकः पठन्ति। नराः पठति। नरौ आगच्छन्ति। विद्यालयः गच्छति। नृप गच्छति। नृप गच्छन्ति। बालक हसतः। नराः हसति। भवान् हसतः।

४. **अभ्यास (संस्कृत में)** - (क) २ (क) के वाक्यों को द्विवचन और बहुवचन में बदलो। (ख) २ (ख) के वाक्यों को एकवचन और बहुवचन में बदलो। (ग) पठ्, लिख, गम्, आगम् के प्रथमपुरुष के रूप लिखो। (घ) बालक, नर, नृप, विद्यालय के प्रथमा (कर्ता) और द्वितीया (कर्म) विभक्ति के रूप लिखो।

(शब्दकोष- 25-25-50) **अभ्यास 2** **(व्याकरण)**

(क) त्वम् (तू), युवाम् (तुम दोनों), यूयम् (तुम सब (सर्वनाम)। फलम् (फल), पुस्तकम् (पुस्तक), पुष्पम् (फूल), पत्रम् (चिट्ठी, पत्ता), भोजनम् (भोजन), जलम् (जल), राज्यम् (राज्य), सत्यम् (सत्य), गृहम् (घर), वनम् (वन)। (13) (ख) रक्ष् (रक्षा करना), वद् (बोलना), पच् (पकाना), पत् (गिरना), नम् (नमस्कार करना)। (5)। (ग) अद्य (आज), सम्प्रति (अब), इदानीम् (अब), अधुना (अब), यदा (जब), तदा (तब), कदा (कब)। (7)

विभक्ति	**कारक**	**चिह्न**
(1) प्रथमा (प्र0)	**कर्ता**	**-, ने**
(2) द्वितीया (द्वि0)	**कर्म**	**को**
(3) तृतीया (तृ0)	**करण**	**ने, से, द्वारा**
(4) चतुर्थी (च0)	**सम्प्रदान**	**के लिए**
(5) पंचमी (पं0)	**अपादान**	**से**
(6) षष्ठी (ष0)	**संबन्ध**	**का, के, की**
(7) सप्तमी (स0)	**अधिकरण**	**में, पर**
(8) संबोधन (सं0)	**संबोधन**	**हे, अये, भोः**

नियम 7- (अच्हीनं परेण संयोज्यम्) हल् व्यंजन आगे के स्वर से मिल जाता है। (यह नियम ऐच्छिक है)। जैसे- त्वम् अद्य त्वमद्य। यूयम् + इदानीम् = यूयमिदानीम्)

१. **उदाहरण-वाक्यः**- १. तू कहता है-त्वं बदसि। २. तुम दोनों कहते हो-युवां वदथः। ३. तुम लोग कहते हो यूयं वदथ। ४. त्वम् ईश्वरं नमसि। ५. युवां भोजनं पचथः। ६. यूयं पुस्तकानि पठथ। ७. त्वपद्य पुस्तकं पठसि। ८. यदा यूयं गच्छथ, तदा सः पत्रं लिखति। ९. त्वं राज्यं रक्षसि। १०. यूयं पुष्पाणि रक्षथ। १९. त्वं गृहं गच्छसि।

२. **अनुवादः (क)** १. तू पढ़ता है। २. तू पत्र लिखता है। ३. तू भोजन पकाता है। ४. तू राज्य की रक्षा करता है। ५. तू फल की रक्षा करता है। ६. तू सत्य बोलता है। ७. तू घर जाता है। ८. तू असत्य बोलता है। ९. तू राजा को प्रणाम करता है। १०. तू यहाँ आता है।

(ख) ११. तुम दोनों यहाँ आते हो। १२. तुम दोनों कब भोजन बनाते हो? १३. तुम दोनों अब गाँव जाते हो। १४. आप दोनों अब जा रहे हैं। १५. दो पत्ते गिर रहे हैं।

(ग) १६. तुम लोग राज्य की रक्षा करते हो। १७. तुम लोग ईश्वर को प्रणाम करते हो। १८. तुम लोग पुस्तक पढ़ते हो। १९. अब तुम लोग हँसते हो। २०. तुम लोग पाठ पढ़ रहे हो। २१. तुम लोग पत्र लिखते हो। २२. तुम सब आते हो।

३. **शुद्ध करो तथा नियम बताओ**- त्वं पठति। युवां गच्छतः। यूयं लिखन्ति। यूयं वदसि। युवां पतथ। त्वं भोजनः पचति। भवान् सत्यः वदति। भवान् रक्षसि। यूयं राज्यः रक्षथः। त्वं राज्यस्य रक्षसि।

४. **अभ्यास (संस्कृत में) (क)** २ (क) के वाक्यों को द्विवचन और बहुवचन में बदलो। (ख) २ (ख) के वाक्यों को एकवचन और द्विवचन में बदलो। (ग) रक्ष, वद्, पच्, पत्, गम्, लिख् के म० पु० के रूप लिखो। (घ) पुस्तक, पुष्प, पत्र, जल, राज्य के प्रथमा और द्वितीया में रूप लिखो।

६. **वाक्य बनाओ** - सत्यम्, राज्यम्, इदानीम्, कदा, तदा, यदा।

शब्दकोष-५०+२५=७५)

अभ्यास ३

(व्याकरण)

(क) अहम् (मैं), आवाम् (हम दोनों), वयम् (हम सब) (सर्वनाम)। रमा (लक्ष्मी), बाला (लड़की), कन्या (लड़की), लता (लता), कथा (कथा, कहानी), कीडा (खेल), पाठशाला (पाठशाला), विद्या (विद्या)। (११)। (ख) दृश् (देखना), स्था (रुकना), सद् बैठना), पा (पीना), घ्रा (सूघना), स्मृ (स्मरण करना), जि (जीतना)। (७)। (ग) इतः (यहाँ से), ततः (वहाँ से), यतः (जहाँ से), कुतः (कहाँ से), किम् (क्या), कथम् (क्यों, कैसे), न (नहीं)। (७) ।

(क). वर्णमाला-कोष्ठ में पारिभाषिक नाम हैं, इन्हें शुद्ध स्मरण कर लें।

(क)	स्वर-अ, इ, उ, ऋ, ऌ (ह्रस्व)	ए, ऐ, ओ, औ	(मिश्रित)
	आ, ई, ऊ, ॠ (दीर्घ)		
(ख)	व्यंजन क, ख, ग, घ, ङ (कवर्ग)	च, छ, ज, झ, ञ	(चवर्ग)
	ट, ठ, ड, ढ, ण (टवर्ण)		त, थ, द, ध, न (तवर्ण)
	प, फ, ब, भ, म (पवर्ग)		य, र, ल, व (अन्तःस्थ)
	श, ष, स, ह (ऊष्म), (०) (अनुस्वार), (ँ) (अनुनासिक),		: (विसर्ग)

सूचना-वर्ग के **प्रथम** अक्षर का अर्थ है- क च ट त प। **द्वितीय**-ख छ ठ थ फ। **तृतीय**-ग ज ड द ब। **चतुर्थ**-घ झ ढ ध भ। **पंचम** – ङ ञ ण न म। सन्धि-नियमों में प्रथम द्वितीय आदि के स्थान पर क्रमशः १, २, ३, ४, ५ गिनती दी जाएगी।

नियम ८- 'स्मृ' धातु के साथ साधारण स्मरण में द्वितीया होती है। खेदपूर्वक स्मरण में षष्ठी। (देखो अभ्यास १४)। जैसे - पाठं स्मरति, ईश्वरं स्मरति।

१. **उदाहरण-वाक्य** - १ मैं पढ़ता हूँ- अहं पठामि। २. हम दोनों पढ़ते हैं-आवां पठावः। ३. हम लोग पढ़ते हैं- वयं पठामः। ४. वयं विद्यां पठामः। ५. अहं कन्यां पश्यामि। ६. आवां क्रीडां पश्यावः। ७. अहं पुष्पं जिघ्रामि। ८. वयं जलं पिबामः। ९. वयमत्र तिष्ठामः। १०. अहं कथां स्मरामि।

२. **अनुवादः (क)** १. मैं लिखता हूँ। २. मैं यहाँ बैठता हूँ। ३. मैं वहाँ से आता हूँ। ४. मैं जहाँ से आता हूँ, वहीं जाता हूँ। ५. मैं खेल देखता हूँ। ६. मैं विद्या पढ़ता हूँ। ७. मैं क्या देखता हूँ? ८. मैं लता को देखता हूँ। ९. मैं राम का स्मरण करता हूँ। १०. मैं राज्य जीतता हूँ। ११. मैं जल पीता हूँ। १२. मैं फूल सूँघता हूँ। १३. मैं पुस्तक पढ़ता हूँ।

(ख) १४. हम दोनों पाठशाला जाते हैं। १५. हम दोनों लता देखते हैं। १६. हम लोग सत्य बोलते हैं। १७. हम लोग यहाँ क्यों बैठे हैं?

(ग) १८. वह क्या याद करता है? १९. वे लोग जल क्यों नहीं पीते हैं? २०. तुम कहाँ से आ रहे हो ? २१. हम वहाँ से नहीं आ रहे हैं। २२. मैं वहाँ से आ रहा हूँ।

३. **शुद्ध करो तथा नियम बताओ –** अहं दृशामि। आवां स्थावः। वयं पामः। अहं सदामि। पाठशालायां गमामि। वयं पुष्पं घ्रामः। वयं जलं पामः।

४. **अभ्यास- (क)** २. (क) के वाक्यों को बहुवचन में बनाओ। (ख) २ (ख) को एकवचन में बनाओ। (ग) दृश्, सद्, स्था, पा, घ्रा के लट् के तीनों पुरुष के पूरे रूप लिखो। **(घ)** बाला, लता, विद्या, कथा, क्रीडा के प्र० और द्वि० के रूप लिखो।

५. **वाक्य बनाओ** - पश्यामि, तिष्ठामि, सीदामि, पिबामि, जिन्नामि, इतः, ततः, कुतः।

६. **रिक्त स्थानों में लट् उ0 पु0 का रूप लिखो** - १. अहं फलं (दृश्)। २. आवामत्र (सद्)। ३. वयं जलं (पा)। ४. आवां पुष्पाणि (घ्रा)। ५. वयमीश्वरं (स्मृ)।

(ख) कृ (करना), अस् (होना)। चुर् (चुराना), चिन्त् (चिन्तन करना, सोचना), कथ् (कहना), भक्ष् (खाना) । (६)। (ग) इत्थम् (ऐसे), तथा (वैसे), यथा (जैसे), कथम् (कैसे), अपि (भी), एव (ही), च (और), किन्तु (किंतु), परन्तु (परन्तु)। (९)। (घ) एकः (एक), द्वौ (दो), त्रयः (तीन), चत्वारः (चार), पञ्च (पाँच), षट् (छह), सप्त (सात), अष्ट (आठ), नव (नौ), दश (दस)। (१०)।

नियम ९- 'च' (और) का प्रयोग हिन्दी के प्रयोग से एक शब्द के बाद किया जाता है। जैसे- फल और फूल- फलं पुष्पं च। फलं च पुष्पम्, अशुद्ध है

१. **उदाहरण-वाक्य** - १. एकः मनुष्यः अस्ति। २. द्वौ बालकौ स्तः। ३. त्रयः नृपाः सन्ति। ४. चत्वारः ग्रामाः। ५. पञ्च पुष्पाणि ।। ६. षट् फलानि। ७. सप्त पुस्तकानि। ८. अष्ट बालाः। ९. ते नव क्रीडाः कुर्वन्ति। १०. तत्र दश एव नराः सन्ति। ११. वयं कथां क्रीडां च कुर्मः। १२. स दश फलानि चोरयति। १३. स ईश्वरं चिन्तयति। १४. अत्र पुस्तकं फलं च स्तः।

२. **अनुवादः (क)** १. ईश्वर एक ही है। २. दो बालक फूल सूंघते हैं। ३. तीन आदमी खाना खाते हैं। ४. चार बालक क्रीड़ा करते हैं। ५, चोर पाँच पुस्तकें चुराते हैं। ६. रमा छः कहानियाँ कहती है। ७. वे सातों बालक ईश्वर का चिन्तन करते हैं। ८. यहाँ आठ लताएँ हैं। ९. वहाँ नौ आदमी भोजन करते हैं। १०. वहाँ दस पुस्तकें हैं।

(ख) ११. वह है। १२. तुम कैसे हो? १३. मैं इस प्रकार खाता हूँ। १४. वह क्या सोचता है ? १५. जैसी कथा है, वह वैसी ही कहता है। १६. तुम कैसे पढ़ते हो?

(ग) १७. वे ऐसे सोचते हैं। १८. हम कथा कहते हैं। १९. हम खेल भी करते हैं और भोजन भी करते हैं। २०. तुम सब कथा ही कहते हो, परन्तु वे सोचते भी हैं।

३. **शुद्ध करो तथा नियम बनाओ**- ईश्वरः सन्ति। वयम् अस्मि। अहं स्मः। त्वं स्थ। यूयम् असि। त्वं करोति। स कुर्वन्ति। अहं कुर्मः। वयं करोमि। रामः च कृष्णः पठति। पुष्पं च फलम्। स करोषि। आवां कुरुतः। यूयं कुरुथः।

४. **अभ्यास (संस्कृत में) (क)** १ से १० तक गिनती के १० वाक्य बनाओ। **(ख)** २ (ख) को बहुवचन बनाओ। (ग) २ (ग) को एकवचन बनाओ। (घ) अस् और कृ के लट् के रूप बताओ। (ङ) ये प्रत्याहार बनाओ-अक्, अच्, अट्, एङ्, एच्, ऐच्, यण्, हश्, झश्, झल्, जश्, छव्, चर् शर्।

५. **वाक्य बनाओ** - त्रयः, चत्वारः, दश, अस्ति, सन्ति, अस्मि, स्मः, करोति, करोमि।

६. **रिक्त स्थान भरो**- (लट् लकार) - १. अहमत्र (अस्)। २. ते तत्र (अस्)। ३. यूयमिह (अस्)। ४. ते किं (कृ)। ५. अहं भोजनं (कृ)। ६. त्वं तत्र किं (कृ)। ७. यूयं किं (कृ)।

(क) जनकः (पिता), पुत्रः (पुत्र), सूर्यः (सूर्य), चन्द्रः (चन्द्रमा), सज्जनः (सण्ज्जन), दुर्जनः (दुर्जन), प्राज्ञः (विद्वान्), लोकः (संसार, लोग), उपाध्यायः (गुरु), शिष्यः (शिष्य), प्रश्नः (प्रश्न), कोशः (कोस), धर्मः (धर्म), सागरः (समुद्र)। (14)। (ख) तुद् (दुःख देना), इष् (चाहना), स्पृश् (छूना), प्रच्छ् (पूछना)। (4)। (ग) अभितः (दोनों ओर), परितः (चारों ओर), समया (समीप), निकषा (समीप), हा (दुःख, खेद), प्रति (ओर), अनु (ओर, पीछे) (७)।

कारक (प्रथमा, संबोधन, द्वितीया)

नियम १०- कर्ता (व्यक्तिनाम, वस्तुनाम आदि) में प्रथमा होती है। जैसे - रामः पठति।

नियम ११- किसी को संबोधन करने (पुकारने) में 'संबोधन' विभक्ति होती है। जैसे- हे राम ! हे कृष्ण !

नियम १२- (कर्तुरीप्सिततमं कर्म) कर्ता जिसको (व्यक्ति वस्तु या क्रिया को) बहुत चाहता है, उसे कर्म कहते हैं।

नियम १३- (कर्मणि द्वितीया) कर्म में द्वितीया होती है। जैसे- रामः विद्यालयं गच्छति। स पुस्तकं पठति। स रामं पश्यति। स फलम् इच्छति। ते प्रश्नं पृच्छन्ति।

नियम १४- अभितः, परितः, समया, निकषा, हा, प्रति, अनु के साथ द्वितीया होती है। जैसे- ग्रामम् अभितः (गाँव के दोनों ओर)। वनं निकषा समया वा (वन के समीप)।

नियम १५- गति (चलना, हिलना, जाना) अर्थवाली धातुओं के साथ द्वितीया होती है। जैसे- ग्रामं गच्छति। वनं विचरति। तृप्तिं गच्छति। स्मृतिं गच्छति)

१. **उदाहरण-वाक्य** - १. राम गाँव को जाता है- रामः ग्रामं गच्छति। २. ग्रामम् अभितः (गाँव के दोनों ओर) जलम् अस्ति। ३. ग्रामं परितः (गाँव के चारों ओर) वनम् अस्ति। ४. ग्रामं समया (गाँव के पास) पाठशाला अस्ति। ५. विद्यालयं निकषा (विद्यालय के पास) गच्छति। ६. दुर्जन के लिए खेद है- हा दुर्जनम्। ७. विद्यालयं प्रति (विद्यालय की ओर) गच्छति। ८. रामम् अनु (राम के पीछे) गच्छति। ९. गृहं गच्छति। १०. क्रोशं गच्छति। ११. जलं पिबति। १२. पुस्तकं पठति।

२. **अनुवादः** - १. बालक विद्यालय जाता है। २. बालिका विद्यालय की ओर (प्रति) जाती है। ३. कन्या फल चाहती है। ४. गुरु प्रश्न पूछता है। ५. पुत्र फूल छूता है। ६. पिता सूर्य को देखता है। ७. पुत्र चन्द्रमा को चाहता है। ८. दुर्जन सज्जन को दुःख देता है। ९. पुत्र गाँव के पास बैठा है। १०. विद्वान् धर्म की ओर (अनु) जाता है। ११. गुरु के पास शिष्य बैठा है। १२. शिष्य समुद्र को (के विषय में) पूछता है। १३. संसार ईश्वर को नमस्कार करता है। १४. हे पुत्र! पिता कहाँ हैं? १५. हे दुर्जन! धर्म को क्यों नहीं स्मरण करता ? १६. राम घर कब जाता है? १७. फूल के चारों ओर जल है। १८. विद्या धर्म की ओर जाती है। १९. विद्यालय के दोनों ओर फल और फूल हैं। २०. राजा दुर्जन को दुःख देता है।

३. **वाक्य बनाओ - (क)** २ के वाक्यों का बहुवचन बनाओ।
(ख) तुद्, इष्, स्पृश्, प्रच्छ्, पठ्, लिख्, गम्, आगम् के लट् के पूरे रूप लिखो।
(ग) राम के तुल्य १० नये शब्दों के रूप बनाओ।

४. **वाक्य बनाओ** - अभितः, परितः, समया, निकषा, प्रति, अनु, इच्छति, पृच्छति।

५. **रिक्त स्थान भरो** - १. ग्रामम् ..... जलमस्ति। २. विद्यालयं ..... वनमस्ति। ३. जनकः सत्यम् ..... गच्छति। ४. त्वं धनम् ..... ५. वयं प्रश्नं .....। ६. ईश्वरः लोकं .....।

शब्दकोष-१२५+२५=१५०)

अभ्यास ६

(व्याकरण)

(क) धनम् (धन), नगरम् (नगर), आसनम् (आसन), अध्ययनम् (पढ़ना), ज्ञानम् (ज्ञान), कार्यम् (कार्य), ओदनम् (चावल), वर्षम् (वर्ष), दिनम् (दिन)। (९) (ख) खाद् (खाना), धाव् (दौड़ना), कीड् (खेलना), चल् (चलना)। अधिशी (सोना), अधिस्था (बैठना) अध्यास् (बैठना), (७)। (ग) उभयतः (दोनों ओर), सर्वतः (चारों ओर), धिक् (धिक्कार), उपरि (पर), अधः (नीचे), अधि (अन्दर), अन्तरा (बीच में), अन्तरेण (बिना), विना (बिना)। (९)।

कारक (द्वितीया)

नियम १७- उभयतः, सर्वतः, धिक्, उपर्युपरि, अधोऽधः और अध्यधि के साथ द्वितीया होती है। जैसे- ग्रामम् उभयतः। ग्रामं सर्वतः। धिक् नास्तिकम्।

नियम १८- (अन्तरान्तरेण युक्त) अन्तरा, अन्तरेण और विना के साथ द्वितीया होती है। जैसे- गङ्गां यमुनां च अन्तरा प्रयागः अस्ति (गंगा-यमुना के बीच में प्रयाग है)। ज्ञानमन्तरेण न सुखम्। श्रमं विना न धनम्।

नियम १९- (अधिशीङ्स्थासां कर्म) अधिशी, अधिस्था और अध्यास् धातु के साथ द्वितीया होती है। जैसे- आसनम् अधिशेते, अधितिष्ठति, अध्यास्ते वा।

नियम २०- (कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे) समय और स्थान के दूरीवाची शब्दों में द्वितीया होती है। जैसे-दश दिनानि (१० दिन तक) लिखति। पञ्च वर्षाणि (५ वर्ष तक) पठति। कोशं (कोसभर) गच्छति)

अभ्यास ६

१. **उदाहरण-वाक्य** - १. वह पुस्तक पढ़े- सः पुस्तकं पठतु। २. तू गाँव को जा-त्वं ग्रामं गच्छ। ३. मैं भोजन खाऊँ- अहं भोजनं खादानि। ४. वह आसन पर बैठता है-स आसनम् अधितिष्ठति, अध्यास्ते वा। ५. वह घर में सोता है- स गृहम् अधिशेते। ६. ग्रामम् उभयतः (गांव के दोनों ओर) जलम् अस्ति। ७. विद्यालयं सर्वतः (विद्यालय के चारों ओर) पुष्पाणि

सन्ति। ८. धिक् दुर्जनम्। ९. लोकम् उपर्युपरि (संसार के ऊपर-ऊपर), अधोऽधः (नीचे-नीचे), अध्यधि (अन्दर-अन्दर) ईश्वरः अस्ति। १०. क्रोशं चलतु।

२. **अनुवादः (क)** १. दिनेश पुस्तक पढ़े। २. रमेश खाना खाये। ३. वह दौड़े। ४. वह खेले। ५. राम यहाँ से चले। (ख) ६. तू धन की इच्छा कर। ७. तू नगर को जा। ८. तू फूलों को देख। ९. तू ज्ञान की इच्छा कर। १०. तू घर के कार्य को ही देख। (ग) ११ मैं चावल पकाऊँ। १२. मैं दौड़ूँ। १३. मैं खेलूँ। १४. मैं चलूँ। १५. मैं फल खाऊँ। (घ) १६. नगर के दोनों ओर वन हैं। १७. घर के चारों ओर फल हैं। १८. दुर्जन को धिक्कार। १९. संसार के ऊपर-ऊपर सूर्य है। २०. गाँव के नीचे नीचे जल है। २१. लोक के अन्दर अन्दर राम हैं। २२. गाँव और विद्यालय के बीच में (अन्तरा) जल है। २३. धर्म के बिना (अन्तरेण, विना) सुख नहीं। २४. रमेश आसन पर बैठता है। २५. पुत्र घर में सोता है। २६. कृष्ण दस वर्ष तक अध्ययन करता है। २७. महेश पाँच दिन तक लिखता है। २८. देवदत्त कोस भर चलता है।

३. **अभ्यास – (क)** २ (क) (ख) (ग) को बहुवचन बनाओ। (ख) पूरे रूप लिखो-ज्ञान, धन, कार्य, आसन, वर्ष, दिन, फल, पुस्तक, गृह। (ग) लोट् के पूरे रूप लिखो-पठ्, लिख्, गम्, वद्, दृश, स्था, पा, कथ्, भक्ष्, खाद्, धाव्, क्रीड्, चल्।

४. **वाक्य बनाओ –** उभयतः, सर्वतः, अन्तरा, अन्तरेण, अधिशेते, अधितिष्ठति, अध्यास्ते।

५. **रिक्त स्थलों को भरो**- १. ..... उभयतः जलम्। २. ..... सर्वतः पुष्पाणि सन्ति। 3. ..... अन्तरेण न सुखम्। । ४. ..... च अन्तरा प्रयागः। ५. ..... अधिशेते। ६) .....अध्यास्ते।

शब्दकोष-१५०+२५=१७५) **अभ्यास ७** (व्याकरण)

(क) अजा (बकरी), वसुधा (भूमि), सुधा (अमृत), जटा (जटा), क्षमा (क्षमा)। तण्डुलः (चावल), दुग्धम् (दूध), शतम् (सौ या सौ रु0)। (8)। (ख) भ्रम् (घूमना), रुह् (चढ़ना, उगना), त्यज् (छोड़ना), वस् (रहना), नी (ले जाना), हृ (ले जाना), कृष् (खोदना, खींचना), वह (ले जाना, ढोना)। दुह् (दुहना), याच् (माँगना), दण्ड् (दंड देना), रुध् (रोकना), चि (चुनना), ब्रू (बोलना), शास् (बताना), मथ् (मथना), मुष् (चुराना)। (17।

नियम २१- २१- ये धातुएँ द्विकर्मक हैं। (इन अर्थों की अन्य धातुएँ भी)। इनके साथ दो कर्म होते हैं-दुह्, याच्, पच्, दण्ड, रुध, प्रच्छ, चि, बु, शास्, जि, मथ्, मुष्, नी, ह, कृष्, वह्)

१. **उदाहरण-वाक्य** - १. वह पढ़ेगा सः पठिष्यति। २. तू जाएगा-त्वं गमिष्यसि। ३. मैं आऊँगा-अहम् आगमिष्यामि। ४. वह देखेगा-सः द्रक्ष्यति। ५. बकरी का दूध दुहता है-अजां दुग्धं दोग्धि। ६. राजा से क्षमा माँगता है- नृपं क्षमां याचते। ७. चावलों से भात पकाता है-तण्डुलान् ओदनं पचति। ८. राजा दुर्जन पर सौ रुपए दण्ड लगाता है- नृपः दुर्जनं शतं दण्डयति। ९. घर में बकरी को रोकता है- गृहम् अजां रुणद्धि। १०. गुरु से धर्म पूछता है- उपाध्यायं धर्म पृच्छति। ११. लता से फूलों को चुनता है- लतां पुष्पाणि चिनोति। १२. पुत्र को धर्म बताता है-पुत्रं धर्म ब्रवीति, शास्ति वा। १३. राम से सौ रुपए जीतता है- रामं शतं जयति। १४. समुद्र से अमृत को मथता है-सागरं सुधां मथ्नाति। १५. राम के सौ रुपए चुराता है- रामं शतं मुष्णाति। १६. बकरी को गाँव में ले जाता है- अजां ग्रामं नयति, हरति, कर्षति, वहति वा।

२. **अनुवादः - (क)** १. वह लिखेगा। २. वह पढ़ेगा। ३. वह हँसेगा। ४. वह ऊपर जायेगा। ५. वह नीचे आयेगा। ६. रमेश रक्षा करेगा। ७. देवेन्द्र बोलेगा। ८. वह पकायेगा। (ख) ९. तू गिरेगा। १०. तू नमस्कार करेगा। ११. तू देखेगा। १२. तू बैठेगा (स्था, सद्)। १३. तू जल पियेगा। १४. तू फूल सूँघेगा। १५. तू ईश्वर को स्मरण करेगा। १६. तू राज्य जीतेगा। (ग) १७. मैं धन नहीं चुराऊँगा। १८. मैं सोचूँगा। १९. मैं कथा कहूँगा (कथ्)। २०. मैं खाना खाऊँगा (भक्ष्)। २१. मैं धन चाहूँगा। २२. मैं फूल छूऊँगा। २३. मैं प्रश्न पूछूँगा। २४. मैं यहाँ रहूँगा। (घ) २५. वह राजा से भूमि माँगता है। २६. वह चावलों से भात पकायेगा। २७. वह पुत्र से प्रश्न पूछेगा। २८. वह शिष्य को सत्य बतायेगा (वद्)। २९. रमेश दुर्जन से सौ रुपए जीतेगा। ३०. दिनेश नगर में बकरी को लायेगा। (नी, ह, कृष्, वह्)।

३. **अभ्यास (क)** २ (क) (ख) (ग) के एकवचन को बहुवचन बनाओ। (ख) पूरे रूप लिखो-रमा, अजा, वसुधा, सुधा, गङ्गा, यमुना। (ग) लृट् के पूरे रूप लिखो-पठ्, लिख्, गम्, वद्, कृ, अस्, कथ्, भक्ष्, पच्, दृश्, स्था, पा, घ्रा, जि, प्रच्छ्, त्यज्, वस्, नी, वह्।

४. **वाक्य बनाओ**- पास्यामि, द्रक्ष्यामि, स्थास्यामि, स्प्रक्ष्यति, प्रक्ष्यति, वत्स्यति, घ्रास्यति, जेष्यति, याचते, पचति, ब्रवीति, नयति)

शब्दकोष-१७५+२५०=२००) **अभ्यास ८** (व्याकरण)

(क) हरिः (विष्णु, सूर्य, किरण, सिंह, बन्दर), कविः (कवि), यतिः (संन्यासी), भूपतिः (राजा), सेनापतिः

(सेनापति), प्रजापतिः (प्रजापति, ब्रह्मा), रविः (सूर्य), कपिः (बन्दर), मुनिः (मुनि), अग्निः (आग), गिरिः (पहाड़), मरीचिः (किरण)। मेघः (बादल), दण्डः (डंडा), कन्दुकः (गेंद)। (15)। (ख) दह् (जलाना), ज्वल् (जलना), तप् (तपना, तपस्या करना), चर् (चलना, घूमना), वृष् (बरसना), गै (गाना)। (6)। (ग) सह, साकम्, सार्थम्, समम्, (चारों का अर्थ है, साथ) (4)।

नियम २२- (पतिः समास एव) पति शब्द किसी शब्द के अन्त में समस्त होगा तो उसका रूप हरि के तुल्य चलेगा। जैसे- भूपतिना, भूपतये, भूपतेः आदि।

२. धातुरूप - 'भू'- लङ् (भूतकाल)

अभवत्	अभवताम्	अभवन्	प्र० पु०	(धातु	अत्	अताम्	अन्	प्र० पु०
अभवः	अभवतम्	अभवत	म० पु०	से पहले	अः	अतम्	अत	म० पु०
अभवम्	अभवाव	अभवाम	उ० पु०	अ+)	अम्	आव	आम	उ० पु०

संक्षिप्तरूप-एक० द्वि० बहु०

सूचना- लङ् में धातु से पहले 'अ' लगेगा, बाद में संक्षिप्तरूप। जैसे- अपठत्, अलिखत्, अदहत्, अज्वलत्, अतपत्, अचरत्, अवर्षत्, अगायत्। यदि धातु का प्रथम अक्षर स्वर होगा तो 'आ' लगेगा और वृद्धि होगी। जैसे- इष् ऐच्छत्, आगम् आगच्छत्, अस् आसीत्।

कारक (तृतीया, करण)

नियम २३- (साधकतमं करणम्) क्रिया की सिद्धि में सहायक को करण कहते हैं।

नियम २४- (कर्तृकरणयोस्तृतीया) करण में तृतीया होती है और कर्मवाच्य तथा भाववाच्य में कर्ता में तृतीया होती है। जैसे- कन्दुकेन क्रीडति। दण्डेन चलति। रामेण गृहं गम्यते। रामेण भूयते।

नियम २५- (सहयुक्तेऽप्रधाने), सह, साकम्, सार्थम्, समम्, (साथ अर्थ में) के साथ तृतीया ही होती है। जैसे- जनकेन सह, साकं सार्थ समं वा गृहं गच्छति।

नियम २६- (इत्थंभूतलक्षणे) जिस चिह्न से किसी व्यक्ति या वस्तु का बोध होता है, उसमें तृतीया होती है। जैसे- जटाभिः यतिः (जटा से संन्यासी ज्ञात होता है)। 1

नियम २७- (हेतौ) कारणबोधक शब्दों में तृतीया होती है। अध्ययनेन वसति।

१. उदाहरण-वाक्य - १. उसने पढ़ा-सः अपठत्। २. तूने लिखा-त्वम् अलिखः। ३. मैंने कहा-अहम् अवदम्। ४. भूपतिना सह सेनापतिः चरति। ५. यतिना सार्धं कविः गायति। ६. मुनिः सत्येन लोकं जयति। ७. रविः मरीचिभिः अतपत्। ८. अग्निः ग्रामम् अदहत्। ९. अग्निः ज्वलति। १०. गिरिं निकषा कपयः चरन्ति। ११. मेघः वर्षति। १२. प्रजापतिः (हरिः) लोकं करोति। १३. अध्ययनेन (अध्ययन के उद्देश्य से) वसति। १४. विद्यया ज्ञानं भवति। १५. धर्मेण हरिमपश्यत्।

२. अनुवादः - १. राम गेंद से खेला। २. यति डण्डे के द्वारा चला। ३. कवि ने गाया। आग ने नगर को जलाया। ५. सूर्य ने किरणों से लोक को तपाया। ६. आग कब जली ? ७. संन्यासी ने वहाँ तप किया। ८. राजा कवि के साथ घूमा। ९. राजा (भूपति) के साथ सेनापति यहाँ आया। १०. जटा से संन्यासी ज्ञात होता है। ११. कवि ने किस प्रकार गाया? १२. यति मुनि के साथ हरि के पास गया। १३. पहाड़ के ऊपर-ऊपर सूर्य तपा। १४. राम बन्दरों के साथ खेला। १५. मुनि राजा के साथ बैठा। १६. मेघ बरसा। १७. कवि और मुनि ने पुस्तकें लिखीं। १८. राजा और सेनापति ने लोक की रक्षा की। १९. यति ने सूर्य को नमस्कार किया। २०. बन्दर बालकों के साथ खेला।

३. अभ्यास-(क) २ के वाक्यों को लट्, लोट् और लृट् में परिवर्तित करो। (ख) पूरे रूप लिखो-हरि, कवि, रवि, अग्नि, मुनि, भूपति, प्रजापति। (ग) लङ् के पूरे रूप लिखो-पठ्, लिख्, गम्, वद्, दृश्, स्था, पा, प्रच्छ्, दह्, ज्वल्, चर्।

४. वाक्य बनाओ- सह, साकम्, सार्थम्, समम्। अदहेत्, अतपत, अचरत्, अगायत्।

५. रिक्त स्थान भरो- (लङ्लकार) १. रामः कन्दुकेंन (क्रीड्)। २. यतिः सूर्यम् (नम्)। ३ कविः कथम् (गै)।४. गिरिं निकषा कपिः (भ्रम्)।५. कपिभिः सह बालः (क्रीड्)।

अभ्यास ९

(व्याकरण)

(क) गुरुः (गुरु, विशेषण भारी, बड़ा), भानुः (सूर्य), इन्दुः (चन्द्रमा), शत्रुः (शत्रु), शिशुः (बालक), वायुः (वायु), पशुः (पशु), तरुः (वृक्ष), साधुः (सज्जन, साल, अच्छा, निपुण)। काणः (काना), कर्णः (कान), बधिरः (बहरा), पादः (पैर), खञ्जः (लंगड़ा), शब्दः (शब्द) अर्थः (१२. अर्थ २. धन, ३. प्रयोजन), विवादः (विवाद)। नेत्रम् (आँख), तृणम् (तिनका), सुखम् (सुख), दुःखम् (दुःख) प्रयोजनम् (प्रयोजन), हसितम् (हँसना)। प्रकृतिः (स्वभाव)

। (२४)। (ग) अलम् (१. बस, २. पर्याप्त, समर्थ, शक्त)। (१)

कारक (तृतीया, अनुस्वार सन्धि)

नियम २८ - किम्, कार्यम्, अर्थः और प्रयोजनम् (चारों प्रयोजन अर्थ में हों तो) के साथ तृतीया होती है- जैसे- मूर्खेण पुत्रेण किम्, किं कार्यम्, कोऽर्थः, कि प्रयोजनम्? (मूर्ख पुत्र से क्या लाभ या क्या प्रयोजन)। तृणेन, अपि कार्यं भवति। क्या कार्य होता है।

नियम २९- अलम् (बस, मत) के साथ तृतीया होती है। जैसे- अलं हसितेन (मत हँसो)। अलं विवादेन (विवाद मत करो)।

नियम ३०- (येनाङ्गविकारः) शरीर का जो अंग विकार से विकृत दिखाई पड़े, उसमें तृतीया होती है। जैसे- नेत्रेण काणः (एक आँख से काणा), कर्णेन बधिरः।

नियम ३१- (प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्) प्रकृति (स्वभाव) आर्थि क्रिया-विशेषण शब्दों में तृतीया होती है। प्रकृत्या साधुः (स्व. भाव से सरल)। सुखेन जीवति। दुःखेन जीवति। सरलतया लिखति।

नियम ३२- (सन्धि)-(मोऽनुस्वारः) पदान्त (शब्द या धातुरूप के अन्तिम) म् के बाद कोई हल् (व्यंजन) हो तो म् को अनुसार) (ं) हो जाता है, स्वर बाद में हो तो नहीं। रामम्+पश्यति=रामं पश्यति। रामम् अपश्यत् राममपश्यत्।

१. **उदाहरण-वाक्य** - १. उसे पढ़ना चाहिए (वह पढ़े) - सः पठेत्। २. तुझे लिखना चाहिए-त्वं लिखेः। ३. मैं गुरु को नमस्कार करूँ- अहं गुरु नमेयम्। ४. दुर्जनेन कोऽर्थः, कि प्रयोजनम्, किं कार्यम् ? (दुर्जन से क्या लाभ?)। ५. अलं भोजनेन (भोजन मत करो)। ६. पादेन खञ्जः। ७. गुरुः शिशुं प्रश्नं पृच्छेत्। ८. सूर्यः मरीचिभिः तपेत्। ९. इन्दुः सुधां वर्षेत्। १०. भूपतिः शत्रून् जयेत्। ११. साधुः पशुभिः सह चरेत्। १२. तरुः फलैः नमेत्। १३. सज्जनाः विद्यया सह नमेयुः। १४. प्रकृत्या साधुः।

२. **अनुवादः (क)** १. दुर्जन शिष्य से क्या लाभ ? २. मत हँसो। ३. मत खाओ। ४. शत्रु आँख से काना है। ५. शिशु कान का बहरा है। ६. पशु पैर से लँगड़ा है। ७. गुरु स्वभाव से सज्जन है। ८. वायु सुख से बहती है। (ख) (विधिलिङ्) ९. शिशु गुरु को नमस्कार करे। १०. तू सूर्य को देख। ११. मैं चन्द्रमा को देखूँ। १२. वे शत्रुओं को जीतें। १३. हवा बहे (वह्)। १४. शिशु पशुओं के साथ पहाड़ पर जाये। १५. साधु वृक्षों के पास बसे। १६. तू घर जा। १७. मैं वृक्षों को देखूँ। १८. हम सूर्य को देखें। १९. कृष्ण चावल पकाये। २०. शिशु दूध पिये।

३. **अभ्यास–** (क) २ (ख) को लट्, लोट् और लृट् में बदलो। (ख) पूरे रूप लिखो- गुरु, भानु, इन्दु, शिशु, शत्रु, वायु, साधु। (ग) विधिलिङ् के पूरे रूप लिखो-पठ्, लिख्, गम्, वद्, दृश्, स्था, पा, प्रच्छ्, चर् त्यज्, खाद्, धाव्।

४. **वाक्य बनाओ**- कोऽर्थः, कि प्रयोजनम्, अलम्, प्रकृत्या, काणः, खञ्जः। पठेत्, लिखेत्, गच्छेः, वदेः, पश्येत्, तिष्ठेत्, पिबेत्, पृच्छेत्, त्यजेयम्, खादेम।

५. **रिक्त स्थलों को भरो**-१. अलं ·····। २. प्रकृत्या ·····। ३. ····· बधिरः। 4. ·····कोऽर्थः। ५. ····· पश्येत्। ६. ····· पठेम। ७. ····· गच्छेम। ८. ·····नमेयम्।

६. **संधि करो**- किम्+कार्यम्+करोति। अहम्+गृहम्+गच्छामि। पुस्तकम्+पठति। गुरुम्+नमति। शिशुम्+प्रश्नम्+पृच्छति। जलम्+पिबति। त्वम्+पठसि। अहम्+लिखामि

शब्दकोष-२२५+२५=२५०) **अभ्यास १०** (व्याकरण)

(क) तत् (यह), यत् (जो), एतत् (यह), किम् (कौन), सर्व (सब), पूर्व (पहला), विश्व (1. सब, 2. संसार), अन्य (और), इतर (और), (सर्वनाम)। विप्रः (ब्राह्मण), इन्द्रः (इन्द्र) दैत्यः (राक्षस)। प्रभुः (1. स्वामी, 2. समर्थ), पितु (1. पिता, 2. पितरलोग)। (14)। (ख) दा (यच्छ्) (देना), वितृ (देना), दा (देना)। (3)। (ग) नमः (नमस्कार, प्रणाम), स्वस्ति (आशीर्वाद), स्वाहा (देवताओं के लिए अग्नि में आहुति), स्वधा (पितरों के लिए अन्नादि), अलम् (पर्याप्त, समर्थ), वषट् (आहुति, साधुवाद)। (6)। (घ) शक्तः (समर्थ), समर्थः (समर्थ)। (2)।

नियम ३३- सर्वनाम शब्दों और विशेषण शब्दों का वही लिंग, विभक्ति और वचन होता है, जो विशेष्य का होता है। जैसे- कः नरः, कं नरम्, केन नरेण। का बाला।

नियम ३४- (कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानम्) दान आदि क्रिया जिसके लिए की जाती है, उसे संप्रदान कहते हैं।

नियम ३५- (चतुर्थी संप्रदाने) संप्रदान कारक में चतुर्थी होती है। विप्राय धनं ददाति।

नियम ३६- (नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च) नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम् (तथा पर्याप्त अर्थवाले अन्य शब्द), वषट् के साथ चतुर्थी होती है। जैसे- गुरवे नमः। शिष्याय स्वस्ति। अग्नये स्वाहा। पितृभ्यः स्वधा। इन्द्राय वषट्।

हरिः दैत्येभ्यः अलम्, प्रभुः, समर्थः, शक्तः वा।

नियम ३७- (संधि) (इको यणचि) इ, ई को य्, उ, ऊ को व्, ऋ, ॠ को र्; लृ को ल् हो जाता है, यदि बाद में कोई स्वर हो तो। सवर्ण (वैसा ही) स्वर हो तो नहीं। जैसे-प्रति+एकः=प्रत्येकः, इ को य्। पठतु एकः=पठत्वेकः, उ को व्। पितृ+आ=पित्रा, ऋ को र् लृ+आकृतिः लाकृतिः,=लृ को ल।

१. **उदाहरण-वाक्य** - १. वह उस ब्राह्मण को धन देता है-स तस्मै विप्राय धनं ददाति, यच्छति, वितरति वा। २. गुरु को नमस्कार-गुरवे नमः। ३. पुत्राय स्वस्ति। ४. राम शत्रुओं के लिए पर्याप्त है-रामः शत्रुभ्यः अलम्, समर्थः, शक्तः, प्रभुः वा। ५, एतस्मै बालकाय फलं यच्छ, वितर वा। ६. कस्मै शिष्याय ज्ञानं वितरसि। ७. सर्वेभ्यः (विश्वेभ्यः) शिशुभ्यः भोजनं वितर, इतरेभ्यः (अन्येभ्यः) फलानि यच्छ। ८. तिष्ठत्यत्र कः? ९. लिखत्वेकः, पठत्वन्यः। १०. आगच्छत्विह रामः।

२. **अनुवादः (क)** १. उस बालक को दूध दो (यच्छ, वितृ)। २. इस मुनि को धन दो। ३. सूर्य को जल दो। ४. किस राजा को धन देते हो ? ५. उस कवि को भोजन दो। ६. जिस बालक को फल देते हो, उसी को फूल भी दो। ७. पिता को नमस्कार। ८. शिष्य को आशीर्वाद। ९. दुर्जन के लिए राजा पर्याप्त है। १०. ज्ञान के लिए गुरु के पास जाओ। ११. अग्नि के लिए स्वाहा। १२. पितरों के लिए स्वधा। (ख) १३. इन मुनियों को फल और फूल दो। १४. जो बालक विद्यालय नहीं जाता, उसको पिता दण्ड देता है। १५. इन फलों के लिए उन वृक्षों को देखो। १६. इस प्रश्न को उस छात्र से पूछो। १७. सारे (सर्व, विश्व) विद्वानों को वहाँ ले जाओ। १८. किस बालक को पूछते हो? १९. किस विद्यालय में पढ़ते हो ? २०. इन छात्रों को पुस्तक दो और उन बालिकाओं को गेंद दो।

३. **अभ्यास (क)** २ (क) को बहुवचन में परिवर्तित करो। (ख) तत्, यत्, एतत्, किम्, सर्व और विश्व के पुंलिंग में पूरे रूप लिखो। (ग) यच्छ्, वितृके लट्, लोट् और विधिलिङ् के पूरे रूप लिखो।

४. **वाक्य बनाओ** - नमः, स्वस्ति, अलमं, प्रभुः, कस्मै, तस्मै, एतस्मै, यस्मै, सर्वेभ्यः।

५. **संधि करो** - प्रति+एकः। इति+उवाच। इति+आह। इति+अवदत्। आगच्छतु+अत्र। पठतु+एषः। सुधी+उपास्यः। मधु+अरिः। धातृ+अंशः। लृ+आकृतिः।

६. **संधि-विच्छेद करो** - यद्यपि, प्रत्युपकारः, इत्येतत्, इत्युवाच, पठत्वत्र, गच्छत्वन्यः

शब्दकोष- २५०+२५=२७५)

अभ्यास ११

(व्याकरण)

(क) बाह्मणः (बाह्मण), क्षत्रियः (क्षत्रिय, वैश्यः (वैश्य), शुद्रः (शुद्र), वर्णः (वर्ण), मोक्षः (मोक्ष, मुक्ति), मूर्खः (मूर्ख), चोरः (चोर), अश्वः (घोड़ा)। मोटकम् (लड्डु), पापम् (पाप)। (11)। (ख) क्रुध् (कोध करना), कुप् (कोध करना), द्रुह् (द्रोह) करना, ईर्ष्य् (ईर्ष्या करना), असूय (बराई निकालना), धारि (धारण करना, किसी का ऋणी होना), स्पृह् (चाहना), निवेदि (कहना, निवेदन करना), उपदिश् (उपदेश देना), भज् (सेवा या भजन करना), क्रन्द् (रोना)। रुच् (१. अच्छा लगना, २. चमकना)। (12)। (ग) अर्थम् (लिए), कृते (लिए) (2)।

नियम ३८- (रुच्यर्थानां प्रीयमाणः) रुच् (अच्छा लगना) अर्थ की धातुओं के साथ चतुर्थी होती है। जैसे- बालकाय मोदकं रोचते। पुत्राय दुग्धं रोचते।

नियम ३९- (कुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः) कुध, द्रुह, ईर्ष्य्, असूय अर्थ की धातुओं के साथ जिस पर क्रोध किया जाय, उसमें चतुर्थी होती है। रामः मूर्खाय (राम मूर्ख पर) क्रुध्यति, कुप्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति।

नियम ४०- कथ्, निवेदय, उपदिश्, धारय (ऋणी होना), स्पृह्, कल्पते (होना), संपद्यते (होना), हितम् (हित) तथा सुखम् के साथ चतुर्थी होती है। जैसे-शिष्याय (शिष्य को) कथयति। रामः देवदत्ताय शतं (राम देवदत्त का सौ रु०) धारयति। विद्या ज्ञानाय कल्पते, संपद्यते। उपदिश् के साथ द्वितीया भी होती है।

नियम ४१- (तादध्ये चतुर्थी वाच्या) जिस प्रयोजन के लिए जो वस्तु या क्रिया होती है, उसमें चतुथी होती है। जैसे- मोक्षाय हरिं भजति। शिशुः दुग्धाय क्रन्दति।

नियम ४२- चतुर्थी के अर्थ में 'अर्थम' और 'कृते' अव्ययों का प्रयोग होता है। कृते के साथ यष्ठी होती है। भोजनार्थम् भोजनस्य कृते (खाने के लिए)।

नियम ४३- (संधि) (एचोऽयवायावः) ए को अय्, ओ को अव्, ऐ को आय् और औ को आव् हो जाता है, बाद में कोई स्वर हो तो। जैसे-ने+अनम्=नयनम्। हरे+ए=हरये। गुरो+ए गुरवे। गै+अकः=गायकः। द्यौ+अत्र=द्यावत्र।

१. **उदाहरण-वाक्य**- १. बालक को लड्डू अच्छा लगता है- बालकाय मोदकं रोचते।

२. नृपः दुर्जनेभ्यः (राजा दुर्जनों पर) क्रुध्यति, कुप्यति, गुह्यति, ईष्यति, असूयति वा। ३. गुरुः शिष्याय (शिष्य को) कथयति,

निवेदयति, उपदिशति वा। ४. हरिः पुष्पेभ्यः (फूलों को) स्पृहयति। ५. विद्या अर्थाय कल्पते, संपद्यते, भवति (धन के लिए है)। ६. ब्राह्मणाय (ब्राह्मण का) हितं सुखं वा भवेत्। ७. शिशुः दुग्धाय (दुग्धार्थम्, दुग्धस्य कृते) क्रन्दति। ८. तत् पुस्तकं पठ। ९. एतत् राज्यं रक्ष। १०. कि कार्य करोषि। ११. सर्वाणि पुस्तकानि शिष्येभ्यः सन्ति। १२. अन्यत् (इतरत्) पुस्तकं पठ। १३. छात्रावत्र आगच्छतः। १४. बालकावत्र क्रीडतः।

२. **अनुवादः** - १. उस छात्र को यह फूल अच्छा लगता है। २. इस बालक को यह पुस्तक अच्छी लगती है। ३. गुरु शिष्य पर क्रोध करता है। ४. यह दुर्जन उस सज्जन से द्रोह करता है। ५. वह मूर्ख इस विद्वान् से ईर्ष्या करता है (ईर्ष्या, असूय) । ६. वह गुरु इन बालकों को उपदेश देता है। ७. राजा ने सेनापति से कहा। ८. शिष्य गुरु से भोजन के लिए (अर्थम्, कृते) निवेदन करता है। ९. वह मुनि मोक्ष के लिए ईश्वर को भजता है। १०. चार वर्ण हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ११. वह गुरु इन शिष्यों को विद्या देता है। १२. राम इन फलों को चाहता है (स्पृह्)। १३. सारे पापों को छोड़ो। १४. ये क्षत्रिय उन वैश्यों और शुद्रों की रक्षा करें। १५. यह दूसरी (अन्य, इतर) पुस्तक है। १६. वह मनुष्य कृष्ण का सौ रु० का ऋणी है। १७. शिष्य का हित हो (हितम्, सुखम्)।

३. **अभ्यास- (क)** यत्, तत्, एतत्, किम्, सर्व और विश्व के नपुं० के पूरे रूप लिखो। (ख) इनके लट् लोट् और विधि लिङ् के रूप लिखो - क्रुध्, उपदिश, भज्, निवेदय, धारय।

४. **वाक्य बनाओ** - रोचते, क्रुध्यति, द्रुह्यति, धारयति, स्पृहयति, कथयति, भजति, अर्थम्।

५. **संधि करो**-मुने+ए, कवे+ए, जे+अति, जे+अः, शे+अनम्, गुरो+ए, पो+अनः, भो+अति, नै+अकः, कै+अः, पौ+अकः, प्रभौ+अः, भौ+अकः।

६. **संधि-विच्छेद करो**- सज्जनावत्र, बालावद्य, ब्राह्मणाविदानीम्, द्वावेतौ, भावकः, परिचायकः, यतये, कवये, शिशवे, साधवे, गुरवे)

शब्दकोष- २७५+२५=३००) **अभ्यास १२** (व्याकरण)

(क) वक्षः (वृक्ष), प्रासादः (महल)। शैशवम् (बाल्यकाल), उपवनम् (वाटिका)। प्रजा (प्रजा), बेला (समय) । (6)। (ख) भी (डरना), त्रे (रक्षा करना), अधि-इ (पढ़ना), आ+नी (लाना)। (4) (ग) ऋते (बिना), आरात् (1. समीप, 2. दूर), प्रभृति (उक्त समय से लेकर), आरभ्य (आरम्भ करके) बहिः (बाहर), प्राक् (1. पूर्व की ओर, 2. पहले), प्रत्यक् (पश्चिम की ओर), उदक् (उत्तर की ओर), दक्षिणा (दक्षिण की ओर)। (9)। (घ) पूर्वः (1. पूर्व दिशा, 2. पहले), पश्चिमः (पश्चिम दिशा), उत्तरः (उत्तर दिशा), दक्षिणः (1. दक्षिण दिशा, 2. चतुर), भिन्नः (अति. रिक्त, अलावा), अतिरिक्तः (भिन्न)। (6)।

नियम ४४- (ध्रुवमपायेऽपादानम्) जिससे कोई वस्तु आदि अलग हो, उसे अपादान कहते हैं।

नियम ४५- (अपादाने पंचमी) अपादान में पंचमी होती है। जैसे- वृक्षात् पत्रं पतति।

नियम ४६- (अन्यारादितरर्ते०) अन्य, आरात्, इतर (तथा अन्य अर्थ वाले और भी शब्द) ऋते, पूर्व आदि दिशावाची शब्द (इनका देश, काल अर्थ हो तो भी), प्रभृति और बहिः, इन शब्दों के साथ पंचमी होती है। जैसे-ज्ञानाद ऋते न मोक्षः। ग्रामात् पूर्वः पश्चिमः उत्तरः दक्षिणः प्राक् आदि (गाँव से पूर्व आदि की ओर)। शैशवात् प्रभृति (बचपन से लेकर)। ग्रामाद बहिः।

नियम ४७- (भीत्रार्थानां भयहेतुः) भय और रक्षा अर्थ की धातुओं के साथ भय के कारण में पंचमी होती है। चोराद बिभेत्ति। चोरात् त्रायते।

नियम ४८- (आख्यातोपयोगे जिससे विद्या आदि पढ़ी जाए, उसमें पंचमी होती है। उपाध्यायादधीते। गुरोः पठति।

नियम ४९- (अदेङ्गुणः) अ, ए और ओ को गुण कहते हैं।

नियम ५०- (संधि) (आदगुणः) अ या आ के बाद इ या ई को ए, उ या ऊ को ओ. ऋ या ॠ को अर्, लृ को अल् होता है। जैसे- रमा+ईशः =रमेशः पर+ उपकारः परोपकारः, महा+ऋषिः =महर्षिः, तव+लृकारः = तवल्कारः।)

१. **उदाहरण-वाक्य** - १. इस वृक्ष से यह पत्ता गिरा-अस्माद् वृक्षात् एतत् पत्रम् अपतत्।

२. तस्माद अश्वात् स नरः पतति। २. प्रासादाद् बालः अपतत्। ४. तस्माद् गुरोः अधीते, पठति वा। ५. चोराद् बिभेति। ६. चा. ेरात् त्रायते। ७. रामाद् अन्यः (इतरः, भिन्नः, अतिरिक्तः) कः सत्यं वदेत्। ८. धनाद् ऋते न सुखम्। ९. एषा बालिकेच्छति लतामेताम्। १०. एताः सर्वाः (विश्वाः) प्रजाः धर्मं रक्षन्ति। ११. प्रजेच्छति नृपम्। १२. पश्येदानीम्। १३. नेदानीं गच्छ। १४. पश्योपरि। १५. केदार्नी वेला ?

२. **अनुवादः** - १. उस वृक्ष से ये फूल गिरे। २. उस महल से वह लड़की गिरी। 3. किस घोड़े से वह सेनापति गिरा ? ४. जिस नगर से वह राजा इस गाँव में आया, उसी नगर को अब गया है। ५. उस पाठशाला से वह लड़की यहाँ आयी। ६. उस गुरु से वह शिष्य पढ़ता है (अधि+इ)। ७. उसने गुरु से पढ़ा। ८. यह लड़की चोर से डरती है। ९. वह ब्राह्मण इस कन्या को उस राक्षस से बचाता है। १०. प्रजा से राजा के लिए धन लाओ। ११. क्षत्रिय के अतिरिक्त (अन्यः, इतरः, भिन्नः, अतिरिक्तः) कौन इस प्रजा को दुःख से बचाता है? १२. धर्म के बिना (ऋते) सुख नहीं। १३. गाँव के पास (आरात्) सारी सेना है। १४. गाँव के पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण की ओर कौन लोग रहते हैं? १५. मैं बाल्यकाल से लेकर यहाँ ही रहता हूँ। १६. गाँव के बाहर जाओ। १७. अब क्या समय है ? १८. वाटिका से फूल लाओ। १९. पेड़ से फल गिरे। २०. उस गुरु से विद्या पढ़ो।

३. **अभ्यास** - यत्, तत्, एतत्, किम्, सर्व, पूर्व के स्त्रीलिंग के पूरे रूप लिखो।

४. **वाक्य बनाओ** - बिभेति, त्रायते, अधीते, आनयति, ऋते, आरात्, प्रभृति, बहिः, पूर्वः, भिन्नः।

५. **संधि करो** - का + इदानीम्। एषा+इच्छति। न+इच्छति। न+इदम्। पर + उपकारः। महा+उदयः। वीर + इन्द्रः। महा+ऋषिः। राजा+ऋषिः। पश्य+उपरि। महा+उत्सवः।

६. **संधि-विच्छेद करो** - नेच्छति, गच्छोपरि, ब्रह्मर्षिः, सप्तर्षिः, केह, तस्योपरि, सूर्योदयः)

शब्दकोष-३००+२५=३२५)

अभ्यास १३

(व्याकरण)

(क) इदम् (यह), अदस् (वह) (सर्वनाम)। अङ्करः (अंकुर), तिलः (तिल), माषः (उड़द), यवः (जौ)। बीजम् (बीज)। दूरम् (दूर)। अन्तिकम्, समीपम्, निकटम्, पार्श्वम्, सकाशम् (इन 5 का अर्थ है, समीप)। (13)। (ख) विरम् (रुकना), प्रमद् (प्रमाद करना), निवृ (हटाना), प्रभू (1. उत्पन्न होना, 2. समर्थ होना), उद्भू (निकलना), प्रति+दा (बदले में देना)। जुगुप्स (घृणा करना), जन् (उत्पन्न होना), निली (छिपना)। (9)। (ग) पृथक् (अलग) (1)। (घ) पटुः (पटुतरः) (1. चतुर, 2. उससे चतुर), गुरुः (गुरुतरः) (1. भारी या श्रेष्ठ, 2. उससे भारी या अच्छा)। (2)।

नियम ५१- (जुगुप्साविराम०) जुगुप्सते, विरमति, प्रमाद्यति के साथ पंचमी होती है। पापात् जुगुप्सते, विरमति। धर्मात् प्रमाद्यति।

नियम ५२- (वारणार्थानामीप्सितः) जिस वस्तु से किसी को हटाया जाय, उसमें पंचमी होती है। यवेभ्यः पशुं वारयति। पुत्रं पापाद् वारयति, निवारयति वा।

नियम ५३- जायते, उद्भवति, प्रभवति, उद्गच्छति (इन चारों का उत्पन्न होना या निकलना अर्थ हो तो), निलीयते और प्रतियच्छति के साथ पंचमी होती है। प्रजापतेः लोकः जायते। हिमालयाद् गङ्गा प्रभवति, उद्भवति वा। नृपात् चोरः निलीयते। तिलेभ्यः माषान् प्रतियच्छति।

नियम ५४- (पञ्चमी विभक्ते) तुलना में जिससे तुलना की जाती है, उसमें पंचमी होती है। रामात् कृष्णः पटुतरः। धनात् ज्ञानं गुरुत्तरम्।

नियम ५५ - (पृथग्विना०) पृथक् और विना के साथ पंचमी, द्वितीया और तृतीया तीनों होती हैं। रामात्, रामेण, रामं विना पृथक् वा।

नियम ५६- (दूरान्तिकार्थेभ्यो०) दूर और निकटवाची शब्दों में पंचमी, द्वितीया और तृतीया तीनों होती हैं। ग्रामस्य दूरात्, दूरेण, दूरम्।

नियम ५७- (वृद्धिरादैच्) आ, ऐ और औ को वृद्धि कहते हैं)

नियम ५८- (वृद्धिरेचि) अ या आ के बाद ए या ऐ हो तो 'ऐ', ओ या औ हो तो 'औ' होता है। तदा + एकः=तदैकः। तस्य+ऐश्वर्यम्=तस्यैश्वर्यम्। तण्डुल + +ओदनम् = तण्डुलौदनम्। महा + ओषधिः = महौषधिः।

१. **उदाहरण-वाक्य** - १. यह बालक पाप से घृणा करता है-अयं बालकः पापाद् जुगुप्सते, विरमति वा। २. स यवेभ्यः इमान् पशून् निवारयति। ३. अमुं पुत्रं पापाद् निवारय। ४. स एभ्यः तिलेभ्यः माषान् प्रतियच्छति। ५. अमुष्माद् बालकाद् अयं बालकः पटुतरः। ६. विद्यायाः (विद्यां विद्यया) विना न ज्ञानम्। ७. अस्माद् ग्रामात् पृथक् वस। ८. जनकस्य समीपात् (अन्तिकात्, पार्श्वात्, निकटात्, सकाशात्) आगच्छामि। ९. बालिकैषा आगच्छति। १०. तदैकः नरः आगच्छत्। ११. पश्यैतां लताम्। १२. निवारयैतस्मात् पापात् पुत्रम्।

२. **अनुवादः** (इदम्, अदस् का प्रयोग करी) १. यह बालक धर्म से प्रमाद करता है। २. वह शिष्य इस पाप से रुकता (बचता) है। ३. मेरा पुत्र पाप से घृणा करता है। ४. यह गुरु उस शिष्य को इस पाप से हटाता है। ५. जौ से इन पशुओं को हटाओ (निकालो)। ६. ईश्वर से यह लोक उत्पन्न होता है। ७. गंगा हिमालय से निकलती है। ८. बीजों से अंकुर उत्पन्न होते हैं। ९. वह देवदत्त पिता से छिपता है। १०. वह वैश्य इन चावलों से उड़द को बदलता है। ११. उस यति से यह कवि अधिक कुशल है। १२. धन से ज्ञान अधिक बड़ा है। १३. इस कवि के बिना कौन कथा कहेगा ? १४. उस गुरु के पास से इस ग्राम में आया हूँ। १५. गाँव से दूर वह विद्यालय है। १६. उस गुरु से विद्या पढ़ता है।

३. **अभ्यास**- (क) इदम् और अदस् के पुंलिंग के पूरे रूप लिखो। (ख) पंचमी किन-किन स्थानों पर होती है, उदाहरण सहित बताओ।

४. **वाक्य बनाओ** - जुगुप्सते, विरमति, प्रमाद्यति, जायते, उद्भवति, प्रभवति, प्रतियच्छति, निलीयते, पटुतरः, गुरुतरः, पृथक्, विना, दूरात्, अन्तिकात्।

५. **संधि करो** - विद्या + एषा। पश्य एतम्। देव+ऐश्वर्यम्। यदा + एकः। कदा + एकेन। तस्य + एव। सर्वदा + एव। अत्र+एकः। सा+एव। महा+औषधम्। महा+ओषधिः। सदा + एषा। न+एषः। का+एषा। अद्य+एव। अथ+एकः।

६. **संधि-विच्छेद करो** - पश्यैताम्। आनयैतस्याः। निवारयैतस्मात्। सैषा। नैतत्। नैव)

अभ्यास 14

(क) छात्रः (विद्यार्थी)। अन्नम् (अन्न)। निमित्तम् (कारण), कारणम् (कारण), हेतुः (कारण)। (5)। (ख) निन्द् (निन्दा करना), अर्च (पूजा करना), शुच् (शोक करना), जप् (जप करना), आलप् (बात करना), आह्व (बुलाना), तृ (तैरना), ध्यै (ध्यान करना), अभिलष् (चाहना), जीव् (जीना), खन् (खोदना)। (११)। (ग) उत्तरतः (उत्तर की ओर), दक्षिणतः (१. दक्षिण की ओर, २. दाहिनी ओर), पुरः (सामने), पुरस्तात् (सामने), उपरिष्टात् (ऊपर की ओर), अधस्तात् (नीचे की ओर), पश्चात् (पीछे), अग्रे (आगे)। (८)। (घ) श्रेष्ठः (श्रेष्ठ), [पटुतमः (सबसे अधिक चतुर)] (1)।

नियम ५९ - (षष्ठी शेषे) सम्बन्ध का बोध कराने के लिए षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे- गङ्गायाः जलम्। रामस्य पुस्तकम्। देवदत्तस्य धनम्। रामायणस्य कथा।

नियम ६० - (षष्ठी हेतुप्रयोगे) हेतु शब्द के साथ षष्ठी होती है। अन्नस्य हेतोः वसति।

नियम ६१ - (निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्) निमित्त अर्थवाले शब्दों (निमित्त, कारण, हेतु, प्रयोजन) के साथ प्रायः सभी विभक्तियाँ होती हैं। कि निमित्तं वसति, केन निमित्तेन, कस्मै निमित्ताय। कस्य हेतोः, कस्मात् कारणात्, केन प्रयोजनेन।

नियम ६२- (अधीगर्थदयेशां कर्मणि) स्मरण अर्थ की धातुओं के साथ कर्म में षष्ठी होती है। मातुः स्मरति (खेदपूर्वक माता को स्मरण करता है।)

नियम ६३- (षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन) उपरि, उपरिष्टात्, अधः, अधस्तात्, पुरः, पुरस्तात्, पश्चात्, अग्रे, दक्षिणतः और उत्तरतः के साथ षष्ठी होती है। ग्रामस्य दक्षिणतः उत्तरतः आदि। वृक्षस्य उपरि, उपरिष्टात्, अधः अधस्तात् वा।

नियम ६४ - (यतश्च निर्धारणम्) बहुतों में से एक को छाँटने में जिसमें से छाँटा जाय, उसमें षष्ठी और सप्तमी दोनों होती हैं। छात्राणां छात्रेषु रामः श्रेष्ठः पटुतमः वा।

नियम ६५ - (एङ पदान्तादति) पद (सुबन्त या तिङन्त) के अन्तिम ए या ओ के बाद अ हो तो, अ को पूर्वरूप (ए या ओ जैसा रूप) हो जाता है। (इस सन्धि के संकेत के लिए ए ओ के बाद अवग्रह चिह्न ऽ लगता है)। हरे + अव = हरेऽव। विष्णो + अव विष्णोऽव)

१. **उदाहरण-वाक्य** - १. यह देवदत्त की पुस्तक है- इदं देवदत्तस्य पुस्तकम् अस्ति। 2. रामस्य पुत्रम् आह्वय। ३. सः ईश्वरं ध्यायति। ४. सः अजायाः दुग्धम् अभिलषति। ५. अध्ययनस्य हेतोः (पढ़ाई के लिए) जीवति। ६. त्वं कस्य हेतोः (कस्मात् कारणात्) शोचसि। ७. मातुः स्मरति। ८. ग्रामस्य पुरः, पुरस्तात्, अग्रे, पश्चात् वा वनम् अस्ति। ९. गृहस्याग्रे वसुधा खनति। १०. शिष्याणां शिष्येषु वा कृष्णः श्रेष्ठः पटुतमः वा। ११. नराणां नरेषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः। १२. अधीतेऽत्र शिष्यः। १३. त्रायतेऽधुना नृपः। १४. दुर्जनः ब्राह्मणं निन्दति। १५. प्राज्ञः ईश्वरमर्चति, जपति वा। १६. छात्रः गुरुमालपति। १७. बालकः गङ्गां तरति (गङ्गायाः जले वा तरति)।

२. **अनुवादः** (क) १. यह यमुना का जल है। २. इस वृक्ष के ये फूल हैं। ३. बालक की यह पुस्तक है। ४. यह पुस्तक किसकी है? ५. तुम यहाँ पर किसलिए रहते हो ? ६. राम पिता को स्मरण करता है। ७. मैं धन के निमित्त जीता हूँ।

८. इस नगर के उत्तर और दक्षिण की ओर वृक्ष हैं। ९. घर के ऊपर, नीचे, आगे और पीछे की ओर आग जल रही है। १०. पुस्तकों में गीता श्रेष्ठ है। (ख) ११. मूर्ख गुरु की निन्दा करता है। १२. राम सज्जन की पूजा करता है। १३. कृष्ण शोक करता है। १४. यति प्रभु को जपता है। १५. यह बालक उस बालिका से बात करता है। १६. राम श्याम को बुलाता है। १७. यह फूल जमुना के जल में तैर रहा है। १८. तू ईश्वर का ध्यान करता है। १९. राम धन चाहता है (अभिलष्)। २०. मूर्ख धन के निमित्त ही जीते हैं।

३. **अभ्यास**- (क) २ (ख) को लोट्, लङ् और विधिलिङ् में परिवर्तित करो। (ख) इदम् और अदस् के नपुंसक लिंग के पूरे रूप लिखो। (ग) इन धातुओं के लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् के पूरे रूप लिखो निन्द्, जप्, अर्च्, आह्वे, तृ, जीव्, खन्, शुच्।

४. **वाक्य बनाओ**- हेतोः, निमित्तेन, स्मरति, श्रेष्ठः, पुरः, अग्रे, पश्चात्, दक्षिणतः।

५. **संधि करो** - याचते+अधुना। हरे+अव। विष्णो+अव। अधीते+अधुना। रोचते+अग्निः। पुस्तके+अस्मिन्। विद्यालये+अस्मिन्। याचते+अमुम्।

६. **संधि-विच्छेद करो** - अधीतेऽत्र। त्रायतेऽधुना। लोकेऽस्मिन्। केऽत्र। तेऽस्मिन्)

शब्दकोष-350+25=375) **अभ्यास १५** (व्याकरण)

(क) पाकः (पचना), उपदेशः (उपदेश)। शयनम् (सोना), गमनम् (जाना), पठनम् (पढ़ना), दानम् (दान), वस्त्रम् (वस्त्र), आयुष्यम्, कुशलम्, भद्रम् (तीनों आशीर्वाद अर्थ में आते हैं, कुशल हो)। (10)। (ख) गर्ज (गरजना), मूर्छ् (मूर्छित होना), श्रि (१. आश्रय लेना, २. सेवा करना), भृ (पालन करना), सृ (चलना), वे (बुनना), भूयात् (होवे, आशीर्वाद देना अर्थ में)। (7)। (ग) समक्षम् (सामने), मध्ये (बीच में), अन्तः (अन्दर), अन्तरे (अन्दर), शम् (कुशल हो)। (5)। (घ) तुल्यः, सदृशः, समः (तीनों का अर्थ है- तुल्य)। (3)।

नियम ६६ - (कर्तृकर्मणोः कृति) कृदन्त शब्द [जिनके अन्त में कृत् प्रत्यय अर्थात् तृच् (तृ), क्तिन् (ति), अच् (अ), घञ् (अ), ल्युट् (अन) आदि हों] के कर्ता और कर्म में षष्ठी होती है। जैसे- शिशोः शयनम् (बच्चे का सोना), रामस्य गमनम्। सूचना- पुस्तक पढ़ता है, इस प्रकार के वाक्यों का दो प्रकार से अनुवाद होता है, पुस्तकं पठति या पुस्तकस्य पठनं करोति। स्मरण रखें कि धातु का कृदन्तरूप बनाने पर उसके साथ षष्ठी होगी और शुद्ध धातु के साथ द्वितीया।

नियम ६७ - कृते (लिए), समक्षम्, मध्ये, अन्तः और अन्तरे के साथ षष्ठी होती है। भोजनस्य कृते। गुरोः समक्षम्। छात्राणां मध्ये। गृहस्य अन्तः, अन्तरे वा।

नियम ६८ - (दूरान्तिकार्थैः पष्ठी०) दूर और समीपवाची शब्दों के साथ षष्ठी और पंचमी दोनों होती हैं। ग्रामस्य ग्रामाद् वा दूरं, समीपं, पार्श्वं, सकाशं वा।

नियम ६९- (तुल्यार्थैः०) तुल्यवाची शब्दों (तुल्य, सदृश, सम) के साथ षष्ठी और तृतीया दोनों होती हैं। कृष्णस्य कृष्णेन वा तुल्यः, सदृशः, समः।

नियम ७० - (चतुर्थी चाशिष्यायुष्य०) आशीर्वादसूचक शब्दों (आयुष्यम्, भद्रम्, कुशलम्, सुखम्, हितम्, अर्थः, प्रयोजनम्, शम्, पथ्यम् आदि) के साथ षष्ठी और चतुर्थी दोनों होती हैं। कृष्णस्य कृष्णाय वा भद्रम्, कुशलम्, शं वा भूयात्।

नियम ७१ - (अकः सवर्णे दीर्घः) अक् (अ इ उ ऋ) के बाद सवर्ण अक्षर हो तो दोनों के स्थान पर दीर्घ अक्षर हो जाता है। अ या आ अ या आ=आ। इ या ई इ या ई= ई। उ या ऊ उ या ऊ=ऊ। ऋ या ॠ + ऋ या ॠ = ॠ। विद्या + आलयः = विद्यालयः। करोति इदम् करोतीदम्। गुरु + उपदेशः = गुरूपदेशः)

उदाहरण-वाक्य - १. बच्चे का सोना-शिशोः शयनम्। २. पुस्तकस्य पठनम्। 3. धनस्य दानम्। ४. भोजनस्य कृते (लिए)। ५. गृहस्य मध्ये, अन्तः, अन्तरे वा। ६. अस्याः समक्षम्। ७. ग्रामस्य दूरात्। ८. जनकस्य समीपात्, पार्श्वात्, सकाशाद् वा। ९. शिष्यस्य आयुष्यं भद्रं कुशलं शं वा भूयात। १०. पठतीयं बाला। ११. स्मरतूपदेशम्। १२. वसतीहेयं बाला (यह लड़की यहाँ रहती है)। १३. मेघाः गर्जन्ति। १४. वस्त्रं वयति। १५. शिशुः मूर्छति। १६. शिष्यः गुरु श्रयति। १७. जनकः पुत्रं भरति। १८. वायुः सरति।

२. **अनुवादः (क)** १. इस लड़की का पढ़ना उसे अच्छा लगता है। २. उस कन्या का खाना पकाना इसे अच्छा लगता है। ३. इस लड़की का जाना देखो। ४. उस बालिका का सोना देखो। ५. इस गुरु का उपदेश कैसा है ? ६. यह कन्या धन का दान करना चाहती है। ७. अध्ययन के लिए (कृते) गुरु के सामने जाओ। ८. भोजन के लिए घर

के अन्दर आओ। ९. गाँव के समीप या दूर से इस लड़की के लिए फूल लाओ। १०. राम के तुल्य कोई नहीं है। ११. इस बालक का कुशल हो। १२. इस लड़की की ये पुस्तकें हैं। (ख) १३. यह बादल गरजता है। १४. पुत्र मूर्छित होता है। १५. यह बालक पिता का आश्रय लेता है। १६. राजा प्रजा का पालन करता है। १७. हवा चलती है। १८. वह वस्त्र बुनता है। १९. तू खाता है, पीता है, हँसता है और जीता है। २०. मैं ईश्वर का चिन्तन करता हूँ। २१. मैं पानी में तैरता हूँ।

३. **अभ्यास** (क) २ (ख) को लोट् और लङ् में बदलो। (ख) इदम् और अदस् के स्त्रीलिंग के पूरे रूप लिखो। (ग) इन धातुओं के लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् के पूरे रूप लिखो गर्ज्, मूर्छ्, श्रि, भृ, सृ, वे। (घ) षष्ठी विभक्ति किन-किन स्थानों पर होती है। सोदाहरण लिखो।

४. **वाक्य बनाओ**- गमनम्, पाकः, उपदेशः, समक्षम्, मध्ये, अन्तः, कुशलम्, शम्।

५. **संधि करो** - हिम+ आलयः। दैत्य+अरिः। शिष्ट+आचारः। तदा+अगच्छत्। रत्न + आकरः। श्री+ईशः। पठति+इदम्। गच्छति+इयम्। विष्णु+उदयः। होतृ+ऋकारः।

६. **संधि-विच्छेद करो** - लिखतीदम्। वसतीहासौ। हसतीयम्। इतीह। भानूदयः। इहायम्)

.....

.....

स्मरणीय बिंदु

1. मूल नियमः वाक्य में कर्ता के वचन और पुरुष के अनुसार ही क्रिया का वचन और पुरुष निर्धारित होता है (जैसे-सः पठति, ते पठन्ति)। भवत् (आप) शब्द के साथ सदैव प्रथम पुरुष की क्रिया का प्रयोग होता है।
2. अपदं न प्रयुञ्जीत बिना सुप् या तिङ् प्रत्यय लगाए केवल मूल शब्द (प्रातिपदिक) या धातु का प्रयोग वाक्य में वर्जित है (जैसे-राम पठ् अशुद्ध है, रामः पठति शुद्ध है)।

विशिष्ट कारक नियम (विभक्तियाँ):

1. द्वितीयाः अभितः, परितः, समया, निकषा, हा, प्रति, अनु, अन्तरान्तरेण, विना, तथा अधिशीङ्स्थासां कर्म (अधि उपसर्ग पूर्वक शी, स्था, आस् धातु) के योग में। इसके अतिरिक्त काल और मार्ग की निरंतरता में द्वितीया होती है।
2. तृतीयाः सह, साकम्, सार्धम्, समम्, अलं (निषेध अर्थ में), येनाङ्गविकारः (शरीर के विकृत अंग में) तथा प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम् के योग में।
3. चतुर्थीः नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम् (सामर्थ्य अर्थ में), वषट् के योग में। साथ ही रुच्यर्थानां प्रीयमाणः (जिसे अच्छा लगे) तथा जिस पर क्रोध किया जाए (क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः)।
4. पञ्चमीः भीत्रार्थानां भयहेतुः (भय और रक्षा के कारण में), आख्यातोपयोगे (नियमपूर्वक विद्या ग्रहण करने में), जुगुप्सा-विराम-प्रमाद के योग में, और तुलना में जिससे तुलना की जाए।
5. षष्ठीः संबंध सामान्य में, हेतु शब्द के साक्षात् प्रयोग में, खेदपूर्वक स्मरण (स्मृ) में, तथा उपरि, अधः, पुरः, पश्चात् अव्ययों के योग में।
6. षष्ठी/सप्तमीः बहुतों में से किसी एक की विशेषता छांटने पर (यतश्च निर्धारणम्)।

प्रमुख संधि सूत्रः

1. यण् संधि (इको यणचि): इ/ई - य्, उ/ऊ - व्, ऋ - र्, लृ - ल् (यदि आगे कोई असमान स्वर हो)।
2. गुण संधि (आद् गुणः): अ/आ + इ/ई = ए; अ/आ + उ/ऊ = ओ; अ/आ + ऋ = अर्; अ/आ + लृ = अल्।
3. वृद्धि संधि (वृद्धिरेचि): अ/आ + ए/ऐ = ऐ; अ/आ + ओ/औ = औ।
4. अयादि संधि (एचोऽयवायावः): ए - अय्, ओ - अव्, ऐ - आय्, औ - आव् (आगे स्वर होने पर)।
5. पूर्वरूप संधि (एङः पदान्तादति): पद के अंत में स्थित ए या ओ के बाद यदि अ आए, तो अ अपना रूप खोकर पूर्वरूप हो जाता है और उसके स्थान पर अवग्रह (ऽ) चिह्न लगता है।

5 **अंक के प्रश्न**-

1. अपदं न प्रयुञ्जीत नियम की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।
2. द्वितीया विभक्ति विधायक किन्हीं चार अव्यय शब्दों को लिखकर उनका वाक्य प्रयोग कीजिए।

3. यतश्च निर्धारणम् सूत्र का क्या कार्य है? उदाहरण सहित स्पष्ट करें।
4. यण् संधि का सूत्र लिखकर कोई दो उदाहरण दीजिए।
5. तुलना के संदर्भ में पंचमी विभक्ति का प्रयोग कब और कैसे होता है? नियम स्पष्ट कीजिए।

15 **अंक के प्रश्न**-

1. संस्कृत व्याकरण में चतुर्थी सम्प्रदाने के विशेष नियमों की समीक्षा कीजिए। नमः, रुच् और क्रुध् धातुओं/अव्ययों के योग में होने वाले परिवर्तनों को सोदाहरण प्रतिपादित कीजिए।
2. निम्नलिखित वाक्यों को शुद्ध कीजिए तथा उनके सामने प्रयुक्त व्याकरण के नियमों का उल्लेख कीजिए:
3. स्वर संधि के अंतर्गत वृद्धि एवं गुण संधि के नियमों में अंतर स्पष्ट कीजिए। वृद्धिरेचि और आद् गुणः सूत्रों की व्याख्या करते हुए प्रत्येक के तीन-तीन उदाहरण संधि-विच्छेद सहित लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. भवन्तः तत्र .....। इस वाक्य में रिक्त स्थान के लिए शुद्ध क्रिया पद क्या होगा?
(क) गच्छति
(ख) गच्छसि
(ग) गच्छन्ति
(घ) गच्छथः
2. ज्ञानम् ..... न मुक्तिः। वाक्य में पंचमी विभक्ति के नियमानुसार रिक्त स्थान की पूर्ति करें:
(क) प्रति
(ख) ऋते
(ग) सह
(घ) नमः
3. हरे + अव की संधि होने पर एङः पदान्तादति सूत्र के अनुसार कौन सा रूप शुद्ध बनेगा?
(क) हरयव
(ख) हराव
(ग) हरेऽव
(घ) हरैव
4. मूर्खाय क्रुध्यति में मूर्खाय पद में किस सूत्र से चतुर्थी विभक्ति हुई है?
(क) नमःस्वस्तिस्वाहा...
(ख) क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः
(ग) रुच्यर्थानां प्रीयमाणः
(घ) कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्
5. अक्ष्णा काणः (आँख से काना) में तृतीया विभक्ति का कारण कौन सा सूत्र है?
(क) अपवर्गे तृतीया
(ख) सहयुक्तेऽप्रधाने
(ग) येनाङ्गविकारः
(घ) प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्।

॥ ओ३म् ॥

प्राचीन भारत का इतिहास (प्रारम्भ से मौर्यकाल तक)

BDPHID-203(2)

दिव्य प्रकाशन

प्राचीन भारत का इतिहास (प्रारम्भ से मौर्यकाल तक)

पाठ्यक्रम के उद्देश्यः-

इस पाठ्यक्रम का मुख्य उद्देश्य मौर्य काल के पश्चात से लेकर गुप्त काल तक की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को समझना है। जिसमें मौर्योत्तर काल में हूए विदेशी आक्रमणों के प्रभाव से लेकर महान गुप्तों के शासन काल के स्वर्णिम इतिहास से अवगत कराना है।

परिणामः-

- विदेशी आक्रमणों के प्रभाव के प्रति दृष्टिकोण की समझ विकसित करने में।
- मौर्य काल के बाद के राजवंशों के विभिन्न शासकों के कार्यों में अंतर पर विचारों का आदान-प्रदान करने में।
- गुप्त साम्राज्य की महानता को स्थापित करने में।
- वाकाटक काल की सांस्कृतिक उपलब्धियों की व्याख्या करने में।

इकाई प्रथम - मौर्योत्तरकालीन राजवंशों का परिचय - शुंग राजवंश- पुश्यमित्र शुंग, कण्व राजवंश, सातवाहन वंश का परिचय, महामेघवाहन वंश- खारवेल।

इकाई द्वितीय- मौर्योत्तरकालीन विदेशी राजवंशों का परिचय - भारतीय यवनों का परिचय, शक क्षेत्रपों का राजनैतिक इतिहास, प'लव वंश, कुशाण वंश- कनिश्क की राजनैतिक उपलब्धियाँ।

इकाई तृतीय- गुप्तवंश परिचय - गुप्त वंश का परिचय एवं प्रारम्भिक इतिहास, समुद्रगुप्त की राजनैतिक उपलब्धियाँ, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजनैतिक उपलब्धियाँ, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के उत्तराधिकारी एवं गुप्त राजवंश के पतन के कारण।

इकाई चतुर्थ- मौर्योत्तरकाल से गुप्त काल तक का सांस्कृतिक विकास - सामाजिक परम्पराएं, आर्थिक जीवन, नवीन धर्मिक परम्पराओं का उद्भव एवं विकास, स्थापत्य कला एवं मूर्तिकला का विकास।

पाठ्य पुस्तक- शर्मा, एल0 पी0: प्राचीन भारत, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 2022 उपेन्द्र सिंह: प्राचीन और पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास पााण काल से 12 वीं शताब्दि ई0 दिल्ली 2016.

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
खण्ड-1 मौर्योत्तरकालीन राजवंशों का परिचय	**5-28**
इकाई-1.1. शुंग राजवंश- पुष्यमित्र शुंग	5-11
इकाई-1.2. कण्व राजवंश	12-15
इकाई-1.3. सातवाहन वंश का परिचय	16-25
इकाई-1.4. महामेघवाहन वंश- खारवेल	26-28
खण्ड-2 मौर्योत्तरकालीन विदेशी राजवंशों का परिचय	**29-49**
इकाई-2.1. भारतीय यवनों का परिचय	29-32
इकाई-2.2. शक क्षत्रपों का राजनैतिक इतिहास	33-40
इकाई-2.3. पहलव वंश	41-42
इकाई-2.4. कुशाण वंश- कनिश्क की राजनैतिक उपलब्धियाँ	43-49
खण्ड-3 गुप्त वंश	**50-65**
इकाई-3.1. गुप्त वंश का परिचय एवं प्रारम्भिक इतिहास	50-53
इकाई-3.2. समुद्रगुप्त की राजनैतिक उपलब्धियाँ	54-57
इकाई-3.3. चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजनैतिक उपलब्धियाँ	58-60
इकाई-3.4. चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के उत्तराधिकारी एवं गुप्त राजवंश के पतन के कारण	61-65
खण्ड-4 मौर्योत्तरकाल से गुप्त काल तक का सांस्कृतिक विकास	**66-86**
इकाई-4.1. सामाजिक परम्पराएं	66-75
इकाई-4.2. आर्थिक जीवन	76-79
इकाई-4.3. नवीन धार्मिक परम्पराओं का उद्‌भव एवं विकास	80-82
इकाई-4.4. स्थापत्य कला एवं मूर्तिकला का विकास	83-86

भूमिका

महान मौर्यों ने सम्पूर्ण भारत को पहली बार एक राजनीतिक सूत्र में बांधा था और अशोक ने अपने धम्म के द्वारा उसे एक सर्वमान्य आदर्श और चेतना से जोड़ा था, परन्तु स्वयं अशोक और उसके पश्चात् के मौर्य सम्राटों ने कदाचित् परम्परागत ब्राह्मण धर्म एवं संस्कृति को वह सम्मान अथवा विशेष महत्त्व प्रदान नहीं किया जो भारत में स्थायी रूप से संस्कृति और सभ्यता की उत्पत्ति और उसके विकास के लिये उत्तरदायी रही थी। नयी परिस्थितियों में भले ही उसके बहुत से नियम समय के अनुकूल न रह गये हों परन्तु उसका अनुपालन करने वाले तथा उसे महत्व देने वाले लोगों का प्रभाव कम नहीं था। अत: मौयों को हटाकर उनके ही ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने मगध में अपने ब्राह्मण राजवंश की स्थापना की। दक्षिण-पश्चिम की ओर सातवाहन ब्राह्मण राजवंश का उदय हुआ। बगली-तीन-चार शताब्दियों तक ब्राह्मण राजवंशों की ही प्रधानता रही और इस काल में ब्राह्मण धर्म और संस्कृति के पुनरुत्थान एवं विस्तार के प्रयास किये गये। दूसरी ओर उत्तरी एवं पश्चिमी भारत से विदेशियों के भी आक्रमण हुये और उत्तर-पश्चिम में भारतीय यवनों और फिर कुषाणों तथा पश्चिम में शकों के राज्य स्थापित हुए। इसके साथ ही उत्तर-मध्य एवं दक्षिण-पूर्वी भारत में भी कुछ स्थानीय सत्ताओं का उदय हुआ जिनमें कुछ गणराज्य थे और कुछ राजतन्त्र। इस प्रकार मौर्यों के पतन के साथ ही भारत में राजनी. तिक विघटन का प्रारम्भ हुआ जो गुप्त साम्राज्य की स्थापना के बाद ही समाप्त हुआ। इस काल में आर्थिक विकास की नई दिशाएं खुलीं। ब्राह्मण धर्म और संस्कृति ने अपनी जड़ें और मजबूत की और उसका सम्पूर्ण भारत में विस्तार हुआ। विदेशियों ने ब्राह्मण-हिन्दू एवं बौद्ध दोनों ही भारतीय धर्मों को अपनाया।

खण्ड-1 मौर्योत्तरकालीन राजवंशों का परिचय

इकाई-1.1. शुंग राजवंश

उद्देश्य-

1. शुंग वंश की स्थापना एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि को समझना।
2. पुष्यमित्र शुंग की उपलब्धियों का अधययन करना।
3. शुंग काल की धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थिति का विश्लेषण करना।

कभी सम्राट अशोक के अश्वसिरों वाले स्तंभों से दहाड़ने वाला महान सिंह अब धूल में पड़ी अंतिम साँसें ले रहा था। मौर्य साम्राज्य, जो भारतीय उपमहाद्वीप का अब तक का सबसे विशाल और संगठित साम्राज्य था, अब एक वृद्ध वटवृक्ष की भाँति धीरे-धीरे ढहने लगा था जिसकी जड़ें भीतर ही भीतर सड़ चुकी थीं। बृहद्रथ, मौर्य वंश का अंतिम सम्राट, पाटलिपुत्र के सिंहासन पर एक ऐसी बुझती हुई ज्योति की भाँति बैठा था जिसे आँधी किसी भी क्षण बुझा सकती थी शक्तिहीन, महत्वहीन और इस तथ्य से अनभिज्ञ कि विश्वासघात उसके सबसे निकट खड़ा है। इसी सड़ते हुए वैभव की परछाइयों से एक ऐसा व्यक्ति उभरा जिसकी हथेलियाँ युद्धों से तप चुकी थीं और हृदय वैदिक अग्नि से प्रदीप्त था- पुष्यमित्र शुंग, मौर्य सेना का प्रमुख सेनापति और एक कट्टर राष्ट्रवादी। वह व्यक्ति था जिसने सीमाओं की रक्षा तलवार और रणनीति दोनों से की थी। पर अब वह देख रहा था कि भारत भूमि पर अराजकता पसरी हुई है, परंपराएँ मिट रही हैं, सीमाएँ विदेशी आक्रमणों से छिन्न-भिन्न हैं और धर्म राजसी विलासिता में विलीन हो चुका है। ऐसे ही एक निर्णायक क्षण में, जब इतिहास की गति थम सी गई थी, पुष्यमित्र ने अपनी तलवार किसी विदेशी शत्रु पर नहीं, बल्कि अपने ही सम्राट पर चलाई एक भव्य सैन्य परेड के बीच उसने बृहद्रथ की हत्या कर दी। सभा स्तब्ध रह गई, पुरोहितों के हाथ रुक गए और कालचक्र ने एक नई दिशा ले ली शुंग वंश का सूत्रपात हो गया।

पुष्यमित्र शुंग

मौर्यो की सत्ता को अंतिम रूप से समाप्त करने और मगध में शुंग वंश की स्थापना का श्रेय पुष्यमित्र शुंग को दिया जाता है जिसका राज्यकाल भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। पुराणों के अनुसार उसने अंतिम मौर्य राजा बृहद्रण के सेनानी के रूप में उसकी हत्या कर स्वयं सत्ता हस्तगत की। बाण के हर्षचरित में उसे अनार्य या दृष्ट से सेनापति के रूप में उल्लिखित करते हुये सैनिक परेड की निरीक्षण कराते समय अपने प्रज्ञादुर्बल स्वामी बृहद्रथ की हत्या करने वाला कहा गया है। इसका राज्यारोहण 185-184 ई. पूर्व में हुआ माना जाता है। मत्स्य पुराण में इसकी शासनावधि 36 वर्ष तथा वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराणों में 60 वर्ष बतायी गयी है। थेरावली में उसका काल 30 वर्ष मिलता है। पार्जिटर मत्स्यपुराण की सूचना को अधिक विश्वसनीय मानते हैं। आर. सी. मजुमदार का मत है कि मगध पर अधिकार के पूर्व ही वह उज्जयिनी का शासक बन चुका था और साथ ही मगध के मौर्य राजा का सेनापति भी बना हुआ था। अतः उज्जयिनी से लेकर मगध पर उसका संपूर्ण शासन काल 60-66 वर्ष माना जा सकता है। विल्सन और शंकर पांडुरंग ने मालविकाग्निमित्र और घनदेव के अयोधया लेख में उल्लिखित सेनानी शब्द से उसके कभी राजा न बनने की बात सुझायी है, परन्तु यह तर्क कोई मायने नहीं रखता क्योंकि पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ का भी संपादन दिया जो केवल राजा ही कर सकता था।

पुष्यमित्र को सामान्यतः ब्राह्मण वर्ण में जन्मा माना जाता है और मित्र शब्द के आधार पर उसकी ईरानी उत्पत्ति का सुझाव स्वयं हर प्रसाद शास्त्री द्वारा त्यागा जा चुका है। बाण द्वारा उसे अनार्य कहा जाना प्रोफेसर जगन्नाथ के अनुसार उसे एक दुष्टात्मा व्यक्ति कहे जाने का ही परिचायक है न कि हीनजातीय होने का। दिव्यावदान में उसकी गणना मौर्य राजाओं में की जाती एक भूल मात्र ही है और जे. सी. घोष द्वारा उसे क्षत्रिय मानना प्रमाणों पर कम आधारित है। जहां तक पुष्यभित्र के ब्राह्मण होने का संबंध

है इसके लिये तारानाथ द्वारा उसे पुरोहित कहा जाना, हरिवंश पुराण में उसे औदिभज्ज बताया जाना और मालविकाग्निमित्रम में उसे ब्राह्मण बताया जाना आदि उदाहरण दिये जाते हैं।

मालविकाग्निमित्रम में उसे बैम्बिककुल का ब्राह्मण कहा गया है जो काश्यप गोत्रीय थे। परंतु पुराणों में उसे शुंग बताया गया है जिसे पाणिनी भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण बताते हैं। रायचौधरी पुष्यमित्र को बैम्बिक वंशीय ही मानते हैं और पुराणों में उल्लिखित देवन्ति या देवभूमि नामक राजा और उसके निकट पूर्वगामी राजाओं को शुंग कल्पित करते हैं। बैम्बिक शब्द का सम्बन्ध रायचौधरी ने बिम्बिक पौधें या भरहुत लेखों में उल्लिखित बिम्बिका नदी से सुझाया है। लेकिन प्रोफेसर जगन्नाथ ने मालविकाग्निमित्रम के बिम्बिक शब्द से वैश्विक अर्थ निकाला जाना गलत माना है। उन्होंने अयोध्या लेख के घनदेव शुंग को पुष्यमित्र का ही वंशज माना है और रायचौधरी के सुझाव का खंडन किया है। जबकि जे. एस. नेगी और श्रीराम गोयल आदि विद्व ान रायचौधरी के मत का ही समर्थन करते हैं। तथापि पुष्यमित्र के साथ शुंग शब्द अधिक लोकप्रिय हो चुका है।

पुष्यमित्र की राजनीतिक उपलब्धियाँ

1. मौर्य वंश का अंत-

सभी ऐतिहासिक घटनाओं में सबसे नाटकीय और निर्णायक पल वह था जब पुष्यमित्र शुंग, जो बृहद्रथ मौर्य के सेनापति थे, ने उन्हें सार्वजनिक रूप से मारा। पाटलिपुत्र के एक सैन्य परेड में बृहद्रथ मौर्य अपनी सेना की समीक्षा कर रहे थे। पुष्यमित्र शुंग ने अच. ानक उनकी हत्या कर दी और सत्ता पर काबिज हो गए। यह घटना, जो कई प्राचीन ग्रंथों में वर्णित है, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण है। दिव्यावदान (2-4वीं शताब्दी ई. पू.) में पुष्यमित्र को मौर्य वंश के अंत का जिम्मेदार ठहराया गया और उनकी सत्ता के उदय को एक सांस्कृतिक और राजनीतिक परिवर्तन के रूप में दिखाया गया। बृहद्रथ की हत्या को कुछ विद्वानों ने राज्यक्रांति के रुप में देखा है और कुछ ने षडयन्त्र के रूप में। प्रोफेसर जगन्नाथ के अनुसार इसके पीछे यवनों के निरन्तर हो रहे आक्रमणों से व्याप्त असंतोष था। जैसा कि पतंजलि के महाभाष्य, गार्गी संहिता के युग पुराण और मालविकाग्निमित्रम से ज्ञात होता है इस समय यवनों के दो या तीन बड़े आक्रमण हुये। जायसवाल ने पुष्यमित्र के इस कृत्य को नि:स्वार्थ देशभक्ति का कार्य कहा है। हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार यवनों के विरूद्ध सफल अभियान से लौटने पर ही उसने बृहद्रथ की हत्या और अपने राजवंश की स्थापना की होगी। दूसरी ओर मालविकाग्निमित्रम् और हर्षचरित से पुष्यमित्र एक महत्त्वाकांक्षी तथा षडयंत्रकारी व्यक्ति लगता है।

2. विदर्भ पर अधिकार-

मालविकाग्निमित्रम के अनुसार पुष्यमित्र ने पहले ही अपने पुत्र अग्निमित्र को विदिशा का राजा बनवा दिया था। जबकि उसके विरोधी मौर्य राजा के सचिव ने अपने बहनोई यज्ञसेन को विदर्भ का राजा बनवा दिया था। यह संभव है कि पुष्यमित्र द्व ारा मौर्य राजा की हत्या कर दिये जाने पर विदर्भ में यज्ञसेन ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी हो जो उसके पड़ोसी विदिशा के राजा और पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र से उसके तनाव व संघर्ष का कारण बनी हो। बानेंट और रैप्सन यज्ञसेन को आंधसातवाहनों का सामन्त मानते हैं परन्तु उसका काल बाद में आता है और मालविकाग्निमित्रम् में सातवाहनों की चर्चा तक नहीं मिलती। इस नाटक के अनुसार यज्ञसेन का भाई माधवसेन अग्निमित्र के पक्ष में था और इनकी बहन मालविका अग्निमित्र से विवाह की इच्छुक थी। यज्ञसेन ने माधवसेन व मालविका को बन्दी बना लिया और अग्निमित्र से अपने-अपने साले उस मौर्य सचिव को छुड़वाने की शर्त रखी जो पाटलिपुत्र में षडयन्त्र के समय पुष्यमित्र द्वारा बन्दी बना लिया गया था। अग्नि-मित्र ने यज्ञसेन की शर्त का उत्तर युद्ध से दिया और उसे पराजित कर विदर्भराज्य को वरदा द्धवर्धाऋ नदी की सीमा के साथ यज्ञसेन और माधवसेन के बीच बांट दिया। अब इन दोनों ने पुष्यमित्र की प्रभुता भी स्वीकार कर ली।

3. यवनों का आक्रमण-

मगध की सत्ता का पुष्यभित्र द्वारा अपहरण स्वयं में यवनों के आक्रमण का प्रतिफल माना जाता है परन्तु ये आक्रमण कब, कैसे और कितनी बार हुये, इसको लेकर विद्वानों में मतभेद है। एक आक्रमण का उल्लेख तो पतंजलि के महाभाष्य में मिलता है जिसमें पतंजलि द्वारा पुष्यमित्र के लिए अश्वमेध यज्ञ का संपादन करवाने का उल्लेख है (इह पुष्यमित्र याजयाम:)। इसके आध ार पर आर. जी. भण्डारकर ने अश्वमेध यज्ञ के प्रारंभ किये जाने का आशय निकाला है और अन्य दो वाक्यांशों अरुणद् यवन: साकेतम् अर्थात् यूनानियों ने अयोधया का घेरा डाला तथा 'अरुणद् यवनों माधयमिकाम् अर्थात् यवनों ने माधयमिका नगर की (चितौड़ के पास) का घेरा डाला। गार्गी संहिता के युग पुराण से भी जो पहली श. ई. पू. का माना जाता है। शालिशुक नामक राजा के बाद यवन आक्रमण का वर्णन मिलता है। इसमें दुष्ट यवनों के साकेत, पंचाल, मथुरा पर आक्रमण करने हुए कुसुमध वज (पाटलिपुत्र) तक पहुँचने का भविष्य काल की घटना के रुप में उल्लेख हुआ है। पुन: मालविकाग्निमित्रम् में पुष्यमित्र के अश्वमेध का वर्णन मिलता है। उसके अनुसार उसका अश्व जब सिन्धु नदी के दक्षिण तट पर पहुँचा तो यवनों द्वारा पकड़ा गया और पुष्यमित्र के वीर पौत्र वसुमित्र ने उसे छुड़ाकर यश अर्जित किया । इस प्रकार पुष्यमित्र के काल में ही यवनों के आक्रमण में कोई संदेह नहीं रह जाता। ये यवन वैक्ट्रियायी अथवा भारतीय यवन थे। उस क्षेत्र के यवनों के आंतरिक इतिहास से इस प्रश्न को जोड़कर देखना होगा। हेक्टर अलहकून ने इसकी विवेचना करते हुये कल्पना की है कि कश्मीर के मौर्य उत्तराधिकारियों द्वारा बौद्धों को प्रताड़ित करने के कारण यवनों से उनका संघर्ष अपरिहार्य हो गया और पुष्यमित्र द्वारा मगध में राजसत्ता अपहरण के बाद यह और भी प्रबल हुआ। गार्गीसंहिता के युगपुराण के उद्धरण में यह तथ्य भी संकेतित है कि कुसुमधवज तक बढ़ते हुये यवन आपस में लड़ पड़ेंगे और लौट जायेंगे। पुन: मालविकाग्नि-मित्रम् के यवन-शुंग संघर्ष के समय पुष्यमित्र का पौत्र वसुमित्र वयस्क दिखाया गया है जिससे यह आक्रमण या संघर्ष पुष्यमित्र के राज्यकाल के मधय या अन्त में हुआ लगता है। भारत के अन्दर के हिस्सों में डिमिट्रियस के मुद्रा साक्ष्य नहीं मिलते जबकि टार्न भी यही मानते हैं कि पुष्यमित्र के काल में हुआ आक्रमण डिमिट्रियस द्वारा ही संचालित था जिसमें अपोलोडोटस और मिनाण्डर उसके साथ थे। डिमिट्रियस स्वयं व्यास नदी तक सीमित रहा, अपोलोडोटस को दक्षिण-पश्चिम भारत की विजय के लिये भेजा गया और मिनाण्डर को पूर्वी भारत के लिये। इस प्रकार टार्न इनके द्वारा एक साथ दो-तरु आक्रमण का अनुमान लगाते हैं और इनकी तिथि 180 ई. पू. के बाद और उनका प्रत्यागमन 168 ई. पू. तक मानते हैं जब युक्रेटाइडिज ने विद्रोह कर दिया ।

4. साम्राज्य विस्तार-

पुष्यमित्र के साम्राज्य में हिमालय से नर्मदा तक उत्तरी भारत का अधिकांश प्रदेश सम्मिलित था। प्रमुख नगर पाटलिपुत्र, अयोधया और विदिशा थे। दिव्यावदान में शुंग सम्राट को पाटलिपुत्र में रहने वाला कहा गया है। मालविकाग्निमित्रम से विदिशा में उसके पुत्र अग्निमित्र के गवर्नर होने तथा विदर्भ राज्य के यज्ञसेन और माधवसेन के बीच बंटे हुए अधीन राज्य होने का पता चलता है। अयोधया अभिलेख से पुष्यमित्र के किसी सम्बन्धी के कोसल या अयोधया का गवर्नर होने की सूचना मिलती है। दिव्यावदान और तारानाथ से जालन्धर और शाकल तक पुष्यमित्र के अधिकार का आभास होता है। कुछ विद्वानों ने कलिंग राज खारवेल को उसका समकालीन माना है और उससे संघर्ष की कल्पना की है। स्मिथ हाथीगुम्फा अभिलेख में उल्लिखित बहसतिमित को पुष्यमित्र ही मानते हैं। स्टेन कोनोव और जायसवाल भी इसी मत के हैं और द्रुबील ने भी यही सुझाव दिया है। परन्तु बहसतिमित शब्द की अस्पष्टता तथा इस अभिलेख की तिथि के प्रश्न आदि से पुष्यमित्र के खारवेल के समकालीन होने और उससे पराजित होने की बात प्रमाणित नहीं होती ।

5. धर्मिक नीति-

पुष्यमित्र का शासन केवल एक राजनीतिक बदलाव का काल नहीं था, बल्कि यह एक धार्मिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण था। वे ब्राह्मण धर्म के कटर समर्थक थे और उनका उद्देश्य वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना था। पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ का भी संप.

ादन किया। अश्वमेध यज्ञ की दो बड़ी शाही यात्राओं का आयोजन, पुष्यमित्र के सम्राट के रूप में अधिकार और शक्ति की पुष्टि का प्रतीक था। कुछ विद्वान उसके द्वारा दो अश्वमेध किये जाने की बात कहते हैं- एक, जिसका उल्लेख महर्षि पतंजलि करते हैं और जो उसके राज्यारोहण के साथ ही हुआ लगता है और दूसरे का उल्लेख मालविकाग्निमित्रम में हुआ माना जाता है जो पुष्यमित्र के शासन काल के अंतिम वर्षों में हुआ लगता है जब उसका पौत्र वसुमित्र वयस्क हो चुका था। जो भी हो यह सुनिश्चित है कि पुष्यमित्र शुंग ने मौर्यों को विस्थापित कर उनके साम्राज्य के उत्तरी भाग के अधिकांश क्षेत्रें को अपने अधीन बनाये रखा और वैदिक यज्ञों तथा ब्राह्मण धर्म को विशष राजकीय संरक्षण देने की परंपरा को पुनर्स्थापित किया ।

6. बौद्ध धर्म के प्रति दृष्टिकोण-

पुष्यमित्र शुंग का एक विवादास्पद पहलू यह है कि उन्हें बौद्ध धर्म का शत्रु माना जाता है। दिव्यावदान में यह आरोप लगाया गया है कि पुष्यमित्र ने ८' „... बौद्ध स्तूपों को नष्ट किया और भिक्षुओं की हत्या की। हालांकि इस आरोप के बारे में कई इतिहासकारों ने प्रश्न उठाया है। आर्कियोलक्रजिकल साक्ष्य जैसे कि सांची और भरहुत में पाए गए बौद्ध कार्यों से यह स्पष्ट होता है कि पुष्यमित्र के समय में बौद्ध धर्म को कोई निर्णायक नुकसान नहीं हुआ था। पुष्यमित्र ने ब्राह्मण धर्म को प्राथमिकता दी, लेकिन यह कहना कि उन्होंने बौद्ध धर्म का पूरी तरह से उन्मूलन किया, अतिशयोक्ति हो सकती है।

7. विद्वानों का संरक्षक-

पुष्यमित्र के शासन में महर्षि पतंजलि जैसे महान आचार्य का योगदान था, जिन्होंने महाभाष्य की रचना की, जो संस्कृत के व्याकरण पर एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। महर्षि पतंजलि के कार्य ने संस्कृत साहित्य और ब्राह्मणिक शिक्षा के पुनर्निर्माण में मदद की।

लगभग 36 वर्षों (ई. पू. 185 दृ 149) तक शासन करने के बाद, पुष्यमित्र शुंग ने अपने बेटे अग्निमित्र को गद्दी सौंप दी, और शुंग वंश की नींव मजबूत की। उनके शासन का अंत स्वाभाविक रूप से हुआ, लेकिन उनकी राजनीतिक और सांस्कृतिक ध रोहर उनके वंशजों द्वारा आगे बढ़ाई गई।

अग्निमित्र शुंग

एक ऐसा सम्राट जिसने सिंहासन तलवार से नहीं, परंपरा से पाया जिसने केवल युद्ध में नहीं, बल्कि संस्कृति और कला में भी शुंग साम्राज्य की धवजा फहराई। पुष्यमित्र शुंग के दीर्घकालीन और उथल-पुथल से भरे शासन के पश्चात शुंग साम्राज्य की बागडोर उनके पुत्र अग्निमित्र शुंग ने संभाली। एक ऐसा शासक जिसे केवल शासन-कौशल ही नहीं, बल्कि प्रेम की एक अमर गाथा के लिए भी स्मरण किया जाता है। महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध संस्कृत नाटक मालविकाग्निमित्रम का नायक यही सम्राट अग्निमित्र है। मालविकाग्निमित्रम से यह ज्ञात होता है कि अग्निमित्र शुरू में विदिशा का राजकुमार था और वहीं से उन्होंने अपने शासन का प्रारंभिक प्रशिक्षण प्राप्त किया।

उपलब्धियाँ-

1. विदर्भ पर विजय-

अग्निमित्र का शासन भी उनके पिता के समान युद्धों और राजनीतिक अस्थिरता से भरा हुआ था। किन्तु उन्होंने कुशल सेनानायक के रूप में इन चुनौतियों का सामना किया। विदर्भ में शुंग शासन के प्रति विद्रोह भड़क उठा। वहाँ के शासक ने स्वतंत्रता की घोषणा की। अग्निमित्र ने विदर्भ के शासक को पराजित किया और वहाँ एक शुंग समर्थक राजा को बिठाया। इस युद्ध का प्रत्यक्ष वर्णन कालिदास के नाटक में मिलता है, जहाँ अग्निमित्र एक नायक के रूप में प्रस्तुत होते हैं।

2. कलिंग पर विजय-

कलिंग, जिसने पहले भी पुष्यमित्र को चुनौती दी थी, फिर से शुंग प्रभुत्व के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ। अग्निमित्र ने एक

सफल सैन्य अभियान द्वारा कलिंग को शांत किया और अपनी शक्ति को समुद्र तक फैला दिया।

3. कला और संस्कृति के संरक्षक-

अग्निमित्र ने संस्कृति और शिक्षा को भी बढ़ावा दिया। कालिदास द्वारा रचित मालविकाग्निमित्रम केवल एक प्रेमकथा नहीं है, बल्कि यह उस समय के राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन का दर्पण भी है। कालिदास संभवत: अग्निमित्र के दरबार में नहीं थे वे गुप्तकाल के माने जाते हैं, लेकिन उनका नाटक ऐतिहासिक संदर्भों पर आधारित है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अग्निमित्र की छवि भारतीय सांस्कृतिक चेतना में एक शक्तिशाली, प्रेमी, और सहिष्णु शासक के रूप में अंकित रही।

4. धार्मिक नीति-

अग्निमित्र ने अपने पिता की भांति वैदिक ब्राह्मण धर्म को संरक्षण दिया। संभवत: उन्होंने बौ) धर्म के प्रति सहिष्णु रुख अपनाया, क्योंकि उनके समय में सांची और भरहुत जैसे बौ) केंद्रों में निर्माणकार्य चलता रहा।

महाकवि कालिदास ने अपने प्रसिद्ध संस्कृत नाटक 'मालविकाग्निमित्रम' में अग्निमित्र को एक अद्‌भुत प्रेम कथा का नायक बनाया है, जिसमें वह राजमहल के भीतर दरबारी साजिशों और रहस्यों के बीच मालविका नामक रूपवती कन्या से प्रेम करता है। चाहे यह कथा ऐतिहासिक तथ्य हो या कवि की कल्पना, परंतु इसने अग्निमित्र को एक साहित्यप्रेमी, कलापोषक और भावनात्मक राजा के रूप में अमर कर दिया। परंतु अग्निमित्र केवल प्रेमकाव्य का अनुरागी नहीं था। वह एक कुशल सेनानी और राजनीतिक शासक भी था। उसने विदर्भ में सफल सैन्य अभियान चलाए और कलिंग जैसे शक्तिशाली शत्रुओं को भी पराजित किया। उसके दरबार में विद्वान, ब्राह्मण, याजक और योद्धा सभी प्रकार के व्यक्तियों की चमक दिखाई देती थी। वैदिक विद्या, संस्कृत व्याकरण और यज्ञीय परंपराएँ उसके शासनकाल में पुन: जीवित हुई।

शुंग साम्राज्य मगध से लेकर पश्चिम में नर्मदा नदी तक विस्तृत था। इसकी सीमाएँ पंजाब को स्पर्श करती थीं, मालवा में प्रवेश करती थीं और विंधयाचल की पहाड़ियों तक फैली हुई थीं। परंतु यह शासन मौर्य साम्राज्य की भाँति केंद्रीकृत नहीं था। यह प्रांतों और स्थानीय सामंतों की स्वायत्त शक्ति पर अधिक निर्भर था। नगरों में संस्कृत पुन: शक्ति और शुद्धता की भाषा बनी। ग्रामों में वैदिक यज्ञ और अनुष्ठान जीवन के केंद्र में लौट आए। परंतु वनों और पर्वतों में पाटलिपुत्र की सत्ता की राजनीति से सर्वथा अछूते बौद्ध भिक्षु अब भी शांति से बुद्ध के नाम का जाप कर रहे थे, और जैन साधु ध्यानमग्न भ्रमण कर रहे थे। समाज अत्यंत वर्ण-आध ारित और स्तरीकृत था। ब्राह्मणों को पुन: उच्चतम पद मिला, क्षत्रिय सेना के अग्रभाग में रहे, वैश्य व्यापार और मंदिर निर्माण में लगे रहे और शूद्र कृषि में परिश्रम करते रहे। फिर भी इस सामाजिक ढाँचे के भीतर कला, साहित्य और दर्शन की लहरें बहती रहीं।

कला-

राजनीतिक अस्थिरता के बावजूद, शुंग युग में कलात्मक उत्कर्ष देखा गया जो मौर्य-उत्तर भारत में अद्वितीय था। साँची स्तूप, जिसे मूलत: अशोक ने बनवाया था, शुंग काल में नवीन अलंकरणों से समृद्ध किया गया। इसके तोरण (द्वार) और रेलिंग में जातक कथाएँ उकेरी गईं- बुद्ध के पूर्व जन्मों की कहानियाँ। पत्थर की पटिकाओं पर हाथी, अप्सराएँ, और तीर्थयात्री उकेरे गए जो उस समय की धार्मिक एवं कलात्मक चेतना को दर्शाते हैं। भरहुत में भी इसी प्रकार की शिल्पकला देखी जाती है जहाँ भक्ति, दान और ब्रह्माण्डीय संतुलन के दृश्य अधिक जीवंत और प्राकृतिक प्रतीत होते हैं। यह मौर्यकाल की कठोरता से शुंगकालीन प्रवाहशीलता की ओर एक स्पष्ट कलात्मक संक्रमण था।

साहित्य और भाषा-

जब राजनैतिक तलवारें टकरा रही थीं, उसी समय संस्कृत साहित्य अपनी पूर्णिमा की ओर अग्रसर था। विद्वान पुन: पाणिनि के व्याकरण और भाषा की गहराइयों में उतरे। महर्षि पंतजलि, जिनका 'महाभाष्य' पाणिनि की अष्टाधयायी पर

टिका है, पुष्यमित्र के समय में माने जाते हैं। शास्त्रीय नाटक की जड़ें भी इसी काल में पड़ीं। यद्यपि कालिदास का काल बाद में आता है, परंतु अग्निमित्र जैसे राजाओं को नायक बनाकर राजदरबारी संस्कृत नाटय परंपरा की आधारशिला यहीं रखी गई।

धर्म–

शुंग काल को प्रायः हिंदू–बौद्ध संघर्ष के रूप में चित्रित किया जाता है, परंतु वास्तविकता इससे अधिक जटिल है। वै. दिक पुनरुत्थान आक्रामक और लक्षित था। ब्राह्मणों ने पुनः मंदिरों पर अधिकार प्राप्त किया और कुछ ग्रंथ पुष्यमित्र को बौद्ध विरोधी बताते हैं। परंतु, यदि यह पूर्ण सताव था, तो फिर साँची और भरहुत में बौद्ध स्तूपों और कला का विकास क्यों हुआ? तीर्थयात्री क्यों आते रहे? यह संकेत करता है कि शुंगों ने संभवतः एक चयनात्मक संरक्षण नीति अपनाई जिसमें ब्राह्मण धर्म को प्रधानता दी गई, पर अन्य पंथों को पूरी तरह दबाया नहीं गया। जैन धर्म भी शांति से विकसित होता रहा, विशेषकर गुजरात और राजस्थान जैसे क्षेत्रों में, जो शुंग साम्राज्य की प्रत्यक्ष सत्ता से दूर थे।

अंततः, शुंग वंश को विस्तारवादी विजयों या महान साम्राज्य निर्माण के लिए नहीं जाना जाता। यह एक संरक्षण और पुनरुद्धार का युग था एक सेतु, जो वैदिक प्राचीनता को गुप्तकालीन शास्त्रीय युग से जोड़ता है। यह वह काल था जब भारत ने न केवल बाहरी आक्रमणों से, बल्कि आंतरिक सांस्कृतिक विघटन से भी स्वयं को बचाया। शुंगों ने भारत के आध्यात्मिक केंद्र की रक्षा की तथा वैदिक दार्शनिक परंपराओं को पुनर्जीवित किया और प्रारंभिक शास्त्रीय कला व साहित्य को पोषित किया। यद्यपि उनका शासन केवल 112 वर्षों तक चला, परंतु उनका प्रभाव अत्यंत गहरा और दूरगामी सिद्ध हुआ।

5 अंक के प्रश्न–

1. पुष्यमित्र शुंग कौन था?
2. शुंग वंश की स्थापना कैसे हुई?
3. शुंग काल की धार्मिक नीति लिखिए।
4. विदर्भ युद्ध का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
5. शुंग काल की कला पर टिप्पणी लिखिए।

15 अंक के प्रश्न–

1. पुष्यमित्र शुंग की राजनीतिक उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।
2. शुंग कालीन संस्व्रति एवं धार्म का विस्तृत अधययन कीजिए।
3. यवन आक्रमण और शुंगों की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
4. शुंग काल की कला एवं साहित्य पर निबंधा लिखिए।

MCQ

1. शुंग वंश का संस्थापक कौन था?

(A) अशोक

(B) **पुष्यमित्र शुंग**

(C) कनिष्क

(D) समुद्रगुप्त

उत्तर (B)

2. शुंग वंश ने किस वंश का अंत किया?

(A) गुप्त

(B) सातवाहन

(C) मौर्य

(D) कुषाण

उत्तर (C)

3. शुंग काल में कौन-सा स्तूप प्रसिधि था?

(A) **साँची**

(B) तक्षशिला

(C) नालंदा

(D) अजंता

उत्तर (A)

महत्वपूर्ण बिंदु-

- शुंग वंश की स्थापना 185 ई.पू. में हुई।
- पुष्यमित्र शुंग ने अंतिम मौर्य शासक बृहद्रथ की हत्या की।
- शुंग काल में वैदिक धार्म का पुनरुत्थान हुआ।
- साँची और भरहुत स्तूप का विकास हुआ।

शब्दावली-

- अश्वमेधा यज्ञ ख्र वैदिक राजसूचक यज्ञ
- यवन ख्र यूनानी आक्रमणकारी
- स्तूप ख्र बौ) स्मारक
- ब्राह्मणवाद ख्र वैदिक परंपरा आधाारित व्यवस्था

इकाई-1.2 कण्व वंश

उद्देश्य-

1. **कण्व वंश की स्थापना को समझना।**
2. **कण्व शासकों के शासन का अधययन करना।**
3. **कण्व वंश के पतन के कारणों का विश्लेषण करना।**

शुंग वंश के पतन के बाद लगभग 73 ई.पू. से 28 ई.पू. तक मधय और उत्तर भारत के कुछ भागों पर कण्व वंश ने शासन किया। यह वंश वसुदेव कण्व द्वारा स्थापित किया गया था जो अंतिम शुंग शासक देवभूति का मंत्री था। पुराणों के अनुसार, वसुदेव ने देवभूति की हत्या कर शासन अपने हाथ में ले लिया और कण्व वंश की स्थापना की। इस वंश की राजधानी पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) थी, जो उस समय मगध साम्राज्य का केंद्र था। कण्व वंश की अवधि लगभग 45 वर्षों की थी, लेकिन इस काल में उन्होंने ब्राह्मणीय धार्मिक परंपराओं को बनाए रखा और शुंग वंश के प्रशासनिक ढांचे को आगे बढ़ाया।

प्रमुख शासक-

1. वसुदेव-

वसुदेव कण्व कण्व वंश के संस्थापक और एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक व्यक्तित्व थे, जिन्होंने लग. भग 73 ईसा पूर्व में शुंग वंश के पतन के बाद सत्ता प्राप्त किया। वे मूलतः अंतिम शुंग शासक देवभूति के मंत्री थे और अपनी कूटनीतिक कुशलता तथा राजनीतिक दूरदर्शिता के लिए जाने जाते थे। पुराणों के अनुसार, वसुदेव ने शुंग राजा देवभूति की हत्या कर शासन अपने हाथ में ले लिया और मगध की राजधानी पाटलिपुत्र से कण्व वंश की स्थापना की। उनकी यह सत्ता प्राप्ति उस समय की राजनीतिक परिस्थितियों में एक बड़ा परिवर्तन था, क्योंकि शुंग वंश अपनी अंतिम अवस्था में कमजोर हो चुका था और भीतर ही भीतर संघर्षों से जूझ रहा था। वसुदेव ने अपनी योग्यता और रणनीति के बल पर इस अवसर का लाभ उठाया और एक नए राजनीतिक युग की शुरुआत की।

वसुदेव कण्व एक ब्राह्मण होने के नाते उन्होंने अपने शासन में वैदिक धर्म और ब्राह्मणीय संस्कारों को महत्व दिया। उन्होंने अश्वमेध और यज्ञ जैसे वैदिक अनुष्ठानों का आयोजन किया, जिससे उनके शासन की धार्मिक वैधता और सामाजिक सम्मान बढ़ा। यह दिखाता है कि वे न केवल एक शक्तिशाली शासक थे, बल्कि धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी गहरे रूप से जुड़े हुए थे। प्रशासनिक दृष्टि से वसुदेव ने शुंग वंश की प्रशासनिक व्यवस्थाओं को जारी रखा, जिसमें राज्य की केंद्रीकृत व्यवस्था और मंत्रिपरिषद की भूमिका प्रमुख थी। हालांकि, उनके शासनकाल के दौरान भारत में राजनीतिक स्थिरता की स्थिति पूरी तरह से सुरक्षित नहीं थी, क्योंकि अन्य क्षेत्रीय शक्तियां भी उभर रही थीं, खासकर दक्षिण के सातवाहन वंश।

वसुदेव कण्व का शासन लगभग नौ वर्षों तक चला, लेकिन इस अवधि में उन्होंने अपनी सशक्तता और प्रशासनिक दक्षता का प्रदर्शन किया। उनकी सफलता इस बात का प्रमाण है कि वह न केवल शासक के रूप में सक्षम थे, बल्कि उन्होंने वैदिक धर्म के संरक्षण और सामाजिक समरसता को भी सुनिश्चित किया। हालांकि उनके शासनकाल के दौरान उतने विस्तृत अभिलेख या स्थापत्य साक्ष्य नहीं मिले हैं, फिर भी पुराण और बाद के ऐतिहासिक स्रोतों में उनकी महत्ता स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। वसुदेव की उपलब्धियों ने कण्व वंश को शुंग वंश के बाद एक मान्य और प्रभावशाली राज्य के रूप में स्थापित किया, जिसने लगभग पैंतालीस वर्षों तक मगध क्षेत्र पर शासन किया।

संक्षेप में वसुदेव कण्व एक कुशल राजनीतिज्ञ और धार्मिक संरक्षक थे, जिन्होंने अपने समय के राजनीतिक संकट का लाभ

उठाकर मगध के सिंहासन पर अधिकार किया। उनकी स्थापना से कण्व वंश का उदय हुआ, जिसने शुंग वंश के बाद उत्तर भारत के राजनीतिक इतिहास में एक नए अधयाय की शुरुआत की। उनके शासनकाल में वैदिक संस्कारों का पुनरुत्थान हुआ और मगध में राजनीतिक नियंत्रण बनाए रखने का प्रयास किया गया, जो बाद के शासकों के लिए एक मजबूत आधार साबित हुआ।

2. भूमि मित्र-

वसुदेव कण्व के उत्तराधिकारी उनके पुत्र भूमिमित्र थे, जिन्होंने लगभग 64 ईसा पूर्व से 50 ईसा पूर्व तक शासन किया। भूमि मित्र ने अपने पिता की विरासत को संभालते हुए कण्व वंश की सत्ता को जारी रखा और पाटलिपुत्र से मगध क्षेत्र पर राज्य किया। उनके शासनकाल के बारे में ऐतिहासिक स्रोतों में सीमित जानकारी उपलब्ध है, लेकिन यह माना जाता है कि उन्होंने राजनीतिक स्थिरता बनाए रखने का प्रयास किया और प्रशासनिक व्यवस्था को सुव्यवस्थित रखा। भूमि मित्र ने अपने शासन में वैदिक धर्म और ब्राह्मणीय परंपराओं को प्रोत्साहित किया, जिससे कण्व वंश की धार्मिक पहचान मजबूत हुई। उनके शासनकाल में बाहरी आक्रमणों या बड़े संघर्षो का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता, जो यह दर्शाता है कि उनकी अवधि अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण रही होगी

3. नारायण-

भूमिमित्र के उत्तराधिकारी नारायण थे। वे कण्व वंश के तीसरे शासक माने जाते हैं और लगभग 50 ईसा पूर्व से 38 ईसा पूर्व तक शासन करते रहे। नारायण के बारे में उपलब्ध ऐतिहासिक विवरण अत्यंत सीमित हैं, और उनके शासनकाल से जुड़े प्रत्यक्ष अभिलेख या सिक्के बहुत कम मिले हैं, जिससे उनके शासन की गहराई से जानकारी प्राप्त करना कठिन है।

पुराणों के अनुसार, नारायण ने अपने पूर्ववर्ती भूमि मित्र की नीतियों को जारी रखते हुए शासन किया। उन्होंने वैदिक परंप. राओं और ब्राह्मणीय धार्मिक व्यवस्था का संरक्षण जारी रखा, जैसा कि कण्व वंश की नीति रही थी। हालांकि, उनके शासनकाल के दौरान कण्व वंश की शक्ति और प्रभाव में गिरावट आई, और धीरे-धीरे दक्षिण भारत के सातवाहन वंश जैसे शक्तिशाली राज्यों का प्रभाव बढ़ने लगा था।

4. सुर्समन-

नारायण के पश्चात सुसर्मन् ने कण्व वंश की गद्दी संभाली। वे इस वंश के चौथे और अंतिम शासक थे, जिनका शासनकाल लगभग 38 ईसा पूर्व से 28 ईसा पूर्व के बीच रहा। उनके समय में कण्व वंश की राजनीतिक शक्ति बहुत क्षीण हो चुकी थी, और दक्षिण भारत में सातवाहन वंश एक उभरती हुई सशक्त शक्ति के रूप में सामने आ रहा था।

सुसर्मन् के शासन के बारे में ठोस ऐतिहासिक प्रमाण, जैसे अभिलेख या सिक्के, उपलब्ध नहीं हैं, जिससे उनके शासन की विशेषताओं के बारे में जानकारी सीमित है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका नियंत्रण केवल पाटलिपुत्र और उसके आसपास के क्षेत्रों तक सीमित रह गया था। पुराणों में उल्लेख मिलता है कि उन्हें किसी आंध्र (सातवाहन) शासक ने पराजित किया, जिससे कण्व वंश का अंत हो गया।

इस प्रकार, सुसर्मन् न केवल नारायण के उत्तराधिकारी थे, बल्कि कण्व वंश के अंतिम शासक भी साबित हुए। उनके पतन के साथ ही मगध की पारंपरिक सत्ता समाप्त हो गई और दक्षिण भारत की राजनीतिक शक्तियों का प्रभुत्व बढ़ने लगा। कण्व वंश की राजधानी पाटलिपुत्र थी, जो आज के समय में आधुनिक पटना के रूप में जाना जाता है। यह शहर उस काल में प्रशासन, संस्कृति और धर्म का प्रमुख केंद्र था और यहाँ से शासन संचालन की समस्त गतिविधियाँ संचालित होती थीं। यह राजधानी मौर्य और शुंग काल से चली आ रही राजनीतिक परंपरा की निरंतरता का प्रतीक थी।

भाषाई दृष्टि से कण्व वंश में संस्कृत का प्रयोग प्रमुख रूप से होता था। यह भाषा न केवल प्रशासनिक आदेशों और

राजकीय घोषणाओं में प्रयुक्त होती थी, बल्कि धार्मिक ग्रंथों और वैदिक अनुष्ठानों की भी मुख्य भाषा थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि संस्कृत उस काल में शासक वर्ग और विद्वानों के बीच प्रमुख संप्रेषण का माधयम बनी रही।

धार्मिक रूप से, कण्व शासक मुख्यत: ब्राह्मणीय हिंदू धर्म के अनुयायी थे। वे वैदिक परंपराओं, यज्ञों और ब्राह्मणों के संरक्षण में विश्वास रखते थे। शासन के धार्मिक स्वरूप में वेदों की महत्ता और ब्राह्मण वर्ग की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण थी, जिससे समाज में धार्मिक अनुशासन और सांस्कृतिक एकरूपता बनी रही।

प्रशासनिक ढाँचा पूर्ववर्ती मौर्य और शुंग वंशों की प्रणाली से प्रेरित था। कण्व वंश ने केंद्रीय प्रशासन की परंपरा को कायम रखा, जिसमें मंत्रिपरिषद, शाही परिवार के सदस्य, और अन्य प्रमुख अधिकारी शासन संचालन में भाग लेते थे। इस प्रशासनिक संरचना ने राज्य की कार्यक्षमता को सीमित समय तक बनाए रखा।

विदेशी संबंधों की बात करें तो कण्व वंश के बारे में प्रत्यक्ष साक्ष्य कम उपलब्ध हैं, लेकिन ऐतिहासिक संकेतों से ऐसा प्रतीत होता है कि उनका दक्षिण भारत की शक्तियों, विशेष रूप से सातवाहन वंश, से कुछ सीमित संपर्क रहा होगा। संभवत: ये संबंध सैन्य टकराव या राजनयिक संपर्क के रूप में रहे होंगे। पतन के कारणों में प्रमुख रूप से शासकों की दुर्बलता, आंतरिक अस्थिरता और बाहरी आक्रमण माने जाते हैं। कण्व शासकों की राजनीतिक पकड़ धीरे-धीरे कमजोर पड़ गई थी, और दक्षिण भारत से उभरते हुए सातवाहन जैसे शक्तिशाली वंशों ने उन्हें परास्त कर दिया। परिणामस्वरूप, लगभग 28 ईसा पूर्व में कण्व वंश का अंत हो गया, और इसके साथ ही मगध क्षेत्र की राजनीतिक महत्ता भी क्षीण हो गई।

इस प्रकार, कण्व वंश की विशेषताएँ तत्कालीन भारत के राजनीतिक, सामाजिक, भाषिक और धार्मिक जीवन की एक समग्र झलक प्रस्तुत करती हैं, जो ब्राह्मणीय परंपरा, केंद्रीकृत शासन और सांस्कृतिक निरंतरता से परिपूर्ण थी, किंतु अंतत: राजनीतिक दुर्बलता के कारण समाप्त हो गई।

5 अंक के प्रश्न-

1. कण्व वंश का संस्थापक कौन था?
2. वसुदेव कण्व का परिचय दीजिए।
3. कण्व वंश की राजधानी कौन-सी थी?
4. कण्व वंश का पतन कैसे हुआ?

15 अंक के प्रश्न-

1. कण्व वंश के प्रमुख शासकों का वर्णन कीजिए।
2. कण्व वंश की प्रशासनिक व्यवस्था पर प्रकाश डालिए।
3. कण्व वंश की धार्मिक नीति का विश्लेषण कीजिए।

MCQ

1. कण्व वंश का संस्थापक थारू

(A) **वसुदेव कण्व**

(B) द्धठऋ पुष्यमित्र

(C) द्धब्ऋ कनिष्क

(D) द्धक्ऋ अशोक

उत्तर (A)

2. कण्व वंश की राजधाानी थीरू

(A) उज्जैन

(B) **पाटलिपुत्र**

(C) मथुरा

(D) तक्षशिला

उत्तर (B)

3. कण्व वंश के बाद कौन-सा वंश शद्रिशाली बना?

(A) **सातवाहन**

(B) गुप्त

(C) कुषाण

(D) चालुक्य

उत्तर (A)

महत्वपूर्ण बिंदु-

- कण्व वंश ने शुंग वंश के बाद शासन किया।
- वसुदेव कण्व इसके संस्थापक थे।
- राजधाानी पाटलिपुत्र थी।

शब्दावली-

- पाटलिपुत्र - प्राचीन राजधाानी
- प्रशासन - शासन व्यवस्था
- ब्राह्मण - वैदिक विद्वान वर्ग

इकाई-1.3 सातवाहन वंश का परिचय

उद्देश्य-

1.सातवाहन वंश के उदय को समझना।

2.सातवाहन शासकों की उपलब्धियों का अधययन करना।

3.सातवाहन कालीन व्यापार एवं संस्ख्रति का विश्लेषण करना।

सातवाहन वंश का उदय लगभग दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में हुआ था और इसका प्रभाव क्षेत्र आज के महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, तेलंगाना, कर्नाटक और मधय प्रदेश के कुछ भागों तक फैला हुआ था। इस वंश ने अपने पहले युग में व्यापार, संस्कृति और प्रशासन के क्षेत्र में अद्भुत प्रगति की।

उद्भव-

सातवाहन वंश का उद्भव मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात हुआ, जब प्राचीन भारत में राजनीतिक शक्ति के केंद्रों में अस्थिरता आई थी। मौर्य साम्राज्य के बाद, विशेष रूप से अशोक के पश्चात दक्षिण और मधय भारत में कोई मजबूत सत्ता नहीं थी। इस शक्ति शून्यता ने स्थानीय राजवंशों और जनजातीय नेताओं को उभरने का अवसर दिया। उनका क्षेत्र आधुनिक महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, तेलंगाना, मधय प्रदेश के कुछ भाग, और कर्नाटक के पूर्वी हिस्सों तक ैला हुआ था। यह क्षेत्र व्यापार, कृषि और सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण था, जो सातवाहनों को राजनीतिक और आर्थिक बल देता था।

इतिहास में सातवाहनों की उत्पत्ति को लेकर कुछ मतभेद हैं। कुछ विद्वान मानते हैं कि वे आंध्र क्षेत्र के स्थानीय आदिवासी या जनजातीय समूहों से निकले थे, जबकि कुछ का मानना है कि उनका संबंध उत्तर भारत के कुछ पुरातन राजवंशों से था। हालाँकि, उनकी राजनीतिक क्षमता और प्रशासनिक कौशल ने उन्हें दक्षिण भारत में एक स्थायी और प्रभावशाली साम्राज्य स्थापित करने में सक्षम बनाया।

सातवाहनों ने राजनीतिक स्थिरता और शक्ति के लिए न केवल सैन्य शक्ति का उपयोग किया बल्कि प्रशासनिक सुधारों और सांस्कृतिक सहिष्णुता के माधयम से भी अपने साम्राज्य को मजबूत किया। वे उत्तर भारत और दक्षिण भारत के बीच व्यापारिक और सांस्कृतिक संपर्कों के केंद्र बने, जिससे उनकी समृद्धि और प्रभाव दोनों में वृद्धि हुई।

सातवाहन शासक-

1. श्री सातकार्णि प्रथम (लगभग ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी)-

श्री सातकार्णि प्रथम सातवाहन वंश के संस्थापक माने जाते हैं। इन्होंने मौर्यों के पतन के बाद दक्कन के क्षेत्र में अपनी सत्ता स्थापित की। इनके शासनकाल में क्षेत्र की राजनीतिक स्थिरता और आर्थिक समृद्धि हुई। सातकर्णि प्रथम के जीवन और कार्यों की जानकारी का सबसे ठोस प्रमाण नानाघाट की गुफा में उत्कीर्ण शिलालेख है। इस अभिलेख को उनकी पत्नी रानी नौगनिका ने स्थापित करवाया था। ब्राह्मी लिपि में प्राकृत भाषा में लिखे गए इस लेख में सातकर्णि को 'एकराट' अर्थात एकाधिपति कहा गया है, जिससे उनकी सार्वभौम सत्ता की पुष्टि होती है। इस शिलालेख में सातकर्णि द्वारा सम्पन्न किए गए यज्ञों कृ अश्वमेध, वाजपेय और राजसूय का भी उल्लेख है, जो उन्हें एक धार्मिक रूप से प्रतिष्ठित और वैदिक परंपरा के पोषक शासक के रूप में प्रस्तुत करता है।

वैदिक परंपरा का संरक्षक-

सातकर्णि ने ब्राह्मण धर्म और वैदिक कर्मकांड को राज्य संरक्षित किया। उन्होंने वैदिक यज्ञों के माध्यम से केवल धार्मिक प्रभाव नहीं बढ़ाया, बल्कि राजनीतिक शक्ति का भी प्रदर्शन किया। उनके यज्ञ केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं थे, बल्कि राजनैतिक

वैधता और सार्वभौमिकता के घोषणापत्र थे। 'यज्ञों के माध्यम से शक्ति का प्रदर्शन' उस समय की एक सुव्यवस्थित शासकीय परंपरा थी, जिसे सातकर्णि ने दक्षता से निभाया।

साम्राज्य विस्तार-

सातकर्णि प्रथम ने अपने साम्राज्य का विस्तार वर्तमान महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, विदर्भ और संभवतः मालवा व गुजरात तक किया। उन्होंने 'दक्षिणापथपति' जैसी उपाधि ग्रहण की, जिससे यह अनुमान लगता है कि वे दक्षिण भारत के व्यापारिक और सामरिक मार्गों के अधिपति थे। मौर्योत्तर भारत की राजनीतिक शून्यता में सातकर्णि ने न केवल सत्ता का पुनर्गठन किया, बल्कि दक्षिण भारत में एक स्थायी राज्य का ढाँचा भी खड़ा किया।

धर्म सहिष्णुता-

यद्यपि सातकर्णि स्वयं वैदिक परंपरा में आस्था रखते थे, परंतु उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता का परिचय भी दिया। उनके बाद सातवाहन शासकों द्वारा बौद्ध धर्म को जो संरक्षण प्राप्त हुआ, उसकी नींव सातकर्णि के समय से ही रखी गई प्रतीत होती है। उन्होंने यह सिद्ध किया कि धार्मिक विश्वास और राज्यधर्म अलग-अलग हो सकते हैं, और विविध धार्मिक परंपराओं को एकसाथ फलने-फूलने का अवसर दिया जा सकता है।

प्रशासन और मुद्रा प्रणाली-

सातकर्णि प्रथम के काल में प्रशासनिक तंत्र का आधारशिला रखी गई। यद्यपि उस युग के शासन मक्कडल का विस्तृत विवरण नहीं मिलता, परंतु उपलब्ध अभिलेखों और सिक्कों से यह ज्ञात होता है कि राज्य ने आर्थिक लेन-देन और व्यापारिक गतिविधियों को बढ़ावा दिया। उनके द्वारा जारी सीसे की मुद्राएँ कुछ स्थानों से प्राप्त हुई हैं, जो राज्य की आर्थिक संरचना और व्यापारिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करती हैं।

सांस्कृतिक चेतना का प्रारंभ-

यद्यपि सातकर्णि प्रथम के काल में स्थापत्य या साहित्य का कोई भव्य उदाहरण प्राप्त नहीं है, परंतु नानाघाट गुफा में बनीं प्रतिमाएँ और यज्ञों का उल्लेख इस बात की ओर संकेत करता है कि संस्कृति और धर्म की अंतर्धारा बहुत गहराई से बह रही थी। इन गुफाओं में यज्ञकुंड, देव प्रतिमाएँ और राजा-रानी के चित्रण भारतीय संस्कृति के उस प्रारंभिक रूप को दर्शाते हैं जो आगे चलकर अमरावती, नागार्जुनकोंडा और अजंता की कलाओं में विकसित हुआ।

रानी नागनिका- शक्ति का स्त्री स्वरूप

सातकर्णि प्रथम की पत्नी नागनिका केवल एक रानी नहीं थीं, बल्कि राजनीतिक जागरूकता और सार्वजनिक भूमिका निभाने वाली महिला थीं। नानाघाट शिलालेख में उन्होंने स्वयं को 'स्वामिनी' और 'राज्ञी' कहा है। इससे यह स्पष्ट होता है वह राज्य निर्णयों में भागीदारी निभाती थीं और धार्मिक आयोजनों में सक्रिय थीं। उनके द्वारा लिखवाया गया शिलालेख यह दर्शाता है कि सातवाहन राजपरिवार में स्त्रियों को सम्मानजनक स्थान और वास्तविक शक्ति प्राप्त थी।

परंतु जैसे-जैसे समय बीता, कुछ कारणों से उनकी शक्ति में गिरावट आने लगी, जो उनके अंधकारमय चरण की शुरुआत थी। सातवाहन वंश, जो प्राचीन भारत के दक्कन क्षेत्र का एक प्रमुख और शक्तिशाली राजवंश था, अपने इतिहास में एक सुनहरे युग के बाद धीरे-धीरे एक ऐसे दौर में पहुंच गया जिसे इतिहास में 'अंधकारमय चरण' के नाम से जाना जाता है। यह वह समय था जब सातवाहनों की सत्ता कमजोर पड़ने लगी, उनका साम्राज्य टुकड़ों में बिखरने लगा, और इतिहास के पन्नों पर उनकी चमक फीकी पड़ गई ।

वायुपुराण में अंधकार काल के दौरान 9 शासकों का वर्णन किया गया है जो की अपिलवा, पटिमावी, नेमिकृष्ण, हाल,

मंदलक, पुरिकसेन, शातकर्णि, चकोर शातकर्णि, शिवस्वाति हैं भागवत पुराण में पौर्णमास, लंबोदर, चिबिलक, मेघस्वाति, अटमान, अनिष्टकर्मा, हालेय, तलक, पुरीषभीरू, सुनंदन, चकोर, शिवस्वाति नामक शासकों का वर्णन है।

अंधकारमय चरण की विशेषताएँ

1. राजनीतिक अवसाद और विखंडन -

सातवाहनों के महान राजा गौतमिपुत्र सातकरणी और उनके उत्तराधिकारी वसिष्ठिपुत्र पुलुमवी के बाद उनकी सत्ता कमजोर होने लगी। केंद्रीय शासन में दरारें आई, और छोटे-छोटे प्रदेशों में सत्ता के लिए स्थानीय सरदारों ने अपने अधिकार जताए। इससे वंश का साम्राज्य धीरे-धीरे बिखर गया।

2. ऐतिहासिक अभिलेखों की कमी-

इस अवधि के दौरान उतनी भव्य और स्पष्ट अभिलेख मौजूद नहीं हैं जितनी पूर्व काल में थीं। सिक्कों, शिलालेखों, और अन्य दस्तावेजों की संख्या में गिरावट आई जिससे इतिहासकारों के लिए इस काल को समझना कठिन हो गया। इसीलिए इसे 'अंध कारमय' कहा जाता है।

3. आर्थिक कमजोरी-

सातवाहनों का समृ) व्यापार, जो पूर्व में समुद्री मार्गों और तिलस्मी समुद्रपार के बाजारों तक ैला था, इस दौर में ीका पड़ गया। आर्थिक तंगी ने सैन्य और प्रशासनिक ताकत को भी प्रभावित किया।

4. प्रतिद्वंद्वी शक्तियों का उदय-

इस काल में पश्चिमी क्षत्रपों (शकों), वाकाटक वंश और अन्य क्षेत्रीय शक्तियों ने सातवाहनों के अधिकारों पर प्रश्न उठाए। इन संघर्षों ने सातवाहनों की सत्ता और सीमाओं को और कमजोर कर दिया।

5. संस्कृति और कला में गिरावट-

सातवाहनों ने अपने सुवर्ण युग में बौद्ध धर्म और कला को बहुत समर्थन दिया था। परन्तु अंधकारमय चरण में इस सांस्कृतिक प्रगति में भी गिरावट आई। भव्य स्तूप, मठ, और साहित्यिक कार्यों की संख्या घटने लगी।
सातवाहन सम्राट हाल- एक कवि के रूप में राजा

प्राचीन भारत के सातवाहन वंश के राजा हाल को इतिहास में उन विरले शासकों में गिना जाता है जो युद्ध से अधिक शब्दों के लिए प्रसिद्ध हुए। उनका नाम राजनीति से ज्यादा काव्य और संस्कृति के क्षेत्र में चमकता है। प्रथम शताब्दी ईस्वी के आसपास शासन करने वाले राजा हाल को सातवाहनों की सत्रहवीं पीढ़ी का शासक माना जाता है। उनका साम्राज्य आज के महाराष्ट्र, तेलंगाना और आंध्र प्रदेश के बड़े हिस्सों में ैला था।

राजा हाल के बारे में जो जानकारी हमें उपलब्ध है, वह मुख्यत: प्राचीन भारतीय ग्रंथों, पुरातात्त्विक शिलालेखों और बाद के साहित्यिक स्रोतों से प्राप्त होती है। स्रोत- गाथा सप्तशती - काव्य ग्रंथ (प्राकृत) प्रत्यक्ष संकलक या रचनाकार के रूप में हाल का उल्लेख प्राप्त होता है। लीलावती साहित्यिक (प्राकृत)- कल्पनात्मक प्रेमकथा में मुख्य पात्र के रूप में हाल का उल्लेख प्राप्त होता है। कल्हण के ऐतिहासिक काव्य राजतरंगिणी में संक्षिप्त उल्लेख, वायु, विष्णु, ब्रह्माण्ड़ पुराण में भी हाल का उल्लेख प्राप्त होता है।

गाथा सप्तशती हाल की सबसे बड़ी उपलब्धि है, एक ऐसा प्राचीन काव्य संग्रह जिसमें लगभग 700 लघु प्रेम कविताएँ संकलित हैं। ये कविताएँ उस समय की महाराष्ट्रि प्राकृत में रची गईं, जो आम जनमानस की बोली थी। यह संग्रह केवल एक साहित्यिक दस्तावेज नहीं, बल्कि तत्कालीन समाज और भावनात्मक जीवन का आईना है। इन कविताओं में मुख्यत: प्रेम, विरह, सौंदर्य, स्त्री की दृष्टि और जीवन की सरलता का चित्रण है। कई गाथाएँ स्त्रियों के मनोभावों को दर्शाती हैं, जिससे यह संग्रह

स्त्री-विमर्श की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हो जाता है।

हाल- एक कवि, संरक्षक या संपादक

ऐतिहासिक साक्ष्य यह स्पष्ट नहीं करते कि ये सारी रचनाएँ स्वयं हाल ने लिखीं, परन्तु यह मान्यता प्रबल है कि वे इन कविताओं के संरक्षक और संकलक थे। उन्होंने शायद विद्वानों को प्रोत्साहित किया और इस रचनात्मक साहित्य को संजोया। उनका यह कार्य उन्हें एक ऐसे राजा के रूप में स्थापित करता है, जिसने सत्ता के साथ-साथ संवेदना को भी महत्व दिया।

राजा हाल के जीवन से जुड़ी एक रोमांटिक कथा है लीलावती नामक श्रीलंकाई राजकुमारी से उनका प्रेम और विवाह। यह कहानी एक बाद के प्राकृत काव्य 'लीलावई' में मिलती है। यद्यपि ऐतिहासिक रूप से इसकी पुष्टि नहीं होती, फिर भी यह कथा राजा हाल की कल्पनाशील और भावुक छवि को जनमानस में दृढ़ करती है।

गौतमिपुत्र सातकर्णी-

गौतमिपुत्र सातकर्णी प्राचीन भारत के सातवाहन वंश के सर्वाधिक शक्तिशाली और प्रतिष्ठित सम्राट माने जाते हैं। उनका शासनकाल ईसा की दूसरी शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में रहा, जब उन्होंने न केवल एक बिखरे हुए राज्य को पुनर्गठित किया, बल्कि राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक शक्ति का नया केंद्र स्थापित किया। गौतमिपुत्र सातकर्णी का नाम विशिष्ट रूप से मातृनामिक है वे अपनी माता गौतमी बलश्री के नाम से पहचाने जाते हैं। यह उस काल में एक सांस्कृतिक नवाचार था, जो दर्शाता है कि सातवाहन समाज में स्त्री की सामाजिक और राजनैतिक भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण थी। यह प्राचीन भारतीय समाज में लैंगिक पहचान और वंश परंपरा को लेकर एक विशिष्ट दृष्टिकोण को दर्शाता है। सूची के अनुसार सातवाहनो के 23 वे राजा गौतमीपुत्र शातकर्णी ने सातवाहनों की वंश प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित किया। गौतमिपुत्र ने एक सशक्त शासक के रूप में विदेशी आक्रमणकारियों जैसे कि पश्चिमी क्षत्रपों को पराजित कर भारतीय क्षेत्रीय प्रभुता को पुनः स्थापित किया। यह संघर्ष केवल सैन्य विजय नहीं था, बल्कि यह राजनैतिक अस्मिता और सांस्कृतिक आत्मनिर्भरता का पुनर्निर्माण भी था।

राजनीतिक उपलब्धि-

गौतमिपुत्र शातकर्णी, सातवाहन वंश के एक अत्यंत प्रतिष्ठित शासक थे, जिन्होंने ईस्वी दूसरी शताब्दी के प्रारंभिक चरण में शासन किया। उनके शासनकाल में दक्षिण भारत के दक्कन क्षेत्र में सातवाहन साम्राज्य की शक्ति का पुनरुत्थान हुआ, जो उनके महत्त्वपूर्ण सैन्य अभियानों और प्रशासनिक सुधारों द्वारा चिह्नित है।

गौतमी बलश्री के नासिक गुहालेख में उसे खतिय दपमानमदनस, वर्ण संकरता को रोकने वाला, अप्रतिम शासक, शूर, धनुर्धर और अप्रतिम ब्राह्मण कहा गया है। इसने सम्भवतः 106 से 130 ई. स. तक राज्य किया । कुछ विद्वान इसका शासन काल 90 से 115 ई.स. मानते हैं। इसकी माता गौतमी बलश्री के नासिक गुहालेख (उसका अपना नासिक अभि. उसके शासन के 18 वें वर्ष में सैनिक स्कन्धावार से जारी किया गया जबकि उसकी माता बलश्री के लेख उसके पुत्र पुलुमावी के शासन के 19 वें वर्ष में लिखे गये हैं) से पता चलता है कि उसने तीनों समुद्रों तक अपना राज्य विस्तार किया और उसके साम्राज्य में ऋषिक या असिक (गोदावरी और कृष्णा नदी के बीच का प्रदेश), अश्मक (गोदा-वरी का तटवर्ती प्रदेश), मूलक (पैठन के पास), अनूप (निमाड जिला), अपरान्त उत्तरी कोंकण), सुराष्ट्र, विदर्भ, कुकुर (राजस्थान में), आकर (पूर्वी मालवा) और अवन्ति (पश्चिमी मालवा) सम्मिलित थे। उसे विस (विंधय), छवत, (ऋक्त्), परिचाल (पारियात्र), समूह, कण्हगिरि, मच, सिरिटन, मलय, महेन्द्र, सेटगिरि, चकोर पर्वतों का स्वामी बताया गया है और कहा गया है कि इसके हाथियों ने तीनों समुद्रों का जल पिया था। इन नामों का परिचित क्षेत्रों

से समीकरण भण्डारकर व सरकार ने बैठाया है। इससे लगता है कि उसने दक्षिण विजय के साथ मधय भारत और महाराष्ट्र तथा गुजरात के शक क्षत्रपों और उनके सहयोगियों यवनों व पहलवों का भी विनाश किया। पुलुमावी के नासिक लेख में उसे शक यवन पहलव निसूदन तथा क्षहरात वंश को निरवशेष करने वाला कहा गया है। उसके अपने नासिक लेख से उसके द्व ारा नहपान के दामाद उषवदात से नासिक व पूना के क्षेत्रों को छीनने का पता चलता है। मामाल आहार (पूना) में भी करजिक नामक ग्राम पहले उषवदात ने दान दिया था, बाद में गौतमीपुत्र ने। जोगलथम्मी (नासिक) से प्राप्त उसकी मुद्राएँ शक मुद्राओं के पर दोबारा अंकित की गयीं हैं और उनपर शकनिसूदनस आदि लिखा मिलता है। कुछ विद्वान शक छत्रप नहपान को गौतमीपुत्र शातकर्णी का समकालीन मानते हैं और कुछ उसका पूर्ववर्ती । शक. अभिलेखों से भी संकेत मिलता है कि शक नहपान अपनी विजयों के कारण महाक्षत्रप बन गया था परन्तु उसके पश्चात् शक क्षत्रप मात्र रह गये और पुनः रुद्रदामन के समय में ही उनकी शक्ति एक बार फिर बढ़ी ।

पश्चिमी क्षत्रपों पर विजय-

गौतमिपुत्र शातकर्णी की सबसे प्रमुख सैन्य उपलब्धियों में से एक पश्चिमी क्षत्रपों, विशेषतः उनके शासक नहपान की पराजय थी। इस विजय का प्रमाण नहपान के सिक्कों पर गौतमिपुत्र की मुद्राओं की पुनः छपाई में मिलता है, जो इस बात को दर्शाता है कि उन्होंने उन क्षेत्रों पर पुनः अधिकार स्थापित किया और अपने प्रभुत्व की घोषणा की।

साम्राज्य का विस्तार-

गौतमिपुत्र के शासनकाल में सातवाहन साम्राज्य का भौगोलिक विस्तार भी हुआ। उनकी माता गौतमी बलश्री द्वारा लिखित नासिक प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उनका शासन उत्तर में मालवा और सौराष्ट्र से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक, पश्चिम में कोंकण तट से लेकर पूर्व में विदर्भ तक ैला हुआ था।

प्रशासनिक सुधार एवं शासन व्यवस्था-

गौतमिपुत्र शातकर्णी न केवल एक पराक्रमी योद्धा थे, बल्कि एक कुशल और दूरदर्शी प्रशासक भी थे। उन्होंने साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने, प्रशासनिक प्रक्रियाओं को मानकीकृत करने और आर्थिक स्थिरता को सुनिश्चित करने के लिए कई सुधार किए। उनके शासनकाल में मुद्रा तथा अभिलेखों का प्रचलन हुआ, जिसने व्यापार को प्रोत्साहन देने के साथ-साथ केंद्रीय सत्ता को भी मजबूत किया।

आर्थिक स्थिति-

गौतमिपुत्र द्वारा जारी की गई मुद्राएँ उनकी आर्थिक नीति का प्रमुख स्रोत हैं। इन सिक्कों पर प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में अंकन मिलता है। 'रानो सिरि गौतमीपुतस सातकणिसा' लिखित इन सिक्कों का विश्लेषण दर्शाता है कि व्यापारिक स्थिरता हेतु सिक्कों का मानककरण किया गया। उनकी मुद्रा प्रणाली ने रोम से व्यापार, समुद्री मार्गों और व्यापारिक नगरों की पुनर्स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यानी, उनका प्रशासनिक तंत्र न केवल सैन्य-राजनैतिक था, बल्कि व्यापार-उन्मुख और आर्थिक रूप से व्यवस्थित भी था।

सामाजिक व्यवस्था और वर्ण संरचना-

नासिक प्रशस्ति में वर्णन मिलता है कि उन्होंने चारों वर्णों को उनके उचित कर्तव्यों में स्थिर किया। इसका आशय यह है कि वे धर्मशास्त्रीय सामाजिक व्यवस्था के समर्थक थे और उस समय की सामाजिक गतिशीलता को नियमबद्ध और संतुलित बनाना चाहते थे।

सांस्कृतिक और धार्मिक संरक्षण-

गौतमिपुत्र शातकर्णी ब्राह्मण धर्म के समर्थक थे और उन्होंने परंपरागत सामाजिक संरचनाओं तथा धार्मिक अनुष्ठानों को बनाए रखा। साथ ही, उन्होंने बौद्ध धर्म जैसे अन्य धार्मिक समुदायों को भी संरक्षण प्रदान किया, जिसका प्रमाण विहारों के निर्माण और भूमि दानों में मिलता है। उनकी यह समावेशी नीति समाज को सांस्कृतिक रूप से समृद्ध और विविधतापूर्ण बनाने में सहायक रही।

गौतमिपुत्र शातकर्णी का शासनकाल सातवाहन वंश के उत्कर्ष काल के रूप में माना जाता है। उनकी सैन्य सफलताओं और प्रशासनिक कुशलता ने साम्राज्य की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित किया और आने वाले शासकों के लिए एक ठोस आधार प्रदान किया। उनका योगदान भारत के प्राचीन इतिहास और सांस्कृतिक धरोहर में एक अमिट छाप के रूप में विद्यमान है।

वशिष्ठिपुत्र पुलुमावी-

प्राचीन दक्कन की भूमि, जहाँ गोदावरी और कृष्णा नदियाँ समय की धारा में संस्कृतियों को जोड़ती थीं, वहीं एक राजकुमार इतिहास के परिदृश्य पर उभर रहा था कृ वशिष्ठिपुत्र पुलुमावी। वह न केवल अपने महान पिता गौतमिपुत्र सातकर्णि की राजनीतिक विरासत का वाहक था, बल्कि उसने अपने शासनकाल में दक्षिण भारत को सांस्कृतिक, व्यापारिक और धार्मिक रूप से समृद्ध किया। यह आलेख पुलुमावी के जीवन, प्रशासनिक प्रणाली, सांस्कृतिक योगदान, धार्मिक सहिष्णुता और विदेश नीति का वैज्ञानिक मूल्यांकन ऐतिहासिक स्रोतों के आलोक में करता है।

सातवाहन वंश की स्थापना मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद हुई थी, और यह वंश विशेष रूप से दक्षिण भारत में 1वीं शताब्दी ई.पू. से 3वीं शताब्दी ई. तक शासन करता रहा। पुलुमावी के पिता गौतमिपुत्र सातकर्णि ने पश्चिमी क्षत्रपों को हराकर सातवाहन साम्राज्य को पुनर्जीवित किया था। नासिक प्रशस्ति, जिसे पुलुमावी की माता गौतमी बलश्री ने शिला पर अंकित करवाया था, में उल्लेख है कि उनके पति ने शकों, यवनों और पल्लवों को पराजित किया। यह प्रशस्ति पुलुमावी के राजनीतिक एवं सैन्य उत्तराधिकार को दर्शाती है, जहाँ उसे एक सुदृढ़ परंतु अस्थिर साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान करना था।

प्रशासनिक उपलब्धि-

पुलुमावी ने एक बहुजातीय और बहुधार्मिक साम्राज्य को संगठित रूप से चलाया। यह विविधता उनके प्रशासनिक दृष्टिकोण में स्पष्ट है। प्राकृत भाषा में अभिलेख लिखवाकर उन्होंने जन-संपर्क को सरल बनाया। साम्राज्य की राजधानी प्रतिष्ठान द्धआज का पैठनऋ में रहते हुए उन्होंने अमरावती और नागार्जुनकोंडा जैसे प्रांतीय नगरों को विकसित किया, जिससे स्थानीय प्रशासन में कुशलता आई। उन्होंने साम्राज्य को राज्य, आरण्यक क्षेत्र (वन), बंदरगाह क्षेत्रों में विभाजित कर अलग-अलग नीतियाँ अपनाईं, जिससे शासन अधिक प्रभावी बना। यह सब इस बात को रेखांकित करता है कि पुलुमावी केवल सेनानी नहीं, बल्कि राजनीतिक वैज्ञानिक भी थे।

व्यापार और मुद्राएँ-

पुलुमावी के युग में सातवाहन साम्राज्य की अर्थव्यवस्था का केंद्र समुद्री व्यापार था। उनके द्वारा जारी की गई सीसे, तांबे और चाँदी की मुद्राओं पर जहाज, हाथी, और चैत्य जैसे प्रतीक मिलते हैं, जो व्यापार और धर्म दोनों से जुड़े संकेतक हैं। विशेष रूप से जहाजों के चित्र यह दर्शाते हैं कि उस काल में भारत की समुद्री गतिविधियाँ विस्तृत थीं। पेरिप्लस अक्रू द एरिथ्रियन सी (ग्रीक व्यापारियों द्वारा लिखित ग्रंथ) में भारत के जिन बंदरगाहों कृ जैसे सोपारा, भरुच, और तगर कृ का उल्लेख है, वे पुलुमावी के शासनकाल में सक्रिय थे। रोमन सिक्कों की खोज (विशेषतः आंध्र, महाराष्ट्र और तमिलनाडु में) पुलुमावी की अंतरराष्ट्रीय व्यापार-नीति की पुष्टि करती है। यह बताता है कि वे न केवल अपने साम्राज्य को समृद्ध करना चाहते थे, बल्कि भारत को वैश्विक व्यापार मानचित्र पर अग्रणी बनाना भी उनका लक्ष्य था।

धार्मिक सहिष्णुता-

पुलुमावी के युग में धार्मिक समरसता का अद्‌भुत उदाहरण मिलता है। उनके पिता मुख्यतः ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे, लेकिन पुलुमावी ने बौद्ध धर्म को भी संरक्षण दिया। इसका प्रमाण अमरावती, नासिक और नागार्जुनकोंडा में पाए गए अभिलेखों से मिलता है, जिनमें लिखा है कि उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं को भूमि दान दी और विहार निर्माण में सहायता की। उनके अधीनस्थों द्वारा कार्ले गुफा में करवाए गए दान बौद्ध परम्परा को संरक्षण प्रदान करने का प्रमाण है।

क्षत्रपों से संघर्ष-

वशिष्ठिपुत्र पुलुमावी का शासनकाल पूरी तरह शांतिपूर्ण नहीं था। उनके समय में पश्चिमी भारत में पुनः उभरते हुए एक प्रमुख शक्ति थी- पश्चिमी क्षत्रप, विशेषतः रुद्रदामन प्रथम, जिसने क्षत्रप साम्राज्य को पुनः शक्तिशाली बनाया। रुद्रदामन के जूनागढ़ शिलालेख (150 ई.) में उल्लेख है कि उसने सातवाहनों से युद्ध किया और उन्हें पराजित किया, लेकिन अपनी पुत्री की शादी वशिष्ठिपुत्र पुलुमावी से होने के कारण उसने उनकी भूमि को नहीं हड़पा। यह उल्लेख दो ऐतिहासिक पहलुओं को दर्शाता है पुलुमावी ने राजनीतिक विवाह के माधयम से शांति स्थापित करने की चतुराई दिखाई। यह विवेकपूर्ण कूटनीति थी सामरिक संतुलन बनाए रखना और साम्राज्य की सीमाओं की रक्षा करना। पुलुमावी की यह रणनीति, जिसमें युद्ध को टालकर वैवाहिक संबंधों से शक्ति संतुलन साधा गया, दर्शाती है कि वह एक यथार्थवादी और दूरदर्शी शासक थे।

सांस्कृतिक और स्थापत्य पुनर्जागरण-

पुलुमावी के समय में अमरावती, जो तत्कालीन आंध्र देश का सांस्कृतिक केंद्र था, एक बौद्ध कला और स्थापत्य के वैश्विक केंद्र के रूप में उभरा। यहाँ स्थित अमरावती स्तूप में पाई गई शिल्प आकृतियाँ और जातक कथाओं पर आधारित भित्ति चित्र अत्यंत उन्नत कलात्मक परंपरा को दर्शाते हैं। ये चित्रण केवल धार्मिक नहीं थे, बल्कि राजशक्ति के प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति थे। बुद्ध के जीवन प्रसंगों को चित्रित करने वाले ये शिल्प, पुलुमावी की धर्म आधारित वैचारिक नीति को दृढ़ता से प्रस्तुत करते हैं।

गुफा स्थापत्य-

नासिक गुफाएँ विशेषतः गुफा संख्या 3 और 10 में वशिष्ठिपुत्र पुलुमावी के नाम पर अभिलेख हैं, जिनमें उन्होंने भिक्षुओं को गुफाएँ दान देने का उल्लेख किया। यह स्थापत्य धार्मिक उदारता और राजकोष के सामाजिक व्यय की मिसाल है।

पुलुमावी के पश्चात सातवाहन साम्राज्य धीरे-धीरे कमजोर हुआ, परन्तु उसकी प्रशासनिक, सांस्कृतिक और धार्मिक नीतियाँ अगली पीढ़ियों तक जीवित रहीं। संभवतः उन्हें शिवश्री पुलुमावी अथवा यज्ञ श्री सातकर्णि ने उत्तराधिकार में प्राप्त किया। यज्ञ श्री सातकर्णि ने कुछ समय के लिए साम्राज्य की खोई हुई सीमाओं को पुनः प्राप्त करने की कोशिश की, परंतु पुलुमावी जैसी स्थायित्वकारी नीति नहीं रख सका।

वशिष्ठिपुत्र पुलुमावी को केवल शाही वंश का उत्तराधिकारी समझना उसके यथार्थवादी शासन की गरिमा को कमतर आंकना होगा। उसने युद्ध से अधिक कूटनीति, शक्ति से अधिक समरसता और वैभव से अधिक स्थायित्व को महत्व दिया। उसने धार्मिक सहिष्णुता के माधयम से जनमानस का समर्थन प्राप्त किया। वैदेशिक व्यापार और स्थानीय प्रशासनिक केंद्रों को सशक्त किया। अपने शासनकाल में मुद्राओं, स्थापत्य कला, और अभिलेखों के माधयम से सातवाहन संस्कृति को स्वर्ण युग में पहुँचाया। अतः पुलुमावी को भारत के प्राचीनतम राजनीतिक वैज्ञानिकों और सांस्कृतिक संरक्षकों में स्थान देना एक न्यायपूर्ण ऐतिहासिक विश्लेषण होगा।

यज्ञ श्री सातकणि-

जब दक्कन की विशाल धरती पर सातवाहन सम्राज्य का सूर्य अस्ताचल की ओर अग्रसर हो रहा था, तब एक राजा ने

पतनशील साम्राज्य को फिर से प्रतिष्ठित करने का साहसिक प्रयास किया। वह राजा था यज्ञ श्री सातकर्णि।

दूसरी शताब्दी ईस्वी के उत्तरार्ध में, सातवाहन साम्राज्य आंतरिक विघटन और पश्चिमी क्षत्रपों के निरंतर हमलों के कारण गंभीर संकट से गुजर रहा था। यह वही समय था जब यज्ञ श्री सातकर्णि (लगभग 170–199 ई.) ने सत्ता संभाली। वह वशिष्ठीपुत्र पुलुमावी का पुत्र था और उसे अपने पूर्वजों विशेषकर गौतमीपुत्र सातकर्णि की भांति एक सशक्त शासक के रूप में उभरने का अवसर प्राप्त हुआ।

यज्ञ श्री सातकर्णि के शासनकाल की पुष्टि का सबसे सशक्त माधयम मुद्राएं है। उनके द्वारा जारी किए गए चाँदी, सीसा और मिश्रित धातु के सिक्कें महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश और गुजरात में पाए गए हैं। इन पर अंकित शिलालेख 'रानो सिरि यज्न सतकणि ासा' सर्वप्रमुख हैं, जो शासक की प्रभुता और आधिकारिक मुद्रा के प्रयोग को दर्शाते हैं। कई सिक्कों पर जहाजों की आकृतियाँ खुदी हुई हैं, जो यह सूचित करती हैं कि उनका शासनकाल समुद्री व्यापार की पुनः स्थापना और वृद्धि का युग था। यह व्यापार मुख्यतः रोम साम्राज्य के साथ होता था। इसके अतिरिक्त, नासिक और कन्हेरी की गुफाओं में प्राप्त अभिलेख भी उनके धार्मिक संरक्षण और प्रशासनिक गतिविधियों का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

उपलब्धियाँ–

यज्ञ श्री सातकर्णि का शासनकाल मुख्यतः पश्चिमी क्षत्रपों के साथ टकराव के लिए प्रसिद्ध है। विशेषतः रुद्रसेन प्रथम के विरुद्ध उन्होंने निर्णायक सैन्य अभियान चलाए। यद्यपि युद्धों का प्रत्यक्ष विवरण प्राप्त नहीं है, परंतु सिक्कों की भू–स्तरीय अनुक्रमण से यह अनुमान लगता है कि उन्होंने मालवा, सौराष्ट्र और कोंकण क्षेत्र में सातवाहन सत्ता को पुनः स्थापित किया। इस विजय का सांस्कृतिक और आर्थिक प्रभाव अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा, जिससे दक्कन की राजनीतिक स्थिरता कुछ समय के लिए पुनः सुदृढ़ हुई।

आर्थिक नीति–

यज्ञ श्री सातकर्णि के सिक्कों पर अंकित बहु–मस्तूल वाले जहाज उनके नौसैनिक सामर्थ्य और व्यापारिक दृष्टिकोण को प्रकट करते हैं। यह भारत के इतिहास में उन प्रारंभिक चित्रणों में से एक है जहाँ शासक की नौपरिवहन नीति दर्शायी गई है। समकालीन रोमन अभिलेख और अरिकमेडु, सोपारा जैसे बंदरगाहों पर मिले रोमन मृद्भांड इस बात के साक्ष्य हैं कि सातवाहन शासन के अंतर्गत दक्षिण भारत और पश्चिमी तट से रोम के साथ वस्तु–विनिमय हुआ–मुख्यतः मसाले, मोती, हाथीदांत और वस्त्र।

धर्मसहिष्णुता–

यद्यपि यज्ञ श्री सातकर्णि स्वयं वैदिक परंपरा से सम्बद्ध थे उनके नाम में 'यज्ञ' इसी ओर संकेत करता है, उन्होंने बौद्ध धर्म, विशेषतः हीनयान संप्रदाय का सक्रिय रूप से संरक्षण किया। नासिक गुफा संख्या 20 में प्राप्त एक अभिलेख दर्शाता है कि उनके मंत्री ने विहार निर्माण हेतु दान दिया। इससे स्पष्ट होता है कि यज्ञ श्री का शासन धार्मिक सहिष्णुता और धर्मनिरपेक्ष राज्यध र्म का अनुकरण करता थाकृ एक ऐसी नीति जिसने बहु–धार्मिक समाज को शांति और सहयोग में बाँधे रखा।

कला और स्थापत्य–

अमरावती शैली की मूर्तिकला जो अत्यंत परिष्कृत और भावपूर्ण थी। यज्ञ श्री के समय चरम पर पहुँच गई। बौद्ध कथाओं, जातकों और दिव्य आकृतियों के उत्कीर्णन इस काल की पहचान हैं। यह शैली भारतीय शिल्पकला की एक प्रमुख धारा बनकर आगे चलकर गुप्त कालीन कला को भी प्रभावित करती है। हालाँकि यज्ञ श्री के नाम से कोई ग्रंथ ज्ञात नहीं है, किंतु उनका काल निश्चित रूप से प्राकृत साहित्य और काव्य परंपरा के विकास के लिए अनुकूल वातावरण लेकर आया।

प्रशासनिक संरचना और सामाजिक व्यवस्था–

सातवाहन प्रशासन प्रणाली विकेंद्रीकृत थी, जिसमें स्थानीय अमात्य, महामात्र, एवं गिल्ड संगठन द्धश्रेणियाँऋ राज्य संचालन में सहायक थे। यज्ञ श्री ने इस प्रशासनिक संरचना को सुव्यवस्थित बनाए रखा और नवीन शिलालेखों के माधयम से दान, कर व्यवस्था और भू-अनुदान से संबंधित नीतियों को स्पष्ट किया। विशेष रूप से, सातवाहनों की परंपरा के अनुसार राजपरिवार की स्त्रियों को भी सामाजिक और धार्मिक निर्णयों में सक्रिय भागीदारी दी जाती थी- एक नारी-सशक्तिकरण का प्रारंभिक उदाहरण।

यज्ञ श्री सातकर्णि के पश्चात सातवाहन वंश तेजी से विघटन की ओर अग्रसर हुआ। उत्तराधिकार के झगड़े, सीमांत क्षेत्रों में आत्मनिर्भरता की प्रवृत्ति, और नवोदित राज्यों- जैसे इक्ष्वाकु, वाकाटक और कदंब की शक्ति वृद्धि ने सातवाहनों के अंतिम अवशेषों को समाप्त कर दिया। किन्तु यज्ञ श्री का शासन इस अंतिम उत्कर्ष का प्रतिनिधित्व करता है एक शासक जिसने विनाश की कगार पर खड़े राज्य को एक बार फिर से महिमा की ओर अग्रसर किया।

भारत के इतिहास में, संस्थापक शासकों और विजेता सम्राटों को पर्याप्त सम्मान मिला है। परंतु संरक्षक और पुनर्निर्माता शासकों की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होती। यज्ञ श्री सातकर्णि ऐसे ही एक शासक थे, जिन्होंने राजनीतिक उथल-पुथल, आर्थिक क्षय और बाहरी हमलों के विरुद्ध धैर्य, वीरता और बुद्धिमत्ता से संघर्ष किया। उनके शासनकाल को हम भारतीय इतिहास में एक अंतिम तेजस्वी युग के रूप में पहचान सकते हैं जहाँ पतन से पूर्व पुनर्जागरण ने अंतिम बार इतिहास को गौरवशाली स्वर दिया।

5 अंक के प्रश्न-

1. सातवाहन वंश का संस्थापक कौन था?
2. गौतमीपुत्र शातकर्णी का परिचय दीजिए।
3. सातवाहन काल में व्यापार की स्थिति कैसी थी?
4. नासिक अभिलेख का महत्व लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. सातवाहन वंश की राजनीतिक उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।
2. सातवाहन काल की आर्थिक स्थिति का विश्लेषण कीजिए।
3. सातवाहन कालीन समाज एवं धार्म पर निबंधा लिखिए।

MCQ

1. सातवाहन वंश का प्रमुख शासक थारू

(A) **गौतमीपुत्र शातकर्णी**

(B) अशोक

(C) समुद्रगुप्त

(D) बिंबिसार

उत्तर (A)

2. सातवाहनों की शद्रि का केंद्र थारू

(A) **दक्षिण भारत**

(B) पंजाब

(C) बंगाल

(D) कश्मीर

उत्तर (A)

3. सातवाहन काल में कौन-सा व्यापार प्रसि) था?

(A) **समुद्री व्यापार**

(B) घोडा व्यापार

(C) दास व्यापार

(D) नमक व्यापार

उत्तर (A)

महत्वपूर्ण बिंदु-

- सातवाहन वंश दक्षिण भारत का प्रमुख वंश था।
- गौतमीपुत्र शातकर्णी महान शासक थे।
- रोमन व्यापार से आर्थिक समृ) हुई।

शब्दावली-

- अभिलेख - शिलालेख
- व्यापार - वाणिज्यिक गतिविधि
- समुद्री मार्ग - जल परिवहन मार्ग

इकाई- 1.4 महामेघवाहन वंश- खारवेल

उद्देश्य-

1. खारवेल के शासन का अधययन करना।
2. हाथीगुम्ा अभिलेख का महत्व समझना।
3. खारवेल की धाार्मिक नीति का विश्लेषण करना।

कलिंग कालग का चेदि वंश

राजा खरवेल, जिन्हें महामेघवाहन खारवेल के नाम से भी जाना जाता है, प्राचीन भारत के महामेघवाहन वंश के एक प्रमुख शासक थे। उन्होंने ईसा पूर्व दूसरी या पहली शताब्दी में
वर्तमान ओडिशा क्षेत्र से संबंधित प्राचीन कलिंग प्रदेश पर शासन किया। खारवेल अपने सैन्य विजय अभियानों, प्रशासनिक सुध ारों तथा विशेष रूप से जैन धर्म के प्रति संरक्षण और कला-संस्कृति के पोषण के लिए प्रसिद्ध हैं। उनके शासनकाल की प्रमुख जानकारी का स्रोत हाथीगुफा शिलालेख है, जो भुवनेश्वर ओडिशा के समीप उदयगिरि पर्वत पर स्थित एक सत्रह-पंक्तियों का शिलालेख है, जिसे चटानों को काटकर उकेरा गया है।

प्रारंभिक जीवन और राज्यारोहण-

हाथीगुफा शिलालेख के अनुसार, खारवेल ने अपने प्रारंभिक जीवन में कठोर प्रशिक्षण प्राप्त किया। उन्होंने लेखन कला, मुद्रण प्रणाली, लेखा-जोखा, प्रशासनिक कार्य तथा कानूनी विधियों का गहन अधययन किया। 16 वर्ष की आयु में उन्हें युवराज नियुक्त किया गया और 24 वर्ष की आयु में उन्होंने सिंहासन ग्रहण किया। उनका यह प्रारंभिक शिक्षण और प्रशिक्षण उन्हें एक सक्षम और विवेकशील शासक बनने हेतु तैयार करता है।

सैन्य उपलब्धियाँ-

1. सातवाहनों के विरुद्ध अभियान

अपने शासन के दूसरे वर्ष में, खारवेल ने सातवाहन राजा सातकर्णि प्रथम के विरुद्ध एक सैन्य अभियान छेड़ा। उन्होंने कृष्ण ा नदी तक अग्रसर होकर मूसिक नगर पर आक्रमण किया। यह अभियान उनकी सैन्य क्षमता को स्थापित करता है और दक्कन क्षेत्र में उनके प्रभाव को विस्तार प्रदान करता है।

2. यवनों से संघर्ष-

अपने शासन के आठवें वर्ष में, खारवेल ने राजगृह (आधुनिक राजगीर) पर एक अभियान किया। उस समय यवन राजा डेमेट्रियस प्रथम पाटलिपुत्र की ओर अग्रसर था। जब डेमेट्रियस को राजगृह में खरवेल की विजय का समाचार मिला, तो वह मथुरा तक पीछे हट गया। खरवेल ने उसका पीछा किया और मथुरा को यवनों से मुक्त कराया, जो उस समय जैन धर्म का एक प्रमुख केंद्र था।

3. ऋषभदेव की प्रतिमा पुनर्प्राप्ति-

खारवेल की सबसे उल्लेखनीय उपलब्धियों में से एक थी कलिंग जिन (ऋषभदेव की प्रतिमा) की पुनर्प्राप्ति। यह प्रतिमा लगभग तीन शताब्दियों पूर्व महापद्मनंद द्वारा कलिंग से ले जाई गई थी। खरवेल ने इस प्रतिमा को वापस लाकर धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से एक महत्वपूर्ण कार्य किया।

4. प्रशासन और सार्वजनिक कार्य-

खारवेल केवल एक योद्धा ही नहीं, बल्कि एक कुशल प्रशासक भी थे। अपने शासन के पहले वर्ष

में उन्होंने कलिंगनगर (राजधानी) के टूटे हुए द्वारों, प्राचीरों, और किलों की मरम्मत करवाई जो एक प्रचंड तूफान से क्षतिग्रस्त हो गए थे। पाँचवें वर्ष में उन्होंने एक प्राचीन जलवाहिनी का पुनर्निर्माण कराया जिसे नंद वंश ने 300 वर्ष पूर्व बनवाया था। उन्होंने करों में छूट दी और शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में अनुदान प्रदान कर जनकल्याण के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दर्शायी।

5. धर्म और कला का संरक्षण-

खारवेल जैन धर्म के अनुयायी थे, परंतु उन्होंने अन्य धर्मों को भी संरक्षण प्रदान किया। उन्होंने उदयगिरि और खंडगिरि की कुमार पर्वतों में जैन मुनियों के लिए गुफाएँ खुदवाई और उनके भरण-पोषण हेतु धन दान किया। इन गुफाओं में हाथीगुंफा विशेष रूप से प्रसिद्ध है और यह प्राचीन भारतीय शैल वास्तुकला का महत्वपूर्ण उदाहरण है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने अपनी राजधानी में जनता के मनोरंजन हेतु नृत्य एवं संगीत के कार्यक्रम आयोजित करवाए, जो उनके कला एवं संस्कृति के प्रति संरक्षण को दर्शाते हैं।

खारवेल का शासन काल कलिंग राज्य के पुनरुत्थान का काल माना जाता है। उनके सैन्य अभियानों से राज्य का क्षेत्र विस्तार हुआ, प्रशासनिक सुधारों से शासन प्रणाली सुदृढ़ हुई, और धर्म व कला के संरक्षण से समाज सांस्कृतिक रूप से समृद्ध हुआ। हाथीगुफा शिलालेख आज भी उनके योगदान और प्राचीन भारतीय इतिहास को समझने का एक महत्वपूर्ण स्रोत बना हुआ है।

कुल मिलाकर खारवेल को महान निर्माणकर्ता, लोक रंजक कार्य, धार्मिक सहिष्णुता की नीति, महान विजेता, कुशल सेनानायक, उत्कृष्ट कोटि का ज्ञान 15 वर्ष की अवस्था में ही रोज, रूप, गणना, यवहार तथा विधि का ज्ञान धारण करने वाला माना जाता है।

5 अंक के प्रश्न-

1. खारवेल कौन था?
2. हाथीगुफा अभिलेख का महत्व लिखिए।
3. खारवेल की धाार्मिक नीति क्या थी?

15 अंक के प्रश्न-

1. खारवेल की उपलब्धियों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. महामेघवाहन वंश के इतिहास का अधययन कीजिए।
3. खारवेल की सांस्व्रतिक नीति का विश्लेषण कीजिए।

MCQ

1. हाथीगुफा अभिलेख किससे संबंधित है?

(A) अशोक

(B) **खारवेल**

(C) कनिष्क

(D) समुद्रगुप्त

उत्तर (B)

2. खारवेल किस धार्म का अनुयायी था?

(A) **जैन**

(B) बौध

(C) वैदिक

(D) शैव

उत्तर (A)

3. हाथीगुफा अभिलेख कहाँ स्थित है?

(A) **ओडिशा**

(B) बिहार

(C) गुजरात

(D) पंजाब

उत्तर (A)

महत्वपूर्ण बिंदु–

- खारवेल कलिंग का शद्रिशाली शासक था।
- हाथीगुम्फा अभिलेख महत्वपूर्ण स्रोत है।
- जैन धार्म को संरक्षण मिला।

शब्दावली–

- अभिलेख ख्र पत्थर पर लिखित विवरण
- कलिंग ख्र प्राचीन राज्य
- संरक्षण ख्र सहायता एवं समर्थन

खण्ड-2 मौर्योत्तरकालीन विदेशी राजवंशों का परिचय

इकाई-2.1 भारतीय यवनों का परिचय

उद्देश्य-

1.भारत में यवनों के आगमन को समझना।

2.मेनांडर के शासन का अधययन करना।

3.भारतीय संस्ख्रति पर यवन प्रभाव का विश्लेषण करना।

सिकन्दर के साम्राज्य का सीरियाई उत्तराधिकारी सेल्यूकस नाइकेटर हुआ। उसके उत्तराधिकारी एण्टिओकस प्रथम के काल में वैक्ट्रिया में विद्रोह हो गया। परिणामस्वरूप पार्थिया और वैक्ट्रिया स्वतन्त्र हो गये। इस विद्रोह का नेता असेंकीज था और वहाँ क्रमशः डायोडोटस प्रथम और डायोडोटस द्वितीय का शासन हुआ। डायोडोटस द्वितीय की हत्या कर यूथीडेमस बैक्ट्रिया में शासक बना। इसी के समय सीरियाई क्षेत्र के यवन उत्तराधिकारी एण्टियोकस तृतीय (202 ई. पू.-200 ई.पू.) से इसकी संधि हुयी और यूथीडेमस के पुत्र डिमिट्रियस का विवाह एण्टियोकस तृतीय की पुत्री से हुआ जिसके साथ हो बैक्ट्रिया से पूर्व में भारत की ओर पुनः क्रम प्रारम्भ हुआ। इन यवनों के शीघ्र ही भारतीय संस्कृति और धर्म के प्रभाव में आ जाने के कारण इन्हें भारतीय यवनों के नाम से भी जाना जाता है जिसका एक कारण भारत के क्षेत्रों में कुछ समय के लिए इनकी सत्ता की स्थापना भी है। एण्टियोकस तृतीय के ही समय भारत के कंधार क्षेत्र पर यवनों का एक प्रबल आक्रमण हुआ जिसका प्रतिरोध सोभागसेन नामक स्थानीय राजा अथवा मौयों के उस क्षेत्र के उत्तराधिकारी द्व ारा किया गया और दोनों के बीच एक संघि भी संपादित हुयी ।

डिमेट्रियस-

भारत पर अधिक प्रभावशाली आक्रमण का प्रारम्भ डिमिट्रियस द्वारा ही किया गया जिसने सिंधु नदी की घाटी और पंजाब में स्यालकोट के एक भाग पर अधिकार किया हुआ था और यही इसकी राजधानी भी थी। डिमेट्रियस के भारतीय क्षेत्रों पर आक्रमण का संबंध मौयों के अन्तिम काल तथा पुष्यमित्र शुंग के काल से है। जिसका संकेत महाभाष्य और गार्गी संहिता के युग पुराण से मिलता है। इसके आक्रमण के उद्देश्य दो लगते हैं। हेक्टर अलहकून ने इसके पीछे कश्मीरी मौर्य उत्तराधिकारियों द्वारा बौद्धों का उत्पीड़न तथा पुष्यमित्र द्वारा भी ब्राह्मण व्यवस्था के पुनर्स्थापन के विरुद्ध यवनों का बौद्धों के संरक्षण होने के दावे की ओर धयान दिलाया है। दूसरे ये यवन स्वयं को भी मौर्य साम्राज्य का उत्तराधिकारी मानते हों तो आश्चर्य नहीं होगा। इसके पीछे यवन राजकुमारी हेलन का मौर्य सम्राट से विवाह तथा मौयों और यवनों के लम्बे घनिष्ठ सम्बन्ध की एक महत्त्वपूर्ण पृष्ठभूमि थी ।

स्ट्रेबो के अनुसार डिमेट्रियस और मिनाण्डर ने एरियाना (हेरात) पर अधिकार कर लिया था परन्तु भारत के अन्दरुनी क्षेत्रों में उन्हें स्थायी सफलता नहीं मिली और जैसा कि मालविकाग्निमित्रम् से पता चलता है पुष्यमित्र के यज्ञीय अश्व को उन्होंने सिंधु के तट पर ही रोका, उसके इधर नहीं। जो भी हो पश्चिमोत्तर भारत में डिमिट्रियस के आधिपत्य पर कोई संदेह नहीं है जहां उसके बहुत से सिक्के प्राप्त हुए हैं। डिमीट्रियस ने द्विलिपिक सिक्के चलाये जिसमें खरोष्ट्री लिपि का प्रयोग हुआ और प्राकृत एवं यवन भाषा भी प्रयुक्त हुयी। चौसा, ट्रोगस आदि विद्वान उसे पश्चिमोत्तर भारत का विजेता कहते हैं। युगपुराण में वर्णित दत्तामित्र को टार्न आदि कुछ विद्वान डिमेट्रियस ही मानते हैं। बेसनगर से प्राप्त एक मुहर में त्रिमित्र लिखा है जिसे कुछ विद्वानों ने डिमेट्रियस माना है। उसकी एक उपाधि अजेय है। डिसिट्रियस द्वारा सिधु नदी के मुहाने पर दत्ता-मित्री नामक नगर बनाने की भी सूचना मिलती है।

युक्रेटाइटिस (175 ई. पू.)-

जिस समय डिमिट्रियस भारत में उलझा हुआ था बैक्ट्रिया में विद्रोह हो गया और यूक्रेटाइटिस वहां शासक बन बैठा। टार्न ने इसे एण्टियोकस चतुर्थ का सम्बन्धी बताया है। इसकी कुछ मुद्रायें व सिक्के सिस्तान, गान्धार और कपिशा आदि स्थानों से प्राप्त हुए हैं जिन पर मुक्रेटाइटिस के अधिकार की कल्पना कुछ विद्वाना. ने की है, परन्तु टार्न इससे सहमत नही हैं। स्ट्रैबो से पता चलता है कि उसने झेलम पार नहीं की थी पर जस्टिन उसे भारत के कई नगरों की विजय का श्रेय देता है। भारतीय विद्वानों का अनुमान है कि भारतीय क्षेत्रों की ओर मिनाण्डर का शासन था अतः युक्रेटाइटिस झेलम के उस पार तक ही सीमित रहा । इसने भी खरोष्ट्री लिपि के सिक्के चलाये। जस्टिन के अनुसार भारत से लौटते समय इसके पुत्र हेलियोक्लीज ने इसका वध कर दिया। विसेण्ट स्मिथ इसका हत्यारा अपोलोडोटस को मानते हैं जबकि टार्न उसे डिमिट्रियस का पुत्र डिसिट्रियस द्वितीय मानते हैं। इस प्रकार इन यवनों की एक शाखा तक्षशिला (गांधार) में शासन करती रही जिसके शासक युक्रेटाइटिस के वंशज थे और दूसरी शाखा शाकल (स्यालकोट) पर शासन कर रही थी जिसके शासक डिमिट्रियस के उत्तराधिकारी थे। मुद्राओं से इन दोनों शाखाओं के कुछ 40 शासकों का पता चलता है। डिमिट्रियस के उत्तराधिकारी मिनाण्डर बौर अपोलोडोटस हुए।

मिनाण्डर-

मिनाण्डर को टार्न ने डिमिट्रियस का दामाद बताया है। यह पाली बौ) ग्रन्थ मिलिन्दपन्हों का बहुश्रूत राजा मिलिन्द ही है जिसे अलक्षेन्द के कालसी ग्राम में जन्मा (यह स्थान शाकल से 200 कोस दूर बताया गया है और चीनी मिलिन्द पञ्हों में 2000 योजन दूर) कहा गया है। सिल्वल लेवी इस स्थान को मिश्र के एलेक्जेण्ड्रिया से मिलाते हैं। अतः उसका जन्म भारत के बाहर ही कहीं हुआ लगता है। टार्न उसे शुद्ध राजवंशीय रक्त का भी नहीं मानते। जो भी हो वह डिमिट्रियस का उत्तराधिकारी बना। रैप्सन इन दोनों को समकालीन ही मानते हैं क्योंकि दोनों की ताम्रमुद्राओं में समानता है। टानं ने उसे कनिष्ठ समकालीन माना है। उसकी पत्नी एक्योक्लिया की मुद्राएँ 150 ई. पू. की है। परन्तु मिलिन्दपन्हो के अनुसार बुद्ध के 500 वर्ष बाद मिलिन्द राजा हुआ और इसके आधार पर गणना करने पर उसका राज्यकाल 17 ई. पू. ठहरता है जो अन्य सभी प्रमाणों के विपरीत है। प्लुटार्क के अनुसार किसी यात्रा के दौरान उसकी मृत्यु हो गयी जिसकी तिथि डब्ल्यू. डब्ल्यू. टार्न ने 147 ई. पू. मानी है और इस प्रकार उसका राज्यकाल 170 से 145 ई. पू. के बीच माना जा सकता है।

स्ट्रैबो ने लिखा है कि मिनाण्डर महान विजेता हुआ और उसने सिकन्दर से अधिक जातियाँ जीती। इस कथन की अतिशयोक्ति से इतर उसके सिक्के काबुल से गाजीपुर तक और मथुरा से झाँसी तक मिले हैं। अधिकांश विद्वानों का सुझाव है कि गाजीपुर में उसके सिक्के व्यापार के माधयम से पहुँचे होंगे। भड़ौच से भी इसी प्रकार उसकी मुद्राएं मिली हैं जो इसके द्वारा सामुद्रिक व्यापार को प्रोत्साहित या संरक्षित करने का प्रमाण है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि डिमिट्रियस ने भी सिंध नदी के दक्षिणी भाग में दत्तामित्री नामक उपनिवेश बसाया था। मिनाण्डर की कुछ ताम्रमुद्रायें कपिशा और गांधार में भी मिली है। उसकी राजधानी भी स्यालकोट ही थी।

मिनाण्डर और बौद्ध धर्म-

मिनाण्डर की प्रसिद्धि का एक बड़ा कारण बौद्ध धर्म के प्रति उसका झुकाव माना जाता है। मिलिन्दपन्ह या मिलिन्द प्रश्नावली जिसकी रचना लगभग प्रथम श. ई. स. में हुयी मानी जाती है सात अध्यायों का ग्रन्य है जिसमें बौद्ध आचार्य थेर नागसेन ने यवन राजा मिलिन्द के अनेक प्रश्नों का उत्तर दिया है जो उसके बौद्ध धर्म के संपर्क में आने और उससे प्रभावित होने का स्पष्ट प्रमाण है। परन्तु इसमें उसके बौद्ध धर्म से दीक्षित होने का कोई उल्लेख नहीं है। पुनः ग्यारहवी शताब्दि के ग्रंथ क्षेमेन्द्र की अवदान कल्पलता में मिलिन्द नामक राजा द्वारा स्तूप निमित्त कराने की

घोषणा की गयी है। इन साक्ष्यों को कुछ विद्वान मिनाण्डर के बौद्ध धर्म में सम्मिलित हा. ने का पूर्ण प्रमाण नहीं मानते हैं और मिलिन्द द्वारा कहे गये इस कथन का हवाला देते हैं कि यदि मैं बौद्ध भिक्षु हो जाँगा तो शत्रु मेरी हत्या कर देगें, क्योंकि मेरे शत्रुओं की संख्या बहुत अधिक है। अत: संभव है कि वह आंतरिक राजनी. तिक कारणों से भिक्षु न बना हो। परन्तु उसके बौद्धानुरागी होने में कोई सन्देह नहीं लगता। क्षेमेन्द्र के ग्रन्थ को महत्त्व देते हुये कुछ विद्वान मानते हैं कि उसकी सूचनाओं को पूरी तरह निराधार नहीं समझना चाहिये। तिब्बती बौद्ध लेखक तारानाथ के अनुसार भी मितिक नामक बौद्ध भिक्षु ने तुखार के मिनार को बौद्ध धर्म स्वीकार कराया था। कुछ विद्वान तुखार को वैविट्रया, मिनार को मिनाण डर और नितिक को थेर नागसेन मानते हैं। प्लुटार्क के अनुसार भी जब अपने यात्राकाल में शिविर में मिनाण्डर की मृत्यु हो गयी तो उसकी भस्म पर स्तूप बनाने के लिये लोगों में संघर्ष हुआ। मिनाण्डर को बौद्ध न मानने वाले विद्वानों का तर्क है कि यह एक बुद्ध कथा है जिसे मिनाण्डर से जोड़ा गया है। जबकि चक्रवर्ती राजा के लिये भी स्तूप बनाया जा सकता था। प्लुटार्क की कथा को विटरनिट्ज अनैतिहासिक मानते हैं परन्तु अनुश्रुतियों में मिनाण्डर के स्पष्टत: अर्हत हो जाने की बात मिलती है। स्वयं मिनाण्डर के कांस्य सिक्कों पर धर्मचक्र का चिन्ह मिलता है और कुछ पर खजर व हाथी के चिन्ह अंकित हैं। रीज डेविड्स इन्हें पूरी तरह बौद्ध धर्म का ही चिन्ह मानते हैं। अंतत: यह कहा जा सकता है कि भले ही मिनाण्डर स्वयं बौद्ध भिक्षु न बना हो परन्तु बौद्ध ध र्म के प्रति उसने जो अनुराग प्रदर्शित किया उसी के कारण बौद्ध परम्परा में उसे इतना अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है।

भारतीय यवन, जिन्हें इंडो-ग्रीक भी कहा जाता है, ने प्राचीन भारतीय संस्कृति के निर्माण में अपने राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और कलात्मक योगदानों के माधयम से एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वे यूनानी शासकों के वंशज थे जिन्होंने सिकंदर महान के भारत आक्रमण (लगभग 326 ई.पू.) के पश्चात उत्तर-पश्चिम भारत के कुछ क्षेत्रों में निवास स्थापित किया। इंडो-ग्रीक साम्राज्य द्वितीय शताब्दी ई.पू. से प्रथम शताब्दी ई. तक विशेष रूप से गांधार, पंजाब और आधुनिक अफगानिस्तान व पाकिस्तान के कुछ भागों में फला-फूला। भारतीय संस्कृति पर उनका प्रभाव गहरा और दीर्घकालीन रहा।

भारतीय संस्कृति पर यवनों का प्रभाव-

1. कला और स्थापत्य-

भारतीय यवनों का भारतीय संस्कृति पर सबसे प्रमुख प्रभाव कला के क्षेत्र में देखा जाता है। यूनानी (हेलनिस्टिक) और भारतीय कलात्मक शैलियों के समन्वय से गांधार कला शैली का विकास हुआ। इस विशिष्ट शैली में विशेषत: बौद्ध धार्मिक विषयों को ग्रीको-रोमन कला तकनीकों के माधयम से दर्शाया गयाकृजैसे यथार्थवादी मानव आकृतियाँ, लहराते बाल, और वस्त्रों की प्राकृतिक सिलवटें । यह मूर्तिकला शैली बुद्ध को पहली बार मानव रूप में चित्रित करने के लिए जानी जाती है, जबकि पूर्ववर्ती भारतीय परंपरा में बुद्ध को केवल प्रतीकों के माध्यम से दर्शाया जाता था।

2. धर्म और दर्शन-

यद्यपि भारतीय यवन मूलत: हेलनिस्टिक बहुदेववाद के अनुयायी थे, परंतु समय के साथ कई शासकों ने भारतीय धर्मों, विशेषत: बौद्ध धर्म को अपना लिया। कई इंडो-ग्रीक राजाओं, जैसे मेनांडर प्रथम (मिलिंद), ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। मेनांडर विशेष रूप से बौद्ध भिक्षु नागसेन के साथ हुए अपने दार्शनिक संवादों के लिए प्रसिद्ध हैं, जो मिलिंदपन्ह नामक ग्रंथ में संकलित है। यह ग्रंथ इंडो-ग्रीक दार्शनिक समन्वय का उत्कृष्ट उदाहरण है और आज भी बौद्ध साहित्य का महत्वपूर्ण भाग बना हुआ है।

3. मुद्राशास्त्र और भाषा-

भारतीय यवनों ने भारत में सिक्का निर्माण की नई मानक प्रणाली की शुरुआत की। उनके सिक्कों पर प्राय: द्वैभाषिक अभिलेख होते थे यूनानी और खरोष्ठी या ब्राह्मी लिपियों में, साथ ही राजाओं और देवताओं की उच्च कोटि की कलात्मक आकृतियाँ अंकित होती थीं। ये सिक्के केवल मुद्रा नहीं बल्कि राजनीतिक और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के साधन भी थे। भारतीय राजाओं ने बाद में इन शैलियों को अपनाया और सिक्का निर्माण की यूनानी तकनीकों ने भारतीय मुद्राशास्त्र को गहराई से प्रभावित किया।

4. विज्ञान और खगोलशास्त्र-

यूनानियों को विज्ञान, विशेषत: खगोलशास्त्र और गणित में उन्नत ज्ञान प्राप्त था। इंडो-यवनों के संपर्क से भारत और पश्चिम के मधय वैज्ञानिक ज्ञान का आदान-प्रदान संभव हुआ। भारतीय ज्योतिष में यूनानी खगोलीय मक्कडल के तत्व समाहित हुए, जैसे

ग्रहों की गति की अवधारणा और राशियों व नक्षत्रों से संबंधित कुछ पारिभाषिक शब्द।

5. सांस्कृतिक समन्वय-

इंडो-यवनों ने भारत में सांस्कृतिक समन्वय को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने भारतीय रीति-रिवाजों, वेशभूषा और धार्मिक परंपराओं को अपनाया, जबकि अपने हेलनिस्टिक पहचान के कुछ पहलुओं को भी संजोए रखा। इस संस्कृति-संयोग ने उत्तर-पश्चिम भारत, विशेषत: शहरी क्षेत्रों में, एक अधिक उदार और बहुसांस्कृतिक समाज के निर्माण में योगदान दिया।

भारतीय यवनों ने भारतीय संस्कृति में एक अमिट छाप छोड़ी। उनके प्रभाव कला, धर्म, मुद्राशास्त्र और विज्ञान जैसे क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। उन्होंने जो सांस्कृतिक समन्वय उत्पन्न किया, उसने भारतीय सभ्यता के विकास में एक सशक्त भूमिका निभाई। इंडो-यवनों का उदाहरण यह दर्शाता है कि विभिन्न संस्कृतियों के परस्पर संपर्क से कैसे समृद्ध और चिरस्थायी परंपराएँ जन्म ले सकती हैं।

5 अंक के प्रश्न-

1. मेनांडर कौन था?
2. इंडो-ग्रीक किसे कहते हैं?
3. मिलिंदपन्हो का महत्व लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. भारत पर यवन आक्रमणों का वर्णन कीजिए।
2. भारतीय संस्ख्रति पर यूनानी प्रभाव स्पष्ट कीजिए।
3. मेनांडर की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।

MCQ

1. मिलिंदपन्हो किससे संबंधित है?

(A) **मेनांडर**
(B) अशोक
(C) कनिष्क
(D) समुद्रगुप्त

उत्तर (A)

2. यवन शब्द का प्रयोग किसके लिए होता था?

(A) **यूनानी**
(B) शक
(C) हूण
(D) कुषाण

उत्तर (A)

महत्वपूर्ण बिंदु-

- यवनों का भारत पर सांस्ख्रतिक प्रभाव पडा।
- मेनांडर बौध धार्म से प्रभावित था।

शब्दावली-

- यवन - यूनानी
- मिलिंदपन्हो - बौध ग्रंथ

इकाई-2.2 शक क्षत्रपों का राजनैतिक इतिहास

उद्देश्य-

1. शक क्षत्रपों के शासन को समझना।
2. रुद्रदामन की उपलब्धियों का अधययन करना।
3. शक संस्ख्रति का विश्लेषण करना।

यूरेशिया के विस्तृत मैदानों में, जहाँ कभी हरे-भरे चारागाह लहराते थे, वहां ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी आते-आते शुष्क हवाओं ने दस्तक देना शुरू कर दिया। यह प्राकृतिक परिवर्तन केवल वातावरण तक सीमित नहीं था, बल्कि उसने घुमंतू जनजातियों के जीवन को जड़ों तक झकझोर दिया। बारिश में गिरावट और जलस्रोतों के सिकुड़ने से पशुपालन कठिन होने लगा। शक, जो कि एक स्वतंत्र और चरागाहों पर आधारित जीवन जीते थे, अब जीवन के लिए नए भूभागों की तलाश में निकल पड़े। शकों का विस्थापन एक गहन सामाजिक तरंग का हिस्सा था जिसे इतिहासकार जनजातीय तरंग सि)ांत कहते हैं। इसका अर्थ है एक जनजाति यदि दबाव में आती है, तो वह दूसरी जनजातियों को विस्थापित करती है, और यह प्रक्रिया लहरों की तरह ैलती जाती है। जब युएची नामक जनजाति ने शकों के मूल क्षेत्रों पर आक्रमण किया, तब शकों को पश्चिम-दक्षिण की ओर भागना पड़ा। यह विस्थापन श्रंखला उन्हें पार्थिया, सोग्दियाना, और अंतत: भारत की सीमाओं तक ले आया। यह परिवर्तन अनियोजित नहीं था, बल्कि एक पारिस्थितिकीय और सामाजिक दबाव की सतत प्रक्रिया थी जैसे नदी को बाधा मिलने पर वह नये मार्ग बना लेती है।

शकों का मूल निवास क्षेत्र आधुनिक कजाखस्तान, उज्बेकिस्तान, और दक्षिणी रूस के उन विस्तृत मैदानों में था जहाँ से प्राचीन विश्व की अनेक शक्तिशाली जनजातियाँ उभरीं। वे कुशल घुड़सवार, धनुर्धारी, और रथचालक थे। इनकी समाज संरचना कबीलाई थी, जिसमें परिवार, गोत्र और मुखिया की विशेष भूमिका होती थी। उनकी पहचान विविध स्रोतों में विभिन्न नामों से हुई चीनी ग्रंथों में सी, ईरानी परंपरा में सका और भारतीय परंपरा में शक। यह विविध पहचान इस बात का प्रमाण है कि शकों की गति सीमाओं से परे थी वे एक बहु-सांस्कृतिक लहर थे।

भारत की ओर यात्रा-

विस्थापन के बाद शकों ने चार प्रमुख चरणों में भारत की ओर कूच किया। पहले वे बैक्ट्रिया पहुँचे, जहाँ पहले से ग्रीक मूल के यवन शासक शासन कर रहे थे। वहाँ से वे धीरे-धीरे सिंधु घाटी, गांधार, और काबुल क्षेत्र की ओर बढ़े। इसके बाद वे मथुरा और मालवा की ओर अग्रसर हुए। यह केवल भूगोल की यात्रा नहीं थी, यह संस्कृतियों, भाषाओं और धर्मों के समागम की यात्रा थी।

भारत में शकों का शासन-

तक्षशिला के प्रमुख शक शासक

1. माओस (मोगा)-

माओस का शासन काल लगभग 85-60 ईसा पूर्व था इनकी उपाधि राजातिराज महाशक माओस थी। यह पहले प्रमुख शक सम्राट माने जाते हैं, जिन्होंने इंडो-यूनानी शासन को हटाकर गांधार और तक्षशिला क्षेत्र पर अधिकार स्थापित किया।

उपलब्धियाँ-

उनके सिक्के ग्रीक और खरोष्ठी भाषा में मिलते हैं। सिक्कों पर बुद्ध स्तूप, हाथी, जीउस और नाइक जैसे प्रतीक मिलते हैं। उन्हें 'राजातिराज माओस' कहा गया है। बौद्ध प्रतीकों की उपस्थिति उनके बौद्ध धर्म के प्रति समर्थन को दर्शाती है। भारत में

शक सत्ता की शुरुआत का प्रतीक। भारतीय, यूनानी और ईरानी परंपराओं का सामंजस्य स्थापित किया।

सांस्कृतिक प्रभाव

1. धार्मिक समन्वय-

शक शासक बौद्ध धर्म के समर्थक थे, परंतु उन्होंने हिंदू व यूनानी धर्मों का भी सम्मान किया। विहारों को भूमि दान, स्तूप निर्माण, और बौद्ध प्रतीकों का उपयोग व्यापक था।

2. गांधार कला का विकास-

तक्षशिला में शक शासन के दौरान ग्रीक-बौद्ध (Greco & Buddhist) कला शैली का विकास हुआ। सिरकप, धर्मराजिका, और जौलियन मठ जैसे स्थल इस शैली के प्रमाण हैं।

3. शिक्षा और ज्ञान केंद्र-

तक्षशिला विश्वविद्यालय, शक काल में भी, ज्ञान, चिकित्सा और दर्शन का केंद्र बना रहा। तक्षशिला के शक शासक, केवल आक्रमणकारी नहीं थे वे संस्कृति और ज्ञान के संवाहक भी थे। उन्होंने एक ऐसे समाज की रचना की, जहाँ ईरानी, यूनानी और भारतीय परंपराएँ साथ मिलकर फली-फूलीं। उनके शासन में तक्षशिला बना धार्मिक सहिष्णुता, कलात्मक नवाचार और प्रशासनिक संगठान का जीवंत उदाहरण। शकों ने एक ऐसा बीज बोया, जो आगे चलकर कुषाणों और गुप्तों के स्वर्णयुग में पूर्ण रूप से फला-फूला।

मथुरा के शक क्षत्रप-

राजुवुल मथुरा का महाक्षत्रप-

राजुवुल प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के उत्तरार्ध में मथुरा क्षेत्र का एक शक्तिशाली महाक्षत्रप था, जिसे शक शासकों के मथुरा में अधिकार स्थापित करने का श्रेय दिया जाता है। इतिहासकारों का मानना है कि उसने अंतिम इंडो-यूनानी राजा स्ट्रैटो को पराजित कर मथुरा में अपनी सत्ता स्थापित की। राजुवुल की जानकारी हमें मुख्यत: मथुरा सिंहस्तंभ अभिलेख से प्राप्त होती है, जिसे उसकी रानी नदसी कासा ने स्थापित कराया था। यह स्तंभ एक बौद्ध स्तूप के शिखर पर स्थित था और इसमें राजुवुल की वंशावली, दान, और बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

इस अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि राजुवुल, पतिका कुसुलक का पुत्र था, और उसने 'महाक्षत्रप' की उपाधि धारण की थी, जो दर्शाता है कि वह एक स्वतंत्र या अर्ध-स्वतंत्र शासक था। उसके सिक्कों पर बौद्ध प्रतीकों के साथ-साथ भारतीय देवी-देवताओं के चित्र, जैसे लक्ष्मी, त्रिरत्न, और सिंह आदि मिलते हैं, जो उसकी धार्मिक सहिष्णुता और सांस्कृतिक समन्वय को दर्शाते हैं। राजुवुल की शासन नीति में यूनानी, भारतीय और शक परंपराओं का मिश्रण स्पष्ट दिखाई देता है। मथुरा को उसने न केवल प्रशासनिक दृष्टि से सुदृढ़ बनाया, बल्कि इसे एक बौद्ध सांस्कृतिक केंद्र के रूप में भी स्थापित किया।

सोडास मथुरा का क्षेत्रीय क्षत्रप-

सोडास, राजुवुल का पुत्र था और उसका उत्तराधिकारी बना। उसने संभवत: ईस्वी 15 के आसपास मथुरा पर शासन किया। अपने पिता की तरह, वह भी शक वंश से संबंधित था, किंतु वह क्षत्रप के पद पर रहा, जिससे यह संकेत मिलता है कि उसके समय में शक्ति का केंद्रीकरण संभवत: कुछ हद तक कम हुआ था। सोडास का शासनकाल विशेष रूप से मथुरा की कला और स्थापत्य के विकास के लिए जाना जाता है। उसकी जानकारी हमें कंकाली टीला और मिर्जापुर अभिलेख जैसे पुरातात्विक स्थलों से मिलती है।

सोडास के सिक्के और अभिलेख यह दिखाते हैं कि वह भी बौद्ध धर्म के प्रति सहानुभूति रखता था, परंतु साथ ही उसने हिंदू

प्रतीकों को भी अपने प्रशासन और मुद्रा प्रणाली में स्थान दिया। उसके सिक्कों पर लक्ष्मी, धर्म चक्र, और शाही पोशाक में राजा की मूर्तियाँ देखी जाती हैं, जो उसके शासन के वैभव और सांस्कृतिक दृष्टिकोण को उजागर करती हैं। इसके शासनकाल में मथुरा एक बहु-धार्मिक, बहु-सांस्कृतिक नगरी के रूप में विकसित हुआ।

राजुवुल और सोडास दोनों ने मथुरा में शक शासन को न केवल राजनीतिक दृष्टि से स्थिर किया, बल्कि इस क्षेत्र को धार्मिक सहिष्णुता, कलात्मक अभिव्यक्ति और प्रशासनिक सुदृढ़ता का एक आदर्श केंद्र भी बनाया। उनकी शासन नीति में जहां भारतीय परंपराओं को सम्मान मिला, वहीं शक और यूनानी प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई देते हैं। मथुरा में बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान, स्थापत्य कला के उत्कर्ष और सिक्कों की विविधता, इन दोनों शासकों की दूरदर्शिता और सांस्कृतिक सूझबूझ का प्रमाण हैं। उनका योगदान न केवल मथुरा के इतिहास में बल्कि सम्पूर्ण उत्तर भारत के सांस्कृतिक विकास में भी एक महत्वपूर्ण अधयाय के रूप में दर्ज है।

पश्चिमी शक क्षत्रप

क्षहरात वंश-

पश्चिमी शक शासकों का पहला प्रमुख वंश था क्षहरात वंश। इस वंश के राजा नहपाना ने लगभग 78 से 125 ईस्वी तक शासन किया।

नहपान-

एक शक क्षत्रप की ऐतिहासिक छाया और समुद्रपारीय समृ) की गाथा। जिस समय भारतवर्ष की ध रती पर राजनीतिक उथल-पुथल की धूप-छांव पसरी हुई थी, उस समय एक विदेशी मूल का शासक, नहप. ान, पश्चिमी भारत के आकाश पर उगता हुआ एक ऐसा तारा था, जिसने न केवल शक्ति और संगठन का परिचय दिया, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक ताने-बाने में खुद को रचनात्मक रूप से पिरो दिया। शक क्षत्रपों के क्षहरात शाखा से संबंधित यह नायक प्रथम शताब्दी के अंतिम और द्वितीय शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में पश्चिमी भारत के व्यापारिक और राजनीतिक क्षितिज पर अपनी प्रभुता स्थापित करता है। इतिहासकारों के अनुसार नहपान का शासनकाल लगभग 119 ई. से 124 ई. के मधय माना जाता है। नहपान, भारत में शक (स्किथियन) वंश के सबसे प्रमुख शासकों में से एक था। वह पश्चिमी क्षत्रपों (जिसे क्षहरात वंश भी कहा जाता है) से संबंधित था, जो प्रारंभिक ईस्वी शताब्दियों में पश्चिमी और मधय भारत के कुछ भागों पर शासन करने वाले इंडो-स्किथियन समुदाय की एक शाखा थी। यह काल शक शासन के प्रशासनिक एकीकरण, सैन्य विस्तार और आर्थिक समृद्धि का प्रतीक है। नहपान के शासनकाल की जानकारी मुख्यतः शिलालेखों और उन क्षेत्रों में प्राप्त बड़ी संख्या में सिक्कों से मिलती है जो उसके अधीन थे।

राजनीतिक एवं सैन्य उपलब्धियाँ-

नहपान ने स्वयं को एक सशक्त और महत्त्वाकांक्षी शासक सिद्ध किया, जिसने भारत में शक क्षेत्र का उल्लेखनीय विस्तार किया। जब सातवाहन साम्राज्य का प्रभाव कम हो रहा था, तब नहपान ने इस परिस्थिति का लाभ उठाकर दक्षिण और पश्चिम भारत के बड़े भूभाग पर अपना अधिकार स्थापित किया।

क्षेत्रीय विस्तार-

नहपान के नेतृत्व में शक शासन जिन क्षेत्रों तक ैला, वे थे- महाराष्ट्र, गुजरात, मालवा, कोंकण तट, उत्तरी कर्नाटक, शिलालेखीय और मुद्रात्मक साक्ष्यों से स्पष्ट है कि नहपान ने इन क्षेत्रों पर विजय प्राप्त कर या रणनीतिक संधियों के माधयम से शासन स्थापित किया।

सातवाहनों से संघर्ष-

नहपान की सबसे उल्लेखनीय सैन्य उपलब्धियों में शक्तिशाली सातवाहन वंश के साथ संघर्ष शामिल है। उसने सातवाहन नरेश सातकर्णि द्वितीय को पराजित किया और उन क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया जो पहले सातवाहनों के अधीन थे, जिनमें भारत के पश्चिमी तट के कई महत्त्वपूर्ण व्यापारिक एवं शहरी केंद्र सम्मिलित थे। हालाँकि यह प्रभ. ुत्व स्थायी नहीं रहा। बाद में सातवाहन सम्राट गौतमीपुत्र सातकर्णि ने इन क्षेत्रों को पुनः जीत लिया और नहपान की शक्ति का अंत कर दिया। परन्तु इससे पहले नहपान की सैन्य विजय ने पश्चिम भारत में शक शक्ति को अस्थायी रूप से सर्वोच्च बना दिया था। आर्थिक समृद्धि और मुद्रात्मक योगदान

उच्च गुणवत्ता वाले सिक्कों की शुरुआत-

नहपान ने विभिन्न मूल्यवर्गों में बड़ी संख्या में चांदी और तांबे के सिक्के जारी किए। ये सिक्के न केवल उच्च कलात्मक और धातुशिल्प गुणवत्ता के थे, बल्कि पूरे पश्चिमी और मधय भारत में व्यापक रूप से प्रचलित भी थे।

द्विभाषीय अभिलेख-

सिक्कों पर एक ओर यूनानी भाषा और दूसरी ओर ब्राह्मी या खरोष्ठी लिपि में अभिलेख अंकित होते थे, जो इंडो-यूनानी प्रभाव और बहुसांस्कृतिक नीति को दर्शाते हैं।

प्रतीकात्मकतस-

इन सिक्कों पर शासक का चित्र तथा वज्र जैसे चिन्ह या पशु आकृतियाँ अंकित थीं, जो शक्ति और दैवी समर्थन के प्रतीक माने जाते थे। यह उन्नत सिक्का प्रणाली साम्राज्य के भीतर और रोमन साम्राज्य जैसे विदेशी व्यापारिक साझेदारों के साथ वाणिज्य को सुविधाजनक बनाने में अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुई।

व्यापार और आर्थिक समन्वय-

नहपान ने अंतर्देशीय एवं समुद्री व्यापार को प्रोत्साहन दिया। उसके शासन क्षेत्र में प्रमुख बंदरगाह और व्यापारिक मार्ग सम्मिलित थे जो भारत को पश्चिमी संसार से जोड़ते थे। कोंकण तट के प्रमुख बंदरगाह जैसे सोपारा और भरुच ने समुद्री व्यापार को बढ़ावा दिया। यूनानी यात्रा विवरण पेरिप्लस ऑफ द एरिथ्रियन सी में उस काल के रोमन-भारतीय व्यापार की समृद्धि का उल्लेख है। इन प्रयासों के माधयम से नहपान ने अपने राज्य की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ किया।

प्रशासनिक संरचना और संगठन-

नहपान की शासन प्रणाली एक सुव्यवस्थित प्रशासनिक ढांचे पर आधारित थी। उसके अधीनस्थ सामंत जैसे उशभदत्त स्थानीय स्तर पर दान और निर्माण कार्य करते थे, जो शासन में विकेन्द्रित शक्ति-संरचना की पुष्टि करते हैं। इन सामंतों को भूमि कर वसूलने, बौद्ध संघों को अनुदान देने और जलसंरचनाएं बनवाने का अधिकार प्राप्त था। इससे यह स्पष्ट होता है कि नहपान के शासन में प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण और आर्थिक जिम्मेदारियों का न्यायपूर्ण वितरण था।

निर्माण कार्य-

नहपान के शिलालेखों में उल्लेख है कि उसके शासनकाल में सड़कों और गुफा मठों की मरम्मत एवं निर्माण कराया गया, विशेषकर नासिक में यात्रियों और भिक्षुओं के लिए जलाशयों और विश्राम स्थलों का निर्माण कराया गया। ये कार्य उसकी जनकल्याण ाकारी नीतियों और धार्मिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति उसकी सजगता को दर्शाते हैं।

समुद्री व्यापार और रोमन संपर्क-

नहपान के काल में पश्चिमी भारत का समुद्रतटीय क्षेत्र विशेष रूप से भड़ौच, सोपारा और कल्याण अंतरराष्ट्रीय व्यापार के केंद्र बन चुके थे। ग्रीक-रोमन यात्रा वृत्तांतों में उल्लेख है कि नहपान के नियंत्रण वाले क्षेत्र व्यापार के लिए प्रसिद्ध थे और रोमन व्यापारियों के लिए विशेष रूप से आकर्षण के केंद्र थे। यहां से काली मिर्च, मोती, कपास, मणि-माणिक्य, तथा हाथी-दाँत जैसी वस्तुएँ निर्यात की जाती थीं। भारत में प्राप्त रोमन स्वर्ण मुद्राओं की भरमार भी इस व्यापारिक समृद्धि की साक्षी है।

धार्मिक एवं सांस्कृतिक योगदान-

बौद्ध धर्म का संरक्षण-

विदेशी मूल का होने के बावजूद नहपान ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाई और स्थानीय धार्मिक संस्थाओं को उदार दान प्रदान किया। उसका जामाता उषवदात्त, बौद्ध भिक्षुओं को दान देने और नासिक एवं कार्ले की गुफाओं के निर्माण में योगदान देने के लिए प्रसिद्ध है। नासिक गुफा शिलालेखों में नहपान के परिवार द्व ारा किए गए दान जैसे विहार, जलकुंड, भोजनालय आदि का उल्लेख है। यह दर्शाता है कि शक शासक भारतीय धार्मिक परंपराओं के संरक्षक बन चुके थे और भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक ताने-बाने में सम्मिलित हो गए थे।

सांस्कृतिक समन्वय-

नहपान द्वारा भारतीय भाषाओं का प्रयोग, भारतीय धार्मिक रीति-रिवाजों को अपनाना और स्थानीय परंपराओं को समर्थन देना, इस बात का प्रमाण है कि उसने सांस्कृतिक आत्मसात की नीति अपनाई थी। स्किथियन मूल के होते हुए भी नहपान का शासन भारत की संस्कृति में गहराई से समाहित हो गया था।

नहपान की उपलब्धियाँ भारतीय राजनीति, संस्कृति और अर्थव्यवस्था पर दूरगामी प्रभाव छोड़ने वाली थीं। गौतमीपुत्र सातकर्णि द्वारा उस पर विजय का उल्लेख नासिक शिलालेख में एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में दर्ज है, जिससे नहपान की पूर्व शक्ति का अनुमान लगता है। उसके द्वारा जारी सिक्कों ने बाद के भारतीय सिक्का शास्त्र पर स्थायी प्रभाव डाला। नहपान ने भारत के पश्चिमी क्षेत्रों को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए खोलने और प्रारंभिक मधयकालीन भारतीय संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। हालाँकि वह अंततः पराजित हुआ, फिर भी उसके प्रशासनिक ढाँचे, मुद्रात्मक नवाचारों और सांस्कृतिक योगदानों ने एक विशिष्ट ऐतिहासिक युग की नींव रखी।

नहपान, शक क्षत्रप, प्राचीन भारतीय इतिहास के सबसे प्रभावशाली विदेशी मूल के शासकों में से एक था। उसका शासनकाल निम्नलिखित विशेषताओं से चिह्नित है- सैन्य विस्तार और दक्कन क्षेत्र पर अस्थायी प्रभुत्व, व्यापार और उन्नत सिक्कों के माधयम से आर्थिक समृद्धि, प्रशासनिक सुधार और लोकहितकारी योजनाएँ, धार्मिक सहिष्णुता और बौद्ध धर्म का समर्थन, सांस्कृतिक आत्मसात जिसने भारतीय समाज को समृद्ध किया। उसकी उपलब्धियाँ इंडो-स्किथियन शासकों की गतिशीलता और भारतीय संस्कृति को अपनाने की क्षमता को दर्शाती हैं। भले ही नहपान को अंततः पराजय मिली, परंतु उसकी नीतियों और कार्यों ने भारतीय इतिहास की दिशा और स्वरूप को स्थायी रूप से प्रभावित किया।

कार्दमक वंश-

'कार्दमक' शब्द इस वंश के संस्थापक चष्टन और उसके वंशजों द्वारा प्रयुक्त उपाधियों एवं शिलालेखीय प्रमाणों में प्राप्त होता है। इस शब्द की उत्पत्ति शायद किसी प्राचीन पारिवारिक अथवा गोत्र नाम से हुई थी। यद्यपि मूल रूप से शक जाति के थे, लेकिन कार्दमक शासकों ने भारतीय परंपराओं को आत्मसात किया और ब्राह्मी लिपि तथा संस्कृत के प्रयोग को प्रोत्साहन दिया।

कार्दमक वंश की राजनीतिक राजधानी-

कार्दमक वंश की राजधानी संभवतः उज्जैन थी, जिसे उन्होंने प्रशासनिक, व्यापारिक और सांस्कृतिक केंद्र के रूप में विक.

सित किया। उज्जैन की स्थिति उनके लिए अत्यंत अनुकूल थी यह न केवल व्यापार मार्गों के संगम पर स्थित था, बल्कि धार्मिक दृष्टि से भी पवित्र माना जाता था।

महत्वपूर्ण शासकगण

चष्टन-

जब भारतीय उपमहाद्वीप विदेशी आक्रमणों की लहरों से गुजर रहा था, तब पश्चिम भारत में एक नया सूर्य उदित हो रहा था यह सूर्य था चष्टन, जिसने न केवल राजनीतिक स्थायित्व की नींव रखी, बल्कि भारतीय संस्कृति के साथ विदेशी परंपराओं का अद्वितीय समन्वय भी प्रस्तुत किया। चष्टन प्रथम शताब्दी के अंतिम चरण में पश्चिमी क्षत्रपों की कार्दमक शाखा का संस्थापक था। उसका शासनकाल लगभग 78 ई. में प्रारंभ हुआ संयोग से यही वह वर्ष है जिससे शक संवत की गणना शुरू होती है, जिसे कुछ इतिहासकार चष्टन के प्रभाव से जुड़ा मानते हैं। चष्टन की राजधानी थी उज्जैन, जो न केवल एक धार्मिक तीर्थ था, बल्कि व्यापार और भू-राजनीति की दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण केंद्र रहा। उज्जैन को केंद्र बनाकर चष्टन ने एक सुव्यवस्थित प्रशासनिक तंत्र की रचना की। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखें तो चष्टन का शासनकाल एक संक्रमण काल था, जिसमें मधय एशियाई मूल के शासक धीरे-धीरे भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था में समाहित हो रहे थे।

चष्टन का प्रमुख ऐतिहासिक प्रमाण उसके द्वारा जारी द्विभाषीय चाँदी की मुद्राओं में मिलता है। इन मुद्राओं पर एक ओर यूनानी (ग्रीक) लिपि और दूसरी ओर ब्राह्मी लिपि में उसका नाम और उपाधि अंकित है महाक्षत्रप चष्टन। यह मात्र भाषायी प्रयोग नहीं था, बल्कि यह दर्शाता है कि चष्टन ने पश्चिमी (ग्रीको-ईरानी) परंपराओं को भारतीय शासन प्रणाली के साथ वैज्ञानिक रूप से मिश्रित किया। यह एक ऐसी प्रशासनिक रणनीति थी, जो जनसमर्थन और व्यापारिक संचार के लिए आवश्यक थी।

भूगोलवेत्ता टॉलमी ने अपनी पुस्तक Geographia में चष्टन का उल्लेख 'Tiasthenes' नाम से किया है, और उसे उज्जैन का शासक बताया है। यह उल्लेख न केवल चष्टन की ऐतिहासिकता की पुष्टि करता है, बल्कि यह भी प्रमाणित करता है कि उस समय पश्चिमी भारत अंतरराष्ट्रीय मानचित्र पर उपस्थित था। पश्चिमी भारत के बंदरगाहों जैसे भड़ौच से रोमन साम्राज्य तक सक्रिय व्यापार चल रहा था, और चष्टन उस व्यापारिक सेतु का एक सशक्त स्तंभ था।

चष्टन स्वयं भले ही युद्धप्रिय न रहा हो, लेकिन उसने भविष्य की सुदृढ़ क्षत्रप सत्ता की नींव रखी। उसके बाद के शासक, विशेषकर रुद्रदामन ने सातवाहनों के विरुद्ध विजयी अभियानों द्वारा इस शासन को स्थायित्व प्रदान किया। परंतु यह चष्टन ही था जिसने उज्जैन को सत्ता, संस्कृति और विज्ञान के संगमस्थल के रूप में स्थापित किया।

चष्टन की ऐतिहासिक उपस्थिति हमें यह सिखाती है कि शासन केवल तलवार की धार से नहीं, अपितु सांस्कृतिक समझदारी, भाषायी अनुकूलन, और वैज्ञानिक रूप से संगठित प्रशासन के बल पर भी किया जा सकता है। उसके सिक्कों पर अंकित प्रतीक सूर्य, त्रिशूल, शेर इस बात के साक्षी हैं कि चष्टन ने अपनी विदेशी जड़ों को मिटाए बिना भारतीयता की मिटी में खुद को रोप दिया। वह एक ऐसा शासक था जो संस्कृति का सेतु, वाणिज्य का संरक्षक, और राजनीतिक अनुकूलन का वैज्ञानिक उदाहरण बना।

रुद्रदामन प्रथम- शक सत्ता का सांस्कृतिक और राजनीतिक उत्कर्ष

शक क्षत्रपों की कार्दमक शाखा के इतिहास में रुद्रदामन प्रथम को एक अत्यंत शक्तिशाली और दूरदर्शी शासक के रूप में याद किया जाता है। लगभग 130 से 150 ईस्वी तक उन्होंने पश्चिमी भारत में न केवल राजनीतिक एकता स्थापित की, बल्कि संस्कृति, भाषा और प्रशासन के क्षेत्र में भी गहरी छाप छोड़ी। वे चष्टन के पौत्र और जयदामन के पुत्र थे, और उनके शासनकाल को क्षत्रप शासन का स्वर्णयुग माना जाता है।

रुद्रदामन की राजधानी उज्जैन थी, जिसे उन्होंने एक सुदृढ़ प्रशासनिक और सांस्कृतिक केंद्र में परिवर्तित किया। उन्होंने अपने शासन क्षेत्र में मालवा, सौराष्ट्र, कच्छ और उत्तर महाराष्ट्र जैसे भूभागों को संगठित करते हुए एक मजबूत राज्य प्रणाली खड़ी की। उनकी नीतियाँ इस बात की गवाही देती हैं कि वे केवल विजेता नहीं, बल्कि विवेकशील शासक भी थे। सातवाहन राजा वसिष्ठीपुत्र पुलुमावी पर विजय प्राप्त करने के बाद, उन्होंने युद्ध के स्थान पर वैवाहिक संबंध स्थापित कर राजनीतिक संतुलन का मार्ग अपनाया। उनके व्यक्तित्व की सबसे स्पष्ट झलक मिलती है गिरनार शिलालेख में, जिसे उन्होंने संस्कृत गद्य में खुदवाया था और यही शिलालेख संस्कृत में पहला शासकीय गद्य लेख माना जाता है। इस लेख में रुद्रदामन न केवल अपने सैन्य और प्रशासनिक कार्यों का उल्लेख करते हैं, बल्कि यह भी बताते हैं कि उन्होंने बिना किसी कर या श्रम-दान के, सुदर्शन झील की पुनर्निर्मिति करवाई, जो प्राचीन जलप्रबंधन के अद्‌भुत उदाहरणों में से एक है।

रुद्रदामन की सबसे बड़ी विशेषता थी उनका संस्कृत के प्रति प्रेम और साहित्यिक अभिरुचि। जबकि उस काल में प्राकृत शासकीय भाषा के रूप में प्रचलित थी, उन्होंने संस्कृत को शासकीय संप्रेषण में स्थान देकर भारतीय भाषा-परंपरा में क्रांतिकारी परिवर्तन किया। वे स्वयं वेदों, न्याय, व्याकरण, गणित, संगीत और नाटङशास्त्र में पारंगत थे, और यह उन्हें एक विद्वान-राजा के रूप में प्रस्तुत करता है।

धार्मिक दृष्टिकोण से, यद्यपि रुद्रदामन वैदिक परंपरा से जुड़े हुए थे, परंतु उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता को अपनाया। उनके शासनकाल में बौद्धों और जैनों को भी संरक्षण प्राप्त था। गिरनार क्षेत्र के धार्मिक स्थल इस समन्वय की जीवित मिसाल हैं।

उनके शासनकाल की मुद्राएं, विशेष रूप से चाँदी की, अपने समय की आर्थिक समृद्धि और राज्य की सुदृढ़ता का प्रमाण देती हैं। इन पर अंकित यूनानी और ब्राह्मी लिपियाँ स्पष्ट करती हैं कि रुद्रदामन की सत्ता बहुपरंपरागत थी जहाँ विदेशी और देशी तत्वों का सुंदर समावेश देखने को मिलता है।

राजनीतिक दृष्टि से वे कुशल रणनीतिकार थे, जिन्होंने युद्ध केवल शक्ति प्रदर्शन के लिए नहीं, बल्कि राज्य को स्थायित्व प्रदान करने हेतु किया। उनके प्रशासन में अनुशासन, व्यवस्था, और जनहितकारी नीतियाँ स्पष्ट थीं। जलसंरक्षण से लेकर भाषा नीति तक, उन्होंने हर क्षेत्र में दूरदृष्टि का परिचय दिया।

इस प्रकार, रुद्रदामन केवल एक विजेता राजा नहीं थे, वे एक सांस्कृतिक क्रांतिकारी, एक प्रशासकीय नवोन्मेषक और एक भाषिक शिल्पकार भी थे। उन्होंने शक सत्ता को एक विदेशी शासन से उठाकर भारतीय संस्कृति का अंग बना दिया, और यही उनकी सबसे बड़ी ऐतिहासिक उपलब्धि थी।

पश्चिमी शकों का अंत और गुप्त साम्राज्य का उदय-

लगभग चौथी सदी के अंत तक, पश्चिमी शकों की शक्ति कमजोर होने लगी। नई राजनीतिक शक्तियाँ, विशेषकर गुप्त साम्राज्य, पश्चिमी भारत में उभरने लगीं। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने लगभग 395 ईस्वी में पश्चिमी शकों के अंतिम शासक रुद्रसिंह तृतीय को परास्त किया और इस प्रकार पश्चिमी शकों का अंत हुआ। इस विजय ने भारतीय उपमहाद्वीप में एक नई राजनी. तिक और सांस्कृतिक युग की शुरुआत की। गुप्तों ने शकों से कई प्रशासनिक, आर्थिक और सांस्कृतिक तत्व ग्रहण किए, जिन्होंने भारतीय सभ्यता को नई ऊँचाइयों पर पहुंचाया।

पश्चिमी शक शासक भारत के इतिहास में एक मिलन स्थल थे जहाँ विदेशी और भारतीय संस्कृतियों का संगम हुआ। वे एक ओर मधय एशिया की वीर परंपराओं के वाहक थे, तो दूसरी ओर उन्होंने भारतीय सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन को अपनाकर एक नई भारतीय पहचान गढ़ी। उनके सिक्के, अभिलेख, मंदिर और जलप्रबंध आज भी भारतीय इतिहास के महत्वपूण

ि अधयाय हैं। पश्चिमी शकों का शासन भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास में न केवल विदेशी आक्रमण के रूप में दर्ज है, बल्कि एक संस्कृति-समन्वय की अद्‌भुत मिसाल के रूप में भी प्रतिष्ठित है।

उनका इतिहास यह भी सिखाता है कि कितनी भी बाहरी ताकतें क्यों न आएं, यदि वे स्थानीय संस्कृति और धर्मों के साथ तालमेल बैठा लें तो वे न केवल सत्ता स्थापित कर सकते हैं, बल्कि दीर्घकालिक सांस्कृतिक विरासत भी छोड़ सकते हैं। यही पश्चिमी शकों की महानता है कि वे एक अनजान प्रवासी से इतिहास के एक चमकते सितारे तक का सफर तय कर गए।

5 अंक के प्रश्न-

1. रुद्रदामन कौन था?
2. जूनागढ अभिलेख का महत्व लिखिए।
3. शक क्षत्रपों की प्रशासनिक व्यवस्था बताइए।

15 अंक के प्रश्न-

1. शक क्षत्रपों की राजनीतिक उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।
2. रुद्रदामन के शासन का मूल्यांकन कीजिए।
3. शक कालीन संस्ख्रति पर निबंधा लिखिए।

MCQ

1. जूनागढ अभिलेख किसका है?

(A) **रुद्रदामन**

(B) अशोक

(C) कनिष्क

(D) समुद्रगुप्त

उत्तर (A)

महत्वपूर्ण बिंदु-

- रुद्रदामन महान शक शासक था।
- संस्ख्रत भाषा को संरक्षण मिला।

शब्दावली-

- क्षत्रप - प्रांतीय शासक
- अभिलेख - शिलालेख

इकाई-2.3 पहलव वंश

उद्देश्य-

1. पहलवों के आगमन को समझना।
2. पहलव शासन का अधययन करना।
3. भारतीय राजनीति में उनकी भूमिका का विश्लेषण करना।

पहलव वंश को इंडो-पार्थियन साम्राज्य के नाम से भी जाना जाता है। प्राचीन भारत के इतिहास में एक महत्वपूर्ण अधयाय है। इस वंश की स्थापना गोंडोफेर्नीज ने की थी, जो प्रथम शताब्दी ईस्वी में एक प्रभावशाली शासक थे। उनका शासनकाल लगभग 19 से 46 ईस्वी तक माना जाता है। गोंडोफेर्नीज ने पार्थियन साम्राज्य से स्वतंत्रता प्राप्त कर एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की, जिसका विस्तार आधुनिक अफगानिस्तान, पाकिस्तान और उत्तर-पश्चिमी भारत तक था।

पहलव वंश का परिचय-

पहलव वंश की उत्पत्ति पार्थियन साम्राज्य से हुई थी, जो ईरान के उत्तर-पूर्वी भाग में स्थित था। गोंडोफेर्नीज, जो संभवतः सुरेन परिवार के सदस्य थे, ने पार्थियन शासन से स्वतंत्र होकर एक नए साम्राज्य की नींव रखी। उनका साम्राज्य ड्रैंगियाना, अराकोसिया, गांधार, सिंध, पंजाब और काबुल घाटी तक फैला हुआ था। उनकी राजधानी तक्षशिला थी, जो उस समय एक प्रमुख सांस्कृतिक और व्यापारिक केंद्र था।

गोंडोफेर्नीज की उपलब्धियाँ

1. राजनीतिक और सैन्य उपलब्धियाँ-

गोंडोफेर्नीज ने पार्थियन साम्राज्य से स्वतंत्रता प्राप्त कर एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। उन्होंने इंडो-स्किथियन राजा अजेस के बाद के क्षेत्रों पर अधिकार किया, जिससे उनका साम्राज्य पूर्वी ईरान, अफगानिस्तान और उत्तर-पश्चिमी भारत तक विस्तृत हुआ। उनका शासन एक ढीले संघ के रूप में था, जिसमें स्थानीय शासक उनकी सर्वोच्चता को स्वीकार करते थे।

2. प्रशासनिक और आर्थिक सुधार-

गोंडोफेर्नीज ने अपने सिक्कों पर राजाओं का राजा की उपाधि धारण की, जो उनकी सर्वोच्चता और स्वतंत्रता का प्रतीक थी। उनके सिक्कों पर यूनानी और खरोष्ठी लिपियों में अभिलेख होते थे, जो उस समय की बहुसांस्कृतिक नीति को दर्शाते हैं। उनका शासनकाल व्यापार और वाणिज्य के लिए अनुकूल था, जिससे सिल्क रोड के माधयम से रोमन साम्राज्य और मधय एशिया के साथ व्यापारिक संबंध स्थापित हुए।

3. सांस्कृतिक और धार्मिक योगदान-

गोंडोफेर्नीज के शासनकाल में गांधार कला का विकास हुआ, जो यूनानी और भारतीय शैलियों का सम्मिलन था। उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में भी योगदान दिया। उनके शासनकाल में बौद्धकला और स्थापत्य का विकास हुआ, जिसमें तक्षशिला और अन्य क्षेत्रों में बौद्ध मठों और स्तूपों का निर्माण शामिल है।

4. ईसाई धर्म के साथ संबंध-

गोंडोफेर्नीज का नाम गैस्पर के रूप में भी जाना जाता है, जो बाइबिल में वर्णित तीन मघियों में से एक का नाम है। कुछ स्रोतों के अनुसार, गोंडोफेर्नीज ने ईसाई धर्म स्वीकार किया था, हालांकि यह तथ्य विवादास्पद है।

गोंडोफेर्नीज और पहलव वंश ने भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा.

ई। उनका शासनकाल राजनीतिक स्वतंत्रता, सांस्कृतिक समृद्धि और धार्मिक सहिष्णुता का प्रतीक था। उनकी उपलब्धियाँ भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण अधयाय के रूप में दर्ज हैं।

5 अंक के प्रश्न–

1. पहलव कौन थे?
2. गोंडफेर्नीस का परिचय दीजिए।
3. पहलव शासन की विशेषताएँ लिखिए।

15 अंक के प्रश्न–

1. भारत में पहलवों की भूमिका का वर्णन कीजिए।
2. पहलव संस्ख्रति का अधययन कीजिए।
3. पहलवों के पतन के कारण स्पष्ट कीजिए।

MCQ

1. पहलवों का संबंधा किस क्षेत्र से था?

(A) **ईरान**

(B) चीन

(C) जापान

(D) अरब

उत्तर (A)

महत्वपूर्ण बिंदु–

- पहलवों का संबंधा पार्थिया से था।
- भारतीय संस्ख्रति पर विदेशी प्रभाव पडा।

शब्दावली–

- पार्थिया ख्र ईरानी क्षेत्र
- विदेशी ख्र बाहरी शासक

इकाई-2.4 कुषाण वंश

उद्देश्य-

1. कुषाण वंश के उदय को समझना।
2. कनिष्क की उपलब्धियों का अधययन करना।
3. बौध धार्म के विकास में कनिष्क की भूमिका का विश्लेषण करना।

कुषाणों का साम्राज्य भारतीय इतिहास में ऐसे एकमात्र साम्राज्य के रूप में प्रतिष्ठित है जिसकी सीमायें भारत के बाहर भी उसकी प्राकृतिक सीमाओं से आगे मध्य एशिया तक फैलीं। एक ओर वह ईरानी और दूसरी ओर चीनी साम्राज्य का सीधा पड़ोसी रहा। रोमक साम्राज्य से भी इसके घनिष्ट सम्बन्ध रहे जिसके फलस्वरूप आर्थिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक प्रत्येक क्षेत्र में अनेक प्रकार की गति-विधियों एवं प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ ।

परिचय-

चीनी इतिहास ग्रंथ, मुद्रासाक्ष्यों, अभिलेखों आदि के आधार पर भिन्न-भिन्न विद्वानों ने कुषाणों को तुर्क, मंगोल, ईरानी, तिब्बती या शक माना है। अधिकांश विद्वान कनिघम के सुझाव के अनुसार उन्हें स्कीथियन प्रजातीय परिवार का ही मानते हैं। स्टेन कोनोव, पोलिओ, कुवाबारा तथा कुछ अन्य विद्वान कुषाणों को यूए ए ची से पृथक मानते हैं और ताहिया क्षेत्र में उनका निवास युए: ची के वहाँ पहुंचने के पूर्व से बताते हैं। कोनोव के अनुसार कुषाण शकों की वह शाखा थे जिन्होंने यूए:ची के पूर्व बैक्ट्रिया को जीता था। पी. सी. बाग्ची का मत है कि वे ताहिया के मूल तुखार जनों की शाखा थे। चीनी ग्रन्थों चिएन-हान-शू तथा होउ-हान-शू में उल्लिखित पाँच कबीलों (ही-हो) में कुई जुंग या कुषाण को भी युए: ची परिवार का सदस्य बताया गया है। यह स्वाभाविक है कि कुषाणों के सिक्कों में शक लक्षण दिखायी देते हैं और माट से प्राप्त कुषाणों के देवकुल में शक छत्रप चष्टन की मूर्ति भी प्राप्त हुयी है। क्योंकि शकों से उनका घनिष्ट सम्बन्ध या सम्पर्क बराबर बना रहा परन्तु इससे उनका मूलत: शक ही होना प्रमाणित नहीं होता ।

प्रारम्भिक इतिहास-

युए: ची जाति पहले चीन के कान-सू प्रांत की सीमा पर बसी थी। जहां चीन की दीवार बनने के साथ ही हुंग-नु तथा बु-सुन के दबाव के बढ़ने पर उसे ताहिया (ए. के. नारायण ने बैक्ट्रिया माना है) में बसना पड़ा। 125 ई. पू. के बाद से उनका इतिहास पान-कू द्वारा लिखित चिएन-हान शू में मिलता है जिसमें 24 ई. तक की घटनाएं वर्णित हैं। इससे इनकी राजधानी किएन-ची नगर पता चलती है। इसी युए: ची की एक शाखा कुई-शुआंग या कुषाण (शेष चार हियो-मीवखन, चो. आंगमी या शुआंग-मी-चित्राल ?, ही-तुन-बमियान तथा काओ-फू काबुल में बसी थीं) चित्राल और पंजशीर के मधय स्थित थी। हा.-हान शू चीनी ग्रंथ के अनुसार कुषाणों के यवगो. (सरदार) किउ-तिज्यो-कियो ने शेष चार कबीलों को अपने अधीन कर वंग उपाधि ध ारण की। तभी से उन्हें कुषाण कहा जाने लगा।

कुजुल कदफिसिज-

हिंदुकुश के उस पार से प्राप्त सिक्कों में अंकित किउ-त्ज्यो-कियो ही कुषाण राजा कुजुल कदफिसिज या प्रथम कदफिसिज है। इसका उत्तराधिकारी इसका पुत्र (फान-ये के अनुसार) येन-काओ-चेन हुआ जिसे सिक्कों में अंकित विम या वेम कदफिसिज (द्वितीय कटफिसिज) से मिलाया जाता है। 'हो.-हानशू' में मिलता है कि कुजुल द्वारा आनसी 'कदाचित् तक्षशिला का भारतीय पहलब राज्य' पर आक्रमण किया गया और काओ-फू (काबुल) पर अधिकार किया गया। पो-ता तथा कि-पिन (काफिरिस्तान और उसके निकटस्थ पूर्वी क्षेत्र) को हराया गया। उसके पुत्र येन (विम) द्वारा तिएन-चू (भारतीय

पंजाब) जीतने और वहाँ एक गवर्नर नियुक्त करने का उल्लेख हुआ है। कोनोव ने सिरकप (तक्षशिला में) से प्राप्त एक अभिलेख में महाराजाधिराज देवपुत्र कुषाण को कुजुल माना है जिसके कुछ ऐसे सिक्के भी मिले हैं जिनमें अंतिम भारतीय-यूनानी राजा हर्मियस का नाम एक ओर अंकित है। यद्यपि रैप्सन और टार्न कुजुल और हामियस के बीच बड़ा अंतराल मानते हैं और टार्न का मत है कि कुजुल ने अपने साम्राज्य के यूनानियों का सहयोग लेने के आशय से ऐसे सिक्के चलाये होंगे। उसके सिक्कों पर हेराक्लीज की मूर्ति भी मिलती हैं और कुछ पर धर्मस्थित और सत्यधर्म स्थित उपाधियां अंकित है जो शैव और बौद्ध धर्मों के प्रति उसकी आस्था की सूचक मानी जाती हैं। साथ ही यह भी संकेतित करती हैं कि जिस क्षेत्र पर उसका शासन था उसमें यूनानी, बौद्ध, शैव आदि अनेक धर्म व संस्कृति के लोग विद्यमान थे। उसकी मृत्यु 80 वर्ष की अवस्था में हुयी ।

विम कदफिसिस-

विम ने पहलवों पर अधिकार कर भारत में अपनी सत्ता का विस्तार किया । उसके सिक्के मथुरा में बहुत मिले हैं और गाजीपुर और बिहार तक प्राप्त हुए हैं। मथुरा नगर के पास भाट नामक ग्राम से इसके नाम से अंकित एक मूर्ति मिली है जिससे मथुरा तक इसके राज्य विस्तार का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। कोनोव ने लद्दाख में लेह के पास खलास्ते से प्राप्त एक प्रस्तर अभिलेख में उत्कीर्ण पाठ का सम्बन्ध विम से स्थापित किया है जिससे कश्मीर और लछाख तक उसकी राज्य सीमा ैली मानी गयी है। स्मिथ ने वाराणसी तक उसका अधिकार माना है क्योंकि कनिष्क के राज्यकाल के प्रारम्भिक वर्षों के अभिलेख कौशाम्बी व सारनाथ से मिले हैं। उधर उत्तर पश्चिम में पाथिया की सीमा तक, जिसमें अफगानिस्तान, अगानी तुर्कीस्तान, बुखारा के समूचे प्रदेश और रूसी तुर्कीस्तान के अंश सम्मि लित है, फैली थी। विम की अनेक स्वर्ण मुद्रायें मिली हैं। सिल्क मार्ग से इसका राज्य पूरी तरह जुड़ा हुआ था। स्वर्ण सिक. कों के लिए रोमन प्रभाव में दीनार शब्द तथा रजत सिक्को के लिए यूनानी शब्द ब्रेख्म के नाम पर द्रम्म शब्द का प्रचलन इसी काल से सम्बन्धित था। विम प्रमुख रूप से शिवोपासक लगता है। उसके सिवकों के पुरोभाग पर यूनाची में बेसिलियस बेसिलियोन सोटर मेगस आइमो कदफिसस और दूसरी ओर खरोष्ठी में महरज रजदिरज विम कथफिसस या महरजस रजदिरजस सर्वलोग ईश्वरस महेश्वरस विम कथफिसस त्रतरस खुदा मिलता है।

हो-हान शू के अनुसार येन (विम) ने भारतीय प्रदेशों के लिए अपना वायसराय नियुक्त किया था जो नामविहीन लगता है और इसके केवल ताम्र सिक्के मिले हैं।

कनिष्क-

कनिष्क प्राचीन भारत के विदेशी उत्पत्ति के शासकों में महानतम् था और उसे अनायास भारत के महानतम् नरेशों में गिना जा सकता है। उसे दूरस्थ प्रदेशों में विजय प्राप्त करने का श्रेय दिया गया है और जम्बूद्वीप का नियंता बताया गया है। यद्यपि भारत में उसके एक-दो अभि-यानों की ही चर्चा मिलती है, परन्तु उसने विम द्वारा छोड़ी गयी कुषाण साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार किया और डी.सी. सरकार ने लिखा है कि कुषाण साम्राज्य के विस्तार में उसकी भूमिका कुछ वैसी ही थी जैसी बाद में मुहम्मद बिन बख्तियार खलजी की उत्तर भारत में तुर्क साम्राज्य के स्थापना के समय रही । विम के बाद वह उन कुषाण सरदारों में से एक था जो भारत में अपना भाग्य आजमा रहे थे। उसने उत्तर प्रदेश को अपना आधार बनाया और विम के बाद होने वाले संघर्ष में विजय प्राप्त करके अपनी सत्ता चारों ओर विस्तृत की । सरकार ने यह भी धयान दिलाया है कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि वह अपने राज्यारोहण के समय ही बैक्ट्रिया, अफगानिस्तान और अन्य प्रदेशों का भी स्वामी था जो बाद में उसके साम्राज्य में सम्मिलित मिलते हैं ।

कनिष्क की राजनीतिक उपलब्धियाँ-

सर्वप्रथम पूर्वी भारत पर उसके अधिकार की पुष्टि उत्तर-प्रदेश में प्राप्त उसके संवत् दो के कोसाम्बी अभिलेख, संवत् तीन के सारनाथ अभि., सम्वत् चौदह के मथुरा अभिलेख तथा सहेत-महेत (श्रावस्ती) और आजमगढ़ आदि स्थलों से प्राप्त उसकी मुद्राओं से होती है। बोगरा से प्राप्त एक सिक्के में उसकी लम्बी दाढ़ी युक्त आकृति अंकित है। उ. प्र. के पूर्व में बिहार, बंगाल और उड़ीसा आदि पर उसका अधिकार विवादग्रस्त है। धर्मपिटक सम्प्रदाय निदान के चीनी अनुवाद (472 ई.) में देवपुत्र कनिष्क द्वारा होआ चू (पाटलिपुत्र) के राजा को पराजित कर बुद्ध का एक भिक्षापात्र, अश्वघोष नामक बौद्ध आचार्य और एक दयालू चमत्कारी मुर्गा हर्जाने के रूप में प्राप्त करने का उल्लेख हुआ है। कल्पनामण्डितिका के चीनी अनुवाद में भी कनिष्क द्वारा पूर्वी भारत (सामान्यतः पूर्वी बिहार) की विजय का उल्लेख मिलता है। नेपाल में इस काल से शक संवत् का प्रचलन इसका अतिरिक्त प्रमाण है। पुनः कुषाणों के सिक्के बिहार और निकटवर्ती क्षेत्रों से मिलते हैं। वहां भी शक सम्वत् के प्रचलन का पता चलता है। परन्तु अनेक विद्वान मात्र सिक्कों की प्राप्ति और शक संवत् के प्रचलन के आधार पर बिहार और उसके पूर्व के क्षेत्रों पर उसके अधिकार को स्वीकार नहीं करते क्योंकि उसके सिक्के बंगाल, उड़ीसा और मधय प्रदेश के विलासपुर आदि जिलों से भी मिले हैं। बिहार और बंगाल से सोने व तांबे के तथा उड़ीसा से विशेषतः तांबे के सिक्के प्राप्त हुये हैं। अधिकांश सिक्के कुषाणों की नकल पर चलाये गये हैं। उड़ीसा में प्राप्त ऐसे सिक्कों को पुरी-कुषाण या उड़िया-कुषाण सिक्के कहा जाता है। ये वहां व्यापार के माधयम से भी पहुंच सकते थे। डी.सी. सरकार का मत है कि बंगाल-उड़ीसा के क्षेत्रों में उस समय की मुरूण्ड नामक जाति कुषाणों से संबंधित या उनके अधीन हो सकती थी। परन्तु आर.डी. बनर्जी यहां कुषाणों के आधिपत्य को स्वीकार नहीं करते ।

कनिष्क के राज्य का केन्द्र उत्तरी, उत्तरी-पश्चिमी व पश्चिमी भारत में स्थित या जहाँ से उसके संवत् ग्यारह का सुई विहार (बहावलपुर) अभिलेख, संवत् बठारह का मणिक्याल (रावलपिण्डी) अभिलेख और संवत् 31 का सुर्ख कोतल (उत्तरी अफगानिस्तान) अभिलेख प्राप्त हुये हैं और इनसे ताहिया तक उसके साम्राज्य की उत्तरी पश्चिमी सीमा पता बलती है। ह्वनत्सांग ने उसे कपिशा और गांधार का स्वामी बताया है और उसकी राजधानी पेशावर बतायी है। अलबरुनी भी गांधार, अफगानिस्तान आदि पर उसके आधिपत्य को सत्यापित करता है। कल्हण की राजतरंगिणी से कश्मीर पर उसकी विजय तथा आरा अभिलेख से वहाँ कनिष्कपुर नामक नगर बसाने का पता चलता है। बौद्ध परंपरा के अनुसार उसने वहां चतुर्थ बौद्ध संगीति का आयोजन करवाया जिसका उपसभा-पतित्व पाटलिपुत्र से लाये गये बौद्ध आचार्य अश्वघोष ने किया था। वहां उसने बुद्ध की अस्थियों पर स्तूप का भी निर्माण करवाया था। सिल्वल लेवी का मत है कि पेरिप्लस ऑफ द इरिथ्रियन सी द्वारा उल्लिखित सेन्देनिज वस्तुतः कनिष्क ही है जिसने भड़ोच और कल्याण पर अधिकार किया हुआ था। इसके अतिरिक्त लेवी ने चीनी ग्रन्थ हो.-हानशू में उल्लिखित छू-ली (तुंग-ली) को दक्षिण (द्रविण) भारत माना है जिसपर कनिष्क का अधिकार बताया गया है। ए. बनर्जी एवं शास्त्री इसका समर्थन करते हैं। परंतु बी.एन. मुकर्जी इसे स्वीकार नहीं करते। यह अवश्य लगता है कि रूद्रदामन के पूर्व कार्दमक वंश के मधयभारतीय शक क्षत्रप कुषाणों के अधीन रहे परंतु दक्षिण अथवा नर्मदा के नीचे तक कनिष्क के राज्य सीमा के विस्तार की कल्पना उचित नहीं लगती ।

इस प्रकार उसके साम्राज्य के अन्तर्गत पेशावर या पुरूषपुर, जेता (युसफुजाई क्षेत्र में), उण्डू, मणिक्याल (रावलपिण्डी), सुई-विहार (बहावलपुर से 16 मील दूर उत्तरी सिध), मथुरा, श्रावस्ती और सारनाथ के क्षेत्र को निश्चिततः स्वीकार किया जा सकता है। उसके साम्राज्य के पूर्वी भाग महाक्षत्रप खरपल्लान और क्षत्रप लिआक के नियंत्रण में होने तथा उत्तरी भाग सेनापति लाल और क्रमशः क्षत्रप वेस्त्री और लिआक के नियंत्रण में होने की सूचना इनके सिक्कों से मिलती है।

ह्वेन सांग ने कनिष्क द्वारा त्जु ंग-लिग (पामीर) पर अधिकार करने और एक चीनी राजकुमार को बन्दी बनाकर रखने की

चर्चा की है। परन्तु अन्य चीनी स्रोतों से ज्ञात होता है कि चीनी सम्राट हो-ती (89-105 ई. सन) के सेनापति पानचाओ ने यूए-ची जाति के किसी राजा (कनिष्क) को पराजित किया और सम्भवत: कनिष्क की मृत्यु भी पामीर के पठार को पार करते समय ही हुयी । सिल्वल लेवी ने इस सम्बन्ध में एक परम्परा का हवाला दिया है जिसके अनुसार कनिष्क ने स्वयं यह स्वीकार किया था कि उसने तीन प्रदेशों को जीता था और वे सभी उसकी संप्रभुता स्वीकार करते थे, परन्तु उत्तर के निवासी उसके द्वारा जीते नहीं जा सके।

कुषाणों का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव-

ईसा की प्रथम से तृतीय शताब्दी के बीच भारत में समृद्ध रहे कुषाण वंश ने प्राचीन भारतीय संस्कृति, धर्म और कला की संरचना में एक रूपांतरणकारी भूमिका निभाई। मधय एशिया की यूएची जनजातियों से उत्पन्न होकर, कुषाणों ने एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की जो मध्य एशिया से लेकर भारतीय उपमहाद्वीप के गहराई तक फैला हुआ था। इसमें वर्तमान अफगानिस्तान, पाकिस्तान और उत्तरी भारत के कई क्षेत्र सम्मिलित थे। कनिष्क महान जैसे शासकों के अधीन, कुषाण साम्राज्य पूर्व और पश्चिम के मध्य सांस्कृतिक संपर्क का एक सेतु बन गया। उनकी सांस्कृतिक, धार्मिक, भाषाई, व्यापारिक और राजनीतिक उपलब्धियों ने भारतीय सभ्यता पर स्थायी प्रभाव डाला।

1. कला और वास्तुकला में योगदान-

कुषाणों की सबसे स्थायी सांस्कृतिक विरासतों में से एक थी कला और वास्तुकला का संवर्द्धन, विशेषकर गंधार और मथुरा कला शैलियों का विकास।

गंधार कला शैली-

गंधार शैली यूनानी-रोमन और भारतीय कला के सम्मिलन का प्रतिनिधित्व करती थी। कनिष्क के शासनकाल में विशेष रूप से इस शैली का विकास हुआ। आधुनिक पाकिस्तान और पूर्वी अफगानिस्तान में स्थित गंधार क्षेत्र के मूर्तिकारों ने बुद्ध की ऐसी प्रतिमाएँ बनाई जिनमें लहराते बाल, बहती हुई पोशाकें और यथार्थपरक चेहरे जैसे यूनानी-रोमन प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। इस शैली ने पहली बार बुद्ध को मानव रूप में दर्शाया, जहाँ पूर्व भारतीय परंपरा में केवल प्रतीकों (जैसे चक्र या बोधिवृक्ष) के माधयम से बुद्ध का चित्रण किया जाता था। इससे बौद्ध धर्म की छवियाँ अधिक सजीव और अनुयायियों के लिए भावनात्मक रूप से सुलभ हो गई।

मथुरा कला शैली-

गंधार शैली के समांतर, मथुरा कला शैली एक स्वदेशी भारतीय सौंदर्यबोध पर आधारित थी। इसमें लाल बलुआ पत्थर की मूर्तियों के माधयम से देवी-देवताओं और बुद्ध की भारतीय विशेषताओं एवं प्रतीकों सहित प्रस्तुति की गई। गंधार की तुलना में मथुरा की कला अधिक प्रतीकात्मक और आधयात्मिक थी, जिसमें चेहरे के भाव और शारीरिक मुद्राओं के माधयम से दिव्यता को प्रकट किया गया।

दोनों शैलियों ने शास्त्रीय भारतीय कला की नींव रखी और दक्षिण व दक्षिण-पूर्व एशिया की मूर्तिकला पर दीर्घकालिक प्रभाव डाला।

2. धार्मिक समन्वय और संरक्षण-

कुषाणों की धार्मिक नीतियाँ अत्यधिक समन्वयवादी थीं। उन्होंने बौद्ध, वैदिक, जरथुस्त्रवादी और जनजातीय धर्मों का समर्थन किया। उनके शासनकाल में महायान बौद्ध, धर्म का उत्कर्ष हुआ और भारतीय धर्मों का उपमहाद्वीप के बाहर विस्तार हुआ।

3. बौद्ध धर्म का संरक्षण-

कनिष्क ने विशेष रूप से महायान बौद्ध धर्म का समर्थन किया। उन्होंने कश्मीर के कुंडलवन में चौथी बौद्ध संगीति (Fourth Buddhist Council) का आयोजन कराया, जहाँ महायान सिद्धांतों का संहिताकरण किया गया। उनके संरक्षण से बौद्ध धर्म भारत से मधय एशिया और चीन तक ैला और रेशम मार्ग के माधयम से विश्व स्तर पर पहुँचा। उन्होंने स्तूपों, विहारों और बौद्ध शिक्षण केंद्रों का निर्माण कराया जिनमें पेशावर का प्रसिद्ध कनिष्क स्तूप सम्मिलित है, जो उस युग का सबसे ऊँचा और भव्य स्तूप माना जाता था।

4. हिंदू देवताओं का समावेश-

कुषाणों के सिक्कों पर शिव, विष्णु और स्कंद जैसे देवताओं की आकृतियाँ मिलती हैं, जो वैदिक परंपराओं के प्रति उनके सम्मान को दर्शाती हैं। उनकी बहु-धार्मिक नीति ने भारतीय समाज में विविध धार्मिक परंपराओं के समन्वय और सहअस्तित्व को बल दिया।

5. भाषा, साहित्य और लिपि का विकास-

कुषाण काल में भाषाई और साहित्यिक बदलाव हुए, जिससे भारतीय भाषाओं और लिपियों के विक. ास की दिशा तय हुई। बैक्ट्रियन और प्राकृत का प्रयोग-कुषाणों ने प्रशासनिक कार्यों में ग्रीक लिपि में लिखी गई बैक्ट्रियन भाषा को अपनाया, जो उनकी मधय एशियाई और यूनानी संपर्क की जड़ें दर्शाता है। भारत में प्राकृत भाषा द्धसंस्कृत की जनभाषाऋ का उपयोग शिलालेखों और संवाद में व्यापक रूप से किया गया, जिससे धार्मिक और दार्शनिक विचार आम जनता तक पहुँचे।

6. संस्कृत का उत्थान-

कनिष्क के शासनकाल में संस्कृत का राजकीय संरक्षण हुआ और यह राज्य संचालन, उच्च संस्कृति और धार्मिक विमर्श की भाषा बन गई। यह पहल आगे चलकर गुप्तकालीन संस्कृत साहित्य की नींव बनी और कालिदास तथा वसुबन्धु जैसे कवि-दार्शनिकों को प्रेरणा दी।

7. मुद्रा और आर्थिक योगदान-

कुषाणों ने भारतीय मुद्रा प्रणाली में कई नवाचार किए, जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था और सांस्कृतिक आदान-प्रदान में क्रांति आई। कुषाण सिक्के द्विभाषीय होते थे एक ओर यूनानी लिपि और दूसरी ओर खरोष्ठी या ब्राह्मी लिपि। यह उनकी बहुभाषीय प्रशासनिक नीति का प्रमाण है। इन सिक्कों पर यूनानी, ईरानी और भारतीय देवताओं की छवियाँ अंकित थीं, जो उनके वैश्विक दृष्टिकोण और धर्मनिरपेक्ष नीति को दर्शाती थीं।

8. व्यापार और नगरीकरण-

कुषाण साम्राज्य का रेशम मार्ग पर सामरिक स्थान उन्हें भारत, मधय एशिया, रोम और चीन के मधय व्यापार का केंद्र बनाता था। भारतीय मसाले, रेशम, हाथीदाँत और रत्नों की विदेशी बाजारों में माँग थी, और इसके बदले रोमन सोने के सिक्के भारत में आए। इस आर्थिक समृद्धि से मथुरा, पेशावर और तक्षशिला जैसे नगर सांस्कृतिक और व्यापारिक केंद्र बन गए।

9. राजनीतिक और प्रशासनिक प्रभाव-

कुषाणों ने ऐसी प्रशासनिक व्यवस्थाएँ विकसित कीं, जिन्होंने भविष्य की भारतीय राजसत्ता को प्रभ. ावित किया। उन्होंने क्षेत्रीय प्रशासकों (क्षत्रपों) की सहायता से केंद्रीकृत प्रशासन की व्यवस्था अपनाई। उनका देवपुत्र (ईश्वर का पुत्र) शीर्षक, बाद में गुप्त सम्राटों द्वारा अपनाया गया, जिससे स्पष्ट है कि कुषाणों की राजकीय विचारधारा का गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने एक विशाल और विविधतापूर्ण साम्राज्य का सफल प्रबंधन कर बाद के साम्राज्यों जैसे गुप्त

और हर्षवर्धन को शासन की प्रेरणा दी।

10. सांस्कृतिक समन्वय और वैश्विक दृष्टिकोण-

कुषाण साम्राज्य के भौगोलिक विस्तार और समावेशी नीतियों ने ऐसे सांस्कृतिक संपर्कों को जन्म दिया, जिनका भारतीय सभ्यता पर गहरा प्रभाव पड़ा। उनके शासनकाल में भारत, ग़ारस, यूनान और चीन के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ। कला, दर्शन, चिकित्सा और तकनीक इन क्षेत्रों में बहते रहे, जिससे भारतीय परंपराएँ समृद्ध हुई और साथ ही भारत की सांस्कृतिक छवि विदेशों में पहुँची। इस काल में भारत की मधय एशिया और पूर्व एशिया में सांस्कृतिक उपस्थिति की नींव पड़ी, जो आगे चलकर बौद्ध जगत में भारत की अग्रणी भूमिका का आधार बनी।

कुषाण साम्राज्य ने, विशेष रूप से कनिष्क जैसे दूरदर्शी शासका. ं के अधीन, भारतीय संस्कृति के विकास में एक निर्णायक भूमिका निभाई। उनकी कला का संरक्षण, विविध धर्मों के प्रति सहिष्णुता, भाषाई नवाचार, मुद्रा प्रणाली में सुधार और अंतरराष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देने की नीतियाँ भारतीय उपमहाद्वीप को सांस्कृतिक आदान-प्रदान का वैश्विक केंद्र बनाने में सफल रहीं। उनके योगदानों ने भारतीय संस्कृति को वैश्विक मंच पर प्रतिष्ठित किया और ऐसे परंपरागत आधार निर्मित किए जो उनके पतन के बाद भी लंबे समय तक फले-फूले।

5 अंक के प्रश्न-

1. कनिष्क कौन था?
2. चौथी बौ) संगीति का महत्व लिखिए।
3. कुषाण वंश की राजधाानी कौन-सी थी?

15 अंक के प्रश्न-

1. कनिष्क की राजनीतिक उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।
2. कुषाण कालीन कला एवं संस्ख्रति का अधययन कीजिए।
3. बाध धार्म के प्रसार में कनिष्क की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

MCQ

1. चौथी बौध संगीति किसके समय हुई?

(A) **कनिष्क**

(B) अशोक

(C) बिंबिसार

(D) हर्ष

उत्तर (A)

2. गांधाार कला का विकास किस काल में हुआ?

(A) **कुषाण**

(B) मौर्य

(C) गुप्त

(D) शुंग

उत्तर (A)

महत्वपूर्ण बिंदु-

- कनिष्क महान कुषाण शासक था।
- गांधाार कला का विकास हुआ।
- बाध धार्म का व्यापक प्रसार हुआ।

शब्दावली-

- गांधाार कला - यूनानी-बौध कला शैली
- संगीति - बौध सभा

खण्ड-3 गुप्त वंश

इकाई-3.1 गुप्त वंश का परिचय एवं प्रारम्भिक इतिहास

उद्देश्य-

1. गुप्त वंश के उदय को समझना।
2. प्रारम्भिक गुप्त शासकों का अधययन करना।
3. गुप्त साम्राज्य की विशेषताओं का विश्लेषण करना।

गुप्त वंश, जिसे प्राचीन भारत का 'स्वर्ण युग' कहा जाता है, ने एक सांस्कृतिक रूप से समृद्ध और राजनीतिक रूप से स्थिर साम्राज्य की नींव रखी। हालाँकि, यह स्वर्ण युग एकाएक नहीं आयाय इसे प्रारंभिक शासकों के प्रयासों और दूरदृष्टि पर आधारित किया गया था। गुप्त साम्राज्य का प्रारंभिक चरण अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध राजाओं के साथ शुरू हुआ, जिनके प्रभाव में धीरे-धीरे वृद्धि हुई और जिन्होंने भविष्य की महानता के लिए मंच तैयार किया। इन प्रारंभिक शासकों में श्री गुप्त, घटोत्कच, और चंद्रगुप्त प्रथम विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं।

श्री गुप्त-

श्री गुप्त को गुप्त वंश का संस्थापक माना जाता है। यद्यपि उनके शासनकाल के ऐतिहासिक विवरण सीमित हैं, लेकिन अभिलेखों और साहित्यिक स्रोतों से उनके वंश के प्रवर्तक होने का संकेत मिलता है। इनका शासनक. ाल अनुमानतः 240-280 ईस्वी के आसपास रहा होगा। ऐतिहासिक स्रोत उनके अस्तित्व का मुख्य प्रमाण सम्राट समुद्रगुप्त के इलाहाबाद स्तंभ अभिलेख और चीनी बौद्ध यात्री इत्सिंग के विवरणों से प्राप्त होता है।

योगदान-

ऐसा माना जाता है कि श्री गुप्त ने मगध या पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार क्षेत्र में एक छोटा राज्य स्थापित किया था। चीनी यात्री इत्सिंग के अनुसार, उन्होंने मृगशिखवना द्धवर्तमान सारनाथ के निकटऋ में चीनी बौद्ध यात्रियों के लिए एक मंदिर का निर्माण करवाया था, जो उनके धार्मिक और सांस्कृतिक समर्थन को दर्शाता है। अपने विनम्र प्रारंभिक प्रयासों के बावजूद, श्री गुप्त ने उस विशाल और गौरवशाली साम्राज्य की नींव रखी जो आगे चलकर गुप्त वंश कहलाया।

घटोत्कच-

घटोत्कच, श्री गुप्त के पुत्र थे, जिन्होंने अपने पिता के पश्चात गुप्त वंश का उत्तराधिकार संभाला और इसे आगे बढ़ाया। यद्यपि उनके शासन का विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं है, उन्हें स्थापना और साम्राज्य विस्तार के बीच की कड़ी के रूप में देखा जाता है। इनका शासनकाल अनुमानतः 280-319 ईस्वी के आसपास रहा होगा। जहाँ बाद के गुप्त सम्राट 'महाराजाधिराज' जैसी राजसी उपाधियों का प्रयोग करते थे, वहीं घटोत्कच ने संभवतः 'महाराज' की सरल उपाधि धारण की थी, जो उनके सीमित लेकिन बढ़ते हुए राजनीतिक प्रभाव को दर्शाती है।

घटोत्कच ने संभवतः परिवार के प्रभाव और सैन्य शक्ति का विस्तार किया और अपने पुत्र चंद्रगुप्त प्रथम के सशक्त शासन के लिए भूमि तैयार की। कुछ विद्वानों का मानना है कि उन्होंने पारिवारिक धार्मिक परंपराओं का संरक्षण किया और वैवाहिक अथवा कूटनीतिक गठबंधनों को बनाए रखा। हालाँकि उनका नाम इतिहास में कम प्रकट होता है, घटोत्कच का शासन एक ऐसे संक्रमणकाल का प्रतिनिधित्व करता है, जहाँ एक छोटा क्षेत्रीय राज्य साम्राज्य विस्तार की दिशा में अग्रसर हुआ।

चंद्रगुप्त प्रथम की उपलब्धियां-

चंद्रगुप्त प्रथम द्धलगभग 319-335 ईस्वीऋ गुप्त वंश के प्रथम सम्राट थे, जिन्होंने गुप्त साम्राज्य को एक छोटे से क्षेत्रीय राज्य से एक सशक्त और प्रभावशाली साम्राज्य में बदलने की नींव रखी। उनकी उपलब्धियां न केवल राजनीतिक और सैन्य क्षेत्रों में बल्कि प्रशासन, आर्थिक विकास, सांस्कृतिक उत्थान और सामाजिक सुधारों में भी देखी जाती हैं। चंद्रगुप्त प्रथम की उपलब्धियां उनके शासनकाल को गुप्त युग की शुरुआत मानने का प्रमुख कारण हैं, जो भारतीय इतिहास के स्वर्णिम युग के रूप में प्रसिद्ध है।

राजनीतिक और सैन्य उपलब्धियां-

चंद्रगुप्त प्रथम का सबसे बड़ा योगदान उनका राजनीतिक और सैन्य विस्तार था। उन्होंने अपने पिता घटोत्कच द्वारा स्थापित सीमित राज्य को व्यापक साम्राज्य में परिवर्तित किया।

वैवाहिक सम्बन्ध-

चंद्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवि वंश की राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह किया, जो कि उस समय का एक शक्तिशाली और प्रभावशाली परिवार था। यह विवाह गुप्त वंश के लिए राजनीतिक और सामरिक ताकत का बड़ा स्रोत बना। इस गठबंधन ने गुप्तों को मगध के साथ साथ वैषाली और आसपास के क्षेत्रों में भी प्रभावशाली सत्ता स्थापित करने का अवसर दिया।

राज्य विस्तार-

चंद्रगुप्त ने मगध, उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग और प्रयाग (आधुनिक इलाहाबाद) जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्रों पर अपना नियंत्रण स्थापित किया। ये क्षेत्र व्यापार, राजनीति और सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण थे। इस विस्तार ने गुप्त साम्राज्य को मजबूती दी और इसे भारतीय उपमहाद्वीप के प्रमुख साम्राज्यों में स्थान दिलाया।

राजसी उपाधि का प्रयोग-

चंद्रगुप्त प्रथम ने 'महाराजाधिराज' (राजाओं का राजा) की उपाधि धारण की, जो उनके बढ़े हुए राजनीतिक अधिकार और साम्राज्य की सार्वभौमिकता का प्रतीक थी। इस उपाधि के प्रयोग ने उन्हें अन्य छोटे-छोटे शासकों से अलग स्थापित किया और उनकी सत्ता की पुष्टि की।

प्रशासनिक सुधार और संगठन-

चंद्रगुप्त प्रथम ने एक संगठित और सुव्यवस्थित प्रशासन की नींव रखी, जो बाद के गुप्त शासकों के लिए एक मक्कडल साबित हुआ। राज्य का संगठन उन्होंने पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बनाया, जो पूर्व में मौर्य और शुंग वंशों की राजधानी भी रही थी। पाटलिपुत्र एक बड़ा प्रशासनिक और सांस्कृतिक केंद्र बन गया। इससे राज्य की एकता और प्रशासनिक दक्षता बढ़ी।

प्रांतीय प्रशासन-

चंद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य में विभिन्न प्रांत स्थापित किए और उनमें शक्तिशाली प्रशासक नियुक्त किए। इस तरह उन्होंने राज्य के दूर-दराज के हिस्सों पर नियंत्रण सुनिश्चित किया। उन्होंने केंद्रीय सत्ता को मजबूत किया और शासकीय निर्णय लेने की प्रक्रिया को सुव्यवस्थित किया। यह प्रशासनिक मजबूती आगे चलकर समुद्रगुप्त और सम्राट चंद्रगुप्त द्वितीय के समय और विकसित हुई।

सांस्कृतिक और धार्मिक प्रगति-

चंद्रगुप्त प्रथम का शासन काल भारतीय संस्कृति के विकास का एक महत्वपूर्ण दौर था। उन्होंने धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में सहिष्णुता और संरक्षण को प्रोत्साहित किया।

धार्मिक सहिष्णुता-

चंद्रगुप्त प्रथम ने विभिन्न धार्मिक मतों को संरक्षण दिया। उनकी राजसी मुद्रा पर हिंदू देवताओं शिव, विष्णु और स्कंद

के चित्र दिखते हैं, जो उनके वैदिक परंपराओं के सम्मान को दर्शाते हैं। साथ ही, गुप्त काल के बौद्ध धर्म और जैन धर्म को भी संरक्षण मिला।

कला और साहित्य-

चंद्रगुप्त प्रथम के शासनकाल में कला और साहित्य का विकास हुआ। उन्होंने संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार को बढ़ावा दिया, जो आगे चलकर गुप्त युग की साहित्यिक स्वर्णिमता का आधार बनी। उनके शासनकाल के बाद कवि कालिदास जैसे महान साहित्यकारों का उदय हुआ।

गुप्त मुद्रा का प्रचलन-

चंद्रगुप्त प्रथम ने अपनी और कुमारदेवी की तस्वीरें अपनी मुद्राओं पर अंकित करवाई। यह न केवल राजनीतिक संदेश था बल्कि सांस्कृतिक अभिव्यक्ति भी थी, जो उस समय की कला और धार्मिक विचारधारा को दर्शाती है।

आर्थिक विकास और व्यापार-

चंद्रगुप्त प्रथम के काल में आर्थिक स्थिति में भी सुधार हुआ, जिसने गुप्त साम्राज्य की समृद्धि को आधार प्रदान किया।

व्यापार का विस्तार-

गुप्त साम्राज्य के विस्तार ने व्यापार मार्गों का विस्तार किया, विशेषकर गंगा नदी घाटी के साथ साथ महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र जैसे प्रयाग, पाटलिपुत्र, मथुरा आदि विकसित हुए। इन नगरों में आभूषण, वस्त्र, कृषि उत्पाद और हथियारों का व्यापार फल-फूल रहा था।

कृषि और कराधान-

कृषि को बढ़ावा मिला और कर व्यवस्था को सुव्यवस्थित किया गया, जिससे राज्य के खजाने में वृद्धि हुई। इससे सेना और प्रशासन के संचालन में सहायता मिली।

सामाजिक और सांस्कृतिक एकता का निर्माण-

चंद्रगुप्त प्रथम ने एक ऐसे साम्राज्य की नींव रखी, जो विभिन्न जाति, धर्म और भाषाओं के लोगा. ं को एक सूत्र में बाँधता था। गुप्त साम्राज्य विभिन्न क्षेत्रों और समुदायों का मेल था। चंद्रगुप्त ने विभिन्न सामाजिक और धार्मिक समूहों को एक साथ लेकर साम्राज्य को मजबूत बनाया। इससे भारत के सांस्कृतिक समन्वय की परंपरा विकसित हुई। गुप्तों के काल में शिक्षा के साथ-साथ धार्मिक अधययन को प्रोत्साहन मिला। पाटलिपुत्र, मथुरा और नालंदा जैसे शिक्षा केंद्रों का विकास इस काल के बाद और बढ़ा।

चंद्रगुप्त प्रथम की उपलब्धियां उनके पुत्र समुद्रगुप्त के लिए एक मजबूत आधार बनीं। सम. ुद्रगुप्त ने उनके द्वारा स्थापित नींव पर विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। गुप्त युग के स्वर्णिम युग के लिए चंद्रग. ुप्त प्रथम का योगदान अतुलनीय है। चंद्रगुप्त प्रथम ने गुप्त साम्राज्य को केवल विस्तार नहीं दिया, बल्कि उसे एक समृद्ध और स्थिर साम्राज्य के रूप में स्थापित किया। उनकी उपलब्धियों में राजनीतिक रणनीति, सैन्य विस्तार, प्रशासनिक सुधार, आर्थिक विकास, धार्मिक सहिष्णुता और सांस्कृतिक संरक्षण शामिल हैं। इनके कारण गुप्त साम्राज्य भारतीय इतिहास के स्वणि र्मि युग का आरंभ बना और भारत की सांस्कृतिक धरोहर को नया आयाम दिया। चंद्रगुप्त प्रथम की दूरदृष्टि और नेतृत्व ने भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास को एक स्थायी छाप दी, जिसका प्रभाव सदियों तक बना रहा।

5 अंक के प्रश्न–

1. गुप्त वंश का संस्थापक कौन था?
2. चन्द्रगुप्त प्रथम का परिचय दीजिए।
3. गुप्त काल को स्वर्ण युग क्यों कहा जाता है?

15 अंक के प्रश्न–

1. गुप्त साम्राज्य के उदय का वर्णन कीजिए।
2. गुप्त कालीन प्रशासन की विशेषताएँ बताइए।

MCQ

1. गुप्त वंश का संस्थापक थारू

(A) **श्रीगुप्त**

(B) समुद्रगुप्त

(C) चन्द्रगुप्त द्वितीय

(D) स्कन्दगुप्त

उत्तर (A)

महत्वपूर्ण बिंदु–

- गुप्त काल को स्वर्ण युग कहा जाता है।
- कला, साहित्य एवं विज्ञान का विकास हुआ।

शब्दावली–

- स्वर्ण युग ख्र उन्नति का काल
- साम्राज्य ख्र विस्तृत राज्य

इकाई-3.2 समुद्रगुप्त की राजनीतिक उपलब्धियाँ

उद्देश्य-

1. समुद्रगुप्त की विजयों का अधययन करना।
2. प्रयाग प्रशस्ति के महत्व को समझना।
3. समुद्रगुप्त की प्रशासनिक क्षमता का विश्लेषण करना।

समुद्रगुप्त की उपलब्धियाँ (लगभग 335-375 ईस्वी) -

समुद्रगुप्त, गुप्त वंश के सबसे महान शासक माने जाते हैं और उनके व्यापक सैन्य अभियानों और विजयों के कारण वह भारतीय इतिहास में अग्रणी हैं। उनका शासनकाल गुप्त साम्राज्य का स्वर्ण युग माना जाता है, जिसने भारतीय इतिहास में एक दीर्घकालिक विरासत की नींव रखी। उनके जीवन और उपलब्धियों का विस्तृत विवरण उनके राजकवि हरिषेण द्वारा रचित प्रयाग प्रशस्ति (इलाहाबाद स्तंभ लेख) में मिलता है। उनकी उपलब्धियाँ केवल सैन्य क्षमता तक सीमित नहीं थीं, बल्कि प्रशासनिक दक्षता, धार्मिक सहिष्णुता, सांस्कृतिक संरक्षण और एक सुदृढ़ केंद्रीकृत राज्य की स्थापना तक विस्तृत थीं।

1. राजनीतिक और सैन्य उपलब्धियाँ-

समुद्रगुप्त की सबसे उल्लेखनीय उपलब्धियाँ उनके सैन्य अभियान हैं, जिनसे गुप्त साम्राज्य का विस्तार हुआ और वे चक्रवर्ती (सार्वभौम सम्राट) के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उनके विजय अभियानों को चार क्षेत्रों में बाँटा जा सकता है-

अ. आर्यावर्त (उत्तर भारत) में विजय-

समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त (उत्तर भारत) में कई शासकों पर सफल आक्रमण किए। प्रयाग प्रशस्ति के अनुसार, उन्होंने निम्नलिखित नौ राजाओं को पराजित किया- रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मन, गणपतिनाग, नन्दि, बलवर्मन, अच्युत, नागसेन। इन विजयों से उनके साम्राज्य में नए क्षेत्रों का विलय हुआ और उन्होंने उत्तर भारत में सर्वोच्च सत्ता प्राप्त की, जिससे व्यापार मार्ग, उपजा. भूमि और रणनीतिक केंद्र उनके नियंत्रण में आए।

ब. दक्षिण भारत (दक्षिणपथ) में अभियान-

समुद्रगुप्त का सबसे बड़ा अभियान दक्षिण भारत में हुआ। यहाँ के शासकों को उन्होंने पराजित तो किया, परंतु उन्हें पुनः अधीन राजा के रूप में बहाल किया गया। इस प्रकार उन्होंने कूटनीतिक शैली में शासन किया। उन्होंने जिन बारह दक्षिणी राजाओं को पराजित किया, उनमें प्रमुख हैं-

1. कोसल के महेन्द्र
2. महाकांतार के व्याघ्रराज
3. कोराल के मन्तराज
4. कोत्तूर के स्वामिदत्त
5. एरण्डपल्ल के दमन
6. कांची के विष्णुगोप
7. वेंगी के हस्तिवर्मन
8. अवमुक्त के नीलराज
9. पलक्क के उग्रसेन

10. देवराष्ट्र के कुबेर

11. कौस्थलपुर के धनंजय

12. पिष्टपुर के नीलराज

इन राजाओं से ग्रहणमोक्षानुग्रह की नीति के तहत अधीनता प्राप्त कर उन्होंने आर्थिक और राजनीतिक लाभ सुनिश्चित किए और प्रशासनिक विस्तार की आवश्यकता के बिना प्रभाव बनाए रखा।

स. प्रत्यन्त राज्यों की विजय-

समुद्रगुप्त ने कई सीमांत राज्यों और जनजातीय क्षेत्रों को भी अपने अधीन किया। इनमें प्रमुख हैं- मालव, अर्जुनायन, यौधेय, मद्रक, सनकानिक, आभीर, प्रार्जुन, काक, खरपारिक। इन क्षेत्रों ने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार की और उपहार तथा सैन्य सहायता प्रदान की। इस नीति से एक सुरक्षित और स्थिर सीमावर्ती क्षेत्र का निर्माण हुआ।

क. विदेशी राज्यों से संबंध-

समुद्रगुप्त की ख्याति भारत की सीमाओं से बाहर भी फैली थी। उन्होंने निम्नलिखित विदेशी शक्तियों से संबंध बनाए- कुषाण शासक, श्रीलंका के राजा मेघवर्मन, जिन्होंने बोधगया में बौद्ध विहार बनाने की अनुमति माँगी, शक और मुरुंड जैसे दक्षिण-पूर्व एशियाई राज्य। यह उनकी सार्वभौमिक प्रतिष्ठा को दर्शाता है। उनका दरबार अंतर्राष्ट्रीय कूटनीति का केंद्र बन गया था।

2. प्रशासनिक उपलब्धियाँ-

सैन्य सफलता के साथ-साथ समुद्रगुप्त का प्रशासनिक तंत्र भी अत्यंत प्रभावी था।

अ. केंद्रीकृत नौकरशाही-

उन्होंने एक सशक्त केंद्रीकृत प्रशासन की स्थापना की, जिसमें- कुमारामात्य, उपरिक और अमात्य जैसे अधिकारियों की नियुक्ति, भुक्ति (प्रांत), विषय (जनपद), ग्राम (गाँव) जैसी प्रशासनिक इकाइयाँ का निर्माण, कानून व्यवस्था की सुदृढ़ता और कर संग्रह की दक्षता, अधिकतर अधिकारी विद्वान और ब्राह्मण वर्ग से चुने जाते थे।

ब. राजस्व व्यवस्था-

भूमि, व्यापार और व्यवसाय पर कर लगाकर उन्होंने कुशल राजस्व संग्रह सुनिश्चित किया। ब्राह्मणों और धार्मिक संस्थानों को दी गई भूमियों का विधिवत रिकॉर्ड रखा जाता था।

स. न्याय व्यवस्था-

यद्यपि प्रत्यक्ष कानूनी दस्तावेज उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी स्पष्ट है कि धर्म (नीति और न्याय) पर आधारित शासन था। राजा को न्याय का सर्वोच्च संरक्षक माना जाता था।

3. सांस्कृतिक और धार्मिक उपलब्धियाँ-

साहित्य का संरक्षण-

समुद्रगुप्त स्वयं संस्कृत के विद्वान और कवि थे, जिन्हें कविराज कहा गया है। यद्यपि उनकी रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं, परंतु हरिषेण ने उन्हें श्रेष्ठ कवि के रूप में वर्णित किया है। उनका दरबार साहित्यिक गतिविधियों का केंद्र था।

संगीत और कला-

समुद्रगुप्त वीणा बजाने में निपुण थे। उनके सिक्कों पर उन्हें वीणा बजाते हुए दर्शाया गया है, जो उनके कला प्रेम को दर्शाता है। यह एक ऐसा राजा था जो युद्ध कौशल के साथ-साथ संगीतकला में भी पारंगत था।

वास्तुकला और सिक्के-

यद्यपि उनके समय की इमारतें बहुत कम उपलब्ध हैं, उनके सिक्के अत्यंत सुंदर और कलात्मक हैं- मानक प्रकार में गरुड़ध्वज लिए हुए राजा, परशु प्रकार में युद्ध कौशल का प्रतीक, वीणा प्रकार में संगीत प्रेम का संकेत, अश्वमेध प्रकार में चक्रवर्ती होने का प्रमाण ये सिक्के न केवल सत्ता का प्रतीक हैं बल्कि गुप्त कला की उत्कृष्टता भी दर्शाते हैं।

धार्मिक सहिष्णुता-

समुद्रगुप्त वैष्णव थे, लेकिन उन्होंने बौद्ध और जैन धर्मों का भी सम्मान किया। श्रीलंका के राजा को बोधगया में विहार बनाने की अनुमति देना उनकी धार्मिक सहिष्णुता का प्रमाण है। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ सहित वैदिक कर्मकांडों को पुनर्जीवित किया।

आर्थिक समृद्धि-

समुद्रगुप्त के शासन में साम्राज्य का विस्तार और स्थिरता आर्थिक विकास का आधार बनी- कृषि की उन्नति दृ भूमि अनुदान और सिंचाई के साधनों का विकास हुआ। व्यापार और वाणिज्य की प्रगति सुरक्षित मार्गों और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण हुयी। शहरीकरण प्रशासनिक और सांस्कृतिक केंद्र के रूप में शहरों का विकास हुआ। सुव्यवस्थित मुद्रा प्रणाली के अन्तर्गत सुवर्ण मुद्राओं द्धदीनारोंऋ का प्रयोग से इस काल में आर्थिक समृद्धि बढी जिससे कला, शिक्षा और धर्म के संरक्षण को संभव बनाया।

अश्वमेध यज्ञ-

समुद्रगुप्त की सबसे प्रतिष्ठित उपलब्धि अश्वमेध यज्ञ का आयोजन था, जो उनकी सार्वभौम सत्ता का प्रतीक था। इसमें- एक घोड़े को निर्बाध रूप से घूमने दिया गया जो राज्य उसे रोकते, उन्हें पराजित किया गया अंत में एक भव्य यज्ञ के माध्यम से चक्रवर्ती पद की घोषणा हुई। अश्वमेध मुद्राएँ, जिनमें घोड़ा और यज्ञ स्तंभ अंकित हैं, उनकी धार्मिक निष्ठा और राजनीतिक महत्वाकांक्षा का प्रतीक हैं।

उपाधियाँ-

समुद्रगुप्त ने अनेक उपाधियाँ धारण कीं, जैसे- महाराजाधिराज- राजाओं के राजा, कविराज -कवियों का राजा, सर्वराजोच्छेत्ता अर्थात सभी राजाओं का विनाशक इत्यादि।

उनका शासन भारतीय इतिहास की शास्त्रीय कालावधि का आधार बना, जिसमें राजनीतिक एकता, आर्थिक समृद्धि और सांस्कृतिक उत्कर्ष था। समुद्रगुप्त एक बहुआयामी व्यक्तित्व थे एक विजेता, सक्षम प्रशासक, कवि और कला प्रेमी। उनका शासन गुप्त साम्राज्य की शक्ति और गौरव का चरम बिंदु था। सैन्य शक्ति के साथ सांस्कृतिक परिष्कार, धार्मिक सहिष्णुता के साथ चक्रवर्ती महत्वाकांक्षा और न्यायप्रिय शासन ने उन्हें भारत के इतिहास में एक आदर्श राजा बना दिया एवं उनकी विरासत न केवल अभिलेखों और सिक्कों में संरक्षित है, बल्कि भारतीय सभ्यता की स्मृति में एक आदर्श और प्रबुद्ध सम्राट के रूप में अमर है।

5 अंक के प्रश्न-

1. प्रयाग प्रशस्ति किसने लिखी?
2. समुद्रगुप्त को भारत का नेपोलियन क्यों कहा जाता है?
3. समुद्रगुप्त की दक्षिण नीति लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. समुद्रगुप्त की दिग्विजय का वर्णन कीजिए।
2. समुद्रगुप्त की राजनीतिक उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए।

MCQ

1. प्रयाग प्रशस्ति किससे संबंधित है?

(A) **समुद्रगुप्त**

(B) अशोक

(C) कनिष्क

(D) हर्ष

उत्तर (A)

महत्वपूर्ण बिंदु-

- समुद्रगुप्त महान विजेता था।
- हरिषेण ने प्रयाग प्रशस्ति लिखी।

शब्दावली-

- प्रशस्ति - प्रशंसा लेख
- दिग्विजय - चारों दिशाओं में विजय

इकाई-3.3 चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजनैतिक उपलब्धियाँ

उद्देश्य-

1. चन्द्रगुप्त द्वितीय की उपलब्धियों को समझना।
2. विक्रमादित्य की सांस्ख्रतिक नीति का अधययन करना।
3. गुप्त कालीन समृद्धि का विश्लेषण करना।

चंद्रगुप्त द्वितीय, जिन्हें विक्रमादित्य की उपाधि से भी जाना जाता है, गुप्त वंश के सबसे प्रसिद्ध सम्राटों में से एक थे। उनका शासनकाल गुप्त साम्राज्य की राजनीतिक शक्ति, आर्थिक समृद्धि, सांस्कृतिक विकास और अंतरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा की दृष्टि से सर्वोच्च बिंदु माना जाता है। विक्रमादित्य की उपाधि वीरता और बुद्धिमत्ता का प्रतीक है, और चंद्रगुप्त ने इन गुणों को अपने शासन में पूर्ण रूप से प्रदर्शित किया। उनके नेतृत्व में गुप्त साम्राज्य ने न केवल अपने सीमाओं का विस्तार किया बल्कि कला, विज्ञान और साहित्य को अभूतपूर्व ऊँचाइयों तक पहुँचाया, जिसे प्राचीन भारत का स्वर्ण युग कहा जाता है।

1. राजनीतिक और सैन्य उपलब्धियाँ-

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के शासनकाल की सबसे प्रमुख विशेषता साम्राज्य का विस्तार और एकीकरण था, जिसे उन्होंने सैन्य विजय, रणनीतिक विवाह और कुशल प्रशासन के माधयम से प्राप्त किया।

अ. पश्चिमी क्षत्रपों पर विजय-

चंद्रगुप्त की सबसे महत्वपूर्ण सैन्य उपलब्धियों में से एक थी पश्चिमी क्षत्रपों (शकों) की पराजय और उनके क्षेत्रों का गुप्त साम्राज्य में विलय। ये क्षत्रप तीन शताब्दियों से अधिक समय तक पश्चिमी भारत (गुजरात, मालवा, राजस्थान के कुछ भाग) पर शासन कर रहे थे और गुप्तों के लिए चुनौती बने हुए थे। चंद्रगुप्त ने क्षत्रप शासक रुद्रसिंह तृतीय पर निर्णायक आक्रमण किया। इस विजय से गुप्तों को न केवल एक पुराने प्रतिद्वंद्वी से मुक्ति मिली, बल्कि भृगुकच्छ (भरुच) जैसे महत्वपूर्ण बंदरगाहों पर अधि कार भी मिला, जिससे समुद्री व्यापार को बढ़ावा मिला। इस विजय के बाद गुप्तों ने चांदी के सिक्के जारी किए, जो क्षत्रपों की मुद्रा का स्थान लेने लगे यह उनकी प्रभुता का प्रतीक बना।

ब. रणनीतिक विवाह संबंध-

चंद्रगुप्त एक कुशल राजनयिक भी थे। उन्होंने साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिए राजनीतिक विवाह संबंधों का उपयोग किया। उन्होंने कुमारदेवी, लिच्छवि वंश की राजकुमारी से विवाह किया। इस तरह के संबंधों ने गुप्त शासन में अनेक क्षेत्रीय शक्तियों को समाहित किया और आंतरिक स्थिरता प्रदान की।

स. साम्राज्य का विस्तार और सुदृढ़ीकरण-

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में गुप्त साम्राज्य का विस्तार बंगाल की खाड़ी से लेकर अरब सागर तक और गंगा के मैदान से लेकर दक्कन के कुछ हिस्सों तक ैला था। उन्होंने अपने शासित क्षेत्रों में शांति बनाए रखी और जागीरदारी तथा सहयोगी राज्यों के माधयम से साम्राज्य को सुदृढ़ रखा।

2. प्रशासनिक उपलब्धियाँ-

चंद्रगुप्त द्वितीय ने अपने पूर्ववर्तियों की प्रभावशाली प्रशासनिक प्रणाली को आगे बढ़ाया और उसे और भी कुशल बनाया।

अ. विकेंद्रीकृत प्रशासन-

साम्राज्य को भुक्तियों में विभाजित किया गया, जिनका नेतृत्व उपरिकों द्वारा किया जाता था। प्रत्येक भुक्ति को विषयों

(जनपदों) में और फिर ग्रामों में विभाजित किया गया। कुमारामात्य जैसे अधिकारी न्यायिक व प्रशासनिक कार्य करते थे। भूमि अनुदान ताम्रपत्रों पर दर्ज किया जाता था जिससे विवाद की संभावना कम होती थी।

ब. न्याय और विधि-

राजा न्याय का सर्वोच्च स्रोत था। शासन धर्म (धार्मिक और नैतिक सिद्धांतों) पर आधारित था। दंड प्रणाली सुधारात्मक थी न कि केवल दंडात्मक।

द. राजस्व प्रणाली-

भूमि राजस्व राज्य की प्रमुख आय थी, जो भूमि की उपज के अनुसार लिया जाता था। व्यापार व वाणिज्य भी आय के महत्वपूर्ण स्रोत थे। ब्राह्मणों और धार्मिक संस्थानों को करों में छूट दी जाती थी।

3. सांस्कृतिक उपलब्धियाँ-

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के शासनकाल की सबसे स्थायी विरासत उसकी सांस्कृतिक पुनर्जागरण है, जो उनके संरक्षण में फली-फूली।

अ. साहित्य और विद्या का संरक्षण-

चंद्रगुप्त के दरबार में नवरत्न (नौ रत्न) माने जाते हैं जिनमें प्रसिद्ध कवि और नाटककार कालिदास, खगोलशास्त्री वराहमिहिर, और कोशकार अमर सिंह शामिल हैं। इस काल में रचित महान काव्य कृतियाँ- मालविकाग्निमित्रम, अभिज्ञान शाकुंतलम, रघुवंश, मेघदूत। ये रचनाएँ आज भी साहित्यिक सौंदर्य और दार्शनिक गहराई के लिए प्रसिद्ध हैं।

ब. कला और स्थापत्य-

देवगढ़ का दशावतार मंदिर, इस काल के उत्कृष्ट मंदिर स्थापत्य का उदाहरण है। बौद्ध मठों और स्तूपों का निर्माण भी हुआ कृ यह धार्मिक सहिष्णुता को दर्शाता है। गुप्त काल की मूर्तिकला में गौरवमयी मुद्राएँ और आदर्श मानव आकृतियाँ विशेष थीं।

स. मुद्रा और अभिलेख-

चंद्रगुप्त ने स्वर्ण और रजत मुद्राएँ जारी कीं, जिनमें उन्हें योद्धा, अश्वारोही, और धनुर्धारी रूप में दर्शाया गया। 'सिंहविक्रम' और 'अश्वारोही' प्रकार की मुद्राएँ विशेष प्रसिद्ध हैं। महरौली लौह स्तंभ अभिलेख में उनके सैन्य विजय और गुणों का गुणगान किया गया है।

4. धार्मिक नीति-

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य धार्मिक सहिष्णुता के समर्थक थे, जिससे साम्राज्य में विविध धर्मों में एकता बनी रही। व्यक्तिगत आस्था उनकी वैष्णव धर्म (विष्णु के उपासक) के अनुयायी के रूप में थी। उन्होंने वैदिक यज्ञों और ब्राह्मणों को दान आदि का आयोजन किया। उन्होंने बौद्ध विहारों और संस्थाओं को कार्य करने की स्वतंत्रता दी। जैन धर्म भी उनके शासन में ?ला-?ूला। इस धार्मिक सौहार्द ने सांस्कृतिक और बौद्धिक विकास को गति दी।

5. विदेश नीति और व्यापार-

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में विदेशों से व्यापार और कूटनीतिक संबंधों में विशेष प्रगति हुई। फा-ह्यान की भारत यात्रा। चीनी बौद्ध यात्री फा-ह्यान ने लगभग 399-414 ईस्वी के बीच भारत की यात्रा की। उन्होंने अपने यात्रा विवरण में गुप्त साम्राज्य की शांति, समृद्धि और धार्मिक स्वतंत्रता की प्रशंसा की। उन्होंने पाटलिपुत्र शहर की भव्यता और कुशल प्रशासन का भी उल्लेख किया। पश्चिमी भारत पर विजय के बाद गुप्तों को भरुच, सोपारा, कार्ले जैसे बंदरगाहों पर नियंत्रण मिला। इससे रोम, ईरान और दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ समुद्री व्यापार का विस्तार हुआ। भारत के वस्त्र, मसाले, हाथी दांत और रत्नों की विदेशी बाजारों में भारी माँग थी।

6. आर्थिक समृद्धि-

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के शासनकाल में गुप्त साम्राज्य आर्थिक दृष्टि से अत्यंत समृद्ध हुआ। सिंचाई व्यवस्था और नई भूमि पर कृषि को राज्य का समर्थन मिला। भूमि अनुदान ने भूमि व्यवस्था को बेहतर किया। व्यापार मार्गों की सुरक्षा सुनिश्चित की गई। उज्जैन, पाटलिपुत्र, मथुरा, ताम्रलिप्ति जैसे नगर व्यापार के केंद्र बने। नगर प्रशासन, व्यापार, संस्कृति और शिक्षा के केंद्र बन गए। वस्त्र निर्माण, धातुकला, आभूषण और मूर्तिकला में उत्कृष्टता प्राप्त हुई।

चंद्रगुप्त को एक आदर्श राजा माना गया साहसी, न्यायप्रिय, उदार और विद्वान। यद्यपि 'विक्रम

संवत' की स्थापना किसी अन्य विक्रमादित्य द्वारा मानी जाती है, परन्तु बहुत से लोग इसे चंद्रगुप्त द्वितीय से जोड़ते हैं। उनके काल में संस्कृत साहित्य, स्थापत्य और विज्ञान का स्वर्णकाल आया। गुप्त संस्कृति ने भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया के अनेक राज्यों को प्रभावित किया। उन्होंने अपने पूर्वजों की उपलब्धियों को सुदृढ़ किया और अपने उत्तराधिकारियों के लिए समृद्ध आधार तैयार किया। उनके शासन में जो राजनीतिक एकता और सांस्कृतिक पहचान विकसित हुई, वह आने वाले युगों में भारतीय इतिहास में प्रतिधवनित होती रही।

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य एक असाधारण शासक थे, जिनके शासनकाल ने प्राचीन भारत की सभ्यता को उसकी पराकाष्ठा पर पहुँचाया। उनके सैन्य अभियान, राजनय, प्रशासन, और सांस्कृतिक संरक्षण के कारण गुप्त साम्राज्य एक शक्तिशाली, समृद्ध और समरस समाज के रूप में विकसित हुआ। उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता, आर्थिक समृद्धि, और बौद्धिक प्रगति को प्रोत्साहित किया।

उनकी उपलब्धियाँ न केवल भारतवर्ष में बल्कि विश्व इतिहास में भी उल्लेखनीय स्थान रखती हैं। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य को भारतीय इतिहास के सबसे महान सम्राटों में गिना जाता है, जिनकी विरासत आज भी भारत की प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर का प्रतिनिधित्व करती है।

5 अंक के प्रश्न-

1. विक्रमादित्य कौन था?
2. ाह्यान का परिचय दीजिए।
3. नवरत्नों का महत्व लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।
2. गुप्त कालीन संस्ख्रति एवं साहित्य का अधययन कीजिए।

MCQ

1. फाह्यान किसके समय भारत आया?

(A) **चन्द्रगुप्त द्वितीय**

(B) अशोक

(C) कनिष्क

(D) हर्ष

उत्तर (A)

महत्वपूर्ण बिंदु-

ख विक्रमादित्य महान गुप्त शासक था।

ख नवरत्न उसके दरबार में थे।

शब्दावली-

ख नवरत्न - नौ महान विद्वान

ख समृद्धि - उन्नति

इकाई-3.4 चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के उत्तराधिकारी एवं गुप्त राजवंश के पतन के कारण

उद्देश्य -

1. गुप्त साम्राज्य के पतन के कारणों को समझना।
2. हूण आक्रमणों के प्रभाव का अधययन करना।
3. उत्तर गुप्त काल की राजनीतिक स्थिति का विश्लेषण करना।

गुप्त साम्राज्य, जिसे प्राचीन भारत का स्वर्ण युग कहा जाता है, कुमारगुप्त प्रथम और उनके उत्तराधिकारी स्कंदगुप्त जैसे सक्षम शासकों के शासनकाल में अपनी चरम ऊँचाइयों पर पहुँचा। इन शासकों ने न केवल अपने पूर्ववर्तियों द्वारा प्राप्त स्थायित्व और समृद्धि को बनाए रखा, बल्कि साम्राज्य की एकता और शक्ति को चुनौती देने वाले गंभीर संकटों का सामना करके उन्हें सफलतापूर्वक पार भी किया। कुमारगुप्त प्रथम, चंद्रगुप्त द्वितीय
(विक्रमादित्य) के पुत्र थे, और स्कंदगुप्त, संभवतः उनके पुत्र या गोद लिए हुए उत्तराधिकारी थे। इन दोनों ने अच्छे शासन, ध ार्मिक संरक्षण और सैन्य शक्ति की परंपरा को बनाए रखा। यह निबंध
कुमारगुप्त प्रथम और स्कंदगुप्त की प्रमुख उपलब्धियों की विवेचना करता है, और गुप्त भारत के निर्माण में उनकी भूमिका को रेखांकित करता है। कुमारगुप्त प्रथम की उपलब्धियाँ (लगभग 415-455 ई.)

1. राजनीतिक स्थिरता और साम्राज्य का विस्तार-

कुमारगुप्त ने उस समय गुप्त सिंहासन संभाला, जब साम्राज्य चंद्रगुप्त द्वितीय के अधीन अपने चरम पर था। उनका पहला कार्य विशाल साम्राज्य को सुदृढ़ करना था। उन्होंने साम्राज्य की क्षेत्रीय अखंडता को बनाए रखा, जो बंगाल की खाड़ी से लेकर अरब सागर और हिमालय की तराई से लेकर नर्मदा नदी तक ैला हुआ था। मंदसौर अभिलेख और भितरी मुद्रिका जैसे अभिलेखों से पता चलता है कि वे एक शक्तिशाली सम्राट थे, जिन्होंने शांति और व्यवस्था को बनाए रखा। यद्यपि उनके नाम पर बहुत अधिक नए विजय अभियान नहीं मिलते, लेकिन उन्होंने विद्रोहों को दबाकर दक्षिण और पश्चिमी प्रांतों में नियंत्रण मजबूत किया।

2. साम्राज्यवादी उपाधियाँ-

कुमारगुप्त ने अपने पूर्ववर्ती महान सम्राटों की तरह उच्च उपाधियाँ धारण कीं, जैसे महाराजाधिराज, परमभागवत और चक्रवर्ती। उन्होंने महेन्द्रादित्य की उपाधि भी ग्रहण की, जो उनके कई सिक्कों पर अंकित है। यह उपाधि उनके वैष्णव धर्माभिमुख शासन और दिव्य राजत्व का संकेत देती है।

3. धार्मिक नीति-

कुमारगुप्त भगवान विष्णु के भक्त थे, किंतु उन्होंने अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता भी दिखाई। उनके शासनकाल की सबसे प्रमुख धार्मिक-सांस्कृतिक उपलब्धि थी कृ नालंदा महाविहार की स्थापना, जो बाद में एशिया का सबसे बड़ा बौद्ध शिक्षण केंद्र बना। उन्होंने ब्राह्मणों, मंदिरों और धार्मिक संस्थानों को दान और भूमि प्रदान की, जिससे धर्मराज्य की परंपरा सुदृढ़ हुई।

4. मुद्रा व्यवस्था-

कुमारगुप्त ने सोने, चाँदी और ताँबे की विभिन्न प्रकार की मुद्राएँ जारी कीं, जिनमें उनके शासन के विभिन्न पहलुओं को दर्शाया गया। उनके सिक्कों पर गरुड़ (विष्णु का वाहन), मोर और युद्ध देवता कार्तिकेय जैसी छवियाँ मिलती हैं, जो उनकी ध ार्मिक भक्ति और सैन्य शक्ति को दर्शाती हैं। उनकी मुद्राओं की विविधता आर्थिक स्थायित्व, व्यापार के विस्तार और गुप्तों की

राजनीतिक शक्ति का प्रमाण है।

5. सांस्कृतिक और शैक्षिक योगदान-

हालाँकि उनका युग चंद्रगुप्त द्वितीय जितना सांस्कृतिक रूप से प्रचुर नहीं था, फिर भी उन्होंने विद्या और संस्कृत साहित्य के संरक्षण की परंपरा को आगे बढ़ाया। नालंदा विश्वविद्यालय, जिसकी स्थापना उनके शासन में हुई, ज्ञान का केंद्र बन गया, जहाँ भारत ही नहीं बल्कि चीन, कोरिया और मधय एशिया से भी छात्र आते थे। उन्होंने ब्राह्मण परंपराओं, मंदिर निर्माण और वैदिक शिक्षा का संरक्षण किया।

6. बाहरी खतरों से सुरक्षा-

उनके शासन के अंत में साम्राज्य को पहला बड़ा बाहरी खतरा कृ पुष्यमित्र जनजाति का सामना करना पड़ा। इन हमलों ने भले ही भविष्य के संकटों का संकेत दिया, लेकिन कुमारगुप्त ने कुशल प्रशासन और दूरदृष्टि से साम्राज्य को संगठित बनाए रखा।

स्कंदगुप्त की उपलब्धियाँ (लगभग 455-467 ई.)

कुमारगुप्त के बाद सिंहासन पर बैठे स्कंदगुप्त को एक वीर योद्धा और सक्षम प्रशासक के रूप में स्मरण किया जाता है। उन्होंने गुप्त साम्राज्य को इतिहास के सबसे खतरनाक आक्रमण हूणों से बचाया।

1. उत्तराधिकार और सत्ता का सुदृढ़ीकरण-

स्कंदगुप्त ने चुनौतीपूर्ण परिस्थितियों में गद्दी संभाली, संभवत: उत्तराधिकार के संघर्ष में विजय प्राप्त करने के बाद। जूनागढ़ अभिलेख से पता चलता है कि उन्होंने एक कठिन यु) लड़ा और अंतत: निर्विवाद शासक बने। आंतरिक संघर्षों के बाद सत्ता को सुदृढ़ करना उनके सैन्य और राजनीतिक कौशल का प्रमाण है।

2. हूणों से रक्षा-

उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि थी कृ हूणों की पराजय, जिन्होंने इस समय उत्तर-पश्चिम भारत में आक्रमण शुरू कर दिए थे। हूण मधय एशिया के भयंकर घुड़सवार योद्धा थे, जिन्होंने फारस के सासानी साम्राज्य को भी परास्त किया था। स्कंदगुप्त ने इन आक्रमण ाों के विरुद्ध लंबा और कठिन युद्ध लड़ा, पर अंतत: विजय प्राप्त की और भारत को विदेशी अधीनता से बचाया। जूनागढ़ अभिलेख में उन्हें देवतुल्य वीर बताया गया है।

3. पुष्यमित्रों का दमन-

बाहरी आक्रमणों के अलावा, स्कंदगुप्त ने पुष्यमित्र विद्रोह को भी दबाया। यह विद्रोह कुमारगुप्त के अंतिम वर्षों में शुरू हुआ था, जिसे स्कंदगुप्त ने सफलतापूर्वक समाप्त किया और आंतरिक शांति बहाल की।

4. प्रशासनिक क्षमता-

उनका शासनकाल विशेष रूप से युद्धों और आर्थिक संकटों के समय में सख्त प्रशासनिक नियंत्रण का परिचायक था। उन्होंने सौराष्ट्र जैसे प्रमुख प्रांतों में अनुभवी और विश्वस्त अधिकारियों की नियुक्ति की। संकटपूर्ण काल में भी साम्राज्य को संगठित और कार्यशील बनाए रखने की उनकी क्षमता अद्भुत थी।

5. आर्थिक प्रबंधन-

युद्धों में भारी खर्चों के बावजूद, उन्होंने शासन को बनाए रखने के लिए रणनीतिक उपाय किए। उन्होंने सौराष्ट्र में सुदर्शन झील की मरम्मत करवाई, जिससे कृषि और जनजीवन को लाभ मिला। आर्थिक संकट के बावजूद उन्होंने स्वर्ण और रजत मुद्राओं का निर्गमन जारी रखा, हालाँकि सिक्कों की शुद्धता में गिरावट आई।

6. मुद्रा और अभिलेख-

स्कंदगुप्त की मुद्राओं में उन्हें सिंहों को मारते हुए, धनुष-बाण चलाते या विजयी मुद्रा में दर्शाया गया है, जो उनकी वीरता का प्रतीक है। उन्होंने विक्रमादित्य, क्रमादित्य और परमभटारक जैसी उपाधियाँ धारण कीं, जो उनके साम्राज्यवादी दृष्टिकोण को दर्शाती हैं। उनके अभिलेख ऐतिहासिक स्रोतों के रूप में अत्यंत महत्वपूर्ण हैं और गुप्त शक्ति की मजबूती को दर्शाते हैं।

7. धार्मिक नीति-

स्कंदगुप्त भी अपने पूर्ववर्तियों की तरह विष्णु भक्त थे और स्वयं को भगवान विष्ण ु का दास मानते थे। उन्होंने वैदिक अनुष्ठान किए, मंदिरों को दान दिया और धर्मनिष्ठ शासक की भूमिका निभाई। फिर भी, उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता की परंपरा को बनाए रखा, जिससे बौद्ध और जैन समुदाय भी स्वतंत्र रूप से कार्य कर सके।

कुमारगुप्त प्रथम और स्कंदगुप्त गुप्त सम्राटों में सर्वाधिक प्रभावशाली थे कृ केवल इसलिए नहीं कि उन्होंने साम्राज्य का विस्तार किया, बल्कि इसलिए कि उन्होंने गंभीर आंतरिक और बाहरी संकटों के समय में भी गुप्त साम्राज्य के मूल स्वरूप को सुरक्षित रखा। कुमारगुप्त का शासन एक सुदृढ़ता, आर्थिक समृद्धि और शैक्षिक प्रगति का युग था, जिसमें नालंदा विश्वविद्यालय की स्थापना और सांस्कृतिक संरक्षण प्रमुख थे। स्कंदगुप्त का शासन वीरता और रक्षा का प्रतीक था कृ उन्होंने हूणों के आक्रमण ों से साम्राज्य की रक्षा की, शासन संरचना को बनाए रखा और गुप्तों के स्वर्ण युग को कुछ और वर्षों तक जीवित रखा। यद्यपि स्कंदगुप्त के बाद गुप्त साम्राज्य धीरे-धीरे पतन की ओर बढ़ा, लेकिन इन दोनों शासकों की उपलब्धियों ने यह सुनिश्चित किया कि गुप्त शासन प्राचीन भारत में संस्कृति, विद्या और शक्ति का प्रतीक बना रहे। उनके सिक्कों, अभिलेखों और ऐतिहासिक ग्रंथों में आज भी उनका गौरवशाली योगदान सजीव है।

गुप्त वंश का पतन-

गुप्त वंश को प्राचीन भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहा जाता है, जिसमें कला, विज्ञान, धर्म और राजनीति के क्षेत्र में अत्यंत प्रगति हुई। चंद्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त प्रथम जैसे सम्राटों के शासनकाल में यह साम्राज्य अपनी सर्वोच्चता पर था। परंतु पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से इसका क्षय प्रारंभ हुआ और छठी शताब्दी के मधय तक यह साम्राज्य लगभग समाप्त हो गया। गुप्त साम्राज्य का पतन एक अचानक घटित घटना नहीं थी, बल्कि यह एक दीर्घकालिक प्रक्रिया थी जिसमें कई कारकों की सम्मिलित भूमिका रही जैसे आंतरिक अस्थिरता, बाहरी आक्रमण, आर्थिक संकट और प्रशासनिक किलताएँ। यह लेख इन्हीं विविध कारणों की गहन व्याख्या प्रस्तुत करता है।

1. अयोग्य उत्तराधिकारी-

स्कंदगुप्त गुप्त वंश का अंतिम प्रभावशाली शासक था। उसके पश्चात जो उत्तराधिकारी आए जैसे पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त बलादित्य और कुमारगुप्त द्वितीय वे सामर्थ्य में बहुत कमजोर थे। न तो वे आंतरिक विद्रोहों को दबा सके, न ही बाहरी आक्रमण ों का प्रतिकार कर सके। इसके परिणामस्वरूप साम्राज्य धीरे-धीरे बिखरने लगा। प्रांतीय शासकों ने स्वतंत्रता की ओर कदम बढ़ाए और साम्राज्य मात्र नाममात्र की सत्ता रह गया।

2. हूणों के आक्रमण-

मध्य एशिया के हूण गुप्त साम्राज्य के पतन में निर्णायक भूमिका में थे। स्कंदगुप्त ने उनके आक्रमणों को कुछ समय रोका, लेकिन उसकी मृत्यु के बाद वे अधिक आक्रामक हो गए। तोरमाण और मिहिरकुल के नेतृत्व में हूणों ने पंजाब, मालवा, राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इससे गुप्त साम्राज्य का एक बड़ा भाग क्षीण हो गया और व्यापार, कृषि व शहरी जीवन में विनाश हुआ।

3. आर्थिक पतन-

गुप्त युग की समृद्धि कृषि, व्यापार और सुनियोजित कर प्रणाली पर आधारित थी। लेकिन हूणों से युद्ध, अत्यधिक भूमि दान, रोमन साम्राज्य के पतन और सिक्का प्रणाली में गिरावट के कारण राज्य की आर्थिक रीढ़ टूटने लगी। स्वर्ण मुद्राओं की शुद्धता में कमी आई, जो आर्थिक संकट का स्पष्ट संकेत था।

4. प्रशासनिक व्यवस्था का क्षय-

प्रारंभिक गुप्त शासन में प्रशासनिक संरचना सुदृढ़ थी, लेकिन उत्तरकाल में वह विघटित होने लगी। प्रांतीय शासक व सामंत स्वतंत्र रूप से कार्य करने लगे। पाटलिपुत्र की सत्ता दूरदराज क्षेत्रों पर अपना नियंत्रण खोने लगी। भूमि दान की परंपरा ने सैन्य अधिकारियों को वंशानुगत सामंत बना दिया जिससे साम्राज्य भीतर से कमजोर हो गया।

5. सामंतवाद और सामंती व्यवस्था का उदय-

सामंती व्यवस्था, जिसमें भूमि के बदले स्थानीय शक्तियों को सैन्य सहायता प्रदान करनी होती थी, गुप्त प्रशासन की किलता का कारण भी थी और परिणाम भी। धीरे-धीरे ये सामंत स्वतंत्रता की ओर अग्रसर हुए। मौखरी, वाकाटक और पुष्यभूति जैसे नए राजवंश इन्हीं सामंतों में से निकले और गुप्त सत्ता को चुनौती देने लगे।

6. धार्मिक व्यय और ब्राह्मण धर्म का अत्यधिक संरक्षण-

गुप्त शासकों ने विशेष रूप से वैदिक धर्म, विशेषकर वैष्णव और शैव परंपरा को बढ़ावा दिया। ब्राह्मणों को कर-मुक्त भूमि दान में दी गई, जिससे राज्य का राजस्व आधार सिकुड़ गया। अत्यधिक धार्मिक खर्चों ने सैन्य और प्रशासनिक क्षेत्र की उपेक्षा की।

7. सामाजिक और सांस्कृतिक जड़ता-

उत्तर गुप्त काल में समाज में रूढ़िवादिता और सामाजिक जड़ता बढ़ी। वर्ण व्यवस्था कठोर हुई, सामाजिक गतिशीलता घटी और नवाचार की भावना कमजोर हुई। धार्मिक कर्मकांडों पर अधिक जोर देने के कारण वैज्ञानिक व दार्शनिक उन्नति की गति मंद पड़ गई।

8. प्राकृतिक आपदाएं और अकाल-

कुछ विद्वानों के अनुसार, बाढ़, अकाल और महामारियाँ जैसे प्राकृतिक संकटों ने भी पतन को तीव्र किया। पुरातात्विक प्रमाण बताते हैं कि पाँचवीं-छठी शताब्दी में कई नगर उजड़ गए या उनकी जनसंख्या में भारी गिरावट आई।

9. बाहरी राजनीतिक दबाव और नए राज्यों का उदय-

छठी शताब्दी तक मौखरी, वर्धन, पुष्यभूति, वाकाटक और अन्य राजवंश उभर चुके थे। इनकी उन्नति ने गुप्त साम्राज्य की केंद्रीय सत्ता को पूर्णतः समाप्त कर दिया और भारत पुनः छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया।

10. विघटन और गुप्त साम्राज्य का अंत-

लगभग 550 ई. तक गुप्त साम्राज्य पूर्णतः विघटित हो चुका था। सत्ता पाटलिपुत्र से हटकर मगध और बंगाल तक सीमित रह गई। अंतिम शासक विष्णुगुप्त मात्र एक छोटे से भूभाग पर शासन कर पाए। बाद के गुप्त शासक शक्तिहीन और ऐतिहासिक रूप से अप्रभावी सिद्ध हुए।

गुप्त साम्राज्य का पतन अनेक कारकों का परिणाम था आंतरिक किलताएँ, बाहरी आक्रमण, आर्थिक संकट, प्रशासनिक ढाँचे का विघटन और सामंती प्रवृत्तियों का विकास। यद्यपि हूणों के आक्रमण ने एक बड़ा झटका दिया, किंतु वास्तविक गिरावट साम्राज्य के भीतर से शुरू हुई। फिर भी गुप्तों की सांस्कृतिक विरासत शाश्वत रही। कला, साहित्य और विज्ञान में गुप्त युग की देनें भविष्य के भारत के लिए प्रेरणा बनीं। अखिल भारतीय साम्राज्य और केंद्रीकृत शासन की अवधारणा को हर्षवर्धन से लेकर मुगलों तक ने अपनाया। अतः, गुप्त साम्राज्य का पतन केवल एक सत्ता का अंत नहीं था, बल्कि यह एक युग के अंत और भारतीय सभ्यता में प्रारंभिक मधयकाल की शुरुआत का संकेत था।

5 अंक के प्रश्न-

1. हूण कौन थे?
2. गुप्त साम्राज्य के पतन के दो कारण लिखिए।
3. स्कन्दगुप्त का परिचय दीजिए।
4. उत्तर गुप्त काल क्या था?
5. हूण आक्रमणों का प्रभाव लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. गुप्त साम्राज्य के पतन के कारणों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

2. हूण आक्रमणों का भारतीय समाज एवं राजनीति पर प्रभाव स्पष्ट कीजिए।
3. स्कन्दगुप्त की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।
4. उत्तर गुप्त काल की स्थिति का विश्लेषण कीजिए।

MCQ

1. गुप्त साम्राज्य के पतन का प्रमुख कारण क्या था?
(A) ख़षि विकास
(B) **हूण आक्रमण**
(C) व्यापार वृद्धि
(D) धार्मिक सुधार
उत्तर (B)

2. हूणों को पराजित करने वाला शासक कौन था?
(A) समुद्रगुप्त
(B) चन्द्रगुप्त प्रथम
(C) **स्कन्दगुप्त**
(D) कुमारगुप्त
उत्तर (C)

3. गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद क्या हुआ?
(A) राष्ट्रीय एकता बढी
(B) **छोटे राज्यों का उदय हुआ**
(C) व्यापार समाप्त हो गया
(D) कोई परिवर्तन नहीं हुआ
उत्तर (B)

महत्वपूर्ण बिंदु-

- हूण आक्रमण गुप्त पतन का मुख्य कारण थे।
- स्कन्दगुप्त अंतिम शद्रिशाली गुप्त शासक था।
- प्रशासनिक कमजोरी एवं उत्तराधिकार विवाद बढे।
- साम्राज्य छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया।

शब्दावली-

शब्द अर्थ

- हूण -विदेशी आक्रमणकारी
- पतन-गिरावट
- उत्तराधिकारी-अगला शासक
- विघटन -टूटना या बिखरना

खण्ड–4 मौर्योत्तरकाल से गुप्त काल तक का सांस्कृतिक विकास

इकाई– 4.1 सामाजिक परंपराएँ (ई.पू.185–ई.550)

उद्देश्य–

1. मौर्योत्तर एवं गुप्तकालीन सामाजिक व्यवस्था को समझना।
2. वर्ण व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था का अधययन करना।
3. स्त्रियों की स्थिति एवं पारिवारिक जीवन का विश्लेषण करना।

किसी भी समाज का स्वरूप उसमें प्रचलित श्रमिक आचार–विचारों के अनुसार ही निर्धारित होता है। समाज एवं धर्म का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, क्योंकि समाज की जीवन–धारा धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर ही ढाली जाती है। गुप्त–युगीन समाज मूलत: हिन्दू समाज माना जाता है। इस काल में शासक हिन्दुत्व के संरक्षक एवं प्रश्रयदाता थे। गुप्त–राजाओं के सहृदय प्रथय के परिण ामस्वरूप ही समाज की प्रत्येक शिरा एवं धमनी में हिन्दुत्व का रक्त प्रवाहित हो सका था। इस युग में हिन्दू समाज में वैदिक धर्म ने पुनर्जीवन पाया था। वैदिक धर्म के पुनर्गठन का यह परिणाम हुआ कि समाज में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता एवं प्रमुखता पुनर्स्स्थापित हो गयी। फलस्वरूप गुप्तयुगीन समाज ब्राह्मण–वर्णीय समाज बन गया।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में सामाजिक परिवर्तन–

मौर्य साम्राज्य के पतन (ई.पू. 185) से लेकर गुप्त साम्राज्य के पतन (ई. 550) तक का काल भारतीय इतिहास में सामाजिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण रहा। यह युग राजनैतिक विकेन्द्रीयकरण, सांस्कृतिक पुनर्गठन और धार्मिक नवाचारों से युक्त था। समाज निरंतर गतिशील रहा कृ जहाँ जातिगत संरचना में कठोरता आई, वहीं नगरों के उद्‌भव, व्यापारिक गिल्डों के विस्तार और शैक्षणि ाक संस्थानों की वृद्धि ने सामाजिक गतिशीलता को भी जन्म दिया। यह अधययन वैज्ञानिक पद्धति से इस अवधि की सामाजिक परंपराओं, संरचनात्मक परिवर्तनों, धार्मिक प्रभावों, लिंग और वर्ग की भूमिकाओं तथा सांस्कृतिक आदान–प्रदान को विश्लेषणात्मक रूप से प्रस्तुत करता है।

वर्ण व्यवस्था–

भारत का सामाजिक ढांचा प्राचीन काल से ही वर्ण व्यवस्था के आधार पर गठित रहा है। यह व्यवस्था मुख्यत: चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में व्यक्ति को जन्म और कर्म के आधार पर वर्गीकृत करती है। इसका उल्लेख वेदों और पुराणों में मिलता है, और यह सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक जीवन के सभी पहलुओं को प्रभावित करती है।

1. वर्ण व्यवस्था का मूल स्वरूप और उसकी वैदिक जड़ें–

वर्ण व्यवस्था का प्रारंभ वैदिक युग में हुआ। वेदों में वर्णों का वर्णन करते हुए समाज को चार प्रमुख वर्गों में बांटा गया कृ ब्राह्मण (धार्मिक गुरु, यज्ञकर्ता), क्षत्रिय (योद्धा, शासक), वैश्य (कृषि, व्यापार) और शूद्र (सेवक वर्ग)। यह व्यवस्था जन्म और कर्म दोनों से जुड़ी थी, परन्तु प्रारंभिक वैदिक काल में कर्म को अधिक महत्व दिया गया। अर्थात व्यक्ति के कर्तव्यों और योग्यता के आधार पर उसे वर्ण दिया जाता था। कालांतर में जन्म के आधार पर वर्गीकरण अधिक कठोर होता गया।

2. मौर्योत्तर काल की सामाजिक–राजनीतिक पृष्ठभूमि और वर्ण व्यवस्था–

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद भारत में अनेक छोटे–छोटे राज्यों का उदय हुआ। इस काल में सामाजिक और ध ार्मिक बहुलता बढ़ी। बौद्ध और जैन धर्मों का प्रसार हुआ, जिन्होंने वर्ण व्यवस्था की कठोरता को चुनौती दी और सम.

ानता का संदेश दिया। ब्राह्मणों का इस काल में धार्मिक प्रभुत्व बढ़ा। वे शिक्षा, यज्ञ-विज्ञापन और धार्मिक अनुष्ठानों के केंद्र बने। क्षत्रिय वर्ग ने राजनीति और सुरक्षा का दायित्व संभाला। वैश्य वर्ग व्यापार और कृषि में सक्रिय रहा। शूद्र सेवा और श्रम कार्यों में लगे रहे। इस काल में वर्ण व्यवस्था में सामाजिक गतिशीलता बनी रही, यद्यपि जन्म आधारित भेदभाव धीरे-धीरे बढ़ रहा था। उदाहरण स्वरूप, वर्णों के बीच विवाह कुछ हद तक संभव था, लेकिन सामाजिक मान्यता के भीतर।

3. धर्मशास्त्रों का प्रभाव- मनुस्मृति और अन्य ग्रंथ-

मौर्योत्तर काल से लेकर गुप्त काल तक मनुस्मृति जैसे धर्मशास्त्रों ने वर्ण व्यवस्था को धार्मिक और सामाजिक नियमों के अंतर्गत कठोरता से परिभाषित किया। मनुस्मृति ने प्रत्येक वर्ण के कर्तव्यों को स्पष्ट किया ब्राह्मणों का धर्म था शिक्षा देना और यज्ञ करनाय क्षत्रिय राज्य संचालन और सुरक्षाय वैश्य कृषि, पशुपालन और व्यापार शूद्र सेवा कार्य करना। यह ग्रंथ वर्णों के बीच विवाह, भोजन, आचार और सामाजिक संपर्क के नियम भी निर्धारित करता है। इन नियमों ने जन्म आधारित वर्ण व्यवस्था को और अधिक कठोर तथा सख्त बना दिया।

4. सामाजिक गतिशीलता और विवाह के नियम-

मौर्योत्तर काल में वर्ण व्यवस्था में सामाजिक गतिशीलता सीमित थी। व्यक्ति के कर्म और योग्यता के आधार पर वर्ण परिवर्तन संभव था, विशेषत: ब्राह्मणों और क्षत्रिय वर्ग में। वर्णों के बीच विवाह के नियमों में 'अनुलोम' (पर वर्ण का पुरुष नीचे वर्ण की स्त्री से विवाह) को सामाजिक रूप से स्वीकार किया गया, जबकि 'प्रतिलोम' (नीचे वर्ण का पुरुष पर वर्ण की स्त्री से विवाह) को वर्जित माना गया। इस नियम ने वर्णों के बीच संबंधों को नियंत्रित किया और सामाजिक शुद्धता बनाए रखी। बौद्ध और जैन धर्मो ने वर्ण व्यवस्था की सख्ती को चुनौती दी। उन्होंने वर्णभेद को सामाजिक अन्याय बताया और समता का संदेश दिया। परन्तु उनका प्रभाव सामाजिक संरचना को पूरी तरह बदलने में सीमित रहा।

5. गुप्त काल में वर्ण व्यवस्था का विकास-

गुप्त काल को वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का काल माना जाता है। गुप्त शासकों ने ब्राह्मण वर्ग को विशेष सम्मान, भूमि दान और सामाजिक अधिकार देकर उनकी स्थिति मजबूत की। इस काल में वर्ण व्यवस्था जन्म आधारित और अत्यंत कठोर हो गई। वर्णों के अधिकार और दायित्व धार्मिक और सामाजिक नियमों के अंतर्गत अनिवार्य बन गए। ब्राह्मणों को शिक्षा, यज्ञ-विज्ञान, और सामाजिक नेतृत्व मिला। क्षत्रिय शासकों को राज. काज, न्याय और सुरक्षा का अधिकार। वैश्य वर्ग कृषि, व्यापार और पशुपालन में लगा रहा। शूद्रों को सेवा कार्यों में सीमित रखा गया। धर्मशास्त्रों में वर्णों के जीवन के चार आश्रमों का विस्तार हुआ- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास जो प्रत्येक वर्ण के कर्तव्यों के अनुसार जीवनचक्र निर्धारित करते थे।

6. वर्ण व्यवस्था के सामाजिक नियम-

गुप्त काल में वर्णों के बीच सामाजिक व्यवहार पर सख्त नियंत्रण था। वर्णों के बीच सामाजिक मेलजोल, भोज, और विवाह पर कठोर प्रतिबंध थे। उच्च वर्णों के लोग निम्न वर्णों से सामाजिक संपर्क को कम से कम रखते थे। शूद्रों को धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेने और शिक्षा प्राप्त करने से वंचित रखा गया। यह सामाजिक भेदभाव धार्मिक ग्रंथों और सामाजिक रीति-रिवाजों द्वारा वैध और स्थायी बना दिया गया।

7. महिलाओं की स्थिति-

गुप्त काल में महिलाओं की सामाजिक स्थिति में भी वर्ण व्यवस्था का प्रभाव गहरा था। महिलाओं की भूमिका पितृसत्तात्मक समाज में सीमित हो गई। ब्राह्मण वर्ग की महिलाआ.

को शिक्षा और धार्मिक गतिविधियों से वंचित किया गया। विवाह और परिवार की संरचना में महिलाओं के अधिकार सीमित थे। धार्मिक और सामाजिक नियमों ने महिलाओं की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाया।

8. वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था में भेद-

यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि वर्ण व्यवस्था और जाति (जाति) प्रणाली अलग हैं। वर्ण व्यवस्था एक धार्मिक और सामाजिक वर्गीकरण प्रणाली है जो चार प्रमुख वर्गों में जन्म आधारित वर्गीकरण करती है। जाति प्रणाली सामाजिक, आर्थिक, व्यवसायिक और क्षेत्रीय आधार पर बने उप-समुदायों की संख्या है, जो हजारों में फैली है। मौर्योत्तर काल से गुप्त काल तक वर्ण व्यवस्था ने भारतीय समाज को चार प्रमुख वर्गों में बांटा, लेकिन जाति प्रणाली का विस्तार स्थानीय और सामाजिक कारकों से हुआ, जो इस काल के सामाजिक व्यवहार में भी दिखाई देता है।

9. वर्ण व्यवस्था का सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक महत्व-

वर्ण व्यवस्था ने भारतीय समाज को स्थिरता प्रदान की और एक सामाजिक अनुशासन बनाया।

धार्मिक महत्व-

प्रत्येक वर्ण के धार्मिक कर्तव्य निर्धारित किए गए जिससे धार्मिक कर्मकांड व्यवस्थित हुए।

सामाजिक महत्व-

वर्णों के बीच सामाजिक व्यवहार, विवाह और भोजन संबंधी नियमों ने समाज को वर्गीकृत किया।

राजनीतिक महत्व-

वर्ण व्यवस्था ने शासकों (क्षत्रिय) और धार्मिक गुरु (ब्राह्मण) के बीच सहयोग को बढ़ावा दिया। गुप्त शासकों ने ब्राह्मण ों को राजनीतिक समर्थन दिया।

मौर्योत्तर काल से गुप्त काल तक वर्ण व्यवस्था भारतीय समाज की रीढ़ बन गई। प्रारंभ में जहां यह कुछ हद तक कर्म और योग्यता पर आधारित थी, वहीं गुप्त काल तक यह पूर्णत: जन्म आधारित और कठोर हो गई। धर्मशास्त्रों ने इसे धार्मिक वैधता दी और समाज में वर्णों के अधिकार, दायित्व और कर्तव्यों को स्पष्ट किया। गुप्त काल में ब्राह्मणों को विशेष स्थान मिला और वर्णों के बीच सामाजिक नियंत्रण अधिक सख्त हो गया। हालांकि बौद्ध और जैन धर्मों ने इस व्यवस्था को चुनौती दी, परन्तु वर्ण व्यवस्था ने अपने धार्मिक और सामाजिक प्रभाव से भारतीय समाज को गहरा प्रभावित किया। वर्ण व्यवस्था के इस विकास ने आगे के भारतीय सामाजिक इतिहास को भी प्रभावित किया, और इसकी छाया मधयकालीन और आधुनिक भारतीय समाज में भी देखी जा सकती है।

जाति व्यवस्था-

भारतीय समाज की सबसे जटिल और दीर्घकालिक संरचना में से एक है जाति व्यवस्था, जो व्यक्ति की पहचान, कार्य, विवाह, भोजन और सामाजिक रिश्तों को निर्धारित करती है। हालाँकि इसके मूल में वर्ण व्यवस्था की अवधारणा रही है, जाति व्यवस्था उससे कहीं अधिक व्यावहारिक, विस्तृत और समाज में गहराई तक पैठी हुई थी। मौर्योत्तर काल (200 ईसा पूर्व के बाद) से लेकर गुप्त काल (लगभग 320-550 ई.) तक, जाति व्यवस्था ने अपने संस्थागत और ठोस स्वरूप को प्राप्त किया।

1. जाति व्यवस्था की प्रकृति और प्रारंभिक स्वरूप-

'जाति' शब्द संस्कृत के 'जात' से आया है, जिसका अर्थ है- जन्म। इस व्यवस्था में व्यक्ति का सामाजिक स्थान जन्म आधारित होता था। जातियाँ हजारों की संख्या में थीं, और वे पेशे, क्षेत्र, रीति-रिवाज, भाषाएँ और परंपराओं के आधार पर संगठित थीं। एक ही वर्ण में कई जातियाँ होती थी कृ जैसे ब्राह्मणों में कश्यप, भारद्वाज, वशिष्ठ आदि उपजातियाँ। हर जाति का अपना विशिष्ट सामाजिक व्यवहार था, जैसे कृ किससे विवाह किया जा सकता है, किसके साथ भोजन

किया जा सकता है, पूजा-पद्धति, त्यौहार आदि।

2. मौर्योत्तर युग में जातीय विविधता का विस्तार-

मौर्य साम्राज्य के विघटन के बाद भारत में छोटे-छोटे क्षेत्रीय राज्यों का उदय हुआ, जिससे स्थानीय समाजों और जनजातियों को मुख्यधारा में शामिल होने का अवसर मिला। कई स्थानीय समुदाय जातियों में बदल गए और सामाजिक ढांचे में एक स्थायी स्थान पाने लगे। इस काल में आए शक, यवन, कुषाण जैसे विदेशियों को भी जातियों में शामिल कर लिया गया, आमतौर पर क्षत्रिय या शूद्र के रूप में। सामाजिक गतिशीलता कुछ हद तक संभव थी। सामरिक या आर्थिक शक्ति के आध ार पर कुछ जातियाँ सामाजिक सीढ़ी में पर चढ़ सकती थीं।

3. जातियाँ और उनके व्यवसाय-

इस काल की जातियाँ अक्सर निश्चित पेशों से जुड़ी होती थीं, जो पीढ़ियों तक चलते थे। कुम्हार मिटी के बर्तन बनाते, बढ़ई लकड़ी का कार्य करते, तेली तेल निकालते, नाई लोगों के बाल काटते और समाज में संवाद फैलाते। जातियाँ वस्तुतः समुदाय-आध ारित व्यावसायिक संगठनों की तरह कार्य करती थीं, जहाँ आंतरिक नियम, दंड प्रणाली और कार्य नैतिकता मौजूद थी।

4. धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में जातियों की स्थिति-

धर्मसूत्र, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति जैसे ग्रंथों में जातियों का उल्लेख मिश्रित जातियों (विभिन्न वर्णों के अंतर्विवाह से उत्पन्न समुदायों) के रूप में मिलता है। ऐसे समुदायों को समाज में सीमित कार्यों और स्थानों के साथ स्वीकार किया गया। इनमें दरबारी, सारथी, वादक, बर्तन बनाने वाले, सफाईकर्मी जैसी जातियाँ थीं। धर्मग्रंथों ने जातियों के लिए नियमब) सामाजिक आचरण भी निर्धारित किया- जैसे विवाह, भोजन, व्रत, धार्मिक कर्तव्य। इस प्रकार धर्मशास्त्रों ने जातियों को सामाजिक और धार्मिक अनुशासन की परिधि में बाँध दिया।

5. बौद्ध-जैन दृष्टिकोण-

बौद्ध और जैन परंपराओं ने जातिगत भेदभाव का विरोध किया और कहा कि मूल मानवीय मूल्य जन्म पर नहीं, कर्म पर आधारित होने चाहिए। बौद्ध संघ में किसी भी जाति का व्यक्ति प्रवेश कर सकता था। महावीर स्वामी ने जाति से पर उठकर आत्मा की शुद्धता को प्राथमिकता दी। हालाँकि बौद्ध और जैन धर्मों के प्रयासों से नगरों और धार्मिक स्थलों पर जातिगत रेखाएँ थोड़ी लचीली हुई, पर ग्रामीण समाज में जातियाँ यथावत बनी रहीं, खासकर पेशा आधारित रूप में।

6. गुप्त काल- जाति व्यवस्था का सुदृढ़ और स्थिर स्वरूप-

गुप्त काल में जाति व्यवस्था ने एक संस्थागत और कठोर संरचना प्राप्त की। वर्णों के भीतर जातियों की संख्या और विविध ता बहुत बढ़ गई। ब्राह्मणों में क्षेत्रीय और गोत्र आधारित भेद स्पष्ट हुए। शूद्रों और कारीगर वर्गों की जातियाँ स्पष्ट रूप से वर्गीकृत हो गईं। ब्राह्मणों को दिए गए भूमिदान और धार्मिक विशेषाधिकारों ने उन्हें सामाजिक नियंत्रण का माधयम बना दिया, जिससे जातियाँ धार्मिक और प्रशासनिक व्यवस्था से गहराई से जुड़ गई।

7. सामाजिक अनुशासन और गतिशीलता-

हर जाति की अपनी पंचायत होती थी, जो विवाह, दंड, विरासत, नैतिकता और पेशे से संबंधित नियम तय करती थी। ये पंचायतें स्थानीय स्व-प्रशासन का रूप थीं, जो राज्य से स्वतंत्र कार्य करती थीं। इससे समाज में एक नीचे से पर तक अनुशासन प्रणाली विकसित हुई। जाति पंचायतों ने सामाजिक संतुलन बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। गुप्त काल तक आते-आते जातियों की पहचान कफी स्थायी और जन्म आधारित हो गई। जाति बदलना लगभग असंभव हो गया था। विवाह, भोजन, पूजा आदि में कठोर नियम लागू हो गए। ऊँची जातियाँ अपनी 'शुद्धता' बनाए रखने के लिए कठोर सामाजिक नियंत्रण अपनाती थीं। हालाँकि

कुछ शक्तिशाली समुदाय अपने प्रभाव से ऊपर उठ पाए, पर यह अपवादस्वरूप था, न कि सामान्य प्रवृत्ति।

मौर्योत्तर काल से गुप्त काल तक जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज को एक ठोस सामाजिक ढाँचा प्रदान किया, जिसमें कार्यों का स्पष्ट विभाजन और सामाजिक अनुशासन था।

जहाँ इस व्यवस्था ने स्थानीय प्रशासन और आर्थिक कार्यों को सुव्यवस्थित किया, वहीं इसने सामाजिक गतिशीलता और समानता की राह को बाधित किया। बौद्ध और जैन जैसे धर्मों ने इसके प्रतिवाद में आवाज उठाई, लेकिन जातियों की गहरी जड़ें ग्रामीण, धार्मिक और प्रशासनिक ढाँचों में इतनी मजबूती से समाहित हो चुकी थीं कि यह व्यवस्था भविष्य के भारतीय समाज की आध ारशिला बन गई।

स्त्रियों की स्थिति-

ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी ईस्वी तक, भारतवर्ष में सामाजिक और सांस्कृतिक संरचनाओं में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। यह समय मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात छोटे-छोटे राज्यों के उदय और गुप्त साम्राज्य की स्थापना से परिभाषित होता है। इन युगों में स्त्रियों की सामाजिक, धार्मिक, शैक्षिक और कानूनी स्थिति में कई गुणात्मक बदलाव हुए, जिनमें से कुछ ने उन्हें अधिकार दिए, तो कुछ ने उनके जीवन को सीमित किया।

1. धार्मिक और वैचारिक पृष्ठभूमि में स्त्रियाँ-

इस युग की धार्मिक पृष्ठभूमि विविध रही बौद्ध, जैन, ब्राह्मण, लोकधर्मी और वैदिक परंपराएँ एक साथ विद्यमान थीं। बौद्ध और जैन संप्रदायों में स्त्रियाँ भिक्षुणी और साधवी बनकर मोक्ष मार्ग में अग्रसर हो सकती थीं। ब्राह्मण धर्म में स्त्रियों की भूमिका घरेलू धर्मकृत्यों तक सीमित थी, जहाँ उन्हें पति के सहधर्मिणी के रूप में देखा गया। इन धार्मिक प्रवृत्तियों ने स्त्रियों को द्वैध भूमिका में स्थापित किया एक ओर वे मोक्ष की पात्र मानी गईं, तो दूसरी ओर पुरुष आश्रिता और नियंत्रित।

2. विधिक संरचनाओं में स्त्रियों की स्थिति-

गृह, विवाह और उत्तराधिकार से संबंधित नियमों का संहिताकरण मनुस्मृति (दूसरी शताब्दी ई.पू.) और याज्ञवल्क्य स्मृति (तीसरी शताब्दी ई.) जैसे ग्रंथों में हुआ। स्त्रियों को स्वतंत्र विधिक व्यक्तित्व नहीं माना गया वे पिता, पति या पुत्र के अधीन थीं। केवल स्त्रीधन तक सीमित अधिकार थे जैसे उपहार में मिला गहना, वस्त्र आ. दि। विवाह एक धार्मिक कर्तव्य था, न कि सामाजिक अनुबंध। इस प्रकार, विधिक संरचना ने स्त्रियों को एक नियत लिंगाधारित भूमिका में बाँध दिया।

3. स्त्रियों की शिक्षा-

स्त्रियों की शिक्षा-संभावनाएँ इस काल में धीरे-धीरे संकुचित होती गईं। ब्राह्मण परिवारों में कुछ स्त्रियाँ वेदों और संस्कृत साहित्य से परिचित थीं, किंतु यह सामान्य प्रवृत्ति नहीं थी। बौद्ध भिक्षुणियाँ त्रिपिटक वाचन और धर्मचर्चा में प्रशिक्षित होती थीं। जैन भिक्षुणियां तपस्या और प्रवचन के क्षेत्र में सक्रिय थीं। फिर भी, शैक्षिक स्वतंत्रता केवल सीमित धार्मिक या कुलीन स्त्रियों तक ही सीमित रहीय सामान्य स्त्रियों के लिए यह लगभग वर्जित थी।

4. आर्थिक क्षेत्र में स्त्रियाँ-

स्त्रियाँ समाज के विभिन्न वर्गों में विभिन्न आर्थिक भूमिकाओं में सक्रिय थीं। निम्न जातियों और व्यवसायिक समुदायों की स्त्रियाँ कपड़ा बुनाई, कुम्हारी, खाद्य निर्माण, गायन और नृत्य जैसे कार्यों में योगदान देती थीं। कृषि में ग्रामीण स्त्रियाँ कृषक सहायक के रूप में काम करती थीं। कुछ स्त्रियाँ व्यापारिक गिल्डों या शिल्प संघों की सदस्य भी थीं। हालाँकि, उच्चवर्गीय स्त्रियों के लिए

आर्थिक स्वतंत्रता घरेलू दायित्वों तक सीमित थी।

5. विवाह और पारिवारिक संरचना-

विवाह संस्था को धर्म और सामाजिक अनुशासन का केंद्र माना गया। विवाह आमतौर पर बचपन में तय होते थे और स्त्री की सहमति गौण होती थी। विवाहोपरांत स्त्रियों को पति के कुलधर्म और रीति के अनुसार जीवन जीना होता था। पुनर्विवाह उच्च वर्ग में वर्जित था, विशेषकर विधवाओं के लिए। पतिव्रत धर्म को स्त्रियों की सर्वोच्च भूमिका कहा गया। गुप्त काल में, ये मान्यताएँ और भी कठोर हो गईं, जिससे स्त्री की स्वायत्तता में स्पष्ट ह्रास हुआ।

6. स्त्रियों की धार्मिक स्थिति-

स्त्रियाँ घर के पूजा-पाठ, व्रत, त्योहारों में सक्रिय थीं, किंतु वेदिक यज्ञ जैसे सार्वजनिक अनुष्ठानों से प्रायः बाहर रखी जाती थीं। बौद्ध धर्म में स्त्रियाँ संघ की सदस्य बन सकती थीं।

जैन साधिवयों ने प्रवचन, तप और मोक्ष साधना में भागीदारी की। लोकधर्मी परंपराओं में देवी पूजा और स्त्रियों की धार्मिक भागीदारी अधिक स्वाभाविक थी। कुल मिलाकर, स्त्रियों की धार्मिक भूमिका घरेलू और अनुष्ठानिक रही, सार्वजनिक धर्म में उनका स्थान सीमित था।

7. कला, साहित्य में स्त्रियों का योगदान-

इस युग की कला और साहित्य में स्त्रियों का व्यापक लेकिन आदर्शवादी चित्रण मिलता है। स्थापत्य और मूर्तिकला में स्त्रियाँ यक्षिणी, देवियाँ, नर्तकियाँ के रूप में उकेरी गईं। संस्कृत नाटकों में, जैसे कालिदास की कृतियों में, स्त्रियाँ बुद्धिमती, रूपवती, लेकिन नैतिक रूप से संयमित दिखाई गईं। 'शकुंतला', 'मालविका' और 'वासवदत्ता' जैसे पात्र भावनात्मक और नैतिक रूप से उदात्त हैं, पर स्वतंत्र निर्णय की सीमाएँ स्पष्ट हैं। इस प्रकार, स्त्री-चित्रण कला में सौंदर्य, साहित्य में प्रेम और जीवन में नियंत्रण का प्रतीक रहा।

8. गुप्तकाल में स्त्रियों की स्थिति-

गुप्तकाल में सामाजिक संरचना ब्राह्मणवादी वैदिक आदर्शों पर केंद्रित हो गई। मनुस्मृति जैसे ग्रंथों के प्रभाव से स्त्रियों की सामाजिक स्थिति अत्यधिक नियंत्रित हो गई। शिक्षा, संपत्ति और सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों की भागीदारी न्यूनतम हो गई। स्त्रियों की स्थिति अधिकतर पितृसत्ता केंद्रित परिवार के अधीन हो गई। यह युग एक ओर सांस्कृतिक उत्कर्ष का था, पर स्त्रियों के लिए यह सांस्कृतिक अपवर्जन का युग सिद्ध हुआ।

मौर्योत्तर काल से गुप्तकालीन स्त्री जीवन का इतिहास न तो पूरी तरह पतनशील है, न ही पूर्ण स्वतंत्र। यह एक द्वैध प्रवाह है जिसमें स्त्रियों को कभी शिक्षा, भिक्षुणी जीवन और आर्थिक श्रम में स्थान मिला, तो कभी विवाह, धर्म और परिवार के नाम पर सीमाओं में बाँध दिया गया। यह काल स्त्रियों की प्रतिष्ठा और पराधीनता दोनों का दस्तावेज है जहाँ उनकी भूमिका समाज के निर्माण में सक्रिय रही, पर उनके अधिकारों को निरंतर संकुचित किया गया।

वैवाहिक परंपराएं-

प्राचीन भारत में विवाह न केवल पारिवारिक जीवन की शुरुआत का संकेतक था, बल्कि सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था का मूल स्तंभ भी रहा। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद से गुप्त काल तक की अवधि में विवाह संस्था में कई प्रकार के धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक प्रभावों ने बदलाव लाए। इस समय विवाह केवल व्यक्ति का निजी निर्णय नहीं था, बल्कि समाज और धर्म द्वारा निर्देशित एक सुनियोजित परंपरा बन गया था।

1. धर्मशास्त्रों की दृष्टि से विवाह-

धर्मग्रंथों जैसे मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि ने विवाह को एक पवित्र अनुष्ठान माना। आठ प्रकार के विवाह बताए गए,

जिनमें ब्राह्म और प्राजापत्य प्रकार को श्रेष्ठ समझा गया, जबकि गन्धर्व, राक्षस और पैशाच जैसे विवाहों को निम्न माना गया। विवाह को पुरुषों के लिए एक ऋण-मुक्ति का साधन और स्त्री के लिए धर्मपालन का दायित्व माना गया।

2. वर्ण व्यवस्था और विवाह की सीमाएँ-

इस काल में वर्ण व्यवस्था बहुत कठोर थी, जिससे विवाह भी जाति तक सीमित हो गया। ऊँचे वर्णों में अंतर्जातीय विवाह को वर्जित माना गया। यदि कोई निम्न जाति की कन्या उच्च जाति के पुरुष से विवाह करती थी, तो उसे सामाजिक रूप से निंदनीय माना जाता था। इस प्रकार विवाह, समाज की जातिगत संरचना को बनाए रखने का एक साधन बन गया।

3. स्त्री की स्थिति और विवाह में उसका निर्णय-

इस युग में कन्या की इच्छा को अधिक महत्व नहीं दिया जाता था। विवाह का निर्णय सामान्यत: पिता या परिवार के पुरुष सदस्य करते थे। स्त्री को जीवन भर आश्रित रहने वाली माना गया कौमार्य में पिता पर, युवावस्था में पति पर, और वृद्धावस्था में पुत्र पर। प्रेमविवाह (गन्धर्व विवाह) यद्यपि कुछ उदाहरणों में स्वीकार्य था, फिर भी वह समाज में आम परंपरा नहीं बन सका।

4. बाल विवाह-

गुप्त काल तक आते-आते बाल विवाह की परंपरा विशेषकर ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्गों में प्रचलित हो गई थी। 8 से 12 वर्ष की आयु में कन्याओं का विवाह कर दिया जाता था। इसका उद्देश्य था। कौमार्य की रक्षा और विवाह को पुण्य कर्म बनाना। इसके कारण स्त्रियों की शिक्षा, शारीरिक विकास और मानसिक स्वाधीनता बाधित हुई।

5. विवाह में लेन-देन और उपहार प्रणाली-

कुछ प्रकार के विवाह, जैसे आर्ष और असुर विवाह में आर्थिक लेन-देन की भूमिका रही। आर्ष विवाह में वर को गौ आदि उपहार दिए जाते थे, जबकि असुर विवाह में कन्या के लिए मूल्य चुकाया जाता था। यद्यपि शास्त्रों में दहेज की स्पष्ट मनाही थी, फिर भी यह प्रथा धीरे-धीरे समाज में व्याप्त होने लगी।

6. विधवाओं की स्थिति और पुनर्विवाह-

इस युग में विधवाओं को पुन: विवाह की स्वतंत्रता नहीं थी, खासकर उच्च जातियों में। उन्हें आजीवन पतिव्रता बने रहना पड़ता था। कुछ स्थानों पर सती प्रथा की आरंभिक झलक भी दिखती है। केवल निम्न जातियों और जनजातियों में पुनर्विवाह की थोड़ी स्वीकृति मिलती थी, पर उसे मुख्यधारा समाज में सम्मान नहीं मिला।

7. बौद्ध और जैन दृष्टिकोण-

बैद्ध और जैन धर्मों ने विवाह को धार्मिक अनिवार्यता नहीं माना। दोना. परंपराओं में संन्यास को जीवन का उच्चतम लक्ष्य बताया गया। विवाह एक सांसारिक बंधन था, न कि मोक्ष प्राप्ति का साधन। हालांकि समाज पर ब्राह्मणिक आदर्शों का अधिक प्रभाव था, पर इन विचारधाराओं ने विवाह की धार्मिक पवित्रता को चुनौती दी।

8. विवाहित स्त्री का सामाजिक स्थान-

विवाह के बाद स्त्री की भूमिका गृहिणी की बन जाती थी, जो पति की सेवा, संतानोत्पत्ति और कुल की मर्यादा बनाए रखने तक सीमित थी। पति की सहधर्मिणी कहलाने के बावजूद स्त्री के पास कोई सामाजिक या कानूनी अधिकार नहीं थे। मायके से संबंध सीमित होते चले गए और वह ससुराल में पूरी तरह समर्पित जीवन जीने को बाध्य थी।

9. साहित्य और कला में विवाह-

गुप्तकालीन साहित्य में विवाह एक प्रमुख विषय रहा। कालिदास की रचनाओं में विवाह को सौंदर्य, प्रेम और त्याग के

प्रतीक के रूप में दर्शाया गया। 'शकुंतला' नाटक में प्रेमविवाह का चित्रण है, लेकिन उसमें भी स्त्री को स्मृतिभ्रंश और त्याग जैसी परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है। स्थापत्य और मूर्तिकला में राम-सीता या शिव-पार्वती विवाह जैसे धार्मिक विवाह दृश्य उकेरे गए।

मौर्योत्तर काल से गुप्त काल तक विवाह संस्था ने समाज को संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, लेकिन इस प्रक्रिया में यह स्त्री की स्वतंत्रता, इच्छा और आत्मसम्मान को नियंत्रित करने का भी माधयम बन गई। विवाह को धर्म, जाति और कुल की मर्यादा से इस हद तक जोड़ा गया कि वह एक पवित्र बंधन कम, सामाजिक अनुशासन का यंत्र अधिक बन गया।

संस्कार-

भारतीय सभ्यता में संस्कार केवल धार्मिक क्रियाएँ नहीं थे, बल्कि वे जीवन के प्रत्येक चरण को अनुशासित, नैतिक और सामाजिक रूप से परिपक्व बनाने वाले सुसंगठित अनुष्ठान थे। प्राचीन ;षियों द्वारा प्रतिपादित ये संस्कार, जन्म से लेकर मृत्यु तक जीवन के क्रमिक विकास को दर्शाते थे। उत्तर-मौर्य काल से लेकर गुप्त युग तक, इन संस्कारों में सामाजिक जटिलताओं, वर्ण व्यवस्था, धार्मिक पुनरुत्थान और सांस्कृतिक एकरूपता के चलते विशेष परिवर्तन और पुनर्संगठन हुआ।

1. वैदिक परंपरा से पुनरुत्थान की ओर-

गुप्त काल से पहले के युग में बौद्ध और जैन प्रभाव के चलते वैदिक संस्कारों में कुछ हद तक शिथिलता आई थी। परंतु गुप्त काल में हिंदू धर्म के पुनरुत्थान के साथ वैदिक परंपराओं का फिर से आयोजन हुआ। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति और गृह्यसूत्रों में उल्लिखित संस्कारों को समाज में अधिक मजबूती के साथ लागू किया गया। ब्राह्मण वर्ग ने संस्कारों को धर्म और वर्ण के साथ फिर से गहराई से जोड़ा।

2. वर्ण और संस्कार-

इस काल में संस्कारों का पालन वर्ण के अनुसार सुनिश्चित हो गया। ब्राह्मणों और क्षत्रियों में संपूर्ण संस्कारों का पालन अनिवार्य था। वैश्य समुदाय में चयनात्मक रूप से कुछ संस्कार अपनाए गए। शूद्र वर्ग के लिए उपनयन जैसे कई संस्कार निषिद्ध माने गए। इस प्रकार संस्कार वर्णानुशासन का समर्थन करने वाले धार्मिक उपकरण बन गए।

3. जीवन की शुरुआत से जुड़े संस्कार-

सामान्य जीवन की शुरुआत से जुड़े संस्कार गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन और चूड़ाकर्म थे। ये सभी प्रारंभिक जीवन से जुड़े संस्कार थे, जो सामाजिक स्वीकार्यता, स्वास्थ्य, और धार्मिक संरक्षण के प्रतीक थे। गभ. ार्धान संस्कार से संतानोत्पत्ति की धार्मिक नींव रखी जाती थी। पुंसवन और सीमन्तोन्नयन मातृत्व सुरक्षा और संतान के शुभ भविष्य के लिए किए जाते थे। जातकर्म से शिशु को सामाजिक जीवन में प्रवेश मिलता था, जबकि नामकरण उसकी व्यक्तिगत पहचान का प्रारंभ था। अन्नप्राशन और मुंडन जैसे संस्कार शारीरिक और मानसिक विकास से जुड़े थे। इन संस्कारों को सामाजिक उत्सव का रूप दिया गया, और वे केवल धार्मिक नहीं, सांस्कृतिक भी बन गए।

4. शिक्षा और ब्रह्मचर्य के संस्कार-

उपनयन संस्कार उस युग का सबसे महत्त्वपूर्ण शैक्षणिक संस्कार था। इसके माधयम से बालक गुरु के सान्निधय में प्रवेश करता और वेदों का अध्ययन प्रारंभ करता। यह केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जातियों तक सीमित था। इस संस्कार से समाज में शिष्य-गुरु परंपरा को बल मिला और शिक्षा एक धार्मिक अनुष्ठान बन गई। नालंदा, तक्षशिला जैसे शैक्षणिक संस्थान इस परंपरा के केन्द्र बने। गुप्त काल में यह संस्कार सामाजिक प्रतिष्ठा का भी माध्यम था।

5. विवाह संस्कार- सामाजिक उत्तरदायित्व का आरंभ

विवाह संस्कार को उस समय केवल वैयक्तिक संबंध नहीं, बल्कि धार्मिक कर्तव्य और सामाजिक संस्था के रूप में देखा जाता था। विवाह को स्त्री और पुरुष के धर्म, अर्थ और संतानोत्पत्ति के दायित्व का आरंभ माना गया। स्त्री की भूमिका 'पति की

सहधर्मिणी' के रूप में परिभाषित होती थी। विवाह संस्कार में धार्मिक अनुष्ठान, मंत्रोच्चार, सप्तपदी आदि का विशेष महत्व था। यह संस्कार परिवार की मर्यादा और समाज की संरचना को स्थिर बनाए रखने का मुख्य माधयम बन गया।

6. गृहस्थ जीवन और दैनिक कर्तव्यों से जुड़े संस्कार-

विवाह के पश्चात गृहस्थ जीवन की शुद्धता बनाए रखने हेतु कुछ संस्कारों का पालन किया जाता था जैसे गृहप्रवेश, पचायतन पूजन, आदि। ये वैदिक जीवनशैली को दैनिक व्यवहार से जोड़ते थे। इस काल में घर-गृहस्थी को भी आधयात्मिक रूप देने की चेष्टा की गई।

7. वानप्रस्थ और संन्यास की ओर अग्रसर संस्कार-

जीवन के अंतिम दो आश्रम वानप्रस्थ और संन्यास कृ के साथ जुड़े संस्कार इस बात को रेखांकित करते हैं कि जीवन का अंतिम लक्ष्य केवल भौतिक सुख नहीं, बल्कि मोक्ष प्राप्ति है। गुप्त काल में यद्यपि अधिकतर लोग गृहस्थ आश्रम में ही रहते थे, किंतु संन्यास को उच्च धार्मिक स्थिति माना जाता था। कुछ विद्वान एवं राजा जैसे समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी त्यागमय जीवन में प्रवृत्त हुए।

8. मृत्यु से जुड़े संस्कार-

अंत्येष्टि या अंतिम संस्कार उस युग में एक शुद्धिकरण प्रक्रिया के रूप में देखा गया। मृत्यु के बाद शवदाह, पिंडदान, श्राद्ध और तर्पण जैसे कर्म मृतक की आत्मा की शांति के लिए किए जाते थे। इस प्रक्रिया में कुल परंपरा, गोत्र, और पूर्वजों की स्मृति को विशेष स्थान दिया जाता था। गुप्त काल में अंतिम संस्कार का वैदिक स्वरूप स्थिर और विस्तृत हो चुका था।

9. बौद्ध-जैन दृष्टिकोण से संस्कार-

बौद्ध और जैन परंपराओं में वैदिक संस्कारों को आवश्यक नहीं माना गया। बौद्ध धर्म में प्रव्रज्या और उपसम्पदा जैसे दीक्षा-संस्कार अधिक महत्वपूर्ण थे। जैन धर्म में क्षमावाणी, संलेखना आदि आधयात्मिक अभ्यासों को प्राथमिकता दी गई। फिर भी, लोकाचार में वैदिक संस्कारों का प्रभाव शहरी और ब्राह्मण बहुल क्षेत्रों में बना रहा।

मौर्योत्तर काल से गुप्त काल तक संस्कारों ने सामाजिक और धार्मिक जीवन को दिशा देने का कार्य किया। उन्होंने व्यक्ति को समाज और धर्म से जोड़े रखा, किन्तु उनके कठोर जातीय विभाजन के कारण समानता की भावना बाधित हुई। फिर भी, इन संस्कारों ने भारत की सांस्कृतिक निरंतरता, पारिवारिक संस्थाओं की मजबूती और जीवन के हर चरण को धर्म से जोड़ने का कार्य किया।

5 अंक के प्रश्न-

1. वर्ण व्यवस्था क्या थी?
2. गुप्त काल में स्त्रियों की स्थिति लिखिए।
3. संयुद्र परिवार प्रणाली का वर्णन कीजिए।
4. जाति व्यवस्था की विशेषताएँ बताइए।
5. गुप्तकालीन समाज की मुख्य विशेषताएँ लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. मौर्योत्तर काल की सामाजिक व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
2. गुप्तकालीन समाज का विस्तृत अधययन कीजिए।
3. वर्ण एवं जाति व्यवस्था का विश्लेषण कीजिए।
4. गुप्त काल में स्त्रियों की स्थिति पर निबंधा लिखिए।

MCQ

1. वर्ण व्यवस्था कितने भागों में विभाजित थी?

(A) 2

(B) 3

(C) **4**

(D) 5

उत्तर (C)

2. संयुद्र परिवार प्रणाली किस काल में प्रचलित थी?

(A) **गुप्त काल**

(B) आधुनिक काल

(C) ब्रिटिश काल

(D) सल्तनत काल

उत्तर (A)

3. समाज का सबसे बडा वर्ग कौन था?

(A) व्यापारी

(B) **किसान**

(C) सैनिक

(D) कलाकार

उत्तर (B)

महत्वपूर्ण बिंदु-

- समाज वर्ण एवं जाति व्यवस्था पर आधाारित था।
- संयुद्र परिवार प्रथा प्रचलित थी।
- स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आई।
- ब्राह्मणों का सामाजिक सम्मान बढा।

शब्दावली-

शब्द अर्थ

वर्ण - सामाजिक वर्ग

जाति - जन्म आधाारित सामाजिक समूह

संयुद्र - परिवार एक साथ रहने वाला परिवार

सामाजिक- व्यवस्था समाज की संरचना

इकाई-4.2 मौर्योतर काल से गुप्त काल (ई.पू. 185 ई. 550) तक की आर्थिक स्थिति

उद्देश्य –

1. प्राचीन आर्थिक व्यवस्था को समझना।
2. व्यापार एवं ख़षि व्यवस्था का अधययन करना।
3. सिक्का प्रणाली एवं उद्योगों का विश्लेषण करना।

मौर्य साम्राज्य के पतन और गुप्त साम्राज्य के अवसान के बीच का काल प्राचीन भारत के आर्थिक इतिहास का एक अत्यंत परिवर्तनकारी युग था। इस लंबे कालखंड में शुंग, सातवाहन, इंडो-ग्रीक, शक, कुषाण और अंततः गुप्त जैसे अनेक राजवंशों का उदय हुआ। इस समय में व्यापार प्रणाली, कृषि, शहरीकरण, मुद्रण व्यवस्था, शिल्प उत्पादन और सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं में व्यापक परिवर्तन देखने को मिले। भारत की आर्थिक दशा न केवल आंतरिक परिवर्तनों, बल्कि अंतर-क्षेत्रीय और वैश्विक प्रभावों से भी प्रभावित हुई।

मौर्योतर काल की आर्थिक स्थिति (ई.पू. 185 दृ ई. 300)

मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात भारत में राजनैतिक विखंडन हुआ और अनेक क्षेत्रीय शक्तियाँ उभरीं। यद्यपि एक अखिल भारतीय साम्राज्य का अभाव था, फिर भी आर्थिक संरचना सक्रिय बनी रही, जिसके कारण व्यापार, सिक्का प्रचलन और क्षेत्रीय शासन-व्यवस्था बनी रही।

1. कृषि और भू-राजस्व-

कृषि अर्थव्यवस्था की रीढ़ बनी रही। शुंगों और सातवाहनों जैसे शासकों ने भूमि कर को राजस्व का प्रमुख स्रोत बनाए रखा। जलाशयों, नहरों और कुओं जैसे सिंचाई साधनों के प्रमाण उन्नत कृषि तकनीकों की ओर संकेत करते हैं। सातवाहन काल में भूमि दान की परंपरा शुरू हुई, विशेषतः ब्राह्मणों और धार्मिक संस्थानों को भूमि दान किया जाने लगा। इससे अर्ध-सामंतवाद और कृषि का विकेंद्रीकरण प्रारंभ हुआ।

2. शहरीकरण और व्यापार केंद्र-

यद्यपि राजनीतिक रूप से क्षेत्रीय विखंडन था, फिर भी शहरी जीवन समृद्ध रहा। पाटलिपुत्र, तक्षशिला, उज्जैन और अम. रावती जैसे नगर समृद्ध व्यापार केंद्र बने रहे। भरुच द्धभरुकच्छऋ, सोपारा और अरिकमेडु जैसे बंदरगाह समुद्री व्यापार में सक्रिय रहे। उत्तरापथ और दक्षिणापथ जैसे स्थल मार्गों और रोमन साम्राज्य व दक्षिण-पूर्व एशिया से जुड़े समुद्री मार्गों के विस्तार से शहरीकरण को बल मिला।

3. आंतरिक और बाह्य व्यापार-

भारत का व्यापार रोमन साम्राज्य, मधय एशिया और चीन तक ैला था। भारत से मसाले, सूती व रेशमी वस्त्र, रत्न, हाथीदांत और पशु निर्यात होते थे। रोम से सोने-चांदी के सिक्के, मदिरा, कांच के बर्तन और विलासिता की वस्तुएँ मंगाई जाती थीं। दक्षिण भारत और पश्चिमी तटीय क्षेत्रों में रोमन सिक्कों की प्रचुरता इस व्यापार की पुष्टि करती है।

4. मुद्रा प्रणाली और मौद्रिक अर्थव्यवस्था-

इस काल में मुद्राओं की विविधता देखने को मिलती है। इंडो-ग्रीकों ने यूनानी शैली की द्विभाषी चाँदी और सोने की मुद्राएँ

चलाई। शक और कुषाणों ने यूनानी प्रतीकों और भारतीय धार्मिक चिन्हों सहित सोने की मुद्राएँ जारी कीं। सातवाहनों ने मुख्यत: सीसा और तांबे की मुद्राएँ दक्षिण भारत में चलायीं। सिक्कों के व्यापक उपयोग से मौद्रिक अर्थव्यवस्था और बाजार की सक्रियता का संकेत मिलता है।

5. शिल्प उत्पादन और श्रेणियाँ-

वस्त्र निर्माण, धातुकर्म, मृद्भांड निर्माण, आभूषण निर्माण और काष्ठकला जैसे शिल्पों का विकास हुआ। सातवाहनों और कुषाणों ने राज्य समर्थन और धार्मिक संरक्षण के माधयम से शिल्पियों को प्रोत्साहन दिया। श्रेणियाँ (श्रेणि) व्यावसायिक संगठन के रूप में कार्य करती थीं जो उत्पादन, मूल्य निर्धारण और व्यापार को नियंत्रित करती थीं। ये श्रेणियाँ धार्मिक स्थापत्य और सार्वजनिक कार्यों में भी दान देती थीं।

6. राजस्व व्यवस्था-

मौर्योतर राज्य कर-संग्रह और आर्थिक प्रशासन के जटिल तंत्र बनाए रखते थे। शिलालेखों में भाग (उपज का अंश), बलि (नैवेद्य), कर (भूमि कर), और शुल्क जैसे करों का उल्लेख मिलता है। भूमि कर, व्यापार शुल्क, शिल्पियों और व्यापारियों से लिया गया कर राज्य आय के मुख्य स्रोत थे।

गुप्त काल की आर्थिक स्थिति (ई. 320 दृ 550)

गुप्त साम्राज्य के शासनकाल को प्राचीन भारत का ष्स्वर्ण युगष कहा जाता है। यह काल आर्थिक समृद्धि के साथ-साथ सामाजिक असमानताओं और सामंती प्रवृत्तियों की वृद्धि का भी साक्षी रहा।

1. कृषि विस्तार और भूमि दान-

गुप्तों ने कृषि विस्तार के लिए जंगलों को साफ कर नई बस्तियाँ बसाई। अधिशेष उत्पादन ने शहरीकरण और व्यापार को बल दिया। भूमि दान अब अधिक संगठित रूप से हुआ। दान प्राय: ब्राह्मणों या धार्मिक संस्थाओं को कर-मुक्त रूप में होते थे, जिनमें कभी-कभी प्रशासनिक अधिकार भी सम्मिलित होते थे। ताम्रपत्रों पर लिखित अभिलेख भूमि दान व्यवस्था का प्रमाण हैं। इससे जमींदार वर्ग और सामंती अर्थव्यवस्था की नींव पड़ी।

2. शहरीकरण और आर्थिक केंद्र-

पाटलिपुत्र, उज्जैन, मथुरा और ताम्रलिप्त जैसे नगर प्रशासनिक, धार्मिक और व्यापारिक केंद्र बने। हाट, मंडियाँ और सराय जैसे केंद्र आर्थिक गतिविधियों के लिए प्रसिद्ध थे। बुनकर, कुम्हार, सोनार, व्यापारी, साहूकार और लेखक जैसे शहरी पेशे सक्रिय थे। परंतु गुप्त काल के उत्तरार्द्ध में कुछ क्षेत्रों में नगरीकरण में गिरावट आई।

3. व्यापार और वाणिज्य-

गुप्त शासन के प्रारंभिक वर्षों में व्यापार चरम पर था। भारत का व्यापार रोमन साम्राज्य (उसके पतन तक), मधय एशिया, चीन और दक्षिण-पूर्व एशिया से जुड़ा रहा। रेशम मार्ग भारत, चीन और मध्य एशिया को जोड़ता था। बंगाल का ताम्रलिप्त, दक्षिण भारत का कावेरीपट्नम और गुजरात का भरुच समुद्री व्यापार के प्रमुख बंदरगाह थे। मुख्य निर्यात वस्तुएँ- मलमल, रेशम, नील, मसाले, रत्न। आयात- चीनी रेशम, रोमन कांच और मधय एशियाई घोड़े।

4. मुद्रा प्रणाली और बैंकिंग-

गुप्तों ने विविध प्रकार की मुद्राएँ जारी कीं- स्वर्ण मुद्राएँ (दीनार) जिन पर देवताओं, राजाओं और अभिलेखों की छवियाँ होती थीं। चाँदी और तांबे की मुद्राएँ स्थानीय उपयोग के लिए थीं। मुद्राओं की गुणवत्ता व कला दर्शाती है कि अर्थव्यवस्था मौद्रिक

और उन्नत थी। व्यापारी श्रेणियाँ और व्यक्ति ऋणदाता और बैंकिंग कार्य में सक्रिय थे।

5. शिल्प उत्पादन और श्रेणियाँ-

गुप्त काल में शिल्पों की उत्कृष्टता अपने चरम पर पहुँची। मूर्तिकला, मिटी की मूर्तियाँ, वस्त्र निर्माण और धातुकर्म विशेष रूप से उन्नत हुए। दिल्ली के लौह स्तंभ जैसे उदाहरण धातुकर्म की प्रगति को दर्शाते हैं। श्रेणियाँ न केवल आर्थिक संगठन थीं, बल्कि धार्मिक अनुदानों और सामाजिक कार्यों में भी भागीदार बनीं।

6. कर व्यवस्था और राजस्व-

भूमि कर अभी भी राज्य आय का प्रमुख स्रोत था, जो उपज का एक-चौथाई या एक-छठा भाग होता था। अन्य कर-भोग (उत्पादन कर), करा (भूमि कर), छिद्र (विशेषाधिकार) आदि। व्यापार कर, टोल, और व्यावसायिक कर भी वसूले जाते थे। ताम्रपत्रों और अभिलेखों में ब्राह्मणों और मंदिरों को कर-मुक्ति की जानकारी मिलती है।

7. आर्थिक विषमता और सामाजिक स्तरीकरण-

आर्थिक समृद्धि के बावजूद सामाजिक विषमता बढ़ी। भूमि दान प्रणाली के चलते एक शक्तिशाली भू-स्वामी वर्ग उत्पन्न हुआ। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्गों को विशेषाधिकार मिले जबकि निम्न वर्ण और अवर्ण बहिष्कृत हुए। जाति व्यवस्था कठोर होने से आर्थिक गतिशीलता सीमित हुई।

मौर्योतर काल से गुप्त काल तक की आर्थिक स्थिति निरंतरता और परिवर्तन का मिश्रण थी। इस काल में कृषि विकास, जीवंत व्यापार, उन्नत शिल्प और विकसित मौद्रिक प्रणाली देखी गई। मौर्योतर काल में विदेशी राजवंशों के अधीन सांस्कृतिक समन्वय और व्यापारिक गतिशीलता प्रमुख थी, जबकि गुप्त काल में आर्थिक एकीकरण, सांस्कृतिक संरक्षण और सामाजिक स्तरीकरण संस्थ. ागत रूप में विकसित हुए। हालाँकि, भूमि दानों की वृद्धि, कठोर जाति व्यवस्था और विदेशी आक्रमणों ने इस समृद्धि की स्थिरता को चुनौती दी। इन कालों की आर्थिक प्रवृत्तियों ने प्रारंभिक मध्यकालीन भारत के सामाजिक और राजनीतिक ढाँचे को गहराई से प्रभावित किया।

5 अंक के प्रश्न-

1. प्राचीन भारत में ख़षि का महत्व लिखिए।
2. गुप्तकालीन व्यापार की स्थिति कैसी थी?
3. सिक्कों का महत्व बताइए।
4. उद्योगों की भूमिका लिखिए।
5. समुद्री व्यापार क्या था?

15 अंक के प्रश्न-

1. गुप्तकालीन आर्थिक व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
2. व्यापार एवं उद्योग का विश्लेषण कीजिए।
3. ख़षि व्यवस्था की विशेषताएँ बताइए।
4. प्राचीन भारत के आंतरिक एवं विदेशी व्यापार पर प्रकाश डालिए।

MCQ

1. प्राचीन भारत की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधाार क्या था?

(A) उद्योग

(B) व्यापार

(C) ख़षि

(D) युद्ध

उत्तर ख़षि

2. समुद्री व्यापार किस माधयम से होता था?

(A) सडक मार्ग

(B) नदी मार्ग

(C) **जल मार्ग**

(D) वायु मार्ग

उत्तर (C)

3. गुप्त काल में किस धाातु के सिक्के प्रसि) थे?

(A) लोहे

(B) तांबे

(C) **सोने**

(D) चाँदी

उत्तर (C)

महत्वपूर्ण बिंदु-

- ख़षि अर्थव्यवस्था का मुख्य आधाार थी।
- व्यापार मार्ग विकसित थे।
- विदेशी व्यापार से समृ) बढी।
- स्वर्ण मुद्राएँ प्रचलित थीं।

शब्दावली-

शब्द अर्थ

अर्थव्यवस्था -आर्थिक व्यवस्था

व्यापार -वस्तुओं का क्रय-विक्रय

मुद्रा - सिक्का

उद्योग -उत्पादन कार्य

इकाई-4.3 नवीन धार्मिक परम्पराओं का उद्भव एवं विकास

उद्देश्य-

1. विभिन्न धार्मों के विकास को समझना।
2. बौद्ध एवं जैन धार्म का अधययन करना।
3. भक्ति परंपरा एवं धार्मिक सहिष्णुता का विश्लेषण करना।

मौर्य साम्राज्य के पतन से लेकर गुप्त साम्राज्य के पतन तक का कालखंड भारत की धार्मिक संरचना में महत्वपूर्ण परिवर्तनों का साक्षी रहा। इस युग में ब्राह्मणवाद का पुनरुत्थान, बौद्ध और जैन धर्म का विकास तथा नई धार्मिक परंपराओं और आस्थाओं का उदय देखा गया। देशी परंपराओं और विदेशी प्रभावों के सम्मिलन से धर्म की विविधता और समन्वय का एक समृद्ध स्वरूप विकसित हुआ।

मौर्योतर काल-

1. ब्राह्मणवाद का पुनरुत्थान-

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद ब्राह्मणवाद का पुनर्जागरण विशेषत: शुंग वंश के शासनकाल में हुआ। इस वंश के संस्थापक ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने वैदिक यज्ञों और अनुष्ठानों जैसे अश्वमेध यज्ञ का आयोजन कर ब्राह्मणवादी सत्ता को पुन: सुदृढ़ किया। इस काल में वर्ण व्यवस्था की पुनर्स्थापना और ब्राह्मणवादी रूढ़िवाद की पुष्टि हुई।

2. बौद्ध धर्म का विकास-

इस काल में बौद्ध धर्म ने सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों के अनुसार स्वयं को ढाला और फलता-फूलता रहा। कुषाण सम्राट कनिष्क जैसे शासकों के संरक्षण में महायान बौद्ध धर्म का विकास हुआ, जिसमें बोधिसत्वों की अवधारणा और भक्ति परंपरा का प्रमुख स्थान था। गांधार और मथुरा शैली की कला का उदय हुआ, जिसमें बुद्ध को मानव रूप में चित्रित किया गया, जो कि हेलेनिस्टिक (यूनानी) कला से प्रभावित था।

3. जैन धर्म की निरंतर उपस्थिति-

जैन धर्म, विशेष रूप से पश्चिमी भारत में, व्यापारिक समुदायों के संरक्षण में स्थिर रूप से विद्यमान रहा। इस काल में आयागपट जैन पूजा में प्रयुक्त समर्पण पटिकाएँ का निर्माण हुआ, जिनमें शुभ चिन्हों और तीर्थंकरों की आकृतियाँ अंकित होती थीं। मथुरा जैन कला और वास्तुकला का प्रमुख केंद्र बना।

4. धार्मिक समन्वय और विदेशी प्रभाव-

इस काल में इंडो-यूनानी, शक और कुषाण शासकों के आगमन से नए सांस्कृतिक और धार्मिक तत्व भारत में आए। इन विदेशी शासकों ने स्थानीय धार्मिक परंपराओं को अपनाया, जिससे विभिन्न धार्मिक मान्यताओं का सम्मिलन हुआ। विशेष रूप से गांध ार क्षेत्र, हेलेनिस्टिक और भारतीय धार्मिक कलाओं के संगम का केंद्र बन गया, जो इस युग की समन्वयकारी प्रवृत्ति को दर्शाता है।

गुप्त काल -

1. हिंदू धर्म का सुदृढ़ीकरण-

गुप्त साम्राज्य हिंदू धर्म के लिए ष्स्वर्ण युगष के रूप में जाना जाता है। चंद्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त प्रथम जैसे शासक प्रबल हिंदू थे और उन्होंने ब्राह्मणवादी संस्थानों को संरक्षण प्रदान किया। इस युग में वैष्णव और शैव संप्रदायों को प्रमुखता मिली, तथा विष्णु और शिव की पूजा व्यापक रूप से प्रचलित हुई। शक्ति पूजा का भी विकास हुआ, जिसमें देवी तत्व को प्रधान माना गया।

2. बौद्ध धर्म का सतत प्रभाव-

हिंदू धर्म के पुनरुत्थान के बावजूद, बौद्ध धर्म का प्रभाव बना रहा। कुमारगुप्त प्रथम द्वारा स्थापित नालंदा विश्वविद्यालय बौद्ध शिक्षा का प्रमुख केंद्र बन गया, जहाँ एशिया भर से विद्वान अधययन के लिए आते थे। किंतु बौद्ध धर्म की आंतरिक शाखाओं और इसकी हिंदू तत्वों में विलीनता ने इसकी विशिष्ट पहचान को धीरे-धीरे कमजोर किया।

3. जैन धर्म का क्षेत्रीय महत्व-

जैन धर्म, विशेष रूप से बंगाल जैसे क्षेत्रों में, जीवित और सक्रिय रहा। इस काल के अभिलेखों और भूमि दानों से यह प्रमाणित होता है कि जैन मठों को संरक्षण मिलता रहा। यद्यपि इसे राजकीय संरक्षण कम मिला, फिर भी कुछ समुदायों के बीच इसकी लोकप्रियता बरकरार रही, जिससे यह गुप्त काल में भी जीवित और विस्तारित होता रहा।

4. तांत्रिक परंपराओं का उदय-

गुप्त काल में तांत्रिक परंपराओं का उदय हुआ, जिनकी पहचान गूढ़ अनुष्ठानों और देवी-देवताओं जैसे काली और भैरव की पूजा से होती है। यह परंपरा हिंदू धर्म और बौद्ध धर्म दोनों को प्रभावित करती थी। इसके परिणामस्वरूप वज्रयान बौद्ध धर्म का विकास हुआ, जिसमें तांत्रिक तत्वों के साथ-साथ स्त्री देवी की महत्वपूर्ण भूमिका रही।

सांस्कृतिक और कलात्मक अभिव्यक्तियाँ-

इस काल की धार्मिक गतिविधियाँ कला और वास्तुकला में भी परिलक्षित हुईं। मंदिरों, स्तूपों और मठों का निर्माण हुआ, जिनमें सुंदर शिल्पकारी और मूर्तिकला देखने को मिलती है। अजंता और एलोरा की गुफाएँ इस युग की धार्मिक प्रेरणा से प्रेरित कलात्मक उत्कृष्टताओं की साक्षी हैं।

मौर्योतर काल से गुप्त काल तक का समय धार्मिक बहुलता और परिवत. न का युग रहा। पुनरुत्थानवादी आंदोलनों, विदेशी प्रभावों और नवीन परंपराओं के समागम ने धार्मिक जीवन को बहुविध और समृद्ध बनाया। इस काल में डाले गए धार्मिक और सांस्कृतिक आधारों ने भारतीय उपमहाद्वीप की आधयात्मिक और सांस्कृतिक चेतना को शताब्दियों तक प्रभावित किया।

5 अंक के प्रश्नँ-

1. बौध धार्म की मुख्य शिक्षाएँ लिखिए।
2. जैन धार्म का परिचय दीजिए।
3. भद्रि परंपरा क्या थी?
4. धार्मिक सहिष्णुता से क्या अभिप्राय है?
5. गुप्त काल में वैदिक धार्म की स्थिति लिखिए।

15 अंक के प्रश्नँ-

1. मौर्योत्तर कालीन धार्मिक विकास का वर्णन कीजिए।
2. बौध एवं जैन धार्म की तुलना कीजिए।
3. गुप्तकालीन धार्मिक स्थिति का विश्लेषण कीजिए।
4. भद्रि आंदोलन की प्रारम्भिक स्थिति पर निबंधा लिखिए।

MCQ

1. जैन धार्म के 24वें तीर्थंकर कौन थे?

(A) बौध

(B) **महावीर**

(C) अशोक

(D) कनिष्क

उत्तर (B)

2. बौधधार्म के संस्थापक कौन थे?

(A) महावीर

(B) **बुध**

(C) अशोक

(D) समुद्रगुप्त

उत्तर (B)

3. गुप्त काल में किस धार्म का पुनरुत्थान हुआ?

(A) जैन धार्म

(B) बौध धार्म

(C) **वैदिक धार्म**

(D) इस्लाम

उत्तर (C)

महत्वपूर्ण बिंदु-

- बौध एवं जैन धार्म का व्यापक प्रसार हुआ।
- वैदिक धार्म का पुनरुत्थान हुआ।
- धाार्मिक सहिष्णुता की भावना थी।
- भद्रि परंपरा का विकास प्रारम्भ हुआ।

शब्दावली-

शब्द अर्थ

- तीर्थंकर- जैन धार्म गुरु
- निर्वाण - मोक्ष
- भद्रि- ईश्वर के प्रति समर्पण
- सहिष्णुता- सहनशीलता

इकाई-4.4 स्थापत्य कला और मूर्तिकला का विकास

उद्देश्य-

1. प्राचीन स्थापत्य कला को समझना।
2. गांधाार एवं मथुरा कला का अधययन करना।
3. मूर्तिकला एवं वास्तुकला की विशेषताओं का विश्लेषण करना।

मौर्योतर काल (ई.पू. 185) से लेकर गुप्त साम्राज्य के अंत (ई. 550) तक का काल भारतीय कला और वास्तुकला के लिए एक परिवर्तनकारी चरण था। इस युग में विशिष्ट कलात्मक शैलियों का उदय हुआ, धार्मिक प्रतीकात्मकता (आइकोनोग्राफी) का विकास हुआ, और वास्तुकला के ऐसे रूपों की स्थापना हुई जिन पर शास्त्रीय भारतीय कला की नींव टिकी है।
मौर्योतर कला और वास्तुकला (ई.पू. 185 दृ ई. 300)

1. क्षेत्रीय कलात्मक शैलियों का उदय-

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद शुंग, सातवाहन और कुषाण जैसे अनेक क्षेत्रीय शक्तियों ने कला को संरक्षण दिया, जिससे विभिन्न कलात्मक शैलियों का विकास हुआ।

गांधार शैली-

वर्तमान पाकिस्तान और अफगानिस्तान में स्थित इस शैली ने भारतीय विषयों को यूनानी-रोमीय कलात्मक तकनीकों के साथ जोड़ा। यह बुद्ध की यथार्थवादी मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध है, जिनमें लहराते बाल, ढीले वस्त्र और सजीव चेहरे की अभिव्यक्तियाँ होती हैं।

मथुरा शैली-

उत्तर भारत में विकसित इस शैली में स्वदेशी विशेषताएँ दिखती हैं। यह शैली सुदृढ़ आकृतियों, मुस्कराते चेहरों और भारी आभूषणों के लिए जानी जाती है। इसमें बुद्ध, जैन तीर्थंकरों और हिंदू देवताओं की मूर्तियाँ बनाई गई।

अमरावती शैली-

आंध्र क्षेत्र में विकसित इस शैली की विशेषता है चूना पत्थर पर की गई जटिल नक्काशी। इसमें बुद्ध के जीवन प्रसंगों और जातक कथाओं का चित्रण किया गया है। अमरावती स्तूप इस शैली का प्रमुख उदाहरण है।

2. स्तूप वास्तुकला-

इस काल में स्तूपों के निर्माण और अलंकरण की परंपरा जारी रही। सांची स्तूप- मूलतः अशोक द्वारा निर्मित, इसे शुंग काल में विस्तार दिया गया। इसमें सुंदरता से अलंकृत तोरण (द्वार) और रेलिंग हैं, जिन पर बौद्ध कथाएँ चित्रित हैं। भरहुत स्तूप- इसकी रेलिंगों और गोलाकार अलंकरणों पर जातक कथाओं और अन्य बौद्ध प्रतीकों की विस्तृत नक्काशी मिलती है।

3. शैलकृत वास्तुकला-

धार्मिक उद्देश्यों के लिए चटानों को काटकर गुफाएँ बनाने की परंपरा इस काल में उन्नति पर थी।

अजंता गुफाएँ-

महाराष्ट्र में स्थित ये गुफाएँ कई शताब्दियों में विकसित हुई। प्रारंभिक गुाएँ सातवाहन काल की हैं। इनमें चौत्य गृह (प्रार्थना

स्थल) और विहार (मठ) हैं, जो सुंदर मूर्तियों और भित्ति चित्रों से सुसज्जित हैं।

नासिक और कार्ला गुफाएँ-

ये बौद्ध भिक्षु जीवन के प्रमुख केंद्र बने और इनमें विस्तृत मुखौटे और सुंदर आंतरिक सज्जा वाले चौत्य गृह हैं।

4. धार्मिक प्रतीकात्मकता-

इस काल में धार्मिक कला में निराकार (अनाइकोनिक) से साकार (आइकोनिक) रूपांतरण देखा गया। बौद्ध धर्म इस युग में पहली बार बुद्ध को मानव रूप में दर्शाया जाने लगा। इसमें गांधार और मथुरा दोनों शैलियों का प्रभाव दिखाई देता है। जैन धर्म तीर्थंकरों को ध्यान मुद्रा में दर्शाया गया, जिनमें अलंकरण बहुत कम होता है, जिससे आत्मिक शुद्धता को प्रमुखता मिलती है। हिंदू धर्म विष्णु, शिव और देवी जैसे देवताओं को विशिष्ट प्रतीकों और लक्षणों के साथ दिखाया जाने लगा, जिससे बाद की हिंदू मूर्तिकला की आधारशिला रखी गई।

गुप्त कालीन कला और वास्तुकला (ई. 320 दृ 550)

1. भारतीय कला का स्वर्ण युग-

गुप्त काल को भारतीय कला और वास्तुकला का स्वर्ण युग कहा जाता है क्योंकि इस काल में इन क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति हुई। मूर्ति कला- गुप्त काल की मूर्तियाँ आदर्श सौंदर्य, सजीव अंग विन्यास और शांत मुखाभिव्यक्ति की विशेषताएँ लिए होती हैं। सारनाथ से प्राप्त बैठे हुए बुद्ध और मथुरा के खड़े हुए बुद्ध इसकी उत्कृष्ट मिसाल हैं।

टेराकोटा कला-

इस काल में मिटी की पटिकाएँ बनाई गईं जिनमें विविध विषयों को दर्शाया गया। ये तत्कालीन शिल्प कौशल का परिचायक हैं।

2. मंदिर वास्तुकला-

गुप्त युग में पत्थर से बने ढाँचे वाले मंदिरों का विकास हुआ। दशावतार मंदिर, देवगढ़- यह प्रारंभिक हिंदू मंदिरों में से एक है। इसमें एक वर्गाकार गर्भगृह, समतल छत और हिंदू मिथकों से संबंधित सुंदर नक्काशीदार भित्तियाँ हैं। भुमरा मंदिर- मधय प्रदेश में स्थित यह मंदिर अपने अलंकृत द्वारों और विभिन्न देवताओं की मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध है।

3. गुफा वास्तुकला और चित्रकला-

चटानों को काटकर बनाए गए गुफा मंदिरों और भित्ति चित्रों की परंपरा जारी रही। अजंता गुफाएँ- गुप्त काल में यहाँ की कई गुफाएँ भव्य भित्ति चित्रों से सजाई गईं। इनमें जातक कथाएँ, राजदरबार के दृश्य और दिव्य पात्रों का चित्रण है। ये चित्र अपने जीवंत रंगों और भाव-प्रदर्शन के लिए प्रसिद्ध हैं। उदयगिरि गुफाएँ-इनमें हिंदू धर्म की प्रारंभिक मूर्तियाँ मिलती हैं, जिनमें विष्णु और शिव के दृश्य शामिल हैं।

4. धार्मिक समन्वय-

गुप्त कालीन कला में विभिन्न धार्मिक धाराओं का सुंदर समन्वय परिलक्षित होता है। बौद्ध धर्म- महायान बौद्ध धर्म का प्रभाव बना रहा, साथ ही वज्रयान परंपरा की शुरुआत भी हुई, जिसमें तांत्रिक तत्वों को सम्मिलित किया गया। हिंदू धर्म विष्णु और शिव की पूजा विशेष रूप से लोकप्रिय हुई। मंदिरों और मूर्तियों में विभिन्न हिंदू देवताओं का चित्रण हुआ। जैन धर्म विशेष रूप से पश्चिमी भारत में जैन कला का विकास जारी रहा। इसमें मंदिरों का निर्माण और विस्तृत

मूर्तिकला शामिल थी।

मौर्योतर काल से लेकर गुप्त काल तक का समय भारतीय कला और वास्तुकला के क्षेत्र में अत्यंत महत्वपूर्ण रहा। इस युग में शैलकृत गुफाओं से ढाँचागत मंदिरों की ओर अग्रसर होती वास्तुकला, विविध कलात्मक शैलियों का विकास और समृद्ध धार्मिक प्रतीकात्मकता ने भारतीय कला की भावी दिशा निर्धारित की। इस काल की विरासत आज भी भारतीय सौंदर्यबोध और आधयात्मिक अभिव्यक्ति को प्रेरणा देती है

5 अंक के प्रश्न-

1. गांधाार कला क्या है?
2. मथुरा कला की विशेषताएँ लिखिए।
3. स्तूप का महत्व बताइए।
4. गुप्तकालीन स्थापत्य कला की विशेषताएँ बताइए।
5. अजंता गुाओं का महत्व लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. गुप्तकालीन कला एवं स्थापत्य का वर्णन कीजिए।
2. गांधाार एवं मथुरा कला की तुलना कीजिए।
3. प्राचीन भारतीय मूर्तिकला की विशेषताओं का अधययन कीजिए।
4. बौध स्थापत्य कला पर निबंधा लिखिए।

MCQ

1. गांधाार कला पर किसका प्रभाव था?

(A) यूनानी

(B) चीनी

(C) अरबी

(D) फारसी

उत्तर (A)

2. मथुरा कला किस शैली की प्रतीक थी?

(A) विदेशी

(B) **भारतीय**

(C) अरबी

(D) चीनी

उत्तर (B)

3. स्तूप किस धार्म से संबंधित है?

(A) जैन धार्म

(B) वैदिक धार्म

(C) **बौध धार्म**

(D) शैव धार्म

उत्तर (C)

महत्वपूर्ण बिंदु-

- गांधाार कला पर यूनानी प्रभाव था।
- मथुरा कला भारतीय शैली की थी।
- गुप्त काल में मंदिर निर्माण कला विकसित हुई।
- अजंता एवं एलोरा गुफाएँ प्रसिद्ध थीं।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
• स्थापत्य-	वास्तुकला
• मूर्तिकला-	प्रतिमा निर्माण कला
• स्तूप-	बौध स्मारक
• वास्तुकला	भवन निर्माण कला

|| OM ||

Advanced English communication Skills

BDPHAE-204

DIVYA PRAKASHAN

- **Course Objectives**

To reinforce grammar and vocabulary use, including subject-verb agreement, phrasal verbs, idioms, and homophones.

1. To develop effective listening and speaking skills for academic and professional contexts such as presentations, interviews, and group discussions.
2. To enhance reading comprehension through critical reading, analysis, and vocabulary development.
3. To strengthen writing skills in academic, business, and professional communication, with emphasis on clarity, tone, and accuracy.
4. To promote proofreading and editing skills to ensure well-polished communication in various formats.

- **Course Outcomes**

By the end of this course, students will be able to:

1. Apply advanced grammar and vocabulary accurately in both speech and writing.
2. Listen and respond effectively in academic and professional settings, including interviews, discussions, and public speaking.
3. Engage in structured debates and group discussions with clarity and confidence.
4. Read and analyze academic and professional texts critically for main ideas, tone, and purpose.
5. Interpret complex texts using advanced reading strategies and contextual vocabulary understanding.
6. Write academic essays, reports, business letters, resumes, and cover letters with proper structure and tone.
7. Edit and proofread written content for grammatical accuracy, coherence, and professionalism.

Table of Content

Table of Content

Block-1: Grammar and Vocabulary in use	**04-24**
Unit-1.1: Subject-verb Agreement	4-9
Unit-1.2: Reported Speech	10-15
Unit-1.3: Phrasal Verbs, Idioms and Collocations	16-20
Unit-1.4: Homophones and Homonyms	21-24
Block-2: Listening and Speaking Skills	**25-47**
Unit-2.1: Academic and Professional Listening	25-28
Unit-2.2: Public Speaking	29-33
Unit-2.3: Debates and Group Discussion	34-41
Unit-2.4: Interview	42-47
Block-3: Advanced Reading Strategies	**48-64**
Unit-3.1: Reading Academic and Professional Texts	48-52
Unit-3.2: Critical Reading	53-55
Unit-3.3: Analysis and Interpretation	56-59
Unit-3.4: Vocabulary in ontext	60-64
Block-4: Advanced Writing Skills	**65-**
Unit-4.1: Academic Writing	65-68
Unit-4.2: Business letters and Report Writing	69-74
Unit-4.3: Resume and Cover letter	75-81
Unit-4.4: Editing and Proof Reading	82-85

BLOCK-1
GRAMMAR AND VOCABULARY IN USE

Unit-1.1: Subject-Verb Agreement and Modals

Learning Objectives

By the end of this unit, learners will be able to:

1. Understand the rules of subject–verb agreement in English grammar.
2. Identify correct verb forms for singular and plural subjects.
3. Use modal verbs correctly in spoken and written English.
4. Differentiate between modals expressing ability, permission, advice, and obligation.
5. Construct grammatically correct sentences using subject–verb agreement and modals.

1.1 Introduction

Grammar is the set of rules that guides how we structure sentences to communicate clearly and effectively. Two important components of grammar are subject-verb agreement and modals. Subject-verb agreement means the verb must match the subject in number and person—for example, "He writes" and "They write." Modals, such as *can*, *must*, *should*, and *might*, are auxiliary verbs that express ability, necessity, permission, or possibility. They always come before the base form of the main verb. Understanding both subject-verb agreement and modals is essential for constructing grammatically correct sentences and expressing ideas accurately in both spoken and written English.

1.2 Subject-Verb Agreement

Subject-verb agreement refers to the grammatical rule that the subject and verb in a sentence must align in number—both must be singular, or both must be plural. Although this rule seems straightforward, there are several exceptions and specific structures that can complicate its application. This guide will help you identify different sentence structures and accurately determine the subject and verb agreement.

➢ Basic Rules of Subject-Verb Agreement

1. Subjects Joined by “And”

When two or more subjects are connected by *and*, the verb must be plural.

- *She and her mother are shopping today.*
- *He and his employees are in a meeting.*

In both examples, the compound subject requires a plural verb, "are."

2. Subjects Joined by “Or” or “Nor”

When singular subjects are connected by *or* or *nor*, use a singular verb.

- *The boss or the manager wants to speak with you.*
- *Neither the woman nor the man wants to buy the sofa.*

Although there are two subjects, the use of *or* or *nor* and their singular nature requires a singular verb form.

3. Mixed Subjects (Singular and Plural) with “Or” or “Nor”

When a singular and a plural subject are joined by *or* or *nor*, the verb agrees with the subject nearest to it.

- *Neither my mother nor my teachers are present.*
- *The girl or her friends are focused on the assignment.*

In both cases, the subject closest to the verb dictates whether the verb is singular or plural.

4. Interrupting Phrases

When a phrase comes between the subject and the verb, the verb must still agree with the main subject, not the noun within the phrase.

- *The manager, who has worked here for years, is very reliable.*
- *Payton and Carley, students at the university, are soccer players.*

Always ensure the verb matches the core subject, not any modifiers that may intervene.

➢ Exceptions to Standard Agreement Rules

1. Collective Nouns

Words like *team, group, committee, family,* and *pack* represent a group but are treated as singular when they act as a unit.

- *The team is flying to Florida for the tournament.*
- *The group is working on a project.*

Though these nouns imply multiple members, they are grammatically singular.

2. Amounts of Money

Monetary amounts are usually treated as singular, unless the reference is to individual units or general usage.

- *Three dollars is not enough for a coffee.* (referring to a total sum)
- *Dollars are used as currency in many countries.* (referring to dollars in general).

3. Sentences beginning with “There is” or “There are”

In such structures, "there" is not the subject. The verb must agree with the actual subject that follows it.

- *There is one bird on the windowsill.*
- *There are many species of birds.*

4. Interrogative Words as Subjects

Words like *who, what,* or *which* may begin a question, but they are not always the subject. The subject typically follows the verb in such constructions.

- *Who is younger, Taryn or Monica?*
- *Taryn is younger.*

➢ Common Errors and Corrections

Error 1: Mixed Subjects with “Or” or “Nor”

- ✗ *The actor or the actresses is required to attend.*
- ✓ *The actor or the actresses are required to attend.*

The verb should agree with the subject closest to it—*actresses*, which is plural

Error 2: Misidentifying Collective Nouns

- ✗ *The team are walking onto the field.*
- ✓ *The team is walking onto the field.*

Despite referring to multiple people, *team* is a singular noun.

Error 3: Distractions from Interrupting Phrases

- ✗ *The girl, who never misses practice, get to play the whole game.*
- ✓ *The girl, who never misses practice, gets to play the whole game.*

The main subject *girl* is singular, so the verb should be *gets*, not *get*.

1.3 Modals

Modal verbs—also referred to as modal auxiliaries—are a distinct category of verbs that function differently from regular verbs such as *work, play,* or *visit*. They serve to modify the meaning of the main verb that follows them and are primarily used to express the speaker's attitude or degree of certainty about an action or event.

➢ **Key Characteristics of Modal Verbs:**

- Modal verbs do not change their form. They do not take endings such as *-s*, *-ed*, or *-ing*.
- They are always followed by the base form (bare infinitive) of the main verb (without "to").
- Modal verbs help express modality, including notions such as certainty, possibility, permission, ability, obligation, necessity, and willingness.

➢ **Common Modal Verbs:**

- Primary modals:
  can, could, may, might, will, would, shall, should, must
- Semi-modals (which behave like modals in many ways):
  ought to, had better, dare, need not

➢ **Functions and Uses of Modal Verbs:**

Modal verbs serve various communicative purposes, including the following:

a. Permission
b. Ability
c. Obligation
d. Prohibition
e. Lack of necessity
f. Advice
g. Possibility
h. Probability

Note: With the exception of prohibition, modal verbs often help make speech and writing more polite and nuanced.

➢ **Detailed Use Cases with Examples:**

1. Asking for Permission

- *Can* is commonly used for informal requests:
  - *Can I ask a question, please?*
  - *Can we go home now?*
- *Could* is more polite and formal:
  - *Could I ask a question, please?*
  - *Could we go home now?*
- *May* is even more formal and is typically used in professional or respectful settings:
  - *May I ask a question, please?*

- *May we go home now?*

2. Giving Permission

- *Can* is used for granting informal permission:
  - *You can go home now if you like.*
  - *You can borrow my pen if you need it.*
- *May* offers a more polite or formal tone:
  - *You may go home now, if you like.*

3. Indicating Permission or Possibility

- *Can* denotes general permission or freedom:
  - *We can go out whenever we want.*
  - *Students can travel for free.*
- *May* expresses the same idea in a more formal context:
  - *Students may travel for free.*

1.4 Summary

Subject-verb agreement and modals are essential in learning the English language. Subject-verb agreement ensures that the verb matches the subject in number and person, which is key to grammatical accuracy and sentence clarity. Modals, such as *can*, *must*, and *should*, help express ability, possibility, necessity, or advice. Mastering both allows learners to form correct, meaningful sentences and communicate their thoughts clearly and effectively in both written and spoken English.

1.5 Self-Assessment

Exercise 1: Fill in the blanks with the correct verb:

1. Either the manager or the assistants _____ (be) responsible for this error.
2. The flock of birds _____ (fly) across the sky every morning.
3. The results of the experiment _____ (indicate) a positive outcome.
4. Neither of the options _____ (seem) ideal.
5. The news _____ (travel) quickly in small towns.

Exercise 2: Choose the correct verb form:

1. Each of the players *(has/have)* a unique skill.
2. The committee *(decide/decides)* on the budget tomorrow.
3. Neither the teacher nor the students *(was/were)* in the classroom.
4. The number of applicants *(is/are)* increasing each year.
5. A pair of shoes *(was/were)* left at the door.

Exercise 3: Fill in the blanks with the appropriate modal:

1. You _____ (must/might) wear a helmet while riding a motorcycle—it's the law.
2. She _____ (should/would) have told the truth instead of lying.
3. If I had more time, I _____ (can/could) help you with your project.
4. He _____ (need/ought) to apologize for his rude behavior.
5. We _____ (may/must) go to the meeting, but we're still unsure.

Exercise 4: Identify and correct the errors:

1. He must to finish the report by tonight.
2. They can't be worked on Sundays.
3. You should to respect other people's opinions.
4. She ought call her parents more often.
5. Might you help me carry this bag?

1.4 Points to Remember

1. A singular subject takes a singular verb, while a plural subject takes a plural verb.
2. Subjects joined by and usually take a plural verb.
3. With or and nor, the verb agrees with the subject nearest to it.
4. Modal verbs are always followed by the base form of the main verb.
5. Modals such as can, should, must, and may express ability, advice, obligation, and permission.

Vocabulary

1. Subject – the person or thing performing the action
2. Verb – a word that shows action or state
3. Modal – a helping verb expressing ability, permission, or possibility
4. Agreement – correct matching between subject and verb
5. Obligation – something that must be done

Multiple Choice Questions (MCQs)

1. Which sentence is correct?

a) She go to school every day.

b) She goes to school every day.

c) She going to school every day.

d) She gone to school every day.

2. Choose the correct verb:

The boys ___ playing cricket.

a) is

b) was

c) are

d) has

3. Neither the teacher nor the students ___ ready.

a) is

b) was

c) are

d) has

4. Which modal expresses ability?

a) must

b) should

c) can

d) might

5. Which modal is used for strong obligation?

a) may

b) might

c) must

d) could

Short Answer Questions

1. What is subject–verb agreement?
2. Name any four modal verbs.
3. Why are modals important in communication?
4. Give two examples of sentences using modal verbs.

Long Answer Questions

1. Explain the rules of subject–verb agreement with suitable examples.
2. Discuss the common errors made in subject–verb agreement.
3. What are modal verbs? Explain their characteristics and functions.

1.5 Suggested Readings

Eastwood, John. *Oxford Guide to English Grammar*. Oxford University Press, 1994.

Hewings, Martin. *Advanced Grammar in Use: A Self-Study Reference and Practice Book for Advanced Learners of English*. 3rd ed., Cambridge University Press, 2013.

Unit-1.2: Reported Speech

Learning Objectives

1. Understand the meaning and purpose of reported speech.
2. Differentiate between direct and reported speech.
3. Identify the tense changes used in reported speech.
4. Learn the changes in pronouns, time, and place expressions.
5. Convert statements, questions, commands, and suggestions into reported speech correctly.

2.1 Introduction

Reported speech (also called indirect speech) is a way of expressing what someone else has said, without quoting their exact words. Instead of repeating their statement word for word (as in direct speech), we convey the meaning of what was said in our own words.

Direct Speech vs. Reported Speech

- Direct speech: He said, “I am tired.”
- Reported speech: He said (that) he was tired.

In direct speech, quotation marks are used to enclose the speaker's exact words. In reported speech, we usually change the tense and pronouns to fit the new context, and quotation marks are not used.

➢ When Do We Use Reported Speech?

We use reported speech:

- To retell what someone said at an earlier time.
- In writing (newspapers, essays, reports).
- In formal contexts or storytelling.
- To summarize conversations.

1. Reporting Verbs

Common verbs used to introduce reported speech include:

- say, tell, ask, reply, explain, admit, deny, suggest, promise, warn, advise, agree, offer

Note:

- "Tell" must be followed by an object (e.g., *He told me...*).
- "Say" is **not** usually followed by an object (e.g., *He said (that)...* not *He said me...*).”

➢ Changes from Direct to Reported Speech

A. **Change according to tense**

When the reporting verb is in the **past tense**, the verb in the original sentence usually shifts one step back into the past.

Direct Speech	Indirect Speech
Present simple I'm a teacher.	Past simple He said he was a teacher

Present continuous I'm having lunch with my parents.	Past continuous He said he was having lunch with his parents.
Present perfect I've been to France three times.	Past perfect He said he had been to France three times.
Present perfect continuous I've been working very hard.	Past perfect continuous He said he had been working very hard.
Simple Past I bought a new car.	past perfect He said he had bought a new car.
Past continuous It was raining earlier.	Past perfect continuous He said it had been raining earlier
Past perfect The play had started when I arrived.	Past perfect NO CHANGE POSSIBLE
Past perfect continuous I'd already been living in London for five years.	Past perfect continuous NO CHANGE POSSIBLE

NOTE:

- If the reporting verb is in the present or future tense, we do not change the original tense.
- If the reported speech expresses universal truths or general facts, no change is needed.

➢ Change in other verb forms

Will I'll come and see you soon.	Would He said he would come and see me soon.
Can I can swim under water for two minutes.	Could He said he could swim under water for two minutes.

Must All tickets must be bought in advance.	had to He said that all tickets had to be bought in advance.
Shall What shall we do about it?	Should He asked what we should do about it.
May May I smoke?	Might He asked if he might smoke.

Changes in Pronoun

Pronouns must change to reflect the speaker's point of view in reported speech.

Example:

- Direct: John said, "I love my dog."
- Reported: John said he loved his dog.

Direct	Reported
I →	he/she
we →	they
you →	I/he/she/they (depending on the context)
my →	his/her
our →	their

Time and Place Changes

Words referring to time and place in direct speech often change in reported speech:

Direct Speech	Reported Speech
today →	that day
tomorrow →	the next day / the following day
yesterday →	the day before / the previous day
now →	then
here →	there
this →	that
these →	those
next week →	the following week
last night →	the night before

Example:

- Direct: "I'll see you tomorrow."
- Reported: She said she would see me the next day.

➢ Reporting Different Sentence Types

1. **Affirmative**

These are the simplest to report. We usually use *said (that)* or *told (someone) that*.

Examples:

- Direct: “I’m going to the market.”
  Reported: She said she was going to the market.
- Direct: “We have finished the work.”
  Reported: They told me they had finished the work.

2. **Interrogative**

When reporting questions, word order changes from question format to a statement. Quotation marks and question marks are removed.

a. Yes/No Questions

Use *if* or *whether*.

Example:

- Direct: “Do you like coffee?”
  Reported: She asked if I liked coffee.
- Direct: “Are they ready?”
  Reported: He asked whether they were ready.

b. Wh- Questions

Use the question word, but change word order.

Example:

- Direct: “Where do you live?”
  Reported: He asked where I lived.
- Direct: “What is your name?”
  Reported: She asked what my name was.

3. **Commands and Requests**

Use *asked (someone) to*, *told (someone) to*, *ordered (someone) to*, etc.

Examples:

- Direct: “Please help me.”
  Reported: She asked me to help her.
- Direct: “Close the door.”
  Reported: He told me to close the door.
- Direct: “Don’t be late.”
  Reported: She warned me not to be late.

4. **Suggestions and Advice**

Use *suggested that*, *advised*, *recommended that*, etc.

Examples:

- Direct: “Let’s go to the park.”
  Reported: He suggested that we go to the park.
- Direct: “You should see a doctor.”
  Reported: She advised me to see a doctor.

2.2 Summary

Reported speech is essential in learning English communication because it helps convey what someone else has said without quoting them directly. It allows speakers and writers to share information, tell stories, or report conversations accurately and naturally. Mastering reported speech improves fluency and clarity by teaching how to change pronouns, verb tenses, and time expressions appropriately. This skill is important for effective communication in everyday conversations, storytelling, journalism, and academic writing, making interactions more coherent and meaningful.

2.3 Self-Assessment

Exercise 1: Change the direct speech into reported speech

1. She said, "I am going to the market."
2. He said, "I will finish the project tomorrow."
3. They said, "We have already eaten lunch."
4. John said, "I can help you with your homework."
5. Mary said, "I was watching TV when you called."

Exercise 2: Report the questions and commands

1. Tom asked, "What time does the train arrive?"
2. Sarah asked, "Have you finished your homework?"
3. The manager said, "Submit the report by Monday."
4. The doctor said, "Take this medicine twice a day."
5. He asked, "Are you coming to the party tonight?

2.4 Points to Remember

1. Reported speech expresses someone's words without using quotation marks.
2. When the reporting verb is in the past tense, the verb usually changes one step back into the past.
3. Pronouns and time expressions change according to context.
4. Yes/No questions use if or whether in reported speech.
5. Commands and requests are reported using to + base verb.

Vocabulary

1. Reported Speech – expressing someone's words indirectly
2. Direct Speech – repeating exact words using quotation marks
3. Reporting Verb – a verb used to introduce reported speech
4. Pronoun – a word used instead of a noun
5. Interrogative – a sentence that asks a question

Multiple Choice Questions (MCQs)

1. Which sentence is in reported speech?

a) She said, "I am busy."

b) She said that she was busy.

c) "I am busy," she said.

d) He said, "Come here."

2. Choose the correct reported form:

He said, “I play football.”

a) He said he played football.

b) He said he plays football.

c) He said he is playing football.

d) He said he has played football.

3. Which word is commonly used to report Yes/No questions?

a) because

b) although

c) if

d) since

4. She said, “I will come tomorrow.” becomes:

a) She said she will come tomorrow.

b) She said she would come the next day.

c) She said she came tomorrow.

d) She said she comes the next day.

5. Which reporting verb is used for commands?

a) asked

b) told

c) suggested

d) replied

Short Answer Questions

1. What is reported speech?
2. Why do pronouns change in reported speech?
3. What happens to tenses in reported speech?

Long Answer Questions

1. Explain the rules for changing tenses in reported speech with examples.
2. Discuss the changes in pronouns and time expressions in reported speech.

2.5 Suggested Readings

Eastwood, John. *Oxford Guide to English Grammar*. Oxford University Press, 1994.

Hewings, Martin. *Advanced Grammar in Use: A Self-Study Reference and Practice Book for Advanced Learners of English*. 3rd ed., Cambridge University Press, 2013.

Unit-1.3: Phrasal verbs, Idioms and Collocations

Learning Objectives

1. Understand the meaning and functions of phrasal verbs, idioms, and collocations.
2. Identify different types of phrasal verbs and their usage.
3. Recognize idiomatic expressions and interpret their figurative meanings.
4. Use common collocations correctly in speaking and writing.
5. Improve fluency and naturalness in English communication.

3.1 Introduction

Vocabulary is a vital part of mastering any language, as it enables us to express ideas clearly and effectively. In English, vocabulary goes beyond individual words to include phrasal verbs, idioms, and collocations—each adding richness and nuance to communication. Phrasal verbs are combinations of verbs with prepositions or adverbs (e.g., *give up*, *look after*) that often have meanings different from their separate parts. Idioms are fixed expressions with figurative meanings (e.g., *break the ice*, *hit the nail on the head*). Collocations are natural word pairings (e.g., *make a decision*, *strong coffee*). Understanding these helps learners sound more fluent and natural.

3.2 Phrasal Verbs

A phrasal verb is a combination of a verb + one or more particles (prepositions or adverbs) that creates a new meaning different from the original verb alone. The particles can change or add to the meaning, often in an idiomatic way.

Example:

- Give up = to stop trying
  She gave up smoking last year.
- Look after = to take care of
  Can you look after my dog this weekend?

➢ Types of Phrasal Verbs

- Separable: The object can go between the verb and particle or after it.
  Turn off the light / Turn the light off.
- Inseparable: The object must come after the particle.
  Run into someone means to meet by chance.
  I ran into an old friend yesterday.
- Three-word phrasal verbs: Verb + two particles.
  Look forward to (anticipate something)
  I look forward to meeting you.

➢ Why Are Phrasal Verbs Important?

- They are common in informal spoken English.
- They help express complex ideas simply.
- Using them correctly can improve fluency.

➢ Tips for Learning Phrasal Verbs

- Learn phrasal verbs in context, not in isolation.

- Group similar phrasal verbs together (e.g., all phrasal verbs with up).
- Practice using them in sentences and conversations.

3.3 Idioms

An idiom is a fixed phrase or expression whose meaning cannot be understood literally from the individual words. Idioms are cultural expressions that add color and personality to language.

Example:

- Break the ice = to start a conversation in a social situation.
  He told a joke to break the ice at the party.
- Hit the nail on the head = to describe exactly what is causing a situation.
  You hit the nail on the head with your analysis.

➢ Characteristics of Idioms
- Usually fixed expressions — the wording rarely changes.
- Meanings are figurative, not literal.
- Often culturally specific, making them harder for learners to understand.

➢ Why Use Idioms?
- To express ideas vividly.
- To show familiarity with the language.
- To make speech and writing more engaging.

➢ Common Idioms Examples
- Piece of cake = very easy
- Under the weather = feeling sick
- Once in a blue moon = very rarely

➢ Tips for Learning Idioms
- Read and listen to authentic English materials like books, movies, and conversations.
- Learn idioms with examples and practice using them.
- Avoid overusing idioms in formal writing.

3.4 Collocations

Collocations are words that naturally go together more often than by chance. They are typical word pairings or groups that sound "right" to native speakers.

Example:

- Make a decision (not do a decision)
- Strong coffee (not powerful coffee)
- Fast food (not quick food)

➢ Types of Collocations
- Adjective + noun:
  Strong wind, heavy rain, bright idea
- Verb + noun:
  Take a break, do homework, give advice
- Noun + noun:

A surge of anger, a pack of wolves

- Adverb + adjective:
  Highly unlikely, deeply concerned

➢ Why Are Collocations Important?

- They make your English sound natural.
- Help avoid awkward or incorrect word combinations.
- Improve both comprehension and expression.

➢ How to Learn Collocations

- Read extensively and note down common word combinations.
- Use collocation dictionaries or apps.
- Practice writing and speaking with new collocations.

3.5 Summary

Mastering vocabulary—including phrasal verbs, idioms, and collocations—is crucial for achieving proficiency in English. Phrasal verbs add versatility to expression, idioms enrich language with cultural meaning, and collocations help produce natural, fluent speech and writing. Together, they enable learners to communicate more effectively, understand native speakers better, and convey ideas with precision and nuance. Developing these vocabulary skills enhances both comprehension and expression, key components of advanced English proficiency.

3.6 Self-Assessment

Exercise 1: Complete the sentences with the correct phrasal verb

Choose from: **give up, look after, break down, put off, run out of**

1. I have to _____ my meeting until next week because of the deadline.
2. Can you _____ the kids while I'm at work?
3. The car _____ on the way to the airport.
4. Don't _____; keep trying and you'll succeed.
5. We've _____ milk, so I need to buy some.

Exercise 2: Match the idioms to their meanings

Idioms:

a) Break the ice

b) Hit the nail on the head

c) Let the cat out of the bag

d) Once in a blue moon

e) Piece of cake

Meanings:

1. Very easy
2. Reveal a secret accidentally
3. Rarely happens
4. To start a conversation in a social setting
5. Describe exactly what is causing a situation

Exercise 3: Fill in the blanks with the correct collocation

Choose from: **make a decision, heavy rain, strong coffee, take a break, do homework**

1. I need to _____ before accepting the job offer.
2. It's pouring outside—there's _____ all afternoon.
3. Would you like some _____ to wake you up?
4. After two hours of study, it's good to _____ for a few minutes.
5. Don't forget to _____ before watching TV.

3.7 Points to Remember

1. Phrasal verbs combine a verb with a preposition or adverb to create a new meaning.
2. Idioms have figurative meanings that are different from the literal meanings of the words.
3. Collocations are natural combinations of words frequently used together.
4. Learning vocabulary in context helps improve understanding and usage.
5. Using phrasal verbs, idioms, and collocations correctly makes English sound more natural and fluent.

Vocabulary

1. Phrasal Verb – a verb combined with a particle that creates a new meaning
2. Idiom – a fixed expression with a figurative meaning
3. Collocation – words commonly used together
4. Fluency – the ability to speak or write smoothly and naturally
5. Figurative – having a symbolic rather than literal meaning

Multiple Choice Questions (MCQs)

1. Which of the following is a phrasal verb?

a) Strong coffee

b) Give up

c) Piece of cake

d) Bright idea

2. What does the idiom "piece of cake" mean?

a) Very difficult

b) Very easy

c) Very expensive

d) Very tasty

3. Which is a correct collocation?

a) Powerful coffee

b) Quick food

c) Strong coffee

d) Heavy idea

4. "Look after" means:

a) Search for

b) Take care of

c) Avoid someone

d) Look behind

5. Which expression means “very rarely”?

a) Break the ice

b) Under the weather

c) Once in a blue moon

d) Hit the nail on the head

Short Answer Questions

1. What is a phrasal verb?
2. Define an idiom with an example.
3. What are collocations?
4. Why are phrasal verbs important in English?
5. Give two examples of collocations.

Long Answer Questions

1. Explain the different types of phrasal verbs with examples.
2. Discuss the characteristics and importance of idioms in English.
3. Describe the importance of learning phrasal verbs, idioms, and collocations for fluency in English.

3.8 Suggested Readings

Lewis, Norman. *Word Power Made Easy*. 4th ed., Goyal Publishers, 2000.

McCarthy, Michael, and Felicity O’Dell. *English Vocabulary in Use: Advanced*. Cambridge University Press, 2008.

McCarthy, Michael, and Felicity O’Dell. *English Collocations in Use: Advanced*. Cambridge University Press, 2005.

Unit-1.4: Homophones and Homonyms

Learning Objectives

1. Understand the meaning of homophones and homonyms.
2. Differentiate between homophones, homographs, and homonyms.
3. Identify common examples of homophones and homonyms in English.
4. Use context to understand the correct meaning of similar-sounding or similarly spelled words.
5. Improve spelling, pronunciation, and vocabulary skills through the study of homophones and homonyms.

4.1 Introduction

Homophones and homonyms are important parts of English vocabulary that often confuse learners due to their similar sounds or spellings. Homophones are words that sound the same but have different meanings and spellings, such as *pair* (a set of two) and *pear* (a fruit). Homonyms, on the other hand, are words that are either spelled the same or sound the same but have different meanings. For example, *bat* can mean a flying mammal or a piece of sports equipment. Understanding these helps improve spelling, comprehension, and clarity in both writing and speech.

4.2 What Are Homophones?

Homophones are words that sound the same but have different meanings and often different spellings. The word "homophone" comes from Greek words meaning "same sound."

- Key Points about Homophones
  - They are pronounced identically or nearly identically.
  - They have different meanings.
  - They usually differ in spelling but sometimes share the same spelling.
  - They belong to different parts of speech or meanings.
- Examples of Homophones

Word 1	Word 2	Meaning 1	Meaning 2
To	Two	Preposition (towards)	Number 2
There	Their	Place (over there)	Possessive pronoun (belonging to them)
Flower	Flour	A blooming plant	Powder used in baking
Right	Write	Correct or direction	To form letters or words
See	Sea	To perceive with the eyes	Large body of saltwater

Why Are Homophones Important?

- They cause confusion in spelling and writing because they sound identical.
- They are common in puns, jokes, and wordplay.
- Knowing them helps avoid mistakes in written communication.

4.3 Homonyms

Homonyms are words that share the same spelling or pronunciation but have different meanings. The term "homonym" comes from Greek words meaning "same name."

Homonyms can be divided into two types:

1. Homographs – words that are spelled the same but have different meanings and sometimes different pronunciations.
2. Homophones – words that sound the same but have different meanings and spellings. (Homophones are a subset of homonyms.)

1. Homographs

- Same spelling.
- Different meanings.
- May have different or the same pronunciation.

Examples:

Word	Meaning 1	Meaning 2	Pronunciation
Lead	To guide or direct	A type of metal	/liːd/ (guide), /lɛd/ (metal)
Tear	To rip	A drop from the eye	/tɪər/ (rip), /tɪər/ (drop)
Bow	To bend forward	A weapon for shooting arrows	/baʊ/ (bend), /boʊ/ (weapon)
Wind	Moving air	To twist or coil	/wɪnd/ (air), /waɪnd/ (twist)

2. Homonyms (General Use)

- Words that are both homographs and homophones (same spelling, same pronunciation, different meanings).

Examples:

Word	Meaning 1	Meaning 2
Bat	Flying nocturnal mammal	A club used in sports
Bank	Financial institution	The side of a river
Match	A contest or game	A stick that produces fire

Why Are Homonyms Important?

- They add richness and depth to the language.
- Can cause ambiguity if context is unclear.
- Are often used in poetry, literature, and wordplay.

4.4 Summary

Understanding homophones and homonyms is essential for building strong English vocabulary. They help learners recognize how words can sound alike or look the same but have different meanings. This awareness im-

proves spelling, listening, reading comprehension, and writing accuracy. Mastery of homophones (e.g., *their* vs. *there*) and homonyms (e.g., *bank* as a financial institution or river edge) also prevents confusion and enhances communication skills. Learning these word types builds a deeper understanding of word usage and context, which is key to achieving vocabulary fluency in English.

4.5 Self-Assessment

Exercise 1: Choose the correct homophone:

1. I want to buy a new _____ for the living room. (*pair / pear* / *pare*)
2. He will _____ the letter as soon as he gets home. (*write / right*)
3. The wind blew through the open _____. (*plain / plane / pane*)
4. I can't _____ what you're saying. (*hear / here*)
5. The knight wore heavy _____. (*armor / armore / amour*)

Exercise 2: Identify the homonyms and their meanings

1. The *bat* flew out of the cave, and he hit the ball with his *bat*.
2. She sat by the *bank* to watch the river flow past the *bank*.
3. He saw the *tear* in the paper and wiped a *tear* from his eye.
4. The *well* was deep, and she felt *well* after resting.
5. They had to *book* a room before reading the *book*.

Exercise 3: Fill in the blanks with the correct homophones:

1. She knew the correct answer, but she didn't _____ it out loud. (*say / sew / so*)
2. He threw the ball and it hit the _____. (*bare / bear*)
3. We had to _____ for the exam at eight. (*meet / meat*)
4. That's the best meal I've had this _____. (*week / weak*)
5. The artist painted a beautiful _____ of the sea. (*scene / seen*)

4.6 Points to Remember

1. Homophones sound the same but have different meanings and spellings.
2. Homonyms are words with the same spelling or pronunciation but different meanings.
3. Homographs are words spelled the same but having different meanings.
4. Context helps identify the correct meaning of homophones and homonyms.
5. Learning homophones and homonyms improves communication and reduces spelling mistakes.

Vocabulary

1. Homophone – words that sound the same but differ in meaning and spelling
2. Homonym – words with the same spelling or pronunciation but different meanings
3. Homograph – words spelled the same but with different meanings
4. Pronunciation – the way a word is spoken
5. Ambiguity – uncertainty caused by multiple meanings

Multiple Choice Questions (MCQs)

1. Which pair is an example of homophones?

a) Bat – Bank

b) Flower – Flour

c) Lead – Wind

d) Match – Bank

2. What is a homonym?

a) Words with opposite meanings

b) Words with similar meanings

c) Words with the same spelling or pronunciation but different meanings

d) Words with different spellings and meanings

3. Which word can mean both a flying mammal and sports equipment?

a) Match

b) Bank

c) Bat

d) Tear

4. Which of the following is a homograph?

a) Right – Write

b) Sea – See

c) Wind

d) Flower – Flour

Short Answer Questions

1. What are homophones?
2. Define homonyms with an example.
3. Give two examples of homonyms.

Long Answer Questions

1. Explain the meaning and characteristics of homophones with examples.
2. Discuss the different types of homonyms.

4.7 Suggested Readings

Lewis, Norman. *Word Power Made Easy*. 4th ed., Goyal Publishers, 2000.

McCarthy, Michael, and Felicity O'Dell. *English Vocabulary in Use: Advanced*. Cambridge University Press, 2008.

McCarthy, Michael, and Felicity O'Dell. *English Collocations in Use: Advanced*. Cambridge University Press, 2005.

BLOCK -2
LISTENING AND SPEAKING SKILLS

Unit-2.1: Academic and Professional Listening

Learning Objectives

1. Understand the importance of academic and professional listening skills.
2. Develop the ability to listen for specific information effectively.
3. Improve note-taking and concentration during listening tasks.
4. Recognize the features and purpose of critical listening.
5. Apply listening strategies in academic and professional contexts.

1.1 Introduction-

Academic and professional listening are key skills for success in education and the workplace. Academic listening involves understanding lectures, discussions, and presentations in educational settings. It requires focusing on main ideas, note-taking, recognizing tone, and interpreting complex vocabulary and arguments. Professional listening takes place in meetings, interviews, and workplace interactions, where clarity, precision, and appropriate responses are essential. Both forms of listening demand critical thinking, concentration, and the ability to process and respond to spoken information effectively. Developing strong listening skills enhances comprehension, communication, and performance in academic and professional environments.

1.2 Listening for Specific Information

When we listen for academically or professionally, we are looking for accurate details such as names, places, jobs, objects, numbers, or quantities.

To do this well, you must know what kind of information you're listening for—both before and during the audio. In a test, try to predict or guess what kind of words or information you need to find. Remember, the same idea may be expressed in different words in the recording. So, stay alert and listen carefully when the information might be coming. Sometimes, you may also need to listen to find out if something is said or not. This skill is especially important in academic and professional listening.

➢ Before Listening

Ask yourself these questions:

- What is the topic of the recording?
- What do I already know about it?
- What do I think will be talked about?
- What words come to mind related to the topic?
- Are there any new words I should check in a dictionary first?

➢ While Listening

- Don’t worry about understanding every word. Focus on the important parts.
- If you don’t understand a word or part, use your background knowledge and the context to guess the

meaning.

- If you're still unsure, check a dictionary later or ask someone.
- Pay attention to key words and important facts.
- Take notes to help you remember what you hear.
- Listen to the speaker's intonation (the rise and fall of the voice) and stress (the words they emphasize). These can give you clues.
- Try to predict what comes next. What might the speakers say? What words might they use?

➢ After Listening

- Think again about what you heard. Did you understand the main ideas ?
- Look back at your predictions. Were they correct?
- Review your notes to check your understanding.
- Listen again to any parts you found difficult.

➢ Listening Challenges

Some things that can make listening hard include:

- The speaker talks too fast.
- There's background noise.
- You don't have visual clues (no images or gestures).
- Your vocabulary is limited.
- You don't know much about the topic.
- You can't clearly tell the sounds of the words.

1.3 Introduction to Critical Listening

Critical listening is the active process of analyzing, interpreting, and evaluating sound with focused attention. Unlike casual or passive listening, which occurs in the background, critical listening demands engagement and intentionality. It's commonly used in music education, audio production, sound design, and media analysis. The goal is to go beyond simply hearing to understanding how and why a sound or piece of music works the way it does.

Taking notes during critical listening helps you document your observations, focus your attention, and build a deeper analytical skillset. Whether you're assessing a mix, studying a classical piece, or reviewing a podcast, effective note-taking can significantly improve your auditory discernment.

➢ Purpose of Critical Listening

Identify Key Elements – Recognize components like melody, harmony, rhythm, texture, dynamics, and structure.

1. Evaluate Technical Aspects – Observe mix quality, stereo imaging, EQ balance, panning, and dynamic range.
2. Interpret Artistic Choices – Analyze emotional expression, lyrical content, instrumental arrangement, and cultural context.
3. Support Learning or Creative Goals – Reflect on what works or doesn't for your own music-making, performances, or production work.

➢ **Preparing for Critical Listening**

Before starting the listening session, set yourself up for success:

- Environment: Choose a quiet space with minimal distractions. Use high-quality headphones or studio monitors if available.
- Materials: Have a notebook, digital document, or score ready for note-taking.
- Focus: Avoid multitasking. Silence your phone, close unnecessary tabs, and prepare to listen multiple times.

1.4 Summary

Academic and professional listening involves understanding spoken information in educational and workplace contexts. It includes critical listening, where the listener evaluates ideas, arguments, and evidence, and listening for a specific purpose, which focuses on identifying key details or instructions. In academic settings, this means grasping lecture content, analyzing perspectives, or noting arguments. In professional contexts, it involves understanding tasks, decisions, or feedback. Mastering both skills improves comprehension, decision-making, and effective communication, making them essential for success in academic and professional environments.

1.5 Self-Assessment

Exercise 1: Listening for Specific Purpose

Instructions: Listen to a short lecture (or TED Talk) and answer the questions:

1. What is the main topic of the lecture?
2. List two key points the speaker makes.
3. What examples or evidence does the speaker use?
4. What is the speaker's conclusion or recommendation?
5. What is the tone of the speaker—formal, persuasive, or informative?

Exercise 2: Critical Listening (Academic or Professional)

Instructions: Listen to a speaker presenting an argument or opinion.

1. What is the speaker's main argument?
2. What assumptions does the speaker make?
3. Are the arguments based on facts, opinions, or both?
4. Do you notice any bias or lack of evidence?
5. Do you agree or disagree with the speaker? Why?

1.6 Points to Remember

1. Academic listening focuses on understanding lectures, discussions, and presentations.
2. Listening for specific information requires attention to key details and facts.
3. Effective listening includes preparation before, during, and after listening.
4. Critical listening involves analyzing and evaluating what is heard.
5. Note-taking and concentration help improve listening comprehension.

Vocabulary

1. Comprehension – the ability to understand something
2. Intonation – the rise and fall of the voice while speaking

3. Context – the situation or background that helps explain meaning
4. Critical Listening – careful analysis and evaluation of spoken information
5. Prediction – guessing what may come next based on clues

Multiple Choice Questions (MCQs)

1. Academic listening mainly involves understanding:

a) Advertisements

b) Lectures and discussions

c) Sports commentary

d) Songs

2. Which skill helps remember important details while listening?

a) Drawing

b) Note-taking

c) Singing

d) Memorizing grammar rules

3. Critical listening means:

a) Listening casually

b) Ignoring the speaker

c) Analyzing and evaluating sound carefully

d) Listening only for entertainment

Short Answer Questions

1. What is academic listening?
2. Why is note-taking important during listening?
3. What is critical listening?
4. Mention two challenges in listening comprehension.

Long Answer Questions

1. Explain the importance of academic and professional listening skills.
2. Describe effective strategies to improve listening skills in academic and professional settings.

1.7 Suggested Readings

Brownell, Judi. *Listening: Attitudes, Principles, and Skills*. 5th ed., Pearson, 2012.

Lynch, Tony, and Kenneth Anderson. *Listening*. Oxford University Press, 2008.

Unit-4.2: Public Speaking

Learning Objectives

1. Understand the meaning and importance of public speaking.
2. Identify the key elements involved in public speaking.
3. Develop confidence and effective communication skills.
4. Learn techniques for delivering speeches clearly and effectively.
5. Understand methods to engage the audience and manage nervousness.

2.1 Introduction to Public Speaking

Public speaking is the act of giving a speech or presentation in front of a live audience. It includes planning what to say, organizing your ideas, and delivering the message clearly and effectively. Public speaking can be formal (like at a conference) or informal (like speaking at a family event).

A Look Back in History

Public speaking has been important since ancient times, especially in places like Greece and Rome. In Greece, being a good speaker was seen as a key part of being a responsible citizen. Famous thinkers like Aristotle wrote about how to speak well. In Rome, leaders like Cicero and Quintilian were known for their public speaking skills.

- Key Parts of Public Speaking
    1. Speaker – The person giving the speech.
    2. Message – What the speaker wants to say.
    3. Audience – The people listening.
    4. Channel – The way the message is delivered (live, video, online, etc.).
    5. Feedback – Reactions from the audience (like clapping, questions, or expressions).
    6. Context – The situation or setting where the speech happens, which can affect how it is understood.

1.2 Why Public Speaking Is Important?

1. Personal Growth

a) Builds Confidence: Speaking in front of others helps you feel more confident and comfortable sharing your ideas.

b) Improves Critical Thinking: Planning a speech forces you to organize your thoughts, evaluate ideas, and think logically.

c) Enhances Communication Skills: You learn to speak clearly and use body language, facial expressions, and tone to express your message better.

2. Professional Benefits

a) Career Growth: Jobs often require people to give presentations, lead meetings, or explain ideas. Speaking skills can help you get promoted.

b) Networking: Events where people give speeches are great for meeting others in your field and building connections.

c) Leadership: Leaders often need to speak to inspire teams, give clear directions, and convince others to follow their vision.

3. Making a Social Impact

a) Advocacy: Speakers can raise awareness about important issues like climate change, equality, or education.

b) Community Engagement: Speaking at local events helps bring people together and solve problems in the community.

c) Education: Teachers and experts use public speaking to share knowledge and help others learn.

- Benefits of Public Speaking

1. Personal Advantages

a) Higher Self-Esteem: Successfully giving a speech can make you feel proud and more confident.

b) More Connections: Speaking at events helps you meet people who share your interests.

c) Better Problem Solving: Answering questions during a speech improves your ability to think quickly and respond clearly.

2. Professional Advantages

a) Leadership: Strong communication skills make you a better leader.

b) More Job Options: Many jobs look for confident speakers. Good public speaking can open doors in your career.

c) Professional Recognition: If you're good at public speaking, others may notice and invite you to speak at events or give awards.

3. Social Benefits

a) Community Building: Speeches can bring people together and create a sense of unity.

b) Advocacy: Use your voice to support causes that matter to you and influence change.

c) Cultural Sharing: When people from different cultures speak about their lives, it helps everyone understand and respect each other more.

- Skills You Need for Public Speaking

1. Preparing Your Content

a) Research: Gather facts and information to make sure your speech is correct and interesting.

b) Organizing Ideas: Structure your speech with a clear beginning, middle, and end.

c) Writing: Use simple, clear language that fits your audience and purpose.

2. Delivering Your Speech

a) Voice Control: Change your tone, volume, and speed to keep the audience interested.

b) Body Language: Use hand movements, facial expressions, and posture to support your message.

c) Eye Contact: Looking at the audience builds trust and keeps them engaged.

3. Keeping the Audience Interested

a) Tell Stories: Real-life examples or stories make your speech more personal and memorable.

b) Involve the Audience: Ask questions or include activities to keep people involved.

c) Be Flexible: If the audience looks confused or bored, change your approach to keep them with you.

4. Managing Nervousness

a) Prepare Well: Know your content. Preparation makes you more confident.

b) Practice Often: Rehearse your speech several times, including in front of a small group.

c) Use Relaxation Techniques: Deep breathing or visualizing success can help calm your nerves.

5. Using Technology and Tools

a) Visual Aids: Slides, charts, or videos can help explain your points and keep attention.

b) Microphone Skills: Know how to use audio equipment so everyone can hear you clearly.

c) Time Management: Practice so you don't speak too long or too short. Be ready to adjust if needed.

2.3 Summary

Public speaking is a valuable skill that can boost your confidence, help you grow professionally, and allow you to make a real impact in your community. From planning your message to engaging your audience and overcoming fear, strong public speaking opens doors in both your personal and professional life. By learning and practicing these skills, you can become a more powerful and confident communicator.

2.3 Self-Assessment

Exercise 1: Public Speaking -"The 3-Minute Talk"

Objective: To practice organizing and delivering a short, structured speech with confidence and clarity.

Instructions:

1. Choose a topic from the list below (or create your own):
    - A memorable experience
    - Why reading is important
    - The impact of social media
    - A person who inspires you
    - The importance of time management
2. Prepare your speech using this structure:
    - Introduction (30 seconds): Greet the audience and state your topic clearly.
    - Body (2 minutes): Present 2–3 main points or ideas with examples or facts.
    - Conclusion (30 seconds): Summarize your message and end with a strong closing statement.
3. Practice Delivery:
    - Speak slowly and clearly.
    - Maintain eye contact (or look into the camera if virtual).
    - Use gestures naturally.
    - Avoid filler words like *"uh," "like,"* or *"you know."*
4. Self-Evaluation or Peer Feedback:

    After delivering your speech, reflect or get feedback on:
    - Was your message clear?
    - Did you stay within the time limit?
    - How was your posture, voice, and eye contact?
    - Did you use effective transitions?

Exercise 2: Impromptu Speaking

Prepare slips of paper with random topics. Draw one and speak about it for 1–2 minutes with no preparation. This builds quick-thinking and confidence.

2.4 Points to Remember

1. Public speaking involves preparing and delivering a message to an audience.
2. Good public speaking improves confidence, communication, and leadership skills.
3. Effective speeches have a clear introduction, body, and conclusion.
4. Voice control, eye contact, and body language are important for successful delivery.
5. Practice and preparation help reduce nervousness and improve performance.

Vocabulary

1. Audience – the people listening to a speech
2. Presentation – a formal talk or demonstration
3. Confidence – belief in one's abilities
4. Body Language – communication through gestures and expressions
5. Advocacy – supporting or speaking for a cause

Multiple Choice Questions (MCQs)

1. Public speaking means:

a) Writing stories
b) Speaking in front of an audience
c) Reading silently
d) Listening to lectures

2. Who is the "speaker" in public speaking?

a) The audience
b) The organizer
c) The person giving the speech
d) The photographer

3. Which skill helps keep the audience interested?

a) Ignoring questions
b) Telling stories
c) Speaking very fast
d) Reading only from notes

4. What can help reduce nervousness before speaking?

a) Avoiding preparation
b) Speaking without practice
c) Practice and preparation
d) Ignoring the audience

5. Which of the following is a visual aid?

a) Microphone
b) Slide presentation
c) Audience feedback
d) Eye contact

Short Answer Questions

1. Name any two benefits of public speaking.

2. Why is eye contact important during a speech?
3. How can speakers manage nervousness?
4. What is the role of body language in public speaking?

Long Answer Questions

1. Explain the importance of public speaking in personal and professional life.
2. Describe the skills needed for effective public speaking.
3. Discuss the advantages of public speaking for leadership and career growth.

2.5 Suggested Readings

Lucas, Stephen E. *The Art of Public Speaking*. 13th ed., McGraw-Hill Education, 2020.

Carnegie, Dale. *The Quick and Easy Way to Effective Speaking*. Pocket Books, 1990.

Unit-2.3: Debates and Group Discussion

Learning Objectives

After studying this unit, students will be able to:

1. Understand the meaning and purpose of debate and group discussion.
2. Identify the structure and types of debates.
3. Develop effective speaking, listening, and teamwork skills.
4. Improve confidence in presenting ideas logically and clearly.
5. Differentiate between debate and group discussion.

3.1 Introduction

Debate and group discussion are essential speaking skills that help develop critical thinking, effective communication, and teamwork. In a debate, participants present opposing viewpoints on a specific topic, using evidence and reasoning to persuade the audience or judges. It enhances skills like argumentation, quick thinking, and public speaking. A group discussion involves a collaborative conversation where members share ideas, listen actively, and build on each other's points to reach a consensus or explore different perspectives. Both activities improve confidence, clarity, and the ability to express thoughts logically in academic, professional, and social settings.

3.2 What is a Debate?

A debate is a structured discussion where participants argue for or against a specific proposition or motion. It is a key method of developing communication, reasoning, and critical thinking skills. Unlike regular conversations, debates have rules, time limits, and formal roles, making them essential for academic, legal, and civic contexts. The purpose of debating is not just to "win" the argument but to persuade an audience through logic, evidence, and effective presentation.

- Importance of Debate

Debating has numerous benefits:

- Critical Thinking: Encourages deeper analysis and reasoning.
- Communication Skills: Enhances clarity, persuasion, and articulation.
- Confidence Building: Improves public speaking and self-expression.
- Listening and Empathy: Develops understanding of different perspectives.
- Academic Growth: Strengthens research and writing abilities.

- Types of Debate Formats

Different settings use different formats. Here are some common types:

1. **Policy Debate**
   - Team format focusing on policies and proposals.
   - Requires heavy research and detailed plans.
   - Example motion: "The government should increase funding for renewable energy."
2. **Public Forum Debate**
   - Two-person teams discuss current events.
   - Accessible to general audiences.

- Example motion: "Social media does more harm than good."

3. **Parliamentary Debate**

- Fast-paced, mimics the British Parliament.
- Teams are called Government and Opposition.
- Emphasis on logic and quick thinking.

➢ Structure of a Debate

Most debates follow a clear sequence of speeches. Here's a typical structure:

1. **Opening Statements:**
    - Each side presents its stance.
    - Defines key terms and lays out major arguments.
2. **Constructive Speeches:**
    - Detailed presentation of points with supporting evidence.
3. **Rebuttals:**
    - Directly respond to and counter the opponent's arguments.
4. **Cross-Examination:**
    - Short period for questioning and clarifying opposing points.
5. **Closing Statements:**
    - Summarize key ideas and restate your position convincingly.

In team debates, roles are divided among speakers. Each speaker contributes uniquely — from introducing the topic to delivering the final persuasive summary.

➢ Effective Speaking Skills for Debating

Debating is as much about how you speak as what you say. Here are essential speaking skills:

- Clarity: Speak slowly and clearly. Avoid jargon.
- Volume and Tone: Use your voice to emphasize key points.
- Eye Contact: Engage your audience or judges.
- Body Language: Use gestures for emphasis, but stay natural.
- Confidence: Even if nervous, appear self-assured.

➢ Research and Preparation

Before any debate, thorough research is crucial. This includes:

- Understanding both sides of the topic.
- Finding reliable sources (academic articles, news reports, studies).
- Preparing definitions, statistics, and examples.
- Anticipating counterarguments and preparing rebuttals.

Create cue cards or outlines to help remember key points, but avoid reading your speech word-for-word.

➢ Tips for Winning a Debate

1. Know Your Audience: Adapt your style and arguments to who's listening.
2. Control Your Time: Don't rush or drag out points.
3. Use Persuasive Language: Phrases like "It's clear that…" or "Let's not forget…" create impact.
4. Practice: Rehearse in front of friends, record yourself, or join debate clubs.

5. Stay Calm: Even under pressure, maintain your composure.

Remember*: a great debater persuades not by shouting the loudest, but by speaking the wisest.*

3.3 What is a Group Discussion?

A Group Discussion (GD) is a structured, formal discussion where a group of people share their views on a given topic. It's common in education, business, and government settings. People sit in a semi-circle, face each other, and exchange ideas, opinions, or solutions to a problem.

➢ Why is GD Important for Students?

At the college level, participating in a GD helps you:

- Practice how to speak in formal settings.
- Learn how to argue logically and clearly.
- Improve your thinking, speaking, and listening skills.
- Boost your self-confidence.

GD is also helpful in problem-solving, decision-making, and personality assessments. It can increase your chances of doing well in interviews, group tasks, and job placements.

➢ How GD Works During a Selection Process

In job interviews, especially in campus placements, companies often use GDs to test candidates. A panel (usually from HR and technical departments) observes the group but doesn't participate. They give the topic and sometimes a few minutes to think.

Once the GD starts, each candidate shares their views. The discussion continues until the panel stops it. They assess each person based on communication, subject knowledge, teamwork, and leadership.

➢ What Do They Evaluate in a GD?

1. Subject Knowledge

You should be well-informed about a wide range of topics—current events, social issues, economy, science, etc. Read newspapers, watch news channels, follow educational content online, and stay updated. The more you know, the more confident and convincing you'll sound.

2. Communication Skills

Knowing the topic isn't enough—you must be able to express your ideas clearly and effectively.

Key Communication Skills:

- Speaking clearly and confidently.
- Active listening—don't just talk, listen to others too.
- Using the right tone, words, and body language.
- Avoid using difficult words or speaking too fast.

3. Listening Skills

Most people like hearing themselves talk, but good listeners make great team players and leaders. By listening carefully, you can:

- Understand others' views.
- Continue or add to the discussion meaningfully.
- Build on others' ideas and take the conversation forward.

4. Clarity of Thought and Expression

Speak in a way that everyone understands:

- Be clear and to the point.
- Speak at a moderate pace and modulate your voice.
- Avoid slang and fake accents.
- Pronounce words correctly and use correct grammar.

5. Use Simple and Correct Language

- Use simple words and short sentences.
- Avoid long or complicated expressions.
- Always be polite and respectful.

6. Non-Verbal Communication

Your body language says a lot:

- Maintain eye contact with group members.
- Sit with a confident posture.
- Avoid fidgeting or looking nervous.
- Smile appropriately and use natural gestures.

The panel will watch your body language to assess your confidence, teamwork, and behavior.

7. Team Behavior

In a GD, you're part of a team. You must:

- Respect different opinions.
- Stay calm even if someone disagrees with you.
- Avoid getting angry or defensive.
- Encourage others to speak.

8. Leadership Skills

Leaders in a GD don't need to be loud or dominating. A true leader:

- Encourages others to participate.
- Guides the group toward a solution.
- Shows emotional control and clear thinking.
- Deals smartly with people who dominate without contributing.

Traits like confidence, adaptability, patience, and decision-making will help you stand out as a natural leader.

➢ Tips for Success in a GD

Do's:

- Speak up and share your views.
- Be respectful and let others talk.
- Maintain eye contact with the whole group.
- Show you're listening actively.
- Encourage quiet members to join in.
- Keep the discussion focused.

Don'ts:

- Don't stay silent.

- Don’t interrupt or argue aggressively.
- Don’t go off-topic.
- Don’t repeat points.
- Don’t use incorrect grammar or tough vocabulary.
- Don’t debate one-on-one—it’s a group discussion.

Difference between Debate and Group Discussion

Debate	Group Discussion
To persuade or win an argument	To persuade or win an argument
Formal, structured with fixed rules	Formal, structured with fixed rules
Two opposing sides (affirmative and negative)	Two opposing sides (affirmative and negative)
Competitive – one side wins	Competitive – one side wins
Predefined and timed	Predefined and timed
Assertive, argumentative	Assertive, argumentative
Usually moderated by a judge or panel	Usually moderated by a judge or panel
One side is declared the winner	One side is declared the winner
Defending a stance with evidence	Defending a stance with evidence
Logic, persuasion, rebuttals, and delivery	Communication skills, teamwork, and idea clarity

3.4 Summary

Debating and group discussions are vital for developing effective speaking skills. Debating sharpens your ability to build strong arguments, think critically, and express ideas confidently, while also encouraging you to consider multiple viewpoints. Group discussions enhance collaboration, active listening, and clear communication by allowing participants to share and develop ideas collectively. Together, these activities improve fluency, confidence, and the ability to engage thoughtfully in conversations, making them invaluable for academic success and real-world communication.

3.5 Self-Assessment

Exercise 1: Debate

1. Debate Practice

- **Instructions:** Divide into two teams. Choose a simple, familiar topic such as:
    - *School uniforms should be mandatory.*
    - *Social media does more harm than good.*

- Each team prepares 2–3 key arguments for or against the topic.
- Conduct a timed debate:
    - Opening statements (1 minute each)
    - Rebuttals (1 minute each)
    - Closing statements (30 seconds each)

2. One-Minute Argument Drill

- **Instructions:** Pick random debate topics (e.g., *online learning is better than classroom learning*).
- Each student speaks for 1 minute, supporting or opposing the statement without preparation.
- Focus on clarity, logic, and confidence.

3. Rebuttal Practice

- Instructions: Present a short argument (e.g., *Homework is essential for learning*).
- Students must respond with a clear rebuttal, identifying weaknesses or offering a counterpoint.

Exercise 2: Group Discussion

1. Fishbowl Discussion

- **Instructions:** Divide the class into two groups:
    - One group discusses a topic in the "fishbowl" (inner circle).
    - The other observes, then switches in to continue or respond.
- Topics: *The importance of environmental awareness*, *Benefits of reading books*, etc.
- Goal: Encourage active listening and respectful contribution.

2. Problem-Solving Task

- **Instructions:** Give a real-world scenario (e.g., *Your school needs to reduce plastic use*).
- Group members brainstorm solutions and agree on a plan.
- Focus on turn-taking, building on ideas, and reaching consensus.

3. Role-Based Discussion

- **Instructions:** Assign roles (e.g., manager, employee, customer) in a workplace scenario.
- Participants discuss a topic from their role's perspective.
- Example: *How to improve customer service at a company.*

3.6 Points to Remember

1. Debate is a formal argument with opposing sides, while group discussion is collaborative.
2. Preparation and research are essential for effective participation.
3. Clear communication and confidence improve performance.
4. Active listening is as important as speaking.
5. Eye contact and body language create a positive impression.
6. In debates, rebuttals strengthen arguments.
7. In group discussions, teamwork and cooperation matter most.
8. Avoid interrupting others during discussions.
9. Use simple, polite, and grammatically correct language.
10. Leadership in GD means guiding the group respectfully.

Vocabulary

Debate – A formal discussion on a topic with opposing views.

Rebuttal – A response that counters an argument.

Consensus – General agreement among group members.

Persuasion – The act of convincing someone.

Collaboration – Working together to achieve a goal.

Multiple Choice Questions (MCQs)

1. Which skill is most important in a group discussion?

a) Singing

b) Listening

c) Drawing

d) Acting

2. What comes after constructive speeches in a debate?

a) Introduction

b) Rebuttals

c) Conclusion

d) Voting

3. In a GD, participants should:

a) Interrupt others frequently

b) Speak aggressively

c) Respect different opinions

d) Stay silent

4. Which of the following improves public speaking confidence?

a) Avoiding practice

b) Speaking too fast

c) Regular practice and preparation

d) Reading silently

5. What is assessed during a group discussion?

a) Handwriting

b) Team behavior and communication

c) Drawing ability

d) Physical strength

Short Answer Questions

1. What is a debate?
2. Define group discussion.
3. Mention any two benefits of debating.
4. What is a rebuttal?
5. Why are listening skills important in GD?
6. Name any two debate formats.
7. What is the role of body language in communication?
8. How does research help in debates?
9. What are constructive speeches?
10. Why is teamwork important in group discussions?

Long Answer Questions

1. Discuss the importance of debates in developing communication skills.
2. Explain the role of leadership in group discussions.
3. Differentiate between debate and group discussion with examples.
4. Discuss the importance of non-verbal communication in GD and debates.
5. How can students improve their performance in debates and GDs?

3.7 Suggested Readings

Burnett, Ann, and Pamela Stephens. *Group Discussion: A Practical Guide to Participation and Leadership*. 4th ed., Allyn & Bacon, 2000.

Jaffe, Clella Iles. *Public Speaking: Concepts and Skills for a Diverse Society*. 9th ed., Cengage Learning, 2015.

Unit- 2.4: Interview

Learning Objectives

1. Understand the meaning and purpose of interviews.
2. Identify different types of interviews.
3. Develop effective verbal and non-verbal communication skills.
4. Learn interview etiquette and professional behavior.
5. Prepare confidently for common interview questions.

4.1 Introduction

An interview is a formal or informal conversation between two or more people where the interviewer asks questions and the interviewee provides responses. It's typically conducted face-to-face, over the phone, or via video conferencing, and is used primarily for recruitment, evaluation, or information-gathering purposes.

4.2 Objectives of an Interview

- To verify the candidate's resume and background.
- To identify additional skills not mentioned in the resume.
- To assess technical knowledge, creativity, and analytical skills.
- To establish a mutual understanding between employer and candidate.
- To help the candidate learn about the role and organization.
- To provide learning experiences for both interviewer and interviewee.
- To help candidates identify their strengths and areas of improvement.
- To enhance the employer's image among job seekers.

➢ **Based on Number of People Involved**

Interviews can be categorized by the number of participants involved. The most common type is the

- One-to-one interview, where a single interviewer interacts with a single candidate. This format allows for a focused and detailed evaluation.
- In a group interview, multiple candidates are assessed simultaneously, often through discussions or collaborative tasks. This type helps interviewers to judge interpersonal skills, leadership qualities, and how well individuals perform in a team setting.
- A panel interview involves a group of interviewers, usually from different departments or levels of the organization, who collectively assess one candidate. This format is often used for higher-level or presentation-based roles and offers a well-rounded evaluation.

➢ **Based on Planning Involved**

Based on the level of structure, interviews can be either structured or unstructured.

- A structured interview follows a predetermined set of questions asked in the same order to all candidates. This format ensures consistency and fairness and is ideal for making objective comparisons.
- In contrast, an unstructured interview is more informal and conversational. The interviewer may deviate from a fixed format, allowing for a more natural dialogue that can reveal deeper insights into the candidate's personality and communication style.

➢ **Based on Ability Testing**

Some interviews are designed to assess specific abilities.

- A **behavioral interview** focuses on a candidate's past experiences to predict future behavior, often through situational questions.
- A **problem-solving interview** emphasizes the candidate's technical, analytical, or creative abilities by presenting tasks or challenges to solve.
- A **depth interview** involves a comprehensive discussion about the candidate's personal and professional life, including education, hobbies, and work history. It's informal but detailed, aiming to understand the person holistically.
- In a **stress interview**, the interviewer intentionally creates a high-pressure environment to observe how the candidate reacts under stress. Tactics may include interruptions, rapid-fire questions, or dismissive behavior.

➢ **Based on Setting**

Interviews can also be classified based on the medium or setting in which they occur.

- A **telephonic interview** is typically conducted early in the selection process to screen candidates before inviting them for in-person meetings.
- **Online or video interviews** are increasingly common, conducted via platforms like Zoom or Skype, especially when geographical distances are a factor.
- At a **job fair**, **mini-interviews** are conducted to quickly assess basic qualifications and determine if a candidate should move forward.
- A **lunch or tea interview** takes place in an informal dining setting and is used to observe the candidate's social skills, etiquette, and composure outside the traditional office environment.

➢ **Based on Purpose or Task**

Different types of interviews are conducted depending on the purpose or the task at hand.

- An apprenticeship interview is typically for entry-level candidates or trainees and involves general and skill-related questions.
- An evaluation interview uses a set scoring system to rate candidates' responses, minimizing interviewer bias.
- A promotion interview is conducted within a company to assess an employee's suitability for a higher position.
- In a counselling interview, employers talk to employees to understand and help resolve workplace concerns or personal issues affecting performance.
- A disciplinary interview addresses employee misconduct or poor performance and is more formal and corrective in nature.
- Lastly, in a persuasive interview, the interviewee attempts to convince the interviewer, often in contexts like internal proposals, sales pitches, or negotiation scenarios.

➢ During the Interview: Tips and Etiquette

A. First Impressions Matter

- Offer a firm handshake, make eye contact, and smile.

- Sit only when invited.
- First 3 minutes are crucial—both verbal and non-verbal cues are assessed.

B. Verbal Communication

- Show interest in the position.
- Answer clearly and confidently.
- Don't interrupt; ask for clarification if needed.
- Avoid arguments.

C. Non-Verbal Communication

- Sit upright with good posture.
- Avoid fidgeting.
- Nod to show attentiveness.
- Smile appropriately.

➢ Common Interview Questions

1. Tell me about yourself.
2. Why have you applied for this job/company?
3. What skills or strengths can you bring to this role?
4. Can you describe a problem you've solved?
5. Why did you choose your degree/course?
6. What are your strengths and weaknesses?
7. Where do you see yourself in 5 years?
8. What do you do in your free time?

➢ Interview Do's and Don'ts

Do:

- Dress appropriately and professionally.
- Maintain eye contact and smile.
- Be confident and polite.
- Listen carefully and respond clearly.
- Show enthusiasm for the job and company.

✕ Don't:

- Be late or unprepared.
- Fidget or appear distracted.
- Argue or be overly aggressive.
- Focus only on salary or holidays.
- Place anything on the interviewer's desk.
- Speak negatively about previous employers.

4.3 Summary

An interview is an essential component of speaking skills, especially in academic, professional, and personal development contexts. It helps individuals demonstrate their ability to communicate clearly, confidently, and appropriately in formal situations. Mastering interview skills involves active listening, thoughtful responses,

appropriate body language, and effective self-presentation. It also enhances one's ability to organize thoughts, answer questions concisely, and engage with different types of interviewers. Developing strong interview skills prepares individuals for job opportunities, academic admissions, and other professional interactions, making it a critical part of overall communication competence.

4.5 Self-Assessment

Exercise 1: Mock Interview

Objective: To practice answering common interview questions with clarity, structure, and confidence.

Instructions:

1. Pair up students (or work in small groups). One person acts as the interviewer, the other as the candidate.
2. Use the following sample interview questions:
    - Tell me about yourself.
    - What are your strengths and weaknesses?
    - Why do you want this position/course?
    - Describe a challenge you faced and how you handled it.
    - Where do you see yourself in five years?
    - Why should we choose you?
3. Candidate Preparation:
    - Think about your answers. Focus on structure Practice good body language, tone, and eye contact.
4. Interviewer Role:
    - Ask follow-up questions.
    - Observe fluency, clarity, and professionalism.
5. Switch Roles after 5–7 minutes.
6. Feedback Round:
    - Give each other constructive feedback on content, fluency, pronunciation, and confidence.
    - Optional: Record and review your performance.

4.6 Points to Remember

1. Interviews help employers assess candidates' skills and personality.
2. First impressions are very important in interviews.
3. Maintain eye contact and positive body language.
4. Dress professionally and arrive on time.
5. Speak clearly, confidently, and politely.
6. Listen carefully before answering questions.
7. Avoid interrupting the interviewer.
8. Research the company before attending the interview.
9. Be honest while discussing strengths and weaknesses.
10. Avoid speaking negatively about previous employers.

Vocabulary

1. Interview – A formal conversation for evaluation or selection.
2. Candidate – A person applying for a job or position.
3. Resume – A document containing qualifications and experience.
4. Etiquette – Proper and polite behavior.
5. Communication – Exchange of information and ideas.

MCQs

1. What is the main purpose of an interview?

a) Entertainment

b) Recruitment and evaluation

c) Celebration

d) Advertisement

2. Which interview involves multiple interviewers?

a) Telephonic interview

b) Group interview

c) Panel interview

d) Stress interview

3. Which type of interview tests how a person handles pressure?

a) Behavioral interview

b) Stress interview

c) Evaluation interview

d) Lunch interview

4. Which of the following is a good interview practice?

a) Arriving late

b) Avoiding eye contact

c) Dressing professionally

d) Interrupting the interviewer

5. "Tell me about yourself" is an example of:

a) A technical task

b) A common interview question

c) A group discussion topic

d) A stress tactic

Short Answer Questions

1. What is an interview?
2. Define a structured interview.
3. What is a panel interview?
4. Why is body language important in interviews?
5. Mention two common interview questions.

Long Answer Questions

1. Discuss the different types of interviews based on planning and setting.

2. Explain the importance of verbal and non-verbal communication during interviews.

3. How can candidates prepare effectively for an interview?

4.6 Suggested Readings

4.7 Suggested Readings

Corfield, Rebecca. *Successful Interview Skills: How to Prepare, Answer Tough Questions and Get Your Ideal Job*. 5th ed., Kogan Page, 2009.

Liptak, John J. *Winning the Interview Game: Everything You Need to Know to Land the Job*. JIST Publishing, 2009.

BLOCK-3
ADVANCED READING STRATEGIES

Unit-3.1: Reading Academic and Professional Text

Learning Objectives

1. Understand the purpose of reading academic and professional texts.
2. Identify features of academic and professional writing.
3. Apply pre-reading, while-reading, and post-reading strategies.
4. Develop critical reading and analytical skills.
5. Improve reading speed, comprehension, and retention.

1.1 Introduction

Reading academic and professional texts requires a different set of skills than casual reading. While novels or newspapers may prioritize entertainment or basic information, academic and professional texts are dense, informative, and often technical. Mastering the ability to understand, analyze, and synthesize information from these texts is essential for success in education and the workplace.

1.2 Understanding the Purpose of Reading

The first step in reading academic or professional material is identifying your purpose. Are you reading to gather information, support an argument, complete a task, or prepare for discussion? Defining your objective helps determine your approach:

- Skimming for a general idea
- Scanning for specific information
- Intensive reading for detailed understanding
- Critical reading for evaluation

➢ Features of Academic and Professional Texts

These texts often include:

- Formal language: Limited use of contractions or colloquialisms
- Technical vocabulary: Subject-specific terms or jargon
- Structured layout: Use of headings, subheadings, abstracts, and references
- Evidence-based content: Citations, data, graphs, and statistics
- Objective tone: Facts over opinions, passive voice in some disciplines

Common types of academic texts include research articles, textbooks, essays, and reports. Professional texts can range from business memos and proposals to technical manuals and policy documents.

➢ Pre-reading Strategies

Effective readers prepare before engaging with the text:

a) Preview the Text

- Read the title, headings, subheadings, and summary
- Skim the introduction and conclusion
- Note any bold or italicized terms

b) Activate Prior Knowledge

- Think about what you already know about the topic
- Ask questions: What do I expect to learn? What is the author's purpose?

c) Set a Goal

- Define whether you need a deep understanding or just a general overview
- Establish a time frame and focus

➢ Strategies while Reading

Active engagement with the text is crucial:

a) Annotate and Highlight

- Underline key points and definitions
- Write questions or summaries in the margins
- Use symbols (e.g., "*" for important ideas, "?" for unclear parts)

b) Monitor Comprehension

- Pause after each paragraph to reflect
- Paraphrase key ideas in your own words
- Re-read confusing sections

c) Use Context Clues

- Use surrounding words or sentences to infer the meaning of difficult terms
- Analyze prefixes, roots, and suffixes

➢ Post-reading Strategies

a) Summarize the Text

- Identify the main idea and supporting details
- Write a short summary in your own words

b) Reflect and Evaluate

- What did you learn?
- Was the text convincing? Why or why not?
- How can you apply this information?

c) Review and Revisit

- Review notes and highlights later
- Discuss the material with peers or colleagues

➢ Critical Reading Skills

Academic and professional texts require more than understanding — they demand critical thinking:

a) Identify the Author's Purpose and Tone

- Informative? Persuasive? Analytical?
- Is the tone formal, neutral, biased?

b) Evaluate Evidence

- Are the arguments supported by reliable data?
- Are the sources credible?

c) Detect Bias and Assumptions

- Is the information presented objectively?
- Are alternative perspectives considered?

d) Assess Structure and Logic

- Does the argument follow a clear, logical flow?
- Are there contradictions or gaps?

➢ Reading Professional Documents

Reading in the workplace involves efficiency and clarity:

a) Business Reports

- Focus on executive summaries, key findings, and recommendations
- Note visuals like charts and tables

b) Emails and Memos

- Identify the purpose quickly
- Scan for action points, dates, and responsibilities

c) Technical Manuals

- Understand step-by-step processes
- Pay attention to warnings, notes, and procedural language

➢ Improving Reading Speed and Retention

a) Increase Vocabulary

- Keep a vocabulary notebook
- Use flashcards

b) Practice Regularly

- Read academic journals or industry blogs daily
- Join reading groups or online forums

c) Use Reading Tools

- Digital highlighters, annotation software (e.g., Hypothesis, Zotero)
- Text-to-speech for auditory learners

1.3 Summary

Reading academic and professional texts is a foundational skill for both academic achievement and career advancement. It involves more than simply reading words on a page — it requires purpose, strategy, and critical thinking. By developing pre-reading, while-reading, and post-reading strategies, enhancing vocabulary, and applying analytical thinking, readers can extract maximum value from complex texts. Whether you're studying for an exam, analyzing a policy document, or reviewing a business report, these skills will empower you to read more effectively and with greater confidence.

1.4 Self-Assessment

1. Identify the steps to read academic and professional text.

1.5 Points to Remember

1. Academic and professional texts use formal and objective language.
2. Reading purpose determines the reading strategy.
3. Skimming helps get the general idea of a text.

4. Scanning is useful for finding specific information quickly.
5. Annotation and highlighting improve understanding.
6. Critical reading involves evaluating evidence and detecting bias.
7. Summarizing helps retain important information.
8. Technical vocabulary is common in academic texts.
9. Reviewing notes strengthens comprehension and memory.
10. Regular reading practice improves vocabulary and speed.

Vocabulary

1. Skimming – Reading quickly to get the main idea.
2. Scanning – Searching for specific information in a text.
3. Annotation – Adding notes or comments to a text.
4. Comprehension – Understanding the meaning of a text.
5. Vocabulary – A set of words known and used by a person.

MCQs

1. What is the purpose of skimming?

a) To memorize the text
b) To get a general idea
c) To translate the text
d) To correct grammar

2. Which type of reading focuses on detailed understanding?

a) Scanning
b) Intensive reading
c) Casual reading
d) Speed reading

3. What is commonly found in academic texts?

a) Slang language
b) Informal tone
c) Technical vocabulary
d) Personal opinions only

4. Which strategy helps readers prepare before reading?

a) Ignoring headings
b) Previewing the text
c) Skipping the introduction
d) Avoiding summaries

Short Answer Questions

1. What is academic reading?
2. Define scanning.
3. Why is annotation useful while reading?
4. Mention two features of professional texts.

Long Answer Questions

1. Explain the purpose of reading academic and professional texts.
2. Discuss pre-reading, while-reading, and post-reading strategies.
3. Describe the features of academic and professional texts.

1.6 Suggested Readings

Adler, Mortimer J., and Charles Van Doren. *How to Read a Book: The Classic Guide to Intelligent Reading*. Revised ed., Simon and Schuster, 1972.

Unit-3.2: Critical Reading

Learning Objectives

1. Understand the meaning and purpose of critical reading.
2. Identify the four levels of understanding in critical reading.
3. Analyze arguments, evidence, and logic in a text.
4. Develop the ability to interpret and evaluate information critically.
5. Improve active reading and questioning skills.

2.1 Introduction

Critical reading means going beyond simply understanding the words on a page. It involves thinking deeply about what a text is saying, how the writer develops their points, and what the message means in a larger context. It also includes forming your own judgment about the value and quality of the information.

When reading critically, you can understand a text at four different levels:

1. Comprehension: Understanding what the text says.
    - Ask: What are the main ideas?
2. Analysis: Understanding how the text works.
    - Ask: How is the text organized? How does it try to influence me?
3. Interpretation: Understanding the deeper meaning or purpose of the text.
    - Ask: What does this text mean in a broader sense? What are its implications?
4. Evaluation: Judging the quality and usefulness of the text.
    - Ask: What are the strengths and weaknesses? How important is this text in its field?

2.2 The Process of Critical Reading

To read critically, you must be an active reader, not a passive one. This means asking questions while reading and thinking about what the writer is saying, how they support their claims, and whether the ideas are logical or biased.

Here are some important questions to guide you:

➢ Key Elements to Consider

- Argument:
    - What is the writer trying to say? What is their main point?
- Support:
    - What are the key ideas used to support the argument?
    - Has the writer addressed other points of view? How well?
- Evidence:
    - What kind of proof does the writer use—facts, examples, expert opinions?
    - Is the evidence reliable, recent, and relevant? Where does it come from?
- Logic:
    - Do the ideas connect logically? Are there gaps in reasoning?
    - Are any points unclear or not explained properly?
- Assumptions:

- Are there any unstated beliefs or viewpoints behind the argument?
- Are these assumptions reasonable and made clear?

- Evaluation:
  - What is good or lacking in the text?
  - Does it make a meaningful contribution to its subject or field?

1.3 Summary

Critical reading helps you not only understand what a text says but also how and why it says it. By thinking actively and questioning deeply, you become a more informed and thoughtful reader—an essential skill for academic success and lifelong learning.

1.4 Self-Assessment

Exercise 1: Here's a short passage about the discovery of antibiotics:

The discovery of antibiotics was mainly due to two scientists: Alexander Fleming and Howard Florey. Before 1942, many patients died from infections after surgeries or childbirth. Fleming, in 1930, noticed how certain fungi stopped bacteria from growing and wrote about it in a journal. During World War II, many soldiers died from infected wounds. Florey, an Australian scientist, read Fleming's article and decided to explore it further. He managed to extract enough penicillin to treat one patient. With support from the U.S., Florey and his team started producing penicillin in large quantities. By 1942–1943, it was widely used to save lives in the war.

Now read the text at different levels:

1. Comprehension: (Simply restates what the text says.)
2. Analysis: (Looks at how the story is told and structured.)
3. Interpretation: (Explores the deeper meaning and historical context.)
4. Evaluation: (Judges the accuracy of the text.)

1.5 Points to Remember

1. Critical reading involves thinking deeply about a text.
2. It requires active reading, not passive reading.
3. Comprehension focuses on understanding the main ideas.
4. Analysis examines how the text is organized and presented.
5. Interpretation looks for deeper meanings and implications.
6. Evaluation judges the quality and usefulness of the text.
7. Reliable evidence strengthens an argument.
8. Logical connections between ideas are important.
9. Readers should identify assumptions and possible bias.
10. Critical reading helps improve reasoning and decision-making skills.

Vocabulary

1. Comprehension – Understanding the meaning of a text.
2. Analysis – Examining how a text is organized and developed.
3. Interpretation – Explaining the deeper meaning of a text.
4. Evaluation – Judging the quality or value of information.
5. Assumption – An idea accepted as true without proof.

MCQs

1. What does critical reading mainly involve?

a) Memorizing facts

b) Thinking deeply about a text

c) Reading quickly

d) Translating language

2. Which level of understanding focuses on the deeper meaning of a text?

a) Comprehension

b) Analysis

c) Interpretation

d) Scanning

3. What should a critical reader examine in a text?

a) Only grammar

b) Only vocabulary

c) Arguments and evidence

d) Handwriting style

Short Answer Questions

1. What is critical reading?
2. What is meant by interpretation?
3. Why is evidence important in a text?

Long Answer Questions

1. Discuss the process of critical reading in detail.
2. Explain the importance of evidence and logic in critical reading.

1.6 Suggested Reading

Adler, Mortimer J., and Charles Van Doren. *How to Read a Book: The Classic Guide to Intelligent Reading*. Revised ed., Simon & Schuster, 1972.

Paul, Richard, and Linda Elder. *Critical Thinking: Tools for Taking Charge of Your Learning and Your Life*. 4th ed., Pearson, 2021.

Unit-3.3: Analysis and Interpretation

Learning Objectives

1. Understand the importance of critical reading in analysis and interpretation.
2. Identify the steps involved in critical reading.
3. Analyze the author's choices of content, language, and structure.
4. Differentiate between restatement, description, and interpretation.
5. Develop independent thinking and interpretation skills.

4.1 Introduction

Why Read Critically?

- Purpose: To write critically (as academic writing demands), you must first read critically.
- Different Perspectives: No two authors think exactly alike, so you need to evaluate what they say and how they say it.
- Outcome: It allows you to:
    - Understand the author's viewpoints and arguments.
    - Form and support your own arguments.
    - Reach independent, well-informed conclusions.

1.2 **Steps in Critical Reading:**

1. Analysis – What to look for

- Break down the text into smaller parts to understand each clearly.
- Look for:
    - Main arguments or claims.
    - Supporting evidence (data, examples, anecdotes).
    - Opinions vs. facts.
    - Effectiveness of the argument.

2. Inference – How to think about what you find

- Go beyond literal meaning.
- Use your knowledge and reasoning to:
    - Detect implied ideas.
    - Understand hidden meanings.
    - Identify biases, tone, or unspoken assumptions.

➢ Three Choices Authors Make (that you must examine):

1. Choice of Content

- What is included or left out?
- Are the arguments supported by solid evidence?
- Are illustrations clear and relevant?
- Are opinions distinguished from facts?

2. Choice of Language

- Is the language clear or vague?

- Is there bias or persuasive techniques?
- Are key terms used consistently?
- Are conclusions and intentions obvious?

3. Choice of Structure

- How is the argument built?
- Does each part connect logically to the next?
- Are transitions smooth?
- Are claims and conclusions well-organized?

➢ Three Levels of Reading a Text:

1. Restatement – What the text says

(Understanding the literal meaning)

- Focus on basic comprehension: definitions, sentence structures, and main ideas.

2. Description – What the text does

(How the text operates)

- Identify:
    - Topics and subtopics.
    - Use of language for effect.
    - Structural patterns and flow.
    - Methods like description, narration, comparison.

3. Interpretation – What the text means

(Finding the deeper meaning)

- Ask:
    - What is the overall message?
    - How are the parts of the text connected to support this meaning?
    - What conclusions or messages can be drawn?

1.3 Summary

Critical reading is vital for academic success as it enables meaningful interpretation of texts, allowing students to grasp deeper insights and arguments. It supports clear, evidence-based, and logically structured writing by helping learners engage critically with sources. Moreover, it fosters the development of an individual voice, encouraging original thinking and informed perspectives. These skills are essential for effective communication and academic growth across disciplines.

1.4 Self-Assessment

Exercise 1: Read the Passage

″Banning plastic bags may seem like an easy environmental win, but it's more complicated. While single-use plastics do contribute to pollution, alternatives like paper or cotton bags often require more energy and resources to produce. A better solution may involve reducing overall consumption and investing in reusable, sustainable options rather than simply replacing one disposable product with another.″

Answer the following Questions:

1. What is the main argument (claim) of the passage?

2. What evidence or reasoning does the author use to support this argument?
3. What assumption is the author making?
4. What is the author's tone (e.g., persuasive, informative, critical)?

1.5 Points to Remember

1. Critical reading helps readers form independent conclusions.
2. Analysis involves breaking a text into smaller parts.
3. Inference means understanding implied or hidden meanings.
4. Authors make choices about content, language, and structure.
5. Facts and opinions should be distinguished carefully.
6. Clear organization strengthens an argument.
7. Interpretation focuses on the deeper meaning of a text.
8. Bias and persuasive language should be identified critically.
9. Restatement explains what the text says literally.
10. Description explains how the text works and is organized.

Vocabulary

1. Analysis – Examining parts of a text carefully.
2. Inference – A conclusion drawn from evidence and reasoning.
3. Bias – A one-sided opinion or prejudice.
4. Interpretation – Understanding the deeper meaning of a text.
5. Structure – The organization and arrangement of ideas in a text.

MCQs

1. Why is critical reading important?

a) To memorize the text

b) To evaluate and form independent opinions

c) To avoid understanding

d) To translate language only

2. What does analysis involve?

a) Ignoring details

b) Breaking the text into smaller parts

c) Reading quickly

d) Copying information

3. Which step helps readers detect hidden meanings?

a) Restatement

b) Inference

c) Memorization

d) Skimming

Short Answer Questions

1. What is critical reading?
2. Define inference.

3. Why is structure important in a text?

Long Answer Questions

1. Explain the importance of inference in understanding a text.
2. How does critical reading help in academic writing and independent thinking?

1.6 Suggested Readings

Adler, Mortimer J., and Charles Van Doren. *How to Read a Book: The Classic Guide to Intelligent Reading*. Revised ed., Simon & Schuster, 1972.

Paul, Richard, and Linda Elder. *Critical Thinking: Tools for Taking Charge of Your Learning and Your Life*. 4th ed., Pearson, 2021.

Unit-3.4: Vocabulary in Context

Learning Objectives

1. Understand the meaning of vocabulary in context.
2. Identify different types of context clues in reading.
3. Develop strategies to guess word meanings from context.
4. Improve vocabulary retention and usage through reading.
5. Build confidence in understanding unfamiliar words independently.

4.1 Introduction

Vocabulary is the heart of language. To speak, write, listen, and read effectively, we need a rich and flexible vocabulary. While flashcards and word lists can be helpful, one of the most natural and effective ways to learn new words is by using context while reading. This method not only helps with understanding and remembering new words but also teaches how to use them correctly in real-life situations.

4.2 What Does "Learning Through Context" Mean?

Context refers to the words and sentences that surround an unfamiliar word. These surrounding clues can help a reader guess the meaning without needing a dictionary. Learning vocabulary through context means discovering a word's meaning by observing how it is used in a sentence or passage.

For example: "The knight was valiant, charging into battle without hesitation."

Even if you don't know the word valiant, the phrase "charging into battle without hesitation" suggests it means brave or courageous.

➢ Why Is Learning Vocabulary in Context Effective?

Learning vocabulary through context is more effective than memorizing words in isolation because:

- Better memory retention: Words tied to a story or situation are easier to remember.
- Understanding of usage: You learn how a word behaves in real sentences, including grammar and collocation.
- Faster comprehension: You can understand new words quickly without stopping to check the dictionary.
- Improved fluency: You can recognize and use the word naturally in speech and writing.

➢ Types of Context Clues in Reading

When reading, look for different kinds of clues to help define unknown words:

a) Definition or Restatement: The text directly defines the word.

- "The desert is an arid region, meaning it receives very little rainfall."

b) Synonyms: The word is explained using a similar term.

- "The student was lethargic, or sluggish, during the lecture."

c) Antonyms: The sentence includes a contrast that reveals the word's meaning.

- "Unlike his gregarious sister, who loves parties, Max prefers staying alone."

d) Examples: Examples help explain the unfamiliar word.

- "He was a polyglot, fluent in Spanish, Arabic, and Chinese."

e) Inference: You understand the word by analyzing the whole sentence or paragraph.

- "She stared at the floor and refused to speak, clearly showing her remorse."

➢ Step-by-Step Strategy to Learn Vocabulary While Reading

Here's how to build your vocabulary naturally while reading:

Step 1: Read Actively: Pay close attention to words you don't know, especially those that seem important to understanding the sentence.

Step 2: Guess the Meaning: Before checking the dictionary, try to infer the meaning based on context clues. Ask yourself:

- What is the sentence about?
- Is there an explanation, synonym, or example nearby?
- What tone or mood does the word carry?

Step 3: Confirm the Meaning: After making an educated guess, check a dictionary to see if you were correct. This strengthens both comprehension and memory.

Step 4: Note the Word: Write down the new word, its definition, a sentence using it (preferably from the text), and your own example.

Example note:

- Word: Meticulous
- Meaning: Very careful and precise
- In the text: "She was meticulous about her work, double-checking every calculation."
- My sentence: "He painted the model with meticulous attention to detail."

Step 5: Review and Use: Revisit your vocabulary notes regularly. Try to use the word in conversation or writing to make it part of your active vocabulary.

➢ Practical Tips for Learning Vocabulary through Context

a) Read a Variety of Texts: Expose yourself to different styles and subjects: newspapers, novels, essays, scientific articles, etc. Each genre offers unique vocabulary.

b) Choose the Right Level: Reading material that's too hard will be frustrating. If you don't understand 80–90% of the words, switch to something slightly easier.

c) Use a Vocabulary Journal: Keep a notebook (digital or paper) to track new words, meanings, examples, and related words. Organize them by themes or subjects if helpful.

d) Reread Passages: Sometimes, the second reading gives better clarity. Go back and reread the sentence or paragraph after learning the meaning of the word.

e) Practice with Flashcards (In Context): Instead of writing a word with its definition only, add a sentence with context. For example:

- Word: "Ambiguous"
- Definition: Unclear or having multiple meanings
- Sentence: "Her answer was ambiguous; no one knew what she really meant."

6. Examples of Vocabulary in Context: Let's see some real examples of how vocabulary appears in context.

Example 1:

"The scientist's groundbreaking research changed the way we view climate change."

- Clue: The research changed the way we view something.
- Meaning: Revolutionary, new, very important.

Example 2:

“He gave a cursory glance at the paper before tossing it aside.”

- Clue: He glanced quickly and tossed it aside.
- Meaning: Quick and superficial.

4.3 Summary

Learning vocabulary through context while reading is a powerful and natural method. Instead of memorizing isolated words, you develop a real, functional understanding of how language works. With regular reading, active engagement, and smart strategies, your vocabulary will expand steadily—and with it, your confidence in using English will grow.

4.4 Self-Assessment

Exercise 1: Multiple Choice Questions

Instructions: Read each sentence and choose the best definition of the bolded word based on the context.

1. Sentence: The scientist’s explanation was so **convoluted** that even her colleagues struggled to understand it.
   A. Simple
   B. Confusing
   C. Exciting
   D. Detailed
2. Sentence: The athlete's **resilience** after the injury impressed everyone.
   A. Weakness
   B. Sadness
   C. Ability to recover
   D. Desire to quit
3. Sentence: The documentary provided a **succinct** summary of the events leading to the conflict.
   A. Long and detailed
   B. Biased
   C. Brief and clear
   D. Inaccurate

Exercise 2: Use the context of the sentence to choose the correct word from the word bank:

Word Bank: *meticulous, obsolete, enhance, ambiguous*

1. The directions were so _____ that we weren’t sure which way to go.
2. She was _____ in her research, checking every citation twice.
3. Many people now consider DVDs to be _____ due to streaming services.
4. Adding visual aids can _____ a presentation and make it more engaging.

Exercise 3: Read the passage and guess the meaning of the bolded word. Then, write your own definition and a synonym.

Sentence: Despite the team's **tumultuous** season filled with injuries and losses, they managed to reach the playoffs.

- My definition: _____

- Synonym: _____

Exercise 4: Choose 5 new academic or professional words you've encountered recently. For each word:

1. Write a sentence that shows the word in context.
2. Underline context clues.
3. Write a definition based on those clues.

.

4.5 Points to Remember

1. Context clues help readers understand unfamiliar words.
2. Learning vocabulary in context improves memory retention.
3. Reading actively is important for vocabulary development.
4. Synonyms and antonyms can reveal word meanings.
5. Examples in a sentence often explain difficult words.
6. Inference requires understanding the overall meaning of a passage.
7. A vocabulary journal helps track and review new words.
8. Repetition and usage strengthen active vocabulary.
9. Reading a variety of texts improves word knowledge.
10. Dictionaries should confirm meanings after guessing from context.

Vocabulary

1. Context – The surrounding words or sentences that help explain meaning.
2. Inference – Understanding meaning through reasoning and clues.
3. Synonym – A word with a similar meaning.
4. Antonym – A word with the opposite meaning.
5. Collocation – Words that are commonly used together.

MCQs

1. What does “learning vocabulary through context” mean?

a) Memorizing word lists

b) Guessing meanings from surrounding words

c) Translating every word

d) Ignoring unfamiliar words

2. What does the word “arid” mean in the sentence “The desert is an arid region”?

a) Rainy

b) Dry

c) Cold

d) Crowded

3. What is the purpose of a vocabulary journal?

a) To draw pictures

b) To track and review new words

c) To avoid difficult texts

d) To memorize grammar rules only

Short Answer Questions

1. What is meant by context in reading?
2. Define synonym and antonym.
3. Why is learning vocabulary in context useful?
4. How does a vocabulary journal help learners?

Long Answer Questions

1. Explain the importance of learning vocabulary through context.
2. Describe the step-by-step strategy for learning vocabulary while reading.

4.6 Suggested Readings

Blachowicz, Camille, and Donna Ogle. *Reading Comprehension: Strategies for Independent Learners*. 2nd ed., Guilford Press, 2008.

Beck, Isabel L., Margaret G. McKeown, and Linda Kucan. *Bringing Words to Life: Robust Vocabulary Instruction*. 2nd ed., Guilford Press, 2013.

BLOCK-4
ADVANCED WRITING SKILLS

Unit-4.1: Academic Writing

Learning Objectives

1. Understand the meaning and purpose of academic writing.
2. Identify the common types of academic writing.
3. Recognize the key characteristics of academic writing.
4. Learn the structure of an academic paper.
5. Understand the importance of citation and avoiding plagiarism

1.1 Introduction

Academic writing refers to any formal writing done in academic settings, such as schools, colleges, universities, or scholarly research. It includes work written by students to fulfill coursework requirements and work by researchers and professionals published in academic journals or presented at conferences.

1.2 Purposes of Academic Writing

Academic writing is used for:

- Completing assignments and assessments
- Publishing scholarly articles and reports
- Preparing research proposals, theses, and dissertations
- Sharing findings and knowledge in a formal, credible way

➢ Common Types of Academic Writing

Type	Definition
Essay	A short piece responding to a specific question, using evidence from class or readings
Research Paper	A detailed study based on independent research, often chosen by the student
Thesis/Dissertation	A long, in-depth research project written at the end of a degree program
Research Proposal	An outline for a future research project
Literature Review	A summary and analysis of existing research related to a specific topic
Abstract	A brief summary of a longer work such as a paper or thesis
Explication	An explanation or analysis of a specific part of a text

Key Characteristics of Academic Writing

1. Formal and Objective

- Uses neutral, professional tone.

- Avoids personal opinions and emotional language.
- All claims must be supported by evidence.

2. Clear and Focused

- Begins with a thesis or research question.
- Every part of the paper connects to this main idea.

3. Logical Structure

- Introduction → Body → Conclusion.
- Body paragraphs are organized by importance or logic.
- Transitions and linking phrases ensure coherence.

4. Evidence-Based

- Cites studies, data, or textual references.
- Avoids baseless claims or generalizations.

5. Precise Language

- Uses specific and accurate vocabulary.
- Avoids slang, jargon, and vague words.

6. Third-Person Point of View

- Focus is on facts and research, not personal opinions.

7. Deductive Reasoning

- Builds arguments step-by-step, leading to a logical conclusion.

➢ Academic Paper Structure

1. Introduction

- Captures interest with a quote, question, or fact.
- States the thesis clearly.
- Gives background and outlines the scope of the paper.

2. Body Paragraphs

- Each paragraph covers one main idea.
- Starts with a topic sentence.
- Provides explanation, evidence, and analysis.
- Transitions connect ideas smoothly.

3. Conclusion

- Restates the thesis.
- Summarizes key arguments.
- Reflects on the importance or implication of findings.

➢ **Key Rule:** Always cite your sources—whether quoting, paraphrasing, or summarizing. This avoids plagiarism and shows respect for others' work.

1.3 Summary

Academic writing is a structured, evidence-based, and formal method of communication used in educational and research contexts. It requires a clear thesis, logical organization, and precise language. Essential skills like paraphrasing and summarizing help writers include others' work ethically and effectively, supporting their

own ideas with credibility. By practicing these skills regularly—especially learning how to extract vocabulary, analyze sentence structure, and understand argumentation—you can become a more confident and capable academic writer.

1.4 Self-Assessment

1. What are the key characteristics of academic writing?
2. What are the standard parts of an academic essay or paper?
3. What is the purpose of academic writing?
4. How do you organize ideas logically in paragraphs and sections?

1.5 Points to Remember

1. Academic writing is formal and objective.
2. It is used in schools, colleges, and research settings.
3. Every academic paper should have a clear thesis or research question.
4. Evidence must support all arguments and claims.
5. Academic writing follows a logical structure.
6. Precise and clear language is essential.
7. Third-person point of view is commonly used.
8. Body paragraphs should focus on one main idea.
9. Proper citations avoid plagiarism.
10. A strong conclusion summarizes and reinforces the main argument.

Vocabulary

1. Thesis – The main argument or central idea of a paper.
2. Citation – A reference to a source of information.
3. Plagiarism – Using another person's work without credit.
4. Abstract – A brief summary of a research paper or thesis.
5. Evidence – Facts or information used to support an argument.

MCQs

1. What is academic writing mainly used for?

a) Entertainment
b) Formal education and research
c) Casual communication
d) Social media posts

2. Which of the following is a type of academic writing?

a) Blog post
b) Research paper
c) Personal diary
d) Advertisement

3. What is the purpose of citation?

a) To decorate the paper

b) To avoid plagiarism and credit sources

c) To increase length

d) To make writing informal

Short Answer Questions

1. What is academic writing?
2. Define plagiarism.
3. What is an abstract?
4. Why is evidence important in academic writing?
5. What is the purpose of a conclusion?

Long Answer Questions

1. Describe the key characteristics of academic writing.
2. Explain the structure of an academic paper in detail.
3. Why are citation and evidence essential in academic writing?

1.6 Suggested Readings

Greene, Stuart, and April Lidinsky. *From Inquiry to Academic Writing: A Text and Reader*. 5th ed., Bedford/St. Martin's, 2023.

Swales, John M., and Christine B. Feak. *Academic Writing for Graduate Students: Essential Tasks and Skills*. 3rd ed., University of Michigan Press, 2012.

Unit-4.2 : Business Letters and Report Writing

Learning Objectives

1. Understand the meaning and importance of business letters and reports.
2. Identify different types of business letters.
3. Learn the structure and format of business letters and reports.
4. Develop formal and professional writing skills.
5. Understand the role of reports in decision-making and communication.

2.1 Introduction

Effective written communication is essential in the business world. Two of the most common forms used in professional settings are business letters and business reports**.** Both serve specific purposes and require clarity, formal tone, and structured formats to convey information accurately and professionally. Business letter and report writing are essential forms of professional communication used in the workplace. A business letter is a formal document written to convey messages such as requests, complaints, or confirmations in a clear and courteous manner. Reports, on the other hand, present organized information, analysis, and recommendations to support decision-making. Both formats require a formal tone, structured layout, and precise language. Mastering these skills helps individuals communicate effectively, maintain professionalism, and achieve business goals. Whether addressing a client or presenting findings to management, strong business writing enhances clarity, credibility, and overall workplace efficiency.

2.2 Business Letters

A business letter is a formal document often sent from one company to another or between a company and its clients, employees, or stakeholders. These letters are used to communicate professionally, maintaining a tone of formality and courtesy. They are crucial tools in the corporate world for conveying messages like offers, complaints, confirmations, requests, or notices.

Business letters are valued for their clear structure, official tone, and legally binding nature. Even in the digital age, they remain relevant, particularly in situations where a formal, recorded communication is required.

- Importance of Business Letters
    1. Professionalism: Business letters convey a professional image and reflect the organization's standards.
    2. Clarity and Precision: These letters are concise and to the point, ensuring clear communication.
    3. Record Keeping: They serve as legal documents and are often archived for future reference.
    4. Relationship Building: Polite and well-structured letters help build trust and long-term business relationships.
    5. Formal Requests and Responses: Whether it's making a complaint, placing an order, or making an offer, a business letter provides a structured platform for formal communication.
- Types of Business Letters
    1. Letter of Inquiry: Seeks information from the recipient, such as product details or service conditions.
    2. Order Letter: Placed by a buyer to order goods or services.
    3. Complaint Letter: Highlights issues faced by a customer or partner and seeks resolution.

4. Adjustment Letter: Sent in response to a complaint, offering a resolution.
5. Sales Letter: Promotes products or services to a target audience.
6. Cover Letter: Accompanies a resume in a job application, outlining suitability for a role.
7. Resignation Letter: Used by employees to formally resign from a position.
8. Recommendation Letter: Written by a superior or colleague endorsing someone's skills and experience.
9. Apology Letter: Expresses regret over a business-related issue or mistake.
10. Acknowledgment Letter: Confirms the receipt of something, like an order or application.

➢ Structure of a Business Letter

A typical business letter follows a standard format:

1. Sender's Address: Top-right or top-left corner. It includes the sender's full address but often omits the name.
2. Date: Placed below the sender's address. Format: May 28, 2025 (U.S.) or 28 May 2025 (British).
3. Recipient's Address: Full name, title, company name, and mailing address.
4. Salutation: A polite greeting. Examples:
   - *Dear Mr. Smith,*
   - *Dear Dr. Johnson,*
   - *To Whom It May Concern,* (if the recipient is unknown)
5. Subject Line (optional): Summarizes the purpose. Example: Subject: Application for Sales Manager Position
6. Body of the Letter: Divided into three main parts:
   - Opening Paragraph: States the purpose of writing.
   - Middle Paragraph(s): Details the message—background, explanation, or supporting data.
   - Closing Paragraph: Summarizes the letter and includes a call to action or expected outcome.
7. Complimentary Close: Examples include:
   - *Sincerely,*
   - *Yours faithfully,* (when recipient is unknown)
   - *Kind regards,*
8. Signature and Name: Leave space for a handwritten signature (in printed letters), followed by the sender's full name and designation.
9. Enclosures (if any): Mentions documents included with the letter. Example: *Enclosures: Resume, Portfolio*

➢ Tone and Language

The tone of a business letter must be:

- Formal and Respectful: Avoid slang or overly casual language.
- Concise and Direct: Get to the point without unnecessary information.
- Polite and Courteous: Even when making complaints or declining offers.
- Objective and Professional: Avoid emotional or subjective expressions.

➢ Formatting Guidelines

1. Font and Size: Use readable fonts like Times New Roman or Arial, size 11 or 12.
2. Margins: Use 1-inch margins on all sides.
3. Alignment: Left-align all content (block format).
4. Spacing: Use single spacing within paragraphs and double spacing between paragraphs.

5. Length: Ideally one page; two at most for complex messages.
6. Paper and Medium: Use professional letterhead or plain white paper for printed letters; PDFs are preferred for email attachments.

➢ Sample Business Letter

[Your Company Letterhead]
ABC Corporation
123 Business Road
New York, NY 10001
May 28, 2025
Mr. James Brown
Procurement Manager
XYZ Enterprises
456 Corporate Blvd
Chicago, IL 60601
Dear Mr. Brown,
Subject: Proposal for Supply Chain Partnership
I am writing on behalf of ABC Corporation to express our interest in partnering with XYZ Enterprises for the supply of electronic components. We believe our high-quality products and efficient logistics can significantly contribute to the success of your production lines.
Our company has over 20 years of experience in supplying electronic parts to leading firms in the United States. We pride ourselves on timely delivery, competitive pricing, and personalized customer service.
Please find attached our company brochure and catalog for your reference. We are confident that our offerings align with your quality and budget requirements.
We would appreciate the opportunity to discuss this proposal further. Kindly let us know a convenient time for a meeting or conference call.
Thank you for considering our proposal. We look forward to the possibility of working together.
Sincerely,
(Signature)
Michael Johnson
Sales Director
ABC Corporation
Enclosures: Company Brochure, Product Catalog

Business letters are essential tools in formal communication. Mastering their format, tone, and structure enhances professional credibility and fosters productive business relationships. Whether it's a sales pitch, a complaint, or a job application, a well-crafted business letter reflects clarity, respect, and professionalism—qualities that are indispensable in today's business environment.

2.3 Report Writing

What is a Report?

A report is a well-organized document written in a formal style. It is usually based on reading, research, or practi-

cal work such as an investigation, survey, experiment, or a review of how things are done in other organizations. Reports are written with a specific purpose, such as:

- To give information,
- To persuade the reader, or
- To suggest actions or improvements.

They are also written for a particular audience. A good report presents clear findings and often includes conclusions and recommendations based on those findings.

➢ The Main Aims of a Report Are To:

- Explain the issue and the reason for the report.
- Describe what was done and how it was done.
- Present the results, draw conclusions, and offer recommendations if needed.

➢ Preparing and Writing Your Report

Start by carefully reading your assignment brief. This will help you understand:

- The goal of the report.
- Who will read it (the audience).

Plan your time well. Make sure you allow enough time to:

- Collect information.
- Organize your ideas.
- Write your report.
- Edit and proofread it.

Use formal academic language. Write clearly and simply—avoid slang and difficult jargon unless necessary. Keep paragraphs short and focused on one main point.

You can use tables and diagrams to support your points, but only include them if they help the reader understand the topic better. Label them clearly.

➢ Report Structure

1. Title Page

Include:

- The title of the report.
- Your name (the author).
- Any other required details (e.g., module or course name).

2. Contents Page

List all the main sections and sub-sections, along with their page numbers. If your report includes tables, images, or diagrams, list them separately as well.

3. Abstract / Summary

This is a short summary of the report. It should explain what the report is about, the main points, and your conclusions. The abstract should be understandable on its own without reading the full report.

4. Introduction

Explain the purpose of the report, what topics it will cover, and give any background information. You can also mention any limitations (e.g., topics not covered or issues faced during research).

5. Main Section

This is the largest part of the report. It presents your research, findings, and analysis. Depending on your task, this section may include:

- A literature review
- Research methods (methodology)
- Results
- Discussion

6. Conclusions

Summarize the key points from your findings. Link these back to the original purpose of the report. Do not include new information here.

7. Recommendations

Based on your conclusions, suggest actions, improvements, or next steps. Make sure your recommendations are realistic and directly related to your findings.

8. References

List all the sources you used in your report. Use the correct referencing style required by your institution (e.g., APA, MLA, Harvard).

9. Appendices

Include extra information that is too detailed for the main report but still important (e.g., survey questions, data tables, full interview transcripts). Each appendix should be numbered and clearly referred to in the main body of the report.

2.4 Summary

Business letters are vital in formal communication, where mastering their format, tone, and structure boosts professional credibility and builds strong business relationships. Whether for sales, complaints, or job applications, a well-written letter demonstrates clarity, respect, and professionalism—essential traits in today's business world. Report writing goes beyond compiling information; it involves careful planning, research, clear writing, and logical organization. Reports serve to inform, analyze situations, and recommend actions. By adhering to proper formatting and using formal language, reports become clearer and more effective, enhancing communication and supporting better decision-making in professional settings.

1.5 **Self-Assessment**

1. Write a Business Letter for making a complaint about a delayed delivery.
2. Write a report on the annual function organized in your university.

1.6 Points to Remember

1. Business communication should be clear, formal, and professional.
2. Business letters are used for official communication.
3. Reports present organized information and recommendations.
4. A business letter follows a standard structure and format.
5. Reports are written for a specific purpose and audience.
6. Formal tone and precise language are essential.
7. Proper formatting improves readability and professionalism.

8. Conclusions summarize findings without adding new information.
9. Recommendations should be practical and related to findings.
10. References and appendices provide supporting information in reports.

Vocabulary

1. Proposal – A formal suggestion or plan.
2. Recommendation – Advice or suggestion for action.
3. Formality – Following official or professional rules and style.
4. Appendix – Extra supporting material added at the end of a report.
5. Enclosure – A document included with a business letter.

MCQs

1. Which type of business letter is used to apply for a job?

a) Complaint letter

b) Sales letter

c) Cover letter

d) Inquiry letter

2. Which section of a report summarizes the whole report briefly?

a) Introduction

b) Appendix

c) Abstract

d) References

3. Which tone is appropriate for business writing?

a) Informal and emotional

b) Humorous and casual

c) Formal and respectful

d) Aggressive and personal

Short Answer Questions

1. What is a business letter?
2. Define a report.
3. What is the purpose of a complaint letter?
4. Why are recommendations important in reports?
5. What is included in the title page of a report?

Long Answer Questions

1. Explain the importance of business letters in professional communication.
2. Explain the structure and organization of a report.

1.7 Suggested Readings

Guffey, Mary Ellen, and Dana Loewy. *Essentials of Business Communication*. 11th ed., Cengage Learning, 2021.

Locker, Kitty O., and Stephen Kaczmarek. *Business Communication: Building Critical Skills*. 7th ed., Mc-Graw-Hill Education, 2020.

Unit-4.3: Resume and Cover Letter

Learning Objectives

1. Understand the purpose and importance of resumes and cover letters.
2. Learn the structure and formatting of a resume.
3. Identify the key sections of a cover letter.
4. Develop professional writing and presentation skills.
5. Prepare effective job application documents for employment opportunities.

3.1 Introduction

A **resume** and a **cover letter** are essential documents in the job application process. A resume provides a clear, concise summary of your skills, education, work experience, and achievements, showcasing why you're a strong candidate. It is typically formatted to highlight key information quickly for employers.

A cover letter accompanies the resume and allows you to introduce yourself personally, explain your interest in the position, and highlight how your background aligns with the job requirements. Together, these documents demonstrate professionalism and help you make a positive first impression. Mastering both is crucial to successfully securing job interviews and advancing your career.

3.2 What is a Resume?

A resume is a personal marketing tool that highlights your education, experience, skills, and achievements. It's designed to show an employer why you're a good fit for a job. Since most employers only spend 10–15 seconds reviewing a resume, it should be short, clear, and tailored to the job you're applying for.

There are different ways to format a resume, and the layout can vary depending on your background and the job. However, the chronological resume is often recommended for students and recent graduates because it highlights your academic history and job experience in a clear timeline.

- General Tips for Writing a Resume
  1. What Personal Information to Include
     - Your full name – Make it bold and use a larger font so it stands out.
     - Phone number – Include one where you can easily be reached or where a message can be left.
     - Email address – Use a professional email (e.g., yourname@email.com), not one with nicknames.
  2. What NOT to Include
     - Age or date of birth
     - Gender or marital status
     - Family or health information
     - Religion, political views, or ethnic background
     - Social Insurance Number
     - A photo
- Resume Style and Formatting
  - Be clear and concise.
  - Use only one font (like Arial or Calibri) for the whole resume.
  - Use formatting like bold or *italics* to organize your content, but keep it consistent.

- Make sure your formatting (like date alignment and heading style) is the same throughout.
- Proofread to avoid spelling or grammar mistakes.
- Ask for help at your campus writing center if needed.

➢ Use of Action Verbs

Start your job descriptions with action verbs like "organized," "managed," "created," or "developed." This shows employers what you *did* and what *impact* you made.

➢ References

Adding references is optional. If you do:

- You can write: "References available upon request" at the bottom of the resume.
- Or, create a separate page listing 2–3 references, including:
    - Name
    - Job title
    - Organization
    - Phone number
    - Email address

      Make sure you ask your references for permission before listing them.

➢ Resume Structure and Content

1. Header

Include:

- Your full name
- Address (optional)
- Phone number
- Professional email

Example:

Jane Smith
123 Main Street
St. John's, NL A1E 4E7
(709) 555-1234
jane@resume.ca

2. Highlights of Qualifications

Place this section right under your header. Use bullet points to show key skills and qualifications.

Chronological Example:

Highlights of Qualifications
- Bachelor of Arts in Sociology and History
- Strong communication skills from experience as a Teaching Assistant
- Leadership skills from serving as President of the Sociology Society
- Strong research and analytical skills
- Over 5 years of experience in customer service

Combined Example:

Highlights of Qualifications

Communication Skills

- Presented tours to large groups of tourists
- Marketed university programs to alumni
- Answered customer inquiries and phone calls

Organizational Skills

- Planned student events and coordinated volunteers
- Developed lesson plans for classes
- Handled scheduling and reporting tasks

3. Education

- Start with your most recent degree or certificate.
- Include your major/minor, school name, location, and dates.
- Add your GPA or thesis title if relevant.

Example:

Bachelor of Arts (Major: Sociology; Minor: History)

Memorial University, St. John's, NL

Sept. 2014 – May 2018

4. Work Experience

- List jobs in reverse chronological order.
- Include the job title, company name, location, and dates.
- Use action verbs to describe your tasks and achievements.
- Use past tense for previous jobs and present tense for current ones.

Example:

Invigilator / Teaching Assistant

Department of Sociology, Memorial University

Sept. 2016 – Present

St. John's, NL

- Supervised 40 students during final exams
- Marked assignments and submitted grades
- Supported professor with class administration

5. Volunteer Experience

Volunteer work is valued in Canada. Format this section just like your work experience.

Example:

President, Sociology Society

Memorial University, St. John's, NL

Sept. 2014 – April 2017

- Organized events such as mixers and guest speaker talks
- Acted as a liaison between students and faculty
- Represented student interests in departmental meetings

6. Interests / Achievements / Awards

Mention any academic awards, scholarships, or relevant hobbies.

Example:

Interests / Achievements

- Dean’s List Graduate (2018)
- Memorial Entrance Scholarship (2014)

7. References

You can either:

- Write: “References available upon request”
- Or list them on a separate page

Example:

John White

Director of Biology, Memorial University

Phone: (709) 555-1234

Email: jwhite@mun.ca

8. Optional Sections

Depending on the job, you may want to add:

- Professional Development
- Additional Training
- Certifications
- Professional Memberships

3.3 Cover Letter

What is a Cover Letter?

A cover letter is a short document that you send with your resume when applying for a job. Its purpose is to highlight your key skills and explain why you are a strong candidate for the specific job you're applying for. It helps employers understand how your background fits their needs.

You should write a new cover letter for each job you apply for. Tailor it to show how your experience matches the job. For example:

- If you're applying for an accounting job, focus on your math skills and attention to detail.
- If you're applying for a social work role, highlight your communication and problem-solving skills.

➢ General Tips for Writing a Cover Letter

- Address it to a specific person, like the hiring manager. If their name isn't in the job ad, you can call the company to ask. If you're unable to find a name, use a general greeting like:
    - *Dear Hiring Manager:*
    - *Dear Sir or Madam:*
- Make sure you use the correct company name and job title throughout the letter.
- Keep it one page long, clean, and easy to read.
- Add your phone number and email in the last paragraph.
- Sign your name—use an electronic signature if sending the letter by email.

- Always proofread your letter for spelling and grammar.
- You can get help with writing from a writing center (e.g., Memorial University's Writing Centre).

➢ Structure of a Cover Letter

Here's the basic format you should follow:

1. Return Address

Write your address in the top-left corner:

123 Main Street

St. John's, NL A1A 1A1

2. Date

Add the date two lines below your address:

May 28, 2025

3. Employer's Contact Info

Include the name of the person you're writing to, their job title, and the company's address:

Ms. Jane Brown

Human Resources Manager

ABC Corporation

456 Water Street

St. John's, NL A1B 2C3

4. Greeting

Use a formal greeting:

Dear Ms. Brown:

If you don't have a name, use:

Dear Hiring Committee:

Dear Sir or Madam:

5. First Paragraph: Why Are You Writing?

Begin by saying what job you're applying for and where you saw the posting. Mention any connections you may have with the company.

Example:

I am writing to apply for the Customer Service Representative position at ABC Corporation, as advertised on your company website.

6. Second Paragraph: What Do You Have to Offer?

Explain your skills, education, and experience that match the job. Use examples to show why you're qualified.

Example:

With two years of experience in customer service and a diploma in Business Administration, I have developed strong communication and problem-solving skills. In my current role at XYZ Retail, I have consistently exceeded customer satisfaction goals.

7. Third Paragraph: Why Do You Fit This Company?

Show that you've done some research about the company. Mention its values, mission, or projects and explain how your own background or goals align.

Example:

I admire ABC Corporation's commitment to sustainability and ethical business practices. My volunteer work with a local environmental group reflects my dedication to those same values.

8. Fourth Paragraph: Request an Interview

Close the letter by thanking the employer and asking for an opportunity to discuss your qualifications.

Example:

I would welcome the chance to discuss how I can contribute to your team. You can reach me at (709) 555-1234 or jane@email.ca. Thank you for your time and consideration.

9. Closing

Use a professional closing like:

Sincerely,

Leave two blank lines before typing your name.

10. Signature

If you're sending a physical letter, sign above your name in black ink. For an email, you can use a digital signature or type your name.

Example:

Sincerely,

[Your Signature]

Jane Smith.

3.4 Points to Remember

1. A resume is a summary of skills, education, and experience.
2. A cover letter introduces the applicant personally to the employer.
3. Resumes should be concise, clear, and professionally formatted.
4. Use action verbs to describe achievements and responsibilities.
5. Avoid including unnecessary personal information in a resume.
6. Tailor resumes and cover letters for each job application.
7. Cover letters should be limited to one page.
8. Proofreading is essential to avoid grammar and spelling mistakes.
9. Professional email addresses should always be used.
10. References should only be included with permission.

Vocabulary

1. Resume – A document summarizing qualifications and experience.
2. Cover Letter – A letter sent with a resume explaining suitability for a job.
3. Qualification – A skill, achievement, or experience making a person suitable for a job.
4. Reference – A person who recommends or confirms a candidate's abilities.
5. Action Verbs – Strong verbs used to describe achievements and duties.

MCQs

1. What is the main purpose of a resume?

a) To entertain employers

b) To summarize skills and experience

c) To write personal stories

d) To replace interviews

2. A cover letter should usually be:

a) Five pages long

b) One page long

c) Ten pages long

d) Written informally

3. Why should resumes and cover letters be proofread?

a) To increase length

b) To avoid spelling and grammar mistakes

c) To add more pages

d) To include personal details

Short Answer Questions

1. What is a resume?
2. Define a cover letter.
3. What information should be included in a resume header?
4. Why should a cover letter be tailored for each job?

Long Answer Questions

1. Explain the importance of resumes and cover letters in job applications.
2. Discuss the role of professional communication in resumes and cover letters.

Unit-4.4: Editing and Proof Reading

Learning Objectives

1. Understand the importance of editing and proofreading in writing.
2. Differentiate between editing and proofreading.
3. Learn techniques for improving clarity, grammar, and organization in writing.
4. Develop skills to identify and correct language and formatting errors.
5. Apply effective proofreading and referencing strategies in academic writing.

4.1 Introduction

Editing and proofreading are essential stages in the writing process that help ensure clarity, accuracy, and professionalism. Editing focuses on improving the overall quality of writing by refining sentence structure, enhancing clarity, and ensuring logical flow and consistency. It involves making changes to content, tone, and organization. Proofreading, on the other hand, is the final step, involving the careful checking of grammar, spelling, punctuation, and formatting errors. Together, these processes enhance the effectiveness of any written work and ensure that the final version communicates the intended message clearly and without distraction from errors.

4.2 What Is Editing?

Editing means reviewing your assignment's tone, structure, and content to make sure your ideas are clear, logical, and written in a formal academic style. It's a key part of redrafting your work.

➢ Editing Checklist

1. Content
   - Have you met all parts of the assignment brief, learning outcomes, and marking criteria?
   - Is all the information directly related to the assignment question?
   - Is your work within the allowed word count? (Usually within ±10% of the limit.)
2. Clarity and Expression
   - Does the introduction clearly explain your aims?
   - Does the conclusion bring together the main ideas?
   - Does each paragraph focus on one main point and link well to the next?
   - Have you grouped similar ideas together?
   - Are your sentences clear and not too long or complex?
3. Use of Evidence
   - Have you mostly used your own words (paraphrasing/summarising) rather than relying heavily on direct quotes?
   - Have you credited the sources of any theories or ideas you've used?
   - Are your resources relevant and up-to-date?
   - Are your quotes accurate?

4.3 What Is Proofreading?

Proofreading means checking your writing for spelling, grammar, and formatting mistakes. It's the final step before submitting your work and ensures your assignment is polished and professional. Neglecting this step can

cost you marks.

- Proofreading Checklist

1. Spelling

- Don't rely only on spellcheck—it won't catch mistakes like "form" instead of "from."
- Use a dictionary for spelling and technical terms.
- Check homophones (e.g., to, too, two) carefully.

2. Grammar and Tenses

- Make sure subjects and verbs agree.
- Use consistent tenses throughout.
- Use punctuation correctly: apostrophes, commas, full stops, and colons.

3. Language Use

- Use capital letters where necessary (e.g., names, organizations, beginning of sentences).
- Avoid repeating the same word—use synonyms.
- Use formal, academic language:
    - Write: "This essay will examine…" instead of "I'm going to talk about…"
    - Avoid contractions like *can't*, *won't*—write *cannot*, *will not*.
    - Avoid casual expressions like "in the olden days"—write "in the 19th century".
- Spell out acronyms (e.g., National Health Service (NHS)) the first time you use them.

- Referencing Checklist

- Are you using the correct referencing style (e.g., APA, MLA, Harvard)? Check your assignment brief.
- Is your referencing consistent throughout?
- Have you correctly formatted quotations with quotation marks and page numbers?
- Is your bibliography complete and does it list all the sources cited in your text?

- Tips for Effective Proofreading

1. Print a hard copy of your work—it's easier to catch mistakes on paper than on a screen.
2. Identify your common errors and make a checklist to focus on them.
3. Read your work aloud—this helps you hear if a sentence sounds awkward or too long.
4. Ask someone else to review your work—they may spot mistakes you've missed.
5. Focus on one thing at a time—check grammar first, then spelling, then formatting, etc.
6. Read one line at a time—this helps with concentration. Use a blank sheet of paper to cover lines below.

4.4 Summary

Editing and proofreading are essential stages in the writing process that help ensure clarity, accuracy, and professionalism. Editing focuses on improving the overall quality of writing by refining sentence structure, enhancing clarity, and ensuring logical flow and consistency. It involves making changes to content, tone, and organization. Proofreading, on the other hand, is the final step, involving the careful checking of grammar, spelling, punctuation, and formatting errors. Together, these processes enhance the effectiveness of any written work and ensure that the final version communicates the intended message clearly and without distraction from errors.

4.5 Self-Assessment

Exercise 1: Read the paragraph below. It contains several errors in grammar, punctuation, word choice, sentence

structure, and clarity. Your task is to edit and proofread the paragraph to improve its overall quality.

Passage: the company have went through alot of changes over the past year. employee's were laid off, and some department was restructured. communication between teams wasn't always good which resulted in missed deadlines and confusion. it is important that we learn from these mistake's and work more better together in the future. Improving communication and clear goals are two thing that can help us move forward successfully.

4.6 Points to Remember

1. Editing improves the content, structure, and clarity of writing.
2. Proofreading is the final step before submission.
3. Each paragraph should focus on one main idea.
4. Academic writing should use formal language.
5. Avoid contractions like "can't" and "won't" in formal writing.
6. Spell check alone cannot detect all mistakes.
7. Consistent grammar and tense usage are important.
8. References must follow the required citation style.
9. Reading aloud helps identify awkward sentences.
10. Proofreading carefully improves professionalism and accuracy.

Vocabulary

1. Editing – Revising content, structure, and clarity in writing.
2. Proofreading – Checking for grammar, spelling, and formatting errors.
3. Paraphrasing – Expressing ideas in your own words.
4. Bibliography – A list of sources used in a document.
5. Consistency – Maintaining the same style and format throughout writing.

MCQs

1. What is the main purpose of editing?

a) To print the document

b) To improve clarity and organization

c) To decorate the page

d) To shorten all sentences

2. Which process is the final step before submission?

a) Brainstorming

b) Drafting

c) Proofreading

d) Researching

3. What does proofreading mainly check?

a) Plot and characters

b) Grammar and spelling

c) Research methods

d) Data collection

4. Why is referencing important?

a) To increase word count

b) To avoid plagiarism

c) To confuse readers

d) To replace conclusions

Short Answer Questions

1. What is editing?
2. Define proofreading.
3. Why is proofreading important?
4. What is paraphrasing?

Long Answer Questions

1. Explain the difference between editing and proofreading.
2. Discuss the importance of referencing in academic work.
3. Explain the tips for effective proofreading and error correction.

4.7 Suggested Readings

Clark, Roy Peter. *Rewriting: How to Do Things with Texts*. Bedford/St. Martin's, 2011.

Strunk, William, and E. B. White. *The Elements of Style*. 4th ed., Pearson, 2000.

॥ ओ३म् ॥

गायन एवं वादन का मध्य स्तरीय बोध

BDPHSE-205 (2)

दिव्य प्रकाशन

गायन एवं वादन का मधय स्तरीय बोध

BDPHSE-205(2)

उद्देश्यः-

- विद्यार्थियों को संगीत के मूल सिद्धांतों से परिचित कराना।
- गायक एवं वादक के गुण-दोश की समझ विकसित एवं राग, ताल एवं थाट की मूलभूत जानकारी देना।
- भारतीय संगीत परंपरा के महत्वपूर्ण घरानों का परिचय देना। रागों की जातियाँ, गमक, अलंकार तथा लक्षण गीतों की व्यावहारिक जानकारी देना।
- गायन-वादन की सज्जा व प्रस्तुति की विधियों को सिखाना। राग यमन, भैरव आदि का परिचय देकर रागदारी संगीत का अभ्यास कराना।

क्र.स.	खंड-1	संगीत का सिद्धात्मक अधययन	क्रेडिट
1	इकाई -1	गायक के गुण एवं दोश	सैद्धान्तिक 1
2	इकाई -2	मार्गी/देशी संगीत, एवं थाट	
3	इकाई -3	राग की जातियाँ, एवं मुख्य पाँच नियम	
4	इकाई -4	मेल राग संक्षिप्त परिचय	
	खंड-2	संगीतकारों का अधययन, एवं धवनि सिद्धान्त	
1	इकाई -5	पं. विष्णु नारायण भातखण्डे	
2	इकाई -6	पं. भीमसेन जोशी	
3	इकाई -7	धवनि का हमारे जीवन में प्रभाव	
4	इकाई -8	गमक की परिभाषा एवं 5-10 अलंकार (क्र.पु.म.भाग-1)	
	खंड-3	राग एवं ताल	
1	इकाई -9	वादक के गुण-दोश	क्रियात्मक 2
2	इकाई -10	एक ताल का परिचय	
3	इकाई -11	राग का संक्षिप्त परिचय	
4	इकाई -12	तबला मिलाने की विधि एवं साज सज्जा	
	खंड-4	गायन वादन का घराना एवं राग लेखन	
1	इकाई -13	घराना एवं प्रकार	
2	इकाई -14	रागों का परिचय (भैरव यमन)	
3	इकाई -15	राग यमन लक्षणगीत	
4	इकाई -16	राग भैरव स्वरमालिका	

Ikfj.kke%&

- छात्र संगीत के सिद्धांतों को पहचानेंगे और सही प्रयोग कर सकेंगे।
- गायक–वादक में अच्छे गुण तथा मार्गी/देशी संगीत, थाट एवं जाति की परिभाषा समझेंगे और उनका व्यवहारिक प्रयोग जान पाएंगे।
- राग यमन का लक्षणगीत तथा तबला मिलाने की विधि एवं वाद्य सज्जा की तकनीकी समझ विकसित होगी।
- घरानों की विशेषता और विभिन्न रागों की शैलीगत भिन्नता को जान सकेंगे। जिससे गायन वादन की प्रस्तुति में आत्मविश्वास एवं कलात्मकता बढ़ेगी।

विषय-सूची

खण्ड- 1	**संगीत का सिद्धान्तात्मक अधययन**	**5-15**
इकाई -1.1	गायक के गुण एवं दोष	5-7
इकाई -1.2	मार्गी/देशी संगीत, एवं थाट	8-10
इकाई -1.3	राग की जातियाँ, एवं मुख्य पाँच नियम	11-13
इकाई -1.4	मेल राग संक्षिप्त परिचय	14-15
खण्ड- 2	**संगीतकारों का अध्ययन, एवं धवनि सिद्धान्त**	**16-27**
इकाई -2.1	पं. विष्णु नारायण भातखण्डे	16-18
इकाई -2.2	पं. भीमसेन जोशी	19-21
इकाई -2.3	ध्वनि का हमारे जीवन में प्रभाव	22-24
इकाई -2.4	गमक की परिभाषा एवं 5-10 अलंकार (क्र.पु.म.भाग-1)	25-27
खण्ड- 3	**राग एवं ताल**	**28-37**
इकाई -3.1	वादक के गुण-दोष	28-30
इकाई -3.2	एक ताल का परिचय	31-32
इकाई -3.3	राग का संक्षिप्त परिचय	33-34
इकाई -3.4	तबला मिलाने की विधि एवं साज सज्जा	35-37
खण्ड- 4	**गायन वादन का घराना एवं राग लेखन**	**38-49**
इकाई -4.1	घराना एवं प्रकार	38-40
इकाई -4.2	रागों का परिचय (भैरव यमन)	41-43
इकाई -4.3	राग यमन लक्षणगीत	44-46
इकाई -4.4	राग भैरव स्वरमालिका।	47-49

प्रस्तावना

संगीत न केवल एक कला है, बल्कि यह आत्मा की भाषा, भावनाओं की अभिव्यक्ति और संस्कृति का जीवंत स्वरूप भी है। भारतवर्ष में संगीत का इतिहास अत्यंत प्राचीन एवं समृद्ध रहा है, जिसमें वैदिक काल से लेकर आधुनिक युग तक विविध धाराएँ विकसित हुई हैं। संगीत का सिद्धात्मक अध्ययन हमें न केवल रागों, तालों, अलंकारों एवं ध्वनि सिद्धांत की वैज्ञानिक समझ प्रदान करता है, बल्कि यह शास्त्रीय संगीत की बारीकियों और गहराई को आत्मसात करने का मार्ग भी प्रशस्त करता है।

इस अध्ययन के अंतर्गत गायन और वादन दोनों ही पक्षों की विशेषताओं का विवेचन किया गया है। गायक और वादक के गुण-दोष, मार्गी और देशी संगीत की परंपराएँ, रागों की जातियाँ, उनके पाँच मुख्य नियम तथा थाट पद्धति के माध्यम से भारतीय संगीत का सैद्धांतिक आधार समझाया गया है।

पं. विष्णु नारायण भातखण्डे एवं पं. भीमसेन जोशी जैसे महान संगीताचार्यों के योगदान से विद्यार्थियों को प्रेरणा प्राप्त होती है। साथ ही, ध्वनि का जीवन पर प्रभाव, गमक, अलंकार, घराने की परंपरा एवं राग-ताल की व्याख्या, विद्यार्थी को संगीत की गहराई से परिचित कराते हैं। राग यमन और राग भैरव जैसे प्रमुख रागों का अभ्यास, लक्षण गीत और स्वरमालिका के माध्यम से किया जाता है।

यह अध्ययन विद्यार्थियों को न केवल गायन-वादन में पारंगत बनाता है, बल्कि उन्हें भारतीय सांस्कृतिक धरोहर की गरिमा को भी समझने में सक्षम बनाता है।

खण्ड-1 संगीत का सिद्धांतात्मक अध्ययन

इकाई-1.1 गायक के गुण एवं दोष

याद करने योग्य बिंदु-

1. संगीत रत्नाकर में गायकों के 22 गुण और 25 दोष बताए गए हैं।
2. गायक में स्वर, लय, राग और भाव का समन्वय अनिवार्य है।
3. आत्मविश्वास और जन-मन रंजन गायक के महत्वपूर्ण गुण हैं।
4. गलत उच्चारण, तालज्ञान का अभाव और कर्कश स्वर गायक के दोष माने जाते हैं।

संगीत रत्नाकर में गायकों के 22 गुण और 25 अवगुणों का उल्लेख है, केवल मुख्य गुण दोष निम्नलिखित है:-

गायक के गुण -

स्वरः स्वरस्थं लयिता रागज्ञता स्थायिभावकथनं च।
आलापसमर्थता च नव गुणाः कीर्तिताः गायक॥

(संगीत रत्नाकर ५.१६)

1. **मधुर कंठ** - गमक कण और मींड लेने योग्य सुरीला और मधुर कंठ होना, कम से कम अभ्यास में गाने योग्य होना।
2. **शुद्ध उच्चारण**-आवाज लगाने तथा गीत के शब्दों का उच्चारण शुद्ध और स्पष्ट होना चाहिए।
3. **स्वर और श्रुति ज्ञान** - राग में प्रयोग किये जाने वाले सभी स्वरों तथा श्रुतियों को समझने तथा गाने की क्षमता हो।
4. **लय और ताल ज्ञान**- गायक लयदार हो और उसे सभी प्रचलित तालों का अच्छा ज्ञान हो।
5. **राग ज्ञान**- अधिक से अधिक रागो का सूक्ष्म ज्ञान हो।
6. **स्वर लय और भाव का सुंदर समन्वय** - गायक में यह गुण होने चाहिए की वह अपने गायन में स्वर, लय आर भाव तीनो को उचित स्थान दे।
7. **समुचित अभ्यास**-कम से कम इतना अभ्यास तो होना चाहिए की वह अपने मन के अनुसार तान-अलाप इत्यादि गा सके।
8. **रचनात्मक शक्ति** - गायक में यह गुण होने चाहिए की वह उसी समय सुंदर आलाप-तान आदि की रचना कर सके और उनकी पुनरावृत्ति न हो।
9. **श्रम रहित और एकाग्रचित्त होकर गाना**- गाते समय श्रोताओं को यह अनुभव न ही की गायक को बड़ा परिश्रम करना पड़ रहा है और उसका चिट्टा एक स्थान पैर स्थिर नहीं होता हैं।
10. **जन-मन रंजन**- गायक में यह क्षमता होनी चाहिए की श्रोता उसके गायन पर मुग्धा हो।
11. **कंठ सीमा**- गायक की कंठ सीमा जितनी अधिक हो उतना ही अच्छा है।
12. **आत्म विश्वास** - रंगमंच पे निर्भय होकर प्रत्येक परिस्थिति को देखते हुए गाना।
13. **समय अवसर तथा श्रोताओं के अनुसार** - समय,अवसर तथा श्रोता के अनुसार राग, गीत के शब्द,गान की अवधि , गाने की शैली आदि चुनने की क्षमता गायक में होनी चाहिए।
14. **गायिकी**- गायक की गायिकी अधिक से अधिक पूर्ण तथा उसके कंठ के अनुसार होनी चाहिए।

गायक के दोषः

रागालापा स्वरच्छेदो विषमस्वरगानकम्॥
सस्वरत्वं च वैद्ल्यं गायकीदोष लक्षमणम्॥

(संगीतरत्नाकर ५.१८)

1. दांत पीसकर गाने वाला।
2. बहुत जोर से या भावहीन (बेरस) गाने वाला।
3. साँस की तेज आवाज निकालने वाला।
4. डर-डर कर गाने वाला।
5. मुँह फाड़कर या असामान्य मुखाकृति से गाने वाला।
6. आत्मविश्वास की कमी वाला गायक।

7. काँपती आवाज से गाने वाला।
8. स्वरों को सही स्थान पर न लगा सके।
9. मधुर नहीं बल्कि कर्कश आवाज वाला।
10. ताल का ज्ञान न रखने वाला।
11. सिर ऊँचा या टेढ़ा करके गाने वाला।
12. गाते समय हाथ-पाँव पटकने वाला।
13. आँखें बंद करके गाने वाला।
14. वर्जित स्वर लगाने वाला।
15. शब्दों का गलत उच्चारण करने वाला।
16. स्वर ठीक स्थान पर न लगाना।
17. राग की शुद्धता न रख कर रागों को मिलाना।
18. श्रोताओं और समय का ध्यान न रखना।
19. नाक से स्वर निकालना।
20. संगीत शास्त्र का ज्ञान न होना।

शब्दावली

मधुर कंठ - सुरीली और गमक-मींड योग्य आवाज
स्वर - संगीत की ध्वनियाँ द्धसा, रे, ग आदिऋ
श्रुति - स्वर का सूक्ष्म विभाजन
लय - गति या ताल की निरंतरता
ताल - मात्रओं का निश्चित चक्र
राग - स्वरों का निश्चित क्रम व भाव
आलाप - राग का प्रारंभिक विस्तार
गायिकी - गाने की व्यद्रिगत शैली
जन-मन रंजन - श्रोताओं को मोहित करने की क्षमता
कंठ सीमा - गायक की आवाज की ऊँचाई-गहराई की सीमा

रिद्र स्थान भरो

1. गायक की आवाज को ------ कंठ कहा जाता है।
2. राग का प्रारंभिक विस्तार ------ कहलाता है।
3. स्वर और लय का संतुलन ------ कहलाता है।
4. श्रोताओं को मोहित करने की क्षमता को ------ कहते हैं।
5. ताल का ज्ञान न होना गायक का ------ है।

उत्तर

1. मधुर
2. आलाप
3. समन्वय
4. जन-मन रंजन
5. दोष

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. संगीत रत्नाकर में गायक के गुणों की संख्या हैख्र

क) 10

ख) 14

ग) 22

घ) 25

2. गायक का कौन-सा गुण नहीं है?

क) आत्मविश्वास

ख) कर्कश स्वर

ग) राग ज्ञान

घ) लय ज्ञान

3. रागों को मिलाना क्या कहलाता है?

क) गुण

ख) अलंकार

ग) दोष

घ) अभ्यास

उत्तर 1 ग)

उत्तर 2 ख)

उत्तर 3 ग)

लघु प्रश्न

1. मधुर कंठ क्या है?
2. गायक में आत्मविश्वास क्यों आवश्यक है?
3. ताल ज्ञान का क्या महत्व है?

दीर्घ प्रश्न

गायक के प्रमुख गुणों का वर्णन कीजिए।

इकाई-1.2 मार्गी/देशी संगीत एवं थाट (ठाट) पद्धति

याद करने योग्य बिंदु-

मागह्न संगीत शास्त्र आधारित और आध्यात्मिक होता है।
देशी संगीत लोक परंपरा से जुड़ा होता है।
ठाट रागों के वगह्नकरण का आधार है।
ठाट स्वयं राग नहीं होता।
दस प्रमुख ठाट माने जाते हैं।

मार्गी (गान्धर्व) एवं देशी (गान) संगीतः

मार्गी और देशी संगीत भारतीय शास्त्रीय संगीत के दो प्रमुख प्रकार हैं, जो उनके स्वभाव, प्रयोजन और प्रस्तुति के आधार पर विभाजित किए गए हैं।

1. **मार्गी संगीत अथवा गान्धर्व संगीतः**

प्राचीन काल में जिस संगीत को मोक्ष प्राप्त करने का साधन माना जाता था उसे मार्गी अथवा गान्धर्व संगीत कहते थे।

- **अर्थः ''मार्गी'' का अर्थ है** - परंपरागत या शास्त्रीय मार्ग का अनुसरण करने वाला।
- **स्वरूपः** यह संगीत शास्त्रों पर आधारित होता है, विशेष रूप से नाट्यशास्त्र में वर्णित संगीत।
- **प्रचलनः** प्राचीन काल में प्रमुख था और मंदिरों तथा राजदरबारों में गाया जाता था।

विशेषताएँः

- स्थायी नियमों का पालन करता है।
- आध्यात्मिक और धार्मिक उद्देश्य से जुड़ा होता है।
- इसमें नाट्य और संगीत का घनिष्ठ संबंध होता है।
- **उदाहरणः** भरतनाट्यम, कत्थक आदि में प्रयुक्त प्राचीन धुनें और रचनाएँ।

2. **देशी संगीत अथवा गानः**

आजकल जिस संगीत का प्रचार है अथवा जिस संगीत को हम प्रयोग करते है वही देशी संगीत या गान कहलाता हैद्य

- **अर्थः ''देशी'' का अर्थ है** - स्थानीय या लोक परंपरा से उत्पन्न।
- **स्वरूपः** यह आम जनजीवन, लोकधुनों और भावनाओं से प्रेरित होता है।
- प्रचलनः विभिन्न प्रांतों में, अलग-अलग लोकभाषाओं और संस्कृतियों के अनुसार।

विशेषताएँः

- लचीलेपन और विविधता से भरपूर।
- लोकगीत, भजन, कीर्तन, (regional folk) आदि इसमें आते हैं।
- मनोरंजन, सामाजिक या भक्ति के लिए गाया जाता है।

मुख्य अंतरः

बिंदु	मार्गी संगीत	देशी संगीत
आधार	शास्त्र आधारित	लोक परंपरा आधारित
उद्देश्य	धार्मिक, शास्त्रीय	सामाजिक, मनोरंजन, भक्ति
संरचना	नियमबद्ध, परंपरागत	लचीली, विविध
प्रस्तुति स्थल	मंदिर, राजदरबार	ग्राम्य क्षेत्र, मेले, त्योहार

थाट की परिभाषाः

सप्तक के 12 स्वरों में से 7 क्रमवार मुख्य स्वरों के उस समुदाय को ठाट कहते है जिससे राग उत्पन्न होते होद्य थाट सात स्वरों का एक विशिष्ट समूह होता है, जो विभिन्न रागों की उत्पत्ति का आधार बनता है। यह रागों को वर्गीकृत करने का एक ढांचा है।

थाट की उत्पत्तिः

थाट प्रणाली की रचना और विकास प्रसिद्ध संगीतज्ञ पंडित विष्णु नारायण भातखण्डे ने की थी। इस प्रणाली के माध्यम से

रागों को समझना और सिखाना सरल हुआ।

थाट के प्रकार (दस प्रमुख थाट) :

1. **बिलावल थाट**
   स्वर: सा रे ग म प ध नि (सभी स्वर शुद्ध)
2. **कल्याण थाट**
   स्वर: सा रे ग मं प ध नि (तीव्र म)
3. **खमाज थाट**
   स्वर: सा रे ग म प ध नी (कोमल नि)
4. **काफी थाट**
   स्वर: सा रे ग म प ध नि (कोमल ग, नि)
5. **असावरी थाट**
   स्वर: सा रे ग म प ध नि (कोमल ग, ध, नि)
6. **भैरव थाट**
   स्वर: सा रे ग म प ध नि (कोमल रे, ध)
7. **मारवा थाट**
   स्वर: सा रे ग मं प ध नि (कोमल रे, तीव्र मं)
8. **पूर्वी थाट**
   स्वर: सा रे ग मं प ध नि (कोमल रे, ध , तीव्र मं,)
9. **तोड़ी थाट**
   स्वर: सा रे ग म प ध नि (कोमल स्वर रे, ग, ध और तीव्र मं)
10. **भैरवी थाट**
    स्वर: सा रे ग म प ध नि (कोमल स्वर रे, ग, ध, नि)

नोट :

- ❖ थाट केवल रागों के वर्गीकरण का माध्यम है।
- ❖ इसका उपयोग सीधे संगीत रचना में नहीं होता।
- ❖ हर राग किसी न किसी थाट पर आधारित होता है, लेकिन हर थाट स्वयं राग नहीं होता।

थाट चार्ट (स्वरों के साथ)

क्रम	**थाट का नाम**	**स्वर (सा से नि तघ)**	**विशेषता**
1	बिलावल	सा रे ग म प ध नि	सभी स्वर शुद्ध हैं
2	खमाज	सा रे ग म प ध नि	केवल नि कोमल
3	कल्याण	सा रे ग म प ध नि	तीव्र म
4	भैरव	सा रे ग म प ध नि	रे और नि कोमल
5	पूर्वी	सा रे ग म प ध नि	रे और ध कोमल, म तीव्र
6	मारवा	सा रे ग म प ध नि	रे कोमल, म तीव्र
7	आसावरी	सा रे ग म प ध नि	ग, ध, नि कोमल
8	भैरवी	सा रे ग म प ध नि	रे, ग, ध, नि कोमल
9	तोड़ी	सा रे ग म प ध नि	रे, ग, ध कोमल; म तीव्र
10	काफी	सा रे ग म प ध नि	ग और नि कोमल

शब्दावली

मागह्ल संगीत – शास्त्रनुसार गाया जाने वाला संगीत
देशी संगीत – लोक व जनजीवन से जुड़ा संगीत
गान्धर्व संगीत – मागह्ल संगीत का प्राचीन नाम

ठाट - सात स्वरों का समूह
राग - ठाट से उत्पन्न स्वर संरचना
कोमल स्वर - नीचे झुका हुआ स्वर
तीव्र स्वर - ऊपर चढ़ा हुआ स्वर

रिद्र स्थान भरो

1. मागह्ल संगीत को ------ संगीत भी कहते हैं।
2. ठाट में ------ स्वर होते हैं।
3. देशी संगीत ------ पर आधारित होता है।
4. ठाट का उपयोग रागों के ------ के लिए होता है।

उत्तर

1. गान्धर्व
2. सात
3. लोक परंपरा
4. वगह्लकरण

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. ठाट पद्धति के प्रवर्तक कौन थे?

क) तानसेन
ख) शारंगदेव
ग) भातखंडे
घ) राममात्य
उत्तर ग)

2. किस ठाट में सभी स्वर शु) होते हैं?

क) खमाज
ख) बिलावल
ग) काफी
घ) भैरवी
उत्तर ख)

लघु प्रश्न

1. मागह्ल संगीत की एक विशेषता लिखिए।
2. ठाट क्या है

दीर्घ प्रश्न

मागह्ल और देशी संगीत में अंतर स्पष्ट कीजिए।

इकाई-1.3 राग की जातियाँ एवं मुख्य पांच

याद करने योग्य बिंदु

1. राग की जाति स्वरों की संख्या से निर्धारित होती है।
2. आरोह और अवरोह दोनों आवश्यक हैं।
3. ओडव, षाडव और संपूर्ण तीन मुख्य जातियाँ हैं।
4. राग की पहचान वादी-संवादी और पकड़ से होती है।

जाति का अर्थ:

राग में कितने स्वरों (नोट्स) का प्रयोग होता है, इस आधार पर उसकी जाति निर्धारित होती है। दो भाग देखे जाते हैं:

1. आरोह (Ascending Notes) - स्वरों का ऊपर की दिशा में क्रम

2. अवरोह (Descending Notes) - स्वरों का नीचे की दिशा में क्रम

राग की जातियाँ:

राग की जातियाँ रागों के वर्गीकरण की एक पद्धति है, जो यह निर्धारित करती है कि किसी राग में कितने स्वर (दवजमे) प्रयुक्त होते हैं। भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रत्येक राग में सप्तक के सात स्वरों (सा, रे, ग, म, प, ध, नि) में से कितने और कौन वाले से स्वर उपयोग में लाए जा रहे हैं, इसके आधार पर उसकी जाति निर्धारित की जाती है।

किसी भी राग में आरोह और अवरोह दोनों का होना आवश्यक हैद्य अधिकांश रागों में यह देखा जाता है कि आरोह-अवरोह में लगने स्वरों की संख्या सामान नहीं होतीद्य जैसे राग खमाज के आरोह में 6और अवरोह में 7 स्वर प्रयोग किये जाते है द्य इसी तरह अन्य रागों में भी अगर आरोह में 5 स्वर प्रयोग किये जाते है तो अवरोह में 6 अथवा 7 स्वर प्रयोग किये जाते हैद्य इस प्रकार रागों की मुख्य 3 जातियों से कुल मिलकर 3+3+3=9 जातियाँ इस प्रकार हो सकती है:-

तीन प्रकार की जातियाँ:

जाति	**स्वर की संख्या**
ओडव (Audav)	**5 स्वर**
षाडव (Shadav)	**6 स्वर**
संपूर्ण (Sampurnd)	**7 स्वर**

किसी राग की **आरोह** और **अवरोह** अलग-अलग जातियों की हो सकती हैं।

संयोजन के आधार पर जातियों के 9 प्रकार बनते हैं:

आरोह	**अवरोह**	**जाति**
ओडव	ओडव	ओडव-ओडव
ओडव	षाडव	ओडव-षाडव
ओडव	संपूर्ण	ओडव-संपूर्ण
षाडव	ओडव	षाडव-ओडव
षाडव	षाडव	षाडव-षाडव
षाडव	संपूर्ण	षाडव-संपूर्ण
संपूर्ण	ओडव	संपूर्ण-ओडव
संपूर्ण	षाडव	संपूर्ण-षाडव
संपूर्ण	संपूर्ण	संपूर्ण-संपूर्ण

याद रखने के लिए:

- **संपूर्ण = 7 सुर**
- **षाडव = 6 सुर**
- **औडव = 5 सुर**

इससे आप किसी भी राग की जाति आसानी से पहचान सकते हैं।

राग के मुख्य पाँच (लक्षण) नियम :-

प्राचीन काल में राग के 10 लक्षण माने जाते थे, जिनके नाम **ग्रह, अंश, न्यास, अपन्यास, षाडवत्व, अल्पत्व, बहुत्त्व, मंद्र और तार** हैं। इनमें से कुछ लक्षण आज भी परिवर्तित रूप में प्रयोग किये जाते है। आधुनिक समय में राग के निम्नलिखित लक्षण माने जाते है :-

1. **स्वर (Notes):**
   - ❖ एक राग में **कम से कम पाँच स्वर** (notes) होना आवश्यक है।
   - ❖ इनमें से **''सा'' (षड्ज)** अनिवार्य होता है, क्योंकि यह आधार स्वर होता है।
   - ❖ एक राग में **अधिकतम सात स्वर** हो सकते हैं।
2. **आरोह और अवरोह (Ascending & Descending Order):**
   - ❖ **आरोह (Aaroh):** स्वरों का ऊपर की ओर क्रम **(जैसे सा रे ग म प...).**
   - ❖ **अवरोह (Avaroh):** स्वरों का नीचे की ओर क्रम **(जैसे नि ध प म ग...).**
   - ❖ राग में ये दोनों क्रम विशेष और तय होते हैं - इसी से राग की पहचान होती है।
3. **ठाठ (Scale Framework):**
   - ❖ राग किसी न किसी **ठाठ** से उत्पन्न होता है।
   - ❖ **ठाठ** वह मूल स्केल है जिसमें सात स्वर होते हैं(जैसे बिलावल, खमाज, भैरव आदि)।
   - ❖ **ठाठ** राग का ष्परिवारष् होता है।
4. **वादी और संवादी स्वरः**
   - ❖ **वादी स्वरः** राग का सबसे **प्रमुख स्वर** - सबसे ज्यादा जोर इसी पर होता है।
   - ❖ **संवादी स्वरः** वादी के बाद **दूसरा** सबसे महत्वपूर्ण स्वर।
   - ❖ इन दो स्वरों से राग का रंग-रूप बनता है।
5. **पकड़ः**
   - ❖ राग की एक **पहचानने योग्य धुन** होती है जिसे ''पकड़'' कहते हैं।
   - ❖ यह राग का **मुख्य अंग** होता है जिससे सुनने वाला तुरंत राग को पहचान सकता है।

शब्दावली

जाति - स्वरों की संख्या पर आधारित वगह्नकरण
आरोह - ऊपर की ओर स्वर क्रम
अवरोह - नीचे की ओर स्वर क्रम
ओडव - पाँच स्वर
षाडव - छह स्वर
संपूर्ण - सात स्वर
वादी - प्रमुख स्वर
संवादी - दूसरा प्रमुख स्वर
पकड़ - राग की पहचानने योग्य धुन

रिद्र स्थान भरो

1. ओडव जाति में ------ स्वर होते हैं।
2. राग का प्रमुख स्वर ------ कहलाता है।
3. राग की पहचान ------ से होती है।

उत्तर

1. पाँच
2. वादी
3. पकड़

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. संपूर्ण जाति में कितने स्वर होते हैं?

क) 5

ख) 6

ग) 7

घ) 8

उत्तर ग)

दीर्घ प्रश्न

राग की जातियों का वर्णन कीजिए।

इकाई-1.4 मेल राग का संक्षिप्त परिचय

याद करने योग्य बिंदु

1. मेलकर्ता राग कर्नाटक संगीत के जनक राग हैं।
2. कुल 72 मेलकर्ता राग होते हैं।
3. ये राग स्वर संयोजन पर आधारित होते हैं।
4. मेलकर्ता राग, ठाट के समान भूमिका निभाते हैं।

मेलराग या मेलकर्ता राग - कर्नाटक संगीत का मूल स्तम्भ -

मेलराग या **मेलकर्ता राग** कर्नाटक संगीत (दक्षिण भारतीय शास्त्रीय संगीत) की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। इसे **जनक राग** भी कहा जाता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है **'रागों का जनक'** या **'मूल स्रोत'**। इसका मतलब है कि ये राग अन्य अनेक रागों के आधार या स्रोत होते हैं।

मेलकर्ता राग की व्युत्पत्ति (उत्पत्ति):

"मेलकर्ता" शब्द संस्कृत और कन्नड़ भाषा के दो शब्दों से बना है:

- **''मेल''** का अर्थ होता है - मिलान, मेल, या संयोजन।
- **''कर्ता''** का अर्थ होता है - करने वाला या करने वाला व्यक्ति।

इस प्रकार, **मेलकर्ता** का शाब्दिक अर्थ हुआ **"संयोजन करने वाला"** या **"स्वरों का मेल करने वाला"।** यह नाम इस बात को दर्शाता है कि मेलकर्ता राग विभिन्न स्वरों के संयोजन की एक प्रणाली है, जो संगीत के आधार स्वरूप को तैयार करती है।

सांगीतिक व्युत्पत्ति:

कर्नाटक संगीत में, सप्त स्वरों (सा, रे, ग, म, प, ध, नि) के विभिन्न स्वर रूपों (जैसे रे - दो प्रकार, ग - दो प्रकार आदि) के संयोजन से मेलकर्ता राग बनते हैं। इन ७ स्वरों के अलग-अलग स्वर रूपों को नियमबद्ध तरीके से जोड़ा जाता है, जिससे कुल ७२ मेलकर्ता राग उत्पन्न होते हैं।

७२ रागों का आधार स्वर संयोजन:

कर्नाटक संगीत में:

- सा (शुद्ध स्वर) स्थिर रहता है।
- रे के ३ स्वर होते हैं - R1, R2, R3
- ग के ३ स्वर होते हैं - G1, G2, G3
- म के २ स्वर होते हैं - M1, M2
- प स्थिर रहता है।
- ध के ३ स्वर होते हैं - D1, D2, D3
- नि के ३ स्वर होते हैं - N1, N2, N3

इन स्वर रूपों के विभिन्न संयोजनों से मेलकर्ता राग बनते हैं, **जो क्रमबद्ध ७२ स्वर समूहों को बनाते हैं।**

जनक राग की भूमिका:

मेलकर्ता राग, एक ऐसी श्रृंखला का आधार हैं, जिनसे कई व्युत्पन्न राग उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक मेलकर्ता राग के स्वरक्रम (सप्तक में स्वर और उनके क्रम) विशेष होते हैं, और इनके स्वर संयोजन से अनेक उपराग बनते हैं। यही कारण है कि **इन्हें 'जनक राग' कहा जाता है - ये नए रागों के निर्माण के लिए मूल संरचना प्रदान करते हैं।**

७२ मेलकर्ता रागों का समूह:

कर्नाटक संगीत में मेलकर्ता रागों की संख्या कुल ७२ मानी गई है। यह संख्या इस प्रकार बनती है कि सप्तक के सात स्वरों में से कुछ स्वर विकल्प बदलकर कुल ७२ भिन्न संयोजन बनते हैं। इन रागों को उनके विशिष्ट स्वरक्रम और उनकी सामंजस्यपूर्ण संरचना के आधार पर व्यवस्थित और वर्गीकृत किया गया है। यही ७२ मेलकर्ता राग कर्नाटक संगीत की पूरी राग प्रणाली की आधारशिला माने जाते हैं।

मेलकर्ता राग और थाट (ठाख) का संबंध:

मेलकर्ता रागों को आप **हिन्दुस्तानी संगीत के ठाट या पश्चिमी संगीत** के स्केल के समान समझ सकते हैं। ये एक प्रकार के मूल स्वरक्रम होते हैं, जिनमें से व्युत्पन्न राग बनाए जाते हैं। जैसे ठाट हिन्दुस्तानी संगीत के रागों की रूपरेखा देते हैं, वैसे ही मेलकर्ता राग कर्नाटक संगीत में अन्य रागों के लिए मूल आधार होते हैं। **यह स्वर संरचना रागों के भाव, श्रृंगार और संगीत की गहराई को निर्धारित करती है।**

सारांशः

- मेलकर्ता राग कर्नाटक संगीत के **मूल स्रोत (जनक राग)** हैं।
- **कुल ७२ मेलकर्ता राग होते हैं,** जो विभिन्न स्वर संयोजनों पर आधारित हैं।
- ये राग हिन्दुस्तानी ठाट और पश्चिमी स्केल की तरह, अन्य रागों के लिए आधार बनते हैं।
- **राममात्य के "स्वरमेलकलानिधि" ग्रंथ** ने मेलकर्ता रागों की अवधारणा को संपूर्णता दी।

शब्दावली

मेलकर्ता राग – जनक राग
जनक राग – जिनसे अन्य राग बनते हैं
स्वर संयोजन – स्वरों का क्रमगा) मेल
कर्नाटक संगीत – दक्षिण भारतीय शास्त्रीय संगीत
व्युत्पन्न राग – जनक राग से बने राग

रिद्र स्थान भरो

1. मेलकर्ता रागों की संख्या ------ है।
2. मेलकर्ता राग ------ संगीत से संबंधित हैं।
3. मेलकर्ता को ------ राग भी कहते हैं।

उत्तर

1. 72
2. कर्नाटक
3. जनक

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. मेलकर्ता राग किस संगीत प)ति से जुड़े हैं?

क) हिन्दुस्तानी
ख) लोक
ग) कर्नाटक
घ) पाश्चात्य

उत्तर ग)

दीर्घ प्रश्न

मेलकर्ता राग का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

खण्ड-2 सिद्धांत एवं संगीतकारों का अध्ययन
इकाई-2.1 पं. विष्णु नारायण भातखण्डे

याद करने योग्य बिंदु

पं. भातखंडे उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत के महान संगीतशास्त्री थे।
उन्होंने रागों को 10 ठाटों में वगह्नख्रत किया।
उन्होंने संगीत को शिक्षण योग्य और व्यवस्थित रूप दिया।
लखनऊ के मैरिस कक्रलेज (वर्तमान भातखंडे संगीत ब्विविद्यालय) की स्थापना में योगदान दिया।
उन्होंने पूरे भारत में भ्रमण कर घरानों का अध्ययन किया।
उनकी प्रमुख ख्रति हिंदुस्तानी संगीत पद्धति है।
वे भारतीय संगीत शिक्षा के संस्थापक माने जाते हैं।

जीवन परिचय

पंडित विष्णु नारायण भातखण्डे भारतीय शास्त्रीय संगीत के इतिहास में एक ऐसे महान संगीतशास्त्री के रूप में जाने जाते हैं, जिन्होंने उत्तर भारतीय संगीत की परंपरा को एक व्यवस्थित और शिक्षण योग्य स्वरूप प्रदान किया। वे केवल एक कलाकार नहीं, बल्कि एक गंभीर शोधकर्ता, लेखक और संगीतशिक्षा के महान संरक्षक भी थे। उनके योगदान ने संगीत की गूढ़ और जटिल ध ारणाओं को सरल बनाया तथा आम जनमानस तक पहुँचाया।

प्रारंभिक जीवन

पंडित भातखण्डे का जन्म 10 अगस्त 1860 को महाराष्ट्र प्रदेश के बालकेश्वर नामक स्थ. ान में कृष्णा जन्माष्टमी के दिन हुआ था। उन्हें अपने पिता से जिन्हें संगीत से बहुत प्रेम था संगीत सीखने की प्रेरणा मिलीद्य अत: उन्जोने अध्ययन के साथ साथ संगीत की शिक्षा भी ग्रहण कीद्य पंडित जी ने सितार, गायन, और बांसुरी तीनो की सिक्षा प्रापर की और अच्छा अभ्यास किया। **सेठ बल्लभ दास से सितार तथा गुरुराव जी बुआ बेलबाथकर**, जयपुर के **मोहम्मद अली खां, रामपुर कल्बे अली खां, ग्वालियर के पं. एकनाथ** इत्यादि लोगो से गायन सीखा। **बी.ए. और एल.एल. बी. की परीक्षाएं उत्तीर्ण के बाद कुछ समय उन्होंने वकालत भी करते रहे।**

संगीत के प्रति समर्पण

संगीत के क्षेत्र में गहराई से अध्ययन करने के लिए **भातखण्डे ने देश के कई हिस्सों का भ्रमण किया। वे विभिन्न घरानों के संगीतज्ञों से मिले** और यह महसूस किया कि उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में कोई स्पष्ट, वैज्ञानिक और शिक्षण योग्य प्रणाली नहीं है। उन्होंने इसे एक बड़ी कमी के रूप में देखा और संगीत को एक विधिवत पद्धति में ढालने का संकल्प लिया।

संगीतशास्त्र में योगदान

पंडित भातखण्डे का सबसे बड़ा योगदान उनकी ''ठाट प्रणाली'' है, जिसके अंत. र्गत उन्होंने रागों को 10 ठाटों में वर्गीकृत किया। इससे संगीत का अध्ययन और शिक्षण सरल हो गया। उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ जैसे हिंदुस्तानी संगीत पद्धति, संगीत परिज्ञा, और कर्मयोगी की रचना की, जो आज भी संगीत विद्यार्थियों के लिए अत्यंत उपयोगी हैं।

संगीत शिक्षा की नींव

उन्होंने भारत में संगीत शिक्षा के संगठित स्वरूप की नींव रखी। **लखनऊ के मैरिस कॉलेज ऑफ म्यूजिक की स्थापना** उनके अथक प्रयासों का ही परिणाम थी। इसके माध्यम से उन्होंने संगीत को विद्यालयी शिक्षा में स्थान दिलवाया। **उनका मानना था कि संगीत केवल परंपरागत गुरु-शिष्य परंपरा तक सीमित न रहे, बल्कि शैक्षणिक संस्थानों में भी विधिवत पढ़ाया जाए।**

संगीत का प्रचार-प्रसार

भातखण्डे ने न केवल भारत में, बल्कि नेपाल और श्रीलंका जैसे देशों में भी जाकर भारतीय शास्त्रीय संगीत का प्रचार किया। उन्होंने पश्चिमी संगीत पद्धति का भी अध्ययन किया और भारतीय संगीत की तुलना करते हुए उसे वैश्विक स्तर पर प्रस्तुत किया। उनका दृष्टिकोण व्यापक और समन्वयात्मक था।

निधन एवं विरासत

11 सितंबर 1936 को पंडित भातखण्डे ने इस नश्वर संसार को अलविदा कहा, लेकिन उनका कार्य और योगदान अमर हो गया। आज भारत में जितनी भी संगीत शिक्षण संस्थाएं हैं, वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उनकी शिक्षण पद्धति से प्रभावित हैं। वे **भारतीय संगीत शिक्षा के संस्थापक माने जाते हैं।**

उपसंहार

पंडित विष्णु नारायण भातखण्डे का जीवन समर्पण, तपस्या और नवाचार का प्रतीक है। उन्होंने संगीत को केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं, बल्कि एक गंभीर और गूढ़ विद्या के रूप में स्थापित किया। उनके द्वारा निर्मित शिक्षण प्रणाली आज भी जीवित है और लाखों विद्यार्थियों को मार्गदर्शन प्रदान कर रही है। वे सच्चे अर्थों में भारतीय संगीत के एक युगपुरुष थे।

शब्दावली

संगीतशास्त्री – संगीत का सैद्धांतिक अध्ययन करने वाला विद्वान
ठाट – सात स्वरों का समूह जिससे राग उत्पन्न होते हैं
घराना – गायन या वादन की परंपरागत शैली
वगह्नकरण – व्यवस्थित श्रेणियों में बाँटना
मैरिस कक्लेज – भारत का प्रमुख संगीत शिक्षण संस्थान
संगीत पद्धति – संगीत सिखाने की विधि

रिद्र स्थान भरो

1. पं. भातखंडे का जन्म ------ को हुआ।
2. उन्होंने रागों को ------ ठाटों में बाँटा।
3. वे केवल कलाकार नहीं बल्कि ------ भी थे।
4. ठाट पद्धति से रागों का ------ सरल हुआ।
5. भातखंडे जी ने ------ कक्लेज की स्थापना में योगदान दिया।
6. उनका निधन ------ ई. में हुआ।

उत्तर

1. 10 अगस्त 1860
2. 10
3. संगीतशास्त्री
4. अध्ययन
5. मैरिस
6. 1936

1. ठाट पद्धति के जनक कौन हैं?
क) तानसेन
ख) शारंगदेव
ग) भातखंडे
घ) पलुस्कर
उत्तर ग)
2. भातखंडे जी किस संगीत से संबंधित थे?
क) कर्नाटक
ख) लोक
ग) उत्तर भारतीय
घ) पाश्चात्य
उत्तर ग)

3. भातखंडे जी ने कितने ठाट माने?

क) 7

ख) 8

ग) 10

घ) 12

उत्तर ग)

4. मैरिस कक्कलेज स्थित हैख्र

क) दिल्ली

ख) मुंबई

ग) लखनऊ

घ) पुणे

उत्तर ग)

5. हिंदुस्तानी संगीत पद्धति' किसकी रचना है?

क) तानसेन

ख) भातखंडे

ग) पलुस्कर

घ) शारंगदेव

उत्तर ख)

लघु प्रश्न

1. ठाट पद्धति क्या है?
2. भातखंडे जी का एक योगदान लिखिए।
3. वे किस प्रकार के विद्वान थे?
4. उन्होंने संगीत शिक्षा को कहाँ स्थान दिलाया?

दीर्घ प्रश्न

पं. विष्णु नारायण भातखंडे का भारतीय संगीत में योगदान लिखिए।

इकाई- 2.2 पं. भीमसेन जोशी

याद करने योग्य बिंदु-

पं. भीमसेन जोशी किराना घराने के महान गायक थे।
वे खयाल, भजन और अभंग गायन में निपुण थे।
वे सावई गंधर्व के शिष्य थे।
उनकी गायकी में शद्रि और भाव की प्रधानता थी।
उन्हें भारत रत्न से सम्मानित किया गया।
उन्होंने सवाई गंधर्व संगीत महोत्सव की स्थापना की।
उनका संगीत आज भी प्रेरणास्रोत है।

जीवन परिचय

पंडित भीमसेन जोशी भारतीय शास्त्रीय संगीत के एक महान गायक थे, जिन्हें किराना घराने की परंपरा को नई ऊँचाइयों तक पहुँचाने के लिए जाना जाता है। वे न केवल खयाल गायकी में पारंगत थे, बल्कि भजन और अभंग जैसे भक्तिपूर्ण संगीत में भी उन्हें महारत हासिल थी। संगीत की आत्मा को छू लेने वाली उनकी गायकी आज भी श्रोताओं के दिलों में जीवित है।

प्रारंभिक जीवन

भीमसेन जोशी का जन्म 4 फरवरी 1922 को कर्नाटक राज्य के गडग जिले में हुआ था। उनके **पिता गुरुराज जोशी** एक स्कूल शिक्षक थे। बचपन से ही उन्हें संगीत में गहरी रुचि थी। मात्र 11 वर्ष की उम्र में उन्होंने घर छोड़ दिया और पूरे भारत में घूम-घूमकर एक उपयुक्त गुरु की तलाश की। अंततः वे **सवाई गंधर्व के शिष्य** बने, जिन्होंने उन्हें **किराना घराने की परंपरा में दीक्षित किया।**

शास्त्रीय शिक्षा:

- प्रारंभिक शिक्षा पं. श्यामाचार्य जोशी से हुई।
- बाद में किराना घराने के महान गायक सवाई गंधर्व (रामचंद्र कुंडगोलकर) के शिष्य बने।
- सवाई गंधर्व ने उन्हें खयाल गायकी में दक्ष बनाया।

गायन शैली की विशेषताएं

भीमसेन जोशी जी की गायकी में शक्ति, गहराई और आत्मा की अनुभूति होती थी:

- **रागों की गहरी समझ** - वे राग को गहराई से स्थापित करते थे।
- **बोल अलंकार** - शब्दों की स्पष्टता और भावपूर्ण प्रस्तुति।
- **तानों की गति और शक्ति** - उनकी ताने तीव्र, सशक्त और स्वाभाविक थीं।
- **भक्ति संगीत में दक्षता** - मराठी अभंग, हिंदी भजन में अद्‌भुत प्रभाव।

उनके कुछ प्रसिद्ध भजन और गायन हैं:

- ''जो भजे हरि को सदा...''
- ''मिले सुर मेरा तुम्हारा...'' (राष्ट्रीय एकता गीत)
- ''रघुपति राघव राजा राम''

प्रमुख सम्मान और पुरस्कार

वर्ष	पुरस्कार
1972	पद्मश्री
1976	संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार
1985	पद्मभूषण
1999	पद्मविभूषण
2008	भारत रत्न (भारत का सर्वोच्च नागरिक सम्मान)
अन्य	महाराष्ट्र भूषण, कर्नाटक रत्न, राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार

अन्य योगदान

- ❖ **''सवाई गंधर्व संगीत महोत्सव'' की स्थापना पुणे में की,** जो आज भारत के प्रमुख संगीत समारोहों में से एक है।
- ❖ कई पीढ़ियों के संगीत प्रेमियों को हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत से जोड़ा।
- ❖ अनेक **शिष्यों को प्रशिक्षित किया, जिनमें श्रुति सडोलिकर, शुभा मुद्गल, रघुनाथ मन्हास,** आदि प्रमुख हैं।

निधन और विरासत

पंडित भीमसेन जोशी का देहांत 24 जनवरी 2011 को पुणे में हुआ। उनके निधन से भारतीय संगीत जगत में अपूरणीय क्षति हुई। आज भी उनका संगीत विद्यार्थियों के लिए प्रेरणा स्रोत है और रसिकों के लिए अमूल्य धरोहर।

शब्दावली

किराना घराना – स्वर प्रधान गायन शैली
खयाल – शास्त्रीय गायन की प्रमुख शैली
अभंग – मराठी भद्रिगीत
बोल अलंकार – शब्दों की सजावट
तान – तीव्र स्वर समूह
गुरु-शिष्य परंपरा – परंपरागत शिक्षा प)ति

रिद्र स्थान भरो

1. भीमसेन जोशी का जन्म ------ को हुआ।
2. वे ------ घराने से संबंधित थे।
3. उनके गुरु ------ थे।
4. उन्हें ------ रत्न से सम्मानित किया गया।
5. उनका निधन ------ में हुआ।

उत्तर

1. 4 ऱवरी 1922
2. किराना
3. सावई गंधर्व
4. भारत
5. 2011

1. पं. भीमसेन जोशी किस घराने के थे?

क) ग्वालियर
ख) आगरा
ग) किराना
घ) जयपुर

उत्तर ग)

2. उनका प्रमुख गायन रूप हैख्र

   क) ध्रुपद
   ख) खयाल
   ग) ठुमरी
   घ) तराना

उत्तर ख)

3. भारत रत्न उन्हें किस वर्ष मिला?

   क) 1999
   ख) 2005

ग) 2008

घ) 2010

उत्तर ग)

4. सवाई गंधर्व संगीत महोत्सव किस नगर में होता है?

क) मुंबई

ख) पुणे

ग) दिल्ली

घ) धारवाड़

उत्तर ख)

लघु प्रश्न

1. भीमसेन जोशी की गायकी की एक विशेषता लिखिए।
2. उनके गुरु कौन थे?
3. वे किस प्रकार के गीतों में प्रसि) थे?

दीर्घ प्रश्न

पं. भीमसेन जोशी का जीवन परिचय दीजिए।

इकाई-2.3 ध्वनि का हमारे जीवन में प्रभाव

याद करने योग्य बिंदु-

ध्वनि मानसिक शांति प्रदान करती है।
संगीत तनाव और चिंता कम करता है।
संगीत चिकित्सा से शारीरिक लाभ होता है।
ध्वनि भावनाओं को प्रभावित करती है।
संगीत एकाग्रता बढ़ाता है।
संगीत सामाजिक और सांस्ख्रतिक जुड़ाव बढ़ाता है।
ध्वनि आध्यात्मिक विकास में सहायक है।

ध्वनि का हमारे जीवन में प्रभाव:

संगीतोपयोगी ध्वनि हमारे जीवन को निम्नलिखित तरीको से प्रभावित करते है:-

मानसिक शांति और तनाव मुक्ति

- ध्वनि तरंगें मस्तिष्क पर सकारात्मक प्रभाव डालती हैं।
- मधुर संगीत तनाव, चिंता और अवसाद को कम करने में सहायक होता है।
- मेडिटेशन संगीत (ध्यान संगीत) मन को स्थिर करने में मदद करता है।

भावनाओं पर नियंत्रण

- अलग-अलग राग और ध्वनियाँ विभिन्न भावनाओं को उत्पन्न कर सकती हैं - जैसे शांति, आनंद, करुणा या उत्साह।
- संगीत व्यक्ति को भावनात्मक संतुलन बनाए रखने में मदद करता है।

शारीरिक स्वास्थ्य में लाभ

- वैज्ञानिक शोध बताते हैं कि संगीत सुनने से दिल की धड़कन सामान्य होती है।
- संगीत चिकित्सा (Music Therapy) से उच्च रक्तचाप, अनिद्रा और दर्द में राहत मिल सकती है।

एकाग्रता और स्मरण शक्ति में सुधार

- **शास्त्रीय संगीत, विशेषकर राग दरबारी या राग यमन, मस्तिष्क की एकाग्रता** बढ़ाते हैं।
- विद्यार्थी पढ़ाई करते समय संगीत सुनकर अधिक अच्छी तरह ध्यान केंद्रित कर सकते हैं।

सामाजिक और सांस्कृतिक जुड़ाव

- संगीत लोगों को एक साथ जोड़ता है - चाहे वह त्योहार हो, विवाह हो या देशभक्ति गीत।
- यह हमारी संस्कृति, परंपरा और विरासत को बनाए रखने में मदद करता है।

सृजनात्मकता और आत्म-अभिव्यक्ति

- ध्वनि और संगीत कलाकारों को अपनी भावनाओं और विचारों को व्यक्त करने का माध्यम देते हैं।
- यह कला, चित्रकला, लेखन और अन्य रचनात्मक क्षेत्रों को प्रेरित करता है।

आध्यात्मिक विकास में सहायक

- भजन, कीर्तन, सूफी संगीत, और मंत्रोच्चार आध्यात्मिक जागरूकता को बढ़ाते हैं।
- ये ध्वनियाँ आत्मा से जुड़ने का मार्ग प्रशस्त करती हैं।

शब्दावली

खध्वनि - कंपन से उत्पन्न वह तरंग जिसे हम सुन सकते हैं।
खकंपन - किसी वस्तु का हिलना-डुलना जिससे ध्वनि पैदा होती है।
खध्वनि तरंग - हवा में ैलने वाली कंपन से बनी लहर।
खसंगीतोपयोगी ध्वनि - मधुर और व्यवस्थित ध्वनि जो संगीत में प्रयुद्र हो।
खमानसिक शांति - मन की स्थिर और शांत अवस्था।
खतनाव - मानसिक दबाव या चिंता की स्थिति।

खसंगीत चिकित्सा – संगीत द्वारा रोगों का उपचार।
खएकाग्रता – मन को किसी एक विषय पर केंद्रित करने की शद्रि।
खस्मरण शद्रि – याद रखने की क्षमता।
खसांस्ख्रतिक विरासत – हमारी परंपराओं और कला की धरोहर।
खआध्यात्मिकता – आत्मा और ईश्वर से जुड़ने की भावना।
खभजन – ईश्वर की भद्रि में गाया जाने वाला गीत।

रिद्र स्थान भरिए

1. ध्वनि ---------- से उत्पन्न होती है।
2. मधुर संगीत ---------- को कम करता है।
3. संगीत चिकित्सा से ---------- रोग में लाभ मिलता है।
4. शास्त्रीय संगीत ---------- शद्रि बढ़ाता है।
5. संगीत लोगों में ---------- जुड़ाव बढ़ाता है।

उत्तर

1. कंपन
2. तनाव
3. मानसिक
4. एकाग्रता
5. सामाजिक

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. ध्वनि किससे उत्पन्न होती है?
   क) गति से
   ख) कंपन से
   ग) प्रकाश से
   घ) ऊष्मा से
2. संगीत चिकित्सा किसमें सहायक है?
   क) रोग बढ़ाने में
   ख) तनाव बढ़ाने में
   ग) रोग निवारण में
   घ) शोर बढ़ाने में
3. शास्त्रीय संगीत किसे बढ़ाता है?
   ।क) चिंता
   ख) आलस्य
   ग) एकाग्रता
   घ) भय
4. भजन किससे संबंधित है?
   क) नृत्य
   ख) मनोरंजन
   ग) भद्रि
   घ) खेल

उत्तर

1. ख)

2. ग)
3. ग)
4. ग)

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. ध्वनि क्या है?
2. संगीत मानसिक शांति कैसे देता है?
3. संगीत चिकित्सा क्या है?
4. भजन का जीवन में क्या महत्व है?

रिद्र स्थान भरो

1. संगीत से ------ कम होता है।
2. ध्वनि ------ को प्रभावित करती है।
3. संगीत चिकित्सा से ------ में लाभ होता है।
4. राग यमन ------ बढ़ाता है।
5. संगीत सामाजिक ------ को बढ़ाता है।
6. भजन आध्यात्मिक ------ में सहायक हैं।

उत्तर

1. तनाव
2. भावनाओं
3. स्वास्थ्य
4. एकाग्रता
5. जुड़ाव
6. विकास

1. संगीत का प्रभाव किस पर पड़ता है?
   क) केवल शरीर
   ख) केवल मन
   ग) मन और शरीर दोनों
   घ) केवल कान

उत्तर ग)

2. संगीत चिकित्सा किसमें सहायक है?
   क) अनिद्रा
   ख) दर्द
   ग) तनाव
   घ) सभी

उत्तर घ)

लघु प्रश्न

1. संगीत का एक मानसिक लाभ लिखिए।
2. ध्वनि से भावनाएँ कैसे प्रभावित होती हैं?
3. संगीत का सामाजिक महत्व क्या है?

दीर्घ प्रश्न

प्रश्न 1 ध्वनि का हमारे मानसिक, शारीरिक एवं सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है? विस्तार से लिखिए।

इकाई-2.4 गमक की परिभाषा एवं 5-10 अलंकार (क्र.पु.म.भाग -1)

याद करने योग्य बिंदु

1. गमक स्वर का कंपन है।
2. गमक शब्द 'गम' धातु से बना है।
3. गमक का प्रयोग ध्रुपद गायन में अधिक होता है।
4. शारंगदेव ने 15 गमक बताए हैं।
5. पंचदश गमक संगीत रत्नाकर में वर्णित हैं।
6. कर्नाटक संगीत में गमक का अधिक प्रयोग होता है।
7. हिंदुस्तानी संगीत में गमक के बदले अलंकार प्रयोग होते हैं।

गमक का अर्थ; गमक शब्द **संस्कृत भाषा की 'गम्' धातु से बना है** जिसका अर्थ होता है **'चलना या जाना'।** जब स्वरों को गंभीरता पूर्वक गाया जाता है तो उसे गमक कहा जाता है। संगीत रत्नाकर में, शारंग देव जी ने गमक को परिभाषित करते हुए लिखा है -

"स्वरस्य कंपो गमकः श्रोतृचित्त - सुखावहः"

अर्थात स्वर के उस प्रकार के कंपन को प्राचीन काल में गमक कहते थे जिससे श्रोताओं का चित्त प्रसन्न होद्य

वर्तमान समय में गमक का प्रयोग प्राचीन तरीके से नहीं होताद्य गमक का प्रयोग ज्यादातर ध्रुपद गायकों द्वारा किया जाता है, इसके अलावा बंदिश की उपज में भी गमक का प्रयोग दिखाई देता है।

शारंग देव के अनुसार गमक के प्रकार

शारंग देव कृत संगीत रत्नाकर ग्रंथ में गमक के 15 प्रकार बतायें गए हैं, इसे **पंचदश गमक** नाम से भी जाना जाता है जो निम्न है :-

1. **तिरिप** - इस गमक को 1/8 मात्रा काल में गाया जाता है, आजकल इसे हिलोल्ल नाम से जाना जाता है।
2. **स्फुरित** - इस गमक को 1/6 मात्रा काल में गाया जाता है, इस गिटकरी कहते है।
3. **कंपित** - इसे 1/4 मात्रा में गाया जाता है, इसको खटका भी कहते हैं।
4. **लीन** - इसे 1/2 मात्राओं में गाया जाता है।
5. **आंदोलित** - 1 मात्रा में गायी जानें वाली गमक।
6. **वलित** - वक्रत्व के साथ गमक गाना, इसे वली/ वलित गमक माना जाता है।
7. **त्रिभिन्न** - तीन स्वर स्थानों को जल्दी से छूकर किसी एक स्थान पर पहुँचा जाए।
8. **कुरुल** - इसे घसीट भी कहते हैं।
9. **आहत** - गमक करते समय आगे के स्वरों पर आघात करके लौटना।
10. **उल्लासित** - एक स्वर के बाद, एक स्वर को छोड़कर दूसरे स्वर को क्रमानुसार लेना।
11. **प्लावित** - जब किसी स्वर को तीन चौथाई भाग में आंदोलित किया जाए।
12. **हुम्फित** - हृदय से ताकत लगाकर गमक गाना, इसे हुम्फित भी बोला जाता है।
13. **मुद्रित** - मुख बंद करके कंपन करना।
14. **नामित** - इसे कोमल कंठ द्वारा गाया जाता है।
15. **मिश्रित** - दो या दो से अधिक गमकों को यदि आपस में मिला दिया जाए तो उसे मिश्रित गमक कहेंगें।

कर्नाटक संगीत में आज भी अधिकांश गामको का प्रयोग किया जाता है, किन्तु उत्तरीय हिन्दुस्तानी संगीत में "गमक" शब्द का प्रयोग प्राचीन अर्थ में नहीं होता,लेकिन उपर्युक्त सभी प्रकार के गमक किसी न किसी रूप में अवश्य प्रयुक्त होते है , जैसे-

खट्का, मुर्की, गिटकिड़ी, ज़मज़मा, मींड आदि।

शब्दावली

गमक - स्वर को कंपन के साथ गंभीरता से गाने की विधि।

कंपन - स्वर का हिलता-डुलता उच्चारण।

पंचदश गमक – गमक के 15 प्रकार।
तिरप – बहुत तीव्र गति से गाया जाने वाला गमक।
स्फुरित – झटके के साथ स्वर लेना।
कंपित – स्वर को हिलाकर गाना।
आंदोलित – स्वर को धीरे-धीरे हिलाना।
मिश्रित गमक – दो या अधिक गमकों का मेल।
खटका – अल्पकालिक स्वर झटका।
मींड – एक स्वर से दूसरे स्वर तक जाना।

रिद्र स्थान भरिए

1. गमक शब्द ---------- धातु से बना है।
2. गमक का वर्णन ---------- ग्रंथ में है।
3. गमक के ---------- प्रकार बताए गए हैं।
4. गमक का प्रयोग ---------- गायन में अधिक होता है।
5. मिश्रित गमक में ---------- गमक मिलते हैं।

उत्तर

1. गम
2. संगीत रत्नाकर
3. 15
4. ध्रुपद
5. दो या अधिक

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. गमक का अर्थ क्या है?
   क)ऋ स्वर की गति
   ख) स्वर का कंपन
   ग) ताल
   घ) लय
2. गमक के प्रकार किस ग्रंथ में वर्णित हैं?
   क) नाटडशास्त्र
   ख) संगीत दर्पण
   ग) संगीत रत्नाकर
   घ) राग तरंगिणी
3. पंचदश गमक का अर्थ है
   क) 10 गमक
   ख) 12 गमक
   ग) 15 गमक
   घ) 20 गमक
4. हिंदुस्तानी संगीत में गमक के स्थान पर क्या प्रयोग होता है?
   क) राग
   ख) ताल
   ग) अलंकार
   घ) लय

उत्तर

1. ख)
2. ग)
3. ग)
4. ग)

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. गमक की परिभाषा लिखिए।
2. पंचदश गमक क्या है?
3. ध्रुपद गायन में गमक का महत्व बताइए।
4. हिंदुस्तानी संगीत में गमक का प्रयोग कैसे होता है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1 हिंदुस्तानी एवं कर्नाटक संगीत में गमक के प्रयोग की तुलना कीजिए।

खण्ड-3 राग एवं ताल

इकाई-3.1 वादक के गुण - दोष

याद करने योग्य बिंदु

वादक को स्वर, ताल और लय का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए।
नियमित रियाज़ वादन की गुणवत्ता बढ़ाता है।
सही हस्त संचालन से वादन शुद्ध और मधुर होता है।
ताल की समझ के बिना वादन प्रभावी नहीं हो सकता।
आत्मविश्वास वादक के प्रस्तुतीकरण को सशद्र बनाता है।
अशुद्धियाँ संगीत की सुंदरता को बिगाड़ देती हैं।
सकारात्मक मनोवृत्ति कलाकार को श्रेष्ठ बनाती है।

वादक के गुण (Merits of a Musician)

वादक के गुण यह हैं कि वह संगीत में पारंगत हो, विभिन्न वाद्यों को बजाने में कुशल हो, और हस्त संचालन में निपुण हो.

1. संगीत में पारंगतता

   वादक को स्वर, ताल, लय, और राग का गहन ज्ञान होना चाहिए। उसे संगीत के विभिन्न पहलुओं की समझ और अभ्यास से ही उत्कृष्टता प्राप्त होती है। संगीत में पारंगतता वादक को श्रोताओं के साथ भावनात्मक जुड़ाव स्थापित करने में सक्षम बनाती है।

2. विभिन्न वाद्यों में दक्षता

   वादक को विभिन्न वाद्य यंत्रों को बजाने की क्षमता होनी चाहिए, जैसे तानपुरा, सितार, वीणा, आदि। विभिन्न वाद्यों का ज्ञान और उनका सही उपयोग वादक को संगीत की विविधता और गहराई प्रदान करता है।

3. हस्त संचालन में निपुणता

   वादक के हाथों का संचालन सटीक और कुशल होना चाहिए, जिससे वादन में शुद्धता बनी रहे। हस्त संचालन की निपुणता वाद्य यंत्र के स्वर और ताल की स्पष्टता को सुनिश्चित करती है।

4. अभ्यास और रियाज

   नियमित अभ्यास और रियाज से वादक अपनी तकनीक में सुधार कर सकता है। अभ्यास से ही वादक की कला में निखार आता है और वह अपने प्रदर्शन में आत्मविश्वास महसूस करता है।

5. ताल की समझ

   वादक को ताल की विभिन्न शैलियों और प्रकारों का ज्ञान होना चाहिए और वह उन्हें बजाने में सक्षम होना चाहिए। ताल की समझ वादक को संगीत के लयबद्धता और संरचना को बनाए रखने में मदद करती है।

6. समग्र संगीतज्ञता

   वादक को एक अच्छा संगीतज्ञ बनना चाहिए, जो संगीत के माध्यम से अपनी भावनाओं को व्यक्त कर सके। समग्र संगीतज्ञता वादक को संगीत की गहराई और उसकी भावनात्मक अभिव्यक्ति को समझने में सक्षम बनाती है।

वादक के दोष (Demerits of a Musician)

वादक के दोषों में अभ्यास की कमी, खराब तकनीक और ताल की समझ में कमी शामिल है:

1. अभ्यास की कमी

   अभ्यास की कमी वादक को खराब तकनीक और ताल की समझ से जूझने का कारण बन सकती है। अभ्यास के अभाव में वादक का प्रदर्शन कमजोर और अशुद्ध हो सकता है।

2. खराब तकनीक

   खराब तकनीक वादक को संगीत के विभिन्न पहलुओं को बजाने में परेशानी का कारण बन सकती है। अशुद्ध वादन और गलत अंगुली संचालन से संगीत की गुणवत्ता प्रभावित होती है।

3. ताल की समझ में कमी

ताल की समझ में कमी वादक को संगीत के ताल को बजाने में परेशानी का कारण बन सकती है। ताल की गलत समझ से संगीत की लय और संरचना बिगड़ सकती है।

4. अशुद्धियाँ

वादक को अशुद्धियाँ बजाने से बचना चाहिए, क्योंकि इससे संगीत की सुंदरता प्रभावित हो सकती है। अशुद्ध वादन से श्रोताओं पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

5. आत्मविश्वास की कमी

वादक को आत्मविश्वासी होना चाहिए और उसे अपने प्रदर्शन में आत्मविश्वास दिखाना चाहिए। आत्मविश्वास की कमी से वादक का प्रदर्शन कमजोर और प्रभावहीन हो सकता है।

6. मनोवृत्ति

वादक को सकारात्मक और प्रेरित होना चाहिए, और उसे अपने प्रदर्शन में रचनात्मकता और भावनाएँ दिखानी चाहिए। नकारात्मक मनोवृत्ति से वादक का प्रदर्शन प्रभावित होता है और श्रोताओं पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

निष्कर्ष:

वादक के गुण और दोष भारतीय संगीतशास्त्र में अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये किसी भी कलाकार की कला की गुणवत्ता और प्रभावशीलता को निर्धारित करता है।

शब्दावली

वादक - वह व्यद्रि जो किसी वाद्य यंत्र को बजाता है।

हस्त संचालन - वाद्य बजाते समय हाथों और उँगलियों को सही ढंग से चलाने की कला।

रियाज़ - संगीत में निपुण होने के लिए किया जाने वाला नियमित अभ्यास।

तालबद्धता - ताल के अनुसार सही समय पर वादन करने की क्षमता।

रिद्र स्थान भरिए

1. नियमित ------- से वादक की कला में निखार आता है।
2. सही ------- से वादन में शु)ता बनी रहती है।
3. ------- की कमी से वादन प्रभावहीन हो जाता है।
4. अशुद्ध वादन से संगीत की ------- प्रभावित होती है।
5. सकारात्मक ------- वादक को श्रेष्ठ बनाती है।

उत्तर

1. रियाज़
2. हस्त संचालन
3. ताल
4. सुंदरता
5. मनोवृत्ति

1. वादक के लिए सबसे आवश्यक क्या है?

क) केवल वाद्य

ख) केवल मंच

ग) नियमित रियाज़

घ) केवल प्रसिद्धि

उत्तर ग)

2. हस्त संचालन का संबंध किससे है?

क) गायन
ख) हाथों की गति
ग) लेखन
घ) श्रवण
उत्तर ख)

3. वादक का सबसे बड़ा दोष क्या है?
क) आत्मविश्वास
ख) अभ्यास की कमी
ग) मधुरता
घ) ताल ज्ञान
उत्तर ख)

4. अशुद्धियाँ किसे प्रभावित करती हैं?
क) कलाकार को
ख) श्रोता को
ग) संगीत की सुंदरता को
घ) सभी को
उत्तर घ)

लघु प्रश्न

1. वादक के लिए रियाज़ क्यों आवश्यक है?
2. ताल की समझ क्यों ज़रूरी है?
3. आत्मविश्वास का वादन पर क्या प्रभाव पड़ता है?

दीर्घ प्रश्न-1

वादक के गुण और दोषों का वर्णन कीजिए।

इकाई-3.2 एक ताल का परिचय

याद करने योग्य बिंदु

ख एकताल में कुल 12 मात्रएँ होती हैं।

ख इसमें 6 विभाग होते हैं।

ख प्रत्येक विभाग में 2 मात्रएँ होती हैं।

ख यह समपदी ताल है।

ख इसका प्रयोग ख्याल और तराना में होता है।

ख एकताल विलंबित, मध्य और द्रुत लय में गाया-बजाया जाता है।

एकताल हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत का एक प्रमुख ताल है, जो विशेष रूप से तबले पर बजाया जाता है। यह ताल **12 मात्राओं** में विभाजित होता है और **इसे सम पदी ताल कहा जाता है**, क्योंकि इसकी मात्राएँ समान रूप से विभाजित होती हैं।

एकताल परिचय

एकताल में **बारह (12)** मात्र एवं **छह (6)** विभाग होते हैं, प्रत्येक **विभाग में 2-2** मात्राएँ होती हैं। पहली मात्रा पैर **सम (०) तीसरी पर खाली, पांचवी पर दूसरी ताली, सातवी पर खाली**, तथा **नवी और ग्यारहवी पर तीसरी एवं चौथी ताली क्रमशः होती है।**

- ❖ कुल मात्राएँ: **12**
- ❖ विभाग (विभाग): **6 (प्रत्येक में 2 मात्राएँ)**
- ❖ ताली (तालियाँ): **1, 5, 9, 11वीं मात्राओं पर**
- ❖ खाली (खाली): **3 और 7वीं मात्राओं पर**

इस ताल का तालिकाबद्ध रूप निम्नलिखित है:-

मात्रा-	**1**	**2**	**3**	**4**	**5**	**6**	**7**	**8**	**9**	**10**	**11**	**12**
ठेका-	**धिं**	**धिं**	**धागे**	**तिरकिट**	**तू**	**ना**	**क**	**त्ता**	**धागे**	**तिरकिट**	**धी**	**ना**
चिह्न-	**X**		**0**		**2**		**0**		**3**		**4**	

एकताल का उपयोग

एकताल का प्रयोग मुख्यतः विलंबित (धीमी), मध्य और द्रुत लयों में किया जाता है। **यह ख्याल, तराना, और गत जैसे संगीत रूपों में विशेष रूप से प्रचलित है। इसके अलावा, तबला वादन में एकल वादन के लिए भी यह ताल अत्यंत प्रसिद्ध है।**

एकताल को हाथ पर कैसे दिखाएं:

एकताल को हाथ पर इस प्रकार दिखाया जाता है:

1. पहला विभाग: **दाएँ हाथ से बाएँ हाथ पर पहली मात्रा पर ताली देते हुए 2 बार गिनते और बोल बोलते हैं।**
2. दूसरा विभाग: **दाएँ हाथ से 3वीं मात्रा खाली रखते हुए दाएँ हाथ से 2 बार गिनते और बोल बोलते हैं।**
3. तीसरा विभाग: **दाएँ हाथ से बाएँ हाथ पर 5वीं मात्रा पर ताली देते हुए 2 बार गिनते और बोल बोलते हैं।**
4. चौथा विभाग: **दाएँ हाथ से 7वीं मात्रा खाली रखते हुए दाएँ हाथ से 2 बार गिनते और बोल बोलते हैं।**
5. पाँचवाँ विभाग: **दाएँ हाथ से बाएँ हाथ पर 9वीं मात्रा पर ताली देते हुए 2 बार गिनते और बोल बोलते हैं।**
6. छठा विभाग: **दाएँ हाथ से बाएँ हाथ पर 11वीं मात्रा पर ताली देते हुए 2 बार गिनते और बोल बोलते हैं।**

इस प्रकार, एकताल को हाथ पर दिखाते समय प्रत्येक विभाग में ताली और खाली की स्थिति का विशेष ध्यान रखा जाता है।

शब्दावली

ताल - संगीत में समय को बाँधने की व्यवस्था।

मात्र - ताल की गिनती की इकाई।

विभाग - ताल के भीतर की छोटी संरचना।

सम - ताल की पहली मात्र।

खाली - वह मात्र जहाँ ताली नहीं दी जाती।

रिद्र स्थान

1. एकताल में कुल ------- मात्रएँ होती हैं।
2. एकताल में ------- विभाग होते हैं।
3. पहली मात्र को ------- कहते हैं।
4. एकताल का प्रयोग ------- गायकी में होता है।
5. खाली मात्र पर ------- नहीं दी जाती।

उत्तर

1. 12
2. 6
3. सम
4. ख्याल
5. ताली

बहुविकिल्पीय

1. एकताल में कितनी मात्रएँ होती हैं?
   क) 10
   ख) 12
   ग) 14
   घ) 16
   उत्तर ख)
2. एकताल किस प्रकार का ताल है?
   क) विषम
   ख) समपदी
   ग) खंड
   घ) लयहीन
   उत्तर ख)
3. एकताल का प्रयोग किसमें होता है?
   क) केवल भजन
   ख) ख्याल
   ग) लोकगीत
   घ) फिल्म संगीत
   उत्तररू ठ
4. खाली का अर्थ है?
   क) ताली
   ख) विश्राम
   ग) बिना ताली
   घ) समाप्ति
   उत्तर ग)

लघु प्रश्न

1. एकताल को समपदी ताल क्यों कहते हैं?
2. एकताल में कितने विभाग होते हैं?
3. एकताल का उपयोग कहाँ होता है?

दीर्घ प्रश्न

एकताल का परिचय दीजिए।

इकाई-3.3 राग का संक्षिप्त परिचय

याद करने योग्य बिंदु

राग कम से कम पाँच स्वरों से बनता है।
राग मन को रंजित करता है।
प्रत्येक राग का समय निश्चित होता है।
राग का संबंध भाव से होता है।
राग आरोह-अवरोह पर आधारित होता है।
वादी-संवादी स्वर राग की पहचान होते हैं।

राग की परिभाषा

कम से कम पाँच और अधिक से अधिक सात स्वरों की वह सुंदर रचना जी कानों को अच्छी लगे राग कहलाती है। **राग शब्द संस्कृत के ''रंज'' धातु से उत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है** ''प्रसन्न करना'' **या** ''मन को रंजन करना''**। अभिनव राग मंजरी में राग की परिभाषा इस प्रकार दी गई है-**

''याऽसौ ध्वनिविषेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः।
रञ्जको जनचिन्तानां स रागः कथ्यते बुधैः।।''

अर्थात् स्वर और वर्ण से विभूषित ध्वनि, जो मनुष्यों का मनोरंजन करे, राग कहलाता है।

राग का समय और भावनात्मक प्रभाव

प्रत्येक राग एक विशेष समय, ऋतु और भावनात्मक स्थिति से जुड़ा होता है। उदाहरण के लिए:

- राग भैरव: प्रातःकाल में गाया जाता है और यह गंभीरता और श्रद्धा का भाव उत्पन्न करता है।
- राग यमन: रात्रि के समय में गाया जाता है और यह शांतिपूर्ण और भक्ति भावनाओं को जागृत करता है।

इस प्रकार, राग न केवल संगीत का रूप है, बल्कि यह श्रोता के मनोभावों और वातावरण के अनुरूप एक जीवंत अनुभव प्रदान करता है।

राग के प्रमुख लक्षण:

स्वरवर्णविकारेण रन्जितो यः स्तु जीवमान।
स राग इति संज्ञेयो न तु गीतविशेषकः।।

(संगीत रत्नाकर ३.२)

लक्षण	विवरण
रंजकता	राग में ऐसी विशेषता होनी चाहिए जो श्रोता के मन को प्रसन्न करे।
स्वरों की संख्या	राग में कम से कम 5 और अधिकतम 7 स्वर होते हैं।
थाट से संबंध	**प्रत्येक राग किसी न किसी थाट से उत्पन्न होता है। उदाहरण: राग भूपाली - कल्याण थाट।**
आरोह-अवरोह	स्वरों का आरोह (चढ़ाव) और अवरोह (उतराव) राग की संरचना **को निर्धारित करते हैं।**
वादि और संवादी	वादि: राग का प्रमुख स्वर। संवादी: वादी के साथ सामंजस्यपूर्ण स्वर।
वर्ज्य स्वर	**राग में कुछ स्वरों का प्रयोग निषिद्ध होता है।**
जाति	रागों को उनके स्वरसंख्या के आधार पर तीन जातियों में वर्गीकृत किया जाता है: औडव, षाडव, संपूर्ण।
समय और ऋतु	प्रत्येक राग एक विशेष समय, ऋतु और भावनात्मक स्थिति से जुड़ा होता है।

शब्दावली

राग - स्वरों की ऐसी रचना जो मन को आनंद दे।

आरोह - स्वरों का चढ़ाव।

अवरोह - स्वरों का उतराव।

वादी स्वर - राग का मुख्य स्वर।

संवादी स्वर - वादी के साथ मेल खाने वाला स्वर।

रिक्त स्थान

1. राग शब्द ------- धातु से बना है।
2. राग में न्यूनतम ------- स्वर होते हैं।
3. आरोह का अर्थ ------- है।
4. राग का संबंध ------- से होता है।
5. वादी स्वर राग का ------- स्वर होता है।

उत्तर

1. रंज
2. पाँच
3. चढ़ाव
4. भाव
5. मुख्य

बहुविकिल्पीय

1. राग का मुख्य उद्देश्य क्या है?

क) मनोरंजन

ख) रंजन

ग) अभ्यास

घ) प्रदर्शन

उत्तर ख)

2. राग में अधिकतम कितने स्वर होते हैं?

क) 5

ख) 6

ग) 7

घ) 8

उत्तर ग)

3. आरोह किसे कहते हैं?

क) उतराव

ख) विश्राम

ग) चढ़ाव

घ) गमन

उत्तर ग)

4. राग का समय किससे जुड़ा होता है?

क) स्थान

ख) तु

ग) भाव

घ) सभी

उत्तर घ)

दीर्घ प्रश्न -1

प्रश्न- राग की परिभाषा और उसके प्रमुख लक्षण लिखिए।

इकाई-3.4 तबला मिलाने की विधि एवं साज सज्जा

याद करने योग्य बिंदु

तबला हिंदुस्तानी संगीत का प्रमुख ताल वाद्य है।
तबला दो भागों में होता है- दायाँ और बायाँ।
तबले का स्वर राग के अनुसार मिलाया जाता है।
गट्टे और गजरे से स्वर मिलाया जाता है।
स्फाई से तबले की आयु बढ़ती है।
नमी से तबला खराब हो सकता है।

उत्पत्ति और इतिहास

आधुनिक काल में गायन - वादन तथा नृत्य की संगीत में तबले का प्रयोग होता है।

तबला की उत्पत्ति को लेकर विभिन्न मत हैं। एक प्रमुख मान्यता के अनुसार , 13वीं शताब्दी में भारतीय कवि और संगीतज्ञ अमीर खुसरो ने पखावज वाद्य को दो भागों में विभाजित करके तबला का निर्माण किया। **हालांकि , कुछ विद्वानों का मानना है कि तबला की उत्पत्ति भारतीय उपमहाद्वीप में प्राचीन काल में हुई थी और यह पखावज जैसे वाद्यों से विकसित हुआ है।**

तबला भारतीय संगीत का एक प्रमुख ताल वाद्य है, जो विशेष रूप से हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में महत्वपूर्ण भ. ूमिका निभाता है। यह वाद्य यंत्र दो भागों में बंटा होता है: दाहिना तबला और बायां तबला (जिसे डग्गा या डुग्गी भी कहा जाता है)। दाहिना तबला शीशम की लकड़ी से बना होता है, जबकि बायां तबला विभिन्न प्रकार की लकड़ियों से निर्मित होता है।

तबला मिलाने की विधि:

1. तबले के स्वर का निर्धारण:- **तबले का स्वर राग के आधार पर निर्धारित किया जाता है। सामान्यत: इसे ''सा'' (Shadjd) से मिलाया जाता है, लेकिन कुछ रागों में ''प'' (Pancham) या ''म'' (Madhyam) का प्रयोग भी होता है।**
2. दाहिने तबले का मिलाना: **दाहिने तबले के स्वर को समायोजित करने के लिए गट्टे और गजरे का उपयोग किया जाता है। गट्टे पर हथौड़ी से आघात करके स्वर को ऊँचा या नीचा किया जाता है, जबकि गजरे पर सूक्ष्म समायोजन के लिए हल्का आघात किया जाता है।**
3. बाएँ तबले का मिलाना: **बाएँ तबले का स्वर सामान्यत: ''प'' (Pancham) से मिलाया जाता है, लेकिन यह राग के अनुसार बदल सकता है। बाएं टेबल में गट्टा नहीं होता, अत: उसके गजरे पैर आघात कर उसे मिलाया जाता है।**
4. स्वर की निरंतरता: **तबले के स्वर की निरंतरता बनाए रखने के लिए नियमित रूप से गट्टे और गजरे का निरीक्षण और समायोजन आवश्यक है।**

महत्वपूर्ण बिंदु:

- **स्वर का निर्धारण राग के आधार पर किया जाता है।**
- **गट्टे और गजरे का सही उपयोग स्वर की गुणवत्ता बनाए रखने में सहायक है।**
- **नियमित निरीक्षण और समायोजन से तबले का स्वर स्थिर रहता है।**

तबला की साज-सज्जा (रख-रखाव) कैसे करें:

1. साफ-सफाई रखें:
   - **रोजाना रियाज के बाद तबला को सूखे और मुलायम कपड़े से पोंछें।**
   - **धूल या मिट्टी न जमने दें, इससे त्वचा (चर्म) खराब हो सकती है।**
2. तारों की जांच करें:
   - **तबला के किनारों पर बंधे चर्म-पट्टी और रस्सियाँ समय-समय पर ढीली या टाइट हो सकती हैं।**
   - **जरूरत पड़ने पर उन्हें सही तरीके से कसवाएं या ढील दें।**
3. मसाला या स्याही (गगा) की देखभाल करें:

- ❖ **तबले की काली स्याही (गगा) पर ज़्यादा हाथ या नमी न लगने दें, इससे यह जल्दी घिसती है।**
- ❖ **अगर गब टूटने लगे, तो विशेषज्ञ से मरम्मत करवा लें।**

4. ढक कर रखें:
   - ❖ **जब तबला उपयोग में न हो, तो उसे कपड़े से ढक कर रखें या केस में रखें ताकि धूल और नमी से बचा रहे।**
5. नमी से बचाव:
   - ❖ **बारिश या सर्दियों में तबले को नमी से बचाना बहुत जरूरी है।**
   - ❖ **सूखी जगह में रखें ताकी चर्म फट न जाए।**
6. तापमान का ध्यान रखें:
   - ❖ **बहुत गर्म या ठंडी जगह में तबला न रखें, इससे लकड़ी और चमड़ा दोनों खराब हो सकते हैं।**
7. पर्याप्त रियाज करें:
   - ❖ **नियमित रूप से बजाने से तबले की चमड़ी की गुणवत्ता बनी रहती है और यह जल्दी खराब नहीं होता।**
8. अनावश्यक चोट से बचाएँ:
   - ❖ **तबले को गिरने, खरोंचने या तेज आघात से बचाना चाहिए ताकि इसका आकार और ध्वनि सही बनी रहे।**

शब्दावली

ख तबला – ताल देने वाला प्रमुख वाद्य यंत्र।
ख गट्टा – लकड़ी के टुकड़े जिससे स्वर बदला जाता है।
ख गजरा – तबले के किनारे की चमड़ी।
ख गब – तबले की काली स्याही।
ख साज-सज्जा – वाद्य की देखभाल की विधि।

रिद्र स्थान

1. तबला ------- संगीत का प्रमुख वाद्य है।
2. तबले का स्वर ------- से मिलाया जाता है।
3. गट्टे से स्वर ------- किया जाता है।
4. नमी से तबले की ------- खराब होती है।
5. गब तबले के ------- भाग में होता है।

उत्तर

1. हिंदुस्तानी
2. राग
3. ऊँचा-नीचा
4. चमड़ी
5. मध्य

बहुविकिल्पीय

1. तबले के दो भाग कौन से हैं?
   क) तानपुराख़सितार
   ख) दायाँख़बायाँ
   ग) बड़ाख़छोटा
   घ) ऊँचाख़नीचा
   उत्तर ख)
2. तबले का गब किस लिए होता है?
   क) सजावट

ख) स्वर स्पष्टता
ग) वजन
घ) पकड़
उत्तर ख)

3. तबला किससे खराब होता है?
क) रियाज़
ख) स्फ़ाई
ग) नमी
घ) ध्वनि
उत्तर ग)

4. तबला मिलाने में किसका प्रयोग होता है?
क) हथौड़ी
ख) गट्टा
ग) गजरा
घ) सभी
उत्तर घ)

दीर्घ प्रश्न

तबला मिलाने की विधि और उसकी साज-सज्जा का वर्णन कीजिए।

खण्ड-4 गायन वादन का घराना एवं राग लेखन

इकाई-4.1 : घराना एवं प्रकार

याद करने योग्य बिंदु-

ख हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में घराना गायन या वादन की विशिष्ट परंपरा को कहते हैं।

ख घराने का विकास गुरुख्रशिष्य परंपरा से होता है।

ख प्रत्येक घराने की अपनी गायकी शैली और प्रस्तुति विधि होती है।

ख ख्याल गायकी के 7 प्रमुख घराने माने जाते हैं।

ख तबला वादन के भी अलग-अलग प्रमुख घराने हैं।

ख गायन घरानों में स्वर, लय और भाव की अलग-अलग प्रधानता होती है।

ख घरानों के कारण भारतीय संगीत में विविधता और गहराई आई।

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में ''घराना'' शब्द का अर्थ है गायन की एक विशिष्ट शैली या परंपरा, जो पीढ़ी दर पीढ़ी गुरु-शिष्य परंपरा के माध्यम से विकसित हुई है। प्रत्येक घराने की अपनी विशेषताएँ, गायकी की शैली, और संगीत की प्रस्तुति का तरीका होता है। गायन के अनेक घराने है, किन्तु मुख्य 7 प्रमुख गायन घराने है, जिसका वर्णन नीचे प्रस्तुत है:-

1. ग्वालियर घराना

- स्थापना: **उस्ताद हस्सु खान, उस्ताद हद्दु खान, और उस्ताद नथ्थु खान द्वारा।**
- विशेषताएँ: **यह घराना ख्याल गायकी की सबसे पुरानी शैली मानी जाती है। इसकी गायकी सरल, स्पष्ट, और लयबद्ध होती है।**
- प्रमुख कलाकार: **पं. ओंकारनाथ ठाकुर, पं. बाल कृष्ण बुआ, स्व० विनायक राव पटवर्धन और पं. विष्णु दिगंबर पलुस्कर।**

2. आगरा घराना

- स्थापना: **हाजी सुजान खान और उस्ताद घग्घे खुदाबख्श द्वारा।**
- विशेषताएँ: **यह घराना ध्रुपद और ख्याल दोनों शैलियों का मिश्रण है। गायकी में गहरी और सशक्त आवाज, विस्तृत अलाप, नोम तोम का अलाप, कव्वाली के ढंग पर बोल बनाव और छोटे ख्याल के गायन में विशेष चतुरता आदि बातें इस घराने की पविशेषताएं है।**
- प्रमुख कलाकार: **उस्ताद फैयाज खान, लताफत हुसैन खान, स्व० विलायत हुसैन खां और शराफत हुसैन।**

3. किराना घराना

- स्थापना: **उस्ताद अब्दुल करीम खान और उस्ताद अब्दुल वहीद खान द्वारा।**
- विशेषताएँ: **यह घराना स्वर की शुद्धता, राग की गहरी भावनात्मक अभिव्यक्ति, विलंबित गायन, स्वरों की बढ़त, आकार में स्वर लगाव आलाप प्रधान गायन और धीमी गति में विस्तृत अलाप के लिए प्रसिद्ध है।**
- प्रमुख कलाकार: **पं. भीमसेन जोशी, पं. गंगुबाई हंगल, रोशनारा बेगम,रामकृष्ण बहरे बुआ इत्यादि।**

4. जयपुर घराना

- स्थापना: **उस्ताद अल्लादिया खान द्वारा।**
- विशेषताएँ: **यह घराना जटिल रागों, जोड़ रागों (दो रागों का संयोजन), और लयकारी की विशेषता के लिए प्रसिद्ध है। गायकी में उच्च तकनीकी दक्षता और रागों की गहरी समझ होती है।**
- प्रमुख कलाकार: **मल्लिकार्जुन मंसूर, किशोरी अमोनकर, और केसरबाई केरकर।**

5. दिल्ली घराना

- स्थापना: **तानरस खां द्वारा**
- विशेषताएँ: **यह घराना ख्याल, तान, और कव्वाली की शैलियों का मिश्रण है। गायकी में भावनात्मक अभिव्यक्ति और रागों की स्वतंत्र प्रस्तुति की विशेषता है।**
- प्रमुख कलाकार: **उस्ताद राशिद खान, और उस्ताद निसार हुसैन खान।**

6. पटियाला घराना

- स्थापना: **उस्ताद फतेहअली (फत्तू) खान और उस्ताद अलीबख्श (अलैया) द्वारा।**
- विशेषताएँ: **यह घराना दिल्ली घराने से उत्पन्न हुआ है और इसमें लयकारी की अधिकता, बोल-तान का प्रयोग, और तालों के साथ खेल की विशेषता है। गायकी में उत्साह और ऊर्जा की प्रमुखता होती है।**
- प्रमुख कलाकार: **बड़े गुलाम अली खान, और बेगम अख्तर।**

7. अल्लादिया खां का घराना

- स्थापना: **अल्लादियां खां द्वारा**
- विशेषताएं: **इस घराने का जन्म जयपुर घराने से हुआ है ,इस घराने में छोटी ख्र छोटी तानो का प्रयोग, बुद्धिप्रधान और पेंचदार गायिक, विलंबित लय में गायन इसकी विशेषता हैं**
- प्रमुख कलाकार: **केसरबाई, मोघुबाई कुर्डीकर, किशोरी अमोनकर इत्यादि।**

प्रत्येक घराना अपनी विशिष्ट गायकी शैली, रागों की प्रस्तुति, और संगीत की समझ के लिए प्रसिद्ध है। इन घरानों के माध्यम से शास्त्रीय संगीत की विविधता और गहराई को समझा जा सकता है।

तबले के प्रमुख घराने

तबला वादन के विभिन्न घराने हैं, जिनमें प्रमुख हैं:

- **दिल्ली घराना**
- **लखनऊ घराना**
- **फर्रुखाबाद घराना**
- **बनारस घराना**
- **पंजाब घराना**

इन घरानों की अपनी विशेषताएँ और वादन शैलियाँ हैं, जो तबला वादन को विविधता प्रदान करती हैं।

प्रसिद्ध तबला वादक

तबला वादन में कई महान कलाकारों ने योगदान दिया है, जिनमें प्रमुख हैं:

- **अहमद जान थिरकवा**
- **उस्ताद जाकिर हुसैन**
- **पंडित किशन महाराज**
- **उस्ताद अल्ला रक्खा खाँ**

इन कलाकारों ने तबला वादन को नई ऊँचाइयों तक पहुँचाया और इसे वैश्विक मंच पर प्रस्तुत किया।इस प्रकार, तबला भारतीय संगीत का अभिन्न अंग है, जो अपनी विशेष ध्वनि और लय के माध्यम से संगीत में गहराई और सौंदर्य जोड़ता है।

शब्दावली

ख घराना – संगीत की वह परंपरा जो गुरु से शिष्य तक चलती है
ख गुरुख्रशिष्य परंपरा – गुरु द्वारा शिष्य को दिया गया संगीत ज्ञान
ख गायकी – गाने की शैली या ढंग
ख ख्याल – हिन्दुस्तानी संगीत की प्रमुख गायन शैली
ख लयकारी – ताल के साथ खेलने की कला
ख बोल-तान – शब्दों के साथ की जाने वाली तान
ख वादन – वाद्य यंत्र बजाने की क्रिया

रिद्र स्थान भरो

1. ग्वालियर घराना ख्याल गायकी की सबसे ------ शैली मानी जाती है।
2. किराना घराना स्वर की ------ के लिए प्रसि) है।
3. जयपुर घराना ------ रागों के लिए जाना जाता है।

4. पटियाला घराने में ------ तान का अधिक प्रयोग होता है।
5. तबला वादन का एक प्रमुख घराना ------ है।
6. घराने का विकास ------ परंपरा से होता है।

उत्तर

1. पुरानी
2. शुद्धता
3. जटिल
4. बोल
5. दिल्ली
6. गुरुखशिष्य

बहुविकिल्पीय

1. ख्याल गायकी का सबसे प्राचीन घराना कौन-सा है?
   क) किराना
   ख) ग्वालियर
   ग) जयपुर
   घ) पटियाला
2. स्वर की शुद्धता किस घराने की मुख्य विशेषता है?
   क) आगरा
   ख) किराना
   ग) दिल्ली
   घ) पटियाला
3. जयपुर घराना किसके लिए प्रसिद्ध है?
   क) सरल गायकी
   ख) कव्वाली
   ग) जटिल राग
   घ) ठुमरी
4. तबला वादन का घराना नहीं हैख्र
   क) बनारस
   ख) लखनऊ
   ग) जयपुर
   घ) पंजाब

उत्तर

1- ख)
2- ख)
3- ग)
4- ग)

लघु प्रश्न

1. घराना क्या है?
2. किराना घराने की दो विशेषताएँ लिखिए।
3. पटियाला घराने की गायकी कैसी होती है?
4. तबला वादन के दो घरानों के नाम लिखिए।

दीर्घ प्रश्न

घराना प्रणाली का हिन्दुस्तानी संगीत में क्या महत्व है?

इकाई-4.2 : रागों का परिचय (भैरव,यमन) राग भैरव

याद करने योग्य बिंदु

राग भैरव भैरव थाट से संबंधित है।
राग भैरव में कोमल रे और कोमल ध का प्रयोग होता है।
राग भैरव का गायन समय प्रात:काल है।
राग यमन कल्याण कल्याण थाट का आश्रय राग है।
यमन कल्याण में केवल तीव्र मध्यम का प्रयोग होता है।,
यमन कल्याण का गायन समय संध्या का प्रथम प्रहर है।
दोनों रागों का भाव शांत और गंभीर होता है।

परिचय

राग भैरव हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत का एक अत्यंत प्राचीन और महत्वपूर्ण राग है, राग भैरव की रचना ''भैरव थाट'' से मानी गई है। यह थाट इस राग के नाम पर ही रखा गया है और इसकी जाति समपूर्ण - संपूर्ण मानी जाती है, अर्थात इसमें आरोह और अवरोह दोनों में सात-सात स्वर प्रयोग होते हैं। राग भैरव की सबसे प्रमुख विशेषता है इसका गंभीर और शांत भाव, जो साधना, भक्ति और ध्यान के समय उपयुक्त माना जाता है। इस राग में ''रे'' (रिषभ) और ''ध'' (धैवत) स्वर कोमल होते हैं, जबकि बाकी सभी स्वर शुद्ध प्रयोग किए जाते हैं। इसका वादी स्वर ''धैवत'' और संवादी स्वर ''रिषभ'' होता है। गायन समय प्रात:काल चार से सात (4-7am) बजे है।

आरोह (Ascending Scale)- सा रे॒ ग म प ध॒ नि सा'
अवरोह (Descending Scale)- सां नि ध॒ प म ग रे॒ सा
पकड़ (Paka?ा)- ग म ध॒ **S** ध॒ **S** प, म प ग म रे॒ **S** रे॒ **S** सा
राग भैरव की विशेषताएँ-

1. **यह अपने ठाट का आश्रय राग है।**
2. **इसे संधिप्रकाश राग भी कहते हैं।**
3. **इसमें कोमल रे॒ और ध॒ आंदोलित किया जाता है।**
4. **अवरोह में अधिकतर गांधार वक्र प्रयोग होता है।**
5. **यह गंभीर तथा करुण राग है।**

राग यमन कल्याण

परिचय

राग यमन कल्याण भारतीय शास्त्रीय संगीत का एक प्रमुख और लोकप्रिय राग है। यह कल्याण थाट से है, इसीलिए इसे ठाट कल्याण का आश्रय राग माना जाता हैद्य इसमें तीव्र माध्यम और अन्य स्वर शुद्ध होते है। इसका वादी स्वर ग (गंधार) तथा संवादी स्वर नि (निषाद) है। इसका गायन वादन समय रात्रि का प्रथम प्रहर है। आरोह एवं अवरोह में 7 -7 स्वर होने के कारन इसकी जाती सम्पूर्ण-सम्पूर्ण है।

आरोह (Aaroh)- सा रे ग मं प ध नि सां, अथवा नि॒ रे ग मं प ध नि सां
यहाँ म= तीव्र मध्यम **(sharp Md)** है।
अवरोह (Avaroh)-सां नि ध प मं ग रे सा
पकड़ (Pakad / Chalan)-नि॒ रे ग रे सा, प मं ग रे सा
विशेषताएँ :

1. तीव्र माध्यम का प्रयोग इस राग की सबसे खास बात है, जो इसे यमन कल्याण बनाता है।
2. यह राग सामान्यत: शुद्ध स्वर से बना है, केवल तीव्र म का उपयोग होता है।
3. शाम के समय का राग माना जाता है, जो मन को शांति और आध्यात्मिक अनुभूति देता है।
4. स्वर संरचना में आरोह-आवरोह का प्रवाह बहुत सुंदर और मधुर होता है।

5. यमन कल्याण राग में नी और धा स्वर की उड़ान और वापसी पर विशेष ध्यान दिया जाता है।
6. इस राग का संगीत शास्त्रीय संगीत के साथ-साथ भजन, ठुमरी, और हल्के गाने में भी लोकप्रिय है।
7. यह राग आत्मा को शांति, प्रेम और उल्लास से भर देता है।

शब्दावली

खराग - निश्चित स्वर समूह से बना संगीत रूप
खथाट - रागों का वगह्लकरण
खआरोह - नीचे से ऊपर जाने वाले स्वर
खअवरोह - ऊपर से नीचे आने वाले स्वर
खपकड़ - राग की पहचान कराने वाला स्वर समूह
खवादी स्वर - राग का प्रमुख स्वर
खसंवादी स्वर - वादी का सहायक स्वर

रिद्र स्थान भरो -

1. राग भैरव का थाट ------ है।
2. भैरव में कोमल ------ और ------ स्वर होते हैं।
3. राग भैरव का वादी स्वर ------ है।
4. यमन कल्याण में ------ मध्यम का प्रयोग होता है।
5. यमन कल्याण का गायन समय ------ है।
6. यमन कल्याण की जाति ------ है।

उत्तर

1. भैरव
2. रे, ध
3. धैवत
4. तीव्र
5. रात्रि का प्रथम प्रहर
6. सम्पूर्ण-सम्पूर्ण

बहुविकिल्पीय

1. राग भैरव किस थाट से संबंधित है?
   क) कल्याण
   ख) भैरव
   ग) कफी
   घ) आसावरी
2. राग भैरव का गायन समय हैख्र
   क) दोपहर
   ख) रात्रि
   ग) प्रात:काल
   घ) मध्यरात्रि
3. यमन कल्याण में कौन-सा स्वर तीव्र होता है?
   क) ग
   ख) प
   ग) म
   घ) ध

4. यमन कल्याण की जाति क्या है?

क) औडव

ख) षाडव

ग) सम्पूर्ण

घ) औडव-षाडव

उत्तर

1- ख) सही,

2- ग) सही,

3- ग) सही,

4- ग) सही

लघु प्रश्न

1. राग भैरव की दो विशेषताएँ लिखिए।
2. यमन कल्याण किस थाट का राग है?
3. राग की पकड़ से क्या तात्पर्य है?

दीर्घ प्रश्न

राग भैरव और राग यमन कल्याण का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

इकाई-4.3 राग यमन लक्षण गीत

राग यमन - लक्षणगीत, एकताल (मध्यलय)

याद करने योग्य बिंदु

यह राग यमन का लक्षण गीत है।
गीत एकताल में तथा मध्य लय में निबद्ध है।
राग यमन का ठाट ख्र कल्याण है।
राग यमन में तीव्र मध्यम का प्रयोग होता है।
इस गीत के स्थायी के बोल याद होना आवश्यक है।
गीत में तालीख्रखाली का स्थान हाथ पर दिखाना आना चाहिए।
लक्षण गीत से राग के स्वर, वादी-संवादी और समय की जानकारी मिलती है।

स्थायी-

सब गुनी जन इमन गात,
तीवर सुर करत साथ ,
सा सा रे रे ग ग म म प प ध ध,
नि नि रें रें गं रें सां रें सां नि ध प।

सं	सां	नि	नि	म	प	प	प	म	ग	-	ग
स	ब	गु	नि	ज	न	इ	म	न	गा	ऽ	त
X		0		2		0		3		4	
ग	-	ग	रे	ग	प	रे	ग	रे	नि	रे	सा
ती	ऽ	व	र	सु	र	क	र	त	सा	ऽ	थ
X		0		2		0		3		4	
सा	सा	रे	र	ग	ग	म	म	प	प	ध	ध
X		0		2		0		3		4	
नि	नि	रें	रें	ग	रें	सां	रें	सां	नि	ध	प
X		0		2		0		3		4	

अन्तरा-

सुर वादी गंधार साध, संवादी कर निषाद,
रात समय प्रथम प्रहर, चतुर सुजन मन रिझात।

प	ग	प	-	ध	प	सां	-	सां	सां	-	सां
सु	र	वा	ऽ	दि	गं	धा	ऽ	र	सा	ऽ	ध
X		0		2		0		3		4	
सां	सां	रें	-	गं	रें	सां	सां	नि	नि	ध	प
स	म	वा	ऽ	दी	ऽ	क	र	नि	षा	ऽ	द
X		0		2		0		3		4	
प	ग	ग	प	प	प	नि	नि	ध	प	ध	प
रा	ऽ	त	स	म	य	प्र	थ	म	प्र	ह	र
X		0		2		0		3		4	
सां	सां	नि	नि	म	प	प	ग	प	रे	-	सा

च	तु	र	सु	ज	न	म	न	रि	झा	ऽ	त
X		0		2		0		3		4	

(मधुर स्वरलिपि संग्रह भाग -१)

शब्दावली

लक्षण गीत - ऐसा गीत जिससे राग की पहचान होती है।
एकताल - 12 मात्रओं का ताल।
मध्य लय - न बहुत तेज़, न बहुत धीमी गति।
तीव्र मध्यम - साधारण म से ऊँचा म स्वर।
स्थायी - गीत का पहला और मुख्य भाग।
ताली - ताल में हाथ से ताली बजाने का स्थान।
खाली - ताल में ताली न देकर हाथ हिलाने का स्थान।

रिद्र स्थान भरो

1. राग यमन का ठाट ---------- है।
2. राग यमन में ---------- मध्यम का प्रयोग होता है।
3. यह लक्षण गीत ---------- ताल में निगा) है।
4. गीत की लय ---------- है।
5. स्थायी गीत का ---------- भाग होता है।

उत्तर

1. कल्याण
2. तीव्र
3. एकताल
4. मध्य
5. पहला

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. राग यमन का ठाट कौन-सा है?
   क) भैरव
   ख) कल्याण
   ग) आसावरी
   घ) तोड़ी
2. राग यमन में कौन-सा स्वर विशेष रूप से प्रयोग होता है?
   क) कोमल रे
   ख) कोमल ध
   ग) तीव्र म
   घ) शुद्ध म
3. लक्षण गीत का मुख्य उद्देश्य क्या है?
   क) मनोरंजन
   ख) ताल अभ्यास
   ग) राग की पहचान
   घ) नृत्य संगति
4. यह लक्षण गीत किस ताल में है?

क) तीनताल

ख) झपताल

ग) एकताल

घ) दादरा

उत्तर

1- ख) सही, 2- ग) सही, 3- ग) सही, 4- ग) सही

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. लक्षण गीत किसे कहते हैं?
2. राग यमन में कौन-सा मध्यम लगता है?
3. स्थायी क्या होता है?
4. एकताल में कितनी मात्रएँ होती हैं?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

राग यमन के लक्षण गीत का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

इकाई-4.4 राग भैरव स्वरमालिका

राग भैरव - स्वरमालिका झपताल (10 मात्राएँ)

याद करने योग्य बिंदु

यह राग भैरव की स्वरमालिका है।
स्वरमालिका झपताल (10 मात्रएँ) में निगा) है।
राग भैरव का ठाट - भैरव है।
इसमें कोमल रे और कोमल ध का प्रयोग होता है।
स्वरमालिका में आरोह-अवरोह का अभ्यास होता है।
राग भैरव का गायन समय प्रात:काल है।
झपताल में ताली-खाली का ज्ञान आवश्यक है।

स्थायी-

सा	ध	प	प	ध	म	प	म	ग	रे
X		2			0		3		
ग	रे	ग	म	प	म	ग	रे	रे	सा
X		2			0		3		
नि	सा	रे	रे	सा	ध	ध	नि	सा	-
X		2			0		3		
ग	रे	ग	म	प	म	ग	रे	रे	सा
X		2			0		3		

अंतरा-

प	प	ध	ध	नि	सां	-	ध	नि	सां
X		2			0		3		
ध	ध	नि	सां	रें	सां	नि	ध	ध	प
X		2			0		3		
म	ग	म	प	ध	रें	सां	ध	ध	प
X		2			0		3		
सां	नि	ध	ध	प	म	ग	रे	रे	सा
X		2			0		3		
सां	ध	प	प	ध	म	प	म	ग	रे
X		2			0		3		

शब्दावली

स्वरमालिका - स्वरों का क्रमबद्ध अभ्यास।

झपताल - 10 मात्रओं का ताल।

कोमल स्वर - शुद्ध स्वर से थोड़ा नीचे का स्वर।

आरोह - स्वरों का ऊपर जाना।

अवरोह - स्वरों का नीचे आना।

मात्र - ताल की गिनती की इकाई।

रिद्र स्थान भरो

1. राग भैरव का ठाट ---------- है।
2. राग भैरव में ---------- और ---------- स्वर कोमल होते हैं।
3. स्वरमालिका का ताल ---------- है।
4. झपताल में कुल ---------- मात्रएँ होती हैं।
5. राग भैरव का समय ---------- काल है।

उत्तर

1. भैरव
2. रे, ध
3. झपताल
4. 10
5. प्रातः

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. राग भैरव का गायन समय क्या है?
   क) रात्रि
   ख) दोपहर
   ग) प्रातःकाल
   घ) संध्या
2. झपताल में कितनी मात्रएँ होती हैं?
   क) 12
   ख) 8
   ग) 10
   घ) 16
3. राग भैरव में कौन-से स्वर कोमल होते हैं?
   क) ग और नि
   ख) रे और ध
   ग) म और प
   घ) ध और नि
4. स्वरमालिका का मुख्य उद्देश्य क्या है?
   क) राग अभ्यास
   ख) ताल अभ्यास
   ग) नृत्य

घ) मनोरंजन

उत्तर

1- ग) सही, 2- ग) सही, 3- ख) सही, 4- क) सही

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. स्वरमालिका क्या होती है?
2. झपताल में कितनी मात्रएँ होती हैं?
3. राग भैरव के कोमल स्वर कौन-से हैं?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

राग भैरव की स्वरमालिका का महत्व लिखिए।

॥ ओ३म् ॥

योग चिकित्सा-2

(BDPHSE-205) (1)

दिव्य प्रकाशन

योग चिकित्सा-2

BDPHSE-205 (1)

उद्देश्य-

- भारतीय पुरातन चिकित्सा पद्धति के समन्वित् स्वरूप का बोध कराना ।
- समन्वित चिकित्सा पद्धति के व्यावहारिक एवं प्रयोगात्मक अभ्यास द्वारा साध्य एवं असाध्य रोगों का निदान।
- योग, आयुर्वेद, पञ्चकर्म, षट्कर्म, नेचुरोपैथी, आहार चिकित्सा, यज्ञचिकित्सा, एक्यूप्रेशर एवं समन्वित् भारतीय पुरातन चिकित्सा पद्धतियों के सैद्धांन्तिक एवं प्रयोगात्मक बोध द्वारा योग्य एवं प्रशिक्षित –व्यक्तिव का निर्माण करना।

परिणाम-

समन्वित चिकित्सा पद्धति में प्रशिक्षित विद्यार्थी समाज में साध्य-असाध्य रोगों से पीड़ित रोगियों को उपचार देकर उन्हें सम्पूर्ण आरोग्य का लाभ प्रदान करता है एवं भारतीय पुरातन चिकित्सा व्यवस्था के प्रचार प्रसार में अपना महत्वपूर्ण योगदान देता है ।

सेवा निष्ठा आजीविका का आलम्बन लेकर स्वयं आत्मनिर्भर होता हुआ अन्यों को भी रोजगार परक सेवा क्षेत्र में नियोजित करता है, उपकार परख उपचार की एक स्वस्थ परम्परा का संवाहक बनकर समाज को शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य के मार्ग पर अग्रसर करता है।

विषय-सूची

खण्ड-1	**प्राकृतिक चिकित्सा एवं स्वास्थ्य**	**5-22**
इकाई-1.1	प्राकृतिक चिकित्सा का परिचय	5-11
इकाई-1.2	मिट्टी चिकित्सा (पृथ्वीतत्व) के प्रकार	12-14
इकाई-1.3	जल चिकित्सा (जलतत्व)	15-19
इकाई-1.4	सूर्य चिकित्सा (अग्नितत्व)	20-22
खण्ड-2	**प्राकृतिक चिकित्सा**	**23-60**
इकाई-2.1	यज्ञ चिकित्सा एवं स्वास्थ्य (वायुतत्व)	23-36
इकाई-2.2	आयुर्वेदिक-धूम चिकित्सा (वायुतत्व)	37-45
इकाई-2.3	उपवास और स्वास्थ्य चिकित्सा (आकाशतत्व)	46-60
खण्ड- 3	**पंचकर्म, षट्कर्म एवं वैकल्पिक चिकित्सा**	**61-90**
इकाई-3.1	पंचकर्म चिकित्सा का सामान्य परिचय	61-69
इकाई-3.2	षट्कर्म चिकित्सा का सामान्य परिचय	70-73
इकाई-3.3	वैकल्पिक चिकित्सा का सामान्य परिचय	74-90
खण्ड-4	**शमन चिकित्सा**	**91-**
इकाई-4.1	अभ्यंग, शिरोपिच्चु, शिरोधारा, अक्षितर्पण, नेत्रधारा, कर्णपूरण	91-94
इकाई-4.2	नस्य, पोटली मसाज, बालुका स्वेदन, शक्तिशाली पिण्ड स्वेदन	95-97
इकाई-4.3	उद्वर्तन (पाउडर मसाज), उपनाह, परिज़ेक, स्नेहधारा, गण्डूज़-कवल सर्वांग वाष्प स्वदेन	98-101
इकाई- 4.4	नाड़ी स्वेदन, कर्णधूपन, क्षीरभाप, श्रृंगी, वातमोक्षण, अग्नि कर्म एवं आरोग्य सूत्र।	102-107

भूमिका

प्राचीन भारत में आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति बहुत ही उन्नत थी। इसका साहित्य भी बहुत ही समृद्ध एवं विविधतापूर्ण था। चिकित्सा को सर्वसुलभ एवं सुगम बनाने के लिए प्राचीनकाल से बहुत से संक्षिप्त एवं रोचक ग्रंथों की रचना की जाती रही है। अपने सुदीर्घ चिकित्सकीय अनुभव एवं आयुर्वेद के गहन अध्ययन के आधार पर योगऋषि परम पूज्य स्वामी जी महाराज ने विशाल आयुर्वेद सागर का सारभूत अमृततत्त्व प्रस्तुत कर दिया है। इस पुस्तक में संक्षिप्त किन्तु प्रामाणिक रूप से किया गया आयुर्वेदीय चिकित्सा एवं मुख्य सिद्धांत का वर्णन बहुत ही सुगम व सर्वजनोपयोगी है। यह आयुर्वेद जगत के लिए विशेष रूप से उपादेय एवं स्पृहणीय है। आयुर्वेद के प्रणेता प्राचीन ऋषियों की संहिताओं के आलोक में इस जीवन्त चिकित्सा पद्धति में चिरानुभूत तथ्य एवं नित्य नये अन्वेक्षण प्रकट होते रहे हैं। लुप्त हो चुके महत्त्वपूर्ण संहिता ग्रन्थों के उदाहरण आयुर्वेदीय वाङ्मय में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हुए थे, जिन्हें पिछले 30 वर्षों से भी अधिक समय में प्रयत्नपूर्वक संकलित कर युग पुरुषों ने जीवनदायिनी दिव्य औषधियों के निर्माण करने में अखण्ड-प्रचण्ड पुरुषार्थ किया है जो सम्पूर्ण मानव समाज के लिए एक अत्यन्त विशिष्ट आशीर्वाद है।

योग, यज्ञ, आयुर्वेद एवं नेचुरोपैथी की सभी उपचार पद्धतियों का एक साथ पूर्ण समावेश करते हुए लगभग 100 प्रकार की विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों (थैरेपी) का पुस्तिका में समावेश है।

चिकित्सा के सभी अंगों के उत्तमोत्तम चयनित उपचार के विषय में सर्वोत्तम जानकारी प्रदान की गई है। इस चिकित्सा विधि के साथ-साथ ही इस पुस्तक में स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य-रक्षण हेतु एवं व्याधित रोगी के रोग प्रशमनार्थ चिकित्सा के अनेक उपायों की जानकारी भी दी गई है। जो प्रत्येक आरोग्याभिलाषी के लिए अत्यन्त लाभकारी है। इसमें त्रिदोष के शोधन हेतु योग, यज्ञ, प्राकृतिक चिकित्सा, पंचकर्म चिकित्सा, षट्कर्म चिकित्सा का भी सामान्य परिचय दिया गया है, जो आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति का एक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली अंग है। सामान्यजन भी इस संक्षिप्त एवं सरल पुस्तक को पढ़कर आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति एवं सिद्धान्तों से भली-भाँति परिचित हो सकते हैं एवं तदानुसार अपने जीवन को स्वस्थ व सुखी बना सकते हैं। इस प्रकार बहुमूल्य जानकारी से युक्त यह पुस्तक जनसामान्य एवं चिकित्सको के लिए बहुत ही उपादेय है।

इस दिव्य पुस्तक ने जहाँ एक ओर आयुर्वेदिक चिकित्सा जगत में क्रान्ति पैदा कर दी है वहीं दूसरी ओर इस चिकित्सा पद्धति को नई ऊँचाइयाँ भी प्रदान की हैं। यह पुस्तक आयुर्वेदिक चिकित्सा कर रहे लाखों वैद्यों के प्रशिक्षण की प्रमुख आधार शिला के रूप में भी प्रस्तुत है। प्रशिक्षण प्राप्त करने के पश्चात आज वर्तमान में परम पूज्य स्वामी जी महाराज के महान नेतृत्व में देशभर में हजारों वैद्य आयुर्वेद चिकित्सा को नित्य नई ऊँचाइयाँ प्रदान कर रहें हैं और अपने-अपने क्षेत्रों में इस चिकित्सा पद्धति से नि:शुल्क चिकित्सा परामर्श कर जन समाज को आरोग्य प्रदान कर राष्ट्र सेवा का महान कार्य कर रहें है। इस प्रकार यह पुस्तक चिकित्सकोपयोगी तथा सभी औषध प्रयोगों का भण्डार है जो चिकित्सकों के लिए बहुत सहायक होगी। इस पुस्तक ने लोगों में एक नई सोच पैदा करके, परम्परागत आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति को नई उड़ान दी है। हमें गागर में सागर भरने वाली इस सारगर्भित एवं चिकित्सा के लिए विश्व प्रसिद्ध पुस्तक का नवीन परिवर्धित एवं परिष्कृत संस्करण प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है।

योग । आयुर्वेद । पंचकर्म । षट्कर्म । नैचुरोपैथी। आहार चिकित्सा । यज्ञ चिकित्सा । एक्यूप्रेशर।

खण्ड-1 प्राकृतिक चिकित्सा एवं स्वास्थ्य

इकाई-1.1 प्राकृतिक चिकित्सा का परिचय

उद्देश्य-

1. प्राकृतिक चिकित्सा को प्रकृति के नियमों के अनुसार जीवन जीने की कला के रूप में समझाना ताकि व्यक्ति दीर्घायु और आनंदमय जीवन प्राप्त कर सके ।
2. विद्यार्थियों को जीवनीशक्ति के सिद्धांत से परिचित कराना, जो शरीर को स्वत: रोगमुक्त करने की क्षमता रखती है ।
3. प्रकृति के पाँच मूल तत्वों (मिट्टी, पानी, धूप, हवा और आकाश) के माध्यम से रोगों के निवारण और स्वास्थ्य संरक्षण के वैज्ञानिक आधार को स्पष्ट करना ।

प्राकृतिक चिकित्सा, वस्तुत: प्रकृति विहित जीवन जीने की यथार्थ पद्धती को कहते हैं- (दीर्घायुयुक्त स्वस्थ एवं आनन्दमय जीवन बिताने की कला को) हाँ यह सच है कि इस विज्ञान में जो नियम जो सिद्धान्त उत्तम स्वास्थ्य को सुरक्षित रखने के लिये काम में लाये जाते हैं वे ही नियम और वे ही सिद्धान्त रोग होने पर उसके निवारणार्थ भी प्रयोग किये जाते है। प्राकृतिक नियमों का पालन करके इस चिकित्सा प्रणाली में मनुष्य अपने स्वास्थ्य को सुरक्षित भी, रख सकता है और उन नियमों को न पालन करने के फल स्वरुप रोगी होने पर वह उन्हीं प्राकृतिक नियमों का समझदारी के साथ आश्रय लेकर पुन: स्वास्थ्य लाभ भी प्राप्त कर सकता है।

क्योंकि प्राणी प्रकृति के निर्दिष्ट नियमों पर निरन्तर चलकर कभी अस्वस्थ नहीं हो सकता। जंगली पशु-पक्षियों का शरीर बड़ा ही सुन्दर, सुगंठित तथा मोहक बना रहता है। वे भूमि पर सोते हैं, प्राकृतिक शीतल जल पीते हैं, खुले आकाश तथा सूर्य के प्रकाश में रहते हैं, शुद्ध वायु सेवन करते हैं, भोजन में फल-फूल, पत्ते, घास आदि प्रकृतिप्रदत्त पदार्थो पर ही जीवन निर्वाह करते हैं। फल यह होता है कि वे कभी अस्वस्थ नहीं होते। उनके स्वास्थ्य में थोड़ी बहुत गड़बड़ी होने पर प्रकृति ही उनकी देखभाल करती है और उन्हें डाक्टर-वैद्य की जरुरत नही पड़ती।

प्राकृतिक जीवन, प्राकृतिक चिकित्सा-विज्ञान का विस्तृत रुप होता है, प्राकृतिक जीवन के अन्तर्गत प्राकृतिक चिकित्सा आ जाती है। प्राकृतिक चिकित्सा से रोग दूर किये जाते हैं, परन्तु प्राकृतिक जीवन व्यतीत करने से रोग होते ही नहीं। दोनो में यही अन्तर है। प्राकृतिक जीवन प्रकृति का वरदान है, तो विविध रोग प्रकृति के दण्ड-विधान एवं प्राकृतिक चिकित्सा तत्सम्बन्धी प्रायश्चित का एक ढंग, एक तपस्या-कठिन तपस्या। प्राकृतिक जीवन, सरल, सुन्दर मानव स्वभाव है और उसका फल नैसर्गिक स्वास्थ्य, मानव का जन्म सिद्ध अधिकार। अन्यथा स्वास्थ्य कोई घटना नहीं है। प्राकृतिक जीवन पद्धति हमें प्रकृति की ओर ले जाती है. प्रकृति से सदा के लिये सम्बन्ध जोडना सिखाती है. जिससे हम उससे कभी पृथक न हो सकें। प्रकृति से पृथक रहना ही रोग, शोक तथा निरानन्द का कारण होता है। प्राकृतिक जीवन पद्धति हमें ईश्वर की ओर भी ले जाती है। ईश्वर से सदा के लिये सम्बन्ध जोडना सिखाती है, जिससे हम उससे कभी पृथक न हो सकें। ईश्वर से पृथक रहना ही रोग शोक तथा निरानन्द का कारण होता है। इस तरह प्रकृति और ईश्वर में मूलत: कोई भेद नहीं होता। दानों के गुण समान होते हैं। क्योंकि प्रकृति पूर्ण है। प्रकृति की पूर्णता से हमारी पूर्णता है।

उपनिषद् में प्रकृति उत्पत्ति के प्रमाण -

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश: संभूत:। आकाशाद्वायु:। वायोरग्नि:। अग्नेराप:। अद्भ्य: पृथिवी। पृथिव्या ओषधय:। ओषधीभ्योऽन्नम्।..... तैत्तिरीय-उपनिषद् (ब्रह्मानन्द-वल्ली)

उसी ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियां, ओषधियों से अन्न उत्पन्न हुआ।

रोग, दु:ख, पीड़ा, भय, अभाव, जीवन नहीं है। इनसे युक्त रहना, जीवन नहीं है। वह तो आंशिक मृत्यु है। जीवन है, रोग, दु:ख, पीड़ा, भय, अभाव से मुक्त रहना अथवा इनसे मुक्ति पानों जो प्राकृतिक नियमों पर चलने से ही प्राप्त हो सकता है।

प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली या प्राकृतिक जीवन कोई विशिष्ट उपचार पद्धति न होकर जीवन-यापन का अटूट नियम या मुख्य प्राणी धर्म है। इस धर्म की उपयोगिता उन्हीं भाग्यवान प्राणियों के लिए है जो उसमें आस्था रखते हैं। और जो इसका प्राणपण से पालन करके लाभ उठाना चाहते हैं। पर हम में से कितने भाग्यवान ऐसे हैं जो इस मानव-धर्म का पालन करते है? प्रकृति और परमात्मा के प्रति अटल और अटूट विश्वास रखते हैं अथवा सही मानो में आस्तिक है?

प्रकृति, पथ वह मार्ग पथ है जिस पर चल कर कोई भी प्राणी जीवन की परिपूर्णता को, जीवन के सच्चे आनन्द को तथा जीवन के ध्येय को प्राप्त कर सकता है और क्यों नहीं? दयामय परमेश्वर और उनकी कल्याणी प्रकृति अपनी छत्र-छाया में प्राणी मात्र को जो उन पर विश्वास करता है, आश्रय प्रदान करने के लिये वह सदैव प्रस्तुत रहती है। यहाँ तो जो शरण में आया उसे अभय दान मिला।

प्राकृतिक चिकित्सा में धर्म, आस्तिकता एवं स्वास्थ्य का आपस में सामंजस्य एवं समावेश-समन्वय माना जाता है। अत: प्राकृतिक चिकित्सा उस धर्म प्रणाली को कहेंगे जिस पर चलने से सच्चे स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है जो स्थायी होता है। इसका आचरण ही रोगों से बचने और रोग होने पर उससे स्वयं मुक्त होने का सहज, सरल उपाय है।

प्राकृतिक चिकित्सा हमें ऐसे नियमों का ज्ञान कराती है जिसे कोई अन्य चिकित्सा प्रणाली नहीं करा पाती। वह हमें बताती है कि निराशा एवं आशा के क्षणों में अपने मन को किस प्रकार स्थिर रखना चाहिये कि हम ईश्वर की कृपा के पूर्णतया भागी बन सके जो जीवन को सुखमय बनाने का एक मात्र उपाय है।

इस चिकित्सा से रोग का कारण, शरीर स्थित विजातीय द्रव्य का बहिष्करण होकर रोगी का शरीर निर्मल बनता है जो इसका शोधक गुण है। इस चिकित्सा प्रणाली के सीधे-सीधे प्रयोगों द्वारा रोगी को तत्काल आराम पहुंचता है, वह इसका शामक गुण है। तथा इस चिकित्सा से रोगी-शरीर को आवश्यक पोषक तत्वों की उपलब्धि होती है. यह इसका पूरक गुण है।

प्रकृति प्रतिदिन मल, मूत्र, पसीना और श्वास के द्वारा हमारे शरीर के विकारों को बाहर निकाल कर और शरीर के भीतरी अवयवों द्वारा ही उनको नष्ट करके हमें स्वस्थ रखती है। रोग होने पर प्रकृति की इसी रीति का सहारा लेकर हम रोगमुक्त भी हो सकते हैं। जैसे प्रकृति, शरीर में पैदा हुये मल और विष को प्रतिक्षण बाहर निकाल कर और शरीर के भीतर ही उन्हें नष्ट करके शरीर को स्वस्थ रखती है ठीक वैसे ही रोगी शरीर को रोगमुक्त करने की रीति का नाम प्राकृतिक चिकित्सा है।

प्राकृतिक-चिकित्सा की विशेषतायें :-

1- वनस्पति या प्राणी सभी जीव जगत में स्वत: रोगमुक्त होने की प्रबल शक्ति रखते है। वह शक्ति ही शरीर को धारण किये हुए है। उसी शक्ति द्वारा हम श्वास लेते हैं, हृदय धड़कता है, फेफड़े, यकृत तथा गुर्दे कार्यरत रहते हैं। सारे शरीर में रक्त, ऊर्जा एवं ऑक्सीजन का संचार होता है। भोजन का पचना, अवचूषण, सात्म्य, रस, रक्त, माँस, मज्जा, वीर्य इत्यादि का निर्माण, कोशिकाओं की टूट-फूट का निर्माण तथा सृजन इत्यादि समस्त क्रियाओं का सम्पादन उसी शक्ति द्वारा होता है। इसी शक्ति को जीवनीशक्ति कहा गया है। यह स्वास्थ्य सम्वर्द्धन, स्वास्थ्य संरक्षण एवं रोगमुक्ति की शक्ति है। जब समस्त अवयव शिथिल हो जाते है तब शरीर में विजातीय विषाक्त पदार्थ काफी मात्रा में जमा हो जाते हैं, परिणामस्वरूप रूग्ण हो जाता है।

2- प्रकृति में जो कुछ हो रहा है वह कार्य (Effect) एवं कारण (Cause) के नियमानुसार हो रहा है। कारण दूर करने पर कार्य स्वत: दूर हो जाता है।

3- रोग एवं स्वास्थ्य मनुष्य की स्वतंत्रता है। अज्ञान तथा असंयम द्वारा प्रकृति के नियमों को तोड़ने से ही रोग होता है। प्रकृति के नियमों का अनुसरण करने से ही हम स्वस्थ होते हैं।

4- आहार-विहार, चिन्तन, श्वसन, खाने-पीने, कपड़े पहनने, कार्य करने, विश्राम, आध्यात्मिक, नैतिक, लैंगिक तथा सामाजिक कार्यों में प्रकृति के नियमों का बार-बार उल्लंघन करना ही रोग का बीजारोपण करना है। स्वस्थ एवं स्वतंत्र होना साबित करता है कि हम प्रकृति एवं व्यवस्था के नियम के अनुसार चल रहे हैं। बीमारी एवं परतंत्रता सिद्ध करती है कि नियमों का उल्लंघन हो रहा है।

5- गलत, बेमेल एवं विरुद्ध आहार, आहार में जैव, खनिज लवणों, जीवन सत्वों (Organic] Minerals & Vitamins) की कमी, तले-भुने, नि:सत्व, संश्लिष्ट एवं संशोधित-परिशोधित आहार के प्रयोग से रक्त तथा लिम्फ के घटकों में असामान्य विषम जटिल परिवर्तन हो जाता है। रक्त तथा लिम्फ प्रवाह प्रदूषित हो जाते हैं। रक्त तथा लिम्फ प्रदूषित होने से ज्वर, सूजन, त्वचा पर दरारे, आर्टिकेरिया शीतपित्त, जुकाम, आन्तरिक अवयवों में जख्म, फोड़ा-फुंसी, जीवाणु, कीटाणु, परजीवी कीड़े फफूंद तथा विषाण

ा की स्थिति पनपती है।

6- प्राकृतिक चिकित्सा क्रिया-प्रतिक्रिया के विधान (Law of Action and Reaction) तुथा रोग उन्मूलक उभार के नियम (Law of Healing Crisis) पर आधारित है। रोग, रोग की चिकित्सा एवं स्वास्थ्य उपलब्धि अचानक नहीं होती है, सभी कुछ प्रकृति के नियमों के अनुसार नियत समय पर होता है। रोग न कोई पाप है, न अभिशाप, बल्कि जीवन के हर क्षेत्र में की गई भूल का परिणाम है। अर्थात मूर्च्छा का परिणाम रोग तथा आत्म-जागरण का परिणाम स्वास्थ्य है।

7- सभी रोगों की चिकित्सा एक है। व्यसनों से मुक्त होकर आहार, विहार एवं चिन्तन को सम्यक् बनाकर, प्रकृति के पंच तत्त्वों मिट्टी, पानी, धूप, हवा तथा आकाश (उपवास) चिकित्सा के सम्यक् प्रयोग द्वारा शरीर को विषमुक्त कर जीवनीशक्ति को बढ़ाकर स्वास्थ्य उपलब्धि की प्रक्रिया ही प्राकृतिक चिकित्सा है।

8- शरीर स्वयं एक महान चिकित्सक है। किसी भी रोग या रोगाणु को समाप्त करने के लिये अंग-प्रत्यंग यथा यकृत, गुर्दे, मुख, आँत, आँख, कान, नाक, त्वचा तथा मस्तिष्कीय अवयव युद्ध स्तर पर आवश्यकतानुसार ज्वर, दर्द, सूजन आदि अवरोधी अनेक प्रकार की औषधियों का निर्माण करते हैं।

9- प्राकृतिक चिकित्सा जड-मूल से रोग को दूर करने का एक विज्ञान है। रोग दूर होने पर चिकित्सा का प्रयोग बन्द कर दें। सम्यक् आहार, विहार एवं चिन्तन तथा प्रकृति का उन्मुक्त सेवन करते हुए नैसर्गिक स्वस्थ जीवन जीना ही इस पद्धति का मूल आधार है।

10- प्राकृतिक चिकित्सा को नहीं बल्कि प्राकृतिक जीवन को जीवन के साथ जोड़ें। रोग होने पर चिकित्सा की उपयोगिता है। रोगमुक्त होने पर प्राकृतिक जीवन हमें आनन्द एवं आरोग्य प्रदान करता है। प्राकृतिक चिकित्सा एक श्रेष्ठ माध्यम है स्वास्थ्य उपलब्धि का। दुर्घटनाग्रस्त पैर ठीक होने पर बैसाखी स्वत: छूट जाती है, उसी प्रकार स्वस्थ होने पर चिकित्सा के प्रति धन्यवाद का भाव रखते हुए चिकित्सा को छोड़कर प्राकृतिक योगमय सम्यक् स्वस्थ जीवनयापन का संकल्प लें।

पंच महाभूत और आयुर्वेद

विश्व के सभी विद्वानों की मान्यता है कि 'वेद' संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं और आयुर्वेद का उद्भव वेदों से हुआ है। आयुर्वेद को 'अथर्ववेद' का उपवेद माना जाता है। वैसे चारों वेदों में भी कई स्थानों पर चिकित्सा के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। इनमें अनेक औषधियों और वनस्पतियों के अतिरिक्त त्रिदोष (वात, पित्त, कफ), सात धातुओं (रस, रक्त आदि), पाचनक्रिया तथा चयापचय के सामान्य सिद्धान्तों का उल्लेख भी मिलता है। इसी प्रकार के अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का विवेचन भी हम वेदों में पाते हैं। इसी तरह आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त भारतीय दर्शन-शास्त्र की विचारधारा से मेल खाते हैं, विशेष रूप से सांख्य, योग और वैशेषिक दर्शनों की विचारधारा से। जिस प्रकार सांख्य और योग दर्शन सारे जड़ और चेतन जगत् की उत्पत्ति पंच महाभूतों (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) के सम्मिश्रण से मानते हैं, उसी प्रकार आयुर्वेद भी शरीर और शरीर के मूल-दोष, धातु व मल की उत्पत्ति इन्हीं पाँच महाभूतों से ही मानता है। यद्यपि प्रत्येक पदार्थ में ये पाँचों महाभूत विद्यमान होते हैं, तो भी किसी एक महाभूत की प्रधानता होती है। इसी प्रधानता के आधार पर ही आकाश महाभूत की प्रधानता वाले द्रव्य आकाशीय, वात (वायु) महाभूत की प्रधानता वाले द्रव्य वायव्य, तेज अर्थात् अग्नि महाभूत की प्रधानता वाले द्रव्य आग्नेय, जल की प्रधानता वाले द्रव्य आप्य एवं पृथ्वी महाभूत की प्रधानता वाले द्रव्य पार्थिव कहलाते हैं। इनकी पहचान के लिए संक्षेप में इनकी विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार है-

- **आकाशीय द्रव्य :-** मुलायम, हल्के, सूक्ष्म, समतल तथा शब्द गुण से युक्त होते हैं। इनके सेवन से शरीर में कोमलता, लघुता, चंचलता और छिद्रों की अधिकता होती है।
- **वायव्य द्रव्य :-** हल्के, शीतल, रूखे, खुरदरे, सूक्ष्म तथा स्पर्श गुण से युक्त होते हैं। इन पदार्थों के सेवन से शरीर में खुरदरापन, गति एवं फुर्तीलापन आता है।
- **तैजस द्रव्य :-** गर्म, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, हल्के, रूक्ष, चिपचिपेपन से रहित तथा रूप के गुणों से युक्त होते हैं। इनके सेवन से शरीर में जलन, चयापचय-शक्ति, पाचन शक्ति, तेज, चमक एवं वर्णप्रसाद (रंग का निखार) होता है।
- **आप्य या जलीय द्रव्य :-** जो द्रव्य द्रव (तरल), शीत, गुरु, स्निग्ध, मन्द, सान्द्र तथा रस गुण प्रधान होते हैं उन्हें आप्य या जलीय द्रव्य कहते हैं।

- **पार्थिव द्रव्य :-** भारी, दृढ़, सख्त, स्थूल, चिपचिपेपन से रहित, ठोस और गन्ध से पूर्ण होते हैं। इनके सेवन से शरीर में मोटापा, दृढ़ता, वजन एवं स्थूलता में वृद्धि होती है।

इन पांचभौतिक द्रव्यों के गुणों और शरीर की रचना को देखते हुए स्पष्ट होता है कि शरीर में मुख्यतः पृथ्वी और जल, ये दो महाभूत विद्यमान हैं। शरीर का ठोस भाग पृथ्वी से तथा द्रव भाग जल से बना है। खाली भाग मुख्य रूप से आकाश से और आशिक रूप से वात से बना है। जो, भोज्य पदार्थ हम खाते हैं, उनको पचाकर रस, रक्त, अस्थि आदि धातुओं में परिवर्तित करने का काम 'अग्नि' महाभूत करता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न शारीरिक और मानसिक चेष्टाएँ 'वात' महाभूत के कारण सम्पन्न होती हैं।

शरीर में विद्यमान तीन दोष (वात, पित्त, कफ), धातु (रस, रक्त आदि) तथा मल, मूत्र, पुरीष आदि भी पाँच महाभूतों के मिश्रण से बने हैं। इसी प्रकार जिन द्रव्यों से शरीर का पोषण होता है, वे खाद्य पेय पदार्थ और औषध द्रव्य भी इन पाँच महाभूतों से ही बनते हैं। इन्हें हम द्रव्यों के रस (Taste), गुण (Attributes), वीर्य (Potency), विपाक (Post Digestive Effect) आदि के आधार पर पहचान सकते हैं। किस दोष आदि में कौन-कौन सा महाभूत विद्यमान होता है, इसका विवेचन दोष आदि का वर्णन करते हुए किया जाएगा। यहाँ इतना जान लेना उपयोगी रहेगा कि हमारे शरीर में जिस-जिस महाभूत वाले तत्त्व (दोष, धातु, मल आदि) की कमी या वृद्धि हो जाए, तो उस महाभूत वाले पदार्थों का क्रमशः अधिक या कम सेवन किया जाना चाहिए। इससे उस महाभूत का सन्तुलन बना रहेगा।

प्राकृतिक चिकित्सा एवं स्वास्थ्य

प्राकृतिक चिकित्सा एवं योग विश्व की प्राचीनतम चिकित्सा पद्धतियाँ है। शरीर स्वयं बहुत बड़ा चिकित्सक है। इसके अङ्ग प्रत्यङ्ग स्वचालित दवाओं की शिल्पशाला (फैक्ट्री) है, जिसको योग एवं प्रकृति के पाँच महाभूतों के द्वारा सक्रिय कर सकते हैं।

प्राकृतिक चिकित्सा के मूल सिद्धांत-

- सभी रोग एक हैं।
- सभी रोगों का निदान एक है।
- सभी रोगों की चिकित्सा एक है।

पंचमहाभूतात्मक चिकित्सा–

शरीर का सृजन पंचमहाभूत पृथ्वी, अग्नि (सूर्य), जल, वायु एवं आकाश से हुआ है। इन्हीं के संतुलित प्रयोग से कोई भी प्राणी स्वस्थ हो सकता है। पृथ्वी चिकित्सा मडथैरैपी, अग्नि चिकित्सा सनथैरैपी, जल चिकित्सा हाइड्रोथैरेपी, वायु चिकित्सा एरियोथैरेपी तथा आकाश चिकित्सा ईथर थैरेपी के चिकित्सा में विविध प्रयोगों से दुःसाध्य से असाध्य बीमारियों तक का इलाज होता है। पंचमहाभूतों से सृजित यह सितार रूपी शरीर जब रोगों से मुक्त हो जाता है, तब स्वास्थ्य, सुख शान्ति, स्नेह का संगीत-गीत झरता है। कवि नेपाली कहते है- ''व्योमनीर धूल हूँ, आग हूँ, बभार हूँ। पांच तार का बना, प्यार का सितार हूँ''।

मनुष्य में व्योम की अखण्डता एवं विराटता है, वायु जैसा वेग है व काम करने की अनन्त शक्ति है, सरस सलिल जैसी स्नेह की शीतलता है, अग्नि का तेज, प्रकाश व ऊर्ध्वरेतस् गति की ऊर्जा से जीवन रूपान्तरण का विज्ञान है, पृथ्वी जैसी विस्तृत एवं असीम होने की शक्ति है।

पंच तत्वों की महान ऊर्जा प्रत्येक मनुष्य में सन्निहित है। उसी महान ऊर्जा की तन-मन-चित्त एवं चैतन्य में असंतुलन पैदा होकर तत् सम्बन्धित आधि (मानसिक रोग) एवं व्याधि (शारीरिक रोग) में दिव्य ऊर्जा का प्रयोग प्राकृतिक चिकित्सा के अन्तर्गत होता है। जैसे धरती को धारण कर बीज अनन्त गुना हो जाता है, उसी प्रकार मिट्टी के प्रयोग से रोगी के शरीर में अविश्वसनीय अपरिमित आरोग्य ऊर्जा का सम्वर्द्धन होता है।

इसी प्रकार आकाश अर्थात् तन में उपवास, मन में मौन द्वारा खालीपन पैदा कर दिव्य स्वास्थ्य के प्रकाश से अभिभूत एवं उमङ्ग से तरंगित अखण्ड सत् चित् आनन्द उद्घाटित होता है। इसी प्रकार हर महत्त्व को बोध के साथ धारण कर व्यक्ति अविराम अपराजेय अभिनव आरोग्य का अभिवर्द्धन करता है।

शारीरिक – प्रकृति की पहचान

आयुर्वेद की दृष्टि से किसी भी व्यक्ति के स्वास्थ्य और रोगों की चिकित्सा में उसकी प्रकृति का विशेष योगदान रहता है क्योंकि प्रकृति के आधार पर ही एक स्वस्थ व्यक्ति अपने अनुकूल आहार-विहार को चुन सकता है और इसी के आधार पर रोगी को औषधि प्रदान की जाती है। प्रकृति का निश्चय किसी व्यक्ति को शारीरिक बनावट स्वभाव, चारित्रिक विशेषताओं आदि को देख कर किया जाता है। आयुर्वेद के अनुसार इस प्रकृति का निर्धारण जन्म से पहले ही हो जाता है।

यह सार्वभौम नियम है कि बच्चे का जन्म माँ के गर्भाशय में अण्डाणु के साथ शुक्राणु के मिलने से होता है, इसके पश्चात् भ्रूण (गर्भस्थ शिशु) का विकास होता है। शुक्राणु और अण्डाणु के संयोग के समय, जो दोष (वात, पित्त या कफ) विद्यमान होते हैं, उन्हीं के आधार पर बच्चे के शरीर की बनावट, उसका स्वभाव तथा मानसिक और चारित्रिक गुणों का विकास होता है। इन गुणों और विशेषताओं को ही आयुर्वेद में श्प्रकृतिश कहा जाता है। यदि इस स्थिति में तीनों दोष सम अवस्था में हैं, तो स्वस्थ बच्चे का जन्म होता है। यदि तीनों बहुत अधिक असन्तुलित (विषम) हैं, तो इससे गर्भ ठहरेगा नहीं या गर्भ ठहरने पर भी भ्रूण का विकास नहीं होगा या विकास होने पर उसमें कोई न कोई विकार अवश्य होगा। यदि तीनों में कोई एक दोष अधिक मात्रा में विशेष सीमा तक विद्यमान है तो उस दोष के अनुसार ही बच्चे के गुण कर्म, स्वभाव और शारीरिक रचना व प्रकृति होगी। यदि दो दोषों की अधिकता है, तो दोनों के गुणों का मिश्रण होगा और बच्चे के स्वभाव आदि भी उसी के अनुरूप बनेगें। गर्भाधान से लेकर पुंसवन एवं सीमन्तोन्नयन से लेकर जातकर्म, नामकरण एवं अन्नप्राशन आदि 16 संस्कारों का भी मनुष्य पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ता है। महर्षि चरक ने इसकी विशेष व्यवस्था दी है। इस आधार पर सात प्रकार की प्रकृतियाँ मानी गई है[8]-

1. वात-प्रकृति 2. पित्त-प्रकृति 3. कफ-प्रकृति
4. वात-पित्त-प्रकृति 5. पित्त-कफ-प्रकृति 6. वात-कफ-प्रकृति 7. सम-प्रकृति

यहाँ यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि जन्म के समय व दोषों की अवस्था के अनुसार जो प्रकृति बन चुकी वह अन्तिम होती है, उसमें दोषों की वृद्धि या प्रकोप तो होता रहता है, परन्तु उस मूल प्रकृति को बदला नहीं जा सकता। एक विशेष प्रकृति वाले व्यक्ति में उस विशेष दोष का प्रकोप बहुत जल्दी हो जाता है अर्थात् वात-प्रकृति के मनुष्य में थोड़ी सी भी अनियमितता से वात एकदम बढ़ जाता है, तो कफ प्रकृति के मनुष्य में कफ और पित्त-प्रकृति के मनुष्य में पित्त थोड़े से अपथ्य से एकदम प्रकुपित हो जाता है। वस्तुतः इस प्रकृति के निर्माण में दोषों के अतिरिक्त निम्नलिखित तत्त्व भी गौण रूप से सहायक होते हैं-

1. शुक्राणु और अण्डाणु की अवस्था।
2. ऋतु की प्रकृति (गुण, कर्म आदि) और गर्भाशय के अन्दर का वातावरण।
3. गर्भावस्था के दौरान माँ द्वारा अपनाया गया आहार-विहार (खान-पान और अन्य आचरण)।
4. भ्रूण का संयोजन (मिलाने) करने वाले महाभूतों की विशेषताएँ, गुण और कर्म ।

ये सब तत्त्व होने वाले बच्चे की जाति, या कुल या वंश से सम्बन्धित पवित्रता, विद्वत्ता शालीनता तथा वीरता आदि पारिवारिक विशेषताओं से प्रभावित होते हैं। इसी प्रकार पर्वतीय क्षेत्र, शीतल या गर्म क्षेत्र, सीमा क्षेत्र आदि स्थानगत विशेषताओं से प्रभावित होते हैं, इसके अतिरिक्त उपर्युक्त तत्त्व समय अर्थात् ऋतुविशेष से होने माता-पिता पर होने वाले असर से, माता-पिता की आयु, विशेषतः माता की आयु से भी प्रभावित होते हैं तथा शिशु (जीव) की अपनी पूर्वजन्मोपार्जित व्यक्तिगत विशेषताओं (संस्कारों) से भी प्रभावित हैं। इस प्रकार इन सब से प्रकृति निर्धारित होती है। उक्त अनेक प्रकार के तत्त्वों से प्रभावित होने पर भी प्रकृति का मूल कारण 'दोष' ही है, अतः इसका नाम वात आदि के आधार पर रखा गया है ।

मिश्रित प्रकृति वालों (जैसे- वात पित्त-प्रकृति, पित्त कफ-प्रकृति आदि) के व्यक्ति में दोनों प्रकृतियों की विशेषताएँ आपस में मिली होती हैं। वात-प्रकृति वाले व्यक्ति में वातिक रोग, पित्त-प्रकृति वाले में पैत्तिक रोग तथा कफ-प्रकृति वाले में कफज रोग शीघ्रता से और आसानी से आक्रमण करते हैं। विशेष प्रकृति वाले व्यक्ति को चाहिए कि उस विशेष दोष को बढ़ाने वाले आहार-विहार का सेवन न करे । इसके विपरीत उस आहार-विहार का सेवन करे, जो उस दोष को शान्त करने वाला हो।
सामान्य रूप से देखा जाता है कि बल, जीवन (आयु की अवधि), संतान, ज्ञान, जीवन की सुविधाएं, विशेष प्रतिभाएं और धन आदि वात-प्रकृति वाले व्यक्ति को कम मात्रा में, पित्त-प्रकृति वाले व्यक्ति को मध्यम मात्रा में तथा कफ-प्रकृति वाले व्यक्ति को

उत्तम मात्रा में प्राप्त होती है ।

अपनी प्रकृति के विषय में जानकारी प्राप्त करना जहाँ स्वयं व्यक्ति के लिए उपयोगी है, वहीं चिकित्सक के लिए भी रोगी की प्रकृति को जानना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि किसी भी रोग का उपचार करते समय प्रकृति को ध्यान में रख कर ही औषधि, आहार-विहार आदि का निर्देश दिया जाता है । रोग के लक्षण एक समान होने पर जहाँ पित्त-प्रकृति के व्यक्ति को शीतल गुण, वीर्य, विपाक वाली औषधियाँ व आहार आदि लेने का निर्देश चिकित्सक देता है, वहीं कफ-प्रकृति के व्यक्ति को उष्ण गुण, वीर्य, विपाक वाली औषधियाँ प्रदान करने का निर्देश देता है, क्योंकि ऐसी औषधियाँ उस रोगी के लिए अधिक अनुकूल एवं लाभदायक होती हैं जबकि पित्त-प्रकृति के व्यक्ति को गर्म औषधियाँ तथा कफ-प्रकृति वाले व्यक्ति को ठण्डी औषधियाँ ग्रहण कराने से रोग में वृद्धि अथवा कोई उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं। उदाहरण के लिए काली मिर्च कफ-प्रकृति वाले व्यक्ति को लाभ पहुँचाती है ं तथा वात-प्रकृति वाले के लिए अनुकूल नहीं होती, परन्तु पित्त-प्रकृति वाले व्यक्ति में उपद्रव पैदा कर देती है । इस प्रकार मनुष्य की प्रकृति का ज्ञान आयुर्वेदीय-चिकित्सा का अत्यन्त आवश्यक अंग है । आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में इसे यों भी जान सकते हैं कि विभिन्न पदार्थों से अलग-अलग लोगों को प्रत्यूर्जता (एलर्जी) एवं प्रतिक्रिया (रियक्सन) विभिन्न दोषों के कारण ही होता है। आहारविद् (डायटिशियन्स) को भी आयुर्वेद के पथ्यापथ्य का बोध नितान्त आवश्यक है।

1. **व्यक्ति की प्रकृति दो तरह की होती है-**

अ. सहज या मूल प्रकृति **ब. परिस्थितिजन्य प्रकृति**

अ. सहज या मूल प्रकृति- सामान्य रूप से शरीर में त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) की स्थिति या स्वरूप रहता है। उसे सहज या मूल प्रकृति कहते हैं। उसे स्थायी प्रकृति भी कहा जाता है। सामान्यतया मनुष्य की इन्हीं दोषों की स्थिति के अनुसार उसकी रुचि व कार्य में प्रवृत्ति होती है।

ब. परिस्थितिजन्य प्रकृति- दूसरी प्रकृति हमारे आहार विचार, व्यवहार, परिस्थितियों व दिनचर्या एवं ऋतुओं पर निर्भर है, जो परिस्थितियों के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है, वह अस्थायी होती है। परन्तु व्यक्ति जब अपनी प्रकृति (शरीरगत दोषों की स्थिति) को पहचान लेता है और जब वह अपने आपको दोषों से मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है, तब उसकी प्रकृति भी बदलने लगती है। जितना-2 व्यक्ति दोष को साम्यावस्था में लाता है, उतना ही विकारों व रोगों से रहित सात्त्विक गुण युक्त बन जाता है।

मिट्टी चिकित्सा के विविध प्रयोग–

- **नंगे पैर चलना–** साफ सुथरी धरती पर अथवा हरे भरे मैदान पर नंगे पैर सैर करें। इससे शरीर में जैव विद्युत चुम्बकीय प्राणशक्ति का संचार और संवर्धन होता है, रोगप्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है।
- **मिट्टी पर सोना–** इससे शरीर की एक-एक कोशिका स्वस्थ होती है। ब्रह्माण्ड की समस्त स्वस्थ्यदायिनी शक्तियाँ शरीर तथा प्राण में प्रविष्ट हो जाती हैं।
- **सर्वाङ्ग गीली मिट्टी स्नान/लेप–** कंकड़-पत्थर रहित छनी हुई साफ, स्वच्छ, चिकनी, मिट्टी को रात में साफ पानी में भिगों दें। 12 घण्टे बाद भली भांति आटे की तरह गूंद कर मक्खन की तरह मुलायम मिट्टी को सारे शरीर पर चौथाई से आधा इंच मोटी परत करते हुए लेप करें। फिर 45-60 मिनट धूप स्नान लें। इससे त्वचा का रक्त संचार बढ़ता है, त्वचा को भरपूर पोषण मिलता है, भीतर के विषाक्त एवं विजातीय द्रव्य बाहर निकल जाते हैं। उसके बाद नीम उबले या सादा पानी से स्नान करें, फिर सम्पूर्ण शरीर पर तैल लगा कर स्नेहन कर लें।

स्मरणीय बिंदु-

1. जीवनीशक्ति शरीर के भीतर एक प्रबल शक्ति होती है जो श्वास लेने, हृदय धड़कने और घावों को भरने का कार्य करती है; इसे ही जीवनीशक्ति कहते हैं ।

2. विजातीय द्रव्य ही रोग का कारण जब शरीर के अंग शिथिल हो जाते हैं और विजातीय विषाक्त पदार्थ जमा हो जाते हैं, तब शरीर रुग्ण होता है।

3. प्रकृति ही चिकित्सक है प्रकृति प्रतिदिन मल, मूत्र, पसीना और श्वास के द्वारा विकारों को बाहर निकालकर हमें स्वस्थ रखती

है; रोगमुक्त होने के लिए इसी रीति का सहारा लिया जाता है

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: प्राकृतिक चिकित्सा की किन्हीं दस प्रमुख विशेषताओं का सविस्तार वर्णन कीजिए। कारण को दूर करने पर कार्य (रोग) स्वत: दूर हो जाता है इस सिद्धांत को स्पष्ट करें ।

प्रश्न 2: प्राकृतिक चिकित्सा और प्राकृतिक जीवन में क्या अंतर है? उपनिषदों में वर्णित पंचमहाभूतों की उत्पत्ति के क्रम को समझाते हुए चिकित्सा में उनके महत्त्व पर प्रकाश डालिए ।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: प्राकृतिक चिकित्सा के शोधक, शामक और पूरक गुणों की व्याख्या कीजिए । प्रश्न 2: जीवनीशक्ति क्या है? यह स्वास्थ्य संवर्धन में किस प्रकार सहायक होती है? । प्रश्न 3: जंगली पशु-पक्षियों के उदाहरण से प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धांतों को कैसे समझा जा सकता है? ।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1: प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार रोगों का मूल कारण क्या है?

(क) जीवाणुओं का हमला

(ख) शरीर में विजातीय द्रव्यों का संचय

(ग) दवाओं की कमी

(घ) मौसम में बदलाव

प्रश्न 2: रोगों का निवारण और स्वास्थ्य रक्षण की शक्ति को क्या कहा जाता है?

(क) मानसिक शक्ति

(ख) यांत्रिक शक्ति

(ग) जीवनीशक्ति

(घ) शारीरिक बल

प्रश्न 3: तैत्तिरीय उपनिषद के अनुसार, आकाश से किस तत्व की उत्पत्ति हुई है?

(क) जल

(ख) अग्नि

(ग) वायु

(घ) पृथ्वी

प्रश्न 4: प्राकृतिक चिकित्सा किस नियम पर आधारित है?

(क) केवल औषधियों पर

(ख) क्रिया-प्रतिक्रिया और रोग उन्मूलक उभार के नियम पर

(ग) शल्य चिकित्सा पर

(घ) केवल व्यायाम पर

प्रश्न 5: शरीर के विकारों को बाहर निकालने के लिए प्रकृति किन माध्यमों का उपयोग करती है?

(क) केवल मल और मूत्र

(ख) केवल पसीना

(ग) मल, मूत्र, पसीना और श्वास

(घ) केवल औषधियाँ

इकाई-1.2 मिट्टी चिकित्सा (पृथ्वीतत्व) के प्रकार

उद्देश्य-

1. पंचमहाभूतों में पृथ्वी तत्त्व (मिट्टी) के औषधीय गुणों और शरीर पर इसके प्रभाव को समझाना।
2. विद्यार्थियों को विभिन्न रोगों (जैसे- कब्ज, चर्म रोग, तनाव) में मिट्टी की पट्टी और स्नान की वैज्ञानिक विधि सिखाना।
3. मिट्टी की विष-निवारक और शीतलता प्रदान करने वाली क्षमता का परिचय देना।

- **फुल बॉडी मड वाच :** इसमें व्यक्ति के पूरे शरीर पर मिट्टी लगाई जाती है। मिट्टी में नीम पेस्ट, गोधन अर्क, एप्सम सॉल्ट, कपूर, एलोवेरा डालकर तैयार किया जाता है। इस मिट्टी को लगाने के बाद स्वास्थ्य साधक को सूखने तक घूमने के लिए कहा जाता है। और उसके बाद कपूर युक्त नारियल का तेल लगाने के उपरांत स्टीम दी जाती है।

समयः 25-30 मिनट

लाभ :-

- शरीर को शीतलता प्रदान करता है।
- आंतों की गर्मी दूर होती है।
- माइग्रेन और डिप्रेशन जैसी समस्याएं दूर होती हैं।
- त्वचा सम्बन्धी समस्याएं दूर होती हैं।

सावधानियां :-

- मिट्टी लगाते समय कान में कॉटन लगानी चाहिए।
- आँखो में मिट्टी नहीं जानी चाहिए।
- मासिक धर्म के दौरान फुल बॉडी मड नहीं देना चाहिए।

लेप

रोगानुसार लेप विभिन्न प्रकार प्रकार के होते हैं।

कायाकल्प लेप :- यह लेप त्वचा सम्बन्धी रोगों में प्रयोग किया जाता है जैसे- एलर्जी, खुजली इत्यादि।

सामग्री :- साठी चावल-150 gm., दीमक मिट्टी- 100 gm., नीम पेस्ट-50 gm., ऐलोवेरा पेस्ट-50 gm., हल्दी -50 gm., मेंहदी पेस्ट-50 gm. गोधन अर्क आवश्यकतानुसार, कायाकल्प तेल - 50 gm.

हर्बल फेस पैक :- हर्बल फेस पैक चेहरे पर लगाया जाता है यह सौन्दर्य वर्धक है।

सामग्री :-

मुल्तानी मिट्टी - 100 gm., नीम पेस्ट - 50 gm., ऐलोवेरा पेस्ट हल्दी - 50 gm., हल्दी-2 चम्मच, कपूर- 1 चम्मच, नीबू रस - 1 चम्मच

गंजी टर्मरिक लेप :- यह लेप चर्म रोग पर लगाया जाता है।

सामग्री :- साठी चावल - 100 gm., नीमपेस्ट 50 gm., ऐलोवेरा पेस्ट -50 gm., हल्दी 2 चम्मच

लेप

एंटील्युकोडर्मा लेपः- यह लेप सफेद दाग पर लगाया जाता है।

सामग्रीः- गेरु-100 gm., नीमपेस्ट-100 gm., नीम पानी 100 gm., गोधन अर्क-आवश्यकतानुसार

श्वित्रहन लेपः- यह लेप सफेद दाग पर लगाया जाता है।

सामग्री :- श्वित्रहन चूर्ण-50 gm., कान्तिलेप चूर्ण 25 gm., नीम पेस्ट-25 gm., गौमूत्र - 25 gm., नीम पानी - आवश्यकतानुसार

केशकान्ति लेप :- यह लेप बालों पर लगाया जाता है।

सामग्री :- प्याज पेस्ट- 20 gm., मेंहदी पाउडर-20 gm., गूलर पेस्ट-30 gm., कलौंजी पाउडर - 15 gm., भांग पेस्ट - 15 gm., कढ़ी पत्ता पेस्ट - 20 gm., भृंगराज पाउडर- 15 gm., त्रिफला पाउडर - 20

लाभ :- बालों से सम्बन्धित सभी समस्याओं में लाभकारी जैसे बालों का झड़ना, रुसी, बालों का असमय सफेद होना, बालों में चमक आना आदि।

पीड़ान्तक लेप :- यह लेप शरीर के दर्द वाले स्थान पर लगता है।

सामग्री :- काली मिट्टी-100 gm., अदरक पेस्ट-50 gm., हल्दी पाउडर-30 gm., गुग्गल-20 gm., ऐलोवेरा-20 gm.,

पीडान्तक स्प्रे - 10 बूंद

एन्टी फंगल लेप :- यह लेप फंगल इन्फेक्शन में लगता है।

सामग्रीः- सरसों तेल - 20 gm., चुना पाउडर 40 gm., हल्दी पाउडर-20 gm., गुड़ - 50 gm.

एन्टीएजिंग लेप :- यह लेप चेहरे पर लगाया जाता है यह चेहरे पर ग्लो लाता है। त्वचा को टाइट रखता है।

सामग्री :- बादाम, अखरोट, चिरौंजी, नीम, एलोवेरा, हल्दी, पपीता, केला (छिलके सहित) गुलाब फूल, खीरा, नींबू या संतरे का छिलका सभी सम मात्रा में।

लेप

एन्टीपिम्पल लेप :- यह लेप कील मुंहासे को ठीक करने के लिए प्रयोग में आता है।

सामग्री :- मुल्तानी मिट्टी - 100 gm., ऐलोवेरा 30 gm., गुलाबजल - 20 gm.

एन्टीएलर्जिक लेप :- यह लेप एलर्जी वाली जगह पर लगाया जाता है।

सामग्री :- मुल्तानी मिट्टी सूखी-2, चम्मच, हल्दी पाउडर ¼ चम्मच, कपूर- ¼, चम्मच नीम पेस्ट-1 चम्मच, नींबू रस - ¼, चम्मच, तुलसी पेस्ट - ¼, चम्मच, ऐलोवेरा जेल - ¼ चम्मच, गुलाब जल - 2 चम्मच

थायरॉइड पैकः- यह लेप गले पर लगाया जाता है व थायरॉइड रोग में उपयोगी है।

सामग्री :- काली मिट्टी - 100 gm., एप्सम सॉल्ट 50 gm., हल्दी - 25 gm.

ओ.जी.जी.टी (ओनियन जिंजर गार्लिक टर्मरिक) लेपः- यह लेप श्वास तथा कफ रोगों में काम आता है।

सामग्रीः- प्याज - 50 gm., अदरक पेस्ट 50 gm., लहसुन पेस्ट 50 gm., हल्दी पाउडर - 20 gm., युकेलिपटस के पत्ते - 20 gm.

कान्तिलेप :- यह लेप तैलीय त्वचा को दूर करने के लिए उपयोगी है।

सामग्री :-

ऐलोवेरा जेल व दूध के साथ - सुकुमार के लिए।

ऐलोवेरा जेल व शहद के साथ - तैलीय त्वचा के लिए।

मिट्टी पट्टी

मिट्टी पट्टी पेट व आँख के रोगों में लाभप्रद है। यह शरीर में शीतलता प्रदान करती है। इसमें कंकड पत्थर रहित साफ छनी हुई मिट्टी लें, इसे रात्रि में 12 घण्टे के लिए भिगो कर रखें फिर सूती कपड़े पर लगभग ½ या 1 इंच मोटी मिट्टी की परत बनाये। इस पट्टी को सिर, पेट, रीढ़, आँख आदि पर रखा जाता है।

कैंसर में उपयोग आने वाला लेपः वीट ग्रास और नीम के पते को देसी घी में भूनकर घाव वाली जगह पर लगाते है।

सैंड बाथ

इसमें व्यक्ति को सूर्य के प्रकाश में रेत में दबाते हैं। गर्दन को बाहर रखते हैं बाकि शरीर रेत के अन्दर आता है। रेत स्नान से पहले रोगी को एक गिलास पानी पिलाया जाता है और सिर पर गीला तौलिया रखा जाता है। इसे सुबह में दिया जाता है क्योकि दोपहर के बाद रेत बहुत गर्म हो जाती हैं।

समयः- 3० मिनट

लाभ :-

- अर्थराइटिस में उपयागी।
- हड्डियाँ मजबूत होती है।
- मोटापे को कम करने में लाभकारी है।

सावधानियांः-

- व्यक्ति को पानी पिलाकर लिटायें ।
- सिर पर गीला तौलिया रखें।
- घबराहट होने पर व्यक्ति को बाहर आने को कहे।

विशेष :- रेत स्नान के बाद व्यक्ति को पानी में स्नान कराया जाता है।

स्मरणीय बिंदु-

1. मिट्टी का चयन चिकित्सा के लिए जमीन से 2-3 फीट नीचे की साफ मिट्टी लेनी चाहिए, जिसमें कंकड़, पत्थर या रासायनिक खाद न हो।

2. पट्टी का प्रयोग पेट पर मिट्टी की पट्टी लगाने से कब्ज, पेचिश और पेट की जलन में अत्यंत लाभ होता है; यह गर्मी को सोख लेती है।

3. मिट्टी स्नान धूप में बैठकर पूरे शरीर पर मिट्टी का लेप करना मड बाथ कहलाता है, जो त्वचा को कांतिवान और रक्त संचार को बेहतर बनाता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: मिट्टी चिकित्सा के मूलभूत सिद्धांतों का वर्णन कीजिए। चिकित्सा के लिए मिट्टी तैयार करने की विधि और पेट पर मिट्टी की पट्टी लगाने के लाभों व विधि का सविस्तार वर्णन करें।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: मिट्टी चिकित्सा करते समय किन-किन सावधानियों का पालन करना अनिवार्य है?

प्रश्न 2: मड बाथ (मिट्टी स्नान) क्या है? इसके शारीरिक और चर्म रोगों पर होने वाले प्रभावों को स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1: मिट्टी चिकित्सा में जमीन की सतह से कितनी गहराई की मिट्टी का उपयोग करना श्रेष्ठ माना गया है?

(क) 1 फीट

(ख) 2 से 3 फीट

(ग) 10 फीट

(घ) केवल ऊपरी सतह की

प्रश्न 2: पेट पर मिट्टी की पट्टी लगाने का मुख्य लाभ क्या है?

(क) भूख कम करना

(ख) शरीर की गर्मी को सोखना और कब्ज दूर करना

(ग) नींद उड़ाना

(घ) इनमें से कोई नहीं

प्रश्न 3: चर्म रोगों के लिए किस प्रकार की मिट्टी का लेप सर्वाधिक गुणकारी माना जाता है?

(क) रेतीली मिट्टी

(ख) उपजाऊ काली या मुल्तानी मिट्टी

(ग) सीमेंट वाली मिट्टी

(घ) पत्थर युक्त मिट्टी

प्रश्न 4: आंखों पर मिट्टी की पट्टी लगाने से किस समस्या में आराम मिलता है?

(क) कम सुनाई देना

(ख) आंखों की जलन और मोतियाबिंद की रोकथाम

(ग) जुकाम

(घ) घुटनों का दर्द

प्रश्न 5: मिट्टी में कौन-सा प्राकृतिक गुण होता है जो इसे चिकित्सा के योग्य बनाता है?

(क) केवल गंदगी

(ख) विष सोखने और शीतलता प्रदान करने का गुण

(ग) गर्म रहने का गुण

(घ) कठोरता

इकाई-1.3 जल चिकित्सा (जलतत्त्व)

उद्देश्य-

1. पंचमहाभूतों में जल तत्त्व के औषधीय गुणों और शरीर के शोधन में इसकी भूमिका को समझाना।
2. विद्यार्थियों को विभिन्न प्रकार के जल-उपचारों (जैसे- कटि स्नान, मेहन स्नान, गीली पट्टी) की वैज्ञानिक विधियों का ज्ञान देना।
3. शरीर के तापमान को नियंत्रित करने और रक्त संचार को सुधारने में जल के विभिन्न प्रयोगों का परिचय देना।

हॉट कोल्ड कॉम्प्रेस- हॉट कोल्ड कॉम्प्रेस का अर्थ है गर्म ठण्डा सेक जिसकी शुरुआत गर्म से होती है और अंत ठण्डे पर होता है।

सामग्री :- इसके लिए तीन तौलिये चाहिए होते है दो छोटे तौलिये और एक बड़ा तौलिया।

समयः- 15-20 मिनट

गर्म तौलिया - 3 मिनट

ठण्डा तौलिया - 2 मिनट

गर्म + ठण्डा तौलिया - 6 बार = 15 मिनट

प्रकार :-

- पेट का गर्म ठण्डा सेक (HCC ABD)
- लीवर का गर्म ठण्डा सेक (HCC Liver)
- लीवर पेनक्रियाज का गर्म ठण्डा (HCC LIP)
- छाती का गर्म ठण्डा सेक (HCC Chest)
- कान का गर्म ठण्डा सेक (HCC Ear)
- घुटने का गर्म ठण्डा सेक (HCC Knee)
- चेहरे का गर्म ठण्डा सेक (HCC Face)
- किडनी का गर्म ठण्डा सेक (HCC Kidney)
- इसोफेगस व पेट का गर्म ठण्डा से (HCC O$S)
- गैस्ट्रिक हिपेटिक (GH Pack)
- किडनी पैक (Kidney Pack)
- ओनियन जिंजर गार्लिक टर्मरिक (OGGT)

लीवर का गर्म ठण्डा सेक :- व्यक्ति को बाई करवट लिटाकर पेट पर गर्म, कमर पर ठण्डा तौलिया 3 मिनट के लिए रखा जाता है उसके बाद पेट पर ठण्डा, कमर पर गर्म तौलिया 2 मिनट के लिए रखते है यही प्रक्रिया 6 बार की जाती है।

लीवर पेनक्रियाज का गर्म ठण्डा सेकः- यह क्रिया भी लीवर की तरह होती है परन्तु 3 तौलिये के बाद करवट बदलने को कहते है यह प्रक्रिया भी 6 बार होती है।

किडनी का गर्म सेक (हॉट कोप्रेस जिंजर) :- इसमें स्वास्थ्य साधक को उल्टा (पेट के बल) लिटाकर कमर के निचले हिस्से पर, अदरक का पेस्ट लगाकर सेक देते हैं। इसमें गर्म तौलिए के सेक की 6 आवृत्ति दोहराई जाती है।

इसोफेगस व पेट का गर्म ठण्डा सेक :- इसमें व्यक्ति को सीधा लिटाकर गले तथा छाती पर गर्म तौलिया व पेट पर ठण्डा गर्म तौलिया रखकर सेक दिया जाता है यह प्रक्रिया 6 बार होती है।

गैस्ट्रिक हिपेटिक पैक :- इसमें पेट पर गर्म तौलिया रखकर हॉट बैग रखा जाता है व कमर पर ठण्डा तौलिया रखकर उस पर बड़ा तौलिया रखकर 15-20 मिनट के लिए छोड़ दिया जाता है। इसके बाद तत्काल पेट की लपेट बांधते हैं।

किडनी पैक :- इसमें कमर के निचले हिस्से पर गर्म तौलिया व पेट पर ठण्डा तौलिया रख 15 मिनट के लिए छोड दिया जाता है। इसके तुरन्त बाद लपेट (ATP) बांध दी जाती है।

ओनियन जिंजर गार्लिक टर्मरिक पैक :- इसमें प्याज, अदरक, लहसुन और हल्दी से बने पेस्ट को छाती व पीठ के ऊपरी हिस्से पर लगा कर सेक देते हैं। इसमें तीन आवृत्ति गर्म तौलिये से छाती व पीठ के ऊपरी हिस्से पर लगा कर सेक दिया जाता है।

1. हॉट फुट एण्ड आर्म बाथ (HFAB)

इसमें गर्म पानी से हाथ पैरो की सिकाई होती है। इसमें व्यक्ति को हॉट फुट एण्ड आर्म बाथ के टब में हाथ-पैर डाल कर बैठाते हैं और ऊपर कम्बल से कवर करते हैं। टब में बैठाने से पहले सिर पर गीला तौलिया रखते हैं और 1-2 गिलास पानी पिलाकर बैठाते हैं।

समयः- 15-20 मिनट

लाभ :- यह सर्दी जुकाम, अनिद्रा, उच्च रक्तचाप तथा दमा के दौरें में लाभकारी है।

2. **हिप बाथ**- इसमें व्यक्ति को कुर्सीनुमा बड़े टब में बैठाकर इतना पानी भरे जो कि नाभि तक आ जाए। पैर टब के बाहर रखें। व्यक्ति को खुरदुरे तौलिये से पेट व पेडू पर रगड़ते रहना चाहिए। टब में बैठने से पहले व्यक्ति को पानी पिलाकर सिर पर तौलिया रखकर बैठाते है।

समय :- 15-20 मिनट

लाभः-

- उदर के सभी विकारों में लाभदायी है।
- पेट व नितम्बों की चर्बी दूर होती है।
- मूत्र विकार में लाभकारी।

सावधानियांः- पीरियड्स में नहीं देना चाहिए।

3. **स्पाइनल बाथ**

कुर्सीनुमा टब में बैठाकर व्यक्ति के रीढ़ पर पानी का स्प्रे आता है। टब पर बैठाने से पहले व्यक्ति को 1-2 गिलास पानी पिलाया जाता है और सिर पर ठण्डा गीला तौलिया रखते हैं।

समयः- 15-20 मिनट

लाभ :- यह कमर दर्द, सर्वाइकल, रक्तचाप, रक्तसंचार व रीढ़ सम्बन्धी सभी रोगों में लाभकारी है।

सावधानियांः-

- पीरियड्स में नहीं देना चाहिए।
- बुखार होने पर न दें।

4. **अस्थमा बाथ**

इसमें व्यक्ति को कटिस्नान बाथ टब में बैठाते हैं तथा व्यक्ति की छाती पर गर्म पानी तथा पीठ पर ठण्डा पानी प्रेशर से डालते हैं। उसके बाद छाती पर ठण्डा पानी तथा पीठ पर गर्म पानी डालते हैं। यह प्रक्रिया बदल-बदल कर 3 से 4 बार करते हैं। टब में बैठाने से पहले व्यक्ति को 1-2 ग्लास पानी पिलाकर सिर पर गीला तौलिया रखा जाता है।

समयः- 25 मिनट

लाभ :-

- अस्थमा रोगी को यह बाथ दिया जाता है।
- कफ रोगों में लाभदायक है।

सावधानियांः-

- पीरियड्स में नहीं देना चाहिए।
- बुखार में न दें।

5. **सिट्ज बाथ**

इसमें व्यक्ति को 1-2 ग्लास पानी पिलाकर सिर पर गीला तौलिया रखकर कटिस्नान के टब में बैठा देते हैं। एक कम्बल व्यक्ति को ढक देते हैं।

अवधिः- 15-20 मिनट

लाभः- यह बुखार आदि में लाभकारी है।

सावधानियांः- पीरियड्स में नहीं देना चाहिए।

6. **जकुजी**

इसमें व्यक्ति को 1-2 ग्लास पानी पिलाते हैं तथा सिर पर छोटा तौलिया भिगोकर रखते हैं फिर व्यक्ति को जकुजी टब में बैठाते हैं। इसमें शरीर के चारों ओर पानी का प्रेशर आता है।

समयः - 15-20 मिनट

लाभ :-

- रक्त संचार को बढ़ाता है।
- सर्वाइकल में लाभकारी।
- मोटापा कम करता है।

सावधानियां :-

- पीरियड्स व बुखार, और दिल के मरीज को नहीं देना चाहिए।

7. **इमर्शन बाथ**

इसमें व्यक्ति को 1-2 ग्लास पानी पिलाकर सिर पर गीला तौलिया रखकर इमर्शन टब में लेटाते है।

समय :- 15-20 मिनट

लाभः- इमर्शन बाथ मोटापे व एलर्जी में लाभकारी है।

सावधानियांः- पीरियड्स व बुखार में नहीं देना चाहिए।

विशेज़ः- इमर्शन बाथ में ही अण्डर वॉटर मसाज दी जाती है।

8. **थ्री इन वन बाथ**

यह बाथ तीन बाथों से मिलकर बनता है। स्पाइनल बाथ, हिप बाथ, जाकुजी बाथ। इस बाथ में व्यक्ति को 1-2 ग्लास पानी पिलाकर व सिर पर ठण्डा तौलिया रखकर टब में बैठाते हैं। इसमें व्यक्ति के तीनों हिस्सों पर प्रेशर पड़ता है।

समयः- 15-20 मिनट

लाभः-

- रक्त संचार को बढ़ाता है।
- कमर दर्द व पेट सम्बन्धी बीमारी में लाभकारी है।

सावधानियांः-

- पीरियड्स व बुखार में नहीं देना चाहिए।
- हाई ब्लड प्रेशर व दिल के मरीजो को नहीं देना चाहिए।

विशेज़ (सभी टब चिकित्सा में) :- स्नान चिकित्सा रोगानुसार तीन प्रकार से दी जाती है। गर्म पानी से, सामान्य पानी से एवं ठण्डे पानी से तथा रोगानुसार पानी में नीम, व एप्सम सॉल्ट डाला जाता है।

- **रीढ़ स्नान–** विशेज़ रीढ़ स्नान टब में इतना पानी भर कर सीधे लेटते हैं कि सिर्फ रीढ़ और इसके आस-पास ही पानी का स्पर्श हो। 10 मिनट बाद तौलिये से रगड़ पोंछ कर हल्के व्यायाम द्वारा शरीर को गर्म कर लें। रोगी एवं रोग की स्थिति के अनुसार गरम, ठण्डा तथा गरम-ठण्डा तीन प्रकार से रीढ़ स्नान दिया जाता है।

लाभ– यह रक्तचाप, बेहोशी, थकावट, दुर्बलता, तनाव, एन्जायटी, अवसाद आदि रोगों में लाभ करता है, रक्त संचार भी सही करता है।

- **पैरों का गरम स्नान (उष्णजल पाद स्नान)–** एक बाल्टी में सहने योग्य गर्म पानी लें। कुर्सी या स्टूल पर बैठकर पैरों को गरम पानी में रखें, पानी इतना हो कि घुटनों तक आ जाये। ठण्डा होने पर थोड़ा-थोड़ा तेज गर्म पानी डालते रहें। स्टूल पर बैठकर कम्बल इस तरह ओढें कि सिर को छोड़कर पूरा ष्टारीर ढ़का रहे और बाल्टी भी कम्बल के अंदर आ जायें। सिर पर ठंडे पानी में भीगा तौलिया रखें।

आरम्भ में गर्म पानी पीकर बैठें, बीच-बीच में थोड़ा गरम पानी पीते रहें। 10-20 मिनट तक यह स्नान लें। फिर गीले तौलिये से पूरे ष्टारीर को पौंछ लें अथवा सादा पानी से साधारण स्नान कर लें।

लाभ– यह सर्दी जुकाम, अनिद्रा, उच्च रक्तचाप तथा दमा के दौरे में लाभकारी है।

- **साधारण पूर्ण स्नान–** स्नान से पहले पूरे ष्टारीर को सूखे खुरदरे तौलिये से या हथेली से रगड़ कर गर्म कर लें। फिर ठंडे पानी या सर्दी में समशीतोज़्ण पानी से स्नान करें। फिर बालों को तौलिये से पोंछ लें, बाकी ष्टारीर को हथेली से रगड़कर सुखा लें। फिर कपड़े पहन लें। साबुन लगाने की आवश्यकता नहीं होती है।

लाभ– इस प्रकार न सिर्फ शरीर की सफाई होती है बल्कि रक्त संचार बढ़ता है, शक्ति व स्फूर्ति का संचार होता है, त्वचा सतेज व सक्रिय एवं मन प्रसन्न होता है।

- **भाप स्नान–** इसके लिये विशेज़ प्रकार के केबिन में भाप पैदा करने वाले यंत्र से भाप भेजी जाती है। गरम पानी पीकर नंगे बदन सिर पर ठण्डे पानी में भिगोया तौलिया रखकर इस केबिन में बैठते हैं। भाप से जब खूब पसीना आ जाये तब बाहर निकल कर ठण्डे पानी से स्नान लेकर सूखे तौलिये से पोंछ ले।

लाभ– इससे त्वचा के रोम कूप खुल जाते हैं जिससे भीतर की गन्दगी विजातीय एंि वज़ाक्त द्रव्य निकल जाते हैं, रक्त संचार तेज हो जाता है, फेफड़े, हृदय, गुर्दे अपना कार्य ठीक से करते हैं। यह गठिया, जोड़ों के दर्द, मोटापा, दमा एवं हर प्रकार के त्वचा रोगों में भी लाभकारी है।

सावधानी– हृदय रोगियों, उच्च रक्तचाप वाले रोगियों को छाती पर गीली लपेट देकर भाप स्नान देना चाहिये।

- **गीली चादर लपेट–** पलंग/टेबल पर दो या तीन कम्बल बिछाकर पतली सूती चादर ठंडे पानी में भिगोकर बिछा दें। फिर गरम पानी पिलाकर रोगी को लिटाकर चादर इस तरह लपेटें कि गर्दन से नीचे की पूरी त्वचा गीली चादर के सम्पर्क में आ जाये। एक कम्बल को भी उस पर इसी प्रकार लपेट लें, फिर 1 या 2 कंबल लपेट कर एक कंबल ऊपर से ढ़क दें। सिर पर गीला तौलिया रखें। 30-60 मिनट लपेटे रहें, अन्दर पसीने अच्छी तरह आने के बाद लपेट से निकलकर ठण्डे पानी से स्नान करें या स्पंज करें।

लाभ– यह बुखार में, शरीर से विजातीय तत्त्व निकालने के लिये, स्नायु तन्तुओं को बल देने के लिए उपयोगी है।

- **गरम ठण्डा सेक–** एक बर्तन में तेज गरम पानी तथा एक में ठण्डा पानी लें। गर्म पानी में तौलिया निचोड़कर रोगग्रस्त अंग पर रखें (पेट, पीठ, कमर, पैर, सिर) उसके ऊपर गरम सेक वाली थैली रख दें। ऊपर से सूखे तौलिया से ढ़के, 3 मिनट बाद हटाकर दूसरा तौलिया ठण्डे पानी में निचोड़कर रखें। इसे भी सूखे तौलिये से ढकें। यह प्रक्रिया चार बार दोहरायें। आरम्भ गर्म से तथा अन्त ठण्डे से करें। हाथ-पैर जैसे अंगों के लिये 2 पात्रों में एक में गरम दूसरे में ठण्डा पानी लेकर उसमें हाथ पैरों को डुबायें।

लाभ– दर्द में आराम, रक्त संचार बढ़ाने, अंगों की मरम्मत के लिये बहुत उपयोगी है। पेट पर गरम ठण्डा सेक पुरानी कब्ज, वायु विकार व दुर्बलता दूर करने में सहायक है।

- **सूती ऊनी लपेट–** आक्रांत अंग पर का गरम ठण्डा सेक अथवा स्थानीय वाज़प देकर गीली सूती पट्टी लपेट कर ऊपर सूखी ऊनी पट्टी लपेटें। दोनों को 1 घण्टे या अधिक समय तक रखें, फिर दोनों को हटा लें। भीतर वाले सूती कपड़े को साबुन से धोकर पुनः काम में लें, ऊनी कपड़ों को धूप में डालें।

लाभ– आक्रांत अंग का रक्त संचार बढ़ाने, वहां से गंदगी, विकारों व दर्द को दूर करने के लिए, कब्ज व उदर रोगों को दूर करने के लिए पेट की लपेट, घुटने, कोहनी, पिण्डली, जंघा, टखना, सिर, ग्रीवा, कन्धा, गले, छाती, टांग आदि की लपेट इसी प्रकार दें। पेट की लपेट के लिए 7-8 फुट लम्बा 6-9 इंच चौड़ा सूती व ऊनी कपड़ा लें।

- दमा, न्यूमोनिया, ब्रोंकाइटिस में 50 ग्राम अदरक, प्याज, हल्दी व 20 ग्राम लहसुन का पेस्ट बनाकर छाती पीठ पर लगाकर गरम ठण्डा सेक करके उसी के पानी में निचोड़कर सूती ऊनी लपेट करें। इसे OGGT, Hot Cold Compress & Chest Lapet कहते हैं।

- **बर्फ का प्रयोग–** त्वचा के जलने पर, गुम चोट लगने पर, खून बहने पर, नकसीर आने पर, सूजन आने पर, मोच आने पर, डंक लगने पर, घमौरियां होने पर बर्फ को कपड़े में लपेट कर लगाने से तुरन्त आराम मिलता है। रक्तचाप बहुत अधिक होने पर गर्दन के पीछे रीढ़ पर बर्फ की मालिश से तेजी से रक्तचाप सामान्य होने लगता है।

स्मरणीय बिंदु-

1. कटि स्नान यह पाचन तंत्र और जननांगों के रोगों के लिए सर्वोत्तम उपचार है; इसमें रोगी को टब में नाभि तक जल में बैठना होता है।

2. मेहन स्नान के अनुसार यह शरीर की आंतरिक गर्मी को निकालने और जीवनीशक्ति बढ़ाने के लिए अत्यंत प्रभावी है।

3. तापमान का महत्त्व जल चिकित्सा में जल का तापमान (ठंडा, तटस्थ या गर्म) रोगी की शारीरिक स्थिति और रोग के प्रकार पर निर्भर करता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: जल चिकित्सा से आप क्या समझते हैं? कटि स्नान की विधि, इसके विभिन्न प्रकारों और इसके स्वास्थ्य लाभों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

प्रश्न 2: प्राकृतिक चिकित्सा में जल के औषधीय महत्त्व की विवेचना कीजिए। मेहन स्नान और गीली लपेट के चिकित्सीय उपयोगों को स्पष्ट कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: जल चिकित्सा में तापमान के वर्गीकरण (ठंडा, गर्म, गुनगुना) को स्पष्ट करें। प्रश्न 2: बुखार को कम करने के लिए जल चिकित्सा की कौन-सी विधियाँ अपनाई जाती हैं?

प्रश्न 3: अनिद्रा और मानसिक तनाव को दूर करने में पाद स्नान की क्या भूमिका है?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1: प्राकृतिक चिकित्सा में कटि स्नान का मुख्य प्रभाव शरीर के किस तंत्र पर पड़ता है?

(क) श्वसन तंत्र

(ख) पाचन एवं उत्सर्जन तंत्र

(ग) केवल तंत्रिका तंत्र

(घ) रक्त संचार तंत्र (केवल हृदय)

प्रश्न 2: लुई कुहने ने किस विशेष स्नान पद्धति का प्रतिपादन किया, जिसे घर्षण स्नान भी कहा जाता है?

(क) भाप स्नान

(ख) मेहन स्नान

(ग) मिट्टी स्नान

(घ) सूर्य स्नान

प्रश्न 3: अनिद्रा और मानसिक तनाव दूर करने के लिए कौन-सा जल उपचार सोते समय सबसे कारगर है?

(क) ठंडा कटि स्नान

(ख) गर्म पाद स्नान

(ग) बर्फ से स्नान

(घ) केवल ठंडा पेय जल

प्रश्न 4: गीली चादर लपेट का प्रयोग मुख्य रूप से किस स्थिति में किया जाता है? (क) हड्डियों के दर्द में

(ख) तेज बुखार को कम करने और शरीर के शोधन हेतु

(ग) केवल वजन बढ़ाने के लिए

(घ) भूख बढ़ाने के लिए

प्रश्न 5: उच्च रक्तचाप और हृदय रोग से पीड़ित व्यक्तियों के लिए किस प्रकार का जल उपचार वर्जित है?

(क) ठंडी पट्टी

(ख) अत्यधिक गरम जल का उपचार या स्नान

(ग) सामान्य तापमान का जल

(घ) कटि स्नान (सामान्य)

इकाई-1.4 सूर्य चिकित्सा (अग्नितत्त्व)

उद्देश्य-

1. सौर्यमण्डल के अधिष्ठाता सूर्य की रश्मियों (किरणों) के चिकित्सीय गुणों और सात रंगों के प्रभाव को समझाना।
2. शरीर में अग्नि तत्त्व के संतुलन और विटामिन-डी के प्राकृतिक स्रोत के रूप में सूर्य के महत्त्व का बोध कराना।
3. रंगीन बोतलों के जल और तेल के माध्यम से विभिन्न रोगों (जैसे पाचन विकार, चर्म रोग) के प्राकृतिक उपचार की विधि सिखाना।

- **ग्रीन हाउस थर्मोलियम :-** इसमें पहले व्यक्ति को 1-2 गिलास पानी पिलाया जाता है। फिर एक ग्रीन कलर की प्लास्टिक में व्यक्ति को कम से कम कपड़ों में लपेट कर धूप में लिटा दिया जाता है गर्दन को बाहर रखते है। सिर पर ठण्डे पानी का कपड़ा रखा जाता है।

समयः- 30-45 मिनट

लाभ :-

- शारीरिक शुद्धि के लिए।
- मोटापे के लिए।
- त्वचा सम्बन्धी बीमारियों के लिए।

सावधानियांः- GHT देने से पहले ब्लड प्रेशर चेक कर लेना चाहिए। सिर पर ठण्डा तौलिया रखें।

विशेषः- जीएचटी HT के बाद व्यक्ति को पानी से स्नान के लिए कहा जाता है।

कलर थरमोलियम

''पैर गर्म, पेट नरम सिर ठण्डा होने पर रोगों के सिर पर पड़ता है डण्डा।'' के सूत्र पर कलर थर्मोलियम काम करता है। अलग-अलग रंगो के कांच लगे लकड़ी या फाइबर के बने कक्ष में सिर बाहर रखकर रोगी को धूप में बैठाया या लिटाया जाता है। इसमें व्यक्ति को पानी पिलाकर, सिर पर गीला तौलिया रखकर 15-20 मिनट के लिए बैठाया जाता है। थर्मोलियम में पैर के तरफ लाल रंग का, पेट पर बैंगनी या नीला छाती पर पीला या नारंगी तथा सिर पर हरे रंग का प्लेट होता है।

समयः- 15-20 मिनट

लाभ :-

- रक्तसंचार
- पेट की सूजन
- फेफड़े में जमा श्लेष्मा
- श्वास वाहिकाओं की सिकुड़न आदि में लाभकारी

सावधानियां :-

- व्यक्ति को पानी पिलाना चाहिए।
- सिर पर ठण्डा तौलिया रखना चाहिए।
- घबराहट होने पर व्यक्ति को बाहर निकाल दें।

विशेषः-

- कलर थरमोलियम के बाद स्वास्थ्य साधक को स्नान कराया जाता है।

सन बाथ

सिर पर तौलिया रख कर कम से कम कपड़े पहनाकर प्रातः धूप में 30-45 मिनट तक बैठाते हैं।

लाभ :-

- रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है।
- मांसपेशियां व हड्डियाँ मजबूत होती हैं।
- जीवनी शक्ति बढ़ती है।

- मानसिक रोग दूर होते हैं।

सावधानियां:-

- व्यक्ति को पानी पिलाना चाहिए।
- सिर पर ठण्डा तौलिया रखें।

सूर्य किरण चिकित्सा–

सूर्य ही हमारी समस्त ऊर्जाओं का मूल स्त्रोत है। इससे जीवनी शक्ति, रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है, स्नायु दुर्बलता दूर होती है, मांसपेशियां व हड्डियां मजबूत होती हैं। सूर्य किरणों से शारीरिक व मानसिक विकास होता है। मानसिक रोग दूर होते हैं।

- **धूप स्नान–** सिर पर तौलिया रख कर नंगे बदन (केवल लंगोट या नेकर पहन कर) प्रातः अथवा सायं की धूप में 30-60 मिनट बैठें। स्त्रियाँ पतले सफेद वस्त्र पहन कर बैठ सकती हैं। धूप में आसन, प्राणायाम, मालिश करें।
- एक रिसर्च के अनुसार गर्भावस्था के दौरान या 3 माह पूर्व से प्रति दिन 45 मिनट प्रति माह के धूप स्नान लेने से शुक्राण ु एवं अण्डाणु शक्तिशाली होते है तथा उनसे उत्पन्न संतान सूर्य पुत्र कर्ण की तरह वीर प्रतापी चरित्रवान होती है।

लाभ– विटामिन-डी निर्माण, कमजोर हड्डियों को मजबूती प्रदान करने, मंदाग्नि, अवसाद, स्नायु और मांसपेशी सम्बन्धित रोगों में लाभकारी है।

- **सूर्य त्राटक–** सूर्योदय के समय के लाल-पीले सूर्य को नेत्र बंद किये बिना एकटक देखें। नेत्र-रोग दूर करने, नेत्रों की ज्योति बढ़ाने के लिए, मानसिक रोगों के लिए बहुत उपयोगी है।
- **सूर्य किरण रंग चिकित्सा–** सूर्य किरणों में सात रंग हैं- बैंगनी, नीला, आसमानी, हरा, पीला, नारंगी और लाल। इन सभी में अलग-अलग औषधीय गुण हैं, जिन्हें पानी, शहद, घी, तैल इत्यादि में देखकर उनका लाभ लिया जा सकता है।

त्रिदोष और पंच महाभूत का सम्बन्ध

आयुर्वेद में शरीर की उत्पत्ति आकाश, वात, अग्नि, जल और पृथ्वी, इन पंच महाभूतों से मानी जाती है। अन्य पदार्थों की तरह वात आदि दोषों को संरचना भी पाँच महाभूतों के मेल से ही हुई है। विभिन्न दोषों में प्रधान महाभूतों के मेल की स्थिति निम्न प्रकार से है-

दोष	प्रमुख महाभूत
वात	आकाश तथा वायु
पित्त	अग्नि (तेजस्) तथा जल
कफ	जल एवं पृथ्वी

स्मरणीय बिंदु-

1. सूर्य स्नान का समय सूर्य स्नान के लिए सूर्योदय के समय की कोमल धूप सर्वोत्तम मानी जाती है; सिर को हमेशा ढंककर या छांव में रखना चाहिए।
2. रंगों का प्रभाव लाल रंग उत्तेजक और रक्त संचार बढ़ाने वाला होता है, जबकि नीला रंग शामक, शीतल और सूजन को कम करने वाला होता है।
3. सौर-तप्त जल रंगीन बोतलों में जल भरकर धूप में रखने से वह जल औषधीय गुणों से युक्त हो जाता है, जिसे सूर्य तापित जल कहते हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: सूर्य चिकित्सा के सिद्धांतों का सविस्तार वर्णन कीजिए। सूर्य की रश्मियों के सात रंगों का स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है? रंगीन बोतलों द्वारा चिकित्सा की विधि स्पष्ट करें।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: सूर्य स्नान की सही विधि क्या है? इसे करते समय किन सावधानियों का पालन करना चाहिए?

प्रश्न 2: नीले रंग की बोतल में तैयार जल के चिकित्सीय लाभों का उल्लेख कीजिए। प्रश्न 3: विटामिन-डी और सूर्य की किरणों का क्या अंतर्संबंध है? यह हड्डियों के स्वास्थ्य के लिए क्यों अनिवार्य है?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1: सूर्य चिकित्सा के अनुसार, कौन-सा रंग शीतल प्रकृति का होता है और बुखार व सूजन को कम करता है?

(क) लाल रंग

(ख) नारंगी रंग

(ग) नीला रंग

(घ) काला रंग

प्रश्न 2: सूर्य स्नान लेते समय शरीर के किस संवेदनशील अंग को हमेशा छाया में या गीले तौलिए से ढंककर रखना चाहिए?

(क) पैर

(ख) हाथ

(ग) मस्तिष्क (सिर)

(घ) पीठ

प्रश्न 3: पाचन शक्ति को बढ़ाने और मंदाग्नि को दूर करने के लिए किस रंग की बोतल का सूर्य-तापित जल उपयोगी माना गया है?

(क) नीला

(ख) पीला या नारंगी

(ग) बैंगनी

(घ) आसमानी

प्रश्न 4: सूर्य की किरणों में मुख्य रूप से कौन-सा विटामिन पाया जाता है जो हड्डियों और दांतों की मजबूती के लिए अनिवार्य है?

(क) विटामिन-ए

(ख) विटामिन-बी

(ग) विटामिन-डी

(घ) विटामिन-सी

प्रश्न 5: रक्त संचार को तेज करने और शरीर में स्फूर्ति लाने के लिए कौन-सा रंग सबसे अधिक प्रभावी है?

(क) लाल रंग

(ख) हरा रंग

(ग) सफेद रंग

(घ) नीला रंग

खण्ड-2 प्राकृतिक चिकित्सा

इकाई- 2.1 यज्ञ चिकित्सा एवं स्वास्थ्य (वायुतत्व)

उद्देश्य-

1. यज्ञ के माध्यम से वायुमण्डल के शुद्धिकरण और रोगों के निवारण की वैज्ञानिक विधि को समझाना।
2. विभिन्न रोगों (जैसे- श्वास रोग, चर्म रोग, मानसिक रोग) के लिए प्रयुक्त होने वाली विशिष्ट औषधीय समिधाओं और आहुतियों का ज्ञान देना।
3. मंत्र शक्ति और औषधीय धूम्र (धुएँ) के संयुक्त प्रभाव से शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करने के सिद्धांतों का बोध कराना।

येन सदनुष्ठानेन सम्पूर्णविश्वं कल्याणं भवेदाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिक तापत्रयोन्मूलनं सुकरं स्यात् तत् यज्ञपदाभियेयम्।

जिस सदनुष्ठान से सम्पूर्ण विश्व का कल्याण हो तथा आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तीनों तापों का उन्मूलन सरल हो जाए, जिसमें विद्वानों का सत्कार हो, कोई हिंसा न हो, विद्यादि शुभगुणों का दान हो, अग्निहोत्रादि जिनसे वायु, वृष्टिजल, औषधि की पवित्रता करके सभी जीवों को सुख पहुँचाना हो, जो अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेघपर्यन्त व जो शिल्पव्यवहार और पदार्थ विज्ञान है एवं जो जगत् के उपकार के लिए किया जाता है; उसको यज्ञ कहते हैं। जब अग्नि में सुगन्धित आदि औषधीय पदार्थों का हवन होता है तभी यह यज्ञ वायु आदि पदार्थों को शुद्ध करके तथा शरीर की रक्षा औषधि आदि पदार्थों में अनेक प्रकार के रसों को उत्पन्न कर करता है। उन शुद्ध पदार्थों के भोग से प्राणियों में विद्व ता, ज्ञान और बल की वृद्धि भी होती है। मनुष्य को चाहिए कि वे आप्तविद्वानों के सानिध्य में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि करने वाले यज्ञ का विस्तार करें।

'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' अर्थात् यज्ञ पचभूतात्मक देह से लेकर ब्रह्माण्ड तक में स्वास्थ्य एवं संतुलन कायम करता है। वैज्ञानिक शोध दर्शाते हैं, कि यज्ञाग्नि में उत्तम गुणवत्तायुक्त घृत-जड़ी-बूटियां एवं समिधा आदि की मंत्रोच्चारणपूर्वक आहुति देने पर आरोग्यवध ंक होकर हमें स्वास्थ्य एवं दीर्घायु प्रदान करते हैं। यज्ञ अस्थमा, कैंसर से लेकर कोरोना जैसे जानलेवा रोगों से बचाने के साथ ही तनाव, अनिद्रा, अवसाद आदि मानसिक रोगों को दूर कर शांति व सौमनस्य प्रदान करता है। यज्ञ से विषैली गैसों में भारी मात्रा में कमी आती है व जानलेवा बैक्टीरिया, वायरस, फंगस आदि नष्ट होते हैं एवं यह रेडिएशन भी कम करता है। यज्ञ भूमि की उर्वरा शक्ति एवं फसलों के एक्टिव कम्पाउण्ड को बढ़ाता है तथा रोगों की रोकथाम भी करता है। यज्ञकृषि से उत्पन्न अन्न-फल आदि पोषक तत्त्वों से युक्त एवं स्वादिष्ट होते हैं। यज्ञ उत्तम वर्षा तथा जलाशयों का शोधन करने वाला होता है। यज्ञ जड़ एवं चेतन दोनों में सात्त्विकता का संचार करता है। यज्ञ भौतिक जीवन में धन-धान्य आदि ऐश्वर्य एवं आध्यात्मिक जीवन में मानवीय चेतना का उत्कर्ष करके अतिमानस चेतना की ओर अग्रसर करता है। यज्ञ से अभ्युदय एवं निःश्रेयस दोनों की सिद्धि होती है।

वर्तमान समय नैनो साइंस का है, जिसके माध्यम से पदार्थ को तोड़कर सूक्ष्म से सूक्ष्मतम कर उनकी प्रसुप्त शक्तियों को उजागर कर थोड़े पदार्थ से असीम लाभ प्राप्त करने की अनोखी विद्या है, ज्योंकि प्राचीन काल से ही यज्ञ के रूप में चली आ रही है ।

आयुर्वेद में वैद्य के द्वारा जब असाध्य रोगियों को वटी, चूर्ण, आसव,अरिष्ट देने के बाद भी कोई स्वास्थ्य सुधार नहीं होता है, तब उन्हें रस रसायन भस्म देता है और रोगी तुरंत स्वस्थ हो जाता है। क्योंकि सामान्य रूप से ली गई ठोस या द्रव रूप में औषध नैनों न होने के कारण उनकी शक्तियां प्रसुप्त अवस्था में होती है।

अतः रसायन विद्या के माध्यम से पदार्थ को भस्म कर कई बार खरल करके सूक्ष्म से सूक्ष्मतम कर उनकी प्रसुप्त शक्तियों को जागृत किया जाता है।

अतः **'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः'** हम संकल्प लें कि संसार के श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ को अपनाएं, पिण्ड और ब्रह्मांड

में संतुलन कायम करने वाले 'यज्ञ को जीवन का अभिन्न अंग बनाएं एवं प्रकृति मां के प्रति अपने ऋणों को अदा करें'।

जो पदार्थ जितना सूक्ष्म होता है, वह उतना ही शक्तिशाली होता है, इसी सिद्धांत पर वैद्य मराणासन्न या असाध्य रोगी को कुछ चंद मिलीग्राम भस्म देकर ठीक कर देता है। इसी सिद्धांत पर होम्योपैथी भी कार्य करती है। अतः यज्ञ एक पूर्णतः व सरलतम पद्धति से पदार्थ को नैनो करने की अमोघ विद्या है।

यज्ञ चिकित्सा शास्त्रीय प्रमाण

आयुर्वेदेषु यत्प्रोक्तं यस्य रोगस्य भेषजम्।

तस्य रोगस्य शान्त्यर्थं तेन तेनैव होमयेत् ॥ (श्रीमत्प्रपंचसारसारसंग्रह-2, पटल - 30, 402)

आयुर्वेद ग्रन्थों में जिन रोगों के शमन के लिए जिन औषधियों का विधान है, उन - उन रोगों के शमन हेतु उन्हीं औषधियों से हवन करें।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।

आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ (मनुस्मृति-3.76)

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।

त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे॥ (अथर्ववेद 4.13.3)

हे वायु! तू अपने साथ औषध (स्वास्थ्य) को ला। हे वायु! शरीर में जो मल है उसे तू बाहर निकाल। क्योंकि तू सब रोगों-प्रदूषणों की दवा है और तू देवों का दूत होकर विचरता है। अर्थात् यज्ञ से निकली हुई औषधि वायु से शुद्ध वातावरण व उसमें बैठकर योग - साधना-ध्यान करने से सभी प्रकार के शारीरिक व मानसिक रोग दूर होते हैं।

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।

तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय॥ (अथर्ववेद - ३.११.२)

यदि किसी की आयु क्षीण हो चुकी है, व जीवन से निराश हो चुका है, मृत्यु के बिल्कुल समीप पहुँच चुका है, तो भी यज्ञचिकित्सा उसे मृत्यु के वश (गोद) से लौटा लाती है और सौ वर्ष तक सुरक्षित रखती है, उसे पुनः नव जीवन देती है।।

यया प्रयुक्तया चेष्ट्या राजयक्ष्मा पुरा जितः।

तां वेदविहितामिष्टमारोग्यार्थी प्रयोजयेत् ॥ (चरक संहिता, चिकित्सा स्थान - ८.१८९)

प्राचीनकाल में जिन यज्ञों के प्रयोग से राजयक्ष्मा (दुः साध्य रोगों) को जीता जाता था, आरोग्य चाहने वाले मनुष्य को उन वेदविहित यज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिए।

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।

ग्राहिर्जग्राह यदि वैतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम्॥

(ऋग्वेद-10.161.1, अथर्वव्रद - 3.11.1)

(त्वा) तुझे (अज्ञातयक्ष्मात्) गीं से या माता-पिता के पास से उत्पन्न हुए रोग से (उत) और राजयक्ष्मात्) सकारण राजयक्ष्मा से (जीवनाय कम्) जीवन के लिए सुखपूर्वक (हविषा) हवन से (मुचामि) छुड़ाता हूँ। पृथक् करता हूँ (यदि वा) यदि तो (एतत्-एनम्) इस रोगी को (ग्राहिः) वातव्याधि ने (जग्राह) पकड़ लिया (तस्याः) उससे (इन्द्राग्नी) वायु और होमाग्नि ये दोनों (एनं प्रमुमुक्तम्) इसको छुड़ा देवे।।

रोगी को यदि जन्म से माता-पिता से आया हुआ रोग हो अथवा राजयक्ष्मा भारी रोग हो, मानसिक वातव्याधि रोग हो, तो भी होम द्वारा दूर हो सकते हैं।

व्याधि के अनुसार हवन सामग्री

कर्कटेष्टि/ KARKATESHTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1.	हल्दी	Turmeric	*Curcuma longa* L.	Rhizome	8.90
2.	कचनार	Kachnar	*Bauhinia variegata* L.	Bark	8.90
3.	देशी तुलसी	Basil	*Ocimum sanctum* L.	Leaf	8.90
4.	अपामार्ग	Apamarga	*Achyranthes aspera* L.	Panchang	8.90
5.	लोध्र पठानी	Lodh Pathani	*Symplocos macrophylla* subsp. *rosea* (Bedd.) Noot.	Bark	8.90
6.	कचूर	Kachur	*Curcuma zedoaria* Roxb.	Root	8.90
7.	शरपुंखा	Sharpunkha	*Tephrosia purpurea* (L.) Pers.	Panchang	8.90
8.	गिलोय	Giloy	*Tinospora cordifolia* (Willd.) Hook.f. & Thomson	Stem	8.90
9.	नीम	Neem	*Azadirachta indica* A.Juss.	Leaf	8.90
10.	द्रोणपुष्पी	Dronpushpi	*Leucas cephalotes* (Roth) Spreng.	Panchang	8.90
11.	नील	Neel	*Indigofera articulata* Gouan	Leaf	8.90
12.	कपूर	Camphor	*Cinnamomum camphora* (L.) J.Presl	Wood	2.00
					99.90

प्रस्तुत हवन सामग्री लंग्स कैंसर, ब्रेन कैंसर, ब्लड कैंसर आदि सभी प्रकार के कैंसर में लाभप्रद है तथा इससे वातावरण जीवनीय-शक्ति से युक्त, सुगन्धित, स्वच्छ एवं शान्तिदायक बनता है।

Presented Havan material is useful in all types of cancer like lungs cancer, brain cancer, blood cancer etc. and maintain vitality, fragrance, peacefulness and hygiene of atmosphere.

मेधेष्टि/MEDHESHTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1.	ब्राह्मी	Brahmi	*Bacopa monnieri* (L.) Wettst.	Leaf/Vine	10.89
2.	शंखपुष्पी	Shankhpushpi	*Convolvulus pluricaulis* Choisy	Panchang	10.89
3.	वच (घोड वच)	Gudvach	*Acorus calamus* L.	Root	10.89
4.	उस्तेखुद्दूस	Ustukhuddus	*Lavandula stoechas* L.	Flower	10.89
5.	मालकांगनी	Malkangni	*Celastrus paniculatus* Willd.	Seed	10.89
6.	अश्वगंधा	Ashwagandha	*Withania somnifera* (L.) Dunal	Root	10.89
7.	पुष्करमूल	Pushkarmool	*Inula racemosa* Hook.f.	Root	10.89
8.	अपामार्ग	Apamarga	*Achyranthes aspera* L.	Panchang	10.89
9.	जटामांसी	Jatamansi	*Nardostachys jatamansi* (D.Don) DC.	Root	10.89
10.	कपूर	Camphor	*Cinnamomum camphora* (L.) J.Presl	Wood	2.00
					100.00

प्रस्तुत हवन सामग्री विस्मृति, तनाव, शिरोवेदना, भय, अनिद्रा, मिर्गी आदि के उपचार में लाभप्रद तथा इससे वातावरण जीवनीय-शक्ति से युक्त, सुगन्धित, स्वच्छ एवं शांतिदायक बनता है।

Presented Havan material is useful for treatment of tension, headache, fear, insomnia, epilepsy etc. and maintain vitality, fragrance, peacefulness, health and hygiene of atmosphere.

वातेष्टि/VATESHTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1.	निर्गुण्डी	Nirgundi	*Vitex negundo* L.	Panchang	13.02
2.	रास्ना	Rasna	*Pluchea lanceolata* (DC.) C.B.Clarke	Leaf	13.02
3.	विनौला	Cottonseed	*Gossypium herbaceum* L.	Seed	4.87
4.	अश्वगंधाा	Ashwagandha	*Withania somnifera* (L.) Dunal	Root	4.87
5.	पुनर्नवा	Punarnava	*Boerhavia diffusa* Sw.	Root	4.87
6.	बला	Bala	*Sida cordifolia* L.	Panchang	4.87
7.	नागरमोथा	Nagarmotha	*Cyperus rotundus* L.	Root	9.68
8.	अजवायन	Celery	*Trachyspermum ammi* (L.) Sprague	Seed	4.87
9.	एरण्ड	Castor	*Ricinus communis* L.	Seed	6.51
10.	वच	Gudvach	*Acorus calamus* L.	Root	7.00
11.	अमलतास	Amaltas	*Cassia fistula*	L. Fruit	4.87
12.	पारिजात	Parijat	*Nyctanthes arbor-tristis* L.	Panchang	4.87
13.	सलाई गुग्गुल	Salai guggul	*Boswellia serrata* Roxb.	Gum	9.68
14.	गिलोय	Giloy	*Tinospora cordifolia* (Willd.) Hook.f. & Thomson	Stem	5.00
15.	कपूर	Camphor	*Cinnamomum camphora* (L.) J.Presl	Wood	2.00
					100.00

प्रस्तुत हवन सामग्री गठिया, जोड़ों का दर्द, सियाटिका, सर्वाइकल स्पोण्डिलाइटिस, स्लिपडिस्क आदि सभी प्रकार की वेदना व शोथ आदि के उपचार में लाभप्रद है तथा इससे वातावरण जीवनीय शक्ति से युक्त, सुगंधित, स्वच्छ एवं शांतिदायक बनता है।

Presented Havan material is useful in treatment of various types of pain and inflammation like gout, joint pain, sciatica, cervical spondylitis, slipdisc, etc. and maintain vitality, fragrance, peacefulness, health and hygiene of atmosphere.

पित्तेष्टि/PITTESHTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1.	श्वेत चंदन	Sandalwood	*Santalum album L.*	Wood	73.5
2.	गुलाब	Rose	*Rosa centifolia L.*	Flower	24.5
3.	कपूर	Camphor	*Cinnamomum camphora (L.) J.Presl*	Wood	2.0
					100.00

प्रस्तुत हवन सामग्री अम्लपित्त, अतिदाह, अतिस्वेद, शरीर से दुर्गन्ध आना, त्वचा-आँख-छाती आदि में जलन, अधिक कील-मुँहासे आदि पित्तज रोगों में लाभदायक है।

Presented Havan material is useful in treatment of various types of Pittaja diseases like acidity, excessive heat, excessive sweating, bad order from the body, burning sensation in the skin-eye-chest, acne etc.

कफेष्टि/COUGHESHTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1.	मुलेठी	Mulethi	Glycyrrhiza glabra L.	Root	5.15

2.	**सफेद वासा**	Safed vasa	Justicia adhatoda L.	Leaf	5.15
3.	**वनप्सा**	Vanafsa	Viola odorata L.	Plant	5.15
4.	**तुलसी**	Basil	Ocimum sanctum	L. Leaf	5.15
5.	**छोटी पीपली**	Pepper	Piper longum L.	Fruit	5.15
6.	**दालचीनी**	Cinnamon	Cinnamomum verum J.Presl	Bark	5.15
7.	**लौंग**	Clove	Syzygium aromaticum L.	Bud	5.15
8.	**सोंठ**	Ginger	Zingiber officinale Rosc.	Rhizome	5.15
9.	**तेजपत्ता**	Bay Leaf	Cinnamomum tamala (Buch.-Ham.) T.Nees & Eberm.	Leaf	5.15
10.	**भारंगी**	Bharangi	Clerodendrum serratum (L.) Moon	Bark	5.15
11.	**लिसोड़ा**	Lisoda	Cordia myxa L.	Fruit	5.15
12.	**अमलतास**	Amaltas	Cassia fistula L.	Fruit	5.15
13.	**धतूरा**	Datura	Datura stramonium L.	Panchang	5.15
14.	**रुदन्ती**	Rudanti	Cressa cretica L.	Fruit	5.15
15.	**काली मिर्च**	Black Pepper	Piper nigrum L.	Seed	5.15
16.	**अकरकरा**	Akarkara	Anacyclus pyrethrum (L.) Lag.	Panchang	5.15
17.	**कर्कट शृंगी**	Kakatasringi	Pistacia integerrima J. L. Stewart ex Brandis	Fruit	5.15
18.	**छोटी कटेरी**	Kateri choti	Solanum surattense Burm. f.	Panchang	5.15
19.	**बड़ी कटेरी**	Kateri badi	Solanum indicum L.	Panchang	5.15
20.	**कपूर**	Camphor	Cinnamomum camphora (L.) J.Presl	Wood	2.00
					99.98

प्रस्तुत हवन सामग्री दमा, खाँसी, साइनस, नजला आदि कफज रोगों के उपचार में लाभप्रद तथा वातावरण जीवनीय शक्ति से युक्त, सुगन्धित, स्वच्छ एवं शान्तिदायक बनता है।

Presented Havan material is useful in various cough disorders like treatment of asthma, cough, sinus, cold etc. and maintain vitality, fragrance, peacefulness, health and hygiene of atmosphere.

चर्मेष्टि/ CHARMESTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1.	दारुहल्दी	Daruhaldi	*Berberis aristata* क्ळ	Stem/Root	5.15
2.	करंज	Karanja	*Pongamia pinnata* (स्ण) च्यमततम	Seed	5.15
3.	गिलोय	Giloy	*Tinospora cordifolia* (ॅपससकण) डपमते	Stem	5.15
4.	बाकुची	Bakuchi	*Psoralea corylifolia* स्ण	Seed	5.15
5.	बहेड़ा	Baheda	*Terminalia bellirica* (ळंमतजदण) त्वगइण	Fruit	5.15
6.	श्वेत चंदन	Sandalwood	*Santalum album* स्ण	Wood	5.15
7.	काली जीरी	Black Cumin	*Nigella sativa* स्ण	Seed	5.15
8.	हल्दी	Turmeric	*Curcuma longa* स्ण	Rhizome	5.15
9.	खैर	Khair	*Acacia catechu* (स्णि) ॅपससकण	Bark/wood	5.15
10.	नीम	Neem	*Azadirachta indica* ।ण्श्रनेण	Leaf/bark	5.15
11.	मंजिष्ठा	Manjistha	*Rubia cordifolia* स्ण	Root	5.15

12.	चिरायता	Chirayita	*Swertia chirayita* (त्वगइए) ठनबीण.भ्ंउण मग ब्ग्ठण्ब्संताम	Panchang	5.15
13.	द्रोणपुष्पी	Dronapushpi	*Leucas cephalotes* (त्वजी)ैचतमदहण	Panchang	5.15
14.	इन्द्रायण	Indrayan	*Citrullus colocynthis* (स्ण)ैबीतंक	Fruit	5.15
15.	देवदारु	Devdaru	*Cedrus deodara* (त्वगइए मग क्ण्क्वद) ळण्क्वद	Wood	5.15
16.	उष्वा	Ushva	*Smilax ornata* स्मउण	Vine	5.15
17.	पुष्करमूल	Pushkaramula	प्दनसं तंबमउवें भ्ववाण णि	Root	5.15
18.	अपामार्ग	Apamarga	*Achyranthes aspera* स्ण	Panchang	5.15
19.	वचा	Vacha	*Acorus calamus* स्ण	Root	5.15
20.	कपूर	Camphor	*Cinnamomum camphora* (स्ण) श्रण्च्तमेस	Wood	2.00
					100.00

प्रस्तुत हवन सामग्री दाद, खुजली, एक्जिमा, सोरायसिस, छोटी व बड़ी माता आदि चर्मरोगों के उपचार में लाभप्रद है तथा इससे वातावरण जीवनीय-शक्ति से युक्त, सुगन्धित, स्वच्छ एवं शान्तिदायक बनता है।

Presented Havan material is useful for treatment of various skin disorders like rigworm infection, itching, eczema, psoriasis, small pox, chiken pox etc. and maintain vitality, fragrance, peacefulness, health and hygiene of atmosphere.

हृदयेष्टि/HRIDAYESHTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1.	अर्जुन	Arjun	*Terminalia arjuna* (Roxb. ex DC.) Wight & Arn	Bark	50
2.	दालचीनी	Cinnamon	*Cinnamomum verum* J.Presl	Bark	10
3.	निर्गुण्डी	Nirgundi	*Vitex negundo* L.	Panchang	05
4.	रास्ना	Rasna	*Pluchea lanceolata* (DC.) C.B.Clarke	Leaf	05
5.	पुनर्नवा	Punarnava	*Boerhavia diffusa* L.	Root	05
6.	चित्रक	Chitrak	*Plumbago zeylanica* L.	Root bark	05
7.	नागरमोथा	Nagarmotha	Cyperus rotundus L	Root	05
8	लौकी	Bottle Gourd	Lagenaria siceraria (Molina) Standl.	Fruit	06
9	गुग्गुल	Guggul	Commiphora mukul (Hook. ex Stocks) Engl.	Gum	07
10	कपूर	Camphor	Cinnamomum camphora (L.) J.Presl	Wood	02
				100.00	

प्रस्तुत हवन सामग्री हृदयाघात, उच्च रक्तचाप (बी.पी.) आदि हृदयसंबंधी उपचार में लाभप्रद तथा वातावरण जीवनीय शक्ति से युक्त, सुगन्धित, स्वच्छ एवं शान्तिदायक बनता है।

Presented Havan material is useful in various cardiac disorders like cardiac stroke, high blood pressure etc. and maintain vitality, fragrance, peacefulness, health and hygiene of atmosphere.

संततीष्टि/SANTATEESHTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1.	शालपर्णी	Shalparni	*Desmodium gangeticum* (L.) DC.	Panchang	2.08
2.	पृश्निपर्णी	Prishniparni	*Uraria picta* (Jacq.) DC.	Panchang	2.08
3.	बेल	Bel	*Aegle marmelos* (L.) Corrêa	Bark	2.08
4.	अरणी	Arni	*Premna serratifolia* L.	Wood	2.08
5.	श्योनाक	Shyonaka	*Oroxylum indicum* (L.) Kurz	Panchang	2.08

6.	गम्भारी	Gambhari	*Gmelina arborea* Roxb.	Wood	2.08
7.	पाटला	Patala	*Stereospermum suaveolens* (Roxb.) DC	Root	2.08
8.	पुत्रजीवक	Putrajeevak	*Drypetes roxburghii* (Wall.) Hurus	Seed	25.00
9.	शिवलिंगी	Shivlingi	*Bryonia laciniosa* L.	Seed	25.00
10.	अपामार्ग	Apamarga	*Achyranthes aspera* L.	Panchang	2.08
11.	गाजर	Carrot	*Cucus carot*a	Seed	2.08
12.	सोंठ	Ginger	*Zingiber officinale* Rosc.	Root	2.08
13.	अजवायन	Celery	*Trachyspermum ammi* (L.) Sprague	Seed	2.08
14.	दारूहल्दी	Daruhaldi	*Berberis aristata* DC.	Stem/root	2.08
15.	शतावरी	Shatavari	*Asparagus racemosus* Willd.	Root	2.08
16.	मुलेठी	Mulethi	*Glycyrrhiza glabra* L.	Vine	2.08
17.	वचा	Vacha	*Acarus calamus* L.	Root	2.08
18.	देवदारू	Devdaru	*Cedrus deodara* (Roxb. ex D.Don) G.Don	Wood	2.08
19.	शीशम	Shisham	*Dalbergia sissoo* Roxb. ex DC.	Leaf	2.08
20.	जलजमनी	Jaljamni	*Cocculus hirsutus* (L.) W.Theob.	Whole plant	2.08
21.	नागकेशर	Nagkesar	*Mesua ferrea* L.	Flower	2.08
22.	गोखरु	Gokhru	*Tribulus terrestris* L.	Whole plant	2.08
23.	अशोक	Ashoka	*Saraca indica* L.	Bark	2.08
24.	सुपारी	Betel	*Areca catechu* L.	Seed	2.08
25.	कौंच	Konch	*Mucuna pruriens* (L.) DC.	Seed	2.24
26.	कपूर	Camphor	*Cinnamomum camphora* (L.) J.Presl	Wood	2.00
					100.00

प्रस्तुत हवन सामग्री जो बन्ध्यत्वरोधी एवं गर्भपुष्टि के लिए उपयोगी तथा वातावरण जीवनीय शक्ति से युक्त, सुगन्धित, स्वच्छ एवं शान्तिदायक बनता है।

Presented Havan material is useful as anti-sterlity and pregnancy as well as maintain vitality, fragrance, peacefulness, health and hygiene of atmosphere.

प्रारब्धेष्टि/PRARABDHESHTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1.	काले तिल	Sesame	*Sesamum indicum* L.	Seed	25
2.	किशमिश	Raisins	*Vitis vinifera* L.	Fruit	04
3.	शर्करा	Sugar	Sugar	-	04
4.	सुपारी	Betel	*Areca catechu* L.	Nut	04
5.	छुआरा	Dry Dates	*Phoenix dactylifera* L.	Fruit	04
6.	नारियल गोला	Coconut	*Cocos nucifera* L.	Fruit	04
7.	मदार	Madar (aak)	*Calotropis gigantea* (L.) Dryand.	Wood/root	04
8.	पलाश	Palas	*Butea monosperm*a (Lam.) Taub.	Flower	04
9.	खैर	Khair	*Acacia catechu* (L.f.) Willd.	Bark	04
10.	अपामार्ग	Apamarga	*Achyranthes aspera* L.	Panchang	15
11.	पीपल	Pepper	*Ficus religiosa* L.	Bark	04
12.	कमल गट्टा	Kamal gatta	*Nelumbo nucifera* Gaertn.	Seed	07
13.	बादाम	Almond	*Prunus amygdalus* Batsch	Fruit	07
14.	जौ	Oat	*Hordeum vulgare* L.	Fruit	04

15.	धान	Rice	*Oryza sativa* L.	Fruit	04
16.	कपूर	Camphor	*Cinnamomum camphora* (L.) J.Presl	Wood	02
					100.00

प्रस्तुत हवन सामग्री प्रारब्ध दोष, कर्म दोष, ग्रह दोष, संस्कार दोष आदि को दूर करने में उपयोगी हैं।

Presented Havan material is useful to remove prarabdha dosha, karma dosha, graha dosha, sanskar dosha etc.

प्राणेष्टि/PRANESHTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1.	विदारीकंद	Vidarikand	*Pueraria tuberosa* (Willd.) DC.	Tuber	10.88
2.	मेदा	Meda	*Polygonatum verticillatum* (L.) All.	Rhizome	5.44
3.	शतावर	Shatavar	*Asparagus racemosus* Willd.	Root	5.44
4.	काकोली	Kakoli	*Roscoea purpurea* Sm.	Rhizome	5.44
5.	क्षीरकाकोली	Kshir Kakoli	*Lilium polyphyllum* D.Don	Bulb	5.44
6.	ऋद्धि	Riddhi	*Habenaria intermedia* D. Don	Tuber	5.44
7.	वराहीकंद	Varahikand	*Dioscorea bulbifera* L.	Tuber	5.44
8.	बला	Bala	*Sida cordifolia* L.	Seed	5.44
9.	सफेद मुसली	Safed Musli	*Chlorophytum borivilianum* Santapau & R.R.Fern.	Root	5.44
10.	कौंच	Konch	*Mucuna pruriens* (L.) DC.	Seed	5.44
11.	अश्वगंधा	Ashwagandha	*Withania somnifera* (L.) Dunal	Root	5.44
12.	गिलोय	Giloy	*Tinospora cordifolia* (Willd.) Miers	Stem	5.44
13.	ज्योतिष्मति	Jyotishmati	*Celastrus paniculatus* Willd.	Seed	5.44
14	अपामार्ग	Apamarga	Achyranthes aspera L.	Panchang	5.44
15	वचा	Vach	Acarus calamus L.	Root	5.44
16	पुष्करमूल	Pushkaramula	Inula racemosa Hook. f.	Root	5.44
17	उस्तेखद्दूस	Ustukhuddus	Lavandula stoechas L.	Flower	5.44
18	कपूर	Camphor	Cinnamomum camphora (L.) J.Presl	Wood	2.00
					100.00

प्रस्तुत हवन सामग्री ऑटोइम्यून डिज़ीज तथा वंशानुगत रोगों में लाभप्रद है।

Presented Havan material is useful in Autoimmune diseases and hereditary disorders.

पतंजलि रिसर्च फाउडेंशन
के द्वारा हवन सामग्री पर अनुभूत शोध परिणाम

Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phyto-constituents generated by Hawan of Dharmshtti.

1.

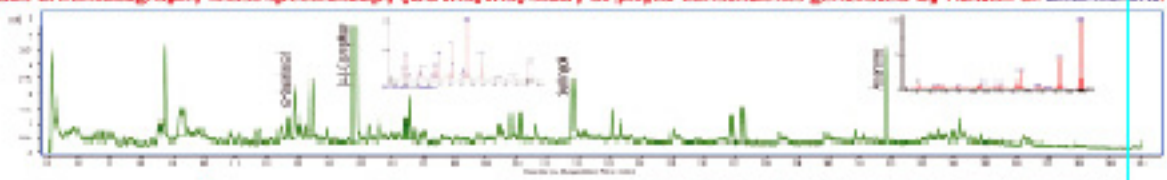

Syringol and Guaiacol

The anti bacterial effect of the Guaiacol, Syringol and their derivatives showed potent anti-microbial activity. It can be used potential agent for the skin diseases against different bacterial pathogens.

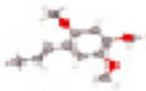

Asarone

Asarone obtained most effectively inhibited degranulation and IL-6 secretion in DNP-HSA-stimulated RBL-2H3 cells and also reduced the mast cell-mediated PCA reaction in mouse, providing a therapeutic evidence for its traditional use in ameliorating allergic reactions.

Camphor

Study conducted on humans revealed that camphor oil with or without physical dilutions completely cured zoonotic scabies with concentrations of 100%, 75% and 50% within 5-30 days.

Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phyto-constituents generated by Hawan of Vatsahti

2.

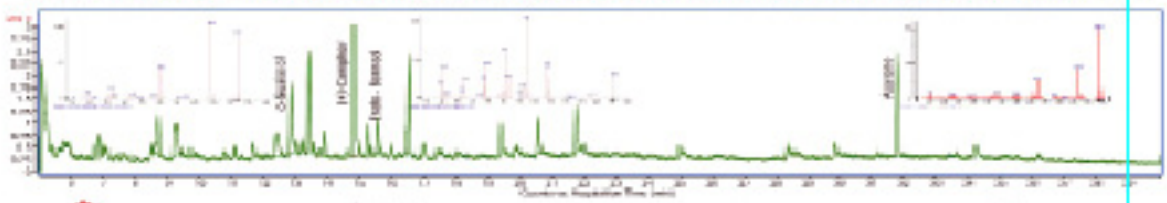

Guaiacol

Intramuscular Injection of Guaiacol-Iodine-Camphor Oil showed beneficial effects in Rheumatoid Arthritis.

Camphor

Camphor has shown tremendous protection from pain and inflammation in experimental animals.

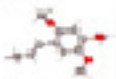

Asarone

Asarone has anti-inflammatory, peripheral and central anti-nociceptive effects.

Borneol

Borneol possess significant central and peripheral antinociceptive activity; it has also anti-inflammatory activity.

3.

Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phyto-constituents generated by Hawan of **Hridayeshti**

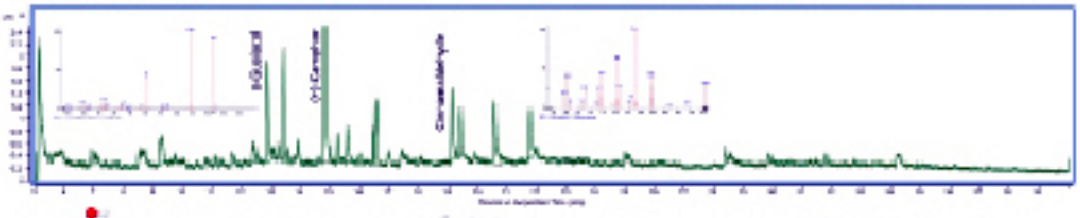

Guaiacol

Potential for guaiacol derivatives as therapeutics for Cardiovascular diseases by modulating lipid profiles, reducing atherosclerotic plaque burden, and subsequently optimizing cardiovascular functions has been established.

Camphor

The main action of camphor is on the circulatory system and it shows an inconstant stimulation of cardiac contraction and removal of arrhythmias.

Cinnamaldehyde

Cinnamaldehyde may be retards the progression of cardiac hypertrophy and fibrosis, probably via blocking extracellular signal-regulated kinase (ERK) signaling pathway.

4.

Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phyto-constituents generated by Hawan of **Kanfartechti**

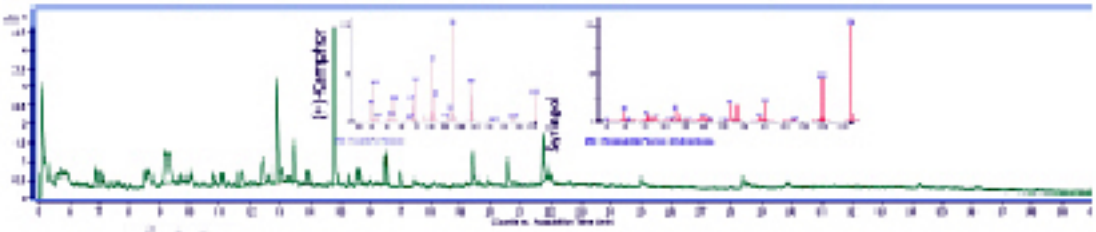

Camphor

Camphor has been found to be effective on the isogenic colon cancer cell lines.

Syringol

Syringol showed potential anticancer activity in hepatocellular carcinoma cell line.

5.

Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phyto-constituents generated by Hawan of **Santakyeshti**

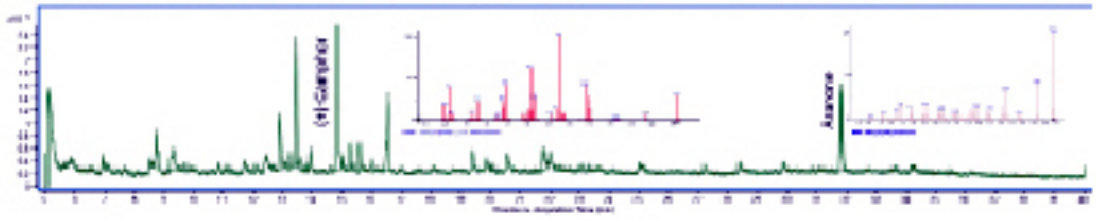

Camphor

Camphor enhanced the sexual desire and performance, which might be due to its effects on serum testosterone levels or modulations of sympathetic nervous system.

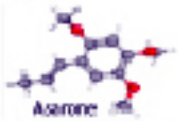

Asarone

Asarones are reported to increase the sexual performance and inhibit PDE-5 (phosphodiesterase type 5). Thus, beneficial for erectile dysfunction.

6.

Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phyto-constituents generated by Hawan of **Medheshti**

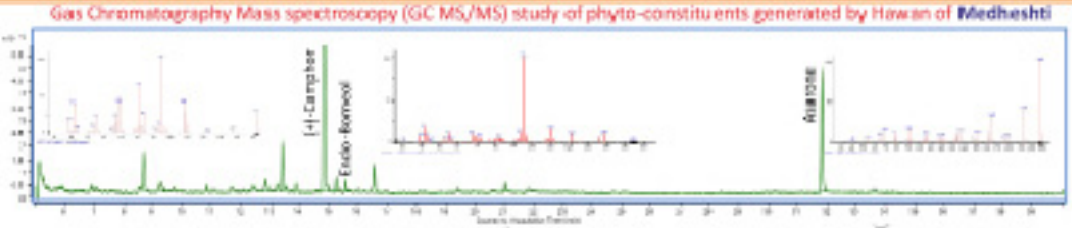

Borneol

Borneol, a bicyclic monoterpene, can easily cross the Blood brain barrier and was found to possess antiepileptogenic effects in pentylenetetrazolle-induced kindling in mice via gamma amino butyric acid (GABA) modulatory effect.

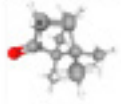

Camphor

Camphor promoted the recovery process from the psychobiological stress responses induced by mental stress testing (after speech & arithmetic tasks)

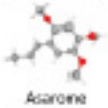

Asarone

α-asarone inhibits the activity of hippocampal neurons and produces **antiepileptic** effect in central nervous system through enhancing tonic GABAergic inhibition.

7.

Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phyto-constituents generated by Hawan of **Guggul**

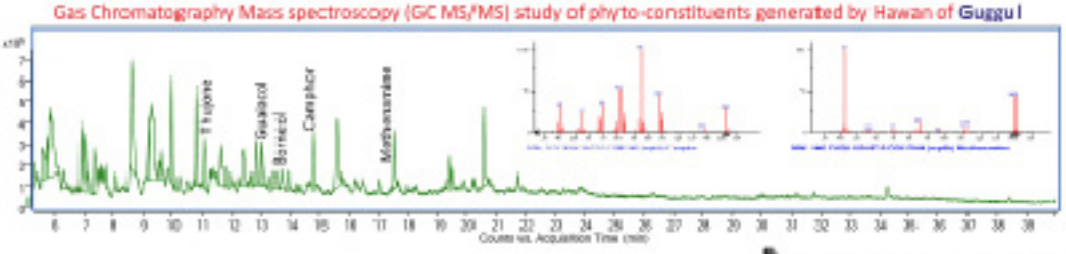

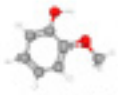

Guaiacol

Intramuscular Injection of Guaiacol-Iodine-Camphor Oil showed beneficial effects in Rheumatoid Arthritis.

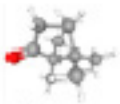

Camphor

Camphor has shown tremendous protection from pain and inflammation in experimental animals. Camphor has been found to be effective on the isogenic colon cancer cell lines.

Borneol

Borneol, a bicyclic monoterpene, can easily cross the blood Brain barrier and was found to possess antiepileptogenic effects in pentylenetetrazole-induced kindling in mice via gamma amino butyric acid (GABA) modulatory effect.

Methenamine

Methenamine is a heterocyclic organic compound with antibiotic activity. Methenamine has unique antiseptic property and is used as urinary antibacterial agent.

Thujone

Thujone, was found to correct the lipid profile (cholesterol and triglycerides).

8.

Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phyto-constituents generated by Hawan of Cow Ghee

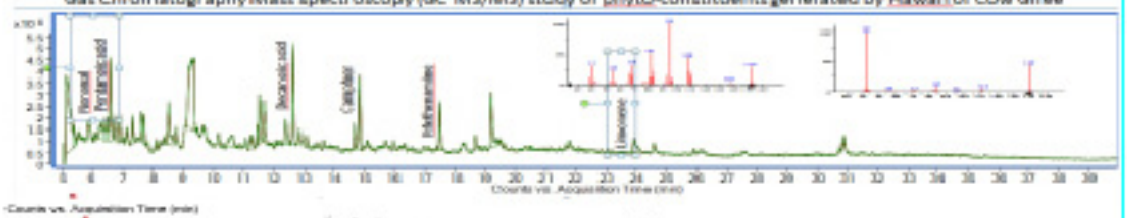

Pentanoic acid

Pentanoic acid also known as Valeric acid effectively lowered arterial blood pressure in rats by its vasodilatory activity.

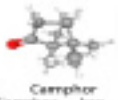

Camphor

Camphor has shown tremendous protection from pain and inflammation in experimental animals. Camphor has been found to be effective on the isogenic colon cancer cell lines.

Limonene

Anxiolytic-like effects of (+)-limonene is well established in animal model of anxiety

Nonanal

Nonanal, an aldehyde showed significant antidiarrhoeal activity in animal model of mice.

Decanoic acid

Decanoic acid showed antiseizure potential through direct AMPA receptor inhibition.

Methenamine

Methenamine is a heterocyclic organic compound with antibiotic activity. Methenamine has unique antiseptic property and is used as urinary antibacterial agent.

9.

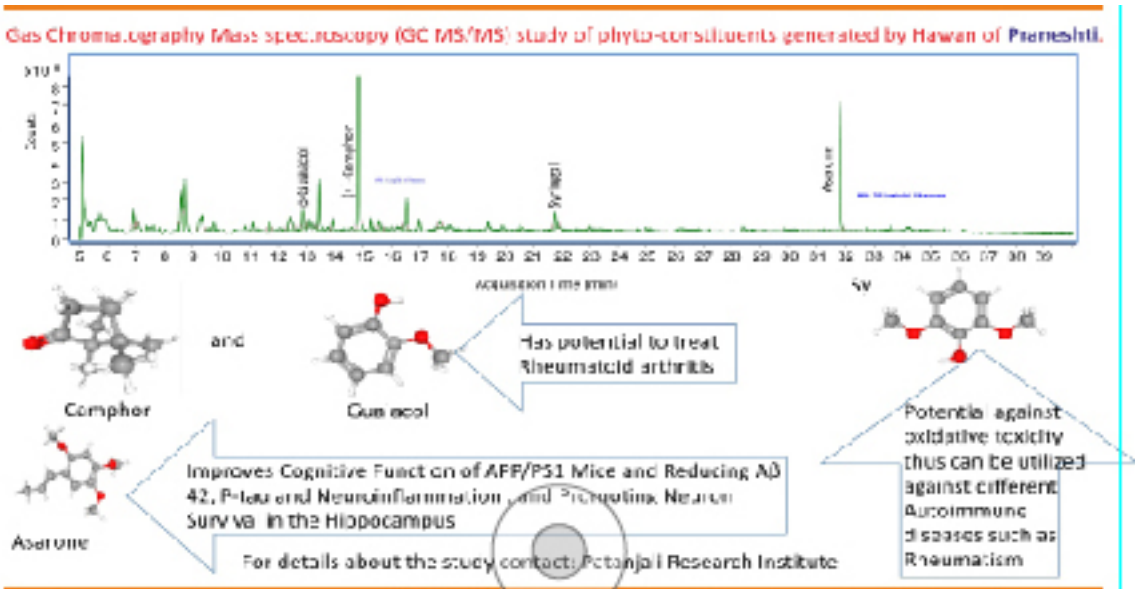
Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phyto-constituents generated by Hawan of Pranashti.
Camphor
and
Guaiacol
Has potential to treat Rheumatoid arthritis
Sy
Potential against oxidative toxicity thus can be utilized against different Autoimmune diseases such as Rheumatism
Improves Cognitive Function of APP/PS1 Mice and Reducing Aβ 42, P-tau and Neuroinflammation and Promoting Neuron Survival in the Hippocampus
For details about the study contact: Patanjali Research Institute

10.

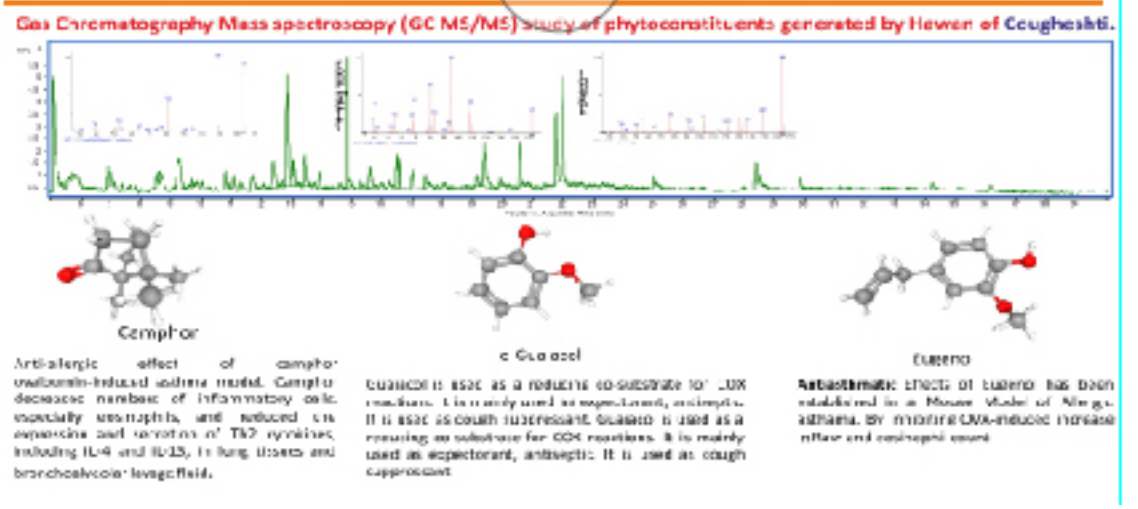
Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phytoconstituents generated by Hawan of Coughashti.
Camphor
c Guaiacol
Eugeno

रोगनाशक यज्ञभस्म (Yagya Ash)

रिसर्च में हमने यह पाया कि, जल में प्रयुक्त 10g यज्ञभस्म का pH लेवल मेंटेन होकर Alkaline, Energetic व Medicated हो जाता है तथा जल के बैक्टीरिया आदि रोगाणु भी नष्ट हो जाते हैं।

सामान्य सभी रोगों में यज्ञशेष भस्म को छानकर प्रति 1 लीटर जल में 5g से 10g की मात्रा में कपड़े की पोटली बनाकर जलपात्र में छोड़ने या सीधा जलपात्र में डालकर कुछ मिनटों के पश्चात् पतले कपड़े से छानकर भस्म जल के सेवन करने पर अनेक प्रकार के लाभ देखे गये हैं। जैसे-

- ब्लड ऑक्सीजन लेबल बढ़ने से लेकर अनेक प्रकार की एलर्जी एवं मिनरल डेफिशिएन्सीज़ आदि व्याधियों में चमत्कारी परिणाम प्राप्त होता है।
- गोघृत या एलोवेरा के साथ भस्म को मिलाकर पेस्ट बना के रोगग्रस्त स्थान में लेपन करने से रोपण कर्म (Healing) शीघ्रता से होता है।
- भस्म से युक्त जलस्नान करने से कील-मुँहासों से लेकर पुराने घाव भी ठीक होते हैं तथा निरन्तर इसके प्रयोग से शरीर में दाग भी नहीं रहते अर्थात् चर्मरोग को ठीक रखने के लिए यज्ञभस्म वरदान रूप औषधि है।
- एक परीक्षण से यह भी सिद्ध हुआ है कि Atomic Radiation से प्रभावित अन्न को भस्म के पानी में डालकर कुछ घण्टे रखने से एटॉमिक रेडिएशन का प्रभाव कम हो जाता है।

स्मरणीय बिंदु-

1. सूक्ष्मीकरण का सिद्धांत यज्ञ में जब औषधियाँ अग्नि में डाली जाती हैं, तो वे सूक्ष्म (गैसीय रूप) होकर शरीर के रक्त प्रवाह और कोशिकाओं तक तुरंत पहुँचती हैं।
2. समिधा और सामग्री रोगों के अनुसार अलग-अलग लकड़ियाँ (समिधा) जैसे आम, पीपल, गूलर और विशिष्ट जड़ी-बूटियों का प्रयोग अनिवार्य है।
3. मानसिक स्वास्थ्य यज्ञ की पवित्र अग्नि और मंत्रों के उच्चारण से एकाग्रता बढ़ती है और अवसाद व तनाव कम होता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: यज्ञ चिकित्सा से आप क्या समझते हैं? इसके वैज्ञानिक सिद्धांतों का वर्णन करते हुए स्पष्ट कीजिए कि यह वायु प्रदूषण निवारण और स्वास्थ्य रक्षा में किस प्रकार सहायक है?

प्रश्न 2: यज्ञोपैथी एक संपूर्ण चिकित्सा पद्धति है इस कथन की पुष्टि कीजिए। विभिन्न साध्य एवं असाध्य रोगों में प्रयुक्त होने वाली मुख्य हवन सामग्रियों और उनके प्रभावों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: यज्ञ चिकित्सा में मंत्र शक्ति और औषधीय धूम्र के अंतर्संबंध को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2: श्वास संबंधी रोगों के लिए यज्ञ चिकित्सा की विधि और लाभ बताइए।

प्रश्न 3: यज्ञ के लिए प्रयुक्त होने वाले पात्र (कुंड) और समिधाओं (लकड़ियों) का चुनाव कैसे करना चाहिए?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1: यज्ञ चिकित्सा में औषधियों को अग्नि में डालने पर वे किस अवस्था में परिवर्तित हो जाती हैं, जिससे वे अधिक प्रभावशाली होती हैं?

(क) ठोस अवस्था

(ख) गैसीय (सूक्ष्म) अवस्था

(ग) केवल राख (भस्म)

(घ) तरल अवस्था

प्रश्न 2: मानसिक शांति और एकाग्रता बढ़ाने के लिए यज्ञ चिकित्सा में किस तत्त्व का सर्वाधिक महत्त्व है?

(क) केवल ईंधन का

(ख) मंत्रों की ध्वनि तरंगों और आहुति का

(ग) केवल कुंड के आकार का

(घ) जल का

प्रश्न 3: वायुमण्डल को शुद्ध करने और कीटाणुओं के नाश के लिए यज्ञ में किन औषधियों का प्रयोग प्रमुखता से किया जाता है?

(क) केवल मीठे पदार्थ

(ख) गुग्गुल, कपूर और गंधक युक्त औषधियाँ

(ग) केवल हरी पत्तियां

(घ) सूखी घास

प्रश्न 4: यज्ञोपैथी शब्द का अर्थ क्या है?

(क) केवल धार्मिक अनुष्ठान

(ख) यज्ञ के माध्यम से रोगों का उपचार

(ग) केवल दान-पुण्य करना

(घ) वनों की रक्षा करना

प्रश्न 5: फेफड़ों और रक्त शुद्धि के लिए यज्ञ की औषधियाँ शरीर में किस मार्ग से प्रवेश करती हैं?

(क) त्वचा के लेप से

(ख) श्वास (नासिका) और रोमछिद्रों के माध्यम से

(ग) केवल भोजन के माध्यम से

(घ) इनमें से कोई नहीं

इकाई- 2.2 आयुर्वेदिक-धूम चिकित्सा (वायुतत्व)

उद्देश्य-

1. औषधीय जड़ी-बूटियों के दहन से उत्पन्न धूम्र (धुएँ) के चिकित्सीय प्रभावों और उसके वैज्ञानिक महत्त्व को समझाना।
2. श्वास संस्थान और नासिका संबंधी रोगों के निवारण हेतु धूम चिकित्सा की विधि का बोध कराना।
3. वायुमण्डल में व्याप्त सूक्ष्म कीटाणुओं के नाश और मानसिक शांति के लिए औषधीय धूम्र के उपयोग का प्रशिक्षण देना।

आयुर्वेद में औषधियों के धूम से कई प्रकार के रोगों को दूर करने का विधान है। यहाँ तक कि स्वस्थ व्यक्ति को भी अपने स्वास्थ्य रक्षण व संवर्धन के लिए प्रतिदिन औषधीय द्रव्यों से निर्मित धूम का सेवन करना चाहिए।

धूमपान करने से सिर का भारीपन, सिरदर्द, पीनस (sinus), आधाशीशी का दर्द, कर्णशूल, नेत्रशूल, खाँसी, हिचकी, दमा, गला-घुटना, दाँतों की दुर्बलता, कान व आँख से दोष जन्य पानी बहना, नाक से दुर्गन्ध, दन्त शूल, अरुचि, हनुग्रह (जबड़े का बैठ जाना तथा कम खुलना), मन्यास्तम्भ (Cervical spondylitis) जिसमें गर्दन टेढ़ी हो जाती है, कण्डू (खुजली), कृमि, चेहरे का पीला पड़ना, मुख से कफ निकलना, स्वरभेद (गला-बैठना), गलशुण्डिका (Tonsillitis), उपजिह्विका (जिह्वा के पास एक गाँठ), सिर के बाल झड़ना, पीला पड़ना तथा गिरना, छींक आना, अतितन्द्रा, जड़ता, अतिनिद्रा आदि रोग शान्त होते हैं तथा श्रोत्र-त्वचा- चक्षु-जिह्वा-घ्राण तथा कण्ठ-स्वर का बल बढ़ जाता है। जत्रु (गले के नीचे गोल हड्डी) के ऊपरी भाग में होने वाले सभी रोग अर्थात् विशेषकर शिरः प्रदेश में होने वाले वातकफजन्य रोग अधिक प्रबल नहीं होते।

धूमोपयोगात्पुरुषः प्रसन्नेन्द्रियवाङ्मनः।

दृढकेशद्विजश्मश्रुः सुगंधिवदनो भवेत्।। -(बृ.नि.रत्न.धूमपान.- पृ. 1073)[1]

धूम के उपयोग द्वारा मनुष्य चक्षुरादि इन्द्रिय, वाणी तथा अंतःकरण से प्रसन्न रहता है; केश, दाँत और दाढ़ी मजबूत होते हैं तथा मुख सुगंधित रहता है।

मनस्तापं रजः क्रोधं धूमपाने निवारयेत्। -(बृ.नि.रत्न.धूमपान.- पृ. 1076)[2]

धूमपान करने से मन का संताप, रजोगुण तथा क्रोध दूर होता है।

अन्येऽपि धूमा गेहेषु कर्त्तव्या रोगशान्तये।

मयूरपिच्छं निम्बस्य पत्राणि बृहतीफलम्।।

मरिचं हिङ्गु मांसी च बीजं कार्पाससम्भवम्।

गजदन्तश्च तच्चूर्णं किञ्चिद्घृतविमिश्रितम्।

गेहेषु धूपनं दत्तं सर्वान्बालग्रहाञ्जयेत्।

पिशाचान्राक्षसाञ्जित्वा सर्वज्वरहरं भवेत्। -(शारङ्गधर सं. उ.ख. 21-24)[3]

रोगों के शमनार्थ घर में धूप देना चाहिए। इसके लिए मोर का पंख, नीम पत्र, बड़ी कटेरी का फल, काली मिर्च, हींग, जटामांसी, कपास ये सब समान मात्रा में लेकर के चूर्ण बनाते हैं और घी मिलाकर गोला-सा बना लेते हैं। इसको घर में जलाने से बच्चों के सभी प्रकार के लगने वाले ग्रह तथा सूक्ष्म जीवों (spirits, germs & bacteria) से होने वाले सभी प्रकार के उपद्रव-ज्वर आदि दूर हो जाते हैं।

शार्ङ्गधर संहिता में धूम के छः प्रकार बताये हैं-

धूमस्तु षड्विधः प्रोक्तः शमनो बृंहणस्तथा।

---

1 . Vaisya, Saligram (2007). Bṛhannighaṇṭuratnākara. Mumbai (India): Khemraj Shrikrishnadass Prakashan. Pg. 1073

2 . Vaisya, Saligram (2007). Bṛhannighaṇṭuratnākara. Mumbai (India): Khemraj Shrikrishnadass Prakashan. Pg. 1076

3 . Parashar, Radha Krishana (1961). Śārañgadhara-Saṁhitā. First Edition. Nagpur (India): Shri Vaidyanath Āyurveda Bhawan Private Limited. Uttara Khand 21:24;

रेचनः कासहा चैव वामनो व्रणधूपनः॥ (शा.सं. उ.ख.9.1)[4]

1. शमन (Palliative) - यह दुष्ट दोषों को बाहर न निकालकर अन्दर ही शान्त कर देता है।
2. बृंहण (Strengthening)- यह धातुओं (रस रक्तादि) की पुष्टि करता है।
3. रेचन (Purgative) - यह दुष्ट दोषों को शरीर से बाहर निकाल देता है।
4. कासहा (Antitussive) - यह खाँसी को दूर करता है।
5. वामन (Emetic) - यह वमन कराता है।
6. व्रण धूपन (Fumigation of ulcers) - यह व्रण की कीटाणुओं से रक्षा करता है और शीघ्र ही व्रण के रोपण के लिए प्रयुक्त होता है।

चरक संहिता के सद्वृत्त में तीन प्रकार के धूमप्रयोग का उपदेश है-

प्रायोगिक, स्नैहिक, शिरोवैरेचनिक।

1. स्नैहिक (बृहंण/मृदु) वात दोष में-

अगर, गुग्गुलु, शल्लकी, शैलेयक (छरीला), नलद, ह्रीबेर (सुगंधबाला), हरेणु (निर्गुण्डी), उशीर (खस), मुस्ता (नागरमोथा), वरांग, श्रीवेष्टक (चीड़ के गोंद), स्थौणेयक (थुनेर), परिपेलव, ऐलवालुक, कुन्दरु, सर्जरस, मुलेठी, फलसार, मोम (मधुमक्खी का छत्ता), मधूक (महुए का पुष्प),बिल्वफल की मज्जा, जौ, तिल, माष, द्राक्षा (मुनक्का), वसा, केसर, घी ये स्नैहिक धूम के लिए उपयोगी हैं।

2. प्रायोगिक (शमन/मध्यम) वात-कफ दोष में-

मुलेठी, पद्माख, मंजीठ, सारिवा, मुस्ता (नागरमोथा), पुन्नाग (नागकेसर), तमाल (तेजपत्र), पृथ्वीका (बड़ी इलायची), हरेणु (निर्गुण्डी), लाक्षा, शल्लकी, शर्करा, मदनक (मैनफल), मरूबक (मरवा), बरगद, पिप्पली, पिलखन, गूलर की छाल, पद्म, उत्पल और सर्वगन्ध वाले द्रव्य प्रायोगिक धूम्रपान में उपयोगी हैं, कुष्ठ और तगर को छोड़कर।

3. शिरोवैरेचनिक (शोधन/तीक्ष्ण) कफ दोष में-

ज्योतिष्मती, निशा (हल्दी), दशमूल, मनोह्वा (मनःशिला), अलम् (हरिताल), लाक्षा, श्वेता (कटभी), त्रिफला, कुष्ठ, तगर, कोल और शिरोविरेचन-गण की औषधियाँ तीक्ष्ण (वैरेचनिक) धूमपान के द्रव्य हैं।

व्याधि के अनुसार धूपन

1. वस्त्रधूपन एवं साँप कृम्यादि का विनाश-

सर्षपारिष्टपत्राभ्यां सर्पिषा लवणेन च।

द्विरह्नःकारयेद् धूपं दशरात्रमतन्द्रितः॥-(सु.सं.सू. स्थान 19.28)[5]

सरसों, नीम पत्र, घृत और नमक इनके द्वारा दिन में दो बार दस दिन तक निरन्तरतापूर्वक धूनी देनी चाहिए। प्राचीन विद्वानों ने घाव को भरने या सुखाने के लिये शय्या, वस्त्र, भवन आदि को प्रदूषण एवं जीवाणुरहित करने के लिये धूपन के लाभ बताये हैं।

शिखिपिच्छं बलाकास्थि सर्षपाश्चन्दनं घृतम्।

धूपो विषघ्नः शयनवसनासनगेहगः॥ -(अष्टाङ्गसंग्रह 8.119)[6]

मोर का पंख, सरसों, चन्दन, घी इनको कूटकर धुंआ देने से बिस्तर, आसन, वस्त्र एवं गृह में स्थित विषैले तत्त्वों का नाश होता है।

---

4 . Parashar, Radha Krishana (1961). Śārañgadhara-Saṁhitā. First Edition. Nagpur (India): Shri Vaidyanath Āyurveda Bhawan Private Limited. Uttara Khand 09:01;

5 . Sharma, Anant Ram (2001). Suśruta Saṁhitā Vol.I. First Edition. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Sūtra Sthāna 19:28,

6 . Gupta, Atrideva (2002). Aṣṭāñga Saṁgraḥa. Varanasi (India): Krishna Das Academy.

- वस्त्रों (बिस्तर, चादर और ओढ़ना) के शुद्धिकरण के लिए धूपन योग्य द्रव्य जौ, सरसों, हींग, गुग्गुल, वच, ब्राह्मी, सफेद दूब, जटामांसी, लाख, अशोक, कुटकी, अपामार्ग, नीम आदि औषधियों का धूपन देने से वस्त्र शुद्ध व सुगन्धित हो जाते हैं।
- लाख, खस, तेजपत्ता, गुग्गुल, भिलावा, अर्जुन पुष्प, राल, श्वेत अपराजिता इनको समभाग में लेकर धूपन करने से साँप, चूहा आदि व कपड़े में रहने वाले छोटे कृमि नष्ट होते हैं।

2. विषम ज्वर (Malaria/Typhoid)–

- **पलङ्कषा निम्बपत्रं वचा कुष्ठं हरीतकी।**

सर्षपाः सयवाः सर्पिर्धूपनं ज्वरनाशनम्॥ –(भैषज्यरत्नावली 411, 125)[7]

- गुग्गुल, नीम की पत्ती, वच, कूठ, हरड़, सरसों, जौ और घी एकत्र मिलाकर अग्नि में डालकर धुँआ लेने से विषम ज्वर नष्ट होता है।
- **वचा हरीतकीसर्पिर्धूपःस्याद्विषमज्वरे।** –(बृ.नि.रत्न. विषमज्वर. पृ. 1452)[8]

वच, हरड़ और घी इनकी धूनी से विषमज्वर का नाश होता है।

3. ज्वर (Fever)–

जपहोमप्रदानेन वेदानां श्रवणेन च।
ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च॥ –(चं.सं.चि. स्थानम्–3.314)[9]

जप, हवन, दान, वेदों का श्रवण और सज्जन–पुरुषों के दर्शन से रोगी मनुष्य शीघ्र ही ज्वर–मुक्त हो जाता है।

वच, कूठ, गुग्गुल, नीमपत्र और शहद इनकी धूनी देने से सभी प्रकार के ज्वरों का नाश होता है।

मसूरातुषकेर्धूपः सर्वज्वरगदापहः। –(बृ.नि.रत्न. विषमज्वर. पृ. 1452)[10]

मसूर की भूसी की धूनी देने से सभी प्रकार के ज्वर दूर होते हैं।

पुरध्यामवचासर्जनिंबार्कोऽगरूदारुभिः।
सर्वज्वरहरो धूपः श्रेष्ठो यमपराजितः॥ –(बृ.नि.रत्न. विषमज्वर. पृ. 1452)[11]

गुग्गल, वच, राल, नीम पत्र, अर्क पत्र, अगर और दारुहल्दी– इनकी धूनी सभी प्रकार के ज्वरों को नष्ट करती है, इसे अपराजित धूम कहते हैं।

4. कुष्ठ (Skin Diseases)–

वैरेचनिकेर्धूमैः श्लोकस्थानेरितैः प्रशाम्यन्ति।
कृमयः कुष्ठकिलासाः प्रयोजितैरुत्तमाङ्गस्थाः॥ –(चं.सं.चि. स्थानम्–7.49)[12]

अपराजिता, मालकांगनी, हरताल, मैनसिल, अगर, तेजपत्र आदि गन्धवर्ग की औषधियों के धूम से शिर में होने वाले कृमि, कुष्ठ और किलास (श्वेत कुष्ठ) नष्ट हो जाते हैं।

---

7 . Das, Govind (2005). Bhaiṣajyaratnāvalī. Eighteenth Edition. New Delhi (India): Chaukhambha Publications.

8 . Vaisya, Saligram (2007). Bṛhannighaṇṭuratnākara.Vol. Mumbai (India): Khemraj Shrikrishnadass Prakashan. Pg. 1452

9 . Tripathi, Brahmanand & Pandey, Ganga Sahay (2005). Caraka-Saṁhitā Vol.II. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Cikitsā Sthāna 3:314.

10 . Vaisya, Saligram (2007). Bṛhannighaṇṭuratnākara. Mumbai (India): Khemraj Shrikrishnadass Prakashan. Pg. 1452

11 . Vaisya, Saligram (2007). Bṛhannighaṇṭuratnākara. Mumbai (India): Khemraj Shrikrishnadass Prakashan. Pg. 1452

12 . Tripathi, Brahmanand & Pandey, Ganga Sahay (2005). Caraka-Saṁhitā Vol.II. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Cikitsā Sthāna 7:49.

5. उन्माद (Psychosis)–

- अपराजिता, मालकाङ्गनी, हरताल, मैनसिल, अगर, तेजपत्र आदि गन्धवर्ग की औषधियों के धूम से उन्माद ठीक होता है। (चं.सं.चि. स्थानम्–9.73)[13]
- दैवव्यपाश्रय उपचार में यज्ञ, हवन आदि के द्वारा उन्माद की चिकित्सा का विधान है। (च.चि.–9.90–93)[14]

6. अपस्मार/मिर्गी (Epilepsy)–

- पिप्पली, सैन्धानमक, हींग, हींगपत्र, क्षीरकाकोली, पीली सरसों, बकायन छाल, रक्त चन्दन इनका बारीक चूर्ण कर अपस्मार रोगी को लेप करे व इनसे धूपन करे। (चं.सं.चि. स्थानम्–10.38)[15]

7. अर्श/बवासीर (Piles)–

- **अश्वगंधोऽथ निर्गुंडी बृहतीपिप्पलीफलम्।**
  धूपो यं स्पर्शमात्रेण ह्यर्शसां शमने ह्यलम्॥ –(बृ.नि.रत्न. विषमज्वर. पृ. 1706)[16]
  अश्वगंधा, निर्गुंडी, कटेरी, पिप्पली इनकी धूनी बवासीर में हितकारी है।
- अर्क मूल तथा घी की धूप गुदा में देने से हितकारी होती है।
- **रालचूर्णस्य तैलेन सार्षपेण युतस्य च।**
  धूपदानेन युक्त्यार्शो रक्तस्रावो निवर्तते॥ –(बृ.नि.रत्न. विषमज्वर. पृ. 1711)[17]
  सार (राल) का चूर्ण तथा सरसों एकत्र कर धूनी दें तो बवासीर और रुधिर का स्राव बंद होता है।
- यदि बवासीर से ग्रस्त रोगी की गुदा से रुधिर अधिक निकलता हो, तो कपूर की धूनी देने से रुधिर गिरना बंद हो जाता है।

यवास्सिद्धार्थकाश्चैव भल्लातकमथो वसा।
धूपनं चन्दनं कुष्ठं शिंशपासार एव च॥
गवां शकृच्च वाराहं पत्रे वारिशशिग्रजे।
घृतमिश्रं प्रंशसन्ति श्रेष्ठं धूपनमर्शसाम्॥ –(भेल संहिता. 84.85, पृ. 411)[18]

यव, सरसों, भिलावा फल, वसा, चन्दन, कूठ, शीशम की लकड़ी, गाय का गोबर तथा राल धूप के साथ रीठा एवं सहिजन के पत्ते के साथ घी मिलाकर धूपन करना, अर्श–नाशार्थ (बवासीर) श्रेष्ठ फलप्रद कहा गया है।

8. हिक्का/हिचकी (Hiccup)–

- राल व मैनसिल का धूम देने से हिक्का नष्ट होती है। (चं.सं.चि. स्थानम्–17.77–80)[19]

माषचूर्णभवो धूमो हिक्कां हन्ति न संशयः। –(भैषज्यरत्नावली. 8. पृ. 458)[20] माष (उड़द) चूर्ण का धूम ग्रहण करने से हिक्का

13. Tripathi, Brahmanand & Pandey, Ganga Sahay (2005). Caraka-Saṁhitā Vol.II. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Cikitsā Sthāna 9:73.
14. Tripathi, Brahmanand & Pandey, Ganga Sahay (2005). Caraka-Saṁhitā Vol.II. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Cikitsā Sthāna 9:90-93.
15. Tripathi, Brahmanand & Pandey, Ganga Sahay (2005). Caraka-Saṁhitā Vol.II. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Cikitsā Sthāna 10:38.
16. Vaisya, Saligram (2007). Bṛhannighaṇṭuratnākara. Mumbai (India): Khemraj Shrikrishnadass Prakashan. Pg. 1706
17. Vaisya, Saligram (2007). Bṛhannighaṇṭuratnākara. Mumbai (India): Khemraj Shrikrishnadass Prakashan. Pg. 1711
18. Krishnamurthy, K.H. (2000). Bhela-Saṁhitā. First Edition. Varanasi (India): Chaukhambha Visvabharati. Bhela Saṁhitā 84:85.
19. Tripathi, Brahmanand & Pandey, Ganga Sahay (2005). Caraka-Saṁhitā Vol.II. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Cikitsā Sthāna 17:77-80.
20. Das, Govind (2005). Bhaiṣajyaratnāvalī. Eighteenth Edition. New Delhi (India): Chaukhambha Publications.

(हिचकी) मिट जाती है।

9. क्षयज कास (T.B., Cough)–

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथोऽश्नुते।

यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धोऽश्नुते। (अथर्ववेद-19.38.1)

जिस व्यक्ति को गुग्गुल औषधी की सुगन्ध प्राप्त होती है, उसे न टी.बी. रोग बाधित करता है और न ही श्राप व मानसिक रोग आदि।

- मैनसिल, हरताल, मुलेठी, जटामांसी, नागरमोथा एवं हिंगोट फल आदि औषधियों का धूम लेने से कास रोग ठीक होता है।
- भारङ्गी, वचा, हिङ्गु, खाण्ड एवं घृत के धूपन का प्रयोग लाभप्रद है।

अर्कमूलशिलैस्तुल्यं ततोऽर्धेन कटुत्रिकम्।

चूर्णितं वह्निनिक्षिप्तं पिबेत् धूमं तु योगवित्॥

भक्षयेदथ तांबूलं पिबेद्दुग्धमथापि वा।

कासः पंचविधो याति शांतिमाशु न संशयः॥ -(बृ.नि.रत्न. कासकर्मविपाकः पृ. 239)[21]

अर्क मूल और मैनसिल समान मात्रा में तथा इनसे आधी मात्रा में सोंठ, मरिच (कालीमिर्च) व पिप्पली- इनके चूर्ण को अग्नि पर डाल के धुँआ ले और दूध पीवें तो पाँच प्रकार की खाँसी नष्ट होती, इसमें सन्देह नहीं है।

10. कफज प्रतिश्याय/जुकाम (Common Cold)–

मैनसिल, वच, सौंठ, काली मरिच, पिप्पली, वायविडंग, हींग, गुग्गुल, आँवला, हरड़, बहेड़ा आदि औषधियों का धूम लेने से ठीक हो जाता है।-(चं.सं.चि. स्थानम्-26.149-152)[22]

11. कफज तिमिर (Conjunctivitis)–

वायविंडग, अपामार्ग, हिंगोट की छाल एवं खस के धूम से नेत्र रोग ठीक होता है तथा मधु व सहिजन बीज से भी ठीक होता है।-(सु.सं.उ.तंत्र 17.42)[23]

12. शिरो रोग (Headache)–

- शिरोगत मल-द्रव्यों के निष्कासन तथा मस्तिष्क के पोषण में हिङ्गोट-छाल के चूर्ण का धूम उपयोगी है। (सु.सं.उ.तंत्र 26.21)[24]
- वायविडङ्ग आदि औषधियों को अग्नि में डालकर धूम देने से कृमि बाहर निकल कर गिर पड़ते हैं। (सु.सं.उ.तंत्र 26.29)[25]

13. शिशुनैरोग्य हेतु धूपन (Child Health)–

- देवदारु, वचा, हींग, कुष्ठ, कदम्बपुष्प, छोटी इलायची और हरेणुका (निर्गुण्डी) इनका चूर्ण कर घृत में मिलाकर के निध

---

21. Vaisya, Saligram (2007). Bṛhannighaṇṭuratnākara.Vol. Mumbai (India): Khemraj Shrikrishnadass Prakashan. Pg. 239
22. Tripathi, Brahmanand & Pandey, Ganga Sahay (2005). Caraka-Saṁhitā Vol.II. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Cikitsā Sthāna 26:149-152.
23. Sharma, Anant Ram (2001). Suśruta Saṁhitā Vol.III. First Edition. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Uttara Tantra 17:42
24. Sharma, Anant Ram (2001). Suśruta Saṁhitā Vol.III. First Edition. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Uttara Tantra 26:21
25. Sharma, Anant Ram (2001). Suśruta Saṁhitā Vol.III. First Edition. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Uttara Tantra 26:29

ूम अग्नि पर डालकर उत्पन्न धूम से बच्चे को धूपित करना चाहिए। (सु.सं.उ.तंत्र 32.6।[26]

- वचा, राल, कुष्ठ तथा घृत इन्हें मिला के अङ्गारे पर रखकर धूनी देवें। (सु.सं.उ.तंत्र 35.6)[27]
- श्वेत सरसों, वचा, हींग, कूठ, अक्षत (चावल या जौ), भिलावा, अजमोदा इनके चूर्ण को अङ्गारों पर डालकर धूनी देवें। -(सु.सं.उ.तंत्र 37.7)[28]

14. श्वासरोग (Asthma)–

- मैनसील, देवदारु, हरिद्रा, तेजपत्र, गुग्गुल, लाक्षा, एरण्डमूल इन सबको समान मात्रा में लेकर धूपन लेना चाहिए। (सु.सं.उ. तंत्र 51.50)[29]
- घृत, जौ, मोम (मधुमक्खी का छत्ता) और राल इन्हें मिलाकर अथवा इन्हें पृथक्-पृथक् धूम के लिए प्रयोग करें।
- सिंहलक, शल्लकी (गोंद), गुग्गुल, पद्माख (पद्मगंधि) इनके चूर्ण का धूम देना चाहिए। -(सु.सं.उ.तंत्र 52.51-52)[30]

15. कृमि रोग (Worm Infestation)–

विशालायाः फलं पक्वं तप्तलोहोपरि क्षिपेत्।

तद्धूमो दंतलग्नश्चेत् कीटानां पातनः परः॥ -(बृ.नि.रत्न. कृमिरोगाधिकारः पृ. 63)[31]

इन्द्रायण के पके फलों को गर्म तवे पर डालें, इसके धुंए से दाँतों में जो कीड़ा होता है, वह तत्काल मर जाता है। यह प्रयोग परमोत्तम है।

गुग्गुलुं समधुघृतं तेन धूपेन धूपयेत्।

मन्त्रेण तेन हारीत तर्जयेद् ग्रहपीडितम्॥ -(हारीत.सं. 3.55.26)

गुग्गुल में मधु और घी मिला कर धूप बनाकर ग्रह से पीड़ित रोगी को ताड़ित करना चाहिए।

गुग्गुलं धूपकामार्थं प्रसिद्धं मंगलप्रदम्।

बाह्याभ्यान्तरदेहस्य शोधनार्थं प्रकल्पयेत्॥

स्वादुत्वान्मरुतं निहन्ति च कफं तिक्तात्कषायात्पुनः।

पित्तं स्निग्धतया ददाति च बलं वह्निं कटुत्वात्पुनः॥

तद् युक्त्या विनिहन्ति पाण्डूदरानार्शःस्तम्भशूलामयांश्च।

वातास्रकृमिकुष्ठमेहविषहृन्मेदोऽम्लपित्तोर्ध्वजान्॥ -(चिकित्सार्णव.)[32]

गुग्गुल धूपन कर्म के लिए प्रसिद्ध है तथा मंगलदायक होता है। वह शरीर के वाह्य तथा आभ्यन्तर शोधन के लिए उपयोग में आता है। गुग्गुल मधुर रस के कारण वातनाशक होता है, तिक्त रस के कारण कफनाशक तथा कषाय रस के कारण पित्तनाशक होता है। वह स्निग्ध गुण के कारण बलदायक तथा कटु रस के कारण अग्निदीपक होता है। युक्तिपूर्वक प्रयोग करने से वह पाण्डु, उदर रोग, अर्श, स्तम्भ, शूल, वातरक्त, कृमिरोग, कुष्ठरोग, प्रमेह, विष, हृदयरोग, मेदोरोग, अम्लपित्त तथा ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों का

26. Sharma, Anant Ram (2001). Suśruta Saṁhitā Vol.III. First Edition. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Uttara Tantra 32:6
27. Sharma, Anant Ram (2001). Suśruta Saṁhitā Vol.III. First Edition. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Uttara Tantra 35:6
28. Sharma, Anant Ram (2001). Suśruta Saṁhitā Vol.III. First Edition. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Uttara Tantra 37:7
29. Sharma, Anant Ram (2001). Suśruta Saṁhitā Vol.III. First Edition. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Uttara Tantra 51:50
30. Sharma, Anant Ram (2001). Suśruta Saṁhitā Vol.III. First Edition. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Uttara Tantra 52:51-52
31. Vaisya, Saligram (2007). Bṛhannighaṇṭuratnākara. Mumbai (India): Khemraj Shrikrishnadass Prakashan. Pg. 63
32. Lwahekar, G.S (2009). Cikitsārṇavah. First Edition. New Delhi (India): Kendriya Āyurveda & Siddha Anusandhan Parisad Jawahar Lal Nehru Bhartiya Chiktsa & Homeopathy Anusandhan Bhawan. Pg. 331

विनाश करता है।

निम्बपत्रवचाहिंगुसर्पनिर्मोकसर्षपैः।

डाकिन्यादिहरो धूपो भूतोन्मादविनाशनः॥ -(चिकित्सार्णव. पृ. 70/373)[33]

नीम की पत्ती, वचा, हींग और सरसों- इन्हें समभाग में लेकर धूप देने से दोष और भूतोन्माद नष्ट हो जाता है।

श्रीवासगुग्गुल्वगुरुशालनिर्यासधूपिताः।

कठिनत्वं व्रणं यान्ति नश्यन्त्यास्रावदनाः॥ -(भैषज्यरत्नावली. 47.823)[34]

गन्धविरोजा, गुग्गुल, अगरु एवं राल- इन चारों द्रव्यों को चूर्ण कर धूपन देने से दूषित व्रण का स्राव, वेदना एवं कृमियाँ नष्ट हो जाती हैं। साथ ही जो व्रण दीर्घ काल के कारण कठिन हो जाते हैं, वे भी इस धूपन से नष्ट हो जाते हैं।

आरोग्यकामो दूर्वाभिर्गुरूत्पाते स एव हि।

सौभाग्येच्छुर्गुग्गुलुना विद्यार्थी पायसेन (च)॥ -(अग्निपुराण 215.28)

आरोग्य का इच्छुक और महान् उत्पात से आतङ्कित मनुष्य को दूर्वा का, सौभाग्याभिलाषी को गुग्गुल का और विद्या के इच्छुक को खीर का हवन करना चाहिये।

जपन्निन्द्रमिति स्नातो वैश्वदेवं तु सप्तकम्।

छित्त्वा सर्वान्मृत्युपाशाञ्जीवेद्रोगविवर्जितः। -(अग्निपुराण 259.27-29)

गूलर की घृतयुक्त समिधाओं का हवन करने से मनुष्य समस्त पाशों का छेदन करके रोगहीन जीवन बिताता है।

दूर्वा व्याधिविनाशिनी होमयेत्॥ -(अग्निपुराण 81.52)

दूर्वा का हवन व्याधि (बीमारियों) का विनाश करने वाला है।

वृक्षाणां यज्ञियानां तु समिधाः प्रथमं हविः।

आज्यं च व्रीहयश्चैव तथा वै गौरसर्षपाः॥

अक्षतानि तिलाश्चैव दधिक्षीरे च भार्गव।

दर्भास्तथैव दूर्वाश्च बिल्वानि कमलानि च॥

शान्तिपुष्टिकराण्याहुर्द्रव्याण्येतानि सर्वशः॥ -(अग्निपुराण 262.22-24)

यज्ञ-सम्बन्धित वृक्षों की समिधाएँ सबसे मुख्य हविष्य हैं। इसके अतिरिक्त घृत, धान्य, श्वेत सर्षप (सरसों), अक्षत, तिल, दुग्ध, कुश, दूर्वा, बिल्व और कमल-ये सभी द्रव्य शान्तिकारक एवं पुष्टिकारक बताये गये हैं।

गायत्र्या हावयेद्वह्नौ दूर्वां त्रिमधुराप्लुताम्॥ -(अग्निपुराण 280.5)

त्रिमधुर (शर्करा, गुड़, मधु) में डुबायी हुई दूर्वा का गायत्री-मन्त्र से हवन करने पर मनुष्य सब रोगों से छूट जाता है।

लक्षं ग्रहादिनाशः स्यादुत्पातं तिलहोमतः।

दिव्ये लक्षं तदर्धेन व्योमजोत्पातनाशनम्॥

घृतेन लक्षपातेन उत्पाते भूमिजे हितम्।

घृतगुग्गुलहोमे च सर्वोत्पातादिमर्दनम्॥ (अग्निपुराण 321.5,6)

तिल के हवन करने से ग्रह आदि उत्पातों का विनाश होता है। एक लक्ष (लाख) जप-हवन से द्युस्थ उत्पात का, आधे लक्ष जप-हवन से आकाशज उत्पात का तथा घी की एक लाख आहुति देने से भूमिज उत्पात का निवारण और घृत मिश्रित गुग्गुल के हवन से सम्पूर्ण उत्पात आदि का शमन हो जाता है।

दूर्वाक्षताज्यहोमेन व्याधयोऽथ घृतेन च।

सहस्रेण तु दुःस्वप्ना विनश्यन्ति न संशयः॥ -(अग्निपुराण 321.7,8)

---

33. Lwahekar, G.S (2009). Cikitsārṇavah. First Edition. New Delhi (India): Kendriya Āyurveda & Siddha Anusandhan Parisad Jawahar Lal Nehru Bhartiya Chiktsa & Homeopathy Anusandhan Bhawan. Pg. 70:373

34. Das, Govind (2005). Bhaiṣajyaratnāvalī. Eighteenth Edition. New Delhi (India): Chaukhambha Publications.

दूर्वा, अक्षत तथा घी की आहुति देने से सारे रोग दूर होते हैं। केवल घी की एक सहस्र (1000) आहुति से बुरे स्वप्न नष्ट हो जाते हैं, इसमें संदेह नहीं है।

स्मरणीय बिंदु-

1. गैसीय अवस्था औषधियाँ जब धूम्र (गैस) के रूप में ली जाती हैं, तो वे ठोस या तरल दवाओं की तुलना में अधिक तीव्र गति से प्रभाव डालती हैं।
2. सावधानी धूम चिकित्सा के दौरान अत्यधिक धुआं आँखों में नहीं जाना चाहिए और केवल निर्देशित औषधीय समिधाओं का ही प्रयोग करना चाहिए।
3. नासिका मार्ग नासिका के माध्यम से लिया गया औषधीय धूम्र मस्तिष्क के केंद्रों को सक्रिय करने और कफ दोष को दूर करने में अत्यंत प्रभावी है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1: धूम चिकित्सा से आप क्या समझते हैं? इसके वैज्ञानिक आधार की व्याख्या कीजिए और श्वास संबंधी रोगों के उपचार में इसकी उपयोगिता सिद्ध कीजिए।

प्रश्न 2: नासिका हि शिरसो द्वारम् (नाक मस्तिष्क का द्वार है) - इस संदर्भ में धूम चिकित्सा की कार्यप्रणाली और इसके विभिन्न रोगों पर पड़ने वाले प्रभावों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1: धूम चिकित्सा के दौरान प्रयोग की जाने वाली किन्हीं पांच मुख्य औषधियों के नाम और उनके लाभ लिखिए।

प्रश्न 2: सामान्य सर्दी-जुकाम और साइनस में धूम चिकित्सा किस प्रकार राहत पहुँचाती है?

प्रश्न 3: घर के वातावरण को संक्रमण मुक्त करने के लिए धूम चिकित्सा का प्रयोग कैसे किया जाता है?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1: धूम चिकित्सा में औषधियाँ शरीर के भीतर मुख्य रूप से किस मार्ग से प्रवेश करती हैं?

(क) केवल त्वचा के माध्यम से

(ख) श्वास (नासिका) और फेफड़ों के माध्यम से

(ग) केवल पाचन तंत्र के माध्यम से

(घ) इंजेक्शन द्वारा

प्रश्न 2: धूम चिकित्सा का सबसे तीव्र प्रभाव शरीर के किस संस्थान पर पड़ता है? (क) कंकाल तंत्र

(ख) श्वसन एवं तंत्रिका तंत्र

(ग) केवल मांसपेशी तंत्र

(घ) इनमें से कोई नहीं

प्रश्न 3: वातावरण की शुद्धि और हानिकारक जीवाणुओं के नाश के लिए धूम चिकित्सा में किसका प्रयोग प्रमुख माना गया है?

(क) साधारण सूखी घास

(ख) गुग्गुल, लोबान और नीम की पत्तियां

(ग) गीली लकड़ियाँ

(घ) प्लास्टिक

प्रश्न 4: आयुर्वेद और प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार धूम्र का गैसीय रूप औषधियों को कैसा बना देता है?

(क) भारी और दुर्गंधयुक्त

(ख) सूक्ष्म और शीघ्र प्रभावकारी

(ग) निष्प्रभावी

(घ) केवल सुगंधित

प्रश्न 5: साइनस और पुराने जुकाम में धूम चिकित्सा के लिए किस औषधि का प्रयोग कफ को ढीला करने के लिए किया जाता है?

(क) चीनी और दूध

(ख) अजवायन और काली मिर्च के धूम्र का

(ग) केवल ठंडे जल का

(घ) कपूर और नमक का लेप

इकाई- 2.3 उपवास और स्वास्थ्य चिकित्सा (आकाशतत्व)

उद्देश्य-

1. शरीर के शोधन में आकाश तत्त्व की भूमिका और उपवास के वैज्ञानिक महत्त्व को समझाना।
2. विद्यार्थियों को विभिन्न प्रकार के उपवासों (जैसे- जलोपवास, रसोपवास, फलहार) और उनके स्वास्थ्य लाभों से परिचित कराना।
3. विजातीय द्रव्यों को बाहर निकालने और जीवनीशक्ति को पुनः जाग्रत करने की विधि सिखाना।

आवश्यकता से अधिक भोजन करना आज की दुनिया में अन्वेषित सभी रोगों (मानसिक हो या शारीरिक) का जनक है। अतः इसके लिये प्राचीन मनीषियों ने उपवास (तप साधना) की व्यवस्था दी। भोजन बंद कर देना अथवा फल या सब्जी या जल पर आश्रित रहना ही उपवास नहीं है, वरन् उपवास का सम्बन्ध जीवन के सर्वांगीण विकास से है। उपवास का शब्दार्थ ही बहुत व्यापक है। उपवास दो शब्द उप (समीप) तथा वास (रहने) से मिल कर बना है, जिसका अर्थ होता है- आत्म स्थित अर्थात 'स्व' में स्थित होना। यही अर्थ 'स्वास्थ्य' का भी है। अतः उपवास और स्वास्थ्य का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। स्वास्थ्य का सम्बन्ध भी बहुत व्यापक है। इसका सम्बन्ध संतुलित (शारीरिक, आत्मिक, बौद्धिक तथा मानसिक) स्थितियों से है। अंग्रेजी में उपवास को 'फास्टिंग' करते हैं जो लैटिन शब्द 'फास्टेन' से बना है। इसका अर्थ दृढनिश्चय होता है। दृढनिश्चय तथा पूर्ण आस्था व विवेक के साथ शरीर एवं आत्मशोधन द्वारा स्वास्थ्य प्राप्ति (स्व में स्थित होने) का प्रयत्न ही उपवास कहलाता है।

पृष्ठभूमिः उपवास (Fasting)

उपवास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें किसी अवधि के लिए भोजन या पेय के सेवन को सीमित किया जाता है।

उपवास का सबसे तात्कालिक प्रभाव अग्न्याशय (pancreas) पर पड़ता है। जब प्लाज्मा ग्लूकोज का स्तर कम होता है, तो अग्न्याशय के लैंगरहांस द्वीपों (islets of Langerhans) में पाए जाने वाले अल्फा कोशिकाएं अधिक ग्लूकागन (glucagon) छोड़ती हैं। ग्लूकागन मुख्य रूप से यकृत (liver) को प्रभावित करता है क्योंकि वही शरीर में अधिकांश ग्लाइकोजन (glycogen) संग्रहीत करता है।

कंकाल पेशियाँ (skeletal muscles) भी ग्लूकागन से प्रभावित होती हैं, लेकिन कम मात्रा में, क्योंकि उनमें ग्लाइकोजन की मात्रा कम होती है। जब यकृत का ग्लाइकोजन समाप्त हो जाता है, तो शरीर ऊर्जा के लिए वसा ऊतक (adipose tissue) और प्रोटीन का उपयोग करता है। यकृत वसा चयापचय (fat metabolism) में सक्रिय भूमिका निभाता है, क्योंकि यह ट्राइग्लिसराइड्स (triglycerides) का मुख्य ऑक्सीकारक है।

पशु अध्ययनों से बार-बार यह साबित हुआ है कि अंतराल उपवास (intermittent fasting) से कई स्वास्थ्य संकेतकों में सकारात्मक और मजबूत सुधार होता है। इनमें इंसुलिन संवेदनशीलता में सुधार, शरीर की वसा में कमी, हानिकारक लिपिड्स, रक्तचाप और IGF&1 के स्तर में कमी शामिल हैं।

पशु मॉडलों ने यह भी दर्शाया है कि अंतराल उपवास से तंत्रिका संबंधी बीमारियों जैसे अल्जाइमर, पार्किंसंस और हंटिंगटन डिजीज की प्रगति को धीमा करने की क्षमता में सांख्यिकीय रूप से महत्वपूर्ण सुधार होता है।

मनुष्यों पर किए गए अध्ययन भी यह दर्शाते हैं कि अंतराल उपवास मेटाबॉलिक सिंड्रोम और अन्य जीवनशैली से जुड़ी बीमारियों जैसे मधुमेह और हृदय रोग से सुरक्षा प्रदान करता है। उपवास के दौरान सक्रिय होने वाली एक उल्लेखनीय कोशिकीय प्रक्रिया टायरोसीन किनेस एंजाइम (tyrosine kinase enzyme) का निषेध (inhibition) है। इस एंजाइम का निषेध कई प्रकार के कैंसर के इलाज की आधारशिला है।

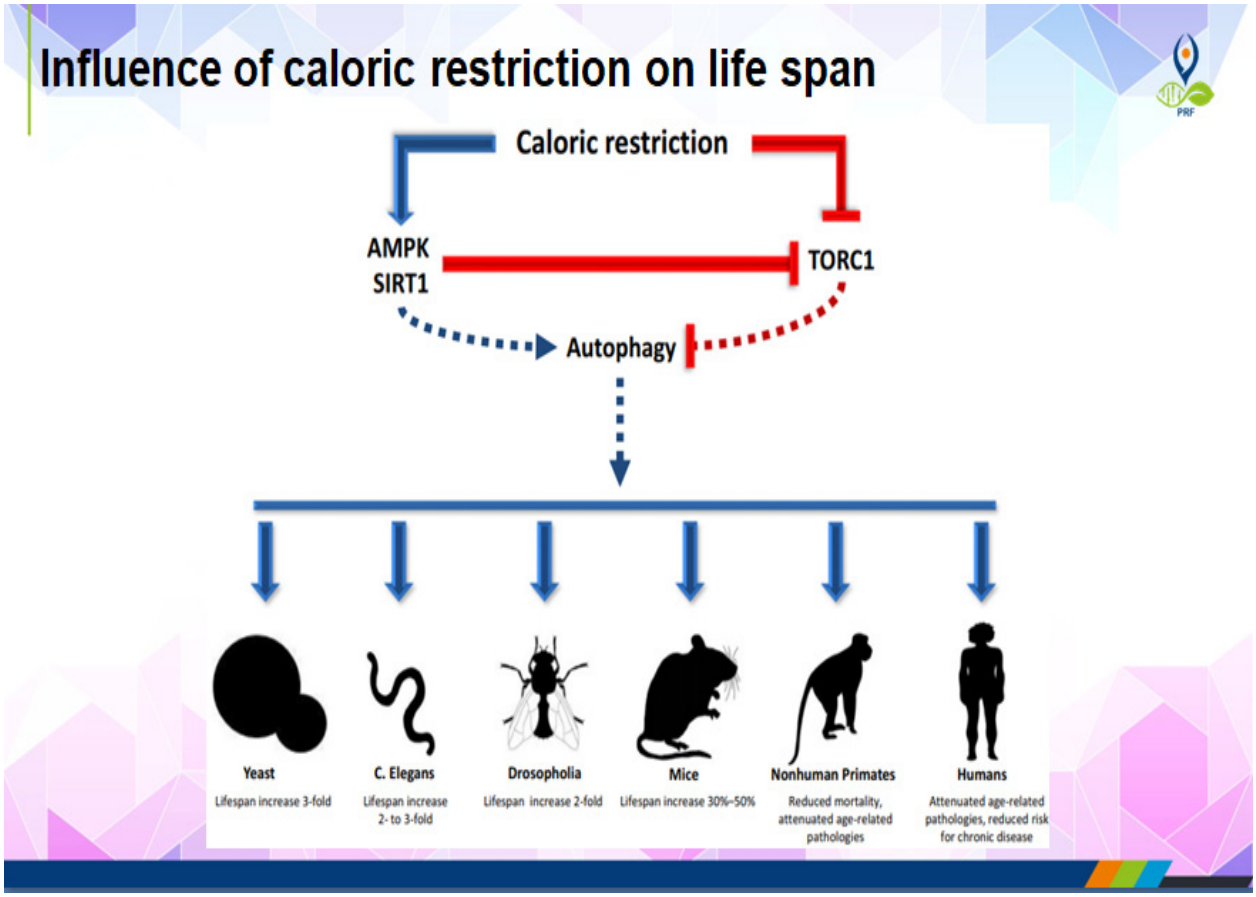
Influence of caloric restriction on life span
Caloric restriction
AMPK
SIRT1
TORC1
Autophagy
Yeast
Lifespan increase 3-fold
C. Elegans
Lifespan increase 2- to 3-fold
Drosopholia
Lifespan increase 2-fold
Mice
Lifespan increase 30%–50%
Nonhuman Primates
Reduced mortality, attenuated age-related pathologies
Humans
Attenuated age-related pathologies, reduced risk for chronic disease

The Amazing Benefits Of Fasting

1. Your body enters into a fasting state 8 hours (approx.) after your last meal, when gut completes the absorption of nutrients from food.

2. For energy our body uses glucose stored in your liver and muscles.

3. When you don't eat food, your body doesn't get access to glucose and starts using fat for energy. During this times ketones and small amounts of glucose are also manufactured through alternate mechanisms in the liver. This is how body conserves energy during fasting.

4. Fasting for many days or weeks causes breakdown of muscles for protein. - This is called starvation. However, this doesn't happen when you fast for certain hours or eat properly when you break your fast.

5. Fasting promotes healing by activating number of repair genes that can repair any sort of cellular damage. Fasting can also reduce the side effects of chemotheraoy.

6. Fasting manufactures ketones, which your brain uses for energy. Ketones promote heightened learning, boost mental clarity and focus and improve your overall brain health.

7. The use of fat for energy aids in weigt loss, low cholesterol, control of diabtes and low heart rate and blood pressure.

8. Fasting promotes detoxification, removing toxins stored in body's fat. After fasting for few days, higher levels of certin hormones appear in the blood (endorphins) resulting in a better level of alertness and overall feeling of general mental wellbeing.

MINDJOURNAL

Learn more in article

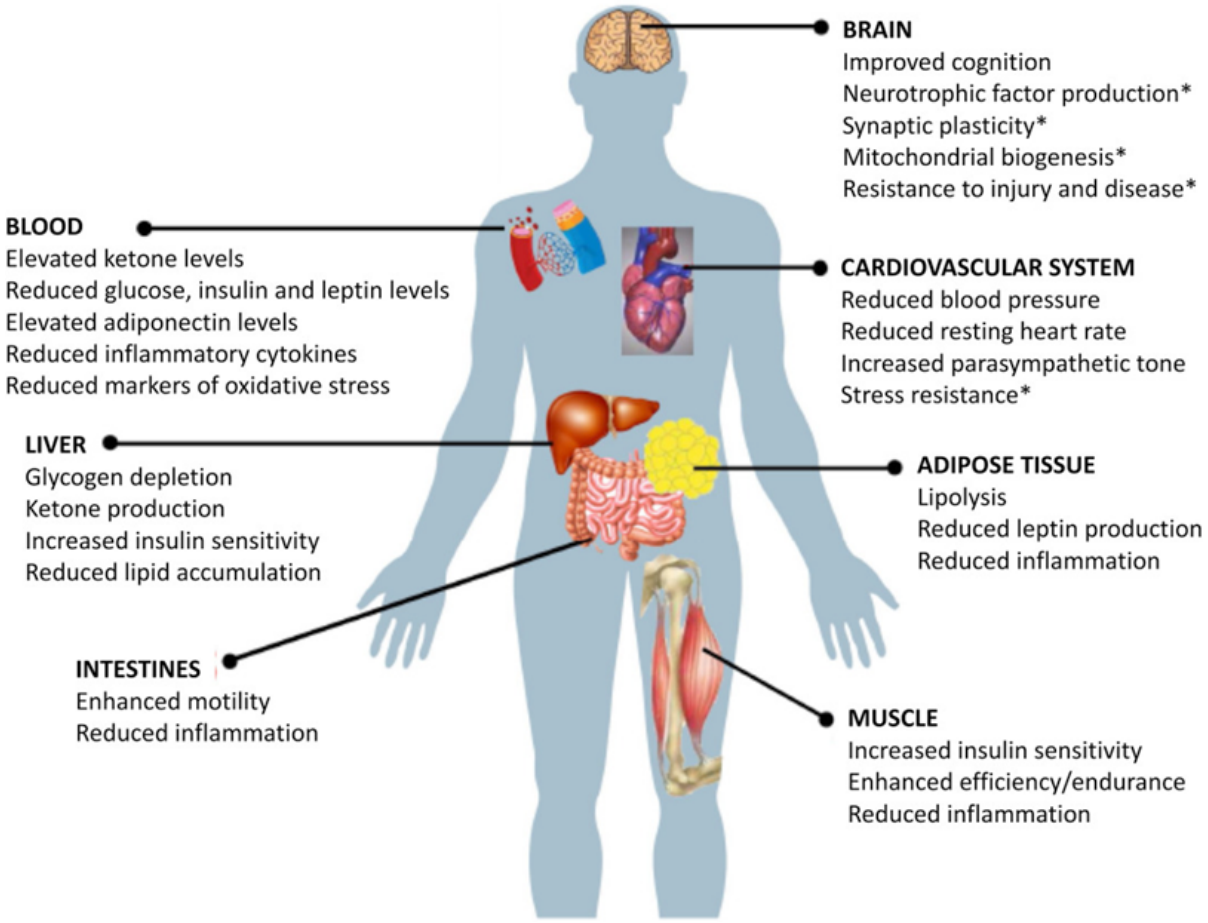
BRAIN
Improved cognition
Neurotrophic factor production*
Synaptic plasticity*
Mitochondrial biogenesis*
Resistance to injury and disease*
BLOOD
Elevated ketone levels
Reduced glucose, insulin and leptin levels
Elevated adiponectin levels
Reduced inflammatory cytokines
Reduced markers of oxidative stress
CARDIOVASCULAR SYSTEM
Reduced blood pressure
Reduced resting heart rate
Increased parasympathetic tone
Stress resistance*
LIVER
Glycogen depletion
Ketone production
Increased insulin sensitivity
Reduced lipid accumulation
ADIPOSE TISSUE
Lipolysis
Reduced leptin production
Reduced inflammation
INTESTINES
Enhanced motility
Reduced inflammation
MUSCLE
Increased insulin sensitivity
Enhanced efficiency/endurance
Reduced inflammation

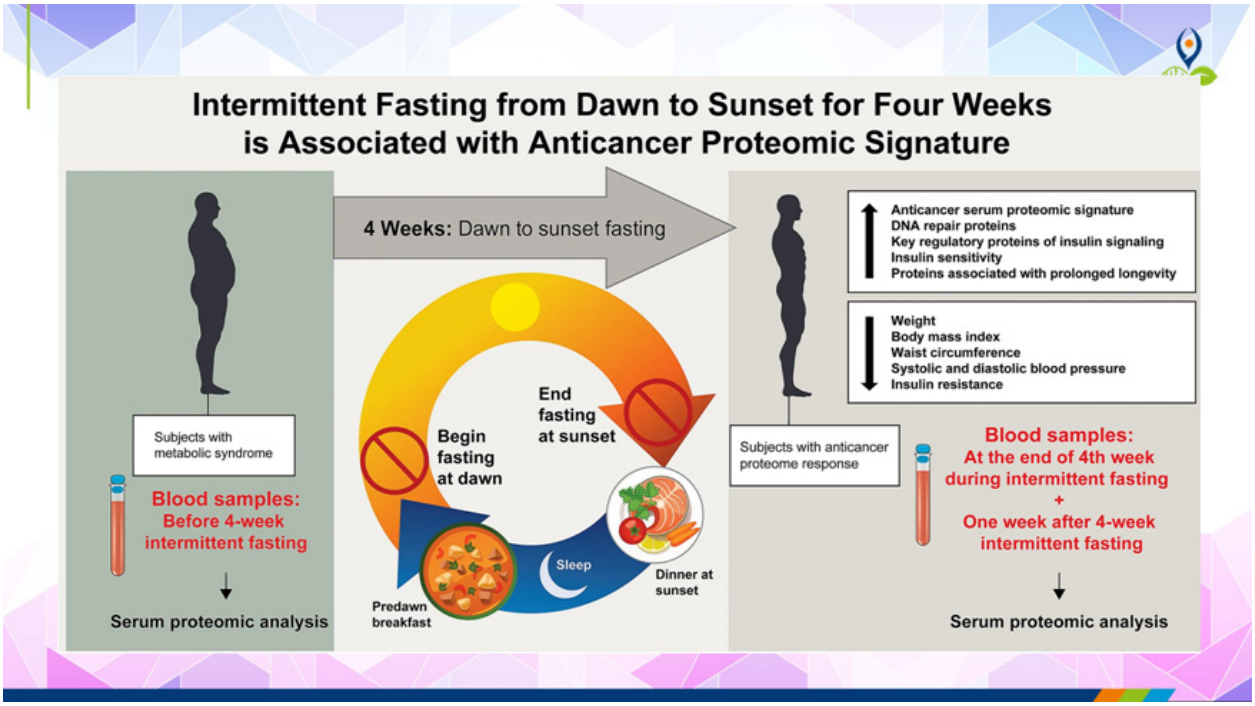
Intermittent Fasting from Dawn to Sunset for Four Weeks is Associated with Anticancer Proteomic Signature
4 Weeks: Dawn to sunset fasting
Subjects with metabolic syndrome
Blood samples: Before 4-week intermittent fasting
Serum proteomic analysis
Begin fasting at dawn
End fasting at sunset
Predawn breakfast
Sleep
Dinner at sunset
Subjects with anticancer proteome response
Anticancer serum proteomic signature
DNA repair proteins
Key regulatory proteins of insulin signaling
Insulin sensitivity
Proteins associated with prolonged longevity
Weight
Body mass index
Waist circumference
Systolic and diastolic blood pressure
Insulin resistance
Blood samples: At the end of 4th week during intermittent fasting + One week after 4-week intermittent fasting
Serum proteomic analysis

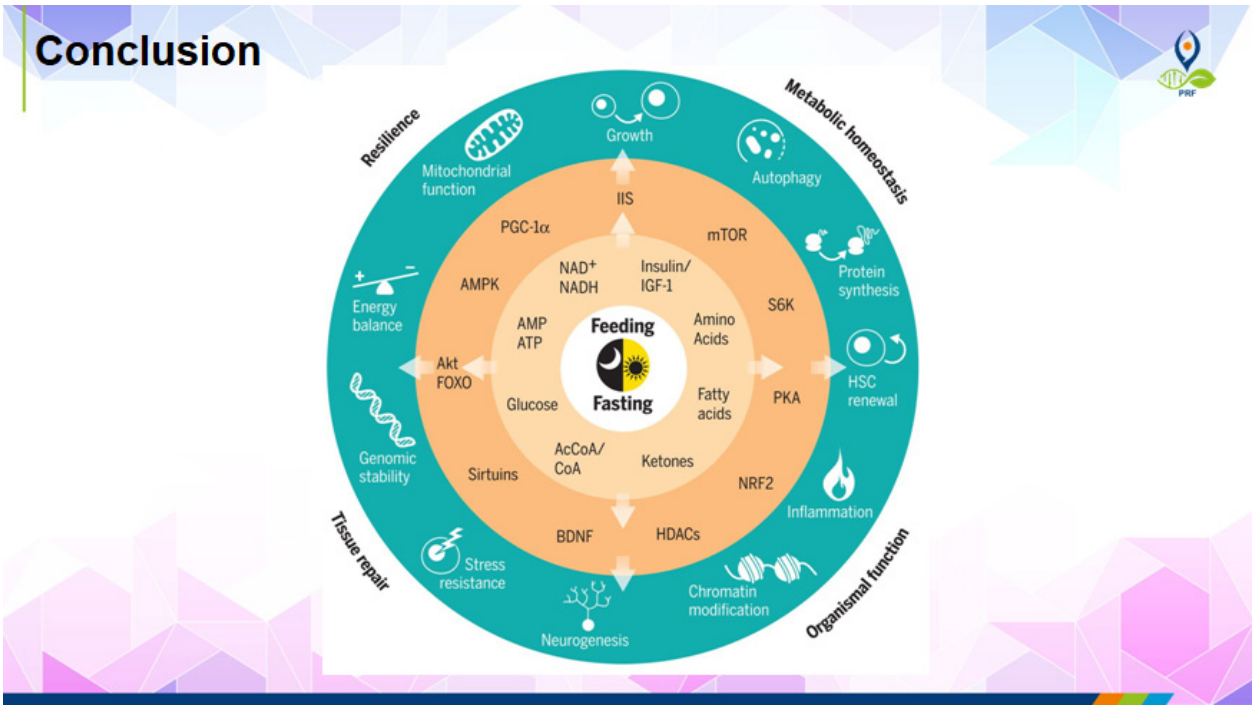
Conclusion
Resilience
Metabolic homeostasis
Tissue repair
Organismal function
Growth
Mitochondrial function
Autophagy
IIS
PGC-1α
mTOR
NAD+ NADH
Insulin/ IGF-1
AMPK
S6K
Protein synthesis
Energy balance
AMP ATP
Feeding
Fasting
Amino Acids
Akt FOXO
Glucose
Fatty acids
PKA
HSC renewal
Genomic stability
AcCoA/ CoA
Ketones
Sirtuins
NRF2
Inflammation
BDNF
HDACs
Stress resistance
Chromatin modification
Neurogenesis

विज्ञान की दृष्टि से उपवास का प्रभाव-

हमारे शरीर में चार क्रियाएँ अनवरत चलती रहती हैं। 1. भोजन का पाचन, 2. शारीरिक एवं मानसिक कार्यों के दौरान कोशिकाओं एवं तन्तुओं की उत्पन्न या विनाश, 3. कोशिकाओं एवं तंतुओं का निर्माण तथा 4. शरीर में संचित होने वाले विजातीय तथा विषाक्त पदार्थों का निष्कासन। पहली क्रिया पाचन (Digestion), दूसरी उपचय या निर्माण (Anabolism), तीसरी क्षति या अपचय (Ketabolism) तथा चौथी क्रिया उत्सर्जन (Excretion) कहलाती है। इन सम्मिलित क्रियाओं को चयापचय (Metabolism) क्रिया कहते हैं। चयापचय क्रिया सुव्यवस्थित होने से ही शरीर स्वस्थ्य रहता है।

(पाचन क्रिया में खर्च होने वाली शक्ति उपवास काल में विजातीय पदार्थों के निष्कासन तथा अन्य संस्थानों के विश्राम एवं निर्माण में खर्च होती है भोजन करने के समय पाचन प्रणाली, रक्तसंचार प्रणाली, श्वास प्रणाली एवं स्नायु संस्थान को अधिक कार्य करना पड़ता है। उपवास काल में इन संस्थानों को विशेष विश्राम मिलता है। उपवास की अवधि जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, शरीरान्तर्गत संस्थानों में संचित विषाक्त पदार्थों का विनाश एवं निष्कासन भी उसी गति से बढ़ता है। उपवास काल में दमित वासनाओं का निष्कासन भी तीव्रता से होकर मन विधायक चिंतन से संस्कारित होने लगता है। भोजन काल में शरीर की समस्त इन्द्रियाँ कार्यों के भार से आक्रान्त होने से निष्क्रिय एवं शिथिल रहती हैं। उपवास काल में शरीर और मन पवित्र तथा सतेज हो उठते हैं तथा असीम शांति की अनुभूति होती है। उपवास काल में शरीर में संचित अतिरिक्त पौष्टिक तत्त्वों व शक्ति का उपयोग होता है। ये संचित पदार्थ यकृत में शर्करा, आमाशय, छाती, नितम्ब, जंघा आदि में प्रोटीन, वसा तथा पेशियों में प्रोटीन तथा खनिज लवण हैं।

उपवास काल में ये संचित खाद्य पदार्थ विशेष जैविक रासायनिक प्रक्रिया द्वारा सूक्ष्म कारकों में टूट कर तथा अवशोषित होकर शरीर को पोषण देते हैं। इस क्रिया को ऑटोलिसिस कहते हैं। रक्तसंचार प्रक्रिया द्वारा अतिरिक्त जीवन-तत्त्व सुव्यवस्थित ढंग से समस्त कोशिकाओं को प्राप्त होता है। उपवास काल में समस्त अंगों का संचालन अर्थात् चयापचय प्रक्रिया सुव्यवस्थित एवं नियमित होती है। उपवास काल में विजातीय विषाक्त पदार्थों का निष्कासन, रुग्ण शारीरिक संस्थानों का विश्राम तथा कोशिकाओं का अधिक सचेत होना सृष्टि का सबसे बड़ा आश्चर्य, शरीर की एक अद्‌भुत प्रक्रिया है, जिसे देख कर वैज्ञानिक दंग रह जाते हैं। इन स्वाभाविक प्राकृतिक प्रक्रियाओं से मोटापा तथा अन्य जटिल रोग स्वत: मिट जाते हैं।

उपवास काल में प्रयोगों द्वारा देखा गया है कि शरीर में लाल रक्तकण तथा हीमोग्लोबिन की वृद्धि होती है। बढ़े हुए श्वेत कण तथा ई. एस. आर. घट कर सामान्य अवस्था में आ जाते हैं। उपवास काल में फिजिकल, फिजियोलॉजिकल, सेन्सरी, साइकोलॉजिकल यानी हर प्रकार का विश्राम मिल जाता है।

उपवास के प्रारम्भ काल में शरीर शुद्धि की प्रक्रिया तीव्रता से होने के कारण पेशाब में पस सेल्स की वृद्धि भी तीव्रता से होती है। जैसे-जैसे शरीर विषमुक्त होकर स्वस्थ होता जाता है, वैसे-वैसे पस सेल्स कम होकर खत्म हो जाते हैं।

उपवास के दौरान पेशाब में किटोन बॉडीज की वृद्धि (विशेषत: मोटे आदमियों में) अस्थायी होती है। अतिरिक्त संचित वसा कोशिकाओं के चयापचय के कारण ऐसा होता है। यह खतरनाक स्थिति नहीं होती है जैसा कि समझा जाता है। धीरे-धीरे शरीर रोगमुक्त होता जाता है, चयापचय क्रिया स्वत: सुव्यवस्थित ढंग से होने लगती है, फलत: किटोन बॉडीज स्वत: लुप्त हो जाते हैं।

उपवास काल में ये संचित खाद्य पदार्थ विशेष जैविक रासायनिक प्रक्रिया द्वारा सूक्ष्म कारकों में टूट कर तथा अवशोषित होकर शरीर को पोषण देते हैं। इस क्रिया को ऑटोलिसिस कहते हैं। रक्तसंचार प्रक्रिया द्वारा अतिरिक्त जीवन-तत्त्व सुव्यवस्थित ढंग से समस्त कोशिकाओं को प्राप्त होता है। उपवास काल में समस्त अंगों का संचालन अर्थात् चयापचय प्रक्रिया सुव्यवस्थित एवं नियमित होती है। उपवास काल में विजातीय विषाक्त पदार्थों का निष्कासन, रुग्ण शारीरिक संस्थानों का विश्राम तथा कोशिकाओं का अधिक सचेत होना सृष्टि का सबसे बड़ा आश्चर्य, शरीर की एक अद्‌भुत प्रक्रिया है, जिसे देख कर वैज्ञानिक दंग रह जाते हैं। इन स्वाभाविक प्राकृतिक प्रक्रियाओं से मोटापा तथा अन्य जटिल रोग स्वत: मिट जाते हैं।

उपवास काल में प्रयोगों द्वारा देखा गया है कि शरीर में लाल रक्तकण तथा हीमोग्लोबिन की वृद्धि होती है। बढ़े हुए श्वेत कण तथा ई. एस. आर. घट कर सामान्य अवस्था में आ जाते हैं। उपवास काल में फिजिकल, फिजियोलॉजिकल, सेन्सरी, साइकोलॉजिकल यानी हर प्रकार का विश्राम मिल जाता है।

उपवास के प्रारम्भ काल में शरीर शुद्धि की प्रक्रिया तीव्रता से होने के कारण पेशाब में पस सेल्स की वृद्धि भी तीव्रता से होती है। जैसे-जैसे शरीर विषमुक्त होकर स्वस्थ होता जाता है, वैसे-वैसे पस सेल्स कम होकर खत्म हो जाते हैं।

उपवास के दौरान पेशाब में किटोन बॉडीज की वृद्धि (विशेषत: मोटे आदमियों में) अस्थायी होती है। अतिरिक्त संचित वसा कोशिकाओं के चयापचय के कारण ऐसा होता है। यह खतरनाक स्थिति नहीं होती है जैसा कि समझा जाता है। धीरे-धीरे शरीर रोगमुक्त होता जाता है, चयापचय क्रिया स्वत: सुव्यवस्थित ढंग से होने लगती है, फलत: किटोन बॉडीज स्वत: लुप्त हो जाते हैं।

उपवास : वैज्ञानिक अनुसंधान-

उपवास के क्षेत्र में विश्व की महान संस्था एन.आई.ए. (नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ एजिंग बाल्टीमोर यूनिवर्सिटी अमेरिका) के वैज्ञानिकों ने कमाल की खोज की है। इन वैज्ञानिकों के अनुसार आहार में तीस से सत्तर प्रतिशत तक कटौती करके अनेक बीमारियों से मुक्त रहा जा सकता है। साथ ही बुढ़ापे को जवानी में बदला जा सकता है।

ये वैज्ञानिक यह देखकर दंग रह गये कि चूहों के दैनिक भोजन में तीस से सत्तर प्रतिशत तक कटौती करने के बावजूद उन चूहों की उम्र में पच्चीस प्रतिशत तक वृद्धि हुई। उम्र में वृद्धि के साथ-साथ उनमें पनप रहे हृदय रोग, कैंसर तथा अन्य बुढ़ापा जन्य बीमारियों में कमी आ गई। इन वैज्ञानिकों का मानना है कि कम कैलोरी या नियंत्रित कैलोरी (Restricted Calorie & R.C.) वाले किन्तु मिनरल, विटामिन, एंजाइम तथा माइक्रो न्यूट्रिएण्ट से भरपूर संतुलित आहार लेने से मनुष्य में कोशिकीय (Cellular) मेटाबॉलिज्म सही ढंग से नियंत्रित, नियमित एवं नियोजित हो जाती है।

नियमित योगासन, प्राणायाम एवं व्यायाम करने से शरीर के प्रत्येक अंग को नवजीवन मिलता है। ऑक्सीजन की सप्लाई सुचारू ढंग से होती है। योगासन तथा प्राणायाम करने और संतुलित किन्तु कम कैलोरी वाला आहार खूब चबा-चबा कर खाने से दिमाग में सेरोटोनिन एवं बीटा एंडोर्फिन आदि हैप्पी न्यूरो केमिकल्स का रिसाव बढ़ जाने से फेफड़ा, दिल तथा दिमाग की माँसपेशियों एवं स्नायुओं को सुकून, सुख, शान्ति एवं स्वास्थ्य मिलता है। आदमी दीर्घायु होता है।

उपवास कैसे तोड़ें-

उपवास कभी ठोस आहार से नहीं तोड़ना चाहिये। सर्वप्रथम अच्छी तरह पके संतरे के रस अथवा इसके अभाव में मौसमी या अंगूर के रस अथवा अन्य फल या सब्जी के रस (150 सी. सी.) से तोड़ना चाहिये। लम्बे उपवास में फल या सब्जी के रस में समभाग पानी मिला कर तोड़ना चाहिये। प्रत्येक तीन घंटे के अन्तराल में रस दें। भूख वृद्धि के अनुसार धीरे-धीरे रस की मात्रा बढ़ाते हुए 3 से 5 दिन तक मुलायम फल या ताजी कच्ची या उबली सब्जी (शुद्धि आहार) देनी चाहिये। इसके पश्चात् भूख के अनुसार धीरे-धीरे आहार बढ़ाते हुए (पहले दलिया, रोटी की पपड़ी आदि सुपाच्य अन्न) संतुलित आहार पर लाना चाहिये। भूख की तीव्रता को देखते हुए रोगी को शीघ्रता से रसाहार तथा शुद्धि आहार पर लाकर संतुलित आहार पर लाना चाहिये। उपवास के उपरान्त रोगी के आहार के प्रति हमेशा सावधान रहना चाहिये। कभी-कभी अज्ञानतावश रोगी अधिक आहार व स्वादिष्ट, दुष्पाच्य, तले-भुने बाजारू खाद्य खाकर अधिक हानि उठा सकता है। भूख से थोड़ी कम ही खुराक लेनी चाहिये। उपवास के तुरन्त बाद ठोस आहार या अखाद्य पदार्थ लेने से विभिन्न उपद्रव शुरू हो सकते हैं।

उपवास प्रत्येक रोग में आरोग्यकारी माना जाता है लेकिन कुछ विषम स्थितियों में उपवास करना हानिकारक भी है। रोग एवं रोगी की परिस्थिति के अनुसार उपवास एक दिन से लेकर 90 दिन तक कराया जा सकता है। बीच-बीच में रोग के अनुसार लघु उपवास प्रत्येक सप्ताह में 2-3 दिन भी किया जा सकता है, लेकिन दीर्घ उपवास से रोगी शीघ्र आरोग्य लाभ करता है। दीर्घ उपवास किसी उपवास विशेषज्ञ के निर्देशन में होना चाहिये। उपवास का निर्धारण रोगी की मानसिक व शारीरिक स्थिति, उम्र, जीवनीशक्ति, वजन आदि का सूक्ष्म अवलोकन करते हुए किया जाता है।

सामान्यत: 1 से 7 दिन तक उपवास आत्मानुशासन में किया जा सकता है। सम्पूर्ण उपवास काल के आधे काल के उपरान्त ही धीरे-धीरे संतुलित आहार देना चाहिये। उदाहरण के तौर पर 6 दिन के उपवास के बाद 3 दिन तक रसाहार तथा शुद्धि आहार लेकर धीरे-धीरे संतुलित ठोस आहार पर आयें।

उपवास निषेध : गर्भावस्था, दुग्धस्रवणावस्था, अत्यधिक दुर्बलता, यक्ष्मा, पेट व आँत का अल्सर की स्थिति में उपवास नहीं करना चाहिये।

उपयोग तथा लाभ

उपर्युक्त रोगों को छोड़कर उपवास प्राय: सभी रोगों में उपयोगी होता है। मोटापा, विभिन्न वातज व्याधियाँ (आर्थराइटिस, स्पोन्डिलाइटिस, लकवा आदि) उदर सम्बन्धी रोग, विभिन्न प्रकार के एक्जीमा आदि चर्म रोग, पित्ती, दमा व अन्य श्वास-कष्ट,

उच्च तथा निम्न रक्तचाप, गुर्दे की सूजन, आन्त्रशोथ, सर्दी, जुकाम, इन्फ्लुएंजा, जोड़ों की सूजन व सभी प्रकार के सिरदर्द एवं अन्य जीर्ण व दुष्ट रोगों में उपवास का विशिष्ट महत्त्व है। आधुनिक वैज्ञानिक शोध के आधार पर उपवास विभिन्न मानसिक रोगों तथा पौरुष ग्रन्थि की वृद्धि में भी अत्यन्त उपयोगी है। उपवास से वजन घटने की बात तो सर्वज्ञात है किन्तु यह जानकर सुखद आश्चर्य होगा कि उचित मात्रा में स्वस्थ वजन की वृद्धि भी उपवास से होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपवास जीवन के संतुलन, समग्र विकास तथा स्वास्थ्य प्राप्ति का अचूक तथा उत्तम साधन है। उपवास काल में पुराने व्यसनों, गलत आदतों, मान्यताओं एवं अहं के अणुओं को तोड़ते हुए तथा पूर्ण धैर्य, आस्था एवं विवेक को जाग्रत रखते हुए संतुलित जीवनयापन के दृढ़ संकल्प द्वारा समग्र विकास की ओर उन्मुख होना चाहिये।

उपवास के प्रारम्भिक दौर में यकृत एवं माँसपेशियों में एकत्रित ग्लाइकोजिन तथा पानी तेजी से भस्म होने से वजन भी तेजी से कम होता है परन्तु बाद में वसा का दहन प्रारम्भ होता है, इसमें जल की मात्रा भी न के बराबर होती है। वसा की कम मात्रा (ग्लाइकोजिन का तिहाई भाग) ही शरीर की आधारीय ऊर्जा की आपूर्ति कर देती है, फलतः प्रारम्भ में एक दिन में जितना वजन कम होता है, बाद में उतना ही वजन कम होने में 3-4 दिन लग जाते हैं।

अग्नि भोजन को पचाती है, उपवास में भोजन नहीं मिलने पर वही अग्नि विजातीय दोषों (वात, पित्त व कफ) को खाने लग जाती है। फलतः उपवास में विकार के जल जाने से तन-मन निर्मल एवं स्वस्थ हो जाता है।

विरुद्ध आहार एवं हितकारी संयोग

पिछले अध्याय में बताया गया है कि जिस प्रकार पथ्य या हितकारी आहार के सेवन से स्वास्थ्य की रक्षा होती है और दोष अपनी सम अवस्था में बने रहते हैं, उसी प्रकार अपथ्य या अहितकारी आहार के सेवन से स्वास्थ्य का नाश और दोषों का प्रकोप होता है। यह आहार भी अनेक प्रकार का हो सकता है। कुछ खाद्य-पदार्थ तो प्रकृति से (स्वभावतः) ही दोषों का प्रकोप करने वाले, रोगकारक, भारी आदि होने से अपथ्य होते हैं, परन्तु कुछ प्राकृतिक रूप से और अकेले तो बहुत गुणकारी और स्वास्थ्य-वर्धक होते हैं, लेकिन जब इन्हीं पदार्थों को किसी अन्य खाद्य-पदार्थ के साथ लिया जाए अथवा किसी विशेष समय या ऋतु में या किसी विशेष वस्तु में पका कर सेवन किया जाए, तो ये लाभ के स्थान पर हानि पहुँचाते हैं और अनेक प्रकार के रोगों का कारण बनते हैं; ये विरुद्धाहार कहलाते हैं। क्योंकि ये रस, रक्त आदि धातुओं को दूषित करते हैं, दोषों को प्रकुपित करते हैं तथा मलों को शरीर से बाहर नहीं निकालते। अनेक बार कुछ गम्भीर रोगों की उत्पत्ति का कोई साफ कारण दिखाई नहीं देता, वस्तुतः उनका कारण विरुद्धाहार होता है। क्योंकि आयुर्वेद में कहा है कि इस प्रकार के विरुद्धाहार का निरन्तर सेवन करते रहने से ये शरीर पर धीरे-धीरे दुष्प्रभाव डालते हैं और धातुओं को दूषित करते रहते हैं। अतः विरुद्धाहार नाना रोगों का कारण बनता है।

ये विरुद्धाहार अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे-

1. **देश की दृष्टि से विरुद्धाहार**- जैसे- नमी-प्रधान स्थानों में नमी वाले, स्निग्ध, शीतल व शीत गुण वाले पदार्थों का सेवन।
2. **काल की दृष्टि से विरुद्धाहार**- जैसे- शीतऋतु में शीतल, रूक्ष रस प्रधान एवं हल्के (लघु) पदार्थों का सेवन।
3. **पाचक-अग्नि की दृष्टि से**-जैसे- मन्द अग्नि वाले व्यक्ति द्वारा भारी, स्निग्ध, ठण्डे और मधुर रस वाले या मिठासयुक्त भोजन या पदार्थों का सेवन।
4. **मात्रा की दृष्टि से**-जैसे- शहद और घी का समान मात्रा में सेवन करना विष के समान है, परन्तु विषम मात्रा में सेवन करना अमृत माना गया है।
5. **सात्म्य की दृष्टि से**-जैसे- प्रतिदिन चावल खाने के अभ्यासी व्यक्ति द्वारा गेहूँ, जौ आदि का सेवन।
6. **दोषों की दृष्टि से**- जैसे- वात-प्रकृति वाले मनुष्य द्वारा वातवर्द्धक पदार्थ तथा कफ-प्रकृति वाले मनुष्य द्वारा कफ-वर्द्धक पदार्थों का सेवन।
7. **संस्कार या पाक की दृष्टि से**- जैसे- खट्टे पदार्थों को ताँबे या पीतल के बर्तन में पका कर खाना।
8. **वीर्य की दृष्टि से**- शीतवीर्य पदार्थों को उष्णवीर्य पदार्थों के साथ खाना, जैसे - शीतवीर्य संतरा, मौसम्मी, अनानास आदि को दही अथवा लस्सी के साथ सेवन करना।
9. **कोष्ठ की दृष्टि से**- क्रूरकोष्ठ अर्थात् वातबहुल कोष्ठ (उदर) वाले व्यक्तियों में मल-विसर्जन की क्रिया स्वभावतः कठिनाई

से होती है। वातप्रकोप के कारण ऐसे व्यक्ति सख्त मल का त्याग करते हैं। इसी प्रकार मध्यकोष्ठ अर्थात् कफबहुल उदर वाले व्यक्ति में भी मलविसर्जन क्रिया कुछ कठिनाई से होती है। ऐसे व्यक्तियों द्वारा लघु, कब्जकारक, वातवर्धक व कफवर्द्धक पदार्थों का सेवन करना कोष्ठ की दृष्टि से विरुद्धाहार है। इसी प्रकार जो मृदुकोष्ठ अर्थात् पित्तबहुल उदर वाले हैं, जिनमें मल-विसर्जन की क्रिया सुविधापूर्वक द्रव रूप में होती है, ऐसे व्यक्तियों द्वारा कटु (चरपरे), सर व रेचक द्रव्यों का सेवन भी कोष्ठ की दृष्टि से विरुद्धाहार की श्रेणी में आता है।

10. **शारीरिक अवस्था की दृष्टि से**-जैसे- अधिक चर्बी वाले अर्थात् मोटे व्यक्तियों द्वारा स्निग्ध पदार्थों (घी, मक्खन, तेल आदि) का सेवन तथा क्षीण (कृश = पतले) मनुष्यों द्वारा रूक्ष और हल्के (लघु) पदार्थों का सेवन।

11. **क्रम की दृष्टि से**- जैसे- नित्यकर्म (मलमूत्र-त्याग, स्नान आदि) से पहले खाना, भूख न लगने पर भी भोजन करना तथा अधिक भूख लगने पर भी भोजन न करना।

12. **निषेध की दृष्टि से**- कुछ विशेष पदार्थों के सेवन के बाद उनके कुप्रभाव से बचने के लिए किसी अन्य विशेष पदार्थ का सेवन अवश्य करना चाहिए या उसके बाद किसी पदार्थ का सेवन सर्वथा नहीं करना चाहिए, इस नियम का उल्लंघन करना निषेध की दृष्टि से विरुद्धाहार है। जैसे- घी के बाद ठण्डे जल आदि पदार्थों का सेवन करना, जबकि घी के बाद गर्म जल या गर्म पेय लेने का विधान है। गेहूँ व जौ से बने गर्म भोजन के साथ ठण्डा पानी पीना, भोजन के पश्चात् व्यायाम करना, इत्यादि।

13. **पकाने वाले ईंधन की दृष्टि से**-जैसे- दूषित ईंधन से पकाया अथवा ठीक प्रकार से न पकाया गया, कच्चा, बहुत पका या जला हुआ भोजन।

14. **संयोग की दृष्टि से**- कुछ पदार्थों को एक-साथ या आपस में मिला कर खाना संयोग की दृष्टि से विरुद्धाहार है, जैसे खट्टे पदार्थों को दूध के साथ खाना, दूध के साथ तरबूज व खरबूजा खाना, दूध के साथ लवण युक्त पदार्थों का सेवन करना।

15. **रुचि की दृष्टि से**- अच्छे न लगने वाले भोजन को विवशता से तथा रुचिकर भोजन को भी अरुचि से खाना।

16. **गुणसम्पत् (उत्कृष्टता) की दृष्टि से**- रस रहित, उत्पन्न होकर नष्ट हुये रस वाले, विकार युक्त रस वाले द्रव्य का सेवन करना।

17. **विधि की दृष्टि से**- भोजन सम्बन्धी आचार संहिता का पालन न करते हुए आहार करना।

इन सभी प्रकार के विरुद्ध आहारों के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं-

किसके साथ क्या विरुद्ध है ?

- **दूध के साथ**- दही, नमक, मूली, मूली के पत्ते, अन्य कच्चे सलाद, सहिजन, इमली, खरबूजा, बेलफल, नारियल, आम्रातक (आम्बड़ा), नींबू, लिकुच (बडहल), करौंदा, कमरख, जामुन, कैथ, पारावत (अम्ल फल), अनार, आँवला, गलगल, तोरई, गुड़, तिलकुट, कुलथी, उड़द, मोठ, निष्पाव, कंगु, वनक, सत्तू, तेल तथा अन्य प्रकार के खट्टे फल या खटाई, मछली आदि विरुद्ध हैं।
- **दही के साथ**- खीर, दूध, पनीर, गर्म पदार्थ, व गर्म भोजन, खीरा, खरबूजा, ताड़ का फल आदि विरुद्ध हैं।
- **खीर के साथ**- कटहल, खटाई (दही, नींबू, आदि), सत्तू, शराब आदि विरुद्ध है।
- **शहद के साथ**- मकोय (काकमाची), घी (समान मात्रा में पुराना घी), वर्षा का जल, तेल, वसा, अंगूर, कमल का बीज, मूली, ज्यादा गर्म जल, गर्म दूध या अन्य गर्म पदार्थ, कुसुम्भ का साग, शार्कर (शर्करा से बना शरबत) और मैरेय (खजूर से बनी मदिरा), आदि विरुद्ध हैं। शहद को गर्म करके सेवन करना निषिद्ध है।
- **शीतल जल के साथ**- घी, तेल, गर्म दूध या गर्म पदार्थ, तरबूज, अमरूद, खीरा, ककड़ी, मूंगफली, चिलगोजा आदि विरुद्ध हैं।
- **गर्म जल या गर्म पेय के साथ**- शहद, कुल्फी, आइसक्रीम व अन्य शीतल पदार्थ विरुद्ध हैं।
- **घी के साथ**-समान मात्रा में शहद, ठण्डा जल विरुद्ध है।
- **खरबूजा के साथ**- लहसुन, दही, दूध, मूली के पत्ते, पानी आदि विरुद्ध हैं।
- **तरबूज के साथ**- ठण्डा पानी, पुदीना आदि विरुद्ध हैं।
- **चावल के साथ**- सिरका विरुद्ध है।

- **तिल की पिट्ठी के साथ**- उपोदिका (पोई) को पकाकर खाना विरुद्धाहार है।
- **नमक**- अधिक मात्रा में अधिक समय तक खाना मात्राविरुद्ध है।
- **अंकुरित धान्य, चने आदि के साथ**- कमल-नाल विरुद्ध है। कच्चे अंकुरित धान्य के साथ पका हुआ भोजन विरुद्ध है।
- **मकोय के साथ**- पिप्पली, काली मिर्च, गुड़ व शहद विरुद्ध है। जिस बर्तन में मछली पकायी हो उसमें रातभर रखा मकोय का शाक घातक विरुद्धाहार है।
- **उड़द की दाल के साथ**- मूली विरुद्ध है।
- **केला के साथ**- तक्र (मट्ठा) विरुद्ध है।
- **घी**- काँसे के बर्तन में दस दिन या अधिक समय तक रखा हुआ घी विषाक्त हो जाता है।
- **दूध, सुरा, खिचड़ी**- इन तीनों को मिलाकर खाना विरुद्धाहार है।

इस प्रकार के विरुद्ध आहार के सेवन से शरीर के धातु और दोष असन्तुलित हो जाते हैं, परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अत: इन सबका विचार करके ही खाद्य पदार्थों का सेवन करना चाहिए।

विरुद्ध आहार एवं विहार से उत्पन्न रोग

जो लोग ऊपर लिखित विरुद्ध आहारों का सेवन करते रहते हैं, उनके धातु, दोष व मल आदि विकृत हो जाते हैं। वे निम्नलिखित अनेक प्रकार के रोगों का शिकार हो सकते हैं-

चर्मरोग, भोजन-विषाक्तता (फूड पॉयजनिंग), नपुंसकता, विसर्प, जलोदर (पेट में पानी भरना), विस्फोट (बड़े फोड़े), भगन्दर, अश्मरी, वातव्याधि, प्रमेह (मधुमेह आदि), उदर रोग, अर्श (बवासीर), कुष्ठ, गलित कुष्ठ, किलास (सफेद दाग), मूर्च्छा, उन्माद (पागलपन), स्मृति व चित्त का नाश, बुद्धि का क्षय, तेज (कान्ति) का नाश, श्रोत्र आदि इन्द्रियों का नाश, शोथ (सूजन), यक्ष्मा (टी.बी), गुल्म, विद्रधि (फोड़े), दुर्बलता, रक्तपित्त (शरीर के किसी अंग से रक्तस्राव), गलग्रह (गले का रोग), आध्मान (पेट में अफारा), आमविष (आधे पचे भोजन के विष से उत्पन्न रोग), अलसक, विसूचिका (हैजा), विलम्बिका, अम्लपित्त (Acidity), पीनस (पुराना जुकाम), प्रतिश्याय (जुकाम), नाक की हड्डी का बढ़ना, सन्तान दोष (गर्भ में स्थित भ्रूण की मृत्यु अथवा जन्मोपरान्त तत्काल मृत्यु या गर्भ ही न ठहरना), अन्धापन, रक्ताल्पता, ग्रहणी, मन्दाग्नि, मद (नशा), ज्वर।

पूर्वोक्त विरुद्धाहार निरन्तर सेवन करने से हल्के विष (Slow poison) के समान धीरे-धीरे मृत्यु का कारण भी बन सकता है।

विरुद्धाहार-जन्य रोगों की चिकित्सा-

विरुद्ध भोजन के सेवन से उत्पन्न ऊपर उल्लिखित अथवा जिनका उल्लेख नहीं किया गया हैं, उन सब रोगों की चिकित्सा निम्न प्रकार से करनी चाहिए-

1. ये रोग वमन व विरेचन द्वारा शरीर की शुद्धि करने से ठीक होते हैं। इन दोनों में से विरेचन अधिक कारगर है; क्योंकि इससे उदर की शुद्धि होकर विकार का पूर्णत: निवारण हो जाता है। वमन से तो दोषों का केवल शमन ही होता है।
2. विकारों के विरोधी द्रव्यों का अथवा विरुद्ध भोजन के विपरीत गुण वाले द्रव्यों का सेवन करने से।
3. पहले से ही विरुद्ध आहार के विपरीत आहार द्रव्यों से शरीर का संस्कार व सुरक्षा करते रहें, जिससे भविष्य में रोग उत्पन्न ही नहीं होवें।

विरुद्धाहार से अप्रभावित व्यक्ति-

व्यायाम से रोग प्रतिरोधक क्षमता का विकास हो जाता है, अत: प्रतिदिन व्यायाम करने वाले, घी, दूध आदि स्निग्ध पदार्थों का सेवन करने वाले, तीव्र पाचकाग्नि वाले, बलवान् व्यक्ति तथा निरन्तर अभ्यास से जिनके लिए विरुद्धाहार सात्म्य बन गया हो, ऐसे व्यक्तियों पर विरुद्धाहार का विशेष दुष्प्रभाव नहीं होता। अल्प मात्रा में लेने से भी विरुद्धाहार का कुप्रभाव नहीं होता; यदि होता भी है तो आंशिक रूप से ही होता है।

वाग्भट का कहना है कि दोष, दूष्य, काल और बल के विपरीत गुण होने से दही और दूध का एक साथ सेवन भी परस्पर विरुद्ध नहीं होता। इससे रोगी का रोग शान्त होता है। संयोग के कारण पथ्य वस्तु में जो अपथ्यता पैदा होती है, उनके दूसरे भेद के

कारण उनका विरोध भी नष्ट हो जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि जैसे एक प्रकार के संयोग से पथ्य द्रव्य-अपथ्य द्रव्य देखे जाते हैं, उसी प्रकार अन्य प्रकार के संयोग से विरुद्ध द्रव्य भी अपना विरोध छोड़ देते हैं। इसलिए अभ्यासवश निरन्तर प्रयोग से अपथ्य वस्तु भी सात्म्य हो जाती है, तो भी भविष्य में उनसे हानि की सम्भावना रहती है। अतः पथ्य आहार का ही सेवन करना चाहिए, अपथ्य का नहीं।

भोज्य विशेष के अतिसेवन/अजीर्ण से उत्पन्न विकार के निवारक द्रव्य

क्र.सं.	खाद्य पदार्थ	अतिसेवन-जन्य विकार	चिकित्सा
1.	अण्डे	अपक्वावस्था में कफ कारक, पित्त कारक	खुरासानी अजवायन, हरा धनिया, हल्दी तथा प्याज।
2.	मछली तथा मांस	पित्तकारक	नारियल, चूना तथा नींबू।
3.	लाल मांस	दीर्घपाकी (देर में पचने वाला)	लाल मिर्च, लौंग।
4.	खट्टी मलाई	कफकारक	धनिया या इलायची।
5.	दधि	कफकारक	जीरा या अदरक।
6.	पनीर	पित्तकारक तथा कफप्रकोपक	काली मिर्च, लाल मिर्च।
7.	कुल्फी	कफकारक, रक्ताधिक्यकर	लौंग या इलायची।
8.	जौ	कफकारक	हल्दी, सरसों के बीज या जीरा।
9.	गेंहू	कफकारक	अदरक।
10.	चावल	कफकारक	लौंग या काली मिर्च के दाने।
11.	सब्जियाँ (फली वाली)	वातकारक तथा आध्मान (अफारा) करने वाली	लहसुन, लौंग, काली मिर्च, लाल मिर्च।
12.	बन्दगोभी	वातकारक	सूरजमुखी के तेल में हल्दी तथा सरसों के बीज के साथ पकाकर सेवन करें।
13.	लहसुन	पित्तकारक	नारियल चूरा तथा नींबू।
14.	हरितक (सलाद)	वातकारक	जैतून तेल का नींबू रस के साथ सेवन।
15.	प्याज	दाहकारक	लवण, नींबू, दधि तथा सरसों के बीज।
16.	आलू	वातकारक	घृत के साथ काली मिर्च के दाने।
17.	टमाटर	कफकारक	नींबू या जीरा।
18.	मक्खनफल व नाशपाती	कफकारक	हल्दी, नींबू, लहसुन या काली मिर्च।
19.	केला	कफकारक	इलायची।
20.	शुष्क फल	रूक्षताकारक या वातकारक	पानी में डुबोकर इन फलों का सेवन।
21.	आम	अतिसारकारक	घृत के साथ इलायची का सेवन।
22.	मूंगफली	वातहर तथा पित्तकारक	इसको जल में सम्पूर्ण रात्रि भिगोकर तथा गर्मकर सेवन करें।

23.	मूंगफली का मक्खन	गुरु, पित्तकारक, शिर:शूलकारक	अदरक या भुना हुआ जीरा चूर्ण।
24.	विविध मदिरा	उत्तेजक, अवसादक	1/4 चम्मच जीरे के बीज चबाने चाहिये या 1–2 इलायची बीज।
25.	काली चाय	उत्तेजक, अवसादक कारक	अदरक।
26.	कैफीन (कॉफी)	उत्तेजक	जायफल चूर्ण का सेवन इलायची सेवन।
27.	चॉकलेट	उत्तेजक	इलायची या जीरा।
28.	पापकॉर्न (लावा, फुटेहरा)	रूक्षताकारक तथा वातकारक	इसका घृत के साथ सेवन।
29.	तम्बाकू	पित्त प्रकोपक तथा वातकारक, उत्तेजक	ब्राह्मी, वचा मूल या अजवायन बीज।

हितकारी संयोग के उदाहरण

जिस प्रकार विरुद्धाहार के सेवन से हानि होती है और अनेक रोग उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, उसी प्रकार कुछ ऐसे खाद्य पदार्थ भी हैं, जिन्हें आपस में मिलाकर खाने से अधिक लाभ होता है तथा इस प्रकार उनका पाचन भी शीघ्र हो जाता है। ये हितकारी संयोग कहे जा सकते हैं। यदि स्वादवश किसी एक पदार्थ का सेवन अति मात्रा में कर लिया जाए, तो उससे अपच हो जाती है या कुछ विकार उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में भी इन हितकारी संयोगों के सेवन से अपच के कारण उत्पन्न विकार दूर हो जाते हैं। ऐसे हितकारी खाद्य पदार्थों की सूची इस प्रकार है–

खाद्य पदार्थ	**हितकारी संयोग (जिस वस्तु से पाचन होता है)**
उड़द –	तक्र, खांड
चना –	मूली
मूंग –	आँवला
अरहर–	कांजी
गेंहूँ –	ककड़ी
मक्का–	अजवायन
खिचड़ी–	सेंधा नमक
पिष्टान्न (गेहूँ आदि के आटे से बने पदार्थ)	
तथा इनसे बने बड़े आदि–	शीतल जल/नीम की जड़
दूध –	मूंग का यूष (सूप)
घी –	जम्बीरी नींबू का रस
आम –	दूध
केला –	घी
नारंगी–	गुड़
जम्बीरी नींबू–	नमक
द्राक्षा (अंगूर, किशमिश) पिस्ता,	
अखरोट और बादाम–	लौंग

आलू -	तण्डुलोदक
सूरण (जिमींकन्द)-	गुड़
मिश्री-	सोंठ
गुड़ -	सोंठ और नागरमोथा
ईख (गन्ना)-	अदरक

स्मरणीय बिंदु-

1. उपवास का अर्थ उपवास का अर्थ केवल भोजन त्यागना नहीं, बल्कि पाचन तंत्र को विश्राम देकर शरीर की आत्म-शोधन शक्ति को सक्रिय करना है।

2. संकट काल उपवास के दौरान कभी-कभी सिरदर्द या दस्त हो सकते हैं, जो शरीर की सफाई का संकेत हैं; इन्हें दवाओं से दबाना नहीं चाहिए।

3. उपवास समाप्त करना उपवास हमेशा सावधानीपूर्वक और धीरे-धीरे तोड़ना चाहिए (जैसे नींबू पानी या संतरा/मौसमी के रस से), सीधे भारी भोजन नहीं करना चाहिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: उपवास प्रकृति का अमोघ अस्त्र है- इस कथन की विवेचना कीजिए। उपवास के विभिन्न प्रकारों और शरीर पर इसके शोधक प्रभावों का विस्तृत वर्णन करें।

प्रश्न 2: उपवास के दौरान आने वाले रोग उन्मूलक उभार क्या हैं? उपवास रखने की सही तैयारी और उसे तोड़ने की वैज्ञानिक विधि को स्पष्ट कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1: लघु उपवास और दीर्घ उपवास के बीच अंतर स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2: जलोपवास करते समय किन-किन बातों का ध्यान रखना अनिवार्य है?

प्रश्न 3: उपवास चिकित्सा में एनिमा का प्रयोग क्यों आवश्यक माना जाता है?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1: प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार आकाश तत्त्व की पूर्ति के लिए सबसे प्रभावी विधि कौन-सी है?

(क) सूर्य स्नान

(ख) उपवास

(ग) मालिश

(घ) मिट्टी स्नान

प्रश्न 2: उपवास के दौरान जब शरीर से विषैले पदार्थ बाहर निकलते हैं, तो जीभ का रंग कैसा हो जाता है?

(क) गुलाबी और साफ

(ख) सफेद या पीली परतदार (मैली)

(ग) नीला

(घ) काला

प्रश्न 3: उपवास को तोड़ने (खोलने) के लिए सबसे उपयुक्त पदार्थ कौन-सा माना गया है?

(क) घी में बना हलवा

(ख) ताजे फल का रस (जैसे नींबू या संतरा)

(ग) कड़क चाय

(घ) भारी भोजन

प्रश्न 4: उपवास के दौरान होने वाले सिरदर्द या हल्के बुखार को प्राकृतिक चिकित्सा में क्या माना जाता है?

(क) नया रोग पैदा होना

(ख) शरीर का शोधन (सफाई) की प्रक्रिया

(ग) उपवास की असफलता

(घ) दवाओं की कमी

प्रश्न 5: निम्नलिखित में से कौन-सा उपवास का एक प्रकार है जिसमें केवल फलों के रस का सेवन किया जाता है?

(क) जलोपवास

(ख) रसोपवास

(ग) एकाहार

(घ) पूर्ण उपवास

खण्ड- 3 पंचकर्म, षट्कर्म एवं वैकल्पिक चिकित्सा
इकाई- 3.1 पंचकर्म चिकित्सा का सामान्य परिचय

उद्देश्य-

1. आयुर्वेद की शोधन चिकित्सा पञ्चकर्म के मौलिक सिद्धांतों और इसके शरीर-विशुद्धि महत्त्व को समझाना।
2. पञ्चकर्म से पूर्व की जाने वाली तैयारी पूर्वकर्म (स्नेहन और स्वेदन) की वैज्ञानिक विधि का बोध कराना।
3. शरीर में संचित दोषों (वात, पित्त, कफ) को द्रवित कर उन्हें कोष्ठ (पाचन मार्ग) तक लाने की प्रक्रिया सिखाना।

पंचकर्म शब्द से ही इसका अर्थ स्पष्ट है कि ये पाँच प्रकार के विशेष कर्म हैं। ये शरीर से मलों व दोषों को बाहर निकालते हैं। पंचकर्म-चिकित्सा आयुर्वेदीय चिकित्सा का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग हैं, क्योंकि कई बार अनेक प्रकार की औषधियों का सेवन करने पर भी रोग बार-बार आक्रमण करते रहते हैं। इन रोगों से बचाव व इनके उन्मूलन के लिए शरीर के मलों व दोषों को बाहर निकालने वाली (Eliminition Therapy) जो संशोधन की चिकित्सा-प्रक्रिया (Method) है, उसे ही पंचकर्म-चिकित्सा कहा जाता है। पंचकर्म-चिकित्सा से पूर्व जिन कर्मों को किया जाता है, उन्हे पूर्वकर्म कहा जाता है, पूर्वकर्म के अन्तर्गत संशमन एवं संशोधन चिकित्सा की जाती है, उसमें स्नेहन और स्वेदन का विशेष महत्व है। ये पाँच कर्म निम्नलिखित हैं-

1. वमन (Emetic therapy)
2. विरेचन (Purgative therapy)
3. नस्य (Inhalation therapy or Errhine)
4. अनुवासन वस्ति (A type of enema)
5. निरूह वस्ति (Another type of enema)

सुश्रुत आदि कुछ विद्वानों ने नस्य के स्थान पर 'रक्तमोक्षण' (Blood letting therapy) को पंचकर्म में गिना है। इन सभी प्रकार के कर्मों को करने से पहले यह देखना आवश्यक होता है कि रोगी शारीरिक और मानसिक दृष्टि से उसके योग्य है भी या नहीं? अन्यथा लाभ के स्थान पर हानि हो सकती है। पंचकर्म से पहले जो कुछ तैयारी की जाती है, उसे 'पूर्वकर्म' तथा बाद में जो कुछ सावधानी व पथ्य-अपथ्य का ध्यान रखना होता है, उसे 'पश्चात् कर्म' कहा जाता है। रोगी के अनुसार विशेष प्रकार की औषधियों का चयन करके ही विशेष विधि (प्रक्रिया) का प्रयोग किया जाता है। अब आगे इन पाँचों कर्मों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

- कफ के निर्हरण अर्थात् बाहर निकालने के लिए (Elimination) वमन (Emesis) सर्वश्रेष्ठ है।
- पित्त के निर्हरण के लिए विरेचन (Purgation) सर्वश्रेष्ठ हैं।
- वात के निर्हरण के लिए एनिमा या बस्ति (अनुवासन और आस्थापन, दोनों) सर्वश्रेष्ठ है।
- शरीर में कोमलता व मृदुता (Tenderness) लाने के लिए स्वेदन (Fomentation) सर्वश्रेष्ठ है।

1. वमन (Emetic therapy)[6]

जिस चिकित्सा में उल्टी या वमन (Vomiting) लाने वाली औषधियों का प्रयोग करके आमाशय की शुद्धि की जाती है, उसे वमन कर्म कहते हैं। इस चिकित्सा का प्रयोग अधिक गर्मी व अधिक सर्दी के समय को छोड़कर करने का विधान है।

उपयोग

वमन कर्म उन व्यक्तियों के लिए उपयोगी है, जो कफज और पित्तज रोगों से पीड़ित हैं। इनके अन्तर्गत खाँसी, श्वास (अस्थमा), जुकाम, कफज ज्वर, जी मिचलाना, भूख न लगना, अपच, टॉसिल्स (गलशुण्डी), रक्ताल्पता (एनीमिया), विष का प्रभाव, शरीर के निचले अंगों से रक्तस्राव, कुष्ठ एवं अन्य चर्मरोग (खुजली, विसर्प आदि), गाँठे व गिल्टी, सूजन, नाक की हड्डी का बढ़ना, मूत्र रोग, ग्रहणी रोग, अतिनिद्रा, तन्द्रा (Drowsiness), शरीर में किसी अंग की वृद्धि (Hydrocele), मिर्गी, उन्माद, पतले दस्त, कान का बहना, चर्बी बढ़ना व इससे उत्पन्न रोग, साइनस तथा नाक, तालु व होंठ का पकना आदि है[7]।

योग्य व्यक्ति

जो व्यक्ति उपर्युक्त रोगों से पीड़ित है तथा शरीर से बलशाली हैं, जिन्हें वमन से किसी प्रकार की तकलीफ न होती हो, जो धैर्यशाली हैं, उनके लिए इस चिकित्सा का प्रयोग लाभकारी है।

अयोग्य व्यक्ति

बच्चे, वृद्ध, बहुत दुबले-पतले, भूखे, हृदय रोगी, फेफड़ों में Cavity होने पर, ऊपरी अंगों से रक्तस्राव होने पर, मासिक धर्म के समय, शोकग्रस्त, बहुत मोटा और रोगी व्यक्ति, मद्य के नशे से ग्रस्त, वमन से घबराने वाला तथा जिसे वमन मुश्किल से होता है, नेत्ररोगों (मोतियाबिन्द, अंधपन, नेत्रपीड़ा आदि) से ग्रस्त, रूक्ष प्रकृति वाला, पीलिया से ग्रस्त, पेट में कीड़े वाला तथा वातरोगों से ग्रस्त व्यक्ति इस वमन चिकित्सा के योग्य नहीं हैं[8]।

उपरोक्त लक्षण होने पर भी यदि कोई व्यक्ति विष, अपच अथवा कफ के अधिक प्रकोप से ग्रस्त हो गया है, तो उसे मुलेठी के काढ़े से हल्का वमन देना चाहिए। परन्तु बालक, दुर्बल, कोमल प्रकृति और भीरु व्यक्ति के लिए तो इसका प्रयोग बिल्कुल नहीं करना चाहिए।

पूर्वकर्म या तैयारी

वमन कर्म से पहले रोगी के शरीर में स्थित कफ को प्रकुपित करने की क्रियाएँ करनी चाहिए। इसके लिए वमन से एक से तीन दिन पहले ही उसे दिन में दो या तीन बार तेल पिलाना चाहिए, जिससे उसका मल (पुरीष) स्निग्ध हो जाऐ और उसका जी मिचलाने लगे। वमन से पहली रात्रि उसे तेल मालिश (स्नेहन) और स्वेदन (सिकाई द्वारा) वक्ष और पीठ पर करना चाहिए। इससे कफ पिघलने लगता है। कफ प्रकुपित करने के लिए उसे यवागू (Thingruel), बासमती चावल, दूध तथा छाछ, दही आदि अधिक नमक के साथ देना चाहिए। वमन क्रिया प्रातः ही करनी चाहिए।

औषधि द्रव्य

सेंधा नमक और शहद का प्रयोग अवश्य किया जाता है। इसके अतिरिक्त मदनफल, मुलेठी, नीम, जीमूत, कड़वी तोरई (तुम्बी), पिप्पली, कुटज, इलायची वमन के लिए मुख्य द्रव्य हैं। कफ-प्रकोप से पीड़ित व्यक्ति के लिए कटु, तीक्ष्ण और उष्णवीर्य द्रव्यों का प्रयोग उपयोगी है। पित्त की अधिकता होने पर मधुर व शीतवीर्य द्रव्यों का प्रयोग हितकर होता है तथा वात व कफ का प्रकोप होने पर मधुर, लवण अम्ल तथा उष्णवीर्य द्रव्यों का प्रयोग उपयोगी है। इन औषधि द्रव्यों को 170 ग्राम की मात्रा में 3 लीटर जल में आधा शेष रहने तक उबालकर काढ़ा बनाया जाता है।

विधि

वमन के लिए रोगी को पैरों के बल घुटने मोड़ कर अथवा घुटने तक ऊँची कुर्सी पर शान्ति से बैठना चाहिए। तब वह औषधि (काढ़े) का सेवन (क्रमशः 7 लीटर, 4.5 लीटर अथवा 1.5 लीटर की उत्तम, मध्यम और निकृष्ट मात्रा में) करे। इसे पीने के बाद उसे जी मिचलाने की अनुभूति अवश्य होनी चाहिए। तब उसे हाथ की तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों से अथवा एरण्ड की चिकनी व पोली डण्डी से गले तक जीभ को रगड़ना व स्पर्श करना चाहिए। इससे शीघ्र ही उल्टी हो जाती है। ध्यान रहे कि पित्त निकलने तक उल्टी होनी चाहिए। सबसे पहले कफ, फिर औषधि और पित्त क्रमशः निकलें। रोगी को हृदय, गले, सिर और सारे शरीर में हल्कापन एवं शुद्धि अनुभव हो तो वमन कर्म को सफल मानना चाहिए। 8, 6 और 4 बार वमन को क्रमशः उत्तम मध्यम और निकृष्ट माना जाता है।

पश्चात्-कर्म

भूख लगने पर रोगी को सब्जियों के सूप के साथ मूंग की दाल, उबले हुए व शालि चावल खाने को देने चाहिए। उसे एक दिन तक ठण्डे पेय पदार्थ, शारीरिक व्यायाम, मैथुन, क्रोध, घी या तेल मालिश से परहेज रखना आवश्यक है। अपच नहीं होनी चाहिए।

परिणाम

सम्यक् प्रभाव- प्रत्येक कर्म करने के पश्चात् रोगी के लक्षणों को देखकर अनुमान लगाया जाता है, कि उसका प्रयोग सम्यक् (ठीक) प्रकार से हुआ है अथवा आवश्यकता से कम या अधिक। जिन रोगों की शान्ति के उद्देश्य से ये कर्म किये जाते हैं, यदि वे रोग कम या शान्त हो गये हों, रोगी को शरीर में हल्कापन और ताजगी अनुभव हो रही हो; ग्रहण की गई औषधि शरीर से बाहर निकल गयी हों, शरीर में दोष उत्पन्न कर तथा वात आदि का अनुलोमन हो गया हो, तो समझना चाहिए कि कर्म ठीक प्रकार से सम्पन्न हो गया है।

न्यून प्रभाव

यदि रोगी के शरीर में दोष पहले की अपेक्षा अधिक कुपित दिखाई दें, शरीर में भारीपन, आलस्य, स्निग्धता आदि अधिक हो, जी मिचला रहा हो, शरीर में चिपचिपाहट, खुजली आदि अनुभव हो रही हो, तो समझना चाहिए कि दोष पूरी तरह से बाहर नहीं निकल पाये। उस चिकित्सा का प्रभाव आवश्यकता से न्यून रहा है।

अति प्रभाव

इसके विपरीत, यदि रोगी के शरीर में अधिक रूखापन, मूर्च्छा, शूल, अधिक कमजोरी, अरुचि, जड़ता, अधिक प्यास, दोषों का अधिक मात्रा में स्रवण आदि लक्षण हों तो समझना चाहिए कि उस कर्म का प्रभाव आवश्यकता से अधिक मात्रा में हुआ है।

चिकित्सा

रोगी के शारीरिक लक्षणों को देखते हुए शास्त्र के अनुसार उस-उस प्रकार की चिकित्सा करनी चाहिए। कर्म का प्रभाव कम होने पर उस चिकित्सा को पुनः दोहराया जा सकता है। अधिक प्रभाव होने पर शीतल या उष्ण, बृंहण या लंघन चिकित्सा स्थिति के अनुसार दी जाती है।

2. विरेचन (Purgation therapy)[9]

जब आँतों में स्थित मल पदार्थ को गुदा द्वार से बाहर निकालने के लिए औषधियों का प्रयोग किया जाता है तो इस क्रिया को विरेचन कहते हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण संशोधन (Purgation) कर्म है। इसका प्रयोग सामान्यतः शरद् ऋतु में किया जाता है, परन्तु यदि रोग गम्भीर हो, तो किसी भी ऋतु में इसका प्रयोग किया जा सकता है।

उपयोग

सामान्यतः शरीर में शुद्धि लाने के लिए तो विरेचन क्रिया का प्रयोग किया ही जाता है, इसके अतिरिक्त पित्त का प्रकोप, आम (आधा पचा अथवा बिल्कुल अपच भोजन) से उत्पन्न रोग, अफारा और कुष्ठ जैसे भयंकर चर्म रोगों को दूर करने के लिए भी विरेचन कर्म का प्रयोग किया जाता है। इसके सम्यक् प्रयोग से इन्द्रियों में शक्ति, बुद्धि में ताजगी, पाचकाग्नि में वृद्धि तथा रक्त, रस आदि धातुओं और शारीरिक बल में स्थिरता आती है[10]।

अयोग्य व्यक्ति

बालक, वृद्ध, दुर्बल व कोमल प्रकृति के लोग, गर्भिणी स्त्री, स्थूल शरीर वाले रोगी व्यक्ति, मद्य के नशे वाले, ज्वर की पहली अवस्था में, समय-पूर्वप्रसूता (वह स्त्री जिसने समय पूर्व ही बच्चे को जन्म दिया हो), जिसके शरीर में शस्त्र का घाव हो तथा जिसका शरीर रूक्ष (शुष्क) प्रकृति का हो- ऐसे व्यक्तियों के लिए विरेचन कर्म का प्रयोग नहीं किया जाता।[11]

कोष्ठ की प्रकृति

सभी मनुष्यों के कोष्ठ की प्रकृति एक-सी नहीं होती। यह कोष्ठ तीन प्रकार के माने गयें हैं-

1. **मृदुकोष्ठ**[12]- कुछ व्यक्तियों में पित्त दोष की अधिकता के कारण बहुत शीघ्र ही विरेचन हो जाता है। ऐसे व्यक्ति मृदु कोष्ठ वाले माने जाते हैं। विरेचन कर्म के लिए इन व्यक्तियों को मृदु द्रव्यों का कम मात्रा में सेवन करवाना चाहिए। दूध, उष्ण जल, तेल या द्राक्षा जैसे मृदु औषधियाँ इनके लिए उपयोगी मानी जाती है।
2. **मध्यमकोष्ठ**- जिनके कोष्ठ (उदर) में कफ दोष की प्रधानता होती है, उनके विरेचन कर्म के लिए मध्यम बल वाली (न अधिक मृदु और न अधिक तीव्र) औषधियों की आवश्यकता होती है। ऐसे व्यक्ति मध्यम कोष्ठ वाले माने जाते हैं। इनकी विरेचन क्रिया के लिए त्रिवृत्, तिक्ता और राजवृक्ष (अमलतास) की फली जैसी औषधियों का प्रयोग किया जाता है।
3. **क्रूरकोष्ठ**[13]- जिनके कोष्ठ में वात दोष की प्रधानता होती है तथा विरेचन क्रिया बहुत कठिनाई से हो पाती है, वे क्रूर कोष्ठ वाले व्यक्ति माने जाते हैं। इनकी विरेचन क्रिया के लिए स्नुहीक्षीर (सेहुण्ड का दूध), हेमक्षीरी तथा दन्तीफल जैसी तीव्र विरेचक औषधियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं।

अतः विरेचन क्रिया से पहले रोगी के कोष्ठ की प्रकृति को जानकर ही औषधियों का चयन किया जाता है।

3. नस्य कर्म अथवा शिरोविरेचन (Inhalation therapy)

सिर, नेत्र, कान, नाक व गले के रोगों में जो चिकित्सा नाक द्वारा ली जाती है, वह नस्य अथवा शिरोविरेचन कहलाती है। इसे नावन नाम से भी जाना जाता है। नस्य कर्म के मुख्यतः दो भेद है[14]-

(1) रेचन अथवा कर्षण नस्य

(2) स्नेहन अथवा बृंहण नस्य

रेचन अथवा कर्षण नस्य[15]

यह नस्य शिर से कफ आदि दोषों को बाहर निकालता है। इसके लिए तीक्ष्ण प्रभाव वाले तेलों अथवा तीक्ष्ण औषधियों के रस या क्वाथ से पकाये गये तेलों का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त औषधियों के रस या चूर्ण का प्रयोग भी किया जाता है। रेचन नस्य का प्रयोग कफज, ऊर्ध्वजत्रु (नाक, कान, गला व सिर) के रोगों में एवं शिरःशूल, स्वरक्षय, पीनस, प्रतिश्याय, शोथ (सूजन), अपस्मार (मिर्गी), कुष्ठ जैसे भंयकर चर्मरोग व अरुचि में किया जाता है।

स्नेहन अथवा बृंहण नस्य[16]

यह नस्य शिर, नाक आदि ऊपरी अंगों में स्निग्धता लाता है। इसमें तैल अथवा मधुर रस युक्त औषधियों के रस, क्वाथ, कल्क अथवा चूर्ण से पकाये गये तैल या घी का प्रयोग किया जाता है। इस नस्य का उपयोग सिर, नाक व नेत्र के रोगों में, अर्द्धावभेदक (आधासीसी), दाँत, बाहु, कन्धे व मन्या (Steno-mastoid region) के रोगों में, बल की कमी, मुखशोष (मुँह का सूखना), कर्णनाद (कान के अन्दर आवाज होना) आदि में, वातिक और पैत्तिक रोगों में, समय से पहले बालों का सफेद होना तथा बाल गिरना इत्यादि रोगों में किया जाता ळें

अयोग्य व्यक्ति- गर्भवती व मासिक स्राव वाली महिला को नस्य नहीं देना चाहिए। मैथुन, भोजन, स्नान व मदिरापान के उपरान्त भी नस्य का निषेध है।

नस्य में प्रयुक्त होने वाले औषधि-द्रव्य- मीठी बच के मूल का चूर्ण, अदरक, प्याज, लहसुन, काली मिर्च आदि द्रव्यों का रस, क्वाथ, कल्क या चूर्ण, जो घी या तेल में पकाकर तैयार किया हो, यह सब नस्य के लिये उपयोगी माना गया है।

4. अनुवासन बस्ति (A type of enema)

जिस चिकित्सा कर्म में गुदामार्ग द्वारा औषधि प्रविष्ट कराई जाती है, उसे बस्ति कर्म कहते हैं। जिस बस्ति कर्म में केवल घी, तैल आदि स्नेह द्रव्यों अथवा क्वाथ आदि के साथ अधिक मात्रा में स्नेह पदार्थों का प्रयोग किया जाता है, उसे 'अनुवासन' अथवा 'स्नेहन बस्ति' कहा जाता है। इसे 'मात्राबस्ति' भी कहते हैं, क्योंकि यह बस्ति 100 मिली (2 पल) अथवा 50 मिली (1 पल) की निश्चित मात्रा में दी जाती है।

उपयोग व लाभ

इसके प्रयोग से कोष्ठ की शुद्धि के साथ-साथ स्निग्धता और स्थानीय कोमलता भी आती है। अनुवासन बस्ति से शरीर में पुष्टता आती है, शक्ति, स्वास्थ्य व आयु में वृद्धि तथा रंग में निखार आता है।

योग्य व्यक्ति

जिनके शरीर में रूक्षता हो, जिनकी पाचकाग्नि तीव्र हो तथा जो केवल वातज रोगों से पीड़ित हों, उन्हें अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

अयोग्य व्यक्ति

जो कुष्ठ जैसे चर्म रोगों, मधुमेहादि मूत्र-रोगों, मोटापा, उदर रोगों, अजीर्ण, अरुचि, तृषा, श्वास (दमा), खाँसी, क्षय, उन्माद, शोष व भय से पीड़ित हैं, उन्हे अनुवासन बस्ति नहीं देनी चाहिए।

5. निरूह बस्ति (Another type of enema)

जिस बस्ति कर्म में कोष्ठ की शुद्धि के लिए औषधियों के क्वाथ, दूध और तैल का प्रयोग किया जाता है, उसे निरूह बस्ति कहते हैं। क्योंकि यह बस्ति शरीर में वात आदि दोषों और धातुओं को सम स्थिति में स्थापित करने में सहायक है, अतः इसे आस्थापन बस्ति भी कहते हैं। निरूह बस्ति गुणों के आधार पर अनेक प्रकार की है। यथा- दीपन बस्ति, लेखन बस्ति, बृंहण बस्ति, पिच्छिल बस्ति, सिद्ध बस्ति, युक्तरसा बस्ति आदि। इन सबका प्रयोग रोग व रोगी की प्रकृति के अनुसार ही किया जाता है। यहाँ सामान्य रूप से निरूह बस्ति का परिचय दिया जा रहा है।

योग्य व्यक्ति

वातज रोग, उदावर्त (वायु का ऊर्ध्व गमन), वातरक्त (गठिया), विषम ज्वर (मलेरिया), उदर रोग, पेट में अफारा, मूत्राशय में पथरी, शूल, अम्लपित्त (Hyperacidity), मन्दाग्नि, मूत्र में रुकावट, हृदय रोग, प्रमेह, रक्त प्रदर तथा कब्ज जैसे रोगों से पीड़ित

व्यक्ति को निरूह बस्ति देनी चाहिए।

अयोग्य व्यक्ति

दोषों के अधिक प्रकुपित होने पर एवं दुर्बलता, वमन, हिचकी, बवासीर, खाँसी, दमा, गुदा में सूजन, अतिसार, पेचिश, मधुमेह तथा कुष्ठ जैसे चर्म रोग होने पर निरूह बस्ति नहीं देनी चाहिए। गर्भिणी स्त्री के लिए भी निरूह बस्ति का प्रयोग निषिद्ध है।

रक्तमोक्षण (Blood-Letting)

पंचकर्म चिकित्सा में वर्णित वमन, विरेचन आदि कर्मों का प्रधान उद्देश्य है कि दोषों का शोधन हो। रक्तमोक्षण कर्म में दोषशोधन की अपेक्षा रक्त का निर्हरण (निकालना) ही प्रधान विषय प्रतीत होता है परन्तु इसका उद्देश्य भी दोषशोधक है, क्योंकि पित्त से रक्त के अति दूषित होने पर ही रक्तमोक्षण का विधान है। रक्त शरीर की अत्यंत महत्त्वपूर्ण धातु है। परन्तु दूषित होने पर अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। रक्त की रोगोत्पादकता अत्यन्त व्यापक होती है। अत: स्वास्थ्य-संरक्षण एवं रोगों की निवृत्ति के लिये दूषित रक्त को निकाल देना आवश्यक होता है। दूषित रक्त को निकालते समय पित्त का भी निर्हरण होता है, क्योंकि पित्त रक्त में आश्रयाश्रयी-भाव से रहता है। अत: पित्तज व्याधियों के लिये रक्तमोक्षण को प्रधानता से प्रतिपादित किया गया है।

रक्तमोक्षण आशुफलप्रद चिकित्सा है, किन्तु ठीक ढंग से न करने पर यह अनेक व्यापत्तियां (बिगाड़) उत्पन्न करता है।

प्रकार- रक्तमोक्षण के मुख्य दो प्रकार हैं[17]-

(1) शस्त्र द्वारा रक्तविस्रावण (2) शस्त्र रहित रक्तविस्रावण

शस्त्र विस्रावण दो प्रकार का होता है-

(क) प्रच्छान- इसमें एक ही स्थान पर एकत्रित दूषित रक्त को चीरा लगाकर बाहर निकाल लिया जाता है।

(ख) सिरावेध- जब दूषित रक्त पूरे शरीर में फैल जाता है तब इस विधि का प्रयोग किया जाता है।

शस्त्र रहित विस्रावण चार प्रकार का होता है-[१८]

(1) **जलौकावचारण**- पित्त प्रकुपित रक्त को निकालने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

(2) **शृंगावचारण**- वात दोष से प्रकुपित रक्त को इस विधि द्वारा निकाला जाता है।

(3) **अलाबु अवचारण**- कफ दोष से प्रकुपित रक्त को अलाबु द्वारा बाहर निकाला जाता है।

(4) **घटीयंत्र**- जब दूषित रक्त त्वचा की अलग-अलग परतों में जम गया हो तब घटीयंत्र का प्रयोग किया जाता है।

रक्तमोक्षण के लिए इनका उपयोग दोषों की, रक्त की एवं रोगी की अवस्था के अनुसार किया जाता है।

दोषावस्था के अनुसार-[19,20,21] वात दोष के दूषित रक्त का निर्हरण शृंग से, पित्त से दूषित रक्त का निर्हरण जलौका तथा कफ से दूषित रक्त का निर्हरण अलाबु से करना चाहिये।

रक्तावस्था के अनुसार-[22,23] दोषों के अतिरिक्त रक्त की अवस्था के अनुसार (अवगाढ, अवगाढतर) उपर्युक्त प्रयोगभेदों का विचार किया जाता है। यथा- यदि रक्त ग्रथित है तो जलौका का उपयोग करें, यदि एक स्थान में पका हुआ है तो प्रच्छान का तथा सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त हो तो सिरावेध द्वारा रक्त को स्रावित कराया जाता है।

आतुरावस्था के अनुसार-[24,25,26] आतुर (रोगी) का शरीरबल देखकर भी इसके प्रयोग में भिन्नता होती है। यथा- शृंग और अलाबु का प्रयोग सुकुमार व्यक्तियों में तथा जलौका का प्रयोग अत्यन्त सुकुमार व्यक्तियों में करना चाहिये।

शरीर और अन्य द्रव्यों के सदृश रक्त की संरचना भी पांच महाभूतों के सम्मिश्रण से ही हुई है। रक्त जीवन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह रक्त ही है, जो चेतन प्राणी के शरीर का निर्माण भी करता है तथा उसे जीवित भी रखता है। अत: रक्त की रक्षा करना तथा अत्यधिक स्राव को रोकना अत्यावश्यक है।

अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होने पर भी कुछ परिस्थितियों में रक्त को शरीर से बाहर निकालना पड़ता है। जैसे- चर्मरोग, शरीर में गाँठें आदि होने पर 'रक्त मोक्षण' (रक्त को शरीर से बाहर निकालना) एक चिकित्सा के रूप में प्रयोग किया जाता है। क्योंकि उपरोक्त परिस्थितियाँ रक्त के दूषित होने पर अथवा रक्त की मात्रा में अधिकता होने पर उत्पन्न होती हैं। ऐसी स्थिति में दूषित रक्त का ही स्राव कराया जाता है। शरीर से रक्तस्राव के लिए जोंक का प्रयोग किया जाता है। सिरा का छेदन करके भी रक्तस्राव किया जा सकता है।

रक्त-मोक्षण के योग्य व्यक्ति

निम्नलिखित रोगों से पीड़ित व्यक्ति के लिए रक्त-मोक्षण की क्रिया उपयोगी है:-

शोथ (सूजन), दाह (जलन), त्वचा पर लालिमा, शरीर के किसी अंग से रक्तस्राव, वातरक्त (गठिया), कुष्ठ जैसे चर्म रोग, फोड़े-फुंसियाँ, हाथ के रोग, वात का अत्यधिक प्रकोप, श्लीपद (हाथीपाँव), रक्त की विषाक्तता, गाँठे व गिल्टियाँ होना, अपची (तपेदिक सम्बन्धी गिल्टी), क्षुद्र रोग, विदारिका (काँख और जँघा के बीच गिल्टी जैसी वृद्धि), स्तन रोग, शरीर में भारीपन व शिथिलता, रक्त प्रकोप से उत्पन्न नेत्रपाक, तन्द्रा, मुँह-नाक व शरीर से दुर्गन्ध आना, कान, होंठ, नाक व मुँह से पीब आना, यकृत् और प्लीहा के रोग विसर्प, सिरदर्द व उपदंश।

सम्यक् रक्त-मोक्षण के लक्षण

रक्त-मोक्षण की क्रिया के पश्चात् यदि रोगी को दर्द में आराम मिले, रोग की तीव्रता कम हो जाए, रोगी शरीर में हल्कापन अनुभव करे तथा सूजन समाप्त हो जाए तो समझना चाहिए कि यह क्रिया ठीक प्रकार से सम्पन्न हो गई है।

रक्तमोक्षण

जोंक थेरेपी - यह एक ब्लड प्यूरीफिकेशन थैरेपी है जो शरीर से दूषित रक्त को बाहर निकालने में सहायक है। इस प्रक्रिया के दौरान, जोंक का उपयोग किया जाता है जो रक्त को चूसते हैं और रक्त में कुछ ऐसे एंजाइम छोड़ते हैं जो प्रतिरक्षा बढ़ाने के साथ-साथ शरीर की उपचार शक्ति में सहायक होते हैं।

प्रक्रिया :- सबसे पहले जोंक को हल्दी के पानी में 5-10 मिनट के लिए रखा जाता है। जिससे वह अपनी लार निकाल देती है और वह पूर्ण रूप से सक्रिय हो जाती है। उसके बाद जोंक को साफ पानी में रखते हैं तथा व्यक्ति के ऊपर उपचार के लिए प्रयोग करते हैं।

लाभ:-

- जोड़ों के दर्द को कम करने में लाभदायक है।
- सूजन को कम करती है।
- Varicose Veins में लाभदायक है।
- दाद, खुजली सोराइसिस, एलर्जी में लाभकारी है।
- बालों का झड़ना कम करती है।
- आंखों की रोशनी में लाभदायक।
- कान सम्बन्धी विकार जैसे-कम सुनाई देना तरह-तरह की आवाजें आना में लाभदायक।
- मस्तिष्क सम्बन्धी रोगों में लाभकारी।

सावधानियां :-

- जोंक थैरेपी हमेशा खून की जाँच के बाद ही करनी चाहिए।
- हिमोग्लोविन के अनुसार लीच की संख्या निश्चित कर ही लीच लगाए।
- जोंक को बलपूर्वक (खुद से) ना हटाए वह स्वयं हट जाती है।
- लीच के हटने के बाद खून रुकने तक हल्दी लगा कर रखनी है तथा पट्टी कर देनी है।
- लीच लगाने के बाद उस जगह पर 24 घण्टे तक पानी नहीं लगाना चाहिए।
- अगर पैरो में लीच लगाते हैं तो अधिक चलना नहीं चलना चाहिए।
- पीरियड्स में नहीं लगानी चाहिए।
- उच्च मधुमेह में लीच ना लगाये।

विशेष :- लीच को हटाने के बाद उसके मुँह पर हल्दी डालकर वमन कराया जाता है। एक बार उपयोग में लाने के बाद लीच को 15 दिन तक आराम के लिए रख दिया जाता है।

आन्तरिक बस्ती

आंतरिक बस्ती वह प्रक्रिया है जिसमें प्राय: गुदा मार्ग से रोगानुसार औषधि सिद्ध क्वाथ, स्नेह, क्षीर, तक्र आदि विशेष

प्रक्रिया द्वारा पक्वाशय में प्रविष्ट किया जाता है। आन्तरिक बस्ती दो प्रकार की होती है।
1. अनुवासन बस्ती (मात्रा बस्ती) 2. आस्थापन बस्ती (निरूह बस्ती)

1. **अनुवासन बस्ती (मात्रा बस्ती)**

अनुवासन बस्ती में तेल की प्रधानता होती है। इसके अन्तर्गत मात्रा, बस्ती व स्नेह बस्ती आती हैं। जिसमें रोगानुसार लगभग 50-60 ML तक मात्रा में बस्ती दी जाती है।

सामग्री :- रोगानुसार औषधि सिद्ध क्वाथ, स्नेह, क्षीर, तक्र आदि।

प्रक्रिया :- अनुवासन बस्ती में स्वास्थ्य साधक को बाई करवट लिटा करके रोगानुसार औषधि को विधिवत सिरिज (इंजेक्शन) एंव कैथेटर के माध्यम से पक्वाशय में प्रविष्ट कराई जाती है। स्वास्थ्य साधक से बस्ति को 30 मिनट या सामर्थ्य अनुसार अधिक से अधिक होल्ड कराया जाता है।

2. **आस्थापन बस्ती (निरुह बस्ती)**

आस्थापन बस्ती में क्वाथ की प्रधानता होती है। आस्थापन बस्ती को ही निरुह बस्ती भी कहते हैं। इसकी मात्रा 250-400 ml. तक होती है।

सामग्री :- क्वाथ (सर्वकल्प, दशमूल, पीड़ान्तक) आदि तेल (सहचरादि, सैंधवादि, बला), कल्क (टेबलेट), मधु, लवण।

प्रक्रिया :- स्वास्थ्य साधक को बाई करवट लिटा कर। विधिवत स्थापित बस्ती पात्र (एनिमा पौट) एंव कैथेटर के माध्यम से आयु एवं रोगानुसार 250-400 ML. औषधि द्रव्य गुदा मार्ग से पक्वाशय में प्रविष्ट कराया जाता है।

लाभः- विभिन्न प्रकार की साध्य असाध्य व्याधियों में रोगानुसार आन्तरिक बस्ती विशेष गुणकारी एवं लाभकारी होती है।

सावधानी :-

- बस्ती में उपयुक्त औषधियां विधिवत मिश्रित होनी चाहिए।
- औषधियों की निर्धारित मात्रा होनी चाहिए।
- बस्ती का तापमान संतुलित होना चाहिए न अधिक गर्म न अधिक ठंडा सामान्य ताप ।
- बस्ती को निर्धारित समय अन्तराल में ही स्वास्थ्य साधक को दिया जाना चाहिए।
- बस्ती में उपयोग किये जाने वाले पात्र स्वच्छ होने चाहिए

बाह्य बस्ती

शरीर के किसी भाग पर तेल से सेक देने को बाह्य बस्ती कहते हैं। बाह्य बस्ती बनाने में उड़द के दाल के आटे का प्रयोग किया जाता है

सामग्री :- पीड़ांतक तेल, सहचरादि तेल, उड़द आटा इत्यादि।

समयः- 30-35 मिनट

बाह्य बस्ती के प्रकारः-

- जानू बस्ती (JB) - घुटनों के दर्द के लिए
- पृष्ठ बस्ती (PB) - कमर दर्द, रीढ़ की हड्डी के लिए
- लंग बस्ती (LUB) - श्वास, फेफड़े सम्बन्धी रोगों के लिए
- किड्नी बस्ती (KID B) - वृक्क विकार के लिए
- हृदय बस्ती (Hriday B) - हृदयशूल, हृदय कम्पन के लिए
- कटि बस्ती (KB) - कटिशूल के लिए
- ग्रीवा बस्ती (GB) - सर्वाइकल, ग्रीवाशूल के लिए
- लीवर बस्ती (LIV B) - यकृत सम्बन्धी बिमारियों के लिए
- शिरोबस्ती - उच्च रक्तचाप, अनिंद्रा, OCD के लिए
- **नाभि बस्ती** (Nabhi B) – पेट सम्बन्धी विकार के लिए

सावधानियां :-

- बस्ती अच्छे से लगी होनी चाहिए।
- ध्यान रहे कि तेल अधिक गर्म न हो और लीक न करे।
- तेल को अंगूठे की सहायता से बस्ती में डाला जाता हैं।
- जितनी बार डाला जाता है उतनी बार तेल गर्म होना चाहिए।

लाभ :- विभिन्न प्रकार की साध्य असाध्य व्याधियों में रोगानुसार वाह्यबस्ती विशेष गुणकारी एवं लाभकारी होती है।

स्मरणीय बिंदु-

1. स्नेहन शरीर के भीतर और बाहर तेल या घी का प्रयोग करना ताकि जमे हुए दोष ढीले हो सकें। यह बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार का होता है।

2. स्वेदन पसीने के माध्यम से त्वचा के रोमछिद्रों को खोलना और दोषों को पिघलाना। यह स्नेहन के बाद किया जाता है।

3. शोधन का क्रम: पूर्वकर्म (तैयारी), प्रधानकर्म (मुख्य सफाई) और पश्चात्कर्म (खान-पान का नियम) इन तीन चरणों के बिना पञ्चकर्म अधूरा है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: पञ्चकर्म चिकित्सा से आप क्या समझते हैं? इसके पाँचों प्रधान कर्मों (वमन, विरेचन, वस्ति, नस्य और रक्तमोक्षण) का संक्षिप्त परिचय देते हुए इसके महत्त्व पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 2: पूर्वकर्म क्या है? स्नेहन और स्वेदन की विधियों का सविस्तार वर्णन कीजिए और बताइए कि मुख्य कर्म से पहले ये क्यों अनिवार्य हैं?

प्रश्न 3: आयुर्वेद के स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणं, आतुरस्य विकार प्रशमनं च सिद्धांत की पूर्ति में पञ्चकर्म किस प्रकार सहायक है? विस्तार से समझाएं।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: बाह्य स्नेहन के लाभ और इसकी विधि का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न 2: श्नाड़ी स्वेदश और श्सर्वांग स्वेदश में क्या अंतर है?

प्रश्न 3: पञ्चकर्म चिकित्सा किन स्थितियों में नहीं करनी चाहिए?

प्रश्न 4: प्रधानकर्म का क्या अर्थ है? इसके प्रमुख अंग कौन से हैं?

प्रश्न 5: स्नेहन के लिए प्रयुक्त होने वाले विभिन्न प्रकार के स्नेह (द्रव्यों) का परिचय दीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1: पञ्चकर्म का मुख्य उद्देश्य शरीर के साथ क्या करना है?

(क) केवल वजन बढ़ाना

(ख) शरीर का पूर्ण शोधन करना

(ग) केवल शरीर को सुखाना

(घ) इनमें से कोई नहीं

प्रश्न 2: पञ्चकर्म के मुख्य (प्रधान) कर्म करने से पहले कौन-सा पूर्वकर्म किया जाता है?

(क) केवल व्यायाम

(ख) स्नेहन और स्वेदन

(ग) उपवास

(घ) केवल मौन धारण

प्रश्न 3: पसीने के माध्यम से शरीर के दोषों को पिघलाने की प्रक्रिया को आयुर्वेद में क्या कहा जाता है?

(क) स्नेहन

(ख) स्वेदन

(ग) वमन

(घ) विरेचन

प्रश्न 4: निम्नलिखित में से कौन-सा कर्म पञ्चकर्म के पाँच प्रधान कर्मों में शामिल नहीं है?

(क) वमन

(ख) वस्ति

(ग) स्नेहन

(घ) नस्य

प्रश्न 5: दोषों को कोष्ठ की ओर गति देने के लिए मालिश की दिशा क्या होनी चाहिए?

(क) हृदय से अंगों की ओर

(ख) नीचे से ऊपर की ओर या अंगों से कोष्ठ की ओर

(ग) किसी भी दिशा में

(घ) केवल गोलाकार

इकाई- 3.2 षट्कर्म चिकित्सा का सामान्य परिचय

उद्देश्य-

1. हठयोग के अनुसार शरीर की आंतरिक शुद्धि के लिए षट्कर्म (नेति, धौति, वस्ति, कुंजर, नौलि, त्राटक) की वैज्ञानिक विधि को समझाना।
2. शरीर में बढ़े हुए कफ और मेद (चर्बी) को दूर कर दोषों (वात, पित्त, कफ) का संतुलन बनाने की प्रक्रिया का बोध कराना।
3. प्राणायाम और ध्यान के अभ्यास से पूर्व नाड़ी शुद्धि के लिए षट्कर्म की अनिवार्यता को स्पष्ट करना।

जल नेति - जलनेति में पानी से नाक की सफाई की जाती है जिससे साइनस व सर्दी-जुकाम जैसी समस्याओं से बचाया जा सकता है इसे करने के लिए सेंधा नमक युक्त गुनगुने पानी का इस्तेमाल किया जाता है। इस क्रिया में पानी को नेति पात्र की मदद से नाक के एक छिद्र से डाला जाता है और दूसरे से निकाला जाता है फिर इसी क्रिया को दूसरे नॉस्ट्रिल (नासिका छिद्र) से किया जाता है।

रबर नेति - रबर एक पतली सी नली होती है जिसका एक सिरा गोल होता है व उसके बराबर में छिद्र होता है तथा इसका दूसरा सिरा खुला होता है। इसको गोल तरफ से नाक के माध्यम से मुँह में डाला जाता है व कण्ठ में आते ही दो अगुलियो की सहायता से उसको मुँह से बाहर निकाला जाता है फिर दोनों छोरो को एक साथ पकड़ते समय रबर को बारी बारी नाक व मुँह से अन्दर बाहर निकाला जाता है।

लाभ - साइनस, सर्दी-जुकाम आदि में लाभकारी।

सावधानियां:-

- रबर को नाक में डालते समय अधिक दबाव न डालें।
- रबर डालने से पहले उसके गोल सिरे पर तेल लगाएं।
- नाक बन्द होने पर रात्रि में नाक में तेल डालकर सोएँ।
- प्रशिक्षक की निगरानी में करें।

कुंजल क्रिया

कुंजल पानी से की जाने वाली क्रिया है जिसमें खाली पेट हल्का नमकीन गुनगुना पानी 6-7 ग्लास पीकर उसे बाहर निकाला जाता है इस क्रिया से कंठ से लेकर अमाशय तक का शुद्धिकरण होता है।

लाभ:- पित्त, कफ, गैस आदि रोगो से मुक्ति मिलती है।

सावधानियां:-

- कुंजल करते समय सिर को अधिक नीचे न झुकाएँ।
- पानी पीने के तुरन्त बाद कुंजल करें।

विशेज़:- कुंजल क्रिया में काकासन में बैठकर पानी पिलाए व उसके तुरन्त बाद मध्यम दो अंगुलियो से जिह्वा के अन्तिम भाग पर घर्ज़ण कर कुंजल करें

एनिमा

एनिमा देने के लिए व्यक्ति को बाएं करवट लेटाकर उसके दाहिने पैर को लगभग 90^0 तक मोड़कर लिटाते हैं। बाया पैर सीधा ही रहेगा व्यक्ति को गहरी लम्बी श्वास लेने के लिए बोलना हैं। (नाक से लेना मुँह से छोड़ना) एनिमा लेते समय व्यक्ति को अपने पेट पर गोल-गोल हाथ घुमाने को कहना हैं।

एनिमा के प्रकार :-

त्रिफला - कब्ज के लिए
नीम - सभी को
कॉफी - कैंसर
छाछ - क्रोनिक कब्ज

लाभ :-

पेट की सफाई
चेहरे में निखार
Constipation (कब्ज)

आई वाश

जल से आँखो को धुलना आई वाश कहलाता है। इसमें त्रिफला युक्त जल को आई वाश कप के माध्यम से आँखों को डुबाकर खोलना व बन्द करना होता है।

प्रक्रिया :- आई वाश के लिए त्रिफला को जल में रातभर भिगोकर रखते है और सुबह उसके जल से आंखो को धोते हैं।

लाभ :- आँखो से सम्बन्धित विकार में लाभकारी

योगनिद्रा

योगनिद्रा का अर्थ है - आध्यात्मिक नींद। यह वह नींद है जिसमें जागते हुए सोना है। सोने व जागने के बीच की स्थिति है योग निद्रा। इसे स्वप्न और जागरण के बीच की स्थिति मान सकते है यह झपकी जैसा है या कहे कि अर्धचेतन जैसा है।

लाभः-

(x) मानसिक शांति के लिए।

2. अन्य योगासनों के अभ्यास के बाद बढ़े शारीरिक तापमान में कमी के लिए लाभप्रद है।
3. एकाग्रता बढ़ता है ।
4. शारीरिक व मानसिक थकान दूर करता है।
5. तंत्रिका तंत्र का कार्य बेहतर होता है।

सावधानियां -

(x) शांत वातावरण होना चाहिए।

2. क्रोनिक डिप्रेशन में नहीं करना चाहिए।
3. खाना खाने के तुरंत बाद न करें कम से कम २ घंटे के पश्चात ही इसका अभ्यास करें ।

त्राटक

त्राटक का सामान्य अर्थ है किसी विशेष दृश्य को टकटकी लगाकर एकटक देखना मन की चंचलता को शान्त करने के लिए साधक इसे करता है। यह ध्यान की एक विधि है जिसमें किसी बाह्य वस्तु को टकटकी लगाकर देखा जाता है। त्राटक दिये की लौ, सूर्य, अंगूठे का अग्रभाग, तथा किसी बिन्दु पर किया जाता है।

लाभः-

- एकाग्रता और स्मृति में सुधार करता है।
- सिर दर्द, अनिद्रा व बुरे सपने आदि को भी ठीक किया जा सकता है।
- मन शांत करता है व आंखो की सफाई करता है।

खाना खाने के तुरंत बाद न करें कम से कम 2 घंटे के पश्चात ही इसका अभ्यास करें।

२. धौति : आमाशय के शुद्धीकरण के लिए धौति क्रिया होती है। धौति का अर्थ है- धोना। इसके सामान्यतया चार भेद हैं- वमनधौति, गजकरणी, वस्त्रधौति, दण्डधौति ।

(क) वमनधौतिः

विधिः प्रातःकाल शौचादि से निवृत्त होकर यह क्रिया करनी चाहिए। क्रिया के लिए 1-2 किलो गुनगुने जल में थोड़ा नमक डालकर जितना सम्भव हो, उतना प्रयत्नपूर्वक पानी पियें। फिर 90 डिग्री पर झुककर बायें हाथ की बीच की दो अंगुलियों को मुख में डालकर गले से स्पर्श करें, इससे वमन होकर पानी बाहर निकल जाता है। इस प्रकार गले में अंगुलियों के स्पर्श से पूरा पानी बाहर निकाल दें। जिनके नेत्र में अधिक लाली रहती है, उनको यह क्रिया बलपूर्वक नहीं करनी चाहिए। अधिक नीचे की ओर भी नहीं झुकना चाहिए तथा पैरों को पास में रखना चाहिए। इस क्रिया को 'बाधी क्रिया' भी कहते हैं।

लाभः वमनधौति से आमाशय में स्थित कफ, पित्त एवं बिना पचा हुआ अन्न आदि बाहर निकल जाता है। जिनको कफ रोग, श्वास, दमा एवं अम्लपित्त हो. उन्हें यह क्रिया करनी चाहिए। बाद में जैसे-जैसे रोग का वेग कम होता जाय, इसको भी कम करते जायें। ज्वर में भी वमनधौति से प्रकुपित पित्त बाहर निकल आता है एवं प्रस्वेद आकर ज्वर की निवृत्ति होती है। सिर में चक्कर आना आदि विकार शान्त होते हैं। इस क्रिया को सामान्यतया सप्ताह में एक बार किया जाना चाहिए।

(ख) गजकरणी या कुंजरक्रिया:

वमनधौति और गजकरणी में इतना ही अन्तर है कि पहली क्रिया में रुक-रुककर पानी बाहर आता है, जबकि गजकरणी में जल एक साथ बाहर निकलता है। गज या कुंजर हाथी को कहते हैं। जैसे हाथी सूंड में पानी भरकर उसे फव्वारे की तरह बाहर फेंक देता है, वैसी ही यह क्रिया होने से इसे 'गजकरणी' कहते हैं।

विधि: जितना पी सकते है, जल पियें। जल पीकर 90 डिग्री पर कमर को झुकायें। गले, मुख एवं कण्ठ को थोड़ा संकुचित करके उज्जायी जैसे श्वास लें या जैसे पानी पीते हैं, वैसे ही घूँट घूँट करते वायु को आमाशय में धकेलें। उदर को संकुचित करें। इससे आमाशय के संकुचित होने से पानी झरने की भाँति बाहर गिरने लगेगा। इसमें आमाशय पर बायें हाथ से दबाव भी डाल सकते हैं।

लाभ: पूर्ववत् ।

(ग) वस्त्रधौति:

विधि: मलमल का एक 22 फुट लम्बा और चार अंगुल चौड़ा वस्त्र लें। उसको गोलाकार लपेटकर एक पात्र में 4 से 5 मिनट तक उबले हुए साफ पानी में छोड़ दें। उकडू बैठकर वस्त्रधौति के एक सिरे को जिह्वामूल पर रखें। अब धीरे-धीरे जैसे भोजन करते हैं, वैसे लार के साथ वस्त्र को निगलिए। बीच-बीच में थोड़ा-थोड़ा करके पानी भी पीते जायें। इससे आसानी से कपड़ा अन्दर चला जाता है। प्रारम्भ में वमन जैसा अनुभव होगा। जब वमन होने लगे, तो मुख बन्द कर लें। प्रारम्भ में 3-4 फुट कपड़ा अन्दर जायेगा। अभ्यास होने पर शनैः-शनैः पूरी धौति निगल सकेंगे। धौति निगलने के बाद खड़े होकर 2-3 बार उड्डीयान बन्ध और दक्षिण नौलि का संचालन करें। नौलिक्रिया के पश्चात् बैठकर धीरे-धीरे वस्त्र को बाहर निकाल दें। यदि बाहर निकालते समय वस्त्र बीच में ही अटक जाये तो थोड़ा निगलकर फिर बाहर निकालें। बाहर निकालकर ठीक प्रकार से साबुन आदि से धोकर सुखाकर रख लें।

सावधानियाँ:

- वस्त्रधौति निगलते समय उसे दाँतों से नहीं दबाना चाहिए।
- धौति निगलते हुए कम से कम एक फुट वस्त्र बाहर रखना चाहिए।
- वस्त्रधौति निगलना आरम्भ करने के पश्चात् लगभग 20 मिनट बाद उसे निकालना आवश्यक होता है अन्यथा धौति का अगला हिस्सा आमाशय के अन्तिम द्वार तक पहुँचकर वहाँ पच सकता है, जिससे हानि होने की अत्यन्त सम्भावना होती है। इसलिए 15-20 मिनट में चाहे जितनी धौति निगली गई हो, उसे बाहर कर देना चाहिए।
- जिन्हें अत्यधिक खट्टी डकारें आती हों या आमाशय में किसी प्रकार का व्रण (अल्सर आदि) हो, उन्हें यह क्रिया नहीं करनी चाहिए।

स्मरणीय बिंदु-

1. शुद्धि क्रियाएँ षट्कर्म केवल शारीरिक सफाई नहीं हैं, बल्कि ये नाड़ियों के शोधन द्वारा प्राण ऊर्जा के प्रवाह को सुगम बनाते हैं।
2. सावधानी षट्कर्म की क्रियाएँ (विशेषकर धौति और वस्ति) हमेशा किसी योग्य गुरु या विशेषज्ञ के सान्निध्य में ही शुरू करनी चाहिए।
3. त्राटक का महत्त्व त्राटक न केवल आँखों की रोशनी बढ़ाता है, बल्कि यह मन को स्थिर कर समाधि की ओर अग्रसर करने में सहायक है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: षट्कर्म से आप क्या समझते हैं? इसके अंतर्गत आने वाली छह क्रियाओं (नेति, धौति, वस्ति, कुंजर/गजकरणी, नौलि और त्राटक) का सविस्तार वर्णन कीजिए और इनके स्वास्थ्य लाभों पर प्रकाश डालिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: जल नेति और सूत्र नेति के बीच अंतर स्पष्ट कीजिए। इसके नासिका स्वास्थ्य पर होने वाले प्रभावों को बताइए।

प्रश्न 2: नौलि क्रिया के विभिन्न चरणों (वाम, दक्षिण और मध्य नौलि) की व्याख्या कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1: हठयोग प्रदीपिका के अनुसार, षट्कर्म की क्रियाएँ मुख्य रूप से किन व्यक्तियों के लिए अनिवार्य बताई गई हैं?

(क) जो पूरी तरह स्वस्थ हों

(ख) जिनके शरीर में कफ और मेद (चर्बी) की अधिकता हो

(ग) जो केवल दौड़ना चाहते हों

(घ) इनमें से कोई नहीं

प्रश्न 2: आँखों की रोशनी बढ़ाने और एकाग्रता में सुधार के लिए कौन-सा षट्कर्म सर्वोत्तम माना गया है?

(क) नौलि

(ख) त्राटक

(ग) वस्ति

(घ) नेति

प्रश्न 3: धौति क्रिया का मुख्य प्रभाव शरीर के किस तंत्र पर पड़ता है?

(क) केवल श्वसन तंत्र पर

(ख) ऊपरी पाचन तंत्र की सफाई पर

(ग) केवल हड्डियों पर

(घ) श्रवण तंत्र पर

प्रश्न 4: पेट की मांसपेशियों के संचालन और पाचन शक्ति को तीव्र करने के लिए कौन-सी क्रिया की जाती है?

(क) नेति

(ख) नौलि

(ग) कपालभाति

(घ) त्राटक

प्रश्न 5: नासिका मार्ग की सफाई और साइनस के उपचार के लिए कौन-सा षट्कर्म उपयोगी है?

(क) नेति

(ख) वस्ति

(ग) धौति

(घ) नौलि

इकाई- 3.3 वैकल्पिक चिकित्सा का सामान्य परिचय

उद्देश्य-

1. शरीर के विभिन्न अंगों और हथेलियों/तलवों में स्थित प्रतिविम्ब केंद्रों के वैज्ञानिक महत्त्व को समझाना।
2. विद्यार्थियों को बिना किसी औषधि के, केवल दबाव पद्धति द्वारा रोगों के निदान और उपचार की वैकल्पिक विधि सिखाना।
3. शरीर के भीतर प्राण ऊर्जा के प्रवाह में आने वाले अवरोधों को दूर कर प्राकृतिक संतुलन स्थापित करने का बोध कराना।

Cupping कंपिंग

कपिंग थैरेपी को हिजामा भी कहा जाता है इसमें एक खास तरह के कप को कुछ मिनटो के लिए व्यक्ति की स्किन पर छोड़ देते है ताकि एक सेक्शन क्रिएट हो सके।

कपिंग मुख्य रूप से तीन प्रकार से होती है।

- **ड्राई कपिंग :-** इस कंपिंग में खाली कप को स्किन पर ऐसे रखा जाता है कि कप के अन्दर वैक्यूम पैदा हो जाए जिससे उस जगह पर अशुद्ध रक्त इकटठा हो जाता है।
- **वेट कपिंग :-** यह ड्राई कपिंग के बाद होती है इसमें कप हटाने के बाद इकट्ठे हुए अशुद्ध रक्त में कट लगाया जाता है व पुनः कप लगाकर वैक्यूम पैदा किया जाता है। इस प्रक्रिया से शरीर का गंदा खून कप में इकटठा हो जाता है।
- **फायर कपिंग :-** इस थैरेपी के लिए एक रुई के गोले में थिनर डालकर उसमें आग लगाई जाती है इसके बाद कप के अन्दर इस आग का धुआ डालकर कप को पीठ और कन्धे में लगाया जाता है धुंए के दबाव के कारण कप के अन्दर शरीर की स्किन खिच जाती है इस थेरेपी को अधिकतर स्किन से जुड़ी समस्याओं के हल के लिए किया जाता है।

कपिंग के लाभ :-

- दर्द व जकड़न में लाभदायक है।
- साइटिका, गठिया, जोड़ो के दर्द में लाभकारी है।
- कपिंग थैरेपी से माइग्रेन, कमर दर्द, स्लिप डिस्क. सर्वाइकल, पैरो में सूजन, त्वचा से जुड़ी बिमारियाँ, पेट के रोग, लकवा, हार्मोनल विकार, मोटापा, थायरॉइड, चेहरे के मुंहासे और दाग धब्बे जैसी समस्याओं का इलाज किया जा सकता है

मसाज

मसाज एक वैज्ञानिक पद्धति है एक हस्तकौशल की विधि है इसे फिंगर सर्जरी भी कहा जाता है यह शरीर के रिलैक्सेशन एवं ब्लड प्रेशर सरकुलेशन लिए विशेष उपयुक्त है।

नेचुरोपैथी के अनुसार मालिश या मसाज को पैरो से प्रारम्भ किया किया जाता है।

प्रक्रियाः- तलवे, टखना, पिंडली, घुटना, जंघा, पैर, हाथ, छाती, पेट पर मसाज होती है व उल्टा करके भी यही प्रक्रिया होगी। आखिर में सिर की मसाज होगी।

समय :- 1 एक उपचार द्वारा - 45 मिनट
दो उपचारक द्वारा 20-25 मिनट

सामग्री :- नारियल तेल, सरसों तेल एलर्जी वाले व्यक्ति की नारियल तेल में कपूर मिलाकर मालिश की जाती है।

मसाज के प्रकार :-

1. **Touch टच स्पर्श**

(A) Simple Touch सिम्पल टच - साधारण स्पर्श

साधारण स्पर्श पैरों से प्रारंभ करते हुए पूरे शरीर को देखना कहीं चोंट या दर्द तो नहीं है।

(B) Pressure Touch- प्रेशर टच दबाव स्पर्श

साधारण स्पर्श के उपरांत इस स्पर्श में थोड़ा दबाव बढ़ाते हुए पैरों से प्रारंभ करते हुए पूरे शरीर को का अवलोकन करते हुए सुनिश्चित करना कि कहीं सर्जरी तो नहीं हुआ है या मसल्स हार्ड तो नहीं है एवं बाहरी तथा आंतरिक कोई चोट या दर्द तो

नहीं है।

2. Oil application & ऑयल एप्लीकेशन

एक हाथ में तेल लेने के बाद दोनों हाथों से मिलाकर लगाते हैं फिर घर्षण करते हैं।

3. Fraction - फ्रक्शन - घर्षण

सामन्य रूप से घर्षण के प्रकार

(A) Centipital - सेंटिपीटल

नीचे से ऊपर की ओर घर्षण करना अर्थात हृदय की ओर घर्षण करना यह क्रिया हाई ब्लड प्रेशर में नहीं की जाती।

(B) Centrifugal - सेंट्रीफ्यूगल

ऊपर से नीचे की ओर हृदय से दूर यह क्रिया की जाती है।

(C) Spiral - स्पाइरल तिरछा घर्षण।

4. Rolling - रोलिंग

दोनों हाथों से एक समान रोल करना।

5. Ringing - रिगिंग

दोनों हाथों को एक दूसरे से विपरीत रोल करना या घुमाना ।

6. Kneading - नीडिंग - गूंथना

(।) Superficial kneeding - सुपरफिशियल नीडिंग

दोनों हाथों की उंगलियों ऊपरी भाग से त्वचा की ऊपरी सतह को खींचना सुपरफिशियल नीडिंग दो प्रकार से की जाती है

i) Punching -पंचिंग > दोनों हाथों की पांचों उंगलियों स्वास्थ्य साधक की त्वचा को खींचना

ii) Pulling - पुलिंग > दोनों हाथों की 3-3 उंगलियों से त्वचा को खींचना।

(B) Deep kneading - डीप नीडिंग

बॉडी मसल्स को गहरी गूँथना या गहराई तक गूँथना। डीप नीडिंग क्रिया पांच प्रकार से की जाती है।

i) Digital kneading - डिजिटल नीडिंग> दोनों हाथ की सभी उंगलियों से त्वचा को मसलना।

ii) Thumb kneading - थम्ब नीडिंग > हाथों के अंगूठों से मसलना।

iii) Palm Kneading - पाम नीडिंग > दोनों हाथों की हथेलियों से मसलना।

iv) Fist Kneading - फीस्ट नीडिंग > उंगलियों के निचले हिस्से से गूथना।

v) Nical Kneading- निकल नीडिंग > दोनों हाथों की मुट्ठी बंद करते हुए मुट्ठी के पीछे के हिस्से से गूथना

7. Joint movement - ज्वाइंट मूवमेंट

शरीर के सभी जोड़ों को खिंचाव या गति देना।

8. Percussion - परकसन थपथपाना

यह क्रिया 6 प्रकार से की जा सकती है।

1) Tapping - टैपिंग > दोनों हाथों की उंगलियों के ऊपरी हिस्से से थपथपाना या तोड़ने जैसी क्रिया।

2) Spatting - स्पेटिंग > हाथ की चारों उंगलियों को समांतर कर थपथपाना।

3) Hacking - हैकिंग > खड़ी हथेली से पांचों उंगलियों को शिथिल कर थपथपाना।

4) Beating - बीटिंग > दोनों हाथों की मूर्तियां बंद कर खड़ी मुड्डी से थपथपाना।

5) Pounding - पॉन्डिंग > दोनों हाथों की चारों उंगलियों को मोड़ कर थपथपना।

6) Cupping - कपिंग > हथेली का कप आकार बनाकर लयबद्ध तरीके से थपथपाना।

9. Vibration -वाइब्रेशन - कम्पन

1) स्टेटिस वाइब्रेशन > एक ही स्थान पर

2) रनिंग वाइब्रेशन > एक स्थान से कंपन देते हुए आगे बढ़ना।

3) डीप वाइब्रेशन > सामान्य से अधिक दबाव, रोगी सामर्थ्यनुसार बढ़ाते हुए ।

कंपन उंगलियों से खड़ी उंगलियों से हथेली से बंद मुट्ठी आदि क्रियात्मक रूप से दिया जा सकता है।

10. Strocking - स्ट्रोकिंग - सहलाना

उंगलियों एवं हथेलियों से सोच में स्पर्श के साथ सहलाना।

लाभः-

- स्ट्रेस और टेंशन दूर होती है।
- दर्द दूर होता है।
- शरीर का एकस्ट्रा फैट कम होता है।
- मसल्स का कड़ापन दूर होता है।
- रक्त संचार बढ़ता है।

सावधानियांः-

- मसाज के तुरन्त बाद नहाना नहीं चाहिए।
- खुली हवा में नहीं जाना चाहिए।
- पीरियड्स में नहीं देनी चाहिए।
- खाली पेट कराना चाहिए।
- बुखार होने पर नहीं करना चाहिए।

रोज हनी मसाज (RHM)

यह मसाज पूरे शरीर पर दी जाती हैं।

सामग्रीः- गुलाब, दूध, शहद

समय :- 25-30 मिनट

लाभः- यह मसाज शरीर की दुर्गन्ध को दूर करता है शरीर को सुन्दरता प्रदान कर ग्लो बढ़ाती है।

सावधानियांः- मसाज करते समय सिर पर शॉवर केप लगाते है और कानो में रुई डालते हैं।

साल्ट ग्लो मसाज

यह मसाज हल्के हाथो से पूरे शरीर पर की जाती है।

सामग्रीः- नारियल तेल, काला नमक, एप्सम सॉल्ट

लाभः- यह मसाज ग्लो के लिए दी जाती है और इससे टेनिंग कम होती है।

सावधानियां :-

- मसाज देते समय सिर पर केप व कानो में रुई लगा दें।
- मसाज हल्के हाथों से करें।
- फेस मसाज करते समय विशेष ध्यान रखें।
- फेस मसाज बहुत हल्के हाथों से करें।
- सामग्री आंखो में नहीं जाना चाहिए।

एंटी कोल्ड मसाज

एंटी कोल्ड मसाज बुखार, जुकाम में दी जाती है। यह मसाज तलवो, हथेलियों व छाती व ऊपरी कमर पर दी जाती है।

समय :- 10-15 मिनट

सामग्री :- सरसो तेल - 100 gm., लोंग- 20 नग, अदरक-50 gm., लहसुन 1 नग, अजवाइन - 20 gm., हींग - 10 gm.. मेथी - ½ tsp काली मिर्च-5, 6, तुलसी के पत्ते 10-15 पत्ते

लाभ :- यह कफ, सर्दी, जुकाम बुखार आदि में दी जाती है।

सावधानियां:- एंटी कोल्ड मसाज के बाद भाप व जल का कोई भी कार्य नहीं होता। खुली हवा में नहीं जाना चाहिए।

Calf Massage काफ मसाज

यह मसाज पिण्डलियों पर दी जाती है।

सामग्री:- नारियल तेल

समय:- एक के द्वारा - 8 मिनट

दो के द्वारा - 4 मिनट

लाभ :-

- यह पैरों की थकावट दूर करती है।
- पेट सम्बन्धी रोगों में लाभकारी।
- कब्ज में लाभदायक

वाइब्रो मसाज (VBM)

वाइब्रो समाज एक तरह की पाउडर मसाज होती हैं जो वाइब्रो मशीन से दी जाती हैं इसमें टेल्कम पाउडर का प्रयोग किया जाता है यह मुख्यत: मोटापे के लिए प्रयोग में किया जाता है।

प्रक्रिया :- इसमें सबसे पहले टेल्कम पाउडर जंघा पर वाइब्रेशन दी जाती है उसके बाद पेट पर फिर उल्टा करके पूरे पैर, कमर, कन्धों व हाथो पर की जाती है। इसमें मशीन में समय सेटिंग की जाती है।

समय :- 20-25 मिनट

लाभ :-

- मोटापे को कम करने में उपयोगी।
- शरीर के रोंम छिद्र खुल जाते है।
- रक्त संचार को ठीक करता है।
- शरीर में वाइ ब्रेशन होती है जिससे थकावट दूर होती है।
- सभी अंगो का एक्यूप्रेशर भी हो जाता है।

सावधानियां:

- मसाज करने से पहले व्यक्ति का चेहरा ढक देना चाहिए।
- पीरियड्स में नहीं देनी चाहिए।
- वाइब्रेशन हड्डियो पर नहीं देना चाहिए।
- वाइब्रेशन व्यक्ति से पूछकर ही सेट करे।
- बाइब्रो मसाज के बाद स्टीम लेनी आवश्यक होती है यदि टेल्कम पाउडर शरीर पर अधिक देर रह जाता है तो वह त्वचा के लिए हानिकारक हो सकता है।
- बुखार, उच्च रक्तचाप आदि में नहीं दिया जाता।

पार्शियल मसाज

यह मसाज शरीर के किसी भी भाग पर की जा सकती है जैसे हाथ-पैर, कमर पेट आदि।

लपेट

रोगानुसार दिए गए उपचार के पश्चात व्यक्ति के विभिन्न शाररिक स्थानों पर लपेट बाँधी जाती है जो ठंडी और गर्म होती है जिसमें ठंडी लपेट के लिए सूती कपड़ें का प्रयोग किया जाता है व गर्म लपेट के लिए ऊनी कपड़े का प्रयोग किया जाता है।

- अब्डोमन थर्मल पैक (ATP) - पेट की लपेट
- काफ थर्मल पैक (TP) - पिंडली लपेट
- हैड पैक - सिर की लपेट

- नी पैक - घुटनों की लपेट
- आर्म पैक - हाथ (बाजु) की लपेट
- ओनियन जिंजर गार्लिक टर्मरिक पैक OGGT कॉम्प्रेस के बाद छाती पर लपेट
- चेस्ट पैक (CP) - छाती पर लेप

कोलोन हाइड्रोथैरेपी

कोलोन हाइड्रोथैरेपी वह प्रक्रिया है जिसमें जमा हुआ मल गैस, विषाक्त तत्व शरीर से बाहर निकाले जाते हैं।

आवश्यक उपकरणः- कोलोन मशीन, डिस्पोजीवल कोलोन कीट, 4 दस्ताने, तेल (नारियल, तिल, ऐरण्ड), डिस्पोजीबेल शीट, प्रोबॉयोटिक पेय, स्नेहक जैल

प्रक्रियाः- दाहिने हाथ में स्पेकुलम (speculum) को पकड़े व्यक्ति को दाहिनी और मुड़ने को बोले धीरे-धीर स्पेकुलम गुदा मार्ग से अन्दर प्रवेश करे। मशीन पर समय निर्धारित कर स्टार्ट बटन दबायें।

कॉलोन थेरेपी देते समय रोगी के पेट पर हाथ फेरते रहें।

लाभः-

- पेट में जमा हुआ मल, गैस आदि दूर होती है।
- जीर्ण कब्ज दूर होता हैं।
- चेहरे पर निखार आता है।

सावधानियांः-

- हाई बी.पी वाले व्यक्ति को नहीं देना चाहिए।
- प्रेग्नेट महिला को नहीं देना चाहिए।
- पीरियड्स में नहीं देना चाहिए।
- अपनी अंगुली पर तेल लगाकर परीक्षण करे कि गुदा में पाइल्स, बवासीर आदि तो नहीं है।

विशेषः- सरसो के तेल का उपयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि उससे जलन होती है।

स्टीम बाथ (STM-B)

जिस प्रक्रिया में रोगो के सम्पूर्ण शरीर का स्वेदन किया जाये उसे सर्वांग वाष्प स्वेदन कहते हैं, इसमें रोगी को स्टीम बॉक्स के अन्दर बैठाकर स्टीम वाष्प दी जाती है।

समयः- 10-15 मिनट

लाभ :-

- शरीर शुद्धिकरण के लिए।
- मोटापे के लिए।
- शरीर के रोमछिद्र खुलते है।
- शरीर को कोमल बनाता है।

सावधानियांः-

- हाई ब्लड प्रेशर वाले रोगी को नहीं देनी।
- रोगी को स्टीम बॉक्स के अन्दर बैठाने से पहले पानी पिलाना है और सिर पर गीला तौलिया रखना है।
- अगर किसी रोगी को घबराहट होती है तो उसे तत्काल स्टीम बॉक्स से बाहर निकाल दें।

सोनाबाथ

इसमें व्यक्ति को स्नान कराके एक या दो ग्लास पानी पिलाकर, सिर पर गीला तौलिया रखकर बैठाया जाता है। यह एक प्रकार की सूखी भाप है। इसमें भाप पानी से न बनकर पत्थर की गरमाहट से बनती है।

समय:- 10-15 मिनट, तापमान $40-50^0$: गर्मी में

$70-85^0$ सर्दी में

लाभ:-

- मोटापे में उपयोगी।
- अर्थराइटिस के रोगी के लिए लाभकारी।

सावधानियां :-

- बी.पी वाले पेशेंट के सिर व छाती दोनों पर गीला तौलिया रखना चाहिए।
- घबराहट होने पर व्यक्ति को तुरंत बाहर निकाल देना चाहिए।
- सोनाबाथ लेने के बाद तुरन्त शॉवर लेना चाहिए।

विशेष:- सोनाबाथ लेने के बाद अगर कोई व्यक्ति नहाने में असमर्थ है तो उसे अपना शरीर गीले तौलिये से पोंछ लेना चाहिए।

नाड़ी स्वेदन (LS)

नाड़ी का अर्थ है ट्यूब। नाड़ी स्वेदन उपचार का एक रूप है जिसमें एक ट्यूब के माध्यम से भाप दी जाती है यह स्वेदन या वाष्प के माध्यम से पसीना प्रदान करने का एक रूप है। तेल मालिश के बाद ट्यूब से आने वाली भाप शरीर के प्रभावित हिस्सो तक पहुंचाई जाती है।

समय :- 10-15 मिनट

लाभ:-

- टॉक्सिन्स को खत्म करता है।
- रक्त के संचार को बढ़ा देता है।
- त्वचा को फिर से जीवंत करता है।

सावधानियां:-

- बुखार वाले व्यक्ति को नहीं देनी चाहिए।
- रक्तस्त्राव विकारों वाले रोगियों को नाड़ी स्वेद से बचना चाहिए।
- त्वचा सम्बन्धी बीमारी में नहीं देनी चाहिए

इन्फ्रा रेड रेडिएशन (IRR)

यह एक प्रकार का यन्त्र है जिसमें लाल किरणों से दर्द वाले स्थान पर सिकाई की जाती है।

समय:- 5-10 मिनट

लाभ:-

- जोड़ो के दर्द में आराम मिलता है।
- सूजन कम होती है।

सावधानियां:- IRR उचित दूरी से देना चाहिए और बीच-बीच में व्यक्ति की त्वचा पर हाथ फेरते रहना चाहिए।

विशेष :- सिकाई देने से पहले त्वचा पर नारियल तेल घी सरसों का तेल लगाना चाहिए

(FWSP) फुल वेट शीट पैक (गीली चादर लपेट)

इसमें दो कम्बल को बैड पर बिछाकर उसके ऊपर नीम से भीगी सूती गीली चादर को निचोड़कर बिछाया जाता है। कि व्यक्ति को एक-दो ग्लास पानी पिलाकर लेटने को कहते हैं उसके बाद बिछी चादर व कम्बल को व्यक्ति के चारो ओर लपेट देते है तलवे, जंघा, व कमर के नीचे गर्म पानी की बोतल लगा दे फिर बिछे कम्बल को व्यक्ति के ऊपर लपेटकर ऊपर से एक ओर कम्बल डाल कर अच्छे से लपेट देते हैं।

समय:- 45 मिनट

लाभ :- बुखार, टायफाइड, सर्दी, जुकाम आदि में दिया जाता है। मोटापे में लाभकारी है।

सावधानियां:-

- व्यक्ति के सिर पर गीला तौलियें रखें।
- बोतल को चेक करके रखे बोतल अधिक गर्म व फटी हुई न हो।

फेसिअल स्टीम (चेहरे की भाप)

वह प्रक्रिया है जिससे भाप के द्वारा हमारी छाती में जमा कफ, खाँसी आदि में आराम मिलता है तथा हम इसे साधारण पानी में तुलसी के पत्ते तथा अजवायन डाल कर भी ले सकते है।

प्रक्रिया:- इसमें व्यक्ति को अपने हाथ में तेल लेकर अपनी नाक में लगाना होता है तत्पश्चात चेहरे पर तेल लगा कर बडे तौलिये से चेहरा ढककर भाप लेने का कहें।

समय:- 5-10 मिनट

लाभ:-

- नजला, जुकाम के लिए।
- सिरदर्द एवं कफ सम्बन्धी बिमारियों के लिए।

सावधानियां:-

- स्टीम लेते समय नाक से श्वास लेकर मुँह से छोड़ते हैं।

अमरुद के पत्ते का गरारा

इसमें नीचे दी गयी सामग्री को 1.5 गिलास पानी में पकाया जाता है व एक गिलास शेष बचने पर छान गरारे किये जाते हैं।

सामग्री -

- अमरुद के पत्ते - 15 पत्ते
- सेंधा नमक- आधा चम्मच
- हल्दी- आधा चम्मच
- मेथी दाना आधा चम्मच

लाभ -

- मुह के छालों में लाभदायक
- गले की खरास में लाभदाय

एक्यूप्रेशर चिकित्सा

मानव-शरीर में स्थित विशेष बिन्दुओं पर विधिवत् दबाव डालकर रोग निवारण करने की पद्धति का नाम एक्यूप्रेशर है। 'एक्यूप्रेशर' शब्द का अर्थ है दबाव। इस पद्धति द्वारा शरीर के निश्चित विशिष्ट विन्दुओं पर आवश्यक दबाब डालकर विविध रोगों का चामत्कारिक रूप से उपचार किया जाता है।

एक्यूप्रेशर का सिद्धान्त:

इस पद्धति के अनुसार प्रत्येक रोग का उपचार शरीर को शारीरिक एवं भावनात्मक रूप से संगठित इकाई (Unit) मानकर किया जाता है। एक्यूप्रेशर-पद्धति में मनुष्य देह को शारीरिक एवं भावनात्मक दृष्टि से एक अभिन्न इकाई माना जाता है।

दूसरा प्रमुख सिद्धान्त है कि सभी रक्त-संचार करने वाली नाड़ियों, स्नायु-संस्थान एवं ग्रन्थियों के मुख्य केन्द्र हथेली एवं पैरों के तलवे में स्थित होते हैं। इस पद्धति द्वारा विभिन्न स्थानों पर अवस्थित रोग निदान केन्द्रों पर दबाव डालकर वहाँ से ऊर्जा को प्रेषित कर समस्त नाड़ियों, स्नायु-संस्थान एवं ग्रन्थियों को ऊर्जा एवं आरोग्य प्रदान किया जाता है। असन्तुलित-असंयमित आहार (खान-पान), आलस्य-प्रमाद, निदा एवं ब्रह्मचर्य से सम्बन्धित नियमों के उल्लंघन से शरीर में विजातीय तत्त्व संगृहीत हो जाते हैं तथा आसन-प्राणायामादि के अभाव में अंगों में शिथिलता आने लगती है, मांसपेशियाँ मन्द पड़ जाती है, हाथ-पैर एवं मेरुदण्ड

की हड्डियाँ भी अपना स्थान छोड़ने लगती है। सम्पूर्ण स्नायु-संस्थान की क्रियाशीलता धीरे-धीरे घटने लगती है। शारीरिक अंगों में रक्त-संचार कम हो जाता है। रक्त के अन्दर जमा रासायनिक तत्त्व, अपद्रव्य, विजातीय तत्त्व इन अलग हुए जोड़ों के आसपास जमा होने लगते हैं। जितने अधिक विकार जमा होते जाते हैं, उतने ही रोग शरीर में पैदा होने लगते हैं। शरीर के जिन अंगों की जैसे ही क्रियाशीलता घटती है, वैसे ही हाथ की हथेली तथा पैरों के तलवों में स्थित उससे सम्बन्धित बिन्दुओं में भी अवरोध उत्पन्न हो जाता है तथा इन विन्दुओं पर कुछ क्रिस्टल (बहुत सूक्ष्म रासायनिक पदार्थ, अर्थात् कण) जमा हो जाते हैं, जिसके कारण सम्बन्धित अंगों में रक्त प्रवाह ठीक से नहीं हो पाता। एक्यूप्रेशर द्वारा इन दबाव-बिन्दुओं पर प्रेशर डालकर जमा हुए क्रिस्टल्स को नष्ट किया जाता है, जिससे रक्त प्रवाह के नियमित होने से रोगग्रस्त अंग नीरोग हो जाते हैं। एक अन्य मत के अनुसार हमारा शरीर पंचतत्त्व का समवाय है। इन पाँच तत्त्वों (पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल एवं आकाश) का संचालन विद्युतीय शक्ति करती है, जिसे वायो-इलेक्ट्रिसिटी (Bio&electricity) अथवा बायो-एनर्जी (Bio-energy) कहते हैं। प्रसिद्ध एक्यूप्रेशर चिकित्सक एफ० एम० घेस्टन (The Healing Benefits of Acupressure) के अनुसार, हाथों. पैरों तथा शरीर के विभिन्न भागों पर स्थित केन्द्र, जहाँ दबाने से पीड़ा अनुभव करते हैं, वहाँ से सम्बन्धित अंगो से विद्युत् लीक (Leak) होती है, अर्थात् शरीर से बाहर निकलती है। इसके परिण ाामस्वरूप सम्बन्धित अंगों में किसी न किसी प्रकार का विकार या रोग आ जाता है। जब हम इन केन्द्रों पर प्रेशर देते हैं, तब विद्युत् का बाहर निकलना बन्द ही हो जाता है और उसके लीकेज बन्द होने से विद्युतीय शक्ति का सम्बन्धित अंगों में प्रवाह सामान्य हुए रोग या विकार दूर हो जाते हैं।

एक्यूप्रेशर द्वारा शरीर पर पड़नेवाले मुख्य प्रभाव:

- एक्यूप्रेशर द्वारा शरीर के विजातीय तत्त्वों को बाहर किया जाता है तथा आवश्यक तत्त्वों को शरीर की ही अन्न रोग निरोधक प्रणाली द्वारा पैदा किया जाता है।
- यह विधि शरीर की विद्युतीय शक्तियों को जागृत कर शक्ति, ऊर्जा एवं स्फूर्ति पैदा करती है।
- यह शरीर के समस्त मांसपेशीय तन्तुओं (muscular tissues) में लचक पैदा करती है।
- यह अस्थि-संस्थान (bones system) तथा शरीर के महत्त्वपूर्ण भाग मेरुदण्ड में आई हुई विकृतियों (दर्द आदि) को दूर करती है।
- एक्यूप्रेशर स्नायु-संस्थान (Nervous system) में आई हुई विकृतियों को दूर करने में पूर्ण सहयोगी है।
- इस पद्धति द्वारा थायरॉयड, पिट्यूटरी, पीनियल, पेन्क्रियाज आदि समस्त ग्रन्थियों (endocrine glands) के कार्यों को नियमित किया जा सकता है।
- एक्यूप्रेशर द्वारा शरीर के आन्तरिक अंगों (internal organs) के सामान्य रूप से चलनेवाले कार्यों में पर्याप्त सुधार लाया जा सकता है।

एक्यूप्रेशर : भारतीय विद्या:

एक्यूप्रेशर प्राचीन भारतीय गहरी मालिश का ही परिष्कृत रूप है, जिसका अर्थ है पैरों, हाथों, चेहरे, कान तथा शरीर के कुछ खास केन्द्रों पर दबाव डालकर रोगों को दूर करना। एक्यूप्रेशर का ज्ञान चीन आदि देशों से भारत में आयातित नहीं किया गया है। वस्तुत: भारत की यात्रा पर आये चीनी यात्री ही भारतीय आयुर्वेद-ग्रन्थों को चीन ले गये और एक्यूप्रेशर को अपनी विद्या बताकर विश्वभर में प्रचारित कर दिया। इस विद्या को विदेशी मानना दुर्भाग्यपूर्ण है। एक्यूप्रेशर का भारतीय ग्रन्थों में खास वर्णन है। भारतीय स्त्रियाँ पाजेब, नुपूर, कड़े, लाकेट, टीका, झूमर, बालियाँ, लॉग, तगड़ी आदि क्यों युगों से पहनती आ रही है, यह जानने की जरूरत है। स्त्री-पुरुष एक अरसे से अंगूठियाँ पहनते रहे हैं। यह सब एक्यूप्रेशर के फलस्वरूप ही सम्भव हो पाया है।

एक्यूप्रेशर द्वारा मुख्य रोगों का उपचार:

यद्यपि एक्यूप्रेशर की समस्त रोगों में एक विशेष उपयोगिता है, यह एक हानिरहित पद्धति है तथा इसे अन्य चिकित्सा पद्धतियों के साथ भी अपनाया जा सकता है। परन्तु कुछ ऐसे रोग, जिनका उपचार एक्यूप्रेशर द्वारा सफलतापूर्वक किया जा सकता है, अधोलिखित हैं।

- विश्व-स्वास्थ्य संगठन (वर्ल्ड हेल्थ ऑर्गेनाइजेशन W.H.O.) ने एक्यूप्रेशर तथा एक्यूपंक्चर चिकित्सा पद्धतियों की उपयोगिता को स्वीकारते हुए इस चिकित्सा पद्धति को साइटिका, सर्वाइकल स्पॉण्डलाइटिस आदि मेरुदण्ड के समस्त रोगों, कन्ध

ों की अकड़न (फ्रोजन शोल्डर), घुटनों का दर्द, विस्तर में मूत्रत्याग, आँतों के घाव (अल्सर), पेचिश, कब्ज, सिर-दर्द, माइग्रेन, नस-नाड़ियों की विकृति, पेट में गैस बनना, एसिडिटी, गले की सूजन तथा पीड़ा, टॉन्सिल्स, साइनुसाइटिस, बाँकाइटिस, दमा, आँख, कान एवं गले के रोग, दाँतों का दर्द, लकवा, माईनर्स डिजीज आदि रोगों में अधिक उपयोगी स्वीकार किया है।

- आश्रम द्वारा संचालित ब्रह्मकल्प औषधालय में भी हमने लाखों लोगों पर एक्यूप्रेशर चिकित्सा के सफल प्रयोग उल्लिखित रोगों पर किये हैं। कई बार तो आश्वर्यजनक रूप से रोगियों को लाभ होता है। भयंकर सर्वाइकल स्पॉण्डलाइटिस की अवस्था में जव गर्दन का हिलाना भी सम्भव नहीं हो, तब हमने यहाँ लोगों को मात्र 5-10 मिनट में पूर्ण स्वस्थ किया है। वर्षों पुराना कन्धों का दर्द, जिसमें कई बार तो हाथ हिलाना तथा ऊपर उठाना भी सम्भव नहीं होता, ऐसी स्थिति में भी 5-10 मिनट में पूर्ण रूपेण ठीक किया है। हमारे विचार से सभी प्रकार की शारीरिक पीड़ाओं, जोड़ों या कमर आदि दर्द में, नस-नाड़ियों की विकृति आदि में एक्यूप्रेशर से जितना शीघ्र लाभ हो जाता है, उतना किसी अन्य पद्धति से नहीं हो सकता।
- हृदयशूल में भी एक्यूप्रेशर से लाभ होता है तथा हृदय की शिराओं में आया हुआ अवरोध एवं अन्य विकार भी एक्यूप्रेशर द्वारा दूर होते हैं।
- पेट के रोग, मधुमेह एवं मस्तिष्क रोगों में भी यह पद्धति प्रभावशाली है।
- रोगोपचार के साथ-साथ हम एक्यूप्रेशर को रोग निदान (डिजीज डाइग्नोज) के लिए भी महत्त्वपूर्ण मानते है। इस पद्धति द्व ारा विभिन्न प्रतिबिम्व केन्द्रों पर दबाब डालकर यह आसानी से पता लगाया जा सकता है कि शरीर के कौन-कौन से अंग अथवा ग्रन्थियाँ अपना कार्य भली भाँति नहीं कर पा रहे हैं। कई बार प्रयोगशाला के परीक्षण भी रोग का ठीक-ठीक कारण जानने में सहायता नहीं कर पाते। ऐसी स्थिति मे प्रतिबिम्ब-केन्द्रों के परीक्षण से केवल कुछ ही पलों में यह पता लगाया जा सकता है कि शरीर के किस भाग में क्या विकार है। अत: इस स्थिति में प्रतिबिम्ब केन्द्रों को रोगों का दर्पण भी कहा जाता है।

प्रतिबिम्ब-केन्द्रों की जाँच तथा प्रेशर देने की विधि:

- एक्यूप्रेशर अंगूठों, अँगुलियों, लकड़ी अथवा प्लास्टिक के उपकरण आदि किसी भी उपयुक्त वस्तु से सुविधानुसार किया जा सकता है।
- बिन्दुओं पर न तो बहुत कम और न ही बहुत अधिक जोर से दबाव डालें, अपितु मध्यम बल का प्रयोग करते हुए प्रेशर डालना चाहिए। ऐसा करते हुए यदि किसी को प्रेशर प्वाइण्ट्स पर असहनीय दर्द हो तो समझना चाहिए कि उस केन्द्र से सम्बन्धित अंग में कोई विकार या रोग है। जिन केन्द्रों पर दबाव डालने से अधिक पीड़ा नहीं होती तो समझना चाहिए कि वे अंग स्वस्थ हैं।
- प्रतिबिम्ब-केन्द्रों पर प्रेशर देने से हाथों एवं पैरों की रक्तवाहिकाओं में संगृहीत अपद्रव्य एवं विजातीय तत्त्व के क्रिस्टल ध ीरे-धीरे अपना स्थान छोड़कर रक्त प्रवाह में मिल जाते हैं और फिर पसीने या गुर्दों की प्रणाली द्वारा शरीर से बाहर निकल जाते हैं। इसलिए एक्यूप्रेशर करते हुए इच्छित विन्दुओं को दबाने के बाद अन्त में गुदा के केन्द्रों पर एक दो मिनट अवश्य ही दबाव डालना चाहिए। प्रेशर से जैसे-जैसे क्रिस्टल अपना स्थान छोड़ते हैं, वैसे-वैसे रोग का वेग भी कम होता जाता है। जैसे-जैसे रोग का वेग कम होता जाता है, वैसे-वैसे ही प्रेशर देने से दबाव बिन्दुओं पर भी दर्द कम होता जाता है और रोगी स्वयं भी अपने रोग में लाभ अनुभव करने लगता है। कुछ दिन निरन्तर करने से रोग पूरी तरह दूर हो जाता है और प्रेशर देने में दर्द भी या तो बिल्कुल नहीं होता या बहुत सामान्य-सा रह जाता है।
- अधिकांश व्यक्तियों को प्रारम्भ में प्रतिबिम्ब-केन्द्रों पर दबाव डालने से जैसे ही वहाँ स्थित क्रिस्टल प्रेशर के कारण क्रिया में आते हैं और अपना स्थान छोड़ते हैं, तो उन बिन्दुओं पर काफी दर्द तथा सूजन भी हो जाती है। ऐसे में घबराना नहीं चाहिए, यह एक स्वाभाविक क्रिया है। ऐसा होने पर गर्म पानी में नमक डालकर उन बिन्दुओं की सिंकाई कर देने से वहाँ का दर्द एवं सूजन भी दूर हो जाता है।

एक्यूप्रेशर का समय:

सामान्य रूप से किसी भी समय एक्यूप्रेशर किया जा सकता है। परन्तु आमाशय, अन्त्र, यकृत् तथा पित्ताशय आदि के लिए प्रेशर देना हो तो खाने से पहले या खाने से दो-तीन घण्टे बाद ही देना चाहिए। भोजन के तुरन्त बाद चूँकि शरीर की पूरी ऊर्जा भोजन के पाचन में लगी होती है, इसलिए एक्यूप्रेशर खाने से पहले ही करना सर्वोत्तम है। हल्का दुग्धपान या फलाहार करने के

थोड़ी देर बाद भी एक्यूप्रेशर किया जा सकता है।

प्रेशर की अवधि:

रोगी के रोगानुसार निर्दिष्ट बिन्दुओं पर 30 सेकण्ड से 2 मिनट तक एक केन्द्र पर दबाव डालना चाहिए। किसी भी बिन्दु पर प्रेशर देते हुए रोगी की सहन-शक्ति का भी पूरा ध्यान रखना चाहिए, अन्यथा कई बार व्यक्ति मूर्च्छित भी हो जाता है। एक ही विन्दु को लगातार नहीं दबाते रहना चाहिए। अपितु बदल-बदल कर अलग-अलग विन्दुओं पर बारी-बारी से प्रेशर देना चाहिए। दिन में सामान्य रूप से दो बार प्रातः सायं प्रेशर देना चाहिए। विशेष दर्द आदि की स्थिति में दिन में तीन बार भी एक्यूप्रेशर किया जा सकता है।

PATANJALI®
wellness
Yoga, Ayurveda & Naturopathy

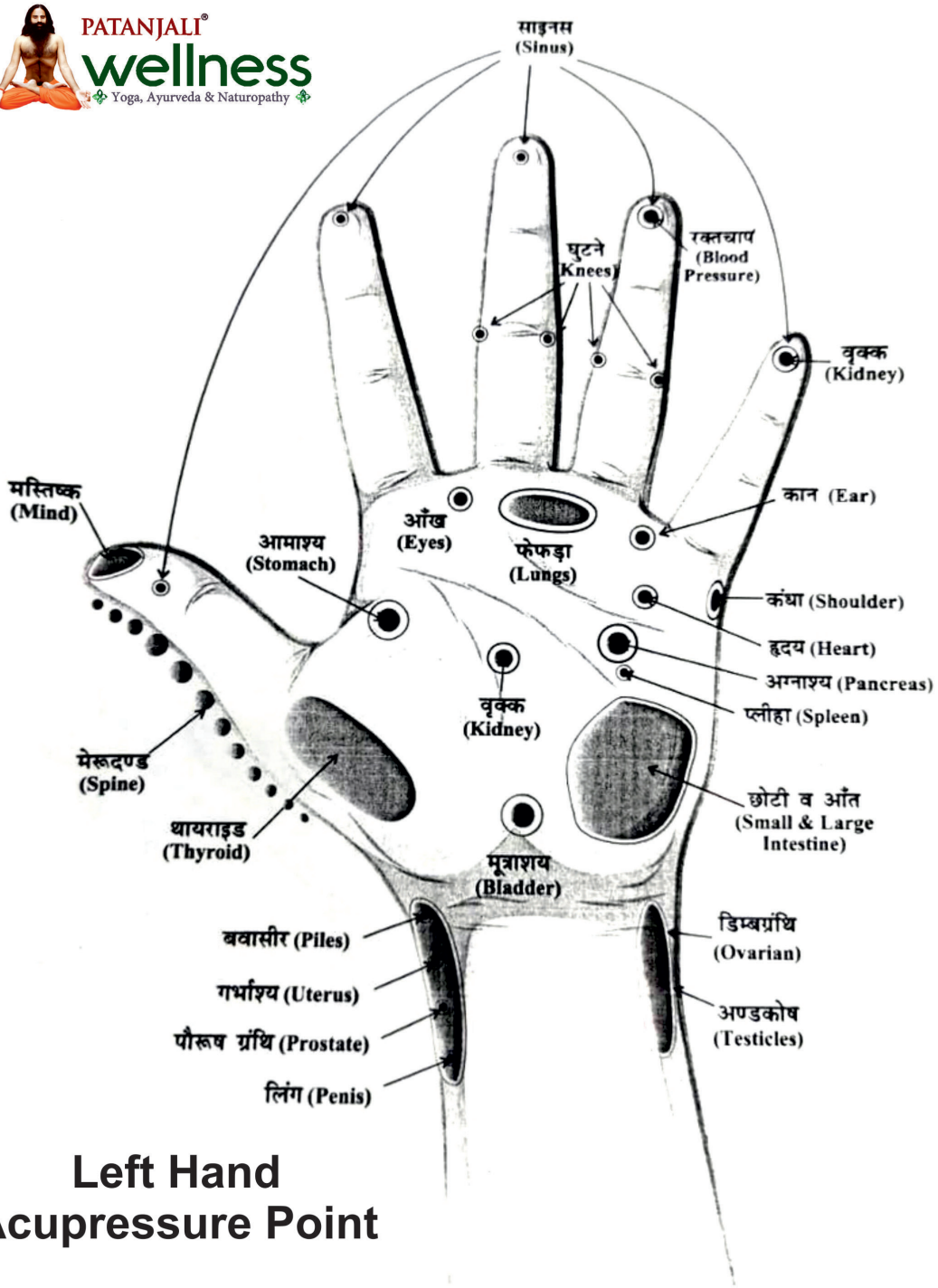

Left Hand Acupressure Point

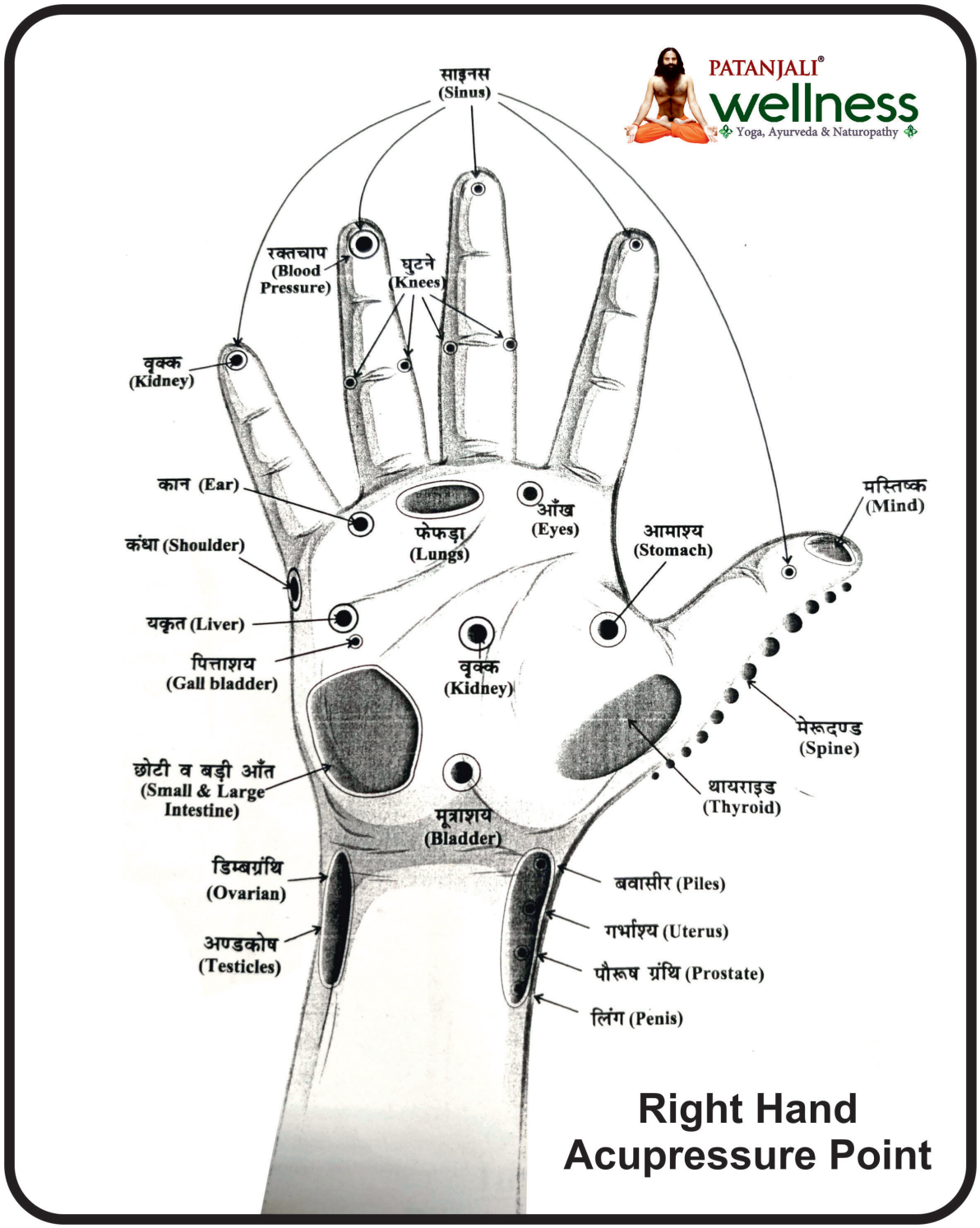
PATANJALI®
wellness
Yoga, Ayurveda & Naturopathy
साइनस (Sinus)
रक्तचाप (Blood Pressure)
घुटने (Knees)
वृक्क (Kidney)
कान (Ear)
फेफड़ा (Lungs)
आँख (Eyes)
मस्तिष्क (Mind)
कंधा (Shoulder)
आमाशय (Stomach)
यकृत (Liver)
पित्ताशय (Gall bladder)
वृक्क (Kidney)
मेरूदण्ड (Spine)
छोटी व बड़ी आँत (Small & Large Intestine)
थायराइड (Thyroid)
मूत्राशय (Bladder)
डिम्बग्रंथि (Ovarian)
बवासीर (Piles)
अण्डकोष (Testicles)
गर्भाशय (Uterus)
पौरूष ग्रंथि (Prostate)
लिंग (Penis)
Right Hand Acupressure Point

हाथों में स्थित मुख्य एक्यूप्रेशर प्रतिबिम्ब-केन्द्र

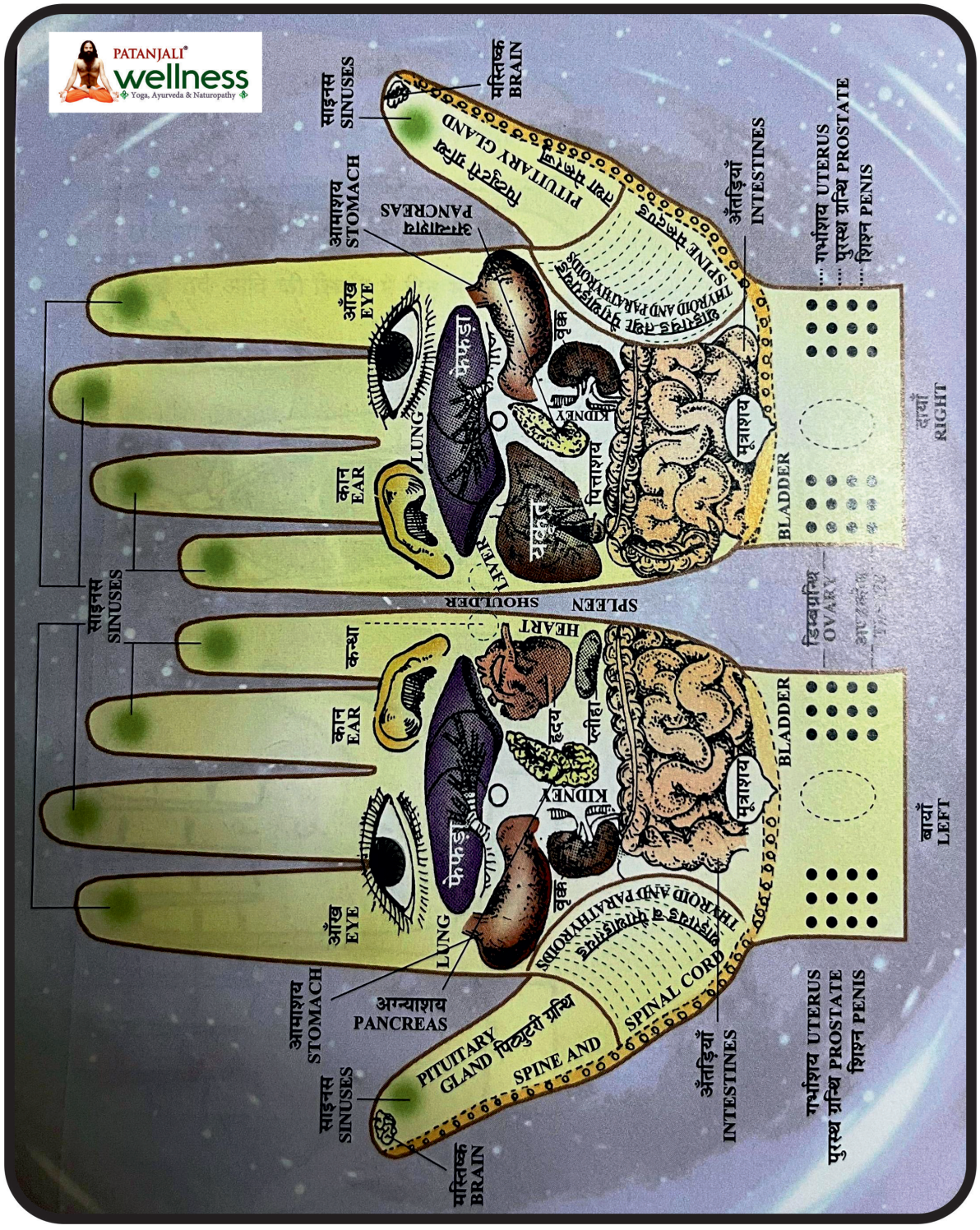

पैरों में स्थित मुख्य एक्यूप्रेशर-केन्द्र

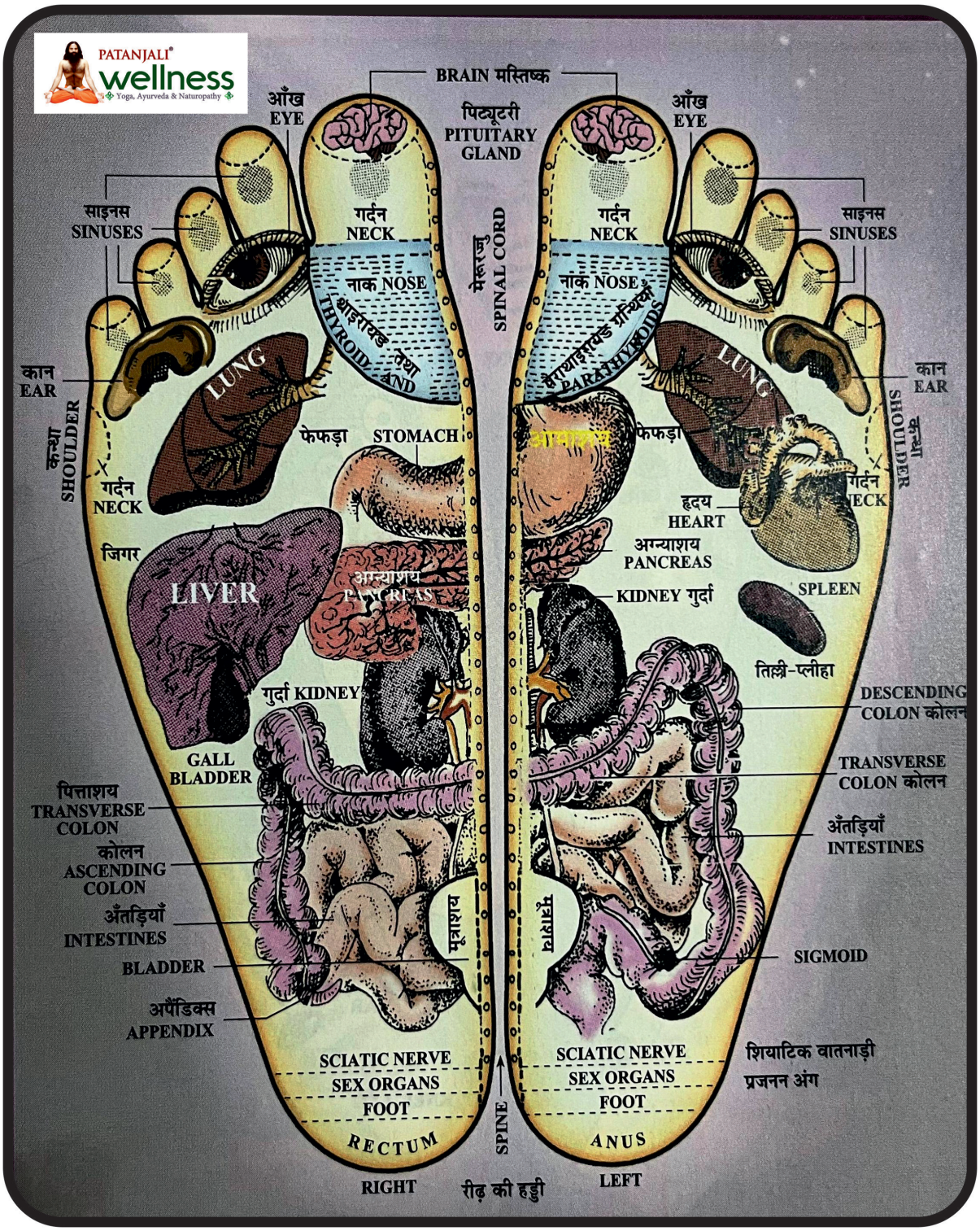

कानों पर विभिन्न एक्यूप्रेशर-केन्द्र

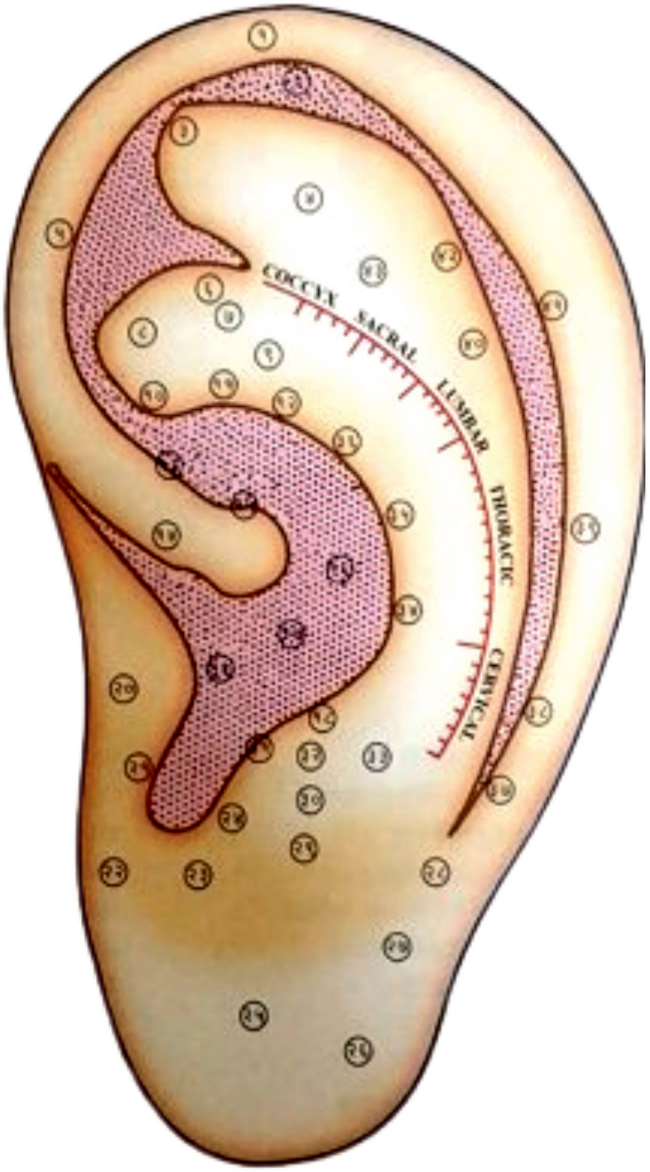

कान के बिन्दुओं का रोगोपचार सम्बन्धी विवरण

१. टान्सिल
२. एपेंडिक्स
३. एड़ी
४. घुटने का जोड़
५. उच्च रक्तचाप
६. दमा
७. नितम्ब
८. सियाटिका वातनाड़ी
९. कूल्हा
१०. मूत्राशय
११. गवीनी
१२. गुर्दा
१३. बड़ी आँत
१४. मलाशय
१५. छोटी आँत
१६. आमाशय
१७. श्वास प्रणाली
१८. फेफड़ा
१९. फेफड़ा
२०. उच्च रक्तचाप
२१. नाक का भीतरी भाग
२२. आँख।
२३. आँख
२४. डिम्बग्रन्थि
२५. आँख
२६. कान का भीतरी भाग
२७. ऊपरी जबड़ा
२८. निचला जबड़ा
२९. फेफड़ा
३०. अण्डकोश
३१. दमा
३२. मस्तिष्क
३३. दाँत दर्द
३४. जिगर
३५. प्लीहा
३६. अग्न्याशय, पित्ताशय
३७. गर्दन
३८. कधो का जोड़
३९. कन्चा
४०. पेट
४१. कुहनी
४२. घुटना
४३. नितम्ब का जोड़

स्मरणीय बिंदु-

1. दबाव की तकनीक एक्यूप्रेशर में बिंदुओं पर मध्यम और सहन करने योग्य दबाव देना चाहिए; खाली पेट या भोजन के तुरंत बाद गहरा दबाव वर्जित है।

2. प्रतिविम्ब केंद्र हमारे हाथों की हथेलियाँ और पैरों के तलवे पूरे शरीर के अंगों का प्रतिनिधित्व करते हैं; बाएं अंग का केंद्र बाएं हाथ/पैर में और दाएं का दाएं में होता है।

3. उपचार की अवधि सामान्यत: एक बिंदु पर 1 से 2 मिनट तक दबाव देना पर्याप्त होता है, इसे दिन में दो बार (सुबह-शाम) दोहराया जा सकता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: एक्यूप्रेशर चिकित्सा पद्धति से आप क्या समझते हैं? इसके सिद्धांतों का वर्णन कीजिए तथा हाथों और पैरों के तलवों में स्थित प्रमुख अंगों के केंद्रों को आरेख की सहायता से स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2: एक्यूप्रेशर चिकित्सा की वैज्ञानिकता पर प्रकाश डालिए। विभिन्न पुराने रोगों (जैसे- मधुमेह, थायराइड और उच्च रक्तचाप) के उपचार हेतु किन बिंदुओं पर दबाव देना चाहिए? सविस्तार लिखें।

प्रश्न 3: एक्यूप्रेशर चिकित्सा करते समय किन महत्वपूर्ण सावधानियों का ध्यान रखना अनिवार्य है? इसके लाभ और सीमाओं की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: एक्यूप्रेशर में थायराइड ग्रंथि को संतुलित करने के लिए हाथ में केंद्र कहाँ स्थित होता है?

प्रश्न 2: पाचन संबंधी समस्याओं (गैस, कब्ज) के लिए कौन-से एक्यूप्रेशर बिंदु प्रभावी हैं?

प्रश्न 3: एक्यूप्रेशर और एक्यूपंक्चर में मुख्य अंतर स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 4: मानसिक तनाव और अनिद्रा दूर करने के लिए किन बिंदुओं पर दबाव देना चाहिए?

प्रश्न 5: एक्यूप्रेशर जिम्मी और अन्य उपकरणों का प्रयोग कैसे किया जाता है?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1: एक्यूप्रेशर चिकित्सा मुख्य रूप से किस सिद्धांत पर कार्य करती है?

(क) शरीर में इंजेक्शन लगाने पर

(ख) शरीर के विशिष्ट केंद्रों पर दबाव डालने पर

(ग) केवल जड़ी-बूटियां खाने पर

(घ) भारी व्यायाम करने पर

प्रश्न 2: एक्यूप्रेशर के अनुसार, हमारे शरीर के किडनी (वृक्क) का केंद्र हथेलियों में कहाँ स्थित होता है?

(क) अंगूठे के सबसे ऊपरी भाग पर

(ख) हथेली के बिल्कुल मध्य भाग में

(ग) कनिष्ठा उंगली के नीचे

(घ) कलाई पर

प्रश्न 3: सिरदर्द होने पर एक्यूप्रेशर के अनुसार किस स्थान पर दबाव देना तुरंत राहत प्रदान करता है?

(क) पैरों की एड़ी पर

(ख) हाथ के अंगूठे के पोर (ऊपरी सिरा) पर

(ग) केवल कोहनी पर

(घ) पेट के निचले हिस्से पर

प्रश्न 4: एक्यूप्रेशर चिकित्सा कब नहीं करनी चाहिए?

(क) सुबह खाली पेट

(ख) भोजन के तुरंत बाद (भारी भोजन के 2 घंटे के भीतर)

(ग) शाम के समय

(घ) ताजी हवा में

प्रश्न 5: फेफड़ों (स्नदहे) से संबंधित एक्यूप्रेशर बिंदु हथेली में कहाँ पाए जाते हैं? (क) केवल कलाई की रेखाओं पर

(ख) उंगलियों के नीचे वाले उभरे हुए गद्दीदार भाग पर

(ग) नाखून के ऊपर

(घ) हथेली के पीछे की ओर

खण्ड- 4 शमन चिकित्सा

इकाई- 4.1 अभ्यंग, शिरोपिच्चु, शिरोधारा, अक्षितर्पण, नेत्रधारा, कर्णपूरण

उद्देश्य :

1. बाह्य शमन विधियों (जैसे मालिश और शिरोधारा) के माध्यम से शरीर के बढ़े हुए वात आदि दोषों को स्थानीय और मानसिक स्तर पर शांत करने की तकनीक समझाना।

2. ज्ञानेन्द्रियों (आँख, कान, नाक) और मस्तिष्क के स्वास्थ्य संवर्धन हेतु विशिष्ट आयुर्वेदिक क्रियाओं (अक्षीतर्पण, शिरोपपिचु) का व्यावहारिक ज्ञान देना।

3. बिना किसी आंतरिक औषधि के केवल बाह्य उपचारों द्वारा स्नायु तंत्र को शिथिल और तनावमुक्त करने की विधि सिखाना।

परिचयः- शरीर पर तेल आदि लगाना या किसी स्नेह द्रव्य से अनुलोम गति से मालिश करना या घर्षण करना अभ्यंग कहलाता है। इसकी शुरुआत पैरों से ना होकर ऊपर गर्दन से होती है। फुल बॉडी मसाज़ में पैरो से प्रारम्भ होता है।

सामग्री :- पीड़ान्तक (दर्द में) सहचरादिक, सैन्धवादि (दर्द में) क्षीरबला (कमजोरी में) कायाकल्प (त्वचागत रोगों में) महानारायण (दर्द में) नारियल (स्किन ग्लोइंग, हल्की एलर्जी या ठंडक के लिए कपूर डाल कर दिया जाता है)

समयः एक उपचारक द्वारा - 45 मिनट

दो उपचारक द्वारा - 20-25-मिनट

प्रक्रिया :- अभ्यंग की शुरुआत गर्दन से होती है। गर्दन से नीचे हाथ फिर, पेट, पैर, बैक शोल्डर से हाथ कमर और पीछे पेट पर यह सात स्थिति (आसन) से किया जाता है। **१. पाँव सीधे कर दण्डासन में बैठाकर २. पीठ के बल लिटा कर ३. वामपार्श्व में लिटा कर ४. पेट के बल लिटा कर ५. दक्षिणपार्श्व में लिटा कर ६. पुनः पीठ के बल लिटा कर ७. पुनः बैठाकर स्वास्थ्य साधक के सामर्थ्य अनुसार दबाव देते हुए घर्षण (मसाज) करते हैं।**

लाभः- वातज-पित्तज-कफज रोगों में लाभकारी। अनिंद्रा, रक्तसंचार में लाभकारी। विजातीय तत्त्व शरीर से बाहर निकल जाते हैं। शारीरिक पीड़ा में लाभदायक। स्किन ग्लो होती है एंव नेत्रज्योति में भी लाभकारी।

सावधानियां :-

- अभ्यंग के 2 घंटे बाद स्नान करें।
- खुली हवा में नहीं घूमना चाहिए।
- अभ्यंग के बाद स्वास्थ्य साधक को स्टीम अवश्य दें।
- बिल्कुल ठंडा पानी नहीं पिलाना चाहिए।
- स्वास्थ्य साधक के सामर्थ्य अनुसार प्रेशर (दबाब) हो।
- भोजनोपरांत तत्काल अभ्यंग न करें।

किन रोगों में नहीं करना चाहिए-

आमदोष :- आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार अग्निमन्द होने से आमदोष होता है। तथा आंत जठराग्नि का स्थान माना जाता है। इन जीवाण ुओं की खराबी से आंत में उत्पन्न होने वाले हार्मोन भी असामान्य हो जाते हैं। जिससे आंत की संकुचन शक्ति एवम् क्रियाशीलता प्रभावित होती है।

अजीर्ण रोग - अपच, बदहजमी नहीं करना चाहिए।

कफ प्रधान रोगों में भी नहीं करना चाहिए।

विशेषः- पन्द्रह दिन में एक बार अभ्यंग चिकित्सा करनी चाहिए

शिरोपिच्चु

स्नेहयुक्त रूई या वस्त्र को सिर पर धारण करना शिरोपिच्चु कहलाता है।

सामग्री :- कॉटन (रुई), सूती कपडा, क्षीर बला तेल, बादाम रोगन

समयः 20–25 मिनट

प्रक्रिया :- सिर पर पट्टी बाँधकर दोनों कानों में रुई लगाते हैं। उसके बाद 1 चौकोर टुकड़ा रुई का काटकर कपाल (सिर) पर रखते हैं। फिर कपाल पर, गर्म तेल लेकर रुई से इतना तेल टपकाते हैं कि तेल नीचे न बहे। और सिर पर रखी रुई पूरी भीग जाए। फिर उस रुई को तेल के पात्र में निचोड़ कर दोबारा यही प्रक्रिया की जाती है। यही प्रक्रिया समान रूप से तीन बार की जाती है। अन्त में एक सूखी रुई का चौकोर टुकड़ा सिर पर रखकर ऊपर से कपडा बाँध देते हैं। फिर 2–3 घण्टे बाद खोलते हैं।

लाभ :-

- स्पाइनल तंत्रिका तंत्र से सम्बन्धित सभी बीमारियों के लिए लाभकारी।
- तंत्रिका तंत्र (नर्वस सिस्टम) को ठीक करता है।
- केशपात (बालों का झड़ना) रुक जाता है।
- माइग्रेन की समस्या में लाभ मिलता है।
- अनिद्रा की समस्या दूर होती है।
- उच्चरक्तचाप आदि में लाभकारी।

सावधानियांः-

- ध्यान रहे कि तेल अत्यधिक गर्म न हो।
- स्वास्थ्य साधक के सिर से तेल न बहे।
- स्वास्थ्य साधक तीन से चार घंटे तक सिर न धोए।
- सिर धोने में शैंपू एवं ठंडे पानी का प्रयोग न करें

शिरोधारा

सिर पर विशेषतः कपाल प्रदेश (माथे) पर औषधीय तेल, औषधीय क्वाथ, दूध, छाछ, इम्यूरस एंव घी इत्यादि द्वारा विशिष्ट प्रक्रिया से धारा छोड़ना शिरोधारा कहलाता है।

प्रक्रिया :-

शिरोधारा में व्यक्ति के माथे पर गिरने वाली धारा की ऊंचाई 4–6 इंच होती है। जो कि लगभग 4 अंगुल के समान होती है।

सामग्री :- औषधीय तेल (क्षीरबला) तक्र (छाछ), क्वाथ (मेघा क्वाथ) दूध आदि कई प्रकार से स्वास्थ्य साधक के रोगानुसार दी जाती है।

समय :- 30 से 35 मिनट।

तत्पश्चात 5 मिनट हैड मसाज।

लाभ

- मूत्रविकार में लाभकारी।
- उच्चरक्तचाप सामान्य होता।
- बालों का झड़ना
- वातव्याधि (वात रोगों में विशेष प्रभावी)
- चिंता (Anxiety) आदि व्याधियों में विशेष लाभकारी।
- अनिंद्रा की समस्या में लाभ मिलता है।
- शिरःशूल की समस्या में आराम मिलता है।
- प्रमेह
- स्मृतिनाश में लाभकारी।
- मन मस्तिष्क का संबल बनता है।।

किन रोगो में नहीं देना चाहिए -

- अजीर्ण

- मूर्च्छा

शिर:शोध (meningitis)- मेंनिनजाइटिस एक गम्भीर संक्रमण है जो मस्तिष्क और रीढ़ की हड्डी के आस-पास के सुरक्षात्मक परत को प्रभावित करता है। यह रोग **''बैड बैक्टीरिया''** वायरस और फंगी के कारण होता है।

सावधानियां (ध्यान रखने योग्य बातें) :-

- ध्यान रहें तेल बहुत तेज गर्म न हो।
- आंखों और कानों में द्रव्य (तेल) ना जाए इसके लिए रुई का प्रयोग करें।
- शिरोपिच्चु वाली सावधानियां।
- स्वास्थ्य साधक शिरोधारा उपचार के दौरान मन ही मन ओंकार का ध्यान करें।
- शिरोधारा के दौरान वातावरण पूर्ण शांत हो।

अक्षितर्पण (Akshitarpan)

आँख में स्नेह (घी) धारण करना अक्षितर्पण कहलाता है। अक्षि तर्पण में उड़द के आटे का उपयोग होता है। इसमें महात्रिफलादि घृत एंव सौम्या जल का प्रयोग होता है।

सामग्री:- उड़द का आटा, महात्रिफला घृत, सौम्या जल, गुलाब जल, कॉटन इत्यादि ।

समय:- 15-20 मिनट ।

प्रक्रिया :- उड़द के आटे को विधिवत तैयार कर आँखों के चारों ओर इस तरह लगाया जाता है कि बाँध की तरह दिखता है। तदोपरांत औषधीय द्रव्य (घृत) इस खाचें में आँख एवं आसपास के क्षेत्र में व्यवस्थित क्रियात्मक तरीके से सहज धार पूर्वक खाली स्थान पर भर दिया जाता है। उसके बाद नेत्र संचालन कराया जाता है। फिर 15-20 मिनट के बाद कॉटन के माध्यम से घृत को सावधानीपूर्वक बाहर निकाल लिया जाता है।

विशेष:- अक्षितर्पण के बाद आँखों में गुलाब जल से भीगा हुआ कॉटन 2-3 मिनट तक रखा जाता है।

लाभ:- मोतिया बिंद, आँखों में दर्द व आँखों से सम्बन्धित समस्त विकारों में लाभकारी।

सावधानियां :- अक्षितर्पण के तुरंत बाद फोन टी. वी आदि का प्रयोग नहीं किया जाता है। आँखों को तेज धूप व हवा से बचाकर रखना होता है। तीन घंटे तक आँखों पर पानी नहीं लगाना है। बचाव के लिए चश्मे का प्रयोग कर सकते हैं।

नेत्रधारा :-

यह औषधीय सिद्ध दुग्ध या क्वाथ द्वारा एक निश्चित समय तक आँखों पर गिराने वाली पतली धारा की प्रक्रिया है।

प्रक्रिया :- नेत्र धारा पात्र के माध्यम से 2-3 इंच की ऊँचाई से नासिका मूल स्थान से धारा दी जाती है। इसमें नेत्र को खोलकर रखने को कहा जाता है।

सामग्री :- नेत्र धारा पात्र, क्वाथ, दुग्ध।

समय:- 15-20 मिनट ।

लाभ :- ड्राई आई, आँखों में दर्द व खिचाव तथा आँखों से सम्बन्धित विकारो में लाभकारी।

सावधानियां :-

नेत्रधारा के तुरंत बाद फोन टी. वी आदि का प्रयोग नहीं किया जाता है आँखों को तेज धूप व हवा से बचाकर रखना हैं। तीन घंटे तक आंखो पर पानी नहीं लगाना है। (बचाव के लिए चश्मे का प्रयोग कर सकते हैं।

कर्णपूरण (KP) :-

परिचय :- कानों में औषधिसिद्ध तेल को डालने की क्रिया को कर्णपूरण कहते हैं।

प्रक्रिया :- कर्णपूरण कानों पर मालिश करके तौलिये से सेक दिया जाता है फिर कान में हल्का गर्म तेल डालकर मुँह चलाने को कहा जाता है। उसके बाद कानों में रुई लगा दी जाती है।

सामग्री:- बिल्वादि, क्षीरबला आदि (रोगानुसार) तेल का प्रयोग किया जाता है।

समय:- 10-15 मिनट

लाभ :-

- कानों से आवाजें आना।
- कानों में दर्द।

सावधानियां:- तेल बहुत अधिक गर्म न हो।

स्मरणीय बिंदु-

1. शिरोधारा ललाट (माथे) पर औषधीय तेल या जल की निरंतर धारा गिराना; यह अनिद्रा, उच्च रक्तचाप और मानसिक रोगों की अमोघ चिकित्सा है।

2. अक्षीतर्पण आँखों के चारों ओर उड़द की दाल के आटे की मेढ़ बनाकर उसमें गुनगुना औषधीय घृत (घी) भरना; यह नेत्र ज्योति बढ़ाने के लिए सर्वश्रेष्ठ है।

3. शिरोपपिचु सिर के ब्रह्मरंध्र (तालु) पर तेल में डूबा हुआ रूई का फाहा रखना; यह बालों की समस्याओं और मस्तिष्क की गर्मी को शांत करने हेतु प्रभावी है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: बाह्य शमन चिकित्सा की प्रमुख विधियों का वर्णन कीजिए। शिरोधारा और अक्षीतर्पण की क्रिया विधि, इनमें प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों और इनके स्वास्थ्य लाभों का सविस्तार वर्णन करें।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1: अभ्यंग (तेल मालिश) के लाभों का उल्लेख कीजिए और बताइए कि यह बुढ़ापे को रोकने में कैसे सहायक है?

प्रश्न 2: शिरोपपिचु क्या है? इसके मुख्य चिकित्सीय उपयोग बताइए।

प्रश्न 3: कर्णपूरण विधि क्या है? कान के रोगों में इसकी उपयोगिता स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1: मानसिक तनाव, चिंता और अनिद्रा को दूर करने के लिए कौन-सी बाह्य शमन विधि सर्वोत्तम मानी जाती है?

(क) अभ्यंग

(ख) शिरोधारा

(ग) अक्षीतर्पण

(घ) पाद स्नान

प्रश्न 2: अक्षीतर्पण क्रिया का मुख्य उद्देश्य शरीर के किस अंग को लाभ पहुँचाना है? (क) कान

(ख) आँखें

(ग) घुटना

(घ) गला

प्रश्न 3: शिरोपपिचु चिकित्सा में औषधीय तेल का फाहा शरीर के किस स्थान पर रखा जाता है?

(क) नाभि पर

(ख) सिर के तालु (ब्रह्मरंध्र) पर

(ग) पैरों के तलवों पर

(घ) कमर पर

प्रश्न 4: अभ्यंग (मालिश) के लिए आयुर्वेद और प्राकृतिक चिकित्सा में सामान्यत: किस तेल का प्रयोग श्रेष्ठ माना गया है?

(क) मिट्टी का तेल

(ख) तिल का तेल

(ग) सोयाबीन का तेल

(घ) केवल पानी

प्रश्न 5: कानों में गुनगुना औषधीय तेल डालने की प्रक्रिया को क्या कहा जाता है? (क) नस्य

(ख) कर्णपूरण

(ग) गंडूष

(घ) कवल

इाकई- 4.2 नस्य, पोटली मसाज, बालुका स्वेदन, शक्तिशाली पिण्ड स्वेदन

उद्देश्य-

1. ऊर्ध्वजत्रुगत (कंधे से ऊपर के अंगों) रोगों के निवारण हेतु नस्य क्रिया के वैज्ञानिक महत्त्व और उपयोगिता को समझाना।
2. शरीर के जोड़ों के दर्द, सूजन और जकड़न को दूर करने के लिए पोटली मसाज और बालुका स्वेदन (रेत की सिकाई) का व्यावहारिक ज्ञान देना।
3. वात और कफ जनित विकारों में ऊष्मीय चिकित्सा के माध्यम से रक्त संचार सुधारने की विधि सिखाना।

नासिका में औषधिसिद्ध तेल को डालने की क्रिया को नस्य कहते हैं।

प्रक्रिया :- नस्य में सबसे पहले स्वास्थ्य साधक के चेहरे की मालिश कर भाप दी जाती है। उसके बाद नाक में औषधीय तेल डाला जाता है। जब तेल गले में आ जाये तो गुनगुने पानी में नमक डालकर या हल्दी, शहद, त्रिफला चूर्ण के पानी से गरारे कराये जाते हैं।

समयः- 10 से 15 मिनट

तेल :- अणुतेल, षड्बिन्दु तेल, ज्योतिष्मति तेल, बादाम रोगन

लाभः-

- नजला, जुकाम के लिए।
- अस्थमा के लिए।
- सिरदर्द एवं कफ सम्बन्धी बीमारियों के लिए।

सावधानियांः-

- स्टीम लेते समय नाक से श्वास लेकर मुँह से छोड़ते हैं।
- तेल गले से नीचे न जाए व गरारे ठीक से करें

पत्र पिण्ड स्वेदन :-

पत्रपिण्ड में औषधीय पत्ते के छोटे टुकड़े कर एंव विधिवत तैयार कर पोटली में बाँधकर सामान्य उष्ण तेल में डुबाकर शरीर पर थपथपाते हुए स्वेदन किया जाता हैं।

सामग्री :- ऐरण्ड, निर्गुण्डी, भांग, आक, धतूरा सहजन, सतपुष्पा, हल्दी, मैथी, कनेर, सैंधव लवण, लहसून, नीबू, नारियल का बुरादा इत्यादि।

समयः-30-35 मिनट.

निर्माण विधि :- विभिन्न प्रकार के औषधीय पत्ते ऐरण्ड, निर्गुण्डी, भांग, आक, धतूरा सहजन, सतपुष्पा, कनेर, आदि पत्तों को बारीक काटकर तेल में फ्राई करते हैं। तदोपरांत उसमें औषधीय चूर्ण, लहसुन, मेथी दाना, नारियल बुरादा, अजवाइन हल्दी, सैंधा नमक मिला देते हैं। 200-250 ग्राम तक तली हुई पत्तियों की 18-इंच चौकोर सूती कपड़े में बाँधकर पोटली तैयार की जाती है। पोटली का धागा इस प्रकार से बाँधा जाता है कि वह शोधन क्रिया करते समय आसानी से पकड़ा जा सके एवं औषध द्रव्य बाहर ना आए।

प्रक्रिया :- स्वास्थ्य साधक की पीड़ानुसार बैठने लेटने आदि की स्थिति निश्चित करें। तदोपरांत गर्म तेल के पात्र में सावधानी पूर्वक पोटली को तेल में डुबाएं। एक हाथ में पोटली को व्यवस्थित पकड़ते हुए दूसरे हाथ की हथेली पर उसके तापमान को जाँचते हुए विधिवत लयबद्ध तरीके से थपथपाते हुए पोटली मसाज करें।

लाभः-

- जोड़ो के दर्द में।
- मांसपेशियो के दर्द में।

सावधानियां :-

- पोटली को पहले अपने उलटे हाथ पर लगा कर देखना है कि अधिक गर्म तो नहीं है।

- पोटली अधिक गर्म नहीं होनी चाहिए।
- पोटली जली हुई नहीं होनी चाहिए।
- शुगर के रोगी को पोटली चिकित्सा देने से पहले उसका तापमान जाँच लेवें।
- पीरियड्स में न दें।

रुक्ष बालुका स्वेदन :-

यह रुक्ष स्वेदन अत्यन्त सरल व गुणप्रद हैं। इसमें कंकड़ रहित स्वच्छ बालुका मिश्रण को गर्म करके कपडे से पोटली बनाकर सेक दिया जाता है।

सामग्रीः- बालु (रेत), अजवाइन, हरमल के बीज, सेंधा नमक, मेथी दाना।

समयः- 30-35 मिनट

प्रक्रिया :- बालु (रेत), अजवाइन, हरमल के बीज, सेंधा नमक, मेथी दाना आदि सही अनुपात में मिश्रित बालू (रेत) को एक निश्चित तापमान तक गर्म किया जाता है। उसके बाद चौकोर कपड़े में गर्म रेत भर पोटली बना कर थपथपाते हुए स्वास्थ्य साधक को सेक दिया जाता है।

लाभ :-

- अर्थराइटिस
- मेंदोरोग में
- आमदोष में

सावधानियां :-

- पोटली अधिक गर्म न हो।
- पीरियड्स में नहीं देनी चाहिए।
- जोड़ो पर सेक देते समय अधिक देर तक न रखें।
- घाव और एलर्जी वाली जगह पर सेक न दें।

षष्टिकशाली पिण्ड स्वेदन (SSPS) :-

साठी चावल को औषधीय काढ़े के साथ पकाकर पिण्ड बनया जाता है उसके पश्चात दुग्ध में औषधि चूर्ण मिलाकर कपड़े की पोटली बनाकर सेक दिए जाने की प्रक्रिया षष्टिकशाली पिण्ड स्वेदन कहलाता है ।

सामग्री :- साठी, चावल, दूध, अन्य आवश्यक औषधि।

समय :- 30-35 मिनट ।

लाभ :-

- पेशीय दुर्विकास में।
- रेस्टलेस लेग्स सिंड्रोम में (यह नर्वस सिस्टम पर असर करती है)
- जीर्ण गठिया में।
- पंगु में।
- पोलियो में।
- वातव्याधि आदि जटिल रोगों में लाभकारी।

सावधानियां :-

- पोटली अधिक गर्म न हो।
- पीरियड्स में नहीं देनी चाहिए।

विशेष :-

शष्टिकशाली पोटली पैरों से प्रारम्भ होती है।

स्मरणीय बिंदु-

1. नस्य नासिका हि शिरसो द्वारम् अर्थात नाक मस्तिष्क का द्वार है। नस्य द्वारा दी गई औषधि सीधे सिर के रोगों सिरदर्द, बाल झड़ना आदि पर प्रभाव डालती है।
2. पोटली मसाज इसमें औषधीय पत्तों (पत्रपिण्ड स्वेद) या चूर्णों को मलमल के कपड़े में बांधकर गर्म तेल के साथ शरीर पर मालिश की जाती है, जो मांसपेशियों के दर्द में अमोघ है।
3. बालुका स्वेदन रेत को गर्म करके पोटली बनाकर सिकाई करना; यह विशेष रूप से आमवात और सूजन में अत्यंत गुणकारी है क्योंकि रेत नमी को सोखती है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: नस्य कर्म से आप क्या समझते हैं? इसके विभिन्न प्रकारों, क्रिया विधि और मस्तिष्क संबंधी रोगों में इसके महत्त्व का विस्तृत वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: बालुका स्वेदन (रेत की सिकाई) की विधि क्या है? यह किन रोगों में विशेष रूप से लाभकारी है?

प्रश्न 2: पत्रपिण्ड स्वेद (पोटली मसाज) के निर्माण की विधि और इसके लाभों का उल्लेख कीजिए।

बहुविल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1: आयुर्वेद के अनुसार नासिका हि शिरसो द्वारम् का क्या अर्थ है?

(क) नाक से भोजन करना चाहिए

(ख) नाक मस्तिष्क का प्रवेश द्वार है

(ग) नाक से केवल सांस लेना चाहिए

(घ) नाक का मस्तिष्क से कोई संबंध नहीं है

प्रश्न 2: गठिया या जोड़ों की सूजन में रेत को गर्म करके सिकाई करने की क्रिया को क्या कहा जाता है?

(क) नस्य

(ख) बालुका स्वेदन

(ग) अक्षीतर्पण

(घ) शिरोधारा

प्रश्न 3: नस्य क्रिया के लिए औषधि (तेल या स्वरस) डालने का सबसे उपयुक्त समय कौन-सा माना जाता है?

(क) भारी भोजन के तुरंत बाद

(ख) प्रातः काल खाली पेट या रोगानुसार निर्देशित समय पर

(ग) सोते समय गहरी नींद में

(घ) दौड़ते समय

प्रश्न 4: पोटली मसाज (पत्रपिण्ड स्वेद) में मुख्य रूप से किसका प्रयोग किया जाता है?

(क) ठंडे पानी का

(ख) गर्म औषधीय तेल और जड़ी-बूटियों की पोटली का

(ग) लोहे की छड़ का

(घ) केवल सूखी लकड़ी का

प्रश्न 5: साइनस और माइग्रेन के उपचार के लिए कौन-सी क्रिया सर्वाधिक प्रभावी है? (क) पोटली मसाज

(ख) नस्य

(ग) केवल पैर की मालिश

(घ) उपवास

इकाई- 4.3 उद्वर्तन (पाउडर मसाज), उपनाह, परिज़ेक, स्नेहधारा, गण्डूज़-कवल सर्वांग वाष्प स्वदेन

उद्देश्य-

1. शरीर की अतिरिक्त चर्बी (मेद) को कम करने और त्वचा की शुद्धि के लिए उद्वर्तन (सूखा चूर्ण मर्दन) की तकनीक समझाना।
2. जोड़ों की जकड़न और तीव्र दर्द को दूर करने के लिए उपनाह (औषधीय लेप व पट्टी) की विधि का बोध कराना।
3. पूरे शरीर या विशिष्ट अंगों पर औषधीय द्रव्यों की धारा गिराने वाली क्रियाओं (परिषेक व स्नेहधारा) के शामक प्रभावों का ज्ञान देना।

औषधीय चूर्ण को प्रतिलोम गति (नीचे से ऊपर) से शरीर पर मालिश करना उद्वर्तन कहलाता है।

सामग्रीः- त्रिफला पाउडर, मूंग दाल पाउडर, कांति चूर्ण, सरसों पाउडर, जौ आटा आदि।

समय :- एक उपचारक 40-45 मिनट ।

दो उपचार 25-30 मिनट ।

लाभः-

- पाउडर मसाज में त्वचा के रोमकूपों के मुख खुल जाते हैं।
- रक्तसंचारण में वृद्धि होती हैं।
- मोटापा कम होता है।
- सौन्दर्यवर्धक है।

सावधानियां :-

- अत्यधिक प्रेशर से न करें।
- पीरियड्स में न दें।
- पाउडर श्वास नली में न जाए इसलिए चेहरे को ढक कर करें।

उपनाह (UPH) :-

औषधीय सामग्री से बना लेप जो शरीर के किसी दर्द वाली जगह पर बाँधा जाता है उसे उपनाह कहते हैं। इसमें लेप की 1 इंच मोटी परत को कपडे पर फैलाकर 1-2 घंटे के लिए छोड़ दिया जाता है।

सामग्री :- पीड़ान्तक चूर्ण, गिलोय चूर्ण, अश्वगंधा चूर्ण, नीम चूर्ण, दशमूल चूर्ण, एरण्ड चूर्ण, हल्दी, सैंधा नमक, गोमूत्र गुड़ सहचरादि तेल आदि।

प्रक्रिया :- इसमें सभी चूर्ण को बराबर मात्रा में लेकर, महानारायण तेल, पीड़ान्तक तेल सहचराआदि तेल, एरंड तेल या दशमूल तेल में रोगानुसार किसी एक तेल से पकाने के बाद गाढ़ा पेस्ट बनाकर कॉटन में रख स्वास्थ्य साधक को बांधना है।

समयः- 3-4 घण्टे बांधकर रखना।

लाभः- जोड़ो के दर्द में।

सावधानियां :-

- उपनाह अधिक गर्म न हो।
- उपनाह की अधिक मोटी परत न हो।
- अच्छे से बंधा होना चाहिए।

विशेषः-

उपनाह शरीर के जोड़ो पर बाँधा जाता है। जैसे- जानू, कटि, कोहनी, टखना आदि।

परिषेक (PARI) :-

औषधीय क्वाथ से शरीर पर धारा गिराना परिषेक कहलाता है। इसमें द्रव को 12 अंगुल की ऊँचाई से शरीर पर गिराया जाता है।

प्रकार :- तक्र, गौमूत्र, दुग्ध, क्वाथ।

समय :- 40-45 मिनट ।

प्रक्रिया :-

परिषेक में स्वास्थ्य साधक के सहन करने योग्य गर्म औषधीय क्वाथ को पात्र के माध्यम से शरीर पर पैरों से लेकर वक्षस्थल तक समांतर विधिवत धारा दी जाती है। धारा 12 अंगुल ऊंचाई से दी जाती है। यह क्रिया लगातार 40 से 45 मिनट चलती रहती है।

लाभ :-

- शरीर में दृढ़ता आती है।
- ओज वर्धक होता है।
- प्लीहा रोग में लाभकारी।
- वातादि दोष में लाभकारी।

सावधानियां :-

- क्वाथ या तेल अधिक गर्म न हो।
- धारा की समानता को बनाए रखें।
- पीरियड्स में न दें।
- शरीर में घाव होने पर न दें।

स्नेह धारा :-

स्नेह (घृत या तेल) से शरीर पर धारा गिराना स्नेह धारा कहलाता है। यह 12 अंगुल ऊंचाई से दिया जाता है। इसमें धारा के साथ हल्के हाथों से मसाज दी जाती हैं।

स्नेह धारा के प्रकार :-

- जानू धारा (घुटनों पर)
- कटि धारा (कमर पर)

लाभ :-

- शरीर में दृढ़ता आती हैं।
- ओज वर्धक होता है।
- प्लीहा रोग में लाभ दायक है।
- वातादि दोष में लाभकारी।

सावधानियां :-

- क्वाथ या तेल अधिक गर्म न हों।
- धारा की समानता को बनाए रखें।
- पीरियड्स में न दें।
- शरीर में घाव होने पर न दें।

गण्डूष-कवल :-

औषधीय द्रव्यों को मुख में धारण करना गण्डूष कहलाता है। औषधीय द्रव्यों को मुख में घुमाना कवल कहलाता है।

सामग्री:- तिल का तेल, नारियल तेल, हल्दी, त्रिफला, एलोवेरा, सैंधा नमक आदि रोगानुसार।

समय:- 15 मिनट ।

लाभ :-

- दांतो में दर्द के लिए लाभ।
- दांतो की सुरक्षा के लिए मुँह में छाले पड़ना।
- मसूड़ों में सूजन, खून आना।
- मुँह से दुर्गन्ध आना।

सावधानियां:-

- तेल को अधिक गर्म नहीं करना है।

विशेष:-

तिल के तेल में सेंधा नमक मिलाकर हल्का गर्म किया जाता है। यह प्रक्रिया तीन बार करनी होती है।

सर्वांग वाष्प स्वेदन (SVS) :-

जिस प्रक्रिया में रोगों के सम्पूर्ण शरीर का स्वेदन किया जाये उसे सर्वांग वाष्प स्वेदन कहते हैं। इसमें स्वास्थ्य साधक को स्टीम बॉक्स के अन्दर बैठाकर स्टीम वाष्प दी जाती है।

समयः- 10-15 मिनट ।

लाभ :-

- शरीर शुद्धिकरण के लिए।
- मोटापा कम करने के लिए।
- शरीर के रोमछिद्र खुलते हैं।
- शरीर को कोमल बनाता है।

सावधानियां :-

- हाई ब्लड प्रेशर वाले रोगी को नहीं देनी है।
- रोगी को स्टीम बॉक्स के अन्दर बैठाने से पहले पानी पिलाना है और सिर पर गीला तौलिया रखना है।
- अगर किसी रोगी को घबराहट होती है तो उसे तत्काल स्टीम बॉक्स से बाहर निकाल देवें।

स्टीम के प्रकार :-

- पीड़ान्तक स्टीम ।
- कायाकल्प स्टीम ।
- सामान्य स्टीम।
-

स्मरणीय बिंदु-

1. उद्वर्तन इसमें औषधीय चूर्णों को शरीर पर बालों की दिशा के विपरीत (प्रतिलोम) रगड़ा जाता है, जो कफ और मेद को सुखाता है।
2. उपनाह दर्द वाले स्थान पर गरम औषधीय लेप लगाकर उसे चमड़े या विशेष पत्तों से बांधना; यह वात रोगों की जकड़न के लिए अमोघ है।
3. परिषेक/स्नेहधारा शरीर पर तेल, काढ़े या दूध की निरंतर धारा गिराना; यह शरीर की जलन को शांत करता है और बल प्रदान करता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: उद्वर्तन और उपनाह चिकित्सा से आप क्या समझते हैं? उद्वर्तन की क्रिया विधि और मोटापे में इसके लाभों का वर्णन करते हुए, उपनाह के निर्माण और प्रयोग की विधि स्पष्ट कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1: परिषेक चिकित्सा क्या है? यह किन स्थितियों में रोगी को दी जाती है?

प्रश्न 2: स्नेहधारा और कषायधारा (काढ़े की धारा) के बीच प्रमुख अंतर और उनके लाभ बताइए।

प्रश्न 3: उद्वर्तन क्रिया करते समय प्रतिलोम मर्दन (बालों के विपरीत दिशा में मालिश) का क्या महत्त्व है?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1: शरीर की अतिरिक्त चर्बी (मोटापा) कम करने के लिए कौन-सी बाह्य शमन विधि सबसे अधिक प्रभावी मानी जाती है?

(क) स्नेहधारा

(ख) उद्वर्तन

(ग) उपनाह

(घ) अक्षीतर्पण

प्रश्न 2: उपनाह चिकित्सा का मुख्य उद्देश्य क्या है?

(क) केवल त्वचा को गोरा करना

(ख) जोड़ों के दर्द, सूजन और जकड़न को दूर करना

(ग) बाल बढ़ाना

(घ) प्यास बुझाना

प्रश्न 3: उद्वर्तन क्रिया में चूर्ण की मालिश किस दिशा में की जाती है?

(क) बालों की दिशा के साथ (अनुलोम)

(ख) बालों की दिशा के विपरीत (प्रतिलोम)

(ग) केवल गोलाकार दिशा में

(घ) ऊपर से नीचे की ओर तेजी से (प्रतिलोम)

प्रश्न 4: पूरे शरीर पर औषधीय तेल की धारा को एक निश्चित ऊंचाई से गिराने की प्रक्रिया को क्या कहते हैं?

(क) उद्वर्तन

(ख) स्नेहधारा / परिषेक

(ग) नस्य

(घ) वमन

प्रश्न 5: उपनाह चिकित्सा में लेप को बांधने के लिए किन पत्तों का प्रयोग वात नाशक माना जाता है?

(क) नीम के पत्ते

(ख) एरण्ड या आक के पत्ते

(ग) गुलाब की पंखुड़ियाँ

(घ) केले के पत्ते

इकाई- 4.4 नाड़ी स्वेदन, कर्णधूपन, क्षीरभाप, श्रृंगी, वातमोक्षण, अग्नि कर्म एवं आरोग्य सूत्र

उद्देश्य-

1. शरीर के विशिष्ट अंगों के दर्द और जकड़न को दूर करने के लिए नाड़ीस्वेदन और क्षीरधूम (दूध की भाप) जैसी ऊष्मीय चिकित्साओं का ज्ञान देना।
2. रक्त दोषों के निवारण हेतु प्राचीन श्रृंगी और रक्तमोक्षण विधियों के वैज्ञानिक आधार को समझाना।
3. अग्निकर्म के माध्यम से पुराने और कष्टसाध्य दर्द (जैसे साइटिका, एड़ी का दर्द) के उपचार की विधि सिखाना।

नाड़ी का अर्थ है ट्यूब। नाड़ी स्वेदन उपचार की एक विधि है जिसमें एक ट्यूब के माध्यम से भाप दी जाती है। यह स्वेदन या वाष्प के माध्यम से पसीना प्रदान करने का एक रूप है। तेल मालिश के बाद ट्यूब से आने वाली भाप सीधा शरीर के प्रभावित हिस्सो पर दी जाती है।

समय :- 10-15 मिनट

लाभ:-

- टॉक्सिस को खत्म करता है।
- रक्त के संचार को बढ़ा देता है।
- त्वचा को फिर से जीवंत करता है।

सावधानियां :-

- बुखार वाले व्यक्ति को नहीं देनी चाहिए।
- रक्तस्त्राव विकारों वाले रोगियों को नाड़ी स्वेद से बचना चाहिए।
- नाड़ी स्वेदन देते समय स्वास्थ्य साधक की सहजता अनुसार उचित दूरी बनाए रखें।

कर्णधूपन :-

औषधीय युक्त धुएँ को कानों में पहुँचाना कर्णधूपन कहलाता है।

सामग्री :-

- शंखपुष्पी पाउडर
- दशमूल पाउडर
- बच्च पाउडर
- हल्दी पाउडर
- मुलेठी पाउडर
- नीम पाउडर
- देशी घी

समय :- 10-15 मिनट

विधि :- सबसे पहले सारी सामग्री को मिलाकर पेस्ट बना ले फिर थोड़ा सा मारकीन कपड़ा लेकर उस पेस्ट को उस कपड़े पर फैलाकर उसे लपेट लें और उनकी छोटी-छोटी कपूर की तरह टिकियां बना लें फिर टिक्की को चिमटे की सहायता से पकड़ कर जला लें और कूपीनुमा यंत्र की सहायता से कानों में धूपन दिया जाता है।

लाभ:-

- कानों में पस बनना।
- कानों का बहना।
- कान दर्द आदि में लाभ मिलता है।

सावधानियां :- जिस यन्त्र की सहायता से धूपन दिया जाता है उससे कान न जले।

क्षीरधूपन (Kshirdhupan) :-

सामग्री :- एक गिलास दूध में 3 गिलास पानी मिलाकर 2 चम्मच मुलेठी पाउडर, 1 चम्मच त्रिकुट पाउडर, । चम्मच हल्दी, 2 चम्मच नागरमोथा इन सबको उबालकर सिर पर तौलिया ओढ़कर चेहरे पर भाप देनी है।

प्रक्रिया :- मुँह से सांस लेनी है और मुँह से ही छोड़नी है।

श्रृंगी चिकित्सा :-

इसमें गाय, नीलगाय के सींग का प्रयोग किया जाता है। सींग चक्राकार एवं सात अंगुल लम्बा होना चाहिए। इसके मूलभाग का छिद्र से दो MM तक का होता है। इसके किनारों को समान बनाया जाता है ताकि त्वचा पर कोई नुकसान न हो। इस प्रकार तैयार किए गए श्रृंगी को कई वर्षों तक संरक्षित किया जाता है।

श्रृंगी प्रयोग :-

- प्रभावित क्षेत्र को एंटी-सेप्टिक घोल से साफ करें इसके बाद श्रृंगी लगाकर मुँह के माध्यम से बलपूर्वक वायु खींचे (सक्शन करें) और स्थान अनुसार श्रृंगी से वायु खींच (सक्शन) करके देशी मोम के प्रयोग से उसके ऊपरी छिद्र को बंद करें। कुछ मिनट के बाद इसे हटाकर प्रच्छान (कट) करें।
- कट सीधा और सूक्ष्म हो अधिक गहरा और बडा न हो।
- प्रच्छान (कट) लगाकर पुनः श्रृंगी लगाये 5-10 मिनट बाद हटाकर रक्त साफ करें और उस पर हल्दी व एंटी-सेप्टिक लगायें।

लाभ :-

- जोड़ो के दर्द में लाभकारी।
- सर्वाइकल, साइटिका, गठिया आदि रोगों में लाभकारी।
- सूजन में लाभकारी।

सावधानियां :-

- श्रृंगी लगाने के बाद कट वाले स्थान पर हल्दी या एण्टीबायोटिक अच्छे से लगा दें।
- कट वाले स्थान पर 24 घण्टे तक पानी ना लगाये।
- श्रृंगी लगाने के बाद श्रृंगी उपकरण को डिटॉल, गर्म पानी से अच्छे से साफ करके रख दें।

(गुआ शा)/वातमोक्षण :-

वातमोक्षणः- यह एक चायनीज थैरेपी हैं। **गुआ का अर्थ** - रगड़ना तथा शा का अर्थ पत्थर 'अर्थात् पत्थर से रगड़ना'। इस थैरेपी में एक विशेष प्रकार के पत्थर का उपयोग किया जाता है जो गाय के सींग से बना हुआ होता है।

प्रक्रियाः- दर्द वाले स्थान पर पत्थर को ऊपर से नीचे की ओर रगड़ना होता है। सबसे पहले कम प्रेशर देना है फिर ध ीरे-धीरे बढ़ा देते हैं।

लाभः-

- दर्द में लाभकारी।
- जीर्ण गठिया में लाभदायका
- गैस्ट्रिक समस्या में प्रभावकारी।
- अस्थमा में लाभदायक ।
- हृदय रोगों में लाभकारी।

सावधानियां :-

- हड्डियों पर नहीं किया जाता।
- प्रेशर एक तरफ से ही दिया जाता है।
- 10 साल से कम उम्र के बच्चो को नहीं दिया जाता।

- पीरियड्स व प्रेग्नेंसी में नहीं दिया जाता है।
- ऑपरेशन वाली जगह पर नहीं दिया जाता।
- एलर्जी वाले स्थान पर नहीं दिया जाता।
- निशान जब तक नहीं जाते तब तक दोबारा नहीं किया जाता।

विशेष :- वातमोक्षण करने से शरीर के टॉक्सिस बाहर निकलते है।

अग्निकर्म (AGNI KARM) :-

लोह ताम्र, रजत, कांस्य या मिश्रित धातु से बनी अग्नि शलाका से शरीर के दर्द वाले हिस्से पर विशेष ऊर्जा (गर्मी) देकर गहर दिलाने को अग्निकर्म कहते है। यह शरीर की विभिन्न मांसपेशियों और उनके विकारों को दूर करने के लिए उपयोगी है इससे उपचार करने पर व्यक्ति को कोई कष्ट महसूस नहीं होता है।

प्रक्रिया:- सबसे पहले शलाका को गर्म किया जाता है फिर दर्द वाले स्थान पर शलाका को लगाया जाता है। शलाका को शरीर पर अधिक देर तक नहीं लगाया जाता इसको लगाते व हटाते रहते हैं। अग्निकर्म करने के बाद उस स्थान पर ऐलोवेरा जेल लगा देते हैं जिससे व्यक्ति को जलन नहीं होती है।

अग्निकर्म इन वस्तुओं से किया जाता है जैसे- शलाका, पिपली, बकरी का मल, गाय का दांत, तीर की नोंक, मधु, घी, गुड़ या तेल आदि। मधु, घी, गुड़ या तेल इनका प्रयोग नसों, मासपेशियों, हड्डिया या हड्डीयों के जोड़ इत्यादि व्याधियों में होता है।

लाभ:-

- दर्द में लाभकारी।
- हड्डी व मांसपेशियो के दर्द में लाभकारी।
- मस्से व कॉर्न हटाने में उपयोगी।
- साइनस व माइग्रेन में लाभकारी।
- गाठों में लाभकारी।
- नसों के दर्द में लाभदायक।
- दातो के दर्द में लाभकारी।

सावधानियां:-

- अग्निकर्म ध्यानपूर्वक करना चाहिए।
- 10 साल से कम उम्र वाले बच्चों को नहीं करना चाहिए।
- बूढ़े व्यक्तियों को नहीं करना चाहिए।
- शुगर में नहीं देना चाहिए।
- सूजन वाली जगह पर नहीं करना चाहिए।

परिशिष्ट

आयुर्वेदानुसारी स्वास्थ्यरक्षक आरोग्य सूत्र

1. रात्रि को जल्दी सोना और प्रात: जल्दी (सूर्योदय से पहले) जागना स्वास्थ्य के लिए उत्तम है।
2. स्वास्थ्य का अर्थ केवल शरीर का स्वस्थ होना ही नहीं, अपितु मन और मस्तिष्क का प्रसन्न रहना भी है।
3. प्रात: काल उठने के बाद कुछ समय (10-15 मिनट) इष्टदेव का ध्यान या स्मरण जीवन में प्रसन्नता व शान्ति देता है।
4. स्वस्थ रहने और रोगों से बचने के लिए सदा पथ्य सेवन (हितकारी भोजन) करना चाहिए, क्योंकि पथ्य अपथ्य सेवन करने वाले व्यक्ति को औषधि की आवश्यकता नहीं रहती।
5. भोजन करते समय मन पूर्णत: शान्त और प्रसन्न रहना चाहिए। सारे दिन में कम से कम भोजन का समय तो मनुष्य को केवल अपने लिए सुरक्षित रखना चाहिए।
6. भोजन सदा समय पर करना चाहिए। पहले खाये हुए भोजन के पाचन हुए बिना भोजन कर लेना स्वास्थ्य के लिए घातक है। यह आयुर्वेद का सुनहरी नियम है कि- भूख लगने पर ही मित भोजन करे, अन्यथा एक समय लंघन (उपवास) कर लें।

7. रात्रि के समय दही का सेवन करना और दिन के समय (ग्रीष्म-ऋतु को छोड़कर अन्य ऋतुओं में) सोना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।

8. व्यायाम करना स्वास्थ्य के लिए अति आवश्यक है, अत: यह दिनचर्या का अनिवार्य अंग होना चाहिए; परन्तु अपनी शारीरिक शक्ति से अधिक व्यायाम या श्रम करना बहुत हानिकारक है।

9. मोटापा और पतलापन, दोनों ही अवांछित हैं, परन्तु मोटापा अपेक्षाकृत अधिक कष्टदायक है, क्योंकि यह अनेक रोगों की जड़ है, अत: इससे सावधान रहें।

10. रोग को कभी भी छोटा नहीं समझना चाहिए। ध्यान न देने पर सामान्य रोग भी भयंकर रूप धारण कर सकता है।

11. स्वास्थ्य के लिए हितकारी भोजन का सेवन करें, ऋतु (मौसम) के अनुसार खायें, भूख से कुछ कम भोजन करें।

12. प्रात: उठकर 1-2 गिलास गुनगुना पानी पीयें, यही उष:पान है। गुनगुने पानी में आधा चम्मच नींबू का रस एवं एक चम्मच शहद मिलाकर पीने से विशेष लाभ होता है। सुबह खाली पेट चाय व कॉफी का सेवन कभी न करें।

13. मलत्याग करते समय दाँतों को दबाकर या भींचकर रखने से वृद्धावस्था में भी दाँत नहीं हिलते।

14. प्रात: मुँह में पानी भरकर ठण्डे जल से आँखों में छींटे मारें। अँगूठे से मुँह में स्थित तालु की सफाई करने से आँख, कान, नाक एवं गले के रोग नहीं होते।

15. स्नान करने से पूर्व दोनों पैरों के अंगूठो में सरसों का शुद्ध तेल मलने से वृद्धावस्था तक नेत्रों की ज्योति कमजोर नहीं होती। प्रात: नंगे पाँव हरी घास पर टहलें, इससे आँखों की रोशनी बढ़ती है। सप्ताह में एक दिन पूरे शरीर की तिल या सरसों के तेल से मालिश करें तथा पैर के अंगूठों व पैर के पंजों की भी मालिश करें।

16. रात्रि को सोने से पहले तथा प्रत्येक बार भोजन लेने के बाद दांतों के बीच में फँसे अन्न-कणों को कुल्ला करके साफ करें।

17. नहाने के पानी में नींबू का रस मिलाकर नहाने से शरीर की दुर्गन्ध दूर होती है।

18. प्रतिदिन शौच-स्नान के पश्चात् योगासन, प्राणायाम आदि नियमित रूप से करें। प्राणायाम करने से सभी प्रकार के रोग दूर होते हैं तथा शरीर स्वस्थ व मन शान्त रहता है और आत्मबल बढ़ता है।

19. भोजन में सुपाच्य, सात्त्विक, हल्का तथा रेशेयुक्त खाद्य, अंकुरित अन्न, फलों व दलिया का सेवन करें व भोजन को चबा-चबा कर खायें।

20. भोजन के उपरान्त कम से कम 10 मिनट तक वज्रासन में बैठें तथा यदि संभव हो तो रात्रि के भोजन के बाद थोड़ा भ्रमण करें।

21. दिन में कम से कम 8 से 12 गिलास (2.5 से 3 लीटर) पानी जरूर पीयें।

22. सदैव रीढ़ (कमर) को सीधी रखकर बैठें। जमीन पर बैठकर बिना सहारे उठें।

23. नाखून हमेशा छोटे व साफ रखें तथा नाखूनों को दाँतों से कभी न काटें।

24. खाने के दौरान पानी न पीयें। यदि भोजन में तरल पदार्थ कम हों तो भोजन के बीच में थोड़ा पानी पी सकते हैं, अन्यथा खाने के आधा घण्टा पहले तथा आधा घण्टे बाद ही पानी का सेवन करें।

25. भोजन से पूर्व ईश्वर का स्मरण करें। अन्न देने वाले उस प्रभु का धन्यवाद करके भोजन को उसका प्रसाद मान कर ग्रहण करें।

26. भोजन में हरी सब्जी व सलाद का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग करें। अधिक गर्म और अधिक ठण्डी वस्तुएँ पाचन क्रिया के लिए हानिकारक हैं। भोजन में मिर्च मसालों का प्रयोग कम करें। प्रतिदिन मौसम के फलों का प्रयोग स्वास्थ्य के लिए अति उत्तम है। फलों को भोजन के साथ न लेकर अलग से भोजन के पश्चात् खायें।

27. मल, मूत्र, छींक आदि के वेगों को कभी नहीं रोकना चाहिए, वेग रोकने से रोग उत्पन्न होते हैं।

28. जीवन में वाणी, व्यवहार व विचार के दोषों को दूर करने के लिए तथा जीवन पथ पर आगे बढ़ने के लिए प्रतिदिन रात को सोते समय थोड़ी देर धैर्यपूर्वक आँखें बंद करके आत्म-निरीक्षण करें, इसमें अपने दोष व आचरण की समीक्षा करें और जीवन में अष्टांग योग को अपनाने के लिए पुरुषार्थ करें। मुँह ढक कर न सोयें। रात को कमरे में वायु-संचार को पूर्णतया अवरुद्ध न करें। बांई करवट सोने से दायां स्वर चलता है, जो भोजन पचाने में सहायक होता है।

29. पेट के बल लेटकर पढ़ना या सोना नहीं चाहिए।
30. शिर में तेल की मालिश करने से मन शान्त होता है, तथा नींद अच्छी आती है।

स्मरणीय बिंदु-

1. नाड़ीस्वेदन एक नली के माध्यम से औषधीय भाप को शरीर के किसी एक अंग पर केंद्रित करना। यह पक्षाघात और जोड़ों के दर्द में श्रेष्ठ है।
2. रक्तमोक्षण एवं श्रृंगी शरीर के दूषित रक्त को बाहर निकालना। श्रृंगी का प्रयोग विशेष रूप से वात दोष से दूषित रक्त को निकालने के लिए किया जाता है।
3. अग्निकर्म शलाका (धातु की छड़) को गर्म करके त्वचा के विशेष बिंदुओं पर स्पर्श कराना। यह वात रोगों को जड़ से खत्म करने के लिए अंतिम चिकित्सा मानी जाती है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: रक्तमोक्षण और अग्निकर्म चिकित्सा से आप क्या समझते हैं? इन दोनों विधियों की क्रिया प्रणाली, प्रयुक्त उपकरण और विभिन्न व्याधियों में इनकी उपयोगिता का सविस्तार वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1: नाड़ीस्वेदन क्या है? सामान्य भाप स्नान से यह किस प्रकार भिन्न और अधिक प्रभावी है?
प्रश्न 2: कर्णधूपन विधि का वर्णन कीजिए। कान के संक्रमण और दर्द में यह कैसे काम करती है?
प्रश्न 3: क्षीरधूम (दूध की भाप) क्या है? अर्दित और चेहरे के रोगों में इसके लाभ बताइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1: एक नली की सहायता से शरीर के किसी विशेष अंग पर औषधीय भाप देने की प्रक्रिया को क्या कहते हैं?
(क) अवगाह स्वेद
(ख) नाड़ीस्वेदन
(ग) उपनाह
(घ) अक्षीतर्पण

प्रश्न 2: बहुत पुराने दर्द (जैसे एड़ी का दर्द या साइटिका) को जड़ से समाप्त करने के लिए किस धातु की शलाका से अग्निकर्म किया जाता है?
(क) प्लास्टिक की छड़
(ख) स्वर्ण, रजत या पंचधातु की शलाका
(ग) कांच की छड़
(घ) लकड़ी की छड़

प्रश्न 3: श्रृंगीश चिकित्सा का प्रयोग मुख्य रूप से शरीर से क्या बाहर निकालने के लिए किया जाता है?
(क) अतिरिक्त पसीना
(ख) दूषित रक्त
(ग) केवल अतिरिक्त चर्बी
(घ) आँखों का पानी

प्रश्न 4: चेहरे के लकवे और गर्दन की जकड़न में दूध और जड़ी-बूटियों की भाप देने की क्रिया क्या कहलाती है?
(क) कर्णधूपन
(ख) क्षीरधूम
(ग) उद्वर्तन
(घ) अग्निकर्म

प्रश्न 5: कानों के भीतर औषधीय धुआं पहुँचाने की प्रक्रिया (कर्णधूपन) का मुख्य लाभ क्या है?

(क) आँखों की रोशनी बढ़ाना

(ख) कान का संक्रमण और नमी दूर करना

(ग) पाचन ठीक करना

(घ) बाल काले करना।

॥ ओ३म् ॥

सनातन संस्कृति बोध-2

BDPHVA-206 (1)

दिव्य प्रकाशन

सनातन संस्कृति बोध-2
BDPHVA-206 (1)

उद्देश्य -

- सामवेद एवं अथर्ववेद के चयनित विषय व मन्त्रों से अवगत कराना।
- प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्योपनिषद् का परिचयात्मक ज्ञान कराना।
- स्मृतिग्रन्थों के चयनित प्रंसग का बोध कराना।
- नैतिक मूल्य एवं स्वस्थवृत्त परिचय से अवगत कराना।

इकाई क्र.	इकाई का नाम	पृष्ठ क्र.
खण्ड-1	सामवेदीय एवं अथर्ववेदीय चयनित मंत्र	1-60
खण्ड -2	प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्योपनिषद् का परिचय	61-76
खण्ड-3	स्मृतिग्रन्थों के चयनित प्रंसग	77-167
खण्ड -4	नैतिक मूल्य एवं स्वस्थवृत्त परिचय	168-225

परिणाम :-

- वेद के कतिपय प्रसिद्ध सूक्त एवं मन्त्रों का शुद्धतापूर्वक वाचन एवं व्याख्यान करने में विद्यार्थी समर्थ हो जाता है।
- उपनिषद् के उपर्युक्त चयनित प्रसंगों का अधिगम होगा।
- स्मृतिग्रन्थों का विशद् ज्ञान अर्जित होगा।
- नैतिक मूल्य एवं स्वस्थवृत्त का जीवनोपयोगी कर्त्तव्य पालन होगा।

विषय सूची

विषय		पृष्ठ संख्या
खण्ड - 1	**सामवेदीय एवं अथर्ववेदीय चयनित मंत्र**	**7-39**
इकाई 1.1	सामवेद का परिचय एवं विषय	7-16
इकाई 1.2	सामवेद के चयनित मंत्र	17-25
इकाई 1.3	अथर्ववेद का परिचय	26-32
इकाई 1.4	अथर्ववेद के चयनित मंत्र	33-39
खण्ड - 2	**प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्योपनिषद् का परिचय**	**40-48**
इकाई 2.1	प्रश्नोपनिषद् में प्राणविद्या	40-43
इकाई 2.2	मुण्डकोपनिषद् के चयनित प्रसंग	44-46
इकाई 2.3	माण्डूक्योपनिषद् में ओंकार का स्वरूप	47-48
खण्ड - 3	**स्मृतिग्रन्थों के चयनित प्रंसग**	**49-104**
इकाई 3.1	वाल्मीकीय रामायण के चयनित श्लोक	49-57
इकाई 3.2	महाभारत के चयनित श्लोक	58-71
इकाई 3.3	रामचरितमानस के चयनित प्रसंग	72-77
इकाई 3.4	पुराण परिचय एवं पुराणों में योग विद्या	78-104
खण्ड - 4	**नैतिक मूल्य एवं स्वस्थवृत्त परिचय**	**105-**
इकाई 4.1	दिनचर्या के विशेष मंत्र, पंचमहायज्ञ बोध	105-112
इकाई 4.2	पंचमहाव्रत परिचय, वर्णाश्रम व्यवस्था परिचय	113-138
इकाई 4.3	पञ्चप्राण परिचय, पञ्चकोष परिचय	139-152
इकाई 4.4	अष्टाङ्गहृदयम् (चयनित श्लोकाः), जीवन दर्शन	153-159

भूमिका

आशीर्वचन–

सनातन संस्कृति के शाश्वत मूल सिद्धान्त, आदर्श एवं मर्यादा वा आचरण है–एकत्व, सहअस्तित्व, विश्वबन्धुत्व, स्वधर्म निष्ठा, सर्वपंथ सहिष्णुता, प्रकृति या परमेश्वर के अकाट्य नियम या विधान में श्रद्धा कहें या सांस्कृतिक सनातन, संविधान को मानना साथ ही जिस देश समाज व परिवेश में जन्म हुआ वहाँ के राजनैतिक या लोक तान्त्रिक संविधान में भी पूर्ण निष्ठा रखना अर्थात् सनातन धर्म एवं राष्ट्र को समान रूप से गौरव प्रदान करना व्यापक परिपेक्ष्य में ये मूल सात सिद्धान्त हैं।

सार रूप इन सिद्धान्तों का थोड़ा विस्तार से कहें तो–

१. एकत्व का अर्थ है एकत्व मनुपश्यत :

वेद, इस सृष्टि अस्तित्व या ब्राह्माण्ड की एक नियन्ता शक्ति है तथा हम सब मनुष्य व मनुष्यतेर जड़ चेतन जीवजगत् जातिवर्ग, समुदाय व देश काल सामर्थ गुणकर्म, स्वभाव पुरुषार्थ व प्रारब्ध की भिन्नता होते हुए भी एकत्व के सत्य या तत्त्व में बंधे हुए हैं।

एक ही ब्रह्म की असीम अप्रतिम पारमार्थिक शक्ति का विस्तार जड़ चेतना सार संसार है। पारमार्थिक दृष्टि से अद्वैत परम सत्य है तथा व्यवहारिक या भौतिक दृष्टि से आत्मा व प्रकृति यह द्वैत तथा परमात्मा, आत्मा व प्रकृति यदि पृथक् रूप से इनकी गिनती करें तो यह त्रैत है। परमात्मा का अंशावतार आत्मा है तथा परमात्मा की ही दृश्यशक्ति यह देह पिण्ड सूक्ष्म रूप में तथा ब्रह्माण्ड विराट् रूप से उसी के विधान व सामर्थ्य से निर्मित व संचालित एक व्यवहारिक सत्य है तथा सारा अस्तित्व सब को सुख शान्ति आनन्द देने के लिए परमात्मा ने बनाया है। व्यवहार में द्वैत या त्रैत सत्य होते हुए भी भाव में या पारमार्थिक दृष्टि से अद्वैत परम सत्य है। मनुष्य में परस्पर भेद बुद्धि व अस्तित्व में अज्ञान व अज्ञान अविद्या जनित वृत्तियों व प्रवृत्तियों के कारण वासनात्मक भोगात्मक काम क्रोध लोभ मोह अहंकार व पंथ क्लेशात्मक भाव व व्यवहार यह सनातन संस्कृति के सत्य नियमों के विपरीत या विरुद्ध है।

२. सहअस्तित्व :

यह पूरा ब्रह्माण्ड या अस्तित्व केवल मेरे लिए नहीं है। मेरा पंथ, मेरे दल, मेरा विचार, मेरा अहंकार, मेरी सत्ता, सम्पत्ति, साम्राज्य या व्यापार ही सर्वोपरि रहे और इन स्वार्थमूलक विचारों के कारण हम अपने से इतर को भिन्न, विरोधी, दूसरा शत्रु या प्रतिस्पर्धी मानकर उनसे वैर करें उनकी हिंसा, दया या विनाश पर उतारु हो जायें यह सनातन के विरुद्ध है। सब अस्तित्व ही सनातन है। यही वेदों व वेदानुकूल शास्त्रों का भी सार संदेश उद्घोष है। **देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।** *(गीता–३.११)*, **सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै, तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।** *(उपनिषद्)*, **संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते** आदि सब वेदों का सार यही है।

३. विश्वबंधुत्व :

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्! उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥ हम सब एक ईश्वर एक आत्मा एवं एक प्रकृति के सनातन शाश्वत सत्य के अनुसार परस्पर पूर्णप्रीति से रहें। भौतिक सुख-संसाधनों, सत्ता व सम्पत्ति के लालच के कारण एक दूसरे से किसी भी प्रकार का द्वेष न करें।

४. स्वधर्मनिष्ठा :

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ *(गीता–३.३५)*

स्वधर्म माने आत्मधर्म, वेदाधर्म, सनातन ऋषिधर्म या भगवान का शाश्वत विधान भागवत धर्म में पूर्ण निष्ठा रखना। शरीर इन्द्रियों मन बुद्धि आत्मा या जीवन का प्रयोजन ही स्वधर्म का निर्वहन है। स्वधर्म एक बहुत ही पवित्र तत्त्व है। इसमें किसी भी प्रकार से किसी भी हिंसा युद्धादि नहीं है परन्तु जब हम स्वधर्म का निर्वहन करते हैं तो संसार के बुरे लोग या उनका समूह उसमें बाधा उपस्थित करें तो उसके प्रतिकार हेतु युद्ध भी स्वधर्म है। अन्यथा हम कुछ होकर युद्ध या विध्वंस में विश्वास नहीं रखते हैं।

५. परधर्म या परपंथ सहिष्णुता :

देश काल समय परिव्यक्ति परिवेश, प्रारब्ध, पुरुषार्थ व पूर्वजों के भेद के कारण साहसी सत्व, रजस् तमस् आदि प्रकृति भेद के कारण भिन्न वर्ग सम्प्रदाय या विचारों का होना स्वभाविक है। इस भिन्नता को वैचारिक सांस्कृतिक लोक लोकतंत्र स्वीकार करके भिन्नता का भी मानवता के आधार पर करना। यही नैतिकता एवं सच्ची आध्यात्मिक है।

६. सांस्कृतिक सनातन संविधान :

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि। *-(अथर्व०१/१/४)* नैसर्गिक व सत्य नियमों का पूर्ण विवेक, पूर्ण श्रद्धा भक्ति निष्ठा व पूर्ण पुरुषार्थ से आचरण करना। भगवान् की कर्मफल व्यवस्था एवं न्यायव्यवस्था अकाट्य है यदि हम अज्ञान या प्रमाद के कारण इसका अतिक्रमण करेंगे तो इसका अनन्त गुणा प्रतिफल इस जन्म में या जन्मान्तर में हमें भोगना ही पड़ेगा। पुनर्जन्म, कर्मफल व्यवस्था, श्रुति परम्परा, न्याय, स्वतंत्रता या स्वाधीनता, वर्णाश्रम धर्म, १६ संस्कार, पुरुषार्थ चतुष्टय ये सब भगवान्, प्रकृति या परमेश्वर के सनातन विधान ही हैं। प्रकृतिवादी व ईश्वरवादी लोगों का हम भिन्न नहीं मानते क्योंकि प्रकृति परमेश्वर की ही रचना है जो व्यक्ति प्रकृति के नियमों व सिद्धान्तों का पूर्ण पालन कर रहा है। वह भी आस्तिक तथा प्रकृति को परमेश्वर का ऐश्वर मानकर ईश्वर के विधान को मानने वाला भी आस्तिक है। वर्णाश्रम व्यवस्था भी मूलतः जन्म या भेदभाव जनित व्यवस्था नहीं थी यह–

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

(गीता-४.१३)

–गुण, कर्म, स्वभाव व आचरण के आधार पर मनुष्य की ही मूलप्रकृति की व्याख्या है।

७. लोकतान्त्रिक संविधान :

ईश्वरीय विधान तो कालातीत सनातन शाश्वत सत्य है ही मनुष्य समाज में देश काल परिस्थितियों के अनुरूप राजधर्म में लोकधर्म व सम्पूर्ण व्यवस्थाओं को सत्य, न्याय व समानता के अनुरूप संचालन हेतु देश के लोग सर्वसम्मति या बहुमत से जो नियम या कानून आदि बनाते हैं उनका भी पूर्ण निष्ठा से निर्वहन करते हुए **माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः** का पालन करना सनातन धर्म का ही सिद्धान्त है। यदि कोई गलतत कानून बदलने हेतु विरोध भी करना हो तो वह भी विवेक पूर्वक होना ही चाहिए।

एक शब्द में सनातन संस्कृति का सार है सृष्टि के शाश्वत सत्य ही सनातन संस्कृति है।

संदेश

योग भारतीय धर्म, दर्शन, अध्यात्म संस्कृति एवं सभ्यता का मूलतत्व है। योगी होना हमारे पूर्वजों ने जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि माना है। योगविद्या ही अध्यात्म विद्या अथवा परा-अपरा विद्याओं का मूल स्त्रोत है। योगदर्शन, गीता एवं उपनिषद् योगविद्या के प्रमुख ग्रन्थ हैं। योग हमारे जीवन का केन्द्र है एवं जीवन की परिधि यह पूरा ब्रह्माण्ड है। जो योग को केन्द्र में रखकर कार्य करता है, वह इस ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण मायाजाल से वैसे ही निर्लिप्त रहता है जैसे कमल जल में रहकर उससे असंग या निर्लिप्त रहता है, ऐसे ही योगी संसार में वेदानुकूल ज्ञान, विद्या, बुद्धि या विवेकपूर्वक कर्म, आचरण व व्यवहार करता हुआ निष्काम भाव से निष्कलंक जीवन जीता है।

हमारे सभी महापुरुष योगी थे। भगवान् राम, योगेश्वर श्रीकृष्ण, महायोगी शिव, महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द व जे. कृष्णमूर्ति आदि से लेकर सभी ऋषि-मुनि वीर-वीरांगनायें, गुरु नानकदेव, गुरु गोविन्द सिंह आदि सभी महान् गुरु, भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध, पैगम्बर मोहम्मद साहब, प्रोफेट ईसा मसीह आदि महापुरुष व सभी सूफी संत आदि योगी थे। हम इन सभी महापुरुषों को अपना आदर्श मानते हैं तथा उन जैसा ही जीवन जीना चाहते हैं। बार-बार मन में प्रश्न उठता है कि हमारा जीवन कैसा हो? इसका सीधा सा उत्तर है–हमारे पूर्वजों व ऋषि-मुनियों जैसा। हमारे पूर्वजों का ज्ञान, जीवन व चरित्र बहुत ही ऊँचा एवं पवित्र था। दिव्य जीवन जीने की सदा सबको ऊँची प्रेरणा मिलती रहे इसके लिए स्वाध्याय एक बहुत बड़ा साधन है। मेरी खुद की प्रेरणा (Motivation) व अभीप्सा (Inspiretion) का मुख्य स्त्रोत भी योगदर्शन, गीता एवं वेदोपनिषद् रहे हैं। सबको ये दिव्य प्रेरणायें सदा मिलती रहें इसी उद्देश्य से गीता, दर्शन, वेद, उपनिषद् व नीति ग्रन्थों पर आधारित यह लघु पुस्तिका तैयार की गयी है। यदि सब शास्त्रों को पढ़ने का सौभाग्य, समय या सामर्थ्य हमें किसी कारणवश न भी मिला हो तो सार रूप में ऋषियों के सद्ग्रन्थों के रूप में इन लघु पुस्तिकाओं का प्रकाशन हो रहा है। आशा है सभी दिव्य आत्मायें इनसे लाभान्वित होंगी।

खण्ड- 1 सामवेदीय एवं अथर्ववेदीय चयनित मंत्र
इकाई- 1.1 सामवेद का परिचय एवं विषय

उद्देश्य-

1. सामवेद के परिचय, उसकी विभिन्न शाखाओं और मन्त्र संख्या से विद्यार्थियों को अवगत कराना ।
2. वेदों के चार वर्ण्य विषयों (ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान) में सामवेद के विशिष्ट समन्वयकारी स्थान को समझाना।
3. मन्त्रों के अर्थ-द्रष्टा ऋषियों और देवताओं के वैज्ञानिक व आध्यात्मिक स्वरूप का बोध कराना ।

ऋग्, यजुः, साम और अथर्व ईश्वरप्रेरित चार वेद हैं। किसी समय इनकी बहुत-सी शाखा- प्रशाखाएँ हो गयीं, जो संख्या में ११२७ तक पहुँच गयी थीं। अनेक वेदप्रेमी जन इन शाखाओं को भी वेद के अन्तर्गत मानकर वेदवत् इनका प्रामाण्य स्वीकार करते हैं। परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती मूल वेद प्रायः उन्हें मानते हैं जो आजकल शाकल ऋग्वेद (बालखिल्य-सूक्तों सहित), वाजसनेयी माध्यन्दिन शुक्लयजुर्वेद, कौथुम एवं राणायनीय सामवेद तथा शौनकीय अथर्ववेद नाम से प्रचलित हैं और शाखाओं को इन मूल वेदों के अनुकूल होने पर ही प्रमाण मानते हैं। उनके मतानुसार शाखाएँ ईश्वरकृत नहीं हैं प्रत्युत् ईश्वरकृत वेदों के ऋषिकृत वेदव्याख्यान हैं।[1]

पातंजल महाभाष्य में लिखा है कि ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १००० तथा अथर्ववेद की ९ शाखाएँ हो गयी थीं।[2] किन्तु सम्प्रति ऋग्वेद की केवल शाकल संहिता ही उपलब्ध है। शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व तथा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक और कठ कापिष्ठल संहिताएँ प्राप्त हैं। अथर्ववेद की शौनकीय एवं पैप्पलाद संहिताएँ मिलती हैं। सामवेद केवल तीन प्रकार का उपलब्ध है—कौथुम, राणायनीय तथा जैमिनीय।

कौथुम एवं राणायनीय दोनों सामवेदों में मन्त्रसंख्या एकसमान १८७५ है, विशेष अन्तर विभाजन का है। कौथुम के पूर्वार्चिक में प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, दशति एवं मन्त्रों का क्रम है, तो राणायनीय के पूर्वार्चिक में 'अध्याय, खण्ड एवं मन्त्रों का। इसी प्रकार कौथुम के उत्तरार्चिक में 'प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, सूक्त एवं मन्त्रों' का विभाजन है, तो राणायनीय के उत्तरार्चिक में 'अध्याय, खण्ड, सूक्त एवं मन्त्रों' का क्रम है। स्वामी दयानन्द प्रपाठकों वाले क्रम को आदर देते हैं, यतः उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के ग्रन्थसंकेत-विषय में सामवेद का ग्रन्थसंकेत देने के लिए इसी क्रम को स्वीकार किया है। कौथुम तथा राणायनीय में क्वचित् (स्वल्प) पाठभेद भी है, यथा कौथुम में ऋग्वेद के समान 'वाजेषु नो' तथा राणायनीय में 'वाजेषु णो' पाठ मिलता है।[3] सामगान में कौथुमशाखाध्येता वेदपाठी 'हाउ' तथा 'राई' उच्चारण करते हैं, किन्तु राणायनीयशाखाध्येता वेदपाठी इनके स्थान पर क्रमशः 'हावु' तथा 'रायि' उच्चारण करते हैं। आजकल जो सामवेद की पुस्तकें प्रकाशित होती हैं उनमें प्रायः अध्याय आदि तथा प्रपाठक आदि दोनों ही विभाजन प्रदर्शित किये होते हैं। इस प्रकार उनमें कौथुम संहिता तथा राणायनीय संहिता दोनों मिश्रित रहती हैं। वैदिक यन्त्रालय अजमेर से प्रकाशित सामवेद-संहिता में प्रधानता प्रपाठक के क्रम को दी गयी है, किन्तु शीर्ष पर प्रपाठक और अध्याय दोनों ही क्रमों का निर्देश है। स्वाध्याय-मण्डल से प्रकाशित संहिता में शीर्ष पर भी और मध्य में भी दोनों विभाजन प्रदर्शित किये गये हैं।

जैमिनीय संहिता की मन्त्रसंख्या डॉ० डब्ल्यू० कैलेण्ड के अनुसार १६८७ है, इस प्रकार इसमें कौथुम एवं राणायनीय संहिता की अपेक्षा १८८ मन्त्र न्यून हैं। इस संहिता में ऋग्वेद में विद्यमान कई ऐसी ऋचाएँ भी हैं जो कौथुम एवं राणायनीय संहिताओं में नहीं हैं। मन्त्रों का क्रम भी कई स्थानों पर कौथुम एवं राणायनीय के क्रम से भिन्न है।

सामवेद की कौथुम संहिता का संस्करण जर्मन विद्वान् थियोडोर बेन्फे (Theodor Benfey) ने १८४८ में जर्मन भाषा के

---

1. तथैवैकादशशतानि सप्तविंशतिश्च वेदशाखा वेदार्थव्याख्याना अपि वेदानुकूलतयैव प्रमाणमर्हन्ति। ऋ०भा०भू०, ग्रन्थ-प्रामाण्याप्रामाण्यविषयः ।। 'ये सब शाखा वेद नहीं हैं, क्योंकि इनमें ईश्वरकृत वेदों की प्रतीक धरके व्याख्या और संसारीजनों के इतिहासादि लिखे हैं।" -स० प्र०, समु० ११ ।
2. 'एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, नवधाथर्वणो वेदः ।" पातंजल महा०, पस्पशाह्निक। एवं महाभाष्योक्त २१+१०१+१०००+९=११३१ में से चार मूल वेद निकाल देने पर शाखाओं की संख्या ११२७ होती है।
3. 'वाजेषु' और 'नो (या णो)' दोनों शब्द इकट्ठे केवल साम क्रमसंख्या ७९८ तथा १४५५ में आये हैं। वैदिक यन्त्रालय अजमेर तथा स्वाध्याय मण्डल औंध (या पारडी) दोनों से प्रकाशित सामवेद में 'वाजेषु नो' पाठ मिलता है।

अनुवाद-सहित प्रकाशित कराया था। राणायनीय संहिता सर्वप्रथम १८४२ में लन्दन से जे० स्टेवेन्सन (J. Stevenson) के अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित हुई थी। जैमिनीय संहिता का भूमिकायुक्त रोमनाक्षर-संस्करण अंग्रेज विद्वान् डॉ० डब्ल्यू० कैलेण्ड (Dr. W Caland) द्वारा १९०७ में प्रकाशित किया गया था। स्वाध्याय मण्डल से जो सामवेदसंहिता प्रकाशित हुई है उसमें कौथुम एवं राणायनीय तो सम्मिलित रूप से हैं ही, किन्तु अन्त में जैमिनीय संहिता के पाठ-विशेष, क्रमभेद तथा अधिक मन्त्र भी दर्शा दिये गये हैं।

२. वेदों के प्रतिपाद्य विषय

प्रत्येक वेद का अपना-अपना महत्त्व है। ऐसा नहीं है कि किसी वेद का कम महत्त्व हो, दूसरे वेद का अधिक हो। वेदों के चार वर्ण्य विषय हैं- ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान। ज्ञान किसी पदार्थ के सामान्य बोध को तथा विज्ञान उसके साक्षात् बोध को कहते हैं। चारों विषयों में विज्ञान सबसे मुख्य है, यतः उसमें परमेश्वर से लेकर तृण-पर्यन्त सब पदार्थों का हस्तामलकवत् साक्षात् बोध होता है। उसमें भी परमेश्वर का अनुभव सर्वमुख्य है, क्योंकि सब वेदों का प्रधानतः उसी में तात्पर्य है।

चारों ही वेदों में ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और विज्ञानकाण्ड के विषय वर्णित हैं। तथापि प्रधानतः ऋग्वेद[1] में गुण-गुणियों के ज्ञान-विज्ञान का उपदेश अर्थात् ईश्वर से लेकर भूमिपर्यन्त पदार्थों का गुण वर्णन-रूप ज्ञानकाण्ड एवं विज्ञानकाण्ड हैं, और यजुर्वेद में ईश्वर-पूजा, विद्वत्सत्कार, शिल्पादि क्रियाओं से संगतिकरण, शुभ विद्या, गुण, धन आदि का दान एवं यज्ञादि कर्तव्य कर्मों का उपदेशरूप कर्मकाण्ड वर्णित है।[2] सामवेद में ज्ञान-विज्ञान, कर्म और उपासना तीनों का समन्वय है अर्थात् यह बतलाया गया है कि मनुष्य ज्ञान-विज्ञान, कर्म और उपासना की कहाँ तक उन्नति कर सकता है तथा उसका क्या फल होता है। अथर्ववेद उक्त विद्या-विषयों का पूरक है।[3]

३. वेद में ऋषि, देवता

अन्य वेद संहिताओं के समान सामवेद संहिता में भी ऋचाओं के ऋषि, देवता और छन्द निर्दिष्ट हैं। वैदिक ज्ज्य्न्त्रालय से मुद्रित साम-संहिता में इनके अतिरिक्त प्रत्येक ऋचा के षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि स्वरों का भी निर्देश मिलता है। यहाँ संक्षेप से इनका विवेचन कर लेना उपयोगी होगा।

ऋषि

वेदों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करनेवाले कतिपय भारतीय तथा पाश्चात्त्य विद्वान् ऋषियों को ऋचाओं का रचयिता मानते हैं। उनके मतानुसार जिस ऋचा का जो ऋषि निर्दिष्ट है, उसी ने उस ऋचा को रचा था। परन्तु वेदज्ञ मनीषियों की प्राचीन परम्परा वेदों को ईश्वरप्रदत्त ज्ञान तथा ऋषियों को ऋचाओं का रचयिता नहीं, प्रत्युत् अर्थद्रष्टा मानती है। यही मान्यता निरुक्त-सम्मत भी है।[4] तपस्या एवं चिन्तन करते हुए जिन मनुष्यों के हृदय में किन्हीं मन्त्रों का अर्थ साक्षात् प्रकाशित हुआ तथा उस अर्थ को जिन्होंने अध्यापन, उपदेश आदि द्वारा अन्यों में प्रचारित किया, वे उन मन्त्रों के ऋषि कहलाये। स्वामी दयानन्द सरस्वती भी इसी

1. अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति, विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्। तत्रादिमो विज्ञानमयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति, तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद् बोधान्वयत्वात्। तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति। कुतः? अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्। -ऋ० भा० भू०, वेदविषयविचार ऋचन्ति स्तुवन्ति पदार्थानां गुणकर्मस्वभावाननया सा ऋक्, ऋक् चासौ वेदश्चर्ग्वेदः। -दयानन्द, ऋग्भाष्यारम्भ
2. ईश्वरेण जीवानां गुणगुणिविज्ञानोपदेशाय हृयृग्वेदे सर्वान् पदार्थान् व्याख्यायेदानीं मनुष्यस्तेभ्यो यथायथोपकार-ग्रहणाय क्रियाः कथं कर्तव्या इत्युपदिश्यते।.....येन मनुष्या ईश्वरं धार्मिकान् विदुषश्च पूजयन्ति सर्वचेष्टा सांगत्यं शिल्पविद्या संगतिकरणं शुभविद्या-गुणदानं यथायोग्यतया सर्वोपकारे शुभे व्यवहारे विद्वत्सु च द्रव्यादिव्ययं कुर्वन्ति तद् यजुः।।- दयानन्द, यजुर्वेदभाष्यभूमिका
3. ऋग्वेदे सर्वेषां पदार्थानां गुणप्रकाशः कृतोऽस्ति, तथा यजुर्वेदे विदितगुणानां पदार्थानां सकाशात् क्रिययाऽनेकविद्योपकार-ग्रहणाय विधानं कृतमस्ति, तथा सामवेदे ज्ञानक्रियाविद्ययोर्दीर्घविचारेण फलावधिपर्यन्तं विद्याविचारः। एवमथर्ववेदेऽपि त्रयाणां वेदानां मध्ये यो विद्याफलविचारो विहितोऽस्ति तस्य पूर्तिकरणेन रक्षणोन्नती विहिते स्तः।। -ऋ० भा० भू०, प्रश्नोत्तरविषयः
तथा ज्ञानकर्मकाण्डयोरुपासनायाश्च कियत्युन्नतिर्भवितुमर्हति किञ्चैतेषां फलं भवति, सामवेद एतद्विधायकत्वात् तृतीयो गण्यत इति।।- वही
4. ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः। ऋषिर्दर्शनात्, स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः। तद् यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् तद् ऋषीणाम् ऋषित्वमिति विज्ञायते।-निरु० २।११

मत को स्वीकार करते हैं। वे ऋ० भा० भू० के प्रश्नोत्तर- विषय में अपने कथन की पुष्टि में निरुक्त का प्रमाण देते हुए[1] लिखते हैं-

''ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेद-मन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे। फिर उनमें से जिस-जिस मन्त्र का अर्थ जिस-जिस ऋषि ने प्रकाशित किया, उस-उसका नाम उसी उसी मन्त्र के साथ लिखा गया है। इसी कारण से उनका ऋषि नाम भी हुआ है। और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े-बड़े प्रयत्न के साथ वेदमन्त्रों के अर्थों को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिए पूर्ण उपकार किया है, इसलिए विद्वान् लोग वेदमन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं।[2]

वेदों में इन ऋषि-नामों के साथ क्योंकि पितृ-पितामह का नाम या गोत्र- नाम भी प्रायः जुड़ा हुआ है, अतः ऋषियों के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता है। ये ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, इसलिए यह भी स्पष्ट है कि जब सृष्टि के आदि में वेदों का प्रकाश हुआ, तब वेद-मन्त्रों के साथ ऋषि नाम जुड़े हुए नहीं थे। ये ऋषियों के उपकार-स्मरणार्थ बाद में जोड़े गए। कई मन्त्रों के एक से अधिक ऋषि भी हैं। यथा, सामवेद में मन्त्र क्रमांक ६० के ऋषि वामदेव, अथवा कश्यप मारीच, अथवा वैवस्वत मनु हैं; क्रमांक ९२-९३ के ऋषि वामदेव काश्यप, अथवा असित देवल हैं; क्रमांक ११० के प्रयोग भार्गव, अथवा सौभरि काण्व हैं; क्रमांक १५४ के शुनःशेप आजीगति, अथवा वामदेव हैं; क्रमांक १५७ के मेधातिथि काण्व और प्रियमेध आंगिरस हैं; क्रमांक २२० के विश्वामित्र गाथिन अथवा जमदग्नि हैं। दो या अधिक ऋषियों को दर्शाने के लिए प्रायः 'वा' लिखा जाता है, यथा- वामदेव काश्यपः असितो देवलो वा '(साम० ९२-९३)। इस 'वा' का अभिप्राय संदेह व्यक्त करना नहीं है कि अमुक मन्त्र का या तो वामदेव ऋषि है या देवल, प्रत्युत् 'वा' समुच्चय-बोधक है। ऋग्वेद में तो ३० मन्त्रों के एक सूक्त ऋ० ९।६६ के ऋषि '१०० वैखानस' हैं; यद्यपि वहाँ संख्या मात्र लिखी है, उन सौ ऋषियों के नाम नहीं दिये। एकाधिक ऋषि जब किसी मन्त्र का पृथक्-पृथक् रूप में कोई चामत्कारिक अर्थदर्शन करते थे तब विद्वन्मण्डल की ओर से सभी को उस मन्त्र के ऋषि होने का गौरव दिया जाता था।

किस ऋषि ने किस मन्त्र का क्या अर्थदर्शन या अर्थानुसन्धान किया, इसका विवरण आज हमारे पास विद्यमान नहीं है। कितना अच्छा होता यदि हम जान सकते कि वे क्या चामत्कारिक अर्थ थे, जिनके कारण कोई व्यक्ति ऋषि कहलाये। सम्भवतः उन्होंने मौखिक ही अपने वेदार्थ का प्रचार किया होगा। यदि लिखित भी रहा होगा तो आज वह हमारे देखने के लिए उपलब्ध नहीं है। मन्त्रों के ऋषि आज भी होते हैं, आज भी विद्वज्जन समाहित होकर विभिन्न कोटि के अर्थदर्शन करते हैं। पर आज उन्हें उन-उन मन्त्रों के ऋषि कहने की परिपाटी नहीं हैं। कहें भी तो किस-किस को ऋषि कहें? आज का ऋषि अनुवादक, भाष्यकार या व्याख्याकार कहलाता है।

अनेक ऋषि ऐसे भी हैं जिनके नाम उन वेदमन्त्रों में ही पठित हैं जिनके वे ऋषि हैं उदाहरणार्थ सामवेद के ऐसे कतिपय ऋषि निम्न तालिका में दिये गये हैं-

ऋषि-नाम	**क्रमांक**	**सामवेद का मन्त्र-खण्ड जिसमें ऋषिनाम आया है**
वत्स	८	आ ते **वत्सो** मनो यमत्
गोपवन	२९	तं त्वा **गोपवनो** गिरा
सुदीति, पुरुमीढ़	४९	अग्निं रये **पुरुमीढ** श्रुतं नरोऽग्निः **सुदीतये** छर्दिः
कश्यप, मनु	९०	पिता यत् **कश्यपस्याग्निः** श्रद्धा माता **मनुः** कविः
श्रुतकक्ष	११८	अरमश्वाय गायत **श्रुतकक्षारं गवे**

---

1 . साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। निरु० १।२०

2. यतो वेदानामीश्वरोक्त्यनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद् विदितस्तस्मात् तस्य तस्योपरि तत्तदृषेर्नामाभिलेखनं कृतमस्ति। कुतः? तैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशितत्वात्, तत्कृतमहोपकारस्मरणार्थं तन्नामलेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्तुं योग्यमस्त्यः। - ऋ० भा० भू०, प्रश्नोत्तर विषय।

दध्यङ् आथर्वण	१७७	द्युमद् गामन्**नाथर्वण**
वसिष्ठ	३३०	समर्ये महया **वसिष्ठ**
प्रियमेध	३६२	**प्रियमेधासो** अर्चत
भुवन आप्त्य	४५२	इमा नु कं **भुवना**
एवयामरुत्	४६२	मरुत्वते गिरिजा **एवयामरुत्**
प्रथ	५९९	**प्रथश्च** यस्य सप्रथश्च
विभ्राट सौर्य	६२८	**विभ्राट्** बृहत् पिबतु

यहाँ प्रश्न उठता है कि ऋषि मन्त्रकर्त्ता न होकर मन्त्रद्रष्टा हैं तो उत्तरवर्त्ती ऋषियों के नाम पूर्ववर्ती वेदमन्त्रों में कैसे पठित हो गए? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि उन ऋषियों का वास्तविक नाम कुछ और ही था। जिन मन्त्रों का उन्होंने अर्थदर्शन किया उनमें से किसी मन्त्र में पठित किसी नाम से चमत्कृत होकर उन्होंने वह अपना उपनाम रख लिया तथा वह उपनाम ही उनके वास्तविक नाम के रूप में प्रचलित हो गया। इस कारण यह साम्य दृष्टिगत होता है।

सामवेद के कई मन्त्र ऐसे भी हैं जो ऋग्वेद में भी मिलते हैं, किन्तु सामवेद में उनका ऋषि ऋग्वेद से भिन्न है। उदाहरण ार्थ निम्न तालिका द्रष्टव्य है[1]-

मन्त्रांश	**ऋग्वेद का पता**	**साम० में ऋषि**	**ऋग्वेद में ऋषि**
नमस्ते अग्न	८।७५।१०	आयुङ्क्ष्वाहि	विरूप आङ्गिरसः
प्र मंहिष्ठाय	८।१०३।८	प्रयोगो भार्गवः	सौभरिः काण्वः
तमिन्द्र वाज०	८।९३।७	श्रुतकक्षः	सुकक्षः
य आनयत्	६।४५।१	भारद्वाजः	शंयुर्बार्हस्पत्यः
त्वावतः पुरुवसो	८।४६।१	वत्सः	वशोऽश्व्यः
वातारमिन्द्र	६।४७।११	भरद्वाजः	गर्गो भारद्वाजः
उभे यदिन्द्र	१०।१३४।१	मेधातिथिः काण्वः	मान्धाता यौवनाश्वः
त्वं न इन्द्रा भर	८।९८।१०	नृमेध आङ्गिरसः	सौभरिः काण्वः

यह ऋषिभेद इसी कारण है क्योंकि ऋग्वेद में अर्थदर्शन किसी अन्य ऋषि ने किया और साम- वेद में उसी मन्त्र का अर्थदर्शन किसी अन्य ऋषि ने। दोनों का अर्थदर्शन भिन्न रहा होगा। ऋग्वेद और सामवेद में जिन मन्त्रों के ऋषि समान हैं, उनमें दोनों वेदों में अर्थदर्शन एक ही ऋषि का किया हुआ है। ऋग्वेद में ऋषि जिसका अर्थदर्शन कर चुका था, उसी अर्थ को सामवेद के अध्येताओं ने भी ले लिया होगा।

देवता

वेदमन्त्रों के देवता कई प्रकार के होते हैं। 'देवता' को समझने के लिए सामान्य लक्षण यह किया जा सकता है- ''मन्त्र में जिस नाम से किसी विषय का वर्णन होता है वह उसका देवता कहलाता है।" यथा- 'अग्निमीळे पुरोहितम्' ऋ० १।१।१, आदि मन्त्र में 'अग्नि' नाम से परमेश्वर, भौतिक अग्नि, राजा, सेनापति, आचार्य आदि विविध विषयों का वर्णन होने से 'अग्नि' इस मन्त्र का देवता है। मन्त्रगत वर्णन कई प्रकार के हो सकते हैं। अग्नि आदि देवता-नामों से क्वचित् स्तुति, क्वचित् प्रार्थना, क्वचित् उपासना, क्वचित् समर्पण, क्वचित् आह्वान, क्वचित् आत्म-परिचय आदि मन्त्रों में निबद्ध रहता है। परन्तु उक्त देवता-लक्षण अपने-आप में पूर्ण नहीं है, यतः सभी देवताओं में यह व्याप्त नहीं होता।

अनेक वैदिक देवता इससे भिन्न प्रकार के हैं। यथा, मन आवर्तन (ऋ० १०।५८) धनान्नदान-प्रशंसा (ऋ० १०।११७), भाववृत्तम् (ऋ० १०।१२९, १९०), सपत्नीबाधनम् (ऋ० १०।१४५), अलक्ष्मीघ्नम् (ऋ० १०। १५५), यक्ष्मनाशनम् (ऋ०१०।१६३), दुःस्वप्ननाशनम् (ऋ० १०।१६४), राज्ञः स्तुतिः (ऋ० १०।१७३)। इन नामों से वेदमन्त्रों में कुछ नहीं कहा गया है, प्रत्युत् ये देवता

1. इस तालिका में दिये गये स्थलों से अतिरिक्त अनेक स्थल ऐसे हैं जिनमें ऋषिभेद पाया जाता है।

कविता के स्वतन्त्र शीर्षक के तुल्य हैं। इसी प्रकार यम यमी-संवाद (ऋ० १०।१०), पुरूरवा-उर्वशी-संवाद (ऋ० १०।९५), सरमा-पणि संवाद (ऋ० १०।१०८) आदि संवाद-सूक्तों में जो वक्ता है वह ऋषि तथा जो श्रोता है वह देवता कहलाता है। यथा, यम यमी-सूक्त में जो मन्त्र यम की ओर से यमी को कहे गये हैं उनमें यम ऋषि तथा यमी देवता है।

कई मन्त्रों का देवता मन्त्रोल्लिखित नाम न होकर उसका पर्यायवाची अन्य शब्द होता है। यथा, तीन मन्त्रों के सूक्त ऋ० १०।१८६ 'वात आ वातु भेषजम्' आदि में तीनों मन्त्रों में वात शब्द पठित है, किन्तु सर्वानुक्रमणी में 'देवता' 'वायु' लिखा है। तदनुसार सभी मुद्रित ऋग्वेद संहिताओं में भी वायु देवता ही अंकित है। तीन मन्त्रों के एक अन्य सूक्त ऋ० १०।१८६ में पठित तो हैं 'गौः' और 'पतङ्गः' शब्द, किन्तु सर्वानुक्रमणी में देवता 'आत्मा एवं सूर्य' लिखा है।[1] यजुर्वेद में कर्मकाण्डिक विनियोग के अनुसार शाखा आदि देवता कल्पित किये गये हैं, जो मन्त्रों में पठित नहीं हैं। यजुर्वेद संहिता के दयानन्द-भाष्य में भी यज्ञ, ईश्वर, सेनापति, राजा, राजपत्नी, योगी, गृहपति, वैद्य आदि देवता लिखे हैं,[2] जो मन्त्रों में कहीं नहीं हैं। अतः वैदिक देवताओं को किसी एक परिभाषा में निबद्ध कर सकना कठिन है।

यास्काचार्य ने मन्त्र के देवता पर विचार करते हुए लिखा है- **'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवताया- मार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति** (नि० ७।१)। यह पंक्ति अपने-आप में बहुत स्पष्ट नहीं है। निरुक्त के विभिन्न भाष्यकारों ने इसकी विभिन्न व्याख्याएँ की हैं। इसकी एक व्याख्या यह हो सकती हैं।

(ऋषिः) मन्त्र का रचयिता ज्ञानी परमेश्वर (यत्कामः) जिस अर्थ के प्रतिपादन की इच्छा वाला होकर (यस्यां देवतायाम्) जिस देवता में (आर्थपत्यम् इच्छन्) उस प्रतिपाद्य अर्थ का पतित्व चाहता हुआ (स्तुतिं प्रयुङ्क्ते) स्तुति को प्रयुक्त करता है (तद्दैवतः) उस देवता वाला (स मन्त्रः भवति) वह मन्त्र होता है।

अभिप्राय यह है कि मन्त्र के रचयिता ने सर्वप्रथम प्रतिपाद्य अर्थ को सोचा, फिर यह विचार किया कि किस नाम को इस प्रतिपाद्य अर्थ का स्वामी (शीर्षक) बनाऊँ। जो शीर्षक उसे प्रतिपाद्य अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उपयुक्त जान पड़ा उसे ही उसने मन्त्र का देवता निर्धारित किया।

इस व्याख्या के अनुरूप यदि ऋषि का अर्थ मन्त्र-रचयिता ज्ञानी परमेश्वर किया जाए तो वेद-मन्त्रों के समान 'देवता' भी ईश्वरकृत् तथा नित्य सिद्ध होते हैं, किन्तु यदि ऋषि से मन्त्रार्थ-द्रष्टा ऋषि अभीष्ट समझा जाये तो देवता ऋषिकृत तथा अनित्य ठहरते हैं। फिर उपर्युक्त पंक्ति के अतिरिक्त अनादिष्ट देवताक मन्त्रों में देवता-ज्ञान की विधि यास्क ने पृथक् बतलायी है। इससे यह ज्ञात होता है कि उक्त पंक्ति केवल आदिष्ट देवताक मन्त्रों के लिए है।

अनादिष्टदेवताक मन्त्रों में देवतोपपरीक्षा की जो विधि निरुक्तकार ने वर्णित की है, उसके अनुसार एक कसौटी कामदेवता[3] की भी है, अर्थात् देवता की इच्छानुसार कल्पना हो सकती है।

वेदों में क्वचित् आदिष्टदेवताक मन्त्रों के भी आदिष्ट से भिन्न देवता कल्पित किये गये हैं। उदाहरणार्थ सामवेद पूर्वार्चिक के निम्ननिर्दिष्ट मन्त्रों के देवता ऋग्वेद- पठित उन्हीं मन्त्रों के देवताओं से भिन्न हैं। ऋग्वेद में देवता का उल्लेख मन्त्रादिष्ट के अनुरूप है, किन्तु सामवेद में ऐन्द्र काण्ड में पठित होने से इन सबका इन्द्र देवता माना गया है, यद्यपि ऐन्द्र काण्ड में भी अन्यत्र इन्द्र देवता से भिन्न कई देवता स्वीकृत किये गये हैं।[4]

---

1. आयं गौः सार्परराज्ञी आत्मदैवतं सौर्य वा-सर्वा०। वैदिकयन्त्रालय-मुद्रित ऋग्वेदसंहिता में देवता 'सार्परराज्ञी सूर्यो वा' तथा स्वाध्याय मण्डल-मुद्रित ऋक्संहिता में 'आत्मा सूर्यो वा' है।

2. यथा, यज्ञो देवता य० ११२७, २८, ईश्वरो देवता य० ३६ । ९७-१६, २१-२२, सेनापति देवता य० ६।२१, प्रजासभ्य- राजानौ देवते ० ६।३१, सभापती राजा देवता य० ६।३२, आसन्दी राजपत्नी देवता य० १०।२६, योगी देवता य० ७।६, गृहपतयो देवता य० ८।१७-२३, वैद्यो देवता य० १२७५-७७,७९,८१ आदि।

3. तद् येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा। यद्दैवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति। अथान्यत्र यज्ञात्प्राजापत्या इति याज्ञिकाः, नाराशंसा इति नैरुक्ताः। अपि वा सा कामदेवता स्यात्।-निरु० ७।४

4. द्रष्टव्यः भाष्य में ऐन्द्रकाण्ड की भूमिका के प्रारम्भ की टिप्पणी।

मन्त्रांश	ऋग्वेद का पता	मन्त्र में आदिष्ट नाम	ऋग्वेद में देवता
आघा ये	८।४५।१	अग्निः इन्द्रः	अग्नीन्द्रौ
सोमानां स्वरणं	१।१८।१	ब्रह्मणस्पतिः	ब्रह्मणस्पतिः
अद्या नो देव	५।८२।४	सविता	सविता
यदिन्द्रो अनयद्	५।५७।४	इन्द्रः, पूषा	इन्द्रापूषणौ
सदसस्पतिमद्भुतं	१।१८।६	सदसस्पतिः	सदसस्पतिः
अस्ति सोमो	८।९४।४	सोमः, मरुतः, अश्विनौ	मरुतः
एषो उषा	१।४६।१	उषाः, अश्विनौ	अश्विनौ
वात आ वातु	१०।१८६।१	वातः	वायुः
यं रक्षन्ति	१८५ १।४१।१	वरुणः, मित्रः, अर्यमा	वरुणमित्रार्यमणः
महि त्रीणामवो	१९२ १०।१८५।१	वरुणः, मित्रः, अर्यमा	आदित्याः
इन्द्र इषे	१९९ ८।९३।३४	इन्द्रः, ऋभुः	इन्द्र ऋभवश्च
इन्द्रा नु पूषणा	२०२ ६।५७।१	इन्द्रः, पूषा	इन्द्रापूषणौ
ऋजुनीती नो	२१८ १।९०।१	वरुणः, मित्रः, अर्यमा	विश्वेदेवाः
आ नो मित्रावरुणा	२२० ३।६२।१६	मित्रः, वरुणः	मित्रावरुणौ
इदं विष्णुर्	२२२ १।२२।१७	विष्णुः	विष्णुः
वास्तोष्पते इन्द्रः वास्तोष्पतिर्वा	२७५ ८।१७।१४	वास्तोष्पतिः,इन्द्रः	
अयं वां मधुमत्तमः	३०६ १।४७।१	अश्विनौ	अश्विनौ
त्यमूषु वाजिनं	३३२ १०।१७८।१	ताक्ष्र्यः	ताक्ष्र्यः
इन्द्रापर्वता	३३८ ३।५३।१	पर्वतः	पर्वतेन्द्रौ

इसके अतिरिक्त कतिपय स्थल ऐसे भी हैं जिनमें मन्त्र में तो देवता पठित नहीं हैं, किन्तु प्रकरण से देवताबोध हो सकता है। उनके विषय में भी क्वचित् सामवेद तथा ऋग्वेद में प्रकरण-भेद के कारण देवता-भेद पाया जाता है। यथा-साम ११७ 'गाव उपवदावटे' आदि 'उपावतावतं' पाठभेद के साथ ऋ० ८।७२।१२ में भी है। ऋग्वेद में इसका देवता 'अग्निर्हवींषि वा' है, किन्तु सामवेद में इन्द्र। साम १३५ 'इहेव शृण्व' आदि ऋ० १।३७।३ में भी है। ऋग्वेद में १५ मन्त्रों के पूरे सूक्त १।३७ का देवता 'मरुतः' है, किन्तु सामवेद में इसका भी देवता इन्द्र है। साम २१९ 'दूरादिहेव यत्सतः' आदि किञ्चित् पाठभेद के साथ ऋ० ८।५।१ में भी पठित है। ऋग्वेद में इसका देवता प्रकरणानुसार 'अश्विनौ' है, किन्तु सामवेद में इसका देवता भी इन्द्र है। साम २२१ 'उदु त्ये सूनवो गिरः' ऋ० १।३७।१० में भी है, जहाँ सम्पूर्ण सूक्त का ही देवता 'मरुतः' है, किन्तु सामवेद में देवता इन्द्र है। ऐन्द्र काण्ड में पठित होने से इन सबमें इन्द्र की ही महिमा का दर्शन पाठकों को करना होता है।

4. सामगान के कुछ मूलभूत विषय

अन्य वेदों के जटापाठ, क्रमपाठ आदि तो प्रचलित हैं, किन्तु गान केवल सामवेद पर ही होते हैं। उन गानों का परिचय प्राप्त करने के लिए कतिपय आधारभूत विषयों को जान लेना आवश्यक है।

सामगान के स्वर :

लौकिक संगीतशास्त्र में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद, ये क्रमशः सात स्वर होते हैं, जिनका संक्षिप्त रूप 'सा, रे, ग, म, प, ध, नि' है। किन्तु सामगान के स्वरों का क्रम नारदीय शिक्षा के अनुसार यह है-मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज, धैवत, निषाद, पञ्चम, जिन्हें 'म, ग, रे, सा, ध, नि, प' के रूप में प्रकट किया जा सकता है। साम के ये सात स्वर क्रमशः 'प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थक, मन्द्र, क्रुष्ट, अतिस्वार' नामों से व्यवहृत होते हैं।

लोक में- षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद।
साम में- मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज, धैवत, निषाद, पञ्चम,
प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थक, मन्द्र, क्रुष्ट, अतिस्वार।

यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः।
यो द्वितीयः स गान्धारस्तृतीयस्त्वृषभः स्मृतः॥
चतुर्थः षड्ज इत्याहुः पञ्चमो धैवतो भवेत्।
षष्ठो निषादो विज्ञेयः सप्तमः पञ्चमः स्मृतः॥ -नारदीय शिक्षा ५।१-२
प्रथमश्च द्वितीयश्च तृतीयोऽथ चतुर्थकः।
मन्द्रः क्रुष्टो ह्यतिस्वार एतान् कुर्वन्ति सामगाः।-नारदीय शिक्षा १।१

सामगान में प्रयोक्तव्य अष्ट भाव :

साम की मूल ऋचा पर जब गान गाया जाता है तब ऋचा को यथालिखित रूप में न पढ़कर उसके शब्दों में कुछ परिवर्तन करने आवश्यक होते हैं। इन परिवर्तनों को 'भाव' कहते हैं। पुष्पसूत्र (फुल्लसूत्र) में निम्नलिखित १८ भाव बताये गये हैं- आयिभाव, प्रकृतिभाव, वृद्धभाव, अवृद्धभाव, स्तोभगतागत, उच्चनीच, सन्धिवद् गान, पदवद्गान, अत्व, आर्भाव, विश्लेष, प्रश्लेष, संकृष्ट, विकृष्ट, लोप, अतिहार, आभाव और विकार। किन्तु प्रायः व्यवहार में आनेवाले अधोव्याख्यात ८ भाव हैं, जिन्हें विकार नाम से भी अभिहित किया जाता है-

१. **विकार**- किन्हीं वर्णों के स्थान पर दूसरे वर्ण कर देना। यथा, 'अग्ने' के स्थान पर 'ओग्नाइ' उच्चारण करना।
२. **विश्लेष**- पद को खोल देना। यथा, 'वीतये' के स्थान पर 'वोइतोया २इ' पढ़ना।
३. **विकर्षण**- लम्बा खींचकर बोलना। यथा, 'ये' के स्थान पर 'या३यि' बोलना।
४. **अभ्यास**- किसी पद का पुनः पुनः उच्चारण करना। यथा, 'तोया २इ। तोया २ इ'।
५. **विराम**- पद के बीच में विराम दे देना। यथा, 'गृणानो हव्यदातये' के गान में 'गुणानोह। व्यदातोया २इ' पढ़ना।
६. **स्तोभ**- मन्त्र में अविद्यमान 'औ, होवा, हाउ, हावु, वोइ, वोइ' आदि अर्थहीन पदों को पढ़ना।
७. **आगम**- पद में किसी अविद्यमान वर्ण को ले आना। यथा, 'वरेण्यम् के स्थान पर 'वरेणियोम्', 'दिव्यः' के स्थान पर 'दिवियः' और 'वेद्यम्' के स्थान पर 'वेदिया २३४५ म्' बोलना।
८. **लोप**- मन्त्र में विद्यमान वर्ण को न पढ़ना। यथा, 'यज्ञायज्ञिय' नामक गान में 'गिरा' को 'गायिरा' न बोलकर 'इरा' (आइरा) बोलना।

साम की भक्तियाँ :

सामगान के पाँच भक्ति या विभाग होते हैं- प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन।[1] ओङ्कार और हिङ्कार को इनमें सम्मिलित कर लेने पर सात[2] भक्ति या विभाग हो जाते हैं। यज्ञों में सम्पूर्ण साम एक ही ऋत्विज् के द्वारा न गाया जाकर कुछ भाग पृथक् एक-एक ऋत्विज् के द्वारा गाये जाते हैं तथा किसी भाग का सबके द्वारा सम्मिलित गान किया जाता है। प्रस्ताव अर्थात् गान का आरम्भ प्रस्तोता हिम् या हुम् पूर्वक करता है। उद्गाता प्रारम्भ में ओङ्कार का प्रयोग करके उद्गीथ गाता है। प्रतिहार प्रतिहर्ता ऋत्विज् द्वारा गाया जाता है। उपद्रव नामक भक्ति उद्गाता द्वारा गायी जाती है। निधन को, जिसमें मन्त्र का अन्तिम भाग रहता है, प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता तीनों मिलकर गाते हैं। यतः हिङ्कार (हिम या हुम्) और ओङ्कार-पूर्वक ही सामगान होता है, अतः हिङ्कार और ओङ्कार को पृथक् भक्ति मानने पर सात भक्तियाँ हो जाती हैं। पृथक् न मानने पर ये दोनों भी उक्त पाँच के ही अन्तर्गत होती हैं। पाँच और सात का समन्वय इस प्रकार भी किया जाता है कि अध्ययन- काल में पाँच भक्तियाँ होती हैं, किन्तु यज्ञों में गान गाते समय सात भक्तियाँ।

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार साम की पाँच भक्तियाँ हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन हैं। वहाँ लोकों में,

1. प्रस्तावोद्गीथ प्रतिहारोपद्रवनिधनानि भक्तयः। -पञ्चविधसूत्र, प्रपाठक १, कण्डिका १
2. ओङ्कारहिङ्काराभ्यां साप्तविध्यम्।-वही

वृष्टि में, सब जलों में, ऋतुओं में, पशुओं में तथा प्राणों में पंचविध साम की उपासना वर्णित की गयी है।[1] वहीं आगे सप्तविध साम की उपासना का भी विधान है और साम की सात भक्तियाँ हिङ्कार, प्रस्ताव, आदि, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन कही गयी है।[2]

5. सामवेद का साहित्य :

अन्य वेदों के समान सामवेद का भी विपुल साहित्य है, जिसमें ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषदें, कल्पसूत्र आदि आते हैं।

ब्राह्मणग्रन्थ :

सामवेद के ब्राह्मणग्रन्थों की संख्या अन्य वेदों के ब्राह्मणों की अपेक्षा सबसे अधिक है। आठ ब्राह्मणग्रन्थ कौथुम या राणायनीय सामवेद के तथा तीन जैमिनीय शाखा के हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है-

१. **ताण्ड्य महाब्राह्मण**- यह तण्डि ऋषि द्वारा प्रोक्त होने के कारण ताण्ड्य २५ अध्यायों में विभक्त होने के कारण पञ्चविंश तथा विशालकाय होने के कारण महाब्राह्मण कहलाता है। इसमें १७७ यागों का विशद वर्णन किया गया है, जिनमें ७५ एकाह याग, ३४ अहीन याग, ६५ सत्र याग तथा ३ अग्निष्टोम, द्वादशाह एवं गवामयन हैं। इनमें एक दिन से लेकर सहस्त्र[3] संवत्सर तक चलने वाले याग हैं। प्रथम अध्याय में उद्गातृगण से सम्बद्ध यजुर्मन्त्रों का उल्लेख है, द्वितीय-तृतीय में त्रिवृत, पञ्चदश, सप्तदश आदि स्तोमों का और उनकी विष्टुतियों का वर्णन है। चतुर्थ-पञ्चम में गवायमन[4] याग, षष्ठ-अष्टम में अग्निष्टोम एवं उक्थ यागसंस्थाएँ तथा नवम में अतिरात्र याग संस्था एवं प्रायश्चित्त आदि हैं। दशम से पञ्चदश तक द्वादशाह याग का निरूपण है। अध्याय १६ से २० तक समग्र एकाह यागों का विवेचन है। अध्याय २० के अन्तिम खण्डों में तथा अध्याय २१-२२ में सम्पूर्ण अहीन[5] यागों की और अध्याय २३ से २५ तक समस्त सत्र[6] यागों की मीमांसा की गयी है।

२. **षड्विंश ब्राह्मण**- नाम से यह स्पष्ट है कि यह ब्राह्मण पञ्चविंश(ताण्ड्य) ब्राह्मण का पूरक है। इसमें कुल छह अध्याय या पाँच प्रपाठक हैं। अध्याय या प्रपाठक खण्डों में विभक्त हैं। इसमें प्रधानत: इन पाँच यागों का वर्णन है-श्येनयाग, इषुयाग, संदंशयाग, वज्रयाग ओर वैश्वदेव त्रयोदश-रात्र सत्रयाग। अन्तिम याग में सन्ध्यानुष्ठान तथा अद्भुतशान्ति-प्रकरण है। अद्भुतशान्ति के प्रकरण को पृथक् 'अद्भुत ब्राह्मण' नाम भी दिया जाता है।

३. **सामविधान ब्राह्मण**- इसमें तीन अध्याय हैं, जिनमें कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र आदि व्रतों का अनुष्ठान, शान्तिकरण, आयुष्यवर्धन, शत्रुविनाश, अभिषेक आदि का वर्णन है। इसमें वर्णित अनेक बातें अवैदिक होने से प्रमाण-कोटि की नहीं हैं।

४. **देवताध्याय ब्राह्मण**- इस लघुकाय ब्राह्मण में तीन खण्ड हैं, जिनमें निधन-भेद से साम-देवताओं का नाम निर्देश, छन्दों के देवता एवं वर्णो का निर्देश और छन्दों के नामों की निरुक्तियाँ हैं।

५. **आर्षेय ब्राह्मण**- इसमें तीन अध्याय या प्रपाठक तथा ८२ खण्ड हैं। यह एक प्रकार से सामवेद की आर्षानुक्रमणी हैं, जिसमें पूर्वार्चिक के छन्द, देवता और ऋषियों का वर्णन है।

६. **मन्त्र ब्राह्मण**- इसे छान्दोग्य ब्राह्मण भी कहते हैं। इसके प्रथम दो प्रपाठकों में गृह्य संस्कारों में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों का संग्रह है। अन्तिम आठ प्रपाठकों में प्रसिद्ध छान्दोग्योपनिषद् है।

७. **संहितोपनिषद् ब्राह्मण**- पाँच खण्डों का यह ब्राह्मण सूत्रों में विभक्त है। इसमें विविध गान-संहिताओं का स्वरूप तथा

1. द्रष्टव्य : छा० उ०, प्रपा० २ खण्ड १-७ तथा ११-२१। लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत। पृथिवी हिङ्कारोऽग्नि: प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्य: प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वषु। अथावृत्तेषु द्यौहिङ्कार आदित्य: प्रस्तावोऽन्तरिक्ष-मुद्गीथोऽग्नि: प्रतिहार: पृथिवी निधनम् आदि।

2. द्रष्टव्य, वही, ८-१०। अथ सप्तविधस्य। वाचि सप्तविधं सामोपासीत। यत् किञ्च वाचो हुमिति स हिङ्कारो यत्प्रेति स प्रस्तावो, यदेति स आदि:। यदुदिति स उद्गीथो, यत्प्रतीति स प्रतिहारो, यदुपेति स उपद्रवो, यन्नीति तन्निधनम् आदि।

3. सहस्त्रसंवत्सर याग के विषय में अनेक पक्ष हैं। सहस्त्र वर्ष किसी की आयु नहीं हो सकती, अत: उत्तरोत्तर पुत्र-पौत्रादि सन्तति द्वारा यह पूर्ण होता है, यह एक पक्ष है। संवत्सर से दिन ग्राह्य है यह सायण-भाष्य में अन्तिम सिद्धान्त-पक्ष दिया गया है।

4. यह याग एक वर्ष तक चलता है तथा समस्त सत्रों का प्रकृतिभूत है।

5. अहीन-संज्ञक सोमयाग के अधिकारी तीनों वर्ण होते है, यह दक्षिणा युक्त, अतिरात्र संस्था वाला तथा एक, दो, तीन, चार आदि अनेक यजमानों से सम्पाद्य होता है।

6. उस सोमयाग-विशेष का नाम सत्र है जिसे केवल ब्राह्मण करता है, जिसमें दक्षिणा नहीं होती तथा अतिरात्र संस्था होती है।

अध्ययन-फल, गान-सहिंता की विधि, स्तोभ, स्वर, षट्तीर्थ[1] (विद्यादान के पात्र), विद्या के अनधिकारी, गुरुदक्षिणा एवं पयोव्रत आदि तपश्चरण का विषय वर्णित है। यास्कीय निरुक्त का विद्या के अधिकारी-अनधिकारी का प्रकरण इसी ब्राह्मण के आधार पर लिखा गया है।

८. **वंश ब्राह्मण**- तीन खण्डों का यह ब्राह्मण सामवेद के आचार्यो की वंशपरम्परा का वर्णन करता है। अन्तिम भाग में षड् वेदांगो की भी चर्चा है।

९. **जैमिनीय ब्राह्मण**- यह विशालकाय ब्राह्मण भी कहलाता है। इसका अन्तिम भाग उपनिषद् है। महाब्राह्मण-भाग के अतिरिक्त इसमें द्वादशाह, महाव्रत, एकाह, अहीन एवं सत्र यागों का भी वर्णन है।

१०. **जैमिनीय आर्षेय ब्राह्मण**- इसे सामवेद की तलवकार शाखा की ऋष्यनुक्रमणी कहा जा सकता है। ऊपर उल्लिखित आर्षेय ब्राह्मण से यह सर्वथा भिन्न है। ऊपर जिस आर्षेय ब्राह्मण की चर्चा की गयी है उसमें कई मन्त्रों के दो या अधिक ऋषि भी वर्णित है, किन्तु इस ब्राह्मण में उन्हीं प्रसंगों में एक मन्त्र का एक ही ऋषि प्रोक्त है।

११. **जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण**- इसे तलवकार आरण्यक भी कहा जाता है। प्रसिद्ध केनोपनिषद् इसी से ली गयी है। इसमें अनेक मन्त्रों की हृदयग्राही व्याख्या के अतिरिक्त कई साम भी वर्णित हुए हैं।

आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्गादि :

सामवेद का तलवकार आरण्यक और केन तथा छान्दोग्य उपनिषद् उपलब्ध हैं, इसकी चर्चा अभी ब्राह्मणग्रन्थों के प्रसंग में की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त सामवेद से सम्बद्ध अन्य भी बहुत-सा साहित्य प्राप्त होता है। यथा-

१. **श्रौतसूत्र**- द्राह्यायणसूत्रम्, लाट्यायनश्रौतसूत्रम्, अनुपदसूत्रम, निदानसूत्रम्[2], मशकल्पसूत्रम्, उपग्रन्थसूत्रम्, क्षुद्रकल्पसूत्रम्, पञ्चविधसूत्रम्, कल्पानुपदसूत्रम्, अनुस्तोत्र-सूत्रम्, श्रौतप्रयोगः।

२. **गृह्यसूत्र**-खादिरगृह्यसूत्रम्, गृह्यपरिशिष्टम्, गोभिलगृह्यसूत्रम्।

३. **धर्मसूत्र**-गौतमधर्मसूत्रम्, गौतमसूत्रपरिशिष्टम्, अपरसूत्रम्।

४. **प्रातिशाख्य**-पुष्पसूत्रम्(फुल्लसूत्रम्), फुल्लपोतम्, ऋक्तन्त्रम्, सामतन्त्रम्।

५. **शिक्षाग्रन्थ**-नारदशिक्षा, गौतमशिक्षा, लोमशशिक्षा।

६. **छन्दोग्रन्थ**-छन्दोविचितिसूत्रम्(निदानसूत्रान्तर्गतम्), उपनिदानसूत्रम्।

७. **लक्षणग्रन्थ**-गायत्रविधानम्, लघुऋक्तन्त्रम्, ऋक्तन्त्रविवृतिः, अक्षरतन्त्रम्, सामतन्त्रप्रकाशिका, सामतन्त्रपोतम्, आर्षेयदीपिका, सप्तलक्षणम्, अवग्रहसूत्रम्, हितवाक्यम्, स्तोभानुसंहारः, मात्रालक्षणम्, आर्चिकलक्षणम्, छलाक्षरम्, पदछलाक्षरम्, प्रकृतिसामछलाक्षरम्, छलप्रक्रिया, छलाक्षरकारिका, सामप्रकाशनम्, गीतिकल्पम्।

स्मरणीय बिंदु-

1. शाखाएँ और संहिताएँ सामवेद की मुख्य रूप से तीन संहिताएँ उपलब्ध हैं कौथुम, राणायनीय और जैमिनीय। कौथुम और राणायनीय में 1875 मन्त्र हैं, जबकि जैमिनीय में 1687 मन्त्र हैं ।
2. विषय वस्तु सामवेद में ज्ञान-विज्ञान, कर्म और उपासना का समन्वय है। यह बताता है कि मनुष्य इन क्षेत्रों में कहाँ तक उन्नति कर सकता है और उसका फल क्या होता है ।
3. ऋषि और देवता ऋषि मन्त्रों के रचयिता नहीं बल्कि अर्थ-द्रष्टा हैं। मन्त्र में जिस नाम से किसी विषय का वर्णन होता है, वह उसका देवता कहलाता है ।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

1. सामवेद की विभिन्न संहिताओं (कौथुम, राणायनीय और जैमिनीय) का तुलनात्मक विवरण देते हुए उनकी मन्त्र संख्या और

---

1 . ब्रह्मचारी धनदायी मेधावी श्रोत्रियःविद्यया वा विद्यां यः प्राह तानि तीर्थानि षण्ममेति।। -संहि०ब्रा०खण्ड ३, सूत्र १

2. निदानसूत्र के प्रथम प्रपाठक के पहले सात खण्डों में छन्दों का विषय है, जो 'छन्दोविचिति' नाम से प्रसिद्ध है।

विभाजन प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए ।

2. वेदों के प्रतिपाद्य विषयों में सामवेद समन्वय का केन्द्र है। इस कथन की समीक्षा करते हुए ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान के संदर्भ में सामवेद के महत्त्व पर प्रकाश डालिए ।

3. वैदिक ऋषियों के मन्त्र-द्रष्टा होने के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या कीजिए और सामवेद के मन्त्रों में ऋषि नामों के समावेश के कारणों को स्पष्ट कीजिए ।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

1. स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार वेद की शाखाओं और मूल वेदों में क्या अंतर है?
2. सामवेद की कौथुम और राणायनीय शाखा के उच्चारण भेद (जैसे हाउ और हावु) को समझाइए ।
3. वैदिक देवता का सामान्य लक्षण क्या है? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए ।
4. पातंजल महाभाष्य के अनुसार चारों वेदों की कितनी शाखाएँ बताई गई हैं?
5. ज्ञान और विज्ञान में क्या अंतर है? वेदों में विज्ञान का क्या महत्त्व है?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1. सामवेद की कौथुम और राणायनीय संहिताओं में कुल कितने मन्त्र हैं?

(।) 1687

(2) 1875

(3) 1975

(4) 1549

प्रश्न 2. पतंजलि के महाभाष्य के अनुसार सामवेद की कितनी शाखाएँ बताई गई हैं? (।) 21

(2) 100

(3) 1000

(4) 101

प्रश्न 3. सामवेद की किस संहिता का प्रकाशन डॉ. डब्ल्यू. कैलेण्ड द्वारा वर्ष 1907 में किया गया था?

(।) कौथुम संहिता

(2) राणायनीय संहिता

(3) जैमिनीय संहिता

(4) इनमें से कोई नहीं

प्रश्न 4. सामवेद की कौथुम शाखा के अध्येता जहाँ हाउ का उच्चारण करते हैं, वहीं राणायनीय शाखा के लोग क्या उच्चारण करते हैं?

(।) हावु

(2) हाऊ

(3) हायि

(4) हुवे

प्रश्न 5. वेदों के प्रतिपाद्य विषयों में उपासना का मुख्य संबंध किस वेद से माना जाता है?

(।) ऋग्वेद

(2) यजुर्वेद

(3) सामवेद

(4) अथर्ववेद

इकाई- 1.2 सामवेद के चयनित मन्त्र

उद्देश्य-

1. सामवेद के चयनित मन्त्रों के माध्यम से विद्यार्थियों को ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना की पद्धति से परिचित कराना ।
2. मन्त्रों में निहित ऋषि, देवता और छन्द के वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक महत्त्व को समझाना ।
3. सामवेद के मन्त्रों के शुद्ध वाचन और उनके अर्थ-बोध द्वारा विद्यार्थी के भीतर नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का विकास करना।

अग्न॑ आ॒ या॑हि वी॒तये॑ गृणा॒नो ह॒व्यदा॑तये।
नि होता॑ सत्सि ब॒र्हिषि॑॥१॥[1]

(अध्याय १, खण्ड १, प्रपाठ.१, अर्ध १)

अन्वित पदार्थ- प्रथम, परमात्मा के पक्ष में। **हे अग्ने** सर्वाग्रणी, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वसुखप्रापक, सर्वप्रकाश परमात्मन्! आप गृणानः कर्तव्यों का उपदेश करते हुए **वीतये** हमारी प्रगति के लिए, हमारे विचारों और कर्मों में व्याप्त होने के लिए, हमारे हृदयों में सद्गुणों को उत्पन्न काम-क्रोध आदि को बाहर फेंकने के लिए, और **हव्य-दातये** देय पदार्थ श्रेष्ठ कर्म, श्रेष्ठ धर्म, श्रेष्ठ धन आदि के दान के लिए **आ याहि** आइए। **होता** शक्ति आदि के दाता एवं दुर्बलता आदि के हर्ता होकर **बर्हिषि** हृदयरूप अन्तरिक्ष में **नि सत्सि** बैठिए।

यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे।
प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम्॥१॥

(अध्याय १, खण्ड ४, प्रपाठ.१, अर्ध १)

पदार्थ- है मनुष्यो, **यज्ञायज्ञा** प्रत्येक यज्ञ में **वः** तुम लोगों को **अग्नये** सद्गुणप्रेरक परमात्मा की आराधना करने के लिए, मैं नियुक्त करता हूँ। **गिरागिरा च** और प्रत्येक वाणी से अर्थात् प्रभावजनक वाक्यावलो के विन्यास से **दक्षसे** बढ़ने अर्थात् उन्नति करने के लिए, प्रेरित करता हूँ। इस प्रकार **वयम्** तुम-हम सब मिलकर **अमृतम्** अमरणधर्मा, अविनाशी **जातवेदसम्** सर्वज्ञ और सर्वव्यापक परमेश्वर की **प्र प्र** पुनः पुनः प्रशंसा करते हैं। मैं पृथक् भी **प्रियम्** प्रिय **मित्रं** न मित्र के समान, उस परमेश्वर की **प्र प्र शंसिषम्** पुनः पुनः प्रशंसा करता हूँ।

पाहि नो अग्न एकया पाह्यु३त द्वितीयया।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो॥२॥[2]

(अध्याय १, खण्ड ४, प्रपाठ.१, अर्ध १)

पदार्थ- प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हे **ऊर्जा पते** अन्नों, रसों, बलों और प्राणों के अधिपति, **बसो** सर्वत्र बसने वाले सर्वान्तर्यामी तथा निवास प्रदायक **अग्ने** परमात्मन्! आप **नः** हमारी **एकया** एक ऋग्-रूप वाणी से **रक्ष** रक्षा कीजिए**; उत** और **द्वितीया** दूसरी यजुःरूप वाणी से **पाहि** रक्षा कीजिए। **तिसृभिः** तीन ऋग्, यजुः और सामरूप सम्मिलित **गीर्भिः** वाणियों से **पाहि** रक्षा कीजिए, **चतसृभिः** धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनका विज्ञान कराने वाली चार प्रकार की वाणियों ने पाहि रक्षा कीजिए।[3]

बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवत् पावक दीदिहि॥३॥[4]

(अध्याय १, खण्ड ४, प्रपाठ.१, अर्ध १)

पदार्थ- हे **यविष्ठ्य** अतिशय युवा, **पावक** पवित्रकर्ता, **देव** दाता **अग्ने** तेजस्वी परमेश्वर **बृहद्भिः** महान् **अर्चिभिः** तेजों से, और **शुक्रेण** शुद्ध **शोचिषा** ज्ञान-प्रकाश से **भरद्वाजे** अपने आत्मा में बल भरनेवाले पुरुषार्थप्रिय मुझ स्तोता के अन्दर अथवा बल एवं उत्साह से सम्पन्न मेरे मन के अन्दर **समिधानः** प्रकाशित होते हुए आप **रेवत्** समृद्धिपूर्वक **दीदिहि** देदीप्यमान हों।

---

1. ऋ० ६।१६।१०; साम ६६०।
2. ऋ० ८।६०।९, य० २७।४३, साम १५४४।
3. यह विद्वत्परक अर्थ य० २७।४३ के दयानन्द-भाष्य के अनुसार है।
4. ऋ० ६।४८।७ 'रेवन्नः शुक्र दीदिहि' इति पाठः। तदनन्तरं 'द्युमत् पावक दीदिहि' इत्यधिकम्।

अग्ने जरितर्विश्पतिस्तपानो देव रक्षसः
अप्रोषिवान् गृहपते महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः॥५॥[1]

(अध्याय १, खण्ड ४, प्रपाठ.१, अर्ध १)

पदार्थ- **प्रथम** परमेश्वर के पक्ष में। **हे जरितः** सज्जनों के गुणों के प्रशंसक **अग्ने** परमात्मन्! आप **विश्पतिः** प्रजापालक हो। हे **देव** ज्योतिर्मय! आप **रक्षसः** राक्षसी वृत्ति वाले मनुष्यों के **तपानः** सन्तापक हो। हे **गृहपते** ब्रह्माण्डरूप गृह के स्वामिन्! **अप्रोषिवान्** ब्रह्माण्डरूप गृह से कभी प्रवास न करने वाले, **दिवः पायुः** प्रकाशमान द्युलोक के अथवा प्रकाशमान जीवात्मा के रक्षक, **दुरोणयुः** सबको निवास गृह दिलाना चाहने वाले आप **महान्** महान् **असि** हो।

शेषे वनेषु मातृषु सं त्वा मर्तास इन्धते।
अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृत आदिद् देवेषु राजिस॥२॥[2]

(अध्याय १, खण्ड ५, प्रपाठ.१, अर्ध १)

पदार्थ- **प्रथम** यज्ञाग्नि के पक्ष में। हे यज्ञाग्नि! तू **वनेषु** वनों में, वन के काष्ठों में, और **मातृषु** अपनो माता-रूप अरणियों के गर्भ में **शेषे** सोता है, छिपे रूप से विद्यमान रहता है। **त्वा** तुझे **मर्तासः** याज्ञिक मनुष्य **समिन्धते** अरणियों को मथकर प्रज्वलित करते हैं। प्रज्वलित हुआ तू **अतन्द्रः** तन्द्रारहित होकर, निरन्तर **हविष्कृतः** हवि देनेवाले यजमान की **हव्यम्** आहुत हवि को **वहसि** स्थानान्तर में पहुंचाता है। **आत् इत्** उसके अनन्तर ही, **तू देवेषु** विद्वान् जनों में **राजसि** राजा के समान प्रशंसित होता है।

यहाँ अचेतन यज्ञाग्नि में चेतन के समान व्यवहार आलंकारिक है। अचेतन में शयन और तन्द्रा का सम्बन्ध सम्भव न होने से शयन की प्रच्छन्न रूप से विद्यमानता होने में लक्षणा है, इसी प्रकार अतन्द्रत्व की नैरन्तर्य में लक्षणा है। 'वनों में शयन करता है,' इससे 'अग्नि एक वनवासी मुनि के समान हैं', यह व्यंजना निकलती है।

अग्निमीडिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम्।
अग्निं राये पुरुमीढ श्रुतं नरोऽग्निः सुदीतये छर्दिः॥५॥[3]

(अध्याय १, खण्ड ५, प्रपाठ.१, अर्ध १)

पदार्थ- हे पुरुमीढ अनेक गुणों से सिक्त स्तोता! तू **अवसे** रक्षा, प्रगति, सर्वजनप्रीति और तृप्तिलाभ के लिए **शीरशोचिषम्** सर्वत्र व्यापक ज्योतिवाले **अग्निम्** तेजस्वी परमात्मा की **गाथाभिः** मन्त्र- वाणियों से **ईडिष्व** स्तुति और आराधना कर। **श्रुतम्** महिमा वर्णन करने वाले वेदादि शास्त्रों से सुने हुए **अग्निम्** उस परमात्मा की, तू **राये** भौतिक एवं आध्यात्मिक सब प्रकार के धनों की प्राप्ति के लिए **ईडिष्व** स्तुति और आराधना कर। हे **नरः** पौरुषवान् मनुष्यो! **अग्नि** जगत् का नायक परमात्मा **सुदीतये** उत्तम कर्मवाले पुरुषार्थी जन के लिए **छर्दिः** शरण होता है।

भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः भद्रा उत प्रशस्तयः॥५॥[4]

(अध्याय १, खण्ड १२, प्रपाठ.२, अर्ध १)

पदार्थ- **आहुतः अग्निः** जिसमें सुगन्धित, मधुर, पुष्टिवर्धक तथा आरोग्यवर्धक हवियों की आहुति दी गयी है ऐसा यज्ञाग्नि, सत्कार किया गया अतिथि और जिसमें उपासक द्वारा आत्मसमर्पण की आहुति दी गयी है ऐसा परमात्मा नः हमारे लिए **भद्रः** भद्र को देनेवाला हो। **रातिः** हमारे द्वारा दिया गया दान भद्रा भद्र अथवा भद्र को देने वाला हो। हे सुभग सौभाग्यशाली मेरे अन्तरात्मन्! तुझसे किया गया **अध्वरः** यज्ञ **भद्रः** भद्र अथवा भद्रजनक हो। **उत्त** और **प्रशस्तयः** तुझसे अर्जित प्रशस्तियों वा कीर्तियों भी **भद्राः** भद्र अथवा भद्रजनक हों।

---

1. ऋ० ८।६०।१९ 'तपानो, गृहपते' इत्यत्र क्रमेण 'तेपानो, 'गृहपतिर्' इति पाठः।
2. ऋ० ८।६०।१५, 'तातृषु, हव्यं' इत्यत्र क्रमेण 'मात्रोः' हव्या' इति पाठः।
3. ऋ० ८।७१।१४, अ० २०।१०३।१। उभयत्र 'नरोऽग्निं' इति पाठः।
4. ऋ० ८।१९।१९, य० १५।३८ ऋषिः परमेष्ठी। साम० १५३८।

यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारममर्त्यम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्॥६॥[1]

(अध्याय १, खण्ड १२, प्रपाठ.२, अर्ध १)

पदार्थ- **प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। हे अग्रणी परब्रह्म परमात्मन्! **यजिष्ठम्** अतिशयरूप से सृष्टियज्ञ के विधाता, सुख-ऐश्वर्य आदि के दाता, सूर्य-पृथिवी आदि का परस्पर संगम कराने वाले, **देवत्रा देवम्** प्रकाशक सूर्य, बिजली, चन्द्रमा आदि तथा चक्षु, श्रोत्र, मन आदि में सर्वश्रेष्ठ प्रकाशक **होतारम्** मोक्षसुख के प्रदाता, **अमर्त्यम्** अमरणशील, **अस्य यज्ञस्य** इस मेरे ध्यान-यज्ञ के **सुक्रतुम्** सुसंचालक, सफलताप्रदायक **त्वा** आपको, हम **ववृमहे** उपास्य रूप से वरण करते हैं।

उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥९॥

(अध्याय २, खण्ड ३, प्रपाठ.२, अर्ध १)

पदार्थ- **गिरीणाम्** पर्वतों के **उपह्वरे** एकान्त में अथवा समीप में नदीनां च और नदियों के **सङ्गमे** संगम-स्थल पर **धिया** ध्यान द्व ारा **विप्रः** वह सर्वव्यापक और मेधावी इन्द्र परमेश्वर **अजायत** प्रकट होता है।

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे॥३॥[2]

(अध्याय २, खण्ड ४, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ- **प्रथम** सूर्य से चन्द्रमा के प्रकाशित होने के पक्ष में। **त्वष्टुः** विच्छेदक, प्रकास द्वारा शोध व्याप्तिशील, देदीप्यमान सूर्य की **गोः** सुषुम्णनामक रश्मि के **अत्र अह** इस **चन्द्रमसः गृहे** चन्द्र मण्डल में **अपीच्यम्** प्रच्छन्न रूप से **नाम** अवस्थान को, विद्वान् लोग इत्या सत्य रूप में **अमन्वत** जानते हैं। अर्थात् चन्द्रमा सूर्य से प्रकाशित होता है इस रहस्य इस रहस्य को विद्वान् लोग भलीभांति समझते हैं।

अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह।
अहं सूर्य इवाजनि॥८॥[3]

(अध्याय २, खण्ड ४, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ- **अहम्** मैंने **इत् हि** सचमुच पितुः **परि पिता** इन्द्र परमेश्वर से **ऋतस्य मेधाम्** सत्याचरण की मेधा को अथवा ऋतम्भरा प्रज्ञा को **जग्रह** ग्रहण कर लिया है। उससे प्रकाशमान हुआ **अहम्** अध्यात्म- पथ का पथिक मैं **सूर्यः इव** सूर्य के समान **अजनि** हो गया हूँ।

पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्र गायत।
विश्वासाहं शतक्रतुं महिष्ठं चर्षणीनाम्॥१॥[4]

(अध्याय २, खण्ड ५, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ- हे मनुष्यो! **वः** तुम **अन्धसः** भोग्य वस्तुओं के **आ पान्तम्** सब ओर से रक्षक, **विश्वा साहम्** समस्त शत्रुओं के विजेता, **शतक्रतुम्** बहुत बुद्धिमान, वहुत कर्मण्य, बहुत से यज्ञों को करने वाले, **चर्षणीनाम्** मनुष्यों को **मंहिष्ठम्** अतिशय दान करने वाले **इन्द्रम्** परमैश्वर्यशाली वीर परमात्मा और राजा को **अभि** लक्षित करके **प्र गायत** प्रकृष्ट रूप से गान करो अर्थात् उनके गुण-कर्म-स्वभावों का वर्णर करो।

वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः। कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते॥३॥[5]

(अध्याय २, खण्ड ५, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ- हे **इन्द्र** परमात्मन्! **त्वायन्तः** आपके पाने की कामना करते हुए **सखायः** आपके सखा **वयम् उ** हम उपासक लोग **तदिदर्थाः** आपके दर्शन को ही प्रयोजन मानते हुए **त्वा** आपकी स्तुति करते हैं। न केवल हम, प्रत्युत **कण्वाः** सभी मेधावी जन **उक्थेभिः** स्तोत्रों से आपकी **जरन्ते** स्तुति करते हैं।

---

1. ऋ० ८।६१९।३, साम० १४१३।
2. ऋ० १।८४।१५, अथ० २०।४१।३, साम० ९१५।
3. ऋ० १।३०।१३, अथ० २०।१२२।१, साम० १०८४।
4. प्रथमायामृचि ७+८+८+७=३० इत्यक्षरसंख्यां सामान्यतोऽअनुष्टुपछन्दसि स्वीकर्त्तव्येऽपि गायत्रीप्रकरणत्वादेषा गायत्री एवाभिमता। सेयं चतुष्पदा त्रिंशदक्षरा गायत्री। ऋ० ८।९२।१, ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा, छन्दः विराड् अनुष्टुप्।
5. ऋ० ८।२।१६, साम० ७१९, अथ० २०।१८।१।

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे। जुहूमसि द्यविद्यवि॥६॥[1]

(अध्याय २, खण्ड ५, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ- हम उपासक लोग, प्रजाजन अथवा शिष्यगण **सुरूपकृत्नुम्** सृष्ट्युत्पत्ति-स्थिति आदि सरुप कर्मो के कर्ता परमात्मा को, प्रजापालन-राष्ट्रनिर्माण आदि सुख्य कर्मो के कर्ता राजा को और विद्याप्रदान-सदाचार निर्माण आदि सुरूप कर्मो के कर्ता आचार्य को **ऊतये** क्रमशः उपासना के फल की प्राप्ति के लिए, राष्ट्ररक्षा के लिए और विद्याप्राप्ति के लिए **द्यविद्यवि** प्रतिदिन **जुहूमसि** पुकारते हैं, गोदुहे गाय दुहने वाले गोदुग्ध के इच्छुक मनुष्य के लिए **सुदुघाम् इव जैसे** दुधारू गाय को बुलाया जाता है।

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये॥९॥[2]

(अध्याय २, खण्ड ५, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ-प्रथम परमात्मा के पक्ष में। **योगे योगे** योग के विभिन्न स्तरों यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, सविकल्पक निविकल्पक समाधि में **तवस्तरम्** क्रमशः बढ़ने वाले, योग-विघ्नों को नष्ट करने वाले तथा साधक की उन्नति करने वाले **इन्द्रम्** सिद्धिप्रदायक परमेश्वर को **सखायः** हम साथी योगी-जन **वाजे वाजे** प्रत्येक आन्तरिक देवासुर संग्राम में **ऊतये** रक्षा वा विजय-प्राप्ति के लिए **हवामहे** पुकारें ।।

कया नश्चित्र आ भवदूती सदावृधःसखा। कया शचिष्ठया वृता॥५॥[3]

(अध्याय २, खण्ड ६, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ- चित्रः अद्भुत गुण-कर्म-स्वभाव वाला वह इन्द्रनामक परमेश्वर और राजा **कया** कैसी अद्भुत **ऊती** रक्षा के द्वारा, और **कया** कैसी अद्भुत **शचिष्ठया** अतिशय बुद्धिपूर्ण **वृता** विद्यमान क्रिया के द्वारा **नः** हमारा **सदावृधः** सदा बढ़ाने वाला **सखा** सखा **आ भुवत्** बना हुआ है।

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्। सनिं मेधामयासिषम्॥७॥[4]

(अध्याय २, खण्ड ६, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ-प्रथम परमात्मा के पक्ष में। मैं **अद्भुतम्** आश्चर्यमय गुण-कर्म-स्वभाव वाले, **इन्द्रस्य** शरीर के अधिष्ठाता जीवात्मा के **प्रियम्** प्रिय, **काम्यम्** उपासकों के स्पृहणीय, **सिनम्** कृत पाप-पुण्य-रूप कर्मो के फलप्रदाता **सदसःपतिम्** हृदयरूप अथवा ब्रह्माण्डरूप यज्ञसदन के स्वामी परमात्मा से **मेधाम्** धारणावती बुद्धि को **अयासिषम्** मागता हूँ।।

भद्रंभद्रं न आ भरेषमूर्जं शतक्रतो। यदिन्द्र मृडयासि नः॥९॥[5]

(अध्याय २, खण्ड ६, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ- हे **शतक्रतो** अनन्त शुभ कर्मो को करने वाले प्रभु! तुम **भद्रंभद्रम्** भद्र-भद्र **इषम्** अन्न, धन, विज्ञान आदि और **ऊर्जम्** बल, प्राण, रस आदि **नः** हमारे लिए **आ भर** लाओ। **यत्** क्योंकि, हे **इन्द्र** दयानिधि परमात्मन्! आप नः हमें **मृडयासि** सदा सुखी ही करते हो।

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः॥५॥[6]

(अध्याय २, खण्ड ८, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ- प्रथम वेदवाणी के पक्ष में। ऋचा का देवता इन्द्र होने से इन्द्र को सम्बोधन किए जाना चाहिए। हे इन्द्र परमेश्वर! आपकी **वाजिनीवती** क्रियामयी अथवा कर्म का उपदेश देने वाली **सरस्वती** ज्ञानमयी वेदवाणी **वाजेभिः** विज्ञान-रूप बलों से नः हमें **पावका** पवित्र करने वाली हो। **धियावसुः** ज्ञान और कर्म के उपदेश से वसाने वाली वह **यज्ञम्** हमारे जीवन-यज्ञ को **वष्टु** भली भांति

---

1. ऋ० १।४।१, अथ० २०।५७।१, ६८।१, साम० १०८७।
2. ऋ० १।३०।७, अथ० ११।१४, अथ० २०।२६।१, साम० ७४३।
3. ऋ० ४।३१।१, य० २७।३९, ३६।४, साम० ६८२, अथ० २०।१२४।१।
4. ऋ० १।१८।६, देवता सदसस्पतिः, य० ३२।१३ ऋषिः मेधाकामः, अन्ते 'स्वाहा' इत्यधिकम्।
5. ऋ० ८।९३।२८, ऋषिः सुकक्षः।
6. ऋ० १।३।१०, य० २०।८४, उभयत्र देवता सरस्वती।

जताई संस्कृत करे।

इमा उ त्वा सुतेसुते नक्षन्ते गिर्वणो गिरः। गावो वत्सं न धेनवः॥८॥[1]

(अध्याय २, खण्ड ८, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ- हे **गिर्वणः** स्तुतिवाणियों से सेवनीय वा याचनीय परमैश्वर्यवन् इन्द्र परमात्मन्! **इमाः उ** ये हम से उच्चारण की जाती हुई **गिरः** वेदवाणियाँ अथवा स्तुतिवाणियाँ **सुतेसुते** प्रत्येक ज्ञान, कर्म और उपासना के व्यवहार में **त्वा** आपको **नक्षन्ते** प्राप्त होती हैं, **धेनवः** अपना दूध पिलाने वाली या अपने दूध से तृप्त करने वाली गावः गौएँ वत्सं न जैसे बछड़े को प्राप्त होती हैं।

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढमस्य पांसुले॥९॥[2]

(अध्याय २, खण्ड ११, प्रपाठ.३, अर्ध १)

पदार्थ- यहाँ मन्त्र का देवता इन्द्र है, अतः विष्णु इन्द्र का विशेषण समझना चाहिए। **प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। **विष्णुः** चराचर जगत् में व्याप्त होने वाला परमेश्वर **इदम्** इस सब जगत् में **विचक्रमे** व्यापक है। **त्रेधा** तीन प्रकार से- अर्थात् उत्पादक, धारक और विनाशक इन तीन रूपों में उस जगत् **में** वह **पदम्** अपने पैर को अर्थात् अपनी सत्ता को **निदधे** रखे हुए है। किन्तु **अस्य** इस परमेश्वर का, वह पैर अर्थात् अस्तित्व **पांसुले** पाञ्चभौतिक इस जगत् में **समूढम्** छिपा हुआ है, चर्म-चक्षुओं से अगोचर है। जैसे धूलि वाले प्रदेश में **समूढम्** छिपा हुआ **पदम्** किसी का पैर दिखाई नहीं देता है, यह यहाँ ध्वनि निकल रही है।

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम।
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रमिदं हविर्मघवा वेत्विन्द्रः॥२॥[3]

(अध्याय ३, खण्ड ११, प्रपाठ.४, अर्ध १)

पदार्थ- में **त्रातारम्** आपत्तियों से त्राण करने वाले **इन्द्रम्** शत्रुविदारक जगदीश्वर वा राजा को, **अवितारम्** सुखादि के प्रदान द्वारा पालना करने वाले **इन्द्रम्** ऐश्वर्यशाली जगदीश्वर वा राजा को, **हवे हवे** प्रत्येक संग्राम में, प्रत्येक संकट में सुहवम् सरलता से पुकारने योग्य **शक्रम्** शक्तिशाली, **पुरुहूतम्** बहुत स्तुति किये गये अथवा बहुतों से बुलाये गये **इन्द्रम्** अविद्या, दुःख आदि के भञ्जक जगदीश्वर वा राजा को शीघ्र ही पुकारता हूँ। **सः** वह **मघवा** प्रशस्त धन वाला **इन्द्रः** जगदीश्वर वा राजा **इदम्** इस मेरे द्वारा दी जाती हुई **हविः** आत्मसमर्पण रूप अथवा राजकर रूप हवि को स्वीकार करे।

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः॥२॥[4]

(अध्याय ५, खण्ड १, प्रपाठ.५, अर्ध २)

पदार्थ- हे **सोम** रसागार परमेश्वर! तुम **स्वादिष्ठया** स्वादिष्ठ, **मदिष्ठया** अतिशय हर्षप्रद **धारया** आनन्दधारा से **पवस्व** हमें पवित्र करो। तुम **इन्द्राय** मेरे आत्मा के **पातवे** पान के लिए **सुतः** अभिषुत हो।

पुनानो अक्रमीदभि विश्वा मृधो विचर्षणिः। शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः॥२॥[5]

(अध्याय ५, खण्ड ३, प्रपाठ.६, अर्ध १)

पदार्थ-**पुनानः** मन को पवित्र करता हुआ **विचर्षणिः** सर्वद्रष्टा परमेश्वर **विश्वाः मृधः** काम, क्रोध आदमियों की सब संग्रामकारिणी सेनाओं पर अथवा समस्त हिंसावृत्तियों पर **अभि अक्रमीत्** आक्रमण कर देता है। उस विप्रम् मेधावी परमेश्वर को, उपासक जन **धीतिभिः** ध्यानों के द्वारा **शुम्भन्ति** अपने हृदय के अन्दर शोभित करते हैं।

अया वीती परि स्रव यस्त इन्दो मदेष्वा। अवाहन्नवतीर्नव॥९॥[6]

(अध्याय ५, खण्ड ३, प्रपाठ.६, अर्ध १)

पदार्थ- हे **इन्दो** आनन्दरस वा वीररस के भंडार परमात्मन् ! आप **अया वीती** इस रीति से **परिस्रव** उपासकों के अन्तःकरण में

1. ऋ० ६।४५।२८, ऋषिः शंयुः बार्हस्पत्यः। 'वत्सं गावो न धेनवः' इति तृतीयाः पादः।
2. ऋ० १।२२।१७, य० ५।१५, अथ० ७।२६।४, सर्वत्र देवता विष्णुः, 'पांसुले' इत्यत्र च 'पांसुरे' इति पाठः। साम०
3. ऋ० ६।४७।११, य० २०।५० उभयत्र ऋषिः गर्गः, 'ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्र स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः, इति चोत्तरार्धपाठः। अथ० ७।८६।१, ऋषिः अथर्वा स्वस्त्ययनकामः, 'स्वस्ति न इन्द्रो मघवान् कृणोतु' इति चतुर्थः पादः।
4. ऋ० ९।१।१, य० २६।२५, साम० ६८९।
5. ऋ० ९।४०।१ साम० ९२४।
6. ऋ० ९।६१।१ साम० १२१०।

प्रवाहित हो, कि **यः** जो उपासक **ते मदेषु** आपसे उत्पन्न किये गये हर्षों में **आ** मग्न हो, वह **नव नवतीः** निन्यानवे वृत्रों को **अवाहन्** विनष्ट कर सके।

मनुष्य की औसत आयु वेद के अनुसार सौ वर्ष है। उसमें से नौ या दस मास क्योंकि माता के गर्भ में बीत जाते हैं, इसलिए शेष लगभग निन्यानवे वर्ष वह जीता है। उन निन्यानवे वर्षों में आने वाले विघ्न निन्यानवे वृत्र कहाते हैं। सोमजनित आनन्द एवं वीरत्व से तृप्त होकर मनुष्य उन सब वृत्रों का संहार करने में समर्थ हो, यह भाव है।

तरत् स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः। तरत् स मन्दी धावति॥४॥[1]

(अध्याय ५, खण्ड ४, प्रपाठ.६, अर्ध १)

पदार्थ- **सुतस्य** आचार्य के अथवा परमात्मा के पास से अभिषुत **अन्धसः** ज्ञान और कर्म के रस की अथवा आनन्द-रस की **धारा** धारा से **मन्दी** तृप्त हुआ **सः** वह आत्मा **तरत्** दुःख, विघ्न, विपत्ति आदि के सागर को पार कर लेता है, और **धावति** ऐहलौकिक लक्ष्य की ओर वेग से अग्रसर होने लगता है। **मन्दी** ज्ञान और कर्म के रस वा आनन्दरस की धारा से तृप्त हुआ वह आत्मा **तरत्** दुःखादि के सागर को पार कर लेता है, और **धावति** पारलौकिक लक्ष्य मोक्ष की ओर अग्रसर होने लगता है।

अपघ्नन् पवते मृधोऽप सोमो अराव्णः। गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम्॥१४॥[2]

(अध्याय ५, खण्ड ४, प्रपाठ.६, अर्ध १)

पदार्थ-सोमः पवित्र रस का भण्डार परमेश्वर **इन्द्रस्य** जीवात्मा के **निष्कृतम्** संस्कृत किये हुए हृदय रूप घर में **गच्छन्** जाता हुआ, **मृधः** संग्रामकर्ता पापरूप शत्रुओं को **अपघ्नन्** विध्वस्त करता हुआ, और **अराव्णः** अदानशील स्वार्थभावों को **अप** विनष्ट करता हुआ पवते पवित्रता प्रदान करता है।

पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि।
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सा देवो हिरण्ययः॥१॥[3]

(अध्याय ५, खण्ड ५, प्रपाठ.६, अर्ध १)

पदार्थ- हे **सोम** पवित्र रस के भण्डार परमात्मन्! आप **धारया** अपनी आनन्द-धारा से **पुनानः** पवित्रता लाते हुए, **अपः** कर्म को **वसानः** आच्छादित अर्थात् प्रभावित करते हुए **अर्षसि** उपासकों के हृदय में व्याप्त होते हो। **रत्नधाः** रमणीय गुणरूप रत्नों के प्रदाता आप **ऋतस्य** सत्य के **योनिम्** गृहरूप जीवात्मा को आ सीदसि प्राप्त होते हो। **उत्सः** आनन्द के झरने, **देवः** विद्या, सुख आदि के प्रदाता और **हिरण्ययः** ज्योतिर्मय तथा यशोमय हो ।।१।।

परि त्यं हर्यतं हरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण।
यो देवान् विश्वाँ इत् परि मदेन सह गच्छति॥८॥[4]

(अध्याय ५, खण्ड ८, प्रपाठ.६, अर्ध २)

पदार्थ- योगसाधना करने वाले लोग **त्यम्** उस **हर्यतम्** चाहने योग्य, **बभ्रुम्** शरीर के भरण-पोषणकर्ता **हरिम्** अपने आत्मा को **वारेण** दोष-निवारक यम, नियम आदि तथा ईश्वर प्रणिधान के द्वारा **पुनन्ति** शुद्ध करते हैं, **यः** जो आत्मा योगसिद्ध होने पर **मदेन सह** आनन्द के साथ **विश्वान् इत्** सभी **देवान्** प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, आदि इन्द्रियों आदियों को **परिगच्छति** व्याप्त कर लेता है।

सखाय आ नि षीदत पुनानाय प्र गायत।
शिंशु न यज्ञैः परि भूषत श्रिये॥३॥[5]

(अध्याय ५, खण्ड १०, प्रपाठ.६, अर्ध २)

पदार्थ- हे **सखायः** मित्रो! तुम आ **निषीदत** आकर उपासनायज्ञ में बैठो। **पुनानाय** हृदय को पवित्र करने वाले परमात्मारूप सोम

---

1. ऋ० ९।६३।१।
2. ऋ० ९।६१।२५, साम० १२१३।
3. ऋ० ९।१०७।४ 'देवो' इत्यत्र 'देव' इति पाठः। साम० ६७५
4. ऋ० ९।९८।७।
5. ऋ० ९।१०४।१, साम० ११५७।

के लिए **प्र गायत** भक्ति-भरे वेदमन्त्रों को गाओ। उस परमात्मा- रूप सोम को **श्रिये** शोभा के लिए **यज्ञैः** उपासनायज्ञों से **शिशुं न** शिशु के समान **परिभूषत** चारों ओर से अलंकृत करो अर्थात् जैसे शोभा के लिए शिशु को अलंकार-वस्त्र आदियों से अलंकृत करते हैं, वैसे ही शोभापूर्वक अपने आत्मा में प्रतिष्ठापित करने के लिए परमात्मा को उपासना-यज्ञों से अलंकृत करो।

परि कोश मधुश्चुतं सोमः पुनानो अर्षति।
अभि वाणीऋषीणां सप्ता नूषत॥१२॥[1]

(अध्याय ५, खण्ड १०, प्रपाठ.६, अर्ध २)

पदार्थ- **पुनानः** अन्तःकरण को पवित्र करता हुआ परमेश्वर अथवा ब्रह्मानन्दरस **मधुश्चुतम्** मधुर श्रद्धारस को प्रस्तुत करने वाले **कोशम्** मनोमय कोश में **परि अर्षति** व्याप्त हो रहा है। उस परमेश्वर वा ब्रह्मानन्दरस की **ऋषीणां सप्त वाणीः** वेदों की गायत्री आदि सात छन्दों वाली ऋचाएँ **अभि नूषत** सोम नाम से स्तुति करती हैं।

चौबीस अक्षरों से आरम्भ करके क्रमशः चार-चार अक्षरों की वृद्धि करके गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप, जगती नामक सात छन्द ऋषि-छन्द कहलाते हैं। वे ही यहाँ 'ऋषीणां सप्त वाणीः' शब्दों से ग्राह्य हैं।

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथादित्य व्रते वयं तवानागसो अदितये स्याम॥४॥[2]

(अध्याय ६, खण्ड १, प्रपाठ.६, अर्ध ३)

पदार्थ- हे **वरुण** मोक्षप्राप्ति के लिए सब मनुष्यों से वरे जानेवाले परमात्मन्! आप **उत्तमं** पाशम् उत्कृष्ट कर्मों के बन्धन रूप उत्तम पाश को **अस्मत्** हमसे **उत्** उत्कृष्ट फलप्रदान द्वारा छुड़ा दीजिए, **अधमम्** निकृष्ट कर्मों के बन्धन रूप अधम पाश को **अब** निकृष्ट फलप्रदान द्वारा छुड़ा दीजिए, **मध्यमम्** मध्यम कर्मों के बन्धन रूप मध्यम पाश को **वि श्रथाय** विविध फल देकर छुड़ा दीजिए। अथ उसके पश्चात, हे आदित्य नित्यमुक्त, अविनाशी, **आदित्य** के समान प्रकाशमान, सर्वप्रकाशक परमात्मन्! तब आपके व्रत में निष्काम कर्म में चलते हुए **वयम्** हम **अनागसः** निष्पाप होते हुए **अदितये** मोक्ष के अधिकारी **स्याम** हो जाएँ।

अथवा उत्तम पाश है आत्मा के ज्ञान आदि के ग्रहण में जो बाधक होते हैं उनसे किया गया बन्धन, मध्यम पाश है मन के श्रेष्ठ संकल्प आदि में जो बाधक होते हैं उनसे किया गया बन्धन, अधम पाश है शरीर के व्यापार में जो बाधक रोग आदि होते हैं उनसे किया गया बन्धन। उन पाशों से छुड़ा-कर परमेश्वर अथवा योगी गुरु हमें सुख का अधिकारी बना देवे।

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इदेव मावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि॥९॥

(अध्याय ६, खण्ड १, प्रपाठ.६, अर्ध ३)

पदार्थ- **अहम्** में परमेश्वर **ऋत्तस्य** जगत् में सर्वत्र दिखायी देने वाले सत्य नियम का **प्रथमजाः** प्रथम उत्पादक **अस्मि** हूँ। में **देवेभ्यः** सब चमकने वाले सूर्य, बिजली, अग्नि, तारामण्डल आदियों को उत्पत्ति से **पूर्वम्** पहले विद्यमान था। मैं **अमृतस्य** मोक्षावस्था में प्राप्त होने वाले आनन्दामृत का **नाम** केन्द्र या स्रोत हैं। **यः** जो मनुष्य **मा** मुझे **ददाति** अपने आत्मा में समर्पित करता है **सः इत् एव** निश्चय से वही **मा** मुझे **अवत्** प्राप्त होता है। **अहम्** मैं **अन्नम्** अन्न हूँ, भक्तों का भोजन हैं और में **अन्नम् अदन्तम्** भोग भोगने वाले प्रत्येक प्राणी को **अद्मि** खाता भी हूँ, अर्थात् प्रलयकाल में ग्रस भी लेता हूँ, इस कारण में अत्ता भी हूँ।
परमेश्वर के अन्न और अत्ता रुप को उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र में इस प्रकार कहा है-में अन्न हूँ, में अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्नाद हूँ, मैं अन्नाद हूँ, मैं अन्नाद हूँ (तै० उप० ३।१०/६) । 'परमेश्वर अत्ता इस कारण है, क्योंकि चर-अचर को ग्रसता है' (ब्र० सू० १।२।९)।

निरुक्त में जो परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत तथा आध्यात्मिक तीन प्रकार की ऋचाएँ कही गयी हैं, उनमें यह ऋचा आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक ऋचाएँ वे होती हैं जिनमें उत्तम पुरुष की क्रिया तथा 'अहम्' सर्वनाम का प्रयोग हो अर्थात् जिसमें देवता अपना

---

1. ऋ० ९।१०३।३ 'मधुश्चुतमव्यये वारे अर्षति', 'सप्त नूषत' इति पाठः।
2. ऋ० १।२४।१४।१५, य० १२।१२ 'अथा वयमादित्य व्रते तवा' इति पाठः। अथ० ७।८३।३, १८।४।६९ उभयत्र 'अधा वयमादित्य व्रते तवा' इति पाठः, द्वितीये स्थले ऋषिः अथर्वा।

परिचय स्वयं दे रहा हो ।।९।।

भावार्थ- जैसे प्राणी भोजन के बिना, वैसे ही भक्तजन परमेश्वर के बिना नहीं जी सकते। जैसे प्राणी अन्न का ग्रास लेते हैं, वैसे ही परमेश्वर चराचर जगत् को ग्रसता है।। ९।।

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
त्रिधातुरर्को रजसो विमानोऽजस्रं ज्योतिर्हविरस्मि सर्वम्॥१२॥[1]

(अध्याय ६, खण्ड ३, प्रपाठ.६, अर्ध ३)

पदार्थ- **प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। मैं परमात्मा **अग्निः अस्मि** सबका अग्रनायक और अग्नि के समान प्रकाशक होने से अग्नि नाम वाला हूँ, **जन्मना** स्वरूप से ही **जातवेदाः** सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, वेदों का प्रकाशक तथा सब धनों का उत्पादक हूँ। **मे** मेरी **चक्षुः** आँख अर्थात् देखने की शक्ति **घृतम्** अत्यन्त तीव्र है। **मे** मेरे **आसन्** मुख में **अमृतम्** अमृत है, में सदा अमृतत्व का आस्वादन करता रहता हूँ अर्थात् अमर हूँ। मैं **त्रिधातुः** जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहार रूप तीनों क्रियाओं को करने वाला हूँ, मैं **अर्कः** अर्चनीय (पूजनीय) हूँ। मैं **रजसः** सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथिवी आदि लोकों का **विमानः** निर्माता अथवा अधिष्ठाता, **अजस्त्रं ज्योतिः** अक्षय तेज वाला, **हविः** सबका आह्वानयोग्य, और **सर्वभ्** सर्वशक्तिमान् **अस्मि** हूँ। यहाँ 'मैं अमर हूँ' इस व्यङ्ग्यार्थ को ही 'मेरे मुख में अमृत है' इस रूप में अभिहित करने से पर्यायोक्त अलंकार है।

स्मरणीय बिंदु-

1. ऋषि का स्वरूप ऋषि मन्त्रों के रचयिता नहीं बल्कि अर्थ-द्रष्टा होते हैं, जिन्होंने तपस्या के माध्यम से मन्त्रों के अर्थों का साक्षात्कार किया ।
2. देवता की परिभाषा मन्त्र में जिस नाम से किसी विषय का वर्णन होता है, वह उसका देवता कहलाता है (जैसे- अग्नि, इंद्र आदि) ।
3. मन्त्रों का आधार सामवेद में ऋग्वेद की ही ऋचाएँ संगीतमय रूप में संकलित हैं, जिनका उद्देश्य मानसिक शांति और ईश्वरीय उपासना है ।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

1. सामवेद के चयनित मन्त्रों के आधार पर ऋषि और देवता के संकल्पनात्मक स्वरूप की विस्तृत व्याख्या कीजिए ।
2. वेदों के चार विषयों (ज्ञान, कर्म, उपासना, विज्ञान) में सामवेद के मन्त्र किस प्रकार उपासना और समन्वय का संदेश देते हैं? तर्क सहित समझाइए ।
3. सामवेद के मन्त्रों में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न पारिभाषिक शब्दों और उनके अर्थ-गांभीर्य पर एक शोधपूर्ण निबंध लिखिए ।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

1. ऋषि शब्द की निरुक्त सम्मत परिभाषा और महत्त्व स्पष्ट कीजिए ।
2. वैदिक मन्त्रों में देवता का क्या अर्थ है? उदाहरण सहित समझाइए ।
3. सामवेद के मन्त्रों के पठन-पाठन से होने वाले लाभों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए ।
4. मन्त्र-द्रष्टा होने का क्या तात्पर्य है?
5. सामवेद और ऋग्वेद के मन्त्रों में पाए जाने वाले ऋषि-भेद के क्या कारण हैं?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1. निरुक्त के अनुसार ऋषि शब्द का मुख्य अर्थ क्या है?

(।) मन्त्रों का रचयिता

(2) मन्त्रों का अर्थ-द्रष्टा

(3) मन्त्रों का पाठक

---

1. ऋ० ३।२६।७, य० १८।६६, उभयत्र 'कर्मस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो धर्मो हविरस्मि नाम' इति पाठः। यजुषिदेवश्रवोदेववातौ ऋषी।

(4) इनमें से कोई नहीं

प्रश्न 2. मन्त्र में जिस विषय का वर्णन होता है, उसे क्या कहा जाता है?

(1) ऋषि

(2) छन्द

(3) देवता

(4) स्वर

प्रश्न 3. सामवेद के मन्त्रों में ऋषि का नाम क्यों जोड़ा गया है?

(1) उनके उपकार के स्मरण के लिए

(2) मन्त्र की रचना दर्शाने के लिए

(3) इतिहास बताने के लिए

(4) केवल परंपरा निभाने के लिए

प्रश्न 4. सामवेद के मन्त्रों में प्रमुख रूप से किसका समन्वय मिलता है?

(1) केवल ज्ञान का

(2) केवल कर्म का

(3) ज्ञान, कर्म और उपासना का

(4) केवल संगीत का

प्रश्न 5. साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने मन्त्रों के अर्थों को किस माध्यम से प्राप्त किया?

(1) पुस्तकों से

(2) तपस्या एवं चिंतन से

(3) श्रवण मात्र से

(4) कल्पना से

इकाई- 1.3 अथर्ववेद का परिचय

उद्देश्य-

1. अथर्ववेद के विभिन्न ऐतिहासिक और आध्यात्मिक नामों (जैसे ब्रह्मवेद, भृग्वंगिरोवेद) की सार्थकता से परिचित कराना।
2. अथर्ववेद की संरचना (काण्ड, सूक्त, मंत्र) और इसकी प्रमुख शाखाओं (शौनक एवं पैप्पलाद) के विषय में ज्ञान प्रदान करना।
3. दैनिक जीवन, आयुर्वेद, समाज-कल्याण और आध्यात्मिक शांति के संदर्भ में अथर्ववेद की प्रासंगिकता को समझाना।

अथर्वा का सिर

(अथर्व काण्ड-१०, सूक्त-२)

इस २७ वें मंत्र में अथर्वा के सिर की योग्यता कही है। स्थिरचित्त का नाम ''अ-थर्वा'' है। इस योगी का सिर देवों का सुरक्षित भण्डार है। अर्थात् देवों का जो देवपन है वह इसके सिर में सुरक्षित होता है। शरीर में ये सब इंद्रिय-ज्ञान और कर्म इंद्रिय-देव है; तथा पृथिवी, अप्, तेज, वायु, विद्युत, सूर्य आदि देवों के अंश जो शरीर में अन्य स्थानों में हैं, वे भी देव हैं। इन सब देवों का संबंध सिर में होता है, मानो सब देवताओं की मुख्य सभा सिर में होती है। सब देव अपना सत्त्व सिर में रख देते हैं। सब देवों के सत्त्वांश से यह सिर बना है और सिर का यह मस्तिष्क का भाग बड़ा ही सुरक्षित है। इसकी सुरक्षितता ''प्राण, अन्न और मन'' के कारण होती है। अर्थात् प्राणायाम से सब दोष जल जाते हैं, सात्त्विक अन्न से शुद्ध परमाणुओं का संचय होता है और मनकी शांति से समता रहती है। अर्थात् प्राणायाम न करने से मस्तक में दोष-बीज जैसे के वैसे ही रहते हैं, बुरा अन्न सेवन करने से रोग-बीज बढ़ते हैं और मनकी अशांति से पागलपन बढ़ जाता है। इस कारण देवों का खजाना नष्टभ्रष्ट हो जाता है।

इस मंत्र में योगी के सिर की योग्यता बताई है और आरोग्य की कूंजी प्रकट की है। (१) विधिपूर्वक प्राणायाम, (२) शुद्ध सात्त्विक अन्न का सेवन और (३) मन की परिशुद्ध शांति, ये आरोग्य के मूल कारण हैं। योगसाधना की सिद्धता के लिये तथा बहुत अंश में पूर्ण स्वास्थ्य के लिये सदा सर्वदा इनकी आवश्यकता है।

अपना सिर देवों का कोश बनाने के लिये हर एक को प्रयत्न करना चाहिए। अन्यथा वह राक्षसों का निवास-स्थान बनेगा और फिर कष्टों की कोई सीमा ही नहीं रहेगी। राक्षस सदा हमला करने के लिये तत्पर रहते हैं, उनका बल भी बड़ा होता है। इसलिए सदा तत्परता के साथ दक्षता धारण करके स्वसंरक्षण करना चाहिये। तथा दैवी भावना का विकास करके राक्षसी भावना को समूल हटाना चाहिये। ऐसी दैवीभावना की स्थिति होने के पश्चात् जो अनुभव होता है, वह अगले मंत्र में लिखा है।

(१०) सर्वत्र पुरुष

जब मंत्र २६ के अनुसार अनुष्ठान किया जाता है और मंत्र २७ के अनुसार ''दैवी संपत्ति'' की सुरक्षा की जाती है, तब मंत्र २८ का फल अनुभव में आता है। ''ऊपर, नीचे, तिरछा सभी स्थान में यह पुरुष व्यापक है'' ऐसा अनुभव आता है। इसके बिना कोई स्थान रिक्त नहीं है। परमात्मा की सर्वव्यापकता इस प्रकार ज्ञात होती है। पुरी में बसने के कारण (पुरी+वसः पुर्+उस्:=पुरुषः) आत्मा को पुरुष कहते हैं। यह पुरुष जैसा बाहिर है वैसा इस शरीर में भी है। इसलिये बाहर ढूंढ़ने की अपेक्षा इसको शरीर में देखना बड़ा सुगम है। गोपथ ब्राह्मण में ''अथर्वा'' शब्द की व्युत्पत्ति इसी दृष्टि से निम्न प्रकार की है-

''अथ अर्वाक् एनं एतासु अप्सु अन्विच्छ इति॥'' गो.१/४॥

(अब इधर ही इसको तूं इस जल में ढूंढ) तात्पर्य बाहर ढूंढने से यह आत्मा प्राप्त नहीं होगा, अंदर ढूंढने से ही प्राप्त होगा। यहां अथर्ववेद का कार्य बताया है-

अथ+(अ) र्वा (क्)=अथर्वा

अपने अंदर आत्मा को ढूंढने की विद्या जिसने बता दी है, वही अथर्ववेद है। सब अथर्ववेद की यही विद्या है। अथर्ववेद अन्य वेदों से पृथक् और वह वेदत्रयी से बाहर क्यों है, इसका पता यहां लग सकता है। सम्पूर्ण जनता अपने अंदर आत्मा का अनुभव नहीं कर सकती, इसलिये जो विशेष सज्जन योगमार्ग प्रगति करना चाहते हैं, उनके लिये जो सिद्ध पुरुष होते हैं उनके लिये यह वेद है।

जो जहाँ रहता है, उसको वहां देखना चाहिये। चूंकि यह आत्मा पुरि में रहता है, इसलिये इसको पुरि में ढूंढना चाहिये। इस शरीर को पुरि कहते हैं, क्योंकि यह सप्त धातुओं से तथा अन्यान्य उपयोगी शक्तियों से परिपूर्ण है। इस पुरि में जो बसता है,

उसको पुरुष कहते हैं। पुरुष किंवा पुरुष ये दोनों शब्द हैं और दोनों का अर्थ एक ही है।

आगे मंत्र ३१ में इस पुरि का वर्णन आ जायगा। पाठक वहां ही पुरिका वर्णन देख सकते हैं। इस ब्रह्मपुरी, बह्मनगरि, अमरावती, देवनगरी, अयोध्यानगरी आदि को यथावत् जानने से जो फल प्राप्त होता है, उसको इस मंत्र 28 ने बताया है। ब्रह्मनागरिकों को जो उत्तम प्रकार से जानता है, उसको सर्वात्मभाव का अनुभव आता है। जो पुरुष अपने आत्मा में, अपने हृदयाकाश में है वह ऊपर नीचे तिरछा सब दिशाओं में पूर्णतया व्यापक है। वह किसी स्थान पर नहीं ऐसा एक भी स्थान नहीं है। यह अनुभव उपासक को यहां होता है। ''अपने आपको आत्मा में और आत्मा को अपने में वह देखने लगता है;'' (ईश उ.6) जो इस प्रकार देखता है, उसको शोक मोह नहीं होते और उससे कोई अपवित्र कार्य भी नहीं होता।

इस मंत्र में ''सृष्ट'' शब्द विशेष अर्थ प्रयुक्त हुआ है। (च्वनतमक वनजए बवददमबजमक इनदकंदजए वतदूंमदजमक) फैला हुआ, संबंधित रहा हुआ, विपुल, सुशोभित ये ''सृष्ट'' शब्द के यहां अर्थ हैं। (१) जिस प्रकार जल झरने से बहता हुआ चारों ओर फैलता है, उस प्रकार आत्मा सर्वत्र फैला है, आत्मा को सबका मूल ''स्रोत'' कहते ही हैं। स्रोत से जल का निकलना और फैलना होता है। इसलिये यह अर्थ यहां (२) फैलने से उसका सबके साथ संबंध आता है (३) वह विपुल होने के कारण ही चारों तरफ फैला रहा है। (४) सबकी शोभा उसी कारण होती है, इसलिये वह सुशोभित भी है। ये ''सृष्ट'' शब्द के अर्थ सब कोशों में हैं और इस प्रसंग में बड़े योग्य हैं। परन्तु इसका विचार न करते हुए कईयों ने ''उत्पन्न हुआ'' ऐसा प्रसिद्ध अर्थ लेकर इस मंत्र का अर्थ करनेका यत्न किया है। इसका विचार पाठक ही कर सकते हैं।

इस मंत्र में ''सृष्टा-३:'' तथा ''यभूवा-३'' शब्द प्लुत हैं। प्लुत स्वर का उच्चारण तीन गुणा लंबा करना चाहिये। प्लुत शब्द का उच्चारण अत्यंत आनंद के समय प्रेमातिशय में होता है। इसके अन्य भी प्रसंग हैं, परन्तु यहां आनंदातिशय के प्रसंग में इसका उपयोग किया है। ब्रह्मपुरी को जानने से अत्यंत आनन्द होता है और परमात्मा की सर्वव्यापकता प्रत्यक्ष अनुभव में आने से उस आनंद का पारावार ही क्या कहना? इस परम आनंद को शब्दों में व्यक्त करने के लिये प्लुत स्वर का प्रयोग इस मंत्र में हुआ है।

एक आत्मा के अनेक नाम

(ऋषिः- ब्रह्म। देवता-गौः, विराट्, अध्यात्मम्)

यद् गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभं वा त्रैष्टुभान्निरतक्षत।
यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत् तद् विदुस्ते अमृतत्वमानशुः॥१॥

(अथर्व. काण्ड-९, सूक्त-१०)

अर्थ- **(यत्)** जो **(गायत्रं)** गायत्र में **(गायत्रं अधि आहितं)** गायत्र रखा है। और **(त्रैष्टुभात् वा त्रैष्टुभं)** त्रैष्टुभसे त्रैष्टुभ की **(निरतक्षत)** रचना की है, **(यत् वा)** अथवा जो **(जगत् जगति आहितं)** जगत जगति में रखा है, **(ये इत)** जो **(यत् पदं विदुः)** इस पद को जानते हैं **(ते अमृतत्वं आनशुः)** अमरत्व को प्राप्त करते हैं।

भावार्थः- गायत्री, त्रिष्टुप् और जगति आदि छंदों में जो महत्वपूर्ण ज्ञान रखा है, उस ज्ञान को जो जानते हैं, वे अमृतत्व-मोक्ष-को प्राप्त होते हैं।

गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त वाणीः॥२॥

(अथर्व काण्ड-९, सूक्त-१०)

अर्थ- **(गायत्रेण अर्कं प्रतिमिमीते)** गायत्री छन्द से अर्चनीय देव का प्रतिमापन अर्थात् गुणवर्णन करता है, **(अर्केण साम)** अर्चनीय देवता के द्वारा साम अर्थात् शान्ति को प्राप्त करता है। **(त्रैष्टुभेन वाक्)** त्रिष्टुप् छन्द से वाणी का मापन करता है और **(वाकेन वाकं)** वाणी से वर्णन करता है। इस प्रकार **(द्विपदा चतुष्पदा सप्त वाणीः अक्षरेण मिमते)** दो चरणों और चार चरणों वाले सात छन्दों को अक्षरों की गिनती से गिनते हैं।

भावार्थ :- गायत्री छन्द से पूज्य ईश्वर का वर्णन होता है, इसकी उपासना से शान्ति प्राप्त होती है। त्रिष्टुप् छन्द से भी उसी वर्णनीय देव का वर्णन होता है और इसी तरह दो चरण और चार चरणों वाले सब छंदों से यही वर्णन होता है। ये सातों छन्द अक्षरों की गिनती से मापे जाते हैं।

जिस पुरुष को परमात्मा साक्षात्कार का अनुभव उक्त प्रकार आ जाता है, वह आनंद से नाचने लगता है, वह उस आनंद

में मग्न हो जाता है, वह प्रेम से ओतप्रोत भर जाता है, वह शोक-मोह से रहित अतएव अत्यंत आनंदमय हो जाता है। अब ब्रह्मज्ञान का और एक फल देखिये-

ब्रह्मज्ञान का फल-

ब्रह्मनगरी का थोड़ा सा अधिक वर्णन इस २९ वे मंत्र में है। ''**अमृतेन आवृता ब्रह्मणः पुरिः**'' अर्थात् अमृत से आवृत ब्रह्म की नगरी है।'' यहां ''अ-मृत'' शब्द से अज, अमर, अजरामर आत्मा लेना उचित है। इस ब्रह्मपुरि में आत्मा परिपूर्ण है। आत्मा अ-मृत रूप होने से जो उसको प्राप्त करता है, वह अमर बन जाता है। इसलिये हर एक को यथाशक्ति में इस मार्ग में प्रयत्न करना चाहिये। यह ब्रह्म की नगरी कहां है, उस स्थान का पता मंत्र ३१ में पाठक देखेंगे।

ब्रह्मनगरी को यथावत् जानने से ब्रह्म और ब्राह्म प्रसन्न होते हैं और उपासक को चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं। ''ब्रह्म'' शब्द से ''आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म'' का बोध होता है और ''ब्राह्माः'' शब्द से '' ब्रह्म से बने हुए इतर देव, अर्थात् अग्नि, वायु, रवि, विद्युत, इंद्र, वरुण आदि देव बोधित होते हैं।'' ब्रह्मनगरी को जानने से ब्रह्म की प्रसन्नता होती है ओर सम्पूर्ण इतर देवों की भी प्रसन्न होने से ये सब देव और सब देवों का मूल प्रेरक ब्रह्म इस उपासक को तीन पदार्थों का अर्पण करते हैं। ये तीन पदार्थ ''चक्षु, प्राण और प्रजा'' नाम से इस मंत्र में कहे हैं।

''चक्षु'' शब्द से इंद्रियों का बोध होता है, सब इंद्रियों में चक्षु मुख्य होने से, मुख्य का ग्रहण करने से गौणों का स्वयं बोध होता है। क्योंकि प्राण ही आयु है। ''प्रजा'' शब्द से ''अपनी औरस संतति '' ली जाती है। तात्पर्य ''चक्षु, प्राण और प्रजा'' शब्दों से क्रमशः (१) संपूर्ण इन्द्रियों का स्वास्थ्य, (२) दीर्घ आयुष्य और (३) उत्तम संतति का बोध होता है। उपासना से प्रसन्न हुए ब्रह्म और देव उक्त तीनों बातें अर्पण करते हैं। ब्रह्म-ज्ञान का यह फल है।

(१) शरीर का उत्तम बल और आरोग्य, (२) अतिदीर्घ आयुष्य और (३) सुप्रजानिर्माण की शक्ति ब्रह्म-ज्ञान से प्राप्त होती है। इनमें मनकी शांति, बुद्धि की समता और आत्मिक बलकी संपन्नता अन्तर्भूत है, यह बात पाठक न भूलें। इनके अतिरिक्त उक्त सिद्धि हो नहीं सकती। मानसिक शांति के अभाव में, बौद्धिक समता न होने पर तथा आत्मिक निर्बलता की अवस्था में, न तो शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होने की संभावना है और न दीर्घायुष्य तथा सुप्रजानिर्माण की शक्यता है। ये सद्गुण तथा इनके सिवाय अन्य सब शुभ गुण ब्रह्मज्ञान से सहज प्राप्त होते हैं।

ब्रह्म की कृपा और देवों की प्रसन्नता होने से जो उत्तम फल मिल सकता है वह यही है। हमारे आर्यराष्ट्र में प्राचीन काल के लोग अति दीर्ध आयुष्य से संपन्न थे, बलिष्ठ थे और अपनी इच्छानुसार स्त्रीपुरुष संतान की उत्पत्ति तथा विद्वान् शूर आदि जिसे चाहे उस प्रवृत्ति की संतति उत्पन्न करते थे। इस विषय में शतपथ ब्राह्मण के अंतिम अध्याय में अथवा बृहदारण्यक उपनिषद् के अंतिम विभाग में प्रयोग ही स्पष्ट शब्दों में लिखें हैं। इतिहास ग्रन्थों में इस विषय की बहुत सी साक्षियां हैं पाठक वहां इस बात को देख सकते हैं। उसका यहां उद्धरण करने के लिये स्थान नहीं है। यहां इतना ही बताना है कि, ब्रह्मज्ञान होने से अपना शारीरिक स्वास्थ्य संपादन करके अतिदीर्घ आयुष्य प्राप्त करने के साथ-साथ अपनी इच्छा के अनुसार उत्तम संतति की उत्पत्ति की जा सकती है; जिस काल में, जिस देश में, जिन लोगों को यह विद्या साध्य होगी वे लोग ही धन्य हो सकते हैं। एक काल में आर्यों को यह विद्या प्राप्त थी, आगे भी प्रयत्न करने पर इस विद्या की प्राप्ति हो सकती है।

संतान-उत्पत्ति की संभावना होने की आयु में ही ब्रह्मज्ञान होने योग्य शिक्षा प्रणाली होनी चाहिये। आठ वर्ष की आयु में उपनयन करके उत्तम गुरु के पास योगादि अभ्यास का प्रारंभ करने से २०, २५ वर्ष की अवधि में ब्रह्मसाक्षात्कार होना असंभव नहीं है। अष्टावक्र, शुक्राचार्य, सनत्कुमार आदि को बीस वर्ष के पूर्व ही तत्त्वज्ञान हुआ था। इससे बड़ी ऊमर में जिनको तत्त्वज्ञान हो गया था ऐसे सत्पुरुष भरतखंड के इतिहास में बहुत ही हैं। तात्पर्य विशेष योग्यतावाले पुरुष जो कार्य अल्प आयु में कर सकते हैं, वही कार्य मध्यम योग्यता वालों को अधिक काल में सिद्ध होगा, और कनिष्ठ योग्यता वालों को बहुत ही काल लगेगा। इसलिये वहां सर्व साधारण रीति से इतना ही कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य-समाप्ति तक उक्त योग्यता प्राप्त हो सकती है, और तत्पश्चात् गृहस्थाश्रम में सुयोग्य संतान उत्पन्न करने की संभावना कोई अशक्य कोटी की बात नहीं।

आजकल ब्रह्मज्ञान का विषय वृद्धों का ही है ऐसा समझा जाता है, उनके मत का निराकरण इस मंत्र के कथन से हो गया है। ब्रह्मज्ञान का विषय वास्तविक रीति से '' ब्रह्म-चारि'' यों का ही है। वनमें गुरुकुलों में रहते हुए ये '' ब्रह्म-पुरी'' का पता लगा सकते हैं। तथा इसी आयु में (१) शारीरिक स्वास्थ्य, (२) दीर्घ आयुष्य और (३) सुप्रजा निर्माण की शक्ति, आदि की नींव डाल

सकते हैं। इस रीति से सच्चे ब्रह्मचारी, ब्रह्मपुरी में जाकर, ब्रह्मज्ञानी बनकर, ब्रह्मनिष्ठ रहते हुए उत्तर तीनों आश्रमों में शांति के साथ त्यागपूर्वक भोग करते हुए भी कमलपत्र के समान निर्लेप और निर्दोष जीवन व्यतीत कर सकते हैं। इस विषय के आदर्श वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, जनक, श्रीकृष्ण आदि हैं।

हर एक आयु में ब्रह्मज्ञान के लिये प्रयत्न होना चाहिये। यहां उक्त बात इसलिये लिखी है कि यदि नवयुवकों की प्रवृत्ति इस दिशा में हो गई तो उनको अपना जीवन पवित्र बनाकर उत्तम नागरिक बनने द्वारा सब जगत् में सच्ची शांति स्थापन करने के महत्कार्य में अपना जीवन समर्पण करने का बड़ा सौभाग्य प्राप्त हो सकता है। अस्तु। यह मंत्र और भी बहुत बातों का बोध कर रहा है, परंतु यहां स्थान न होने से अधिक स्पष्टीकरण यहां नहीं हो सकता। आशा है कि पाठक उक्त दृष्टिसे इस मंत्र का अधिक विचार करेंगे। इसी मंत्र का और स्पष्टीकरण अगले मंत्र में है, देखिये-मंत्र 29 में जो कथन है उसी का स्पष्टीकरण इस मंत्र में है। ब्रह्मपुरी का ज्ञान प्राप्त होने पर जो अपूर्व लाभ होता है उसका वर्णन इस मंत्र में है। (१) अति वृद्ध अवस्था के पूर्व उसके चक्षु आदि इंद्रिय उसको छोड़ते नहीं, (२) और न प्राण उसको उस वृद्ध अवस्था के पूर्व ही छोड़ता है। प्राण जल्दी चला गया तो अकाल में मृत्यु होता है, और अल्प आयु में इंद्रिय नष्ट होने से अंधापन आदि शारीरिक न्यूनता कष्ट देती है। ब्रह्मज्ञानी को ये कष्ट नहीं होते।

आठ वर्ष की आयु तक	-	कुमार अवस्था
सोलह वर्ष की आयु तक	-	बाल्यावस्था
सत्तर वर्ष की आयु तक	-	तारुण्य की अवस्था
सौ वर्ष की आयु तक	-	वृद्ध अवस्था
एक सौबीस वर्ष की आयु तक	-	जीर्ण अवस्था । पश्चात् मृत्यु।

ब्रह्मज्ञानी का प्राण जरा अवस्था के पूर्व नहीं जाता। इस अवस्था तक वह आरोग्य और शांति का उपभोग लेता है और तत्पश्चात् अपनी इच्छा से शरीर त्याग करता है। जैसा कि भीष्मपितामह आदिको ने किया था। **(इस विषय में ''मानवी आयुष्य'' नामक पुस्तक देखिये)**

तात्पर्य यह ब्रह्मविद्या इस प्रकार लाभदायक है। ये लाभ प्रत्यक्ष हैं। इसके अतिरिक्त जो अभौतिक अमृत का लाभ होता है तथा आत्मिक शक्तियों के विकास का अनुभव होता है वह अलगद्दी है। पाठक इसका विचार करें। अगले मंत्र में देवों की नगरी का स्वरूप बताया है, देखिये-

ब्रह्मनगरी-अयोध्या नगरी-

यह मनुष्य शरीर ही ''देवों की अयोध्या नगरी'' है। इसके नौ द्वार हैं। दो आंख, दो कान, दो नाक, एक मुख, एक मूत्रद्व ार और एक गुदाद्वार मिलकर नौ दरवाजे हैं। पूर्वद्वार मुख है और पश्चिम द्वार गुदा है। पूर्वद्वार से अन्दर प्रवेश होता है और पश्चिम द्व ार से बाहिर गमन होता है। अन्य द्वार छोटे हैं और उनसे करने के कार्य निश्चित ही हैं। प्रत्येक द्वार में रक्षक देव मौजूद हैं और वे कभी अपना नियोजित कार्य छोड़कर अन्य कार्य नहीं करते। इन नौ द्वारों के विषय में श्रीमद्भगवद्गीता में निम्न प्रकार कहा है-''जो ब्रह्म में अर्पण कर आसक्ति-विरहित कर्म करता है, उसको वैसे ही पाप नहीं लगता, जैसे कि कमल के पत्ते को पानी नहीं लगता। अतएव कर्मयोगी शरीर से, मन से, बुद्धि से, और इन्द्रियों से भी, आसक्ति को छोड़कर आत्मशुद्धि के लिये कर्म क्रिया करते हैं। जो योगयुक्त हो गया, वह कर्मफल छोड़कर अंत की पूर्णशांति पाताा है, परन्तु जो योगयुक्त नहीं है वह वासना से फल के विषय में सक्त होकर बद्ध हो जाता है। सब कर्मों का मन से संन्यास कर, जितेन्द्रिय देहवान् पुरुष नौ द्वारों के इस देहरूपी नगर में न कुछ करता और न कराता हुआ आंनद से रहता है। (गीता. ५।१०-१३)'' अर्थात् सब कुछ करता हुआ न करने वाले के समान शांत रहता है। यह श्रेष्ठ सिद्धि इस देह में रहते हुए प्रयत्न से प्राप्त हो सकती है।

नौ द्वारों के अतिरिक्त इस देह में किंवा इस ब्रह्मपुरी में आठ चक्र हैं। (१) मूलाधार चक्र-गुदाद्वार के पास पृष्ठवंशसमाप्ति के स्थान में है, यही इस नगरी का मूल आधार है। (२) **स्वाधिष्ठान चक्र**-उसके ऊपर है। (३) **मणिपूरक चक्र**-नाभिस्थान में है। (४) **अनाहत चक्र**-हृदय-स्थान में है। (५) **विशुद्धि चक्र**-कंठस्थान में है। (६) **ललना चक्र**-जिह्वामूल में है। (७) **आज्ञाचक्र**-दोनों भौहों के बीच में है। (८) **सहस्रार चक्र**- मस्तिष्क में है। इसके अतिरिक्त और भी एक चक्र है, परन्तु ये मुख्य

हैं। इनमें से एक-एक चक्र का महत्त्व योग साधन के मार्ग में अत्यंत है, क्योंकि प्रत्येक चक्र में प्राण पहुंचने से यहां से अद्‌भुत शक्ति का आविष्कार होता है। इन आठ चक्रों के कारण यह नगरी बड़ी शक्तिशाली हुई है। जैसे कीलेपर शत्रु निवारण के लिए शास्त्रास्त्र रहते हैं, वैसे ही इस नगरी के संरक्षण के लिये इन आठ चक्रों में सम्पूर्ण शक्तियाँ शास्त्रास्त्रों समेत रखी हैं। इन चक्रों के द्वारा ही हमारा आरोग्य है और बुद्धि, मन, इन्द्रियां और शरीर की सब शक्ति है। जो मनुष्य ये सब शक्तियों के आठ केन्द्र अपने अधीन कर लेता है, मन की शांति, बुद्धि की समता और आत्मिक बल सहज प्राप्त होते हैं।

इसमें जो हृदयकोश है, उस कोश में **''आत्मन्वत यक्ष''** रहता है, इस यक्ष को ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं। यही यक्ष केन उपनिषद् में है और देवीभागवत की कथा में भी है। यह यक्ष ही सब का प्रेरक है, यह **''आत्मवान् यक्ष''** है। यह सब इंद्रियों, और प्राणों को प्रेरणा करके सबसे कार्य कराता है। यही अन्य देवों का अधिदेव है; शरीर में जो देवों के अंश हैं, उन सब देवों की नियंत्रणा करनेवाला यही आत्मदेव है। यही आत्माराम है। इस ''राम'' की यह दिव्य नगरी **''अयोध्या''** नाम से सुप्रसिद्ध है।

इस नगरी में तेजोमय स्वर्ग है। स्वर्गधाम यहां ही है, स्वर्ग प्राप्ति के लिये बाहर जाने की जरूरत नहीं है। इस पुरी में ही स्वर्ग है, जो इसको देखना चाहते हैं यहां ही देखें। सात्त्विक भावना, राजस भावना और तामस भावना ये तीन इसके आरे हैं। इसके कारण इनमें तीन गतियां उत्पन्न होती है। इसको देखने से इसकी अद्‌भुत रचना का पता लग सकता है। इन तीनों गतियों को शांत करके त्रिगुणों के परे जाने से उस ''आत्मवान् यक्ष'' का दर्शन होता है।

यह जैसी ब्रह्म की नगरी **(ब्रह्मणः पूः)** है, उसी प्रकार यही **(देवानां पूः)** देवों की नगरी भी है। जैसी यह ब्रह्म से परिपूर्ण है वैसी ही यह देवों से परिपूर्ण है। पृथिव्यादि सब देव और देवतायें इमसें रहते हैं, और उनको आकर्षण करने वाला यह आत्मदेव इनमें अधिष्ठाता रहता है। यह आत्मवान् यक्ष **''आत्मा''** शब्द पुल्लिंग होने पर न पुरुष है, **''देवी''** शब्द के स्त्रीलिंग होने पर न स्त्री है, और **''यक्षं''** शब्द नपुंसक लिंग होने से न वह नपुंसक है। तीनों लिगों से भिन्न वह शुद्ध तेजस्वी ''केवल आत्मा'' है। यही दर्शनीय है। उक्त ब्रह्मपुरी में जाकर इसका दर्शन कैसा किया जाता है, यह बात अगले मंत्र में कही है-

अपनी राजधानी में ब्रह्मा का प्रवेश-

यह ब्रह्मपुरी तेजस्वी है और (हरिण) दुःखों का हरण करनेवाली है। इसको प्राप्त करने से तथा पूर्णता से वशीभूत करने से सबके दुःख दूर हो जाते हैं। इसीलिये इसको ''पुरी'' कहते हैं क्योंकि इसमें पूर्णता है। जो पूर्ण होती है वही **''पुरी''** कहलाती है। पूर्ण होना ही यशस्वी बनना है। जो परिपूर्ण बनता है वही यशस्वी होता है। अपूर्णता के साथ यश का संबंध नहीं होता, परन्तु सदा पूर्णता के साथ ही यश का संबंध होता है।

जो तेजस्वी, दुःखहारक, पूर्ण और यशस्वी होता है वह कभी पराजित नहीं होता, अर्थात् सदा विजयी होता है। **''(१) तेज, (२) निदोषता, (३) पूर्णता, (४) यश और (५) विजय ''** ये पांच गुण एक दूसरे के साथ मिले जुले रहते हैं। (१) भ्राज, (२) हरण, (३) पुरी, (४) यश, (५) अपराजित ये मंत्र के पांच शब्द उक्त पांच गुणों के सूचक हैं। पाठक इन शब्दों को स्मरण रखें और उक्त पांच गुणों को अपने में स्थिर करने और बढ़ाने का यत्न करें। जहां ये पांच गुण होंगे, वहां (हरिण्य) धन रहेगा इसमें कोई संदेह ही नहीं है। धन्यता जिससे मिलती है वही धन होता है और उक्त पांच गुणों के साथ धन्यता अवश्य ही रहेगी।

उक्त पांच गुणों से युक्त ब्रह्म-नगरी में ब्रह्म प्रविष्ट होता है। पाठक प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं कि अपने अंदर व्यापक यह ब्रह्म हृदयाकाश में हैं। जब अपना मन बाहर के काम धंधे छोड़ कर एकाग्र हो जाता है तब आत्मा का ज्ञान होने की संभावना होती है और तभी ब्रह्म का पता लगना संभव है। क्योंकि वेद में अन्यत्र कहा है कि ''जो पुरुष में ब्रह्म को देखते हैं वही परमेष्ठी को जान सकते हैं। (अथर्व.१०।७।१७) '' अर्थात् जो अपने हृदय में ब्रह्म का आवेश अनुभव करते हैं, वे ही परमेष्ठी को जान सकते हैं।

अयोध्या के मार्ग का पता-

प्रिय पाठको! यहां तक आपका मार्ग है। आप कहां तक चले आये हैं और आपके स्थान से वह अयोध्या नगरी कितनी दूर है, इसका विचार कीजिये। इस अयोध्या नगरी में पहुंचते ही रामराजा का दर्शन नहीं होगा, क्योंकि राजधानी मे जाते ही महाराजा की मुलाकात नहीं हो सकती। वहां रहकर तथा वहां के स्थानिक अधिकारी सत्य श्रद्धा आदिकों की प्रसन्नता संपादन करके महाराजा के दरबार में पहुंचना होता है। इसलिये आशा है कि आप जरा शीघ्र गति से चलेंगे और वहां जल्दी पहुंचेंगे। आपके साथी ये ईर्ष्या द्वेष आदि हैं, ये आपको जल्दी चलने नहीं देते; प्रतिक्षण इनके कारण आपकी

शक्ति क्षीण हो रही है, इसका विचार कीजिये और सब झंझटों को दूर कर एक ही उद्देश्य से अयोध्या जी के मार्ग का आक्रमण कीजिये। फिर आपको मार्ग में ''हेमवती उमादेवी'' दिखाई देगी। उसको मिलकर आप आगे बढ़ जाईये। वह देवी आपको ठीक मार्ग बता देगीं इस प्रकार आप भक्ति की शांत रोशनी में सुविचारों के साथ मार्ग आक्रमण कीजिये, तो बड़ा दूर का मार्ग भी आपके लिये छोटा हो सकता है। आशा है कि आप ऐसा ही करेंगे और फिर भटकेंगे नहीं।

स्मरणीय बिंदु-

1. शाखाएँ पातंजल महाभाष्य के अनुसार अथर्ववेद की 9 शाखाएँ थीं, जिनमें से सम्प्रति शौनकीय और पैप्पलाद संहिताएँ उपलब्ध हैं।
2. नामकरण अथर्ववेद को ब्रह्मवेद भी कहा जाता है क्योंकि इसमें ब्रह्म (परमात्मा) और ज्ञान का विशेष समावेश है; इसे भृगु और अंगिरा ऋषियों के नाम पर भृग्वंगिरोवेद भी कहा जाता है।
3. विषय यह अन्य तीनों वेदों के विषयों (ज्ञान, कर्म, उपासना) का पूरक है और इसमें रक्षा, उन्नति तथा समाज-निर्माण के विशेष सूत्र मिलते हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

1. अथर्ववेद की सांगठनिक संरचना को स्पष्ट करते हुए इसकी उपलब्ध शाखाओं (शौनक एवं पैप्पलाद) का सविस्तार वर्णन कीजिए।
2. अथर्ववेद लौकिक और पारलौकिक उन्नति का पूरक ज्ञान है। इस कथन की समीक्षा करते हुए इसके मुख्य प्रतिपाद्य विषयों पर प्रकाश डालिए।
3. वैदिक ऋषियों के मंत्र-द्रष्टा होने के अर्थ की व्याख्या कीजिए और अथर्ववेद के संदर्भ में इसके महत्व को स्पष्ट कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

1. पातंजल महाभाष्य के अनुसार चारों वेदों की शाखाओं की संख्या कितनी बताई गई है?
2. अथर्ववेद को ब्रह्मवेद क्यों कहा जाता है?
3. स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार वेद और शाखा में क्या मौलिक अंतर है?
4. अथर्ववेद की शौनकीय संहिता के महत्व को संक्षेप में समझाइए।
5. मंत्र-द्रष्टा और मंत्र-रचयिता के बीच के अंतर को स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1. पातंजल महाभाष्य के अनुसार अथर्ववेद की कुल कितनी शाखाएँ मानी गई थीं?

(।) 21

(2) 101

(3) 1000

(4) 9

प्रश्न 2. अथर्ववेद की सम्प्रति कौन सी दो संहिताएँ मुख्य रूप से उपलब्ध हैं?

(।) शाकल और वाजसनेयी

(2) शौनकीय एवं पैप्पलाद

(3) कौथुम एवं जैमिनीय

(4) तैत्तिरीय और काण्व

प्रश्न 3. स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार शाखाएँ क्या हैं?

(।) ईश्वरकृत मूल वेद

(2) ऋषिकृत वेदव्याख्यान

(3) ऐतिहासिक कथाएँ

(4) केवल संगीत ग्रंथ

प्रश्न 4. अथर्ववेद को भृग्वंगिरोवेद कहने का मुख्य कारण क्या है?

(।) यह भृगु और अंगिरा ऋषियों द्वारा रचित है

(2) भृगु और अंगिरा ऋषि इसके अर्थ-द्रष्टा रहे हैं

(3) इसमें केवल भृगु वंश का इतिहास है

(4) यह नाम केवल कल्पना मात्र है

प्रश्न 5. वेदों के चार विषयों में अथर्ववेद का स्थान क्या माना गया है?

(।) यह केवल ज्ञान का वेद है

(2) यह केवल कर्म का वेद है

(3) यह अन्य तीनों वेदों के विषयों का पूरक है

(4) यह संगीत का वेद है।

इकाई- 1.4 अथर्ववेद के चयनित मंत्र

उद्देश्य-

1. अथर्ववेद के चयनित मन्त्रों के माध्यम से विद्यार्थियों को राष्ट्र-प्रेम, सामंजस्य और दीर्घायु के वैदिक आदर्शों से परिचित कराना।
2. मन्त्रों में निहित दार्शनिक और व्यावहारिक अर्थों को स्पष्ट करना, विशेषकर समाज निर्माण के संदर्भ में।
3. मन्त्रों के ऋषि (जैसे- अथर्वा) और उनके आध्यात्मिक महत्त्व का बोध कराना।

सब प्रकार से सदैव मधुर होवें

१. **जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।**
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥ *-अथर्ववेद १/३४/२*

(मे) मेरी (जिह्वायाः अगे) जिहवा के अग्रभाग में (मधु) मिठास होवे और (जिह्वामूले) जिह्वा के मूल में (मधुलकम्) और भी अधिक मिठास, मिठास का झरना होवे। हे मधु! तू (इत् अह) अवश्य ही (मम) मेरे (चित्तं) अन्तःकरण के चित्त प्रदेश तक (उपायसि) पहुंच जा, व्याप्त हो जा।

मधुविद्या

२. **ओ३म् मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।**
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः॥-*अथर्ववेद १/३४/३*

(मे) मेरा (निक्रमणं) निकट जाना, प्रवृत्ति (मधुमत्) माधुर्यमय होवे तथा (मे) मेरा (परायण) दूर हटना, निवृत्ति भी (मधुमत्) माधुर्यपूर्ण होवे। मैं (वाचा) वाणी से (मधुमत्) माधुर्ययुक्त ही (वदामि) बोलता हूँ इसलिये (हे मधुस्वरूप) मैं (मधुसन्दृशः) मधुरूप था सर्वत्र मधु को ही देखने वाला (भूयासम्) हो जाऊँ।

सर्व सहिष्णुता

३. **सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।**
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ *-अथर्ववेद ३/३०/१*

मैं (वः) तुमको (सहृदयम्) हृदयवाला (सांमनस्यम्) मनवाला और (अविद्वेषम्) द्वेषरहित (कृणोमि) बनाता हूँ। (अन्यः) एक मनुष्य (अन्यम्) दूसरे मनुष्य के साथ (अभिहर्यत) ऐसा व्यवहार करे (इव) जैसे (अघ्न्या) गाय (जातम्) नव-उत्पन्न (वत्सम्) बछड़े के साथ करती है।

४. **अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु संमनाः।**
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥ *-अथर्ववेद ३/३०/२*

(पुत्रः) पुत्र (पितुः) पिता का (अनुव्रतः) अनुव्रत हो अर्थात् उसके व्रतों को पूर्ण करे। पुत्र (मात्रा) माता के साथ (संमनाः) उत्तम मनवाला (भवतु) हो अर्थात् माता के मन को सन्तुष्ट करने वाला हो। (जाया) पत्नी को चाहिए के वह (पत्ये) पति के साथ (मधुमतीम्) मीठी और (शन्तिवाम्) शान्तिप्रद (वाचम्) वाणी (वदतु) बोले।

सभी दीर्घायुष्य को प्राप्त होवें

५. **त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।**
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽअस्तु त्र्यायुषम्॥ *-अथर्ववेद ५/२८/७*

हे जगदीश्वर! आप यत्= जो देवेषु=विद्वानों के वर्तमान में त्र्यायुषम्=ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमों का परोपकार से युक्त आयु वर्त्तता जो जमदग्नेः=चक्षु आदि इन्द्रियों का त्र्यायुषम्=शुद्धि, बल और पराक्रमयुक्त तीन गुणा आयु और जो कश्यपस्य=ईश्वरप्रेरित, त्र्यायुषम्=तिगुनी अर्थात् तीनसौ वर्ष से अधिक आयु विद्यमान है तत्=उस शरीर, आत्मा और समाज को आनन्द देने वाले त्र्यायुषम्=तीन सौ वर्ष से अधिक आयु को नः= हम लोगों को प्राप्त कराइये।

पाप से सदैव दूर रहें

६. परो पेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।

परेहि न त्वा कामये वृक्षान् वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥ *–अथर्व. कां. ६ सू. ४५ मं. १*

(मनस्पाप) हे मानसिक पाप! (परः अप इहि) परे हट जा, (किम्) क्यों (अशस्तानि) अप्रशस्त कर्मों की (शंशसि) तू प्रशंसा करता है। (परा इहि) परे चला जा, (त्वा न कामये) तुझे मैं नही चाहता, (वृक्षान् वनानि) वृक्षों और वनों में (संचर) संचार कर, विचर (मे) मेरा (मनः) मन (गृहेषु) गृहकार्यों में, (गोषु) और गोपालन में विचरे।

(मन्त्र में देवासुर संग्राम को निद्रिष्ट किया है, मानसिक पाप है असुर और उसके हटाने का संकल्प है देव। मानसिक पाप ही वास्तविक पाप है। ऐन्द्रियिक और शारीरिक पाप तो मानसिक पाप के परिणाम होते हैं, अतः संकल्पों और विचारों को शिव बनाना चाहिये मानसिक पाप की कामना को वर्जित करना चाहिये। वृक्षों और वनों में पाप विचरता है। वृक्षों और वनों में पापिष्ठ जीवात्माएं जन्म ग्रहण करती है। इनमें जीवात्माओं का वास होता है। तभी इन्हें "ऊर्ध्वस्वप्नाः" *(अथर्ववेद ६/४४/१)* कहा है। स्वप्न और जागरण जीवधारियों को होते हैं, जड़ों को नहीं। मन को खाली न रखना चाहिये इसलिये कहा है "गृहेषु गोषु" "मे मनः"। जीवात्मा के लिये कहा "ओषधिषु प्रतितिष्ठा शरीरैः"। *(अथर्ववेद १८/२/७)* शरीरैः बार-बार शरीर ग्रहण करना ओषधियों में। अतः शरीरैः बहुवचन है, या सूक्ष्म और कारण शरीर सहित स्थूल शरीर रूप में औषधि, वनस्पति, वृक्षों और वनों में शरीरग्रहण करना, अभिप्रेत है।)

अग्ने समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे।

स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्रयच्छतु॥ *–अथर्ववेद १/६४/१*

मनुष्यों को चाहिए कि काष्ठ धृत और अन्य द्रव्यों से भौतिक अग्नि को प्रज्वलित करके हवन और शिल्प कार्यों में उपयोगी करें तथा उसके गुणों में श्रद्धा और बुद्धि बढ़ावें और इसी प्रकार परमात्मा की भक्ति को अपने हृदय में स्थापित करें।

पुरुषार्थ की महिमा

७. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।

गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनञ्जयो हिरण्यजित्॥ *–अथर्ववेद ७/५०/८*

मैं हाथ पर हाथ धरकर बैठनेवाला नहीं हूँ। मेरे दाहिने हाथ में कर्म है और बाएँ हाथ में विजय रखी है। इस 'कर्म' रूपी जादू की छड़ी हाथ में लेते ही गौ, घोड़े, धन-धान्य, सोना-चाँदी जो चाहूँगा सो मेरे आगे हाथ बाँधकर खड़ा हो जाएगा।

शाश्वतता

८. अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति॥ *–अथर्ववेद १०/८/३२*

(देवस्य) परमात्मा के (काव्यम्) काव्य को (पश्य) देखो। (अन्ति सन्तम्) वह इतना निकट है कि (न जहाति) कोई उसको छोड़ नहीं सकता। (अन्ति सन्तम्) वह इतना निकट है कि (न पश्यति) कोई उसे देख नहीं सकता। फिर भी ईश्वर का वह काव्य (न ममार) न कभी मरता है (न जीर्यते) न जीर्ण होता है।

सदा ऊर्ध्वारोहण

९. उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि॥ *–अथर्ववेद ८/१/६*

हे नर, देख जीवन में सदा तेरी उन्नति ही होनी चाहिए, अधोगति नहीं, पतन नहीं, तेरे अन्दर मैं जीवन बल फूँकता हूँ। यह मनुष्य के लिए भगवान् का आदेश है।

परस्पर साथ मिलकर बाधाओं से तरें

१०. अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः।

अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान्॥ *–अथर्ववेद १२/२/२६*

उठो मित्रों! देखो! वह सामने अनेक विघ्न-बाधाओं के पत्थरों से भरी संसार की दुस्तर नदी वेग से बहती चली आ रही है। उठो तैयार हो जाओ, एक-दूसरे का हाथ पकड़ लो, मिलकर उद्यम करो और उसे पार कर जाओ। जो खोटी चालें हैं, उन्हें

यहीं छोड़ दो। आओ विघ्न-बाधाओं की इस भयंकर नदी के पार उतरकर रोग-रहित ऐश्वर्य सुख का उपभोग करें।

ब्रह्मचर्य सूक्तम्

(अथर्ववेदः/काण्डं ११/सूक्तम् ०७)

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति ॥१॥

(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी **(इष्णन्)** (ब्रह्म को) चाहता हुआ, बार-बार खोजता हुआ **(उभे रोदसी)** दोनों लोकों में, द्यावापृथिवी में **(चरति)** विचरता है, अनुकूल आचरण करता है, ब्रह्मचर्य करता है। **(तस्मिन्)** उसमें **(देवाः)** सब देवता **(संमनसः भवन्ति)** अनुकूल होकर रहते हैं। **(सः)** वह **(पृथिवीं दिवं च)** पृथिवीं और द्यौ को **(दाधार)** धारण करता है। **(सः)** वह **(तपसा)** तपस्या द्वारा **(आचार्यं)** आचार्य को **(पिपर्त्ति)** तृप्त करता है।

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे।
गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत्त्रिशताः षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति ॥२॥

(पितरो देवजनाः) रक्षा करने वाले 'पितर' देवजन **(पृथक् सर्वे देवाः)** पृथक् सब 'देव' लोग **(ब्रह्मचारिणं अनुसंयन्ति)** ब्रह्मचारी के पीछे चलते हैं। **(त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः)** तीन, तीस, तीन, सौ, छः हजार ये देव हैं **(सर्वान् स देवान् तपसा पिपर्ति)** इन सब देवों को ब्रह्मचारी अपने तप से संतृप्त करता है।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥३॥

(आचार्यः) आचार्य **(उपनयमानः)** उपनयन करता हुआ **(ब्रह्मचारिणं)** ब्रह्मचारी को **(गर्भम् अन्तःकृणुते)** अपने गर्भ में करता है। **(तं)** उसे **(तिस्र रात्रीः)** तीन रात्रि तक (जब तक ज्ञान, कर्म, उपासना विषयक तीन प्रकार की अन्धकारों की अवस्था से गुजर कर वसु, रुद्र क्रम से आदित्य का उदय नहीं हो जाता तब तक) **(उदरे)** पेट में, अपने अन्दर, अपने कुल में **(बिभर्ति)** धारण करता है **(तं)** उस **(जातं)** विद्या से द्विजरूपेण) उत्पन्न हुए को **(द्रष्टुं)** देखने के लिए, दर्शन करने के लिए **(देवाः)** देवता **(अभिसंयन्ति)** आते हैं, अभिमुख हो इकट्ठे होते हैं।

इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥४॥

(इयं समित् पृथिवी) यह (पहिली समिधा पृथिवी है, **(द्यौः द्वितीया)** द्युलोक दूसरी है **(उत)** और **(अन्तरिक्षं)** अन्तरिक्ष को भी **(समिधा)** (तीसरी) समिधा से **(पृणाति)** पूरित करता है, यजन करता है। **(ब्रह्मचारी)** ब्रह्मचारी **(समिधा)** ज्ञानदीप्ति से **(मेखलया)** मेखला (कटिबद्धता) से **(श्रमेण)** श्रम से **(तपसा)** तप से **(लोकान्)** सब लोकों, सब संसारों, मनुष्यों को **(पिपर्ति)** पालित पूरित करता है।

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥५॥

(ब्रह्मणः) ब्रह्म से **(पूर्वः)** पहिला होकर या पहिले **(जातः)** उत्पन्न हुआ **(ब्रह्मचारी)** ब्रह्मचारी **(धर्मं वसानः)** तेज को धारण किये हुए **(तपसा)** तप से **(उदतिष्ठत्)** उठता है। **(तस्मात्)** उससे **(ब्राह्मणं)** ब्रह्मसम्बन्धी **(ज्येष्ठं ब्रह्म)** उत्कृष्ट ज्ञान **(जातम्)** उत्पन्न होता है, **(देवाः च सर्वे)** और सब देव **(अमृतेन साकम्)** अमृत से युक्त (हो जाते हैं)।

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्॥६॥

(समिधाः समिद्धः) समित् होम से ज्ञानदीप्त हुआ **(कार्ष्णं वसानः)** काला मृगचर्म पहिने हुए **(दीर्घश्मश्रूः)** बढ़ी हुई दाढ़ी-मूँछ वाला **(दीक्षितः)** व्रत ग्रहण किये हुए **(ब्रह्मचारी एति)** ब्रह्मचारी आता है। **(सः)** वह ब्रह्मचारी **(लोकान् संगृभ्य)** लोकसंग्रह करके **(मुहुः आचरिक्रत्)** पुनः पुनः चारों-तरफ से कर्म करता हुआ **(सद्यः)** शीघ्र ही **(पूर्वस्मात् समुद्रात्)** पहले ज्ञानसमुद्र से **(उत्तरं समुद्रं)** दूसरे उत्कृष्टतर ज्ञानसमुद्र को **(एति)** पहुँचता है।

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् ।
गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह ॥७॥

(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी **(ब्रह्म)** ज्ञान **(अपः)** कर्म **(लोकम्)** और लोक को **(जनयन्)** प्रकट करता हुआ, **(प्रजापतिं)** प्रजापति (अवस्था) को प्रकट करता हुआ और **(परमेष्ठिनं विराजम्)** अपेक्षया परम में स्थिर होने वाली विराट् अवस्था को प्रकट करता हुआ, **(अमृतस्य योनौ गर्भो भूत्वा)** अन्त में अमृत की योनि में गर्भभूत रहकर **(इन्द्रः भूत्वा)** अब इन्द्र बन कर **(ह)** निश्चय से **(असुरान्)** असुरों का **(ततर्ह)** नाश करता है।

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च ।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ॥८॥

(आचार्यः) आचार्य **(इमे उभे नभसी)** इन दोनों लोकों को अर्थात् **(उर्वी)** बहुत विस्तृत **(गम्भीरे)** और बहुत गहरे **(पृथिवीं दिवं च)** पृथिवी और द्युलोक को **(ततक्ष)** गढ़ देता है। **(ते)** उन (गढ़े हुए द्यावापृथिवी) की **(ब्रह्मचारी)** ब्रह्मचारी **(तपसा)** तपस्या द्वारा **(रक्षति)** रक्षा करता है। **(तस्मिन्)** उस ब्रह्मचारी में **(देवाः)** सब देवता **(संमनसः)** एकमन, अनुकूल **(भवन्ति)** होते हैं।

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च ।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ॥९॥

(प्रथमः ब्रह्मचारी) प्रथम ब्रह्मचारी **(इमां पृथिवीं भूमिं)** इस विस्तृत भूमि को **(दिवं च)** और द्यौ को **(भिक्षां आजभार)** भिक्षा में ले आया है। अब वह **(ते)** उन्हें **(समिधौ कृत्वा)** (आचार्याग्नि में) समिधा बनाकर **(उपास्ते)** उपासना करता है। **(तयोः)** उन्हीं दो **(लोकों)** में **(विश्वा भुवनानि)** सब भुवन **(अर्पिता)** समाये हुए हैं।

अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद्गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य ।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत्केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् ॥१०॥

(अन्यः) एक **(अर्वाक्)** उरे है और **(अन्यः)** एक **(दिवस्पृष्ठात्परः)** द्युलोक के पृष्ठ से परे है। ये दो **(ब्राह्मणस्य)** ब्रह्मज्ञानी के **(निधी)** खजाने **(गुहा निहितौ)** गुहा में छिपे रखे हैं। **(तौ)** उन (खजानों) की **(ब्रह्मचारी)** ब्रह्मचारी **(तपसा)** तप द्वारा **(रक्षति)** रक्षा करता है और **(ब्रह्म विद्वान्)** ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला **(उत्)** उस (ब्रह्मज्ञान रूप खजाने) को **(केवलं)** केवल, पूरी तरह **(कृणुते)** करता है, उपयोग करता है।

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे ।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढास्तान् आ तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ॥११॥

(अन्यः) एक **(अर्वाक्)** इधर की और **(अन्यः)** एक **(इतः पृथिव्याः [परः])** पृथिवी से परे की (अग्नी) ये दो अग्नियाँ **(इमे नभसी अन्तरा)** इन दोनों लोकों (द्यौ और पृथिवी) के बीच में **(समेतः)** आती हैं, इकट्ठी होती है। **(तयोः)** उनकी **(दृढ़ा रश्मयः)** जबरदस्त किरणें **(अधिश्रयन्ते)** विरोधी रूप में मिलती हैं, परस्पर टकराती हैं। **(तान्)** उन किरणों पर **(ब्रह्मचारी)** ब्रह्मचारी **(तपसा)** तप द्वारा **(आतिष्ठति)** आस्थित होता है, ठहरता है।

अभिक्रन्दन् स्तनयन् अरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार ।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥१२॥

(अभिक्रन्दन्) गरजता हुआ, नाद करता हुआ (स्तनयन्) कड़कता हुआ, ध्वनि करता हुआ **(अरुणः)** आरोचमान और **(शितिङ्गः)** श्यामल **(ब्रह्मचारी)** आधिदैविक, आधिभौतिक समष्टि तथा व्यष्टि-जगत् रूपी ब्रह्मचारी **(भूमौ)** भूमि, पार्थिव प्राणी व स्थूल शरीर पर **(बृहत् शेषः)** बहुत उत्पादक शक्तिवाला, बहुत प्रभावशाली, बहुत आभ्यान्तर शक्तिवाला होकर **(अनु जभार)** कृपा करता है तो **(पृथिव्यां)** इस पृथिवी पर **(सानौ)** पहाड़ों, उन्नत पुरुषों व उन्नत प्राण केन्द्रों में **(रेतः सिञ्चति)** जल, ज्ञान व वीर्य की वृष्टि करता है। **(तेन)** उस वृष्टि से **(चतस्रः प्रदिशः)** चारों दिशाएँ, सब प्राणी, शरीर के सारे अणु **(जीवन्ति)** जीवन प्राप्त करते हैं।

अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् ब्रह्मचार्यप्सु समिधमा दधाति ।
तासामर्चींषि पृथगभ्रे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वर्षमापः ॥१३॥

(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी **(अग्नौ)** अग्नि में, **(सूर्ये)** सूर्य में, **(चन्द्रमसि)** चन्द्रमा में, **(मातरिश्वन्)** वायु में, **(अप्सु)** और जल में, **(समिधं)** समिधा को **(आदधाति)** रखता है। **(तासां)** उन समिधाओं की **(अर्चींषि)** ज्वालाएँ या किरणें **(पृथक्)** जुदा-दुदा **(अभ्रे)** अन्तरिक्ष में **(चरन्ति)** चलती हैं। **(तासां)** उन समिधाओं का **(आज्यं)** घी **(पुरुषः)** पुरुष, अन्तरात्मा होता है और **(वर्षे)** वर्षा (आपः) व्यापक जल व व्यापक कर्म (व्यापकताओं) की होती है।

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः ।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम् ॥१४॥

(आचार्यः) आचार्य **(मृत्यु)** मृत्यु है, **(वरुणः)** वरुण है, **(सोमः)** सोम है, **(ओषधयः)** ओषधियाँ हैं, **(पयः)** दूध है, **(सत्वानः)** (आचार्य के) ये (पाँचों) रूप पाँच बल **(जीमूताः)** जीवन बरसाने वाले मेघ **(आसन्)** होते हैं। **(तैः)** उन ही सत्वों से (आचार्य ने) **(इदं)** इस (ब्रह्मचारी के लिए) **(स्वः)** सुख, अमृतत्व व तेज का **(आभृतम्)** आहरण किया है, (इनकी वर्षा) लाया है।

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणः यद्यदैच्छत्प्रजापतौ।
तद्ब्रह्मचारी प्रायच्छत्स्वान् मित्रो अध्यात्मनः ॥१५॥

(आचार्यः) आचार्य **(अमा)** (ब्रह्मचारी के) साथ होकर या एक घर (गुरुकुलम) में होकर **(केवलं)** ही, शुद्ध **(घृतं)** तेजः प्रवाह को, ज्ञान प्रवाह को **(कृणुते)** करता है। वह **(वरुणः भूत्वा)** वरुण (पापनिवारक) होकर **(प्रजापतौ)** प्रजापति के काम के लिए **(यत् यत्)** जो जो **(ऐच्छत्)** इच्छा करता है **(तत्)** उसे **(मित्रः ब्रह्मचारी)** मित्र हुआ ब्रह्मचारी **(स्वात् आत्मनः अधि)** अपनी आत्मा के अन्दर से, अपनी आत्मशक्ति के बल से **(प्रायच्छत्)** दे देता है।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी ॥१६॥

(आचार्यः) आचार्य **(ब्रह्मचारी)** ब्रह्मचारी होता है। **(ब्रह्मचारी)** वह ब्रह्मचारी **(प्रजापतिः)** प्रजापति बन जाता है। फिर **(प्रजापतिः)** प्रजापति **(विराजति)** विशेषतया राजमान, दीप्यमान होता है। अर्थात् विराट! बनता है और वह **(विराट्)** विराट्! (वशी) होकर **(इन्द्र अभवत्)** इन्द्र बन जाता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥१७॥

(राजा) राजा **(ब्रह्मचर्येण तपसा)** ब्रह्मचर्य के तप द्वारा **(राष्ट्र)** राष्ट्र की **(विरक्षति)** ठीक-ठीक रक्षा करता है। और **(आचार्यः)** आचार्य **(ब्रह्मचर्येण)** ब्रह्मचर्य से ही **(ब्रह्मचारिणं)** ब्रह्मचारी को **(इच्छते)** चाहता है।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥१८॥

(कन्या) कन्या **(ब्रह्मचर्येण)** ब्रह्मचर्य से ही **(युवानं पतिं)** जवान पति को **(विन्दते)** प्राप्त करती है। **(अनड्वान् अश्वः)** 'बैल', 'घोड़ा' **(ब्रह्मचर्येण)** ब्रह्मचर्य से ही **(घासं जिगीर्षति)** घास खाना चाहता है, भोक्तृत्व प्राप्त करता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥१९॥

(देवाः) देव **(ब्रह्मचर्येण तपसा)** ब्रह्मचर्य के तपोबल से **(मृत्युम्)** मौत को **(अपाघ्नत)** मार डालते हैं। **(इन्द्रः)** देवराज परमेश्वर, आत्मा व इन्द्र ब्रह्मचारी **(ह)** निश्चय से **(ब्रह्मचर्येण)** अपने ब्रह्मचर्य के द्वारा ही **(देवेभ्यः)** देवों के लिए **(स्वः)** सुख व तेज को **(आभरत्)** लाता है, प्राप्त करता है।

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः ।
संवत्सरः सह ऋतुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥२०॥

(ओषधयः) औषधियाँ **(भूतभव्यम्)** जो हो चुका और जो होगा **(अहोरात्रे)** दिन और रात **(वनस्पतिः)** वनस्पतियाँ **(ऋतुभिः सह संवत्सरः)** और ऋतुओं सहित वर्ष **(ते)** ये सब **(ब्रह्मचारिणः जाताः)** ब्रह्मचारी बने हुए हैं (या ब्रह्मचारी से जन्मे हैं)।

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥२१॥

(पार्थिवाः दिव्याः) पृथिवी पर होने वाले या आकाश में होने वाले **(ये आरण्याः)** जो जंगली हैं **(ग्राम्याश्च)** और जो ग्राम में होने वाले **(ते पशवः)** ऐसे सब पशु पक्षी **(ब्रह्मचारिणः जाताः)** ब्रह्मचारी बने हुए हैं, (या ब्रह्मचारी से जन्मे हैं)।

पृथक्सर्वे प्राजापत्याः प्राणान् आत्मसु बिभ्रति।
तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥२२॥

(सर्वे) सब **(प्राजापत्याः)** प्रजापति के नियम से उत्पन्न हुए स्थूल भौतिक प्राणी **(आत्मसु)** अपने में **(पृथक्)** अलग-अलग **(प्राणान्)** प्राणों को **(बिभर्ति)** धारण करते हैं। **(तान् सर्वान्)** उन सब प्राणियों को **(ब्रह्मचारिणी आभृतं)** ब्रह्माचारी में संग्रह किया गया **(ब्रह्म)** ब्रह्म, वेद, ज्ञान ही **(रक्षति)** रक्षा करता है।

देवानामेतत्परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥२३॥

(एतत्) यह ब्रह्मचर्य **(देवानां परिषूतं)** देवों का निचोड़, सार **(अनभ्यारूढ़ं)** किसी से भी न दबाया जाता हुआ **(रोचमानं)** चमकता हुआ **(चरति)** चल रहा है, संसार में कार्य कर रहा है। **(तस्मात्)** उससे **(ब्राह्मणं ज्येष्ठब्रह्म)** ब्रह्मसम्बन्धी उकृष्ट ज्ञान **(जातं)** उत्पन्न होता है **(देवाः च सर्वे)** और सारे देव **(अमृतेन साकं)** अमृत से (युक्त हो जाते हैं।)

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः।
प्राणापानौ जनयन्न् आद्व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥२४॥

(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी **(भ्राजद् ब्रह्म)** तेजस्वी ज्ञान को, दीप्यमान ब्रह्म को **(बिभर्ति)** धारण करता है। **(तस्मिन् अधि)** उसमें **(विश्वे देवाः)** सब देव **(सं ओताः)** सम्यक् प्रकार ओतप्रोत होते हैं। इसलिए **(प्राणापानौ)** प्राण और अपान को **(आत् व्यानं)** और व्यान को **(वाचं)** वाणी को **(मनः)** मन को **(हृदयं)** हृदय को **(ब्रह्म)** ज्ञान को **(मेधां)** बुद्धि को **(जनयन्)** उत्पन्न करता हुआ, इनकी शक्तियों को प्रकट व विकसित करता हुआ होता है।

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥२५॥

(चक्षुः श्रोत्रं) देखने-सुनने आदि की पूर्ण शक्ति, पूर्ण विकसित ज्ञान शक्ति **(यशः)** यश तथा **(अन्नं)** भोग्य वस्तु **(रेतः)** वीर्य **(लोहितं)** रुधिर **(उदरं)** पेट, नाभिस्थान ये सब **(अस्मासु)** हममें **(धेहि)** धारण कराओ (इस प्रकार की पुकार उठती है)।

तानि कल्पन् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥२६॥

तो **(तानि)** इन चक्षु- श्रोत्र आदि को **(कल्पत्)** बनाता हुआ, सामर्थ्ययुक्त करता हुआ **(ब्रह्मचारी)** ब्रह्मचारी **(सलिलस्य पृष्ठे)** जल के ऊपर, व्यक्त होने वाले ज्ञान के ऊपर **(तपः अतिष्ठत्)** तप करता है, तपस्यापूर्वक ठहरता है, **(समुद्रे तप्यमानः)** ज्ञान समुद्र में (स्नान करने को) तप करता हुआ **(सः)** वह **(स्नातः)** स्नातक हुआ, ज्ञान में निष्णात हुआ, ज्ञान समुद्र में स्नान किया हुआ **(बभ्रुः)** धारण पोषण करने वाला **(पिङ्गल)** तेजस्वी, बलवान् **(पृथिव्यां)** इस विस्तृत भूमि पर **(बहु रोचते)** बहुत शोभायमान होता है, चमकता है।

स्मरणीय बिंदु-

1. मुख्य विषय अथर्ववेद के चयनित मन्त्रों में मेधा जनन (बुद्धि बढ़ाना), आयुष्य (लम्बी आयु) और साम्मनस्य (आपसी तालमेल) पर विशेष बल दिया गया है।
2. संगठन सूत्र सं गच्छध्वं सं वदध्वं जैसे मन्त्र समाज को एक साथ चलने और एक समान विचार रखने की प्रेरणा देते हैं।
3. ब्रह्मवेद का महत्त्व अथर्ववेद को ब्रह्मवेद कहा जाता है क्योंकि इसमें ब्रह्म (ईश्वर) और ब्रह्माण्ड के रहस्यों के साथ-साथ लौकिक शांति के उपाय भी वर्णित हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

1. अथर्ववेद के संज्ञान सूक्त के आधार पर सामाजिक एकता और वैचारिक समन्वय के सिद्धांतों की सविस्तार व्याख्या कीजिए।

2. अथर्ववेद राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है। इस कथन की पुष्टि चयनित मन्त्रों के उदाहरणों के साथ कीजिए।
3. अथर्ववेद के मन्त्रों में वर्णित दीर्घायु और मानसिक शांति के उपायों का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विवेचन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

1. अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र ये त्रिषप्ता: परियन्ति... का भावार्थ स्पष्ट कीजिए।
2. पारिवारिक समरसता के लिए अथर्ववेद में क्या निर्देश दिए गए हैं?
3. अथर्वा ऋषि के व्यक्तित्व और अथर्ववेद के नामकरण पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
4. मेधा जनन सूक्त का विद्यार्थी जीवन में क्या महत्त्व है?
5. अथर्ववेद के मन्त्रों में शान्ति शब्द का प्रयोग किन अर्थों में हुआ है?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1. अथर्ववेद के अनुसार संज्ञान का मुख्य लक्ष्य क्या है?
(।) धन का संचय करना
(2) सामाजिक एवं वैचारिक एकता स्थापित करना
(3) युद्ध में शत्रुओं का नाश करना
(4) केवल व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्त करना
प्रश्न 2. अथर्ववेद के मंत्रों में ब्रह्म शब्द का प्रयोग किसके लिए किया गया है?
(।) केवल एक जाति विशेष के लिए
(2) परमात्मा और सर्वोच्च ज्ञान के लिए
(3) भौतिक सुख-सुविधाओं के लिए
(4) केवल राजा के लिए
प्रश्न 3. पारिवारिक एकता के लिए मंत्रों में मा विद् विष का क्या संदेश दिया गया है? (।) आपस में द्वेष न करें
(2) धन का बंटवारा करें
(3) अलग-अलग निवास करें
(4) केवल मौन रहें
प्रश्न 4. अथर्ववेद में मेधा (बुद्धि) की प्रार्थना किससे की गई है?
(।) अग्नि और वरुण से
(2) प्रजापति और परमात्मा से
(3) इंद्र और वायु से
(4) उपरोक्त सभी से
प्रश्न 5. अथर्ववेद के शांति सूक्तों का मुख्य प्रयोजन क्या है?
(।) केवल स्वर्ण की प्राप्ति
(2) शत्रुओं का भय बढ़ाना
(3) सभी प्रकार के दुखों और उपद्रवों की शांति
(4) केवल वर्षा कराना।

खण्ड- 2 प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्योपनिषद् का परिचय

इकाई- 2.1 प्रश्नोपनिषद् में प्राणविद्या

उद्देश्य-

1. विद्यार्थियों को प्रश्नोपनिषद् के माध्यम से प्राण के आध्यात्मिक और वैज्ञानिक स्वरूप से परिचित कराना ।
2. प्राण और अपान आदि पंचप्राणों के कार्यों और शरीर में उनकी स्थिति का बोध कराना ।
3. जीवन के आधारभूत तत्व के रूप में प्राण की श्रेष्ठता और इसके ब्रह्मांडीय संबंध को समझाना ।

प्राणविद्या का स्वरूप

पिण्ड और ब्रह्माण्ड के अस्तित्व में प्राण का महत्वपूर्ण स्थान है, प्राण सर्वाधिक शक्तिशाली एवं उपयोगी जीवनी तत्त्व पंचतत्त्वों की दृष्टि से भी वायु तत्त्व हमारे शरीर के संचालन में बड़ी भूमिका निभाता है। जिसे वात कहते हैं। जो श्वास के रूप में हमारा प्राण है। उपनिषदों में प्राण को सभी इन्द्रियों को धारण करने वाला बताया गया है। प्रश्नोपनिषद् में प्राण के विषय में विशद् रूप से चर्चा की है- **सृष्टि का धारण, प्रकाशन करने वाली मुख्य शक्ति प्राण ही है-**

एक बार ब्रह्माण्ड के जड़ जगत् के विषय में आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी पिण्ड के चेतन जगत के विषय में वाणी, मन, चक्षु तथा श्रोत्र झगड़ने लगे और जोर-जोर से कहने लगे कि हम इसका धारण कर रहे हैं।

तान्हवरिष्ठः प्राण उवाच, मा मोहमापद्यथाऽहमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं
प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति। तेऽश्रद्दधाना बभूवुः॥

इन्हें झगड़ते देखकर सर्व-श्रेष्ठ 'प्राण' ने कहा-मूर्खता में मत पड़ो। मैं अपने को पांच भागों में विभक्त करके 'वाण' रूप जड़-चेतन जगत् को जैसे छप्पर को बल्ली धारण करती है वैसे धारण कर रहा हूं।

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्त तद्यथा मक्षिका मधुकर राजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति॥

'ब्रह्मांड' के जड-जगत् के पृथिवी-जल आदि पांचों महाभूतों ने और 'पिंड' के चेतन-जगत् की पांचों इन्द्रियों ने 'प्राण' की इस बात में अश्रद्धा प्रकट की, मानने से हिचकिचाहट दिखलाई। प्राण भी अपना अभिमान रोक न सका। वह उत्क्रमण करने ही लगा, निकलने ही लगा कि दूसरे सब भी निकलते नजर आने लगे, वह ठहर गया तो दूसरे भी सब ठहर गये। जैसे शहद की मक्खियों की रानी-मक्खी के उड़ जाने पर सब मक्खियां उड़ जाती हैं उसके बैठ जाने पर सब बैठ जाती हैं, इसी प्रकार 'ब्रह्मांड' के पांचों महाभूत तथा 'पिंड' की पांचों इन्द्रियां प्रीति-पूर्वक प्राण की स्तुति करने लगीं।

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च॥

रथ के चक्र की नाभि में जैसे अरे जुड़े रहते हैं, वैसे प्राण में सब स्थित हैं। ऋक्, यजु, साम- अर्थात् सम्पूर्ण 'ज्ञान-कांड' एवं यज्ञ-अर्थात् सम्पूर्ण 'कर्म-कांड' प्राण की साधना के लिये ही है। संसार को थामने वाली भौतिक-शक्ति 'क्षत्र' है, आत्मिक-शक्ति 'ब्रह्म' है। ये दोनों भी प्राण-शक्ति पर ही आश्रित हैं।

प्रजापतिश्चरति गर्भे त्वमेव प्रतिजायते।
तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि॥

हे प्राण! तू प्रजापति का रूप है। गर्भ में तू ही विचरण करता है, उत्पन्न होने पर ही उत्पन्न होता है। हे प्राण! सम्पूर्ण प्रजाएं उपहार ला-लाकर तेरे ही चरणों में रखती है। तू ही अपनी भिन्न-भिन्न प्राण-शक्तियों के द्वारा जड़-चेतन जगत् को थामे हुए है।

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुदोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः॥

हे प्राण! अपने तेज से तू ही 'इन्द्र' है; अपने रक्षण से तू ही 'रुद्र' है; तू ही संसार की ज्योतियों के स्वामी 'सूर्य' के रूप में अन्तरिक्ष में विचरण कर रहा है।

यदा त्वमभिवर्षत्यथेमाः प्राण ते प्रजाः।

आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति॥

हे प्राण! जब तू वर्षा करता है तब आनन्द से विभोर तेरी प्रजाएं सब-तरफ खड़ी मन-ही मन कह उठती हैं, अब भरपूर अन्न होगा।

व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।

वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः॥

हे प्राण! नीचे-सेनीच पुरुष-'व्रात्य'-तेरा ही रूप है, उच्च से उच्च- एकमात्र 'ऋषि' भी तेरा ही रूप है; तू संसार का 'अत्ता है, भोक्ता है, हम तेरे 'आद्य' को, भोग्य को पहुंचाने वाले हैं-तू भोक्ता और हम भोग्य हैं; तू विश्व का पति है; प्राण-रूप दीखने वाली वायु का भी तू ही पिता है।

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षूंषि।

या च मनसि संतता। शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः॥

हे प्राण! मेरा जो रूप वाणी में जाकर ठहरा हुआ है, जो श्रोत्र और जो चक्षु में है, तेरा जो रूप मन में फैल रहा है, उसे कल्याणकारी बना, उत्क्रमण मत कर-मेरी प्राण-शक्ति का किसी अंग में ह्रास न हो।

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।

मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति॥

पृथिवी, द्यु तथा अन्तरिद्वा-इन तीनों लोकों में जो-कुछ भी स्थित है, सब प्राण के ही बस में हैं। हे प्राण! जैसे माता पुत्र की रक्षा करती है, ऐसे ही तू हमारी रक्षा कर। हमें 'श्री'-भौतिक-ऐश्वर्य-तथा 'प्रज्ञा'-मानसिक तथा आत्मिक ऐश्वर्य-का प्रदान कर।

आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे

छायैतस्मिन्नेतदाततं मनो तेनायात्यस्मिञ्छरीरे॥

ऋषि पिप्पलाद कहने लगे कि, हे शिष्य! आत्मा से यह प्राण उत्पन्न होता है, जैसे-शरीर के साथ-साथ छाया का सम्बन्ध है, जहां-जहां शरीर है, वहां-वहां छाया भी अवश्य होती है, जहां शरीर नहीं वहां छाया भी नहीं। इसी प्रकार जहां आत्मा है वहां प्राण अवश्य रहते हैं। मन की शुभाशुभ वासनाओं से यह प्राण शरीर में आता है।

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष

प्राणइतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव सन्निधत्ते॥

जैसे चक्रवर्ती राजा अधिकृतान् अपने अधीन राजा आदि की नियुक्ति करता है कि आप इन-इन ग्रामों को अपने अधिकार में रक्खो, इनके आप राजा हो, इसी प्रकार प्राण भी अन्य अपान, समान, व्यान, उदानादि प्राणों की पृथक्-पृथक् सन्निधत्ते नियुक्ति करके स्वयं उनका अधिष्ठाता रहता है। इन दस प्राणों को इस प्रकार समझें।

पायूपस्थेऽपानं, चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतिष्ठते मध्ये समानः।

एष ह्येतद्धुतमन्नं मन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति॥

अपान गुदा और उपस्थ इन्द्रिय में रहता है, चक्षु, श्रोत्र, मुख और नासिका में स्वयं प्राण रहता है, समान नाभि में रहता हुआ खाये-पीये को खींचता है। इससे सारे शरीर में इसका सञ्चार होता है, इसी कारण दो आंख, दो कान, दो नासिका और एक मुख=जिह्वा ये सात-ऋषि=ज्वालायें स्व-स्व कार्य में नियुक्त होती हैं। समर्थ बनती हैं।

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां

द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखा नाडी सहस्त्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति॥

उन सब प्राणों का आधारभूत आत्मा ऊदय में रहता है। वहीं पर एक सौ एक नाडियों का चक्कर=समूह है। उनमें से एक-एक नाड़ियों से सौ-सौ नाड़ियां निकलती हैं, फिर उनमें से बहत्तर-बहत्तर नाड़ियां निकलती हैं फिर इसी प्रकार प्रत्येक नाड़ी से सहस्रों नाड़ियां निकलती है इनमें व्यान प्राण का संचार होता है। इनकी संख्या 72,72,10,201 **बहत्तर करोड़, बहत्तर लाख, दस हजार दो सौ एक** होती हैं।

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति।
पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्य लोकम्॥

अथ एक या उर्ध्वः उदानः उन नाड़ियों में से एक नाड़ी ऊपर=मूर्धा को जाती है, जिसे सुषुम्णा नाड़ी कहते हैं। वह जैसे, जिसके कर्म होते हैं वैसे-वैसे लोक की प्राप्ति कराती है। पुण्यवानों को पुण्यलोक और पापियों का नरकलोक में ले जाती है। और पापपुण्य मिश्रित वालों को मनुष्य लोक प्राप्त कराती है।

आदित्यो ह वै बाह्य प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः।
पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः॥

अब शरीर पिण्ड के पश्चात् बाह्य पिण्ड का वर्णन करते हुए ऋषि बोले कि, हे कुशलता अर्थात् सुयोग्यता रखने वाले कौशल्य पुत्र यह सूर्य ही इस बाह्य जगत् का प्राण है, सूर्य न हो तो किसी भी पदार्थ में प्राणों का सञ्चार नहीं हो सकेगा। इसलिये यह उदित होकर अपने शक्ति से चक्षु की प्राणशक्ति को अनुगृहीत करता है। आंखं शरीर पिण्ड का सूर्य है और आदित्य इस जगत् का चक्षु है। इन दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध है, जैसे- सूर्य ऊपर है और पृथिवी नीचे है, वैसे ही प्राण ऊपर है, अपान नीचे है। पृथिवी में जो देवता है, जिसके कारण नीचे को खींची जाती है वह है इसका आकर्षण, नहीं तो सूर्य के आकर्षण से ऊपर को खींची चली जाती और सूर्य से जा टकराती। इसी प्रकार शरीर की अपान शक्ति शरीर को ऊपर नहीं उठने देती, पृथिवी पर रखती है। और जो सूर्य-पृथिवी के बीच का आकाश है, वही समान वायु ही व्यान है।

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्त तेजाः।
पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः॥

तेज ही उदान जब तक बाह्य जगत् से तेज की प्राप्ति होती रहती है, तब तक ही जीवात्मा उसकी सहायता से रहता है, और जब तेज उपशान्त हो जाता है, तब इन्द्रियां बाह्य जगत् से हटकर मन के साथ संयुक्त होने लगती हैं, तब जानो यह अब मरेगा और अन्य शरीर को धारण करने की इच्छा कर रहा है। इसलिये जिन मकानों में सूर्य का प्रकाश नहीं जाता, अथवा कभी अग्नि नहीं जलाई जाती, उनमें प्राणशक्ति कम होगी, वहां के रहने वाले रोगी और अल्पायु वाले होंगे।

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः।
सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति॥

मरते समय जैसे मनुष्य के विचार होते हैं, उसी के अनुसार प्राण उसको पुनर्जन्म में ले जाते हैं, क्योंकि प्राण की दो शक्तियां हैं, एक शारीरिक, दूसरी मानसिक तेज ही शारीरिक शक्ति का सञ्चार करता है। प्राण की मानसिक शक्ति 'चित्त' है। इसी से संकल्प और विकल्प होते हैं। आत्मा और प्राणों का सहाचर्य है। इसलिये जब प्राण शरीर से जाते हैं, तब चित्त और आत्मा सभी निकल जाते हैं। निकलने का मार्ग योगियों का 'उदानमार्ग' ब्रह्मरन्ध्र है, साधारण व्यक्ति का जहां से चाहे वहां से निकल जाते हैं।

सूक्ष्म शरीर का वर्णन

१५. हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति॥६॥

आत्मा का निवास हृदय में है। इस हृदय के साथ मुख्य १०१ नाड़ियां हैं। इनमें से एक-एक से सौ-सौ शाखाएं फूटी हैं। उन शाखाओं से भी एक-एक से बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखाएं फूटी हैं। हृदय से लेकर इस सम्पूर्ण 'रक्त-संचारिणी-संस्थान' (Circulatory system) में 'व्यान'-'वि+आन'-विचरता है। *(कठ ६-१६ छान्दोग्य ८-६; बृहदा० २-१-१९;४-२-३;४-३-२०;४-४-२)*

स्मरणीय बिंदु-

1. प्राण की सर्वोपरिता शरीर की सभी इंद्रियां प्राण पर ही आश्रित हैं; प्राण के निकलने पर इंद्रियां भी कार्य करना बंद कर देती हैं ।
2. तेज और पुनर्जन्म मृत्यु के समय जब शरीर का तेज शांत होता है, तब इंद्रियां मन में विलीन हो जाती हैं और जीव अपने संकल्प (चित्त) के अनुसार नए शरीर की ओर गति करता है ।
3. स्वास्थ्य और प्रकाश जिस स्थान पर सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता या जहाँ अग्नि (तेज) का अभाव होता है, वहाँ प्राणशक्ति कम हो जाती है, जिससे व्यक्ति रोगी और अल्पायु हो सकता है ।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

1. प्रश्नोपनिषद् में वर्णित प्राणविद्या का सविस्तार वर्णन करते हुए शरीर में पंचप्राणों के कार्यों और मृत्यु के समय प्राण की गति के वैज्ञानिक एवं दार्शनिक पक्ष को स्पष्ट कीजिए ।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति- इस पंक्ति के आधार पर पुनर्जन्म में मन (चित्त) और प्राण की भूमिका स्पष्ट कीजिए ।
2. प्रश्नोपनिषद् के अनुसार सूर्य के प्रकाश और अग्नि का प्राणशक्ति से क्या संबंध है?
3. शरीर में प्राण की दो प्रमुख शक्तियों (शारीरिक और मानसिक) का संक्षिप्त विवरण दीजिए ।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1. प्रश्नोपनिषद् के अनुसार, मृत्यु के समय इंद्रियां किसमें विलीन (संयुक्त) हो जाती हैं?
(।) प्राण में
(2) मन में
(3) बुद्धि में
(4) शरीर में

प्रश्न 2. प्राण के निकलने पर जीव अन्य शरीर को प्राप्त करता हैष, यह किसके अनुसार होता है?
(।) केवल शारीरिक बल के अनुसार
(2) संचित धन के अनुसार
(3) मृत्यु के समय के संकल्प (चित्त) के अनुसार
(4) केवल भाग्य के अनुसार

प्रश्न 3. प्राण की मानसिक शक्ति को क्या कहा गया है?
(।) तेज
(2) इंद्रिय
(3) चित्त
(4) शरीर

प्रश्न 4. जिस स्थान पर सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता, वहाँ के निवासियों पर क्या प्रभाव पड़ता है?
(।) वे अधिक बलवान होते हैं
(2) उनकी प्राणशक्ति कम होती है और वे अल्पायु होते हैं
(3) उनकी आयु बढ़ जाती है
(4) उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता

प्रश्न 5. प्राणशक्ति का संचार करने वाली शारीरिक शक्ति को क्या कहा जाता है?
(।) तेज
(2) अपान
(3) संकल्प
(4) स्वप्न

इकाई- 2.2 मुण्डकोपनिषद्

उद्देश्य-

1. मुण्डकोपनिषद् के माध्यम से विद्यार्थियों को परा (आध्यात्मिक) और अपरा (लौकिक) विद्या के मूलभूत अंतर से अवगत कराना।
2. सृष्टि की उत्पत्ति के रहस्यों को ऊर्णनाभि (मकड़ी) और अन्य वैदिक उदाहरणों द्वारा समझाना।
3. सत्य की महिमा और आत्म-साक्षात्कार के लिए आवश्यक गुणों (जैसे- सत्य, तप, ब्रह्मचर्य) के महत्व को प्रतिपादित करना।

(प्रथममुण्डक - प्रथमखण्ड)

सृष्टिरचना

१६. यथोर्णनाभि सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि, तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम्॥७॥

जैसे मकड़ी अपने शरीर के भीतर से जाले का सृजन करती है और फिर उसे समेट लेती है, जैसे पृथिवी में औषधियां उत्पन्न होती है, जैसे जीवित पुरुष के शरीर से केश-लोम निकलते हैं, इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म (के प्रकृति-रूपी शरीर) से विश्व हो जाता है।

१७. तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्॥८॥

अक्षर ब्रह्म से यह विश्व कैसे हुआ? ब्रह्म ने तप किया, 'तप' अर्थात् 'उग्र-क्रिया' (Activity in Climax) से ब्रह्म बढ़ने लगा, विश्व के रूप में विकसित होने लगा। विकसित होते-होते 'अन्न' तक उसका विकास हो गया। ब्रह्म के विश्व-रूप में विकास का आदि 'तप' है, अन्त 'अन्न' है। अन्न ऐसी वस्तु है जो प्राण, मन, सत्य, लोक, कर्म और कर्म में रहने वाले अमृत, अर्थात् ऐसा कर्म जिसने अमृत निहित है—इन सबको उत्पन्न करता है। अन्न से ही सब चलता है।

(प्रथममुण्डक - द्वितीयखण्ड)

गुरु शरणागति

१८. परीक्ष्य लोकान्कर्मचित्तान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥१२॥

यज्ञ-याग, दान-पुण्य—इन कर्मों से, अर्थात् सकाम भावना से किये गये कर्मों से जो सुख-ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं, इनकी परीक्षा करके ब्राह्मण-वृत्ति के मनुष्य के हृदय में संसारी विषयों से उदासीनता आ जाती है, और वह समझ जाता है कि 'अकृत' को 'कृत' से नहीं पाया जा सकता। यज्ञ-याग आदि सब 'कृत' हैं, तभी इन्हें 'कृतु' कहा गया है। 'कृत' से 'कृत' हो पाया जा सकता है, जिसकी उत्पत्ति है और विनाश है वही मिल सकता है। 'कृत' से 'अकृत' नहीं मिलता। ब्रह्म तो 'अकृत' है, उसकी उत्पत्ति नहीं, विनाश नहीं। 'अकृत' को 'अकृतु' ही पा सकता है—'तमक्रतुः पश्यति'। उस 'अकृत' को जानने के लिये हाथों में समिध लेकर, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के चरणों में उपस्थित होना आवश्यक है।

(द्वितीयमुण्डक - द्वितीयमखण्ड)

ब्रह्म की सर्वव्यापकता

१९. प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥४॥

प्रणव धनुष है, आत्मा शर है, ब्रह्म लक्ष्य है। प्रमादरहित होकर इस लक्ष्य का बेध करे, फिर जैसे शर लक्ष्यमय हो जाता है, वैसे आत्मा ब्रह्ममय हो जायेगा।

२०. भिद्यते हृदयग्रन्थिरिश्छद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥८॥

'हृदय' की सब गांठे (Emotional Complexes) टूट जाती हैं, मस्तिष्क के सब संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, मनुष्य

जिन नाना कर्मों में व्याकुलता से भागा फिरता है वे छूट जाते हैं, जब उसका पर और अपर-ओर-छोर-दीख जाता है।

२१. ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणातश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसूतं ब्रह्मैवेद विश्वमिदं वरिष्ठम्।११।

अमृत ब्रह्म ही सामने है, ब्रह्म ही पीछे हैं, ब्रह्म ही दक्षिण में है, ब्रह्म ही उत्तर में है, नीचे ब्रह्म है, ऊपर ब्रह्म है, यह सम्पूर्ण विश्व-संसार में जो कुछ भी श्रेष्ठ है, सब ब्रह्म ही ब्रह्म का प्रसार है, उसी का विस्तार है।

(तृतीयमुण्डक, प्रथम खण्ड)

ब्रह्म प्राप्ति के उपाय

२२. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।५।

वह आत्मा नित्य 'सत्य' से, 'तप' से, 'सम्यक्-ज्ञान' से और 'ब्रह्मचर्य' से पाया जा सकता है। शरीर के भीतर ही वह शुभ्र ज्योतिर्मय रूप में विद्यमान है। यति लोग राग-द्वेष आदि दोषों का क्षय करके उसे देख पाते हैं।

सत्य की विजय

२३. सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाऽऽक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्।६॥

सत्य का ही विजय होता है, अनृत का नहीं। 'देवयान-पन्था' देव की तरफ जाने वाला मार्ग सत्य से बना है। आप्तकाम ऋषि जिस मार्ग से चलते हैं, जहां पहुंचते हैं, वह सत्य का ही परम-धाम है।

(तृतीयमुण्डक - द्वितीय खण्ड)

आत्मवेत्ता कौन

२४. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष बृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।।३।

आत्मा बड़े-बड़े भाषणों से नहीं मिलता, तर्क-वितर्क से नहीं मिलता, बहुत कुछ पढ़ने-सुनने से नहीं मिलता। जिसको यह वर लेता है, वही इसे प्राप्त कर सकता है, उसके सामने आत्मा अपने स्वरूप को खोलकर रख देता है।

२५. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नाम रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।८॥

जैसे नदियां बहती हैं, और बहते-बहते अपना-अपना पृथक् नाम और रूप को छोड़कर समुद्र में अस्त हो जाती हैं, इसी प्रकार विद्वान् पुरुष नाम रूप से छूटकर परे से परे दिव्य पुरुष के निकट पहुंच जाता है।

स्मरणीय बिंदु-

1. दो प्रकार की विद्याएँ मुण्डकोपनिषद् में विद्या के दो रूप बताए गए हैं अपरा विद्या (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और शिक्षा-कल्प आदि व्याकरण शास्त्र) और परा विद्या (जिसके द्वारा उस अविनाशी ब्रह्म को जाना जाता है)।
2. सृष्टि उत्पत्ति का दृष्टांत जिस प्रकार मकड़ी (ऊर्णनाभि) स्वयं जाला बुनती है और उसे अपने में समेट लेती है, उसी प्रकार अविनाशी परमात्मा से इस चराचर जगत की उत्पत्ति होती है।
3. सत्य की विजय सत्यमेव जयते नानृतं के अनुसार केवल सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं; और सत्य के मार्ग से ही ऋषियों ने उस परम पद को प्राप्त किया है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

1. मुण्डकोपनिषद् के आधार पर परा और अपरा विद्या के स्वरूप का सविस्तार वर्णन कीजिए। वर्तमान शिक्षा पद्धति में इन दोनों का समन्वय क्यों आवश्यक है?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मुण्डकोपनिषद् में सृष्टि की उत्पत्ति को समझाने के लिए किन प्रमुख दृष्टांतों (जैसे मकड़ी, औषधि, केश आदि) का प्रयोग

किया गया है?

2. सत्यमेव जयते सूक्त का आध्यात्मिक और व्यावहारिक महत्व स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1. मुण्डकोपनिषद् के अनुसार परा विद्या का मुख्य विषय क्या है?

(।) चारों वेदों का व्याकरण पढ़ना

(2) अविनाशी ब्रह्म (परमात्मा) का ज्ञान प्राप्त करना

(3) युद्ध कला में निपुण होना

(4) धन संचय करने की विधि

प्रश्न 2. मुण्डकोपनिषद् में अपरा विद्या के अंतर्गत किसे सम्मिलित किया गया है?

(।) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद को

(2) शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष को

(3) (।) और (ठ) दोनों को

(4) केवल ध्यान और समाधि को

प्रश्न 3. सृष्टि की उत्पत्ति के संदर्भ में ऊर्णनाभि का दृष्टांत किसका संकेत देता है?

(।) मकड़ी की कार्यक्षमता का

(2) परमात्मा द्वारा स्वयं से सृष्टि रचना और उसमें व्याप्त होने का

(3) कीड़े-मकोड़ों के जीवन चक्र का

(4) केवल भौतिक विज्ञान का

प्रश्न 4. सत्यमेव जयते नानृतं का अर्थ क्या है?

(।) हमेशा झूठ बोलना चाहिए

(2) सत्य की ही जीत होती है, झूठ की नहीं

(3) जीत के लिए कुछ भी करना सही है

(4) सत्य और असत्य दोनों समान हैं

प्रश्न 5. परमात्मा तक पहुँचने वाले देवयान मार्ग का विस्तार किससे होता है?

(।) केवल शारीरिक बल से

(2) सत्य के निरंतर आचरण से

(3) अत्यधिक धन के दान से

(4) केवल मौन रहने से।

इकाई- 2.3 माण्डूक्योपनिषद्

उद्देश्य-

1. विद्यार्थियों को माण्डूक्योपनिषद् के माध्यम से ओङ्कार (ओम) के दार्शनिक और अक्षरात्मक स्वरूप से परिचित कराना।
2. आत्मा की चार अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय) और ओङ्कार की मात्राओं के बीच संबंध को समझाना।
3.ओम को सर्वव्यापक सत्ता (भूत, भविष्य, वर्तमान) के प्रतीक के रूप में प्रतिपादित करना।

ओंकार का स्वरूप

(क) ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव॥

जिसका कभी नाश नहीं होता, जो भूत-भविष्यत् आदि तीनों कालों से भी पृथक् सर्वव्यापक है। जिस ब्रह्म का मुख्य नाम 'ओ३म्' है यह सारा ब्रह्माण्ड उसी का रचा हुआ है, उसकी ही महिमा का द्योतक है जैसे अकार, उकार और मकार इन तीन मात्राओं से 'ओ३म्' शब्द बनता है। अकार से ईश्वर, उकार से जीव और मकार से प्रकृति। अकार से पृथिवी, उकार से अन्तरिक्ष और मकार से द्युलोक। अकार से ज्ञान, उकार से कर्म और मकार से उपासना। अकार से ऋग्वेद, उकार से यजुर्वेद और मकार से सामवेद। अकार से सृष्टि की उत्पत्ति, उकार से स्थिति और मकार से प्रलय। इस प्रकार ओंकार का विस्तार से वेदशास्त्रों व ऋषि-मुनियों ने उपदेश किया है। इसलिये सर्वत्र ओ३म् का ही महत्त्व दृष्टिगोचर हो रहा है।

(ख) एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥

हे मनुष्यों! वह ब्रह्म सम्पूर्ण ऐश्वर्यों का स्वामी है, सर्वज्ञाता सर्वव्यापक, और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का निमित्त कारण होता हुआ प्रभव (अप्ययौ) उत्पत्ति और विनाश अपने में मानो लीन करने वाला है यही उसकी सगुणता है न कि शरीरधारी बनकर उत्पन्न होना।

(ग) सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति॥

अर्थात् वह ब्रह्म अविनाशी है, उसका मुख्य नाम ओंकार है जिसके अकार, उकार और मकार ही तीन पाद हैं। इन तीनों मात्राओं का सविस्तार वर्णन पूर्व में कर आयें हैं।

(घ) जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वाऽऽप्नेति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद॥

ओ३म् इसकी अकार प्रथम मात्रा है यह ही जागरित स्थान वाली कही जाती है, जिसका नाम वैश्वानर है। जैसे अकार सब व्यजंनों में व्यापक है बिना अकार के कोई भी अक्षर नहीं बोला जाता, वैसे ही बिना चेतन, ब्रह्मरूप कर्त्ता के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। जैसे बिना कुम्हार के मिट्टी से घड़ा नहीं बन सकता। यह सबका आदि है जो ऋग्वेद से सम्बन्धित है ऋग्वेद ज्ञानकाण्ड है ज्ञानी व्यक्ति सर्वत्र प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, और सकल विश्व का नेता बनता है। जैसे- 'वैश्वान् नरान् नयति' इति वैश्वानरः जगदीश्वरः। संसार का नियामक ब्रह्म है, जिसे वैश्वानर भी कहते हैं।

(ङ) स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति। ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद॥ अर्थात् ब्रह्म की दूसरी मात्रा उकार है, जो स्वप्न स्थान वाली 'तैजस्' नाम से पुकारी जाती है। जो पूर्व की अपेक्षा उत्कृष्ट वाली है, जिसका सम्बन्ध यजुर्वेद से है। यजुर्वेद कर्मकाण्ड से युक्त है जो ज्ञानी भी और तद्रूप आचरण वाला भी हो तो अधिक श्रेष्ठ कहलायेगा, वही राष्ट्र में ज्ञान और वैदिक कर्मों का प्रचारक होगा। इस प्रकार के ज्ञानी और कर्मकाण्डी के कुल में वेद और ईश्वर का ज्ञाता ही पैदा होगा, यह निश्चय रूप से जान लेना चाहिये।

(च) सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रामितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदꣳसर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद॥

मकार ओंकार की तृतीयमात्रा है जो ब्रह्म की सुप्त स्थान वाली प्राज्ञ नाम से कही जाती है जिसका सामवेद से सम्बन्ध है। अर्थात् ज्ञानी और यज्ञ-यागादि शुभ के साथ-साथ ईशोपासक भी है। वह सांसारिक सुखों को प्राप्त करता हुआ मानसिक शान्ति का भी उपयोग करने वाला होता है। इस प्रकार तीनों ओंकार की मात्राओं के रहस्यों को जानने वाला शारीरिक,

मानसिक और आत्मिक शान्ति को प्राप्त करता है।

(छ) अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद॥

ओंकार जो सब में व्याप्त, सबसे श्रेष्ठ, सबका कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, कल्याणकारी, अद्वितीयादि गुण विशिष्ट है, उसका चतुर्थपाद अमात्रवाला है। योगी लोग समाधिस्थ होकर अपने शुद्ध- पवित्र जीवन से उक्त परब्रह्म को प्राप्त होकर इस संसार के दु:ख रूप आवागमन से छूट जाते हैं। यही इस ओंकार की उपासना का रहस्य जानना चाहिये। जिससे मानव जीवन सफल हो सके।

स्मरणीय बिंदु-

1. अवस्थाएँ और मात्राएँ ओङ्कार की तीन मात्राएँ चेतना की तीन अवस्थाओं का प्रतीक हैं अ (वैश्वानर/जाग्रत), उ (तैजस/स्वप्न), और म (प्राज्ञ/सुषुप्ति)।

2. तुरीय अवस्था ओङ्कार का चौथा पाद अमात्र (मात्रारहित) है, जिसे तुरीय कहा जाता है। यह अवस्था शांत, शिव और अद्वैत है, जो आत्मा का वास्तविक स्वरूप है।

3. सर्वव्यापकता ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम के अनुसार यह सारा जगत ओङ्कार ही है। जो कालत्रय (भूत, भविष्य, वर्तमान) से अतीत है, वह भी ओङ्कार ही है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

1. माण्डूक्योपनिषद् के आधार पर ओङ्कार की मात्राओं (अ, उ, म) और आत्मा के चारों पादों का तुलनात्मक एवं दार्शनिक विवेचन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

1. आत्मा की सुषुप्ति अवस्था और ओङ्कार की म कार मात्रा के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
2. तुरीय अवस्था के लक्षणों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1. माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार ओम (ओङ्कार) की प्रथम मात्रा अ किसका प्रतीक है?

(।) स्वप्न अवस्था (तैजस) का
(2) सुषुप्ति अवस्था (प्राज्ञ) का
(3) जाग्रत अवस्था (वैश्वानर) का
(4) तुरीय अवस्था का

प्रश्न 2. ओङ्कार का वह स्वरूप जो मात्रारहित (अमात्र), शांत और अद्वैत है, क्या कहलाता है?

(।) प्रथम पाद
(2) द्वितीय पाद
(3) तृतीय पाद
(4) चतुर्थ पाद (तुरीय)

प्रश्न 3. माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार, जो भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों से परे है, वह क्या है?

(।) केवल प्रकृति
(2) केवल शरीर
(3) ओङ्कार ही है
(4) केवल कल्पना।

खण्ड- 3 स्मृतिग्रन्थों के चयनित प्रंसग

इकाई- 3.1 श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम् (चयनित श्लोकाः)

उद्देश्य-

1. विद्यार्थियों को महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित आदि काव्य रामायण के माध्यम से मानवीय और पारिवारिक आदर्शों से परिचित कराना।
2. मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम के चरित्र के माध्यम से पितृ-भक्ति, भ्रातृ-प्रेम और सत्य-निष्ठा की शिक्षा देना।
3. सीता जी के चरित्र के माध्यम से पतिव्रत धर्म और संकट काल में धैर्य के महत्व को समझाना।

श्रीराम का चरित्र

1. **इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।**
   नितयात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी॥8॥
   इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न हुए एक ऐसे पुरुष हैं जो लोगों में राम-नाम से विख्यात हैं, वे ही ऐसे हैं, वे ही मन को वश में रखने वाले, महाबलवान, कान्तिमान, धैर्यवान्, और जितेन्द्रिय हैं।
2. **बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमान् शत्रुनिबर्हणः।**
   विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः॥9॥
   वे बुद्धिमान नीतिज्ञ, वक्ता, शोभायमान तथा शत्रुसंहारक हैं। उनके कंधे मोटे और भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं। ग्रीवा शंख के समान और ठोढ़ी मांसल (पुष्ट) हैं।
3. **महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिन्दमः।**
   अजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः॥10॥
   उनकी छाती चौड़ी तथा धनुष बड़ा है, गले के नीचे की हड्डी (हँसली) मांस से छिपी हुई है। वे शत्रुओं का दमन करने वाले हैं। भुजाएँ घुटने तक लम्बी हैं, मस्तक सुन्दर है ललाट और चाल मनोहर हैं।
4. **समः समविभक्तांगः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्।**
   पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवान् शुभलक्षणः॥11॥
   उनका शरीर (अधिक ऊँचा या नाटा न होकर) मध्यम और सुडौल है, देहका रंग चिकना है वे बड़े प्रतापी हैं। उनका वक्षः स्थल भरा हुआ है, आँखें बड़ी-बड़ी हैं। वे शोभायमान और शुभलक्षणों से सम्पन्न है।
5. **धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः।**
   यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्॥12॥
   धर्म के ज्ञाता' सत्यप्रतिज्ञ तथा प्रजाके हित-साधन में लगे रहने वाले हैं। वे यशस्वी, ज्ञानी, पवित्र जितेन्द्रिय और मन को एकाग्र रखने वाले हैं।
6. **प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः।**
   रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता॥13॥
   प्रजापति के समान पालक, श्री सम्पन्न, शत्रुविध्वंसक और जीवों तथा धर्म के रक्षक हैं।
7. **रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता।**
   वेदवेदांगतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः॥14॥
   स्वधर्म और स्वजनों के पालक, वेद-वेदांगों के तत्त्ववेत्ता तथा धनुर्वेद में प्रवीण हैं।
8. **सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान्।**
   सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः॥15॥

वे अखिल शास्त्रों के तत्त्वज्ञ, स्मरण शक्ति से युक्त और प्रतिभासम्पन्न हैं, अच्छे विचार और उदार हृदय वाले वे श्री रामचन्द्र बातचीत करने में चतुर तथा समस्त लोकों के प्रिय हैं।

9. **सर्वदाभिगतः सद्भिः समुन्द्र इव सिन्धुभिः।**
   आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः॥16॥
   जैसे नदियाँ समुद्र में मिलती हैं, उसी प्रकार सदा राम से साधु पुरूष मिलते रहते हैं, वे आर्य एवं सबमें समान भाव रखने वाले हैं, उनका दर्शन सदा ही प्रिय मालूम होता है।
10. **स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः।**
    समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव॥17॥
    सम्पूर्ण गुणों से युक्त वे श्री रामचन्द्र जी अपनी माता कौसल्या के आनन्द बढ़ाने वाले हैं, गम्भीरता में समुन्द्र और धैर्य में हिमालय के सामान हैं।
11. **विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः।**
    कालाग्निसृदशः क्रोधे क्षमया पृथ्वीसमः॥18॥
    वे विष्णुभगवान के सामान बलवान् हैं, उनका दर्शन चन्द्रमा के समान मनोहर प्रतीत होता है। वे क्रोध में कालाग्नि के समान और क्षमा में पृथिवी के सदृश हैं।
12. **धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापर।**
    तमेवं गुणसमपन्नं रामं सत्यपराक्रमम्॥19॥
13. **ज्येष्ठं श्रेष्ठगुणैर्युक्तं प्रियं दशरथः सुतम्।**
    प्रकृतीनां हितैर्युक्तं प्रकृतिप्रियकाम्यया॥20॥
    इस प्रकार उत्तम गुणों से युक्त और सत्यपराक्रम वाले सद्गुणशाली अपने प्रियतम ज्येष्ठ पुत्रको जो प्रजा के हित में संलग्न रहने वाले थे, प्रजावर्ग का हित करने की इच्छा से राजा दशरथ ने प्रेमवश युवराज पद पर अभिषिक्त करना चाहा।

धीरपुरुष

14. **यौवनाराज्येन संयोक्तुमैच्छत्प्रीत्या महीपतिः।**
    तस्यभिषेकसम्भारान् दृष्ट्वा भार्याथ कैकेयी॥21॥
15. **पूर्वं दत्तवरा देवी वरमेनमयाचत।**
    विवासनं च रामस्य भरतस्याभिषेचनम्॥22॥
    तदनन्तर राम के राज्याभिषेक की तैयारीयाँ देखकर रानी कैकेयी ने, जिसे पहले ही वर दिया जा चुका था, राजा से यह वर माँगा कि राम का निर्वासन (वनवास) और भरत का राज्याभिषेक हो।
16. **स सत्यवचनाद् राजा धर्मपाशेन संयतः।**
    विवासयामास सुतं रामं दशरथः प्रियम्॥23॥
    राजा दशरथ ने सत्य वचन के कारण धर्म-बन्धन में बंधकर प्यारे पुत्र राम को वनवास दे दिया॥८९॥
17. **स जगाम वनं वीरः प्रतिज्ञामनुपालयन्।**
    पितुर्वचननिर्देशात् कैकेय्याः प्रियकारणात्॥24॥
    कैकेयी का प्रिय करने के लिए पिता की आज्ञा के अनुसार उनकी प्रतिज्ञा का पालन करते हुए वीर रामचन्द्र वनको चले।
18. **तं व्रजन्तं प्रियो भ्राता लक्ष्मणोऽनुजगाम ह।**
    स्नेहाद् विनयसम्पन्नःसुमित्रानन्दवर्धनः॥25॥
    तब सुमित्रा के आनन्द बढ़ाने वाले विनयशील लक्ष्मण जी ने भी, जो अपने बड़े भाई राम को बहुत ही प्रिय थे, अपने सुबन्धुत्व का परिचय देते हुए स्नेहवश वन को जाने वाले बन्धुवर राम का अनुसरण किया।
19. **भ्रातरं दयितो भ्रातुः सौभ्रात्रमनुदर्शयन्।**
    रामस्य दयिता भार्या नित्यं प्राणसमा हिता॥26॥

20. जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता।
सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधूः॥27॥

21. सीताप्यनुगता रामं शशिनं रोहिणी यथा।
पौरेरनुगतो दूरं पित्रा दशरथेन च॥28॥

और जनक के कुल में उत्पन्न सीता भी, जो अवतीर्ण हुई देवमाया की भाँति सुन्दरी, समस्त शुभ लक्षणों से विभूषित, स्त्रियों में उत्तम राम के प्राणों के समान प्रियतमा पत्नी तथा सदा ही पति का हित चाहने वाली थी, रामचन्द्र जी के पीछे चली, जैसे चन्द्रमा के पीछे रोहिणी चलती है। उस समय पिता दशरथ (ने अपना सारथी भेजकर) और पुरवासी मनुष्यों ने (स्वयं जाकर) दूर तक उनका अनुसरण किया।

हनुमान जी का चरित्र

22. नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधाणिः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं प्रभाषितुम्॥28॥

जिसे ऋग्वेद की शिक्षा नहीं मिली, जिसने यजुर्वेद का अभ्यास नहीं किया तथा जो सामवेद का विद्वान् नहीं है, वह इस प्रकार सुन्दर भाषा में वार्तालाप नहीं कर सकता।

23. नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम्॥29॥

निश्चय ही इन्होंने समूचे व्याकरण का कई बार स्वाध्याय किया है; क्योंकि बहुत-सी बातें बोल जाने पर भी इनके मुँह से कोई अशुद्धि नहीं निकली।

24. न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा।
अन्येष्वपि च सर्वेषु दोषः संविदितः क्वचित्॥30॥

सम्भाषण के समय इनके मुख, नेत्र, ललाट, भौंह तथा अन्य सब अङ्गों से भी कोई दोष प्रकट हुआ हो, ऐसा कहीं ज्ञात नहीं हुआ।

25. अविस्तरमसंदिग्धमविलम्बितमव्यथम्।
उरःस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यम स्वरम्॥31॥

इन्होंने थोड़े में ही बड़ी स्पष्टता के साथ अपना अभिप्राय निवेदन किया है। उसे समझने में कोई संदेह नहीं हुआ है। रुक-रुककर अथवा शब्दों या अक्षरों को तोड़-मरोड़कर किसी ऐसे वाक्य का उच्चारण नहीं किया है, जो सुनने में कर्णकटु हो। इनकी वाणी हृदय में मध्यमा रूप में स्थित है और कण्ठ से बैखरी रूप में प्रकट होती है, अतः बोलते समय इनकी आवाज न बहुत धीमी रही है न बहुत ऊँची। मध्यम स्वर में ही इन्होंने सब बातें कहीं हैं।

26. संस्कारक्रमसम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम्।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदय हर्षिणीम्॥32॥

ये संस्कार और क्रम से सम्पन्न, अद्भुत, अविलम्बित तथा हृदय को आनन्द प्रदान करने वाली कल्याणमयी वाणी का उच्चारण करते हैं।

27. अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया।
कस्य नाराध्यते चित्रमुद्यतासेररेरपि॥33॥

हृदय, कण्ठ और मूर्धा-इन तीनों स्थानों द्वारा स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होने वाली इनकी इस विचित्र वाणी को सुनकर किसका चित्त प्रसन्न न होगा। वध करने के लिए तलवार उठाये हुए शत्रु का हृदय भी इस अद्भुत वाणी से बदल सकता है।

28. एवंविधो यस्य दूतो न भवेत् पार्थिवस्य तु।
सिद्ध्यन्ति हि कथं तस्य कार्याणां गतयोऽनघ॥34॥

निष्पाप लक्ष्मण! जिस राजा के पास इनके समान दूत न हो, उसके कार्यों की सिद्धि कैसे हो सकती है।

श्रीराम जी के गुण
श्रीराम जी की पितृभक्ति

माता कैकेयी से बातचीत करते समय श्री राम जी कहते हैं–

29. **अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके॥**
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे। *(वा.रा. २। १८। २८)*

30. **न ह्यतो धर्मचरणं किञ्चिदस्ति महत्तरम्।**
तथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनाक्रिया॥ *(वा.रा. २। १९। २२)*

मैं महाराज के कहने से आग में कूद सकता हूँ, तीव्र विष का पान कर सकता हूँ और समुद्र में भी गिर सकता हूँ, क्योंकि जैसी पिता की सेवा और उनकी आज्ञा का पालन करना है, इससे बढ़कर संसार में दूसरा कोई धर्म नहीं हैं।'

उसके बाद माता कौसल्या से भी उन्होंने कहा है–

31. **नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम।**
प्रसादे तवां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम॥ *(वा. रा. २। २१। ३०)*

'मैं चरणो में सिर रखकर आप से प्रसन्न होने के लिए प्रार्थना करता हूँ। मुझमें पिता के वचन टालने की शक्ति नहीं हैं। अतः मैं वन को ही जाना चाहता हूँ।'

उस समय तुरन्त ही सीता ने अपना कर्त्तव्य निश्चित कर लिया। वे कहती हैं–

सीता का पतिव्रत धर्म

32. **न पिता नात्मजो वात्मा न माता न सखीजनः।**
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा॥ *(वा.रा. २। २७। ५)*

33. **यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव।**
अग्रतस्ये गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान्॥ *(वा.रा. २। २७। ६)*

34. **सुखं वने निवत्सयामि यथैव भवेन पितुः।**
अचिन्तयन्ती त्रींल्लोकाञ्चिन्तयन्ती पतिव्रतम्॥ *(वा.रा. २। २७। ११)*

35. **शुश्रूमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी।**
संह रंस्ये त्वया वीर वनेषु मधुगन्धिषु॥ *(वा.रा. २। २७। १२)*

'नारी के लिए इस लोक और परलोक में पति ही आश्रय देने वाला है, पिता, पुत्र, माता तथा सखियां भी उसका सच्चा सहायक नहीं हैं। यदि आप आज ही दुर्गम वनकी ओर प्रस्थान कर रहे हैं तो मैं रास्ते के कुश-कण्टको। को कुचलती हुई आपके आगे-आगे चलूँगी। वीर शिरोमणे! वहाँ मुझे त्रिलोकी के किसी भी विषय का चिन्तन नहीं होगा। सदा पतिव्रत-धर्म का स्मरण करती हुई आपकी सेवा में लगी रहूँगी। नियमपूर्वक रहकर ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करूँगी और आपके साथ मीठी-मीठी सुगन्ध से भरे हुए वनों में विचरूँगी।

सीता की निर्भयता

वे रावण के वश में होने पर भी अत्यन्त क्रोध से उसका तिरस्कार करती हुई कहती है–

36. **त्वं पुनर्जम्बुकः सिंहीं मामिहेच्छसि दुर्लभाम्।**
नाहं शक्या त्वया स्प्रष्टुमादित्यस्य प्रभा यथा॥ *(वा.रा. ३। ४७। ३७, ४२-४४)*

'तू सियार है और मैं सिंहनी हूँ, मैं तेरे लिये सर्वथा दुर्लभ हूँ। फिर भी क्या तू मुझे पाने का हौसला रखता है? जैसे कोई सूर्य की प्रभा को नहीं छू सकता, उसी प्रकार तू मुझे छू भी नहीं सकता। तेरी इतनी हिम्मत कि तू श्रीराम की प्यारी स्त्री का अपहरण करना चाहता है।

सीता जी रावण को दुत्कारते हुए कहती हैं–

37. चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम्॥

'इस राक्षस रावण को तो मैं बायें पैर से भी नहीं छू सकती, फिर उसे चाहने की तो बात ही क्या है'

रावण वध के अनन्तर देवता और ब्राह्मणों को प्रणाम करके प्रज्ज्वलित अग्नि के समीप जा हाथ जोड़कर सीता ने कहा–

38. यथा मे हृदयं नित्यं नापसप्रति राघवात्।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥ *(वा० रा० ६। ११६। २५-२६)*

'हे लोकसाक्षी अग्निदेव! यदि मेरा मन कभी श्रीरघुनाथ जी से न हटा हो तो आप सब प्रकार से मेरी रक्षा करें। यदि मैं वास्तव में शुद्ध चरित्र हूँ और मुझे भ्रमवश श्रीरघुनाथ जी दुष्टा समझ रहे हैं तो आप मेरी सब प्रकार से रक्षा करें।'

लक्ष्मण जी का चरित्र

लड़कपन में भी श्री लक्ष्मण जी सर्वदा श्रीराम के साथ ही रहते थे। वाल्मीकि-रामायण में लिखा है–

39. बाल्यात् प्रभृति सुस्निग्धो लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः॥
रामस्य लोकरामस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य नित्यशः।
40. सर्वप्रियकरस्तस्य रामस्यापि शरीरतः॥
लक्ष्मणो लक्ष्मिसम्पन्नो बहिःप्राण इवापरः। *(१। १८। २७-२८)*

'शोभा को बढ़ाने वाले श्री लक्ष्मण बाल्यकाल से ही बड़े भाई लोकाभिराम श्री राम में सदा ही स्वाभाविक गाढ़ा स्नेह रखते हैं। वे श्री रामचन्द्र जी की सेवा और सभी प्रिय-कार्य सदा अपने शरीर से ही किया करते हैं। शोभा-सम्पन्न श्री लक्ष्मण भगवान् श्री राम के मानो दूसरे प्राण ही हैं।

माता कौसल्या को विलाप करते देखकर श्रीलक्ष्मण जी कहते हैं–

41. अनुरक्तोऽस्ति भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः।
सत्येन धनुषा चैव दत्तेनेष्टेन ते शपे॥
42. दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति।
प्रविष्टं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय॥ *(वा. रा. २। २१। १६-१७)*

'देवि! मैं आपसे सत्य, धनुष, दान तथा यज्ञादि की शपथ करके कहता हूँ कि पूज्य भाई श्रीराम में मेरा हार्दिक दृढ़ अनुराग है। यदि श्रीराम जलती हुई आग में या घोर जंगल में प्रवेश करें तो आप मुझको उनसे पहले ही वहाँ प्रविष्ट हुआ समझें।

श्रीराम जी ने लक्ष्मण को कहा-

43. तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम्।
विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम्॥ *(वा. रा. २। २१। ३८)*

'लक्ष्मण! मेरे प्रति जो तुम्हारा अत्यन्त ही उत्तम प्रेम है, उसे मैं जानता हूँ तथा तुम्हारे पराक्रम, धैर्य और दुर्धर्ष तेज से भी मैं अपरिचित नहीं हूँ।

लक्ष्मण श्रीराम जी से बोले–

44. यदि गन्तु कृतां बुद्धिर्वनं मृगगजायुतम्।
अहं त्वानुगमिष्यामि वनमग्रे धनुर्धरः॥ *(वा. रा. २। ३१। ३,५)*

'प्रभो! यदि आपने हजारों जंगली पशुओं और हाथियों से भरे हुए वन में जाने का नि श्चय कर लिया है, तो मैं भी धनुष लेकर आपके साथ ही आगे-आगे चलूँगा।

इस पर श्रीराम जी ने कहा–

45. स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विधेयश्च सखा च मे॥
46. मयाद्य सह सौमित्रे त्वयि गच्छति तद्वनम्।

को भजिष्यति कौसल्यां सुमित्रां वा यशस्विनीम्॥ *(वा. रा. २। २१। १०-११)*

'लक्ष्मण! तुम मेरे परम स्नेही, धर्मपरायण, धीर और सदा श्रेष्ठ मार्ग पर आरूढ़ रहने वाले हो। मुझे प्राणों के समान प्रिय हो तथा मेरे वश में रहने वाले, आज्ञापलक और सखा हो। यदि आज मेरे साथ तुम भी वन के लिये चल पड़ोगे तो परम यशस्विनी माता सुमित्रा और कौसल्या जी सेवा कौन करेगा?'

लक्ष्मण जी ने विमान से गिराये सीता के आभूषणों को देखकर बोले–

47. **नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले॥**
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्। *(वा. रा. ४। ६। २२-२३)*

भगवन्! न मैं सीता के बाजूबंद को ही जानता हूँ और न मैं कुण्डलाके को ही पहचानता हूँ, परन्तु उनके नूपुरों को अवश्य पहचाता हूँ, क्योंकि मैं नित्य उनके चरणों में प्रणाम करते हुए नूपुरों को देखा करता था।' ब्रह्मचर्य-व्रत और सीता के प्रति पूज्यभाव का कितना सुन्दर आदर्श है!

भरत जी का चरित्र

भरत की तपस्या पूर्ण जीवनचर्या के विषय में लक्ष्मण जी ने श्रीराम जी से कहा–

48. **अस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्र काले दुःखसमन्वितः।**
तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्भक्त्या भरतः पुरे॥
49. **त्यक्त्वा राज्यं च मानं च भोगांश्च विविधान् बहून्।**
तपस्वी नियताहारः शेते शीते महीतले॥
50. **सोऽपि वेलामिमां नूनमभिषेकार्थमुद्यतः।**
वृतः प्रकृतिभिर्नित्यं प्रयाति सरयूं नदीम्॥
51. **अत्यन्तसुखसंवृद्धः सुकुमारो हिमाद्रितः।**
कथं त्वपररात्रेषु सरयूमवगाहते॥ *(वा.रा.३। १६। २७-३०)*

'पुरुषोत्तम! इस शीतकाल में धर्मात्मा भरत आपकी भक्ति के कारण नगर में कष्ट सहन करके तप कर रहे हैं। वे राज्य और मान तथा नाना प्रकार के बहुत-से भोगों का भी परित्याग करके तपस्या में संलग्न हैं और नियमित आहार करते हुए इस जाड़े की ऋतु में भी पृथ्वी पर ही शयन करते हैं। निश्चय ही, भरत भी इसी वेला में स्नान करने के लिये उद्यत होकर मन्त्री एवं प्रजाजनों के साथ प्रतिदिन सरयू नदी पर जाते होंगे। अत्यन्त सुख में पले हुए सुकुमार भरत जाड़े का कष्ट सहन करते हुए रात्रि के पिछले पहर में सरयू जी में कैसे डुबकी लगाते होंगे।

भरत श्रीरामचन्द्र जी के लिए कहते हैं–

52. **यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि सम्मतः।**
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः॥
53. **पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः।**
तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम॥ *(वा.रा. २। ७२।३२-३३)*

'जो मेरे भाई, पिता और बन्धु हैं, जिनका मैं परम प्रिय दास हूँ और जो पवित्र कर्म करने वाले हैं, उन श्रीराम चन्द्र जी को आप शीघ्र मेरे आने की सूचना दें। धर्म को जानने वाले श्रेष्ठ मनुष्य के लिये बड़ा भाई पिता के समान ही होता है। मैं उनके चरणों में प्रणाम करूँगा। अब वे ही मेरे आश्रय हैं।'

भरत की बात सुनकर निषादराज का मुख प्रसन्नता से खिल उठा। वह हर्ष में भरकर कहने लगा–

54. **धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले।**
अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि॥ *(वा.रा. २।८५। १२)*

'आप धन्य हैं, जो बिना प्रयत्न के मिले हुए राज्य को त्याग देना चाहते है; अतः इस भूण्डल में आपके समान मुझे कोई दूसरा नहीं दिखायी देता।'

भरत के विषय में श्रीराम जी ने कहा–

55. जानामि भरतं क्षान्तं गुरुसत्कारकारिणम्।
सर्वमेवात्र कल्याणं सत्यसन्धे महात्मनि॥

'मै जानता हूँ भरत बड़ा क्षमाशील और गुरुजनों का सत्कार करने वाला है। इस सत्यप्रतिज्ञ महात्मा में सभी कल्याणकारी गुण वर्तमान हैं।

श्रीरामचन्द्र जी ने भरत जी से बोले–

56. आगता त्वामियं बुद्धिः स्वजा वैनयिकी च या।
भृशमुत्सहसे तात रक्षितुं पृथिवीमपि॥ *(वा.रा. २। ११२। १६।)*

'प्यारे भाई! तुम्हें स्वभाव से ही तथा शिक्षा के फलस्वरूप जो यह विनययुक्त बुद्धि प्राप्ति हुई है, इससे तुम सारी पृथ्वी की रक्षा करने में भी पूर्णताया समर्थ हो।'

सूर्यतुल्य तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी के ये प्रेम और शिक्षा भरे वचन सुनकर और उनकी दृढ़ता देखकर भरत ने कहा–

57. अधिरोहार्य पादाभ्यां पादु के हेमभूषिते।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः॥ *(वा.रा.२. ११२.२१)*

'आर्य! ये दो स्वर्णभूषित पादुकाएँ हैं, आप इन पर अपने चरण रखें। ये ही सम्पूर्ण जगत् के योगक्षेम का निर्वाह करेंगी।' धन्य है भरत के उच्चतम भाव को।

भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ने उन पादुकाओं पर अपने मङ्गलमय चरणयुगल रखकर उन्हें भरत को दे दिया। उन पादुकाओं को प्रणाम कर भरत ने श्रीराम से कहा–

58. चतुर्द्रश हि वर्षाणि जटाधीरचरो ह्यहम्।
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन॥

59. तवागमनमाकाङ्क्षन् वसन् वै नगराद्बहिः।
तव पादुकायोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परंतप॥

60. चतुर्द्रशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम।
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्॥ *(वा.रा. २। ११२। २३-२६)*

'वीर रघुनन्दन! मैं भी चौदह वर्षों तक जटा और चीर धारण करके फल-मूल का आहार करूँगा और आप के आने की बाट जोहता हुआ नगर से बाहर ही रहूँगा। परंतप! इतने दिनों तक राज्य का सारा भार आपकी इन चरण पादुकाओं पर ही रहेगा। रघुश्रेष्ठ! चौदह वर्ष पूरे होने के बाद, उसी दिन यदि मुझे आपके दर्शन नहीं मिलेंगे तो मैं धधकती आग में प्रवेश कर जाऊँगा।'

हनुमान जी देखते हैं–

61. ददर्श भरतं दीनं कृशमाश्रमवासिनम्।
जटिलं मलदिग्धाङ्गः भ्रातृव्यसनकर्शितम्॥

62. फलमूलाशिनं दान्तं तापसं धर्मचारिणम्।
समुन्नतजटाभारं वल्कलाजिनवाससम्।

63. नियतं भावितात्मानं ब्रह्मर्षिसमतेजसम्।
पादुके ते पुरस्कृत्य प्रशासन्तं वसुंधराम्॥ *(वा.रा. ३। १२४। ३०-३२)*

श्रीहनुमान् ने देखा कि भरत नगर के बाहर आश्रम में रहते हैं। भाई के वियोग से उनका शरीर दुर्बल हो गया है। उस पर मैल जम गयी है। उनका मुख सूख गया है, उस पर दीनता का भाव झलक रहा है। वे केवल फल-मूल का ही आहार करते हैं। इन्द्रियाँ उनके वश में हैं। वे मस्तक पर लंबी जटाओं का भार तथा शरीर पर वल्कल और मृगचर्म धारण किये धर्माचरण पूर्वक तपस्या कर रहे हैं। उनका मन सब ओर से से संयत और ध्यान में निमग्न है। उनका तेज ब्रह्मर्षियों के समान है। वे श्रीराम की चरण-पादुकाओं की सेवा करते हुए पृथ्वी का शासन कर रहे हैं'।

स्मरणीय बिंदु-

1. सीता जी का त्याग सीता जी ने श्री राम के वनवास के समय उनके साथ जाने का निर्णय लिया, क्योंकि वे मानती थीं कि नारी के लिए पति ही इस लोक और परलोक में एकमात्र आश्रय है ।
2. आदर्श भ्रातृ-प्रेम लक्ष्मण जी ने अपने बड़े भाई श्री राम के प्रति अनन्य प्रेम प्रदर्शित करते हुए वन गमन के समय उनका अनुसरण किया।
3. पितृ-भक्ति श्री राम ने पिता के वचनों को निभाने के लिए राजपाट का त्याग कर दिया, जो सनातन संस्कृति के स्वधर्म निष्ठा के सिद्धांत का उत्कृष्ट उदाहरण है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. वाल्मीकीय रामायण के चयनित प्रसंगों के आधार पर श्री राम और लक्ष्मण के बीच भ्रातृ-प्रेम के आदर्श स्वरूप का सविस्तार वर्णन कीजिए।
2. सीता जी के वन गमन प्रसंग के आधार पर पतिव्रत धर्म और नारी के सामाजिक एवं आध्यात्मिक कर्तव्यों की व्याख्या कीजिए
3. रामायण केवल एक कथा नहीं, बल्कि नैतिक मूल्यों का संविधान है। इस कथन की पुष्टि पाठ्यपुस्तक में दिए गए श्लोकों के संदर्भ में कीजिए ।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

1. सीता जी ने श्री राम को रोहिणी और चंद्रमा का उदाहरण क्यों दिया?
2. नारीणां उत्तम वधू कहकर सीता जी के किन गुणों की प्रशंसा की गई है?
3. श्री राम के चरित्र में पितृ-भक्ति का क्या स्थान है?
4. रामायण के अनुसार संकट काल में परिवार की भूमिका क्या होनी चाहिए?
5. महर्षि वाल्मीकि के अनुसार एक आदर्श मनुष्य के मुख्य लक्षण क्या हैं?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1. वाल्मीकीय रामायण के अनुसार, चंद्रमा के पीछे कौन निरंतर चलती है?

(1) अरुंधति

(2) रोहिणी

(3) शची

(4) लोपामुद्रा

प्रश्न 2. सीता जी ने वन जाने के लिए श्री राम से क्या कहा?

(1) मैं आपके आगे-आगे मार्ग के कांटों को कुचलती हुई चलूँगी

(2) मैं अयोध्या में ही रहूँगी

(3) मैं अपने पिता के घर चली जाऊँगी

(4) मैं केवल मंदिर में रहूँगी

प्रश्न 3. रामायण के श्लोकों के अनुसार, नारी के लिए इस लोक और परलोक में एकमात्र आश्रय कौन है?

(1) पिता

(2) माता

(3) पति

(4) पुत्र

प्रश्न 4. सीता जी को किसका निकोड़ (सार/परिणाम) बताया गया है?

(1) विदेह राज का

(2) जनक वंश का

(3) देवताओं का

(4) ऋषियों का

प्रश्न 5. रामायण हमें मुख्य रूप से किस जीवन मूल्य की शिक्षा देती है?

(।) केवल धन अर्जन की

(2) मर्यादा और धर्म पालन की

(3) केवल युद्ध की

(4) केवल संगीत की।

इकाई- 3.2 महाभारत (चयनित श्लोकाः)

उद्देश्य-

1. महाभारत के उद्योग पर्व (विदुरनीति) के माध्यम से विद्यार्थियों को जीवन के व्यावहारिक और नैतिक सिद्धांतों से परिचित कराना।
2. बुद्धिमान (पण्डित) और मूर्ख व्यक्ति के लक्षणों के बीच अंतर समझाना।
3. सुख, शांति और धर्म के वास्तविक स्वरूप का बोध कराना।

श्री महाभारत रत्नावलि

१. नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्।।१/१।।

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करने वाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओं का संकलन करने वाले) महर्षि वेदव्यास को नमस्कार करके जय (महाभारत)-का पाठ करना चाहिये।

दुर्योधन का चरित्र

२. दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः
स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे
मूलंआजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी।। आदि. १/११०

दुर्योधन क्रोधमय विशाल वृक्ष के समान है। कर्ण स्कन्ध, शकुनि शाखा और दुःशासन समृद्ध फल-पुष्प है। अज्ञानी आजा धृतराष्ट्र ही इसके मूल हैं।।११०।।

युधिष्ठिर जी का चरित्र

३. युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः
स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे
मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च।। आदि. १/१११

युधिष्ठिर धर्ममय विशाल वृक्ष हैं। अर्जुन स्कन्ध, भीमसेन शाखा और माद्रीनन्दन इसके समृद्ध फल-पुष्प हैं। श्रीकृष्ण वेद और ब्राह्मण ही इस वृक्ष के मूल (जड़) हैं।।१११।।

४. अस्त्वयं सर्वदमनः सर्वं हि दमयत्ससौ।
स सर्वदमनो नाम कुमारः समपद्यत।।
विक्रमेणौजसा चैव बलेन च समन्वितः।। आदि. ४/८

'यह सब जीवों का दमन करता है, इसलिये 'सर्वदमन' नाम से प्रसिद्ध हो।' तबसे उस कुमार का नाम सर्वदमन हो गया। वह पराक्रम, तेज और बल से सम्पन्न था।।८१२।। (ये ही आगे चलकर सम्राट् भरत हुए।)

५. आत्माऽऽत्मनैव जनितः पुत्र इत्युच्यते बुधैः।
तस्माद् भार्यां नरः पश्येन्मातृवत् पुत्रमातरम्।। आदि. ४/४८

'पत्नी के गर्भ से अपने द्वारा उत्पन्न किये हुए आत्मा को ही विद्वान् पुरुष पुत्र कहते हैं, इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी उस धर्मपत्नी को जो पुत्र की माता बन चुकी है, माता के ही समान देखें।

कामनाओं का स्वरूप

६. न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।। आदि. ५/१२

'परंतु विषयों की कामना उन विषयों के उपभोग से कभी शान्त नहीं होती; अपितु घी की आहुति पड़ने से अग्नि की भाँति वह

अधिकाधिक बढती ही जाती है।।१२।।

७. यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात् तृष्णां परित्यजेत्।। आदि. ५/१३

'इस पृथ्वी पर जितने भी धान, जौ, स्वर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब एक मनुष्य के लिये भी पर्याप्त नहीं हैं। अतः तृष्णा का त्याग कर देना चाहिये।।१३।।

८. रक्ष्यतां सौहृदं तस्मादन्योन्यप्रीतिभावकम्।
यथा वो नात्र भेदः स्यात् तत् कुरुष्व युधिष्ठिर॥ आदि. २०७/२१

'युधिष्ठिर! इसलिये आपस की प्रीति को बढाने वाले सौहार्द की रक्षा करो और ऐसा कोई नियम बनाओ, जिससे यहाँ तुम लोगों में वैर-विरोध न हो।।२१।।

राजा की सजगता

९. कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः परोक्षास्ते विशङ्किताः।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टाः संसृष्टं चात्र कारणम्।। सभा. ५/३२

तुम्हारे राज्य के किसान-मजदूर आदि श्रमजीवी मनुष्य तुमसे अज्ञात तो नहीं हैं? उनके कार्य और गतिविधि पर तुम्हारी दृष्टि है न? वे तुम्हारे अविश्वास के पात्र तो नहीं हैं अथवा तुम उन्हें बार-बार छोड़ते और पुनः काम पर लेते तो नहीं रहते? क्योंकि महान् अभ्युदय या उन्नति में उन सबका स्नेहपूर्ण सहयोग ही कारण है। (क्योंकि चिरकाल से अनुगृहीत होने पर ही वे ज्ञात, विश्वासपात्र और स्वामी के प्रति अनुरक्त होते हैं)।।३२।।

१०. कच्चिद् बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम्।
सम्प्राप्तकाले दातव्यं ददासि न विकर्षसि।। सभा. ५/४९

अपनी सेना के लिये यथोचित भोजन और वेतन ठीक समय पर दे देते हो न? जो उन्हें दिया जाना चाहिये, उसमें कमी या विलम्ब तो नहीं कर देते?।।४९।।

११. कच्चिद् दारान्मनुष्याणां तवार्थे मृत्युमीयुषाम्।
व्यसनं चाभ्युपेतानां बिभर्षि भरतर्षभ।। सभा. ५/५५

भरतश्रेष्ठ! जो लोग तुम्हारे हित के लिये सहर्ष मृत्यु का वरण कर लेते हैं अथवा भारी संकट में पड़ जाते हैं, उनके बाल-बच्चों की रक्षा तुम करते हो न?।।५५।।

१२. कच्चिद्राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च बृहन्ति च।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका।। सभा. ५/७८

क्या तुम्हारे राज्य के सभी भागों में जल से भरे हुए बड़े-बड़े तालाब बनवाये गये हैं? केवल वर्षा के पानी के भरोसे ही तो खेती नहीं होती है? ।।७८।।

१३. कच्चिदग्निभयाच्चैव सर्वं व्यालभयात् तथा।
रोगरक्षोभयाच्चैवराष्ट्रं स्वं परिरक्षसि।। सभा. ५/१२४

क्या तुम अग्नि, सर्प, रोग तथा आक्षसों के भय से अपने संपूर्ण राष्ट्र की रक्षा करते हो?।।१२४।।

१४. कच्चिदन्धांश्च मूकांश्च पङ्गून् व्यङ्गानबान्धवान्।
पितेव पासि धर्मज्ञ तथा प्रव्रजितानपि।। सभा. ५/१२५

धर्मज्ञ! क्या तुम अंधों, गूँगों, पंगुओं, अंगहीनों और बन्धु-बान्धवों से रहित अनाथों तथा संन्यासियों का भी पिता की भाँति पालन करते हो?।।१२५।।

१५. ये योगयुक्तास्तपसि प्रसक्ताः स्वाध्यायशीला जरयन्ति देहान्।
जितेन्द्रियाः प्राणिवधे निवृत्तास्तेषामसौ नायमरिघ्न लोकः।। वन. १८३/९०

शत्रुसूदन! जो लोग इस लोक में योग साधन करते हैं, तपस्या में संलग्न होते हैं और स्वाध्याय में तत्पर रहते हैं तथा इस प्रकार प्राणियों की हिंसा से दूर रहकर इन्द्रियों को संयम में रखते हुए (तपस्या द्वारा) अपने शरीर को दुर्बल कर देते हैं, उनके लिये इस लोक में

सुख नहीं हैं। वे परलोक में ही परम कल्याण के भागी होते हैं।।९०।।

१६. दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेकपदं यशः।

सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शीलमेकपदं सुखम्।। वन. ३१३/७०

युधिष्ठिर बोले–धर्म का मुख्य स्थान दक्षता है, यश का मुख्य स्थान दान है, स्वर्ग का मुख्य स्थान सत्य है और सुख का मुख्य स्थान शील है।।७०।।

१७. धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामुत्तमं श्रुतम्।

लाभानां श्रेयआरोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा।। वन. ३१३/७४

युधिष्ठिर बोले–धन्य पुरुषों में दक्षता ही उत्तम गुण है, धनों में शास्त्र ज्ञान प्रधान है, लाभों में आरोग्य श्रेष्ठ हेऔर सुखों में संतोष ही उत्तम सुख है।।७४।।

१८. तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।। वन. ३१३/११७

तर्क की कहीं स्थिति नहीं है, श्रुतियाँ भी भिन्न–भिन्न हैं, एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्म का तत्त्व गुहा में निहित है अर्थात् अत्यन्य गूढ है; अतः जिससे महापुरुष जाते रहे हैं, वही मार्ग है।।११७।।

१९. या वै विद्याः साधयन्तीह कर्म तासां फलं विद्यते नेतरासाम्।

तत्रेह वै दृष्टफलं तु कर्म पीत्वोदकं शाम्यति तृष्णयाऽऽर्तः।। संजय. २९/७

जो विद्याएँ कर्म का सम्पादन करती हैं, उन्हीं का फल दृष्टिगोचर होता है, दूसरी विद्याओं का नहीं। विद्या तथा कर्म में भी कर्म का ही फल यहाँ प्रत्यक्ष दिखायी देता है। प्यास से पीड़ित मनुष्य जल पीकर ही शान्त होता है (उसे जानकर नहीं; अतः गृहस्थाश्रम में रहकर सत्कर्म करना ही श्रेष्ठ है)।।७।।

२०. निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः।

अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते॥ उद्योग. ३३/२४

जो पहले निश्चय करके फिर कार्यकाआरम्भ करता है, कार्य के बीच में नहीं रुकता, समय को व्यर्थ नहीं जाने देताऔर चित्तको वश मेंरखता है, वही पण्डित कहलाता है।।२४।।

२१. एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता।

बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्राष्ट्रं सराजकम्।। उद्योग. ३३/४३

किसी धनुर्धर वीर के द्वारा छोड़ा हुआ बाण सम्भव हैं, एक को भी मारे या न मारे। परन्तु बुद्धिमान द्वारा प्रयुक्त की हुई बुद्धि राजा के साथ–साथ सम्पूर्ण राष्ट्र का विनाश कर सकती है।।४३।।

गुप्त सलाह

२२. चत्वारिआज्ञा तु महाबलेन वर्ज्यान्याहुः पण्डितस्तानि विद्यात्।

अल्पप्रज्ञैः सह मन्त्रं न कुर्या न्न दीर्घसूत्रैअभसैश्चारणैश्च।। उद्योग. ३३/६९

थोड़ी बुद्धि वाले, दीर्घसूत्री, जल्दबाज और स्तुति करने वाले लोगों के साथ गुप्त सलाह नहीं करनी चाहिये। ये चारों महाबली राजा के लिये त्यागने योग्य बताये गये हैं। विद्वान् पुरुष ऐसे लोगों को पहचान लें।।६९।।

पुरुषार्थी के त्याग

२३. षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।

निद्रा तन्द्रा भयं क्रोधआलस्यं दीर्घसूत्रता।। उद्योग. ३३/७८

ऐश्वर्य या उन्नति चाहने वाले पुरुषों को नींद, तन्द्रा (ऊँघना), डर, क्रोध, आलस्य तथा दीर्घसूत्रता (जल्दी हो जाने वाले काम में अधिक देर लगाने की आदत)–इन छः दुर्गुणों को त्याग देना चाहिये।।७८।।

सुख

२४. आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः सद्भिर्मनुष्यैः सह सम्प्रयोगः।

स्वप्रत्यया वृत्तिरभीतवासः षड् जीवलोकस्य सुखानिआजन्।। उद्योग. ३३/८९

राजन्! नीरोग रहना, ऋणी न होना, परदेश में न रहना, अच्छे लोगों के साथ मेल होना, अपनी वृत्ति से जीविका चलाना और निर्भय होकर रहना–ये छः मनुष्यलोक के सुख हैं।।८९।।

२५. अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च।। उद्योग. ३५/५२

आठ गुण पुरुष की शोभा बढाते हैं–बुद्धि, कुलीनता, दम, शास्त्रज्ञान, पराक्रम, बहुत न बोलना, यथाशक्ति दान देना और कृतज्ञ होना।।५२।।

२६. यो वेद वेदान् स च वेद वेद्यं न तं विदुर्वेदविदो न वेदाः।
तथापि वेदेन विदन्ति वेदं ये ब्राह्मणा वेदविदो भवन्ति।। उद्योग. ४३/५४

जो महापुरुष वेदों के रहस्य को जानता है, वह जानने योग्य परमात्मा को भी जानता है; परंतु उस (जानने वाले)–को न तो वेदों के शब्दों को जानने वाला जानता है और न वेद ही जानते हैं। तथापि वेद के रहस्य को जानने वाले जो ब्रह्मवेत्ता महापुरुष हैं, वे उस वेद के द्वारा ही वेद के रहस्य को जान लेते हैं (अर्थात् वेदों का कथन इतना गुप्त है कि केवल शब्दज्ञान से उसका रहस्य एवं उसमें वर्णित परमात्म तत्त्व समझ में नहीं आता। अन्तःकरण शुद्ध होने पर सद्गुरु या प्रभु की कृपा से ही साधक उसे समझ पाता है)।।५४।।

जीवात्मा

२७. अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा लिङ्गस्य योगेन स याति नित्यम्। तमीशमीड्यमनुकल्पमाद्यं पश्यन्ति मूढा न विराजमानम्।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्।। उद्योग. ४६/१५

हृदयदेश में स्थित वह अंगुष्ठ मात्र जीवात्मा सूक्ष्म (वहीं अन्र्यामी रूप से स्थित) शरीर के सम्बन्ध से सदा जन्म–मरण को प्राप्त होता है। उस सबके शासक, स्तुति के योग्य, सर्वसमर्थ, सबके आदि कारण एवं सर्वत्र विराजमान परमात्मा को मूढ जीव नहीं देख पाते; किंतु योगीजन उस सनातन परमेश्वर का साक्षात्कार करते हैं।।१५।।

२८. सम्भोजनं संकथनं सम्प्रश्नोऽथ समागमः।
एतानि ज्ञातिकार्याणि न विरोधः कदाचन।। उद्योग. ६४/११

साथ बैठकर भोजन करना, आपस में प्रेम से वार्तालाप करना, एक–दूसरे के सुख–दुःख को पूछना और सदा मिलते–जुलते रहना–ये ही भाई–बन्धुओं के काम हैं, परस्पर विरोध करना कदापि उचित नहीं है।।११।।

२९. कामार्थौ लिप्समानस्तु धर्ममेवादितश्चरेत्।
न हि धर्मादपैत्यर्थः कामो वापि कदाचन।। उद्योग. १२४/३७

'जो अर्थ और काम प्राप्त करना चाहता हो, उसे पहले धर्म का ही आचरण करना चाहिये; क्योंकि अर्थ या काम कभी धर्म से पृथक् नहीं होता हैं'।।३७।।

३०. कालो वा कारणंआज्ञोआजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद्आज कालस्य कारणम्।। उद्योग. १३२/१६

राजा का कारण काल है या काल का कारण राजा है, ऐसा संदेह तुम्हारे मन में नहीं उठना चाहिये; क्योंकि राजा ही काल का कारण होता है।।१६।।

३१. मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्।
मा ह स्म कस्यचिद् गेहे जनिआज्ञः खरो मृदुः॥ उद्योग. १३३/१५

दो घड़ी भी प्रज्वलित रहना अच्छा; परंतु दीर्घकाल तक धुआँ छोड़ते हुए सुलगना अच्छा नहीं। किसी भी राजा के घर में अत्यन्त कठोर अथवा अत्यन्त कोमल स्वभाव के पुरुष का जन्म न हो।।१५।।

३२. संतोषो वै श्रियं हन्ति तथानुक्रोश एव च।
अनुत्थानभये चोभे निरीहो नाश्नुते महत्।। उद्योग. १३३/३३

संतोष, दया, उद्योग शून्यता और भय–ये सम्पत्ति का नाश करने वाले हैं। निश्चेष्ट मनुष्य कभी कोई महत्त्वपूर्ण पद नहीं पा

सकता।।३३।।

३३. उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो हैव पौरुषम्।

अप्यपर्वणि भज्येत न नमेतेह कस्यचित्।। उद्योग. १३४/३९

सदा उद्यम करे, किसी के आगे सिर न झुकावे। उद्यम ही पुरुषार्थ है। असमय में नष्ट भले ही हो जाय, परंतु किसी के आगे नतमस्तक न हो।।३९।।

३४. उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।

भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः।। उद्योग. १३५/२९

सफलता होगी ही, ऐसा मन में दृढ विश्वास लेकर निरन्तर विषाद रहित होकर तुझे उठना, सजग होना और ऐश्वर्य की प्राप्ति कराने वाले कर्मों में लग जाना चाहिये।।२९।।

३५. जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा।

महीं विजयते क्षिप्रं श्रुत्वा शत्रूंश्च मर्दति।। उद्योग. १३६/१८

यह जय नामक इतिहास है। विजय की इच्छा रखने वाले पुरुष को इसका श्रवण करना चाहिये। इसे सुनकर युद्ध में जाने वाला राजा शीघ्र ही पृथ्वी पर विजय पाता और शत्रुओं को रौंद डालता है।।१८।।

३६. अनन्ततेजा गोविन्दः शत्रुपूगेषु निर्व्यथः।

पुरुषः सनातनमयो यतः कृष्णस्ततो जयः।। भीष्म. २१/१४

भगवान गोविन्द का तेज अनन्त है। वे शत्रुओं के समुदाय में भी कभी व्यथित नहीं होते; क्योंकि वे सनातन पुरुष (परमात्मा) हैं। अतः जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है।।१४।।

३७. गुणवान् शीलवान् दान्तो मृदुर्धर्म्यो जितेन्द्रियः।

सुदर्शः स्थूललक्ष्यश्च न भ्रश्येत सदा श्रियः॥ शान्ति. ५६/१९

जो राजा गुणवान्, शीलवान् मन और इन्द्रियों को संयम में रखने वाला, कोमल स्वभाव, धर्मपरायण, जितेन्द्रिय, देखने में प्रसन्न मुख और बहुत देने वाला उदारचित्त है, वह कभी राजलक्ष्मी से भ्रष्ट नहीं होता।।१९।।

३८. सप्ताङ्गस्य चराज्यस्य विपरीतं यआचरेत्।

गुरुर्वा यदि वा मित्रं प्रतिहन्तव्य एव सः।। शान्ति. ५७/५

राज्य के सात अङ्ग हैं–राजा, मन्त्री, मित्र, खजाना, देश, दुर्ग और सेना। जो इन सात अङ्गों से युक्त राज्य के विपरीत आचरण करे, वह गुरु हो या मित्र, मार डालने के ही योग्य है।।५।।

३९. राज्यं सर्वामिषं नित्यमार्जवेनेह धार्यते।

तस्मान्मिश्रेण सततं वर्तितव्यं युधिष्ठिर।। शान्ति. ५८/२२।।

युधिष्ठिर! राज्य सबके उपभोग की वस्तु है; अतः सदा सरल भाव से ही उसकी सँभाल की जा सकती है। इसलिये राजा में क्रूरता और कोमलता दोनों भावों का सम्मिश्रण होना चाहिये।।२२।।

व्यावहारिक गुण

४०. अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा।

प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च।।

आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः।। शान्ति.६०/७–८१२

किसी पर क्रोध न करना, सत्य बोलना, धन को बाँटकर भोगना, क्षमा भाव रखना, अपनी ही पत्नी के गर्भ से संतान पैदा करना, बाहर–भीतर से पवित्र रहना, किसी से द्रोह न करना, सरल भाव रखना और भरण–पोषण के योग्य व्यक्तियों का पालन करना–ये नौ सभी वर्णों के लिए उपयोगी धर्म हैं।।७–८।।

वेदमार्ग से युक्त गृहस्थ धर्म

४१. अधीत्य वेदान् कृतसर्वकृत्यः संतानमुत्पाद्य सुखानि भुक्त्वा।

समाहितः प्रचरेद् दुश्चरं यो गार्हस्थ्यधर्मं मुनिधर्मजुष्टम्।। शान्ति. ६१/१०

अब गृहस्थाश्रम के धर्म सुनो–जो वेदों का अध्ययन पूर्ण करके समस्त वेदोक्त शुभ कर्मों का अनुष्ठान करने के पश्चात् अपनी विवाहिता पत्नी के गर्भ से संतान उत्पन्न कर उस आश्रम के न्यायोचित भोगों को भोगता और एकाग्रचित्त हो मुनिजनोचित धर्म से युक्त दुष्कर गार्हस्थ्य धर्म का पालन करता है, वह उत्तम है।।१०।।

त्याग और तप

४२. सर्वे धर्माआजधर्मप्रधानाः सर्वे वर्णाः पाल्यमाना भवन्ति।

सर्वस्त्यागोआजधर्मेषुआजंस्त्यागं धर्मं चाहुरग्र्यं पुराणम्।। शान्ति. ६३/२७

सभी धर्मों में राजधर्म ही प्रधान है; क्योंकि उसके द्वारा सभी वर्णों का पालन होता है। राजन्! राजधर्मों में सभी प्रकार के त्याग का समावेश है और ऋषिगण त्याग को सर्वश्रेष्ठ एवं प्राचीन धर्म बताते हैं।।२७।।

४३. आत्मानं सर्वकार्याणि तापसेराष्ट्रमेव च।

निवेदयेत् प्रयत्नेन तिष्ठेत् प्रह्वश्च सर्वदा।। शान्ति. ८६/२६

अपने राज्य में जो तपस्वी हों, उन्हें अपने शरीर–सम्बन्धी, सम्पूर्ण कार्य–सम्बन्धी तथा राष्ट्र–सम्बन्धी समाचार प्रयत्नपूर्वक बताया करे और उनके सामने सदा विनीत भाव से रहे।।२६।।

गौ महिमा

४४. मधुदोहं दुहेद्राष्ट्रं भ्रमरा इव पादपम्।

वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत्।। शान्ति. ८८/४

जैसे भौंरा धीरे–धीरे फूल एवं वृक्ष का रस लेता है, वृक्ष को काटता नहीं है, जैसे मनुष्य बछड़े को कष्ट न देकर धीरे–धीरे गाय को दुहता है, उसके थनों को कुचल नहीं डालता है, उसी प्रकार राजा कोमलता के साथ ही राष्ट्ररूपी गौ का दोहन करे, उसे कुचले नहीं।।४।।

४५. कोशं दण्डं बलं मित्रं यदन्यदपि संचितम्।

न कुर्वीतान्तरंराष्ट्रेआजा परिगतः क्षुधा।। शान्ति. १३०/३२

राजा भूख से पीड़ित होने, जीविका के लिये कष्ट पाने पर भी खजाना, राजदण्ड, सेना, मित्र तथा अन्य संचित साधनों को कभी राज्य से दूर न करे।।३२।।

कर्म की गति

४६. न कर्मणा पितुः पुत्रः पिता वा पुत्रकर्मणा।

मार्गेणान्येन गच्छन्ति बद्धाः सुकृतदुष्कृतैः।। शान्ति. १५३/३८

पिता के कर्म से पुत्र का और पुत्र के कर्म से पिता का कोई सम्बन्ध नहीं है। अपने–अपने पाप–पुण्य के बन्धन में बँधे हुए जीव कर्मानुसार विभिन्न मार्ग से जाते हैं।।३८।।

भय रहित हों

४७. ज्ञानारामस्य बुद्धस्य सर्वभूताविरोधिनः।

नावृत्तिभयमस्तीह परलोकभयं कुतः।। शान्ति. १६०/३३

जिसका किसी भी प्राणी के साथ विरोध नहीं है, जो ज्ञानस्वरूप आत्मा में रमता रहता है, ऐसे ज्ञानी को इस लोक में पुनः जन्म लेने का भय ही नहीं रहता, फिर उसे परलोक का भय कैसे हो सकता है?।।३३।।

सत्य से युक्त हों

४८. नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्।

स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात् सत्यं न लोपयेत्।। शान्ति. १६२/२४

सत्य से बढकर कोई धर्म नहीं और झूठ से बढकर कोई पातक नहीं है। सत्य ही धर्म की आधारशिला है; अतः सत्य का लोप न करें।।२४।।

कर्मानुसार धनार्जन

४९. धर्मं समाचरेत् पूर्वं ततोऽर्थं धर्मसंयुतम्।

ततः कामं चरेत् पश्चात् सिद्धार्थः स हि तत्परम्।। शान्ति. १६७/२७

अतः सबसे पहले धर्म का आचरण करे; फिर धर्मयुक्त धन का संग्रह करे। इसके बाद दोनों को अनुकूलता रखते हुए काम का सेवन करे। इस प्रकार त्रिवर्गका संग्रह करने से मनुष्य सफल मनोरथ हो जाता है।।२७।।

५०. नाकामः कामयत्यर्थं नाकामो धर्ममिच्छति।

नाकामः कामयानोऽस्ति तस्मात् कामो विशिष्यते।। शान्ति. १६७/२९

भीमसेन बोले–धर्मराज! जिसके मन में कोई कामना नहीं है, उसे न तो धन कमाने की इच्छा होती है और न धर्म करने की ही। कामना हीन पुरुष तो काम (भोग) भी नहीं चाहता है; इसलिये त्रिवर्ग में काम ही सबसे बढकर है।।२९।।

५१. वणिजः कर्षका गोपाः कारवः शिल्पिस्तथा।

देवकर्मकृतश्चैव युक्ताः कामेन कर्मसु।। शान्ति. १६७/३२

व्यापारी, किसान, ग्वाले, कारीगर और शिल्पी तथा देव–सम्बन्धी कार्य करने वाले लोग भी कामना से ही अपने–अपने कर्मों में लगे रहते हैं ।।३२।।

त्याग करने योग्य कौन?

५२. परित्याज्यो बुधैः पापः कृतघ्नो निरपत्रपः।

मित्रद्रोही कुलाङ्गारः पापकर्मा नराधमः।। शान्ति. १७३/२४

जो पापी, कृतघ्न, निर्लज्ज, मित्रद्रोही, कुलाङ्गार और पापाचारी हो, ऐसे अधम मनुष्य का विद्वान् पुरुष सदा त्याग करे ।।२४।।

५३. या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।

योऽसौ प्राणान्तिकोरोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्।। शान्ति. १७४/५५

खोटी बुद्धि वाले मनुष्यों के लिये जिसका त्याग करना कठिन है, जो मनुष्य के जीर्ण (वृद्ध) हो जाने पर भी स्वयं कभी जीर्ण नहीं होती, तथा जो प्राणों के साथ जाने वाला रोग बनकर रहती है, उस तृष्णा को जो त्याग देता है, उसी को सुख मिलता है।।५५।।

ध्यानयोग

५४. अनिर्वेदो गतक्लेशो गततन्द्रिरमत्सरी।

समादध्यात् पुनश्चेतो ध्यानेन ध्यानयोगवित्॥ शान्ति. १९५/१४

ध्यानयोग को जानने वाला साधक ऐसे विक्षेप के समय खेद या क्लेश का अनुभव न करे; अपितु आलस्य और मात्सर्य का त्याग करके ध्यान के द्वारा मन को पुनः एकाग्र करने का प्रयत्न करे।।१४।।

कर्मफल

५५. यथा यथा कर्मगुणं फलार्थी करोत्ययं कर्मफले निविष्टः।

तथा तथायं गुणसम्प्रयुक्तः शुभाशुभं कर्मफलं भुनक्ति।। शान्ति. २०१/२३

फलकी इच्छा रखने वाला मनुष्य कर्म के फल में आसक्त हो जैसे–जैसे गुणवाला–सात्त्विक, राजस या तामस कर्म करता है, वैसे–ही–वैसे गुणों से प्रेरित होकर इसे उस कर्म का शुभाशुभ फल भोगना पड़ता है।।२३।।

आत्मा की सर्वज्ञता

५६. नेन्द्रियैर्मनसः सिद्धिर्न बुद्धिं बुद्ध्यते मनः।

न बुद्धिर्बुद्ध्यतेऽव्यक्तं सूक्ष्मं त्वेतानि पश्यति॥शान्ति. २०४/२०

इन्द्रियों द्वारा मन की सिद्धि नहीं होती अर्थात् इन्द्रियाँ मन को नहीं जानती हैं। मन बुद्धि को नहीं जानता और बुद्धि सूक्ष्म एवं अव्यक्त आत्मा को नहीं जानती है; किंतु अव्यक्त आत्मा इन सबको देखता और जानता है।।२०।।

योगी का अनासक्त भाव

५७. नाभिष्वजेत् परं वाचा कर्मणा मनसापि वा।

उपेक्षको यताहारो लब्धालब्धे समो भवेत्।। शान्ति. २४०/२९

योग का साधक मन, वाणी या क्रिया द्वारा भी किसी दूसरे में आसक्त न हो। सबकी ओर से उपेक्षा का भाव रखे। नियमित भोजन करे और लाभ-हानि में भी समान भाव रखे।।२९।।

शरीर के द्वारपाल

५८. चतुर्द्वारं पुरुषं चतुर्मुखं चतुर्धा चैनमुपयाति वाचा।

बाहुभ्यां वाच उदरादुपस्थात् तेषां द्वारं द्वारपालो बुभूषेत्।। शान्ति. २६९/२३

मनुष्यों के हाथ-पैर, वाणी, उदर और उपस्थ ये चार द्वार हैं। इनका द्वारपाल होने की इच्छा करे अर्थात् इन पर संयम रखे। वह शास्त्र वाक्यों के अनुसार इन चारों द्वारों के संयम से प्राप्य ऋक्, यजुः, साम, अथर्वरूप चार मुखों से युक्त परमपुरुष को भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं अष्टाङ्गयोग-इन चार उपायों से प्राप्त करता है।।२३।।

५९. हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।

दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्।। स्वर्गारोहण. ५/६१

'अज्ञानी पुरुष को प्रतिदिन हर्ष के हजारों और भय के सैकड़ौ अवसर प्राप्त होते रहते हैं; किंतु विद्वान् पुरुष के मन पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।।६१।।

धर्म की महिमा

६०. न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।

नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥ स्वर्गारोहण. ५/६३

'कामना से, भय से, लोभ से अथवा प्राण बचाने के लिये भी धर्म का त्याग न करे। धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य। इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उसके बन्धन का हेतु अनित्य'।।६३।।

भारद्वाज कणिक का सौराष्ट्र देश के राजा को कूटनीति का उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

६१. युगक्षयात्परिक्षीणे धर्मे लोके च भारत।

दस्युभिः पीड्यमाने च कथं स्थेयं पितामह॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतनन्दन! पितामह! सत्ययुग, त्रेता और द्वापर-ये तीनों युग प्रायः समाप्त हो रहे हैं, इस लिये जगत् में धर्म का ह्रास हो चला है। डाकू और लुटेरे इस धर्म में और भी बाधा डाल रहे हैं; ऐसे समय में किस तरह रहना चाहिये?।।१।।

भीष्म उवाच

राजा के द्वारा यथायोग्य व्यवहार

६२. हन्त ते वर्तयिष्यामि नीतिमापप्सु भारत।

उत्सृज्यापि घृणां काले यथा वर्तेत भूमिपः॥२॥

भीष्मजी ने कहा—भरतनन्दन! ऐसे समय में मैं तुम्हें आपत्तिकाल की वह नीति बता रहा हूँ, जिसके अनुसार भूमिपाल को दया का परित्याग करके भी समयोचित बर्ताव करना चाहिये।।२।।

६३. अत्राप्युदाहरन्तीमयितिहासं पुरातनम्।

भारद्वाजस्य संवादं राज्ञः शत्रुंजयस्य च॥३॥

इस विषय में भारद्वाज कणिक तथा राजा शत्रुञ्जय के संवादरूप एक प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया जाता है।।३।।

६४. राजा शत्रुंजयो नाम सौधीरेषु महारथः।

भारद्वाजमुपागम्य पप्रच्छार्यविनिश्चयम्॥४॥

सौवीरदेश में शत्रुञ्ज्य नाम से प्रसिद्ध एक महारथी राजा थे। उन्होंने भारद्वाज कणि के पास जाकर अपने कर्तव्य का निश्चय करने के लिये उनसे इस प्रकार प्रश्न किया।।४।।

६५. अलब्धस्य कर्थं लिप्सा लब्धं केन विवर्धते।

वर्धितं पाल्यते केन पालितं लब्धं प्रणयेत् कथम्॥५॥

अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति कैसे होती है? प्राप्त द्रव्य की वृद्धि किस तरह हो सकती है? बढ़े हुए द्रव्य की रक्षा किससे की जाती है? और उस सुरक्षित द्रव्य का सदुपयोग कैसे किया जाना चाहिये॥५॥

६६. तस्मै विनिश्चितार्थाय परिपृष्टोऽर्थनिश्चयम्।
उवाच ब्राह्मणो वाक्यमिदं हेतुमदुत्तमम्॥६॥

राजा शत्रुञ्जय को शास्त्र का तात्पर्य निश्चित रूप से ज्ञात था। उन्होंने जब कर्तव्य-निश्चय के लिये प्रश्न उपस्थित किया, तब ब्राह्मण भारद्वाज कणिकने यह युक्तियुक्त उत्तम वचन बोलना आरम्भ किया॥६॥

६७. नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी च परेषां विवरानुगः॥७॥

राजा को सर्वदा दण्ड देने के लिये उद्यत रहना चाहिये और सदा ही पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिये। राजा अपने में छिद्र अर्थात् दुर्बलता न रहने दे। शत्रुपक्ष के छिद्र या दुर्बलता का पता चल जाय तो उन पर आक्रमण कर दे॥७॥

६८. नित्यमुद्यतदण्डस्य भृशमुद्विजते नरः।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत्॥८॥

जो सदा दण्ड देने के लिये उद्यत रहता है, उससे प्रजा-जन बहुत डरते हैं, इसलिये समस्त प्राणियों को दण्ड के द्वारा ही काबू में करें॥८॥

६९. एवं दण्डं प्रशंसन्ति पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः।
तस्माच्चतुष्टये तस्मिन्प्रधानो दण्ड उच्यते॥९॥

इस प्रकार तत्त्वदर्शी विद्वान् दण्ड की प्रशंसा करते हैं; अतः साम, दान आदि चारों उपायों में दण्डों को ही प्रधान बताया जाता है॥९॥

७०. छिन्नमूले त्वाधिष्ठाने सर्वेषां जीवनं हतम्।
कथं हि शाखास्तिष्ठेयुश्छिन्नमूले वनस्पतौ॥१०॥

'यदि मूल आधार नष्ट हो जाय तो उसके आरू से जीवन-निर्वाह करने वाले सभी शत्रुओं का जीवन नष्ट हो जाता है। यदि वृक्ष की जड़ काट दी जाय तो उसकी शाखाएँ कैसे रह सकती हैं॥१०॥

७१. मूलंमेवादितश्छिन्द्यात् परक्षस्य च पण्डितः।
ततः सहायान् पक्षं च मूलमेवानुसाधयेत्॥११॥

विद्वान्' पुरुष पहले शत्रुपक्ष के मूल का ही उच्छेद कर डाले। तत्पश्चात् उसके सहायकों और पक्षपातियों को भी उस मूल के पथ का ही अनुसरण करावें॥११॥

७२. सुमन्त्रितं सुधिकान्तं सुयुद्धं सुपलायितम्।
आपदास्पदकाले तु कुर्वीत न विचारयेत्॥१२॥

संकटकाल उपस्थित होने पर राजा सुन्दर मन्त्रणा, उत्तम पराक्रम एवं उत्साहपूर्वक युद्ध करे तथा अवसर आ जाय तो सुन्दर ढ़ंग से पलायन भी करे। आपत्काल के समय आवश्यक कर्म ही करना चाहिये, पर सोच-विचार नहीं करना चाहिये॥१२॥

७३. वाङ्मात्रेण विनीताः स्याद्धृदयेन यथा क्षुरः।
श्लक्ष्णपूर्वाभिभाषी च कामक्रोधौ विवर्जयेत्॥१३॥

राजा केवल बातचीत में ही अत्यन्त विनयशील हो, हृदय को छुरे के समान तीखा बनाये रखे; पहले मुसकराकर मीठे वचन बोल तथा काम-क्रोध को त्याग दे॥१३॥

७४. सपत्नसहिते कार्ये कृत्वा सन्धि न विश्वसेत्।
अपक्रामेत् ततः शीर्घं कृतकार्यो विचक्षणः॥१४॥

शत्रु के साथ किये जाने वाले समझौते आदि कार्य में संधि करके भी उस पर विश्वास न करें। अपना काम बना लेने पर बुद्धिमान् पुरुष शीघ्र ही वहाँ से हट जाय॥१४॥

७५. शत्रुं च मित्ररूपेण सान्त्वेनैवाभिसान्त्वयेत्।

नित्यशश्चोद्विजेत् तस्माद् गृहात्सप सूर्य युतादिव॥१५॥

शत्रु को उसका मित्र बनकर मीठे वचनों से ही सान्त्वना देता रहे; परंतु जैसे सप्रयुक्त गृह से मनुष्य डरता है, उसी प्रकार उस शत्रु से भी सदा उद्विग्न रहे॥१५॥

७६. यस्य बुद्धिः परिभवेत् तमतीतेन सान्त्वयेत्।
अनागतेन दुष्प्रशं प्रत्युतपन्नेन पण्डितम्॥१६॥

जिसकी बुद्धि संकट में पड़कर शोकाभिभूत हो जाय, उसे भूतकाल की बातें (राजा नल तथा भगवान् श्रीराम आदि के जीवन-वृत्तान्त) सुनाकर सान्त्वना दे, जिसकी बुद्धि अच्छी नहीं है, उसे भविष्य में लाभ की आशा दिलाकर तथा विद्वान् पुरुष को तत्काल ही धन आदि देकर शान्त करे॥१६॥

७७. अञ्जलिं शपथं सान्त्वं प्रणम्य शिरसा वदेत्।
अश्रुप्रमार्जनं चैव कर्तव्यं भूतिमिच्छता॥१७॥

ऐश्वर्य चाहने वाले राजा को चाहिए कि वह अवसर देखकर शत्रु के सामने हाथ जोड़े, शपथ खाएं, अश्वासन दे और चरणों में सिर झुकाकर बातचीत करे। इतना ही नहीं, वह धीरज देकर उसके आँसू तक पौंछे॥१७॥

७८. वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः।
प्राप्तकालं तु विज्ञाय भिन्द्याद् घटमिवाश्मनि॥१८॥

जब तक समय बदलकर अपने अनुकूल न हो जाय, तब तक शत्रु को कंधे पर बिठाकर ढोना पड़े तो वह भी करे; परंतु जब अनुकूल समय आ जाएं, तब उसे उसी प्रकार नष्ट कर दे, जैसे घड़े को पत्थर पर पटक कर फोड़ दिया जाता है॥१८॥

७९. मुहूर्तमपि राजेन्द्र तिन्दुकालातवज्ज्वलेत्।
तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायेत चिरं नरः॥१९॥

'राजेन्द्र! दो ही घड़ी सही, मनुष्य तिन्दुक की लकड़ी की मशाल के समान जोर-जोर से प्रज्वलित हो उठे (शत्रु के सामने घोर पराक्रम प्रकट करे), दीर्घ काल तक भूसी की आग के समान बिना ज्वाल के ही धुआँ न उठावे (मन्द पराक्रम का परिचय न दे)॥१९॥

८०. नानार्थिकोऽर्थसम्बन्धं कृतघ्नेन समाचरेत्।
अर्थी तु शक्यते भोक्तुं कृतकार्योऽवन्यते।
तस्मात् सर्वाणि सावशेषाणि कारयेत्॥२०॥

'अनेक प्रकार के प्रयोजन रखने वाला मनुष्य कृतघ्न के साथ आर्थिक सम्बन्ध न जोड़े, किसी का भी काम पूरा न करे, क्यों कि जो अर्थी (प्रयोजन-सिद्धि की इच्छा वाला) होता है, उससे तो बारंबार काम लिया जा सकता है; परंतु जिसका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, वह अपने उपकारी पुरूष की उपेक्षा कर देता है; इसलिये दुसरों के सारे कार्य (जो अपने द्वारा होने वाले हों) अधूरे ही रखने चाहिये॥२०॥

८१. कोकिलस्य वराहस्य मेरोः शून्यस्य वेश्मनः।
नटस्य भक्तिमित्रस्य यच्छ्रेयस्तत् समाचरेत्॥२१॥

'कोयल, सूअर, सुमेरु पर्वत, शून्यगृह, नट तथा अनुरक्त सुहृद्-इनमें जो श्रेष्ठ गुण या विशेषताएँ हैं, उन्हें राजा काम में लावे॥२१॥

स्वधर्म पालन

८२. उत्थायोत्थाय गच्छेत नित्ययुक्तो रिपोर्गृहान्।
कुशलं चास्य पृच्छेत यद्यप्यकुशलं भवेत्॥२२॥

'राजा को चाहिये कि वह प्रतिदिन उठ-उठकर पूर्ण सावधान हो शत्रु के घर जाय और उसका अमङ्गल ही क्यों न हो रहा हो, सदा उसकी कुशल पूछे और मङ्गल-कामना करे॥२२॥

८३. नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान् न क्लीवा नाभिमानिनः।
न च लोकरवाद् भीता न वै शश्वत् प्रतीक्षिणः॥२३॥

'जो आलसी हैं, कायर हैं, अभिमानी हैं, लोक चर्चा से डरने वाले और सदा समय की प्रतीक्षा में बैठे रहने वाले हैं, ऐसे लोग अपने अभीष्ट अर्थ को नहीं पा सकते॥२३॥

८४. गूहेत् कूर्म इवाङ्गनि रक्षेद् विवरमात्मनः॥२४॥

'राजा इस तरह सतर्क रहे कि उसके छिद्र का शत्रु को पता न चले, परंतु वह शत्रु के छिद्र को जान ले। जैसे कछुआ अपने अङ्गों को समेटकर छिपा लेता है, उसी प्रकार राजा अपने छिद्रों को छिपाये रखे।।२४।।

राजा की जागरूकता

८५. बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चावलुम्पेत शरवच्च विनिष्पतत्।।२५।।

'राजा बगुले के समान एकाग्रचित होकर कर्तव्य विषय का चिन्तन करे। सिंह के समान पराक्रम प्रकट करे। भेड़िये की भाँति सहसा आक्रमण करके शत्रु का धन लूट ले तथा बाण की भाँति शत्रुओं पर टूट पड़े।।२५।।

८६. पानमक्षास्तथा नार्यो मृगया गीतवादितम्।
एतानि युक्त्या सेवेत प्रसंगो ह्यत्र दोषवान्।।२६।।

'पान, जूआ, स्त्री, शिकार तथा गाना-बजाना-इन सबका संयमपूर्वक अनासक्त भाव से सेवन करे; क्योंकि इनमें आसक्ति होना अनिष्ट कारक है।।२६।।

८७. कुर्यात् तृणमयं चापं शयीत मृगशायिकाम्।
अन्धः स्यादन्धवेलायां वाधिर्यमपि संश्रयेत्।।२७।।

'राजा बाँस का धनुष बनावे, हिरन के समान चौकन्ना होकर सोये, अंधा बने रहने योग्य समय हो तो अंधे का भाव किये रहे और अवसर के अनुसार बहरे का भाव भी स्वीकार कर ले।।२७।।

८८. देशकालौ समासाद्य विक्रमेत विचक्षणः।
देशकालव्यतीतो हि निष्फलो भवेत्।।२८।।

'बुद्धिमान् पुरुष देश और काल को अपने अनुकूल पाकर पराक्रम प्रकट करे। देश-काल की अनुकूलता न होने पर किया गया पराक्रम निष्फल होता है।।२८।।

८९. कालाकालौ सम्प्रधार्य बलाबलमथात्मनः।
परस्य च बलं ज्ञात्वा तत्रात्मानं नियोजयेत्।।२९।।

'अपने लिये समय अच्छा है या खराब? अपना पक्ष प्रबल है या निर्बल? इन सब बातों का निश्चय करके तथा शत्रु के भी बल को समझकर युद्ध या संधि के कार्य में अपने आपको लगावे।।२९।।

९०. दण्डेनोपनतं शत्रुं यो राजा न नियच्छति।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा।।३०।।

'जो राजा दण्ड से नतमस्तक हुए शत्रु को पाकर भी उसे नष्ट नहीं कर देता, वह अपनी मृत्यु को आमन्त्रित करता है। ठीक उसी तरह, जैसे खच्चरी मौत के लिए ही गर्भ धारण करती है।।३०।।

९१. पुत्रपौत्रवधूभृत्यैराकीर्णमपि सर्वतः।
भार्याहीनं गृहस्थस्य शून्यमेव गृहं भवेत्।।३१।।

'पुत्र' पौत्र, पतोहू तथा अन्य भरण-पोषण के योग्य कुटुम्बीजनों से भरा होने पर भी गृहस्थ का घर उसकी पत्नी के बिना सूना ही रहता है।।३१।।

९२. न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं तु गृहिणीहीनभरण्यसदृशं मतम्।।३२।।

'वास्तव में घर को घर नहीं कहते, घरवाली का ही नाम घर है। घरवाली के बिना जो घर होता है, उसे जंगल के समान ही माना गया है।।३२।।

९३. यदि सा रक्तनेत्रान्ता चित्राङ्गी मधुरस्वरा।
अद्य नायाति मे कान्ता न कार्यं जीवितेन मे।।३३।।

'जिसके नेत्रों के प्रान्तभाग कुछ-कुछ लाल हैं, अङ्ग चितकबरे हैं और स्वर में अद्भुत मिठास भरा है, वह मेरी प्राण-वल्लभा यदि आज नहीं आ रही है तो मुझे इस जीवन से क्या प्रयोजन है?।।३३।।

९४. न भुङ्क्तेमय्यभुक्ते या नास्नाते स्नाति सुव्रता।
नातिष्ठत्युपतिष्ठेत शेते च शायिते मयि॥३४॥

'वह उत्तम व्रत का पालन करने वाली पतिव्रता थी, इसलिये मुझे भोजन कराये बिना भोजन नहीं करती, नहलाये बिना स्नान नहीं करती, मुझे बैठाये बिना बैठती नहीं तथा मेरे सो जाने पर ही शयन करती थी॥३४॥

९५. हृष्टे भवति सा हृष्टा दुःखिते मयि दुःखिता।
प्रोषिते दीनवदना क्रुद्धे च प्रियवादिनी॥३५॥

'मेरे प्रसन्न रहने पर वह हर्ष से खिल उठती थी और मेरे दुःखी होने पर वह स्वयं भी दुःख में डूब जाती थी। जब मैं बाहर जाने लगता तो उसके मुख पर दीनता छा जाती थी और जब कभी मुझे क्रोध आता, तब मीठी-मीठी बातें करके शान्त कर देती थी॥३५॥

९६. पतिव्रता पतिगतिः पतिप्रियहिते रता।
यस्य स्यात् तादृशी भार्या धन्यः स पुरुषो भुवि॥३६॥

वह बड़ी पतिव्रता थी। पति के सिवा दूसरी कोई उसकी गति नहीं थी। वह सदा ही पति के प्रिय एवं हित में तत्पर रहती थी। जिसको ऐसी पत्नी प्राप्त हुई हो, वह पुरुष इस पृथ्वी पर धन्य है॥३६॥

९७. सा हि श्रान्तं क्षुधार्तं च जानीते मां तपस्विनी।
अनुरक्ता स्थिरा चैव भक्ता स्निग्धा यशस्विनी॥३७॥

'वह तपस्विनी यह जानती है कि मैं थका, माँदा और भूख से पीड़ित हूँ, सो भी न जाने क्यों नहीं आ रही है? मेरे प्रति उसका अत्यन्त अनुराग है, उसकी बुद्धि स्थिर है, वह यशस्विनी भार्या मेरे प्रति स्नेह रखने वाली तथा मेरी परम भक्त है॥३७॥

९८. वृक्षमूलेऽपि दयिता यस्य तिष्ठति तद् गृहम्।
प्रासादोऽपि तया हीनः कान्तार इति निश्चितम्॥३८॥

'वृक्ष के नीचे भी जिसकी पत्नी साथ हो, उसके लिये वही घर है और बहुत बड़ी अट्टालिका भी यदि स्त्री से रहित है तो वह निश्चय ही दुर्गम गहन वन के समान है॥१३८॥

९९. धर्मार्थकामकालेषु भार्या पुंसः सहायिनी।
विदेशगमने चास्य सैव विश्वासकारिका॥३९॥

'पुरुष के धर्म, अर्थ और काम के अवसरों पर उसकी पत्नी ही उसकी मुख्य सहायिका होती है। परदेश जाने पर भी वही उसके लिये विश्वसनीय मित्र का काम करती है॥१३९॥

१००. भार्या हि परमो ह्यर्थः पुरुषस्येह पठयते।
असहायस्य लोकेऽस्मिंल्लोकयात्रासहायिनी॥४०॥

'पुरुष की प्रधान सम्पत्ति उसकी पत्नी ही कही जाती है। इस लोक में जो असहाय है, उसे भी लोक-यात्रा में सहायता देने वाली उसकी पत्नी ही है॥१४०॥

१०१. तथा रोगाभिभूतस्य नित्यं कृच्छ्रगतस्य च।
नास्ति भार्यासमं किंचिन्नरस्यार्तस्य भेषजम्॥४१॥

'जो पुरुष रोग से पीड़ित हो और बहुत दिनों से विपत्ति में फँसा हो, उस पीड़ित मनुष्य के लिये भी स्त्री के समान दूसरी कोई औषधि नहीं है॥४१॥

१०२. नास्तिभार्यासमो बन्धुर्नास्ति भार्यासमा गतिः।
नास्त भार्यासमो लोके सहायो धर्मसंग्रहे॥४२॥

'संसार में स्त्री के समान कोई बन्धु नहीं है, स्त्री के समान कोई आश्रय नहीं है और स्त्री के समान धर्मसंग्रह में सहायक भी दूसरा कोई नहीं है॥४२॥

१०३. यस्य भार्या गृहे नास्ति साध्वी च प्रियवादिनी।
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम्॥४३॥

'जिसके घर में साध्वी और प्रिय वचन बोलने वाली भार्या नहीं है, उसे तो वन में चला जाना चाहिये; क्योंकि उसके लिये जैसा घर है, वैसा ही वन'।।४३।।

१०४. न सा स्त्री ह्यभिमन्तव्या यस्यां भर्ता न तुष्यति।
तुष्टे भर्तरि नारीणां तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः।।४४।।

उस स्त्री को स्त्री ही नहीं समझना चाहिये, जिसका पति उससे संतुष्ट नहीं रहता है। पति के संतुष्ट रहने से स्त्रियों पर सम्पूर्ण देवता संतुष्ट रहते हैं।।४४।।

१०५. अग्निसाक्षिकमित्येव भर्ता वै दैवतं परम्।
दावाग्निनेव निद्रग्धा सपुष्पस्तवका लता।
भस्मीभवति सा नारी यस्या भर्ता न तुष्यति।।४५।।

अग्नि को साक्षी बनाकर स्त्री का जिसके साथ विवाह हो गया, वही उसका पति है और वही उसके लिये परम देवता है। जिसका पति संतुष्ट नहीं रहता, वह नारी दावानल से दग्ध हुई पुष्पगुच्छों सहित लता के समान भस्म हो जाती है।।४५।।

स्मरणीय बिंदु-

1. पण्डित के लक्षण जिसके कार्य में सर्दी-गर्मी, भय-अनुराग या समृद्धि-असमृद्धि बाधा नहीं डालते, वही सच्चा पण्डित है।
2. मूर्ख के लक्षण जो बिना बुलाए प्रवेश करता है, बिना पूछे बहुत बोलता है और अविश्वसनीय पर विश्वास करता है, वह मूर्ख कहलाता है।
3. सुख और शांति विदुरनीति के अनुसार धर्म ही परम कल्याणकारी है, क्षमा ही शांति का उत्तम उपाय है, विद्या ही परम तृप्ति है और अहिंसा ही सुख देने वाली है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

1. विदुरनीति के आधार पर पण्डित (बुद्धिमान) पुरुष के लक्षणों का सविस्तार वर्णन कीजिए।
2. एक क्षमा वशी लोके क्षमया किं न साध्यते - इस श्लोक के आलोक में क्षमा के महत्व और शांति प्राप्ति के साधनों की विवेचना कीजिए।
3. विदुर द्वारा धृतराष्ट्र को दिए गए उपदेशों के आधार पर मानव जीवन के उत्थान हेतु नीतिपरक सिद्धांतों की समीक्षा कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

1. विदुरनीति के अनुसार मूर्ख व्यक्ति के तीन प्रमुख लक्षण क्या हैं?
2. धर्म, क्षमा, विद्या और अहिंसा के फल क्या-क्या बताए गए हैं?
3. त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः - नरक के तीन द्वार कौन से हैं?
4. पण्डित व्यक्ति का ज्ञान उसके कार्यों को कैसे प्रभावित करता है?
5. विदुर के अनुसार मनुष्य को किन दो प्रकार के लोगों का त्याग कर देना चाहिए?
6. अक्रोध और क्रोध के अंतर को विदुरनीति के संदर्भ में स्पष्ट कीजिए।
7. विदुरनीति में त्याग का क्या महत्व बताया गया है?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1. विदुरनीति के अनुसार पण्डित वह है जिसके कार्यों में बाधा नहीं डालते
(।) शीत और उष्ण (सर्दी और गर्मी)
(2) भय और अनुराग
(3) समृद्धि और असमृद्धि
(4) उपरोक्त सभी

प्रश्न 2. नरक के तीन द्वार, जो आत्मा का नाश करने वाले हैं, कौन से हैं?
(।) सत्य, अहिंसा और तप
(2) काम, क्रोध और लोभ
(3) दया, क्षमा और दान

(4) लोभ, मोह और सेवा

प्रश्न 3. विदुरनीति के अनुसार परम शांति का एकमात्र उपाय क्या है?

(।) युद्ध

(2) धन

(3) क्षमा

(4) अहंकार

प्रश्न 4. जो व्यक्ति बिना बुलाए आता है और बिना पूछे बहुत बोलता है, उसे क्या कहा गया है?

(।) पण्डित

(2) मूढ़चेता (मूर्ख)

(3) सन्यासी

(4) राजा

प्रश्न 5. विदुर के अनुसार परम तृप्ति (सबसे बड़ा संतोष) किससे प्राप्त होती है?

(।) भोजन से

(2) विद्या से

(3) वस्त्रों से

(4) भ्रमण से।

इकाई- 3.3 श्रीरामचरितमानस
बालकाण्ड (मंगलाचरण)

उद्देश्य-

1. गोस्वामी तुलसीदास रचित रामचरितमानस के माध्यम से विद्यार्थियों को भक्ति, ज्ञान और वैराग्य के समन्वय से परिचित कराना।
2. श्री राम के वन-गमन और केवट प्रसंग जैसे मर्मस्पर्शी प्रसंगों के माध्यम से प्रेम, श्रद्धा और अटूट विश्वास की शिक्षा देना।
3. लोक-कल्याणकारी आदर्श राज्य (रामराज्य) की अवधारणा और मानवीय मूल्यों का बोध कराना।

१०६. अग्निसाक्षिकमित्येव भर्ता वै दैवतं परम्।
वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ॥ *(बा.का.श्.१)*
अक्षरों, अर्थसमूहों, रसों, छन्दों और मंगलों की करने वाली सरस्वती जी और गणेश जी मैं वन्दना करता हूँ।
भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥ *(बा.का. श्.२)*
श्रद्धा और विश्वास के स्वरूप श्रीपार्वती और श्रीशङ्करजी की मैं वन्दना करता हूँ, जिनके बिना सिद्धजन अपने अन्तःकरण में स्थित ईश्वर को नहीं देख सकते हैं।
वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥ *(बा.का.श्. ३)*
ज्ञानमय, नित्य, शङ्कररूपी गुरु की मैं वन्दना करता हूँ, जिनके आश्रित होने से ही टेढ़ा चन्द्रमा भी सर्वत्र वन्दित होता है।
श्रीगुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती॥
दलन मोह तम सो सप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू॥ *(बा.का. सो. ३)*
श्रीगुरु महाराज के चरण-नखों की ज्योति मणियों के प्रकाश के समान है, जिसके स्मरण करते ही हृदय में दिव्यता उत्पन्न हो जाती है। वह प्रकाश अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करने वाला है; वह जिसके हृदय में आ जाता है, उसके बड़े भाग्य हैं।
गुरु पद रज मृजु मंजुल अंजन। नयन अमिअ दृग दोष बिभंजन॥
तेहिं करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ राम चरित भव मोचन॥ *(बा.का. दो. १.१)*
श्रीगुरु महाराज के चरणों की रज कोमल और सुन्दर नयनामृत-अञ्जन है, जो नेत्रों के दोषों का नाश करने वाला है। उस अञ्जन से विवेक रूपी नेत्रों को निर्मल करके मैं संसार रूपी बन्धन से छुड़ाने वाले श्रीराम चरित्र का वर्णन करता हूँ।
बिनु सतसंग बिबेक न होई राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।
सतसंगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिद्धि सब साधन फूला॥ *(बा.का. दो. २.४)*
सत्संग के बिना विवेक नहीं होता और श्रीराम जीकी कृपा के बिना वह सत्संग सहज में मिलता नहीं। सत्संगति आनन्द और कल्याण की जड़ है। सत्संग की सिद्धि (प्राप्ति) ही फल है और सब साधन तो फूल हैं।
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई पारस परस कुधात सुहाई।
बिधि बस सुजन कुसंगत परहीं। फनि मनि सम निज गुण अनुसरहीं॥ *(बा.का. दो. २.४)*
दुष्ट भी सत्संगति पाकर सुधर जाते हैं, जैसे पारस के स्पर्श से लोहा सुहावना हो जाता है (सुन्दर सोना बन जाता है) किन्तु दैवयोग से यदि कभी सज्जन कुसंगति में पड़ जाते हैं, तो वे वहाँ भी साँप की मणि के समान अपने गुणों का ही अनुसरण करते हैं (अर्थात् जिस प्रकार साँप का संसर्ग पाकर भी मणि उसके विष को ग्रहण नहीं करती तथा अपने सहज गुण प्रकाश को नहीं छोड़ती, उसी प्रकार साधु पुरुष दुष्टों के संग में रहकर भी दूसरों को प्रकाश ही देते हैं, दुष्टों का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता)।

संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु।

बालबिनय सुनि करि कृपा राम चरन रति देहु॥ *(बा.का. दो. ३.ख)*

संत सरल हृदय और जगत् के हितकारी होते हैं, उनके ऐसे स्वभाव और स्नेह को जानकर मैं विनय करता हूँ, मेरी इस बाल-विनय को सुनकर कृपा करके श्रीराम जी के चरणों में मुझे प्रीति दें।

गुर पितु मातु महेस भवानी। प्रनवउँ दीनबंधु दिन दानी॥

सेवक स्वामि सखा सिय पी के। हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के॥

(बा.का. दो. १४.छ.२)

श्री महेश और पार्वती को मैं प्रणाम करता हूँ, जो मेरे गुरु और माता-पिता हैं, जो दीनबन्धु और नित्य दान करने वाले हैं, जो सीतापति श्रीरामचन्द्र जी के सेवक, स्वामी और सखा हैं तथा मुझ तुलसीदास का सब प्रकार से कपटरहित (सच्चा) हित करने वाले हैं।

राम भगत हित नर तनु धारी। सहि संकट किए साधु सुखारी॥

नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥

(बा.का. दो. २३.१)

श्रीरामचन्द्र जी ने भक्तों के हित के लिये मनुष्य-शरीर धारण करके स्वयं कष्ट सहकर साधुओं को सुखी किया; परन्तु भक्तगुण प्रेम के साथ नाम का जप करते हुए सहज ही में आनन्द और कल्याण के घर हो जाते हैं।

सत्संगति से राक्षस भी देवतुल्य बन जाते हैं

(विभीषण का भगवान् श्रीराम जी की शरण वेळ लिये प्रस्थान और शरण प्राप्ति)

रावन जबहिं बिभीषन त्यागा। भयउ बिभव बिनु तबहिं अभागा॥

चलेउ हरिष रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ बहु मन माहीं॥ *(सु.का. दो. ४१.२)*

रावण ने जिस क्षण विभीषण को त्यागा, उसी क्षण वह अभागा वैभव (ऐश्वर्य) से हीन हो गया। विभीषण जी हर्षित होकर मन में अनेकों मनोरथ करते हुए श्रीरधुनाथ जी के पास चले।

कह प्रभु सखा बूझिऐ काहा। कहइ कपीस सुनहु नरनाहा॥

जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया॥ *(सु.का. दो. ४२.३)*

प्रभु श्रीराम जी ने कहा-हे मित्र! तुम क्या समझते हो (तुम्हारी क्या राय है)? वानरराज सुग्रीव ने कहा-हे महाराज! सुनिये, राक्षसों की माया जानी नहीं जाती। यह इच्छानुसार रूप बदलने वाला (छली) न जाने किस कारण आया है।

भेद हमार लेन सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहि अस भावा॥

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी॥ *(सु.का. दो. ४२.४)*

(जान पड़ता है) यह मूर्ख हमारा भेद लेने आया है। इसलिये मुझे तो यही अच्छा लगता है कि इसे बाँध रखा जाय। (श्रीराम जी ने कहा-) हे मित्र! तुमने नीति तो अच्छी विचारी। परन्तु मेरा प्राण तो है शरणागत के भय को हर लेना।

सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।

ते नर पावँर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥ *(सु.का. दो. ४३)*

(श्रीराम जी फिर बोले)- जो मनुष्य अपने अहित का अनुमान करके शरण में आये हुए का त्याग कर देते हैं, वे पामर (क्षुद्र) हैं, पापमय हैं; उन्हें देखने में भी हानि है (पाप लगता है)।

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥ *(सु.का. दो. ४३.१)*

जिसे करोड़ों ब्राह्मणों की हत्या लगी हो, शरण में आने पर मैं उसे भी नहीं त्यागता। जीव ज्यों ही मेरे सम्मुख होता है, त्यों ही उसके करोड़ों जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं।

पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥

जौं पै दुष्ट हृदय सोइ होईं मोरें सनमुख आव कि सोईं। *(सु.का. दो. ४३.२)*

पापी का यह सहज स्वभाव होता है कि मेरा भजन उसे कभी नहीं सुहाता। यदि वह (रावण का भाई) निश्चय ही दुष्ट हृदय का होता तो वह मेरे सम्मुख आ सकता था?

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥
भेद लेन पठवा दससीसा। तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा॥ *(सु.का. दो. ४३.३)*

जो मनुष्य निर्मल मन का होता है, वही मुझे पाता है। मुझे पकट और छल-छिद्र नहीं सुहाते। यदि उसे रावण भेद लेने को भेजा है, तब भी हे सुग्रीव! अपने को कुछ भी भय या हानि नहीं है।

जग महुँ सखा निसाचर जेते। लछिमनु हनइ निमिष महुँ तेते॥
जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥ *(सु.का. दो. ४३.४)*

क्योंकि हे सखे! जगत् में जितने भी राक्षस हैं, लक्ष्मण क्षणभर में उन सबको मार सकते हैं और यदि वह भयभीत होकर मेरे शरण आया है तो मैं उसे प्राणों की तरह रखूँगा।

अस कहि करत दंडवत देखा। तुरत उठे प्रभु हरष विसेषा॥
दीन बचन सुनि प्रभु भावा। भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा॥ *(सु.का. दो. ४५.१)*

प्रभु ने उन्हें ऐसा कहकर दण्डवत् करते देखा तो वे अत्यन्त हर्षित होकर तुरंत उठे, विभीषण जी के दीन वचन सुनने पर प्रभु के मन को बहुत ही भाये। उन्होंने अपनी विशाल भुजाओं से पकड़कर उनको हृदय से लगा लिया।

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देह बिधाता॥
अब पद देखि कुसल रघुराया। जौं तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया॥ *(सु.का. दो. ४५.४)*

ते तात! नरक में रहना वरं अच्छा है, परन्तु विधाता दुष्ट का संग (कभी) न दे। (विभीषण जी ने कहा–) हे रघुनाथ जी! अब आप के चरणों का दर्शन कर कुशल से हूँ, जो आपने अपना सेवक जानकर मुझ पर दया की है।

मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ। सुभ आचरनु कीन्ह नहिं काऊ॥
जासु रूप मुनि ध्यान न आवा। तेहिं प्रभु हरिष हृदयँ मोहि लावा॥ *(सु.का. दो. ४६.४)*

मैं अत्यन्त नीच स्वभाव का राक्षस हूँ। मैंने कभी शुभ आचरण नहीं किया। जिनका रूप मुनियों के भी ध्यान में नहीं आता, उन प्रभु ने स्वयं हर्षित होकर मुझे हृदय से लगा लिया।

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥
जौं नर होई चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥ *(सु.का. दो. ४७.१)*

(श्रीराम जी ने कहा–) हे सखा! सुनो, मैं तुम्हें अपना स्वभाव कहता हूँ, जिसे काकभुशुण्डि, शिव जी और पार्वती जी भी जानती हैं। कोई मनुष्य (सम्पूर्ण) जड़-चेतन जगत् का द्रोही हो, यदि वह भी भयभीत होकर मेरी शरण में आ जाये।

तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥
जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥ *(सु.का. दो. ४७.२)*

और मद, मोह तथा नाना प्रकार के छल-कपट त्याग दे तो मैं उसे बहुत शीघ्र साधु के समान कर देता हूँ। माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, धन, मित्र और परिवार।

सुनु लंकेस सकल गुन तोरें। तातें तुम्ह अतिसय प्रिय मोरें॥
राम बचन सुनि बानर जूथा। सकल कहहिं जय कृपा बरूथा॥ *(सु.का. दो. ४८.१)*

हे लङ्कापति! सुनो, तुम्हारे अंदर उपर्युक्त सब गुण हैं। इससे तुम मुझे अत्यन्त ही प्रिय हो। श्रीराम जी के वचन सुनकर सब वानरों के समूह कहने लगे–कृपा के समूह श्रीराम जी की जय हो।

श्रीराम जी के गुणगान की महिमा

सकल सुमंगल दायक रघुनायक गुन गान।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव सिंधु बना जलजान॥ *(सु.का. दो. ६०)*
श्रीरघुनाथ जी का गुणगान सम्पूर्ण सुन्दर मङ्गलों का देने वाला है। जो इसे आदर सहित सुनेंगे, वे बिना किसी जहाज (अन्य साधन) के भवसागर को तर जायँगे।

सर्वत्र विजय दिलाने वाला (विजय रथ)

रावण रथी विरथी रघुवीरा। देख विभीषण भयउ अधीरा॥
युद्ध के मैदान में रावण रथ पर सवार हैं और श्रीराम बिना रथ के जमीन पर खड़े हैं, यह देखकर विभीषण बहुत चिन्तित व अधीर हो जाते हैं।

अधिक प्रीत मन भा सन्देहा। बन्दी चरन कहे सहित सनेहा॥
मन में श्रीराम के प्रति अत्यन्त प्रीति होने के कारण स्नेह पूर्वक चरण पकड़कर चिन्तित होकर कहते हैं–

नाथ ना रथ नहीं तन पद त्राणा। केहि विधि जितब वीर बलवाना॥
हे नाथ न तो आपके पास रथ है ना ही शरीर की रक्षा के लिए कोई कवच है ऐसी हालत में आप इस वीर बलवान रावण को कैसे जीत पायेंगें?

सुनहु कृपा कह कृपा निधाना। जेहि जय होय सो स्यन्दन नाना॥
विभीषण की चिन्ता देखकर मुस्कुराते हुए श्री राम कहते हैं, कि हे मित्र! आप चिन्ता ना करें विजय दिलाने वाला रथ तो कोई दूसरा ही होता है। वह रथ कैसा होता है वह मैं आपको बताता हूँ।

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका॥
शौर्य और धौर्य उस रथ) के दो चक्र हैं, सत्य और शील की दृढ़ ध्वजा उस रथ पर फहरा रही है।

बल विवेक दम परहित घोरे। क्षमा कृपा समता रजु जोरे॥
बल, विवेक, भोग विषयों का दमन और दूसरों का हित करना ये इस रथ के घोड़े हैं जो क्षमा, कृपा और समता रूपी रस्सी से जुड़े हुए हैं।

ईश भजन सारथी सुजाना। विरति चर्म सन्तोष कृपाना॥
ईश्वर का भजन इस रथ का अच्छा सारथी है, विरति=वैराग्य रूपी चाबुक उसके हाथ में है और सन्तोष रूपी कृपाण भी उसके पास है।

दान परसु बुद्धि शक्ति प्रचण्डा। वर विज्ञान कठिन कोदण्डा॥
विविध प्रकार का दान उसका फरसा है, प्रचण्ड बुद्धि ही उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। श्रेष्ठ ज्ञान-विज्ञान ही उसका कठोर धनुष है।

अमल-अचल मन त्रोण समाना। शम जम नियम सिलीमुख नाना॥
चंचलता से रहित सदा स्थिर रहने वाला मन इस योद्धा का तरकश है। शम, 5 यम, और 5 नियम उसके पैने-पैन बाण हैं।

कवच अभेद विप्र गुरु पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा॥
विप्रजनों और गुरुजनों की पूजा ही अभेद कवच है जिसे कोई भेद नहीं सकता। ये सब साधन इतने सशक्त हैं कि इनके समान विजय का कोई और साधन हो ही नहीं सकता।

सखा धर्ममय असरथ जाके। जितब न कबहु कतहु रिपु ताके॥
अत: हे मित्र विभीषण। जिसके पास ऐसा धर्ममय रथ है उसको कभी कोई शत्रु जीत नहीं सकता।

महा अजय संसार रिपु जीत सकई सो वीर।
जाके अस रथ होय दृढ़ सुनहुँ सखा मति धीर॥

हे मित्र! वास्तव में अजेय रावण नहीं अपितु यह संसार है। जो योगी व्यक्ति इसे जीत लेता है वही सच्चा वीर है और इसे वही जीत सकता है जिसके पास यह धर्ममय रथ होता है।

अत: आप चिन्ता तनिक भी ना करें हमारे पास जो धर्ममय रथ है उसके कारण निश्चित रूप से विजय हमारी ही होगी।

स्मरणीय बिंदु-

1. केवट प्रसंग केवट का श्री राम के प्रति प्रेम इतना अनन्य था कि उसने प्रभु के चरणों को धोए बिना उन्हें नाव पर चढ़ाने से मना कर दिया, जो भक्त और भगवान के बीच के आत्मीय संबंध को दर्शाता है।
2. समरसता श्री राम ने निषादराज और केवट जैसे समाज के अंतिम पंक्ति के व्यक्तियों को गले लगाकर सामाजिक एकता का महान संदेश दिया है।
3. मर्यादा रामचरितमानस सिखाता है कि कठिन से कठिन समय (जैसे वनवास) में भी अपनी मर्यादा और धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

1. रामचरितमानस के केवट प्रसंग के आधार पर भक्त की अनन्य निष्ठा और भगवान की वत्सलता का सविस्तार वर्णन कीजिए।
2. रामचरितमानस सामाजिक समरसता और पारिवारिक आदर्शों का अनुपम ग्रंथ है। इस कथन की पुष्टि चयनित प्रसंगों के आधार पर कीजिए।
3. श्री राम के वन-गमन के समय अयोध्यावासियों की मनोदशा और श्री राम के धीरज का दार्शनिक विवेचन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

1. केवट ने श्री राम के चरण धोने के पीछे क्या तर्क दिया था?
2. श्री राम और निषादराज के मिलन का सामाजिक महत्व क्या है?
3. रामचरितमानस के अनुसार सच्चा मित्र कैसा होना चाहिए?
4. श्री राम ने गंगा पार उतारने के बदले केवट को क्या देना चाहा और केवट ने उसे क्यों स्वीकार नहीं किया?
5. चित्रकूट प्रसंग में भरत और राम के मिलन का क्या संदेश है?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1. रामचरितमानस के केवट प्रसंग में केवट ने श्री राम के चरण धोने का क्या कारण बताया था?

(।) पैर गंदे होने के कारण

(2) पैरों की धूल से नाव के नारी (अहल्या की तरह) बन जाने के डर से

(3) केवल अपना कौशल दिखाने के लिए

(4) राजा का सम्मान करने के लिए

प्रश्न 2. श्री राम ने वन जाते समय सबसे पहले किसे गले लगाकर अपना मित्र बनाया? (।) केवट को

(2) निषादराज गुह को

(3) सुग्रीव को

(4) विभीषण को

प्रश्न 3. रामचरितमानस की रचना किस भाषा में की गई है?

(।) संस्कृत

(2) ब्रजभाषा

(3) अवधी

(4) खड़ी बोली

प्रश्न 4. केवट ने श्री राम से उतराई (किराया) न लेने के पीछे क्या तर्क दिया?

(।) क्योंकि वह अमीर था

(2) क्योंकि एक ही घाट के लोग (मल्लाह और भवसागर से पार करने वाले राम) एक-दूसरे से किराया नहीं लेते
(3) क्योंकि वह डर गया था
(4) क्योंकि राम के पास पैसे नहीं थे

प्रश्न 5. रामचरितमानस के अनुसार रामराज्य की मुख्य विशेषता क्या है?
(।) दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से मुक्ति
(2) केवल धन की प्रचुरता
(3) केवल शक्तिशाली सेना
(4) केवल बड़े महल।

इकाई- 3.4 पुराणों का परिचय

उद्देश्य-

1. विद्यार्थियों को अठारह पुराणों के सामान्य परिचय और उनके पञ्चलक्षण (सर्ग, प्रतिसर्ग आदि) से अवगत कराना ।
2. पुराणों में वर्णित योग के स्वरूप, विशेषकर अष्टांग योग और उसके आध्यात्मिक लाभों को समझाना।
3. पुराणों के माध्यम से रक्षा (अवतारवाद) और मन्वन्तर जैसी भारतीय काल-गणना और ईश्वरीय न्याय व्यवस्था का ज्ञान प्रदान करना ।

भारतीय संस्कृति के स्वरूप की जानकारी के लिए पुराण के अध्ययन की महती आवश्यकता है। पुराण भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है–वह आधारपीठ है जिस पर आधुनिक भारतीय समाज अपने नियमन को प्रतिष्ठित करता है।

पुराण शब्द की व्युत्पत्ति

'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनि, यास्क तथा स्वयं पुराणों ने भी दी है। 'पुरा भवम्' (प्राचीन काल में होने वाला) इस अर्थ में, **'सायंचिरंप्राह्वेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च'** *(पाणिनिसूत्र-४।३।२३)* पाणिनि के इस सूत्र से 'पुरा' शब्द से 'ट्यु' प्रत्यय करने तथा 'तुट्' के आगमन होने पर 'पुरातन' शब्द निष्पन्न होता है, परन्तु स्वयं पाणिनि ने ही अपने दो सूत्रों–**'पूर्वकालैक-सर्व-जरत्पुराण नव-केवलाः समानाधिकरणेन'** *(२।१।४९)* तथा **'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु'** *(४।३।१०५)* में 'पुराण' शब्द का प्रयोग किया है जिससे तुडागम का अभाव निपातन से सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि पाणिनि की प्रक्रिया के अनुसार 'पुरा' शब्द से ट्यु प्रत्यय अवश्य होता है, परन्तु नियमप्राप्त 'तुट्' का आगम नहीं होता। 'पुराण' शब्द ऋग्वेद में एक दर्जन से अधिक स्थानों पर मिलता है, यह वहाँ विशेषण है तथा उसका अर्थ है प्राचीन, पूर्व काल में होने वाला। यास्क के निरुक्त *(३।१९)* के अनुसार 'पुराण' की व्युत्पत्ति है–**पुरा नवं भवति** (अर्थात् जो प्राचीन होकर भी नया होता है)। वायुपुराण के अनुसार यह व्युत्पत्ति है–पुरा अनति अर्थात् प्राचीनकाल में जो जीवित था। पद्मपुराण के अनुसार यह निरुक्ति इससे किञ्चित् भिन्न है–

'पुरा परम्परां वष्टि कामयते' अर्थात् जो प्राचीनता की अर्थात् परम्परा की कामना करता है वह पुराण कहलाता है। ब्रह्माण डपुराण की इससे भिन्न एक तृतीय व्युत्पत्ति है–**'पुरा एतद् अभूत्'** अर्थात् 'प्राचीन काल में ऐसा हुआ।'

इन समग्र व्युत्पत्तियों की मीमांसा करने से स्पष्ट है कि 'पुराण' का वर्ण्य विषय प्राचीन काल से सम्बद्ध था। प्राचीन ग्रन्थों में पुराण का सम्बन्ध 'इतिहास' से इतना घनिष्ठ है कि दोनों सम्मिलित रूप से 'इतिहास-पुराण' नाम से अनेक स्थानों पर उल्लिखित किये गये हैं। 'इतिहास' के अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित होने पर भी लोगों में यह भ्रान्त धारणा फैली हुई है कि भारतीय लोग ऐतिहासिक कल्पना से भी सर्वथा अपरिचित थे। परन्तु यह धारणानिर्मूल तथा अप्रामाणिक है। यास्क के कथनानुसार ऋग्वेद में ही त्रिविध ब्रह्म के अन्तर्गत 'इतिहास-मिश्र' मन्त्र पाये जाते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार से ब्रह्मविद्या सीखने के अवसर पर नारद मुनि ने अपनी अधीत विद्याओं के अन्तर्गत 'इतिहास-पुराण' को पञ्चम वेद बतलाया है। इस संयुक्त नाम से स्पष्ट है कि उपनिषद् युग में दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध की भावना क्रियाशील थी।

पुराणों के प्राचीन उल्लेख

पुराण के विषय में दो दृष्टियाँ प्राचीनकाल में देखी जाती हैं।

एक अर्थ में तो यह प्राचीनकाल के वृत्तों के विषय में विद्या के रूप में प्रयुक्त होता था। दूसरे अर्थ में यह एक विशिष्ट साहित्य या ग्रन्थ के लिए प्रयुक्त किया गया उपलब्ध होता है। इसकी प्राचीनता खोजने के लिए वैदिक साहित्य का आलोडन आवश्यक है–संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषदों का।

ऋग्वेद में 'पुराण' शब्द का प्रयोग अनेक मन्त्रों में उपलब्ध होता है *(ऋ०वे०५।५४।९,३।५८।६,१०।१३०।६)*, परन्तु इन स्थलों पर 'पुराण' शब्द केवल प्राचीनता का ही बोधक है। अन्यत्र *(९।९९।४)* 'पुराणी' शब्द 'गाथा' शब्द के विशेषण रूप में प्रयुक्त मिलता है। इससे अर्थ लगाया जा सकता है कि ऋग्वेद के युग में कुछ गाथाएँ ऐसी विद्यमान थीं जिनका उदय किसी प्राचीन काल में

हुआ था। ऋग्वेद के काल में हम इससे अधिक कुछ नहीं कह सकते। अथर्ववेद में हमें 'पुराण' शब्द इतिहास, गाथा तथा नाराशंसी शब्दों के साथ प्रयुक्त मिलता है जहाँ एक विशिष्ट विद्या के रूप में ही उपलब्ध होता है। पुराण का उदय 'उच्छिष्ट' संज्ञक ब्रह्म से बतलाया गया है। अथर्व *(११।७।२४)* मंत्र का अर्थ है–ऋक्, साम, छन्द (अथर्व) और यजुर्वेद के साथ ही पुराण भी उस उच्छिष्ट से–यज्ञ के अवशेष से अथवा जगत् पर शासन करने वाले यज्ञमय परमात्मा से–उत्पन्न हुए तथा द्युलोक में निवास करने वाले देव भी उसी उच्छिष्ट से पैदा हुए।

(१) ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः॥ *(अथर्व०-११।७।२४)*

(२) स बृहतीं दिशमनुव्यचलत्॥ *(१०)*
तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च।
नाराशंसीश्चानुव्यचलन्॥ *(११)*
इतिहासस्य च स वै पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां
च प्रियं धाम भवति, य एवं वेद॥ *(१२)*
(अथर्व,१५काण्ड,१अनुवाक,६सूक्त)

(३) यत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धा तय इद् विदुः।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित्॥ *(अथर्व०-११।८।७)*

तात्पर्य-इस (दीखती हुई भूमि) से पहले (अर्थात् पहले कल्पवाली) जो भूमि थी, उस भूमि को सत्य ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं। जो निश्चय करके उस प्रथम कल्पवाली भूमि को नामतः–यथार्थ रूप से-जान ले वह पुराणवित् व्यक्तियों का अस्तित्व अवश्यमेव विद्यमान था।

ब्राह्मण-साहित्य में पुराण

ब्राह्मण-साहित्य में भी 'पुराण' का अस्तित्व प्रमाणित होता है। शतपथ तथा गोपथ ब्राह्मणों में 'पुराण' का बहुशः उल्लेख उपलब्ध होता है जिससे इसकी लोकप्रियता प्रमाणित होती है। गोपथ का कथन है कि कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, इतिहास, अन्वाख्यात तथा पुराण के साथ सब वेद निर्मित हुए। यहाँ इतिहास-पुराण का सम्बन्ध वेद से जोड़ा गया है। दूसरे मन्त्र में गोपथ ब्राह्मण पाँच वेदों के निर्माण की बात कहता है और ये वेदपंचक हैं–सप्रवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद तथा पुराणवेद।

पुराण का अवतरण

(प्राचीन ग्रन्थों में 'पुराण' शब्द का ही प्रयोग मिलता है, 'पुराण संहिता' का नहीं। फलतः यह मूलतः किसी ग्रन्थ विशेष का द्योतक न होकर, किसी विद्याविशेष का ही वाचक है।)

(क) पुराण के आविर्भाव का निर्देश वायु १।५४ तथा मत्स्य ३।

३-४ में वेद के आविर्भाव से पूर्ववर्ती बतलाया गया है। ब्रह्मा के सब शास्त्रों में पुराण का ही प्रथम स्मरण किया और अनन्तर उनके मुखों से वेद निःसृत हुए-

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः॥ *(मत्स्य०-३।३-४)*

'शतकोटिप्रविस्तरम्' शब्द किसी निश्चित रूप का संकेत न कर पुराण के अनिश्चित यथा विप्रकीर्ण रूप का द्योतक माना जा सकता है। किसी ग्रन्थ का संकेत न होने से यह निर्देश पुराणविद्या की ही द्योतना करता है ऐसा मानना उचित है।

(ख) 'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति भी इस विषय में सहायक मानी जा सकती है।

पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन तत् स्मृतम्। *(पद्मपुराण-५।२।५३)*

यस्मात् पुरा ह्यनक्तीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम्। *(वायु-१।१०३,१०३।५५)*

फलतः अपने प्राचीनतम रूप में 'पुराण' किसी विशिष्ट ग्रन्थ का बोधक न होकर विद्याविशेष का ही बोधक है।

इस परम्परा का कथन है–कल्पान्तर में पुराण एक ही था। वह त्रिवर्ग–धर्म, अर्थ तथा काम का साधन था अर्थात् जिस प्रकार

वह अर्थशास्त्र तथा कामशास्त्र के विषयों का प्रतिपादक था, उसी प्रकार वह धर्म का भी प्रकाशक था। उसका क्षेत्र बड़ा ही विस्तृत था, क्योंकि वह श्लोकों की संख्या में शतकोटि विस्तार रखता था। अनेक पुराणों की मान्यता है कि यह विशाल पुराण-साहित्य देवलोक में प्रतिष्ठित था। समय के परिवर्तन से इतने विशाल पुराण का ग्रहण क्षीणबुद्धि मानवों की परिमित शक्ति के बाहर की बात थी। फलतः विष्णु भगवान् ने मानवों के कल्याण के लिए इस विशालकाय साहित्य को चार लाख श्लोकों के भीतर संक्षिप्त कर दिया व्यास का रूप धारण करके। इसीलिए मर्त्यलोक में पुराण की संख्या चतुर्लक्षात्मक है और इसी का विभाजन १८ महापुराणों में वेदव्यास ने कर दिया, जो आजकल प्रचलित तथा लोकप्रिय है।

पुराण लौकिक शास्त्र है। यह वेद से भिन्न, परन्तु तदनुकूल शास्त्र माना जाता है। वेद के समान इसका स्वरूप सदा-सर्वदा के लिए निश्चित नहीं किया गया है, प्रत्युत यह समय परिवर्तन के संग में तथा उसके प्रभाव में आकर स्वयं परिवर्तनशील है। इसलिए तन्त्रवार्तिक *(१।३।३)* वेद को अकृत्रिम, पुराण को कृत्रिम बतलाता है। निरुक्त में पुराण शब्द की दी गयी निरुक्ति भी इसके समय-समय पर परिवर्तन की ओर स्पष्टतः संकेत करती है। वह व्युत्पत्ति है–**पुरापि नवं भवति।** आशय है यह शास्त्र प्राचीनकालिक होने पर भी नया-नया होता है अर्थात् मूलतः प्राचीन होने पर भी कालान्तर में उत्पन्न परिवर्तनों को यह अपने में आत्मसात् कर लेता है। पुराण इस सामयिक परिवर्तन के तथ्य को प्रकट करने से पराङ्मुख नहीं होता।

पुराणमेकमेवासीदस्मिन् कल्पान्तरे नृप।
त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्॥
स्मृत्वा जगाद च मुनीन्प्रति देवश्चतुर्मुखः।
प्रवृत्तिः सर्वशास्त्राणां पुराणस्याभवत्ततः॥
कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप।
व्यासरूपं विभुं कृत्वा संहरेत्स युगे युगे॥
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा।
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रभाषते॥
अद्यापि देवलोके तच्छतकोटिप्रविस्तरम्।
तदर्थोऽत्र चतुर्लक्षः संक्षेपेण निवेशितः॥
पुराणानि दशाष्टौ च साम्प्रतं तदिहोच्यते॥ *(स्कन्दपुराण(रेवामाहात्म्य१।२३।३०)*
प्रवृत्तिः सर्वशास्त्राणां पुराणस्याभवत्तदा।
कलिना ग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य तदा विभुः॥
व्यासरूपी तदा ब्रह्मा संग्रहार्थं युगे युगे।
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे विभुः।
तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रकाश्यते॥
(पद्मपुराणसृष्टिखण्डअ०१)

पुराणों के नाम तथा श्लोक-संख्या

पुराणों की संख्या प्राचीन काल से १८ मानी गयी है। इन अष्टादश पुराणों के नाम प्रायः प्रत्येक पुराण में उपलब्ध होते हैं। देवीभागवत (१ स्कन्ध, 3 अ०, २१ श्लो०) ने आद्य अक्षर के निर्देश से अष्टादश पुराणों का नाम निर्देश इस लघुकाय अनुष्टुप् में निबद्ध कर दिया है–

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
अनापलिङ्ग-कू-स्कानि पुराणानि पृथक्-पृथक्॥

मकारादि दो पुराण–(१) मत्स्य तथा (२) मार्कण्डेय, भकारादि दो पुराण–(३) भागवत तथा (४) भविष्य, ब्रत्रयम्–(५) ब्रह्म, (६) ब्रह्मवैवर्त तथा (७) ब्रह्माण्ड, वचतुष्टयम्–(८) वामन, (९) विष्णु, (१०) वायु, (११) वाराह; अनापलिङ्ग कूस्क= (१२) अग्नि, (१३) नारद, (१४) पद्म, (१५) लिंग, (१६) गरुड, (१७) कूर्म, तथा (१८) स्कन्द।

अष्टादश पुराणों की श्लोक संख्या का निर्देश विभिन्न पुराणों में उपलब्ध होता है। श्लोक संख्या की तारतम्य परीक्षा के लिए

यह निर्देश एकत्र उपस्थित किया जा रहा है–

१.	ब्रह्म०	१० हजार
२.	पद्म	५५ हजार
३.	विष्णु	२३ हजार
४.	शिव	२४ हजार
५.	भागवत	१८ हजार
६.	नारद	२५ हजार
७.	मार्कण्डेय	९ हजार
८.	अग्नि	१५ हजार ४ सौ
९.	भविष्य	१४ हजार ५ सौ
१०.	ब्रह्मवैवर्त	१८ हजार
११.	लिंग	११ हजार
१२.	वराह	२४ हजार
१३.	स्कन्द०	८१ हजार १ सौ
१४.	वामन	१० हजार
१५.	कूर्म	१७ हजार
१६.	मत्स्य	१४ हजार
१७.	गरुड	१९ हजार
१८.	ब्रह्माण्ड	१२ हजार

कुल : ४ लाख श्लोक

पुराण का लक्षण

पुराण के साथ 'पञ्चलक्षण' का सम्बन्ध प्राचीन तथा घनिष्ठ है। पञ्च लक्षण के भीतर निम्नलिखित विषय इस प्रख्यात श्लोक के द्वारा निर्दिष्ट किये गये हैं।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंश्यानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

पुराण विषयक यह पद्य प्रायः प्रत्येक पुराण में उपलब्ध होता है। 'पञ्चलक्षण' शब्द पुराण का इतना अनिवार्य द्योतक माना जाता था कि अमरकोश में यह शब्द बिना किसी व्याख्या के ही प्रयुक्त किया गया है। व्याख्या-विहीन पारिभाषिक शब्द का प्रयोग उसकी सार्वभौम लोकप्रियता का संकेतक माना जाता है। इस शब्द के विषय में भी यही तथ्य सर्वतोभावेन क्रियाशील माना जाना चाहिए।

पुराण की सर्वत्र मान्य परम्परा के अनुसार ये ही पाँच विषय वर्णनीय माने गये हैं–

(१)सर्ग–

जगत् की तथा उसके नाना पदार्थों की उत्पत्ति अथवा सृष्टि 'सर्ग' कहलाती है।

अव्याकृतगुणक्षोभात् महतस्त्रिवृतोऽहमः।
भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते॥ *(भाग०१२।७।११)*

आशय है कि जब मूल प्रकृति में लीन गुण क्षुब्ध होते हैं, तब महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है। महत् तत्त्व से तीन प्रकार तामस, राजस तथा सात्त्विक–के अहंकार बनते हैं। त्रिविध अहंकार से ही पञ्चतन्मात्रा (भूतमात्र), इन्द्रिय तथा (पञ्च) भूतों की उत्पत्ति होती है। इसी उत्पत्ति क्रम का नाम सर्ग है।

(२)प्रतिसर्ग–

सर्ग से विपरीत वस्तु अर्थात् प्रलय। विष्णुपुराण में प्रतिसर्ग के स्थान पर ' प्रतिसंचर' शब्द का प्रयोग मिलता है *(विष्णु१।२।२५)* । श्रीमद्भागवत में इस शब्द के स्थान पर ' संस्था' शब्द प्रयुक्त हुआ है। *(१२।७।१७)*–

नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः।

संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धाऽस्य स्वभावतः॥

इस ब्रह्माण्ड का स्वभाव से ही प्रलय हो जाता है और यह प्रलय चार प्रकार का है–नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य तथा आत्यन्तिक, यही 'संस्था' शब्द से अभिहित किया जाता है।

(३)वंश–

राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः॥ *(भाग०१२।७।१६)*

अर्थात् ब्रह्माजी के द्वारा जितने राजाओं की सृष्टि हुई, उनकी भूत, भविष्य तथा वर्तमान कालीन सन्तान-परम्परा को 'वंश' नाम से पुकारते हैं। भागवत के द्वारा व्याख्यात इस शब्द के भीतर राजाओं की ही सन्तान परम्परा का उल्लेख प्राधान्यधिया है, परन्तु 'वंश' को राजवंश तक ही सीमित करना उपयुक्त नहीं है। इस शब्द के भीतर ऋषियों के वंश का ग्रहण अन्य पुराणों में किया गया है।

(४)मन्वन्तर–

पुराण के अनुसार सृष्टि के विभिन्न काल-मान का द्योतक यह शब्द है। पौराणिक काल-गणना का महत्त्व तथा स्वरूप आगे दिखलाया जायेगा।

मन्वन्तर १४ होते हैं और प्रत्येक मन्वन्तर का अधिपति एक विशिष्ट मनु हुआ करता है जिसके सहयोगी पाँच पदार्थ और भी होते हैं।

मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः।

ऋषयोंऽशावताराश्च हरेः षड्विधमुच्यते॥ *(भाग०१२।७।१५)*

मनु, देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, सप्तर्षि और भगवान् के अंशावतार-इन छः विशिष्टताओं से युक्त समय को ' मन्वन्तर' कहते हैं।

(५)वंशानुचरित–

वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये। *(भाग०१२।७।१६)*

पूर्वोक्त वंशों में उत्पन्न हुए वंशधरों का तथा मूलपुरुष राजाओं का विशिष्ट विवरण जिसमें वर्णित होता है वह 'वंशानुचरित' कहलाता है। यहाँ मनुष्य वंश में प्रसूत महर्षियों का तथा राजाओं का चरित भी समाविष्ट समझना चाहिए। महर्षियों के चरित्र की अपेक्षा राजाओं के चरित्र का ही विशेष विवरण पुराणों में उपलब्ध होता है।

भागवत के द्वादश स्कन्ध के अनुसार ये दश लक्षण हैं–

सर्गश्चाथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।

वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः॥ *(भाग०१२।७।९)*

(१)	सर्गः	(५)	अन्तराणि	(८) संस्था	
(२)	विसर्गः	(६)	वंशः	(९) हेतुः	
(३)	वृत्तिः	(७)	वंशानुचरितम्	(१०)	अपाश्रयः
(४)	रक्षा				

(१) सर्ग- जगत तथा उसके पदार्थों की उत्पत्ति या सृष्टि।

(२) विसर्ग- जीव की सृष्टि। परमेश्वर के अनुग्रह से ब्रह्मा सृष्टि का सामर्थ्य प्राप्त करके महत् तत्त्व आदि पूर्व कर्मों के अनुसार अच्छी और बुरी वासनाओं की प्रधानता के कारण जो यह चराचर शरीरात्मक उपाधि से विशिष्ट जीव की सृष्टि किया करते हैं इसे ही 'विसर्ग' कहते हैं।

(३) वृत्ति- जीवों के जीवन-निर्वाह की सामग्री भागवत के अनुसार चर पदार्थों की अचर पदार्थ वृत्ति है। मानव जीवन को चलाने के लिए जिन वस्तुओं का उपयोग मनुष्य करता है वही उसकी वृत्ति है। चावल, गेहूँ, आदि अन्न सब वृत्ति के अन्तर्गत आते हैं।

(४) रक्षा- इसका सम्बन्ध भगवान् के अवतारों से है। भगवान् युग-युग में पशु-पक्षी, मनुष्य, ऋषि, देवता आदि के रूप में अवतार ग्रहण कर अनेक लीलाएँ किया करते हैं। इन अवतारों के द्वारा वेदत्रयी-वेदधर्म से विरोध करने वाले व्यक्तियों का संहार भी किया करते हैं। इस कारण भगवान् की यह अवतार-लीला विश्व की रक्षा के लिए ही होती है। इसलिए इसकी संज्ञा है–रक्षा।

इन समग्र तथ्यों का ग्रहण 'रक्षा' के अन्तर्गत समझना चाहिए।

(५) अन्तराणि- पूर्ववर्णित मन्वन्तर के समान ही।

(६) वंश- पूर्ववत्।

(७) वंशानुचरित-पूर्ववत्।

(८) संस्था- पूर्व सूची का 'प्रतिसर्ग'।

(९) हेतु- हेतु शब्द से जीव का ग्रहण अभीष्ट है। वह अविद्या के द्वारा कर्म का कर्ता है। संसार की सृष्टि में जीव को कारण मानने का रहस्य यह है कि जीव के अदृष्ट के द्वारा प्रयुक्त होने से विश्व का सर्ग तथा प्रतिसर्ग आदि होता है। फलतः जीव अपने अदृष्ट के द्वारा विश्व-सृष्टि या विश्व प्रलय का कारण होता है और इसी अभिप्राय से वह भागवत में 'हेतु' जैसे सार्थक शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है। चैतन्य के प्रधान से वह अनुशयी-साक्षी माना गया है और उपाधि प्राधान्य की विवक्षा से कुछ लोग उसे 'अव्याकृत' नाम से पुकारते हैं।

(१०) अपाश्रय- ब्रह्म का द्योतक महनीय अभिधान है। जीव की तीन वृत्तियाँ या अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति और इन दशाओं में चैतन्य का निवास है जो क्रमशः विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ के नाम से प्रख्यात है। इन मायामयी वृत्तियों में साक्षिरूपेण जो सन्तत प्रतीत होती है वही अधिष्ठानरूप **अपाश्रय** तत्त्व है।

पुराणों का उद्देश्य

पुराण के विषय में प्रकाशित ग्रन्थों से इसका वैलक्षण्य साधारण पाठक को भी प्रतीत हो सकता है। आजकल ऐतिहासिक पद्धति से पुराण के विश्लेषण की प्रथा इतनी जागरूक है कि उससे पुराण एक जीवित शास्त्र न रहकर अजायबघर में रखने की एक चीज बन जाता है। उसके अंग-प्रत्यंग का इतना निर्मम विश्लेषण आज किया जा रहा है कि उसके मूल में कोई तत्त्व ही अवशिष्ट नहीं रह जाता। वर्तमान अध्ययन की दिशा इस ओर एकान्ततः नहीं है। एक हाथ में श्रद्धा है, तो दूसरे हाथ में तर्क को लेकर यहाँ अन्वेषण करने का प्रयास किया गया है। हम श्रद्धाविहीन तर्क के न तो आग्रही हैं और न तर्कविरहित श्रद्धा के पक्षपाती। इन दोनों के मञ्जुल समन्वय के प्रयोग से ही पुराण का यथार्थ अनुशीलन किया जा सकता है।

ध्यान देने की बात है कि पुराण के तथ्यों में आपाततः यथार्थता आभासित न होने पर भी उनके मूल में (अन्तरंग में) यथार्थता विराजती है। परन्तु इसके लिए चाहिये उनके प्रति सहानुभूति, बहिरंग को हटाकर अन्तरंग को पहचानने का प्रयास। पुराणों की दृष्टि में इस कलियुग में शूद्र का ही माहात्म्य है। परन्तु आज भी जब चातुर्वर्ण्य का प्रासाद खड़ा ही है, तब इस मौलिक तथ्य का तात्पर्य क्या है? इस कथन का अर्थ यह नहीं है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य का सर्वथा लोप हो जाएगा और एकमात्र शूद्र वर्ण ही अवशिष्ट रह जाएगा। इसका तात्पर्य गम्भीर है। शूद्र का धर्म है सेवा। फलतः कलि में सब लोग सेवक ही हो जाएंगे। कोई भी स्वामी या प्रभु नहीं रह जाएगा। इस कथन का यही अर्थ है, जो आज की सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था में यथार्थ उतरता है, आज की दुनिया में कोई स्वामी नहीं है, सभी सेवक या दास हैं। संसार से 'राजा' का सर्वथा लोप ही हो गया है। जहाँ वह बचा भी है, वहाँ वह अपने को प्रजा का सेवक मानता ही नहीं, प्रत्युत वह सेवक है भी। किसी व्यावसायिक प्रतिष्ठान का करोड़पति मालिक भी आर्थिक कठिनाइयों को दूर हटाने के लिए उसका मालिक नहीं होता, प्रत्युत वह नियमतः तनख्वाह लेकर उसका सेवक होता है। किसी स्वतन्त्र देश का प्रधानमन्त्री (जिसका पद निश्चयरूपेण सर्वापेक्षया समुन्नत है) जनता का 'प्रथम सेवक' मानने में गौरव का बोध करता है और वस्तुतः उस जनता का सेवक ही है, जो इस लोकतान्त्रिक युग में दो दिनों में विरुद्ध मत देकर उसे आधिपत्य से हटाने की शक्ति रखती है। संसार के इस वातावरण में शूद्र की सार्वभौम स्थिति नहीं है, तो किसकी है? फलतः कलियुग में शूद्र की धन्यता तथा महत्ता का पौराणिक कथन सर्वथा सत्य है तथा गम्भीरतापूर्वक सत्य है।

वर्तमान समय लौहयुग है—क्या इसे प्रमाणों से पुष्ट करने की आवश्यकता है। कल-कारखानों के लिए ही लोहे का प्रयोग नहीं है, प्रत्युत वह 'स्टेनलेस स्टील' के रूप में राजा से लेकर रंक तक के घरों में भोजन-पात्र के रूप में आज विराजमान है। धर्मशास्त्र के द्वारा निषिद्ध होने पर भी लोहे का पात्र आज सर्वत्र समादृत तथा प्रयुक्त होता है।

पुराण के माहात्म्य के प्रसंग में रामकृष्ण परमहंस का विशिष्ट कथन उल्लेखनीय है—

स्वामी विवेकानन्द जी ने रामकृष्ण से एक बार पूछा—क्या पुराणों के कथानक सत्य हैं?

परमहंस जी ने उत्तर में कहा—क्या पुराणों के तथ्यों में सत्यता है या नहीं?

विवेकानन्द–हाँ उन तथ्यों में सत्यता तो निश्चयरूपेण हैं।

रामकृष्ण–तब पुराणों के कथानकों में सत्यता वर्तमान है।

परमहंस जी के उत्तर का निष्कर्ष यह है कि पुराणों के बहिरंग पर हमें कभी ध्यान न देना चाहिए। उनका अन्तरंग अर्थात् अन्तः वर्णित तथ्य वेदानुकूल होने से प्रमाण कोटि में निश्चित रूप से आता है। तब हमें उनके बहिरंग की सत्यता के विषय में संशयालु न होना चाहिए।

पुराणों की विशिष्ट शैली से परिचित न होने के कारण अन्तरंग की सत्यता में भी विद्वानों को सन्देह बना हुआ है। संस्कृत भाषा के त्रिविध साहित्य की शैली में नितान्त पार्थक्य है–

वेद की शैली है **रूपकमयी।**

पुराण की शैली है **अतिशयोक्तिमयी।**

ज्योतिष की शैली है **स्वभावोक्तिमयी।**

ज्योतिष वैज्ञानिक साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है। विज्ञान अपने वर्णनों में स्वभावोक्ति का उपयोग करता है। वेद की शैली में रूपक का प्राधान्य है। परन्तु इन दोनों से विलक्षण है पुराण की शैली, जिसमें अतिशयोक्ति का साम्राज्य विराजता है। एक दृष्टान्त से इसे समझना चाहिये। वर्षा का वर्णन इन तीनों साहित्य में विशिष्ट दृष्टि से किया गया है। ज्योतिष वर्षा का वर्णन स्वभावोक्ति में करता है–किस नक्षत्र में कैसी वायु बहती है और किस प्रकार के मेघ उत्पन्न होते हैं। किस प्रकार के मेघों से कितनी वृष्टि होती है और वृष्टि के अवरोधक कौन हैं और उनका नाश कैसे होता है आदि आदि। वेद इसी तत्त्व को इन्द्र-वृत्र के युद्ध का रूपक प्रदान करता है। वृष्टि को निरोध करने वाला तत्व ही वृत्र है (जिसका अक्षरार्थ ही है सबको घेरने वाला पदार्थ)। वृत्र अवर्षण का राक्षस है। इन्द्र वृष्टि का देवता है। दोनों तत्त्वों में उत्पन्न संघर्ष इस इन्द्र-वृत्र-युद्ध के द्वारा संकेतित किया जाता है। पुराण में यही तत्त्व अतिशयोक्ति की लपेट में वर्णित है। इन्द्र है देवों का राजा तथा वृत्र है असुरों का अधिपति। दोनों अपना प्रामुख्य चाहते हैं। वृत्र इन्द्र को परास्त करने के उद्योग में निमग्न रहता है, तो इन्द्र वृत्र को ध्वस्त करने के लिये उद्यमशील है। इन्द्र ऐरावत हाथी के ऊपर चढ़ कर संग्राम में उतरता है, तो वृत्र भी तदनुसार हाथी की सवारी पर आता है। दोनों के सहायक सैन्यों की संख्या गणनातीत है। पुराण इन देवासुर संग्राम का बड़ा ही रोचक तथा पुष्ट वर्णन करता है। ध्यान देने की बात यही है कि यहाँ तीनों ग्रन्थ एक ही अभिन्न तत्त्व का वर्णन करते हैं। ज्योतिष के द्वारा स्वभावोक्ति में वर्णित तथा वेद में रूपक द्वारा उद्भासित तथ्य ही पुराण की अतिशयोक्तियों के द्वारा अपनी अभिव्यञ्जना करता है। **शैलीभेदात् वर्णनभेदः न तु तथ्यभेदः**–यही यथार्थ है। फलतः जो व्यक्ति वेद में आस्था रखता है, परन्तु पुराण में श्रद्धा नहीं रखता है, वह वस्तुतः स्वतः विरुद्ध बातें करता है। दोनों में अभिव्यक्त तत्त्व तो एक ही ठहरा। फलतः वेद में श्रद्धा की तथा पुराण में अश्रद्धा की समभावेन स्वीकृति नितान्त विरुद्ध होने से अपना मूल्य नहीं रखती।

पुराणों के कथनों में सच्चाई है और गहरी सच्चाई है–यह किसी भी विवेकशील अध्येता के ध्यान में आ सकती है। परन्तु इस अध्ययन के लिए चाहिए अनुसन्धाता में सहानुभूति तथा ईमानदारी। बिना इनके पुराण का अनुशीलन भारतवर्ष के लोगों के लिए किसी प्रकार भी उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता। वैदिक धर्म के तत्त्वों का जिज्ञासु पाठकगण पुराणों का गम्भीर अध्ययन कर उसके परिणाम को अपने जीवन में उतारे। तभी पुराणों का यथार्थ उपयोग हो सकेगा। शुष्क छानबीन करने से मस्तिष्क को कुछ क्षणों के लिए आराम भले ही मिले, परन्तु हृदय को चिर शान्ति नहीं मिल सकती। पुराण के अध्ययन के प्रति हमारा यही दृष्टिकोण है, जिसे इस ग्रन्थ में अपनाने का भरसक प्रयत्न किया है। आशा है ग्रन्थ के समीक्षक इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर उसके कथनों का परीक्षण करेंगे।

अन्त में, भगवान् विश्वनाथ से हमारी प्रार्थना है कि व्यासवाणी का यह सन्देश भारतवर्ष के निवासियों के घर-घर में पहुँच कर वैदिकधर्म के महनीय तत्त्वों की अमर ज्योति जगाता रहे, जिससे उनकी मानस-तमिस्रा का अवसान और मंगलमय प्रभात का जन्म हो।

सज्जनाम्भोरुहपुषे वेदव्यासाभिधाजुषे।

तमःस्तोममुषे तस्मै परस्मै ज्योतिषे नमः॥

पुराण का विशिष्ट रूप किसी वस्तु के वर्णनमात्र से सिद्ध होता है। प्राचीन कथानकों का वर्णन करना तथा उनके माध्यम से श्रोताओं के चित्त को पापात्मक प्रवृत्ति से हटाकर पुण्यात्मक प्रवृत्ति की ओर अग्रसर करना पुराण का मुख्य तात्पर्य है। पुराण का लक्ष्य जन-साधारण के चित्त का आवर्जन कर धर्म की ओर प्रवृत्त कराना है। पुराण इसीलिए सरल-सुबोध भाषा का प्रयोग अपनाता

है। पुराण की संस्कृत भाषा सुबोध, व्यावहारिक, चुस्त तथा अल्पाक्षरों में स्वतात्पर्य को प्रकट करती है। वह विशेष पल्लवन का आश्रयण नहीं करती, अपनी धार्मिक प्रवृत्ति को लक्ष्य में रखकर ही उसका सब शब्द-व्यापार प्रवृत्त होता है। पुराण के साहित्यिक रूप के वैशिष्ट्य को आँकते समय इस मूलभूत तथ्य को भुलाया नहीं जा सकता कि पुराण अनुरञ्जन के साथ शिक्षण करता है। वह पाप-पुण्य में विशिष्ट फल को दिखलाकर एक से वर्जन और दूसरे के ग्रहण के लिए **उपदेश देता है,** परन्तु वेद के समान वह **आदेश नहीं देता।**

इसी के अनुरूप उसकी भाषा होती है। पुराणों की भाषा व्यावहारिक होती है। फलतः वह पाणिनीय व्याकरण के बन्धन को अक्षरशः स्वीकार नहीं करती। पुराण-भाषा की तुलना उस पुण्यसलिला भागीरथी के साथ की जा सकती है, जो अपने मूल प्रवाह पर आग्रह रखती हुई भी इतस्ततः आनेवाली जलधाराओं का तिरस्कार नहीं करती, प्रत्युत वह उन्हें भी अपने में सम्मिलित कर गन्तव्य स्थान तक पहुँचा देती है। पौराणिक देववाणी की भी यही विशिष्टता है। वह अपने को पाणिनीय व्याकरण की गाढ़ शृङ्खला में बाँधना पसन्द नहीं करती, प्रत्युत कुछ उन्मुक्त होकर तद्-भिन्न शब्दों तथा शब्दरूपों को भी ग्रहण करने में संकोच नहीं करती। इसलिए पुराण की भाषा में अपाणिनीय प्रयोग बहुलता से उपलब्ध होते हैं। इन्हें आर्ष प्रयोग मानने का टीकाकारों का आग्रह है। महर्षि पाणिनि ने 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' *(पा०१।१।१६)* आदि सूत्रों में 'अनार्ष' शब्द का प्रयोग वेद से भिन्न ग्रन्थों के लिए किया है। फलतः 'आर्ष' पद का प्रयोग वेद की भाषा के निमित्त मानना ही पाणिनि की सम्मति प्रतीत होती है। पुराण में आर्ष प्रयोगों की सत्ता है, जो वैदिक व्याकरण के सर्वथा अनुकूल है। यथा भागवत में 'भस्मनि हुतम्' के स्थान पर 'भस्मन् हुतम्' *(१।१५।२१)* 'प्रतिहर्तुम्' के स्थान पर 'प्रतिहर्तवे' *(३।५।४७)* तथा धीमहि *(१।१।१)* और 'अभिधीमहि' *(८।३।२)*आदि प्रयोग निश्चयरूपेण वैदिक प्रक्रिया से सुसंगत आर्ष प्रयोग हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से प्रयोग पाली तथा प्राकृत से मिलते हैं।

पुराणों में बहुत से अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं, जो छन्द के अनुरोध से ही उस रूप में प्रयुक्त हैं। पाणिनीय-व्याकरण-सम्मत प्रयोग किये जाने पर छन्द का सर्वथा भंग तथा परिहार हो जाता है। काव्यशिक्षा का तो कथन है कि **'अपि माषं मषं कुर्यात् छन्दोभङ्गं न कारयेत्'।** फलतः इस शिक्षा का पूर्णनिर्वाह करने के लिए ही पुराणों ने अपने को छन्दोभंग से बचाने के लिए ऐसे पदों का प्रयोग किया है। एक और तथ्य भी ध्यातव्य है। पुराणों की रचना का उद्देश्य ही जन-सामान्य के हृदय तक धर्मशास्त्रीय विषयों को पहुँचाना है। उनके समझने लायक भाषा का ही प्रयोग पुराणों में न्याय्य है। जन-साधारण की भाषा पिछले युगों में लोकभाषा—पाली तथा प्राकृत थी। फलतः उस भाषा का प्रभाव पुराणों की भाषा पर पड़ना सुतरां नैसर्गिक है।

पदव्यत्यय—

पुराणों में पदों का व्यत्यय बहुत दृष्टिगोचर होता है। पाणिनि के द्वारा परस्मैपद में निर्दिष्ट धातुओं का आत्मनेपद हो जाता है, तो कहीं आत्मनेपद का परस्मैपद होता है। निर्देश

(१)न याचतोऽदात् समयेन दायम्। *(भाग०,३।१।८)*

याच् धातु प्रयोग में आत्मनेपदी है। अतः 'याचमानस्य' उचित है। भागवत में याच् का विशुद्ध प्रयोग भी मिलता है—

पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात् प्रभुः। —*(भाग०,१।१७।३९)*

(२)तितिक्षतो दुर्विषहं तवागः। *(भाग०,३।१।११)*

तितिक्षतः=तितिक्षमाणस्य। 'गुप्-तिज्-किद्भ्यः सन्' से नित्य सन् और आत्मनेपद।

(३)तान् वदस्वानुपूर्व्येण छिन्धि नः सर्वसंशयान्। *(भाग०,३।१०।२)*

('वद्' परस्मैपदी धातु है। अतः 'वदस्व' नहीं)

(४)तन्नः पराणुद विभो कश्मलं मानसं महत्। *(भाग०,३।७।७)*

(नुद् आत्मनेपदी धातु है, जिसका यथार्थ प्रयोग भाग०, ३।७।१८ में= **तां चापि युष्मच्चरणसेवयाऽहं पराणुदे)।**

(५)एवं युक्तकृतस्तस्य दैवं चावेक्षतस्तदा। *(भाग०,३।१२।५१)*

'अवेक्षते' आत्मनेपदी है। **अवेक्षते केलिवनं प्रविष्टः क्रमेलकः कण्टकजालमेव** (विक्रमांकचरित)।

यहाँ आत्मनेपद के स्थान पर परस्मैपद का प्रयोग)।

व्यावहारिक-शब्दौघान् पुराणानि प्रयुञ्जते।
अपाणिनीयप्रयोगास्तु भूषणं न तु दूषणम्॥

धीरे-धीरे पुराण का प्रभाव भारतीय समाज पर बढ़ता गया और एक समय ऐसा आया, जब वैदिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा पौराणिक कृत्यों का अनुष्ठान ही श्रेयस्कर माना जाने लगा। ऐसी स्थिति का परिचय पद्मपुराण तथा नारदीय पुराण के कथनों में हमें भली-भाँति मिलता है। पद्मपुराण में धनशर्मा नामक एक वैदिक ब्राह्मण की कथा दी गयी है जिनके पिता वेद में निष्णात थे। परन्तु वैशाख में विहित स्नान न करने के कारण उन्हें प्रेतयोनि प्राप्त हुई थी। इस अवसर पर उन्होंने पुराण-महिमा का प्रतिपादन कर वेद से भी अधिक लाभकारी और उपादेय पुराण को ही बतलाया।

नारदीय पुराण वेद, स्मृति तथा पुराण के परस्पर सम्बन्ध के विषय में बड़ा ही गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करता है। इन तीनों धार्मिक ग्रन्थों के विषय तथा क्षेत्र के विभाग को दिखलाते हुए वह कहता है—वेद का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। वेद का प्रधान क्षेत्र है यज्ञ कर्म का सम्पादन। इसी कार्य में वेद का महनीय तात्पर्य है। गृहाश्रमियों के लिए स्मृति ही वेद है अर्थात् गृहस्थ के आचार-व्यवहार आदि के ज्ञान का प्रकाशक धर्म स्मृति ही है। ये दोनों प्रकार के ग्रन्थ पुराण में केन्द्रित रहते हैं। जिस प्रकार यह आश्चर्यमय जगत् उस पुराण पुरुष (अर्थात् भगवान् नारायण) से उत्पन्न हुआ है, उसी प्रकार समस्त वाङ्मय-विस्तृत अर्थ में साहित्य-पुराण से ही उत्पन्न हुआ है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है।

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने।
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणेष्वेव सर्वदा॥ *(नारदीय,२।२४।१७)*

इस सिद्धान्त की पुष्टि में इस पुराण का कथन यह है कि वेद में ज्योतिष सम्बन्धी व्यावहारिक बातों का सर्वथा अभाव है। कौन तिथि कब होती है? दो एकादशी होने पर कौन ग्राह्य होगी? इत्यादि तिथिनिर्णय और कालशुद्धि का विषय पुराण में ही सर्वथा विवेचित है। इसलिए पुराण की महिमा वेद से कहीं अधिक है। इसी स्वर में देवीभागवत की यह प्रख्यात उक्ति है—

श्रुती स्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्।
एतत्त्रयोक्त एव स्याद्धर्मो नान्यत्र कुत्रचित्। *(११।१।२१)*

श्रुति-स्मृति तो धर्म-पुरुष के नेत्र हैं, परन्तु पुराण हृदय है। इससे बढ़कर पुराण की महिमा क्या हो सकती है?

पुराणों में मोक्ष अन्तिम पुरुषार्थ के रूप में

अनित्येषु पदार्थेषु यस्तु रागी भवेन्नरः।
तस्य संसारविच्छित्तिः कदाचिन्नैव जायते॥
शमादि गुणसम्पन्नो मुमुक्षुर्ज्ञानमभ्यसेत्।
शमादि गुणहीनस्य ज्ञानं नैव च सिध्यति॥
रागद्वेषविहीनो यः शमादिगुणसंयुतः।
हरिध्यानपरो नित्यं मुमुक्षुरभिधीयते। *(नारदपुराण,५।५०-५२)*

कूर्म पुराण ने निरन्तर धर्मों के समाश्रयण को ही मुक्ति का उपाय बताया है। मनुष्य को धर्म के साथ-साथ ज्ञान भी प्राप्त करना चाहिए क्योंकि जो ज्ञानहीन होते हैं उनको यह जगत भिन्न-भिन्न प्रकार का दिखायी देता है और जो ब्रह्मज्ञानी होते हैं उनको यह समस्त जगत परम ब्रह्मात्मक ही दिखाई देता है। जिनके ऊपर माया का आवरण होता है वे अज्ञान से आवृत्त हो जाते हैं। अतः मुमुक्षु पुरुष का कर्तव्य यही है कि इस माया को युक्तिपूर्वक त्याग देना चाहिए। यह माया सद्रूप और असद्रूप दोनों ही प्रकार की नहीं होती है अपितु यह भेद केवल अज्ञानमयी बुद्धि से उत्पन्न होते हैं। अतः जो सत्पुरुष इस अज्ञान पर विजय प्राप्त कर लेते हैं उनको मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अतः मनुष्य का परम कर्तव्य है कि वह समस्त संकल्पों का परित्याग करके केवल सत्व में ही चित्त को निवेशित करे। चित्त के प्रसाद से यति शुभ और अशुभ को त्याग देता है। प्रसन्नात्मा में ही संस्थिति बनाकर फिर अत्यन्त सुख को त्याग कर आनन्द का लाभ करता है। जिस तरह दही से नवनीत और काष्ठ से अग्नि उद्भूत होता है उसी भांति मुक्ति के लिए विद्वान पुरुषों का ज्ञान समुद्भूत होता है—

नवनीतं यथा दध्नः काष्ठादग्निर्यथैव च
तथैव विदुषां ज्ञानं मुक्तिहेतोः समुद्भृतम्। *(ब्रह्मपुराण,४७।३५)*

योग में आरूढ़ पुरुषों का ज्ञान प्राप्ति के बाद अज्ञान से जो विक्षोभ होता है वह मोक्ष कहलाता है और उनकी प्राकृतिक गुणों से जो एकता है वह ब्रह्म एकता कही गयी है–

ज्ञानः पूर्वो वियोगो ज्ञानेन सहयोगिनः।

सामक्तिर्ब्रह्मणा चैक्य नैक्य प्राकृतैर्गुणः॥ *(नारदपुराण,३१/१)*

मनुष्य का निश्चित कल्याण तो मोक्ष प्राप्ति में ही है अतः इसी कारण इसे निःश्रेयस कहते हैं। निःश्रेयस शब्द का अर्थ है जीव का सबसे बड़ा हित। **निश्चितं श्रेयः निःश्रेयसम्**। श्रेय का अर्थ है अभीष्ट फल और जीव का जो अभीष्ट फल है वह कभी नष्ट नहीं होता।

अर्थात् जिसके स्थायित्व में किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। ऐसे सर्वोत्तम अभीष्ट फल को निःश्रेयस कहते हैं। यह बात केवल मोक्ष में ही सम्भव है। क्योंकि अन्य तीन पुरुषार्थों में सदा काल का भय लगा रहता है। आध्यात्मिक आदि दुःखों से युक्त प्राणी को भारी कष्ट में यदि काम और अर्थ रूप श्रेय प्राप्त हो भी जाये तो उसे क्या आत्यन्तिक लाभ हो सकता है? आध्यात्मिक दुःखों को लौकिक साधनों द्वारा दूर नहीं किया जा सकता है।

"आध्यात्मिकादिभिर्दुःखैरविमुक्तस्य कर्हिचित्।

मर्त्यस्य कृच्छ्रोपनतैरर्थैः कामैः क्रियेत किम्॥ *(भागवत,७/१३/३०)*

अतः शास्त्रों में अविनाशी एवं निःसीम सुख के लिए प्रयत्न करने को ही निःश्रेयस कहा गया है। उससे इतर और जितने भी लोक या परलोक के सुख हैं वे सब तारतस्य से दूषित हैं। उनमें परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा होने के कारण दुःख रूप है वास्तविक सुख रूप नहीं है। स्त्री, पुत्र, धन-धान्य आदि अनित्य विषयों से उत्पन्न होने के कारण अन्य सुख क्षणिक हैं। इसलिए परम सुख के पिपासु जीव की चिरकाल की सुख विषयिणी पिपासा इन सांसारिक विषयों के उपभोग से शान्त नहीं हो सकती। सुख तो आत्मा का स्वरूप ही है और सम्पूर्ण चेष्टाओं की निवृत्ति ही उस के प्रकाशित होने का स्थान है–

इत्येतदात्मनः स्वार्थं सन्तं विस्मृत्य वै पुमान्।

विचित्रामसति द्वैते घोरामाप्नोति संसृतिम्॥ *(श्रीमद्भागवत,७/१३/२७)*

मोक्ष की असीम अनुकम्पा प्राप्त करने के लिए योगी को अपने चित्त को समदर्शी बनाना चाहिए क्योंकि समत्व ही मोक्ष का एकमात्र उपाय है। सांसारिक दुःख रूपी प्रचण्ड सूर्य के ताप से जिनका अन्तःकरण संतप्त हो मोक्ष रूपी कल्प वृक्ष की शीतल छाया ही उसे सुख प्रदान कर सकती है–

इति संसारदुःखार्क तापतापितचेतसाम्।

विमुक्तिपादपच्छायामृते कुत्र सुखं नृणाम्॥ *(विष्णुपुराण,६/५/५७)*

मोक्ष कामना से ही यह जीव शरीरगत व्यापारों द्वारा ज्ञान की ओर झुकता है और उसकी मुक्ति होती है। अव्यक्त ब्रह्म के साक्षात्कार द्वारा वह निःश्रेयस की ओर प्रवृत्त हो जाता है और मुक्ति को पाता है यही ध्रुव सत्य है। पुराणों में वर्णित है कि द्रव्य यज्ञ, तपोयज्ञ और स्वाध्याय रूप ज्ञान यज्ञ से सब स्वर्गादि की प्राप्ति कराने वाले हैं। पण्डितों ने ज्ञान यज्ञ को मोक्षप्रदायक कर्म कहा है।

अतः मोक्ष के अभिलाषी को ब्रह्म का ध्यान करते हुए योग का अभ्यास करना चाहिए।

जो सावधानी से ब्रह्म परायण होकर प्रसाद रहित एकान्तवासी और जितेन्द्रिय होकर योग साधना करते हैं वे आत्मा के संयोग को पाकर मोक्ष लाभ करते हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में श्री कृष्ण अपने निराकार रूप और मोक्ष का वर्णन करते हुए इस प्रकार कहते हैं कि 'जिस प्रकार वायु सर्वत्र प्रवाहित होते हुए भी अदृश्य रहती है उसी प्रकार मैं (ब्रह्म) जीवात्मा से व्याप्त होते हुए भी उसमें लिप्त नहीं होता हूँ। समस्त जीवात्माओं में मेरा ही प्रतिबिम्ब होता है जो शुभ-अशुभ को करने वाला और उनके फलों का भोक्ता भी होता है। जिस प्रकार जल से पूर्ण कुम्भ में सूर्य और चन्द्र मण्डल का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखायी देता है लेकिन कुम्भ के भग्न हो जाने पर उनका स्वरूप उसी में संलिष्ट हो जाता है। उसी प्रकार मेरा प्रतिबिम्ब जीव भी मृत्यृ के बाद मुझ में ही संश्लिष्ट हो जाता है। मोक्ष को निर्वाण भी कहते हैं जिसका अर्थ है समस्त संतापों से शान्ति। निर्वाण प्राप्त हो जाने पर जीव प्रकृति के समस्त बन्धनों से मुक्त होकर दुःखातीत हो जाता है। जीव का वास्तविक स्वरूप तो ब्रह्म ही है अतः उसमें कर्तव्य, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुखित्व और समस्त अनात्मभाव अविद्या और अज्ञान से परिकल्पित हैं। इन समस्त भावों का परित्याग करके परमात्मा के स्वरूप में स्थित हो जाना ही मुक्ति कहलाती है।

मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः। *(श्रीमद्भागवतपुराण,२।१०)*

रीतिपूर्वक उन भगवान के चरणों में प्राणिपात करके फिर यह जीवात्मा, संसार में जन्म ग्रहण नहीं करता तदुपरान्त अपरिमित कान्ति वाला होकर आनन्द क्रीड़ा किया करता है। क्योंकि भगवत्प्राप्ति होने पर दुःख तो हुआ ही नहीं करता। भगवान विष्णु की भक्ति मोक्षप्रदायक है। नारद पुराण में भी यही भाव व्यक्त किया गया है। तत्त्वों के अर्थों का चिन्तन करने वाले पुरुष ज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति बताया करते हैं। यह ज्ञान भक्ति से प्राप्त होता है और भगवत्भक्ति सदा सत्कर्मों को करने वाले को ही प्राप्त होती है। जो सदैव एकान्त चिन्तन सेवन एवं मनन करते हैं वे कार्यों से निवृत्त हो, हिंसा से दूर रहकर आध्यात्मिक चिन्तन में मन को लीन कर देते हैं, वे निश्चित रूप से मोक्ष के भागी होते हैं।

अतः मुनिगण उसी परम ब्रह्म को नमस्कार करते हैं जिससे यह मायापूर्ण संसार उत्पन्न होता है, स्थित रहता है और कल्प के अन्त में विलीन हो जाता है। मुनिगण इसी परम ब्रह्म का ध्यान करके अन्त में मोक्ष को प्राप्त करते हैं–

यस्मात् सर्वमिदं प्रपञ्चरचितं माया जगज्जायते,
यस्मिंस्तिष्ठति याति चान्तसमये कल्पानुकल्पे पुनः॥
यं ध्यात्वा मुनयः प्रपञ्चरहितं विन्दन्ति मोक्षं ध्रुवं,
तं वन्दे पुरुषोत्तमास्यममलं नित्यं विभुं निश्चलम्। *(ब्रह्मपुराण,१।१)*

मोक्ष के साधन

मोक्ष प्राप्ति निःस्पृह कर्म के द्वारा होती है। पुरुष जो कुछ भी कर्म करता है वह चाहे साधु हो अथवा यदि वह उन कर्मों को नारायण में न्यस्त कर देता है तो उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त क्रोध पर विजय पाने वाले तथा लोभ, मोह रहित प्राणी इस गर्भ संसार रूपी सागर से तर जाते हैं। हिंसा रहित, अतिथि सत्कार करने वाले प्राणी भी दिव्य लोकों को प्राप्त करते हैं। ऐसे प्राणियों का पुनर्जन्म नहीं होता वे मोक्ष को प्राप्त कर जाते हैं। नारद पुराण में कहा गया है कि मनुष्य के कल्याण हेतु मोक्ष की कामना ही उसका उपाय है और सत्संग उसका साधन है। हृदय में अग्नि का चिन्तन करते हुए साधक को ध्यान-प्राणायाम आदि के द्वारा भक्तिपूर्वक होम करना चाहिए। यह यज्ञ का यजन उसे मोक्ष प्रदान करता है। श्रीमद्भागवत पुराण में मोक्ष प्राप्ति के साधनों का विस्तार से उल्लेख मिलता है।

लिंगपुराण के अनुसार मोक्ष अन्तिम पुरुषार्थ के रूप में–

मोक्ष प्राप्ति के लिए नियम विधियों द्वारा इन्द्रियों को जीतना आवश्यक है। ये नियम विधियाँ योग की साधक होनी चाहिए अन्यथा केवल श्रमकारक ही होती हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रथम आसन को जीते फिर प्राणायाम के अभ्यास के लिए पवित्र स्थान पर कुश, मृग, चर्मादि का आसन बिछावें उस पर शरीर को सीधा और स्थिर रखते हुए सुखपूर्वक बैठकर अभ्यास करें। योग के अष्टांग साधन हैं, जिन्हे विभिन्न पुराणों ने भिन्न-भिन्न क्रम में प्रस्तुत किया है–

यमस्तु प्रथमं प्रोक्तो द्वितीयो नियमस्तथा।
तृतीयमासनं प्रोक्तं, प्राणायामस्ततः परम्। *(लिंगपुराण,६।८)*
आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगांगानि भवन्ति षट्॥ *(स्कन्दपुराण,५३।२०)*
अष्टांगो वा षडंगो वा सर्वयोगः समासतः।
यमश्च नियमश्चैव स्वस्तिकाद्यं तथासनम्॥
प्राणायामः प्रत्याहारो धारणा ध्यानमेव च।
समाधिरिति योगांगाष्टावुक्तानि सूरिभिः॥ *(शिवपुराण,२१।१४-१५)*
प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा।
समाधिश्च मुनिश्रेष्ठा यमश्च नियमासने॥ *(कूर्मपुराण,११।११)*
अहिंसादि यमः प्रोक्तः शौचादि नियमः स्मृतः।
पाद्याद्युतं आसनञ्च प्राणायामो मरुज्जयः।
प्रत्याहारो जय प्रोक्तो ध्यानमोष्ठवरचिन्तनम्।

मनोधृतिर्धारणा स्यास्त् समाधिर्ब्रह्मणि स्थितिः। *(गरुड़पुराण,१८।९-१०)*

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रायः अधिकांशतः पुराणों ने योग के आठ अंग ही स्वीकार किये हैं जिन्हें यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि इन नामों से अभिहित किया गया है।

इस अष्टांग योग के माध्यम से मोक्ष को प्राप्त कराना अर्थात् जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त कराना ही योग का उद्देश्य है। जिस प्रकार हमने प्रारम्भ में कहा था कि बीज अपनी प्रसुप्त शक्तियों को अभिव्यक्त करके तृप्त हो जाता है इसी प्रकार इस आत्मा में भी यह शक्ति है कि वह समस्त बन्धनों का, अज्ञान अविद्या का नाश करके कैवल्य भाव को प्राप्त कर सकता है बशर्ते कि वह अपने शरीर, इन्द्रिय, मन व बुद्धि आदि साधनों का उचित प्रयोग करना जाने।

स्कन्दपुराणमेंकहागयाहै–

समाधिना लभेन्मोक्षं त्यक्त्वा धर्मं शुभाशुभम्।
आसनेन वपुर्दार्ढ्यं षडङ्गमिति कीर्तितम्॥९३॥
प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृतः।
प्रत्याहारैर्द्वादशभिर्धारणा परिकीर्तिता॥९४॥
भवेदीश्वरसङ्गत्यै ध्यानं द्वादशधारणम्।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते॥९५॥
समाधेः परतो ज्योतिरनन्तं स्वप्रकाशकम्।
तस्मिन् दृष्टे क्रियाकाण्डं यातायातं निवर्तते॥९६॥

समाधि के बल द्वारा शुभाशुभ कर्मक्षय होकर मुक्ति मिलती है। आसन से शरीर में दृढ़ता आती है। ये छः योगांग हैं। द्वादश ध्यान द्वारा एक समाधि सम्पन्न होती है। द्वादश प्रत्याहार से एक धारणा तथा द्वादश धारणा से एक ध्यान सम्पन्न हो जाता है। इसी से ईश्वर साक्षात्कार की प्राप्ति होती है। १२ ध्यान से एक समाधि होती है। समाधि के पश्चात् अनन्त स्वप्रकाश ज्योति दर्शन मिलता है। यह ज्योति जो देखते हैं, उनका कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। वे पुनः संसार में गमन तथा आगमन नहीं करते।

पुराणों में योगविद्या

भागवतपुराण में योगविद्या-

न राधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा।
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥ *(भागवतपु.११.२.२,२)*

मुझे सांख्य, योग, स्वाध्याय, तप, त्याग या इष्टापूर्त यज्ञ-याग अथवा महान् दक्षिणा से प्राप्त नहीं किया जा सकता। कठोर यम-नियमों के पालन से अथवा चान्द्रायणादि कठोर व्रत या विभिन्न तीर्थाटन से भी मुझे प्राप्त नहीं किया जा सकता लेकिन किसी समर्थ योगी या गुरु के सत्संग से मुझे प्राप्त किया जा सकता है।

मार्वळण्डेय पुराण में योगविद्या-

सदात्मरतिरेकस्थः पश्यत्यात्मानमात्मनि।
सबाह्याभ्यन्तरं शौचं निष्पाद्याकण्ठनामितः।
प्राणायामा दश द्वौ च धारणा साभिधीयते॥

नारदपुराण में योगविद्या-

आनन्दमजरं ब्रह्म परं ज्योतिः सनातनम्।

परात्परतरं यच्च तद् विष्णोः परमं पदम्॥ *(ना.पु.-३३।२२)*

वह ब्रह्म आनन्द स्वरूप है उसको कभी जरादि दोष नहीं होते वह सदा प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, ज्योति स्वरूप वाला है वह निकट से भी निकट और दूर से भी दूर है ऐसा वह सर्वव्यापक विष्णु रूप ब्रह्म है।

एवं भूतं परं वस्तु योगमार्गविधानतः।

यः उपासते सदा योगी स याति परमं पदम्। *(ना.पु.-३३।२४)*

इस प्रकार योग के विधानपूर्वक अनुष्ठान करने से योगी उस परमपद को अतिशीघ्र प्राप्त कर लेता है।

अग्निपुराण में योगविद्या-

वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं परमात्मनि।

एकीकृत्य विमुच्येत बन्धाद्योगोऽयमुत्तमः॥ *(अग्नि.पु.-१६५।१०)*

मन को संसार के सब विषयों से हटाकर, क्षेत्रज्ञ परमात्मा में एकाकार करके योगी संसार के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। यह उत्तम 'योग' है।

गरुड़ महापुराण में योग विद्या-

अहमात्मा परं ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तकम्।

ब्रह्मविज्ञानमानन्दः स तत्त्वमसि केवलम्॥ *(गरुड़पु.-४९।३६)*

'मैं ही आत्मारूप परब्रह्म सत्य तथा अनन्त ज्ञान हूं।' यह ज्ञान होने पर उस योगी का ज्ञान कभी अस्थिर नहीं होता। ब्रह्म को जानना ही परम आनन्द है। वह केवल तथा 'तत्वमसि' है।

श्रीलिङ्गमहापुराण में योगविद्या-

तपस्युपरमश्चैव यम इत्यभिधीयते।

अहिंसा प्रथमो हेतुर्यमस्य यमिनां वराः॥ *(लिं.पु.-८।१०)*

सत्यमस्तेयमपरब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।

नियमस्यापि वै मूलं यम एव न संशयः॥ *(लिं.पु.-८।११)*

तप में प्रवृत्ति तथा विषय-भोगों से निवृत्ति को यम कहते हैं। यम की साधना करने वालों में श्रेष्ठ हे मुनियों! यम का प्रथम हेतु अहिंसा है। पुनः सत्य, अस्तेय (चोरी) न करना, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह भी यम के आधार हैं। नियम का भी मूल यही यम है; इसमें कोई संदेह नहीं है।

प्राणापाननिरोधस्तु प्राणायामः प्रकीर्तितः।

प्राणायामस्य मानं तु मात्राद्वादशकं स्मृतम्॥ *(लिं.पु.-८।४६)*

मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्घतः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते।

प्रस्वेदकम्पनोत्थानजनकश्च यथाक्रमम्॥ *(लिं.पु.-८।४८)*

प्राण और अपान वायु का निरोध ही प्राणायाम कहलाता है। मन्द प्राणायाम का मान बारह मात्राओं का कहा गया हैं बारह लघु अक्षरों के उच्चारणकाल तक प्राणवायु को रोकना मन्द प्राणायाम या द्वादश मात्रात्मक प्राणायाम बताया गया है। उसके दुगुने उच्चारण काल अर्थात् चौबीस मात्राओं के समय तक प्राणवायु के निरोधन को मध्यम प्राणायाम कहते हैं। इसी प्रकार तीन गुने उच्चारण काल अर्थात् छत्तीस मात्राओं के उच्चारणकाल तक प्राणवायु को रोकने को उत्तम प्राणायाम कहा जाता है। मन्द, मध्य तथा उत्तम प्राणायाम शरीर में क्रमशः प्रस्वेद (पसीना), कम्पन तथा उत्थान (ऊपर उठने की क्रिया) उत्पन्न करने वाले हैं।

शान्तिः प्रशान्तिर्दीप्तिश्च प्रसादश्च तथा क्रमात्।

आदौ चतुष्टयस्येह प्रोक्ता शान्तिरिह द्विजाः॥ *(लिं.पु.-८।५८)*

सहजागन्तुकानां च पापानां शान्तिरुच्यते।

प्रशान्तिः संयमः सम्यग्वचसामिति संस्मृता॥ *(लिं.पु.-८।५९)*

हे द्विजों! अब मैं क्रम से शान्ति, प्रशान्ति, दीप्ति तथा प्रसाद का वर्णन करूँगा। आरम्भ में इन चारों में से यहाँ पहले शान्ति के विषय में कहता हूँ। सहज तथा आगन्तुक पापों का नाश शान्ति कहा जाता है तथा वाणी पर भली भाँति संयम प्रशान्ति कहा गया है।

महानन्दं परानन्दं योगानन्दमनामयम्।

हेयोपादेयरहितं सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं शिवम्॥ *(लिं.पु.-८।१०५)*

महानन्द हैं, परानन्द हैं, योगानन्द हैं, व्याधिरहित हैं, त्याग तथा ग्रहण से रहित हैं, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर हैं, कल्याणमय हैं, स्वयंवेद्य हैं, अवेद्य हैं, परम ज्ञानयुक्त हैं, इन्द्रियों की पहुँच से परे हैं, आभास से परे हैं, परम तत्त्व हैं, परात्पर हैं, सभी उपाधियों से मुक्त हैं,

आलस्यं प्रथमं पश्चाद् व्याधिपीडा प्रजायते।

प्रमादः संशयस्थाने चित्तस्येहानवस्थितिः॥ *(लिं.पु.-९।१)*

अश्रद्धादर्शनं भ्रान्तिर्दुःखं च त्रिविधं ततः।

दौर्मनस्यमयोग्येषु विषयेषु च योगता॥ *(लिं.पु.-९।२)*

सूतजी बोले–[हे मुनीश्वरो!] योग साधन के काल में पहले आलस्य तथा बाद में व्याधि पीड़ा उत्पन्न होती है, इसी प्रकार प्रमाद, संशय, चित्त की अनवस्थिति, अश्रद्धादर्शन, भ्रान्ति, त्रिविध दुःख, दौर्मनस्य (मन में असत्संकल्प-विकल्प का होना), निषिद्ध विषयों में मन का लगना–ये कुल दस प्रकार के विघ्न (पातंजलयोग सूत्र में योग के अन्तराय इस प्रकार बताये गये हैं) साधक के योगाभ्यास में उत्पन्न होते हैं।

प्राणे निविष्टो वै रुद्रस्तस्मात्प्राणमयः स्वयम्।

प्राणाय चैव रुद्राय जुहोत्यमृतमुत्तमम्॥ (लिं.पु.-८८।८६)

शिवाविशेह मामीश स्वाहा ब्रह्मात्मने स्वयम्।

एवं पञ्चाहुतीश्चैव श्राद्धे कुर्वीत शासनात्॥ *(लिं.पु.-८८।८७)*

रुद्र प्राण में निविष्ट हैं, अतः रुद्र स्वयं प्राणस्वरूप हैं। प्राण कों तथा रुद्र को उत्तम अमृत समप्रित करना चाहिये; हे शिव! हे ईश! आप मुझ में प्रवेश करें, साक्षात् ब्रह्मा को स्वाहा–इस प्रकार श्राद्ध के अवसर पर शास्त्रानुसार पाँच आहुतियाँ प्रदान करनी चाहिये।

ब्रह्मपुराण में योगविद्या-

कर्मणां फलमाप्नोति सुखदुःखे भवाभवौ।

विद्यया तदवाप्नोति यत्र गत्वा न शोचति॥ *(२.३७.११)*

कर्म का फल है सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु प्राप्त करना। विद्या का आश्रय लेने वाले को शोक नहीं करना पड़ता।

यथा पुष्पफलोपेतो बहुशाखो महाद्रुमः।

आत्मनो नाभिजानीते क्व मे पुष्पं क्व मे फलम्॥२२॥

एवात्मा न जानीते क्व गमिष्ये कुतोऽन्वहम्।

अन्यो ह्यस्यान्तरात्माऽस्ति यः सर्वमनुपश्यति॥२३॥

ज्ञानदीपेन दीप्तेन पश्यत्यात्मानमात्मना।

दृष्ट्वाऽऽत्मानं तथा यूयं विरागा भवत द्विजाः॥२४॥

विमुक्ताः सर्वपापेभ्यो मुक्तत्वच इवोरगाः।

परां बुद्धिमवाप्येहाप्यचिन्ता विगतज्वराः॥२५॥

जिस प्रकार से नाना पुष्प-फल-शाखा समन्वित महावृक्ष यह नहीं जानता कि "कहां मेरा पुष्प तथा फल है" तदनुरूप आत्मा भी "कहां जाना है, कहां से आया हूं" यह सब नहीं जानता। इस आत्मा के अतिरिक्त एक अन्तरात्मा भी है। वह यह सब कुछ देखता है। प्रदीप्त ज्ञानदीप की सहायता से आत्मा ही स्वयं को देखता है। हे द्विजगण! आप इस प्रकार देख कर विराग (वैराग्य) वान् हो जायें। जिस प्रकार सर्प अपनी केंचुल त्याग देता है, तद्रूप आप लोग भी सर्वपाप विनिर्मुक्त होकर तथा परमबोध की प्राप्ति करके निश्चिन्त, मुक्त तथा दुःख रहित हो जाये॥ *(२.३८.२२-२५)*

कारुण्येनाऽऽत्मनाऽऽत्मानं तृष्णां च परितोषतः।

उत्थानेन जयेत्तन्द्रां वितर्कं निश्चयाज्जयेत्॥४९॥

मौनेन बहुभाषां च शौर्येण च भयं जयेत्।
यच्छेद्वाङ्मनसी बुद्ध्या तां यच्छेज्ज्ञानचक्षुषा।।५०।।
ज्ञानमात्मा महान्यच्छेत्तं यच्छेच्छान्तिरात्मनः।
तदेतदुपशान्तेन बोद्धव्यं शुचिकर्मणा।।५१।।
योगदोषान्समुच्छिद्य पञ्च यात्कवयो विदुः।
कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम्।।५२।।

व्यक्ति भविष्यत् की भावना आगे के स्वप्न देखना छोड़कर आशा पर विजय पाये। संसार के अनित्यत्व का विचार करके स्नेह का तथा योग सामर्थ्य से क्षुधा का त्याग करे। करुणा द्वारा स्वभाव को, सन्तोष से तृष्णा को, उद्यम से तन्द्रा को, निश्चय द्वारा वितर्क को दूर करे। मौन द्वारा बकवाद की आदत को, शूरता से भय को विजित करे। बुद्धि में मन-वाणी को लीन करे। बुद्धि को ज्ञान में, ज्ञान को महत् आत्मा में तथा आत्मा को परमात्मा में लीन करने से व्यक्ति को शान्ति लाभ होता है। अशान्त तथा शुद्ध कर्म का अनुष्ठाता व्यक्ति कविगण कथित पञ्चविध योगदोष समूह का उच्छेद करके इस तत्व की अवधारणा करें। ये पंचयोग दोष हैं-काम, क्रोध, लोभ, भय तथा निद्रा।।४८-५२।।

परित्यज्य निषेवेत यथावद्योगसाधनात्।
ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा।।५३।।
शौचमाचारतः शुद्धिरिन्द्रियाणां च संयमः।
एतैर्विवर्धते तेजः पाप्मानमुपहन्ति च।।५४।।
सिद्ध्यन्ति चास्य सङ्कल्पा विज्ञानं च प्रवर्तते।
धूततापः स तेजस्वी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।।५५।।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निर्विशेद्ब्रह्मणः पदम्।
अमूढत्वमसङ्गित्वं कामाक्रोधविवर्जनम्।।५६।।
अदैन्यमनुदीर्णत्वमनुद्वेगो ह्यवस्थितिः।
एक मार्गो हि मोक्षस्य प्रसन्नो विमलः शुचिः।
तथा वाक्कायमनसां नियमाः कामतोऽव्ययाः।।५७।।

इन योगदोष समूह का उच्छेद करे। योग साधना के प्रभाव से इन पांचों का त्याग करके यथाविधि तत्वालोचना करे। ध्यान, अध्ययन, दान , सत्य , लज्जा, सरलता, क्षमा, शौच, शुद्धाचार, इन्द्रिय संयम, इन दश द्वारा पापनाश, तेजवृद्धि, संकल्प सिद्धि तथा विज्ञान में प्रवृत्ति होती है। लघुभोजी, इन्द्रियजित्, पापरहित, तेजस्वी योगी काम-क्रोध को वश में करके ब्रह्मपद में प्रविष्ट हो जाता है। अमूढत्व, संग रहित होना, काम-क्रोध को वशीभूत करना, दीनता रहित होना, उद्वेग रहित होना, वाणी-देह तथा मनः का यथायोग्य संयम, इन सब भावों में अवस्थित रहना, मोक्षविषयक प्रसन्नता प्रदान करता है। यही विमल तथा शुद्ध पथ है।।५३-५७।।

२४४वेंअध्यायमेंकहागयाहै–

पञ्च दोषान्द्विजा देहे प्रवदन्ति मनीषिणः।
मार्गज्ञाः कपिलाः साङ्ख्याः शृणुध्वं मुनिसत्तमाः।।५१।।
कामक्रोधौ भयं निद्रा पञ्चमः श्वास उच्यते।
एते दोषाः शरीरेषु दृश्यन्ते सर्वदेहिनाम्।।५२।।
छिन्दन्ति क्षमया क्रोधं कामं सङ्कल्पवर्जनात्।
सत्त्वसंसेवनान्निद्रामप्रमादाद्भयं तथा।।५३।।

व्यास कहते हैं–हे मुनिप्रवरगण! कपिल के मतानुसार चलने वाले सांख्यशास्त्रज्ञ शरीरस्थ पांच दोषों का उल्लेख करते हैं। ये दोष प्राणीमात्र के शरीर में व्यक्त हैं। ये हैं काम, क्रोध, भय, निद्रा तथा श्वास। क्षमा से क्रोध को, संकल्पहीनता द्वारा काम को, सत्वसेवा से निद्रा को, सावधानी (अप्रमाद) से भय को उच्छिन्न करे।।५१-५३।।

छिन्दन्ति पञ्चमं श्वासमल्पाहारतया द्विजाः।

गुणान्गुणशतैर्ज्ञात्वा दोषान्दोषशतैरपि॥५४॥

हेतून्हेतुशतैश्चित्रान्विज्ञाय तत्त्वतः।

अपां फेनोपमं लोकं विष्णोर्मायाशतैः कृतम्॥५५॥

श्रीविष्णुमहापुराण में योगविद्या

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥२८॥

मन ही मनुष्य के बन्धन तथा मोक्ष का कारण है। विषयों से आसक्त रहने वाला मन बन्धन कारक होता है और निर्विषय मन मुक्तिप्रद होता है।

विषयेभ्यस्समाहृत्य विज्ञानात्मा मनो मुनिः।

चिन्तयेन्मुक्तये तेन ब्रह्मभूतं परेश्वरम्॥२९॥

ज्ञानी मुनि मन को विषयों से हटाकर मुक्ति प्राप्त करने के लिए परमेश्वर ब्रह्म का चिन्तन करते हैं।

आत्माभावं नयत्येनं तद्ब्रह्म ध्यायिनं मुनिम्।

विकार्यमात्मनश्शक्त्या लोहमाकर्षको यथा॥३०॥

जिस तरह अयस्कान्तमणि अपनी शक्ति से लेहे को खींचकर अपने में संयुक्त कर लेती है उसी तरह निरन्तर ब्रह्म का ध्यान करने वाले मुनि को परमात्मा भी अपने में ही लीन कर लेते हैं।

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।

तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते॥३१॥

आत्म ज्ञान की प्राप्ति के प्रयत्न रूप यम तथा नियमों से विशिष्ट जो मन की गति है, उसका ब्रह्म में संयुक्त हो जाना ही योग कहलाता है।

एवमत्यन्तवैशिष्ट्ययुक्तधर्मोपलक्षणः।

यस्य योगस्य वै योगी मुमुक्षुरभिधीयते॥३२॥

इस प्रकार से अत्यन्त वैशिष्ट्य से विशिष्ट धर्मरूपी योग जिसका होता है उस मुमुक्षु पुरुष को योगी कहते हैं।

योगयुक् प्रथमं योगी युञ्जानो ह्यभिधीयते।

विनिष्पन्नसमाधिस्तु परं ब्रह्मोपलब्धिमान्॥३३॥

पहले योगारम्भ करने के समय योगी युञ्जान कहलाता है, और जिसको ब्रह्म की उपलब्धि हो जाती है, उसे निष्पन्न समाधि योगी कहते हैं।

यद्यन्तरायदोषेण दूष्यते चास्य मानसम्।

जन्मान्तरैरभ्यसतो मुक्तिः पूर्वस्य जायते॥३४॥

यदि विघ्नों के कारण उसका मन दूषित हो जाता है तो अगले जन्म पर्यन्त उसी अभ्यास के करते रहने से वह मुक्त हो जाता है।

अहं ममेत्वविद्येयं व्यवहारस्तथानयोः।

परमार्थस्त्वसंलापो गोचरे वचसां न यः॥१००॥

अहङ्कार और ममकार ये दोनों ही अज्ञानकृत है, और इन दोनों का व्यवहार भी अज्ञानजन्य होता है। परमार्थ तो आत्मा है, जिसका निर्देश स्त्री पुरुष आदि शब्दों से नहीं किया जा सकता है, वह वाणी का अविषय है।

स्कन्दपुराण में योगविद्या-

करपात्रीति विख्याता भिक्षापात्रविवर्जिताः।

तेषां शतगुणम्पुण्यम्भवत्येव दिने दिने॥92॥

आश्रमांश्चतुरस्त्वेवं क्रमादासेव्य पण्डितः।

निर्द्वन्द्वस्त्यक्तसङ्गश्च ब्रह्मभूयाय कल्पते॥३७॥

असंयतः कुबुद्धीनामात्मा बन्धाय कल्पते।

धीमद्भिः संयतः सोऽपीदं दद्यादनामयम्॥३८॥
श्रुतिस्मृतिपुराणञ्च विद्योपनिषदस्तथा।
श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यच्चान्यद्वाङ्मयं क्वचित्॥३९॥
वेदानुवचनं ज्ञात्वा ब्रह्मचर्यं तपो दमः।
श्रद्धोपवासः स्वातन्त्र्यमात्मनोज्ञानहेतवः॥४०॥
स हि सर्वैर्विजिज्ञास्य आत्मैवाश्रमवर्तिभिः।
श्रोतव्यस्त्वथ मन्तव्यो द्रष्टव्यश्च प्रयत्नतः॥४१॥
आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृतेन हि।
स च योगश्चिरंकालमभ्यासादेव सिध्यति॥४२॥

जो सब यति भिक्षापात्र त्याग करके अपने करतल का भिक्षापात्र धारण करते हैं, उनका दिन-दिन पुण्य सौ गुणा संचित होता है। इस रूप से क्रमशः चारों आश्रमों की सेवा करके रागद्वेषादि तथा संगत्याग करके ब्रह्मसायुज्य लाभ होता है। बुद्धिहीन मानव का आत्मा उनके वश में नहीं रहता। वह केवल संसार माया में बद्ध रहता है। लेकिन वही आत्मा बुद्धिमान व्यक्ति द्वारा वशीभूत होकर सद्गति प्राप्त करता है। वेद-पुराण-उपनिषद्विद्या-भाष्य-सूत्र तथा जो वेदानुसारी वाङ्मय शास्त्र है, वह सब विज्ञान तथा ब्रह्मचर्य, तप, दम, श्रद्धा, उपवास, अनासक्ति भी ब्रह्मज्ञान के कारण है। यह आत्मरूपी ब्रह्म सभी आश्रमियों द्वारा जिज्ञास्य है। यही श्रोतव्य, मन्तव्य तथा अत्यन्त यत्नतः द्रष्टव्य है। आत्मज्ञान से ही मुक्ति होती है। योग बिना आत्मज्ञान नहीं मिलता। योग भी दीर्घकालिक अभ्यास से सिद्ध होता है।

निमीलिताक्षः सत्त्वस्थो दन्तैर्दंतान्न संस्पृशेत्।
तालुस्थाचलजिह्वश्च सम्वृतास्यः सुनिश्चलः॥७०॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं नाति नीचोच्छ्रितासनः।
मध्यमं चोत्तमं चाथ प्राणायाममुपक्रमेत्॥७१॥
चलेऽनिले चलं सर्वं निश्चले तत्र निश्चलम्।
स्थाणुत्वमाप्नुयाद्योगी ततोऽनिलनिरुन्धनात्॥७२॥

दोनों नेत्र बन्द करके जिह्वा तालु से स्थिरता पूर्वक सटाये। दांतों का दांत से स्पर्श न हो। इस प्रकार से सभी इन्द्रियों की वृत्ति का निरोध करके न तो अति निम्न, न तो अति उच्चासन पर बैठे। उत्तम-मध्यम तथा लघुभेद से (गुरु से जानकर) प्राणायाम करना चाहिये। वायु जब तक चंचल रहती है, तब तक सब कुछ चंचल रहता है। जब वायु स्थिर रहती है, तब सभी इन्द्रियां स्थिरीभूत हो जाती हैं। इस कारण से योगी स्थिरता पाने के लिये वायुरोध करे।

यावद्देहे स्थितः प्राणो जीवितं तावदुच्यते।
निर्गते तत्र करणं ततः प्राणं निरुन्धयेत्॥७३॥
यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चेतो निराश्रयम्।
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः॥७४॥
कालसाध्वसतो ब्रह्मा प्राणायामं सदाचरेत्।
योगिनः सिद्धिमापन्नाः सम्यक् प्राणनियन्त्रणात्॥७५॥
मन्दो द्वादशमात्रस्तु मात्रालघ्वक्षरा मता।
मध्यमो द्विगुणः पूर्वादुत्तमस्त्रिगुणस्ततः॥७६॥
स्वेदं कम्पं विषादं च जनयेत्क्रमशस्त्वसौ।
प्रथमेन जयेत्स्वेदं द्वितीयेन तु वेपथुम्॥७७॥
विषादं हि तृतीयेन सिद्धः प्राणोऽथ योगिनः।
भवेत्क्रमात्सन्निरुद्धः सिद्धः प्राणोऽथ योगिना।
क्रमेण सेव्यमानोऽसौ नयते यत्र चेच्छति॥७८॥

हठान्निरुद्धप्राणोऽयं रोमकूपेषु निःसरेत्।
देहं विदारयत्येष कुष्ठादिजनयत्यपि।।७९।।

जब तक देह में प्राणवायु रहती है, तभी तक लोग जीवित रहते हैं। प्राणवायु का निकल जाना ही मरण है। इसलिये उसकी रक्षा यत्नतः करे। जब तक शरीर में प्राणवायु आबद्ध रहती है, तब तक मन बाह्यवृत्ति से रहित रहता है। जब तक भ्रूमध्य में दृष्टि एकाग्र रहती है तब तक जीव मृत्यु भय से निवृत्त रहता है। ब्रह्मा भी कालभय के कारण प्राणायाम करते रहते हैं। योगीगण भी प्राणवायु का रोध करके सिद्धिलाभ करते हैं। इस समय द्वादश मात्रा मन्त्रजप को लघु तथा 24 मात्रा के मन्त्र जप को मध्यम तथा 36 मात्रा के जप को उत्तम प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम का अनुष्ठान करने पर क्रमशः स्वेद-कम्प तथा विषाद उत्पन्न होता है, तथापि नियत अभ्यास से ये सभी अन्तर्हित हो जाते हैं। इस प्रकार से योगी क्रमशः प्राणरोध करके सिद्धि पाते हैं। इसके अभ्यास से योगीगण जहां इच्छा होती है, वायु द्वारा जा सकते हैं। यदि प्राणवायु का हठात् रोध किया जायेगा, तब वह रोमकूपों से निकल कर देह को विदीर्ण कर देगा। इससे कुष्ठ आदि रोग भी उत्पन्न हो सकते हैं।

कूर्मपुराण में योगविद्या-

योगाग्निद्रहति क्षिप्रमशेषं पापपञ्जरम्।
प्रसन्नं जायते ज्ञानं साक्षान्निर्वाणसिद्धिदम्।।२।।
योगात् संजायते ज्ञानं ज्ञानाद् योगः प्रवर्तते।
योगज्ञानाभियुक्तस्य प्रसीदति महेश्वरः।।३।।
एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा।
ये युञ्जन्तीह मद्योगं ते विज्ञेया महेश्वराः।।४।।

योग रूपी अग्नि शीघ्र ही सम्पूर्ण पापपञ्जर को भस्म कर देता है और (उसके बाद) साक्षात् मुक्तिरूप सिद्धि प्रदान करने वाला प्रसन्न (निर्मल) ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। योग से ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान से योग प्रवर्तित होता है। योग तथा ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति पर महेश्वर प्रसन्न होते हैं। जो नित्य एक समय, दो समय या तीनों समय मेरे योग का साधन करते हैं, उन्हें महेश्वर समझना चाहिये।।२-४।।

अदेशकाले योगस्य दर्शनं हि न विद्यते।
अग्न्यभ्याशे जले वापि शुष्कपर्णचये तथा।।४७।।
जन्तुव्याप्ते श्मशाने च जीर्णगोष्ठे चतुष्पथे।
सशब्दे सभये वापि चैत्यवल्मीकसंचये।।४८।।
अशुभे दुर्जनाक्रान्ते मशकादिसमन्विते।
नाचरेद् देहबाधे वा दौर्मनस्यादिसम्भवे।।४९।।
सुगुप्ते सुशुभे देशे गुहायां पर्वतस्य तु।
नद्यास्तीरे पुण्यदेशे देवतायजने तथा।।५०।।
गृहे वा सुशुभे रम्ये विजने जन्तुवर्जिते।
युञ्जीत योगी सततमासनं मत्परायणः।।५१।।
नमस्कृत्य तु योगीन्द्रान् सशिष्यांश्च विनायकम्।
गुरुं चैवाथ मां योगी युञ्जीत सुसमाहितः।।५२।।

विपरीत देश (स्थान) और विपरीत काल में योगतत्त्व का दर्शन भी नहीं होता। अग्नि के समीप, जल में, सूखे पत्तों के ढेर के मध्य, जन्तुओं से भरे स्थान में, श्मशान में, पुराने गोष्ठ में, चौराहे में, कोलाहल और भययुक्त स्थान में, चैत्य के समीप, दीमकों से पूर्ण स्थान, अशुभ स्थान, दुर्जनों से व्याप्त और मच्छर आदि से भरे स्थान तथा देह-सम्बन्धी कष्ट और मन की अस्वस्थता की दशा में योग-साधना नहीं करनी चाहिये। अच्छी प्रकार रक्षित, शुभ स्थान, पर्वत की गुफा, नदी के किनारे, पुण्यदेश, देवमन्दिर, घर, शुभ, रमणीय, जनशून्य, जन्तुओं से रहित स्थानों में योगी को सतत अपने को मेरे परायण रखते हुए योग-साधना करनी चाहिये। योगी को चाहिये कि वह शिष्यों सहित श्रेष्ठ योगियों, विनायक, गुरु तथा मुझे प्रणाम करके समाहित-मन होकर योग-साधना करे।।४७-५२।।

आसनं स्वस्तिकं बद्ध्वा पद्ममर्धमथापि वा।
नासिकाग्रे समां दृष्टिमीषदुन्मीलितेक्षणः।।५३।।
कृत्वाथ निर्भयः शान्तस्त्यक्त्वा मायामयं जगत्।
स्वात्मन्यवस्थितं देवं चिन्तयेत् परमेश्वरम्।।५४।।

स्वस्तिक, पद्म अथवा अर्धासन बाँधकर नासिक के अग्र भाग में कुछ-कुछ खुली हुई आँखों से दृष्टि को स्थिर करके निर्भय तथा शान्त होकर मायामय संसार (के चिन्तन) का परित्याग कर अपने आत्मा में स्थित परमेश्वर देव का चिन्तन करना चाहिये।।५३-५४।।

एष पाशुपतो योगः पशुपाशविमुक्तये।
सर्ववेदान्तसारोऽयमत्याश्रममिति श्रुतिः।।६७।।
एतत् परतरं गुह्यं मत्सायुज्योपपादकम्।
द्विजातीनां तु कथितं भक्तानां ब्रह्मचारिणाम्।।६८।।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च क्षमा शौचं तपो दमः।
संतोषः सत्यमास्तिक्यं व्रताङ्गानि विशेषतः।।६९।।
एकेनाप्यथ हीनेन व्रतमस्य तु लुप्यते।
तस्मादात्मगुणोपेतो मद्व्रतं वोढुमर्हति।।७०।।

जीव को बन्धन रूप पाश से मुक्त करने के लिये यह पाशुपत नामक योग कहा गया है। यह सम्पूर्ण वेदान्त का सार है और श्रुति में इस योग की अवस्था को सभी आश्रमों की अवस्था से अतीत अवस्था (उत्कृष्ट अवस्था) बतलाया गया है। इसे अत्यन्त गुह्य और द्विजातियों, भक्तों एवं ब्रह्मचारियों के लिये मेरा सायुज्य प्रदान करने वाला कहा गया है। ब्रह्मचर्य, अहिंसा, क्षमा, शौच, तप, दम, संतोष, सत्य तथा आस्तिकता- ये सभी (इस पाशुपत) व्रत के विशेष अङ्ग हैं। इनमें से एक (अङ्ग) के भी न होने से इस (योग) का व्रत लुप्त हो जाता है। इसलिये इन आत्मगुणों (ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि नौ व्रत के अङ्ग) से युक्त साधक ही मेरा (पाशुपत) व्रत धारण कर सकता है।।६७-७०।।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपश्रिताः।
बहवोऽनेन योगेन पूता मद्भावमागताः।।७१।।
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
ज्ञानयोगेन मां तस्माद् यजेत परमेश्वरम्।।७२।।
अथवा भक्तियोगेन वैराग्येण परेण तु।
चेतसा बोधयुक्तेन पूजयेन्मां सदा शुचिः।।७३।।
सर्वकर्माणि संन्यस्य भिक्षाणि निष्परिग्रहः।
प्राप्नोति मम सायुज्यं गुह्यमेतन्मयोदितम्।।७४।।

राग, भय और क्रोध से रहित, मत्परायण और मेरे आश्रित अनेक लोग इस (पाशुपत) योग के द्वारा मेरा भाव प्राप्तकर पवित्र हो गये हैं। जो जिस प्रकार मेरे पास आते हैं, मैं भी उसी प्रकार उन्हें स्वीकार करता हूँ। इसलिये ज्ञानयोग के द्वारा मुझ परमेश्वर की आराधना करनी चाहिये। अथवा भक्ति योग, परम वैराग्य एवं ज्ञानयुक्त चित्त के द्वारा पवित्रता पूर्वक सदा मेरा पूजन करना चाहिये। सभी कर्मों का परित्यागकर, भिक्षा का अन्न ग्रहण करते हुए अन्य कुछ भी संग्रह न करते हुए (साधना करने वाला) साधक मेरा सायुज्य (नामक मोक्ष) प्राप्त करता है। यह मैंने गुह्य बात बतलायी।।७१-७४।।

शिवमहापुराण में योगविद्या-

३८वें अध्याय में कहा गया है-

प्रमादो नाम योगस्य साधनानामभावना।
इदं केत्युभयाक्रान्तं विज्ञानं स्थानसंशयः।।४।।

योगसाधना के अभाव का नाम प्रमाद है। यह सत्य है या वह, इस प्रकार के विपरीत ज्ञान का नाम संशय है।।४।।

अप्रतिष्ठा हि मनसस्त्वनवस्थितिरुच्यते।

अश्रद्धा भावरहिता वृत्तिर्वै योगवर्त्मनि।।५।।

मन की अस्थिरता को ही अनवस्थिति कहते हैं। योगमार्ग में इसी भाव रहित वृत्ति को अश्रद्धा कहते हैं।।५।।

विपर्यस्ता मतिर्या सा भ्रान्तिरित्यभिधीयते।

दुःखमज्ञानजं पुंसां चित्तस्याध्यात्मिकं विदुः।।६।।

विपरीत बुद्धि को भ्रांति कहते हैं। पुरुषों के अज्ञान से उत्पन्न मानसिक दुःख को आध्यात्मिक दुःख कहते हैं।।६।।

आधिभौतिकमङ्गोत्थं यच्च दुःखं पुराकृतैः।

आधिदैविकमाख्यातमशन्यस्त्रविषादिकम्।।७।।

पूर्वजन्म के किये हुए कर्मों से उत्पन्न शारीरिक दुःख को आधिभौतिक कहते हैं। शस्त्र-आघात, विषभक्षण आदि से उत्पन्न दुःख को आधिदैविक दुःख कहते हैं।।७।।

विभिन्न पुराणों का परिचय-

(१)ब्रह्मपुराण–

यह पुराण 'आदि ब्राह्म' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके अध्यायों की संख्या २४५ है और श्लोकों की संख्या १४,००० के आस-पास है।

भगवान् कृष्ण के चरित्र का भी वर्णन ३२ अध्यायों (अध्याय १८० से २१२ तक) में बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। कथानक वही है जिसका वर्णन भागवत के दशम स्कन्ध में है। मरण के अनन्तर होने वाली अवस्था का वर्णन अनेक अध्यायों में किया गया है। इस पुराण में भूगोल का विशेष वर्णन नहीं है। परन्तु उड़ीसा में स्थित कोणादित्य (कोणार्क) नामक तीर्थ तथा तत्सम्बद्ध सूर्य-पूजा का वर्णन इस पुराण की विशेषता प्रतीत होती है। सूर्य की महिमा तथा उनके व्यापक प्रभुत्व का निर्देश छः अध्यायों (अ० २८-२३) में है।

इस पुराण में सांख्ययोग की समीक्षा भी बड़े विस्तार के साथ दश अध्यायों (अ० २३४-४४) में की गयी है। कराल जनक के प्रश्न करने पर महर्षि वसिष्ठ ने सांख्य के महनीय सिद्धान्तों का विवेचन किया है। ध्यान देने की बात है कि इन पुराणों में वर्णित सांख्य अनेक महत्त्वपूर्ण बातों में अवान्तरकालीन सांख्य से भेद रखता है। पिछले सांख्य में तत्त्वों की संख्या केवल २५ ही है। परन्तु यहाँ मूर्धस्थानीय २६वें तत्त्व का भी वर्णन है। पौराणिक सांख्य निरीश्वर नहीं है तथा उसमें ज्ञान के साथ भक्ति का भी विशेष पुट मिला हुआ है। इस ग्रन्थ में एक और भी विशेषता है। इसके कतिपय अध्याय महाभारत के १२वें पर्व (शान्ति पर्व) के कतिपय अध्यायों से अक्षरशः मिलते हैं। धर्म ही परम पुरुषार्थ है, इस तत्त्व का प्रतिपादन इस पुराण के अन्त में कितनी सुन्दर भाषा में किया गया है।

धर्मे मतिर्भवतु वः पुरुषोत्तमानां, स ह्येक एव

परलोकगतस्य बन्धुः।

अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना,

नैव प्रभावमुपयन्ति न च स्थिरत्वम्।। *(ब्र०पु०२५५।३५)*

(२)पद्मपुराण–

यह पुराण परिमाण में स्कन्दपुराण को छोड़कर अद्वितीय है। इसके श्लोकों की संख्या ५०,००० बतलायी जाती है। इस प्रकार से इसे महाभारत का आधा और भागवतपुराण से तिगुना परिमाण में समझना चाहिए।

पद्मपुराण विष्णुभक्ति का प्रतिपादक सबसे बड़ा पुराण है। भगवान् का नामकीर्तन किस प्रकार सुचारु रूप से किया जा सकता है? कितने नामापराध है? आदि प्रश्नों के उत्तर इस पुराण में बड़ी प्रामाणिकता से दिये गये हैं। इसीलिए अवान्तर-कालीन वैष्णव-सम्प्रदाय के ग्रन्थों ने इसका महत्त्व बहुत अधिक माना है। साहित्यिक दृष्टि से भी यह बहुत सुन्दर है।

(३)विष्णुपुराण–

दार्शनिक महत्त्व की दृष्टि से यदि भागवतपुराण पुराणों की श्रेणी में प्रथम स्थान रखता है, तो विष्णुपुराण निश्चय ही द्वितीय स्थान का अधिकारी है। यह वैष्णव-दर्शन का मूल आलम्बन है। इसीलिए आचार्य रामानुज ने अपने 'श्रीभाष्य' में इसका प्रमाण तथा

उद्धरण बहुलता से दिया है। परिमाण में यह न्यून होते हुए भी इसका महत्त्व अधिक है। इसके खंडों को 'अंश' कहते हैं। इसके अंशों की संख्या ६ है तथा अध्यायों की संख्या १२६ है। इस प्रकार परिमाण में यह भागवतपुराण का तृतीयांश मात्र है। प्रथम अंश में सृष्टि-वर्णन है *(अ०११-२०)*। द्वितीय अंश (खंड) में भूगोल का बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। तृतीय अंश में आश्रम सम्बन्धी कर्तव्यों का विशेष वर्णन है जो वेदाभ्यासियों के लिए बड़े काम की वस्तु है। चतुर्थ अंश विशेषत: ऐतिहासिक है जिसमें सोमवंश के अन्तर्गत ययाति का चरित वर्णित है। यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु, पुरु-इन पाँच प्रसिद्ध क्षत्रियवंशों का भिन्न-भिन्न अध्यायों में वर्णन मिलता है। पंचम वंश के ३८ अध्याय में भगवान् कृष्ण का अलौकिक चरित वैष्णव-भक्तों का आलम्बन है। इस खंड में दशम स्कन्ध के समान कृष्णचरित पूर्णतया वर्णित है परन्तु इसका विस्तार कम है। षष्ठ अंश केवल आठ अध्यायों का है जिसमें प्रलय तथा भक्ति का विशेष रूप से विवेचन किया गया है।

(४)वायुपुराण–

यह पुराण अत्यन्त प्राचीन है। बाणभट्ट ने अपनी कादम्बरी में इसका उल्लेख 'पुराणे वायुप्रलपितम्' लिखकर किया है। अत: इससे जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ की रचना बाणभट्ट से बहुत पहले हो चुकी थी। यह पुराण परिमाण में अन्य पुराणों से अपेक्षाकृत न्यून है। इसके अध्यायों की संख्या केवल ११२ है तथा श्लोकों की ११,००० के लगभग है। इस पुराण में चार खण्ड हैं जो 'पाद' कहलाते हैं–(१) प्रक्रिया पाद, (२) अनुषङ्ग पाद, (३) उपोद्घात पाद, (४) उपसंहार पाद। इसके आरम्भ में सृष्टिप्रकरण बड़े विस्तार के साथ कई अध्यायों में दिया गया है। तदनन्तर चतुराश्रम विभाग प्रदर्शित किया गया है। यह पुराण भौगोलिक वर्णनों के लिए विशेष रूप से पठनीय है। जम्बू द्वीप का वर्णन विशेष रूप से है ही, परन्तु अन्य द्वीपों का भी वर्णन बड़ी सुन्दरता से यहाँ (३४-३९) किया गया है। खगोल का वर्णन भी इस ग्रन्थ में विस्तृत रूप में उपलब्ध होता है (अ० ५०-५३)। अनेक अध्यायों में युग, यज्ञ, ऋषि, तीर्थ का वर्णन समुपलब्ध है। अध्याय ६० में चारों वेदों की शाखाओं का वर्णन किया गया है जो साहित्यिक दृष्टि से विशेष अनुशीलन करने योग्य है।

(५)श्रीमद्भागवत–

यह पुराण संस्कृत-साहित्य का एक अनुपम रत्न है। भक्तिशास्त्र का तो यह सर्वस्व है। यह निगम-कल्पतरु का स्वयं गलित अमृतमय फल है। वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के समान भागवत को भी अपना उपजीव्य माना है। वल्लभाचार्य भागवत को महर्षि व्यासदेव की 'समाधिभाषा' कहते हैं अर्थात् भागवत के तत्त्वों का प्रभाव वल्लभ सम्प्रदाय और चैतन्य सम्प्रदाय पर बहुत अधिक पड़ा है।

श्रीमद्भागवत अद्वैततत्त्व का ही प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में करता है। श्रीभगवान् ने अपने विषय में ब्रह्माजी को इस प्रकार उपदेश दिया है–

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्।

पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥ *(भाग०२।९।३२)*

'सृष्टि के पूर्व मैं ही था–मैं केवल था, कोई क्रिया न थी। उस समय सत् अर्थात् कार्यात्मक स्थूलभाव न था, असत्–कारण ात्मक सूक्ष्मभाव न था। यहाँ तक कि इनका कारणभूत प्रधान भी अन्तर्मुख होकर मुझ में लीन था। सृष्टि का यह प्रपञ्च मैं ही हूँ और प्रलय में सब पदार्थों के लीन हो जाने पर मैं ही एकमात्र अवशिष्ट रहूँगा।' इससे स्पष्ट है कि भगवान् निर्गुण, सगुण, जीव तथा जगत् सब वही हैं। अद्वयतत्त्व सत्य है। उसी एक, अद्वितीय, परमार्थ को ज्ञानी लोग ब्रह्म, योगीजन परमात्मा और भक्तगण भगवान् के नाम से पुकारते हैं। वही जब सत्त्वगुणरूपी उपाधि से अवच्छिन्न न होकर अव्यक्त निराकार रूप से रहते हैं, तब 'निर्गुण' कहलाते हैं और उपाधि से अवच्छिन्न होने पर 'सगुण' कहलाते हैं। 'परमार्थभूत ज्ञान सत्य, विशुद्ध, एक, बाहर-भीतर भेदरहित, परिपूर्ण, अन्तर्मुख तथा निर्विकार है–वही भगवान् तथा वासुदेव शब्दों के द्वारा अभिहित होता है।' सत्त्वगुण की उपाधि से अवच्छिन्न होने पर वही निर्गुण ब्रह्म प्रधानतया विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा तथा पुरुष चार प्रकार का सगुण रूप धारण करता है। शुद्धसत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'विष्णु' कहते हैं, रजोमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'ब्रह्मा', तमोमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'रुद्र' और तुल्यबल रज-तम से मिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'पुरुष' कहते हैं। जगत् की स्थिति, सृष्टि तथा संहार, व्यापार में विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र निमित्त कारण होते हैं; 'पुरुष' उपादान कारण होता है। ये चारों ब्रह्म के ही सगुण रूप हैं। अत: भागवत के मत में ब्रह्म ही अभिन्न-निमित्तोपादान कारण हैं।

साधन मार्ग- इस भगवान् की उपलब्धि का सुगम उपाय बतलाना भागवत की विशेषता है। भागवत की रचना का प्रयोजन भी

भक्तितत्त्व का निरूपण है। वेदार्थोपबृंहित विपुलकाय महाभारत की रचना करने पर भी अतृप्त होने वाले वेदव्यास का हृदय भक्तिप्रधान भागवत की रचना से वितृप्त हुआ। भागवत के श्रवण करने से भक्ति के निष्प्राण ज्ञान-वैराग्य-पुत्रों में प्राण का ही संचार नहीं हुआ, प्रत्युत वे पूर्ण यौवन को भी प्राप्त हो गये। अतः भगवान् की प्राप्ति का एकमात्र उपाय 'भक्ति' ही है–

न साधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव।

न स्वाध्यायस्तपो त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥ *(११।१४।२०)*

परमभक्त प्रह्लाद ने भक्ति की उपादेयता का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया है कि भगवान् चरित्र, बहुज्ञता, दान, तप आदि से प्रसन्न नहीं होते। वे तो निर्मल भक्ति से प्रसन्न होते हैं। भक्ति के अतिरिक्त अन्य साधन उपहासमात्र हैं-

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता।

न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च॥

प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्। *(७।७।५१-५२)*

भागवत के अनुसार भक्ति ही मुक्ति प्राप्ति में प्रधान साधन है। ज्ञान, कर्म भी भक्ति के उदय होने से ही सार्थक होते हैं, अतः परम्परा साधक हैं, साक्षाद्रूपेण नहीं। कर्म का उपयोग वैराग्य उत्पन्न करने में हैं। जब तक वैराग्य की उत्पत्ति न हो जाय, तब तक वर्णाश्रम विहित आचारों का निष्पादन नितान्त आवश्यक है *(भाग०११।२०।९।)* कर्मफलों को भी भगवान् को समप्रण कर देना ही उनके 'विषदन्त' को तोड़ना है *(भाग०१।१।१२)*। श्रेय की मूलस्रोतरूपिणी भक्ति को छोड़कर केवल बोध की प्राप्ति के लिए उद्योगशील मानवों का प्रयत्न उसी प्रकार निष्फल तथा क्लेशोत्पादक है जिस प्रकार भूसा कूटनेवालों का यत्न *(१०।१४।४)*।

अतः भक्ति की उपादेयता मुक्तिविषय में सर्वश्रेष्ठ है। भक्ति दो प्रकार की मानी जाती है–'साधनरूपा भक्ति' तथा 'साध्यरूपा भक्ति'। साधनभक्ति नौ प्रकार की होती है–श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्म-निवेदन। भागवत में सत्सङ्गति की महिमा का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया गया है। साध्यरूपा या फलरूपा भक्ति प्रेममयी होती है जिसके सामने अनन्य भगवत्पदाश्रित भक्त ब्रह्मा के पद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती पद, लोकाधिपत्य तथा योग की विविध विलक्षण सिद्धियों को कौन कहे, मोक्ष को भी नहीं चाहता।

भक्त का हृदय भगवान् के दर्शन के लिए उसी प्रकार छटपटाया करता है, जिस प्रकार पक्षियों के पंखरहित बच्चे माता के लिए, भूख से व्याकुल बछड़े दूध के लिए तथा प्रिय के विरह में व्याकुल सुन्दरी अपने प्रियतम के लिए छटपटाती है–

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।

प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

(भाग०६।११।२६)

(६)नारदपुराण–

बृहन्नारदपुराण नामक एक उपपुराण भी मिलता है। अतः उससे इसे पृथक् करने के लिए इसे नारदीय पुराण नाम दिया गया है। इस ग्रन्थ में दो भाग हैं। पूर्व भाग के अध्यायों की संख्या १२५ है और उत्तर भाग में ८२ है। सम्पूर्ण श्लोकों की संख्या २५,००० है। डॉक्टर विलसन इस पुराण का रचनाकाल १६वीं शताब्दी बतलाते हैं तथा इसे विष्णु-भक्ति का प्रतिपादक एक सामान्य ग्रन्थ मानते हैं। परन्तु ये दोनों बातें सर्वथा निराधार हैं। १२वीं शताब्दी में बल्लालसेन ने अपने 'दानसागर' नामक ग्रन्थ में इस पुराण के श्लोकों को उद्धृत किया है। अलबरूनी (११वीं शताब्दी) ने भी अपने यात्रा-विवरण में इस पुराण का उल्लेख किया है। अतः यह पुराण निश्चय ही इन दोनों ग्रन्थकारों के काल से प्राचीन है। इस ग्रन्थ के पूर्वभाग में वर्ण और आश्रम के आचार *(अ०२४।२५)* श्राद्ध *(अ०२८)*, प्रायश्चित्त आदि का वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द आदि शास्त्रों का अलग-अलग एक-एक अध्याय में विवेचन है। अनेक अध्यायों में विष्णु, राम, हनुमान्, कृष्ण, काली, महेश के मन्त्रों का विधिवत् निरूपण किया गया है। विष्णुभक्ति को ही मुक्ति का परम साधन सिद्ध किया गया है। इसी प्रसङ्ग को लेकर उत्तर भाग में *(अ०७-३७तक)* विख्यात विष्णुभक्त राजा रुक्माङ्गद का चारु चरित्र वर्णित किया गया है।

यह पुराण ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़ा महत्वपूर्ण है। अठारहों पुराणों के विषयों की विस्तृत अनुक्रमणी यहाँ (अ० ९२-१०९ पूर्व भाग) दी गयी है। यह अनुक्रमणी सभी पुराणों के विषयों को जानने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसकी सहायता से हम वर्तमान पुराणों के मूल रूप तथा प्रक्षिप्त अंश की छानबीन बड़ी सुगमता के साथ कर सकते हैं। विष्णुभक्ति की इसमें प्रधानता होने

पर भी यह पुराणों के पञ्च लक्षणों से रहित नहीं है।

(७)मार्कण्डेयपुराण–

इस पुराण का नामकरण मार्कण्डेय ऋषि द्वारा कथन किये जाने से हुआ है। परिमाण में यह पुराण छोटा है। इसके अध्यायों की संख्या १३७ है और श्लोकों की संख्या ९,००० है। इस पूरे पुराण का अंग्रेजी में अनुवाद पार्जिटर साहब ने किया है *(बिब्लोथिका इण्डिकासीरीजकलकत्ता;१८८८से१९०५ई०)* तथा इसके आरम्भिक कतिपय अध्यायों का अनुवाद जर्मन भाषा में भी हुआ है जिसमें मरणोत्तर जीवन की कथा कही गयी है। इन पश्चिमी विद्वानों की सम्मति में यह पुराण बहुत प्राचीन, बहुत लोकप्रिय तथा नितान्त उपादेय है। हमारी दृष्टि में भी यह सम्मति ठीक ही जान पड़ती है। प्राचीन काल की प्रसिद्ध ब्रह्मवादिनी महिषी मदालसा का पवित्र जीवन-चरित्र इस ग्रन्थ में बड़े विस्तार के साथ दिया गया है। मदालसा ने अपने पुत्र अलर्क को शैशव से ही ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया जिससे उसने राजा होने पर भी ज्ञानयोग के साथ कर्मयोग का अपूर्व सामंजस्य कर दिखाया। इसी ग्रन्थ का 'दुर्गा सप्तशती' एक विशिष्ट अंश है। इसमें देवीभक्तों के लिए सर्वस्वरूप दुर्गा का पवित्र चरित बड़े विस्तार के साथ दिया गया है।

(८)अग्निपुराण–

इस पुराण को यदि समस्त भारतीय विद्याओं का विश्वकोश कहें तो किसी प्रकार अत्युक्ति न होगी। इन पुराणों का उद्देश्य जनसाधारण में ज्ञातव्य विद्याओं का प्रचार करना भी था, इसका पूरा परिचय हमें इस पुराण के अनुशीलन से मिलता है। इस पुराण के ३८३ अध्यायों में नाना प्रकार के विषयों का सन्निवेश कम आश्चर्य का विषय नहीं है। अवतार की कथाओं का संक्षेप में वर्णन कर रामायण और महाभारत की कथा पर्याप्त विस्तार के साथ दी गयी है। मन्दिर-निर्माण की कला के साथ प्रतिष्ठा तथा पूजन के विधान का विवेचन संक्षेप में सुचारु रूप से किया गया है। ज्योतिषशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्रत, राजनीति, आयुर्वेद आदि शास्त्रों का वर्णन बड़े विस्तार के साथ मिलता है। छन्द:शास्त्र का निरूपण आठ अध्यायों में किया गया मिलता है। अलङ्कारशास्त्र का विवेचन बड़े ही मार्मिक ढ़ङ्ग से किया गया है। व्याकरण की भी छानबीन कितने ही अध्यायों में की गयी है। कोश के विषय में भी कई अध्याय लिखे गये हैं, जिनके अनुशीलन से पाठकों के शब्द-ज्ञान की विशेष वृद्धि हो सकती है। योगशास्त्र के यम, नियम आदि आठों अङ्गों का वर्णन संक्षेप में बड़ा ही सुन्दर है। अन्त में अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का सार-सङ्कलन है। एक अध्याय में गीता का भी सारांश एकत्रित किया गया है। इस प्रकार इस पुराण के अनुशीलन से समस्त ज्ञान-विज्ञान का परिचय मिलता है। इसीलिए इस पुराण का यह दावा सर्वथा सच्चा ही प्रतीत होता है कि–

आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वाः विद्याः प्रदर्शिताः। *(अ०३८३।५२)*

(९)भविष्यपुराण–

इस पुराण के विषय में सबसे अधिक गड़बड़ी दिखाई पड़ती है। इसके नामकरण का कारण यह है कि इसमें भविष्य में होनेवाली घटनाओं का वर्णन किया गया है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि समय-समय पर होनेवाले विद्वानों ने इसमें अपने समय में होने वाली घटनाओं को भी जोड़ना प्रारम्भ कर दिया। और तो क्या, इसमें 'इंग्रेज' नाम से उल्लिखित अंग्रेजों के आने का भी वर्णन मिलता है। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र को इस पुराण की विभिन्न चार हस्तलिखित प्रतियाँ मिली थीं जो आपस में विषय की दृष्टि से नितान्त भिन्न थीं। उनका कहना है कि आजकल जो भविष्यपुराण उपलब्ध होता है उसमें इन उपर्युक्त चारों प्रतियों का मिश्रण है। यही इस पुराण की गड़बड़ी का कारण है। नारदपुराण के अनुसार इसके पाँच पर्व हैं–(१) ब्राह्म पर्व, (२) विष्णु पर्व, (३) शिव पर्व, (४) सूर्य पर्व, (५) प्रतिसर्ग पर्व इसके श्लोकों की संख्या १४,००० है। इस पुराण में सूर्यपूजा का विशेष रूप से वर्णन है।

(१०) ब्रह्मवैवर्तपुराण–

इस पुराण के श्लोकों की संख्या १८,००० के लगभग है। इस प्रकार यह पुराण भागवत की अपेक्षा परिमाण में छोटा नहीं। इस पुराण में चार खण्ड हैं–(१) ब्रह्म खण्ड, (२) प्रकृति खण्ड, (३) गणेश खण्ड, (४) कृष्ण जन्म खण्ड। इनमें कृष्णजन्म खण्ड आधे से भी अधिक है। इस खण्ड में १३३ अध्याय हैं। कृष्णचरित्र का विस्तृत रूप से वर्णन करना इस पुराण का प्रधान लक्ष्य है। राधा कृष्ण की शक्ति है और इस राधा का वर्णन बड़े साङ्गोपाङ्ग रूप से यहाँ दिया गया है।

(११) लिङ्गपुराण–

इसमें भगवान शङ्कर की लिङ्गरूप से उपासना विशेष रूप से दिखलायी गयी है। शिवपुराण का कहना है कि–

"लिङ्गस्य चरितोक्तत्वात् पुराणं लिङ्गमुच्यते"

यह पुराण अपेक्षाकृत छोटा है क्योंकि इसमें अध्यायों की संख्याा ११३ और श्लोकों की संख्या ११,००० हैं। इसमें दो भाग हैं -(१) पूर्व भाग, (२) उत्तर भाग। यहाँ लिङ्गोपासना की उत्पत्ति दिखलायी गयी है। सृष्टि का वर्णन भगवान् शङ्कर के द्वारा बतलाया गया है। शङ्कर के २८ अवतारों का वर्णन भी हमें यहाँ उपलब्ध होता है। शिवपरक होने के कारण से शैव व्रतों का और शैव तीर्थो का यहाँ अधिक वर्णन होना स्वाभाविक ही है।

(१२) वराहपुराण–

विष्णु ने वराहरूप धारण कर पृथ्वी का पाताल लोक से उद्धार किया था। इस कथा से मुख्यत: सम्बन्ध रखने के कारण इस पुराण का नाम वराह-पुराण पड़ा है। हेमाद्रि (१३ वीं शताब्दी) ने अपने 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' में इस पुराण में वर्णित बुद्ध द्वादशी का उल्लेख किया है तथा गौडनरेश बल्लालसेन (१२वीं शताब्दी) ने 'दानसागर नामक ग्रन्थ में इस पुराण से अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं। अत: यह पुराण १२ वीं शताब्दी से प्राचीन अवश्य है। इस पुराण के दो पाठ-भेद उपलब्ध होते हैं–(१) गौड़ीय, (२) दाक्षिणात्य। इनमें अध्यायों की संख्याओं में भी अन्तर है। आजकल गौड़ीय पाठवाला संस्करण ही अधिक प्रसिद्ध है। इस पुराण में २१८ अध्याय हैं। श्लोकों की संख्या २४,००० है।

(१३) स्कन्दपुराण–

इस पुराण में स्वामी कार्तिकेय ने शैव तत्त्वों का निरूपण किया है, इसीलिए इसका नाम स्कन्दपुराण है। सबसे बृहत्काय पुराण यही है। इसकी मोटाई का इसी से अनुमान किया जा सकता है कि यह भागवत पुराण से पाँच गुणा मोटा है। इसकी श्लोक संख्या ८१,००० है। जो लक्ष श्लोकात्मक महाभारत से केवल एक पंचमांश ही कम है।

(१४) वामनपुराण–

इस पुराण का सम्बन्ध भगवान् के वामनावतार से है। यह एक छोटा पुराण है। इसमें केवल १५ अध्याय है तथा १०,००० श्लोक हैं। विष्णुपरक होने के कारण इसमें विष्णु के भिन्न-भिन्न अवतारों का वर्णन होना स्वाभाविक है परन्तु वामनावतार का वर्णन विशेष रूप से दिया हुआ है। इस पुराण में शिव, शिव का माहात्म्य, शैव तीर्थ, उमा-शिव-विवाह, गणेश की उत्पत्ति और कार्तिकेय चरित आदि विषयों का वर्णन मिलता है जिससे पता चलता है कि इसमें किसी प्रकार की साम्प्रदायिक संकीर्णता नहीं है।

(१५) कूर्मपुराण–

इस पुराण से पता चलता है कि इसमें चार संहिताएँ थी–(१) ब्राह्मी संहिता, (२) भागवती, (३) सौरी, (४) वैष्णवी। परन्तु आजकल केवल ब्राह्मी संहिता ही उपलब्ध होती है और उसी का नाम कूर्मपुराण है। भागवत तथा मत्स्यपुराणों के अनुसार इसमें १८,००० श्लोक होने चाहिए परन्तु उपलब्ध पुराण में केवल ६,००० ही श्लोक मिलते हैं। अर्थात् मूल ग्रन्थ का केवल तृतीयांश ही उपलब्ध हैं। विष्णु भगवान् ने कूर्म अवतार धारण कर इन्द्रद्युम्न नामक विष्णुभक्त राजा को इस पुराण का उपदेश दिया था। इसलिए यह कूर्मपुराण के नाम से अभिहित किया जाता है।

(१६) मत्स्यपुराण–

यह पुराण भी पर्याप्त रूप से विस्तृत है। इसमें अध्यायों की संख्या २९१ है तथा श्लोकों की संख्या १५,००० के लगभग है। इस पुराण के आरम्भ में मन्वन्तर के सामान्य वर्णन के अनन्तर पितृवंश का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। वैराज पितृवंश का १३वें अध्याय में, अग्निष्वात्त पितरों का १४ वें में तथा बर्हिषद् पितरों का वर्णन १९ वें अध्याय में विशेष रूप से वर्णित है। श्राद्ध-कल्प का विवेचन ७ अध्यायों *(अ०१६-२३तक)* में किया है। सोमवंश का वर्णन बड़े विस्तार के साथ यहाँ उपलब्ध है, विशेषत: ययाति के चरित्र का *(अ०२७से४२तक)*। अन्य राजन्य वंशों का भी वर्णन है। व्रतों का वर्णन इस पुराण की महती विशेषता है *(अ०५५ से१०२)*। प्रयाग का भौगोलिक वर्णन तथा महिमा कथन १० अध्यायों *(अ०१०३से११२तक)* में किया गया है। भगवान् शंकर का त्रिपुरासुर के साथ जो संग्राम हुआ था उसका वर्णन यहाँ हम बड़े विस्तार के साथ पाते हैं *(अ०१२९से१४०)*। तारक-वध का भी बड़ा विस्तार यहाँ मिलता है। मत्स्यावतार के वर्णन के लिए तो पुराण लिखा ही गया है।

दूसरी विशेषता है प्रवर ऋषियों के वंशों का वर्णन। भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, विश्वामित्र, कश्यप, वशिष्ठ, पराशर, अगस्त्य–इन ऋषियों के वंशों का वर्णन बड़े सुचारु रूप से हम १९५ अध्याय से लेकर २०२ अध्याय तक क्रम-पूर्वक पाते हैं। तीसरी विशेषता है राजधर्म का विशिष्ट वर्णन। २१५ वें अध्याय से लेकर २४३ तक दैव, पुरुषकार, साम, दाम, दण्ड, भेद, दुर्ग, यात्रा, सहाय-सम्पत्ति और तुलादान आदि का वर्णन इस ग्रन्थ को राजनैतिक महत्त्व प्रदान करता है। इसी धर्म के अन्तर्गत अद्भुत शान्ति का खण्ड भी

बड़ी नवीनता लिए हुए है *(अ०२२८से३३८)*।

(१७) गरुड़पुराण–

इस पुराण में विष्णु ने गरुड़ को विश्व की सृष्टि बतलायी थी। इसीलिए इसका नाम गरुड़पुराण पड़ गया। इसमें १८,००० श्लोक हैं और अध्यायों का संख्या २६४ हैं। इसमें दो खण्ड हैं। पूर्व खण्ड में उपयोगिनी नाना विद्याओं के विस्तृत वर्णन हैं।

राजनीति का भी वर्णन बड़े विस्तार के साथ यहाँ *(अ०१०८से११५तक)* उपलब्ध होता है। आयुर्वेद के आवश्यक निदान तथा चिकित्सा का कथन अनेक अध्यायों *(अ०१५०से१८१)* में किया गया है। नाना प्रकार के रोगों को दूर करने के लिए औषध-व्यवस्था भी यहाँ *(अ०१७०-१९६तक)* की गयी है। इसके अतिरिक्त एक अध्याय *(१९७)* में पशु-चिकित्सा का वर्णन इसमें पाया गया है जो समधिक महत्त्वपूर्ण है। एक दूसरा अध्याय *(अ०१९९)* बुद्धि को निर्मल बनाने के लिए औषध की व्यवस्था करता है। अच्छा होता कि आयुर्वेद के प्रतिपादक ये 50 अध्याय अलग पुस्तकाकार में प्रकाशित किये जाते और अन्य आयुर्वेद के ग्रन्थों के साथ इसका भी अनुशीलन किया जाता है।

(१८) ब्रह्माण्डपुराण–

इस पुराण में समस्त ब्रह्माण्ड का वर्णन होने के कारण इसका नाम ब्रह्माण्ड पुराण पड़ा है। भुवन-कोष का वर्णन प्रायः हर एक पुराण में उपलब्ध होता है, परन्तु इस पुराण में पूरे विश्व का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है।

इस पुराण के प्रथम खण्ड में विश्व के भूगोल का विस्तृत तथा रोचक वर्णन है। जम्बू-द्वीप तथा उसके पर्वत, नदियों का वर्णन अनेक अध्यायों में *(अ०६६-७२तक)* है। भद्राश्व, केतुमाल, चन्द्र द्वीप, किंपुरुषवर्ष, कैलास, शाल्मलि द्वीप, कुश द्वीप, क्रोञ्च द्वीप, शाक द्वीप, पुष्कर द्वीप आदि समग्र वर्षों तथा द्वीपों का भिन्न-भिन्न अध्यायों में बड़ा ही रोचक तथा पूर्ण वर्णन है।

स्मरणीय बिंदु-

1. पुराणों की संख्या पुराणों की कुल संख्या 18 है, जिनका संकलन महर्षि वेदव्यास जी ने किया है ।
2. पञ्चलक्षण पुराणों के पाँच मुख्य लक्षण होते हैं सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रलय/पुनः सृष्टि), वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित।
3. योग का मूल योग भारतीय संस्कृति का मूल तत्व है, जिसे पूर्वजों ने जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि माना है।
4. योग के मुख्य ग्रंथ योगदर्शन, गीता और उपनिषद् पुराणों के साथ योगविद्या के प्रमुख स्रोत हैं ।
5. योगी का लक्षण जो योग को केंद्र में रखकर कार्य करता है, वह संसार के मायाजाल में कमल के पत्ते की तरह निर्लिप्त रहता है ।
6. रक्षा (अवतार) भगवान समय-समय पर अधर्म का नाश और विश्व की रक्षा के लिए विभिन्न रूपों (पशु, पक्षी, मनुष्य) में अवतार लेते हैं ।
7. स्वधर्म निष्ठा स्वधर्म का अर्थ है अपने आत्मधर्म और भगवान के शाश्वत विधान में पूर्ण निष्ठा रखना ।
8. अहिंसा का फल जो अन्याय और अनीति से किसी की हिंसा नहीं करते, वे ही शक्तिशालियों पर विजय प्राप्त करते हैं ।
9. सत्य का स्वरूप सत्य वह है जो तीनों कालों (भूत, वर्तमान, भविष्य) में अपरिवर्तनीय और शाश्वत रहे ।
10. पञ्चकोश आत्मा पाँच कोशों (अन्नमय, प्राणमय आदि) के पार स्थित है, जो ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप है

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

1. पुराणों के पञ्चलक्षण क्या हैं? अठारह पुराणों के नाम बताते हुए उनकी सांस्कृतिक महत्ता पर विस्तृत प्रकाश डालिए ।
2. योग भारतीय सभ्यता का मूलतत्व है। पुराणों और अन्य शास्त्रों के संदर्भ में योग के स्वरूप और एक योगी के आदर्श जीवन की विवेचना कीजिए ।
3. पुराणों में वर्णित अवतारवाद (रक्षा) की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए। भगवान के अवतार लेने के मुख्य उद्देश्यों की समीक्षा कीजिए ।
4. सनातन संस्कृति के सात मूल सिद्धांतों (एकत्व, सहअस्तित्व आदि) का विस्तार से वर्णन कीजिए ।
5. पुराणों में योग विद्या के अंतर्गत यम और नियम के महत्व को वर्तमान जीवन पद्धति के संदर्भ में समझाइए ।
6. पञ्चकोश की अवधारणा क्या है? तैत्तिरीय उपनिषद् और पौराणिक संदर्भों के आधार पर आत्मा के इन आवरणों की व्याख्या

कीजिए ।

7. भारतीय काल-गणना में मन्वन्तर और वंशानुचरित का क्या महत्व है? सविस्तार वर्णन कीजिए ।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

1. सर्ग और प्रतिसर्ग में क्या अंतर है?
2. योगी की तुलना कमल के पत्ते से क्यों की गई है?
3. सत्य के आध्यात्मिक और व्यावहारिक स्वरूप को स्पष्ट कीजिए ।
4. अहिंसा का पालन करने से साधक को क्या लाभ होते हैं?
5. स्वधर्म और परधर्म के विषय में गीता और पुराणों का क्या मत है?
6. पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति का क्रम क्या है?
7. अष्टांग योग के अंगों के नाम लिखिए ।
8. एकत्व के सिद्धांत का आध्यात्मिक अर्थ क्या है?
9. पुराणों के अनुसार वंश और वंशानुचरित से क्या तात्पर्य है?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1. पुराणों की कुल संख्या कितनी मानी गई है?

(।) 12

(2) 18

(3) 108

(4) 24

प्रश्न 2. इनमें से कौन सा पुराणों का लक्षण नहीं है?

(।) सर्ग

(2) प्रतिसर्ग

(3) अर्थशास्त्र

(4) मन्वन्तर

प्रश्न 3. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र ;;;;;;; रिक्त स्थान भरें।

(।) मनुष्याः

(2) देवताः

(3) ऋषयः

(4) पितरः

प्रश्न 4. अमात्र या चतुर्थ पाद किसे कहा गया है?

(।) जाग्रत

(2) स्वप्न

(3) सुषुप्ति

(4) तुरीय

प्रश्न 5. आत्मा के ऊपर स्थित प्रथम कोश कौन सा है?

(।) प्राणमय कोश

(2) मनोमय कोश

(3) अन्नमय कोश

(4) विज्ञानमय कोश

प्रश्न 6. मन्वन्तर का संबंध किससे है?

(।) संगीत से
(2) काल-गणना/समय विभाजन से
(3) युद्ध कला से
(4) कृषि से
प्रश्न 7. योग का मुख्य लक्ष्य क्या है?
(।) धन कमाना
(2) मायाजाल से निर्लिप्त होकर आत्म-साक्षात्कार करना
(3) केवल शारीरिक व्यायाम
(4) राजनीति में सफल होना
प्रश्न 8. प्रतिसर्ग का अर्थ क्या होता है?
(।) प्राथमिक सृष्टि
(2) प्रलय और पुनः सृष्टि
(3) राजाओं की वंशावली
(4) मोक्ष
प्रश्न 9. सत्यमेव जयते किस उपनिषद् का मूल मंत्र है?
(।) केन
(2) मुण्डक
(3) माण्डूक्य
(4) प्रश्न
प्रश्न 10. अयं निजः परो वेति गणना .....पूर्ण करें।
(।) विशालचेतसाम्
(2) लघुचेतसाम्
(3) उदारचरितानां
(4) महात्मनाम्।

खण्ड- 4 नैतिक मूल्यों एवं स्वस्थवृत्त परिचय
इकाई- 4.1 दैनिक दिनचर्या के विशेष मन्त्र

उद्देश्य-

1. विद्यार्थियों को दैनिक जीवन में मंत्रों के महत्व और उनके मनोवैज्ञानिक प्रभाव से परिचित कराना ।
2. पंचमहायज्ञों (ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ) के माध्यम से सामाजिक और आध्यात्मिक उत्तरदायित्वों का बोध कराना।
3. व्यक्तिगत शुद्धि और लोक-कल्याण हेतु शास्त्रों द्वारा निर्धारित आदर्श दिनचर्या को।

महर्षि पतंजलि को नमन-

महा अजय संसार रिपु जीत सकई सो वीर।

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि।।

प्रातःकालीन जागरण मन्त्र

ओ३म् प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातस्सोममुत रुद्रं हुवेम।।

ओ३म् प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह।।

ओ३म् भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भग प्रणो जनय गोभिरश्वैर्भग प्रनृभिर्नृवन्तः स्याम।।

ओ३म् उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम।।

ओ३म् भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह।।

यज्ञोपवीत धारण करने के मन्त्र

ओ३म् यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्रयं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः।।
ओ३म् यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि।।

भोजन करने से पूर्व का मन्त्र

ओ३म् अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्रप्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे।।

ओ३म् मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं, केवलाघो भवति केवलादी।।

ब्रह्माप्रणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।

पञ्चमहायज्ञ बोध
यज्ञ से उन्नति

(ऋषि : अथर्वा। देवता-इन्द्राग्नी)

उदेनमुत्तरं नयाग्ने घृतेनाहुत।
समेनं वर्चसा सृज प्रजया च बहुं कृधि॥५॥
इन्द्रेमं प्रतरं कृधि सजातानामसद् वशी।
रायस्पोषेण संसृज जीवातवे जरसे नय॥६॥
यस्य कृण्मो हविर्गृहे तमग्ने वर्धया त्वम्।
तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः॥७॥

(अथर्व काण्ड-६, सूक्त-५)

अर्थ–हे **(घृतेन आहुत अग्ने)** घी से आहुती पाये हुए अग्नि **(एनं उत्तरं उन्नय)** इस मनुष्य को अधिक ऊँचा उठा। **(एनं वर्चसा संसृज)** इसको तेज से संयुक्त कर। **(च प्रजया बहुं कृधि)** और प्रजा से समृद्ध कर।

हे इन्द्र! **(इमं प्रतरं कृधि)** इस मनुष्य को ऊँचा कर। यह **(सजातानां वशी असत्)** यह मनुष्य स्वजाति के पुरुषों के बीच सबको वश में करने वाला होवे। **(रायस्पोषेण संसृज)** इसको धन और पुष्टि उत्तम प्रकार प्राप्त हो और **(जीवातवे जरसे नय)** दीर्घजीवन के लिये बुढ़ापे तक सुख पूर्वक लेजा।

हे अग्ने! **(यस्य गृहे हविः कृष्मः)** जिसके घर में हम हवन करते हैं, **(त्वं तं वर्धय)** तू उसको बढ़ा; **(सोमः अयं च ब्रह्मणस्पतिः)** सोम और यह ब्रह्मणस्पति **(तस्मै अधि ब्रवत्)** उसको आशीर्वाद देवे।

हवन से आरोग्य

जिसके घर में हवन होता है उसकी वृद्धि होती है, और सब प्रकार की उन्नति होती है। इसके विषय में देखिये–

1. **एनं उत्तरं**= जिस घर में हवन होता है वह (उत्+तरः) अधिक उच्च बनता है, पूर्व की अपेक्षा अधिक उन्नत होता है।
2. **वर्चसा सं**= जिसके घर में हवन होता है वह तेजस्वी होता है।
3. **प्रजया बहुः**= जिसके घर में हवन होता है उसको उत्तम संताने होती हैं।
4. **इमं प्रतरं**= जिसके घर में हवन होता है, वह अधिक ऊंचा बनता है। हर एक प्रकार से श्रेष्ठ होता जाता है।
5. **सजातानां वशी**= स्वजातियों को अपने आधीन करने वाला होता है, जो प्रतिदिन हवन करता है।
6. **रायस्पोषेण सं**= उसका धन बढ़ता है और पुष्टी भी बढ़ती है। वह हृष्ट-पुष्ट होता है।
7. **जीवातवे जरसे नय**= उसको दीर्घ आयु प्राप्त होती है।

यज्ञ शब्द यज् धातु से नङ् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है।

यज देवपूजासंगतिककरणदानुषु *(श्वादिगणीय, उभयपदी, सकर्मक)*

यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् *(अष्टाध्यायी ३.३.९०)*

यज्+नङ्=यज्ञ, जिसका शब्दिक अर्थ है–

(1) देवपूजा= देवताओं का पूजन।

(2) संगतिकरण= मानव व प्रकृति के मध्य सामंजस्य स्थापित करना।

(3) दान= दान (त्याग) व समप्रण।

इस प्रकार **यजदेवपूजा संगतिकरण दानेषु** का व्यापक अर्थ **यज्ञ** के समग्र स्वरूप को व्यक्त करता है। यह केवल देवताओं के पूजनरूप कर्मकाण्डों तथा भौतिक वस्तुओं के दान तक सीमित नहीं है अपितु मानव व प्रकृति के ब्रह्माण्डीय तत्वों के मध्य सामंजस्य व संतुलन स्थापित करने का माध्यम भी है। यज्ञ का यह दर्शन व्यक्तिगत जीवन से लेकर सामाजिक पर्यावरणीय व ब्रह्माण्डीय सभी स्तरों पर महत्वपूर्ण है।

वैदिक कोश निघण्टु में यज्ञ के ७१ पर्यायों का उल्लेख मिलता है। (७) यज्ञः (८) वेनः (९) अध्वरः (०) मेधः (१) विदथः (२) नार्यः (३) सवनम् (४) होत्रा (५) इष्टिः (७६) देवताता (७७) मखः (७८) विष्णुः (७९) इन्दुः (७०) प्रजापतिः (७१) धर्मः

शास्त्रों में अनेक प्रकार के यज्ञों का उल्लेख मिलता है–

(७) सात हविर्यज्ञ–अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरुढपशुबंध, सौत्रामणि और पितृयज्ञ।

(८) सात पाकयज्ञ–औपसन, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासिक, श्राद्ध, श्रवणा और शूलगव।

(९) सात सोमयज्ञ–अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्यमि।

उद्देश्य के आधार पर तीन प्रकार के यज्ञों का उल्लेख शास्त्रों से प्राप्त होता है–

(७) नित्य यज्ञ, (८) नैमित्तिक यज्ञ , (९) काम्य यज्ञ

(७) नित्य यज्ञ–ये वे यज्ञ हैं, जिनका प्रतिदिन अनुष्ठान अनिवार्य माना गया है। जैसे–इसके अन्तर्गत **पञ्चमहायज्ञ** का विधान किया गया है–७. ब्रह्मयज्ञ ८. देवयज्ञ ९. भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेवयज्ञ) ०. पितृयज्ञ १. नृयज्ञ (अतिथियज्ञ)।

(८) नैमित्तिक यज्ञ–जो यज्ञ विशेष अवसरों पर अथवा किसी निमित्त (कारण) विशेष पर किये जाते हैं, वे नैमित्तिक यज्ञ कहलाते हैं।

जैसे–सोलह संस्कार पर किये जाने वाले यज्ञ, **प्राकृतिक संयोग या उत्पात** के कारण किए जाने वाले यज्ञ।

(९) काम्य यज्ञ–जो यज्ञ किसी विशेष कामना या इच्छापूर्ति के लिये किये जाते हैं, वे काम्य यज्ञ कहलाते हैं।

जैसे–पुत्रेष्टि, वर्षेष्टि, रोगनिवारण यज्ञ, अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञ।

इस प्रकार **नित्य यज्ञ** के रूप में **पञ्चमहायज्ञ** का प्रतिपादन करते हुए **महर्षि मनु** कहते हैं–

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥

अर्थात् ऋषियज्ञ (ब्रह्मयज्ञ/सन्ध्योपासना), देवयज्ञ (अग्निहोत्र), भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेवयज्ञ), नृयज्ञ (अतिथियज्ञ) तथा पितृयज्ञ (माता-पिता व गुरु की सेवा), इनका त्याग कभी नहीं करना चाहिए। क्योंकि शास्त्रों के अनुसार साधारणतया मनुष्य जन्म लेते ही तीन प्रकार के ऋणों (देव, ऋषि व पितृ) से युक्त हो जाता है–

जायमानो वै ब्राह्मणास्त्रिभिर्ऋणवान् जायते।
ब्रह्मचर्येण ऋषयो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य ऋणानि॥

(तैत्ति. संहि. प्रश्न ३, अनु. ९०) (वात्स्यायन भाष्य ४.५९)

तीनों ऋणों से अनृण होने के लिये शास्त्रों ने नित्यकर्म का विधान किया है, जिसे करके मनुष्य देव, ऋषि व पितृसम्बन्धी तीनों ऋणों से मुक्त हो सकता है।

सनातन धर्म में गृहस्थमात्र के लिये पञ्चमहायज्ञ का विधान किया गया है–

सर्वगृहस्थैः पञ्चमहायज्ञा अहरहः कर्त्तव्या *(यज्ञ मीमांसा)*

शास्त्रों में कहा गया है कि गृहस्थ के पांच स्थल ऐसे होते हैं जहाँ न चाहने पर भी प्रतिदिन जीवहिंसा की संभावना रहती है–

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥ *(मनु० ६.५८)*

अर्थात् चुल्ली (चूल्हे में अग्नि जलाने से), पेषणि (चक्की में पीसने से), उपस्करः (झाड़ू से सफाई करने से), कण्डनी (ऊरवल में कूटने से), तथा उदकुम्भः (जल रखने के स्थान पर घटादि जलपात्र रखने से) आदि क्रियाओं से सूक्ष्म जीव जन्तुओं की हिंसा हो जाती है। ऐसी हिंसा को जिसे कि जीवन में टाला नहीं जा सकता, शास्त्रों में उनहें सूना कहा गया है। इनकी संख्या मुख्य रूप से पांच होने से ये पंचसूना कहलाते हैं। इन सभी पापों का शमन पंचमहायज्ञ से होता है।

तासां कर्मेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥ *(मनु० ६.५९)*

कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी।

पञ्चसूना गृहस्थस्य पञ्चयज्ञात्प्रणश्यति॥

किन्तु ब्रह्मचारी प्रथम तीन सूनाओं से अग्नि-होम, गुरु-सेवा एवं वेदाध्ययन द्वारा मुक्त होते हैं तथा यदि (संन्यासी) प्रथम दो सूनाओं से पवित्र ज्ञान व मनोयोग द्वारा मुक्त होते हैं परन्तु गृहस्थ व वानप्रस्थी पांच सूनाओं से पञ्चमहायज्ञ के अनुष्ठान द्वारा मुक्त होते हैं।

'महर्षि मनु ने स्वग्रन्थ मनुस्मृति में इस प्रकार पञ्चमहायज्ञ का वर्णन किया है–

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तप्रणम्।

होमो देवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ *(मनु. ३६०)*

इस प्रकार पञ्चमहायज्ञ का वर्णन प्रायः सभी ऋषि मुनियों ने अपने-अपने ग्रन्थों में किया है–

(1) ब्रह्मयज्ञ

संध्योपासना तथा स्वाध्याय (मोक्षपरक ग्रन्थों का अध्ययन अध्यापन व ओंकारादि जप) अर्थात् ऋषियों की भांति अपना सर्वस्व (धन-सम्पत्ति, शरीर-प्राण, मन-बुद्धि हृदय) परमात्मा को समप्रित कर उनकी आज्ञा में चलना।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रतिदिन किया जाने वाला स्वाध्याय ही ब्रह्म यज्ञ है।

यत्स्वाध्यायमधीयीतैकामत्यृचं यजुः सामं वा तद्ब्रह्मयज्ञः संतिष्ठते। *(सायं भा.)*

महर्षि मनु ने भी कहा–**अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः।** *(मनु. ३६०)*

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ब्रह्मयज्ञ का वर्णन करते हुए लिखा है–

ब्रह्मयज्ञस्यायं प्रकार : साङ्गानां वेदादिशास्त्राणां सम्यगध्ययनमध्यापनं सन्ध्योपासनं च।

समस्त अङ्गों के सहित वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना तथा सन्ध्योपासना अर्थात् प्रातःकाल व सायंकाल ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना व उपासना करना।

इस ब्रह्मयज्ञ अर्थात् ऋषियज्ञ के अनुष्ठान से ऋषिऋण से मुक्ति मिलती है। इसे अनुष्ठान से बुद्धि में शुद्धि तथा विचारों में पवित्रता आती है। पवित्र विचारों से ही विद्या व्यवहारिक होती है। उसका व्यक्ति एवं समाज के कल्याण के लिये उपयोग हो सकता है।

ब्रह्मचर्य आश्रम में बालक ज्ञानार्जन मात्र करता है, वह उसका आदान या संग्रह काल होता है। गृहस्थ आश्रम में गृहस्थ अपने अर्जित ज्ञान को प्रयोगात्मक रूप से समझ सके तथा ज्ञान धारा के इस अविश्रान्त प्रवाह को बनाए रखे इसीलिए ही ब्रह्मयज्ञ का विधान किया गया है तथा इसे अनिवार्य नित्यकर्म माना गया है।

(2) देवयज्ञ

अग्निहोत्र अर्थात् वैदिक मन्त्रों के उच्चारणपूर्वक अग्नि में आरोग्यमय, पुष्टि व मंगलकारी द्रव्यों की श्रद्धा व भक्ति पूर्वक आहुति देकर, समस्त पृथ्वी, जल, वायु आदि देवों को प्रसन्न करके स्वयं तथा सम्पूर्ण जगत को स्वस्थ व सुन्दर बनाना। तैत्तिरीय आरण्यक में देवयज्ञ का लक्षण इस प्रकार किया गया है–

यदग्नौ जुहोत्यपि समिधं तद्देवयज्ञः संतिष्ठते। *(तैत्तिरीय आर.)*

अग्नि को देवताओं का मुख कहा गया है–

अग्निर्वै देवानां मुखम्। इस प्रकार अग्नि में आहुति अप्रित करने से सभी देवताओं तक आहुति पहुंच जाती है।

ऋग्वेद में देवयज्ञ के अनुष्ठान का प्रमाण दिया गया है–

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयथातिथिम्।

आस्मिन् दृव्या जुहोतन।

हे मनुष्यों! तुम लोग वायु, औषधी व वर्षाजल की शुद्धि से सबका उपकार करने के लिए घृतादि शुद्ध वस्तुओं और समिधा

अर्थात् आम्र आदि काष्ठों से अतिथिरूप अग्नि को नित्य प्रकाशमान करो फिर उस उस अग्नि में होम करने योग्य पुष्ट, मधुर, सुगन्धित अर्थात् दुग्ध, घृत, शर्करा, गुड़, केसर, कस्तूरी आदि और रोगनाशक शुद्ध द्रव्य है उनका अच्छी प्रकार नित्य होम (अग्निहोत्र) करके सबका उपकार करो।

अनेक ग्रन्थों में ब्रह्मयज्ञ का उल्लेख प्राप्त होता है–

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतप्रणम्।

देवताभ्यर्चनं समिधाधानं एव च॥ *(मनु स्मृ. २.१७६)*

इस प्रकार देवपूजा पूर्वक देवयज्ञ आदि का विधान किया जाता है। इसके अतिरिक्त **अग्निपुराण** में देवयज्ञ का वर्णन करते हैं–

अग्नौ प्रारत्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नंललः प्रजाः॥ *(अग्नि.पु. २१६-११)*

अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य को प्राप्त होती है। सूर्य से वृष्टि होती है। वृष्टि से अन्न व अन्न से प्रजा होती है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी उल्लेख किया गया है–

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।

यज्ञाद्भवन्ति पर्जन्यो यज्ञः कर्म समुद्भवः॥ *(भ.गी.३.१८)*

अर्थात् अन्न से प्राणि उत्पन्न होते हैं, अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है, वर्षा यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्म से होता है। इस प्रकार देवयज्ञरूपी नित्यकर्म में समस्त प्राणियों का व्यापक हित निहित है। कहा भी है–**यज्ञौ वै श्रेष्ठतमं कर्म।**

(3) भूतयज्ञ

भूतयज्ञ एक ऐसा व्रत है जिसमें सभी प्रकार के जीवों का पोषण हो जाता है, सभी प्राणियों की सेवा होती है। इसे **बलिवैश्वदेवयज्ञ** भी कहते हैं। पशु, पक्षी, कीट-पतंग आदि जितने भी मूल (प्राणी) हैं, उन सभी को अन्न जल आदि भोज्य देना इस यज्ञ का उद्देश्य है। भूतयज्ञ का यह उद्देश्य उपनिषद् के **सर्वे भवन्तु सुखिनः** वाक्य में सन्निहित है।

भूतयज्ञस्य लक्षणमाहयद्भूतेभ्यो बलिं

हरति तद्भूतयज्ञः संतिष्ठते इति।

वैश्वदेवानुष्ठानादूर्ध्वं बहिर्देशे वायसादिभ्यो

भूतेभ्यो यद्बलिप्रदानं सोऽयं भूतयज्ञः।

गो, अश्व, श्वानादि पशु पक्षी तथा अन्य प्राणियों को लृत्प करने हेतु भोज्य पदार्थों को देना भूतयज्ञ है।

प्रत्येक प्राणी अपने सुख के लिय अनेक भूतों (प्राणियों) को प्रतिदिन क्लेश देता है, क्योंकि ऐसा हुए बिना क्षणमात्र भी शरीर यात्रा नहीं चल सकती है। अतः जीवों से उऋण होने के लिये भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेवयज्ञ) करना आवश्यक है।

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी जीवों की तृप्ति की प्रक्रिया बताई गई है–

देवेभ्यश्च हुताशनाच्छेषाद् भूतबलि हरेत्।

अन्नं भूमौश्वचण्डालवायसेभ्यश्च निःक्षिपेत्॥

देवयज्ञ से बचे हुए अन्न को पशु-पक्षियों के लिए दे देना चाहिए।

(4) पितृयज्ञ

अपने माता-पिता, गुरु-आचार्यगण तथा अपने से ज्येष्ठजनों की सेवा करना व आज्ञा का पालन करना।

तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया–**मातृदेवो भव।**

पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। *(तैत्तिरीयोपनिषद)*

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में महर्षि दयानन्द सरस्वती वर्णन करते हैं–

अथः तृतीयः पितृयज्ञः। तस्य द्वौ भेदौ स्तः

एकस्तप्रणाख्यो द्वितीयः श्राद्धाख्यश्च॥ *(ऋग्वे.भा.भू.)*

पितृयज्ञ के दो भेद हैं–**(1) तप्रण (2) श्राद्ध**

(1) तप्रण–येन कर्मणा विदुषो देवान्, ऋषीन्, पितृंश्च तप्रयन्ति सुखयन्ति तत्तप्रणम्। *(ऋग्वे. भा. भू.)*

जिस कर्म को करके विद्वान्रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं वह तप्रण कहलाता है।

(2) श्राद्ध–यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं वेदितव्यम्। *(ऋग्वे.भा.भू.)*

जो विद्वान्रूपदेव, ऋषि और पितरों की श्रद्धापूर्वक सेवा है, उसकी को श्राद्धा समझना चाहिए। इसके विषय में यह ध्यातव्य है–

तत्र विद्वत्सु, विद्यमानेष्वेतत्कर्म संघट्यते, नैव, मृतकेषु।

कुतः? तेषां प्राप्त्यभावे नाशक्यत्वात्॥

यह तप्रण आदि कर्म जो विद्यमान अर्थात् जीवित जो प्रत्यक्ष है उन्हीं पर घटता है मृतकों में नहीं क्योंकि मृतकों का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है अतः उनकी सेवा नहीं हो सकती तथा उन्हें दिया गया पदार्थ उन्हें प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिए विद्यमानों के लिए ही श्रद्धापूर्वक सेवा का नाम तप्रण व श्राद्ध है। यही पितृयज्ञ है।

(5) अतिथि यज्ञ

घर में आए भिक्षुक, साधु-संत, विद्वानों का स्वागत सत्कार करना, भोजनादि द्वारा तृप्त करना व उनसे ज्ञानोपार्जन करना अतिथियज्ञ, नृयज्ञ या मनुष्ययज्ञ कहलाता है।

मनुष्ययज्ञ (नृयज्ञ) का लक्षण करते हुए **तैत्तिरीय आरण्यक** में लिखा है–

मनुष्ययज्ञस्य लक्षणमाह यद्ब्राह्मणेभ्योऽन्नं

ददाति तन्मनुष्ययज्ञः संतिष्ठते। *(तैत्तिरीय आर.)*

मनुष्ययज्ञ अतिथिसेवा रूप है। जिसके आने की कोई तिथि निश्चित न हो वह अतिथि कहा जाता है। यदि कोई अतिथि किसी के घर से असंतुष्ट होकर जाता है तो उसके संचित पुण्य नष्ट हो जाते हैं।

कठोपनिषद् में भी कहा गया–

आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां च इष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।

एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥

(कठोपनिषद् १.११)

जिसके घर में ब्राह्मण या अतिथि बिना भोजन किये रहता है, उसे पुरुष की आशा, प्रतीक्षा, संगत एवं प्रिय वाणी से प्राप्त होने वाले समस्त इष्टापूर्तफल, पशु आदि नष्ट हो जाते हैं।

महर्षि मनु ने भी नृयज्ञ का लक्षण किया–

नृयज्ञोऽतिथपूजनम्। *(मनु.स्म. ३.६०)*

तैत्तिरीयोपनिषद् में अतिथि को देव कहा है–

अतिथिदेवो भव। न कंचन वचतौ प्रत्याग्चक्षीत। *(तैत्ति. शिक्षा.)*

श्रीमद्भगवद्गीता में प्रकृति के आधार पर यज्ञ को तीन भागों में बांटा गया है–(७) सात्विक यज्ञ (८) राजसिक यज्ञ (९) तामसिक यज्ञ

(1) सात्विक यज्ञ–

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।

यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः॥ *(गी.१७.११)*

जो शास्त्रविधि से नियत किया हुआ तथा यज्ञ करना ही कर्त्तव्य है इस विचार से फल की इच्छा न रखते हुए किया जाता है वह सात्त्विक यज्ञ है।

(2) राजसिक यज्ञ–

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।

इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ *(गी.१७.१२)*

जो यज्ञ केवल दम्भाचरण के लिये अथवा फल को उद्देश्य रखकर किया जाता है। उसे राजसिक यज्ञ कहते हैं।

(3) तामसिक यज्ञ–

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणाम्।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ *(गी.१७.१३)*

जो यज्ञ, विधिरहित, मन्त्ररहित, दक्षिणारहित व श्रद्धारहित होता है, वह तामसिक यज्ञ कहलाता है।

स्मरणीय बिंदु-

1. पंचमहायज्ञ गृहस्थ जीवन के पाँच अनिवार्य कर्तव्य हैं ऋषि/ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ ।
2. देवयज्ञ (अग्निहोत्र) यह वायुमंडल की शुद्धि और परोपकार हेतु किया गया हवन है। जो प्रतिदिन हवन करता है, उसकी मेधा, श्रद्धा और धन में वृद्धि होती है ।
3. स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ के अंतर्गत वेदों और ऋषि-ग्रंथों का पठन-पाठन आता है, जिससे ज्ञान की वृद्धि होती है ।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

1. सनातन संस्कृति में वर्णित पंचमहायज्ञों का विस्तृत वर्णन करते हुए उनकी सामाजिक और आध्यात्मिक महत्ता स्पष्ट कीजिए ।
2. देवयज्ञ (हवन) के वैज्ञानिक और आध्यात्मिक लाभों का सविस्तार विवेचन कीजिए। हवन करने वाले को किन सात प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं? ।
3. एक आदर्श विद्यार्थी या गृहस्थ की दिनचर्या कैसी होनी चाहिए? मंत्रों और स्वाध्याय के संदर्भ में इसकी व्याख्या कीजिए ।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

1. पितृयज्ञ और अतिथियज्ञ के स्वरूप को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए ।
2. बलिवैश्वदेवयज्ञ का मुख्य उद्देश्य क्या है? ।
3. शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर (अथर्ववेद ३.२४.५) मंत्र के माध्यम से जीवन में धन और दान का क्या संदेश दिया गया है? ।
4. ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याय) को जीवन का केंद्र क्यों माना गया है? ।
5. हवन में प्रयोग होने वाले द्रव्यों और मंत्रों का पर्यावरण पर क्या प्रभाव पड़ता है? ।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1. गृहस्थों के लिए शास्त्रानुसार अनिवार्य महायज्ञों की संख्या कितनी है?

(।) तीन

(2) पाँच

(3) सात

(4) ग्यारह

प्रश्न 2. इनमें से कौन सा यज्ञ पर्यावरण की शुद्धि के लिए मुख्य रूप से किया जाता है?

(।) ब्रह्मयज्ञ

(2) देवयज्ञ (अग्निहोत्र)

(3) पितृयज्ञ

(4) अतिथियज्ञ

प्रश्न 3. सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात का उपदेश किस हेतु दिया गया है?

(।) केवल राजनीति के लिए

(2) वाणी की पवित्रता और नैतिकता के लिए

(3) धन कमाने के लिए

(4) युद्ध जीतने के लिए

प्रश्न 4. अतिथियज्ञ का अर्थ क्या है?

(1) तीर्थ यात्रा करना

(2) बिना सूचना आए विद्वान् या असहाय अतिथि का सत्कार करना

(3) केवल परिवार के साथ भोजन करना

(4) मंदिर में दान देना

प्रश्न 5. अथर्ववेद के अनुसार, मनुष्य को कितने हाथों से कमाना और कितने हाथों से दान करना चाहिए?

(1) दो हाथों से कमाना, एक से देना

(2) सौ हाथों से कमाना, हजार हाथों से बाँटना (दान करना)

(3) केवल अपने लिए कमाना

(4) हाथ पर हाथ रखकर बैठना।

इकाई- 4.2 पञ्च महाव्रत परिचय

उद्देश्य-

1. विद्यार्थियों को व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नति के आधारभूत सिद्धांतों पंचमहाव्रत (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) से अवगत कराना
2. वर्णाश्रम व्यवस्था के वैज्ञानिक और सामाजिक स्वरूप को समझाते हुए इसके माध्यम से समाज के कुशल संचालन की विधि बताना
3. व्यक्ति के जीवन को चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) में विभाजित कर सर्वांगीण विकास का मार्ग प्रशस्त करना।

महाव्रत का अर्थ "महान व्रत" है, जो योग साधना में नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक है। यह अष्टांग योग का पहला अंग "यम" का विस्तार है। महाव्रत वह आचार-संहिता है, जो सार्वकालिक और सार्वभौमिक रूप से लागू होती है। यमों को महाव्रत इसलिए कहा जाता है क्योंकि वे सभी स्थानों, समयों, और परिस्थितियों में अनिवार्य और सार्वभौमिक नियम हैं। उनका पालन न केवल योग साधना के लिए, बल्कि समाज में नैतिकता, शांति, और स्थिरता बनाए रखने के लिए भी महत्वपूर्ण है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह, सभी मानवता के लिए अनिवार्य सिद्धांत हैं। ये केवल व्यक्तिगत साधना तक सीमित नहीं हैं; ये समाज में शांति और सौहार्द्र स्थापित करने का माध्यम हैं।

पञ्च महाव्रतों की व्यापकता

पाँच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) धारणीय एवं पालनीय धर्म हैं जो ऋत् की कोख से उत्पन्न होते हैं। ऋत् वैदिक परंपरा में सृष्टि के सार्वभौमिक, शाश्वत, और अपरिवर्तनीय नियम को कहा गया है। यह जगत की व्यवस्था, शाश्वत, प्राकृत नियम, मर्यादा, और ब्रह्मांडीय संतुलन का प्रतीक है

ऋत् ने पृथ्वी, सूर्य, और आकाश को धारण किया है और ब्रह्मांडीय व्यवस्था को सुव्यवस्थित रखा है। सृष्टि के प्रत्येक घटक, जैसे चन्द्र, सूर्य का उदय और अस्त होना, ऋत् का पालन करते हैं। ऋत का पालन ही धर्म है। यही महान् व्रत है।

ऋत् का पालन और महत्व-

व्यक्तिगत स्तर पर : ब्रह्माण्डीय नियम और प्रकृति की पारिस्थितिकी (ecosystem) के साथ अपने जीवन, (समय, शक्ति) का सामंजस्य। (perfect alignment)

जीवनशैली को ब्रह्माण्डीय नियमों (जैसे दिन-रात का चक्र, मौसम के परिवर्तन) के अनुसार संचालित करना चाहिए। उदाहरण: सूर्य के उदय के साथ जागना और सूर्यास्त के बाद विश्राम करना। यह शरीर और प्रकृति के बीच सामंजस्य बनाए रखता है। समय का सही उपयोग करना और प्रमाद एवं आलस्य से बचना, नियमित दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या का पालन करना ऋत का पालन है।

सामाजिक स्तर पर : वसुधैव कुटुम्बकम्, सिया राममय सब जग जानी।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ (ईश.६)
ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम॥ (ईश.१)

यह सामाजिक शांति, सह-अस्तित्व, विश्व बधुत्व एवं सामूहिक कर्तव्यों को बढ़ावा देता है।

पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता और प्राकृतिक संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग, जल, वायु, और भूमि का संरक्षण करना, वनों की रक्षा और जैव विविधता को बनाए रखना।

ब्रह्माण्डीय स्तर पर : ब्रह्माण्डीय स्तर पर ऋत् का पालन सृष्टि के प्रत्येक घटक द्वारा उन शाश्वत नियमों और सिद्धांतों का पालन करना है, प्रकृति और पर्यावरण का संतुलन एवं सृष्टि के अस्तित्व की सुरक्षा, स्थायित्व और समृद्धि हेतु आवश्यक हैं-

- सूर्य, चंद्रमा, और ग्रहों का नियमित गति करना।
- दिन-रात और ऋतुओं का चक्र।
- प्रकृति के विभिन्न तत्वों (जैसे जल, वायु, अग्नि) का अपना कार्य करना।
- वनस्पतियों का उगना और फल-फूल देना।
- ये सभी प्रक्रियाएँ ऋत् के नियमों के अधीन हैं, जो ब्रह्माण्डीय संतुलन और स्थायित्व सुनिश्चित करती हैं।

प्रकृति की पारिस्थितिकी (Ecosystem) के साथ सामंजस्य-

- पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता और प्राकृतिक संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग।
- जल, वायु, और भूमि का संरक्षण करना।
- वनों की रक्षा और जैव विविधता को बनाए रखना।

नवीन ऊर्जा स्रोतों का उपयोग - जैसे सौर ऊर्जा और पवन ऊर्जा अपनाना।

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति। *(ऋग्वेद- ४.२३.८)*

अर्थात् सृष्टिगत नियमों का यदि कोई उल्लंघन करता है, तो वह पाप करता है। ऋत् का चिन्तन ही इन पापों को मार डालने वाला होता है। उदाहरण : ऋत् का उल्लंघन, जैसे प्रकृति को दासी समझना। जब ऋत् का उल्लंघन होता है, तो असंतुलन और विनाश होता है-

- **पर्यावरणीय असंतुलन :** प्रदूषण, वनों की कटाई, और प्राकृतिक संसाधनों का अति-दोहन।
- प्राकृतिक आपदाएँ : बाढ़, सूखा, और भूकंप जैसी घटनाएँ।
- **सामाजिक अस्थिरता :** मनुष्य द्वारा लोभ और अधर्म के कारण समाज में अशांति।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह वे साधन हैं, जिनके माध्यम से मनुष्य ऋत् का पालन कर सकता है। अतः ये महाव्रत कहलाते हैं -

१. **अहिंसा** (Non : Violence) :

अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानाम् अनभिद्रोहः। (व्यासभाष्य-२.३०)

सर्वथा : अहिंसा का पालन हर प्रकार से होना चाहिए। यह शारीरिक, वाचिक और मानसिक तीनों स्तरों पर लागू होता है।

- **शारीरिक :** किसी को चोट न पहुँचाना।
- **वाचिक :** कटु, अपमानजनक या हानिकारक शब्दों से बचना।
- **मानसिक :** द्वेष, ईर्ष्या, या हिंसा के विचारों से बचना।

सर्वदा- अहिंसा का अभ्यास हर समय किया जाना चाहिए। यह किसी परिस्थिति, स्थान या समय पर निर्भर नहीं होना चाहिए।

सर्वभूतानाम् : अहिंसा का पालन सभी जीवों के प्रति करना चाहिए। इसमें मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, और यहां तक कि प्रकृति भी शामिल है।

अनभिद्रोह : इसका आशय केवल शारीरिक चोट न पहुँचाना ही नहीं, बल्कि मन, वाणी, और कर्म से किसी के प्रति द्वेष या प्रतिरोध का भाव भी न रखना भी है।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ॥ (यो.द. २.३५)

जब साधक अहिंसा में पूर्णतः स्थित हो जाता है, तो उसकी उपस्थिति मात्र से ही दूसरों के मन से वैर और द्वेष की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है।

व्यास भाष्य कहता है कि अहिंसा में प्रतिष्ठित व्यक्ति की आभा इतनी शांत और सकारात्मक होती है कि उसके पास हिंसक प्राणी भी मित्रवत हो जाते हैं। यह साधक की आंतरिक शुद्धता और आध्यात्मिक उन्नति का प्रभाव है।

ऋग्वेद में तथा सामवेद में कहा है :

न दुष्टुती मर्त्यो विन्दते वसु न स्रेधन्तं रयिर्नशत्। *(ऋग्वेद ७.३२.२१)*

हिंसक प्रवृत्तिवाला व्यक्ति मोक्षरूपी अनुपम सम्पदा को प्राप्त कर नहीं सकता। हिंसा का निषेध करते हुए साधकों को चेतावनी दी है -

मा स्त्रेधन्तं सोमिनः। (ऋग्वेद ७.३२.९)

अर्थात् हे सोमस्वरूप परमेश्वर को चाहनेवाले साधको! तुम किसी प्रकार की हिंसा मत करो। अहिंसक की निर्भयवृत्ति का वर्णन करते हुए वेद ने कहा-

तरणिरिज्जयति क्षेति पुष्यति न देवासः कवत्नवे॥ *(ऋग्वेद ७.३२.९)*

"जो अन्याय एवं अनीति से स्वार्थवश किसी की हिंसा नहीं करते, वही धर्मात्मा, शक्तिशाली होकर निर्भयता से विजय पाते हैं।" अहिंसा धर्म का पालन करने से सात्विक प्रवृत्ति बढ़ती है। सभी प्रकार हिंसा से रहित व्यक्ति ही मोक्षानन्द की प्राप्ति करने में समर्थ है। इसलिए योगाभिलाषी उपासक को अहिंसा का पालन करना चाहिए तथा अन्य राजपुरुषादि को उनकी रक्षा करते हुए अहिंसावृत्ति का आचरण करना चाहिए।

"मा हिंसीः पुरुषं जगत्।" (यजुर्वेद. १६.३)

२. **सत्य** (Truthfulness) :

सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे। यथा दृष्टं यथानुमितं तथा वाङ्मनश्चेति। (व्यासभाष्य-२.३०)

सत्य का अर्थ है वाणी और मन का यथार्थ पर आधारित होना। जो देखा गया (दृष्टं) और जो अनुमानित किया गया (अनुमितं), वही वाणी और मन में प्रकट होना चाहिए। सत्य का पालन केवल बाहरी नहीं, बल्कि भीतरी (मन और विचार) स्तर पर भी होना चाहिए।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम॥ (यो.द. २.३६)

जब साधक सत्य में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो जाता है, तो उसकी वाणी में ऐसी शक्ति (अमोघता) आ जाती है कि उसके द्व ारा कहे गए शब्द फलित होने लगते हैं।

सत्य का व्यापक स्वरूप- सत्य अर्थात् बोध, अपने अस्तित्व का समग्रता से वास्तविक बोध (Actual understanding)

उदाहरण : सूर्य का उदय और अस्त सत्य नहीं है। सत्य यह है कि वह सदैव चमकता है, भले ही वह पृथ्वी से अदृश्य हो।

सत्य जो स्थायी, अपरिवर्तनीय और शाश्वत है। यह तीनों कालों (भूत, वर्तमान और भविष्य) में अडिग रहता है।

अहम् ब्रह्मास्मि। तत्त्वमसि। अयमात्मा ब्रह्मा। शिवोहम।

"सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म" (तैत्तिरीय उपनिषद २.१)

सत्य स्वयं के अस्तित्व और ब्रह्म के अनंत स्वरूप को समझने का माध्यम है। **यथार्थ ज्ञान, विवेक ज्ञान ही सत्य है। इसे आत्मा की गहन अनुभूति, सम्यक ज्ञान, धर्माचरण और अपने अस्तित्व पर पूर्ण श्रद्धा के साथ ही समझा और अनुभव किया जा सकता है।**

सारा संसार सत्य पर आश्रित है।

सत्य शाश्वत तत्व है यह व्यवहारिक जीवन एवं ब्रह्माण्डीय संतुलन और आध्यात्मिक प्रगति का आधार है जो आत्मा को ब्रह्माण्डीय उर्जा से जोड़ने का मार्ग प्रशस्त करता है। ऋत और सत्य मिलकर ब्रह्माण्डीय संतुलन और मानवीय नैतिकता का आधार बनाते हैं। ऋत स्थायित्व का प्रतीक है, जबकि सत्य मानव जीवन में संतुलन, नैतिकता, आध्यात्मिकता और प्रगतिशीलता का द्योतक है।

सत्य प्राकृतिक नियमों (ऋत) और मानव जीवन के नैतिक आचरण के बीच सामंजस्य स्थापित करता है।

वेदों में सत्य :

सत्य को वेद में व्यापक रूप में प्रकट करते हुए उसे ईश्वरीय सत्ता का अतिभाजक तत्त्व माना है सृष्टि सत्य के नियमों पर निरन्तर गतिशील है। यजुर्वेद में असत्य से दूर हटकर सत्य को प्राप्त होने का वर्णन है। व्रतों के स्वामी परमात्मा से प्रार्थना करते हुए उपासक कहता है-

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ *(यजुर्वेद १.५)*

अर्थात् हे व्रतों के पालक परमात्मन! मैं सर्वांगीण उन्नति के लिए सत्य के आचरण, सम्भाषण आदि व्रतों का पालन करूँगा। तथा असत्याचरण, अविद्या अन्धकार, असत्यभाषण आदि अकर्मों का परित्याग कर सत्यव्रतों का पालन करता हूँ।

यो मा पा केन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः। *(ऋग्वेद ७.१०४.८)*

अर्थात् मैं पवित्र मन से सत्याचरण करता हूँ, पुनरपि कोई अनृत (असत्य) वचनों से मन को दूषित करना चाहता है, तो उसका असत्य भाषण अञ्जलि में लिये जल के समान क्षणभङ्गुर होता है।

मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि वे अपने सौभाग्य उदय के लिये सत्य बोले।

अववोचाम महते सौभगाय सत्यम्॥ *(ऋग्वेद ८.५९.५)*

हमारी जिह्वा सदैव मधुर एवं सत्य बातों को ही प्रकट करनेवाली हो। जब वाणी से सत्य एवं मधुर कहा जाता है, तब सुनने वालों पर भी बड़ा प्रभाव पड़ता है।

वैदिक वाङ्मय सत्याचरण को ही सबसे अधिक महत्त्व इसीलिए देता है। सत्य के लक्षण को उद्धृत करते हुए ऋग्वेद में कहा है-

जैसा ज्ञान आत्मा में वर्तमान है, वैसा मन में तथा जैसा मन में है, वैसा वाणी से कहना सत्य यथार्थ है।

यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते सं छायया दधिरे सिध्रयाप्स्वा॥ *(ऋग्वेद ५.४४.६)*

३. **अस्तेय (Non :stealing) :**

अशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं। (व्यासभाष्य-२.३०)

शास्त्र (धर्म या विधि) के विपरीत किसी अन्य के धन, वस्त्र, या किसी भी प्रकार की संपत्ति को लेने को "अस्तेय" (चोरी) कहा गया है। इसका अर्थ केवल चोरी न करना ही नहीं, बल्कि किसी वस्तु के प्रति लालच और आकांक्षा का भी त्याग करना है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम॥ (यो.द. २.३७)

जब साधक अस्तेय में पूर्णतः स्थित हो जाता है, तो सर्वरत्नोपस्थानम् (सभी प्रकार के रत्न और संपत्तियाँ) उसकी ओर स्वतः आकर्षित होती हैं। उदाहरण : **पतंजलि योगपीठ।**

- अस्तेय का पालन करने वाला व्यक्ति लालच और संग्रह की प्रवृत्ति से मुक्त हो जाता है।
- प्रकृति उसकी आवश्यकताओं को बिना प्रयास के पूर्ण कर देती है।
- यह न केवल भौतिक समृद्धि का, बल्कि आंतरिक संतोष और आत्मशांति का भी मार्ग है।

४. **ब्रह्मचर्य :**

ब्रह्मचर्य गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः। (व्यासभाष्य-२.३०)

ब्रह्मचर्य का अर्थ है इंद्रियों और विशेष रूप से उपस्थ इंद्रिय (कामवासना) का संयम।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः॥ (यो.द. २.३८)

ब्रह्मचर्य में स्थित साधक को अद्भुत शारीरिक, मानसिक, और आध्यात्मिक ऊर्जा प्राप्त होती है।

ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित साधक अद्वितीय शक्ति (वीर्य) प्राप्त करता है, जो उसे आत्मज्ञान और आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ने में सहायता करती है। यह संयम और शुद्धता के पालन से प्राप्त होने वाली सिद्धि है।

ब्रह्मचर्य का व्यापक अर्थ : ब्रह्मचर्य का शाब्दिक अर्थ है "ब्रह्म में विचरण करना" "ब्रह्म में अवस्थित होना"।

ब्रह्मचर्यः "ब्रह्मणे वेदार्थं वेदाध्ययनार्थं चर्यम् चरणीयम"। (शब्दकौस्तुभ)

ब्रह्मणे : ब्रह्म (ब्रह्माण्डीय चेतना या परमात्मा) के लिए। = वेदार्थं : वेदों के ज्ञान के लिए। = वेदाध्ययनार्थं : वेदों के गहन अध्ययन के लिए = **चर्यम् :** आचरण, साधना, या जीवनचर्या। = आचरणीयम् : जिसे आचरण में लाना चाहिए या जिसका पालन करना चाहिए।

अपनी व्यक्तिगत ऊर्जा को ब्रह्माण्डीय ऊर्जा के साथ एकाकार करना। यह एक आध्यात्मिक यात्रा है, जिसमें साधक अपनी ऊर्जा को निम्न स्तर से ऊँचाई पर ले जाकर ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त करता है।

ऊर्जा का चक्रों के माध्यम से संचरण :

१. **मूलाधार चक्र :** यह चक्र शरीर की आधारभूत ऊर्जा का केंद्र है। जब ऊर्जा मूलाधार में स्थित होती है, तब यह वासना और काम के रूप में प्रकट होती है। यह ऊर्जा का सबसे निम्न स्तर है, जहाँ यह मात्र भौतिक इच्छाओं और इंद्रियों से

जुड़ी होती है।

२. **स्वाधिष्ठान चक्र :** साधना के माध्यम से जब ऊर्जा स्वाधिष्ठान तक पहुँचती है, तो यह भय और संशय का रूप धारण करती है। यह चक्र भावनात्मक ऊर्जा का केंद्र है और यहाँ ऊर्जा थोड़ी विकसित होती है।

३. **मणिपुर चक्र (नाभि चक्र) :** जब ऊर्जा मणिपुर चक्र में आती है, तो यह क्रोध का स्वरूप ले लेती है। यह शक्ति और आत्म-सम्मान का केंद्र है, परंतु यहाँ ऊर्जा अभी भी मनोवैज्ञानिक संघर्षों और व्यक्तिगत अहंकार से जुड़ी होती है।

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, और मणिपुर चक्र ऊर्जा के निम्न स्तरों का प्रतिनिधित्व करते हैं और इन तीनों में अधिक भेद नहीं होता। यह क्षेत्र केवल भौतिक और मानसिक इच्छाओं से जुड़ा रहता है।

ऊर्जा का उच्च स्तरों की ओर संचरण :

४. **अनाहत चक्र (हृदय) :** साधना के माध्यम से जब ऊर्जा अनाहत चक्र में आती है, तो यह प्रेम और करुणा का स्वरूप लेती है। यह चक्र व्यक्ति के भीतर मानवता, संवेदनशीलता और निस्वार्थ प्रेम को जागृत करता है।

५. **विशुद्धि चक्र (कंठ) :** विशुद्धि चक्र में ऊर्जा वाणी और वाक् का रूप लेती है। इस स्थिति में वाणी अत्यंत प्रभावशाली हो जाती है। यह चक्र सत्य, अभिव्यक्ति और आत्म-अनुशासन का प्रतीक है।

६. **आज्ञा चक्र (भ्रूमध्य चक्र) :** आज्ञा चक्र में ऊर्जा बुद्धि और प्रज्ञा से जुड़ जाती है। यह चक्र व्यक्ति के भीतर गहन अंतर्दृष्टि, विवेक और मानसिक स्पष्टता को प्रकट करता है। यह उच्च आध्यात्मिक स्तर का प्रतीक है।

७. **मनस चक्र का विवेक :** मनीष चक्र में ऊर्जा करुणा और गहन आत्मीयता का रूप धारण करती है। यह चक्र व्यक्ति के भीतर मानवता के प्रति गहन संवेदनशीलता और सहानुभूति को जागृत करता है।

८. **सहस्रार चक्र :** (सिर के शीर्ष पर स्थित चक्र) अंततः, जब ऊर्जा सहस्रार चक्र में पहुँचती है, तो मूलाधार की यह ऊर्जा शिखर बिंदु पर आकर ब्रह्माण्डीय ऊर्जा से एकाकार हो जाती है। यह अवस्था पूर्ण आत्मज्ञान और ब्रह्म से एकत्व की स्थिति है।

अपनी ऊर्जा को निचले चक्रों से उठाकर उच्च चक्रों तक ले जाना। यह साधना और आत्म-अनुशासन के माध्यम से प्राप् किया जाता है। जब ऊर्जा सहस्रार चक्र पर पहुँचकर ब्रह्माण्डीय ऊर्जा में विलीन होती है, तभी ब्रह्मचर्य की पूर्णता प्राप्त होती है।

ऊर्जा का उच्च स्तरों की ओर संचरण :-

गीता में ब्रह्मचर्य को शारीरिक तप बताया है-

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ (श्रीमद्भागवतगीता 17.14)

५. **अपरिग्रह** (Non : Possessiveness) **:**

विषयाणाम् अर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसा :

दोषदर्शनाद् अस्वीकरणम। (व्यासभाष्य-2.30)

अपरिग्रह का अर्थ है विषयों (भौतिक वस्तुओं) के अर्जन, रक्षण (संरक्षण), क्षय (नाश), और उनके साथ उत्पन्न होने वाले संबंधों और हिंसा जैसी हानियों को पहचानकर उन्हें अस्वीकार करना।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः॥ (यो.द. 2.39)

अस्य भवति कोऽहम् आसं कथम् अहम् आसं किंस्विद् इदं कथंस्विद् इदं के वा भविष्यामः कथं वा भविष्याम इति एवम् अस्य पूर्वान्तपरान्तमध्येष् आत्मभावजिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्तते॥ (व्यासभाष्य-२.३०)

जो साधक अपरिग्रह में पूर्णतः स्थित हो जाता है, उसे अपने पिछले और भविष्य के जन्मों का गहन ज्ञान प्राप्त होता है। वह समझने लगता है :

- "मैं कौन हूँ?"
- "मेरा यह वर्तमान जीवन कैसे हुआ?"
- "मेरा अतीत क्या था?"
- "मेरा भविष्य क्या हो सकता है?"

- यह ज्ञान उसे जीवन और मृत्यु के रहस्यों को समझने में मदद करता है।
- यम पाँच नैतिक सिद्धांत हैं इन्हें "महाव्रत" कहा जाता है।

वेदों में अपरिग्रह :

ऋग्वेद के एक मन्त्र में विषयों की ओर बढ़नेवाली इन्द्रियों को लक्ष्य कर कहा गया है-

ता मे अव्यानं ह्वीणां नितोषना। उतो नु कृत्व्यानां नृवाहसा॥ *(ऋग्वेद ८.२५.२३)*

हे प्रभो! विषयों को आहरण करनेवाली मेरी इन्द्रियाँ विषयरूपी शत्रुओं की विनाशक हों। इन्द्रियों का सदुपयोग करनेवाले कर्मशील व्यक्तियों में मेरी इन्द्रियाँ वश्य होकर सुख देनेवाली हों। वेद कहता है-

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर। *(अथर्ववेद ३.२४.५)*

सौ हाथों से कमाओं और हजार हाथों से बाँटों। अकेला न खाये, बाँटकर खायें, क्योंकि "केवलाघो भवति केवलादी" अर्थात् जो अकेला खानेवाला तथा ग्रहण करनेवाला होता है, वही पापी बनता है। अत: "अपरिग्रह" का जीवन में अत्यधिक महत्त्व है।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना: सार्वभौमा महाव्रतम॥ (यो.द. २.३१)

महाव्रत का अर्थ है ऐसा व्रत या नियम, जो सभी स्थानों, समयों, और परिस्थितियों में लागू होता है। पतंजलि योगसूत्र में यमों को महाव्रत इसलिए कहा गया है क्योंकि वे सार्वभौमिक और सार्वकालिक नैतिक सिद्धांत हैं।

यमों की सार्वभौमिकता :

- **जाति :** यम सभी जातियों, धर्मों और समुदायों पर समान रूप से लागू होते हैं।
- **देश :** किसी भी देश या स्थान में, चाहे वह तीर्थ हो या युद्धक्षेत्र, यमों का पालन करना आवश्यक है।
- **काल :** यम किसी विशेष समय तक सीमित नहीं हैं। उनका पालन हर समय-चाहे दिन हो, रात हो, या कोई शुभ या अशुभ दिन हो-करना चाहिए।
- **परिस्थितियाँ :** यम किसी भी परिस्थिति में बदलते नहीं हैं, चाहे वह सुखद हो या कठिन।

बौद्ध धर्म में पाँच शील (Five Precepts) **:**

बौद्ध धर्म में पाँच शील (चंदबी ैपसं) का पालन नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए अनिवार्य माना गया है। यह शील गृहस्थ और भिक्षुओं दोनों के लिए लागू होते हैं, लेकिन भिक्षुओं के लिए कठोरता अधिक होती है।

बौद्ध धर्म के पाँच शील :

१. **प्राणातिपात वेरमणि** (Asdhimsa) **:** जीवों की हत्या से बचना।
२. **अदत्तादान वेरमणि** (Asteya) **:** बिना अनुमति किसी वस्तु को न लेना।
३. **कामेसु मिच्छाचार वेरमणि** (Brahmacharya) **:** यौन असंयम से बचना (भिक्षुओं के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य)।
४. **मुसावाद वेरमणि** (Satya) **:** झूठ बोलने से बचना।
५. **सुरामेरय :** मज्जपमादट्ठाना वेरमणि **:** नशीले पदार्थों और मादक द्रव्यों से बचना।

जैन धर्म में महाव्रत और अणुव्रत :

जैन धर्म में महाव्रत और अणुव्रत का बड़ा महत्व है।

महाव्रत (Maha : Vrata): यह संयम के उच्चतम आदर्श को दर्शाते हैं और केवल संन्यासियों (साधुओं और साध्वियों) के लिए अनिवार्य हैं।

१. **अहिंसा** (Ahimsa) **:** किसी भी जीवित प्राणी को हिंसा न पहुँचाना।
२. **सत्य** (Satya) **:** सच्चाई बोलना और किसी भी प्रकार की झूठ से बचना।
३. **अस्तेय** (Asteya) **:** चोरी न करना और किसी अन्य की वस्तु पर अनुचित अधिकार न जताना।
४. **ब्रह्मचर्य** (Brahmacharya) **:** संपूर्ण इंद्रिय संयम, विशेष रूप से कामवासना का त्याग।
५. **अपरिग्रह** (Aparigraha) **:** भौतिक संपत्तियों और इच्छाओं का त्याग।

वर्ण व्यवस्था परिचय

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्विज उच्यते।

जन्म से सभी मनुष्य शूद्र (सामान्य या अज्ञान अवस्था में) होते हैं। "संस्कारों के माध्यम से ही व्यक्ति द्विज (दूसरा जन्म प्राप्त करने वाला संस्कारित व्यक्ति) बनता है।"

वर्ण धातु से घञ् प्रत्यय लगाकर वर्ण पद निष्पन्न होता है। वर्ण का शाब्दिक अर्थ है रूप-रंग, सौन्दर्य, मनुष्य श्रेणी, जनज. ाति, कबीला, ब्राह्मणादि जाति, श्रेणी, वंश आदि।

ऋग्वेद में कहा गया है कि परमपिता परमात्मा ब्रहा के मुख से ब्राह्वान उत्पन्न हुए, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूदोऽजायत॥ (ऋग्वेद, १०/९०/१२)
लोकानां तु विवृद्ध्यर्थ मुखबाहूरूपादतः।
ब्राह्मण क्षत्रियं वैश्यं शूदं च निवर्तयत ॥ (मनुस्मृति, 1/31)
मुखतः सोऽसृजद् विषान् बाहुभ्यां क्षत्रियांस्तथा।
वैश्यांश्वाप्यूरुतो राजन् शूदान् वै पादतस्तथा॥ (महाभारत, भीष्मपर्व, ६७/१९)

उपरोक्त बातों में यह विदित होता है कि मानव समाजरूपी शरीर का ब्राह्मण मुख सदृश होता है, क्योंकि सम्पूर्ण शरीर का मुख्याधार मुख होता है, मुख ही सभी ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के मुख्यालित करता है। मुख बिगड़ जाए तो शरीर बिगड़ जाता है। अतः समाजारूपी शरीर के मुख की उपमा ब्राह्मण को इसलिए दी जाती है, क्योंकि ब्राह्मण ज्ञान एवं विद्याओं से समाज को पथप्रदर्शन करता है। मन्त्र में उधृत भुजाओं को शरीर का क्षेत्रिय कहा है। हाथों एवं भुजाओं द्वारा जिस प्रकार शरीर की रक्षा की जाती है, उसी प्रकार अपने बल एवं पराक्रम से क्षत्रिय भी समाज एवं राष्ट्र की पूर्ण रा अपने है, इसलिए क्षत्रिय समाजरूपी शरीर का क्षत्रिय है। मानव को जङ्घाएँ समाजरूपी शरीर का वैश्य इसलिए हैं, क्योंकि वैश्य राष्ट्र तया समाज का कृषि तथा व्यापार, व्यवसाय आदि के माध्यम से भरण पोषण करता है। शूद्र पैरों के सदृश इसलिए है, क्योंकि जिस प्रकार पैरों द्वारा शरीर के लिए परिश्रमपूर्वक सेवादि कार्य किये जाते हैं, उसी प्रकार समाज के ब्राह्मण, क्षत्रियादि वर्णों की शूद्र तन-मन में सेवा कार्य करते हैं।

इन चारों में किसी प्रकार का ऊँच नीच का भेद नहीं है। सभी को अपनी योग्यतानुसार समान महत्त्व एवं अधिकार है। वेदों ने सभी वर्णों के प्रति समानरूप में प्रेमभाव दृष्टि रखी है-

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥ (अथर्ववेद १९.६२.१)

अर्थात् हे प्रभु! मुझे ब्राह्मण देवताओं एवं विद्वानों में प्यारा कर। मुझको क्षत्रियों (राजाओं में) प्यारा कर। सब देखनेवाले का प्यारा कर तथा शूद्र और वैश्य में प्रिय कर। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक वर्णव्यवस्था का आदर्श कितना ऊँचा था। सभी वर्ण आपस में एक दूसरे से प्रीति एवं स्नेह भाव रखते थे। परस्पर अपनत्व की भावना सभी के हृदय में ओतप्रोत थी। परस्पर सहिष्ण ुवृत्ति के साथ वैदिक वर्णव्यवस्था का दिव्यत्व मन्त्र सभी वर्षों के कल्याण के लिए प्रभु से प्रार्थना करता है-

रुचन्नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचँ राजसु नस्कृधि।
रुचँविश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम॥ (यजुर्वेद १८.४८)

हे ईश्वर! हमारे ब्राह्मणों में कान्ति, तेज डाल। हमारे क्षत्रियों, राजाओं एवं वैश्यों तथा शूद्रों में कान्ति और तेज भर दे। मुझमें भी तेजयुक्त कान्ति धारण कर।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चौति शूद्रताम।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ (मनुङ्क १०.६५)

जो शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के सदृश गुण, कर्म, स्वभाव वाला हो, तो वह शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाय। वैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के कुल में उत्पन्न हुये शूद्र के सदृश हों, तो शूद्र हो जावें। वैसे ही क्षत्रिय, वैश्य

के कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण वा शूद्र के समान होने से, ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाते हैं। अर्थात् चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो-जो पुरुष वा स्त्री हो, वह-वह उसी वर्ण में गिनी जावे।

वर्ण विभाजन- भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि चारों वर्णों की सृष्टि मेरे द्वारा गुण व कर्म के आधार पर की गई है-

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम॥ (भगवद्गीता, ४.१३)

श्रीभगवान कहते हैं-चार वर्णों की सृष्टि मैंने की है, जो गुण (सत्त्व, रजस, तमस) और कर्म (कार्य) के विभाग से निधारित है। इस व्यवस्था का रचनाकार मैं ही हूँ, किंतु फिर भी तुम मुझे अकर्ता (कर्मों से अछूता) और अव्यय (नाश रहित) समझो।

इन्द्रो वै ब्राहाणः पुत्रः क्षत्रियः कर्मणाऽभवत्। (महाभारत शान्तिपर्व, २२.११)

कालान्तर में गुण कर्म के आधार पर विभाजन के उदहारण भी मिलते हैं देवराज इन्द्र ब्राह्मण कुलोत्पन्न होते हुए भी गुण व कर्म के आधार पर क्षत्रिय कहलाए। महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों में ऐसे भी प्रमाण प्राप्त होते हैं कि क्षत्रिय कुल में उत्पन्न जातक अपने कर्मों से तथा गुणों के प्रभाव से ऋषि बन गया तथा संन्यासी व तपस्वी का जीवन जीते हुए इसे ब्राह्मण कहा जाने लगा, यथा ऋषि विश्वामित्र गुणकर्म के आधार पर ही एक ही परिवार में भिन्न वर्णावलम्बियों का रहना भी वेद में प्रमाणस्वरूप प्राप्त है।

कारुरहं ततो मिषनुपलप्रक्षिणी नना। (ऋग्वेद, ९.११.३)

ऋग्वैदिक ऋषि स्वयं कह रहा है कि मैं श्कवि हूँ। मेरे पिता वैद्य हैं तथा माता धान की पिसाई करने वाली है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तपः।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ (श्रीमद्भगवद्गीता १८.४१)

श्रीमद्भगवद्गीता में प्रभु श्री कृष्ण ने वर्णों के कर्म का विभाजन करते हुए कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का जो वर्ण विभाजन के द्वारा कर्मोपदेश किया गया है वह उनके प्रमुख व गौण गुणों के कारण ही है। परमपिता परमेश्वर की असीम अनुकम्पा से स्वयं ब्रह्मा के मुख, बाहु, जंघा और पैरों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति हुई। इन वर्णों में सत्व, रजस्, रजस्तमस और तमस् गुण का प्राधान्य है। ब्रह्मचर्य-तप, युद्ध-रक्षण, कृषि-पशुपालन तथा सेवा शुश्रुषा इन वर्णों के कर्म बताए गए। इन कर्मों के आधार पर अध्यापन-यज्ञ-प्रजा की रक्षा करना क्षत्रिय का, भरण-पोषण हेतु कृषि व वाणिज्य वैश्य का तथा अन्य वर्णों की सेवा करना शूद्र का कर्तव्य था। सम्मान, शासन, सम्पत्ति और कर्त्तव्यशीलता चारों वर्णों का अधिकार हुआ।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चौति शूद्रताम्।

क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ (मनुस्मृति १०.६५)

वर्ण व्यवस्था जन्म से निर्धारित नहीं होती। शूद्र अपने कर्मों और गुणों से ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकता है। ब्राह्मण अपने अनुचित कर्मों के कारण शूद्रत्व को प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार, क्षत्रिय और वैश्य भी अपने कर्मों के अनुसार वर्ण बदल सकते हैं।

कर्म शूद्रे कृषिवैश्ये संग्रामः क्षत्रिये स्मृतः।

ब्रहावर्य तपो मन्त्राः सत्यं च ब्राह्मणे तथा॥ (महाभारत, वन पर्व, २०७/२५)

अर्थात् सत्य, ब्रह्मचर्य, तप और मन्त्रोच्चारण ब्राह्मण के कर्म बताए गए, युद्ध क्षत्रिय का, कृषि वैश्य का और श्रम/सेवा शूद्र का कर्म बताया गया। इस प्रकार कर्म के आधार पर भी वर्णों का विभाजन किया गया। वंशानुगत वर्णोत्पत्ति कालांतर में यह व्यवस्था अपने मूल आदर्श से भटक गई और वंशानुगत आधार पर चलने लगी। ब्राह्मण के घर में जन्मे को ब्राह्मण, क्षत्रिय कुल में जन्मे को क्षत्रिय मानने की प्रवृत्ति बढ़ गई, भले ही उनके कर्म और गुण कुछ भी हों। महाभारत के उदाहरण जैसे द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा-दोनों कर्म से क्षत्रिय थे (युद्ध और शस्त्र शिक्षा में निपुण), लेकिन उन्हें ब्राह्मण के रूप में जाना गया क्योंकि वे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। विदुर महाज्ञानी और नीतिशास्त्र के महान विशेषज्ञ होने के बावजूद, वे जन्म के कारण "सूतपुत्र" कहे गए और ब्राह्मण नहीं माने गए। कर्ण वंश आधारित वर्ण व्यवस्था ने सामाजिक असमानता और जातिगत भेदभाव को जन्म दिया। इसने गुण और कर्म के महत्व को कम कर दिया, जिससे समाज में विभाजन और अन्याय बढ़ा।

ब्राह्मण

प्राचीन भारतीय समाज में ब्राह्ण वर्ण को सर्वोच्च स्थान दिया गया, क्योंकि इसका उद्देश्य समाज में ज्ञान, धर्म, और नैतिकता का प्रसार करना था। ब्राह्मण विद्या और वेदों के रक्षक थे, वे समाज को आध्यात्मिक और नैतिक मार्गदर्शन भी प्रदान करते थे।

ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म :

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम॥ (भगवद्गीता १८.४२)

मनका निग्रह करना इन्द्रियों को वश में करना; धर्मपालन के लिये कष्ट सहना; बाहर-भीत रसे शुद्ध रहना; दूसरों के अपराध को क्षमा करना; शरीर, मन आदि में सरलता रखना; वेद, शास्त्र आदि का ज्ञान होना; यज्ञ विधि को अनुभव में लाना; और परमात्मा, वेद आदि में आस्तिक भाव रखना-ये सब-के-सब ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।

ब्राह्मण की उत्पत्ति :

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्। (ऋग्वेद, १०.९०.१२)

मनुस्मृति और अन्य वैदिक ग्रंथों के अनुसार, ब्राह्मण की उत्पत्ति परमपिता ब्रह्मा के मुख से मानी गई है। मुख का प्रतीक. ात्मक महत्व-

१. **मस्तिष्क और विवेक का स्थान :** मनुष्य की सभी मानसिक और शारीरिक क्रियाएँ मस्तिष्क के आदेशानुसार होती हैं। यदि मस्तिष्क कार्य न करे, तो शरीर व्यर्थ हो जाता है। इसी प्रकार, समाज में ब्राह्मण वर्ण का स्थान मस्तिष्क के समान है, जो उचित-अनुचित का निर्णय करता है।

२. ज्ञान और धर्म का स्रोत : ब्राह्मण का कर्तव्य समाज को धर्म, ज्ञान, और नैतिकता के मार्ग पर चलाना है। यह भूमिका समाज को सही दिशा देने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

३. **श्रेष्ठता का प्रतीक :** "विप्राणां ज्ञानतो ज्येष्ठ्यम।" (मनुस्मृति २.१५५) अर्थात ब्राह्मणों की श्रेष्ठता उनके ज्ञान और विवेक के कारण है, न कि उनके जन्म के कारण।

ब्राह्मण के कर्त्तव्य :

अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, यज्ञ करवाना, दान देना तथा दान लेना।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।

दानं प्रतिग्रहं चौव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥

षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।

याजनाध्यापने चौव विशुद्धाश्च प्रतिग्रहः॥ (मनुस्मृति, १.८८, १०.७६)

इन छः कर्मों को मनुस्मृति में दो श्रेणियों में विभाजित किया गया। पहली श्रेणी में अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह को रखा गया। इन तीनों कर्मों को ब्राह्मण अपनी आजीविका के लिये करे। अध्ययन, यजन तथा दान देना, अपने ज्ञान वर्धन, आत्मिक उत्थान तथा तेज को बढ़ाने के लिये करे।

इज्याध्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य वा प्रतिग्रहोऽधिको

विद्रे याजनाध्यापने तथा॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति, १.११८)

अध्ययन, यजन तथा दान, ये तीनों कर्म तो क्षत्रिय तथा वैश्य के भी कहे गए हैं।

अध्ययन, यजन और दान के द्वारा ब्राह्मण आत्मिक उन्नति करता था तथा अधिक ज्ञानी तथा त्रिकालद्रष्टा ब्राह्मण राष्ट्र का गौरववर्धन करते थे। प्रजा को उपदेश देने वाले ब्राह्मण सृष्टि पर वेद विद्या के संरक्षक होने के कारण धर्म की दृष्टि से प्रभु कहे जाते हैं-

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्येष्ठाद् ब्रह्मणश्चौव धारणात्।

सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः॥ (मनुस्मृति १.९३)

ब्राह्मण का समाज में महत्त्व : ब्राह्मण भारतीय समाज का वह स्तंभ है जो धर्म और ज्ञान का संरक्षण करता है, एवं समाज के सांस्कृतिक और नैतिक विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ब्राह्मण वर्ण का उपकार और दिशा निर्देशन ब्राह्मण सभी वर्णों

के लिए उपकारक होते थे। वे मोक्ष प्राप्ति और जीवन के निःश्रेयस (उच्चतम लक्ष्य) की प्राप्ति के लिए मार्गदर्शन करते थे। समाज की भलाई और विकास के लिए ब्राह्मणों की सेवाएँ अमूल्य मानी जाती थीं।

क्षत्रिय और ब्राह्मण का सामंजस्य : क्षत्रिय समाज की भौतिक और ऐहिक सुरक्षा के लिए उत्तरदायी थे। ब्राह्मण समाज की आध्यात्मिक और आमुष्मिक (मोक्ष और पुण्य से जुड़ी) सुरक्षा सुनिश्चित करते थे। उनका कार्य समाज को धार्मिक अनुष्ठानों और यज्ञों के माध्यम से प्राकृतिक आपदाओं और दैवी संकटों से बचाना था।

तप और यज्ञ का प्रभाव : ब्राह्मण अपने अध्ययन, तप, और यज्ञ के माध्यम से समाज की भलाई के लिए कार्य करते थे।

वेद और शास्त्रों का अध्ययन धर्म और नीति का प्रसार : ब्राह्मण केवल वेदों का ही अध्ययन नहीं करते, बल्कि अन्योन्य शास्त्रों का भी अध्ययन करते हैं। इसका उद्देश्य समाज के अन्य वर्णों को उचित-अनुचित का विवेक सिखाना है।

विविध विषयों का ज्ञान : ब्राह्मण कृषि, वाणिज्य, युद्धकौशल, और सामाजिक विधि-विधान की जानकारी रखते थे। वे समाज को इन विषयों का व्यावहारिक ज्ञान देकर उसे उन्नति की ओर ले जाते थे।

समाज के सांस्कृतिक और नैतिक विकास में भूमिका :

आदर्श जीवन का प्रेरणा स्रोत : ब्राह्मण अपनी तपस्या, त्याग, और साधना के माध्यम से समाज के लिए आदर्श प्रस्तुत करते थे। उनका जीवन समाज को नैतिकता और धर्म के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता था।

सांस्कृतिक अभ्युदय के कर्णधार : ब्राह्मण समाज के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विकास में अग्रणी भूमिका निभाते थे। वे धर्म, दर्शन, और साहित्य के माध्यम से समाज को समृद्ध बनाते थे।

क्षत्रिय

को अस्या वो दुहोऽवद्यवत्या, उन्नेष्यति क्षत्रियो इच्छन।

को यजकामः क उ पूर्तिकामः, को देवेषु वनुते दीर्घमायुः॥ (अथर्ववेद, ७.१०.१०३)

समाज की व्यवस्था सुचारू रूप से चले, इस हेतु क्षत्रिय वर्ण का विस्तार हुआ। प्रशासनिक दायित्व, सैन्य बल द्वारा प्रजा का रक्षण तथा राज-काज के सम्पूर्ण कार्य व्यवस्थित रूप से चलाने का दायित्व क्षत्रियों का था। क्षत्रिय भूपालक के रूप में समाज में प्रतिष्ठित हुए। राज्य की सीमा का विस्तार करना तथा राज्य की सीमा में रहने वाली प्रजा की रक्षा का उत्तरदायित्व राजा का ही होता है। मनुष्य ब्राह्मणादि किसी भी वर्ण के व्यक्ति के घर जन्म ले ले किन्तु जिस प्रकार के कर्मपथ को वह चुनता है उसीसे उसका वर्ण निश्चित किया जाता है। क्षत्रिय अपने सभी महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने के लिये विद्वान् ब्राह्मण की सलाह लेते थे तथा राज्याभिषेक तथा विभिन्न महान् यज्ञों के आयोजन में ब्राह्मण का सहयोग लेते थे।

क्षत्रिय वर्ण के गुण-कर्म :

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।

विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ (मनुस्मृति (१.८९)

न्याय से प्रजा की रक्षा अर्थात् पक्षपात छोड़के श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना, सब प्रकार से सबका पालन दान विद्या धर्म की प्रवृत्ति और सुपात्रों की सेवा में धनादि पदार्थों का व्यय करना इज्या अग्निहोत्रादि यज्ञ करना वा कराना अध्ययन वेदादि शास्त्रों का पढ़ना तथा पढ़ाना और विषयों में न फंसकर जितेन्द्रिय रह के सदा शरीर आत्मा से बलवान् रहना।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ (श्रीमद्भगवद्गीता १८.४३)

शूरवीरता, तेज, धैर्य, प्रजाके संचालन आदिकी विशेष चतुरता, युद्धमें कभी पीठ न दिखाना, दान करना और शासन करनेका भाव-ये सबकेसब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं।

महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य में क्षत्रिय को परिभाषित करते हुए लिखा है-

क्षतात्किल् त्रायत इत्युदयः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः। (रघुवंशम, २.५३)

क्षतात् अर्थात् क्षय से, पीड़ा से विनाश से, त्रायते अर्थात् तारता है, पार लगाता है, वह क्षत्रिय है। जो विनाश से बचाए वह

क्षत्रिय है। दुष्ट का दमन करके सज्जनों का संरक्षण करने वाला क्षत्रिय कहलाता है।

क्षत्रिय के कर्तव्य :

मनुस्मृति में प्रजा का रक्षण ही क्षत्रिय का परम कर्त्तव्य बताया गया है-रक्षणं सर्वभूतानामिह क्षात्रं परं मतम्। अर्थात् प्रजा का रक्षण करना, दान देना, यज्ञ का आयोजन करवाना, अध्ययन करना, विषयों से अनासक्त रहना ये क्षत्रिय के परम कर्तव्य है।

क्षत्रिय का महत्त्व :

यदि न क्षत्रियो लोके जगत् स्यादधरोत्तमम्।

रक्षणात् क्षत्रियैरेव जगत् भवति शाश्वतम्।। (महाभारत, अनुशासन पर्व, १४१.४८)

महाभारत में तो स्पष्टतया उल्लिखित है कि यदि पृथ्वी पर क्षत्रिय न हों तो यह संसार रसातल को चला जाएगा, क्षत्रियों के द्वारा संरक्षित किया जाने के कारण ही यह अभी तक स्थायी रह पाया है-क्षत्रियों के द्वारा राष्ट्र की रक्षा किये जाने की व्यवस्था वैदिक काल अथवा वैदिकोत्तर काल के लिये ही प्रासंगिक नहीं थी। कर्म से क्षत्रिय इन सैनिकों की कर्त्तव्यनिष्ठा ही है जिसके कारण हम सभी भूलोकवासी अपने-अपने घरों में रात्रि को सुखपूर्वक शयन कर पाते हैं। जन्म से कोई भी ब्राह्मण, क्षत्रिय बनकर उत्पन्न नहीं होता। अपने कर्मों से व्यक्ति अपना वर्ण निर्धारित करता है। अतः सीमा पर तैनात समस्त क्षत्रिय देश में निवास कर रहे अन्य तीन वर्णों के संरक्षक तथा सहायक है।

वैश्य

ऊरुः तदस्य वैश्यस्य- (ऋग्वेद, १०.९०.१२)

परमपिता ब्रह्मा की जांघों से उत्पन्न वैश्य वर्ण समाज की आर्थिक व्यवस्था के कर्णधार थे। जिस प्रकार जंघायें शरीर का सारा भार अपने ऊपर रखती हैं उसी प्रकार वैश्य वर्ण भी समाज की आर्थिक व व्यावसायिक समस्त गतिविधियों से ब्राह्मण, क्षत्रिय व शूद्र तीनों वर्णों का भार अपने ऊपर रखता था।

वैश्य के कर्त्तव्य :

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम। (श्रीमद्भगवद्गीता १८.४४)

खेती करना, गायोंकी रक्षा करना और शुद्ध व्यापार करना-ये सब-के-सब वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं।

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।

वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।। (मनुस्मृति, १.९०)

कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य वैश्य के प्रमुख कर्त्तव्य हैं। अध्ययन करना, दान देना तथा ऋण देना भी वैश्य के कर्तव्य कहे गए हैं। वैश्य का लक्षण करते हुए भागवतपुराण में कहा गया है कि-

देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम्।

आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुणं वैश्यलक्षणम्।। (भागवतपुराण, ११.७.२३)

देवाराधन तथा गुरु के प्रति भक्ति तथा परमात्मा के प्रति भक्ति, तीन वर्गों का परिपोषण अर्थात् धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ सिद्धि हेतु कर्तव्यबद्ध रहना, वेद वेदांगों तथा ईश्वर के प्रति आस्था रखना, व्यापार में कुशल होना नित्यप्रति के व्यवहार में निपुणता से आचरण करना वैश्य के लक्षण हैं।

वैश्य कृषि, पशुपालन, व्यवसाय आदि कर्म करते थे जिससे समाज की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ रहती थी अतः राज्य की आर्थिक/वित्तीय बागडोर वैश्यों के हाथ में थी। व्यापारी वर्ग होने के कारण राजा को कर का भी सर्वाधिक अंश वैश्यों से प्राप्त होता था। अतः राज्य की समृद्धि व सम्पन्नता भी वैश्यों पर निर्भर थी। जितने सम्पन्न राज्य में व्यापारी होंगे उतना ही अधिक कर राजकोष को प्राप्त होगा और उतना ही राजा सम्पन्न बनेगा।

वैश्य का समाज में महत्त्व :

अध्ययन करना, यज्ञ करना और दान देना इन तीनों कर्मों से अतिरिक्त वैश्य कृषि कर्म करता है फिर उस कृषि से प्राप्त फल का वाणिज्य करता है और अन्य तीनों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय व शूद्र को भोजन वस्त्रादि विक्रय करके अपनी आजीविका चलाता है तथा उनको जीवन-साधन सम्पन्न बनाता है। पशुपालन अपने आप में अनेकों व्यवसायों को समेटे हुए है। व्यापारियों के द्वारा पशु के रख-रखाव के लिये सेवक नियुक्त करना दुग्ध, घृत, मक्खन, दही, उपले आदि के विक्रय से धनलाभ करना, ऊन बनाना, कृषि

में पशुओं की सहायता, यातायात में पशुओं का उपयोग, ईंधन निर्माण आदि अनेकों व्यवसाय अकेले पशुपालन से हो जाते हैं, अतः पशुपालन भी वैश्यों का प्रमुख व्यवसाय कहा गया है। पशुपालन, कृषि के अतिरिक्त भी अनेकों व्यवसाय हैं जो वैश्यों के द्वारा किये जाते हैं यथा स्वर्ण की गढ़ाई का कार्य, खेती का तकनीकी विकास, पशुओं की संख्या में वृद्धि के प्रयास, सहायकों की नियुक्ति, उपयुक्त वेतन देकर सेवकों को सन्तुष्ट रखना। मनु ने भी मनुस्मृति में कहा है कि-

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नं उत्तमम्।

दद्याच्च सर्वभूतानां अन्नं एव प्रयत्नतः।। (मनुस्मृति 9.333)

वैश्य ये सभी कार्य करे और साथ ही जितने प्रजा में लोग हैं उतना अन्न भी उपजाए ताकि किसी को भी अन्न की कमी ना रहे।

वैश्यस्यापि हि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि शाश्वतम्।

दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसंचयः।।

पितृवत् पालयेद् वैश्यो युक्तः सर्वान् पशूनिह।

विकर्म तद् भवेदन्यत् कर्म यत् स समाचरेत्।।

रक्षया स हि तेषां वै महत् सुखमवाप्नुयात।

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददौ पशून।। (महा.भा. शान्तिपर्व, ६०.२१-२३)

वैश्य के जो परम कर्तव्य बताये गए वे सभी अन्य वर्ण के लोगों के सुखमय तथा सन्तुलित जीवन जीने का आधार थे।

ब्राह्मण को यदि खेती करने का उपक्रम नहीं होगा तभी वह पूर्ण मनोयोग से वेदादि शास्त्रों का अध्ययन, तप, यज्ञादि का अनुष्ठान करेगा। स्वयं का व राष्ट्र का भी गौरववर्धन करेगा। क्षत्रिय यदि साधनसम्पन्न होगा तो युद्ध कौशल का अभ्यास करेगा और राष्ट्र के रक्षण हेतु और दृढ होगा। अतः समाज में वैश्य के द्वारा किये जाने वाले कर्म लोकोपकारक ही होते हैं। ये कर्म अन्य वर्णों के उत्थान के हेतु बनते हैं।

शूद्र

पद्भ्यां शूद्रोऽजायत। (ऋग्वेद, १०.९०.१२)

ब्रह्मा के पैरों से शूद उत्पन्न हुए। जैसे शरीर के मुख बाहु तथा जङ्घाओं की सेवा में पैर इतरत्र भ्रमण करते हैं, उसी प्रकार, ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों की सेवा कार्यों में शुद्ध एवं तन्मयतापूर्वक शूद्र सदैव तत्पर रहता है। इसी कारण वेद में शूद्र को पैर की उपमा से उपालंकृत किया है। समाज व्यवस्था का विशाल भवन, जिसकी त्याग, सेवा एवं कर्मनिष्ठता पर खड़ा है, ऐसा चतुर्थ वर्ण "शूद्र" राष्ट्र की उन्नति में उतना ही अधिक सहयोगी है, जितने अन्य ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्ण।

शूद्र के कर्तव्य :

"परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।" (श्रीमद्भगवद्गीता १८.४४)

ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यों की सेवा करना शूद का कर्तव्य था। स्वयं की आजीविका चलाने के लिये शूद बढई, लुहार आदि शिल्प कलाओं का कार्य करते थे।

एकं एव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।

एतेषामेव वर्णानां शूश्रूषामनसूयया।। मनुस्मृति 1.91

अर्थात् द्वेषरहित भाव एवं प्रेमपूर्वक रीति से ब्राह्मणादि तीनों वर्षों की सेवा करना ही शूद्र का प्रधान कार्य है, क्योंकि विद्या एवं ज्ञानार्जन न करने से उन्हें अपना यही कार्य समझना चाहिए।

इसका अर्थ यह नहीं कि शूद्र अन्य वर्णों के दास एवं गुलाम हैं। वह भी उतना ही सम्माननीय हैं, जितने कि अन्य वर्ण। अतः शुद्र को सभी वर्णों में कम महत्त्व देना, वेद के विरुद्ध है। वेद ने तो सभी वर्णों के प्रति समान दृष्टि रखी है। वेद कहता है-

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।

ब्रह्मराजन्याभ्या शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च। *(यजुर्वेद २६.२)*

अर्थ : ब्राह्मण और क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, मित्र और शत्रु, अपना और पराया, कोई भी वेद-ज्ञान से वञ्चित नहीं रहना चाहिए।

वेद सार्वभौम और मानवमात्र के लिए है। प्रभु उपदेश देते हैं कि इस वेदरूपी कोश को संकुचित मत करो, अपितु जैसे मैं मनुष्यमात्र के लिए इसका उपदेश देता हूँ इसी प्रकार तुम भी मनुष्यमात्र के लिए इसका उपदेश करो।

इसी कारण वेद ने अपनी कल्याणी वाणी के अध्ययन का अधिकारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के साथ-साथ शूद्र को भी माना है। इससे स्पष्ट होता है कि वेद ने शूद्र के लिए कभी पक्षपात नहीं किया।

आश्रम व्यवस्था परिचय

'कुर्वेन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। (ईशोपनिषद् २)

'जीवेम शरदः शतम'। इस प्रकार की आशीर्वादात्मक तथा संकल्पात्मक पंक्तियाँ व्यक्ति के जीवन में १०० वर्ष की आयु होने की पुष्टि करती है। मनुष्य की आदर्श आयु १०० वर्ष की मानी गई है। इन सौ वर्षों को अनुशासित, और संयमित रूप से व्यतीत करने के लिये आयु के आधार पर आश्रमों की व्यवस्था की गई।

आश्रम व्यवस्था का अनुक्रम

ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्।

गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। (शतपथ ब्राह्मण १४)

मनुष्य को अपने जीवन में आश्रम व्यवस्था का पालन क्रमशः करना चाहिए।

११. **ब्रह्मचर्याश्रम (० से २५ वर्ष) :** जीवन का प्रारंभिक चरण, जहाँ विद्या, अनुशासन, और आत्मसंयम की शिक्षा प्राप्त की जाती है।
2. **गृहस्थाश्रम (२५ से ५० वर्ष) :** परिवार और समाज के प्रति जिम्मेदारियों का निर्वहन, धर्म, अर्थ, और काम की साधना।
3. **वानप्रस्थाश्रम (५० से ७५ वर्ष) :** सांसारिक मोह का त्याग और आत्मिक उन्नति के लिए साधना और तपस्या।
4. **संन्यासाश्रम (७५ से १०० वर्ष) :** संसार से पूर्ण विरक्ति, आत्मा का चिंतन और मोक्ष की प्राप्ति।

सामाजिक व्यवस्था को व्यवस्थित रूप से चलाने हेतु हमारे प्राचीन ऋषि मुनियों ने आश्रम व्यवस्था की कल्पना की। भले ही आश्रम व्यवस्था की कल्पना वैदिक युग में की गई थी तथापि वर्तमान में भी यह व्यवस्था अप्रासंगिक नहीं है। संस्कृत साहित्य के महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्य रघुवंशम् में आश्रम व्यवस्था की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए स्पष्ट किया है कि -

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।

वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।। (रघुवंशम् १.८)

जो शैशवावस्था में विद्याभ्यास करते हैं अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन करते हैं, यौवनावस्था में विषयों की अभिलाषा रखते हैं अर्थात् गृहस्थाश्रम के अनुरूप आचरण करते हैं, वृद्धावस्था में मुनि के समान वृत्ति को धारण करते हैं तथा आयु की अन्तिम अवस्था में योग के माध्यम से देह त्याग देते हैं अर्थात् संन्यास आश्रम के अनुकूल आचरण करते हैं।

आश्रम पद की व्युत्पत्ति-

'आङ्' (उपसर्ग) + 'श्रम' (धातु) + घञ् (प्रत्यय) = 'आश्रम'

जिसमें सम्यक् प्रकार से श्रम किया जाता है वह आश्रम पद से अभिहित है।

श्रम का तात्पर्य यहाँ है नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित् उपासनादि कर्मों का शास्त्रोक्त विधान से अवस्थाविशेष, देश-काल-परिस्थिति विशेष में किया जाना। काम्य कर्मों का विधान तथा निषिद्ध का निषेध करते हुए जीवन चक्र का संचालन करना।

'आङ्' उपसर्ग यहाँ सम्यक् अर्थ का बोध कराता है। सरल शब्दों में, पुरुषार्थों की प्राप्ति हेतु किया जाने वाला श्रम, प्रयास या उद्यम ही आश्रम है।

आश्रम व्यवस्था का उद्भव :

वेदों में ऋग्वेद में ब्रह्मचारी, गृहपति, मुनि या यति जैसे पदों का उल्लेख प्राप्त होता है जो कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास व्यवस्था का चिह्न प्रतीत होता है।

ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्। (ऋग्वेद १०.१०९.५)

ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे। (ऋग्वेद द्वितीय मण्डल)

येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविय।

आश्रम व्यवस्था का महत्व

भारतीय संस्कृति में चार पुरुषार्थ बताए गए हैं-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। विभिन्न आश्रमों में बताए गए विधानों का निष्ठापूर्वक पालन किया जाना अनिवार्य था। चार पुरुषार्थ और आश्रमों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध बताया गया है।

वैदिक व्यवस्था के अनुसार व्यक्ति अपने जन्म से लेकर पच्चीस वर्ष की आयु तक गुरुकुलाश्रम में रहकर ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदादिशास्त्रों का अध्ययन एवं धर्मवृद्धि कर लेता था। तत्पश्चात् वह पच्चीस से पचास वर्ष की आयु तक गृहस्थाश्रम में रहकर पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान करते हुए राष्ट्र को उत्तम सन्तान देता था। धर्मानुसार अर्थ एवं काम इन दो पुरुषार्थों का उपभोग लेते हुए वह गृहस्थ जीवन बिताता है। तत्पश्चात् जब पुत्र को पुत्र होने पर घर का सब कार्यभार पुत्र पर सौंपकर आयु के लगभग पचासवें वर्ष में वह वन की तरफ गमन करता था। इसी को वानप्रस्थाश्रम जीवन कहते हैं। इस आश्रम में रहते हुए व्यक्ति विद्या, ज्ञान, तप, साधना आदि के माध्यम से व्यक्तित्त्व विकास करता है। जब पूर्ण त्याग एवं वैराग्य की स्थिति आवे, तब यही वानप्रस्थी संन्यास आश्रम में प्रवेश करता है। वैदिक काल में हर आश्रमवासी अपने-अपने कर्तव्य कर्मों को श्रद्धा एवं निष्ठा के साथ करता हुआ जीता था। इसी के फलस्वरूप तत्कालीन समाज में सुख एवं शान्ति का साम्राज्य छाया हुआ था। आश्रम व्यवस्था ने ही मानवीय मूल्यों के सभी अंगों का विकास किया और विश्वभर में वैदिक संस्कृति का आदर्श रूप प्रस्तुत किया। आश्रम व्यवस्था से ही समाज का नैतिक बल एवं आचरण व्यवस्था की रक्षा होती है और समाज एवं राष्ट्र सभी क्षेत्रों में उन्नत होता है। ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम- ये समाजरूपी भवन के आधारभूत चार स्तम्भ हैं, जिनमें से एक भी टूट जाए तो यह विशाल समाज भवन भी नष्ट हो जाता है। अतः ये चारों एक दूसरे के पूरक होने के कारण विशेष महत्त्व रखते हैं।

व्यवस्थित तथा संयमित जीवन का आधार :

योऽनधीत्य द्विजो वेदं अन्यत्र कुरुते श्रमम।

जीवन्नेव शूद्रत्वं आशु गच्छति सान्वयः स॥ (स० प्र० तृतीय समु०)

जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य (वेदम् अनधीत्य) वेद को न पढ़कर अन्यत्र (श्रमं कुरूते) अन्य शास्त्र में श्रम करता है (सः) वह (जीवन् एव) जीता हुआ ही (सान्वयः) अपने वंश के सहित (शूद्रत्वं गच्छति) शूद्रपन को प्राप्त हो जाता है।

ब्रह्मचर्य आश्रम अध्ययन एवं ज्ञानार्जन हेतु, गृहस्थाश्रम जीविकोपार्जन, सन्तानोत्पत्ति तथा पंच महायज्ञों के नियमित अनुष्ठान से ऋणमुक्ति हेतु, वानप्रस्थाश्रम तपस्या कर्म हेतु तथा संन्यासाश्रम मोक्षप्राप्ति के साधनभूत योगसाधना हेतु निर्धारित किया गया। आश्रम व्यवस्था के इस क्रम की पुष्टि यह लौकिक श्लोक भी करता है।

आद्ये वयसि नाधीतं, द्वितीये नार्जितं धनम्।

तृतीये न तपस्तप्त, चतुर्थे किं करिष्यति॥ (सुभाषित)

ये समस्त आश्रम उस चरम व परम पुरुषार्थ मोक्ष के साधन ही है। अतः आश्रमों का निर्वहण व्यवस्थित तथा संयमित जीवन जीने के लिये आवश्यक है। अन्यथा कोई भी व्यक्ति आयु के किसी भी भाग में किसी भी पुरुषार्थ प्राप्ति हेतु प्रवृत्त दिखाई देने लगेगा जो कि उचित नहीं है। यदि कोई यह कहे कि मैं तो पहले मोक्ष प्राप्ति का प्रयास करूँगा, यदि मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ तो गृहस्थ में प्रवेश करूँगा। इस प्रकार तो समाज में अव्यवस्था व्याप्त हो जाएगी। अतः जीवन को संयमित और सन्तुलित बनाने का आधार भी आश्रम व्यवस्था ही है।

ब्रह्मचर्य आश्रम

परिभाषा : 'ब्रह्म' = वेद (ज्ञान का स्रोत) 'चर्य' = आचरण (आचरण करना)

ब्रह्मचर्य का अर्थ : वेदोचित आचरण करना। षोडश संस्कारों में से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपनयन, वेदारम्भ और समावर्तन नामक तीन संस्कार ब्रह्मचर्य आश्रम में ही होते हैं।

ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्निर्ब्रह्मसंस्तरः।
आपो ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः॥
एतदेवेदृशं सूक्ष्मं ब्रह्मचर्य विदुर्बुधाः॥ (महाभारत आश्वमेधिकपर्व २६.१७.१८)

ब्रह्मचारी : ब्रह्मचारी वह है जिसके लिए ब्रह्म ही सर्वस्व है। ब्रह्म ही उसकी समिधा है और ब्रह्म ही उसकी अग्नि। वह स्वयं ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है और ब्रह्म में ही स्थित रहता है। ब्रह्म ही उसके लिए जल है, ब्रह्म ही गुरु है, और ब्रह्म ही उसकी साधना का परम लक्ष्य। ब्रह्मचारी अपनी समस्त चित्तवृत्तियों को ब्रह्म में समर्पित रखता है। ऐसी धारणा और आचरण, जो ब्रह्म को ही केंद्र में रखकर जीवन यापन करता है, ब्रह्मचर्य कहलाता है। इस ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला ही सच्चे अर्थों में ब्रह्मचारी कहलाता है। विद्वान इसे ही सूक्ष्म ब्रह्मचर्य के रूप में जानते हैं।

ये गुरून् पर्युपासन्ते नियताः ब्रहाचारिणः। (महाभारत शान्ति पर्व १९२.४)

जो सदैव गुरु की सेवा में रत रहता है तथा संयमित आचरण करता है वही ब्रह्मचारी कहलाता है।

ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश :

उपनयन संस्कार का विधान उपनयन संस्कार शिष्य को आत्मसंयम, अनुशासन और आध्यात्मिक शिक्षा के लिए तैयार करता है। गुरुकुल में ही आचार्य ब्रह्मचारी का उपनयन संस्कार करता है और ईश्वर के मार्ग पर चलने का व्रत धारण कराता है। सदा आचार्य के प्रति ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचारी के प्रति आचार्य अनुकृत रहकर जीवन बिताने का दोनों सङ्कल्प लेते हैं। आचार्य ब्रह्मचारीका वेदारम्भ संस्कार कराते हुए उसे अपने कर्तव्यों के प्रति सचेत कर हैं। ब्रह्मचारी को तपोमय जीवन की दीक्षा देते हुए आचार्य कहते हैं-

कर्म कुरु। दिवा मा स्वाप्सीः। आचार्याधीनो वेदमधीव।
क्रोधानृते वर्जय। मैथुनं वर्जय। उपरि शय्यां वर्जय।
मांसरुक्षाहार मद्यादिपानं च वर्जय। सुशीलो मितभाषी
सभ्यो भव। नित्यं युक्ताहार-विहारवान् विद्योपार्जने च
यत्नवान् भव...। (गोभिलीय एवं पारस्कर गृह्यसूत्र)

उपर्युक्त आचार्य के उपदेश में ब्रह्मचारी के यशस्वी जीवन का परिदृश्य दिखाई देता है।

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च॥ (मनुस्मृति २.६९)
अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः।
ब्रहाञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः॥ (मनुस्मृति २.७०)

शौच = शारीरिक और मानसिक स्वच्छता। आचार-व्यवहार = सदाचार, विनम्रता और अनुशासन। अग्निकार्य = यज्ञ और अग्निहोत्र की विधि। संध्या उपासना = नित्य प्रातः और संध्याकाल में ध्यान और जप। शास्त्रोक्त विधियां = आचमन, ब्रह्मांजलि, और सादे वस्त्र धारण करना। अनुशासन = अध्ययन के दौरान ब्रह्मांजलि मुद्रा में बैठना, हल्के और सादे वस्त्र पहनना। इंद्रिय-निग्रह = इंद्रियों पर संयम रखना और मन को नियंत्रित करना। इन शिक्षाओं के माध्यम से शिष्य ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश के लिए शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक रूप से तैयार होता है।

ब्रह्मचारी के कर्तव्य

आहूताध्यायी गुरुकर्मस्वबोधः पूर्वोत्थायी चरमं चोपशायी।
मृदुर्दान्तो धृतिमानप्रमत्तः स्वाध्यायशीलः सिध्यति ब्रहाचारी॥ (महाभारत आदिपर्व ९१.२)
ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च।
तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च।
शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च।
अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च
स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा
च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च।
प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। (तैत्तिरीयोपनिषत् [शिक्षावल्ली, अनुवाक ९)

ये पढ़ने-पढ़ानेवालों के नियम है। (ऋतं०) यथार्थ आचरण से पढ़े और पढ़ाये, (सत्यं०) सत्याचार से सत्यविद्याओं को पढ़े या पढ़ाये, (तपः०) तपस्वी अर्थात् धर्मानुष्ठान करते हुए वेदादि शास्त्रों को पढ़े और पढ़ाये, (दमः०) बाह्य इन्द्रियों को बुरे आचरणों से रोक के पढ़े और पढ़ाते जाये, (शमः०) अर्थात् मन की वृत्ति को सब प्रकार के दोषों से हटाये पढ़ते-पढ़ाते जाये, (अग्नयः०) आहवनीयादि अग्नि और विद्युत् आदि को जान के पढ़ते-पढ़ाते जाये, और (अग्निहोत्रं०) अग्निहोत्र करते हुए पठन और पाठन करे-कराये, (अतिथयः०) अतिथियों की सेवा करते हुए पढ़े और पढ़ाये, (मानुषं०) मनुष्यसम्बन्धी व्यवहारों को यथायोग्य करके पढ़ते और पढ़ाते रहे, (प्रजा०) अर्थात् सन्तान और राज्य का पालन करते हुए पढ़ते पढ़ाते जाये, (प्रजन०) वीर्य की रक्षा और वृद्धि करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जाये, (प्रजातिः०) अर्थात् अपने सन्तान और शिष्य का पालन करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जाये।

वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चौव हिंसनम्॥ (मनुस्मृति २.१७७)

ब्रह्मचारी को जीवन में साधारण और संयमित रहना चाहिए। उसे मधुरस, मांसाहार, सुगंधित पदार्थ, गहनों और विलासिता की वस्तुओं का त्याग करना चाहिए।

निष्कल्मषं ब्रहाचर्यमिच्छता चरितुं सदा।
निद्रा सर्वात्मना त्याज्या स्वप्नदोषानवेक्षता॥ (महाभारतम् १२.२०९)

जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य का शुद्ध रूप से पालन करना चाहता है, उसे अशुद्धियों से बचना चाहिए और निद्रा का त्याग कर आत्मनियंत्रण बनाए रखना चाहिए।

ब्रह्मचारी के लिए त्याज्य कर्म

अभ्यंगमंजनचक्ष्णो रूपानच्छत्रधारणम्।
काम क्रोध च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतं व जनवादं च परीवादं तथाऽनृत्तम।
स्त्रीणां च प्रेक्षणा लम्भमुपघातं परस्य च॥ (मनुस्मृति २.१७८-१६९)

अभ्यंग और अंजन = शरीर पर तेल मालिश और आँखों में अंजन लगाना। आडंबरपूर्ण आचरण = सुंदर वस्त्र धारण करना, छाता लेकर चलना, या जूते पहनना। मन के दोष = काम-अनावश्यक इच्छाएँ, क्रोध- गुस्सा और आवेश, और लोभ-लालच का त्याग। मनोरंजन = नृत्य, गायन, और वाद्य यंत्र बजाना। अनैतिक आचरण = जुआ खेलना, समाज में दूसरों की निंदा करना, असत्य भाषण करना। स्त्रियों से जुड़ा आचरण- प्रेक्षणा = अनावश्यक रूप से स्त्रियों को देखना। लम्भ= अकारण उनका स्पर्श। ब्रह्मचारी को स्त्रियों के प्रति सम्मानजनक और संयमित व्यवहार रखना चाहिए। अन्यायपूर्ण कृत्य = उपघात = दूसरों को धोखा देना या हानि पहुँचाना।

ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् ब्रह्मचारी अपने गृहस्थ जीवन को कैसे जिए इस हेतु आचार्य अपने शिष्य को उपदेश करते हैं

जिसका वर्णन तैत्तिरीय उपनिषद की शिक्षा में किया गया है

वेदमनुच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुषास्ति। सत्यं वद। धर्म चर। स्वाध्यायन्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातंतुं मा व्यवच्छेत्सिः। सत्यान्न प्रमदितव्यम। धर्मान्न प्रमदितव्यम। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम।

स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

आचार्य शिष्य को वेद का भली-भाँति अध्ययन कराकर समावर्तन संस्कार के समय गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके गृहस्थ-ध र्मका पालन करने की शिक्षा देते हैं-पुत्र! तुम सदा सत्य-भाषण करना, आपत्ति पड़ने पर भी झूठ का कदापि आश्रय न लेना, अपने वर्ण-आश्रम के अनुकूल शास्त्र-सम्मत धर्मका अनुष्ठान करना, स्वाध्याय से अर्थात् वेदों के अभ्यास, संध्या-वन्दन, गायत्री-जप और भगवन्नाम गुण-कीर्तन आदि नित्यकर्म में कभी भी प्रमाद न करना- अर्थात् न तो कभी उन्हें अनादरपूर्वक करना और न आलस्यवश उनका त्याग ही करना।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।

अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि।

तानि सेवितव्यानि। नो इतरानी. यान्यस्माकः सुचरितानि।

तानि त्वयोपास्यानि। नो इतरानी. ये के चस्माश्रेयः

सो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम। श्रद्धया

देयम। अश्रद्धयादेयम। श्रिया दयम। ह्रिया दयम। भैया दयम. संवत् देयम।

पुत्र! तुम माता, पिता, आचार्य अतिथि में देवबुद्धि रखना। आशय यह है कि इन चारों को ईश्वर की प्रतिमूर्ति समझकर श्रद्धा और भक्ति पूर्वक सदा आज्ञा का पालन, नमस्कार और सेवा करते रहना, इन्हें सदा अपने विनयपूर्ण व्यवहार से प्रिय रखना। जगत् में जो-जो निर्दिष्ट कर्म हैं, उनका सेवन करना। उनके भिन्न जो दोषयुक्त निषिद्ध कर्म हैं, उनका कभी भूलकर सपने में भी आचरण नहीं करना। हमारे अपने गुरुजनों के आचार-व्यवहार में भी जो उत्तम शास्त्र एवं संस्कारित पुरुषों द्वारा जो अनुमोदित आचरण हैं, जिनके विषय में किसी प्रकार की शंका को स्थान नहीं है, उन्ही का तुम्हे अनुकरण करना चाहिए,

उन्ही का सेवन करना चाहिए। जिनके विषय में जरा सी भी शंका हो, उनका अनुकरण कभी नहीं करना चाहिए। जो कोई भी हमसे श्रेष्ठ - वय, विद्या, तप, आचरण आदि में बड़े तथा ब्राह्मण आदि पूज्य पुरुष घर पर पधारें, उनको पाद्य, अर्घ्य, आसन आदि प्रदान करके सब प्रकार से उनका सम्मान तथा यथायोग्य सेवा करनी चाहिए। अपनी शक्ति के अनुसार दान करने के लिए तुम्हे सदा उदारतापूर्वक तत्पर रहना चाहिए। जो कुछ भी दिया जाये, वह श्रद्धापूर्वक देना चाहिए। अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिए; क्योंकि बिना श्रद्धा के किये हुए दान आदि कर्म असत् माने गए हैं।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ (गीता. १७.२८)

सारा धन भगवान् का है, मै यदि इसे अपना मानू तो यह अपराध है। इसे सब प्राणियों के हृदय में स्थित भगवन की सेवा में ही लगाना मेरा कर्त्तव्य है। मै जो कुछ दे सकता हूँ, वह भी बहुत कम है इस प्रकार सोचकर संकोच का अनुभव करते हुए देना चाहिए। मन में दनिता का अभिमान रुपी भाव नहीं आने देना चाहिए। सर्वत्र और सबमे भगवान् हैं अतः दान लेने वाले भी भगवान् ही हैं, उनकी बड़ी कृपा है कि मेरा दिया हुआ स्वीकार कर रहे हैं इस प्रकार विचार कर भय पूर्वक दान देना चाहिए। परंतु जो कुछ दिया जाय वह विवेकपूर्वक, उसके परिणामको समझकर निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर देना चाहिये (गीता १७। २०)। इस प्रकार दिया हुआ दान ही भगवान् की प्रीति का, कल्याण का साधन हो सकता है। वही अक्षय फल का देने वाला है।

अथ यदि ते कर्मवि चिकित्सा वा वृत्तवि चिकित्सा वा स्यात।

ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्षिणः। युक्ता कमिश्नराः। एलोक्षा

धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र परिवर्तन। तथा तत्र वर्तेथाः।

अथाभ्यख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्षिणः। युक्ता

कमिश्नराः। एलोक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु परिवर्तन।

तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा

वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम। एवमुपासितव्यम।

एवमु चौतदुपास्यम।

यह सब करते हुए भी यदि तुमको किसी अवसर पर अपना कर्तव्य निश्चित करने में दुविधा उत्पन्न हो जाय, अपनी बुद्धि से किसी एक निश्चय पर पहुँचना कठिन हो जाय तुम किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाओ तो ऐसी स्थिति में वहाँ जो कोई उत्तम विचार रखने वाले, उचित परामर्श देने में कुशल, सत्कर्म और सदाचार में तत्परतापू र्वक लगे हुए, सबके साथ प्रेम पूर्वक व्यवहार करने वाले तथा एकमात्र धर्म पालन की ही इच्छा रखने वाले विद्वान् ब्राह्मण (या अन्य कोई ऐसे ही महापुरुष) हों-वे जिस प्रकार ऐसे प्रसङ्गों पर आचरण करते हों, उसी प्रकार का आचरण तुम्हें भी करना चाहिये। ऐसे स्थलों में उन्हीं के सत्परामर्श के अनुसार उन्हीं के स्थापित आदर्श का अनुगमन करना चाहिये। इसके अतिरिक्त जो मनुष्य किसी दोष के कारण लाञ्छित हो गया हो, उसके साथ किस समय कैसा व्यवहार करना चाहिये- इस विषय में भी यदि तुमको दुविधा प्राप्त हो जाय, तुम अपनी बुद्धि से निर्णय न कर सको तो वहाँ भी जो विचारशील, परामर्श देने में कुशल, सत्कर्म और सदाचार में पूर्णतया संलग्न तथा धर्मकामी (सांसारिक धनादि की कामना से रहित) नि:स्वार्थी विद्वान् ब्राह्मण हों, वे लोग उसके साथ जैसा व्यवहार करें, वैसा ही तुमको भी करना चाहिये। उनका व्यवहार ही इस विषय में प्रमाण है।

गृहस्थ आश्रम

(जीवन का द्वितीय चरण)

'ब्रहाचर्य परिसमाप्य गृही भवेत'- ब्रह्मचर्य आश्रम पूर्ण करने के बाद आयु का दूसरा भाग गृहस्थ आश्रम के लिए निध ारित है। गृहस्थ आश्रम वह जीवन अवस्था है जिसमें व्यक्ति गृहपति या गृहस्थ के रूप में समाज और परिवार की जिम्मेदारियाँ निभाता है। इसे चारों आश्रमों में श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि इसमें धर्म, अर्थ, और कामख़तीनों पुरुषार्थ प्राप्त करने का अवसर होता है।

गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता :

गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्मात् ज्येष्ठाश्रमो गृही।

अर्थ : गृहस्थाश्रम के अतिरिक्त अन्य तीन आश्रम-ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, और संन्यास-गृहस्थ पर निर्भर हैं। गृहस्थ ही इन आश्रमों के भरण-पोषण का उत्तरदायी है। इसलिए गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

गृहस्थाश्रम का महत्त्व :

मनुस्मृति और महाभारत में गृहस्थाश्रम को आश्रम व्यवस्था का आधार स्तंभ कहा गया है। सभी आश्रम, चाहे ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ या संन्यास, गृहस्थाश्रम के बिना अस्थिर और अधूरे माने गए हैं।

जैसे सभी प्राणी वायु पर आश्रित हैं, वैसे ही सभी आश्रम गृहस्थ आश्रम पर आश्रित रहते हैं। सभी नदियाँ सागर में जाकर ठहरती हैं, उसी प्रकार ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी गृहस्थ से सहायता और संरक्षण प्राप्त करते हैं।

"यथा वायु समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तव:।

तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमा:।"

"यथा नदीनदा: सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम।

तथैवाश्रमिण: सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम।" (मनुस्मृति ३.७७.९०)

गृहस्थ आश्रम के उद्देश्य एवं कर्तव्य :

धर्म, अर्थ, और काम की प्राप्ति :

१. विवाह संस्कार :

- विवाह संस्कार के बाद ही ब्रह्मचारी गृहस्थ बनता है।
- विवाह के माध्यम से वह धर्म, अर्थ, और काम के आदर्शों का पालन करता है।

२. पितृऋण और गुरु ऋण का निर्वहन :

- पितृऋण: संतानोत्पत्ति के माध्यम से पूर्वजों का ऋण चुकाना।

- गुरु ऋण: स्वाध्याय और प्रवचन के माध्यम से गुरु के प्रति अपने दायित्व का निर्वहन।

३. पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान :

गृहस्थी का प्रतिदिन पंचमहायज्ञ करना शास्त्रों में अनिवार्य बताया गया है।

स्वाध्यायो बहायज्ञ पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।

होमो देवो बलिर्भूतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ (मनुस्मृति, ३.७०)

पंचमहायज्ञों का विवरण :

१. ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याय) :

- वेदों का अध्ययन और स्वाध्याय।
- ईश्वर की स्तुति और त्रिकाल संध्या का पालन।

२. पितृयज्ञ :

- माता-पिता की सेवा और उनकी आज्ञा का पालन।
- पितरों के लिए तर्पण, श्राद्ध, और नान्दी कर्म।

३. देवयज्ञ :

- ईश्वर स्तुति प्रार्थना उपासना, अग्नि प्रज्वलित कर अग्निहोत्र करना।
- देवताओं को आहुति अर्पित करना और उनकी कृपा प्राप्त करना।

४. भूतयज्ञ (बलि वैश्वदेव यज्ञ) :

- पतित एवं प्राणियों की भरण-पोषण के लिए अन्न और भोजन का अर्पण।
- कुत्ते, पक्षी, कीट और अन्य जीवों के लिए भोजन की व्यवस्था।

५. नृयज्ञ (अतिथि सत्कार) :

- अतिथि का स्वागत, सत्कार, आसन, भोजन और विश्राम की सेवा-भाव से व्यवस्था।
- 'अतिथि देवो भव' के सिद्धांत का पालन, मीठी वाणी।

४. समाज और अन्य आश्रमों की सेवा :

गृहस्थ आश्रम को अन्य तीन आश्रमों का आधार माना गया है। गृहस्थी का यह दायित्व है कि वह-ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, और संन्यासियों की सेवा, सत्कार और सम्मान करे।

गृहस्थ आश्रम में निषेध :

न दिवा प्रस्वपेज्जातु न पूर्वापररात्रिषु। न भुजीयादन्तराकाले॥ (महाभारत शान्ति पर्व, २४३.६)

- गृहस्थ के लिए दिन में सोना वर्जित होता है। रात्रि के पहले प्रहर (शाम) और अंतिम प्रहर (भोर) में सोना भी वर्जित है।
- भोजन का समय: गृहस्थ को प्रात: और सायं भोजन करना चाहिए। मध्याह्न में भोजन करना वर्जित है।

निंदा और अहंकार का त्याग :

- किसी भी व्यक्ति की निंदा करना गृहस्थ के लिए वर्जित है।
- अहंकार से बचकर विनम्रता को अपनाना चाहिए।

हिंसा का परित्याग :

- गृहस्थ को अहिंसा का पालन करना चाहिए। किसी प्राणी को अनावश्यक रूप से हानि पहुँचाना वर्जित है।

अनैतिक आचरण का त्याग :

- बिना अनुमति किसी की वस्तु लेना अनुचित है।
- चोरी या अन्यायपूर्ण आचरण गृहस्थ के लिए वर्जित है।

मधु और मांस का सेवन वर्जित : गृहस्थ को मधु (शराब) और मांसाहार का सेवन नहीं करना चाहिए। यह शास्त्रों के अनुसार अनुचित माना गया है।

उपलब्धियों के प्रति आसक्ति का त्याग : गृहस्थ को अपनी संपत्ति, यश, और उपलब्धियों के प्रति आसक्त नहीं होना

चाहिए। उसे अपनी प्राप्तियों का उपयोग धर्म और समाज के हित में करना चाहिए।

गृहस्थ आश्रम (सभी आश्रमों का आधार)

महर्षि वेदव्यास ने कहा कि जैसे सभी जीव अपनी माता पर निर्भर रहते हैं, वैसे ही सभी आश्रम गृहस्थ आश्रम पर आधारित होते हैं।

"यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
एवं गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्तन्त इतराश्रमाः।" (शांति पर्व २६९.५)

महाभारत में यह स्पष्ट किया गया है कि गृहस्थाश्रम, अन्य तीनों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास) के अस्तित्व का आधार है। इसे सभी आश्रमों का मूल कहा गया है:

"गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
चत्वार आश्रमाः प्रोक्ता सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः।" (अनुशासन पर्व, ४५/१३)

वानप्रस्थाश्रम

जीवन का तृतीय चरण

वानप्रस्थ आश्रम वैदिक जीवन का तृतीय चरण है, जिसे "वैखानस" भी कहा जाता है। इसका अर्थ है वन की ओर प्रस्थान करना।

विधान : वानप्रस्थ में प्रवेश का सही समय गृहस्थ आश्रम की जिम्मेदारियों के पूर्ण निर्वाह के बाद होता है।

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः॥ (मनुस्मृति ६.१)

गृहस्थाश्रम में विधिपूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन कर चुके व्यक्ति को, जब उसकी इंद्रियाँ संयमित हो जाएँ, वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए। आयु का तृतीय भाग (५० वर्ष के बाद) वानप्रस्थ के लिए निर्धारित किया गया है।

तृतीयमायुषो भागं वानप्रस्थाश्रमे वसेत्।
तानेवाग्नीन् परिचरेद् यजमानो दिवौकसः॥ (महाभारत, शान्ति पर्व)

मनुष्य को अपने जीवन का तीसरा भाग वानप्रस्थ आश्रम में व्यतीत करना चाहिए। वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने के बाद व्यक्ति को धार्मिक कृत्यों, अपने अग्नि-कर्म (अग्निहोत्र और यज्ञ) को निरंतर बनाए रखना चाहिए।

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।

जीवन के तीसरे भाग (वानप्रस्थ आश्रम) में व्यक्ति को वन में जाकर रहना चाहिए। इसका अर्थ है कि सांसारिक मोह-माया और भौतिक सुखों को त्याग कर व्यक्ति को अपने जीवन को आध्यात्मिक साधना और आत्मानुभूति के लिए समर्पित करना चाहिए।

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत॥ (मनुस्मृति ६.२)

जब गृहस्थ अपने बालों में सफेदी और शरीर में झुर्रियाँ देखे, तथा अपने पुत्र का भी संतान को बड़ा होते देखे, तब उसे वानप्रस्थ आश्रम का आश्रय लेना चाहिए।

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चौव परिच्छदम।
पुत्रेषु भार्यां निःक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा॥ (मनुस्मृति ६.३)

ग्राम्य (सांसारिक) भोजन और अन्य सभी भौतिक सुख-साधनों का त्याग कर, अपनी पत्नी को पुत्रों की देखभाल में छोड़कर, अथवा पत्नी के साथ ही वन में निवास करना चाहिए।

सदारो वाऽप्यदासे वा आत्मवान् संयतेन्द्रियः।
वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत् कृतकृत्यो गृहस्थाश्रमात॥ (महाभारत, शान्ति पर्व)

गृहस्थाश्रम में अपने समस्त कर्तव्यों को पूर्ण करने के बाद आत्मसंयमी और इंद्रिय-निग्रह करने वाला व्यक्ति वानप्रस्थ आश्रम

में प्रवेश करे। वह अपनी पत्नी के साथ या अकेले वानप्रस्थ जीवन अपना सकता है।

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।

ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः॥ (मनुस्मृति ६.४)

गृहस्थ अपने साथ अग्निहोत्र और धार्मिक कर्मों के लिए आवश्यक वस्तुएँ लेकर वन में प्रवेश करे और संयमपूर्वक वहाँ निवास करे।

वानप्रस्थी के कर्तव्य :

मुन्यन्नैर्विविधैर्मध्यैः शाकमूलफलेन वा।

एतानेव महायज्ञान्निर्वपेविधिपूर्वकम॥ (मनुस्मृति ६.५)

पंचमहायज्ञ का पालनः वानप्रस्थी को मुनियों के योग्य भोजनख्शाक, मूल, फल, या पवित्र अन्न-का सेवन करना चाहिए। इन्हीं वस्तुओं के माध्यम से वह पंचमहायज्ञ (ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, और अतिथियज्ञ) विधिपूर्वक संपन्न करे।

वसीत चर्मचीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा।

जयश्च विर्भयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च॥ (मनुस्मृति ६.६)

वानप्रस्थी को मृगचर्म या वल्कल वस्त्र धारण करना चाहिए। उसे प्रतिदिन प्रातः और सायं स्नान करना चाहिए। उसे नख, बाल और दाढ़ी काटने से बचना चाहिए। वानप्रस्थी को भय, लोभ और सभी प्रकार के विकारों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।

दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥ (मनुस्मृति ६.८)

वानप्रस्थी को सदैव स्वाध्याय (वेदाध्ययन) में लगे रहना चाहिए। उसे संयमी, मित्रवत् व्यवहार करने वाला और ध्यान में स्थिर होना चाहिए। वानप्रस्थी को सदैव दान देना चाहिए, लेकिन स्वयं दान ग्रहण नहीं करना चाहिए। सभी प्राणियों के प्रति दया और करुणा का भाव रखना उसका कर्तव्य है।

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।

शरणेष्वममश्चौव वृक्षमूलनिकेतनः॥ (मनुस्मृति ६.२६)

वानप्रस्थी को भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए कोई प्रयास नहीं करना चाहिए। उसे ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए पृथ्वी पर ही शयन करना चाहिए। वह किसी भी स्थान या वस्तु के प्रति मोह नहीं रखे और वृक्षों के नीचे या प्राकृतिक स्थानों में निवास करे।

वानप्रस्थाश्रम का उद्देश्य :

वानप्रस्थाश्रम का उद्देश्य जीवन के तृतीय चरण में व्यक्ति को सांसारिक बंधनों से दूर कर आत्मिक और आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर करना है। यह आश्रम गृहस्थ और संन्यास के मध्य एक सेतु के रूप में कार्य करता है।

- **वैराग्य की ओर प्रवृत्ति :** प्रौढ़ावस्था में सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर वैराग्य अपनाना।
- **सादा जीवन :** सरल जीवन और उच्च विचार रखना।
- **प्राकृतिक जीवन :** कंद, मूल, फल का सेवन और वन्य वस्त्र धारण करना।
- **स्वाध्याय :** शास्त्रों का अध्ययन और नैतिक जीवन का पालन।
- **सेतु :** गृहस्थ और संन्यास के बीच संतुलन बनाना।
- **मोक्ष मार्ग :** साधना और तपस्या द्वारा मोक्ष प्राप्ति।
- **अंतःकरण शुद्धि :** आत्मा को पवित्र करना।
- **अनुशासन :** अनुशासित जीवन और प्रतिष्ठित पद की प्राप्ति।

संन्यास आश्रम

जीवन का चतुर्थ चरण

संन्यास आश्रम जीवन के चार आश्रमों का शिखर है। इसकी आवश्यकता केवल व्यक्तिगत मोक्ष के लिए नहीं, बल्कि समाज, धर्म, और सत्यविद्या की उन्नति के लिए भी है। यह आश्रम एक ऐसा पथ प्रस्तुत करता है, जहां व्यक्ति पूर्ण वैराग्य और ज्ञान के साथ मानवता की सेवा करते हुए ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है।

संन्यास का अर्थ है–सम्यक् त्याग, सभी प्रकार की कामनाओं और सांसारिक वस्तुओं से मुक्ति। अर्थात् वह अवस्था जिसमें मनुष्य पूर्णतः भौतिकता से विरक्त हो जाता है।

"काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥" (गीता १८.२)

कामना–प्रेरित कर्मों का त्याग संन्यास है, और सभी कर्मों के फल का त्याग ही सच्चा त्याग है।

"अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ (गीता ६.१)

जो व्यक्ति कर्मफल की आशा किए बिना कर्तव्य करता है, वही सच्चा संन्यासी और योगी है।

संन्यास ग्रहण के तीन विकल्प :

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा
ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत॥ [अथर्ववेदीयजाबालोपनिषत् खं० ४]

१. **क्रमसंन्यास :** यह परंपरागत मार्ग है, जिसमें व्यक्ति क्रमशः वानप्रस्थ के बाद संन्यास ग्रहण करता है।

२. **विकल्प :** इस पक्ष के अनुसार, वानप्रस्थ का पालन किए बिना भी गृहस्थ आश्रम से सीधे संन्यास लिया जा सकता है। यदि किसी व्यक्ति को गृहस्थ जीवन के दौरान ही वैराग्य की तीव्र अनुभूति हो और वह सांसारिक बंधनों से मुक्त होना चाहे, तो उसे वानप्रस्थ की आवश्यकता नहीं है।

३. **ब्रह्मचर्य से संन्यास :** जिस दिन मनुष्य को वैराग्य की प्राप्ति हो, उसी दिन उसे घर से, वन से, या ब्रह्मचर्य आश्रम से संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए।

यदि कोई व्यक्ति प्रारंभ से ही वैराग्यवान हो, इंद्रियों पर नियंत्रण रखता हो, विषय–भोग से रहित हो, और केवल परोपकार व आत्मसाधना के उद्देश्य से प्रेरित हो, तो वह ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संन्यास ग्रहण कर सकता है। यह मार्ग विशेष रूप से उन विद्वानों और योगियों के लिए है, जो सांसारिक जीवन में प्रविष्ट हुए बिना ही मोक्ष की साधना करना चाहते हैं।

चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत॥ (मनुस्मृति ६.३३)

जीवन के चौथे भाग में (संन्यास आश्रम), सभी प्रकार के मोह, बंधनों और सांसारिक संगति को त्यागकर व्यक्ति को संन्यास ग्रहण करना चाहिए।

संन्यास की विधि :

वानप्रस्थी, जो पहले से ही भौतिक संसार से विरक्त हो चुका होता है, अपनी सम्पूर्ण संपत्ति दान कर देता है।

१. **यज्ञीय अग्नि का आत्मा में स्थित करना :** वह यज्ञ की अग्नि (आहवनीय अग्निः यज्ञ करने का पवित्र अग्नि। गार्हपत्य अग्निः गृहस्थी में उपयोग होने वाला अग्नि। दक्षिणाग्निः भोग और अर्पण का अग्नि।) को आत्मा में अवस्थित कर लेता है। इसके बाद, वह संन्यास ग्रहण करता है और सामाजिक संबंधों व सांसारिक कार्यों से पूर्णतः अलग हो जाता है।
संन्यासी इन अग्नियों को बाह्य रूप में उपयोग नहीं करता, बल्कि इन्हें अपनी आत्मा में स्थित कर लेता है।

प्राजापतेर्वा एष विक्रमाननुविक्रमते य उपहरति।
योऽतिथीनां य आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो
यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः॥ (अथर्ववेद ९.६.२९–३०)

संन्यासी का अस्तित्व ही प्राजापत्य यज्ञ के स्वरूप को जीता है। उसका सान्निध्य आहवनीय अग्नि है, उसका निवास स्थान गार्हपत्य अग्नि है, और उसका शरीर दक्षिणाग्नि के समान है। उसकी आत्मा में ज्ञानाग्नि हमेशा प्रज्वलित रहती है।

वनाद् गृहाद्वा कृत्वेष्टि सार्ववेदसदक्षिणाम्।

प्राजापत्यां तदन्ते तानग्नीनारोप्य वात्मनि॥

वानप्रस्थ या गृहस्थ आश्रम से प्राजापत्य यज्ञ करने के बाद, सभी संपत्ति को दान में देकर अग्नियों को आत्मा में स्थापित कर, व्यक्ति संन्यास आश्रम में प्रवेश करता है। संन्यासियों के कर्तव्य मनुस्मृति में कहा गया है–

२. सत्य और शुद्ध आचरण :

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत॥ संन्यासी को सदा सत्य बोलना चाहिए और मन को शुद्ध रखते हुए शुद्ध आचरण करना चाहिए।

३. क्रोध और अहंकार का त्याग :

क्रुद्धयन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत।

सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत॥

यदि कोई क्रोध करे तो प्रत्युत्तर में क्रोध न करे। अपशब्द सुनने पर भी उसका भला ही सोचे। झूठ बोलने और अनुचित वाणी से बचना चाहिए।

४. आत्मनिर्भरता और निरपेक्षता :

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।

आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह॥

संन्यासी को आत्मा में रत, इच्छाओं से मुक्त, और आत्मनिर्भर रहना चाहिए। उसे मांस और मद्य जैसे विषयों से दूर रहना चाहिए।

५. बाहरी और आंतरिक शुद्धता :

कप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान।

विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन॥

संन्यासी को केश, नख, दाढ़ी, मूंछ काटनी चाहिए। उसे सुयोग्य वस्त्र, दण्ड और पात्र धारण करना चाहिए। वह सभी प्राणियों को बिना कष्ट दिए सदा नियमपूर्वक विचरण करे।

६. इंद्रियों का नियंत्रण और अहिंसा :

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।

अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते॥

इंद्रियों को नियंत्रित रखें, राग-द्वेष को समाप्त करें और सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा का पालन करें।

७. धर्म का प्रचार और समानता :

समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम॥

संन्यासी को सभी प्राणियों के प्रति समान दृष्टि रखनी चाहिए। बाहरी चिह्न जैसे दंड और कमंडलु धर्म का कारण नहीं हैं; सत्य और ज्ञान का प्रचार करना ही धर्म है।

८. प्राणायाम और ध्यान का महत्व :

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः।

व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः॥

संन्यासी को विधिपूर्वक तीन बार प्राणायाम करना चाहिए। ओंकार और व्याहृतियों के साथ किए गए प्राणायाम को परम तप माना गया है।

९. दोषों का नाश :

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।

तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात॥

जैसे अग्नि धातु के मल को नष्ट करती है, वैसे ही प्राणायाम और प्राण के नियंत्रण से इंद्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं।

१०. **ध्यान और आत्मा का अनुभव :**

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः।

ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः।।

ध्यान योग के माध्यम से संन्यासी को छोटे-बड़े सभी प्राणियों में परमात्मा का अनुभव करना चाहिए और आत्मा की गति को समझना चाहिए।

११. **दशलक्षण धर्म का पालन :**

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

संन्यासी को धैर्य (धृति), क्षमा, आत्मसंयम (दम), चोरी न करना (अस्तेय), शुद्धता (शौच), इंद्रियों का नियंत्रण, बुद्धिमत्ता (धी), ज्ञान (विद्या), सत्य, और क्रोध न करना (अक्रोध)-इन दस धर्मों का पालन करना चाहिए।

१२. **संग-दोष और द्वंद्वों से मुक्ति :**

अनेन विधिना सर्वास्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः।

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते।।

संन्यासी को धीरे-धीरे संग-दोष और द्वंद्वों (जैसे हर्ष और शोक) से मुक्त होकर ब्रह्म में स्थित होना चाहिए।

१३. **आत्मा और धर्म की उन्नति :**

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः।

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम्।

न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति।।

संन्यासी को जहां भी वह हो, धर्म का पालन करना चाहिए। जैसे कतक वृक्ष का फल पानी को शुद्ध करता है, पर केवल नाम से नहीं, वैसे ही संन्यासी को केवल चिह्नों से नहीं, बल्कि कर्म से धर्म को सिद्ध करना चाहिए।

आश्रम व्यवस्था का महत्व

१. भारतीय संस्कृति में अत्यन्त सम्मान और विश्वास के साथ स्वीकार किया गया है कि ब्रह्मचर्यादि चार आश्रमों में विहित कर्त्तव्यकर्मों का अनुसरण करने वाला व्यक्ति चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त करता है। मनुस्मृति में भी कहा गया ह'

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः।

यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम।। (मनुस्मृति ६.८८)

जब इन आश्रमों का पालन शास्त्रानुसार और क्रमबद्ध रूप से किया जाता है, तो ऐसा व्यक्ति जो वैदिक शिक्षाओं और कर्तव्यों का पालन करता है, उसे ये आश्रम परम गति (मोक्ष) तक पहुंचा देते हैं।

महाभारत में महर्षि वेदव्यास ने भी स्पष्टतः उल्लेख किया है कि ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी और भिक्षुक यदि अपने-अपने आश्रमानुकूल आचरण करते हैं तो परम गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।

यथोक्तचारिणः सर्वे गच्छन्ति परमां गतिम्।। (महाभारत शान्ति पर्व, २४.२.१९)

२. आश्रमों के विभाजन से व्यक्ति अपनी आयु के अनुरूप कर्म करता है जिससे उसका मानसिक विकास भी होता है।

३. समाज में परस्पर प्रेम एवं सौहार्द की भावना बनी रहती है। गृहस्थी अन्य तीन आश्रमियों का सम्मान करते हैं। वानप्रस्थी आदि अन्य भी अन्य-अन्य आश्रमवासियों का यथेष्ट सम्मान करते हैं।

४. आश्रम व्यवस्था के अध्यात्म प्रधान होने से व्यक्ति के जीवन में अलौकिक सुख के भी अनुभव होते रहते हैं।

५. सत्कर्म करते रहने से चारित्रिक श्रेष्ठता भी बनी रहती है जो कि दिव्यता प्रदान करती है। इस प्रकार आश्रम व्यवस्था आदर्श जीवन शैली के लिये महत्त्वपूर्ण है।

स्मरणीय बिंदु-

1. अहिंसा किसी भी प्राणी को मन, वचन और कर्म से कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है
2. सत्य जो जैसा देखा, सुना या अनुभव किया हो, उसे वैसा ही प्रकट करना सत्य है
3. अस्तेय बिना अनुमति के किसी की वस्तु को ग्रहण न करना (चोरी न करना) अस्तेय है
4. ब्रह्मचर्य वीर्य की रक्षा करना और अपनी इंद्रियों व मन पर पूर्ण नियंत्रण रखना ब्रह्मचर्य है
5. अपरिग्रह आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना अपरिग्रह कहलाता है
6. वर्ण व्यवस्था यह व्यवस्था जन्म के आधार पर नहीं, बल्कि गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर विभाजित थी (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र)
7. ब्राह्मण समाज का बौद्धिक और आध्यात्मिक मार्गदर्शक, जिसका कार्य ज्ञान देना और लेना है
8. क्षत्रिय समाज की रक्षा और न्याय व्यवस्था को सुदृढ़ करने वाला वर्ग
9. वैश्य कृषि, व्यापार और आर्थिक गतिविधियों द्वारा समाज का पोषण करने वाला वर्ग
10. शूद्र सेवा और श्रम के माध्यम से समाज के अन्य अंगों को सहयोग प्रदान करने वाला आधार

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

1. पंचमहाव्रत क्या हैं? इनके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मानव जीवन में इनकी उपयोगिता का सविस्तार वर्णन कीजिए
2. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः- गीता के इस श्लोक के आलोक में वर्ण व्यवस्था के वैज्ञानिक आधार की विवेचना कीजिए
3. चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) के स्वरूप और उनके विशिष्ट कर्तव्यों का सविस्तार वर्णन कीजिए
4. ब्रह्मचर्य व्रत का पालन एक विद्यार्थी के लिए क्यों अनिवार्य है? इसके पालन के शारीरिक और मानसिक लाभों की समीक्षा कीजिए
5. समाज में शांति और संतुलन स्थापित करने के लिए अपरिग्रह और अस्तेय किस प्रकार सहायक हैं? उदाहरण सहित समझाइए

लघु उत्तरीय प्रश्न-

1. अहिंसा परमो धर्मः का वास्तविक अर्थ क्या है?
2. अपरिग्रह व्रत का पालन करने से व्यक्ति के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है?
3. ब्रह्मचर्य के अंतर्गत इंद्रिय-निग्रह से क्या तात्पर्य है?
4. वर्ण व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय के मुख्य कर्तव्यों में क्या अंतर है?
5. गृहस्थाश्रम को सभी आश्रमों का आधार क्यों माना गया है?
6. शूद्र वर्ण का समाज की स्थिरता में क्या योगदान है?
7. वानप्रस्थ आश्रम के दौरान व्यक्ति को किस प्रकार का जीवन व्यतीत करना चाहिए?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1. इनमें से कौन सा पंचमहाव्रत का हिस्सा नहीं है?

(।) अहिंसा

(2) सत्य

(3) तप

(4) अस्तेय

प्रश्न 2. आवश्यकता से अधिक संचय न करना किस व्रत का लक्षण है?

(।) सत्य

(2) अपरिग्रह

(3) ब्रह्मचर्य

(4) अहिंसा

प्रश्न 3. वर्ण व्यवस्था का मूल आधार क्या माना गया है?

(1) केवल जन्म
(2) केवल धन
(3) गुण, कर्म और स्वभाव
(4) केवल क्षेत्र
प्रश्न 4. ज्ञान और विद्या का दान करना किस वर्ण का मुख्य कर्तव्य है?
(1) क्षत्रिय
(2) वैश्य
(3) ब्राह्मण
(4) शूद्र
प्रश्न 5. मनुष्य के जीवन का प्रथम आश्रम कौन सा है?
(1) गृहस्थ
(2) ब्रह्मचर्य
(3) वानप्रस्थ
(4) संन्यास
प्रश्न 6. ऋत (सृष्टि के शाश्वत नियम) का पालन करने वाला व्रत कौन सा है?
(1) सत्य
(2) अस्तेय
(3) उपरोक्त सभी
(4) कोई नहीं
प्रश्न 7. वीर्य की रक्षा और मन पर नियंत्रण क्या कहलाता है?
(1) अस्तेय
(2) ब्रह्मचर्य
(3) अपरिग्रह
(4) अहिंसा
प्रश्न 8. समाज की सुरक्षा का भार किस वर्ण पर होता है?
(1) ब्राह्मण
(2) वैश्य
(3) क्षत्रिय
(4) शूद्र
प्रश्न 9. जैसा अन्न, वैसा मन का संबंध किस महाव्रत की शुद्धि से जुड़ा है?
(1) सत्य
(2) अस्तेय (पवित्र कमाई)
(3) अहिंसा
(4) अपरिग्रह
प्रश्न 10. चारों आश्रमों में से किसे ज्येष्ठ या आधार कहा जाता है?
(1) संन्यास
(2) गृहस्थ
(3) ब्रह्मचर्य
(4) वानप्रस्थ।

इकाई- 4.3 पञ्चप्राण परिचय

उद्देश्य-

1. विद्यार्थियों को मानव शरीर में क्रियाशील सूक्ष्म ऊर्जा के पाँच रूपों (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) और उनके विशिष्ट कार्यों से परिचित कराना।

2. मानव व्यक्तित्व के पाँच स्तरों या कोशों (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय) का बोध कराना, जो आत्मा को ढके रहते हैं।

3. योग और प्राणायाम के माध्यम से इन प्राणों और कोशों को संतुलित कर सर्वांगीण शारीरिक एवं मानसिक विकास का मार्ग प्रशस्त करना।

परिचय : प्राण पंच तत्वों में से एक प्रमख तत्व है जो शरीर को जीवित रखता है। यह विलक्षण ऊर्जा पुंज है जो अलग-अलग समय में अलग-अलग स्थान में प्रकट होती है। अलग-अलग शास्त्रों में प्राण की महिमा का अनेक प्रकार से वर्णन मिलता है-

वैदेह जनक के बहुदक्षिण यज्ञ के समय पञ्चाल देश के श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणों की सभा में विदग्ध शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछा :

कति देवा याज्ञवल्क्येति? (बृहदारण्यकोपनिषद्-३.९.१) याज्ञवल्क्य ने क्रमशः तीन हजार, तैंतीस, छह, दो और एक देवों का निरूपणा करते हुए अन्त में सब देवों में श्रेष्ठ एक देव के स्वरूप का व्याख्यान किया।

कतम एको देव इति? प्राण इति स ब्रह्मत्यदित्याचक्षते। (बृहदारण्यकोपनिषद्-३.९.९) अर्थात् वह एक देव कौन सा है? वह प्राण है। उसे ही ब्रह्म कहा जाता है। क्षर और अक्षर, जड़ व चेतन जगत् सब प्राण ब्रह्म का ही विस्तार है। प्राण ही प्रजापति रूप से सबके केन्द्रों में, हृदय या गर्भ में बैठा हुआ नाना रूप से प्रकट हो रहा है। योगी या आत्मज्ञानी पुरुष ही नाभिस्थित उस प्राणरूप योनि को देखते हैं।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥ (यजुर्वेद- ३१.१९)

शतपथ ब्राह्मण में प्राण को अमृत व प्रजापति कहा गया है -

प्राणो अमृतं तद् हि अग्ने रूपम् (शतपथ - १०.२.६.१८)
प्राणो हि प्रजापतिः (शतपथ ४.५.५.१३)
प्राण उ वै प्रजापतिः (शतपथ - ८.४.१.४)
प्राणः प्रजापतिः (शतपथ- ६.३.१.९)

आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि सब रोग मन्दाग्नि से पैदा होते हैं -

रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणि च। (अष्टांगहृदय, निदानस्थान - १२.१)

उदरगत अग्नि की मन्दता से ही सप्तधातु, तीन दोषों व शरीर के मूलतत्त्व पंचभूतों में विकार रूप रोग उत्पन्न हो जाते हैं। आयुर्वेद में १३ अग्नियाँ मानी गई हैं-एक जठराग्नि, पांच भूताग्नि एवं सप्त धात्वग्नि। इन तेरह अग्नियों की चिकित्सा को ही आयुर्वेद में कायचिकित्सा कहते हैं।

प्राण एवं अपान ही देवताओं के दिव्य वैद्य हैं जो समस्त ब्रह्माण्ड को चिकित्सा करते हैं, जिनकी विद्यमानता में मृत्यु का आक्रमण नहीं होता अर्थात ये प्राण-अपानरूपी देववैद्य जहाँ होंगे, जो व्यक्ति प्राणायाम करेगा वह रोगों से नहीं मरेगा। वह पूर्णायु को प्राप्त कर मृत्युंजयी बन जायेगा और इच्छामृत्यु को प्राप्त करेगा। ब्राह्मण ग्रन्थों और पुराणों में एक बहुत ही रोचक व सुन्दर कथा आती है, जिसका सार यह है कि वृद्ध एवं जीर्ण-शीर्ण शरीर वाले च्यवन ऋषि को देववैद्यों अश्विनीकुमारों ने पुनः युवा बना दिया। ये प्राण अपान ही देवताओं के दिव्य देववैद्य हैं। अथर्ववेद में भी यही कहा गया है-

प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजा शचीभिः।

संक्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम॥ (अथर्ववेद - ७.५३.१२)

हे अश्विनीकुमारो! मृत्यु को हमसे दूर करो। तुम देवों के भिषक् (वैद्य) हो। जिससे हम मनुष्य शतायु होकर जीयें। अथर्ववेद के प्राण सूक्त (११/२) में जहाँ प्राण शक्ति की अनन्त महिमा का वर्णन है, वहीं ऋग्वेद में प्राण को औषधि, महौषधि एवं दैवी शक्तियों का संवाहक कहा गया है-

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।

त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे॥ (ऋग्वेद-१०.१३७.३)

हे प्राण! तुम औषध बनकर हमें प्राप्त हो तथा जो 'रप' अर्थात् अशुद्धि, विकार या रोग है, हे वात! अर्थात् प्राण 'वि वाहि' उनको दूर कर दो। हे प्राण! तुम विश्वभेषज अर्थात् सम्पूर्ण औषध हो, साथ ही तुम देवताओं के दूत हो। अर्थात् दिव्य भावों को प्रदान करने वाले हो। प्राणायाम के द्वारा स्वास्थ्य संपादन की विधि दैवी चिकित्सा है। शरीरस्थ च्यवन क्रिया (बंजंइवसपेउ) को अश्विनीकुमार अर्थात प्राण-अपान रूप (दंइवसपेउ) दिव्यशक्ति के द्वारा संतुलित करके हम पूर्ण आरोग्य एवं पूर्ण आय प्राप्त कर सकते हैं। शरीरस्थ रसों को फिर से यविष्ठ बनाने की विधि प्राणायाम है। प्राचीन ऋषियों ने प्राणविद्या के रहस्य को जानकर जिस योगविद्या का आविष्कार किया, अनन्त काल तक यही योगविद्या या प्राणविद्या आरोग्य अमृतत्व और दीर्घ आयुष्य पाने के लिए सर्वोत्कृष्ट मानी जाती रहेगी। प्राण की प्रतिष्ठा ही अमृतत्व है, प्राण की उत्क्रान्ति ही मृत्यु है। प्राणायाम ही कुण्डलिनी जागरण, ऊर्ध्वरेता होने, प्राणोत्थान या ब्रह्मचर्य की रक्षा का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।

प्राण की महिमा बताते हुए चरक संहिता में कितना सुन्दर कहा है -

वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानाम भिवोढा आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतः॥ (चरकसंहिता, सूत्रस्थान- १२.८)

वायु देहरूपी यंत्र का धारण करने वाला है, इसकी सब चेष्टाओं का प्रवर्तक है। अवांछित विषयों की ओर जाने वाले मन का नियंत्रक है तथा वांछित विषयों में मन का प्रेरक है। सब इन्द्रियों का भी प्रेरक है। सब इन्द्रियार्थों को मन की ओर ले जाने वाला और आयु की निरन्तरता का साक्षी बना हुआ है।

वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम।

वायुर्विश्वमिदं सर्व प्रभुर्वायुश्च कीर्तितः॥ (चरकसंहिता, चिकित्सास्थान- २८.३)

वायु जीवन है, वायु बल है, वायु जीवों का धारक है, वायु ही इस विश्व का कारण है और वायु ही सब का प्रभु कहा गया है।

प्राण का महत्व-प्राण अर्थात् वायु पंच तत्वों का ,क प्रमु[ा तत्व है जो हमारे शरीर को जीवित रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

आयुर्वेद के अनुसार शरीर में जो निदोष (वात-पित्त-कफ) हैं] उसमें वात मुख्य है।

पित्तं पंगु॰ कफः पंगु॰ पंगवो मलधातवः।

वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छति मेधवत्॥

पवनस्तेषु बलवान् विभागकरणान्मतः।

रजोगुणमयः सूक्ष्मः शीतो रूक्षों लघुश्रचलः॥ (शार्ङ्गधरसंहिता-५-२५-२६)

पित्त, कफ, शरीर की अन्य धातुँ, तथा मल ये सब पंगु अर्थात् शरीर में एक स्थान से दूसरे स्थान तक स्वयं से नहीं जा सकती। जैसे आकाश में वायु बादलों को अपने साथ इधर-उधर ले जाता है वैसे ही शरीर में चल रही समस्त क्रियाएँ वात द्वारा संचालित हो कर सही दिशा में क्रियाशील होती हैं।

प्राण के प्रकार :

प्राण शक्ति तो एक ही है। प्राण **क्रि**याशील है, गत्यात्मक है यह सभी जगह विद्यमान है। शरीर में प्राण **क्रि**या के रूप में स्थान एवं कार्यों के आवश्यकतानुसार पांच भागों में विभक्त है। यह क्रमशः इस प्रकार हैं-प्राण अपान उदान समान व्यान इन प्राणों का

शरीर में अलग-अलग स्थान एवं कार्य है। पांच उपप्राण भी होते हैं-देवदत्त, नाग, कृकल, कुर्म, धनंजय।

वेदान्तसार के अनुसार पञ्चप्राण

वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः।

प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान-ये पाँच वायु हैं-

1- **प्राण-प्राणो नाम प्राग्गमनवान् नासाग्रस्थानवर्त्ती।** (वेदान्तसारः खण्ड २३)

ऊर्ध्व (ऊपर की ओर) गमन करने वाले तथा नासिका के अग्रभाग में रहने वाले वायु का नाम प्राण है।

2- **अपान-अपानो नामावाग्मनवान् पारयादिस्थानवर्त्तीवायु।** (वेदान्तसारः खण्ड २१)

नीचे की ओर गमन करने वाले और पायु आदि स्थानों में रहने वाले वायु का नाम 'अपान' है।

3- **उदान-उदानो नाम कण्ठस्थानीय उर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायः।** (वेदान्तसार खण्ड २१)

कण्ठ में रहने वाले, ऊर्ध्व गमन करने वाले, एवं (मृत्यु के समय) शरीर से उत्क्रमण करने वाले वायु का नाम 'उदान' है।

4- **समान-समानोनाम शरीरमध्यगताशितपीतान्नादि समीकरगाकारी वायु।**

(वेदान्तसार खण्ड २१)

शरीर के भीतर गये हुए खाये-पिये अन्न-जल आदि का समीकरण अर्थात् रस, रुधिर, शुक्र आदि के रूप में परिणमन या परिपाक करने वाले वायु का नाम 'समान' है।

5- **व्यान-व्यानो नाम विष्वग्गमनवानखिलशरीरवर्ती वायु।** (वेदांतसार खण्ड २१)

चारों ओर गमन करने वाले तथा सारे शरीर में रहने वाले वायु का नाम 'व्यान' है।

केचित्तु नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याः पञ्चान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति। तत्र नाग उद्गिरणकरः। कूर्म उन्मीलनकरः। कृकलः क्षुत्करः। देवदत्तो जृम्भणकरः। धनञ्जयः पोषणकरः। एतेषां प्राणा-दिष्वन्तर्भावात्प्राणादयः पञ्चौवेति केचित्॥२३॥ (वेदांतसार खण्ड २१)

अर्थ-कुछ लोग नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय नामक पाँच अन्य अर्थात् अतिरिक्त वायु मानते हैं। उनमें डकार-वमन कराने वाले वायु का नाम 'नाग' है। उन्मीलन-निमीलन (पलकों का खुलना-मुंदना) उत्पन्न करने वाले वायु का नाम 'कूर्म' है। भूख उत्पन्न करने वाले बायु का नाम 'कृकल' है। जम्भाई उत्पन्न करने वाले वायु का नाम 'देवदत्त' है तथा शरीर की पुष्टि करने वाले वायु का नाम 'धनञ्जय' है। कुछ अन्य लोगों के मत से इन पाँचों का पूर्वोक्त प्राणादि पञ्च वायुओं में ही अन्तर्भाव हो जाने से, प्राण प्राण आदि पाँच ही वायु हैं।

प्रश्नोपनिषद् के अनुसार पञ्चप्राण

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।

ऋचो यजूषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च॥ (प्रश्न. २.६)

जिस प्रकार रथ के पहिये की नाभि में उसके सारे अरे मिलते हैं उसी प्रकार सब कुछ 'प्राण' में प्रतिष्ठित है, ऋग्वेद तथा यजुर्वेद, सामवेद, यज्ञ तथा ब्राह्मणत्व (ब्रह्म) तथा क्षत्रियत्वं (क्षत्र)।

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितम्।

मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति॥ (प्रश्न. २.१३)

यह सम्पूर्ण विश्व, यहाँ तक कि जो कुछ स्वर्गों में प्रतिष्ठित है, वह सब 'प्राण' के वश में है; जिस प्रकार माता अपने नन्हें पुत्रों की रक्षा करती है, उसी प्रकार हमारी रक्षा कीजिए; हमें सौभाग्य एवं श्री प्रदान कीजिए, हमें प्रज्ञा दीजिये।

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ भगवन्कुत एष प्राणो

जायते कथमायात्यस्मिशरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं

प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति॥ (प्रश्न ३.१)

महर्षि पिप्पलाद ने जिस प्राण की महिमा का वर्णन किया, इस मन्त्र में आश्वलायन मुनिने उस प्राण के विषय में छः प्रश्न किये हैं -

(१) प्राण किससे उत्पन्न होता है?

(२) वह इस मनुष्य-शरीरमें कैसे प्रवेश करता है?

(३) अपने को विभाजित करके किस प्रकार शरीर में स्थित रहता है?

(४) एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाते समय पहले शरीर से किस प्रकार निकलता है?

(५) इस बाह्य (पञ्चभौतिक) जगत्को किस प्रकार धारण करता है?

(६) मन और इन्द्रिय आदि आध्यात्मिक (आन्तरिक) जगत को किस प्रकार धारण करता है?

महर्षि पिप्पलाद द्वारा आश्वलायन ऋषि के प्रश्नोंका उत्तर -

आत्मन एष प्राणो जायते यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिशरीरे॥(3.3)

प्राण की उत्पत्तिः

पहले प्रश्नका उत्तर तो यह है कि जिसका प्रकरण चल रहा है, वह सर्वश्रेष्ठ प्राण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। वह परब्रह्म परमेश्वर ही इसका उपादान कारण है और वही इसकी रचना करने वाला है; अतः इसकी स्थिति उस सर्वात्मा महेश्वर के अधीन उसी के आश्रित है-ठीक उसी प्रकार जैसे किसी मनुष्य की छाया उसके अधीन रहती है। (मु० उ० २.३)

प्राण का मनुष्य-शरीर में प्रवेश :

दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि मनद्वारा किये हुए संकल्प से वह शरीर में प्रवेश करता है। भाव यह है कि मरते समय प्राणी के मन में उसके कर्मानुसार जैसा संकल्प होता है, उसे वैसा ही शरीर मिलता है, अतः प्राणों का शरीर में प्रवेश मन के संकल्प से ही होता है।

अब आश्वलायन के तीसरे प्रश्न का उत्तर -

प्राणों का विभाजान :

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुक्ते एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठ-

स्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते॥ (3.4)

यहाँ महर्षि उदाहरण द्वारा तीसरे प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं -'जिस प्रकार भूमण्डल का चक्रवर्ती सम्राट् भिन्न-भिन्न ग्राम, मण्डल और जनपद आदि में पृथक् पृथक् अधिकारियों की नियुक्ति करता है और उनका कार्य बाँट देता है, उसी प्रकार यह सर्वश्रेष्ठ प्राण भी अपने अङ्ग स्वरूप अपान, व्यान आदि दूसरे प्राणों को शरीर के पृथक् पृथक् स्थानों में पृथक् पृथक् कार्य के लिये नियुक्त कर देता है।

प्राण, अपान और समान-इन तीनों का स्थान और कार्य

पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं

प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्भुतमन्नं समं नयति

तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति॥ (3.5)

यह प्राण स्वयं मुख और नासिका द्वारा विचरता हुआ नेत्र और श्रोत्र में स्थित रहता है तथा गुदा और उपस्थ में अपानको स्थापित करता है। उसका काम मल-मूत्र को शरीर के बाहर निकाल देना है; रज, वीर्य और गर्भ को बाहर करना भी इसी का काम है। शरीर के मध्य भाग-नाभि में समान को रखता है। यह समान वायु को ही प्राणरूप अग्नि में हवन किये हुए-उदर में डाले हुए अन्न को अर्थात् उसके सारको सम्पूर्ण शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्गों में यथा योग्य समभाव से पहुँचाता है। उस अन्न के सारभूत रस से ही इस शरीर में ये सात ज्वालाएँ अर्थात् समस्त विषयों को प्रकाशित करने वाले दो नेत्र, दो कान, दो नासिकाएँ और एक मुख (रसना)- ये सात द्वार उत्पन्न होते हैं; उस रससे पुष्ट होकर ही ये अपना-अपना कार्य करने में समर्थ होते हैं।

व्यान का स्थान और कार्य :

हृदि ह्येष आत्मा अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां प्रतिशाखानाडीसहस्त्राणि द्वासप्ततिर्दासप्ततिः व्यानश्चरति॥ (3.6)

इस शरीर में जो हृदय प्रदेश है, जो जीवात्मा का निवास स्थान है, उसमें एक सौ मूलभूत नाडियाँ हैं; उनमें से प्रत्येक नाड़ी

की एक-एक सौ शाखा-नाडियाँ हैं और प्रत्येक शाखा नाड़ी की बहत्तर बहत्तर हजार प्रतिशाखा- नाड़ियाँ हैं। इस प्रकार इस शरीर में कुल बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ हैं; इन सबमें व्यानवायु विचरण करता है।।6।।

उदान का स्थान और कार्य :

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति

पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्।। (3.7)

इन ऊपर बतलायी हुई बहत्तर करोड़ नाड़ियों से भिन्न एक नाडी और है जिसको 'सुषुम्णा' कहते हैं, जो हृदय से निकलकर ऊपर मस्तक में गयी है। उसके द्वारा उदानवायु शरीरमें ऊपरकी ओर विचरण करता है। (इस प्रकार आश्वलायन के तीसरे प्रश्नका समाधान करके अब महर्षि उसके चौथे प्रश्नका उत्तर संक्षेप में देते हैं) जो मनुष्य पुण्यशील होता है, जिसके शुभकर्मों के भोग उदय हो जाते हैं, उसे यह उदानवायु ही अन्य सब प्राण और इन्द्रियों के सहित वर्तमान शरीरसे निकालकर पुण्यलोकों में अर्थात् स्वर्गादि उच्च लोकों में ले जाता है। पापकर्मों से युक्त मनुष्यको शूकर कूकर आदि पाप-योनियों में और रौरवादि नरकों में ले जाता है तथा जो पाप और पुण्य-दोनों प्रकारके कर्मों का मिश्रित फल भोगनेके लिये अभिमुख हुए रहते हैं, उनको मनुष्य-शरीर में ले जाता है।

घेरंड संहिता में पञ्चप्राण एवं उपप्राण वर्णन

प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ तथैव च।

नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः।।५९।।

प्राण, अपान, समान, उदान व व्यान ये पाँच प्राण होते हैं। नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त व धनञ्जय ये पाँच उपप्राण होते हैं।

स्थान :

हृदि प्राणो वहेन्नित्यमपानो गुदामण्डले।

समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः।।६०।।

व्यानो व्याप्त शरीरे तु प्रधानाः पञ्च वायवः।

प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः।।

प्राण हृदय प्रदेश में, अपान गुदा प्रदेश में, समान नाभि प्रदेश में, उदान कण्ठ प्रदेश में व व्यान सम्पूर्ण शरीर में गमन अथवा स्थित होता है। इनमें से पाँच प्राण, अपान, समान, उदान व व्यान मुख्य होते हैं और नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त व धनञ्जय उपप्राण गौण होते हैं।

कार्य :

तेषामपि च पञ्चानां स्थानानि च वदाम्यहम्।

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्मस्तून्मीलने स्मृतः।।६२।।

कृकलः क्षुत्कृते ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे।

न जहाति मृते क्वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः।।६३।।

जो पाँच प्रकार के उपप्राण हैं उनके शरीर में स्थिति का वर्णन करता हूँ। डकार में नाग वायु, आँखों के खुलने व बन्द होने में कूर्म वायु, छीकनें में कृकल वायु, जम्भाई लेने में देवदत्त वायु व जो मरने के भी कुछ समय तक शरीर में ही स्थित रहती है वह धनञ्जय नामक वायु होती है।

उपप्राण कार्य :

नागो गृह्णाति चौतन्यं कूर्मश्चौव निमेषणम्।

क्षुत्तुषं कृकलश्चौव जृम्भणं चतुर्थेन तु।

भवेद्धनञ्जयाच्छब्दं क्षणमात्रं न निःसरेत्।।६४।।

भावार्थ : नाग नामक वायु अथवा प्राण चेतना को ग्रहण करती है, कूर्म वायु से खोलने व बन्द करने का कार्य सम्पन्न

होता है। भूख-प्यास का अनुभव कृकल वायु से, जम्भाई लेने का कार्य देवदत्त से होता है व धनञ्जय वायु कभी भी शरीर को एक पल के लिए भी नहीं छोड़ता।

योगविज्ञानम् के अनुसार पञ्चप्राण

पञ्चकोश के मुख्य घटकों का प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान तथा उपघटकों का नाग, कर्म, देवदत्त, धनञ्जय इन नामों से वर्णन किया गया है।

प्राण :

मुखाद्धृदयपर्यन्तं प्राणक्षेत्रमुदाहृतम्।
अग्नितत्त्वाधिकाः प्राणाः शरीरबलदायकाः ॥५९२॥
श्वासप्रश्वासरूपेऽत्र सञ्चरन्तः शरीरिणाम्।
सहाया रक्तसञ्चारे प्राणाः प्रायेण कीर्तिताः ॥५९३॥
इमान् सर्वानिह प्राणान् सामान्येनैव देहिनाम्।
कथयन्ति बुधा लोके सततं प्राणनामतः ॥५९४॥

प्राण का कार्यक्षेत्र मुख से हृदयपर्यन्त है। अग्नि-तत्त्वत्-प्रधान यह प्राण समस्त देह को बल प्रदान जाने वाला है। श्वास-प्रश्वास के रूप में गति करता हुआ यह रक्तसंचार में सहायक होता है। सामान्यतया उन सभी प्राणों को प्राण के नाम से भी जाना जाता है।

अपान :

नाभेरारभ्य चांगुष्ठं यावद् व्याप्य प्रतिष्ठते।
अपानः पृथिवीत्तत्त्वप्रधानोऽत्र कलेवरे ॥५९५॥
मलमूत्रबहिः क्षेपे भुक्तस्य रसनिर्मितौ।
अपानस्य सदा मुख्यं कार्यमत्र प्रकीर्तितम्॥५९६॥
जङ्गयोर्जानुनोश्चापि मुख्यरूपेण देहिनाम्।
शक्तिप्रदायकः साक्षादपानः समुदाहृतः ॥५९७॥

यह अपान प्राण नाभि से लेकर पैर के अंगुष्ठ तक व्याप्त है। यह पृथ्वी-तत्त्व-प्रधान है। शरीर से स्लमूत्रादि को बाहर निकालने तथा भोजन से रस बनाने का कार्य अपान का ही है। यह मुख्यरूप से जयों एवं घुटनों को शक्ति प्रदान करता है।

व्यान :

वपुषस्सर्वनाडीषु व्योमतत्त्वाधिकस्तथा।
ज्ञानवाहकनाडीनां व्यानस्तु गतिकारकः ॥५९८॥

यह व्यान नामक प्राण शरीर की समस्त नाड़ियों में रहता है तथा आकाश-तत्त्व-प्रधान है। यही समस्त देह में ज्ञानवाहक नाड़ियों को गतिशील करता है।

समान :

नाभेर्हृदयपर्यन्तं समानस्तु विराजते।
जलतत्त्वप्रधानोऽयमाहाररसपादकः।
यथास्थानं शरीरेऽत्र रसजातं प्रयच्छति ॥५९९॥

यह समान प्राण नाभि से हृदय तक व्याप्त है। यह जल-तत्त्व-प्रधान है। यह आहार से रस बनाना है और यथास्थान समानरूप से वितरण करता है।

उदान :

कण्ठादारभ्यामस्तिष्कमुदानोऽत्र व्यवस्थितः।
वायुतत्त्वप्रधानोऽयं छर्दिकार्यनियामकः ॥६००॥
अस्मिंस्तु विजयं प्राप्य योगी नियतमानसः।
प्राणानां ब्रह्मरन्ध्रेण बहिर्निः सारणे क्षमः ॥६०१॥

यह उदान नामक प्राण कण्ठ से मस्तिष्क पर्यन्त रहता है। यह वायु-तत्त्व-प्रधान है। वमन या उल्लो आदि क्रियाओं का नियमन उदान द्वारा ही होता है। इस प्राण पर विजय पाने वाला योगी ब्रह्मरन्ध्र द्वारा अपने प्राण को बाहर निकालने में समर्थ हो जाता है।

उपप्राण :

नासास्थानो धरातत्त्वप्रधानो देवदत्तकः।
जलतत्त्वप्रधानस्तु कृकलः कण्ठदेशगः ॥६०२॥
क्षुत्पिपासाजनिर्येन विजये तत्र ते च न।
पक्ष्मसु नेत्रयोश्चापि कूर्मस्त्वग्निप्रधानकः ॥६०३॥
मुखस्थानी तथा नागो वायुतत्त्वप्रधानकः।
हिक्कोद्गारादिका अस्मात् प्रवर्त्तन्ते क्रियाः खलु ॥६०४।
देहे तु सकले व्याप्तो विद्यतेऽसौ धनञ्जयः।
व्योमतत्त्वप्रधानश्च गतागतसहायकः ॥६०५॥

देवदत्त : इसका नासिका में वास है तथा यह पृथ्वी-तत्त्व-प्रधान है।

कृकल : यह कण्ठ में स्थित तथा जल तत्त्व प्रधान है। भूख व प्यास उत्पन्न करता है। इस पर विजय प्राप्त करने से भूख-प्यास नहीं सताते।

कूर्म : यह नेत्र व पलकों में रहता है। यह अग्नि-तत्त्व-प्रधान है।

नाग : यह मुखस्थानीय है वायु-तत्त्व-प्रधान है। उद्गार, हिक्का आदि क्रियाएँ इसी के द्वारा होती है।

धनञ्जय : यह सम्पूर्ण देह में व्याप्त है तथा आकाश-तत्त्व-प्रधान है। यह गमनागमन में सहायक होता है।

पञ्चकोशों पर प्रभाव

हमारे शरीर में जो पंच कोश विद्यमान हैं–अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश।

इन कोशो को चलाने का आधार प्राण ही है। पंचप्राण पंचकोश को प्रत्येक स्तर पर प्रभावित करता है। जब प्राण संतुलित एवं मजबूत होता है तो पंच कोश को प्रत्येक स्तर पर प्रभावित करता है। जब प्राण संतुलित एवं मजबूत होता है तो पंच कोश भी स्वस्थ और विकसित होते हैं।

और यदि पंच प्राण में किसी प्रकार का असंतुलन होता है तो न केवल शारीरिक बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक स्तर पर भी बाधायें उत्पन्न होती है।

अत: पंच प्राण एवं पंच कोश को संतुलित एवं स्वस्थ रखने के लिए एक मात्र उपाय योग, प्राणायाम, बन्ध और ध्यान हैं। जिसके निरन्तर अभ्यास से ठीक किया जा सकता है।

सप्तचक्रों पर प्राण का प्रभाव :

मानव शरीर के सप्तचक्र ऊर्जा के केन्द्र और पंच प्राण जीवन ऊर्जा है अर्थात् चक्र ऊर्जा के केन्द्र हैं जबकि प्राण वह शक्ति है जो चक्रों को सक्रिय और संतुलित करता है।

1– **मूलाधार चक्र** –
2– **स्वाधिष्ठान चक्र** – } *इन दोनों चक्रों को अपान वायु शक्ति प्रदान करती है।*

3– **मणिपूर चक्र** – इस चक्र को समानवायु शक्ति प्रदान करती है।

4– **अनाहत चक्र** –
5– **विशुद्धि चक्र** – } *इन चक्रों में प्रान वायु शक्ति प्रदान करती है।*

6– **आज्ञा चक्र** –
7– **सहस्त्रार चक्र** – } *इन चक्रों में उदान वायु शक्ति प्रदान करती है।*

इन सभी चक्रों में व्यान वायु की क्रियाशीलता सम्मलित हैं। यदि किसी कारण से पंच प्राण वायु बाधित होती है तो चक्रों को ऊर्जा नहीं मिल पाती है। जिससे शारीरिक, मानसिक, व्यवहारिक आध्यात्मिक कई प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।
उपाय – प्राणायाम, योग, **ध्यान**, बन्ध आसन आदि के निरन्तर अभ्यास से ठीक किया जा सकता है।

पञ्चकोष परिचय

परिचय :

पंचकोश मानव अस्तित्व को पाँच परदों में विभाजित करता है, और प्रत्येक कोश के विकास से बहुमुखी उन्नति होती है। यह यात्रा शारीरिक स्तर से शुरू होकर आत्मा के शुद्धतम स्तर तक पहुँचती है।

आधुनिक युग में योग और आयुर्वेद के शास्त्रों के अध्ययन में "पंचकोश" का अत्यधिक महत्व है। यह वैदिक दर्शन का एक मूलभूत सिद्धांत है, यह सिद्धांत तैत्तिरीय उपनिषद की ब्रह्मनन्दवल्ली एवं भृगुवल्ली में भी वर्णित है।

पंचकोश का अर्थ :

"पंच" का अर्थ है पाँच और "कोश" का अर्थ है आवरण या परत। यह पाँच आवरण या परदे मानव शरीर और आत्मा के बीच हैं, जो हमारे भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास का मार्गदर्शन करती हैं।

पंचकोशों का परिचय :

1. **अन्नमय कोश** (The Physical Sheath)

- यह शरीर की सबसे बाहरी परद है, जो अन्न और जल से पोषित होता है।
- यह शरीर का स्थूलतम रूप है, जो पंचमहाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) से निर्मित है और जन्म व मृत्यु से प्रभावित होता है।
- विकास के साधन: योगासन, शारीरिक व्यायाम, संतुलित आहार, और जीवनशैली।

2. प्राणमय कोश (The Vital Energy Sheath)

- यह कोश शरीर की प्राण शक्ति से संबंधित है।
- इसमें पाँच प्रकार के प्राण (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान) कार्य करते हैं।
- इसमें श्वास-प्रश्वास, रक्त संचार और नाड़ी तंत्र जैसी गतिविधियाँ शामिल होती हैं।
- विकास के साधन: प्राणायाम, ध्यान, और सकारात्मक भावनाओं का पोषण।

3. मनोमय कोश (The Mental Sheath)

- इसमें मन और कर्मेन्द्रियाँ सम्मिलित हैं। यह कर्मेन्द्रियाँ और बुद्धि के बीच संपर्क स्थापित करता है।
- इसमें इच्छाएँ, भावनाएँ, स्मृतियाँ और संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं।
- ध्यान और मानसिक अनुशासन से इसे शुद्ध किया जा सकता है।
- विकास के साधन: सकारात्मक सोच, ध्यान, और इंद्रिय नियंत्रण (प्रत्याहार)

4. विज्ञानमय कोश (The Intellectual Sheath)

- यह बुद्धि, ज्ञान और विवेक का स्तर है। सही और गलत का निर्णय यहीं से होता है।
- आत्मा और मन के बीच का संबंध स्थापित करने में यह महत्वपूर्ण है।
- विकास के साधन: आत्म-निरीक्षण, स्वाध्याय, धारणा (एकाग्रता), और विवेक ज्ञान

5. आनंदमय कोश (The Bliss Sheath)

- यह आत्मा का सबसे सूक्ष्म और दिव्य आवरण है जो शुद्ध आनंद और आत्मा का अनुभव कराती है।
- यह मोक्ष या परम आनंद की अवस्था है।
- विकास के साधन: ध्यान, भक्ति और ईश्वर प्राणिधान, और समाधि का अभ्यास।

कोश का नाम	आवरण	मुख्य तत्व	शरीर	विवरण	वस्तु/जीव
1. अन्नमय कोश	भोजन और शरीर से बना स्थूल आवरण	भोजन (अन्न)	स्थूल शरीर	केवल भौतिक स्तर, कोई चेतना नहीं	धातु/पत्थर
2. प्राणमय कोश	जीवन ऊर्जा का आवरण	प्राण (जीवन शक्ति)	सूक्ष्म शरीर	भौतिक शरीर और जीवन ऊर्जा	पेड़-पौधे
3. मनोमय कोश	मन और इंद्रियों का आवरण	मन और विचार	सूक्ष्म शरीर	भौतिक शरीर, जीवन ऊर्जा और सीमित मन	पशु
4. विज्ञानमय कोश	बुद्धि और विवेक का आवरण	विवेक और ज्ञान	सूक्ष्म शरीर	भौतिक शरीर से लेकर शुद्ध आनन्द तक	मनुष्य
5. आनन्दमय कोश	शुद्ध आनन्द और आत्मा का आवरण	आनन्द (परमानन्द)	कारण शरीर	केवल आनन्द और शुद्ध चेतना का अस्तित्व	आध्यात्मिक

तैत्तिरीय उपनिषद - ब्रह्मानन्दवल्ली

तैत्तिरीय उपनिषद यह बताता है कि आत्मा पंचकोशों के पार स्थित है। यह पाँचों कोश ब्रह्म /आत्मा के वास्तविक स्वरूप के आवरण हैं।

ब्रह्म का स्वरूप :

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन।

सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।। (ब्रह्मनन्दवल्ली अनु.-1)

सत्यं: ब्रह्म का पहला गुण है सत्य। यह शाश्वत और अपरिवर्तनीय है। ज्ञानं ब्रह्म पूर्ण ज्ञानमय है। अनन्तं ब्रह्म सीमाहीन है; इसका न आदि है, न अंत। गुहायां निहित: ब्रह्म हृदय की गुफा (आत्मा) में निहित है।

परमे व्योमन् : बह्म को "परमे व्योमन्" कहा गया है, जिसका अर्थ है कि यह परम आकाश या चेतना के सर्वोच्च स्तर पर स्थित है। सर्वान् कामान् स अश्नुते: जो ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, वह सभी इच्छाओं पूर्णता की को प्राप्त कर लेता है। यह इच्छाओं का भौतिक संतोष नहीं, बल्कि यह उस आध्यात्मिक आनंद की ओर संकेत करता है जो ब्रह्म के साक्षात्कार से उत्पन्न होता है।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश: संभूत:। आकाशाद्वायु:।

वायोरग्नि:। अग्नेराप:। अद्भ्य: पृथिवी।पृथिव्या ओषधय:।

ओषधीभ्योऽन्नम। अन्नात्पुरुष:। (ब्रह्मनन्दवल्ली अनु.-१)

सृष्टि की उत्पत्ति :

आत्मा (ब्रह्म) से: आकाश (Space) उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु (Air)। वायु से अग्नि (Fire)। अग्नि से जल (Water) । जल से पृथ्वी (Earth)। पृथ्वी से औषधियाँ (वनस्पतिया)। औषधियों से अन्न (भोजन)। अन्न से पुरुष (मनुष्य)।

1. अन्नमय कोश

स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय:। तस्येदमेव शिर:। अयं दक्षिण:

पक्ष:। अयमुत्तर: पक्ष:। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। (ब्रह्मनन्दवल्ली अनु.-१)

यह पुरुष (शरीर) अन्नमय (अन्नरूप) है। इसमें सिर (शीर्ष) है। यह दक्षिण भाग (दाहिना पक्ष) है। यह उत्तर भाग (बायां पक्ष) है। यह आत्मा (इस कोश की आत्मा) है। इसका पुच्छ (आधार) प्रतिष्ठा है।

अन्नाद्वै प्रजा: प्रजायन्ते। या: काश्च पृथिवीं श्रिता:।

अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपियन्त्यन्तत:।

अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात् सर्वौषधमुच्यते।

सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽन्नं ब्रह्मोपासते।

अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात् सर्वौषधमुच्यते। (ब्रह्मनन्दवल्ली अनु.-२)

अन्न से ही प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। जो भी पृथ्वी पर स्थित हैं, वे अन्न पर आश्रित हैं। और अंतत: सब अन्न में ही विलीन हो जाते हैं।

अन्न सभी भूतों (जीवों) में सबसे श्रेष्ठ है। इसलिए इसे 'सर्वौषध' (सभी औषधियों का मूल) कहा गया है। जो अन्न को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करते हैं, वे सभी प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करते हैं।

2. प्राणमय कोश

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात् अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय:।

तेनैष पूर्ण:। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम।

अन्वयं पुरुषविध:। तस्य प्राण एव शिर:। व्यानो दक्षिण: पक्ष:। अपान उत्तर: पक्ष:। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष ठा। (ब्रह्मनन्दवल्ली अनु.-२)

इस अन्नरसमय पुरुष से अलग, एक अन्य अंतरात्मा है, जो प्राणमय है। यह प्राणमय आत्मा उसी अन्नरसमय आत्मा के द्व ारा पूर्ण है। यह प्राणमय पुरुष भी पुरुष के समान (पुरुषविध) है।

इस प्राणमय आत्मा की पुरुषविधता इस प्रकार है- इसमें प्राण सिर है, व्यान (संचार शक्ति) दक्षिण पक्ष है, अपान उत्तर पक्ष है, आकाश इसकी आत्मा है और पृथ्वी इसका पुच्छ (आधार) तथा प्रतिष्ठा है।

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये।

प्राणो हिभूतानामायुः। तस्मात् सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति।

ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायुः।

तस्मात् सर्वायुषमुच्यत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। (ब्रह्मनन्दवल्ली अनु.-३)

देवता, मनुष्य और पशुख्रसभी प्राण के अनुसार ही जीते हैं। क्योंकि प्राण ही समस्त भूतों (जीवों) का आयुष्य (जीवन) है। इसी कारण इसे "सर्वायुष" (सभी का जीवनदाता) कहा गया है।

जो लोग प्राण को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करते हैं, वे सभी प्रकार का आयुष्य (दीर्घायु और जीवन की सम्पूर्णता) प्राप्त करते हैं। प्राण ही समस्त प्राणियों का आयुष्य है और इसी कारण इसे "सर्वायुष" कहा जाता है।

यह प्राणमय कोश का शारीर आत्मा है, जो पहले (अन्नमय कोश) से सूक्ष्म और आंतरिक है।

3. मनोमय कोश

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः।

तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम।

अन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः।

सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। (ब्रह्मनन्दवल्ली अनु.-३)

प्राणमय आत्मा से भिन्न एक और अंतरात्मा है, जिसे मनोमय कहा गया है। यह मनोमय आत्मा प्राणमय आत्मा से पूर्ण है। यह भी पुरुष के समान (पुरुषविध) है।

इस मनोमय आत्मा की पुरुषविधता इस प्रकार है- इसका यजुर्वेद सिर है, ऋग्वेद दाहिना पक्ष (दक्षिण भाग) है, सामवेद बायां पक्ष (उत्तर भाग) है, आदेश (आदेशात्मक ज्ञान) इसकी आत्मा है और अथर्ववेद (अथर्वाङ्गिरस) इसका पुच्छ (आधार) और प्रतिष्ठा है।

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो

विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। (ब्रह्मनन्दवल्ली अनु.-४)

"जहाँ से वाणी और मन लौट आते हैं, उस आनंदस्वरूप ब्रह्म को जानने वाला विद्वान कभी किसी भी प्रकार के भय से ग्रस्त नहीं होता।"

यह मनोमय आत्मा उसी प्रकार इस प्राणमय का शारीर आत्मा है, जैसे कि प्राणमय आत्मा, अन्नमय आत्मा की थी।

यह मनोमय आत्मा अन्नमय और प्राणमय कोशों से भी अधिक सूक्ष्म और आंतरिक है।

4. विज्ञानमय कोश

तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। (ब्रह्मनन्दवल्ली अनु.-४)

मनोमय आत्मा से भिन्न, एक और अंतरात्मा है, जिसे विज्ञानमय कहा गया है। यह विज्ञानमय आत्मा मनोमय आत्मा से पूर्ण है। यह भी पुरुष के समान (पुरुषविध) है।

इस विज्ञानमय आत्मा की पुरुषविधता इस प्रकार है- इसमें श्रद्धा सिर है, ऋत दाहिना पक्ष है, सत्य बायां पक्ष है, योग इसकी आत्मा है और महः इसका पुच्छ (आधार) और प्रतिष्ठा है।

इस विषय में एक श्लोक है -

विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान् कामान् समश्नुत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। (ब्रह्मनन्दवल्ली अनु.-५)

"विज्ञान यज्ञ को विस्तारित करता है और कर्मों को भी विस्तारित करता है। सभी देवता ब्रह्म को ज्येष्ठ मानकर उसकी उपासना करते हैं। जो व्यक्ति विज्ञानमय ब्रह्म को जान लेता है और प्रमाद (असावधानी) नहीं करता, वह शरीर में स्थित सभी पापों को नष्ट कर देता है और समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है।"

यह विज्ञानमय आत्मा इस कोश का शारीर आत्मा है, जैसे कि मनोमय आत्मा, प्राणमय की थी। यह विज्ञानमय आत्मा मनोमय आत्मा से भी अधिक सूक्ष्म और आंतरिक है।

5. आनंदमय कोश

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात। अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविध ताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षःप्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥ (ब्रह्मनन्दवल्ली अनु.-५)

विज्ञानमय आत्मा से भिन्न, एक और अंतरात्मा है, जिसे आनंदमय कहा गया है। यह आनंदमय आत्मा विज्ञानमय आत्मा से पूर्ण है। यह भी पुरुष के समान (पुरुषविध) है।

इस आनंदमय आत्मा की पुरुषविधता इस प्रकार है- इसमें प्रियता सिर है, मोद (सुख) दक्षिण पक्ष (दक्षिण भाग) है, प्रमोद उत्तर पक्ष है, आनंद इसकी आत्मा है और ब्रह्म इसका पुच्छ (आधार) और प्रतिष्ठा है।

असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति।

तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। (ब्रह्मनन्दवल्ली अनु.-६)

"यदि कोई ब्रह्म को असत् (अस्तित्वहीन) समझता है, तो वह स्वयं असत् हो जाता है। यदि कोई ब्रह्म को सत् (अस्तित्ववान) समझता है, तो वह ब्रह्म के सत् स्वरूप को जान लेता है और उसी को संत (सत्यस्वरूप) के रूप में अनुभव करता है।"

यह आनंदमय आत्मा इस विज्ञानमय का शारीर आत्मा है, जैसे कि विज्ञानमय आत्मा, मनोमय की थी। यह आनंदमय आत्मा सभी कोशों का सबसे सूक्ष्म और आंतरिक स्वरूप है।

पंच कोश और भृगु वल्ली (तैत्तिरीय उपनिषद)

भृगु वल्ली में पंच कोश की अवधारणा को प्रस्तुत किया गया है, जो मानव जीवन और आत्मा की आध्यात्मिक यात्रा को समझाने का एक साधन है। यह ब्रह्म को जानने की प्रक्रिया में भृगु और उनके पिता वरुण के संवाद के माध्यम से सिखाया गया है।

भृगु वल्ली का सारांश

भृगु का प्रश्न और तपस्या : भृगु ने अपने पिता वरुण से ब्रह्म के बारे में जानने का अनुरोध किया। वरुण ने उत्तर दिया-"तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" तप करो, ब्रह्म को जानने का यही मार्ग है।

पंच कोश की यात्रा :

भृगु ने तप करके ब्रह्म की खोज की और इसे पांच स्तरों में समझा, जो इस प्रकार हैं-

1. **अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् :** भृगु ने सबसे पहले समझा कि अन्न (भौतिक शरीर) ब्रह्म है, क्योंकि सभी जीव अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न से जीवित रहते हैं, और अंत में अन्न में विलीन हो जाते हैं।
2. **प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् :** इसके बाद उन्होंने प्राण को ब्रह्म समझा, जो जीवन की ऊर्जा है। सभी जीव प्राण के आधार पर ही अस्तित्व में हैं।
3. **मनः ब्रह्मेति व्यजानात् :** भृगु ने तीसरे चरण में मन को ब्रह्म के रूप में जाना, क्योंकि विचार और इच्छाएं मन से उत्पन्न

होती हैं और यह जीवन को संचालित करता है।

4. **विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् :** चौथे स्तर पर उन्होंने विज्ञान (बुद्धि) को ब्रह्म समझा, जो ज्ञान और विवेक का स्रोत है।
5. **आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् :** अंततः भृगु ने आनंद को ब्रह्म का सबसे सूक्ष्म और वास्तविक स्वरूप माना। आनंद ही जीवन का चरम लक्ष्य है और ब्रह्म का साक्षात अनुभव।

यह है कि प्रत्येक कोश आत्मा के बाहरी आवरण हैं, और आत्मा (आनंदमय कोश) ब्रह्म का वास्तविक रूप है। यह विद्या उस व्यक्ति को समृद्ध और संतुष्ट बनाती है जो इसे समझता और अपनाता है।

पंचकोश और विकास के चरण

1. **अन्नमय कोश (0-5 वर्ष) :**
   - इस आयु में शरीर का मुख्य विकास होता है।
   - बच्चे की भोजन की आवश्यकता उसकी वृद्धि के लिए होती है।
   - इस समय पोषण पर विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि यही शारीरिक विकास की नींव है।
2. **प्राणमय कोश (6-10 वर्ष) :**
   - इस समय प्राणशक्ति का विकास होता है।
   - बच्चे को ऐसी गतिविधियों और चुनौतियों से जोड़ना चाहिए, जिससे उसकी प्राणशक्ति जागृत हो।
   - शारीरिक खेल, योग, और ऊर्जा बढ़ाने वाली गतिविधियां महत्वपूर्ण हैं।
3. **मनोमय कोश (11-15 वर्ष) :**
   - इस आयु में बच्चे के मन का विकास तेजी से होता है।
   - उसके संगति (कंपनी) का विशेष ध्यान रखना चाहिए।
   - इस समय उसकी बुद्धि (विज्ञानमय कोश) पूरी तरह विकसित नहीं होती है, इसलिए उसे सही मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है।

बच्चे के साथ मित्रवत व्यवहार करें और उसके मानसिक विकास में सहायक बनें।

4. **विज्ञानमय कोश (16-20 वर्ष) :**
   - इस समय बच्चे की बुद्धि और तर्कशक्ति का विकास होता है।
   - वह प्रश्न करेगा, तर्क करेगा और चीजों को सोच-समझकर अपनाएगा।
   - इस चरण में माता-पिता और शिक्षक को बच्चे के साथ पूरी तरह से मित्रवत होना चाहिए।
   - संवाद के माध्यम से उसकी शंकाओं का समाधान करें और उसका आत्मविश्वास बढ़ाएं।

लालयेत् पञ्च वर्षाणि, दश वर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे, पुत्रं मित्रवदाचरेत्॥ (संस्कृत सुभाषित)

स्मरणीय बिंदु-

1. पञ्चप्राण शरीर में मुख्य प्राण पाँच हैं प्राण (श्वसन), अपान (उत्सर्जन), समान (पाचन), उदान (कंठ/ऊर्ध्वगमन) और व्यान (संपूर्ण शरीर में व्याप्त)।
2. प्राण और अपान का महत्व प्राण और अपान को दिव्य वैद्य कहा गया है, जो ब्रह्मांड की चिकित्सा करते हैं और रोगों को दूर रखते हैं।
3. व्यान का कार्य व्यान शरीर की एक सौ एक (101) मूलभूत नाड़ियों और उनकी हजारों शाखाओं में संचरण करता है, जो पूरे शरीर की गति को नियंत्रित करता है।
4. पञ्चकोश का स्वरूप यह मानव अस्तित्व के पाँच परदे हैं, जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप को ढके रहते हैं।
5. अन्नमय कोश यह शरीर का सबसे बाहरी और स्थूल रूप है, जो भोजन (अन्न) से निर्मित और पोषित होता है।
6. प्राणमय कोश यह जीवन ऊर्जा का कोश है, जो श्वसन और प्राण-शक्ति के माध्यम से शरीर को सक्रिय रखता है।

7. मनोमय कोश यह मन और इंद्रियों का स्तर है, जहाँ विचार और इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं।

8. विज्ञानमय कोश यह बुद्धि और विवेक का स्तर है, जो सही और गलत के बीच निर्णय लेने में सक्षम होता है।

9. आनंदमय कोश यह सबसे सूक्ष्म स्तर है, जहाँ व्यक्ति ब्रह्मानंद या गहरे आंतरिक सुख का अनुभव करता है।

10. ब्रह्म का स्वरूप तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनंत है, जिसे इन कोशों के पार गुहा (हृदय) में स्थित माना गया है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

1. पञ्चप्राण से क्या तात्पर्य है? शरीर में इनके विशिष्ट स्थानों और कार्यों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

2. पञ्चकोश की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए बताइए कि ये कोश मानव व्यक्तित्व के विकास में किस प्रकार सहायक हैं?

3. प्राण और अपान को दिव्य वैद्य क्यों कहा गया है? प्राणायाम के माध्यम से मृत्युंजय अवस्था प्राप्त करने की वैज्ञानिकता पर प्रकाश डालिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

1. तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप क्या है?

2. व्यान प्राण शरीर की नाड़ियों में किस प्रकार कार्य करता है?

3. अन्नमय कोश और प्राणमय कोश के बीच मुख्य अंतर स्पष्ट कीजिए।

4. मानव जीवन के परम लक्ष्य के रूप में आनंदमय कोश का महत्व बताइए।

5. हृदय प्रदेश में स्थित नाड़ियों की संख्या और उनके महत्व का उल्लेख कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1. शरीर में कुल कितने मुख्य प्राण माने गए हैं?

(।) तीन

(2) पाँच

(3) सात

(4) ग्यारह

प्रश्न 2. इनमें से कौन सा पञ्चकोश का हिस्सा नहीं है?

(।) अन्नमय कोश

(2) प्राणमय कोश

(3) आकाशमय कोश

(4) आनंदमय कोश

प्रश्न 3. शरीर के उत्सर्जन कार्यों (मल-मूत्र आदि) को कौन सा प्राण नियंत्रित करता है?

(।) प्राण

(2) व्यान

(3) अपान

(4) समान

प्रश्न 4. विज्ञानमय कोश का संबंध मुख्य रूप से किससे है?

(।) भोजन से

(2) बुद्धि और विवेक से

(3) केवल शारीरिक बल से

(4) नींद से

प्रश्न 5. हृदय प्रदेश में मुख्य रूप से कितनी नाड़ियाँ मानी गई हैं?

(।) 72

(2) 101

(3) 1000

(4) 72,000

इकाई- 4.4 अष्टाङ्गहृदयम् (चयनित श्लोकाः)

उद्देश्य-

1. विद्यार्थियों को महर्षि वाग्भट रचित अष्टाङ्गहृदयम के माध्यम से आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धांतों और दिनचर्या के नियमों से परिचित कराना।
2. जीवन दर्शन के अंतर्गत स्वास्थ्य को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (पुरुषार्थ चतुष्टय) की प्राप्ति का मूल साधन समझाना।
3. हितभुक, मितभुक और ऋतभुक जैसे भोजन के सिद्धांतों के माध्यम से रोगों से बचाव का मार्ग बताना।

त्रिदोष-परिचय

वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः।

विकृताविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च॥६॥ *(आयुष्कामीयाध्यायः १)*

शब्दार्थ : वायुः= वात, **पित्तम्**= पित्त, **कफः च** = और कफ, **इति**= इस प्रकार, **समासतः**= संक्षेप में, **त्रयः**= तीन, **दोषाः**= दोष होते हैं। **ते**= वे तीनों दोष, **विकृताविकृताः**= विकृत (प्रकुपित) एवं अविकृत (अकुपित) होकर (क्रमशः), **देहम्**= शरीर को, **घ्नन्ति**= नष्ट करते हैं, **वर्तयन्ति च**= एवं पालन करते हैं।

भावार्थ : आयुर्वेद में संक्षेपतः वात, पित्त एवं कफ-ये तीनों दोष कहे गये हैं। ये तीन दोष विकृत (कुपित) होकर देह (शरीर) का नाश करते हैं और अविकृत (अकुपित) होकर देह का पालन धारण करते हैं।

त्रिदोष के गुण

तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽअनिलः।

पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्त्रं सरं द्रवम्॥११॥ *(आयुष्कामीयाध्यायः १)*

शब्दार्थ : तत्र= उन तीनों दोषों में, **अनिलः**= वात, **रूक्षः**= रूक्ष, **लघुः**= लघु, **शीतः**= शीत, खरः= खर, **सूक्ष्मः**= सूक्षम **चलः च**= एवं चल (गतिशील) होता है। **पित्तम्**= पित्त, **सस्नेहतीक्ष्णोष्णम्**= किञ्चित् स्निग्ध, तीक्ष्ण, उष्ण, **लघु**= लघु, **विस्रम्**=आमगन्धी (कच्चे मांस की गन्ध वाला), **सरम्**= सर, **द्रवम्**= एवं द्रव होता है। **कफः**= कफ, **स्निग्धः**= स्निग्ध, **शीतः**= शीत, **गुरुः**=गुरु, **मन्दः**=मन्द, **श्लक्ष्णः**= श्लक्ष्ण, मृत्स्नः= पिच्छिल (चिपचिपा), **स्थिरः**= एवं स्थिर होता है।

भावार्थ : वातदोष–रूक्ष (रूखा), लघु (हल्का), शीत (ठण्डा), खर (खुरदरा), सूक्ष्म (स्रोतोगामी) एवं चल (गतिशील) गुण वाला होता है।

पित्तदोष- सस्नेह (किञ्चित् स्निग्ध), तीक्ष्ण (शीघ्रकारी), उष्ण, लघु, विस्र (कच्चे मांस की गन्ध वाला), सर (प्रसरणशील) एवं द्रव (तरल) गुण वाला होता है।

कफदोष–स्निग्ध, शीत (ठण्डा), गुरु (भारी), मन्द (चिरकारी), श्लक्ष्ण (चिकना), मृत्सन (पिच्छिल/चिपचिपा) एवं स्थिर (अप्रसरण शील) गुण वाला होता है।

धातु एवं मल

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः।

सप्त दूष्याः मला मूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपि च॥१३॥ *(आयुष्कामीयाध्यायः १)*

शब्दार्थ : रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि= रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र, **सप्त**=सात, **धातवः**= धातुएँ होती हैं। **दूष्याः अपि**= (वात आदि दोषों से दूषित होने से धातुएँ) दूष्य भी कहलाती हैं। **मूलशकृत्स्वेदादयः च**= एवं मूत्र, पुरीष, स्वेद आदि, **मलाः**= मल हैं।

भावार्थ : रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र-ये 'सात धातुएँ' होती हैं। दोषों एवं मलों से दूषित होने के कारण धातुओं को **'दूष्य'** भी कहा जाता है, और मूत्र-पुरीष-स्वेद आदि को **'मल'** कहा जाता है।

शारीरिक एवं मानसिक दोषों की चिकित्सा

शरीरजानां दोषां क्रमेण परमौषधम्।

बस्तिर्विरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु॥२५॥ *(आयुष्कामीयाध्यायः १)*

शब्दार्थ : शरीरजानाम्= शारीरिक, **दोषाणाम्**= दोषों की (वात, पित्त एवं कफ की), **परमौषधम्**= उत्तम औषध (चिकित्सा), **क्रमेण**= क्रमशः, **बस्तिः**= बस्ति, **विरेकः**= विरेचन, **वमनम्**= एवं वमन, **तैलम्**= और तैल, **घृतम्**= घृत, **तथा**= एवं, **मधु**= मधु है।

भावार्थ : शारीरिक-दोषों अर्थात् वात, पित्त एवं कफ की सर्वोत्तम संशोधन चिकित्सा क्रमशः बस्ति, विरेचन एवं वमन है और सर्वोत्तम संशमन चिकित्सा क्रमशः तैल, घृत एवं मधु है।

सद्वृत्त-करणीय (करने योग्य कर्म)

भोजन में कर्त्तव्य

जीर्णे हितं मितं चाद्यान्न वेगानीरयेद्बलात्।

न वेगितोऽन्यकार्यः स्यान्नाजित्वा साध्यमामयम्॥१९॥ *(दिनचर्याध्यायः २)*

शब्दार्थ : जीर्णे= भोजन के पच जाने पर, **हितम्**= हितकर, **मितं च**= एवं मात्रा-युक्त, **अद्यात्**=भोजन करें **वेगान्**= मूत्र-पुरीषादि वेगों को, **बलात्**= बलपूर्वक, **न ईरयेत्**= न प्रेरित करें। **वेगितः**= वेग के होने पर, **अन्यकार्यः**= अन्य कार्यों मं संलग्न, **न**= न, **स्यात्**= हों, **साध्यम् आमयम्** = साध्य रोगों को, **अजित्वा**= बिना जीते हुए (**अन्यकार्यः**=अन्य कार्यों में संलग्न, **न**= न, **स्यात्**= हों।)

भावार्थ : भोजन के पच जाने पर हितकर और मात्रानुकूल भोजन करना चाहिए। अधारणीय वेगों को बलपूर्वक धारण नहीं करना चाहिए, परन्तु वेग आने पर उन्हें त्योग बिना और साध्य रोगों की चिकित्सा किये बिना, अन्य कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए।

धर्म का महत्त्व

सुखार्थाः सूर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।

सुखं च न विना धर्मात्तस्माद्धर्मपरो भवेत्॥२०॥ *(दिनचर्याध्यायः २)*

शब्दार्थ : सर्वभूतानाम्=सभी प्राणियों की, **सर्वाः**= सभी, **प्रवृत्तयः**= प्रवृत्तियाँ, **सुखार्थाः**= सुख के लिए, **मताः**= मानी गयी हैं। **धर्मात् च**= तथा धर्म के, **विना**= बिना, **सुखम्**= सुख, **न**= नहीं मिलता है, **तस्मात्**= इसलिए **धर्मपरः**= धर्मपरायण, **भवेत्**= होवें।

भावार्थ : सभी प्राणियों की सम्पूर्ण चेष्टाएँ उनके सुख के लिए होती हैं और सुख की प्राप्ति धर्म से होती है, अर्थात् बिना धर्म पालन के सुख नहीं मिलता है, इसलिए मनुष्य को सर्वदा धर्म-परायण होना चाहिए।

भक्त्या कल्याणमित्राणि सेवेतेतरदूरगः। *(दिनचर्याध्यायः २)*

शब्दार्थ : इतरदूरगः= दुष्ट मित्रों से दूर रहकर, **कल्याणमित्राणि**= शुभचिन्तक मित्रों का, **भक्त्या**= श्रद्धा से, **सेवेत**= सेवन करना चाहिए।

भावार्थ : अपने इष्ट-मित्रों से हमेशा ही विश्वास रखना चाहिए और शत्रुओं से सदा दूर रहना चाहिए।

दशविध-पापकर्म का त्याग

हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृते॥२१॥

सम्भिन्नालापं व्यापादमभिध्यां दृग्विपर्ययम्।

पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत्॥२२॥ *(दिनचर्याध्यायः २)*

शब्दार्थ : हिंसास्तेयान्यथाकामम्= हिंसा (दूसरों को कष्ट देना), स्तेय (चोरी), अन्यथाकाम (मर्यादा विरुद्ध मैथुनकर्म), **पैशुन्यम्**= चुगलखोरी, **परुषानृते**=कठोर एवं झूठे वचन, **सम्भिन्नालापम्**= असम्बद्ध भाषण, **व्यापादम्**=व्यापात् (किसी की हत्या की योजना), **अभिध्याम्**= अभिध्या (दूसरे की सम्पत्ति के हरण की इच्छा), **दृग्विपर्ययम्**= दृग्विपर्यय (शास्त्रों में विपरीत दृष्टि रखना), **इति** = इस प्रकार, **दशधा**=दश प्रकार के, **पापं कर्म**= पाप-कर्म को, **कार्यवाङ्मानसैः**= शरीर, वाणी एवं मन से, **त्यजेत्**= त्याग देना चाहिए।

भावार्थ : हिंसा, चोरी, पर-स्त्रीगमन **(शारीरिक पापकर्म),** चुगलखोरी, कटु वचन, असत्य वचन, असम्बद्ध प्रलाप **(वाचिक पापकर्म)**, दूसरों का अनिष्ट सोचना, ईर्ष्या करना और शास्त्रों में विपरीत बुद्धि रखना **(मानसिक पापकर्म)** इन दश पापकर्मों को त्याग देना चाहिए।

लोकाचार-पालन

आचार्यः सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः।

अनुकुर्यात्तमेवातो लौकिकेऽर्थे परीक्षकः॥४५॥ *(दिनचर्याध्यायः २)*

शब्दार्थ : हि= क्योंकि, **धीमतः**= बुद्धिमान् व्यक्ति की, **सर्वचेष्टासु**= सभी (प्रकार की सांसारिक) चेष्टाओं में, **लोकः एव** = संसार की, **आचार्यः** = गुरु होता है, **अतः**= इसलिए, **लौकिके अर्थे**= सांसारिक कार्यों में **परीक्षकः**= परीक्षण करने वाला व्यक्ति, **तम्**= उस लोक व्यवहार का, **एव**= ही, **अनुकुर्यात्**= अनुकरण करें।

भावार्थ : क्योंकि सभी प्रकार के सांसारिक कार्यों में यह संसार ही बुद्धिमान् व्यक्ति का गुरु है, अतः संसार में लौकिक व्यवहार करने हेतु मनुष्य को इसी संसार का अनुकरण करना चाहिए।

संक्षिप्त-दिनचर्या

नक्तन्दिनानि मे यान्ति कथम्भूतस्य सम्प्रति।

दुःखभाग् न भवत्येवं नित्यं सन्निहितस्मृतिः॥४७॥ *(दिनचर्याध्यायः २)*

शब्दार्थ : कथम्भूतस्य=किस प्रकार, **मे**= मेरे, **नक्तन्दिनानि**= रात-दिन, **सम्प्रति यान्ति**= इस समय व्यतीत हो रहे हैं, **एवं नित्यम्**= इस प्रकार सदैव, **सन्निहितस्मृतिः**= स्मरण करने वाला व्यक्ति, **दुःखभाक्**= दुःखी, **न**= नहीं, **भवति**= होता है।

भावार्थ : 'इस समय मेरे दिन-रात कैसे व्ययतीत हो रहे हैं'-जो व्यक्ति सदैव इस प्रकार का चिन्तन करता रहता है, वह कभी भी दुःखी नहीं होता है।

प्राणाचार्य का निवास-स्थान

राजा राजगृहासन्ने प्राणाचार्यं निवेशयेत्।

सर्वदा स भवत्येवं सर्वत्र प्रतिजागृविः॥१॥ *(अन्नरक्षाध्यायः ७)*

शब्दार्थ-राजा= राजा, प्राणाचार्यम्= प्राणाचार्य (वैद्य) को, **राजगृहासन्ने**= राजमहन के समीप, **सर्वदा**= हमेशा, **निवेशयेत्**= रखे, **एवम्**= इस प्रकार से, **सः**= वह (वैद्य), (**सर्वदा**= रात-दिन, राजा के अन्नपान, शयन इत्यादि में), **सर्वत्र**= सब जगह, **प्रतिजागृविः**= जागरूक, **भवति**= होता है।

भावार्थ : राजा को चाहिए कि वह प्राणाचार्य (राजवैद्य) को राजभवन के समीप रखे, जिससे राजवैद्य सदैव राजा के अन्न-पान, शयन आदि सभी कार्यों के प्रति जागरूक बना रहे।

प्राणाचार्य वेळ कर्त्तव्य

अन्नपानं विषाद्रक्षेद्विशेषेण महीपतेः।

योगक्षेमौ तदायत्तौ धर्माद्या यन्निबन्धता॥२॥ *(अन्नरक्षाध्यायः ७)*

शब्दार्थ : महीपतेः= राजा के, **अन्नपानम्**= अन्नपान की, **विषात् विशेषेण**= विशेष रूप से विष से, **रक्षेत्**= रक्षा करे। (**यतः**= क्योंकि), **योगक्षेमौ**= योग एवं क्षेम, **तदायत्तौ**= राजा के अधीन होते हैं, **धर्माद्याः**= धर्मादि (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष), **यन्निबन्धनाः** = जिनमें बँधे रहते हैं।

भावार्थ : राजवैद्य को राजा के अन्नपान की विशेष रूप से विष से रक्षा करनी चाहए, क्योंकि **'योग'** और **'क्षेम'** राजा के अधीन होता है तथा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष-ये चतुर्विध पुरुषार्थ योग-क्षेम पर ही निर्भर रहते हैं।

पथ्यापथ्य सेवन एवं त्याग-विधि

पादेनापथ्यमभ्यस्तं पादपादेन वा त्यजेत्।

निषेवेत हितं तद्वदेकद्वित्र्यन्तरीकृतम्॥४८॥

अपथ्यमपि हि त्यक्तं शीलितं पथ्यमेव वा।

सात्म्यासात्म्यविकाराय जायते सहसाऽन्यथा॥४९॥

क्रमेणापचिता दोषाः क्रमेणोपचिता गुणाः।

सन्तो यान्त्यपुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति च॥५०॥

अत्यन्तसन्निधानानां दोषाणं दूषणात्मनाम्।

अहितैर्दूषणं भूयो न विद्वान् कर्तुमर्हति॥५१॥ *(अन्नरक्षाध्यायः ७)*

शब्दार्थ : अभ्यस्तम्= (प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा सेवन करने से) अभ्यस्त, **अपथ्यम्**= अपथ्य को, **पादेन**= चौथाई

क्रम से, **पादसेवन वा**= अथवा सोलहवें अंश से, **त्यजेत्**= त्याग दें। **एकद्वित्र्यन्तरीकृतम्**=एक, दो या तीन दिन का अन्तर देकर, **तद्वत्**= उसी तरह, **हितम्**= हितकर (आहार का), **निषेवेत** = सेवन करें। **हि**= क्योंकि, **सहसा**= अचानक, **अन्यथा**= अन्य (प्रकार से), **त्यक्तम्**= छोड़ा गया **अपथ्यम्**= अपथ्य, **अपि**= भी, **शीलितं पथ्यम् एव वा**= अथवा प्रतिदिन प्रयोग किया गया पथ्य ही, **सात्म्यासात्म्यविकाराय जायते**= सात्म्य पदार्थों को छोड़ने एवं असात्म्य के सेवन से विकारों के लिए होता है। **क्रमेण**= क्रमशः, क्षय हुए, **दोषाः**= दोष, **अपुनर्भावम्**= अपुनरावृत्ति की स्थिति को, **यान्ति**= प्राप्त होते हैं। **क्रमेण च**= एवं क्रमशः, **उपचिताः सन्तः**= वृद्धि को प्राप्त होने पर, **गुणाः**= गुण, **अप्रकम्प्याः**= स्थिर, **भवन्ति**= हो जाते हैं। **विद्वान्**= बुद्धिमान व्यक्ति, **दूषणात्मनाम्**= दूषण स्वभाव वाले, **अत्यन्तसन्निधानानाम्**= अत्यन्त समीपस्थ, **दोषाणाम्**= दोषों को, भूयः= बार-बार, **अहितैः**= अहित (विरुद्ध आहारों के सेवन) से, **दूषणम्**= (उन्हें) दूषित, **न कर्तुम् अर्हति** = नहीं कर सकता है।

भावार्थ : प्रतिदिन अभ्यास करने से सात्म्य हुए अहितकर अन्नपान को चतुर्थांश या षोडषांश क्रम से छोड़ना चाहिए तथा उसी क्रम से हितकर अन्नपान का सेवन करना चाहिए। अहितकर अन्नपान को छोड़ने और हितकर अन्नपान का सेवन करने में क्रमशः एक, दो अथवा तीन दिन का अन्तर रखना चाहिए। क्रमशः घटाये गये वातादि दोष पुनः नहीं बढ़ पाते हैं तथा क्रमशः बढ़ाये गये गुण चिरस्थायी हो जाते हैं। सहसा अपथ्य का त्याग एवं पथ्य का सेवन प्रारम्भ करने से अने प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। शरीर में वातादि दोष सदा रहते हैं, उनका स्वभाव शरीर को निरन्तर दूषित करता रहता है। अतः, बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि पथ्य-अपथ्य को भली-भाँति समझकर अपने शरीर के अनुकूल ही आहार-विहार करें।

जीवन दर्शन

सांस्कृतिक बोध

पंचकोश

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय हैं।

अन्नमयकोश– पंचभूतात्मक, सप्तधात्वात्मक व त्रिदोषात्मक स्थूल दृश्य का अस्तित्व है।

प्राणमय कोश– प्राण-अपान-समान, उदान और व्यान–ये पांच प्राण हैं एवं नाग, कूर्म, कृंकल, देवदत्त व धनञ्जय–ये पांच उपप्राण हैं।

मनोमय कोश– मन, अहंकार और पांच कर्मेन्द्रियाँ वाक्, पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (गुदा) और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय)–यह सात तत्वों का समुदाय है।

विज्ञानमय कोश– बुद्धि, चित्त एवं पांच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, नेत्र, त्वचा, रसना व प्राण (नासिका) ये सात तत्वों का समुदाय है।

आनन्दमय कोश– जिसमें ज्योतिमर्य, तेजोमय, शान्तिमय व आनन्दमय आत्मा की जो अनुभूति हो वह सत्वगुणमय कारण रूप प्रकृति है।

प्राचीन ऐतरेय, शतपथ-ब्रह्मादि ग्रन्थ ऋषि-मुनियों द्वारा लिखित पुस्तकें हैं, उन्हीं को 'पुराण', 'इतिहास', 'कल्प', 'गाथा' और 'नाराशंसी' कहते हैं।

सेवा

बिना सेवा के चित्त शुद्धि नहीं होती है और चित्तशुद्धि के बिना परमात्मतत्त्व की अनुभूति नहीं होती। अतः सेवा के अवसर ढूंढते रहना चाहिए।

ब्रह्मचर्य

विषयों से भरे जगत में प्राण और मन को टूटने-फूटने से बचाने के लिये आत्म-सुरक्षा का 'ब्रह्मचर्य' ही एकमात्र माध्यम है।

सृष्टि की सबसे प्राचीन पुस्तक–वेद

भारतीय मान्यता के अनुसार सृष्टि के आदि में अग्नि, वायु, आदित्य एवं अंगिरा इन चार ऋषियों की पवित्र आत्माओं में जो पवित्र ज्ञान अवतरित हुआ, वह वेद है। भारतीय संस्कृति एवं संस्कारों का सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ वेद मात्र पूजा पाठ की पद्धति या मात्र कर्म-काण्ड के ग्रन्थ नहीं हैं ज्ञान-विज्ञान की समस्त शिक्षाओं से लेकर सार्वभौमिक व वैज्ञानिक सत्यों के उद्घोषक ग्रन्थ वेद हैं।

संस्कृति

१,९६,०८,५३,११२ (एक अरब छियानवे करोड़ आठ लाख तिरेपन हजार एक सौ बारह) वर्ष पुराना गौरवशाली अतीत है हमारा। 'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा' (यजुर्वेद ७.१४)। हम विश्व की सबसे प्राचीन संस्कृति के संवाहक हैं। लगभग दो सौ करोड़ वर्ष पुराना वैभवशाली इतिहास है हमारा, वर्तमान की पीड़ाओं से माँ भारती को मुक्त करके विश्व का नेतृत्व करने वाला शक्तिशाली स्वर्णिम भारत, हम अपने पुरुषार्थ व राष्ट्र-आराधन से बनायेंगे।

उपवेद

आयुर्विज्ञान के शास्त्र को आयुर्वेद, शस्त्र-अस्त्रादि विद्या को धनुर्वेद, गायनशास्त्र को गन्धर्ववेद और शिल्पशास्त्र को शिल्पवेद कहते हैं। ये चार उपवेद हैं।

वेदांग

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द और ज्योतिष-ये आर्षज्ञान के सनातन शास्त्र हैं। इनको वेदांग कहते हैं।

उपनिषद्

१. ईश, २. केन, ३. कठ, ४. प्रश्न, ५. मुण्डक, ६. माण्डुक्य, ७. ऐतरेय, ८. तैत्तिरीय, ९. छान्दोग्य, १०. बृहदारण्यक, ११. श्वेताश्वेतर–ये प्रामाणिक ग्यारह उपनिषद् हैं। अध्यात्म विद्या के, ऋषियों के गूढ़ ज्ञान को सन्देश व संवाद रूप में उपनिषद् में प्रस्तुत किया गया है।

दर्शन

जैमिनी, कणाद, गौतम, पतंजलि, कपिल व व्यास ऋषि द्वारा रचित क्रमशः मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त इन छः शास्त्रों को, दर्शन या उपांग कहते हैं।

चार आश्रम

जीवन में क्रमशः उन्नति के सोपान–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास ये चार आश्रम हैं।

अवस्थाएँ

जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति–ये तीन अवस्थाएं हैं।

जब मन इन्द्रियों द्वारा कार्य कर रहा होता है, वह जागृत अवस्था होती है। जब शयन समय में इन्द्रियों का कार्य बन्द होने पर मन कार्य कर रहा होता है, वह स्वप्न अवस्था है। और जब समस्त इन्द्रियाँ व मन कार्य करना बन्द कर देते हैं, केवल प्राण चलते हैं, तब वह अवस्था सुषुप्ति अवस्था होती है।

सत्य की कसौटी के आठ मापदण्ड

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये आठ प्रमाण हैं और इन्हीं से सत्य-असत्य का बोध होता है। ये मापदण्ड हैं अन्वेषण के, सत्यबोध के। ये आठ प्रमाण सत्यज्ञान की कसौटी हैं।

सोलह संस्कार

मानव जीवन के निर्माण की आधारशिला है–'सोलह संस्कार'। अतः मैं गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्त्तन, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास व अन्त्येष्टि इन सोलह संस्कारों की संस्कृति से अपना व राष्ट्र का जीवन उन्नत बनाऊंगा।

उत्कर्ष के साथ संघर्ष न छोड़ो!

जो संस्कृति जितनी विकसित होती है, जो संस्कृति, व्यक्ति, समाज व राष्ट्र जितना विकसित होता है, अधिकतर वो संस्कृति, व्यक्ति, समाज व राष्ट्र उतना ही आलसी हो जाता है और यही उसके पतन का कारण बन जाता है, अतः उत्कर्ष के साथ संघर्ष कम नहीं होना चाहिए।

वैराग्य

वैराग्य पलायन का नाम नहीं, अपितु विवेक की पराकाष्ठा का नाम ही वैराग्य है सम्यक् दृष्टि पाकर अनासक्त होकर निरन्तर प्रगतिशील, संघर्षशील व पुरुषार्थी बने रहना ही वैराग्य का पूर्ण लक्षण है।

स्मरणीय बिंदु-

1. स्वास्थ्य की परिभाषा आयुर्वेद के अनुसार, जिसका दोष (वात, पित्त, कफ), अग्नि और धातुएँ सम हों तथा जिसका मन और इंद्रियाँ प्रसन्न हों, वही स्वस्थ है।
2. भोजन के तीन सूत्र आरोग्य के लिए तीन नियम अनिवार्य हैं हितभुक (हितकारी भोजन), मितभुक (भूख से कम खाना) और ऋतभुक (ऋतु के अनुसार और ईमानदारी की कमाई का भोजन)।
3. पुरुषार्थ का आधार धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलमुत्तमम अर्थात धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का मुख्य आधार उत्तम स्वास्थ्य ही है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

1. अष्टाङ्गहृदयम् के अनुसार स्वस्थवृत्त का वर्णन कीजिए। एक आदर्श दिनचर्या शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को कैसे प्रभावित करती है?
2. हितभुक, मितभुक और ऋतभुक के सिद्धांतों की विस्तृत व्याख्या कीजिए। वर्तमान जीवनशैली में इन नियमों की प्रासंगिकता सिद्ध कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

1. पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति में स्वास्थ्य (आरोग्य) की क्या भूमिका है?
2. अष्टाङ्गहृदयम् के अनुसार ऋतुचर्या का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
3. आयुर्वेद के अनुसार वेगों को रोकने से स्वास्थ्य पर क्या दुष्प्रभाव पड़ते हैं?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न 1. अष्टाङ्गहृदयम ग्रंथ के रचयिता कौन हैं?

(।) महर्षि चरक

(2) महर्षि सुश्रुत

(3) महर्षि वाग्भट

(4) महर्षि पतंजलि

प्रश्न 2. हितभुक शब्द का अर्थ आयुर्वेद में क्या है?

(।) बहुत अधिक भोजन करना

(2) जो शरीर के लिए हितकारी हो वही भोजन करना

(3) केवल मीठा भोजन करना

(4) बिना भूख के भोजन करना

प्रश्न 3. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का मूल आधार किसे माना गया है? (।) धन को

(2) आरोग्य (स्वास्थ्य) को

(3) राजनीति को

(4) भवन को

प्रश्न 4. मितभुक का तात्पर्य है

(।) केवल फल खाना

(2) भूख से थोड़ा कम (संतुलित) भोजन करना

(3) उपवास करना

(4) बासी भोजन करना

प्रश्न 5. अष्टाङ्गहृदयम् के अनुसार स्वास्थ्य के लिए किसका त्याग अनिवार्य है?

(।) व्यायाम का

(2) अधर्म और अनुचित वेगों को धारण करने का

(3) जल का

(4) ज्ञान का।

UNIVERSITY OF PATANJALI

NAAC A+ GRADE ACCREDITED

Open & Distance Learning (ODL)

SELF-LEARNING MATERIAL (SLM)

B.A Darshan

Semester -3

ACADEMIC SESSION

2026 — 2027

Department of Philosophy

UNIVERSITY OF PATANJALI

Haridwar-Delhi Highway, Haridwar, Uttarakhand — 249405

www.universityofpatanjali.com

लेखक

1. साध्वी देवसाधना
2. डा.सावर सिङ्ग यादव
3. स्वामी भद्रदेव
4. डा वैशालि गौड
5. डा. बिपिन दुबे
6. डा. गौतम
7. सौरभ पाण्डे
8. स्वामी यज्ञदेव

समीक्षक

डा. ब्रजभूषण ओझा प्रध्यापक (व्याकरण) बनारस हिन्दु विश्वविद्याल काशिफ्फ्

संपादक

डा , साध्वि देवप्रिया संकायाध्याक्षा पतंजलि विश्वविद्यालय हरिद्वार

॥ ओ३म् ॥

न्याय दर्शन-2 (तृतीयोऽध्यायः)

BDPHMJ – 301

दिव्य प्रकाशन

बी.ए.-सेमेस्टर-3

न्याय दर्शन-2 (तृतीयोऽध्यायः)

Credit : 5

Code - BDPHMJ – 301

Mark : 100 (30+70)

उद्देश्य-

1. न्यायदर्शन के सूत्रों का कण्ठस्थिकरण अथवा सूत्रार्थ व भाष्य का बोध कराना।
2. आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि एवं मन नामक छः प्रमेयों का ज्ञान कराना।
3. प्रमेयों के यथार्थ ज्ञान से व्यवहार में गुणवत्ता अथवा विशेष सामर्थ को अर्जित करने हेतु दर्शन के महात्म को बताना।

खण्ड - १ प्रमेय - आत्मा, शरीर इन्द्रिार्थ आदि की परीक्षा	
१.१	इन्द्रियों से व्यतिरिक्त आत्मा
१.२	शरीर से व्यतिरिक्त आत्मा
१.३	चक्षुरद्वैत परीक्षा प्रकरण
१.४	आंतरिक इन्द्रिय मन से व्यतिरिक्त आत्मा
खण्ड - २ प्रमेय - आत्मनित्यत्व एवं इन्द्रियों के भौतिकत्व तथा नानात्व की परीक्षा	
२.१	चेतन आत्मा की नित्यता
२.२	भूलोकीय शरीर पार्थिव (श्रुतिप्रमाण)
२.३	इन्द्रियों के भौतिकत्व की परीक्षा
२.४	इन्द्रियों का नानात्व
खण्ड - ३ बुद्धि (ज्ञान) की परीक्षा	
३.१	पृथिवी आदि द्रव्यों के गुणों का निरूपण
३.२	बुद्धि (ज्ञान) की अनित्यता
३.३	क्षणिकवाद निराकरण
३.४	बुद्धि (ज्ञान) इन्द्रिय का गुण नहीं अपितु आत्मा का गुण है
खण्ड - ४ प्रेमय - आत्मा एवं मन का निरूपण	
४.१	बुद्धि (ज्ञान) की उत्पत्ति तथा विनाशशीलता
४.२	चेतना आत्मा का गुण (धर्म)
४.३	मन की परीक्षा
४.४	आत्मा का विभिन्न शरीरों से संयोग अदृष्ट के कारण

परिणाम-

1. प्रस्तुत पाठ्यक्रम के अध्ययन से विद्यार्थी सूत्रों के सूत्रार्थ व भावार्थ करने में समर्थ हो जाता है।
2. आत्मा आदि छः प्रमेयों का तर्क एवं प्रमाण के माध्यम से विश्लेषण करने में दक्ष हो जाता है।
3. मन, बुद्धि, चेतना, इन्द्रिय आदि की परीक्षा के माध्यम से वास्तविक लक्ष्य का ज्ञान हो जाता है।

निर्धारित पाठ्यपुस्तक- न्यायदर्शन- आचार्य उद्यवीर शास्त्री, आचार्य आनन्द प्रकाश, प्रकाशक-विजय कुमार, गोविंदराम, हासानन्द, 4408 नई सड़क, नई दिल्ली।

न्यायदर्शनम्- डॉ. साध्वी देवप्रिया, प्रकाशक- दिव्य प्रकाशन पतंजलि योगपीठ, हरिद्वार।

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ संख्या
खण्ड - १ प्रमेय-आत्मा, शरीर इन्द्रिार्थ आदि की परीक्षा		**4-17**
इकाई-१.१	इन्द्रियों से व्यतिरिक्त आत्मा	4-6
इकाई- १.२	शरीर से व्यतिरिक्त आत्मा	7-9
इकाई- १.३	चक्षुरद्वैत परीक्षा प्रकरण	10-14
इकाई- १.४	आंतरिक इन्द्रिय मन से व्यतिरिक्त आत्मा	15-17
खण्ड - २ प्रमेय-आत्मनित्यत्व एवं इन्द्रियों के भौतिकत्व तथा नानात्व की परीक्षा		**18-34**
इकाई- २.१	चेतन आत्मा की नित्यता	18-21
इकाई- २.२	भूलोकीय शरीर पार्थिव (श्रुतिप्रमाण)	22-24
इकाई- २.३	इन्द्रियों के भौतिकत्व की परीक्षा	25-30
इकाई- २.४	इन्द्रियों का नानात्व	31-34
खण्ड - ३ बुद्धि (ज्ञान) की परीक्षा		**35-55**
इकाई- ३.१	पृथिवी आदि द्रव्यों के गुणों का निरूपण	35-39
इकाई- ३.२	बुद्धि (ज्ञान) की अनित्यता	40-43
इकाई- ३.३	क्षणिकवाद निराकरण	44-47
इकाई- ३.४	बुद्धि (ज्ञान) इन्द्रिय का गुण नहीं अपितु आत्मा का गुण है	48-55
खण्ड - ४ प्रेमय - आत्मा एवं मन का निरूपण		**56-71**
इकाई- ४.१	बुद्धि (ज्ञान) की उत्पत्ति तथा विनाशशीलता	56-58
इकाई- ४.२	चेतना आत्मा का गुण (धर्म)	59-62
इकाई- ४.३	मन की परीक्षा	63-65
इकाई- ४.४	आत्मा का विभिन्न शरीरों से संयोग अदृष्ट के कारण	66-71

खण्ड : १ आत्मा, शरीर इन्द्रियार्थ आदि की परीक्षा
इकाई- १.१ - इन्द्रियों से व्यतिरिक्त आत्मा

उद्देश्य-

- **आत्म-बोधः यह समझना कि 'मैं' शरीर या इन्द्रियाँ नहीं, बल्कि एक शाश्वत चेतन तत्व (आत्मा) हूँ।**
- **कर्म-मीमांसाः मनुष्य के कार्यों (प्रवृत्ति) के पीछे छिपे वास्तविक कारणों और उनके परिणामों को समझना।**
- **भेद-ज्ञानः शुभ और अशुभ कर्मों के बीच सूक्ष्म अंतर को पहचानना ताकि नैतिक जीवन जिया जा सके।**
- **मोक्ष प्राप्तिः जन्म-मरण के चक्र (संसार) के कारणों को जानकर दुखों से स्थायी मुक्ति का मार्ग खोजना।**

अथ इन्द्रियव्यतिरिक्तात्मप्रकरणम्

महर्षि गौतम प्रणीत दर्शन (न्याय-दर्शन) आन्विक्षिकी विद्या में १६ पदार्थों का निरूपण किया गया, उन १६ पदार्थों के तत्व ज्ञान से निश्रेयस (मोक्ष की प्राप्ति) महर्षि गौतम बताते है। इन १६ पदार्थों में प्रथम प्रमाण और दूसरा प्रमेय है।

निद्रेश सूत्र **आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तुप्रमेयम्॥** (१/१/९) में उपयुक्त १२ प्रमेयों में प्रथम प्रमेय आत्मा है।

अतः सर्वप्रथम आत्मा की परीक्षा प्रारम्भ करते है। आत्मा के विषय में संशय यह है, कि क्या आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का संघातमात्र है अथवा इनसे कोई अतिरिक्त तत्त्व है? संशय का कारण यह है, कि लोक में दोनों प्रकार का व्यवहार देखा जाता है। जैसे- प्रथम : अवयव से अवयवी का व्यपदेश।

जैसे- **'मूलैर्वृक्षस्तिष्ठति'** जड़ों पर वृक्ष स्थित है, यहाँ वृक्ष से जड़ें अलग नहीं हैं, अपितु जड़े भी वृक्ष का अवयव ही हैं। द्वितीय : अन्य-से-अन्य का कथन, जैसे- **'परशुना वृश्चति'** कुल्हाड़ी से काटता है, यहाँ काटने वाला कर्ता, काटने के साधन (करण) कुल्हाड़ी तथा कटी वस्तु से भिन्न है अर्थात् कर्ता, करण और कार्य परस्पर भिन्न पदार्थ हैं। इसी के समान आत्मा के लिए जो यह कहा जाता है, कि **'चक्षुषा पश्यति'** आँख से देखता है, **'शरीरेण सुखदुःखमनुभवति'** शरीर से सुख-दुख का अनुभव करता है। यहाँ यह संशय होता है, कि यह व्यपदेश पहले, प्रकार का है या दूसरे प्रकार का। दूसरे शब्दों में आत्मा शरीरादि के समुदाय का अंग है, अथवा शरीर इन्द्रिय आदि से अतिरिक्त?

महर्षि गौतम सिद्धान्त का निरूपण करते है। **दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्॥** (३/१/१) दर्शन (चक्षु) और स्पर्शन (त्वक्) इन्द्रियों के द्वारा एक ही पदार्थ के ग्रहण से आत्मा इन्द्रियादिसंघात से अतिरिक्त है। लोक में व्यक्ति अनुभव करता है, जिस आम (फल) को मैंने चक्षु से देखा, उसी को हाथ में लेकर स्पर्श कर रहा हूँ, तथा उसी को रसन इन्द्रिय से चख रहा हूँ। यहाँ देखने, छूने, चखने का कर्ता तथा विषय (पदार्थ) एक ही है, जो विभिन्न इन्द्रियों द्वारा ज्ञान का प्रतिसन्धान (स्मरण) करता है। यही स्थिति नींबू को देखकर जिह्वा में पानी भर आने की भी होती है।

न, विषयव्यवस्थानात् ॥ ३/१/२॥

विषयों के ग्रहण की व्यवस्था पाए जाने से (इन्द्रियों से अतिरिक्त आत्मा को मानना निरर्थक है) इन्द्रियों से अतिरिक्त किसी अन्य चेतन को मानना व्यर्थ है; क्योंकि इन्द्रियों के ग्राह्य विषय व्यवस्थित हैं। चक्षु इन्द्रिय के होने पर रूप एवं रूपी द्रव्य का ग्रहण होता है, न होने पर नहीं होता। जो जिसके होने पर हो, न होने पर न हो, वह उसका विषय होता है। इसके अनुसार रूपज्ञान चक्षु का अपना है, चक्षु रूप को देखती है। इसी प्रकार घ्राण का गन्ध, रसन का रस, त्यक् का स्पर्श, श्रोत्र का शब्द अपना विषय है, ये इन्द्रियाँ अपने अपने ज्ञान की कर्ता है।

अतः अन्य चेतन आत्मा को मानना अनावश्यक है। यहाँ इन्द्रिय को कर्त्ता नहीं मान सकते; क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का ही ग्रहण या प्रतिसन्धान मिलान कर सकती है, फिर आँख के देखे हुए का त्वचा व रसन कैसे प्रत्यभिज्ञान कर सकती है? इससे सिद्ध होता है, कि इन्द्रिय आदि जड़ तत्त्वों से अतिरिक्त चेतन आत्मत्तत्त्व है, जो एक ज्ञान और विभिन्न ज्ञानों के प्रतिसन्धान करने वाला है।

एक अन्य हेतु-

प्रत्येक इन्द्रिय के अपने विषय की ग्रहण की व्यवस्था का होना इन्द्रियों से भिन्न आत्मा का साधक है, बाधक नहीं। **तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः॥** (३/१/३) यदि कोई एक इन्द्रिय विषय व्यवस्था से विपरित होकर सभी विषयों का ग्रहण करने वाला होता, तो उससे अलग, अन्य चेतन आत्मा का अनुमान करना असम्भव और व्यर्थ होता। परन्तु देखा तो यह जाता है

कि इन्द्रियाँ तो एक-एक विषय को ही ग्रहण कर पाती हैं। कोई एक इन्द्रिय सब विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हैं। इसीलिए इन्द्रियों से अतिरिक्त सब विषयों को ग्रहण करने वाले एक चेतन आत्मा का अनुमान होता है। यही आत्मा प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्दादि प्रमाणों से होने वाले ज्ञानों को ग्रहण एवं प्रतिसन्धान कर्त्ता है।

॥ इति इन्द्रियव्यतिरिक्तात्मप्रकरणम् ॥

स्मरणीय बिंदु-

आत्मा बनाम इन्द्रियाँ: इन्द्रियाँ भौतिक और जड़ हैं, वे केवल साधन **(Instruments)** हैं। आत्मा चेतन है और वह इन साधनों का उपयोग करने वाली 'कर्ता' है।

प्रवृत्ति (**Activity):** मन, वाणी और शरीर द्वारा की जाने वाली हर क्रिया 'प्रवृत्ति' कहलाती है।

दोषों का प्रभाव: हमारी सभी प्रवृत्तियाँ 'दोष' (राग, द्वेष, मोह) के कारण उत्पन्न होती हैं। जब तक ये दोष रहेंगे, कर्मों का चक्र चलता रहेगा।

संसार चक्र (The Cycle): न्याय दर्शन के अनुसार दुखों का एक निश्चित क्रम है:

मिथ्याज्ञान > दोष > प्रवृत्ति > जन्म > दु:ख

आत्म-परीक्षण: अपनी प्रवृत्तियों की निरंतर जांच करना आवश्यक है, ताकि हम जान सकें कि कौन से कार्य हमें बंधनों में डाल रहे हैं और कौन से मुद्र कर रहे हैं।

शब्दावली-

व्यतिरिक्त: किसी वस्तु से पूरी तरह अलग या भिन्न होना। यहाँ इसका अर्थ इन्द्रियों से अलग आत्मा की सत्ता से है।

राग: किसी वस्तु को पाने की तीव्र इच्छा, प्रेम या आसक्ति। यह सुखद अनुभवों की लालसा है।

द्वेष: कष्टकारी या अप्रिय वस्तु/स्थिति के प्रति जलन, क्रोध या विरोध का भाव।

मोह: वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को न देख पाना: अज्ञान या भ्रम की स्थिति। यह सभी दोषों की जड़ है।

त्रैराश्य: तीन श्रेणियों का समूह। न्याय दर्शन में राग, द्वेष और मोह के समूह को 'दोष-त्रैराश्य' कहा जाता है।

वीतराग: वह महापुरुष जिसके भीतर से राग, द्वेष और मोह पूरी तरह समाप्त हो चुके हों।

तत्त्वज्ञान: आत्मा और अनात्मा का सही और वास्तविक ज्ञान, जिससे अज्ञान (मिथ्याज्ञान) का नाश होता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1. न्याय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में 'प्रवृत्ति' और 'दोष' (राग, द्वेष, मोह) के अंतर्संबंधों का विस्तृत परीक्षण कीजिए।

प्रश्न 2. ''प्रवृत्ति ही धर्माधर्म (पुण्य-पाप) का मूल आधार है।'' इस कथन के आलोक में शुभ और अशुभ प्रवृत्तियों के दस प्रकारों की विस्तृत समीक्षा कीजिए।

प्रश्न 3. न्यायसूत्र के अनुसार अपवर्ग (मोक्ष) प्राप्ति के मार्ग में 'प्रवृत्ति' की क्या भूमिका है? दोषों के क्षय से प्रवृत्ति का निरोध किस प्रकार संभव है, स्पष्ट करें।

प्रश्न 4. ''आत्मा इन्द्रियों से व्यतिरिद्र (अलग) एक चेतन सत्ता है।'' इस सिद्धांत को न्याय दर्शन के तर्कों के आधार पर सिद्ध कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1. न्याय दर्शन के अनुसार 'प्रवृत्ति' की सटीक परिभाषा क्या है और यह आत्मा के लिए बंधन का कारण कैसे बनती है?

प्रश्न 2. प्रवृत्ति के मुख्य तीन स्वरूप (वाणी, बुद्धि/मन और शरीर) कौन-से हैं? संक्षेप में समझाएं।

प्रश्न 3.'दोष' (Faults) से क्या तात्पर्य है? न्याय सूत्र में इन्हें किन तीन श्रेणियों में बांटा गया है?

प्रश्न 4. 'वीतराग' की अवस्था क्या है और मोक्ष मार्ग में इसका क्या महत्व है?

प्रश्न 5. मिथ्याज्ञान और दु:ख के बीच के संबंध को न्याय दर्शन के 'संसार चक्र' के माध्यम से स्पष्ट करें।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

Q1. न्यायसूत्र के अनुसार 'प्रवृत्ति' का लक्षण क्या है?

(A) केवल शारीरिक चेष्टा

(B) केवल मानसिक संकल्प

(C) वाणी, बुद्धि और शरीर का आरम्भ

(D) केवल इंद्रियों का व्यापार

Q2. न्याय दर्शन में राग, द्वेष और मोह के समूह को किस नाम से जाना जाता है?

(A) त्रिरत्न

(B) त्रैराश्य

(C) त्रिगुण

(D) त्रिविध ताप

Q3. 'मिथ्याज्ञान > दोष > प्रवृत्ति > जन्म > दु:ख' के चक्र में, दोषों का नाश होने पर किसका निरोध होता है?

(A) तत्त्वज्ञान का

(B) आत्मा का

(C) प्रवृत्ति का

(D) इन्द्रियों का

Q4. ''सत्य, प्रिय और हितकारी वचन बोलना'' निम्नलिखित में से किसकी श्रेणी में आता है?

(A) मानसिक शुभ प्रवृत्ति

(B) शारीरिक अशुभ प्रवृत्ति

(C) वाचिक (वाक्) शुभ प्रवृत्ति

(D) मोह

Q5. वह स्थिति जिसमें व्यक्ति के समस्त दोष (राग-द्वेष-मोह) समाप्त हो जाते हैं, उसे क्या कहते हैं?

(A) जिज्ञासु

(B) वीतराग

(C) प्रवृत्ति-मार्ग

(D) मिथ्याज्ञानी

Q6. इन्द्रियों को 'व्यतिरिक्त' मानने का दार्शनिक अर्थ क्या है?

(A) इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं

(B) आत्मा इन्द्रियों से भिन्न और स्वतंत्र है

(C) इन्द्रियाँ आत्मा का कार्य करती हैं

(D) आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं हैं

इकाई- १.२ - शरीर से व्यतिरिक्त आत्मा

उद्देश्य-

भेद-ज्ञानः शरीर (जड़) और आत्मा (चेतन) के बीच के मौलिक अंतर को समझना।

अस्तित्व की पहचानः यह सिद्ध करना कि शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा का अस्तित्व बना रहता है।

पुनर्जन्म की व्याख्याः यह समझना कि यदि आत्मा शरीर से अलग है, तभी वह एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण कर सकती है।

मोह का त्यागः शरीर को ही 'स्वयं' (।) मानने के भ्रम (मिथ्याज्ञान) को दूर करना।

अथ शरीरव्यतिरिक्तात्माप्रकरणम्

'मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ'- इस प्रकार का व्यवहार इत्यादि प्रतीतियों के होने से शरीर को ही आत्मा क्यों न माना जाए ? यदि शरीर को ही आत्मा मानें, तो उसके नष्ट हो जाने पर उसके पाप, पुण्य का भी नाश हो जाना चाहिए तथा पाप-पुण्य के नष्ट हो जाने पर किसी को दुःख और किसी को सुख भी नहीं होना चाहिए। क्योंकि पाप-पुण्य के बिना सुख-दुःख की प्राप्ति नहीं हो सकती, और पाप-पुण्य का कर्त्ता शरीर नष्ट हो चुका है। क्योंकि जिस शरीर ने पाप किया, वह तो बिना भोगे ही नष्ट हो गया और जिस नए शरीर ने अभी पाप पुण्य नहीं किये वह फल भोगेगा।

सूत्र में 'शरीर' पद का तात्पर्य यह है, **चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्।।** (१/१/११) चेष्टा का आश्रय शरीर है, अर्थात् इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का संघात ही शरीर है। **शरीरदाहे पातकाभावात्।।** (३/१/४) उस शरीर के जलाने पर पाप न होने से आत्मा शरीर से पृथक् सिद्ध होता है। मृत शरीर को जलाने पर किसी प्रकार का पाप नहीं लगता। यदि आत्मा शरीर से भिन्न न होता, तो मृत देह को जलाने में पाप लगता, क्योंकि जीवित को जलाना तो घोर दुष्कर्म और भारी पाप है और फिर शरीर का मरना भी सिद्ध नहीं होता, क्योकि निकलकर जाने वाला आत्मा तो शरीर से अतीरिक्त है ही नहीं यदि शरीर को आत्मा माने तो। इसी प्रकार मोक्ष की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य, संन्यास आदि के व्रत आदि अनुष्ठान व्यर्थ हो जाएंगे। इससे यही सिद्ध होता है, कि शरीरादि से अतिरिक्त नित्य चेतन आत्मा है।

संदर्भ- 'शरीरात्मवादी' पूर्वपक्ष सिद्धान्ती के मत में दोष दिखाता है।

तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात्।।३/१/५।।

सहित उस (आत्मा) के नित्य होने से (सात्मकप्रदाह) आत्मा के सहित देह को जला देने पर भी उस पातक (पाप) का अभाव जिसने जीवित आत्मा से युक्त (जीवित) शरीर को जलाया है, उसको भी हिंसाकृत पाप नहीं लगना चाहिए, क्योंकि आत्मा तो नित्य है। नित्य की कोई हिंसा नहीं कर सकता। यदि उसकी हिंसा हो जाए, तो वह नित्य नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार यह हिंसा देहात्मावाद में निष्फल है तथा नित्यात्मवाद में बनेगी ही नहीं। अतः उक्त हेतु के आधार पर आत्मा का देहादि से पृथक् सिद्ध होना सन्दिग्ध है।

आत्मा के शरीर से भिन्न होने में है, एक अन्य हेतु-

न, कार्याश्रयकर्तृवधात्।। ३/१/६।।

न ब्रूमो नित्यस्य सत्त्वस्य वधो हिंसा, अपि त्वनुच्छित्तिधर्मकस्य सत्त्वस्य कार्याश्रयस्य शरीरस्य स्वविषयोपलब्धेश्च कर्त्तृणामिन्द्रियाणामुपघातः पीडा वैकल्यलक्षणः प्रबन्धोच्छेदो वा प्रमाण-लक्षणो वा वधो हिंसेति । कार्यं तु सुखदुःखसंवेदनं तस्यायतनमधिष्ठानमाश्रयः शरीरम्, कार्याश्रयस्य शरीरस्य स्वविषयोपलब्धेश्च कर्त्तृणामिन्द्रियाणां वधो हिंसा, न नित्यस्यात्मनः। कार्य के आश्रय शरीर तथा कार्य के करने वाली साधनरूप इन्द्रियों के वध आघात, पीड़ा से हिंसा होती है न कि नित्य आत्मा के वध से-देहादि से अतिरिक्त आत्मा को मानने वाले सिद्धान्त पक्ष का कथन है, कि हम नित्य आत्मा के वध को हिंसा नहीं कह रहे, अपितु कार्य के आश्रय शरीर और विषयों की उपलब्धि के साधन इन्द्रियों के आघात=पीड़ा पहुँचाने, चोट देने, काट पीट देने को हिंसा कहते हैं। सुख-दुःख की अनुभूति करना तथा उनके साधनों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाले आत्मा का आश्रय शरीर है, इसलिए शरीर कार्याश्रय कहलाता है और इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण किया जाता है, इसलिए उनमें कर्तृत्व का व्यपदेश किया गया है। इन शरीर और इन्द्रियों का वध करना हिंसा है, न कि नित्य आत्मा का वध करना। **इति शरीरव्यतिरिक्तात्माप्रकरणम्।**

स्मरणीय बिंदु-

चेतन बनाम जड़ः शरीर पंचभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) से बना है और स्वयं निजह्रव है। आत्मा वह शक्ति है जो शरीर को चेतना प्रदान करती है।

द्रष्टा और दृश्य: शरीर एक दृश्य (Object) है जिसे देखा जा सकता है, जबकि आत्मा द्रष्टा (Subject/Observer) है जो अनुभव करती है।
इच्छा और प्रयत्न: न्याय दर्शन के अनुसार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और दु:ख आत्मा के लिंग (पहचान) हैं। शरीर मृत होने पर ये गुण समाप्त हो जाते हैं, जो सिद्ध करता है कि ये आत्मा के धर्म हैं।
स्मृति का आधार: यदि शरीर ही सब कुछ होता, तो बचपन का शरीर बदलने पर बुढ़ापे में बचपन की बातें याद नहीं रहतीं। स्मृतियों का बना रहना सिद्ध करता है कि 'याद रखने वाली सत्ता' (आत्मा) अपरिवर्तनीय है।
संघात (structure): शरीर अंगों का एक समूह है। जैसे ईंटों के समूह से घर बनता है पर घर का स्वामी अलग होता है, वैसे ही शरीर रूपी घर का स्वामी 'आत्मा' है।

शब्दावली-
व्यतिरिक्त: पूरी तरह से भिन्न या अलग होना (Distinct/Separate)।
चेतन: जिसमें जानने, समझने और अनुभव करने की शक्ति हो।
अनात्मा: वह सब कुछ जो आत्मा नहीं है (जैसे शरीर, इन्द्रियाँ, मन)।
देहात्मवाद: यह गलत धारणा कि 'शरीर ही आत्मा है'। न्याय दर्शन इसका खंडन करता है।
प्रतिसंधान: अलग-अलग अनुभवों को एक सूत्र में पिरोना (जैसे: ''जिसने कल देखा था, वही आज सुन रहा है'')। यह कार्य केवल शरीर से अलग आत्मा ही कर सकती है।
अपवर्ग: वह स्थिति जहाँ आत्मा शरीर के बंधन से पूरी तरह मुक्त हो जाती है (मोक्ष)।
भोक्ता: वह जो कर्मों के फल (सुख-दु:ख) को भोगता है। शरीर केवल भोग का आयतन (स्थान) है, भोक्ता आत्मा है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-
प्रश्न 1. ''शरीर आत्मा नहीं है।'' न्याय दर्शन के तर्कों के आधार पर इस कथन की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
प्रश्न 2. स्मृति और प्रतिसंधान (**Recognition**) के आधार पर आत्मा की शरीर से पृथकता कैसे सिद्ध की जा सकती है? परीक्षण कीजिए।
प्रश्न 3. देहात्मवाद के खंडन में न्याय दर्शन द्वारा दिए गए प्रमुख तर्कों की समीक्षा कीजिए।
प्रश्न 4. आत्मा को 'भोद्रा' और शरीर को 'आयतन' क्यों कहा गया है? कमर्फल के सिद्धांत के संदर्भ में स्पष्ट कीजिए।
लघु उत्तरीय प्रश्न-
प्रश्न 1. 'व्यतिरिक्त' शब्द का दार्शनिक अर्थ क्या है? आत्मा को शरीर से व्यतिरिक्त मानना क्यों आवश्यक है?
प्रश्न 2. इच्छा, द्वेष और प्रयत्न को आत्मा के लिंग (पहचान) क्यों माना जाता है?
प्रश्न 3. यदि शरीर ही आत्मा होता, तो बाल्यावस्था और वृद्धावस्था की स्मृतियों में क्या समस्या आती?
प्रश्न 4. न्याय दर्शन के अनुसार शरीर के 'जड़' होने का क्या अभिप्राय है?
प्रश्न 5. पुनर्जन्म की अवधारणा के लिए शरीर और आत्मा का अलग होना क्यों अनिवार्य है?
बहुविकल्पीय प्रश्न-
Q1. न्याय दर्शन के अनुसार शरीर को क्या माना गया है?
(**A**) भोक्ता
(**B**) साधन
(C) भोग का आयतन
(**D**) ज्ञाता
Q2. ''जिसने पहले देखा था, वही अब छू रहा है'' - यह समन्वय (प्रतिसंधान) कौन करता है?
(A) इन्द्रियाँ
(B) शरीर
(C) मस्तिष्क
(**D**) **आत्मा**
Q3. इनमें से कौन-सा गुण केवल आत्मा का है, शरीर का नहीं?

(A) रूप
(B) भार
(C) **इच्छा**
(D) आकार
Q4. शरीर को 'संघात' कहने का क्या अर्थ है?
(A) यह अविभाज्य है
(B) **यह विभिन्न तत्वों का समूह है**
(C) यह नित्य है
(D) यह स्वयं प्रकाशित है
Q5. देहात्मवाद का अर्थ है:
(A) आत्मा और शरीर का अलग होना
(B) **शरीर को ही आत्मा मानना**
(C) शरीर का त्याग करना
(D) केवल आत्मा की सत्ता मानना
Q6. मृत्यु के पश्चात शरीर में चेतना का अभाव क्या सिद्ध करता है?
(A) चेतना शरीर का स्वाभाविक गुण नहीं है
(B) चेतना आत्मा का गुण है जो शरीर से अलग हो गई है
(C) **उपरोक्त दोनों**
(D) इनमें से कोई नहीं

इकाई- १.३ - चक्षुरद्वैत परीक्षा प्रकरण

उद्देश्य-

आत्मा की एकता सिद्ध करना: यह प्रमाणित करना कि शरीर के विभिन्न अंगों (जैसे दो आँखें) के होने पर भी ज्ञाता (जानने वाला) एक ही है।

इन्द्रिय-आत्मा भेद: यह स्पष्ट करना कि आँखें केवल देखने के साधन (Instruments) हैं, वे स्वयं 'देखने वाली' (Agent) नहीं हैं।

प्रतिसंधान (Recognition) की व्याख्या: यह समझना कि एक आँख से देखी गई वस्तु को दूसरी आँख बंद होने पर भी कैसे पहचाना जा सकता है।

देहात्मवाद का खंडन: इस विचार को निरस्त करना कि शरीर या अंग ही आत्मा हैं।

अथ चक्षुद्वैतप्रकरणम्

बाई आँख से देखे हुए पदार्थ का दाई आँख से 'प्रत्यभिज्ञान' पहचान होने के कारण आत्मा इन्द्रियादि से भिन्त्र है।

सव्यदृष्टस्येतरेणप्रत्यभिज्ञानात् ॥३/१/७॥

पूर्वपरयोर्विज्ञानयोरेकविषये प्रतिसन्धिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्- तमेवैतर्हि पश्यामि यमज्ञासिषं स एवायमर्थ इति, सव्येन चक्षुषा दृष्टस्येतरेणापि चक्षुषा प्रत्यभिज्ञानाद् यमद्राक्षं तमेवैतर्हि पश्यामीति। इन्द्रियचैतन्ये तु नान्यदृष्टमन्यः प्रत्यभिज्ञानातीति प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिः। अस्ति त्विदं प्रत्यभिज्ञानं तस्मादिन्द्रियव्यतिरिक्तश्चेतनः। पहले और बाद में होने वाले दो ज्ञानों का एक विषय में जो मिला हुआ ज्ञान होता है, उसे 'प्रत्यभिज्ञान' कहते हैं। जैसे किसी ने सोमदत्त को पहले हरिद्वार में देखा, उसी को दूसरी बार देहरादून में देखकर वह सोचता है कि- 'क्या यह वही सोमदत्त है, जिसे मैंने पहले हरिद्वार में देखा था'। यह ज्ञान 'प्रत्यभिज्ञान' है। इसी प्रकार व्यक्ति बाई आँख से देखे हुए पदार्थ का दाई आँख से प्रत्यभिज्ञान करता है- 'जिस वस्तु को मैंने बाई आँख से देखा था, उसी को अब दाई आँख से देख रहा हूँ'। इससे सिद्ध होता है, कि उस प्रत्यभिज्ञान का कर्ता इन्द्रियो से भिन्न कोई और ही पदार्थ है। यदि इन्द्रियाँ ही चेतन होतीं, तो बाई आँख से देखी हुई वस्तु को दाईं आँख कभी नहीं पहचान सकती थी; क्योंकि सोमदत्त के देखे हुए को यज्ञदत्त नहीं पहचान सकता।

नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात् ॥३/१/८॥

उक्त हेतु ठीक नहीं नाक की हड्डी से व्यवहित एकस्मिन् एक आँख में दो का भ्रम होने से । चक्षु इन्द्रिय एक ही होती है, बीच में नाक की हड्डी का होने से एक ही नेत्र दो जैसे दृष्ट होते है। जिस प्रकार किसी तालाब में पुल बांध देने से अथवा एक लम्बे बांस के बीच में व्यवधान डाल देने से वह एक होता हुआ भी दो जैसा दिखाई देता है। दोनों ओर के चक्षु एक ही होने से अपने ही पूर्व ज्ञान का कालान्तर में प्रत्यभिज्ञान करता है। अतः आत्मा को इन्द्रियों से भिन्न सिद्ध करने के लिए जो हेतु दिया है, वह ठीक नहीं।

समाधान- चक्षु एक नहीं अपितु दो है-

एकविनाशे द्वितीयाऽविनाशान्नैकत्वम् ॥३/१/९॥

एकस्मिन्नुपहते चोद्धृते वा चक्षुषि द्वितीयमवतिष्ठते चक्षुर्विषयग्रहणलिङ्गं तस्मादेकस्य व्यवधानानुपपत्तिः। एक चक्षु का विनाश हो जाने पर दूसरे चक्षु का विनाश न होने से चक्षु एक नहीं है। यदि चक्षु इन्द्रिय एक ही होता, तो एक के नष्ट हो जाने पर दूसरा भी नष्ट हो जाता, परन्तु यह प्रत्यक्षसिद्ध है, कि एक के फूट जाने पर दूसरे से कार्य हो जाता है और उससे रूप को ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं होती। अतः चक्षु एक नहीं दो है। यदि कोई सशंय करे- एक अवयव के नाश होने पर भी अवयवी की उपलब्धि हो सकती है- क्योंकि अवयव के एक आधे अंश के नष्ट हो जाने पर भी अवयवी बना रहता है।

अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः ॥३/१/१०॥

एक अवयव के नाश होने पर भी अवयवी की उपलब्धि से (उक्त) हेतु ठीक नहीं।

उक्त एकविनाशे द्वितीयाऽविनाशात् हेतु ठीक नहीं क्योंकि इस का कारण यह है कि अवयव (एक-आध अंश) के नष्ट हो जाने पर भी अवयवी बना रहता है। -जैसे वृक्ष की कुछ शाखाओं के टूट जाने पर भी वह वृक्ष उपलब्ध रहता है। इसी प्रकार अवयवरूप एक चक्षु का विनाश होने पर भी चक्षु बना रहता है। अतः चक्षु इन्द्रिय को दो कहना तर्कसंगत नहीं है।

समाधान- दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ॥३/१/११॥

न कारणद्रव्यस्य विभागे कार्यद्रव्यमवतिष्ठते नित्यत्वप्रसङ्गात् । बहुष्ववयविषु यस्य कारणानि विभक्तानि तस्य विनाशः, येषां कारणान्यविभक्तानि तानि अवतिष्ठन्ते । दृष्टान्त के विरोध से दो चक्षु होने का प्रतिषेध उचित नहीं। कारण द्रव्य अवयव के विनाश

से कार्यद्रव्य अवयवी का भी विनाश अवश्य हो जाता है, अन्यथा वह कार्यद्रव्य नित्य हो जाएगा। दृष्टान्त में शाखायुक्त वृक्ष के नाश से शाखारहित वृक्ष रह जाना स्पष्ट है। नेत्रों में भी यही स्थिति होने से जिस नेत्र के गोलक का नाश नहीं हुआ, वह सुरक्षित है। यदि नेत्र एक ही होता, तो जिस प्रकार एक घट के दो कपालों में से एक के नष्ट हो जाने पर घट नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार एक ही नेत्र के दो गोलकों में से एक के नष्ट हो जाने पर नेत्र का भी अस्तित्व समाप्त हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः पूर्वपक्ष का हेतु दृष्टान्त के विरोध होने से ठीक नहीं। अनेको ज्ञान के प्रत्यभिज्ञा के लिए आत्मा का मानना आवश्यक है। शरीर, इन्द्रिय आदि से अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि में एक अन्य हेतु-

इन्द्रियान्तरविकारात् ॥३/१/१२॥

कस्यचिदम्लफलस्य गृहीततद्रससाहचर्ये रूपे गन्धे वा केनचिदिन्द्रियेण गृह्यमाणे रसनस्येन्द्रियान्तरस्य विकारो रसानुस्मृतौ रसगर्धिप्रवर्त्तितो दन्तोदकसंप्लवभूतो गृह्यते । अन्य इन्द्रियों में विकार देखे जाने से आत्मा इन्द्रियादि से पृथक् है। किसी इन्द्रिय के द्वारा उसके विषय का ग्रहण होने पर, अन्य इन्द्रिय में विकार उत्पन्न होने से सिद्ध होता है, कि आत्मा देहादि से पृथक् है। जैसे किसी व्यक्ति ने किसी खट्टे फल आम, नींबू, इमली आदि का स्वाद चखा, साथ ही उसके रूप और गन्ध का भी अनुभव किया। कालान्तर में वैसे ही फल को आँख से देखने अथवा नाक से सूँघने पर पूर्वानुभव रस की स्मृति से रसना में विकार उत्पन्न होता है, अर्थात् मुँह में पानी भर आता है। यदि इन्द्रियों को ही आत्मा माना जाये, तो यह स्थिति नहीं हो सकती, क्योंकि अन्य के देखे हुए का अन्य कोई स्मरण नहीं कर सकता। इसलिए इन्द्रियों से पृथक् आत्मा को मानना प्रामाणिक ही है।

न, स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् ॥३/१/१३॥

स्मृति का स्मर्तव्य (पदार्थ) विषय होने से (इन्द्रियान्तर विकार हेतु, ठीक) नहीं है।

जिस पदार्थ का अनुध्यान किया जाए, उसे 'स्मर्त्तव्य' कहते हैं। स्मृति नाम का धर्म अपने 'संस्कार' आदि कारण से उत्पन्न होता है, रस आदि स्मर्तव्य पदार्थ उसका विषय होता है। जिस मनुष्य ने एक बार नींबू आदि के रस का आस्वाद किया है, पुनः उसको देखने पर मुँह में पानी भर आता है यह रसन इन्द्रिय की स्मृति का कार्य है, आत्मा का नहीं। इसलिए इन्द्रियान्तर विकार हेतु किसी अतिरिक्त आत्मतत्त्व के लिए साधक नहीं है।

स्मरण करना आत्मा का गुण है– उस रसादि की स्मृति के आत्मा का गुण होने के कारण इन्द्रियातिरिक्त आत्मा के अस्तित्व का प्रतिषेध उचित नहीं है।

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः ॥३/१/१४॥

तस्या आत्मगुणत्वे तिस सद्भावादप्रतिषेध आत्मनः । यदि स्मृतिरात्मगुणः? एवं सति स्मृतिरुपपद्यते नान्यदृष्टमन्यः स्मरतीति । 'अहं स्मरामि' मैं स्मरण करता हूँ अथवा मुझे अनेक विषयों की स्मृति है, इत्यादि सभी के अनुभवों से यह सिद्ध होता है, कि स्मृति आत्मा का गुण 'धर्म' है। किसी एक इन्द्रियों को न विभिन्न विषयों का अनुभव हो सकता है, न स्मरण। यदि इन्द्रियों को आत्मा मानें तो किसी अन्य के देखे हुए को अन्य स्मरण नहीं कर सकता। इस चेतन सम्बन्धी व्यवस्था के अनुसार चक्षु के देखे हुए से रसन इंद्रिय को स्मृति होना सम्भव नहीं, परन्तु स्मृति तो होती है। इससे देह, इन्द्रियादि से अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि होती है, जो एक होकर भी चक्षु, रसन आदि सभी इन्द्रियरूप साधनों के द्वारा विविध विषयों का ग्रहण कर सकता है। उस आत्मा के द्व ारा रूप को देखकर रस का स्मरण करना सम्भव हो सकता है। इसलिए इन्द्रियान्तर विकार आत्मा के इन्द्रियादि से अलग अस्तित्व का साधक है। अतः देहादिसंघात से अतिरिक्त चेतन आत्मा का अस्तित्व निश्चित है-

अपरिसङ्ख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य ॥३/१/१५॥

स्मृति के विषयों की परिगणना न करने से वैसा कथन किया गया है। स्मृति के विषयों के विस्तार तथा तत्त्वों पर ध्यान न देकर इन्द्रियों को मानने वाले ने आक्षेप किया है, कि 'आत्मा' नहीं है, क्योंकि स्मर्त्तव्य अर्थ स्मृति का विषय है। वस्तुतः स्मृति का विषय बहुत विस्तृत है। स्मृति की दो परिस्थितियाँ हैं, जैसे :- १. परोक्ष अर्थ वाली, २. प्रत्यक्ष अर्थ वाली ।

१. मैंने इस पदार्थ को जाना था, उस अर्थ को मैं जान चुका हूँ, वह अर्थ मेरे द्वारा जाना गया, उस अर्थ के विषय में मेरा ज्ञान था। इस चार प्रकार के परोक्ष ज्ञान में सर्वत्र ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय ये तीनों उपलब्ध होते हैं। और

२. प्रत्यक्ष अर्थ में भी ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों का प्रतिसन्धान (प्रत्यभिज्ञान) या स्मरण होता है। जैसे जिस पदार्थ को मैंने पहले देखा था, उसी को अब देख रहा हूँ। यह तीन प्रकार के ज्ञानों से युक्त हुआ प्रतिसन्धान न तो बिना कर्ता के हो जाता है, और न इसके अनेक कर्ता हैं, अपितु यह एक कर्ता वाला है, क्योंकि एक ही सब विषयों का ज्ञाता अपने सम्पूर्ण ज्ञानों का प्रतिसन्धान करता है। तथा वही एक कर्त्ता -मैं इस पदार्थ को जानूँगा, इसको जानता हूँ, इसे जाना था और अमुक अर्थ की जिज्ञासा करते हुए बहुत काल तक न जान कर फिर मैंने जाना' इत्यादि ज्ञानों का प्रतिसन्धान (निश्चय) करता है।

यदि स्मृति और प्रतिसन्धान को संस्कारों का फैलाव मात्र ही मान लिया जाए, तो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम तो संस्कार

उत्पन्न होकर विलीन हो जाते हैं, दूसरे कोई संस्कार ऐसा नहीं है, जो तीनों काल का ज्ञान और स्मृति का अनुभव कर सके। बिना अनुभव के मैं और मेरा यह ज्ञान और प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता । इससे अनुमान होता है, कि 'सर्वविषयग्राही' एक आत्मतत्त्व है, जो प्रत्येक देह में पृथक् पृथक् रहता हुआ अपने ज्ञान और स्मृति के प्रबन्ध को फैलाता है। एक आत्मा के एक ही देह में रहने तथा अन्य देहों में न रहने से एक आत्मा के ज्ञान का अन्य आत्मा के द्वारा प्रत्यभिज्ञान नहीं हो पाता।

अत: देहादिसंघात से अतिरिक्त चेतन नित्य आत्मा का अस्तित्व निश्चित है।

संदर्भ- देहादिसंघात से भिन्न आत्मा को न मानता हुआ पूर्वपक्ष कहता है

नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात् ।।३/१/१६।।

संशय– क्योंकि आत्मा के साधक **'दर्शनस्पर्शनाभ्यमेकार्थग्रहणात्' (३/१/१)**

दर्शनेन कश्चिदर्थो गृहीत: स्पर्शनेनापि सोऽर्थो गृह्यते यमहमद्राक्षं चक्षुषा तं स्पर्शनेनापि स्पृशामीति, यं चास्पार्क्ष स्पर्शनेन तं चक्षुषा पश्यामीति । इत्यादि सब हेतु मन में घटित होते हैं। जिस प्रकार आत्मा को एक और अनेक विषयों को ग्रहण करने वाला कहा है, वैसा ही मन को भी कहा गया है। अत: शरीरेन्द्रिय, मन आदि के समूह से पृथक् 'आत्मा' नाम का कोई पदार्थ है ही नहीं। मन को ही आत्मा जानना चाहिए।

॥ इति चक्षुद्वैतप्रकरणम्॥

स्मरणीय बिंदु-

दो गोलक, एक -दृष्टा: मनुष्य की दो आँखें (गोलक) होती हैं, लेकिन उनसे प्राप्त होने वाला ज्ञान एक ही सत्ता को प्राप्त होता है।

सव्य-दक्षिण चक्षु तर्क: यदि हम दाई आँख से किसी वस्तु को देखते हैं और फिर उसे बंद करके बाई आँख से देखते हैं, तो हमें बोध होता है कि ''यह वही वस्तु है जिसे मैंने पहले देखा था।'' यह समन्वय केवल एक 'अद्वैत' (एक) आत्मा ही कर सकती है।

इन्द्रिय विनाश तर्क: यदि एक आँख फूट जाए या नष्ट हो जाए, तो भी उस आँख से पूर्व में देखे गए विषयों की स्मृति बनी रहती है। यदि आँख ही आत्मा होती, तो आँख के साथ ज्ञान भी नष्ट हो जाना चाहिए था।

अधिष्ठान (Seat of Consciousness): आँखें केवल झरोखे हैं। जैसे एक ही व्यक्ति घर की दो अलग-अलग खिड़कियों से बाहर देख सकता है, वैसे ही एक ही आत्मा दो आँखों से संसार को देखती है।

एकत्व का प्रमाण: यदि दो आँखों में दो अलग आत्माएं होतीं, तो एक आँख के अनुभव का ज्ञान दूसरी आँख को नहीं होता।

शब्दावली-

चक्षुरद्वैत: चक्षु (आँख) + अद्वैत (एक)। अर्थात दो आँखों के होने पर भी देखने वाली चेतना का एक होना।

प्रतिसंधान: दो अलग-अलग समय या इन्द्रियों के अनुभवों को आपस में जोड़ना (जैसे: ''यह वही है जिसे मैंने देखा था'')।

सव्य-दक्षिण: सव्य (बायाँ) और दक्षिण (दायाँ)। बाई और दाई आँख के संदर्भ में प्रयुक्त।

गोलक: आँखों के भौतिक स्थान या गड्ढे जहाँ इन्द्रियाँ स्थित होती हैं।

व्यतिरेक: भेद या अलगाव। आत्मा का इन्द्रियों से पृथक होना।

अद्वैत परीक्षा: यह जाँचने की प्रक्रिया कि ज्ञाता एक है या अनेक।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1. ''चक्षुरद्वैत परीक्षा प्रकरण'' के माध्यम से न्याय दर्शन ने आत्मा की एकता को किस प्रकार सिद्ध किया है? विस्तार से समझाएं।

प्रश्न 2. प्रतिसंधान (Recognition) से क्या तात्पर्य है? दो आँखों के उदाहरण द्वारा सिद्ध कीजिए कि प्रतिसंधान

आत्मा का ही धर्म है, इन्द्रियों का नहीं।

प्रश्न 3. यदि इन्द्रियाँ (आँखें) ही आत्मा होतीं, तो ज्ञान की प्रक्रिया में क्या बाधाएँ आतीं? न्याय दर्शन के तर्कों के आधार पर समीक्षा कीजिए।

प्रश्न 4. इन्द्रिय-नाश होने पर भी स्मृति का बने रहना आत्मा की पृथकता का प्रमाण है। इस कथन की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1.'चक्षुरद्वैत' शब्द का सरल अर्थ क्या है? यह प्रकरण क्या सिद्ध करना चाहता है?

प्रश्न 2. सव्य (बायाँ) और दक्षिण (दायाँ) चक्षु के समन्वय का तर्क आत्मा की सत्ता को कैसे प्रमाणित करता है?

प्रश्न 3. न्याय दर्शन में दिए गए 'खिड़की और दृष्टा' के उदाहरण को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 4. 'प्रतिसंधान' केवल एक ही चेतन सत्ता में संभव है, अनेक में नहीं। क्यों?

प्रश्न 5. चक्षु गोलक और चक्षु इन्द्रिय में क्या अंतर है?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

Q1. 'चक्षुरद्वैत' का शाब्दिक अर्थ क्या है?

(A) आँखों का न होना

(B) दो आँखों के पीछे एक ही दृष्टा का होना

(C) आँखों का दो अलग आत्माएँ होना

(D) केवल दाईं आँख से देखना

Q2. ''जिसे मैंने दाईं आँख से देखा, उसी को बाईं आँख से देख रहा हूँ'' -यह अनुभव कहलाता है:

(A) भ्रम

(B) मोह

(C) प्रतिसंधान

(D) द्वेष

Q3. यदि आँख ही आत्मा होती, तो एक आँख के नष्ट होने पर क्या होता?

(A) व्यक्ति को कुछ याद नहीं रहता

(B) उस आँख से देखा गया अनुभव नष्ट हो जाता

(C) दूसरी आँख भी काम करना बंद कर देती

(D) आत्मा मर जाती

Q4. न्याय दर्शन के अनुसार आँखें क्या हैं?

(A) स्वयं ज्ञाता

(B) ज्ञान प्राप्त करने के साधन (खिड़की के समान)

(C) जड़ पदार्थ जिनका आत्मा से संबंध नहीं है

(D) केवल शरीर का सौंदर्य

Q5. 'प्रतिसंधान' का गुण निम्नलिखित में से किसमें पाया जाता है?

(A) इन्द्रियों में

(B) शरीर में

(C) चेतन आत्मा में

(D) चक्षु गोलक में

Q6. सव्य-दक्षिण चक्षु परीक्षा का मुख्य उद्देश्य क्या है?

(A) आँखों की चिकित्सा करना

(B) आत्मा की एकता और इन्द्रिय-व्यतिरेक सिद्ध करना

(C) दृष्टि दोष को समझना

(D) योग का अभ्यास करना

इकाई- १.४ - आन्तरिक इन्द्रिय मन से व्यतिरिक्तात्मा

उद्देश्य-

मन और आत्मा का भेद: यह समझना कि मन एक 'करण' (साधन) है और आत्मा 'कर्ता' (स्वामी) है।

युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति की समझ: यह जानना कि हम एक समय में एक ही ज्ञान क्यों प्राप्त करते हैं और इसमें मन की क्या भूमिका है।

नियंत्रण शक्ति: यह स्पष्ट करना कि मन को वश में करने वाली सत्ता 'आत्मा' उससे भिन्न है।

सूक्ष्म शरीर विवेचन: मन के भौतिक/सूक्ष्म स्वरूप और आत्मा के चेतन स्वरूप के अंतर को पहचानना।

अथ मनोव्यतिरिक्तात्मप्रकरणम्

ज्ञाता आत्मा के ज्ञानसाधनों की सिद्धि से संज्ञाभेदमात्र आत्मा को मन कहना केवल नाम भेद ही है।

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम् ॥३/१/१७॥

ज्ञातुः खलु ज्ञानसाधनान्युपद्यन्ते, चक्षुषा पश्यति, घ्राणेन जिघ्रति, स्पर्शनेन स्पृशति, एवं मन्तुः सर्वविषयस्य मतिसाधनमन्तःकरणभूतं सर्वविषयं विद्यते येनायं मन्यत इति । ज्ञाता आत्मा को बाह्य और आन्तर अर्थों के लिए साधनों की आवश्यकता होती है। साधन के बिना उसे ज्ञान नहीं हो सकता। उसके बाह्य साधन चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियाँ हैं।

जैसे वह नाक से सूँघता है, रसना से चखता है, चक्षु से देखता है, उसी प्रकार चिन्तन, मनन, स्मरण, संकल्प आदि आन्तिरिक कार्य मन से करता है। यदि उसे आत्मा के स्थान पर मान लिया जाए, तो आन्तिरिक अर्थों के ग्रहण के लिए मन के स्थान पर एक अन्य साधन को मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में केवल नामभेद होगा, आत्मा का नाम 'मन' ओर मन के स्थान पर कुछ ओर इससे स्वीकृत तत्त्वों की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता।

नियमश्च निरनुमानः ॥३/१/१८॥

योऽयं नियम इष्यते रूपादिग्रहणसाधनान्यस्य सन्ति, मतिसाधनं सर्वविषयं नास्तीति, अयं नियमो निरनुमानः। ऐसे नियम का अनुमान उचित नहीं है कि रूपादि ग्रहण का साधन स्वीकार किया जाये और स्मरणादि ग्रहण का नहीं। हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, कि रूपादि विषयों से सुख-दुःख आदि सर्वथा भिन्न हैं। इसलिए उनके ज्ञान का साधन भी नेत्र आदि इन्द्रियों से अतिरिक्त मानना पड़ेगा।

जैसे आँख से गन्ध का ज्ञान नहीं हो सकता, उसके लिए अन्य करण नासिका है, इसी प्रकार नेत्र और नासिका दोनों से रस का ज्ञान नहीं होता, उसके लिए भिन्न इन्द्रिय रसन है। इसी प्रकार नेत्र आदि समस्त बाह्य इन्द्रियों से सुख-दुःख आदि का ग्रहण नहीं होता। उनके ग्रहण के लिए भी कोई अन्य साधन मानना पड़ेगा और वह साधन है मन, जिस इन्द्रिय के साथ मन का संयोग होता है, उस इन्द्रिय के ग्राह्य विषय का आत्मा को ज्ञान हो जाता है। जिसके साथ संयोग नहीं होता, उसका ज्ञान नहीं होता। अतः यह कहना, कि आत्मा के साधक हेतु के मन में घटित हो जाने से पृथक् आत्मा तत्त्व अनावश्यक है सर्वथा अप्रामाणिक है।

॥ इति मनोव्यतिरिक्तात्मप्रकरणम् ॥

स्मरणीय बिंदु-

मन एक अणु है: न्याय दर्शन के अनुसार मन 'अणु' (अत्यंत सूक्ष्म) है। इसी कारण यह एक समय में केवल एक ही इन्द्रिय से जुड़ सकता है।

साधन मात्र: जैसे आँख देखने का साधन है, वैसे ही मन सुख-दुःख और आंतरिक अनुभवों को महसूस करने का 'आंतरिक साधन' है।

आत्मा ज्ञाता है: मन स्वयं कुछ नहीं जानता; वह केवल सूचनाओं को आत्मा तक पहुँचाता है। जानने वाली सत्ता आत्मा है।

स्मृति और संकल्प: स्मृति, संकल्प और इच्छा का वास्तविक आश्रय आत्मा है, मन केवल इनके प्रकटीकरण का माध्यम है।

व्यतिरेक का तर्क: यदि मन ही आत्मा होता, तो सुषुप्ति (गाहरी नींद) या समाधि की अवस्था में चेतना के स्वरूप की व्याख्या करना कठिन होता।

शब्दावली (Terminology)आंतरिक इन्द्रिय: मन को आंतरिक इन्द्रिय कहा जाता है क्योंकि यह शरीर के भीतर के सुख-दुःख का बोध कराता है।

युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति: 'युगपत्' (एक साथ) + 'ज्ञान' + 'अनुत्पत्ति' (न होना)। अर्थात एक ही समय में अनेक ज्ञान का न होना।

अणुत्व: मन का परमाणु जैसा सूक्ष्म होना।

करण: वह साधन जिसके द्वारा क्रिया की जाती है (जैसे मन)।

विभु: आत्मा का वह गुण जो उसे सर्वव्यापी बनाता है(मन इसके विपरीत अणु है)।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न -

प्रश्न 1. ''मन आत्मा नहीं है, बल्कि आत्मा का एक साधन है।'' न्याय दर्शन के तर्कों के आधार पर इस कथन की विस्तृत समीक्षा कीजिए।

प्रश्न 2. 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति' (एक समय में एक ही ज्ञान होना) का सिद्धांत मन की सत्ता और उसकी आत्मा से भिन्नता को कैसे सिद्ध करता है?

प्रश्न 3. मन के 'अणुत्व' (सूक्ष्मता) और आत्मा के 'विभुत्व' (व्यापकता) के अंतर को स्पष्ट करते हुए इनके आपसी संबंध पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 4. इच्छा, प्रयत्न और सुख-दु:ख का आश्रय मन न होकर आत्मा है- इस तर्क का परीक्षण कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1. मन को 'आंतरिक इन्द्रिय' क्यों कहा जाता है?

प्रश्न 2. यदि मन और आत्मा एक ही होते, तो ज्ञान की प्रक्रिया में क्या विसंगति उत्पन्न होती?

प्रश्न 3. सुषुप्ति (गहरी नींद) की अवस्था में मन और आत्मा की स्थिति क्या होती है?

प्रश्न 4. 'करण' और 'कर्ता' के बीच के अंतर को उदाहरण सहित समझाइए।

प्रश्न 5. न्याय दर्शन के अनुसार मन का मुख्य कार्य क्या है?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

Q1. न्याय दर्शन के अनुसार 'मन' का परिमाण (Size) क्या है?

(A) विभु (सर्वव्यापी)

(B) मध्यम

(C) अणु (सूक्ष्म)

(D) शरीर के बराबर

Q2. एक ही समय में अनेक विषयों का ज्ञान न होना (युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति) किसका लिंग (पहचान) है?

(A) आत्मा का

(B) शरीर का

(C) इन्द्रियों का

(D) मन का

Q3. मन को क्या माना गया है?

(A) ज्ञाता (Knower)

(B) आंतरिक करण (Internal Instrument)

(C) मुख्य आत्मा

(D) भौतिक तत्व मात्र

Q4. आत्मा और मन के संबंध में कौन-सा कथन सत्य है?

(A) आत्मा कर्ता है और मन साधन है।

(B) मन कर्ता है और आत्मा साधन है।

(C) दोनों एक ही पदार्थ हैं।

(D) मन चेतन है और आत्मा जड़ है।

Q5. सुख-दु:ख का प्रत्यक्ष (Perception) किस इन्द्रिय के माध्यम से होता है?

(A) चक्षु (आँख)

(B) रसना (जीभ)

(C) मन

(D) त्वचा

Q6. ''मन आत्मा से व्यतिरिक्त है'' क्योंकि:

(A) मन जड़ और अणु है, जबकि आत्मा चेतन है।

(B) मन केवल एक ही विषय पर एकाग्र हो सकता है।
(C) मन स्मृति का साधन है, आधार नहीं।
(D) उपरोक्त सभी।

खण्ड : २ आत्मनित्यत्व एवं इन्द्रियों के भौतिकत्व तथा नानात्व की परीक्षा

इकाई- २.१ - चेतन आत्मा की नित्यता

उद्देश्य-

अविनाशित्व को समझना: यह सिद्ध करना कि शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा का अस्तित्व समाप्त नहीं होता।
पूर्वजन्म की सिद्धि: आत्मा की नित्यता के माध्यम से पुनर्जन्म के सिद्धांत को तर्कपूर्ण ढंग से समझना।
संस्कार और स्मृति: यह जानना कि जन्मजात प्रवृत्तियाँ (जैसे बालक का स्तनपान करना) पूर्वजन्म के अभ्यास का परिणाम हैं।
वैराग्य और मोक्ष: शरीर की अनित्यता और आत्मा की नित्यता के भेद को समझकर मोक्ष की ओर अग्रसर होना।

अथ आत्मनित्यताप्रकरणम्

देहादि संघात से भिन्न जो चेतन आत्मा सिद्ध हुआ है वह नित्य है अथवा अनित्य, इस संशय के निवारण हेतु स्वयं महर्षि गौतम सिद्धान्तपक्षानुसार आत्मा की नित्यता का निरुपण करते है–

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः ॥३/१/१९॥

जातः खल्वयं कुमारकोऽस्मिन् जन्मन्यगृहीतेषु हर्षभयशोकहेतुषु हर्षभय-शोकान् प्रतिपद्यते लिङ्गानुमेयान् । ते च स्मृत्यनुबन्धादुत्पद्यन्ते नान्यथा । पूर्व जन्मों के अभ्यासों की स्मृति के कारण उत्पन्न हुए बालक के हर्ष, भय और शोकादि (दु:ख) देखे जाने से अनुमान प्रमाण से ज्ञात होता है कि आत्मा नित्य है। जन्म के तत्काल अनन्तर बालक, जिसने इस जन्म में हर्ष, भय, शोक आदि के हेतुओं का अनुभव नहीं किया है ऐसे भाव प्रकट करते देखा जाता है, जिनसे बालक के हर्षित, भययुक्त तथा दु:खी होने की स्थिति का पता लगता है। वे हर्ष आदि पूर्व जन्म में हुए आभास की स्मृति के कारण ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि बिना पूर्वाभ्यास के स्मृति हो नहीं सकती, जिसके कारण वह कभी प्रसन्न होकर हँसता है, कभी दु:खी होकर रोता है और पूर्वाभ्यास जन्म के बिना नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है, कि इस शरीर के बार-बार नष्ट होने पर भी आत्मा शेष रहता है। अत: आत्मा नित्य है।

पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत् तद्विकारः ॥३/१/२०॥

कमल आदि पुष्पों में प्रस्फुटित और मुंदने आदि विकार के समान जन्म लिए बालक में हर्ष आदि विकार सम्भावित हैं। जिस प्रकार निमित्त के बिना कमल आदि अनित्य पदार्थों में खिलना और बन्द होना आदि विकार होते हैं, उसी प्रकार जातमात्र बालक के हर्ष, शोक आदि विकार बिना निमित्त के हो जाते हैं। अर्थात् आत्मा के अनित्य होने पर भी ये विकार सम्भव हैं। अत: बच्चे में हर्ष आदि का पाया जाना हेतु, आत्मा को नित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।

पञ्चभूतों में विकार होने से भी आत्मा नित्य है–

नोष्णाशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मकविकाराणाम् ॥३/१/२१॥

उष्णादिषु सत्सु भावादत्स्वभावात्तन्निमित्ताः पञ्चभूतानुग्रहेण निर्वृत्तानां पद्मदीनां प्रबोधसम्मीलनविकारा इति न निर्निमित्ताः। एवं हर्षादयोऽपि विकारा निमत्ताद्भवितुमर्हन्ति न निमित्तमन्तरेण। जब पञ्चभूतों में विकार बिना निमित्त के घटीत नहीं होता, तो जन्म लिए बालक में हर्ष आदि कैसे सम्भव हो सकते है इसलिए पञ्चभूतों के विकार पद्म आदि का प्रस्फुटित होना और बन्द होना आदि भी बिना निमित्त के नहीं होते। गर्मी, सर्दी, वर्षा आदि ऋतुओं के कारण ही कमल आदि में प्रबोध और सम्मिलन आदि विकार उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार तत्काल उत्पन्न बालक के हर्षादि का निमित्ति पूर्वाभ्यास की स्मृतियाँ ही हैं। जैसे बिना गर्मी आदि निमित्त के कमल का खिलना और बन्द होना आदि विकार नहीं हो सकते, वैसे ही बिना पूर्वाभ्यास की स्मृतिरूप निमित्त के बिना तत्काल जन्मे बालक के हर्षादि विकारों का होना असम्भव है। यह स्थिति आत्मा को नित्य माने बिना नहीं हो सकती। अत: आत्मा का नित्यत्व स्वीकार करना ही चाहिए। आत्मा के नित्य होने में अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं, जन्म के तुरन्त पश्चात् बालक की क्रियायें बिना पूर्वाभ्यास के सम्भव नहीं–

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥3/1/22॥

जातमात्रस्य वत्सस्य प्रवृत्तिलिङ्गः स्तन्याभिलाषो गृह्यते। स च नान्तरेणाहाराभ्यासम् । कया युक्त्या? दृश्यते हि शरीरिणां क्षुधापीड्यमानानामाहाराभ्यासकृतात्स्मरणानुबन्धादाहाराभिलाषाः । न च पूर्वशरीराभ्यासमन्तरेणासौ जातमात्रस्योपपद्यते । तेनानुमीयते भूतपूर्वं शरीरं, यत्रानेनाहारोऽभ्यस्त इति । बालक उत्पन्न होते ही बिना किसी प्रशिक्षण के दूध पीने लगता है तथा न

मिलने पर रोने व हाथ पैर चलाने लगता है। इससे अनुमान होता है, कि उसकी मातृदुग्ध के पीने की अभिलाषा है, क्योंकि बिना इच्छा के प्रवृत्ति नहीं होती और ऐसी अभिलाषा पहले अनुभूत आहार के अभ्यास के बिना सम्भव नहीं। क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं, कि लोक में भूख से पीड़ित प्राणी पूर्वकृत आहाराभ्यास के संस्कारों से प्रेरित होकर आहार की अभिलाषा करता है और आहार ग्रहणकर भूख की निवृत्ति करता है। जातमात्र बालक की ऐसी अभिलाषा पूर्वजन्म के अभ्यास के बिना सम्भव नहीं हो सकती, क्योंकि इस जन्म में तो उसने अभी भोजन का अभ्यास किया ही नहीं। इससे अनुमान होता है, कि इस चालू शरीर से पहले भी इस आत्मा का शरीर था, जिसमें इसने भोजन का अभ्यास किया था। जब उस शरीर को छोड़कर इस नए शरीर में आया तब भूख से पीड़ित होकर पूर्व जन्म के अभ्यास के कारण आहार को स्मरण करता हुआ दूध की इच्छा करता है। अत: देह के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता। वह चालू देह मिलने से पहले जैसा था, वैसा अब है, आगे वैसा ही रहेगा।

अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत्तदुपसर्पणम् ॥३/१/२३॥

लोहे के (अयस्कान्त मणि) चुम्बक की ओर आकर्षित होना या सरकने के समान उस बालक का भी स्तन्य की ओर आकर्षित होना सम्भावित है। जैसे अयस्कान्त (चुम्बक मणि) के सम्मुख होते ही लोहा पूर्वाभ्यास के बिना ही चुम्बक की ओर जाता है, वैसे ही बालक की भी आहाराभ्यास के बिना ही स्तन्य की अभिलाषा तथा उस ओर प्रवृत्ति सम्भव है। इसलिए आत्मा के नित्यत्व की सिद्धि के लिए उक्त हेतु ठीक नहीं। यदि पूर्व जन्म के अभ्यास को कारण माना जाए, तो जन्म से नेत्र हिन या बधिरों को पूर्वाभ्यस्त रूप, शब्दादि का इस जन्म में भी प्रत्यक्ष होना चाहिए ।

नान्यत्र प्रवृत्त्यभावात् ॥३/१/२४॥

अन्यत्र अन्य किसी ओर प्रवृत्ति के न होने से उक्त कथन ठीक नहीं। लोहे और चुम्बक का जो दृष्टान्त दिया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि लोहे का चुम्बक के पास जाना किसी निमित्त से है। यदि इसमें कोई निमित्त न होता, तो काष्ठ, लोष्ठ (मिट्टी का ढेला) आदि भी चुम्बक के पास सरक जाते, अथवा लोहा चुम्बक के अतिरिक्त लोष्ठ आदि के समीप भी आकर्षित हो जाता। जैसे चुम्बक का लोहे को ही आकर्षित करने का विशेष नियम है. वैसे ही बालक की स्तन्यपान में प्रवृत्ति भी निष्कारण नहीं है। अब रही यह बात कि वह कारण क्या है ? हम प्रत्यक्ष देखते हैं. कि प्राणियों की भोजन की ओर प्रवृत्ति पूर्वकृत आहार के अभ्यास की स्मृति से होती है। इसी प्रकार बालक की स्तन्य की अभिलाषा आहार के पूर्वभ्यास के कारण होती है। परन्तु इस जन्म में अभी तक उसने आहार का अभ्यास किया नहीं, इसलिए पूर्वजन्म की कल्पना की जाती है। पूर्व देहों में रहते हुए उसने जो आहार का अभ्यास किया है, उसी का स्मरण करके इस समय बालक की स्तन्य की ओर प्रवृत्ति होती है, जो आत्मा के नित्य होने का साधक है। अत: उसके बाधक रूप में अयस्कान्त मणि का दृष्टान्त प्रस्तुत करना असंगत है। आत्मा नित्य ही है ।

विरक्त पुरुष का जन्म न देखे जाने से आत्मा नित्य है–

वीतरागजन्मादर्शनात् ॥३/१/२५॥

सरागो जायते इत्यर्थादापद्यते । अयं जायमानो रागानुबद्धो जायते, रागस्य पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनं योनिः, पूर्वानुभवश्च विषयाणामन्यस्मिन् जन्मनि शरीरमन्तरेण नोपपद्यते। राग, द्वेष, मोह आदि से विरक्त योगी का पुर्नजन्म नहीं देखा जाता– वीतराग प्राणी का पुन: जन्म नहीं होता, अर्थात् सांसारिक विषयों में आसक्ति से युक्त का जन्म होता है। राग जन्म का कारण है और राग का कारण है विषयों का निरन्तर चिन्तन करना। पूर्व देहों में अनुभूत विषयों का चिन्तन करता हुआ आत्मा उन विषयों में आसक्त हो जाता है। वही आसक्ति अन्य देह की प्राप्ति का कारण बन जाती है। इसी प्रकार पूर्वजन्म का पूर्वतर जन्म से और पूर्वतर जन्म का पूर्वतम जन्म से सम्बन्ध होता है। इस प्रकार अनादिकाल से शरीर की परम्परा के साथ नित्य आत्मा का सम्बन्ध ज्ञात होता है। इससे आत्मा का नित्य होना सिद्ध होता है। तत्त्वज्ञान के निरन्तर अभ्यास से जब राग की वासनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं, तथा तब आत्मा **तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। (यो.द.-१/१/३)** की अवस्था को प्राप्त करके दोषों के कारण के अभाव से जन्मादि का भी अभाव हो जाता है। इसी को मुक्तावस्था कहते हैं। इससे आत्मा का नित्यत्व सिद्ध है।

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तदुत्पत्तिः ॥३/१/२६॥

गुण के साथ द्रव्य की उत्पत्ति के समान उस सराग आत्मा की उत्पत्ति जाननी चाहिए।

जैसे घट आदि द्रव्य रूपादि गुणों के सहित उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार उत्पत्ति धर्मवाले आत्मा में रागादि गुण भी स्वयं उत्पन्न हो सकते हैं। अत: आत्मा को उत्पत्तिधर्म वाला मानना चाहिए; क्योंकि जब उत्पत्ति से पहले राग ही नहीं था, तब पूर्वजन्म कैसे हो सकता है ? और जब पूर्वजन्म नहीं तो आत्मा का नित्य होना भी तर्कसंगत नहीं है।

विशेष :- यह सगुण - द्रव्योत्पत्ति का दृष्टान्त भी पूर्वपक्षी के गत (२० तथा २३ वें) सूत्रों में प्रस्तुत पद्मादि तथा अयस्कान्त के समान समझना चाहिए । प्रकारान्तर से कथन है।

रागादि का कारण संकल्प–

न, सङ्कल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम् ॥३/२/२७॥

न खलु सगुणद्रव्योत्पत्तिवदुत्पत्तिरात्मनो रागस्य च । कस्मात्? सङ्कल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम् । अयं खलु प्राणिनां विषयानासेवमानानां सङ्कल्पजनितो रागो गृह्यते, सङ्कल्पश्च पूर्वानुभूविषयानुचिन्तनयोनिः। रागादि के संकल्पनिमित्त वाले होने से सगुण द्रव्य की उत्पत्ति के समान सराग आत्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि राग, द्वेष, मत्सर्य आदि संकल्प के कारण उत्पन्न होते हैं। संकल्प का तात्पर्य है- विषयों के निरन्तर अभ्यास और सतत अनुचिन्तन से इष्टसाधनता का ज्ञान यह पदार्थ इष्ट का साधन है, अथवा नहीं, ऐसा ज्ञान उन पदार्थों के प्रति राग, द्वेष को उत्पन्न करता है। जातमात्र बालक को मातृदुग्ध में इष्टसाधनता का ज्ञान होने से उस ओर प्रवृत्ति होना सम्भव है।

वह पूर्वानुभव जातमात्र बालक के लिए पूर्वजीवन का ही सम्भव है। इस प्रकार पूर्व, पूर्वतम देहों के साथ सम्बन्ध मानने से आत्मा का नित्यत्व सिद्ध होता है। इसके विपरीत यदि सगुण द्रव्य की उत्पत्ति के समान सराग आत्मा की उत्पत्ति मानें, तो इष्ट साधनता के निमित्त न रहने के कारण अनिष्ट पदार्थों के प्रति भी राग उत्पन्न हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता, अतः आत्मा की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं। यदि संकल्प से भिन्न धर्माधर्मरूप अदृष्ट को रागादि का कारण मानें, तो भी आत्मा का पूर्व शरीर से संयोग मानना पड़ेगा, क्योंकि बिना पूर्व शरीर के सम्बन्ध से धर्म-अधर्म की स्थिति नहीं हो सकती। अतः आत्मा नित्य है।

॥ इति आत्मनित्यताप्रकरणम् ॥

स्मरणीय बिंदु-

उत्पत्ति का अभावः जिस वस्तु की उत्पत्ति किसी कारण से नहीं होती, उसका विनाश भी नहीं हो सकता। आत्मा अनादि है।

हर्ष-भय-शोकः नवजात शिशु में बिना किसी कारण के सुख, भय या शोक के लक्षण दिखना यह सिद्ध करता है कि उसे पूर्वजन्म की स्मृतियाँ हैं।

अभ्यास का तर्कः कोई भी प्राणी बिना अभ्यास के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। शिशु का आहार (दूध) के प्रति आकर्षण पूर्वजन्म के अभ्यास का प्रमाण है।

अकृत-अभ्यागम दोष से बचावः यदि आत्मा नित्य न हो, तो व्यक्ति को उन कर्मों का फल भुगतना पड़ेगा जो उसने किए ही नहीं (अकृत-अभ्यागम), जो न्याय विरुद्ध है।

कृत-विनाश दोषः यदि आत्मा अनित्य (नाशवान) होती, तो किए गए कर्मों का फल मिले बिना ही आत्मा नष्ट हो जाती, जो सृष्टि के नियम के विपरीत है।

शब्दावली-

नित्यताः जिसका आदि (शुरुआत) और अंत (विनाश) न हो; जो सदा एक समान रहे।

पुनर्भवः पुनर्जन्म या पुनः शरीर धारण करना।

पूर्व-अभ्यासः पिछले जन्मों में किया गया बार-बार का कार्य जो इस जन्म में संस्कार बनकर आता है।

अकृत-अभ्यागमः वह स्थिति जहाँ बिना कर्म किए ही फल प्राप्त हो जाए (नित्यता के अभाव में यह दोष आता है)।

कृत-प्रणाशः किए गए कर्मों के फल का बिना भोगे ही नष्ट हो जाना।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Questions - Only Questions)

प्रश्न 1. न्याय दर्शन के आधार पर 'चेतन आत्मा की नित्यता' को सिद्ध करने वाले प्रमुख तर्कों की विस्तृत विवेचना कीजिए।

प्रश्न 2. ''नवजात शिशु की प्रवृत्तियाँ पूर्वजन्म के अभ्यास का परिणाम हैं।'' इस कथन के आलोक में आत्मा की नित्यता सिद्ध कीजिए।

प्रश्न 3. 'कृत-प्रणाश' और 'अकृत-अभ्यागम' दोष क्या हैं? आत्मा को अनित्य (नाशवान) मानने पर ये दोष किस प्रकार उत्पन्न होते हैं?

प्रश्न 4. आत्मा की नित्यता और पुनर्जन्म के बीच के तार्किक संबंध को न्याय सूत्रें के माध्यम से स्पष्ट कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Questions - Only Questions)-

प्रश्न 1. 'नित्यता' से क्या अभिप्राय है? आत्मा को नित्य मानना क्यों आवश्यक है?

प्रश्न 2. हर्ष, शोक और भय के लक्षण एक नवजात शिशु में क्या प्रमाणित करते हैं?

प्रश्न 3. क्या शरीर के साथ आत्मा का नाश संभव है? न्याय दर्शन के अनुसार उत्तर दीजिए।

प्रश्न 4. 'संस्कार' और 'स्मृति' आत्मा की नित्यता को कैसे सिद्ध करते हैं?

प्रश्न 5. जातमात्र (तुरंत जन्मे) बालक के स्तनपान की इच्छा किस तर्क पर आधारित है?

बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQs - With Answers)

Q1. न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा की प्रकृति कैसी है?

(A) अनित्य (नाशवान)

(B) नित्य (अविनाशी)

(C) क्षणिक

(D) भौतिक

Q2. नवजात शिशु का अपनी माता के दूध के प्रति आकर्षण किसका प्रमाण है?

(A) वर्तमान शिक्षा का

(B) संयोग का

(C) पूर्वजन्म के अभ्यास का

(D) केवल शारीरिक आवश्यकता का

Q3. 'कृत-प्रणाश' दोष का अर्थ क्या है?

(A) किए गए कर्मों का फल न मिलना

(B) बिना किए कर्मों का फल मिलना

(C) आत्मा का नया जन्म लेना

(D) इन्द्रियों का वश में होना

Q4. आत्मा को नित्य न मानने पर कौन-सा तार्किक दोष उत्पन्न होता है?

(A) अकृत-अभ्यागम

(B) मोह

(C) द्वेष

(D) केवल अज्ञान

Q5. न्याय दर्शन के अनुसार हर्ष, शोक और भय के भाव आत्मा में किसके कारण उत्पन्न होते हैं? (A) केवल शरीर के कारण

(B) पूर्व दृष्ट (अनुभव किए गए) विषयों की स्मृति के कारण

(C) इन्द्रियों की बनावट के कारण

(D) इनमें से कोई नहीं

Q6. निम्नलिखित में से कौन-सा गुण आत्मा की नित्यता को सिद्ध करता है?

(A) रूप और रंग

(B) वजन और आकार

(C) स्मृति और पुनर्जन्म

(D) शरीर की लम्बाई

इकाई- २.२ : भूलोकीय शरीर पार्थिव (श्रुति प्रमाण)

उद्देश्य (Objectives)-

पाञ्चभौतिकता बनाम पार्थिवता: यह समझना कि शरीर में पाँचों तत्व होने के बावजूद उसे 'पार्थिव' (पृथ्वी प्रधान) क्यों कहा जाता है।

श्रुति प्रमाण का महत्व: दार्शनिक सिद्धांतों की पुष्टि के लिए वैदिक संहिताओं और उपनिषदों के प्रमाणों को समझना।

शरीर की संरचना: पृथ्वी तत्व के गुणों (गंध आदि) और शरीर की बनावट के बीच के संबंध को जानना।

सांख्य एवं न्याय का समन्वय: शरीर की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न मतों का विश्लेषण करना।

अथ शरीरप्रकरणम्

आत्मा शरीर से भी अतिरिक्त है– परीक्षा का विषय- है क्या इस शरीर का उपादान कारण पृथिवी या जलादि कोई एक तत्त्व है? अथवा पृथिवी आदि अनेक तत्त्व इसके उपादान कारण हैं? इस संशय का कारण है- विभिन्न वादियों द्वारा एक, दो, तीन, चार या पाँच भूतों से इसकी उत्पत्ति बताना। इस विप्रतिपत्ति में वास्तविकता क्या है?

अत: महर्षि गौतम समाधान प्रस्तुत करते है-

पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ॥३/१/२८॥

तत्र मानुषं शरीरं पार्थिवम्। कस्मात् ? गुणान्तरोपलब्धेः । गन्धवती पृथिवी गन्धवच्च शरीरम्। अबादीनामगन्धत्वात् तत्प्रकृत्यगन्धं स्यात । भूलोकीय शरीरों में गन्ध के अतिरिक्त अन्य पार्थिव गुणों की उपलब्धि से इस भूलोक में शरीर पृथिवी से बना है। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि सभी भूलोकीय शरीरों का उपादान कारण पृथिवी है; क्योंकि ये सभी शरीर पृथिवी के विशेष गुण गन्ध वाले तथा अन्य काठिन्य, गुरुत्व, रूप, रस, स्पर्श आदि पार्थिव गुणों से सम्पन्न हैं। जल आदि अन्य भूतद्रव्य गन्धरहित हैं। यदि वे भूलोकीय शरीरों के उपादान कारण होते, तो ये सभी शरीर गन्धरहित होते; क्योंकि कारण के गुण के अनुसार कार्य के गुण होते हैं। यद्यपि यह शरीर केवल पृथिवी से ही नहीं अपितु जल आदि पांचों भूतों के सहयोग से बना है, तथापि जल आदि इसके निमित्तकारण हो सकते हैं, उपादान कारण नहीं। यहाँ निमित्तरूप से अन्यभूतों के सहयोग का निषेध नहीं किया गया है; क्योंकि पृथिवी के परमाणुओं के साथ उनका संयोग होने से शरीर बनता है। अत: शरीर पार्थिव माना जाता है। पृथिवी की प्रधानता के कारण पार्थिव कह दिया जाता है। (सब सहयोगियों को उपादान मानें तो सांख्यवत् सब शरीर पाञ्चभौतिक होंगे)। शरीर के पार्थिव होने में शब्द प्रमाण– **श्रुतिप्रामाण्याच्च ॥३/१/२९॥ 'सूर्यं ते चक्षुर्गच्छता' दित्यत्र मन्त्रे 'पृथिवीं ते शरीरमिति' श्रूयते। तदिदं प्रकृतौ विकारस्य प्रलयाभिधानमिति ।** श्रुति के प्रमाण से भी भूलोकीय शरीर पार्थिव हैं। **'भस्मान्तं शरीरम्' (यजु. ४०/१५)** शरीर भस्मान्त है, तेरा शरीर पृथिवी में मिल जाए। अपने कारण में लय होने आदि के निद्रेश से स्पष्ट है, कि शरीर की प्रकृति पृथिवी है। **'पृथिवीं ते शरीरं स्पृणोमि'** पृथिवी को तेरा शरीर बनाता हूँ। यहाँ पृथिवी उपादान कारण से शरीर की रचना का निद्रेश है। इससे स्पष्ट है, कि शरीर पार्थिव है। **'श्रुतिप्रामाण्याच्च'** श्रुति के प्रमाण से भी शरीर पाञ्चभौतिक है। श्रुतियों में स्पष्ट कहा है, कि मरने पर शरीर का पार्थिव अंश पृथिवी में, जलीय अंश जल में, आग्नेय अग्नि में, वायव्य वायु में मिल जाता है और अवकाश आकाश के रूप में शेष रह जाता है। अत: वैदिक सिद्धान्त के अनुसार यह शरीर पाञ्चभौतिक है। प्रधानता के कारण इसे पार्थिव कह दें तो कोई आपत्ति नहीं। **इति शरीरप्रकरणम्**

स्मरणीय बिंदु (Key Points)-

प्रधानता का सिद्धांत: न्याय दर्शन मानता है कि शरीर में पाँचों तत्व (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) होते हैं, लेकिन 'पृथ्वी' की अधिकता होने के कारण इसे पार्थिव कहा जाता है।

श्रुति प्रमाण (वेदादि): वेदों में कहा गया है- ''सूर्यन्ते चक्षुर्गच्छतु, वातं आत्मा... पृथिवीं शरीरम्'' (अर्थात् मृत्यु के बाद चक्षु सूर्य में, आत्मा वायु में और शरीर पृथ्वी में मिल जाता है)। यह शरीर के पार्थिव होने का सबसे बड़ा प्रमाण है।

गंध गुण: पृथ्वी का विशेष गुण 'गंध' है, और शरीर में गंध की उपलब्धि यह सिद्ध करती है कि इसका मुख्य उपादान कारण पृथ्वी है।

भोगायतन्: शरीर वह स्थान (आयतन) है जहाँ आत्मा पृथ्वी लोक के विषयों का भोग करती है।

सृष्टि प्रक्रिया: जिस लोक में जो तत्व प्रधान होता है, वहाँ के शरीर उसी तत्व से बनते हैं (जैसे वरुण लोक में जलीय शरीर)।

शब्दावली (Terminology)-

पार्थिव: पृथ्वी तत्व से निर्मित या जिसमें पृथ्वी तत्व की प्रधानता हो।
श्रुति: वेद, जिन्हें अंतिम और सर्वोच्च प्रमाण माना जाता है।
उपादान कारण: वह मूल द्रव्य जिससे कोई वस्तु बनती है (जैसे घड़े के लिए मिट्टी)।
भोगायतन्: भोग का आधार या स्थान (शरीर)।
पञ्चीकरण: पाँच तत्वों के मेल से सृष्टि बनने की प्रक्रिया।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)–

प्रश्न 1. ''भूलोकीय मनुष्य शरीर पार्थिव है।'' इस सिद्धांत की पुष्टि न्याय दर्शन के तर्कों और श्रुति प्रमाणों के आधार पर कीजिए।
प्रश्न 2. शरीर की पाञ्चभौतिकता (पाँच तत्वों से बना होना) और पार्थिवता (केवल पृथ्वी प्रधान होना) के मध्य के दार्शनिक विवाद की समीक्षा कीजिए।
प्रश्न 3. श्रुति (वेदों) में वर्णित ''शरीर का पृथ्वी में विलीन होना'' किस प्रकार सिद्ध करता है कि आत्मा का यह आयतन पार्थिव है? विस्तृत व्याख्या करें।
प्रश्न 4. गंध और क्रिया के आधार पर शरीर के पार्थिव होने की तार्किक सिद्धि कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)–

प्रश्न 1. न्याय दर्शन शरीर को 'पार्थिव' क्यों मानता है, जबकि इसमें जल और वायु भी विद्यमान हैं?
प्रश्न 2. ''पृथिवीं शरीरम्'' इस श्रुति वाक्य का अर्थ और महत्व स्पष्ट कीजिए।
प्रश्न 3. शरीर के निर्माण में 'प्रधानता का सिद्धांत' (Law of Dominance) क्या है?
प्रश्न 4. अन्य लोकों के शरीरों (जैसे जलीय या तैजस शरीर) की तुलना में भूलोकीय शरीर की क्या विशेषता है?
प्रश्न 5. क्या शरीर के पार्थिव होने से आत्मा के स्वरूप पर कोई प्रभाव पड़ता है?

बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQs & - Answers)–

Q1. न्याय दर्शन के अनुसार मनुष्य शरीर में किस तत्व की प्रधानता होती है?
(A) जल
(B) वायु
(C) पृथ्वी
(D) आकाश

Q2. श्रुति प्रमाण के अनुसार, मृत्यु के पश्चात शरीर का मुख्य हिस्सा किसमें विलीन होता है?
(A) अग्नि
(B) पृथ्वी
(C) वायु
(D) जल

Q3. ''पार्थिव'' शब्द का अर्थ क्या है?
(A) जो नष्ट न हो
(B) जो ईश्वर ने बनाया हो
(C) जो पृथ्वी तत्व से निर्मित हो
(D) जो स्वर्ग में रहता हो

Q4. शरीर में 'गंध' की उपस्थिति किसका प्रमाण है?
(A) शरीर के जलीय होने का
(B) शरीर के पार्थिव होने का
(C) आत्मा के होने का
(D) मन के सूक्ष्म होने का

Q5. न्याय दर्शन में सर्वोच्च प्रमाण किसे माना गया है जिससे शरीर की पार्थिवता सिद्ध होती है?
(A) अनुमान
(B) उपमान

(C) श्रुति (शब्द प्रमाण)

(D) प्रत्यक्ष

Q6. शरीर को 'भोगायतन्' क्यों कहा जाता है?

(A) क्योंकि यह सुंदर है

(B) क्योंकि यह सुख-दुःख के अनुभव का आधार है

(C) क्योंकि यह भोजन करता है

(D) क्योंकि यह पाँच तत्वों से बना है

इकाई- २.३ : इन्द्रियों के भौतिकत्व की परीक्षा

उद्देश्य (Objectives)-

इन्द्रियों का स्वरूपः यह समझना कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा) पाँच महाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) से निर्मित हैं।

कार्य-कारण संबंधः यह सिद्ध करना कि जिस इन्द्रिय में जिस तत्व की प्रधानता होती है, वह उसी तत्व के विशेष गुण को ग्रहण करती है (जैसेः नाक पृथ्वी तत्व से बनी है, इसलिए वह गंध ग्रहण करती है)।

सांख्य मत का खंडनः सांख्य दर्शन के 'इन्द्रियाँ अहंकार से पैदा हुई हैं' (आहंकारिक) मत का तार्किक विरोध करना।

नियमनः यह स्पष्ट करना कि इन्द्रियों की शक्ति सीमित और भौतिक है।

अथ इन्द्रियभौतिकत्वप्रकरणम्

शरीर की परीक्षा के पश्चात् प्रमेयसूत्र (१/१/९) के अनुसार क्रमप्राप्त इन्द्रियों की परीक्षा आरम्भ करते हुए- प्रथम इंद्रियों में संशय का स्वरूप दिखाते है।

कृष्णसारे सत्युपलम्भाद् व्यतिरिच्य चोपलम्भात् संशयः ॥३/१/३०॥

नेत्र की काली पुतली के होने पर रूपादि विषय के उपलब्ध होने से अपने प्रदेश को छोड़कर भी विषय की उपलब्धि से संशय होता है कि इन्द्रियाँ भौतिक हैं अथवा अभौतिक। इन्द्रियों के उपादान कारण के विषय में जो विपरीत ज्ञान है, उसमें एक पक्ष यह है, कि - भौतिक गोलक की काली पुतली भौतिक है, क्योंकि उसके स्वस्थ होने पर रूप की उपलब्धि होती है और नष्ट होने पर नहीं होती । इस अन्वय-व्यतिरेक से इन्द्रियाँ भौतिक हैं। और दूसरा पक्ष यह है, कि इन्द्रियाँ अभौतिक (आहङ्कारिक) हैं, क्योंकि चक्षु की पुतली से विषय का जब कुछ अन्तर (फासला) होगा, तभी उनका ग्रहण हो सकेगा। यदि कोई वस्तु चक्षु की पुतली से काजल आदि के समान मिला दी जाए, तो उसका कदापि ग्रहण नहीं हो सकेगा। अप्राप्त और दूर की वस्तु का ग्रहण करना भौतिक पदार्थ का धर्म नहीं हो सकता अतः इन्द्रियाँ अभौतिक हैं इस विपरीत ज्ञान से संशय होता है, कि इन्द्रियों को भौतिक माना जाए या अभौतिक ।

महदणुग्रहणात् ॥३/१/३१॥

महत् (बड़े) और अणु (छोटे) पदार्थों का ग्रहण करने से इन्द्रियाँ अभौतिक हैं ।

चक्षु इन्द्रिय बड़े से बड़े तथा छोटे से छोटे वस्तुओं का ग्रहण करती है। वह जिस प्रकार ईंट, पत्थर, बरगद जैसे महान् वृक्ष तथा उनसे भी बड़े पर्वत आदि को ग्रहण करती है, उसी प्रकार छोटे से छोटे मेज, मेज पर रखी पुस्तक, पुस्तक में लिखे छोटे-छोटे अक्षरों तथा सरसों के, खसखस के दाने आदि को भी ग्रहण करती है। इसके अतिरिक्त निकटस्थ घट-पट आदि के समान दूरस्थ चन्द्रतारागण आदि को भी ग्रहण करती है। चक्षु के भौतिक होने पर यह स्थिति नहीं हो सकती, क्योंकि भौतिक पदार्थ अपने से अधिक परिमाण वाले द्रव्यों में व्यापक नहीं हो सकता, तथा जहाँ है वहीं सम्बद्ध होकर विषय को ग्रहण कर सकता है। अभौतिक पदार्थ (आहंकारिक) सापेक्ष विभु (व्यापक) होने से सर्वत्र छोटे बड़े और दूर-समीप के विषयों को ग्रहण कर लेता है। इसलिए इन्द्रियों को अभौतिक मानना तर्कसंगत है।

समाधान- न्याय-दर्शनानुसार इन्द्रियां भौतिक है- **घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ॥१/१/१२॥** घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र ये सभी इन्द्रियां भूतों से उत्पन्न व सम्बद्ध है इसी कारण छोटे-बड़े या दूर- समीप के विषय का ग्रहण चक्षु की रश्मियों का विषय के साथ सन्निकर्षविशेष (संयोग) के कारण होता है, इन्द्रिय के अभौतिक होने से नहीं।

रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात् तद्ग्रहणम्॥ ३/१/३२॥

तयोर्महदण्वोर्ग्रहणं चक्षुरश्मेरर्थस्य च सन्निकर्षविशेषाद्भवति यथा प्रदीपरश्मेरर्थस्य चेति। रश्म्यर्थसंन्निकर्षश्चावरणलिङ्गः। जैसे भौतिक दीपक भी अपनी किरणों से छोटे और बड़े पदार्थों को प्रकाशित कर देता है, वैसे ही भौतिक चक्षु भी कर सकते है, यदि चक्षु अभौतिक होते, तो आगे पीछे के सभी पदार्थों को देख सकते थे। दीवार का आवरण भी उसकी दर्शनशक्ति को नहीं बाधित कर सकता था। इससे सिद्ध होता है, कि इन्द्रियाँ भौतिक हैं।

अब पूर्वपक्ष उक्त अर्थ में आक्षेप करता है-

तदनुपलब्धरहेतुः ॥३/१/३३॥

उस चक्षुरश्मि की उपलब्धता न होने से दिया गया कारण ठीक नहीं है। गत सूत्र में जो कारण दिया है, कि चक्षुरश्मि (आँख की ज्योति) और पदार्थ के संयोग से विषय की उपलब्धि होती है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि यदि आँख की ज्योति वास्तविक होती, तो

अवश्य उपलब्ध होती, जैसे दीपक की ज्योति प्रत्यक्ष दीखती है। इससे सिद्ध होता है, कि गोलक और पुतली के अतिरिक्त आँख में रश्मि जैसा कोई पदार्थ नहीं ।

आवरण के माध्यम से इन्द्रियों की भौतिकता–

नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः ॥३/१/३४॥ सन्निकर्षप्रतिषेधार्थेनावरणेन लिङ्गेनानुमीयमानस्य रश्मेर्या प्रत्यक्षोऽनुपलब्धिर्नासावभावं प्रतिपादयति यथा चन्द्रमसः परभागस्य पृथिव्याश्चाधोभागस्य। चक्षुरश्मियों के अस्तित्व का उस समय निश्चय हो जाता है, जब चक्षु का विषय के मध्य में आवरण आ जाने से उस विषय का ग्रहण नहीं हो पाता, क्योंकि मध्य में आए हुए आवरण से चक्षु रश्मियों का ग्राह्यविषय तक पहुँचने में अवरोध हो जाता है। इस स्थिति से चक्षुरश्मियों के अस्तित्व का ज्ञान होता है। अतः चक्षुरश्मियों का प्रत्यक्ष से ग्रहण न होना उनके अभाव की सिद्धी नहीं कर सकता। यदि सभी पदार्थों का केवल प्रत्यक्ष से बोध होगा तो अन्य प्रमाण व्यर्थ हो जायेंगे। जैसे पृथिवी पर रहते हुए चन्द्रमा के अन्य भाग का प्रत्यक्ष नहीं होता, इसी प्रकार पृथिवी के एक भाग पर रहने वाले को दूसरी ओर के भाग का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसका यह तात्पर्य नहीं, कि चन्द्रमा का परभाग अथवा पृथिवी के दूसरी ओर का भाग है ही नहीं। अन्य प्रमाणों से उनका अस्तित्व सिद्ध है। यही स्थिति चक्षुरश्मियों के अस्तित्व की भी समझनी चाहिए। द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः॥३/१/३५॥

भिन्नः खल्वयं द्रव्यधर्मो गुणधर्मश्च, महदनेकद्रव्यवच्च विषक्तावयवमाप्यं द्रव्यं **प्रत्यक्षतो नोपलभ्यते स्पर्शस्तु शीतो गृह्यते।** किसी द्रव्य का प्रत्यक्ष तब होता है, जब वह महत्परिमाण वाला हो, तथा अनेक अवयव जिसके समवायिकारण हो और रूप के प्रत्यक्ष के लिए, उसका उद्भूत रूप होना आवश्यक है। जैसे जल के सूक्ष्म अणु वायु में विद्यमान होते हुए भी आँख से नहीं दिखायी देते क्योंकि उनका रूप उद्भूत नहीं होता, परन्तु उनका अनुभव शीतस्पर्श से होता है। चक्षुरश्मियों में रूप और स्पर्श दोनों गुण अनुद्भूत होते हैं, इसलिए उनका प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं हो पाता। पूर्वोक्त विषय को ही स्पष्ट करते हुए एक अन्य हेतु–

अनेकद्रव्यसमवायाद् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥३/१/३६॥

यत्र रूपं च द्रव्यं च तदाश्रयः प्रत्यक्षत उपलभ्यते रूपविशेषस्तु, यद्भावात् क्वचिद्रूपोपलब्धिः, यदभावाश्च द्रव्यस्य क्वचिदनुपलब्धिः स रूपधर्मोऽयमुद्भवसमाख्यात इति। अनेक द्रव्यों के अवयवों के समवाय से और रूपविशेष से रूप की उपलब्धि होती है। जैसे द्रव्य की विभिन्न विशेषताएँ अलग-अलग देखी जाती हैं।

जैसे- सूर्य की रश्मियों में रूप और स्पर्श दोनों गुणधर्म प्रत्यक्ष होते हैं। प्रज्वलित टा. र्च का केवल रूप प्रत्यक्ष होता है, अनुद्भूत होने से स्पर्श का प्रत्यक्ष नहीं होता। उष्ण जल में जैसे अग्नि का स्पर्श धर्म प्रत्यक्ष होता है परन्तु रूप प्रत्यक्ष नहीं होता है, ऐसे ही चक्षुरश्मियों का रूप उद्भूत न होने से और स्पर्श अनुभूत होने से चक्षुरश्मि का न रूप प्रत्यक्ष होता है और न स्पर्श। ऐसा होने के कारण चक्षुरश्मियों के आवरण का अनुमान प्रमाण से अस्तित्व सिद्ध है। (विशेष- द्रष्टव्य-(वैशेषिक दर्शन ४/१/८) आँख की ज्योति का सूर्य और दीपक के समान उद्भूतरूप न होने में कारण–

कर्मकारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः ॥३/१/३७॥ यथा चेतनस्यार्थो विषयोपलब्धिभूतः सुखदुःखोपलब्धिभूतश्च कल्प्यते तथेन्द्रियाणि व्यूढानि, विषयप्राप्त्यर्थश्च रश्मेश्चाक्षुषस्य व्यूहः। संसार में चेतन आत्मा जिस प्रकार कर्मानुसार सुख-दुःख आदि को प्राप्त करता है, उसी प्रकार कर्मानुसार सुख-दुःख को प्राप्त करने के लिए इन्द्रियाँ जीवात्मा का साधन बनती हैं। तात्पर्य यह है, कि देह इन्द्रिय आदि स्वतन्त्र नहीं है, वे आत्मा के कर्मफल को उपलब्ध कराने वाले साधन मात्र हैं। चक्षुरश्मियाँ का अपने विषयप्राप्ति के साधन होने के कारण अनुद्भूत रूप होता हैं। चक्षुरश्मियों का रूप और स्पर्श के अनुद्भूत रहने का विशेष प्रयोजन है- 'लोकव्यवहार का निर्बाध सम्पन्न होना।' यदि चक्षुरश्मियों में रूप और स्पर्श उद्भूत होते तो निद्रा में बहुत कठिनता होती और उष्णस्पर्श से गोलक आदि में घातक विस्फोट हो सकता था । अतः चक्षुरश्मियों में रूप- स्पर्श का अनुद्भूत रहना अत्यन्त अनुकूल और उपयोगी है। प्रतिघात होना इन्द्रियों का भौतिक धर्म है।

अव्यभिचाराच्च प्रतिधातो भौतिकधर्मः ॥३/१/३८॥

यश्चावरणोपलम्भादिन्द्रियस्य द्रव्यविशेषे प्रतिघातः स भौतिकधर्मो न भूतानि व्यभिचरति, नाभौतिकं प्रतिघातधर्मकं दृष्टमिति। किसी पदार्थ के सामने कोई वस्तु आ जाने पर बाधा का उत्पन्न होना, उसे पार न कर पाना पृथिवी का धर्म है, यह निर्दोष व्यवस्था है। अतः चक्षुरश्मियों का दीवार आदि से प्रतिघात होना उनके भौतिक होने का प्रमाण है। कुछ कांच आदि द्रव्य पारदर्शी होते हैं, इनमें भौतिक और अभौतिक दोनों ही प्रकार के पदार्थ का प्रतिघात नहीं होता, यह सर्वमान्य है, प्रदीप-प्रकाश भौतिक है, किन्तु उसका भी कांच आदि से अप्रतिघात देखा जाता है। कांच से ढके हुए प्रदीप, लालटेन, बल्ब आदि की रश्मियाँ बाहर दूरस्थ पदार्थों को भी प्रकाशित करतीं हैं। अतः कांच आदि से इन्द्रियों का अप्रतिघात होना उनकी अभौतिकता का प्रमाण नहीं हो सकता। कांच आदि में ही नहीं, अपितु धातु, मिट्टी के पात्रों आदि में भी तेज का अप्रतिघात होता है। इसी प्रकार से रसोईघर में भोजन आदि क्रियायें होती है। तात्पर्य यह है, कि- भौतिक पदार्थों में तो प्रतिघात एवं अप्रतिघात दोनों समान रूप से दृष्ट होते हैं, परन्तु अभौतिकों में केवल अप्रतिघात ही दृष्ट होता

है। अत: चक्षुरश्यिमाँ भौतिक कही जानी चाहिए हैं।
चक्षुरश्मियों के प्रत्यक्ष न होने का कारण–
मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत् तदनुपलब्धि: ॥३/१/३९॥
यथा 'अनेकद्रव्येण समवायाद्रूपविशेषाच्चोपब्धिरिति सत्युपलब्धिकारणे माध्यन्दिनोल्काप्रकाशो नोपलभ्यते आदित्यप्रकाशेनाभिभूत:, एवं महदनेकद्रव्यवत्त्वाद्रूपविशेषाच्चोपलब्धिरिति सत्युपलब्धिकारणे चाक्षुषो रश्मिर्नोपलभ्यते निमित्तान्तरत:। दोपहर में उल्काओं के प्रकाश की अनुपलब्धि के समान उन चक्षुरश्मियों की उपलब्धि भी नहीं होती। लोकभाषा में जिसे 'रात में तारा टूटना' कहते हैं, उसे संस्कृत में 'उल्का' या 'उल्कापात' कहते हैं। जिस प्रकार रात्रि में आकाश में तेज प्रकाश की धारा के रूप में उल्कापात दिखता है, उसी प्रकार दिन में भी उल्कापात होते रहते हैं, किन्तु सूर्य के तीव्र प्रकाश से दब जाने के कारण दिखते नहीं। तो जिस प्रकार दिन में सूर्य के प्रकाश से अभिभूत होकर उल्का या जुगुनूँ नहीं चमकते, परन्तु उनका या उनके प्रकाश का अभाव नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार चक्षुरश्मियाँ विद्यमान होते हुए भी रूप और स्पर्श के अनुद्भूत होने से नहीं दिखती। यद्यपि आवरण के कारण रूपानुपलब्धि से चक्षुरश्मियों का अस्तित्व सिद्ध किया जा चुका है।
न, रात्रावप्यनुपलब्धे: ॥३/१/४०॥
रात्रि में भी उपलब्धता न होने से (उक्त आक्षेप) ठीक नहीं। उल्का, खद्योत आदि का जो दृष्टान्त दिया है, वह तर्कसंगत नहीं है; क्योंकि उनका प्रकाश यदि दिन में सूर्य के प्रकाश से दबा रहता है, तो रात्रि में जब सूर्य का प्रकाश नहीं होता, तब उनकी उपलब्धि होती है। परन्तु आँख की किरणें न तो दिन में दिखती हैं, न रात्रि में। अत: जिसकी उपलब्धि किसी भी काल में नहीं होती, उसका मानना युक्ति-युक्त है ।
संदर्भ - अब दर्शनाचार्य उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं -
बाह्यप्रकाशानुग्रहाद् विषयोपलब्धेरनभिव्यक्तितोऽनुपलब्धि: ॥३/१/४१॥
बाह्य प्रकाश के सहयोग से रूप की उपलब्धता होने के कारण उस रूप की अभिव्यक्ति न होने से चक्षुरश्मियों की उपलब्धता नहीं होती । अनुद्भूतरूप होने से चक्षुरश्मि नहीं दिखती; क्योंकि सूर्यादि के प्रकाश की सहायता से आँख देखने में समर्थ होती है। यदि वह रश्मि नक्षत्र के समान उद्भूतरूप होती, तो बाह्यप्रकाश की अपेक्षा न रखती, और यदि किसी से अभिभूत हुआ करती, तो सूर्यादि के प्रकाश में देख नहीं सकती थी। अत: मात्र अनुद्भूतरूप होने से ही चक्षु (आँख) की रश्मि का प्रत्यक्ष नहीं दृष्ट होता।
संदर्भ (संशय)- आप चक्षुरश्मियों की अनुपलब्धि का कारण, उनके रूप का अनुभूत होना ही क्यों कहते हैं, उल्काप्रकाश की अनुपलब्धि के समान 'अभिभव' को उसका कारण क्यों नहीं मानते? दर्शनाचार्य उत्तर देते हैं -
अभिव्यक्तौ चाभिभवात् ॥३/१/४२॥
पदार्थ के अभिव्यक्त उद्भूतरूप होने और बाह्य प्रकाश की अपेक्षा न होने पर ही अभिभव (तिरस्कार) सम्भव होने से चाक्षुष रश्मि है। जो रूप अभिव्यक्त होता है और प्रत्यक्ष होने के लिए बाह्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती, उसी का अभिभव सम्भव होता है। जैसे- उल्का, जुगुनँ (खद्योत) आदि। इसके विपरीत जो अनभिव्यक्त रश्मि है और बाह्य प्रकाश की अपेक्षा भी रखती है, उसका अभिभव सम्भव नहीं होता, जैसे घट, पट आदि। इसी प्रकार अनुद्भूत रूप होने के कारण नेत्र की ज्योति का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता न की, अभिभव के कारण। अत: नेत्र की रश्मियों का अस्तित्व तर्कसंगत है।
चक्षुरश्मियों के अस्तित्व के सिद्धि होने में एक अन्य हेतु–
नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च ॥३/१/४३॥
दृश्यन्ते हि नक्तं नयनरश्मयो नक्तञ्चराणां वृषदंशप्रभृतीनां तेन शेषस्यानुमानिति। जातिभेदवदिन्द्रियभेद इति चेत्? धर्मभेदमात्रं चानुपपन्नमावरणस्य प्राप्तिप्रतिषेधार्थस्य दर्शनादिति। रात्रि में विचरने वाले उल्लू, बिल्ली, भेड़िया, सिंह आदि जानवरों के नेत्रों की रश्मियों के प्रत्यक्ष देखे जाने से शेष जन्तुओं की रश्मियों का अनुमान किया जा सकता है। भेद इतना ही है, कि किन्हीं प्राणियों की नेत्र रश्मियों का रूप उद्भूत होता और किन्हीं का अनुद्भूत।
अप्राप्यग्रहणं कांचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धे: ॥३/१/४४॥
इन्द्रियों से विषयों की प्राप्ति सन्निकर्ष संयोग के बिना भी विषय का ज्ञान होता है। शीशा, अभ्रकपत्र और स्फटिक (आदि) से व्यहित पदार्थ की उपलब्धि होने से। यह सर्वमान्य नियम नहीं कि इन्द्रिय और उसके विषय के संयोग से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है; क्योंकि कुछ स्थलों में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के बिना ही विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान दिखता है। जैसे कांच आदि से व्यवहित पदार्थ भी व्यवधान रहित के समान दिखाई देता है। यदि इन्द्रिय और अर्थ का संयोग ही उपलब्धि का कारण होता, तो व्यवधान होने पर वस्तु का कदापि ज्ञान न होता, परन्तु ज्ञान होता है। इससे सिद्ध होता है, कि विषय के सन्निकर्ष के बिना इन्द्रियाँ विषय को ग्रहण कर सकती हैं। इसलिए वे अभौतिक हैं; क्योंकि केवल प्राप्त को ग्रहण करना भौतिक पदार्थ का धर्म है। इसलिए

पिछले सूत्रों में, जो इन्द्रियों का भौतिक होना कहा गया है, वह युक्ति-युक्त नहीं ।
संदर्भ- अब दर्शनाचार्य उक्त संशय का समाधान करते हैं-

कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ॥३/१/४५॥

भित्ति (दीवार) आदि से व्यवहित वस्तु की उपलब्धि न होने से इन्द्रियों के भौतिक होने का प्रतिषेध ठीक नहीं। यदि इन्द्रिया का विषय के साथ सन्निकर्ष हुए बिना ही विषयों का ग्रहण होता है। तब तो वो इन्द्रिया अभौतिक हैं, फिर तो भित्ति आदि से व्यवहित विषय का भी ग्रहण होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए इन्द्रियों के भौतिक होने का प्रतिषेध युक्ति-युक्त नहीं है ।

अप्रतिघातात् सन्निकर्षोपपत्तिः ॥३/१/४६॥

न च काचोऽभ्रपटलं वा नयनरश्मि विष्टभ्नाति, सोऽप्रतिहन्यमानः सन्निकृष्यत इति । कांच आदि पारदर्शी पदार्थ चक्षुरश्मि को नहीं रोक पाते है। चक्षुरश्मि उनमें से पार होकर विषय के साथ सन्निकृष्ट हो जाती है, तभी विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। अतः इन्द्रियाँ भौतिक ही हैं। अथवा दूसरे शब्दों में ऐसे भी कह सकते हैं, कि वस्तुओं से परावर्तित होकर आने वाली किरणों कांच आदि में होकर जब आँख तक पहुँच जाती हैं, तो वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। भौतिक पदार्थ का प्रतिघात होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि-

आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरितेऽपि दाह्येऽविघातात् ॥३/१/४७॥

आदित्यरश्मेरविघातात् स्फटिकान्तरितेऽप्यविघातात्, दाह्येऽविघातात्, अविघातादितिच पदाभिसम्बन्धाद्वाक्यभेद इति । सूर्य की किरणें कांच, स्फटिक आदि के आवरण होने पर भी दूसरी ओर चली जाती हैं और आवरित पदार्थ उष्ण हो जाता है। इसी प्रकार जब कढ़ाई में पानी डालकर नीचे आग जला देते हैं, तो आग की गर्मी कढ़ाई के पद्रे से गुजर कर पानी में चली जाती है। इससे स्पष्ट है, कि तेज की किरणें सूक्ष्म होने से इन आवरणों से नहीं रुकतीं।

जैसे सूर्य की किरणों को घट आदि का आवरण पानी में उष्णता पहुँचाने से नहीं रोक पाता, वैसे नेत्रों की रश्मियों को भी कांच आदि का आवरण दृश्य पदार्थ में जाने से नहीं रोक सकता। अतः व्यवधान में भी रुकावट न होना केवल अभौतिक पदार्थ का ही धर्म नहीं, अपितु भौतिकों में भी देखा जाता है। इसलिए चक्षुरश्मियों में व्यवधान से अप्रतिघात होने पर भी उनकी भौतिकता बनी रहती है, अतः इन्द्रियाँ भौतिक हैं।

संदर्भ- अब पूर्वपक्ष पुनः आक्षेप करता है-

नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात् ॥३/१/४८॥

परस्पर के विरोधी धर्म की प्राप्ति के कारण कांच आदि द्वारा अविघात मानना उचित नहीं। इन्द्रियों का कांच आदि के व्यवधान से अप्रतिघात उनकी अभौतिकता को सिद्ध करता है, और भित्ति (दीवार) आदि के व्यवधान से प्रतिघात होने के कारण उनकी भौतिकता सिद्ध होती है। भौतिक और अभौतिक दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष का साधक हेतु नहीं पाया जाता। अतः कांच आदि द्वारा चक्षुरश्मि का अविघात मानना युक्ति-युक्त नहीं। पूर्वोक्त कथित स्थितियों के अनुसार तो इन्द्रियाँ अभौतिक भी होनी चाहिए ।

आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद् रूपोपलब्धिवत् तदुपलब्धिः ॥३/१/४९॥

दर्पण और जल में स्वच्छता का स्वभाव होने से प्रतिबिम्बरूप में मुखादि रूप की उपलब्धि के समान उस कांच आदि से व्यवहित वस्तु की उपलब्धि होती है। जिस प्रकार स्वच्छ होने से दर्पण तथा जल में मुखादि प्रतिबिम्ब की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार कांच, स्फटिक, अभ्रक, पानी आदि पारदर्शी स्वच्छ पदार्थो के व्यवधान होने पर भी नेत्ररश्मियाँ उन्हें पार करके विषय से सन्निकृष्ट हो जाती हैं, जिससे घट, पट आदि की उपलब्धि हो जाती है। परन्तु स्वच्छता के न पाए जाने से भित्ति आदि अपारदर्शी पदार्थों से व्यवहित विषय की उपलब्धि नहीं होती। चक्षरश्मियों के भौतिक होने पर भी व्यवधायक पदार्थ के स्वच्छ तथा अस्वच्छ होने से उनका प्रतिघात या अप्रतिघात होता है। अतः भित्ति आदि के समान कांच आदि स्वच्छ पदार्थों को व्यवधायक कहना ठीक नहीं ।

दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः ॥३/१/५०॥

प्रमाणस्य तत्त्वविषयत्वात् । न खलु भोः? परीक्षमाणेन दृष्टानुमिता अर्थाः शक्या नियोक्तुमेवं भवतेति, नापि प्रतिषेद्धुमेवं न भवतेति । प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से जाने गए पदार्थों के स्वरूप के विषय में कोई भी जानकार व्यक्ति विधि-निषेधात्मक रूप से ऐसा आदेश नहीं कर सकता कि यह पदार्थ 'ऐसा होना चाहिए' अथवा 'ऐसा नहीं होना चाहिए' क्योंकि जो पदार्थ जैसा है, उसके विपरीत होने का आदेश नहीं दिया जा सकता। जैसे कोई कहे, कि 'गन्ध के समान रूप भी नासिका का विषय हो तथा धुआँ से जैसे अग्नि का अनुमान किया जाता है, वैसे ही पानी का अनुमान भी होना चाहिए, अथवा धुआं से जैसे पानी का अनुमान नहीं होता, तो अग्नि का भी नहीं होना चाहिए।' ऐसे निद्रेश कोई बुद्धिमान व्यक्ति नहीं दे सकता। इस प्रकार का नियोग और प्रतिषेध ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ की बनावट व स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। जो कि प्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध होती है। अतः

चक्षु इन्द्रिय भौतिक है और उसी के समान अन्य इन्द्रियों का भी भौतिक होना प्रमाणित है।

॥ इति इन्द्रियभौतिकत्वप्रकरणम् ॥

स्मरणीय बिंदु (Key Points)–

समानता का सिद्धांत: न्याय दर्शन का तर्क है कि ''समान ही समान को ग्रहण करता है।'' चूंकि गंध पृथ्वी का गुण है, इसलिए उसे ग्रहण करने वाली नासिका (इन्द्रिय) भी पार्थिव (पृथ्वी से बनी) होनी चाहिए।

पाञ्चभौतिक आधार:

घ्राण (नाक) – पृथ्वी (गंध)

रसना (जीभ) – जल (रस)

चक्षु (आँख) – अग्नि/तेज (रूप)

त्वचा – वायु (स्पर्श)

श्रोत्र (कान) – आकाश (शब्द)

सीमित प्रत्यक्ष: यदि इन्द्रियाँ भौतिक न होकर 'अहंकार' से बनी होतीं, तो वे सर्वव्यापी होतीं और हमें दूर की या छिपी हुई चीजें भी दिखाई देतीं। इन्द्रियों का केवल 'सन्निकर्ष' (संपर्क) से ज्ञान देना उनके भौतिक होने का प्रमाण है।

बाधा का प्रभाव: भौतिक दीवार या पर्दा होने पर हमें वस्तु दिखाई नहीं देती। यदि इन्द्रियाँ अभौतिक (अहंकारिक) होतीं, तो भौतिक बाधाएं उन्हें नहीं रोक पातीं।

शब्दावली (Terminology)–

भौतिकत्व: पंचमहाभूतों (Earth, Water, Fire, Air, Ether) से निर्मित होने की अवस्था।

आहंकारिक: अहंकार (Ego/I-ness) से उत्पन्न होना (सांख्य दर्शन का मत)।

सन्निकर्ष: इन्द्रिय और विषय (Object) का आपस में संबंध या जुड़ाव।

नियत विषय: वह नियम कि एक विशिष्ट इन्द्रिय केवल एक विशिष्ट गुण को ही जान सकती है।

प्रतिघाती: रुकावट या बाधा (जैसे दीवार), जो भौतिक वस्तुओं को रोकती है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)–

प्रश्न 1. ''इन्द्रियाँ भौतिक (भौतिकत्व) हैं।'' न्याय दर्शन के इस सिद्धांत की व्याख्या करते हुए सांख्य दर्शन के 'आहंकारिक' मत का खंडन कीजिए।

प्रश्न 2. न्याय दर्शन के 'समान गुण ग्रहण' के तर्क के आधार पर सिद्ध कीजिए कि पाँचों इन्द्रियाँ पाँच अलग-अलग महाभूतों से बनी हैं।

प्रश्न 3. इन्द्रियों के भौतिक होने के पक्ष में 'बाधा' (Obstruction) और 'सीमित प्रत्यक्ष' के तर्कों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

प्रश्न 4. ''इन्द्रियाँ केवल अपने सन्निकर्ष वाले विषयों को ही ग्रहण करती हैं।'' यह विशेषता उनके भौतिकत्व की परीक्षा में किस प्रकार सहायक है?

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)–

प्रश्न 1. न्याय दर्शन के अनुसार 'भौतिकत्व' की परिभाषा क्या है?

प्रश्न 2. घ्राण (नाक) और रसना (जीभ) का उनके मूल तत्वों के साथ संबंध स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3. यदि इन्द्रियाँ भौतिक न होतीं, तो क्या दीवार के पीछे रखी वस्तु हमें दिखाई देती? तर्क दीजिए।

प्रश्न 4. 'नियत विषय' का सिद्धांत इन्द्रियों की भौतिकता को कैसे प्रमाणित करता है?

प्रश्न 5. आकाश (Ether) से किस इन्द्रिय की उत्पत्ति मानी गई है और क्यों?

बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQs - With Answers)

Q1. न्याय दर्शन के अनुसार इन्द्रियाँ किससे निर्मित हैं?

(A) अहंकार से

(B) बुद्धि से

(C) पंचमहाभूतों से

(D) केवल मन से

Q2. ''नासिका (घ्राण) इन्द्रिय' किस तत्व से बनी मानी जाती है?

(A) जल
(B) वायु
(C) पृथ्वी
(D) तेज
Q3. चक्षु (आँख) इन्द्रिय का मूल तत्व क्या है?
(A) पृथ्वी
(B) तेज (अग्नि)
(C) आकाश
(D) जल
Q4. इन्द्रियों के भौतिक होने का सबसे बड़ा प्रमाण क्या है?
(A) उनका सर्वव्यापी होना
(B) उनके ज्ञान में भौतिक बाधाओं (जैसे दीवार) का आना
(C) उनका अदृश्य होना
(D) उनका मन के साथ जुड़ना
Q5. सांख्य दर्शन इन्द्रियों को क्या मानता है?
(A) भौतिक
(B) आहंकारिक
(C) शून्य
(D) नित्य
Q6. ''आकाश'' तत्व से किस इन्द्रिय का निर्माण होता है?
(A) त्वचा
(B) रसना
(C) श्रोत्र (कान)
(D) चक्षु

इकाई- २.४ : इन्द्रियों का नानात्व

उद्देश्य (Objectives)-

विविधता की सिद्धि: यह समझना कि आँख, कान, नाक आदि अलग-अलग स्वतंञ्ज इन्द्रियाँ क्यों हैं।

एकत्व का खंडन: उन मतों का विरोध करना जो मानते हैं कि इन्द्रिय केवल एक (जैसे केवल 'त्वचा' या केवल 'मन') है।

विषय-भेद: यह स्पष्ट करना कि रूप, रस, गंध आदि अलग-अलग गुण अलग-अलग इन्द्रियों द्वारा ही ग्रहण किए जा सकते हैं।

प्रयोजन: इन्द्रियों की बनावट और उनके कार्यों के पीछे के तार्किक उद्देश्यों को जानना।

अथ इन्द्रियनानात्वप्रकरणम्

इंद्रियां भौतिक है और अनेक है– गतप्रकरण में इन्द्रियों का भौतिकत्व सिद्ध हो जाने के उपरान्त अब इन्द्रियों के नानात्व पर चर्चा करते है–

संशय– सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने से त्वक् ही एक इन्द्रिय है; क्योंकि शरीर में ऐसा कोई भी इन्द्रिय नहीं है, जिसमें त्वक् व्यापक न हो। 'त्वक्' के होने पर ही सब विषयों का ग्रहण होता है, न होने पर नहीं हो सकता। उसी के द्वारा गोलकभेद से समस्त विषयों का ग्रहण हो जाता है। इसलिए समस्त इन्द्रिय-गोलकों में व्यापक होने से और विषय ग्रहण का निमित्त होने से त्वक् ही एक इन्द्रिय है। एक से ही सब कार्य सम्पन्न हो जाने पर अनेक इन्द्रिय मानना अनावश्यक है।

स्थानान्यत्वे नानात्वादवयविनानास्थानत्वाच्च संशयः ॥३/१/५१॥

स्थान के विभिन्न होने पर वस्तुओं के भी विभिन्न होने से और एक ही अवयवि द्रव्य के विभिन्न स्थान (आश्रय) होने से संशय उत्पन्न होता है कि इन्द्रियाँ अनेक हैं अथवा एक जैसे अनेक स्थानों पर रखे घट, पट आदि पदार्थ अनेक होते हैं, क्या इसी प्रकार एक दूसरे से पृथक् अपने अपने गोलकों में विद्यमान इन्द्रियों को बहुत मानना चाहिए? अथवा अनेक तन्तुरूप आश्रयों में रहने वाले एक अवयवी वस्त्र के समान अनेक गोलकों में रहने वाले इन्द्रियों को केवल एक मानना चाहिए? अत: वस्तुओं के दोनों प्रकार से दृष्ट होने के कारण संशय होता है।

त्वगव्यतिरेकात् ॥३/१/५२॥

व्यतिरेक (भेद) न होने से त्वक् नामक एक ही इन्द्रिय है, सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने से त्वक् ही एक इन्द्रिय है; क्योंकि शरीर में ऐसा कोई भी इन्द्रिय नहीं है, जिसमें त्वक् व्यापक न हो। त्वक् के होने पर ही सब विषयों का ग्रहण होता है, न होने पर नहीं हो सकता। उसी के द्वारा स्थानभेद (गोलकभेद) से समस्त विषयों का ग्रहण हो जाता है। इसलिए समस्त इन्द्रिय-गोलकों में व्यापक होने से और विषय ग्रहण का निमित्त होने से त्वक् ही एक इन्द्रिय है। एक से ही सब कार्य सम्पन्न हो जाने पर अनेक इन्द्रिय मानना अनावश्यक है ।

संदर्भ- अब सूत्रकार 'एकेन्द्रियवाद' का खण्डन करते हैं -

न, युगपदर्थानुपलब्धेः ॥३/१/५३॥

एक काल में सब विषयों की उपलब्धि नहीं होने के कारण एक ही इन्द्रिय नहीं माननी चाहिए। यदि 'त्वक्' रूप एक ही इन्द्रिय मानें तो, एक काल में सब विषयों का ग्रहण प्राप्त होना चाहिए। आत्मा का मन से सम्बद्ध होने के कारण मन इन्द्रिय से और इन्द्रिय सब विषयों के साथ सन्निकृष्ट है, अत: अनेक विषयों का ज्ञान एक काल में हो जाना चाहिए, परन्तु रूप, रस आदि अनेक विषयों का ज्ञान एक साथ कभी नहीं होता। इसलिए यह निश्चित है, कि सर्वविषय ग्राहक एक इन्द्रिय नहीं। यदि सर्वविषयग्राहक एक इन्द्रिय मानेंगे, तो संसार में कोई अन्ध, बधिर नहीं होना चाहिए, क्योंकि अन्ध, बधिर आदि को भी स्पर्श के साथ साथ रूप आदि का ज्ञान भी होने लगेगा। परन्तु स्पर्श, रूप आदि अर्थों का न तो एक साथ ज्ञान होता है, और न संसार में अन्धों, बधिरों आदि का अभाव है। अत: सर्व विषयों को ग्रहण करने वाले एक इन्द्रिय का माना जाना सर्वथा तर्कसंगत नहीं है।

समाधान– न्याय-दर्शन के अनुसार इन्द्रिय एक नहीं-

विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका ॥३/१/५४॥

न खलु त्वगेकमिन्द्रयं व्याघातात् । त्वचा रूपाण्यप्राप्तानि गृह्यन्त इति । अप्राप्यकारित्वे स्पर्शादिष्वप्येवं प्रसङ्गः । स्पर्शादीनां च प्राप्तानां ग्रहणाद्रूपादीनां प्राप्तानां ग्रहणमिति प्राप्तम् । एक वस्तु में परस्पर विरुद्ध धर्मों का होना; 'विप्रतिषेध' कहलाता है। यदि चक्षु में स्थित त्वक् द्वारा दूरस्थ रूपों का ग्रहण होता है, तो स्पर्श आदि से भी ऐसा त्वचा के साथ संयोग न होने पर भी ज्ञान मानना पड़ेगा। यदि कहा जाये कि त्वगिन्द्रिय से रूप का ग्रहण विषय से सन्निकर्ष के बिना और स्पर्श इत्यादि का ग्रहण सन्निकर्ष होने पर होता है। अत: वह प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी दोनों प्रकार की क्षमता वाला है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि एक

ही धर्मी में पस्पर विरोधी दो धर्मों का होना प्रमाण विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियों के अप्राप्यकारी होने से व्यवहित और दूरस्थ पदार्थ का भी ग्रहण होने लगेगा, जो कि सर्वथा प्रत्यक्ष विरुद्ध है। अत: त्वक् ही एक इन्द्रिय नहीं। न्याय-दर्शनानुसार इंन्द्रियों में संख्या की व्यवस्था– **इन्द्रियार्थपञ्चत्वात् ॥३/१/५५॥**

अर्थ: प्रयोजनं तत् पञ्चविधमिन्द्रियाणाम्, स्पर्शनेनेन्द्रियेण स्पर्शग्रहणे सति न तेनैव रूपं गृह्यत इति रूपग्रहणप्रयोजनं चक्षुरनुमीयते । इन्द्रियों के (ग्राह्य विषय) अर्थ पाँच होने से 'त्वक्' ही एक इन्द्रिय नहीं, अपितु इंन्द्रियां पाँच हैं। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये इन्द्रियों के पाँच विषय प्रसिद्ध हैं। 'त्वक्' इन्द्रिय से केवल स्पर्श का ज्ञान होता है, रूप आदि अन्य विषयों का नहीं। अत: रूपादि के ग्रहण के लिए चक्षुरादि इन्द्रियों को मानना पड़ता है। यदि न माना जाए तो अन्धे को रूप, बधिर को शब्द, घ्राणशक्तिहीन को गन्ध और रसशक्तिहीन को रस का ज्ञान होना चाहिए; क्योंकि त्वगिन्द्रिय तो इन सब के पास है, परन्तु अन्धे आदि को त्वक् के होते हुए भी रूप आदि का ज्ञान नहीं होता। इससे सिद्ध होता है, कि पाँचों भिन्न-भिन्न अर्थों को ग्रहण करने के लिए पाँच ही इन्द्रियाँ हैं; क्योंकि किसी एक इन्द्रिय के द्वारा इन पाँचों विषयों में से एक से अधिक का ग्रहण नहीं होता देखा जाता। ज्ञान लक्षण, अधिष्ठान, गति, और जाति आदि के पांच होने से इंन्द्रियां भी पाचं-

संदर्भ- अब पूर्वपक्ष इन्द्रियों की पांच संख्या पर आक्षेप करता है-

न तदर्थबहुत्वात् ॥३/१/५६॥

उन इन्द्रियों के अर्थ ग्राह्यविषय बहुत होने से इन्द्रियाँ केवल पाँच ही नहीं हैं। अत: पाँच विषयों को ग्रहण करने के आधार पर इन्द्रियों का पाँच सिद्ध किया जाना युक्ति संगत नहीं; क्योंकि इन्द्रियों के विषय पाँच ही नहीं, अपितु बहुत है। जैसे -स्पर्श के अनेक भेद हैं- उष्णस्पर्श, शीतस्पर्श, अनुष्णशीतस्पर्श, मृदुस्पर्श, कठोरस्पर्श इत्यादि। इसी प्रकार रूप के शुक्ल, कृष्ण, नील, पीत, रक्त कपिश आदि, गन्ध के-सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि, रस के मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कपाय, तिक्त आदि; और शब्द के वर्णात्मक, ध्वन्यात्मक भेद हैं। इनमें भी तीव्र, मन्द, मिश्रित आदि अनेक अवान्तर भेद हो सकते हैं। इसलिए जो यह कहा था, कि ग्राह्य विषय पाँच होने से इन्द्रियाँ पाँच हैं वह ठीक नहीं। तदनुसार विषयों की संख्या बहुत होने से इन्द्रियाँ भी उतनी ही मानी जानी चाहिए ।

संदर्भ- अब महर्षि गौतम उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं-

गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद् गन्धादीनामप्रतिषेध: ॥३/१/५७॥

सब प्रकार के गन्ध आदि का गन्धत्वादि से अभेद होने के कारण उक्त प्रतिषेध ठीक नहीं। गन्धत्व जाति से युक्त सुरभि एवं असुरभि आदि सभी प्रकार के गन्धों में भेद नहीं है। नील, पीत आदि सभी प्रकार के रूपों में रूपत्व धर्म समान है। इसी प्रकार मधुर, अम्ल आदि रसों में रसत्व, उष्ण, शीत आदि स्पर्शों में स्पर्शत्व, वर्णरूप ध्वनिरूप आदि शब्दों में शब्दत्व समान रूप से विद्यमान है। और गन्ध आदि विषयों के एकदेश (एक प्रकार) को ग्रहण करने के लिए ही घ्राण आदि इन्द्रियाँ नहीं है, अपितु घ्राण से समस्त गन्ध, रसन से समस्त रस, चक्षु से समस्त रूप, त्वक् से समस्त स्पर्श, और श्रोत्र इन्द्रिय से समस्त शब्द गृहीत हो जाते हैं। इन इन्द्रियों से अपने अपने क्षेत्र का कोई भेद (विषय) अगृहीत नहीं रहता, जिसके लिए अन्य साधन (इन्द्रिय) की कल्पना की जाए। अत: इन्द्रियों के ग्राहक, इन्द्रियों के ग्राह्यविषय पाँच वर्गों में विभक्त विषयों के ग्राहक इन्द्रियाँ पाँच ही हैं, न कम न अधिक ।

विषयत्याव्यतिरेकादेकत्वम् ॥३/१/५८॥

फिर तो विषयत्व के अभेद इन्द्रियों का एकत्व एक होना प्राप्त होता है। यदि गन्धत्व के सामान्य से सुगन्ध और दुर्गन्ध में भेद नहीं है, तब तो विभिन्न रस आदि में रसत्व आदि एक है, तो फिर पाँच विषयों की कल्पना क्यों करते हो? एक ही विषय क्यों न मान लिया जाए? क्योंकि विभिन्न विषयों में जो विषयत्व धर्म है, वह सब में समान है। यदि विषय एक है, तो उसका ग्राहक इन्द्रिय भी एक ही मानना चाहिए।

न, बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिपञ्चत्वेभ्य: ॥३/१/५९॥

न खलु विषयत्वेन सामान्येन कृतव्यवस्था विषया ग्राहकान्तरनिपेक्षा एकसाधनग्राह्या अनुमीयन्ते, अनुमीयन्ते पञ्चगन्धादयो गन्धत्वादिभि: स्वमान्यै: कृतव्यवस्था इन्द्रियान्तरग्राह्यस्तस्मादसम्बद्धमेतत्। अयमेव चार्थोऽनूद्यते बुद्धिलक्षणपञ्चत्वादिति। बुद्धि, ज्ञान, लक्षण, अधिष्ठान, गति, विषय ग्रहण करने के विविध प्रकार, आकृति और जाति, कारण के पाँच होने से विषयत्व धर्म के आधार पर इन्द्रिय को एक मानना, ठीक नहीं।

१. बुद्धि लक्षण- सूत्रगत 'बुद्धि' पद का अर्थ है 'ज्ञान'। गन्ध आदि अलग अलग पाँच ज्ञान हैं, जो अपने ग्राहक पाँच इन्द्रियों का अनुमान कराते हैं।

यह बात 'इन्द्रियों का अनुमान कराने वाले ज्ञानलक्षणों के पाँच होने से इन्द्रियाँ पाँच हैं।

२. अधिष्ठान- इन्द्रियों के अधिष्ठान, गोलक भी अलग-अलग पाँच हैं, जहाँ रहकर इन्द्रियाँ ज्ञानोत्पत्ति का साधन बनती हैं। गन्ध ग्राहक घ्राण का अधिष्ठान 'नासिका', रसग्राहक रसन का 'जिह्वा', रूपग्राहक चक्षु का 'आँख की पुतली', स्पर्शग्राहक त्वक् का

समस्त शरीर पर व्याप्त 'त्वक्' और शब्दग्राहक श्रोत्र का अधिष्ठान कान है। अतः शरीर में इन्द्रियों के पृथक्-पृथक् अधिष्ठान इन्द्रियों के पाँच होने में प्रमाण हैं।

३. गति- गतिभेद, विषय ग्रहण करने के प्रकारभेद से भी इन्द्रियों में भिन्नता सिद्ध होती है। जैसे कि चक्षु दूरस्थ विषय को भी ग्रहण कर सकता है, किन्तु त्वक् इन्द्रिय ऐसा नहीं कर सकती। नासिका रसन और त्वक् इन्द्रियों के गन्ध आदि विषय अपने आश्रय द्रव्य के साथ इन्द्रियों के सान्निध्य में आने पर गृहीत होते हैं और श्रोत्र द्वारा शब्द को ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार इन्द्रियों द्व ारा विषय-ग्रहण के प्रकार में भेद होने से इन्द्रिय को एक नहीं माना जा सकता।

४. आकृति- बनावट, रचना भी पाँचों इन्द्रियों की भिन्न-भिन्न प्रकार की है, अतः इन्द्रिय एक नहीं; क्योंकि एक ही वस्तु के अनेक आकार नहीं होते।

५. जाति- कारण 'जायतऽस्मादिति जातिः' जिससे कोई कार्य उत्पन्न हो, वह उस कार्य की जाति (जन्मदाता-कारण) होती है। जाति (कारण) भी इन्द्रियों के पाँच है। त्वक् का वायु, नेत्र का तेज, घ्राण का पृथिवी, रसन का जल कारण है, और श्रोत्र साक्षात् आकाशरूप है। इस प्रकार इन्द्रियों के अलग-अलग पृथिवी आदि पाँच उपादान कारण होने से इन्द्रियाँ पाँच हैं। इन 'बुद्धिलक्षण' आदि हेतुओं से यह सिद्ध हो जाता है, कि इन्द्रिय एक नहीं, अपितु पाँच है।

इन्द्रियों के भौतिकत्त्व एवं नानत्व में एक अन्य हेतु-

भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ॥३/१/६०॥

दृष्टो हि वाय्वादीनां भूतानां गुणविशेषाभिव्यक्तिनियमः। वायुः स्पर्शव्यञ्जकः आपो रसव्यञ्जिकाः तेजो रूपव्यञ्जकम्, पाथिवं किञ्चिद् द्रव्यं कस्यमिद् द्रव्यस्य गन्धव्यञ्जकम्। विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा पृथिवी आदि भूतों के गन्धादि विशेष गुणों की उपलब्धि होने के कारण इन्द्रियाँ भूतों के कार्य हैं। घ्राण इन्द्रिय केवल गन्ध गुण का ही ग्रहण करता है, जो विशेष गुण है और जो जिसका कार्य है, वह उसी के विशेष गुण का ग्रहण करने वाला होता है। अतः घ्राण इन्द्रिय पृथिवी के विशेष गुण गन्ध का ग्राहक होने से पृथिवी का कार्य सिद्ध होता है। इसी प्रकार जलों के विशेष गुण रस का ही ग्रहण करने से रसन इन्द्रिय जल का, तेज के विशेष गुण रूप का ही ग्रहण करने से चक्षुरिन्द्रिय तेज का, वायु के विशेष गुण स्पर्श का ग्राहक होने से त्वक् इन्द्रिय वायु का कार्य समझना चाहिए और आकाश के विशेष गुण शब्द का ग्राहक होने से श्रोत्र आकाशरूप माना जाता है। इस प्रकार भूतों के विशेष गुणों का ग्रहण होने से इन्द्रियाँ भौतिक एवं पांच हैं।

॥ इति इन्द्रियनानात्वप्रकरणम्॥

स्मरणीय बिंदु (Key Points)-

विषय की भिन्नता: चूँकि गंध, रूप और शब्द अलग-अलग गुण हैं, इसलिए उन्हें ग्रहण करने वाले साधन (इन्द्रियाँ) भी अलग-अलग होने चाहिए।

स्थान भेद: इन्द्रियों के भौतिक स्थान (गोलक) शरीर में अलग-अलग हैं (जैसे आँख चेहरे पर, कान पार्श्व में), जो उनकी अनेकता का प्रमाण है।

अपूर्णता का तर्क: यदि इन्द्रिय केवल एक होती, तो एक इन्द्रिय के नष्ट होने पर व्यक्ति पूरी तरह अंधा, बहरा और स्वादहीन हो जाता। लेकिन एक आँख खराब होने पर भी व्यक्ति सुन सकता है, जो सिद्ध करता है कि इन्द्रियाँ अनेक (नाना) हैं।

त्वक-एकत्व खंडन: कुछ लोग मानते हैं कि केवल 'त्वचा' ही एकमात्र इन्द्रिय है क्योंकि वह सर्वत्र व्याप्त है। न्याय दर्शन इसका खंडन करता है क्योंकि त्वचा गंध या रूप का अनुभव नहीं कर सकती।

कार्य भेद: आँख केवल देख सकती है, सुन नहीं सकती, कान केवल सुन सकता है, देख नहीं सकता। यह कार्य का बँटवारा ही 'नानात्व' (अनेकता) है।

शब्दावली (Terminology)-

नानात्व: अनेकता, विविधता या एक से अधिक होने की अवस्था (Plurality)।

विषय: वह गुण जिसे इन्द्रिय ग्रहण करती है (जैसे गंध, शब्द, रूप)।

गोलक: इन्द्रियों के बैठने का भौतिक स्थान या आधार।

प्रतिनियत: वह नियम कि एक इन्द्रिय केवल अपने निश्चित विषय को ही ग्रहण करेगी।

त्वक-इन्द्रिय: स्पर्श करने वाली इन्द्रिय (त्वचा)।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)-

प्रश्न 1. ''इन्द्रियाँ अनेक (नाना) हैं।'' न्याय दर्शन के इस सिद्धांत की पुष्टि हेतु दिए गए प्रमुख तर्कों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

प्रश्न 2. उन दार्शनिक मतों का खंडन कीजिए जो केवल 'त्वक-इन्द्रिय' (त्वचा) को ही एकमात्र इन्द्रिय मानते हैं। न्याय दर्शन के अनुसार इन्द्रियों का नानात्व क्यों अनिवार्य है?

प्रश्न 3. इन्द्रियों के स्थान-भेद, कार्य-भेद और विषय-भेद के आधार पर 'इन्द्रिय नानात्व' की समीक्षा कीजिए।

प्रश्न 4. ''एक इन्द्रिय के विनाश से अन्य इन्द्रियों के कार्यों में बाधा न आना ही उनके नानात्व का प्रबल प्रमाण है।'' इस कथन की व्याख्या कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Question)-

प्रश्न 1. 'नानात्व' शब्द से क्या अभिप्राय है? इन्द्रियों के संदर्भ में इसका क्या महत्व है?

प्रश्न 2. यदि शरीर में केवल एक ही इन्द्रिय होती, तो ज्ञान की प्रक्रिया में क्या समस्या आती?

प्रश्न 3. चक्षु (आँख) और श्रोत्र (कान) के कार्यों के अंतर को 'विषय-भेद' के रूप में स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 4. इन्द्रियों के 'गोलक' (स्थान) उनके अनेक होने का संकेत कैसे देते हैं?

प्रश्न 5. क्या मन को इन्द्रियों के नानात्व में गिना जाता है? संक्षेप में बताएं।

बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQs - With Answers)-

Q1. 'इन्द्रिय नानात्व' का अर्थ क्या है?

(A) इन्द्रियों का अभाव

(B) इन्द्रियों की अनेकता

(C) केवल एक इन्द्रिय का होना

(D) इन्द्रियों का मोह

Q2. न्याय दर्शन के अनुसार इन्द्रियों की संख्या कितनी (ज्ञानेन्द्रियाँ) मानी गई है?

(A) एक

(B) तीन

(C) पाँच

(D) दस

Q3. किस आधार पर यह कहा जा सकता है कि आँख और कान अलग-अलग इन्द्रियाँ हैं?

(A) स्थान भेद के कारण

(B) विषय भेद के कारण

(C) कार्य भेद के कारण

(D) उपरोक्त सभी

Q4. ''केवल त्वचा ही एकमात्र इन्द्रिय है'' - इस मत का न्याय दर्शन क्या करता है?

(A) समर्थन

(B) खंडन

(C) उपेक्षा

(D) आंशिक स्वीकार

Q5. एक इन्द्रिय के नष्ट होने पर भी अन्य इन्द्रियों का सक्रिय रहना क्या सिद्ध करता है?

(A) इन्द्रियाँ नश्वर हैं

(B) इन्द्रियाँ आपस में जुड़ी हैं

(C) इन्द्रियाँ स्वतंत्र और अनेक हैं

(D) शरीर जड़ है

Q6. ''गंध'' केवल नासिका से ही ग्रहण की जा सकती है, यह नियम क्या कहलाता है?

(A) सन्निकर्ष

(B) विषय-नियम (प्रतिनियत विषय)

(C) व्याप्ति

(D) अपवर्ग

खण्ड : ३ बुद्धि (ज्ञान) की परीक्षा
इकाई-३.१ : पृथिवी आदि द्रव्यों के गुणों का निरुपण

उद्देश्य (Objectives)-

द्रव्य-गुण संबंध: यह समझना कि पाँचों महाभूतों (द्रव्यों) के विशिष्ट और सामान्य गुण क्या हैं।

लक्षण पहचान: प्रत्येक द्रव्य के उस 'असाधारण गुण' को जानना जो उसे दूसरे द्रव्यों से अलग करता है (जैसे पृथ्वी के लिए गंध)।

इन्द्रिय-विषय संबंध: यह स्पष्ट करना कि हमारे इन्द्रिय किस प्रकार द्रव्यों के विशिष्ट गुणों को ग्रहण करते हैं।

सृष्टि संरचना: भौतिक जगत के निर्माण में इन गुणों की भूमिका का विश्लेषण करना।

अथ पृथ्वियादिगुणनिरुपणम्

प्रसंग- इन्द्रियों की परीक्षा के पश्चात् अब प्रमेयसूत्र (१/१/९) के अनुसार 'अर्थ'-परीक्षा आरम्भ करते हैं। शास्त्र में निद्रिष्ट आरम्भिक सूत्र **गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः।** (१/१/१४) में उद्देश्य रूप से कहा है, कि गन्ध आदि पृथिवी आदि द्रव्यों के गुण हैं और उन घ्राणादि इन्द्रियों के विषय है। यहाँ संशय होता है, कि-पृथिवी आदि के गन्ध आदि गुणों में से एक-एक गुण है अथवा एक-एक भूत के अनेक गुण भी हो सकते हैं?

महर्षि गौतम दो सूत्रों के माध्यम से समाधान प्रस्तुत करते है-

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्याः ॥३/१/६१॥

अप्तेजोवायूनां पूर्वं पूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः॥ ॥३/१/६२॥

स्पर्शपर्यन्तानामिति विभक्तिविपरिणामः। आकाशस्योत्तरः शब्दः स्पर्शपर्यन्तेभ्य इति । कथं तर्हि तरब्निर्देशः? स्वतन्त्रविनियोगसामर्थ्यात्। तेनोत्तरशब्दस्य परार्थाभिधानं विज्ञायते। उद्देशसूत्रे हि स्पर्शपर्यन्तेभ्यः परः शब्द इति तन्त्र वा स्पर्शस्य विवक्षिततत्वात् स्पर्शपर्यन्तेषु नियुक्तेषु योऽन्यस्तदुत्तरः शब्द इति । न दोनों सूत्रों की एकवाक्यता है। निद्रिष्ट सूत्र (६१) में गन्ध आदि पाँच गुणों में से गन्ध, रस, रूप और स्पर्श-से चार गुण पृथिवी के हैं। इन चार में से पहले (गन्ध) को छोड़कर रस, रूप और स्पर्श ये तीन गुण जल के हैं। पहले दो (गन्ध, रस) को छोड़कर रूप और स्पर्श-ये दो गुण (तेज) के हैं। गन्ध, रस, रूप को छोड़कर शेष एक-स्पर्श वायु का गुण है, और स्पर्श से अगला एक गुण 'शब्द' आकाश का है। इस प्रकार पृथिवी के चार, जल के तीन, तेज के दो और वायु तथा आकाश के एक-एक गुण हैं।

न, सर्वगुणानुपलब्धे : ॥३/१/६३॥

पृथिवी आदि के सभी गुणों की पृथिवी आदि से उत्पन्न इन्द्रियों के द्वारा प्राप्ति न होने के कारण गुणों की उक्त व्यवस्था ठीक नहीं है। पहले बताया जा चुका है, कि घ्राण इन्द्रिय पार्थिव है। अतः घ्राण से जैसे पृथिवी के गुण गन्ध का ग्रहण होता है, वैसे ही रस, रूप और स्पर्श का भी ग्रहण होना चाहिए। इसी प्रकार जलीय इन्द्रिय रसन के द्वारा रस के अतिरिक्त रूप और स्पर्श का भी ग्रहण होना चाहिए, तथा तैजस इन्द्रिय चक्षु के द्वारा रूप के अतिरिक्त स्पर्श गुण का भी ग्रहण होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए उपरोक्त गुण व्यवस्था ठीक नहीं है।

संशय- सिद्धान्ती पूछता है कि फिर गुणों की व्यवस्था कैसे करनी चाहिए? **एकैकस्येनोत्तरोत्तर-गुणसद्भावादुत्तरोत्तराणां तदनुपलब्धिः ॥३/१/६४॥**

उत्तरोत्तर जलादि का एक-एक करके क्रम से उत्तरोत्तर रसादि गुण होने के कारण तदनुपलब्धिः उस रसादि की घ्राणादि इन्द्रिय से उपलब्धि नहीं होती । पृथिवी आदि भूतों के क्रमशः गन्धादि गुण हैं, और क्रमशः पृथिवी आदि भूतों से सम्बद्ध घ्राणादि इन्द्रियाँ हैं, जो क्रमशः गन्धादि एक-एक गुण का ही ग्रहण करती हैं। इसलिए अगले अगले गुणों का पिछले-पिछले इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता। अतः स्पष्ट है, कि पृथिवी आदि भूतों के गन्ध आदि एक- एक गुण हैं, जिनका क्रमशः घ्राण आदि इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होता है। इस प्रकार गुणों की व्यवस्था होती है।

संशय- तो फिर भूतों में अनेक गुण प्रत्यक्षरूप से कैसे पाए जाते हैं ?

समाधान- 'संसर्गाच्चानेकगुणग्रहण' (पृथिवी आदि में) जो अनेक गुणों की उपलब्धि होती है, वह जल आदि के संसर्ग से है। इसमें अपना गुण तो एक -एक ही है, अन्य गुण अन्य भूतों के संसर्ग से उपलब्ध होते हैं ।

सदंर्भ- यदि पूर्वपक्ष की बात माने तो यह नियम नहीं बन सकता कि -पृथिवी चार गुणों वाली है, जल में तीन गुण हैं, तेज में दो गुण हैं और वायु में एक गुण है। जब सब का परस्पर संसर्ग है, तो सब गुण सब भूतों में उपलब्ध होने चाहिए।

समाधान- नियम भी बन सकता है; क्योंकि

विष्टं ह्यपरं परेण ॥३/१/६५॥

पृथिवी आदि में से पहला-पहला भूत उत्तर-उत्तर भूत के साथ संसृष्ट हुआ है। ठीक इसी प्रकार पूर्व भूत उत्तर-उत्तर के साथ संसृष्ट है, किन्तु उत्तर- उत्तर का भूत पूर्व - पूर्व के साथ मिला हुआ नहीं है। अर्थात् पृथिवी में जल, तेज, वायु का संसर्ग है, अतः उसमें गन्ध अपना गुण और रस, रूप, स्पर्श क्रमशः जल, तेज तथा वायु के गुण हैं। इनमें उत्तर - उत्तर के भूत पूर्व-पूर्व के भूतों के साथ संसृष्ट होते हैं, इसलिए संसर्ग का अनियम नहीं होता और भूतों में गुणों की व्यवस्था सम्पन्न हो जाती है। इस प्रकार पृथिवी में चार, जल में तीन, तेज में दो और वायु में एक गुण उपलब्ध हो जाता है ।

संदर्भ- अब सूत्रकार पूर्वोक्त तीन सूत्रों (६३-६५) का खण्डन करते हैं -

पृथिवी आदि भूतों में एक से अधिक गुण भी होते हैं–

न, पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् ॥३/१/६६॥

नेति त्रिसूत्रीं प्रत्याचष्टे। कस्मात्? पार्थिवस्य द्रव्यस्याप्यस्य च प्रत्यक्षत्वात्। महत्त्वानेकद्रव्यत्वादूपाच्चोपलब्धिरिति तैजसमेव द्रव्यं प्रत्यक्षं स्यात् न पार्थिवमाप्यं वा रूपाभावात् । तैजसवत् पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् न संसर्गादनेकगुणग्रहणं भूतानामिति। एक भूत का एक ही गुण है यह नियम ठीक नहीं। यदि एक भूत का अपना एक ही गुण होता, तो पार्थिव और जलीय द्रव्यों की चाक्षुष प्रत्यक्ष से उपलब्धि न होती; क्योकि वहाँ जो रूप है, वह पृथिवी आदि से संसृष्ट तेजो का है, पृथिवी जल का नहीं, इनका तो अपना गुण गन्ध व रस है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति आग्नेय द्रव्यों के समान पार्थिव और जलीय द्रव्यों में भी रूप का ग्रहण करता है। अतः जैसे तेज रूप वाला है, वैसे ही पृथिवी और जल को भी रूपवाला मानना चाहिए। यदि यह कहा जायें कि अग्नि के रूप गुण के कारण ही इनका प्रत्यक्ष होता है, तो वायु का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिए; क्योंकि वायु और तेज का परस्पर संसर्ग व्यवहार में देखा जाता है। तेज के संसर्ग से पार्थिव तथा जलीय द्रव्य का तो प्रत्यक्ष हो जाए, वायु द्रव्य का न हो, इस नियम का कोई कारण नहीं। अथवा पार्थिव और जलीये रस के भी परस्पर भिन्न-भिन्न होने से एक भूत में एक गुण का नियम ठीक नहीं; क्योंकि पार्थिव रस छह प्रकार का है और जल में केवल एक ही मधुर रस है। यह स्थिति पृथिवी में जल के संसर्ग के कारण नहीं हो सकती। तब तो पृथिवी में जल के समान केवल मधुर रस ही होना चाहिए। यही स्थिति रूप के विषय में है। तेज का रूप भास्वर शुक्ल है, जो अन्य पदार्थों का प्रकाशक है। परन्तु जल में अभास्वर शुक्ल रूप है, और पृथिवी में सात प्रकार के रूप देखे जाते हैं, ये जलीय और पार्थिव सभी रूप व्यङ्ग्य = प्रकाश्य हैं, अग्नि के समान (व्यञ्जक) प्रकाशक नहीं। इससे स्पष्ट है, कि ये जल और पृथिवी के अपने रूप हैं, अग्नि के संसर्ग से उत्पन्न नहीं हैं। सूत्र में पार्थिव और आप्य उदाहरणमात्र हैं। इसी प्रकार पार्थिव और तैजस द्रव्यों के स्पर्श में भी महान् अन्तर देखा जाता है। पार्थिव द्रव्यों में अनुष्णशीत स्पर्श, जलीय द्रव्यों में शीतस्पर्श और तैजस द्रव्यों उष्णस्पर्श होता है। यह स्थिति अनुष्णशीतस्पर्श वाले वायु के संसर्ग से उत्पन्न नहीं हो सकती; क्योंकि अपने ही गुण का अपने ही गुण से अभिभव नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त पहले भूत का बाद वाले भूत के साथ संसर्ग भी देखा जाता है। उष्णकाल में लू चलना और शीतकाल में शीतलहर चलना इसका स्पष्ट प्रमाण है। यदि अन्य के गुण से अन्य में गुण माना जाए तो अग्नि के वायु में उष्णत्व गुण के समान रूप की प्रतीति भी वायु में होनी चाहिए। ऐसा न होने से स्पष्ट है, कि वायु में उष्णस्पर्श अपना नहीं अपितु तेज का गुण है। अतः यही मानना ठीक है, कि 'स्पर्श' चारों भूतों का गुण है, रूप तीन का, रस दो का और गन्ध केवल पृथिवी का गुण है। दूसरे शब्दों में पृथिवी के चार गुण हैं, जल के तीन, अग्नि के दो और वायु का एक गुण है। ये गुण उन भूतों के अपने हैं, अन्य किसी के संसर्ग से नहीं। यद्यपि तेज में जनसाधारण को जो भास्वरशुक्ल रूप दीखता है, वही एक रूप कह दिया जाता है, किन्तु यदि सूक्ष्मता से परीक्षण किया जाता है, स्पैक्ट्रम (प्रिज्म) या इन्द्रधनुष से उसके सात रूप स्पष्ट देखे जाते हैं। बैंगनी, आसमानी, नीला, हरा, पीला, नारंगी, लाल। गन्ध रस रूप स्पर्श गुणों के अनुसार घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् इंद्रियां है–

पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात् तत्तत्प्रधानम् ॥३/१/६७॥

तस्मान्न सर्वगुणोपलब्धिः घ्राणादीनां पूर्वपूर्वं गन्धादेर्गुणस्योत्कर्षपत्तित्तत्प्रधानम् । पृथिवी के चार गुण हैं, किन्तु गन्ध उत्कृष्ट होने से प्रधान है, पिछले तीन अनुत्कृष्ट होने से गौण हैं। इसी प्रकार जल के तीन गुणों में से पहला = रस गुण प्रधान और पिछले दो गुण अप्रधान हैं, अग्नि के दो गुणों में से पहला = रूप गुण मुख्य और दूसरा = स्पर्श गुण अप्रधान है। बस इनमें जो जिसका प्रधान गुण है, वही उसके इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है, गौण नहीं। यही कारण है कि एक इन्द्रिय से अनेक गुणों का ग्रहण नहीं होता।

तद्व्यवस्थानं तु भूयस्त्वात् ॥३/१/६८॥

अर्थनिर्वृत्तिसमर्थस्य प्रविभक्तस्य द्रव्यस्य संसर्गः पुरुषसंस्कारकारितो भूयस्त्वम्। दृष्टो हि प्रकर्षे भूयस्त्वशब्दः, प्रकृष्टो यथा विषयो भूयानित्युच्यते। जीवात्मा के धर्म अधर्म रूप निमित्त के अनुसार उसके प्रयोजन की सिद्धि के लिए संसार में विष, औषधि, वनस्पति, पाषाण, रत्न आदि का निर्माण होता है। ये विभिन्न उपादानों वाले पदार्थ विभिन्न प्रयोजनों को सिद्ध करते हैं। प्रत्येक

पदार्थ प्रत्येक प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकता। इसी सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न प्रयोजनों की सिद्धि के लिए इन्द्रियों की रचना में विशेष उपादानों का प्रयोग होता है। जैसे पृथिवी में गन्ध गुण की प्रधानता होती है और घ्राण के द्वारा गन्ध गुण का ही ग्रहण होता है। इससे नासिका में भी गन्ध के भूयस्त्व (आधिक्य) का अनुमान होता है। इस प्रकार गन्ध की अधिकता वाला घ्राण, गन्ध की भूयस्त्व वाले पृथिवी भूत का कार्य माना जाता है। इसी प्रकार जल और रसन का रसभूयस्त्व से तेज और चक्षु का रूपभूयस्त्व से वायु और स्पर्शन का स्पर्शभूयस्त्व से कारण कार्यभाव समझा जाता है। शब्द आकाश का गुण है, जो आकाशरूप श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है।

सगुणानामिन्द्रियभावात् । ॥३/१/६९॥

गन्धादि गुणसहितों के इन्द्रिय होने से घ्राणादि इन्द्रियों के द्वारा स्वस्थित गन्धादि गुणों का ग्रहण नहीं होता। घ्राण का इन्द्रियभाव (गन्ध ग्राहकशक्ति) स्वगत गन्धगुण सहित घ्राण में है। जब घ्राण बाह्य गन्ध का ग्रहण करता है, तब घ्राणगत गन्धग्राहक कोटि में होता है। अर्थात् गन्धरहित होकर घ्राण किसी गन्ध को ग्रहण नहीं कर सकता। घ्राण की ग्राहकता शक्ति को प्रकट करने में स्वगत गन्ध सहयोगी होता है। वह ग्राहक कोटि में होने से ग्राह्य कोटि में नहीं आता। यदि वह ग्राह्य कोटि में आ जाए, तो ग्राहकता कोटि में नहीं रहेगा। तब सहयोगी के अभाव में घ्राण स्वगत गन्ध को ग्रहण करने में असमर्थ रहता है।

इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में जाना चाहिए, अर्थात् रसन इन्दिय स्वस्थित रस का, चक्षु स्वस्थित रूप का तथा त्वक् स्वस्थित स्पर्श का ग्रहण नहीं करते।

संदर्भ- पूर्वपक्षी संशय करता है, कि घ्राण का स्वगत गन्ध, उसके द्वारा बाह्य गन्ध को ग्रहण करने में सहयोगी भी रहे और उसका ग्राह्य भी हो जाय, इसमें क्या दोष है ?

तेनैव तस्याग्रहणाच्च ॥३/१/७०॥

उससे ही (ग्रहण करने वाले से), उसका (ग्रहण होने वाले का) ग्रहण न होने से भी इन्द्रियों से स्वस्थित गुण की उपलब्धि नहीं होती। ग्रहण करने वाला स्वयं ग्रहण होने वाला नहीं हो सकता; क्योंकि ग्राहक और ग्राह्य में सदा भेद रहता है। जैसे बाह्य द्रव्य को ग्रहण करने वाला चक्षु स्वयं को ग्रहण नहीं कर सकता, कुशलतम नट भी अपने ही कन्धे पर नहीं चढ़ सकता। ठीक इसी प्रकार घ्राण आदि कोई भी इन्द्रिय स्वस्थित गुण को ग्रहण नहीं करती।

संदर्भ - पूर्वपक्ष उक्त अर्थ में अनैकान्तिक दोष दिखाता है

न, शब्दगुणोपलब्धेः ॥३/१/७१॥

श्रोत्र के द्वारा शब्द गुण की उपलब्धि होने से उक्त कथ ठीक नहीं है। शब्द आकाश का गुण है, जो आकाशरूप श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार घ्राणादि इन्द्रियाँ स्वगत गन्धादि का ग्रहण क्यों नहीं कर सकतीं ।

तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् ॥३/१/२१॥

अन्य अन्य द्रव्यों के गुणों से वैधर्म्य (वैलक्षण्य) होने के कारण (श्रोत्र द्वारा) उस (शब्द) की उपलब्धि हो जाती है। आकाशरूप श्रोत्र- इन्द्रिय आकाश के शब्द गुण का ग्रहण कर सकता है; क्योंकि घ्राण आदि इन्द्रियों के विपरीत आकाश रूप श्रोत्र इन्द्रिय, शब्द गुण से सगुण नहीं है; और न शब्द शब्द का व्यञ्जक होता है। घ्राण आदि शेष इन्द्रियों का अपने गुणों को करना न तो प्रत्यक्ष है, और न अनुमान से ही सिद्ध होता है, किन्तु श्रोत्र से ही शब्द का ग्रहण और शब्द-गुणवान आकाश का होना अनुमित होता है; क्योंकि आत्मा तो श्रोता है, करण नहीं। नित्य (चिरस्थायी) मन को श्रोत्र मानने पर संसार में बहरेपन का अभाव होगा । पृथिवी आदि चारों भूतों में भी घ्राण आदि इन्द्रियों को बनाने का सामर्थ्य तो है, किन्तु श्रोत्र को बनाने का नहीं। काल, दिशा का भी गुण शब्द नहीं है। इस प्रकार परिशेष न्याय (अनुमान) से शब्द आकाश का गुण है और आकाशरूप श्रोत्र से गृहीत होता है। अतः श्रोत्र से अतिरिक्त कोई इन्द्रिय स्वगत गुण का ग्रहण नहीं करता, यह प्रमाणित हो जाता है।

॥ इति पृथ्वियादिगुणनिरुपणम्॥

स्मरणीय बिंदु (Key Points)-

विशिष्ट गुण (Specific Qualities):

पृथ्वी: इसका मुख्य लक्षण 'गंध' है।

जल: इसका मुख्य लक्षण 'शीत स्पर्श' और 'रस' (स्वाद) है।

तेज (अग्नि): इसका मुख्य लक्षण 'उष्ण स्पर्श' और 'रूप' (प्रकाश) है।

वायु: इसका मुख्य लक्षण केवल 'स्पर्श' है (वायु अदृश्य है)।

आकाश: इसका एकमात्र और विशिष्ट गुण 'शब्द' (Sound) है।
कारण-कार्य सिद्धांत: कार्य द्रव्य (जैसे घड़ा) में वही गुण आते हैं जो उसके कारण द्रव्य (मिट्टी) में होते हैं।
पाकज और अपाकज: पृथ्वी के गुण 'पाकज' (अग्नि के संयोग से बदलने वाले) होते हैं, जबकि अन्य द्रव्यों के गुण प्राय: स्वाभाविक होते हैं।
व्याप्ति: आकाश विभु (सर्वव्यापी) है, जबकि पृथ्वी आदि चार द्रव्य परमाणु रूप में नित्य और कार्य रूप में अनित्य हैं।

शब्दावली (Terminology)-

निरूपण: किसी विषय का विस्तार से वर्णन या विवेचन करना।
असाधारण गुण: वह गुण जो केवल उसी वस्तु में पाया जाए और किसी अन्य में नहीं (जैसे शब्द केवल आकाश में)।
उपादान: वह मूल सामग्री जिससे कोई कार्य द्रव्य बनता है।
संस्कार: वेग, भावना और स्थितिस्थापक (Elasticity) जैसे गुण जो गति और स्थिति से जुड़े हैं।
सन्निकर्ष: इन्द्रिय और द्रव्य के गुण का आपसी संपर्क।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Questions - Only Questions)-

प्रश्न 1. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के विशिष्ट गुणों का तुलनात्मक निरूपण कीजिए।
प्रश्न 2. ''गंधवती पृथिवी'' - इस सूत्र के आलोक में पृथ्वी के गुणों और उसके पार्थिव स्वरूप की तार्किक व्याख्या कीजिए।
प्रश्न 3. आकाश के गुण 'शब्द' की व्याख्या करते हुए सिद्ध कीजिए कि शब्द अन्य चार द्रव्यों (पृथ्वी आदि) का गुण क्यों नहीं हो सकता।
प्रश्न 4. द्रव्यों के गुणों का हमारे ज्ञानेन्द्रियों के साथ क्या संबंध है? इन्द्रिय-विषय व्यवस्था के आधार पर स्पष्ट कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Questions - Only Questions)-

प्रश्न 1. 'वायु' के गुण क्या हैं? उसे प्रत्यक्ष क्यों नहीं देखा जा सकता?
प्रश्न 2. जल और तेज (अग्नि) के स्पर्श में क्या मौलिक अंतर है?
प्रश्न 3. पाकज (अग्नि संयोग से उत्पन्न) गुण केवल किस द्रव्य में पाए जाते हैं और क्यों?
प्रश्न 4. आकाश को 'शब्द' का आश्रय क्यों माना गया है?
प्रश्न 5. सामान्य गुण और विशेष गुण के बीच का अंतर स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQs - With Answers)-

Q1. पृथ्वी का सबसे विशिष्ट (असाधारण) गुण कौन-सा है?
(A) रूप
(B) स्पर्श
(C) गंध
(D) शब्द
Q2. 'शब्द' निम्नलिखित में से किस द्रव्य का गुण है?
(A) वायु
(B) आकाश
(C) जल

(D) पृथ्वी

Q3. 'शीत स्पर्श' (ठंडा स्पर्श) किस द्रव्य का स्वाभाविक लक्षण है?

(A) तेज

(B) वायु

(C) जल

(D) पृथ्वी

Q4. अग्नि या प्रकाश (तेज) का मुख्य गुण क्या है?

(A) गंध और रस

(B) रूप और उष्ण स्पर्श

(C) शब्द और वेग

(D) केवल गंध

Q5. न्याय दर्शन के अनुसार वायु का ज्ञान किसके माध्यम से होता है?

(A) प्रत्यक्ष (देखकर)

(B) अनुमान (स्पर्श के द्वारा)

(C) उपमान

(D) इनमें से कोई नहीं

Q6. वह कौन-सा द्रव्य है जो सर्वव्यापी (विभु) है और जिसका गुण शब्द है?

(A) पृथ्वी

(B) काल

(C) आकाश

(D) मन

इकाई- ३.२ : बुद्धि (ज्ञान) की अनित्यता

उद्देश्य (Objectives)-

ज्ञान के स्वरूप को समझना: यह स्पष्ट करना कि बुद्धि/ज्ञान कोई स्थायी पदार्थ नहीं है, बल्कि एक क्षणिक क्रिया या गुण है।

आत्मा और बुद्धि का भेद: यह सिद्ध करना कि आत्मा नित्य (स्थायी) है, जबकि उसकी बुद्धि (ज्ञान) अनित्य (अस्थाई) है।

क्षणिकत्व का तर्क: ज्ञान के 'उत्पन्न' होने और 'विलीन' होने की प्रक्रिया को तार्किक रूप से समझना।

सांख्य मत का खंडन: सांख्य दर्शन के उस मत का विरोध करना जो बुद्धि को 'नित्य' या 'स्थायी' मानता है।

अथ बुद्धि अनित्यत्वप्रकरणम्

सन्दर्भ– आत्मा, शरीर, इन्द्रिय और गुणों की परीक्षा के उपरान्त प्रमेय सूत्र (१/१/९) के अनुसार अब 'बुद्धि' की परीक्षा आरम्भ करते है। सर्वप्रथम बुद्धि के नित्यत्व अथवा अनित्यत्व विषय में संशय प्रस्तुत करते हैं-

कर्माकाशसाधर्म्यात् संशयः॥ ३/२/१॥

अस्पर्शवत्त्वं ताभ्यां समानो धर्म उपलभ्यते बुद्धौ, विशेषश्चोपजनापायधर्मवत्त्वं विपयर्यश्च यथास्वमनित्ययोस्तस्यां बुद्धौ नोपलभ्यते, तेन संशय इति। कर्म और आकाश के समान अस्पर्शत्व धर्म होने से बुद्धि नित्य है अथवा अनित्य, यह संशय होता है। बुद्धि से यहाँ 'ज्ञान' अभिप्रेत है, जिसे लक्षण सूत्र **बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तम्॥ (१/१/१५)** में स्पष्ट किया गया है। कर्म और आकाश के समान बुद्धि में भी स्पर्शरहित होना धर्म है। परन्तु इन दोनों में से उत्क्षेपणादि कर्म अनित्य और आकाश नित्य कहा गया है। अत: यह सन्देह उत्पन्न होता है, कि 'बुद्धि' कर्म के समान अनित्य है अथवा आकाश के समान नित्य है?

सन्दर्भ– पूर्वपक्ष द्वारा बुद्धि की नित्यता में हेतु प्रस्तुत किया जाता है-

विषयप्रत्यभिज्ञानात् ॥३/२/२॥

किं पुनरिदं प्रत्यभिज्ञानम्? यं पूर्वमज्ञासिषमर्थं तमिमं जानामीति ज्ञानयोः समानेऽर्थे प्रतिसन्धिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानमेतच्चावस्थिताया बुद्धेरूपन्नम् । विषय के प्रत्यभिज्ञान से बुद्धि नित्य है। प्रत्यभिज्ञान के विषय में कह चुके हैं, पूर्व और वर्तमान का मिलित ज्ञान 'प्रत्यभिज्ञान' कहलाता है। यह प्रतीति अवस्थित (नित्य) बुद्धि में ही सम्भव है। यदि उत्पत्ति विनाश होते रहने से बुद्धि एक दूसरे से भिन्न होती तो प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकता; क्योंकि एक के जाने हुए पदार्थ के विषय में दूसरे को प्रत्यभिज्ञा का होना सम्भव नहीं।

समाधान- अब उक्त पक्ष का खण्डन करते हैं-

साध्यसमत्वादहेतुः ॥३/२/३॥

यथा खलु नित्यत्वं बुद्धेः साध्यमेवं प्रत्यभिज्ञानमपीति । किं कारणम्? चेतनधर्मस्य करणेऽनुपपत्तिः। साध्य के समान होने से उक्त हेतु ठीक नहीं है। जैसे बुद्धि का अभी नित्यत्व साध्य है, वैसे ही यह साध्य है, कि प्रत्यभिज्ञान बुद्धि को होता है, अथवा अन्य किसी को; क्योंकि चेतन (कर्ता) के धर्म की सिद्धि अचेतन (करण) में नहीं हो सकती। ज्ञान, दर्शन, बोध, उपलब्धि, प्रत्यय आदि सब पर्यायवाची पद हैं और ज्ञान चेतन (पुरुष) का धर्म है। चेतन ही, पहले जाने हुए अर्थ का पुन: अनुभव करता है। इसलिए उसी का नित्यत्व युक्त है। यदि यह कहा जायें कि बुद्धि जनाती है और पुरुष जानता है, तो यह सत्य है, पर ऐसा मानने से 'ज्ञान पुरुष का गुण है, यही सिद्ध होता है, न कि बुद्धि (अन्त:करण) का। यदि दोनों को चेतन मानेंगे, तो एक का अभाव मानना पड़ेगा; क्योंकि एक शरीर रूप अधिकरण में दो कर्ता नहीं हो सकते। इसी प्रकार एक दीप से देखे जाने के बाद दूसरे दीप से वही वस्तु देखने पर प्रत्यभिज्ञान होता है। इससे स्पष्ट है, कि प्रत्यभिज्ञान ज्ञाता आत्मा को होता है, करण को नहीं। अत: प्रत्यभिज्ञान हेतु से ज्ञाता का ही नित्यत्व सिद्ध होता है, बुद्धि का नहीं।

सन्दर्भ– जो यह मानता है, कि बुद्धि स्थिर (नित्य) है वृत्तिरूप ज्ञान (विषयज्ञान) बुद्धि से भिन्न नहीं है अर्थात् वृत्ति (विषयज्ञान) और वृत्तिमान (बुद्धि) अभिन्न है, तो गौतम ऋषि उसका खण्डन करते हैं। **न, युगपदग्रहणात् ॥३/२/४॥**

वृत्तिवृत्तिमतोरनन्यत्वे वृत्तिमतोऽवस्थानाद् वृत्तीनामवस्थानमिति यानीमानि विषयग्रहणानि तान्यवतिष्ठन्त इति युगपद् विषयाणां ग्रहणं प्रसज्यत इति । एक साथ अनेक विषयों का ग्रहण न होने से वृत्ति और वृत्तिमान् एक नहीं हैं। यदि वृत्ति (विषयज्ञान) और वृत्तिमान (बुद्धि) में भेद न माना जाए, एवं बुद्धि को अवस्थित (नित्य) मानें, तो बुद्धि की स्थिति के समान वृत्तियों की स्थिरता भी माननी पड़ेगी और वृत्तियों के स्थिर होने से एक समय में अनेक अर्थों का ग्रहण होना चाहिए, परन्तु एक साथ अनेक ज्ञान कभी नहीं होते। इसलिए वृत्ति और वृत्तिमान् अर्थात् विषय ज्ञान और बुद्धि कभी एक नहीं हो सकते। बुद्धि साधन है और वृत्ति साध्य। साध्य और साधन कभी एक नहीं होते।

सन्दर्भ– अब दर्शनाचार्य वृत्ति और वृत्तिमान के अभेद में अन्य दोष दिखाते हैं-

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसंङ्गः ॥३/२/५॥

अतीते च प्रत्यभिज्ञाने वृत्तिमानप्यतीत इत्यन्तःकरणस्य विनाशः प्रसज्यते विपर्यये च नानात्वमिति। प्रत्यभिज्ञान के न रहने पर बुद्धि का विनाश प्राप्त होता है। प्रत्यभिज्ञानरूप वृत्ति के विस्मृत होने पर बुद्धि (वृत्तिमान) की भी उष्णता के अभाव में अग्नि के अभाव के समान निवृत्ति माननी पड़ेगी; क्योंकि प्रतिवादी के मत में वृत्ति और वृत्तिमान् भिन्न नहीं हैं। अतः ज्ञान और ज्ञानवान् इन दोनों में कभी अभेद नहीं हो सकता। अब ऋषि एक समय में अनेक ज्ञानों के न होने का कारण बताते हैं-

क्रमवृत्तित्वादयुगपद्ग्रहणम् ॥३/२/६॥

इन्द्रियार्थानाम्, वृत्तिवृत्तिमतोर्नानात्वमिति। एकत्वे च प्रादुर्भावतिरोभावयोरभाव इति । पर्याय से मन का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होने के कारण अनेक विषयों का एक साथ ज्ञान नहीं होता। एकदेशी अणु मन का इन्द्रियों के साथ क्रमशः सम्बन्ध होता है, अर्थात् एक समय में एक ही इन्द्रिय से सम्बन्ध हो सकता है। जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होता है, उस समय उसी इन्द्रिय के विषय का ग्रहण होता है, अन्य इन्द्रिय के विषय का नहीं। इस स्थिति से वृत्ति और वृत्तिमान् का भेद सिद्ध होता है। यदि इनका भेद न माना जाए, तो वृत्तिमान् के नित्यत्व से वृत्तियाँ नित्य बनी रहेंगी। तब किसी समय में किसी ज्ञान का प्रादुर्भाव होना तथा किसी का तिरोभाव होना सम्भव नहीं होगा।

सन्दर्भ– सूत्रकार वृत्ति और वृत्तिमान् की भिन्नता में अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं-

अप्रत्यभिज्ञानं च विषयान्तरव्यासङ्गात् ॥३/२/७॥

अप्रत्यभिज्ञानमनुपलब्धिः अनुपलब्धिश्च कस्य चिदर्थस्य विषयान्तरव्यासक्ते मनस्युपपद्यते वृत्तिवृत्तिमतोर्नानात्वादेकत्वे हि अनर्थको व्यासङ्ग इति । अन्य विषय में मन के व्यासङ्ग (आसक्त) होने से प्रत्यभिज्ञान नहीं होता। जब किसी विषय में मन अत्यन्त आसक्त होता है, तब दूसरे विषय की उपलब्धि नहीं होती। यह स्थिति भी वृत्ति और वृत्तिमान् के अलग-अलग होने से ही सम्भव हो सकती है। अन्यथा एक मानने से मन का एक विषय में व्यासक्त होना तथा अन्य विषयों से निरपेक्ष रहना असम्भव होगा; क्योंकि वृत्तिमान् (मन) के नित्यत्वपक्ष में उससे अभिन्न सभी ज्ञानरूप वृत्तियाँ सदा बनी रहेंगी। अतः वृत्ति और वृत्तिमान् का अभेद मानना ठीक नहीं है।

सन्दर्भ– इन्द्रियों के साथ क्रमशः अन्तःकरण (मन) का संयोग तभी सम्भव है, जब मन को अणुपरिमाण माना जाए, मन को विभु मानने पर तो-

न, गत्यभावात् ॥३/२/८॥

प्राप्तानीद्रियाण्यन्तः करणेनेति प्राप्त्यर्थस्य गमनस्याभावः। तत्र क्रमवृत्तित्वाभावादयुगपद् ग्रहणानुपपत्तिरिति । विभु पदार्थ में गति के सम्भव न होने से तो प्राप्तिरूप सम्बन्ध सदा बना रहेगा। तब अनेक विषयों का एक साथ ग्रहण होते रहना प्राप्त होगा। परन्तु हम प्रत्यक्ष से मन का क्रमशः इन्द्रियों के साथ संयोग और विषयान्तर व्यासक्ति देखते हैं। इसलिए मन को विभु मानना ठीक नहीं है।

सन्दर्भ– अब पूर्वपक्ष वृत्ति का एकत्व बताकर वृत्ति और वृत्तिमान् का अभेद सिद्ध करता है- स्फटिक के अन्य होने की प्रतीति के समान वृत्ति के बुद्धि होने पर भी उस वृत्ति के अन्य होने का अभिमान भ्रम हो जाता है। जैसे लाल, पीले, हरे आदि रंग वाले पदार्थ के संयोग से श्वेत स्फटिक मणि लाल, पीला, हरा आदि दिखाई पड़ता है, वैसे ही भिन्न-भिन्न विषयों के सम्बन्ध से वृत्ति भी भ्रान्ति से अनेक प्रकार की प्रतीत होती है। वास्तव में वृत्ति एक है। अतः वृत्ति- वृत्तिमान का अभेद मानने में कोई दोष नहीं दिखता।

स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्तदन्यत्वाभिमानः ॥३/२/९॥

स्फटिक के अन्य होने की प्रतीति के समान वृत्ति के वृत्तिमद्रूप होने पर भी उस (वृत्ति) के अन्य होने का अभिमान (भ्रम) हो जाता है। जैसे लाल, पीले, हरे आदि रंग वाले पदार्थ के मिलने से स्वच्छ श्वेत (स्फटिक) लाल, पीला, हरा आदि दृष्ट होता है, वैसे ही भिन्न भिन्न विषयों के सम्बन्ध से वृत्ति भी भ्रान्ति से अनेक प्रकार की प्रतीति होती है। वास्तव में वृत्ति तो एक ही है। इसलिए वृत्ति-वृत्तिमान का अभेद मानने में कोई दोष नहीं है।

समाधान– न, हेत्वभावात् हेतु का अभाव होने से उक्त कथन उचित नहीं है। अर्थात् स्फटिक का दृष्टान्त ठीक नहीं, क्योंकि उसमें हेतु का अभाव है। वह गन्ध, रस रूप आदि के भिन्नत्व के समान यथार्थ ज्ञान नहीं है। अतः गन्ध, रस आदि के यथार्थ भेद के समानज्ञानात्मक वृत्तियों का यथार्थ भेद मानना चाहिए; क्योंकि गन्धादि विषयों का ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से क्रमशः उत्पन्न और विनष्ट होता प्रत्यक्षतः देखा जाता है। परन्तु वृत्तिमान् अन्तःकरण, मन उत्पाद-विनाशशील नहीं माना गया, वह चिरस्थायी स्वीकार किया जाता है। अतः स्थिर अन्तःकरण वृत्तिमान् एक और उत्पाद विनाशशील वृत्तियाँ अनेक हैं, उनका एकत्व बताना असंगत है।

॥ इति बुद्धि अनित्यत्वप्रकरणम्॥

स्मरणीय बिंदु (Key Points)

उत्पत्ति और विनाश: जो भी वस्तु उत्पन्न होती है, उसका विनाश निश्चित है। चूँकि ज्ञान इंद्रिय और विषय के सन्निकर्ष (संपर्क) से 'पैदा' होता है, इसलिए वह अनित्य है।

क्रमिक ज्ञान: हमें एक साथ सारा ज्ञान नहीं होता। ज्ञान एक के बाद एक (क्रमिक) आता है। यदि बुद्धि नित्य होती, तो सारा ज्ञान हमेशा बना रहता।

अभिव्यक्ति नहीं, उत्पत्ति: न्याय दर्शन मानता है कि ज्ञान पहले से कहीं छिपा नहीं रहता, बल्कि वह 'नया' उत्पन्न होता है और विषय के हटते ही नष्ट हो जाता है।

संस्कार और स्मृति: ज्ञान के नष्ट होने पर उसके 'संस्कार' आत्मा में शेष रहते हैं, जिससे बाद में 'स्मृति' (याद) आती है। स्मृति का होना ही यह सिद्ध करता है कि मूल ज्ञान अनित्य था और अब वह केवल संस्कार रूप में है।

आशुविनाशी: ज्ञान को (आशुविनाशी) कहा गया है, अर्थात वह उत्पन्न होते ही नष्ट होने की प्रवृत्ति रखता है।

शब्दावली (Terminology)–

अनित्यता: जिसका अस्तित्व सदा न रहे; जो समय के साथ समाप्त हो जाए।

क्षणिक: जो केवल एक क्षण या बहुत कम समय के लिए रहे।

आशुविनाशी: शीघ्र नष्ट होने वाला गुण।

सन्निकर्ष: इंद्रियों और बाहरी वस्तुओं का आपसी संपर्क जिससे ज्ञान पैदा होता है।

संस्कार: ज्ञान के नष्ट होने के बाद आत्मा पर छूटने वाला सूक्ष्म प्रभाव (Impression)।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)–

प्रश्न 1. ''बुद्धि (ज्ञान) अनित्य है।'' न्याय दर्शन के इस सिद्धांत की पुष्टि हेतु दिए गए प्रमुख तर्कों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

प्रश्न 2. बुद्धि की अनित्यता सिद्ध करने के लिए न्याय दर्शन द्वारा सांख्य दर्शन के 'नित्य बुद्धि' सिद्धांत का खंडन किस प्रकार किया गया है?

प्रश्न 3. ज्ञान के 'उत्पत्ति' और 'विनाश' की प्रक्रिया को समझाते हुए स्पष्ट कीजिए कि स्मृति (Memory) किस प्रकार बुद्धि की अनित्यता का प्रमाण है।

प्रश्न 4. 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति' (एक साथ दो ज्ञान न होना) का सिद्धांत बुद्धि की अनित्यता और मन की सूक्ष्मता को कैसे प्रमाणित करता है?

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)–

प्रश्न 1. 'बुद्धि' और 'आत्मा' के बीच मुख्य अंतर क्या है?

प्रश्न 2. 'आशुविनाशी' गुण से क्या अभिप्राय है? यह ज्ञान पर कैसे लागू होता है?

प्रश्न 3. यदि बुद्धि नित्य होती, तो मनुष्य के सीखने और भूलने की प्रक्रिया पर क्या प्रभाव पड़ता?

प्रश्न 4. क्या ज्ञान के नष्ट होने का अर्थ उसका पूरी तरह मिट जाना है? 'संस्कार' के संदर्भ में उत्तर दें।

प्रश्न 5. इंद्रिय-विषय सन्निकर्ष बुद्धि की अनित्यता को कैसे सिद्ध करता है?

बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQs - With Answers)–

Q1. न्याय दर्शन के अनुसार 'बुद्धि' (ज्ञान) का स्वरूप कैसा है?

(A) नित्य

(B) अनित्य

(C) सर्वव्यापी

(D) जड़

Q2. ज्ञान के नष्ट होने के बाद आत्मा में क्या शेष रह जाता है?

(A) मोह

(B) संस्कार

(C) अहंकार

(D) अज्ञान

Q3. बुद्धि को 'अनित्य' क्यों माना गया है?

(A) क्योंकि यह इंद्रिय-विषय संपर्क से उत्पन्न होती है

(B) क्योंकि यह आत्मा का गुण है

(C) क्योंकि यह दिखाई नहीं देती

(D) क्योंकि यह ईश्वर की देन है

Q4. ''आशुविनाशी'' शब्द का अर्थ क्या है?

(A) जिसका कभी विनाश न हो

(B) जो बहुत धीरे नष्ट हो

(C) जो शीघ्र (जल्दी) नष्ट हो जाए

(D) जो अमर हो

Q5. सांख्य दर्शन के अनुसार बुद्धि (महत्) को क्या माना जाता है?

(A) अनित्य

(B) नित्य

(C) शून्य

(D) भौतिक तत्व

Q6. क्रमिक ज्ञान (एक के बाद एक ज्ञान होना) किसका प्रमाण है?

(A) बुद्धि की अनित्यता का

(B) आत्मा के शरीर होने का

(C) मोक्ष का

(D) इन्द्रियों के सर्वव्यापी होने का

इकाई- ३.३ - क्षणिकवाद निराकरण

उद्देश्य (Objectives)-

स्थायित्व की सिद्धि: यह सिद्ध करना कि वस्तुएँ और आत्मा एक क्षण से अधिक समय तक अस्तित्व में रहते हैं।
स्मृति और प्रत्यभिज्ञा की व्याख्या: यह समझना कि यदि सब कुछ क्षणिक होता, तो हमें पुरानी बातें याद कैसे रहतीं।
क्षणिकवाद का तार्किक खंडन: बौद्धों के इस तर्क को काटना कि ''जो सत् है, वह क्षणिक है।''
कर्मफल व्यवस्था: यह स्पष्ट करना कि स्थायी आत्मा के बिना कर्म और उसके फल का भोग संभव नहीं है।

अथ क्षणभंगप्रकरणम्

सन्दर्भ– क्षणिकवादी स्फटिक के दृष्टान्त में दोष दिखता है-

स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद् व्यक्तीनामहेतुः ॥३/२/१०॥

स्फटिकस्याभेदेनावस्थितस्योपधान भेदान्नानात्वाभिमान इत्ययमविद्यमानहेतुकः पक्षः। कस्मात्? स्फटिकेऽप्यपरापरात्पत्तेः। व्यक्तपदार्थमात्र के क्षणिक होने के कारण स्फटिक में भी अन्य अन्य व्यक्ति की उत्पत्ति से उक्त हेतु ठीक नहीं। यह जो कहा था कि भिन्न-भिन्न रंग की वस्तुओं का प्रतिबिम्ब पड़ने से स्फटिक में अनेकत्व की भ्रान्ति होती है, वास्तव में स्फटिक अपने स्वरूप में अवस्थित है। इस पर क्षणिकवादी कहता है, कि यह हेतु ठीक नहीं; क्योंकि व्यक्त पदार्थ के क्षणिक होने से स्फटिक में भी एक व्यक्तरूप नष्ट होता और अन्य व्यक्तरूप उत्पन्न होता रहता है। सब वस्तुएँ क्षणिक हैं, इसका प्रमाण वस्तुओं के घटने बढ़ने, आहार आदि से शरीरों की वृद्धि- हास आदि से सिद्ध है। वृद्धि उत्पत्ति का कारण है, और हास नाश का। सूक्ष्म और क्रमशः होने के कारण यह परिवर्तन तत्काल प्रतीत नहीं होता, परन्तु यह परिवर्तन प्रतिक्षण होता है। ऐसी स्थिति में स्फटिक को स्थायी मानकर उसमें नील, पीत आदि प्रतीति को भ्रान्ति बताने वाला हेतु असंगत है।

समाधान– अब महर्षि गौतम ऋषि पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं-

नियमहेत्वभावाद् यथादर्शनमभ्यनुज्ञा ॥३/२/११॥

सर्वासु व्यक्तिषु उपचयापचयप्रबन्धः शरीरवदिति नायं नियमः कस्मात्? हेत्वभावात्। पदार्थमात्र के क्षणिक होने के नियम में कोई विशेष हेतु न होने से पदार्थ के स्वरूप को स्वीकार करना चाहिए। 'प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है'- ऐसी व्यवस्था का प्रतिपादक कोई प्रत्यक्ष या अनुमान आदि प्रमाण नहीं है। इसलिए जो पदार्थ स्थायी अथवा अस्थायी जैसा देखा जाए, उसको उसी रूप में स्वीकार करना चाहिए। शरीर आदि में घटना-बढ़ना नियम से देखा जाता है, इसलिए उनको क्षणिक या अस्थायी मान सकते हैं, परन्तु कठोर पाषाण या स्फटिक आदि में नियमपूर्वक ऐसा नहीं देखा जाता, इसलिए उनको भी क्षणिक मानना उचित नहीं। आप का कथन ऐसा ही है, जैसे नीम के कडुवे स्वाद को चखकर सब वृक्षों को कडुवे कहना, अथवा मीठे आम का स्वाद लेकर सब फलों को मीठा बताना।

सन्दर्भ– जो वादी यह समझता है, कि वस्तु का पूर्णतया नाश होकर क्षणान्तर में नविन वस्तु उत्पन्न होती है, वहाँ अन्वयी धर्म कोई नहीं रह जाता। इस मान्यता के विषय में सूत्रकार कहते हैं- **नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥३/२/१२॥**

उत्पत्तिकारणं तावदुपलभ्यते अवयवोपचयो वल्मीकादीनाम्, विनाशकारणञ्चोपलभ्यते घटादीनामवयवविभागः। विभिन्न पदा. र्थों के उत्पत्ति और विनाश के कारणों की उपलब्धि से उक्त कथन ठीक नहीं।

जैसे- घटादि में अवयवों कि उत्पत्ति और विभागरूप विनाश-कारण देखे जाते हैं, ऐसे स्फटिक आदि में उत्पत्ति और विनाश के 'कारण' दिखाई नहीं देते। अतः स्फटिक को क्षणिक मानना ठीक नहीं। उसका यह निरन्तर उत्पाद- विनाशरूप मत किसी हेतु से पुष्ट न होने के कारण अमान्य है।

संदर्भ- क्षणिकवादी पुनः स्फटिक आदि में अन्य-अन्य उत्पत्ति दिखाता है-

क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद् दध्युत्पत्तिवच्च तदुत्पत्तिः ॥३/२/१३॥

दूध के विनाश में कारण की अनुपलब्धि के समान और दही की उत्पत्ति के समान उस (स्फटिक) में अन्य अन्य की उत्पत्ति सिद्ध हो जाएगी। जैसे दूध के दही बनने में और दूध के नाश एवं दही की उत्पत्ति का कोई कारण उपलब्ध नहीं होता है तथा होने पर भी उनका उत्पत्ति विनाश सर्वसम्मत है, वैसे ही नील, पीत आदि भेद से पूर्व स्फटिक का नाश तथा उत्तर स्फटिक की उत्पत्ति, कारण की अनुपलब्धि में भी माननी चाहिए। तब तो दोनों के उत्पत्ति विनाशशील होने से वृत्ति और वृत्तिमान् में भेद माना जाना चाहिए।

संदर्भ– क्षणिकवादी पुनः स्फटिक के समान अन्य उत्पत्ति दिखाता है। जैसे दूध के दही बनने में दूध के नाश और दही की उत्पत्ति का कोई कारण उपलब्ध न होने पर भी उनका उत्पत्ति विनाश सर्वसम्मत है, वैसे ही नील, पीत आदि भेद से पूर्व स्फटिक का नाश तथा उत्तर स्फटिक की उत्पत्ति, कारण की अनुपलब्धि में भी माननी चाहिए। ऐसी स्थिति में दोनों के उत्पत्ति विनाशशील होने से

वृत्ति और वृत्तिमान् का अभेद मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए।

समाधान– अब सूत्रकार उक्त मान्यता का निराकरण करते हैं-

लिङ्गतो ग्रहणन्नानुपलब्धिः ॥३/२/१४॥

क्षीरविनाशलिङ्गं क्षीरविनाशकारणं दध्युत्पत्तिलिङ्गं दध्युत्पत्तिकारणं च गृह्यतेऽतो नानुपलब्धिः, विपर्ययस्तु स्फटिकादिषु द्रव्येषु अपरापरोत्पत्तीनां न लिङ्गमस्तीत्यनुत्पत्तिरेवेति । दूध का नाश और दही की उत्पत्ति ये दोनों कार्य प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं। इसलिए इनके कारण का अनुमान किया जा सकता है; क्योंकि कारण के बिना किसी कार्य का होना सम्भव नहीं। परन्तु स्फटिक में पहले स्वरूप का नाश और दूसरे स्वरूप की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं पाया जाता, जिससे उनके कारण का अनुमान किया जाए। बिना प्रत्यक्ष के जो अनुमान किया जाता है, वह उचित नहीं होता। इसलिए दूध और दही का दृष्टान्त उचित नहीं। स्फटिक आदि पदार्थों का निरन्तर विद्यमान रहने वाला मानना ही युक्तिसंगत है।

सन्दर्भ– अब सूत्रकार एक अन्य वादी का विचार प्रस्तुत करते हैं-

न पयसः परिणामगुणान्तरप्रादुर्भावात् ॥३/२/१५॥

दूध के परिणाम द्वारा गुणान्तर का प्रादुर्भाव होने से उसका उत्पत्ति विनाश नहीं होता।

वर्तमान द्रव्य के पूर्वगुण की निवृत्ति और अन्य गुण के प्राकट्य को 'परिणाम' कहते हैं। दूध में माधुर्य, तरलता आदि की निवृत्ति और अम्लता, गाढापन आदि का प्रादुर्भाव मात्र होता है, दूधरूप धर्मी ज्यों का त्यों बना रहता है। उक्त गुणों के तिरोभाव तथा आ. विर्भाव द्वारा एक ही वस्तु में दूध, दही आदि का व्यवहार पाए जाने से दूध के विनाश एवं दही की उत्पत्ति रूप कार्य से उसके कारण का अनुमान करना युक्ति-युक्त नहीं।

समाधान– अब उक्त उत्पाद-विनाश के अभाव का सूत्रकार खण्डन करते हैं-

व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम् ॥३/२/१६॥

सम्मूर्च्छनलक्षणादवयवव्यूहाद् द्रव्यान्तरे दध्न्युत्पन्ने गृह्यमाणे पूर्वं पयोद्रव्यमवयवविभागेभ्यो निवृत्तमित्युनमीयते, यथा मृदवयवानां व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरे स्थाल्यामुत्पन्नायां पूर्वं मृत्पिण्डद्रव्यं मृदवयवविभागेभ्यो निवर्त्तत इति । दूध की रचना अन्य प्रकार की है। जब उससे भिन्न प्रकार की रचना वाला दही बन जाता है, तब दूध के अवयवों का परिणाम होने से दूध निवृत्त हो गया या नष्ट हो गया, ऐसा अनुमान होता है। जैसे मृत्पिण्ड (पानी से गुंथे हुए मिट्टी के लोंदे) के अवयवों से घड़ा बनाने पर मिट्टी के पिण्ड का नाश और घट की उत्पत्ति मानी जाती है, ऐसे ही दूध से दही बनाने पर दूध का नाश और दही की उत्पत्ति माननी चाहिए। अतः परिणाम उत्पत्ति और विनाश का बाधक नहीं हो सकता।

विशेष– परिणामवाद और आरम्भवाद (सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद) में शाब्दिक ऊपरी बहस बहुत रहती है, परन्तु गम्भीरता से विचार करने पर इनमें मौलिक भेद नहीं के बराबर मिलता है।

सन्दर्भ– जो पूर्वपक्ष दूध का विनाश और दही की उत्पत्ति अकारण मानता है, सूत्रकार उसकी मान्यता में अनैकान्तिक दोष दिखाते हैं।

क्वचिद् विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः ॥३/२/१७॥

क्षीरदधिवन्निष्कारणौ विनाशोत्पादौ स्फटिकव्यक्तीनामिति नायमेकान्त इति। कस्मात्? हेत्वभावाद् नात्र हेतुरस्ति अकारणौ विनाशोत्पदौ स्फटिकादिव्यक्तीनां क्षीरदधिवत्, न पुनर्यथाविनाश-कारणभावात् कुम्भस्य विनाशउत्पत्तिकारणभावाच्चोत्पत्तिरेवं स्फटिकादिव्यक्तीनां विनाशोत्पत्ति-करणभावाद्विनाशोत्पत्तिभाव इति। घट-पट आदि पदार्थों में विनाश के कारण दण्ड आदि प्रत्यक्ष ने उपलब्ध होते हैं, और दूध आदि में प्रत्यक्ष से उपलब्ध नहीं होते, किन्तु अनुमान से जाने जाते हैं; क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं होता। परन्तु स्फटिक में नील, पीत आदि भेद से अन्यान्य व्यक्तियों के उत्पाद विनाश का कारण न तो घटादि के उत्पाद-विनाश के समान प्रत्यक्ष होता है, और न दूध दही के विनाश-उत्पत्ति के कारण के समान अनुमान से ही जाने जाते है, इसलिए स्फटिक आदि के उत्पत्ति विनाश में दूध दही का दृष्टान्त अनेकान्त दोष से दूषित है तथा दृष्टान्त का आश्रय भी असिद्ध है। अतः उक्त दृष्टान्त क्षणिकवादी के पक्ष का साधक नहीं है।

इस पूरे विवेचन का सार है, कि वृत्ति और वृत्तिमान् में भेद है, तथा बुद्धि (ज्ञान) जो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आदि के द्वारा उत्पन्न होता है वह अनित्य है। उसी ज्ञान का दूसरा नाम सूत्रकार ने 'बुद्धि' बताया है (१/१/१५)। अतः बुद्धि को अनित्य मानना सर्वथा प्रामाणिक है।

॥ इति क्षणभंगप्रकरणम् ॥

स्मरणीय बिंदु (Key Points)-

प्रत्यभिज्ञा (Recognition): हम कहते हैं- ''यह वही घड़ा है जिसे मैंने कल देखा था।'' यदि घड़ा हर क्षण बदल रहा होता, तो 'वही' (Same) होने का बोध नहीं हो सकता था।

आत्मा की स्थिरता: यदि ज्ञाता (जानने वाला) हर क्षण बदल जाए, तो एक क्षण में किए गए अनुभव का स्मरण दूसरे क्षण में नहीं हो सकता। स्मृति के लिए अनुभवकर्ता और स्मरण कर्ता का एक होना अनिवार्य है।

कृत-विनाश और अकृत-अभ्यागम: यदि कर्ता क्षणिक है, तो उसने जो कर्म किया उसका फल उसे नहीं मिलेगा (क्योंकि वह नष्ट हो गया), और नए उत्पन्न हुए कर्ता को बिना कर्म किए फल मिलेगा। यह न्याय विरुद्ध है।

कारण-कार्य संबंध: यदि कारण केवल एक क्षण रहता है, तो वह कार्य को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त समय नहीं पाएगा। कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण का कुछ समय तक स्थिर रहना आवश्यक है।

विनाश का कारण: न्याय दर्शन मानता है कि वस्तु का विनाश किसी बाहरी कारण (जैसे चोट लगना) से होता है, वह अपने आप (स्वभावत:) हर क्षण नष्ट नहीं होती।

शब्दावली (Terminology)-

क्षणिकवाद: वह सिद्धांत जिसके अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु केवल एक क्षण के लिए रहती है और अगले क्षण नष्ट हो जाती है।

निराकरण: किसी सिद्धांत का तार्किक तर्कों द्वारा खंडन करना।

प्रत्यभिज्ञा: 'सोऽयम्' (यह वही है) का ज्ञान। पुराने अनुभव और वर्तमान प्रत्यक्ष का मेल।

सन्तान: बौद्ध दर्शन में क्षणों के निरंतर प्रवाह को 'सन्तान' कहा गया है (जैसे नदी का बहाव)।

स्थैर्य: वस्तु का कुछ समय तक स्थिर या स्थायी बने रहने का गुण।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)-

प्रश्न 1. ''क्षणिकवाद'' से क्या तात्पर्य है? न्याय दर्शन में ''प्रत्यभिज्ञा'' (Recognition) के आधार पर इसका खंडन किस प्रकार किया गया है?

प्रश्न 2. यदि आत्मा और पदार्थ को क्षणिक मान लिया जाए, तो 'स्मृति' और 'नैतिक उत्तरदायित्व' (कर्मफल) की समस्या कैसे उत्पन्न होगी? विस्तार से समझाएं।

प्रश्न 3. बौद्ध दर्शन के 'सन्तान' और 'सादृश्य' के तर्कों का न्याय दर्शन ने किस प्रकार उत्तर दिया है? समीक्षा कीजिए।

प्रश्न 4. कारण-कार्य संबंध और विनाश के कारणों के आधार पर क्षणिकवाद के निराकरण की तार्किक विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)-

प्रश्न 1. 'प्रत्यभिज्ञा' (Recognition) किसे कहते हैं? यह क्षणिकवाद के विरुद्ध सबसे बड़ा प्रमाण कैसे है?

प्रश्न 2. बौद्धों के अनुसार 'दीपशिखा' (दीपक की लौ) का उदाहरण क्षणिकवाद को कैसे समझाता है और न्याय दर्शन इस पर क्या आपत्ति करता है?

प्रश्न 3. 'कृत-प्रणाश' और 'अकृत-अभ्यागम' दोष क्षणिकवाद पर कैसे लागू होते हैं?

प्रश्न 4. क्या वस्तु का विनाश स्वत: होता है? न्याय दर्शन के अनुसार स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 5. 'सन्तान' (Continuity) और (सन्तानी) (The Unit) के बीच के अंतर को स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQs - With Answers)-

Q1. 'क्षणिकवाद' मुख्य रूप से किस दर्शन का सिद्धांत है?

(A) न्याय दर्शन

(B) जैन दर्शन

(C) बौद्ध दर्शन

(D) सांख्य दर्शन

Q2. 'प्रत्यभिज्ञा' का अर्थ क्या है?

(A) नई वस्तु को देखना

(B) यह पहचानना कि 'यह वही वस्तु है'

(C) भविष्य का अनुमान लगाना

(D) पूरी तरह भूल जाना

Q3. क्षणिकवाद के अनुसार किसी वस्तु की आयु कितनी होती है?

(A) एक दिन

(B) एक वर्ष

(C) केवल एक क्षण

(D) अनंत काल

Q4. न्याय दर्शन के अनुसार स्मृति (Memory) के लिए किसका स्थिर होना अनिवार्य है? (A) शरीर का

(B) ज्ञाता (आत्मा) का

(C) इन्द्रियों का

(D) बाहरी विषयों का

Q5. बौद्धों ने क्षणों के निरंतर प्रवाह को क्या नाम दिया है?

(A) सन्तान

(B) निर्वाण

(C) अविद्या

(D) मोक्ष

Q6. ''यह वही दीपक की लौ है''- न्याय दर्शन के अनुसार यह ज्ञान किस पर आधारित है?

(A) भ्रम पर

(B) लौ के वास्तव में स्थायी होने पर

(C) इन्द्रियों की कमजोरी पर

(D) केवल कल्पना पर

इकाई- ३.४ - बुद्धि (ज्ञान) इन्द्रिय का गुण नहीं अपितु आत्मा का गुण है

उद्देश्य (Objectives)-

ज्ञाता और साधन का भेद: यह समझना कि इन्द्रियाँ केवल खिड़कियों (साधन) की तरह हैं, जबकि देखने वाली सत्ता (ज्ञाता) आत्मा है।

इन्द्रिय-चौतन्य का खंडन: उन मतों को निरस्त करना जो इन्द्रियों को ही चेतन मानते हैं।

प्रतिसंधान (Synthesis): यह जानना कि अलग-अलग इन्द्रियों के अनुभवों को एक सूत्र में पिरोने वाली शक्ति केवल आत्मा ही हो सकती है।

नित्यता बनाम अनित्यता: इन्द्रियों के नष्ट होने पर भी ज्ञान (स्मृति) का बने रहना सिद्ध करना।

अथ बुद्धिरात्मगुणत्वप्रकरणम्

गत प्रकारण में बुद्धि (ज्ञान) की अनित्यता और अनेकता का निश्चय हो जाने के उपरान्त अब यह विचारणीय है, कि आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ- इनमें से बुद्धि (ज्ञान) किसका गुण है?

सन्दर्भ- ज्ञान की उत्पत्ति का प्रमुख कारण इन्द्रिय और अर्थ होने से ज्ञान (बुद्धि) को इन्द्रिय और अर्थ का ही गुण मानना चाहिए-

समाधान- नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात् ॥३/२/१८॥

नेन्द्रियाणामर्थानां वा गुणो ज्ञानं तेषां विनाशे ज्ञानस्य भावात्। भवति खल्विदमिन्द्रियेऽर्थे च विनष्टे ज्ञानमद्राक्षमिति। ज्ञान (बुद्धि) की उत्पत्ति में निमित्त उक्त चारों पदार्थों में से इन्द्रिय और अर्थों का गुण ज्ञान नहीं होता। यदि ऐसा होता, तो अर्थ का विनाश हो जाने पर उस (ज्ञान) की विद्यमानता नहीं हो सकती थी; क्योंकि गुण अपने आश्रय द्रव्य के बिना नहीं रह सकता। परन्तु हम प्रत्यक्ष देखते हैं, कि जब चक्षु आदि इन्द्रिय और उसका ज्ञात विषय दोनों नहीं रहते, तब भी 'मैंने देखा था', इत्यादि ज्ञान शेष रहता है। इसमें सिद्ध है, कि ज्ञान इन्द्रिय अथवा अर्थ का गुण नहीं। यह स्मृतिरूप ज्ञान उसी को हो सकता है, जिसने पहले अनुभव किया हो; क्योंकि अन्य के अनुभूत विषय का अन्य स्मरण नहीं कर सकता और वह ज्ञाता इन्द्रिय और अर्थ से भिन्न है।

संशय- तो फिर ज्ञान को मन का गुण क्यों न मान लिया जाए-

समाधान- शास्त्र के आरम्भ में निद्रिष्ट सूत्र **युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ॥१/१/१६॥** के अनुसार एक साथ अनेक ज्ञानों का न होना मन का अनुमान कराता है। इससे ज्ञात होता है,

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ॥३/२/१९॥

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धिरन्तःकरणस्य लिङ्गं तत्र युगपज्ज्ञेयानुपलब्ध्या यदनुमीयते अन्तःकरणं न तस्य गुणो ज्ञानम। कस्य तर्हि? ज्ञस्य वशित्वात् । कि बुद्धि (ज्ञान) मन का भी गुण नहीं है। यदि ज्ञान मन का गुण होता, तो एक समय में अनेक ज्ञान प्राप्त होते; क्योंकि ज्ञाता (चेतन आत्मा) की स्थिति शरीर में एक स्थान पर रहते हुए भी ऐसी है, कि चेतनता के कारण उसका सम्पर्क सभी इन्द्रियों से एक साथ हो सकता है और इन्द्रियाँ अपने ग्राह्य विषयों के साथ सन्निकृष्ट होकर विषय के ग्रहण कराने में साधन होती हैं। ऐसी स्थिति में आत्मा का समस्त इन्द्रियों के साथ सम्पर्क निरन्तर बने रहने से प्रतिक्षण अनेक ज्ञानों का होना प्राप्त होता है। इस स्थिति को नियन्त्रित करने के लिए आत्मा और इन्द्रियों के मध्य एक अन्तः करण (मन) एक ऐसा साधन है, जो एक समय में ज्ञाता को एक ही इन्द्रिय के ग्राह्य विषय का ज्ञान उपलब्ध कराता है। यदि उसी मन का गुण ज्ञान मान लिया जाए, तो वह एक समय में एक ही ज्ञान होने देने का साधन न रहकर ज्ञाता बन जाएगा। तब युगपत् अनेक ज्ञानों की अनुपलब्धि साधन न रहने से एक काल में अनेक विषयों की उपलब्धि होने लगेगी। परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे सिद्ध होता है, कि ज्ञान मन का गुण नहीं, अपितु परिशेष न्याय से ज्ञाता आत्मा का गुण है। आत्मा यद्यपि स्वतन्त्र है, किन्तु विषयों की उपलब्धि में वह इन्द्रियों और अन्तःकरण की अपेक्षा रखता है।

तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् ॥३/२/२०॥

ज्ञान के आत्मा का गुण होने पर भी वह युगपत् ज्ञेय की उपलब्धि रूप दोष समान है। आत्मा की चेतनता समस्त देह में व्याप्त होने के कारण उसका सम्बन्ध प्रत्येक इन्द्रिय के साथ होता है। तब एक साथ प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा ग्राह्यविषय का ज्ञान आत्मा को सर्वदा होते रहना चाहिए।

समाधान- अब महर्षि गौतम ऋषि उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं-

इन्द्रियैर्मनयः सन्निकर्षाभावात् तदनुत्पत्तिः ॥३/२/२१॥

गन्धाद्युपलब्धेरिन्द्रियार्थसन्निकर्षवदिन्द्रियमनःसन्निकर्षोऽपि कारणं तस्य

चायौगपद्यमणुत्वान्मनसः। अयौगपद्यादनुत्पत्तियुगपज्ज्ञानानामात्मगुणत्वेऽपीति । इन्द्रियों के साथ मन का युगपत् सन्निकर्ष न होने से उस ज्ञान की एक साथ उत्पत्ति नहीं होती। गन्ध आदि ज्ञान की उपलब्धि में जैसे इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष कारण है, उसी प्रकार इन्द्रिय और मन का सन्निकर्ष कारण है। मन अणु होने के कारण एक समय में अनेक इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध नहीं हो सकता। जिस समय जिस इन्द्रिय के सात मन का सन्निकर्ष होगा, उस समय उसी इन्द्रिय के ग्राह्य विषय का ज्ञान आत्मा को होगा। इस प्रकार ज्ञान को आत्मा का गुण मानने पर भी इन्द्रिय मनःसन्निकर्ष के अयौगपद्य से ज्ञान की युगपत् उत्पत्ति नहीं होगी।

सन्दर्भ– अब पूर्वपक्ष बुद्धि को आत्मा का गुण मानने में दोष दिखाता है-

नोत्पत्तिकारणानपदेशात् ॥३/२/२२॥

बुद्धि की उत्पत्ति में आत्मा का कारण होना निश्चित नहीं है। अर्थात् आत्मा ही ज्ञान का कारण है, अन्य नहीं ऐसा नियम नहीं है। अतः बुद्धि को केवल आन्मा का गुण कहना ठीक नहीं। बुद्धि (ज्ञान) को आत्मा का गुण मानने में पूर्वपक्ष एक अन्य दोष दिखाता है। यदि ज्ञान को आत्मा का गुण कहा जाए, तो आत्मा के समान ज्ञान भी अनित्य नहीं होना चाहिए।

संदर्भ- बुद्धि (ज्ञान) को आत्मा का गुण मानने में पूर्वपक्ष अन्य दोष दिखता है

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः ॥३/२/२३॥

बुद्धि के विनाश का कारण प्राप्त न होने से तथा उसको स्थिर मानने पर उस ज्ञान की नित्य होना प्राप्ति होती है। यदि ज्ञान को आत्मा का गुण माना जाए, तो आत्मा के समान ज्ञान भी नित्य होना चाहिए; क्योंकि गुण का नाश दो प्रकार से हो सकता है -

१. या तो उसके आश्रय द्रव्य का नाश हो जाए,

२. या फिर उस गुण का विरोधी गुण उपस्थित हो जाए । आत्मा के नित्य होने से पहला विकल्प तो बनेगा नहीं, तथा बुद्धि का कोई विरोधी गुण जाना नहीं जाता। इसलिए बुद्धि को आत्मा का गुण मानने पर उसमें नित्यत्व का प्रसंग प्राप्त होगा। इसलिए उसे आत्मा का गुण मानना युक्ति-युक्त नहीं है ।

समाधान– अब गौतम ऋषि पूर्वपक्ष की आपत्ति का उत्तर पूर्वक समाधान करते हैं-

अनित्यत्वग्रहाद् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद् विनाशः शब्दवत् ॥३/२/२४॥

अनित्या बुद्धिरिति सर्वशरीरिणां प्रत्यात्मवेदनीयमेतत् । गृह्यते च बुद्धिसन्तानस्तत्र बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरं विरोधी गुण इत्यनुमीयते यथा शब्दसन्ताने शब्दः शब्दान्तरविरोधीति । उत्पन्न हुआ शब्द 'वीचीतरंग न्याय' से अगले शब्द को उत्पन्न करता है और पहले का नाश करता है, जिससे उसकी अनित्यता प्रमाणित होती है, ठीक इसी प्रकार ज्ञान के उत्पन्न होने और नष्ट होने की स्थिति को प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है। जब एक ज्ञान के अनन्तर दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है, तो वह उत्तरज्ञान पूर्वज्ञान को नष्ट कर देता है। इस प्रकार ज्ञान की अनित्यता को प्रत्येक व्यक्ति समझता है। जिस प्रकार नित्य आकाश का गुण शब्द, अनित्य होता है, उसी प्रकार ज्ञान का आश्रय आत्मा नित्य होने पर भी उसको इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आदि से होने वाला विषयज्ञान अनित्य हो सकता है। यह वृत्तिरूप ज्ञान आत्मा का स्वरूप नहीं है, जिससे इस ज्ञान के नित्य होने अथवा आत्मा के अनित्य होने पर आपत्ति उठाई जा सके।

संशय– बुद्धि को आत्मा का गुण मानने से एक काल में अनेक ज्ञान होने चाहिए; क्योंकि ज्ञान के साधन अनेक संस्कार आत्मा में विद्यमान हैं, और आत्मा का मन के साथ संयोग भी निरन्तर बना ही रहता है।

ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः ॥३/२/२५॥

मन का ज्ञान से समवेत आत्मप्रदेश के साथ सन्निकर्ष से स्मृति का उत्पन्न होना यह सिद्ध करता है कि एक साथ अनेक स्मृतियों की उत्पत्ति नहीं होती । अनन्त विभिन्न संस्कार, विभु आत्मा के विभिन्न प्रदेशों में समवेत रहते हैं। अणु मन का एक समय में आत्मा के किसी एक प्रदेश के साथ ही सन्निकर्ष हो सकता है। इस प्रकार आत्मा के विभिन्न प्रदेशों के साथ मन का सन्निकर्ष पर्याय (क्रम) से होगा । मन से सम्बद्ध आत्मा के प्रदेश में जो संस्कार समवेत होगा, उस क्षण में उसी की स्मृति हो सकती है। इसलिए मनः सन्निकर्ष के अयुगपत् होने के कारण स्मृतियाँ भी अयुगपत् से ही होंगी, युगपत् नहीं ।

समाधान– अब दर्शनाचार्य स्मृतियों के युगपत् न होने में उक्त दृष्टान्तो द्वारा समाधान देते है- **नान्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः ॥३/२/२६॥**

सदेहस्यात्मनो मनसा संयोगो विपच्यमानकर्माशयसहितो जीवनमिष्यते तत्रास्य प्राक् प्रायणादन्तःशरीरे वर्तमानस्य मनसः शरीराद्बहिर्ज्ञानसंस्कृतैरात्मप्रदेशैः संयोगो नोपपद्यत इति । देह सहित आत्मा का से प्रारब्ध कर्मो के साथ मन का संयोग 'जीवन' कहा जाता है। वर्तमान जीवन में मन का शरीर से बाहर होना असंभव है ऐसी स्थति में एक जीवन के वर्तमान रहते देह के बाहर विभु आत्मा के विभिन्न प्रदेशों के साथ मन का संयोग नहीं हो सकता। एवं आत्मा का विभुत्व अप्रमाणित है।

साध्यत्वादहेतुः ॥३/२/२७॥

गत सूत्र में प्रयुक्त 'अन्तःशरीरवृत्तित्व' हेतु साध्य होने से हेतु नहीं है साध्य का साधक नहीं है। मात्र फलोन्मुख पूर्वकृत् कर्मोशय का संदेह आत्मा में समवेत रहना ही जीवन कहलाता है, न कि उसके सहित मन का संयोग । ऐसी स्थिति में मन आत्मा से संयुक्त

देह में रहे, या देह के बाहर, इसमें कोई बाधा नहीं। अतः मन का शरीर के भीतर ही रहना सिद्ध (निश्चित) न होने से पूर्वोक्त हेतु ठीक नहीं। अतः २५ वें सूत्र में स्मृतियों के युगपत् न होने का जो कारण बताया है, वह तर्कसंगत है ।

स्मरतःशरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥३/२/२८॥

सुस्मूर्षया खल्वयं मनः प्रणिदधानः चिरादपि किं चिदर्थं स्मरति, स्मरतश्च शरीरधारणं दृश्यते आत्मनःसन्निकर्षजश्च प्रयत्नो द्विविधो धारकः प्रेरकश्च निःसृते च शरीराद्बहिर्मनसि धारकस्य प्रयत्नस्याभावाद् गुरुत्वात्पतनं स्यात् शरीरस्य स्मरत इति। व्यक्ति कभी पूर्वानुभूत विषय का मन को एकाग्र करके चिरकाल तक स्मरण करता रहता है। इस काल में स्मरणकर्ता को शरीर धारण करते हुए भी देखते हैं। यदि मन शरीर के भीतर न होता, तो स्मरण काल में शरीरधारण नहीं हो सकता: क्योंकि आत्मा और मन के संयोग से जो प्रयत्न उत्पन्न होता है, वह दो प्रकार का है, एक-धारक, दूसरा-प्रेरक। चलते या बैठे हुए शरीर का सन्तुलित रहना धारक प्रयत्न का कार्य है और शरीर का चलना, हाथ-पैर आदि का हिलना आदि प्रेरक प्रयत्न का कार्य है। मन के शरीर से बाहर निकलने पर धारक प्रयत्न के अभाव से गुरुत्व के कारण शरीर इधर-उधर लुढ़क जाना चाहिए। जैसे- अतिमादक द्रव्य सेवन करने वाले व्यक्ति का शरीर लुढ़क जाता है, परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे सिद्ध है, कि मन शरीर के अन्दर रहकर स्मरण करता है, जिससे धारक-प्रयत्न का अभाव कभी नहीं होता।

संदर्भ- अब सूत्रकार पूर्वपक्ष का पुनः आक्षेप दिखाते हैं-

न तदाशुगतित्वान्मनसः ॥३/२/२९॥

वह उक्त कथन ठीक नहीं मन के आशुगति शीघ्रगामी होने से ।

सभी शास्त्रों का सिद्धान्त है, कि मन आशुगति वाला है। ऐसे मन का शरीर से बाहर ज्ञान. संस्कृत आत्मप्रदेश से क्रमशः सन्निकर्ष होने पर पर्याय से स्मृतियाँ उत्पन्न होती हैं और वह शीघ्र वापस लौटकर शरीर धारक प्रयत्न भी उत्पन्न करता रहता है। इस प्रकार उसमें दोनों क्रियाएँ सम्पन्न हो जाती हैं। अथवा यह भी हो सकता है, कि वह शरीर धारक प्रयत्न को उत्पन्न करके शरीर से बाहर निकल जाए, वहाँ स्मृतियों को उत्पन्न करके पुनः वापस आकर शरीर को संभाल ले, तब तक पूर्वोत्पन्न प्रयत्न की परम्परा कुलालचक्रभ्रमण के समान चालू रहती हुई शरीर को धारण करती रहती है। फिर मन पुनः आ ही आएगा । इस प्रकार दोनों कार्यों (स्मृति और शरीरधारण) में कोई रूकावट नहीं है। तब हमारी २५ वें सूत्र की व्याख्या युक्ति-युक्त बनी रहती है ।

न, स्मरणकालानियमात् ॥३/२/३०॥

किञ्चत्क्षिप्रं स्मर्यते किञ्चिच्चिरेण यदा चिरेण तदा सुस्मूर्षया मनसि धार्यमाणे चिन्ताप्रबन्धे सति कस्य चिदर्थस्य लिङ्गभूतस्य चिन्तनमाराधितं स्मृतिहेतुर्भवति । तत्रैतच्चिरनिश्चरिते मनसि नोपपद्यत इति। मन को शीघ्रगामी मानकर शरीर से बाहर जाकर भी आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध मानना ठीक नहीं; क्योंकि स्मरण होने का कोई समय नियत नहीं है, कोई बात शीघ्र स्मरण हो जाती है, कोई देर से। जब कोई बात देर से स्मरण होती है, तब स्मृति की इच्छा से मन सोचने लगता है और बहुत देर तक सोचने से स्मरण हो पाता है। जब देर तक मन शरीर से बाहर आत्मा से संयुक्त हुआ सोचता रहता है, तब शरीर गिर पड़ना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। इसमे सिद्ध होता है, कि मन शरीर से बाहर नहीं जाता। इसके अतिरिक्त शरीर के सम्बन्ध के बिना केवल आत्मा और मन का सम्बन्ध स्मृति का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि शरीर आत्मा के सुख-दुःख आदि भोगने का साधन है, उससे बाहर निकला हुआ मन आत्मा के ज्ञान, सुख-दुःख आदि का कारण नहीं हो सकता।

आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः ॥३/२/३१॥

आत्मा की प्रेरणा से यदृच्छा आकस्मिक रूप से, तथा मन की ज्ञाता से मन का शरीर के बाहर आत्मप्रदेशों के साथ संयोगविशेष नहीं होता । शरीर के बाहर मन और आत्मा का संयोग तीन कारणों से कहा जाता है।

जैसे १: जब किसी वस्तु को जानकर आत्मा मन को प्रेरणा करेगा, तो इस दशा में प्रेरणा से पहले ही वह वस्तु स्मृत हो जाएगी, तब उस विषय के स्मरण के लिए मन को प्रेरणा करना व्यर्थ है, २:- अकस्मात् स्मरण करना भी नहीं कह सकते; क्योंकि जब आत्मा किसी वस्तु को स्मरण करने की इच्छा करता है, तभी उसका स्मरण होता है, कोई कार्य बिना कारण के नहीं हो सकता, ३:- मन को चेतन (ज्ञाता) मान कर स्मरण की कल्पना करना भी ठीक नहीं; क्योंकि मन अचेतन (जड़) है। अन्य कोई कारण सम्भव नहीं। इसलिए २५ वें सूत्र में स्मृतियों के अयुगपत् होने का जो प्रकार बताया है, वह तर्कसंगत नहीं है ।

संदर्भ - सूत्रकार उक्त एकदेशी के मत का समाधान करते है।

व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषेण समानम् ॥३/२/३२॥

यदा खल्वयं व्यासक्तमनाः क्वचिद् देशे शर्करया कण्टकेन वा पादव्यथनमाप्नोति तदाऽऽत्ममनःसंयोगविशेष एषितव्यः। दृष्टं

हि दुःखं दुःखवेदनं चेति तत्रायं समानः प्रतिषेधः । अकस्मात् मन का संयोग एकदेशी (नवीनदार्शनिक) ने जो यह कहा था, कि अकस्मात मन का संयोग नहीं होता', वह उचित नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार किसी गम्भीर विचार या खेल देखने में जिस का मन संलग्न है, ऐसे व्यक्ति के पैर में कांटा आदि गड़ने से जो पैर के साथ मन का संयोगविशेष होता है, उसी प्रकार अन्य अकस्मात् स्थलों में भी मन का विशेष संयोग हो सकता है।

विशेष- वस्तुतः गौतम ऋषि ने २६वें सूत्र में सिद्धान्त रूप से यह स्पष्ट कर दिया है, कि मन शरीर से बाहर कहीं नहीं जाता।

प्रसंग- अब सूत्रकार यह बताते हैं, कि स्मृति का कारण आत्म-मनः सन्निकर्ष के विद्यमान रहने पर भी युगपत् स्मतियाँ क्यों नहीं होतीं? **प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानामयुगपद्भावादयुगपत्स्मरणम् ॥३/२/३३॥**

यथा खल्वात्ममनसोः सन्निकर्षः संस्कारश्च स्मृतिहेतुरेवं प्रणिधानं लिङ्गादिज्ञानानि, तानि च न युगपद्भवन्ति तत्कृता स्मृतीनां युगपदनुत्पत्तिरिति । प्रातिभवत्तु प्रणिधानाद्यनपेक्षे स्मार्ते यौगपद्यप्रसङ्गः। प्रणिधान एवं लिङ्गादि ज्ञानों के युगपत् न होने से युगपत् स्मरण नहीं होता।

जैसे- आत्ममनः सन्निकर्ष तथा संस्कार स्मृति के कारण हैं, ऐसे ही प्रणिधान एवं लिंगादि ज्ञान भी स्मृति के कारण हैं। प्रणिधान का तात्पर्य है किसी वस्तु को स्मरण करने की इच्छा से मन को एकाग्र करना और लिङ्ग का अर्थ है- स्मृति के उद्बोधक चिह्न प्रणिधानादि कोई भी कार्य अपने सम्पूर्ण कारणों की उपस्थिति में होता है। प्रणिधान आदि ऐसे निमित्त हैं, जो कभी एक साथ उपस्थित नहीं होते। अतः आत्ममनः सन्निकर्ष तथा संस्कारों के विद्यमान रहने पर भी प्रणिधान आदि के एक साथ उपस्थित न होने से स्मृतियाँ एक साथ नहीं होतीं, अपितु पर्याय से ही होतीं हैं। स्मृतियों के युगपत् न होने का यही मुख्य कारण है।

सन्दर्भ– अब गौतम ऋषि अयुगपत् स्मृतियों का विशेष स्थिति में अपवाद कथन करते है-

प्रातिभवत्तु प्रणिधानाद्यनपेक्षे स्मार्ते यौगपद्यप्रसङ्गः ॥३/२/३४॥

कोई-कोई ज्ञान ऐसे होते हैं, कि जिनमें प्रणिधान आदि निमित्तों की अपेक्षा नहीं होती। जैसे प्रातिभज्ञान, जो प्रतिभा (बुद्धि की स्फूर्ति) से उत्पन्न होता है। उसमें एक साथ अनेक ज्ञानों की आकस्मिक उत्पत्ति हो सकती है। आध्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न योगी महाऋषि भी इस 'प्रातिभ' सामर्थ्य को प्राप्त करके सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट पदार्थों का प्रत्यक्ष कर सकते हैं और एक साथ अनेक ज्ञानों को भी प्राप्त कर लेते हैं। जैसा कि योग में कहा है **'ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते' (योग.३/३६)**। परन्तु इस अपवाद से अयुगपत् स्मरण के सामान्य नियम में कोई बाधा नहीं आती। सामान्यरूप से कोई स्मृति प्रणिधानादि निमित्तों के बिना उत्पन्न नहीं होती।

सन्दर्भ– अब जो वादी ज्ञान को आत्मा का और इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख को अन्तःकरण का धर्म मानते हैं, सूत्रकार उनके मत का खण्डन करते हैं-

ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः ॥३/२/३५॥

अयं खलु जानाति तावदिदं मे सुखसाधनमिदं मे दुःखसाधनमिति ज्ञातं स्वस्य सुखसाधनमाप्तुमिछति, दुःखसाधनं हातुमिच्छति, प्राप्तीच्छाप्रयुक्तस्यास्य सुखसाधानावाप्तये समीहाविशेष आरम्भः जिहासाप्रयुक्तस्य दुःखसाधनपरिवर्जनं निवृत्तिः, एवं ज्ञानेच्छाप्रयत्नद्वेषसुखदुःखानामेकेनाभिसम्बन्धः। ज्ञाता जिस को अपने सुख का कारण समझता है, उसे प्राप्त करने की इच्छा करता है, और जिसको दुःख का कारण मानता है, उससे बचना चाहता है। सुख साधनों को प्राप्त करने और दुःख साधनों को छोड़ने का प्रयत्न करता है। इसलिए ज्ञान, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न- ये सब आपस में एक दूसरे से सम्बद्ध हैं अर्थात् जिसको सुख के साधन का ज्ञान होगा, उसी को उसे पाने की इच्छा होगी और वही उसके लिए प्रयत्न करेगा। इन इच्छा आदि का एक के साथ ही सम्बन्ध है, और वह है 'आत्मा'। अतः इच्छा आदि लिङ्ग चेतन आत्मा के हैं, अचेतन अन्तःकरण के नहीं।

सन्दर्भ– अब उक्त अर्थ में शरीर चैतन्यवादी आशंका करता है-

तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः ॥३/२/३६॥

इच्छा और द्वेष के उन प्रारम्भ और निवृत्ति से अनुमेय होने के कारण पृथिवी आदि भूतों से निर्मित शरीरों में ज्ञान आदि होने का अप्रतिषेध है। प्रवृत्ती और निवृत्ति के द्वारा इच्छा-द्वेष का अनुमान होता है, ज्ञान आदि गुण पृथिवी आदि से बने शरीर के ध र्म है; क्योंकि शरीर में प्रवृत्ति और निवृत्ति प्रत्यक्षरूप से देखी जाती है। किसी कार्य को सुखद समझकर उसे करने के लिए शरीर ही प्रवृत्त होता है और दुःख साधन से बचने के लिए शरीर ही पीछे हटता है। इससे स्पष्ट है, कि प्रवृत्ति-निवृत्ति शरीर के धर्म हैं। इसलिए इच्छा, द्वेष, ज्ञानादि को भी शरीर का धर्म जाना चाहिए। शरीर से भिन्न आत्मा नाम का कोई द्रव्य ज्ञानादि का आश्रय मानना तर्कसंगत नहीं है।

समाधान– अब महर्षि गौतम शरीरचेतनवादी का प्रतिद्वन्दी तर्क से खण्डन करते है।

परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् ॥३/२/३७॥

शरीरे चैतन्यनिवृत्तिः। आरम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छाद्वेष-

ज्ञानैर्योग इति प्राप्तं परश्वादेः करणस्यारम्भनिवृत्तिदर्शनाच्चैतन्यमिति। यदि प्रवृत्ति और निवृत्ति के आधार पर ही शरीर को ज्ञान, सुख आदि गुणों का आश्रय माना जाए, तो परशु (कुल्हाड़े) में भी उठना और लकड़ी पर गिरना आदि प्रवृत्ति और निवृत्ति के देखे जाने से उसमें भी ज्ञान, सुख आदि मानने होंगे। परन्तु इसमें तो ज्ञानादि सर्वथा नहीं होते। अतः देह में आरम्भ और निवृत्ति, ज्ञान सुख-दुःख आदि के साधक नहीं, क्योंकि आरम्भ-निवृत्ति, परशु आदि में ज्ञान सुख-दुःख आदि का व्यभिचारी है। इस प्रकार वादी का यह कहना उचित नहीं है, कि 'पार्थिव आदि शरीरों में ज्ञान आदि का निषेध नहीं हो सकता है। अब गौतम ऋषि भौतिक पदार्थों में प्रकारान्तर से ज्ञानादि का अभाव बताते है।

कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः ॥३/२/३८॥

कुम्भादिमृदवयवानां व्यूहलिङ्गः प्रवृत्तिविशेष आरम्भः, सिकतादिषु प्रवृत्तिविशेषाभावो निवृत्तिः । न च मृत्सिकतानामाम्भनि वृत्तिदर्शनादिच्छाद्वेषप्रयत्नज्ञानैर्योगः,

तस्मात् ''तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयो'' रित्यहेतुरिति। आरम्भनिवृत्ति के होने से ज्ञान, इच्छा आदि को शरीर के गुण इसलिए भी नहीं मान सकते कि कुम्भ आदि के रूप में मिट्टी के अवयवों की विशेष रचनारूप आरम्भ का अस्तित्व है, तथा ऐसा आरम्भ रेत के ढेर में नहीं देखा जाता, अतः वहाँ 'निवृत्ति' है। इस प्रकार भूतों में आरम्भ निवृत्ति के रहने पर भी कुम्भआदि में ज्ञान, सुख, प्रयत्न आदि का अभाव देखा जाता है। अतः वादी का उक्त कथन शरीर में चैतन्य का साधक नहीं हो सकता। प्रतिपक्ष के हेतु का खण्डन करते हुए अब सूत्रकार सिद्धान्त का निरूपण करते हैं-

नियमानयमौ तु तद्विशेषकौ ॥३/२/३९॥

तयोरिच्छाद्वेषर्योनियमानियमौ विशेषकौ भेदकौ ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्ते प्रवृत्तिनिवृत्ती, न स्वाश्रये। किं तर्हि? प्रयोज्याश्रये। तत्र प्रयुज्यमानेषु भूतेषु प्रवृत्तिनिवृत्ती स्तः न सर्वेष्वित्यनियमोपपत्तिः। आरम्भ और निवृत्ति ज्ञाता (आत्मा) के इच्छा-द्वेष के कारण शरीर आदि में होते हैं। भूतों में ही प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है, अर्थात् ज्ञाता आत्मा के द्वारा जो भूत किसी कार्य में प्रवृत्ति होते हैं, उन्हीं में आरम्भ-निवृत्ति देखे जाते हैं, अन्यत्र नहीं। जिस प्रकार भूतों में आरम्भ निवृत्ति का होना अनियत है, नियमपूर्वकसर्वत्र नहीं है और आत्मा की ही प्रेरणा से भूतों में इच्छा-द्वेषनिमित्तक प्रवृत्ति और निवृत्ति उत्पन्न होती है, बिना प्रेरणा के नहीं, इसलिए नियम (व्यवस्था) की उत्पत्ति है। तात्पर्य यह है, कि इच्छा और द्वेष प्रयोजक आत्मा के आश्रित हैं, तथा निवृत्ति प्रयोज्य (शरीर) के आश्रित हैं। अतः इच्छादि आत्मा के साधक लिंग हैं। भूतों में चैतन्य का प्रतिषेध हो जाने पर अब सूत्रकार मन के चैतन्य का प्रतिषेध करते हैं। इसको इन्द्रियों के चैतन्य प्रतिषेध का भी उपलक्षण समझना चाहिए-

यथोक्तहेतुत्वात् पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः ॥३/२/४०॥

'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्ग' मित्यतः प्रभृति यथोक्तं संगृह्यते तेन भूतेन्द्रियमनसां चैतन्यप्रतिषेधः । सूत्रकार ने **'इच्छाद्वेष ज्ञान.'** (१/१/१०) **'दर्शनस्पर्शनाभ्याम.'** (३/१/१) इत्यादि सूत्रों में ज्ञान, इच्छादि को आत्मा का गुण बताया है। उक्त हेतुओं से भूत, इन्द्रिय तथा मन के चैतन्य का प्रतिषेध समझना चाहिए। पराधीन होने से भी इनमें चैतन्य का प्रतिषेध समझना चाहिए क्योंकि ये साधन (करण) हैं। इन्द्रियाँ बाह्यकरण तथा मन अन्तःकरण है। ये किसी अन्य (आत्मा) के प्रयोजन की सिद्धि के लिए उसके प्रयत्न से धारण, प्रेरण, संग्रह आदि विभिन्न क्रियाओं का सम्पादन करते हैं। 'अकृताभ्यागम' दोष को 'कृतहानि' दोष का भी उपलक्षण मानना चाहिए, कि जिन देह, इन्द्रिय आदि ने कर्म किया उनको फल नहीं मिलता, अपितु न करने वाले आत्मा को मिलता है। शरीरेन्द्रिय आदि मृत्यु के पश्चात् यहीं नष्ट हो जाते हैं, उनको फल न मिलकर अगले जन्म में आत्मा को फल मिलता है। इससे सिद्ध होता है, कि ज्ञान, प्रयत्न, इच्छा आदि देहरूप भूतों, मन एवं इन्द्रियों के गुण नहीं हैं।

सन्दर्भ– अब महर्षि गौतम वर्तमान विषय का उपसंहार करते हुए ज्ञानादि को आत्मा का गुण बताते हैं-

परिशेषाद् यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ॥३/२/४१॥

आत्मगुणो ज्ञानमिति प्रकृतम्। परिशेषो नाम 'प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः' भूतेन्द्रियमनसां प्रतिषेधे द्रव्यान्तरं न प्रसज्यते शिष्यते चात्मा तस्य गुणो ज्ञानमिति ज्ञायते । जब यह बात प्रमाणों से सिद्ध हो गई, कि ज्ञान आदि धर्म शरीर, इन्द्रिय और मन के नहीं हैं, तब इनसे शेष क्या रह गया?... आत्मा। परिशेषन्याय से ज्ञानादि गुण आत्मा के स्वतः सिद्ध हो गए। इसके अतिरिक्त इस शास्त्र में अब तक जो आत्म सिद्धि के **'दर्शनस्पर्शनाभ्याम्'** (३/१/१) इत्यादि हेतु दिए गए हैं, उनसे भी ज्ञान आदि गुण आत्मा के ही सिद्ध होते है। अब सूत्रकार स्मृति को भी आत्मा का धर्म बताते हैं ।

स्मरणं त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात् ॥३/२/४२॥

उपपद्यते इति, आत्मन एव स्मरणं न बुद्धिसन्ततिमात्रस्येति। तु शब्दोऽवधारणे। कथम्? ज्ञस्वभावत्वात् । स्मृति भी एक प्रकार का ज्ञान है और ज्ञान आत्मा का धर्म सिद्ध हो चुका है, इसलिए स्मृति भी आत्मा का गुण

है। प्रत्येक आत्मा में तीन प्रकार का ज्ञान होता है- 'मैंने जाना था, मैं जानता हूँ और मैं जानूंगा'। यह त्रिकालविषयक ज्ञान केवल आत्मा में ही हो सकता है, इसलिए स्मृति भी आत्मा का ही गुण (धर्म) है। यद्यपि स्मृति और अनुभव मन के माध्यम से ही होते हैं, परन्तु बिना इच्छा, द्वेष और प्रयत्न के स्मृति का उद्भव नहीं होता। अतः जिसमें इच्छा, द्वेष प्रयत्न आदि हैं, उसी चेतना स्वभाव वाले जीवात्मा के अधीन स्मृति को कहा है।

सन्दर्भ– अब जिन-जिन कारणों से स्मृति उत्पन्न होती है, उनकी व्याख्या करते है-

प्रणिधाननिबन्धाऽभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाऽऽश्रयाऽऽश्रितसम्बन्धाऽऽनन्तर्य-
वियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्व-
क्रियारागधर्माऽधर्मनिमित्तेभ्यः ॥३/२/४३॥

स्मृति के प्रणिधानादि निमित्तों का विवरण क्रमशः इस प्रकार है -

१. **प्रणिधान**- स्मरण करने की इच्छा से किसी एक विषय में मन को एकाग्र करना 'प्रणिधान' कहलाता है। यह प्रणिधान स्मृति का कारण बनता है।
जैसे-छात्र याद किए हुए मंत्र को भूल जाने पर चिन्तन से उसका स्मरण कर लेता है।

२. **निबन्ध**- एक ग्रन्थ में अथवा किसी एक प्रसंग में अनेक अर्थों के परस्पर सम्बन्ध को 'निबन्ध' कहते हैं, जिससे एक अर्थ का ज्ञान दूसरे अर्थ की स्मृति का हेतु होता है।

३. **अभ्यास**- किसी विषय की जानकारी का बार-बार स्मरण करना 'अभ्यास' कहाता है। ऐसे अभ्यास से वस्तु के विषय में मन पर दृढ़ संस्कार उत्पन्न हो जाता है। ऐसा संस्कार स्मृति को शीघ्र उत्पन्न करता है।

४. **लिङ्ग**- चिह्न, साधन व हेतु का नाम 'लिङ्ग' है। इस साधन से साध्य का स्मरण हो जाता है। साध्य साधन का यह सम्बन्ध संयोग, समवाय, एकार्थसमवाय एवं विरोध आदि अनेक प्रकार का होता है। जैसे- (क) संयोग- धूम से अग्नि का स्मरण ।, (ख) समवाय- सींग से गाय का स्मरण, जो कि अवयव-अवयवी सम्बन्ध से है।, (ग) एकार्थसमवाय- किसी आम आदि फल के रूप से उसके रस का स्मरण हो जाता है।, (घ) विरोध- नेवलो को इधर-उधर दौड़ता देखकर उसके विरोधी सांप का स्मरण हो जाना आदि।

५. **लक्षण**- किसी वस्तु पर विशेष चिह्न को 'लक्षण' कहते हैं। इसको देखकर भी वस्तु का स्मरण हो आता है। जैसे- भगवा वस्त्र को देखकर संन्यासी का अथवा चुनाव आदि में किसी पार्टी के चुनाव चिह्न को देखकर उससे सम्बद्ध पार्टी का स्मरण हो जाता है।

६. **सादृश्य**- समान रूप होना। जैसे चित्र को देखकर उस जैसी आकृति के देवदत्त आदि व्यक्ति का स्मरण हो जाता है।

७. **परिग्रह**- स्वस्वामिभाव। जैसे सेवक को देखकर स्वामी का और स्वामी को देखकर सेवक का स्मरण हो जाता है।

८. **आश्रय**- सहारा, आधार। जैसे समुदाय के नेता की देखकर उसके अधीन रहने वालों का स्मरण हो जाता है।

९. **आश्रित**- जो अधीन अथवा सहारे में रहे। जैसे आश्रित से उसके आश्रय का स्मरण हो जाता है। उदाहरण- सन्तान को देखकर परिजनों का स्मरण होना आदि।

१०. **सम्बन्ध**- लोक व्यवहार में किसी नियत आधार पर एक का दूसरे से सम्बन्ध भी स्मृति का कारण होता है। जैसे गुरु शिष्य, यजमान-पुरोहित, पिता-पुत्र, राजा प्रजा, स्वामी सेवक आदि अनेक सम्बन्धों में से कोई एक अपने सम्बन्धी का स्मरण करा देता है।

११. **आनन्तर्य**- एक कार्य के पश्चात् जब नियम से क्रमपूर्वक दूसरा कार्य होता है, तो एक कार्य के सम्पन्न हो जाने पर उसके अनन्तर होने वाले दूसरे कार्य का स्मरण हो जाता है।
जैसे-यज्ञ के विविध अनुष्ठान क्रम से स्मरण होते रहते हैं। चूल्हे में अग्नि जलने से उसके ऊपर कढ़ाई आदि रखने का स्मरण हो जाता है।

१२. **वियोग**- किन्हीं प्रेमी व्यक्तियों का अलग होना 'वियोग' है। वियोग से दुःखी व्यक्ति अपने प्रेमी का स्मरण करता है।

१३. **एककार्य**- एक समान कार्य करने वाले परिचित अनेक व्यक्तियों में से एक को देखने या उसकी चर्चा होने पर दूसरों का स्मरण हो जाता है।

१४. **विरोध**- जिनका आपस में विरोध या संघर्ष होता है, तो किसी एक का प्रसंग आने पर दूसरे का स्मरण हो जाता है, जैसे सर्प से नेवला का, नेवला से सर्प का।

१५. **अतिशय**- किसी व्यक्ति के द्वारा किसी कार्य में सर्वोत्कृष्टता प्राप्त करना 'अतिशय' है। जैसे अति दर्प से रावण का, अतिबल से भीम का।

१६. **प्राप्ति**- किसी ने जिससे कुछ प्राप्त किया अथवा प्राप्त करना है, वह उसका पुनः-पुनः स्मरण करता है।

१७. **व्यवधान**- आवरण, जैसे तकिये के खोल से तकिये का, तलवार के म्यान से तलवार का स्मरण हो जाता है।

१८. **सुख**- सुख की अनुभूति से पूर्वानुभूत सुख के कारणों का स्मरण हो जाता है।

१९. **दुःख**- दुःख की अनुभूति से पूर्वानुभूत दुःख के कारणों का स्मरण हो जाता है।

२०. **इच्छा**- चाहना जो व्यक्ति जिस वस्तु को चाहता है, प्राप्त होने तक उसका स्मरण करता है।

२१. **द्वेष**- व्यक्ति जिससे द्वेष करता है, उसको भी बार बार स्मरण करता है।

२२. **भय**- डर, भय से भय के कारण का स्मरण हो जाता है।

२३. **अर्थित्व**- किसी वस्तु की कामना होना। व्यक्ति, भोजन, वस्त्र आदि जिस वस्तु की कामना करता है, उसका स्मरण होता रहता है।

२४. **क्रिया**- कार्य, व्यक्ति कार्य को देखकर जानकारी के अनुसार उसके कर्ता का स्मरण करता है। चित्रकारी को देखकर चित्रकार का स्मरण हो जाता है।

२५. **राग**- मोह, किसी व्यक्ति का जिस स्त्री, पुरुष या मित्र में अनुराग होता है, वह उसका स्मरण करता या करती है।

२६. **धर्म**- शास्त्रविहित कर्मों के अनुष्ठानरूप धर्म से सुख तथा उसके अदृष्ट कारण का स्मरण हो जाता है।

२७. **अधर्म**- शास्त्रनिषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान को देखकर उससे होने वाले दुःख तथा उसके अदृष्ट कारण का स्मरण हो जाता है। यह स्मृति के कारणों की अधिकता नहीं, अपितु उदाहरण मात्र हैं। इसके अतिरिक्त उन्माद आदि भी स्मृति के कारण हो सकते हैं। सूत्र ३३ के अनुसार ये सभी निमित्त एक साथ नहीं होते। इसलिए स्मृतियाँ भी युगपत् नहीं होती।

॥ इति बुद्धिरात्मगुणत्वप्रकरणम्॥

स्मरणीय बिंदु (Key Points)-

इन्द्रिय-विनाश तर्कः यदि ज्ञान इन्द्रिय का गुण होता, तो इन्द्रिय (जैसे आँख) के नष्ट होने पर उस इन्द्रिय से प्राप्त सारा ज्ञान और उसकी यादें भी नष्ट हो जानी चाहिए थीं। चूँकि अंधा होने पर भी व्यक्ति को देखी हुई वस्तुएं याद रहती हैं, अतः ज्ञान आत्मा का गुण है।

प्रतिसंधान (Recognition): हम कहते हैं- ''जिसे मैंने आँखों से देखा, उसी को अब मैं छू रहा हूँ।'' आँखें स्पर्श नहीं कर सकतीं और त्वचा देख नहीं सकती। इन दोनों अलग अनुभवों को जोड़ने वाला 'मैं' (आत्मा) इन्द्रियों से अलग है।

इन्द्रियों की जड़ताः इन्द्रियाँ भौतिक तत्वों (पृथ्वी, जल आदि) से बनी हैं, इसलिए वे स्वयं ज्ञानवान नहीं हो सकतीं। वे केवल विषय और आत्मा के बीच सेतु का कार्य करती हैं।

प्रेरणाः इन्द्रियाँ स्वयं सक्रिय नहीं होतीं। उन्हें विषयों की ओर प्रेरित करने वाली सत्ता आत्मा है।

अनेकता की समस्याः यदि इन्द्रियाँ चेतन होतीं, तो एक ही शरीर में पाँच अलग-अलग ज्ञाता (आत्माएं) हो जाते, जिससे शरीर के कार्यों में तालमेल असंभव होता।

शब्दावली (Terminology)-

चैतन्यः चेतना या ज्ञान का गुण होना।

ज्ञाताः वह जो जानता है (आत्मा)।

करणः वह साधन जिसके द्वारा जाना जाता है (इन्द्रिय)।

व्यतिरेकः अभाव या पृथकता।

प्रतिसंधानः विभिन्न इन्द्रियों के ज्ञान का एक ही सत्ता में समन्वय होना।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)-

प्रश्न 1. ''बुद्धि इन्द्रिय का गुण नहीं है।'' न्याय दर्शन के 'इन्द्रिय-विनाश' और 'स्मृति' के तर्कों के आधार पर इस कथन को सिद्ध कीजिए।

प्रश्न 2. 'प्रतिसंधान' (Recognition) से क्या तात्पर्य है? दो अलग-अलग इन्द्रियों के अनुभवों का एक ही व्यक्ति द्वारा अनुभव किया जाना आत्मा की सत्ता को कैसे प्रमाणित करता है?

प्रश्न 3. यदि प्रत्येक इन्द्रिय को चेतन (ज्ञाता) मान लिया जाए, तो शरीर के संचालन में क्या-क्या तार्किक कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी? विस्तार से वर्णन करें।

प्रश्न 4. इन्द्रियों के भौतिकत्व और आत्मा के अभौतिकत्व के आधार पर ज्ञान के आश्रय की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)-

प्रश्न 1. इन्द्रियों को ज्ञान का 'आश्रय' क्यों नहीं माना जा सकता?
प्रश्न 2. ''अंधा होने पर भी स्मृति का बना रहना''– यह तर्क बुद्धि को आत्मा का गुण कैसे सिद्ध करता है?
प्रश्न 3. 'करण' (साधन) और 'कर्ता' (स्वामी) के बीच का अंतर इन्द्रिय और आत्मा के संदर्भ में स्पष्ट कीजिए।
प्रश्न 4. क्या जड़ पदार्थ (इन्द्रिय) में चेतना उत्पन्न हो सकती है? न्याय दर्शन का मत स्पष्ट करें।
प्रश्न 5. इन्द्रियों की अनेकता होने पर भी ज्ञान की एकता कैसे संभव है?

बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQs & With Answers)–

Q1. न्याय दर्शन के अनुसार 'बुद्धि' (ज्ञान) किसका विशेष गुण है?
(A) मन का
(B) इन्द्रिय का
(C) आत्मा का
(D) शरीर का

Q2. ''जिसने देखा था, वही सुन रहा है''– यह समन्वय क्या कहलाता है? (A) सन्निकर्ष
(B) प्रतिसंधान
(C) अनुमान
(D) व्याप्ति

Q3. यदि आँख ही ज्ञाता (आत्मा) होती, तो आँख के फूटने पर क्या होता? (A) केवल दृष्टि जाती
(B) दृष्टि के साथ उस विषय की स्मृति भी चली जाती
(C) दूसरी आँख अधिक तेज हो जाती
(D) व्यक्ति मर जाता

Q4. इन्द्रियों को क्या माना गया है?
(A) कर्ता
(B) भोक्ता
(C) ज्ञान प्राप्त करने के 'करण' या साधन
(D) नित्य चेतन सत्ता

Q5. इन्द्रियों के चेतन न होने का मुख्य कारण क्या है?
(A) उनका भौतिक (जड़) होना
(B) उनका बहुत छोटा होना
(C) उनका दिखाई न देना
(D) उनका मन से जुड़ा होना

Q6. एक ही शरीर में पाँच अलग-अलग ज्ञाता (इन्द्रियाँ) न होने का क्या लाभ है?
(A) ज्ञान की अनेकता
(B) अनुभवों का एकीकरण और शरीर का व्यवस्थित संचालन
(C) केवल शारीरिक सौंदर्य
(D) इन्द्रियों की शक्ति बढ़ना

उत्तररू द्धठऋ

खण्ड ४ प्रेमय - आत्मा एवं मन का निरुपण

इकाई- ४.१ - बुद्धि (ज्ञान) की उत्पत्ति तथा विनाशशीलता ।

उद्देश्य (Objectives)-

प्रक्रिया बोध: यह समझना कि ज्ञान कोई स्थिर वस्तु नहीं है, बल्कि इंद्रिय, मन और आत्मा के संयोग से उत्पन्न होने वाली एक 'क्रिया' है।

कारण-कार्य सिद्धांत: बुद्धि की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी कारकों (इंद्रिय-विषय सन्निकर्ष) की पहचान करना।

विनाशशीलता के कारण: यह जानना कि पुराना ज्ञान नए ज्ञान के आने पर या विषय के हट जाने पर क्यों और कैसे नष्ट हो जाता है।

अनित्यता की पुष्टि: बुद्धि को आत्मा का 'आगंतुक' (Temporary) गुण सिद्ध करना।

अथ बुद्धेरुत्पन्नापवर्गत्वप्रकरणम्

सन्दर्भ– गतप्रकरणों में बुद्धि का अनित्यत्व और आत्मधर्म होना सिद्ध कर दिया। अब यह सन्देह होता है, कि क्या बुद्धि शब्द के समान उत्पत्ति विनाशशील धर्मवाली है, अथवा घट आदि के समान कुछ काल तक ठहरने वाली? महर्षि गौतम बुद्धि की उत्पत्ति तथा विनाशशीलता मानकर उसकी सिद्धि में हेतु देते हैं-

कर्मानवस्थायिग्रहणात् ॥३/२/४४॥

कर्मणोऽनवस्थायिनो ग्रहणादिति, क्षिप्तस्येषोरापतनात् क्रियासन्तानों गृह्यते प्रत्यर्थनियमाच्च बुद्धीनां क्रियासन्तानवद् बुद्धिसन्तानोपपत्तिरिति । अनित्य पदार्थ दो प्रकार के होते हैं। एक कालान्तर तक अवस्थित रहते हैं,

जैसे- घट, पट आदि। दूसरे उत्पन्नापवर्गी द्विक्षणावस्थायी, जैसे- कर्म, शब्द, मेघों में विद्युत्-प्रकाश आदि। इनका अस्तित्व दो क्षण रहता है। एक क्षण उत्पत्ति का दूसरा क्षण स्थिति का। तीसरे क्षण में उनका नाश हो जाता है। क्रिया एवं शब्द के ही समान ज्ञान भी द्विक्षणावस्थायी है। ज्ञान के उत्पत्ति तथा विनाशशीलता का यही तात्पर्य है। यदि घट आदि के समान बुद्धि (ज्ञान) को भी कुछ समय तक अवस्थित माना जाए, तो घट, पट आदि पदार्थों के व्यवहित हो जाने पर भी प्रत्यक्षरूप में वह अवस्थित रहनी चाहिए, परन्तु यह असम्भव है। अत: क्रिया, शब्द आदि के समान बुद्धि को द्विक्षणावस्थयिनी मानना सिद्ध होता है। अत: बुद्धि को उत्प. न्नापवर्गिणी मानना युक्त है।

सन्दर्भ– पूर्वोक्त बुद्धि की क्षणिकत्व मान्यता पर पूर्वपक्ष आक्षेप करता है-

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद्विद्युत्सम्पाते रूपाव्यक्तग्रहणवत ॥३/२/४५॥

बुद्धि (ज्ञान) के अवस्थायी न होने से बिजली के चमकने पररूप के अव्यक्त अस्पष्ट ग्रहण के समान विषय का अस्पष्ट ग्रहण होना मानना चाहिए। जैसे बिजली की चमक के अस्थिर प्रकाश में रूप वाले द्रव्यों का स्पष्ट ग्रहण नहीं होता, वैसे ही यदि बुद्धि को अस्थायी मानें तो उस क्षणिक बुद्धिरूप ज्ञानप्रकाश में घट-पट आदि विषयों का स्पष्ट ग्रहण नहीं हो सकेगा। परन्तु बुद्धि से तो द्रव्यों का स्पष्ट ज्ञान होता है। अत: बुद्धि उत्पन्नापवर्गिणी नहीं होती है।

अब महर्षि गौतम उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं-

हेतूपादानात् प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा ॥३/२/४६॥

उत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिरिति प्रतिषेद्धव्यं तदेवाभ्यनुज्ञायते विद्युत्सम्पाते रूपाव्यक्तग्रहणवदिति। यत्राव्यक्तग्रहणं तत्रोत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिरिति । प्रतिवादी ने जो बिजली का दृष्टान्तरूप हेतु दिया है, उसी से बुद्धि का क्षणिक होना प्रमाणित है; क्योंकि बिजली की चमक में रूप का अस्पष्ट ग्रहण बुद्धि की क्षणिकता के कारण नहीं, अपितु बिजली (प्रकाश) की अस्थिरता के कारण होता है, जो चाक्षुष ज्ञान का प्रकाशरूप में आवश्यक निमित्त है। अर्थात् बुद्धि का स्पष्ट व अस्पष्ट होना उसके विविध निमित्तों से होता है, इसमें बुद्धि का अवस्थित या अनवस्थित होना अपेक्षित नहीं। इस प्रकार प्रतिवादी के ही हेतु से बुद्धि का क्षणिकत्व सिद्ध है।

अब दर्शनाचार्य उक्त अर्थ को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं-

प्रदीपार्चिस्सन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत् तद्ग्रहणम् ॥३/२/४७॥

अनवस्थायित्वेऽपि बुद्धेस्तेषां द्रव्याणां ग्रहणं व्यक्तं प्रतिपत्तव्यम्। कथम्? प्रदीपार्चि:सन्तत्यभिव्यक्त-ग्रहणवत्। जिस प्रकार क्षणिक होने पर भी तेल बत्ती के सहयोग से दीपक की लौ स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है, उसी प्रकार विषयों

के अनुसार बुद्धि में सतत परिवर्तन होते रहने पर भी अर्थ के ग्रहण को स्पष्ट रूप से व्यक्त करती रहती है। ऐसी स्थिति में बुद्धि के क्षणिक (अनवस्थायी) होने पर भी कोई दोष नहीं है।

॥ इति बुद्धेरुत्पन्नापवर्गत्वप्रकरणम्॥

स्मरणीय बिंदु (Key Points)–

उत्पत्ति के कारण: बुद्धि की उत्पत्ति 'आत्मा-मन संयोग', 'मन-इंद्रिय संयोग' और 'इंद्रिय-विषय सन्निकर्ष' इन तीन स्तरों के मेल से होती है।

संस्कार जन्य विनाश: जब एक ज्ञान उत्पन्न होता है, तो वह अपने पीछे एक 'संस्कार' छोड़कर स्वयं नष्ट हो जाता है। यही संस्कार बाद में 'स्मृति' (याददाश्त) का आधार बनता है।

उत्तरवर्ती ज्ञान से विनाश: न्याय दर्शन के अनुसार, एक ज्ञान का विनाश उसके तुरंत बाद उत्पन्न होने वाले दूसरे ज्ञान (उत्तरवर्ती ज्ञान) से हो जाता है।

क्षणभंगुरता: ज्ञान को 'त्रिगुण' या 'त्रि-क्षण' स्थायी माना गया है (उत्पत्ति, स्थिति और विनाश)। चौथे क्षण में वह विद्यमान नहीं रहता।

अपेक्षा बुद्धि: कुछ विशेष प्रकार की बुद्धियाँ (जैसे गणना या गिनती की बुद्धि) अपेक्षा बुद्धि कहलाती हैं, जो द्रव्यों के संयोग-विभाग से नष्ट होती हैं।

शब्दावली (Terminology)–

सन्निकर्ष: इंद्रिय और बाहरी वस्तु का आपस में जुड़ाव।

आशुविनाशी: बिजली की चमक की तरह शीघ्र नष्ट होने वाला (ज्ञान का स्वभाव)।

आगंतुक गुण: वह गुण जो वस्तु में हमेशा नहीं रहता, बल्कि बाहर से आता है और चला जाता है।

उत्तरवर्ती ज्ञान: वह बोध जो वर्तमान बोध के ठीक बाद पैदा होता है।

संस्कार: ज्ञान के नष्ट होने के बाद आत्मा पर पड़ने वाला सूक्ष्म प्रभाव।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)–

प्रश्न 1. न्याय दर्शन के अनुसार बुद्धि (ज्ञान) की उत्पत्ति की संपूर्ण प्रक्रिया का तार्किक वर्णन कीजिए।

प्रश्न 2. ''बुद्धि स्वभाव से विनाशशील है।'' इस कथन की पुष्टि उन कारणों के आधार पर कीजिए जिनसे ज्ञान का लोप (विनाश) होता है।

प्रश्न 3. ज्ञान के विनाश और स्मृति के उदय के बीच के संबंधों की विस्तृत विवेचना कीजिए। यदि ज्ञान का विनाश न हो, तो क्या स्मृति संभव है?

प्रश्न 4. 'सन्निकर्ष' के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कीजिए कि बाह्य विषयों का ज्ञान बुद्धि में कैसे परिणत होता है।

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)–

प्रश्न 1. ज्ञान की उत्पत्ति में 'मन' की क्या भूमिका है?

प्रश्न 2. 'उत्तरवर्ती ज्ञान' पुराने ज्ञान का विनाश कैसे करता है? उदाहरण सहित समझाएं।

प्रश्न 3. बुद्धि को 'आगंतुक गुण' क्यों कहा जाता है?

प्रश्न 4. क्या सुषुप्ति (गहरी नींद) की अवस्था में बुद्धि का अस्तित्व रहता है? तर्क दीजिए।

प्रश्न 5. 'आशुविनाशी' होने के बावजूद हम चीजों को लंबे समय तक याद कैसे रख पाते हैं?

बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQs & With Answers)–

Q1. बुद्धि (ज्ञान) की उत्पत्ति के लिए अनिवार्य प्रथम संयोग कौन-सा है?

(A) इंद्रिय-विषय संयोग

(B) आत्मा-मन संयोग

(C) शरीर-इंद्रिय संयोग

(D) केवल विषय का होना

Q2. न्याय दर्शन के अनुसार ज्ञान का विनाश किसके द्वारा होता है?

(A) समय के बीतने से

(B) अगले (उत्तरवर्ती) ज्ञान के उत्पन्न होने से

(C) आत्मा के नष्ट होने से

(D) शरीर के थक जाने से

Q3. बुद्धि किस प्रकार का गुण है?

(A) नित्य और स्थायी

(B) अनित्य और आशुविनाशी

(C) भौतिक और दृश्य

(D) जड़ और अचेतन

Q4. ज्ञान नष्ट होने के बाद किस रूप में सुरक्षित रहता है?

(A) बुद्धि के रूप में

(B) संस्कार के रूप में

(C) अहंकार के रूप में

(D) वह पूरी तरह शून्य हो जाता है

Q5. एक ही समय में अनेक ज्ञान की उत्पत्ति क्यों नहीं होती?

(A) क्योंकि आत्मा छोटी है

(B) क्योंकि मन अणु (सूक्ष्म) है और एक समय में एक ही जगह जुड़ता है

(C) क्योंकि इंद्रियाँ सुप्त रहती हैं

(D) क्योंकि विषय बहुत दूर हैं

Q6. षबिजली की चमकष के समान क्षणिक किसे माना गया है?

(A) आत्मा को

(B) आकाश को

(C) ज्ञान (बुद्धि) को

(D) पृथ्वी को

इकाई- ४.२ - चेतना आत्मा का गुण (धर्म)

उद्देश्य (Objectives)-

आश्रय की पहचान: यह सिद्ध करना कि ज्ञान, सुख, दु:ख और इच्छा जैसी चेतन प्रवृत्तियों का आधार केवल आत्मा ही हो सकती है।

भौतिकवाद का खंडन: चार्वाक जैसे भौतिकवादियों के इस मत को निरस्त करना कि चेतना शरीर या तत्वों के मेल से पैदा होती है।

गुण-गुणी संबंध: यह समझना कि जैसे 'रूप' घड़े का गुण है, वैसे ही 'चेतना' आत्मा का गुण है।

चेतन और जड़ का भेद: जड़ पदार्थों (शरीर, इन्द्रिय, मन) और चेतन सत्ता के बीच स्पष्ट रेखा खींचना।

अथ बुद्धेशरीरगुणव्यतिरेकप्रकरणम्

सन्दर्भ– अब सिद्धान्त की पुष्टि की 'भावना' से बुद्धि (चेतना) के शरीरगुण होने का निषेध करने के लिए सूत्रकार पहले उसमें संशय दिखाते हैं-

द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः संशयः ॥३/२/४८॥

संशयिकः सति भावः स्वगुणोऽप्सु द्रवत्वमुपलभ्यते, परगुणश्चोष्णता, तेनायं संशयः किं शरीरगुणश्चेतना शरीरे गृह्यते अथ द्रव्यान्तरगुण इति? । द्रव्यों में अपना गुण तो रहता ही है, कभी अन्य द्रव्य का गुण भी अन्य द्रव्य में देखा जाता है।

जैसे- जल में अपना गुण द्रवत्व (पिघलापन) उपलब्ध होता है। किन्तु कभी अन्य द्रव्य (तेज) का गुण उष्णत्व भी उपलब्ध होता है। इससे संशय होता है, कि शरीर में जो चेतना गुण उपलब्ध है, वह शरीर का अपना धर्म है, अथवा अन्य द्रव्य (आत्मा) का ।

समाधान– उक्त संशय में दर्शनाचार्य स्वयं अपना सिद्धान्त बताते हैं-

यावच्छरीरभावित्वाद्रूपादीनाम् ॥३/२/४९॥

न रूपादिहीन शरीरं गृह्यते चेतनाहीनं तु गृह्यते यथोष्णताहीना आपः तस्मान्न शरीरगुणश्चेतनेति। संस्कारवदिति चेद् न करणानुच्छेदात् । जब तक शरीर रहता है, तब तक अपने रूपादि धर्म विद्यमान देखे जाते हैं, परन्तु चेतना सदा नहीं रहती। मृत शरीर के केवल अपने रूपादि धर्म ही विद्यमान रहते हैं। जैसे जल में अपना द्रवत्व धर्म बना रहता है, उष्णता जो परधर्म है, स्थिर नहीं रहता। इससे प्रमाणित होता है, कि बुद्धि (चेतना) शरीर का धर्म नहीं है। यदि चेतना शरीर का धर्म होता, तो जब तक शरीर है, तब तक चेतना भी अवश्य रहती।

संशय– जिस प्रकार घट आदि द्रव्य में अग्नि के संयोग से अपने श्याम आदि गुण की निवृत्ति देखी जाती है, उसी प्रकार शरीर में उसकी चेतना की निवृत्ति (विनाश) सम्भव है-

समाधान– न, पाकजगुणान्तरोपपत्तेः ॥३/२/५०॥

नात्यन्तं रूपोपरमो द्रव्यस्य श्यामरूपे निवृत्ते पाकजं गुणान्तरं रक्तं रूपमुत्पद्यते, शरीरे तु चेतनामात्रोपरमोऽत्यन्तमिति । द्रव्य का पकने पर पूर्णतया रूप का नाश नहीं होता। अग्निसंयोग से श्यामरूप के निवृत्त होने पर घट में लाल रूप गुणान्तर उत्पन्न हो जाता है। परन्तु शरीर में चेतना का अत्यन्त अभाव हो जाता है। यदि चेतना शरीर का धर्म होती, तो एक चेतना का विनाश होने पर अन्य चेतना उत्पन्न हो जाती। परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए चेतना (बुद्धि) को शरीर का धर्म मानना उचित नहीं है। अब सूत्रकार एक अन्य हेतु के द्वारा अर्थ को स्पष्ट करते हैं-

प्रतिद्वन्दिसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः ॥३/२/५१॥

यावत्सु द्रव्येषु पूर्वगुणप्रतिद्वन्द्विसिद्धिस्तावत्सु पाकजोत्पत्तिर्दृश्यते पूर्वगुणैः सह पाकजानामवस्थानस्याग्रहणात् । जिन द्रव्यों में पूर्वगुण के विरोधी सजातीय गुण की उत्पत्ति होती है, उन्हीं फल, घट आदि द्रव्यों में पाकज गुणों की उत्पत्ति देखी जाती है; क्योंकि दो विरोधी गुण एक साथ नहीं रहते। किन्तु चेतना और शरीर के सम्बन्ध में यह स्थिति नहीं देखी जाती। क्योंकि शरीर में चेतना के प्रतिद्वन्द्वी सजातीय अन्य गुण की सिद्धि नहीं होती, जिससे चेतना के विरोधी का अनुमान हो सके। विरोधी न होने से जब तक शरीर है, तब तक उसमें चेतना रहनी चाहिए, किन्तु नहीं रहती। अतः चेतना के शरीरधर्म न होने का प्रतिषेध असंगत है।

उक्त अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार अन्य हेतु देते हैं-

शरीरव्यापित्वात् ॥३/२/५२॥

शरीरं शरीरावयवाश्च सर्वे चेतनोत्पत्त्या व्याप्ता इति न क्वचिदनुत्पत्तिश्चेतनायाः शरीरवच्छरीरावयवाश्चेतना इति प्राप्तं चेतनबहुत्वं, तत्र यथा प्रतिशरीरं चेतनबहुत्वे सुखदुःखज्ञानानां व्यवस्था लिङ्गमेवमेकशरीरेऽपि स्याद्, न तु भवति, तस्मान्न शरीरगुणश्चेतनेति

। शरीर में व्यापी होने से चेतना शरीर का गुण नहीं है। शरीर और शरीर के सब अवयवों में चेतना व्याप्त है, ऐसा माना जाता है। कहीं पर भी चेतना का अभाव नहीं। यदि चेतना को शरीर का धर्म मानेंगे, तो सभी अवयवों को भी पृथक्-पृथक् चेतन मानना पड़ेगा; क्योंकि अवयव और अवयवी के गुणों में समानता होती है। इस प्रकार प्रतिशरीर में अनेक चेतनों का होना प्राप्त होता है। जैसे चैत्र के शरीर में स्थित चेतन के सुख, दु:ख, ज्ञान आदि का अनुभव मैत्र आदि के शरीर में स्थित चेतन को नहीं होता, अत: चेतना शरीर का गुण नहीं।

सन्दर्भ– 'चेतना पूरे शरीर में व्याप्त रहती है, शरीर के किसी अवयव में चेतना अविद्यमान नहीं' इस कथन पर पूर्वपक्ष आक्षेप करता है-

न, केशनखादिष्वनुपलब्धेः ॥३/२/५३॥

केशेषु नखादिषु चानुत्पत्तिश्चेतनाया इति अनुपपन्नं शरीरव्यापित्वमिति । केश, नख आदि में चेतना की उपलब्धि न होने से उक्त कथन ठीक नहीं, अवयवों में चेतना का अभाव है, इसलिए यह कहना, कि शरीर के सब अवयवों में चेतनता व्याप्त है, वह ठीक नहीं।

समाधान– अब महर्षि गौतम उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं-

त्वक्पर्यन्तवाच्छरीरस्य केशनखादिष्वप्रसङ्गः ॥३/२/५४॥

इन्द्रियाश्रयत्वं शरीरलक्षणं त्वक्पर्यन्तं जीवमनःसुखदुःखसंवित्त्यायतनभूतं शरीरं, तस्मान्न केशादिषु चेतनोत्पद्यते। अर्थकारितस्तु शरीरोपनिबन्धः केशादीनामिति । चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थों का आश्रय (१/१/११) तथा जीवात्मा के सुख, दु:ख, ज्ञान आदि का अधिष्ठान जो शरीर है, उस की सीमा त्वक् पर्यन्त ही है। केश आदि तो उससे बाहर ही हैं। इनके काटने आदि से कोई दु:ख नहीं होता, जबकि जीवित शरीर के अन्य अंगों में ऐसा होने पर अवश्य दु:ख होता है। इसलिए इनमें चेतनता न होने से उसके शरीरव्यापी होने में कोई दोष नहीं आता। अत: उक्त हेतु के आधार पर चेतना को शरीर का धर्म नहीं माना जा सकता। अब चेतना के शरीरगुण न होने में सूत्रकार एक अन्य हेतु देते हैं-

शरीरगुणवैधर्म्यात् ॥३/२/५५॥

द्विविधः शरीरगुणोऽप्रत्यक्षश्च गुरुत्वम्, इन्द्रियग्राह्यश्च रूपादिः, विधान्तरं तु चेतना, नाप्रत्यक्षा संवेद्यत्वात्, नेन्द्रियग्राह्या मनोविषयत्वात् तस्माद् द्रव्यान्तरगुण इति । शरीर के रूपादि गुण से चेतना का वैधर्म्य होने के कारण चेतना शरीर का गुण नहीं। शरीर के गुण दो प्रकार के हैं, एक अप्रत्यक्ष, जैसे गुरुत्व आदि। दूसरे वे हैं, जिनका बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष हो जाता है, जैसे रूप, स्पर्श आदि। चेतना गुण इन दोनों प्रकार के गुणों से विलक्षण है न तो वह अप्रत्यक्ष है और न उसका बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि उसका केवल आन्तर-इन्द्रिय मन से ग्रहण होता है। इसलिए यह चेतना, शरीर का गुण न होकर अन्य द्रव्य (आत्मा) का गुण है।

सन्दर्भ– अब उक्त समाधान में पूर्वपक्ष आक्षेप करता है-

न, रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यात् ॥३/२/५६॥

रूप आदि गुणों का परस्पर एक-दूसरे से वैधर्म्य होने से उपरोक्त कथन, उचित नहीं।

रूप, स्पर्श, गुरुत्व आदि गुण परस्पर भिन्न होने पर भी ये सब शरीर के गुण बने रहते हैं। इसी प्रकार यदि चेतन की इन गुणों से विलक्षणता है, तो भी वह रूप, गुरुत्व आदि गुणों के समान, शरीर का गुण माना जा सकता है। इसलिए चेतना को शरीर का गुण न मानने में 'शरीरगुणवैधर्म्य' हेतु ऐकान्तिक नहीं है।

समाधान– अब महर्षि गौतम उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं-

ऐन्द्रियकत्वाद् रूपादीनामप्रतिषेधः ॥३/२/५७॥

अप्रत्यक्षत्वाच्चेति। यथेतरेतरविधर्माणो रूपादयो न द्वैविध्यमतिवर्तन्ते तथा रूपादिवैधर्म्याच्चेतना न द्वैविध्यमतिवर्त्तेत यदि शरीरगुणः स्यादिति, अतिवर्तते तु, तस्मान्न शरीरगुण इति । रूप आदि गुणों के (बाह्य) इन्द्रिय से ग्राह्य होने के कारण उक्त हेतु का प्रतिषेध उचित नहीं। जैसे परस्पर विलक्षण होते हुए भी रूप, गुरुत्व आदि गुण अप्रत्यक्षत्व और बाह्येन्द्रियग्राह्यत्व को नहीं छोड़ते, वैसे ही यदि चेतना शरीर का गुण होती तो, रूप आदि के समान उक्त दैविध्य का अतिक्रमण न करती। परन्तु अतिक्रमण तो होता है अर्थात् न तो वह अप्रत्यक्ष है और न किसी बाहोन्द्रिय से ग्रहण की जाती है। इससे प्रमाणित है कि चेतना शरीर का गुण नहीं, अपितु आत्मा का गुण है।

यद्यपि मन, इन्द्रिय, शरीर का गुण बुद्धि (चेतना) नहीं है, यह सिद्ध किया जा चुका है, क्योंकि अनेक प्रकार से परीक्षा, उस तत्त्व के विषय में दृढ़ निश्चय करा देती है।

॥ इति बुद्धेशरीरगुणव्यतिरेकप्रकरणम् ॥

स्मरणीय बिंदु (Key Points)–

अन्वय–व्यतिरेक तर्क: जब तक शरीर में आत्मा रहती है, तब तक चेतना (ज्ञान) रहती है। आत्मा के निकलते ही शरीर जड़ हो जाता है। अत: चेतना आत्मा का ही गुण है।

इन्द्रियों की जड़ता: इन्द्रियाँ भौतिक हैं (जैसे आँख तेज से बनी है)। भौतिक वस्तुओं का गुण भी भौतिक ही होगा (जैसे रूप)। चेतना अभौतिक है, इसलिए वह भौतिक इन्द्रियों का गुण नहीं हो सकती।

विशेष गुण: न्याय दर्शन के अनुसार चेतना आत्मा का 'विशेष गुण' है, जो केवल चेतन द्रव्यों में ही पाया जाता है।

अहं–प्रत्यय (I&consciousness): ''मैं जानता हूँ'', ''मैं सुखी हूँ''– यह 'मैं' का बोध शरीर के अंगों को नहीं, बल्कि उस आंतरिक स्वामी (आत्मा) को होता है जिसमें चेतना रहती है।

अचेतन मन: मन स्वयं अचेतन है; वह केवल एक सूक्ष्म साधन है। यदि मन चेतन होता, तो आत्मा की आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु मन को संचालित करने के लिए भी एक चेतन स्वामी चाहिए।

शब्दावली (Terminology)–

चेतना: बोध, ज्ञान या अनुभव करने की शक्ति।

आश्रय: वह स्थान या सत्ता जहाँ कोई गुण रहता है (जैसे चेतना का आश्रय आत्मा है)।

अन्वय–व्यतिरेक: 'होने पर होना' (अन्वय) और 'न होने पर न होना' (व्यतिरेक) का तार्किक नियम।

धर्म: यहाँ इसका अर्थ 'गुण' या 'विशेषता' (Attribute) है।

देहात्मवाद: शरीर को ही आत्मा और चेतना का आधार मानने का सिद्धांत (जिसका न्याय दर्शन खंडन करता है)।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)–

प्रश्न 1. ''चेतना (ज्ञान) शरीर का धर्म नहीं है।'' न्याय दर्शन के तर्कों के आधार पर इस कथन की विस्तृत समीक्षा कीजिए।

प्रश्न 2. आत्मा को चेतना का 'अधिकरण' (आश्रय) क्यों माना गया है? इन्द्रियों और मन के चेतन न होने के पीछे क्या तार्किक कारण हैं?

प्रश्न 3. चार्वाक दर्शन के 'देहचौतन्यवाद' (शरीर ही चेतन है) के विरुद्ध न्याय दर्शन द्वारा दिए गए प्रमुख तर्कों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 4. ''चेतना आत्मा का स्वाभाविक गुण है या आगंतुक?'' न्याय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में इस विवाद की व्याख्या कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)–

प्रश्न 1. 'अन्वय–व्यतिरेक' तर्क के माध्यम से चेतना और आत्मा का संबंध स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2. यदि चेतना शरीर का गुण होती, तो मृत शरीर में चेतना क्यों नहीं रहती?

प्रश्न 3. ''मैं सुखी हूँ''– इस अनुभव में 'मैं' शब्द किस सत्ता का बोध कराता है?

प्रश्न 4. इन्द्रियाँ ज्ञान का साधन (Instrument)? हैं, ज्ञाता (Knower) नहीं। क्यों?

प्रश्न 5. क्या पत्थर या मिट्टी जैसे भौतिक द्रव्यों में चेतना हो सकती है? न्याय दर्शन के अनुसार कारण बताएं।

बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQs & With Answers)–

Q1. न्याय दर्शन के अनुसार चेतना किसका विशेष गुण है?

(A) मस्तिष्क (Brain) का

(B) आत्मा (Soul) का

(C) इन्द्रियों का

(D) पंचमहाभूतों का

Q2. चेतना को शरीर का गुण क्यों नहीं माना जा सकता?

(A) क्योंकि शरीर दृश्य है

(B) क्योंकि मृत्यु के बाद शरीर रहने पर भी चेतना लुप्त हो जाती है

(C) क्योंकि शरीर भारी है

(D) क्योंकि शरीर नश्वर है

Q3. ''मैं जानता हूँ'' (अहं–प्रत्यय) किसका प्रमाण है?

(A) शरीर की शक्ति का

(B) इन्द्रियों की चतुराई का

(C) चेतन आत्मा की सत्ता का

(D) केवल कल्पना का

Q4. इन्द्रियाँ जड़ क्यों मानी गई हैं?

(A) क्योंकि वे छोटी हैं

(B) क्योंकि वे भौतिक तत्वों (पृथ्वी आदि) से बनी हैं

(C) क्योंकि वे सो जाती हैं

(D) क्योंकि वे अनेक हैं

Q5. न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा और चेतना का संबंध कैसा है?

(A) चेतना आत्मा का स्वरूप है

(B) चेतना आत्मा का गुण (धर्म) है

(C) दोनों अलग-अलग द्रव्य हैं

(D) चेतना शरीर से आती है

Q6. मन को चेतना का आश्रय क्यों नहीं माना जाता?

(A) क्योंकि मन बहुत तेज है

(B) क्योंकि मन एक परमाणु-तुल्य सूक्ष्म साधन (करण) मात्र है

(C) क्योंकि मन अदृश्य है

(D) क्योंकि मन हृदय में रहता है

इकाई- ४.३ - मन की परीक्षा

उद्देश्य (Objectives)-

मन के स्वरूप की सिद्धि: यह समझना कि बाह्य इन्द्रियों (आँख, कान आदि) के अतिरिक्त एक आंतरिक इन्द्रिय 'मन' की आवश्यकता क्यों है।

अणुत्व की अवधारणा: मन के परमाणु तुल्य (अत्यंत सूक्ष्म) होने के तार्किक कारणों को जानना।

युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति: इस महत्वपूर्ण सिद्धांत को समझना कि हम एक ही क्षण में अनेक विषयों का ज्ञान क्यों नहीं प्राप्त कर सकते।

आंतरिक प्रत्यक्ष: सुख, दु:ख, इच्छा और द्वेष जैसे आंतरिक अनुभवों के साधन के रूप में मन की भूमिका को पहचानना।

अथ मनपरीक्षाप्रकरणम्

सन्दर्भ– बुद्धि की परीक्षा के अनन्तर अब प्रमेयों (१/१/९) में पठित क्रम प्राप्त मन की परीक्षा करनी है। संशय होता है, कि प्रत्येक शरीर में एक ही मन है, अथवा अनेक?

महर्षि गौतम अपने सिद्धान्त का निरूपण को प्रस्तुत करते है-

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम् ॥१/१/१६॥

अथवा

ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः ॥३/२/५८॥

अस्ति खलु वै ज्ञानायौगपद्यमेकैकस्येन्द्रियेस्य यथाविषयम्, करणस्यैकप्रत्ययनिर्वृत्तौ सामर्थ्यान्न तदेकत्वे मनसो लिङ्गम्। यत्तु खल्विदमिन्द्रियान्तराणां विषयान्तरेषु ज्ञानायौगपद्यमिति तल्लिङ्गम्। कस्मात्? सम्भवति खलु वै बहुषु मनःस्विन्द्रियमनःसंयोगयौगपद्यमिति ज्ञानयौगपद्यं स्यात् न तु भवति, तस्माद्विषये प्रत्ययपर्यायादेकं मनः। मन एक समय में एक ही इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करता है। एक समय में अनेक इन्द्रियों के ज्ञान न होना ही मन के एक होने का प्रमाण है। यदि मन अनेक होते, तो एक समय में अनेक ज्ञानों का होना सम्भव था; क्योंकि तब सब इन्द्रियों के साथ एक-एक मन का संयोग होकर सब के विषयों का एक साथ ज्ञान होता, परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए विषयग्रहण में क्रम होने से एक शरीर में एक ही मन है।

सन्दर्भ– अब पूर्वपक्ष व्यावहारिक स्थिति के आधार पर आक्षेप करता है-

न, युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ॥३/२/५९॥

एक समय में अनेक क्रियाओं की उपलब्धता से उपरोक्त कथन उचित नहीं। प्रत्येक शरीर में एक साथ अनेक ज्ञान न होने के आधार पर मन को एक कहना ठीक नहीं; क्योंकि एक साथ अनेक क्रियाओं का व्यवहार देखा जाता है और कोई भी क्रिया ज्ञानपूर्वक ही की जाती है। अत: एक समय में अनेक ज्ञानों का होना मानना चाहिए, जो कि एक शरीर में अनेक मन मानने पर ही सम्भव हो सकता है।

जैसे- एक धार्मिक व्यक्ति मार्ग में चलते हुए मन्त्रों का पाठ कर रहा है, हाथ में जलपात्र पकड़े हुए है, मार्ग में आगे की ओर देख रहा है, पक्षियों एवं जंगली जन्तुओं की आवाज भी सुन रहा है, कुछ गर्मी भी अनुभव कर रहा है। इस स्थिति में इन सब क्रियाओं एवं ज्ञान का क्रम दृष्ट नहीं होता एवं ये सब क्रियायें एक साथ हो रही हैं। इसलिए मन एक नहीं अनेक मानना चाहिए ।

समाधान– अब महर्षि गौतम दृष्टान्त द्वारा पूर्वपक्ष के आक्षेप का समाधान करते हैं-

अलातचक्रदर्शनवत् तदुपलब्धिराशुसञ्चारात् ॥३/२/६०॥

आशुसञ्चारादलातस्य भ्रमतो विद्यमानः क्रमो न गृह्यते क्रमस्याग्रहणादविच्छेदबुद्ध्या चकवद्बुद्धिर्भवतीति । जैसे शीघ्रगामी होने से घूमते हुए अलातचक्र (आतिशबाजी की चरखी आदि) का क्रम विद्यमान होते हुए भी नहीं जाना जाता। केवल एक घूमता हुआ अग्नि का चक्र जैसा जान पड़ता है। ऐसे ही शीघ्रगामी मन यद्यपि एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय में और एक कार्य को छोड़कर दूसरे कार्य में जाता है, तथापि उसकी शीघ्रगति होने के कारण वह क्रम नहीं दिखता, वे कार्य एक साथ होते प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार पान के सैकड़ों पत्तों को तीक्ष्ण सूई से तीव्रता से बींधने पर अथवा बिजली के सैकड़ो बल्बों में एक तार से विद्युत् प्रवाहित करने पर उनके बिंधने या प्रज्वलित होने का क्रम शीघ्रता के कारण प्रतीत नहीं होता। अत: सब कार्य क्रमपूर्वक होने से युगपत् न होने का अनुमान कराते हैं। वस्तुत: शीघ्रता के कारण क्रम का ग्रहण न होने से इनके युगपत् होने का भ्रम होजाता है। ज्ञानों की युगपत् प्रतीति कहीं भी संशयरहित नहीं, जिससे एक शरीर में अनेक मन का अनुमान हो सके।

सन्दर्भ– अब महर्षि गौतम ऋषि मन को अणुपरिमाण सिद्ध करते हैं-

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु ॥३/२/६१॥

अणु मन एकं चेति धर्मसमुच्चयो ज्ञानायौगपद्यात्। महत्त्वे मनसः सर्वेन्द्रियसंयोगाद्युगपद्विषय-ग्रहणं स्यादिति । एक समय में अनेक ज्ञानों के न होने से मन एक है और मन अणु-परिमाण भी सिद्ध होता है; क्योंकि यदि मन महत्परिमाण होता, तो उसका एक काल में सब इन्द्रियों के साथ संयोग होने से सब इन्द्रियों के विषयों का एक साथ ज्ञान उत्पन्न हो जाता। परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः इससे मन का जहाँ एक होना सिद्ध होता है, वहीं उसका अणु-परिमाण भी सिद्ध है।

॥ इति मनपरीक्षाप्रकरणम् ॥

स्मरणीय बिंदु (Key Points)-

ज्ञान का क्रमः मन का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इन्द्रियों के विषयों के सामने होने पर भी हमें सबका ज्ञान एक साथ नहीं होता। यह सिद्ध करता है कि बीच में कोई ऐसा सूक्ष्म साधन (मन) है जो एक समय में एक ही इन्द्रिय से जुड़ता है।

मन एक अणु हैः यदि मन व्यापक (बड़ा) होता, तो वह एक साथ सभी इन्द्रियों के संपर्क में आ जाता और हमें सब कुछ एक साथ सुनाई, दिखाई और महसूस होने लगता। अतः मन 'अणु' (Atomic) है।

आंतरिक इन्द्रियः जैसे चक्षु बाहर के रूप को देखता है, वैसे ही मन आत्मा के भीतर के गुणों (सुख-दुःख) का साक्षात्कार कराता है।

नित्यताः न्याय दर्शन के अनुसार मन एक 'द्रव्य' है और परमाणु रूप होने के कारण 'नित्य' (अविनाशी) है।

आत्मा-मन संयोगः ज्ञान की उत्पत्ति के लिए आत्मा का मन के साथ जुड़ना अनिवार्य है।

शब्दावली (Terminology)-

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः (युगपत् + ज्ञान + अनुत्पत्ति) - एक साथ अनेक ज्ञानों का उत्पन्न न होना।

अणुत्वः परमाणु जैसा सूक्ष्म होना, जो इन्द्रिय की सीमा को निर्धारित करता है।

आंतरिक इन्द्रियः वह साधन जो शरीर के भीतर के विषयों का बोध कराए।

करणः क्रिया को करने का साधन (जैसे मन ज्ञान का करण है)।

प्रतिनियतः निश्चित विषय वाला।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Questions & Only Questions)-

प्रश्न 1. ''युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्'' (एक साथ ज्ञान का न होना मन का लक्षण है)। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए मन की सत्ता सिद्ध कीजिए।

प्रश्न 2. मन के 'अणुत्व' (सूक्ष्मता) और 'नित्यता' पर न्याय दर्शन के तर्कों की विस्तृत विवेचना कीजिए।

प्रश्न 3. ज्ञान की प्रक्रिया में मन, इन्द्रिय और आत्मा के आपसी संबंध (सन्निकर्ष) को विस्तार से समझाइए।

प्रश्न 4. ''यदि मन को व्यापक (विभु) मान लिया जाए, तो ज्ञान की व्यवस्था भंग हो जाएगी।'' इस कथन की तार्किक समीक्षा कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Questions & Only Questions)-

प्रश्न 1. मन को 'आंतरिक इन्द्रिय' क्यों कहा जाता है? इसके मुख्य विषय क्या हैं?

प्रश्न 2. मन के 'अणु' होने का सबसे प्रबल प्रमाण क्या है?

प्रश्न 3. बाह्य इन्द्रियों के विद्यमान होने पर भी मन की आवश्यकता क्यों पड़ती है?

प्रश्न 4. क्या मन स्वयं चेतन है? न्याय दर्शन के अनुसार उत्तर दें।

प्रश्न 5. स्मृति (याददाश्त) की प्रक्रिया में मन की क्या भूमिका होती है?

बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQs - With Answers)-

Q1. न्याय दर्शन के अनुसार मन का परिमाण (Size) क्या है?

(A) विभु (सर्वव्यापी)

(B) मध्यम

(C) अणु (परमाणु जैसा सूक्ष्म)

(D) शरीर के बराबर

Q2. एक ही समय में अनेक विषयों का ज्ञान न होना किसका लक्षण है?

(A) आत्मा का

(B) बुद्धि का

(C) मन का

(D) इन्द्रियों का

Q3. मन का मुख्य कार्य क्या है?

(A) ज्ञान का संपादन करना (स्मृति और प्रत्यक्ष में सहायक होना)

(B) स्वयं ज्ञान प्राप्त करना

(C) शरीर को भोजन देना

(D) केवल दिखाई देना

Q4. सुख और दु:ख का प्रत्यक्ष किस इन्द्रिय द्वारा होता है?

(A) चक्षु

(B) त्वचा

(C) मन

(D) श्रोत्र

Q5. न्याय दर्शन के अनुसार 'मन' कैसा द्रव्य है?

(A) अनित्य और नाशवान

(B) नित्य और अविनाशी

(C) काल्पनिक

(D) केवल भौतिक तत्व

Q6. ज्ञान की उत्पत्ति के लिए मन का किसके साथ संयोग अनिवार्य है?

(A) केवल इन्द्रिय के साथ

(B) केवल विषय के साथ

(C) आत्मा के साथ

(D) केवल शरीर के साथ

इकाई- ४.४ - आत्मा का विभिन्न शरीरों से संयोग अदृष्ट के कारण

उद्देश्य (Objectives)-

पुनर्जन्म का कारण: यह समझना कि मृत्यु के बाद आत्मा को नया शरीर क्यों और कैसे प्राप्त होता है।

अदृष्ट की अवधारणा: 'अदृष्ट' (अदृश्य कर्मफल) के स्वरूप और उसकी शक्ति को पहचानना।

विषमता की व्याख्या: संसार में कोई सुखी, कोई दु:खी, कोई राजा और कोई रंक क्यों पैदा होता है- इस भेदभाव के तार्किक आधार को समझना।

ईश्वर और अदृष्ट का संबंध: यह जानना कि कर्मफल देने में ईश्वर और अदृष्ट की क्या भूमिका है।

अथ अदृष्टनिष्पाद्यत्वप्रकरणम्

प्रसंग- मन की परीक्षा के अनन्तर अब प्रसंगानुसार इस बात का विवेचन करना है, कि शरीर की उत्पत्ति जीवात्मा के पूर्वकृत कर्मों के कारण होती है, अथवा कर्मों की निमित्तता के बिना केवल पृथिवी आदि भूतों के संयोग से हो जाती है? क्योंकि शास्त्रों में उक्त दोनों पक्षों का व्यपदेश सुनने में आता है।

महर्षि गौतम इस विषय में अपना सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं-

पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः ॥३/२/६२॥

पूर्वशरीरे या प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरम्भलक्षणा तत्पूर्वकृतं कर्मोक्तं, तस्य फलं, तज्जनितौ धर्माधर्मौ, तत्फलस्यानुबन्ध आत्मसमवेतस्यावस्थानं, तेन प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्यस्तस्योत्पत्तिः शरीरस्य, न स्वतन्त्रेभ्य इति । पूर्व जन्म में आत्मा ने जो मन, वाणी और शरीर से कर्म किए हैं, उनके फलस्वरूप जो धर्म-अधर्म (अदृष्ट) के संस्कार आत्मसमवेत मन में निहित रहते हैं, जो सुख, दु:ख रूप भोग के लिए इस जन्म के निमित्त कारण हैं, उनसे प्रेरित हुए पञ्चभूतों से शरीर की उत्पत्ति होती है, स्वतन्त्ररूप से कभी नहीं, अर्थात् पूर्वजन्म में जिस जीव के जैसे कर्म होते हैं, वैसे ही अनेक प्रकार की योनियों में भूतों के विलक्षण परिणाम से जीवों के शरीर उत्पन्न होते हैं। इसलिए अदृष्ट ही विविध शरीरों की उत्पत्ति में कारण है। जीव का पुण्य-आत्मा के घर में अथवा दुरात्मा के घर में जन्म भी पूर्व जन्म के कर्मों का ही परिणाम होता है। कामरूप शरीर और उसके भोगों से उसके कारणरूप पूर्वकृत कर्मों का अनुमान होता है; क्योंकि बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। जैसा कि लोक व्यवहार में घट, पट, महल आदि द्रव्यों का उत्पादन पुरुष के विशेष प्रयत्न से होता है, स्वत: नहीं।

सन्दर्भ– उक्त अर्थ में नास्तिकवादी आक्षेप करता है-

भूतेभ्यो मूर्त्युत्पादानवत् तदुपादानम् ॥३/२/६३॥

यथा कर्मनिरपेक्षेभ्यो भूतेभ्यो निर्वृत्ता मूर्तयः सिकताशर्कमरापाषाणगैरिकाञ्जनप्रभृतयः पुरुषार्थकारित्वादुपादीयन्ते तथा कर्मनिरपेक्षेभ्यो भूतेभ्यः शरीरमुत्पन्नं प्ररुषार्थकारित्वादुपादीयते इति । जैसे कर्मों की अपेक्षा के बिना पृथिवी आदि भौतिक लोक तथा पृथिवी में मिट्टी, गेरु, कंकड़, पत्थर, कोयला आदि मूर्त्तद्रव्य बन जाते हैं और पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध करते हैं. वैसे ही कर्मनिरपेक्ष भूतों से पुरुष के प्रयोजनों की सिद्धि करने वाले शरीर की उत्पत्ति मानी जा सकती है। इस मान्यता में भूतों से अतिरिक्त किसी आत्मा आदि चेतन को मानना आवश्यक नहीं।

समाधान– अब सूत्रकार उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं-

न, साध्यसमत्वात् ॥३/२/६४॥

यथा शरीरोत्पत्तिरकर्मनिमित्ता साध्या तथा सिकताशर्करापाषाण-

गैरिकाञ्जनप्रभृतीनामप्यकर्मनिमित्तः सर्गः साध्यः साध्यसमत्वादसाधनमिति । प्रमाणों से सिद्ध कोई हेतु या उदाहरण ही, किसी अन्य साध्य को सिद्ध कर सकता है, स्वयं साध्य रहते हुए नहीं। गतसूत्र में मुर्त्युपादान हेतु अभी स्वयं साध्य है, अर्थात् जैसे- कर्मनिरपेक्ष शरीरोत्पत्ति साध्य है, वैसे ही मिट्टी, कोयला, पत्थर आदि मूर्तिमान् द्रव्यों की उत्पत्ति भी साध्य है, कि क्या किसी चेतन की प्रेरणा के बिना कर्मनिरपेक्ष ये पदार्थ उत्पन्न होते हैं?

अब सूत्रकार पूर्वपक्ष के दृष्टान्त में अन्य दोष दिखाते हैं-

न, उत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः ॥३/२/६५॥

विषमश्चायमुपन्यासः कस्मात्? निर्बीजा इमा मूर्तय उत्पद्यन्ते बीजपूर्विका तु शरीरोत्पत्तिः । कंकड़, पत्थर आदि का 'मूर्ति उपादान' दृष्टान्त शरीर की उत्पत्ति में असंगत है; क्योंकि शरीर की उत्पत्ति में माता-पिता का रज-वीर्य निमित्त होता है, जबकि पत्थर आदि

की उत्पत्ति में माता-पिता की निमित्तता नहीं होती। आत्मा अपने धर्म-अधर्म के अनुसार जब मातृगर्भ में आता है, तब वह कर्मानुसार गर्भवास की कष्टमय स्थिति का अनुभव करता है, और माता-पिता अपने कर्मों के अनुसार सन्तानरूप फल की प्राप्ति का अनुभव करते हैं। इससे स्पष्ट है, कि शरीर की रचना में कर्म कारण (निमित्त) है। शरीर की उत्पत्ति में बीज की अनुकूलता है, किन्तु पाषाण आदि में नहीं, यह दोनों दृष्टान्तों में भेद है। अतः उक्त दृष्टान्त कर्मनिरपेक्ष शरीर की रचना का साधक नहीं।

अब महर्षि गौतम शरीर की रचना में शुक्र शोणित के अतिरिक्त अन्य कारण बताते हैं-

तथाऽऽहारस्य ॥३/२/६६॥

उत्पत्तिनिमित्तत्वादिति प्रकृतम् । भुक्तं पीतमाहारस्तस्य पक्तिनिर्वृत्तं रसद्रव्यं मातृशरीरे चोपचिते बीजे गर्भाशयस्थे बीजसम. ानपाकं, मात्रया चोपयचो बीजे यावद्व्यूहसमर्थः सञ्चय इति । जैसे गर्भस्थिति के शरीरोत्पत्ति में शुक्र शोणित निमित्त है, उसी प्रकार गर्भस्थिति के पश्चात् की शरीररचना में माता द्वारा किया गया आहार निमित्त होता है। उस आहार द्रव्य के रस गर्भनाड़ी द्वारा शिशु-शरीर की तब तक पुष्टि करते रहते हैं, जब तक ९-१० मास में शरीर सर्वथा पूर्ण होकर प्रसवकालन न आ जायें। तब तक यह आहार-रस विविध रासायनिक परिणामों द्वारा बुलबुला जैसा, मांसपिण्ड (पिण्ड के समान गाढता), कलल (अंगों के कुछ भाग उभरना), कण्डर (पिण्ड की लम्बायमानावस्था), शिर, हाथ, पैर एवं अन्य बाह्य, आन्तरिक रचना में निमित्त बनता है।

संशय– कर्मनिरपेक्ष मत में भी जिसकी उत्पत्ति जिस प्रकार सम्भव है, उसी प्रकार हो सकती है, अन्यथा नहीं। इसलिए गर्भाशय में गए हुए कर्मनिरपेक्ष भूतों से शरीर की उत्पत्ति हो जाती है, अन्न-पान आदि से नहीं होती। अतः शरीरोत्पत्ति में अदृष्ट को कारण मानना व्यर्थ है।

समाधान– महर्षि गौतम इस संशय का उत्तर देते हैं-

प्राप्तौ चानियमात् ॥३/२/६७॥

न सर्वो दम्पत्योः संयोगो गर्भाधानहेतुर्दृश्यते तत्रासति कर्मणि न भवति सति च भवतीत्यनुपपन्नो नियमाभाव इति, कर्मनिरपेक्षेषु भूतेषु शरीरोत्पत्तिहेतुषु नियमः स्यात् न ह्यत्र कारणाभाव इति । यदि सन्तान के शरीर की उत्पत्ति में केवल स्त्री-पुरुप का संयोग ही गर्भस्थिति के रूप में कारण हो, तो संयोगमात्र से सदा सन्तान उत्पन्न होने लगेगी। किन्तु ऐसा नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है, कि अदृष्ट भी सन्तान की उत्पत्ति में कारण है। अतः पूर्वपक्ष का आक्षेप असंगत है।

सन्दर्भ– अब सूत्रकार विविध शरीरों के साथ आत्मा के संयोग में धर्माधर्म रूप अदृष्ट/कर्माशय को कारण बताते हैं-

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमत्तं कर्म ॥३/२/६८॥

यथा खल्विदं शरीरं धातुप्राणसंवाहिनीनां नाडीनां शुक्रान्तानां धातूनां च स्नायुत्वगस्थिशिरापेशीकललकण डराणां च शिरोबाहूदराणां सक्थनां च कोष्ठगानां वातपित्तकफानां च मुखहृदयामाशयपक्वशयाधः स्रोतसां च परमदुःखसम्पादनीयेन कण्ठसन्निवेशेन व्यूहनमशक्यं पृथिव्यादिभिः कर्मनिरपेक्षैरुत्पादयितुमिति कर्मनिमित्ता शरीरा. ेत्पत्तिरिति विज्ञायते ।

शरीर की उत्पत्ति में आत्मा का पूर्वकृत धर्म-अधर्म रूप कर्म विविध शरीरों के साथ आत्मा के संयोग की उत्पत्ति में भी निमित्त होता हैं। जिस प्रकार अदृष्टरूप कर्म उस-उस शरीर की उत्पत्ति में निमित्त कारण है, उसी प्रकार अनेक योनियों में विभिन्न शरीरों के साथ आत्माओं का संयोग भी अदृष्टरूप कारण से समझना चाहिए। उक्त अर्थ को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार उसका अन्यत्र अतिदेश करते है।

एतेनाऽनियमः प्रत्युक्तः ॥३/२/६९॥

योऽयमकर्मनिमित्ते शरीरसर्गे सत्यनियम इत्युच्यते, अयं शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्मेत्यनेनानियमः प्रयुक्तः।

शरीर की रचना में कर्म को निमित्त न मानने से जो अनियम उत्पन्न होता है, उसका भी पूर्वसूत्र से खण्डन हो गया।

प्रश्न- वह अनियम क्या था?

उत्तर- पञ्चभूतरूप उपादान कारण के समान होने पर भी कोई उत्तम कुल (धनी एवं धार्मिक कुल) में जन्म लेता है, कोई नीच कुल में, किसी का शरीर उत्तम होता है, किसी का निकृष्ट, कोई बचपन से निरोगी, कोई रोगी, कोई सर्वांगसम्पन्न होता है तो कोई विकलांग, किसी के हाथ, पैर, अंगुली, मस्तक आदि उत्कर्ष के सूचक होते हैं, किसी में अपकर्ष के, कोई दुःखों से भरा रहता है, कोई सुखबहुल दिखता है, किसी का शरीर सुन्दर सुगठित होता है, किसी का निन्दनीय लक्षणों वाला, किसी की इन्द्रियों अतिपटु होती हैं, किसी की शिथिल, कोई घोड़ा, ऊँट, बैल, सूअर, कुत्ता आदि पशु अथवा, पक्षी, कीट, पतंगा आदि होते हैं। इसी प्रकार अन्य आन्तरिक सूक्ष्म भेद भी हैं, जिन की गणना कर पाना अतिकठिन है अर्थात् उत्पत्ति के कारण समान होने पर भी जीवों के शरीर में विविध भेद पाए जाते हैं, सर्वत्र एकनियम नहीं है, उसमें अदृष्ट (प्रत्येक आत्मा के विविध कर्मों) का भेद कारण है।

कर्मभेद के अभाव में सब आत्माओं के तुल्य होने से पञ्चभूतों से उत्पन्न सब शरीर एक जैसे होने चाहिए थे, परन्तु लोक में ऐसा प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता। इसलिए विविध शरीरों की रचना में कर्मों को निमित्त मानना पूर्णतया प्रामाणिक तथा पूर्णतया संगत है। अब सूत्रकार उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से स्पष्ट करते हैं-

उपपन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः ॥३/२/७०॥

विशिष्ट कर्मों (प्रारब्ध) के आधार पर चालू शरीर की उत्पत्ति मानने पर ही उन कर्मों के भोग के पश्चात् समाप्त होने से शरीर से आत्मा का वियोग भी सिद्ध हो जाता है, जिसे मृत्यु कहते हैं। यदि शरीर की उत्पत्ति में कर्मों को निमित्त न माना जाए, तो पञ्च-भूतों के सदा विद्यमान रहने से आत्मा का शरीर से कभी वियोग न होता।

इसी प्रकार आत्मज्ञान हो जाने पर जब संचित और प्रारब्ध आदि सब कर्मों का क्षय हो जाता है और पुनः शरीर प्राप्ति के निमित्तभूत सकाम कर्मों का योगी मन, वाणी, शरीर से अनुष्ठान करना त्याग देता है, तब चालू शरीर के पतन के अनन्तर तत्काल अन्य शरीर के मिलने की सम्भावना समाप्त हो जाती है अर्थात् अपवर्ग हो जाता है। इससे सिद्ध होता है, कि शुभाशुभ कर्म (रूप अदृष्ट) शरीर की रचना में निमित्त कारण होता है।

संशय– शरीर की रचना में प्रकृति-पुरुष के भेद का ज्ञान न होना, अर्थात् अविवेक को ही कारण क्यों न माना जाए, कर्मों को निमित्त मानना व्यर्थ है?

समाधान– महर्षि गौतम सिद्धांत का निरूपण करते हैं-

तददृष्टकारितमिति चेत् पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे ॥३/२/७१॥

अदर्शनं खल्वदृष्टमित्युच्यते अदृष्टकारिता भूतेभ्यः शरीरोत्पत्तिः। अदृष्ट का तात्पर्य है अदर्शन। शरीर को प्राप्त करके ही द्रष्टा दृश्य को देख पाता है। द्रष्टा (आत्मा) का दृश्य दो प्रकार का बताया गया है। प्रथम विषय रूप, रस आदि। द्वितीय-नानात्व (प्रकृति पुरुष के भेद) का ज्ञान। इसी के लिए शरीर की उत्पत्ति होती है। इन प्रयोजनों की सिद्धि हो जाने पर चरितार्थ हुए भूत आत्मा के लिए शरीर की उत्पत्ति नहीं करते। तात्पर्य है, कि अदृष्ट ही शरीर की उत्पत्ति में कारण है, कर्म नहीं। सूत्रकार इस मान्यता का समाधान करते हैं, कि ऐसा मानना ठीक नहीं। ऐसा मानने पर तो अपवर्ग के पश्चात् भी शरीरोत्पत्ति होने लगेगी; क्योंकि जैसे शरीरोत्पत्ति से पूर्व का अदृष्ट उसकी उत्पत्ति का कारण है, उसी प्रकार अपवर्ग के पश्चात् का अदृष्ट भी शरीरोत्पत्ति का कारण बनेगा। दोनों अदर्शनों में कोई भेद नहीं।

संशय– जब एक बार प्रकृति पुरुष के भेद का ज्ञान हो गया, तो निष्प्रयोजन होने से शरीर की उत्पत्ति नहीं होगी।

समाधान– यह कथन उचित नहीं; क्योंकि प्रयोजन पूरा होने और न होने की दोनों स्थितियों में शरीरोत्पत्ति देखी जाती है। शरीरोत्पत्ति के दो प्रयोजन हैं- भोग और प्रकृति पुरुष का भेद दर्शन। जिस प्रकार शरीरोत्पत्ति होने पर एक बार भोग प्राप्ति से भूतों के चरितार्थ हो जाने पर भी पुनः पुनः भोगप्राप्ति के लिए शरीरोत्पत्ति होती है, वैसे ही एक बार नानात्व का ज्ञान हो जाने पर भी पुनः शरीरोत्पत्ति क्यों नहीं हो सकती? अतः जन्म-मरण की व्यवस्था में कर्मों को भी निमित्त मानना आवश्यक है।

विशेष- वस्तुतः अपवर्ग की प्रक्रिया न्यायदर्शन में निद्रिष्ट प्रारम्भिक सूत्र **दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानामुत्तरोत्तराऽपाये तदनन्तरापायादपवर्गः (१/१/२)** के अनुसार ही मान्य है।

संशय– मन में रहने वाले कर्मों को शरीरोत्पत्ति का कारण क्यों न मान लिया जाए? सूत्रकार समाधान करते हैं-

मनःकर्मनित्तत्वाच्च संयोगानुच्छेदः ॥३/२/७२॥

मनोगुणेनादृष्टेन समावेशिते मनसि संयोगव्युच्छेदो न स्यात्, तच्च किकृतं शरीरादपसर्पणं मनस इति । यदि मन के अदृष्ट (कर्म) से शरीरोत्पत्ति मानी जाए, तो मन सहित आत्मा का शरीर से कभी वियोग नहीं हो सकता क्योंकि इस पक्ष में मन के संयोग के कारण अदृष्ट, मन में सदा बने रहते हैं। तब एक बार जन्म होने पर जीवन सदा बना रहना चाहिए। मन को शरीर से बाहर निकालने वाला कोई कारण नहीं है। परन्तु शरीर का वियोग प्रत्यक्षसिद्ध है। यदि मन के अदृष्ट को ही शरीर से वियोग का कारण मानें, तो यह उचित नहीं; क्योकि एक ही कारण जीवन और मृत्यु का हेतु नहीं बन सकता। किन्तु शरीर की उत्पत्ति में कर्म को निमित्त मानने से ऐसा कोई दोष नहीं आता, क्योंकि तब प्रारब्ध कर्म के क्षय से मृत्यु होना सम्भव है।

सन्दर्भ– कर्म की अपेक्षा के बिना शरीरोत्पत्ति मानने में सूत्रकार अन्य दोष दिखाते हैं- **नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणानुपपत्तेः ॥३/२/७३॥**

विपाकसंवेदनात् कर्माश्यक्षये शरीरपातः प्रायणम्, कर्माशयान्तराच्च पुनर्जन्म ।

यदि कर्मनिरपेक्ष, केवल भूतों से शरीर की उत्पत्ति मानी जाए, तो एक बार शरीर के उत्पन्न हो जाने पर उससे प्रायण का अवसर कभी नहीं आयेगा, क्योंकि उसके उत्पत्ति कारणों में ऐसा कोई विशेष कारण नहीं माना गया, जिसके नाश से शरीरनाश का अवसर

आए। परन्तु उसका नाश प्रत्यक्षसिद्ध है। अतः कर्मनिमित्तक शरीरोत्पत्ति मानना ही ठीक है, जिससे प्रारब्ध कर्माशय के नाश से शरीरनाश हो जाता है।

अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत् स्यात् ॥३/२/७४॥

अणु की श्यामता के नित्य होने के समान यह अपवर्ग में शरीरोत्पत्ति का अभाव सम्भव है।

जिस प्रकार पृथिवी के परमाणुओं की कृष्णरूपता को नित्य माना जाता है, किन्तु वह अग्नि के संयोग से एक बार नष्ट होकर पुनः उत्पन्न नहीं होती, उसी प्रकार अदृष्ट (अविवेक) से उत्पन्न हुआ शरीर सम्यक् ज्ञान (विवेक) हो जाने पर अपवर्ग में पुनः उत्पति नहीं होता ।

सन्दर्भ– कर्मनिरपेक्ष, केवल भूतों से अविवेक निमित्तक शरीरोत्पत्ति की सिद्धि में पूर्वपक्ष ने जो दृष्टान्त दिया है, सूत्रकार उसका निराकरण करते हुए कहते हैं-

नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ॥३/२/७५॥

नायमस्ति दृष्टान्तः, कस्मात्? अकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। अकृतं प्रमाणतो ऽनुपपन्नं तस्याभ्यागमोऽभ्युपपत्तिर्व्यवसायः एतच्छ्रद्दधानेन प्रमाणतोऽनुपपन्नं मन्तव्यम् ।

किसी भी प्रमाण से परमाणु की श्यामता का नित्यत्व अभी सिद्ध नहीं है। पृथिवी के परमाणुओं में तो रूपादि चारों गुण पाकज माने जाते हैं। अतः उक्त दृष्टान्त से कर्म की अनावश्यकता बताना ठीक नहीं। हेतु का अर्थ है आत्म के कर्म किए बिना फलप्राप्ति रूप आपत्ति उपस्थित होने से अर्थात् कर्म किए बिना ही आत्मा को सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं। यह बात प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र के विरुद्ध है।

प्रत्यक्षविरोध– सब प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, कि प्रत्येक प्राणी के लिए सुख-दुःख की व्यवस्था एक जैसी नहीं है। तब कर्मरूप हेतु के अभाव में प्रत्येक आत्मा के लिए प्राप्त विविध सुख दुःख का कारण क्या है? कारणभेद न होने पर भी और कार्यभेद न होने पर भी कार्यभेद क्यों दिखता है?

अनुमानविरोध– चेतन आत्मा विशिष्टसाधनों से सम्पन्न होने वाले सुखों को समझकर उसे पाने के लिए प्रयत्न करता है, तो सुख को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार जन्म से ही यहाँ जीवों को बिना यत्न के जो सुख-दुःख होते हैं, उनका कोई कारण अवश्य होना चाहिए और दृष्ट कारण कोई देखने में नहीं आता तब पूर्वजन्मकृत कर्मों का अनुमान होता है। इस कारण से कर्मनिरपेक्षता की मान्यता से विरोध उत्पन्न होता है।

शब्दप्रमाणविरोध- वेदों एवं अनेक महाऋषियों ने मानवजीवन के कल्याणार्थ कर्त्तव्य- अकर्त्तव्य का उपदेश किया है, जिसके अनुसार मानव वर्णाश्रम के विभाग से अपने कर्तव्य में प्रवृत्त और अकर्त्तव्य से निवृत्ति होते हैं। यह बात शरीरोत्पत्ति में कर्म को निमित्त न मानने पर व्यर्थ हो जायेगी।

अतः प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण का विरोध होने से कर्मनिरपेक्ष सृष्टि की कल्पना मिथ्या है अर्थात् शरीरोत्पत्ति अकर्मनिमित्तक है, सुख-दुःख सम्बन्ध भी अकर्मनिमित्तक है, संसार में सदाचार या दुराचार कुछ नहीं है- यह मिथ्यादृष्टि अतिशय पापाचरण में निमग्न नास्तिकों के द्वारा प्रचारित ही समझनी चाहिए। आस्तिक समाज तो समग्रसृष्टि को कर्मनिमित्तक ही मानता है।

॥ इति अदृष्टनिष्पाद्यत्वप्रकरणम् ॥

स्मरणीय बिंदु (Key Points)-

अदृष्ट का अर्थः 'अदृष्ट' का अर्थ है वह शक्ति जो कर्मों (धर्माधर्म) से उत्पन्न होती है लेकिन तुरंत दिखाई नहीं देती। यह आत्मा में संस्कार रूप में रहती है।

संयोग का आधारः आत्मा और शरीर का संयोग आकस्मिक (By chance) नहीं है। यह पूर्वजन्म में किए गए पुण्य और पाप के अनुसार होता है।

प्रेरक शक्तिः जैसे चुंबक लोहे को खींचता है, वैसे ही अदृष्ट आत्मा को उसके कर्मों के अनुकूल नए शरीर, माता-पिता और परिस्थितियों की ओर खींचता है।

भोग की अनिवार्यताः जब तक संचित कर्मों का फल नहीं भोग लिया जाता, तब तक अदृष्ट आत्मा को नए-नए शरीरों से जोड़ता रहता है।

मोक्ष और अदृष्ट: जब तत्वज्ञान के माध्यम से नए कर्मों का बनना रुक जाता है और पुराने अदृष्ट समाप्त हो जाते हैं, तब शरीर से संयोग का अंत (मोक्ष) होता है।

शब्दावली (Terminology)–

अदृष्ट: वह अदृश्य शक्ति जो शुभ-अशुभ कर्मों से पैदा होती है (धर्माधर्म)।
निकाय-विशिष्ट: वह विशेष शरीर या योनि (जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी) जो अदृष्ट द्वारा निर्धारित होती है।
धर्माधर्म: धर्म (पुण्य) और अधर्म (पाप) का सामूहिक नाम।
प्रारब्ध: अदृष्ट का वह हिस्सा जिसने फल देना शुरू कर दिया है (वर्तमान जीवन)।
संयोग: आत्मा और भौतिक शरीर का मिलन।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)–

प्रश्न 1. ''आत्मा और शरीर का संयोग अदृष्ट के कारण होता है।'' न्याय दर्शन के इस सिद्धांत की तर्कपूर्ण व्याख्या कीजिए।
प्रश्न 2. 'अदृष्ट' क्या है? यह किस प्रकार विभिन्न योनियों (पशु, पक्षी, मनुष्य) में जन्म लेने का कारण बनता है?
प्रश्न 3. यदि शरीर प्राप्ति का कारण 'अदृष्ट' न होकर केवल 'प्रकृति' या 'ईश्वर' की इच्छा होती, तो संसार में सुख-दु:ख की विषमता को कैसे समझाया जाता? समीक्षा कीजिए।
प्रश्न 4. कर्म, संस्कार और अदृष्ट के अंतर्संबंधों को स्पष्ट करते हुए पुनर्जन्म की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)–

प्रश्न 1. 'अदृष्ट' शब्द का दार्शनिक अर्थ स्पष्ट कीजिए।
प्रश्न 2. क्या आत्मा अपनी इच्छा से नया शरीर चुन सकती है? न्याय दर्शन के अनुसार उत्तर दें।
प्रश्न 3. संसार में जन्मजात विषमता (Inquality) का मुख्य कारण क्या है?
प्रश्न 4. अदृष्ट का क्षय (विनाश) कब और कैसे होता है?
प्रश्न 5. शरीर को 'कर्मफल भोग का आयतन' क्यों कहा गया है?

बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQs - With Answers)–

Q1. न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा को शरीर से जोड़ने वाली अदृश्य शक्ति क्या है?
(A) मोह
(B) अहंकार
(C) अदृष्ट
(D) केवल काल
Q2. 'अदृष्ट' का निर्माण किससे होता है?
(A) भोजन से
(B) पूर्वकृत शुभ-अशुभ कर्मों (धर्माधर्म) से
(C) केवल प्रार्थना से
(D) शरीर की बनावट से
Q3. मृत्यु के पश्चात आत्मा के साथ क्या जाता है?
(A) भौतिक शरीर
(B) धन-संपत्ति
(C) कर्मों के संस्कार/अदृष्ट
(D) इन्द्रियों के गोलक

Q4. जब तक अदृष्ट शेष रहता है, तब तक क्या होता रहता है?
(A) केवल सुख मिलता है

(B) पुनर्जन्म और शरीर का संयोग

(C) मोक्ष की प्राप्ति

(D) ज्ञान का नाश

Q5. न्याय दर्शन के अनुसार संसार की विषमता (अमीरी–गरीबी आदि) का कारण है:

(A) संयोग या इत्तेफाक

(B) ईश्वर का पक्षपात

(C) जीवों के अपने-अपने अदृष्ट

(D) समाज की बनावट

Q6. अदृष्ट कहाँ स्थित रहता है?

(A) शरीर में

(B) मन में

(C) आत्मा में

(D) आकाश में

॥ ओ३म् ॥

न्याय दर्शन-3

(चतुर्थ एवं पंचम अध्याय)

BDPHMJ – 302

दिव्य प्रकाशन

बी.ए.-सेमेस्टर-३
न्याय दर्शन-३
(चतुर्थ एवं पंचम अध्याय)

Code - BDPHMJ – 302

Credit : 6

उद्देश्य- 1. प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, Qल, दु:ख एवं अपवर्ग नामक छः प्रमेयों से अवगत कराना।

2. विभिन्न बौद्धादि सिद्धान्तों की समीक्षा पूर्वक बोध कराना।

3. जाति एवं निग्रहस्थानों के उद्देश्य एवं लक्षणों का परिचय कराना।

खण्ड - १	**प्रमेय - प्रवृत्ति दोष प्रेत्यभाव की परीक्षा**
१.१	प्रवृत्ति की परीक्षा
१.२	दोष त्रैराश्य प्रकरण
१.३	प्रेत्यभाव की परीक्षा
१.४	शून्यतावाद निराकरण
खण्ड - २	**अनिमित्तवाद आदि वादों का निराकरण**
२.१	जगत् का निमित्त कारण ईश्वर एवं अनिमित्तवाद प्रकरण
२.२	सर्वानित्यत्ववाद एवं सर्वनित्यत्ववाद निराकरण
२.३	सर्वपृथक्वाद एवं अभाववाद निराकरण
२.४	संख्यैकान्तवाद निराकरण
खण्ड - ३	**फल, दु:खादि प्रमेय एवं तत्त्वज्ञानोत्पत्ति निरूपण**
३.१	फल दु:ख तथा अपवर्ग परीक्षा
३.२	तत्त्वज्ञानोत्पत्ति एवं अवयवी निरूपण
३.३	परमाणु निरूपण एवं बाह्यार्थ भङ्ग निराकरण
३.४	तत्त्वज्ञान विवृद्धि प्रकरण
३.५	तत्त्वज्ञान परिपालन निरूपण
खण्ड - ४	**जाति तथा निग्रहस्थान का परिचय**
४.१	विभिन्न जातियों के लक्षण
४.२	षट्पक्षी निरुपण
४.३	प्रतिज्ञाहानि से हेत्वाभास पर्यन्त २२ निग्रह स्थानों का उद्देश्य व परिभाषा
४.४	अर्थान्तर निग्रहस्थान से हेत्वाभास पर्यन्त विभाग एवं निरुपण

परिणाम- 1. सूत्रार्थ एवं भावार्थ पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।

2. **प्रवृ**त्ति, दोष इत्यादि छः प्रमेयों का तार्किक रूप से विश्लेषणात्मक ज्ञान हो जाता है।

3. विभिन्न दर्शनिक सिद्धान्तों का तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन करने में बुद्धि कौशल प्राप्त हो जाता है।

निर्धारित पाठ्यपुस्तक- न्यायदर्शन, आचार्य उद्यवीर शास्त्री, प्रकाशक-विजय कुमार, गोविंदराम, हासानन्द, 4408 नई सड़क, नई दिल्ली।

न्यायदर्शनम्- डॉ. साध्वी देवप्रिया, प्रकाशक- दिव्य प्रकाशन पतंजलि योगपीठ, हरिद्वार।

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ संख्या
खण्ड - १ प्रमेय - प्रवृत्ति दोष प्रेत्यभाव की परीक्षा		**4-17**
इकाई-१.१	प्रवृत्ति की परीक्षा	4-4
इकाई- १.२	दोष त्रैराश्य प्रकरण	5-9
इकाई- १.३	प्रेत्यभाव की परीक्षा	10-13
इकाई- १.४	शून्यतावाद निराकरण	14-17
खण्ड - २ अनिमित्तवाद आदि वादों का निराकरण		**18-39**
इकाई- २.१	जगत् का निमित्त कारण ईश्वर एवं अनिमित्तवाद प्रकरण	18-25
इकाई- २.२	सर्वानित्यत्ववाद एवं सर्वनित्यत्ववाद निराकरण	26-30
इकाई- २.३	सर्वपृथक्वाद एवं अभाववाद निराकरण	31-35
इकाई- २.४	संख्यैकान्तवाद निराकरण	36-39
खण्ड- ३ फल, दु:खादि प्रमेय एवं तत्त्वज्ञानोत्पत्ति निरूपण		**40-78**
इकाई- ३.१	फल दु:ख तथा अपवर्ग परीक्षा	40-52
इकाई- ३.२	तत्त्वज्ञानोत्पत्ति एवं अवयवी निरूपण	53-60
इकाई- ३.३	परमाणु निरूपण एवं बाह्यार्थ भङ्ग निराकरण	61-68
इकाई- ३.४	तत्त्वज्ञान विवृद्धि प्रकरण	69-74
इकाई- ३.५	तत्त्वज्ञान परिपालन निरूपण	75-78
खण्ड- ४ जाति तथा निग्रहस्थान का परिचय		**79-1**
इकाई- ४.१	विभिन्न जातियों के लक्षण	79-93
इकाई- ४.२	षट्पक्षी निरुपण	94-98
इकाई- ४.३	प्रतिज्ञाहानि से हेत्वाभास पर्यन्त २२ निग्रह स्थानों का उद्देश्य व परिभाषा	99-101
इकाई- ४.४	अर्थान्तर निग्रहस्थान से हेत्वाभास पर्यन्त विभाग एवं निरुपण	102-108

खण्ड- १ प्रमेय–प्रवृत्ति दोष प्रेत्यभाव की परीक्षा

इकाई- १.१ - प्रवृत्ति की परीक्षा

उद्देश्य

यह समझना कि मनुष्य कर्म क्यों करता है और उन कर्मों का ल (जन्म-मरण) कैसे मिलता है।
शुभ और अशुभ कर्मों के बीच के अंतर को पहचानना।
कर्मों के चक्र को तोड़कर दुखों से मुद्रि का मार्ग खोजना।

अथ प्रवृत्तिपरीक्षाप्रकरणम्।

आत्मादि ६ प्रमेयों की परीक्षा विस्तार पूर्वक सम्पन्न हुई। शेष प्रमेयों की परीक्षा के लिए निर्दिष्ट प्रमेय सूत्रा **आत्माशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमन:प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदु:खापवर्गास्तु प्रमेयम्।।** (१/१/९) में पठित क्रम के अनुसार मन की परीक्षा के अनन्तर प्रवृत्ति की परीक्षा के लिए महर्षि गौतम कहते हैं–

प्रवृत्तिर्यथोक्ता ।।४/१/१।। जिस प्रकार प्रवृत्ति लक्षण द्वारा कह दी गई है वही प्रवृत्ति की परीक्षा समझ लेनी चाहिए। प्रवृत्ति के लक्षण सूत्रा **'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः' (१/१/१७)** में प्रवृत्ति के विषय में जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, वही उसकी परीक्षा के लिए पर्याप्त है। उसकी परीक्षा के लिए और कुछ वक्तव्य शेष नहीं; क्योंकि वह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। **इति प्रवृत्तिपरीक्षाप्रकरणम् ।**

स्मरणीय बिंदु

परिभाषा मन, वाणी और शरीर के द्वारा होने वाली क्रिया को (प्रवृत्ति) कहते हैं।
प्रकार प्रवृत्ति दो प्रकार की होती हैख्र शुभ (पुण्य देने वाली) और अशुभ (पाप देने वाली)।
कारण प्रवृत्ति हमेशा (दोष, राग, द्वेष, मोह) के कारण उत्पन्न होती है। जब तक दोष रहेंगे, मनुष्य कर्म करता रहेगा।
चक्रः मिथ्याज्ञान- दोष - प्रवृत्ति - जन्म - दु:ख। इस चक्र को ही संसार कहा जाता है।
परीक्षा का महत्व न्याय दर्शन कहता है कि जब हम अपनी प्रवृत्तियों की जांच करते हैं, तब हमें समझ आता है कि कौन से कार्य बंधनकारी हैं और कौन से मुद्र करने वाले।

शब्दावली

वाक्-प्रवृत्ति सत्य, प्रिय और हितकारी वचन बोलना (शुभ) या झूठ और कठोर बोलना (अशुभ)।
शरिरीक-प्रवृत्तिरू शरीर द्वारा दान-रक्षा करना (शुभ) या हिंसा-चोरी करना (अशुभ)।
मानस-प्रवृत्ति दया और श्रद्धा (शुभ) या ईर्ष्या और नास्तिकता (अशुभ)।
धर्माधर्मः शुभ कर्मों से 'धर्म' और अशुभ कर्मों से 'अधर्म' की उत्पत्ति होती है।

इकाई- १.२ - दोष त्रैराश्य प्रकरण

उद्देश्य

दुखों के मूल कारण द्धदोषोघ) को गहराई से पहचानना।
यह जानना कि केवल गुस्सा (क्रोध) ही बुरा नहीं है, बल्कि अत्यधिक लगाव (मोह) भी बंधन का कारण है।
दोषों का वगह्लकरण करके उन्हें जड़ से खत्म करने का अभ्यास करना।

अथ दोषपरीक्षाप्रकरणम्

सन्दर्भ– प्रवृत्ति की परीक्षा के पश्चात् अब 'दोषों' की परीक्षा के लिए सूत्राकार कहते हैं-

तथा दोषाः ॥४/१/२॥

बुद्धिसमानाश्रयत्वादात्मगुणाः, प्रवृत्तिहेतुत्वात् पुनर्भवप्रतिसन्धानसामर्थ्याच्च संसाहेतवः, संसारस्य अनादित्वादनादिना प्रबन्धेन प्रवर्तन्ते, मिथ्याज्ञाननिवृत्तिस्तत्त्वज्ञानात् तन्निवृत्तौ रागद्वेषप्रबन्धोच्छेदेऽपवर्ग इति। प्रादुर्भावतिरोधानधर्मका इत्येवमाद्युक्तं दोषाण ाामिति। उसी प्रकार प्रवृत्ति के समान रागादि दोष भी परीक्षित जानने चाहिए। 'दोष' शब्द से यहाँ राग, द्वेष, मोह का ग्रहण होता है। इसका विवरण भी लक्षणसूत्रा 'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः' (१/१/१८) तथा सन्दर्भानुसार **(१/१/२), 'वीतरागजन्मादर्शनात्' (३/१/ २५)** आदि के व्याख्यानों से समझ लेना चाहिए।

विशेष– १. बुद्धि (ज्ञान) के समानाश्रय होने से ये राग, द्वेषादि दोष भी बुद्धि के समान आत्मा के गुण हैं। ये प्रवृत्ति द्वारा जन्म-मरण ाात्मक संसार के प्रवाहरूप से अनादि कारण हैं।

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तराऽपाये तदनन्तरापायादपवर्गः॥ (१/१/२) के अनुसार इनकी निवृत्ति मिथ्याज्ञान की निवृत्तिपूर्वक तत्त्वज्ञान से होती है।

२. यद्यपि दोषों के स्वरूप पर मतभेद नहीं है, किन्तु उनके विभागों के विषय में आगे विस्तार पूर्वक वर्णन करेंगे।

सन्दर्भ– अब गौतम)षि विविध दोषों को तीन राशियों में विभक्त करते हैं-

तत्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् ॥४/१/३॥

तेषां दोषाणां त्रयो राशयस्त्रयः पक्षाः। रागपक्षः कामो मत्सरः स्पृहा तृष्णा लोभ इति। द्वेषपक्षः क्रोध इर्ष्याऽसूया द्रोहोऽमर्ष इति। मोहपक्षो मिथ्याज्ञानं विचिकित्सा मानः प्रमाद इति। राग, द्वेष तथा मोहरूप अवान्तर भेद होने के कारण उन (दोषोघ) की तीन राशियाँ (तीन समुदाय) हैं। प्रवृत्ति के निमित्तभूत दोषों का तीन समुदायों में अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे-

१. **रागपक्ष** (रागसमुदाय) में–

- **काम**- अनेक प्रकार के भोगों की इच्छा ।
- **मत्सर**- बिना अपने प्रयोजन के भी दूसरों को हानि पहुँचाने की इच्छा ।
- **स्पृहा**- अन्य की वस्तु पाने की इच्छा ।
- **तृष्णा**- जन्मान्तर की कारणरूप आशा ।
- **लोभ**- अन्याय से दूसरे के धन की इच्छा ।

२. **द्वेषपक्ष** में–

- क्रोध- किसी से अपराध होने पर नेत्रादिविकार पूर्वक शीघ्र बदला लेने की भावना ।
- **असूया**- दूसरे के गुणों को सहन न करना ।
- **ईर्ष्या**- अन्य व्यक्ति के लाभ को देखकर द्वेषबुद्धि होना (जलना) ।
- द्रोह- दूसरे को हानि पहुँचाने की इच्छा ।
- **अमर्ष**- किसी से अपराध हो जाने पर नाराज होना ।
- **अभिमान**- अपने सत्य अथवा काल्पनिक गुणों का प्रदर्शन करना ।

३. **मोहपक्ष में**–

- **विपर्यय**- मिथ्या (अयथार्थ) ज्ञान होना। संशय सन्देह, शक्क करने की आदत ।
- **तर्क**- तर्क में तर्क के द्वारा तर्क के लिए अर्थात् कुतर्क करना ।
- **मान**- अपने अन्दर अविद्यमान अथवा अल्पमात्रा में विद्यमान गुणों से स्वयं को बड़ा मानना।
- **प्रमाद**- कर्त्तव्य में अकर्तव्य बुद्धि होना (असावधान रहना)।
- **भय**- दु:खसाधनों के प्राप्त होने पर उनकी निवृत्ति में अशक्यबुद्धि (उपाय न सूझना)।
- **शोक**- पुन: न प्राप्त होने वाले पदार्थ के वियोग में दु:खबुद्धि।

संशय– जिस प्रकार सब दोषों को तीन भागों में विभक्त किया गया है, उसी प्रकार इन तीन राशियों को भी केवल एक 'दोष' नामक राशि में रखा जा सकता है। तीन पक्ष बनाना भी अनावश्यक है।

समाधान– ये तीन विभाग अनुचित नहीं है; क्योंकि राग, द्वेष, मोह एक दूसरे से सर्वथा भिन्न स्वरूप हैं। इनका एक-दूसरे में अन्तर्भाव सम्भव नहीं हो सकता। जैसे- 'राग' आसक्ति स्वरूप है, किसी के प्रति गहरी अनुकूलता को प्रकट करना।

द्वेष– असहिष्णुतारूप अमर्ष है, जिसमें प्रतिकूलता का अस्तित्व है।

मोह– मिथ्याज्ञान स्वरूप है।

इस प्रकार ये तीनों परस्पर भिन्न हैं। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप में इनकी भिन्नता का अनुभव करता है। अत: तीन विभाग उचित हैं।

संशय– समस्त दोषों के तीन विभाग किए जाने पर पूर्वपक्ष आक्षेप करता है-

एकमात्र तत्त्वज्ञान (सम्यङ्मति, यथार्थज्ञान) इन राग, द्वेष, मोह- तीनों दोषों का विरोधी (नाशघ) है, अर्थात् तत्त्वज्ञान के होते ही ये सब नष्ट हो जाते हैं। इसलिए इनके तीन भेद उचित नहीं। यदि दोषों के तीन भेद माने जाएँ, तो फिर इनके प्रतिद्वन्द्वी भी तीन ही होने चाहिए। परन्तु इनका विरोधी एक ही तत्त्वज्ञान है, अत: दोषों में भी एकत्व होना चाहिए।

समाधान– अब महर्षि गौतम उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं-

व्यभिचारादहेतु: ॥४/१/५॥

एकप्रत्यनीका: पृथिव्यां श्यामादयोऽग्निसंयोगेनैकेन, एकयोनश्च पाकजा इति। विभिन्न अनेक पदार्थों का नाश किसी एक विरोधी के द्वारा भी देखा जाता है। जैसे- वस्त्र, लकड़ी, पुस्तक, तेल आदि परस्पर भिन्न (विजातीय) पदार्थों का एक अग्नि द्वारा नाश हो जाता है। कच्चे घड़े का श्यामरूप, मृदुस्पर्श, विशेषगन्ध ये परस्पर भिन्न गुण अग्नि के संयोग से नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार कच्चे आम आदि के विविध गुणों का अग्नि के संसर्ग से पाकज गुण से परिवर्तन देखा जाता है। ऐसे ही एक तत्त्वज्ञान से नष्ट होने वाले राग, द्वेष, मोह, रूप, दोष परस्पर अभिन्न (एघ) नहीं हो सकते।

सन्दर्भ– अब सूत्राकार तीनों दोषों में मोह की प्रबलता दिखाते हैं-

तेषां मोह: पापीयान् नामूढस्येतरोत्पत्ते: ॥४/१/६॥

मोह: पाप:, पापतरो वा द्वावभिप्रेत्योक्तम्, कस्मात्? नामूढस्येतरोत्पत्ते:। उन तीनों में से मोह सबसे बड़ा पापी प्रबल दुष्ट है, मोहरहित व्यक्ति में इतर (राग-द्वेष) की उत्पत्ति भी नहीं देखी जाती। क्योंकि सूत्राकार ने 'राग और मोह में' तथा 'द्वेष और मोह में' ऐसा विभाग माना है'। सब दोषों में मोह की प्रबलता है- क्योंकि जो मोह रहित है, उसे किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं रहता। तत्त्वज्ञान से मोह (मिथ्याज्ञान) का नाश होता है, मोह के न रहने पर राग-द्वेष की उत्पत्ति ही नहीं होती; क्योंकि कारण के नाश से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु 'मोह' है। अहित से अनुराग और वास्तविक हित ये द्व ेष ये दोनों मोह के कारण उत्पन्न होते हैं, इसी का दूसरा नाम 'मिथ्याज्ञान' है। तत्त्वज्ञान से इस मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, जिससे राग और द्वेष, की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।

संशय– उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष आक्षेप करता है -

इस शास्त्र के अनुसार कार्य कारण का परस्पर भेद माना जाता है। गतसूत्रा के अनुसार जब 'मोह' रागादि दोषों का कारण है, तो वह स्वयं दोष नहीं हो सकता: क्योंकि कारण कभी कार्य नहीं होता। अत: 'मोह' दोष नहीं, अपितु दोषों का कारण है।

समाधान– अब सूत्राकार उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं -

न, दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य ॥४/१/८॥

प्रवर्त्तनालक्षणा दोषा इत्यनेन दोषलक्षणेनावरुध्यते दोषेषु मोह इति। मोह के भी दोष के लक्षणों के अंतर्गत होने से उक्त कथन

उचित नहीं। शुभ-अशुभ प्रवृत्ति के हेतु दोष हैं **प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः। (१/१/१८)** राग-द्वेष के समान मोह भी इस लक्षण के अन्तर्गत आ जाता है। अतः राग-द्वेष का कारण होते हुए भी 'मोह' दोष है।

सन्दर्भ– अब महर्षि गौतम समानजातीय पदार्थों में कार्य कारण भाव दिखाकर उक्त कथन की पुष्टि करते हैं- **निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीयानामप्रतिषेधः।।४/१/९।।**

द्रव्याणां गुणानां वाऽनेकविधविकल्पो निमित्तनैमित्तिकभावे तुल्यजातीयानां दृष्ट इति । समानजातीय द्रव्यों तथा गुणों का परस्पर कारण कार्यभाव देखा जाता है। जैसे-१. द्रव्य अथवा पार्थिव रूप में मृत्तिका घट का समवायिकारण होती है। २. तन्तुगत स्पर्श आदि गुण वस्त्रगत स्पर्श आदि गुण का असमवायिकारण होते हैं। और ३. कालद्रव्य समस्त, कार्यद्रव्यों का निमित्तकारण होता है। इसी प्रकार 'मोह' दोष होते हुए भी सजातीय राग-द्वेष का कारण हो सकता है। अतः मोह को रागादि दोषों से पृथक् पदार्थ मानना उचित नहीं। **इति दोषपरीक्षाप्रकरणम् ।**

स्मरणीय बिंदु

त्रैराश्य (तीन समूह) : महर्षि गौतम ने सभी मानसिक विकारों को तीन मुख्य श्रेणियों में बांटा है: राग, द्वेष और मोह।

मोह का स्थान: मोह (अज्ञान) सबसे खतरनाक है क्योंकि राग और द्वेष दोनों मोह के कारण ही पैदा होते हैं।

लक्षण:

1. राग: सुख देने वाली वस्तुओं के प्रति जुड़ाव (काम, लोभ, तृष्णा)।
2. द्वेष: दु:ख देने वाली वस्तुओं के प्रति घृणा (क्रोध, ईर्ष्या, अमर्ष)।
3. मोह: सही-गलत की पहचान न होना (भ्रम, प्रमाद, मिथ्या ज्ञान)।

निवारण: तत्त्वज्ञान (सही ज्ञान) होने पर सबसे पहले 'मोह' नष्ट होता है, जिससे राग-द्वेष अपने आप समाप्त हो जाते हैं।

शब्दावली

राग: किसी वस्तु को पाने की तीव्र इच्छा या आसद्रि।

द्वेष: अप्राप्य या कष्टकारी वस्तु के प्रति जलन या विरोध का भाव।

मोह: वास्तविकता को न देख पाना अज्ञान की स्थिति।

त्रैराश्य: तीन राशियों या श्रेणियों का समूह।

वीतराग: वह व्यद्रि जिसके दोष (राग-द्वेष-मोह) समाप्त हो चुके हों।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. न्याय दर्शन में 'प्रवृत्ति' और दोष (राग, द्वेष, मोह) के अंतर्संबंधों का परीक्षा कीजिए।

प्रश्न 2.प्रवृत्ति ही धर्माधर्म (पुण्य-पाप) का मूल आधार है। इस कथन के आलोक में शुभ और अशुभ प्रवृत्तियों के दस प्रकारों की समीक्षा कीजिए।

प्रश्न 3. न्यायसूत्राा के अपवर्ग प्राप्ति के मार्ग में प्रवृत्ति की भूमिका का परीक्षण कीजिए। दोषों के क्षय से प्रवृत्ति का निरोध किस प्रकार संभव है?

प्रश्न 4.प्रवृत्ति और पुरुषार्थ में क्या संबंध है? न्याय दर्शन के तार्किक ख्रष्टिकोण से स्पष्ट कीजिए कि दोष (राग, द्वेष, मोह) किस प्रकार आत्मा को कार्यों में प्रवृत्त करते हैं।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. न्याय दर्शन के अनुसार प्रवृत्ति की परिभाषा क्या है और यह बंधन का कारण कैसे बनती है?

प्रश्न 2. प्रवृत्ति के मुख्य तीन स्वरूप कौन-से हैं? संक्षेप में समझाएं।

प्रश्न 3. दोष से क्या तात्पर्य है और न्याय सूत्राा में इन्हें कितने भागों में बांटा गया है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. न्यायसूत्रा के अनुसार प्रवृत्ति का लक्षण क्या है? । केवल शारीरिक चेष्टा

ख) केवल मानसिक संकल्प

ग) वाणी, बुद्धि और शरीर का आरम्भ

घ) केवल इंद्रियों का व्यापार

उत्तर ग)

2. न्याय दर्शन में दोष के अंतर्गत किन्हें सम्मिलित किया गया है?।

घ) राग, द्वेष, मोह

ख) काम, क्रोध, लोभ

ग) सत्व, रज, तम

घ) अविद्या, अस्मिता, राग

उत्तर घ)

3. दोषों में किसे सबसे अधिक हानिकारक माना गया है, जो राग और द्वेष का मूल कारण है? ।

घ) राग

ख) मोह

ग) द्वेष

घ) मद

उत्तर ख)

4. वाचिक (वाणी संबंधी) अशुभ प्रवृत्ति में इनमें से कौन सा शामिल नहीं है?।

घ) अनृत (झूठ बोलना)

ख) पारुष्य (कठोर वचन)

ग) दान

घ) सम्भिन्नप्रलाप द्धव्यर्थ बकवास)

उत्तर ग)

5. न्याय दर्शन के अनुसार दुखों की निवृत्ति का सही क्रम क्या है? ।

घ) दु:ख जन्म दोष प्रवृत्ति मिथ्याज्ञान

ख) मिथ्याज्ञान दोष प्रवृत्ति जन्म दु:ख

ग) दोष प्रवृत्ति मिथ्याज्ञान जन्म दु:ख

घ) जन्म दु:ख प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञान

उत्तर ख)

6. परद्रव्येषु अभिलाषा (दूसरे के धन की इच्छा) किस प्रकार की अशुभ प्रवृत्ति है? ।

घ) कायिक (शारीरिघ)

ख) वाचिक (वाचिघ)

ग) मानसिक (मानसिघ)

घ) इनमें से कोई नहीं

उत्तर ग)

7. न्याय दर्शन के प्रमेयों की सूची में श्प्रवृत्तिश का कौन सा स्थान है? ।

घ) प्रथम

ख) दशम

ग) एकादश

घ) बारह प्रमेयों में से एक

उत्तर घ (नोट यह 10वाँ प्रमेय है)

8. प्रवृत्ति का मुख्य कार्य क्या है? ।

घ) केवल मोक्ष प्रदान करना

ख) धर्माधर्म द्धपुण्य-पाप) की उत्पत्ति करना

ग) ज्ञान को रोकना

घ) केवल शरीर का पोषण करना

उत्तर ख)

9. इनमें से कौन सी एक शुभ कायिक प्रवृत्ति है? ।

घ) अहिंसा और दान

ख) परनिंदा

ग) नास्तिकता

घ) चोरी

उत्तर घ)

10. दोष (राग, द्वेष, मोह) किसका कारण बनते हैं? ।

घ) अपवर्ग का

ख) तत्वज्ञान का

ग) प्रवृत्ति का

घ) वैराग्य का

उत्तर ग)

इकाई- १.३ - प्रेत्यभाव की परीक्षा

उद्देश्य

यह सिद्ध करना कि मृत्यु जीवन का अंत नहीं है, बल्कि एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है।
आत्मा की नित्यता (अमरता) को तर्कों के माध्यम से समझना।
पूर्व जन्मों के कर्मों का परिणाम हैं।
जन्म-मरण के चक्र (संसार) से छूटने की आवश्यकता को महसूस करना।

अथ प्रेत्यभावपरीक्षाप्रकरणम्

सन्दर्भ- दोषों की परीक्षा के अनन्तर अब प्रमेयसूत्रा **आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोष- प्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥१/१/९॥** के अनुसार क्रमप्राप्त 'प्रेत्यभाव' की परीक्षा आरम्भ करते हैं।

संशय– आत्मा के नित्य होने से उसमें जन्म-मरणरूप प्रेत्यभाव नहीं हो सकता।

महर्षि गौतम उक्त संशय का समाधान करते हैं -

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः ॥४/१/१०॥

नित्योऽयमात्मा प्रैति पूर्वशरीरं जहाति म्रियते इति प्रेत्य च पूर्वशरीरं हित्वा भवति जायते शरीरान्तरमुपादत्त इति तच्चैतदुभयं 'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः'। आत्मा के नित्य होने पर 'प्रेत्यभाव' की सिद्धि होती है नित्य आत्मा के द्वारा पूर्वशरीर को छोड़ना 'मृत्यु' और मरकर अन्य शरीर को प्राप्त करना 'जन्म' है। इसी जन्म-मरण के सतत प्रवाह को 'प्रेत्यभाव' कहते हैं। स्वरूप से आत्मा के जन्म-मरण (उत्पत्ति विनाश) नहीं होते। जैसा लक्षणसूत्रा में कहा है **पुनरुत्पत्तिःप्रेत्यभावः॥** (१/१/१९)। आत्मा का स्वरूप नष्ट और उत्पत्ति होना मानें, तो प्रेत्यभाव नहीं बन सकता; क्योंकि नष्ट वस्तु कभी पुनः उसी प्रकार के अस्तित्व में नहीं आती। इसके अतिरिक्त 'कृतहानि' और 'अकृताभ्यागम' दोष भी प्राप्त होता है। अतः आत्मा की नित्यता में ही प्रेत्यभाव मानना चाहिए।

सन्दर्भ– अब नित्य आत्मा के प्रेत्यभाव निरूर्पण से शरीर की उत्पत्ति का प्रकार बताते हैं-

व्यक्ताद् व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात् ॥४/१/११॥

कथमुत्पत्तिरिति चेत्? केन प्रकारेण किन्धर्मकात् कारणाव्द्यक्तं शरीराद्युत्पद्यत इति ? व्यक्त कारण से व्यक्त कार्यों की उत्पत्ति होती है प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा सिद्ध होने से। रूपादि गुणों से युक्त व्यक्त (इन्द्रियग्राह्य) पृथिव्यादि कारणों से वैसे ही शरीरादि कार्य उत्पन्न होते हैं। इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण है, कि रूपादि गुणयुक्त मृत्तिकादि द्रव्यों से वैसे ही (रूपादि गुणों से युक्त) घटादि पदार्थों की उत्पत्ति देखी जाती है। इससे अदृष्ट पदार्थों में भी यही अनुमान होता है, कि व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति होती है।

संशय– अब उक्त निरूर्पण में पूर्वपक्ष आक्षेप करता है-

न, घटाद् घटानिष्पत्तेः ॥४/१/१२॥

इदमपि प्रत्यक्षं, न खलु व्यक्ताद् घटाव्द्यक्तो घट उत्पद्यमानो दृश्यते इत्ति व्यक्ताद् व्यक्तस्यानुत्पत्तिदर्शनान्न व्यक्तं कारणमिति । व्यक्त घट से किसी घट की उत्पत्ति नहीं होती यह भी प्रत्यक्षसिद्ध है। अतः सर्वत्र व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति बताना अप्रमाणित है।

समाधान– अब गौतम)षि उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं-

व्यक्ताद् घटनिष्पत्तेरप्रतिषेधः ॥४/१/१३॥

न ब्रूमः सर्व सर्वस्य कारणमिति, किन्तु यदुत्पद्यते व्यक्तं द्रव्यं तत्तथाभूतादेवोत्पद्यते इति । व्यक्तं च तन्मृद्द्रव्यं कपालसंज्ञकं यतो घट उत्पद्यते। न चैतन्निह्नुवानः क्वचितदभ्यनुज्ञां लब्धुमर्हतीति । व्यक्त कारण से घट की उत्पत्ति होने से व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति होने का प्रतिषेध उचित नहीं। हम यह नहीं कहते, कि प्रत्येक व्यक्त द्रव्य अन्य व्यक्त को उत्पन्न करता हैं, अपितु हमारा कथन यह हैं, कि जो व्यक्त द्रव्य आदि कार्य उत्पन्न होते हैं, वह उसी प्रकार के व्यक्त कारण से उत्पन्न हुआ करते हैं। व्यक्त घट जिन कारण द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं, वे मृदवयव या कपालखण्ड व्यक्त द्रव्य हैं। यदि इसको झुठलाया जाए तो कहीं कोई व्यवस्था नहीं रह सकती। कार्यकारणभाव का यह यथार्थ सिद्धान्त हैं। अतः व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति का प्रतिषेध उचित नहीं।

इति प्रेत्यभावपरीक्षाप्रकरण**म्।**

स्मरणीय बिंदु

परिभाषा प्रेत्य का अर्थ है मरकर और भाव का अर्थ है जन्म लेना। अर्थात, बार-बार मरना और बार-बार जन्म लेना ही प्रेत्यभाव है।
आत्मा की अमरतारू न्याय दर्शन के अनुसार, शरीर नष्ट होता है लेकिन आत्मा नहीं। यदि आत्मा नित्य न होती, तो पूर्व जन्म के कर्मों का ञल इस जन्म में मिलना संभव नहीं होता।
तर्क (प्रमाण) महर्षि गौतम तर्क देते हैं कि एक नवजात शिशु बिना सिखाए माता का दूध पीना जानता है (हर्ष, भय और शोक का अनुभव करता है), जो यह सिद्ध करता है कि यह उसके पूर्व जन्म का अभ्यास है।
प्रक्रियारू जब तक दोष (राग, द्वेष, मोह) बने रहते हैं, तब तक आत्मा नए शरीरों को धारण करती रहती है।
समानतंत्राा यह सिद्धांत कर्मवाद पर आधारित है जैसा बीज (कर्म), वैसा ञल (जन्म)।

शब्दावली

प्रेत्यभाव मृत्यु के पश्चात पुनः उत्पन्न होने की स्थिति (पुनर्जन्म)।
नित्य वह जो कभी नष्ट न हो (जैसे आत्मा)।
अनित्य वह जो उत्पन्न होता है और नष्ट हो जाता है (जैसे शरीर)।
संस्कार पूर्व जन्मों के अनुभवों की यादें या प्रभाव जो आत्मा के साथ अगले जन्म में जाते हैं।
अभ्यास किसी क्रिया को बार-बार करने से बनी आदत (जैसे जन्मजात प्रवृत्तियाँ)।
देहान्तर एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करना।
पुनरुत्पत्ति आत्मा का फिर से भौतिक शरीर के साथ जुड़ना।
ख़्रत-हानि किए हुए कर्मों का ञल न मिलना (यदि पुनर्जन्म न माना जाए तो यह दोष उत्पन्न होगा)।
अख़्रताभ्यागम बिना किए हुए कर्मों का फल मिल जाना (यह भी एक तर्कसंगत दोष है जिसे न्याय दर्शन नकारता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. न्याय दर्शन में प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म) से क्या अभिप्राय है? प्रेत्यभाव की सिद्धि के लिए महर्षि गौतम द्वारा दिए गए तार्किक प्रमाणों की सविस्तार व्याख्या कीजिए।
प्रश्न 2. न्याय दर्शन के अनुसार प्रेत्यभाव (त्मइपतजी) के वास्तविक स्वरूप की विस्तृत व्याख्या कीजिए। आत्मा की नित्यता और प्रेत्यभाव का अंतर्संबंध स्पष्ट कीजिए।
प्रश्न 3. पुनर्जन्म केवल शरीर का नहीं, अपितु आत्मा का नए आयतन से संयोग है। इस कथन के आलोक में प्रेत्यभाव की परीक्षा हेतु न्याय दर्शन द्वारा दिए गए तर्कों का सविस्तार वर्णन कीजिए।
प्रश्न 4. प्रेत्यभाव की सिद्धि के लिए महर्षि गौतम द्वारा न्यायसूत्रा में प्रतिपादित मुख्य प्रमाणों और युद्रियों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
प्रश्न 5. जाति-स्मरण (पूर्व जन्म की स्मृति) और नवजात शिशु के हर्ष, भय एवं शोक जैसे संवेगों के आधार पर न्याय दर्शन प्रेत्यभाव को किस प्रकार सिद्ध करता है? विस्तार से लिखिए।
प्रश्न 6. न्याय दर्शन के अनुसार प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म) का मूल कारण क्या है? प्रवृत्ति और दोष (राग, द्वेष, मोह) किस प्रकार जन्म-मरण के चक्र को बनाए रखते हैं, विवेचना कीजिए।
प्रश्न 7. शरीर और आत्मा के भेद को स्पष्ट करते हुए समझाइए कि न्याय दर्शन देहात्मवाद (शरीर ही आत्मा है) का खंडन कर प्रेत्यभाव की स्थापना किस प्रकार करता है?

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. प्रेत्यभाव शब्द का शाब्दिक अर्थ क्या है?
प्रश्न 2. न्याय दर्शन के अनुसार प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म) की परिभाषा क्या है?
प्रश्न 3. प्रेत्यभाव की सिद्धि में आत्मा की नित्यता का क्या महत्व है?
प्रश्न 4. महर्षि गौतम ने नवजात शिशु के हर्ष और शोक के आधार पर प्रेत्यभाव को कैसे सिद्ध किया है?

प्रश्न 5. स्तन्यपान (शिशु का दूध पीना) की स्वाभाविक प्रवृत्ति पूर्वजन्म को कैसे प्रमाणित करती है?
प्रश्न 6. न्याय दर्शन में प्रेत्यभाव की परीक्षा के लिए स्मृति को क्या आधार माना गया है?

महत्वपूर्ण बहुविकल्पीय प्रश्न और उनके उत्तर यहाँ दिए गए हैं

1. न्याय दर्शन के अनुसार प्रेत्यभाव का वास्तविक अर्थ क्या है?
घ) आत्मा का विनाश
ख) मोक्ष की प्राप्ति
ग) मृत्यु के पश्चात पुनर्जन्म
घ) शरीर की अमरता
उत्तर ग)

2. स्तन्यपान (नवजात शिशु द्वारा दूध पीना) की स्वाभाविक प्रवृत्ति किसका प्रमाण है?
घ) केवल शारीरिक भूख का
ख) पूर्वजन्म के अभ्यास का
ग) माता के सिखाने का
घ) वर्तमान जीवन के ज्ञान का
उत्तररू ख)

3. दोष (राग, द्वेष, मोह) मुख्य रूप से किसका कारण बनते हैं?
घ) अपवर्ग का
ख) तत्वज्ञान का
ग) प्रवृत्ति का
घ) वैराग्य का
उत्तर ग)

4. बिना किए हुए कर्मों का ल मिलना, किस तार्किक दोष को दर्शाता है?
घ) ख्रतप्रणाश
ख) अख्रताभ्यागम
ग) मिथ्या ज्ञान
घ) विनिग्रह
उत्तर ख)

5. न्याय दर्शन के अनुसार, प्रेत्यभाव का चक्र किसके नाश से समाप्त होता है?
घ) शरीर के नाश से
ख) इंद्रियों के नाश से
ग) मिथ्या ज्ञान (अज्ञान) के नाश से
घ) केवल मृत्यु से
उत्तररू ग)

6. किए हुए कर्मों का ल मिले बिना ही नष्ट हो जाना, क्या कहलाता है?
घ) ख्रतप्रणाश
ख) अख्रताभ्यागम
ग) तत्वज्ञान
घ) अपवर्ग

उत्तर घ)

7. नवजात शिशु में हर्ष, शोक और भय के संवेग किसके कारण उत्पन्न होते हैं?

घ) वर्तमान अनुभव

ख) पूर्वजन्म की स्मृति

ग) केवल जैविक विकास

घ) आकस्मिक घटना

उत्तर ख)

8. न्याय दर्शन में दोषों की संख्या कितनी मानी गई है?

घ) दो (राग और द्वेष)

ख) तीन (राग, द्वेष और मोह)

ग) चार (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष)

घ) पाँच (पंचमहाभूत)

उत्तर ख)

9. प्रेत्यभाव की प्रक्रिया को दार्शनिक रूप से क्या माना गया है?

घ) सादि (शुरुआत वाली)

ख) अंतहीन (जो कभी न रुके)

ग) अनादि (बिना किसी शुरुआत के)

घ) काल्पनिक

उत्तर ग)

10. अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए किसका निरोध (रुकना) अनिवार्य है?

घ) केवल सुख का

ख) केवल दुख का

ग) जन्म-मरण (प्रेत्यभाव) के चक्र का

घ) केवल शरीर का

उत्तर ग)

इकाई- १.४ - शून्यतावाद निराकरण

उद्देश्य

शून्यतावाद (सब कुछ शून्य या अस्तित्वहीन है) के भ्रम को तर्कों से दूर करना।
यह सिद्ध करना कि यह संसार और इसके पदार्थ काल्पनिक नहीं, बल्कि वास्तविक हैं।
प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान आदि) की सत्यता स्थापित करना।
शून्यतावाद के आत्म-विरोधीतर्कों को पहचानना।

अथ शून्यतोपाददाननिराकरणप्रकरणम्

अब सूत्राकार कार्य की उत्पत्ति के विषय में 'शून्यवाद' का मत प्रस्तुत करते हैं-

अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ।।४/१/१४।।

असतः सदुत्पद्यते इत्ययं पक्षः, कस्मात् ? उपमृद्य प्रादुर्भावात्। अभाव से भापदार्थ की उत्पत्ति होती है (कारण का) विनाश किए बिना कार्य की उत्पत्ति न होने से। अभाव (असत्) से भाव (सत्) की उत्पत्ति होती है यह हमारा पक्ष है। इसमें हेतु यह है, कि बीज का उपमर्द (विनाश) होने पर ही उससे अंकुर निकलता है, नष्ट हुए बिना नहीं। यदि बीज का विनाश अंकुर का कारण न होता, तो भण्डार (गोदाम) में पड़े बीजों से भी अंकुर की उत्पत्ति हो जानी चाहिए, किन्तु नहीं होती। इससे यह प्रमाणिक है, कि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है।

समाधान– अब उक्त पूर्वपक्ष का महर्षि गौतम समाधान करते हैं-

व्याघातादप्रयोगः ।।४/१/१५।।

उपमृद्य प्रादुर्भावादित्ययुक्तः प्रयोगो व्याघातात् । यदुमृद्नाति न तदुपमृद्य प्रादुर्भवितुमर्हति विद्यमानत्वात् । यच्च प्रादुर्भवति न तेनाप्रादुर्भूतेनाविद्यमानेनोपमर्द इति । वादी का यह कहना, कि 'अंकुर बीज का उपमर्द (विनाश) करके उत्पन्न होता है', उचित नहीं है' क्योंकि यदि अंकुर ने बीज का उपमर्द किया, तो पहले ही विद्यमान होने से उसकी उत्पत्ति कहना निरर्थक है। कार्यरूप से अविद्यमान की ही उत्पत्ति होती है, विद्यमान की नहीं। और जिसका प्रादुर्भाव होना है, वह अभी अविद्यमान है, उसके द्वारा बीज का नाश बताना सर्वथा निराधार है। जो स्वयं ही नहीं, वह किसी की उपमर्द (विनाश) कैसे कर सकता है? वस्तुतः बीज के अन्दर प्रसुप्तावस्था में अंकुर विद्यमान रहता है, जो कि मिट्टी, नमी, गरमी (ऊष्मा) आदि कारणान्तरों के सहयोग से सक्रिय होकर प्रकट हो जाता है। इस प्रकार बीज तथा सहयोगी सत्रूप कारण से सत्रूप (भावरूप) कार्य अंकुर उत्पन्न होता है। वादी का कथन वास्तविकता का पूर्णतया विपरित है। अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति कहना असंगत है।

सन्दर्भ– अब पूर्वपक्ष व्याघात-दोष का पुनः कथन करता है-

अतीत (भूत) और अनागत (भविष्यत्) अर्थात् अविद्यमान पदार्थों के विषय में भी कर्तृत्व आदि कारक शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। जैसे- १. 'पुत्र उत्पन्न होगा' यहाँ अनागत पुत्र में कर्तृत्व का प्रयोग है। २. 'उत्पन्न होने वाले पुत्र को याद करता है' यहाँ अनागत पुत्र में कर्मत्व का प्रयोग है। ३. 'अनुत्पन्न पुत्र माता पिता को कष्ट देता है' यहाँ अविद्यमान का कर्तृत्व में प्रयोग है। ४. 'घट था, उस टूटे हुए घट को सोचता है' यहाँ अतीत घट का कर्त्ता और कर्म कारकों में प्रयोग है। इस प्रकार के बहुत से अप्रध ान प्रयोग लोक में देखे जाते हैं। ऐसे अप्रधान प्रयोग आनन्तर्य के कारण सम्भव हो जाते हैं। इसी आनन्तर्य सामर्थ्य से उत्पन्न होने वाला अंकुर बीज का उपमर्द (विनाश) करता है। इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है। अतः अविद्यमान अनागत अंकुर में कर्ता कारक का प्रयोग निर्दोष है।

सन्दर्भ– अब महषि गौतम पूर्वपक्ष का खण्डन करते हैं-

न, विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः ।।४/१/१७।।

न विनष्टाद्बीजादङ्कुर उत्पद्यते इति तस्मान्नाभावाद्भावोत्पत्तिरिति ।

नष्ट हुए बीज आदि से (अंकुर आदि की) उत्पत्ति न होने से उक्त कथन उचित नहीं है। जिस प्रकार नष्ट हुए कारणों से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार जलकर या सड़कर नष्ट हुए बीज से अंकुर की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः अभाव से भाव

की उत्पत्ति कहना अप्रमाणिक है।

सन्दर्भ– उक्त सिद्धान्त की पुष्टि के लिए गौतम)षि पुनः कथन कहते हैं-

क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः ।।४/१/१८।।

उपमर्द्दप्रादुर्भावयोः पौर्वापर्यनियमः क्रमः स खल्वभावाद्भावोत्पत्तेर्हेतुर्निर्द्दिश्यतें स च न प्रतिषिध्यते इति । उपमर्द और प्रादुर्भाव का जो पूर्वापर नियम है, उसे क्रम कहते हैं। अंकुर की उत्पत्ति में वही हेतु है, अर्थात् पहले जब बीज गल जाता है, तब उससे अंकुर उत्पन्न होता है। बीज गलने (दृढ़ अवयवों के शिथिल होने) से नष्ट नहीं होता, अपितु उसकी रचना-विशेष में कुछ परिणाम होकर अंकुरोत्पत्ति करने में समर्थ हो जाता है। यदि नष्ट-बीज से अंकुरोत्पत्ति सम्भव होती तो जला हुआ या पिसा हुआ बीज भी अंकुरोत्पत्ति कर सकता था, परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे सिद्ध है, कि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती और बीज के अवयवों से भिन्न अंकुर की उत्पत्ति में अन्य कोई उपादान कारण नहीं। इसलिए बीज ही अंकुर की उत्पत्ति का कारण है, अभाव नहीं।

इति अभावस्यकारणत्व खण्डनम् ।

स्मरणीय बिंदु

शून्यतावाद का पक्ष शून्यतावादी कहते हैं कि सब कुछ स्वभाव-रहित या शून्य है, क्योंकि सभी वस्तुएं एक-दूसरे पर निर्भर हैं और उनका अपना कोई स्वतंत्राा अस्तित्व नहीं है।

न्याय दर्शन का उत्तर (निराकरण)

1. स्व-व्याघात यदि सब कुछ शून्य है, तो सब कुछ शून्य है यह कथन भी शून्य (असत्य) होना चाहिए। यदि यह कथन सत्य है, तो कम से कम एक चीज़ (यह नियम) तो सत्य सिद्ध हो गई, अतः सर्व-शून्यता गलत है।

2. प्रमाण की सत्ता यदि आप कहते हैं कि वस्तुएं नहीं हैं, तो उन्हें असत सिद्ध करने के लिए आपके पास कोई प्रमाण होना चाहिए। यदि प्रमाण है, तो शून्यता खंडित हो गई(और यदि प्रमाण नहीं है, तो आपकी बात बिना सबूत के मानी नहीं जा सकती। स्वभाव की सिद्धि किसी वस्तु का अभाव (शून्यता) तभी कहा जा सकता है जब पहले उसकी सत्ता (अस्तित्व) का ज्ञान हो। बिना भाव के अभाव की कल्पना असंभव है।

निष्कर्ष न्याय दर्शन के अनुसार, पदार्थ अपने गुणों और धर्मों के साथ वास्तविक रूप में विद्यमान हैं।

शब्दावली

शून्यतावाद वह मत जो मानता है कि संसार की सभी वस्तुएं तत्वतः शून्य या स्वभावहीन हैं।

निराकरण तर्कपूर्ण ढंग से किसी मत का खंडन करना या उसे गलत सिद्ध करना।

स्वभाव किसी वस्तु का अपना निजी और स्थायी गुण।

सप्रमाण प्रमाण के साथ (किसी बात को सिद्ध करने के लिए आवश्यक सबूत)।

व्याघात विरोध या अंतर्विरोध ।

भाव और अभाव श्भावश का अर्थ है अस्तित्व और श्अभावश का अर्थ है गैर-मौजूदगी ।

निःस्वभाव जिसका अपना कोई स्वतंत्राा अस्तित्व न हो।

तत्वज्ञान वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान (जो शून्यता का नाश करता है)।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. न्याय दर्शन के अनुसार शून्यतावाद के सिद्धांत का सविस्तार वर्णन कीजिए। महर्षि गौतम ने बौद्धों के इस मत का निराकरण किन तर्कों के आधार पर किया है? विवेचना कीजिए।

प्रश्न 2. शून्यतावाद सभी पदार्थों को स्वभाव-रहित मानता है। न्याय सूत्राा के आलोक में इस कथन की समीक्षा कीजिए और सिद्ध कीजिए कि पदार्थ शून्य नहीं, अपितु सत हैं।

प्रश्न 3. प्रमाण और प्रमेय के परस्पर संबंध के आधार पर न्याय दर्शन शून्यतावाद का खंडन किस प्रकार करता है? यदि सब कुछ शून्य है, तो शून्यता को सिद्ध करने वाले प्रमाण की सत्ता पर क्या प्रश्न चिह्न लगता है? विस्तार से लिखिए।

प्रश्न 4. शून्यतावाद का निराकरण किए बिना न्याय के प्रमेय (आत्मा, शरीर आदि) की स्थापना संभव नहीं है। इस कथन की व्याख्या करते हुए शून्यतावाद के विरुद्ध दिए गए प्रमुख न्याय सूत्रों की व्याख्या कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. न्याय दर्शन के अनुसार शून्यतावाद का मुख्य सिद्धांत क्या है जिसका निराकरण किया गया है?

प्रश्न 2. महर्षि गौतम शून्यतावाद के सर्वमभावरू (सब कुछ अभाव है) के तर्क का खंडन कैसे करते हैं?

प्रश्न 3. शून्यता को सिद्ध करने वाला तर्क स्वयं शून्य हो जाएगा – इस कथन के माध्यम से न्याय दर्शन क्या स्पष्ट करना चाहता है?

प्रश्न 4. न्याय दर्शन के अनुसार बाह्य पदार्थों की वास्तविकता शून्यतावाद का खंडन कैसे करती है?

प्रश्न 5. क्या शून्यतावाद को मानने से लोक-व्यवहार संभव है? न्याय दर्शन का मत लिखिए।

महत्वपूर्ण बहुविकल्पीय प्रश्न और उनके उत्तर यहाँ दिए गए हैं

1. न्याय दर्शन के अनुसार शून्यतावाद का मूल दावा क्या है?

घ) संसार ईश्वर की रचना है

ख) सभी पदार्थ स्वभाव-रहित और शून्य हैं

ग) केवल आत्मा सत्य है

घ) केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही सत्य है

उत्तर ख)

2. न्याय दर्शन शून्यतावाद का खंडन करते हुए पदार्थों को क्या मानता है?

घ) मिथ्या

ख) शून्य

ग) सत् या वास्तविक

घ) क्षणिक

उत्तर ग)

ऊ3. यदि ष्सब कुछ शून्य है, तो इस कथन को सिद्ध करने वाले प्रमाण की क्या स्थिति होगी?

घ) प्रमाण नित्य होगा

ख) प्रमाण भी शून्य हो जाएगा, जिससे शून्यता सिद्ध नहीं हो सकेगी

ग) प्रमाण ईश्वर प्रदत्त होगा

घ) प्रमाण केवल प्रत्यक्ष होगा

उत्तर ख)

4. स्वभाव का न होना ही वस्तु का स्वभाव है यह तर्क न्याय दर्शन ने किसके विरुद्ध दिया है?

घ) चार्वाक के

ख) शून्यवादियों के

ग) सांख्य के

घ) मीमांसा के

उत्तर ख)

5. न्याय दर्शन के अनुसार, शून्यतावाद को मानने पर कौन सा दोष उत्पन्न होता है?

घ) अवयव दोष

ख) व्याघात

ग) अतिव्याप्ति

घ) अव्याप्ति

उत्तर ख)

6. शून्यतावाद के अनुसार वस्तुओं का अपना कोई स्वभाव नहीं होता। न्याय दर्शन इसका निराकरण किस आधार पर करता है?

घ) ईश्वर की इच्छा से

ख) वेदों की प्रमाणिकता से

ग) पदार्थों के अस्तित्व और उनके विशिष्ट गुणों (स्वभाव) की सिद्धि से

घ) केवल अनुमान से

उत्तर ग)

7. यदि शून्यतावादी तर्क (प्रमाण) असत्य है, तो शून्यता सिद्ध नहीं होती। यदि तर्क सत्य है, तो शून्य का सिद्धांत गलत हो जाता है। इस स्थिति को क्या कहते हैं?

घ) प्रतिज्ञा हानि

ख) उभयतः पाश

ग) संशय

घ) निग्रहस्थान

उत्तर ख)

8. न्याय दर्शन के अनुसार श्अभावश की प्रतीति के लिए किसका होना अनिवार्य है?

घ) शून्य का

ख) अधिष्ठान या प्रतियोगी (प्रतियोगी वस्तु) का

ग) केवल मन का

घ) अंधकार का

उत्तर ख)

9. बाह्य पदार्थों की सत्ता का खंडन करने वाले शून्यतावाद को न्याय दर्शन ने क्या माना है?

घ) परम सत्य

ख) लोक-व्यवहार के विरुद्ध और अतार्किक

ग) केवल धार्मिक विचार

घ) आंशिक रूप से सत्य

उत्तर ख)

10. सर्वमभावरू (सब कुछ अभाव रूप है) इस शून्यतावादी सूत्र का निराकरण न्याय दर्शन के किस अध्याय में प्रमुखता से मिलता है?

घ) प्रथम अध्याय

ख) द्वितीय अध्याय

ग) तृतीय अध्याय

घ) चतुर्थ अध्याय

उत्तर घ)

खण्ड-२ अनिमित्तवाद आदि वादों का निराकरण

इकाई- २.१ जगत् का निमित्त कारण ईश्वर एवं अनिमित्तवाद प्रकरण

उद्देश्य-

1. यह समझना कि यह जटिल संसार अपने आप नहीं बना, बल्कि इसका एक बुद्धिमान कर्ता है।
2. अनिमित्तवाद (शून्य या आकस्मिकता से सृष्टि का जन्म) के भ्रम को दूर करना।
3. ईश्वर के स्वरूप और उसकी भूमिका (न्यायकारी और फलदाता) को तर्क से जानना।
4. यह सिद्ध करना कि जड़ प्रकृति (परमाणु) स्वयं को व्यवस्थित नहीं कर सकती, उसे एक चेतन शक्ति की आवश्यकता है।

अथेश्वरस्य निमित्तकारणत्वप्रतिपादनम्

जगत् के उपादानकारण की समीक्षा करके अब निमित्त कारण ईश्वर की परीक्षा के लिए सूत्राकार कहते हैं- **ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ।।४/१/१९।।**

पुरुषोऽयं समीहमानो नावश्यं समीहाफलं प्राप्नोति तेनानुमीयते पराधीनं पुरुषस्य कर्मफलाराधनमिति, यदधीनं स ईश्वरः। तस्मादीश्वरः कारणमिति । पुरुष के कर्मों की असफलता देखे जाने से ईश्वर (निमित्त) कारण है। यह पुरुष इच्छापूर्वक चेष्टायें (क्रियायेघ) करता है, किन्तु इच्छानुसार फल प्राप्त नहीं कर पाता। इससे अनुमान होता है, कि प्राणियों के किए हुए कर्मों का फल प्राप्त होना दूसरे के अधीन है। जिसके अधीन है, वह ईश्वर है। इसलिए ईश्वर को शरीरोत्पत्ति एवं जगत् का (निमित्त) कारण मानना चाहिए।

सन्दर्भ– उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष आक्षेप करता है-

न, पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः ।।४/१/२०।।

ईश्वराधीना चेत्फलनिष्पत्तिः स्यादपि तर्हि पुरुषस्य समीहामन्तरेण फलं निष्पद्येतेति । पुरुषकर्माभावे, पुरुष के कर्मों के अभाव में फल की सिद्धि (प्राप्ति) न होने से (कर्मफल के लिए ईश्वर को निमित्तकारण कहना) उचित नहीं। पुरुष को अपने कर्मों से फल की प्राप्ति होती है। यदि फल की प्राप्ति ईश्वर के अधीन होती, तो बिना पुरुषार्थ के भी फल की प्राप्ति हो जाती। परन्तु कर्म किए बिना किसी कार्य की सिद्धी नहीं होती। अतः उक्त पक्ष उचित नहीं है।

इसके अतिरिक्त यदि कर्मफल को ईश्वर की इच्छा के अधीन मानें, तो 'अकृताभ्यागमदोष' बिना कर्म किए फलप्राप्ति होना रूप दोष तथा पुरुषों की फल प्राप्ति में विविधता व न्यूनाधिकता होने से ईश्वर पर अन्याय एवं पक्षपात का दोष लगेगा।

समाधान– अब गौतम)षि उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं -

तत्कारितत्वादहेतुः ।।४/१/२१।।

पुरुषकारमीश्वरोऽनुगृह्णाति, फलाय पुरुषस्य यतमानस्येश्वरः फलं सम्पादयतीति । कर्मफल के उस ईश्वर के द्वारा कारित (सम्पा. दित) होने से उक्त हेतु उचित नहीं है। पुरुष (जीवात्मा) की फलप्राप्ति में ईश्वर को निमित्तकारण बताने से पुरुष के किए कर्मों का प्रतिषेध नहीं होता। ईश्वर उन कर्मों को सफल करता है। जीवों के कर्मानुसार ईश्वर विविध प्रकार के शरीर एवं अन्य भोग्य पदार्थ बनाता है अर्थात् जगत् रचना करता है, जिससे उन कर्मों का फल व्यवस्थित रूप से मिल सके। इससे यह प्रमाणित होता है, कि बिना कर्म के न तो ईश्वर ही किसी को फल देता है; क्योंकि वह नियंता तथा न्यायकारी है, और न बिना ईश्वर की सहायता के कर्म (क्रियायेघ) ही किसी को फल देने में समर्थ हो सकते हैं; क्योंकि वे जड़ हैं एवं चेतन के अधीन है। जैसे बीज बिना कृषक के और कृषक बिना बीज के फलोत्पत्ति करने में असमर्थ होते हैं वैसे ही ईश्वर और कर्म दोनों ही फलोत्पत्ति में सापेक्ष हैं। अतः पुरुष के कर्मों का फल ईश्वर की निमित्तता के बिना सम्भव नहीं है। इस मान्यता का खण्डन करने के लिए पूर्वपक्ष का **'पुरुषकर्माभावे फलानिष्पतेः'** हेतु उचित नहीं है।

इति ईश्वरस्य निमित्तकारणत्वप्रतिपादनम्।

स्मरणीय बिंदु-

ईश्वरश्निमित्त कारणरू न्याय दर्शन के अनुसार ईश्वर संसार का शनिमित्त कारणश है। जैसे कुम्हार मिटी से घड़ा बनाता है, वैसे ही ईश्वर परमाणुओं (उपादान कारण) से सृष्टि की रचना करता है।

अनिमित्तवाद का खंडन कुछ लोग मानते हैं कि संसार अकस्मात या बिना किसी कारण के उत्पन्न हुआ है। महर्षि गौतम इसका खंडन करते हुए कहते हैं कि यदि कारण न होता, तो कार्यों में यह व्यवस्था और नियम नहीं होते।

कर्मफल और ईश्वररू मनुष्य के कर्म (अश्रष्ट) जड़ होते हैं। उन्हें सही समय पर ञल में बदलने के लिए एक सर्वज्ञ चेतन सत्ता (ईश्वर) की आवश्यकता होती है।

ईश्वर का स्वरूप न्याय दर्शन में ईश्वर अनंत ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न से युद्र है। वह क्लेश, कर्म और विपाक (कर्मफल) से मुद्र है।

शब्दावली-

निमित्त कारण वह कर्ता या बनाने वाला जिसके बिना कार्य संभव न हो (जैसे कुम्हार)।

उपादान कारण वह कच्चा माल जिससे वस्तु बनती है (जैसे मिटी या परमाणु)।

अनिमित्तवाद वह सिद्धांत जो मानता है कि जगत की उत्पत्ति का कोई विशेष कारण या कर्ता नहीं है।

चेतन और जड़ चेतन वह जिसमें ज्ञान और इच्छा हो (ईश्वर/आत्मा)(जड वह जो निजह्रव है (परमाणु/पदार्थ)।

अश्रष्ट मनुष्य के शुभ-अशुभ कर्मों का वह अश्रश्य प्रभाव जो ञल देने के लिए संचित रहता है।

सर्वज्ञता सब कुछ जानने की शद्रि (ईश्वर का मुख्य गुण)।

सृष्टि और प्रलय जगत का निर्माण और उसका विनाश (विश्राम की अवस्था)।

प्रेरकरू प्रेरणा देने वाला(ईश्वर परमाणुओं और जीवों को उनके कर्मों के अनुसार प्रेरित करता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1. न्याय दर्शन के अनुसार ईश्वर जगत् का उपादान कारण न होकर केवल निमित्त कारण है। इस कथन की तर्कपूर्ण समीक्षा कीजिए व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 2. कारणता के सिद्धांत के संदर्भ में न्याय दर्शन में ईश्वर की भूमिका का परीक्षण कीजिए। क्या ईश्वर को केवल एक कुशल वास्तुकार मानना उचित है? प्रमाण सहित उत्तर दीजिए।

प्रश्न 3. न्याय दर्शन के अनुसार अश्रष्ट और ईश्वर के मध्य क्या संबंध है? ईश्वर को कर्मफलदाता और जगत् का शनिमित्त कारण सिद्ध करने में अकृष्ट की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 4. न्याय सूत्रों में वर्णित पूर्वपक्ष (अनिमित्तवाद) और उत्तरपक्ष (ईश्वरवाद) के संवाद का विश्लेषण करते हुए सिद्ध कीजिए कि सृष्टि के लिए एक चेतन बुद्धिमान कारण (ईश्वर) की अनिवार्यता क्यों है?

प्रश्न 5. ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है, उपादान नहीं। न्याय दर्शन के इस सिद्धांत की तर्कपूर्ण विवेचना कीजिए।

प्रश्न 6.न्याय सूत्राा के अनिमित्तवाद प्रकरण की विस्तृत व्याख्या कीजिए। महर्षि गौतम ने उन मतों का खंडन किस प्रकार किया है जो जगत् की उत्पत्ति को बिना किसी निमित्त कारण (आकस्मिघ) के मानते हैं?

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. अनिमित्तवाद के विरुद्ध न्याय दर्शन का कंटक (काँटे) वाला उदाहरण क्या है? स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2. न्याय दर्शन के अनुसार अश्रष्ट क्या है और इसे संचालित करने के लिए ईश्वर की आवश्यकता क्यों है?

प्रश्न 3. निमित्त कारण की परिभाषा न्याय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 4. न्याय दर्शन के अनुसार कारण के तीन प्रकार कौन-से हैं? संक्षेप में नाम लिखिए।

प्रश्न 5. अनिमित्तवाद से क्या तात्पर्य है? न्याय दर्शन इसका खंडन क्यों करता है?

प्रश्न 6. न्याय दर्शन ईश्वर को जगत् का उपादान कारण क्यों नहीं मानता? कोई दो कारण दीजिए।

महत्वपूर्ण बहुविकल्पीय प्रश्न और उनके उत्तर यहाँ दिए गए हैं

11. न्याय दर्शन के अनुसार ईश्वर जगत् का किस प्रकार का कारण माना गया है?

घ) उपादान कारण

ख) निमित्त कारण

ग) समवायी कारण

घ) इनमें से कोई नहीं

उत्तर ख)

2. कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनवत (काँटे की तीक्ष्णता के समान) तर्क किस मत के समर्थन में अनिमित्तवादी देते हैं?

घ) ईश्वरवाद

ख) अनिमित्तवाद (स्वभाववाद)

ग) परमाणुवाद

घ) सत्कार्यवाद

उत्तर ख)

3. न्याय सूत्र के अनुसार, अनिमित्तवाद का खंडन और ईश्वर की निमित्त कारणता का विवेचन किस अध्याय में मिलता है?

घ) प्रथम अध्याय

ख) द्वितीय अध्याय

ग) तृतीय अध्याय

घ) चतुर्थ अध्याय

उत्तर घ)

4. न्याय दर्शन के अनुसार जगत् का श्समवायी कारणश किसे माना जाता है?

घ) ईश्वर को

ख) प्रख्रति को

ग) परमाणुओं को

घ) अख्रष्ट को

उत्तर ग)

5. क्षित्यंकुरादिकं सकर्तृकं, कार्यत्वात इस अनुमान प्रयोग में सकर्तृकं क्या है?

घ) पक्ष

ख) हेतु

ग) साध्य

घ) ख्रष्टांत

उत्तर ग)

6. अनिमित्तवाद के अनुसार कार्यों की उत्पत्ति का आधार क्या है?

घ) ईश्वर की इच्छा

ख) पूर्व कर्म (अख्रष्ट)

ग) आकस्मिकता या स्वभाव

घ) काल

उत्तर ग)

7. न्यायकुसुमांजलि ग्रंथ, जो ईश्वर की निमित्त कारणता को तर्कों से सिद्ध करता है, के रचयिता कौन हैं?

घ) महर्षि गौतम

ख) उदयन (उदयनाचार्य)

ग) वात्स्यायन

घ) जयंत भट

उत्तर ख)

8. जड़ परमाणुओं और जीवों के अख़ष्ट को सक्रिय करने के लिए न्याय दर्शन किसकी आवश्यकता अनिवार्य मानता है?

घ) काल की

ख) आकाश की

ग) चेतन ईश्वर की

घ) स्वभाव की

उत्तर ग)

9. षनिमित्त के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकतीष, यह तर्क न्याय दर्शन के किस प्रकरण का मुख्य प्रतिपाद्य है?

घ) शून्यतावाद निराकरण

ख) अनिमित्तवाद निराकरण

ग) अवयवी प्रकरण

घ) अपवर्ग प्रकरण

उत्तररू ख)

10. न्याय दर्शन के अनुसार ईश्वर में कुल कितने विशिष्ट गुण पाए जाते हैं?

घ) छह

ख) आठ

ग) चौबीस

घ) दस

उत्तर ख)

अथानिमित्तवाद - (अकारणवाद) प्रत्याख्यानम्

अब पूर्वपक्ष अनिमित्तवाद (अकारणवाद) प्रस्तुत करते हैं-

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् ॥४/१/२२॥

अनिमित्ता शरीराद्युत्पत्तिः, कस्मात्? कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् कण्टकस्य तैक्ष्णयम्, पर्वतधातूनां चित्रता, आव्गां श्लक्ष्णता, निर्निमित्तं चोपादानं दृष्टं तथा शरीरादिसर्गोऽपीति। किसी निमित्त के बिना स्वभाव से ही भाव (कार्य) की उत्पत्ति होती है, कांटों की तीक्ष्णता आदि के देखे जाने से। शरीरादि कार्यों की उत्पत्ति बिना किसी निमित्त के हो जाती है ऐसा मानना चाहिए, क्योंकि कांटों की तीक्ष्णता, पहाड़ी धातुओं की विविधता पत्थरों का चिकनापन बिना किसी निमित्त के (नैसर्गिगरूप से) ही देखा जाता है। इसी प्रकार शरीरादि की उत्पत्ति के लिए किसी निमित्त का मानना अनावश्यक है।

अब आचार्य ने उक्तवाद का प्रौढिवाद से खण्डन किया।

अनिमित्तनिमित्तत्वान्नानिमित्ततः ॥४/१/२३॥

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिरित्युच्यते यतश्चोत्पद्यते तन्निमित्तम्। अनिमित्तस्य निमित्तत्वान्नानिमित्ता भावोत्पत्तिरिति। अनिमित्त के निमित्त होने से (कार्योत्पत्ति) बिना निमित्त के नहीं होती। जिससे जो उत्पन्न होता है, वह उसका निमित्त कारण कहलाता है। वादी के कथनानुसार जब अनिमित्त से भाव (कार्य) की उत्पत्ति होती है, तो वही अनिमित्त उस कार्य का निमित्त हो गया। फिर बिना निमित्त के कार्योत्पत्ति कहाँ रही?

समाधान– अब 'अकारणवादी' के आक्षेप का सिद्धान्त रूप से समाधान करते है।

निमित्तानिमित्तयोरर्थान्तरभावादप्रतिषेधः ॥४/१/२४॥

अन्यद्धि निमित्तमन्यच्च निमित्तप्रत्याख्यानाम्, न च प्रत्याख्यानमेव प्रत्याख्येयं यथाऽनुदकः कमण्डलुरिति नोदकप्रतिषेध उदकं भवतीति। निमित्त और अनिमित्त के परस्पर भिन्न अर्थ होने से (निमित्तता का) प्रतिषेध उचित नहीं। वादी ने जो कांटों की तीक्ष्णता आदि के दृष्टान्त के द्वारा निमित्त के बिना कार्य की उत्पत्ति कही है, वह इसलिए उचित नहीं, कि अनिमित्त (निमित्ताभाव) का ज्ञान अपने प्रतियोगी निमित्त के सापेक्ष होने से भावरूप निमित्त का बोध कराता है। यदि निमित्त (भावरूप कारण) कोई पदार्थ न होता, तो निमित्ताभाव का ज्ञान भी नहीं हो सकता, परन्तु होता है। इससे स्पष्ट है, कि 'अनिमित्त' शब्द का प्रयोग परमाणुवादि भावरूप कारणों से कार्योत्पत्ति का प्रतिषेधक नहीं है। जैसे- अनित्य अ+नित्य, वैसे ही अनिमित्त=अ+निमित्त है। यदि कोई प्रतियोगी न हो तो 'नञ्च' किसका प्रतिषेध करेगा और ना ही अभाव से भावरूप कार्य की उत्पत्ति में कोई प्रमाण मिलता है।

इसके अतिरिक्त उपादान कारण से कार्यमात्र की उत्पत्ति में जीवों के धर्माधर्म रूप कर्म सहयोगी कारण होने से कांटों की तीक्ष्णता आदि भी निमित्त के बिना नहीं होते, अपितु सनिमित्तक हैं। जिन जीवों को काटों की तीक्ष्णता आदि से सुख-दुःख होना होता है, उन्हीं के कर्मों के अधीन होकर उनकी उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं। अतः कार्योत्पत्ति को अनिमित्तक (स्वाभाविघ) कहना प्रमाणशून्य होने से वादी का दुस्साहसमात्र है।

इति अनिमित्तकवादप्रत्याख्यानम्।

स्मरणीय बिंदु

ईवरख्रनिमित्त कारण न्याय दर्शन के अनुसार ईवर संसार का शनिमित्त कारण है। जैसे कुम्हार मिटी से घड़ा बनाता है, वैसे ही ईवर परमाणुओं द्धउपादान कारणऋ से सृष्टि की रचना करता है।

अनिमित्तवाद का खंडनरू कुछ लोग मानते हैं कि संसार अकस्मात या बिना किसी कारण के उत्पन्न हुआ है। महर्षि गौतम इसका खंडन करते हुए कहते हैं कि यदि कारण न होता, तो कार्यो में यह व्यवस्था और नियम नहीं होते।

कर्मफल और ईवररू मनुष्य के कर्म (अख्रष्ट) जड़ होते हैं। उन्हें सही समय पर ञ्ल में बदलने के लिए एक सर्वज्ञ चेतन सत्ता (ईवर) की आवश्यकता होती है।

ईवर का स्वरूप न्याय दर्शन में ईवर अनंत ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न से युद्र है। वह क्लेश, कर्म और विपाक (कर्मफल) से मुद्र है।

शब्दावली

निमित्त कारण वह कर्ता या बनाने वाला जिसके बिना कार्य संभव न हो (जैसे कुम्हार)।

उपादान कारण वह कच्चा माल जिससे वस्तु बनती है (जैसे मिट्टी या परमाणु)।

अनिमित्तवाद वह सिद्धांत जो मानता है कि जगत की उत्पत्ति का कोई विशेष कारण या कर्ता नहीं है।

चेतन और जड़रू श्चेतनश वह जिसमें ज्ञान और इच्छा हो द्धईश्वर/आत्माऋ(श्जड़श वह जो निजह्नव है (परमाणु/पदार्थ)।

अख्रष्ट मनुष्य के शुभ-अशुभ कर्मों का वह अख्रश्य प्रभाव जो ञ्चल देने के लिए संचित रहता है।

सर्वज्ञता सब कुछ जानने की शद्रि (ईश्वर का मुख्य गुण)।

सृष्टि और प्रलयरू जगत का निर्माण और उसका विनाश (विश्राम की अवस्था)।

प्रेरक प्रेरणा देने वाला(ईश्वर परमाणुओं और जीवों को उनके कर्मों के अनुसार प्रेरित करता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. न्याय दर्शन के अनुसार ईश्वर जगत् का उपादान कारण न होकर केवल निमित्त कारण है। इस कथन की तर्कपूर्ण समीक्षा कीजिए व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 2. कारणता के सिद्धांत के संदर्भ में न्याय दर्शन में ईश्वर की भूमिका का परीक्षण कीजिए। क्या ईश्वर को केवल एक कुशल वास्तुकार मानना उचित है? प्रमाण सहित उत्तर दीजिए।

प्रश्न 3. न्याय दर्शन के अनुसार अख्रष्ट और ईश्वर के मध्य क्या संबंध है? ईश्वर को कर्मफलदाता और जगत् का निमित्त कारण सिद्ध करने में अख्रष्ट की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 4. न्याय सूत्राों में वर्णित पूर्वपक्ष (अनिमित्तवाद) और उत्तरपक्ष (ईश्वरवाद) के संवाद का विश्लेषण करते हुए सिद्ध कीजिए कि सृष्टि के लिए एक चेतन बुद्धिमान कारण (ईश्वर) की अनिवार्यता क्यों है?

प्रश्न 5. ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है, उपादान नहीं। न्याय दर्शन के इस सिद्धांत की तर्कपूर्ण विवेचना कीजिए।

प्रश्न 6.न्याय सूत्रा के अनिमित्तवाद प्रकरण की विस्तृत व्याख्या कीजिए। महर्षि गौतम ने उन मतों का खंडन किस प्रकार किया है जो जगत् की उत्पत्ति को बिना किसी निमित्त कारण द्धआकस्मिकऋ के मानते हैं?

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. अनिमित्तवाद के विरुद्ध न्याय दर्शन का कंटक द्धकाँटेऋ वाला उदाहरण क्या है? स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2. न्याय दर्शन के अनुसार अख्रष्ट क्या है और इसे संचालित करने के लिए ईश्वर की आवश्यकता क्यों है?

प्रश्न 3. निमित्त कारण की परिभाषा न्याय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 4. न्याय दर्शन के अनुसार कारण के तीन प्रकार कौन-से हैं? संक्षेप में नाम लिखिए।

प्रश्न 5. अनिमित्तवाद से क्या तात्पर्य है? न्याय दर्शन इसका खंडन क्यों करता है?

प्रश्न 6. न्याय दर्शन ईश्वर को जगत् का उपादान कारण क्यों नहीं मानता? कोई दो कारण दीजिए।

महत्वपूर्ण बहुविकल्पीय प्रश्न और उनके उत्तर यहाँ दिए गए हैं

1. न्याय दर्शन के अनुसार सर्वानित्यत्ववाद का मुख्य समर्थक कौन-सा दर्शन माना जाता है?

घ) सांख्य दर्शन

ख) बौ) दर्शन

ग) मीमांसा दर्शन

घ) जैन दर्शन

उत्तर ख)

2. सर्वानित्यत्ववाद के अनुसार जगत् के समस्त पदार्थों का स्वभाव क्या है?

घ) नित्य
ख) उत्पत्ति-विनाश रहित
ग) अनित्य (क्षणिघ)
घ) अपरिवर्तनीय
उत्तर ग)
3. महर्षि गौतम ने सर्वानित्यत्ववाद का निराकरण करते हुए क्या तर्क दिया है?
घ) अनित्यता का धर्म स्वयं नित्य है।
ख) कुछ भी अनित्य नहीं है।
ग) केवल परमाणु अनित्य हैं।
घ) प्रत्यक्ष प्रमाण गौण है।
उत्तर घ)
4. सर्वनित्यत्ववाद के अनुसार जगत् की स्थिति क्या है?
घ) सब कुछ प्रतिक्षण बदल रहा है।
ख) सब कुछ शून्य है।
ग) सब कुछ नित्य है क्योंकि पंचभूत नित्य हैं।
घ) केवल आत्मा नित्य है।
उत्तर ग)
5. न्याय दर्शन के अनुसार, वस्तुओं की उत्पत्ति और विनाश का ज्ञान हमें किस प्रमाण से होता है?
घ) केवल शब्द प्रमाण से
ख) प्रत्यक्ष प्रमाण से
ग) केवल उपमान से
घ) केवल अर्थापत्ति से
उत्तर ख)
6. यदि सर्वनित्यत्ववाद को मान लिया जाए, तो न्याय दर्शन के अनुसार इनमें से क्या असंभव हो जाएगा?
घ) मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयास (पुरुषार्थ)
ख) वस्तुओं का प्रत्यक्ष
ग) परमाणुओं का अस्तित्व
घ) ईश्वर की सत्ता
उत्तर घ)
7. अनित्यता स्वयं अनित्य है - इस तर्क के माध्यम से न्याय दर्शन किसका खंडन करता है?
घ) सर्वनित्यत्ववाद का
ख) सर्वानित्यत्ववाद का
ग) शून्यवाद का
घ) स्याद्वाद का
उत्तर ख)
8. न्याय दर्शन के अनुसार शनित्यश और शअनित्यश का वगह्लकरण किस आधार पर होता है?
घ) केवल कल्पना के आधार पर
ख) वस्तुओं के अवयव और परमाणु के आधार पर
ग) काल के अभाव में

घ) इनमें से कोई नहीं

उत्तर ख)

9. सर्वनित्यत्ववाद के निराकरण में न्याय सूत्रकार ने प्रत्यक्ष बाधा के रूप में क्या प्रस्तुत किया है?

घ) घट (घड़ा) आदि का निर्माण और विनाश

ख) आत्मा की अमरता

ग) वेदों की प्रमाणिकता

घ) सुख-दु:ख का अनुभव

उत्तर घ)

10. न्याय दर्शन इन दोनों वादों (सर्वानित्यत्व और सर्वनित्यत्व) को क्या मानता है?

घ) पूर्ण सत्य

ख) एकांतिक और दोषपूर्ण (अतिवादी)

ग) मोक्ष का मार्ग

घ) आगम सम्मत

उत्तर ख)

इकाई- २.२ - सर्वानित्यत्ववाद एवं सर्वनित्यत्ववाद निराकरण

उद्देश्य-

1. यह सिद्ध करना कि संसार में सब कुछ क्षणिक नहीं है(कुछ तत्व स्थायी (नित्य) भी होते हैं।

२.२-१ - **अथ सर्वानित्यत्वनिराकरणम्।**

अब सूत्राकार सर्वानित्यत्ववाद प्रस्तुत करते हैं-

सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ।।४/१/२५।।

किमनित्यं नाम? यस्य कदाचिद् भावस्तदनित्यम्। उत्पत्तिधर्मकनुत्पन्नं नास्ति विनाशधर्मकं चाविनष्टं नास्ति। किं पुनः सर्वम्? भौतिकं च शरीरादि अभौतिकं च बुद्ध्यादि तदुभयमुत्पत्तिविनाशधर्मकं विज्ञायते तस्मात्तत्सर्वमनित्यमिति । उत्पत्ति और विनाश धर्मवाला होने से सब पदार्थमात्र अनित्य है। जो वस्तु कभी हो, कभी न हो, उसे 'अनित्य' कहते हैं। उत्पत्ति और विनाश पाए जाने से शरीर आदि भौतिक तथा बुद्धि आदि अभौतिक सब पदार्थ अनित्य हैं, नित्य नहीं। अतः आत्मा को नित्य मानना उचित नहीं हैं।

सन्दर्भ– अब सूत्राकार प्रौढिवाद से उक्तवाद का खण्डन करते हैं।

नानित्यतानित्यत्वात् ।।४/१/२६।।

यदि तावत्सर्वस्यानित्यता नित्या ? तन्नित्यत्वान्न सर्वमनित्यम्। अथानित्या ? तस्यामविद्यमानायां सर्व नित्यमिति । अनित्यता के नित्य होने से उक्तवाद उचित नहीं। यदि सबकी अनित्यता नित्य है, तो उस अनित्यता के नित्य होने से सब अनित्य नहीं हो सकते है; क्योंकि अनित्यता सब से बाहर तत्त्व नहीं है और यदि अनित्यता अनित्य है, तो उसके न रहने से सबका नित्य होना सिद्ध हो जाएगा। अतः सब पदार्थों को अनित्य मानना उचित नहीं।

सन्दर्भ– अब 'सर्वानित्यत्ववादी' प्रौढिवादी की आपत्ति का समाधान करता है-

तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत् ।।४/१/२७।।

तस्या अनित्यताया अप्यनित्यत्वम् । कथम्? यथा अग्निर्दाह्यं विनाश्यानुविनश्यति एवं सर्वस्यानित्यता सर्वं विनाश्यानुविनश्यतीति । जलाने योग्य (काष्ठादि पदार्थ) को विनष्ट करके (जलाकर) अग्नि के पश्चात् स्वयं के विनाश के समान उस (अनित्यता) की भी अनित्यता सिद्ध होती है। जैसे- काष्ठादि दाह्य पदार्थ को नष्ट करके (जलाकर) अग्नि स्वयं भी नष्ट हो जाती है (बुझ जाती है), वैसे ही पदार्थों की अनित्यता भी सबको नष्ट करके स्वयं भी अन्त में नष्ट हो जाती है अनित्य होने के कारण। इस प्रकार सबकी अनित्यता के साथ स्वयं अनित्यता भी अनित्य बनी रहती है। अतः सर्वानित्यत्ववाद असंगत नहीं है।

सन्दर्भ– अब महषि गौतम पूर्वपक्ष के उक्त समाधान का खण्डन करते हुए अपना सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं-

नित्यस्याप्रत्याख्यानं यथोपलब्धि व्यवस्थनात् ।।४/१/२८।।

अयं खलु वादो नित्यं प्रत्याचष्टे, नित्यस्य च प्रत्याख्यानमनुपपन्नम्। कस्मात् ? यथोपलब्धि व्यवस्थानात् । उपलब्धि के अनुसार व्यवस्था होने से नित्य का प्रत्याख्यान नहीं हो सकता। जो पदार्थ जैसा उपलब्ध होता है, उसी के अनुसार उसकी व्यवस्था स्वीकार करनी चाहिए, अर्थात् जिस पदार्थ का उत्पत्ति और विनाश प्रमाण से सिद्ध हों, वह अनित्य है, जैसे- शरीर, इन्द्रिय, ज्ञान, घट, पट आदि तथा जिस पदार्थ का अनित्यत्व प्रमाण से सिद्ध न हो सकें, वह नित्य समझना चाहिए, जैसे पृथिवी आदि के परमाणु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और इनके गुण आदि। अतः बिना किसी प्रमाण के सब पदार्थों को अनित्य कहना उचित नहीं है।

इति सर्वानित्यत्वनिराकरणम्।

स्मरणीय बिंदु

तर्क यदि सब कुछ अनित्य है, तो सब कुछ अनित्य है यह नियम स्वयं भी अनित्य होना चाहिए। यदि नियम अनित्य है, तो वस्तुएं नित्य सिद्ध हो जाएंगी।

पहचान (प्रत्यभिज्ञा) हम किसी व्यद्रि या वस्तु को दोबारा देखकर पहचान लेते हैं कि यह वही है। यदि सब कुछ हर क्षण बदल जाता, तो स्मृति और पहचान असंभव होती।

आधार विनाश केवल (कार्य) वस्तुओं (जो बनी हैघ) का होता है, कारण (जैसे परमाणु या आत्मा) का नहीं।

शब्दावली

सर्वानित्यत्ववाद वह सिद्धांत जो मानता है कि जगत की प्रत्येक वस्तु विनाशशील और क्षणिक है।

सर्वनित्यत्ववाद वह सिद्धांत जो मानता है कि जगत की प्रत्येक वस्तु अविनाशी और स्थायी है।
नित्यरू जिसका कभी विनाश न हो ।
अनित्यरू जो उत्पन्न होता है और जिसका विनाश निश्चित है।
प्रत्यभिज्ञा पहले देखी हुई वस्तु को फिर से पहचानना ।
विनाश किसी वस्तु के अस्तित्व का अंत होना।
उत्पत्ति किसी नई वस्तु का अस्तित्व में आना।
अतिव्याप्ति किसी सिद्धांत का इतना फैल जाना कि वह सत्य को ही ढक ले (यहाँ दोनों वाद इसी दोष से ग्रस्त हैघ)।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. न्याय दर्शन के चतुर्थ अध्याय में प्रतिपादित सर्वानित्यत्ववाद के स्वरूप की व्याख्या कीजिए तथा महर्षि गौतम द्वारा इसका निराकरण किन तर्कों के आधार पर किया गया है? सविस्तार विवेचन कीजिए।
प्रश्न 2. यदि सब कुछ अनित्य है, तो अनित्यता का धर्म स्वयं नित्य होगा या अनित्य? इस द्वंद्व के माध्यम से न्याय दर्शन द्वारा सर्वानित्यत्ववाद के खंडन की समीक्षा कीजिए।
प्रश्न 3. सर्वनित्यत्ववाद से आप क्या समझते हैं? न्याय दर्शन इस मत का निराकरण करते हुए उत्पत्ति और विनाश के प्रत्यक्ष प्रमाणों को किस प्रकार सिद्ध करता है? तर्कपूर्ण उत्तर लिखिए।
प्रश्न 4. सर्वनित्यत्ववाद का निराकरण करते हुए न्याय सूत्राकार ने प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों का सहारा लिया है। इस कथन के आलोक में न्याय दर्शन के परमाणुवाद और वस्तुओं के विनाशशील स्वभाव की व्याख्या कीजिए।
प्रश्न 5. न्याय दर्शन के अनुसार सर्वानित्यत्ववाद (बौद्ध मत के निकट) और सर्वनित्यत्ववाद (सांख्य या कुछ वेदान्त धाराओं के निकट) दोनों ही एकांगी ख्रष्टिकोण हैं। इन दोनों मतों के निराकरण के उपरांत न्याय दर्शन द्वारा प्रतिपादित मध्यमागह्ल यथार्थवाद पर एक आलोचनात्मक निबंध लिखिए।
प्रश्न 6. यदि पदार्थों का विनाश नहीं होता (सर्वनित्यत्व) तो पुरुषार्थ और मोक्ष की अवधारणा व्यर्थ हो जाएगी। इस तर्क के आधार पर न्याय दर्शन के सर्वनित्यत्ववाद निराकरण प्रकरण की व्याख्या कीजिए।
प्रश्न 7. न्याय सूत्राों में वर्णित उन पूर्वपक्षों का उल्लेख कीजिए जो संपूर्ण जगत् को अनित्य सिद्ध करने के लिए उत्पत्ति-विनाश का उदाहरण देते हैं, और फिर गौतम द्वारा दिए गए उनके उत्तरों (उत्तरपक्ष) का विश्लेषण कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. न्याय दर्शन के अनुसार सर्वानित्यत्ववाद का संक्षिप्त अर्थ क्या है?
प्रश्न 2. सर्वानित्यत्ववादी अपने पक्ष में उत्पत्ति और विनाश का क्या तर्क देते हैं?
प्रश्न 4. सर्वनित्यत्ववाद का मूल सिद्धांत क्या है?
प्रश्न 5. सर्वनित्यत्ववादी पंचमहाभूतों की नित्यता के आधार पर संपूर्ण जगत् को नित्य कैसे सिद्ध करते हैं?
प्रश्न 6. न्याय दर्शन सर्वनित्यत्ववाद का खंडन करने के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण का उपयोग किस प्रकार करता है?
प्रश्न 7. परमाणुओं की नित्यता और निर्मित वस्तुओं (वयवोघ) की अनित्यता के बीच न्याय दर्शन किस प्रकार संतुलन स्थापित करता है?

महत्वपूर्ण बहुविकल्पीय प्रश्न और उनके उत्तर यहाँ दिए गए हैं

1. न्याय दर्शन के अनुसार सर्वानित्यत्ववाद का मुख्य समर्थक कौन-सा दर्शन माना जाता है?
घ) सांख्य दर्शन
ख) बौ) दर्शन
ग) मीमांसा दर्शन
घ) जैन दर्शन
उत्तर ख)

2. सर्वानित्यत्ववाद के अनुसार जगत् के समस्त पदार्थों का स्वभाव क्या है?

घ) नित्य

ख) उत्पत्ति-विनाश रहित

ग) अनित्य (क्षणिघ)

घ) अपरिवर्तनीय

उत्तर ग)

3. महर्षि गौतम ने सर्वानित्यत्ववाद का निराकरण करते हुए क्या तर्क दिया है?

घ) अनित्यता का धर्म स्वयं नित्य है।

ख) कुछ भी अनित्य नहीं है।

ग) केवल परमाणु अनित्य हैं।

घ) प्रत्यक्ष प्रमाण गौण है।

उत्तर घ)

4. सर्वनित्यत्ववाद के अनुसार जगत् की स्थिति क्या है?

घ) सब कुछ प्रतिक्षण बदल रहा है।

ख) सब कुछ शून्य है।

ग) सब कुछ नित्य है क्योंकि पंचभूत नित्य हैं।

घ) केवल आत्मा नित्य है।

उत्तर ग)

5. न्याय दर्शन के अनुसार, वस्तुओं की उत्पत्ति और विनाश का ज्ञान हमें किस प्रमाण से होता है?

घ) केवल शब्द प्रमाण से

ख) प्रत्यक्ष प्रमाण से

ग) केवल उपमान से

घ) केवल अर्थापत्ति से

उत्तर ख)

6. यदि सर्वनित्यत्ववाद को मान लिया जाए, तो न्याय दर्शन के अनुसार इनमें से क्या असंभव हो जाएगा?

घ) मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयास (पुरुषार्थ)

ख) वस्तुओं का प्रत्यक्ष

ग) परमाणुओं का अस्तित्व

घ) ईश्वर की सत्ता

उत्तर घ)

7. अनित्यता स्वयं अनित्य है - इस तर्क के माध्यम से न्याय दर्शन किसका खंडन करता है?

घ) सर्वनित्यत्ववाद का

ख) सर्वानित्यत्ववाद का

ग) शून्यवाद का

घ) स्याद्वाद का

उत्तर ख)

8. न्याय दर्शन के अनुसार नित्य और अनित्य का वगह्लकरण किस आधार पर होता है?

घ) केवल कल्पना के आधार पर

ख) वस्तुओं के अवयव और परमाणु के आधार पर

ग) काल के अभाव में

घ) इनमें से कोई नहीं

उत्तर ख)

9. सर्वनित्यत्ववाद के निराकरण में न्याय सूत्रकार ने प्रत्यक्ष बाधा के रूप में क्या प्रस्तुत किया है?

घ) घट (घड़ा) आदि का निर्माण और विनाश

ख) आत्मा की अमरता

ग) वेदों की प्रमाणिकता

घ) सुख-दु:ख का अनुभव

उत्तर घ)

10. न्याय दर्शन इन दोनों वादों (सर्वानित्यत्व और सर्वनित्यत्व) को क्या मानता है?

घ) पूर्ण सत्य

ख) एकांतिक और दोषपूर्ण (अतिवादी)

ग) मोक्ष का मार्ग

घ) आगम सम्मत

उत्तर ख)

२.२-२ अथ सर्वनित्यत्वनिराकरणप्रकरणम्

सन्दर्भ– अब सूत्राकार 'सर्वनित्यत्ववाद' प्रस्तुत करते हैं-

सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ।।४/१/२९।।

भूतमात्रमिदं सर्व तानि च नित्यानि भूतोच्छेदानुपपत्तेरिति । पाँच भूतों के नित्य होने से पदार्थ मात्र नित्य है। यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् पञ्चभूतात्मक है। (नैयायिघ) कारण रूप भूतों को नित्य मानते हैं। अतः भूतात्मक गो, घट आदि सभी द्रव्य नित्य हैं।

समाधान– महषि गौतम उक्त वाद का निराकरण करते हैं-

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ।।४/१/३०।।

उत्पत्तिकारणं चोपलभ्यते विनाशकारणं च, तत् सर्वनित्यत्वे व्याहन्यते इति । अनेक पदार्थों की उपलब्धि और विनाश के कारण ों की उपलब्धि होने से उक्त वाद उचित नहीं है।

जैसे- घट की उत्पत्ति और विनाश के कारण भूत कपाल-संयोग और घट का टूट जाना आदि प्रत्यक्ष से उपलब्ध होते हैं, ऐसे ही अन्य अनेक पदार्थों के उत्पत्ति और विनाश के कारण उपलब्ध होते हैं। इसलिए पदार्थमात्र को नित्य कहना प्रमाण सिद्ध नहीं है। जिन पदार्थों के उत्पत्ति और विनाश के कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उपलब्ध होते हैं, वे स्पष्टतया अनित्य हैं।

सन्दर्भ– उक्त निराकरण का सर्वनित्यत्ववादी खण्डन करता है-

सब पदार्थों के पंचभूतत्व के अन्तर्गत आ जाने से (सबकी नित्यता का) प्रतिषेध उचित नहीं।

जिन पदार्थों के उत्पत्ति विनाशकारण उपलब्ध होते हैं, वे भी भूतलक्षणों के अन्तर्गत आ जाने से भूत ही हैं, उनसे भिन्न नहीं, और पाँचों भूतों की नित्यता सिद्ध हो चुकी है। अतः भूतोत्पन्न ये पदार्थ भी नित्य माने जाने चाहिए। इन द्रव्यों की नित्यता का प्रतिषेध उचित नहीं।

समाधान– अब पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए महषि गौतम सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं-

नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः ।।४/१/३२।।

कारणसमानगुणस्योत्पत्तिः कारणं चोपलभ्यते। न चैतदुभयं नित्यविषयाम्, न चोत्पत्तितत्कारणोपलब्धिः शक्या प्रत्याख्यातुम्, न चाविषया काचिदुपलब्धिः। उपलब्धिसामर्थ्यात्कारणेन समानगुणं कार्यमुत्पद्यते इत्यनुमीयते, स खलूपलब्धेर्विषय इति। गो, घटादि भौतिक पदार्थों को अनित्य ही माना जाना चाहिए, क्योंकि उनकी उत्पत्ति तथा विनाश के कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उपलब्ध होते हैं, जिससे पृथिवी आदि भूतो के कार्य होने पर भी गो, घटादि पदार्थों में पंचभूतों के परमाणुओं के समान भूतरूपता अथवा भूतों के समान नित्यता नहीं आ सकती; क्योंकि कार्य की उत्पत्ति और विनाश उसके नित्य माने जाने में बाधक हो जाते हैं। प्रत्येक अवयवी उत्पत्ति-विनाश धर्म वाला होता है। अतः उसे नित्य नहीं कहा जा सकता।

सन्दर्भ– पूर्वपक्ष प्रकारान्तर से सबकी नित्यता का प्रतिपादन कर सकता है, कि- किसी भी कार्यद्रव्य का उपादान कारण अवस्थित रहता है, उसके कुछ धर्म निवृत्त (अन्तर्हित) हो जाते हैं और कुछ अन्य धर्म उभर आते हैं। धर्मों का यह प्रादुर्भाव और तिरोभाव ही विनाश और उत्पत्ति है। जिसका प्रादुर्भाव होता है, वह उससे पहले भी कारण रूप में विद्यमान रहता है, और जिसका तिरोभाव होता है, वह नष्ट होकर भी कारणरूप में विद्यमान रहता है। इस प्रकार सब पदार्थों की नित्यता सिद्ध होती है।

आचार्य महषि गौतम इस धारणा का निराकरण करते हैं -

न, व्यवस्थानुपपत्तेः ।।४/१/३३।।

अयमुपजनः इयं निवृत्तिरिति व्यवस्था नोपपद्यते, उपजातनिवृत्तयोर्विद्यमानत्वात् । व्यवस्था न हो सकने से उक्त कथन उचित नहीं है। उत्पन्न हुए पदार्थ की उत्पत्ति से पूर्व तथा विनष्ट पदार्थ के विनाश के पश्चात् भी विद्यमान मानने पर 'यह धर्म प्रादुर्भूत (उत्पन्न) हुआ, यह तिरोहित (नष्ट) हुआ'- यह व्यवस्था कभी नहीं बन सकती; क्योंकि जब वे धर्म कार्य के उपादान द्रव्य के साथ प्रत्येक अवस्था में निरन्तर विद्यमान रहते हैं, तब किसका कैसा प्रादुर्भाव? और किसका कैसा तिरोभाव ?

इसके अतिरिक्त 'कब किसकी उत्पत्ति हुई और कब किसकी निवृत्ति होगी' यह काल व्यवस्था भी नहीं बन सकती। इससे भूत और भविष्यत् का लोप हो जाएगा। केवल वर्तमान ही रह जाएगा; क्योंकि प्रत्येक पदार्थ सदा विद्यमान है। इसलिए अविद्यमान को रूपविशेष की प्राप्ति 'उत्पत्ति' और स्वरूपहानि 'निवृत्ति' प्राप्त होती है- ऐसा मानकर ही इस व्यवस्था को सुरक्षित रखा जा सकता है। अतः यह पक्ष सर्वथा असंगत है, कि उत्पत्ति से पूर्व तथा विनाश के पश्चात् भी पदार्थ विद्यमान रहता है। **इति सर्वनित्यत्वनिराकरणम्।**

इकाई-२.३ - सर्वपृथक्वाद एवं अभाववाद निराकरण

उद्देश्य-

1. यह सिद्ध करना कि वस्तु केवल अपने अवयवों का समूह नहीं है, बल्कि एक स्वतंत्राा अवयवी है।
2. चीजों के बीच के संबंध और एकता को तर्क से समझना।
3. इस भ्रम को दूर करना कि वृक्ष जैसा कुछ नहीं है, केवल शाखाएं और पत्ते ही अलग-अलग सत्य हैं।

२.३-१ - अथ सर्वपृथक्त्वनिराकरणप्रकरणम्

अब सूत्राकार पूर्वपक्ष का 'सर्वपृथक्त्ववाद' प्रस्तुत करते हैं-

सर्वं पृथक्, भावलक्षणपृथक्त्वात् ।।४/१/३४।।

सर्वं नाना न कश्चिदेको भावो विद्यते। कस्मात्? भावलक्षणपृथक्त्वात् । सब पदार्थों की पृथक्-पृथक् सत्ता होने से, प्रत्येक पदार्थ (सदात्मक पदार्थ) अनेक अवयवों का समूह मात्र है, स्वतन्त्र अवयवी के रूप में नहीं; क्योंकि उसमें अवयवों के लक्षण (स्वरूप और नाम) स्वतन्त्र रूप से पृथक् हैं। जैसे- कुम्भ (घट) यह पदार्थ गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा बर्तन की तली पार्श्वभाग, कपाल, ग्रीवा आदि अनेक पदार्थों का समुदाय होने से सबका वाचक है, किसी एक वस्तु (अवयवी) का नहीं। ऐसे ही अन्य पदार्थों को भी समझ लेना चाहिए। तात्पर्य यह है, कि गुणों और अवयवों के अतिरिक्त कोई गुणी या अवयवी नहीं है।

समाधान- अब महषि गौतम उक्त वाद का निराकरण करते हैं -

नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः ।।४/१/३५।।

अनेक प्रकार के लक्षणों से एक पदार्थ की उत्पत्ति होने के कारण उक्तवाद उचित नहीं।

अर्थात् अनेक अवयवों तथा विभिन्न पदवाच्य साधनों से एक पदार्थ उत्पन्न होता है। जैसे कुम्भ (घट) एक अर्थ है, जो बुध्न, ग्रीवा आदि अवयवों तथा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, संयोग आदि गुणों से उत्पन्न हुआ है, और इन अवयवों तथा गुणों से पृथक् अवयवी है। द्रव्य और गुण एवं अवयव और अवयवी परस्पर भिन्न होते हैं। गुण द्रव्य के एवं अवयवी अवयवों के आश्रित रहता है। अतः घट आदि पदार्थ नानारूप न होकर एकमात्र इकाई (अवयवी) है।

सन्दर्भ- अब सूत्राकार अवयवी के अस्तित्व की सिद्धि में अन्य हेतु देते हैं-

लक्षणव्यवस्थानादेवाप्रतिषेधः ।।४/१/३६।।

न कश्चिदेको भाव इत्ययुक्तः प्रतिषेधः। कस्मात्? लक्षणव्यवस्थानादेव। लक्षणों के व्यवस्थान (सद्भाव) से एव ही (अवयवी के अस्तित्व का) प्रतिषेध नहीं हो सकता। लोक-व्यवहार में संज्ञापदों (नाम) एवं अवयवों का व्यवस्थित सद्भाव पाए जाने से 'अवयवी' के अस्तित्व का निषेध नहीं हो सकता। जैसे 'घट' यह एक वाचक पद है, जिसका वाच्य ग्रीवा, पार्श्व एवं गोलाई से युक्त एक अर्थ है। वह केवल परमाणुओं का समूह नहीं हो सकता। परमाणु अतीन्द्रिय हैं, किन्तु घट इन्द्रिय-ग्राह्य। और 'घट में जल भरा है'- यह व्यवहार मिट्टी के परमाणुओं के समूहमात्र में नहीं हो सकता। 'घट' आदि अवयवी कहने से जो अर्थ प्रतीत होता है, वह परमाणु-समूह कहने से प्रतीत नहीं होता।

इसके अतिरिक्त 'अवयव' किसी अवयवी के कारणतत्त्वों को कहते हैं। यदि 'अवयवी' का एक इकाई के रूप में कोई अस्तित्व नहीं है, तो वे कारणतत्त्व किसके अवयव कहलाएँगे। वस्तुतः कारणतत्त्वों में 'अवयव' पद का प्रयोग 'अवयवी' की अपेक्षा से होता है, अर्थात् अवयव अवयवी परस्पर सम्बद्ध पद हैं। इससे यह सिद्ध है, कि अनेक लक्षणों में एक भाव लक्षित होता है। यदि एक न मानेंगे, तो समुदाय भी न रहेगा क्योंकि एक से ही अनेक होते हैं। अतः एक घटादि संज्ञावाचक अर्थ को एक अवयवी न मानकर उसे समूहमात्र कहना निराधार एवं प्रमाणहीन वाद है

इति सर्वपृथक्त्वनिराकरणम् ।

,,.३-२ - अभाववाद निराकरण

अथ सर्वशून्यतावादनिराकरणम् = अभाववादखण्डनम्

संदर्भ - अब सूत्राकार अभाववाद प्रस्तुत करते है।

सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ।।४/१/३७।।

यावद्भवजातं तत्सर्वमभावः । कस्मात्? भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः । सब पदार्थमात्र अभावरूप है, तथाकथित भावरूप सम्पूर्ण पदार्थों में परस्पर अभाव की सिद्धि होने से। जितने भावरूप में पदार्थ कहे जाते हैं, वे वास्तव में अभावरूप हैं, क्योंकि प्रत्येक भाव का उससे भिन्न समस्त भावों में अभाव पाया जाता है। जैसे घड़ा वस्त्र नहीं, वस्त्र घड़ा नहीं, गाय घोड़ा नहीं, घोड़ा गाय नहीं। इसी प्रकार जब तथाकथित भावरूप पदार्थों में एक-दूसरे का अभाव सिद्ध है, तो सबको अभावरूप ही माना जाना चाहिए ।

विशेष- गतप्रकरण (४/१/१४-१८) में अभाव की कारणता का प्रतिषेध किया है, यहाँ भाव को अभाव मानने का वर्णन है।

संदर्भ- अब महर्षि गौतम सर्वशून्यतावाद (अभाववाद) का खण्डन करते हैं -

न, स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ।।४/१/३८।।

न सर्वमभावः। कस्मात्? स्वेन भावेन सद्भावाद्भावानाम्, स्वेन धर्मेण भावा भवन्तीति प्रतिज्ञायते। भावों की स्वभावता (अपने अस्तित्व) की सिद्धि होने के कारण कथन उचित नहीं है। संसार में सब कुछ अभाव या शून्यरूप नहीं है क्योंकि स्वरूप (अपने अस्तित्व) से प्रत्येक पदार्थ की विद्यमानता प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध है। यदि घट में पट का अभाव है, तो अपना (घट का) तो भाव (अस्तित्व) है। इसी प्रकार यदि अश्व जाति से गो जाति का ग्रहण नहीं होता, तो अपना (अश्व जाति का) तो ग्रहण होता है। फिर भाव से अभाव की सिद्धि कैसे हो सकती है? अतः सब पदार्थों में अपना-अपना भाव होने से उनका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। गाय घोड़ा नहीं है या घोड़ा गाय नहीं है- इत्यादि कहने का तात्पर्य तो केवल इतना है, कि गाय और घोड़ा एक नहीं हैं, ये परस्पर भिन्न पदार्थ हैं, और अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। अतः सर्वशून्यवाद सर्वथा अप्रमाणित एवं असंगत है।

सन्दर्भ- अब पूर्वपक्ष 'भावों की स्वभावसिद्धि' का निराकरण करते हैं -

न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ।।४/१/३९।।

अपेक्षाकृतमापेक्षिकम्। ह्रस्वापेक्षाकृतं दीर्घ दीर्घापेक्षाकृतं ह्रस्वं, न स्वेनात्मनावस्थितं किञ्चित् । स्व-भाव की सिद्धि नहीं बनती, आपेक्षिक (परस्पर सापेक्ष) होने से। सब पदार्थों के स्वभाव सापेक्ष हैं। ह्रस्व की अपेक्षा दीर्घ और दीर्घ की अपेक्षा ह्रस्व कहाता है। दूसरे की अपेक्षा के बिना कोई भी पदार्थ अपने स्वरूप में अवस्थित नहीं रह सकता है। अतः आपेक्षिक होने से भावों की स्वभाव सिद्धि नहीं हो सकती। 'घट' अपने अस्तित्व के लिए 'घट' के अतिरिक्त पटादि समस्त पदार्थों से भेद की अपेक्षा करता है। इससे सिद्ध है, कि घट की सत्ता एवं प्रतीति में पटादि भेद का ज्ञान अपेक्षित होता है।

इसलिए 'भावों की स्वभाव सिद्धि' हेतु आपेक्षिक होने से भावों के स्वतन्त्र सद्भाव की सिद्धि सम्भव नहीं है।

सन्दर्भ- अब न्यायकार वादी के तर्क का निराकरण करते हैं -

व्याहतत्वादयुक्तम् ।।४/१/४०।।

यदि ह्रस्वापेक्षाकृतं दीर्घ, किमिदानीमपेक्ष्य ह्रस्वमिति गृह्यते? अथ दीर्घापेक्षाकृतं ह्रस्वं, दीर्घमनापेक्षिकम्? एवमितरेतराश्रययोरेका भावेऽन्यतराभावादुभयाभाव इति दीर्घापेक्षा-

व्यवस्थाऽनुपपन्ना । यदि ह्रस्व दीर्घ की अपेक्षा से है, तो दीर्घ किसकी अपेक्षा से है? यदि यह कहा जाये कि ह्रस्व की अपेक्षा से, तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि ह्रस्व अभी अनापेक्षिक है। ऐसी स्थिति में दोनों अन्योऽन्याश्रय होने से एक के अभाव में दूसरे का अभाव होने के कारण दोनों का अभाव हो जाना चाहिए। इस प्रकार अपेक्षा के आधार पर वस्तु की व्यवस्था असिद्ध हो जाती है। अतः वस्तु को स्वरूपसिद्ध मानना ही प्रामाणिक है। इस निरूपण से यह निश्चित हो जाता है, कि पदार्थ केवल अभाव नहीं है ।।

इति सर्वशून्यवादनिराकरणम्

स्मरणीय बिंदु

पूर्वपक्ष (सिद्धांत) अभाववादी कहते हैं कि सब कुछ अभाव से पैदा होता है और अंत में अभाव में मिल जाता है, इसलिए अभाव ही परम सत्य है।

न्याय का खंडन

1. आधार की आवश्यकतारू श्अभावश हमेशा किसी न किसी श्भावश द्भवस्तुऋ का होता है। जैसे घड़े का अभाव कहने के लिए पहले घड़े की सत्ता को मानना पड़ेगा। बिना वस्तु के उसका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता।

2. स्वभाव की पहचानरू हर वस्तु का अपना एक गुण द्भस्वभावऋ होता है। आग गर्म है और पानी ठंडा(यदि सब कुछ अभाव या शून्य होता, तो वस्तुओं के ये अलग-अलग गुण नहीं होते।

3. शद्रि अभाव से कुछ भी पैदा नहीं हो सकता। दही बनाने के लिए दूध (भाव) की जरूरत होती है, दूध के अभाव से दही नहीं बन सकता।

शब्दावली

सर्वपृथद्र्ववाद वह मत जो मानता है कि कोई भी वस्तु एक इकाई नहीं है, बल्कि केवल भिन्न-भिन्न अंगों का समूह है।

अभाववाद वह दर्शन जो संसार की वास्तविकता को नकार कर उसे श्अभावश या असत्य मानता है।

अवयव किसी वस्तु के अंग या हिस्से (जैसे धागे)।

अवयवी अंगों से मिलकर बनी पूरी वस्तु (जैसे कपड़ा)।

प्रागभाव वस्तु के पैदा होने से पहले उसका न होना।

प्रध्वंसाभाव वस्तु के नष्ट होने के बाद उसका न होना।

स्वभाव वस्तु का अपना प्राख्तिक धर्म या गुण।

अधिष्ठान वह आधार जिसके बिना कोई ज्ञान संभव न हो।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. न्याय दर्शन के अनुसार सर्वपृथद्र्ववाद के स्वरूप की विवेचना कीजिए। महर्षि गौतम ने इस मत का निराकरण करते हुए अवयव और अवयवी के संबंध को किस प्रकार स्पष्ट किया है?

प्रश्न 2. यदि संपूर्ण पदार्थ एक-दूसरे से पूर्णतः भिन्न और पृथक हैं, तो वस्तु का सामूहिक प्रत्यय कैसे संभव है? सर्वपृथद्र्ववाद के खंडन में न्याय दर्शन के इस तर्क की समीक्षा कीजिए।

प्रश्न 3. अभाववाद से आप क्या समझते हैं? न्याय दर्शन के चतुर्थ अध्याय के आधार पर इस मत के निराकरण हेतु दिए गए तर्कों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

प्रश्न 4. अभाव की सिद्धि के लिए भी किसी भाव (सकारात्मक सत्ता) का होना अनिवार्य है। न्याय दर्शन के इस सिद्धांत के आलोक में अभाववाद (शून्यवाद के संदर्भ मेघ) के निराकरण की व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 5. भावपदार्थानां अभावत्वानुपपत्तिः (भाव पदार्थों में अभाव की सिद्धि नहीं होती)। इस सूत्रा के आधार पर अभाववाद के विरुद्ध न्याय दर्शन के यथार्थवादी ख्रष्टिकोण का परीक्षण कीजिए।

प्रश्न 6 सर्वपृथद्र्ववाद और अभाववाद दोनों ही जगत् की एकता और सत्ता को चुनौती देते हैं। न्याय दर्शन ने इन दोनों मतों का खंडन कर किस प्रकार वस्तुवाद की स्थापना की है? तुलनात्मक उत्तर लिखिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. न्याय दर्शन के अनुसार सर्वपृथद्र्ववाद का मूल अभिप्राय क्या है?

प्रश्न 2. सर्वपृथद्र्ववादी किसी वस्तु (जैसेख्घड़ा) को उसके गुणों से पृथक क्यों मानते हैं?

प्रश्न 3. महर्षि गौतम ने सर्वपृथद्र्ववाद का खंडन करने के लिए (अवयवी) का क्या तर्क दिया है?

प्रश्न 4. लक्षणों के आधार पर वस्तु की एकता सिद्ध होती है इस कथन के माध्यम से सर्वपृथद्र्ववाद का निराकरण स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 5. अभाववाद से आप क्या समझते हैं?

प्रश्न 6. अभाववादी यह क्यों कहते हैं कि सब कुछ अभाव है? उनके पक्ष का एक उदाहरण दीजिए।

प्रश्न 7. न्याय दर्शन के अनुसार, किसी वस्तु के अभाव को जानने के लिए उसके भाव द्भसत्ताऋ का ज्ञान होना क्यों आवश्यक है?

प्रश्न 8. भावपदार्थानां अभावत्वानुपपत्तिः सूत्रा का अर्थ संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।
प्रश्न 9. न्याय दर्शन शून्यता या अभाववादश को प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध क्यों मानता है?

महत्वपूर्ण बहुविकल्पीय प्रश्न और उनके उत्तर यहाँ दिए गए हैं

1. सर्वपृथद्रव्ववाद के अनुसार पदार्थ का स्वरूप कैसा है?
घ) सब कुछ एक ही ब्रह्म है।
ख) पदार्थों में कोई वास्तविक एकता नहीं है, वे पूर्णतः भिन्न और पृथक हैं।
ग) सब कुछ शून्य है।
घ) जड़ और चेतन एक ही हैं।
उत्तर ख)
2. न्याय दर्शन सर्वपृथद्रव्ववाद का खंडन किस अवधारणा के आधार पर करता
घ) क्षणिकवाद
ख) अवयव-अवयवी संबंध (एकता)
ग) मायावाद
घ) संशयवाद
उत्तर ख)
3. अनेकान्तत्वात तर्क द्वारा महर्षि गौतम ने किस वाद का निराकरण किया है?
घ) सर्वनित्यत्ववाद
ख) सर्वपृथद्रव्ववाद
ग) ईश्वरवाद
घ) परमाणुवाद
उत्तर ख)
4. अभाववाद का मूल दावा क्या है?
घ) सब कुछ नित्य है।
ख) पदार्थों की अपनी कोई सत्ता नहीं है, सब कुछ अभाव रूप है।
ग) ईश्वर ही एकमात्र सत्य है।
घ) परमाणु ही सत्य हैं।
उत्तर ख)
5. न्याय दर्शन के अनुसार, किसी वस्तु के अभाव का ज्ञान होने के लिए किसका ज्ञान अनिवार्य है?
घ) शून्य का
ख) उसके श्प्रतियोगीश या भाव (सकारात्मक सत्ता) का
ग) ईश्वर का
घ) केवल अनुमान का
उत्तर ख)
6. न स्वभावसिद्धिर्भावानाम (पदार्थों की अपनी कोई सत्ता नहीं है) यह तर्क किस मत से संबंधित है?
घ) न्याय दर्शन
ख) अभाववाद (शून्यवाद)
ग) सांख्य दर्शन
घ) मीमांसा दर्शन

उत्तर ख)

7. अभाववाद का निराकरण करते हुए न्याय सूत्रकार ने क्या तर्क दिया है?

घ) अभाव स्वयं एक भाव पदार्थ है।

ख) यदि सब कुछ अभाव है, तो श्अभावश शब्द का अर्थ ही सिद्ध नहीं होगा।

ग) अभाव का कोई ज्ञान नहीं होता।

घ) जगत् मिथ्या है।

उत्तर ख)

8. सर्वपृथद्रव्ववाद के अनुसार एक वृक्ष क्या है?

घ) एक अखंड अवयवी

ख) जड़ और चेतन का मिश्रण

ग) मूलतः मूल, शाखा, पत्र आदि का पृथक पुंज

घ) केवल एक भ्रांति

उत्तर ग)

9. भावपदार्थानां अभावत्वानुपपत्तिः सूत्र के माध्यम से किसका खंडन किया गया है?

घ) शून्यतावादी/अभाववादी मत का

ख) ईश्वरवाद का

ग) सत्कार्यवाद का

घ) परमाणुवाद का

उत्तर घ)

10. न्याय दर्शन के अनुसार, यदि हम सर्वपृथद्रव्ववाद को स्वीकार कर लें, तो क्या बाधा आएगी?

घ) वस्तुओं की गणना असंभव होगी।

ख) एक वस्तु का बोध (समूह रूप में नहीं हो सकेगाघ)

ग) लोक-व्यवहार समाप्त हो जाएगा।

घ) उपरोद्र सभी।

उत्तर घ)

इकाई- २.४ - संख्यैकान्तवाद निराकरण

उद्देश्य-

1. खयह सिद्ध करना कि जगत के तत्वों को किसी एक सीमित संख्या (जैसे केवल एक, दो, या पाँच) में नहीं बांधा जा सकता।
2. वस्तुओं की वास्तविक विविधता और उनके अलग-अलग गुणों को स्वीकार करना।
3. संख्या के आधार पर दिए जाने वाले भ्रामक तर्कों का खंडन करना।

अथ संख्यैकान्तवादनिराकरणम्

सन्दर्भ- संसार में तत्त्वों की विभिन्न संख्याएं मानी जाती हैं। जैसे कोई सब पदार्थों में सद्भाव समान होने से 'सत्' रूप से एक ही पदार्थ को मानते हैं; कोई नित्य और अनित्य भेद से दो पदार्थों को मानते हैं; कोई ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के भेद से तीन प्रकार के पदार्थों को मानते है कोई प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति के भेद से पदार्थों के चार प्रकार मानते हैं। इसी प्रकार अन्य संख्याओं की कल्पना की जा सकती है छह:, सात, सोलह, पच्चीस आदि। सूत्राकार पदार्थों के इस -'संख्यैकान्तवाद' (निश्चित संख्या के कथन) का खण्डन करते हैं -

संख्यैकान्ताऽसिद्धिः कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥४/१/४१॥

यदि साध्यसाधनयोर्नानात्वम् ? एकान्तो न सिद्धयति व्यतिरेकात् । अथ साध्यसाधनयोरभेदः ? एवमप्येकान्तो न सिध्यति साधनाभावात् , न हि हेतुमन्तरेण कस्य चित्सिद्धिरिति । किसी पदार्थ का होना या न होना प्रमाणों पर आधारित है। यदि साध्य के साधन (प्रमाण) हैं, तो साध्य (पदार्थ) सिद्ध माना जाता है। यदि साधन नहीं हैं, तो उसे असिद्ध समझा जाता है। इस आधार पर पदार्थों की कोई निश्चित संख्या (एक, दो, तीन आदि) मानें, यदि साध्य (नियत संख्या) और साधन (प्रमाण) भिन्न-भिन्न हैं, तो उनका एकान्त (पदार्थों की नियत संख्या) सिद्ध नहीं होता; क्योंकि साधन (प्रमाण) की संख्या बढ़ जाएगी, और यदि इनमें अभेद है, तो साधन की असिद्धि से प्रमाण (साधन) के बिना साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। दोनों ही हेतुओं से संख्यैकान्तवाद असिद्ध है ।

सन्दर्भ- अब 'संख्यैकान्तवाद' की असिद्धि का पूर्वपक्ष द्वारा निराकरण करते हैं -

न, कारणावयवभावात् ॥४२॥

न सङ्ख्यैकान्तानामसिद्धि कस्मात् ? कारणस्यावयवयभावात्। अवयवः कञ्चित्साधनभूत इत्यव्यतिरेकः। एवं द्वैतादीनामपीति । कारण (प्रमाण) साध्य का अवयव (अंश) होता है, उससे अतिरिक्त नहीं। एक अर्थ का कोई अंश साध्य और कोई अंश साधन हो सकता है। साध्य (कोई भी स्वीकृत वाद) अवयवी और साधन अवयवरूप है। अवयव अवयवी में अभेद होने से साधन भी साध्य से अभिन्न है, जिससे वाद की स्वीकृत संख्या में कोई अन्तर नहीं आता। अतः 'सख्यैकान्तवाद' की असिद्धि असंगत है ।

सन्दर्भ- अब महर्षि गौतम पूर्वपक्ष की मान्यता का खण्डन करते हैं

निरवयवत्वादहेतुः ॥४/१/४३॥

कारणस्यावयवभावादित्यहेतुः । एक तत्त्व के अथवा स्वीकृत वाद की इकाई के अवयव रहित होने से उक्त हेतु उचित नहीं है। तत्त्व के एकमात्र होने पर उसमें अवयव की कल्पना निराधार है। जब यह प्रतिज्ञा की जाती है, कि 'ये सब एक है', 'ये सब दो हैं', 'ये सब तीन हैं', 'ये सब चार हैं' इत्यादि, तब उससे बाहर कुछ शेष नहीं रहता। प्रतिज्ञारूप अर्थ साध्य है, साध्य का एकदेश (अवयव) कभी साधन (प्रमाण) नहीं हो सकता। अर्थात् हेतु तथा प्रतिज्ञा वाक्य भिन्न-भिन्न होने पर ही साध्य की सिद्धि कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। परन्तु 'संख्यैकान्तवाद' में उक्त नियम न होने से पदार्थों की कोई नियत संख्या मानना सर्वथा अप्रामाणिक असंगत है।

विशेष- प्रेत्यभाव की परीक्षा के अनन्तर कुछ प्रवादों का विवेचन, सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान तथा 'प्रेत्यभाव' को अच्छी प्रकार से समझने के लिए किया गया है ।

इति संख्यैकान्तवादनिराकरणम्॥

स्मरणीय बिंदु

पूर्वपक्ष (विपक्षी मत) कुछ दार्शनिक मानते हैं कि सब कुछ एक ही है (जैसे केवल ब्रह्म), या सब कुछ दो ही है (जैसे प्रख्रति

और पुरुष), या सब कुछ पाँच ही है (पंचमहाभूत)। इसे संख्यैकान्तवाद कहते हैं।

न्याय का खंडन

1. प्रमाण का विरोधरू यदि सब कुछ एक ही है, तो सिद्ध करने वाला (प्रमाता), सिद्ध की जाने वाली वस्तु (प्रमेय) और सिद्ध करने का साधन (प्रमाण) अलग-अलग कैसे हुए? बिना भिन्नता के कोई बात सिद्ध ही नहीं की जा सकती।

2. विविधता का प्रत्यक्षरू हम संसार में अनगिनत वस्तुओं को देखते हैं जिनके गुण, कर्म और स्वभाव अलग-अलग हैं। उन्हें ज़बरदस्ती एक संख्या में समेटना प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध है।

3. संख्या स्वयं एक गुण हैरू संख्या (एक, दो, तीन...) स्वयं एक गुण है जो किसी पदार्थ (द्रव्य) में रहती है। यदि सब कुछ केवल श्एक संख्याश है, तो वह संख्या किस आधार पर टिकी है?

निष्कर्ष तत्वों की संख्या निश्चित करना केवल गणना की सुविधा के लिए हो सकता है, लेकिन वास्तविकता में पदार्थों की विविधता अनंत या उनके वास्तविक स्वरूप के अनुसार भिन्न-भिन्न है।

शब्दावली

संख्यैकान्तवाद किसी निश्चित संख्या को ही एकमात्र सत्य मानने का सिद्धांत।

एकान्तवाद किसी एक पक्ष पर अड़ जाना या हठ करना।

प्रमाता ज्ञान प्राप्त करने वाला ।

प्रमेय वह वस्तु जिसका ज्ञान प्राप्त किया जाना है ।

प्रमाण ज्ञान प्राप्त करने का साधन ।

भेद वस्तुओं के बीच का अंतर।

विप्रतिपत्ति किसी विषय पर मतभेद या विवाद होना।

अनवधारणा निश्चित ज्ञान का न होना या भ्रांति।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. सांख्य दर्शन का सत्कार्यवाद तार्किक आधार पर त्रुटिपूर्ण है। न्याय दर्शन द्वारा दिए गए तर्कों के आलोक में इस कथन की विस्तृत समीक्षा कीजिए तथा असतकार्यवाद (आरंभवाद) की स्थापना कीजिए।

प्रश्न 2. न्याय दर्शन के अनुसार संख्यैकान्तवाद का निराकरण करते हुए स्पष्ट कीजिए कि कार्य अपने कारण में उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान क्यों नहीं माना जा सकता? न्याय सम्मत प्रागभाव की अवधारणा की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 3. सांख्य के परिणामवाद और न्याय के आरंभवाद के मध्य मुख्य मतभेदों का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत कीजिए। न्याय दर्शन किस प्रकार सिद्ध करता है कि कार्य एक नवीन रचना है?

प्रश्न 4. सांख्य दर्शन के उस मत का निराकरण कीजिए जिसमें कार्य और कारण को अभिन्न माना गया है। न्याय दर्शन के अनुसार नाम, रूप, संख्या और अर्थक्रियाकारित्व के भेदों के आधार पर कार्य-कारण की भिन्नता सिद्ध कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. न्याय दर्शन के असतकार्यवाद (आरंभवाद) का संक्षिप्त परिचय देते हुए सांख्य के सत्कार्यवाद से इसका मुख्य अंतर स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2. न्याय दर्शन के अनुसार कार्य-कारण में भेद सिद्ध करने हेतु कोई दो प्रमुख तर्क दीजिए।

प्रश्न 3. सांख्य के इस मत का निराकरण कीजिए कि असत (जो नहीं है) की उत्पत्ति नहीं हो सकती। न्याय दर्शन इस पर क्या आक्षेप करता है?

प्रश्न 4. कारक-व्यापार से आप क्या समझते हैं? न्याय दर्शन इसे सांख्य के सत्कार्यवाद के विरुद्ध एक प्रबल तर्क के रूप में कैसे प्रस्तुत करता है?

प्रश्न 5. न्याय दर्शन के अनुसार प्रागभाव क्या है और यह सांख्य के परिणामवाद का निराकरण कैसे करता है?

महत्वपूर्ण बहुविकल्पीय प्रश्न और उनके उत्तर यहाँ दिए गए हैं

1. न्याय दर्शन के अनुसार, सत्कार्यवाद के विरुद्ध कौन सा सिद्धांत स्थापित किया गया है?

घ) परिमवाद

ख) विवर्तवाद

ग) असतकार्यवाद (आरंभवाद)

घ) स्वभाववाद

उत्तर ग)

2. सांख्य मत के संख्यैकान्तवाद का निराकरण करते समय न्याय दर्शन मुख्य रूप से किसका सहारा लेता है?

घ) केवल आगम प्रमाण का

ख) प्रत्यक्ष और तर्कपूर्ण अनुमान का

ग) केवल शब्द प्रमाण का

घ) उपमान प्रमाण का

उत्तर ख)

3. न्याय दर्शन के अनुसार, यदि कार्य कारण में पहले से ही विद्यमान है, तो किसकी आवश्यकता समाप्त हो जाएगी?

घ) कारक-व्यापार (कुम्हार आदि का प्रयत्न)

ख) कारण की सत्ता

ग) उपादान की शुद्धता

घ) इनमें से कोई नहीं

उत्तर घ)

4. कार्य एक नवीन रचना है, यह कथन न्याय दर्शन के किस सिद्धांत को सिद्ध करता है?

घ) सर्वपृथद्र्ववाद

ख) असत्कार्यवाद

ग) सत्कार्यवाद

घ) क्षणभंगवाद

उत्तर ख)

5. न्याय दर्शन के अनुसार, एकत्व (न्दपजल) का बोध किस संबंध के कारण होता है, जो संख्यैकान्तवाद का निराकरण करता है?

घ) संयोग संबंध

ख) तादात्म्य संबंध

ग) समवाय संबंध स्वरूप संबंध

उत्तर ग)

6. सांख्य के प्रधान-कारणवाद (प्रख्रति) का खंडन करते हुए न्याय दर्शन जगत का निमित्त कारण किसे मानता है?

घ) काल को

ख) आकाश को

ग) ईश्वर को

घ) दिशा को

उत्तर ग)

7. न्याय दर्शन के अनुसार, कार्य और कारण के बीच नाम, रूप और प्रयोजन का भेद क्या दर्शाता है?

घ) दोनों में अभेद है।

ख) कार्य कारण से पूर्णत: भिन्न सत्ता है।

ग) कारण मिथ्या है।

घ) कार्य केवल एक भ्रम है।

उत्तर ख)

8. यदि सत्कार्यवाद को सत्य मान लिया जाए, तो न्याय दर्शन के अनुसार क्या आपत्ति आएगी?

घ) वस्तुओं की उत्पत्ति असंभव होगी।

ख) विनाश की व्याख्या नहीं हो सकेगी।

ग) उत्पत्ति और विनाश दोनों का बोध व्यर्थ हो जाएगा।

घ) उपरोद्र सभी।

उत्तर घ)

9. न्याय दर्शन के अनुसार, सांख्य का अविनाभाव संबंध किस आधार पर खंडित हो जाता है?

घ) केवल अनुमान के आधार पर

ख) वस्तुओं की प्रत्यक्ष भिन्नता के आधार पर

ग) वेदों की आज्ञा के आधार पर

घ) योगज प्रत्यक्ष के आधार पर

उत्तर ख)

10. न्याय दर्शन के अनुसार, यदि हम सर्वपृथद्रव्वा को स्वीकार कर लें, तो क्या बाधा आएगी?

घ) वस्तुओं की गणना असंभव होगी।

ख) एक वस्तु का बोध द्धसमूह रूप मेंऋ नहीं हो सकेगा।

ग) लोक-व्यवहार समाप्त हो जाएगा।

घ) उपरोद्र सभी।

उत्तर घ)

खण्ड-३ फल, दु:खादि प्रमेय एवं तत्वज्ञानोत्पत्ति निरूपण

इकाई- ३.१- फल, दु:ख तथा अपवर्ग की परीक्षा

उद्देश्य-

क्फल के स्वरूप को समझना कि वह कैसे कर्मों और ईश्वर की व्यवस्था से प्राप्त होता है।

खदु:ख की वास्तविक पहचान करनाख्न्याय दर्शन के अनुसार केवल कष्ट ही नहीं, बल्कि क्षणिक सुख भी दु:ख का ही एक रूप है।

खअपवर्ग (मोक्ष) के स्वरूप को स्पष्ट करना कि यह केवल दुखों का अंत है या कुछ और।

खजन्म-मरण के चक्र से स्थायी मुद्रि का मार्ग प्रशस्त करना।

अथ फलपरीक्षाप्रकरणम्।

सन्दर्भ- 'प्रेत्यभाव' की परीक्षा के अनन्तर अब प्रमेयसूत्रा **आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमन:**

प्रवृत्तिदोष **प्रत्यभावफलदु:खापवर्गास्तु प्रमेयम्** (१/१/९) के अनुसार क्रमप्राप्त 'फल' की परीक्षा आरम्भ करते हुए पहले उसमें संशय दिखाते हैं -

सद्य:कालान्तरे च फलनिष्पत्ते: संशय: ॥४/१/४४॥

पचति दोग्धीति सद्य:Qलमोदनपयसी, कर्षति वपतीति कालान्तरे Qलं सस्याधिगम इति । अस्ति चेयं क्रिया अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति एतस्या: Qले संशय: ॥ तत्काल और अन्यकाल में विलम्ब से फल की प्राप्ति होने के कारण यह सन्देह होता है, कि शुभाशुभ क्रिया का फल तात्कालिक है, अथवा दीर्घकालान्तरभावी। पकाता है, दुहता है इत्यादि क्रियाओं का फल चावल और दूध आदि तत्काल देखने में आता है। किन्तु किसान जोतता है, बोता है इत्यादि क्रियाओं का फल अन्नादि के रूप में महीनों के पश्चात् प्राप्त होता है। इस उपलब्धि की अव्यवस्था से जिन कर्मों के विषय में शास्त्रों में लिखा है, कि 'यज्ञादि करने से स्वर्ग मिलता है', 'अनृतभाषणादि से नरक प्राप्ति होती है' इसमें सन्देह होता है, कि इन कर्मों का फल तत्काल ही होता है, अथवा कालान्तर में होता है, या कभी होता ही नहीं?

सन्दर्भ- गौतम)षि उक्त संशय का निवारण करते हुए कहते हैं -

न सद्य: कालान्तरोपभोग्यत्वात् ॥४/१/४५॥

स्वर्ग: Qलं श्रूयते तच्च भिन्नेऽस्मिन्देहभेदादुत्पद्यते इति यज्ञादि क्रियाओं का फल कालान्तर में उपभोग्य होने से, तत्काल नहीं होता । प्रत्येक कर्म का फल शीघ्र नहीं मिलता। बहुत से कर्म ऐसे हैं, जिनका फल कालान्तर या जन्मान्तर में मिलता है। जैसे- बीज बोना आदि क्रियाओं का फल कालान्तर में मिलता है, उसमें किसी को सन्देह नहीं होता, वैसे ही यागादि का फल कालान्तर या देहान्तर में सम्भव होने से उसके विषय में भी सन्देह नहीं होना चाहिए। जैसा कि शास्त्रों में कहा है **'तद्य इह कपूयचरणा: कपूयां योनिमापद्येरन्', अथ ह रमणीयचरणा रमणीयां योनिमितिश्** निन्दित कर्म करने वाले पुरुष सूकर कूकरादि निकृष्ट योनियों को, और वेदविहित यज्ञादि कर्म करने वाले)षि देवता, श्रेष्ठ मनुष्य आदि उत्तम योनियों को प्राप्त होते हैं।

यद्यपि विशेष पुण्य-पाप धर्माधर्म करने वाले व्यक्तियों को इस लोक में भी यश, अपयश आदि फलों की तात्कालिक प्राप्ति देखी जाती है, परन्तु वह गौण है, फल का प्रभावमात्र है, मुख्य फल की प्राप्ति नहीं है।

सन्दर्भ- कालान्तर में प्राप्त होने वाले फल के विषय में पूर्वपक्ष संशय करता है।

कालान्तरेणानिष्पत्तिर्हेतुविनाशात् ॥४/१/४६॥

ध्वस्तायां **प्रवृत्तौ प्रवृत्ते: Qलं न कारणमन्तरेणोत्पत्तुर्महति, न खलु वै विनष्टात्कारणात् किञ्चिदुत्पद्यत इति**

फल के लिए जो यज्ञादि कर्म किए जाते हैं, वे अनुष्ठान के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं और अव्यवहित पूर्वक्षण में विद्यमान कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। परन्तु जब ये कर्म तथाकथित फलप्राप्ति से बहुत पहले स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं, तो कालान्तर या जन्मान्तर में क्या और कैसे फल उत्पन्न करेंगे? और हेतु के अभाव में फल का होना अप्रामाणिक है। अत: कालान्तर में फलप्राप्ति

कहना सर्वथा अनुचित है ।

सन्दर्भ- अब महर्षि गौतम पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं-

प्राङ् **निष्पत्तेर्वृक्षफलवत् तत्स्यात् ॥**४/१/४७॥

यथा फलार्थिना वृक्षमूले सेकादि परिकर्म क्रियते, तस्मिच्च प्रध्वस्ते पृथिवीधातुरब्धातुना सङ्गृहीत आन्तरेण तेजसा पच्यमानो रसद्रव्यं निर्वर्तयति, स द्रव्यभूतो रसो वृक्षानुगतः पाकविशिष्टो व्यूहविशेषेण सन्निविशमानः पर्णादि फलं निर्वर्तयति,एवं परिषेकदि कर्म चार्थवत् । न च विनष्टात्फलनिष्पत्तिः । वृक्ष के फल के समान फल की सिद्धि से पूर्व वह कर्म होगा । जैसे फलार्थी वृक्ष की जड़ में सिञ्चन आदि क्रियायें करता है, उस क्रिया के पूर्ण हो जाने पर मिट्टी जल से मिलकर भीतर की ऊष्मा के सहयोग से रस को उत्पन्न करती है। वह रस वृक्षानुगत होकर रूपान्तर को प्राप्त हुआ पुष्प, फलादि को उत्पन्न करने में समर्थ होता है। ऐसे ही धर्माधर्म रूप अदृष्ट के संस्कार अन्तःकरण पर विद्यमान हो जाते हैं। फिर वे अन्य निमित्तों से अनुगृहीत (परिपुष्ट) होकर कालान्तर में शुभाशुभ फल को उत्पन्न कर देते हैं। इसलिए कर्मों की फलप्राप्ति के विषय में कोई संशय नहीं करना चाहिए । **विशेष**- कर्मफल का विवरण 'पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः' (३/२/६२) सूत्रा के सन्दर्भ में पहले भी दिया गया है।

सन्दर्भ- फल अर्थात् कार्य की उत्पत्ति के सन्दर्भ में अनेक पक्ष हैं। जैसे क्या यह उत्पन्न होने वाला कार्य (फल) अपनी उत्पत्ति से पूर्व असत् है? या सत् है? अथवा 'सत्-असत्' दोनों रूपों में विद्यमान है? पूर्वपक्ष इन सभी पक्षों, वादों (मान्यताओघ) में फल (कार्य) की असम्भावना दिखाता है-

नासन्न सन्न सदसत् सदसतोर्वैधर्म्यात् ॥४/१/४८॥

प्राङ् **निष्पत्तेर्निष्पत्तिधर्मकं नासत् उपादाननियमात् । कस्य चिदुत्पत्तये किञ्चिदुपादेयं न सर्व सर्वस्येत्यसद्भावे नियमो नोपपद्यते इति ।**

'यह उत्पन्न होने वाला फल रूप कार्य, उत्पत्ति होने से पहले असत् (अविद्यमान) था'- यह कहना उचित नहीं; क्योंकि विशेष कार्यों के लिए विशेष कारणों (समवायिकारण) का नियम है। यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य सर्वथा असत् (अविद्यमान) हो, तो प्रत्येक कार्य किसी भी उपादान कारण से उत्पन्न होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता अर्थात् घट मिट्टी से ही होता है, तन्तु से नहीं, वस्त्र तन्तु से ही होता है, मिट्टी से नहीं। इससे उन कारणों में उत्पत्ति से पूर्व भी किसी रूप में कार्य की विद्यमानता जानी जाती है। यह पक्ष 'सत्कार्यवाद' कहाता है। इसके विपरीत दूसरे पक्ष 'असत्कार्यवाद' की मान्यता का है, कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य विद्यमान नहीं रहता, क्योंकि यदि कार्य उत्पत्ति से पहले विद्यमान हो, तो पुनः उसकी उत्पत्ति कहना व्यर्थ है। विद्यमान की उत्पत्ति कैसी तथा तीसरा पक्ष 'सदसद्वाद' का है। इसके अनुसार सत् (विद्यमान) तथा असत् (अविद्यमान)- इन दोनों का परस्पर विरोध धर्म होने के कारण, व्याघात दोष की आपत्ति होने से 'उत्पत्ति से पूर्व कार्य सत्रूप तथा असत् दोनों रूपों में होता है'- यह भी नहीं कहना चाहिये; क्योंकि कोई पदार्थ यदि विद्यमान है, तो वह अविद्यमान नहीं कहा जा सकता और यदि अविद्यमान है, तो उसे विद्यमान नहीं कह सकते। वस्तुतः फल रूप कार्य किसी भी पक्ष में नहीं हो सकता, अतः फल होता ही नहीं यह सिद्ध होता है।

सन्दर्भ- दर्शनाचार्य की अपनी मान्यता है, कि 'उत्पत्ति से पूर्व कार्य असत् ही रहता है'। उस पक्ष में अब हेतु प्रस्तुत करते हैं-

उत्पादव्ययदर्शनात् ॥४/१/४९॥

कार्यमात्र का उत्पत्ति तथा विनाश देखे जाने से उत्पत्ति से पूर्व कार्य असत् रहता है यह मानना चाहिए । कार्य की उत्पत्ति और विनाश देखे जाते हैं, और जिसके उत्पत्ति विनाश देखे जाते हैं, वह उत्पत्ति से पहले 'असत्' होता है। यदि 'सत्' होता तो उसकी उत्पत्ति या नाश सम्भव नहीं होते। और प्रत्यक्ष से भी सिद्ध होता है, कि घड़ा पहले नहीं था, कुम्हार ने बनाया फिर टूट गया। 'असत्' में ही यह व्यवहार सम्भव है, सत् में नहीं। अतः उत्पत्ति से पूर्व प्रत्येक कार्य 'असत्' है ।

सन्दर्भ (संशय)- यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य को 'असत्' मानें तो कार्य-कारण भाव की व्यवस्था नहीं बनेगी, जबकि सत्कार्यवाद में स्पष्ट व्यवस्था देखी जाती है। महर्षि गौतम इस संशय का समाधान करते हैं-

बुद्धिसिद्धं तु तदसत् ॥४/१/५०॥

इदमस्योत्पत्तये समर्थ न सर्वमिति प्रागुत्पत्तेर्नियतकारणं कार्य बुद्धया सिद्धमुत्पत्तिनियमदर्शनात् । तस्मादुपादाननियमस्योपपत्तिः सति तु कार्ये प्रागुत्पत्तेरुत्पत्तिरेव नास्तीति ॥ वह असत् (अविद्यमान) कार्य बुद्धि से सिद्ध तो होता है। **अमुक आकार**- प्रकार के कार्य को अभिव्यक्त व उत्पन्न करने में अमुक उपादान समर्थवान् है- यह विषय कर्ता की बुद्धि द्वारा निर्धारित होता है। तन्तुओं से

वस्त्र की उत्पत्ति को जानता हुआ कर्ता जुलाहा धागों से वस्त्र बनाने में प्रवृत्त होता है, बालू से नहीं। इससे सिद्ध है, कि उत्पत्ति से पूर्व उपादान कारण तो नियत होता है, परन्तु कार्य को भी यदि 'सत्' (विद्यमान) मान लिया जाए, तो फिर विद्यमान की उत्पत्ति कैसे होगी? इसलिए बुद्धि से सिद्ध होने वाला कार्य उत्पत्ति से पूर्व असत् है। तात्पर्य यह है, कि उत्पत्ति के अनन्तर कार्य जिस आकार प्रकार में अभिव्यक्त हुआ है, उससे पूर्व काल में वह अनभिव्यक्त रहता है, यही उसका 'असत्' (अविद्यमान) स्वरूप है। कर्ता बुद्धि में स्थित आकार-प्रकार के अनुसार सामग्री के उचित संयोग से उसको प्रकट कर लेता है। कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण सामग्री के उपादान नियम का भी यही आधार है। कारण में कार्य अनभिव्यक्त (अनुत्पन्न) रहता है। यदि पहले ही अभिव्यक्त हो, तो फिर उसकी अभिव्यक्ति वा उत्पत्ति कैसे सम्भव है?

विशेष- यहाँ 'असत्कार्यवाद' को प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया गया है। परन्तु वस्तुतः 'सत्कार्यवाद' और 'असत्कार्यवाद' में कोई मौलिक भेद नहीं है, केवल कहने की पद्धति का भेद है। जैसा कि पहले भी अनेकत्र कहा जा चुका है ।

सन्दर्भ- प्रासंगिक चर्चा पूर्ण होने पर अब पूर्वपक्ष 'वृक्षफलवत्' (सूत्रा ४७) दृष्टान्त के आधार पर कालान्तर में फलप्राप्ति के विषय में आक्षेप करता है -

आश्रयव्यतिरेकाद् वृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतुः ॥४/१/५१॥

मूलसेकादि परिकर्म फलं चोभयं वृक्षाश्रयम् कर्म चेह शरीरे, फलं चामुत्रेत्याश्रयव्यतिरेकादहेतुरिति। विगत सूत्रा (४/१/४७) के अनुसार दृष्टान्त में जल का सींचना और फल का आना- ये दोनों क्रियायें एक ही वृक्ष के आश्रित हैं अर्थात् जिस वृक्ष में पानी सींचा जाता है, उसी वृक्ष पर कालान्तर में फल लगता है। परन्तु अग्निहोत्र आदि कर्म उसके फल में यह स्थिति नहीं देखी जाती है। कर्म इस चालू शरीर से किया जाता है, और फल इस शरीर के नष्ट हो जाने पर जन्मान्तर में अगला शरीर मिलने पर प्राप्त होता है। इस प्रकार कर्म और फल के आश्रय का भेद हो जाता है। इसलिए उक्त दृष्टान्त अग्निहोत्रादि कर्म के कालान्तर में फल देने का साधक नहीं हो सकता ।

सन्दर्भ- अब गौतम)षि उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं -

प्रीतेरात्माश्रय**त्वादप्रतिषेधः ॥४/१/५२॥**

प्रीतिरात्मप्रत्य**क्षत्वादात्माश्रया,तदाश्रयमेव कर्म धर्मसंज्ञितं,धर्मस्य-**

आत्मगुणत्वात,तस्माद्दाश्रयव्यतिरेकानुपपत्तिरिति । सुख के आत्मारूप आश्रय में रहने के कारण कर्मफलप्राप्ति-विषयक प्रतिषेध उचित नहीं है। प्रीति (सुख) आत्मा का गुण है, जिसका सब प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। और धर्माधर्मरूप कर्म का अधिष्ठाता भी आत्मा है। शरीर आदि उसके कार्यों में साधन मात्र हैं। इस प्रकार कर्म और उसका फल-ये दोनों आत्मा के ही आश्रित हैं और आत्मा नित्य होने से पूर्वाऽपर दोनों शरीरों में एक ही रहता है। अतः आश्रयभेद की कल्पना उचित नहीं है। इसलिए पूर्वपक्ष द्वारा किया गया प्रतिषेध अप्रमाणित है।

सन्दर्भ- अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष पुनः आक्षेप करता है -

न पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादिफलनिर्देशात् ॥४/१/५३॥

पुत्रादि फलं निर्दिश्यते न प्रीतिः 'ग्रामकामो यजेत', पुत्रकामो यजेतेति, तत्र यदुक्तं प्रीतिः फलमित्येतदयुक्तमिति ।

पुत्र, पशु, स्त्री, परिच्छद (पारिवारिक सम्पदा), हिरण्य, अन्न आदि का फल के रूप में निर्देश होने से कर्मों का फल, सुख नहीं है। लोक और शास्त्र में भी याग का फल पुत्र आदि बताया है, सुख को नहीं। और वे सब अपने आत्मा से भिन्न हैं। अपना आत्मा उस फल का आश्रय नहीं है। जैसा कि शास्त्रों में कहा है- **'पुत्रकामो यजेत' (तै.सं.२/२/१), 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत', 'ग्रामकामो यजेत' (तै.सं.२/३/९) 'कारीर्य्या वृष्टिकामो यजेत', (मै.सं. २/४/८)** इत्यादि। अतः कर्म और फल का आश्रय भिन्न-भिन्न होने से वृक्ष के फल का दृष्टान्त उचित नहीं ।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं -

तत्सम्बन्धात् फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचारः ॥४/१/५४॥

पुत्रादिसम्बन्धात् फलं प्रीतिलक्षणमुत्पद्यते इति पुत्रादिषु फलवदुपचारः । यथान्ने प्राणशब्दोऽन्नं वै प्राणा इति । उन पुत्रादि के सम्बन्ध से सुखरूप फल की सिद्धि होने के कारण उन पुत्रादि में फल के समान गौण व्यवहार होता है। पुत्र, पशु आदि प्राणियों तथा अन्य साधन सामग्री से व्यक्ति को सुख की प्राप्ति होती है। इसलिए यहाँ फल केवल सुखादि है। पुत्रादि में फल का व्यवहार गौण

(अप्रधान) है । जैसे कि 'प्राण' के साधन अन्न में प्राण पद का गौण व्यवहार देखा जाता है- **'अन्नं वै प्राणिनां प्राणः' (शत.ब्रा. २/२/१/६)** अर्थात् अन्न ही प्राणियों के प्राण हैं। वस्तुतः अन्न प्राण नहीं, अपितु जीवन का साधन हैं। इसलिए सुख-दुःख रूप फल और उसके कारण रूप अदृष्ट (धर्माधर्मरूप कर्म) का अधिकरण एक आत्मा ही है। इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है । **इति फलपरीक्षाप्रकरणम्॥**

३.१-२ अथ दुःखपरीक्षाप्रकरणम्

सन्दर्भ- फल की परीक्षा के अनन्तर अब प्रमेय सूत्रा **आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः** प्रवृत्तिदोषप्रत्यभाव- **फलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्** । (१/१/९) के अनुसार क्रमप्राप्त दुःख की परीक्षा करते हुए सूत्राकार दुःख का कारण बताते हैं - **विविधबाधनायोगाद् दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः** ॥४/१/५५॥

जन्म जायते इति शरीरेन्द्रियबुद्धयः, शरीरादीनां च संस्थानविशिष्टानां प्रादुर्भाव उत्पत्तिः । विविधा च बाधना, हीना मध्यमा उत्कृष्टा चेति । अनेक प्रकार से दुःख बाधना, पीड़ा, ताप का सम्बन्ध होने से जन्म का होना पुनः-पुनः आत्मा का शरीर धारण करना दुःख ही है। यद्यपि आत्मा स्वरूप से अजन्मा, अजर, अमर, नित्य है, तथापि शरीर आदि के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने से आत्मा में जन्म-मरण का व्यवहार हो जाता है। शरीर के साथ सम्बन्ध होने पर यह विविध प्रकार के दुःखों को भोगता है। ये दुःख (बाधना, पीड़ा, ताप) उत्कृष्ट, मध्यम, हीन हीनतर आदि भेदों से अनेक प्रकार के देखे जाते हैं। नारकीय आत्माओं को उत्कृष्ट (भारी, गहरा) दुःख भोगना पड़ता है। पशु पक्षियों को मध्यम, मनुष्यों का हीन, देवों (विद्वानों, ज्ञानियोघ), वीतराग व्यक्तियों को होने वाला दुःखहीनतर कहा जाता है। इस प्रकार देवों से लेकर नारकीय जीवों तक सभी की उत्पत्ति दुःख (बाधना) से युक्त होती है। इस समस्त संसार को इस प्रकार दुःखसे युक्त जानकर जो उससे विरक्त (तृष्णारहित) हो जाता है, वह दुःखबहुल सुखाभास में विष सम्पृक्त भोजन के समान संसार का भोग नहीं करता। इस राग (तृष्णा) के न होने से व्यक्ति सब दुःखों से छूट जाता है। अतः विवेकी व्यक्ति सांसरिक भोगों में आसक्त नहीं होता। वह सब भौतिक सुखों में दुःख ही देखता है। **'दुःखमेव सर्व विवेकिनः' (योग. २**/१५) अर्थात् विवेकी व्यक्ति के लिए यह सब दुःखही है। **'न कुत्रापि कोऽपि सुखीति' (सांख्य. ६**/७)

सन्दर्भ- अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष आक्षेप करता है -

न, सुखस्यात्यन्तरालनिष्पत्तेः ॥४/१/५६॥

न खल्वयं दुःखोद्देशः सुखस्य प्रत्याख्यानम् । कस्मात् ? सुखस्यान्तरालनिष्पत्तेः । निष्पद्यते खलु बाधनान्तरालेषु सुखं प्रत्यात्मवेदनीयं शरीरिणां, तद्शक्यं प्रत्याख्यातुमिति । पूर्वोक्त दुःख के निरूपण से संसार में सुख के अस्तित्व का प्रतिषेध नहीं होता, क्योंकि दुःखों के बीच में सुख भी प्राप्त होते रहते हैं। इस तथ्य को प्रत्येक प्राणी अनुभव करता है। अतः अनुभव में आने वाले सुख का सर्वथा निषेध सम्भव नहीं हो सकता। अर्थात् संसार में सुख भी है, और दुःख भी है ऐसा मानना चाहिये ।

सन्दर्भ- महर्षि गौतम उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं-

बाधनाऽनिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादप्रतिषेधः ॥४/१/५७॥

सुखसाधनों को जानते हुए व्यक्ति के पर्येषण सुखप्राप्ति की अभिलाषा में बाधा रुकावट रूप दोष से दुःख की निवृत्ति न होने से शरीरादि में दुःखभावना का पूर्णतया निषेध नहीं हो सकता। सुख के साधनों में प्रवृत्त हुआ सुखार्थी मनुष्य जब कोई कामना करता है, तो कभी उसकी कामना पूर्ण होती है, कभी नहीं भी होती, या पूर्ण होकर फिर बिगड़ गई, या कम पूर्ण हुई, या जैसी चाहता था वैसी नहीं हुई। इस? 'पर्येषणदोष' से अनेक प्रकार का मानस ताप (दुःख) उत्पन्न होता रहता है, जो कि सुखार्थी कामनायुक्त होना, पुरुष की कभी दुःख निवृत्ति नहीं होने देता । इसके अतिरिक्त मनुष्य की जब एक कामना पूरी हो जाती है, तब दूसरी और उत्पन्न हो जाती है। यदि सम्पूर्ण पृथिवी का साम्राज्य भी किसी को मिल जाए, तो भी उसकी तृप्ति नहीं देखी जाती। अतः विवेकी के लिए संसार दुःखरूप ही होता है।

सूत्राकार को संसार में सुख का अभाव बताना अभिप्रेत नहीं, किन्तु व्यक्ति प्रयत्न करता है सुख प्राप्ति के लिए, परन्तु प्राप्त होता है निरा दुःखों का अम्बार। उस सुख तक पहुँचते-पहुँचते उसकी सब शारीरिक व मानसिक क्षमता क्षीण हो जाती है। परलोक यात्रा भी समीप दिखाई देने लगती है, तब व्यक्ति हाथ मलता रह जाता है। अतः व्यक्ति को मोक्षमार्ग में प्रेरित करना सूत्राकार का विशेष उद्देश्य है।

विशेष- सुखसाधनों और उन में विद्यमान दोषों का गम्भीर विवेचन कठोपनिषद् में के अनुसार देखना चाहिए-

यमाचार्य का प्रलोभन-

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमी नचिकेतस्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि॥ येये कामा दुर्लभा मर्त्य लोके सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व। इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः। आभिर्मत्यत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो। मरणं मानुप्राक्षीः।
नचिकेता का उत्तर-
श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। अपि सर्व जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥ न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वा। जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु में वरणीयः स एव। यही आशय सांख्यदर्शन में प्रकट किया है - (कठोपनिषद् - १/१/२३-२७)
'तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निक्षिपन्ते विवेचकाः' (सां.६/८) ॥५७॥
सन्दर्भ- संसार को दुःखमय सिद्ध करने के लिए सूत्राकार अन्य हेतु देते है-
दुःख विकल्पे सुखाभिमानाच्च ॥४/१/५८॥
दुःखसंज्ञाभावनोपदेशः क्रियते । अयं खलु सुखसंवेदने व्यवस्थितः सुखं परमपुरुषार्थ मन्यते न सुखादन्यन्निःश्रेयसमस्ति सुखे प्राप्ते चरितार्थः कृतकरणीयो भवति । मिथ्यासङ्कल्पात्सुखे तत्साधनेषु च विषयेषु संरज्यते । दुःखों के विविध प्रकारों में सुख का अभिमान भ्रम होने से शरीरादि की उत्पत्ति दुःखरूप ही है। यह जीव सुख को अनुभव करता हुआ उस विषय-सुख को ही परमपुरुषार्थ मानने लगता है, और उसकी प्राप्ति से अपने आप को कृतार्थ समझता है अर्थात् विषय के सुख प्राप्त करके अपने जीवन को पूर्ण सफल समझकर मोक्ष के लिए प्रयत्न करना अनावश्यक समझता है। मिथ्या ज्ञान से सुखाभास को सुख समझकर उसके साधन विषय आदि में अनुरक्त रहता है। जिससे जन्म, मरण, जरा (बुढ़ापा), व्याधि (बीमारी), इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, कामनाओं की असिद्धि आदि अनेक प्रकार का दुःखभोगता रहता है। परन्तु राग में बँधा हुआ इस विविध दुःखराशि को भी वह सुख मानता है, और उस अत्यल्प सुख में कुएँ में लटके व्यक्ति के मुख में पड़ी मधु की बूँद के समान, जो कि इस महादुःख से मिश्रित है, उन्मत्त हो जाता है। इससे सिद्ध है. कि अविवेकी व्यक्ति ही इस दुःखमय संसार को सुखमय जानता है। तत्त्वदर्शी व्यक्ति तो इस सुखाभास को दुःखमय ही जानकर इसमें लिप्त न होता हुआ अन्ततः मोक्ष प्राप्त करता है ।
संशय- यदि ऐसा तात्पर्य है, तो ५५वें सूत्रा में दुःखं जन्म- ऐसा कहना चाहिए, 'दुःखमेव जन्म' ऐसा क्यों कहा ?
समाधान- वस्तुतः 'जन्म' न तो स्वरूप से सुखरूप है, न दुःखरूप। इसमें सुख और दुःख दोनों ही होते रहते हैं। परन्तु अविवेक के कारण व्यक्ति विषयगत क्षणिक सुख को परम पुरुषार्थ समझकर जीवन का उद्देश्य ही भूल जाता है। अतः जन्म को दुःखरूप बताने का प्रयोजन यही है, कि व्यक्ति सांसारिक विषयों की ओर से हटकर मोक्षसाधनों की प्राप्ति में अपना जीवन लगा सके। सूत्राकार का उद्देश्य संसार में सुख का सर्वथा अभाव बताना नहीं है। यदि संसार में लेशमात्र भी सुख न हो, तो कोई उसमें क्यों फंसेगा।

इति दुःखपरीक्षाप्रकरणम्॥

३.१-३ अपवर्ग परीक्षा

अथ अपवर्गपरीक्षाप्रकरणम्

सन्दर्भ- दु:ख की परीक्षा के अनन्तर प्रमेयसूत्रा- **आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमन: प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभाव-Qलदु:खापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥१/१/९॥** के अनुसार अब क्रमप्राप्त 'अपवर्ग' की परीक्षा आरम्भ करते हैं। पहले पूर्वपक्ष अपवर्ग का अभाव दिखाता है-

)णक्लेशप्रवृत्यनुब**न्धादपवर्गाभाव:॥**४/१/५९॥

)णानुबन्धाद्यवगोनुष्ठानकालो ना**स्तीत्यपवर्गाभाव:। क्लेशानुबन्धान्नास्त्यपवर्ग:। क्लेशानुबद्ध एवायं म्रियते क्लेशानुबद्धश्च जायते नास्य क्लेशानुबन्धविच्छेदो गृह्यते ।**

)ण, क्लेश और प्रवृत्ति के निरन्तर चालू रहने से अपवर्ग (मोक्ष) का अभाव है।

)ण क्लेश और प्रवृत्ति- ये तीन कारण हैं, जिनके निरन्तर चालू रहने से अपवर्ग (मोक्ष) होने में रुकावट आती है क्योंकि इनके रहते हुए अपवर्ग के लिए कोई अवसर ही नहीं रहता, जिसमें अपवर्ग के लिए अनुष्ठान किये जा सकें।

१. **)ण**- वैदिक साहित्य में कहा है- **'जायमानो है वै ब्राह्मणस्त्रिभित्गै)णवान् जायते- ब्रह्मचर्येण)षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्य: प्रजया पितृभ्य:' (तै.सं. ६**/३/१०) उत्पन्न हुआ व्यक्ति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि) तीन)णों से)णवान् हुआ हुआ ही जन्म लेता है.)षि)ण, देव)ण, पितृ)ण। वह क्रमश: ब्रह्मचर्य-पूर्वक वेदाध्यन से)षि)ण को अग्निहोत्र आदि से अनुष्ठान से देव)ण को और सन्तानोत्पत्ति से पितृ)ण को चुका सकता हैघ) यह शास्त्र की मर्यादा है। इस विषय में अन्यत्र बताया है- 'जरामर्व वा एतत् सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासी चेति। जरया ह एप तस्मात् सत्राद् विमुच्यते मृत्युना ह वा'। (द्र.-शत. ब्रा. १२/४/१/१, तै.सं. १०/६४) (अग्निहोत्र एवं दर्शपूर्णमास आदि अनुष्ठान व्यक्ति के बूढ़ा होकर अशक्त हो जाने तक अथवा मृत्यु होने से पूर्व तक कर्तव्य रूप में कहे गये हैघ)। इसके अनुसार)णों को चुकाने में ही मनुष्य का सारा जीवन समाप्त हो जाता है, फिर अपवर्ग (मोक्ष) के लिए अनुष्ठान करने का समय ही कहाँ रहा गया? और बिना)ण चुकाए मोक्ष साधन शास्त्र विरुद्ध है। जैसा कि मनुस्मृति में कहा है - **)णानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।**

अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवामानो व्रजत्यध:॥ मनु -६/३५

अर्थात् तीनों)णों को चुकाए बिना मोक्ष में मन लगावें तो, बिना)ण चुकाए मोक्षसाधन में प्रवृत्त होने वाला अधोगति को प्राप्त करने के बराबर है।

२. **क्लेश**- 'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश्-(योग. २/३)- ये पाँच क्लेश हैं। इनका सम्बन्ध आत्मा के साथ निरन्तर बना रहता है। प्राणी जीवन पर्यन्त इन क्लेशों में बंधा रहता है और फिर मरणोपरान्त भी क्लेशानुबद्ध ही जन्म लेता है। जब किसी भी समय क्लेश के अनुबन्धन का विच्छेद सम्भव नहीं होता, तब मोक्ष के लिए अनुष्ठान करने का समय ही कहाँ रहा?

३. **प्रवृत्ति**- प्रवृत्ति के अनुबन्धन से भी मोक्ष का अभाव सिद्ध होता है क्योंकि जन्म से लेकर मरण पर्यन्त प्रत्येक प्राणी मन, वाणी और शरीर ये विभिन्न कर्मों के द्वारा धर्माधर्म का उपार्जन करता है। फिर उनका फल भोगने के लिए विविध योनियों में घूमता रहता है। ऐसी स्थिति में भी मोक्षार्थ अनुष्ठान करने का समय कहाँ शेष रहा?

इसलिए **दु:खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तराऽपायेतदनन्तरापायादपवर्ग: (१**/१/२) में जो कहा है, कि तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होकर फिर क्रमश: दोष, प्रवृत्ति, जन्म, दु:ख का विनाश होने से अपवर्ग की प्राप्ति होती है, वह सर्वधा असंगत है।

सन्दर्भ- अब महर्षि गौतम पूर्वपक्ष के)णविषयक आधार को अग्रिम तीन सूत्राों में समाधान करते है।

प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादो **निन्दाप्रशंसोपपत्ते: ॥**४/१/६०॥

)णैरिति नायं प्रधानशब्द: । यत्र खल्**वेक: प्रत्यादेयं ददाति द्वितीयश्च प्रतिदेयं गृह्णाति तत्रास्य दृष्टत्वात प्रधानमृणशब्द: ।** मुख्य अर्थ को कहने वाले)ण, जायमान इत्यादि शब्दों की असिद्धि के कारण निन्दा और प्रशंसा की सिद्धि होने से गौण अर्थपरक शब्द से उक्त सन्दर्भों में अभीष्ट अर्थ का कथन किया गया है। **'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभि)णै)णवान् जायते' (तै.सं. ६**/३/१०) ।- इस वाक्य में ')ण' शब्द प्रधान अर्थ परक नहीं; क्योंकि जहाँ दाता अपने धन को फिर लेने की भावना से देता है और गृहीता उसको फिर देने की भावना से ग्रहण करता है, वहाँ ')ण' शब्द को मुख्यार्थ में देखा गया है, अन्यत्र नहीं। इसलिए प्रधान वाच्य की योग्यता न होने से यहाँ गौण (औपचारिघ) शब्द से कथन किया गया है। जैसे-तेजस्वी बालक के लिए 'अग्नि' शब्द का प्रयोग

किया जाता है **'अग्निर्माणवकः'** इत्यादि, वैसे ही ब्रह्मचर्यादि के लिए यहाँ '**)ण**' शब्द का प्रयोग किया गया है, अर्थात्)ण के तुल्य। गौण शब्द के प्रयोग का कारण है निन्दा और स्तुति। जैसे-)णी व्यक्ति)ण के न उतारने से निन्दनीय तथा उतार देने से प्रशंसनीय होता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन यज्ञादि आवश्यक कर्तव्यों को न करने से व्यक्ति निन्दनीय और करने से प्रशंसनीय होता है। इसी प्रकार उक्त वाक्य में 'जायमान' शब्द भी गौण है। इससे प्रसवकालीन बालक का ग्रहण नहीं होता, अपितु गृहस्थ के आरम्भ का समय लिया जाता है। क्योंकि माता के गर्भ से उत्पन्न कोई बालक तुरन्त कर्म करने में समर्थ नहीं होता, और न उसमें अर्थित्व (पुत्र, धन आदि की कामना आदि) होते हैं। परन्तु जब उसका गृहस्थ में प्रवेश होता है, तभी उसको अधिकार और सामर्थ्य प्राप्त होता है। जिस प्रकार अन्धों को सुन्दर दृश्य दिखाना और बधिरों को भजन सुनाना निरर्थक है, वैसे ही जातमात्र बालक को ब्रह्मचर्य और यज्ञादि का उपदेश करना निरर्थक है।

अतः उक्त वाक्य के अर्थवाद परक होने से मोक्ष का अभाव कभी नहीं होता। इसलिए जिसकी पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा ये तीनों निवृत्त हो गई हैं, वे चाहे किसी भी आश्रम में हों, इन तीनों)णों के लिए बाध्य नहीं हैं। ऐसे लोगों के लिए शास्त्र भी यह आदेश देता है, कि जिस दिन उनको वैराग्य उत्पन्न हो, मोक्ष के लिए यत्न आरम्भ करें ।

सन्दर्भ (संशय)- 'जरामृत्युपर्यन्त' (बुढ़ापे या मृत्यु तक कर्मानुष्ठान के कथन) के अनुसार तो मोक्षोपयोगी तत्त्वज्ञान का अवसर न मिल पाने से अपवर्ग का उपदेश निरर्थक प्रतीत होता है। दर्शनाचार्य इस संशय का समाधान प्रस्तुत करते हैं -

समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः ॥४/१/६१॥

प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सार्ववेदसं हुत्वा आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेदिति **श्रूयते, तेन विजानीमः प्रजावित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्थितस्य निवृत्ते फलाथित्वे समारोपणं विधीयते इति ॥** आत्मा में आहवनीय आदि अग्नियों के समारोपण भावना से अपवर्ग (मोक्ष) का निषेध करना उचित नहीं है। वैदिक साहित्य में कहा है 'प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सार्ववेदसं हुत्वा आत्मान्य**ग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत्**' प्राजापत्य इष्टि याग करके, उसमें अपना सर्वस्व दान करके उन अग्नियों की अपने आत्मा में भावना करके तीव्र वैराग्य से युक्त व्यक्ति संन्यास ग्रहण कर ले। इससे यह सिद्ध होता है, कि सन्तान, धन और लोक की एषणाओं (इच्छाओघ) से रहित व्यक्ति को फल की इच्छा न रहने पर आत्मा में अग्नि का आरोप करने की विधि है। इसलिए संन्यास आश्रम में यागादि कर्म न करने से पाप नहीं होता क्योंकि इनका फल स्वर्गादि है। संन्यासी को स्वर्गफल की कामना होती नहीं। और जिस फल की इच्छा ही नहीं, उसके लिए बीज बोना अनावश्यक है। अतः वीतराग मुमुक्ष के लिए)णों का बन्धन न होने से अपवर्ग (मोक्ष) का निषेध असंगत है। शत. ब्रा. १४/७/३/१-१५ में भी गृहस्थ से मोक्षार्थ संन्यास लेने का विधान है- वे याज्ञवल्क्य भिन्न प्रकार का जीवन व्यतीत करने की इच्छा से मैत्रेयी से बोले कि- संन्यास लेकर मैं इस स्थान को छोड़ना चाहता हूँ, अतः तुम दूसरी पत्नी कात्यायनी के साथ रहो, मैं धन का बंटवारा कर देता हूँ। मैत्रेयी ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया, अपितु याज्ञवल्क्य से विस्तार पूर्वक आत्मज्ञान प्राप्त किया। इसके पश्चात् याज्ञवल्क्य ने कहा- हे मैत्रेयि। तुम यह अच्छी तरह समझ चुकी हो कि वह पर (अपवर्ग) अमृतरूप है। ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य परिव्राजक (संन्यासी हो गए। इससे भी यही सिद्ध होता है, कि वीतराग के लिए)णों का बन्धन नहीं, वह मोक्ष के उपायों का अनुष्ठान कर सकता है।

सन्दर्भ- उक्त 'जरामृत्युवाद' वाक्य फलार्थी के लिए ही है, तथा चतुर्थ आश्रम सन्यास मुमुक्षु के लिए ही है'- इसमें दर्शनाचार्य एक और हेतु देते हैं-

पात्रचयान्तानुपपत्तेश्च फलाभावः ॥४/१/६२॥

संन्यासी के शवदाह संस्कार के समय अग्निहोत्र कर्म के पात्रचयन निषेध की सिद्धि से भी फलाभाव अपवर्ग सिद्ध होता है। **जरामर्यं च कर्मण्यविशेषेण कल्प्यमाने सर्वस्य पात्रचयान्तानि कर्माणीति प्रसज्यते, तत्रैषणाव्युत्थानं न श्रूयेत ।** अग्निहोत्री की मृत्यु होने पर उनके अग्निहोत्र सम्बन्धी काष्ठ के सम्पूर्ण यज्ञपात्रों को अग्निहोत्री के शरीर के साथ दाह करने की विधि है। किन्तु पात्रचयन के साथ संन्यासी की अन्त्येष्टि की विधि का विधान नहीं है; क्योंकि वह आहवनीय आदि अग्नि-सम्बन्धी कर्म का परित्याग करके उन अग्नियों को अपने आत्मा में आरोपित कर चुका है, लौकिक कामनाएँ त्याग देता है। (द्र-शत. ब्रा.१२/५/२/७,८)। इस विधान से सिद्ध होता है, कि वीतराग के लिए)णभार नहीं है। वह संन्यासी होकर मोक्षसाधना कर सकता है।

शास्त्रों में संन्यास ग्रहण करके मोक्षार्थ प्रयत्न करने का अन्यत्र भी विधान है, **'एत' स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति। ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाय**

भिक्षाचर्यं चरन्तीति।- (बृहदा. ४/४/२२, शत. ब्रा. १४/७/३/२६)।

यह जाना जाता है, कि पहले के मूर्धन्य ज्ञानी, नैष्ठिक, विरक्त, विद्वान् सन्तान की कामना नहीं करते थे कर्मानुष्ठानबहुल गृहस्थ आदि आश्रमों में जाने की इच्छा नहीं रखते थे। उनका विचार था, कि पुत्र पौत्र आदि सन्तान से हम क्या करेंगे? विविध प्रकार के धन-वैभव से हमें क्या लाभ? जब हमारे लिए परब्रह्म परमात्मा सब कुछ है। ऐसा विचार कर वे पुत्र, वित्त और यश आदि की कामनाओं से ऊपर उठकर भिक्षाचरण से जीवन व्यतीत करते थे। गार्गी जैसी महिलाएँ भी एषणाओं से पृथक् ब्रह्मवादिनी होती थीं। इस प्रकार इतिहास एवं धर्मशास्त्रों में चारों आश्रमों का विधान मिलता है, केवल गृहस्थ का ही नहीं। जिनकी कामनाएँ समाप्त हो चुकी हैं, वे सीधे मोक्षार्ग को अपना सकते हैं। अतः प्रारम्भिक सूत्रा (१/१/२) के अनुसार अपवर्ग (मोक्ष) सम्भव है। उसका अभाव कहना असंगत है।

सन्दर्भ- पूर्वपक्ष ने ५९वें सूत्रा में अपवर्ग के अभाव का साधक दूसरा हेतु (क्लेशानुबन्ध) अविद्यादिक्लेशों का सतत बना रहना दिया था। दर्शनाचार्य उसका समाधान करते हैं-

सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभावादपवर्गः ।४/१/६३॥

गहरे सोए हुए व्यक्ति के स्वप्न न देखने की अवस्था गाढ़ निद्रा में क्लेशों का अभाव होने से अपवर्ग सिद्ध होता है। **यथा सुषुप्तस्य खलु स्वप्नादर्शने रागानुबन्धः सुखदुःखानुबन्धश्च विच्छिद्यते तथापवर्गेऽपीति । एतच्च ब्रह्मवदो मुक्तस्यात्मनो रूपमुदाहरन्तीति । जैसे**- गाढ़ निद्रा में सोए हुए व्यक्ति का राग द्वेष एवं सुख-दुःख आदि से विच्छेद हो जाता है, इनकी प्रतीति नहीं होती इसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति को रागादि के अभाव में मोक्ष में भी सुख-दुःख आदि का सम्बन्ध नहीं रहता। वह परमात्मा की आनन्दरूपता का अनुभव करता रहता है- **'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता' (सां. ५/७९/(११६)**। अतः क्लेशानुबन्ध भी मोक्ष का बाधक नहीं हो सकता ।

सन्दर्भ- पूर्वपक्ष ने अपवर्ग के अभाव की सिद्धि में तीसरा हेतु 'प्रवृत्यनुबन्धात्' बताया था। दर्शनाचार्य उसका भी निराकरण करते हैं - **न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य ॥४/१/६४॥**

रागादि क्लेशों से रहित ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त की प्रवृत्तियां शरीरादि की क्रियायें जन्मान्तर से सम्बन्ध पुनर्जन्म के लिए नहीं होती। प्रक्षीणेषु रागद्वेषमोहेषु **प्रवृत्तिर्न प्रतिसन्धानाय ।** आत्मज्ञान हो जाने से राग, द्वेष, मोह आदि क्लेशों के नष्ट होने पर शारीरिक आदि तीनों प्रकार की पूर्वोक्त प्रवृत्ति पुनर्जन्म दिलाने में कारण नहीं बन सकती क्योंकि संसार में पुनर्जन्म तृष्णा (वासना) से होता है। वीतराग व्यक्ति की वासना का नाश हो जाने से फिर जन्म भी नहीं होता। और पुनः जन्म न लेना रूप अप्रतिसन्धान ही अपवर्ग (मोक्ष) होने के कारण पूर्वपक्ष का यह कथन, कि-'प्रवृत्तिसम्बन्ध से मोक्ष नहीं हो सकता' सर्वथा अप्रमाणिक है।

विशेष- (१) आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर प्रारब्ध (वर्तमान शरीर के निमित्तभूत) कर्मों के साथ अन्य बहुत से कर्मों का फल भी भोग लिया जाता है।

(२) कुछ प्रारब्ध फल योगाग्नि में दग्धबीज हो जाते हैं।

(३) शेष बचे हुए (सञ्चित) कुछ कर्म जो मुक्ति में बाधक नहीं हैं, वे मुक्ति से लौटने पर पुनः फल देते हैं।

(४) नए कर्म निष्काम होने से पुनर्जन्म का कारण नहीं बनते।

इस प्रकार तत्त्वज्ञानी की प्रवृत्ति मोक्ष में बाधक नहीं बन सकती ।

सन्दर्भ– अब क्लेशों के अभाव को मानने वाला पूर्वपक्ष संदेह के कारण आक्षेप करता है-

न क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् ॥४/१/६५॥

क्लेशप्रवाह के स्वाभाविक होने से क्लेशों के अनुबन्ध का विच्छेद नहीं हो सकता। **नोपपद्यते क्लेशानुबन्धविच्छेदः, कस्मात्? क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् । अनादिरियं क्लेशसन्ततिः, न चानादिः शक्य उच्छेत्तुमिति ।** अनादि काल से आत्मा को क्लेश होते रहते हैं, अतः वे प्रवाह से अनादि हैं। इसलिए उन क्लेशों के स्वाभाविक होने से आत्मा के साथ क्लेशों के सम्बन्ध का अत्यन्त नाश नहीं हो सकता क्योंकि अनादि पदार्थ का नाश नहीं होता। तब अपवर्ग की सम्भावना कैसे सम्भव है?

सन्दर्भ- उक्त आक्षेप का एकदेशी अधूरा पंडित अथवा नया शिष्य शीघ्रता में समाधान करता है-

प्रागुत्पत्तेरभावनित्य**त्ववत् स्वाभाविकेऽप्यनित्यत्वम् ॥४/१/६६॥**

कार्य की उत्पत्ति से पहले अभाव (कार्याभाव) के अनित्य होने के समान अनादि होने पर भी अनादि क्लेशसन्तति का अनित्य होना

सम्भव है । **यथाऽनादिः प्रागुत्पतेरभाव उत्पन्नेन भावेन निवर्त्यते एवं स्वाभाविकी क्लेशसन्ततिरनिस्येत्ति ।** जिस प्रकार घटादि कार्य की उत्पत्ति से पहले उसका अभाव (प्राग्भाव) अनादि (स्वाभाविघ) होते हुए भी उस घटादि कार्य की उत्पत्ति होने पर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार स्वाभाविक (अनादि) क्लेश सन्तति का भी आत्माज्ञान से विनाश हो जाने के कारण अनित्य होना सम्भव है। अतः क्लेश के न रहने से अपवर्ग होना सिद्ध है ।

सन्दर्भ- अब उत्साह में आकर दूसरा एकदेशी (आचार्यदेशीय) पूर्वपक्ष के आक्षेप का समाधान करता है -

अणुश्यामताऽनित्यत्ववद् वा ।।४/१/६७।।

अथवा पृथिवी के परमाणुओं की अनादि श्यामता के अनित्य होने के समान क्लेशसन्तति का अनित्य होना सम्भव है। **यथाऽनादिरणुश्यामता अथ चाग्निसंयोगादनित्या तथा क्लेशसन्ततिरपीति । सतः खलु धर्मो नित्यत्वमनित्यत्वं च तत्त्वं भावेऽभावे भाक्तमिति ।** भावरूप (सत्तात्मघ) पृथिवी के परमाणुओं की श्यामता अनादि है, फिर भी अग्निसंयोग से श्यामता के नष्ट हो जाने के कारण वह अनित्य है। इसी प्रकार अनादि भावरूप क्लेशसन्तति भी तत्त्वज्ञान अथवा आत्मज्ञान हो जाने पर नष्ट हो जाती है। इस प्रकार क्लेशों के अभाव में अपवर्ग सिद्ध हो जायेगा।

समीक्षा- वस्तुतः एकदेशी के द्वारा दिए गए दोनों समाधान उचित नहीं हैं; क्योंकि-

(१) नित्यत्व- अनित्यत्व आदि धर्म भावरूप पदार्थ में ही सम्भव हो सकते हैं, अभाव में नहीं। यदि कहीं अभाव में उपलब्ध होते हैं, तो उन्हें औपचारिक ही समझना चाहिए। क्लेश भावरूप पदार्थ हैं, अतः अभाव का दृष्टान्त देना उचित नहीं।

(२) पृथिवी के परमाणु की श्यामता भी नित्य नहीं क्योंकि पृथिवी का सभी प्रकार का रूप पाकज होने से अनित्य माना जाता है। अतः अणुश्यामता का दृष्टान्त भी उचित नहीं है ।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य ६५ वें सूत्रा में पूर्वपक्ष द्वारा किए गए आक्षेप का वास्तविक समाधान प्रस्तुत करते हैं-

न सङ्कल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम् ।।४/१/६८।।

रागादि क्लेशों के संकल्पनिमित्तक होने से तथा एक दूसरे पर आश्रित होने से पूर्वपक्ष का कथन उचित नहीं है। **कर्मनिमित्तत्वाि. दतरेतर निमित्तत्वाच्चेति समुच्चयः ।** यहाँ 'संकल्प' का तात्पर्य है मिथ्याज्ञान। रागादि क्लेशों का निमित्त कारण है- मिथ्याज्ञान, और उसका नाशक 'तत्त्वज्ञान' माना गया है। जैसा कि **'दुःखजन्म**प्रवृत्तिदोष**मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।' (१/१/२)** की व्याख्या में पूर्व वर्णन कर आए हैं। इसलिए **'निमित्तापये नैमित्तिकस्याप्यपायः'** निमित्तकारण के नष्ट होने पर नैमित्तिक (कार्य) की भी निवृत्ति हो जाती है। इस नियम के अनुसार 'तत्त्वज्ञान' के द्वारा 'मिथ्याज्ञान' की निवृत्ति होने पर उससे उत्पन्न होने वाले रागादि क्लेशों की निवृत्ति में कोई बाधा नहीं होती। इसके अतिरिक्त राग आदि परिस्थिति के अनुसार एक दूसरे को भी उत्पन्न करते हैं। जैसे मोह को कोई सुखदायक समझकर उसमें अनुरक्त हो जाता है और उस प्रिय पदार्थ की प्राप्ति में बाधक से द्वेष करता है। वहाँ मोह, राग और द्वेष का कारण है तथा जब व्यक्ति किसी से अनुरक्त होता है, तो उसके मोह में फंस जाता है, वहाँ राग मोह का कारण है। जब किसी विषय में उग्र द्वेष होता है, तो उसके विरोधी में अनुराग और मोह उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार राग, द्वेष, मोह यथावसर एक-दूसरे को उत्पन्न किया करते हैं। परन्तु इन दोषों का कारण भी 'मिथ्याज्ञान' है, जिसकी निवृत्ति 'तत्त्वज्ञान' से हो जाती है। अतः रागादि क्लेशों की निवृत्ति होकर ब्रह्मानन्दरूप मोक्ष (अपवर्ग) होना सम्भव है। इसलिए अपवर्ग के अस्तित्व में किसी)ण, क्लेश, प्रवृत्ति आदि बाधक की कल्पना करना पूर्णतः निराधार है।

इति अपवर्गपरीक्षा प्रकरणम्

स्मरणीय बिंदु

फल की परीक्षा

मनुष्य जो भी प्रवृत्ति (कर्म) करता है, उसका परिणाम फल कहलाता है।

फल तुरंत भी मिल सकता है (जैसे भोजन से तृप्ति) और कालान्तर में भी (जैसे पुण्य-पाप का फल)।

ईश्वर कर्मों के अनुसार फल देने वाला निमित्त कारण है।

दुःख की परीक्षा

न्याय दर्शन में संसार की सभी वस्तुओं को दुःख की श्रेणी में रखा गया है (सर्वे दुःखं विवेकिनः)।

सुख को भी दुःख इसलिए माना जाता है क्योंकि वह अस्थायी है और उसके खोने का भय या दुःख हमेशा बना रहता है।

अपवर्ग (मोक्ष) की परीक्षा

दुखों से आत्यन्तिक (हमेशा के लिए) और ऐकान्तिक (पूरी तरह) छूट जाना ही अपवर्ग है।

मोक्ष की अवस्था में आत्मा के नौ विशेष गुणों (जैसे ज्ञान, सुख, दु:ख, इच्छा आदि) का नाश हो जाता है और आत्मा अपने शु) स्वरूप में स्थित हो जाती है।

शब्दावली

ऋलरू कर्मों के ऋलस्वरूप प्राप्त होने वाला सुख या दु:ख।

अपवर्गरू मोक्ष, निरूश्रेयस या दुखों से पूर्ण मुद्रि।

आत्यन्तिक निवृत्तिरू दुखों का इस प्रकार समाप्त होना कि वे फिर कभी वापस न आएं।

बाधनारू दु:ख का दूसरा नाम(जो पीड़ा या रुकावट पैदा करे।

त्रिविध दु:खरू आध्यात्मिक (निजी), आधिभौतिक (अन्यों से), और आधिदैविक (प्राख्रतिक आपदाएघ)।

जन्मरू आत्मा का शरीर, इन्द्रियों और बुद्धि के साथ नया संबंध।

तत्त्वज्ञानरू यह बोध कि आत्मा शरीर से अलग है, जो मोक्ष का द्वार खोलता है।

निष्प्रपंचरू संसार के प्रपंचों (बंधनोघ) से रहित अवस्था।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. न्याय दर्शन के अनुसार ऋलश के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या कीजिए। ऋल के प्रकारों और उसके लौकिक तथा पारलौकिक भेदों का सप्रमाण विवेचन कीजिए।

प्रश्न 2. न्याय दर्शन में दु:ख केवल एक मानसिक अनुभूति नहीं, अपितु संसार का मूल स्वभाव है। इस कथन के आलोक में दु:ख के स्वरूप और उसके इक्कीस (21) प्रकारों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

प्रश्न 3. न्याय दर्शन के अनुसार अपवर्ग (मोक्ष) की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए। क्या न्याय का अपवर्ग आनंद की प्राप्ति है या दु:खों का आत्यंतिक अभाव? तर्कसंगत व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 4. ऋल, दु:ख और अपवर्ग के अंतर्संबंधों का विश्लेषण कीजिए। न्याय दर्शन किस प्रकार सिद्ध करता है कि दु:खों की निवृत्ति ही जीवन का परम लक्ष्य (नि:श्रेयस) है?

प्रश्न 5. अपवर्ग की प्राप्ति के लिए तत्त्वज्ञान अनिवार्य है। न्याय सूत्रा के आधार पर मिथ्याज्ञान से लेकर दु:ख निवृत्ति तक की प्रक्रिया (मिथ्याज्ञान-दोष-प्रवृत्ति-जन्म-दु:ख) का सोदाहरण वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. न्याय दर्शन के अनुसार ऋलश की परिभाषा दीजिए। क्या ऋल केवल सुखद होता है?

प्रश्न 2. बाधनालक्षणं दु:खम सूत्रा के आधार पर दु:ख के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3. न्याय दर्शन में वर्णित दु:ख के 21 प्रकारों को संक्षेप में सूचीगा) कीजिए।

प्रश्न 4. अपवर्ग द्धमोक्षऋ से क्या तात्पर्य है? क्या यह अवस्था आनंदमयी होती है?

प्रश्न 5. न्याय दर्शन के अनुसार तत्त्वज्ञान किस प्रकार अपवर्ग की प्राप्ति में सहायक है

प्रश्न 6. ऋल के दो मुख्य प्रकारोंख्र ऐहिक इस लोक में मिलने वाला परिणाम आमुष्मिक और मृत्यु के बाद परलोक में मिलने वाला परिणाम में अंतर स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 7. न्याय दर्शन सुख को भी दु:ख की श्रेणी में क्यों रखता है? संक्षेप में तर्क दीजिए।

प्रश्न 8. अपवर्ग की अवस्था में आत्मा की स्थिति क्या होती है?

महत्वपूर्ण बहुविकल्पीय प्रश्न और उनके उत्तर यहाँ दिए गए हैं

1. न्याय दर्शन के अनुसार फल से क्या तात्पर्य है?
क) केवल भौतिक धन की प्राप्ति
ख) प्रवृत्ति और दोषों से उत्पन्न सुख-दुःख का अनुभव
ग) केवल परलोक में मिलने वाला सुख
घ) केवल मोक्ष की प्राप्ति
उत्तर ख)
2. न्याय सूत्र के अनुसार दुःख का लक्षण क्या है?
क) सुखानुशायी दुःखम
ख) बाधनालक्षणं दुःखम
ग) अनित्यं दुःखम
घ) इच्छा द्वेषो दुःखम
उत्तर ख)
3. न्याय दर्शन में कुल कितने प्रकार के दुःखों (दुःख-भेद) का वर्णन किया गया है?
क) 11 प्रकार
ख) 16 प्रकार
ग) 21 प्रकार
घ) 25 प्रकार
उत्तर ग)
4. न्याय दर्शन के अनुसार अपवर्ग की अवस्था क्या है?
क) स्वर्ग में सुख भोगना
ख) दुःखों की आत्यंतिक (पूर्ण) निवृत्ति
ग) ईश्वर में लीन हो जाना
घ) निरंतर आनंद का अनुभव करना
उत्तर ख)
5. न्याय दर्शन सुख को भी दुःख की श्रेणी में क्यों रखता है?
क) क्योंकि सुख पाप है।
ख) क्योंकि सुख दुःख से मिला हुआ (दुःखानुषद्र) और क्षणभंगुर है।
ग) क्योंकि सुख केवल भ्रम है।
घ) क्योंकि सुख केवल ऋषियों को मिलता है।
उत्तर ख)
6. वह फल जो इसी जन्म में प्राप्त होता है, उसे क्या कहा जाता है?
क) आमुष्मिक फल
ख) ऐहिक फल
ग) प्रारब्ध फल
घ) संचित फल
उत्तर ख)
7. न्याय दर्शन के अनुसार, अपवर्ग की प्राप्ति के लिए सबसे पहली सीढ़ी क्या है?
क) योग अभ्यास
ख) तत्त्वज्ञान (ज्ञान)

ग) यज्ञ अनुष्ठान

घ) वैराग्य

उत्तर ख)

8. अपवर्ग की अवस्था में आत्मा के निम्नलिखित में से किस गुण का नाश हो जाता है?

क) बुद्धि और सुख-दु:ख

ख) इच्छा और द्वेष

ग) प्रयत्न और संस्कार

घ) उपरोद्र सभी

उत्तर घ)

9. न्याय दर्शन के अनुसार, मोक्ष (अपवर्ग) में आत्मा की स्थिति कैसी होती है?

क) आत्मा आनंद से भर जाती है।

ख) आत्मा चौतन्य रहित और समस्त गुणों से मुद्र हो जाती है।

ग) आत्मा पुनर्जन्म लेकर सुखी होती है।

घ) आत्मा शून्य में विलीन हो जाती है।

उत्तर ख)

10. दु:ख निवृत्ति का सही क्रम क्या है?

क) दोष प्रवृत्ति जन्म दु:ख मिथ्याज्ञान

ख) मिथ्याज्ञान नाश दोष नाश प्रवृत्ति नाश जन्म नाश दु:ख नाश

ग) जन्म नाश दु:ख नाश दोष नाश मिथ्याज्ञान नाश

घ) भद्रि ज्ञान कर्म ऋल मोक्ष

उत्तर ख)

इकाई- ३.२ - तत्त्वज्ञानोत्पत्ति एवं अवयवी निरुपण

उद्देश्य-

खयह समझना कि दुखों की निवृत्ति के लिए सही ज्ञान (तत्त्वज्ञान) कैसे पैदा होता है।

खज्ञान प्राप्त करने की मानसिक और तार्किक प्रक्रिया को जानना।

खमिथ्याज्ञान (अज्ञान) की जड़ों को काटकर बुद्धि को निर्मल बनाना।

३.२-१ अथ तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रकरणम्

सन्दर्भ- प्रवृत्ति से लेकर अपवर्गपर्यन्त प्रमेयों की विस्तार से परीक्षा की गई। अब मिथ्याज्ञान की निवृत्ति के कारणभूत 'तत्त्वज्ञान' के विवेचन के लिए चर्चा आरम्भ करते हैं। सर्वप्रथम यह जिज्ञासा होती है, कि क्या 'तत्त्वज्ञान' समस्त विषयों का होना चाहिए? अथवा कुछ (निश्चित) नियत विषयों का? विषयों के अनन्त होने से सब का तत्त्वज्ञान तो सम्भव नहीं और कुछ नियत विषयों का तत्त्वज्ञान मानने पर अन्य विषयों में मिथ्याज्ञान बना रहेगा। स्पष्ट है, कि जिन विषयों के मिथ्याज्ञान से आत्मा संसार के बन्धन में फंसा रहता है, उन विषयों का तात्त्विक रूप से ज्ञान होना आवश्यक है। वे विषय हैं- शरीर, इन्द्रिय, मन, वेदना और बुद्धि आदि। आत्मा से भिन्न इन शरीर आदि पदार्थों में यही मैं हूँ- ऐसा आत्मा होने का अहंभाव उभरना 'मिथ्याज्ञान' (अज्ञान) है। जैसे शरीर के मोटे-पतले, बलवान-दुर्बल होने को आत्मा का मोटा-पतला होना आदि मानकर व्यवहार करना। इन्द्रियों के कारण, बहरा आदि होने पर 'मैं काणा हूँ, मैं बहरा हूँ'- इस प्रकार आत्मा के स्वरूप को विकृत समझना। मानसिक विकार (कष्ट, उन्माद आदि) को आत्मा का विकार जानना। वेदना (पीड़ा) को अर्थात् पुत्र, पति, पशु, परिच्छद (साधन-सामग्री) आदि के संयोग-वियोग से होने वाले सुख-दु:ख को आत्मा का सुख-दु:ख समझना तथा विविध अनुभूतियों के लिए एक साधन मात्र बुद्धि को ही आत्मा समझना यह सब मिथ्याज्ञान है। जब आत्मा शरीर, इन्द्रिय आदि को 'यही मैं हूँ' ऐसा अनुभव करता है, उसके सदा बने रहने की इच्छा करता है तथा उसके विच्छेद को आत्मा का विच्छेद (विनाश) मानता हुआ उनको बनाए रखने की तथा उनसे होने वाले सुख की तीव्र इच्छा करता है, तो बार-बार शरीर धारण करता रहता है। अत: शरीर आदि को, आत्मा समझना आदि मिथ्याज्ञान है, जो संसार का कारण है। तत्त्वज्ञान इसी मिथ्याज्ञान का उच्छेद करके अपवर्ग का विशेष साधन होता है। अपवर्ग की इस स्थिति को लाने के लिए यह आवश्यक है, कि व्यक्ति दु:ख, दु:ख का आश्रय शरीर आदि को तथा दु:ख मिश्रित सुख को भी दु:खरूप समझे और उन्हें दूर करने का उपाय करता रहे। जैसे अतिमधुर होने पर भी विषमिश्रित भोजन त्याज्य होता है, उसी प्रकार दु:खों के कीचड़ में सने हुए सुख को भी व्यक्ति त्याज्य समझे। इससे अत्यन्त आकर्षक विषयगत सुख को पाने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर क्षीण हो जाएगी और अन्त में अपवर्ग प्राप्त हो जाता है। अर्थात् जन्म मरण का चक्र छूट जाएगा।

तत्त्वज्ञान के विषय को चार भागों में बांटा जा सकता है -

१. **हेय** (त्याज्य) संसार है।

२. **हेयहेतु** - प्रवृत्ति और दोष हैं।

३. प्राप्य (उपादेय) अपवर्ग है।

४. प्राप्य**हेतु** - 'तत्त्वज्ञान' है ।

इसी को- हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय कहा जाता है। जिसकी विस्तृत चर्चा योगदर्शन में भी है।

जो व्यक्ति इनको तत्त्वत: समझ लेता है, उसे यथावसर 'अपवर्ग' हो जाता है।

इसी विषय को महर्षि गौतम स्पष्ट करते हैं -

दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः ॥४/२/१॥

शरीरादि दु:खान्तं प्रमेयं दोषनिमित्तं तद्विषयत्वान्मिथ्याज्ञानस्य । दोषकारण वाले शरीर आदि के तत्त्वज्ञान से अहंकार शरीरादि में आत्माभिमान की निवृत्ति हो जाती है। **आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावQलदु:खापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥१/१/९॥** शरीर से लेकर दु:खपर्यन्त जो दश प्रमेय हैं, उनकी प्राप्ति के निमित्ति राग, द्वेष आदि दोष ही हैं। मानव शरीर में आकर व्यक्ति रागादि से प्रेरित होकर कर्म करता है। वे कर्म अन्य रागादि को उत्पन्न करते हैं, जो मृत्यु के पश्चात् देहान्तर की प्राप्ति के निमित्त होते हैं। फिर नए शरीर में सञ्चित व क्रियमाण कर्मों से अन्य देह आदि की प्राप्ति होती रहती है। और यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। इसका कारण है शरीर आदि के विषय में मिथ्या ज्ञान अर्थात शरीर आदि को आत्मा समझना व उनके सुख दुख की अपना आत्मा

का सुख-दु:ख समझना। जब तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब जीवात्मा को इसमें अहंकार नहीं रहता अर्थात मैं शरीर हूँ' या 'इन्द्रिय आदि का समुदाय हूँ' यह भाव नहीं रहता। इसलिए शरीर आदि की आवश्यकता को अपनी आवश्यकता न समझकर सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति नहीं रखता। शरीर आदि में आत्मबुद्धि रखता हुआ ही व्यक्ति विषयों में आसक्त होता है। तत्त्वज्ञान से उसका शरीरादि में आत्मबुद्धिरूप अहंकार मिट जाता है। मिथ्याज्ञान के न रहने पर कारणनाश से कार्यनाश की व्यवस्था के अनुसार क्रमश: दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दु:खों का उच्छेद (विनाश) हो जाने से आत्मा को अपवर्ग की अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह सब प्रथम सूत्रा से (१/१/२ तथा ९-२२ मेघ) स्पष्ट किया जा चुका है। उसी का यहाँ पुन: कथन है। यहां कुछ नया विधान नहीं है। अत: तत्त्वज्ञान उन्हीं विषयों का अपेक्षित है, जिनका मिथ्याज्ञान संसार का निमित्त है ।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य विशेष रूप से चिन्तन किए हुए रूपादि विषयों को रागादि दोषों को निमित्त बताते हैं-

दोषनिमित्तं रूपादयो विषया: सङ्कल्पकृता: ।।४/२/२।।

मिथ्याज्ञानरूपि संकल्पो का भावित चिन्तन करते हुए रूप, रस आदि विषय रागादि दोषों को उत्पन्न करने वाले होते हैं। **कामविषया इन्द्रियार्था इति रूपादय उच्यन्ते, ते मिथ्यासङ्कल्प्यमाना रागद्वेषमोहान् प्रवर्त्तयन्ति तान्पूर्वं प्रसञ्चक्षीत ।** रूप, रस इत्यादि चक्षु आदि इन्द्रियों के ग्राह्य विषय हैं। इनमें मिथ्याज्ञानरूप संकल्प से व्यक्ति की कामना अर्थात् इनको प्राप्त करने व भोगने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। रूप आदि के प्रति यह कामना व्यक्ति में राग, द्वेष आदि का उत्पन्न कर देती है । रागादि दोषों के निमित्तभूत ये विषय बाह्य और आन्तरिक भेद से दो प्रकार के हैं। इनमें स्त्री, पुत्र आदि बाह्य तथा स्वशरीरेन्द्रियादि आन्तरिक कहाते हैं। मुमुक्षु को चाहिए कि वह पहले स्त्री, पुरुष, पुत्र आदि बाह्य विषयों के तात्विक स्वरूप को जानकर अनासक्त होवे, फिर शरीर इन्द्रिय आदि आन्तरिक विषयों के अहंकार (यही मैं आत्मा हूँ ऐसे मिथ्याज्ञान) को दूर करे । इस प्रकार जब बाह्य और आन्तर विषयों में मिथ्याज्ञान समाप्त हो जाता है, तब विरक्त पुरुष जीवन्मुक्त होकर आत्मा के आनन्द का अनुभव करता है।

सन्दर्भ- रागादि दोषों के साधारण कारण संकल्पकृत रूप आदि विषयों को बताकर अब दर्शनाचार्य दोषों का विशेष कारण बताते हैं-

तन्निमित्तं त्ववयव्यभिमान: ।।४/२/३।।

किन्तु उन रागादि दोषों का मूलकारण शरीरादि रूप अवयवी का अभिमान मिथ्याज्ञान है। **तेषां दोषाणां निमित्तं त्ववयव्यभिमान: ।** उन रागादि दोषों का विशेष कारण तो विषयों में अवयवी होने का अभिमान (मिथ्याभाव) है। जैसे पुरुष की स्त्री के विषय में 'यह सुन्दर स्त्री है' यह भावना तथा स्त्री की पुरुष के विषय में 'यह सुन्दर पुरुष है' ऐसी भावना राग का कारण होती है। भावना के दो भेद हैं १. निमित्त, २. अनुव्यञ्जन। जैसे १. आंख, नाक, कान, दांत, ओष्ठ, रसना, हाथ, पांव आदि का स्मरण राग आदि का निमित्त होता है, और २. 'इसके ऐसे सुन्दर दांत हैं', 'ऐसे सुन्दर ओष्ठ हैं' इत्यादि भावना कामवासना के 'अनुव्यञ्जक' (उभारने या बढ़ाने वाले) हैं। इस भावना से वासना तथा त्याज्य दोषों की वृद्धि होती है।

इस भावना का परिहार अवयव-भावना से होता है। अर्थात् स्त्री या पुरुष विषयक आसक्ति को हटाने के लिए जिज्ञासु स्त्री या पुरुष के अवयवों के विषय में सोचे कि यह सुन्दर प्रतीत होने वाला शरीर तो केवल केश, रोम, मांस, रक्त, अस्थि, स्नायु (नस), शिरा, नाड़ी, कफ, पित्त, मल, मूत्र आदि का ढेर है। इसमें कौन सी अच्छी चीज है, जिस पर आसक्त होकर में अपना जीवन नष्ट करूं। ऐसे चिन्तन से व्यक्ति की देहादि-विषयक आसक्ति समाप्त हो जाती है। पाने व भोगने की कामनाएँ क्षीण हो जाती हैं। ऐसे विचार को 'अशुभ संज्ञा' कहते हैं, जो कि आसक्ति को मिटाने का विशेष उपाय है।

मुमुक्ष व्यक्ति को चाहिए कि वह बाह्य विषय से उपरत होकर ही सन्तुष्ट न हो जाए, अपितु आन्तरिक भावों को भी नियन्त्रित करे। किसी विचारक का यह कहना, कि किसी को देखकर मत रीझना, इसका तात्पर्य यह है कि शरीर के ऊपर वर्क चाँदी का चढ़ा है, गोबर की मिठाई के समान ।

इति तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रकरणम् ।

३.२-२ अथ प्रासङ्गिकमवयविप्रकरणम्

सन्दर्भ- अब प्रासंगिक 'अवयवी' की सिद्धि के लिए दर्शनाचार्य पहले उसमें संशय दिखाते हैं-

विद्याऽविद्याद्वैविध्यात् संशयः ॥४/२/४॥

सदसतोरुपलम्भाद्विद्या द्विविधा, सदसतोरनुपलम्भादविद्यापि द्विविधा । विद्या उपलब्धि तथा अविद्या अनुपलब्धि के दोनों प्रकार होने से अवयवी के विषय में संशय होता है। संशय के लक्षणसूत्रा **समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरूपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः॥१/१/२३॥** में उपलब्धि और अनुपलब्धि की अव्यवस्था को संशय का कारण बताया है। उसी आधार पर 'अवयवी' के विषय में संशय दिखाता हुआ पूर्वपक्ष कहता है, कि जैसे विद्यमान घट, पट आदि वस्तु की उपलब्धि होती है, वैसे ही अविद्यमान मरुमरीचिका में जल की भी उपलब्धि की प्रतीति होती है। इसी प्रकार जैसे आकाश के फूल या मनुष्य के सींग आदि अविद्यमान की अनुपलब्धि होती है, वैसे ही वृक्ष की भूमिगत मूल या खूँटे का भूमि अथवा दीवार में गड़ा हुआ अन्तर्निर्हित भाग विद्यमान होता हुआ भी अनुपलब्ध होता है। इस प्रकार 'अवयवी' चाहे उपलब्ध होता है, अथवा नहीं होता, दोनों ही स्थितियों में उसका संशय से छुटकारा नहीं है। और सन्दिग्ध अस्तित्व के आधार पर रागादि की उत्पत्ति के हेतुरूप 'अवयवी' का कथन कहना उचित प्रतीत नहीं होता ।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य उक्त संशय का निराकरण करते हैं -

तदसंशय पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् ॥४/२/५॥ पूर्वोक्त हेतुओं से अच्छी तरह सिद्ध होने के कारण उस अवयवी के होने में संशय नहीं होना चाहिए। **तस्मिन्ननुपपन्नः संशयः । कस्मात् ? पूर्वोक्तहेतूनामप्रतिषेधास्ति द्रव्यान्तरारम्भ इति ।** अवयवी के अस्तित्व में संशय करना निराधार है क्योंकि अवयवी की सिद्धि में **'सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः'' 'धारणाकर्षणोपपत्तेश्च' (** २/१/३४-३५) सूत्राों द्वारा प्रस्तुत हेतुओं का प्रतिषेध नहीं हो सका है। अतः यह मानना चाहिए कि कारण द्रव्य अपने विशिष्ट संयोग आदि द्वारा एक 'अवयवी' नामक नवीन द्रव्य को उत्पन्न कर देता है। देह आदि द्रव्य ऐसे ही अवयवी हैं।

सन्दर्भ- अब पूर्वपक्ष प्रतिबन्दी हेतु से आक्षेप करता है -

वृत्त्यनुपपत्तेरपि तर्हि न संशयः ॥४/२/६॥

अवयवी में न अवयव रह सकते हैं और न अवयवों में अवयवी। स्थिति की व्यवस्था किसी प्रकार न होने से यही कह सकते हैं, कि अवयवी है ही नहीं। इस प्रकार जब अवयवी का अभाव मान लिया जाए, तब भी उसमें संशय नहीं हो सकता क्योंकि जो वस्तु है, उसी में सन्देह होता है, किन्तु जो वस्तु है ही नहीं, उसमें सन्देह कैसा? अतः अवयवी के अभाव में असंशय समझना चाहिए, भाव में नहीं।

सन्दर्भ- अब पूर्वपक्ष वृत्ति स्थिति की अनुपपत्ति असिद्धि को स्पष्ट करता हुआ यह बताता है कि अवयवी में अवयव किस प्रकार नहीं रह सकते ।

कृत्स्नैकदेशाऽवृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः ॥४/२/७॥

अवयवों की सम्पूर्ण अवयवी में अथवा अवयवी के किसी एकदेश में स्थिति न होने से अवयवी का अभाव समझना चाहिए।

एकैकोऽवयवो न तावत् कृत्स्नेऽवयविनि वर्त्तते

तयोः परिमाणभेदादवयवान्तरसम्बन्धाभावप्रसङ्गाच्च ।

एक-एक अवयव सम्पूर्ण अवयवी में नहीं रह सकताः क्योंकि दोनों के परिमाण में भेद होता है (अवयव अणुपरिमाण और अवयवी महत्परिमाण होता है) और न अवयव उसके एकदेश में ही रहता है क्योंकि अवयवों को छोड़कर इसका कोई अन्य एकदेश नहीं, जब तथाकथित अवयवी का एकदेश है ही नहीं, तब उसके एकदेश में अवयवी की स्थिति बताना असंगत है। यदि 'सब अवयव ही अवयवी हैं'- ऐसा कहा जाये, तो जितने अवयव हैं, उतने ही अवयवी मानने पड़ेंगे। जबकि आप दर्शनाचार्य एक ही अवयवी मानते हैं। इस प्रकार प्रत्येक अवयव न सम्पूर्ण अवयवी में, रह सकता है, न उसके एक देश में। अतः अवयवी का मानना व्यर्थ है ।

सन्दर्भ- अब पूर्वपक्ष अवयवों में अवयवी की स्थिति का निषेध करता हैं -

तेषु चाऽवृत्तेरवयव्यभावः ॥४/२/८॥ अवयव और अवयवी के परिमाण में भेद होने से प्रत्येक अवयव में अवयवी नहीं रह सकता। **न तावत्प्रत्यवयवं वर्त्तते, तयोः परिमाणभेदाद् द्रव्यस्य चौकद्रव्यत्व-प्रसङ्गात् । नाप्येकदेशेन, सर्वेषु अन्यावयवाभावात ।**

तदेवं न युक्तः संशय । यदि ऐसा मान लिया जाये, तो तथाकथित एक घट अवयवी के स्थान पर उतने अवयवी मानने पड़ेगे, जितने अवयवों से वह घट निर्मित हुआ है, जो कि अवयविवादी को भी मान्य नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि प्रत्येक अवयव में एक अवयवी विद्यमान है, तो अवयव-अवयवी में अन्तर क्या रह जायेगा? अर्थात् अवयव-अवयवी में नाममात्र का ही भेद होगा और अवयवी को भी निरवयव मानना पड़ेगा, जिसे अवयविवादी स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार न अवयवी में अवयव और न अवयवों में अवयवी रह सकता है। अतः अवयवी को मानना निराधार असंगत है।

सन्दर्भ- अब पूर्वपक्ष अवयवी के अवयवों से पृथक् रहने के आधार पर 'अवयवी' के अस्तित्व का खण्डन करता है -

पृथक् चावयवेभ्योऽवृत्तेः ॥४/२/९॥

पृथक् चावयवेभ्यो धर्मिभ्यो धर्मस्याग्रहणादिति समानम् । अवयव अवयवी के कारण होते हैं। और कोई अपने कारणों को छोड़कर अन्य अधिकरण में नहीं रहता। अतः अवयवी भी अपने कारण अवयवों को छोड़कर उनसे अलग अन्य अधिकरण में नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त यदि अवयवी को अवयवों कारण से पृथक् मानेंगे, तो कारण के अभाव में अवयवी का कारणलय भी नहीं हो सकेगा, तब अवयवी का नित्यत्व प्राप्त होगा, जो कि आप सिद्धान्ती दर्शनाचार्य को भी स्वीकार्य नहीं। अतः अवयवी का अभाव मानना ही उचित है।

सन्दर्भ- अब पूर्वपक्ष अवयवी के अवयवरूप न होने के आधार पर अवयवी के अस्तित्व का खण्डन करता है- **न चावयव्यवयवाः ॥४/२/१०॥** अवयव ही अवयवी है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि तब अवयवी का अवयवों से अभेद मानना पड़ेगा, जो कि अमान्य है क्योंकि तन्तु को वस्त्र, ईट को घर, अथवा मिट्टी के पिण्ड को घट कोई नहीं मान सकता। इसके अतिरिक्त तब अवयवों के समान अवयवी भी निरवयव मानना होगा, तथा अवयव अवयवी का आधार आधेय सम्बन्ध भी नहीं होगा। इस प्रकार 'अवयवी' का अस्तित्व मानना सर्वथा असंगत है।

सन्दर्भ- अब महर्षि गौतम पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं-

एकस्मिन् भेदाभावाद् भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेरप्रश्नः ॥४/२/११॥

किं प्रत्यययं कृत्स्नोऽवयवी वर्त्तते अथैकदेशेनेति नोपपद्यते प्रश्नः । कस्मात् ? एकस्मिन् मेदाभावाद भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेः । एक अखण्ड अवयवी में भेद न होने के कारण भेद बोधक 'एकदेश' आदि शब्दों का प्रयोग न हो सकने से पूर्वोक्त अवयविखण डनविषयक प्रश्न उचित नहीं है।

अवयवी के खण्डन के लिए अवयवी सम्पूर्ण अवयवों में रहता है, अथवा एकदेश में अवस्थित है? इत्यादि प्रश्न उचित नहीं हैं; क्योंकि अवयवी एक व्यक्ति रूप द्रव्य है, जैसा कि दूसरे अध्याय में कहते आए हैं, और एक भेदरहित द्रव्य में उक्त प्रश्न नहीं बन सकता; क्योंकि अनेक द्रव्यों के समूह का नाम **'कृत्स्न'** और अनेक द्रव्यों में से प्रत्येक द्रव्य को 'एकदेश' कहते हैं। इसलिए एक (अखण्ड) अवयवी में अनेक द्रव्यों के समूह और उस समूह के प्रत्येक भाग में 'कृत्स्न' और एकदेश शब्दों का प्रयोग करना भ्रान्तिमूलक होने से असंगत है ।

सन्दर्भ- 'अवयवों में अवयवी नहीं रह सकता' उसका दर्शनाचार्य अब खण्डन करते हैं -

अवयवान्तरभावेऽप्यवृत्तेरहेतुः ॥४/२/१२॥

अवयवान्तराभावादिति, यद्यप्येकदेशोऽवयवान्तरभूतः स्यात् तथाप्यवयवेऽवयवान्तरं वर्त्तत नावयवीति । एक अवयव के दूसरे अवयव होने पर भी अवयवी की विद्यमानता न होने से उक्त हेतु उचित नहीं है। 'अवयवी अपने अवयवों में कृत्स्न या एकदेश से नहीं रहता'- यह हेतु इसलिए उचित नहीं कि अवयवों में अवयवान्तर रहता है, अवयवी नहीं, अर्थात् अवयवों में अवयवी एकदेश तथा कृत्स्न रूप से नहीं रहता, अपितु आश्रयाश्रितभाव नामक समवायसम्बन्ध से अवयवी की अवयवों में विद्यमानता पाई जाती है। इसलिए अवयवी को अवयवों से भिन्न मानना ही संगत है ।

सन्दर्भ- अब पूर्वपक्ष पुनः आक्षेप करता है-

केशसमूहे तैमिरिकोपलब्धिवत् तदुपलब्धिः ॥४/२/१३॥

यथैकैकः केशस्तैमिरिकेणनोपलभ्यते, केशसमूहस्तूपलभ्यते तथैकैकोऽणुर्नोपलभ्यते अणु

सञ्जयस्नुपलभ्यते तदिदमणुसमूहविषयं ग्रहणमिति । केशों के समूह में तैमिरिक के द्वारा उपलब्धि के समान उस परमाणुसमूह वस्तुमात्र की उपलब्धि होती है। जैसे तैमिरिक (रतौंधी के रोगी) व्यक्ति को अल्पप्रकाश में एक केश प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु

केशों का समूह (बालों का एक गुच्छा सा) प्रत्यक्ष हो जाता है। इसी प्रकार एक परमाणु का प्रत्यक्ष न होने पर भी परमाणुओं का समुदायरूप घट, पट आदि का प्रत्यक्ष हो जाता है। इसलिए अवयवों का समुदाय ही अवयवी है। उससे भिन्न किसी अवयवी को मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं -

स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद् विषयग्रहणस्य तथाभावो नाविषये प्रवृत्तिः ।।४/२/१४।।

यथाविषयमिन्द्रियाणां पटुमन्दभावाद्विषयग्रहणानां पटुमन्दभावो भवति ।

अपने ग्राह्य विषय का अतिक्रमण न करने से इन्द्रिय के पटु अथवा मन्द होने के कारण ग्राह्यविषय के ग्रहण ज्ञान का तथाभावो वैसा पटु अथवा मन्द होना होता है अविषये अपने अग्राह्य विषय में प्रवृत्तिः इन्द्रिय की प्रवृत्ति नहीं होती । इन्द्रिय अपने ग्राह्य विषय को ही ग्रहण करती है, उसका कभी अतिक्रमण नहीं करती। इन्द्रिय के पटु तीव्र या मन्द रोगग्रस्त होने पर उसी इन्द्रिय के विषय का ग्रहण तीव्रता या मन्दता से होता है, भिन्न इन्द्रिय के विषय का नहीं, अर्थात् तीव्र चक्षु भी रूप का ही ग्रहण कर सकता है, गन्ध या रस का नहीं, भले ही गन्धवाला या रसवाला पदार्थ बड़ी मात्रा में प्राप्त हो। इसी प्रकार परमाणु अतीन्द्रिय है, जब एक परमाणु अतीन्द्रिय है, तो उनका समूह भी इन्द्रियग्राह्य नहीं हो सकता। अतः अवयवी को अवयवों के संयोग साधारणसंयोग से भिन्न संयोग (विशेष संयोग) वाला पदार्थ मानना चाहिए, जिसमें एकत्व की प्रतीति है। तब वह अतीन्द्रियता को छोड़कर इन्द्रियग्राह्य हो जाता है। यही अवयवी का स्वरूप है, जो घट, पट आदि के रूप में प्रत्यक्ष होता है।

सन्दर्भ- अवयवों से भिन्न अवयवी को न मानने पर दर्शनाचार्य एक अन्य दोष दिखाते हैं-

अवयवावयविप्रसङ्गश्चौवमाप्रलयात् ।।४/२/१५।।

यः खल्ववयविनोऽवयवेषु वृत्तिप्रतिषेधादभावः सोऽयमवयवस्यावयवेषु प्रसज्यमानः सर्वप्रलयाय वा कल्पेत, निरवयवाद्वा परमाणुतो निवर्त्तेत, उभयथा चोपलब्धिविषयस्याभावः तदभावादुपलब्ध्यभावः। इस प्रकार वृत्तिविकल्प से अवयवी को स्वीकार न करने पर वस्तुतत्त्व के प्रलय (विनाश) में पहुँचने तक अवयव और अवयवी का सन्दर्भ अनुक्रम चल रहता है। जिस प्रकार पूर्वपक्ष ने अवयवी के अवयवों में कार्य तथा एक देश से अवृत्ति न रह सकने के कारण अवयवी के न होने की आपत्ति दी थी, वह आपत्ति अवयवों के भी अपने अपने अवयवों में न रह सकने के कारण अवयवों के अभाव (शून्य) तक जा सकती है, जिससे अवयवों का भी अभाव सिद्ध होने से सम्पूर्ण पदार्थों का अभाव सिद्ध हो जाएगा, जो कि प्रमाणों से विपरीत है ।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य वस्तुतत्त्व के शून्यदशा में पहुँचने अर्थात् सर्वथा अभाव हो जाने की सम्भावना का निराकरण करते हैं-

न प्रलयोऽणुसद्भावात् ।।४/२/१६।।

अवयवविभागमाश्रित्य वृत्तिप्रतिषेधादभावः प्रसज्यमानो निवयवात्परमाणोर्निवर्त्तते न सर्वप्रलयाय कल्पते, निरवयवत्त्वं खलु परमाणोर्विभागैरल्पतरप्रसङ्गस्य यतो नाल्पीयस्तत्रावस्थानात् । परमाणुरूप में वस्तुतत्त्व के विद्यमान रहने से विनाश सम्पूर्ण पदार्थों का अभाव नहीं हो सकता। किसी वस्तु का उत्तरोत्तर अवयव विभाग करते जाने पर जहाँ यह परम्परा रुक जाती है, जहाँ इसके आगे अवयव विभाग सम्भव नहीं होते, वह उस पदार्थ का है, जो कि निरवयव होने से अविनाशी अर्थात् नित्य माना जाता है। यदि उस पृथिवी आदि के परमाणु का आगे विभाजन सम्भव हुआ, तो वे अवयव पृथिवीरूप न होकर तन्मात्र के रूप में होंगे। तब उनमें गन्धत्व आदि गुण नहीं रहेंगे। इसी आधार पर न्याय वैशेषिक में पार्थिव आदि परमाणुओं को नित्य माना गया है। अतः परमाणुओं का अस्तित्व पाए जाने से अवयवी का सर्वथा अभाव (शून्य) नहीं होता । कारणरूप में तो पदार्थ विद्यमान रहता ही है।

सन्दर्भ- अब महर्षि गौतम स्वयं परमाणु का स्वरूप बताते हैं-

परं वा त्रुटेः ।।४/२/१७।।

सूत्रा का 'त्रुटि' पद 'त्रसरेणु' अर्थ में है, जिसके लव, लेश, अणु, कण आदि का वाचक हैं। दो परमाणुओं के संयोग से एक 'द्वयणुक' तथा तीन परमाणुओं के संयोग से एक 'त्रसरेणु' बनता है। **अवयवविभागस्यानवस्थानाद् द्रव्याणामसङ्ख्येयत्वात् त्रुटित्वनिवृत्तिरिति ।** जब त्रसरेणु का विभाजन करते हैं, तब 'द्वयणुक' और द्वयणुक का विभाजन करने पर 'परमाणु' निरवयव रह जाता है। वस्तु विभाजन का यह अन्तिम स्तर मानना आवश्यक है, अन्यथा राई और पहाड़ में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा।

परमाणुओं के संयोग- विशेष से द्वयणुक आदि क्रम से स्थूल द्रव्य उत्पन्न होता है। वही अवयवी का स्वरूप है, जिसका इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है। अतः अवयवों में रहने वाले अवयवी का खण्डन सर्वथा असंगत है ।

इति अवयविप्रकरणम्।

स्मरणीय बिंदु

स्वतंत्राा सत्ता जैसे तंतुओं (धागोघ) से बना पट (कपड़ा) केवल धागे नहीं है, बल्कि एक नई वस्तु है। यदि अवयवी न होता, तो हमें एक ही वस्तु (जैसे वृक्ष) का बोध नहीं होता, बल्कि लाखों परमाणुओं का अलग-अलग बोध होता।

प्रत्यक्ष का आधाररू हम श्अवयवीश् को ही देखते हैं। यदि हम केवल अंगों को सत्य मानेंगे, तो सूक्ष्म परमाणुओं को देख पाना असंभव होगा, जिससे पूरा संसार अख्श्य हो जाएगा।

आश्रय-आश्रयी संबंध अवयवी अपने अवयवों में रहता है, लेकिन वह उनसे अधिक सामर्थ्यवान होता है। (जैसे घड़ा पानी भर सकता है, लेकिन मिटी के बिखरे हुए कण नहीघ)।

शब्दावली

तत्त्वज्ञानोत्पत्ति यथार्थ या वास्तविक ज्ञान का उत्पन्न होना।

अवयव किसी वस्तु के छोटे हिस्से या अंग (जैसे ईंटेघ)।

अवयवी अंगों से बनी पूर्ण इकाई (जैसे दीवार)।

आश्रय वह आधार जहाँ कोई वस्तु टिकी हो।

समाधि चित्त की वह अवस्था जहाँ केवल ध्येय वस्तु का ही आभास रहता है।

उपवर्ग दुखों की अत्यंत निवृत्ति का मार्ग।

विवेक सत्य और असत्य के बीच अंतर करने की शद्रि।

द्रव्य वह आधार जिसमें गुण और क्रिया रहते हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

तत्त्वज्ञानोत्पत्ति

प्रश्न 1. तत्त्वज्ञान ही नि:श्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति का एकमात्र साधन है। न्याय सूत्रा के प्रथम सूत्रा के आधार पर इस कथन की विस्तृत व्याख्या कीजिए तथा तत्त्वज्ञान से दु:ख निवृत्ति की प्रक्रिया को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2. न्याय दर्शन के अनुसार तत्त्वज्ञान का क्या अर्थ है? यह मिथ्याज्ञान का निराकरण किस प्रकार करता है? तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के लिए न्याय दर्शन में बताए गए साधनों द्धजैसे- योग, समाधि और शास्त्र-चर्चाऋ का सविस्तार वर्णन कीजिए।

अवयवी निरूपण

प्रश्न 3. न्याय दर्शन के अवयवी निरूपण की विस्तृत व्याख्या कीजिए। न्याय दर्शन किस प्रकार सिद्ध करता है कि अवयवी (जैसे-घड़ा) अपने अवयवों (मिटी के कणोघ) से एक भिन्न और स्वतंत्राा सत्ता है?

प्रश्न 4. अवयवी की सत्ता के विरुद्ध बौद्ध दर्शन द्वारा दिए गए पुंजवाद (समूहवाद) का न्याय दर्शन किस प्रकार निराकरण करता है? अवयव और अवयवी के मध्य समवाय संबंध की तार्किक विवेचना कीजिए।

प्रश्न 5. यदि अवयवी की स्वतंत्राा सत्ता को स्वीकार न किया जाए, तो प्रत्यक्ष और लोक-व्यवहार असंभव हो जाएगा। इस कथन के आलोक में न्याय दर्शन के अवयवी सिद्धांत की समीक्षात्मक व्याख्या कीजिए।

न्याय दर्शन के तत्त्वज्ञानोत्पत्ति और अवयवी निरूपण पर आधारित लघु उत्तरीय प्रश्ननीचे दिए गए हैं। ये प्रश्न 5 से 8 अंकों या 150-200 शब्दों के उत्तर के लिए उपयुद्र हैंरू

लघु उत्तरीय प्रश्न

भाग 1 तत्त्वज्ञानोत्पत्ति

प्रश्न 1. न्याय दर्शन के अनुसार तत्त्वज्ञान का क्या अर्थ है और इसकी उत्पत्ति के मुख्य साधन क्या हैं?

प्रश्न 2. तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होता है इस प्रक्रिया को न्याय सम्मत दु:ख-निवृत्ति श्रृखला के माध्यम से संक्षेप में समझाइए।

प्रश्न 3. न्याय दर्शन में तत्त्वज्ञान के संरक्षण के लिए जल्प और वितण्डा की क्या उपयोगिता बताई गई है?

प्रश्न 4. अवयव और अवयवी से आप क्या समझते हैं? न्याय दर्शन के अनुसार इनके मध्य पाए जाने वाले संबंध का नाम लिखिए।

प्रश्न 5. न्याय दर्शन किस आधार पर सिद्ध करता है कि अवयवी अपने अवयवों से भिन्न एक नई सत्ता है?

प्रश्न 6. अवयवी अपने अवयवों में समवाय संबंध से रहता है इस कथन की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 7. बौद्ध दर्शन के पुंजवाद (कि वस्तु केवल परमाणुओं का समूह है) का न्याय दर्शन ने किस मुख्य तर्क से खंडन किया है

हत्वपूर्ण बहुविकल्पीय प्रश्न और उनके उत्तर यहाँ दिए गए हैं

1. न्याय दर्शन के अनुसार तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का मुख्य प्रयोजन क्या है?

क) स्वर्ग की प्राप्ति

ख) भौतिक संपदा का अर्जन

ग) नि:श्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति

घ) केवल समाज सेवा

उत्तर ग)

2. दु:ख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग: सूत्र के अनुसार तत्त्वज्ञान किसका नाश करता है?

क) केवल जन्म का

ख) मिथ्याज्ञान का

ग) केवल कर्म का

घ) इंद्रियों का

उत्तर ख)

3. न्याय दर्शन में अवयवी और अवयव के मध्य कौन सा संबंध माना गया है?

क) संयोग संबंध

ख) स्वरूप संबंध

ग) समवाय संबंध

घ) तादात्म्य संबंध

उत्तर ग)

4. न्याय दर्शन के अनुसार, अवयवी (जैसे वस्त्र) अपने अवयवों (जैसे तंतु) से

क) अभिन्न (एक ही) है।

ख) सर्वथा भिन्न और एक नई सत्ता है।

ग) केवल एक भ्रम है।

घ) केवल परमाणुओं का समूह है।

उत्तर ख)

5. बौ) दर्शन के पुंजवाद (वस्तु केवल परमाणुओं का समूह है) का खंडन न्याय दर्शन ने किसके माध्यम से किया है?

क) अवयवी की स्वतंत्र सत्ता मानकर

ख) शून्य की स्थापना करके

ग) प्रख्रति को मानकर

घ) केवल वेदों के प्रमाण से

उत्तर क)

6. तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के लिए न्याय दर्शन में शास्त्र-चर्चा के किन तीन रूपों का वर्णन है?

।ऋ जप, तप और ध्यान

ख) वाद, जल्प और वितण्डा

ग) प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द

घ) धर्म, अर्थ और काम

उत्तर ख)

7. यदि अवयवी की सत्ता को स्वीकार न किया जाए, तो न्याय दर्शन के अनुसार क्या बाधा आएगी?

क) प्रत्यक्ष ज्ञान असंभव हो जाएगा।

ख) लोक-व्यवहार समाप्त हो जाएगा।

ग) वस्तुओं का बोध नहीं होगा।

घ) उपरोद्र सभी।

उत्तर घ)

8. न्याय दर्शन के अनुसार तत्त्वज्ञान की सुरक्षा के लिए जल्प और वितण्डा का प्रयोग वैसे ही किया जाता है जैसे

क) किसान फसल की सुरक्षा के लिए बाड़ (काँटोक) का प्रयोग करता है।

ख) यो)ा यु) में तलवार का प्रयोग करता है।

ग) दीपक अंधकार को मिटाता है।

घ) जल अग्नि को शांत करता है।

उत्तर क)

9. अवयवी के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला न्याय का मुख्य तर्क क्या है?

क) अवयवी का परिमाण अवयवों से भिन्न होता है।

ख) अवयवी का कार्य (जैसे जल लाना) अवयव अकेले नहीं कर सकते।

ग) नाम और बुद्धि का भेद।

घ) उपरोद्र सभी।

उत्तर घ)

10. तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में संशय को क्या माना गया है?

क) ज्ञान का आधार

ख) ज्ञान की पूर्णता

ग) ज्ञान प्राप्ति की पहली बाधा/अवस्था

घ) मोक्ष का मार्ग

उत्तर ग)

इकाई- ३.३ - परमाणु निरूपण एवं बाह्यार्थ भङ्ग निराकरण

उद्देश्य

खपदार्थ के उस अंतिम सूक्ष्म रूप को समझना जिसका आगे विभाजन संभव न हो।
खसृष्टि की रचना के मूल आधार (अविभाज्य कण) को सिद्ध करना।
खअनवस्था दोष से बचनाख़यह सिद्ध करना कि विभाजन कहीं न कहीं रुकता है।

३.३-१ अथ परमाणोर्निरवयवत्वप्रकरणम्।

सन्दर्भ- अब 'सर्वशून्यवादी' परमाणु के निरवयवत्व पर आक्षेप करता है -

आकाशव्यतिभेदात्तदनुपपत्तिः ॥४/२/१८॥ परमाणु में आकाश के समावेश से उस परमाणु के निरवयवत्व की सिद्धि नहीं हो सकती । **तस्याणोर्निवयवस्य नित्यस्यानुपपत्तिः । कस्मात् ? आकाशव्यतिभेदात् । अन्तर्बहिश्वाणुराकाशेन समाविष्टो व्यतिभिन्नो व्यतिभेदात्सावयवः, सावयवत्वानित्य इति ।** विभु होने से आकाश परमाणु के अन्दर बाहर व्यापक है और वस्तु में किसी का समावेश होना उस वस्तु को सावयव होना सिद्ध करता है। अतः परमाणु सावयव, अनित्य द्रव्य है; न कि निरवयव, अनित्य सावयव का विनाश अवश्यम्भावी होता है। इसलिए प्रत्येक पदार्थ का अन्त अभाव में मानना ही चाहिए।

सन्दर्भ (संशय)- यदि परमाणु में आकाश का समावेश न मानें तो!

आकाशाऽसर्वगतत्वं वा ॥४/२/१९॥ अथवा परमाणु में आकाश का समावेशन मानने पर आकाश का असर्वगत सब पदार्थों में व्याप्त न होना दोष प्राप्त होता है। **अथैतन्नेष्यते परमाणोरन्तर्नास्त्याकाशमित्यसर्वगतत्वं प्रसज्यते इति ।** यदि परमाणु में आकाश का व्यापक होना नहीं मानेंगे, तो फिर आकाश को विभु सर्वगत नहीं कह सकते। इसका उपयुक्त समाधान होना चाहिए।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत करते हैं -

अन्तर्बहिश्च कार्यद्रव्यस्य कारणान्तरवचनादकार्ये तदभावः॥४/२/२०॥

अन्तरितिपिहितं कारणान्तरैः कारणमुच्यते । बहिर्सित च व्यवधाय। अन्दर और बाहर ऐसे व्यवहार में कार्यद्रव्य के विभिन्न कारणों का कथन होने से अकार्य में जो किसी का कार्य नहीं है, ऐसे परमाणु आदि द्रव्य में उस अन्दर बाहर का अभाव रहता है। अन्दर और बाहर यह व्यवहार कार्य द्रव्य में जब वह मूल कारण नहीं है तब ही सम्भव हो सकता है। कारणरूप सूक्ष्म परमाणुओं में नहीं हो सकता क्योंकि जिसका विभाग न हो सके, या जिससे कोई छोटा न हो, वह परमाणु है।

सन्दर्भ (सशंय)- यदि आकाश का नित्य परमाणु में समावेश नहीं, तो फिर आकाश को सर्वगत (विभु) कैसे मान सकते हैं? महर्षि गौतम समाधान करते हैं -

शब्दसंयोगविभवाच्च सर्वगतम् ॥४/२/२१॥

यत्र कचिदुत्पन्नाः शब्दाः विभवन्त्याकाशे तदाश्रया भवन्ति, मनोभिः परमाणुभिस्तत्कार्यैश्च संयोगा विभवन्त्याकाशे, नासंयुक्तमाकाशेन किञ्चिन्मूर्त्त-द्रव्यमुपलभ्यते, तस्मान्नासर्वगतमिति ॥ शब्द के सर्वत्र होने से तथा समस्त एकदेशी द्रव्यों के साथ संयोग होने से आकाश सर्वगत सर्वव्यापक है। आघात आदि निमित्तों से शब्द सर्वत्र उत्पन्न हो सकता है और तरंगित होने पर प्रदेशान्तर में सुना जा सकता है। शब्द आकाश का गुण है, उसके आश्रित रहता है, इसलिए आकाश को सर्वगत माना जाता है। इसी प्रकार सूक्ष्म, स्थूल प्रत्येक एकदेशी द्रव्य के साथ अवकाश प्रदान करने वाले आकाश का संयोग होने से वह सर्वगत (सर्वव्यापघ) है। विभु का यही स्वरूप है। अतः पूर्वपक्ष का दिया गया आकाश के सर्वगत होने का दोष उचित नहीं है ।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य सन्दर्भानुसार आकाश के धर्मों का निर्देश करते हैं -

अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाकाशधर्माः ॥४/२/२२॥

संसर्पता प्रतिघातिना द्रव्येण न व्यूह्यते यथा काष्ठेनोदकम् । विभु होना आकाश के धर्म हैं। आकाश में 'अव्यूह' न स्वयं सिमटना, न दूसरे को समेटना, 'अविष्टम्भ' किसी गतिशील, सक्रिय को न रोकना तथा 'विभुत्व' ये तीनों धर्म स्वाभाविक हैं। होने पर भी आकाश में व्यूह तथा विष्टम्भ नहीं होते; क्योंकि ये दोनों धर्म स्पर्श वाले मूर्त्त द्रव्यों में ही पाए जाते हैं, अमूर्त द्रव्यों में नहीं। अतः आकाश के व्यापक होने से परमाणुओं के निरवयवत्व और नित्यत्व में कोई बाधा नहीं होती, क्योंकि किसी द्रव्य की अनित्यता

उसके कारणों के विभाग से जानी जाती है, आकाश के व्यापक होने से नहीं ।

सन्दर्भ- अब 'शून्यवादी' आकृति के आधार पर पुनः संशय प्रस्तुत करता है-

मूर्त्तिमताञ्च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः ॥४/२/२३॥

परिच्छिन्नानां हि स्पर्शवतां संस्थानं त्रिकोणं चतुरस्रं समं परिमण्डलमित्युपपद्यते,

यत्तत्संस्थानं सोऽवयवसन्निवेशः, परिमण्डलञ्चाणवस्तस्मात्सावयवा इति । और मूर्तिमान् द्रव्यों के आकृतियुक्त होने से परमाणुओं में अवयवों की विद्यमानता है। परिच्छिन्न और स्पर्शवान् द्रव्यों के घटादि द्रव्यों के समान त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल, चपटा आदि आकार देखे जाते हैं। ऐसे पदार्थ सावयव और अनित्य होते हैं। इसी प्रकार परमाणु भी गोलाकार होने से सावयव तथा सावयव होने से घटादि के समान उत्पत्ति विनाशशील समझना चाहिए। इस प्रकार परमाणु के अनित्य होने से संसार की उत्पत्ति का कारण शून्य समझना चाहिए।

सन्दर्भ- अब पूर्वपक्ष परमाणु को सावयव एवं अनित्य सिद्ध करने के लिए अन्य हेतु देता है-

संयोगोपपत्तेश्च ॥४/२/२४॥

मध्ये सन्नणुः पूर्वापराभ्याम् अणुभ्यां सयुक्तस्तयोर्व्यवधानं कुरुते । संयोग की सिद्धि से भी परमाणु सावयव एवं अनित्य है। मध्य में स्थित परमाणु पूर्व तथा पर वाले परमाणुओं से संयुक्त होता है, और जो मध्यस्थ परमाणु के पूर्वापर भाग हैं, वे ही उसके अवयव हैं। इस प्रकार मूर्तिमान पदार्थों की भांति सावयव होने से परमाणु अनित्य है ।

सन्दर्भ- अब महर्षि गौतम पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं -

अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ॥४/२/२५॥

अनवस्था दोष का उत्पादक होने से तथा अनवस्था के युक्त न होने से परमाणु की निरवयवता एवं नित्यता का प्रतिषेध उचित नहीं । **यावन्मूर्त्तिमद्यावच्च संयुज्यते तत्सर्वं सावयवमित्यनवस्थाकारिणाविमौ हेतू, सा चानवस्था नोपपद्यते । सत्यामनबस्थायां सत्यौ हेतू स्याताम् तस्मादप्रतिषेधोऽयं निरवयवत्वस्येति ।** 'जितने मूर्तिमान् पदार्थ हैं, और जो संयुक्त होते हैं, वे सब सावयव एवं अनित्य हैं', ये हेतु अनवस्थाकारी हैं, क्योंकि जब सब पदार्थ सावयव हैं और उनकी कोई व्यवस्था नहीं है, तो इस स्थिति में पदार्थों का परिमाणभेद और गुरुत्व आदि का ग्रहण नहीं हो सकेगा अर्थात् पर्वत और सरसों में तुल्यपरिमाणत्व की अनवस्था होगी, जो कि अयुक्त है और वादी को भी मान्य नहीं है। वस्तुतः स्पर्श वाला एक परमाणु पूर्वापर दोनों परमाणुओं के मध्य प्रतिधात करते से व्यवधायक होता हैं, इसलिए उससे भाग की कल्पना औपचारिक है। वस्तुतः परमाणुओं का कोई अवयव नहीं। अतः कार्यद्रव्य के विभागनन्तर अन्तिम स्तर पर परमाणु को निरवयव एवं नित्य मानना पूर्णतया प्रामाणिक एवं उचित है ।

इति परमाणोर्निरवयवत्त्वसमर्थनम्।

३.३-२ अथ बाह्यार्थभङ्गनिराकरणप्रकरणम्

सन्दर्भ- अब 'बाह्यार्थभङ्गी' (बाह्य पदार्थ को न मानने वाला) अवयवी का खण्डन करता है-

बुद्ध्या विवेचनात्तु भावानां याथात्म्यानुपलब्धिस्तन्त्वपकर्षणे
पटसद्भावानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः ।।४/२/२६।।

बुद्धि ज्ञान द्वारा विवेचन वस्तु का विश्लेषण करने से, तो बाह्य भावपदार्थों की यथार्थ उपलब्धि नहीं होती पट के एक एक तन्तु (धागे) को खींच लेने पर पट (कपड़े) की सत्ता की उपलब्धि न होने के समान उसकी वस्तुमात्र की अवयवी के रूप में अनुपलब्धि समझनी चाहिए। **यथाऽयं तन्तुरयं तन्तुरिति प्रत्येकं तन्तुषु विविच्यमानेषु नार्थान्तरं किञ्चिदुपलभ्यते यत्पटबुद्धेर्विषयः स्यात् याथात्मयानुपलब्धेरसति विषये पटबुद्धिर्भवन्ती मिथ्याबुद्धिर्भवति एवं सर्वत्रेति ।** जैसे- पट (वस्त्र) के प्रत्येक तन्तु को यह तन्तु है, यह तन्तु है ऐसा अलग-अलग करके विचार करने पर तन्तुओं से अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता, जो पट-बुद्धि का विषय बन सके। इस प्रकार यदि स्वभाव (पटत्व) की अनुपलब्धि से विषय (पट) के न होने पर भी वहाँ पटबुद्धि होगी, तो वह मिथ्याबुद्धि ही कहलाएगी। इसी प्रकार प्रत्येक बाह्य पदार्थ का अवयवी के रूप में अभाव समझना चाहिए ।

सन्दर्भ- अब महर्षि गौतम उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं -

व्याहत्वादहेतुः ।।४/२/२७।।

यदि बुद्धचा विवेचनं भावानां न सर्वभावानां याथात्म्यानुपलब्धिः । अपने कथन का विरोधी होने से उक्त बुद्धिविवेचन हेतु उचित नहीं है साध्य का साधक नहीं है। पूर्वपक्ष का यह कथन, कि 'भावों का बुद्धिपूर्वक विवेचन करने से अवयवीरूप भावपदार्थ प्रतीत नहीं होता'-अपने में ही विरोधी है; क्योंकि यदि भाव नहीं है, तो विवेचन किसका किया जा रहा है? 'भावों का विश्लेषण' और 'भाव नहीं है'- ये दोनों वाक्य परस्पर विरोधी हैं। यदि अवयव- विश्लेषण के आधार पर भाव (अवयवी) को झुठलाते हैं, तो अवयव-विश्लेषण की कोई सीमा स्वीकार न करने से 'प्रलय (पदार्थ-अभाव) तक अवयव-अवयवि सन्दर्भ चलता रहेगा (४/२/१५) अतः अवयवी को स्वीकार करना आवश्यक है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य अवयवी की अवयवों से भिन्न प्रतीति न होने का कारण बतलाते हैं

तदाश्रयत्वादपृथग्ग्रहणम् ।।४/२/२८।।

कार्यद्रव्यं कारणद्रव्याश्रितं तत्कारणेभ्यः पृथङ नोपलभ्यते, विपर्यये पृथग्ग्रहणात्, यत्राश्रयाश्रितभावो नास्ति तत्र पृथग्ग्रहणमिति । उन अवयवों के आश्रित होने से अवयवी का अवयवों से पृथक् ग्रहण नहीं होता। अवयवों के परस्पर संयोगविशेष से उत्पन्न अवयवी का अवयवों के साथ अवयवी अवयव अर्थात् कार्य-कारण सम्बन्ध होता है और कार्य सदा अपने कारण के आश्रित रहता है, इसलिए उसका पृथक् ग्रहण नहीं किया जा सकता अर्थात् कार्य-कारण का समवाय सम्बन्ध होने से दोनों का साथ-साथ ग्रहण होता है। परन्तु विश्लेषण से अवयवों का परस्पर संयोग विशेष न रहने से अवयवी रहता ही नहीं, तब वह उपलब्ध कैसे होगा?

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य बाह्य पदार्थ की सिद्धि में अन्य हेतु देते हैं-

प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेः ।।४/२/२९।।

बुद्धया विवेचनाद्भावानां याथात्म्योपलब्धिः, यस्ति यथा च यत्रास्ति यथा च तत्सर्व प्रमाणत उपलब्ध्या सिध्यति, या च प्रमाणात उपलब्धिस्तद्बुद्धया विवेचनं भावानाम्, तेन सर्वशाखाणि सर्वकर्माणि सर्वे च शरीरिणां व्यवहारा व्याप्ताः । परीक्षमाणो हि बुद्धयाऽध्यवस्यति इदमस्तीदं नास्तीति तत्र न सर्वभावानुपपत्तिः । प्रमाण से पदार्थ की सिद्धि होने के कारण भी पूर्वपक्ष का कथन उचित नहीं। जो वस्तु जैसी है, जितनी है यह सब प्रमाण से उपलब्ध (ज्ञात) होता है। वह बुद्धि से विवेचन किए बिना नहीं हो सकता। अतः सम्पूर्ण घट, पट आदि भावों की उपलब्धि बुद्धि से विचार करने पर ही सम्भव होती है। इसलिए सब भावों कों मिथ्या अथवा अप्रामाणिक कहना उचित नहीं ।

सन्दर्भ- 'सर्वशून्यवादी' (बाह्यार्थ भंगी) के खण्डनार्थ दर्शनाचार्य अन्य हेतु देते हैं-

प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ।।४/२/३०।।

प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् । **यदि सर्व नास्तीति प्रमाणमुपपद्यते ? सर्व नास्तीत्येतद्व्याहन्यते । अथ प्रमाणं नोपपद्यते ? सर्व नास्तीत्यस्य कथं सिद्धिः।** प्रमाण के न होने तथा होने से सब का अभाव सिद्ध नहीं होता। (बाह्यार्थभंगी) से पूछना चाहिए कि

बाह्यार्थ के अभाव की सिद्धि में कोई प्रमाण है अथवा नहीं? यदि प्रमाण है, तो 'सर्वशून्यवाद' सिद्ध नहीं होता; क्योंकि प्रमाण भी एक पदार्थ है। उसके स्वीकार करने पर सबका अभाव नहीं रहा, और यदि 'सर्वशून्यवाद' की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं है, तो प्रमाण के बिना बाह्यार्थाभावरूप प्रमेय सिद्ध न होने' से अप्रामाणिक तथा अमान्य है। और यदि प्रमाण के बिना वस्तुमात्र का अभाव माना जाता है, तो बिना प्रमाण के वस्तुमात्र का अस्तित्व स्वीकार क्यों न किया जाय ? अतः घट, पट आदि पदार्थों को अभावरूप मिथ्या कहना सर्वथा अप्रामाणिक असंगत है ।

सन्दर्भ- अब पूर्वपक्ष बाह्य प्रतीति पर पुनः आक्षेप करता है -

स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः ॥४/२/३१॥

यह प्रमाण प्रमेय विषयक अभिमान कल्पना, मिथ्या ज्ञान स्वप्न में विषयों पदार्थों के मिथ्याज्ञान के समान है। जैसे- स्वप्न में पर्वत, नगर नदी, नाले आदि का अस्तित्व नहीं होता, फिर भी वास्तविक- जैसी मिथ्या प्रतीति होती है। उसी प्रकार साधारण लोकव्यवहार में- यह प्रमाण है यह प्रमेय है- इत्यादि ज्ञान भी काल्पनिक एवं मिथ्या है। इसलिए प्रमाण की उपपत्ति अनुपपत्ति से बाह्य पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध करना उचित नहीं ।

सन्दर्भ- अब पूर्वपक्ष स्वप्न के दृष्टान्त की पुष्टि में जाग्रत अवस्था की कुछ परिस्थितियाँ दिखाता है -

मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद् वा ॥४/२/३२॥

मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावत्, माया (इन्द्रजाल) गन्धर्वनगर और मृगतृष्णा के समान (प्रमाण प्रमेय आदि का मिथ्याज्ञान होता है)। जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक, दर्शकों को अविद्यमान वस्तुओं की भी चमत्कारपूर्ण प्रतीति करा देता है, वर्षा)तु आदि में मेधों में मकान, सड़क, घोड़े, हाथी आदि के रूप में नगर (गन्धर्वनगर) की सी प्रतीति होती है, जबकि वहाँ किसी प्रकार के नगर का अस्तित्व नहीं होता, इसी प्रकार ग्रीष्म)तु में रेतीले मैदानों में तीव्र प्रकाशकिरणों के परावर्तन से जलधारा की भ्रान्ति मृगों तथा मनुष्यों को होती है, उसी प्रकार जगत् की प्रतीति एवं प्रमाण प्रमेय का व्यवहार मिथ्या है। अतः वस्तुमात्र का अस्तित्व मानना उचित नहीं है ।

सन्दर्भ- अब महर्षि गौतम पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं -

हेत्वभावादसिद्धिः ॥४/२/३३॥

हेतु के न होने से वस्तुमात्र के अभाव की सिद्धि नहीं होती । **स्वप्नान्ते विषयाभिमानवत्प्रमाणप्रमेयाभिमानो न पुनर्जागरितान्ते विषयोपलब्धिवदित्यत्र हेतुर्नास्ति । हेत्वभावादसिद्धिः ।** स्वप्न में विषयों की प्रतीति के समान यदि प्रमाण प्रमेय का व्यवहार मिथ्या कहा जाता है, तो जागरित अवस्था में विषयों की सत्य उपलब्धि के समान प्रमाण-प्रमेय के व्यवहार को सत्य क्यों न माना जाए? इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है। अतः जाग्रत अवस्था में वस्तु की प्रत्यक्षतः उपलब्धि होने से वस्तु मात्र का अभाव नहीं माना जा सकता। स्वप्न में प्रतीत होने वाले पदार्थों का सर्वथा अभाव भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि व्यक्ति जाग्रत अवस्था में जिन पदार्थों का अनुभव करता है, स्वप्न में उन्हीं के तीव्र संस्कार स्मृति के व्यतिक्रमरूप में तब उभर आते हैं। यही स्वप्न है। अतः स्वप्न में प्रतीत होने वाले पदार्थों का सर्वथा अभाव नहीं है। वे जाग्रत अवस्था में अन्य कालों में, देशान्तर में अनुभूत होते हैं। हाँ स्मृति के व्यतिक्रम से उन में उलट फेर हो सकती है। ऐन्द्रजालिक द्वारा प्रदर्शित वस्तुओं तथा मृगतृष्णा में प्रतीत होने वाले जल का अन्यत्र तो वास्तविक अस्तित्व होता ही है। यदि स्वप्न में तलवार के आघात से गर्दन पर खरोंच भी नहीं आती, तो क्या जाग्रत में भी तलवार के आघात से गर्दन सुरक्षित रह सकती है? यदि ऐसा सम्भव है तो प्रतिपक्ष तलवार का अपनी गर्दन पर प्रहार करवाकर देख ले, उसे मिथ्यापन या वास्तविकता का पता चल जाएगा। अतः वादी का कथन सर्वथा असंगत है।

सन्दर्भ- अब महर्षि 'स्वप्न' को स्मृति के समान अनुभूतिविषयक दिखाते हैं-

स्मृतिसङ्कल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमानः ॥४/२/३४॥

पूर्वोपलब्धविषयः यथा स्मृतिश्च सङ्कल्पश्च पूर्वोपलब्धविषयौ न तस्य प्रत्याख्यानाय कल्पेते, तथा स्वप्ने विषयग्रहणं पूर्वोप. लब्धविषयं न तस्य प्रत्याख्यानाय कल्पते इति । एवं दृष्टविषयश्च स्वप्नान्तो जागरितान्तेन। जिस प्रकार स्मरण एवं संकल्प इच्छाविशेष पूर्वकाल में अनुभव किए हुए विषयों में ही होते हैं, उसी प्रकार स्वप्न देखने के समय जिन घोड़ा, हाथी आदि विषयों का ज्ञान अनुभव होता है, वह भी पूर्वकाल में जाग्रत-अवस्था में अनुभव किए हुए विषयों का ही होते है। अतः स्मृति के पदार्थों के समान स्वप्न के पूर्वानुभूत विषय को मिथ्या नहीं कहा जा सकता, भले ही वह जागने पर विद्यमान न दिखे, किन्तु स्वप्न-द्रष्टा जब स्वप्न के विषयों का प्रतिसन्धान स्मरण करता है, तो पूर्वानुभूत विषय ही मिलते हैं, कि यह देखा, वह देखा।

संशय- स्वप्न तो ऐसे भी दिखते हैं, जिनका कभी अनुभव नहीं किया होता। जैसे- कुत्ते के सींग अथवा बकरी के द्वारा मांस खाना इत्यादि।

समाधान- हमने बकरी के सींग तथा मांस खाते हुए कुत्ते देखे हैं या सुने हैं। इनके संस्कार मन में (चित्त पर) अंकित रहते हैं। स्वप्न में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, अपितु मानसिक ज्ञान होता है और मन उस समय विकल्प-वृत्ति के अधीन होकर यथा इच्छा रचना करने लगता है, अन्य के धर्म का अन्य में आरोप करने लगता है। इस प्रकार स्वप्न भी एक प्रकार की स्मृति है, भले वह बनावटी हो, एक दृश्य का दूसरे दृश्य में अध्यारोपण होने पर दिखायी देता है ।

सन्दर्भ- अब मिथ्याज्ञान के नाश का उपाय बताते हुए दर्शनाचार्य बाह्यपदार्थों का अस्तित्व सिद्ध करते हैं-

मिथ्योपलब्धिविनाशस्तत्त्वज्ञानात् स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत् प्रतिबोधे ।।४/२/३५।।

जागने पर स्वप्न में पदार्थविषयक मिथ्याज्ञान के नाश के समान यथार्थज्ञान से मिथ्या उपलब्धि ज्ञान का विनाश हो जाता है। **स्थाणौ पुरुषोऽयमिति व्यवसायोमिथ्योपलब्धिः अतस्मिंस्तदिति ज्ञानम् स्थाणौ स्थाणुरिति व्यवसायस्तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानेन च मिथ्योपलब्धिर्निवेर्त्यते, नार्थः स्थाणुपुरुषसामान्यलक्षणः ।** अल्प प्रकाश अथवा इन्द्रियदुर्बलता आदि के कारण जिस वस्तु में जो धर्म नहीं है, उसमें उस धर्म का मानना मिथ्याज्ञान कहलाता है। जैसे स्थाणु को पुरुष अथवा रज्जु को सर्प समझ लेना। और जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही मानना तत्त्वज्ञान कहलाता है। जैसे- स्थाणु को स्थाणु और पुरुष को पुरुष समझना। जैसे जागने पर स्वप्न में पदार्थ की समीपता के अभिमान मिथ्याज्ञान का नाश हो जाता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान यथार्थ ज्ञान होने पर वस्तुओं के विषय में मिथ्याज्ञान कुछ को कुछ समझना नष्ट हो जाता है। जैसे-

१. ऐन्द्रजालिक (मदारी) यह जानता है, कि मैं लकड़ी आदि में दर्शकों को सर्प की अनुभूति करा सकता हूँ; अतः उसकी दृष्टि में मिथ्याज्ञान नहीं होता।

२. रेत में जल का भ्रम भ्रान्तिस्थल के समीप पहुँचने पर दूर हो जाता है।

३. धूल, बादल, कोहरा, नक्षत्र आदि का स्पष्ट ज्ञान हो जाने पर गन्धर्वनगर का मिथ्याज्ञान भी दूर हो जाता है। वस्तुतः तत्त्वज्ञान से पदार्थों का मिथ्याज्ञान ही निवृत्त होता है, पदार्थ का अभाव नहीं हो जाता। इसी प्रकार किसी एक स्थल में मिथ्याप्रतीति के होने पर भी बाह्य पदार्थों में प्रमाण- प्रमेय व्यवहार को सर्वथा मिथ्या मानकर वस्तुमात्र का अभाव मानना उचित नहीं ।

सन्दर्भ- पदार्थ के सद्भाव (अस्तित्व) की सिद्धि के पश्चात् अब दर्शनाचार्य मिथ्याज्ञान का सद्भाव सिद्ध करते हैं-

बुद्धेश्चैवं निमित्तसद्भावोपलम्भात् ।।४/२/३६।।

मिथ्याज्ञान का भी इस प्रकार वस्तु सद्भाव के समान सद्भाव है निमित्त कारण तथा मिथ्याबुद्धि के सद्भाव की उपलब्धि होने से। **मिथ्याबुद्धेश्चार्थवद**प्रतिषेधः । कस्मात् ? निमित्तोपलम्भात् सद्**भावोपलम्भाच्च । उपलभ्यते मिध्याबुद्धिनिमित्तं मिथ्याबुद्धिश्च प्रत्यात्ममुत्पन्ना गृह्यते संवेद्यत्वात्, तस्मान्मिथ्या बुद्धिरप्यस्तीति ।** प्रत्येक प्राणी को मिथ्याज्ञान का अनुभव होता है। अतः मिथ्याज्ञान के कारण तथा उसकी सत्ता उपलब्ध होने से भी बाह्यपदार्थ के समान मिथ्याज्ञान की सत्ता भी प्रामाणिक माननी चाहिए ।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य मिथ्याज्ञान के द्विविध निमित्त का निर्देश करते हैं -

तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः ।।४/२/३७।।

तत्त्वं स्थाणुरिति, प्रधानं पुरुष इति तत्त्वप्रधानयोरलोपाद् भेदात् स्थाणौ पुरुष इति मिथ्याबुद्धिरुत्पद्यते सामान्यग्रहणात् । तत्त्व धर्मिस्वरूप एवं प्रधान के भिन्न होने से मिथ्याज्ञान के निमित्त का द्विविध होना निश्चित है। कार्यकारणाऽभेदोपचार से यहाँ निमित्त के दो भेद समझने चाहिए । जो वस्तु यथार्थ में हो उसे और जिस वस्तु का आभास हो उसे मिथ्याज्ञान कहते हैं। जैसे- स्थाणु में पुरुष का मिथ्याज्ञान होता है, तो उसमें स्थाणु यथार्थसत्ता वाला है और पुरुष है। इसी प्रकार रज्जु में सर्प का ज्ञान, ढेले में कबूतर का ज्ञान समझना चाहिए। यह मिथ्याज्ञान दो भिन्न पदार्थों के लम्बाई-चौड़ाई आदि समान धर्म के ज्ञान से तथा विशेष धर्म के ज्ञान न होने से होता है। सर्वथा भिन्न आकार-प्रकार के धर्मियों में मिथ्याज्ञान नहीं होता। जैसे रस्सी में भैंस का या ढेले में हाथी का मिथ्याज्ञान सम्भव ही नहीं। यद्यपि तत्त्वज्ञान हो जाने पर मिथ्याज्ञान नहीं रहता, तथापि जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तब तक तो मिथ्याज्ञान की सत्ता चाहे वह भ्रमात्मक ही क्यों ना हो यथार्य मालूम देती है। जो वादी वस्तुतत्त्व को स्वीकार न करके केवल अभाव को ही मानता है, उसके मत में तो वस्तुभेद न रहने से कहीं भी मिथ्याज्ञान नहीं हो सकेगा। जबकि मिथ्याज्ञान अनुभवसिद्ध है, और दो भिन्न पदार्थों के समान धर्म के ज्ञान से होता है। इस प्रकार मिथ्याज्ञान का अस्तित्व वस्तुतत्त्व की सिद्धि करता है। अतः प्रमाण

प्रमेय के ज्ञान को मिथ्या कहना सर्वथा अप्रमाणिक असंगत है ।

इति बाह्यार्थभङ्गनिराकरणम् ।

स्मरणीय बिंदु

स्वप्न और जाग्रत का अंतररू स्वप्न का ज्ञान जागने पर बाधित (गलत सिद्ध) हो जाता है, लेकिन जाग्रत अवस्था का ज्ञान (जैसे सामने रखा घड़ा) कभी बाधित नहीं होता। अतः दोनों को एक समान नहीं माना जा सकता।

प्रमाण की सत्तारू यदि बाहरी वस्तुएं नहीं हैं, तो उन्हें असत कहने वाला ज्ञान भी असत्य होगा। बाहरी वस्तु के बिना ज्ञान का कोई आलम्बन (आधार) नहीं हो सकता।

विविधता यदि सब कुछ केवल मन का विचार होता, तो सभी को एक जैसी वस्तुएं एक ही समय पर क्यों दिखतीं? वस्तुओं की स्थिरता और सार्वभौमिकता सिद्ध करती है कि वे मन से बाहर मौजूद हैं।

शब्दावली

परमाणु द्रव्य की सबसे छोटी, अविभाज्य और नित्य इकाई।

निरवयव जिसका कोई हिस्सा या अवयव न हो ।

सावयव जो अंगों या हिस्सों से बना हो।

बाह्यार्थ भ्ंग बाहरी वस्तुओं के अस्तित्व को नकारने वाला सिद्धांत।

विज्ञानवाद वह मत जो केवल चित्त या विज्ञान (चेतना) को ही सत्य मानता है।

अनवस्था दोष वह तार्किक स्थिति जहाँ किसी प्रक्रिया का कोई अंत न मिले।

त्रसरेणु झरोखे से आने वाली सूर्य की किरणों में दिखने वाले सूक्ष्मतम कण (न्याय के अनुसार यह द्व द्वयणुक या द्व परमाणुओं से बना होता है)।

बाध किसी ज्ञान का दूसरे प्रबल ज्ञान द्वारा गलत सिद्ध हो जाना।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

भाग 1 परमाणु निरूपण

प्रश्न 1. न्याय दर्शन के अनुसार श्परमाणुश के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या कीजिए। न्याय दर्शन परमाणुओं की सत्ता को सिद्ध करने के लिए क्या तर्क देता है? परमाणुओं के अनित्य न होने के कारणों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

प्रश्न 2. जगत का मूल उपादान कारण परमाणु है। इस कथन के आलोक में न्याय दर्शन की परमाणुवादी प्रक्रिया द्धपरमाणु से द्वयणुक, त्र्यणुक आदि की उत्पत्तिऋ को स्पष्ट कीजिए। क्या परमाणु प्रत्यक्ष का विषय हैं? तर्कसंगत उत्तर दीजिए।

भाग 2 बाह्यार्थ भंग निराकरण

प्रश्न 3. बौद्ध विज्ञानवाद द्धयोगाचारऋ के श्बाह्यार्थ भंग (बाह्य जगत का अस्तित्व न होना) सिद्धांत का न्याय दर्शन किस प्रकार निराकरण करता है? बाह्य वस्तुओं की स्वतंत्राा सत्ता सिद्ध करने हेतु न्याय के तर्कों की समीक्षा कीजिए।

प्रश्न 4. यदि बाह्य जगत का अस्तित्व नहीं है, तो ज्ञान के विषयों में विविधता कैसे संभव है? इस तर्क के आधार पर न्याय दर्शन द्वारा किए गए विज्ञानवाद के खंडन की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 5. न्याय दर्शन के अनुसार बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष सत्य है, भ्रम नहीं। बौद्धों द्वारा प्रस्तुत स्वप्न और माया के उदाहरणों का न्याय दर्शन ने किस प्रकार प्रत्युत्तर दिया है? विस्तृत व्याख्या कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. न्याय दर्शन के अनुसार परमाणु की परिभाषा दीजिए और इसे नित्य क्यों माना गया है?

प्रश्न 2. न्याय दर्शन में परमाणुओं की सत्ता को सिद्ध करने के लिए अनवस्था दोष का तर्क किस प्रकार दिया गया है?

प्रश्न 3. क्या परमाणु प्रत्यक्ष का विषय हैं? यदि नहीं, तो उनका ज्ञान किस प्रमाण से होता है?

प्रश्न 4. बौद्ध विज्ञानवाद के बाह्यार्थ भंग (बाह्य जगत का अस्तित्व न होना) मत का मुख्य आधार क्या है?
प्रश्न 5. ज्ञान की विविधता बाह्य वस्तुओं की विविधता पर निर्भर है इस कथन के माध्यम से न्याय दर्शन ने विज्ञानवाद का खंडन कैसे किया है?
प्रश्न 6. बौद्धों द्वारा दिए गए स्वप्न के उदाहरण (कि जाग्रत अवस्था भी स्वप्न के समान मिथ्या है) का न्याय दर्शन ने क्या उत्तर दिया है?

महत्वपूर्ण बहुविकल्पीय प्रश्न और उनके उत्तर यहाँ दिए गए हैं

1. न्याय दर्शन के अनुसार, उस सूक्ष्म कण को क्या कहते हैं जिसका पुनः विभाजन नहीं किया जा सकता?
क) द्वयणुक
ख) परमाणु
ग) त्रयणुक
घ) अणु
उत्तर ख)
2. परमाणुओं की सत्ता को सिद्ध करने के लिए न्याय दर्शन किस तर्क का प्रयोग करता है?
क) शून्यवाद का
ख) अनवस्था दोष के निवारण का
ग) विवर्तवाद का
घ) क्षणिकवाद का
उत्तररू ठ
3. न्याय दर्शन के अनुसार, त्र्यणुक के बनने की प्रक्रिया क्या है?
क) तीन परमाणुओं का मेल
ख) दो द्वयणुक का मेल
ग) तीन द्वयणुक का मेल
घ) एक परमाणु और एक द्वयणुक का मेल
उत्तर ग)
4. न्याय दर्शन परमाणुओं को किस श्रेणी में रखता है?
क) नित्य और सावयव
ख) अनित्य और निरवयव
ग) नित्य और निरवयव (जिसका कोई अंश न हो)
घ) अनित्य और सावयव
उत्तर ग)
5. झरोखे से आने वाली सूर्य की किरणों में दिखने वाला सबसे छोटा कण न्याय दर्शन के अनुसार क्या है?
क) परमाणु
ख) द्वयणुक
ग) त्र्यणुक
घ) चतुरणुक
उत्तर ग)
6. बौ) विज्ञानवाद का श्बाह्यार्थ भंग सिद्धांत क्या मानता है?
क) बाह्य जगत स्वतंत्रा है।

ख) जगत केवल श्विज्ञानश् या श्चित्तश् का आकार है।
ग) जगत ईश्वर की रचना है।
घ) जगत शून्य है।
उत्तर ख)
7. न्याय दर्शन के अनुसार, ज्ञान और बाह्य वस्तु के बीच कैसा संबंध है?
क) दोनों एक ही हैं।
ख) ज्ञान और उसका विषय दोनों की स्वतंत्र सत्ता है।
ग) विषय ज्ञान का ही एक हिस्सा है।
घ) विषय केवल एक भ्रम है।
उत्तर ख)
8. विज्ञानवादी कहते हैं कि ज्ञान और विषय एक साथ भासित होते हैं, इसलिए वे एक हैं। न्याय दर्शन इस तर्क का खंडन किस आधार पर करता है?
क) सहौपलम्भनियम के विरुद्ध तर्क देकर
ख) प्रत्यक्ष को गलत बताकर
ग) वेदों की आज्ञा देकर
घ) केवल अनुमान के आधार पर
उत्तर क)
9. न्याय दर्शन के अनुसार, स्वप्न और जाग्रत अवस्था में क्या मुख्य अंतर है?
क) स्वप्न सत्य है, जाग्रत असत्य।
ख) जाग्रत अवस्था बाह्य विषयों पर आधारित है, जबकि स्वप्न स्मृतिजन्य है।
ग) दोनों ही पूर्णत: मिथ्या हैं।
घ) दोनों में कोई अंतर नहीं है।
उत्तर ख)
10. परमाणु प्रत्यक्ष का विषय क्यों नहीं हैं?
क) क्योंकि वे शून्य हैं।
ख) क्योंकि उनमें रूप नहीं होता।
ग) क्योंकि वे अति सूक्ष्म (महत्व परिमाण से रहित) हैं।
घ) क्योंकि वे ईश्वर के पास रहते हैं।
उत्तर ग)

इकाई- ३.४ - तत्त्वज्ञान विवृद्धि प्रकरण

उद्देश्य-

खप्राप्त किए हुए ज्ञान को केवल बौद्धिक स्तर तक न रखकर उसे जीवन में उतारना और सुख्रढ़ करना।
खसमाधि और योग के माध्यम से ज्ञान को आत्मसात करने की विधि समझना।
खज्ञान के प्रति पैदा होने वाले संशयों और विपक्षी तर्कों का समाधान करना।
खआध्यात्मिक चर्चा और शास्त्रर्थ की कला के माध्यम से सत्य की रक्षा करना।

अथ तत्त्वज्ञानविवृद्धिप्रकरणम्

सन्दर्भ- दोषों की निवृत्ति के लिए **दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः ॥४/२/१॥** में तत्त्वज्ञान का निर्देश कर चुके हैं। अब दर्शनाचार्य यह बताते हैं, कि 'तत्त्वज्ञान' कैसे उत्पन्न होता है-

समाधिविशेषभ्यासात् ॥४/२/३८॥

योगशास्त्र में प्रतिपादित समाधिविशेष के अभ्यास से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। **स तु प्रत्याहृतस्येन्द्रियेभ्यो मनसो धारकेण प्रयत्नेन धार्यमाणस्यात्मना संयोगस्तत्त्वबुभुत्साविशिष्टः । सति हि तस्मिन्निन्द्रियार्थेषु बुद्धयो नोत्पद्यन्ते तद्भ्यासवशात्तत्त्वबुद्धिरुत्पद्यते ।** तत्त्वज्ञान की इच्छा से इन्द्रियों के विषयों से मन को हटाकर प्रयत्नपूर्वक उसे आत्मा के साथ जोड़ लेना ही 'समाधि' है। तब मन की वृत्तियाँ इन्द्रियों के विषयों की ओर नहीं दौड़तीं। उस समाधि के अभ्यास से मन के मल, विक्षेप और आवरण दूर हो जाते हैं और आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो जाता है **सन्दर्भ**- अब समाधि विशेष की असम्भावना दिखाता हुआ पूर्वपक्ष आक्षेप करता है-

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥४/२/३९॥

अर्थविशेष गन्धादि विषयों के अतिप्रबल होने से वह समाधि सम्भव नहीं हो सकती। **अनिच्छतोऽपि बुद्ध्युत्पत्तेर्नैतद्युक्तम् । कस्मात् ? अर्थविशेषप्राबल्याद् अबुभुत्समानस्यापि बुद्ध्युत्पत्तिर्दृष्टा यथा स्तनयित्नुशब्दप्रभृतिषु ।** इन्द्रियों के विषय इतने प्रबल हैं, कि व्यक्ति न चाहता हुआ भी उनसे नहीं बच सकता। मेघ आदि की तीव्र गर्जना श्रोत्र इन्द्रिय को प्रभावित कर देती है। इसी प्रकार की गर्जना से बड़े बड़े योगी भी इनसे अभिभूत हो जाते हैं, जैसे विश्वामित्रः, सौभाग आदि। अन्य विषयों की भी प्रबलता है। इस स्थिति में समाधि की स्थिति को प्राप्त करना भी सम्भव नहीं दीखता। इसीलिए गीता में अर्जुन ने कृष्ण से कहा-

चञ्चलं हि मनः कृष्ण । प्रमाथिबलवद् दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् । -गीता- ६/३४)

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।

बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ मनु. २/२१५॥

सन्दर्भ- उसी अर्थ में पूर्वपक्ष अन्य हेतु देता है -

क्षुदादिभिः प्रवर्तनाच्च ॥४/२/४०॥

क्षुत्पिपासाभ्यां शीतोष्णाभ्यां व्याधिभिश्चानिच्छतोऽपि बुद्धयः प्रवर्त्तन्ते, तस्मादैकाग्र्यानुपपत्तिरिति। भूख आदि में योगी की प्रवृत्ति हो जाने के कारण भी समाधि नहीं हो सकती। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, रोग आदि भी मन को चलायमान कर देते हैं। न चाहते हुए भी योगी को इनके अनुसार व्यवहार करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में यह कहना, कि 'समाधि-विशेष के निरन्तर अभ्यास से तत्त्वज्ञान हो जाएगा' उचित प्रतीत नहीं होता।

सन्दर्भ- अब महर्षि गौतम पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं-

पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः ॥४/२/४१॥

पूर्वकृतो जन्मान्तरोपचितस्तत्त्वज्ञानहेतुर्धर्मप्रविवेकः फलानुबन्धोयोगाभ्याससामर्थ्यम्,

निष्फले ह्यभ्यासेनाभ्यासमाद्रियेरन् । दृष्टं हि लौकिकेषु कर्मस्वभ्याससामर्थ्यम । पूर्वजन्म में किए समाधि के फल के सम्बन्ध से उस समाधि की उत्पत्ति हो जाती है।

समाधि की सिद्धि एक जन्म के अभ्यास से ही नहीं हो जाती, अपितु अनेक जन्मों के शुभ संस्कारों और अभ्यास के कारण होती है। यदि अभ्यास इतना निष्फल होता, तो लोक में इसका इतना आदर न होता। लौकिक कार्यों के अभ्यास के समान पारमार्थिक

कार्यों में भी इसका सामर्थ्य अति प्रबल होता है। अतः गीता में कृष्ण ने अर्जुन को उत्तर दिया है- **असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् । अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ गी. ६**/३५

मौसम की सर्दी-गर्मी तो अभ्यासी के लिए नगण्य है। इस प्रकार यह सम्भव है, कि व्यक्ति समाधि लाभ के द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सके।

सन्दर्भ- अब महर्षि गौतम समाधि में सम्भव विघ्न बाधाओं से बचने का उपाय बताते हैं -

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ॥४/२/४२॥

वन, गुफा, पर्वतकन्दरा, पुलिन, नदीतट, आदि निर्जन स्थानों में योगाभ्यास करने का उपदेश शास्त्रों में किया गया है। **योगाभ्यासजनितो धर्मो जन्मान्तरे**ऽप्यनुवर्तते । प्रचयकाष्ठागते तत्त्वज्ञान**हेतौ धर्म प्रकृष्टायां समाधिभावनायां तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते इति ।** विघ्न बाधाओं से बचने के लिए एकान्त स्थान में अभ्यास अत्यन्त सहायक होता है। जब पूर्वसंस्कार तथा तत्त्वज्ञान के लिए वर्तमान में प्रबल अभ्यास होता है, तब समाधि की सिद्धि अवश्य हो जाती है, और उससे तत्त्वज्ञान प्राप्त करके व्यक्ति कृतकृत्य हो जाता है। वेद में भी कहा है- **उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम् धिया विप्रोऽजायत ॥ -)ग. ८**/६/२८, यजु २६/१५ गीता में भी कहा है -योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।। गी.६/१०

विश्वामित्र, सौभरि आदि के ऐतिहासिक दृष्टान्त उनके अभिमान एवं अपुण्य के परिणाम हो सकते हैं ।

प्रंसग- पूर्वपक्ष संशय करता है यदि आप हमारी इस बात को स्वीकार करते हैं, कि मन्द व्यक्ति का भी मन अर्थविशेष की प्रबलता से उधर खिंच ही जाता है तो-

अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्गः ॥४/२/४३॥

मुक्तस्यापि बाह्यार्थसामर्थ्याद् बुद्धय उत्पद्येरन्निति । मोक्ष में भी इस प्रकार (विषयों के प्रति आकर्षण) के अवसर प्राप्त हो सकते है। मुक्ति में भी कोई विषयों के आकर्षण से नहीं बच सकता क्योंकि मुक्ति में केवल इच्छा ही नहीं होती, किन्तु संसार के विषय तो बिना इच्छा के भी मुक्त पुरुष को अपनी ओर खींच ही लेते हैं ।

सन्दर्भ- उक्त संशय का महर्षि गौतम समाधान करते हैं -

न, निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् ॥४/२/४४॥

बाह्यार्थविषयक ज्ञान के पूर्वकर्मानुसार निष्पन्न शरीर में ही अवश्यम्भावी होने से अपवर्ग स्थिति में बाह्यज्ञानोत्पत्ति का सन्दर्भ नहीं होता। **कर्मवशान्निष्पन्ने शरीरे चेष्टेन्द्रियार्थाश्रये निमित्तभावादवश्यम्भावी बुद्धीनामुत्पादः न च प्रबलोऽपि सन् बाह्योऽर्थ आत्मनो बुद्ध्युत्पादे समर्थो भवति। तस्येन्द्रियेण संयोगाद् बुद्ध्युत्पादे सामर्थ्य दृष्टमिति ।** पूर्वकर्मानुसार चेष्टा, इन्द्रिय और गन्धादि अर्थों (विषयोघ) के आधार, शरीर की उत्पत्ति हो जाने पर ही आत्मा को बाह्य विषयों का ज्ञान हो सकता है। बाह्य अर्थ कितना ही प्रबल क्यों न हो, देह इन्द्रिय आदि के अभाव में विषय ज्ञान की उत्पत्ति के लिए वह समर्थ नहीं होता।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य मोक्षावस्था में शरीर का अभाव बताते हैं -

तदभावश्चापवर्गे ॥४/२/४५॥

अपवर्ग (मोक्ष) में उस ज्ञान के कारण रूप शरीरादि का अभाव होता है। **तस्य बुद्धिनिमित्ताश्रयस्य शरीरेन्द्रियस्य धर्माधर्माभावादभावोऽपवर्गे । तत्र यदुक्तमपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्ग इति तद्युक्तम् । तस्मात्सर्वदुःखविमोक्षोऽपवर्गः ।** धर्माधर्मरूप शरीर कारणों के निवृत्त हो जाने से मोक्ष में शरीर का अभाव हो जाता है। अतः तब बाह्यविषयों का उपभोग नहीं हो सकता, जिससे सुख-दुःख भी नहीं होते। उस समय तो केवल चेतन आत्मा समाधिजन्य स्वागत सामर्थ्य से ग्रह्य (परमात्मा) के आनन्द का अनुभव करता रहता है।

सन्दर्भ- समाधि-विशेष के समान तत्त्वज्ञानपूर्वक अपवर्गप्राप्ति के अन्य साधनों को बताते हुए दर्शनाचार्य कहते हैं-

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ॥४/२/४६॥

उस अपवर्ग (मोक्ष) के लिए यम-नियमों के आचरण से और योग शास्त्र में कहे हुए तपश्चर्या प्राणायाम आदि अध्यात्मविषयक उपायों के अनुष्ठान से आत्मा का संस्कार अपवर्ग प्राप्ति की योग्यता को उत्पन्न कर देता है। **तस्यापवर्गस्याधिगमाय यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारः । यमः समानमाश्रमिणां धर्मसाधनम्, नियमस्तु विशिष्टम् । आत्मसंस्कारः पुनरधर्महानं धर्मोपचयश्च, योगशास्त्राच्चाध्यात्मविधिः प्रतिपत्तव्यः।** अपवर्ग को प्राप्ति के लिए 'आत्मसंस्कार' अपवर्ग-प्राप्ति की योग्यता परमावश्यक है। जब तक व्यक्ति में काम, क्रोध,

लोभ, मोह, ईष्या, अहंकार आदि अवगुण विद्यमान हैं, तब तक वह असंस्कृत है। अपवर्ग-प्राप्ति के अयोग्य माना जाता है। उसी का यहाँ उपाय बताते हैं, कि यम-नियम आदि के अनुष्ठान से आत्म संस्कार करना चाहिए। सब आश्रमियों एवं वर्णों के लिए समान रूप से धर्म के साधन को यम कहते हैं।

जैसे **'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' (-योग. २/३०)।** तथा पाँच **नियम-'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'। (योग. २/३२)।**

ये सब आश्रमों और वर्णों के अपने अपने हैं। इन उपायों से अधर्मनाश तथा धर्मोत्पत्ति रूप में आत्म-संस्कार का उपया समझना चाहिए ।

अध्यात्म- विधि भी योगशास्त्र से ग्रहण कर सकते हैं। वह विधि योगशास्त्र में-तप, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि उपायों से बताई गई है। इन्द्रियों के विषयों से निवृत्ति का अभ्यास राग-द्वेष के क्षय के लिए किया गया है। अन्य उपाय योग एवं आचार शास्त्र (यथा सांख्य. का चतुर्थाध्याय, उपनिषद् आदि) में बताए गए हैं। जैसे- एकाग्रता, आहार में संयम, श्रवण- चतुष्टय आदि। इन उपायों से व्यक्ति अपवर्ग प्राप्ति की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

सन्दर्भ- यदि योगशास्त्रोक्त विधियों के अनुष्ठान से ही अपवर्ग हो सकता है, तो यह संशय होता है इस न्याय शास्त्र के अध्ययन का क्या लाभ हैं ?

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ।।४/२/४७।।

अपवर्ग के लिए आत्मविद्या के शास्त्र न्यायशास्त्र का अध्ययन तथा धारण का अभ्यास और उसके ज्ञाताओं न्यायशास्त्रज्ञों के साथ अच्छी तरह से वाद-विचार करना चाहिए।

'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्' अर्थात् जिससे जाना जाए, वह शास्त्र न्याय आदि। **तदर्थमिति प्रकृतम्। ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमात्मविद्याशास्त्रं तस्य ग्रहणमध्ययनधारणे, अभ्यासः सततक्रियाध्ययनश्रवणचिन्तनानि, तद्विद्यैश्च सहसंवाद इति प्रज्ञापरिपाकार्थम्, परिपाकस्तु संशयच्छेदनमविज्ञातार्थबोधोऽध्यवसिताभ्यनुज्ञानमिति । समाय वादः संवादः ।** परस्पर मिलकर अच्छी तरह से विचार करना 'सं. वाद' है, जिससे जिज्ञासु के सभी संशयों की निवृत्ति हो जाये, तभी तक अविज्ञात तत्त्व का बोध हो जाए, जाने हुए की पुष्टि हो जाए, अर्थात् चर्चा करने वाले दोनों व्यक्तियों का ज्ञान समान हो जाए सम्यक् वादः संवादः। उनमें न्यूनाधिकता न रहे। इसके लिए न्याय शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है ।

सन्दर्भ- गतसूत्रा में 'तद्विधैः सह संवादः' वाक्य में 'तद्विद्यैः' उसके ज्ञाताओं के साथ पद को स्पष्ट करते हैं, कि किनके साथ संवाद करे?

तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोर्थिभिरनसूयुभिरभ्युपेयात् ।।४/२/४८।।

ईर्ष्या व द्रोह न करके वाले शिष्य, गुरु, सहाध्यायी, विशिष्ट अपनी अपेक्षा से अधिक ज्ञान रखने वाले तथा मोक्षाभिलषी व्यक्तियों के साथ उस (संवाद) को करना चाहिए।

जिज्ञासुओं को चाहिए, कि वे स्तुति, निन्दा, विजिगीषा जयपराजय की इच्छा से रहित गुरु आदि के पास जाकर विनयपूर्वक संवाद करे, जिससे संशय तथा विपर्यय से रहित होकर तत्त्वज्ञान से ब्रह्मानन्दोपभोगरूप मोक्ष के अधिकारी बन सकें ।

सन्दर्भ (सशंय) यदि संवाद में पक्ष तथा प्रतिपक्ष होने से ऐसा प्रतीत हो, कि यह गुरु, सब्रह्मचारी, विशिष्ट आदि के लिए प्रतिकूल ही होगा, तब क्या संवाद को चालू रखना उपयुक्त है? महर्षि गौतम समाधान करते हैं-

प्रतिपक्ष**हीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे ।।**४/२/४९।।

तत्त्वज्ञान की इच्छा होने पर तत्त्वनिर्णयरूप प्रयोजन के लिए विरुद्ध पक्ष से रहित होकर ही संवाद को करे। **तमभ्युपेयादिति वर्तते । परतः प्रज्ञामुपादित्समानस्तत्त्वबुभुत्साप्रकाशनेन स्वपक्षमनवस्थापयन् स्वदर्शनं परिशोधयेदिति ।।** महर्षि उपदेश करते हैं, कि जिज्ञासु व्यक्ति दूसरों से ज्ञान प्राप्त करने के लिए तत्त्वज्ञान की इच्छा प्रकट करके, अपना पक्ष न रखता हुआ, गुरु आदि आदरणीय ज्ञानवृद्ध व्यक्ति के उपदेश से अपने ज्ञान का परिशोधन करे। गुरु आदि आदरणीय व्यक्तियों के पक्ष का सद्यः विरोधी पक्ष स्थापित करना शिष्टाचार के प्रतिकूल हो सकता है अथवा वे चर्चा से अप्रसन्न होकर उसे बन्द कर सकते हैं। अतः पक्ष प्रतिपक्ष के बिना ही अपना प्रयोजन सिद्ध करे ।

इति तत्त्वज्ञानविवृद्धिप्रकरणम्।

स्मरणीय बिंदु

ज्ञान की वृद्धि के उपाय महर्षि गौतम के अनुसार, केवल पढ़ लेने से ज्ञान स्थिर नहीं होता। इसके लिए दो मार्ग अनिवार्य हैं

1. आत्मा का सतत अभ्यास आत्म-ज्ञान का बार-बार चिंतन करना।

2. योग का अनुष्ठान यम, नियम और प्राणायाम के माध्यम से मन को एकाग्र करना ताकि सत्य का साक्षात्कार हो सके।

शास्त्रर्थ (संवाद) ज्ञान को निखारने के लिए समान विचारधारा वाले विद्वानों, शिष्यों और मित्रें के साथ चर्चा (संवाद) करना चाहिए। इससे संदेह दूर होते हैं और बुद्धि तीक्ष्ण होती है।

सत्य की रक्षा (जल्प और वितण्डा) जैसे ञसल की रक्षा के लिए काँटों की बाड़ लगाई जाती है, वैसे ही सत्य ज्ञान की रक्षा के लिए कभी-कभी जल्प और वितण्डा (तार्किक यु)) का प्रयोग करना पड़ता है ताकि कुतकह्न लोग सत्य को दबा न सकें।

समाधि की अवस्था जब मन विषयों से हटकर पूरी तरह आत्मा में लीन हो जाता है, तब तत्त्वज्ञान अपनी पूर्ण अवस्था (विवृद्धि) को प्राप्त करता है।

शब्दावली

विवृद्धि किसी चीज़ का बढ़ना, विकसित होना या पूर्णता को प्राप्त करना।

समाधि चित्त की वह स्थिति जहाँ ध्येय वस्तु के अलावा और कोई विचार न हो।

संवाद ज्ञान को स्पष्ट करने के लिए की जाने वाली मैत्रीपूर्ण चर्चा।

जल्प अपनी बात को सही सिद्ध करने के लिए छल, जाति और निग्रहस्थान का प्रयोग करना (सत्य की रक्षा हेतु)।

वितण्डा केवल दूसरे के मत का खंडन करना, अपना कोई पक्ष न रखना (विरोधी को शांत करने हेतु)।

निग्रहस्थानरू बहस में हार का वह बिंदु जहाँ तर्क समाप्त हो जाते हैं।

योगसाधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि आठ अंग जो ज्ञान को स्थिर करते हैं।

कण्टक-शाखा (बाड) सत्य ज्ञान की रक्षा के लिए तार्किक सुरक्षा चक्र का उदाहरण।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति मात्र पर्याप्त नहीं है, उसकी विवृद्धि (वृद्धि) और परिपालन (संरक्षण) भी अनिवार्य है। न्याय सूत्रा के आधार पर तत्त्वज्ञान की वृद्धि के उपायों और श्समाधिश के महत्व की विस्तृत विवेचना कीजिए।

प्रश्न 2. तत्त्वज्ञान की विवृद्धि के लिए न्याय दर्शन में बताए गए अध्यात्मविद्या के अभ्यास और विद्वानों के साथ संवाद (शास्त्रर्थ) की प्रक्रिया का सविस्तार वर्णन कीजिए।

प्रश्न 3. तत्त्वज्ञान की सुरक्षा के लिए जल्प और वितण्डा का प्रयोग उसी प्रकार आवश्यक है जैसे ञसल की रक्षा के लिए काँटों की बाड़। इस कथन की तार्किक व्याख्या कीजिए और स्पष्ट कीजिए कि ये कथा के प्रकार तत्त्वज्ञान में कैसे सहायक हैं?

प्रश्न 4. न्याय दर्शन के अनुसार योग और अनुशासन (यम-नियम) तत्त्वज्ञान की स्थिरता में किस प्रकार सहायक हैं? आत्म-साक्षात्कार (तत्त्वज्ञान) के निरंतर अभ्यास की प्रक्रिया को विस्तारपूर्वक समझाइए।

प्रश्न 5. तत्त्वज्ञान के संरक्षण के संदर्भ में वाद, जल्प और वितण्डा के भेदों को स्पष्ट करते हुए बताइए कि एक मुमुक्षु मोक्ष की इच्छा रखने वाले के लिए इनका क्या महत्व है?

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. न्याय दर्शन के अनुसार तत्त्वज्ञान की विवृद्धि (वृद्धि) के दो मुख्य उपाय कौन से हैं? संक्षेप में लिखिए।

प्रश्न 2. तत्त्वज्ञान के संरक्षण के संदर्भ में काँटों की बाड़ का उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3. समाधि तत्त्वज्ञान की स्थिरता में किस प्रकार सहायक है? न्याय सम्मत व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 4. तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिए जल्प और वितण्डा के प्रयोग की अनुमति किन परिस्थितियों में दी गई है?

प्रश्न 5. न्याय दर्शन के अनुसार अभ्यास और संवाद का ज्ञान की प्रगाढ़ता में क्या महत्व है?

प्रश्न 6. मुमुक्षु (मोक्ष का इच्छुघ) व्यद्रि को कुतर्क करने वालों से किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए? तत्त्वज्ञान विवृद्धि प्रकरण के आधार पर बताइए।

महत्वपूर्ण बहुविकल्पीय प्रश्न और उनके उत्तर यहाँ दिए गए हैं

1. न्याय दर्शन के अनुसार तत्त्वज्ञान की विवृद्धि (वृद्धि) के लिए क्या आवश्यक है?

क) केवल मौन धारण करना

ख) निरंतर अभ्यास और विद्वानों के साथ चर्चा

ग) धन का संचय

घ) तीर्थ यात्र

उत्तर ख)

2. तत्त्वज्ञान को सुरक्षित रखने के लिए न्याय दर्शन में किसका उदाहरण दिया गया है?

क) जलते हुए दीपक का

ख) बीज और अंकुर का

ग) ऩसल की रक्षा के लिए काँटों की बाड़ का

घ) आकाश में बादलों का

उत्तर ग)

3. समाधि की अवस्था में तत्त्वज्ञान की स्थिति कैसी होती है?

क) ज्ञान लुप्त हो जाता है।

ख) ज्ञान में संशय उत्पन्न होता है।

ग) तत्त्वज्ञान स्थिर और प्रगाढ़ हो जाता है।

घ) ज्ञान का कोई महत्व नहीं रहता।

उत्तर ग)

4. तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिए श्जल्पश और श्वितण्डाश का प्रयोग किसके विरुद्ध किया जाना चाहिए?

क) अपने गुरु के विरुद्ध

ख) सत्य बोलने वालों के विरुद्ध

ग) कुतर्क करने वालों और तत्त्वज्ञान के विरोधियों के विरुद्ध

घ) शिष्यों के विरुद्ध

उत्तर ग)

5. न्याय दर्शन के अनुसार, तत्त्वज्ञान की विवृद्धि के लिए मुमुक्षु को किसके साथ संवाद करना चाहिए?

क) गुरु, शिष्य और सहपाठियों (समान विचार वालोक) के साथ

ख) अज्ञानियों के साथ

ग) केवल स्वयं से

घ) शत्रुओं के साथ

उत्तर क)

6. तत्त्वज्ञान का परिरक्षण क्यों आवश्यक है?

क) यश प्राप्त करने के लिए

ख) ताकि संशयवादी और कुतकह्न लोग ज्ञान को नष्ट न कर सकें

ग) धन कमाने के लिए

घ) अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए

उत्तर ख)

7. जल्प और वितण्डा का प्रयोजन क्या है?

क) सत्य की खोज करना

ख) तत्त्वज्ञान का संरक्षण करना

ग) अहंकार की संतुष्टि

क्ऋ किसी को नीचा दिखाना

उत्तर ख)

8. तत्त्वज्ञान की स्थिरता के लिए न्याय दर्शन किस साधना पर बल देता है?

क) भौतिक सुखों पर

ख) योग साधना और यम-नियम पर

ग) केवल तर्क करने पर

घ) अंधबि्वास पर

उत्तर ख)

9. न्याय दर्शन में तत्त्वज्ञान विवृद्धि का अंतिम लक्ष्य क्या है?

क) स्वर्ग की प्राप्ति

ख) वाद-विवाद में जीत

ग) अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति

घ) राजसी सुख

उत्तर ग)

10. यदि कोई व्यद्रि तत्त्वज्ञान का अपमान करे या उसे गलत सिद्ध करने का कुप्रयास करे, तो न्याय के अनुसार क्या करना चाहिए?

क) उसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

ख) जल्प और वितण्डा के द्वारा सत्य की रक्षा करनी चाहिए।

ग) चर्चा छोड़कर भाग जाना चाहिए।

घ) हिंसा का प्रयोग करना चाहिए।

उत्तर ख)

इकाई- ३.५ - तत्त्वज्ञान परिपालन निरुपण

उद्देश्य-

खसत्य की रक्षा यह सुनिश्चित करना कि कुतर्कों या गलत दर्शनों के प्रभाव में आकर साधक का तत्त्वज्ञान डगमगा न जाए।

तार्किक सुरक्षा छल और जाति जैसे दोषपूर्ण तर्कों को पहचानना और उनका उत्तर देना सीखना।

ख़ढ़ता विपरीत परिस्थितियों में भी सत्य पर अडिग रहने की मानसिक शद्रि विकसित करना।

अथ तत्त्वज्ञानपरिपालनप्रकरणम्

सशंय- यदि तत्त्वज्ञान के लिए वाद ही उपयुक्त है, तो जल्प और वितण्डा का उपयोग किस अवसर पर करना चाहिए?

दर्शनाचार्य इस संशय का समाधान करते हैं -

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डेबीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् ।।४/२/५०।। बीजों के अंकुर की उचित रक्षा के लिए जैसे कंटीली शाखाओं की बाढ़ के समान तत्त्वज्ञान की सम्यक् रक्षा के लिए जल्प और वितण्डा कथा का उपयोग भी करना चाहिए। **अनुत्पन्नतत्त्वज्ञानानामप्रहीणदोषाणां तदर्थं घटमानानामेतदिति । विद्यानिर्वेदादिभिश्च परेणावज्ञायमानस्य ।** जब मिथ्याज्ञान में डूबे हुए व्यक्ति स्वयं को तत्त्वज्ञानी होने का अभिमान रखते हुए तत्त्वज्ञान को धूमिल करने के लिए तत्पर हो जाते हैं, तब जल्प और वितण्डा कथा के द्वारा उनकी इस प्रवृत्ति को निष्फल बनाया जाता है। इससे उनका अज्ञान व मिथ्याज्ञान दूर हो जाता है तथा अन्यों में भ्रान्ति का प्रचार नहीं कर पाते । जैसे कि किसान के द्वारा बोए गए बीजों के अंकुरों की कंटीली झाड़ियों की बाढ़ के द्वारा पशुओं से रक्षा की जाती है ।

सन्दर्भ - दर्शनाचार्य उक्त अर्थ को और स्पष्ट करते हैं -

ताभ्यां विगृह्य कथनम् ।।४/२/५१।।

उन जल्प और वितण्डा कथा द्वारा परपक्ष को तोड़ -फोड़कर विवेचन करके तत्त्व का कथन करे । **विगृह्येति विजिगीषया न तत्त्वबुभुत्सयेति । तदेतद्विद्यापालनार्थं न लाभपूजाख्यात्यर्थमिति ।** ऐसे अवसरों पर जल्प - वितण्डा का प्रयोग, विजय के लिए किया जाता है, अपने तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए नहीं । जब मिथ्याज्ञान से नास्तिक वादी अपना दृढ़ प्रतिपक्ष को न पाकर साधारण जनता के हृदय से धार्मिक भावना का विलोप ही करने लगें, तब उन धूर्तों से समाज को बचाने के लिए एवं तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिए जल्प वितण्डा का आश्रय लेते रहना चाहिए । किन्तु यह कार्य व्यक्तिगत लाभ, सत्कार या ख्याति आदि की भावना से सर्वथा नहीं करना चाहिए ।

इति **तत्त्वज्ञानपरिपालनप्रकरणम्**।

स्मरणीय बिंदु

बाड़ का उदाहरण महर्षि गौतम कहते हैं कि जिस प्रकार खेत की रक्षा के लिए उसके चारों ओर काँटों की बाड़ (बाउंड्री) लगाई जाती है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिए जल्प और वितण्डा का प्रयोग किया जाता है।

जल्प और वितण्डा का सही उपयोग

आमतौर पर जल्प और वितण्डा को दोषपूर्ण माना जाता है, लेकिन जब कोई नास्तिक या कुतकह्र व्यद्रि सत्य का विनाश करने पर उतारू हो, तब उसे हराने और सत्य की मर्यादा बचाने के लिए इनका उपयोग वैद्यकीय शस्त्र की तरह किया जा सकता है।

शिष्य-गुरु संवादरू ज्ञान की रक्षा के लिए निरंतर उच्च कोटि के विद्वानों और गुरुओं के सानिध्य में रहकर अपने बोध को परिष्ख्रत (त्मपिदम) करते रहना चाहिए।

अज्ञान का निराकरणरू जब विरोधी तर्क देते हैं कि संसार शून्य है या ज्ञान असंभव है, तो उन तर्कों के खोखलेपन को उजागर करना ही परिपालन है।

शब्दावली

परिपालन किसी वस्तु की रक्षा करना या उसे सुरक्षित बनाए रखना।

जल्प वह बहस जिसमें अपनी जीत के लिए छल, जाति और निग्रहस्थान का प्रयोग किया जाए (केवल सत्य की रक्षा के उद्देश्य से)।
वितण्डा वह तर्क प)ति जिसमें व्यद्रि दूसरे के पक्ष का खंडन तो करता है, लेकिन अपना कोई सिद्धांत स्थापित नहीं करता।
छल विपक्षी के शब्दों का गलत अर्थ निकालकर उसे भ्रमित करना।
जाति केवल समानता या असमानता के आधार पर दिए गए झूठे तर्क।
निग्रहस्थान पराजय का स्थान(जहाँ तर्क समाप्त हो जाएं और व्यद्रि निरुत्तर हो जाए।
तत्त्वरक्षण यथार्थ ज्ञान को अज्ञान की आंधी से बचाना।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. तत्त्वज्ञान का परिपालन करना उतना ही आवश्यक है जितना उसकी उत्पत्ति। न्याय सूत्रा के आलोक में इस कथन की समीक्षा कीजिए तथा तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिए श्जल्पश और वितण्डा की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
प्रश्न 2. तत्त्वज्ञान की सुरक्षा का अर्थ केवल तर्क करना नहीं, अपितु सत्य को स्थिर रखना है। इस कथन के आधार पर न्याय दर्शन में वर्णित श्तत्त्वज्ञान विवृद्धि और परिपालन के अंतर्संबंधों पर एक विस्तृत निबंध लिखिए।
प्रश्न 3. न्याय दर्शन के अनुसार, विरोधियों द्वारा किए गए शास्त्रर्थ आक्रमणों से शिष्य के ब्विास (श्र)।) और ज्ञान की रक्षा कैसे की जाती है? परिपालन प्रकरण के आधार पर उत्तर दीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. तत्त्वज्ञान परिपालन से क्या अभिप्राय है? न्याय दर्शन में इसकी आवश्यकता क्यों बताई गई है?
प्रश्न 2. बीजसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत - इस उपमा (उदाहरण) को तत्त्वज्ञान परिपालन के संदर्भ में स्पष्ट कीजिए।
प्रश्न 3. क्या न्याय दर्शन में जल्प और वितण्डा का प्रयोग अहंकार की तुष्टि के लिए करने की अनुमति है? तर्क दीजिए।
प्रश्न 4. तत्त्वज्ञान के परिरक्षण और विवृद्धि में क्या अंतर है? संक्षेप में समझाइए।
प्रश्न 6. मुमुक्षु (मोक्ष के इच्छुघ) को किन परिस्थितियों में शास्त्रर्थ (जल्प/वितण्डा) का सहारा लेना चाहिए?

महत्वपूर्ण बहुविकल्पीय प्रश्न और उनके उत्तर यहाँ दिए गए हैं

1. न्याय दर्शन के अनुसार तत्त्वज्ञान परिपालन का मुख्य उद्देश्य क्या है?
क) नए ज्ञान की खोज करना
ख) प्राप्त सत्य ज्ञान को कुतर्कों और विरोधियों से सुरक्षित रखना
ग) शास्त्रर्थ में दूसरों को नीचा दिखाना
घ) केवल वेदों का पाठ करना
उत्तर ख)
2. न्याय सूत्र के अनुसार, तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिए जल्प और श्वितण्डाश का प्रयोग किसके समान माना गया है?
क) दीपक के प्रकाश के समान
ख) खेती के चारों ओर काँटों की बाड़ (कण्टक-शाखा) के समान
ग) वर्षा के जल के समान
घ) लोहे की दीवार के समान
उत्तर ख)
3. तत्त्वज्ञान परिपालन की आवश्यकता कब पड़ती है?
क) जब साधक अकेले ध्यान कर रहा हो।
ख) जब कोई संशयवादी या कुतकह्न व्यद्रि सत्य ज्ञान में बाधा उत्पन्न करे।
ग) जब गुरु शिष्य को उपदेश दे रहे हों।

घ) जब ज्ञान की उत्पत्ति ही न हुई हो।
उत्तर ख)
4. न्याय दर्शन के अनुसार, जल्प और वितण्डा क्या ज्ञान उत्पन्न करते हैं?
क) हाँ, ये नए ज्ञान के स्रोत हैं।
ख) नहीं, ये केवल ज्ञान के रक्षक द्धच्तवजमबजपअम बवअमतऋ हैं।
ग) ये केवल भ्रम उत्पन्न करते हैं।
घ) ये केवल मोक्ष प्रदान करते हैं।
उत्तर ख)
5. तत्त्वज्ञानाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे...ख्इस सूत्र में संरक्षणार्थं का क्या अर्थ है?
क) धन की रक्षा के लिए
ख) शरीर की रक्षा के लिए
ग) तत्त्वज्ञान के निश्चय की रक्षा के लिए
घ) शत्रुओं से रक्षा के लिए
उत्तर ग)
6. परिपालन प्रकरण में यव-बीज (जौ के बीज) की तुलना किससे की गई है?
क) कुतर्कों से
ख) तत्त्वज्ञान (सत्य ज्ञान) से
ग) दोषों से
घ) शारीरिक बल से
उत्तर ख)
7. न्याय दर्शन के अनुसार, एक मुमुक्षु को श्वितण्डा का प्रयोग कब करना चाहिए?
क) अपनी विद्वत्ता दिखाने के लिए।
ख) जब प्रतिपक्षी सत्य का विनाश करने पर तुला हो और उसे रोकना अनिवार्य हो।
ग) बिना किसी कारण के।
घ) धन अर्जित करने के लिए।
उत्तर ख)
8. इनमें से कौन सा साधन तत्त्वज्ञान परिपालन का हिस्सा नहीं है?
क) जल्प
ख) वितण्डा
ग) निग्रहस्थानों का ज्ञान
घ) चोरी करना
उत्तर घ)
9. न्याय दर्शन के अनुसार, क्या जल्प और वितण्डा का प्रयोग सदैव अनुचित है?
क) हाँ, क्योंकि ये छलपूर्ण हैं।
ख) नहीं, सत्य की रक्षा के लिए इनका प्रयोग उचित (न्यायसंगत) है।
ग) केवल राजाओं के लिए उचित है।
घ) केवल गृहस्थों के लिए उचित है।
उत्तर ख)
10. तत्त्वज्ञान परिपालन का अंतिम ल क्या प्राप्त होता है?

क) शास्त्रर्थ में प्रसिद्धि
ख) अपवर्ग (मोक्ष) के मार्ग में आने वाली बाधाओं का नाश
ग) बहुत सारा शिष्य समूह
घ) स्वर्ग का सुख
उत्तर ख)

खण्ड-४ जाति तथा निग्रहस्थान का परिचय

इकाई- ४.१ - विभिन्न जातियों के लक्षण

उद्देश्य-

खवाद-विवाद (बहस) में दिए जाने वाले गलत और भ्रामक तर्कों को पहचानना।

खयह समझना कि केवल उदाहरण की समानता के आधार पर किसी बात को काटना तार्किक रूप से गलत है।

खसत्य ज्ञान की रक्षा के लिए विपक्षी के कुतर्कों का पर्दाफाश करना।

अथ सत्प्रतिपक्षदेशनाभासप्रकरणम्

न्याय प्रतिपादित सोलह पदार्थो में से अन्तिम दो पदार्थ 'जाति' और 'निग्रहस्थान' हैं यहाँ जाति पद सामान्य धर्म का वाचक न होकर अनुमान-वाक्य में किसी नवीन उद्भावना को अभिव्यक्त कर देने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। **साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः।, विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ॥१/२/१८,१९॥** जाति और निग्रहस्थान के लक्षण कर दर्शनाचार्य ने कहा है इनके द्वारा प्रत्याख्यान के विविध प्रकार होने से इनके अनके विभाग हैं। **तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम्॥१/२/२०॥** उसी को विस्तार से निरूपण करने के लिए यह चर्चा प्रारम्भ करते हैं।

जाति निर्देश- किसी पक्ष की स्थापना करने पर जाति-प्रयोग द्वारा उसका प्रतिषेध करने के लिए जिन प्रकारों से हेतु निर्देश किया जाता है उनकी संख्या २४ है। दर्शनाचार्यनामोल्लेखपूर्वक अब जातियों का निर्देश करते हैं।

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसंगप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणाहेत्वर्थापत्यविशेषोपपत्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः॥५/१/१॥

साधर्म्येण प्रत्यवस्थानमविशिष्यमाणं स्थापनाहेतुतः साधर्म्यसमः । अविशेषं तन्त्र तत्रोदाहरिष्यामः । एवं वैधर्म्यसमप्रभृतयोऽपि निर्वक्तव्याः

सूत्रा के अन्त में पठित सम पद का साधर्म्य आदि प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है।

१. साधर्म्यसम, २. वैधर्म्यसम, ३. उत्कर्षसम, ४. अपकर्षसम,
५. वर्ण्यसम, ६. अवर्ण्यसम, ७. विकल्पसम, ८. साध्यसम,
९. प्राप्तिसम, १०. अप्राप्तिसम, ११. सन्दर्भसम, १२. प्रतिदृष्टान्तसम,
१३. अनुत्पत्तिसम, १४. संशयसम, १५. प्रकरणसम, १६. अहेतुसम,
१७. अर्थापत्तिसम, १८. अविशेषसम,१९. उपपत्तिसम, २०. उपलब्धिसम,
२१. अनुपलब्धिसम, २२. नित्यसम, २३. अनित्यसम, २४. कार्यसम

-ये चौबीस जातिप्रयोगों के भेद हैं।

यह जातिप्रयोग वक्ता का एक प्रकार का असदुत्तररूप दोष है, जिसके द्वारा विपक्ष के स्थापना हेतुओं का प्रतिषेध (खण्डन) किया जाता है। विपक्षी के द्वारा इस जातिप्रयोग का निर्णायकों या श्रोतओं को ज्ञान करा देन पर जातिप्रयोक्ता पराजित माना जाता है ।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य 'साधर्म्यसम' और 'वैधर्म्यसम' जातिप्रयोगों का लक्षण (स्वरूप) बताते है-

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारेतद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ॥५/१/२॥

जाति- साधर्म्य से अथवा वैधर्म्य से अपने पक्ष का अर्थात् साध्य का उपसंहार निगमन स्थापन करने पर प्रतिवादी द्वारा उसके साध्य के धर्म के विपर्यय (विपरित) की सिद्धि प्रस्तुत किए जाने से साधर्म्यसम तथा वैधर्म्यसम प्रतिषेध जातिप्रयोग कहाता है। **साधर्म्येण ोपसंहारे साध्यधर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्येणैव प्रत्यवस्थानमविशिष्यमाणं स्थापनाहेतुतः साधर्म्यसमः प्रतिषेधः।** किसी पक्ष की सद्धेतु यथार्थ हेतु द्वारा हुई स्थापना का व्याप्ति की अपेक्षा किए बिना असद्धेतु अयथार्थ हेतु से प्रतिषेध करना जाति प्रयोग है। चाहे वह वादी ने किया हो या प्रतिवादी ने। वादी के द्वारा साधर्म्य से अथवा वैधर्म्य से अपने पक्ष का उपसंहार (निगमन) करने पर जब प्रतिवादी द्वारा दोनों का प्रतिषेध व्याप्ति अनपेक्ष साधर्म्य से किया जाता है, तब उसे 'साध्यसम' प्रतिषेध कहते हैं। उसी प्रकार दोनों का प्रतिषेध जब व्याप्ति अपेक्ष वैधर्म्य से किया जाता है, तब वह 'वैधर्म्यसम' प्रतिषेध कहाता है। जैसे- १. **साधर्म्यसम उदाहरण**-

वादी साधर्म्य हेतु से अपने पक्ष की स्थापना करता है-

प्रतिज्ञा	=	शब्द अनित्य है,
हेतु	=	कृतकवत् (उत्पन्न) होने से
उदाहरण	=	घट के समान व्याप्ति सहित उदाहरण जो कृतक होता है, वह अनित्य होता है
उपनय	=	इसी प्रकार शब्द भी कृतक है
निगमन	=	इसलिए कृतक (उत्पत्तिधर्मघ) होने से शब्द अनित्य है

साधर्म्य से पक्ष की स्थापना होने पर प्रतिवादी साधर्म्य से उसका प्रतिषेध करता है-

प्रतिज्ञा	=	शब्द नित्य है
हेतु	=	अमूर्त होने से
उदाहरण	=	अमूर्त पदार्थ नित्य देखा जाता है, जैसे आत्मा
उपनय	=	इसलिए आत्मा के समान अमूर्त होने से
निगमन	=	शब्द नित्य है

इसमें कोई हेतु नहीं कि कृतकत्व साधर्म्य से शब्द को अनित्य माना जाए, किन्तु अमूर्त्तत्व साधर्म्य से नित्य न माना जाए। अतः वादी के द्वारा शब्द को अनित्य बताना दोष पूर्ण है। जब वादी वैधर्म्य हेतु से अपने पक्ष की स्थापना करता है, जैसे

प्रतिज्ञा	=	शब्द अनित्य है
हेतु	=	कृतक होने से
दृष्टान्त	=	जो कृतक नहीं होता वह अनित्य भी नहीं होता, जैसे आत्मा (विषम व्याप्ति सहित)
उपनय	=	शब्द क्योंकि आत्मा के समान अकृतक नहीं है
निगमन	=	अतः आत्मा के साथ कृतकत्व वैधर्म्य से कृतक होने के कारण शब्द अनित्य है

वैधर्म्य से पक्ष की स्थापना होने पर प्रतिवादी साधर्म्य से उसका प्रतिषेध करता है-

प्रतिज्ञा	=	शब्द नित्य है
हेतु	=	अमूर्त्त होने से
दृष्टान्त	=	अमूर्त्त पदार्थ नित्य देखा जाता है जैसे- आत्मा
उपनय	=	आत्मा के समान यह शब्द भी अमूर्त है
निगमन	=	अतः आत्मा के समान अमूर्त होने से शब्द नित्य है

इसमें कोई हेतु नहीं कि आत्मा के साथ कृतकत्व वैधर्म्य से कृतक होने से शब्द को अनित्य माना जाए, किन्तु आत्मा के साथ अमूर्त्तत्व साधर्म्य से उसे नित्य न माना जाए। अतः वादी के द्वारा शब्द को अनित्य बताना दोष पूर्ण है। इस प्रकार व्यप्ति की अपेक्षा से रहित केवल साधर्म्य द्वारा 'कृतकत्व' (कार्यत्व) आदि हेतु को साध्य की सिद्धि में असमर्थ सिद्ध करना 'साधर्म्यसम' प्रतिषेध (जातिप्रयोग) है।

२. वैधर्म्य**सम**- जब वादी द्वारा पूर्ववत् साधर्म्य से शब्द के अनित्यत्व की स्थापना करने पर प्रतिवादी वैधर्म्य से उसका प्रतिषेध करता है।

प्रतिज्ञा	=	शब्द नित्य है
हेतु	=	अमूर्त होने से

दृष्टान्त = जो अमूर्त नहीं होता, वह नित्य भी नहीं होता, जैसे- घट

उपनय = शब्द क्योंकि घट के समान मूर्त नहीं है

निगमन = इसलिए घट के समान मूर्त न होने से शब्द नित्य है

इसमें कोई हेतु नहीं, कि घट के साथ 'कृतकत्व' साधर्म्य से शब्द को अनित्य माना जाए, और उसी घट के साथ 'अमूर्त्तत्व' वैधर्म्य से नित्य न माना जाए। अतः वादी द्वारा शब्द को अनित्य बताना दोषपूर्ण है। और वादी द्वारा वैधर्म्य से अपने पक्ष की पूर्ववत् स्थापना करने पर प्रतिवादी वैधर्म्य से उसका प्रतिषेध करता है

प्रतिज्ञा = शब्द नित्य है

हेतु = अमूर्त होने से

दृष्टान्त = जो अमूर्त नहीं होता, वह नित्य भी नहीं होता, जैसे घट

उपनय = शब्द क्योंकि घट के समान मूर्त्त नहीं है

निगमन = अतः घट के साथ 'अमूर्त्तत्व'
वैधर्म्य से अमूर्त होने के कारण शब्द नित्य है

इसमें कोई विशेष हेतु नहीं कि नित्य आत्मा के साथ 'कृतकत्व' वैधर्म्य से शब्द को अनित्य माना जाए और अनित्य घट के साथ 'अमूर्त्तत्व' वैधर्म्य से नित्य न माना जाए। अतः वादी के द्वारा शब्द को अनित्य बताना दोषपूर्ण है। इस प्रकार व्याप्ति की अपेक्षा से रहित केवल वैधर्म्य द्वारा हेतु को साध्य की सिद्धि में असमर्थ सिद्ध करना 'वैधर्म्यसम' जाति का प्रयोग माना जाता है ।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य 'साधर्म्यसम' और 'वैधर्म्यसम' जाति के प्रयोग का उत्तर बताते हैं -

गोत्वाद् गोसिद्धिवत् तत्सिद्धिः ॥५/१/३॥

गोत्व सामान्य से गौ की सिद्धि के समान केवल सद्धेतु से अर्थात् व्याप्ति विशिष्ट हेतु से उस साध्य की सिद्धि होती है। **साधर्म्यमात्रेण वैधर्म्यमात्रेण च साध्यसाधने प्रतिज्ञायमाने स्यादव्यवस्था, सा तु धर्मविशेषे नोपपद्यते, गोसाधर्म्याद् गोत्वाज्जातिविशेषाद्गौः ।** केवल एक धर्म के साधर्म्य से अथवा वैधर्म्य से साध्य के सिद्ध करने में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। अतः प्रत्येक पदार्थ की सिद्धि उसके सामान्य धर्म से होती है। जैसे गोपदार्थ की सिद्धि में गोत्व जाति और गवाकृति ही मुख्य कारण है, न कि पुच्छ, विषाण आदि क्योंकि इनकी अतिव्याप्ति महिषि आदि में भी होती है। द्रव्यत्व साधर्म्य से घट को आत्मा के समान चेतन भी माना जा सकता है, जो कि अनिष्ट है। प्रतिवादी (जातिवादी) के 'अमूर्त्तत्व' हेतु में अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति दोष भी है; क्योंकि बुद्धि (ज्ञान) अमूर्त होते हुए भी अनित्य है एवं परमाणु मूर्त होते हुए भी नित्य है। वस्तुतः व्याप्तिविशिष्ट सद्धेतु से ही साध्य की सिद्धि हो सकती है, असद्धेतु (अयथार्थ हेतु) से नहीं । इस प्रकार साध्य की असाधनता प्रकट कर देने पर ऐसे हेतु (जाति) का प्रयोक्ता चर्चा में पराजित माना जाता है। तब चर्चा समाप्त हो जाती है ।

इति सत्प्रतिपक्षदेशनाभासप्रकरणम्।

अथ उत्कर्षसमादिजातिषट्कम्।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य 'उत्कर्षसम' आदि छह जातिप्रयोगों का विवरण प्रस्तुत करते हैं-

साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः ॥५/१/४॥ साध्य पक्ष तथा दृष्टान्त के धर्मविकल्प से, और दोनों साध्य और दृष्टान्त के साध्य सिद्ध करने योग्य होने से उत्कर्षसम, अपकर्षसम, वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम, विकल्पसम और साध्यसम ये छह प्रतिषेध बनते हैं । **दृष्टान्तधर्म साध्ये समासजम् उत्कर्षसमः । यदि कियाहेतुगुणयोगाल्लोष्टवत् क्रियावानात्मा लोष्टवदेव स्पर्शवानपि प्राप्नोति ।** छह जातियों का स्वरूप बताने के लिए सूत्रा में दो हेतु बताए हैं। एक **'साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पात्'।** पहले हेतु से प्रारम्भिक पाँच जातियों का तथा दूसरे हेतु से अन्त में पठित 'साध्यसम' जाति का स्वरूप अभिव्यक्त होता है।

उत्कर्षसम- सूत्रा के 'धर्मविकल्प' पद का अर्थ है- धर्मों की विविधता। पदार्थ के अनेक धर्म होते हैं। उनमें से किसी धर्म के साध्य होने पर जब उसे अनुमान के पाँच अवयवों से सिद्ध करते हैं, तो उनमें एक अवयव दृष्टान्त है, जिसमें साध्य के धर्म को दिखाया जाता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं, कि दृष्टान्तगत प्रत्येक धर्म साध्य पक्ष में विद्यमान हो। ऐसी स्थिति में 'दृष्टान्तगत ऐसे धर्म को पक्ष में आरोपित करना जो पक्ष साध्य में न हो, वह 'उत्कर्षसम' प्रतिषेध (जातिप्रयोग) कहाता है।' उदाहरण- वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा), कृतक होने से (हेतु), जो कृतक होता है, वह अनित्य होता है, जैसे- घट (दृष्टान्त), वैसा ही यह शब्द कृतक है (उपनय), अतः कृतक होने से शब्द अनित्य है (निगमन) । प्रतिवादी इसके उत्तर में कहता है यदि कृतक हेतु से घट के समान शब्द अनित्य है, तो घट के समान शब्द रूपवान् भी होना चाहिए। इसमें कोई हेतु नहीं, कि घट के समान शब्द को अनित्य माना जाए, पर रूपवान् न माना जाए । यहाँ शब्द में रूप गुण नहीं था, परन्तु वादी को परास्त करने के लिए उसकी अतिरिक्त अधिक कल्पना कर ली गई, इसी को उत्कर्षसम कहते हैं।

अपकर्षसम- जहाँ विद्यमान धर्म को साध्य से पृथक् करके वर्णन किया जाए, उसे 'अपकर्षसम' प्रतिषेध कहते हैं । उदा०- जब वादी ने पूर्ववत् शब्द के अनित्यत्व की स्थापना कर दी, तो प्रतिवादी ने कहा रूपरहित आकाश कार्य (कृतघ) और अनित्य नहीं, इसलिए शब्द भी रूपरहित होने से कार्य और अनित्य नहीं, हो सकता। यहाँ शब्द में जो उत्पत्ति का धर्म था, उसको रूपरहित होने से पृथक् किया गया-अतः यह 'अपकर्षसम' प्रतिषेध है ।

वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम- अनुमान के प्रतिज्ञावाक्य (अवयव) में एक 'साध्य' धर्म होता है, जिसका अनुमानप्रयोक्ता वर्णन (प्रख्यापन) करना चाहता है, वह 'वर्ण्य' (वर्णनीय) है। जिसका वर्णन करना अनुमान वाक्य में अपेक्षित नहीं है अर्थात् जो पहले से ही निश्चित है, वह दृष्टान्तगत धर्म 'अवर्ण्य' है। इन दोनों को परस्पर विपरीत कर देना-'वर्ण्यसम' तथा 'अवर्ण्यसम' जाति का प्रयोग है। अथ. र्ात् समान हेतु के आधार पर पक्ष और दृष्टान्त की समानता से अवर्ण्य को वर्ण्य बताना 'वर्ण्यसम' तथा वर्ण्य को अवर्ण्य बताना 'अवर्ण्यसम' जाति है। उदाहरण- घट अनित्य है, कृतक होने से, शब्द के समान। यदि शब्द अनित्य नहीं है, तो घट भी अनित्य नहीं हो सकता। यहाँ घट के अनित्यत्व में संशय न होते हुए भी उसे साध्य रूप में प्रस्तुत करना 'वर्ण्यसम' जाति प्रयोग है। परन्तु दृष्टान्तरूप शब्द के अनित्यत्व में सन्देह होने पर भी उसे सिद्ध के समान प्रस्तुत करना 'अवर्ण्यसम' जादि- प्रयोग है।

अथवा पृथक्-पृथक् उदाहरण भी दे सकते हैं। जैसे घट अनित्य है, कृतक होने से, पट के समान। यहाँ घट के अनित्यत्व पक्ष में किसी को संशय नहीं है, फिर भी उसे साध्य (वर्ण्य) रूप में प्रस्तुत करना 'वर्ण्यसम' जातिप्रयोग है। बुद्धि अनित्य है, कृतक होने से, शब्द के समान। यहाँ दृष्टान्त में शब्द के अनित्यत्व का निश्चय नहीं है, फिर भी उसे सिद्ध समझकर उदाहरण रूप में प्रस्तुत करना 'अवर्ण्यसम' जातिप्रयोग है।

वस्तुत- कौन सा धर्म वर्णनीय है, कौन सा अवर्णनीय है, यह व्यक्तियों की बुद्धि से जाना जाता है।

विकल्पसम- पक्ष और दृष्टान्त में किन्ही धर्मों की विविधता का आश्रय लेकर पक्ष में साध्यधर्म के विपरीत धर्म को उपस्थित कर देना 'विकल्पसम' जाति है। उदाहरण- वादी ने अपने पक्ष की स्थापना की जीवात्मा अविभु है, क्रियावान् अथवा उत्क्रान्ति वाला होने से, ढेले के समान।

इस पर प्रतिवादी कहता है क्रियावान् कोई पदार्थ भारी देखा जाता है, जैसे ढेला, और कोई हल्का देखा जाता है, जैसे वायु। यद्यपि क्रियावत्व हेतु ढेला और वायु में समान है। इसी प्रकार क्रियावान् होते हुए भी कोई पदार्थ परच्छिन्न हो सकता है, जैसे- ढेला, और

कोई विभु हो सकता है, जैसे जीवात्मा। जब क्रियावत्व हेतु समान होते हुए भी कोई पदार्थ भारी और कोई हल्का हो सकता है, तो इसी प्रकार क्रियावत्त्व हेतु समान होते हुए भी ढेला एकदेशी तथा जीवात्मा विभू हो सकता है। अन्यथा ढेले और वायु में भी एक को भारी और एक को हल्का नहीं माना जाना चाहिए। यहाँ गुरुत्व और लघुत्व धर्मविकल्प की कल्पना से पक्ष के साध्यधर्म अविभुत्व का अभाव दिखाया गया है। अतः यह विकल्पसम जाति का प्रयोग है।

साध्यसम- व्याप्तियुक्त हेतु के बल पर पक्ष और दृष्टान्त की समानता दिखाकर दृष्टान्त में देखे हुए धर्म में भी साध्य सिद्ध करने योग्य होने की आपत्ति प्रस्तुत करने को 'साध्यसम' जातिप्रयोग कहते हैं। उदा. वादी अपना मत प्रस्तुत करता है- शब्द अनित्य है, कृतक होने से, जो कृतक होता है, वह अनित्य होता है। जैसे- घट, वैसा ही यह शब्द है, अतः कृतक होने से शब्द अनित्य है। इस पर प्रतिपक्षी कहता है- यदि कृतक होने से घट के समान शब्द है, तो इससे सिद्ध हुआ, कि जैसा शब्द है, वैसा ही घट है। शब्द का अनित्यत्व अभी साध्य है, तो शब्द के समान घट का अनित्यत्व भी साध्य मानना चाहिए। इस प्रकार घट की अनित्यता के निश्चय में साध्यता दिखाने से यह 'साध्यसम' जाति का प्रयोग है। इसके अनुसार यदि घट में अनित्यता साध्य नहीं, तो शब्द को घट के समान बताकर दोनों को एक धर्मयुक्त कहना असंगत है। इस 'साध्यसम' जाति की 'वर्ण्यसम' से इतनी भिन्नता है, कि 'साध्यसम' में दृष्टान्ते की अनुपपत्ति (असिद्धि) प्रकट की गई है। किन्तु 'वर्ण्यसम' में प्रतिवादी उसकी दृष्टान्तता को चुनौती नहीं देता, अपितु दृष्टान्त के वर्ण्य न होने में हेतु की जिज्ञासा करता है, कि दृष्टान्तधर्म वर्ण्य (साध्य) क्यों नहीं है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य इन जातिप्रयोगों का समाधान बताते हैं-

किञ्चित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः ॥५/१/५॥

व्याप्तियुक्त कुछ समानता होने से साध्य का उपसंहार (निगमन) सिद्ध हो जाने के कारण, अन्य व्याप्तिनिरपेक्ष अवाञ्छनीय धर्म का सहारा लेकर परपक्ष का प्रतिषेध करना संगत नहीं है। **अलभ्यः सिद्धस्य निह्नवः, सिद्धं च किञ्चित्साधर्म्यादुपमानं यथा गौस्तथा गवय इति, तत्र न लभ्यो गोगवययोर्धर्मविकल्पश्चोदयितुम्।** जहाँ कुछ साधर्म्य होता है, वहीं साध्य की सिद्धि होती है। उस (दृष्टान्त) में किसी धर्म के विरुद्ध होने से उसका खण्डन नहीं हो सकता । जैसे- गाय के समान नीलगाय होती है। यहाँ जिस ध र्म का गाय और नीलगाय (गवय) में सादृश्य है, उसी धर्म के मिलने से दृष्टान्त की उपयोगिता सिद्ध होती है। विरुद्ध धर्म के भेद से समान धर्म की एकता का खण्डन नहीं होता। दृष्टान्त में दृष्टान्त का कोई एक धर्म मिलना चाहिए यह आवश्यक नहीं, कि इनके सारे धर्म ही आपस में मिलें। अतः उत्कर्षसम आदि दोषों से वैधर्म्य को लेकर साध्य का खण्डन करना उचित नहीं है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम और साध्यसम जातिप्रयोगों का अन्य समाधान प्रस्तुत करते हैं- **साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः ॥५/१/६॥**

साध्य के अतिदेश से दृष्टान्त की उपपत्ति सिद्धि युक्तियुक्तता होने के कारण वर्ण्य, अवर्ण्य, साध्यसम प्रतिषेध उचित नहीं हैं। **यत्र लौकिकपरीक्षकाणां बुद्धिसाम्यं तेनाविपरीतोऽर्थोऽतिदिश्यते प्रज्ञापनार्थम । एवं साध्यातिदेशाद् दृष्टान्ते उपपद्यमाने साध्यत्वमनुपपन्नमित्ति ।** दृष्टान्त में साध्य का एक धर्म मिलना चाहिए, सब धर्मों के मिलने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि सब धर्म मिल जाएँ, तो साध्य और दृष्टान्त में भेद ही क्या रहा? भेद न रहने से वह साध्य को क्या सिद्ध करेगा? अतः वर्ण्य, अवर्ण्य, साध्यसम-प्रतिषेध उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त लौकिक साधारण जन तथा परीक्षक विवेचक विद्वानों का दृष्टान्त में बुद्धिसाम्य रहता है। अतः उसका खण्डन करना उचित नहीं।

इति उत्कर्षसमादिजातिषट्कप्रकरणम्॥

प्राप्त्यप्राप्तिसमजातिद्वयप्रकरणम्

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य 'प्राप्तिसम' एवं 'अप्राप्तिसम' जाति का लक्षण बताते हैं -

प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्यऽविशिष्टत्वादप्राप्त्याऽसाधकत्वाच्च **प्राप्त्यप्राप्तिमौ** ॥५/१/७॥ वादी के द्वारा अपना पक्ष स्थापित कर देने के उपरान्त जब प्रतिवादी उसका सदुत्तर नहीं दे पाता, तब जाति का प्रयोग करता है। **हेतुः प्राप्य वा साध्यं साधयेदप्राप्य वा ? न तावत्प्राप्य, प्राप्त्यामविशिष्टत्वादसाधकः । द्वयोर्विद्यमानयोः प्राप्तौ सत्यां किं कस्य साधकं साध्यं वा ? अप्राप्य साध कं न भवति, नाप्राप्तः प्रदीपः प्रकाशयतीति ।** वह पूछता है- हेतु साध्य से मिलकर उसको सिद्ध करता है, अथवा बिना मिले? यदि मिलकर सिद्ध करता है- ऐसा मानें तो दोनों में किसी एक की विशेषता न होने से कौन सिद्ध करता है, कौन सिद्ध होता है? इसकी कोई व्यवस्था नहीं रहेगी। अर्थात् दोनों के अमान्य होने से उनमें साध्य-साधकभाव नहीं रह सकता। साथ मिले हुए धूम और

अग्नि संयोग के आधार पर समान हैं। यदि इसमें धूम को हेतु और अग्नि को साध्य माना जाता है, तो अग्नि को हेतु और धूम को साध्य क्यों न माना जाए? अतः साध्य को प्राप्त होकर हेतु उसका साधक होता है, यह कहना असंगत है। यह प्राप्ति से प्रतिषेध करने के कारण 'प्राप्तिसम' जातिप्रयोग है ।

यदि बिना मिले हेतु को साध्य का साधक मानें तो उचित नहीं क्योंकि पदार्थों से असम्बद्ध हुआ प्रकाश कभी उनको प्रकाशित नहीं कर सकता। इस प्रकार हेतु की अप्राप्ति से किया गया प्रतिषेध 'अप्राप्तिसम' जाति का प्रयोग है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य उक्त दोनों जातियों का समाधान बताते हैं-

घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः॥५/१/८॥

साधनों के सम्बद्ध होने पर घट आदि का निर्माण देखे जाने से और दूरस्थित व्यक्ति को कष्ट देने में अभिचार-प्रक्रिया गुप्तरीति होने से उक्त दोनों प्रतिषेध उचित नहीं । **उभयथा खल्ययुक्तः प्रतिषेधः कर्तृकरणाधिकरणानि प्राप्य मृदं घटादिकार्यं निष्पादयन्ति, अभिचाराच्च पीडने सति दृष्टमप्राप्य साधकत्वमिति ॥** उक्त दोनों प्रकार के खण्डन उचित नहीं; क्योंकि कहीं हेतु की प्राप्ति से और कहीं अप्राप्ति से भी साध्य की सिद्धि प्रत्यक्ष देखने में आती है। जैसे घट आदि तो कुम्हार, चक्र, मिट्टी दण्ड आदि के साक्षात् सम्बन्ध से सिद्ध होते हैं, किन्तु अभिचार (साजिस, दूत आदि के प्रयोग) गुप्त रीति से साक्षात् सम्बन्ध हुए बिना अपना प्रभाव दिखाते हैं शत्रु को कष्ट पहुँचाते हैं। इसलिए 'प्राप्तिसम' और 'अप्राप्तिसम' प्रतिषेध अयुक्त हैं ।

इति प्राप्त्यप्राप्तिसमजातिप्रकरणम्।

अथ प्रसङ्गःप्रतिदृष्टान्तसमप्रकरणम्

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य 'सन्दर्भसम' तथा 'प्रतिदृष्टान्तसम' जातिप्रयोगों का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं-

दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ ॥५/१/९॥

दृष्टान्त के कारण का कथन न करने से और प्रतिदृष्टान्त के द्वारा प्रतिषेध (खण्डन) करने से क्रमशः प्रसंगसम और प्रतिदृष्टान्तसम जातिप्रयोग हैं। **साधनस्यापि साधनं वक्तव्यमिति प्रसङ्गेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमः प्रतिषेधः, क्रियाहेतुगुणयोगी क्रियावान् लोष्ट इति हेतुर्नापदिश्यते, न च हेतुमन्तरेण सिद्धिरस्तीति ।** हेतु का कारण और दृष्टान्त का दृष्टान्त नहीं होता। किन्तु जब वादी द्वारा प्रस्तुत हेतु तथा दृष्टान्त की सिद्धि के लिए प्रतिवादी द्वारा कारण के कारण या दृष्टान्त के दृष्टान्त की जिज्ञासा की जाती है, फिर उनके कारण और दृष्टान्त का भी सन्दर्भ उत्पन्न होता है, इसी को 'प्रसंगसम' प्रतिषेध कहते हैं। जैसे वादी अपना पक्ष स्थापित करता है वायु चलता है- क्रियावान् होने से, लोष्ट के समान। इस पर प्रतिवादी आक्षेप करता है वायु अथवा लोष्ठ क्रियावान् क्यों है? बिना हेतु के यह कैसे मान लें कि वायु अथवा लोष्ठ क्रियावान् है? वादी द्वारा प्रस्तुत दृष्टान्त का उसके विरोध में प्रतिदृष्टान्त प्रस्तुत करके प्रतिषेध (खण्डन) करना 'प्रतिदृष्टान्तसम' जातिप्रयोग है। जैसे वादी कहता है आत्मा क्रियावान है, क्रियागुणयुक्त होने से लोष्ठ के समान। प्रतिवादी ने विरोध में प्रतिदृष्टान्त प्रस्तुत करके उसका खण्डन किया आत्मा निष्क्रिय है, क्रियागुणयुक्त होने से आकाश के समान। प्रतिवादी से प्रश्न किया आकाश में क्रियागुण क्या है? वादी ने उत्तर दिया आकाश-वायु-संयोग है। वायु के साथ संयोग क्रिया का हेतु है। जैसे वायु का वृक्ष आदि के साथ संयोग होता है। इस प्रकार आकाश निष्क्रिय है, तो उसके समान आत्मा भी निष्क्रिय होना चाहिए। अतः वादी द्वारा आत्मा को सक्रिय बताना अनुचित है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य 'सन्दर्भसम' जाति के प्रयोग का उत्तर बताते हैं-

प्रदीपोपादानप्र**सङ्गनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः** ॥५/१/१०॥

प्रज्वलित प्रदीप को देखने के लिए अन्य प्रदीप के ग्रहण की निवृत्ति के समान उस हेतु अथवा दृष्टान्त की सिद्धि के लिए अन्य हेतु आदि की निवृत्ति समझ लेनी चाहिए। **इदं तावदयं पृष्टो वक्तुमर्हति, अथ के प्रदीपमुपाददते ? किमर्थं वेति ? दिदृक्षमाणा दृश्यदर्शनार्थमिति। जैसे**- प्रदीप को देखने के लिए अन्य प्रदीप की आवश्यकता नहीं होती, इसी प्रकार साध्य की सिद्धि के लिए प्रस्तुत हेतु की सिद्धि के लिए उत्तरोत्तर हेतुओं की कल्पना अनावश्यक है। दृष्टान्त भी किसी साध्य की सिद्धि के लिए तभी प्रस्तुत किया जाता है, जब लौकिक और परीक्षक दोनों समान रूप से उसकी क्षमता को स्वीकार करते हैं। **लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः**॥१/१/२५॥ ऐसी स्थिति में दृष्टान्त की सिद्धि के लिए हेतु पूछना निरर्थक है। इस प्रकार 'प्रसंगसम' जाति के प्रयोग का उत्तर दे देना चाहिए।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य 'प्रतिदृष्टान्तसम' जाति के प्रयोग का उत्तर बताते हैं -

प्रतिदृ**ष्टान्तहेतुत्वे च नाऽहेतुर्दृष्टान्तः** ॥५/१/११॥

प्रतिदृष्टान्त के साधक होने पर भी दृष्टान्त असाधक नहीं होता। प्रतिदृष्टान्तं ब्रु**वतो न विशेषहेतुरपदिश्यते अनेन प्रकारेण प्रतिदृष्टान्तः साधकः न दृष्टान्त इति।** दृष्टान्त और प्रतिदृष्टान्त दोनों का अपने साध्य की सिद्धि के लिए प्रयोग होने पर इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है, कि प्रतिदृष्टान्त अपने साध्य को सिद्ध करे, दृष्टान्त न करे। इसलिए प्रतिदृष्टान को साध्य का साधक मान लेने पर भी दृष्टान्त की साध्य-साधकता नष्ट नहीं होती वस्तुतः व्याप्तियुक्त होने से दृष्टान्त अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ होता है, प्रतिदृष्टान्त में व्याप्ति न होने से वह दृष्टान्त का प्रतिषेध (खण्डन) नहीं कर सकता- इस प्रकार 'प्रतिदृष्टान्तसम' जाति के प्रयोग का उत्तर दे देना चाहिए। **इति** प्रतिदृष्टान्तसमप्रकरण॥

अथ अनुत्पत्तिसमप्रकरणम्

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'अनुत्पत्तिसम' जाति का स्वरूप बताते हैं-

प्रागुत्पत्तेः **कारणाभावादनुत्पत्तिसमः**॥५/१/१२॥

किसी कार्य की उत्पत्ति से पहले कारण का अभाव रहने से अन्य के कथन का प्रतिषेध करना अनुत्पत्तिसम जाति का स्वरूप है। **अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्युक्ते अपर आह**-प्रागुत्पत्तेर**नुत्पन्ने शब्दे प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वकारणं नास्ति, तद्भावाद् नित्यत्वं प्राप्तं, नित्यस्य चोत्पत्तिन्नास्ति, अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमः ।** अनुत्पत्ति से वादी के पक्ष का प्रतिषेध (खण्डन) करना जाति का प्रयोग है। जैसे वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा) प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से (हेतु), जो प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होता है, वह अनित्य होता है, घट के समान (दृष्टान्त)। इस पर प्रतिवादी कहता है प्रयत्न के अनन्तर शब्द की उत्पत्ति बताकर उसे अनित्य कहना असंगत है; क्योंकि शब्द की तथाकथित उत्पत्ति से पहले उसके कारणों का अभाव है। यदि अभाव न होता तो तब शब्द सुनाई देता। जिस पदार्थ की उत्पत्ति के कारण नहीं हैं वह अनित्य नहीं हो सकता **सदकारणवन्नित्यम् वैशे. ॥४/१/१॥** अतः शब्द का नित्यत्व सिद्ध होता है। जो नित्य है, उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं ।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य उक्त जाति का उत्तर बताते हैं -

तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रतिषेधः ॥५/१/१३॥

उत्पन्न हुए शब्द आदि के वैसा होने से कारण की उपपत्ति (सिद्धि) से कारणों का प्रतिषेध (अभाव) नहीं हो सकता। **तथाभावादुत्पन्नस्येति, उत्पन्नः खल्वयं शब्द इति भवति।** उत्पन्न होने पर ही, यह 'शब्द' है ऐसा कहा जाता है, अर्थात् शब्द के उत्पन्न होने पर ही उसका अपने स्वरूप में होना (तथाभाव) सम्भव है। अतः उत्पन्न होने के कारण उसमें प्रयत्नानन्तरीयकता आवश्यकरूप से विद्यमान है। उत्पन्न होना प्रयत्न के बिना किसी प्रकार सम्भव नहीं, अर्थात् प्रयत्न शब्दोत्पत्ति का निमित्त (कारण) है। अतः जब शब्द उत्पन्न है, तब उसमें 'प्रयत्न के अनन्तर होना'- इस हेतु का अभाव नहीं कहा जा सकता। उत्पत्ति से पूर्व जब शब्द ही नहीं है, तब अनुत्पत्ति को कारण मानकर उत्पत्ति का खण्डन करना अनुचित है। अर्थात् जब कार्य ही नहीं, तो उसके कारण का खण्डन कैसा? इसलिए शब्द के अस्तित्व को मानकर उसके कारण का खण्डन करना सर्वथा असंगत है। **इति अनुत्पत्तिसमप्रकरणम् ॥**

अथ संशयसमप्रकरणम्

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'संशयसम' जाति का स्वरूप बताते हैं-

सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात् संशयसमः ॥५/१/१४॥

सामान्य (जाति) और वादी द्वारा स्थापित पक्ष में कथित दृष्टान्त का ऐन्द्रियक (इन्द्रियग्राह्य) होना समान होने पर नित्य और अनित्य दोनों के साधर्म्य से किया गया प्रतिषेध संशयसम जाति का प्रयोग है। **अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्युक्ते हेतौ संशयेन प्रत्यवतिष्ठते।** वादी ने अपना पक्ष स्थापित किया शब्द अनित्य है, प्रयत्न के पश्चात् (अनन्तर) उत्पन्न होने के कारण, घट के समान। इस पर प्रतिवादी कहता है- प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने पर भी उस शब्द का नित्य सामान्य के साथ और अनित्य घट के साथ ऐन्द्रियक (इन्द्रियग्राह्य) रूप साधर्म्य है। अर्थात् जैसे नित्य घटत्व आदि जाति इन्द्रियग्राह्य है, वैसे ही अनित्य घट भी, और शब्द भी श्रोत्र-इन्द्रियग्राह्य है। ऐसी स्थिति में संशय होता है, कि शब्द को प्रयत्नानन्तरीयकत्व साधर्म्य से घट के समान अनित्य

माना जाए अथवा ऐन्द्रियकत्व साधर्म्य से सामान्य (जाति) के समान नित्य माना जाए? अतः वादी द्वारा केवल प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु के आधार पर शब्द को अनित्य कहना असंगत है।

आचार्यों ने यह व्यवस्था की है कि जिस इन्द्रिय के द्वारा जो वस्तु गृहीत होती है, उसी इन्द्रिय से उस वस्तु में विद्यमान जाति (सामान्य) का ग्रहण होता है। संशय के आधार पर प्रतिषेध होने के कारण यह 'संशयसम' जाति का प्रयोग कहाता है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य उक्त जातिप्रयोग का उत्तर प्रस्तुत करते हैं-

साधर्म्यात् संशये न संशयो वैधर्म्यात् उभयथा वा संशयेऽत्यन्तसंशयप्रसङ्गो नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः ।।५/१/१५।। समानधर्म के ज्ञान से संशय होने पर भी विशेष धर्म के ज्ञान से संशय नहीं रहता अथवा सामान्य और विशेष दोनों प्रकार से ज्ञान होने पर भी संशय मानने पर तो अत्यन्त संशय होना प्राप्त होता है, सामान्य समान धर्म के रहते नित्य होना स्वीकार न किए जाने से भी संशय प्रस्तुत करके प्रतिषेध करना असंगत है। दो पदार्थों के समान धर्मों का ज्ञान संशय का कारण होता है। जैसे स्थाणु और पुरुष में केवल समान धर्म के ज्ञान से संशय उत्पन्न होता है। परन्तु जब संशय के आधार-वस्तु में किसी एक के विशेष धर्म का ज्ञान हो जाता है, तब समान धर्म के बने रहने पर भी संशय का उच्छेद हो जाता है। अर्थात् समान धर्म तभी तक संशय को उत्पन्न कर सकता है, जब तक कि विशेष धर्म का ज्ञान नहीं हो जाता। यदि उस स्थिति में भी साधर्म्य के बल पर संशय होना माना जाए, तो संशय कभी निवृत्त नहीं होगा क्योंकि स्थाणु और पुरुष, के समान धर्म तो सदा बने रहते हैं। इसी प्रकार प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होना शब्द का विशेष धर्म है, और नित्य जाति तथा अनित्य घट आदि में रहने वाला इन्द्रियग्राह्यताधर्म शब्द में समान धर्म है। इस समान धर्म के रहने पर जब शब्द के इस विशेष धर्म का ज्ञान हो जाता है, कि वह प्रयत्न के अनन्तर ही अपने अस्तित्व में आता है, तब उसके अनित्यत्व का संशय निवृत्त हो जाता है। फिर ज्ञात विशेष धर्म के बल पर समान धर्म के रहते हुए भी शब्द का नित्य होना स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिए साधर्म्य से संशय उठाकर उक्त प्रकार से प्रतिषेध करना असंगत है। **इति संशयसमप्रकरणम्।।**

अथ प्रकरणसमप्रकरणम्

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'प्रकरणसम' जाति प्रयोग का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं-

उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः ।।५/१/१६।।

दृष्टान्त और प्रतिदृष्टान्त दोनों के साधर्म्य से पक्ष तथा प्रतिपक्षरूप प्रकरण का सिद्धि निरन्तर बने रहने से प्रकरणसम जाति का प्रयोग होता है। **उभयेन नित्येन चानित्येन च साधर्म्यात्पक्षप्रतिपक्षयोः प्रवृत्तिः प्रक्रिया। अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्येकः पक्षं प्रवर्त्तयति, द्वितीयश्च नित्यसाधर्म्यात्।** पक्ष और प्रतिपक्ष की प्रवृत्ति को प्रक्रिया कहते हैं, जो नित्य, अनित्य आदि के दृष्टान्त और प्रतिदृष्टान्त के साधर्म्य से सिद्ध होती है। एक वादी अपना पक्ष प्रस्तुत करता है 'शब्द अनित्य है, प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से, घट के समान'। दूसरा (प्रतिवादी) अपने पक्ष को प्रस्तुत करता है 'शब्द नित्य है, श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य होने से कारण, शब्दत्व जाति के समान'। यहाँ अनित्य और नित्य के साधर्म्य से वादी प्रतिवादी द्वारा शब्द के विषय में अपने-अपने पक्ष प्रस्तुत किए गए, जिसमें अनित्य साधर्म्य से कहा गया पहला हेतु प्रकरण को समाप्त नहीं करता और प्रकरण के निरन्तर चलायमान रहने से अर्थ का निर्णायक नहीं होता। यही स्थिति नित्य-साधर्म्य से कहे गए हेतु की है। इस प्रकार अनिर्णयावस्था में प्रकरण को चलाते रहने की प्रवृत्ति से जो परस्पर एक-दूसरे का प्रतिषेध प्रस्तुत किया जाता है, वह 'प्रकरणसम' जाति का प्रयोग है। सूत्रा में 'साधर्म्य' शब्द 'वैधर्म्य' का भी उपलक्षण समझना चाहिए अर्थात् नित्य और अनित्य आदि के वैधर्म्य से प्रकरण को निरन्तर चालू रखना भी 'प्रकरणसम' जाति का प्रयोग कहा जा सकता है। जैसे वादी कहता है- शब्द नित्य नहीं है, कृतक होने से, जो कृतक होता है, वह नित्य नहीं होता, जैसे-घट। यह नित्य के वैधर्म्य से प्रकरण प्रवृत्त हुआ। इसी प्रकार दूसरा पक्ष होगा शब्द अनित्य नहीं है, स्पर्शरहित होने से, जो स्पर्शरहित होता है, वह अनित्य नहीं होता, जैसे शब्दत्व जाति। यह अनित्य के वैधर्म्य से प्रकरण प्रवृत्त किया गया।

साधर्म्यसम- वैधर्म्यसम जाति प्रयोगों के साथ 'प्रकरणसम' जाति का भेद इतना है, कि 'प्रकरणसम' जाति के प्रयोग में तो वादी निश्चय पूर्वक अपना पक्ष सिद्ध करने तथा वादी के पक्ष में दोष दिखाने की भावना से प्रवृत्त होता है परन्तु साधर्म्य वैधर्म्य तथा संशयसम जाति के प्रयोगों में प्रतिवादी अपने प्रतिपक्ष के निश्चय से प्रवृत्त नहीं होता, अपितु अपना पक्ष रखकर कहता हैं, कि तुम्हारा

पक्ष माना जाए, हमारा न माना जाए, इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य 'प्रकरणसम' जातिप्रयोग का उत्तर बताते हैं-

प्रतिपक्षात् **प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः** ॥५/१/१७॥

प्रतिपक्ष से प्रकरण की सिद्धि होने के कारण प्रतिपक्ष के निश्चय से प्रतिषेध नहीं हो सकता। **उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धिं ब्रुवता प्रतिपक्षात्प्रक्रियासिद्धिरुक्ता भवति, यद्युभयसाधर्म्यं तत्र एकतरः प्रतिपक्ष इत्येवं सत्युपपन्नः प्रतिपक्षो भवति, प्रतिपक्षोपपत्तेरनुपपन्नः प्रतिषेधः, यतः प्रतिपक्षोपपत्तिः प्रतिषेधोपपत्तिश्चेति विप्रतिषिद्धमिति।** दोनों के साधर्म्य से प्रक्रिया की सिद्धि होने में दोनों में से एक ही पक्ष सिद्ध होगा, दोनों नहीं; क्योंकि एक ही विषय में दो विरुद्ध मत हों, तो उनमें से एक ही सत्य होता है। उसका खण्डन प्रकरणसम नहीं कर सकता, क्योंकि जब तक अनुसन्धान से तत्त्व का अवधारण (निश्चय) नहीं होता, तभी तक प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है, व्याप्ति के आधार पर जब एक पक्ष (तत्त्व) का निश्चय हो जाता है, तब प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। अतः 'प्रकरणसम' जाति के द्वारा खण्डन अयुक्त है **इति प्रकरणसमप्रकरणम्॥**

अथ अहेतुसमप्रकरणम्

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'अहेतुसम' जातिप्रयोग का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं-

त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः ॥५/१/१८॥

हेतु की तीनों कालों में सिद्धि न होने से अहेतुसम जातिप्रयोग होता है। अनुमान प्रमाण के पञ्चावयव वाक्य में साध्य की सिद्धि के लिए हेतु अर्थात् साधन का प्रयोग किया जाता है। **हेतुः साधनम्, तत्साध्यात् पूर्वं पश्चात्सह वा भवेत् ? यदि पूर्वं साधनमसति साध्ये कस्य साधनम् ? अथ पश्चाद्, असति साधने कस्येदं साध्यम् ?** यहाँ यह जानना है, कि वह हेतु (साधन) साध्य से पहले होता है, या पीछे? अथवा साथ साथ? यदि हेतु को साध्य से पहले मानें, तो साध्य के अभाव में किसका साधन होगा? अर्थात् जब साध्य ही नहीं, तो किसको सिद्ध करेगा? यदि हेतु को साध्य से पीछे मानें, तो हेतु अनावश्यक है; क्योंकि जिसके लिए हेतु का प्रयोग करना है, वह पहले ही विद्यमान है। फिर उसे साध्य भी नहीं कहा जा सकता, वह तो हेतु के बिना ही सिद्ध है। यदि दोनों का साथ होना मानें, तो उनके विद्यमान होने पर कौन किसका साध्य और कौन किसका साधन कहलाएगा? क्योंकि एक साथ होने वाले पदार्थों का परस्पर साध्य साधन भाव नहीं हो सकता। इस प्रकार तीनों कालों में हेतु की असिद्धि दिखाकर परपक्ष का खण्डन करना 'अहेतुसम' जाति का स्वरूप होता है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य उक्त जातिप्रयोग का उत्तर बताते हैं

न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः ।।५/१/१९।।

हेतु से साध्य की सिद्धि होने के कारण (हेतु की) तीनों कालों में असिद्धि नहीं हो सकती। **न त्रैकाल्यासिद्धिः । कस्मात् ? हेतुतः साध्यसिद्धेः । निवर्तनीयस्य निर्वृत्तिर्विज्ञेयस्य विज्ञानमुभयं कारणतो दृश्यते, सोऽयं महान्प्रत्यक्षविषय उदाहरणमित्ति ।** यह कहना उचित नहीं, कि साध्य से पहले, पीछे अथवा एक साथ-तीनों कालों में हेतु की असिद्धि है; क्योंकि बिना हेतु या कारण के कोई कार्य या साध्य सिद्ध नहीं हो सकता, यह लोक में प्रत्यक्षसिद्ध तथ्य है। इसलिए कार्य या साध्य से पहले हेतु का होना आवश्यक है। प्रतिवादी ने जो यह कहा था, कि साध्य से पहले हेतु के होने पर साध्य के अभाव में वह किसका साधन होगा? इसका उत्तर यह है, कि जो बनता है, जो अभी उत्पन्न होने वाला है, अथवा जो ज्ञात कराया जाता है, उस साध्य का। अतः हेतु का साध्य से पहले होना आवश्यक है। इस प्रकार हेतु की तीनों कालों में असिद्धि न होने से 'अहेतुसम' जाति का प्रयोग अप्रमाणिक है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य प्रकारान्तर से उक्त जातिप्रयोग (प्रतिषेध) का उत्तर देते है-

प्रतिषे**धानुपपत्तेः** प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः ।।५/१/२०।।

प्रतिषेध की अनुपपत्ति (असिद्धि) से भी निषेधयोग्य का निषेध नहीं हो सकता। **पूर्वं पश्चाद्युगपद्वा प्रतिषेध इति नोपपद्यते, प्रतिषेधानुपपत्तेः स्थापनाहेतुः सिद्ध इति ।** प्रतिवादी का निषेधयोग्य विषय है 'हेतु से साध्य की सिद्धि होना'। और इसके खण्डन में वह **'हेतोस्त्रैकाल्यासिद्धेः'** यह हेतु देता है। उससे पूछना चाहिए, कि तुम्हारा तो यह पक्ष था, कि 'साध्य की सिद्धि में हेतु असमर्थ है', फिर अपने कथन की पुष्टि में तुम उसी असमर्थ (अपर्याप्त) हेतु का आश्रय लेते हो। यह **'वदतो व्याघात'** नहीं है तो और क्या है? जब दूसरे का हेतु तुम्हारी दृष्टि में उसके पक्ष को सिद्ध नहीं करता, तो तुम्हारा हेतु तुम्हारे कथन को कैसे सिद्ध करेगा? अतः 'अहेतुसम' प्रतिषेध अनुपपन्न (असिद्ध) है, और वादी का व्याप्ति युक्त हेतु साध्य की सिद्धि में निश्चितरूप से साधन सिद्ध होता है। **इति अहेतुसमप्रकरणम् ।**

अथ अर्थापत्तिसमप्रकरणम्

संदर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'अर्थापत्तिसम' जातिप्रयोग का लक्षण (स्वरूप) प्रस्तुत करते हैं-

अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः ।।५/१/२१।।

अर्थापत्ति के द्वारा प्रतिपक्ष (विरोधी पक्ष) की सिद्धि से किया गया प्रतिषेध अर्थापत्तिसम जाति का प्रयोग कहाता है। **अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदिति स्थापिते पक्षे अर्थापत्त्या प्रतिपक्षं साधयतोऽर्थापत्तिसमः।** एक बात के कहने से जो दूसरी बात अनायास जानी जाती है, उसे 'अर्थापत्ति' कहते हैं। जहाँ इस अर्थापत्ति के द्वारा जातिवादी प्रतिपक्ष को सिद्ध करता हुआ, वादी द्वारा स्थापित पक्ष का प्रतिषेध करता है, तब वह 'अर्थापत्तिसम' जाति का प्रयोग कहलाता है। जैसे- वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है शब्द अनित्य है, प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से, घट के समान- इस पर जातिवादी कहता है यदि अनित्यता के साधक प्रयत्नानन्तरीयकत्व साधर्म्य से शब्द अनित्य है, तो अर्थापत्ति से ज्ञात होता है, कि नित्यता के साधक अस्पर्शत्व साधर्म्य से शब्द नित्य होना चाहिए। यथा- शब्द नित्य है, अस्पर्श (स्पर्शरहित) होने से, आकाश के समान। इस प्रकार शब्द को नित्य मानना चाहिए।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य 'अर्थापत्तिसम' जातिप्रयोग का उत्तर बताते हैं-

अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वादनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः ।।५/१/२२।।

असाधित की अर्थापत्ति से साध्य का प्रतिषेध मानने पर अर्थापत्ति के असिद्ध होने से और अनैकान्तिक होने से जाति वादी के पक्षहानि की प्राप्ति होती है। **अनुपपाद्य सामर्थ्यमनुक्तमर्थादापद्यते इति पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वात्, अनित्यपक्षसिद्धावर्थादापन्नं नित्यपक्षस्य हानिरिति ।** वादी द्वारा व्याप्तिसहित हेतु पूर्वक पञ्चावयव से अपना पक्ष सिद्ध कर देने पर जातिवादी उसका प्रतिषेध केवल अर्थापत्ति के आधार पर करता है, स्वयं पञ्चावयव से प्रतिपक्ष को सिद्ध नहीं करता। ऐसी स्थिति में वादी के पक्ष का खण्डन न होकर उलटा प्रतिवादी का पक्ष ही हानि को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् सद् हेतु के द्वारा शब्द का अनित्यत्व सिद्ध हो जाने पर केवल अर्थापत्ति के आधार पर शब्द का नित्यत्व पक्ष सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उसे स्वतन्त्र पञ्चावयव से सिद्ध नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त अर्थापत्ति अनैकान्तिक भी है क्योंकि वह नित्य-अनित्य दोनों पक्षों में समान है। यदि अस्पर्श होने से नित्य साधर्म्य से आकाश के समान शब्द नित्य है, तो अर्थापत्ति से यह भी कहा जा सकता है कि प्रयत्नानन्तरीयकत्व अनित्यसाधर्म्य से शब्द अनित्य है। इस प्रकार यह अर्थापत्ति केवल विपर्यय का सहारा लेकर सर्वत्र नहीं उठाई जा सकती। जैसे- १. कोई कहे कि

ठोस पत्थर नीचे गिर जाता है, तो इससे यह अर्थापत्ति नहीं निकाली जा सकती कि तरल जल नीचे नहीं गिरता। २. इसी प्रकार यदि कोई कहे, कि मनुष्य प्राणी है, तो अर्थापत्ति से यह तात्पर्य नहीं निकलता, कि मनुष्य के अतिरिक्त और कोई प्राणी नहीं। इसके अतिरिक्त मान अपमान, हानि लाभ, सुख दु:ख आदि स्पर्शरहित होते हुए भी अनित्य हैं। वस्तुत: अर्थापत्ति की प्रामाणिकता वहीं है, जहाँ वह अनुक्त अर्थ का ऐकान्तिक रूप से बोध कराने में सफल हो। प्रस्तुत प्रसंग में अर्थापत्ति ऐसी नहीं है। अत: शब्द के अनित्यत्व का 'अर्थापत्तिसम' जाति के रूप में प्रतिषेध असंगत है। **इति अर्थापत्तिसमजातिप्रकरणम् ।**

अथ अविशेषसमप्रकरणम्

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'अविशेषसम' जाति के प्रयोग का स्वरूप प्रस्तुत करते है।

एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात् सद्भावोपपत्तेरविशेषसम: ॥५/१/२३॥

किसी एक धर्म की सिद्धि से किन्हीं पदार्थों में समानता का कथन होने पर सब पदार्थों में समानता की सिद्धि से सद्भाव (सत्त्वरूप) एक धर्म की सिद्धि के कारण जो स्थापित पक्ष का प्रतिषेध किया जाता है, वह 'अविशेषसम' जाति का स्वरूप है। **एको धर्म: प्रयत्नानन्तरीयकत्वं शब्दघटयोरुपपद्यत इत्यविशेषे उभयोरनित्यत्वे सर्वस्याविशेष: प्रसज्यते ।** वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है शब्द अनित्य है, प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से, घट के समान यहाँ प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होना रूप एक धर्म शब्द और घट दोनों में सिद्ध है। इसके अनुसार ये दोनों अनित्य हैं। इस पर जातिवादी कहता है- यदि प्रयत्नानन्तरीयकत्व एक धर्म से शब्द और घट की समानता प्रमाणिमत होती है, तो सद्भावरूप (सत्त्वरूप) एक धर्म से जो कि समस्त पदार्थों में सिद्ध है, निश्चितरूप से विद्यमान रहता है, उसके अनुसार सभी पदार्थों में समानता की प्राप्ति होती है। उस स्थिति में या तो सब नित्य हों अथवा अनित्य। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। इसलिए किसी एक धर्म के आधार पर अनेक पदार्थों को अविशेष (समान) कहना असंगत है। इस प्रकार सब के 'अविशेष' समानता की प्राप्ति का निर्देश करके, वादी द्वारा स्थापित पक्ष का खण्डन करने के कारण 'अविशेषसम' जाति का प्रयोग कहलाता है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य 'अविशेषसम' जाति के प्रयोग का उत्तर प्रस्तुत करते हैं-

क्वचिद्धर्मानुपपत्ते: क्वचिच्चोपपत्ते: प्रतिषेधाभाव: ॥५/१/२४॥

कहीं धर्म की अनुपत्ति (असिद्धि) से और कहीं धर्म की सिद्धि से प्रतिषेध का अभाव है। **यथा साध्यदृष्टान्तयोरेकधर्मस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्योपपत्तेरनित्यत्वं धर्मान्तरमविशेषेण, नैवं सर्वभावानां सद्भावोपपत्तिनिमित्तं धर्मान्तरमस्ति येनाविशेष: स्यात् ।** साध्य और दृष्टान्त में अर्थात् शब्द तथा घट में प्रयत्नानन्तरीयकत्व एक निश्चित धर्म की विद्यमानता से अनित्यत्व रूप एक अतिरिक्त धर्म सिद्ध हो जाता है। किन्तु सद्भाव (सत्त्वरूप) धर्म की सब पदार्थों में विद्यमानता ऐसा धर्म नहीं हैं, कि जिसके होने पर किसी अन्य धर्म की सिद्धि होती हो, जैसा कि स्थापित पक्ष में अनित्यत्व धर्म सिद्ध होता है। अत: जहाँ धर्मविशेष की सिद्धि से कोई धर्मान्तर अविशेष प्रमाणित होता है, वहीं उसे स्वीकार करना चाहिए, जहाँ ऐसा अविशेष धर्म सिद्ध नहीं होता, वहाँ वह अमान्य होगा। यद्यपि समस्त पदार्थों में सद्भाव धर्म विद्यमान रहता है, परन्तु वह उनमें किसी अन्य धर्म को सिद्ध नहीं करता। इसलिए ऐसे धर्म के आधार पर स्थापित पक्ष का प्रतिषेध असंगत हैं। इसके अतिरिक्त सद्भाव हेतु से जो प्रतिवादी सबका अनित्यत्व बताना चाह रहा है, उसके विचार से शब्द का अनित्यत्व अनायास सिद्ध हो गया, अर्थात् जातिवादी ने शब्द का भी अनित्यत्व स्वीकार कर लिया, फिर जाति के प्रयोग से वादी के पक्ष का प्रतिषेध कैसे होगा? अत: अविशेषसम जाति का प्रयोग सर्वथा असंगत है।

इति अविशेषसमप्रकरणम् ॥

अथ उपपत्तिसमप्रकरणम्

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य 'उपपत्तिसम' जातिप्रयोग का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं-

उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसम: ॥५/१/२५॥

पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों धर्मों के कारणों की सिद्धि से वादी द्वारा स्थापित पक्ष का प्रतिषेध करना उपपत्तिसम जाति का प्रयोग है। **यद्यनित्यत्वकारणमुपपद्यते शब्दस्येनित्य: शब्दो नित्यत्वकारणमप्युपपद्यतेऽस्यास्पर्शत्वमिति नित्यत्वमप्युपपद्यते, उभयस्यानित्यत्वस्य नित्यत्वस्य च कारणोपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसम: ॥** वादी द्वारा शब्द का अनित्यत्व स्थापित कर देने पर प्रतिवादी कहता है- यदि शब्द को

अनित्य सिद्ध करने वाला धर्म 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' सिद्ध है, तो शब्द के नित्यत्व का साधक धर्म 'अस्पर्शत्व' भी सिद्ध है। ऐसी स्थिति में शब्द को अनित्य ही क्यों स्वीकार किया जाए? नित्य क्यों न स्वीकार किया जाए? शब्दनित्यत्व के कारण की विद्यमानता में शब्द का अनित्यत्व निवृत्त हो जाना चाहिए। इस प्रकार यहाँ नित्य और अनित्य दोनों के कारणों की उपपत्ति से खण्डन करना 'उपपत्तिसम' जाति का प्रयोग कहलाता है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य 'उपपत्तिसम' जाति के प्रयोग का उत्तर प्रस्तुत करते हैं-

उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः ॥५/१/२६॥

प्रतिषेध्य धर्म की सिद्धि के कारण को स्वीकार कर लेने से उस धर्म का प्रतषेध नहीं हो सकता। **उभयकारणोपपत्तेरिति ब्रुवता नानित्यत्वकारणोपपत्तेरनित्यत्वं प्रतिषिध्यते, यदि प्रतिषिध्यते नोभयकारणोपपत्तिः स्यात् ।** दोनों के कारणों की सिद्धि से ऐसा कहने वाला प्रतिपक्षी शब्द के अनित्यत्व धर्म के कारण की उपयोगिता को स्पष्टरूप से स्वीकार करता है। स्वीकार कर लेने पर उसका प्रतिषेध असंगत है। यदि प्रतिषेध्य (शब्द की अनित्यता) स्वीकार नहीं, तो 'उभयकारणोपपत्ति' न होने से 'उपपत्तिसम' जाति का प्रयोग सर्वथा अनुचित है।

इति उपपत्तिसमप्रकरणम्॥

अथ उपलब्धिसमप्रकरणम्

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्यक्रमप्राप्त 'उपलब्धिसम' जातिप्रयोग का स्वरूप बताते हैं- **निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः ॥५/१/२७॥**

वादी द्वारा निर्दिष्ट कहे हुए कारण के न होने पर भी कार्य के उपलब्ध होने से उपलब्धिसम प्रतिषेध होता है। **निर्द्दिष्टस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्यानित्यत्यकारणस्याभावेऽपिवायुनोदनाद्-**

वृक्षशाखाभङ्गजस्य शब्दस्यानित्यत्वमुपलभ्यते, निर्द्दिष्टस्य साधनस्याभावेऽपि साध्यधर्मोपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमः । वादी अपना पक्ष रखता है शब्द अनित्य है, प्रयत्नानन्तरीयक होने से घट के समान। इस पर प्रतिपक्षी कहता है प्रयत्न आत्मा का गुण है, अतः जहाँ आत्मप्रेरित प्रयत्न नहीं रहता, वहाँ शब्द की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए। परन्तु इस निर्दिष्ट कारण के अभाव में भी शब्द की उत्पत्ति देखी जाती है। जैसे वृक्ष के पत्तों से वायु का संयोग होने पर अथवा वृक्ष आदि के टूटने पर शब्द उत्पन्न हो जाता है, वह भी अनित्य है। इसलिए वादी ने जो 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' हेतु दिया है, वह उचित नहीं। यहाँ प्रतिपक्षी वादी द्वारा स्थ. ापित पक्ष के हेतु में अनैकान्तिक दोष दिखाना चाहता है। इस प्रकार किसी निर्दिष्ट कारण के अभाव में भी साध्यधर्म की उपलब्धि से प्रतिषेध करने के कारण इस जाति-प्रयोग को 'उपलब्धिसम' कहते है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य 'उपलब्धिसम' जाति प्रयोग का उत्तर प्रस्तुत करते हैं-

कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥५/१/२८॥

अन्य कारण से भी उस (साध्य) धर्म की सिद्धि होने के कारण (उक्त) प्रतिषेध असंगत है। प्रय**त्नानन्तरीयकत्वादिति ब्रुवता कारण ात उत्पत्तिरभिधीयते न कार्यस्य कारणनियमः ।** वादी द्वारा 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' हेतु से जो शब्द का अनित्यत्व सिद्ध किया गया है, वहाँ कारण से कार्य की उत्पत्ति कही गई है, कार्यकारणविशेष का नियम नहीं बताया गया। यदि किसी अन्य हेतु से शब्द में अनित्यत्व सिद्ध हो जाए, तो जातिवादी ने किसका प्रतिषेध किया? क्योंकि शब्द का अनित्यत्व तो जातिवादी द्वारा सिद्ध हो ही गया। अन्य हेतु से साध्य की सिद्धि हो जाने पर भी प्रथम हेतु व्यर्थ नहीं होता- क्योंकि दूसरे हेतु के समान पहले हेतु का भी साध्य के साथ निर्बाधरूप से व्याप्ति-सम्बन्ध पाया जाता है। अतः उपलब्धिसम जाति का प्रयोग सर्वथा असंगत है ।

इति उपलब्धिसमप्रकरणम्॥

अथ उपलब्धिसमप्रकरणम्

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'अनुपलब्धिसम' जातिप्रयोग का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं-

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः ॥५/१/२९॥

उन शब्दावरणादिकों की अनुपलब्धि के उपलब्ध न होने से शब्दावरणादि की अनुपलब्धि के अभाव की सिद्धि हो जाने पर उस

(अभाव) के विपरीत शब्दावरणादि के अस्तित्व की उपपत्ति (सिद्धि) से किया गया प्रतिषेध 'अनुपलब्धिसम' जाति का प्रयोग है। **तेषामावरणादीनामनुपलब्धिर्नोपलभ्यते अनुपलम्भान्नास्तीत्यभावोऽस्याः सिद्धयति, अभावसिद्धौ हेत्वभावात्तद्विपरीतमस्ति. त्वमावरणादीनाम-**

वधार्यते, तद्विपरीतोपपत्तेर्यत्प्रतिज्ञातं न प्रागुच्चारणाद्विद्यमानस्य शब्दस्यानुपलब्धिरित्येतन्न सिद्धयति । शब्द को अनित्य मानता हुआ वादी कहता है, कि यदि शब्द नित्य है, तो उच्चारण से पूर्व उसकी उपलब्धि क्यों नहीं होती? यदि उच्चारण से पूर्व शब्द के न सुनाई देने का कारण कोई आवरण होता, तो जल आदि के आवरण घटादि के समान उसकी उपलब्धि होती। अनुपलब्धि से आवरण का अभाव सिद्ध होता है। इस पर प्रतिवादी जाति का प्रयोग करता है यदि आवरण की अनुपलब्धि से आवरण का अभाव मानेंगे, तो आवरण की अनुपलब्धि के अनुपलम्भ (उपलम्भ न होने) आवरण की अनुपलब्धि का भी अभाव मानना पड़ेगा, जिससे आवरण के अस्तित्व का अभाव घटरूप होता है, उसी प्रकार शब्द के आवरण के अभाव का अभाव भी आवरण स्वरूप ही होगा। अर्थात् यदि आवरण की अनुपलब्धि है, तो आवरणानुपलब्धि की भी अनुपलब्धि है। अतः शब्द नित्य है, जो आवरण आदि के कारण उच्चारण से पूर्व सुनाई नहीं देता। इस प्रकार आवरण अनुपलब्धि का समानरूप में उसकी अनुपलब्धि से प्रतिषेध किए जाने के कारण यह 'अनुपलब्धिसम' जातिप्रयोग कहलाता है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य इस 'अनुपलब्धिसम' जाति के प्रयोग का उत्तर प्रस्तुत करते है-

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ।॥५/१/३०॥

आवरणादि की अनुपलब्धि के अनुपलम्भात्मक उपलब्ध न होने के स्वभाव वाली होने से (उक्त) हेतु उचित नहीं है। **आवरण ाद्यनुपलब्धिर्नास्ति अनुपलम्मादित्यहेतुः । कस्मात् ? अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेः । उपलम्भाभावमात्रत्वादनुपलब्धेः ।** किसी वस्तु की उपलब्धि से उसके अस्तित्व का निश्चय होता है, और अविद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि से उसका अभाव जाना जाता है। इसलिए आवरण की अनुपलब्धि आवरण के अभाव का निश्चय कराती है। अनुपलब्धि का विषय स्वयं अनुपलब्धि नहीं हो सकता। इसलिए गतसूत्रा में प्रतिवादी ने जो हेतु दिया है अनुपलब्धि के उपलब्ध न होने से वह सर्वथा असंगत है। अतः प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से शब्द को अनित्य ही समझना चाहिए।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य 'अनुपलब्धिसम' जाति प्रयोग का अन्य समाधान बताते हैं-

ज्ञानविकल्पानाञ्च भावाभावसंवेदनादध्यात्मम् ।॥५/१/३१॥

आत्मा में ज्ञान के विविध प्रकारों के भावाभावसंवेदनात्, होने न होने की अनुभूति से भी उक्त हेतु उचित नहीं है। **अहेतुरि. ति वर्त्तते । शरीरे शरीरिणां ज्ञानविकल्पानां भावाभावौ संवेदनीयौ अस्ति मे संशयज्ञानं नास्ति मे संशयज्ञानमिति, एवं प्रत्यक्षानुमानागमस्मृति-ज्ञानेषु ।** प्रत्यक्षादि सभी प्रकार के ज्ञानों के विषय में यह अनुभूति (प्रतीति) होती रहती है, कि अमुक विषय में मुझे प्रत्यक्ष, आनुमानिक, आगमिक, संशयात्मक अथवा स्मृतिरूप ज्ञान है, अथवा नहीं है। इसी प्रकार प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को यह अनुभूति होती है, कि मुझे किसी ऐसे आवरण का ज्ञान नहीं है, जो उच्चारण से पूर्व विद्यमान शब्द के सुनाई देने में बाधक हो। इस सर्वविदित अनुभूति से आवरण का अभाव सिद्ध होता है। अतः २९ वें सूत्रा में प्रस्तुत हेतु से आवरण की कल्पना करना सर्वथा असंगत है।

इति उपलब्धिसमप्रकरणम्॥

अथ अनित्यसमप्रकरणम

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य 'नित्यसम' से पहले 'अनित्यसम' जातिप्रयोग का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं-

साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमः ।॥५/१/३२॥

कृतकत्वादिलक्षण द्वारा घटादि के साथ साधर्म्य से तुल्य (समान) धर्म की सिद्धि से सब पदार्थों का अनित्यत्व प्राप्त होने के कारण जो प्रत्यवस्थान (प्रतिषेध) किया जाता है, वह अनित्यसम जातिप्रयोग है। **अनित्येन घटेन साधर्म्यादनित्यः शब्द इति ब्रुवतोऽस्ति घटेनानित्येन सर्वभावानां साधर्म्यमिति सर्वस्यानित्यत्वमनिष्टं सम्पद्यते, सोऽयमनित्यत्वेन प्रत्यवस्थानादनित्यसम इति ।** शब्द का घट के साथ कृतकत्व साधर्म्य होने से यदि घट के समान शब्द को अनित्य मानते हो, तो घट के साथ सब पदार्थों का सद्भावरूप (सत्तारूप) साधर्म्य होने से घट के समान सब पदार्थों को अनित्य मानना चाहिए। परन्तु ऐसा मानना आप (वादी) को भी अभीष्ट नहीं क्योंकि सब पदार्थों का अनित्यत्व सम्भव नहीं। अर्थात् जैसे घट सत् है, तो आत्मा भी सत् है, अत एव घट के समान आत्मा में भी अनित्यता की आपत्ति आएगी। इसलिए घट के समान शब्द को भी अनित्य मानना उचित नहीं। इस प्रकार अनित्य होने के

आधार पर वादी द्वारा स्थापित पक्ष का प्रत्यवस्थान (खण्डन करना) 'अनित्यसम' जाति का प्रयोग है ।

प्रसङ्ग- अब दर्शनाचार्य 'अनित्यसम' जाति के प्रयोग का उत्तर प्रस्तुत करते हैं-

साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्यात् ॥५/१//३३॥

साधर्म्य के कारण स्थापित पक्ष की असिद्धि मानने से तो प्रतिषेध्य के साथ साधर्म्य से प्रतिषेध की भी असिद्धि हो जाती है। **प्रतिज्ञाद्यवयवयुक्तं वाक्यं पक्षनिर्वर्त्तकम्, प्रतिपक्षलक्षणं** प्रतिषेधस्तस्य प**क्षेण प्रतिषेध्येन साधर्म्य प्रतिज्ञादियोगः, तद्यद्यनित्य साधर्म्यादनित्यत्वस्यासिद्धिः ? साधर्म्यादसिद्धेः** प्रतिषेधस्याप्यसिद्धिः प्रातिषेध्**येन साधर्म्यादिति ।** वादी द्वारा शब्द का अनित्यत्व स्थापित करने पर प्रतिवादी साधर्म्य के आधार पर पदार्थमात्र की अनित्यता की प्राप्ति दिखाकर उसका प्रतिषेध (खण्डन) करता है। उसमें वादी का पक्ष 'प्रतिषेध्य' और प्रतिवादी का कथन 'प्रतिषेध' कहाता है। वादी उक्त जातिप्रयोग का 'प्रतिबन्दी' उत्तर देता है यदि अनित्य घटादि के समानधर्म से शब्द की अनित्यता सिद्ध नहीं होती, तो स्थापनावादी के प्रतिषेध्य (निषेधयोग्य) पक्ष के साथ प्रतिषेध पक्ष का 'पञ्चावयववाक्य से युक्त होना'- रूप साधर्म्य के कारण, वादी की स्थापना का प्रतिषेध भी नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों पक्षों में समान दोष होगा। तब प्रतिषेध के असिद्ध होने से शब्द का अनित्यत्व-साधक पक्ष ही सिद्ध रह जाएगा। वस्तुतः व्याप्तियुक्त विशिष्ट साधर्म्य ही नियतधर्म का साधक होता है, यत्किञ्चित् साधर्म्य नहीं। अतः 'अनित्यसम' जातिप्रयोग असंगत है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य 'अनित्यसम' जाति के प्रयोग का अन्य प्रकार से समाधान प्रस्तुत करते हैं-

दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात् तस्य चोभयता भावान्नाविशेषः॥५/१/३४॥

दृष्टान्त में साध्य के साधनभाव से जाने हुए कृतकत्वादि धर्म के (हेतुत्वात्) हेतु साध्य का साधक होने से तथा उस (हेतुत्व) के (साधर्म्य-वैधर्म्यरूप) दोनों प्रकार का होने से वादी प्रतिवादी के हेतुओं में समानता नहीं है। **दृष्टान्ते यः खलु धर्मः साध्यसाधनभ. ावेन प्रज्ञायते स हेतुत्वेनाभिधीयते ।** दृष्टान्त में जो धर्म साध्य के साधनरूप से जाना है, उसे हेतु कहते हैं, जो किसी से समानधर्म वाला और किसी से विरुद्धधर्म वाला होता है। समानधर्म से साधर्म्य और विशेषधर्म से वैधर्म्य होता है। उनमें व्याप्तियुक्त विशेषरूप से समानधर्म वाला या विरुद्ध धर्म वाला हेतु ही साध्य का साधक होता है, न कि बिना किसी व्याप्ति के केवल साधर्म्य अथवा वैधर्म्य, वाला। जैसे कि वादी द्वारा स्थापित पक्ष में 'अनित्यत्व' एवं 'कृतकत्व' या 'प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' साध्य और हेतु के ध र्मो घटादि पदार्थों में दोनों प्रकार की व्याप्ति पूर्णरूप से विद्यमान है, किन्तु प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत 'अनित्यत्व' के साथ 'सत्त्व' की व्याप्ति के लिए कोई दृष्टान्त उपलब्ध नहीं। अतः वादी और प्रतिवादी के हेतुओं को समान कहकर सत्त्वसाधर्म्य से संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में अनित्य होने की आपत्ति दिखाकर 'अनित्यसम' जाति के प्रयोग से वादी के पक्ष का प्रतिषेध करना सर्वथा असंगत है। पूर्वोक्त क्वचिद्धर्मानुपपत्तेः **क्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥५/१/२४॥**, 'अविशेषसम' जाति के प्रतिषेध में जो पूर्व में कहा गया है, उसे यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

विशेष- 'अविशेषसम' (सूत्रा २३) और 'अनित्यसम' जाति के प्रयोग में भेद यह है, कि 'अविशेषसम' में किसी विशेषधर्म का निर्देश नहीं होता, परन्तु 'अनित्यसम' में 'अनित्यत्व' विशेष साध्य धर्म का निर्देश है। इसीलिए दोनों के नाम में भेद है।

इति अनित्यसमप्रकरणम् ।

अथ नित्यसमप्रकरणम्

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य 'नित्यसम' जाति का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं-

नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः॥५/१/३५॥

'नित्यम्' सदा अनित्य के स्थिर रहने से अनित्य (शब्दादि) में नित्यत्व की सिद्धि से किया गया प्रत्यवस्थान (प्रतिषेध) नित्यस जाति का प्रयोग कहलाता है। **अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञायते, तदनित्यत्वं किं शब्दे नित्यमथानित्यम् ? यदि तावत्सर्वदा भवति ?** 'शब्द अनित्य है'- यह जो वादी की प्रतिज्ञा है, इस पर प्रतिवादी कहता है, कि शब्द में अनित्यत्व नित्य है या अनित्य? यदि कहा जाये कि नित्य है, तो धर्म के नित्य होने से धर्मी (शब्द) भी नित्य होगा और यदि अनित्य कहा जाये, तो अनित्यत्व के न रहने की स्थिति में शब्द नित्य सिद्ध हो जाएगा। अतः यह कहना उचित नहीं, कि- 'शब्द अनित्य है'। इस प्रकार नित्यत्व का आश्रय लेकर स्थापनावादी के पक्ष का प्रत्यवस्थान (खण्डन) करना नित्यसम जाति का प्रयोग है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य 'नित्यसम' जातिप्रयोग का समाधान प्रस्तुत करते हैं-

प्रतिषे**ध्ये नित्यमनित्यभावादनित्येऽनित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥५/१/३६॥**

निषेध के विषय स्थापनावादी के पक्ष में सर्वदा अनित्यता के विद्यमान रहने से अनित्य शब्द आदि में अनित्यत्व की सिद्धि से शब्द

आदि के अनित्यत्व का प्रतिषेध नहीं हो सकता। प्रतिषेध्ये शब्दे नित्यमनित्यत्वस्य भा**वादित्युच्यमानेऽनुज्ञातं शब्दस्यानित्यत्वम् । अनित्येऽनित्यत्वोपपत्तेश्च नानित्यः शब्द इति प्रतिषेधो नोपपद्यते।** वादी के द्वारा शब्द की अनित्यता सिद्ध कर देने पर प्रतिवादी द्वारा उसके खण्डनार्थ प्रयुक्त हेतु- 'शब्द में अनित्यता के नित्य होने से'- उस शब्द में उस शब्द का अनित्यत्व स्वीकार कर लिया। फिर नित्यत्व की उपपत्ति दिखाकर 'शब्द अनित्य नहीं है'- यह निषेध उचित नहीं है। क्योंकि जब शब्द में नित्य अनित्यता है, तो फिर उसमें नित्यत्व की सिद्धि कैसे होगी? और यदि शब्द में नित्य अनित्यता को स्वीकार न किया जाए, तो हेतु का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है, तब हेतु के अभाव में प्रतिषेध ही नहीं हो सकेगा। अतः यह प्रसंग ही असंगत है, कि शब्द में अनित्यता नित्य है या अनित्य। इसलिए उत्पाद विनाशशील होने से शब्द को निर्बाधरूप से अनित्य समझना चाहिए। 'नित्यसम' जाति का प्रयोग अनुचित है।

इति नित्यसमप्रकरणम्।

अथ कार्यसमप्रकरणम्

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'कार्यसम' जाति का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं -

प्रयत्नकार्यानेकत्वात् कार्यसमः ॥५/१/३७॥

प्रयत्न से अनेक कार्यों के होने के कारण किया गया प्रतिषेध कार्यसम जाति का प्रयोग है। प्रयत्नानन्तरीयकत्वादनित्यः शब्द **इति, यस्य प्रयत्नानन्तरमात्मलाभः तत्खल्वभूत्वा भवति, यथा घटादिकार्यम्, अनित्यमिति च भूत्वा नभवतीत्येतद्विज्ञायते ।** वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है शब्द अनित्य है, प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से, घट के समान। इस पर प्रतिवादी कहता है प्रयत्न से अनेक प्रकार के कार्य होते हैं। प्रयत्न के पश्चात् किन्हीं पदार्थों की 'उत्पत्ति' होती है, जैसे- घट आदि। ये घटादि उत्पत्ति से पूर्व नहीं होते, उत्पत्ति के पश्चात् अस्तित्व में आते हैं। इसके विपरीत किन्हीं पदार्थों की प्रयत्न से 'अभिव्यक्ति' होती है। इस प्रकार के पदार्थ विद्यमान होते हुए भी किसी आवरण से ढके रहते, और प्रयत्न से आवरण को हटा देने पर वे अभिव्यक्त (प्रकट) हो जाते हैं। जैसे मिट्टी आदि के हटने पर जल की अथवा प्रकाश आने पर अन्धकार में रखे हुए पदार्थों की अभिव्यक्ति हो जाती है। इसलिए प्रयत्नजन्य होने पर भी शब्द की उत्पत्ति ही मानी जानी चाहिए, अभिव्यक्ति नहीं मानी जानी चाहिए, इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है। अतः प्रयत्न के अनन्तर शब्द की अभिव्यक्ति होने से शब्द को अनित्य नहीं कहा जा सकता, वह तो नित्य ही है। इस प्रकार कार्य का आश्रय लेकर वादी के पक्ष का प्रत्यवस्थान प्रतिषेध करना कार्यसम जाति का प्रयोग है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य 'कार्यसम' जातिप्रयोग के समाधान बताते हैं-

कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणानुपपत्तेः ॥५/१/३८॥

शब्द आदि के कार्य से अन्य नित्य होने पर अनुपलब्धि के कारण आवरण आदि की असिद्धि से प्रयत्न की कारणता नहीं रहती। **सति कार्यान्यत्वे अनुपलब्धिकारणोपपत्तेः प्रयत्नस्याहेतुत्वं शब्दस्याभिव्यक्तयै, यत्र प्रयत्नानन्तरमभिव्यक्तिस्तत्रानुपलब्धिकारणं व्यवधानमुपपद्यते, व्यवधानापोहाच्च प्रयत्नानन्तरभाविनोऽर्थस्योपलब्धिलक्षणाऽभिव्यक्तिर्भवतीति ।** यदि शब्द को घट, पट आदि के समान प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने वाला न मानकर प्रयत्न से अभिव्यक्त होने वाला नित्य मानेंगे, तो शब्द के नित्यत्वपक्ष में प्रयत्न की व्यर्थता (निष्फलता) प्राप्त होगी; क्योंकि तब प्रयत्न न तो शब्द को उत्पन्न करेगा, और न उसकी अभिव्यक्ति का ही कारण होगा क्योंकि शब्द की अनुपलब्धि का कारण आवरणादि तो विद्यमान ही नहीं, जिसके दूर करने से प्रयत्न की सफलता मानी जा सके। इस प्रकार शब्द के नित्यत्व पक्ष में प्रयत्न की स्पष्ट व्यर्थता है, जो कि उचित नहीं। जबकि शब्द की उपलब्धि के लिए व्यवस्थित रूप से प्रयत्न किया जाता है। जैसा कि वर्णोच्चारण शिक्षा में कहा है-

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युंक्ते विवक्षया, मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम् ॥ - (वर्णोच्चारणशिक्षा -४)

इससे स्पष्ट है, कि शब्द प्रयत्न के अनन्तर अस्तित्व में आता है। अतः वह अनित्य है। इसलिए 'कार्यसम' जातिप्रयोग के द्वारा किया गया शब्द के अनित्यत्व का प्रतिषेध सर्वथा अनुचित है।

इति कार्यसमप्रकरणम् जातिनिरूपणप्रकरणञ्च समाप्तम्।

इकाई- ४.२ - षट्पक्षी निरुपण

अथ षट्पक्षीप्रकरणम्

सन्दर्भ- गतसूत्राों में चौबीस प्रकार के जातिप्रयोगों का क्रमशः लक्षण (स्वरूप) तथा प्रत्याख्यान (खण्डन) के उपाय बताए गए। साथ ही साथ व्याख्यानों में शब्द का अनित्यत्व भी सिद्ध कर दिया गया। अब शास्त्रकार शिष्यों के बोध के लिए षट्पक्षी चर्चा का आरम्भ करते हैं- षट्पक्षी चर्चा का स्वरूप पक्ष प्रतिपक्ष रूप से होती हुई चर्चा में जब स्थापनावादी व्यक्ति, प्रतिपक्षी द्वारा किए गए दोषपूर्ण प्रतिषेध का सदुत्तर न देकर दोषपूर्ण ही उत्तर दे देता है, ऐसी कथा में वादी प्रतिवादी दोनों को अपना अपना पक्ष सिद्ध करने के लिए सब मिलाकर तीन तीन बार बोलने का अवसर दिया जाता है, अधिक नहीं। क्योंकि ऐसी चर्चा में युक्तिसंगत निर्णय न होकर, निरर्थक कथाक्रम ही रह जाता है। इसी चर्चा को षट्पक्षी चर्चा कहते हैं। जैसे- 'शब्द अनित्य है, प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने से, घट के समान। यह स्थापनावादी का प्रथम पक्ष है। इस पर प्रतिवादी कहता है शब्द के अनित्यत्वपक्ष में प्रयत्न के पश्चात् जैसे शब्द की उत्पत्ति कही है, वैसे ही उसकी अभिव्यक्ति भी हो सकती है। ऐसी स्थिति में प्रयत्न के पश्चात् शब्द की उत्पत्ति ही है, अभिव्यक्ति नहीं- इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है। अतः यहाँ अनैकान्तिक दोष होने से वादी का पक्ष अमान्य है। यह द्वितीय पक्ष प्रतिवादी का है। यदि अनैकान्तिक होने से हेतु साध्य का असाधक है, तो-

प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः।।५/१/३९।।

प्रतिषेध (निषेध पक्ष) में भी समान दोष प्रतिवादी के आक्षेप का सदुत्तर न देकर वादी कहता है यदि मेरे पक्ष में अनैकान्तिक दोष है, तो तुम्हारे पक्ष में भी अनैकान्तिक दोष है। **प्रतिषेधोऽप्यनैकान्तिकः, किञ्चित्प्रतिषेधति किंचिन्नेति अनैकान्तिकत्वादसाधक इति ।** क्योंकि शब्द के नित्यत्व पक्ष में भी प्रयत्न के पश्चात् जैसे शब्द की अभिव्यक्ति कही है, वैसे ही उसकी उत्पत्ति भी हो सकती है। तब प्रयत्न के पश्चात् अभिव्यक्ति है, उत्पत्ति नहीं इसमें कोई विशेष हेतु नहीं दिया गया। यदि प्रयत्न के पश्चात् पदार्थ की अभिव्यक्ति मानी जाती है, तो उत्पत्ति भी क्यों न मानी जाए? यह तृतीय पक्ष वादी का है। प्रतिवादी के आक्षेप का उचित समाधान न होने से वादी का यह उत्तर भी प्रतिवादी के समान दोषपूर्ण है। इसमें वादी ने अपने हेतु को अनैकान्तिक स्वीकार कर लिया।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य चर्चा के मध्य में सन्दर्भानुसार उक्त नियम का जाति मात्र में अतिदेश करते हैं-

सर्वत्रैवम् ।।५/१/४०।।

सर्वत्र पूर्वोक्त सभी जाति प्रयोगों में ऐसा ही है। **सर्वेषु साधर्म्यप्रभृतिषु प्रतिषेधहेतुषु यत्र यत्राविशेषो दृश्यते तत्रोभयोः पक्षयोः समः प्रसज्यत इति ।** जिस प्रकार 'कार्यसम' जाति के प्रयोग में षट्पक्षी चर्चा का सन्दर्भ दिखाया है, उसी प्रकार 'साधर्म्यसम' आदि समस्त जातिप्रयोगों में प्रतिवादी द्वारा दिए गए उत्तर का, यदि वादी भी उसी (प्रतिवादी) के समान अपना समाधान प्रस्तुत करता है, तो दोनों पक्ष समान रूप से दोषयुक्त रहते हैं, और कथाभास रूप षट्पक्षी चर्चा आरम्भ हो सकती है।

विशेष- यद्यपि षट्पक्षी की समाप्ति पर उक्त अतिदेश करना उचित था, परन्तु कभी-कभी 'त्रिपक्षी' (तृतीयपक्ष) के अनन्तर ही 'मध्यस्थ' द्वारा 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' नामक निग्रहस्थान दिखाकर अनिर्णीतकथा समाप्त घोषित कर दी जाती है। अतः षट्पक्षी के मध्य में ही 'त्रिपक्षी' की सम्भावना दिखाने के लिए दर्शनाचार्य ने यह अतिदेश कर दिया है।

सन्दर्भ- पुनः षट्पक्षी चर्चा को स्पष्ट करने के लिए दर्शनाचार्य प्रतिषेध वादी के चतुर्थपक्ष (बोलने के पर्याय) को प्रस्तुत करते हैं-

प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद् दोषः ।।५/१/४१।।

प्रतिषेध का उसी के अनुरूप विप्रतिषेध करने पर प्रतिषेध में दोष के समान विप्रतिषेध में भी दोष होता है। **योऽयं प्रतिषेधेऽपि समानो दोषोऽनैकान्तिकत्वमापद्यते सोऽयं प्रतिपधस्य प्रतिषेधेऽपि समानः ।** जैसे ३९ वें सूत्रा में वादी ने प्रतिषेध पक्ष, प्रतिवादी पक्ष में समान दोष (अनैकान्तिकत्व) बतलाया था, उसी के समान (अनैकान्तिघ) दोष विप्रतिषेध (प्रतिषेध के प्रतिषेध) में भी है। यह चतुर्थ पक्ष बोलने का पर्याय प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत किया गया। यह प्रतिवादी के बोलने का द्वितीय अवसर (पर्याय) है।

यहाँ क्रमशः १. 'प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है' यह प्रथम पक्ष है। २. 'प्रयत्न के अनेक कार्य (उत्पत्ति, अभिव्यक्ति आदि) होने से यहाँ कार्यसम दोष है' यह हेतु पूर्वक प्रतिषेधात्मक द्वितीय पक्ष है। ३. 'प्रतिषेध में भी (हमारे पक्ष के) समान (अनैकान्तिघ) दोष है' यह विप्रतिषेधात्मक तृतीय पक्ष है। ४. 'उस विप्रतिषेध (प्रतिषेध के प्रतिषेध) में भी प्रतिषेध के दोष के समान (अनैकान्तिघ) दोष है' यह चतुर्थ पक्ष है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य षट्पक्षी बोलने के छह पर्याय वाले कथाभास का पञ्चम पक्ष प्रस्तुत करते हैं-

प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे समानो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ॥५/१/४२॥

प्रतिषेध (द्वितीय पक्ष) को दोष सहित स्वीकार करके (प्रतिषेधविप्रतिषेधे, प्रतिषेध के विप्रतिषेध में तृतीयपक्ष में दूसरी बार बोलते हुए चतुर्थ पक्ष से तृतीय पक्ष के समान दोष प्रस्तुत करना मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान है। **प्रतिषेधं द्वितीयं पक्षं सदोषमभ्युपेत्य तदुद्धारमनुक्त्वाऽनुज्ञाय प्रतिषेधविप्रतिषेधे तृतीयपक्षे समानमनैकान्तिकत्वमिति समानं दूषणं प्रसजतो दूषणवादिनो मतानुज्ञा प्रसज्यत इति पञ्चमः पक्षः ।** अपने पक्ष को दोषयुक्त मानकर दूसरे पक्ष में दोष देने का नाम (मतानुज्ञा) निग्रहस्थान है। पञ्चम पक्ष में अपने बोलने के तृतीय अवसर पर स्थापनावादी कह रहा है- तृतीय पक्ष से बोलते हुए (बोलने के अपने दूसरे अवसर पर) मैंने प्रतिषेध को (प्रतिवादी के बोलने के पहले अवसर में द्वितीय पक्ष से किए गए, स्थापना के प्रतिषेध को) अनैकान्तिक आदि दोष से युक्त बताया था। चतुर्थ पक्ष से बोलते हुए अपने बोलने की दूसरी बारी में आप (प्रतिवादी) ने अपने प्रतिषेध (द्वितीय पक्ष) को सदोष स्वीकार कर लिया। उस दोष का उद्धार तो किया नहीं, उलटे मेरे (तृतीय) पक्ष पर वही दोष लगा दिया। इससे प्रतिवादी को 'मतानुज्ञा' नामक निग्रहस्थान, **स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ॥५/२/२०॥** की प्राप्ति होती है; जो कि उनकी पराजय का सूचक है। यह स्थापनावादी द्वारा प्रस्तुत पञ्चम पक्ष है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य षट्पक्षी चर्चा में प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत षष्ठपक्ष का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं-

स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे हेतुनिर्देशे परपक्षदोषाभ्युपगमात् समानो दोषः ॥५/१/४३॥

अपने पक्ष प्रथम पक्ष से लक्षित जातिप्रयोग द्वितीय पक्ष से उभरे पक्ष तृतीय पक्ष की सिद्धि को बताने वाले हेतु निर्देश पञ्चम पक्ष में परपक्ष के दोष को स्वीकार कर लेने से चतुर्थपक्ष के समान पञ्चम पक्ष में भी मतानुज्ञा दोष है- यह प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत 'षट्पक्षी' चर्चा का षष्ठपक्ष है। **स्थापनापक्षे प्रयत्नकार्यानेकत्वादिति दोषः स्थापनाहेतुवादिनः स्वपक्ष-लक्षणो भवति ।** इस 'षट्पक्षी' चर्चा में स्थापनावादी के प्रथम, तृतीय और पञ्चम तथा प्रतिषेधवादी के द्वितीय, चतुर्थ एवं षट्पक्ष हैं। स्थापनावदी के पञ्चमपक्ष के समान प्रतिवादी कहता है पञ्चम पक्ष से स्थापनावादी ने जो दोष प्रतिवादी पर लगाया है, वह उसी प्रकार स्थापनावादी पर भी लगता है। द्वितीयपक्ष द्वारा प्रथमपक्ष पर जो अनैकान्तिकत्व दोष दिखाया गया था, उसका समाधान न करके स्थापनावादी ने उसी दोष को तृतीयपक्ष द्वारा प्रतिवादी के द्वितीय पक्ष में दिखाया है। इससे स्पष्ट है, कि परपक्ष (द्वितीयपक्ष) द्वारा दिखाए गए प्रथमपक्षगत दोष को स्थापना वादी ने स्वीकार कर लिया। अतः वह भी मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान में आ जाने से समान रूप में दोषी है। यह चालू षट्पक्षी चर्चा का षट्पक्ष है। इसके पश्चात् किसी निर्णय की सम्भावना न होने से यह कथाभास समाप्त घोषित कर दिया जाता है, क्योंकि इस षट्पक्षी चर्चा में पञ्चम पक्ष और षट्पक्ष में एक ही बात को दोहराने से पुनररुक्ति दोष, तृतीयपक्ष और चतुर्थपक्ष में विरोधीपक्ष को स्वीकार करने से मतानुज्ञा, एवं प्रथमपक्ष और द्वितीय पक्ष में स्वपक्ष साधक हेतु का अभाव रहने तथा किसी पक्ष की सिद्धि न हो पाने से दोनों पक्ष असिद्ध मान लिए जाते हैं। चर्चा में यदि प्रथम पक्ष और द्वितीय पक्ष के प्रस्तुत हो जाने पर तृतीपक्ष से स्थापनावादी जातिप्रयोगरूप प्रतिषेध का यथार्थरूप से समाधान कर देता है और जाति के प्रयोग को विशेष हेतुनिर्देशपूर्वक स्पष्ट बता देता है, तो स्थापनावादी का प्रथमपक्ष सिद्ध हो जाता है। फिर षट्पक्षी चर्चा का आगे कोई अवसर नहीं रहता।

इति षट्पक्षीप्रकरणम्।

स्मरणीय बिंदु

षट्पक्षी में तर्क का क्रम इस प्रकार चलता है

1. प्रथम पक्ष (वादी) अपनी बात को सिद्ध करने के लिए सही हेतु (कारण) देना।
2. द्वितीय पक्ष (प्रतिवादी) वादी के तर्क पर जाति (गलत उत्तर) के माध्यम से आक्षेप करना।
3. तृतीय पक्ष (वादी) प्रतिवादी की जाति का समाधान करना और उसे गलत सिद्ध करना।
4. चतुर्थ पक्ष (प्रतिवादी) वादी पर स्वपक्ष-दोष लगाना (यह कहना कि जो दोष मेरे तर्क में है, वही तुम्हारे समाधान में भी है)।
5. पंचम पक्ष (वादी) यह सिद्ध करना कि दोष प्रतिवादी के पक्ष में ही है, वादी के पक्ष में नहीं।
6. षष्ठ पक्ष (प्रतिवादी) पुनः वही दोष दोहराना या निरुत्तर हो जाना।

शब्दावली

षट्पक्षी छह चरणों में चलने वाली तार्किक बहस।

वादीरू जो मुख्य सिद्धांत को स्थापित करता है।

प्रतिवादी जो वादी के सिद्धांत का खंडन करता है।

स्वपक्ष-दोष अपने ही पक्ष में दोष होना या वही गलती दोहराना जो दूसरे में निकाली गई हो।

प्रतिषेध किसी के तर्क को काटना या मना करना।

अविशेषापत्ति यह तर्क देना कि यदि मेरा तर्क गलत है, तो तुम्हारा भी गलत है, जिससे दोनों समान हो जाएं।

पर्यनुयोज्योपेक्षण दोष होने पर भी उसे न पकड़ पाना (एक प्रकार का हार का बिंदु)।

निरनुयोज्यानुयोग जहाँ दोष नहीं है, वहाँ दोष निकालना।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. जाति का लक्षण बताते हुए इसके भेदों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

प्रश्न 2. साधर्म्यसमा और वैधर्म्यसमा जाति का सोदाहरण वर्णन कीजिए तथा इनके समाधान (उत्तर) स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3. उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा और साध्यसमा जातियों का विवेचन कीजिए।

प्रश्न 4. अहेतुसमा जाति का स्वरूप क्या है? सूत्राकार ने इसका निराकरण किस प्रकार किया है?

प्रश्न 5. षट्पक्षी से आप क्या समझते हैं? न्याय चर्चा में इसका क्या महत्व है?

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. जाति की परिभाषा क्या है?

प्रश्न 2. जाति के कितने भेद हैं? उनके नाम लिखिए।

प्रश्न 3. साधर्म्यसमा जाति को उदाहरण सहित समझाइए।

प्रश्न 4. उत्कर्षसमा और श्अपकर्षसमाश में क्या अंतर है?

प्रश्न 5. अहेतुसमा जाति क्या है?

प्रश्न 6. प्रसंगसमा किसे कहते हैं?

प्रश्न 7. जातियों के निराकरण (समाधान) का मूल सिद्धांत क्या है?

महत्वपूर्ण बहुविकल्पीय प्रश्न और उनके उत्तर यहाँ दिए गए हैं1

1.न्यायसूत्र 5.1.1 के अनुसार जाति के कुल कितने प्रकार बताए गए हैं?

क) 5

ख) 22

ग) 24

घ) 16

उत्तर ग)

2.साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं - इस रिद्र स्थान की पूर्ति करें

क) छलः

ख) जातिः

ग) निग्रहस्थानम्

घ) हेत्वाभासः

उत्तर ख)

3.जाति का प्रथम भेद कौन सा है?

क) कार्यसमा

ख) नित्यसमा

ग) साधर्म्यसमा

घ) उत्कर्षसमा

उत्तर ग)

4.जब ख्रष्टान्त के किसी अतिरिद्र धर्म को साध्य पर आरोपित किया जाता है, तो वह कौन सी जाति कहलाती है?

क) अपकर्षसमा

ख) उत्कर्षसमा

ग) वर्ण्यसमा

घ) साध्यसमा

उत्तर ख)

5.गोत्वादु गोसिद्धिः (गाय की सिद्धि गोत्व से होती है) - इस तर्क का प्रयोग किस उद्देश्य के लिए किया गया है?

क) जाति के लक्षण के लिए

ख) जाति के समाधान के लिए

ग) छल के प्रदर्शन के लिए

घ) संशय पैदा करने के लिए

उत्तर ख)

6. हेतु के लिए भी अन्य हेतु की मांग करना और अनवस्था दोष उत्पन्न करना कौन सी जाति है?

क) प्रसंगसमा

ख) अहेतुसमा

ग) प्राप्तिसमा

घ) अनुपलब्धिसमा

उत्तर क)

7. हेतु, साध्य से पहले, बाद में या साथ में संभव नहीं है - यह तर्क किस जाति के अंतर्गत आता है?

क) संशयसमा

ख) अहेतुसमा

ग) प्रकरणसमा

घ) विकल्पसमा

उत्तर ख)

8. अर्थापत्ति प्रमाण का गलत प्रयोग करके विपरीत पक्ष सिद्ध करना क्या कहलाता है?

क) अर्थापत्तिसमा

ख) अविशेषसमा

ग) संशयसमा

घ) उपपत्तिसमा

उत्तर क)

9. शब्द नित्य है क्योंकि वह अमूर्त है, जैसे आत्मा - यह वादी के तर्क (शब्द अनित्य है) के विरुद्ध किस जाति का उदाहरण है?

क) वैधर्म्यसमा

ख) साधर्म्यसमा

ग) अपकर्षसमा

घ) उपलब्धिसमा

उत्तर ख)

10. षट्पक्षी में कितने पक्षों या चरणों का वर्णन है?

क) 4

ख) 5

ग) 6

घ) 8

उत्तर ग)

11. षट्पक्षी का मुख्य कारण क्या माना जाता है?

क) प्रमाणों का अभाव

ख) जाति का प्रयोग

ग) संशय का उदय

घ) वाद की समाप्ति

उत्तर ख)

12. जाति प्रयोग का उत्तर देते समय किस तत्व की प्रधानता आवश्यक है?

क) केवल समानता

ख) केवल भिन्नता

ग) व्याप्ति (स्वहपगा)

घ) शब्द सामर्थ्य

उत्तर ग)

इकाई- ४.३ प्रतिज्ञाहानि से हेत्वाभास पर्यन्त २२ निग्रह स्थानों का उद्देश्य व परिभाषा

उद्देश्य-

खवाद-विवाद में हार और जीत के वैज्ञानिक आधार को समझना।
खयह पहचानना कि कब कोई व्यद्रि तर्क से भटक गया है या विषय से बाहर की बात कर रहा है।
खसत्य की रक्षा के लिए विपक्षी की तार्किक अक्षमता को उजागर करना।
खअनुशासनहीन और आधारहीन बहस को समाप्त करने के तरीके सीखना।

अथ निग्रहस्थान प्रकरणम्

सन्दर्भ- उद्दिष्ट प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा-

हेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानांतत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥१/१/१॥ सोलह पदार्थों में से अन्तिम पदार्थ 'निग्रहस्थान' का विस्तार से वर्णन करना प्रारम्भ करते है-

विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योर्विकल्पान्निग्रहस्थानबहुत्वमिति सङ्क्षेपेणोक्तं तदिदानीं विभजनीयम् । निग्रहस्थानानि खलु पराजयवस्तून्यपराधाधिकरणानि प्रायेण प्रतिज्ञाद्यवयवाश्रयाणि तत्त्ववादिनमतत्त्ववादिनं चाभिसंप्लवन्ते । तेषां विभागः । प्रथम अध्याय के अन्त में कह चुके हैं, कि 'विप्रपिपत्ति' अपनी मान्यता से विरुद्ध कह जाना तथा 'अप्रतिपत्ति' अज्ञानता से चुप रह जाना 'निग्रहस्थान' कहलाता है, **विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् (** १/२/१९ **)**, और विप्रतिपत्ति तथा अप्रतिपत्ति के विविध प्रकार होने से निग्रहस्थान के अनेक भेद हो जाते है, **तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् (** १/२/२० **)** निश्चय से इन निग्रहस्थानों में पड़कर वादी या प्रतिवादी निगृहीत (पराजित) माना जाता है। अतः वादी और प्रतिवादी के लिए उनका जानना परमावश्यक है। अब दर्शनाचार्य उन निग्रहस्थानों के विभाग बताते हैं-

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञापर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभ**ासाश्च निग्रहस्थानानि** ॥५/२/१॥

प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तिकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त, और हेत्वाभास ये २२ निग्रहस्थान हैं।

'प्रतिज्ञाहानि' से लेकर 'हेत्वाभास' पर्यन्त बाईस प्रकार के निग्रहस्थान हैं। इनके लक्षण और उदाहरण सूत्राकार आगे स्वयं बताएंगे।

सन्दर्भ- दर्शनाचार्य सर्वप्रथम 'प्रतिज्ञाहानि' निग्रहस्थान का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं -

प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः ॥५/२/२॥

अपने दृष्टान्त में विरोधी दृष्टान्त के धर्म को स्वीकार कर लेना प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान है। **साध्यधर्मप्रत्यनीकेन धर्मेण प्रत्यवस्थिते प्रतिष्दृष्टान्तधर्म स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुजानन् प्रतिज्ञां जहातीत्ति प्रतिज्ञाहानिः ।** वादी अपने पक्ष की पञ्चावयव से स्थापना करता है शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा), इन्द्रियग्राह्य होने से (हेतु) जो इन्द्रियग्राह्य होता है, वह अनित्य होता है, जैसे- चक्षु इन्द्रिय से ग्राह्य घट (दृष्टान्त), शब्द भी श्रोत्र इन्द्रिय से ग्राह्य है (उपनय), अतः इन्द्रियग्राह्य होने से शब्द अनित्य है (निगमन)। इसके विरोध में प्रतिवादी कहता है- शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा), इन्द्रियग्राह्य होने से (हेतु), जो इन्द्रियग्राह्य होता है, वह नित्य होता है, जैसे चक्षु आदि इन्द्रिय से ग्राह्य सामान्य घटत्व आदि जाति (दृष्टान्त), शब्द भी श्रोत्र इन्दिय से ग्राह्य है (उपनय), अतः इन्द्रिय-ग्राह्य होने से सामान्य जाति के समान शब्द भी नित्य है (निगमन)। यदि इन्द्रिय-ग्राह्य सामान्य जाति नित्य है, तो इन्द्रिय ग्राह्य शब्द को भी नित्य क्यों न माना जाए। प्रतिवादी द्वारा अपने पक्ष का खण्डन होने पर स्थापनावादी कहने लगता है, कि- 'यदि इन्द्रिय-ग्राह्य होने से सामान्य जाति नित्य है, तो उसके समान घट भी नित्य होगा'। यहाँ वादी अपने पक्ष के साधक दृष्टान्त घट में विरोधी दृष्टान्त के नित्यत्व धर्म को स्वीकार करता हुआ प्रतिज्ञा से लेकर निगमन पर्यन्त पञ्चावयव वाक्य से साध्य-पक्ष को छोड़ देता है। यह उसके पराजय (निग्रह) का स्थान है। यदि स्थापनावादी प्रतिवादी को यह उत्तर देता है, कि कृतकत्व अथवा प्रयत्नानन्तरीयकत्व विशेष ध

र्म से घट का अनित्यत्व प्रमाणित है, और उसके समान शब्द का अनित्यत्व सिद्ध है। तो ऐसी स्थिति में प्रतिवादी परास्त हो जाता है, तथा स्थापनावादी के निगृहीत होने का अवसर नहीं रहता है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'प्रतिज्ञान्तर' निग्रहस्थान का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं-

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषे**धे धर्मविकल्पात् तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ।।**५/२/३।।

प्रतिज्ञात अर्थ का प्रतिवादी के द्वारा प्रतिषेध कर देने पर (धर्मविकल्पात्) धर्म के भेद अन्य विशेषण से उस प्रतिज्ञात अर्थ की सिद्धि के लिए धर्मविकल्प धर्मभेद का निर्देश करना प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रहस्थान है। वादी का प्रतिज्ञात अर्थ है- शब्द अनित्य है, इन्द्रिय-ग्राह्य होने से, घट के समान। इसके विरोध में प्रतिवादी कहता है शब्द नित्य है, इन्द्रियग्राह्य होने से, सामान्य जाति के समान। इस प्रकार प्रतिज्ञात अर्थ का प्रतिषेध किए जाने पर स्थापना वादी दृष्टान्त (घट) और प्रतिदृष्टान्त (सामान्य) में धर्मभेद दिखाता हुआ कहता है, कि इन्द्रियग्राह्य होते हुए भी सामान्य जाति सर्वगत व्यापी तथा घट असर्वगत (एकदेशी) है। इसी प्रकार घट के समान असर्वगत होने से शब्द अनित्य है, सर्वगत सामान्य के समान नित्य नहीं है।

यहाँ पर 'शब्द अनित्य है' यह पहली प्रतिज्ञा थी, किन्तु जब प्रतिवादी ने सामान्य में हेतु को अनैकान्तिक बताकर उसका प्रतिषेध कर दिया, तो उसको प्रतिषेध से बचाने के लिए वादी दूसरी प्रतिज्ञा करता है, कि 'शब्द असर्वगत है'। बस यही 'प्रतिज्ञान्तर' नामक निग्रहस्थान है। इस 'प्रतिज्ञान्तर' को निग्रहस्थान बताने का कारण यह है, कि प्रतिज्ञा (साध्य) के साधन हेतु और दृष्टान्त होते हैं, न कि दूसरी प्रतिज्ञा। अतः अपनी पूर्व प्रतिज्ञा को हेतु और दृष्टान्त से सिद्ध न करके दूसरी प्रतिज्ञा करने वाला प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रहस्थान का सहारा लेता है। यदि स्थापनावादी व्यक्ति प्रतिषेध का शब्द व घट के विशेष धर्म कृतकत्व या प्रयत्नानन्तरीयकत्व के आधार पर कर देता है, तो प्रतिवादी परास्त हो जाता है। ऐसा सदुत्तर न देकर अन्य प्रतिज्ञा द्वारा पक्ष को बचाने की प्रवृत्ति, वक्ता के ज्ञान की शिथिलता (न्यूनता) को प्रकट करती है। इस स्थिति में वह निगृहीत हो जाता है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'प्रतिज्ञाविरोध' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं-

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरो**धः प्रतिज्ञाविरोधः ।।**५/२/४।।

प्रतिज्ञा और हेतु का परस्पर विरोध होना प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान कहलाता है।

गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति प्रतिज्ञा, रूपादितोऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति हेतुः, सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोविरोधः । कथम् ? यदि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं ? रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिर्नोपपद्यते । अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्थानुपलब्धिः?

स्थापनावादी प्रतिज्ञा करता है 'द्रव्य, गुणों से भिन्न है'। उसकी सिद्धि के लिए हेतु देता है- रूप आदि गुणों से भिन्न किसी वस्तु (द्रव्य) के उपलब्ध न होने से, यहाँ प्रतिज्ञा और हेतु में परस्पर विरोध है, क्योंकि यदि द्रव्य से गुण भिन्न है, तो रूपादि गुणों से अतिरिक्त वस्तु की उपलब्धि अवश्य होनी चाहिए, उसकी अनुपलब्धि कहना उचित नहीं। और यदि रूपादि गुणों से भिन्न कोई पदार्थ उपलब्ध नहीं होता, तो यह कहना निराधार है कि द्रव्य गुणों से भिन्न है। इस प्रकार प्रतिज्ञा और हेतु दोनों में परस्पर विरोध होने से ऐसा प्रयोग करने वाला वक्ता प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान से निगृहीत एवं पराजित माना जाता है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'प्रतिज्ञासंन्यास' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप प्रस्तुत करते है-

पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः ।।५/२/५।।

स्थापित पक्ष का प्रतिषेध (खण्डन) होने पर प्रतिज्ञात अर्थ को छोड़ देना प्रतिज्ञासंन्यास नामक निग्रहस्थान है। **अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते परो ब्रूयात्सामान्यमैन्द्रियकं न चानित्यमेवं शब्दोऽप्यैन्द्रियको न चानित्य इति, एवं प्रतिषिद्धे पक्षे यदि ब्रूयात् कः पुनराह अनित्यः शब्द इति । सोऽयं प्रतिज्ञातार्थनिह्नवः प्रतिज्ञासंन्यास इति ।** वादी अपना पक्ष स्थापित करता है 'शब्द अनित्य है, इन्द्रियग्राह्य होने से, घट के समान'। इसके विरोध में प्रतिवादी कहता है सामान्य जाति भी इन्द्रियग्राह्य है, किन्तु वह अनित्य नहीं, अपितु नित्य है। इसी प्रकार इन्द्रियग्राह्य शब्द भी जाति के समान नित्य होना चाहिए। इस खण्डन से घबराकर उचित उत्तर न दिए जाने की स्थिति में यदि वादी कहे, कि 'शब्द को अनित्य कौन कहता है?' यह अपने प्रतिज्ञात अर्थ को छोड़ देना, चर्चा में 'प्रतिज्ञासंन्यास' नामक निग्रहस्थान कहलाता है। मानो वक्ता ने अपनी ही 'प्रतिज्ञा' से 'संन्यास' ले लिया हो।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रम प्राप्त 'हेत्वन्तर' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप बताते हैं-

अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् ।।५/२/६।।

सामान्य रूप से कहे हेतु के प्रतिषिद्ध (खण्डित) होने पर विशेष हेतु प्रयोग को चाहते हुए अथवा विशेष हेतु का प्रयोग करते हुए,

वक्ता का कथन हेत्वन्तर नामक निग्रहस्थान माना जाता है। **निदर्शनम्, एकप्रकृतीदं व्यक्तमिति प्रतिज्ञा, कस्माद्धेतोः ? एकप्रकृतीनां विकाराणां परिमाणात, मृत्पूर्वकाणां शरावादीनां दृष्टं परिमाणं यावान्प्रकृतेव्यूहो भवति तावान्विकार इति, दृष्टं च प्रतिविकारं परिमाणम ्।** वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है– 'घट एककारण वाला है, परिमाणयुक्त होने से'। इसके विरोध में प्रतिवादी कहता है, कि 'यह हेतु उचित नहीं; क्योंकि अनेक कारण वाले आभूषण, गृह आदि का परिमाण देखा जाता है'। इस प्रकार प्रतिषेध किए जाने पर वादी उक्त हेतु में संशोधन प्रस्तुत करता है 'केवल परिमाणयुक्त होने से नहीं, अपितु आकार सहित परिमाणयुक्त होने से घट एककारण वाला है'। यहाँ वादी ने पहले 'परिमाणवाला होना' हेतु प्रस्तुत किया था, उसका खण्डन होने पर 'आकार सहित परिमाण-युक्त' यह संशोधित विशेष हेतु दिया। विशेषण देने से हेतु का स्वरूप बदल जाता है। इसका तात्पर्य है, कि पहला हेतु साध्य को सिद्ध करने में असमर्थ था। अतः यह इसके निग्रहस्थान होने का कारण है।

इकाई- ४.४ - अर्थान्तर निग्रहस्थान से हेत्वाभास पर्यन्त विभाग एवं निरुपण

अथ अर्थान्तर निग्रहस्थान प्रकरणम्

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'अर्थान्तर' निग्रहस्थान का स्वरूप प्रस्तुत करते है-

प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् ॥५/२/७॥

प्राप्त अर्थ से, असम्बद्ध अर्थ का कथन करना अर्थान्तर नामक निग्रहस्थान है। **यथोक्तलक्षणे पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहे हेतुतः साध्यसिद्धौ प्रकृतायां ब्रूयान्नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वादिति हेतुः।** जिस विषय को सिद्ध करने की प्रतिज्ञा की गई हो, उसको प्रकृत अर्थ कहते हैं प्रकृत अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ को कहना, जो उस प्रकृत-अर्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता, वह 'अर्थान्तर' निग्रहस्थान कहा जाता है। जैसे- वादी प्रतिवादी में से किसी एक वक्ता ने कहा 'शब्द नित्य है' यह मेरी प्रतिज्ञा है। इसमें 'स्पर्शरहित होने से' यह हेतु है। इतना कहने के उपरान्त वह कहता है। 'पद' चार प्रकार के होते हैं- नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात। फिर नाम, आख्यात आदि की व्याख्या प्रारम्भ कर देता है। प्रस्तुत चर्चा के मुख्य विषय 'शब्द के अनित्यत्व' आदि की सिद्धि के लिए इसका कोई उपयोग नहीं होता। इस प्रकार चालू सन्दर्भ में अपने स्थापित पक्षको प्रमाण सहित सिद्ध करने में असमर्थ होने पर अन्य अनावश्यक अर्थ का कथन करते जाना 'अर्थान्तर' निग्रहस्थान है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'निरर्थक' निग्रहस्थान का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं-

वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ॥५/२/८॥

[वर्णक्रमनिर्देशवत्] वर्णों के क्रमनिर्देश के समान अवाचक (अर्थशून्य शब्दों का प्रयोग) [निरर्थकम्] निरर्थक नामक निग्रहस्थान है। **यथा नित्यः शब्दः, कचटतपाः जबगडदशत्वात् झभव्यढधषवदिति एवं**प्रकारं निरर्थकम् । वादी कहता है- 'कचटतप शब्द नित्य है, जबगडद' होने से, झभघढधष् के समान'। चर्चा में इस प्रकार का अर्थशून्य कथन 'निरर्थक' निग्रहस्थान माना जाता है, क्योंकि यहाँ साध्य, हेतु और दृष्टान्त के रूप में केवल वर्णों का क्रमपूर्वक निर्देश कर दिया गया है। इनका परस्पर न तो साध्य-साधन भाव है, और न ये वर्ण किसी वाच्य अर्थ का बोध कराते हैं।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'अविज्ञातार्थ' नामक निग्रहस्थान का बोध कराते हैं-

परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ॥५/२/९॥

तीन बार [अभिहितम्] कहा हुआ [अपि] भी वादी का वाक्य जब [परिषत्यतिवादिभ्याम्] परिषत् (सभा) और प्रतिवादी के द्वारा [अविज्ञातम्] समझा नहीं जाता (तब, वह) अविज्ञातार्थ नामक निग्रहस्थान कहलाता है।

यद्वाक्यं परिषदा प्रतिवादिना च त्रिरभिहितमपि न विज्ञायते श्लिष्टशब्दमप्रतीतप्रयोग मतिद्रुतोच्चरितमित्येवमादिना कारणेन तदविज्ञातमविज्ञातार्थम्, असामर्थ्यसंवरणाय प्रयुक्तमिति निग्रहस्थानमिति । चर्चा में कभी कोई वक्ता श्लिष्ट (मिले हुए) पदों का प्रयोग करता है, जैसे- 'चेतो धावति' इत्यादि, अथवा अप्रसिद्ध पदों का प्रयोग करता है, जैसे 'जर्फरीतु, तुर्फरीतु'- इत्यादि, अथवा अतिद्रुत गति से बोलता है, जिससे सुनने वाला कुछ नहीं समझ पाता, अथवा इतनी मन्दध्वनि से बोलता है, कि कान लगाकर सुनने पर भी सुनाई न पड़े। ऐसे कारणों से जब वादी के कथन को तीन बार बोलने पर भी समस्त सभा और प्रतिवादी न समझ पाएँ, तो वक्ता 'अविज्ञातार्थ' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत माना जाता है; क्योंकि ऐसा प्रयोग अपना असामर्थ्य छिपाने के लिए किया गया समझ जाता है। अतः वक्ता को स्पष्ट एवं सरल वाक्यों का प्रयोग करना चाहिए।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'अपार्थक' निग्रहस्थान का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं-

पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् ॥५/२/१०॥

[पौर्वापर्यायोगात्] पूर्वापर सम्बन्ध न होने से [अप्रतिसम्बद्धार्थम्] असम्बद्ध अर्थवाला कथन [अपार्थकम्] अपार्थक नामक निग्रहस्थान है। **यत्रनेकस्य पदस्य वाक्यस्य वा पौर्वापर्येणान्वययोगो नास्ति इत्यसम्बद्धार्थत्वं गृह्यते तत्समुदायार्थस्यापायादपार्थकम्।** चर्चा में जब ऐसे पद या वाक्य बोले जाएँ, जिनका परस्पर कोई सम्बन्ध प्रतीत न हो, तो ऐसे पदों या वाक्यों का प्रयोग 'अपार्थक' (परस्पर असम्बद्धार्थघ) नामक निग्रहस्थान का कारण होता है। जैसे- दस घोड़े, छह अनार, मधु, चर्म, बकरी, कुत्ता, सिंह आदि। यद्यपि इन पदों में से प्रत्येक का अपना अर्थ है, किन्तु पूर्वापर के साथ किसी का अर्थसम्बन्ध नहीं। अतः वक्ता की अज्ञानता का द्योतक यह प्रयोग 'अपार्थक' निग्रहस्थान है। 'निरर्थक' निग्रहस्थान में अर्थशून्य (वाचकता रहित) पद होते हैं और इस अपार्थक में परस्पर

आकांक्षारहित पद होते हैं, यह इनमें भिन्नता है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'अप्राप्तकाल' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं-

अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ।।५/२/११।।

[अवयवविपर्यासवचनम्] प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों का उलटफेर करके कथन करना [अप्राप्तकालम्] अप्राप्तकाल नामक निग्रहस्थ. ान कहलाता है। **प्रतिज्ञादीनामवयवानां यथालक्षणमर्थवशात् क्रमः, तत्रावयवविपर्यासेन वचनमप्राप्तकालमसम्बद्धार्थ निग्रहस्थ. ानमिति ।** प्रतिज्ञा आदि पाँचों अवयवों का लक्षण निर्देश सूत्रा प्रतिज्ञाहेतूदहारणोपनयनिगमनान्यवयवाः **(१**/१/३२) एवं प्रयोजन के अनुसार क्रम निश्चित है। चर्चा में इनके क्रम का पालन आवश्यक होता है, जिससे अपेक्षित अर्थ को समझने में सुविधा रहे। परन्तु जब घबराहट आदि कारणों से वक्ता इनके क्रम में उलटफेर कर देता है, अर्थात् पहले प्रतिज्ञा के स्थान पर दृष्टान्त, फिर हेतु, प्रतिज्ञा, उपनय, निगमन कहने लगे, अथवा अन्य किसी प्रकार से उलट फेर करे, तो ऐसा करने से वक्ता का कथन असम्बद्धार्थक हो जाता है, अतः 'अप्राप्तकाल' निग्रहस्थान कहलाता है। अर्थात् जिसको कहने का काल (अवसर) प्राप्त नहीं हुआ, उसको कहना अप्राप्तकाल निग्रहस्थान है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'न्यून' नामक निग्रह स्थान का स्वरूप प्रस्तुत करते है-

हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ।।५/२/१२।।

(अन्यतमेन) (पाँचों अवयवों में से) किसी एक (अवयवेन) अवयव से (अपि, भी 'हीनम्', रहित (वाक्य-प्रयोग) न्यून नामक निग्रहस्थान कहलाता है। **प्रतिज्ञादीनामवयवानामन्यतमेनाप्यवयवेन हीनं न्यूनं निग्रहस्थानम, साधनाभावे साध्यासिद्धिरिति**। किसी प्रतिपाद्य विषय की पूर्ण सिद्धि के लिए प्रतिज्ञादि पाँचों अवयवों का बोलना आवश्यक है, जिससे उसकी सिद्धि में कोई संशय न रहे। चर्चा के अवसर पर इन पाँचों अवयों में से किसी अवयव के न बोलने से साध्य असिद्ध माना जाता है। ऐसा करने पर वक्ता की असमर्थता प्रकट होने से वक्ता 'न्यून' निग्रहस्थान से निगृहीत एवं पराजित माना जाता है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'अधिक' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप प्रस्तुत करते है-

हेतूदाहरणाधिकमधिकम् ।।५/२/१३।।

जिस वाक्यप्रयोग में हेतु और उदाहरण अधिक हों वह अधिक नामक निग्रहस्थान कहा जाता है। **एकेन कृतत्वाद् अन्यतरस्यानर्थक्यमिति, तदेतन्नियमाभ्युपगमे वेदितव्यमिति ।।** पञ्चावयव वाक्य में एक हेतु एवं एक उदाहरण के प्रयोग से साध्य की सिद्धि हो जाने से अतिरिक्त (अधिघ) हेतु एवं उदाहरण का प्रयोग करना 'अधिक' नामक निग्रहस्थान का कारण होता है; क्योंकि इससे यह प्रकट होता है, कि वक्ता का पहला हेतु एवं उदाहरण साध्य की सिद्धि में समर्थ नहीं। जैसे- १. संसार मिथ्या है, दृश्य होने से और जड़ होने से। २. संसार मिथ्या है, दृश्य होने से, शुक्ति में रजत के समान और गन्धर्वनगर के समान। यहाँ उदाहरण का अधिक प्रयोग है। परन्तु हेतु और उदाहरण का अधिक प्रयोग उसी स्थिति में निग्रहस्थान माना जाता है, जब वाद के प्रारम्भ में एक हेतु एवं उदाहरण कहने का नियम निश्चित कर लिया गया हो, अन्यथा नहीं।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'पुनरुक्त' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं-

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ।।५/२/१४।।

शब्द अथवा अर्थ का फिर कथन करना पुनरुक्त नामक निग्रहस्थान है, अनुवाद से अतिरिक्त स्थल में। **अन्यत्रानुवादात् शब्दपुनरुक्तमर्थपुनरुक्तं वा, नित्यः शब्दो नित्यः शब्द इति शब्दपुनरुक्तम् ।** अनुवाद को छोड़कर 'पुनरुक्त' निग्रहस्थान 'शब्द पुनरुक्त' तथा 'अर्थ-पुनरुक्त' भेद से दो प्रकार का होता है। जैसे 'शब्द नित्य है, शब्द नित्य है'- यह 'शब्द - पुनरुक्त' हुआ। 'शब्द अनित्य है, नाशवान् है' यह 'अर्थ- पुनरुक्त' है। अनुवाद में शब्द अथवा अर्थ का दोबारा कहना दोषयुक्त नहीं होता; क्योंकि वहाँ विशेष आशय का बोध कराना अभीष्ट होता है। जैसे- १. 'वृक्षं वृक्षं सिञ्चति' (प्रत्येक वृक्ष को सींचता है), २. 'जाओ, अपना रास्ता पकड़ो। यहाँ शब्दानुवाद और अर्थानुवाद सार्थक है। इसी प्रकार **'हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्'** (१/१/३९) में प्रतिज्ञा का पुनः दुहराना सार्थक होने से निर्देष होता है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य 'पुनरुक्त' निग्रहस्थान का अन्य लक्षण बताते हैं-

अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ।।५/२/१५।।

अर्थापत्ति से [आपन्नस्य] जाने गए भाव का [स्वशब्देन] अपने शब्द से पुनर्वचनम् उसी भाव को फिर कहना भी, 'पुनरुक्त'

निग्रहस्थान समझा जाता है। जैसे चर्चा के सन्दर्भ में कोई व्यक्ति कहता है 'उत्पत्तिधर्मक पदार्थ अनित्य होता है'। इतना कहने से अर्थापत्ति द्वारा यह भाव प्रकट हो जाता है, कि 'जो अनुत्पत्ति-धर्मक है, वह नित्य होता है'। इस भाव को अपने शब्दों द्वारा पुनः अभिव्यक्त करना, कि 'जो अनुत्पत्तिधर्मक है, वह नित्य होता है'। ऐसा पुनर्वचन भी 'पुनरुक्त' निग्रहस्तान कहलाता है। कारण यह है, कि किसी अर्थ का बोध कराने के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है। यदि अर्थापत्ति द्वारा वह पहले ही ज्ञात है, तो उसे शब्दों द्वारा कहना व्यर्थ होने से पुनरुक्त होगा।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'अननुभाषण' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं

विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यप्रत्युच्चारणमननुभाषणम् ॥५/२/१६॥

[परिषदा] सभा के द्वारा [विज्ञातस्य], अच्छी तरह जाने गए का [त्रिः] वादी के द्वारा तीन बार [अभिहितस्य], कहे गए का [अपि], भी [अप्रत्युच्चारणम्] उत्तर अथवा विरोध के लिए पुनः उच्चारण न करना [अननुभाषणम्] अननुभाषण नामक निग्रहस्थान है। **विज्ञ. ातस्य वाक्यार्थस्य परिषदा, प्रतिवादिना त्रिरभिहितस्य यद्प्रत्युच्चारणं तदननुभाषणं नाम निग्रहस्थानमिति । अप्रत्युच्चारयन् किमाश्रयं परपक्षप्रतिषेधं ब्रूयात् ॥** वादी द्वारा कहे गए वाक्यार्थ को सभा द्वारा अच्छी तरह समझ लेने पर तथा वादी द्वारा इसी अभिप्राय से अपने मत को तीन बार कहे जाने पर भी, जब प्रतिवादी उसका उत्तर देने के लिए वादी के कथन का प्रत्युधारण नहीं करता, तो वह प्रतिवादी 'अननुभाषण' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत एवं परास्त माना जाता है, क्योंकि यह वाद कथा की मर्यादा है, कि प्रतिवादी, वादी के कथन का अनुवाद करके उसका उत्तर दे। यदि प्रतिवादी, वादी के कथन को नहीं दुहराता, तो वह किस आधार पर उसका उत्तर देगा? यही स्थिति वादी पर भी लगती है, यदि वह प्रतिवादी के कथन का प्रत्युधारण न करे तो वह अननुभाषण नामक निग्रहस्थान से निगृहीत माना जाता है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'अज्ञान' निग्रहस्थान का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं-

अविज्ञातं चाज्ञानम् ॥५/२/१७॥

यहाँ गतसूत्रा से 'विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्यापि' पदों की अनुवृत्ति है। [च] और [अविज्ञातम्] सभा के द्वारा अच्छी तरह जाने गए तथा वादी द्वारा तीन बार कहे गए वाक्यार्थ को भी न समझ पाना 'अज्ञानम्' अज्ञान नामक निग्रहस्थान है। **विज्ञातार्थस्य परिषदा प्रतिवादिना त्रिरभिहितस्य यदविज्ञानं तदज्ञानं निग्रहस्थानमिति । अयं खल्वविज्ञाय कस्य प्रतिषेधं ब्रूयादिति।** वक्ता के वाक्यार्थ को सभासदों द्वारा अच्छी तरह समझ लेने पर तथा उस वक्ता के द्वारा अपने वाक्यार्थ को तीन बार कह देने पर भी जो वादी या प्रतिवादी उसे समझ नहीं पाता, तो वह 'अज्ञान' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत (पराजित) समझा जाता है, क्योंकि बिना समझे वह किसका खण्डन करेगा?।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'अप्रतिभा' निग्रहस्थान का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं-

उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥५/२/१८॥

[उत्तरस्य] अवसर पर उत्तर का [अप्रतिपत्तिः] न सूझना [अप्रतिभा], अप्रतिभा नामक निग्रहस्थान है। **परपक्षप्रतिषेध उत्तरम्, तद्यदा न प्रतिपद्यते तदा निगृहीतो भवति ।** यहाँ पर-पक्ष के खण्डन को 'उत्तर' समझना चाहिए। वादी अथवा प्रतिवादी के द्वारा अपना पक्ष स्थापित कर देने पर, जब विरोधी को उसका उत्तर नहीं सूझता, तब वह उत्तर न दे पाने वाला 'अप्रतिभा' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत (पराजित) समझा जाता है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'विक्षेप' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप प्रस्तुत करते है-

कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः ॥५/२/१९॥

[कार्यव्यासङ्गात्] किसी कार्य के बहाने से [कथाविच्छेदः] चालू कथा का परित्याग कर जाना [विक्षेपः] विक्षेप नामक निग्रहस्थान कहलाता है। **यत्र कर्तव्यं व्यासज्य कथां व्यवच्छिनत्ति** इदं में करणीयं विद्यते तस्मिन्नव**सिते पश्चात्कथयामीति विक्षेपो नाम निग्रहस्थानम् ।** वादी अथवा प्रतिवादी के द्वारा वाद से भिन्न किसी कार्य का बहाना बनाकर चालू कथा का परित्याग कर जाना 'विक्षेप' निग्रहस्थान है। ऐसा करने वाला वादी अथवा प्रतिवादी निगृहीत (पराजित) माना जाता है। **जैसे**- अपने विरोधी के कथन का उत्तर देने में स्वयं को असमर्थ समझकर कोई वक्ता यह बहाना करे, कि मुझे अभी अमुक आवश्यक कार्य करना है, उसको पूरा करके फिर बातचीत करूँगा, यह कहकर चालू कथा को छोड़कर चला जाता है। ऐसा व्यक्ति निगृहीत (पराजित) माना जाता है। निग्रहस्थान में आ जाने से वह कथा वहीं समाप्त समझी जाती है। अनन्तर जो कथा चलेगी, वह दूसरी ही होगी।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'मतानुज्ञा' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं-

स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोष प्रसङ्गो मतानुज्ञा ।।५/२/२०।।

[स्वपक्षे] अपने पक्ष में [दोषाभ्युपगमात्] दोष को मान लेने से [परपक्षे] परपक्ष (विरोधी के पक्ष) में [दोषप्रसङ्गः] उसी दोष का प्रदर्शन करना मतानुज्ञा मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान है। **यः परेण चोदित्तं दोषं स्वपक्षेऽभ्युपगम्यानुद्धृत्य वदति भवत्पक्षेऽपि समानो दोष इति, स स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात्परपक्षे दोषं प्रसञ्जयन्परमतमनुजानातीति मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानमापद्यत इति ।** जो वादी या प्रतिवादी अपने पक्ष में विरोध के द्वारा प्रदर्शित दोष का समाधान न करके, उसी दोष को अपने विरोधी के पक्ष में प्रदर्शित करता है, तब वह वक्ता 'मतानुज्ञा' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत (पराजित) माना जाता है। 'मतानुज्ञा' का तात्पर्य है- विरोधी के कथन को मान लेना। वस्तुतः दूसरे को दोषी सिद्ध करने से अपना दोष निवृत्त नहीं होता, वह तो युक्ति और प्रमाण से उसका निषेध करने पर ही निवृत्त होता है। जैसे- एक व्यक्ति ने दूसरे व्याक्ति पर चोरी का दोष लगाया, अब यदि वह उसका निवारण न करके, दोष लगाने वाले को भी चोर सिद्ध करने लगे, तो ऐसा करने से भले ही वह अपने विरोधी को चोर सिद्ध कर दे, परन्तु उसके अपने दोष का निवारण नहीं हो सकेगा। अपने दोष का निवारण तो तभी होगा, जब वह अपने ऊपर लगाए गए दोष को प्रमाणों से व्यर्थ सिद्ध कर दे।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं-

निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ।।५/२/२१।।

[निग्रहस्थानप्राप्तस्य] निग्रहस्थान को प्राप्त हुए का [अनिग्रहः] निग्रह दोष प्रकट न करना [पर्यनुयोज्योपेक्षणम्] पर्यनुयोज्योपेक्षण नामक निग्रहस्थान है। **पर्यनुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्या चोदनीयः, तस्योपेक्षणं निग्रहस्थानं प्राप्तो**ऽसीत्यननुयोगः। कथा सन्दर्भ में जब वादी प्रतिवादी में से कोई वक्ता किसी विप्रतिपत्ति अथवा अप्रतिपत्ति के कारण निग्रहस्थान की सीमा में आ जाता है, तब उसके विरोधी वक्ता का कर्त्तव्य है, कि वह इस बात का निर्देश करे, कि इस वक्ता ने अमुक निग्रहस्थान का प्रयोग किया है।

यहाँ निग्रहस्थान की सीमा में आया हुआ वक्ता 'पर्यनुयोज्य' है, क्योंकि उस पर निग्रहस्थान में आने का आरोप लगाया जा सकता है। परन्तु जो विरोधी पर्यनुयोज्य (निग्रहस्थान को प्राप्त हुए) की अज्ञानता आदि के कारण उपेक्षा कर देता है (उसके निग्रहस्थान में आने का निर्देश नहीं करता) तो वह स्वयं 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत हो जाता है। यहाँ कौन पराजित हुआ? इसका निर्णय करना परिषद् अथवा मध्यस्थ का कार्य होता है, क्योंकि जो 'पर्यनुयोज्य' है, अथवा 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' निग्रहस्थान से निगृहीत है, वह स्वयं अपने इस दोष को नहीं बताएगा, भला अपनी कमी को स्वयं कौन प्रकट करेगा?

यद्यपि यहाँ वादी-प्रतिवादी दोनों ही निग्रहस्थान के दोष से ग्रसित हैं, परन्तु 'पर्यनुयोज्य' की उपेक्षा करने वाले द्वितीय वक्ता को ही 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' निग्रहस्थान से निगृहीत समझना चाहिए।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'निरनुयोज्यानुयोग' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं-

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः ।।५/२/२२।।

[अनिग्रहस्थाने], जो निग्रहस्थान नहीं है, उसमें [निग्रहस्थानाभियोगः] निग्रहस्थान का अभियोग (आरोप) लगाना [निरनुयोज्यानुयोगः] निरनुयोज्यानुयोग नामक निग्रहस्थान कहलाता है। **निग्रहस्थानलक्षणस्य मिथ्याऽध्यवसायादनिग्रहस्थाने निगृहीतोऽसीत्ति परं ब्रुवन् निरनुयोज्यानुयोगान्निगृहीतो वेदितव्य इति ।**

जो वक्ता निग्रहस्थान को प्राप्त न हुए अपने विरोधी पर यह आरोप लगाता है, कि- 'तुम निग्रहस्थान को प्राप्त हो गए हो', तो ऐसा मिथ्या अभियोग (आरोप) लगाने वाला वक्ता स्वयं 'निरनुयोज्यानुयोग' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत माना जाता है, क्योंकि ऐसे मिथ्या अभियोग से अभियोक्ता का निग्रहस्थान सम्बन्धी अज्ञान प्रकट होता है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य क्रमप्राप्त 'अपसिद्धान्त' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं

सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः ।।५/२/२३।।

[सिद्धान्तम्] किसी सिद्धान्त को [अभ्युपेत्य] स्वीकार करके [अनियमात्] अनियम से [कथाप्रसङ्गः] कथा को चलाना [अपसिद्धान्तः] अपसिद्धान्त निग्रहस्थान कहलाता है। **कस्यचिदर्थस्य तथाभावं प्रतिज्ञाय प्रतिज्ञातार्थविपर्ययाद् अनियमात् कथां प्रसञ्जयतोऽपसिद्धान्तो वेदितव्यः।** कथा के समय वादी या प्रतिवादी किसी एक सिद्धान्त को स्वीकार करके उसके विपरीत अनियम से बोलता है (कथा को चलाता है), तो वह 'अपसिद्धान्त' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत समझा जाता है। जैसे कोई वक्ता 'सत् का

अभाव और असत् का भाव नहीं होता' इस सिद्धन्त को मानकर, फिर यह कहने लगे, कि 'जो पहले नहीं था, वह हो गया और जो है, वह नहीं रहेगा, अथवा कारण के बिना कार्य हो जाता है' इत्यादि। इस प्रकार अपने सिद्धान्त के विरुद्ध कथन करने वाला 'अपसिद्धान्त' निग्रहस्थान में पड़ जाता है।

सन्दर्भ- अब दर्शनाचार्य अन्त में क्रमप्राप्त 'हेत्वाभास' निग्रहस्थान के विषय में कहते हैं-

हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः ॥५/२/२४॥

[च] और [हेत्वाभासाः] सब हेत्वाभास [यथोक्ताः], जैसे कहे हैं वैसे ही निग्रहस्थान समझना चाहिए। **हेत्वाभासाञ्च निग्रहस्थानानि । किं पुनर्लक्षणान्तरयोगाद् हेत्वाभासा निग्रहस्थानत्वमापन्नाः यथा प्रमाणानि प्रमेयत्वमित्यत आह। यथोक्ता इति । हेत्वाभासलक्षणेनैव निग्रहस्थानभाव इति । त इमे प्रमाणादयः पदार्था उद्दिष्टा लक्षिताः परीक्षिताश्चेति ।** प्रथम अध्याय के दूसरे आह्निक (४-९ सूत्रा) में पाँच हेत्वाभासों का वर्णन किया गया है, जिनके नाम हैं- १. सव्यभिचार, २. विरुद्ध, ३. प्रकरणसम, ४. साध्यसम, ५. कालातीत। वहाँ इनका जिस रूप में वर्णन किया गया है, उसी रूप में ये निग्रहस्थान हैं। इसलिए यहाँ पर इनका अतिरिक्त लक्षण न करके केवल निर्देश कर दिया है। इस शास्त्र में प्रमाणादि सोलह पदार्थों का पहले उद्देश (नामनिर्देश) किया गया, फिर सब पदार्थों के लक्षण किए गए, एवं विस्तार पूर्वक परीक्षा की गई। इस प्रकार इस शास्त्र ने अपने विषय का पूर्णतया प्रतिपादन कर दिया।

इति निग्रहस्थाननिरूपणप्रकरणं समाप्तम् ।

इति गौतमीयन्यायदर्शनम्।

स्मरणीय बिंदु

परिभाषा विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम ख्न गलत समझना (विप्रतिपत्ति) या बिल्कुल न समझ पाना/उत्तर न दे पाना (अप्रतिपत्ति) ही निग्रहस्थान है।

कुल संख्या महर्षि गौतम ने निग्रहस्थान बताए हैं।

वगह्नकरण इन्हें दो भागों में समझा जा सकता है

1. ज्ञान की कमी के कारण जैसे प्रतिज्ञाहानि, हेत्वाभास।
2. तार्किक अनुशासन की कमी के कारण जैसे अर्थान्तर, विक्षेप।

शब्दावली

निग्रहस्थान वह बिंदु जहाँ व्यद्रि तार्किक रूप से हार जाता है।

विप्रतिपत्ति विपरीत या गलत समझ।

अप्रतिपत्ति समझ का पूर्ण अभाव या मौन हो जाना।

हेत्वाभास हेतु का आभास न्याय का सबसे महत्वपूर्ण तार्किक दोष।

अर्थान्तर प्रासंगिक विषय को छोड़कर अप्रासंगिक बात करना।

विक्षेप शास्त्रर्थ को बीच में रोकने की कोशिश करना।

प्रतिज्ञा वह वाक्य जिसे सिद्ध करना है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. निग्रहस्थान का सामान्य लक्षण बताते हुए इसके 22 भेदों का नामोल्लेख कीजिए।

प्रश्न 2. प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान का सोदाहरण लक्षण लिखिए।

प्रश्न 3. प्रतिज्ञान्तर और प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थानों में अंतर स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 4. विक्षेप और मतानुज्ञा निग्रहस्थानों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

प्रश्न 5.न्यून, अधिक और पुनरुद्र निग्रहस्थानों की परीक्षा कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. निग्रहस्थान का सामान्य लक्षण क्या है?

प्रश्न 2. प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान किसे कहते हैं?

प्रश्न 3. प्रतिज्ञान्तर से क्या तात्पर्य है?

प्रश्न 4. अविज्ञातार्थ और अपार्थक में क्या अंतर है?

प्रश्न 5. न्यून और श्अधिक निग्रहस्थान क्या हैं?

प्रश्न 6. पुनरुद्र दोष कब होता है?

प्रश्न 7. पर्यनुयोज्योपेक्षण और निरनुयोज्यानुयोग में क्या अंतर है?

प्रश्न 8. अहेतुसमा और श्हेत्वाभास में क्या संबंध है?

प्रश्न 9. विक्षेप निग्रहस्थान को समझाइए।

महत्वपूर्ण बहुविकल्पीय प्रश्न और उनके उत्तर यहाँ दिए गए हैं

1.विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च - रिद्र स्थान की पूर्ति करें

क) जाति:

ख) निग्रहस्थानम्

ग) हेत्वाभास:

घ) छल:

उत्तर ख)

2. न्यायसूत्र के अनुसार निग्रहस्थानों की कुल संख्या कितनी है?

क) 16

ख)24

ग) 22

घ) 5

उत्तर ग)

3. निग्रहस्थान का शाब्दिक अर्थ क्या है?

क) विजय का आधार

ख) पराजय का कारण

ग) संशय का निवारण

घ) प्रमाणों का समूह

उत्तर ख)

4. अपनी प्रतिज्ञा को छोड़ देना या उससे मुकर जाना कौन सा निग्रहस्थान है?

क) प्रतिज्ञान्तर

ख) प्रतिज्ञाविरोध

ग) प्रतिज्ञाहानि

घ) प्रतिज्ञासंन्यास

उत्तर ग)

5. द्रव्य गुणों से भिन्न है, क्योंकि गुणों के बिना द्रव्य नहीं दिखता - यह किसका उदाहरण है?

क) प्रतिज्ञाविरोध

ख) हेत्वन्तर

ग) अर्थान्तर

घ) पुनरुक्त

उत्तर क)

6. चर्चा के बीच में अनावश्यक व्याकरण या अप्रासंगिक बातें करना क्या कहलाता है?

क) निरर्थक

ख) अर्थान्तर

ग) अपार्थक

घ) अज्ञान

उत्तर ख)

7. दस हाथी, छह अनार, मण्डप, बकरी – यह किस निग्रहस्थान का उदाहरण है?

क) निरर्थक (निरर्थक शब्दों का समूह)

ख) अपार्थक (सम्बन्धहीन शब्दों का समूह)

ग) अविज्ञातार्थ (कठिन शब्द)

घ) न्यून

उत्तर ख)

8. परिषद और प्रतिवादी द्वारा तीन बार कहने पर भी वादी की बात न समझ पाना कौन सा दोष है?

क) अज्ञान

ख) अप्रतिभा

ग) अविज्ञातार्थ

घ) विक्षेप

उत्तर क)

9. किसी आवश्यक कार्य का बहाना बनाकर चर्चा को बीच में ही छोड़ देना क्या कहलाता है?

क) मतानुज्ञा

ख) विक्षेप

ग) अननुभाषण

घ) अपसिद्धान्त

उत्तर ख)

10. ष्मेरा पक्ष गलत है तो क्या हुआ, आपका भी तो गलत हैष – ऐसा कहना कौन सा निग्रहस्थान है?

क) मतानुज्ञा

ख) प्रतिज्ञासंन्यास

ग) निरनुयोज्यानुयोग

घ) पर्यनुयोज्योपेक्षण

उत्तर क)

11. जहाँ गलती (निग्रहस्थान) न हो, वहाँ गलती बताना क्या कहलाता है?

क) पर्यनुयोज्योपेक्षण

ख) निरनुयोज्यानुयोग

ग) अपसिद्धान्त

घ) हेत्वाभास

उत्तर ख)

॥ ओ३म् ॥

भाषाविज्ञान एवं मनोविज्ञान

BDPHMN-303

दिव्य प्रकाशन

BDPHMN-303
भाषाविज्ञान एवं मनोविज्ञान

Credits– 04

Marks– 100 (30+70)

खण्ड-1- भाषा विज्ञान का परिचय

इकाई-1- भाषा की परिभाषा, मानव भाषा

इकाई-2- मानवेतर भाषा, मानव-भाषा और मानवेतर भाषा में अन्तर

इकाई-3- भाषा के अभिलक्षण

इकाई-4- भाषा विज्ञान की शाखाएँ, भाषा विज्ञान का नाम

खण्ड-2- भाषा की उत्त्पत्ति के प्रमुख सिद्धान्त

इकाई-5- प्रत्यक्ष मार्ग- दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त, विकासवादी सिद्धान्त, धातु सिद्धान्त, निर्णय सिद्धान्त, अनुकरण सिद्धान्त, मनोभावाभिव्यक्ति सिद्धान्त, यो-हे-हो सिद्धान्त, इंगित सिद्धान्त, टाटा सिद्धान्त, संगीत सिद्धान्त, सम्पर्क सिद्धान्त, समन्वित रूप

इकाई-6- परोक्ष मार्ग - बच्चों की भाषा, असभ्य जातियों की भाषा, आधुनिक भाषाओं का इतिहास, भाषा विकास के चरण- अभ्यंतर वर्ग, बाह्य वर्ग

इकाई-7- भाषा और बोली, भाषा के विविध रूप- मूल भाषा, व्यक्ति-बोली, उपबोली या स्थानीय बोली, बोलियों के बनने का कारण, बोलियों का महत्व

इकाई-8- अपभ्रंश की बोलिया तथा आधुनिक भाषाओं से सम्बन्ध, भाषा और बोली में अन्तर, भाषा की विशेषताएँ और प्रकृति

खण्ड-3- विश्व की भाषाएँ एवं उनका वर्गीकरण

इकाई-9- भाषाई वर्गीकरण का आधार, वैश्विक भाषा खण्ड, भारोपीय भाषा का क्षेत्र

इकाई-10- भारोपीय भाषा के अर्न्तगत भाषाएँ, भारोपीय परिवार का विभाजन

इकाई-11- केंतुम (किस्टिक) तथा सप्तम् (सप्तम)

इकाई-12- भारतीय एवं यूरोपीय भाषा विज्ञान का इतिहास

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ सं.
खण्ड-1-	**भाषा विज्ञान का परिचय**	**5-22**
इकाई-1.1-	भाषा की परिभाषा, मानव भाषा	5-8
इकाई-1.2-	मानवेतर भाषा, मानव-भाषा और मानवेतर भाषा में अन्तर	9-13
इकाई-1.3-	भाषा के अभिलक्षण	14-17
इकाई-1.4-	भाषा विज्ञान की शाखाएँ, भाषा विज्ञान का नाम	18-22
खण्ड-2-	**भाषा की उत्त्पत्ति के प्रमुख सिद्धान्त**	**23-43**
इकाई-2.1-	प्रत्यक्ष मार्ग- दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त, विकासवादी सिद्धान्त, धातु सिद्धान्त, निर्णय सिद्धान्त, अनुकरण सिद्धान्त, मनोभावाभिव्यक्ति सिद्धान्त, यो-हे-हो सिद्धान्त, इंगित सिद्धान्त, टाटा सिद्धान्त, संगीत सिद्धान्त, सम्पर्क सिद्धान्त, समन्वित रूप	23-28
इकाई-2.2-	परोक्ष मार्ग - बच्चों की भाषा, असभ्य जातियों की भाषा, आधुनिक भाषाओं का इतिहास, भाषा विकास के चरण-अभ्यंतर वर्ग, बाह्य वर्ग	29-34
इकाई-2.3-	भाषा और बोली, भाषा के विविध रूप-मूल भाषा, व्यक्ति-बोली, उपबोली या स्थानीय बोली, बोलियों के बनने का कारण, बोलियों का महत्व	35-38
इकाई-2.4-	अपभ्रंश की बोलिया तथा आधुनिक भाषाओं से सम्बन्ध, भाषा और बोली में अन्तर, भाषा की विशेषताएँ और प्रकृति	39-43
खण्ड-3-	**विश्व की भाषाएँ एवं उनका वर्गीकरण**	**44-59**
इकाई-3.1-	भाषाई वर्गीकरण का आधार, वैश्विक भाषा खण्ड, भारोपीय भाषा का क्षेत्र	44-49
इकाई-3.2-	भारोपीय भाषा के अर्न्तगत भाषाएँ, भारोपीय परिवार का विभाजन	50-52
इकाई-3.3-	केंतुम (किस्टिक) तथा सप्तम् (सप्तम)	53-55
इकाई-3.4-	भारतीय एवं यूरोपीय भाषा विज्ञान का इतिहास	56-59
खण्ड-4-	**मनोविज्ञान**	**60-103**

भूमिका

मानव इतिहास और विकास में जो महतवपूर्ण घटक हैं, वह है भाषा। भाषा की विधि और संकेतों ने ही मनुष्य की यात्रा को सुगम और सरल बनाया है। भाषा अनेक हो सकती है, इसकी लिपि भिन्न हो सकती है, चिन्ह और लेखन में न्यूनाधिक अन्तर पाया जा सकता है लेकिन भाषा के संवेगात्मक एवं भावात्मक उद्देश्यों में समानता पाई जाती है जो भाषा की महत्ता और प्रयोजन की सफलता को प्रदर्शित करती है। जिस प्रकार वाक्य भाष्य की एक इकाई होती है, इस वाक्य में एक शब्द भी वाक्य की भूमिका निभा सकता है और समूह भी। व्याकरण की दृष्टि से भाषा का अपना नियोजन एवं संयोजन होता है। मानवीय संवेदनाओं आवेगों और विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं को व्यस्त करने के लिए भाषा का अपना महत्वपूर्ण योगदान रहा है। परिवार, समाज, राष्ट्र सभी परस्पर सह जीवन जीते हैं, जिसके मूल में भाषा कार्य करती है। अतः भाषा मानव कज्ञ वह सशक्त साधन अथवा स्रोत है जो अपने भावों, सहज प्रवृत्तियों जैसे संवेदनाओं, भावनाओं विचारों, प्रेम, घृणा, क्रोध आदि को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि जो सुनी और बोली जाती है, वह भाषा कहलाती है।

ऐसा नहीं है कि भाषा का प्रयोग केवल मनुष्य जाति में ही होता है। यह मानवेतर प्राणियों में भी प्रयुक्त होती है। प्रत्येक जीव की अपनी भाषा, और संकेत होते हैं, जिनके आधार पर वे परस्पर जुड़े रहते हैं। पक्षियों की, जलचर जीवों की, भूमिगत जीवों की, जंगल में रहने वाले प्राणियों की अपनी-अपनी भाषा और संकेत होते हैं। इन्हीं संकेतों के माध्यम से वे अपना जीवन निर्वाह करते हैं तथा अन्य भौगोलिक गतिविधयों और हिंसक जानवरों से अपना बचाव करते हैं, परस्पर जीवन निर्वाह करते हैं, वंशवृद्धि करते हैं, तथा जीवन को सहज रूप से जीते हुए प्रकृति के साथ संतुलन एवं उचित सामंजस्य स्थापित करते हैं। यही भाषा का उद्देश्य और महत्त्व है।

खण्ड- 1 भाषा विज्ञान का परिचय

इकाई-1.1 भाषा की परिभाषा, मानव भाषा

उद्देश्य-

1. भाषा की संकल्पना को समझना।
2. मानव भाषा की विशेषताओं का अध्ययन करना।
3. भाषा एवं संप्रेषण के संबंध को जानना।

भाषा की परिभाषा- अपने व्यापकतम रुप से तो भाषा वह साधन है जिसके माध्यम से हम सोचते हैं तथा अपने विचारों को व्यक्त करते हैं, किन्तु भाषा विज्ञान में हम जिस भाषा का अध्ययन-विश्लेषण करते हैं, वह इतनी व्यापक नहीं है। उसमें हम उन सभी साधनों को नहीं लेते जिनके द्वारा विचारों को व्यक्त करतें हैं और न उसे लिया जाता है जिसके द्वारा हम सोचते हैं। भाषा उसे कहते हैं जो बोली और सुनी जाती है और बोलना भी पशु-पक्षियों का नहीं, गूँगे मनुष्यों का भी नहीं, केवल बोल सकने वाले मनुष्यों का।

भाषा की अनेक परिभाषाएँ दी गई है:

1. 'भाषा' शब्द संस्कृत की 'भाषा' धातु से बना है जिसका अर्थ है- बोलना या 'कहना'। अर्थात् 'भाषा वह है जिसे बोला जाऐ। ?
2. प्लेटो ने 'सोफिस्ट' में विचार और भाषा के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है कि विचार और भाषा में थोडा ही अन्तर है। विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होठों पर प्रकट होती है तो उसे भाषा की संज्ञा देते है।
3. स्वीट के अनुसार 'ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों को प्रकट करना ही भाषा है।
4. वेन्द्रिए कहते है, भाषा एक तरह का संकेत है। संकेत से आशय उन प्रतीकों से है जिनके द्वारा मानव अपने विचार दूसरों पर प्रकट करता है। ये प्रतीक कई प्रकार के होते है, जैसे नेत्रग्राह्य, कर्णग्राह्य और स्पर्शग्राह्य। वस्तुत: भाषा की दृष्टि से कर्णग्राह्य प्रतीक ही सर्वश्रेष्ठ है।

   अधिकांश भाषा शास्त्रियों ने भाषा की परिभाषा लगभग एक सी दी है, जैसे-

5. ब्लॉक तथा ट्रेगर- A language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which a society group cooperates.
6. स्त्रुत्वाँ- A language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which members of a social group cooperate and interact.
7. विश्वकोशों में भी लगभग यही बात कही गयी है। जैसे- language may be defined as an arbitrary system of vocal symbols by means of which, human beings as members of a social group and participants in culture interact and communicate- इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका।

दो अन्य परिभाषाएं इस प्रकार हैं-

1. Language is a purely human and non-instinctive mehod of communicationg ideas, emotions and desires by means of voluntarily produced symbols- सपीर;
2. language may be defined as an arbitrary system of vocal symbols by means of which, human beings as members of a social group and participants in culture interact and communicate- इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका

   दो अन्य परिभाषाएं ये है-

3. Language is a purely human and non-instinctive method of communicating ideas, emotions and desires by means of voluntarily produced symbols- सपीर;
4. I will consider a language to be a set (finite or infinite) of sentences, each finite in length and constructed out of a finite set of elements- चॉम्स्की।
5. इनमें सपीर में असहजवृत्तिक (Non- instinctive) शब्द ध्यान देने योग्य है। मानवेतर भाषाएँ प्राय: सहजवृत्तिक (instinctive) होती है।

   यों अच्छा हो कि परिभाषा पह पहुँचे के पूर्व भाषा- विषयक मूलभूत बातों पर विचार कर लें:

1. भाषा वक्ता के विचार को श्रोता तक पहुँचाती है, अर्थात् वह विचार विनिमय का साधन होती है।
2. भाषा निश्चित प्रयत्न के फलस्वरुप मनुष्य के उच्चारणावयवों से नि:सृत ध्वनि समज्टि होती है। इसका आशय यह है कि अन्य साधनों से अन्य प्रकार की ध्वनियों (जैसे चुटकी बजाना, ताली बजाना आदि) से भी विचार-विनिमय हो सकता है, किन्तु वे भाषा के अन्तर्गत नहीं आती।
3. भाषा में प्रयुक्त ध्वनि- समष्टियाँ (या शब्द) सार्थक तो होती है, किन्तु उनका भावों या विचारों से कोई सहजात सम्बन्ध नहीं होता। यह सम्बन्ध 'यादृच्छिक' या 'माना हुआ' होता है।

   अर्थात् प्रतीका का सीधा सम्बन्ध भौतिक वस्तु से नहीं होता। वह सम्बन्ध आरोपित है जिसे यहाँ बिन्दुओं से दिखाया गया है। भाषाभाषी के मस्तिष्क में भौतिक वस्तु की मानसिक संकल्पना (भाषिक प्रत्यय) होती हे। और भाषिक प्रतीक उसी संकल्पना का प्रतीक होता है। इन तीनों को क्रमश: 'संकेतित वस्तु', संकेतार्थ तथा संकेत 'प्रतीक शब्द' भी कह सकते हैं।

   एक बात और। सम्बन्ध तीन प्रकार के होते हैं:

1. **भौतिक सम्बन्ध**- जैसे आग और धुआँ में,
2. **भावनात्मक सम्बन्ध**- जैसे पूजा के फूल और श्रद्धाभाव में
3. **यादृच्छिक सम्बन्ध**- यह भाषिक प्रतीकों और उसकी मानसिक संकल्पना में होता है जैसे 'आग' की संकल्पना और 'आग' शब्द में। इसी आधार पर भौतिक प्रतीक भावनात्मक प्रतीक तथा यादृच्छिक प्रतीक की चर्चा की जाती है।

4. भाषा एक 'व्यवस्था' (System) होती है। उसके अपने नियम होते है जिससे उस भाषा के सभी बोलने वाले परिचित होते है। इसीलिए वक्ता जो कुछ कहता है, श्रोता वही समझता है। भूतकाल का वाक्य भूतकाल का ही समझा जाता है, भविष्यकाल का नहीं। यदि गहराई से देखें तो भाषा व्यवस्थाओं की व्यवस्था हे। ध्वनि, शब्दरचना, वाक्यरचना सभी स्तरों पर उसमें व्यवस्था होती है। उदाहरण के लिए हिन्दी में ड़, ढ़, शब्द के प्रारम्भ में नहीं आते या ड्, ञ् शब्द के आदि में और अंत में नहीं आते। यह ध्वनि-स्तर पर व्यवस्था है। वाक्य-स्तर पर हिन्दी में कर्ता + कर्म + क्रिया का क्रम होता है, किन्तु अंग्रेजी में कर्ता + क्रिया + कर्म का। यह वाक्य के स्तर पर व्यवस्था है। हिन्दी में तत्सम प्रत्यय विदेशी शब्द के साथ प्राय: नहीं आता। इसीलिए हिन्दी में 'दीनता बनता है, 'गरीबता' (गरीबी) नहीं बनात। यह शब्द-स्तर की व्यवस्था है।

   एक दृष्टि से भाषा में व्यवस्था दो प्रकार की होती है: आंतरिक और बाह्य। ऊपर भाषा की संरचना में ध्वनि, शब्द, रुप, वाक्य, अर्थ आदि के स्तर पर जो व्यवस्था की चर्चा की गई, वह भाषा के भीतर की अर्थात् आंतरिक व्यवस्था है। बाह्य व्यवस्था भाषाभाषियों में इस रुप में होती है कि किसी भाषाभाषी समुदाय के एक सदस्य के लिए किसी वस्तु प्रत्यय-प्रतीक का जो सम्बन्ध होता है, दूसरों के लिए भी वही सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए सभी हिन्दी भाषियों के मस्तिष्क में 'पुस्तक' वस्तु का एक ही प्रत्यय या बिबं होता है जो 'पुस्तक प्रतीक से व्यक्त होता है। इस तरह एक भाषा के सभी भाषियों में वस्तु-बिबं प्रतीक की दृष्टि से सहमति होती है। यदि ऐसा न हो तो वक्ता 'पुस्तक' कहे और श्रोता कॉपी, कागज या कुछ और समझे। यह है भाषा की बाह्य व्यवथा जो भाषा को समाज में बोधगम्य बनाती है।

4. भाषा का प्रयोग समाज-विशेष मे होता है और उसी में वह बोली और समझी जाती है।

उपर्युक्त सारी विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए भाष की परिभाषा कुछ इस प्रकार दी जा सकती है: भाषा, उच्चारण-अवयवों से उच्चरित, यादृच्छिक (Arbitrary) ध्वनि-प्रतीकों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा समाज-विशेष के लोग आपस में विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।

अभी कहा गया है कि 'भाषा उच्चारण-अवयवों में उच्चरित यादृच्छिक ध्वनि प्रतीकों की उस व्यवस्था को कहते है जिसके द्वारा समाज-विशेष के लोग विचार-विनिमय करते है'। यदि इसमें 'भाषा के प्रकार्य (फंक्शन) को जोड दें तथा 'व्यवस्था' को गहराई से देखें और मानव भाषा को दृष्टि में रखें तो निम्नांकित बातें इस परिभाषा में जोडी जा सकती है:

(क) भाषा विचार-विनियम का साधन तो है ही, साथ ही कोई व्यक्ति चाहता है जो भाषा के माध्यम से अपने विचारों तथा अनुभवों को लेख, कविता, पुस्तक आदि में व्यक्त भी करता है।

(ख) यही नहीं किसी व्यक्ति के भाषा-प्रयोग के आधार पर उस व्यक्ति के सामाजिक स्तर तथा व्यक्तित्व के विषय में भी काफी कुछ पता सुनने वाले को भाषा से चल जाता है।

(ग) जिसे प्रतीकों को व्यवस्था कहा गया है वह तत्वत: प्रतीकों की संरचनात्मक व्यवस्था होती है। अर्थात् भाषिक व्यवस्था के भीतर संरचना के स्तर होते हैं जो कई होते है। जैसे ध्वनि-स्तर , रुप स्तर, वाक्य स्तर आदि।

(घ) जिस भाषा की चर्चा यहाँ की जा रही है, वह मानव भाषा है अत: उसे मानव उच्चारणावयवों से उच्चारित कहना अधिक सही है, अन्यथा सभी जीव-जन्तुओं की उच्चरित भाषा इसके अन्तर्गत आ जायेगी जो यहाँ अपेक्षित नहीं है।

तो भाषा की अधिक व्यवस्थित ओर सर्वसमावेशी परिभाषा हुई:

भाषा मानव उच्चारणावयों से उच्चरित यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की वह संरचानात्मक व्यवस्था है जिसके द्वारा समाज विशेष के लोग आपस में विचार-विनियम करते हैं, लेखक कवि या वक्ता के रुप में अपने अनुभवों एवं भावों आदि को व्यक्त करते हैं तथा अपने वैयक्तिक और सामाजिक व्यक्तित्व विशिष्टता तथा अस्मिता (Identity) के संबंध में जाने-अनजाने जानकारी देते हैं।

स्मरणीय बिंदु-

- भाषा विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम है।
- मानव भाषा ध्वनि-आधारित होती है।
- भाषा सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था है।
- भाषा में यादृच्छिकता (Arbitrariness) पाई जाती है।
- भाषा मानव की विशिष्ट पहचान है।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
भाषा	विचार व्यक्त करने का माध्यम
संप्रेषण	विचारों का आदान-प्रदान
ध्वनि	उच्चारित स्वर
प्रतीक	संकेत
संरचना	व्यवस्था

5 अंक के प्रश्न-

1. भाषा की परिभाषा दीजिए।
2. मानव भाषा से क्या अभिप्राय है?
3. भाषा की मुख्य विशेषताएँ लिखिए।
4. भाषा को संप्रेषण का माध्यम क्यों कहा जाता है?
5. 'भाषा एक व्यवस्था है' ख़ स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई भाषा की परिभाषाओं का विवेचन कीजिए।
2. मानव भाषा की प्रकृति एवं महत्त्व पर विस्तार से चर्चा कीजिए।
3. भाषा की संरचनात्मक विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
4. भाषा एवं समाज के संबंध को स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. भाषा किसका माध्यम है?

(क) व्यापार

(ख) संप्रेषण

(ग) युद्ध

(घ) राजनीति

2. "Language is a system of arbitrary vocal symbols" किसने कहा?

(क) प्लेटो

(ख) स्वीट

(ग) ब्लॉक एवं ट्रेगर

(घ) चॉम्स्की

3. मानव भाषा का मुख्य आधार क्या है?

(क) संकेत

(ख) ध्वनि

(ग) चित्र

(घ) लेखन

4. भाषा का संबंध किससे है?

(क) समाज

(ख) संस्कृति

(ग) विचार

(घ) उपरोक्त सभी

5. भाषा विज्ञान में भाषा को माना गया हैख़

(क) ध्वनि प्रतीकों की व्यवस्था

(ख) चित्रों का समूह

(ग) संकेतों का खेल

(घ) इनमें से कोई नहीं

इकाई- 1.2 मानवेतर भाषा, मानव-भाषा और मानवेतर भाषा

उद्देश्य-

1. मानवेतर भाषा की अवधारणा को समझना।
2. मानव एवं मानवेतर भाषा के अंतर का अध्ययन करना।
3. पशु-पक्षियों की संप्रेषण प्रणाली का ज्ञान प्राप्त करना।

मानवेतर भाषा- ऐसा प्रायः सोचा जाता है कि भाषा केवल मनुष्य की ही बपौती है, किन्तु ऐसी बात है नहीं। मानवेतर कई प्राणी किसी-न-किसी प्रकार की भाषा का प्रयोग करते है। यही नहीं पेड-पौधों की भी भाषा का अनुमान लगाया गया है। यहाँ इनमें से कुछ पर अत्यन्त संक्षेप में विचार किया जा रहा है:

(क) मधुमक्खियों की भाषा-मानवेतर भाषाओं में मधुमक्खियों की भाषा प्रमुख है। मधुमक्खियाँ अपने साथ की मधुमक्खियों को अपनी सांकेतिक भाषा के माध्यम से कई तरह की सूचनाएँ देती है। मान लें, एक मधुमक्खी उड़ते-उड़ते कहीं दूर चली गई तथा उसे वहाँ काफी फूल मिल गए जिनसे खाद्य सामग्री ली जा सकती है तो वह लौटकर अपने छत्ते पर आएगी और वहाँ विभिन्न प्रकार के नाच करके, अर्थात् नृत्य भाषा के माध्यम से अपने सहवासियों को एक तो इस बात की सूचना देगी कि खाद्य सामग्री छत्ते से किस दिशा में है तथा दूसरे वह लगभग कितनी दूर है। यही नहीं कभी-कभी वे यह भी संकेत देती हे कि उस स्थान पर खाद्य सामग्री किस प्रकार की उल्लेख्य है कि किसी छत्ते में कुछ सजातीय तत्वों से ही वे मधु बनाती है उसमें किसी विजातीय तत्व के आने से मधु के गुण-स्वाद में अंतर आ जाता है। सभी मधु एक रंग या गंध के नहीं होते। उसका रहस्य यही है। कुछ तत्वों से उसमें एक रंग आता है तो दूसरों से दूसरा। यही स्थिति गंध की भी है। उदाहरण के लिए बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में तथा आस-पास जहाँ लीची के मौसम में उसके फूलों से सामग्री लेकर मधुमक्खियाँ जो मधु बनाती है उसमें लीची की गंध होती हे तथा उसका रंग सामान्य शहद की तुलना में सफेद होता है, वहीं सरसों के मौसम में जो शहद बनता है उसमें कुछ पीलापन और लालिमा होती है तथा उसमें सरसों की गंध होती है।

कोई मधुमक्खी जब अपनी सहवासी मधुमक्खियों का उपर्युक्त प्रकार के संदेश देना चाहती है तो वह छत्ते के ऊपर नृत्य करती है। यह नृत्य दो प्रकार का होता है। एक तो गोलाकार नृत्य (Round dance) होता है तथा दूसरा पुच्छचालन नृत्य । गोलाकार नृत्य से वह यह सूचना देती है कि खाद्य-स्रोत लगभग (tailwagging dance) दस मीटर के भीतर है।

मधुमक्खियों का एक और नृत्य होता है जिसके आधार पर वे सौ मीटर के बाहर तक की सामग्री का पता अपनी सहवा. सिनी मक्खियों को देती है। इस नृत्य को पुच्छचालन नृत्य कहते हैं। इसमें दो अर्धवृत्त बनाते हुए मधुमक्खी नाचती है। यह नृत्य तीन प्रकार का होता है। यदि सामग्री सूरज की ओर है तो यह नृत्य सीधी रेखा में ऊपर की ओर होता है। यदि सामग्री सूरज की ओर न होकर दूसरी दिशा में है तो सीधी रेखा में नीचे की ओर यह नृत्य होता है या फिर अन्य दिशा में तो अस्सी अंश के कोण पर बाएँ सीधी रेखा में। इस तरह पुच्छचालन नृत्य द्वारा की गई अभिव्यक्ति सूर्य से सम्बद्ध है। दिशा के अतिरिक्त इस नृत्य से मधुमक्खियाँ दूरी का भी संकेत करती है। समीप के लिए नृत्य थोडी देर तक तो दूर के लिए काफी देर तक या फिर नाच के बीच में भिनभिनाकर भी वे दूरी का संकेत करती हे। भिनभिनाना कम देर तक हो तो समीप और नहीं तो दूर। कभी-कभी पुच्छचालन नृत्य से मधुमक्खियाँ ग्यारह किलोमीटर तका का संकेत भी देती पाई गई है।

यहाँ स्वभावतः एक प्रश्न उठता है कि पूरी दुनिया की मधुमक्खियाँ एक ही भाषा का प्रयोग करती है या आदमियों की भाषाओं की तरह उनमें भी अन्तर होता है। इस दिशा में अध्ययनों से पता चला है कि अलग-अलग प्रजाति की मधुमक्खियों की भाषा में तो अंतर होता ही है, एक या संबद्ध प्रजाति की मधुमक्खियों की भाषाएँ भी पूर्णतः एक नहीं होती। ऊपर जिस नृत्य-भाषा का उल्लेख है चह आस्ट्रिया की काली मधुमक्खियों की है। पास ही इटली की इसी प्रजाति की मधुमक्खियों की भाषा उससे कुछ भिन्न है। ये दस से सौ मीटर की दूरी के संकेत के लिए हँसिया नृत्य करती है जो अर्धचंद्राकार होता है।

कुछ मधुमक्खी-विज्ञानवेत्ताओं ने इतालवी तथा आस्ट्रियाई मधुमक्खियों के क्रॉस ग्रीड से मिश्र मधुमक्खियाँ भी पैदा कीं। पाया यह गया कि उनके शरीर की बनावट यदि इतालवी मधुमक्खियों से मिलती-जुलती है तो वे उन जैसी भाषा का ही प्रयोग करती है, किन्तु यदि वे आस्ट्रियाई मधुमक्खियों जैसी है तो भाषा भी उन जैसी ही होती है।

(ख) पक्षियों की भाषा बहुत पराने जमाने से पक्षियों के बोलने तथा गाने की और लोगों का ध्यान जाता रहा है। इसी कारण पौराणिक कथाओं तथा लोक-साहित्य में पक्षियों के बोलने तथा गााने से संबद्ध अनेक बातें मिलती है।

भाषा के रुप में पक्षी मोटे रुप में दो प्रकार की ध्वनियों का प्रयोग करते है। एक तो संगीतात्मक होती है जिसे 'पक्षियों का गाना' या 'पक्षिगान' (Bird song) कहते हैं, दूसरी संगीतात्मक न होकर सामान्य होती हे जिसे 'पक्षियों का बोलना' या पक्षी- पुकार (Bird call) कह सकते है। इनमें पहला अर्थात् 'गाना' अपनी संरचना में काफी जाटिल होता हे। इनका प्रयोग प्राय: नर पक्षी ही करते है। एक बार एक पक्षी-विशेषज्ञ ने एक नर-पक्षी का संगीत टेप कर लिया तथा पास एक नर पक्षी के क्षेत्र में जाकर उसे जोर-जोर से बजाने लगा। उसे सुनते ही अपने क्षेत्र में अन्य पक्षी की उपस्थिति का अनुमान लगाकर उस क्षेत्र का नरपक्षी बहुत जोर-जोर से गाने लगा। वस्तुत: अपने पडोसी नर पक्षी की आवाज प्राय-नरपक्षी पहचनाते है।

कुछ पक्षियों की ऐसी भी प्रजातियां होती हैं जिनमें मादा पक्षी भी गाता है, मुख्यत: नर पक्षी के गाने पर उसके उत्तर-स्वरुप। पूर्वी अफ्रीका के एक पक्षी (बाउ-बाउ श्राइक) में यह बात विशेष रुप से पाई जाती है। कभी-कभी तो गाने में स्वर के चौदह घटक पाए गए जिनमें चार पहले नर गाता है, फिर मादा तीन, फिर नर चार और फिर अंत में मादा तीन। या यह भी पाया गया है कि पहले नर पूरे को गाता है, फिर मादा उसे पूरा दुहराती है।

जिस तरह मानव-भाषा में अलग-अलग क्षेत्रों में एक ही भाषा की अलग-अलग बोलियां मिलती हैं उसी तरह पक्षियों के गाने में भी बोलियाँ पाई जाती है। उदाहरण के लिए चैफिच के गाने में स्थानीय भेद प्राय: मिलते है। ये वर्षा के पहले गाता है। कहना न होगा कि भारतीय मोर का गाना भी वर्षा से सम्बद्ध पाया गया है। इनके इस वर्षापूर्व गीत में स्थानीय अन्तर बहुत स्पष्ट मिलता है। एक बार एक पक्षी-विशेषज्ञ ने एक प्रयोग किया। उसने एक ही चैफिच के तीन बच्चे लिए तथा तीनों को तीन अलग-अलग क्षेत्रों में छोड दिया। बाद में पाया गया कि तीनों अपने-अपने क्षेत्रों में तीन प्रकार के गाने गाने लगे। इसका अर्थ यह हुआ कि यह अन्तर उनमें जन्मजात नहीं था, उन्होंने अपने-अपने क्षेत्र के पक्षी-समाज से इस प्रकार अलग-अलग प्रकार से गाना अनुकरण द्वारा सीखा। अर्थात् जैसे मनुष्य अपने आसपास के समाज से भाषा सीखता है, वही प्रवृत्ति एक सीमा तक कुछ पक्षियों में भी मिलती है।

पक्षियों की दूसरी प्रकार की भाषा, जैसा कि ऊपर कहा गया संगीतात्मक न होकर सामान्य होती है जिसे पक्षियों का बोलना या पक्षी-पुकार कहा जा सकता है। इसका प्रयोग पक्षी साथ-साथ खाने की खोज में जाने साथ-साथ उड़ने, साथ-साथ कहीं उतरने, खतरे की चेतावनी देने तथा साथ-साथ अपने -अपने घोंसलों मे जाने के लिए करते है। इस बोलने में कुछ में तो एक आवाज होती है तथा कुछ में आवाजों की एक श्रृंखला होती है। सौ-सौ, सवा सौ-सवा सौ के झुंड में रहने वाले गौरेया पक्षी उडने के लिए तीन तरह से बोलते हैं। एक उडने के पूर्व, दूसरा उडने के बीच में तथा तीसरा उतरते समय। इसका उद्देश्य होता है पूरे झुंड का साथ-साथ उडना तथा साथ-साथ उतरना। श्यामा (ब्लैक बर्ड), चैफिच, रॉबिन, रैन, मिसिल, थ्रश, गार्डन, बार्बलर आदि बहुत सी चिडियों में यह पाया गया है कि यदि उन्हें कोई साँप या बिल्ली दिख जाए तो देखने वाली चिड़िया 'चिक' जैसा बोलती है जिसे सुनकर सभी चिक-चिक कह उठती है। इस आवाज के अनुतान की संरचना आरोही, फिर अवरोही होती है। पेड़ पर साँप या बिल्ली आदि के देखने पर भी ऐसा ही होता है। पक्षियों में एक विशेषता यह होती है कि वे दोनों कान के साथ नहीं सुनते। जिस ओर से आवाज आती है, उधर के कान आवाज को पहले सुन लेते हैं तथा दूसरे कान में आवाज बाद में पहुँचती है। इस तरह खतरे की दिशा का भी उन्हें अनुमान हो जाता है।

श्यामा, चैफिच, रीडबंटिंग, बृहत टिटमाउस (ग्रेट टिटमाउस), नील टिटमाउस (ब्ल्यू टिटमाउस) आदि कई चिडियाँ यदि ऊपर कोई बाज आदि हमलावर पक्षी उड रहा हो तो ट्सीट जैसी अत्यन्त कर्कश आवाज करेगी जो अपनी संरचना में अन्य आवाजों से भिन्न होगी। इसे सुनते ही सभी पक्षी या तो कहीं दुबक जाते हैं या छिप जाते हैं। खतरा टल जाने पर फिर विशेष प्रकार की आवाज करते हैं जिसे सुनकर सभी निश्चित होकर विचरने लगते हैं।

(ग) प्राइमेट की भाषा-'प्राइमेट' जीवविज्ञान का एक बहुसमावेशी शब्द है। इसमें स्तनपायी प्राणियों के लेम्यूर बन्दर, लंगूर, बैबून, गिबन, गोरिल्ला, चिंपैजी, बनमानुस तथा आदमी आदि सर्वाधिक विकसित प्राणी में आते है। इस वर्ग के प्राणियों में कइयों की भाषा पर काम हुए हैं तथा कइयों को तरह-तरह की सांकेतिक भाषाएँ सिखाने के भी यत्न हुए है। उदाहरण के लिए एक चिपैंजी शिशु 'गुआ' को एक बच्चे के साथ रखा गया तथा सोलह महीनों में वह सौ शब्द (बच्चे की तुलना में अधिक) समझने लगा, किन्तु उससे अधिक शब्द वह कभी नहीं समझ सका। साथ ही वह अलग-अलग शब्दों के अर्थ ही समझ सका। उनेक आधार पर तहर-तरह के वाक्य नहीं बना सका। एक दूसरा चिपैंजी शिशु बहुत परिश्रम करने पर भी 'मामा' 'पापा' 'कम' जैसे शब्द बोलने लगा, किन्तु और आगे नहीं। ऐसे ही यह देखकर कि इनका उच्चारण-अवयव मनुष्य-जैसा समर्थ नहीं होता। वेरवेट (Vervet) नामक अफ्रीकी बन्दर अलग-अलग तरह की छत्तीस ध्वनियों (गर्राना, चीखना, वुफ- वुफ, वा-वा, दाँत कटकटाना, ररर, एड, उह, अर्र आदि) से इक्कीस परिस्थितियों में बाईस तरह के भावादि (जैसे भय, क्रोध, खतरे की चेतावनी, पुकारना आदि) व्यक्त करता है।

(घ) डाल्फिन की भाषा- यह एक प्रकार का समुद्री जीव है जिसे कुछ लोगों ने समुद्री बन्दर कहा है, यद्यपि यह बन्दर न होकर व्हेल सा होता है। यह भी तरह-तरह की आवाजें करता है, किन्तु उन ध्वनियों का प्रयोग अन्य डाल्फिनों से कुछ कहने के लिए नहीं होता, बल्कि वे आवेजें रास्ते में आने वाली चीजों का उसे पता देती है राडार की तरह। कुछ ध्वनियाँ उसके मुँह से परेशानी में सहज ही निकल जाती है।

(ड) पेड-पौधों की भाषा एक समय था जब पेड़-पौधे जड़ माने जाते थे। अपने यहाँ भारतीय परम्परा में जड़-चेतन की संकल्पना में 'जड़' में पेड़-पौधे भी आते है। आधुनिक काल में बीज आदि से पेड़-पौधों के जनमने, बढने और फिर सूख जाने की ओर लोगों का ध्यान जाने पर यह माना जाने लगा कि पेड-पौधे भी जड़ नहीं होते। हाँ यह अवश्य है कि उनकी चेतनता एक खास तरह की होती है जो मनुष्य या अन्य जीव-जन्तुओं से भिन्न प्रकार की होती है। इस मान्यता को प्रामाणिक आधार प्रदान किया प्रसिद्ध भारतीय वनस्पति शस्त्रवेता जगदीशचन्द्र बसू (1858-1937 ई) ने। उन्होने नई-नई पद्धतियों को अपनाकर पेड़ पौधों पर नये-नये प्रयोग किये तथा इसके लिए नये-नये यन्त्र और उपकरण बनाये। इन्हीं यन्त्रों में पौधों की वृद्धि नापने के लिए क्रेस्कोग्राफ नाम का यन्त्र भी था जो वृद्धि को एक करोड़ गुना बढाकर दिखाता था। अतः उनका बढना बहुत स्पष्ट रुप से देखा जा सकता था। ऐसे ही उन्होंने अन्य यन्त्रों और उपकरणों की सहायता से पेड़-पौधों पर नींद, हवा, भोजन तथा दवा आदि का प्रभाव दिखाया जो बहुत कुछ जीव-जन्तुओं जैसा ही था।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब पेड-पौधे जीव-जन्तुओं की भाँति ही नींद, भोजन, हवा तथा दवा आदि से प्रभावित होते हैं तो क्या विभिन्न जीव जन्तुओं की तरह वे भाषा भी प्रयोग करते हैं? अभी हाल के कुछ अनुसंधानों से यह सिद्ध हुआ है कि कुछ पेड अपनी जाति के अन्य पेडों को विशिष्ट प्रकार के संदेश देते हैं और वे अन्य पेड संदेश पाकर तदनुसार कार्य करते हैं। दो अमरीकी वनस्पतिशास्त्रियों ने 'विलो' और 'बर्च' नामक पेडों पर अनुसंधान करके यह निष्कर्ष निकाला है कि पेड संकट के समय एक दूसरे को चेतावनी देते है। उदाहरण के लिए कीडो से क्षतिग्रस्त हाने से बचाने के लिए चेतावनी देते है। वस्तुतः ये वैज्ञानिक यह जानने के लिए परीक्षण कर रहे थे कि कुछ पेड कैटरपिलर या मकडियों के आक्रमण से कैसे बच निकलते है। उन्होने परीक्षण में पाया कि कुछ पेडों पर ज्यों ही क्षतिकारक कीड़े-मकोड़े पहुँचते हैं, वे एल्कोलाइड तथा टर्पिनाइड जैसे रसायनों का उत्पादन शुरु कर देते हैं जिनके पतियों में पहुँचने पर पातियाँ कीडों के खाने योग्य नहीं रह जाती। यही नहीं वे प्रोटीन भी जिसे कीडे अपने भोजन के रुप में पेडों से प्राप्त करते हैं, इन रसायनों के कारण दूषित हो जाता है और उस पेड पर पहुँचने वाले कीड़े अपना खाद्य न पा सकने के कारण धीरे-धीरे मर जाने को बाध्य होते हैं।

इन वैज्ञानिकों का विश्वास है कि क्षतिग्रस्त पेड़ हवा में कोई रसायन छोडकर अन्य पेडों को कीडों के आक्रमण के विरुद्ध तैयार रहने की चेतावनी देते है। इस तरह यदि यह बात ठीक है तो यह रसायन या ये रसायन ही पेडों की अपनी सांकेतिक भाषा के प्रतीक है जिनके माध्यम से ये पेड़ आक्रमण के विरुद्ध तैयारी का संदेश आपस में एक दूसरे को देते है।

मानव-भाषा और मानवेतर भाषा में अन्तर - उल्लेख्य है कि अपनी प्रकृति की दृष्टि से ये दोनों भाषाएँ (मानव और मानवेतर) एक नहीं है। उनमें कई भिन्नताएँ हैं। इस समस्या पर मुख्यतः हॉकिट (Hockett: The Origin of speech) (लेख) (1960), मैकनेल (Mc Neil: The Acquistion of Language 1970) तथा चॉम्स्की (Chomsky: Cartesian Lingusitics, 1966) ने विचार किया है। हॉकिट ने दोनों की तुलना सर्जनात्मकता यादृच्छिकता तथा पैटर्न की द्वैतता आदि तेरह आधारों पर की है। मैकनेल के आधार पर की है। मैकनेल के आधार दो प्रकार के हैः संरचनात्मक तथा प्रकार्यात्मक। उदाहरण के लिए संरचनात्मकता की दृष्टि से मानव-भाषा में योजन-व्यवस्था (Coombining system) है। विभिन्न रुपों में समान ध्वनियों को जोडने से अलग-अलग शब्द बन जाते हैं। तथा समान शब्दों को अलग-अलग रुपों में जोडने पर अलग-अलग वाक्य बन जाते है। जहाँ तक प्रकार्य का प्रश्न है, ये तीन तरह के होते हैंः वस्तुपरक (वस्तुओं को संकतित करना), भावपरक (भावों को संकेतित करना) तथा प्रकथनपरक (Predicative) बाहरी घटनाओं या आंतरिक स्थिति के विषय में कहना या टिप्पणी करना। चॉम्स्की ने इस सम्बन्ध में जो कहा है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि उनके अनुसार मानवेतर भाषा सर्जनात्म्क नहीं होती जबकि मानव-भाषा होती है। सर्जनात्मकता में तीन बातें आती हैः

(क) **असीमितता**- मनुष्य अपनी भाषा क द्वारा असीमित पुराने और नए भावों तथा विचारों आदि को अभिव्यक्ति दे सकता है, किन्तु मानवेतर भाषा को अभिव्यक्ति शक्ति बहुत सीमित होती है।

(ख) **उद्धीपन-अनुक्रिया-गुक्तता** - मानव-भाषा उद्धीपन-अनुक्रिया रुप में नही होती, जबकि मानवेतर भाषा प्राय होती है।

(ग) **संदर्भ उपयुक्तता**- मानव-भाषा नए से नए पहले से सर्वथा अज्ञात और अननुमानित संदर्भ के पूर्णतः उपयुक्त अभिव्यक्ति देने में समर्थ है, किन्तु मानवेतर भाषा नहीं।

स्मरणीय बिंदु-

- मानवेतर भाषा पशु-पक्षियों द्वारा प्रयुक्त होती है।
- मधुमक्खियाँ नृत्य के माध्यम से सूचना देती हैं।
- मानव भाषा सृजनात्मक एवं परिवर्तनशील होती है।
- मानवेतर भाषा सीमित एवं सहजवृत्तिक होती है।
- मानव भाषा सामाजिक विकास का प्रमुख साधन है।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
मानवेतर भाषा	पशु-पक्षियों की भाषा
संकेत	सूचना देने का माध्यम
संप्रेषण	विचारों का आदान-प्रदान
सहजवृत्ति	जन्मजात प्रवृत्ति
सृजनात्मकता	नवीन अभिव्यक्ति की क्षमता

5 अंक के प्रश्न-

1. मानवेतर भाषा से क्या अभिप्राय है?
2. मधुमक्खियों की भाषा पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
3. पक्षियों की भाषा की विशेषताएँ लिखिए।
4. मानव भाषा एवं मानवेतर भाषा में अंतर स्पष्ट कीजिए।
5. डॉल्फिन की भाषा का वर्णन कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. मानवेतर भाषा की प्रकृति एवं प्रकारों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. मानव भाषा एवं मानवेतर भाषा के मध्य अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. पशु-पक्षियों की भाषा एवं संप्रेषण प्रणाली का विवेचन कीजिए।
4. मानव भाषा को श्रेष्ठ क्यों माना जाता है? स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. मानवेतर भाषा का प्रयोग कौन करते हैं?

(क) केवल मनुष्य

(ख) पशु-पक्षी

(ग) मशीनें

(घ) विद्यार्थी

2. मधुमक्खियाँ संचार के लिए किसका प्रयोग करती हैं?

(क) गीत

(ख) नृत्य

(ग) संकेत ध्वनि

(घ) चित्र

3. मानव भाषा की प्रमुख विशेषता क्या है?

(क) सीमितता

(ख) सृजनात्मकता

(ग) नकल

(घ) संकेत

4. डॉल्फिन किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करती है?

(क) लिखित

(ख) संकेतात्मक

(ग) चित्रात्मक

(घ) मौन

5. मानवेतर भाषा सामान्यत: होती है?

(क) सृजनात्मक

(ख) वैज्ञानिक

(ग) सहजवृत्तिक

(घ) साहित्यिक

इकाई- 1.3 भाषा के अभिलक्षण

1. भाषा के प्रमुख अभिलक्षणों को समझना।
2. मानव भाषा की विशिष्टताओं का अध्ययन करना।
3. भाषा की संरचनात्मक प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करना।

भाषा के अभिलक्षण- यहाँ 'भाषा' से आशय है 'मनुष्य की भाषा' तथा 'अभिलक्षण' (Property) से आशय है 'विशेषता' या 'मूलभूल लक्षण'।

यह ध्यान देने की बात है कि भाषा केवल मनुष्यों की ही बपौती नहीं। मकड़ी, मधुमक्खी, गिबन (बन्दरों की एक जाति जिनके हाथ बहुत लम्बे होते है), सिकिलबैक (एक प्रकार की छोटी मछली) तथा चिम्पैंजी आदि अनेक ऐसे जीव-जन्तु है जो किसी न किसी प्राकर की भाषा का प्रयोग करते हैं। हाँ यह अवश्य है कि मनुष्य की भाषा अन्य सभी जीवों की भाषा से स्पष्टत: अलग है। हॉकिट इस प्रसंग से सात अभिलक्षणों का उल्लेख करते हैं। कुछ अन्य लोगों न इससे कुछ कम या कुछ अधिक अभिलक्षणों का उल्लेख किया है। मुख्य अभिलक्षण निम्नांकित नौ-दस माने जा सकते है-

1. **यादृच्छिकता**- 'यादृच्छिक' का अर्थ है 'जैसी इच्छा हो' या 'माना हुआ'। हमारी भाषा में किसी वस्तु या भाव का किसी शब्द से सहज-स्वाभाविक या तर्कपूर्ण संबंध नहीं है। वह समाज की इच्छानुसार मात्र माना हुआ सम्बन्ध है। यदि सहज स्वाभाविक सम्बन्ध होता तो सभी भाषाओं 'पानी' का ही प्रयोग करती। अंगेजी 'वाटर' का प्रयोग न करती, न फारसी 'आब' का और न रुसी 'वदा' का। विभिन्न भाषाओं के सभी शब्दों में हम यह यादृच्छिकता पाते है। यह यादृच्छिकता शब्द के स्तर पर थी। व्याकरण के स्तर पर रुपरचना तथा वाक्यरचना में भी यही बात है। अंगेजी कर्ता कारक के लिए किसी भी कारक चिह्न का प्रयोग नहीं करती (Ram slapped Mohan) किन्तु हिन्दी 'ने' का प्रयोग करती हे। (राम ने मोहन का थप्पड मारा। ऐसे ही हिन्दी में वाक्य में कर्ता-कर्म-क्रिया (राम ने पत्र लिखा) का क्रम है तो अंग्रेजी में कर्ता-क्रिया-कर्म (Ram wrote a letter) का। इस तरह ये सारी बातें यादृच्छिक है। कहीं भी इनके पीछे कोई तर्क नहीं है न शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में न रुप रचना में और न वाक्य के पदक्रम या अन्वय आदि में। यही है भाषा की यादृच्छिकता। यों यादृच्छिकता थोड़ी बहुत तो अन्य प्राणियों (जैसे मधुमक्खी, गिवन आदि) की भाषा में भी मिलती है किन्तु मानव भाषा जितनी नहीं।
2. **सृजनात्मकता** (Creativity)- भाषा में शब्द और रुप तो प्राय: सीमित होते हैं, किन्तु उन्हीं के आधार पर हम अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार सादृश्य के आधार पर नित्य नए-नए असीमित वाक्यों का सृजन करके उनका प्रयोग करते हैं। हम ऐसे अनेकानेक वाक्यों का रोज ही प्रयोग करते हैं। मजे की बता यह है कि वाक्यों के नए होने पर भी श्रोता को उन्हें समझने में कोई भी कठिनाई नहीं होती। यह कमाल इस सृजनात्मकता का ही है जो वक्ता और श्रोता दोनों की ही भाविक क्षमता में होती है। और उसी के परिणामस्वरुप वक्ता नित्य नए-नए वाक्य का प्रयोग कर लेता है और श्रोता उन्हें समझ लेता है। हम 'मैं', वह, 'तुम', 'बुलवाना' इस चार शब्दों से बहुत सारे वाक्यों का सृजन कर सकते हैं, जैसे मैने उसे तुमसे बुलवाया, मैंने तुम्हें उससे बुलवाया, उसने मुझे तुमसे बुलवाया तथा उसने तुम्हें मुझसे बुलवाया आदि। किन्तु अन्य जीव-जन्तु अपनी भाषा में इस तरह सृजन नहीं कर सकते। वे तो जैसा जानते है, उसको वैसा ही दुहरा भर सकते है। मधुमक्खी एकमात्र अपवाद है जिसकी भाषा में यह गुण थोड़ा बहुत होता है, किनतु मानव-भाषा जितना नहीं। इस अभिलक्षण को उत्पदकता (Productivity) भी कहा गया है।
3. **अनुकरणग्राह्यता**- मानव-भाषा समाज-विशेष से अनुकरण द्वारा सीखी या ग्रहण की जाती है। जन्म से कोई भी व्यक्ति कोई भाषा नहीं जानता माँ के पेट से कोई भी बच्चा सीखकर नहीं आता किन्तु अन्य सभी जीव-जन्तु अपनी भाषा अपने समाज से नहीं सीखते, बल्कि उसकी अपनी भाषिक क्षमता उनमें जन्मजात होती है। अनुकरणग्राह्यता के कारण ही एक व्यक्ति अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य अनेक भाषाएँ भी अनुकरण से सीख सकता है किन्तु कोई अन्य जीव-जन्तु ऐसा नहीं कर सकता। इस तरह मानव-भाषा अनुवांशिक (Hereditary) नहीं होती, जैसी कि अन्य जीव-जन्तुओं की भाषाएँ होती है। भाषा के इय अभिलक्षण को कुछ अन्य नामों से भी पुकारा गया है: सांस्कृतिक प्रेषणीयता (Cultural Transmission) क्योंकि संस्कृति के साथ-साथ उसके एक अंगरुप में भाषा सीखी जाती है, परम्परानुगामिता (Conventionality): क्योंकि परम्परा या रुढि (Convention) के रुप में भाषा सीखी जाती है, सीखने के योग्य होना या अधिगम्यता (Learnability): क्योंकि भाषा सीखी जा सकती है।
4. **परिवर्तनशीलता**- मानवेतर जीवों की भाषा परिवर्तनशील नहीं होती। उदाहरणार्थ; कुत्ते पीढी-दर पीढी एक ही प्रकार की

अपरिवर्तित भाषा का प्रयोग करते आ रहें हैं, किन्तु मानव भाषा हमेशा परिवर्तित होती रहती हे। संस्कृत काल का कर्म प्राकृत-काल में 'कम्म' हो गया तो आधुनिक काल में 'काम'। इस तरह चिरपरिवर्तनशीलता भी मानव-भाषा को अन्य जीवों की भाषाओं से अलगाती है। इस अन्तर का मुख्य कारण इस मानव भाषा का अनुकरणग्राह्य होना है, जबकि अन्य भाषाएँ आनुवांशिक होती है।

1. **विवक्तता** (Disereteness)- मानव-भाषा का स्वरुप ऐसा नहीं है जो पूरा अविच्छिन्न रुप से एक हो। वह तत्वत: कई घटकों या इकाइयों में विभाज्य है। उदाहरण के लिए 'वाक्य' एकाधिक 'शब्दों' से बनता है तथा 'शब्द' एकाधिक 'ध्वञियों, से। यह बहुघटकता, विच्छिन्नता, विविक्तता या कई इकाइयों से विभाज्यता अन्य जीवों की भाषा में नही मिलती। कभी-कभी जीव एक विशिष्ट प्रकार का ध्वनि-संकेत करते हैं जो मानव द्वारा प्रयुक्त वाक्यादि जैसा नहीं होता, वह पूरा का पूरा अविच्छिन्न रुप से एक ही इकाई होता है। यदि उसके ध्वनि-संकेत को टुकडों से विभक्त भी करें तो वे उस रुप में सार्थक नहीं होते, जैसे मानव-भाषा के वाक्य के शब्द। इस तरह एकाधिक इकाइयों से बना होना या विविक्तता केवल मानव-भाषा का ही अभिलक्षण है।

1. **द्वैतता** (Duality)- भाषा में किसी भी वाक्य या उच्चार (Utterance) को लें, उसमें दो स्तर होते हैं। एक स्तर की इकाइयाँ सार्थक होती हैं तथा दूसरे स्तर की इकाइयों निरर्थक होती हैं। इन दो स्तरों की स्थिति को ही द्वैतता कहते हैं। इन इकाइयों में सार्थक इकाइयों को रुपिम (शब्द, धातु, प्रत्यय, उपसर्ग, कारक चिह्न आदि) कहते हैं। उदाहरण के लिए 'बंदर ने फल तोडे' वाक्य में बंदर + ने + फल + तोड़ + ए ये पाँच सार्थक इकाइयाँ (अथवा रुपिम) हैं। दूसरे स्तर की इकाइयाँ वे ध्वनियाँ हैं जिनसे ये सार्थक इकाइयाँ बनी है। उदाहरणार्थ 'बंदर' में ब् + अ + न् + द् + अ + र् से छह ध्वनियाँ है। इन ध्वनियों का अपना कोई अर्थ नहीं होता, किन्तु ये आपस में मिलकर भाषा में सार्थक इकाइयों का निर्माण करती हैं। इस प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है कि ये ध्वनियाँ अपने आप में निरर्थक होती है, किन्तु ये अर्थभेदक होती है। उदाहरण के लिए 'क' और 'घ' ध्वनियों का अपना कोई अर्थ नहीं है किन्तु 'कोडा और घोडा' में अर्थ का भेद या अन्तर 'क' और 'घ' के कारण ही है। इस तरह यहाँ 'क' 'घ' ध्वनियाँ अर्थभेदक है। पहले स्तर की इकाइयों को 'रुपिम' कहा गया है उसी तरह दूसरे स्तर की इकाइयों को भाषा विज्ञान में स्वनिम कहते हैं, जिन्हें यहाँ सरलता के लिए 'ध्वनि' कहा गया है।

   इस द्वैतता को 'अभिरचना की द्वैतता' (Duality of pattern) भी कहते हैं, अर्थात् भाषा में एक साथ दो स्तरों पर अभिरचनाएँ होती है। अर्थद्योतक या विचारद्योतक इकाइयों (अर्थात् रुपिम) के स्तर पर तथा अर्थभेदक इकाइयों (अर्थात् स्वनिम) के स्तर पर। इस तरह भाषा इन दो स्तरों पर पाई जाने वाली अभिरचनाओं के योग का परिणाम होती है। अ. भरचना (pattern) उस विशिष्ट क्रम तथा व्यवस्था वाले स्वरुप या साँचे को कहते हैं जो भाषा में उपर्युक्त दोनों स्तरों पर पाए जाते हैं। यह अभिलक्षण भी प्राय: केवल मानव-भाषा में ही मिलता है। यों अपवादत: मधुमक्खियों की भाषा में भी वह थोडा-बहुत होता है।

1. **भूमिकाओं की परस्पर परिवर्तनीयता (Interchangeability of roles)**- जब हम बातचीत करते हैं तो वक्ता-श्रोता की भूमिकाएँ बदलती रहती है। वक्ता बोलता है तो श्रोता सुनता है, फिर जब श्रोता उत्तर देता है तो अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है तो वक्ता बन जाता है और तब प्रथम वक्ता श्रोता हो जाता है। यही है भूमिकाओं की अदला-बदली या उनका क्रम परिवर्तन या उनकी परस्पर परिवर्तनीयता। यों अनेक मानवेतर प्राणियों (जैसे बंदर, मधुमक्खी आदि) की भाषाओं में भी वह अभिलक्षण मिलता है पर थोड़ी देर तक बहुत लंबा नहीं। साथ ही कुछ प्राणियों में सभी में नहीं।

2. **अंतरणता (Displacement)**- कुछ अपवादों को छोडकर मानवेतर जीवों की भाषा केवल वर्तमान के विषय में सूचना दे सकती है, भूत या भविष्य के विषय में नहीं। इसके विपरीत मानव-भाषा वर्तमान काल में प्रयुक्त होते हुए भी भूत तथा भविष्य के विषय में भी कहने में समर्थ है। इस तरह मानव-भाषा कालांतरण कर सकती हैं। ऐसे ही मानवेतर भाषा प्राय: उसी स्थान या उसके आसपास के बारे में सूचना दे सकती है। जहाँ भाषा-व्यापार हो रहा है, दूर के स्थान के विषय में नहीं। किन्तु मानव-भाषा इसमें भी समर्थ है। इस तरह वह स्थानान्तरण भी कर सकती है। इस प्रकार दिक्कालांतरण (स्थान और काल का अन्तरण) मानव-भाषा का एक महत्वपूर्ण अभिलक्षण है। यों भविष्य के विषय में मधुमक्खियों तथा कुछ अन्य जीव भी कभी-कभी संप्रेषण करते पाए गए हैं।

1. **मौखिकता-श्रव्यता**- मानव भाषा मुँह से बोली जाती है तथा कान से सुनी जाती है, इस तरह वह मौखिक-श्रव्य सरणि (channel) का प्रयोग करती है। भाषा की लिखित-पठित सरणि मूलत: इसी पर आधारति होती है। यों मानवेतर प्राणियों में भी कुछ इसका प्रयोग करते हैं, किन्तु कुछ अन्य सरणियों का भी/ही प्रयोग करते हैं। जैसे मधुमक्खियाँ नृत्य द्वारा

भी कभी-कभी संप्रेषण करती है जो दृश्य-सरणि है तथा ऐसे ही गंध निकालकर भी संप्रेषण करना देखा गया है जो प्राण-सरणि है।

2. **असहजवृत्तिकता (Non-instinctivity)**- मानवेतर प्राणी भूख, कामेच्छा, भय आदि जीव-सुलभ सहज बातों के कारण प्रायः सहजवृत्तिकत (instinctively) अपने मुँह से कुछ ध्वनियाँ निकालते हैं, किन्तु ध्वनियाँ उस अर्थ में भाषा नहीं होती, जिस अर्थ में मानव-भाषा होती है। मानव भाषा मूलतः असहजवृत्तिक (non-instinctive) होती है। जीवन की सहजात वृत्तियों (instincs) से उसका सम्बन्ध नहीं होता।

स्मरणीय बिंदु-

- भाषा यादृच्छिक प्रतीकों की व्यवस्था है।
- मानव भाषा सृजनात्मक होती है।
- भाषा समाज से सीखी जाती है।
- भाषा निरंतर परिवर्तनशील रहती है।
- द्वैतता मानव भाषा की महत्वपूर्ण विशेषता है।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
अभिलक्षण	विशेषता
यादृच्छिकता	मनमाना संबंध
सृजनात्मकता	नए वाक्य निर्माण की क्षमता
द्वैतता	दो स्तरों की संरचना
परिवर्तनशीलता	निरंतर बदलने की प्रवृत्ति

5 अंक के प्रश्न-

1. भाषा की यादृच्छिकता क्या है?
2. सृजनात्मकता से क्या अभिप्राय है?
3. सांस्कृतिक संक्रमण पर टिप्पणी लिखिए।
4. भाषा की परिवर्तनशीलता स्पष्ट कीजिए।
5. द्वैतता (Duality) क्या है?

15 अंक के प्रश्न-

1. भाषा के प्रमुख अभिलक्षणों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. मानव भाषा की संरचनात्मक विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
3. भाषा की सृजनात्मकता एवं परिवर्तनशीलता को स्पष्ट कीजिए।
4. मानव भाषा एवं अन्य जीवों की भाषा में अभिलक्षणों के आधार पर अंतर स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. भाषा का कौन-सा अभिलक्षण नवीन वाक्य निर्माण की क्षमता देता है?

(क) यादृच्छिकता

(ख) सृजनात्मकता

(ग) द्वैतता

(घ) सांस्कृतिकता

2. भाषा का कौन-सा गुण समाज से सीखा जाता है?

(क) सांस्कृतिक संक्रमण

(ख) द्वैतता
(ग) ध्वनि
(घ) संकेत

3. 'यादृच्छिकता' का अर्थ है-
(क) निश्चित संबंध
(ख) प्राकृतिक संबंध
(ग) मनमाना संबंध
(घ) वैज्ञानिक संबंध
4. भाषा की कौन-सी विशेषता उसे निरंतर बदलती रहती है?
(क) परिवर्तनशीलता
(ख) संकेतात्मकता
(ग) स्थिरता
(घ) मौनता
5. द्वैतता का संबंध किससे है?
(क) ध्वनि एवं अर्थ
(ख) चित्र एवं संकेत
(ग) लेखन एवं वाचन
(घ) समाज एवं संस्कृति।

इकाई- 1.4 भाषा विज्ञान की शाखाएँ

उद्देश्य-

1. भाषा विज्ञान की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन करना।
2. भाषा विज्ञान के स्वरूप को समझना।
3. भाषाविज्ञान के अध्ययन क्षेत्रों का ज्ञान प्राप्त करना।

भाषा विज्ञान का नाम -भाषाविज्ञान के लिए आरम्भ में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ, उनमें Comparative Grammar उल्लेख्य है। पहले व्याकरण और भाषाविज्ञान को मूलत: एक मानते थे। भाषाविज्ञान में कोई विशेषता यदि थी तो उसके तुलनात्मक (Comparative) होने की। इसी कारण इसे 'कम्परेटिव ग्रामर' (Comparative Grammar) कहा गया। किन्तु यह स्पष्ट हो जाने पर कि भाषाविज्ञान केवल तुलनात्मक व्याकरण ही नही है, यह नाम छोड दिया गया। 19वीं सदी में भाषाविज्ञान में भाषाओं की तुलना पर पर्याप्त बल दिया जाता था। इस आधार पर इन लोगों ने **कम्परेटिव फिलालोजी** (Comparative Philology) कहा। यह नाम कुछ दिन तक चला, पर बाद में यह भी छोड दिया गया। इसमें सबसे अधिक आपत्ति 'कम्परेटिव' (तुलनात्मक) शब्द पर थी, क्योंकि शास्त्रीय ज्ञान प्राय: सर्वदा ही तुलनात्मक होता है, अत: यह पूँछ व्यर्थ थी। सन् 1817 ई. में डेवीज ने भाषाविज्ञान के मिलते-जुलते अर्थ में ग्लासालोजी (Glossology) का प्रयोग किया था। 19वीं सदी के प्रथम तीन चरणों में भाषाविज्ञान के लिए इसका प्रयोग कुछ लोगों ने किया, किन्तु बाद में यह भी न चल सका। इसी प्रकार प्रिचर्ड ने 1841 में ग्लाटॉलोजी (Glottology) का प्रयोग भाषाविज्ञान के लिए किया। बाद में मैक्समूलर ने थोडे भिन्न अर्थो में इस शब्द का प्रयोग किया। 20वीं सदी के आरम्भ में टकर ने इस विज्ञान के नामों पर विचार करते हुए Glottology को सर्वोत्तम ठहराया, किन्तु इसके बावजूद किसी ने इस नाम को याद करने का भी गौरव नहीं दिया।

कई देशों ने इसके लिए फिलालोजी (Philology) शब्द चलता रहा है। भारत में पुरानी पीढ़ी के लोगों में (तथा कुछ अन्य देशों में भी) तो आज भी यह शब्द प्रचलित है। 'फिलालोजी' मूलत: यूनानी भाषा का शब्द है। इसमें Philos का अर्थ है 'प्यार' या 'प्रेमी' और logos का अर्थ है 'बातचीत' 'शब्द' या 'भाषा' आदि। यूनानी से लैटिन में इसका रुप Philologia और फ्रांसिसी में Philologie हुआ। अग्रेंजी फिलालोजी शब्द का प्राचीनतम प्रयोग सन 1386 ई. में मिलता है। उस समय इसका अर्थ था व्यकारण आलोचना, साहित्य और ज्ञान का प्रेम। बाद में विकसित होकर इसका अर्थ हो गया- वह ज्ञान जो ग्रीक और लैटिन आदि क्लैसिकल भाषाओं को समझाने में सहायता दें। भाषाविज्ञान के लिए अंगेजी में इस शब्द का पहला प्रयोग 18वीं सदी के दूसरे दशक में मिलता है। बीच में जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, इसके साथ 'कम्परेटिव' शब्द जोड़ दिया गया पर फिर व्यर्थ समझ कर हटा दिया गया। भाषाविज्ञान के आधुनिक विज्ञान अब इस शब्द को पसन्द नहीं करते। फ्रांसिसी भाषा में तो इस Philologie का प्रयोग ' पाठविज्ञान' के लिए भी होता है और यों अंग्रेजी, फ्रांसिसी और जर्मन में 'फिलालोजी' में भाषा के अध्ययन के अतिरिक्त साहित्य, शैली तथा इनसे सम्बन्धित सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का अध्ययन आदि भी आता है। कभी-कभी इसका अर्थ साहित्यशास्त्री दृष्टि से भाषा-अध्ययन में किया जाता है।

अंग्रेजी में इस विज्ञान के लिए 'साइन्स ऑव लैंगवेज' नाम भी चलता है, किन्तु यह नाम एक फ्रेज जैसा है, अपनी लम्बाई के कारण ही नाम-जैसा नहीं लगता। आज इसके लिए अधिक प्रचलित (और कदाचित ठीक भी) नाम 'लिंग्विस्टिक्स' (Linguistics) है। इसका आधार लैटिन शब्द Lingua (¾ जीभ) है। मूलत: भाषाविज्ञान के अर्थ में (Linguistique) रुप में यह शब्द फ्रांस में चला और वहाँ से Linguistic रुप में 19वीं सदी के चौथे दशक में यह अंग्रेजी में गृहीत हुआ और लगभग दो दशकों तक इसी रुप में चलता रहा। छठे दशक से इसका रुप Linguistics हो गया और तब से यही नाम चल रहा है। फ्रेन्च में यह अब भी Linguistique है। जर्मन में Sprachwissenschaft नाम प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ भी भाषाविज्ञान है। यही दशा रुसी की भी है। उसमें 'यजिकाज्नानिये' शब्द है जिसमें 'यजिक' तो 'भाषा' या 'जिह्वा' है और 'ज्नानिये' विज्ञान। यों Filologiya तथा Linguistiks भी चलते हैं।

भारत में ठीक आज के अर्थ में तो भाषाविज्ञान जैसा विषय पहले कभी नहीं था, किन्तु उसके समीपवर्ती अर्थो में प्राचीन काल में निर्वचशास्त्र, व्याकरण, शब्दानुशासन तथा शब्दशास्त्र आदि का प्रयोग होता था। आधुनिक काल में तुलनात्मक भाषाशास्त्र, भाषाशास्त्र, भाषाविज्ञान, भाषाविचार, तुलनात्मक भाषाविज्ञान, शब्दशास्त्र, भाषातत्व, शब्द लोचन भाषालोचन (पं सीताराम चतुर्वेदी की पुस्तक) भाषिकी आदि शब्द हिन्दी, मराठी तथा बंगला आदि में प्रयुक्त हो रहे हैं। हिन्दी में 'भाषाविज्ञान' अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित हो गया है। यों कुछ लोगों का कहना रहा है कि 'भाषाविज्ञान' शब्द 'फिलॉलोजी' शब्द इस विज्ञान के नए अर्थ का द्योतक

नहीं है, अत: 'भाषाविज्ञान' शब्द को फिलॉलोजी का प्रतिशब्द मानकर उसी के स्थान पर प्रयुक्त करना चाहिए और 'लिंग्विस्टिक्स' के अर्थ में 'भाषातत्व' को अपना लेना चाहिए। किन्तु तथ्य यह है कि 'भाषाविज्ञान' शब्द 'फिलॉलोजी' का समानार्थी भले ही रहा हो, किन्तु हिन्दी आदि में उसका प्रयोग और अर्थ 'लिंग्विस्टिक्स' से भिन्न प्राय: नहीं रहा है, साथ ही वह इस विज्ञान के लिए अपने यहाँ दो-तीन दशकों से अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित भी है, अतएव 'लिंग्विस्टिक्स' के स्थान पर हिन्दी में 'भाषाविज्ञान' या इस तरह के अन्य नामों में भी कोई अशुद्धि नहीं है, किन्तु एक विज्ञान के लिए एक ही शब्द निश्चित कर लेना स्पष्टता आदि की दृष्टि से अधिक अच्छा रहता है।

इधर कुछ लोगों ने भाषाविज्ञान और भाषाशास्त्र में अन्तर करते हुए आधुनिक भाषाविज्ञान के लिए 'भाषाशास्त्र' नाम को उपयुक्त माना है। डॉ. उदयनारायण तिवारी लिखते है कि अमेरिका में फिलॉलोजी शब्द (भाषाविज्ञान) का व्यवहार प्राचीन भाषा तथा साहित्य एवं शिलालेखों की भाषा के अध्ययन के संदर्भ में किया जाता है। दूसरे शब्दों में फिलॉलोजी के अन्तर्गत प्राचीन भाषा-सामग्री का विश्लेषण किया जाता है और लिंग्विस्टिक्स (भाषाशास्त्र) के अन्तर्गत आधुनिक जीवित भाषाओं एवं बोलियों का अध्ययन करत हैं। इसके अन्तर्गत केवल कथ्य भाषा की ही व्याख्या की जाती है। साहित्य की लिखित भाषा-सामग्री की व्याख्या प्रस्तुत करना इस विषय की सीमा के बाहर है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि लिंग्विस्टिक्स भाषा के यथातथ्य रुप का अध्ययन करता है आदर्श रुप का नहीं।

मुख्य

1. **प्रोक्तिविज्ञान (Discoursology)**- किसी बात को कहने के लिए प्रयुक्त वाक्यों के उस समुच्चय को 'प्रोक्ति' कहते हैं जिसमें एकाधिक वाक्य आपस में सुसंबद्ध होकर अर्थ और संरचना की दृष्टि में एक इकाई बन गए हों। अंग्रेजी का एक पुराना शब्द है 'डिस्कोर्स'। उसी को अब अंग्रेजी में इस अर्थ का शब्द मान लिया गया है। इसी के एक प्रतिशब्द के रुप में हिन्दी में 'प्रोक्ति' शब्द का प्रयोग इधर प्राय: दस वर्षों से हो रहा है। प्रोक्ति के अध्ययन के लिए हिन्दी में **प्रोक्तिविज्ञान** मेरा अपना बनाया हुआ शब्द है। 'डिस्कोर्स' के अध्ययन के लिए अंग्रेजी में भी कोई शब्द नहीं है। मैं उसके लिए 'डिस्कोर्सालोजी' नाम का सुझाव देना चाहूँगा। पहले प्रोक्ति की सत्ता की ओर न तो हमारे वैयाकरणों का ध्यान रहा है, न पुराने और नए भाषाशास्त्रियों का। इसलिए भाषा की मूलभूत सहज इकाई वाक्य को ही कहा गया तथा व्याकरण और भाषाविज्ञान दोनों ही में वाक्य के आधार पर ही भाषा का विश्लेषण किया गया। भारतीय काव्यशास्त्री अपवाद हैं जिन्होंने प्रोक्ति के लिए 'महाकाव्य' का प्रयोग आज से कई सौ वर्ष पहले किया था।
2. **वाक्यविज्ञान (Syntax)**- वाक्य को भाषा की मूलभूत सहज इकाई मानने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है तथा अब भी काफी भाषाशास्त्री और वैयाकरण इसी मत के है, इसीलिए वाक्य से चलकर रुप, ध्वनि आदि की संरचना पर विचार करने की परम्परा रही है तथा है। किन्तु जैसा कि हमने ऊपर देखा, उपर्युक्त तर्क के आधार पर वाक्य को भाषा की मूलभूत सहज इकाई न मानकर उसे किसी प्रोक्ति का विश्लेषण करने पर प्राप्त एक इकाई रुप में मानना अधिक समीचीन है। जैसा किानाम से स्पष्ट है, वाक्यविज्ञान भाषाविज्ञान की वह शाखा है जो वाक्य का अध्ययन-विश्लेषण करती है। वाक्यविज्ञान में वाक्य का अध्ययन विश्लेषण भाषा के अन्य स्तरों की तरह **एककालिक, कालक्रमिक, तुलनात्मक, व्यतिरेकी एवं सैद्धांतिक** आदि सभी रुपों में किया जा सकता है, इसीलिए प्रोक्तिविज्ञान की तरह इस शाखा के भी कई रुप या उपशाखाएँ मानी जा सकती है।
3. **रुपविज्ञान (Morphology)**- रुपविज्ञान में भाषा में प्रयुक्त रुपों (पदों) का अध्ययन करते हैं। जैसे 'प्रोक्ति' के भीतर 'वाक्य' मिलते हैं, उसी प्रकार 'वाक्य' के भीतर 'रुप' मिलते है। 'राम ने रावण को मारा' वाक्य में चार रुप है: 'राम ने' कर्ता कारक का रुप, 'रावण को' कर्म कारक का रुप, 'बाण से' करण कारक का रुप तथा 'मारा' 'मार्' धातु का भूतकालिक रुप। रुपविज्ञान में रुप-रचना का अध्ययन होता है। पश्चिमी भाषाशास्त्री मॉर्फोलोजी (रुपविज्ञान) में शब्द-रचना को भी लेते हैं तथा उन्हीं के अनुकरण पर बहुत से भारतीय भाषाशास्त्री भी।
4. **शब्दविज्ञान (Wordology)**- पश्चिम में इस तरह का कोई विभाग भाषाविज्ञान के अन्तर्गत नहीं है। 'शब्दविज्ञान' तथा इसके लिए अंग्रेजी प्रतिशब्द 'वर्डालोजी' मेरे अपने बनाए शब्द है। शब्द विज्ञान हिन्दी वाक्यविज्ञान, रुपविज्ञान, अर्थविज्ञान आदि के सादृश्य पर है तो **Wordology** फोनॉलोजी, मार्फोलोजी आदि के सादृश्य पर। अंग्रेजी में कुछ 'लेक्सिकॉलोजी' तो कोशविज्ञान है जो सर्वथा अलग है। कुछ लोग 'मार्फोलोजी' में इसकी कुछ बातें ले लेने के पक्ष में है, किन्तु 'शब्द-रचना' शब्दों की व्युत्पत्ति', किसी भाषा द्वारा प्रयुक्त शब्दों के भंडार का प्रयोग, रचना, इतिहास आदि के अधार पर वर्गीकरण, 'किसी भाषा के शब्द भंडार का इतिहास' 'उसमें परिवर्तन के कारण तथा दिशाएँ एवं शब्दों से सम्बद्ध अन्य अनेक प्रकार के अध्ययन रुपविज्ञान (मार्फोलोजी) में सुविधापूर्वक नहीं लिए जा सकते, क्योंकि रुपविज्ञान तो रुप का विज्ञान है शब्द का नहीं।

5. ध्वनिविज्ञान- रुपों या शब्दों का विश्लेषण करें तो हम ध्वनि पर पहुँचते है। इसी को स्वन (**Phone)** भी कहते हैं। ध्वनिविज्ञान में इन्हीं ध्वनियों (स्वनों) का अध्ययन करत हैं। सच पूछा जाय तो इस ध्वनि के अध्ययन के दो रुप हैं। एक तो मात्र सैद्धांतिक है जिसमें 'जिन उच्चारण-अवयवों से ध्वनियों का उच्चारण किया जाता है' उनके बारे में जानक. ारी प्राप्त करते हैं। साथ ही किसी भाषा की ध्वनियों के विषय में तो नहीं किन्तु सामान्य रुप से 'स्वर तथा व्यंजन में अंतर', स्वर-व्यंजन का वर्गीकरण, 'अक्षर', 'बलाघात' तथा 'अनुतान' आदि पर विचार करते है। ध्वनिविज्ञान का दूसरा रुप भाषा-सापेक्ष होता है जिसमें भाषा-विशेष की ध्वनियों पर विचार करते है। इसमें 'भाषा-विशेष की ध्वनियों का वर्गीकरण, 'उस भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों की व्यवस्था उसमें 'बलाघात' 'अनुतान' 'संधि संहिता' (संगम विवृत्ति) आदि का विवेचन आता है। अंग्रेजी में प्रथम को Phonetics तथा दूसरे को Phonology कहते हैं। हिन्दी में कई शब्द इनके लिए प्रयुक्त होते रहे है। अब प्राय: 'फोनेटिक्स' को **स्वनविज्ञान** तथा फोनॉलोजी को **स्वनप्रक्रिया** कहने लगे हैं। स्वनप्रक्रिया को भाषाविज्ञान के संरचनावादी संप्रदाय के लोग स्वनिमविज्ञान (Phonemics) भी कहते हैं। यों फोनॉलोजी पहले ऐतिहासिक ध्वनिविज्ञान को भी कहते थे।

6. **अर्थविज्ञान** (**Semantics)**- भाषा के अर्थ-पक्ष का अध्ययन अर्थविज्ञान का विषय है। इसमें अर्थ क्या है, अर्थ का निर्धारण कैसे होता है, वह कितने प्रकार का होता है, 'अर्थ में परिवर्तन के कारण और उनकी दिशाएँ', 'समानार्थता', 'विलोमार्थता' तथा 'बहुअर्थता' आदि का अध्ययन करते हैं। अर्थविज्ञान में अर्थ का अध्ययन एककालिक भी हो सकता है, कालक्रमिक भी, **तुलनात्मक** भी और **व्यतिरेकी** भी। यह भी उल्लेख्य है कि अर्थविज्ञान में शब्द उपसर्ग, प्रत्यय, शब्दबंध, पद, पदबंध वाक्य, प्रोक्ति, मुहावरे, लोकोक्तियाँ आदि सभी के अर्थ का अध्ययन किया जाता है। इस संबंध में प्रकारणार्थविज्ञान (प्राग्मैटिक्स) का भी उल्लेख किया जा सकता है। यह भी अर्थविज्ञान में ही आता है।

गौण

भाषाविज्ञान की ये अन्य शाखाएँ या अन्य विभाग मुख्य तो नहीं है, किंतु ये गौण होते हुए भी महत्वपूर्ण हैं और इसीलिए इन पर भी काम होता रहा है और हो रहा है।

1. **लिपिविज्ञान**- इसके अंतर्गत लिपि का **एककालिक**, **कालक्रमिक, तुलनात्मक** तथा **व्यतिरेकी** अध्ययन आता है। इसके अतिरिक्त यदि व्यापक रुप में देखें तो 'लिपि का जन्म', 'लिपि का विकास', 'लिपि-निर्माण', 'लिपि-सुधार', 'आशुलिपि', 'ब्रेल लिपि' आदि का अध्ययन भी इससे बाहर नहीं है। यह ध्यान देने की बात है कि लिपि का विकास भाषा के बाद हुआ और सिवा इसके कि भाषा इसके माध्यम से लिखी जाती है, भाषा का कोई बहुत सीधा संबंध लिपि से नहीं है, इसीलिए लिपिविज्ञान को भाषाविज्ञान की मुख्य शाखाओं में प्राय: नहीं रखा जाता।
2. **भाषा की उत्पत्ति**- भाषाविज्ञान का सबसे अधिक स्वाभाविक, आवश्यक, किन्तु विचित्र प्रश्न 'भाषा की उत्पत्ति' का है। इस पर विद्वानों ने तरह-तरह से विचार कर अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। आधुनिक काल के अधिकाशं विद्व ान तो इस प्रश्न को भाषाविज्ञान के अन्तर्गत मानते ही नहीं, किन्तु इसे बहुत उचित नहीं कहा जा सकता।
3. **भाषाओं का वर्गीकरण**- ऊपर के प्रधान विभागों के अन्तर्गत संकेतित वाक्य, रुप, शब्द, ध्वनि तथा अर्थ के आधार पर प्रस्तुत शीर्षक के अंतर्गत हम संसार की भाषाओं का तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन कर उनका वर्गीकरण करते हैं। इसी आधार पर यह निश्चित किया जाता है कि कौन-कौन सी भाषाएँ एक परिवार की है।
4. **भाषा भूगोल** (Linguistic Geography)- इसमें किसी भाषाक्षेत्र (के भौगोलिक विस्तार) का ध्वनि,रुप, वाक्य, अर्थ तथा शब्द आदि की दृष्टि से अध्ययन करके उसे भाषाओं और बोलियों में बाँटा जाता है। उत्तरी भारत में भारतीय आर्यभाषा परिवार की कितनी भाषाएँ हैं और उसकी कितनी बोलियाँ तथा उपबोलियाँ हैं एवं उनकी निश्चित सीमाएँ क्या हैं, इस प्रकार का अध्ययन इसी के अन्तर्गत आता है। इसमें आवश्यकतानुसार एककालिक, तुलनात्मक और ऐतिहासिक तीनों ही पद्धतियों को अपनाना पड़ता है। भाषाविज्ञान की 'बोली भूगोल' (Dialect Geography) नाम से प्रसिद्ध शाखा भी यथार्थत: इसी के अन्तर्गत आती है।
5. **भाषाकालक्रम विज्ञान** (Glottochronology)- सांख्यिकी (Statistics) या गणनाशास्त्र के आधार पर अनेक विद्वानों में बड़े उपयोगी निष्कर्ष निकाले जाने लगे हैं। भाषाकालक्रमविज्ञान गणनाशास्त्र के आधार पर बहुत से ऐसे ऐतिहासिक तथ्यों को ज्ञात करने की एक पद्धति है जिन्हें ज्ञात करने के भाषाविज्ञान के पास अभी तक निश्चित और वैज्ञानिक साधन नहीं थे।
6. **भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज** (Linguistic Palaeontology)- इसमें भाषा के आधार पर प्रागैतिहासिक काल की संस्कृति का अध्ययन किया जाता है। मनुष्य के पास उस काल के सम्बन्ध में कुछ जानने के लिए अभी तक

कोई साधन नहीं था या था भी तो अपर्याप्त किन्तु भाषाविज्ञान के इस विभाग ने अब तक एक नवीन आशा की किरण दी है।

7. **शैलीविज्ञान** (Stylistics)- एक भाषाभाषी सभी व्यक्तियों की भाषा ध्वनि, शब्द, रुप तथा वाक्य रचना आदि की दृष्टि से पूर्णत: समान नहीं होती। इसी प्राकर एक ही भाषा में लिखने वाले लेखकों एवं कवियों की भाषा में उनकी कुछ शैलीगत विशेषताएँ होती है जिनके आधार पर बतलाया जा सकता है कि कौन किसकी रचना है।

8. **सर्वेक्षण-पद्धति** (Field Method)- किसी क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा के विश्लेषण के लिए सामग्री एकत्र करने की पद्धति का अध्ययन इसके अन्तर्गत आता है। इसमें 'सूचक कैसा चुनें' सर्वेक्षक कैसा हो, 'प्रश्नावली कैसे बनाएँ', 'सामग्री कैसे लिखें' जैसे प्रश्नों पर विचार किया जाता है।

9. **भूभाषाविज्ञान** (Geo-linguistics)- इसके अंतर्गत विश्व में भाषाओं का वितरण उनके राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्व का आकलन, वे कैसे एक-दूसरे पर अंत: क्रिया (Interact) करती है, राष्ट्रों की संस्कृति भाषा को कैसे प्रभावित करती है तथा राष्ट्रभाषा या राजभाषा जैसी समस्याओं का अध्ययन इसके अन्तर्गत किया जाता है। यह भाषाविज्ञान को अपेक्षाकृत नयी शाखा है।

उपर्युक्त मुख्य तथा गौण शाखाओं के अतिरिक्त भाषाविज्ञान के अन्तर्गत भाषा का कुछ अन्य दृष्टियों से एवं आधारों पर भी अध्ययन किया जाता है और इनमें कुछ का भाषाविज्ञान के विभागों एवं उपविभागों के रुप में उल्लेख भी होता है।

स्मरणीय बिंदु-

- भाषा विज्ञान भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन है।
- ध्वनिविज्ञान में ध्वनियों का अध्ययन किया जाता है।
- रूपविज्ञान शब्द संरचना से संबंधित है।
- वाक्यविज्ञान वाक्यों की संरचना का अध्ययन करता है।
- अर्थविज्ञान अर्थ एवं भाव का अध्ययन करता है।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
भाषाविज्ञान	भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन
ध्वनिविज्ञान	ध्वनियों का अध्ययन
रूपविज्ञान	शब्द संरचना का अध्ययन
वाक्यविज्ञान	वाक्य संरचना का अध्ययन
अर्थविज्ञान	अर्थ का अध्ययन

5 अंक के प्रश्न-

1. भाषा विज्ञान क्या है?
2. ध्वनिविज्ञान पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
3. रूपविज्ञान का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. वाक्यविज्ञान क्या है?
5. अर्थविज्ञान की परिभाषा दीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. भाषा विज्ञान की प्रमुख शाखाओं का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. ध्वनिविज्ञान, रूपविज्ञान एवं वाक्यविज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
3. भाषा विज्ञान के क्षेत्र एवं महत्त्व का विवेचन कीजिए।
4. आधुनिक भाषा विज्ञान की प्रकृति एवं उपयोगिता स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. भाषा विज्ञान का संबंध किससे है?

(क) भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन से

(ख) राजनीति से

(ग) गणित से

(घ) इतिहास से

2. ध्वनियों का अध्ययन किस शाखा में होता है?

(क) रूपविज्ञान

(ख) ध्वनिविज्ञान

(ग) अर्थविज्ञान

(ख) वाक्यविज्ञान

3. शब्द संरचना का अध्ययन कहलाता है?

(कं) ध्वनिविज्ञान

(ख) वाक्यविज्ञान

(ग) रूपविज्ञान

(घ) अर्थविज्ञान

4. वाक्य संरचना का अध्ययन किसमें होता है?

(क) रूपविज्ञान

(ख) वाक्यविज्ञान

(ग) ध्वनिविज्ञान

(घ) समाजविज्ञान

5. अर्थ के अध्ययन को कहा जाता है?

(क) ध्वनिविज्ञान

(ख) रूपविज्ञान

(ग) अर्थविज्ञान

(घ) व्याकरण

खण्ड- 2 भाषा की उत्पत्ति के प्रमुख सिद्धान्त

इकाई- 2.1 भाषा के विविध सिद्धान्त

उद्देश्य-

1. भाषा की उत्पत्ति संबंधी सिद्धांतों को समझना।
2. विभिन्न भाषावैज्ञानिक मतों का अध्ययन करना।
3. भाषा विकास की प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त करना।

(1866 ई. में) जब पेरिस के भाषाविज्ञान परिषद (I-a- Societe de Linguistique) की स्थापना की गई तो संस्थापकों ने परिषद के परिनियमों (सेक्शन 2) में स्पष्ट शब्दों में भाषा की उत्पत्ति पर विचार आदि करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया और इस प्रश्न को सदा-सर्वदा के लिए भाषाविज्ञान से निकाल देने का प्रयास किया। उसके बाद भी अन्य अनेक विद्वानों ने इस प्रकार के मत व्यक्त किये और आज तो प्राय: सभी मूर्धन्य विद्वान इस सम्बन्ध में एकमत से हैं कि इस प्रश्न का स्थान भाषा विज्ञान में नहीं है। किन्तु इस प्रतिबन्ध और उपेक्षा के बावजूद भी इन बीच के वर्षों में यह प्रश्न बार-बार उठाया गया है और यह कहना भी अनुचित न होगा कि केवल उठाया गया है. अपितु प्राय: हर दशक में इस सम्बन्ध में एक-दो नये सिद्धान्त या पुराने सिद्धान्तों की नवीन व्याख्याएँ हमारे समक्ष रखी गई हैं। बात बड़ी सीधी है। जब भाषाविज्ञान भाषा का विज्ञान है तो निश्चिय ही भाषा का पूरा इतिहास और उसका हर रूप भाषाविज्ञान के अध्ययन का विषय है। ऐसी स्थिति में भाषा की उत्पत्ति और उसके प्रारम्भिक रूप के अध्ययन को निश्चय ही इससे अलग नहीं किया जा सकता। और यह तर्क कि विचार करने के लिए सामग्री का अभाव है, अत: उसे विषय से अलग माना जाएगा कोई तर्क नहीं है। विचार करते रहने से तो सम्भव है इस दिशा में हम कुछ आगे बढ़ते रहे-जैसा कि मनोविज्ञानवेत्ता तथा मानवविज्ञानविद् कर रहे हैं-किन्तु छोड़ देने पर तो यह प्रश्न जहाँ का तहाँ ही पड़ा रह जायेगा।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, इस प्रश्न पर अत्यन्त प्राचीन काल से विचार होता आया है और लोगों ने कई वादों और सिद्धान्तों को इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप संसार के समक्ष रखा है। वह सभी वाद या सिद्धान्त सीधे यह बतलाते हैं कि अमुक प्रकार से भाषा की उत्पत्ति हुई. अर्थात् ये सीधे जन्म को पकड़ने का प्रयास करते हैं। इसी कारण इनको प्रत्यक्ष मार्ग के अन्तर्गत रखा है। दूसरी ओर भाषा के आरम्भ तक पहुँचने का एक 'परोक्ष मार्ग' भी है। 'परोक्ष मार्ग' में जन्म पर दृष्टि न ले जाकर भाषाओं के वर्तमान रूप पर दृष्टि ले जाई जाती है और उनके ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन आदि के आधार पर धीरे-ध ीरे वर्तमान से भूत की ओर चला जाता है। इससे भाषा की उत्पत्ति पर तो प्रकाश नहीं पड़ता, पर उसके आरम्भिक रूप का कुछ अनुमान अवश्य लग जाता है। यहाँ दोनों मार्गो को संक्षेप में देखा जा सकता है।।

प्रत्यक्ष मार्ग- भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राचीनतम विचार यूनानियों द्वारा व्यक्त किये गये हैं। 'ओल्ड टेस्टामेंट' में इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से कुछ बातें कही गयी है। इसी प्रकार भारत, अरब तथा अन्य देशों की धार्मिक तथा भाषाशास्त्र विषयक पुस्तकों में भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ बातें मिल सकती हैं। 18वीं सदी के पूर्व व्यक्त लगभग सारे मत दिव्य सिद्धान्त (आगे देखिये) के अन्तर्गत आ सकते हैं। 18वीं सदी में इस प्रश्न पर कई भाषाविज्ञानवेत्ताओं तथा अन्य क्षेत्रों के विद्व ानों ने गम्भीरता से विचार किया। इन विद्वानों में गियाम्बटिस्टा, ब्रासेस, कांडिलाक, रूसो तथा हर्डर के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं। इनमें भी हर्डर का नाम विशेष उल्लेख्य है। इन्होंने भाषा की उत्पत्ति पर एक लेख लिखा था, जिस पर बर्लिन अकादमी ने पुरस्कार दिया था। यों, बाद में हर्डर ने अपने ही मत को महत्वहीन करार दिया।

19वीं सदी में इस प्रश्न पर विचार करने वालों की संख्या और भी बढ़ गई। इनमें न्वायर, ग्रिम, राये, डार्विन, हम्बोल्ट, श्लाइखर, अर्नेस्ट रेनन, जेस्पर्सन, मैक्समूलर, गाइगर, स्टाइन्थल, स्वीट, मार्टी स्पेंसर, रेगनॉड तथा टेलर आदि के नाम उल्लेख्य है। आगे जिन वादों का उल्लेख किया जायेगा उनमें बहुत से इसी काल के हैं।

20वीं सदी की आयु अभी तीन चौथाई से कुछ ही अधिक बीती है, किन्तु काफी विद्वानों ने इस प्रश्न पर विचार किया है। कुछ उल्लेख्य नाम वुण्ट, डिलैगुना, बर्नार्ड शा, होनिग्स्याल्ड, रेवेज, जोहान्सन, हम्फरी तथा समरफेल्ट आदि के हैं। इनमें रेवेज तथा जोहान्सन के सिद्धान्त विशेषत: उल्लेख्य हैं, जिन पर आगे विचार किया गया है। भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई प्रकार के सिद्धान्त, मतवाद या वाद विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। यहाँ कुछ प्रमुख मत दिये जा रहे हैं। इनमें प्रथम दो का सीधे भाषा की उत्पत्ति से सम्बन्ध है, अन्यों का विशेषत: अर्थ-ध्वनि के सम्बन्ध से।

1. दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त: भाषाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह सबसे प्राचीन मत है। लोगों का विश्वास रहा है और कुछ अंशों में तो आज भी है कि संसार और उसकी अनेकानेक चीजों की भाँति ही भाषा को भी भगवान ने ही बनाया। भारतीय पंडित वेदों को अपौरुषेय मानते रहे हैं। उनका दृढ़ विश्वास रहा है कि संस्कृत को ईश्वर ने बनाया और फिर उसी भाषा में वेदों की रचना

की। संस्कृत को देवभाषा कहने में भी उनके इसी विश्वास की ओर संकेत है। संस्कृत भाषा के तथा उसके व्याकरण के मूलाधार पाणिनि के 14 सूत्र शिव के डमरू से निकले माने जाते हैं। यहाँ भी उसी ओर संकेत है। बौद्ध पालि को भी इसी प्रकार मूल भाषा मानते रहे हैं और उनका विश्वास रहा है कि भाषा अनादि काल से चली आ रही है। जैन लोग तो संस्कृत विधानों और बौद्धों से भी चार कदम आगे हैं। उनके अनुसार तो अर्धमागधी केवल मनुष्यों की ही मूल भाषा नहीं है, बल्कि सभी जीवों की मूल भाषा है। जय महावीर स्वामी इस भाषा में उपदेश देते थे तो क्या देवयोनि के लोग और बढ़ पशु-पक्षी, सभी उस उपदेश का रसास्वादन करते थे। ईसाई और उनमें भी प्रमुखत: कैथोलिक लोग 'हिब्रु' (जिसमें उनका धर्मग्रन्थ 'Old Testament' लिखा गया है) को संसार की सभी भाषाओं की जननी मानते हैं। उनके अनुसार हिब्रु आदम और हथा को पूर्ण विकसित भाषा के रूप में भगवान द्वारा दी गई थी, फिर बाबुल की मीनारवाली घटना के कारण उसी के अनेक रूप हो गये और इस प्रकार संसार में अनेक भाषाएँ हो गई। इसके आधार पर हिब्रु के विद्वानों ने संसार की अनेक भाषाओं से उन शब्दों को इकट्ठा किया था जो हिब्रु शब्दों से मिलते-जुलते थे और उनसे यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि यथार्थत हिब्रु सभी भाषाओं की जननी है। मुसलमान लोग कुरान को खुदा का कलाम मानते हैं। मिस्त्र में भी वहाँ के प्राचीन लोगों का अपनी भाषा के सम्बन्ध में कुछ ऐसा ही विश्वास था। प्लेटो ने सभी चीजों के नामों को प्राकृतिक या प्रकृति-प्रदत्त कहा था। यह भी मत 'देवी उत्पत्ति' का ही एक रूप है। इसी मत के प्रभाव से लोगों का यह भी मत रहा है कि मनुष्य जन्म से ही एक भाषा सीख कर आता है और वही भाषा ईश्वर की तथा सबसे पुरानी भाषा है। इसी का निश्चय करने के लिए मिस्र के राजा सेमेटिकस (Psammitichos) ने दो बच्चों को जन्म के बाद ही अलग रखा था। उसके पास जाने वालों को कुछ बोलने का निषेध था। बड़े होने पर उनके मुँह से केवल बेकोस (Bakos) शब्द ही सुना गया। (रोटी देने वाले फ्रीजियन नौकर ने गलती से कभी इस शब्द का उच्चारण उनके सामने कर दिया था। बेकोस फ्रीजियन शब्द है और इसका अर्थ 'रोटी' होता है)। फ्रेडरिक द्वितीय (1194-1250), स्कॉटलैण्ड के जेम्स-चतुर्थ (1488-1513) तथा अकबर बादशाह (1956-1605) ने भी इस प्रकार के प्रयोग किये थे। अकबर का प्रयोग बहुत सफल था और फल यह हुआ कि लड़के गूँगे निकले। इस प्रकार कहना न होगा कि बच्चा माँ के पेट से कोई भाषा सीख कर नहीं आता, अर्थात ईश्वर-प्रदत्त कोई भाषा नहीं है, और ऐसा मानना अंधविश्वास मात्र है।

(क) एक तो यह कि यदि यह ईश्वर-प्रदत्त है तो विभिन्न भाषाओं में इतना भेद क्यों है ? पूरे संसार के गदहे, घोडे, भैंसे, कुत्ते आदि एक से बोलते हैं, किन्तु मनुष्यों में यह एकरूपता नहीं है।

(ख) दूसरे, यदि भाषा ईश्वर-प्रदत्त होती तो कदाचित् आरम्भ से ही यह विकसित होती किन्तु इतिहास में इसके उलटे प्रमाण मिलते हैं।)

2. **विकासवादी सिद्धान्त:** इसके अनुसार भाषा का धीरे-धीरे विकास हुआ है। सिद्धांतत: तो यह ठीक है, किन्तु इसमें विकास या उत्पत्ति एवं अर्थ-ध्वनि के सम्बन्ध का कोई संकेत नहीं है।)

3. **धातु सिद्धान्त:** इस ओर प्लेटो ने संकेत किया था किन्तु इसे व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने का श्रेय जर्मन प्रोफेसर (Heyse) को है। इन्होंने कभी अपने किसी व्याख्यान में इसका उल्लेख किया था, जिसे बाद में उनके शिष्य डॉ. स्टा. इन्थाल ने मुद्रित रूप में विद्वानों के समक्ष रखा। मैक्समूलर ने भी पहले इसे स्वीकार किया और अपनी पुस्तक में भी इसे स्थान दिया, किन्तु बाद में इसे निरर्थक कहकर छोड़ दिया।)

इसी को डिंग डॉग वाद (Ding&dong Theory) या रणन सिद्धान्त भी कहा गया है। कुछ लोग गलती से डिंग डॉगवाद का प्रयोग 'अनुकरण सिद्धान्त' या 'अनुरणन सिद्धान्त' के लिए करते हैं। धातु सिद्धान्त का डिंग डॉगवाद नाम आधार है. जो आगे की बातों से स्पष्ट हो जायेगा। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार की हर चीज की अपनी ध्वनि होती है। यदि हम एक डंडे से एक काठ, एक लोहे, एक सोने, एक कपड़े और एक कागज पर मारें तो देखेंगे सब का 'डिंग डांग'(मूल अर्थ घंटे पर मारने का शब्द या टन टन) या सबकी ध्वनि अलग-अलग होगी। इसी प्रकार आरम्भ में मनुष्य में एक ऐसी सहजात शक्ति थी कि जिस किसी चीज के सम्पर्क में वह आता, उसके लिए उसके मुँह से एक प्रकार की ध्वनि निकल जाती। विभिन्न वस्तुओं की ये ध्वन्यात्मक अभिव्यक्तियों 'धातु' थीं। आरम्भ में इस प्रकार से धातुओं की संख्या बहुत बड़ी थी, किन्तु उनमें बहुत-सी (पर्याय होने के कारण या योग्यतमावशेष-सिद्धान्त के कारण) धीरे-धीरे लुप्त हो गई और केवल 400-500 धातुएँ शेष रहीं। उन्हीं से भाषा की उत्पत्ति हुई। इस सिद्धान्त के अनुसार उन धातुओं की ध्वनि तथा उनके अर्थ में एक रहस्यात्मक सम्बन्ध (mystic harmony) था। इस मत के समर्थकों का यह भी कहना था कि प्राचीन मनुष्य में वह शक्ति थी, किन्तु भाषा बन जाने पर शक्ति की आवश्यकता नहीं रही, अत: वह धीरे-धीरे नष्ट हो गई। आज का मनुष्य इसीलिए उससे शून्य है। इस सिद्धान्त की कुछ दार्शनिकों ने भी कभी किसी रूप में माना था और इसे नेटिविस्टिक थ्योरी (Nativistic Theory) की संज्ञा दी थी।

4. **निर्णय सिद्धान्त:** इसे प्रतीकवाद, स्वीकारवाद, संकेतवाद आदि भी कहा गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार आरम्भ में

मनुष्यों ने जब देखा कि हाथ आदि के सकेतों से काम नहीं चल रहा है, तो उन्होंने इकट्ठे होकर आवश्यक वस्तुओं या क्रियाओं आदि के लिए प्रतीक ध्वनि-संकेत, सांकेतिक नाम, या शब्द निश्चित करके स्वीकार किया और वहीं से भाषा का आरम्भ हुआ। ध्यान देने पर पता चलता है कि यह सिद्धान्त भी निरर्थक है।

5. **अनुकरण सिद्धान्तः** (Imitative Theory)**:** इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भी अनेक विद्वानों ने किया है कि भाषा की उत्पत्ति अनुकरण के आधार पर हुई। मनुष्य ने अपने आसपास के जीवों और चीजों आदि की आवाज आदि के अनुकरण पर प्रारम्भ में शब्द बनाये और उसी पर भाषा का महल बड़ा हुआ। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत तीन उपसिद्धान्त रखे जा सकते हैं**:**

(क) ध्वन्यात्मक अनुकरण,

(ख) अनुरणनात्मक अनुकरण तथा

(ग) दृश्यात्मक अनुकरण। नीचे तीनों पर अलग-अलग विचार किया जा रहा है।

(क) ध्वन्यात्मक अनुकरण सिद्धान्तः इसके अन्य नाम अनुकरण सिद्धान्त, अनुकरण मूलकतावाद, भों-भों वाद, शब्दानुकरणवाद तथा शब्दानुकरणमूलकतावाद आदि है। अंग्रेजी में इसे Bow-Wow Theory, Onomotopoeic या Onomotopoetic Theory या Echoic Theory आदि कहते हैं। इसके अनुसार मनुष्य ने अपने आसपास के पशुपक्षियों आदि से होने वाली ध्वनियों के अनुकरण पर अपने लिए शब्द बनाये और फिर उसी आधार पर पूरी भाषा खड़ी हुई।

(ख) अनुरणात्मक अनुकरण, अनुरणन सिद्धान्त या अनुरणनमूलकतावादः इसको बहुत-सी पुस्तकों में ध्वनि-अनुकरण से अलग रखा गया है, पर यथार्थतः यह भी एक प्रकार का ध्वनि-अनुकरण ही है। ऊपर पशु-पक्षियों आदि के अनुकरण की बात थी, यहाँ धातु, काठ, पानी आदि निर्जीव चीजों की ध्वनि का अनुकरण है, जैसे झनझनाना, तड़तड़ाना, कल-कल, छल-छल, ठक-ठक, खट-पट आदि। अंग्रेजी में murmur, gazz, thunder, juzz आदि शब्द इसी प्रकार के हैं। संस्कृत में नद-नद नाद के आधार पर ही नद या नदी आदि हैं। इस प्रकार पत् धातु (गिरना) का आधार कदाचित् पत्र का 'पत्' ध्वनि करते हुए गिरना है। इस वर्ग के भी कुछ शब्द प्रायः सभी भाषाओं में मिल जायेंगे। जैसे कि ऊपर 'क' के बारे में कहा गया है, इसके आधार पर भी भाषा के दो-चार या दस-बीस शब्दों का ही समाधान हो सकता है, पूरी भाषा का नहीं।

(ग) दृश्यात्मक अनुकरण : इसके शब्द (बगबग, दगदग, जगजग) तो भाषा में और भी कम होते हैं। उपर्युक्त आक्षेप इस पर भी लागू होते हैं।

6. **मनोभावाभिव्यक्ति सिद्धान्तः** मनोभावाभिव्यक्तिवाद, मनोरागव्यंजक शब्दमूलकतावाद, आवेग सिद्धान्त पूह-पूहवाद, मनोभावाभिव्यंजकतावाद आदि कुछ अन्य नामों का भी इसके लिए हिन्दी में प्रयोग होता है। अंग्रेजी में इसे Pooh&Pooh[1] या Interjectional Theory[2] कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार आरम्भ में मनुष्य विचार-प्रधान प्राणी न होकर अन्य पशुओं की भाँति भाव-प्रधान था और प्रसन्नता, दुख, विस्मय, घृणा आदि के भावावेश में उसके मुख से ओ, छिः थिक, आह, ओह, फ्राई, पूह, पिश आदि जैसे शब्द सहज ही निकल जाया करते हैं।

7. **यो-हे-हो सिद्धान्तः** इसे यो-हे-हो-वाद, श्रमध्वनि सिद्धान्त या श्रम-परिहरणमूलकतावाद भी कहते हैं। इसके जन्मदाता न्यावर (Noire) नामक विद्वान थे। उनका सिद्धान्त था कि परिश्रम का कार्य करते समय साँस के तेजी से बाहर भीतर आने-जाने, साथ-साथ स्वरतंत्रियों के विभिन्न रूपों में कम्पित होने एव तदनुकूल ध्वनियों उच्चरित होने से कार्य करने वाले को राहत मिलती है।

इसीलिए कठिन परिश्रम करते समय कुछ कहकर श्रमिक लोग श्रम-परिहार किया करते हैं। धोनी 'हियों' या 'छियो' कहते हैं। मल्लाह थकान के लिए 'यो-हे-हो' कहते हैं। क्रेन पर काम करने वाले मजदूर भी काम करते समय हो-हो या कुछ इसी प्रकार के शब्द कहते हैं। इसी प्रकार सड़क कूटने वाले श्रमिक जब-जब दुर्मुस (सड़क कूटने का डंडा लगा हुआ लोहा या पत्थर) उठाते हैं तो 'हे' या 'हूँ' आदि कहते हैं। इस सिद्धान्त का आधार यह है कि किसी क्रिया के साथ स्वभावतः होने वाली ध्वनि उस क्रिया की बोधिका होती है।

8. **इंगित सिद्धान्त (Gesture Theory):** इस सिद्धान्त की ओर सर्वप्रथम संकेत करने का श्रेय पालिनेशियन भाषा के विद्वान डॉ. रॉये की है। कुछ दिन बाद डार्विन ने भी छह असम्बद्ध भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इसे प्रमाणित किया था। इस सदी में 1930 के लगभग रिचर्ड ने इस सिद्धान्त को पुनः उठाया और अपनी पुस्तक 'áweu' स्पीच में मौखिक इंगित सिद्धात (Oral Gesture Theory) नाम से इसे विद्वानों के समक्ष रखा। आइसलैण्डिक भाषा

के विद्वान अलेक्जेंडर जोहान्सन भी लगभग इसी समय भारोपीय भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके लगभग इसी निष्कर्ष पर पहुँचे। बाद में उन्होंने अपनी तीन पुस्तकों में इंगित सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन किया। अपने विवेचन की उन्होंने भारोपीय भाषाओं के अतिरिक्त हिबू पुरानी चीनी, तुर्की तथा कुछ अन्य भाषाओं पर भी आधारित किया है। ये भाषा के विकास की चार सीढ़ियाँ मानते हैं। पहली सीढ़ी भावव्यंजक ध्वनियों की है। जब मनुष्य भय, क्रोध, दु:ख, हर्ष, भूख, प्यास, आदि के कारण बन्दरों आदि की तरह इस प्रकार की ध्वनियों द्वारा अपने भावों को व्यक्त करता है। दूसरी सीढ़ी अनुकरणात्मक शब्दों की है। इस अवस्था में विभिन्न जीव-जन्तुओं तथा निर्जीव पदार्थो की ध्वनियों के अनुकरण पर शब्द बने होंगे। तीसरी सीढ़ी भाव-संकेत या इंगितों की है। इनका भी आधार अनुकरण है. पर यह अनुकरण (जीभ आदि द्वारा) बाहरी चीजों का न होकर अपने अंगों का (प्रमुखत: हाथ का) या अंगों के संकेतों (gestures) का है। इसे जोहान्सन ने बिना जाने किया हुआ अनुकरण (unconscious imitation) कहा है। भाषा के विकास में इसी को वे महत्वपूर्ण मानते है।

9. **टाटा सिद्धान्त:** इस सिद्धान्त (टा-टा वाद, Ta&ta Theory) के आरम्भ में आदिम मानव काम करते समय जाने-अनजाने उच्चारण अवयवों से काम करने वाले अवयवों की गति का अनुकरण करता था और इस अनुकरण में कुछ ध्वनियों और ध्वनि-संयोगों से शब्दों का उच्चारण हो जाया करता था। इन्हीं ध्वनियों और शब्दों से धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ। कहना न होगा कि यह अनुकरण वाली बात बहुत कुछ इंगित सिद्धान्त से मिलती जुलती है। भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न इससे भी सुलझता नहीं दिखाई देता। ऐसा अनुकरण न तो आज का सभ्य मानव करता है और न असभ्यतम और अविकसिततम मानव जो विश्व के कुछ स्थलों से मिला है। साथ ही तरह-तरह के बन्दरों में भी जो हमारे तथाकथित जनक हैं, यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। फिर किस आधार पर यह अनुमान लगाया गया है, पता नहीं चलता (जोहान्सन के इंगित सिद्धांत के इस प्रकार के अंश के विरुद्ध भी यही आपत्ति उठाई जा सकती है)। यदि इस प्रश्न को छोड़ दिया जाय तो भी उन आरंभिक निरर्थक ध्वनियों से भाषा का विकास कैसे हुआ, इस बात का सिद्धान्त में कोई दो-टूक उत्तर नहीं दिया गया है. और इस तरह यह भी अमान्य ही कहा जायगा।

10. **संगीत सिद्धान्त:** इस सिद्धान्त (संगीतवाद या Sing&song Theory) में भाषा की उत्पत्ति मानव के संगीत से मानी जाती है। डार्विन तथा स्पेंसर ने इसे कुछ रूपों में माना था। येस्पर्सन ने भी जहाँ वे कहते हैं कि भाषा की उत्पत्ति खेल के रूप में हुई और उच्चारणावयव खाली वक्त में गाने के खेल (singing sport) के उच्चारण करने में अभ्यस्त हुए-इसका समर्थन किया है। इसके अनुसार गाने (प्रेम, दु:ख आदि के अवसर पर) से प्रारम्भिक अर्थविहीन अक्षर (meaningless syllable) बने और विशेष स्थिति में उनका प्रयोग होने से अक्षरों से अर्थ का सम्बन्ध हो गया। आदिम मनुष्य भावुक अधिक रहा होगा और सम्भव है गुनगुनाने में उसे आनन्द आता रहा हो, किन्तु गुनगुनाने के अक्षरों से भाषा कैसे निकली. इसका स्पष्ट चित्र इसके समर्थकों ने हमारे सामने नहीं रखा है। साथ ही गुनगुनाने की बात भी अनुमान पर ही अधिक आधारित है। ऐसी स्थिति में इसे भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

11. **सम्पर्क सिद्धान्त (Contact Theory):** इस मत के प्रतिपादक जी. रेवेज (Revesz) हैं, जो मनोविज्ञान के विद्वान् थे। इस सिद्धान्त में 'सम्पर्क' का अर्थ है सामाजिक जीवों (जिनमें मनुष्य प्रमुख है) में आपसी सम्पर्क रखने की सहजात प्रवृत्ति। समाज का निर्माण इसी प्रवृत्ति के कारण हुआ है। आदिम मनुष्य के भी छोटे-छोटे वर्ग या समाज थे और उनमें आपस में प्रारम्भिक भावनाओं (भूख-प्यास, कामेच्छा, रक्षा आदि से सम्बद्ध) को एक-दूसरे पर अभिव्यक्त करने के लिए विभि. ान्न स्तरों पर तरह-तरह के सम्पर्क स्थापित किये जाते थे। इन सम्पकों के लिए स्पर्श आदि का सहारा भी चलता रहा होगा, पर साथ ही मुखोच्चरित ध्वनियों भी सहायक रही होंगी। भाषा उसी का विकसित रूप है। जैसे-जैसे संपर्क की आवश्यकता बढ़ती गई आर उसकी स्पष्टता की आवश्यकता का अनुभव होता गया, सम्पर्क के माध्यम (ध्वनि) का भी विकास होता गया। आरम्भ की ध्वनियाँ अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक थीं पर धीरे-धीरे मानव आवश्यकतानुसार कृत्रिमता के आधार पर उन्हें विकसित करता गया।

12. **समन्वित रूप:** पिछली सदी के प्रसिद्ध भाषाविज्ञानविद् स्वीट ने उपर्युक्त सिद्धान्तों में कुछ के समन्वय के आधार पर भाषा की उत्पत्ति पर प्रकाश डालने का प्रयास किया। उनका कहना था कि भाषा प्रारम्भिक रूप में 'भाव-संकेत' या 'इंगित' (gesture) और ध्वनि-समवाय (sound group) दोनों पर आधारित थी। ध्वनि-समवाय आधार पर ही शब्दों का आगे विकास हुआ। आरम्भिक शब्द-समूह स्वीट के अनुसार तीन प्रकार के शब्दों का था (1) पहले प्रकार के शब्द अनुकरणात्मक (imitative) जैसे मिसी माउ (बिल्ली, जो म्याऊँ म्याऊँ करती है), स. काक (जो का का करता है) अ. cuckoo, हिन्दी पुग्पू आदि। स्वीट का यह भी कहना था कि आवश्यक नहीं है कि ध्वनि के अनुकरण पर

आधारित शब्द पूर्णतः आधार ध्वनि के अनुसार ही हों। उनमें थोड़ा-सा भी सादृश्य हो सकता है। (2) दूसरे प्रकार के शब्द भावावेशव्यंजको मनोभावाभिव्यंजक (interjectional) रहे होंगे। व्याकरण में विस्मयादिबोधक के अन्तर्गर रखे जाने वाले शब्द इसी श्रेणी के हैं। जैसे ओह. आह. धिक, हुश, हाय, वाह आदि। इस वर्ग में धातुएँ भी होती है, जैसे डेनिश अ, सं. पृ. पी. धिक्कारना आदि। (3) तीसरे प्रकार के शब्दों को स्वीट ने प्रतीकात्मक (symbolic) कहा है। भाषा के प्रारम्भिक शब्द समूह में इस वर्ग के शब्दों की संख्या बहुत बड़ी रही होगी और इसमें अनेक प्रकार के शब्द रहे होंगे। प्रतीकात्मक शब्द उसे कहते है जिसका संयोग से या किसी अत्यन्त सामान्य और थोड़े सम्बन्ध से किसी अर्थ से सम्बन्ध हो जाता है और वह उनका प्रतीक बन जाता है। उदाहरणार्थ, बच्चे यों ही मामा, पापा, बाबा जैसे शब्द बहुत छोटी अवस्था में बोलने लगते हैं। माँ-बाप उनका प्रयोग प्रायः अपने लिए समझ लेते हैं, और फल यह होता है कि विभिन्न अर्थों के साथ उनका सम्बन्ध हो जाता है और वे शब्द उनके प्रतीक बन जाते हैं। भाषाविज्ञान में जिन्हें 'नर्सरी शब्द' (nursery word) कहते हैं, प्रायः इसी प्रकार के होते हैं। इनमें अधिकांश में आद्य ध्वनियों ओष्ठ्य होती हैं, और इनके अर्थ माता, पिता, चाचा, चाची, दाई आदि ऐसे व्यक्ति होते हैं जो बच्चे की देखरेख करते हैं। अंग्रेजी mamma, papa, abba, mother, father, brother, dady, माता, पिता, भ्राता, तात, मामा; ग्रीक meter, phrater, paters; लैटिन mater, amita, pater, frater; जर्मन muhme, bruder, vater; फारसी मादर, पिदर, बिरादर; अल्बानियन ama पुरानी नार्स amma; असीरियन ummu; हिब्रु em; स्लावैनिक baba, tata, ded; dyadya, हिन्दी माता, पिता, बाबा, दादा, भाई, बाई, दाई, टाँगा bama; तुर्की बाबा; इटैलियन babbo; बल्गेरियन baba; सर्बियन baba; बास्क ama; तथा मांचू ama, eme आदि मूलतः इसी प्रकार के शब्द रहे होंगे।

बहुत से सर्वनामों का भी निर्माण इसी प्रकार होता है। सं. त्वम्, ग्रीक १०, लैटिन जन, हिन्दी तू जैसे शब्दों के उच्चारण में सामने के किसी व्यक्ति की ओर मुँह से संकेत करने का भाव स्पष्ट है। बहुत सी प्राचीन भाषाओं में 'यह' और 'वह' के लिए पाये जाने वाले सर्वनामों में भी इसी प्रकार की प्रतीकात्मकता दिखाई पड़ती है जैसे अंग्रेजी this, that; रूसी तोत, एत अ; संस्कृत इदम, अदस् तथा जर्मन dies, das आदि।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि जितनी खोजें हुई हैं, उनके प्रकाश में केवल इतना ही कहना सम्भव है कि भाषा की उत्पत्ति भावाभिव्यंजकः अनुकरणात्मक तथा प्रतीकात्मक शब्दों से हुई और इसमें इंगित सिद्धान्त, संगीत सिद्धान्त एवं सम्पर्क सिद्धान्त से भी सहायता मिली। आगे चलने पर नवाभिव्यक्ति की आवश्यकता, योग्यतमावशेष सिद्धान्त, अर्थ (उपचार आदि) तथा ध्वनि में परिवर्तन के कारण भाषा में तेजी सक परिवर्तन आता गया। यह परिवर्तन इतना बड़ा और बहुमुखी था कि आज इतने दिनों बाद इसे भेद कर इसके पूर्व की भाषा के रूप के सम्बन्ध में निश्चय के साथ और अधिक कहना अब प्रायः सम्भव नहीं है।

स्मरणीय बिंदु-

- भाषा उत्पत्ति के अनेक सिद्धांत हैं।
- दैवी सिद्धांत भाषा को ईश्वर प्रदत्त मानता है।
- अनुकरण सिद्धांत प्रकृति की ध्वनियों की नकल पर आधारित है।
- संगीत सिद्धांत भाषा का संबंध संगीत से जोड़ता है।
- आधुनिक विचार भाषा को सामाजिक विकास का परिणाम मानते हैं।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
उत्पत्ति	आरंभ
अनुकरण	नकल
विकासवादी	क्रमिक विकास से संबंधित
धातु सिद्धांत	मूल ध्वनि आधारित सिद्धांत
संपर्क	संबंध

5 अंके के प्रश्न-

1. दैवी उत्पत्ति सिद्धांत क्या है?
2. अनुकरण सिद्धांत पर टिप्पणी लिखिए।
3. निर्णय सिद्धांत का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

4. संगीत सिद्धांत क्या है?
5. भाषा उत्पत्ति के विकासवादी सिद्धांत को समझाइए।

15 अंके के प्रश्न-

1. भाषा उत्पत्ति के प्रमुख सिद्धांतों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. दैवी उत्पत्ति एवं विकासवादी सिद्धांत का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
3. अनुकरण सिद्धांत एवं संगीत सिद्धांत की समीक्षा कीजिए।
4. भाषा की उत्पत्ति संबंधी आधुनिक विचारों का विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. भाषा की उत्पत्ति को ईश्वर से जोड़ने वाला सिद्धांत है?

(क) अनुकरण सिद्धांत

(ख) दैवी उत्पत्ति सिद्धांत

(ग) संगीत सिद्धांत

(घ) निर्णय सिद्धांत

2. ध्वनियों की नकल पर आधारित सिद्धांत कहलाता है?

(क) अनुकरण सिद्धांत

(ख) विकासवादी सिद्धांत

(ग) संपर्क सिद्धांत

(घ) निर्णय सिद्धांत

3. भाषा को संगीत से उत्पन्न मानने वाला सिद्धांत हैख्र

(क) संगीत सिद्धांत

(ख) अनुकरण सिद्धांत

(ग) धातु सिद्धांत

(घ) निर्णय सिद्धांत

4. भाषा की उत्पत्ति को सामाजिक विकास से जोड़ने वाला सिद्धांत हैख्र

(क) विकासवादी सिद्धांत

(ख) दैवी सिद्धांत

(ग) संगीत सिद्धांत

(घ) अनुकरण सिद्धांत

5. 'यो-हे-हो' सिद्धांत किससे संबंधित है?

(क) धार्मिक ध्वनि

(ख) श्रम संबंधी ध्वनि

(ग) संगीत

(घ) पशु ध्वनि

इकाई- 2.2 आधुनिक भाषाओं का इतिहास

उद्देश्य-

1. भाषा विकास के परोक्ष मार्ग को समझना।
2. बच्चों एवं आदिम जातियों की भाषा का अध्ययन करना।
3. भाषा विकास के चरणों का ज्ञान प्राप्त करना।

परोक्ष मार्ग- ऊपर हम लोगों ने सीधी शैली से 'भाषा की उत्पत्ति' के प्रश्न पर विचार किया। इन सारे सिद्धान्तों और निष्कर्षों के बावजूद भी विद्वानों का कहना है कि भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न अभी तक सुलझा नहीं है। इसीलिए कुछ लोग 'उलटी शैली' या 'परोक्ष मार्ग' से आदिम भाषा के स्वरूप के परिचय पर ही अधिक बल देते हैं। इससे मूल समस्या 'भाषा का उद्‌गम' या 'ध्वनि और अर्थ के सम्बन्ध' आदि पर प्रकाश नहीं पड़ता किन्तु प्रारम्भिक भाषा के विविध दृष्टिकोणों से परिचय अवश्य मिल जाता है।

यह मार्ग तीन बातों पर आधारित किया जा सकता है:

1. **बच्चों की भाषा:** कुछ लोगों का विचार है कि व्यक्तिगत विकास की ही भाँति सामूहिक या जातीय विकास भी होता है। इसीलिए व्यक्तिगत विकास के अध्ययन से सामूहिक विकास पर प्रकाश पड़ सकता है। यहाँ, इसका आशय यह है कि ऐसे लोगों के अनुसार मानव ने भाषा उसी प्रकार सीखी होगी, जैसे एक बच्चा सीखता है। कुछ लोगों ने इसी आधार पर भाषा के आरम्भ पर प्रकाश भी डाला है; पर सच पूछा जाय तो इन दोनों में कोई महत्वपूर्ण समानता नहीं हैं। बच्चों को एक बनी बनाई भाषा सीखनी होती है, पर दूसरी ओर भाषा के आरम्भ के समय लोगों को भाषा का अविष्कार भी करना रहा होगा, केवल सीखना ही नहीं। आज एक विद्यार्थी किसी टेकनिकल स्कूल में जाकर दो-एक वर्ष में किसी वस्तु का निर्माण करना सीख सकता है। उसके सीखने का रास्ता वैसा दुर्गम नहीं होगा, जैसा कि उस वस्तु के आविष्कार या प्रथम बनाने वाले का रहा होगा। भाषा के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है। बच्चा भाषा सीखता है. वह आविष्कार नहीं करता।

   अत: उसके आधार पर भाषा के आरम्भ के विषय में पता लगाने विषय में किसी ने कुछ लिखा या किया है अथवा नहीं। कम से कम मेरे देखने में यह चीज नहीं आई। प्रयोग निम्न प्रकार से हो सकता है-

   अधिक से अधिक असभ्य और पिछड़ी जातियों के लगभग 5 लड़के और 3 लड़कियों (जो अवस्था में एक वर्ष से कम के हों) लिये जायें। एक बड़े से अहाते में वे रखे जायें, जिसमें कुछ टीले हों, कुछ फल वाले पेड़ हों (जिसमें कुछ ऐसे हों जिनका फल खाया जाता हो और कुछ ऐसे हों जिसका फल न खाया जाता हो।) एक तालाब हो तथा मछली, चिड़ियों और दो-एक कुत्ते आदि भी हों। उनकी सेवा किसी ऐसे होशियार आदमी से करवाई जाय जो वहाँ एक शब्द भी न बोले। पाँच-छ: वर्ष की अवस्था से आगे चलने पर उनको आसानी से भोजन न दिया जाय। कभी पेड़ पर टांग दिया जाय तो कभी टीले पर रखा जाय और कभी जब केवल एक अलग हो तो उसे भोजन उसको आवश्यकता से अधिक दिया जाय, ताकि उसे औरों को बुलाने या देने का अवसर मिले। कुछ आदमी उनकी चौबीसों घंटे आलोचनात्मक और अध्ययनपूर्ण दृष्टि से देखते रहें। कभी-कभी उनकी कठिनाइयों का सामना करने का अवसर भी दिया जाय। कभी एक को औरों से अलग कर कष्ट भी दिया जाय। साथ ही ऐसी परिस्थितियों भी लाई जायें जब उनमें एक दूसरे के प्रति सहयोग की भावना उत्पन्न हो। मेरा विश्वास है कि 30-40 वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते उनमें कोई साधारण टूटी-फूटी भाषा अवश्य विकसित हो जायेगी। उनको सर्वदा देखने वाले अवश्य ही उस भाषा को समझेंगे और इस प्रकार भाषा के उद्‌गम की गुत्थी किसी सीमा तक सुलझ जायेगी। मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र आदि पर भी ऐसे प्रयोगों से प्रकाश पड़ सकता है।।

2. **असभ्य जातियों की भाषा:** असभ्य तथा अत्यन्त पिछड़े हुए लोगों की भाषा के विश्लेषण से भी भाषा के आरंभिक रूप पर प्रकाश पड़ सकता है, पर बड़ी ही सतर्कता से इसके आधार पर निष्कर्ष निकालना चाहिए। सच तो यह है कि ये भाषाएँ सभ्य भाषाओं से कुछ ही पीढ़ी पूर्व की हो सकती है, अत: इनको बिल्कुल आरंभिक भाषा नहीं माना जा सकता। असभ्य से असभ्य जाति की भाषा भी जाने कितनी ही सदी पुरानी होगी। इनसे इतना ही लाभ हो सकता है कि सभ्य भाषाओं की तुलना में इनमें अंतर देखकर इसकी तुलना में और पहले की भाषा की दशा का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।
3. **आधुनिक भाषाओं का इतिहास:** भाषा की आरंभिक दशा के विषय में कुछ जानने का, यह सबसे सीधा, अच्छा और महत्वपूर्ण पथ है। ऊपर हम लोगों ने देखा कि कुछ लोगों ने भाषा के आरंभ के विषय में कुछ सिद्धान्त दिये हैं, जिनके आधार पर आरंभ से चलकर अंत तक पहुँचना चाहते हैं। यहाँ हमारा रास्ता उसके ठीक उल्टा है। हम अंत से शुरू करके आरंभ तक पहुँचना चाहते हैं। इस पथ के ठीक होने का निश्चय इसलिए है कि हमारा आरंभ अनुमान पर आधारित न

होकर निश्चित दशा पर आधारित है जबकि उपर्युक्त सिद्धांतों में कुछ अपवादों को छोड़कर शेष अनुमान ही अनुमान था।

भाषा का विकास, परिवर्तन और उसके कारण- भाषा में परिवर्तन होना ही उसका विकास या विकार है। पीछे कहा जा चुका है कि भाषा चिरपरिवर्तनशील है। भाषा में विकास या परिवर्तन उसके पाँचों रूपों ध्वनि, शब्द, रूप, अर्थ और वाक्य में होता है (ध्वनि-लोप, आगम, विपर्यव परिवर्तन आदि; रूप-रामस्य, राम का, वाक्य-शब्द-क्रम, अन्वय आदि: शब्द-पुराने का लोप और नये का आना; अर्थ-अर्थ में विस्तार, संकोच या आदेश आदि) इन परिवर्तन के कारण और उसके रूपों या दिशाओं पर अच्छी प्रकार विचार, इन पाँचों से सम्बद्ध अलग-अलग अध्यायों में आगे किया गया है। यहाँ संक्षेप में केवल कुछ सामान्य बातें ही कही जा रही हैं।

भाषा के विकास या परिवर्तन पर बहुत पहले से किसी न किसी रूप में विचार किया गया है। शब्दशास्त्र पर विचार करने वाले प्राचीन भारतीय आचार्यों कात्यायन, पतंजलि, कैयट तथा काशिकाकार जयादित्य और वामन के नाम इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। यूरोप में इस विषय पर गम्भीरता से और व्यवस्थित रूप से विचार करने वाले प्रथम व्यक्ति डैनिश विद्वान जे. एच. ब्रेड्सडॉर्फ हैं। इन्होंने 1821 में गॉथिक ध्वनि-परिवर्तन पर विचार करते समय तथा अन्यत्र भी भाषा-परिवर्तन के 7-1 कारण गिनाये थे। तब से इस सदी तक पाल, येस्पर्सन आदि अनेक लोगों ने इस विषय को उठाया। पिछले दशक में स्टुर्टवेंट ने इस विषय का पहली बार बहुत विस्तार से विवेचन किया, यद्यपि उसे भी पूर्ण नहीं माना जा सकता है।

विकास के कारणों के प्रमुख दो वर्ग: भाषा में विकास जिन कारणों से होता है. उन्हें प्रमुखत: दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक अभ्यंतर (या आन्तरिक वर्ग) और दूसरा बाह्य। अभ्यंतर वर्ग में भाषा की अपनी स्वाभाविक गति (जिसमें प्रमुखत: भाषा की कठिन से सरल होने की प्रवृत्ति है) तथा वे कारण सम्मिलित है, जो प्रयोक्ता की शारीरिक या मानसिक योग्यता आदि सम्बन्धी स्थिति से सम्बन्ध रखते हैं। बाह्य वर्ग में वे कारण आते हैं, जो बाहर से भाषा को प्रभावित करते हैं।

इन दोनों में पहले प्रकार के कारण भीतरी, आन्तरिक या अभ्यंतर कहे जा सकते हैं और दूसरे प्रकार के कारणों को 'बाहरी' या 'बाह्य' की संज्ञा दी जा सकती है। यहाँ दोनों के अन्तर्गत आने वाले कुछ प्रमुख कारणों पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है। विशेष महत्व के कारण सादृश्य पर अलग से विचार किया गया है।

कुछ भाषाविज्ञानविदों ने भाषा के विकास के मूल कारण के रूप में चार बातों का उल्लेख किया है ।. शारीरिक विभि. ान्नता, 2. भौगोलिक विभिन्नता. 3. जातीय मानसिक अवस्था भेद, 4. प्रयत्न-लाघव। इनमें प्रयत्न लाघव तो स्पष्टत: ही मूल कारण ाों में है जैसा कि आगे समझाया गया है। शेष तीन के सम्बन्ध में थोड़े स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। यदि नं. का अर्थ यह लें कि एक ही समाज का एक व्यक्ति स्वस्थ या मोटा-ताजा है और दूसरा दुबला-पतला अत: दोनों की भाषा में अन्तर होगा, तो यह प्राय: व्यर्थ है। दूसरे का अर्थ यह लें कि रेगिस्तानी मुँह बैंके होंगे, ठंडक में रहने वाले सर्दी के कारण कम मुँह बोलेंगे, अतएव भाषा में अन्तर होगा तो यह भी बहुत सार्थक नहीं है। इसी प्रकार यदि मानें कि मानसिक अवस्था के उच्च या निम्न होने से भाषा में भेद होगा तो यह ठीक नहीं है, किन्तु यदि दूसरा अर्थ लें जैसा कि आगे लिया गया है तो तीनों ही किसी न किसी रूप में भाषा के विकास में काम करते हैं।

अभ्यंतर वर्ग

अभ्यंतर वर्ग के अन्तर्गत वे सभी कारण आते हैं जो प्रभाव नहीं डालते। संक्षेप में, प्रधान कारणों को यहाँ लिया जा सकता है:

1. **प्रयोग से घिस जाना:** अधिक प्रयोग के कारण धीरे-धीरे अन्य सभी चीजा. ं की भाँति भाषा में भी स्वाभाविक रूप से परिवर्तन होता है। संस्कृत की कारकीय विभक्तियाँ इसी प्रकार धीरे-धीरे घिसते-घिसते समाप्त हो गई।
2. **बल:** जिस ध्वनि या अर्थ पर अधिक बल दिया जाता है, वह अन्य ध्वनियों या अर्थों को या तो कमजोर बना देता है या समाप्त कर देता है। इस प्रकार इसके कारण भी भाषा में विकास या परिवर्तन हो जाता है। इस सम्बन्ध में 'ध्वनि' और 'अर्थ' के कारण में विस्तार से विचार किया जायेगा।
3. **प्रयत्न लाघव:** भाषा में विकास लाने वाले या परिवर्तन उपस्थित करने वाले कारणों में यह सबसे महत्वपूर्ण है और भाषा में विकास या परिवर्तन के 90 प्रतिशत से भी अधिक का दायित्व इसी पर है। इसे ''मुख-सुख भी'' कहते हैं।

आदमी कम से कम प्रयास से अधिक से अधिक काम करना चाहते हैं। बोये हुए खेतों में भी लोगों की वही प्रवृत्ति बीच से तिरछे रास्ता बना देती है। बोलने में भी इसी प्रकार कम से कम प्रयत्न से लोग शब्दों को उच्चरित करना चाहते हैं और इस क्रम से कम प्रयास या प्रयत्न-लाघव (प्रयत्न की लघुता) के प्रयास में ही शब्दों को सरल बनाते या सरलता के लिए कभी तो बड़ा और कभी छोटा बना डालते हैं, या कभी केवल कठिन संयुक्त व्यंजनों आदि को सरल कर लेते हैं। कृष्ण का कन्हैया,

कान्हा का किशन, भक्त का भगत, प्वाइंट्समैन का पैटमैन, स्टेशन का टेसन, धर्म का धरम, श्बीबी जीश का बीजी, गोपेन्द्र का गोविन, गृद्ध का गिद्ध तथा आलक्तक का आलता आदि सरल करके बोलने के प्रयास के ही फल हैं। अंग्रेजी में क्नो (Know) का उच्चारण नो, क्नाइफ (Knife) का नाइफ तथा टाल्क (Talk) का टाक भी इसी का परिणाम है। सरलता या प्रयत्न-लाघव के लिए कुछ शब्द तो छोटे कर लिये जाते हैं, जैसे उपाध्याय से ओझा, 'कब ही' से कभी, 'जब ही' से जभी 'हास्तिन मृग' से हस्ती फिर 'हाथी' या बोलने में 'मास्टर साहब' का 'मास्साबश, 'पंडित जी' का 'पंडी जी' 'जैराम जी की' का जैरम', 'मार डाला' का 'माड्डाला'। कुछ शब्द सरल बनाने के लिए बड़े कर लिए जाते हैं, जैसे प्रसाद से परसाद, कृष्ण से कन्हैया, स्कूल से इस्कूल, स्नान से असनान, प्लेटो से अफलातून, गहण से गरहन या गिरहन तथा उम्र से उमिर आदि, संक्षेप का प्रयोग, जैसे डी. एम. (डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट), एन. टी. (नायब तहसीलदार), भारत (भारतवर्ष) या सुदी (शुक्ल दिवस) आदि भी प्रयत्न-लाघव की दृष्टि से ही किया जाता है।

4. **मानसिक स्तर:** बोलने वालों के मानसिक स्तर में परिवर्तन होने से विचारों में परिवर्तन होता है, विचारों में परिवर्तन होने से अभिव्यंजना के ढंग में परिवर्तन होता है और इस प्रकार भाषा पर भी प्रभाव पड़ता है। इसका स्पष्ट परिणाम अर्थ-परिवर्तन होता है. पर कभी-कभी ध्वनि पर भी असर देखा गया है।

5. **अनुकरण की अपूर्णता:** भाषा अर्जित अपूर्णता सम्पत्ति है और इस उसका वर्ग का अर्जन अनिमय मनुष्य अनुकरण अनुकरण के सहारे समाज से करता है। अनुकरण यदि पूर्ण हो तब तो व्यक्ति किसी शब्द को ठीक उसी प्रकार कहेगा, जैसे वह व्यक्ति कहता है जिसका कि वह अनुकरण कर रहा है, किन्तु प्राय: ऐसा होता नहीं। अनुकरण प्राय: अपूर्ण या बेठीक होता है। ध्वनि का अनुकरण सुनकर तथा उच्चारण-अवयवों की गति देखकर (जितना दिखायी दे सके) किया जाता है। वाक्य, अर्थ आदि का अनुकरण मानसिक रूप से समझ कर किया जाता है। होता यह है कि अनुकरण में अनुकर्ता (क) कुछ भाषिक तथ्यों को तो छोड़ देता है तथा (ख) कुछ को अपनी ओर अनजाने ही जोड़ देता है। इस तरह अनुकरण में भाषा का परिवर्तन पनपता रहता है। जब एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी भाषा का अनुकरण कर रही होती है, ध्वनि शब्द, रूप, वाक्य, अर्थ-भाषा के पाँचों क्षेत्रों में इसी छोड़ने और जोडने के कारण परिवर्तन की प्रक्रिया तेजी से घटित होती रहती है।

आर. एम. पिंडल (1926) तथा ए. डुरेफर (1927) ने कुछ स्थानों में इस बात का अनेक वर्षों तक बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन किया और वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह परिवर्तन या विकास का सबसे बड़ा कारण है। समाज में मोटे रूप से तीन पीढियाँ होती हैं। नवोदित जो 20-22 या 25 से कम उम्र के हैं, बहुत सक्रिय जो 20-23 या 25 से 30 वर्ष के बीच के होते हैं और अस्तप्राय जो 60 से ऊपर के होते हैं। एक ही समाज में इन तीनों की भाषा में स्पष्ट अन्तर मिलता है। यद्यपि यह अन्तर यों देखने में बहुत अधिक नहीं होता और कई पीढ़ियों के बाद ही भाषा पर उनकी सुस्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है। पीढ़ी-परिवर्तन के साथ, अनुकरण की अपूर्णता के अतिरिक्त यों अन्य कारण भी काम करते हैं, जैसे अन्य प्रभाव, बल देने के लिए या नवीनता के लिए नये प्रयोग या एक से अनेक या अनेक से एक करने की प्रवृत्ति आदि। जैसा कि कह चुके हैं, एक-दो पीढ़ी में तो इसका स्पष्ट पता नहीं चलता, पर जब आठ-दस पीढी पीछे की भाषा की आठ-दस पीढ़ी बाद की भाषा से हम तुलना करते हैं तो दोनों के अन्तर का पता साफ चल जाता है और हमें यह मानने को बाध्य होना पड़ता है कि भाषा विकसित या परिवर्तित हो गई है।

जानबूझकर परिवर्तन: भाषा में, कभी-कभी जानबूझकर भी उस भाषा के प्रबुद्ध बोलने वाले या लेखक आदि परिवर्तन कर देते हैं। प्रसाद ने 'अलेक्जेंडर' का अलक्षेन्द्र कर दिया है। यह परिवर्तन स्वाभाविक नहीं है। इसी प्रकार अनेक देशज तथा विदेशी शब्दों का संस्कृत के साहित्यकारों ने संस्कृतीकरण किया है। जैसे अरबी 'अफियून' का 'अहिफेन' या तुर्की 'तुर्क' का 'तुरुष्क'। कभी-कभी उपयुक्त शब्द न मिलने पर लोग जान बूझकर किसी मिलते-जुलते शब्द का नये अर्थ में प्रयोग कर देते हैं और शब्द यदि बहुत प्रचलित न रहा हो तो उस नये अर्थ में चल पड़ता है। जैसे 'ट्रैजेडी' से 'त्रासदी' या 'कमेडी' से 'कामदी'। अभिव्यक्ति में चमत्कार या नवीनता आदि लाने के लिए कलाकारों द्वारा निरंकुश प्रयोग भी भाषा में इस प्रकार के परिवर्तन ला देता है।

बाह्य वर्ग-

1. **भौतिक वातावरण:** भाषा पर इसका सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। एक भाषा के अन्तर्गत अनेक बोलियों या एक परिवार में अनेक भाषाएँ मूलत: इसी कारण से बन जाती हैं। भौतिक वातावरण का प्रभाव कई प्रकार से पड़ सकता है।

क. गर्मी और सर्दी के अधिक या कम होने से जीविका, स्वभाव, रहन-सहन आचरण आदि पर प्रभाव पड़ता है और भाषा इन सभी पर आधारित है।

ख. मैदान आदि में दूर तक लोग सम्पर्क रख पाते हैं, अत: भाषा में एकरूपता बनी रहती है। पर पहाड़ी भागों में या अन्य ऐसे

भागों में, जहाँ आने-जाने की सुविधा कम है, या है ही नहीं, लोग अलग-अलग रहने के आदी हो जाते हैं।

ग. भूमि उपजाऊ है तो खाद्य सामग्री की कमी न रहेगी और फल यह होगा कि लोगों को उन्नति करने का समय मिलेगा। अतः 'उन लोगों की भाषा में अनुपजाऊ भूमि में रहने वालों की अपेक्षा संस्कार अधिक होगा। वे लोग गूढ़ विषयों पर सोचेंगे अंतः उसकी अभिव्यंजना के लिए उनकी भाषा गम्भीर होती जायेगी, जैसा कि भारत या यूनान आदि में हुआ है। इसके विरुद्ध पहाड़ी या जंगली लोगों की भाषा में इस प्रकार का विकास नहीं होता। इस तरह उपजाऊ भूमि के कारण भाषा के परिवर्तन एवं विकास को बल मिलता है।

2. सांस्कृतिक प्रभावः संस्कृति समाज का प्राण है, अतः उसका भी प्रभाव भाषा पर पड़ता है और उसके कारण भाषा में विकास होता है। इसके अन्तर्गत भी प्रभाव कई प्रकार का हो सकता है।

क. सांस्कृतिक संस्थाएँ प्राचीन शब्दों को एक बार फिर ला देती हैं, साथ ही विचार में भी परिवर्तन कर देती है, जिससे अभिव्यक्ति की शैली आदि प्रभावित होती है। 19वीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के आदि की भाषा पर आर्य समाज आदि के कारण संस्कृत शब्द अपने तत्सम रूप में इतने अधिक घुस आये हैं कि कहने की आवश्यकता नहीं।

ख. व्यक्ति : महान व्यक्तियों का भी भाषा पर प्रभाव पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदास ने उत्तरी भारत की भाषा, उसके समाज तथा धर्म सभी को यथेष्ट प्रभावित किया है। कितने शब्दों को उन्होंने मूल रूप में या कविता में तुक आदि के लिए कुछ तोड़कर रखा और वे चल पड़े। उनके बाद की कविता की शैली भी उनसे प्रभावित हुई थी। इसी प्रकार गाँधी जी के कारण हिन्दी की हिन्दुस्तानी शैली को काफी बल मिला।

ग. संस्कृतियों का सम्मिलनः व्यापार, राजनीति तथा धर्म-प्रचार आदि के कारण कभी-कभी दो संस्कृतियों का सम्मिलन होता है। इसका भी भाषा के विकास या परिवर्तन पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, भारत को ही लें। यहाँ इस प्रकार के कई सम्मिलन हुए जिनमें कम से कम पाँच अधिक महत्वपूर्ण हैं:

1. आस्ट्रिकों और द्रविड़ों का।
2. द्रविड़ों और आर्यों का।
3. आर्यों और यवनों का।
4. भारतीयों और मुसलमानों का।
5. भारतीयों और यूरोप वालों का।

इन संस्कृतियों के सम्मिलन से भाषा पर दो प्रकार के प्रभाव सम्भव होते हैं:

(अ) प्रत्यक्ष जैसे (क) शब्दों की लेन-देन आज हमारी भारतीय भाषाओं में उपर्युक्त सभी संस्कृतियों के शब्द है। हिन्दी में ही आस्ट्रिकों के गंगा आदि, द्रविड़ों के तीर आलि, मीन आदि यवनी (ग्रीको) के होड़ा दाम, सुरंग आदि तुर्की एवं मुसलमानों के पायजामा, बाजार दूकान, कागज, कलम, सन्दूक, किताब, तकिया, रजाई आदि, तथा यूरोपियनों के खेल, न्याय और फैशन आदि सम्बन्धी, हाकी, टेनिस, कॉलर, टाई पेंसिल, बटन, फ्रेम, डिग्री, साइकिल, मोटर, रेल, स्टेशन, निब कोट, कलक्टर तथा पेन आदि हजारों प्रचलित है। हिन्दी में इस प्रकार के शब्दों की ठीक से छानबीन की जाय तो इनकी संख्या आठ हजार से कम न होगी।

(ख) ध्वनि का आनाः मूल यूरोपीय भाषा में टवर्गीय ध्वनि नहीं थी, पर भारत में आने पर कदाचित् द्रविडों के प्रभाव से आर्य भाषा में ये ध्वनियों आ गई और आज सभी ध्वनियों की भाँति इसका भी प्रयोग होता है। हिन्दी भाषा में मुसलमानों तथा अंग्रेजों के सम्पर्क से कई नवीन ध्वनियों आ गई हैं, जैसे क, ज. ग, व, फ तथा आ।

(ग) वाक्य-गठन, मुहावरे, लोकोक्ति तथा अभिव्यक्ति की शैली भी विदेशी भाषाओं से प्रभावित होती है। उदाहरणार्थ, हिन्दी इसी दृष्टि से फारसी, अंग्रेजी आदि से पर्याप्त प्रभावित है। 'पानी-पानी होना' मूलतः फारसी आब-आब शुदन का अनुवाद है तो कार्य रूप में परिणत करना अंग्रेजी To translate into action का।

(ब) अप्रत्यक्षः विचार-विनिमय के कारण एक-दूसरे का साहित्य, कला आदि पर भी प्रभाव पड़ता है और उससे भी भाषा (गठन, अभिव्यक्ति-पद्धति तथा मुहावरे आदि) अछूती नहीं रहती।

3. समाज की व्यवस्थाः सामाजिक व्यवस्था के कारण समाज में शान्ति या अशांति रहती है और उसका भी जीवन के प्रत्येक अंग पर प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव घूम-फिर कर भाषा पर भी पड़ता है। युद्ध या क्रान्ति में भाषा में विशेष रूप से ध्वनि-परिवर्तन होते हैं। लोगों के पास इतना समय नहीं रहता और न शान्ति ही रहती है कि उच्चारण पूर्णरूपेण करे। संकेत से अधिक काम लेना पड़ता है। आधुनिक काल में समय कम होने के कारण ही अनेक प्रचलित शब्दों के संक्षिप्त रूप बनाये गये हैं। हम कृ. प. उ. (P-T-O) लिखकर कृपया पृष्ठ उलटिए का काम चला लेते हैं। पूरा नाम न कहकर शर्मा, वर्मा और तिवारी ही कहा जाता है। सी आई डी. बी. सी. डी. एम. नेफा, पेप्सू तथा यूनेस्को आदि भी इसी प्रकार

के संक्षिप्त रूप है।

4. **बोलने वालों की उन्नति:** बोलने वालों की उन्नति वैज्ञानिक या अन्य क्षेत्रों में होती है तो भाषा में भी परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन दो रूपों में हो सकता है। एक तो नयी उन्नति के अनुरूप नयी अभिव्यक्तियों के लिए भाषा में कुछ नयी चीजें मशीन् वस्त्र खाना, मनोरंजन आदि (या विचार) आ जाते या आविष्कृत हो जाते है. तो उनके लिए नये शब्द आ जाते हैं। भारत इधर दिन-पर-दिन उन्नति करता जा रहा है. अत: उसकी भाषाओं में बड़ी तेजी से नये शब्द आते जा रहे हैं। यदि कोई देश उसके उल्टे बहुत अवनति करने लगे और खाने को मुहताज हो जाय तो अत्यधिक आराम (luxury) की बहुत सी चीजे लुप्त हो जायेंगी और यदि स्थिति बदली नहीं तो उनके प्रसंग में प्रयुक्त शब्द भी लुप्त हो जायेंगे।

स्मरणीय बिंदु-

- भाषा विकास का अध्ययन परोक्ष रूप से किया जाता है।
- बच्चों की भाषा विकास का प्रारंभिक रूप दिखाती है।
- आदिम जातियों की भाषा सरल होती है।
- भाषा का विकास सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रिया है।
- आधुनिक भाषाएँ प्राचीन भाषाओं से विकसित हुई हैं।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
परोक्ष मार्ग	अप्रत्यक्ष तरीका
आदिम जाति	प्रारंभिक समाज
विकास	क्रमिक वृद्धि
ध्वनि	उच्चारित स्वर
इतिहास	विकास क्रम

5 अंक के प्रश्न-

1. परोक्ष मार्ग क्या है?
2. बच्चों की भाषा पर टिप्पणी लिखिए।
3. भाषा विकास के चरणों को लिखिए।
4. आदिम जातियों की भाषा की विशेषताएँ बताइए।
5. आधुनिक भाषाओं के इतिहास का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. भाषा विकास के परोक्ष मार्ग का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. बच्चों की भाषा एवं आदिम जातियों की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
3. भाषा विकास के विभिन्न चरणों की विवेचना कीजिए।
4. आधुनिक भाषाओं के विकास क्रम का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. भाषा विकास का अध्ययन किससे किया जाता है?

(क) बच्चों की भाषा

(ख) आदिम जातियाँ

(ग) आधुनिक भाषाएँ

(घ) उपरोक्त सभी

2. बच्चों की भाषा किसका संकेत देती है?

(क) भाषा विकास

(ख) राजनीति

(ग) विज्ञान

(घ) संगीत

3. भाषा विकास का कौन-सा चरण प्रारंभिक माना जाता है?

(क) ध्वनि चरण

(ख) साहित्यिक चरण

(ग) वैज्ञानिक चरण

(घ) प्रशासनिक चरण

4.आदिम जातियों की भाषा सामान्यत: होती हैख़

(क) जटिल

(ख) सरल

(ग) वैज्ञानिक

(घ) साहित्यिक

5. भाषा विकास का संबंध किससे है?

(क) समाज

(ख) संस्कृति

(ग) इतिहास

(घ) उपरोक्त सभी

इकाई- 2.3 भाषा और बोली

उद्देश्य-

1. भाषा एवं बोली के संबंध को समझना।
2. बोली के विभिन्न रूपों का अध्ययन करना।
3. स्थानीय एवं उपबोलियों का ज्ञान प्राप्त करना।

भाषा के विविध रूप- भूगोल या क्षेत्र के आधार पर भाषा का सबसे छोटा रूप व्यक्ति बोली (Idiolect) का होता है, जो एक व्यक्ति द्वारा बोली जाती है। एक क्षेत्र के बहुत से लोगों की भाषा स्थानीय बोली (local dialect) होती है। यह क्षेत्र की दृष्टि से व्यक्ति बोली से बड़ी होती है। बहुत सी व्यक्ति बोलियाँ मिलकर एक स्थानीय बोली बनाती हैं। एकाधिक स्थानीय बोलियाँ मिलकर एक उपबोली (sub & dialect) बनाती है, तो एकाधिक उपबोलियाँ मिलकर एक बोली (Dialect), एकाधिक बोलियाँ मिलकर एक उपभाषा (sub &language) या बोली-वर्ग तथा एकाधिक उपभाषाएँ मिलकर एक भाषा। दूसरे शब्दों में एक भाषा के अन्तर्गत एकाधिक उपभाषाएँ हो सकती हैं (जैसे हिंदी भाषा के अंतर्गत पश्चिमी हिंदी, पूर्वी हिंदी आदि पाँच उपभाषाएँ या बोली वर्ग है), एक उपभाषा में एकाधिक बोलियाँ (जैसे पूर्वी हिंदी में अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी बोलियाँ), एक बोली में एकाधिक उपबोलियाँ (जैसे अवधी में पश्चिमी जौनपुर की शबनाँधी तथा रायबरेली बछरावों आदि में प्रयुक्त बैसवाड़ा आदि), तथा एक उपबोली में कई स्थानीय बोलियाँ (जैसे 'कुमायूँनी, बोली की रौ-चौभेसी' उपबोली के 'रामगढ़िया' तथा 'छखातिया' आदि स्थानीय रूप)।

(ग) प्रयोग के आधार पर 'बोलचाल की भाषा', 'साहित्यिक भाषा', 'जातीय भाषा', 'व्यावसायिक भाषा', 'दफ्तरी भाषा', 'राजभाषा, राष्ट्रभाषा, गुप्त भाषा', 'जीवित भाषा', मृत भाषा आदि रूप होते हैं। सहायक संपूरक परिपूरक, संपर्क तथा समतुल्य भाषा नाम के भाषा-रूप भी प्रयोग पर ही आधारित है।

(घ) निर्माण के आधार पर सहज भाषा (सामान्य बोलचाल की जैसे हिन्दी, अग्रेजी, जर्मन आदि भाषाएँ) तथा कृत्रिम भाषा (जिसे एक या कुछ लोगों ने मिलकर कृत्रिम रूप से बनाया हो। जैसे 'एस्पेरैतों' तथा 'इडो' आदि। इनके लिए देखिए परिशिष्ट दो भेद होते हैं। कृत्रिम भाषा के दो उपभेद सामान्य (जैसे एस्पेरैतो) और गुप्त (जैसे सेना, दलालों, डाकुओं आदि की भाषा) है।

(ड.) मानकता या शुद्धता के आधार पर या मानक या परिनिष्ठित भाषा (जो बहुत शुद्ध और व्याकरण सम्मत हो), अमानक भाषा (जिसमें शुद्ध प्रयोग न हो। जैसे मैंने जाना है, मेरे को कान ही पूर जाऊँ तो गा लेकिन आज नहीं आदि)। (अमानकता ध्वनि, शब्द, रूप वाक्य, अर्थ सभी की हो सकती है), तथा अपभाषा (slang), (यह प्रायः अशिक्षित या अर्धशिक्षित वर्ग के लोगों में चलती है। इसमें मानक तत्वों के साथ-साथ स्थानीय, बोलचाल के ठेठ और अश्लील शब्दों का भी ध ड़ल्ले से प्रयोग होता है) आदि भेद होते हैं।

(च) मिश्रण के आधार पर पिजिन तथा क्रियोल दो भेद होते हैं। इनमें से कुछ मुख्य भाषा-रूपों को नीचे अलग से लिया जा रहा है:

1. **मूल भाषा:** भाषा का यह भेद इतिहास पर आधारित है। भाषा की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन काल में उन स्थानों में हुई होगी जहाँ बहुत से लोग एक साथ रहते रहे होंगे। ऐसे स्थानों में किसी एक स्थान की भाषा को, जो आरम्भ में उत्पन्न हुई होगी, तथा आगे चलकर जिसमें ऐतिहासिक और भौगोलिक आदि कारणों से अनेक भाषाएँ, बोलियाँ तथा उपबोलियाँ आदि बनी होंगी, मूल भाषा कही जायेगी। भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण का आधार यही मान्यता है। संसार में उतने ही भाषा-परिवार माने जायेंगे, जितनी कि मूल भाषाएँ मानी जायेंगी। उदाहरण के लिए हम अपने भारोपीय परिवार की भाषाओं को ही लें तो इसकी मूल भाषा भारोपीय (Indo European) भाषा थी. जिसका प्रादुर्भाव एकसाथ रहने वाले कुछ लोगों में हुआ। भौगोलिक परिस्थितियों ने भाषा के विकास एवं शाखाओं में बाँटने का कार्य वहीं से आरम्भ कर दिया था। मूल स्थान पर कुछ दिनों तक रहने के पश्चात् जब वहाँ की जनसंख्या अधिक हो गयी और भोजन आदि की कमी पड़ने लगी तो कुछ लोग तो संभवतः वहीं रह गये और कुछ लोग कई शाखाओं में बँटकर अलग-अलग दिशाओं में चल पड़े।

व्यक्ति-बोली (Idiolect) : एक व्यक्ति की भाषा को व्यक्ति-बोली कहते हैं। एक दृष्टि से भाषा का यह संकीर्णतम या लघुतम रूप है। शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से गहराई में जाकर यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य हर क्षण बदलता रहता है। राम या मोहन दो बजकर एक मिनट या एक सेकेंड पर वही राम या मोहन नहीं रहते, जो ठीक दो बजे रहते हैं। ऐसी स्थिति में

उनकी व्यक्ति-बोली भी सर्वदा एक नहीं रहती, अर्थात् दो बजे राम की जो व्यक्ति बोली होगी, दो बजकर एक या दो मिनट पर उससे भिन्न कोई दूसरी व्यक्ति-बोली होगी, चाहे यह अन्तर कितना ही कम और सूक्ष्म क्यों न हो। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि किसी एक व्यक्ति की किसी एक समय की भाषा ही सच्चे अर्थों में व्यक्ति-बोली है। किन्तु साथ ही किसी व्यक्ति की जन्म से मृत्यु तक की बोली को भी व्यक्ति-बोली कहा जा सकता है और कहा जाता है।

उपबोली या स्थानीय बोली (Sub and Dialect or Local Dialect): भाषा का यह रूप भूगोल पर आधारित है। एक छोटे से क्षेत्र में इसका प्रयोग होता है। यह बहुत-सी व्यक्ति-बोलियों का सामूहिक रूप है। हम कह सकते हैं कि किसी छोटे क्षेत्र की ऐसी व्यक्ति-बोलियों का सामूहिक रूप, जिनमें आपस में कोई स्पष्ट अन्तर न हो, स्थानीय बोली या उपबोली कहलाता है। एक बोली के अन्तर्गत कई उपबोलियाँ होती हैं। किसी बोली के वर्णन में जब हम उसके दक्षिणी, पश्चिमी, मध्यवर्ती आदि उपरूपों की बात करते हैं तो हमारा आशय उपबोली या स्थानीय बोली से ही होता है। भोजपुरी, अवधी, ब्रज आदि बोलियों में इस प्रकार की कई उपबोलियों हैं।

बोली और भाषा: जैसे बहुत-सी व्यक्ति-बोलियों-जो आपस में प्राय: पर्याप्त साम्य रखती हों-का सामूहिक रूप उपबोली है, उसी प्रकार बहुत-सी मिलती-जुलती उपबोलियों का सामूहिक रूप बोली है और मिलती-जुलती बोलियों का सामूहिक रूप भाषा है। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि एक भाषाक्षेत्र में कई बोलियों होती है (जैसे हिन्दी क्षेत्र में बड़ी बोली, ब्रज, अवधी आदि बोलियाँ है) और एक बोली में कई उपबोलियाँ (जैसे बुन्देली बोली के अन्तर्गत लोधान्ती, राठौरी तथा पँवारी आदि उपबोलियों)।

बोली शब्द यहाँ अंग्रेजी डाइलेक्ट (dialect) का प्रतिशब्द है। कुछ हिन्दी के भाषाविज्ञानविद् बोली के लिए 'विभाषा', 'उपभाषा' या 'प्रान्तीय भाषा' का भी प्रयोग करते हैं।

एक भाषा के अन्तर्गत कई बोलियों होती हैं, या बोली का क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा होता है और भाषा का बड़ा। इस रूप में बोली का स्वरूप स्पष्ट है, किन्तु प्रकृति की दृष्टि से भाषा और बोली में अन्तर करना बड़ा कठिन है फिर भी काम चलाने के लिए बोली की परिभाषा, बल्कि व्याख्या (भाषा से अलग) कुछ इस प्रकार दी जा सकती है। 'बोली' किसी भाषा के एक ऐसे सीमित क्षेत्रीय रूप को कहते हैं जो ध्वनि रूप वाक्य-गठन, अर्थ, शब्द-समूह तथा मुहावरे आदि की दृष्टि से, उस भाषा के परिनिष्ठित तथा अन्य क्षेत्रीय रूपों से भिन्न होता है, किन्तु इतना भिन्न नहीं कि अन्य रूपों के बोलने वाले उसे समझ न सकें, साथ ही जिसके अपने क्षेत्र में कही भी बोलने वालों के उच्चारण, रूप-रचना, वाक्य-गठन, अर्थ, शब्द-समूह तथा मुहावरों आदि कोई बहुत स्पष्ट और महत्वपूर्ण भिन्नता नहीं होती।

एक भाषा के अन्तर्गत जब कई अलग-अलग रूप विकसित हो जाते हैं तो उन्हें 'बोली' कहते हैं। सामान्यत: कोई 'बोली' तभी तक 'बोली' कही जाती है जब तक उसे

1. साहित्य, धर्म, व्यापार या राजनीति के कारण महत्व न प्राप्त हो, या
2. जब तक पड़ोसी बोलियों से उसे भिन्न करने वाली उसकी विशेषताएँ इतनी न विकसित हो जायें कि पड़ोसी बोलियों के बोलने वाले उसे न समझ सके। इन दोनों में से किसी एक (या दोनों) की प्राप्ति करते ही बोली 'भाषा' बन जाती है। अंग्रेजी, हिन्दी, रूसी संस्कृत ग्रीक तथा अरबी आदि विश्व की सभी भाषाएँ अपने प्रारम्भिक रूप में बोली रही होंगी, और बाद में महत्व प्राप्त होने पर या विकास के कारण पूर्णत: भिन्न हो जाने पर वे भाषा बन गई। इसी प्रकार आज बोली कहलाने वाली भोजपुरी, अवधी तथा मैथिली आदि उपर्युक्त कारणों से भाषाएँ बन सकती है।

बोलियों के बनने का कारण: बोलियों के बनने का कारण प्रमुखत: भौगोलिक है। मूल भाषा के चित्र में प्रथम अवस्था में 'क' एक भाषा थी। उसमें 'ख', 'ग' और 'घ' शाखाएँ फूट कर अलग-अलग चली गई और एक-दूसरे से इतनी दूर जा बसीं कि आपस में किसी प्रकार का सम्बन्ध संभव न था। एक शाखा के लोग दूसरी शाखा के लोगों से मिलकर बातचीत नहीं कर सकते थे। फल यह हुआ कि तीनों शाखाओं में कुछ विशेषताएँ विकसित हो गई और इस प्रकार तीनों अलग-अलग बोलियों हो गई। किसी भाषा की एक शाखा का अन्य से सम्बन्ध विच्छेद या अलग होना ही बोली के बनने का प्रधान कारण है। ऐसा भी होता है कि यदि कोई भाषा बहुत दिन से एक बड़े क्षेत्र में बोली जा रही है और उस क्षेत्र में एक उपक्षेत्र के लोग दूरी के कारण दूसरे उपक्षेत्र के लोगों से नहीं मिल पाते तो उन दोनों या अधिक उपक्षेत्रों में भी बोलियाँ विकसित हो जाती है। हिन्दी में अवधी, ब्रज आदि इसी प्रकार विकसित हो गई हैं। भूकम्प या जल-प्लावन से भी ऐसी परिस्थितियों आ जाती हैं। एक क्षेत्र के बीच में व्यवधान आ जाता है, अत: लोग मिल नहीं पाते और बोलियाँ विकसित हो जाती है। बहुधा यह देखा जाता है कि किसी बड़ी नदी के दोनों ओर बस्तियों भाषा की दृष्टि से कुछ अन्तर रखती हैं। यह भी उसी का द्योतक है।

कभी-कभी राजनैतिक या आर्थिक कारणों से कुछ लोग अपनी भाषा के क्षेत्र में बहुत दूर जाकर बस जाते हैं और यहाँ

भी उनकी नयी बोली विकसित हो जाती है। मध्य यूरोप में जर्मन भाषा का क्षेत्र था। वहाँ से लोग इंग्लैंड में बस गये और अंग्रेजी उसकी एक अलग बोली बन गई। कभी आसपास की भाषाओं या दूर की भाषाओं के प्रभाव के कारण भी एक भाषा में एक क्षेत्रीय रूप विकसित हो जाता है और वह बोली का रूप धारण कर लेता है।

बोलियों के महत्व पाने का कारण: जैसा कि ऊपर कहा गया है, कुछ बोलियों किसी प्रकार महत्व की प्राप्ति कर धीरे-धीरे बोली से भाषा बन जाती हैं। बोलियों के महत्व पाकर 'भाषा' की संज्ञा पाने के प्रधान कारण निम्नांकित हैं :

(क) कुछ बोलियों जब अपनी अन्य बहनों से बिल्कुल अलग हो जाती हैं, या अपनी अन्य बहनों के मर जाने के कारण अकेली बच जाती हैं तो उन्हें महत्वपूर्ण समझा जाने लगता है और वे 'भाषा' की संज्ञा से विभूषित हो जाती हैं। ब्राहुई प्रथम कारण से ही भाषा कहलाती है।

(ख) साहित्य की श्रेष्ठता के कारण भी कुछ बोलियों महत्वपूर्ण हो जाती है। प्राचीन काल में मध्यदेशीय बोली साहित्य के लिए प्रयुक्त होती थी। अत: उसका अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हो जाना स्वाभाविक था।

(ग) धार्मिक श्रेष्ठता भी बोली का महत्व बढ़ा देती है। राम-सम्बन्धी प्रधान तीर्थ अयोध्या है तथा कृष्ण सम्बन्धी मथुरा। फल यह हुआ कि दोनों स्थानों की बोलियों (अवधी और ब्रज) को औरों की अपेक्षा अधिक महत्व मिला और कई सदियों तक वे साहित्य की भाषा बनी रहीं। 'ब्रज' का तो नाम ही 'ब्रजभाषा' हो गया था। इसी प्रकार खड़ीबोली को महत्व प्रदान करने में आर्य समाज का भी हाथ रहा है।

(घ) बोलने वालों का महत्वपूर्ण होना भी बोली को महत्वपूर्ण बना देता है। अंग्रेजी जो मूलत: एक बोली है. अंग्रेजी के आधुनिक युग में विश्व भर में अपना व्यापार फैला देने से तथा उनके महत्वपूर्ण होने से आज विश्व की व्यापारिक भाषा एवं अंतर्राष्ट्रीय भाषा बनी हुई है। चाहे जर्मनी हो, चाहे जापान, और चीन हो या फ्रांस, सभी लोग अपनी बनाई हुई पुस्तकों पर प्राय: अंग्रेजी में ही 'मेड इन' (Made in) आदि लिखते हैं। इसी प्रकार विदेश जाने के लिए भी अंग्रेजी जानना आवश्यक माना जाता है, क्योंकि इसका प्रचार प्राय: सर्वत्र है यद्यपि अब यह स्थिति कुछ समाप्त होती ही दीख रही है।

(ङ) बोली के प्रमुख एवं महत्वपूर्ण होने का सबसे बड़ा कारण है राजनीति। जहाँ राजनीति का केन्द्र होगा, वहाँ की बोली अवश्य ही महत्वपूर्ण होकर भाषा बन जायेगी। दिल्ली के समीप की बड़ी बोली आज हिन्दी भाषाभाषी प्रान्तों की प्रमुख भाषा है और उसने मैथिली, अवधी और ब्रज जैसे प्राचीन एवं महत्वपूर्ण बोलियों को भी दबाकर भाषा ही नहीं, राज एवं राष्ट्रभाषा के स्थान को अपना लिया है। इसी प्रकार पेरिस की फ्रेंच और लंदन की अंग्रेजी बोलियों, अपनी अन्य बहनों से बहुत आगे निकल गई हैं और अपने देश की राष्ट्रभाषा बन बैठी हैं। मराठी की कोंकणी, मारवाड़ी और बरार आदि बोलियों ही रह गई, पर पूना की बोली आज वहाँ की साहित्यिक भाषा है। चीन की मन्दाग्नि बोली की भी यही दशा है। इस प्रकार के उदाहरण सभी देशों में मिल सकते हैं।

इन सबके अतिरिक्त शिक्षा का माध्यम बन जाने के कारण, सेना में स्वीकृत होने के कारण, व्यापार में प्रयुक्त होने के कारण तथा विज्ञान आदि में व्यवहृत होने के कारण भी बोली महत्व प्राप्त कर लेती है।

स्मरणीय बिंदु-

- बोली भाषा का क्षेत्रीय रूप है।
- व्यक्ति बोली भाषा का सबसे छोटा रूप है।
- कई बोलियों से मिलकर भाषा बनती है।
- बोलियों पर भौगोलिक प्रभाव पड़ता है।
- भाषा एवं बोली का घनिष्ठ संबंध है।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
बोली	क्षेत्रीय भाषा रूप
उपबोली	बोली का उपरूप
व्यक्ति बोली	व्यक्ति विशेष की भाषा
स्थानीय	क्षेत्र विशेष से संबंधित
भाषा	संप्रेषण का माध्यम

5 अंक के प्रश्न-

1. बोली क्या है?
2. स्थानीय बोली पर टिप्पणी लिखिए।
3. उपबोली से क्या अभिप्राय है?
4. भाषा एवं बोली में अंतर स्पष्ट कीजिए।
5. बोलियों के महत्त्व को समझाइए।

15 अंक के प्रश्न-

1. भाषा एवं बोली के मध्य अंतर स्पष्ट कीजिए।
2. बोलियों के निर्माण के कारणों का वर्णन कीजिए।
3. भाषा के विभिन्न रूपों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
4. स्थानीय बोली एवं उपबोली का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. किसी व्यक्ति विशेष द्वारा प्रयुक्त भाषा कहलाती है?

(क) उपबोली

(ख) बोली

(ग) व्यक्ति बोली

(घ) भाषा

2. कई स्थानीय बोलियों से मिलकर बनती है?

(क) भाषा

(ख) उपबोली

(ग) साहित्य

(घ) व्याकरण

3. भाषा का सबसे छोटा रूप कौन-सा है?

(क) भाषा

(ख) व्यक्ति बोली

(ग) उपबोली

(घ) साहित्य

4. बोलियों का विकास मुख्यत: किस आधार पर होता है?

(क) भौगोलिक

(ख) सामाजिक

(ग) सांस्कृतिक

(घ) उपरोक्त सभी

5. 'Dialect' का हिंदी रूप है?

(क) भाषा

(ख) बोली

(ग) व्याकरण

(घ) शब्द।

इकाई-2.4 अपभ्रंश की बोलियां तथा आधुनिक भाषाओं से उनका सम्बन्ध

उद्देश्य-

1. अपभ्रंश भाषाओं का अध्ययन करना।
2. आधुनिक भारतीय भाषाओं की उत्पत्ति को समझना।
3. भाषा एवं बोली के संबंध का ज्ञान प्राप्त करना।

ऊपर अपभ्रंश के भौगोलिक रूपों, भेदों या बोलियों का उल्लेख किया गया है। आज की आर्यभाषाओं की जननी के रूप निम्नांकित अपभ्रंश-बोलियाँ उल्लेख्य है।

अपभ्रंश बोलिया उनसे निकलने वाली आधुनिक भाषाएँ

1. शौरसेनी
   (क) पश्चिमी हिन्दी
   (ख) इस अप्रभंश के नागर रूप से
- राजस्थानी
- गुजराती

(ग) इस अपभ्रंश के पहाड़ी भागों पर स्थित रूप से - पहाड़ी

2. पैशाची या केकय टक्क
   (क) लहँदा
   (ख) पंजाबी (इस पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव है)
3. व्राचड;
   सिन्धी
4. महाराष्ट्री
   महाराष्ट्री
5. अर्धमागधी
   पूर्वी हिन्दी
6. मागधी
   (क) बिहारी
   (ख) बंगाली
   (ग) उड़िया
   (घ) असमिया

पहाड़ी भाषाओं (नेपाली, कुमायूँनी, गढ़वाली आदि) के लिए डॉ. चटर्जी ने खस अपभ्रंश की कल्पना की थी। किन्तु मेरे विचार में ये शौरसेनी से ही (शौरसेनी के उस रूप से जो पहाड़ी भागों में प्रचलित था, यदि चाहें तो उसे अपभ्रंश बोली शौरसेनी की खस उपबोली कह सकते हैं) निकली है। 'पूर्वी हिन्दी' का सम्बन्ध डॉ. सक्सेना अर्धमागधी से नही मानते। उनके विचार में यह अपेक्षाकृत पालि के निकट है, किन्तु मेरे विचार में उस अपभ्रंश को, जिससे पूर्वी हिन्दी निकली है, अर्धमागधी कहना ही उचित है। पीछे महाराष्ट्री प्राकृत पर विचार करते समय कहाजा चुका है कि महाराष्ट्र की प्राकृत न होकर पूरे आर्य क्षेत्र में काव्य प्रचलित थी। यहाँ, जिस महाराष्ट्री अपभ्रंश का उल्लेख है वह अपभ्रंश है जो अपभ्रंश-काल में महाराष्ट्र में प्रयुक्त होती थी। इस अपभ्रंश का सम्बन्ध उस प्राकृत-काल में महाराष्ट्र की जनभाषा थी। यह आवश्यक नहीं कि वह प्राकृत, काव्यभाषा महाराष्ट्री प्राकृत से सभी बातों में समान रही हो, यद्यपि दोनों का नाम एक है। ऊपर शौरसेनी अपभ्रंश के उपरूप नागर अप्रभंश से राजस्थानी एवं गुजराती का सम्बन्ध माना गया है। यह शौरसेनी अपभ्रंश का दक्षिणी-पश्चिमी रूप था। अपभ्रंश की इस उपबोली को कभी-कभी सौराष्ट्री अपभ्रंश भी कहते है। पैशाची के स्थान पर कुछ लोग केकय का प्रयोग करते हैं। खस को दरद नाम से भी पुकारा गया है। कुछ लोगों ने पैशाची या केकय से ही पंजाबी एव लहँदा तीनों को सम्बद्ध किया है किन्तु कुछ 'व्राचड़' से सिन्धी का विकास मानते हैं।

भाषा और बोली में अन्तर

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, भाषा और बोली में शुद्ध भाषावैज्ञानिक स्तर पर भेद बतलाना कठिन है। इनमें अन्तर तात्विक न होकर व्यावहारिक है। इसे अनेक विद्वानों ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। यों सामान्यत: कुछ बातें कही जा सकती हैं :

क) जैसा कि ऊपर कहा गया है, भाषा का क्षेत्र अपेक्षाकृत बड़ा होता है तथा बोली का छोटा।

ख) एक भाषा की (या के अन्तर्गत) एक या अधिक बोलियाँ हो सकती हैं। इसके विपरीत भाषा बोली के अन्तर्गत नहीं आती, अर्थात् किसी बोली में एक या अधिक भाषाएँ नहीं हो सकतीं।

ग) बोली किसी भाषा से ही उत्पन्न होती है। इस प्रकार भाषा बोली में माँ-बेटी का सम्बन्ध है।

घ) **बोधगम्यता:** बोधगम्यता के आधार पर भी इस सम्बन्ध में कुछ उपादेय बातें कही जा सकती हैं। यदि दो व्यक्ति जिनका बोलना ध्वनि, रूप आदि की दृष्टि से एक नहीं हैं, किन्तु वे एक-दूसरे की बातें काफी समझ लेते हैं तो उनकी बोलियाँ किसी एक भाषा की बोलियाँ हैं, अर्थात् पारस्परिक बोधगम्यता किसी एक भाषा की कसौटी है। इसके विपरीत, विभिन्न भाषाओं के बीच या तो यह बोधगम्यता बिल्कुल नहीं (अंग्रेजी-हिन्दी) होती या कम (पंजाबी-हिन्दी) होती है। यों यह बोधगम्यता का आधार भी बहुत तात्त्विक नहीं है। उदाहरण के लिए हरियाणी-भाषी पंजाबी-भाषी को काफी समझ लेता है, किन्तु अवधी भाषी उस सीमा तक नहीं समझ पाता, यद्यपि हरियाणी एवं अवधी हिन्दी भाषा की बोलियाँ हैं और पंजाबी एक स्वतंत्र भाषा है।

ङ) **भाषा प्राय:** साहित्य, शिक्षा तथा शासन के कार्यों में भी व्यवहृत होती है. किन्तु बोली लोक-साहित्य और बोलचाल में ही। यद्यपि इसके अपवाद भी कम नहीं मिलते, विशेषत: साहित्य में। उदाहरण के लिए आधुनिक काल से पूर्व के हिन्दी का सारा साहित्य व्रज, अवधी, राजस्थानी, मैथिली आदि तथाकथित बोलियों में ही लिखा गया है।

च) भाषा का मानक रूप होता है. किन्तु बोली का नहीं।

छ) भाषा बोली की तुलना में अधिक प्रतिष्ठित होती है। अत: औपचारिक परिस्थितियों में प्राय: इसी का प्रयोग होता है।

ज) बोली बोलने वाले भी अपने क्षेत्र के लोगों से तो बोली का प्रयोग करते हैं, किन्तु अपने क्षेत्र के बाहर के लोगों से भाषा का प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार भाषा और बोली का अन्तर भाषा वैज्ञानिक न होकर समाजभाषा वैज्ञानिक है :-

भाषा की विशेषताएँ और प्रकृति

1. **भाषा पैतृक नहीं है**- कुछ लोगों का विश्वास है कि भाषा पैतृक सम्पत्ति है। पिता की भाषा पुत्र को पैत्रिक सम्पत्ति की भाँति अनायास ही प्राप्त होती है किन्तु यथार्थत: ऐसी बात नहीं है। यदि किसी भारतीय बच्चे को एक दो वर्ष की अवस्था में फ्रांस में पाला जाय तो वह हिन्दी या हिन्दुस्तानी आदि न समझ या बोल सकेगा और फ्रेंच ही उसकी मातृभाषा या अपनी भाषा होगी। यदि भाषा पैतृक सम्पत्ति होती तो भारतीय लड़का भारत से बाहर कहीं भी रहकर बिना प्रयास के हिन्दी समझ और बोल लेता। कुछ वर्ष पूर्व लखनऊ के अस्पताल में लगभग 12 वर्ष का एक लड़का लाया गया था जो मनुष्य की तरह कुछ भी नहीं बोल पाता था। खोज करने पर पता चला कि उसे कोई भेड़िया बहुत पहले उठा ले गया था और तब से उसी भेड़िये के साथ रहा। उसमें सभी आदतें भेड़िए सी थीं। उसके मुँह से नि:सृत ध्वनि भी भेड़िये से मिलती-जुलती थी। यदि भाषा पैतृक सम्पत्ति होती तो अवश्य मनुष्य की तरह बोलता, क्योंकि वह गूँगा नहीं था।
2. **भाषा अर्जित सम्पत्ति है:** ऊपर के दोनों उदाहरणों में हम देख चुके हैं कि अपने चारों ओर के समाज या वातावरण से मनुष्य भाषा सीखता है। भारत में उत्पन्न शिशु फ्रांस में रहकर इसीलिए फ्रेंच बोलने लगता है कि उसके चारों ओर फ्रेंच का वातावरण रहता है। इसी प्रकार भेड़िए का साथी लड़का एक और वातावरण के अभाव में मनुष्य की कोई भाषा नहीं सीख सका और दूसरी ओर भेड़िये के साथ रहने से वह उसी की ध्वनि का कुछ रूपों में अर्जन कर सका। अतएव यह स्पष्ट है कि भाषा आसपास के लोगों से अर्जित की जाती है और इसीलिए यह पैतृक न होकर अर्जित सम्पत्ति है।
3. **भाषा आद्यन्त सामाजिक वस्तु है:** ऊपर हम भाषा को अर्जित सम्पत्ति कह चुके हैं। प्रश्न यह है कि व्यक्ति इस सम्पत्ति का अर्जन कहाँ से करता है ? इसका एकमात्र उत्तर है समाज से। इतना ही नहीं, भाषा पूर्णत: आदि से अन्त तक समाज से सम्बन्धित है। उसका विकास समाज में ही होता है और इसीलिए यह एक सामाजिक संस्था है। यों, अकेले में, हम भाषा के सहारे सोचते अवश्य हैं, किन्तु वह भाषा इस सामान्य मुखर भाषा से भिन्न है जिसकी बात की जा रही है।
4. **भाषा परम्परा है, व्यक्ति उसका अर्जन कर सकता है, उसे उत्पन्न नहीं कर सकता :** भाषा परम्परा से चली आ रही है, व्यक्ति उसका अर्जन परम्परा और समाज से करता है। एक व्यक्ति उसमें परिवर्तन आदि तो कर सकता है किन्तु उसे उत्पन्न नहीं कर सकता (सांकेतिक या गुप्त आदि भाषाओं की बात यहाँ नहीं की जा रही है)। यदि कोई उसका जनक और जननी है तो समाज और परम्परा।
5. **भाषा का अर्जन अनुकरण द्वारा होता है:** ऊपर की बातों में भाषा के अर्जित एक समाज-सापेक्ष होने की बात हम कह चुके हैं। यहाँ 'अर्जन' की विधि के सम्बन्ध में इतना और कहना है कि भाषा को हम 'अनुकरण' द्वारा सीखते हैं। शिशु के समक्ष माँ 'दूध' कहती है। वह सुनता है और धीरे-धीरे उसे स्वयं कहने का प्रयास करता है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू के शब्दों में अनुकरण मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है। वह भाषा के सीखने में भी उसी गुण का उपयोग करता है।

6. **भाषा चिरपरिवर्तनशील है:** यथार्थत: भाषा केवल मौखिक भाषा को कहना चाहिए। उसका लिखित रूप तो उसी मौखिक पर आधारित है और उसी के पीछे-पीछे चलता है। यह मौखिक भाषा स्वयं अनुकरण पर आधारित है, अत: दो आदमियों की भाषा बिल्कुल एक-सी नहीं होती। अनुकरण-प्रिय प्राणी होने पर भी मनुष्य अनुकरण की कला में पूर्ण नहीं है। अनुकरण का 'पूर्ण' या ठीक न होना कई बातों पर आधारित है। ऊपर हम कह चुके हैं कि भाषा के दो आधार हैं: 1. शारीरिक (भौतिक) और 2 मानसिक। परिवर्तन में ये दोनों ही कार्य करते हैं। अनुकरणकर्ता की शारीरिक और मानसिक परिस्थति सर्वदा ठीक वैसी ही नहीं रहती जैसी कि उसकी रहती है, जिसका अनुकरण किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक अनुकरण में कुछ न कुछ विभिन्नता का आ जाना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि अनुकरण करना।
ये साधारण और छोटी-छोटी विभिन्नताएँ ही भाषा में परिवर्तन उपस्थित किया करती है। इसके अतिरिक्त प्रयोग से घिसने और बाहरी प्रभावों से भी परिवर्तन होता है। इस प्रकार भाषा प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है।

7. **भाषा का कोई अन्तिम स्वरूप नहीं है:** जो वस्तु बन-बनाकर पूर्ण हो जाती है। उसका अन्तिम स्वरूप होता है, पर भाषा के विषय में यह बात नहीं है। वह कभी पूर्ण नहीं हो सकती। अर्थात्, यह कभी नहीं कहा जा सकता कि अमुक भाषा का अमुक रूप अन्तिम है। यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि भाषा से हमारा अर्थ जीवित भाषा से है। मृत भाषा का अन्तिम रूप तो अवश्य ही अन्तिम होता है, पर जीवित भाषा में यह बात नहीं है। जैसा कि अन्य सभी के लिए सत्य है, भाषा के विषय में असत्य नहीं है कि परिवर्तन और अस्थैर्य ही उसके जीवन का द्योतक है। पूर्णता और स्थिरता मृत्यु है या मृत्यु ही पूर्णता या स्थिरता है।

8. **प्रत्येक भाषा की एक भौगोलिक सीमा होती है:** हर भाषा की अपनी एक भौगोलिक सीमा होती है। सीमा के भीतर ही उस भाषा का अपना वास्तविक क्षेत्र होता है। उस सीमा के बाहर उसका स्वरूप थोड़ा या अधिक परिवर्तित हो जाता है, या उस सीमा के बाहर किसी पूर्णत: भिन्न भाषा की सीमा शुरू हो जाती है।

9. **प्रत्येक भाषा की एक ऐतिहासिक सीमा होती है:** भौगोलिक सीमा की तरह भाषा की ऐतिहासिक सीमा भी होती है। अर्थात् प्रत्येक भाषा इतिहास के किसी निश्चित काल से प्रारम्भ होकर इतिहास के निश्चित काल तक व्यवहृत होती है तथा वह भाषा अपने काल की परिवर्ती या पूर्ववर्ती भाषा से भिन्न होती है। उदाहरण के लिए, मोटे रूप से प्राकृत भाषा का काल पहली ईसवी से 500 ई. तक माना जाता है। इस कड़ी में इसके पूर्व पालि भाषा थी तथा इसके बाद अपभ्रंश और ये दोनों भाषाएँ (पालि तथा अपभ्रंश) प्राकृत से भिन्न है।

10. **प्रत्येक भाषा की अपनी संरचना अलग होती है:** दूसरे शब्दों में किन्हीं दो भाषाओं का ढाँचा पूर्णतया एक नहीं होता है। उनमें ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य या अर्थ आदि में किसी भी एक स्तर पर या एक से अधिक स्तरों पर संरचना या ढाँचे में अन्तर अवश्य होता है। यही अन्तर उनकी अलग या स्वतन्त्र सत्ता का कारण बनता है।

11. **भाषा की धारा स्वभावत: कठिनता से सरलता की ओर ले जाती है :** सभी भाषाओं के इतिहास से भाषा के कठिनता से सरलता की ओर जाने की बात स्पष्ट है। यो तो इसके लिए सीधा तर्क हमारे पास यह है कि मनुष्य का यह जन्मजात स्वभाव है कि कम से कम प्रयास में अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहता है। इसी 'कम प्रयास' के प्रयास में वह 'सत्येन्द्र' को 'सतेन्द्र' और फिर 'सतेन' कहने लगता है और एक अवस्था ऐसी आ जाती है जब वह केवल 'सति' कहकर ही काम चलाना चाहता है। यह उदाहरण 'èofu' से सम्बन्धित है किन्तु व्याकरण के रूपों के बारे में भी यही बात है। पुरानी भाषाओं (ग्रीक, संस्कृत आदि) में रूपों और अपवादों का बाहुल्य है किन्तु आधुनिक भाषाओं में रूप कम हो गये हैं, साथ ही नियम बढ़ गये हैं, अपवाद कम हो गये हैं और आगे भी कम होते जा रहे हैं। भाषा पानी की धारा है जो स्वभावत: ऊँचाई (कठिनाई) के नीचे (सरलता) की ओर जाती है।

12. **भाषा स्थूलता से सूक्ष्मता और अप्रौढ़ता से प्रौढ़ता की ओर जाती है:** भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते समय कहा जा चुका है कि आरम्भ में भाषा स्थूल थी, सूक्ष्म भावों के लिए या विचारों को गहराई से व्यक्त करने के लिए अपेक्षित सूक्ष्मता उसमें नहीं थी, फिर धीरे-धीरे उसने इसकी प्राप्ति की। इसी प्रकार दिन-पर-दिन भाषा में विकास होता जा रहा है और वह अप्रौढ़ से प्रौढ़ और प्रौढ से प्रौढ़तर होती जा रही है। यह एक सामान्य सिद्धान्त तो है किन्तु प्रयोग पर भी निर्भर करता है। आज की हिन्दी की तुलना में कल की हिन्दी अधिक सूक्ष्म और प्रौढ़ होगी किन्तु संस्कृत की तुलना में आज की हिन्दी को सूक्ष्म और प्रौढ़ नहीं कह सकते क्योंकि उन अनेक क्षेत्रों में प्रयुक्त होकर अभी तक हिन्दी विकसित नहीं हुई, जिनमें संस्कृत हजारों वर्ष पूर्व हो चुकी है।

13. **भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाती है:** पहले लोगों का विचार था कि भाषा वियोग (व्यवहिति या विश्लेष) से संयोग (संहिति या संश्लेष) की ओर जाती है। कुछ लोगों का यह भी मत रहा है कि बारी-बारी से भाषाओं

की जिन्दगी दोनों स्थितियों से गुजरती रहती है किन्तु, अब ये मत प्रायः भ्रामक सिद्ध हो चुके हैं। नवीन मत के अनुसार भाषा संयोग से वियोग की ओर जाती है। संयोग का अर्थ है मिली होने की स्थिति, जैसे रामः गच्छति तथा वियोग का अर्थ है अलग हुई स्थिति, जैसे राम जाता है। संस्कृत में केवल 'गच्छति' (संयुक्त रूप) से काम चल जाता था, पर हिन्दी में 'जाता है' (वियुक्त रूप) का प्रयोग करना पड़ता है।

14. **हर भाषा का स्पष्टतः या अस्पष्टतः एक मानक रूप होता है:** पीछे 'भाषा के अभिलक्षण' तथा 'भाषा की परिभाषा' में कुछ अल्प विशेषताओं की ओर भी संकेत किया गया है।

स्मरणीय बिंदु-

- अपभ्रंश प्राकृत से विकसित हुआ।
- आधुनिक भारतीय भाषाओं की जड़ें अपभ्रंश में हैं।
- हिंदी का संबंध शौरसेनी अपभ्रंश से है।
- बंगाली एवं बिहारी भाषाओं का संबंध मागधी से है।
- भाषा एवं बोली में मानकीकरण का अंतर होता है।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
अपभ्रंश	प्राकृत से विकसित भाषा रूप
शौरसेनी	एक प्रमुख अपभ्रंश
मागधी	पूर्वी अपभ्रंश
महाराष्ट्री	प्राचीन भाषा रूप
आधुनिक भाषा	वर्तमान में प्रचलित भाषा

5 अंक के प्रश्न-

1. अपभ्रंश क्या है?
2. शौरसेनी अपभ्रंश पर टिप्पणी लिखिए।
3. आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति कैसे हुई?
4. भाषा एवं बोली में अंतर स्पष्ट कीजिए।
5. अपभ्रंश की बोलियों का महत्त्व लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. अपभ्रंश की बोलियों एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं के संबंध का वर्णन कीजिए।
2. शौरसेनी, मागधी एवं महाराष्ट्री अपभ्रंश का विवेचन कीजिए।
3. आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास क्रम का विस्तार से वर्णन कीजिए।
4. अपभ्रंश भाषाओं का भारतीय भाषाओं पर प्रभाव स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. हिंदी का संबंध किस अपभ्रंश से माना जाता है?

(क) शौरसेनी

(ख) मागधी

(ग) महाराष्ट्री

(घ) पैशाची

2. बंगाली भाषा का संबंध किससे माना जाता है?

(क) शौरसेनी

(ख) मागधी

(ग) पैशाची
(घ) महाराष्ट्री
3. अपभ्रंश किसका विकसित रूप है?
(क) संस्कृत
(ख) प्राकृत
(ग) हिंदी
(घ) अंग्रेजी

4. आधुनिक भारतीय भाषाएँ किससे विकसित हुई हैं?
(क) अपभ्रंश
(ख) अंग्रेजी
(ग) फारसी
(घ) अरबी
5. 'Dialect' एवं 'Language' में मुख्य अंतर किसका होता है?
(क) क्षेत्र
(ख) प्रयोग
(ग) मानक रूप
(घ) उपरोक्त सभी।

खण्ड-3 विश्व की भाषाएँ एवं उनका वर्गीकरण

इकाई- 3.1 भाषाई वर्गीकरण का आधार

उद्देश्य-

1. भाषाई वर्गीकरण की अवधारणा को समझना।
2. विश्व की भाषाओं के वर्गीकरण का अध्ययन करना।
3. भाषा परिवारों की विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त करना।

भाषाई वर्गीकरण का आधार- संसार में अनेकानेक भाषाएँ तथा बोलियों हैं और लोकोक्तियां हैं अर्थात् पानी का स्वाद हर चौथे कोस पर कुछ-न-कुछ बदल जाता है और भाषा आठवें कोस पर कुछ-न-कुछ परिवर्तित हो जाती है। सोचने की बात है कि जब हर आठ कोस पर भाषा में कुछ-न-कुछ परिवर्तन दृष्टिगत होने लगता है तो इतने लंबे-चौड़े संसार में कितनी अधिक भाषाएँ और बोलियों होंगी। गणना करने वालों ने बतलाया है कि इनकी संख्या 2796 है।

संसार की इन 2796 भाषाओं और बोलियों में कुछ अत्यन्त प्रधान भाषाओं और बोलियों के विषय में हम आगे विचार करेंगे। यहाँ पहले उनको वर्गीकृत करने की समस्या पर विचार करना है।

संसार की भाषाओं का वर्गीकरण कई आधारों पर किया जा सकता है, जिनमें प्रधान निम्नांकित है

1. **महाद्वीप के आधार पर** जैसे एशियाई भाषाएँ, यूरोपीय भाषाएँ तथा अफ्रीकी भाषाएँ आदि।
2. **देश के आधार पर** जैसे चीनी भाषाएँ तथा भारतीय भाषाएँ आदि।
3. **धर्म के आधार पर** जैसे मुसलमानी भाषाएँ, हिन्दू भाषाएँ तथा ईसाई भाषाएँ आदि।
4. **काल के आधार पर** जैसे प्रागैतिहासिक भाषाएँ, प्राचीन भाषाएँ, मध्ययुगीन भाषाएँ तथा आधुनिक भाषाएँ आदि।
5. **भाषाओं की आकृति के आधार पर** जैसे अयोगात्मक तथा योगात्मक भाषाएँ।
6. **परिवार के आधार पर** जैसे भारोपीय परिवार की भाषाएँ, एकाक्षर परिवार की भाषाएँ, द्रविड़ परिवार की भाषाएँ आदि।
7. **प्रभाव** के आधार पर जैसे संस्कृत-प्रभावित भाषाएँ, तथा फारसी-प्रभावित भाषाएँ तीन आधारों पर किये गये वर्गीकरणों का ही है।

वैश्विक भाषा खण्ड- विश्व के भाषा-खंड चार है-

1. **अफ्रीका-खंड** -इसमें मुख्यत: चार भाषा-परिवार हैं.

i- बुशमैन,
ii- बांटू,
iii- सूडान,
iv- हैमेटिक सेमेटिक।

कुछ विद्वान सेमेटिक और हैमेटिक को अलग-अलग परिवार मानते हैं।

2. **यूरेशिया-खंड** -इसमें मुख्यत: नौ भाषा-परिवार हैं।.

i- हैमेटिक सेमेटिक,
ii- काकेशियन,
iii- यूराल-अल्टाइक,
iv- चीनी.
v- द्रविड़
vi- आस्ट्रो-एशियाटिक,
vii- जापानी-कोरियाई,
viii- मलय-पालिनेशियन,
ix- भारोपीय।

कुछ भाषाएँ अनिश्चित परिवार की भी है।

3. **प्रशांतमहासागरीय**- खंड -इसमें मुख्यत: मलय-पॉलिनेशियन परिवार हैं। कुछ लोग इसे कई परिवारों का समूह मानते हैं।
4. **अमरीका-खंड** -अमरीकी परिवार। कुछ लोग इसमें लगभग सौ परिवार

इनमें कुछ परिवार तो एकाधिक भाषा-खंडों में है तथा कुछ को काफी विद्वान एक परिवार में रखने के पक्ष में हैं। इस प्रकार विश्व में मुख्यत: निम्नांकित भाषा परिवार हैं-

i- भारोपीय,
ii- द्रविड,
iii- चीनी,
iv- सेमेटिक हैमेटिक,
v- यूराल-अल्टाइक,
vi- काकेशियन,
vii- जापानी-कोरियाई,
viii- मलय-पालिनेशियन,
ix- आस्ट्रो-एशियाटिक,
x- बुशमैन,
xi- बांटू,
xii- सूडान,
xiii- अमरीकी।
xiv- कुछ अनिश्चित भाषाएँ भी हैं जिनके बारे में सनिश्चय कुछ कहना कठिन है। संभव है वे अपने आप में एक-एक परिवार हों। यहाँ परिवार क्रमश: लिये जा रहे हैं।

1. द्रविड़ परिवार

इस परिवार का क्षेत्र दक्षिणी भारत, उत्तरी लंका, लक्षद्वीप, बलूचिस्तान, मध्य प्रदेश, बिहार तथा उड़ीसा है। मुख्य भाषाएँ तथा क्षेत्र-तमिल (तमिलनाडु), मलयालम (यह प्राचीन तमिल की ही एक शाखा है, केरल), तेलुगु (आंध्र प्रदेश), कन्नड़ (कर्नाटक), गोंड (बुंदेलखण्ड तथा आसपास), ओरॉव (बिहार, उड़ीसा, मध्य-प्रदेश), ब्राहुई (बलूचिस्तान)। कुछ गौण भाषाएँ-कुई (उड़ीसा), माल्टो (बंगाल), तुलु (कुर्ग-बंबई की सीमा), तथा कोलामी (पश्चिमी बरार) आदि। इस परिवार से भारत के अन्य प. रवारों को जोड़ने का बहुत से विद्वानों ने निष्फल प्रयास किया है। यह परिवार वाक्य तथा स्वर-अनुरूपता की दृष्टि से यूराल-अल्टाई से मिलता-जुलता है। इस आधार पर इसे कुछ लोग उससे जोड़ना चाहते थे। ओ श्रेडर ने इस परिवार को फिनो-उमिक वर्ग से मिलती जुलती दिखाने का यत्न किया था। पी. डब्लू श्मिट ने इसका सम्बन्ध आस्ट्रेलिया की भाषाओं से जोड़ना चाहा था। उनका यह विचार था कि पहले मैडागास्कर, आस्ट्रेलिया और भारत, छोटे-छाटे द्वीपों के सहारे सम्बन्धित थे। इधर मोहनजोदड़ो की खुदाई के बाद उसकी संस्कृति से इसका सम्बन्ध जोडने के सफल प्रयत्न हुए हैं।

2. चीनी अथवा एकाक्षरी परिवार

इस परिवार की मुख्य भाषा चीनी है। उसी के आधार पर इसे 'चीनी परिवार' कहा जाता है। साथ ही इस परिवार के अधिकांश एकाक्षरी होते हैं, अत: इसे एक अथवा 'एकाक्षरी परिवार' भी कहते हैं। **मुख्य भाषाएँ तथा क्षेत्र**-चीनी (चीन; चीनी की मंदाग्नि, कैटनी, फुकिनी आदि मुख्यत: 6 बोलियाँ) हैं। (मदाग्नि ही आज की राष्ट्रमा तथा साहित्यिक भाषा है।), तिब्बती अथवा भोट (तिब्बत), बर्मी (बर्मा), स्यामी (इसे घर भी कहते हैं, स्याम), मैते (इसे मेईथेई भी कहते हैं, मणिपुर)। इस परिवार की गार बोड़ो, नागा नेवारी आदि भाषाएँ भारतीय सीमा के आस-पास बोली जाती हैं।

3. सेमेटिक हैमेटिक (सामी-हामी) परिवार

कुछ लोग सेमेटिक तथा हैमेटिक को दो परिवार तथा कुछ लोग इन्हें एक ही परिवार की दो शाखाएँ मानते रहे हैं। वस्तुत: जैसा कि हम आगे देखेंगे दोनों में कुछ समानताएँ होती हैं, जिनके आधार पर यह अनुमान लगता है कि प्राचीन काल में कभी-कभी ये दोनो परिवार की दो शाखाएँ रही होंगी।

यह परिवार उत्तरी अफ्रीका तथा पास के पश्चिमी एशिया में फैला है। इंजील की पौराणिक कथा के अनुसार हजरत नूह के पुत्र सेम और हेम इन क्षेत्रों की भाषाओं के आदि पुरुष कहे जाते हैं। अत: उन्हीं के नाम पर इन दोनों शाखाओं के नाम पड़े हैं। क्षेत्र-सेमेटिक मिस, ईराक, अरब, सीरिया, फिलिस्तीन, इथियोपिया, मोरक्को, अलजीरिया। हैमेटिक लीविया, सोमालीलैंड, इथियोपिया। भाषाएँ-सेमेटिक हिब्रु, अरबी, अकादियन (इसे असीरियन या बेबिलोनियन भी कहते हैं), सुमेरियन। हैमेटिक-प्राचीन मिस्री काप्टिक, सोमाली, गल्ला, वेजा, नामा, फुला। इन सभी भाषाओं में अरबी भाषा सभी दृष्टियों से बहुत सम्पन्न रही है तथा उसने शब्दों के क्षेत्र में यूरोप और एशिया की भाषाओं (अंग्रेजी, स्पैनिश, फ्रेंच, हिंदी, मराठी, गुजराती आदि) को प्रभावित किया

है। फारसी, तुर्की आदि को तो व्याकरणिक दृष्टि से प्रभावित है।

सेमेटिक और हैमेटिक के मिलते-जुलते लक्षण 1. दोनों ही श्लिष्ट-योगात्मक और अन्तर्मुखी है। इनमें पूर्व, मध्य और पर विभक्तियों लगती हैं। किन्तु अधिकतर सम्बन्धतत्व भीतर होने वाले स्वर-परिवर्तन से ही सूचित हो जाता है। जैसे सेमेटिक की अरबी भाषा में क्-त्-ल् से कितल, कित्ल, कुतिल, यकतुलु, कातिल, तथा कतल आदि अनेक शब्द बनते हैं, जिसमें साधारण स्वर-परिवर्तन से ही अर्थ-परिवर्तन हो गया है। 2. दोनों ही परिवारों में अफ्रीका की कुछ भाषाओं की भाँति क्रिया में काल का गौण स्थान है, और पूर्णता और अपूर्णता का प्रमुख। 3. बहुवचन बनाने के लिए दोनों ही कुलों में प्रत्यय लगाते हैं और दोनों के प्रत्ययों का मूल भी लगभग एक ही है। 4. 'त' ध्वनि दोनों कुलों में स्त्रीलिंग का चिह्न है। दोनों ही में लिंगभेद नर-मादा पर अर्थात प्राकृतिक लिंग पर आधारित न होकर कुछ अन्य बातों पर आधारित है। 5. दोनों परिवारों के सर्वनामों का मूल भी प्रायः एक ही है।

4. यूराल-अल्टाइक परिवार

इसका क्षेत्र यूराल और अल्टाई पर्वत के बीच तुर्की, सोवियत संघ, हंगरी, फिनलैंड आदि में फैला है। क्षेत्रफल में यह भारोपीय के बाद सबसे बड़ा परिवार है। कुछ लोग 'यूराल' और 'अल्टाई' को अलग-अलग परिवार मानते हैं।

भाषाएँः यूराली (फिनो-उग्रिक)-फिनिश (फिनलैंड) इस्तीनियन (इस्तोनिया), हंगेरियन (हगरी)। अल्टाई दुर्की, ऐजरब. जानी (ऐजरबैजान), उजबेक (उजबेकिस्तान), मंगोलियन (मगोलिया), किरगिज (किरगिजिया), कजाक (कजाकिस्तान)।

5. काकेशियन परिवार

इस परिवार का क्षेत्र कैस्पियन सागर और कृष्ण सागर के बीच में काकेशस पर्वत का पहाड़ी क्षेत्र और आसपास का भूभाग है। प्रमुख भाषाएँ- उत्तरी-चेचेन, कबार्दियन, अवर, अवरवासियन। दक्षिणी-जार्जियन, मिमेलियन। पहाड़ी प्रदेश होने के कारण इस परिवार में अनेकानेक भाषाएँ और बोलियों विकसित हो गई हैं। विशेषताएँ-**1.** ऊपर से देखने में भाषाएँ श्लिष्ट लगती हैं किन्तु वस्तुतः हैं अश्लिष्ट-योगात्मक। इनमें प्रत्यय और उपसर्ग दोनों लगाए जाते हैं। **2.** इसकी उत्तरी भाषाओं में स्वरों की कमी है। **3.** कारकों की संख्या काफी है। अवर में तीस कारक है। **4.** कुछ (जैसे चेचेन) में छः लिंग हैं। **5.** सर्वनाम और क्रियारूप एक में जुड़ जाते हैं। 6. इनमें क्रियारूप बड़े जटिल होते हैं। मूलधातु का उनमें प्रायः बिल्कुल नहीं पता चलता।

6. जापानी-कोरियाई परिवार

यह परिवार जापान, कोरिया तथा आसपास के कुछ द्वीपों आदि में फैला है। इसकी मुख्य भाषाएँ जापानी तथा कोरियाई है। पहले ये दोनो अनिश्चित परिवार की भाषाएँ मानी जाती थीं तथा इनका आपस में भी कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता था। जब प्रायः यह माना जाने लगा है कि ये दोनों एक ही परिवार की है। कोरियाई लिपि ब्राह्मी लिपि से विकसित है। चीनी के आधार पर जापानी की अक्षर-माला बनाने में भारतीयों का हाथ रहा है और उसे 'अइउएओ' कहते भी हैं।

7. मलय-पॉलिनेशियन परिवार

यह परिवार पश्चिम में मैडागास्कर से लेकर पूरब में ईस्टर द्वीप तक तथा उत्तर में फारसोमा से लेकर दक्षिण में न्यूजीलैण्ड तक जावा, सुमात्रा, वोर्नियो, बाली, पिलीजीन, न्यूजीलैण्ड, हवाई, मलाया, फारसोमा आदि में फैला हुआ है। मुख्य भाषाएँ-पश्चिमी मलय, इंडोनिशियन, जावानीज, बालीनीज। पूर्वी-हवाइयन, समोअन, माओरी, फीजियन, न्यूजीलैंडी।

8. आस्ट्रो एशियाटिक परिवार

इसे आस्ट्रिक अथवा आग्नेय परिवार भी कहा गया है। पहले इस परिवार का क्षेत्र विस्तृत था किन्तु अब स्याम, ब्रह्मा, नीकोबार, कम्बोडिया, बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु आदि मे ही यह सीमित हो गया है। इसके मुख्य वर्ग है :

क) पश्चिमी-इन भाषाओं को मुंडा या कोल कहते हैं। इस वर्ग की प्रसिद्ध भाषाएँ संथाली (पूर्वी बिहार तथा पश्चिमी बंगाल), मुंडारी (पश्चिमी बंगाल, उडीसा, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु) तथा भूमिज आदि हैं। बीस अथवा बीसी के आधार पर गिनती, कोड़ी शब्द का प्रयोग, कुछ बिहारी बोलियों में क्रियारूपो की जटिलता, पूर्वी भारत की भाषाओं में व्याकरणिक लिंग की अपेक्षाकृत कमी आदि बातें मुंडा वर्ग की भाषाओं का प्रभाव मानी जाती हैं।

ख) पूर्वी-ब्रह्मा और स्याम की मॉन और खीर तथा अन्नाम की अन्नामी आदि।

विशेषताएँ-

1. भाषाएँ प्रायः अश्लिष्ट योगात्मक हैं।
2. इनकी महाप्राण ध्वनियों हमारी महाप्राण ध्वनियों से अधिक प्राणयुक्त हैं।
3. क्लिक ध्वनियों की तरह इनके यहाँ एक विशेष प्रकार की ध्वनियाँ होती हैं जिन्हें अर्थ-व्यंजन की संज्ञा दी जा सकती है।

4. मध्य प्रत्यय का प्रयोग होता है मंझी मुखिया, गपंझी मुखिया लोग।
5. इनमें द्विवचन भी है।
6. लिंग दो हैं, जिनकी अभिव्यक्ति प्रायः लिंग-द्योतक शब्दों को जोड़कर होती है: आडिया कूल = बाघ, एंगा कुल वाधिन।
7. एक ही शब्द प्रसंगानुसार संज्ञा, क्रिया, विशेषण का कार्य कर लेता है। अर्थात् शब्द भेद का निर्णय प्रकरण से होता है।

9. बुशमैन परिवार

इसका क्षेत्र दक्षिण अफ्रीका में आरिज नदी से नगामी झील तक है। यह मुख्यतः बुशमैन जाति के लोग रहते हैं. उन्हीं के आधार पर यह नाम पड़ा है। इस परिवार को कुछ लोग परिवार न कहकर परिवार-वर्ग कहते हैं। इसकी मुख्य भाषा ऐकवे, औकवे, होंतेतोत आदि हैं। इस परिवार पर बांटू, सूडान तथा हैमेटिक भाषा का प्रभाव पड़ा है।

10. बांटू परिवार

लगभग 150 भाषाओं के इस परिवार की प्रायः सभी भाषाओं में 'आदमी' के लिए एक ही शब्द 'बांटू' कुछ उच्चारण भेदों के साथ प्रचलित है। इसी आधार पर इस परिवार को यह नाम दिया गया है। यह परिवार मध्य और दक्षिणी अफ्रीका तथा जंजीबार द्वीप आदि में फैला है। इसकी मुख्य भाषाएँ काफिर, स्वाहिली, जुलु, कांगो, सेसुतो, रुआन्दा, उम्बुन्दु आदि है।

11. सूडान परिवार

लगभग सवा चार सौ भाषाओं के इस परिवार को कुछ लोग सात परिवारों का वर्ग मानते हैं। यह परिवार अफ्रीका में भूमध्य रेखा के उत्तर हैमेटिक भाषा-क्षेत्र के दक्षिण-पूर्व से पश्चिम तक एक पतले भाग में फैला हुआ है। इसकी मुख्य भाषाएँ हौसा, सोहगड़, इवे, बांटू, न्यूबियन, यरुबा, अशानी आदि हैं। अनेक बातों में यह परिवार चीनी तथा बातू परिवार से मिलता-जुलता है।

12. अमरीकी परिवार

अमरीका में यों तो मुख्यतः अंग्रेजी, स्पैनिश, पुर्तगाली, फ्रांसिसी, जर्मन तथा इटैलियन आदि भाषाएँ बोली जाती है किन्तु इनके अतिरिक्त वहाँ के आदिवासियों द्वारा व्यवहत लगभग एक हजार भाषाएँ ऐसी हैं जो मूलत वहीं की हैं और जिन्हें अमरीकी भाषाएँ कहते हैं। यहाँ इन्हें शिथिल रूप में एक परिवार कहा जा रहा है। वास्तविकता यह है कि इनका अभी ठीक ढंग से तुलनात्मक अध्ययन नहीं हो पाया है. और इसीलिए इनका ठीक पारिवारिक वर्गीकरण सम्भव नहीं हो सका है। कुछ लोगों का अनुमान है कि यहाँ लगभग एक हजार परिवार की भाषाएँ बोली जाती है। ऐसी स्थिति में इन्हें 'अमरीकी वर्ग' कहा जा सकता है। ये भाषाएँ उत्तरी अमरीका, मध्य अमरीका, दक्षिणी अमरीका, ग्रीनलैण्ड तथा आस-पास के द्वीपों में बोली जाती है। इनकी मुख्य भाषाएँ एस्किमो (ग्रीनलैण्ड), अथबस्कन (कनाडा तथा संयुक्त राज्य), नहुअत्ल (मैक्सिको), करीब, चेरोकी (पनामा के पूरब), गुअनीं, क्वेचुआ, अरबक, चेरोकी, नूत्का आदि है। विश्लेषण के अभाव में इनकी सामान्य विशेषताएँ देना सम्भव नहीं है। प्रायः ये सभी भाषाएँ प्रश्लिष्ट योगात्मक है. अर्थात शब्दों के अंश मिलकर वाक्य बन जाते हैं। उदाहरण के लिए चेरोकी भाषा का वाक्य 'नाधोलिनिन' लिया जा सकता है, जिनका उल्लेख पीछे पूर्ण प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में किया जा चुका है। कुछ स्थानों पर ऐसा है कि स्त्रियों एक भाषा बोलती हैं और पुरुष दूसरी। इसका ऐतिहासिक कारण है। एक बार ऐसा हुआ था कि 'अबरक' भाषाभाषी लोगों पर 'करीब' भाषाभाषी लोगों की विजय हुई। उन लोगों ने पुरुषों को तो मार डाला और स्त्रियों से विवाह कर लिये। फल यह हुआ कि स्त्रियों की पीढ़ी अब तक 'अबरक' भाषा बोलती है और पुरुष 'करीब' भाषा का प्रयोग करते हैं। स्त्री-पुरुष दोनों ही एक दूसरे को समझ लेते हैं, पर प्रयोग एक का करते हैं। दोनों भाषाओं का एक-दूसरे पर काफी प्रभाव पड़ा है, जो स्वाभाविक ही है।

13. भारोपीय परिवार

भारत से लेकर प्रायः पूरे यूरोप तक बोले जाने के कारण इस परिवार को भारोपीय परिवार कहते हैं। क्षेत्र-यह परिवार एशिया में भारत, बांगलादेश, श्रीलंका, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान, यूरोप में रूस, रूमानिया, फ्रांस, पुर्तगाल, स्पेन, इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि तथा अमेरिका, कनाडा, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के अनेक भागों में बोला जाता है। मुख्य भाषाएँ प्राचीन संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन फ्रांसिसी, अवेस्ता, ग्रीक, लैटिन आदि। आधुनिक अंग्रेजी, रूसी, जर्मन, स्पेनी, फ्रांसिसी, पुर्तगाली, इतालवी, फारसी, हिंदी, बंगला, गुजराती, मराठी आदि महत्व-इस परिवार का महत्व कई कारणों से है-

1. यह विश्व के बहुत बड़े भाग में बोला जाता है, अर्थात् भौगोलिक क्षेत्रफल की दृष्टि से यह सबसे बड़ा परिवार है।
2. इसमें अन्य परिवारों की तुलना में भाषाओं और बोलियां की संख्या बहुत अधिक है।

स्मरणीय बिंदु-

- भाषाओं का वर्गीकरण अनेक आधारों पर किया जाता है।
- समान मूल वाली भाषाएँ भाषा परिवार बनाती हैं।

- भारोपीय भाषा परिवार विश्व का सबसे बड़ा परिवार है।
- भाषा वर्गीकरण से भाषाओं का इतिहास ज्ञात होता है।
- भाषाई अध्ययन में संरचना एवं उत्पत्ति महत्वपूर्ण हैं।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
वर्गीकरण	समूहों में विभाजन
भाषा परिवार	समान मूल वाली भाषाओं का समूह
भारोपीय	Indo-European
संरचना	बनावट
उत्पत्ति	मूल

5 अंक के प्रश्न-

1. भाषाई वर्गीकरण क्या है?
2. भाषा परिवार से क्या अभिप्राय है?
3. विश्व की प्रमुख भाषा परिवारों के नाम लिखिए।
4. भारोपीय भाषा परिवार का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
5. भाषाओं के वर्गीकरण का आधार स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. भाषाई वर्गीकरण के आधारों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. विश्व की प्रमुख भाषा परिवारों का विवेचन कीजिए।
3. भाषा वर्गीकरण में भौगोलिक एवं ऐतिहासिक आधारों का विश्लेषण कीजिए।
4. भारोपीय भाषा परिवार की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. भाषाओं का वर्गीकरण किस आधार पर किया जाता है?

(क) उत्पत्ति
(ख) संरचना
(ग) भौगोलिक स्थिति
(घ) उपरोक्त सभी

2. विश्व का सबसे बड़ा भाषा परिवार कौन-सा है?

(क) द्रविड़
(ख) भारोपीय
(ग) चीनी-तिब्बती
(घ) सेमेटिक

3. समान मूल वाली भाषाओं के समूह को कहा जाता हैख़

(क) भाषा वर्ग
(ख) भाषा परिवार
(ग) बोली
(घ) उपबोली

4. भाषा वर्गीकरण का संबंध किससे है?

(क) इतिहास
(ख) संस्कृति
(ग) समाज
(घ) उपरोक्त सभी

5. भाषाई वर्गीकरण का मुख्य उद्देश्य है?

(क) भाषाओं का अध्ययन
(ख) भाषाओं की समानता ज्ञात करना
(ग) विकास क्रम समझना
(घ) उपरोक्त सभी।

इकाई-3.2 भारोपीय भाषा के अर्न्तगत भाषाएँ

उद्देश्य-

1. भारोपीय भाषा परिवार का अध्ययन करना।
2. भारोपीय भाषाओं के क्षेत्र एवं शाखाओं को समझना।
3. प्रमुख भारोपीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना।

भारोपीय भाषा का क्षेत्र - भारत से लेकर प्रायः पूरे यूरोप तक बोले जाने के कारण इस परिवार को 'भारोपीय परिवार' कहते हैं। क्षेत्र- यह परिवार एशिया में भारत, बांगलादेश, श्रीलंका, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान, यूरोप में रुस, रुमानिया, फ्रांस, पुर्तगाल, स्पेन, इंगलैण्ड, जर्मनी आदि तथा अमेरिका, कनाडा, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के अनेक भागों में बोला जाता है।

मुख्य भाषाएँः प्राचीन-संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन फ्रांसिसी, अवेस्ता, ग्रीक, लैटिन आदि।

आधुनिक- अंग्रेजी, रुसी, जर्मन, स्पेनी, फ्रांसिसी, पुर्तगाली, इतालवी, फारसी, हिंदी, बंगला, गुजराती, मराठी आदि।

महत्व- इस परिवार का महत्व कई कारणों से है-

1. यह विश्व के बहुत बडे भाग में बोली जाती है, अर्थात् भौगोलिक क्षेत्रफल की दृष्टि से यह सबसे बडा परिवार है।
2. इसमें अन्य परिवारों की तुलना में भाषाओं और बोलियों की संख्या बहुत अधिक है।
3. इस परिवार की भाषाओं को बोलने वालों की संख्या विश्व में अन्य परिवारों की तुलना में बहुत अधिक है।
4. साहित्य-रचना के क्षेत्र में भी इस परिवार की भाषाएँ अग्रणी है।
5. इस परिवार की भाषाओं और बोलियों का ही अध्ययन-विश्लेषण विश्व में सर्वाधिक हुआ है।
6. भाषा विज्ञान के विकास में इस परिवार की भाषाओं के विद्वानों (पाणिनी, भर्तृहरि, ससूर, ब्लूफील्ड, चॉम्स्की आदि) ने ही सर्वाधिक कार्य किया है।

भारोपीय भाषा के अर्न्तगत भाषाएँ- भारोपीय भाषाभाषी धीरे-धीरे अलग हुए और उनकी भाषाओं का अलग-अलग विकास हुआ जिससे निकली आज सैकडों भाषाएँ और कई हजार बोलियाँ है।

भारोपीय भाषा की विशेषताएँ

1. अपने मूल रुप की दृष्टि से यह परिवार श्लिष्ट-योगात्मक कहा जा सकता है।
2. इसमें योग प्रत्यय का प्रकृति से या सम्बन्धतत्व का अर्थतत्व से प्रायः सेमेटिक या हैमेटिक परिवार-सा अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी होता है।
3. प्रत्यय जोड़े जाते हैं, उनके स्वतन्त्र अर्थ का पता नहीं है।

भारोपीय परिवार का विभाजन- यह परिवार मुख्यतः दो शाखाओं में विभक्त हैः केतुम (यह शब्द लैटिन का है और इसका अर्थ है 'सौ'), सतम (यह शब्द अवेस्ता का है और इसका अर्थ है 'सौ')। आगे इन दोनों के अंतर्गत निम्नांकित भाषाएँ हैंः

केंतुम- केल्टिक (आयरिश, स्काच), जर्मनिक (जर्मन, अंग्रेजी, स्वेडिश), लैटिन (इतालवी, स्पेनी, फ्रांसिसी, पुर्तगाली आदि) ग्रीक।

सतम्- स्लाव (रुसी बल्गेरियन, पोलिश), ईरान (फारसी, ताजिक), भारतीय (संस्कृत, पालि, प्राकृत, हिंदी, मराठी, बँगला, गुजराती, असमी आदि)।

भारोपीय परिवार की भाषाओं को ध्वनि के आधार पर 'केंतुम' और 'सतम्' दो वर्गों में रखा गया है। कुछ लोगों का विचार है कि मूल भारोपीय की आरंभ में ये दो बोलियाँ या विभाषाएँ थीं। किन्तु, यह मान्यता संदिग्ध है। पहले पहल अस्कोली ने 1870 ई. में विद्वानों के समक्ष यह विचार रखा कि भारोपीय मूल भाषा कंठस्थनीय ध्वनियाँ (ऊपर दी गई ध्वनियों में प्रथम तालव्य कवर्ग) कुछ शाखाओं में ज्यों की त्यों रह गई, पर कुछ में वे संघर्षो (स, श, ज आदि) या स्पर्श संघर्षो (च, ज आदि) हो गई। इसी आधार पर वान ब्रैडले ने इस परिवार के 'सतम्' और 'कतुम्' दो वर्ग बनाये ।इन दोनो शब्दों का अर्थ 100 है। यह नाम इसलिए रखे गये कि 'सौ' के लिए पाये जाने वाले शब्दों मे यह भेद स्पष्ट है। 'सतम्' अवेस्ता का शब्द है और 'केतुम्' लैटिन का। स्पष्टता के लिए दोनों वर्गो की भाषाओं में 'सौ' के लिए पाये जाने वाले शब्दों को यहाँ देख लेना ठीक होगा-

सप्तम् वर्ग	**केंतुम् वर्ग**
अवेसता-सतम्	लैटिन-केंतुम्
फारसी-सद	ग्रीक-हेक्तोन

संस्कृत–शतम्	इटैलियन–केन्तो
हिन्दी–सौ	फ्रेंच–केन्त
रुसी–स्तो	ब्रीटन–कैन्ट
बल्गेरियन–सुतो	जर्मनिक–हुंद
बाल्तिक–जिम्तस	गेलिक–क्युड
लिथुआनियम–स्जिम्तास	तोखारी–कन्ध

इन उदाहरणों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता हे कि एक वर्ग (सतम्) में 'स' ध्वनि सर्वत्र है और दूसरे वर्ग (केंतुम) में वह सर्वत्र 'क' ध्वनि हो गई है। केंतुम में कुछ और भी अन्तर है। जैसे मूल भारोपीय का तीसरा कवर्ग (क्व, ख्व आदि) केन्तुम में तो प्राय: सुरक्षित है, किन्तु सतम् में वह लुप्त हो गया।

आरम्भ में लोगों का यह विचार था कि पश्चिम में पाई जाने वाली भाषाओं को 'केन्तुम' वर्ग की तथा पूरब में पाई जाने वाली भाषाओं को 'सतम्' वर्ग को कहा जा सकता है; किन्तु बाद में पूरब में हिटटाइट और तोखारी दो भाषाएँ ऐसी मिलीं, जिनमें 'स' के स्थान पर 'क' ध्वनि है, अत: पूरब और पश्चिम के आधार पर इन वर्गे को अलग-अलग करना ठीक नहीं माना गया।

स्मरणीय बिंदु-

- भारोपीय भाषा परिवार विश्व का सबसे बड़ा भाषा परिवार है।
- हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत आदि इसी परिवार की भाषाएँ हैं।
- इसका विस्तार भारत से यूरोप तक है।
- संस्कृत प्राचीन भारोपीय भाषा है।
- आधुनिक विश्व में भारोपीय भाषाओं का व्यापक प्रभाव है।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
भारोपीय	Indo-European
शाखा	उपविभाग
परिवार	समूह
संस्कृत	प्राचीन भारतीय भाषा
आधुनिक भाषा	वर्तमान भाषा

5 अंक के प्रश्न-

1. भारोपीय भाषा परिवार क्या है?
2. भारोपीय भाषा परिवार की प्रमुख शाखाएँ लिखिए।
3. भारोपीय भाषा परिवार का क्षेत्र बताइए।
4. आधुनिक भारोपीय भाषाओं के नाम लिखिए।
5. भारोपीय भाषा परिवार का महत्त्व स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. भारोपीय भाषा परिवार का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. भारोपीय भाषा परिवार की शाखाओं एवं भाषाओं का विवेचन कीजिए।
3. आधुनिक विश्व में भारोपीय भाषाओं के महत्त्व पर चर्चा कीजिए।
4. भारोपीय भाषा परिवार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. भारोपीय भाषा परिवार को अंग्रेजी में क्या कहते हैं?

(क) Sino-Tibetan

(ख) Indo-European

(ग) Dravidian

(घ) Semitic

2. हिंदी किस भाषा परिवार से संबंधित है?

(क) द्रविड़

(ख) भारोपीय

(ग) चीनी-तिब्बती

(घ) सेमेटिक

3. अंग्रेजी भाषा किस परिवार से संबंधित है?

(क) भारोपीय

(ख) द्रविड़

(ग) चीनी

(घ) अरबी

4. भारोपीय भाषा परिवार का विस्तार कहाँ तक है?

(क) केवल भारत

(ख) केवल यूरोप

(ग) भारत से यूरोप तक

क) केवल एशिया

5. संस्कृत किस भाषा परिवार की प्रमुख भाषा है?

(क) द्रविड़

(ख) भारोपीय

(ग) सेमेटिक

(घ) चीनी

इकाई-3.3 केन्तुम एवं सतम् वर्ग

उद्देश्य-

1. केन्तुम एवं सतम् वर्गों को समझना।
2. भारोपीय भाषाओं के विभाजन का अध्ययन करना।
3. विभिन्न भाषा शाखाओं का ज्ञान प्राप्त करना।

केंतुम् वर्ग- इसकी शाखाएँ है: केल्टिक, जर्मनिक, लैटिन, ग्रीक, तोखारी।

1. **केल्टिक**- पहले इसका क्षेत्र मध्य यूरोप, उत्तरी इटली, फ्रांस, एशिया माइनर आदि में काफी बडे भाग में था।

मुख्य भाषाएँ और क्षेत्र

उत्तरी- आइसलैंडिक (आइसलैंड), डेनिस (डेनमार्क), नार्वेजियन (नार्वे), स्वीडिश (स्वीडेन),

दक्षिणी- अंग्रेजी (इंग्लैंड, अमेरिका, तथा कनाडा, आफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि में अनेक क्षेत्र); जर्मन (जर्मनी), डच (हालैंड), फ्लेमिश 'निम्न जर्मन' कहलाती है तथा जर्मन (जिसमें स्वाबियान, बवेरियन, अलमानिक है) उच्च जर्मन।

2. **लैटिन (रोमांस इतालिक)**- यह वर्ग लैटिन के बोलचाल के रुप में विकसित है। **भाषाएँ तथा क्षेत्र:** इतालवी (इटली, सिसिली), रुमानियन (रुमानिया), फ्रांसिसी (फ्रांस), स्पेनिश (स्पेन), पुर्तगाली (पुर्तगाल)।
3. **ग्रीक (हेलनिक)**- इसके क्षेत्र यूनान (ग्रीस), इजियन द्वीप-समूह अल्बानिया, बुल्गारिया तथा तुर्की का कुछ भाग साइप्रस और क्रीट द्वीप है। इस शाखा की मुख्य भाषा ग्रीक है जिसमें अत्यंत समृद्ध प्राचीन साहित्य मिलता है। मूल भारोपीय के व्यंजन संस्कृत भाषा में अधिक सुरक्षित है तो उसके स्वर ग्रीक में। ग्रीक में चार ही कारकीय रुप है: कर्ता, कर्म, संप्रदान, संबंध। ग्रीक संस्कृत के बहुत समान है। इसमें भी 3 लिंग, समास की व्यवस्था, आत्मने पद, परस्मैपद तथा संगीतात्मक स्वराघात है।
4. **तोखारी**- इसका क्षेत्र मध्य एशिया का तुरफान प्रदेश रहा है। महाभारत में 'तुषार' रुप में इसी के बोलने वाले लोगों का उल्लेख है। 7वीं सदी में यह भाषा लुप्त हो गई। संधि-नियमों, विभक्तियों तथा शब्द-भंडार आदि में यह संस्कृत के काफी निकट है।

ख. सप्तम् वर्ग

इसकी शाखाएँ है: इलीरियन, बाल्टिक, स्लाव, आर्मीनियन, भारत-ईरानी।

1. **इलीरियन (आल्बेनियन)**- इसकी मुख्य भाषा अल्बेनियन है जो अल्बेनिया तथा यूनान के कुछ भागों में बोली जाती है। इस शाखा की अन्य भाषाएँ समाप्त हो गई हैं।
2. **बाल्टिक**- बाल्टिक सागर के किनारे इसका क्षेत्र है। मुख्य भाषाएँ लिथुआनियन (लिथुआनिया), लेटिश (लटाविया) है। इस शाखा का विकास कम हुआ है। अब भी यह मूलभाषा के निकट है। संगीतात्मक स्वराघात, द्विवचन, 'एस्ति' (सं, अस्ति) जैसे रुप इसमें आज भी सुरक्षित है।
3. **स्लाव-विभाजन, भाषाएँ और क्षेत्र: पूर्वी**-रुसी (इसे महारुसी भी कहते हैं, रुस), श्वेत रुसी (रुस के दक्षिणी भाग में), लघु रुसी (उक्रेन में)। पश्चिमी-पोलिश (पोलैंड), चेक (चेकोस्लोवाकिया)। **दक्षिणी:** बुल्गारियन (बुल्गारिया); सर्बो-क्रोशियन (युगोस्लाविया), स्लोवेनियम (युगोस्लाविया के दक्षिण)।
4. **आर्मीनियन**- यूरोप और एशिया की सीमा पर कुस्तुन्तुनिया तथा कृष्ण सागर के पास इसका क्षेत्र है। इसकी स्तंबुल बोली यूरोप में बोली जाती है तथा अराराट एशिया में।
5. **भारत-ईरानी**- इस शाखा के अन्य नाम 'हिंदी-ईरानी' या आर्य भी है। भारोपीय परिवार की यह शाखा बहुत महत्वपूर्ण है। इस परिवार का प्राचीनतम प्रामाणिक साहित्य अपने शुद्ध अर्थो में इसी शाखा में मिलता है।

इतना ही नहीं, ऋग्वेद के बराबर पुराना शुद्ध साहित्य संसार की किसी भी भाषा में कदाचित् नहीं मिलता। ऋग्वेद की कुछ ऋचाएँ दो हजार ई. पू तक लिखी जा चुकी थी, ऐसी कुछ विद्वानों की धारणा है और 1500 ई. पू. तक तो इसका बहुत अंश लिखा जा चुका था, ऐसा अधिकाशं लोग मानते है। पारसियों का धर्मग्रन्थ 'जेन्द अवेस्ता' भी लगभग 7वीं सदी ई. पू. का है। इसके अतिरिक्त इस शाखा की भाषाओं की गठन तथा उनका साहित्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। सबसे बडी बात तो यह है कि भाषाविज्ञान का अध्ययन तभी से यथार्थत: शुरु भी हुआ है, जब से उन लोगों को इस भारत-ईरानी शाखा के अध्ययन-मनन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस बात की भाषाविज्ञान इतिहास पर विचार करते समय कुछ अधिक विस्तार से देखा जा सकेगा।

स्मरणीय बिंदु-

- केन्तुम एवं सतम् भारोपीय भाषाओं के दो प्रमुख वर्ग हैं।
- संस्कृत सतम् वर्ग की भाषा है।
- अंग्रेजी एवं लैटिन केन्तुम वर्ग की भाषाएँ हैं।
- यह वर्गीकरण ध्वनि परिवर्तन पर आधारित है।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
केन्तुम	Centum वर्ग
सतम्	Satem वर्ग
ध्वनि परिवर्तन	Sound Change
शाखा	उपविभाग
वर्गीकरण	विभाजन

- भाषा विज्ञान में इन वर्गों का विशेष महत्त्व है।

5 अंक के प्रश्न-

1. केन्तुम वर्ग क्या है?
2. सतम् वर्ग से क्या अभिप्राय है?
3. केन्तुम एवं सतम् में अंतर लिखिए।
4. केन्तुम वर्ग की प्रमुख शाखाएँ बताइए।
5. सतम् वर्ग की भाषाओं के उदाहरण दीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. केन्तुम एवं सतम् वर्गों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. भारोपीय भाषाओं के विभाजन का विवेचन कीजिए।
3. केन्तुम एवं सतम् वर्गों की भाषाई विशेषताओं का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
4. भाषा वर्गीकरण में केन्तुम एवं सतम् सिद्धांत का महत्त्व स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. केन्तुम एवं सतम् का संबंध किससे है?

(क) द्रविड़ भाषाएँ

(ख) भारोपीय भाषाएँ

(ग) चीनी भाषाएँ

(घ) अरबी भाषाएँ

2. संस्कृत किस वर्ग में मानी जाती है?

(क) केन्तुम

(ख) सतम्

(ग) द्रविड़

(घ) सेमेटिक

3. अंग्रेजी किस वर्ग से संबंधित है?

(क) सतम्

(ख) केन्तुम

(ग) द्रविड़

(घ) तिब्बती

4. 'Centum' शब्द किस भाषा से लिया गया है?

(क) संस्कृत

(ख) लैटिन

(ग) हिंदी

(घ) ग्रीक

5. सतम् वर्ग की भाषाओं में ध्वनि परिवर्तन अधिक पाया जाता हैख़

(क) क ध्वनि

(ख) स ध्वनि

(ग) म ध्वनि

(घ) त ध्वनि

इकाई-3.4 भारतीय एवं यूरोपीय भाषा विज्ञान का इतिहास

उद्देश्य-

1. भारतीय भाषा विज्ञान के इतिहास को समझना।
2. यूरोपीय भाषा विज्ञान के विकास का अध्ययन करना।
3. प्राचीन एवं आधुनिक भाषावैज्ञानिक परंपराओं का ज्ञान प्राप्त करना।

भारतीय भाषा विज्ञान का इतिहास- अनेक शास्त्रों और विज्ञानों की भाँति भाषा-सम्बन्धी अध्ययन भी अपने देश में अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है। भारत की इस क्षेत्र में गति अप्रतिम रही है, इस बात को कई चोटी के भाषा शास्त्रियों ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। इतना ही नहीं आधुनिक भाषाविज्ञान पाणिनि के ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव के प्रकाश में विकसित हुआ है। भारत में हुए अध्ययन को 'प्राचीन' और 'आधुनिक' दो वर्गो में रखा जा सकता है। 'प्राचीन अध्ययन' का काल वैदिक काल से लेकर लगभग 17वीं सदी तक है। आधुनिक अध्ययन का आरम्भ 19वीं सदी के मध्य से होता है।

1. **यास्क (8वीं सदी ई0 पू0)**- यास्क के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। 'अपार्ण' आदि कुछ शब्दों के आधार पर कुछ विद्वान इन्हें पाणिनि का परवर्ती मानते थे, पर अब यह मत अशुद्ध सिद्ध हो चुका है। यास्क का समय पाणिनि से कम से कम 100 वर्ष पूर्व तो होना ही चाहिए।

   यास्क का निरुक्त- निरुक्त निघटुं की व्याख्या है। अर्थविचार का यह विश्व में प्राचीनतम विवेचन है। इसमें निघटुं के प्रत्येक शब्द को अलग-अलग लेकर उसकी व्युत्पत्ति तथा अर्थ पर विचार किया गया है। निरुक्त के लेखक के व्यक्तित्व की महानता सबसे बडी इस बात में है कि अस्पष्ट शब्दों के साथ दुराग्रह न करके उसने यह स्पष्टत: स्वीकार कर लिया है कि ये शब्द उसके लिए अस्पष्ट है। कुछ विद्वानों के अनुसार निघंटुओं की भाँति ही निरुक्त ग्रंथ भी एक से अधिक थे जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध यास्क का था जो आज उपलब्ध है।

2. **पाणिनि**- पाणिनि को यदि विश्व का सबसे बडा वैयाकरण माना जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। दु:ख यह है कि इतने बडे व्यक्ति के समय एवं जीवन के सम्बन्ध में हमें अभी तक अधिक नहीं ज्ञात हो सका है। पाणिनि के अन्य नाम 'आहिक', 'शालंकि', 'दाक्षीपुत्र' तथा 'शालातुरीय' आदि मिलते हैं। इनका जन्म गांधार देश के शलातुर नामक स्थान पर हुआ था। पतंजलि ने एक कारिका में पाणिनि को दाक्षीपुत्र (दाक्षीपुत्रस्य पाणिने)। कहा है। इससे कुछ लोग इनकी माता का नाम 'दाक्षी' होने का अनुमान लगाते है, पर कुछ अन्य लोगों ने इस आधार पर पाणिनि को पश्चिमोत्तर प्रदेश में रहने वाला दक्ष (जाति का) माना है। कथासरित्सागर और बृहकथामंजरी के अनुसार, ये 'वर्ष' नामक आचार्य के शिष्य थे। इन्हें पढना-लिखना बिलकुल न आता था। एक दिन अपनी अकुशाग्रता से दु:खी हो ये तपस्या करने चले गये और वहीं से शिव के आशीर्वाद से उद्भट व्याकारणकार बनकर आये। **समय**- पाणिनि के समय के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। पीटर्सन आदि कुछ विद्धान कवि पाणिनि को इनसे मिलाकर सुभाषितावी तथा कुछ अन्य ग्रन्थों के आधार पर इनका समय ईसा के आरंभिक वर्षो के समीप मानते है। मैक्समूलर तथा वेबर आदि विदान इन्हें **350 ई0पू0** के बाद का मानते है। इनका सबसे बडा प्रमाण यह है कि पाणिनि में 'यवन' शब्द मिलता है और यह शब्द सिकन्दर के आक्रमण के समय भारतीयों को ज्ञात हुआ होगा। भंडारकर और गोल्डस्कर ने **500 ई0पू0** के भी पूर्व इनका समय निश्चित किया है। सत्यवत आदि कुछ लोग दूसरे छोर पर है। उनके अनुसार पाणिनि का काल **2400 ई0पू0** है। डॉ0 बेलवेकर ने सभी महत्वपूर्ण मतों की परीक्षा करते हुए पाणिनि का समय **700 ई0** पूर्व के समीप माना है। इधर डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल ने विस्तार के साथ इस प्रश्न पर विचार करते हुए पाणिनि को **5**वीं सदी ई0पू0 के मध्य भाग का माना है। यह मत सबसे अधिक तर्कसम्मत है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी- अष्टाध्यायी में आठ अध्याय है। प्रत्येक अध्याय में चार पाद है और प्रत्येक पाद में अनेक सूत्र है। सब मिलाकर सूत्रों की संख्या लगभग चार सहस्त्र है। पूरी पुस्तक **14** सूत्रों (अइउण् ऋलृक, एओङ्, ऐऔच्, हयवरट्, लण, ञमडणनम्, झभञ्, घढधष्, जबगडदश, खफश्ठथचटतव्, कपय्, शषसर्, हल्) पर जिन्हें माहेश्वर-सूत्र भी कहते हैं, आध ारित है। संक्षेप में कहने के लिए प्रत्याहार, गुण आदि का सहारा लिया गया है।

पाणिनि का प्रभाव- प्रभाव के सम्बन्ध में इतना ही कह देना यथेष्ट होगा कि इनके बाद अधिकतर विद्वान चाहे वे जिस सम्प्रदाय के भी हुए केवल अष्टाध्यायी की ही आलोचना-प्रत्यालोचना, टीका-टिप्पणी आदि में प्राय: लगे रहे। यदि कुछ लोगों ने स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने का प्रयास भी किया तो कार्य इस योग्य न हो सका कि अष्टाध्यायी के समक्ष उसका नाम काल-कवलित

होने से बच सके। आज जब हम राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए पारिभाषिक शब्द बनाने बैठते हैं तो **2500** वर्ष बाद भी हमारी दृष्टि परिपक्व शब्द पाने के लिए उसी ऋषि पर जाती है।

3. **पतंजलि** - इनका काल **150** ई0पू0 के आसपास माना जाता है। इनका एक मात्र ग्रन्थ महाभाष्य है। यह ग्रन्थ पाणिनि की अष्टाध्यायी की तरही ही **8** अध्यायों, प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद तथा प्रत्येक पाद में कुछ आहिनक में विभक्त है। महाभाष्य मुख्यत तीन उद्देश्यों को सामने रखकर लिखा गया था- (क) पाणिनि के उन सूत्रों की व्याख्या के लिए समय बीत जाने के कारण अन्यथा अन्य कारणों से अस्पष्ट अत: दुरुह हो गये थे। (ख) कात्यायन के उन वार्तिकों का उत्तर देने के लिए जो अनुचित अथवा अनुपयुक्त थे। (ग) भाषा के दार्शनिक पक्ष की यथाप्रसंग व्याख्या के लिए। पतंजलि अपने तीनों ही उद्देश्यों में पूरी तरह सफल हुए है। इन्होंने कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं लिखा, अपितु यह भाष्य ही लिखा, किन्तु यह 'भाष्य' अपने आकार तथा अपने गहराई दोनों ही में 'महा' है और इसीलिए इसका प्रचलित नाम 'महाभाष्य' उचित ही है। संस्कृत में प्रसिद्ध है 'यथोत्तर मुनीनां प्रामाण्यम अर्थात मुनित्रय पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि में पाणिनि की अपेक्षा कात्यायन तथा कात्यायन की अपेक्षा पतंजलि प्रमाणिक है। पतंजलि के महत्व का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है। आधुनिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से ध्वनि, शब्द, पद, वाक्य, अर्थ, ध्वनि-अर्थ का संबंध आदि विषयक अनेक बातें बडी ही विचारत्तेजक और विचारणीय है।

   मुनित्रय- पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि को संस्कृत 'व्याकरण' के मुनित्रय की संज्ञा दी गई है। सचमुच संस्कृत व्याकरण को उच्चतम बिन्दु पर पहुँचाने में ही लोग सफल हुए है। यों पाणिनि के पूर्व के भी एक 'त्रिमुनि-व्याकरण' का पता चलता है जो **प्रसिद्धि** नहीं पा सका।

(5) भर्तृहरि (8वीं सदी)- श्रृंगार नीति और वैराग्य शतकों के रचयिता ही वे वैयाकरण भर्तृहरि थे, यह नहीं कहा जा सकता। भर्तृहरि ने महाभाष्य की एक टीका लिखी थी जिसमें तीन ही पाद पूरा कर पाये थे। सम्भवत: इसके बाद उनका देहान्त हो गया। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'वाक्यपदीय' है। इसमें व्याकरण के दर्शन-पक्ष का बहुत सुन्दर विवेचन है। पुस्तक तीन खंडो में बँटी है जिनका नाम क्रमश: आगम या ब्रहमखंड, वाक्यखंड और प्रकीर्ण या पदखंड है। द्वितीय खंड के अंत में इसमें कुछ व्याकरणाकारों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक सामग्री भी दी गई है।

यूरोप भाषा विज्ञान का इतिहास

1. **सुकरात (468 ई0पू0 से 399 ई0पू0)** - भाषा के अध्ययन के सिलसिले में सुक. रात के समक्ष यह प्रश्न आया था कि क्या शब्द और उसके अर्थ में कोई स्वाभाविक सम्बन्ध है। सुकरात इसका नकारात्मक उत्तर देते है, जो ठीक ही है। वस्तु और उसके नाम या शब्द और अर्थ में कोई स्वाभाविक सम्बन्ध न होकर माना हुआ सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त सुकरात का यह भी विश्वास था कि ऐसी भाषा का निर्माण असम. भव नहीं है जिसमें शब्द और अर्थ या वस्तु का स्वाभाविक सम्बन्ध हो। सुकरात का यह कथन स्पष्ट ही सत्य से दूर है।
2. **प्लेटो (426 से 347 ई0पू0)** - प्लेटो अपने गुरु सुकरात की भाँति ही दार्शनिक थे। इनका भी भाषा के विचार से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। आनुषंगिक रुप से इन्होनें 'क्रेटिअस' तथा 'सोफिस्ट' आदि में अपने विचार इस सम्बन्ध में प्रकट किये है। इनके द्वारा दी गई बातों को संक्षेप में यों गिनाया जा सकता है-

(क) यूरोप में ध्वनियों के वर्गीकरण का प्रथम श्रेय प्लेटो को ही है। इन्होने ग्रीक-ध्वनियों को घोष और अघोष दो भागों में बाँटा और फिर अघोष के भी दो भेद किये।

(ख) 'सोफिस्ट' में विचार और भाषा पर विचार करते समय इन्होने स्पष्ट किया है कि विचार और भाषा में थोड़ा ही अन्तर है। विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होठों पर प्रकट होती है तो उसे भाषा की संज्ञा दे देते है। अपनी एक दूसरी पुस्तक में प्लेटो भाषा और विचार के सत्यत: एक होने की बात को दूसरे शब्दों में दोहराते है। आशय यह है कि उनका विचार है कि मूलत: भाषा और विचार एक हैं, पर बाह्य अंतर अवश्य है कि एक ध्वन्यात्मक है और दूसरा अध्वन्यात्मक।

(ग) उद्देश्य-विधेय तथा वाक्यों आदि की ओर भी इन्होने कुछ संकेत किया है।

(घ) इनकी पुस्तकों में कुछ व्युत्पत्तियों की ओर भी संकेत मिलता है, किंतु उन्हें वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

3. **अरस्तू (385 ई0पू0 से 322 ई0पू0)**- अरस्तू भी उपर्युक्त विद्वानों की भाँति तत्ववेत्ता थे, किन्तु आनुषंगिक रुप में अपनी भी भाषा पर कुछ विचार किया और प्लेटो के कार्य को कुछ और आगे बढाया। अरस्तू का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पोलटिकस' है। इसके द्वितीय भाग के **22वें** तथा **15वें** अंश में शैली के विश्लेषण में लेखक का ध्यान भाषा की ओर भी गया है। यह ध्यान विशेष रुप में भाषाविज्ञान से सम्बन्धित न होने पर भी महत्वपूर्ण है: अत: कुछ विस्तार से देखने योग्य है:

(क) अरस्तू वर्ण को अविभाज्य ध्वनि मानते है। उन्होनें इसके स्वर, अंतस्य और स्पर्श तीन भेद किये हैं। इनके आगे दीर्घ, ह्रस्व, अल्पप्राण तथा महाप्राण आदि भेद किये गये है। अरस्तू द्वारा दी गई स्वर की परिभाषा (स्वर वह है जो बिना जिह्वा या ओंठ के उच्चरित हो) कुछ अंशों में वैज्ञानिक कही जा सकती हे।

(ख) मात्रा तथा सम्बन्धसूचक शब्दों पर भी संक्षेप में विचार किया गया है।

(ग) वाक्यों का पदों (उद्देश्य, विधेय) में विभाजन करते हुए संज्ञा और क्रिया पर कुछ विस्तार से प्रकाश डाला गया है। क्रिया का विचार करते समय लेखक का ध्यान काल की ओर भी गया है।

(घ) कारक तथा उनको प्रकट करने वाले शब्दों की ओर भी यूरोप में प्रथम संकेत यहीं मिलता है।

(ड) शब्द मोटे रुप से 'साधारण' और 'दुहरे' दो प्रकार के माने गये है। साधारण से अरस्तू का अर्थ 'अर्थरहित' से है और दुहरे शब्द वे हैं जिनमें 'सार्थक' और 'निरर्थक' दोनों तत्व हों। इसी प्रसंग में तिहरे और चौरहे शब्द भी माने गये है। शब्द के शुद्ध, विदेशी, परिवर्तित, मनगढंत आदि और भी भेद किये गये हैं जो शब्द-समूह (vocabulary) की दृष्टि से महत्वपूर्ण कहे जा सकते है। प्लेटो के वाग्भाग (Part of speech) को पूरा कर **8** बनाने का श्रेय भी अरस्तू को ही है।

स्मरणीय बिंदु-

- पाणिनि भारतीय भाषा विज्ञान के प्रमुख विद्वान थे।
- अष्टाध्यायी भारतीय व्याकरण का महत्वपूर्ण ग्रंथ है।
- यूरोपीय भाषा विज्ञान तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित है।
- आधुनिक भाषा विज्ञान का विकास यूरोप में हुआ।
- भारतीय एवं यूरोपीय परंपराओं ने भाषा विज्ञान को समृद्ध किया।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
भाषा विज्ञान	भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन
पाणिनि	प्राचीन भारतीय व्याकरणाचार्य
अष्टाध्यायी	पाणिनि का ग्रंथ
तुलनात्मक अध्ययन	Comparative Study
आधुनिक	नवीन

5 अंक के प्रश्न-

1. भारतीय भाषा विज्ञान का परिचय दीजिए।
2. पाणिनि का भाषा विज्ञान में योगदान लिखिए।
3. यूरोपीय भाषा विज्ञान का संक्षिप्त इतिहास बताइए।
4. आधुनिक भाषा विज्ञान किसे कहा जाता है?
5. भारतीय एवं यूरोपीय भाषा विज्ञान में अंतर स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. भारतीय भाषा विज्ञान के विकास का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. यूरोपीय भाषा विज्ञान की प्रमुख विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
3. पाणिनि एवं आधुनिक भाषाविज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
4. भारतीय एवं यूरोपीय भाषा विज्ञान की परंपराओं का विश्लेषण कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. भारतीय भाषा विज्ञान के महान व्याकरणाचार्य कौन थे?

(क) चॉम्स्की

(ख) पाणिनि

(ग) प्लेटो

(घ) अरस्तु

2. आधुनिक भाषा विज्ञान का विकास मुख्यत: कहाँ हुआ?

(क) भारत

(ख) यूरोप

(ग) चीन

(घ) अरब

3. पाणिनि किस ग्रंथ के रचयिता हैं?

(क) महाभाष्य

(ख) अष्टाध्यायी

(ग) नाट्यशास्त्र

(घ) ऋग्वेद

4. यूरोपीय भाषा विज्ञान का आधार किसे माना जाता है?

(क) तुलनात्मक अध्ययन

(ख) धार्मिक अध्ययन

(ग) साहित्य

(घ) राजनीति

5. भाषा विज्ञान का वैज्ञानिक विकास किस काल में अधिक हुआ?

(क) प्राचीन काल

(ख) मध्यकाल

(ग) आधुनिक काल

(घ) वैदिक काल।

COURSE DETAILS – 1
BASIC PSYCHOLOGICAL PROCESS
SUBJECT CODE – BDPHMN-303

B. A Darshan (III- Sem)

Basic Psychological Process (BDPHMN-303)

Learning Objectives:

By the end of this course, students will be able to:

- To familiarize students with the basic concepts of Indian and Western Psychology with an emphasis on application of Psychology in everyday life.
- To introduce the students to the general concepts of Psychology.

Unit No	Name of the Unit	Hr.
Unit 1	Genesis of Psychology as per Eastern and western perspectives	15
Unit 2	Scientific Methods of Psychology	15
Unit 3	Perception	15
Unit 4	Learning	15

After completion of the course, students will be able to:

- ❖ Discuss the genesis of Indian and Western Psychology and its importance.
- ❖ Analyze the application of psychology in different fields.
- ❖ Discuss and analyze the fundamental mental processes which are the base for human behavior

Contents

Unit Number	Name of the Unit/Topics	Page No
	Introduction	**04**
1	**Genesis of Psychology as per Eastern and western perspectives** ➢ Meaning and definitions of psychology ➢ Psychological thoughts as per eastern and western systems: Bhagavad Gita, Buddhism ➢ Concept of Psychology as per Upanishad ➢ Goals of psychology, Major sub-fields of psychology and Psychological Perspectives: biological and behavioural	6-28
2	**Scientific Methods of Data Collection** ➢ Experimental method: meaning, definitions, types, merits and demerits of experimental method ➢ Observation method: meaning, definitions, types, merits and demerits of observation method ➢ Survey method: meaning, definitions, merits and demerits of survey method ➢ Questionnaire method: meaning, definitions, merits and demerits of questionnaire method	30-41
3	**Perception** ➢ Meaning, definitions, mechanism and stages of perception ➢ Factors affecting perception ➢ Laws of perceptual organization ➢ Perceptual constancy: size, shape, colour, and texture	43-53
4	**Learning** ➢ Meaning definitions and types of learning ➢ Factors affecting learning ➢ Methods of learning ➢ Transfer of learning: positive, negative, zero and bilateral	53-65

Introduction

Psychology has evolved from its international and multidisciplinary roots to become a science dedicated to describing and explaining how we think, feel, and act. Though still a relatively young science, psychology draws from diverse fields such as physiology and philosophy, weaving together insights to better understand the human experience.

This book demonstrates how thoughtful individuals can apply psychological strategies to everyday life., highlighting some of psychology's most significant and humanly relevant findings. As you explore the field, you will gain more than just effective study techniques;psychology teaches us to ask important questions and to think critically as e evaluate competing ideas and popular claims. It deepens our appreciation for ourselves and others, enriching our lives and broadening our perspectives. As the great educator Dr. Sarvepalli Radhakrishan once said, "Books are the means by which we build bridges between cultures."

Whether you are just beginning your journey into psychology or seeking to deepen your knowledge, this book serves as both a doorway to understanding and a tool for applying psychological insights to everyday life.

Dive in and discover how the mind works, and perhaps in the process, learn a little more about yourself.

BLOCK 1
GENESIS OF PSYCHOLOGY AS PER EASTERN AND WESTERN PERSPECTIVES

Unit 1.
Genesis of psychology as per Eastern and Western perspectives

LEARNING OBJECTIVES

Dear learner, after successfully completing this unit, you should be able to:

- Introduce the concept of psychology (meaning and definitions) with Eastern and Western perspectives.
- Elaborate on the branches of psychology with adequate examples.
- Apply scientific insights into the nature of psychology to understand human behaviour.

1.1 Meaning and Definitions of Psychology

Psychology is concerned with almost all aspects of our lives which is why everyone is interested in learning about Psychology. The study of psychology is vital to human existence. Necessity is the mother of all types of invention. Therefore, it is the prime duty of every student to have a clear understanding of why they are studying. A person can more easily achieve their life goals if they have a sense of purpose. Since psychology is the study of mind and behaviour, understanding one's mind or another's minds can help a person lead a harmonious life. Everyone wants mental purity and mental harmony and tries to avoid pain. Naturally, a question arises, how is this possible. The study of psychology helps us understand why we act the way we do.

First, let us consider the etymological meaning of psychology. The word psychology is derived from two Greek words: 'psyche' and 'logos'. Psyche refers to the mind, soul, or spirit, while logos means study or knowledge. Based on this etymology, psychology can be defined as the study of the mind, soul, or spirit. Initially, psychology was not an independent discipline. The father of modern psychology and a German professor, Wilhelm Wundt, established the first psychology laboratory at the University of Leipzig, Germany, in 1879, and psychology emerged as an independent academic discipline.

It is difficult to define psychology because its subject matter keeps changing. Just as change is the law of nature, similarly there are constant changes in the definition of psychology. Throughout its brief history, psychology has been defined. From the 1930s through 1960s, most psychology books used the definition as the study of the behaviour of human beings and animals. But before that also psychology was defined and redefined as under: The progression sequence of the definitions of psychology is:

- the study of the soul
- the study of the mind
- the study of consciousness
- the study of behaviour

Psychology as the study of the soul:

Earlier, psychology was part of philosophy. Ancient philosophers were interested in the soul's study. In ancient times the subject of psychology was the soul. The Greek philosopher Aristotle tried to find out the relation between body and soul. He gave a very important place to the soul in human life. The main method of studying the subject (soul) was introspection. Through this method, philosophers faced many difficulties in understanding the soul, due to which this definition gradually started disappearing. Some of the main reasons for the extinction of this definition are:

- The term 'soul' has a very wide and comprehensive meaning. The word soul was mysterious and vague.
- The Soul has no existence. There were questions regarding the physical existence, weight, and volume of the soul. What soul is? How can it be studied? The definition of psychology as the study of the soul became unacceptable primarily because no convincing proof or evidence of the precise nature of the soul was furnished. It was discarded because of its metaphysical nature.
- The soul makes psychology a speculative science, as it is not open to observation and experimentation and therefore not given to verification. The inability to find clear answers to such questions led some ancient Greek philosophers to define psychology as the study of the mind.

Psychology as the study of mind:

Greek philosophers first translated the word "psyche" as "mind" about 400 years ago, and psychology was later defined as the study of mind. According to contemporary

scientists and psychologists, the mind is a sophisticated web of consciousness and mental processes that result from brain activity. Mind is the total sum of mental activities or mental processes.

Even if the concept of the mind was less enigmatic and imprecise than that of the soul, it still had to answer the same query: What is the mind? How is it studyable, etc.? and as a result, for the following reasons, this definition has also been rejected:

• Since the mind is abstract and not composed of any neurons or blood vessels, it is impossible to test directly.

• Intangibles also include the mind. The mind is not something that can be seen or touched; in fact, there are no external indications that it exists outside of how individuals behave.

• The mind is erratic by nature. Every waking hour, an individual has roughly 60,000 ideas every day, or one thought every second. (SL Teeryik and A Fermelia, 2018)

Psychology as the study of consciousness:

After rejection of psychology as a study of the soul and the mind persuaded the philosophers and psychologists to search for some other suitable definitions. According to William James (an American psychologist) psychology is the science of mental life, both of its phenomena and their conditions. The things that we refer to as feelings, desires, cognition, reasoning, decisions, and the like are the Phenomena. Based on his research work, he proposed that mental life is a unity that flows and changes. Thus, consciousness is a continuum. The function of consciousness is to ensure survival. This definition has been rejected by psychologists because of various causes. They are:

• Consciousness cannot be studied objectively, as it is more personal and subjective. We can be conscious only of our mental activities. We can not know the consciousness of others.

• As per Sigmund Freud, the father of psychoanalysis mind has three elements: consciousness, subconsciousness, and unconsciousness. Therefore, to define psychology as a study of consciousness is not adequate and scientific.

Psychology as the study of behaviour: Around 1910, John Watson rejected the ideas of mind and consciousness as a subject of psychology. For Watson, the mind is not observable and introspection is subjective. Because another person can not verify it. Watson thought that for psychology to be considered a science, its data had to be available for public review, just like any other science's data. While consciousness is private, behaviour is public. According to him, scientific psychology must focus on what is observable and verifiable. He defined psychology as a study of behaviour or responses (to stimuli) which can be measured and studied objectively.

John Broadus Watson (1913) proposed to elaborate the concept of the term behaviour in it both human and animal behaviour and consequently defined psychology as “the science of behaviour considering the human and animal behaviour”

The current definition of Psychology

Self assessment questions

- **Define psychology as a study of mind.**
- **Who was John Broadus Watson?**

Psycl

Response: The term response in psychology refers to a behaviour that was the result of a stimulus.

Renowned Hindu text the Bhagavad Gita provides unique insights into human behaviour. The following are some essential psychological ideas derived from the Bhagavad Gita's teachings:

Nature of the Self (Atman): The Gita places great emphasis on the difference between the everlasting soul (Atman) and the mortal (physical) body. Recognizing this difference facilitates concentrating on spiritual development and acknowledging the transience of worldly worries.

Stages of the mind (Antahkarana): Manas (the sensory mind), buddhi (the intellect), ahankara (the ego), and chitta (the subconscious mind) are the four parts of the mind that the Gita explains. Together, these elements have an impact on people's attitudes, choices, and behaviours.

Control of the Mind: One of the Gita's main lessons is the value of mind control. It characterizes the uncontrollably restless and turbulent mind as one that alternates between diversions and cravings all the time. Mental steadiness and attention can be attained via self-control and spiritual exercises like meditation.

Idea of Dharma: In the Gita, dharma is the term for one's duty or moral path. Inner peace, contentment, and a sense of purpose can result from knowing and living one's dharma. It also supports balanced living and moral decision-making.

The three of gunas: Three basic attributes of nature, referred to as "gunas" in the Bhagavad Gita, are sattva (purity), rajas (activity), and tamas (inertia). These characteristics are found in everything and everyone, and the book implies that being aware of them can benefit people.

Self-knowledge: Self-knowledge is the knowledge of one's true self beyond the mortal body. The text motivates people to seek self-knowledge. Through this knowledge, people will understand their place in the universe and receive a state of harmony.

Action and Detachment: The Gita promotes carrying out one's responsibilities (karma) without becoming attached to the results (phyla). This idea urges people to put their all into the present and try their hardest without worrying too much about success or failure.

Equality of Vision: According to the Gita, a knowledgeable person recognizes the fundamental unity of all reality and perceives all entities with an equal vision. This viewpoint encourages tolerance, compassion, and empathy for other people.

Paths to Liberation (Moksha): The Gita describes several routes leading to spiritual freedom, with special emphasis on bhakti yoga (devotion), jnana yoga (knowledge), and karma yoga (selflessness). Every route considers the various facets of human psychology and spirituality, accommodating a range of temperaments and inclinations.

Overall, the Bhagavad Gita provides guidance on comprehending the mind, finding inner peace, and leading a meaningful life under spiritual principles. Its psychological lessons still motivate and direct people looking for personal development and fulfillment.

Psychology as per Buddhism:

Buddhism offers a unique perspective on psychology, focusing deeply on the mind, human

suffering, and the path to liberation. Here are some key psychological concepts in Buddhism:

The Four Noble Truths:

Dukkha (Suffering): Suffering, which includes physical pain, mental distress, and the unsatisfactory nature of existence characterizes life.

Cause of Suffering): The cause of suffering is craving (tanha) and attachment (upadana), which lead to desires that are insatiable and cause mental agitation.

Nirodha (Cessation of Suffering): Suffering can be ended by eliminating craving and attachment, attaining a state of inner peace and liberation known as Nirvana.

Margga (Path to the Cessation of Suffering): The Noble Eightfold Path provides a framework for ethical conduct, mental discipline, and wisdom, leading to the cessation of suffering.

Three Marks of Existence (Tilakkhana):

Anicca (Impermanence): All phenomena, including mental states and experiences, are impermanent and subject to change. Recognizing impermanence helps in letting go of attachments and cultivating equanimity.

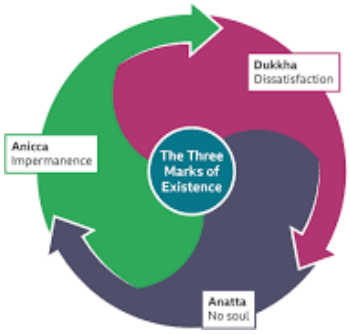

Dukkha (Suffering): As mentioned, suffering is an inherent part of existence arising from attachment and craving.

Anatta (Not-Self): The absence of a permanent, independent self implies that clinging to a fixed identity or ego leads to suffering.

Mindfulness (Sati): Mindfulness is a key practice in Buddhism, involving non-judgmental awareness of present-moment experiences. Through mindfulness meditation (passion), practitioners develop clarity of mind, emotional balance, and insight into the true nature of existence.

Dependent Origination (optical stopped): This doctrine explains the interdependent nature of all phenomena, including mental states. It explains how ignorance (avijja) leads to craving, suffering, and the cycle of rebirth (samsara).

The Twelve Links of Dependent Origination: The classic teaching on Dependent Origination involves **twelve links** (or stages), which illustrate how suffering arises and is perpetuated. These stages include:

The below mentioned table explains how suffering arises through a cyclical process involving twelve interconnected stages:

Stages	Interpretation
Ignorance (avijja)	Not understanding the true nature of reality.
Mental formations (sankhara)	Unwholesome mental habits and conditioning.
Consciousness (vinnana)	The awareness that arises from these formations.

Name and form (nama-rupa)	The mental and physical components of existence.
Six senses (salayatana)	The faculties of seeing, hearing, etc.
Contact (phassa)	Interaction between the senses and objects.
Feeling (vedana):	Pleasant, unpleasant, or neutral feelings.
Craving (tanha)	Desire for pleasurable experiences.
Clinging (upadana)	Attachment or attachment to craving.
Becoming (bhava)	The formation of future states of existence
Birth (jati)	The arising of a new existence (birth).
Old age and death (jara-marana)	The inevitable decay and death that follows birth

Ehics and Mental Training: Ethics and mental training are essential to conduct good behaviour. Ethics are philosophical guidelines that tell about right and wrong. Buddhism emphasizes ethical conduct (sila) as a foundation for mental well-being. Cultivating virtues, such as compassion, generosity, and patience, supports a peaceful mind and harmonious relationships.

Compassion and equanimity: Compassion (karuna) and loving-kindness (meta) are essential aspects of Buddhist psychology. These qualities promote altruism, reduce selfishness, and foster interconnectedness with others.

Overall, Buddhism offers a profound psychological framework for understanding the mind, overcoming suffering, and cultivating inner peace and wisdom. Its teachings continue to inspire practices such as meditation and mindfulness, which are increasingly recognized in modern psychology for their therapeutic benefits.

1.3 Concept of Psychology as per Upanishads

Psychology as per Upanishads: The Upanishads, ancient Indian philosophical texts that form the basis of Vedanta philosophy, explore deep psychological insights alongside their metaphysical and spiritual teachings. Here are some key psychological concepts as per the Upanishads:

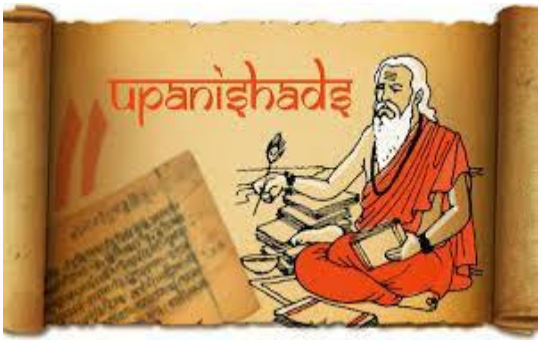

1. Nature of the Self (Atman): The Upanishads discuss the concept of Atman, the eternal and unchanging essence of an individual beyond the physical body and mind. Understanding Atman helps in transcending identification with transient aspects of existence and realizing one's true nature.

2. Unity of Existence (Brahman): Brahman is the ultimate reality, the cosmic principle that underlies all creation. The Upanishads teach that Atman (individual self) and Brahman (universal self) are essentially one, reflecting the interconnectedness of all beings and the universe.

3. Mind and consciousness: The Upanishads delve into consciousness (Chit) and its relationship with the mind (Manas). They describe the mind as a faculty that processes sensory inputs and thoughts, while consciousness is the underlying awareness that illuminates all mental activities.

4. Ignorance (Avidya): Avidya refers to ignorance or lack of true knowledge about the self and reality. It is considered the root cause of suffering and bondage (samsara).

Overcoming avidya through spiritual knowledge (jnana) leads to liberation (moksha) and inner peace.

5. Three Gunas (Qualities): The Upanishads discuss the three gunas - sattva(purity, harmony), rajas (activity, passion), and tamas (inertia, darkness) - which influence human behaviour, personality, and mental states. Balancing these qualities through self-awareness and spiritual practice is essential for personal growth.

6. Karma and Rebirth: The Upanishads acknowledge the law of karma, where actions (karma) influence one's future experiences and circumstances. Rebirth (samsara) is viewed as a continuous cycle of birth and death driven by past actions and desires, providing opportunities for spiritual evolution.

7. Self-Realization and Liberation: The ultimate goal in Upanishadic psychology is self-realization (atma-jnana) - the direct experience of one's true self beyond ego and limitations. This realization leads to liberation from suffering and the cycle of rebirth, achieving a state of eternal bliss (ananda).

Overall, the Upanishads offer profound psychological insights into the nature of consciousness, self-awareness, and the pursuit of spiritual enlightenment. Their teachings continue to inspire seekers to explore the depths of the mind, understand the interconnection of all existence, and attain profound states of inner peace and realization.

Goals and Branches of Psychology

Goals of psychology

Psychology is the scientific study of human behaviour and experiences. The study of psychology helps us understand why we act the way we do. Therefore, the motto of psychology is to enhance the quality of human behaviour. Let us now look at certain specific goals of psychology that are discussed:

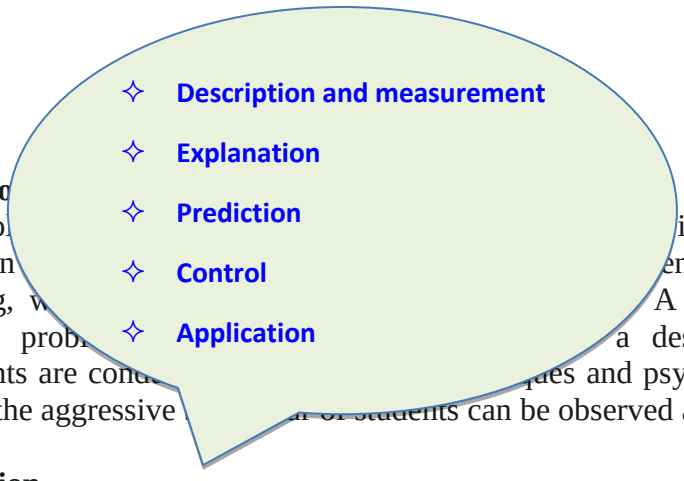

Descriptio

In psycho is the primary aim. A description enario, including what is happening, w A specific phenomenon, event, or prob a description. Behavioural assessments are cond ques and psychological testing. For instance, the aggressive n of students can be observed and described.

Explanation

Psychology's second purpose is to explain. Usually, an explanation entails stating the reason for a particular behaviour or phenomena. To put it another way, the explanation can be defined as determining the reason for a behaviour that has occurred. This aids in answering inquiries concerning the reasons behind people's actions, reactions, and personality traits, as well as the variables influencing mental health, behaviour, and personality. For instance, an explanation can be provided for students in an institution who are not acting in an ideal manner.

Prediction

Prediction is the third and an important goal of psychology. By looking at past observed behaviour (describing and explaining) psychologists aim to predict how that behaviour will appear again in the future. Through the process of describing an explanation, psychologists can understand more about what thoughts, feelings, and behaviours are contributing factors. They can then use that knowledge to predict why, when, and how those things might happen in the future. For example, predictions are made regarding why students are not doing ideal behaviour based on got information.

Control

Control means to provide a change in existing problematic behaviour. Control is important to make positive, constructive, meaningful, and lasting changes in people's lives and to influence their behaviour for the better. Behaviour change is performed with the help of suitable intervention strategies, such as psychotherapies, indigenous therapies and counselling. For example, suitable intervention strategies can be developed to avoid aggressive behaviour among the students.

Application

It is the last and very important goal of psychology. Based on the outcomes of the aforementioned procedure, conclusions can be made that can then be used to solve problems and make decisions.

Brain Storming

Q. How does description helps a psychologist?

M

T ogy encompasses the study of behaviour and mental processes. As a result, various sub-fields and specialty areas have emerged. Its scope is not confined to human behaviour but encompasses the behaviour of animals too. The American Psychological Association (APA) is the main professional organization of psychologists in the United States, [1] and the largest psychological association in the world. The American Psychological Association (APA) recognizes several branches of psychology and comprises 56 divisions, each focusing on different aspects of human behavior, mental processes, and development. We now turn to a brief description of some subfields of psychology. A description of various divisions of the American Psychological Association is given in the table below- mentioned table.

Number of division	Name of the division
Division 1	Society for General Psychology: This was the first division formed by the APA, in 1945, and its mission is to settle issues across the sub-disciplines of psychology.2
Division 2	Society for the Teaching of Psychology: This division provides free teaching material for students and teachers of psychology and bestows many awards.
Division 3	Experimental Psychology
Division 4	Initially, the Psychometric Societydecided against becoming a APA division
Division 5	Evaluation, Measurement, and Statistics
Division 6	Behavioral Neuroscience and Comparative Psychology
Division 7	Developmental Psychology. Apart from its core activities, this division also publishes journals on education research andpsychology-related education topics.
Division 8	Society for Personality and Social Psychology
Division 9	Society for the Psychological Study of Social Issues (SPSSI)
Division 10	Society for the Psychology of Aesthetics, Creativity and the Arts

Division 11	Currently vacant. Initially, Abnormal Psychology and Psychotherapyjoined division 12 in 1946
Division 12	Society of Clinical Psychology. This division was established in 1948 with 482 members. In 1962 it created clinical child psychology as its first section.
Division 13	Society of Consulting Psychology
Division 14	Society for Industrial and Organizational Psychology
Division 15	Educational Psychology
Division 16	School Psychology: This division was originally formed as the Division of School Psychologists in 1945 and renamed in 1969.
Division 17	Society of Counseling Psychology
Division 18	Psychologists in Public Service
Division 19	Society for Military Psychology
Division 20	Adult Development and Aging
Division 21	Applied Experimental and Engineering Psychology
Division 22	Rehabilitation Psychology
Division 23	Society for Consumer Psychology
Division 24	Society for Theoretical and Philosophical Psychology
Division 25	Behavior Analysis
Division 26	Society for the History of Psychology
Division 27	Society for Community Research and Action: Division of Community Psychology
Division 28	Psychopharmacology and Substance Abuse
Division 29	Psychotherapy
Division 30	Society of Psychological Hypnosis
Division 31	State, Provincial and Territorial Psychological Association Affairs
Division 32	Society for Humanistic Psychology
Division 33	Intellectual and Developmental Disabilities
Division 34	Society for Environmental, Population and Conservation Psychology
Division 35	Society for the Psychology of Women
Division 36	Society for the Psychology of Religion and Spirituality
Division 37	Society for Child and Family Policy and Practice
Division 38	Health Psychology
Division 39	Psychoanalysis
Division 40	Clinical Neuropsychology
Division 41	American Psychology-Law Society
Division 42	Psychologists in Independent Practice
Division 43	Society for Family Psychology
Division 44	Society for the Psychological Study of Lesbian, Gay, Bisexual and Transgender Issues
Division 45	Society for the Psychological Study of Ethnic Minority Issues
Division 46	Media Psychology
Division 47	Exercise and Sport Psychology
Division 48	Society for the Study of Peace, Conflict, and Violence: Peace Psychology Division
Division 49	Society of Group Psychology and Group Psychotherapy
Division 50	Society of Addiction Psychology
Division 51	Society for the Psychological Study of Men and Masculinity
Division 52	International Psychology
Division 53	Society of Clinical Child and Adolescent Psychology
Division 54	Society of Pediatric Psychology
Division 55	American Society for the Advancement of Pharmacotherapy
Division 56	Trauma Psychology: This division addresses issues of trauma with projects,

	working groups and via collaborations.

Here, we will discuss some prominent branches of psychology in detail.

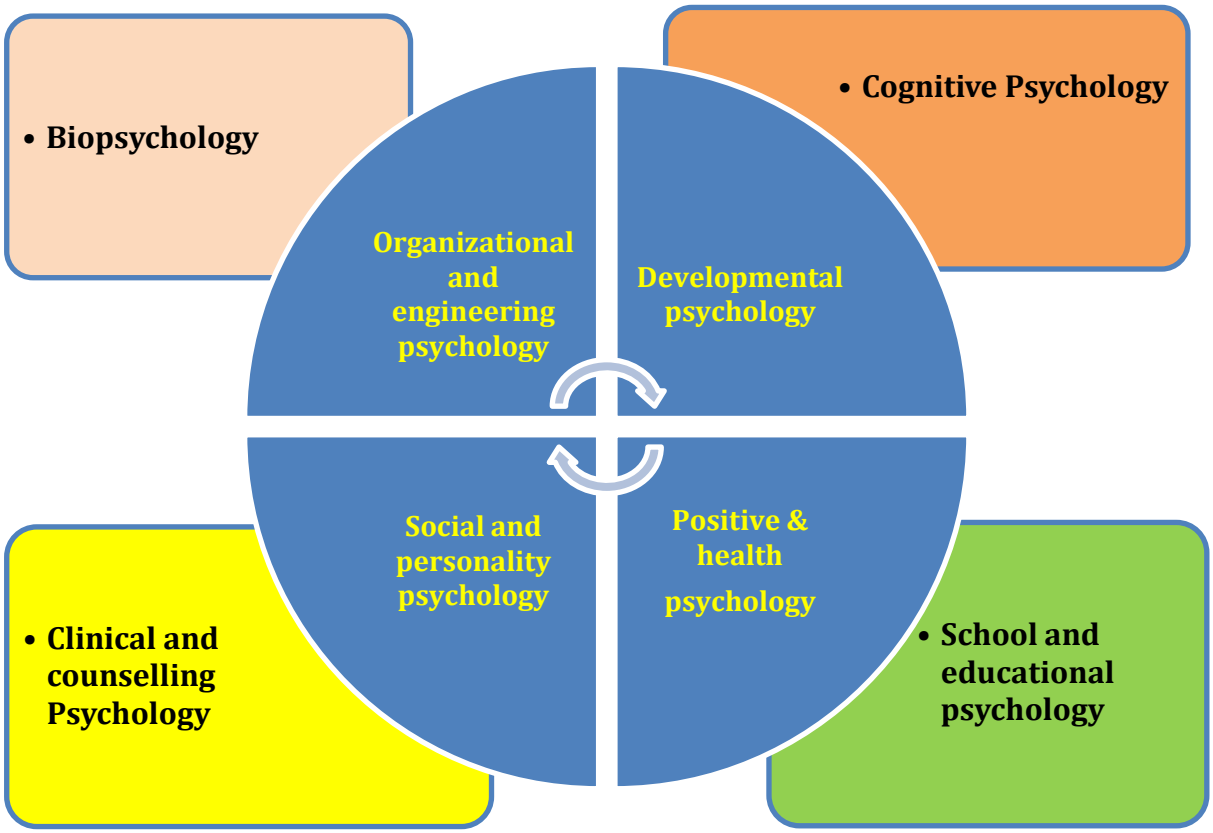

❖ **Biopsychology**

Biopsychology is an advanced field of psychology. This field is also called physiological psychology. Biological psychologists believe that many behaviours are first biological and then psychological. In this field, biological psychologists try to understand the relationship between biological processes and behaviour. The central nervous system handles all behavioural functions. Biological psychologists study the brain's functioning to get an insight into behaviour. Without knowledge of the composition and operation of the brain, behaviour cannot be comprehended or explained. The nervous system, besides the brain, is essential for behavior. As a result, there is a close connection between psychology and other fields of study that are directly related to the study of the nervous system, especially the brain, such as neurophysiology, neurochemistry, and neurology.

❖ **Cognitive psychology**

Cognitive psychology is also a very important field of psychology. Cognitive psychologists study human information processing abilities. Psychologists in this field study all aspects of cognition, such as memory, thinking, problem-solving, decision making, language, reasoning, and so on. Cognitive psychologists study how a person thinks, remembers, or learns. Cognitive psychology is a versatile area of research in the present scenario. Educators, engineers, scientists, judges, public health and safety

officials, architects and graphic designers all want to know about how the human brain processes information.

❖ **Clinical and counselling psychology**

Psychology has two applied sub-fields: clinical psychology and counselling psychology. Applied psychology refers to the field of psychology that applies scientific psychology's methods and conclusions to address real-world issues related to human and animal behaviour and experiences. The American Psychological Association's (APA) main division, known as the Society of Clinical Psychology (division number, 12), is focused on clinical psychology. It is among the biggest sub-specialties of psychology. Clinical psychologists assess, diagnose, and treat mental, emotional, and behavioural disorders. They handle complicated human issues and encourage change by utilising the science of psychology. They also assist people in finding their strengths and encourage resilience. Clinical psychologists evaluate, identify, and treat behavioural and mental health issues.

Division 17 of the American Psychological Association pertains to counselling psychology, which is a separate and distinct area of psychology. The Society of Counselling Psychology is the name of the division. Counselling psychology focuses on assisting people or individuals with personal concerns, such as career decisions, interpersonal connections, small emotional problems, or behavioural issues like overeating, slow learning, or lack of concentration. Counselling psychologists assist clients with certain problems, such as developing interpersonal skills (e.g., communication skills) or career planning. These days, there are several subfields within counselling psychology, and experts in these areas serve as family counselors, marriage counsellors, school counsellors, and so forth.

❖ **School and educational psychology**

Applied sub-fields of psychology include school and educational psychology. APA has sixteen divisions: school psychology (the 16th division) and educational psychology (the 15th division). To address the learning and behavioural issues of children and adolescents, school psychology incorporated concepts from several sub-fields within psychology, including educational psychology, developmental psychology, clinical psychology, and community psychology. They carry out the psychological evaluation, intervention, prevention, counselling, and consulting under their profession's administrative, legal, and ethical rules. In educational psychology, learning in humans is studied scientifically. Psychological testing is done by educational psychologists to improve classroom management, instructional design, and assessment activities that support learning in a variety of learning environments for students of all ages.

❖ **Organizational and engineering Psychology:**

Another name for organizational psychology is industrial psychology. Division 14: The Society for Industrial and Organizational Psychology (SIOP) promotes the scientist-practitioner paradigm. Within this field, psychologists examine every facet of workplace behaviour, including hiring and selecting staff, evaluating employee performance, and motivating employees to take on leadership roles. The selection and hiring of personnel through the use of aptitude and IQ testing was the first instance of psychology being applied to the issues facing businesses and organizations. These days, several businesses use updated versions of these exams in their hiring and selection processes. Psychologists who specialize in this area also apply psychology to issues with leadership and supervision, motivation, communication, and both intra and inter-group conflict in the workplace, as well as management and employee training.

❖ **Engineering psychology**

Division 21 of the American Psychological Association pertains to engineering psychology, which is a distinct area of psychology. It is used in the creation of machinery, computers, aircraft, cars, and other devices. Psychologists in this domain also compose user manuals for complicated technology and household appliances so that lay people can understand and operate them.

❖ **Developmental psychology**

Division number 7 is concerned with this branch. Developmental psychologies are concerned with human development and the determinants that mould behaviour from birth to old age. Developmental psychologists study various developmental problems as to how language develops in children.

❖ **Social and personality psychology**

Social psychology is an applied branch of psychology and is concerned with division number 8 of the American Psychological Association. Social psychologists try to understand social behaviour in social contexts. They are interested in how people perceive and interpret their social world and how their beliefs, emotions and behaviours are influenced by the real and imagined presence of others. Personality psychologists study cognitive, emotive and conative aspects of human behaviour that define an individual's style of interacting with the world. They are interested in differences between individuals and they also attempt to synthesize all the psychological processes into an integrated account of the total person. (Swann and Seyler, 2005).

❖ **Positive Psychology**

This is an emerging field of the 21st century. It is a relatively new branch of psychology and focuses on human values and strength. This field is defined as the science of happiness and human strengths. Psychologists working in this field are concerned with the positive aspects of human nature such as hope, optimism, passion, love, gratitude, forgiveness, humility, etc. They try to find out what makes a good life. The work of these psychologists overlaps with that of humanistic psychologists who have similar viewpoints.

❖ **Health Psychology**

This branch of psychology is concerned with the requirements of modern healthy lifestyles that are aware of physical and mental health. Health psychology is devoted to understanding psychological influences on how people stay healthy, why they become ill, and how they respond when they do get ill. Health psychologists focus on health promotion, maintenance, prevention, and treatment of illness. Example: Reasons why people smoke and ways of coping with stress.

Approaches of Psychology: Biological and behavioural

In psychology, there are various methods exist, including biological, behavioural, cognitive, psychoanalytic, and humanistic approaches. Now let's examine two psychological perspectives that are covered in the following discussion.

The Biological perspective

The biological perspective is a major approach to psychology and a way to observe psychological issues by studying the physical basis of human and animal behaviour. This perspective is also known as the physiological perspective. Biological psychologists work on the assumption that **all psychological behaviour is the first biological.** Charles Darwin, the renowned British naturalist and father of evolutionary theory, stated that evolution and genetics play a role in human behaviour. In principle, all psychological events can be related to the activity of the brain and nervous system.

The Brain is a complex organ that controls our thinking, feeling and acting processes. The brain sends and receives chemical and electrical signals throughout the body. Different signals control different processes, and the brain interprets each. Research from the biological perspective seeks to specify the neurobiological processes that underlie behaviour and mental processes. Biopsychologists study many of the same things that other psychologists do, but they are interested in looking at how biological forces shape human behaviors. Some topics that a psychologist might explore using this perspective include:

- Study how trauma to the brain impacts behaviours.
- Assessing the differences and similarities in twins to determine which characteristics are tied to genetics and which are linked to environmental influences.
- Exploring how genetic factors influence such things as aggression

This perspective has grown considerably in recent years, as the technology used to study the brain and nervous system has grown increasingly advanced. Today, scientists use tools such as PET and MRI scans to look at how brain development, drugs, disease, and brain damage impact behaviour and cognitive functioning.

The Behavioural Perspective

The behavioural perspective started by John Broadus Watson (father of behaviourism) focuses on observable stimuli and responses and regards nearly all behaviour because of conditioning and reinforcement. Conditioning is a behavioural process whereby a response becomes more frequent or more predictable in an environment because of reinforcement. The Behavioural perspective is based on the following assumptions. These are:

- All human responses are acquired by nature. The learned behaviour of a person is that which he has adopted from the society, environment, internal psychological events or his beliefs and his thoughts.
- Learning of responses is based on reinforcement (positive or negative).
- Problem is raised due to the failure of relevant and accurate responses of learning.
- Problematic behaviour is observable.
- It focuses on the here and now.
- Prediction is possible of problematic behaviour.
- Behaviour modification is possible through accurate experiences, rewards and punishment.

Psychology is a positive science and plays a vital role in human life. It is the scientific study of the mind and mental processes. American Psychological Association (APA), a professional and non-profit organization, consists of 56 branches of psychology that describe about the vast areas of psychology. The

knowleage of psychology is required in almost every field of life. It is true that understanding human behaviour is not a easy task. Through different approaches of psychology, such as biological and behavioral approaches, we can better understand human behaviour.

A psychologist studies human behavour through observation, experiments, interviews and psychological tests. By understanding the goals of psychology-description, measurement, explanation, prediction and control, a person can easily understand how psychologists are able to study behaviour and help in improving behavioural and mental problems. Psychology also helps individuals improve their thinking, emotions, personality, and social relationships, making human life more balanced and successful.

A. Multiple Choice Question

1.. Who is called father of modern psychology ?

a) Sigmund Freud
b) J.B. Watson
c) Wilhelm Wundt
d) None of these

2. The meaning of logos

a) Learning
b) Enhancement of resources
c) Study
d) None of these

3. Biological approach is also called:

a) Physiologiacl
b) Behavioural
c) Cognitive
d) None of these

4. The word psyche comes under:

a) Latin
b) Greek
c) French
d) None of these

5. In which branch of psychology is social behaviour studied?

a) Social Psychology
b) Personality Psychology
c) Counselling Psychology
d) None of these

B. Short Answer Questions

1. What do you understand by expalnation?

2. How behviour is affected by endocrine glands?

3. Explain the first goal of psychology ?

4. Explain the goal of prediction.

5 Write a short note on counselling psychology.

C. Long Answer Questions

1. Discuss the goals of psychology with suitable examples.

2. Explain the mechanism of the biological approach.

3. Elaborate the definitions of psychology with critical explanations ?

BLOCK 2

Scientific Methods of Psychology

Unit 2.Scientific Methods of Psychology

LEARNING OBJECTIVES

Dear learner, after successfully completing this unit, you should be able to:

- Introduce the various methods of data collection
- Elaborate the importance of the scientific method in the field o psychology.
- Apply scientific insights in the field of research to understand human behaviour.

2.1 Meaning and definitions of Experimental Method

The most powerful and best scientific method is experiment. An experiment is a test carried out under controlled conditions to investigate hypotheses about cause and effect. An experiment asks if A causes B. For example: an experiment might explore whether the amount of sleep causes memory changes. The experiment is conducted often in a laboratory to discover the causal relationship among variables. Cattell (1965) defined the experimental method as a serial process in which the experimenter sets the condition of observation, isolates the facts to be observed, and manipulates and controls the relevant variables in set and controlled conditions. According to Eysenck., "An experiment is the planned manipulation of variables in which at least one of the independent variables is altered under the predetermined conditions during the experiment".

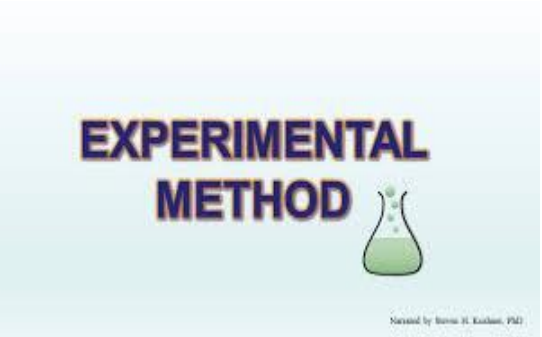

We can see the meanings of some basic concepts of the experimental method in the table given below:

Prime Concept	Description
Problem	According to Kerlinger "A problem is an interrogative sentence or statement that asks what relation exists between two or more variables"
Hypothesis	A hypothesis is a statement about cause and effect that can be tested.

Variable	Any attribute or quality that can occur with different values and measured.
Independent variable	An independent variable is a manipulated variable that represents the hypothesized cause.
Dependent variable	A variable that represents the hypothesized effect whose values ultimately depend on the value of the independent variables.
Extraneous variable	Extraneous variables are anything other than the independent variable that could affect the dependent variable.
Experimental group	A group in which the hypothesized cause is present.
Control group	A group in which the hypothesized cause is absent.
Random assignment	Allocation of the participants to experimental and control groups so that each participant has an equal chance of being selected for any group.

Source: Atkinson & Hilgard et al. (2014). Introduction to Psychology 16th edition. Cengage Learning India Pvt Ltd.

After knowing the basic concepts of the experimental method, we will understand various types of experimental methods. Here we will discuss three types of experimental methods. They are:

· Lab experiment method
· Field experiment method
· Natural experiment method

❖ **Lab experiment method:**

The lab experiment method is one of the most popular and widely used methods. In this method, the experimenter manipulates one or more independent variables and measures the effect of dependent variables under the controlled conditions. The experimenter applies a standardized procedure to study the research problem. The standardized procedure is concerned with many aspects, such as participants, sample and sample size, research design, assessment tools, intervention, and statistical analysis. In this method, study participants are randomly allocated into two groups: the experimental group and the control group. Both groups are equal in all aspects. However, there is one difference between the two groups. The treatment variable is given only to the experimental group.

For instance, if a researcher wishes to investigate how the Gayatri mantra affects students' academic performance, the experimenter will only administer the Gayatri mantra to the experimental group.

❖ **Field experiment Method:**

The field experiment method is a useful technique that is frequently used in natural settings. It is a versatile approach to gathering data. A field experiment is carried out in a natural setting, like a community, workplace, or school. Respondents using this method are not aware that they are being surveyed. The experimenter manipulates one or two independent variables and assesses the effect on the dependent variables, which is similar to the laboratory experimental procedure. The unrelated variables are less under the experimenter's control. Social phenomena like pro-social behaviour, aggressiveness, gratitude, and many more can be studied with this approach.

❖ **Natural experiment method:**

The natural experiment method is a method in which the experimenter does not manipulate the independent variable. This method is applied in a real-world setting. The researcher merely observes people and situations, comparing the current state to a different state, exerting no influence over the situation.

Example: An experimenter was interested in investigating attitudes towards the community after experiencing a natural disaster. The study collected data using interviews. The IV was naturally occurring as the researcher did not manipulate the

IV; instead, they recruited participants who had recently experienced a natural disaster.

Merits of experimental method:

There are many features of the experimental method. These are:

Scientific study: The experimental method is considered the most scientific study because it follows a systematic and structured approach to investigating the problem.

Controlled study: In the experimental method, the study is carried out in a controlled environment. Extrinsic and independent factors are under the experimenter's control.

Objective study: The reason this study is also known as an objective study is that it is devoid of the investigator's prejudices. The outcomes of a study are not influenced by the opinions and perspectives of the experimenter.

Verifiable study: The validity of a study's findings is strengthened when its results and conclusions can be confirmed independently and replicated by other researchers.

Manipulation: The experimental procedure exhibits the quality of manipulation as well, as the researcher controls the independent variable through intervention and treatment.

Randomization: Another positive aspect of the experimental method is randomization. The study units are divided into two groups, or over two groups at random. Each participant has an equal chance of being placed in the control and experimental groups.

Demerits of experimental methods

Despite being an excellent method for gathering data, the experimental method has many drawbacks. They are as follows:

Restricted scope: The experimental method's field of application is constrained. This approach cannot be used to study sensitive or social issues. For instance, research on deceptive behaviour, communication rights, etc.

Less cost-effective method: The experimental approach is less cost-effective in terms of manpower, time, and expenses. It needs enough time, a suitable location, and well-maintained equipment.

Problems with ethics: Variable control may present practical or ethical issues. Testing new medications on animals before humans may seem like a good idea to check whether they work, but what if the animal dies because of the experimental research? Or how about people?

Difficulty to control extraneous variables: Extraneous variables sometimes can't be controlled, which can lower the validity of a study and its results.

Artificiality: Because the experiment is being carried out in a controlled setting, the results could be fabricated.

2.2 Observation method

Meaning and Definitions of Observation Method

Observation is one of the oldest and most widely used methods of psychology. This method plays a very important role in the collection of data on overt behaviour and the actions of individuals. Observation can be described as a process of data collection in which the units/ events/ phenomena/ individuals witnessed first hand. Many psychologists

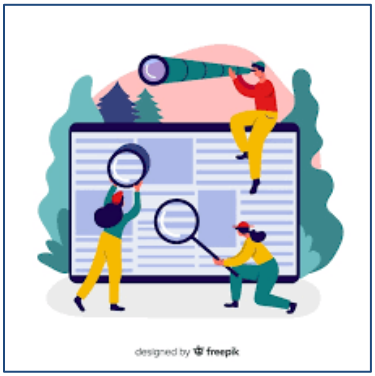

have used different terms and categories for this method like method of systematic observation (Morgan and King), and direct observation (Hilgard and Atkinson) and Feldman has included it in field studies. Observe means "to watch attentively in a scientific manner.

The observation method is defined by various psychologists. Here, We are providing some prime definitions of the observation method. Observation is to simply observe the phenomena under study as it occurs naturally (Hilgard and Atkinson 2003). Observation is defined as a planned methodical watching that involves constraints to improve accuracy (Ram Ahuja).

In psychology, an observation method is used to fulfil the following purposes. They are as follows;

- To capture the human conduct as it happens;
- To provide a more graphic description of social life;
- To study important events and situations;
- To verify and extend the generalization or theories formed based on other studies; and
- To gain insights into the problem.

Types of Observation Method

The observation methods may be classified into the following types.

- Participant–Non Participant
- Systematic–Non Systematic
- Structured–Unstructured
- Natural–Laboratory
- Open–Hidden
- Direct–Indirect
- Covert–Overt

Here, we will discuss the main types of observation methods. They are as follows:

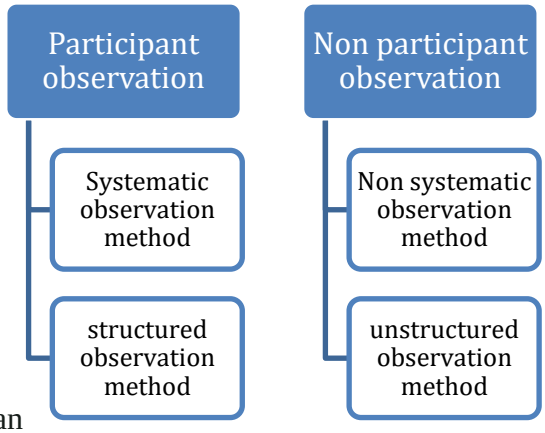

Participants–Non-Participant observation

As the name implies, in participant observation, the observer plays an active role. The observer becomes a member of the group or phenomena and observes the situation. The observer takes part in all the activities and simultaneously observes the behaviour of group members. The observer has to perform two roles, such as an observer and a participant. He introduces himself in a latent manner. Sociologists, psychologists and anthropologists widely used this method. This method is used to study different behaviours of the group, such as a study of tribal culture, the users of the library, students in a classroom and workers in an industry. In all these examples, observation study is possible. Active and direct participation of the observer may create various problems. There is a possibility of establishing an emotional attachment with the group members. Therefore, the collected information may be less aimed.

Systematic–non- systematic observation method

As the name suggests, precise data collection is the goal of systematic observation. A preset procedure is followed when conducting systematic observation to gather and document data or information. Certain guidelines and a logical approach are used in observation. Data replication is feasible. Utilizing the systematic observation method is most effective when the researcher is more concerned with observed behavior than thoughts, interests, or views. The researcher uses a variety of recording techniques in this procedure to gather the desired data. As an illustration, consider the following: continuous, interval, frequency, and duration recording.

2.4 Advantages and disadvantages of the observation method:

The observation method has several advantages and disadvantages. The advantages are:

- This method is useful for studying direct behaviour under a spontaneous environment.
- Sensory involvement plays a significant role in data collection.
- Behaviour is studied through a self watching method. Therefore, there is no need to ask anyone about the behaviour.
- The data collected in a spontaneous environment or situation is reliable.
- The quality of data is much more reliable as it is collected out of intimate and informal relationships.
- This method can be adopted when people cannot state meaningfully, e.g. studies about the children, tribal, animals, etc.
- The whole event is studied through this method, so it provides the opportunity to study the insights or all aspects.
- It is easy to observe in disguising rather than disguised questioning.
- This method is useful when the respondents are unwilling to cooperate in giving information.
- It also helps to collect the data on emotional reactions.
- It helps to analyse the contextual background as well.

Disadvantages of the Observation method:

- It will not help to study the opinions. It may be difficult to structure the situation.
- Another limitation is the stability of the conditions. Observation is difficult under unstable conditions.
- Quantitative analysis makes it difficult to collect data.
- The most difficult could be how to get an entry into the group being observed, i.e., how to become a participant.
- It may not be possible to study or observe everything simultaneously, and the study could be limited.
- The internal attitudes and opinions are difficult to study.
- The sample may have to be limited; unlike the questionnaire- where a number of respondents from different places is difficult to study.
- It may be essential to wait till the event takes place. For example, to study marriage customs, one has to wait till such an event takes place.
- It is a slow, time-consuming and expensive process.
- This method is difficult to apply in large social settings and there is no set procedure for observation.
- It does not offer control measures.
- Some types of behaviours are too private or personal. These types of behaviours are difficult to observe. For example: taking part in criminal activity or sexual behaviour, etc.

- ❖ The observer's ability, consistency, knowledge, bias, and familiarity influence the data collected.

2.3 Survey Method

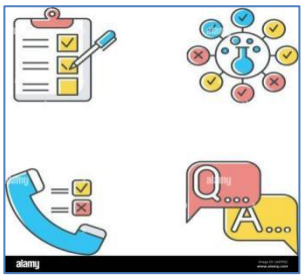

A research method that involves asking people questions about their attitudes, beliefs, behaviours, or demographic information. Surveys are used to identify trends, patterns, and relationships in society. The Survey is a systematic and scientific method of gathering information from a group of individuals by asking them questions. It can be conducted through various means, e.g. online mode, telephone or face-to-face interviews. Surveys have also been used to discover people's political opinions, product preferences, health care needs, and so on.

Meaning and definitions of Survey method

The word Survey has been derived from two words "sur'' or "sor''and "veoir'', which means "over'' and "see'' respectively. The literal meaning of survey is " to see over something from a high place''.

Psychologists define the **survey method** in research as a structured approach to gathering information from individuals about their attitudes, behaviours, or perceptions, often to draw conclusions about a larger population. Below are a few interpretations and definitions of the survey method from the perspective of psychology: C**lone (1973)**: "A survey method involves the selection of a sample from a larger population and the use of structured techniques to gather information, usually through questionnaires or interviews, to study psychological phenomena."

DeVellis (2017): "Surveys in psychology are research tools used to assess attitudes, opinions, or behaviours by asking participants a set of predefined questions that are carefully designed to be reliable and valid.

S**alkind (2010)**: "The survey method in psychology is used to obtain information about individuals' characteristics, psychological traits, and behaviours through standardized questions administered systemically."

Merits of Survey Method

- ❖ The researcher can have direct and indirect contact with the people.
- ❖ This method has less objectivity.
- ❖ It has practical utility.

The researcher has very good contact with many people.

- ❖ The survey can be conducted for a longer time, which gives a chance of knowing the latest changes or advancements that might have taken place in the agenda under study. An efficient and cost-effective way to collect data from large populations.
- ❖ The survey method can be standardized to ensure consistency in responses.
- ❖ The survey method provides quantitative data that can be easily analyzed.

Demerits of Survey Method

- ◆ A large amount of money is needed to conduct the survey.
- ◆ It is a time consuming process.
- ◆ It has lesser reliability and validity of the data collected.
- ◆ The response rate is very slow.
- ◆ Potential for bias in responses.
- ◆ Limited depth of information, especially in closed-ended questions.
- ◆ Rely on participant honesty and willingness to respond.
- ◆ A deep study cannot take place in this method.

2.4 QUESTIONNAIRE METHOD

The **questionnaire method** is a popular research tool used by psychologists to gather data from respondents. It involves a set of written questions designed to measure specific variables, such as attitudes, behaviours, opinions, or psychological traits. Respondents typically answer the questions in writing, either in a paper format or electronically. In psychology, a questionnaire is a research tool that involves asking respondents a set of questions designed to measure psychological constructs, attitudes, or behaviours, usually in a standardized manner.

Meaning and definitions of the Questionnaire method:

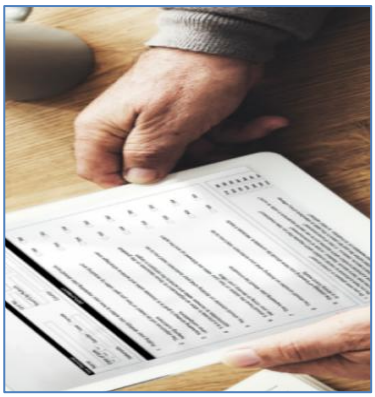

A questionnaire is a research instrument comprising a series of questions and other prompts (strong matches) for gathering information from respondents. Sir Francis Galton invented the questionnaire. Questionnaire is a written or printed form used in gathering information on some subject or subjects, consisting of a set of questions to be submitted to one or more persons. Questionnaires can also be defined as a list of research or survey questions asked to respondents and designed to extract specific information. It serves four basic purposes which are:

(i) collect the data.
(ii) makes data comparable and amenable to analysis.
(iii) minimize bias in formulating and asking questions
(iv) to make questions engaging and varied.

Here are definitions of the **questionnaire method** by psychologists. Keplinger (1973): "A questionnaire is a method of collecting data through a set of structured questions that participants respond to, often in written form, designed to gather quantitative or qualitative information on specific variables." Dillman (2007): "A questionnaire is a self-administered instrument used to gather information on specific psychological, behavioural, or demographic characteristics of a group or individual, designed to minimize bias and ensure consistency across respondents."

Merits of Questionnaire.

- The questionnaire method is an economical method. These methods help in terms of time, labour and cost.
- This method does not require as much effort from the questioner as verbal or telephone surveys.
- They have standardized answers that make it simple to compile data.
- They are sharply limited because respondents must be able to read the questions and respond to them.
- Questionnaires can collect data quickly.
- All participants can be allowed to provide feedback.
- Structured questionnaire data can be processed by software packages like SPSS.

Demerits of Questionnaire

- Questionnaires also have many of the same problems relating to question construction and wording that exist in other types of opinion polls.
- Questions could be interpreted differently by respondents.
- It's difficult to design questionnaires to minimize this effect.

- ❖ Data processing and analysis for large samples can be time consuming.
- ❖ It can be difficult motivating potential respondents to complete questionnaires

In the field of social sciences, especially in psychology, data collection is conducted with the help of different study methods. According to the nature of problem, a suitable study method is used to describe and measure of human as well as animal behavior. The experimental method is considered one of the best method of data collection.When human behaviour is studied using scientific methods, the prediction and modification of behviour become more reliable.

Scientific method is concerned

with efficient ways of gathering knowledge

Multiple Choice Question

1.. Which is the best method of data collection ?

a. Experimental
b. Observation
c. Survey
d. None of these

2. The meaning of prediction is

a. Forecast
b. Future outcome
c. Both a & b
d. None of these

3. A psychological test is a

a. Measurement device
b. Examination
c. product
d. None of these

4. The observation is done with the help of

a. Sense organs
b. instruments
c. Both a and b
d. None of these

5. In which method of psychology control group is created?

a. Experimental
b. Survey

c. Observation
d. None of these

B. Short Answer Questions

1. What do you understand by expalnation?

2. How behviour is affected by endocrine glands?

3. Explain the first goal of psychology ?

4. Explain the goal of prediction.

5 Write a short note on counselling psychology.

C. Long Answer Questions

1. Discuss the goals of psychology with suitable examples.

2. Explain the mechanism of the biological approach.

3. Elaborate the definitions of psychology with critical explanations ?

BLOCK 3

PERCEPTION

Unit 3: Meaning, definition and mechanism of perception

Perception is a cognitive mental process that helps us to create contact with the world. In this unit, we will learn about the mechanism of perception with various determinants of perception. An attempt is also made to gain insight into the laws of perceptual organization and perceptual constancy.

Before knowing perception, first, we should know what sensation is. Sensation is an input about the physical world provided by our sensory receptors. Sensory receptors are cells of the body specialized for transduction. Transduction is the process by which physical energy is converted into neural impulses (electrical signals).

3.1 Meaning of Perception: There are two methods to interpret the meaning of perception: etymological meaning and general meaning. The Latin term percepio, which means "receiving, collecting, the action of taking possession, apprehension with the mind or senses," is the root of the English word perception. Perception can be broadly defined as the process by which an individual gives meaning to their experiences. The cognitive mental process of perception aids in the selection, organization, and interpretation of sensory inputs to achieve a grasp of our surroundings. Perception is defined by various psychologists. Some best definitions of perception are as follows:

James William James (1890): “Perception is the process by which we become aware of the objects and events around us”.

William McDougall (1908): “Perception is the process of organizing and interpreting sensory data to create a meaningful representation of the world around us”.

Michael Graziano (2019): “Perception is the process by which the brain generates a representation of the world that is consistent with our sensory inputs and our prior knowledge”.

Mechanism of perception:

As we mentioned above, perception is a process. The process of perception involves:

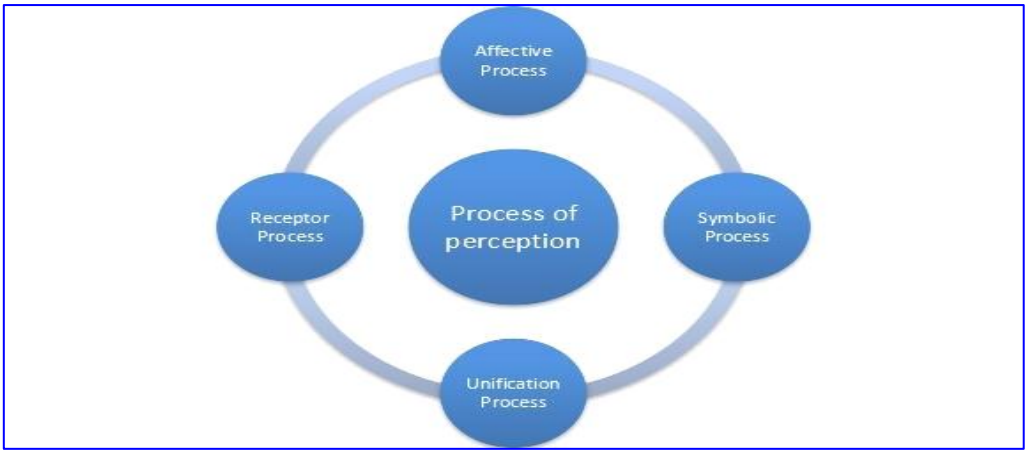

Receptor Process: The first and most important element is the receptor process. Our five senses -the eyes, ears, nose, skin, and tongue are home to specialized cells called receptor cells. These cells provide information about sensory activation and are stimulus-sensitive. For instance, your rods and cones become active when you see your best buddy calling, and the basal membrane's sound sensory receptor is engaged. Your olfactory receptor is triggered by the scent of her perfume, and your cutaneous receptor is aroused when you shake your hands.

Symbolic process: A symbolic process is a mental activity when thoughts are mediated by ideas, pictures, or other mental representations. The symbolic process is aided by neural activity and prior experiences. For instance, when someone loses a pen, he uses a symbolic method to try to recall what he did during the day. Remembrance of Mumtaj Mahal during the perception of Taj Mahal is the best example of the symbolic process.

Affective Process: the affective process is the feeling and sentiments attached to an object, person, or situation. These feelings may be pleasant or unpleasant, for example, a warm welcome from your best friend.

Unification process: The quality of unification is also found in perception. As per Gestalt psychology, we perceive things instead of their parts. For example, the perception of rose flowers to see the rose petals.

Stages of Perception: Now we will discuss and study of stages of perception. They are:

Stage I: Selection

The first stage of perception is “selection”. Since our brain has limited capacity, therefore, it cannot attend to all stimuli. We unconsciously or consciously select some stimuli and ignore others. The selected stimulus becomes the “attended stimulus”.

Stage II: Organization

In this stage, selected stimuli are arranged mentally in a meaningful pattern. This process occurs unconsciously. Many principles have been proposed to explain the process of an organization. Gestalt psychologists have proposed many principles for organizing stimuli. Such as, ‘figure-ground relationship’, ‘law of proximity’, ‘law of

closure', etc. It explains how humans naturally organize stimuli to make a meaningful pattern and, thus, interpretation.

Stage III: Interpretation

Interpretation is the last stage of perception. In this last stage, meaning is assigned to the organized stimuli. Interpretation of the stimuli is based on one's experiences, expectations, needs, beliefs, and other factors. Thus, this stage is subjective and different individuals can interpret the same stimuli. **Gestalt principles of an organization** help to understand how humans naturally organize stimuli to make a meaningful pattern and thus interpretation.

1.4 Factors affecting perception:

After knowing various stages of perception, we will understand about factors affecting perception. Different determinants affect perception. They are:

Effect of Motivation or Need: Motivation always plays a vital role in various psychological processes, including perception. Many experimental studies have also reported the same effect. In a classic experiment, Stanford (1936) reported that hungry participants perceived ambiguous stimuli more than food-related stimuli than non-hungry participants did. Similarly, in a recent study, Changizi and Hall (2001) demonstrated that your need for thirst could also affect perception.

Effect of Expectation or Perceptual Expectancy:

Perceptual expectancy is a person's readiness or predisposition to perceive things in a particular way. In a classic experiment, Bruner and Minturn (1955) illustrated the role of expectation in our perception. In one condition, he showed his participants an ambiguous figure of '13' in numbers like this;

10 13 15

In the second condition, he showed the same ambiguous figure of '13' in alphabet like this:

A
I3
C

In the first condition, participants perceived the ambiguous stimulus as 13, while in the second it was perceived as B. The ambiguous stimulus in both conditions was the same but interpreted differently because participants' prior experience plays an important role in the way we interpret stimuli; it shapes your perception. For example, if you mistakenly perceive a rope as a snake in the dark, then your previous experience is guiding your perceptual process. What do you see in the above picture? A Flamingo shaped pen, right? Even though this is not a typical pen, you perceive it as a pen because of your previous exposure.

Effect of the Culture:

Culture provides structure, guidelines, expectations, and rules to help people understand and interpret behaviours. Ethnographic studies suggest there are cultural differences in social understanding, interpretation, and response to behaviour and emotion. Cultural scripts dictate how positive and negative stimuli should be interpreted. Now look at the following hand gesture and interpret it. What does it mean?

a hand gesture

In India, it refers to being beautiful or being perfect but in Brazil; it is a rude gesture. This example suggests that the interpretation of a stimulus changes with the change in the culture.

Stimulus characteristics: characteristics of stimulus also affect the perception. Especially sensory qualities like sound, taste and appearance grab attention more effectively. For instance: the teeth of elephants.

Laws of perceptual organization

The laws of perceptual organisation are also called gestalt laws of perception. German psychologists develop these laws. In the early 20^{th} century, three German psychologists Max Wertheimer, Wolfgang Köhler and Kurt Koffka proposed new principles for explaining perception called as Gestalt principle. These laws describe how a person can interpret the complex world. According to these psychologists, the process of perception does not involve perceiving an array of stimuli as an object, but it involves our tendency to seek a form or pattern in it.

The literal meaning of the word Gestalt is form or configuration. The basic premise of Gestalt psychology is that 'whole differs from the sum of its part'. Based on this basic premise, Gestalt psychologists proposed several principles or laws to explain the process of perceptual organisation, i.e., how we perceive smaller units of stimuli having a particular pattern.

Law of Figure-ground Relationship:

This principle states that we tend to segregate our world as figures and ground. We always see a figure (image) against the background. The figure is that part of stimuli that has our focus on the visual field, whereas the ground is background. The figure has a definite shape and is better remembered whereas the background is shapeless and has no limits.

An example of a figure-ground relationship

Law of Proximity

This refers to the grouping of elements or objects that occur close together. To perceive stimuli meaningfully, stimuli which are closer to each other are perceived by us belonging to one group.

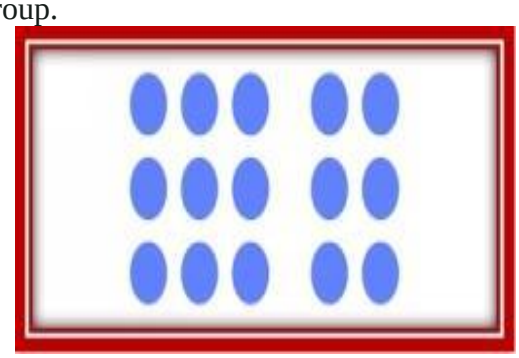

Law of Good Figure/ Law of Pragnanz/Law of Symmetry:

The word Pragnanz is a German meaning "good figure". Therefore, this principle is also called the "law of good figures". According to this principle, we have a tendency to organize stimuli to make the figure balanced or symmetrical. Thus, out of all ways of grouping stimuli, we group stimuli in the simplest and most stable shape. Thus, we can say that simpler forms are more perceived by us.

Example of Law of Good Figure

Law of Continuation

It refers to our tendency to perceive figures in continuation, rather than in parts. This principle is exhibited more in the perception of line.

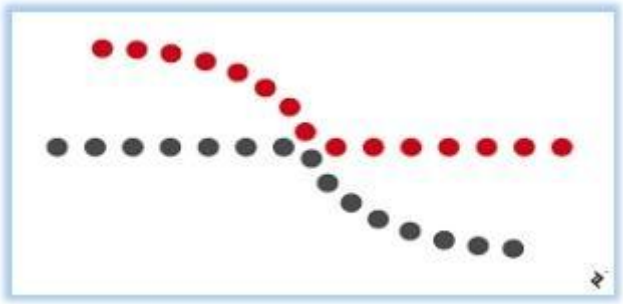

Example of Law of Continuation

Law of Common fate

The law of common fate is a principle of Gestalt psychology. It states that when elements move together, humans see them as a group, as human nature associates objects that share a common motion (e.g., a flock of birds).

Law of Common fate

Law of Closure

The perceptual processes organize our perceptions of the stimulus by filling in the gaps in our sensations. The brain typically fills in the gaps in an image where there are missing parts to perceive a unified form.

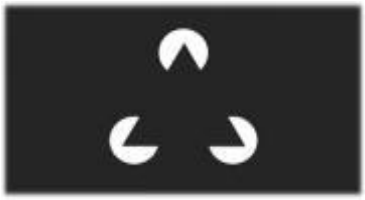

Law of Closure

Law of Similarity

This principle suggests that things are grouped together according to their similarity. For instance,

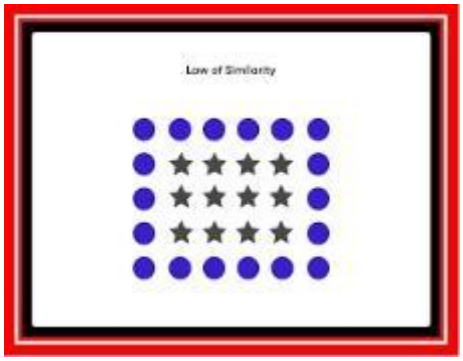

Law of Similarity

After knowing the different laws of perceptual organization, we will explain Perceptual constancy:

Perceptual constancy is an important aspect of our perceptual interaction with the world. Perceptual constancy is the ability of our brain to observe the size and shape of objects despite changes in their distance, position, or lighting. Our brain can "correct" for these changes so that we can see objects as they are, not just how they appear to us. This is important because it allows us to accurately perceive our surroundings and interact with them. Why is perceptual constancy important?

Perceptual constancy is important because it allows us to accurately perceive the world. Without perceptual constancy, we would be constantly bombarded with sensory information that would be difficult to interpret and make sense of. The fact that we can rely on our brains to perceive size and shape in a consistent manner allows us to interact with our environment in a predictable way. This is particularly

important for tasks such as navigating through space or recognizing objects effectively.

Different types of perceptual constancy

There are several types of perceptual constancy, but the two most important ones ar**e size constancy** and **shape constancy**. So let's discuss perceptual constancies: size, and shape first.

Size constancy:

Size constancy is the ability to see an object as staying the same size, even when it is moved to a different location. This is important because if we didn't have this ability, then everything would look different depending on where we were standing. For example, if you held up a pencil in front of your face, it would look small, but if you held it up in front of a wall, it would look large. However, with size constancy, the pencil will always look the same size, no matter where you are standing.

Shape constancy:

Shape constancy is the ability to see an object as staying the same shape, even when it is moved to a different location. This is important because if we didn't have this ability, then everything would look different depending on where we were standing. For example, if you looked at a circle and then looked away, and then back at the circle again, it would look like it had changed shape. However, with shape constancy, the circle will always look like a circle, no matter where you are standing.

Colour Constancy:

Colour constancy also plays a vital role in human life. This occurs when we can see colours in different objects, even if the light reflecting off these objects is different. For example, if you are outside on a sunny day and look at a green leaf, the leaf will also look green even if you move inside and the light is different. This is because our brain understands that the colour of an object is not dependent on the type of light that is shining on it.

Texture Constancy:

Another type of perceptual constancy is texture constancy. This occurs when we can see textures in different objects, even if the object is rotated or moved. For example, if you are looking at a piece of fabric, you will see the texture.

Perception is a cognitive process, akin to memory and attention, that plays a crucial role in human functioning. It enables individuals to interpret and make sense of their environment. Perception is influenced by both internal (subjective) factors, such as mood, motivation, and interest and external factors, including environmental conditions, time, and place. Together, these factors shape an individual's perceptual experiences and accuracy.

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

1. **Perception is a:**
   a. Cognitive process
   b. Affective process
   c. Both a and b
   d. None of these
2. **The meaning of illusion is:**
   a. False perception
   b. Good perception
   c. Negative perception
   d. None of these

3. **Proximity is a law of:**
   a. Perceptual organization
   b. Learning
   c. Motivation
   d. None of these
4. **The receptor process:**
   a. Receives information
   b. Transfers information
   c. Sustains information
   d. None of these
5. **Gestalt is a:**
   a. German word
   b. French word
   c. American word
   d. None of these

B. Short Answer Questions

1. What do you understand by the affective process?
2. How is perception affected by motivation?
3. Explain the law of similarity.
4. Explain the law of proximity.
5. Write a short note on the objective factors of perception.

C. Long Answer Questions

1. Describe the concept of perception and explain its mechanisms.
2. Explain the laws of perceptual organization.
3. Elaborate on the concept of perceptual constancy.

BLOCK 4

LEARNING

Unit 4: Learning

LEARNING OBJECTIVES

Dear learner, after successfully completing this unit, you should be able to:

- Understand and discuss the concept of learning.
- Explain the different types of learning and their significance in daily life.
- develop theoretical and practical understanding of strategies to enhance learning

1.1 Meaning definitions and types of learning

Learning is a useful psychological process that is essential for healthy development. L earning is an acquisition of knowledge. Learning may be defined as a"relatively perm anent change in behaviour." In daily life, several behavioural changes occur due to the use of drugs or fatigue. Such changes are temporary and are not considered learning. Behavior changes that happen with experience and practice are called learning. Learni ng refers to a process (Langley & Simon, 1981, Steiner, 1988, Rescorla, 1988, Good & Brophy, 1990, Anderson 1995, Lachman, 1997, Hall, 2003, Mazur, 2013, Barron et al., 2015 and Jablinka & Ginsburg, 2022.

After explaining the nature of learning, we will discuss the definitions of learning give n by various psychologists:

- Explain the transfer of learning.

Hilgard, Atkinson and Atkinson (1979) defined learning as a relatively permanent change in behaviour that occurs as the result of prior experience

The famous psychologist Murphy (1968) stated that learning covers every modification in behaviour to meet environmental requirements.

Domsch (2014): defined learning as a phenomenon that is influenced by a complex interplay of factors such as physiological, environmental, cognitive, emotional, motivational, and social factors.

1.2 There are different kinds of learning.

- Cognitive Learning
- Insight Learning
- Latent learning
- Verbal learning
- Motor Learning
- Concept learning

Cognitive Learning

Cognitive learning refers to changes in an individual's thought processes and knowledge systems. It is characterized by improvements in higher-order cognitive functions. According to renowned psychologist Mayer (2011), cognitive learning is defined as a change in knowledge that results from experience. This definition highlights three key components: (1) learning involves a change, (2) this change occurs in the learner's knowledge, and (3) the change is brought about by the learner's own experiences.

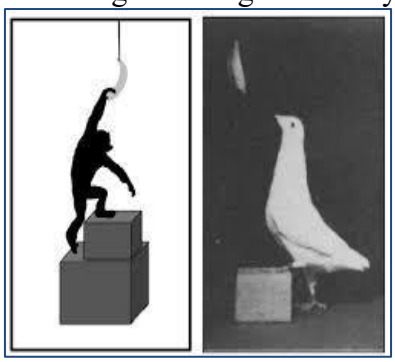

Insight learning: The famous psychologist conducted various experiments to explain the concept of insight learning. Kohler defined insight learning as a process by which a person can find the solution to a problem all of a sudden. Based on his experiment work, he claimed that learning does not occur as a result of trial and error and reinforcement but comes about in sudden flashes of insight.

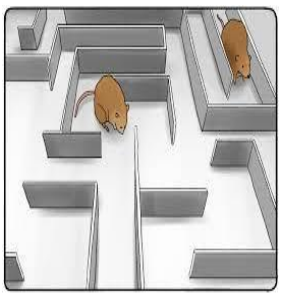

Latent learning: Latent learning is a form of cognitive learning where new information is acquired without being explicitly provided until it is reinforced. The idea of latent learning was first proposed by the well-known psychologist Tolman. Two sets of rats were placed in a maze and allowed to explore by Tolman. Rats in one group discovered food at the maze's end and quickly figured out how to go quickly through it. Rats in the second group, however, received no rewards and didn't appear to be learning anything. However, after receiving reinforcement, these rats were able to navigate the maze just as effectively as the group that received rewards.

Verbal learning was first identified by great psychologist Hermann Ebbinghaus, who used a list of nonsense syllables to test recall. Verbal learning is a process by which a person can memorize new learning materials using words and languages.

Motor learning: Motor learning refers to the process of acquiring new motor skills or functions through practice and experience. This type of learning enables us to perform and refine various movements and activities, such as walking, running, skating, driving, and climbing. Through repeated practice, our ability to execute these motor functions becomes more efficient and coordinated.

Discrimination Learning: In this learning, a person can differentiate between variou s stimuli. One example of discrimination learning in humans would be a baby who rea cts differently to their mother's voice than to a stranger's voice.

Factors affecting learning:

Learning is an active process that is influenced by various factors including physiological, psychological, socio-emotional and educational factors.

Physiological factors play a vital role in the acquisition of knowledge or behaviour ch anges. Learning is affected by several physiological factors mentioned in the below di agram:

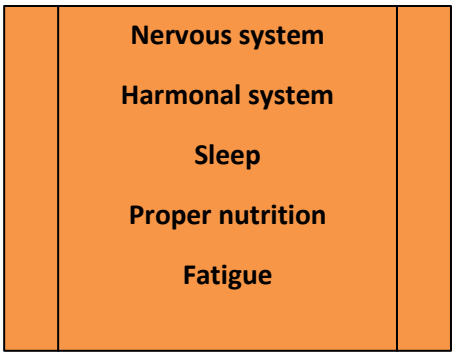

Nervous system: The nervous system is the command centre of the entire body. All of the body's organs, muscles, and glands are connected by a huge network of nerves, which serves as the nervous system's command centre. The nervous system's main function is to send messages from various parts of our body to our brain and from our brain back out to our body to tell our body what to do. These messages regulate your thoughts, memory, learning, and feelings.

Hormonal system: Hormones are chemicals produced by different glands across your body. They travel through the bloodstream, acting as messengers and playing a part in many bodily processes. Certain hormones are known to help promote positive feelings, including happiness and pleasure. These “happy hormones” include dopamine, serotonin, oxytocin, and endorphins.

Sleep: Sleep is also a powerful component of learning. According to scientific research, memory traces get stronger after rest. Thus, getting enough sleep is essential for learning. Good sleep habits facilitate the easy and efficient learning and processing of new knowledge.

Appropriate diet: Nutrition has been shown to have a powerful effect on brain function. According to research, a child's behaviour and capacity for learning are significantly impacted by protein, iron, and iodine. Furthermore, new studies have

shown that micro nutrients like vitamins, minerals, and essential fatty acids have powerful additional functions in preventing behavioural and learning issues

Fatigue: Fatigue is a mental or physical state of excessive tiredness and lack of energy. Learning becomes weak due to fatigue. Carron, A. V., & Ferchuk, A. D. (1971) conducted research and obtained results indicating that physical fatigue was detrimental to performance and learning on motor tasks.

Psychological factors of learning: Learning is also affected by psychological factors. Several factors that have an adverse impact on acquisition of knowledge. They are as follows:

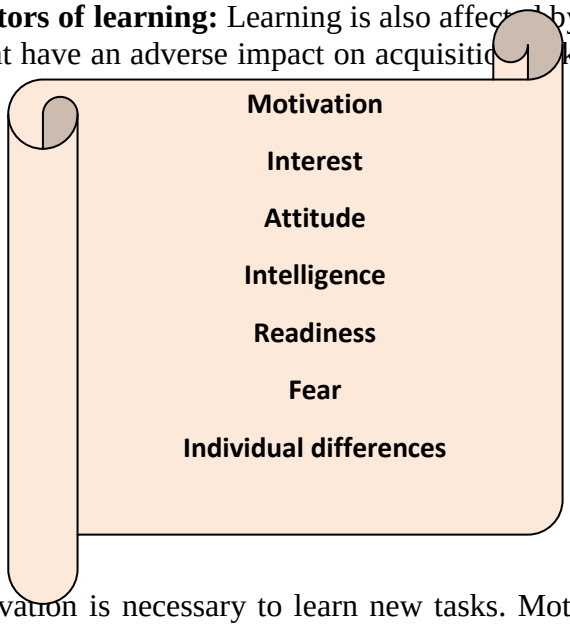

Motivation: Motivation is necessary to learn new tasks. Motivation is a power that enables a person to achieve his goal. A motivated person easily and effectively obtains his goal.

Attitude: attitude is an evaluative statement towards a person, object or situation. If a person has a positive attitude then he will be able to learn his task with full energy.

Intelligence: Intelligence is the mental capacity that makes learning a task easier. An individual has fewer learning difficulties if their IQ is higher than 100.

Readiness: Another powerful psychological component that influences learning is readiness. A neurological preparation for carrying out an action is called readiness. It suggests a person's level of readiness to pick up new skills. A person is able to learn well when he is physically, mentally, and emotionally ready to learn.

Fear: fear is a psychological state of mind in which a person feels excessive worry. Due to fear, the state of mind becomes imbalanced and a person is not able to perform a new task.

Individual differences: a person differs from one another in terms of physical, psychological and mental attributes. Due to individual differences, learning may not be the same among individuals.

1.4 Methods of learning:

Learning is a process by which behaviour modification occurs. Several methods are used to enhance the quality of learning. Here, we are going to discuss some prime methods of learning.

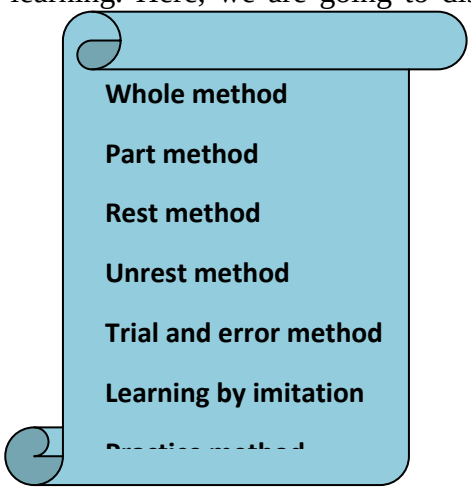

Whole method

The whole method is a beneficial learning strategy. When using the whole method, the entire task, skill, or subject is learnt and practised as a whole without being divided into smaller components. The approach works best for brief, easy-to-understand tasks that can be mastered in a single try, as well as for abilities that call for time, rhythm, and continuity (such as giving a speech). Reading a chapter through from beginning to end is one example.

Part-method

It is also a very useful and applicable method. The assignments or learning materials are broken up into smaller, more manageable chunks, and each chunk is studied and performed independently. It works best for multi-component, and complex tasks. This approach works well for learning materials that are long and complex . For instance, mastering a lengthy poem.

Rest method

The most traditional and widely used method is the rest technique. The rest method is the practice of taking a break after studying. Research has demonstrated that rest improves memory retention (Cowan et al. 2004; Della Sala et al. 2005; Dewar et al. 2012a). After learning, memory traces get stronger with rest. To maintain high levels of productivity and protect mental health, a daily schedule must include contemplative breaks or rest moments.

Unrest technique

This is also a very effective and useful method of learning. With this approach, one learns a new skill or task without getting a break. This method works well for quick and simple tasks.

Setting Smart Goals:

One key aspect of effective learning is having smart goals. Smart goals are specific, measurable, achievable, relevant, and time bound. Learning without goals is directionless. A learner learns easily and effectively with clear and smart goals.

Trial and error method

The renowned behavioural psychologist Thorndike invented the idea of trial and error. He discovered in his experiment that learning becomes successful through trial and error. A basic approach to problem-solving is trial and error, which is defined by several behavioural psychologists.The trial and error method is foundational in both animal and human learning, especially when no ready-made solution is available. It underpins many basic forms of learning and problem-solving, and its principles are reflected in fields such as behavioral psychology, education, and even computer science.The trial and error method of learning is a fundamental approach to problem-solving and learning, characterized by repeated, varied attempts to achieve a goal, with unsuccessful attempts being discarded until a successful solution is found.

Imitation-based learning

Younger children frequently employ this social learning strategy, which is also referred to as "learning from demonstration." Imitation is the act of copying someone else's behaviour. Both humans and animals are born with the sophisticated behaviour of imitation.

Practice method

It is among the most traditional and widely used learning strategies. Practice makes perfect, as the saying goes. The process of repeatedly practising a

behaviour to learn and finally master a skill is called practice.

Rote method

Rote learning is a method of memorizing information that relies on repetition. The strategy is based on the idea that the more times a piece of information is repeated, the faster it can be remembered. Active learning, spaced repetition, associative learning, and meaningful learning are a few substitutes for rote learning.

Transfer of learning

Transfer of learning is a useful psychological concept. Transfer of learning means the use of previously gained knowledge to newer learning. In other words, transfer learning uses what has been learned in one setting to improve generalization in another setting. Transfer of learning occurs when people apply information, strategies, and skills they have learned to a new situation or context.

Types of Transfer Learning

Transfer of learning consists of several types. Here we will discuss some prime types of transfer of learning. They are as follows:

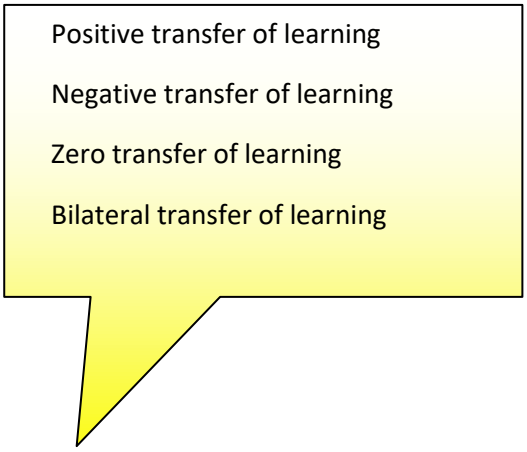

Positive Transfer: When new learning facilitates prior learning, it is called positive transfer of learning. For instance, car driving after bicycle training, and skills in playing the mouth organ can facilitate the playing of the flute.

Negative Transfer: Negative transfer of learning occurs when new or second learning becomes harder due to fast learning or when knowledge of one skill can hinder another. This happens when elements or information within two learning contexts conflict with each other, such as expertise in operating automatic transmission vehicles obstructing driving manual or stick shift vehicles.

Neutral Transfer: Neutral transfer, or zero transfer, occurs when one learning context does not affect another. For example, knowing how to cook does not facilitate or impede learning how to swim.

Bilateral transfer of learning: The transfer of learning that occurs between the two limbs has been referred to as the bilateral transfer of learning (Magill, 2011). Thus after training a motor task with one limb, the performance of the untrained contralateral limb will show improvements on the same motor task. The phenomenon of bilateral transfer has been investigated in tasks such as writing inverted and reversed letters (Hicks, 1974; Parlow and Kinsbourne, 1989), sequence learning (Kirsch & Hoffmann, 2010), maze learning (Van Mier & Petersen, 2006), mirror drawing (Kumar & Mandal, 2005), anticipatory timing, and force control (Teixeira, 2000).

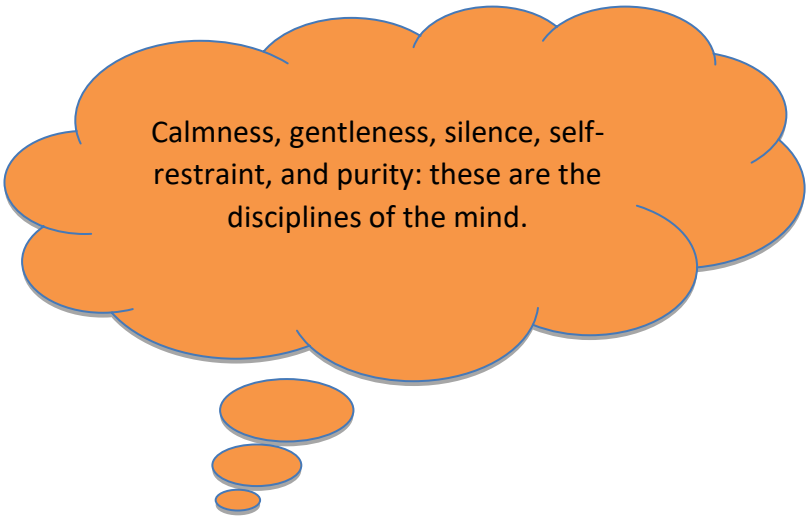

Learning is a useful concept in psychology and plays a vital role in human growth and development. It refers to the process of acquiring knowledge, skills, attitudes, and experiences through observation, insight, practice and interaction with the environment. Learning enables individuals to adapt to new situations and respond effectively. To challenges in life. It is a continuous and lifelong process that begins at birth and continues throughout life. Through learning, behaviour is modified in a relatively permanent way, which helps in personal, social and intellectual development.factors such as motivation, reinforcement, practice, and environment significantly influence the learning process. Different types of learning, such as classical conditioning, operant conditioning, and observational learning, explain how individuals acquire new behaviours and skills. Thus, learning is essential for survival, adjustment, and overall development of an individual.

. Multiple Choice Questions (MCQs)

1. **Learning is a:**
   a. Lifelong process
   b. Stable process
   c. Unstable process
   d. None of these
2. **The meaning of learning is:**
   a. Acquisition of knowledge
   b. Reinforcement of knowledge
   c. Decrement in knowledge
   d. None of these
3. **The trial-and-error theory was proposed by:**
   a. Edward Thorndike
   b. B. F. Skinner
   c. Albert Bandura
   d. None of these
4. **The rest method is the practice of:**
   a. Taking a break after studying
   b. Reinforcement
   c. Law
   d. None of these
5. **In which branch of psychology is social behaviour studied?**
   a. Social Psychology

b. Personality Psychology
c. Counselling Psychology
d. None of these

B. Short Answer Questions

1. What do you understand by learning?
2. Explain the concept of motivational learning.
3. Describe the various factors of learning.
4. Explain the rest method of learning.
5. Write a short note on the whole method of learning.

C. Long Answer Questions

1. Discuss the types of learning with suitable examples.
2. Explain the concept of transfer of learning.
3. Elaborate on the definitions of learning along with its types.

References

Anderson, J. R. (1995). *Learning and memory: An integrated approach*. Wiley.

Ahuja, R. (2001). *Research methods* (p. 239). Rawat.

Burrill, C., Dani, J., Burrill, C., & Demmig-Adams, B. (2005). The remarkable role of nutrition in learning and behaviour. *Nutrition & Food Science, 35*(4), 258–263. https://doi.org/10.1108/00346650510605671

Carron, A. V., & Ferchuk, A. D. (1971). The effect of fatigue on learning and performance of a gross motor task. *Journal of Motor Behavior, 3*(1), 62–68. https://doi.org/10.1080/00222895.1971.10734898

Cohen, J. (2015). Perceptual constancy. In M. Matthen (Ed.), *The Oxford handbook of philosophy of perception* (pp. 621–634). Oxford University Press.

Cowan, N., Beschin, N., & Della Sala, S. (2004). Verbal recall in amnesiacs under conditions of diminished retroactive interference. *Brain, 127*(4), 825–834. https://doi.org/10.1093/brain/awh098

Darwin, C. J., Turvey, M. T., & Crowder, R. G. (1972). An auditory analogue of the Sperling partial report procedure: Evidence for brief auditory storage. *Cognitive Psychology, 3*(2), 255–267. https://doi.org/10.1016/0010-0285(72)90007-2

Della Sala, S., Cowan, N., Beschin, N., & Perini, M. (2005). Just lying there, remembering: Improving recall of prose in amnesic patients with mild cognitive impairment by minimising interference. *Memory, 13*(3–4), 435–440. https://doi.org/10.1080/09658210444000309

Dewar, M., Alber, J., Butler, C., Cowan, N., & Della Sala, S. (2012). Brief wakeful resting boosts new memories over the long term. *Psychological Science, 23*(9), 955–960. https://doi.org/10.1177/0956797612441220

Good, T. I., & Brophy, J. E. (1990). *Educational psychology: A realistic approach* (4th ed.). Prentice-Hall.

Lachman, S. J. (1997). Learning is a process: Toward an improved definition of learning. *Journal of Psychology, 131*, 477–480. https://doi.org/10.1080/00223989709603535

Pratte, M. S. (2018). Iconic memories die a sudden death. *Psychological Science, 29*(6), 877–887. https://doi.org/10.1177/0956797617747118

Sperling, G. (1960). The information available in brief visual presentations. *Psychological Monographs: General and Applied, 74*(11), 1. https://doi.org/10.1037/h0093759

Steiner, E. (1988). *Methodology of theory building*. Educology Research Associates.

Tripathy, S. P., & Öğmen, H. (2018). Sensory memory is allocated exclusively to the current event-segment. *Frontiers in Psychology, 9*, 1435. https://doi.org/10.3389/fpsyg.2018.01435

॥ ओ३म् ॥

संस्कृतसाहित्यम्

BDPHID-304 (1)

दिव्य प्रकाशन

संस्कृतसाहित्यम्-III
BDPHID-304 (1)

उद्देश्य-

- ''सुपां सुपा भवन्ति'' ''बहुलं छन्दसि'' आदि व्याकरण के वैदिक भाग का ज्ञान कराना।
- वेदों में प्रयुक्त होने वाले विशिष्ट प्रत्ययों का सामान्य दृगद्र्शन कराना

प्रथम इकाई 08 घण्टे

व्याकरणनियमविषयः (अष्टाध्ययी 1-4)

द्वितीय इकाई- 07 घण्टे

व्याकरणनियमविषयः (अष्टाध्ययी 5-8)

तृतीय इकाई- 08 घण्टे

लिङ्गानुशासनं नाम पञ्चमं प्रकरणम्

चतुर्थ इकाई- 07 घण्टे

लिंगानुशासनशेषः

परिणाम-

1. वेद से सम्बद्ध व्याकरण के विशिष्ट नियमों से अवगत होकर वेदार्थ करने में सरलता अनुभव करता है।

2. वेद से सम्बद्ध विशिष्ट प्रत्ययों के अर्थ विषय में निर्भ्रान्त हो जाता है।

निर्धारित पाठ्यपुस्तक - ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली 2012

व्याकरण चन्द्रोदय 3-डॉ. आचार्या साध्वी देवप्रिया, प्रकाशक-दिव्यप्रकाशन हरिद्वार।

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ सं.
खण्ड- 1	**व्याकरणनियमविषय (अष्टाध्यायी 1-4)**	**5-14**
इकाई-1.1	अष्टाध्यायी (प्रथमोऽध्यायः)	5-6
इकाई-1.2	अष्टाध्यायी (द्वितीयोऽध्यायः)	7-8
इकाई-1.3	अष्टाध्यायी (तृतीयोऽध्यायः)	9-12
इकाई-1.4	अष्टाध्यायी (चतुर्थोऽध्यायः)	13-14
खण्ड- 2	**व्याकरणनियमविषय (अष्टाध्यायी 1-4)**	**15-23**
इकाई-2.1	अष्टाध्यायी (पञ्चमोऽध्यायः)	15-16
इकाई-2.2	अष्टाध्यायी (षष्ठोऽध्यायः)	17-18
इकाई-2.3	अष्टाध्यायी (सप्तमोऽध्यायः)	19-20
इकाई-2.4	अष्टाध्यायी (अष्टमोऽध्यायः)	21-23
खण्ड- 3	**लिङ्गानुशासनं नाम पञ्चमं प्रकरणम्**	**24-35**
इकाई-3.1	स्त्रीङ्गाधिकारः	24-26
इकाई-3.2	पुँल्लिङ्गाधिकारः	27-29
इकाई-3.3	नपुंसकाधिकारः	30-32
इकाई-3.4	अन्यलिङ्गाधिकार	33-35
खण्ड- 4	**लिङ्गानुशासनशेषः**	**36-50**
इकाई-4.1	स्त्र्यादिलिङ्गाधिकारः	36-39
इकाई-4.2	अथाऽलिङ्गकाः	40-41
इकाई-4.3	अजहल्लिङ्गकाः	42-43
इकाई-4.4	अथभेदाल्लिङ्ग-भेदः	44-46
इकाई-4.5	स्त्रीत्वं लोकात्	47-48
इकाई-4.6	सामान्ये नपुंसकम्	49-50

भूमिका

पाणिनीय व्याकरण (अष्टाध्यायी) में वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के संस्कृत शब्दों काअनुशासन मिलता है। लोक में प्रयोग किये जाने वाले सभी संस्कृत शब्दों की निष्पन्न प्रकृिया के लिए अष्टाध्यायी महानतम ग्रन्थ है। यद्यपि वेद में पठित सभी शब्दों का प्रयोग लोक में नहीं किया जाता, परन्तु पाणिनी जी ने वैदिक शब्दों का अनुशासन भी अष्टाध्यायी में किया है। लौकिक शब्दों की निष्पत्ति मे जो व्याकरण के प्रकृति -प्रत्ययादि नियम है, वह सभी वैदिक शब्दों की निष्पत्ति में समान नहीं होता है। अतः व्याकरण ग्रन्थ में 'बहुलं छन्दसि', 'विभाषा छन्दसि', आदि के द्वारा वैकल्पिक नियम, सामान्य नियम, अनियम अथवा अन्य नियम किया जाता है। वैदिक मन्त्रों को समझने के लिए जो व्याकरणादि नियम है, वह इस ग्रन्थ के दो ईकायों में दिया गया है।

यदाऽभूत्संस्कृतं लोकव्यवहारस्य गोचरः। लिङ्गं तदापि दुर्वेदं सुतरां मेनिरे बुधाः ॥१॥

किमङ्ग साम्प्रतं यत्र सङ्कोचं परमं श्रितम्। अल्पं विज्ञसमज्यासु केवलं तत्प्रयुज्यते ॥२॥

अनवद्ये पदस्तोमे निर्दुष्टेऽपि पदान्वये। साधुत्वाद्धीयते वाक्यं ध्रुवं लिङ्गविपर्ययात् ॥३॥

तस्माल्लिङ्गं बुभुत्सूनां बालानां हितकाम्यया। लिङ्गानुशासनं ह्यत्र पाणिनीयं विवृण्महे ॥४॥

संस्कृत में लिङ्गज्ञान भाषान्तरापेक्षया अधिक अपेक्षित है। यहां विशेष्य के लिङ्ग के अनुसार समानाधिकरण विशेषण का लिङ्ग होता है और उद्देश्य के लिङ्ग के अनुसार प्रायेण विधेय का भी। सर्वनाम भी लिङ्गविषय में नामों का अनुसरण करते हैं। लिङ्ग के अज्ञान, अयथार्थ ज्ञान अथवा विपर्यय ज्ञान से जो क्षति होती है वह कहीं नहीं जा सकती। लिङ्ग-विषयक अंश से समस्त वाक्य भ्रष्ट हो जाता है, यहाँ तक कि वह श्राव्य (श्रवणाई) भी नहीं रहता, भले ही उसमें संस्कार-च्युति कुछ भी न हो, सुबन्त तथा तिङन्त पद सभी संस्कारवान् हों और क्रिया-कारक सम्बन्ध सर्वथा निर्दुष्ट हो । जब संस्कृत लोकभाषा थी, जब इसका नाम ही 'भाषा' था, जब सामान्य जनता पांसुलपाद हालिक भी उदात्तादि स्वर-युक्त शब्दों का उच्चारण करते थे और जब ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं चाधीयते इस भाष्यवचन के अनुसार गाँव-गाँव में स्वाध्याय-घोष होता था तब भी सन्दर्भ शुद्धि के लिये लिङ्गज्ञान आवश्यक माना जाता था। यह ठीक है कि तब लिङ्गानुशासन की इतनी आवश्यकता नहीं थी, लोकव्यवहार से भी लिङ्ग सुगृहीत हो सकता था। अब जबकि संस्कृत लोकभाषा नही रही, ग्रन्थमात्र में व्यवस्थित तथा विद्वत्समाजमात्र-व्यवहार्य रह गई है, लिङ्गानुशासन की उपकारकता और बढ़ गई है। विद्वज्जन भी लिङ्गविषय में बहुधा स्खलन करते देखे जाते हैं। अतः उनके प्रबोधन के लिए भी लिङ्गानुशासन इष्ट ही है।

खण्ड-1 व्याकरणनियमः

इकाई-1.1 अष्टाध्यायी (प्रथमोऽध्यायः)

उद्देश्य-

1. वैदिक व्याकरण के सामान्य नियमों को समझना।
2. शब्द एवं विभक्ति के प्रयोग का ज्ञान प्राप्त करना।
3. वेदों में प्रयुक्त व्याकरणिक संरचना को जानना।

अथात्र चतुर्षु वेदेषु व्याकरणस्य ये सामान्यतो नियमाः सन्ति, त इदानीं प्रदर्श्यन्ते। तद्यथा-

वृद्धिरादैच् ॥१ ॥ अ० । १ । १ । १ ॥

उभयसंज्ञान्यपि छन्दांसि दृश्यन्ते । तद्यथा- सा सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन, पदत्वात्कुत्वं भत्वाज्जश्त्वं न भवति इति भाष्यवचनम् । अनेनैकस्मिन् शब्दे भपदसंज्ञाकार्यद्वयं वेदेष्वेव भवति, नान्यत्र ॥१॥

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥२ ॥अ० १ । १ । ५६ ॥

प्रातिपधिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति, न काञ्चित्प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति । यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या इति भाष्यम् ।

अनेनार्थप्राधान्यं भवति, न विभक्तेरिति बोध्यम् ॥२॥

न वेति विभाषा ॥ ३ ॥ अ० १ । १ । ४४ ॥

अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः इति भाष्यसूत्रम् । लौकिकवैदिकेषु शब्देषु सार्वत्रिकः समानोऽयं नियमः॥

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ॥४ ॥श्र० १ । २ । ४५ ॥

'बहवो हि शब्दा एकार्था भवन्ति । तद्यथा-इन्द्रः, शक्रः, पुरुहूतः, पुरन्दरः, कन्दुः, कोष्ठः, कुसूल इति । एकश्च शब्दो बह्वर्थः । तद्यथा-अक्षाः, पादाः, माषाः,' सार्वत्रिकोऽयमपि नियमः । यथाग्न्यादयः शब्दा वेदेषु बह्वर्थवाचकास्त एव बहव एकार्थाश्च ॥

ते प्राग्धातोः ॥ ५ ॥ अ० १ । ४ । ८०॥

'छन्दसि परव्यवहितवचनं च' ।

आयातमुपनिष्कृतम्, उपप्रयोभिरागतम् ॥ अनेन वार्त्तिकेन गत्युपसर्गसंज्ञकाः शब्दाः क्रियायाः परे पूर्वे दूरे व्यवहिताश्च भवन्ति ॥

भाषार्थ- अब चारों वेद में व्याकरण के जो जो सामान्य नियम हैं, उनको यहां लिखते हैं- (उभ०) वेदों में एक शब्द के बीच में 'भ' तथा पद ये दोनों संज्ञा होती हैं। जैसे ऋक्वता इस शब्द में पद संज्ञा के होने से चकार के स्थान में ककार हुआ है, और भ संज्ञा के होने से ककार के स्थान में गकार नहीं हुआ ॥

(प्रातिपदिक०) वेदादि शास्त्रों में जो जो शब्द पढ़े जाते हैं उन सब के बीच में यह नियम है कि जिस विभक्ति के साथ वे शब्द पढ़े हों, उसी विभक्ति से अर्थ कर लेना, यह बात नहीं है, किन्तु जिस विभक्ति से शास्त्र मूल युक्ति और प्रमाण के अनुकूल अर्थ निर्मित हो, उस विभक्ति का आश्रय करके अर्थ करना चाहिये॥

क्योंकि-(अर्थग०) वेदादि शास्त्रों में शब्दों के प्रयोग इसलिये होते हैं कि उनके अर्थों को ठोक ठीक जान के उनसे लाभ उठावें। जब उनसे भी अनर्थ प्रसिद्ध हो तो वे शास्त्र किसलिये माने जावें? इसलिये यह नियम लोकवेद में सर्वत्र घटता है ॥

(बहवो हि०) तीसरा नियम यह है कि वेद तथा लोक में बहुत शब्द एक अर्थ के वाची होते, और एक शब्द भी बहुत अर्थों का वाची होता है। जैसे अग्नि, वायु, इन्द्र आदि बहुत शब्द एक परमेश्वर अर्थ के वाची, और इसी प्रकार वे ही शब्द संसारी पदार्थों के नाम होने से अनेकार्थ हैं। अर्थात् इस प्रकार के एक एक शब्द कई कई अर्थों के वाची हैं ।

(छन्दसि०) व्याकरण में जो जो गति और उपसर्गसंज्ञक शब्द हैं, वे वेद में क्रिया के आगे-पिछे दूर अर्थात व्यवधान में भी होते हैं। जैसे 'उप प्रमोभिरागतं' यहां 'आगतम्' क्रिया के साथ उप लगाना तथा 'आयातमुप०' यहां 'उप' 'आयातं' क्रिया के पूर्व लगता है, इत्यादि। इसमें विशेष यह है कि लोक में पूर्वोक्त शब्द क्रिया के पूर्व ही सर्वत्र लगाये जाते हैं।

स्मरणीय बिन्दु-

- वेदों में व्याकरण के विशेष नियम होते हैं।
- शब्द का प्रयोग अर्थ स्पष्ट करने हेतु होता है।
- वैदिक संस्कृत में कई अपवाद नियम पाए जाते हैं।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
व्याकरण भाषा का नियम	विभक्ति कारक चिह्न
छन्दसि	वेद में
प्रत्यय	शब्द के अंत में जुड़ने वाला भाग

5 अंक के प्रश्न-

1. "वृद्धिरादैच्" सूत्र का अर्थ लिखिए।
2. वैदिक व्याकरण में "भ" संज्ञा क्या है?
3. "अर्थगत्यर्थ: शब्दप्रयोग:" का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. वेदों में विभक्ति प्रयोग का महत्व बताइए।
5. "बहुलं छन्दसि" का अर्थ लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. वैदिक व्याकरण के सामान्य नियमों की विस्तार से व्याख्या कीजिए।
2. वेदों में शब्द और अर्थ संबंध की विवेचना कीजिए।
3. पाणिनीय व्याकरण में विभक्ति प्रयोग का महत्व समझाइए।
4. वैदिक एवं लौकिक संस्कृत में अंतर स्पष्ट कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. "वृद्धिरादैच्" किससे संबंधित है?

(क) संधि

(ख) प्रत्यय

(ग) स्वर वृद्धि

(घ) समास

2. "बहुलं छन्दसि" का संबंध किससे है?

(क) वेद

(ख) नाटक

(ग) काव्य

(घ) अलंकार

3. "अर्थगत्यर्थ: शब्दप्रयोग:" किसका सिद्धांत है?

(क) न्याय

(ख) व्याकरण

(ग) मीमांसा

(घ) वेदान्त

इकाई-1.2 व्याकरणनियमः-अष्टाध्यायी (द्वितीयोऽध्यायः)

उद्देश्य-

1. वैदिक विभक्ति प्रयोग का ज्ञान प्राप्त करना।
2. वैदिक प्रत्ययों को समझना।
3. छन्दोविषयक नियमों का अध्ययन करना।

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥६॥ अ०२। ३। ६२॥

'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या। या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते तिस्त्रो रात्रीरिति, तस्या इति प्राप्ते।' एवमन्यत्रापि । अनेन चतुर्थ्यर्थे षष्ठी, षष्ठी, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी द्वे एव भवतः । महाभाष्यकारेण छन्दोवन्मत्वा ब्राह्मणनामुदाहरणानि प्रयुक्तानि। अन्यथा ब्राह्मण ाग्रन्थस्य प्रकृतत्वाच्छन्दोग्रहणमनर्थकं स्यात्।।

बहुलं छन्दसि ॥७॥ अ० 2 । ४। ३९ ॥

अनेन अद्धातोः स्थाने घस्लृ आदेशो बहुलं भवति। घस्तान्न्यूनम्। सग्धिश्च मे। अत्तामद्य मध्यतो मेद उद्भृतम्। इत्याद्युदाहरण ां ज्ञेयम्।

बहुलं छन्दसि ॥८॥ अ० 2 । ४। ७३॥

वेदविषये शपो बहुलं लुग्भवति । वृत्रं हनति, अहिः शयते। अन्येभ्यश्च भवति-त्राध्वं नो देवाः ।।

बहुलं छन्दसि ॥९॥ अ० 2 । ४। ७६ ॥

वेदेषु शपः स्थाने श्लुर्बहुलं भवति। दाति प्रियाणि, धाति प्रियाणि । अन्येभ्यश्च भवति-पूर्णां विवष्टि, जनिमा विवक्ति इत्यादीन्युदाहरणानि सन्तीति बोध्यम्।।

भाषार्थ - (या खर्वेण०) इत्यादि पाठ से यही प्रयोजन है कि वेदों में षष्ठी विभक्ति के स्थान में चतुर्थी हो जाती है, लौकिक ग्रन्थों में नहीं। इस में ब्राह्मणों के उदाहरण इसलिये दिये हैं कि महाभाष्यकार ने ब्राह्मणों को वेदों के तुल्य मानके, अर्थात् इनमें जो व्याकरण के कार्य होते हैं वे ब्राह्मणों में भी हो जाते हैं और जो ऐसा न मानें तो 'द्वितीया ब्राह्मणे' इस सूत्र में से ब्राह्मण शब्द की अनुवृत्ति हो जाती, फिर 'चतुर्थ्यर्थे०' इस सूत्र में 'छन्दः' शब्द का ग्रहण व्यर्थ हो जाय ।।

(बहुलं०) इस सूत्र से 'अद्' धातु के स्थान में 'घस्लृ' आदेश बहुल अर्थात् बहुधा होता है ।।

(बहुलं०) वेदों में 'शप्' प्रत्यय का लुक् बहुल करके होता है, और कहीं नहीं भी होता है। जैसे 'वृत्रं हनति' यहां 'शप्' का लुक् प्राप्त था, सो भी न हुआ, तथा 'त्राध्वं०' यहां त्रैङ् धातु से प्राप्त नहीं था, परन्तु हो गया। महाभाष्यकार के नियम से शप् के लुक् करने में श्यनादि का लुक् होता है, क्योंकि शप् के स्थान में श्यनादि का आदेश किया जाता है। शप् सामान्य होने से सब धातुओं से होता है, जब शप् का लुक् हो गया तो श्यनादि प्राप्त ही नहीं होते। ऐसे ही श्लु के विषय में भी समझ लेना ।।

(बहुलं०) वेदों में शप् प्रत्यय के स्थान में श्लु आदेश बहुल करके होता है, अर्थात् उक्त से भी नहीं होता और अनुक्त से भी हो जाता है। जैसे 'दाति०' यहां शप् के स्थान में श्लु प्राप्त था परन्तु न हुआ, और 'विवष्टि' यहां प्राप्त नहीं था फिर हो गया।

स्मरणीय बिन्दु-

- वेदों में प्रत्ययों का प्रयोग सामान्य संस्कृत से भिन्न है।
- "बहुल" का अर्थ है अनेक प्रकार से प्रयोग।
- वैदिक भाषा में विकल्प अधिक मिलते हैं।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
आदेश	प्रतिस्थापन
शप्	प्रत्यय
श्लु	विशेष आदेश
बहुल	अधिक

5 अंक के प्रश्न-

1. "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" का अर्थ लिखिए।
2. वेदों में "शप्" प्रत्यय का प्रयोग बताइए।

3. "श्लु" आदेश क्या है?
4. बहुल प्रयोग का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. वैदिक विभक्तियों की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. "बहुलं छन्दसि" सूत्र की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
3. वेदों में प्रत्यय प्रयोग की विशेषताओं को समझाइए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. "शप्" किस प्रकार का तत्व है?

(क) प्रत्यय

(ख) समास

(ग) धातु

(घ) विभक्ति

2. "बहुलं छन्दसि" में "छन्दसि" का अर्थ हैख्र

(क) वेद

(ख) छन्द

(ग) अलंकार

(घ) संधि

3. "श्लु" क्या है?

(क) आदेश

(ख) प्रत्यय

(ग) उपसर्ग

(घ) धातु

इकाई-1.3 व्याकरणनियमः - अष्टाध्यायी (तृतीयोऽध्यायः)

उद्देश्य-

1. वैदिक लकारों का अध्ययन करना।
2. प्रत्ययों के विशेष प्रयोग समझना।
3. वैदिक धातु प्रयोग को जानना।

सिब्बहुलं लेटि ॥ १० ॥ अ० ३ । १ । ३४ ॥

'सिब्बहुलं छन्दसि णिद्वक्तव्यः ।' सविता धर्म सावित्, प्र ण आयूंषि तारिषत् । अयं लेटि विशिष्टो नियमः ।,

छन्दसि शायजपि ॥ ११ ॥ अ० ३ । १ । ८४ ॥

'शायच्छन्दसि सर्वत्रेति वक्तव्यम् ।' क्व सर्वत्र ? हो चाहौ च । कि प्रयोजनम् ? महोः अस्कभायत्, यो अस्कभायत्, उद्गभायत्, उन्मयायतेत्येवमर्थम् । अयं लोटि मध्यमपुरुषस्यैकवचने परस्मैपदे विशिष्टो नियमः ।।

व्यत्ययो बहुलम् ॥१२ ॥अ० ३ । १ । ८५ ॥

सुप्तिङुयग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्त्तृयङां च ।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृवेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥१ ॥

व्यत्ययो भवति स्यादीन मिति । अनेन विकरणव्यत्ययः, सुपां व्यत्ययः, तिङां व्यत्ययः, वर्ण-व्यत्ययः, लिङ्गन्यत्ययः पुरुषव्यत्ययः, कालव्यत्ययः, आत्मने पदव्यत्ययः, परस्मैपदव्यत्ययः, स्वरव्यत्ययः, कर्तृव्यत्ययः, यङ्व्यत्ययश्च ।

एषां क्रमेणोदाहरणानि युक्ता मातासीद्धरि दक्षिणायाः, दक्षिणायामिति प्राप्ते । चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति, तक्षन्तीति प्राप्ते । त्रिष्टुभौजः शुभितमुग्रवीरम्, शुधितमिति प्राप्ते। मधोस्तृप्ता इवासते, मधुन इति प्राप्ते । अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः, वियूयादिति प्राप्ते। श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन, श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन, आधाता यष्टेति प्राप्ते। ब्रह्मवारिणामिच्छते, इच्छतीति प्राप्ते । प्रतीपमन्य ऊभिर्युध्यति, युध्यत इति । आधाता यष्टेति लुट्प्रथमपुरुषस्यैकववने प्रयोगौ । व्यत्ययो भवति, स्यादीनामित्यस्योदाहरणं, तासि प्राप्ते स्यो विहितः ।।

बहुलं छन्दसि ॥१३ ॥अ० ३ । २ । ८८ ॥

अनेन क्विप्प्रत्ययो वेदेषु बहुलं विधीयते। मातृहा, मातृपातः इत्यादीनि ।।

छन्दसि लिट् ॥१४ ॥अ० ३। २ । १०५ ॥

वेदेषु सामान्यभूते लिङ् विधीयते। अहं द्यावापृथिवी आततान ॥

लिटः कानज्वा ॥ १५ ॥ ८० ३।२। १०६ ॥

वेदविषये लिटः स्थाने कानजादेशो वा भवति । अग्नि चिक्यानः, अहं सूर्य्यमुभयतो ददर्श । प्रकृतेऽपि लिटि पुनर्ग्रहण ात्परोक्षार्थस्यापि ग्रहणं भवति ।।

क्वसु श्च ॥ १६ ॥ अ० ३।२।१०७ ॥

वेद लिटः स्थाने क्वसुरादेशो वा भवति । परिवान्, जग्मिवान् । न च भवति अहं सूर्य्य-मुभयतो ददर्श ।।

क्याच्छन्दसि ॥ १७ ॥ ८० ३।२। १७० ॥

क्यप्रत्ययान्ताद्धातोश्छन्दसि विषये तच्छीलादिषु कर्तृषु उकारप्रत्ययो भवति। मित्रयुः, संस्वेदयुः, सुम्नयुः । 'निरनुबन्धकग्रहणे सानुबन्धकस्यापि ग्रहणं भवति' इत्यनया परिभाषया क्यच्क्यङ्क्यषां सामान्येन ग्रहणं भवति ।।

भाषार्थ- (सिब्बहुलं०) लेट् लकार में जो सिप् प्रत्यय होता है, वह वेदों में बहुल करके णित्संज्ञक होता है, कि जिससे वृद्धि आदि कार्य हो सकें । जैसे- 'साविषत्' यहां सिप् को णित् मानके वृद्धि हुई है। यह लेट् में वेदविषयक विशेष नियम है ।।

(शायच्छन्दसि०) वेद में 'हि' प्रत्यय के परे रहने पर 'श्ना' प्रत्यय के स्थान में जो 'शायच्' आदेश विधान किया है, वह 'हि' से अन्यत्र भी होता है ।।

(व्यत्ययो०) वेदों में जो व्यत्यय अर्थात् विपरीतभाव बहुधा होता है, वह भाष्यकार पतञ्जलि जो ने नव प्रकार से माना है । वे सुप् आदि ये हैं- सुप्, तिङ, वर्ण; लिङ्ग- पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग, पुरुष-प्रथम, मध्यम और उत्तमः काल-भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान, आत्मनेपद और परस्मैपद, वर्ण-वेदों में अचों के स्थान में हल् और हलों के स्थान अच् के आदेश हो जाते हैं, स्वर-उदात्तादि का व्यत्यय, कर्ता का व्यत्यय, और यङ् का व्यत्यय होते हैं। इन सब के उदाहरण संस्कृत में लिखे हैं, वहां देख लेना ।।

(बहुलम् ०) इस से क्विप् प्रत्यय वेदों में बहुल करके होता है ।।

(छन्दसि०) इस सूत्र से लिट् लकार वेदों में सामान्य भूतकाल में भी होता है ॥

(लिटः का०) इस सूत्र से वेदों में लिट् लकार के स्थान में कानच् आदेश विकल्प करके होता है। इस के 'आततान' इत्यादि उदाहरण बनते हैं। 'छन्दसि०' इस सूत्र में लिट् की अनुवृत्ति हो जाती, फिर लिट्ग्रहण इसलिये है कि 'परोक्षे लिट्' इस लिट् के स्थान में भी कानच् आदेश हो जावे ॥

(क्वसुश्च) इस सूत्र से वेदों में लिट् के स्थान में क्वसु आदेश हो जाता है ॥

(क्या०) इस सूत्र से वेदों में क्यप्रत्ययान्त धातु से 'उ' प्रत्यय हो आता है ॥

कृत्यल्युटो बहुलम् ॥१८ ॥८०३।३। ११३ ॥

कृल्ल्युट इति वक्तव्यम् । कृतो बहुलमिति वा । पादहारकाद्यर्थम्, पादाभ्यां ह्रियते पावहारकः। अनेन धातोर्विहिताः कृत्संज्ञकाः प्रत्ययाः कारकमात्रे वेदादिषु द्रष्टव्याः । अयं लौकिकवैदिकशब्दानां सार्वत्रिको नियमोऽस्तीति वेद्यम् ॥

छन्दति गत्यर्थेभ्यः ॥१६ ॥अ० ३ । ३ । १२६ ॥

ईषदादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषूपपदेषु सत्सु गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये युच्प्रत्ययो भवति । **उ०- सूपसदनोऽग्निः ॥**

अन्येभ्योऽपि दृश्यते ॥२० ॥८०३ । ३ । १३० ॥

अन्येभ्योऽपि धातुभ्यो युच्प्रत्ययो दृश्यते । उ०- सुदोहनमाकृणोद् बह्मणे गाम् ॥

छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ॥२१ ॥अ० ३। ४। ६ ॥

वेदविषये धातुसम्बन्धे सर्वेषुकालेषु लुङ्लङ्लिटः प्रत्यया विकल्पेन भवन्ति । उ०- लुङ्-अहं तेभ्योऽकरं नमः । लङ् - प्रग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः । लिट्- अद्य ममार ॥

लिङर्थे लेट् ॥ २२ ॥ अ० ३। ४ । ७ ॥

यत्र विध्यादिषु हेतुहेतुमतोः शकीच्छार्थेषूर्ध्वमौहूर्तिकेष्वर्थेषु लिङ् विधीयते, तत्र वेदेष्वेव लेट लकारो वा भवति । उ० जीवाति शरदः शतम्, इत्यादीनि ॥

उपसंवादाशङ्कयोश्च ॥ २३ ॥अ० ३ । ४ । ८ ॥

उपसंवादे आशङ्कायां च गभ्यमानायां वेदेषु लेट्प्रत्ययो भवति । उ०-उपसंवादे- अहमेव पशूनामीशै । आशङ्कायाम्-नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम । मिथ्याचरणेन नरकपात आशङ्क्यते ॥ **लेटोऽडाटौ ॥ २४ ॥ ८० ३।४। ६४ ॥**

लेटः पर्यायेण अट् आट् आगमौ भवतः ॥

आत ऐ ॥ २५ ॥ अ० ३ । ४ । ६५ ॥

छन्दस्यनेनात्मनेपदे विहितस्य लेडादेशरय द्विवचनस्थस्याकारस्य स्थाने ऐकारादेशो भवति । उ०- मन्त्रयैते; मन्त्रयैथे ॥

वैतोऽन्यत्र ॥ २६ ॥ अ० ३ । ४ । ९६ ॥

'आत ऐ' इत्येतस्य विषयं वर्जयित्वा लेट एकारस्य स्थाने ऐकारादेशो वा भवति । उ०- अहमेव पशूनामीशै ईशे वा ॥

इतश्च लोपः परस्मैपदेषु ॥२७ ॥अ० ३ । ४ । ९७ ॥

लेटः स्थान अदिष्टस्य तिबादिस्थस्य परस्मैपदविषयस्येकारस्य विकल्पेन लोपो भवति । उ०- तरति, तराति, तरत्, तरात्, तरिषति, तरिषाति, तरिषत्, तरिषात्, तारिषति, तारिषाति, तारिषत्, तारिषात्, तरति, तरासि, तरः, तराः, तरिषसि, तरिषासि, तरिषः, तरिषाः, तारिषसि, तारिषासि तारिषः, तारिषाः, तरामि, तराम्, तरिषामि, तरिषाम्, तारिषामि, तारिषाम् । एवमेव सर्वेषां धातूनां प्रयोगेषु लेड्विषये बोध्यम् ॥

स उत्तमस्य ॥ २८ । अ० ३ । ४ । ६८ ॥

लेट उत्तमपुरुषस्य सकारस्य लोपो वा भवति ।

करवाव, करवावः, करवाम, करवामः ॥२८॥

भाषार्थ-(छन्दसि०) इस सूत्र से ईषत्, दुर्, सु ये पूर्वपद लगे हों, तो गत्यर्थक धातुओं से वेदों में युच् प्रत्यय होता है ॥

(अन्येभ्यो०) और धातुओं से भी वेदों में मुच् प्रत्यय देखने में आता है, जैसे 'सुदोहनं' यहां सुपूर्वक 'दुह' धातु से युच् प्रत्यय हुआ है।

(छन्दसि०) जो तीन लकार लोक में भिन्न भिन्न कालों में होते हैं, वे वेदों में लुङ् लङ् और लिट् लकार ये सब कालों में विकल्प करके होते हैं ॥

(लिङर्थे०) अब लेट् लकार के विषय के जो सामान्य सूत्र हैं, उनको यहां लिखते हैं। यह लेट् सकार वेदों में ही होता है। सो वह लिङ् लकार के जितने अर्थ हैं, उनमें तथा उपसंवाद और आशङ्का अर्थों में लेट् लकार होता है ॥

(लेटो०) लेट् को क्रम से अट् और आट् आगम होते हैं, अर्थात् जहां अट् होता है, वहां आट् नहीं होता, जहां आट् होता

है वहां अट् नहीं होता ।।

(आत ऐ) लेट् लकार में प्रथम और मध्यम पुरुष के 'आतां' के आकार को ऐकार आदेश हो जाता है। जैसे 'मन्त्रयेते' यहाँ आ के स्थान में ऐ हो गया है ।।

(वैतोऽन्यत्र) यहां लेट् लकार के स्थान में जो एकार होता है, उसके स्थान में ऐकार आदेश हो जाता है ।।

(इतश्च०) यहाँ लेट् के तिप्, सिप् और मिप् के इकार का लोप विकल्प से हो जाता है ।।

(स उत्त०) इस सूत्र से लेट् लकार के उत्तम पुरुष के वस् मस् के सकार का विकल्प करके लोप हो जाता है ।

यह लेट् का विषय थोड़ासा लिखा, आगे किसी को सब जानना हो तो वह अष्टाध्यायी पढ़ के जान सकता है, अन्यथा नहीं ।

तुमर्थे सेसेनसेअसेन्कसेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः ॥ २९॥ अ०॥३।४।९॥ धातुमात्रात्तुमुन्प्रत्ययस्यार्थे से, सेन्, असे, असेन्, कसे, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवे, तवेङ्, तवेन् इत्येते पञ्चदश प्रत्यया वेदेष्वेव भवन्ति ।

'कृन्मेजन्त' इति सर्वेषामव्ययत्वम् । सर्वेषु नकारोऽनुबन्धः स्वरार्थः । ककारो गुणवृद्धिनिषेधार्थः, ङकारोऽपि । शकारः शिदर्थः । से वक्षेण्यः। सेन्- तावामेवे रथानाम् ।असे असेन्- क्रत्वे दक्षाय जीवसे। कसे कसेन्- श्रियसे। अध्यै अध्यैन्- कर्मण्युपाचरध्यै । कध्यै- इन्द्राग्नी आहुवध्यै । कध्यैन्- श्रियध्यै। शध्यै शध्यैन् - पिबध्यै, सहमाक्ष्यध्यै। अत्र शित्वात् पिबादेशः। तवै सोममिन्द्राय पातवै। तवेङ्-दशमे मासि सूतवे। तवेन् - स्वर्देवेषु गन्तवे ।।

शकि णमुल्कमुलौ ॥ ३० ॥अ० ३।४।१२ ॥

शक्नोतौ धातावुपपदे धातुमात्रात्तुमर्थे वेदेषु णमुल्कमुलौ प्रत्ययौ भवतः । रणकारो वृद्धयर्थः । ककारो गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थः । लकारः स्वरार्थः । अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन्, विभक्तुमित्यर्थः।। **ईश्वरे तोसुन्कसुनौ ॥। ३१ ॥अ० ३ । ४ । १३ ॥**

ईश्वरशब्द उपपदे वेदे तुमर्थे वर्तनानाद्धातोस्तोसुन्कसुनौ प्रत्ययौ भवतः । ईश्वरोऽभिचरितोः; कसुन्-ईश्वरो विलिखः ।।

कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः ॥ ३२ ॥अ० ३ । ४ । १४ ॥

कृत्यानां मुख्यतया भावकर्मणी द्वावर्थौ स्तोऽहृदयश्च । तत्र वेदविषये तवे, केन्, केन्य, त्वन् इत्येते प्रत्यया भवन्ति । तवै परिधातवैः केन्- नावगाहे; केन्य- दिदृक्षेण्यः, शुश्रूषेण्यः; त्वन्- कर्त्व हविः ।।

भाषार्थ - (तुमर्थे०) इस सूत्र से वेदों में 'से' इत्यादि १५ पन्द्रह प्रत्यय सब धातुओं से हो जाते हैं ।।

(शकि०) शक धातु का प्रयोग उपपद हो, तो घातुमात्र से 'णमुल्' 'कमुल्' ये दोनों प्रत्यय वेदों में हो जाते हैं। इसके होने से 'विभाजं' इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं ।।

(ईश्वरे०) वेदों में ईश्वर शब्दपूर्वक धातु से 'तोसुन्' 'कसुन्' ये प्रत्यय होते हैं।।

(कृत्यार्थे०) इस सूत्र से वेदों में भावकर्मवाचक 'तवै' 'केन्' 'वेन्य' 'त्वन्' ये प्रत्यय होते हैं। इससे 'परिघातवे' इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं।

स्मरणीय बिन्दु-

- वेदों में लकारों का प्रयोग विशेष प्रकार से होता है।
- व्यत्यय वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषता है।
- धातु और प्रत्यय का संबंध अत्यंत महत्वपूर्ण है।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
लकार	क्रिया का काल
व्यत्यय	परिवर्तन
धातु	मूल क्रिया
लिट्	भूतकाल सूचक

5 अंक के प्रश्न-

1. "सिब्बहुलं लेटि" का अर्थ लिखिए।
2. वेदों में लिट् लकार का प्रयोग बताइए।
3. "व्यत्यय" क्या है?
4. "लेट्" लकार का प्रयोग कहाँ होता है?

15 अंक के प्रश्न-

1. वैदिक लकारों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. "व्यत्यय" के प्रकारों की व्याख्या कीजिए।
3. वेदों में प्रयुक्त प्रत्ययों का विवेचन कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. "लेट्" किससे संबंधित है?

(क) लकार

(ख) समास

(ग) संधि

(घ) अलंकार

2. "व्यत्यय" का अर्थ हैख्र

(क) परिवर्तन

(ख) स्थिरता

(ग) वृद्धि

(घ) संधि

3. "लिट्" का संबंध किससे है?

(क) भूतकाल

(ख) भविष्य

(ग) वर्तमान

(घ) समास

इकाई-1.4 व्याकरणनियमः - अष्टाध्यायी (चतुर्थोऽध्यायः)

उद्देश्य-

1. वैदिक स्त्रीप्रत्ययों का ज्ञान प्राप्त करना।
2. वैदिक शब्दरचना को समझना।
3. प्रत्यय प्रयोग की विशेषताओं का अध्ययन करना।

नित्यं संज्ञाछन्दसोः ॥३३ ॥अ० ४ । १ । २९ ॥

अन्नन्ताद्बहुव्रीहेरुपधालोपिनः प्रातिपदिकात्संज्ञायां विषये छन्दसि च नित्यं स्त्रियां ङीप्प्रत्ययो भवति । गौः पञ्चदाम्नी; एकदाम्नी ॥

नित्यं छन्दसि ॥३४ ॥अ० ४ । १ । ४६ ॥

बह्वादिभ्यो वेदेषु स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति । बह्वीषु हित्वा प्रपिबन् ॥

भवे छन्दसि ॥ ३५ ॥ अ० ४ । ४ । ११० ॥

सप्तेमीसमर्थात्प्रातिपदिकाद्भव इत्येतस्मिन्नर्थे छन्दसि विषये यत्प्रत्ययो भवति । श्रयमणादीनां घादीनां चापवादः । सति दर्शने तेऽपि भवन्ति । मेध्याय व विद्युत्याय च नमः ॥

इतः सूत्रादारभ्य यानि प्रकृतिप्रत्ययार्थविशेषविधायकानि पादपर्यन्तानि वेदविषयकाणि सूत्राणि सन्ति, तान्यत्र न लिख्यन्ते, कुतस्तेषामुदाहरणानि यत्र यत्र मन्त्रेष्वागमिष्यन्ति तत्र तत्र तानि लेखिष्यामः

भाषार्थ - (नित्यं संज्ञा०) इस सूत्र से वेदों में अन्नन्त प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है।। (नित्यं) इस सूत्र से बह्वादि प्रातिपदिकों से वेदों में ङीष् प्रत्यय नित्य होता है ।। (भवे०) इस सूत्र से भव अर्थ में प्रातिपदिक मात्र से वेदों में यत् प्रत्यय होता है ।।

इस सूत्र से ग्रागे पादपर्य्यन्त सब सूत्र वेदों ही में लगते हैं, सो वहां इसलिये नहीं लिखे वे एक-एक बात के विशेष हैं, सो जिस-जिस मन्त्र में विषय आयेंगे वहां-वहां लिखे जायंगे।

स्मरणीय बिन्दु-

- वैदिक भाषा में स्त्रीप्रत्ययों का विशेष महत्व है।
- प्रत्यय शब्द निर्माण का मुख्य आधार है।
- वेदों में नियम नित्य और वैकल्पिक दोनों प्रकार के होते हैं।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
नित्य	सदैव
स्त्रीप्रत्यय	स्त्रीलिंग बनाने वाला प्रत्यय
संज्ञा	नाम
शब्दरचना	शब्द निर्माण

5 अंक के प्रश्न-

1. "नित्यं संज्ञाछन्दसोः" का अर्थ लिखिए।
2. वेदों में "ङीप्" प्रत्यय का प्रयोग बताइए।
3. "भवे छन्दसि" का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. वैदिक प्रत्ययों की विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
2. स्त्रीप्रत्ययों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
3. वैदिक शब्दरचना की विशेषताओं को समझाइए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. "ङीप्" किससे संबंधित है?

(क) स्त्रीप्रत्यय

(ख) धातु
(ग) समास
(घ) संधि

2. "भवे छन्दसि" किसका सूचक है?

(क) वेद
(घ) अलंकार
(ग) छन्द
(घ) काव्य

3. "नित्यं" का अर्थ है?

(क) सदैव
(ख) कभी-कभी
(ग) अल्प
(घ) विशेष

खण्ड-2 व्याकरणनियमः
इकाई-2.1- अष्टाध्यायी (पंचमोऽध्यायः)

उद्देश्य-

1. वैदिक प्रत्ययों का ज्ञान प्राप्त करना।
2. "मतुप्" अर्थ वाले प्रत्ययों को समझना।
3. वैदिक समासान्त प्रत्ययों का अध्ययन करना।

बहुलं छन्दसि ॥ ३६ ॥ अ० ५। २ । १२२ ॥

वेदेषु समर्थानां प्रथमात्प्रातिपदिकमात्राद् भूमादिष्वर्थेषु विनिः प्रत्ययो बहुलं विधीयते । तद्यथा - भूमादयः-

तदस्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुप् ॥ ३७ ॥ अ० ५। २ । ६४ ॥

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।

सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥

अस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनादेतेषु सप्तस्वर्थेषु ते प्रत्यया वेदे लोके चैते मतुबादयो भवन्तीति बोध्यम्।

(बहुलं) अस्मिन्सूत्रे प्रकृतिप्रत्ययरूपविशेषविधायकानि बहूनि वात्तिकानि सन्ति, तानि तत्तद्विषयेषु प्रकाशयिष्यामः ।।

अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि ॥ ३८ ॥ अ० ५ । ४ । १०३ ॥

'अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि वेति वक्तव्यम् ।' ब्रह्मसामं, ब्रह्मसाम; देवच्छन्दसं, देवच्छन्दः ।।

भाषार्थ - (नित्यं संज्ञा०) इस सूत्र से वेदों में अन्नन्त प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है।

(नित्यं) इस सूत्र से बह्वादि प्रातिपदिकों से वेदों में ङीष् प्रत्यय नित्य होता है।।

(भवे०) इस सूत्र से भव अर्थ में प्रातिपदिक मात्र से वेदों में यत् प्रत्यय होता है।।

इस सूत्र से आगे पादपर्य्यन्त सब सूत्र वेदों में ही लगते हैं। अतः यहां इसलिये नहीं लिखे वे एक-एक बात के विशेष हैं, अतः जिस-जिस मंत्र में विषय आयेंगे वहां-वहां लिखे जायेंगे।

(बहुलं०) इस सूत्र से प्रातिपदिकमात्र से विन् प्रत्यय वेदों में मतुप् के अर्थ में बहुल करके होता है। इस सूत्र के ऊपर वैदिक शब्दों के लिये वार्तिक बहुत हैं, परन्तु विशेष हैं इसलिये नहीं लिखे।।

(अनसन्ता) इस सूत्र से वेदों में समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प करके होता है।

स्मरणीय बिन्दु-

- वेदों में प्रत्ययों का प्रयोग बहुल रूप में होता है।
- मतुप् अर्थ वाले प्रत्यय विशेष महत्व रखते हैं।
- वैदिक भाषा में समासान्त प्रत्यय सामान्य संस्कृत से भिन्न होते हैं।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
मतुप्	स्वामित्व सूचक प्रत्यय
समासान्तसमास के अंत में लगने वाला	
प्रत्यय	शब्दांत जोड़
बहुल	अनेक प्रकार से

5 अंक के प्रश्न-

1. "बहुलं छन्दसि" सूत्र का अर्थ लिखिए।
2. "मतुप्" प्रत्यय क्या है?
3. वेदों में "विन्" प्रत्यय का प्रयोग बताइए।
4. समासान्त "टच्" प्रत्यय क्या है?
5. वैदिक प्रत्ययों की विशेषता लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. वैदिक प्रत्ययों की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

2. "बहुलं छन्दसि" सूत्र की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
3. मतुप् अर्थक प्रत्ययों का विवेचन कीजिए।
4. वैदिक समासान्त प्रत्ययों का महत्व समझाइए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. "मतुप्" किससे संबंधित है?

(क) प्रत्यय

(ख) संधि

(ग) समास

(घ) अलंकार

2. "बहुलं छन्दसि" का प्रयोग कहाँ होता है?

(क) वेदों में

(ख) नाटकों में

(ग) काव्य में

(घ) गद्य में

3."टच्" क्या है?

(क) समासान्त प्रत्यय

(ख) धातु

(ग) उपसर्ग

(घ) विभक्ति

4. "विन्" प्रत्यय का प्रयोग किस अर्थ में होता है?

(क) मतुप् अर्थ

(ख) संधि अर्थ

(ग) समास अर्थ

(घ) विभक्ति अर्थ

इकाई-2.2 व्याकरणनियमः - अष्टाध्यायी (षष्ठोऽध्यायः)

उद्देश्य-

1. धातुओं के अनेक अर्थों को समझना।
2. वैदिक ध्वनि परिवर्तन का अध्ययन करना।
3. द्वंद्व समास के विशेष नियम जानना।

सन्यङोः ॥३९ ॥अ० ६ । १ । १ ।

बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति । तद्यथा- वपिः प्रकरणे दृष्टश्छेदने चापि वर्त्तते, केशान्वपति । ईडिः स्तुतिचोदनायां चासु दृष्ट ईरणे चापि वर्तते । श्रग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति । करोतिरयमभूतप्रादुर्भावे दृष्टः, निर्मूलीकरणे चापि वर्तते, पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु, उन्मृदानेति गम्यते । निक्षेपणेऽपि वर्त्तते, कटे कुरु, घटे कुरु । अश्मानमितः कुरु, स्थापयेति गम्यते ।
एतन्महाभाष्यवचनेनैतद्विज्ञातव्यम्, धातुपाठे येऽर्था निर्दिष्टास्तेभ्योऽन्येऽपि बहवोऽर्था भवन्ति । त्रयाणामुपलक्षणमात्रस्य दर्शितत्वात् ॥

शेश्छन्दसि बहुलम् ॥४० ॥अ० ६ । १ । ७० ॥

वेदेषु नपुंसके वर्तमानस्य शेर्लोषो बहुलं भवति । यथा- विश्वानि भुवनानीति प्राप्ते विश्वा भुवनानोति भवति ॥

बहुलं छन्दति ॥४१ ॥अ० ६ । १ । ३४ ॥

अस्मिन्सूत्रे वेदेषु एषां धातूनामप्राप्तमपि सम्प्रसारणं बहुलं विधीयते । यथा- हूमहे इत्यादिषु ॥

इकोऽपवर्गे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ॥ ४२ ॥अ० ६ । १ । १२७ ॥

'ईषा अक्षादिषु च छन्दसि प्रकृतिभावमात्रं द्रष्टव्यम् ।' ईषा अक्षा ईमिरे, इत्याद्यप्राप्तः प्रकृति-भावो विहितः ॥

देवताद्वेन्द्वे च ॥४३ ॥अ० ६ । ३ । २६ ॥

देवतयोर्द्वन्द्व समासे पूर्वपदस्य आनङ् इत्यादेशो विधीयते। ङित्त्वादन्त्यस्य स्थाने भवति । उ०-सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्; इन्द्राबृहस्पती इत्यादीनि ।
अस्य सूत्रस्योपरि द्वे वात्तिके स्तः । तद्यथा-

देवताद्वन्द्वे उभयत्र वायोः प्रतिषेधः ॥ अग्निवायुः वाय्वग्नी ।

ब्रह्मप्रजापत्यादीनां च ॥ ब्रह्मप्रजापती; शिववैश्रवणौ; स्कन्दविशाखौ ।
सूत्रेण विहित आनङादेशो वार्तिकद्वयेन प्रतिषिध्यते, सार्वत्रिको नियमः ॥

(बह्वर्था अपि०) इस महाभाष्यकार के वचन से यह बात समझनी चाहिये कि धातुपाठ में धातुओं के जितने अर्थ लिखे हैं, उनसे अधिक और भी बहुत अर्थ होते हैं। जैसे 'ईड' घातु का स्तुति करना तो धातुपाठ में अर्थ पड़ा है, और चोदना आदि भी समझे जाते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये ॥

(बहुलं) इससे धातुओं को अप्राप्त संप्रसारण होता है ॥

(शेश्छ०) इससे प्रथमा विभक्ति जो जस् के स्थान में नपुंसकलिङ्ग में 'शि' आदेश होता है, इसका लोप वेदों में बहुल से हो जाता है ॥

(ईषा०) इस नियम से अप्राप्त भी प्रकृतिभाव वेदों में होता है ॥

(देवताद्व०) इस मूत्र से दो देवताओं के द्वन्द्व समास में पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है। जैसे 'सूर्याचन्द्रमसौ०' यहां सूर्या शब्द दीर्घ हो गया है। और इस सूत्र से जिस कार्य का विधान है, उसका प्रतिषेध महाभाष्यकार दो वार्त्तिकों से विशेष शब्दों में दिखाते हैं। जैसे 'इन्द्रवायु' । यहां इन्द्र शब्द को दीर्घ नहीं हुआ। यह नियम लोक और वेद में सर्वत्र घटता है।

स्मरणीय बिन्दु-

- एक धातु के अनेक अर्थ हो सकते हैं।
- वेदों में ध्वनि परिवर्तन के विशेष नियम हैं।
- द्वंद्व समास में दोनों पद समान महत्व रखते हैं।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
धातु	क्रिया मूल
द्वंद्व	युग्म
आदेश	प्रतिस्थापन
दीर्घ	लंबा स्वर

5 अंक के प्रश्न-

1. "बह्वर्था अपि धातव:" का अर्थ लिखिए।
2. "शेच्छन्दसि बहुलम्" सूत्र समझाइए।
3. द्वंद्व समास क्या है?
4. वैदिक दीर्घ आदेश का वर्णन कीजिए।
5. "इषा अक्ष" नियम क्या है?

15 अंक के प्रश्न-

1. धातुओं के बहुविध अर्थों का विवेचन कीजिए।
2. वैदिक द्वंद्व समास की विशेषताएँ बताइए।
3. ध्वनि परिवर्तन संबंधी नियमों की व्याख्या कीजिए।
4. वैदिक एवं लौकिक प्रयोगों में अंतर स्पष्ट कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. "धातव:" का संबंध किससे है?

(क) क्रिया मूल

(क) संधि

(ग) समास

(घ) विभक्ति

2. "द्वंद्व समास" में कितने पद मुख्य होते हैं?

(क) एक

(ख) दो

(ग) तीन

(घ) चार

3. "दीर्घ आदेश" किससे संबंधित है?

(क) स्वर परिवर्तन

(ख) समास

(ग) अलंकार

(घ) प्रत्यय

4. "शेच्छन्दसि" का संबंध किससे है?

(क) वेद

(ख) काव्य

(ग) नाटक

(घ) गद्य

इकाई-2.3 व्याकरणनियमः - अष्टाध्यायी (सप्तमोऽध्यायः)

उद्देश्य-

1. वैदिक विभक्ति परिवर्तन को समझना।
2. विशेष आदेशों का अध्ययन करना।
3. वैदिक शब्दरूपों की विशेषता जानना।

बहुलं छन्दसि ॥ ४४ ॥अ० ७ । १ । ८ ॥

अनेनात्मनेपदसंज्ञस्य झकारप्रत्ययस्य रुडागमो विधीयते । उ० - देवा अदुह्र ॥

बहुलं छन्दसि ॥४५. अ० ७ । १ । १० **॥**

अनेन वेदेषु भिसः स्थाने ऐस् बहुलं विधीयते। यथा - देवेभिर्मानुषे जने ॥

सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः ॥४६ **॥अ० ७ । १ । ३६ ।**

सुपां च सुपो भवन्तीति वक्तव्यम् । तिङां च तिङो भवन्तीति वक्तव्यम्। **इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्(वा०) ।** इया-दार्विया परिज्मन् । डियाज्- सुमित्रिया न आप०, सुक्षेत्रिया; सुगातुया। ईकार - दृति न शुष्कं सरसि शयानम् ।

आङ्याजयारां चोपसंख्यानम्(वा०) । आङ्- प्रबाहवा । अयाच् -स्वप्नया वाव सेचनम् । अयार् स नः सिन्धुमिव नावया ।

सुप्, लुक्, पूर्वसवर्ण, आत्, शे, या, डा, ङ्या, याच्,आल्, इया, डियाच्, ई, आङ्, अयाच्, अयार् वैदिकेषु शब्देषु ह्येव सुपां स्थाने सुबाद्यारान्ता षोडशादेशा विधीयन्ते । तिङां च तिङिति पृथङ्नियमः। सुप् - ऋजवः सन्तु पन्था, पन्थान इति प्राप्ते। लुक्- परमे व्योमन् व्योम्नीति प्राप्ते। पूर्वसवण-धीती मती, धीत्या मत्या इति प्राप्ते। आत्- उभा यन्तारा, उभौ यन्तारौ इति प्राप्ते। शे- युष्मे वाजबन्धवः, यूयमिति प्राप्ते। या उरुया, उरुणा इति प्राप्ते । डा- नाभा पृथिव्याः, नाभौ इति प्राप्ते । ङ्या -अनुष्ट्या, अनुष्टुभा इति प्राप्ते याच्- साधुया, साधु इति प्राप्ते । आल्- वसन्ता यजेत, वसन्ते इति प्राप्ते ॥

आज्जसेरसुक् ॥ ४७ ॥ अ० ७ । १ । ५० ॥

अनेन प्रथमाया बहुवचने जसः पूर्वं असुक् इत्ययमागमो विहितः । उ०- विश्वे देवास आगत, विश्वेदेवा इति प्रान्ते । एवं दैव्यासः । तथैवान्यान्यपि ज्ञातव्यानि ॥

(बहुलं) इस सूत्र से प्रथम पुरुष के बहुवचन आत्मनेपद में 'झ' प्रत्यय को 'रुट् का आगम होता है ॥

(बहुलं) इससे भिस् के स्थान में ऐस्भाव वहुल करके होता है ॥

(सुपां सु०) इससे सब विभक्तियों के सब बचनों के स्थान में 'सुप्' आदि १६ आदेश होते हैं।

(आज्जसे०) इस सूत्र से वेदों में प्रथमा विभक्ति का बहुवचन जो जस् आगम होता है, जैसे- 'दैव्याः' ऐसा होना चाहिये वहां 'दैव्यासः' ऐसा हो जाता है। इत्यादि जान लेना चाहिए।

बहुलं छन्दसि ॥ ४८ ॥अ० ७ । ३। ९७ ॥

वेदेषु यत्र क्वचिदीडागमो दृश्यते तत्रानेनैव भवतीति वेद्यम् ॥

बहुलं छन्दति ॥४६ **॥अ०** ७ । ४ । ७८ **॥**

अनेनाभ्यासस्य इत् इत्ययमादेशः श्लौ वेदेषु बहुलं विधीयते ॥

भाषार्थ- (बहुलं) इस सूत्र से वेदों में ईट् का आगम होता है ॥

(बहुलं०) इस सूत्र से वेदों में धातु के अभ्यास को इकारादेश हो जाता है।

स्मरण बिन्दु-

- वैदिक भाषा में विभक्ति परिवर्तन सामान्य संस्कृत से अलग है।
- आगम शब्दरूप को विशेष बनाते हैं।
- वैदिक रूपों में अनेक विकल्प मिलते हैं।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
सुप्	विभक्ति प्रत्यय
आगम	अतिरिक्त वर्ण
रूप	शब्द संरचना

5 अंक के प्रश्न-

1. "सुपां सुलुक्" सूत्र का अर्थ लिखिए।
2. "रुडागम" क्या है?
3. "असुक्" आगम का प्रयोग कहाँ होता है?
4. वैदिक शब्दरूपों की विशेषता लिखिए।
5. विभक्ति आदेश क्या है?

15 अंक के प्रश्न

1. वैदिक विभक्तियों के विशेष नियमों की व्याख्या कीजिए।
2. "सुपां सुलुक्" सूत्र का विस्तार से वर्णन कीजिए।
3. वैदिक आगमों का विवेचन कीजिए।
4. वैदिक शब्दरूपों की संरचना समझाइए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. "सुप्" किससे संबंधित है?

(क) विभक्ति

(ख) प्रत्यय
(ग) समास
(घ) अलंकार

2. "असुक्" क्या है?

(क) आगम

(ख) उपसर्ग
(ग) धातु
(घ) संधि

3. "रुडागम" किसका प्रकार है?

(क) आगम

(ख) समास
(ख) अलंकार
(घ) विभक्ति

4. "सुलुक्" का संबंध किससे है?

(क) विभक्ति परिवर्तन

(ख) संधि
(ग) धातु
(घ) प्रत्यय

इकाई-2.4 व्याकरणनियमः - अष्टाध्यायी (अष्टमोऽध्यायः)

उद्देश्य-

1. वैदिक ध्वनि परिवर्तन का अध्ययन करना।
2. वर्ण लोप के नियम समझना।
3. उणादि प्रत्ययों का ज्ञान प्राप्त करना।

छन्दसीरः ॥ ५० ॥ अ० ८ । २ । १५ ॥

अनेन मतुपो मकारस्याप्राप्तं वत्त्वं विधीयते । उ०- रेवान् इत्यादि ॥

कृपो रो लः ॥५१ ॥**अ० ८ । २ । १८ ॥**

'संज्ञाछन्दसोर्वा कपिलकादीनामिति वक्तव्यम् ।' कपिलका; कपिरका इत्यादीनि ॥

धि च ॥५२ ॥**अ०** ८ । २ । २५ ॥

घसिभसोर्न सिध्येत्तु तस्मात् सिज्ग्रहणं न तत् ।
छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्कर्तारमध्वरे ॥ १ ॥
उ०- निष्कर्तारमध्वरस्येति प्राप्ते। अनेन वेदेषु वर्णलोपो विकल्यते। अप्राप्तविभाषेयम् ॥

दादेर्धातोर्घः ॥५३ ॥**अ० ८।२।१२॥**

'ह्ग्रहोश्छन्दसि' हस्य भत्वं वक्तव्यम् । उ०- गर्दभेन संभरति; मरुदस्य गृभ्णाति ॥

मतुवसो रुः सम्बुद्धौ छन्दसि ॥५४ ॥**अ० ॥**८।३।१॥

वेदविषये मत्वन्तस्य वस्वन्तस्य च सम्बुद्धौ गम्यमानायां रुर्भवति। गोमः, हरिवः, मीढ्वः

वा शरि ॥५४ ॥**अ० ॥**८ । ३ । ३६ ॥

वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपो वक्तव्यः । वृक्ष। स्थातारः, वृक्षाः स्थातारः । अनेन 'वायव स्थ'इत्यादीनि वेदेष्वपि दृश्यन्ते । अतः सामान्येनायं सार्वत्रिको नियमः ॥

(छन्दसीरः) इससे वेदों में मतुप् प्रत्यय के मकार को वकारादेश हो जाता है ॥

(संज्ञायाम्०) इससे वेदों में रेफ को लकार विकल्प करके होता है ॥

(घसिभसोर्हलि च०) इससे वेदों में किसी किसी अक्षर का कहीं कहीं लोप हो जाता है ॥ (ह्ग्रहो०) इससे वेंदों में ह और ग्रधातु के हकार को भकार हो जाता है ॥

(मतु०) इससे वेदों में मतुप् और वसु के नकार को रु होता है ॥

उरणादयो बहुलम् ॥ ५६ ॥ अ० ३ । ३ । ५६ ॥

बहुलवचनं किमर्थम् ? 'बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः' - तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते न सर्वाभ्यो दृश्यन्ते। 'प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्'- प्रायेण खल्वपि ते समुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः।

कार्य्यसशेषविधेश्च तदुक्तम् - कार्याणि खल्वपि सशेषाणि कृतानि न सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि । किं पुनः कारणं तन्त्रीभ्यः प्रकृ. तिभ्यः उणादयो दृश्यन्ते न सर्वाभ्यः । किञ्च कारणं प्रायेण समुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः । किञ्च कारणं कार्याणि सशेषाणि कृतानि न पुनः सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि ? 'नैगमरूढिभवं हि सुसाधु' नैगमाश्च रूढिशब्दाश्चावैदिकास्ते सुष्ठु साधवः कथं स्युः ।

'नाम च धातुजमाह निरुक्ते' - नाम खल्वपि धातुजमाहुर्नैरुक्ताः। 'व्याकरणे शकटस्य च तोकम्'-वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति । अथ यस्य विशेषपदार्थो न समुत्थितः कथं तत्र भवितव्यम् ? 'यन्न विशेषपदार्थसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्' - प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः, प्रत्ययं दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या ।

संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।
कार्याद्विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥ ३ ॥

(बाहुलकं०) उणादिपाठे अल्पाभ्यः प्रकृतिभ्य उरणादयः प्रत्यय। विहितास्तत्र बहुलवचनादविहिताभ्योऽपि भवन्ति । एवं प्रत्यया अपि न सर्व एकीकृताः किन्तु प्रायेण सूक्ष्मतया प्रत्ययविधानं कृतं, तत्रापि बहुलवचनादेवाविहिता अपि प्रत्यया भवन्ति, यथा फिडफिड्डौ भवतः । तथा सूत्रैर्विहितानि कार्याणि न भवन्त्यविहितानि च भवन्ति । यथा दण्ड इत्यत्र डप्रत्ययस्य उकारस्य इत्संज्ञा न भवति । एतदपि बाहुलकादेव । (किं पुनः०) अनेनैतच्छङ्क्यते उणादौ यावन्तः प्रकृतयो यावन्तः प्रत्यया यावन्ति च सूत्रे कार्य्याणि विहितानि तावन्त्येव कथं न स्युः ? अत्रोच्यते-

(नैगम०) नेगमा वैदिकाः शब्दा रूढयो लौकिकाश्च सुष्ठु साधवो यथा स्युः । एवं कृतेन विना नैव ते सुष्ठु सेत्स्यन्ति । (नाम०) संज्ञाशब्दान् निरुक्तकारा धातुजानाहुः, (व्याकरणे०) शकटस्य तोकमपत्यं शाकटायनः तोकमित्यस्यापत्यनामसु पठितत्वात् ।
(यन्न०) यत् विशेषात्पदार्थान्न सम्यगुत्थितमर्यात्प्रकृतिप्रत्ययविधानेन न व्युत्पन्नं तत्र प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊह्यः प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिः । एतदूहनं क्व कथं च कर्तव्यमित्यत्राह – संज्ञाशब्देषु धातुरूपाणि पूर्वमूह्यानि परे च प्रत्यया:। (कार्याद्वि०) कार्य्यमाश्रित्य धातुप्रत्ययानुबन्धान् जानीयात्, एतत्सर्वं कायंभुणादिषु बोध्यम् ।।

भाषार्थ – (उणादयो०) इस सूत्र के ऊपर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि उणादिपाठ की व्यवस्था बांधते हैं कि (बाहुलकं०) उणादिपाठ में थोड़े से धातुओं से प्रत्ययविधान किया है, सो बहुल के होने से वे प्रत्यय अन्य धातुओं से भी होते हैं। इसी प्रकार प्रत्यय भी उस ग्रन्थ में थोड़े से नमूना के लिये पढ़े हैं, इन से अन्य भी नवीन प्रत्यय शब्दों में देखकर समझ लेना चाहिये। जैसे 'ऋफिडः' इस शब्द में ऋ धातु से फिड प्रत्यय समझा जाता है, इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये। तथा जितने शब्द उणादिगण से सिद्ध होते हैं, उनमें जितने कार्य सूत्रों से होने चाहिये वे सब नहीं होते हैं,वें भी बहुल ही का प्रताप है।
(किं पुनः०) इस में जो कोई ऐसी शंका करे कि उणादिपाठ में जितने धातुओं से जितने प्रत्यय विधान किये और जितने कार्य्य शब्दों की सिद्धि में सूत्रों से हो सकते हैं, उनसे अधिक क्यों होते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि (नैगम०) वेदों में जितने शब्द हैं तथा संसार में असंख्य संज्ञाशब्द हैं, ये सब अच्छी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकते, इसलिये पूर्वोक्त तीन प्रकार के कार्य्य बहुलवचन से उणादि में होते हैं। जिसके होने से अनेक प्रकार के हजारों शब्द सिद्ध होते हैं।
(नाम०) अब इस विषय में निरुक्तकारों का ऐसा मत है कि संज्ञाशब्द जितने हैं, वे सब धातु और प्रत्ययों से बराबर सिद्ध होने चाहिये, तथा वैयाकरण जितने ऋषि हैं, उनमें से शाकटायन ऋषि का मत निरुक्तकारों के समान है, और इनसे भिन्न ऋषियों का मत यह है कि संज्ञाशब्द जितने हैं वे रूढ़ी हैं। अब इस बात का विचार करते हैं कि जिन शब्दों में धातु प्रत्यय का कुछ भी ज्ञान नहीं होता वहां क्या करना चाहिये ? उन शब्दों में इस प्रकार विचार करना चाहिये कि व्याकरणशास्त्र में जितने धातु और प्रत्यय हैं, इन में से जिस धातु का ज्ञान हो जाय उससे नवीन प्रत्यय की कल्पना कर लेनी चाहिये, और जो प्रत्यय जाना जाय तो नवीन धातु की कल्पना कर लेनी चाहिये । इस प्रकार उन शब्दों का अर्थ विचार लेना चाहिये। और दूसरी कल्पना यह भी है कि उन शब्दों में जिस अनुबन्ध का कार्य दीखे वैसा ही धातु वा प्रत्यय अनुबन्ध के सहित कल्पना करनी चाहिये । जैसे कोई आद्युदात्त शब्द हो उसमें ञ् अथवा न् अनुबन्ध के सहित प्रत्यय समझना चाहिये ।
यह कल्पना सर्वत्र नहीं करना चाहिये, किन्तु जो संज्ञाशब्द लोक वा वेद से प्रसिद्ध हों, उनके अर्थ जानने के लिये शब्द के आदि के अक्षरों में धात्वर्थ की और अन्त में प्रत्ययार्थ की कल्पना करनी चाहिये ।
ये सब ऋषियों का प्रबन्ध इसलिये है कि शब्दसागर अथाह है, इस का पूर्ण ज्ञान व्याकरण से नहीं मिल सकता। प्रश्न उठ्ता है कि ऐसा व्याकरण क्यों नहीं बनाया जिससे शब्दसागर के पार पहुँचा जाए ?
यदि ऐसा करते तो जन्मजन्मान्तर पढ़ने पर भी पार होना दुर्लभ हो जाता। इसलिये यह सब पूर्वोक्त प्रबन्ध ऋषियों ने किया है, जिससे शब्दों की व्यवस्था मालूम हो जाय ।।

।। इति व्याकरणनियमविषयः ।।

स्मरणीय बिन्दु–

- वेदों में वर्ण लोप के अनेक उदाहरण मिलते हैं।
- उणादि प्रत्यय शब्द निर्माण में महत्वपूर्ण हैं।
- वैदिक ध्वनि परिवर्तन भाषा को विशिष्ट बनाते हैं।

शब्दावली–

शब्द	अर्थ
वर्ण लोप	अक्षर का हटना
उणादि विशेष	प्रत्यय समूह
ध्वनि परिवर्तन	स्वर/व्यंजन परिवर्तन
मतुप्	स्वामित्व सूचक प्रत्यय

5 अंक के प्रश्न-

1. "छन्दसीर:" सूत्र का अर्थ लिखिए।
2. वर्ण लोप क्या है?
3. "उणादयो बहुलम्" का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. वैदिक ध्वनि परिवर्तन का उदाहरण दीजिए।
5. "मतुप्" प्रत्यय का वैदिक प्रयोग बताइए।

15 अंक के प्रश्न-

1. वैदिक वर्ण लोप नियमों की व्याख्या कीजिए।
2. उणादि प्रत्ययों का विस्तृत विवेचन कीजिए।
3. वैदिक ध्वनि परिवर्तन की विशेषताएँ बताइए।
4. पाणिनीय व्याकरण में उणादि प्रत्ययों का महत्व समझाइए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. "उणादि" किससे संबंधित है?

(क) प्रत्यय
(ख) संधि
(ग) समास
(घ) विभक्ति

2. "वर्ण लोप" का अर्थ हैख्र

(क) अक्षर हटना
(ख) अक्षर बढ़ना
(ग) स्वर वृद्धि
(घ) समास

3. "मतुप्" किस प्रकार का प्रत्यय है?

(क) स्वामित्व सूचक
(ख) विभक्ति
(ग) उपसर्ग
(घ) समासान्त

4. "बहुलम्" का अर्थ क्या है?

(क) अनेक प्रकार से
(ख) एक बार
(ग) सदैव
(घ) कभी नहीं

खण्ड-3 अथ लिङ्गानुशासनं नाम पञ्चमं प्रकरणम्
इकाई-3.1 स्त्रीलिंगाधिकारः

उद्देश्य-

1. संस्कृत में स्त्रीलिंग शब्दों का ज्ञान प्राप्त करना।
2. स्त्रीलिंग निर्माण के नियम समझना।
3. स्त्रीलिंग प्रयोग की विशेषताओं का अध्ययन करना।

लिङ्गम् । (१) स्त्री० (२)।

ये दो अधिकारसूत्र हैं। प्रथम अधिकार इस शास्त्र की समाप्ति तक है। द्वितीय अधिकार ताराधारा ज्कोत्स्नादयश्च इस सूत्र तक है।

3. ऋकारान्ता मातृदुहितृस्वसृपोत्तृननान्दरः ।

मातृ आदि ये पाँच ऋकारान्त प्रकृतियां स्त्रीलिङ्ग हैं। ङीप् के निषेध से ये प्रयोग में भी अनादिष्ट (ऋकारान्त रूप में) रहती हैं। कर्तृ आदि यौगिक शब्दों से तथा क्रोष्टृ आदि रूढ शब्दों से ङीप् प्रत्यय के आने से प्रयोग में ये ऋकारान्त नहीं रहते। तिसृ चतसृ-ये स्त्रीत्व में त्रि चतुर् के स्थान में आदेश हैं। अतः ये ऋकारान्त प्रकृतियां नहीं हैं।

४. अन्यूप्रत्ययान्तो धातुः ।

धातु से अनि, ऊ प्रत्यय द्वारा व्युत्पन्न शब्द-रूप स्त्रीलिङ्ग होता है। उणादयो व्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि यह शास्त्रान्तर का मत है। इस का आश्रयण करके प्रकृत सूत्र का निर्माण हुआ है- अनिप्रत्ययान्त - सरणिः (मार्ग)। धरणिः (पृथिवी) । धमनिः (नाड़ी, धौंकनी)। अमनिः (गति)। अवनिः। ऊ प्रत्ययान्त- वधूः । चमूः (सेना) । तनूः । खजूः । कच्छूः । कच्छरस्यास्तीति कच्छ्रुरः । दद्रूः (दाद)। दर्दूरस्यास्तोति दद्रुणः । क्विप्प्रत्ययान्त कण्डू भी स्त्रीलिङ्ग है। कण्डूः। कण्डूरस्या-स्तीति कण्डूलः । कर्ष करीषाग्नि (सूखे हुए ओपलों की अग्नि) अर्थ में पुल्लिङ्ग है, नदी अर्थ में स्त्रीलिङ्ग है- कर्षूः पुंसि करीषाग्नौ कर्षूर्नद्यां स्त्रियां मतः ।

सूत्र में प्रत्यय ग्रहण क्यों किया ? दिव परिकूजने से क्विप् करके वकार को ऊठ् होने पर द्यूः - यह शब्दरूप निष्पन्न होता है। यह विशेष्य-लिङ्गक रहेगा ।

५. अशनिभरण्यरणयः पुंसि च।

अनिप्रत्ययान्त अशनि (तडित्, बिजली) । भरणिः (नक्षत्र विशेष) । अरणिः (अग्नेर्योनिः, काष्ठ जिसे मथ कर अग्नि निक. ाली जाती है)। - यह पुंल्लिङ्ग भी हैं। पूर्व सूत्र से इनकी स्त्रीलिङ्गता ही प्राप्त है। इयमयं वाऽशनिः । अथर्वसंहिता (७।१०६।४) में अशनि का स्त्री० में प्रयोग आया है- वृक्षमिवाशन्या जहि यो अस्मान् प्रतिदीव्यति ।

६. मिन्यन्तः ।

मि-प्रत्ययान्त तथा नि-प्रत्ययान्त शब्दस्वरूप स्त्रीलिङ्ग होता है- मिप्रत्ययान्त- नेमिः (प्रधि, चक्रान्त)। भूमिः। निप्रत्ययान्त-ग्लानिः ।

७. वह्निदृष्ण्यग्नयः पुंसि ।

वह्नि, वृष्णि (वृष्णि वंश का मूल पुरुष) अग्नि- ये पुंल्लिङ्ग होते हैं। यह पूर्वसूत्र का अपवाद है।

८. श्रोणियोन्यूर्मयः पुंसि च ।

श्रोणि (कटि)। ऊमिः (लहर)। इयम् अयं वा श्रोणिः । अमर इसे स्त्रीलिङ्ग ही मानता है- कटिः श्रोणिः ककुद्मती।

९. **क्तिन्नन्तः ।**

क्तिन्प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग होता है। क्तिन्प्रत्यय स्त्रियां क्तिन् से स्त्रीत्व के अभिधेय होने पर विहित है। कृतिः। मितिः । छित्तिः । मृतिः । भूतिः । सुतिः ।

१०. ईकारान्तश्च ।

ई प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग होता है-अवीः (रजस्वला स्त्री)। तरीः (नौका)। स्तरीः (धूआं)। तन्त्रीः (वीणा की तार) । लक्ष्मीः। ई औणादिक प्रत्यय है।

११. **ऊङ्याबन्तश्च ।**

ऊङ् प्रत्ययान्त तथा आबन्त (टाप्, डान्, चाप् प्रत्ययान्त) स्त्रीलिङ्ग होते हैं। ऊङन्त - कुरूः (कुरोरपत्यं स्त्री)। ब्रह्मबन्धूः । निन्दितब्राह्मणी । आबन्त - विद्या। खट्वा। दिशा। केका । ईहा। स्पृहा। भिदा ।

१२. **य्वन्तमेकाक्षरम् ।**

एकाच्क जो ईकारान्त, ककारान्त वह स्त्रीलिङ्ग होता है-श्रीः (श्रयन्त्येनाम्)। यहाँ श्रि धातु से क्विप् परे दीर्घ हुआ है। ई प्रत्यय नहीं है। भूः। पर प्रतिभू (अनेकाच्क) नियम से स्त्रीलिङ्ग नहीं। **वैदर्भी रीतिः सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम्**, यहाँ स्त्री० है, पर मातृकागतानां प्रमादानां लेखका न प्रतिभुवः, यहाँ पुंल्लिङ्ग है। प्रतिभूः जमिन ।

१३. **विंशत्यादिरानवतेः ।**

विंशति से लेकर नवनवति तक के संख्या-वाचक शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं- **विशत्या छात्रैः सम्भूय समुत्थितमत्र कर्मणि,** बीस छात्रों ने मिलकर कार्य किया। **विशतिः पात्राणां त्रपुलेपं लम्भिता**, बर्तनों की एक कोड़ी को कलई कराई गई। षष्टये (षष्ट्यै) **विद्यास्नातकेभ्यो विद्यावारि धय उपाधयः प्रदिष्टाः** । स्मरण रहे विंशति आदि नवनवति तक संख्येयपरक होते हुए भी एकवचन में प्रयुक्त होते हैं।

१४. **दुन्दुभिरक्षेषु ।**

अक्ष (पाशक) वाची दुन्दुभि स्त्रीलिङ्ग होता है। अमर का पाठ भी है **स्याद्भेर्यां दुन्दुभिः पुंसि स्यादक्षे दुन्दुभिः स्त्रियाम्** । **दुन्दुभ्या किल तत्कृतं पतितया यद् द्रौपदी हारिता,** पासे ऐसे पड़े कि द्रौपदी हारी गई ।

१५. नाभिरक्षत्रिये ।

नाभि जो क्षत्रियवाची न हो वह स्त्रीलिङ्ग होता है। इयं नाभिः (शरीराङ्ग)। सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ (ऋ० १०/१०/०४) । नाभिः कस्तूरिकामदः । इसीलिये कस्तूरी मृग को नाभिमृग भी कहते हैं।

१६. उभावन्**यन्यत्र पुंसि ।**

दोनों दुन्दुभि तथा नाभि उक्तार्थ से अन्यत्र पुँल्लिङ्ग होते हैं। दुन्दुभिर्नामाऽसुरः। दुन्दुभिः वरुण।

नाभिर्मुख्यनृपे चक्रमध्यक्षत्रिययोः पुमान् ।
द्वयोः प्राणिप्रतीके स्यात् स्त्रियां कस्तूरिकामवे ॥ (मेदिनी)

मेदिनी के अनुसार प्राण्यङ्ग में भी नाभि उभयलिङ्ग है। रभस के अनुसार भी प्राण्यङ्ग में नाभि उभयलिङ्ग है-

मुख्यराट्क्षत्रिये नाभिः पुंसि प्राण्यङ्गके द्वयोः ।
चक्रमध्ये प्रधाने च स्त्रियां कस्तूरिकामदे ॥

अतः भारवि के **समुल्लसत्पङ्कजपत्रकोमलरुपाहितश्रीण्युपनीवि नाभिभिः (किरात० ८।२४)** इस पद्य में नाभि का पुंल्लिङ्ग में प्रयोग उपपन्न होता है। अन्यथा कोमलैः - यह दृढभक्तिः में दृढ की तरह सामान्ये नपुंसक में प्रयोग जानना चाहिये ।

१७. तलन्तः ।

तल्प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग होता है। **तस्य भावस्त्वतलौ (५।१।११६)** से तल् भावार्थक तद्धित है। स्त्रीत्वविवक्षा में तलन्त से टाप् आता है- मनुष्यता । पशुता। गोता। पटुता । शुचिता । **ग्रामजनपन्धुभ्यस्तल्** से समूहार्थ में तल् होता है। सहाय शब्द से भी समूहार्थ में तल् होता है-ग्रामता । जनता । बन्धुता । सहायता। **ग्राम एकस्मिन्नधिकृतः स्थायुक उच्यते। ग्रामतायां तु गोप इति । स्थायुकोऽधिकृतो ग्रामे गोपो ग्रामेषु भूरिषु (अमर) । प्रायेणाज्ञाऽत्रत्या जनता । देवदत्तः स्वदेश उतं स्यूतं च वासो वस्ते, बहु च मान्यते बन्धुतया ।** स्वार्थ में भी तल् प्रत्यय होता है, ऐसा तलन्त भी स्त्री-लिङ्ग होता है- देव एव देवता ।

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषां नररूपेण तिष्ठति ॥ (मनु० ७।८) ।

वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता (तै० सं० २।१।१।१) । यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुति प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो मवति (निरुक्त० ७।१।४) ।

१८. भूमिविद्युत्सरिल्लतावनिताभिधानानि ।

भूमि के पर्याय स्त्रीलिङ्ग है। जैसे रसा, विश्वम्भरा, स्थिरा, धरा, धरित्री, वसुन्धरा आदि। विद्युत्, सरित्, लता, वनिता भी स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग किए जाते हैं।

स्मरणीय बिन्दु-

- स्त्रीलिंग शब्द स्त्री जाति का बोध कराते हैं।

- संस्कृत में स्त्रीलिंग निर्माण हेतु विशेष प्रत्यय लगाए जाते हैं।
- भाषा शुद्धि के लिए लिंग ज्ञान आवश्यक है।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
स्त्रीलिंग	स्त्री जाति सूचक
प्रत्यय	शब्दांत जोड़
भाषा	वाणी
अधिकार	विषय विशेष

5 अंक के प्रश्न

1. स्त्रीलिङ्गाधिकार का अर्थ लिखिए।
2. स्त्रीलिंग शब्द किसे कहते हैं?
3. संस्कृत में स्त्रीलिंग निर्माण कैसे होता है?
4. स्त्रीलिंग प्रत्ययों के नाम लिखिए।
5. स्त्रीलिंग शब्दों के दो उदाहरण दीजिए।

15 अंक के प्रश्न

1. स्त्रीलिङ्गाधिकार की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. संस्कृत में स्त्रीलिंग निर्माण के नियम समझाइए।
3. स्त्रीलिंग प्रत्ययों का वर्णन कीजिए।
4. स्त्रीलिंग शब्दों की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. "स्त्रीलिङ्ग" किसका बोध कराता है?

(क) पुल्लिंग

(ख) स्त्री जाति

(ग) नपुंसक

(घ) समास

2. संस्कृत में स्त्रीलिंग बनाने हेतु क्या प्रयुक्त होता है?

(क) प्रत्यय

(ख) संधि

(ग) समास

(ख) धातु

3. "नदी" कौन-सा लिंग है?

(क) पुल्लिंग

(ख) स्त्रीलिंग

(ग) नपुंसकलिंग

(घ) द्विलिंग

4. स्त्रीलिंग का संबंध किससे है?

(क) भाषा संरचना

(ख) अलंकार

(ग) छन्द

(घ) रस

इकाई-3.2 अथ पुंल्लिङ्गाधिकारः

उद्देश्य-

1. पुल्लिंग शब्दों का ज्ञान प्राप्त करना।
2. पुल्लिंग निर्माण के नियम समझना।
3. संस्कृत व्याकरण में लिंग व्यवस्था को जानना।

३५. पुमान् ।

यह अधिकार है। वक्ष्यमाण सूत्र में पुमान् (पुंल्लिङ्ग) यह अधिकृत जानना चाहिये.

३६. घञन्तः ।

घञप्रत्ययान्त तथा अप्प्रत्ययान्त पुंल्लिङ्ग होते हैं- (घञ्) - रागः । पाकः । त्यागः । अवतारः । अवस्तारः । अध्यायः । न्यायः। (अप्) -करः। गरः। गदः । मदः । स्तवः । पवः। समजः समुदायः। समजः पशूनाम् । महानस्य **रागः संगीते । ओषः पाको धीयतेऽस्यामित्योषधिः । प्रशस्योऽस्य त्यागो**ऽर्थानाम् । रम्य एष नद्या अवतारः (घाट)। अवस्तारो जवनिका भवति । स्वस्य शाखाया अध्ययनं स्वाध्याय इत्युच्यते । वेदाध्यायः (वेद का पढ़ना)। अध्याय नाम वेद का भी है- **उभयमन्वध्यायम्** (निरुक्त), नन् वेद में प्रतिषेध तथा उपमा दोनों अर्थों में आता है। न्याय अभ्रेष, औचित्य, युक्ति, स्वर आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। स्वर अर्थ में कुमारसंभव में प्रयोग है-

उद्घातः प्रणवो यासां न्याय स्त्रिभिरुदीरणम् ।
कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम् ॥ (२।१।२)

जिन वाणियों का उपक्रम ओम् से होता है, जिनका तीन स्वरों (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित) से उच्चारण होता हैं जिनका प्रतिपाद्य कर्म यज्ञ है और फल स्वर्ग है, उनका तू स्रोत है। इस सूत्र पर दीक्षित का कहना है कि नपुंसकत्व-विशिष्ट भाव के अभिधान में क्त, ल्युट् के विधान होने से घञ्, अप् होंगे नहीं, तथा स्त्रीत्व-विशिष्टभाव के अभिधान में क्तिन् आदि से घञ् आदि बाधित हो जायेंगे, अतः पारिशेष्य से पुंस्त्व-विशिष्ट भाव अर्थ में घञ, अप् होंगे। कर्मादि के अभिधायक जो घञ, अप् तदन्त तो विशेष्यलिङ्गक होंगे (विशेष्य का लिंग लेंगे) । **अत एव सम्बन्धमनुतिष्यते** - ऐसा भाष्यस्थ प्रयोग उपपन्न होता है। शेषं पुंवत् इत्यादि प्रयोग भी देखा जाता है।

३७. घाजन्तश्च ।

घप्रत्ययान्त तथा अच्प्रत्ययान्त पुंल्लिङ्ग होते हैं। घ-आकरः । अयमाकरो गुणानाम् । **एत्य तस्मिन्कुर्वन्तीत्याकरः** । आलयः = गृह । **आलीयतेऽस्मिन्नित्यालयः । निकाय्यनिलयालयाः (अमर)** । दन्तच्छदः । झोष्ठः । **दन्तारच्छाद्यन्तेऽनेनेति।** गोचरः। संचरः (= मार्गः) । वहः (= स्कन्धः) । व्रजः (गोष्ठः) । व्यजः (तालवृन्तम्, पंखा)। आपणः (एस्य पणन्तेऽत्रेति, दुकान)। निगमः (वेद)।

गोचर का मूल अर्थ है- चरागाह, गवादनी। गावश्चरन्त्यत्रेति । इन्द्रिय-विषय को भी गोचर कहते हैं- **इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् -(कठ० उ०) । न रसानुभूतिः सर्वस्य गोचरः** । भागवतकार गोचर शब्द को स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग करता है - **स्त्रीशूद्र द्विजबन्धूनां त्रयो न श्रुतिगोचरा** । यह उसका प्रमाद है। श्रुतिगोचरा- यह षष्ठी तत्पुरुष है। बहुव्रीहि नहीं। अतः वाच्यलिङ्ग नहीं हो सकता। अच-चयः। जयः। अयः (शुभ दैव) । क्षयः । उपसर्गयोग से संचय, समुच्चय, विचय, प्रचय आदि भी पुंल्लिङ्ग हैं। इसी प्रकार जय, विजय, संजय, पराजय आदि भी पुंल्लिङ्ग हैं। **निर्गतोऽयो**ऽस्मादिति निरयो नरकम् । **जाने ऽचिरात्ते समुदेष्यत्ययः,** मैं समझता हूँ जल्दी ही तेरा भाग्य उदय होगा। **अयः शुभावहो विधिः (अमर)।**

३८. **भय-लिङ्ग-मग-पदानि नपुंसके ।**

भयम्। यह अच्प्रत्ययान्त है। पूर्वसूत्र से पुंल्लिङ्गता प्राप्त थी। **महद्भयमुपस्थितम् । अदूर आस्कन्दारः । सद्यः कर्तव्यो दुर्गसंश्रयः ।** लिङ्ग मेढ्रं भवति । अच्प्रत्ययान्त होने से पूर्वसूत्र से पुंस्त्व प्राप्त था । भगं स्त्रीयोनिः । भग घ-प्रत्ययान्त है। इसे भी पूर्वशास्त्र से पुंस्त्व प्राप्त था। भग नानार्थक है। इसके नाना अर्थ ये हैं-

भगं श्रीकाममाहात्म्यवीर्ययत्नार्कयोनिषु (अमर) ।

अर्क (सूर्य) अर्थ में तो भग पुंल्लिङ्ग ही है। योनि से अतिरिक्त अर्थ में दूसरे कोषकार भग को पुंल्लिङ्ग मानते हैं-

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

वेद में भी ऐश्वर्य आदि अर्थ में भग पुंल्लिङ्ग है-

आ नो भर भगमिन्द्र द्युमन्तम् (ऋ० ३।३०।३९) ।

पद अच्प्रत्ययान्त है। पद्यत इति पदम् ।

३६. नङन्तः ।

नप्रत्ययान्त पुंल्लिङ्ग होता है- यज्ञः । यत्नः । विश्नः । प्रश्नः । रक्ष्णः । विश्न तथा रक्ष्ण अप्रसिद्ध हैं।

४०. याच्ञा स्त्रियाम् ।

याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लग्यकामा (मेघ०) । नप्रत्ययान्त होने से पूर्व सूत्र से पुंस्त्व प्राप्त था ।

४१. क्यन्तो घुः ।

घुसंज्ञक धातुओं से कि प्रत्यय करके व्युत्पादित शब्द पुं० होता है। प्रधिः (नेमि)। उपधिः (छल, कपट)। उपाधिः (विशेषण) । विधिः (विधान, दैव)। निधिः । सन्निधिः (समीपता, विद्यमानता)। जलधिः। उदधिः (समुद्र)। शेवधि (निधि) । **विद्या ह व ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेहमस्मि,** विद्या ब्राह्मण के पास आई (और बोली), मेरी रक्षा कर, मैं तेरा निधि हूँ। आधि (मानसी पीड़ा) । **वामाः कुलस्याधयः,** इससे विपरीत आचरणवाली स्त्रियाँ कुल का रोग होती हैं। यहाँ आधि का औपचारिक प्रयोग है। व्याधिः (शारीरिक रोग)। कि प्रत्यय जिसे लिड्वद्भाव कहा है वह यहां विवक्षित नहीं । ददिर्गाः। गा दत्तवान्, गा दत्तवती ।

४२. इषुधिः स्त्री च ।

किप्रत्ययान्त इषुधि स्त्री० भी होता है। पूर्वसूत्र से केवल पुंल्लिङ्गता ही प्राप्त थी। अयम् **इषुधिः । इयमिषुधिः । इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः (ऋ० ६।७५।५)** । यहाँ इषुधि पुं० है। अमर भी इषुधि को उभयलिङ्ग मानता है - **तूणोपासङ्गतणोरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः ।** तूण, उपासङ्ग, तूणीर, निषङ्ग- ये सब पुंल्लिङ्ग है। **४३.देवासुरात्म-स्वर्ग-गिरि-समुद्र-नख-केश-दन्त-स्तन-भुज-कण्ठ-खड्ग-शर-पङ्काभिधानानि।**

देव, असुर आदि के नाम पुंल्लिङ्ग होते हैं-

अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः ।
सुपर्वाणः सुमनस्स्त्रिदिवेशा दिवौकसः ॥
आदितेया दिविषदो लेखा अदितिनन्दनाः ।
आदित्या ऋभवोऽस्वप्ना अमर्त्या अमृतान्धसः ॥
बहिर्मुखा क्रतुभुजो गोर्वाणा दानवारयः ।
बृन्दारका दैवतानि पुंसि वा देवताः स्त्रियाम् ॥

इन पद्यों में अमराः आदि में बहुत्व अतन्त्र है। अमर आदि देव के पर्याय हैं। **त्रिदशाः = तृतीया यौवनाख्यैव दशा येषां ते। अत एव निर्जराः । शोभनं पर्व चरितं येषां ते सुपर्वाणः। दिवम् ओको वासस्थानं येषां ते दिवौकसः ।** अदन्त दिव शब्द भी है। अथवा पृषोदरादि होने से साधुत्व जानना चाहिये । **गीर् एव निग्रहानुग्रहसमर्थो बाणो येषां ते गीर्वाणाः। प्रषास्तं वृन्दमस्त्येषां वृन्दारकाः ।** दैवत (देवता एव दैवतम्) विकल्प से पुं०। देवता नियतस्त्री-लिङ्ग है। **अमृतम् अन्धोऽन्नं येषां तेऽमृतान्धसः ।** अन्थस् नपुं० सकारान्त प्रातिपदिक है। असुरनाम -

असुरा दैत्यदैतेयदनुजेन्द्रारिदानवाः।
शुक्रशिष्या दितिसुताः पूर्वदेवाः सुरद्विषः ॥

यहाँ असुराः आदि में बहुवचन अतन्त्र है। दितेरपत्यं दैत्यः । ङीषन्त दिती शब्द से ढक् होने पर दैतेय (दित्या अपत्यम्) । **दनोरपत्यं दानवः। दनोर्जातः दनुजः । पूर्वं देवाः पूर्वदेवाः, पूर्वे च ते देवाश्च । अनयाद् देवत्वाद् भ्रष्टा इति स्वामी ।**

आत्म-नाम-क्षेत्रज्ञः । आत्मा । पुरुषः । स्वर्ग-नाम (स्वरव्ययं) **स्वर्ग-नाक-त्रिदिव-त्रिदशालयाः ।** यहाँ स्वर् अव्यय है। स्वर्ग, नाक, त्रिदिव, त्रिदशालय, सुरलोक ये पुंल्लिङ्ग हैं। गिरि (पर्वत) नाम-

महीध्रे शिखरि-क्ष्माभृदहार्य-धर-पर्वताः ।
अद्रि-गोत्र-गिरि-प्रावाऽचल-शैल-शिलोच्चयाः ॥

महीं घरतीति महीघ्रः । महीधरः भी। भूधरः भी। शिखराणि सन्त्यस्येति शिखरी । सानुमान् भी । सानवः सानूनि वा सन्त्यस्य । क्ष्मां बिभर्तीति क्ष्माभृत्। भूभृत् भी। अहार्यः हर्तुं न शक्यः। पर्ववान् पर्वतः। ग्रावन् नकारान्त प्रातिपदिक है। शैलः - शिलानामयम् । शिलानाम् उच्चयः समुच्चयः शिलोच्चयः ।

समुद्रनाम- समुद्रोऽब्धिरकूपारः पारावारः सरित्पतिः ।
उदन्वान् उदधिः सिन्धुः सरस्वानु सागरोऽर्णवः ॥
रत्नाकरो जलनिधिर्यादःपतिरपां पतिः । (अमर)

अब्धिः, अकुपारः, पारावारः, अर्णवः, यादःपतिः ये भी पुलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं।

स्मरणीय बिन्दु-

- पुल्लिंग पुरुष जाति का बोध कराता है।
- संस्कृत में प्रत्येक शब्द का निश्चित लिंग होता है।
- लिंग परिवर्तन से अर्थ परिवर्तन हो सकता है।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
पुल्लिंग	पुरुष जाति सूचक
नर	पुरुष
शब्दरूप	शब्द का रूप
लिंग	जाति सूचक

5 अंक के प्रश्न-

1. पुल्लिंग किसे कहते हैं?
2. पुल्लिंग शब्दों के उदाहरण दीजिए।
3. पुल्लिंग निर्माण की प्रक्रिया लिखिए।
4. लिंग का महत्व क्या है?
5. संस्कृत में पुल्लिंग की विशेषता लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. पुल्लिङ्गाधिकार की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. संस्कृत में पुल्लिंग निर्माण के नियम समझाइए।
3. पुल्लिंग शब्दों की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
4. भाषा में लिंग व्यवस्था का महत्व बताइए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. "राम" कौन-सा लिंग है?

(क) पुल्लिंग

(ख) स्त्रीलिंग

(ख) नपुंसकलिंग

(ग) द्विलिंग

2. पुल्लिंग किसका बोध कराता है?

(क) स्त्री

(ख) पुरुष

(ग) वस्तु

(घ) क्रिया

3. संस्कृत में लिंग का संबंध किससे है?

(क) शब्दरूप

(ख) रस

(ग) छन्द

(घ) अलंकार

4. "नर" कौन-सा शब्द है?

(क) पुल्लिंग

(ख) स्त्रीलिंग

(ग) नपुंसकलिंग

(घ) अव्यय

इकाई-3.3 अथ नपुंसकलिङ्गाधिकारः

उद्देश्य-

1. नपुंसकलिंग शब्दों का अध्ययन करना।
2. नपुंसकलिंग निर्माण के नियम समझना।
3. तीनों लिंगों का अंतर जानना।

११८. नपुंसकम् ।

यह अधिकार सूत्र है। वक्ष्यमाण सूत्रों में नपुंसकम् -यह अधिकृत जानना चाहिये ।

११९. भावे ल्युडन्तः ।

भाववाची जो ल्युट् प्रत्यय तदन्त प्रातिपदिक नपुंसक होता है- गमनम् । श्रवणम्। भ्रमणम्। भक्षणम् । हसनम् । हिंसनम् दानम् । भरणम् । पोषणम् । बन्धनम्। क्रयणम्। आकुञ्चनम्। प्रसारण म् । भाव में ल्युट् ऐसा क्यों कहा? पचनोऽग्निः। यहाँ करण में ल्युट् है। राजधानी (नगरी)। यहाँ अधिकरण में ल्युट् है।

१२०. निष्ठा च ।

भाव में जो निष्ठा (क्त क्तवतु) तदन्त प्रातिपदिक नपुंसक होता है। **अवसितं हसितं प्रसितं मुदा विलसितं हसितं स्मरभासितम् । (भट्टि १०।६) ।** यहाँ हसितम् में भावे क्त है, ऐसे ही विलसितम् (विचेष्टितम्) में भी। अतः ये नपुंसक हैं। **उमावलञ्चक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपयं गताभ्याम् (रघु० २०१८)।** यहाँ गताभ्याम् में गत में क्त भाव में है। **पैतृकं गतमनुहरन्तेऽश्वाः, मातृकं गाःव,** घोड़े पिता की चाल का स्वभाव से अनुकरण करते हैं, गौएँ माता की चाल का। **उष्ट्राणां विवाहेषु गीतं गायन्ति गर्दभाः ।**

१२१. त्वष्यञौ **तद्धितौ ।**

भाव में त्व, ष्यञ् । किं नाम गोत्वम् ? सास्नादिमत्त्वं गोत्वम् । मनुष्यत्वम् ।

गौर्गौः कामदुधा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः ।

दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं वक्तुः सैव शंसति ।।

अदेवा ऋभवः पुनर् देवत्वमापुः । असुराः स्वैरपचरितैर्मर्त्यत्वं ययुः । कवित्वं दुर्लभं लोके। पटस्य शुक्तः, पटस्य शौक्ल्यम् अत्रार्थेऽविशेषः ? चतुरस्य भावः चातुर्यम् । निपुणस्य भावः नैपुण्यम् । विशारदस्य भावः वैशारद्यम् । मधुरस्य भावः = माधुर्यम् । समग्रस्य भावः सामग्र्यम् । उचितस्य भावः = औचित्यम् । अर्हतो भावः आर्हन्त्यम् (योग्यता) । ष्यञ् को षित्त्व किया है, तत्सामर्थ्य से ष्यञन्त स्त्रीलिङ्ग भी होते हैं- चातुरी । नैपुणी । वैशारदी। माधुरी । सामग्री । औचिती । आर्हन्ती ।

स्वार्य में जो ष्यञ्, तदन्त भी नपुं० होता है- चातुर्वर्ण्यम् (चत्वारो वर्णाः)।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः (गीता)। चातुराश्रम्यम् (= चत्वार आश्रमाः) । सामीप्यम् । सान्निध्यम्। सौख्यम् (सुलमेव सौख्यम्) ।

१२१. कर्मणि च ब्राह्मणादि-गुणवचनेभ्यः ।

ब्राह्मणस्य भावः कर्म वा ब्राह्मण्यम् । कवेः कर्म काव्यम् । कविः क्रान्तदर्शनः, तस्य भावः काव्यं प्रज्ञत्वम् - **देवस्य पश्य काव्यम् (ऋ० १०/५५/५)** । मन्दस्य भावः कर्म वा मान्यम् । मूढाल्पापटुनिर्भग्या मन्दाः। मान्द्य मूर्खता, अल्पता, सुस्ती (रुग्णता), दौर्भाग्य । **तातस्य मान्द्यमिति चिन्ताऽऽचामतीव माम्,** पिताजी अस्वस्थ हैं, इस कारण चिन्ता मुझे खाये जा रही है। अलसस्य भावः आलस्यम् । न लसतीति अलसः ।

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः ।

१२२. यद्य-ढग्-**यग्-अञ्-अण्-वुञ्-छाश्च भावकर्मणि ।**

यत्- स्तेनस्य कर्म स्तेयम् । स्तेयम् इति महापातकमाहः । य- सख्यं साप्तपदीनमुच्यते । ढक् - कपेर्भावः कर्म वा कापेयम् **एतदप्यस्य कापेयं यदर्कमुपतिष्ठति** । यक्-आधिपत्यम् । अधिपतेर्भावः कर्म भा। पुरोहितस्य कर्म पौरोहित्यम् । **नरकाय मतिस्ते चेत् पौरोहित्यं समाचर । (पञ्च० २।६३)।** अञ्-औष्ट्रम् (उष्ट्रस्य भावः) । कौमारम् । कैशोरम् । तिस्रोऽवस्थाः शरीरस्य कौमार्य यौवनं जरा । कैशोरं हि निसर्गतो मुग्धं भवति। अण- यूनो भावः यौवनम् । स्थविरो वृद्धः । तस्य भावः स्थाविरम्। **यौवनं हि विरूमपि सुरूयं करोति । स्थविरं च रूपवत्यपि वैरूप्यमुत्पादयति ।** शैशवं निसर्गसुन्दरं भवति । शुचेर्भावः शौचम् । **सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं**

परं स्मृतम् (मनु० ५।१०६)। वुन्-**अहो मानोज्ञकं सुमनसाम्** । छ- अच्छावाकस्य ऋत्विग्विशेषस्य कर्म अच्छावाकीयम् ।

१२३. अव्ययीभावः ।

अव्ययीभाव समास नपुंसकलिङ्ग होता है। नपुंसक होने से ह्रस्व हो जाता है- अधिस्त्रि कथा वर्तते, स्त्रियों के विषय में बात हो रही है। **इदमुन्मत्तगङ्गं नाम देशः ।**

१२४. द्वन्द्वैकत्वम् ।

समाहारार्थ द्वन्द्व समास नपुंसकलिङ्ग होता है-पाणी च पादौ च पाणिपादम् । शीतेन जडीभूतं न प्रसरति पाणिपादम् । **गवाश्वं नोऽस्तु (गावश्चाश्वाश्च समाहृताः) ।**

१२५. अभा**षायां हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च ।**

अभाषा अर्थात् वेद में हेमन्तशिशिर पुं० है तथा अहोरात्र - यह समास नपुंसकलिङ्ग है। सूत्र में वचन-ग्रहण अतन्त्र है। हेमन्तश्च शिशिरञ्च हेमन्तशिशिरी। अहानि च रात्रयश्च अहोरात्राणि । **अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो बशी (ऋ० १०/१९०/०२) ।**

१२६. अनञ्कर्मधार**यस्तत्पुरुषः ।**

यह अधिकार सूत्र है। वध्यमाण सूत्रों में यह अधिकृत जानना चाहिये । नञ् तत्पुरुष तथा कर्मधारय-भिन्न तत्पुरुष नपुंसक होता है।

१२७. राजाऽमनुष्यपूर्वा सभा ।

राजपर्याय तथा अमनुष्य (रक्षः पिशाच आदि) पूर्वपद होने पर सभान्त तत्पुरुष नपुंसक होता है- नृपतिसभम्। इन-सभम् । **इनसभेस्मिन्सभ्या न वाचि स्वतन्त्राः, तेन सभापतेर्हितमाचरितुमनी-श्वराः । इदं रक्षःसभं यत्र हिस्यते सत्यम्।**

स्मरणीय बिन्दु-

- नपुंसकलिंग निर्जीव या तटस्थ वस्तुओं का बोध कराता है।
- संस्कृत में लिंग व्यवस्था अत्यंत महत्वपूर्ण है।
- लिंग ज्ञान से वाक्य शुद्ध बनता है।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
नपुंसक	तटस्थ
फलम्	फल
जलम्	पानी
व्याकरण	भाषा नियम

5 अंक के प्रश्न-

1. नपुंसकलिंग किसे कहते हैं?
2. नपुंसकलिंग शब्दों के उदाहरण दीजिए।
3. संस्कृत में नपुंसकलिंग की विशेषता लिखिए।
4. लिंग विभाजन का महत्व बताइए।
5. नपुंसकलिंग निर्माण कैसे होता है?

15 अंक के प्रश्न-

1. नपुंसकलिङ्गाधिकार का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. संस्कृत में नपुंसकलिंग शब्दों की विशेषताओं को समझाइए।
3. पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग में अंतर स्पष्ट कीजिए।
4. भाषा शुद्धि में लिंग व्यवस्था का महत्व बताइए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. "फलम्" कौन-सा लिंग है?

(क) पुल्लिंग

(ख) स्त्रीलिंग

(ग) नपुंसकलिंग

(घ) द्विलिंग

2. नपुंसकलिंग किसका बोध कराता है?

(क) पुरुष

(ख) स्त्री

(ग) निर्जीव/तटस्थ वस्तु

(घ) क्रिया

3. संस्कृत में "जलम्" कौन-सा लिंग है?

(क) पुल्लिंग

(ख) स्त्रीलिंग

(ग) नपुंसकलिंग

(घ) द्विलिंग

4. लिंग व्यवस्था किस विषय से संबंधित है?

(क) व्याकरण

(घ) अलंकार

(ग) रस

(घ) छन्द

इकाई-3.4 अन्यलिङ्गाधिकारः
अथ स्त्रीपुल्लिङ्गाधिकारः

उद्देश्य-

1. अन्य लिंगों के प्रयोग को समझना।
2. विशेष लिंग नियमों का अध्ययन करना।
3. संस्कृत भाषा में लिंग विविधता को जानना।

१७०. स्त्रीपुंसयोः ।

यह अधिकार सूत्र है।

१७१. गो-मणि-यष्टि-मुष्टि-पाटलि-वस्ति-शाल्मलि-त्रुटि-मसि-मरीचयः ।

अयं गौः (पुंगवः, वृषः) इयं गौः (स्त्रीगवी)। अयं मणिः । इयं मशिः । रत्नं मणिर्द्वयोः (अमर) । परार्ध्योऽयं मणिः । अनर्धेयं मणिः यष्टि का पुं० में प्रयोग मृग्य है। इयं यष्टिर्जरठस्य मेऽवलम्बनाय । पुत्रि ! मा साहसं कृथाः, असहेयं तेऽङ्गयष्टि (तेरा कोमल शरीर) रस्य तपोभरस्य । वेत्थ देवदत्त ममायं मुष्टिः किमनुभवति, देवदत्त जानते हो मेरी मुट्ठी में क्या है? अहो दृढा मुष्टिर्मल्लस्य । कोषकार तो पाटलि (एक श्वेतरक्त पुष्पविशेष) को स्त्री० ही मानते हैं। यह वही शब्द है जो पाटलिपुत्र (पटना का पुरातन नाम) में श्रूयमाण है। अतः पाटलिपुत्र को पुष्पपुर अथवा कुसुमपुर भी कहते हैं। शाल्मलि को भी कोषकार पुं० ही मानते हैं। त्रुटि (लव, लेश, कण), अथवा क्षण का चतुर्थ भाग । सर्वत्र स्त्री० है। मसि उभयलिङ्ग है। मषी ऐसे भी लिखा जाता है। भानुः करो मरीचिः स्त्रीपुंसयोः (अमर) । उष्णैः सवितुर्मरीचिभिः सन्तप्यामहे । अचिरोदितस्यादित्यस्य मरीचीः सेवेत दृशोरुपकाराय ।

१७२. मृत्यु-सीधु-कर्कन्धु-किष्कु-कण्डु-**रेणवः ।**

अन्तो नाशो द्वयोर्मृत्युः (अमर) ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च (गीता)। विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्मसमो भवेत् (मृच्छकटिक)। क्षत्रियस्य हि रणे मृत्युरिष्टा । किष्कुर्हस्तचतुष्टयम् । किष्कु प्रकोष्ठ को भी कहते हैं। कण्डु (पुं०, स्त्री०) = कण्डू (स्त्री०) खुजली। कण्डुर पुं० = खुजलाना । रेणु = धूलि । तुरगखुरहतो रेणुर्गच्छतां नो मुखमावृणोति ।

१७३. गुणवचन**मुकारान्तं नपुंसकं च ।**

पटुरयं विप्रः । पट्वीयं विप्रा । पटि्वदं विप्रकुलम् ।

१७४. अपत्यार्थस्तद्धिते।

उपगोरपत्यं पुमान् औपगवः । उपगोरपत्यं स्त्री औपगवी । जरत्कारोरपत्यं पुमान् जारत्कारवः । जरत्कारोरपत्यं स्त्री जारत्कारवी ।

अथ पुन्नपुंसकाधिकारः ।

१७५. पुन्नपुंसकयोः ।

यह अधिकार सूत्र है।

१७६. घृत-सूत-मुस्त-क्ष**वेलितैरावत-पुस्तक-बुस्त-लोहिताः ।**

अर्धर्च आदि गण में जो घृतादि का पाक्षिक पुंस्त्व कहा है वह वेदमात्रगोचर जानना चाहिये - अर्धर्चादौ घृतादीनां पुंस्त्वाद्यं वैदिकं ध्रुवम् (अमर)। वेद में घृत का अर्थ जल भी है। सूत - यह पारद (पारा) अर्थ में पुन्नपुंसक है। सारथि अर्थ में केवल पुं० । मुस्त (एक प्रकार का घास)। यह तीनों लिङ्गों में देखा जाता है- मुस्तः । मुस्तम् । मुस्ता । क

अथ विशिष्टलिङ्गम्

१८३. अव्ययं कति-युष्मदः ।

अव्यय-श्वः । ह्यः । ऐषमः । परुत् । परारि । सम्प्रति । साम्प्रतम् इत्यादिः ।

१८४. ष्णान्ता संख्या ।

षट् पुरुषाः । षट् स्त्रियः । पञ्च पुस्ताकानि ।

१८५. शिष्टा परवत् ।

षकारान्त नकारान्त संख्या से भिन्न संख्यावचन वाच्य के लिंग को ग्रहण करते हैं । एकः पुरुषः । एका स्त्री । द्वौ पुरुषौ । तिस्रः स्त्रियः । चत्वारि पुस्तकानि ।

१८६. गुणवचनं च ।
गुणवाचक शब्द वाच्य (अभिधेय) के लिंग का ग्रहण करते हैं- शुक्लः पटः । शुक्ला पटी । शुक्लं पटम् । मृदु विप्रकुलम् ।
१८७. **कृत्याश्च ।**
गन्तव्यो ग्रामः । गन्तव्या ग्रामटिका । गन्तव्यं नगरम् ।
१८८. **करणाधिकरणयोर्ल्युट् च ।**
सक्तुधानो घटः । सक्तुधानी घटी । सक्तुधानं घटम् ।
१८९. **सर्वादीनि सर्वनामानि ।**
अयं पुमान् । इयं स्त्री । इदं नपुंसकम् । स पुरुषः । सा स्त्री । तत्पुस्तकम् ।
॥ इति लिङ्गानुशासनम् ॥

स्मरणीय बिन्दु-
- संस्कृत में कुछ शब्द विशेष लिंग नियमों के अंतर्गत आते हैं।
- लिंग ज्ञान भाषा की शुद्धता बनाए रखता है।
- अन्यलिंग शब्दों का प्रयोग संदर्भानुसार बदल सकता है।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
अन्यलिंग	विशेष लिंग
विविधता	भिन्नता
परिवर्तन	बदलाव
शुद्धि	सही रूप

5 अंक के प्रश्न-
1. अन्यलिङ्गाधिकार का अर्थ लिखिए।
2. विशेष लिंग नियम क्या हैं?
3. संस्कृत में लिंग परिवर्तन कैसे होता है?
4. अन्यलिंग शब्दों के उदाहरण दीजिए।
5. लिंग विविधता का महत्व लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-
1. अन्यलिङ्गाधिकार की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. संस्कृत में विशेष लिंग नियमों का वर्णन कीजिए।
3. लिंग परिवर्तन की प्रक्रिया समझाइए।
4. संस्कृत भाषा में लिंग विविधता का महत्व बताइए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-
1. "अन्यलिंग" का अर्थ क्या है?

(क) विशेष लिंग
(ख) पुल्लिंग
(ग) स्त्रीलिंग
(घ) नपुंसकलिंग

2. लिंग परिवर्तन किससे संबंधित है?

(क) व्याकरण
(ख) रस
(ग) छन्द
(घ) अलंकार

3. संस्कृत में लिंग ज्ञान क्यों आवश्यक है?

(क) भाषा शुद्धि हेतु

(ख) केवल लेखन हेतु

(ग) केवल काव्य हेतु

(घ) केवल वेद हेतु

4. अन्यलिंग शब्द किस श्रेणी में आते हैं?

(क) विशेष प्रयोग

(ख) सामान्य प्रयोग

(ग) संधि

(घ) समास।

खण्ड-4 अथ लिङ्गानुशासनशेषः
इकाई-4.1 अथ स्त्र्यादिलिङ्गाधिकार

उद्देश्य-

1. समास की परिभाषा समझना।
2. समास के भेदों का अध्ययन करना।
3. संस्कृत में समास प्रयोग का महत्व जानना।

आचार्य ने सुत्रशैली का आश्रयण करके अतिसंक्षेप से लिङ्ग का अनुशासन किया है। इसमें बहुत कुछ वक्तव्य रह गया है। उसे अंशतः कहते हैं। हर्षवर्धन ने अपने लिङ्गानुशासन में अतिरुचिर छन्दों में इकाराद्यन्त समान-लिङ्गक शब्दों का निबन्धन किया है, जो प्रायः पाणिनीय लिङ्गानुशासन में अनुक्त रह गये हैं। इसलिये भी कि वे छन्दो-लालित्य के कारण चित्ताकर्षक हैं और अनायास संस्मार्य हैं। अतः हर्षवर्धन के कुछ एक पद्य उद्धृत करते हैं।

प्रथमं तावत् इकारान्त शब्दों का अनुक्रमण करते हैं-

ओषधि-पद्धति-पक्षति-पङ्क्ती-
वर्तनि-वाशि-वितर्दि-पुरन्ध्रीः ।
अङ्गुलि-काकलि-शारि-शरारी-
स्तुन्दि-तुरीषुधि-दीधिति-वर्तीः

एताञ्शब्दान् स्त्रियां विद्यात्, ओषधि आदि इकारान्त स्त्रीलिङ्ग हैं ऐसा जाने । 'पक्षति' पक्ष-मूल को कहते हैं। वर्तनि मार्ग अथवा प्रवाह को, वाशि तक्षण-साधन (वसूला) को, पुरन्ध्री कुटुम्बिनी स्त्री को, वितर्दि वेदि को, शारि सारिका, अथवा पर्याण (काठी) को, शरारि (=शराटि) पक्षिविशेष को, तुन्दि नाभि को, तुरि (= कूच) नामक (जुलाहे के साधन-विशेष) को, दीधिति किरण को, वर्ति बत्ती को कहते हैं।

भ्रुकुटि-कुटि-कटीति-त्रोटि-कोट्याजि-राजि-
च्छवि-कृषि-रुचि-वीचि-श्रेणि-निःश्रेणि-वेणीः ।
वटि-तुटि-खनि-हानि-ग्लानिनेम्यश्रि-नीवी-
र्ग्रहणि-विपणि-वेशीः पालिधूल्यालिनालीः॥

भ्रुकुटि आदि इकारान्त स्त्रीलिङ्ग हैं। कुटि = कुटी । कटि = श्रोणि = कमर । ईति = उपद्रव, दैवी आपद् । ये छः मानी जाती हैं-

अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषिकाः शलभाः शुकाः ।
अत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः ।

त्रोटि - चोंच । आजि = युद्ध। वीचि = लहर। निःश्रेणि = सीढ़ी। खनि = खान, आकर । नेमि = चक्रप्रान्त। इसका दूसरा नाम प्रधि है, जो पुंल्लिङ्ग है। नीवि (= नीवी) = मूल धन, स्त्री का जधनवस्त्र अथवा उसकी ग्रन्थि। विपणि (= विपणी) = बाजार। इसे पण्यवीथिका भी कहते हैं। पालि = पङ्क्ति । आलि (=आली) = पङ्क्ति, सखी ।

अरणि-करणि-पार्ष्णि-च्छर्दि-शुक्त्याति-शक्तीः
समिति-वसति-हेतीर्गृष्टि-विष्ट्यभ्रि-यष्टीः ।
रजनि-धमनि-नाभीरावलि-श्रेणि-भङ्गीः ।
खलि-लिपि-लिबि-दर्वीः शष्कुली-वेदि-नान्दीः ॥

अरणि आदि इकारान्त स्त्रीलिङ्ग हैं। अरणि = अग्निमन्थनकाष्ठ । करणि का नञ्पूर्वक आक्रोश अर्थ में प्रयोग होता है- अकरणिस्ते वृषल भूयात् । पार्ष्णि = पादमूल, एड़ी। छर्दि = वमन। शुक्ति = सीपी । आति = चील (पक्षी)। हेति = आयुध । गृष्टि = सकृत् प्रसूता गौ।

विष्टि = निर्वेतन श्रम अथवा निर्वेतन श्रमी । इस दूसरे अर्थ में भी यह स्त्री० है। अभ्रि = कुद्दाल । रजनि (रजनी) = रात। ध मनि (धमनी) = धौंकनी अथवा नस । खलि = पिण्याक = खल । दर्वि (दर्वी) = कड़छी। इसे खजाका भी कहते हैं। शष्कुलि (शष्कुली) = कचौड़ी, कर्ण का बाह्य भाग। मूल श्लोक में द्वितीयान्त द्वन्द्व-समास पढ़े हैं।

स्नायु-प्रियङ्गू दनु-काकु-कङ्कू
रज्ज्वाखु-पर्शूस्तनु-कच्छु-चञ्चूः ।

स्नायु आदि उकारान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं ऐसा जानें। स्नायु = सिरा (पट्ढा) । प्रियङ्गु - लताविशेष । आखु = चूही। पर्शु (पर्शू) = पसली । कच्छु (कच्छू) = खुजली । चञ्चु = चोंच । स्नायु- सिरा पसली । तनु = शरीर ।

बहुस्वरः पुंसि भवेदसन्त-
स्त्वन्योऽसमस्तः सुमनोऽप्सरस्तः ।
द्वयच्कं तु वेधोजरसौ विहाय
विहायसा साकमसन्तमन्ये 11

अनेकाच्क असन्त शब्द पंल्लिङ्ग होता है। सुमनस् पुष्प तथा अप्सरस् अनेकाच् असन्त हैं तो भी ये स्त्रीलिङ्ग हैं। पर जब ये समस्त होते हैं तो वे वाच्यलिङ्गक होकर पुं० भी हो सकते हैं- शोभनानि मनांसि येषां ते सुमनसो देवाः पण्डिताश्च । अप्सरोभिः सह वर्तमानाः साप्सरसः सिद्धचारणाः । इनके अतिरिक्त अनेकाच्क असन्त पुं० होते हैं - वेधस् (ब्रह्मा) । चन्द्रमस् । विडौ-जस् (इन्द्र)। उशनस् (शुक्राचार्य) । अनेहस् (समय) तथा समस्त सुयशस्, सुवर्चस् आदि अन्यपदार्थप्रधान होने से वाच्यलिङ्गक होकर पुं० तथा स्त्री० भी होते हैं। जरस् (बुढ़ापा) - यह जरा का आदेश है। स्वतन्त्र प्रकृति नहीं। विहायस् को यह कोषकार (हर्षवर्धन) नपुं० मानता है। अमर वा पुंस्याकाश-विहायसी -विहायस् तथा आकाश को पुन्नपुंसक स्वीकार करता है। द्वयच्क (द्विस्वर) असन्त नपुंसक होते हैं- यशस् । वर्चस् । तेजस् । तपस् । पयस् । वक्षस् (छाती) इत्यादि ।

शाटक-कीट-वराटक-वण्टा
निष्कुट-वाट-कवाट-किटाट्टाः।
जूट-कटाह-कटावट-पट्टाः
कण्टक-कङ्कट-कोष्ठ-कुटाङ्काः

ये अकारान्त शब्द पुं० होते हैं। शाटक (घोती) । वराटक = कौड़ी। निष्कुट - गृहाराम (घर का बागीचा)। किट = काण्डपट । अट्ट = रेशमी वस्त्र अथवा अन्न । जूट = केश-बन्धन, समूह । कट = चटाई । अवट = गर्त, गढ़ा । कङ्कट - सन्नाह । कुट-घट, हलाग्र । **मण्डप-मण्ड-वरण्डक-गण्डा**
दण्डक-दण्ड-गुडानक-षण्डा
खण्ड-शिखण्ड-कपर्दक-पिण्डा
वर्ग-समुद्ग-मृदङ्ग-तरङ्गाः ॥

ये अकारान्त शब्द पुं० हैं । मण्डप = जनाश्रय । मण्ड = माँड, पीछ।
दण्डक= वृत्तविशेष। वरण्डक= परिवार। आनक= पटह, ढोल । शिखण्ड=काकपक्ष । कपर्दक= वराटक= कोड़ी। समुद्ग (=समुद्गक) =मन्जूषा ।

गर्त-मुहूर्त-वतंसक-कोशाः
कर्ण-पणौ कण-कङ्ण-कोणाः ।
वङ्क्षण-दर्पण-बाण-किणांशाः
शाण-गणौदन-शोण-यवाद्याः ॥

गर्त आदि अकारान्त शब्द पुं० होते हैं। गर्त=गढ़ा । अमर मुहूर्त को पुन्नपुंसक मानता है-ते (क्षणाः) तु मुहूर्त्ता द्वादशाऽस्त्रियाम् । वतंस = अवतंस = शिरोभूषण, अथवा भूषणमात्र । अमर कङ्कण को नपुं० मानता है-कङ्कणं करभूषणम् । वङ्क्षण ऊरु-सन्धि का नाम है। ओदन भी अमर के अनुसार पुन्नपुंसक है। शोण नदविशेष का नाम है।

सार्थ-वरूथ-निशीथ-रथार्थ-
प्रोथ-लवाः शपथावसथान्ताः ।
सङ्घ-निदाघ-घुणार्घ-निघौघा
विघ्न-घटाऽङ्कुश-गुल्म-गुणोद्घाः ॥

ये सार्थ आदि अकारान्त शब्द पुं० हैं। सार्थ = पथिकसंघात । वरूथ = रथगुप्ति (दारुमयी वृति जो रथ को रथान्तर से टकराने से बचाती है)। वरूयथो रथगुप्तिर्या तिरोधत्ते रथस्थितिम्, ऐसा भी अर्थ है। जिसकी ऊंचाई तथा घेरा बराबर हो उसे निघ कहते हैं। समानारोहपरिणाहो वृक्षादिर्निघः । इस प्रसिद्ध अर्थ में निध वाच्यलिङ्गक है। कन्दुक अथवा पाप अर्थ में यह विशेष्य होकर पुं० ही होता है। प्रोथ = अश्वनासिका अथवा सूकरमुख । आवसथ = अतिथि-गृह । एत्य वसन्त्यत्रेत्यावसथः । अङ्कुश अमर के अनुसार

पुन्नपुंसक है - अङ्कुशोऽस्त्री सृणिः स्त्रियाम् । उद्घ = प्रशस्त । कठोद्धः = प्रशस्तः कठः ।

स्यन्दन-मस्तक-पुस्तक-पुस्ता
धर्म-रयोपल-धर्म-बुसार्माः ।
तण्डुल-तूल-कुसूल-चषालाः
कम्बल-साल-कलाप-कपोलाः ॥

पुस्तक का पुं० में विरल प्रयोग है। पुस्त = लेप्य । धर्म = गरमी, ग्रीष्म ऋतु। अर्म = नेत्ररोग। तूल = रूई। कुसूल = अन्नाद्यसंग्रहण ाार्थ कोष्ठ । चषाल = यज्ञयुप का वलय । कम्बल = कम्बल, सास्ना ।

रेफ-कफ-ज्वर-संयुग-सङ्ख
स्तम्ब-नितम्ब-मद-च्छद-पुङ्खाः ।
वस्त्रदशा विटपः पटहार्भ-
व्रातपटाः पिटकः करटश्च ॥

ये रेफ आदि अकारान्त शब्द पुं० हैं। रेफ = रथ, अनवद्य। संयुग = रण। सङ्ख = रण । अमरादि संख्य पढ़ते हैं और उसे नपुं० मानते हैं। छद = पत्र। पुङ्ख = शरवृन्त । वस्त्रदशाः यह नित्य बहुवचनान्त है। अन्यत्र दशा शब्द स्त्री० है। दशाऽवस्था । अर्भ = (अर्भक) = शिशु । पिटक = स्फोट (फोड़ा) तथा पिटारी । करट = करिकपोल, काक ।

स्मरणीय बिन्दु-

- समास शब्दों को संक्षिप्त बनाता है।
- संस्कृत भाषा में समास का अत्यधिक महत्व है।
- समास के अनेक भेद होते हैं।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
समास	संक्षिप्त शब्द समूह
तत्पुरुष	कारक संबंधी समास
द्वंद्व	संयुक्त समास
बहुव्रीहि	बाह्य अर्थ वाला समास

5 अंक के प्रश्न-

1. समास किसे कहते हैं?
2. द्वंद्व समास का उदाहरण दीजिए।
3. तत्पुरुष समास क्या है?
4. कर्मधारय समास की परिभाषा लिखिए।
5. समास का महत्व बताइए।

15 अंक के प्रश्न-

1. समास की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. समास के प्रमुख भेदों का वर्णन कीजिए।
3. तत्पुरुष एवं बहुव्रीहि समास में अंतर स्पष्ट कीजिए।
4. संस्कृत भाषा में समास का महत्व बताइए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. "राजपुत्र" कौन-सा समास है?

(क) तत्पुरुष
(ख) द्वंद्व
(ग) बहुव्रीहि
(घ) अव्ययीभाव

2. "रामलक्ष्मणौ" कौन-सा समास है?

(क) द्वंद्व

(ख) कर्मधारय

(ग) तत्पुरुष

(घ) बहुव्रीहि

3. समास का मुख्य उद्देश्य क्या है?

(क) संक्षेप

(ख) विस्तार

(ग) अलंकार

(घ) रस

इकाई-4.2 अथाऽलिङ्गकाः

उद्देश्य-

1. संधि के नियम समझना।
2. स्वर एवं व्यंजन संधि का अध्ययन करना।
3. संस्कृत भाषा में संधि का महत्व जानना।

संख्या ष्णान्ता युष्मदस्मत्कत्यव्ययमलिङ्गकम् ।
षट्काः षट् के च षट् कानि पञ्च तास्ते च तान्यपि ॥
त्वं स्त्री त्वं ना कुलं त्वं चाहं स्त्री नाहमहं कुलम् ।
कति स्त्रियः कति नराः कति तानि च वा हि दिक् ॥

षकारान्त नकारान्त संख्यावचन युष्मद्, अस्मद्, कति, अव्यय- ये अलिङ्गक हैं, अविशिष्ट-लिङ्गक है, अर्थात् तीनों लिङ्गों में ये समानाकार रहते हैं। श्लोकों में ही उदाहरण दिये हुए हैं।

स्मरणीय बिन्दु-

- संधि शब्दों को मधुर बनाती है।
- संस्कृत भाषा में संधि अनिवार्य मानी जाती है।
- संधि से उच्चारण सरल होता है।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
संधि	मेल
स्वर	अवूमस
व्यंजन	बवदेवदंदज
विसर्ग	: ध्वनि

5 अंक के प्रश्न-

1. संधि किसे कहते हैं?
2. स्वर संधि का उदाहरण दीजिए।
3. व्यंजन संधि क्या है?
4. विसर्ग संधि की परिभाषा लिखिए।
5. संधि का महत्व बताइए।

15 अंक के प्रश्न-

1. संधि की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. स्वर संधि एवं व्यंजन संधि का वर्णन कीजिए।
3. विसर्ग संधि के नियम समझाइए।
4. संस्कृत भाषा में संधि के महत्व पर प्रकाश डालिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. "राम + ईश" का संधि रूप क्या होगा?

(क) रामीश

(ख) रामेश

(ग) रामाश

(घ) रामोष

2. संधि कितने प्रकार की होती है?

(क) तीन

(ख) दो

(ग) चार

(घ) पाँच

3. "हरिः + इति" कौन-सी संधि है?

(क) विसर्ग संधि

(ख) स्वर संधि

(ग) व्यंजन संधि

(घ) गुण संधि।

इकाई 4.3 अजहल्लिङ्गाः

उद्देश्य-

1. कारक की परिभाषा समझना।
2. विभक्तियों एवं कारकों का संबंध जानना।
3. वाक्य निर्माण में कारक का महत्व समझना।

कुछ ऐसे शब्द हैं जो विधेय के रूप में उद्देश्य के साथ समानाधिकरण होते हुए भी उद्देश्य के लिङ्ग को नहीं लेते, अपने लिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं, उन्हें अजहल्लिङ्ग कहते हैं। उनके कुछ उदाहरण देते हैं- **पतिर्नाम दैवतं स्त्रियाः,** पति स्त्री के लिये देवता है। यहाँ पति (पुं०) उद्देश्य है। दैवत (नपुं०) विधेय है। दोनों का सामानाधिकरण है, पर दैवत शब्द अपने लिङ्ग को नहीं छोड़ता । **वेदाः प्रमाणम्, स्मृतयः प्रमाणम् । वेदा आर्याणां नो धनम् । अविवेकः परमापदां पदम्,** अविवेक (विचार-शून्यता) आप-दाओं का सबसे बड़ा कारण है। **पदमापदि माधवः,**माधव (कृष्ण) आपत्ति में हमारा रक्षक है। देवदत्तो **विनयमाहात्म्येन महतो लोकसमादरस्यास्पदं जातः । ते विपरीताचरणेन जनोद्वेगकारणमभूवन् । गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्ग न च वयः । प्रकृतिर्जगतो निदानमिति साङ्ख्याः । भवादृशा एव भवन्ति भाजनान्युपदेशानाम्** (कादम्बरी), आप जैसे ही उपदेश (शिक्षा) के पात्र होते है। **रामः श्रेण्या रत्नं कुलस्य चावर्तसः ।** रत्न=अपनी जाति में उत्कृष्ट । जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते । अवतंस शिरोभूषण अथवा भूषणमात्र को कहते हैं। यह पुं० है । **इयमङ्गना कस्यापि धन्यस्य कुलस्यावतंसः । स्त्री-शूद्र-द्विज-बन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचर** इति श्रीमद्भागवतकारः । गोचर (घ-प्रत्ययान्त) नित्य पुं० है। विधेयैकादेश के रूप में प्रयुक्त हुआ भी अपने लिंग को छोड़कर उद्देश्य (प्रकृत में त्रयी) के लिंग को नहीं लेता। श्रुतिगोचरः - यह षष्ठीसमास है। श्रुतेर्गोचरः श्रुतिगोचरः । श्रीमद्भागवत में श्रुति-गोचरा- यह अपपाठ है। **देव्यै धारिण्यै भ्रात्रा वीरसेनेन मालविकोपायनं प्रेषिता। (मालविका) ऋषीणां प्रातिभस्य चक्षुषः किं नामाविषयः? ? इदमङ्गुलीयकं राज्ञः प्रतिग्रहः** (राजा की ओर से भेंट है। **वामाः कुलस्याधयः**, विपरीताचरणवाली स्त्रियां घर का रोग होती हैं। आधि पुं० है। कृष्णः **शरण मम,** कृष्ण मेरा रक्षक है। **चरणौ ते शरणं यामि** । चरण पुं० है और द्विवचनान्त प्रयुक्त हुआ है। विधेय शरण नपुं एक० है। **अनिर्वेदः श्रियो मूलम् । देवताः शरणं यामः** । यहाँ उद्देश्य देवता स्त्री० बहुवचनान्त है। **यत्र समाजे मूर्खाः प्रधानमुपसर्जनं च पण्डिताः स चिरं नावतिष्ठते।**

द्रव्यमियं ब्राह्मणी, मासषट्**केनैनयाऽमरकोषः कण्ठे कृतः ।** यह ब्राह्मणी होनहार है, इसने छः मास में समग्र अमरकोष कण्ठस्थ कर लिया । कृताः शरव्यं हरिणास्तवासुराः (शाकुन्तल) । शरव्य (नपुं०) = लक्ष्य । (ब्रह्महा) **लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्यात्** (मनु० ११।७३) । **आत्मानमुपमां** कृत्वा स्वेषु दारेषु रम्यताम् (रा० ५।२१।८) । उपमा नित्य स्त्री० विधेय है, आत्मन् उद्देश्य नित्य पुं० है। **अन्तपालांश्च कुर्वीत मित्राण्याटविकांस्तथा (का० नी० स० १३।५) । अन्तपाल = सीमारक्षक । प्राणानस्मै तदहमुचितां दक्षिणां दातुमोहे** । दक्षिणा विधेय स्त्री० है। प्राण पुं० बहुवचनान्त है। दक्षिणा शब्द अपने लिङ्ग को नहीं छोड़ता । **कुरुते न खलु स्वेच्छया शलभानिन्धनमिद्धदीधितिः (माघ १६।३५),** इद्धदीधिति प्रदीप्त अग्नि अपनी इच्छा से सलहों को इंधन नहीं बनाती है। यहाँ उद्देश्य शलभ पुं० बहुवचनान्त है और विधेय इन्धन नपुं० एक० है। **कारणं तु कृतान्तोत्र द्रष्टव्यो मद्विवासने (रा० गौरीसियो-सम्पादित २।१६।१२) । अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन् (रघु०२।४६) ।** सीताविवासनेनापराद्धे पि रामे न मया (जनकेन) मन्युः कार्यः, रामो हि मे पुत्रभाण्डम् (पुत्रसदृश है) । हस्तावलम्बो भवति सुहृत्सचिवचेष्टितम् (का०नी०स० स।४६) । यहाँ उद्देश्य सुहृत्सचिवचेष्टितम् नपुँ० है और इसका विधेय हस्तावलम्बः पुं० है। यह अपने लिङ्ग को छोड़कर विधेय के लिङ्ग को नहीं लेता । अभिज्ञानं मया दत्तमर्चिष्मान् स महामणिः (रा०६।१२६।४६) । अभिज्ञायतेऽनेनेत्यभिज्ञानम् । करणे ल्युट् । अभिज्ञान विधेय है । इक्ष्वाकुरासीत् ककुदं नृपणाम् । इक्ष्वाकु राजाओं में श्रेष्ठ था।

स्मरणीय बिन्दु-

- कारक वाक्य के अर्थ को स्पष्ट करते हैं।
- प्रत्येक कारक की अलग विभक्ति होती है।
- संस्कृत वाक्य निर्माण में कारक अत्यंत आवश्यक हैं।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
कारक	क्रिया से संबंध
कर्ता	कार्य करने वाला
कर्म	जिस पर कार्य हो
करण	साधन

5 अंक के प्रश्न-

1. कारक किसे कहते हैं?
2. कर्ता कारक क्या है?
3. कर्म कारक का उदाहरण दीजिए।
4. करण कारक किसे कहते हैं?
5. संस्कृत में कारक का महत्व बताइए।

15 अंक के प्रश्न-

1. कारक की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. छह कारकों का वर्णन कीजिए।
3. विभक्ति एवं कारक का संबंध स्पष्ट कीजिए।
4. संस्कृत वाक्य निर्माण में कारकों की भूमिका समझाइए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. कर्ता कारक में कौन-सी विभक्ति होती है?

(क) प्रथमा

(ख) द्वितीया

(ग) तृतीया

(घ) चतुर्थी

2. कर्म कारक में कौन-सी विभक्ति प्रयुक्त होती है?

(क) द्वितीया

(ख) प्रथमा

(ग) पंचमी

(घ) सप्तमी

3. "रामेण" कौन-सा कारक है?

(क) करण

(ख) कर्म

(ग) संप्रदान

(घ) अपादान

इकाई-4.4 अथ भेदाल्लिङ्ग-भेदः

उद्देश्य-

1. प्रत्ययों का अध्ययन करना।
2. शब्द निर्माण प्रक्रिया समझना।
3. कृदन्त एवं तद्धित प्रत्ययों को जानना।

यह भी एक रुचि का विषय है कि किस तरह अर्थ के बदल जाने से शब्द का लिङ्ग भी बदल जाता है। इसे यहाँ कोषान्तर-प्रामाण्य से दिखाते हैं। प्रकीर्णकं चामरे स्याद् विस्तरे ना तुरङ्गमे (मेदिनी)। **चामरं तु प्रकीर्णकम्** (अमर) । चँवर अर्थ में प्रकीर्णक नपुंसक है, 'अश्व' अर्थ में पुमान् महाभारत में प्रयोग भी है-

आरूढाञ्शिक्षितैर्योधः शक्त्यृष्टिपाशयोधिभिः।
विध्वस्तचामरकुथान् विप्रविद्धप्रकीर्णकान् ॥ (७।३५।३७)
शिवं भद्रं शिवः शम्भुः शिवा गौरी शिवाऽभया ।
शिवः कीलः शिवा क्रोष्टा भवेदामलकी शिवा ॥ (शाश्वत)

शिवा = गौरी, पार्वती। शिवा=अभया=हरीतकी। शिवा क्रोष्टा = गीदड़ । गौरी फेरवयोः शिवा (अमर)। गीदड़ अर्थ में भी 'शिवा' टाबन्त स्त्री-लिङ्ग प्रयुक्त होता है, 'शिव' नहीं। **अयं शृगालेपि स्त्रीलिङ्गः** (क्षीरस्वामी) । शिवा=आमलकी=आमला ।

पद्मा लक्ष्मी निधिः पद्मः पद्मानि गजबिन्दवः ।
संख्या-नाग विशेषौ च पद्मौ पद्म सरोरुहम् ॥ (शाश्वत)

निधिविशेष के अर्थ में पद्म ५० है, संख्या-विशेष तथा नाग-विशेष के अर्थ में भी। कमल तथा गज बिन्दु के अर्थ में पद्म नपुं० है। हाथी के मुंह तथा सूंड पर लाल चिह्न को 'पद्म' कहते हैं, जिससे हाथी को 'पद्मी' भी कहा जाता है।

विश्वम्भरा भवेद् गोत्रा गोत्रा गोनिकुरुम्बकम् ।
नाम गोत्रं कुलं गोत्रं गोत्रश्च धरणीधरः ॥ (शाश्वत)

गोत्रा स्त्री० का अर्थ 'विश्वम्भरा', पृथिवी है और गो-निकुरुम्बक, गो-समूह भी। नाम, तथा कुल अर्थ में गोत्र नपुं० है। घरणीधर (पर्वत) के अर्थ में गोत्र पुं० है । गोत्रान् पर्वतान् भिनत्तीति गोत्रभिद् इन्द्रः ।

पुण्डरीकं सितच्छत्रं पुण्डरीकं सिताम्बुजम् ।
व्याघ्रोपि पुण्डरीकः स्यात् पुण्डरीकश्च दिग्गजः ॥ (शा०)

सफेद छाता, तथा सफेद कमल के अर्थ में पुण्डरीक नपुं० है, वाघ, सिह तथा दिग्गज अर्थ में पुं० है।

एला गावश्च बहुला बहुलाः कृत्तिका अपि ।
बहुलः कृष्णपक्षोऽग्निर्वहुलो बहुलं शिति ॥ (शा०)

इलायची, गौ, कृत्तिका (छः नक्षत्र) - इन अर्थों में बहुल स्त्रीलिङ्ग (बहुला) में प्रयुक्त होता है। अग्नि तथा कृष्णपक्ष अर्थ में बहुल पुं० होता है। शिति (काला) अर्थ में बहुल वाच्यवल्लिङ्ग होता है।

कल्यं प्रभातं सज्जनं च कल्यो नीरोगदक्षयोः ।
कल्याणी वाक् च कल्याख्या कल्या कादम्बरी मता ॥ (शा०)

कल्य नपुं० = प्रभात । 'कल्य' सज्ज (तैयार), नीरोग, दक्ष (चुस्त, चतुर) अर्थ में पुं० है। कल्या (स्त्री०)= कल्याणी (मङ्गलमयी) वाणी तथा कादम्बरी (सुरा) ।

वरो जामातरि श्रेष्ठे देवतादेरभीप्सिते ।
मनागिष्टे वरं यच्च कश्चिदाह तदव्ययम् ॥ (शा०) ।

'वर' जामाता जमाई, दामाद, प्रसन्न हुए देवता आदि से मांगने पर प्राप्त हुए पदार्थ में पुँ० है। श्रेष्ठ अर्थ में विशेष्य-लिङ्गक है। 'कुछ अच्छा' इस अर्थ में 'वर' नपुं० है। इस अर्थ में इसे कुछ लोग अव्यय मानते हैं।

तक्रे मरणचिह्न स्यावरिष्टमशुभे शुभे।
अरिष्टः कथ्यते काके निम्बफेनिलवृक्षयोः ॥ (शा०)

अरिष्ट शब्द तक्र (मठा), मरणासन्न अवस्था का चिह्न, शुभ, अशुभ अर्थ में नपुं० है। कौआ, निम्ब (नीम) रीठे का पेड़-इन अर्थों में अरिष्ट पुं० है।

स्मरणीय बिन्दु-

- प्रत्यय शब्द निर्माण का मुख्य साधन हैं।
- कृदन्त धातु से बनते हैं।
- तद्धित संज्ञा शब्दों से बनते हैं।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
प्रत्यय	शब्दांत जोड़
कृदन्त	धातुजन्य शब्द
तद्धित	संज्ञाजन्य प्रत्यय
निर्माण	बनाना

5 अंक के प्रश्न-

1. प्रत्यय किसे कहते हैं?
2. कृदन्त प्रत्यय क्या है?
3. तद्धित प्रत्यय का उदाहरण दीजिए।
4. प्रत्यय का महत्व बताइए।
5. शब्द निर्माण कैसे होता है?

15 अंक के प्रश्न-

1. प्रत्ययों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. कृदन्त एवं तद्धित प्रत्ययों का वर्णन कीजिए।
3. शब्द निर्माण में प्रत्ययों की भूमिका समझाइए।
4. संस्कृत व्याकरण में प्रत्ययों का महत्व बताइए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. प्रत्यय कहाँ जोड़ा जाता है?

(क) शब्द के अंत में

(ख) शब्द के प्रारंभ में

(ग) बीच में

(घ) कहीं नहीं

2. "क्त" किस प्रकार का प्रत्यय है?

(क) कृदन्त

(क) तद्धित

(ख) विभक्ति

(ग) समास

3. तद्धित प्रत्यय किससे बनते हैं?

(क) संज्ञा शब्द से

(ख) धातु से

(ग) उपसर्ग से

(घ) अव्यय से

इकाई-4.5 स्त्रीत्वं लोकात्

उद्देश्य-

1. धातुओं का ज्ञान प्राप्त करना।
2. धातु एवं क्रिया संबंध समझना।
3. धातु रूपों का अध्ययन करना।

कुछ ऐसे शब्द हैं जिनके स्त्रीत्वाभिधायी होने में शास्त्रीय अथवा लौकिका कोई युक्ति प्रतीत नहीं होती, पर लोक में उन्हें स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त किया जाता है। विद्वानों के विनोद के लिये उन्हें यहाँ उपस्थित किया जाता है। **यूतोऽस्त्रियामक्षवती कैतवं पण** इत्यपि - ऐसा अमर का पाठ है। द्यूत अर्थ में अक्षवती पढ़ा है। यह स्त्री० है। यह क्यों स्त्री० है। इसका उत्तर क्षीरस्वामी यही देते हैं- स्त्रीत्वं लोकात् । जयन्ती पताका का नाम है। यहाँ भी लोक-व्यवहार ही स्त्रीत्व में एकमात्र कारण है। अम्लो रसोऽस्या अस्तीति अम्लिका चिञ्चा । चन्द्रोऽस्त्यस्याम् इति चन्द्रिका । यहाँ उभयत्र मत्वर्थीय ठन् (इका) प्रत्यय हुआ है। मत्वर्थीय-प्रत्ययान्त का स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयोग हो, लिङ्गान्तर में न हो, इसमें कोई विनिगमिका नहीं। ऐसा लोकव्यवहार है, यही कहना होता है। व्यजन नपुं० है, पर जलार्द्रा (जल से गीला हुआ पंखा) स्त्री० है। दूषिका नेत्रयोर्मलः । ण्वुल् प्रत्ययान्त दूषिका मल के वाच्य होने पर भी स्त्री० है, कारण कि लोक व्यवहार ऐसा है। रोगविशेष के अभिधायक ण्वुल्प्रत्ययान्त विचर्चिका (खुजली), प्रवाहिका (ग्रहणी), विपादिका (बिवाई) स्त्री० होते हैं। लोक व्यवहार ऐसा है। लोक इन्हें लिङ्गान्तर में प्रयुक्त करना नहीं चाहता । समूहार्थकप्रत्ययान्त प्रायः नपुंसकलिङ्ग देखे जाते हैं और यह युक्त ही है, समूह का अभिधान अन्य लिङ्ग पु०, स्त्री० से कैसे हो, पर कुछ एक शब्द समूहार्थक होते हुए भी स्त्रीलिङ्ग हैं-पाशानां समूहः पाश्या । वातानां समूहो वात्या (आँधी) । तृणानां समूहः तृण्या (= तृणसंघातः) । रथानां समूहो रथ्या । घूमानां समूहो घूम्या । शिष्यश्चो पाध्यायश्च शिष्योपाध्यायौ । तयोः सम्बन्धः शैष्योपाध्यायिका।

स्मरणीय बिन्दु-

- धातु संस्कृत भाषा की मूल इकाई है।
- प्रत्येक क्रिया किसी न किसी धातु से बनती है।
- धातुपाठ में हजारों धातुएँ मिलती हैं।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
धातु	क्रिया मूल
क्रिया	कार्य
धातुपाठ	धातुओं का संग्रह
रूप	स्वरूप

5 अंक के प्रश्न-

1. धातु किसे कहते हैं?
2. संस्कृत में धातु का महत्व लिखिए।
3. "गम्" धातु का अर्थ बताइए।
4. धातु रूप क्या हैं?
5. क्रिया निर्माण कैसे होता है?

15 अंक के प्रश्न-

1. धातुओं की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. संस्कृत में धातुओं के महत्व का वर्णन कीजिए।
3. धातु एवं क्रिया के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
4. धातु रूपों का महत्व बताइए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. "गम्" धातु का अर्थ क्या है?

(क) जाना

(ख) खाना
(ग) बोलना
(घ) पढ़ना

2. धातु किससे संबंधित है?

(क) क्रिया
(ख) संज्ञा
(ग) समास
(घ) अलंकार

3. संस्कृत में धातुएँ कहाँ संग्रहित हैं?

(क) धातुपाठ
(ख) अमरकोश
(ग) वेद
(घ) उपनिषद्

इकाई-4.6 सामान्ये नपुंसकम्

उद्देश्य-

1. अव्यय शब्दों का ज्ञान प्राप्त करना।
2. अव्यय के प्रयोग को समझना।
3. संस्कृत वाक्यों में अव्यय का महत्व जानना।

जब विशेष की अविवक्षा में किसी अर्थ को सामान्य रूप से कहा जाता है तो उस के वाचक शब्द को नपुंसक लिङ्ग से निर्देश किया जाता है। चौर यह उचित ही है। पुंस्त्व तथा स्त्रीत्व की अविवक्षा होने पर पारिशेष्यात् नपुंसक लिङ्ग से निर्देश प्राप्त होता है। तस्याः किं जातम्, उसके हाँ किसका जन्म हुआ (क्या जन्मा) ? इस वाक्य में किम् यह सामान्ये नपुंसक निर्देश है। विशेष-विवक्षा होते ही तस्याः पुत्रो जातः, तस्याः पुत्री जाता इस प्रकार पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग से निर्देश होता है।

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः ।

त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम्॥ (मनु० ३।२३५) ।

यहाँ त्रीणि यह सामान्योक्ति में नपुंसक-निर्देश है। विशेष की अविवक्षा करके कोई तीन चीजें इस अभिप्राय से नपुंसक-निर्देश युक्त ही है। पीछे वे तीन चीजें क्या हैं, उन्हें अपने-अपने वाचक शब्द से यथाप्राप्त लिङ्ङ्ग निर्देश करके कह दिया है।

सम्प्रीत्या भुञ्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन ।

धनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥ (मनु० ८।१५७) ।

यहाँ भी सामान्योपक्रम करके विशेषाभिधान है, अतः भुज्यमानानि यह नपुं० वहुवचन निर्देश युक्त ही है। वे भुज्यमान पदार्थ विशेष रूप से क्या-क्या हैं इसे धेनुरुष्ट्रः आदि से कह दिया गया है । सामान्य में प्रयुक्त नपुंसक विशेष अभिधेय धेनु (स्त्री०), उष्ट्र (पुं०) के साथ पश्चाद्भावी अभिसम्बन्ध के कारण निवृत्त नहीं होता ।

॥ इति लिङ्गानुशासनशेषः ॥

स्मरणीय बिन्दु-

- अव्यय शब्दों का रूप नहीं बदलता।
- संस्कृत वाक्य निर्माण में अव्यय महत्वपूर्ण हैं।
- "च", "हि", "वा" आदि प्रमुख अव्यय हैं।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
अव्यय	अपरिवर्तनीय शब्द
हि	निश्चय ही
च	और
वा	अथवा

5 अंक के प्रश्न-

1. अव्यय किसे कहते हैं?
2. अव्यय शब्दों के उदाहरण दीजिए।
3. अव्यय की विशेषता लिखिए।
4. संस्कृत में अव्यय का महत्व बताइए।
5. "हि" और "च" किस प्रकार के शब्द हैं?

15 अंक के प्रश्न-

1. अव्यय की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. संस्कृत भाषा में अव्ययों का महत्व समझाइए।
3. अव्यय शब्दों की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
4. वाक्य निर्माण में अव्ययों की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. अव्यय शब्द में क्या परिवर्तन नहीं होता?

(क) रूप

(ख) अर्थ

(ग) ध्वनि

(घ) वाक्य

2. "च" कौन-सा शब्द है?

(क) अव्यय

(ख) संज्ञा

(ग) धातु

(घ) प्रत्यय

3. अव्यय का प्रयोग किसमें होता है?

(क) वाक्य निर्माण

(ख) केवल काव्य

(ग) केवल वेद

(घ) केवल समास।

•••

॥ ओ३म् ॥

स्वर्णकाल का इतिहास

BDPHID-304 (2)

दिव्य प्रकाशन

B.A. Darshan- Third Semester

BDPHID-304 (2) स्वर्णकाल का इतिहास

Credit- 02

Marks-50 (13+37)

खण्ड-1 स्वर्णकाल की अवधारणा	**Credit- 01**
इकाई-1 गुप्त काल का संक्षिप्त परिचय	
इकाई-2 सामाजिक परम्पराएं एवं शिक्षा का विकास	
इकाई-3 आर्थिक सम्पन्नता का काल	
इकाई-4 धार्मिक समन्वय की नीति	
खण्ड-2 कला एवं साहित्य	**Credit- 01**
इकाई-1 मूर्ति कला का विकास	
इकाई-2 मन्दिर स्थापत्य कला का विकास	
इकाई-3 गुप्त कालीन संस्कृत साहित्य	
इकाई-4 गुप्तकालीन अपभ्रंश साहित्य, बौद्ध साहित्य एवं जैन साहित्य	

Course Objective:

To critically examine the Gupta period (circa 320-550 CE) and evaluate the validity of its designation as the "Golden Age" of Indian history by exploring its political, economic, social, cultural, scientific, and religious developments, and by considering diverse historical perspectives.

Course Outcome:

Students will able to:

1. Identify the key rulers of the Gupta dynasty, understand the timeline of their reign, and analyze the factors contributing to the rise and eventual decline of the Gupta Empire.
2. Economic Systems: Analyze the nature of the Gupta economy, including its agricultural practices, internal and external trade networks, the role of guilds, and the significance of its currency.
3. Social Structures: Understand the social hierarchy prevalent during the Gupta period, including the caste system, the position of women, and the lives of different social groups.
4. Religious Landscape: Describe the religious environment of the Gupta period, including the resurgence of Hinduism, the patronage of Buddhism and Jainism, and the principles of religious tolerance.
5. Cultural Achievements (Art and Architecture): Identify and analyze the key features of Gupta art (sculpture, painting, terracotta) and architecture (temple styles), including examples like the Ajanta caves and early Hindu temples.
6. Cultural Achievements (Literature and Language): Recognize the major literary figures (e.g., Kalidasa) and their works, understand the significance of Sanskrit as the court language, and appreciate the development of classical Sanskrit literature and drama.

विषय-सूची

खण्ड-1. स्वर्णकाल की अवधारणा	**6-30**
इकाई-1.1 गुप्त काल का संक्षिप्त परिचय	6-11
इकाई-1.2 सामाजिक परम्पराएं एवं शिक्षा का विकास	12-20
इकाई-1.3 आर्थिक सम्पन्नता का काल	21-26
इकाई-1.4 धार्मिक समन्वय की नीति	27-30
खण्ड-2 कला एवं साहित्य	**30-55**
इकाई-2.1 मूर्ति कला का विकास	31-35
इकाई-2.2 मन्दिर स्थापत्य कला का विकास	36-41
इकाई-2.3 गुप्त कालीन संस्कृत साहित्य	42-47
इकाई-2.4 गुप्तकालीन अपभ्रंश साहित्य, बौद्ध साहित्य एवं जैन साहित्य	48-55

भूमिका

गुप्त काल भारतीय इतिहास का वह स्वर्णिम अध्याय है, जब ज्ञान, कला और विज्ञान की नदियाँ एक साथ बहने लगीं। इस काल (लगभग 320 ईस्वी से 550 ईस्वी) को भारत का स्वर्ण युग कहा जाता है क्योंकि इस समय संस्ख्रति, विज्ञान, गणित, कला, साहित्य और राजनीतिक स्थिरता के क्षेत्रों में असाधारण प्रगति हुई। यह उपाधि उस काल को इंगित करती है जब भारतीय सभ्यता ने एक सशक्त और अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण शासन के अंतर्गत मानव प्रयासों के विविध क्षेत्रों में चरम उत्कर्ष प्राप्त किया। महान कवि कालिदास की कल्पनाएँ, आर्यभट का शून्य, वराहमिहिर की खगोल विद्या ये सब इसी युग की देन हैं। इस काल की उपलब्धियाँ सिर्फ कागजों तक सीमित नहीं रहीं, वे भारत की आत्मा में बस गईं और एशिया के कई देशों को रोशन करती रहीं।

इसलिए गुप्त युग स्र्फि इतिहास की बात नहीं है यह भारत की बुद्धि, भावना और भव्यता का प्रतीक है। यह वह समय था जब भारत ने न केवल सोना पहना, बल्कि स्वर्णिम सोच और सजग संस्कृति को भी आत्मसात किया।

गुप्त साम्राज्य, जिसे प्राचीन भारत का 'स्वर्ण युग' माना जाता है, लगभग 320 ईस्वी से 550 ईस्वी के बीच फला-फूला। इसकी स्थापना श्री गुप्त ने की थी और इसे चंद्रगुप्त प्रथम द्वारा एक शक्तिशाली साम्राज्य का रूप दिया गया। इस वंश ने कई ऐसे शासकों को जन्म दिया जिन्होंने भारत की राजनीतिक एकता, सांस्कृतिक समृद्धि, बौद्धिक और आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। नीचे इन शासकों का कालानुक्रमिक (क्रमानुसार) और तथ्यात्मक विवरण प्रस्तुत है।

खण्ड-1 स्वर्णकाल की अवधारणा

इकाई-1.1 गुप्त काल का संक्षिप्त परिचय

उद्देश्य-

1. गुप्त वंश के प्रमुख शासकों एवं उनके योगदान को समझना।
2. गुप्त साम्राज्य के उदय एवं विस्तार का विश्लेषण करना।
3. गुप्तकाल को ह्स्वर्ण युगह्व कहे जाने के कारणों को जानना।

1. श्री गुप्त (लगभग 240-280 ई.)

श्री गुप्त गुप्त वंश के संस्थापक थे। वे एक क्षेत्रीय शासक थे, संभवत: भारत के पूर्वी भाग द्धवर्तमान बंगाल या मगधा क्षेत्रऋ में, लेकिन सम्राट नहीं थे। उनके शासन का प्रमाण गया द्धबिहारऋ स्थित एक बौ) तीर्थस्थल पर मिली एक बाद की अभिलेख से मिलता है। यद्यपि उनके राजनीतिक क्रियाकलापों की अधिाक जानकारी नहीं है, उन्होंने एक ऐसे साम्राज्य की नींव रखी जो आगे चलकर अत्यंत प्रभावशाली बना।

2. घटोत्कच

इसके पश्चात इनके पुत्र घटोत्कच ने भी एक क्षेत्रीय शासक के रूप में शासन किया।

3. चंद्रगुप्त प्रथम (320ई-335ई)

चंद्रगुप्त प्रथम न केवल गुप्त साम्राज्य के संस्थापक थे, बल्कि उन्होंने उस स्वर्णिम युग की आधाारशिला रखी, जिसने भारत के इतिहास में ज्ञान, शद्रि और संस्ख्रति की एक नई रोशनी बिखेरी। लगभग 320 ईस्वी में चंद्रगुप्त प्रथम का राज्यारोहण हुआ। वे न केवल एक सक्षम शासक थे, बल्कि उन्होंने अपनी राजनीतिक रणनीति और कुशल गठबंधान नीति से गुप्त वंश को एक सशद्र साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया।

लिच्छवि वंश से वैवाहिक गठबंधान

चंद्रगुप्त प्रथम ने कुमारदेवी, जो लिच्छवि वंश की राजकुमारी थीं, से विवाह किया। यह वंश नेपाल और उत्तर बिहार में प्रतिष्ठित और प्राचीन गणराज्य के रूप में जाना जाता था। इस संबंधा से गुप्त वंश को वैधाता और सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई तथा लिच्छवियों से सैन्य और आर्थिक समर्थन मिला। महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्गों और उपजाऊ क्षेत्रें पर नियंत्रण भी मिला। इस रणनीतिक गठबंधान ने चंद्रगुप्त को एक राजनीतिक महाशद्रि के रूप में स्थापित किया।

गुप्त साम्राज्य की नींव

चंद्रगुप्त प्रथम के शासनकाल को गुप्त साम्राज्य की वास्तविक स्थापना माना जाता है। उपलब्धा साक्ष्यों के अनुसार उनका साम्राज्य निम्नलिखित क्षेत्रें तक विस्तृत था- मगधा द्धवर्तमान बिहारऋ, प्रयाग द्धइलाहाबादऋ, साकेत द्धअयोधयाऋ तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश के कुछ क्षेत्र। इन क्षेत्रें की भौगोलिक, सांस्ख्रतिक और ख्रषि ख्रष्टि से अत्यधिाक महत्ता थी।

गुप्त संवत की स्थापना

चंद्रगुप्त प्रथम ने लगभग 320 ईस्वी में गुप्त संवत की शुरुआत की। यह संवत भारत के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण कालगण ाना प्रणाली के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। गुप्त संवत का प्रयोग आने वाले कई शताब्दियों तक शासनिक अभिलेखों और शिलालेखों में किया गया।

सिक्के और अभिलेख

चंद्रगुप्त प्रथम ने गुप्त काल की एक प्रमुख परंपरा स्वर्ण मुद्राओं का प्रचलन की शुरुआत की। उनके द्वारा जारी स्वर्ण

मुद्राओं पर उनके साथ कुमारदेवी की छवि भी अंकित थी, जो उस युग में दुर्लभ था। यह दर्शाता है कि वैवाहिक गठबंधान को न केवल राजनीतिक, बल्कि संस्ख्रति और प्रतिष्ठा का प्रतीक भी माना गया। इन सिक्कों की गुणवत्ता और विस्तार एक मजबूत आर्थिक संरचना की पुष्टि करते हैं।

यद्यपि चंद्रगुप्त प्रथम के स्वयं के शासनकाल से संबंधित विस्तृत अभिलेख अनुपलब्धा हैं, तथापि उनके शासन संबंधी घटनाओं का वर्णन बाद के अभिलेखों में प्राप्त होता है।

सांस्ख्रतिक महत्त्व

चंद्रगुप्त प्रथम का शासन एक संक्रमण काल था, जो भारत को बिखराव से उठाकर सामूहिक सांस्ख्रतिक पुनरुत्थान की ओर ले गया। उनकी उपलब्धियों में शांति और स्थिरता की स्थापना करना है जिससे विज्ञान, गणित, खगोलशास्त्र और साहित्य का विकास संभव हुआ तथा एक ऐसे वंश की स्थापना हुई, जिसने भारत को उसकी सांस्ख्रतिक ऊँचाइयों पर पहुँचाया।

समुद्रगुप्त- प्राचीन भारत का यो)ा-कविद्ध 335-380ईऋ

भारत के शास्त्रीय युग की स्वर्णिम प्रभा में, जब राज्यों का उत्थान और पतन गंगा की लहरों के समान होता था, तब एक ऐसा सम्राट प्रकट हुआ जिसकी तलवार ने साम्राज्य रचे और जिसकी आत्मा वीणा के सुरों पर नृत्य करती थी। यह थे समुद्रगुप्त, गुप्त वंश के दूसरे महान सम्राट एक ऐसा शासक जो केवल विजेता नहीं था, बल्कि शद्रि और सौंदर्य का अद्वितीय संगम था। लगभग 335 ईस्वी से 375 ईस्वी तक शासन करने वाले समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त प्रथम के पुत्र थे। समुद्रगुप्त का शासन केवल राजनीतिक विस्तार तक सीमित नहीं था। वे स्वयं एक कुशल वीणावादक, कवि और संगीतप्रेमी थे। उनके दरबार में विद्वानों और कलाकारों को सम्मान प्राप्त था। उन्होंने संस्ख्रत भाषा, साहित्य और कला को भरपूर संरक्षण दिया, जिससे उनके शासनकाल को भारतीय इतिहास का सांस्ख्रतिक स्वर्ण युग कहा जाता है।

प्रशासनिक संरचना-

साम्राज्य का क्षेत्रीय विभाजन-

साम्राज्य को भुद्रि द्धप्रांतऋ, विषय द्धजनपदऋ और ग्राम द्धगाँवऋ में विभाजित किया गया था। यह बहु-स्तरीय प्रणाली शासन को केन्द्र से ग्राम स्तर तक प्रभावशाली ढंग से संचालित करने में सहायक थी।

प्रशासक और पदाधिकारी-

प्रत्येक प्रांत का प्रमुख उपरिक कहलाता था और जनपद का प्रमुख विषयपति। ये अधिकारी सम्राट द्वारा नियुद्र होते थे और उन्हें राजस्व वसूली, कानून-व्यवस्था और न्याय का अधिकार प्राप्त था।

ग्राम प्रशासन-

गांवों में ग्रामिक जैसे अधिकारी स्थानीय शासन संभालते थे, जो ख्रषि, कर व्यवस्था और सुरक्षा से संबंधित कार्यों में सक्रिय रहते थे।

राजस्व व्यवस्था-

राजस्व का प्रमुख स्रोत था भूमिकर, जो आमतौर पर उपज या मुद्रा में वसूला जाता था। व्यापार कर, सीमा शुल्क, तथा अधीन राज्यों से प्राप्त कर अन्य स्रोत थे। समुद्रगुप्त ने ख्रषि सुधार, सिंचाई प्रणाली और भूमि सर्वेक्षण जैसे उपायों को प्राथमिकता दी।

न्याय प्रणाली-

न्याय व्यवस्था धार्मशास्त्रें और सामाजिक परंपराओं पर आधाारित थी। सम्राट को परम न्यायाधीश माना जाता था। अपराधों के लिए न्यायपूर्ण किन्तु कठोर दंड निर्धारित थे जिससे समाज में अनुशासन बना रहे।

धाार्मिक सहिष्णुता और सांस्ख्रतिक संरक्षण–

समुद्रगुप्त एक हिंदू शासक थे, लेकिन उन्होंने बौ) और जैन धार्मों को भी संरक्षण प्रदान किया। उनका प्रशासन धाार्मिक सहिष्णुता और सांस्ख्रतिक बहुलता को बढ़ावा देता था, जिससे सामाजिक एकता मजबूत हुई।

विदेश नीति और अधीनस्थ राज्य प्रशासन–

दक्षिण भारत और सीमावर्ती क्षेत्रें के राज्यों को आंशिक स्वायत्तता दी गई, परंतु उन्हें कर अर्पित करना और सम्राट की अध ीनता स्वीकारना अनिवार्य था। यह नीति विजय के साथ सम्मान के सि)ांत पर आधाारित थी, जिससे प्रशासनिक बोझ कम हुआ और राजनीतिक स्थिरता बनी रही। उनकी उपलब्धियों का विवरण प्रयाग प्रशस्ति द्धइलाहाबाद स्तंभ लेखऋ में मिलता है, जिसे उनके दरबारी कवि हरिषेण ने रचा था। यह लेखन उन्हें एक धार्मनिष्ठ, शद्रिशाली और कलाप्रिय शासक के रूप में प्रस्तुत करता है। समुद्रगुप्त न केवल भूमि के शासक थे, बल्कि समय के शिल्पकार भी थे जिनकी विरासत आज भी भारत की सांस्ख्रतिक पहचान में जीवित है। उनके शासनकाल ने गुप्त साम्राज्य को एक महाशद्रि के रूप में स्थापित किया और भविष्य की पीढ़ियों को संस्ख्रति, शासन और नीति का एक प्रेरणास्रोत प्रदान किया।

चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य सम्राटों का सूर्यद्ध380–412ईऋ

प्राचीन भारतीय इतिहास के स्वर्णिम अधयायों में, चंद्रगुप्त द्वितीय, जिन्हें प्रसि) रूप से विक्रमादित्य के नाम से जाना जाता है, एक ऐसे सम्राट थे जिन्होंने साहस, संस्ख्रति और दूरदर्शिता का अद्वितीय मेल प्रस्तुत किया। उनका शासन लगभग 375 से 415 ईस्वी तक था और वे महान सम्राट समुद्रगुप्त के पुत्र थे। उन्होंने गुप्त साम्राज्य को अपने शौर्य और ज्ञान से चरमोत्कर्ष तक पहुँचाया। जहाँ उनके पिता ने यु)ों के माधयम से साम्राज्य का विस्तार किया, वहीं चंद्रगुप्त द्वितीय ने सैन्य शद्रि के साथ–साथ कूटनीतिक कौशल का भी उत्ख्रष्ट प्रदर्शन किया।

सैन्य और राजनीतिक रणनीति–

चंद्रगुप्त द्वितीय ने पश्चिमी क्षत्रपों द्धशकोंऋ को पराजित कर मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्रें को अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया। यह विजय केवल सैन्य ख्रष्टि से नहीं, बल्कि व्यापार मार्गों और समुद्री बंदरगाहों पर नियंत्रण के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण थी।

आर्थिक और व्यापारिक समृ)–

उनका शासन भूमिकर, सीमा शुल्क, और खनिज संसाधानों से आय अर्जित करता था। भारत का रोम और दक्षिण–पूर्व एशिया से व्यापार अपने चरम पर था। इस काल की स्वर्ण और रजत मुद्राएँ द्धदीनारऋ गुप्त धाातु विज्ञान और अर्थव्यवस्था की परिपक्वता दर्शाती हैं।

प्रशासनिक दक्षता–

साम्राज्य को भुद्रि द्धप्रांतऋ, विषय द्धजनपदऋ और ग्राम द्धगाँवऋ में संगठित किया गया था। प्रशासन केन्द्र से स्थानीय स्तर तक सुनियोजित रूप से चलता था। नियुद्र अधिाकारी कर वसूली, कानून व्यवस्था और जनकल्याण हेतु उत्तरदायी थे।

वैज्ञानिक और सांस्ख्रतिक संरक्षण–

उनके दरबार में नवरत्नों का समूह था, जिनमें कालिदास द्धसाहित्यऋ, वराहमिहिर द्धखगोलशास्त्रऋ जैसे महान विद्वान थे। गणित, खगोलशास्त्र, आयुर्विज्ञान, और धाातु विज्ञान के क्षेत्र में व्यापक विकास हुआ। उदाहरण के लिए दिल्ली का लौह स्तंभ, जो

इस युग का है, आज भी जंगरोधाी तकनीक का प्रमाण है।

धाार्मिक सहिष्णुता और कलात्मक उत्कर्ष

वह एक वैष्णव हिंदू थे, परंतु बौ) और जैन धार्मों के प्रति भी सहिष्णु थे। इस युग की फ्ुा चित्रकला, मूर्तिकला और मंदिर निर्माण भारतीय कलाशैली की उत्ख्रष्टता को दर्शाते हैं। उनका दरबार केवल शासन के लिए नहीं, बल्कि भारतीय विद्वता और सृजनात्मकता का केंद्र था। माना जाता है कि उन्होंने नवरत्नों द्धनौ मणिऋ का संरक्षण किया, जिनमें महान कवि कालिदास, खगोलशास्त्री वराहमिहिर और शब्दकोश के लेखक अमर सिंह शामिल थे। कालिदास की काव्य रचनाएँ आज भी संस्ख्रत साहित्य की उत्ख्रष्टतम ख्रतियों में गिनी जाती हैं। चंद्रगुप्त द्वितीय ने हविक्रमादित्यह्व का नाम धाारण किया, जिसका अर्थ है ह्शौर्य का सूर्यह्व। यह नाम भारतीय परंपरा में आदर्श शासक के प्रतीक के रूप में विख्यात हुआ ख्र जो न्यायप्रिय, वीर और विद्वान होता है।

उनका शासनकाल गुप्त साम्राज्य के उत्कर्ष का युग था, जिसे भारत का स्वर्ण युग भी कहा जाता है, जब विज्ञान, साहित्य, कला और दर्शन ने अभूतपूर्व प्रगति की। सदियों बाद भी, विक्रमादित्य की बु)मत्ता और साहस की कथाएँ भारतीय लोककथाओं में जीवित रहीं, विशेष रूप से ह्वेताल पञ्ूचविंशतिह्व जैसी लोकप्रिय कथाओं में। उनके शासनकाल में राजनीतिक स्थिरता, आर्थिक समृ) और सांस्ख्रतिक उत्कर्ष ने भारतीय सभ्यता के विकास को गति दी। वे भारतीय इतिहास के उन महान शासकों में से एक हैं, जिनका योगदान सदियों तक स्मरणीय रहेगा।

कुमारगुप्त प्रथम- गुप्त साम्राज्य के संरक्षक

कुमारगुप्त प्रथम, जिन्होंने लगभग 415 से 455 ईस्वी तक शासन किया, गुप्त वंश के एक प्रमुख सम्राट थे। वे चंद्रगुप्त द्वि तीय के पुत्र और उत्तराधिाकारी थे। उनका शासनकाल गुप्त साम्राज्य की समृ) और स्थिरता को बनाए रखने वाला युग माना जाता है। कुमारगुप्त प्रथम ने अपने पूर्वजों द्वारा स्थापित विशाल साम्राज्य को मजबूती प्रदान की और शासन के दौरान शांति तथा आर्थिक विकास को प्रोत्साहित किया। वे कला, साहित्य और धार्म के संरक्षक थे, जिन्होंने गुप्त काल के सांस्ख्रतिक वातावरण को सुख्रढ़ किया। उनके शासनकाल में मंदिरों और शिक्षा संस्थानों का विकास हुआ तथा संस्ख्रत साहित्य का प्रचार-प्रसार बढ़ा। उनके शासनकाल का महत्वपूर्ण प्रमाण मंदसौर शिलालेख है, जो उनकी उदारता और साम्राज्य की समृ) का उल्लेख करता है। इसके अतिरिद्र, कुमारगुप्त प्रथम ने प्राख्रतिक संसाधानों और पर्यावरण के संरक्षण के लिए भी कदम उठाए, जो गुप्त शासकों की प्रख्रति के प्रति सम्मान को दर्शाता है। हालांकि कुमारगुप्त प्रथम अपने कुछ अन्य गुप्त सम्राटों की तुलना में कम प्रसि) हैं, लेकिन उनका नेतृत्व गुप्त साम्राज्य के स्वर्ण युग को बनाए रखने में महत्वपूर्ण था, जिसने भारतीय इतिहास के इस महान युग को स्थायित्व प्रदान किया।

स्कंदगुप्त- गुप्त साम्राज्य की अंतिम उज्ज्वल लौ

प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास में स्कंदगुप्त का नाम एक ऐसे शासक के रूप में अंकित है, जिन्होंने संकटग्रस्त समय में गुप्त साम्राज्य की रक्षा करते हुए उसे एक नई दिशा दी। उनका शासनकाल लगभग 455 ईस्वी से प्रारंभ होता है, जब साम्राज्य बाहरी आक्रमणों और आंतरिक चुनौतियों से जूझ रहा था। हूणों जैसे शद्रिशाली मधय एशियाई आक्रांताओं के सामने जहाँ कई भारतीय राजवंश किल हो गए, वहीं स्कंदगुप्त ने अपने असाधाारण सैन्य नेतृत्व, रणनीतिक कौशल और ख्रढ़ इच्छाशद्रि से न केवल इन आक्रमणों को किल किया, बल्कि गुप्त साम्राज्य की सीमाओं और प्रतिष्ठा की भी रक्षा की। उनके नेतृत्व में गुप्त सेना ने हूणों को पराजित कर एक अस्थायी लेकिन महत्वपूर्ण स्थिरता प्राप्त की। स्कंदगुप्त न केवल एक यो)ा थे, बल्कि एक कुशल प्रशासक भी थे। उन्होंने आर्थिक व्यवस्थाओं को पुनर्गठित किया, जल प्रबंधान प्रणाली की मरम्मत करवाई द्धजैसे कि जूनागढ़ अभिलेख में वर्णित सिंचाई परियोजनाएंऋ, और सामाजिक-सांस्ख्रतिक संस्थानों के संरक्षण का कार्य किया। उनके शासनकाल के सिक्कों और अभिलेखों से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने धार्म, न्याय और लोकहित को शासन के मूल स्तंभों के रूप में स्थापित किया। हालाँकि

स्कंदगुप्त के बाद गुप्त साम्राज्य का धीरे-धीरे पतन आरंभ हुआ, परंतु उनका शासनकाल गुप्त युग की अंतिम स्वर्णिम झलक के रूप में देखा जाता है। वे न केवल एक शूरवीर सम्राट थे, बल्कि एक द्रष्टा शासक भी थे, जिन्होंने अपने त्याग और कर्तव्यपरायण ाता से भारतीय इतिहास में एक अमिट छाप छोड़ी। उन्होंने न केवल तत्कालीन भारत को बाहरी आक्रमणों से बचाया, बल्कि अपने कार्यों से यह सि) किया कि महानता केवल विजय में नहीं, बल्कि संघर्षों के बीच मूल्य और परंपरा को बचाने में होती है।

यह साम्राज्य लगभग 4वीं से लेकर प्रारंभिक 6वीं शताब्दी ईस्वी तक राजनीतिक स्थिरता, सैन्य शद्रि और सांस्ख्रतिक उन्नति का प्रतीक रहा। किंतु 6वीं शताब्दी के मधय में यह साम्राज्य आंतरिक प्रशासनिक कमजोरियों, आर्थिक संसाधानों की क्षीणता, और बाहरी आक्रांताओं के दबाव के कारण धीरे-धीरे अपनी शद्रि और प्रभाव खोने लगा। 550-600 ईस्वी के बीच, गुप्त साम्राज्य ने अपने अधिाकांश क्षेत्रें पर नियंत्रण खो दिया था। इस साम्राज्य के अंतिम ज्ञात शासक विष्णुगुप्त थे, जिनके पश्चात पुष्यभूति, मौखरी और अन्य क्षेत्रीय राजवंशों का उदय हुआ और वे राजनीतिक ख्रष्टि से प्रभावशाली बन गए। कभी शद्रिशाली रहा गुप्त साम्राज्य धीरे-धीरे सिमटकर मगधा क्षेत्र तक सीमित रह गया और अंततः ऐतिहासिक परिख्रश्य से लुप्त हो गया।

5 अंकों के प्रश्न-

1. श्रीगुप्त और घटोत्कच का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. चंद्रगुप्त प्रथम की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।
3. समुद्रगुप्त को ह्भारत का नेपोलियनह्व क्यों कहा जाता है?
4. गुप्त संवत की स्थापना का महत्व बताइए।
5. स्कंदगुप्त के शासनकाल की प्रमुख विशेषताएँ लिखिए।

15 अंकों के प्रश्न-

1. गुप्त साम्राज्य के उदय और विस्तार का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. समुद्रगुप्त की विजयों एवं प्रशासनिक व्यवस्था का आलोचनात्मक अधययन कीजिए।
3. चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासनकाल को स्वर्ण युग क्यों कहा जाता है?
4. गुप्त साम्राज्य के पतन के कारणों का विश्लेषण कीजिए।
5. गुप्तकालीन प्रशासन की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQ)

1. गुप्त वंश का संस्थापक कौन था?

(क) समुद्रगुप्त

(ख) श्रीगुप्त

(ग) चंद्रगुप्त द्वितीय

(घ) स्कंदगुप्त

उत्तर (ख)

2. प्रयाग प्रशस्ति किसने लिखी थी?

(क) कालिदास

(ख) हरिषेण

(ग) आर्यभट

(घ) वराहमिहिर

उत्तर (ख)

3. विक्रमादित्य की उपाधिा किस गुप्त शासक ने धाारण की?

(क) कुमारगुप्त

(ख) समुद्रगुप्त

(ग) चंद्रगुप्त द्वितीय

(घ) स्कंदगुप्त

उत्तर (ग)

4. गुप्त संवत की शुरुआत किसने की?

(क) श्रीगुप्त

(ख) समुद्रगुप्त

(ग) चंद्रगुप्त प्रथम

(घ) कुमारगुप्त

उत्तर (ग)

5. हूणों के आक्रमण का सामना किसने किया?

(क) समुद्रगुप्त

(ख) स्कंदगुप्त

(ग) चंद्रगुप्त प्रथम

(घ) कुमारगुप्त

उत्तर (ख)

स्मरणीय बिंदु –

- गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहा जाता है।
- समुद्रगुप्त की विजयों का वर्णन प्रयाग प्रशस्ति में मिलता है।
- चंद्रगुप्त द्वितीय के समय कला, साहित्य और व्यापार का विकास हुआ।
- स्कंदगुप्त ने हूणों के आक्रमणों से साम्राज्य की रक्षा की।

शब्दावली–

- स्वर्ण युग
- प्रयाग प्रशस्ति
- गुप्त संवत
- विक्रमादित्य
- हूण

Text Book: The Vakataka-Gupta Age: Circa 200-550 A.D. edited by R.C. Majumdar and A.S. Altekar

इकाई-1.2 सामाजिक परम्पराएं एवं शिक्षा का विकास

सामाजिक परंपराएं एवं शिक्षा प्रणाली

उद्देश्य-

1. गुप्तकालीन सामाजिक संरचना को समझना।
2. शिक्षा व्यवस्था एवं विश्वविद्यालयों के विकास का अधययन करना।
3. महिलाओं एवं धार्म की स्थिति का विश्लेषण करना।

गुप्त साम्राज्य के समय की सामाजिक परंपराएँ एक संरचित, शास्त्र-सम्मत और बहुस्तरीय सामाजिक व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करती हैं। यह काल भारत का स्वर्ण युग माना जाता है, जिसमें सामाजिक संरचना धार्म, वर्ण-व्यवस्था और धाार्मिक सहिष्णुता पर आधाारित थी।

स्तरीकरतण व्यवस्था

गुप्त काल में भारतीय समाज एक सघन रूप से स्तरीख्रत संरचना में परिवर्तित हो गया था। यह व्यवस्था मुख्यत: धाार्मिक सि)ांतों, वर्ण-जाति आधाारित श्रेणीकरण, और वंशानुगत व्यवसायों पर आधाारित थी। सामाजिक स्तरीकरण ने उस युग में सामाजिक स्थिरता तो प्रदान की, लेकिन साथ ही सामाजिक गतिशीलता को गंभीर रूप से प्रतिबंधित भी किया।

चतुर्वर्ण व्यवस्था-

समाज को चार मुख्य वर्गों द्धवर्णोंऋ में विभाजित किया गया था- ब्राह्मण- पुरोहित, शिक्षक, और धार्मशास्त्रज्ञ। क्षत्रिय- यो)ा, राजा और प्रशासनिक अधिाकारी। वैश्य- व्यापारी, ख्रषक और कारीगर। शूद्र सेवा प्रदाता, श्रमिक और शिल्पकार। यह व्यवस्था, जो प्रारंभ में कार्य आधाारित थी, अब पूर्णत: जन्म आधाारित और अनुवांशिक बन गई थी। धाार्मिक ग्रंथों जैसे मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, और नारद स्मृति में इस व्यवस्था को धार्मसम्मत बताया गया।

जाति व्यवस्था

वर्णों के भीतर सैकड़ों उप-जातियाँ उभरीं, जो विशेष रूप से व्यवसाय पर आधाारित थीं। जातियाँ स्थान-विशिष्ट और वंशानुगत होती थीं। प्रत्येक जाति का एक विशिष्ट आचार संहिता, विवाह नियम, और आहार व्यवहार होता था।

ब्राह्मणों की सर्वोच्चता

ब्राह्मण वर्ग को समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। उन्हें कर-मुद्र भूमि दी जाती थी, राज्य परामर्शदाता बनाया जाता था, और मंदिरों व धार्मशालाओं का नियंत्रण सौंपा जाता था। धाार्मिक अनुष्ठानों का संचालन केवल ब्राह्मणों के माधयम से होता, जिससे उनका वर्चस्व बना रहता।

समाज में पुरुष प्रधाानता स्थापित हो चुकी थी। महिलाओं की भूमिका मुख्यत: घरेलू और पराश्रयी थी। उच्च वर्ण की स्त्रियों के लिए शिक्षा, संपत्ति और सार्वजनिक जीवन में भागीदारी सीमित हो चुकी थी। बाल विवाह, दहेज, और पर्दा जैसी परंपराएँ धाीरे-धाीरे फैलने लगी थीं।

व्यवसायिक श्रेणियाँ और संघ

विभिन्न व्यवसायों के लिए श्रेणियाँ गठित की गई थीं। ये श्रेणियाँ जाति आधाारित थीं और उनमें प्रवेश केवल वंश पर आधाारित होता था।श्रेणियाँ उत्पादन, मूल्य निर्धारण और कार्य-नैतिकता को नियंत्रित करती थीं, जिससे आर्थिक स्तरीकरण भी जन्म आधाारित हो गया।

अस्पृश्यता

समाज के कुछ वर्ग चार वर्णों के बाहर माने जाते थे- जिन्हें अवर्ण या अति-शूद्र कहा गया। इनमें चर्मकार, शौचकर्मी, शववाहक आदि कार्य करने वाले आते थे। इन वर्गों को सामाजिक, धार्मिक, और शैक्षणिक क्षेत्रें से पूरी तरह बहिष्व्रत कर दिया गया था। इस व्यवस्था में धार्म, सामाजिक भूमिका और आर्थिक गतिविधियाँ एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़ी थीं। यह स्तरीकरण प्रणाली भारतीय सामाजिक ढांचे में लंबे समय तक स्थायित्व और साथ ही गंभीर सामाजिक विषमता का आधार बनी।

परिवार की संरचना

संयुद्र परिवार प्रणाली आदर्श मानी जाती थी। परिवार में पैतृक वंशानुक्रम द्धपितृसत्तात्मक संरचनाऋ होती थी। सबसे बड़ा पुरुष सदस्य द्धगृहपतिऋ निर्णय, संपत्ति, और धार्मिक कर्तव्यों में प्रमुख होता था। महिलाओं की भूमिका घरेलू होती थी और वे सामान्यतः पराश्रयी मानी जाती थीं।

विवाह- एक धार्मिक कर्तव्य

विवाह को संस्कार माना जाता था, न कि केवल सामाजिक अनुबंधा। जिसका मुख्य उद्देश्य ध र्म की पूर्ति, वंश की निरंतरता द्धपुत्र की आवश्यकताऋ, धार्मिक कर्तव्यों की पूर्ति द्धश्रा), यज्ञऋ था। अंतर-वर्ण विवाह सामाजिक रूप से स्वीकार्य नहीं था।

विवाह के प्रकार

धार्मशास्त्रें में विवाह के 8 प्रकार वर्णित हैं, जिनमें प्रमुख थे- ब्रह्म विवाह- ब्राह्मणों के बीच, कन्यादान के साथ। दैव विवाह- यज्ञ करते समय कन्या का दान। आर्ष विवाह, प्रजापत्य विवाह, गंधार्व विवाह- प्रेम विवाह, क्षत्रियों में कभी-कभी मान्यता प्राप्त। असुर विवाह- दहेज आधारित विवाह द्धनिंदा की जाती थीऋ, राक्षस विवाह और पैशाच विवाह।

विधिाक और धार्मिक पक्ष

विवाह वैदिक अनुष्ठानों से संपन्न होता था कन्यादान, सप्तपदी, हवन आदि। संपत्ति अधिाकारों में महिलाओं की स्थिति सीमित थी। पुत्रें को पैतृक संपत्ति मिलती थी, कन्याओं को स्त्रीधान दिया जाता था। गुप्त काल में विवाह और परिवार सामाजिक व्यवस्था की रीढ़ थे। वे केवल व्यद्रिगत जीवन के हिस्से नहीं थे, बल्कि उन्होंने धार्म, जाति, आर्थिक नियंत्रण और सांस्व्रतिक निरंतरता को सुनिश्चित किया।

धार्मिक परंपराएँ

गुप्त साम्राज्य द्धलगभग 320ख्र550 ईस्वीऋ को भारत के ह्स्वर्ण युगह्व के रूप में जाना जाता है, न केवल इसके विज्ञान, साहित्य, और कला में योगदान के लिए, बल्कि इसके द्वारा पोषित जीवंत और बहुलवादी धार्मिक परिवेश के कारण भी। गुप्त शासनकाल में हिंदू धार्म प्रमुखता पर आया, लेकिन अन्य परंपराएं जैसे बौ) धार्म और जैन धार्म भी ्रल-ूल रही थीं और विकसित हो रही थीं। नीचे गुप्त काल के धार्मिक रीतिरिवाजों का विस्तृत विवरण दिया गया है।

सनातन धार्म-

गुप्त काल में हिंदू धार्म अर्थात सनातन धार्म ने एक महत्वपूर्ण पुनरुत्थान और सुव्यवस्थित रूप प्राप्त किया। इस युग में पुराणिक हिंदू धार्म का उदय हुआ, जिसमें भद्रि द्धभद्रिपूर्ण पूजाऋ, मंदिर पूजा, और विष्णु, शिव, देवी जैसे देवताओं की प्रधानता शामिल थी।

मुख्य विशेषताएँ-

आधयात्मिक उपासना- विष्णु द्धवैष्णवऋ, शिव द्धशैवऋ, और शद्रिदेवी द्धशद्रिवादऋ जैसे व्यद्रिगत देवताओं की पूजा केंद्र में रही। इन सम्प्रदायों ने भद्रि, जो अनुष्ठान या दार्शनिक विचार से अधिाक भद्रिपूर्ण था, को बढ़ावा दिया।

मंदिर निर्माण-

गुप्त शासकों और कुलीनों ने जटिल हिंदू मंदिरों के निर्माण को प्रोत्साहित किया। देवगढ़ द्धदशावतार मंदिरऋ, उदयगिरि, और तिगवा के मंदिर इसके प्रमुख उदाहरण हैं। स्मृति ग्रंथ और पुराण मनुस्मृति और विष्णु पुराण, भागवत पुराण, शिव पुराण जैसे ग्रंथ लोकप्रिय हुए, जिनमें हिन्दू आदर्शों के अनुसार मिथक, ब्रह्मांड विज्ञान, अनुष्ठान और आचार संहिता का समावेश था।

सामाजिक व्यवस्था और धार्म-

वर्ण व्यवस्था द्धसामाजिक व्यवस्थाऋ को मजबूत किया गया जिसमें ब्राह्मण सर्वोच्च थे। गुप्तों ने ब्राह्मणवादी परंपरा को समर्थन दिया और ब्राह्मणों की धाार्मिक व सामाजिक नेतृत्व की भूमिका को सशद्र किया। राजसी संरक्षण यद्यपि गुप्त वंश के शासक वैष्णव थे, उन्होंने अन्य देवताओं और परंपराओं का भी समर्थन किया। समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय ने विष्णु के वाहन गरुड़ की मुद्रा वाली मुद्राएं जारी कीं।

बौ) धार्म- निरंतर प्रभाव और विकास

हिंदू धार्म के उदय के बावजूद, बौ) धार्म शिक्षा और मठों में प्रभावी बना रहा। इस काल में हिनयान द्धथेरवादऋ से महायान बौ) धार्म की ओर संक्रमण हुआ, जो बोधिासत्त्वों के साथ साथ और अधिाक विस्तृत अनुष्ठानों पर जोर देता था।

मुख्य विशेषताएँ-

महायान का प्रभुत्व इस रूप के बौ) धार्म ने करुणा, अवलोकितेश्वर जैसे दिव्य बोधि ासत्त्वों और हिंदू भद्रिपूर्ण अनुष्ठानों से मिलती-जुलती भद्रिपूर्ण प्रथाओं पर जोर दिया। कला और वास्तुकला अजंता की गुाएं, जिन्हें गुप्त काल में संरक्षण मिला, में बौ) भित्ति चि> और शिल्पकारी हैं जो जातक कथाओं और बु) के जीवन को दर्शाती हैं। मठ विश्वविद्यालय- नालंदा विश्वविद्यालय द्ध5वीं सदी में स्थापितऋ बौ) शिक्षा का प्रमुख केंद्र था, जहाँ एशिया के विभिन्न भागों से छा> आते थे। राजसी संरक्षण में कमी- अशोक जैसे पूर्व शासकों ने बौ) धार्म को व्यापक संरक्षण दिया था, लेकिन गुप्तों ने अधिाक संरक्षण हिंदू धार्म को दिया। फिर भी, बौ) संस्थान स्थानीय समर्थन और विदेशी तीर्थयात्रियों के कारण ्लते-ूलते रहे।

जैन धार्म- जीवित रहना और अनुकूलन

गुप्त काल में जैन धार्म एक छोटी लेकिन जीवंत धाार्मिक परंपरा के रूप में जारी रहा। भले ही उसे हिंदू और बौ) धार्म की तुलना में कम राजसी संरक्षण मिला, लेकिन जैन मठीय और साहित्यिक परंपराएं ्ल-ूल रही थीं।

मुख्य विशेषताएँ-

तीर्थांकरों की पूजा- छद्ध तीर्थंकरों, विशेषकर महावीर की पूजा जारी रही। इस काल के जैन मंदिरों और मूर्तियों में उत्ख्रष्ट कला देखी जा सकती है।

कला और साहित्य-

जैन ग्रंथों को प्राख्रत और संस्ख्रत में संकलित और संरक्षित किया गया। जैन विषयों के कलात्मक चित्रण मंदिरों और गुाओं में देखे जा सकते हैं। जैन समुदाय विशेषकर पश्चिम भारत में जैनों का शहरी व्यापारिक समर्थन मजबूत था। धानी जैन व्यापारियों ने मंदिरों और मठों का निर्माण करवाया।

धार्मिक सहिष्णुता-

गुप्त काल धाार्मिक सहिष्णुता के लिए प्रसि) था। यद्यपि हिंदू धार्म प्रमुख परंपरा बना, बौद्ध और जैनों का उत्पीड़न नहीं हुआ। धाार्मिक संकीर्तन भी हुआ, जिसमें देवताओं और विचारों ने धार्मिक सीमाओं को पार किया। उदाहरण के लिए, बौद्ध कला ने हिंदू मंदिरों की चित्रकारी को प्रभावित किया, और हिंदू धार्म में अवतार की अवधाारणा संभवत: बौद्ध बोधिासत्त्वों से प्रेरित हुई। गुप्त शासनकाल में कई भारतीय दार्शनिक विद्यालयों ने परिपक्वता प्राप्त की और सह-अस्तित्व में रहे। प्रारंभिक वेदांत विचार द्धजिसे बाद में आदि शंकराचार्य ने व्यवस्थित कियाऋ आकार ले रहे थे। सांख्य और योग प्रणालियाँ अपनी दैवीय द्वैतवाद और मोक्ष के महत्व के साथ ग्लीभूत हुई। न्याय और वैशेषिक, तर्क और भौतिकतत्त्वों पर केंद्रित विद्यालय अधिाक संगठित हुए। बौद्ध तर्कशास्त्र दिग्नाग जैसे दार्शनिकों ने बौ) तर्क और ज्ञानमीमांसा में कठोर प्रणालियाँ विकसित कीं।

धार्मिक साहित्य और महाकाव्य-

गुप्त काल में साहित्य का प्रचुर उत्पादन हुआ, जो प्राय: धाार्मिक या आधयात्मिक विषयों पर आधाारित था, कालिदास जैसे कवि के ग्रंथ जैसे रघुवंश और कुमारसंभव हिंदू पौराणिक कथाओं पर आधाारित थे। संस्ख्रत महाकाव्य जैसे महाभारत और रामायण का संपादन और प्रसार हुआ। भगवद गीता, जो महाभारत का हिस्सा है, इस काल में विशेष धाार्मिक महत्व प्राप्त करने लगी।

विदेशी प्रभाव और तीर्थयात्र-

गुप्त काल में भारत एक प्रमुख तीर्थस्थल था। चीनी तीर्थयात्री जैसे ग]यान ने चंद्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में भारत का भ्रमण किया और बौ) मठ जीवन, नगर प्रशासन और धाार्मिक सहिष्णुता का दस्तावेजीकरण किया।

गुप्त साम्राज्य की धाार्मिक परिख्रश्य विविधा, गतिशील और सहिष्णु था। जबकि हिंदू धार्म प्रमुखता प्राप्त कर गया, बौद्ध और जैन धार्म सांस्कृतिक रूप से प्रभावशाली बने रहे। गुप्त युग ने शास्त्रीय हिंदू प्रथाओं, दार्शनिक प्रणालियों और कलात्मक परंपराओं की नींव रखी, जिन्होंने भारतीय आधयात्मिकता को सदियों तक आकार दिया। यह दबाव या उत्पीड़न का काल नहीं, बल्कि अनेक धाार्मिक पहचान की सामंजस्यपूर्ण सह-अस्तित्व और सृजनात्मक अभिव्यद्रि का काल था।

गुप्तकालीन त्योहार और लोकाचार

गुप्त काल द्धलगभग 320-550 ई.ऋ न केवल अपने राजनीतिक और सांस्ख्रतिक उपलब्धियों के लिए जाना जाता है, बल्कि अपने जीवंत सामाजिक जीवन के लिए भी प्रसि) था, जिसमें त्योहारों और मनोरंजन की समृ) परंपराएँ शामिल थीं। ये सांस्ख्र तिक तत्व उस समय के साम्राज्य की समृि), स्थिरता, तथा धाार्मिक और सामाजिक मूल्यों का प्रतिबिंब थे। गुप्त काल में त्योहार धाार्मिक विश्वासों और ख्रषि कैलेंडर से गहराई से जुड़े थे। ये समुदायों को एकजुट करने, सामाजिक वर्गों को सुख्रढ़ करने और देवताओं के प्रति भद्रि व्यद्र करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे।

धाार्मिक त्योहार-

कई धाार्मिक उत्सव बड़े पैमाने पर मनाए जाते थे। इनमें प्रमुख हिंदू देवताओं से जुड़े त्योहार जैसे दिवाली द्धदीयों का त्योहारऋ, होली द्धरंगों का त्योहारऋ, नवरात्रि दुर्गा पूजा, और महाशिवरात्रि द्धशिव को समर्पितऋ शामिल थे। वैष्णव धार्म के उदय के साथ विष्णु संबंधित त्योहारों की लोकप्रियता भी बढ़ी।

मौसमी और ख्रषि त्योहार-

कई त्योहार ख्रषि चक्र से जुड़े थे, जो बुवाई और ग्सल कटाई के समय मनाए जाते थे। मकर संक्रांति द्धसल उत्सवऋ और वसंत पंचमी द्धवसंत ;तु का स्वागतऋ जैसे उत्सव आम थे। सार्वजनिक समारोह और अनुष्ठान शाही दरबार अक्सर भव्य

त्योहारों का आयोजन करते थे, जिनका उद्देश्य अपनी शद्रि और धाार्मिक भद्रि का प्रदर्शन करना होता था। इन आयोजनों में बड़ी सभाएं, विस्तृत अनुष्ठान, संगीत और नृत्य प्रदर्शन शामिल होते थे। मंदिरों में देवताओं की शोभायात्रएं विशेष रूप से लोकप्रिय थीं।
बौद्ध और जैन त्योहार–

बौद्ध समुदाय बद्ध पूर्णिमा मनाते थे, जो बुद्ध के जन्म, ज्ञान प्राप्ति और महापरिनिर्वाण को स्मरण करता है। जैन धार्म में पर्युषण द्धक्षमा पर्वऋ जैसे त्योहार भी मनाए जाते थे।
मनोरंजन गतिविधियाँ–

गुप्त काल की मनोरंजन गतिविधियाँ समाज की परिष्व्रतता और समृद्धि को दर्शाती थीं, खासकर अभिजात वर्ग में। कला, खेल, खेल–कूद, और मनोरंजन सामाजिक जीवन के अभिन्न अंग थे। संगीत और नृत्य को शाही संरक्षण मिला। शास्त्रीय नृत्य रूप, भजन, और वाद्य संगीत मंदिर अनुष्ठान और दरबारी मनोरंजन का महत्वपूर्ण हिस्सा थे। वीणा, ढोलक, और बांसुरी जैसे वाद्य यंऋ व्यापक रूप से उपयोग किए जाते थे। नाटड कला समृद्ध हुई, जिसमें संस्व्रत नाटक विशेष रूप से महत्वपूर्ण थे। कालिदास जैसे नाटककारों ने शाकुंतल जैसी ख्रतियाँ रचीं, जो शाही दरबारों और सार्वजनिक स्थानों पर प्रस्तुत की जाती थीं। शिकार, कुश्ती, और धानुर्विद्या जैसी शारीरिक गतिविधियाँ योद्धा वर्ग में प्रचलित थीं। शिकार शाही मनोरंजन का भी प्रमुख हिस्सा था, जो साहस और कौशल का प्रतीक माना जाता था। उद्यान और मनोरंजन पाक– धानी वर्ग ने उद्यान बनाए, जिनमें जल के स्रोत, ूल, और छायादार पवेलियन होते थे, जो विश्राम और सामाजिक मिलन के लिए उपयोग किए जाते थे। स्नान और सामाजिक मेलजोल– सार्वजनिक और निजी स्नानागार सामान्य थे, जो कला से सजाए जाते थे। स्नान धाार्मिक और सामाजिक गतिविधि दोनों थी, जिसमें कभी–कभी संगीत और संवाद भी शामिल होता था।
सामाजिक महत्व

गुप्त काल में त्योहार और मनोरंजन केवल आनंद के स्रोत नहीं थे, बल्कि वे धाार्मिक भद्रि, सामाजिक एकता और सांस्व्रतिक पहचान को मजबूत करते थे। ये साम्राज्य की समृद्धि का द्योतक थे और शाही शद्रि एवं संरक्षण के अभिव्यद्रि के लिए महत्वपूर्ण थे।
गुप्त काल में स्त्रियों की स्थिति

गुप्त काल में स्त्रियों की स्थिति जटिल थी, जिसमें सामाजिक, धाार्मिक और सांस्व्रतिक प्रभावों के कारण उनकी भूमिका और अधिाकार सीमित और विशिष्ट थे।
सामाजिक स्थिति–

गुप्त युग की स्त्रियाँ सामान्यतः पारंपरिक गृहिणी की भूमिका में थीं। उनका मुख्य कार्य परिवार का प्रबंधान, संतान पालन और घरेलू जिम्मेदारियों को निभाना था। उस समय की आदर्श महिला को समर्पित, विनम्र और आज्ञाकारी माना जाता था।
शिक्षा और ज्ञान–

शिक्षा अधिाकतर पुरुषों तक सीमित थी, लेकिन कुछ उच्च वर्ग की महिलाएँ कला, संगीत, नृत्य और साहित्य में शिक्षित थीं। इतिहास में कुछ विदुषी महिला कवयित्रियों और विद्वानों का उल्लेख मिलता है, जो इंगित करता है कि सीमित रूप से ही सही महिलाओं ने बौी)क जीवन में भी भाग लिया था।
विवाह और परिवार–

विवाह गुप्त काल में सामाजिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग था, जो सामान्यतः परिवार द्वारा व्यवस्थित किया जाता था। महिलाएँ कम उम्र में विवाह करती थीं और विवाह के बाद उनका कर्तव्य पत्नी और माँ के रूप में माना जाता था। सती प्रथा का

आरंभ या प्रचलन इस काल के बाद बढ़ा, जिसका कुछ प्रमाण गुप्त काल के आसपास भी मिलते हैं।

धार्मिक जीवन

स्त्रियाँ धार्मिक अनुष्ठानों और त्योहारों में सक्रिय भागीदार थीं। दुर्गा, लक्ष्मी जैसी देवियों की पूजा प्रचलित थी, जो स्त्री देवत्व के सम्मान को दर्शाता है। कुछ महिलाएँ बौ) और जैन धार्म में संन्यासिनी भी बनती थीं। स्त्रियों को संपत्ति के अधिकार, वारिस बनने और धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेने के कुछ कानूनी अधिकार प्राप्त थे, लेकिन ये अधिकार पुरुष संरक्षक जैसे पिता या पति की देखरेख में होते थे।

हालांकि स्त्रियों को कुछ स्वतंत्राएँ प्राप्त थीं, सामाजिक नियम उनकी स्वतंत्रा और सार्वजनिक जीवन में भागीदारी को सीमित करते थे। विधावाओं के पुनर्विवाह पर रोक और सामाजिक कलंक इस काल की विशेषताएँ थीं। पितृसत्तात्मक मूल्य अधिाक प्रभावशाली थे, और स्त्रियों की भूमिकाएँ मुख्यत: घरेलू क्षे> तक सीमित थीं।

गुप्त काल में शिक्षा का विकास

ज्ञान और विवेक का स्वर्णिम युग

गुप्त काल भारतीय इतिहास का यह युग न केवल राजनीतिक स्थिरता और सांस्व्रतिक समृद्धि के लिए प्रसिद्ध था, बल्कि शिक्षा और बौद्धिक प्रगति के क्षे> में भी इस काल ने अभूतपूर्व उपलब्धियाँ प्राप्त कीं। यह समय था जब भारत वैश्विक बौद्धिक केंद्र के रूप में उभरा और विद्वानों का तीर्थस्थल बन गया।

शिक्षा केंद्र आश्रमों से विश्वविद्यालयों तक

गुप्त युग में शिक्षा गुरुकुलों और आश्रमों से विकसित होकर संगठित शैक्षणिक संस्थानों और विश्वविद्यालयों तक पहुँच गई।

तक्षशिला विश्वविद्यालय-

वर्तमान पाकिस्तान में स्थित तक्षशिला विश्व का प्राचीनतम विश्वविद्यालयों में एक था। यहाँ अधययन के विषयों में शामिल थे। वेद और धार्मशास्>, चिकित्सा विज्ञान, न्यायशास्> एवं राजनीति, सैन्य विज्ञान,गणित और ज्योतिष यहाँ भारत के साथ-साथ मधय एशिया और चीन से भी छा> आते थे।

नालंदा विश्वविद्यालय

हालाँकि इसका उत्कर्ष गुप्तोत्तर काल में हुआ,इसकी नींव गुप्त शासकों के संरक्षण में रखी गई। यह बौद्ध और लौकिक दोनों शिक्षा का केंद्र बना। मंदिर केवल पूजा का स्थान नहीं थे, बल्कि धार्म, दर्शन, संगीत और कला की शिक्षा के भी केंद्र थे, विशेष रूप से नगरों और तीर्थस्थलों में। धार्म, विज्ञान और कला का संतुलित समावेशित पाठ्यक्रम था। गुप्त युग की शिक्षा प्रणाली व्यापक, बहुआयामी और बौद्धिक रूप से परिपक्व थी। वेद, उपनिषद और धार्मसू> प्रमुख शास्> थे। षड्दर्शन द्धछह दर्शन शास्त्रऋ जैसे न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा और वेदांत का अधययन होता था।बौद्ध और जैन दर्शन भी समानांतर रूप से विकसित हुए।

गणित, चिकित्सा द्धआयुर्वेदऋ और खगोलशास्त्र

आर्यभट्ट ने शून्य, दशमलव पद्धति और ग्रहों की गति पर मौलिक कार्य किया। उनके ग्रंथ आर्यभटीय का अधययन शैक्षणिक संस्थानों में होता था। चरक संहिता और सुश्रुत संहिता जैसे ग्रंथों के माधयम से चिकित्सा विज्ञान का शिक्षण किया जाता था। शल्य चिकित्सा, हर्बल उपचार और रोग निदान की पद्धतियाँ पढ़ाई जाती थीं।

साहित्य, व्याकरण और कला

संस्व्रत साहित्य, विशेषकर कालिदास जैसे कवियों की रचनाएँ पाठडक्रम का हिस्सा थीं।

पाणिनि की अष्टाधयायी के माधयम से व्याकरण सिखाया जाता था। संगीत, नृत्य, चित्रकला और नाटङशास्त्र का भी विशेष स्थान था।

शिक्षण पद्धति और विद्यार्थी जीवन

गुरु-शिष्य परंपरा शिक्षक द्धगुरुऋ और छात्र द्धशिष्यऋ का संबंधा पवित्र माना जाता था। विद्यार्थी गुरु के आश्रम में रहकर अनुशासन, व्यवहार और ज्ञान अर्जित करते थे।

वैश्विक प्रतिष्ठा और ज्ञान का प्रसार

ाह्यान जैसे चीनी यात्रियों ने गुप्तकालीन शिक्षा प्रणाली की सराहना की। भारत से गणित, खगोलशास्त्र, औषधिा और धार्म का ज्ञान चीन, श्रीलंका, तिब्बत और मधय एशिया तक ैला।

शिक्षा का सामाजिक प्रसार

शिक्षा मुख्यत: ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्य वर्ग तक सीमित थी। स्त्रियों की शिक्षा सीमित थी, परंतु कुछ उच्चवर्गीय स्त्रियाँ धाार्मिक और साहित्यिक शिक्षाओं में पारंगत थीं। बौ) संस्थान अपेक्षाख्रत अधिाक समावेशी थे और निम्न वर्गों व महिलाओं को भी शिक्षित करते थे। गुप्त युग में शिक्षा केवल सूचनाओं का आदान-प्रदान नहीं थी, बल्कि व्यद्रित्व निर्माण, बौ)क विकास और नैतिक परिपक्वता का माधयम थी। इस काल ने भारत को ज्ञान, विज्ञान और दर्शन के वैश्विक मंच पर स्थापित किया। यह युग वह था, जब भारत ज्ञान के दीप से पूरे विश्व को आलोकित कर रहा था।

5 अंकों के प्रश्न-

1. गुप्तकालीन वर्ण व्यवस्था की विशेषताएँ बताइए।
2. गुप्तकाल में महिलाओं की स्थिति पर टिप्पणी कीजिए।
3. नालंदा विश्वविद्यालय का महत्व बताइए।
4. गुप्तकालीन विवाह व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
5. गुप्तकालीन शिक्षा प्रणाली की प्रमुख विशेषताएँ लिखिए।

15 अंकों के प्रश्न-

1. गुप्तकालीन सामाजिक जीवन का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. गुप्तकाल में शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान के विकास का विश्लेषण कीजिए।
3. गुप्तकालीन धाार्मिक सहिष्णुता पर प्रकाश डालिए।
4. गुप्तकालीन महिलाओं की स्थिति का आलोचनात्मक अधययन कीजिए।
5. गुप्तकालीन त्योहारों एवं मनोरंजन गतिविधियों का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQ)

1. नालंदा विश्वविद्यालय किस धार्म से संबंधित प्रमुख केंद्र था?

(क) जैन

(ख) बौध

(ग) वैष्णव

(घ) शैव

उत्तर (ख)

2. गुप्तकाल में समाज किस व्यवस्था पर आधाारित था?

(क) साम्यवाद

(ख) वर्ण व्यवस्था

(ग) लोकतंत्र

(घ) पूंजीवाद

उत्तर (ख)

3. गुप्तकाल में महिलाओं की भूमिका मुख्यत: क्या थी?

(क) सैनिक

(ख) व्यापारी

(ग) गृहिणी

(घ) न्यायाधाीश

उत्तर (ग)

4. आर्यभट किस क्षेत्र से संबंधित थे?

(क) साहित्य

(ख) गणित एवं खगोलशास्त्र

(ग) राजनीति

(घ) चिकित्सा

उत्तर (ख)

5. तक्षशिला किस लिए प्रसिद्ध थी?

(क) व्यापार

(ख) शिक्षा

(ग) युद्ध

(घ) कष

उत्तर (ख)

स्मरणीय बिंदु:-

- गुप्तकाल में संयुद्र परिवार व्यवस्था प्रचलित थी।
- नालंदा और तक्षशिला प्रमुख शिक्षा केंद्र थे।
- आर्यभट ने शून्य और दशमलव प्रणाली को विकसित किया।
- समाज वर्ण एवं जाति व्यवस्था पर आधाारित था।

शब्दावली:-

- वर्ण व्यवस्था
- नालंदा
- तक्षशिला
- संयुद्र परिवार
- धाार्मिक सहिष्णुता

Text Book:

The Vakataka-Gupta Age: Circa 200-550 A.D. edited by R.C. Majumdar and A.S. Altekar

इकाई-1.3 आर्थिक सम्पन्नता का काल गुप्त काल- एक समृद्ध आर्थिक युग

भारत के स्वर्ण युग की आर्थिक गाथा

उद्देश्यः-

1. गुप्तकालीन अर्थव्यवस्था की संरचना को समझना।
2. व्यापार, ख्रषि एवं उद्योगों का अधययन करना।
3. मुद्रा व्यवस्था एवं आर्थिक समृद्धि का विश्लेषण करना।

गुप्त काल को भारतीय इतिहास का ह्स्वर्ण युगह्न कहा जाता है, और इसका यह खिताब केवल साहित्य, विज्ञान, कला, तथा संस्ख्रति में महान उपलब्धियों के कारण नहीं है, बल्कि इस युग की गहराई से समृ) और सुव्यवस्थित आर्थिक संरचना के कारण भी है। एक ऐसा कालखंड जहाँ राजनीतिक स्थिरता, ख्रषि की प्रगति, व्यापार का विस्तार, उद्योग का विकास, और सिक्कों की प्रचुरता ने मिलकर भारत को आर्थिक ख्रष्टि से अभूतपूर्व ऊँचाइयों पर पहुँचाया। इस लेख में हम विस्तार से जानेंगे कि कैसे गुप्त युग ने भारत को आर्थिक समृ) के शिखर पर पहुँचाया।

राजनीतिक स्थिरता- समृ) की आधाारशिला

गुप्त साम्राज्य के सम्राट चंद्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में भारत ने राजनीतिक स्थिरता और प्रशासनिक दक्षता का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किया। यु)ों की कमी, कानून-व्यवस्था की मजबूत पकड़ और संगठित शासन प्रणाली ने अर्थव्यवस्था को ्नलने-ूलने का अवसर दिया। प्रशासन में केंद्रीकरण और विकेंद्रीकरण का संतुलन था जहाँ राजा सर्वोच्च था, वहीं ग्राम पंचायतों और नगर समितियों को भी स्थानीय निर्णय लेने की शद्रि थी। इसने आर्थिक गतिविधियों को सुचारु रूप से संचालित करने में मदद की।

आंतरिक शांति और विधि व्यवस्था

शासन के दौरान आंतरिक विद्रोह या अस्थिरता के बहुत कम उदाहरण मिलते हैं। धार्मशास्त्र और मनुस्मृति जैसे ग्रंथों पर आधाारित न्याय प्रणाली लागू थी। शांति और सुरक्षा की स्थिति ने ख्रषि, व्यापार, शिक्षा और सांस्ख्रतिक गतिविधियों को पनपने का अवसर दिया।

सैन्य संगठन और रक्षा

गुप्त शासकों के पास संगठित स्थायी सेना थी जिसमें पैदल सैनिक, घुड़सवार, हाथी और रथ शामिल थे।सीमावर्ती क्षेत्रें में गढ़ और सैन्य चौकियां स्थापित थीं, जिससे साम्राज्य को बाहरी आक्रमणों से सुरक्षा मिली। स्कंदगुप्त के बाद उत्तराधिाकार में कमजोरी, हूण आक्रमण, और प्रशासनिक विघटन के कारण राजनीतिक स्थिरता प्रभावित हुई। ि फर भी, प्रारंभिक और मधय गुप्त काल स्थिरता और शांति का प्रतीक बना रहा। गुप्त काल की राजनीतिक स्थिरता ने भारत में एक सांस्ख्रतिक, वैज्ञानिक और आर्थिक पुनर्जागरण को जन्म दिया। यह स्थिरता सशद्र केंद्रीय नेतृत्व, प्रशासनिक दक्षता, धाार्मिक सहिष्णुता, राजनयिक दूरदर्शिता के कारण संभव हो सकी।

ख्रषि विकास-

गुप्त काल में भारत की अर्थव्यवस्था मुख्यतः ख्रषि पर आधाारित थी। बहुसंख्यक जनसंख्या ग्रामों में निवास करती थी और ख्रषि कार्य में संलग्न रहती थी। सिंचाई और भूमि सुधाार तालाबों, कुओं, नहरों और बाँधाों की सहायता से सिंचाई के साधानों का विकास हुआ। उन्नत ख्रषि प)तियों का प्रयोग कर अधिाक भूमि को ख्रषि योग्य बनाया गया। ्नसलों की विविधाता धाान, गेहूं, जौ, तिल, सरसों, गन्ना, दालें और कपास जैसी विविधा ्नसलें बोई जाती थीं। किसानों ने ्नसल चक्र और मौसम के अनुसार बोआई-कटाई

में वैज्ञानिक समझ का उपयोग किया।

राजस्व प्रणाली

भूमि का सर्वेक्षण कर उसकी उपज क्षमता के अनुसार कर निर्धारित किया जाता था। राजा को ख़षि उपज का छठा या चौथा भाग कर के रूप में देना होता था। ख़षि उपज में आई प्रचुरता ने व्यापार, नगर विकास, धाार्मिक संस्थाओं और कला को समृ) बनाने का मार्ग प्रशस्त किया।

नगरों का विकास और आर्थिक केंद्र

गुप्त युग में कई नगर व्यापार, प्रशासन और सांस्ख़तिक केंद्रों के रूप में विकसित हुए। नगरों का विस्तार और पुनरुत्थान गुप्त शासकों की राजनीतिक स्थिरता और आर्थिक समृ) ने नगरों के विकास को बल दिया। कई प्राचीन नगरों का पुनर्निर्माण हुआ और नए नगर स्थापित हुए। पाटलिपुत्र साम्राज्य की राजधाानी राजनीति, वाणिज्य और संस्ख़ति का केंद्र बनी। उस समय उज्जयिनी द्धउज्जैनऋ खगोलशास्त्र, व्यापार और तीर्थ का महान केंद्र थी। मथुरा, कौशाम्बी मूर्तिकला और धाार्मिक क्रियाकलापों के लिए प्रसि) थी। ताम्रलिप्ति बंगाल का प्रमुख बंदरगाह, जो सुदूर पूर्वी एशिया से व्यापार करता था।

व्यापार से पोषित शहरीकरण–

गुप्त काल में नगरों का विकास मुख्यत: आंतरिक और समुद्री व्यापार के कारण हुआ। व्यापारिक मार्गों ने नगरों को एक–दूसरे से जोड़ा। वस्त्र, मसाले, धाातुएं, हाथी–दांत और बहुमूल्य पत्थरों का व्यापार होता थागरों में व्यापारी संघ द्धश्रेणियाँऋ और उद्योग समूह सक्रिय थे जो उत्पाद की गुणवत्ता, मजदूरी, कीमत और कर निर्धारण में भूमिका निभाते थे।

व्यापार का विस्तार–

आंतरिक और विदेशी दोनों गुप्त युग में व्यापार, आर्थिक जीवन का प्रमुख स्तंभ बन गया था।

आंतरिक व्यापार

गाँवों और नगरों के बीच बैलगाड़ी, नाव और कारवां के माधयम से माल की आवाजाही होती थी। उत्तरापथ और दक्षिणापथ जैसे प्रमुख राजमार्गों से सम्पूर्ण भारत जुड़ा हुआ था। बाजार, मेले और उत्सव व्यापारिक गतिविधियों का प्रमुख केंद्र बन गए थे।

विदेशी व्यापार

गुप्त काल में भारत की समुद्री और स्थल मार्ग से अंतरराष्ट्रीय व्यापार चरम पर था। प्रमुख निर्यात सूती वस्त्र, रेशमी कपड़े, मसाले, हाथी दाँत, रत्न, धाातुएँ और औषधियाँ थीं तथा प्रमुख आयात चीनी रेशम, रोमन मदिरा, अरबी घोड़े, पूर्वी एशिया के रत्न थे।

बंदरगाह–

ताम्रलिप्ति, भड़ौच, कावेरीपट्नम जैसे बंदरगाह भारत को श्रीलंका, दक्षिण–पूर्व एशिया, चीन, और रोमन साम्राज्य से जोड़ते थे। विदेशी व्यापार से स्वर्ण और मुद्रा का भरपूर प्रवाह हुआ, जिससे गुप्त साम्राज्य की संपन्नता बढ़ती चली गई।

मुद्रा प्रणाली–

गुप्त काल भारतीय उपमहाद्वीप में आर्थिक स्थिरता और समृ) का काल था, जिसकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता थी एक सुव्यवस्थित और बहुपरिमाणीय मुद्रा प्रणाली। यह प्रणाली केवल लेन–देन का माधयम नहीं थी, बल्कि यह राजकीय सत्ता, सांस्ख़तिक प्रतीकवाद और व्यापारिक गतिशीलता की संवाहक भी थी।

स्वर्ण मुद्राएँ–

गुप्त सम्राटों द्वारा जारी की गई स्वर्ण मुद्राएँ द्धदीनारऋ अत्यंत प्रसि) थीं। इनका प्रारूप कुषाण कालीन दीनारों पर आधाारित था। ये मुद्राएँ विशु) स्वर्ण से बनी होती थीं। वजन लगभग 8 ग्राम होता था। इनमें राजाओं के चित्र, धाार्मिक चिह्न, और संस्ख़त में

ब्राह्मी लिपि में शिलालेख अंकित होते थे। सम्राटों को यु) करते, संगीत बजाते, या यज्ञ करते हुए दिखाया गया है। देवी-देवताओं में लक्ष्मी, शिव, विष्णु, कार्तिकेय, दुर्गा आदि का भी अंकन हुआ। इन मुद्राओं के माधयम से राजकीय शद्रि और धाार्मिक समर्थन को प्रचारित किया जाता था।

रजत मुद्राएँ द्धचाँदी की सिक्केऋ

विशेषत: चन्द्रगुप्त द्वितीय द्धविक्रमादित्यऋ के काल में, पश्चिमी क्षत्रपों की पराजय के बाद चाँदी की मुद्राओं का प्रचलन बढ़ा। इन मुद्राओं की शैली क्षत्रप सिक्कों से प्रेरित थी, परंतु लिपि ब्राह्मी में और शिलालेख संस्ख्रत में होते थे। रजत मुद्राएँ मुख्यत: क्षेत्रीय व्यापार और प्रशासनिक भुगतान हेतु उपयोग में लाई जाती थीं।

ताम्र मुद्राएँ द्धकक्कपर कक्कइन्सऋ

ताम्र सिक्कों का प्रचलन स्थानीय लेन-देन और दैनिक क्रय-विक्रय के लिए था। ये सिक्के हल्के वजन और कम कलात्मक होते थे। इन पर चक्र, गरुड़, त्रिशूल जैसे प्रतीक चिह्न होते थे।

मुद्रा संचालन और प्रसार

गुप्त काल की मुद्राएँ पूरे साम्राज्य में प्रचलित थीं और बाह्य व्यापार के कारण विदेशों तक पहुँचीं। मुद्राएँ आर्थिक विनिमय का माधयम, राजकीय वैधाता का सूचक और धाार्मिक-सांस्ख्रतिक संदेश का संवाहक थी।

टकसालें और मुद्रा निर्माण-

मुद्रा निर्माण एक राजकीय कार्य था और टकसालें प्रमुख नगरों जैसे- पाटलिपुत्र, उज्जयिनी, मथुरा, तम्रलिप्ति आदि में स्थित थीं। शासन यह सुनिश्चित करता था कि मुद्राएँ शु) धाातु से बनें और मानक आकार और वजन में हों। साथ ही जालसाजी से सुरक्षा हो।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और विदेशी प्रभाव

गुप्त कालीन मुद्राओं पर कुषाण और रोमन सिक्कों का प्रभाव देखा जा सकता है। रोमन स्वर्ण मुद्राएँ भी भारत में प्रचलित थीं, विशेषकर व्यापारिक मार्गों पर। गुप्त सिक्कों की विश्वसनीयता ने भारत के विदेशी व्यापार को विशेष बल प्रदान किया, विशेषकर दक्षिण-पूर्व एशिया और भूमधयसागरीय क्षेत्र के साथ।

शिल्प और उद्योग- सृजनात्मक संपन्नता

धाातुकला- विज्ञान और सौंदर्य का मेल

गुप्त काल की धाातुकला अत्यंत उन्नत थी। लौह धाातु, स्वर्ण, रजत और ताम्र का उपयोग औजारों, मूर्तियों, आभूषणों और सिक्कों के निर्माण में होता था। दिल्ली का लौह स्तंभ गुप्त काल की धाातु प्रौद्योगिकी का अद्भुत उदाहरण है, जो सदियों से बिना जंग के खड़ा है। राजकीय स्वर्ण मुद्राएँ द्धदीनारऋ न केवल आर्थिक लेन-देन का माधयम थीं, बल्कि उनमें धाार्मिक और राजनीतिक प्रतीक भी अंकित होते थे।

वस्त्र उद्योग- रेशम, सूती और कलात्मक बुनाई

कपड़ा उद्योग गुप्त काल का प्रमुख उद्योग था। बनारस, उज्जयिनी, मथुरा आदि शहर रेशमी और सूती वस्त्रें के निर्माण के लिए प्रसि) थे। मलमल, छपाई वाले वस्त्र, कढ़ाई वाले वस्त्र विदेशों में निर्यात होते थे, जिनकी माँग रोम, चीन और दक्षिण एशिया तक ैली थी।

मिटी, लकड़ी और हाथीदांत का शिल्प

मिटी के खिलौने, मूर्तियाँ, टेराकोटा पटियाँ ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रें में लोकप्रिय थीं। लकड़ी और हाथीदांत से बने

ग्नीचर, रथ, आभूषण डिब्बे, मंदिर अलंकरण अत्यंत कलात्मक होते थे। मथुरा और पाटलिपुत्र जैसे केंद्र इन शिल्पों के लिए प्रसि) थे।

आभूषण निर्माण- शु)ता और सौंदर्य का संगम

सोने-चाँदी के कंगन, हार, झुमके, पायल, और राजमुकुट उच्च वर्ग में लोकप्रिय थे। रत्न जड़ित आभूषण, मंदिरों के लिए विशेष तौर पर बनाए जाते थे।

औद्योगिक नगर और उत्पादन केंद्र

प्रमुख नगर जैसे पाटलिपुत्र, उज्जयिनी, ताम्रलिप्ति, मथुरा शिल्प और व्यापार के प्रमुख केंद्र थे। इन शहरों में टकसालें, वस्त्र उद्योग, मूर्तिकला केंद्र और शिल्पग्राम द्धक्लस्टर्सऋ स्थापित थे।

शिल्पकार संघ द्धश्रेणियाँऋ- संगठित उत्पादन व्यवस्था

शिल्पकारों के संगठन को श्रेणियाँ कहा जाता था, जो आज के व्यापार संघों की तरह कार्य करती थीं। प्रत्येक श्रेणी का अपनी आचार संहिता, प्रशिक्षण तंत्र, न्याय व्यवस्था, आर्थिक योगदान द्धदान, उधाार, मंदिर निर्माणऋ होता था। हस्तशिल्प पत्थर, हाथीदाँत, लकड़ी और मिटी से निर्मित वस्तुएँ अत्यंत लोकप्रिय थीं। आभूषण और चित्रकला, सोने-चाँदी के गहने, दीवार चित्रण, और मंदिर शिल्प चरम पर थे। श्रेणियों ने शिल्पियों को संगठित किया और उन्हें सामाजिक सुरक्षा, न्याय और तकनीकी प्रशिक्षण प्रदान किया।

विज्ञान और तकनीक का आर्थिक योगदान

गुप्त युग में विज्ञान और गणित का जो विकास हुआ, उसका प्रत्यक्ष प्रभाव ख़षि, निर्माण, व्यापार और चिकित्सा पर पड़ा। आर्यभट ने खगोल शास्त्र और गणित में नई अवधाारणाएँ प्रस्तुत कीं, जिनका उपयोग कैलेंडर निर्माण, ख़षि चक्र और समुद्री व्यापार में हुआ। चरक और सुश्रुत जैसे वैद्यों ने चिकित्सा को व्यवस्थित किया, जिससे श्रम बल की उत्पादकता में वृ) हुई।

कर प्रणाली और प्रशासनिक दक्षता

सरकार ने भूमि कर, व्यापार कर, शिल्प कर, बंदरगाह शुल्क आदि के माधयम से राज्य की आय सुनिश्चित की। कर व्यवस्था न्यायपूर्ण, वैज्ञानिक और संतुलित थी।

कराधाान का आधाार

गुप्त काल की अर्थव्यवस्था मुख्यतः ख़षि पर आधाारित थी, अतः भूमि कर प्रमुख था। इसके अतिरिद्र व्यापार, हस्तशिल्प, पशुपालन और अन्य आर्थिक गतिविधियों पर भी कर लगाए जाते थे। कर निर्धारण में भूमि की उपजाऊ शद्रि, भौगोलिक स्थिति और सामाजिक वर्गों को धयान में रखा जाता था।

कर संग्रहण की प्रणाली

कर संग्रह का कार्य राज्य द्वारा नियुद्र अधिाकारियों द्वारा किया जाता था, जैसे भोगपतियों द्धराजस्व अधिाकारीऋ, विषयपतियों द्धजनपद या जिले के अधिाकारीऋ ग्राम प्रमुख, स्थानीय सभा, और मठों को भी कर संग्रहण में सहयोग की जिम्मेदारी दी जाती थी। कर संकलन का विवरण ताम्रपत्रें, शिलालेखों, और मंदिर अभिलेखों में संधाारित होता था।

कर-आय का उपयोग

कर से प्राप्त राजस्व का प्रयोग सेनाओं और प्रशासन के खर्च हेतु, सिंचाई, सड़क निर्माण, किले, और जनकल्याणकारी कार्यों मे, मंदिरों, विद्यालयों, और मठों को अनुदान देने में, त्योहार, सार्वजनिक आयोजन और आपदा राहत आदि कार्यों में किया जाता था।

कर में छूट और दान

अग्रहार भूमि दान- ब्राह्मणों और मठों को करमुद्र भूमि दान दी जाती थी। मंदिर भूमि

धार्मिक संस्थाओं को दी गई भूमि अक्सर करमुद्र होती थी। शैक्षणिक संस्थानों और विद्वानों को भी विशेष छूट दी जाती थी। ये छूट राज्य की धार्मिक सहिष्णुता और बौ)क समर्थन नीति को दर्शाती हैं।

गुप्त काल की कर व्यवस्था संगठित, वैज्ञानिक, न्यायपूर्ण और बहुस्तरीय थी। यह न केवल राज्य की आय का मुख्य स्रोत थी, बल्कि सार्वजनिक व्यवस्था और आर्थिक स्थिरता का भी आधार बनी। गुप्त काल वास्तव में यह दर्शाता है कि जब राजनीति, समाज और अर्थव्यवस्था में संतुलन हो, तो राष्ट्र केवल जीवित नहीं रहता वह विश्व पटल पर चमकता है।

5 अंकों के प्रश्नः-

1. गुप्तकालीन ख़षि व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
2. गुप्तकालीन व्यापार की प्रमुख विशेषताएँ लिखिए।
3. गुप्तकाल में स्वर्ण मुद्राओं का महत्व बताइए।
4. श्रेणी व्यवस्था क्या थी?
5. गुप्तकालीन कर व्यवस्था पर टिप्पणी कीजिए।

15 अंकों के प्रश्नः-

1. गुप्तकालीन अर्थव्यवस्था का विस्तृत अधययन कीजिए।
2. गुप्तकालीन व्यापार एवं उद्योगों की स्थिति का विश्लेषण कीजिए।
3. गुप्तकाल में आंतरिक एवं बाह्य व्यापार का वर्णन कीजिए।
4. गुप्तकालीन मुद्रा व्यवस्था का महत्व स्पष्ट कीजिए।
5. गुप्तकालीन आर्थिक सम्पन्नता के कारणों की व्याख्या कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQ)

1. गुप्तकाल में सबसे अधिाक प्रचलित मुद्रा कौन-सी थी?

(क) ताम्र मुद्रा

(ख) रजत मुद्रा

(ग) स्वर्ण मुद्रा

(घ) कागजी मुद्रा

उत्तर (ग)

2. गुप्तकालीन अर्थव्यवस्था का मुख्य आधाार क्या था?

(क) उद्योग

(ख) व्यापार

(ग) ख़षि

(घ) खनन

उत्तर (ग)

3.व्यापारियों के संगठन को क्या कहा जाता था?

(क) सभा

(ख) श्रेणी

(ग) समिति

(घ) पंचायत

उत्तर (ख)

4.गुप्तकाल में किस धाातु के सिक्के प्रसिद्ध थे?

(क) सोना

(ख) लोहा

(ग) कांसा

(घ) टिन

उत्तर (क)

5. गुप्तकालीन व्यापार का प्रमुख माधयम क्या था?

(क) जलमार्ग और स्थलमार्ग

(ख) वायु मार्ग

(ग) रेलमार्ग

(घ) पाइपलाइन

उत्तर (क)

स्मरणीय बिंदुः-

- गुप्तकाल में ख़षि अर्थव्यवस्था का आधाार थी।
- स्वर्ण मुद्राओं का व्यापक प्रचलन था।
- व्यापारिक श्रेणियाँ आर्थिक विकास में सहायक थीं।
- भारत का व्यापार रोम एवं दक्षिण-पूर्व एशिया से था।

शब्दावलीः-

- श्रेणी
- स्वर्ण मुद्रा
- कर व्यवस्था
- व्यापार मार्ग
- आर्थिक समृद्धि

Text Book: The Vakataka-Gupta Age: Circa 200-550 A.D. edited by R.C. Majumdar and A.S. Altekar

इकाई-1.4 धार्मिक समन्वय की नीति

उद्देश्यः-

1. गुप्तकालीन धार्मिक स्थिति को समझना।
2. हिंदू, बौध एवं जैन धार्म के विकास का अधययन करना।
3. धार्मिक सहिष्णुता एवं समन्वय की नीति का विश्लेषण करना।?

यह वह काल था जब विविध आस्थाएँ वैदिक हिंदू धार्म, बौ) धार्म, जैन धार्म और जनजातीय मान्यताएँ एक साथ ग्ली-ग्लीं। गुप्त राजवंश के उदय से पूर्व भारत में धार्मिक विविधता का मजबूत आधाार था। मौर्य सम्राट अशोक ने बौध धार्म को अपनाकर करुणा और अहिंसा को राज्य की नीति बनाया, वहीं कुषाणों के काल में महायान बौ) धार्म और भगवती उपासना एक साथ विकसित हुए। जब गुप्त सम्राटों ने सत्ता संभाली, वे एक ऐसे समाज में शासन कर रहे थे जहाँ दर्शन, तर्क, और धाार्मिक बहुलता की जड़ें गहरी थीं। इस बहुलता को गुप्त सम्राटों ने कुशलता से सींचा।

सम्राटों की भूमिका नीति और निष्ठा का संतुलन

समुद्रगुप्त की धाार्मिक कूटनीति इलाहाबाद स्तंभ लेख में समुद्रगुप्त को परमभागवत कहा गया है, लेकिन साथ ही उल्लेख है कि उन्होंने लंका के बौ) राजा मेघवर्ण को बोधागया में विहार निर्माण की अनुमति दी और अन्य पराजित शासकों को धाार्मिक स्वतंत्रा दी। यह धाार्मिक उदारता उनकी राजनयिक सूझबूझ और धाार्मिक सहिष्णुता का वैज्ञानिक प्रमाण है जहाँ राज्य धार्म और व्यद्रिगत आस्था में अंतर रखा गया।

चंद्रगुप्त द्वितीय की सांस्ग्रतिक समरसता

चीनी बौ) भिक्षु ग्ाह्यान ने भारत की यात्र के दौरान लिखा कि यहाँ धार्म की स्वतंत्रा, न्यायकर्ता की निष्पक्षता और बौ) संघ की प्रतिष्ठा बनी हुई थी। कालिदास, जो चंद्रगुप्त द्वितीय के दरबारी कवि थे, अपने ग्रंथों में सभी धार्मों की महत्ता दर्शाते हैं मेघदूत, अभिज्ञानशाकुंतलम् और रघुवंश में वैदिक, बौ) और जैन अवधाारणाएँ पिरोई गई हैं।

कुमारगुप्त और नालंदा विश्वविद्यालय

कुमारगुप्त प्रथम ने नालंदा महाविहार की स्थापना की, जो बाद में बौ) शिक्षा का वैश्विक केंद्र बना। यह संस्थान एक वैज्ञानिक शिक्षण प)ति पर आधाारित था, जहाँ तर्कशास्त्र, व्याकरण, गणित, दर्शन, चिकित्सा और खगोलशास्त्र का अधययन होता था ख्र सभी धार्मों के छात्रें के लिए खुला।

संस्थागत एवं बौ)क समरसता

नालंदा विश्वविद्यालय- ज्ञान का वैश्विक केंद्र-

गुप्तकालीन शिक्षा व्यवस्था में नालंदा विश्वविद्यालय अद्वितीय था। यह न केवल बौ) धार्म का महाविहार था, बल्कि वहाँ वेद, व्याकरण, तर्कशास्त्र, गणित, चिकित्सा और खगोल विज्ञान पढ़ाया जाता था। जैन, वैदिक और बौ) आचार्यों के बीच तार्किक संवाद द्धशास्त्रर्थत्रृ होते थे, जो उस समय की वैज्ञानिक सोच का आधाार थे।

मंदिर और विहार का स्थापत्य विज्ञान

हिंदू मंदिर होते हुए भी बौ) स्थापत्य की समरूप शैली में बना। मंदिरों की आध ाारशिला पर अंकित धाम्मचक्र, पद्म, स्वस्तिक और त्रिशूल जैसे प्रतीक बहुधार्मी पहचान के प्रतीक थे। गुप्तकालीन बु) प्रतिमाएँ द्धजैसे सारनाथ की धार्मचक्र मुद्रात्रृ में इतनी शांति और वैज्ञानिक अनुपात है कि वे वास्तुशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों का संतुलन दर्शाती हैं। जैन मूर्तियाँ भी समकालीन हिंदू और बौ) शैली से प्रभावित थीं, यह कला में सहअस्तित्व

का प्रमाण है।

धाार्मिक अधिाकार-

भूमि अनुदान और शिलालेखों से साक्ष्य समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त जैसे सम्राटों ने ब्राह्मणों, बौ) संघों और जैन तीर्थों को भूमि दान किया। भितरी ताम्रपत्र, एरण लेख और मथुरा के जैन स्तंभ लेख में यह स्पष्ट रूप से अंकित है। धार्मशास्त्र में बहुलता की स्वीख्रति याज्ञवल्क्य स्मृति जैसे ग्रंथों में विभिन्न सम्प्रदायों के लिए विविधा सामाजिक नियमों और न्यायिक प्रक्रियाओं की अनुमति है यह वैज्ञानिक विधिाशास्त्र का उदाहरण है।

साहित्य में बहुधाार्मिक चेतना

कालिदास ने कुमारसंभव और ;तुसंहार में ;षियों, तपस्वियों, बौ) भिक्षुओं और जैन मुनियों का समावेश किया। पुराणों में भद्रि को सर्वधार्म समभाव के भाव से जोड़ा गया। बौ) जातक कथाएँ और जैन उपदेश साहित्य में हिंदू उपाख्यानों और प्रतीकों का उपयोग मिलता है यह दिखाता है कि सांस्ख्रतिक कोश साझा था।

अर्थव्यवस्था में धाार्मिक सहभागिता

व्यापारी श्रेणियों में हिंदू, बौ) और जैन समुदायों के सदस्य साथ काम करते थे। जैन व्यापारी बौ) विहारों और हिंदू मंदिरों के दानदाता थे। बौ) संघ न केवल धार्म के केंद्र थे, बल्कि आर्थिक गतिविधियों जैसे अन्न भंडारण, सिंचाई, और शिक्षा में भागीदार थे। यह सामाजिक-आर्थिक विज्ञान धाार्मिक सहअस्तित्व को टिकाऊ बनाता था। उत्तर-गुप्त काल में भी समरसता की विरासत गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद भी धाार्मिक सहिष्णुता की परंपरा जीवित रही। हर्षवर्धान ने बौ) धार्म का समर्थन किया, लेकिन शिव मंदिरों और जैन मठों को भी दान दिया। चालुक्य और राष्ट्रकूट शासकों ने इस गुप्त परंपरा को आगे बढ़ाया। यह प्रमाणित करता है कि धाार्मिक समरसता केवल सम्राटों की नीति नहीं थी, बल्कि भारतीय संस्ख्रति की वैज्ञानिक परंपरा थी।

गुप्तकाल में वैदिक धार्म का पुनरु)ार हुआ, जो अब एक पुराणिक, भद्रि-आधाारित और लोकसम्मत रूप ले चुका था। पुराणों की रचना इसी काल में हुई, जिसमें शिव, विष्णु और देवी को व्यापक स्वरूप दिया गया, लेकिन साथ ही साथ बौ)-जैसे नैतिक उपदेश और जैन-जैसी आत्म संयम की भावनाएँ भी समाहित की गईं। भद्रि आंदोलन के बीज इस काल में पड़े, जिसमें व्यद्रिगत आस्था को प्रमुखता दी गई, जो बौ) करुणा और जैन अपरिग्रह से प्रेरित था। गुप्त काल हमें यह सिखाता है कि धाार्मिक समरसता कोई कल्पना नहीं, संविधाानिक और सांस्ख्रतिक विज्ञान का हिस्सा थी। संवाद, सहिष्णुता, तर्क और सहयोग से धार्म, विज्ञान और समाज का संतुलन बना रह सकता है। सांस्ख्रतिक विविधाता के प्रयोगशाला के रूप में गुप्त भारत, आज के समाज को वैज्ञानिक और मानवीय ख्रष्टि से प्रेरित कर सकता है। आज जब दुनिया धाार्मिक द्वंद्वों से जूझ रही है, गुप्त काल की यह स्वणि र्मि सीख आधुनिक मानवता के लिए अत्यंत प्रासंगिक है- कि सच्ची सभ्यता वह होती है जहाँ विचार टकराते हैं, पर दिल नहीं।

5 अंकों के प्रश्नः-

1. गुप्तकाल में वैष्णव धार्म की स्थिति बताइए।
2. गुप्तकालीन बौ) धार्म की विशेषताएँ लिखिए।
3. गुप्तकालीन धाार्मिक सहिष्णुता पर टिप्पणी कीजिए।
4. जैन धार्म के विकास का वर्णन कीजिए।
5. गुप्तकालीन मंदिर निर्माण का महत्व बताइए।

15 अंकों के प्रश्न

1. गुप्तकालीन धार्मिक जीवन का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. गुप्तकाल में हिंदू धर्म के पुनरुत्थान का विश्लेषण कीजिए।
3. गुप्तकाल में बौध एवं जैन धर्म की स्थिति का अधययन कीजिए।
4. धार्मिक सहिष्णुता की नीति का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
5. गुप्तकालीन धार्मिक विचारधाराओं का भारतीय संस्ख्रति पर प्रभाव स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न (MCQ)

1. गुप्त शासक मुख्यत: किस धार्म के अनुयायी थे?

(क) बौध

(ख) जैन

(ग) वैष्णव

(घ) शैव

उत्तर (ग)

2. अजंता की गुफाएँ किस धार्म से संबंधित हैं?

(क) जैन

(ख) बौध

(ग) वैष्णव

(घ) शैव

उत्तर (ख)

3. नालंदा विश्वविद्यालय का संबंधा किस धार्म से था?

(क) हिंदू

(ख) बौध

(ग) जैन

(घ) शैव

उत्तर (ख)

4. गुप्तकाल में किस धार्म का पुनरुत्थान हुआ?

(क) बौध

(ख) जैन

(ग) हिंदू

(घ) इस्लाम

उत्तर (ग)

5. धार्मिक सहिष्णुता का अर्थ क्या है?

(क) एक धार्म को मानना

(ख) सभी धार्मों का सम्मान करना

(ग) धार्म परिवर्तन करना

(घ) धार्म का विरोधा करना

उत्तर (ख)

स्मरणीय बिंदुः-

- गुप्तकाल में हिंदू धार्म का पुनरुत्थान हुआ।
- बाध एवं जैन धार्म भी विकसित होते रहे।
- धाार्मिक सहिष्णुता गुप्त शासन की प्रमुख विशेषता थी।
- अजंता गुाएँ बौध कला का उत्ख्रष्ट उदाहरण हैं।

शब्दावलीः-

- धाार्मिक सहिष्णुता
- वैष्णव धार्म
- महायान
- अजंता
- पुनरुत्थान

खण्ड-2 कला एवं साहित्य कला एवं साहित्य

इकाई-2.1 मूर्ति कला का विकास

उद्देश्यः-

1. गुप्तकालीन मूर्तिकला की विशेषताओं को समझना।
2. बौध, जैन एवं हिंदू मूर्तिकला का अधययन करना।
3. गुप्तकालीन कला शैली का विश्लेषण करना।

जब पत्थर ने साँस लेना शुरू किया। प्राचीन भारत के शांत और सुव्यवस्थित गुप्त साम्राज्य में एक अद्भुत चमत्कार घटित हुआ। पत्थर, जो सदियों से मौन और जड़ था, वह जीवंत हो उठा। मूर्तिकारों की कल्पनाशील छेनी और वैज्ञानिक तकनीक के संगम से, शिलाखंडों में देवताओं की मुस्कान उभर आई, धयानमग्न नेत्रें ने धयान की गहराई दर्शाई, और दिव्यता की तरंगे हर रेखा में बह उठीं। गुप्त काल केवल साम्राज्य विस्तार और शाही वैभव का युग नहीं थाय यह एक ऐसा कालखंड था जब मूर्ति निर्माण केवल कला नहीं, अपितु अधयात्म और विज्ञान का संगम बन गया।

गुप्त मूर्तिकला कोई अचानक उभरा चमत्कार नहीं थी। इसके पीछे सदियों की विकसित परंपराएँ थीं। मौर्य काल की मृदु-पक्कलिश अशोक स्तंभ, शिल्प की तकनीकी दक्षता और दार्शनिक स्थिरता का प्रतीक थीं। कुषाण युग में गंधाार और मथुरा शैलियों का संगम हुआ। एक तरु यूनानी प्रभाव की यथार्थवादी प्रतिमाएँ, दूसरी ओर भारतीय परंपरा की आदर्शवादिता। गुप्त शिल्पकारों ने इन दोनों शैलियों का वैज्ञानिक संतुलन साधाते हुए एक नवीन शैली को जन्म दिया जिसमें सौंदर्य, सटीकता और आधयात्मिकता तीनों का अद्भुत समन्वय था।

शिल्प में धार्म-

गुप्त राजाओं के लिए मूर्ति केवल पत्थर की आख्रति नहीं थी वह थी धार्म का मूर्त रूप, एक ऐसा वैज्ञानिक उपकरण जो मनुष्य को आत्मा से ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग दिखाता। मूर्ति निर्माण को वास्तुशास्त्र और शिल्पशास्त्र के अनुसार, ज्यामितीय सूत्रें पर आधाारित किया गया। शरीर के अंगों की माप, मुख की अभिव्यद्रि, हस्तमुद्राएँ द्धमुद्राएँऋ इन सबका वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया, ताकि मूर्ति न केवल देखने में सुंदर हो, बल्कि उसमें ऊर्जा और भाव संचार हो सके। यह एक प्रकार की आधयात्मिक इंजीनियरिंग थी जहाँ पत्थर में चेतना को प्रतिष्ठित किया जाता था।

गुप्त मूर्तिकला की विशेषताएँ-

सौंदर्य, विज्ञान और भद्रि का त्रिवेणी संगम आदर्श मानव रूप का निर्माण, गुप्त शिल्पी किसी व्यद्रि को उसकी वास्तविकता में नहीं, बल्कि आदर्श स्थिति में दर्शाते थे। कमर पतली, कंधो चौड़े, चेहरा शांत ये सभी मानव के दैवीकरण का प्रतीक थे।

वैज्ञानिक मुद्रा प्रणाली

योग और तंत्र के अनुसार, शरीर की त्रिभंग मुद्रा द्धतीन बिंदुओं पर झुकावऋ से ऊर्जा का प्रवाह संतुलित माना गया। यही कारण है कि कई देवी-देवताओं को इसी मुद्रा में दर्शाया गया। वस्त्र और आभूषण की अलंकारिक शैली वस्त्रें की बारीक रेखाएँ, जैसे वस्त्र शरीर से चिपक गए हों यह दिखाता है कि मूर्तिकार भौतिक रूप की नहीं, आत्मिक अनुभूति की मूर्ति बना रहा था। आभूषणों की ज्यामितीयता, प्रतीकात्मकता और संतुलन वैज्ञानिक ख्रष्टिकोण को दर्शाती है। मूर्तिकला के प्रमुख केंद्र और क्षेत्रीय विविधाता। गुप्त काल में कई वैज्ञानिक-कलात्मक केंद्र विकसित हुए जहाँ मूर्तिकला का स्वरूप क्षेत्रीय विशेषताओं के साथ आगे बढ़ा।

मथुरा शैली- जीवन की ऊर्जा में ढली मूर्तियाँ

मथुरा गुप्तकालीन मूर्तिकला का वह प्राचीन हृदय है, जहाँ पत्थर में प्राणों की गति दिखाई देती है। यहाँ की मूर्तियाँ गाढ़े

लाल बलुआ पत्थर में तराशी जाती थीं ख्र एक ऐसा पत्थर जो ऊर्जा, गर्माहट और जीवंतता को व्यद्र करता है।
मथुरा शैली की विशेषता थी

गोलाई लिए हुए भुजाएँ, जो शद्रि का प्रतीक थीं। मुखों पर आत्मविश्वासी मुस्कान, जैसे कोई देवता मनुष्य से संवाद कर रहा हो। वस्त्रें की अल्परेखीयता, जिससे शरीर का स्वरूप स्पष्ट झलके। यह शारीरिक सौंदर्य और आधयात्मिक ऊर्जा का सम्मिलन था। यह शैली पूर्ववर्ती कुषाण परंपरा से प्रभावित थी, पर गुप्त काल ने इसे मृदुता और भाव-गंभीरता से परिपूर्ण किया।
सारनाथ मौन में निहित करुणा

सारनाथ वह भूमि है जहाँ बु) ने पहला उपदेश दिया ख्र और गुप्तकालीन मूर्तिकला ने इस मौन को पत्थर में बाँधा दिया। यहाँ की मूर्तियाँ नितांत शांत, संयमित और आधयात्मिक कम्पन से भरी हुई होती थीं। अर्धानिमीलित नेत्र, जो धयान के भीतर उतरते प्रतीत होते। पतले, झुके हुए होंठों पर सौम्य मुस्कान, करुणा का मूर्त रूप।
धार्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा में बैठा बु), जिसके पीछे विस्तृत प्रभामंडल में नक्काशीदार जीवन चक्र उकेरे होते। जो न केवल उपदेश का प्रतीक था, बल्कि ज्ञान के परिक्रमण की वैज्ञानिक प्रक्रिया को भी दर्शाता था। यहाँ की कला शांत भाव की सघनता थी जैसे शांति भी अपने भीतर एक गूँज लिए बैठी हो।
उदयगिरि- शिला में उकेरा ब्रह्मांड

उदयगिरि न केवल एक पहाड़ी स्थल है, बल्कि वह भारतीय ब्रह्मांड-चिंतन का शिल्प रूप भी है। यहाँ की शैलख्रत मूर्तियाँ विशाल और प्रतीकात्मक होती थीं, जिनमें प्रख्रति, शद्रि और समय के संकेत छिपे होते थे।
वराह अवतार की मूर्ति-

विष्णु को विशालकाय सूअर के रूप में दिखाया गया है, जो पृथ्वी द्धभूदेवीऋ को समुद्र से बाहर निकाल रहे हैं। पृथ्वी देवी को हाथों में उठाकर वह जल की लहरों से ऊपर ला रहे हैं। यह केवल पौराणिक कथा नहीं, बल्कि जल-चक्र, पृथ्वी की संरचना और जीवन-रक्षा का प्रतीक है। आस-पास की दीवारों पर ग्रह, ;षि, पशु और आकाशगंगा जैसे तत्व चित्रि हैं। जैसे पूरी सृष्टि उस क्षण की साक्षी बन रही हो। यहाँ मूर्तिकला कथा नहीं, सि)ांतों की शिला बन जाती है।
देवगढ़- समय और चेतना के ख्रश्य रूप

देवगढ़ गुप्तकालीन मंदिर शिल्प का उत्कर्ष है, जहाँ मूर्तियाँ केवल सजावट नहीं, दर्शन की भित्तियाँ थीं। यहाँ के दशावतार मंदिर की दीवारों पर गढ़े गए ख्रश्य संवेदना, सि)ांत और संकल्पना का संगम थे।
शेषनाग पर शयन करते विष्णु का चित्रण

विष्णु महासागर के बीच अनंत शेषनाग की शै"या पर विश्राम कर रहे हैं उनके शरीर की मुद्रा में संतुलन, सहजता और अनंतता का बोधा है। उनके पैर लक्ष्मी दबा रही हैं जिससे संपत्ति और सेवा का सह-अस्तित्व दिखता है। उनके नाभि से ब्रह्मा का प्रकट होना सृजन के वैज्ञानिक क्रम का प्रतीक है ऊर्जा द्धविष्णुऋ, स्थान द्धशेषऋ, और रचना द्धब्रह्माऋ का त्रिकोण। देवगढ़ की मूर्तिकला में काल की गति, पुनर्जन्म की प्रक्रिया और ब्रह्मांडीय चक्र को ख्रश्य व्याकरण में पिरोया गया है।

गुप्त काल के ये मूर्तिकला केंद्र केवल स्थान नहीं थे वे चिंतन के जीवित मंदिर थे। मथुरा ने जीवन की ऊर्जा दी, सारनाथ ने धयान की गहराई, उदयगिरि ने सृष्टि के रहस्य और देवगढ़ ने काल के चक्र को आकार दिया। इन केंद्रों की मूर्तियाँ भारतीय आत्मा के वैदिक, बौ) और लौकिक स्वरूपों को एक धागे में बाँधाती हैं, जहाँ शिल्प केवल कला नहीं बल्कि आधयात्मिक विज्ञान बन गया।

धाार्मिक मूर्तियाँ-

गुप्त काल में हिंदू, बौ), और जैन धार्मों की मूर्तियाँ बनीं और सभी में विज्ञान आधाारित प्रतीकात्मकता मौजूद थी।

हिंदू मूर्तियाँ

विष्णु, शिव, देवी, सूर्य जैसे देवताओं की मूर्तियाँ उनके सि)ांतों के प्रतीक चिह्नों के साथ निर्मित होती थीं। उदाहरण के लिए विष्णु की चार भुजाएँ ब्रह्मांड के चार दिशाओं की ऊर्जा को दर्शाती हैं।

बौ) मूर्तियाँ

बु) की मूर्तियाँ विभिन्न मुद्राओं में बनती थीं जैसे अभय मुद्रा, धार्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा, जो कि धयान, शांति और शिक्षा के वैज्ञानिक सि)ांतों से जुड़ी थीं।

जैन मूर्तियाँ

जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ साधाना और तप की शु)तम अभिव्यद्रि थी स्थिरता, मौन, और आत्मनियंत्रण का मूर्त रूप।

सारनाथ बु) की मूर्ति-

विशेषताएँ

गुप्त कला की पराकाष्ठा, आधो बंद नेत्र धयान की प्रतीक, धार्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा द्धज्ञान चक्र को घुमाने की शुरुआतऋ, विष्णु की चार भुजाओं वाली मूर्ति द्धळनचजं म्तं प्बवदवहतंचीलऋ, चार भुजाएँ ब्रह्मांडीय दिशा और शद्रि का प्रतीक, शंख, चक्र, गदा, पद्मख्रहर एक आयुधा का वैज्ञानिक-धाार्मिक अर्थ, त्रिभंग मुद्रा में देवी द्धळनचज ैबनसचजनतंस ैजलसमऋ, तीन बिंदुओं पर शरीर का वक्र सौंदर्य और ऊर्जा संतुलन, यह मुद्रा नृत्य, धयान और ऊर्जा संचार के लिए उपयुद्र मानी जाती थी।

मूर्ति निर्माण की वैज्ञानिक प्रक्रिया-द्धटपेनंसप्रंजपवदऋ

शास्त्र, गणित और धयान का समागम के साथ आख्रति रेखांकन, शिल्पशास्त्र के अनुसार नाप-जोख, गणितीय अनुपातों पर आधाारित, प्राण-प्रतिष्ठा मंत्रें और धयान से ऊर्जा संचरण के साथ निर्मित होती थी। गुप्त काल में मूर्ति बनाना केवल शिल्प नहीं था, वह एक यज्ञ था, एक वैज्ञानिक अनुष्ठान। शिल्पशास्त्र के अनुसार, मूर्ति की लंबाई, चौड़ाई, मुद्रा, हाव-भाव सब कुछ नाप-तौल और अनुपात द्धचतवचवतजपवदेऋ पर आधाारित था।

मधयरू ऊर्जा का संचार

मूर्तिकार मूर्ति में प्राण ूँकता था इस प्रक्रिया को कहते थे प्राण-प्रतिष्ठा, जिसमें मंत्रें, धयान और विशेष गणनाओं से मूर्ति में चेतना लाई जाती थी।

अंत दर्शनों की प्रत्यक्षीकरण

अंतिम मूर्ति अब केवल शिलाखंड नहीं रह जाती थी वह बन जाती थी साक्षात् दर्शन की प्रतिमा। जिसे देख कर साधाक आत्मा से परमात्मा की ओर बढ़े।

मूर्तिकला का प्रभाव

गुप्त मूर्तिकला का प्रभाव केवल उस युग तक सीमित नहीं रहा। इस शैली ने पल्लव, चालुक्य, और चोल वंशों की दक्षिण भारतीय मूर्तिकला पर गहरा प्रभाव डाला। अंकोरवाट द्धकंबोडियाऋ और बोरोबुदुर द्धइंडोनेशियाऋ जैसी स्थापत्य ख्रतियाँ गुप्त मूर्तिकला की प्रेरणा से निर्मित हुई। आज भी भारतीय मंदिरों की मूर्तियाँ उसी गुप्त कालीन आदर्शों संतुलन, चेतना, सौंदर्य और दिव्यता को लेकर गढ़ी जाती हैं। गुप्त काल की मूर्तिकला एक साधाारण कला नहीं थी। बल्कि विज्ञान से जन्मी

साधाना, एक ऐसी प्रक्रिया जिसमें गणना, शास्त्र, धयान और सौंदर्य थी। इन मूर्तियों ने न केवल ईश्वर को रूप दिया, बल्कि समाज को ख्रष्टि, कला को आत्मा और विज्ञान को अधयात्म से जोड़ा। जब गुप्तकालीन मूर्तियाँ आज भी हमें निहारती हैं, तो ऐसा लगता है जैसे वो कह रही हों मैं पत्थर नहीं हूँ, मैं तुम्हारे भीतर के देवत्व का दर्पण हूँ।

5 अंक के प्रश्नः-

1. गुप्तकालीन मूर्तिकला की प्रमुख विशेषताएँ लिखिए।
2. सारनाथ शैली का वर्णन कीजिए।
3. मथुरा शैली की विशेषताएँ बताइए। ?
4. बुद्ध प्रतिमाओं की प्रमुख विशेषताएँ लिखिए।
5. गुप्तकालीन मूर्तिकला का महत्व स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्नः-

1. गुप्तकालीन मूर्तिकला का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. मथुरा एवं सारनाथ शैली की तुलना कीजिए।
3. गुप्तकालीन मूर्तिकला में आधयात्मिकता एवं सौंदर्य का वर्णन कीजिए।
4. भारतीय कला के विकास में गुप्तकालीन मूर्तिकला के योगदान का विश्लेषण कीजिए।
5. गुप्तकालीन बाद्ध मूर्तियों का आलोचनात्मक अधययन कीजिए।

MCQ

1.सारनाथ शैली किसके लिए प्रसिद्ध है?

(क) मंदिर

(ख) बुद्ध प्रतिमाएँ

(ग) चित्रकला

(घ) सिक्के

उत्तर (ख)

2.मथुरा शैली का संबंधा किससे है?

(क) संगीत

(ख) व्यापार

(ग) मूर्तिकला

(घ) शिक्षा

उत्तर (ग)

3.गुप्तकालीन मूर्तियों का प्रमुख गुण क्या था?

(क) कठोरता

(ख) आधयात्मिकता

(ग) युद्ध प्रियता

(घ) असमानता

उत्तर (ख)

4.बुद्ध की प्रसिद्ध प्रतिमाएँ कहाँ मिली हैं?

(क) सारनाथ

(ख) दिल्ली

(ग) पटना

(घ) उज्जैन

उत्तर (क)

5. गुप्तकालीन मूर्तिकला किसका स्वर्ण युग मानी जाती है?

(क) संगीत

(ख) साहित्य

(ग) भारतीय कला

(घ) विज्ञान

उत्तर (ग)

स्मरणीय बिंदु:-

- गुप्तकालीन मूर्तिकला भारतीय कला का स्वर्ण युग मानी जाती है।
- सारनाथ एवं मथुरा प्रमुख कला केंद्र थे।
- मूर्तियों में आधयात्मिक शांति एवं सौंदर्य दिखाई देता है।

शब्दावली:-

- मूर्तिकला
- सारनाथ शैली
- मथुरा शैली
- आधयात्मिकता
- बुद्ध प्रतिमा

इकाई-2.2 मंदिर स्थापत्य कला का विकास

उद्देश्यः-

1. गुप्तकालीन मंदिर स्थापत्य की विशेषताओं को समझना।
2. प्रारंभिक हिंदू मंदिरों के विकास का अधययन करना।
3. स्थापत्य कला की संरचना एवं शैली का विश्लेषण करना।

जब हम इतिहास के झरोखे से झाँकते हैं, तो गुप्त काल एक ऐसी स्वर्णिम सुबह की तरह सामने आता है, जिसने भारतवर्ष को कला, विज्ञान, गणित, दर्शन, साहित्य और स्थापत्य के क्षेत्र में उजास से भर दिया। यह समय था जब भारतवर्ष न केवल विचारों में परिपक्व हो रहा था, बल्कि धार्मिक स्थायित्व और वैज्ञानिक चेतना के अद्भुत संगम से वास्तुशिल्प की नींव भी रख रहा था।

मंदिर वास्तुकला का जो स्वरूप हम आज देखते हैं। ऊँचे शिखर, कलात्मक प्रवेश द्व ार, मूर्तियों से सुसज्जित दीवारें और गूढ़ प्रतीकों से सजी संपूर्ण संरचनाख्उसका प्रारंभिक खाका गुप्तकाल में ही खींचा गया। इस युग ने गुफाओं की कंदराओं से आगे बढ़कर, पत्थर और ईंट से बने स्थायी और वैज्ञानिक रूप से संतुलित मंदिरों का निर्माण आरंभ किया। यह एक युगांतकारी परिवर्तन था, जिसने भारतीय धार्मिक जीवन को भौतिक रूप प्रदान किया।

हिंदू मन्दिर का जन्म-

गुप्त साम्राज्य के हृदय में एक विलक्षण विचार ने जन्म लिया कि ईश्वर केवल हृदय और मन में ही नहीं, बल्कि पृथ्वी पर भी एक स्थायी निवास के अधिकारी हैं। इसी युग में हिंदू मंदिर की पवित्र रूपरेखा ने आकार लिया, जहाँ कला, विज्ञान, आधयात्मिकता और खगोलशास्त्र का अद्भुत संगम देखा गया। भद्रि अब अस्थायी आश्रयों में सीमित नहीं रही, वह पत्थरों में गढ़े ब्रह्मांडीय केंद्रों के रूप में आकाश की ओर उठने लगी। इस पवित्र केंद्र से मंदिर की संरचना क्रमशः बाहर की ओर विस्तृत होती थी, एक सुविचारित वैज्ञानिक क्रम में।

1. गर्भगृह-

यह संपूर्ण मंदिर का आधयात्मिक नाभिक होता था। इसकी रचना अत्यंत सूक्ष्म गणनाओं से की जाती थी। अंदर गहन मौन का साम्राज्य होता ना दीपों की चकाचौंधा, ना भित्तियों की सजावट केवल एक ही केंद्र दिव्यता की मूर्ति और श्र)ा की धाड़कन। प्रायः यह स्थान केवल पुरोहितों के लिए आरक्षित होता, जिससे इसकी पवित्रता और भी प्रबल होती।

2. शिखर-

गर्भगृह के ऊपर शिखर था यह एक प्रतीकात्मक पर्वत, जिसे अक्सर मेरु पर्वत कहा जाता है, जो हिंदू मान्यताओं में ब्रह्मांड का ध्रुव बिंदु है। गुप्त काल में ये शिखर ऊँचाई में सीमित होते थे, परंतु यही ऊर्ध्वता की पहली अभिव्यद्रि थी। यह मंदिर को आकाश और पृथ्वी के मधय सेतु के रूप में प्रस्तुत करता था।

3. मंडप-

मंडप वह स्थान था जहाँ भद्रगण एकत्र होते थे। यहीं पूजा, यज्ञ, कीर्तन, और भद्रिमय आयोजन होते थे। प्रारंभिक गुप्त मंदिरों में मंडप साधाारण स्तंभों से बना पोर्च जैसा होता था, परंतु इससे मंदिर में सामूहिक आधयात्मिक अनुभूति का आयाम जुड़ गया।

4. प्रदक्षिणा पथ-

गुप्त काल के विकसित मंदिरों में प्रदक्षिणा की परंपरा प्रारंभ हुई गर्भगृह के चारों ओर दक्षिणावर्त दिशा में परिक्रमा करना, जो श्र)ा और ब्रह्मांडीय केंद्र के चारों ओर आत्मिक यात्र का प्रतीक है। मंदिरों की योजना में इस पथ के लिए संकीर्ण गलियारा बनाया जाने लगा।

5. अंतराल–

सभी गुप्त मंदिरों में तो नहीं, पर कई मंदिरों में गर्भगृह और मंडप के बीच एक संकीर्ण स्थान बनाया जाता था जिसे अंतराल कहते हैं। यह एक संक्रमण क्षे> होता था जहाँ भद्र बाहरी संसार से भीतर की आधयात्मिकता की ओर यात्र करता है।

6. वास्तुशास्त्र– एक वैज्ञानिक मार्गदर्शन

गुप्तकालीन मंदिरों की संरचना केवल सौंदर्यप्रिय कल्पना का परिणाम नहीं थी, बल्कि यह वास्तुशास्त्र के वैज्ञानिक सि)ांतों पर आधाारित थी जो कि प्राचीन भारतीय वास्तुकला का वैज्ञानिक ग्रंथ है। हर माप, दिशा, और संरचना का ब्रह्मांडीय महत्व होता था। मंदिरों का मुख्य द्वार प्रायः पूर्व की ओर होता था, ताकि उगते सूर्य की पहली किरण ईश्वर की मूर्ति पर पड़े यह केवल प्रतीकात्मक नहीं था, बल्कि सौर चेतना और आधयात्मिक जागरण का वैज्ञानिक रूपांतरण था। मंदिर के प्रत्येक भाग गर्भगृह, मंडप, शिखर के मधय सांद्रता बनी रहती थी। ऊँचाई और आधाार का अनुपात वैज्ञानिक गणनाओं के अनुरूप होता था, जिससे संपूर्ण रचना में एक दिव्य संतुलन आता था।

7. ज्यामिति और ब्रह्मांडीय अवधाारणाएँ–

गुप्तकालीन मंदिरों में प्रयोग की गई ज्यामिति मा> रेखांकन नहीं थी वह एक दार्शनिक ख्रष्टिकोण को दर्शाती थी। चतुर्भुज मंदिर योजना में प्रमुख आख्रति थी। यह आख्रति स्थायित्व, पूर्णता और ब्रह्मांडीय व्यवस्था का प्रतीक थी। शिखर की ऊँचाई और गर्भगृह की चौड़ाई के बीच पवि> अनुपात रखे जाते थे।

8. सामग्री और विधियाँ–

गुप्तकाल भारतीय स्थापत्य तकनीक का एक विकासशील मोड़ था। इस युग के शिल्पियों ने स्थायित्व और भव्यता की आकांक्षा के साथ लकड़ी को पीछे छोड़ते हुए ईंट और पत्थर की ठोस गरिमा को अपनाया। ये निर्माण सामग्री केवल ढांचागत भूमिका नहीं निभाती थींख्रवे भद्रि और दिव्य कल्पना की मौन कथाकार बन गईं।

ईंट के मंदिर– प्रौद्योगिकी और प्रतीकात्मकता का संगम

गंगा के उपजाऊ मैदानों में, जहाँ पत्थर की उपलब्धाता सीमित थी, ईंट मंदिर निर्माण की प्रमुख माधयम बन गई। इस तकनीक का सर्वोत्तम उदाहरण है भीतरगाँव मंदिर द्धवर्तमान उत्तर प्रदेश में स्थितऋ। पाँचवीं शताब्दी ई. में निर्मित यह मंदिर गुप्त काल के ईंट वास्तुकला की तकनीकी और कलात्मक क्षमता का सजीव प्रमाण है। यह मंदिर एक ऊँचे शिखर के साथ निर्मित है ईंट में निर्मित इस प्रकार की संरचना का यह सबसे प्रारंभिक और दुर्लभ उदाहरण है। इसके बाहरी भागों पर टेराकोटा पटिकाएँ अंकित हैं, जिनमें रामायण की कथाएँ, देवताओं के स्वरूप, गंधार्वों की नृत्य मुद्राएँ और पुष्प आख्रतियाँ शामिल हैं।

ये सजावट केवल सौंदर्य के लिए नहीं थीं, बल्कि दर्शकों को पवि> गाथाओं से शिक्षित करने का ख्रश्य माधयम थीं।

पत्थर के मंदिर– शाश्वतता और स्थापत्य शु)ता का मिलन

जहाँ पत्थर सुलभ था, विशेषकर मधय भारत में, वहाँ के गुप्तकालीन स्थापत्यकारों ने बालुआ पत्थर और ग्रेनाइट का उपयोग किया। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है– दशावतार मंदिर, देवगढ़। यह मंदिर लगभग 500 ई. में भगवान विष्णु को समर्पित किया गया था। इसकी योजना में समतल छत वाले मंदिर और एक विकसित होते शिखर का सम्मिलन दिखाई देता है, जो स्थापत्य शैली के संक्रमण काल का प्रतीक है। मंदिर के द्वार पर अंकित है प्रसि) ख्रश्य– शेषनाग पर शयन करते भगवान विष्णु। यह ख्रश्य पूर्ण

कलात्मक परिपक्वता और आधयात्मिक गहराई को दर्शाता है।

तकनीक और औजार- विज्ञान और कलाशद्रि का संतुलन

गुप्तकालीन शिल्पियों को भार संतुलन, संयोजन और समरूपता का गहन ज्ञान था। गारा का प्रयोग सीमित था, लेकिन पत्थरों को इस तरह तराश कर जोड़ा जाता था कि उनके मधय कोई दरार तक न दिखे यहाँ तक कि चाकू की नोक भी प्रवेश न कर सके।

कोर्बलिंग तकनीक

सच्चे मेहराबों के स्थान पर शिल्पी ईंटों, पत्थरों को क्रमिक रूप से आगे बढ़ाकर द्व ारों और खिड़कियों के ऊपर स्थान बनाते थे। यही तकनीक आगे चलकर मंदिरों की संरचना की आधाारशिला बनी।

संरचनात्मक सज्जा-

गुप्त मंदिरों में सजावट को बाद में जोड़ा नहीं गया, बल्कि वह निर्माण का अंतर्निहित भाग थी। स्तंभों पर बेल-बूटों की नक्काशी होती थी और ब्रैकेट संरक्षक मूर्तियों में परिवर्तित होते यहाँ तक कि छत की शिलाओं पर भी कमल की आख़तियाँ या ब्रह्मांडीय योजनाएँ उकेरी जाती थीं।

सौंदर्य-दर्शन-

गुप्तकालीन मंदिर केवल धाार्मिक संरचनाएँ नहीं थे वे थे पवि> मूर्तिशिल्प, एक आत्मिक अर्पण। रूप और कार्य के मधय संतुलन को सर्वोच्च माना गया यही था सौंदर्य का दर्शन। रूप केवल देखने के लिए नहीं, बल्कि ईश्वर तक पहुँचने का साधान है। मंदिर का प्रत्येक भाग स्तंभ, द्वार, छत, मूर्तियाँ एक साथ मिलकर एक संगीतात्मक समग्रता का निर्माण करते थे।

सांकेतिक सामग्री-

गुप्तकाल के स्थापत्य में सामग्री का चयन मनमाना नहीं, बल्कि गंभीर प्रतीकवाद से प्रेरित था। पत्थर को शाश्वतता का प्रतीक माना गया जो ईश्वर की अविनाशी सत्ता का प्रतिनिधित्व करता है। ईंट, विशेषकर जब वह भटी में पकाई जाती थी और लगभग अमरत्व को प्राप्त कर लेती थी, वह मनुष्य द्वारा ईश्वर जैसी स्थायित्व प्राप्त करने का प्रयास मानी जाती थी। इस प्रकार, ईंट और पत्थर केवल भौतिक माधयम नहीं थे बल्कि वे दर्शन और विज्ञान के पुल थे।

गुप्त काल भारत में संरचनात्मक मंदिर वास्तुकला की जन्मभूमि था। यह वह काल था जब खोहों में निर्मित मंदिरों से स्वतं> खड़े मंदिरों की ओर संक्रमण हुआ। ऐसे मंदिर जो आकाश की ऊँचाई को छूने लगे। ये मंदिर कोई अलग-थलग प्रयोग नहीं थे, बल्कि एक नवोदित स्थापत्य सि)ांत के भव्य प्रकटन थे। आइए हम गुप्तकाल के इन अद्भुत मंदिरों के मधय से गुजरें जहाँ हर मंदिर ईंट और पत्थर में गढ़ी हुई दिव्य कल्पना की गूंज है।

1. दशावतार मंदिर, देवगढ़

उत्तर प्रदेश के वर्तमान देवगढ़ में स्थित यह मंदिर उत्तर भारत का पहला मंदिर माना जाता है जिसमें शास्त्रीय हिन्दू मंदिर वास्तुकला के सभी मूलभूत तत्त्व विद्यमान हैं। यद्यपि आज यह आंशिक रूप से खंडहर में परिवर्तित है, परंतु इसका चतुर्भुजाकार गर्भगृह और स्तंभयुद्र मंडप इसकी मूल संरचना को प्रकट करता है। इस मंदिर का प्रवेशद्वार और बाह्य दीवारों पर उकेरे गए विष्णु के विविधा रूप शिल्पकारी की पराकाष्ठा है। जैसे- अनंतश"या पर विश्राम करते विष्णु, नरसिंह अवतार, गजेन्द्रमोक्ष की कथा। विशेषत: विष्णु की नाभि से ब्रह्मा का उत्पन्न होना, यह ख्रश्य केवल शिल्प नहीं,

बल्कि ब्रह्मांडीय सृष्टि का दर्शन है। पाषाण में उत्कीर्ण आधयात्मिक ब्रह्मांड विज्ञान। यह मंदिर प्रतीकात्मकता, अनुपातबोधा और सांकेतिक गहराई का आदर्श उदाहरण है, जो गुप्तकालीन धाार्मिक स्थापत्य की परिपक्वता को दर्शाता है।

2. भीतरगांव मंदिर, कानपुर जिला

यह मंदिर भारत के सबसे प्राचीन ईंट निर्मित मंदिरों में से एक है और यह गुप्तकालीन ईंट वास्तुकला की प्रौद्योगिकी और सौंदर्यशास्त्र का अद्भुत मिश्रण है। 5वीं शताब्दी के उत्तरार्धा में निर्मित यह मंदिर एक ऊँचे, घुमावदार शिखर से सुसज्जित है जो आगे चलकर नागर शैली की प्रेरणा बना। मंदिर के बाहरी भाग पर लगे टेराकोटा पैनल, देवताओं, अप्सराओं, यक्षों, और पौराणिक कथाओं से सुसज्जित हैं जो श्र)ालुओं के लिए ख्रश्य कथा बन जाते हैं। यह मंदिर ऊर्ध्वाधार स्थापत्य अवधाारणा के आरंभिक विकास का संकेतक है और आज भी इसकी संरक्षा गुप्त शिल्पकला की उत्ख्रष्टता का प्रमाण है।

3. साँची मंदिर

यद्यपि साँची बौ) स्तूपों के लिए प्रसि) है, परंतु मंदिर संख्या 17 प्रारंभिक गुप्तकालीन हिन्दू मंदिर स्थापत्य का एक अनमोल रत्न है। यह मंदिर छोटा, सपाट छत वाला और स्वतंत्र खड़ा ढांचा है, जिसमें एक साधाारण चतुर्भुज गर्भगृह और स्तंभयुद्र पोर्च सम्मिलित है। इसकी सादगी में ही इसकी वैज्ञानिकता छुपी है यह रक्रक-कट निर्माण से हटकर स्वतंत्र मंदिर संरचना की दिशा में एक प्रयोगात्मक प्रस्थान था। इस मंदिर की सरल रेखाएँ, संतुलित अनुपात और न्यूनतम सौंदर्य एक विकसित होती स्थापत्य भाषा के संकेतक हैंख्रजो दर्शन और गणना पर आधाारित थी।

4. उदयगिरि गुाएँ, मधय प्रदेश

यद्यपि ये संरचनाएँ तकनीकी रूप से शैल-खोदित हैं, फिर भी ये गुप्तकालीन धाार्मिक और राजनीतिक चेतना का महत्वपूर्ण प्रतिबिंब हैं। विशेषत: वराह अवतार, जिसमें विष्णु पृथ्वी देवी को समुद्र से ऊपर उठा रहे हैं यह दिव्य हस्तक्षेप और नैतिक व्यवस्था का प्रतीक है। इस गुा परिसर में वैष्णव और शैव दोनों प्रतीकों की उपस्थिति दर्शाती है कि गुप्त साम्राज्य में धाार्मिक समावेशिता विद्यमान थी। यह स्थल मूर्ति विज्ञान, प्रतीकवाद और शिल्पीय ऊर्जा का संगम है।

5. टिगवा मंदिर द्धकंकाली देवी मंदिरऋ, मधय प्रदेश

यह मंदिर प्रारंभिक गुप्त वास्तुकला की सूक्ष्मता और संतुलन का सुंदर उदाहरण है। बलुआ पत्थर से निर्मित यह मंदिर एक गर्भगृह और मंडप सहित सपाट छत वाला है, जिसके प्रवेशद्वार पर विस्तृत नक्काशी है। यहाँ बहु-बाहु देवता, द्वारपाल, और पुष्पीय अलंकरण हैं जो संकेत देते हैं कि उस काल में मूर्ति विज्ञान पर गहन कार्य हुआ था। इस मंदिर की संरचना और शिल्पिक शब्दावली आगे आने वाले मंदिरों की रूपरेखा का आधाार बनी।

6. नचना कुटरा मंदिर द्धपार्वती मंदिरऋ, मधय प्रदेश

वनों में स्थित यह प्रारंभिक नागर शैली का प्रतिनिधिा मंदिर है। यह मंदिर चतुर्भुजाकार गर्भगृह और एक ऊँचा शिखर लिए हुए है, जो नागर शैली के बाद के विकास की ओर संकेत करता है। इसकी स्तंभयुद्र पोर्च और द्वार-फ्रेमों पर की गई अलंख्रत नक्काशी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसकी स्थापत्य योजना ने उत्तर भारत के मंदिरों की स्थायी रूपरेखा को आकार दिया। ये मंदिर केवल धाार्मिक आस्थाओं के केन्द्र नहीं थे। वे थे दर्शन के प्रयोगशाला, शिल्प विज्ञान के प्रतिमान और मानव और दिव्यता के मधय सेतु।

5 अंक के प्रश्नः-

1. गुप्तकालीन मंदिर स्थापत्य की विशेषताएँ बताइए।
2. दशावतार मंदिर का महत्व स्पष्ट कीजिए।
3. नागर शैली का परिचय दीजिए।
4. उदयगिरि गुफाओं का वर्णन कीजिए।
5. गुप्तकालीन मंदिरों की संरचना लिखिए।

15 अंक के प्रश्नः-

1. गुप्तकालीन मंदिर स्थापत्य कला का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. गुप्तकालीन मंदिरों की स्थापत्य शैली का विश्लेषण कीजिए।
3. दशावतार मंदिर एवं अन्य प्रमुख मंदिरों का अधययन कीजिए।
4. गुप्तकालीन स्थापत्य कला का भारतीय संस्ख्रति पर प्रभाव स्पष्ट कीजिए।
5. गुप्तकालीन मंदिर निर्माण में धाार्मिक विचारधाारा की भूमिका बताइए।

MCQ

1.दशावतार मंदिर कहाँ स्थित है?

(क) देवगढ

(ख) सारनाथ

(ग) नालंदा

(घ) उज्जैन

उत्तर (क)

2.गुप्तकालीन मंदिर स्थापत्य किस शैली का प्रारंभिक रूप था?

(क) द्रविड

(ख) नागर

(ग) वेसर

(घ) इंडो-इस्लामिक

उत्तर (ख)

3.उदयगिरि किसके लिए प्रसिद्ध है?

(क) शिक्षा

(ख) व्यापार

(ग) गुफाएँ

(घ) बंदरगाह

उत्तर (ग)

4.गुप्तकालीन मंदिर मुख्यत: किस धार्म से संबंधित थे?

(क) बाद्ध

(ख) जैन

(ग) हिंदू

(घ) इस्लाम

उत्तर (ग)

5.गुप्तकालीन स्थापत्य कला की प्रमुख विशेषता क्या थी?

(क) विशालता

(ख) सादगी एवं संतुलन

(ग) धाातु निर्माण

(घ) ऊँचाई

उत्तर (ख)

स्मरणीय बिंदु:-

- गुप्तकाल में प्रारंभिक हिंदू मंदिरों का विकास हुआ।
- देवगढ का दशावतार मंदिर प्रसिद्ध है।
- नागर शैली का प्रारंभ गुप्तकाल में हुआ।

शब्दावली:-

- स्थापत्य कला
- नागर शैली
- दशावतार मंदिर
- गर्भगृह
- उदयगिरि

Text Book: The Gupta Empire by Radhakumud Mookerji

इकाई-2.3 गुप्तकालीन संस्कृत साहित्य ज्ञान, कला और सौंदर्य की स्वर्णगाथा

उद्देश्यः-

1. गुप्तकालीन संस्कृत साहित्य की विशेषताओं को समझना।
2. कालिदास एवं अन्य विद्वानों के योगदान का अधययन करना।
3. साहित्य एवं संस्कृति के संबंधा का विश्लेषण करना।

जब भारतभूमि ने गुप्त सम्राटों के सुख्रढ़ हाथों में स्थायित्व और समृद्धि का स्पर्श पाया, तब भाषा, साहित्य और ज्ञान की नदियाँ अपने चरम प्रवाह में बह निकलीं। यही वह युग था, जिसे इतिहासकारों ने हभारतीय संस्ख्रति का स्वर्णकालह्न कहा और इसमें संस्ख्रत साहित्य ने वह रूप धाारण किया, जो न केवल तत्कालीन जीवन को आलोकित करता था, बल्कि आने वाले सहस्त्रब्दियों तक भारत की आत्मा में गूंजता रहा।

1. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि-

गुप्त वंश के शासक ख्र समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त द्वितीय द्धविक्रमादित्यऋ और कुमारगुप्त ख्र केवल तलवार के धानी नहीं थे, वे शब्दों के सौंदर्य के उपासक भी थे। उनके राजदरबारों में कवि, नाटककार, पंडित और चिंतक एकञ होते, जैसे चंद्रमा की शीतलता में कमल खिलते हैं। संस्ख्रत भाषा, जो अब तक वेदों और धाार्मिक कर्मकांडों तक सीमित थी, इस युग में जीवन के हर पहलू प्रेम, राजनीति, दर्शन, विज्ञान, नाटक और प्रख्रति की अभिव्यद्रि का साधान बन गई।

2. गुप्तकालीन संस्ख्रत साहित्य की विशेषताएँ

काव्य की परिपक्वतारू महाकाव्य, लघुकाव्य, शृंगारिक काव्य, नैतिक काव्य ख्र सभी ने अपनी संपूर्णता इसी काल में प्राप्त की।

नाटङकला का उत्कर्ष

नाटङशास्ञ की बुनियाद पर ऐसे नाटकों की रचना हुई जिनमें मानवीय भावनाओं की गहराई, प्रख्रति का चित्रण और सौंदर्य की कल्पना का अद्भुत समन्वय था।

आधयात्मिक एवं धाार्मिक साहित्य-

पुराण, स्मृति, दर्शनों की टीकाएँ, शैव, वैष्णव और बौ) परंपराओं में गूढ़ ग्रंथों की रचना इसी युग में हुई।

वैज्ञानिक साहित्य-

गणित, खगोल, आयुर्वेद, वास्तु ख्र सभी विषयों में संस्ख्रत ने जटिलतम ज्ञान को छंदों और सूत्रें में पिरोया।

संस्ख्रत साहित्य के प्रमुख कवि

कवि सम्राट- कालिदास

कालिदास संस्ख्रत साहित्य के सबसे विख्यात कवि एवं नाटककार माने जाते हैं। उनके योगदान ने न केवल शास्त्रीय कविता और नाटक की सौंदर्यात्मक गुणवत्ता को ऊँचाइयों तक पहुँचाया, बल्कि उन्होंने गुप्तकालीन भारत की बौ)क, सांस्ख्रतिक और आधयात्मिक समृ) को भी अभिव्यद्र किया।

कालिदास की प्रमुख रचनाएँ

कालिदास की रचनाओं को तीन प्रमुख विधााओं में वर्गीख्रत किया जा सकता है

नाटक-

1. अभिज्ञानशाकुंतलम्

यह कालिदास की सबसे प्रसि) नाटड्ख्रति है, जो महाभारत की कथा पर आधाारित है। इसमें राजा दुष्यंत और शकुंतला के प्रेम, वियोग और पुनर्मिलन की गाथा है। यह काव्यात्मक सौंदर्य और भावनात्मक गहराई से युद्र है। 18वीं शताब्दी में सर विलियम जोन्स द्वारा किए गए अंग्रेजी अनुवाद ने इसे यूरोप में प्रसि) किया।

2. मालविकाग्निमित्रम

यह कालिदास का पहला नाटक माना जाता है। इसमें राजा अग्निमि> और दासी मालविका के प्रेम को दर्शाया गया है। इसमें संवाद और चरि>-चित्रण की कुशलता झलकती है।

3. विक्रमोर्वशीयम

यह नाटक राजा पुरुरवा और अप्सरा उर्वशी के प्रेम की दिव्य-मानवीय कथा है। यह प्रेम, धार्म और कर्तव्य के द्वंद्व को दर्शाता है।

महाकाव्य-

1. रघुवंशम

यह महाकाव्य रघु वंश की कथा कहता है, जिसमें भगवान राम भी शामिल हैं। 19 सर्गों में विभाजित यह ख्रति राजधार्म, वीरता, और संस्ख्रतिक मूल्यों का गौरवगान करती है।

2. कुमारसंभवम

इसमें शिव और पार्वती के पु> कार्तिकेय द्धकुमारऋ के जन्म की कथा है। यह प्रख्रति, प्रेम और तपस्या की सुंदर चित्रण के लिए प्रसि) है। इसके पहले आठ सर्ग कालिदास द्वारा रचित माने जाते हैं।

लघुकाव्य-

1. मेघदूतम

यह एक खंडकाव्य है, जिसमें एक यक्ष अपने प्रिय को बादल के माधयम से संदेश भेजता है। यह दो भागों में विभाजित है पूर्वमेघ और उत्तरमेघ। यह विरह वेदना और प्राख्रतिक सौंदर्य का उत्ख्रष्ट समन्वय है।

2. ;तुसंहार

इसमें भारत की छह ;तुओं ख्र वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत और शिशिर का अलंकारपूर्ण वर्णन है। यह कालिदास की प्रख्रति के प्रति संवेदनशीलता का उदाहरण है।

कालिदास की ख्रतियों की विषयवस्तु

कालिदास की रचनाएँ भारतीय संस्ख्रति और दर्शन के अनेक पहलुओं को प्रस्तुत करती हैं उनके अधिाकांश काव्य प्रेम, विशेषकर विरह की गहन अनुभूति को दर्शाते हैं। कालिदास ने प्राख्रतिक ख्रश्यों का अनुपम चित्रण किया है, जिससे पाठक प्रख्रति से तादात्म्य स्थापित कर पाते हैं। उन्होंने पौराणिक कथाओं और देवताओं के माधयम से धार्मिक और सांस्ख्रतिक आदर्शों को प्रस्तुत किया है। विशेषकर महाकाव्यों में उन्होंने राजा के कर्तव्य, धार्म, और आदर्श शासन को दर्शाया। नाटकों में उन्होंने कर्म, नियति, और क्षणभंगुरता के दार्शनिक तत्वों को भी स्थान दिया है। कालिदास की भाषा और शैली के कुछ प्रमुख गुण हैं। सरलता और माधुर्य उनकी संस्ख्रत भाषा संगीतात्मक और प्रवाहपूर्ण होती है। उन्होंने उपमा, रूपक, मानवीकरण, और अनुप्रास जैसे अलंकारों का उत्ख्रष्ट उपयोग किया है। उनके काव्य में प्राख्रतिक और भावनात्मक चित्रण का विशेष स्थान है। शब्द और अर्थ की समरसतारू उन्होंने शब्द सौंदर्य और भाव का संतुलन बखूबी साधाा है। नाटकों में उन्होंने नाटड्शास्> के नियमों का पालन करते हुए अपनी मौलिकता का प्रदर्शन किया।

कालिदास ने गुप्त युग की साहित्यिक, सांस्ख्रतिक और दार्शनिक ऊँचाइयों को अपनी ख्रतियों के माधयम से जीवन्त किया। उनकी रचनाएँ केवल काव्यात्मक नहीं, बल्कि भारतीय आत्मा की अनुगूंज हैं जिनमें प्रेम, ध ार्म, प्रख्रति, दर्शन और सौंदर्य का सुंदर समन्वय है। उनकी साहित्यिक ख्रष्टि आज भी कालजयी है, जो पाठक को आनंद, चिंतन, और संवेदना से जोड़ती है।

विशाखदत्त–

गुप्त काल भारतीय इतिहास का एक स्वर्णिम युग माना जाता है, जिसे संस्ख्रति, कला, विज्ञान और साहित्य की ख्रष्टि से उत्कर्ष काल कहा जाता है। इस काल में अनेक साहित्यकारों ने जन्म लिया, परंतु कुछ रचनाकार अपनी विशिष्ट शैली और विषयवस्तु के कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऐसे ही एक महान नाटककार थे ख्र विशाखदत्त। जहाँ कालिदास और भवभूति जैसे कवि सौंदर्य, प्रेम और प्रख्रति की अभिव्यद्रि में तल्लीन थे, वहीं विशाखदत्त ने राजनीति, राज्य–चातुर्य और प्रशासनिक सूझबूझ को अपने साहित्य का केंद्रीय तत्व बनाया। हम विशाखदत्त के साहित्य को विशेष रूप से उनके प्रसि) नाटक 'मुद्राराक्षस' के माधयम से समझने का प्रयास करेंगे, और साथ ही उनके संभावित अन्य ग्रंथ 'देवीचंद्रगुप्तम' का भी संक्षिप्त परीक्षण करेंगे।

विशाखदत्त का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

विशाखदत्त के जीवन के बारे में प्रत्यक्ष ऐतिहासिक प्रमाण सीमित हैं, परंतु उनकी रचनाओं में वर्णित विवरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे या तो शासकीय कुल से थे अथवा किसी उच्च प्रशासनिक पद पर आसीन रहे होंगे। स्वयं लेखक ने अपने को एक महामात्य द्धप्रधाान मंत्रीऋ भास्करदत्त का पुत्र बताया है, जिससे यह संकेत मिलता है कि वे प्रशासनिक तंत्र की जटिलताओं से भली–भांति परिचित थे। उनकी रचनाओं में राजकीय व्यवस्था, मंत्रणा, गुप्तचरी, और कूटनीति जैसे विषयों का वैज्ञानिक चित्रण यह प्रमाणित करता है कि वे केवल कवि या नाटककार नहीं, बल्कि एक राजनीति विश्लेषक भी थे।

गुप्त काल में संस्ख्रत साहित्य ने उच्चतम विकास प्राप्त किया। कालिदास, भटि, भारवि, दंडिन, और बाणभट जैसे लेखक इस काल के दैदीप्यमान नक्षत्र थे। इनमें अधिाकांश काव्य धार्मिक, प्रख्रतिपरक या श्रृंगार रस से युद्र थे। परंतु विशाखदत्त की रचनाओं में हम राजनीति विज्ञान, प्रशासनशास्त्र और कूटनीति का तार्किक समावेश देखते हैं। इस ख्रष्टि से विशाखदत्त का साहित्य उस काल की साहित्यिक परंपरा में एक नवीन और प्रायोगिक प्रयोग के रूप में सामने आता है।

मुद्राराक्षस–

मुद्राराक्षस' एक सात अंकों का संस्ख्रत नाटक है, जिसका केंद्रीय विषय मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य की सत्ता स्थापना और उनके प्रधाान मंत्री चाणक्य की कूटनीति है। नाटक में मुख्य रूप से यह दर्शाया गया है कि किस प्रकार चाणक्य ने नंद वंश के प्रति कादार मंत्री राक्षस को मौर्य शासन के पक्ष में कर लिया। यह नाटक राज्यशद्रि, राजनयिक रणनीति, और राजनीतिक मनोविज्ञान का अद्वितीय संगम है।

वैचारिक विशेषताएँ

1. राजनीतिक यथार्थवाद–

नाटक सत्ता प्राप्ति के नैतिक और व्यावहारिक पक्षों को वैज्ञानिक रूप से प्रस्तुत करता है। चाणक्य की नीतियाँ 'उद्देश्य ही साधान को उचित ठहराता है' द्धम्दके रनेजपलि डमंदऋ के सि)ांत पर आधाारित हैं।

2. राष्ट्रीय एकता का आदर्श–

राक्षस का हृदय परिवर्तन इस तथ्य की पुष्टि करता है कि जब जनहित सर्वोपरि हो, तो व्यद्रिगत कादारी भी बदली जा

सकती है।

3. प्रशासनिक तंत्र का वर्णन–

नाटक में पात्र, मुद्रा द्धराजकीय अंगूठीऋ, जासूसी, प्रतिरूपण और गुप्त योजनाओं का प्रयोग दर्शाता है कि कैसे एक सुव्यवस्थित प्रशासनिक ढाँचा सत्ता की नींव होता है।

4. मानव मनोविज्ञान का सूक्ष्म विश्लेषण–

विशाखदत्त ने अपने पात्रें की मानसिक अवस्था को वैज्ञानिक तरीके से विश्लेषित किया है उदाहरणस्वरूप, राक्षस का अंर्तद्वंद।

5. भाषा और शैली

विशाखदत्त की भाषा सरल, तर्कप्रधाान और उद्देश्यपरक है। वे अत्यधिाक काव्यात्मक अलंकारों से बचते हैं और तथ्यात्मक संवाद पर बल देते हैं। यही कारण है कि उनकी शैली अधिाक प्रभावशाली और संप्रेषणीय बनती है। उनके संवादों में हमें राजनीति के सि)ांतों, मानव व्यवहार, और रणनीतिक ख्रष्टिकोण का क्लिनिकल डिसेक्शन द्धविज्ञान की तरह विश्लेषणऋ मिलता है।

6. संरचना और तकनीकी विश्लेषण

'मुद्राराक्षस' की संरचना इस प्रकार की गई है कि प्रत्येक अंक में कोई नई रणनीति अथवा राजनीतिक मोड़ प्रस्तुत होता है। इस तकनीक को आज की भाषा में Episodic Strategic Development कहा जा सकता है।

7. उपयोग की गई तकनीकें

गुप्तचरी तंत्र का प्रयोग, ड्रामेटिक आइरनी, संकेतक वस्तु, का प्रतीकात्मक प्रयोग, नैतिक और भावनात्मक द्वंद्वों की विवेचना।
देवीचंद्रगुप्तम्–

विशाखदत्त की एक अन्य रचना 'देवीचंद्रगुप्तम' के केवल अंश उपलब्धा हैं, किंतु अन्य ग्रंथों से प्राप्त उ) रणों के आधाार पर इसकी कथावस्तु का अनुमान लगाया गया है। यह नाटक रामगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय के समय की घटना पर आधाारित है, जहाँ रामगुप्त ने अपनी पत्नी को एक शत्रु राजा को सौंपना चाहा, और चंद्रगुप्त ने वीरता से उसका प्रतिकार कर सत्ता प्राप्त की। इस नाटक के विषय हैं– राजकीय सम्मान बनाम व्यद्रिगत दुर्बलता, नारी की अस्मिता और राजसत्ता में उसका स्थान, भ्रातृघात और सत्ता–परिवर्तन। यह रचना भी हमें बताती है कि विशाखदत्त ऐतिहासिक घटनाओं को राजनीतिक परिप्रेक्ष्य से देखने में कुशल थे।

ऐतिहासिक और राजनीतिक महत्व–

1. कौटिल्य सि)ांतों का नाटड रूप मुद्राराक्षस में अर्थशास्त्र के सि)ांतों को व्यावहारिक ख्रश्यों के माधयम से चित्रि किया गया है।

2. प्रशासनिक प्रक्रियाओं की झलक–

नाटक में हम गुप्तचरी, मन्त्रणा परिषद, और शद्रिसंतुलन के वैज्ञानिक स्वरूप को देखते हैं।

3. राजनीतिक मनोविज्ञान की व्याख्या–

नायक और खलनायक की भूमिका सामान्य नहीं बल्कि सापेक्ष है, जो मनोविज्ञानिक धारातल पर विश्लेषण की माँग करती

है।

सांस्ख्रतिक और साहित्यिक प्रभाव

1. प्रशासनिक शिक्षा हेतु उपयोगी ग्रंथ-

विशाखदत्त का साहित्य प्राचीन शिक्षा पद्धति में 'नीतिशास्त्र' और 'राजधार्म' की ख्रष्टि से अत्यंत उपयोगी था।

2. वर्तमान प्रेरणा

आज भी 'चाणक्य नीति', 'राक्षस की बुद्धिमत्ता', और सत्ता के नैतिक प्रश्नों पर चर्चा होती है, जिनकी जड़ें विशाखदत्त के नाटक में मिलती हैं। विशाखदत्त ने गुप्तकालीन साहित्य को राजनीतिक चेतना और वैज्ञानिक ख्रष्टिकोण प्रदान किया। उनका नाटक 'मुद्राराक्षस' केवल एक साहित्यिक कृति नहीं, बल्कि एक राजनीतिक ग्रंथ है, जिसमें प्रशासन, कूटनीति, मनोविज्ञान, और राजनीतिक दर्शन का समन्वय मिलता है।

उनका साहित्य आधुनिक संदर्भों में भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना वह गुप्त काल में था। उन्होंने दर्शाया कि सृजनशीलता केवल सौंदर्य या भद्रि तक सीमित नहीं है, बल्कि राजनीति और तंत्र के वैज्ञानिक विश्लेषण से भी उच्च साहित्य का सृजन किया जा सकता है।

गुप्त काल के साहित्यकार शूद्रक का साहित्यिक योगदान

गुप्त काल द्धलगभग चौथी से छठी शताब्दी ईस्वीऋ को भारतीय इतिहास का स्वर्णिम युग कहा जाता है। इस युग में कला, साहित्य, विज्ञान, और संस्ख्रति ने अभूतपूर्व प्रगति की। इस काल के सबसे प्रमुख नाटङकारों में से एक थे शूद्रक, जिन्हें संस्ख्रत नाटक मृच्छकटिक द्धछोटा मिटी का गाड़ीऋ का रचयिता माना जाता है। यह नाटक न केवल संस्ख्रत नाटकों की शान है, बल्कि गुप्त युग की सामाजिक, आर्थिक और सांस्ख्रतिक दशा को भी बखूबी दर्शाता है।

शूद्रक

शूद्रक की वास्तविक पहचान आज भी अनिश्चित है। कुछ प्राचीन स्रोत उन्हें एक ऐतिहासिक राजा या कुलीन व्यद्रि मानते हैं, तो कुछ केवल साहित्यिक कल्पना। गुप्त काल में राजनीतिक स्थिरता और आर्थिक समृ) ने साहित्यिक गतिविधियों को प्रोत्साहित किया। राज दरबारों में नाटङ-कला को बढ़ावा मिला, जिसके ञलस्वरूप मृच्छकटिक जैसे जीवंत नाटक लिखे और मंचित हुए। शूद्रक का यह नाटक पारंपरिक देवी-देवताओं और महाकाव्यों से हटकर, साधाारण मनुष्यों और उनके जीवन की झलक दिखाता है। यही कारण है कि इसे उस काल के दर्शकों ने बेहद पसंद किया।

मृच्छकटिक का सार

'मृच्छकटिक' का अर्थ है 'मिटी की गाड़ी'। यह नाटक दस अंक में विभाजित है, जिसमें प्रेम, राजनीति, न्याय और सामाजिक जीवन का सुंदर संयोजन है। नाटक के मुख्य पात्र हैं एक गरीब लेकिन उदार और सज्जन ब्राह्मण चारुदत्त, और एक धानी, आकर्षक कोठरीवाली द्धवेश्याऋ वसंतसेना। चारुदत्त अपने चरित्र की महानता और परोपकारिता से गुप्त युग की उन मान्यताओं को दर्शाता है जहाँ धान से अधिाक मूल्य मनुष्य के गुणों का होता था। वसंतसेना की छवि पारंपरिक सामाजिक धाारणाओं को चुनौती देती है, क्योंकि वह एक कोठरीवाली होते हुए भी ईमानदार और प्रेमपूर्ण नारी है।

नाटक के प्रमुख विषय और सामाजिक संदर्भ

मृच्छकटिक अपने यथार्थपरक ख्रष्टिकोण के कारण विशेष है। शूद्रक ने इस नाटक में आम जनता की जिन्दगी, सामाजिक वर्गों की जटिलताओं और राजनीतिक साजिशों को बड़ी बारीकी से चित्रित किया है।

1. सामाजिक वर्ग और व्यवस्था

नाटक में ब्राह्मण, व्यापारी, कोठरीवाली, और अपराधियों जैसे विभिन्न वर्गों को दिखाया गया है। शूद्रक ने यह दर्शाया है कि केवल जन्म या धान से सामाजिक सम्मान नहीं मिलता, बल्कि व्यद्रिगत गुण और नैतिकता का भी महत्व है।

2. राजनीतिक साजिश और न्याय

नाटक में एक दुष्ट मंत्री 'संस्थानक' द्वारा ब्राह्मण चारुदत्त के खिलफ षडयंत्र दिखाया गया है, जो उस युग के राजनीतिक संकटों और भ्रष्टाचार का प्रतीक है। यह विषय आज भी प्रासंगिक है कि कैसे सच्चाई और न्याय के लिए लड़ना पड़ता है।

3. प्रेम और नैतिकता

चारुदत्त और वसंतसेना के प्रेम में गहरी निष्ठा और त्याग है। प्रेम केवल रोमांटिक भावना नहीं, बल्कि सामाजिक और नैतिक मूल्य भी दर्शाता है। वसंतसेना का चरित्र यह सिखाता है कि कोई भी पेशा या जाति व्यद्रि के चरित्र को परिभाषित नहीं कर सकती।

4. हास्य और मनोरंजन

नाटक में 'मथुरा' नामक नटखट सेवक के माधयम से हास्य प्रस्तुत किया गया है, जो आम जनता की आवाज बनकर सत्ता की नाकामियों और मानव स्वभाव की कमियों पर व्यंग्य करता है।

शूद्रक की साहित्यिक शैली और नाटड रचना

मृच्छकटिक शूद्रक की अनोखी शैली का नमूना है। उन्होंने नाटडशास्त्र के नियमों का पालन करते हुए संवादों को सरल, सहज और प्रामाणिक रखा है। इस नाटक में विभिन्न भाव द्धरसऋ जैसे शृंगार द्धप्रेमऋ, करुणा द्धदयाऋ, हास्य द्धहँसीऋ, और क्रोधा को कुशलता से पिरोया गया है, जिससे दर्शक भाव-विभोर हो उठते हैं। यह नाटक कथानक और उपकथाओं के माधयम से सामाजिक वास्तविकताओं को एक मनोरंजक और गूढ़ रूप में प्रस्तुत करता है।

शूद्रक के साहित्यिक योगदान और प्रभाव

शूद्रक के मृच्छकटिक ने भारतीय नाटड साहित्य में नई दिशा दी। यथार्थवादी नाटक की स्थापना- इस नाटक ने संस्ख्रत नाटक को मिथकों से निकालकर आम जीवन की ओर मोड़ा, जिससे यह आम जनता के लिए भी आकर्षक बन गया। बाद के नाटकों और क्षेत्रीय साहित्य पर इसका प्रभाव पड़ा। इसकी विषयवस्तु और चरित्र-चित्रण कई भाषाओं और युगों में गूंजता रहा। यह नाटक गुप्त युग की सामाजिक संरचना, आर्थिक गतिविधा, और सांस्ख्रतिक जीवन का अमूल्य दस्तावेज है। मृच्छकटिक सदियों तक विभिन्न भाषाओं और रूपों में मंचित होता रहा, जो इसकी कालजयी लोकप्रियता का प्रमाण है।

शूद्रक का मृच्छकटिक गुप्त काल के साहित्य में स्वर्णिम अधयाय है। यह नाटक न केवल प्रेम और न्याय की गाथा कहता है, बल्कि मानवता, नैतिकता और सामाजिक यथार्थ की गहराइयों को भी उजागर करता है। गुप्त युग की सांस्ख्रतिक समृ) और साहित्यिक विविधाता का यह जीवंत प्रमाण है। इस नाटक के माधयम से शूद्रक ने यह संदेश दिया कि साहित्य केवल मनोरंजन का साधान नहीं, बल्कि समाज को प्रतिबिंबित करने, सुधाारने और प्रेरित करने का माधयम भी है। आज भी मृच्छकटिक की कथावस्तु और चरित्र हमें मानवीय मूल्यों और सामाजिक न्याय की महत्ता याद दिलाते हैं।

इकाई-2.4 गुप्तकालीन अपभ्रंश साहित्य, बौद्ध साहित्य एवं जैन साहित्य

गुप्त साम्राज्य का कालखण्ड भारतीय इतिहास में केवल समृ), कला और संस्ख्रति का स्वर्ण युग नहीं था, बल्कि यह वह समय भी था जब भाषा एक नए दौर में प्रवेश कर रही थी। जहाँ एक ओर संस्ख्रत अपनी परंपरा और गौरव के साथ शाही संरक्षण में ख्रल-ख्रूल रही थी, वहीं दूसरी ओर आम जनजीवन में एक सहज, सरल और लचीली भाषा जन्म ले रही थी जिसे अपभ्रंश कहा जाता है। यह अपभ्रंश भाषा न तो शु) संस्ख्रत थी और न ही विशु) प्राख्रत, बल्कि इन दोनों के बीच पनप रही एक स्वाभाविक संक्रमणशील भाषा थी, जो आगे चलकर आधुनिक भारतीय भाषाओं की जननी बनी।

1. भाषा का विकास एक प्रक्रिया है, विख्रति नहीं

ह्अपभ्रंशह्न शब्द अकसर लोगों को भ्रमित करता है। इसका शाब्दिक अर्थ होता है 'भ्रष्ट हो गई' या 'बिगड़ी हुई' भाषा। परन्तु भाषाशास्त्र के अनुसार, यह कोई भ्रष्ट भाषा नहीं थी, बल्कि भाषा के स्वाभाविक विकास क्रम की एक आवश्यक कड़ी थी। समय के साथ-साथ भाषाएँ साधाारण लोगों के प्रयोग से बदलती हैं, नए शब्द जुड़ते हैं, व्याकरण सरलीख्रत होता है और उच्चारण में बदलाव आता है। अपभ्रंश इसी प्रक्रिया का परिणाम था, जिसमें प्राख्रत भाषाएँ लोकबोलियों से प्रभावित होकर एक नए रूप में ढल रही थीं।

2. गुप्तकालीन बहुभाषिक समाज की विशेषता

गुप्त युग में समाज भाषाई ख्रष्टि से अत्यंत विविधा था। उस समय तीन स्तरों की भाषाओं का प्रयोग होता था संस्ख्रत, जो ब्राह्मणों, राजाओं और विद्वानों की भाषा थी, धाार्मिक ग्रंथ और राजकीय आदेश इसी भाषा में होते थे। प्राख्रत, जो बौ) और जैन संतों द्वारा उपदेशों और साहित्य के लिए प्रयोग में लाई जाती थी। अपभ्रंश, जो सामान्य जनता की दिनचर्या की भाषा थी बातचित, लोकगीत, कहावतें, और कहानियों में यही भाषा बहती थी। यह बहुभाषिक परतें समाज में वर्ग और उद्देश्य के अनुसार बंटी थीं। जहाँ संस्ख्रत आधिाकारिक और औपचारिक भाषा थी, वहीं अपभ्रंश जनभाषा थी।

3. नाटङकला में अपभ्रंश का प्रयोग

गुप्त काल के नाटककारों ने भाषा की विविधाता को समझते हुए नाटकों में पात्रें की सामाजिक स्थिति के अनुसार भाषा का प्रयोग किया। जैसे कि राजा, ब्राह्मण और शिक्षित पात्र संस्ख्रत में बोलते थे। स्त्रियाँ, दास-दासी, व्यापारियों या नगरवासियों के संवाद अपभ्रंश या क्षेत्रीय बोलियों में होते थे। उदाहरण के लिए, कालिदास के नाटकों में हम देख सकते हैं कि नगरवधाू या सेविका जैसे पात्र संस्ख्रत नहीं, बल्कि स्थानीय भाषाओं से प्रभावित वाक्य विन्यास का प्रयोग करते हैं, जो स्पष्ट रूप से अपभ्रंश के निकट है। यह प्रयोग दर्शाता है कि अपभ्रंश साहित्यिक मंच पर आने लगा था, भले ही वह अभी तक स्वतंत्र साहित्यिक स्वरूप में नहीं था।

4. मौखिक साहित्य में अपभ्रंश की उपस्थिति

गुप्त युग का एक महत्वपूर्ण पहलू यह था कि आम जनता द्वारा बोली जाने वाली कहानियाँ, गीत, भजन, और कथाएँ अधिाकतर मौखिक परंपरा का हिस्सा थीं। इन कथाओं में जो भाषा प्रयुद्र होती थी वह न तो संस्ख्रत थी, न ही शु) प्राख्रत, बल्कि एक लोकप्रचलित, सरल, बहती हुई भाषा थी यही अपभ्रंश था। ग्रामीण अंचलों में देवी-देवताओं की कथाएँ, जनश्रुतियाँ, और त्यौहारों से जुड़ी गायन परंपराएँ अपभ्रंश के रूप में जीवित थीं। यह भाषा लिखित रूप में कम, लेकिन सामाजिक व्यवहार और संवाद में अधिाक थी।

5. जैन समाज और अपभ्रंश भाषा का योगदान

जैन धार्म, जो गुप्त काल में व्यापक रूप से ख्रैल चुका था, ने अपभ्रंश भाषा को स्थायित्व और दिशा देने में बहुत

महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। चूंकि जैन धार्म के प्रचारक आम जनमानस तक अपना संदेश पहुँचाना चाहते थे, वे इस नई उभरती हुई भाषा अपभ्रंश की ओर आकर्षित हुए। भले ही पुष्पदंत, हेमचंद्र जैसे जैन आचार्य गुप्त काल के बाद के हैं, लेकिन गुप्त युग में ही प्रारंभिक जैन उपदेशकों द्वारा अपभ्रंश के प्रयोग की नींव रखी जा चुकी थी। उन्होंने महसूस किया कि यदि धार्म को जन-जन तक पहुँचाना है तो भाषा को जनता के करीब लाना होगा।

6. भाषा संरचना में बदलाव के वैज्ञानिक संकेत

गुप्त काल के दौरान अपभ्रंश में जो बदलाव हुए, वे भाषाविज्ञान की ख्रष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं कठिन संस्ख्रत शब्द सरल बन गए। जटिल वाक्य संरचना की जगह आसान वाक्य आने लगे क्रियाओं का प्रयोग आम जीवन के अनुसार बदलने लगा। यह संकेत हैं कि भाषा अब केवल शास्त्रें की नहीं, जनता की अभिव्यद्रि का माधयम बन रही थी। यह भाषा की लोकतांत्रिकता की दिशा में पहला कदम था।

7. साहित्यिक रूप में अपभ्रंश का बीजारोपण

यद्यपि गुप्त काल में अपभ्रंश में कोई बड़ा महाकाव्य या ग्रंथ रचा गया हो, इसके प्रमाण बहुत कम हैं, परंतु यह स्पष्ट है कि उस समय इस भाषा में विचार, भावना और संवाद व्यद्र होने लगे थे। यह वह समय था जब अपभ्रंश साहित्य के बीज बोए जा रहे थे, जिन्हें आने वाले युगों में पानी, खाद और संरक्षण मिलेगा।

8. उत्तर गुप्तकाल और अपभ्रंश साहित्य का उत्कर्ष

गुप्त युग के बाद, विशेषकर 8वीं से 12वीं शताब्दी के बीच अपभ्रंश साहित्य ने आश्चर्यजनक उन्नति की। इस समय कई महाकाव्य, कथाएँ और धार्मिक ग्रंथ अपभ्रंश में लिखे गए। उदाहरण के लिए- स्वयंभू अपभ्रंश के आरंभिक कवि, पुष्पदंत महापुराण के रचयिता, हेमचंद्राचार्य जिनकी व्याकरण रचना ने अपभ्रंश को एक स्थायी साहित्यिक दर्जा दिलाया। पर इन सबका आरंभिक बीज गुप्त काल के भाषाई वातावरण में ही था।

9. आधुनिक भाषाओं की आधारभूमि

आज हम जिन आधुनिक भाषाओं जैसे हिंदी, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, बंगाली आदि को बोलते हैं, उनकी उत्पत्ति का आधार अपभ्रंश है। गुप्त काल के दौरान बोली जाने वाली यह संक्रमणशील भाषा इन भाषाओं की नींव थी। भाषा एक नदी की तरह बहती है और अपभ्रंश वह धारा थी जिसने नई भाषाओं को जन्म दिया।

गुप्त काल में अपभ्रंश का विकास धीरे-धीरे और चुपचाप हुआ। इसे शाही संरक्षण नहीं मिला, इसके रचनाकारों को महान कहा नहीं गया, परंतु यही भाषा भविष्य की धाड़कन बन गई। जब संस्ख्रत केवल मंदिरों और दरबारों में गूंज रही थी, तब अपभ्रंश गांवों, बाजारों, और जनमन में जीवित था। इस प्रकार, गुप्त युग में अपभ्रंश साहित्य का उद्भव एक ऐसी अख्रश्य भाषाई क्रांति थी, जिसने भारतीय उपमहाद्वीप की भाषाओं को नई दिशा दी।

गुप्तकालीन बौ) साहित्य

तीसरी शताब्दी तक आते-आते बौ) धार्म में विभिन्न शाखाएँ विकसित हो चुकी थीं। इनमें महायान शाखा सबसे प्रभावशाली हो गई थी। गुप्त सम्राट, विशेषकर समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय, ब्राह्मण धार्म के समर्थक थे, किंतु उन्होंने बौ) धार्म के लिए भी पर्याप्त स्थान और संरक्षण प्रदान किया। नालंदा, वलभी तथा विक्रमशिला जैसे महाविहार इस काल में बौ) शिक्षा और साहित्य का केंद्र बने।

1. भाषिक संक्रमण पाली से संस्ख्रत की ओर

प्रारंभिक बौ) ग्रंथ पाली और प्राख्रत भाषाओं में थे, किंतु गुप्तकाल में बौ) आचार्य संस्ख्रत को अपनाने लगे। यह परिवर्तन केवल भाषिक नहीं था, बल्कि यह बौ) धार्म को दार्शनिक विमर्शों में भागीदारी दिलाने का एक उपाय भी था। संस्ख्रत के माधयम से बौ) ग्रंथ ब्राह्मणीय विचारधारा के समकक्ष खड़े हो पाए और दर्शन, तर्क और सौंदर्यशास्त्र में अपनी बात मजबूती से रख सके।

2. बौ) साहित्य के प्रमुख विषयवस्तु

दार्शनिक ग्रंथ और तर्कशास्त्र–

गुप्त काल के बौद्ध साहित्य में दार्शनिक गहराई और तर्कबद्धता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इस क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण योगदान दिग्नाग का रहा। उन्होंने प्रमाणसमुच्चय नामक ग्रंथ लिखा, जिसमें ज्ञानमीमांसा और तर्कशास्त्र की नींव रखी। उन्होंने प्रत्यक्ष और अनुमान को प्रमाण के रूप में विश्लेषित किया। दिग्नाग के कार्यों ने न केवल बौ) परंपरा, बल्कि हिंदू न्याय–वैशेषिक दर्शन को भी प्रभावित किया। उनके तर्कशास्त्रीय विचारों ने बाद में धार्मकीर्ति, शांतरक्षित और उडयन जैसे विचारकों के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

बौ)चरित परंपरा और जीवनियाँ

बौ) साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग गौतम बु) के जीवन पर आधाारित ग्रंथ हैं। यद्यपि अश्वघोष द्वारा रचित ष्बु)चरितष् गुप्तकाल से पूर्व की रचना है, पर यह ग्रंथ इस काल में भी अत्यधिाक प्रभावशाली और अनुकरणीय रहा। गुप्तकाल में बु) की जीवनकथाओं को संस्ख्रत महाकाव्य परंपरा में ढाला गया। जातक कथाएँ और अवदान ग्रंथ भी इसी काल में काव्यात्मक सौंदर्य के साथ प्रस्तुत किए गए। इन कथाओं ने बु) को एक दैवी और नैतिक आदर्श के रूप में स्थापित किया।

महायान सूत्र और भाष्य ग्रंथ

महायान शाखा में कई नए सूत्रें की रचना हुई और उन पर विद्वानों ने टिप्पणियाँ भी लिखीं। प्रमुख सूत्रें में शामिल हैं– स) र्मपुंडरीक सूत्र जिसमें सभी प्राणियों के मोक्ष की समान संभावना और बु) के शाश्वत अस्तित्व की व्याख्या की गई है। प्रज्ञापारमिता सूत्र जिनमें शून्यता और प्रत्युत्पन्न प्रज्ञा को केंद्र में रखा गया है। इन ग्रंथों पर वसुबंधाु जैसे आचार्यों ने दार्शनिक भाष्य लिखे, जिससे गहन बौ) चिंतन को सरल और सुगम बनाया गया।

योगाचार परंपरा

गुप्तकाल में योगाचार दर्शन की अत्यधिाक प्रगति हुई। इसके संस्थापक माने जाते हैं। असंग जिनका ग्रंथ महायानसंग्रह योगाचार दर्शन का मूल स्रोत है। वसुबंधाु जिन्होंने विज्ञानमात्रता सि) के माधयम से विज्ञानवाद को स्थापित किया। इस परंपरा ने आलयविज्ञान, त्रिस्वभाव द्धतीन स्वभावऋ तथा बोधिासत्व मार्ग जैसी अवधाारणाओं को विस्तार दिया। प्रमाण–समुच्चय जो दिग्नाग द्वारा संस्ख्रत में रचित है, योगाचारा या बौ) तर्कशास्त्र के क्षेत्र में अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ है। यह बौ) ज्ञानमीमांसा द्धप्रमाण–शास्त्रऋ का आधाारभूत ग्रंथ माना जाता है। दिग्नाग ने प्रत्यक्ष द्धप्रत्यक्षऋ और अनुमान द्धअनुमानऋ की बौ) सि)ांतों को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया। इस ग्रंथ ने बौ) और हिन्दू दोनों तर्कशास्त्रें को गहरा प्रभाव दिया, खासकर बाद के विचारक जैसे धार्मकीर्ति पर। अभिधार्मकोश का रचनाकार वसुबन्धाु है, जो प्रारंभ में सर्वास्तिवाद और बाद में महायान मत के अनुकूल हुआ। यह ग्रंथ बौ) मनोविज्ञान, तत्त्वमीमांसा और नैतिकता का एक व्यापक कोश है, जो भारत, तिब्बत और मधय एशिया के मठों में शिक्षा का मूल ग्रंथ था। अभिधार्मकोश में वसुबन्धाु ने स्वयं अभिधार्मकोश–भाष्य नामक टीका भी दी है, जिसमें उन्होंने सर्वास्तिवाद के सि)ांतों की आलोचना और सुधाार किया। लंकारावतार सूत्र, योगाचारा और महायान का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ, 'मनोमात्रवाद', बु)–स्वभाव और प्रत्यक्ष आधयात्मिक अनुभव की महत्ता पर बल देता है। यह सूत्र चीनी भाषा में अनूदित हुआ और पूर्वी एशिया में विशेष रूप से सम्मानित रहा। अंत में, अश्वघोष

द्वारा रचित बु)चरित भी, यद्यपि गुप्तकाल से पूर्व का है, तब भी इस काल में अत्यंत लोकप्रिय था। यह संस्ख्रत में एक महाकाव्य है, जो क्लासिकल काव्य शैली में बु) के जीवन का वर्णन करता है और बौ) आख्यान साहित्य को उच्च शास्त्रीय साहित्य से जोड़ता है।

3. सौंदर्यशास्त्रीय और साहित्यिक विशेषताएँ

गुप्तकालीन बौ) साहित्य में काव्य और अलंकारों का भी महत्वपूर्ण प्रयोग हुआ। ग्रंथों में केवल धाार्मिक तत्व नहीं थे, बल्कि- अलंकार शास्त्र और संस्ख्रत काव्य शैली का सुंदर समावेश हुआ। जातक और अवदान कथाएँ अब नाटकीयता, संवाद और प्रतीकों से समृ) हो गईं। बौ) ग्रंथों में काव्यशास्त्र की रूचि दर्शाती है कि बौ) लेखक केवल साधाक नहीं, साहित्यकार भी थे।

4. महाविहारों की भूमिका- शिक्षा और ग्रंथों का संरक्षण

नालंदा महाविहार-

नालंदा की स्थापना संभवत: कुमारगुप्त प्रथम के शासन में हुई। यह केवल शिक्षा का केंद्र नहीं था, बल्कि एक ज्ञान की प्रयोगशाला थी जहाँ ग्रंथों की रचना, पुनर्लेखन और वाद-विवाद होते थे।

वलभी और विक्रमशिला-

ये संस्थान भी बौ) ग्रंथों के संरक्षण और प्रचार में सहायक रहे। यहाँ से कई बौ) शास्त्र चीन, तिब्बत और मधय एशिया तक पहुँचे।

5. विदेशी यात्रियों की ख्रष्टि में गुप्तकालीन बौ) साहित्य

चीन के महान तीर्थयात्री ाह्यान और बाद में]वेनसांग, गुप्तकालीन भारत आए और उन्होंने यहाँ के बौ) जीवन और साहित्य का वर्णन किया। ाह्यान ने पाटलिपुत्र, वैशाली और नालंदा का भ्रमण किया और बताया कि वहाँ विनय पिटक, धाम्मपद, आदि ग्रंथों का स्वर पाठ होता था। उन्होंने यह भी लिखा कि बौ) साहित्य के प्रति जनमानस की श्र)ा अत्यधिाक थी।

6. हस्तलिखित ग्रंथ और अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव

गिलगित, बामियान और डुनहुआंग जैसी स्थलों से मिले बौ) ग्रंथ इस बात का प्रमाण हैं कि गुप्तकालीन बौ) साहित्य एशिया भर में ैला। गिलगित हस्तलिपियाँ में महायान सूत्रें के संस्ख्रत संस्करण हैं, जो 5वीं-6वीं शताब्दी के हैं।

गुप्त साम्राज्य के पतन के साथ-साथ हिंदू पुनरुत्थान भी प्रारंभ हुआ। ि‍र भी, बौ) साहित्य का प्रवाह रुका नहीं। यह परंपरा पाल वंश में और आगे विकसित हुई। गुप्तकाल इस अर्थ में अद्वितीय था कि इसने बौ) साहित्य को दार्शनिक, सौंदर्यात्मक और वैश्विक ऊँचाइयों तक पहुँचाया। गुप्तकालीन बौ) साहित्य केवल धाार्मिक ग्रंथों का संग्रह नहीं, बल्कि भारतीय बौ)क परंपरा का गौरवशाली अधयाय है। इसमें संस्ख्रत साहित्य की चमक, दार्शनिक गहराई, और सांस्ख्रतिक संवाद का अद्‌भुत संगम है।

जैन साहित्य

गुप्त काल की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता थी धाार्मिक विविधाता में एकता। इसने जैन आचार्यों और विद्वानों को विभिन्न क्षेत्रें में स्वतंत्र रूप से विचरण करने, उपदेश देने, तथा ग्रंथों की रचना करने की अनुमति दी। विशेष रूप से गुजरात, राजस्थान, मधय भारत और दक्षिण भारत में जैन धार्म का प्रभाव बना रहा। श्वेतांबर और दिगंबर परंपराओं के विद्वानों ने इस युग में कई अमर ग्रंथों की रचना की। यह वह समय था जब ज्ञान का स्वरूप मौखिक से लिपिब) हो रहा था, और धाार्मिक ग्रंथों को प्रमाणित, व्यवस्थित और वर्गीख्रत किया जा रहा था।

भाषा और साहित्यिक शैली

गुप्तकालीन जैन साहित्य मुख्यत: निम्नलिखित भाषाओं में रचा गया- प्राख्रत ब्धविशेषत: अर्धामागधाी और शौरसेनीऋ, संस्ख्रत, जो उस समय की विद्वत भाषा बन चुकी थी, अपभ्रंश, कुछ बाद की काव्य ख्रतियों में।

जैसे-जैसे संस्ख्रत का बौ)क और सांस्ख्रतिक वर्चस्व बढ़ा, वैसे-वैसे जैन विद्वानों ने भी दर्शनशास्त्र और तर्कशास्त्र की रचनाओं के लिए संस्ख्रत को अपनाया। प्राख्रत में जहां धाार्मिक और नैतिक ग्रंथों की रचना हुई, वहीं संस्ख्रत में विश्लेषणात्मक और वैज्ञानिक ग्रंथ लिखे गए।

गुप्तकालीन प्रमुख जैन ग्रंथ

1. तत्त्वार्थसूत्र-

आचार्य उमास्वाति द्वारा संस्कृत भाषा में रचित यह ग्रंथ श्वेतांबर और दिगंबर दोनों समुदायों द्वारा अनुकरणीय है। इसका विषय जैन दर्शन का वैज्ञानिक ढांचा है।

विशेषता-

यह ग्रंथ सात तत्त्वों द्धजीव, अजीव, आस्रव, बंधा, संवर, निर्जरा और मोक्षऋ के माधयम से जैन दार्शनिक प्रणाली की वैज्ञानिक व्याख्या करता है। इसकी शैली अत्यंत संक्षिप्त और सूत्रत्मक है, जिससे यह एक प्रकार का दार्शनिक गणितीय प्रारूप बन जाता है एक ऐसा प्रारूप जो ज्ञान की गहराइयों को सूत्रें में समेटता है। यह ग्रंथ ऐसा पहला प्रयास था, जिसमें जैन सि)ांतों को वैज्ञानिक प)ति से वर्गीख्रत किया गया, जो आगे चलकर बौ), वैदिक और सांख्य दर्शनों के साथ संवाद का माधयम बना।

2. षट्खण्डागम और इसके टीका ग्रंथ

आचार्य पुष्पदंत और भूतरबली रचित यह ग्रंथ प्राकृत भाषा में है

विशेषता-

कर्म सि)ांत की गणनात्मक व्याख्या। यह ग्रंथ विशेष रूप से दिगंबर परंपरा में पूज्य है। इसमें कर्मों के गुणात्मक एवं मात्रत्मक प्रभावों को जैसे किसी भौतिक वैज्ञानिक की तरह विश्लेषित किया गया है। इसके बाद आचार्य वीरसेन और जिनसेन ने इस ग्रंथ पर जो टीकाएँ लिखीं द्धजैसे धावला, जयधावलाऋ, वे जैन दर्शन के गणितीय और ब्रह्मांडीय पक्षों का एक उत्ख्रष्ट उदाहरण हैं।

3. जैनेन्द्र व्याकरण

पाणिनीय परंपरा की भांति रचित प्राख्रत भाषा का व्याकरण ग्रंथ है। यह व्याकरण केवल भाषा का नियमावली नहीं था, बल्कि शब्द और अर्थ के संबंधा की तर्कशास्त्रीय व्याख्या भी करता था। जैन व्याकरणाचार्यों ने यह सुनिश्चित किया कि उनकी भाषिक परंपरा भी शु)ता और संरचना में किसी वैदिक परंपरा से कम न हो।

4. पंचास्तिकाय-

आचार्य कुंदकुंद द्वारा रचित प्राकृत भाषा में इस ग्रंथ की विषयवस्तु अस्तित्व की पांच श्रेणियाँ जीव, पुद्गल, धार्म, अधार्म और आकाश से सम्बन्धित है। कुंदकुंद का यह ग्रंथ एक प्रकार की दार्शनिक भौतिकी है, जिसमें पदार्थ और चेतना, गति और स्थिरता, अंतरिक्ष और समय को विवेचनात्मक ख्रष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। उनका दोहरे ख्रष्टिकोण का सि)ांत द्धव्यवहार नय और निष्चय नयऋ अपेक्षावाद की तरह कार्य करता है।

5. अनुयोगद्वार सू>

श्वेतांबर परंपरा के अन्तर्गत प्राख्रत भाषा में रचित इस ग्रंथ की विषयवस्तु ग्रंथों के अधययन हेतु चार अनुयोगों का वर्गीकरण- प्रथमानुयोग कथा और इतिहास, करणानुयोग गणित और खगोल, द्रव्यानुयोग तत्व दर्शन, चराणानुयोग- आचार संहिता है।

महत्त्व-

यह ग्रंथ एक प्रकार की ज्ञान की वर्गीकरण प)ति प्रदान करता है जैसे आज की लाइब्रेरी साइंस या डेटा टैक्सोनक्रमी। इससे

जैन ग्रंथों को विषयानुसार पढ़ना और समझना सरल हो गया।

6. जैन पुराण एवं कथात्मक साहित्य

गुप्त काल में जैन धार्म ने नैतिक शिक्षाओं को रोचक कहानियों और महापुरुषों के जीवन चरित्रें के माधयम से व्यद्र किया। इन कथाओं ने न केवल धाार्मिक श्र)ा को जागृत किया, बल्कि साहित्यिक कल्पनाशद्रि और लोकशिक्षा का माधयम भी बनीं।

7. रामायण और महाभारत के जैन संस्करण

पद्मपुराण द्धरविसेन द्वारा ख्र 7वीं शताब्दी में, परंतु इसकी नींव गुप्त काल मेंऋ आदिपुराण द्धजिनसेन द्वाराऋ। इन पुराणों में वैज्ञानिक और नैतिक बोधा का समन्वय है, जैसे ख्र जीवन की अनित्यता, करुणा की महत्ता, और अहिंसा का सार्वभौमिक मूल्य।

साहित्यिक केंद्र और ज्ञान परंपराएं

वलभी द्धगुजरातऋ

श्वेतांबर परंपरा का मुख्य शिक्षा केंद्र, जहाँ पर ग्रंथों का संकलन, संपादन और शिक्षण किया जाता था।

मथुरा और उज्जैन

इन क्षेत्रें में जैन मूर्ति पूजा और सांस्ख्रतिक क्रियाशीलता का संगम था। यहाँ अनेक विद्वान कार्यरत थे।

कर्नाटक एवं दक्षिण भारत

हालाँकि यह क्षेत्र गुप्त साम्राज्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण में नहीं था, लेकिन वहाँ की जैन परंपरा पर गुप्तकालीन ज्ञान की छाया स्पष्ट दिखाई देती है।

कला और साहित्य का समन्वय

जैसे ही साहित्य में तीर्थंकरों की आदर्श छवियों का वर्णन हुआ, उसी प्रकार कला में भी इन छवियों का प्रतीकात्मक रूपांतरण देखा गया। उदयगिरि की गुफाएँ, जिनमें जैन मूर्तियाँ उकेरी गईं, स्तंभलेख, जिनमें जैन भजनों और सूत्रें का समावेश है। इससे यह स्पष्ट होता है कि साहित्य और ख्रश्य कला एक-दूसरे के पूरक थे, और दोनों मिलकर धार्म का प्रचार कर रहे थे।

दार्शनिक संवाद और वैज्ञानिक तर्क

गुप्त काल का भारत एक वैचारिक प्रयोगशाला था, जहाँ जैन, बौ) और वैदिक विचारधाराएँ आपस में संवाद कर रही थीं। जैन विद्वानों ने अपनी विशेष दार्शनिक प)तियों को प्रस्तुत किया। अनेकांतवाद- वस्तु को अनेक ख्रष्टिकोण से देखने की प्रणाली। स्याद्वाद- सापेक्षिक कथन प्रणाली, नयवाद- सीमित दृष्टिकोणों की स्वीख्रति। ये सि) ांत आधुनिक तार्किक बहुविधाता द्धउनसजप-अंसनमक सवहपबऋ के तुल्य हैं और यह दिखाते हैं कि जैन दर्शन केवल आस्था पर नहीं, बल्कि तर्क और विश्लेषण पर आधाारित है।

गुप्त काल में जैन साहित्य का जो विकास हुआ, वह एक दार्शनिक-विज्ञानात्मक क्रांति के समान था। यद्यपि राजनीतिक संरक्षण सीमित था, फिर भी जैन मुनियों और लेखकों ने ज्ञान की अग्निशिखा को प्रज्वलित रखा। उनकी ख्रतियाँ न केवल धाार्मिक श्र)ा की वाहक थीं, बल्कि दार्शनिक स्पष्टता, व्याकरणिक शु)ता, और वैज्ञानिक विवेक का परिचय भी देती हैं।

Text Book: The Gupta Empire by Radhakumud Mookerji

Recommended Readings:

1. V.S Agarwal, Indian Art, Varanasi, Prithvi Prakasahan, 1972.
2. Percy Brown, Indian Architecture, Bombay, D.B.Taraporevala Sons &Co, 1940
3. James Harle, The Art & Architecture of the Indian Subcontinent, Hormonds worth, Penguin, 1988

4. Sharma, R.S., Prarambhik Bharat ka Parichay, (Hindi) New Delhi 2017.
5. Raychoudhury, H.C., PrācīnBhārataKāRājanītikaItihāsa (Hindi), Allahabad,
6. Singh, U., A Histtory of Ancient and Early Medieval India, From The Stone Age To The 12th Century, Delhi 2016
7. Basham A. L. The Wonder that was India, London
8. Srivastava, K. C., Prachin Bharat ka ItihasTathaSanskriti, Allahabad, 2019
9. Jha D. N., Ancient India:In Historical Outline, 1997

.....

5 अंक के प्रश्नः-

1. कालिदास का परिचय दीजिए।
2. अभिज्ञान शाकुंतलम् की विशेषताएँ लिखिए।
3. गुप्तकालीन संस्ख्रत साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
4. वराहमिहिर के योगदान का वर्णन कीजिए।
5. आर्यभट की उपलब्धियाँ बताइए।

15 अंक के प्रश्नः-

1. गुप्तकालीन संस्ख्रत साहित्य का विस्तृत अधययन कीजिए।
2. कालिदास की साहित्यिक उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।
3. गुप्तकालीन विद्वानों के योगदान का विश्लेषण कीजिए।
4. गुप्तकाल को संस्ख्रत साहित्य का स्वर्ण युग क्यों कहा जाता है?
5. गुप्तकालीन साहित्य का भारतीय संस्ख्रति पर प्रभाव स्पष्ट कीजिए।

MCQ

1.अभिज्ञान शाकुंतलम् के रचयिता कौन हैं?

(क) आर्यभट

(ख) कालिदास

(ग) वराहमिहिर

(घ) विशाखदत्त

उत्तर (ख)

2.आर्यभट किस क्षेत्र के विद्वान थे?

(क) साहित्य

(ख) गणित

(ग) राजनीति

(घ) संगीत

उत्तर (ख)

3. वराहमिहिर का संबंधा किस विषय से था?

(क) चिकित्सा

(ख) खगोलशास्त्र

(ग) चित्र कला

(घ) राजनीति

उत्तर (ख)

4. गुप्तकाल में राजभाषा कौन-सी थी?

(क) पाली

(ख) संस्ख्रत

(ग) प्राख्रत

(घ) हिंदी

उत्तर (ख)

5. विशाखदत्त किस रचना के लिए प्रसि) हैं?

(क) मेघदूत

(ख) मुद्राराक्षस

(ग) कुमारसंभव

(घ) रघुवंश

उत्तर (ख)

स्मरणीय बिंदःु

- गुप्तकाल संस्ख्रत साहित्य का स्वर्ण युग था।
- कालिदास महान कवि एवं नाटककार थे।
- आर्यभट एवं वराहमिहिर ने विज्ञान में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

शब्दावलीः-

- संस्ख्रत साहित्य
- कालिदास
- अभिज्ञान शाकुंतलम्
- आर्यभट
- वराहमिहिर

॥ ओ३म् ॥

सरल-मानक-संस्कृतम्

BDPHSE -305

दिव्य प्रकाशन

सरल-मानक-संस्कृतम्

BDPHAE-305

Credits- 02
Marks-50

खण्ड १: भाषा परिचयः, वाक्य रचना १ **(1/2 क्रेडिट)**

इकाई १ – संस्कृतभाषापचियः।

इकाई २ – स्वपरिचयः, सामान्यपदपरिचयः (नामपदम्, क्रियापदम्); वर्तमानकालः (प्रथमपुरुष, एकवचनम्, बहुवचनम्, उत्तमपुरुष, द्विवचनम्)

इकाई ३ – भविष्यत्कालः, भूतकालः, कालपरिवर्तनम्।

इकाई ४ – संख्या, समयः, देहाङ्गानि।

खण्ड २: वाक्यरचना २, कथा-वाचनम् **(1/2 क्रेडिट)**

इकाई ५ – लिङ्गभेदः, विभक्तिभेदः, विशेषणम्।

इकाई ६ – अव्ययम्, बन्धुवाचक-शब्दाः, दिनचर्या।

इकाई ७ – प्रसङ्ग-वाचनम् (गुरुशिष्यसम्भाषणम्, मित्रसम्भाषणम् आदि)

इकाई ८ – सरलसंस्कृतकथानां वाचनम्।

खण्ड ३: संस्कृतलेखनम् १ **(1/2 क्रेडिट)**

इकाई ९ – वेदवेदाङ्गानां महत्वं, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।

इकाई १०– उपनिषदां महत्वम्, ईश्वरस्य स्वरूपम्।

इकाई ११ – भारतं पञ्चमो वेदः, पुराण लक्षणम् तेषां महत्वं च।

इकाई १२ – संस्कृतभाषायाः महत्त्वम्, संस्कृतस्य रक्षार्थं प्रसारार्थं चोपायाः।

खण्ड ४: संस्कृतलेखनम् २ **(1/2 क्रेडिट)**

इकाई १३ – भारतीयदर्शनानां महत्वं वैशिष्ट्यं च, श्रीमद्भगवद्गीतायाः महत्त्वम्।

इकाई १४ – नास्ति सांख्यसमं ज्ञानम्, एक सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।

इकाई १५ – नास्ति योगसमं बलम्, अष्टाङ्गयोगस्य महत्त्वम्।

इकाई १६ – वैशेषिकदर्शने पदार्थविभागः, न्यायदर्शने प्रमाणमीमांसा।

पाठ्यक्रम-लक्ष्याः (Course Objectives) –

- शिक्षार्थिनः संस्कृतभाषया नित्यजीवनविषयेषु - स्वागतम्, परिचयः, सामान्यसामाजिकव्यवहाराः - सम्बन्धिनि संवादे सम्मिलितुं समर्थाः स्युः।
- संवादात्मकपरिस्थितिषु संस्कृतभाषायाः श्रवणसम्बद्धं बोधं वर्धयितुं समर्थाः स्युः।
- संस्कृतभाषायाः लेखनपठनबोधनकौशलानि विकसयितुं समर्थाः स्युः।

पाठ्यक्रम-परिणामाः (Course Outcomes)–

- छात्राः सरलसंवादं कर्तुं, प्रश्नान् प्रष्टुं उत्तरं च दातुं, सामाजिकप्रसङ्गेषु यथोचितं संस्कृतवाक्यप्रयोगं च कर्तुं शक्ष्यन्ति।
- छात्राः लघुश्रवणपाठान् ज्ञातुं, मुख्यसूचनां गृहीतुं, वार्तालापं च कर्तुं शक्ष्यन्ति।
- छात्राः सरलसंस्कृते विविधविषयेषु लिखनं लिखितुं शक्ष्यन्ति।

विषय सूची

खण्ड-१: भाषा परिचयः, वाक्य रचना १		**४-१०**
इकाई-१.१ -	संस्कृतभाषापचियः।	४-५
इकाई-१.२ -	स्वपरिचयः, सामान्यपदपरिचयः (नामपदम्, क्रियापदम्); वर्तमानकालः (प्रथमपुरुष, एकवचनम्, बहुवचनम्, उत्तमपुरुष, द्विवचनम्)	६-६
इकाई- १.३ -	भविष्यत्कालः, भूतकालः, कालपरिवर्तनम्।	७-७
इकाई- १.४ -	संख्या, समयः, देहाङ्गानि।	८-१०
खण्ड-२: वाक्यरचना २, कथा-वाचनम्		**११-१४**
इकाई-२.१ -	लिङ्गभेदः, विभक्तिभेदः, विशेषणम्।	११- ११
इकाई २.२ -	अव्ययम्, बन्धुवाचक-शब्दाः, दिनचर्या।	१२- १२
इकाई-२.३ -	प्रसङ्ग-वाचनम् (गुरुशिष्यसम्भाषणम्, मित्रसम्भाषणम् आदि)	१३-१३
इकाई-२.३ -	सरलसंस्कृतकथानां वाचनम्।	१४- १४
खण्ड-३: संस्कृतलेखनम् १		**१५-२३**
इकाई-३.१ -	वेदवेदाङ्गानां महत्वं, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।	१५-१६
इकाई-३.२-	उपनिषदां महत्वम्, ईश्वरस्य स्वरूपम्।	१७-१८
इकाई-३.३ -	भारतं पञ्चमो वेदः, पुराण लक्षणम् तेषां महत्वं च।	१९-२१
इकाई-३.४ -	संस्कृतभाषायाः महत्त्वम्, संस्कृतस्य रक्षार्थं प्रसारार्थं चोपायाः।	२२-२३
खण्ड-४: संस्कृतलेखनम् २		**२४-३२**
इकाई-४.१ -	भारतीयदर्शनानां महत्वं वैशिष्ट्यं च, श्रीमद्भगवद्गीतायाः महत्त्वम्।	२४-२५
इकाई-४.२ -	नास्ति सांख्यसमं ज्ञानम्, एक सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।	२६-२७
इकाई-४.३ -	नास्ति योगसमं बलम्, अष्टाङ्गयोगस्य महत्त्वम्।	२८-२९
इकाई-४.४-	वैशेषिकदर्शने पदार्थविभागः, न्यायदर्शने प्रमाणमीमांसा।	३०-३२

खण्ड-१: भाषा परिचयः, वाक्य रचना १

इकाई-१.१ - संस्कृतभाषापरिचयः

उद्देश्य-

छात्रान् संस्कृतभाषायाः इतिहासेन मौलिकस्वरूपेण च परिचाययितुम्।

संस्कृतभाषायाः महत्त्वम् -

संस्कृतभाषा विश्वस्य प्राचीनतमा शास्त्रीया भाषा अस्ति। इयं भाषा 'देवभाषा', 'सुरवाणी', 'गीर्वाणवाणी' इत्यादिभिः नामभिः प्रसिद्धा। संस्कृतं भारतीयसंस्कृतेराधारोस्ति। ऋग्वेदः, यजुर्वेदः, सामवेदः, अथर्ववेदः इत्येते चत्वारो वेदाः संस्कृतभाषायां लिखिताः सन्ति। न केवलं वेदाः, अपितु उपनिषदः, पुराणानि, महाकाव्यानि च संस्कृतभाषायामेव सन्ति। अस्याः **'भाषाणां जननी'** इति उच्यते। अस्या भाषायाः व्याकरणं विविधैराचार्यैः लिखितमस्ति। तथाऽपि महर्षिणा पाणिनिना रचितं 'अष्टाध्यायी' सुप्रसिद्धं महत्त्वपूर्णं च व्याकरणमस्ति। शास्त्रेषु एव स्पष्टीकृतम् - **"काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्"** इति।

संस्कृतभाषायाः उत्पत्तिः च विकासः

संस्कृतभाषायाः मूलं वैदिकसंस्कृतौ अस्ति। कालक्रमेण इयं लौकिकसंस्कृतम् इति रूपेण परिणता। वैदिकसंस्कृतम्-ऋग्वेदादिषु प्रयुक्तम्। यथा वैदिकः श्लोकः -**'अग्निमीळे पुरोहितम्'** (ऋग्वेदः)। लौकिकसंस्कृतम्-रामायण-महाभारतकाले प्रचलितम्, कालिदास-भास-भवभूतिप्रभृतिभिः वा प्रयुक्तम्। यथा लौकिकः श्लोकः - 'वागर्थाविव संपृक्तौ' (रघुवंशम्)।

संस्कृतभाषायाः वैशिष्ट्यम्

व्याकरणस्य सुस्थिरता पाणिनीयव्याकरणेन नियन्त्रिता। प्रत्येकं शब्दः कस्याश्चित् धातोः जन्यते, अतः धातुमूलकता अपि अस्ति। संस्कृते द्विसहस्राधिकाः धातवः वर्तन्ते। संस्कृते अन्यः प्रमुखः प्रसिद्धश्च शब्दः समासः। दीर्घशब्दाः समासैः निर्मिताः, अतः अधिकाः समासयुक्ताः शब्दाः प्रयुक्ताः। तेन वाक्यलाघवमपि भवति। योग-आयुर्वेदे अपि संस्कृतशब्दा एव प्रयुक्ताः यथा "योगः", ''प्राणायामः', 'त्रिदोषाः', 'मनः' इत्यादि। विज्ञानस्य विचारा अपि संस्कृतभाषायं विशिष्य विचारितमस्ति, यथा 'उपग्रहः' (satellite), 'अन्तरिक्षम्' (space) इत्यादि। संस्कृतभाषाया अध्ययनं विद्यालयेषु विश्वविद्यालयेषु च अत्यवश्यकम्। न केवलं शिक्षणसंस्थासु, अपितु भारतस्य विश्वस्य वा प्रत्येकं मानवः स्वस्य मूलम्, देशम्, संस्कृत्यादीन् वा अवगन्तुं साधनमस्ति संस्कृतम्। संस्कृतभाषा अस्माकं संस्कृतेः मूलाधारः अस्ति। अस्याः अध्ययनेन ज्ञानं, संस्कृतिश्च वर्धते।

संस्कृतम् इति शब्दः 'सं' (सम्यक्) + 'कृतम्' (संस्कृतं, शुद्धं) इति द्वाभ्यां शब्देभ्यः निर्मितः अस्ति। अर्थात्- शुद्धा, सुव्यवस्था, समृद्धा भाषा। एषा भाषा भारतस्य अतीव प्राचीनतमभाषा अस्ति। वेदाः, उपनिषदः, गीता, रामायणं, महाभारतम्, योगसूत्राणि, आयुर्वेदः, नाट्यशास्त्रम्, अनेके शास्त्रग्रन्थाः च संस्कृतभाषायाम् एव लिखिताः सन्ति।

संस्कृतभाषायाः महत्त्वम्

- नियमबद्धता- संस्कृतभाषा अतीव व्यवस्थितभाषा अस्ति। तत्र व्याकरणं पाणिनिना अतीव सूक्ष्मरूपेण रचितम्।
- शुद्धता- संस्कृतशब्दाः स्पष्टाः, विशुद्धाः च भवन्ति।
- लाघवम्- संस्कृते लघु वाक्येनापि गम्भीरः अर्थः प्रकाश्यते।
- गौरवः- संस्कृतवाक्यं श्रवणमात्रेण गौरवं, मधुरतां च अनुभवामः।
- बहुव्यापकता- धर्मः, दर्शनं, विज्ञानं, गणितं, नाट्यं, आयुर्वेदः, योग, ज्योतिषं, नीतिशास्त्रं-सर्वाणि शास्त्रापि संस्कृतम् उपयुज्यन्ते।

इतोऽपि केचन अंशाः संस्कृतभाषायाः महत्त्वम् वक्तुं, समर्थाः

- भारतीयसंस्कृतेः मूलम् - भारतीयधर्मः, चिन्तनम्, संस्कृतिः, परम्परा, शास्त्राणि च सर्वाणि संस्कृतभाषायां स्थितानि सन्ति।

- वेद-शास्त्र-ग्रन्थानां भाषा - सर्वे वेदाः, उपनिषदः, स्मृतयः, पुराणानि, महाकाव्यं, योगविज्ञानं च संस्कृतभाषायामेव लिखितम्।
- विज्ञानशास्त्रे उपयोगः - प्राचीनभारते गणितम् (आर्यभट्टः), रसायनम्, खगोलशास्त्रम् (वराहमिहिरः), वास्तुशास्त्रं च संस्कृते एव रचितम्।
- विश्वे संस्कृतस्य अध्ययनम् - अधुना जर्मनी, अमेरिका, इंग्लैंड, रशिया, जापानदेशे अपि संस्कृतभाषाया अध्ययनं क्रियते।
- संगणकविज्ञाने उपयोगिता - संस्कृतं नियमबद्धतया भाषासु श्रेष्ठतमा अस्ति। अतः सङ्गणक- तन्त्रज्ञानादिषु क्षेत्रेषु संस्कृतस्य प्रयोगः अधिकं भवति भविष्यति च ।
- मानसिकविकासाय सहायकम् - संस्कृतपठनस्य अभ्यासः स्मरणशक्तिं, एकाग्रतां, विवेकं च वर्द्धयति।

विद्यालयविश्वविद्यालयादिसंस्थासु संस्कृतभाषायाः पठनस्य, पाठनस्य, शोधकर्मणश्च आवश्यकता अतीव वर्तते। विद्यार्थिभिः संस्कृतभाषाया पाठः कर्तव्यः। तस्मात् ते वेदाः, श्रीमद्भागवद् गीता, उपनिषदः, रामायणम्, नीति- कथाः इत्येतान् च अर्थपूर्णं पठितुं शक्नुवन्ति। संस्कृतं पठित्वा छात्राः धर्मं, नीतिं, संस्कृतिं च जानन्ति।

संस्कृतं न केवलं भाषा अस्ति, अपि तु भारतस्य आत्मा अस्ति। एषा भाषा न केवलं प्राचीनतमा, किन्तु वैज्ञानिक-भाषा, व्यवस्थित-भाषा, वाङ्मयसमृद्धा च अस्ति। "या भाषा न केवलं ज्ञानदायिनी, अपि तु सांस्कृतिक-अभिमानस्य मूलम्, सा अस्ति-संस्कृतम्।" अतः अस्माभिः संस्कृतभाषायाः अध्ययनं, संरक्षणं, प्रचारं च अवश्यं कर्तव्यम्।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. संस्कृतभाषाया स्वरूपं किम्?

(क) म्लेच्छभाषा

(ख) भाषाणां जननी

(ग) आङ्ग्लभाषा

(घ) न किमपि।

2. ऋग्वेदः कस्यां भाषायां लिखितः अस्ति?

(क) हिन्दी (ख) पाली (ग) संस्कृतम् (घ) प्राकृतम।

2 अंक के प्रश्न-

'संस्कृतम्' इति शब्दस्य व्युत्पत्तिं लिखत।

संकृतभाषाया वैशिष्ट्यं किम्?

7 अंक के प्रश्न-

संस्कृतभाषायाः विकासक्रमं सोदाहरणं स्पष्टीकुरुत।

आधुनिक-सङ्गणक-क्षेत्रे संस्कृतस्य उपयोगितां वर्णयत।

इकाई-१.२ - स्वपरिचयः, सामान्यपदपरिचयः (नामपदम्, क्रियापदम्); वर्तमानकालः (प्रथमपुरुष, एकवचनम्, बहुवचनम्, उत्तमपुरुष, द्विवचनम्)

उद्देश्य-

छात्रेषु स्वपरिचयप्रदानस्य तथा च वर्तमानकाले नामपदानां क्रियापदानां च प्रयोगकौशलस्य विकासः।

संस्कृते स्वपरिचयः।

१. मम नाम .....।
२. अहं पतंजलिविश्वविद्यालये पठामि।
३. अहं हरिद्वारनगरे वसामि।
४. मम राज्यम्/नगरम्/ग्रामः ..... अस्ति।
५. मम गृहे ..... (१/२/३/४.....) जनाः वसन्ति।
६. मम मातुः नाम .....।
७. मम पितुः नाम .....।
८. मम पिता ..... (कृषिकः/ वैद्यः/ शिक्षकः) अस्ति।
९. अहं ....., ..., ... (पुस्तकपठनम्/ सामाजिककार्यम्/ वार्ताश्रवणम्/ यज्ञकरणम्/ मिताहारम्/ वेदपठनम्) च इच्छामि।
१०. अहं संस्कृतभाषां बहु इच्छामि।

सामान्यपदपरिचयः

(अत्र संस्कृतभाषायां सुप्रसिद्धाः, अत्युपयुक्ताः धातवः शब्दाश्च पाठ्यन्ते)

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. 'वसति' इति क्रियापदस्य अर्थः कः?

(क) To read
(ख) To live
(ग) To go
(ग) To see-

2. मातृ शब्दस्य षष्ठीविभक्तौ रूपं किम्?

(क) मातुः (ख) माता (ग) मातरं (घ) मात्रा।

3. रामाद् इत्यस्य बहुवचनं रूपं किम्?

(क) रमस्य (ख) रामाः (ग) रामेभ्यः (घ) रामैः।

2 अंक के प्रश्न-

'मम पिता कृषिकः अस्ति' - अस्य वाक्यस्य अर्थं लिखत।

गम्-धातोः लट्लकारस्य रूपाणि लिखत।

7 अंक के प्रश्न-

1. दशवाक्येषु संस्कृतभाषायां स्वपरिचयम् उपस्थापयत।
2. रामशब्दं पुस्तकशब्दं च लिखत।
3. वर्तमानकालप्रयोगे दशवाक्यानि लिखत।

इकाई-१.३ - भविष्यत्कालः, भूतकालः, कालपरिवर्तनम।

उद्देश्य-

छात्रेभ्यः भूत-भविष्यत्कालानां प्रयोगस्य तथा च कालपरिवर्तनस्य नियमानां बोधनम्।

(अत्र संस्कृतभाषायां भविष्यत्काले भूतकाले च पाठ्यन्ते)

उदाहरणम्: -

- वर्तमानकालः - रामः विश्वविद्यालयं गच्छति।
- भविष्यत्कालः - रामः विश्वविद्यालयं गमिष्यति।
- भूतकालः - रामः विश्वविद्यालयं गतवान्। (सीता गतवती)

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. 'पठति' इत्यस्य भविष्यत्काले रूपं किम्?

(क) पठिष्यति

(ख) अपठत्

(ग) पठितवान्

(घ) पठतु।

2. 'गच्छति' इत्यस्य भूतकाले रूपं किम्?

(क) गमिष्यति

(ख) गत्वा

(ग) गन्तुम्

(घ) अगच्छत्।

2 अंक के प्रश्न-

वर्तमानकाले चत्वारि वाक्यानि लिखत।

वर्तमानकालतः भविष्यत्काले वाक्यद्वयस्य परिवर्तनं कुरुत।

3 अंक के प्रश्न-

भविष्यत्कालस्य दश वाक्यानि रचयत।

इकाई-१.४ - संख्या, समयः, देहाङ्गानि।

उद्देश्य-

छात्रेभ्यः संस्कृते संख्यानां, समयलेखनस्य तथा शरीरावयवानामभिधानानां च व्यावहारिकज्ञानप्रदानम्।

संख्या - १-१००

1-10	21-30	41-50
एकम्	21. एकविंशतिः	41. एकचत्वारिंशत्
द्वे	22. द्वाविंशतिः	42. द्विचत्वारिंशत्
त्रीणि	23. त्रयोविंशतिः	43. त्रिचत्वारिंशत्
चत्वारि	24. चतुर्विंशतिः	44. चतुश्चत्वारिंशत्
पञ्च	25. पञ्चविंशतिः	45. पञ्चचत्वारिंशत्
षट्	26. षड्विंशतिः	46. षट्चत्वारिंशत्
सप्त	27. सप्तविंशतिः	47. सप्तचत्वारिंशत्
अष्ट	28. अष्टाविंशतिः	48. अष्टचत्वारिंशत्
नव	29. नवविंशतिः	49. नवचत्वारिंशत्
दश	30. त्रिंशत्	50. पञ्चाशत्
11-20	**31-40**	**51-60**
11. एकादश	31. एकत्रिंशत्	51. एकपञ्चाशत्
12. द्वादश	32. द्वात्रिंशत्	52. द्विपञ्चाशत्
13. त्रयोदश	33. त्रयस्त्रिंशत्	53. त्रिपञ्चाशत्
14. चतुर्दश	34. चतुस्त्रिंशत्	54. चतुःपञ्चाशत्
15. पञ्चदश	35. पञ्चत्रिंशत्	55. पञ्चपञ्चाशत्
16. षोडश	36. षट्त्रिंशत्	56. षट्पञ्चाशत्
17. सप्तदश	37. सप्तत्रिंशत्	57. सप्तपञ्चाशत्
18. अष्टादश	38. अष्टात्रिंशत्	58. अष्टापञ्चाशत्
19. नवदश	39. नवत्रिंशत्	59. नवपञ्चाशत्
20. विंशतिः	40. चत्वारिंशत्	60. षष्टिः

61-70	81-90	
61. एकषष्टिः	81. एकाशीतिः	
62. द्विषष्टिः	82. द्व्यशीतिः	
63. त्रिषष्टिः	83. त्र्यशीतिः	
64. चतुःषष्टिः	84. चतुरशीतिः	
65. पञ्चषष्टिः	85. पञ्चाशीतिः	
66. षट्षष्टिः	86. षडशीतिः	
67. सप्तषष्टिः	87. सप्ताशीतिः	
68. अष्टाषष्टिः	88. अष्टाशीतिः	
69. नवषष्टिः	89. नवाशीतिः	
70. सप्ततिः	90. नवतिः	
71-80	**91-100**	
71. एकसप्ततिः	91. एकनवतिः	
72. द्विसप्ततिः	92. द्विनवतिः	
73. त्रिसप्ततिः	93. त्रिनवतिः	
74. चतुःसप्ततिः	94. चतुर्नवतिः	
75. पञ्चसप्ततिः	95. पञ्चनवतिः	
76. षट्सप्ततिः	96. षण्णवतिः	
77. सप्तसप्ततिः	97. सप्तनवतिः	
78. अष्टासप्ततिः	98. अष्टानवतिः	
79. नवसप्ततिः	99. नवनवतिः	
80. अशीतिः	100. शतम्	

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. इत्यस्य संस्कृते किम्?

(क) विंशतिः

(ख) पञ्चविंशतिः

(ग) पञ्चाशत्

(घ) पञ्चदश।

2. '८०' इत्यस्य संस्कृते किम्?

(क) सप्ततिः

(ख) अशीतिः

(ग) नवतिः

(घ) शतम्।

3. '०१:१५' इत्यस्य संस्कृते किम्?

(क) सपाद-एकवादनम्

(ख) पञ्चाधिक-एकवादनम्

(ग) सार्ध-एकवादनम्

(घ) एकवादनम्।

2 अंक के प्रश्न-

1. संस्कृतभाषायां १-१० पर्यन्तं संख्याः लिखत।
2. शरीरस्य पञ्च-अङ्गानां नामानि लिखत।

7 अंक के प्रश्न-

1. ५१ तः १०० पर्यन्तं संख्याः संस्कृते लिखत।
2. देहस्य १४ अङ्गानां नामानि लिखत।

खण्ड-२: वाक्यरचना २, कथा-वाचनम्

इकाई-२.१- लिङ्गभेदः, विभक्तिभेदः, विशेषणम्

उद्देश्य-

छात्रेषु संस्कृतव्याकरणे लिङ्ग-विभक्ति-विशेषणानां शुद्धप्रयोगस्य ज्ञानवर्धनम्।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. 'पुष्पम्' इति शब्दः कस्मिन् लिङ्गे अस्ति?
(क) पुल्लिंगे
(ख) स्त्रीलिंगे
(ग) नपुंसकलिंगे
(घ) न किमपि।
2. विशेषणपदं कस्य विशेषतां प्रकटयति?
(क) क्रियायाः
(ख) विशेष्यस्य
(ग) अव्ययस्य
(घ) कालस्य।

2 अंक के प्रश्न-

1. विशेषण-विशेष्ययोः एकं उदाहरणं लिखत।
2. विभक्तिः कति प्रकाराः भवन्ति? नामानि लिखत।
3. कति लिङ्गाः वर्तन्ते? नामानि लिखत।

7 अंक के प्रश्न-

1. संस्कृतभाषायां त्रिषु लिङ्गेषु विशेष्य-विशेषणभावम् उदाहरणसहितं वर्णयत।
2. प्रथमा-विभक्तितः सप्तमी-विभक्तिं यावत् एकैकं उदाहरणं लिखत।

इकाई-२.२ - अव्ययम्, बन्धुवाचक-शब्दाः, दिनचर्या।

उद्देश्य-

छात्रान् अव्ययपदानां, बन्धुवाचकशब्दानां प्रयोगे तथा च दिनचर्यालेखने निपुणान् कर्तुम्।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. 'पितृव्यः' इति पदस्य अर्थः कः?

(क) पितुः पुत्रः

(ख) पितुः माता

(ग) पितुः भ्राता

(घ) पितुः पिता।

2. 'माता' इति कः शब्दः अस्ति?

(क) शत्रुवाचकः

(ख) बन्धुवाचकः

(घ) कालवाचकः

(ग) स्थानवाचकः।

2 अंक के प्रश्न-

1. चतुर्णां अव्ययपदानां नामानि लिखित्वा वाक्यरचनां कुरुत।
2. दिनचर्यायाः द्वे महत्वपूर्णे वाक्ये लिखत।

7 अंक के प्रश्न-

1. 'मम दिनचर्या' इति विषये निबन्धं दशवाक्येषु लिखत।

इकाई-२.३ - प्रसङ्ग-वाचनम् (गुरुशिष्यसम्भाषणम्, मित्रसम्भाषणम् आदि)

उद्देश्य-

छात्रेषु विभिन्नप्रसङ्गेषु (गुरुशिष्य-मित्रसम्भाषणादिषु) संस्कृतवार्तालापकौशलस्य विकासः।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. गुरु-शिष्यसंवादे कः उपदेशं ददाति?
(क) शिष्यः
(ख) गुरुः
(ग) मित्रम्
(घ) शत्रुः।
2. 'स्वागतम्' इति कस्य प्रसङ्गस्य शब्दः अस्ति?
(क) युद्धस्य
(ख) स्वागतप्रसङ्गस्य
(ग) शोकस्य
(घ) निन्दायाः।

2 अंक के प्रश्न-

1. संवादे 'शिष्टाचारः' किमर्थं आवश्यकः?
2. संस्कृतसम्भाषणस्य द्वे लाभौ लिखत।

7 अंक के प्रश्न-

1. द्वयोः मित्रयोः मध्ये श्परीक्षाश विषये संवादं लिखत।
2. कस्यचित् सामाजिकप्रसङ्गस्य संस्कृतसंवादं रचयत।

इकाई-२.४ - सरलसंस्कृतकथानां वाचनम्।

उद्देश्य-

छात्रेषु सरलसंस्कृतकथानां वाचनकौशलस्य अभिरुचेः वर्धनम्।

(अस्मिन् खण्डे विद्यमानाः पाठ्यांशाः प्रायोगिकरूपेण पाठ्यन्ते)

बहु बिकल्पीय प्रश्न-

1. कथा-वाचनेन कस्य विकासः भवति?
(क) श्रवणकौशलस्य
(ख) लेखनकौशलस्य
(ग) भाषणकौशलस्य
(घ) एतेषां सर्वेषाम।
2. सरलकथासु कोमलशब्दानां प्रयोगः किमर्थं क्रियते?
(क) काठिन्याय
(ख) बोधगम्यतायै
(ग) रञ्जनाय
(घ) न किमपि।

2 अंक के प्रश्न-

1. कथायाः अन्ते श्नीतिवाक्यंश किमर्थं भवति?
2. कस्यचित् एकायाः सरलकथायाः शीर्षकं सारं च लिखत।

7 अंक के प्रश्न-

1. संस्कृतकथानां पठनस्य महत्त्वं प्रतिपादयत।
2. एकां लघुकथां संस्कृते लिखत।

खण्ड-३ : संस्कृतलेखनम् १

इकाई-३.१ - वेदवेदाङ्गानां महत्वम्, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।

उद्देश्य-
छात्रान् वेदवेदाङ्गानां महत्त्वेन तथा च वेदाङ्गेषु व्याकरणस्य मुख्यस्थानेन परिचाययितुम्।

१.१ वेदवेदाङ्गानां महत्वम्

भारते सदा प्राचीनेषु समयेषु ज्ञानस्य मूलरूपं वेदाः अभवन्। वेदाः चत्वारः - ऋग्वेदः, यजुर्वेदः, सामवेदः, अथर्ववेदः च। एतेषु चतुर्षु वेदेषु समाहितं ज्ञानं न केवलम् आध्यात्मिकं अपि तु वैज्ञानिकं च अस्ति। अयं वेदज्ञानं परं पवित्रं, सर्वेषां मनुष्याणां कल्याणाय कल्पते।

वेदाः - ज्ञानस्य मूलं

वेदाः 'श्रुति' शब्देन अभिहिताः, यद् ज्ञानं परमेश्वरेण साक्षात् ऋषीणां हृदये प्रकटितम्। ते वेदाः न केवलं यज्ञविधीन् प्रतिपादयन्ति, अपि तु धर्मस्य, अर्थस्य, कामस्य च मार्गान् दर्शयन्ति। वेदेषु अनेकविधाः मन्त्राः, ब्राह्मणानि, आरण्यकानि, उपनिषत् इत्यादयः विभागाः सन्ति, यैः आध्यात्मिकं चिन्तनं, उपासना, कर्मकाण्डः, तत्वज्ञानं च विवृण्वते।

वेदाङ्गानि - वेदाध्ययनस्य साधनानि

वेदानाम् अध्ययनं यथार्थतया भवेत् इति कृतेषु षट् सहायकशास्त्राणि 'वेदाङ्गानि' इत्युच्यन्ते। एतेषां सामान्यः परिचयः -

1. **शिक्षा**- उच्चारणशास्त्रम्। मन्त्राणां स्वरः, उच्चारणप्रकारः, विरामः, दीर्घता, ह्रस्वता च शिक्षायां विवृण्वते।
2. **व्याकरणम्**- भाषायाः स्वरूपं, नियमं च दर्शयति। महर्षि-पाणिना रचिता 'अष्टाध्यायी', पतञ्जलिमुनिना रचितं 'महाभाष्यम्' च सुप्रसिद्धम्।
3. **निरुक्तम्**- शब्दानां व्युत्पत्तिः, व्याख्या च। विशेषतः वेदमन्त्रेषु प्रयुक्तानां शब्दानां अर्थम् अवगन्तुं निरुक्तम् आवश्यकम्।
4. **कल्पः**- यज्ञादिकं कर्मकाण्डं सम्यग् विधि-अनुसारं करणं कल्पशास्त्रे निर्दिष्टम्। श्रौतसूत्राणि, गृह्यसूत्राणि, धर्मसूत्राणि च अत्र प्रविष्टानि।
5. **छन्दः** - छन्दशास्त्रं पद्यानां छन्दोविधानं वर्णयति। गायत्री, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, जगती इत्यादीनि छन्दांसि प्रमुखानि।
6. **ज्योतिषम्**- यज्ञादीनां शुभकालनिर्णयः, ग्रहानक्षत्रादीनां गणना च ज्योतिषशास्त्रे कथ्यते।

वेदवेदाङ्गयोः सामञ्जस्यं

वेदाः मुख्यं ज्ञानस्रोतः अस्ति, किन्तु तस्य सम्यगधिगमाय वेदाङ्गानाम् अनिवार्यता अपि अस्ति। यथा यज्ञं यथाविधि सम्पन्नं भवेत्, तस्य कृते कल्पसूत्रेण निर्देशः आवश्यकः। तस्य कालः ज्योतिषेन ज्ञेयः। मन्त्रस्य यथोच्चारणं शिक्षया ज्ञायते। तस्य शब्दार्थः निरुक्तेन प्रतिपाद्यते। तस्य शुद्धसंरचना व्याकरणेन सिध्यते। तस्य मन्त्रस्य छन्दः अपि ज्ञायते।

एवं वेदवेदाङ्गानि भारतस्य सांस्कृतिकं, धार्मिकं, तत्त्वमीमांसात्मकं च वैभवं संवर्धयन्ति। एतेषां ज्ञानं भारतीयानां जीवने न केवलं आध्यात्मिकं चैतन्यं वर्धयति, अपि तु नैतिकं, बौद्धिकं, सांस्कृतिकं च विचारं जनयति। अतः छात्रैः, पण्डितैः, समाजेन च वेदवेदाङ्गानां अध्ययनं, संरक्षणं च अनिवार्यं मन्यते। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' - इत्युक्तिः अस्यैव सारं सूचयति।

१.२ मुखं व्याकरणं स्मृतम्

भारतीयवाङ्मये वेदानां स्थानं परमं महत्त्वपूर्णं प्रतिष्ठितम् अस्ति। वेदस्य पाठः, अध्ययनं, तथा अन्वयः यदि यथाविधि सम्पद्यते, तर्हि सहायकशास्त्राणाम् - वेदाङ्गानाम् - अतीव आवश्यकता भवति। एतेषु षट्सु वेदाङ्गेषु व्याकरणस्य स्थानं विशेषरूपेण मुख्यम् अभिधीयते।

एवमेव प्रसिद्धवाक्यम् अपि अस्ति – 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्'। इदं वाक्यं केवलं उपमा न, अपि तु वेदानां तथा सर्वस्य संस्कृतवाङ्मयस्य रक्षणाय स्थायित्वाय च अत्यन्तगौरवयुक्तं विधानम्। प्राचीनपण्डितैः वेदाङ्गानि षट् अवयवेषु विभाजितानि। एतेषां प्रतीकाशब्दैः सहाङ्गविन्यासः एवमस्ति–

1.	शिक्षा	–	शिरः
2.	कल्पः	–	बाहू
3.	निरुक्तम्	–	कण्ठः
4.	छन्दः	–	पादौ
5.	ज्योतिषम्	–	नेत्रे
6.	व्याकरणम्	–	मुखम्

तत्र व्याकरणं यः देशः यत्र शब्दः जन्यते, भाषणं प्रवर्तते, मन्त्रोच्चारणं क्रियते – तस्मिन् मुखप्रदेशे स्थाप्यते।

व्याकरणस्य तात्त्विकमहत्त्वम्

वेदोच्चारणे शुद्धतायाः आधारः – वेदमन्त्रेषु लघुस्वरसन्ध्यादीनां प्रयोगे यदि न्यूनता स्यात्, तर्हि मन्त्रार्थस्य विकृतिरेव। दोषनिवारणाय व्याकरणविद्या अनिवार्या। तथा सर्वशास्त्राणां मूलम् अस्ति व्याकरणम्। पाणिनिमुनिना प्रणीतं अष्टाध्यायी–व्याकरणम् एव समस्तसंस्कृतवाङ्मयस्य मूलाधारः। तस्य व्याख्यानरूपं महाभाष्यम् पतञ्जलिमुनिना कृतम्। न्याय–वेदान्त–मीमांसा–साहित्य–काव्य–आयुर्वेद–दर्शनादिषु व्याकरणस्य प्रमुखस्थानं दृश्यते।

ज्ञानस्य प्रसारणाय प्रमुखं साधनम् अस्ति व्याकरणम्। मुखं यथा वाणीं प्रसारयति, तथैव व्याकरणं ज्ञानस्य, विचारस्य, मन्त्रार्थस्य च प्रसाराय साधनं। यदि व्याकरणशुद्धिः न स्यात्, तर्हि तात्त्विकवाक्यानां अर्थनाशः सम्भवति। मुखेन वाणी निष्पद्यते, तथा व्याकरणेन शास्त्रवाक्यं प्रस्फुटं भवति। यदि व्याकरणं शुद्धं स्यात्–तर्हि वेदः शुद्धः। यदि वेदः शुद्धः–तर्हि धर्मः, तत्त्वविचारः, लोककल्याणं च शुद्धं जायते। तस्मात् व्याकरणं न केवलं मुखम् अस्ति, अपि तु ब्रह्मवाक्यस्य दीपकः।

बहु विकल्पीय प्रश्न–

1. वेदाः 'श्रुति' इति किमर्थं उच्यन्ते?

(क) लिखिताः सन्ति

(ख) परमेश्वरेण ऋषीणां हृदये प्रकटिताः

(ग) पठिताः सन्ति

(घ) न किमपि।

2. उच्चारणशास्त्रं किं कथ्यते?

(क) कल्पः

(ख) निरुक्तम्

(ग) शिक्षा

(घ) ज्योतिषम्।

2 अंक के प्रश्न–

1. चत्वारः वेदाः के?

2. श्कल्पशास्त्रस्यश कः उपयोगः अस्ति?

7 अंक के प्रश्न–

1. वेदवेदाङ्गानां सामञ्जस्यं विवृणुत।

2. 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्'–अस्य कथनस्य सविस्तरं विवेचनं कुरुत।

इकाई-३.२ - उपनिषदां महत्वम्, ईश्वरस्य स्वरूपम्।

उद्देश्य-

छात्रेभ्यः उपनिषदां दार्शनिकमहत्त्वस्य तत्र प्रतिपादितस्य ईश्वरस्वरूपस्य च बोधनम्।

१०.१ उपनिषदां महत्त्वम्

भारतीयदर्शने उपनिषदां स्थानं गौरवपूर्णम् अस्ति। यथा वेदानाम् शास्त्रेषु सर्वोच्चं स्थानं, तथैव वेदेषु अपि अन्तःस्थं गूढतत्त्वं प्रतिपादयन्ती उपनिषत्। 'उपनिषद्' इति शब्दः 'उप + नि + सद्' इत्यस्मात् समासेन निष्पन्नः। अर्थात्- 'गुरोः समीपे पूर्णश्रद्धया उपविशतः शिष्यस्य आत्मब्रह्मविद्यायाः प्राप्तिः येन सः ग्रन्थः' इत्यर्थे उपनिषत्।

उपनिषदां संख्या तथा स्थानम्

भारते बहूनि उपनिषद्ग्रन्थानि उपलब्धानि सन्ति, तथापि ११ मुख्याः उपनिषदः वेदान्तदर्शने प्रस्थानत्रये अन्तर्गताः मान्याः। तत्र -

1. ईशावास्योपनिषत्
2. केनोपनिषत्
3. कठोपनिषत्
4. प्रश्नोपनिषत्
5. मुण्डकोपनिषत्
6. माण्डूक्योपनिषत्
7. तैत्तिरीयोपनिषत्
8. ऐतरेयोपनिषत्
9. छान्दोग्योपनिषत्
10. बृहदारण्यकोपनिषत्
11. श्वेताश्वतरोपनिषत्

एतेषां व्याख्यां शङ्कराचार्येण, रामानुजाचार्येण, माध्वाचार्येण, अन्यैः आचार्यैश्च कृतम्।

उपनिषद् ब्रह्मविद्यायाः मूलम् अस्ति। उपनिषदः आत्मनः स्वरूपं, ब्रह्मणः तत्त्वं, जीवब्रह्मयोः ऐक्यम् च प्रतिपादयन्ति। उपनिषदेषु गुरुः शिष्यं आत्मविद्यायाः पथं प्रदर्शयति। यथा नचिकेताः यमधर्मराजं प्रति आत्मतत्त्वं पृच्छति (कठोपनिषत्)। उपनिषदः धर्मस्य मूलं ब्रह्मविचारं मन्यन्ते। कर्मकाण्डस्य फलपरत्वं निर्देश्य ज्ञानकाण्डस्य मुक्तिसाधनत्वं स्पष्टं कुर्वन्ति। उपनिषदः दर्शनं न केवलं तत्त्वचिन्तनम्, अपि तु वैज्ञानिकं शास्त्रम् अस्ति।

उपनिषदः इत्याख्यया केवलं ग्रन्थविशेषः न, अपि तु भारतीयतत्त्वदर्शनोत्कर्षरूपः जीवनोपदेशः प्रतिपाद्यते। उपनिषदां ज्ञानं न केवलं पठनीयम्, अपि तु आत्मन्येव अनुभावनीयम्। यदा उपनिषदः जीवने प्रविष्टाः भवन्ति, तदा जीवनं ब्रह्मानुभूत्याः पात्रं भवति।

१०.२ ईश्वरस्य स्वरूपम्

ईश्वरः इत्यस्मिन् विषये अनेकाः मतभेदाः दृश्यन्ते। किन्तु भारतीयदर्शनानां प्रमाणे ईश्वरः सच्चिदानन्दस्वरूपः, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञः, सर्वव्याप्तः च अस्ति। सः जगतः कारणम्, पालकः, संहारकः च। ईश्वरः साक्षात् परमतत्त्वम् अस्ति, यः सर्वं जगत् सृजति, पालयति, संहरति च। सः नित्यम्, अनादिः, अनन्तः च अस्ति। ईश्वरः एकः एव अस्ति, न तस्य कश्चन समः वा श्रेष्ठः। सः सर्वत्र वर्तते, सर्वं पश्यति, सर्वं च जानाति।

ईश्वरस्य गुणाः अपि अनेकाः भवन्ति। तत्र केचन प्रमुखगुणाः -

- **सर्वज्ञत्वम्**- ईश्वरः सर्वं जानाति। अतीतम्, वर्तमानम्, भविष्यत् - सर्वं तस्मिन् स्पष्टरूपेण विद्यते।
- **सर्वशक्तिमत्त्वम्**- सः यत् इच्छति तत् कर्तुं शक्नोति। तस्य शक्तिः अनन्ता अस्ति।
- **सर्वव्याप्तत्त्वम्**- सः सर्वत्र अस्ति। यत्र कुत्रापि गच्छामः, तत्र तं पश्यामः।
- **नित्यता**- ईश्वरः न कदापि जन्मति, न कदापि म्रियते। सः सदा अस्ति।
- **अनादित्वम्**- तस्य न आरम्भः अस्ति, न अन्तः। सः स्वयं स्वतन्त्रः च अस्ति।

ईश्वरं विना जगतः कारणं न ज्ञायते। यथा यन्त्रस्य निर्माणाय कश्चन अभियन्ता आवश्यकः, तथैव सृष्टेः निर्माणाय अपि कश्चन सर्वज्ञः कर्ता आवश्यकः। विज्ञानं अपि नियमबद्धं विश्वं दर्शयति, किन्तु नियमकारः ईश्वरः एव।

ईश्वरस्य साक्षात्कारः

ईश्वरस्य साक्षात्कारः आत्मशुद्ध्या, ध्यानेन, भक्त्या, ज्ञानेन च साध्यते। भगवद्गीतायां अर्जुनाय श्रीकृष्णः ईश्वरस्य विराट् रूपं दर्शयति। ईश्वरं प्रति श्रद्धा, भक्ति, प्रार्थना च आत्मानं शुद्ध्यन्ति। शास्त्रेषु ईश्वरलाभाय कतिपयउपायाः निर्दिष्टाः सन्ति - भक्तिः - प्रेमपूर्वकं समर्पणं, ध्यानम् - मनः एकाग्रं कृत्वा ईश्वरस्य चिन्तनम्, ज्ञानम् - ईश्वरस्य वास्तविकं स्वरूपं ज्ञात्वा तद्भिन्नम् आत्मानम् अधिगमनम्।

ईश्वरः न केवलं जगतः कर्ता, अपि तु सर्वात्मा अस्ति। यः आत्मा तं जानाति, स एव मोक्षं प्राप्नोति। भगवतः स्वरूपस्य ज्ञानं, तस्य गुणानां स्मरणं, तस्मिन् श्रद्धा च मानवजीवनं सफलं करोति। अतः अस्माभिः सर्वदैव ईश्वरं स्मर्तव्यम् - न केवलं भीतौ, दुःखे वा, किन्तु सुखे, समृद्धौ अपि।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. मुख्याः उपनिषदाः कति सन्ति?

(क) ५

(ख) ११

(ग) ५०

(घ) १०८।

2. 'सच्चिदानन्दः' कस्य स्वरूपम् अस्ति?

(क) मनुष्यस्य

(ख) ईश्वरस्य

(ग) प्रकृतेः

(घ) जडस्य।

2 अंक के प्रश्न-

1. पञ्च उपनिषदां नामनी लिखत।
2. ईश्वरस्य श्सर्वज्ञत्वंश किमस्ति?

7 अंक के प्रश्न-

1. उपनिषदां महत्त्वं वर्णयत।
2. ईश्वरस्य साक्षात्काराय के उपायाः शास्त्रेषु निर्दिष्टाः सन्ति?

इकाई-३.३ - भारतं पञ्चमो वेदः, पुराणलक्षणम् तेषां महत्वं च

उद्देश्य-

छात्रान् महाभारतस्य पञ्चमवेदत्वेन, पुराणानां लक्षणैः तेषां महत्त्वेन च अवगतं कर्तुम्।

११.१ भारतं पञ्चमो वेदः

भारतीयसंस्कृतेः अमूल्यरत्नानि यत्र संगृहीतानि, धर्मस्य स्वरूपं यत्र निरूपितम्, मानवजीवनस्य विविध-अंशाः यत्र सुस्पष्टतया निरूप्यन्ते, सः ग्रन्थः अस्ति महाभारतम्। एषः ग्रन्थः केवलं काव्यमात्रं न, अपि तु जीवितदर्शनस्य महासागरः। अनेनैव कारणेन महर्षिणा व्यासेन स्वयम् उक्तं - "भारतं पञ्चमो वेदः"। अयं वक्तव्यं न केवलं स्तुत्यर्थम्, अपि तु तात्त्विकदृष्ट्या अतीव यथार्थम्।

'पञ्चमो वेदः' इत्यस्य अयं भावः। वेदाः चत्वारः - ऋग्वेदः, यजुर्वेदः, सामवेदः, अथर्ववेदः। तेषां विषयाः सामान्यतः - ब्रह्मविद्या, यज्ञकर्म, देवोपासना, मन्त्राः, छन्दः, स्वरः इत्यादयः। किन्तु - एतेषां विषयाः सर्वे अपि सामान्यजनानां बोधगम्याः न भवन्ति। तस्मात् वेदसारस्वरूपं यः ग्रन्थः सर्वजनबोधनाय उपस्थापयति, सः एव पञ्चमवेदः इति कथ्यते।

महाभारते ब्रह्मविद्यायाः प्रतिपादनम् कृतम्। महाभारते भगवद्गीता भगवता श्रीकृष्णेन अर्जुनाय सर्वेभ्यश्च उपदिष्टा अस्ति। महाभारते धर्मः केवलं यज्ञकर्म वा व्रतानि न, अपि तु व्यवहारिकजीवने अन्वितं धर्मतत्त्वं वर्ण्यते। यथा "धर्मो रक्षति रक्षितः", "यतो धर्मः ततो जयः" इत्यादयः। महाभारते स्त्रीपुरुषयोः, बालवृद्धयोः, ब्राह्मणक्षत्रियादीनां, गृहीत्यागिनोः च सर्वेभ्यः दृष्टिकोणः समन्वितः दृश्यते। तत्र आख्यानकथा, संवादशैली, नीतिः, शृङ्गारः, वीरः, करुणः, अद्भुतादयः नवविविधा रसाः गद्यमिश्रितानि पद्यानि च वर्तन्ते।

स्कन्दपुराणे, भागवतपुराणे च महाभारतं "पञ्चमो वेदः" इत्युक्तम्। 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।' इति च सुप्रसिद्धम्। यत्र क्षात्रधर्मः, ब्राह्मधर्मः, राजधर्मः, स्त्रीधर्मः, वानप्रस्थधर्मः, भक्तिधर्मः च समाहिताः - तादृशं ग्रन्थम् अन्यं न पश्यामः। वर्तमानप्रसङ्गे महाभारतस्य महत्त्वम् अतीव वर्तते। जीवनशिक्षा - धर्मे स्थितिः, कर्तव्यनिष्ठा, साहस, संयमः - एते सर्वे पात्रेषु द्रष्टव्याः। राजनीतिशास्त्रं - शकुनिः, कृष्णः, विदुरः, भीष्मः, द्रौणिः, युधिष्ठिरश्च - विविधनैतिकनैपुण्यदृष्टान्ताः। स्त्रीदृष्टिकोनः - कुन्ती, द्रौपदी, गान्धारी - स्त्रीशौर्यस्य प्रतीकाः। बालशिक्षायाम् उपयोगः - उपाख्यानानि, नीति-कथाः बालचिन्तनाय उपयुक्ताः।

"महाभारतम्" न केवलं इतिहासः, अपि तु जीवनदर्शनी। यत्र वेदानां सारः, उपनिषदां तत्त्वम्, गीता-दर्शनस्य तेजः, धर्मस्य आधारः, भक्तेः भावश्च सुसङ्गतं दृश्यते - सः ग्रन्थः पञ्चमो वेदः इति साक्षात् योग्यताम् लभते। तस्मात् महाभारतस्य वेदसमानं स्थानमस्ति।

११.२ पुराणलक्षणम् तेषां महत्वं च

भारतीयसंस्कृतेः प्राचीनतमग्रन्थाः चत्वारः वेदाः मन्यन्ते। किन्तु वेदानां अर्थः सामान्यजनानां बोध गम्यः न स्यात्। अतः महर्षिभिः एव इतिहासपुराणादीनि अपि रचितानि। तेषु पुराणानि विशेषस्थानं धारयन्ति। पुराणम् इति शब्दः 'पुरा अपि नवानं च' इत्यर्थे प्रयुज्यते। पुराणानि अतीतानां घटनानां, ऋषीणां, देवतानां, धर्मस्य च कथाः सम्यक् प्रकारेण वर्णयन्ति।

पुराणलक्षणम्

आचार्यः अमरसिंहः 'अमरकोशे' लिखति-

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

- सर्गः - सृष्टेः प्रारम्भः (ब्रह्मद्वारा जगत्सृष्टिः)

- प्रतिसर्गः – सृष्टेः पुनः पुनः करणम्
- वंशः – सूर्यवंशः, चन्द्रवंशश्च
- मन्वन्तरम् – मनूनां समयविभागः
- वंशानुचरितम् – राजा, ऋषयः, अवतारा: तेषां चरितम् च।

एषां विषयानां विवेचनं यत्र दृश्यते, तत् पुराणम् इति कथ्यते।

पुराणेषु गणना (मुख्यपुराणानि / प्रसिद्धपुराणानि) महापुराणानि प्रमुखानि प्रसिद्धानि च पुराणानि अष्टादश सन्ति।

1. ब्रह्मपुराणम्
2. पद्मपुराणम्
3. विष्णुपुराणम्
4. शिवपुराणम्
5. भागवतपुराणम्
6. नारदपुराणम्
7. मार्कण्डेयपुराणम्
8. अग्निपुराणम्
9. भविष्यपुराणम्
10. ब्रह्मवैवर्तपुराणम्
11. लिङ्गपुराणम्
12. वाराहपुराणम्
13. स्कन्दपुराणम्
14. वामनपुराणम्
15. कूर्मपुराणम्
16. मत्स्यपुराणम्
17. गरुडपुराणम्
18. ब्रह्माण्डपुराणम्

पुराणानि धर्मस्य महत्वं, पापनाशस्य उपायं, सदाचारस्य आवश्यकत्वं च स्पष्टं कुर्वन्ति। पुराणेषु प्राचीनकाले घटिताः घटनाः, राज्ञां चरितानि, ऋषीणां उपदेशाः च दृश्यन्ते। विष्णोः, शिवस्य, देव्या वा स्तोत्राणि, पूजाविधानानि, व्रतानि च पुराणेषु सुलभतया प्राप्यन्ते। कथा-उपाख्यानरूपेण गम्भीरं ज्ञानं लोकानां मनसि सुगमतया प्रविशति। पुराणानि भारतीयसंस्कृतेः, परम्परायाः, भाषायाः, नीतिशास्त्रस्य च संरक्षणं कुर्वन्ति। पुराणानि न केवलं धर्मग्रन्थाः, अपि तु लोकशिक्षायाः माध्यमानि। तेषाम् अध्ययनं लोकानां चित्तशुद्धिम्, आचारशुद्धिं, भक्तिपरायणत्वं च जनयति। अतः अस्माभिः पुराणानां पाठः, मननं, चिन्तनं च अवश्यं कर्तव्यम्।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. महाभारतं कः रचितवान्?

(क) वाल्मीकिः

(ख) व्यासः

(ग) कालिदासः

(घ) भवभूतिः।

2. 'सर्गः' कस्य लक्षणम् अस्ति?

(क) वेदस्य
(ख) पुराणस्य
(ग) काव्यस्य
(घ) नाटकस्य।

2 अंक के प्रश्न-

1. महाभारतस्य कः सन्देशः अस्ति?
2. पुराणस्य पञ्च लक्षणानि के?

7 अंक के प्रश्न-

1. महाभारतस्य महत्त्वं श्पञ्चमो वेदःश इति रूपेण प्रतिपादयत।
2. अष्टादश पुराणानां नामानि सूच्यां लिखत।

इकाई-३.४ - संस्कृतभाषायाः महत्त्वम्, संस्कृतस्य रक्षार्थं प्रसारार्थं चोपायाः

उद्देश्य-

छात्रेभ्यः संस्कृतभाषायाः गौरवस्य बोधनम् तथा च तस्याः संरक्षण-प्रसारोपायानां चिन्तनयोग्यतायाः विकासः।

१२.१ संस्कृतभाषायाः महत्त्वम्

संस्कृतम् इति शब्दः 'सं' (सम्यक्) + 'कृतम्' (संस्कृतं, शुद्धं) इति द्वाभ्यां शब्देभ्यः निर्मितः अस्ति। अर्थात्- शुद्धा, सुव्यवस्था, समृद्धा भाषा। एषा भाषा भारतस्य अतीव प्राचीनतमभाषा अस्ति। वेदाः, उपनिषदः, गीता, रामायणं, महाभारतम्, योगसूत्राणि, आयुर्वेदः, नाट्यशास्त्रम्, अनेके शास्त्रग्रन्थाः च संस्कृतभाषायाम् एव लिखिताः सन्ति।

- नियमबद्धता- संस्कृतभाषा अतीव व्यवस्थितभाषा अस्ति। तत्र व्याकरणं पाणिनिना अतीव सूक्ष्मरूपेण रचितम्।
- शुद्धता- संस्कृतशब्दाः स्पष्टाः, विशुद्धाः च भवन्ति।
- लाघवम्- संस्कृते लघु वाक्येनापि गम्भीरः अर्थः प्रकाश्यते।
- गौरवः- संस्कृतवाक्यं श्रवणमात्रेण गौरवं, मधुरतां च अनुभवामः।
- बहुव्यापकता- धर्मः, दर्शनं, विज्ञानं, गणितं, नाट्यं, आयुर्वेदः, योग, ज्योतिषं, नीतिशास्त्रं-सर्वाणि शास्त्रापि संस्कृतम् उपयुज्यन्ते।

इतोऽपि केचन अंशाः संस्कृतभाषायाः महत्त्वम् वक्तुं, समर्थाः

- भारतीयसंस्कृतेः मूलम् - भारतीयधर्मः, चिन्तनम्, संस्कृतिः, परम्परा, शास्त्राणि च सर्वाणि संस्कृतभाषायां स्थितानि सन्ति।
- वेद-शास्त्र-ग्रन्थानां भाषा - सर्वे वेदाः, उपनिषदः, स्मृतयः, पुराणानि, महाकाव्यं, योगविज्ञानं च संस्कृतभाषायामेव लिखितम्।
- विज्ञानशास्त्रे उपयोगः - प्राचीनभारते गणितम् (आर्यभट्टः), रसायनम्, खगोलशास्त्रम् (वराहमिहिरः), वास्तुशास्त्रं च संस्कृते एव रचितम्।
- विश्वे संस्कृतस्य अध्ययनम् - अधुना जर्मनी, अमेरिका, इंग्लैंड, रशिया, जापानदेशे अपि संस्कृतभाषाया अध्ययनं क्रियते।
- संगणकविज्ञाने उपयोगिता - संस्कृतं नियमबद्धतया भाषासु श्रेष्ठतमा अस्ति। अतः सङ्गणक- तन्त्रज्ञानादिषु क्षेत्रेषु संस्कृतस्य प्रयोगः अधिकं भवति भविष्यति च ।
- मानसिकविकासाय सहायकम् - संस्कृतपठनस्य अभ्यासः स्मरणशक्तिं, एकाग्रतां, विवेकं च वर्द्धयति।

विद्यालयविश्वविद्यालयादिसंस्थासु संस्कृतभाषायाः पठनस्य, पाठनस्य, शोधकर्मणश्च आवश्यकता अतीव वर्तते। विद्यार्थिभिः संस्कृतभाषाया पाठः कर्तव्यः। तस्मात् ते वेदाः, श्रीमद्भागवद् गीता, उपनिषदः, रामायणम्, नीति- कथाः इत्येतान् च अर्थपूर्णं पठितुं शक्नुवन्ति। संस्कृतं पठित्वा छात्राः धर्मं, नीतिं, संस्कृतिं च जानन्ति।

संस्कृतं न केवलं भाषा अस्ति, अपि तु भारतस्य आत्मा अस्ति। एषा भाषा न केवलं प्राचीनतमा, किन्तु वैज्ञानिक-भाषा, व्यवस्थित-भाषा, वाङ्मयसमृद्धा च अस्ति। "या भाषा न केवलं ज्ञानदायिनी, अपि तु सांस्कृतिक-अभिमानस्य मूलम्, सा अस्ति-संस्कृतम्।" अतः अस्माभिः संस्कृतभाषायाः अध्ययनं, संरक्षणं, प्रचारं च अवश्यं कर्तव्यम्।

१२.२ संस्कृतस्य रक्षार्थं प्रसारार्थं च उपायाः

संस्कृतम् अस्माकं भारतदेशस्य प्राचीनतमाः, वैज्ञानिकीः, पवित्रतमाच भाषा अस्ति। एषा भाषा न केवलं वेदानां, उपनिषदां, पुराणानां च भाषा, किन्तु भारतीयस्य ज्ञानस्य मूलम् अपि अस्ति। किंतु अधुना संस्कृतस्य प्रयोगः दिनप्रतिदिनं क्षीयते। बालकाः संस्कृतं पठन्ति, किन्तु तस्य उपयोगं जीवनस्य व्यवहारेषु न कुर्वन्ति। अतः संस्कृतस्य रक्षणम् अपि आवश्यकम्, तथा प्रसारः अपि आवश्यकः।

संस्कृतस्य वर्तमानस्थितिः - विद्यालयेषु संस्कृतपाठ्यविषयः अस्ति, किन्तु अल्पकालपर्यन्तम्। जनाः संस्कृतं पठन्ति, किन्तु तेन न भाषन्ते। बहवः ग्रन्थाः संस्कृते लिखिताः सन्ति, किन्तु न पाठ्यन्ते। केचन विश्वविद्यालयेषु शोधकार्यं क्रियते, किन्तु सामान्यजनानाम् उपयोगाय न भवति। अतः संस्कृतं पुस्तके न तिष्ठतु, जीवनं यावत् जायताम्।

संस्कृतस्य रक्षणाय प्रसाराय च उपायाः

मातापितरौ बालकान् संस्कृतशब्दैः सम्भाषणं कुर्वीत। सामन्यपदानि गृहजीवने प्रयोक्तव्यानि। विद्यालयेषु संस्कृतवातावरणस्य निर्माणम्

करणीयम्। विद्यालये प्रतिदिनं संस्कृतभाषायां प्रार्थना, संवादश्च क्रियेत। एकं दिनं सप्ताहे "संस्कृत-दिवसः" इति निश्चित्य भाषणं, नाटकं, गीतानि च संस्कृते आयोजनीयानि। एतदर्थं संस्कृतशिक्षकाणां प्रशिक्षणम् अपेक्ष्यते। संस्कृतशिक्षकाः केवलं व्याकरणं न पाठनीयम्, किन्तु संस्कृतसंवादस्य अभ्यासं अपि कारयितव्यम्। नवीनशिक्षणपद्धत्याश्च (ICT, ऑडियो-वीडियो) उपयोगः करणीयः।

यूट्यूब्, इन्स्टाग्राम्, फेसबुक्, व्हाट्सएप्प् इत्यादिषु संस्कृतभाषायाः माध्यमेन सूचनाः, सूक्तयः, वीडियो-ज्ञानं च प्रसार्यताम्। संस्कृतवृत्तपत्रस्य, पत्रिकायाश्च प्रकाशनम्। मासिकपत्रिका वा सप्ताहिकपत्रिका संस्कृतेन प्रकाशितव्या - बालानां कृते, बोधगम्या अपि। संस्कृतभाषायाः व्यावहारिकपाठ्यक्रमाः लघु-पाठ्यक्रमाः (Short Courses) जिज्ञासूनां बालानां, युवानां, वयोवृद्धानां च कृते आयोज्यन्ताम्। संस्कृतभाषा न केवलं ग्रन्थभाषा, अपि तु जीवनभाषा अपि अस्ति। संस्कृतस्य अध्ययनं, भाषणं, प्रसारणं च कृत्वा वयं अस्याः दिव्यभाषायाः रक्षणं प्रसारणं च कुर्मः। 'संस्कृतभाषायाः संरक्षणम् अस्माकं कर्तव्यम् अस्ति।'

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. संस्कृतं कस्य आधारः अस्ति?
(क) केवलं भारतस्य
(ख) भारतीयसंस्कृतेः
(ग) न कस्यापि
(घ) विदेशस्य।
2. संस्कृतस्य प्रचारार्थं कस्य उपयोगः करणीयः?
(क) केवलं पुस्तकानां
(ख) सोशल मीडिया (यूट्यूब, व्हाट्सएप्प) इत्यादीनाम्
(ग) न कस्यापि
(घ) मौनस्य।

2 अंक के प्रश्न-

संस्कृतं श्वैज्ञानिक-भाषाश किमर्थं उच्यते?
बालकानां कृते संस्कृतं कथं रुचिकरं भवेत्?

7 अंक के प्रश्न-

संस्कृतभाषायाः रक्षणार्थं प्रसारार्थं च सप्त उपायान् लिखत।
मानसिकविकासाय संस्कृतपठनं कथं सहायकं भवति?

खण्ड-४ : संस्कृतलेखनम् २

इकाई-४.१ - भारतीयदर्शनानां महत्वं वैशिष्ट्यं च, श्रीमद्भगवद्गीतायाः महत्त्वम्

उद्देश्य-

छात्रान् भारतीयदर्शनानां वैशिष्ट्येन श्रीमद्भगवद्गीतायाः सार्वभौमिकमहत्त्वेन च परिचाययितुम्।

१३.१ भारतीयदर्शनानां महत्वं वैशिष्ट्यं च

भारतदेशे अतीव प्राचीनतमा ज्ञानपरम्परा अस्ति। एषा परम्परा वेदेषु, उपनिषत्सु, स्मृतिषु च दृश्यते। दर्शनं नाम किम्? यत् वस्तूनां तत्त्वं, कारणं, स्वरूपं च विचिन्तयति, तादृशं ज्ञानं **'दर्शनम्'** इति उच्यते। **'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्'**। दर्शनं केवलं बौद्धिकविचारः न, अपि तु जीवनस्य व्यवहारिकदिशां दर्शयति। भारतीयदर्शनेषु षड् मुख्यदर्शनानि विद्यन्ते सांख्यं, योगः, न्यायः, वैशेषिकः, मीमांसा, वेदान्तः च। एते सर्वे अपि मोक्षप्राप्तेः उपायं प्रदर्शयन्ति।

भारतीयदर्शनं आत्मनः स्वरूपं, शरीरस्य अनित्यत्वं, मोक्षस्य आवश्यकत्वं च वर्णयति। आत्मा शाश्वतः, नित्यम्, अविनाशी च अस्ति इति मुख्यं तत्त्वं स्वीकृतम्। अनेन ज्ञानस्य आध्यात्मिकं स्वरूपं प्रकाशते। सर्वाणि दर्शनानि मोक्षं परमार्थरूपेण स्वीकुर्वन्ति। मोक्षः = दुःखनिवृत्तिः, आनन्दप्राप्तिः वा, उभयं वा। न्यायदर्शनस्य उपयोगः केवलं विवादे न, अपि तु सत्यविवेचने आवश्यकः।

भारतीयदर्शनानां प्रमुखं वैशिष्ट्यं तु एषः अस्ति-एते आत्मा, ब्रह्म, पुनर्जन्म, मोक्षः इत्यादीनि परं तत्त्वं विवृण्वन्ति। परमार्थदृष्ट्या जीवनं किं? दुःखं किमर्थं? सुखं कुत्र?-इत्यादीनां उत्तरं ददाति। प्रत्येकं दर्शनं प्रमाणविचारं करोति। प्रमाणानि-प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, उपमानम्, शब्दः, अर्थापत्तिः, अनुपलब्धिः च। न्यायमीमांसयोः प्रमाणव्यवस्थायाः विस्तृतः निरूपणं अस्ति। अनुभवः अपि प्रमाणरूपेण स्वीक्रियते। योगदर्शने ध्यानस्य, समाधेः अनुभवः प्रधानः अस्ति। वेदान्ते ब्रह्मसाक्षात्कारः एव परमलक्ष्यम्। एते दर्शना केवलं चिन्तनाय न, अपि तु जीवनस्य व्यवहाराय उपयुक्तानि। योगः शरीरमनोबलस्य वृद्धिं करोति। मीमांसा यज्ञकर्माणां महत्त्वं दर्शयति। न्यायः सत्यनिर्णयाय पथं दर्शयति।

भारतीयदर्शनं केवलं भारतस्य गौरवमेव न, अपि तु सम्पूर्णमानवजगतस्य हिताय उपयुक्तं मार्गदर्शनं अस्ति। एषु दर्शनेषु तत्त्वज्ञानं, तर्कः, श्रद्धा, अनुभवः च सम्यक् रूपेण समाहिताः। एते दर्शना न केवलं बौद्धिकविकासं, अपि तु आत्मविकासं, समाजविकासं च साधयन्ति। अतः अस्माभिः भारतीयदर्शनानां अध्ययनं कर्तव्यम्। तेषां ज्ञानं सर्वेभ्यः समर्पणीयम्। अस्य दर्शनपरम्परायाः संरक्षणं च अस्माकं कर्तव्यं अस्ति।

१३.२ श्रीमद्भगवद्गीतायाः महत्त्वम्

श्रीमद्भगवद्गीता सनातनधर्मस्य एकं पवित्रं शास्त्रम् अस्ति। एषा गीता महाभारतस्य भीष्मपर्वणि विद्यमाना अस्ति। एषः ग्रन्थः श्रीकृष्णस्य अर्जुनस्य च संवादरूपः वर्तते। युद्धभूमौ अर्जुनः विषादेन दुःखितः अभवत्। तदा श्रीकृष्णः तं उपादिशत्। एषः उपदेशः एव 'भगवद्गीता' इति प्रसिद्धः। गीता अष्टादशाध्याययुक्ता अस्ति। अत्र सप्तशतश्लोकाः सन्ति। एषा गीता कर्मयोगः, ज्ञानयोगः, भक्तियोगः इत्यादीनां मार्गान् दर्शयति। गीता केवलं धार्मिकग्रन्थः न, अपि तु जीवनस्य सर्वविधदिशां प्रतिपादयति।

श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रमुखविचाराः

स्वधर्मनिष्ठा

श्रीकृष्णः अर्जुनं स्वधर्मे स्थातुम् उपदिशति -

"श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।"

अर्थात्, स्वधर्मपालनं एव श्रेष्ठम्।

कर्मयोगः

गीता कर्मण्येव अधिकारं प्रतिपादयति -

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"
फलेषु आसक्तिं त्यक्त्वा कर्म करणीयम्। कर्तव्यकर्म एव धर्मः।

भक्तियोगः
गीता भगवतः अनन्यभक्तिं वदति –
"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।"
ईश्वरभक्तिः आत्मज्ञानं प्रति उपदिष्टम्।

ज्ञानयोगः
आत्मा न जायते, न म्रियते, स नित्यः, शाश्वतः, अजोऽविनाशि च –
"न जायते म्रियते वा कदाचित्"
अनेन आत्मविवेकः बोध्यते।

जीवनस्य क्लेशेषु, दुःखेषु, सङ्कटे वा श्रीमद्भगवद्गीता आत्मबलं ददाति। यथा अर्जुनस्य विषादः परिहृतः, तथैव अस्माकं जीवनदुःखानां निवारणाय गीता साहाय्यं करोति। नेतृत्वगुणान् अपि गीता शिक्षयति। फलत्यागेन कर्मणि स्थितिः, कर्तव्यपालनम्, निष्कामभावः – एते विचाराः कार्यकुशलतां विकासयन्ति। मानसिकशान्तेः कृते गीता परमं उपायम्। ध्यानपूर्वकं गीता-पठनं, चिन्तनं च मनसः एकाग्रतां, शान्तिं च प्रददाति।
श्रीमद्भगवद्गीता न केवलं धार्मिकपुस्तकम्, अपि तु जीवनोपयोगी शिक्षाग्रन्थः अस्ति। अत्र धर्मः, तत्त्वज्ञानम्, कर्मयोगः, भक्तियोगः, आत्मविवेकः, नेतृत्वं, व्यवहारदक्षता, मानसिकशान्तिः च उपदिष्टानि सन्ति। अतः वयं सर्वे गीता-शिक्षां ग्रहीतुम् अर्हामः। तस्य अध्ययनं, मननं, आचरणं च कर्तव्यम्। एषा गीता यथार्थतः जीवनपथदर्शिका अस्ति।

बहु विकल्पीय प्रश्न-
1. वैदिकदर्शनानि कति सन्ति?
(क) ३ (ख) ६ (ग) ९ (घ) १०।
2. गीता महाभारतस्य कस्मिन् पर्वणि अस्ति?
(क) आदिपर्वणि (ख) भीष्मपर्वणि (ग) वनपर्वणि (घ) शान्तिपर्वणि।

2 अंक के प्रश्न-
1. मोक्षः कः?
2. 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' – अस्य अर्थः कः?

7 अंक के प्रश्न-
1. भारतीयदर्शनानां प्रमुखवैशिष्ट्यानि वर्णयत।
2. भगवद्गीतायाः महत्त्वं जीवनपथप्रदर्शिका इति रूपेण लिखत।

इकाई-४.२ - नास्ति सांख्यसमं ज्ञानम्, एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।

उद्देश्य-

छात्रेभ्यः सांख्यज्ञानस्य श्रेष्ठतायाः तथा च सांख्य-योगदर्शनयोः तात्त्विकैकत्वस्य अवबोधनम्।

१४.१ नास्ति सांख्यसमं ज्ञानम्

भारतस्य दर्शनपरम्परायां सांख्यदर्शनम् एकं प्राचीनतमं दर्शनम् अस्ति। अत्र दर्शनशब्देन 'तत्त्वविचारः' अभिप्रेतः। 'सांख्य' इत्यस्य अर्थः - संख्या, विवेकः, विचारः वा। यः दर्शनं संख्या-पद्धत्या सृष्टेः तत्त्वानि स्पष्टयति, स सांख्यदर्शनं इति कथ्यते। एतद् दर्शनम् ऋषेः कपिलमुनेः उपदेशेन प्रवृत्तः। एतस्मिन् दर्शने आत्मा (पुरुषः), प्रकृतिः च द्वे मुख्यतत्त्वे स्वीकृते। "नास्ति सांख्यसमं ज्ञानम्" - इति वाक्येन एतस्मिन् दर्शने प्रदत्तं ज्ञानं सर्वोत्तमम् इति बोध्यते। एतत् ज्ञानं आत्मप्राप्त्यै, दुःखनाशाय च अत्यावश्यकम्।

सांख्यदर्शने पुरुषः आत्मा। स नित्यः, चेतनः, साक्षी, अकर्मा च। सः दुःखसुखयोः भोक्ता न, केवलं साक्षी अस्ति। बहवः पुरुषाः सन्ति इति सांख्ये स्वीक्रियते। प्रकृतिः सृष्टेः मूलकारणम्। सा जडरूपा, त्रिगुणात्मिका - सत्त्वं, रजस्, तमस् च। अनया एव महत्, अहंकारः, तन्मात्रा, इन्द्रियाणि, भूतानि च उत्पद्यन्ते मोक्षः दुःखानां निरोधः। स मोक्षः कथं लभ्यते? -यदा पुरुषप्रकृत्योः भेदज्ञानं स्पष्टं भवति, तदा मोक्षः सम्भवति। एतद् ज्ञानं "विवेकख्यातिः" इति कथ्यते।

श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीकृष्णः अर्जुनम् उपदिशन् सांख्यदर्शनस्य सिद्धान्तानां समर्थनं करोति। **"यं संख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।"** (गीता ५.५) एषः श्लोकः दर्शयति - सांख्यज्ञानं योगाभ्यासवत् मोक्षाय उपयुक्तम् इति। सांख्यं दुःखस्य मूलं अज्ञानम् इति वदति। ज्ञानस्य प्रकाशेन दुःखं नश्यति। अयं सिद्धान्तः मनोविज्ञानस्य दृष्ट्या अपि उपयुक्तः अस्ति। सांख्ये प्रत्येकं तत्त्वं विश्लेषणपूर्वकं निरूप्यते। अयं पद्धतिः तार्किकविकासाय उपकारकः। पतञ्जलिमुनिना रचितं योगदर्शनं सांख्यदर्शनस्य उपरि अधिष्ठितम्। अत्र सृष्टिविचारः, पुरुषप्रकृतिविवेकः च समानः अस्ति।

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानम्-कथं? प्रकृतिपुरुषयोः विवेकः-यत्र आत्मा न जडः, न विकारी, केवलं साक्षी अस्ति, तत्र सदा शान्तिः, मुक्तिः च। सांख्ये महदादितत्त्वानां यथाक्रमं सुस्पष्टं विवरणं अस्ति। सांख्यस्य ज्ञानं केवलं पठनमात्रेण न, अपि तु ध्यानस्य, विवेकस्य, समाधेः द्वारा साक्षात्क्रियते। सांख्यदर्शनं भारतीयदर्शनानां मध्ये अतीव प्राचीनम्, गम्भीरं, वैज्ञानिकं च अस्ति। अतः **"नास्ति सांख्यसमं ज्ञानम्"** इति वाक्यं पूर्णतः युक्तम्। ज्ञानमार्गे गच्छताम् जनानां कृते सांख्यदर्शनम् अमूल्यम् अस्ति।

१४.२ एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति

"एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति"- इति श्रीमद्भगवद्गीतायाः महत्त्वपूर्णं वाक्यम् अस्ति (भगवद्गीता ५.५)। अत्र भगवान् श्रीकृष्णः अर्जुनं प्रति वदति यः पुरुषः सांख्यदर्शनं च योगदर्शनं च एकत्वेन पश्यति, सः एव सत्यं पश्यति। एतयोः दर्शनयोः नाम्नि भेदः दृश्यते, किन्तु परमार्थतः एतयोः उद्देश्यं समानं-मोक्षप्राप्तिः। सांख्यं ज्ञानमार्गं दर्शयति, योगः ध्यानकर्मसमाधिप्रधानं मार्गं प्रदर्शयति। भगवता श्रीकृष्णेन उक्तम्-एतयोः भिन्नता केवलं उपायेषु, न तु फलसिद्धौ।

सांख्यदर्शनम्

- प्रवर्तकः - कपिलमुनिः
- मुख्यं साधनम् - विवेकज्ञानम्
- तत्त्वानि - पुरुषः (चेतनः), प्रकृतिः (जडः), त्रिगुणाः, बुद्धिः, अहंकारः, मनः, इन्द्रियाणि, तन्मात्राणि, भूतानि।
- मोक्षः - पुरुषप्रकृतिविवेकात् दुःखस्य निवृत्तिः।

योगदर्शनम्

- प्रवर्तक: – पतञ्जलिमुनि:
- मुख्यं साधनम् – चित्तवृत्तिनिरोध:
- अष्टाङ्गयोग: – यम:, नियम:, आसनम्, प्राणायाम:, प्रत्याहार:, धारणा, ध्यानम्, समाधि:।
- मोक्ष: – चित्तशुद्ध्या आत्मदर्शनं, कैवल्यप्राप्ति:।

य: पुरुष: ज्ञानमार्गेण योगमार्गेण वा आत्मानं प्रपद्यते, स: एव पश्यति-इति भगवत: अभिप्राय:। मोक्षपरता-दु:खनाश: एव प्रधानलक्ष्यम्। आत्मा न कर्ता, न भोक्ता; केवलं साक्षी। प्रकृतिसंयोगेन दु:खम्, तस्य निवृत्ति: च मोक्ष:। विवेकज्ञानं मोक्षसाधनम्।

भगवता श्रीकृष्णेन उक्तं "एकं सांख्यं च योगं च य: पश्यति स पश्यति" – इत्यस्य तात्पर्यम् अत्यन्तं गम्भीरं च अस्ति। यथार्थदर्शी पुरुष: जानाति – ज्ञानं च ध्यानं च आत्मसाक्षात्काराय आवश्यके। न केवलं चिन्तनं, न केवलं साधना – अपि तु उभयो: समन्वय: एव श्रेय:। अत: अध्यात्ममार्गे गच्छत: साधकस्य जीवनं सम्यक् भवति यदि स: सांख्यं च योगं च एकत्वेन जानाति। एवमेव मोक्षमार्ग: सुलभ: भवति।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. सांख्यदर्शने कति तत्त्वानि सन्ति?

(क) १५
(ख) २५
(ग) ३०
(घ) ४५।

'विवेकख्याति:' कस्य साधनम् अस्ति?

(क) बन्धनस्य
(ख) मोक्षस्य
(ग) युद्धस्य
(घ) क्रीडाया:।

2 अंक के प्रश्न-

1. सांख्यदर्शने श्पुरुष:श क: अस्ति?
2. प्रकृते: त्रय: गुणा: के?

7 अंक के प्रश्न-

1. 'एकं सांख्यं च योगं च य: पश्यति स पश्यति' – अस्य विस्तारं कुरुत।
2. सांख्यदर्शनस्य ज्ञानं मनोविज्ञानदृष्ट्या कथं उपयोगी अस्ति?

इकाई-४.३ - नास्ति योगसमं बलम्, अष्टाङ्गयोगस्य महत्त्वम

उद्देश्य-

छात्रान् योगबलस्य महत्त्वेन तथा च जीवने अष्टाङ्गयोगस्य उपयोगितया परिचाययितुम्।

१५.१ नास्ति योगसमं बलम्

भारतस्य सांस्कृतिकपरम्परायां योगः अतीव प्राचीनं, पवित्रं च तत्त्वम्। योगः केवलं शरीरेण आसनप्रदर्शनं न, अपि तु चित्तस्य शुद्धिः, आत्मनः साक्षात्कारः। **"नास्ति योगसमं बलम्"** - इत्यत्र बलेन केवलं शारीरिकं बलं न, किन्तु मानसिकम्, आत्मिकं, बौद्धिकं च बलं गृहीतम्। योगाभ्यासेन मनः स्थिरं भवति, शरीरं स्वस्थं भवति, बुद्धिः प्रसन्ना भवति, आत्मा प्रकाशितः च भवति। अनेन योगेन यत् बलं लभ्यते, तत् अन्यैः उपायैः कठिनतया लभ्यते। योगस्य परिभाषा **"योगः चित्तवृत्तिनिरोधः"** इति पतञ्जलियोगसूत्रे, **"समत्वं योग उच्यते"** इति श्रीमद्भगवद्गीतायां च वर्णिता वर्तते। अतः योगः मनसः वृत्तीनां संयमः, चित्तस्य शुद्धिः, तथा जीवने समत्वभावस्य अभ्यासः।

योगस्य प्रकाराः

- राजयोगः - ध्यानप्रधानः, पतञ्जलिमुनेः योगसूत्रेषु निरूपितः।
- हठयोगः - शरीरशुद्धिः, प्राणायामः, आसनानि च प्रधानम्।
- ज्ञानयोगः - आत्मज्ञानस्य मार्गः।
- भक्तियोगः - ईश्वरप्रेमस्य मार्गः।
- कर्मयोगः - निष्कामकर्मणः अभ्यासः।

सर्वे अपि योगमार्गाः आत्मबलाय उपकारकाः।

योगस्य बलम्

(क) शारीरिकबलम्

योगासनाभ्यासेन शरीरं लघु, स्फुटं, गतिशीलं च भवति। स्नायवः दृढाः भवन्ति, रक्तसञ्चारः सम्यक् भवति। रोगाणां प्रतिरोधशक्तिः वर्धते।

(ख) मानसिकबलम्

योगेन मनः शान्तं भवति। अवसादः, भयः, चिन्ता इत्यादयः नश्यन्ति। धारणा, एकाग्रता, स्मरणशक्तिः च वर्धते।

(ग) आत्मबलम्

योगाभ्यासेन आत्मविश्वासः वर्धते। दुःखेषु अनुद्विग्नता, सुखेषु अनासक्तता च प्राप्यते। आत्मा स्वस्वरूपे स्थितो भवति।

योगाभ्यासेन यत् बलं प्राप्यते, तत् केवलं शारीरिकं न, किन्तु मानसिकम्, आत्मिकं, सामाजिकं च अस्ति। **"नास्ति योगसमं बलम्"** - इत्यस्य सन्देशः स्पष्टः - यः योगमार्गं आचरति, सः जीवनस्य सर्वेषु पक्षेषु दृढः, सन्तुलितः, उन्नतः च भवति। अतः योगः केवलं भारतीयसंस्कृतेः अङ्गम् न, अपि तु समस्तमानवजातेः उत्तमोपायः जीवनपरिपूर्णतायै। अतः सर्वे योगं समाचरन्तु, जीवनं सफलं कुर्वन्तु।

१५.२ अष्टाङ्गयोगस्य महत्त्वम्

भारतीयदर्शनेषु योगदर्शनं अतीव प्रसिद्धम् अस्ति। योगः केवलं शारीरिकः व्यायामः न, अपि तु चित्तशुद्धेः, आत्मज्ञानस्य च साधनम्। महर्षिः पतञ्जलिः स्वस्मिन् योगसूत्रे अष्टाङ्गयोगस्य निरूपणं कृतवन्तः। अयं अष्टाङ्गयोगः आध्यात्मिकविकासस्य क्रमिकः पन्थाः अस्ति। **"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"**-योगः मनोवृत्तीनां निरोधनं कुर्वन् आत्मदर्शनाय मार्गं प्रसारयति।

अष्टाङ्गयोगस्य स्वरूपम्

"अष्टाङ्ग" इत्यस्य अर्थः - अष्ट अङ्गानि, अष्ट भागाः। पतञ्जलिमुनेः योगसूत्रे (२.२९) अष्टाङ्गयोगः निर्दिष्टः - **"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि"**

1. यमः – समाजे आचरणनियमाः
2. नियमः – आत्मनः शुद्धये नियमाः
3. आसनम् – शरीरस्थैर्याय योगासनम्
4. प्राणायामः – श्वासनिरोधः, प्राणस्य संयमः
5. प्रत्याहारः– इन्द्रियाणां विषयेभ्यः निवर्तनम्
6. धारणा – एकविषये मनसः एकाग्रता
7. ध्यानम् – निरन्तरं एकविषये चित्तनिष्ठता
8. समाधिः – पूर्णा चित्तैकतानता

यमस्य अंगाः – अहिंसा (न हिंसा), सत्यं (सत्यमेव भाषेत), अस्तेयम् (चौर्याभावः), ब्रह्मचर्यम् (इन्द्रियनिग्रहः), अपरिग्रहः (सङ्गरहितता)।

नियमस्य अंगाः – शौचम् (शरीर-मनसोः शुद्धिः), सन्तोषः (सन्तुष्टभावः), तपः (दृढसाधनम्), स्वाध्यायः (शास्त्राध्ययनम्), ईश्वरप्रणिधानम् (ईश्वरार्पणभावः)।

आसनम् – स्थिरसुखासनं योगाय उपयुक्तम्। अनेके आसनानि शरीराय उपयोगिनि – पद्मासनम्, वज्रासनम्, भुजङ्गासनम्, इत्यादि।

प्राणायामः – श्वासोच्च्वासयोः संयमः – पूरकः, कुम्भकः, रेचकः। प्राणशक्तेः स्थिरीकरणम्।

प्रत्याहारः – इन्द्रियाणां विषयान् प्रति अनासक्ततया अन्तर्मुखता। मनः विषयेषु न प्रवर्तते।

धारणा – चित्तस्य एकविषये नियमनम्। अल्पकालपर्यन्तं मनसः एकाग्रता।

ध्यानम् – निरन्तरं एकविषये मनसः प्रवाहः। अहर्निशं एकवस्तुनि चित्तनिष्ठता।

समाधिः – साधकस्य आत्मनि पूर्ण लीनताभावः। अहङ्कारस्य लोपः, आत्मदर्शनम्।

अष्टाङ्गयोगः महर्षेः पतञ्जलेः महद्योगदानम् अस्ति। अयं मार्गः मनुष्यस्य सर्वाङ्गिणविकासाय उपयुक्तः अस्ति। यः साधकः यमाद्यष्टाङ्गान् श्रद्धया, नियमेन च अभ्यासं करोति, सः केवलं आरोग्यं न प्राप्नोति, अपि तु आत्मसाक्षात्कारं, मोक्षं च प्राप्तुं शक्नोति। अतः अष्टाङ्गयोगः जीवनस्य आदर्शमार्गः। सर्वे योगमार्गेण गच्छन्तु, सुखशान्तिं च प्राप्नुवन्तु।

बहु विकल्पीय प्रश्न–

1. 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इति कः उक्तवान्?
(क) कपिलः
(ख) पतञ्जलिः
(ग) गौतमः
(घ) कणादः।
2. 'प्राणायामः' किमस्ति?
(क) आसनम्
(ख) प्राणस्य संयमः
(ग) ध्यानम्
(घ) यमः।

2 अंक के प्रश्न–

अष्टाङ्गयोगाः के?
यमस्य अङ्गानि कानि?

7 अंक के प्रश्न–

1. 'नास्ति योगसमं बलम्' – इति वाक्यं स्पष्टीकुरुत।
2. यम-नियमयोः भेदान् विस्तारेण लिखत।

इकाई-४.४ - वैशेषिकदर्शने पदार्थविभागः, न्यायदर्शने प्रमाणमीमांसा

उद्देश्य-

छात्रेभ्यः वैशेषिकदर्शनोक्त-पदार्थविभागस्य तथा च न्यायदर्शनोक्त-प्रमाणमीमांसायाः तार्किकसिद्धान्तानां ज्ञानप्रदानम्।

१६.१ वैशेषिकदर्शने पदार्थविभागः

वैशेषिकदर्शनं महर्षि-कणादेन निर्मितम् एकं महत्वपूर्णं दर्शनम् अस्ति। अयं दर्शनं पदार्थतत्त्वविज्ञानपरम् अस्ति। वैशेषिकदर्शने 'पदार्थः' इत्युक्तेः यः ज्ञानस्य विषयः भवति, सः पदार्थ इत्युच्यते। अयं दर्शनं पदार्थानां विभागं, स्वरूपं, धर्मं च विस्तारेण विवेचयति। पदार्थविज्ञानं एव मोक्षमार्गस्य आरम्भः - इति वैशेषिकस्य मतम्।

वैशेषिकदर्शने सप्त पदार्थाः वर्तन्ते। कणादऋषिः वैशेषिकसूत्रे (1.1.4) एवं निर्दिशति - 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः पदार्थाः' अत्र षट् पदार्था एव निरूपिताः। परन्तु 'अभावः' अपि सप्तमः पदार्थः स्वीक्रियते।

सप्त पदार्थाः -

1. द्रव्यम् - आधारभूतं वस्तु
2. गुणः - द्रव्ये स्थितः विशेषधर्मः
3. कर्म - द्रव्यस्य गतिर्विशेषः
4. सामान्यं - साधारणधर्मः
5. विशेषः - असाधारणता
6. समवायः - अभिन्नत्वेन स्थितिसम्बन्धः
7. अभावः - अनुपस्थितिः

द्रव्यम्

द्रव्यं प्रथमः पदार्थः - गुणानां, कर्मणां च आश्रयः वर्तते। द्रव्यं विना गुणः न विद्यते। द्रव्याणि नव - पृथिवी, आपः, तेजः, वायुः, आकाशः, कालः, दिशा, मनः, आत्मा।

गुणः

गुणाः द्रव्ये स्थिताः विशेषधर्माः भवन्ति। गुणाः स्वयं क्रियां न कुर्वन्ति। गुणाः षोडश (उदाहरणतः)- रूपम्, रसः, गन्धः, स्पर्शः, संख्याः, परिमाणम्, पृथक्त्वम्, संयोगः, विभागः, परत्वम्, अपरत्वम्, बुद्धिः, सुखम्, दुःखम्, इच्छा, द्वेषः।

कर्म

द्रव्यस्य गतिः कर्म इत्युच्यते। कर्मणा द्रव्ये परिवर्तनं भवति। कर्माणि पञ्च-उत्क्षेपणम्-उपरि गमनम्, अवक्षेपणम्-अधः गमनम्, आकुञ्चनम्-संकोचनम्, प्रसारणम्-विस्तारः, गमनम्-सञ्चलनम्।

सामान्यम्

सामान्यम् इत्युक्ते-यत् एकस्मिन् अधिकेषु च द्रव्येषु समानं दृश्यते, तत् सामान्यम्। यथा 'गौः, महिषः, अश्वः च सर्वेऽपि 'पशवः'- अत्र 'पशुत्वम्' सामान्यम्।

विशेषः

विशेषः इत्युक्ते- प्रत्येकस्य वस्तुनः विशेषलक्षणं येन सः अन्यतः भिन्नः दृश्यते।

समवायः

अयं विशेषः सम्बन्धः यः अत्यन्तगाढः अस्ति। अन्योन्यं विना न व्यवह्रियते। समवायः = अविनाभावसम्बन्धः।

अभावः

अभावः इत्युक्ते-पदार्थस्य अनुपस्थितिरेव। वैशेषिके अभावः अपि एकः पदार्थः इत्युच्यते। अभावस्य भेदाः चत्वारः वर्तन्ते-प्रागभावः (उत्पत्तेः पूर्वम् अभावः), प्रध्वंसाभावः (विनाशात् परम् अभावः), अन्योन्याभावः (परस्परभिन्नता), अत्यन्ताभावः (सर्वदा नास्ति)।

वैशेषिकदर्शनं पदार्थज्ञानप्रधानं दर्शनम् अस्ति। अत्र यः पदार्थविभागः निरूपितः, सः अतीव तार्किकः, सूक्ष्मः च अस्ति। सप्त पदार्थानां विचारः न केवलं तत्त्वज्ञानाय उपयोगी, अपि तु विज्ञानपरम्परायामपि आधारभूतः अस्ति। यः वैशेषिकदर्शने पदार्थविभागं जानाति, सः विश्वस्य यथार्थस्वरूपं बोधितुं शक्नोति। अतः वैशेषिकदर्शनं तत्त्वविज्ञानस्य दीपः। पदार्थविचारः मोक्षदायको मार्गः।

१६.२ न्यायदर्शने प्रमाणमीमांसा

न्यायदर्शनस्य प्रणेता महर्षिः गौतमः अस्ति। एतस्मिन् दर्शने तत्त्वज्ञानाय, तर्कविचाराय, मोक्षसाधनाय च प्रमाणानां मीमांसा विशेषतया क्रियते। 'प्रमाणं' इति शब्दः ज्ञानोपायः इति अर्थे प्रयुज्यते। प्रमाणेन एव तत्त्वज्ञानं, तेन च दुःखनिवृत्तिः, मोक्षः च सम्भवति। **"प्रमाणं तु अनवद्यं ज्ञानकरं साधनम्"** अर्थात्, येन साधनेन यथार्थज्ञानं जायते, तत् प्रमाणम्। न्यायदर्शने मुख्यतः चत्वारि प्रमाणानि स्वीक्रियन्ते-

1.	प्रत्यक्षम् ।	-	इन्द्रियजन्यं प्रत्यक्षज्ञानम्
2.	अनुमितिः	-	हेत्वादारश्चिन्तया लब्धज्ञानम्
3.	उपमानम् -	तुलनया	ज्ञानप्राप्तिः
4.	शब्दः	-	आप्तवचनात् ज्ञानप्राप्तिः

(१) प्रत्यक्षप्रमाणम्

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्"

इदं प्रमाणं पञ्चेन्द्रियैः लभ्यते-चक्षुः, श्रोत्रम्, घ्राणम्, जिह्वा, त्वक्। अत्र सविकल्पकं निर्विकल्पकम् इति भेदद्वयम् अस्ति-बिना विशेषे निर्विकल्पकं ज्ञानम् (यथा- **"किञ्चिदस्ति"**), विशेषज्ञानयुक्तं सविकल्पकं ज्ञानम् (यथा - **"नीलः घटः"**)।

(२) अनुमानप्रमाणम्

"पूर्वदृष्टहेतोः अनुसंधानेन यत् ज्ञानं तत् अनुमानम्"

इदं प्रमाणं तर्केण, युक्त्या च ज्ञानं जनयति। यत्र कारणम् दृष्टं, तत्र कार्यं कल्प्यते। अत्र पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोऽदृष्टम् इति भेदत्रयम्।

- पूर्ववत्- कारणात् कार्यानुमानम् (यथा मेघाः दृश्यन्ते; वर्षा भविष्यति)
- शेषवत्- कार्यात् कारणानुमानम् (यथा नद्याः अपगमनं दृश्यते; स्रोतः अस्ति)
- सामान्यतो दृष्टम्- कारणकार्ययोः सामञ्जस्यात् अनुमानम् (यथा-हिमवतः शीतः भवति; श्वेतवर्णत्वात्)

(३) उपमानप्रमाणम्

"सादृश्यज्ञानात् अनभिज्ञवस्तुनः ज्ञानं यत्र तत् उपमानम्"

तुलनया ज्ञेयवस्तुनः बोधः। यदा अपरिचितवस्तुं सादृश्येन ज्ञायते। यथा गोशृङ्गवत् गवयः इत्युक्तं श्रोतुं अनन्तरं, वने तादृशं जन्तुं दृष्ट्वा - एषः गवयः इति ज्ञानम्'।

(४) शब्दप्रमाणम्

"आप्तवाक्यस्य ग्राह्यत्वात् शब्दः प्रमाणम्"

विश्वसनीयपुरुषस्य अथवा शास्त्रस्य वाक्येन ज्ञानम्। विशेषतः वेदवाक्यं नित्यं प्रमाणं भवति। यथा 'आत्मा नित्यः' इति वेदवाक्येन ज्ञायते - तद् शब्दप्रमाणम्।

प्रमाणेन एव यथार्थस्य बोधः। केवलं युक्त्या न, प्रमाणतः युक्तियोजनम्। अज्ञानस्य नाशः, दुःखनिवृत्तिः च। न्यायदर्शनस्य प्रमाणमीमांसा अतीव सूक्ष्मा, विवेकपूर्णा च अस्ति। तत्र प्रत्यक्षं, अनुमानं, उपमानं, शब्दः – एते चत्वारः प्रमाणाः मनुष्याय यथार्थज्ञानं ददति। अतः न्यायदर्शने प्रमाणमीमांसा अतीव महत्त्वपूर्णा अस्ति।

बहु विकल्पीय प्रश्न–

1. 'द्रव्यम्' कति प्रकाराः सन्ति?

(क) ५

(ख) ७

(ग) ९

(घ) ११

2. उपमानप्रमाणं किमस्ति?

(क) प्रत्यक्षदर्शनम्

(ख) सादृश्यज्ञानात् लब्धज्ञानम्

(ग) शब्दश्रवणम्

(घ) न किमपि।

2 अंक के प्रश्न–

वैशेषिकदर्शने श्अभावःश कतिविधः अस्ति?

न्यायदर्शने श्आप्तवाक्यंश किमस्ति?

7 अंक के प्रश्न–

वैशेषिकदर्शने सप्त पदार्थानां स्वरूपं वर्णयत।

न्यायदर्शने चतुर्णां प्रमाणानां सविस्तरं विवेचनं कुरुत।

॥ ओ३म् ॥

सस्वरवेदपाठः

BDPHSE- 306 (1)

दिव्य प्रकाशन

सस्वरवेदपाठः

क्रेडिट–02
घण्टे–30

BDPHSE- 306 (1)

उद्देश्य–

- वेदों की रक्षा करना।
- वेद, वेदो का विषय और वेदों के ऋषियों से लाभान्वित् होगें।
- वेद पाठ के हर प्रकार के पाठों से अवगत् कराना।
- अक्षरों (वर्णो) उच्चारण का सम्यक बोध कराना।

खण्ड–1

इकाई–1.1 वैदिक वाङ्मय परिचय

इकाई–1.2 वेदो के ऋषियों, छन्द एवं देवताओं के स्वरूप का परिचय।

इकाई–1.3 वेदों के मुख्य विषयों का परिचय।

इकाई–1.4 वेद पाठ के आठ प्रकार के पाठों (जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वजा, दण्ड, रथ, घन) से अवगत कराना।

खण्ड–2

इकाई–2.1 मुख्य सूक्तों का परिचय अग्नि सूक्त, वायु सूक्तमन्त्रों का सस्वर उच्चारण।

इकाई–2.2 मुख्य सूक्तों का परिचय वागाम्भृणी सूक्त ज्ञान सूक्तमन्त्रों का सस्वर उच्चारण।

इकाई–2.3 मुख्य सूक्तों का परिचय स्वस्तिवाचन सूक्त, पुरुषसूक्तमन्त्रों का सस्वर उच्चारण।

इकाई–2.4 मुख्य सूक्तों का परिचय नासदीयसूक्त सूक्त शं नः सूक्त मन्त्रों का सस्वर उच्चारण। एवं दिनचर्या पुराने पाठ का आवृत्ति।

खण्ड–3

इकाई–3.1 मुख्य सूक्तों का परिचय श्रद्धा सूक्त, संगठनसूक्त मन्त्रों का सस्वर उच्चारण।

इकाई–3.2 दैनिक दिनचर्या के विशेष मन्त्र

इकाई–3.3 ऋग्वेदीय अग्नि सूक्त कण्ठपाठ अभ्यास एवं अर्थ सहित व्याख्या।

इकाई–3.4 वायु सूक्त कण्ठपाठ अभ्यास एवं अर्थ सहित व्याख्या।

खण्ड–4

इकाई–4.1 वागाम्भृणी सूक्त कण्ठपाठ अभ्यास एवं अर्थ सहित व्याख्या

इकाई–4.2 पुरुष सुक्त कण्ठपाठ अभ्यास एवं अर्थ सहित व्याख्या

इकाई–4.3 ज्ञान सूक्त कण्ठपाठ अभ्यास एवं अर्थ सहित व्याख्या

इकाई–4.4 मंत्रपुष्पम् मन्त्रों का सस्वर उच्चारण। पुराने पाठ का आवृत्ति।।

परिणाम–

- वेद पाठ के प्रकारों (पाठों) का बोध होगा।
- अग्नि,वायु, सस्वर, पाठ एवं अर्थ बोध।
- वैदिक वाङ्मय के विषय मे ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- एकाग्रता बढ़ती है, सात्विक हारमोन्स पैदा होने से अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञान का एवं आनन्दमय अस्तित्व पुष्ट एवं प्रसन्न होता है।

निर्धारित पाठ्यपुस्तक– वैदिक सुक्त मञ्जरी, मुद्रक–ऋषि ऑफसैट प्रिन्टर्स, ज्वालापुर हरिद्वार।

विषय-सूची

खण्ड-1	**5-29**
इकाई-1.1 वैदिक वाङ्मय परिचय।	5-9
इकाई-1.2 वेदो के ऋषियों, छन्द एवं देवताओं के स्वरूप का परिचय।	10-21
इकाई-1.3 वेदों के मुख्य विषयों का परिचय।	22-24
इकाई-1.4 वेद पाठ के आठ प्रकार के पाठों (जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वजा, दण्ड, रथ, घन) से अवगत कराना।	25-29
खण्ड-2	**30-43**
इकाई-2.1 मुख्य सूक्तों का परिचय अग्नि सूक्त, वायु सूक्तमन्त्रों का सस्वर उच्चारण।	30-33
इकाई-2.2 मुख्य सूक्तों का परिचय वागाम्भृणी सूक्त ज्ञान सूक्तमन्त्रों का सस्वर उच्चारण।	34-36
इकाई-2.3 मुख्य सूक्तों का परिचय स्वस्तिवाचन सूक्त, पुरुषसूक्तमन्त्रों का सस्वर उच्चारण।	37-40
इकाई-2.4 मुख्य सूक्तों का परिचय नासदीयसूक्त सूक्त शं नः सूक्त मन्त्रों का सस्वर उच्चारण एवं दिनचर्या पुराने पाठ का आवृत्ति।	41-43
खण्ड-3	**44-63**
इकाई-3.1 मुख्य सूक्तों का परिचय श्रद्धा सूक्त, संगठनसूक्त मन्त्रों का सस्वर उच्चारण।	44-46
इकाई-3.2 दैनिक दिनचर्या के विशेष मन्त्र।	47-51
इकाई-3.3 ऋग्वेदीय अग्नि सूक्त कण्ठपाठ अभ्यास एवं अर्थ सहित व्याख्या।	52-57
इकाई-3.4 वायु सूक्त कण्ठपाठ अभ्यास एवं अर्थ सहित व्याख्या।	58-63
खण्ड-4	**64-86**
इकाई-4.1 वागाम्भृणी सूक्त कण्ठपाठ अभ्यास एवं अर्थ सहित व्याख्या।	64-68
इकाई-4.2 पुरुष सुक्त कण्ठपाठ अभ्यास एवं अर्थ सहित व्याख्या।	69-76
इकाई-4.3 ज्ञान सूक्त कण्ठपाठ अभ्यास एवं अर्थ सहित व्याख्या।	77-83
इकाई-4.4 मंत्रपुष्पम् मन्त्रों का सस्वर उच्चारण। पुराने पाठ का आवृत्ति।	84-86

भूमिका

भारतीय संस्कृति की आत्मा वेदों में निहित है। वेद, जो 'ज्ञान' के पर्याय हैं, वेद न केवल धार्मिक या आध्यात्मिक ग्रंथ हैं, वरन वे भारत की प्राचीनतम परंपरा के जीवंत साक्ष्य भी हैं। इनमें समाहित ज्ञान आज भी उतना ही प्रासंगिक और प्रभावशाली है। वेद चार हैं – ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इनमें से प्रत्येक वेद में मंत्र, सूक्त, ऋचाएँ एवं ब्रह्मण ग्रंथ सम्मिलित हैं, जो विभिन्न जीवन मूल्यों, यज्ञ-परंपराओं, ब्रह्मज्ञान तथा सामाजिक व्यवस्थाओं का समग्र रूप प्रस्तुत करते हैं। इन मंत्रों का पठन यदि 'सस्वर' रूप में किया जाए तो उनका प्रभाव अत्यंत गहन एवं दिव्य होता है। यही कारण है कि भारतीय वैदिक परंपरा में 'सस्वर वेदपाठ' को विशेष महत्व दिया गया है।

'सस्वर वेदपाठ' का अर्थ है स्वरों सहित शुद्ध उच्चारण से वेदों का पाठ करना। यह केवल एक धार्मिक क्रिया नहीं है, बल्कि एक गूढ़ विद्याशाखा भी है, जिसमें स्वर (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित), मात्रा, यति, लय, और गति के समुचित संतुलन का विशेष ध्यान रखा जाता है। वेदों का मौलिक स्वरूप ही श्रुति पर आधारित है, अर्थात् वह जो 'श्रवण' से ग्रहण किया जाए। इसीलिए प्राचीन काल में जब लिपि और लेखन की सुविधा नहीं थी, तब वेदों का ज्ञान 'गुरु-शिष्य परंपरा' के माध्यम से मौखिक रूप से ही आगे बढ़ाया गया। उस समय 'स्मरण' और 'श्रवण' पर ही पूरा भरोसा था। ऐसी स्थिति में यदि मंत्रों का उच्चारण शुद्ध न हो या स्वर में विकृति आ जाए, तो उसका अर्थ भी परिवर्तन भी हो सकता था, और साथ ही उसका प्रभाव भी क्षीण हो सकता था। इसलिए सस्वर पाठ की एक वैज्ञानिक प्रणाली विकसित हुई, जिसे 'पाठपद्धति' कहा जाता है।

सस्वर वेदपाठ की विविध विधियाँ हैं, जैसे– संहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ, घनपाठ, रथपाठ, शिखापाठ आदि। इन विधियों का उद्देश्य मंत्रों को अक्षुण्ण, शुद्ध और शाश्वत रूप में संरक्षित करना है। उदाहरण स्वरूप, 'जटा पाठ' और 'घन पाठ' जैसी विधियाँ इतनी जटिल हैं कि वे न केवल स्मृति को विकसित करती हैं, बल्कि मंत्रों की त्रुटिरहित प्रस्तुति को भी सुनिश्चित करती हैं। इन पाठ पद्धतियों में सस्वर पाठ की विशेष महत्ता है, क्योंकि स्वर-भंग होने पर मंत्र का अर्थ बदलने की संभावना बनी रहती है।

सस्वर वेदपाठ का प्रभाव केवल आध्यात्मिक नहीं, अपितु मानसिक एवं भौतिक स्वास्थ्य पर भी होता है। आधुनिक वैज्ञानिक शोधों से यह सिद्ध हुआ है कि सस्वर पाठ से उत्पन्न होने वाली ध्वनियाँ मानव मस्तिष्क पर सकारात्मक प्रभाव डालती हैं। यह मस्तिष्क की एकाग्रता, स्मरणशक्ति एवं मानसिक शांति को बढ़ाती हैं। विशेष रूप से जब इन मंत्रों का उच्चारण सामूहिक रूप से एक नियत लय में किया जाता है, तब उसका कंपन वातावरण में भी ऊर्जा का संचार करता है। यही कारण है कि प्राचीन गुरुकुलों में विद्यार्थियों को प्रतिदिन सस्वर वेदपाठ कराया जाता था, ताकि वे मानसिक रूप से सुदृढ़, एकाग्र और विवेकशील बन सकें।

आज के युग में, जबकि सूचना और तकनीकी क्रांति ने मनुष्य को तीव्रगति से भौतिक प्रगति की ओर प्रेरित किया है, तब भी आंतरिक संतुलन और आत्मिक स्थिरता की आवश्यकता बनी रहती है। ऐसे समय में सस्वर वेदपाठ की प्रासंगिकता और भी अधिक हो जाती है। यह केवल धार्मिक अनुष्ठान का अंग नहीं है, बल्कि यह आत्मिक अनुशासन, मानसिक स्वास्थ्य और सांस्कृतिक संरक्षण का भी माध्यम है। इसके माध्यम से न केवल वैदिक मंत्रों का साक्षात अनुभव होता है, बल्कि वह दिव्यता और गूढ़ अर्थ भी उद्भासित होते हैं, जिन्हें केवल मौन पाठ से अनुभव करना कठिन है।

अतः सस्वर वेदपाठ न केवल भारतीय वैदिक परंपरा की अमूल्य धरोहर है, बल्कि यह भारतीय ज्ञान प्रणाली की वैज्ञानिकता, मानसिक अनुशासन एवं आध्यात्मिक गहराई का भी प्रतीक है। इसे संरक्षित करना, अभ्यास में लाना और अगली पीढ़ी तक पहुँचाना हमारी सांस्कृतिक जिम्मेदारी है। यदि हम इस परंपरा को पुनः जाग्रत करें, तो न केवल हम अपने वैदिक ज्ञान के प्रति उत्तरदायी होंगे, बल्कि समस्त मानवता के लिए एक संतुलित, शांतिपूर्ण और ज्ञानपूर्ण मार्ग का भी सृजन कर सकेंगे। सस्वर वेदपाठ, वास्तव में, केवल 'पाठ' नहीं, अपितु एक 'अनुभव' है– जो शब्दों के पार जाकर आत्मा को स्पर्श करता है।

खण्ड-1

इकाई-1.1 वैदिक वाङ्मय परिचय

उद्देश्य

1. विद्यार्थी वैदिक वाङ्मय का परिचय प्राप्त करेंगे।
2. वेदों एवं उपवेदों के महत्व को समझ सकेंगे।
3. वैदिक शिक्षा-पद्धति एवं स्वर-विज्ञान का ज्ञान प्राप्त करेंगे।

शास्त्रम्

चत्वारो वेदाः – ऋग्वेदः, यजुर्वेदः, सामवेदः, अथर्ववेदः।
उपवेदाः – आयुर्वेदः, धनुर्वेदः, गन्धर्ववेदः, अर्थवेदः।
षडङ्गानि – शिक्षा व्याकरणं छन्दो निरुक्तं ज्योतिषं तथा।
कल्पस्येति षडङ्गानि वेदस्याहुः मनीषिणः।।
छन्दौ पादौतु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुः निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षाघ्राणंतु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।
अष्टाङ्गानि – यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि।
एकादशोपनिषद्- ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, छान्दोग्य, बृहदारण्यक।

अथ शिक्षाशास्त्रम्
पाणिनये नमः

आकाशवायुप्रभवः शरीरात्समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः॥1॥

आकाश और वायु के संयोग से उत्पन्न होने वाला नाभि के नीचे से ऊपर उठता हुआ जो मुख को प्राप्त होता है, उसको 'नाद' कहते है। वह कण्ठ आदि स्थानों में विभाग को प्राप्त हुआ वर्ण भाव को प्राप्त होता हैं, उसको 'शब्द' कहते हैं।

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति सः प्रेरयति मारुतम् ॥६॥
मारुस्तूरसिचरन्मन्द्रं जनयति स्वरम् ।
प्रातःसवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम् ॥७॥

जीवात्मा बुद्धि से अर्थों की संगति करके कहने की इच्छा से मन को युक्त करता हुआ, विद्युतरुप जठराग्नि का ताड़न करता है, वह वायु को प्रेरणा करता है, और वायु उरःस्थान में विरता हुआ मन्द स्वर को उत्पन्न करता है।

ह्रस्व	दीर्घ	प्लुत	
अ	आ	अ३	**कवर्ग** — क~ ख~ ग~ घ~ ङ~।
इ	ई	इ३	**चवर्ग** — च~ छ~ ज~ झ~ ञ~।
उ	ऊ	उ३	**टवर्ग** — ट~ ठ~ ड~ ढ~ ण~।
ऋ	ॠ	ऋ३	**तवर्ग** — त~ थ~ द~ ध~ न~।
ऌ	०	ऌ३	**पवर्ग** — प~ फ~ ब~ भ~ म~।
०	ए	ए३	**अन्त:स्थ** — य~ र~ ल~ व~।
०	ऐ	ऐ३	**ऊष्म** — श~ ष~ स~ ह~।
०	ओ	ओ३	**अयोगवाह-रूप**
०	औ	औ३	: विसर्जनीय ᳵ जिह्वामूलीय ᳶ उपध्मानीय . अनुस्वार ँ ह्रस्व ः दीर्घ ं अनुनासिक चिन्ह, और ळ यह अक्षर इनको चार यम भी कहते हैं

स्वरों का लक्षण

स्वयं राजन्त इति स्वरा:॥ महाभाष्य। अ० १। पा० २। सू० २९। आ १॥

जिनके उच्चारण में दूसरे वर्णो के सहाय की अपेक्षा न हो वे 'स्वर' कहाते हैं।

स्वरों की संज्ञा

ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुत:॥ अ० १।२।२७

स्वरों की ह्रस्व दीर्घ और प्लुत भेद से तीन संज्ञा हैं। इनके उच्चारण समय का लक्षण यह है कि जितने समय में अङ्गुष्ठ के मूल की नाड़ी की गति एक बार होती हैं उतने समय में ह्रस्व, उससे दूने काल में दीर्घ और उसके तिगुने काल में प्लुत का उच्चारण करना चाहिए। और स्वरों के उदात्तादि भी गुण हैं-

उच्चैरुदात्त:॥ अष्टा० 1।2।29॥ उर्ध्वध्वनि से उदात्त। और-

नीचैरनुदात्त:॥ अष्टा० 1।2।30॥ नीचे स्वर से अनुदात्त बोला जाता है।

समाहार: स्वरित:॥ अष्टा० 1।2।31॥ उदात्त और अनुदात्त स्वरों को मिलाकर बोलना 'स्वरित' कहाता है।

व्यञ्जन का लक्षण

अन्वग्भवति व्यञ्जनमिति॥ महाभाष्य। अ०। पा० २।सू० २९। आ०1॥

जिनका उच्चारण बिना स्वर के नहीं हो सकता, वे 'व्यञ्जन' कहाते हैं।

उच्चारण करने वालों के गुण

माधुर्यमक्षरव्यक्ति: पदच्छेदस्तु सुस्वर:।

धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणा:॥ पाणिनीशिक्षा.३३

(माधुर्यम्) वर्णो के उच्चारण में मधुरता, (अक्षरव्यक्ति:) भिन्न-भिन्न अक्षर, **(पदच्छेद:)** पृथक्-पृथक् पद, **(तु)** और **(सुस्वर:)** सुन्दर ध्वनि, **(धैर्यम्)** धीरता, (च) **(लयसमर्थम्)** विराम तथा सार्थकता, और जैसा ह्रस्व दीर्घ प्लुत उदात्त अनुदात्त स्वरित स्वर, स्पर्श आदि आभ्यन्तर और विवारादि बाह्य प्रयत्न से अपने-अपने स्थानों में वर्णो का उच्चारण करना, तथा सत्यभाषणादि भी वर्णो के उच्चारण करने वालों के गुण हैं।

स्वरों के उच्चारण मे दोष

ग्रस्तं निरस्तमविलम्बितं निर्हतमंबूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम्।

सन्दष्टमेणीकृतमर्द्धकं द्रुतं विकीर्णमेता: स्वरदोषभावना:॥

-महाभाष्य। अ०1। पा० 1।आ० 1॥

(ग्रस्तम्) जैसे किसी वस्तु को मुख से पकड़कर बोलना, **(निरस्तम्)** जैसे किसी वस्तु को मुख से ग्रहण करके फेंक देना, **(अविलम्बितम्)** जिसका उच्चारण पृथक-पृथक करना चाहिए उसको वर्णान्तर में मिलाके बोलना, **(निर्हतम्)** जैसे किसी को धक्का देना, **(अम्बूकृतम्)** जैसे मुख में जल भरके बोलना, **(ध्मातम्)** जैसे रुई को धुनना, वा लोहार की भट्ठी के समान उच्चारण करना, **(विकम्पितम्)** जैसे कम्प करके बोलना, **(सन्दष्टम्)** जैसे किसी वस्तु को दाँतों से काटते हुए बोलना, (एणीकृतम्) जैसे हरिण कूदके चलते हैं, वैसे ऊपर-नीचे ध्वनि से बोलना, **(अर्द्धकम्)** जितने समय में जिस वर्ण का उच्चारण करना चाहिए उसके आधे समय में बोलना, **(द्रुतम्)** त्वरा से बोलना, **(विकीर्णम्)** जैसे कोई वस्तु बिखर जाये वैसा उच्चारण करना, ये सब दोष स्वरों के उच्चारण करने हारों के हैं।

❖ **अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः॥**

अ आ अ3, कु अर्थात् क् ख् ग् घ् ङ्, ह् और : विसर्जनीय इन वर्णो का कण्ठ स्थान है। अर्थात् जो जिह्वा का मूल कण्ठ का अग्रभाग काकल्क के नीचे देश है, उस कण्ठ स्थान से इनका शुद्ध उच्चारण होता है।

❖ **इचुयशास्तालव्याः॥**

जो इ ई इ3, चु अर्थात् च् छ् ज् झ् ञ्, य् और श हैं, इनका तालु स्थान अर्थात् दाँतों के ऊपर से उच्चारण करना चाहिये। जैसे च के उच्चारण में जिस स्थान में जैसी जीभ की क्रिया करनी पड़ती है, वैसे शकार का उच्चारण करना योग्य है।

❖ **ऋटुरषा मूर्धन्याः॥**

ऋ ॠ ऋ3 (टु) ट् ठ् ड् ढ् ण्, र् और ष् का उच्चारण मूर्द्धा स्थान अर्थात् तालु के ऊपर से करना चाहिए। जैसी क्रिया ट के उच्चारण में की जाती है, वैसी ही ष के उच्चारण में करनी उचित है।

❖ **लृतुलसा दन्त्याः॥**

लृ लृ3, तु अर्थात् त् थ् द् ध् न्, ल् और स् इन वर्णों का दन्तस्थान् अर्थात् दाँतो में जिह्वा लगा के उच्चारण करना है।

❖ **वकारो दन्त्यौष्ठ्यः॥**

व का उच्चारण दाँत और ओष्ठ से होना चाहिए।

❖ **उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः॥**

उ ऊ उ3, (पु) प् फ् ब् भ् म् और इस उपध्मानीय को ओष्ठ स्थान से उच्चारण करना शुद्ध है।

❖ **अनुस्वारमया नासिक्याः॥**

ँ ॅ ं और अनुस्वार को नासिका से बोलना शुद्ध है।

❖ **कण्ठ्यनासिक्यमनुस्वारमेके॥**

कण्ठ और नासिका स्थान वाले ङकार को कोई आचार्य अनुस्वार के समान केवल नासिकास्थानी कहते हैं।

❖ **यमाश्च नासिक्यजिह्वामूलीया एकेषाम्॥**

कई एक आचार्यो के मत से यम अर्थात् ं ँ ॅ ये भी नासिका और जिह्वामूल स्थान हैं।

❖ **एदैतौ कण्ठ्यतालव्यौ॥**

ए ऐ कण्ठ और तालु से बोलने योग्य हैं।

❖ **ओदौतौ कण्ठ्यौष्ठयौ॥**

ओ औ को कण्ठ और ओष्ठ से बोलना शुद्ध है।

❖ **ङञणनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः॥**

ङकारादि पाँचों वर्णो को स्व-स्व स्थान और नासिका स्थान से बोलना चाहिये।

स्मरणीय बिंदु-

1. वेद भारतीय संस्कृति की आत्मा हैं।
2. वेद चार हैं - ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद।
3. सस्वर पाठ में उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित का महत्व है।
4. वेदों का संरक्षण गुरु-शिष्य परंपरा से हुआ।

शब्दावली-

1. शब्द - अर्थ
2. वेद - ज्ञान
3. श्रुति - सुनकर ग्रहण किया गया ज्ञान
4. स्वर - ध्वनि का उच्चारण
5. वेदाङ्ग-वेदों के अंग**5 अंक के प्रश्न-**

1. वैदिक वाङ्मय से क्या अभिप्राय है?
2. चारों वेदों के नाम लिखिए।
3. उपवेदों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
4. वेदाङ्ग किसे कहते हैं?
5. सस्वर वेदपाठ का महत्व लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. वैदिक वाङ्मय की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. वेद, उपवेद एवं वेदाङ्गों का विस्तृत परिचय दीजिए।
3. सस्वर वेदपाठ की परंपरा एवं उपयोगिता का वर्णन कीजिए।
4. वैदिक शिक्षा-पद्धति पर प्रकाश डालिए।
5. स्वर एवं शब्द की उत्पत्ति का विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. वेदों की संख्या कितनी है?

(क) 2
(ख) 3
(ग) 4
(घ) 6

उत्तर - (ग)

2. आयुर्वेद किसका उपवेद है?

(क) ऋग्वेद
(ख) यजुर्वेद
(ग) सामवेद
(घ) अथर्ववेद

उत्तर - (घ)

3. 'शिक्षा' किसका अंग है?

(क) उपवेद
(ख) वेदाङ्ग
(ग) उपनिषद्
(घ) पुराण

उत्तर - (ख)

4. सस्वर पाठ में किसका विशेष महत्व है?

(क) लेखन

(ख) चित्रण

(ग) उच्चारण

(घ) अभिनय

उत्तर - (ग)

5. वेद 'श्रुति' कहलाते हैं क्योंकिख्र

(क) लिखे गए

(ख) सुने गए

(ग) छापे गए

(घ) गाए गए

उत्तर - (ख)

इकाई-1.2 वेदो के ऋषियों, छन्द एवं देवताओं के स्वरूप का परिचय

उद्देश्य-

1. विद्यार्थी ऋषियों के स्वरूप को समझेंगे।
2. छन्द एवं देवता की अवधारणा का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
3. वैदिक मंत्रों की संरचना को समझ सकेंगे।

अन्य वेद संहिताओं के समान सामवेद संहिता में भी ऋचाओं के ऋषि, देवता और छन्द निर्दिष्ट हैं। वैदिक यन्त्रालय से मुद्रित साम-संहिता में इनके अतिरिक्त प्रत्येक ऋचा के षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि स्वरों का भी निर्देश मिलता है। यहाँ संक्षेप से इनका विवेचन कर लेना उपयोगी होगा।

१. ऋषि

वेदों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करनेवाले कतिपय भारतीय तथा पाश्चात्त्य विद्वान् ऋषियों को ऋचाओं का रचयिता मानते हैं। उनके मतानुसार जिस ऋचा का जो ऋषि निर्दिष्ट है, उसी ने उस ऋचा को रचा था। परन्तु वेदज्ञ मनीषियों की प्राचीन परम्परा वेदों को ईश्वरप्रदत्त ज्ञान तथा ऋषियों को ऋचाओं का रचयिता नहीं, प्रत्युत् अर्थद्रष्टा मानती है। यही मान्यता निरुक्त-सम्मत भी है।[1] तपस्या एवं चिन्तन करते हुए जिन मनुष्यों के हृदय में किन्हीं मन्त्रों का अर्थ साक्षात् प्रकाशित हुआ तथा उस अर्थ को जिन्होंने अध्यापन, उपदेश आदि द्वारा अन्यों में प्रचारित किया, वे उन मन्त्रों के ऋषि कहलाये। स्वामी दयानन्द सरस्वती भी इसी मत को स्वीकार करते हैं। वे ऋ० भा० भू० के प्रश्नोत्तर- विषय में अपने कथन की पुष्टि में निरुक्त का प्रमाण देते हुए[2] लिखते हैं-

''ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेद-मन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे। फिर उनमें से जिस-जिस मन्त्र का अर्थ जिस-जिस ऋषि ने प्रकाशित किया, उस-उसका नाम उसी उसी मन्त्र के साथ लिखा गया है। इसी कारण से उनका ऋषि नाम भी हुआ है। और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े-बड़े प्रयत्न के साथ वेदमन्त्रों के अर्थों को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिए पूर्ण उपकार किया है, इसलिए विद्वान् लोग वेदमन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं।[3]

वेदों में इन ऋषि-नामों के साथ क्योंकि पितृ-पितामह का नाम या गोत्र- नाम भी प्रायः जुड़ा हुआ है, अतः ऋषियों के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता है। ये ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, इसलिए यह भी स्पष्ट है कि जब सृष्टि के आदि में वेदों का प्रकाश हुआ, तब वेद-मन्त्रों के साथ ऋषि नाम जुड़े हुए नहीं थे। ये ऋषियों के उपकार-स्मरणार्थ बाद में जोड़े गए। कई मन्त्रों के एक से अधिक ऋषि भी हैं। यथा, सामवेद में मन्त्र क्रमांक ६० के ऋषि वामदेव, अथवा कश्यप मारीच, अथवा वैवस्वत मनु हैं; क्रमांक ९२-९३ के ऋषि वामदेव काश्यप, अथवा असित देवल हैं; क्रमांक ११० के प्रयोग भार्गव, अथवा सौभरि काण्व हैं; क्रमांक १५४ के शुनःशेप आजीगति, अथवा वामदेव हैं; क्रमांक १५७ के मेधातिथि काण्व और प्रियमेध आंगिरस हैं; क्रमांक २२० के विश्वामित्र गाथिन अथवा जमदग्नि हैं। दो या अधिक ऋषियों को दर्शाने के लिए प्रायः 'वा' लिखा जाता है, यथा- वामदेव काश्यपः असितो देवलो वा '(साम० ९२-९३)। इस 'वा' का अभिप्राय संदेह व्यक्त करना नहीं है कि अमुक मन्त्र का या तो वामदेव ऋषि है या देवल, प्रत्युत् 'वा' समुच्चय-बोधक है। ऋग्वेद में तो ३० मन्त्रों के एक सूक्त ऋ० ९।६६ के ऋषि '१०० वैखानस' हैं; यद्यपि वहाँ संख्या मात्र लिखी है, उन सौ ऋषियों के नाम नहीं दिये। एकाधिक ऋषि जब किसी मन्त्र का पृथक्-पृथक् रूप में कोई चामत्कारिक अर्थदर्शन करते थे तब विद्वन्मण्डल की ओर से सभी को उस मन्त्र के ऋषि होने का गौरव दिया जाता था।

किस ऋषि ने किस मन्त्र का क्या अर्थदर्शन या अर्थानुसन्धान किया, इसका विवरण आज हमारे पास विद्यमान नहीं है। कितना अच्छा होता यदि हम जान सकते कि वे क्या चामत्कारिक अर्थ थे, जिनके कारण कोई व्यक्ति ऋषि कहलाये। सम्भवतः उन्होंने मौखिक ही अपने वेदार्थ का प्रचार किया होगा। यदि लिखित भी रहा होगा तो आज वह हमारे देखने के लिए उपलब्ध

1. ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः। ऋषिर्दर्शनात्, स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः। तद् यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् तद् ऋषीणाम् ऋषित्वमिति विज्ञायते।-निरु० २।११
2. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। निरु० १।२०
3. यतो वेदानामीश्वरोक्त्यनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद् विदितस्तस्मात् तस्य तस्योपरि तत्तदृषेर्नामाभिलेखनं कृतमस्ति। कुतः? तैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशितत्वात्, तत्कृतमहोपकारस्मरणार्थं तन्नामलेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्तुं योग्यमस्त्यः। - ऋ० भा० भू०, प्रश्नोत्तर विषय।

नहीं है। मन्त्रों के ऋषि आज भी होते हैं, आज भी विद्वज्जन समाहित होकर विभिन्न कोटि के अर्थदर्शन करते हैं। पर आज उन्हें उन-उन मन्त्रों के ऋषि कहने की परिपाटी नहीं हैं। कहें भी तो किस-किस को ऋषि कहें? आज का ऋषि अनुवादक, भाष्यकार या व्याख्याकार कहलाता है।

अनेक ऋषि ऐसे भी हैं जिनके नाम उन वेदमन्त्रों में ही पठित हैं जिनके वे ऋषि हैं उदाहरणार्थ सामवेद के ऐसे कतिपय ऋषि निम्न तालिका में दिये गये हैं-

ऋषि-नाम	**क्रमांक**	**सामवेद का मन्त्र-खण्ड जिसमें ऋषिनाम आया है**
वत्स	८	आ ते **वत्सो** मनो यमत्
गोपवन	२९	तं त्वा **गोपवनो** गिरा
सुदीति, पुरुमीढ़	४९	अग्निं राये **पुरुमीढ** श्रुतं नरोऽग्निः **सुदीतये** छर्दिः
कश्यप, मनु	९०	पिता यत् **कश्यपस्याग्निः** श्रद्धा माता **मनुः** कविः
श्रुतकक्ष	११८	अरमश्वाय गायत **श्रुतकक्षारं गवे**
दध्यङ् आथर्वण	१७७	द्युमद् गामन्ना**थर्वण**
वसिष्ठ	३३०	समर्ये महया **वसिष्ठ**
प्रियमेध	३६२	**प्रियमेधासो** अर्चत
भुवन आप्त्य	४५२	इमा नु कं **भुवना**
एवयामरुत्	४६२	मरुत्वते गिरिजा **एवयामरुत्**
प्रथ	५९९	**प्रथश्च** यस्य सप्रथश्च
विभ्राट सौर्य	६२८	**विभ्राट्** बृहत् पिबतु

यहाँ प्रश्न उठता है कि ऋषि मन्त्रकर्त्ता न होकर मन्त्रद्रष्टा हैं तो उत्तरवर्त्ती ऋषियों के नाम पूर्ववर्ती वेदमन्त्रों में कैसे पठित हो गए? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि उन ऋषियों का वास्तविक नाम कुछ और ही था। जिन मन्त्रों का उन्होंने अर्थदर्शन किया उनमें से किसी मन्त्र में पठित किसी नाम से चमत्कृत होकर उन्होंने वह अपना उपनाम रख लिया तथा वह उपनाम ही उनके वास्तविक नाम के रूप में प्रचलित हो गया। इस कारण यह साम्य दृष्टिगत होता है।

सामवेद के कई मन्त्र ऐसे भी हैं जो ऋग्वेद में भी मिलते हैं, किन्तु सामवेद में उनका ऋषि ऋग्वेद से भिन्न है। उदाहरण ार्थ निम्न तालिका द्रष्टव्य है[1]-

मन्त्रांश	**ऋग्वेद का पता**	**साम० में ऋषि**	**ऋग्वेद में ऋषि**
नमस्ते अग्न	८।७५।१०	आयुङ्क्ष्वाहि	विरूप आङ्गिरसः
प्र मंहिष्ठाय	८।१०३।८	प्रयोगो भार्गवः	सौभरिः काण्वः
तमिन्द्र वाज०	८।९३।७	श्रुतकक्षः	सुकक्षः
य आनयत्	६।४५।१	भारद्वाजः	शंयुर्बार्हस्पत्यः
त्वावतः पुरुवसो	८।४६।१	वत्सः	वशोऽश्व्यः
वातारमिन्द्र	६।४७।११	भरद्वाजः	गर्गो भारद्वाजः
उभे यदिन्द्र	१०।१३४।१	मेधातिथिः काण्वः	मान्धाता यौवनाश्वः
त्वं न इन्द्रा भर	८।९८।१०	नृमेध आङ्गिरसः	सौभरिः काण्वः

यह ऋषिभेद इसी कारण है क्योंकि ऋग्वेद में अर्थदर्शन किसी अन्य ऋषि ने किया और साम- वेद में उसी मन्त्र का अर्थदर्शन किसी अन्य ऋषि ने। दोनों का अर्थदर्शन भिन्न रहा होगा। ऋग्वेद और सामवेद में जिन मन्त्रों के ऋषि समान हैं, उनमें दोनों वेदों में अर्थदर्शन एक ही ऋषि का किया हुआ है। ऋग्वेद में ऋषि जिसका अर्थदर्शन कर चुका था, उसी अर्थ को सामवेद के अध्येताओं ने भी ले लिया होगा।

२. देवता

वेदमन्त्रों के देवता कई प्रकार के होते हैं। 'देवता' को समझने के लिए सामान्य लक्षण यह किया जा सकता है- ''मन्त्र में

1. इस तालिका में दिये गये स्थलों से अतिरिक्त अनेक स्थल ऐसे हैं जिनमें ऋषिभेद पाया जाता है।

जिस नाम से किसी विषय का वर्णन होता है वह उसका देवता कहलाता है।" यथा- 'अग्निमीळे पुरोहितम्' ऋ० १।१।१, आदि मन्त्र में 'अग्नि' नाम से परमेश्वर, भौतिक अग्नि, राजा, सेनापति, आचार्य आदि विविध विषयों का वर्णन होने से 'अग्नि' इस मन्त्र का देवता है। मन्त्रगत वर्णन कई प्रकार के हो सकते हैं। अग्नि आदि देवता-नामों से क्वचित् स्तुति, क्वचित् प्रार्थना, क्वचित् उपासना, क्वचित् समर्पण, क्वचित् आह्वान, क्वचित् आत्म-परिचय आदि मन्त्रों में निबद्ध रहता है। परन्तु उक्त देवता-लक्षण अपने-आप में पूर्ण नहीं है, यतः सभी देवताओं में यह व्याप्त नहीं होता।

अनेक वैदिक देवता इससे भिन्न प्रकार के हैं। यथा, मन आवर्तन (ऋ० १०।५८) धनान्नदान-प्रशंसा (ऋ० १०।११७), भाववृत्तम् (ऋ० १०।१२९, १९०), सपत्नीबाधनम् (ऋ० १०।१४५), अलक्ष्मीघ्नम् (ऋ० १०। १५५), यक्ष्मनाशनम् (ऋ०१०।१६३), दुःस्वप्ननाशनम् (ऋ० १०।१६४), राज्ञः स्तुतिः (ऋ० १०।१७३)। इन नामों से वेदमन्त्रों में कुछ नहीं कहा गया है, प्रत्युत् ये देवता कविता के स्वतन्त्र शीर्षक के तुल्य हैं। इसी प्रकार यम यमी-संवाद (ऋ० १०।१०), पुरूरवा-उर्वशी-संवाद (ऋ० १०।९५), सरमा-पणि संवाद (ऋ० १०।१०८) आदि संवाद-सूक्तों में जो वक्ता है वह ऋषि तथा जो श्रोता है वह देवता कहलाता है। यथा, यम यमी-सूक्त में जो मन्त्र यम की ओर से यमी को कहे गये हैं उनमें यम ऋषि तथा यमी देवता है।

कई मन्त्रों का देवता मन्त्रोल्लिखित नाम न होकर उसका पर्यायवाची अन्य शब्द होता है। यथा, तीन मन्त्रों के सूक्त ऋ० १०।१८६ 'वात आ वातु भेषजम्' आदि में तीनों मन्त्रों में वात शब्द पठित है, किन्तु सर्वानुक्रमणी में 'देवता' 'वायु' लिखा है। तदनुसार सभी मुद्रित ऋग्वेद संहिताओं में भी वायु देवता ही अंकित है। तीन मन्त्रों के एक अन्य सूक्त ऋ० १०।१८६ में पठित तो हैं 'गौः' और 'पतङ्गः' शब्द, किन्तु सर्वानुक्रमणी में देवता 'आत्मा एवं सूर्य' लिखा है।[1] यजुर्वेद में कर्मकाण्डिक विनियोग के अनुसार शाखा आदि देवता कल्पित किये गये हैं, जो मन्त्रों में पठित नहीं हैं। यजुर्वेद संहिता के दयानन्द-भाष्य में भी यज्ञ, ईश्वर, सेनापति, राजा, राजपत्नी, योगी, गृहपति, वैद्य आदि देवता लिखे हैं,[2] जो मन्त्रों में कहीं नहीं हैं। अतः वैदिक देवताओं को किसी एक परिभाषा में निबद्ध कर सकना कठिन है।

यास्काचार्य ने मन्त्र के देवता पर विचार करते हुए लिखा है- **'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवताया- मार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति** (नि० ७।१)। यह पंक्ति अपने-आप में बहुत स्पष्ट नहीं है। निरुक्त के विभिन्न भाष्यकारों ने इसकी विभिन्न व्याख्याएँ की हैं। इसकी एक व्याख्या यह हो सकती हैं।

(ऋषिः) मन्त्र का रचयिता ज्ञानी परमेश्वर (यत्कामः) जिस अर्थ के प्रतिपादन की इच्छा वाला होकर (यस्यां देवतायाम्) जिस देवता में (आर्थपत्यम् इच्छन्) उस प्रतिपाद्य अर्थ का पतित्व चाहता हुआ (स्तुतिं प्रयुङ्क्ते) स्तुति को प्रयुक्त करता है (तद्दैवतः) उस देवता वाला (स मन्त्रः भवति) वह मन्त्र होता है।

अभिप्राय यह है कि मन्त्र के रचयिता ने सर्वप्रथम प्रतिपाद्य अर्थ को सोचा, फिर यह विचार किया कि किस नाम को इस प्रतिपाद्य अर्थ का स्वामी (शीर्षक) बनाऊँ। जो शीर्षक उसे प्रतिपाद्य अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उपयुक्त जान पड़ा उसे ही उसने मन्त्र का देवता निर्धारित किया।

इस व्याख्या के अनुरूप यदि ऋषि का अर्थ मन्त्र-रचयिता ज्ञानी परमेश्वर किया जाए तो वेद-मन्त्रों के समान 'देवता' भी ईश्वरकृत् तथा नित्य सिद्ध होते हैं, किन्तु यदि ऋषि से मन्त्रार्थ-द्रष्टा ऋषि अभीष्ट समझा जाये तो देवता ऋषिकृत तथा अनित्य ठहरते हैं। फिर उपर्युक्त पंक्ति के अतिरिक्त अनादिष्ट देवताक मन्त्रों में देवता-ज्ञान की विधि यास्क ने पृथक् बतलायी है। इससे यह ज्ञात होता है कि उक्त पंक्ति केवल आदिष्ट देवताक मन्त्रों के लिए है।

अनादिष्टदेवताक मन्त्रों में देवतोपपरीक्षा की जो विधि निरुक्तकार ने वर्णित की है, उसके अनुसार एक कसौटी कामदेवता[3] की भी है, अर्थात् देवता की इच्छानुसार कल्पना हो सकती है।

वेदों में क्वचित् आदिष्टदेवताक मन्त्रों के भी आदिष्ट से भिन्न देवता कल्पित किये गये हैं। उदाहरणार्थ सामवेद पूर्वार्चिक के निम्ननिर्दिष्ट मन्त्रों के देवता ऋग्वेद- पठित उन्हीं मन्त्रों के देवताओं से भिन्न हैं। ऋग्वेद में देवता का उल्लेख मन्त्रादिष्ट के अनुरूप है, किन्तु सामवेद में ऐन्द्र काण्ड में पठित होने से इन सबका इन्द्र देवता माना गया है, यद्यपि ऐन्द्र काण्ड में भी अन्यत्र

---

1. आयं गौः सार्पराज्ञी आत्मदैवतं सौर्यं वा-सर्वा०। वैदिकयन्त्रालय-मुद्रित ऋग्वेदसंहिता में देवता 'सार्पराज्ञी सूर्यो वा' तथा स्वाध्याय मण्डल-मुद्रित ऋक्संहिता में 'आत्मा सूर्यो वा' है।
2. यथा, यज्ञो देवता य० ११२७, २८, ईश्वरो देवता य० ३६ । ९७-१६, २१-२२, सेनापति देवता य० ६।२१, प्रजासभ्य- राजानौ देवते ० ६।३१, सभापती राजा देवता य० ६।३२, आसन्दी राजपत्नी देवता य० १०।२६, योगी देवता य० ७।६, गृहपतयो देवता य० ८।१७-२३, वैद्यो देवता य० १२७५-७७,७९,८१ आदि।
3. तद् येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा। यद्दैवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति। अथान्यत्र यज्ञात्प्राजापत्या इति याज्ञिकाः, नाराशंसा इति नैरुक्ताः। अपि वा सा कामदेवता स्यात्।-निरु० ७।४

इन्द्र देवता से भिन्न कई देवता स्वीकृत किये गये हैं।[1]

मन्त्रांश	ऋग्वेद का पता	मन्त्र में आदिष्ट नाम	ऋग्वेद में देवता
आघा ये	८।४५।१	अग्निः इन्द्रः	अग्नीन्द्रौ
सोमानां स्वरणं	१।१८।१	ब्रह्मणस्पतिः	ब्रह्मणस्पतिः
अद्या नो देव	५।८२।४	सविता	सविता
यदिन्द्रो अनयद्	५।५७।४	इन्द्रः, पूषा	इन्द्रापूषणौ
सदसस्पतिमद्भुतं	१।१८।६	सदसस्पतिः	सदसस्पतिः
अस्ति सोमो	८।९४।४	सोमः, मरुतः, अश्विनौ	मरुतः
एषो उषा	१।४६।१	उषाः, अश्विनौ	अश्विनौ
वात आ वातु	१०।१८६।१	वातः	वायुः

मन्त्रांश	साम-क्रमांक	ऋग्वेद का पता	मन्त्र में आदिष्ट नाम	ऋग्वेद में देवता
यं रक्षन्ति	१८५	१।४१।१	वरुणः, मित्रः, अर्यमा	वरुणमित्रार्यमणः
महि त्रीणामवो	१९२	१०।१८५।१	वरुणः, मित्रः, अर्यमा	आदित्याः
इन्द्र इषे	१९९	८।९३।३४	इन्द्रः, ऋभुः	इन्द्र ऋभवश्च
इन्द्रा नु पूषणा	२०२	६।५७।१	इन्द्रः, पूषा	इन्द्रापूषणौ
ऋजुनीती नो	२१८	१।९०।१	वरुणः, मित्रः, अर्यमा	विश्वेदेवाः
आ नो मित्रावरुणा	२२०	३।६२।१६	मित्रः, वरुणः	मित्रावरुणौ
इदं विष्णुर्	२२२	१।२२।१७	विष्णुः	विष्णुः
वास्तोष्पते	२७५	८।१७।१४	वास्तोष्पतिः,इन्द्रः	इन्द्रः वास्तोष्पतिर्वा
अयं वां मधुमत्तमः	३०६	१।४७।१	अश्विनौ	अश्विनौ
त्यमूषु वाजिनं	३३२	१०।१७८।१	तार्क्ष्यः	तार्क्ष्यः
इन्द्रापर्वता	३३८	३।५३।१	पर्वतः	पर्वतेन्द्रौ

इसके अतिरिक्त कतिपय स्थल ऐसे भी हैं जिनमें मन्त्र में तो देवता पठित नहीं हैं, किन्तु प्रकरण से देवताबोध हो सकता है। उनके विषय में भी क्वचित् सामवेद तथा ऋग्वेद में प्रकरण-भेद के कारण देवता-भेद पाया जाता है। यथा-साम ११७ 'गाव उपवदावटे' आदि 'उपावतावतं' पाठभेद के साथ ऋ० ८।७२।१२ में भी है। ऋग्वेद में इसका देवता 'अग्निर्हवींषि वा' है, किन्तु सामवेद में इन्द्र। साम १३५ 'इहेव शृण्व' आदि ऋ० १।३७।३ में भी है। ऋग्वेद में १५ मन्त्रों के पूरे सूक्त १।३७ का देवता 'मरुतः' है, किन्तु सामवेद में इसका भी देवता इन्द्र है। साम २१९ 'दूरादिहेव यत्सतः' आदि किञ्चित् पाठभेद के साथ ऋ० ८।५।१ में भी पठित है। ऋग्वेद में इसका देवता प्रकरणानुसार 'अश्विनौ' है, किन्तु सामवेद में इसका देवता भी इन्द्र है। साम २२१ 'उदु त्ये सूनवो गिरः' ऋ० १।३७।१० में भी है, जहाँ सम्पूर्ण सूक्त का ही देवता 'मरुतः' है, किन्तु सामवेद में देवता इन्द्र है। ऐन्द्र काण्ड में पठित होने से इन सबमें इन्द्र की ही महिमा का दर्शन पाठकों को करना होता है।

३. छन्द

वैदिक छन्द आर्ष, दैव, आसुर, प्राजापत्य, याजुष, साम्न, आर्च तथा ब्राह्म आठ प्रकार के होते हैं।

दैव से लेकर ब्राह्म तक के छन्दों के परिचयार्थ नीचे तालिका दी जा रही है-

छन्द नाम	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुप्	बृहती	पङ्क्ति	त्रिष्टुप्	जगती	अक्षरों में वृद्धिया ह्रास

1. द्रष्टव्यः भाष्य में ऐन्द्रकाण्ड की भूमिका के प्रारम्भ की टिप्पणी।

१. दैवी	१	२	३	४	५	६	७	वृद्धि १ अक्षर
२. आसुरी	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	ह्रास १ अक्षर
३. प्राजापत्य	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२	वृद्धि ४ अक्षर
४. याजुषी	६	७	८	९	१०	११	१२	वृद्धि १ अक्षर
५. साम्नी	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४	वृद्धि २ अक्षर
६. आर्ची	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६	वृद्धि ३ अक्षर
७. ब्राह्मी	३६	४२	४८	५४	६०	६६	७२	वृद्धि ६ अक्षर

परन्तु वेदों में आर्ष छन्दों का ही प्रयोग अधिक हुआ है। आर्ष छन्दों के तीन सप्तक होते हैं- १. गायत्र्यादि सप्तक, २. अतिजगत्यादि सप्तक, और ३. कृत्यादि सप्तक। इनका परिचय निम्न तालिका में अंकित है-

गायत्र्यादि सप्तक अतिजगत्यादि सप्तक कृत्यादि सप्तक

नाम	अक्षर-संख्या	नाम	अक्षर-संख्या	नाम	अक्षर-संख्या
गायत्री	२४	अतिजगती	५२	कृति	८०
उष्णिक्	२८	शक्वरी	५६	प्रकृति	८४
अनुष्टुप्	३२	अतिशक्वरी	६०	आकृति	८८
बृहती	३६	अष्टि	६४	विकृति	६२
पङ्क्ति	४०	अत्यष्टि	६८	संकृति	६६
त्रिष्टुप्	४४	धृति	७२	अभिकृति	१००
जगती	४८	अतिधृति	७६	उत्कृति	१०४

वैदिक छन्द ऋक्प्रातिशाख्य (पटल १६-१८), पिंगलच्छन्दः सूत्र (अ०१-४), सामवेद के निदान-सूत्र (प्रपा० १, खण्ड १-७), उपनिदानसूत्र, ऋक्सर्वानुक्रमणी, माधवीय ऋग्वेदानुक्रमणी की छन्दोऽनु-क्रमणी, पादविधान आदि में वर्णित हैं। नीचे हम उपर्युक्त आर्ष सप्तकों का विस्तृत विवरण दे रहे हैं-

गायत्र्यादि सप्तक

	गायत्री के भेद	पाद विवरण	अक्षर-संख्या
१.	गायत्री	८+८+८	२४
२.	पादनिचृत्	७+७+७	२१
३.	अतिपादनिचृत्	६+८+७	२१
४.	नागी	९+९+६	२४
५.	वाराही	६+९+९	२४
६.	प्रतिष्ठा	८+७+६	२१
७.	यवमध्या	७+१०+७	२४
८.	वर्धमाना	६+७+८	२१
९.	भुरिग्	८+१०+७	२५
१०.	चतुष्पाद्	६+६+६+६	२४
११.	त्रिपाद् विराड्[1]	११+११+११	३३
१२.	पदपंक्ति	५+५+५+५+५	२५
१३.	द्विपाद् विराड्	१२+८	२०

उष्णिक् के भेद		पाद विवरण	अक्षर-संख्या
१.	ककुब्	८+१२+८	२८

1. आगे अनुष्टुप् के प्रकरण में इसे अनुष्टुप् का भेद भी बताया गया है। कहाँ गायत्री है और कहाँ अनुष्टुप, इसका निर्णय प्रकरण, देवता, वृत्त-नियम आदि के आधार पर किया जाता है।

२.	पुर उष्णिक्	१२+८+८	२८
३.	परा उष्णिक्	८+८+१२	२८
४.	ककुब् न्यङ्कुशिराः	११+१२+४	२७
५.	तनुशिराः	११+११+६	२८
६.	पिपीलिकामध्या	११+६+११	२८
७.	चतुष्पाद्	७+७+७+७	२८

	अनुष्टुप् के भेद	**पाद विवरण**	**अक्षर-संख्या**
१.	चतुष्पाद्	८+८+८+८	३२
२.	मध्ये ज्योतिः	१२+८+१२	३२
३.	पुरस्ताज्ज्योतिः	८+१२+१२	३२
४.	उपरिष्टाज्ज्योतिः	१२+१२+८	३२
५.	त्रिपदा विराट्	११+११+११	३३

	बृहती के भेद	**पाद विवरण**	**अक्षर-संख्या**
१.	पथ्या बृहती	८+८+१२+८	३६
२.	उरो बृहती[1]	८+१२+८+८	३६
३.	उपरिष्टाद् बृहती	८+८+८+१२	३६
४.	पुरस्ताद् बृहती	१२+८+८+८	३६
५.	(युगलपदा) बृहती	१०+१०+८+८	३६
६.	(नवाक्षरा) बृहती	९+९+९+९	३६
७.	महाबृहती या सतोबृहती	१२+१२+१२	३६
८.	विष्टारबृहती	८+१०+१०+८	३६
९.	विषमपदा बृहती	९+८+११+८	३६

	पङ्क्ति के भेद	**पाद विवरण**	**अक्षर-संख्या**
१.	पथ्या पङ्क्ति	८+८+८+८+८	४०
२.	सतो बृहती पङ्क्ति	१२+८+१२+८	४०
३.	विपरीता पङ्क्ति	८+१२+८+१२	४०
४.	आस्तारपङ्क्ति	८+८+१२+१२	४०
५.	प्रस्तारपङ्क्ति	१२+१२+८+८	४०
६.	संस्तारपङ्क्ति	१२+८+८+१२	४०
७.	विष्टारपङ्क्ति	८+१२+१२+८	४०
८.	विराट् पङ्क्ति	१०+१०+१०+१०	४०

	त्रिष्टुप् के भेद	**पाद विवरण**	**अक्षर-संख्या**
१.	त्रिष्टुप्	११+११+११+११	४४
२.	जागती त्रिष्टुप्	१२+१२+११+११	४६
३.	अभिसारिणी त्रिष्टुप्	१०+१०+१२+१२	४४
४.	विराडरूपा या परानुष्टुप्	११+११+११+८	४१
५.	पुरस्ताज्ज्योतिः[2]	८+१२+१२+१२	४४

1. उरोबृहती के स्कन्धोग्रीवी और न्यङ्कुसारिणी बृहती भी नाम हैं।
2. १,२,३. पिङ्गल ने ११ एवं १२ अक्षर के पाद को ज्योति माना है तथा ऋक्प्रातिशाख्यकार एवं ऋक्सर्वानुक्रमणीकार ने ८ अक्षर

		११+८+८+८+८	४३
६.	मध्ये ज्योतिः[1]	१२+८+१२+ १२	४४
		१२+१२+८+१२	४४
		८+८+११+८+८	४३
		१२+१२+१२+८	४४
७.	उपरिष्टाज्ज्योतिः[2]	८+८+८+८+११	४३
८.	महाबृहती	१२+८+८+८+८	४४
९.	महाबृहती यवमध्या	८+८+१२+८+८	४४
	जगती के भेद	**पाद विवरण**	**अक्षर-संख्या**
१.	जगती	१२+१२+१२+१२	४८
२.	उपजगती[3]	१२+१२+११+११	४६
३.	महासतोबृहती	८+८+८+१२+१२	४८
४.	षट्पदा महापङ्क्ति	८+८+८+८+८+८	४८
५.	पुरस्ताज्ज्योतिः	१२+८+८+८+८	४४
६.	मध्ये ज्योतिः	८+८+१२+८+८	४४
७.	उपरिष्टाज्ज्योतिः	८+८+८+८+१२	४४

सामवेद में गायत्र्यादि सप्तक के गायत्री, उष्णिग् आदि सभी छन्दों का प्रयोग हुआ है।

अतिजगत्यादि सप्तक :

अतिजगत्यादि सप्तक के अतिजगती छन्द में सामान्यतः पाँच पाद होते हैं, जिनमें (१२+१२+१२+८+८=५२), (१३+१३+१०+८+८=५२), (१३+१२+७+१२+८= ५२) आदि पादक्रम हो सकता है। शक्वरी में प्रायः ८-८ अक्षरों के सात पाद रहते हैं। अतिशक्वरी में प्रायः पाँच या सात पाद होते हैं, जिनमें (१६+१६+१२+८+८=६०), ८+८+८+८+८+१२+८= ६०) आदि क्रम होता है। अष्टि में (१६+१६+१६+८+८=६४) आदि क्रम के पाँच पाद, अत्यष्टि में २७१२+८+८+८+१२+८=६८) आदि क्रम के सात पाद, धृति में (१२+१२+८+८+८+१६+८=७२) आदि क्रम के सात पाद और अतिधृति में सामान्यतः (१२+१२+5+5+१२+८+८=७६) आदि क्रम के आठ पाद होते हैं। इस अतिजगत्यादि सप्तक में उक्त पादों की अपेक्षा पाद-संख्या न्यूनाधिक भी हो सकती है।

सामवेद संहिता में अतिजगत्यादि सप्तक के अतिजगती (यथा, साम-क्रमांक-४५८, ४६०, ४६२), अतिशक्वरी (यथा, क्रमांक ४६४), अष्टि (यथा, क्रमांक ४५७), अत्यष्टि (यथा, क्रमांक ४५६, ४६१, ४६३-४६५) छन्द प्रयुक्त हैं।

कृत्यादि सप्तक :

कृत्यादि सप्तक में पादों की कोई व्यवस्था निर्दिष्ट कर सकना सम्भव नहीं है। ये मन्त्र गद्यवत् होते हैं। पाद-विभाग करना भी हो तो प्रत्येक मन्त्र में भिन्न-भिन्न होगा। इनमें मुख्यतः अक्षर-संख्या देखनी होती है। सामवेद संहिता में कृत्यादि सप्तक का कोई छन्द प्रयुक्त नहीं हुआ है।

निचृद्, भुरिग्, विराट्, स्वराट् :

उपर्युक्त सभी छन्दों के लिए यह सामान्य नियम है कि उनमें यदि निर्दिष्ट अक्षर संख्या में एक अक्षर की न्यूनता हो तो वह छन्द निचृत् तथा एक अक्षर की अधिकता हो तो भुरिक् कहलाता है। यथा, २३ अक्षर की गायत्री निचृद् गायत्री और २५ अक्षर की गायत्री भुरिग् गायत्री कही जाती है। इसी प्रकार दो अक्षरों की न्यूनता होने पर कोई छन्द विराट् तथा २ अक्षरों की अधिकता होने पर स्वराट् कहलाता है। यथा, २२ अक्षर की गायत्री विराड् गायत्री तथा २६ अक्षरों की गायत्री स्वराड् गायत्री कहाती है। २६ अक्षर का छन्द विराट् उष्णिक् भी हो सकता है, क्योंकि उष्णिक् की निर्दिष्ट अक्षर-विधा २८ से इसमें दो अक्षर न्यून हैं। कहाँ २६ अक्षर के छन्द को स्वराड् गायत्री और कहाँ विराट् उष्णिक् कहें, इसके नियामक प्रकरण, देवता, पाद आदि होते हैं।

शङ्कुमती, ककुम्मती, पिपीलिकामध्या, यवमध्या :

के पाद को । तदनुसार पुरस्ताज्ज्योति, मध्येज्योति एवं उपरिष्टाज्ज्योति नाम रखे गये हैं।

1. उपर्युक्त
2. उपर्युक्त
3. यह क्रम त्रिष्टुप् के भेदों में भी आ चुका है, जहाँ इसे जागती त्रिष्टुप् कहा गया था। कहाँ इसे जागती त्रिष्टुप् कहेंगे और कहाँ उपजगती यह प्रकरण, देवता, वृत्त-नियम आदि पर निर्भर है।

पिंगल (३।५६-६३) के अनुसार छन्दों के शङ्कुमती, ककुम्मती, पिपीलिकामध्या और यवमध्या नामक भेद भी होते हैं। किसी छन्द में कोई एक पाद ५ अक्षर का होने पर वह छन्द शंकुमती विशेषण से विशिष्ट कहलाता है। किसी छन्द में कोई एक पाद छः अक्षरों का होने पर वह छन्द ककुम्मती विशेषण से विशिष्ट माना जाता है। किसी त्रिपाद् छन्द में मध्य का पाद इतर पादों से छोटा होने पर पिपीलिका (चिउँटी) जैसी आकृति बनने के कारण वह छन्द पिपीलिकामध्या विशेषण से युक्त होता है। किसी त्रिपाद् छन्द का बीच का पाद अधिक अक्षरों का होने पर जो जैसी मोटे मध्य वाली आकृति बनने के कारण वह छन्द यवमध्या कहाता है। यवमध्या को मध्य में बैल की पीठ के समान कुब्ब निकला होने के कारण ककुब भी कहते हैं। वेदमन्त्रों के छन्द प्रदर्शित करनेवाले कोई आचार्य इन शकुमती आदि विशेषणों को प्रयुक्त करते हैं, कोई नहीं भी करते।

चतुर्विध पाद :

८ अक्षर का पाद गायत्री पाद, १० अक्षर का पाद वैराज पाद, ११ अक्षर का पाद त्रैष्टुभ पाद तथा १२ अक्षर का पाद जागत पाद कहाता है। सभी छन्द इन चार प्रकार के पादों से ही युक्त होते हैं, भिन्नाक्षर पाद इन्हीं चार के अन्तर्गत हो जाते हैं। यह नियम है कि गायत्र और जागत पादों का उपोत्तम (अन्तिम से पहला) अक्षर लघु होता है तथा वैराज और त्रैष्टुभ पादों का उपोत्तम अक्षर गुरु। यह वृत्त-नियम कहलाता है।[1] उपोत्तम अक्षर लघु है या गुरु, इससे पाद के ज्ञान में सहायता मिलती है कि अमुक पाद गायत्र, वैराज, त्रैष्टुभ एवं जागत में से कौन-सा है।[2]

एकपदा तथा द्विपदा ऋचाएँ :

उपर्युक्त गायत्री आदि चतुर्विध पादों से एकपदा तथा द्विपदा ऋचाएँ भी बनती हैं[3]। यथा, ८ अक्षर के पाद वाली ऋचा एकपदा गायत्री तथा ८-८ अक्षर के दो पादों वाली ऋचा द्विपदा गायत्री कहलाती है। १० अक्षर के एक पाद वाली ऋचा एकपदा विराट् तथा १०-१० अक्षर के दो पादों वाली ऋचा द्विपदा विराट् होती है। ११ अक्षर के एक पाद वाली ऋचा एकपदा त्रिष्टुप् तथा ११-११ अक्षर के दो पादों वाली ऋचा द्विपदा त्रिष्टुप् कहलाती है। इसी प्रकार १२ अक्षर के एक पाद वाली ऋचा एकपदा जगती तथा १२-१२ अक्षर के दो पादों वाली ऋचा द्विपदा जगती कहाती हैं।[4]

ऋचाओं में विरामचिह्नों का प्रयोग :

एकपदा तथा द्विपदा ऋचाओं में अन्त में ही विराम का चिह्न लगता है। त्रिपदा ऋचाओं में प्रथम विराम दो पादों के पश्चात् तथा द्वितीय विराम तृतीय पाद के पश्चात् प्रयुक्त होता है। किसी-किसी त्रिपदा ऋचा में प्रथम विराम पहले पाद के पश्चात् तथा द्वितीय विराम शेष दो पादों के पश्चात् लगता है। चतुष्पदा ऋचाओं में प्रथम विराम मध्य में अर्थात् दो पादों के पश्चात् तथा द्वितीय विराम अन्त में होता है, क्वचित् प्रथम विराम पूर्ववर्ती तीन पादों के बाद और द्वितीय विराम अन्त में होता है, क्वचित् प्रथम विराम प्रथम पाद के बाद और द्वितीय विराम परवर्ती तीन पादों के बाद होता है। पञ्च-पदा ऋचाओं में प्रथम दो विराम दो-दो पादों के पश्चात् तथा तृतीय विराम अन्त में पंचम पाद के पश्चात् लगता है। क्वचित् प्रथम विराम दो पादों के पश्चात् और द्वितीय विराम अन्त में होता है। क्वचित् प्रथम विराम तीन पादों के बाद और द्वितीय विराम अन्त में प्रयुक्त होता है। षट्पदा ऋचाओं में दो-दो पादों के पाद अथवा तीन-तीन पादों के बाद, अथवा प्रथम विराम पहले दो पादों के पश्चात् तथा द्वितीय विराम परवर्ती चार पादों के पश्चात् लगता है। सप्तपदा ऋचाओं में प्रथम विराम पहले तीन पादों के बाद तथा द्वितीय और तृतीय विराम शेष दो-दो पादों के पश्चात् होते हैं, अथवा प्रथम विराम पहले तीन पादों के पश्चात् और द्वितीय विराम शेष चार पादों के पश्चात् लगता है, अथवा प्रथम विराम पहले दो पादों के पश्चात् और द्वितीय विराम शेष पाँच पादों के पश्चात्। अष्टपदा ऋचाओं में प्रथम विराम तीन पादों के पश्चात्, द्वितीय विराम पंचम पाद के पश्चात् और तृतीय विराम अन्त में लगता है। ये विराम-सम्बन्धी सामान्य नियम हैं; कुछ विशिष्ट ऋचाएँ इनका अपवाद भी हैं।[5]

उक्त एकपदा आदि के सामवेदस्थ कतिपय उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं। एकपदा 'इन्द्रो विश्वस्य राजति' (साम ४५६) तथा द्विपदा (परिप्र धन्वेन्द्राय' (साम ४२७) इनमें अन्त में विराम है। त्रिपदा 'अग्न आ याहि' (साम १), चतुष्पदा 'यज्ञायज्ञा वो अग्नये' (३५), पंचपदा 'स्वादोरित्था विषूवतः' (४०९) में प्रथम दो पादों के अनन्तर तथा पुनः अन्त में विराम है। पंचपदा 'अग्ने तमद्याश्वं

---

1. पादौ गायत्रवैराजावष्टाक्ष रदशाक्षरौ। एकादशिद्बादशिनौ विद्यात् त्रैष्टुभजागतौ।।
   वर्षिष्ठाणिष्ठयोरेषां लघूपोत्तममक्षरम्। गुर्वेतरयोर्ऋक्षु तद् वृत्तं प्राहुश्छन्दसाम्।। -ऋ० प्रा० १७।३७-३९
2. प्रायोऽर्थो वृत्तमित्येते पादज्ञानस्य हेतवः। विशेषसन्निपाते तु पूर्वं पूर्वं परं परम्।। ऋ० प्रा० १७।२५, २६
3. एकपदा एवं द्विपदा ऋचाओं के उदाहरणों के लिए, द्रष्टव्य साम-मन्त्रसंख्या ४२७ से ४५६ तक।
4. एक एक पदैतेषां द्वौ पादौ द्विपदोच्यते।
   ते तु तेनैव प्रोच्येते सरूपे यस्य पादतः।। ऋ० प्रा० १७।४१, माधवीया छन्दोऽनुक्रमणी श्लोक १५ भी द्रष्टव्य।
5. उक्त नियमों के लिए द्रष्टव्य ऋ० प्रा० १८।४६-५

न स्तोमैः' (४३४) में प्रथम चार पादों के पश्चात्, पुनः पञ्चम पाद के पश्चात् विराम है। पंचपदा 'तव त्यन्नर्य' (४६६) में प्रथम दो पादों के पश्चात् पुनः तृतीय पाद के पश्चात्, पुनः पञ्चम पाद के पश्चात् विराम है। षट्पदा 'उभे यदिन्द्र रोदसी' (३७९) में दो-दो पादों के पश्चात् विराम है। सप्तपदा 'अग्नि होतारं मन्ये' (४६५) में प्रथम तीन पादों के पश्चात्, पुनः दो-दो पादों के पश्चात् विराम है। सप्तपदा 'प्रोष्वस्मै पुरोरथ' (१८०१) में प्रथम दो-दो पादों के पश्चात् पुनः तीन पादों के पश्चात् विराम है।

प्रगाथ :

जब किसी कारण से दो या तीन छन्दों का समुदाय बनाया जाता है तब उस छन्दः समुदाय को प्रगाथ कहते हैं। सामवेदीय निदानसूत्र में केवल दो प्रगाथों का, कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी तथा माधवीया छन्दोनुक्रमणी में पाँच-पाँच प्रगाथों का तथा ऋक्प्रातिशाख्य में २३ प्रगाथों का वर्णन उपलब्ध होता है। सामवेद उत्तरार्चिक में गान की दृष्टि से ऐसे प्रगाथ आए हैं, जो दो-दो या तीन-तीन ऋचाओं के समुदाय-रूप हैं। सामगान का यह नियम है कि समछन्दस्क तीन ऋचाओं पर गान होता है। परन्तु जब विषमछन्दस्क दो या तीन ऋचाएँ होती हैं, तब उन दो या तीन ऋचाओं को एक प्रगाथ मानकर गान में ऋचाओं के ही पूर्वोत्तर भागों को जोड़कर तीन समछन्दस्क ऋचा बना ली जाती हैं। सामवेद उत्तरार्चिक में काकुभ, बार्हत और अनुष्टुभ प्रगाथ पठित हैं। काकुभ प्रगाथों में पहली ऋचा ककुप् तथा दूसरी ऋचा सतोबृहती है। बार्हत प्रगाथों में पहली ऋचा बृहती तथा दूसरी ऋचा सतोबृहती है। आनुष्टुभ प्रगाथों में पहली ऋचा अनुष्टुप् तथा दूसरी और तीसरी ऋचाएँ गायत्री हैं। उदाहरणार्थ-

प्रगाथ का नाम	**ऋचाएँ**	**उत्तरार्चिक**		
		प्रपाठक	**अर्ध**	**सूक्त**
काकुभ	ककुप्+सतोबृहती पङ्क्ति	१	१	१६,२२
बार्हत	बृहती+सतोबृहती पङ्क्ति	१	१	९, ११
आनुष्टुभ	अनुष्टुप्+गायत्री+गायत्री	१	१	१८

गान-स्वर :

ऋचाओं के षड्ज, ऋषभ आदि गान-स्वर केवल वैदिक यन्त्रालय अजमेर से मुद्रित वेद-संहिताओं में ही दर्शाये गये हैं। वहीं से मुद्रित स्वामी दयानन्दकृत ऋग्वेदभाष्य तथा यजुर्वेदभाष्य में भी दिये गये हैं। किस छन्द के साथ किस स्वर का सम्बन्ध है, यह केवल पिङ्गलच्छन्दः सूत्र में ही बताया गया है, अन्य किसी ग्रन्थ के छन्दः प्रकरण में नहीं। पिङ्गलच्छन्दः सूत्र में भी केवल गायत्र्यादि वर्ग के छन्दों पर ही स्वर परिगणित किये गये हैं। तदनुसार गायत्री-उष्णिक्-अनुष्टुप् बृहती-पङ्क्ति-त्रिष्टुप्-जगती के क्रमशः षड्ज-ऋषभ-गान्धार-मध्यम-पञ्चम- धैवत-निषाद स्वर होते हैं।[1] अतिजगत्यादि सप्तक तथा कृत्यादि सप्तक के अन्तर्गत जो छन्द हैं, उनके स्वर पिङ्गलच्छन्दः सूत्र में नहीं बताये गये हैं। स्वामी दयानन्दकृत वेदभाष्य में तथा वैदिक यन्त्रालय से मुद्रित संहिताओं में इनके जो स्वर लिखे हैं वे निम्न तालिका में द्रष्टव्य हैं-

गायत्र्यादि छन्द	**अतिजगत्यादि छन्द**	**कृत्यादि छन्द**	**गान-स्वर**
गायत्री	अतिधृति	उत्कृति	षड्ज
उष्णिग्	धृति	अभिकृति	ऋषभ
अनुष्टुप्	अत्यष्टि	संकृति	गान्धार
बृहती	अष्टि	विकृति	मध्यम
पङ्क्ति	अतिशक्वरी	आकृति	पञ्चभ
त्रिष्टुप्	शक्वरी	प्रकृति	धैवत
जगती	अतिजगती	कृति	निषाद

अर्थात् गायत्री, अतिधृति और उत्कृति तीनों का षड्ज स्वर होता है; उष्णिक् धृति और अभिकृति तीनों का ऋषभ स्वर होता है। इसी प्रकार आगे समझना चाहिए।

प्रगाथों के स्वर उन ऋचाओं के आधार पर लिखे जाते हैं। यथा, साम० उ० प्रप्रा० १, अर्ध १, सूक्त ९ के बार्हत प्रगाथ में प्रथम ऋचा बृहती तथा द्वितीय ऋचा सतोबृहती पंक्ति है। तदनुसार सम्पूर्ण प्रगाथ का कोई एक स्वर न लिखकर प्रथम ऋचा बृहती

1. स्वराः षड्जादयः। पिङ्गल ३।३४, षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः स्वराः गायत्र्यादिषु क्रमेण द्रष्टव्याः- हलायुधवृत्ति।

का 'मध्यम' स्वर तथा द्वितीय ऋचा पङ्क्ति का 'पञ्चम' स्वर निर्दिष्ट किया गया है।

छन्दों का महत्व
वाणी और गोरक्षण

गायत्री, त्रिष्टुप् जगती आदि सात छंद मुख्य हैं। इनके भेद और बहुत ही हैं। इन सात छन्दों में वेद का ज्ञान भरा रखा है, इसीलिए कहा है कि अज्ञान का आच्छादन करके ज्ञान का प्रकाशन करने वाले ये छंद हैं। इन छन्दों में किस प्रकार का ज्ञान है इस विषय में थोड़ा विवरण प्रथम मंत्र में है। उसमें कहा है-

(गायत्रे गायत्रं) गायत्री छन्द में (गाय) प्राणों की **(त्रं)** रक्षा करने का ज्ञान है। जो लोग गायत्री छंदवाले मंत्रों का उत्तम अध्ययन करेंगे, वे प्राणरक्षा करने की विद्या उत्तम रीति से जान सके हैं। **(त्रैष्टुमात्)** त्रिष्टुप् छन्द में **(त्रै-ष्टुभं)** तीनों का अर्थात् प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा का गुणवर्णन है, इस कारण जो लोग त्रिष्टुप् छन्दों वाले मंत्रों का उत्तम अध्ययन करेंगे उनको प्रकृति विद्या से ऐहिक सुख और आत्मविद्या से अमृतत्व की प्राप्ति कर सकते हैं। इस प्रकार यह वेदमंत्रों की विद्या इहपरलोक के सुख का साधन होती है।

(जगति जगत्) जगति छन्द में जगत् संबंधी अद्‌भुत ज्ञान भरा है। जो ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य इस जगत् में विजयी हो सकता है। इसीलिये इसी मंत्र में आगे कहा है कि-

य इत् तत् विदुः ते अमृतत्वं आनशुः। (मं० १)

'' जो ज्ञानी इस ज्ञान को- इस वैदिक ज्ञान को- यथावत् जानते हैं, वे अमृत को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं।'' उक्त प्रकार छंदोविद्या को जानने वाले मोक्ष के अधिकारी होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे केवल मोक्ष के ही अधिकारी हैं और इस जगत् की उन्नति को वे नहीं प्राप्त कर सकते, प्रत्युत वे जागतिक उन्नति को जैसे प्राप्त होते हैं उसी प्रकार आत्मिक उन्नति को भी वे प्राप्त होते हैं। जो मोक्ष के अथवा अमृतत्व के अधिकारी होते हैं वे सामान्य भौतिक उन्नति को प्राप्त कर सकते हैं यह कहने की भी कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि श्रीकृष्ण भगवान् राजा जनक, श्रीरामचन्द्र आदि मुक्त पुरुष इस लोक का व्यवहार करने में भी उत्तम दक्ष थे और उन्होंने ऐहिक व्यवहार उत्तम तरह किये थे। और ये तो अमृततत्व के अधिकारी थे इस विषय में किसी को भी संदेह नहीं है। इस प्रकार इस वेदमंत्रों के ज्ञान को प्राप्त करने वाले मनुष्य इस लोक और परलोक में परमोच्च गति को प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य जो इस भूलोक में देहधारण करके आया है वह अमरत्व प्राप्त करने के लिये ही है। इसीलिये कहा जाता है कि वेद का ज्ञान प्रत्येक मनुष्य के लिये उन्नति का मार्ग बताने में समर्थ हैं।

(गायत्रेण अर्कं प्रतिमिमीते) गायत्री छन्द में अर्चनीय देव की शब्दरूपी प्रतिमा निर्माण की है। प्रत्येक मनुष्य को जिस एक अद्वितीय देव की चर्चा करनी अत्यंत आवश्यक है, उस देव की वस्तुतः प्रतिमा तो नहीं है, परंतु उसकी शब्दमयी प्रतिमा 'गायत्री छंद' है। इस कारण पाठक यदि किसी स्थान पर परमात्म देव की प्रतिमा देख सकते हैं तो वे इस छन्द में भी देख सकते हैं।

(अर्केण साम) इस अर्चनीय अर्थात् पूजनीय देवकी सहायता से 'साम' अर्थात् शान्ति प्राप्त होती है। इस शान्ति का दूसरा नाम 'अमृत' है। अमृत और साम एक ही अवस्था के वाचक शब्द हैं। अस्तु। इसी तरह त्रिष्टुप् छन्द से भी वर्णनीय देवता का वर्णन किया जाता है। त्रैष्टुप छन्द की वाणी उसी का वर्णन करती है। पूर्व मंत्र में कहा है कि त्रिष्टुप् छंद से प्रकृति, जीव और परमात्मा का वर्णन होता है, वही बात यहां इस मंत्र में अनुसंबध है। इस प्रकार-

सात छन्द

द्विपदा चतुष्पदा सप्तवाणीः अक्षरेण मिमते। (मं०२)

''दो चरण और चार चरणों वाले जो सात छन्द हैं, उनके प्रत्येक चरणों में अक्षर संख्या का परिमाण अक्षरों की संख्या की गिनती करने से ही होता है।'' जैसा अनुष्टुप् में चरण में आठ अक्षर, इसी प्रकार अन्यान्य छन्दों के पादों में अन्य संख्या अक्षरों की होती है। इस प्रकार अक्षर संख्या की न्यूनाधिकता से ये छन्द होते हैं।

(गायत्रस्य तिस्त्रः समिधः) गायत्री छन्द के पाद तीन हैं। प्रत्येक में अक्षर पाठ होते हैं। जगति छंद से जगत् का वर्णन है यह बात प्रथम मंत्र में कही है, वही फिर इस तृतीय मंत्र में दुहराते हैं और कहते हैं कि- **(जगता दिव सिंधु अस्कमायत्)** जगति छन्द

से मानों द्युलोक में महासागर को फैला रखा है अर्थात् जैसा महासागर का वर्णन होता है वैसा हि द्युलोक का वर्णन किया है। इस महासागर में ये नक्षत्र छोटे-छोटे द्वीपों के समान हैं इत्यादि आलंकारिक वर्णन यहां समझना उचित है।

इसी प्रकार **(रथंतरेण सूर्य पर्यपश्यत्)** रथन्तर से सूर्य का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि उसमें यह वर्णन अतिस्पष्ट है। इस ज्ञान की **(महा महित्वा)** महत्ता क्या कथन करती है, यह ज्ञान तो मनुष्य को अन्तिम मंजिल तक पहुंचा देता है। यह ज्ञान तो मनुष्य को इस जगत में और उस स्वर्ग में और अन्त में मोक्ष तक उत्तम मार्गदर्शक होता हैं अत: यही वेदमंत्रों का ज्ञान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। (अथर्व. काण्ड-९, सूक्त-१०)

स्मरणीय बिंदु-

1. ऋषि मंत्रों के द्रष्टा हैं।
2. छन्द मंत्रों की लयबद्ध रचना है।
3. देवता मंत्र के विषय को व्यक्त करते हैं।
4. गायत्री सबसे प्रसिद्ध वैदिक छन्द है।

शब्दावली-

	शब्द	अर्थ
1.	ऋषि	मंत्रद्रष्टा
2.	छन्द	लयबद्ध संरचना
3.	देवता	उपास्य तत्व
4.	गायत्री	प्रसिद्ध वैदिक छन्द
5.	मंत्र	पवित्र वैदिक वाक्य

5 अंक के प्रश्न-

1. ऋषि किसे कहते हैं?
2. देवता का सामान्य अर्थ लिखिए।
3. छन्द का महत्व बताइए।
4. गायत्री छन्द क्या है?
5. वैदिक मंत्रों में देवता की भूमिका लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. ऋषियों के स्वरूप एवं महत्व का वर्णन कीजिए।
2. वैदिक देवताओं की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
3. वैदिक छन्दों का विस्तृत परिचय दीजिए।
4. गायत्री, त्रिष्टुप् एवं जगती छन्द का विवेचन कीजिए।
5. वैदिक मंत्रों में ऋषि, देवता एवं छन्द का संबंध स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. गायत्री छन्द में कितने अक्षर होते हैं?

(क) 20
(ख) 24
(ग) 28
(घ) 32

उत्तर - (ठ)

2. मंत्रद्रष्टा को क्या कहते हैं?

(क) देवता
(ख) छन्द
(ग) ऋषि
(घ) उपासक

उत्तर - (ग)

3. **'अग्नि' वैदिक मंत्रों में किसका देवता है?**

(क) जल

(ख) अग्नि तत्व

(ग) वायु

(घ) पृथ्वी

उत्तर - (ख)

4. **छन्द का संबंध किससे है?**

(क) लय (ख) भोजन

(ग) युद्ध (घ) यात्रा **उत्तर - (क)**

5. **वैदिक मंत्रों के द्रष्टा हैं-**

(क) राजा **(ख) ऋषि**

(ग) सैनिक (घ) व्यापारी **उत्तर - (ख)**

इकाई-1.3 वेदों के मुख्य विषयों का परिचय

उद्देश्य-

1. विद्यार्थी वेदों के प्रमुख विषयों का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
2. वेदों की सामाजिक एवं आध्यात्मिक उपयोगिता समझेंगे।
3. वैदिक ज्ञान की व्यापकता को पहचानेंगे।

प्रत्येक वेद का अपना-अपना महत्त्व है। ऐसा नहीं है कि किसी वेद का कम महत्त्व हो, दूसरे वेद का अधिक हो। वेदों के चार वर्ण्य विषय हैं- ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान। ज्ञान किसी पदार्थ के सामान्य बोध को तथा विज्ञान उसके साक्षात् बोध को कहते हैं। चारों विषयों में विज्ञान सबसे मुख्य है, यतः उसमें परमेश्वर से लेकर तृण-पर्यन्त सब पदार्थों का हस्तामलकवत् साक्षात् बोध होता है। उसमें भी परमेश्वर का अनुभव सर्वमुख्य है, क्योंकि सब वेदों का प्रधानतः उसी में तात्पर्य है।[1]

चारों ही वेदों में ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और विज्ञानकाण्ड के विषय वर्णित हैं। तथापि प्रधानतः ऋग्वेद[1] में गुण-गुणियों के ज्ञान-विज्ञान का उपदेश अर्थात् ईश्वर से लेकर भूमिपर्यन्त पदार्थों का गुण वर्णन-रूप ज्ञानकाण्ड एवं विज्ञानकाण्ड हैं, और यजुर्वेद में ईश्वर-पूजा, विद्वत्सत्कार, शिल्पादि क्रियाओं से संगतिकरण, शुभ विद्या, गुण, धन आदि का दान एवं यज्ञादि कर्तव्य कर्मों का उपदेशरूप कर्मकाण्ड वर्णित है।[2] सामवेद में ज्ञान-विज्ञान, कर्म और उपासना तीनों का समन्वय है अर्थात् यह बतलाया गया है कि मनुष्य ज्ञान-विज्ञान, कर्म और उपासना की कहाँ तक उन्नति कर सकता है तथा उसका क्या फल होता है। अथर्ववेद उक्त विद्या-विषयों का पूरक है।[3]

३. स्वर व्यवस्था विषय

अथ वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते। ते स्वरा द्विद्या, उदात्तषड्जादिभेदात्सप्त सप्तैव सन्ति। तत्रोदात्तादीनां लक्षणानि व्याकरणमहाभाष्यकारपतञ्जलिप्रदर्शितानि लिख्यन्ते-

''स्वयं राजन्त इति स्वराः। आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य। आयामो गात्राणां निग्रहः, दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता, अणुता कण्ठस्य, कण्ठस्य संवृतता, उच्चैःकराणि[4] शब्दस्य। अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि[5] शब्दस्य। अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता, मार्दव स्वरस्य मृदुता स्निग्धता, उरुता खस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य। त्रैस्वर्य्येणाधीमहे, त्रिप्रकारैरज्भिरधीमहे, कैश्चिदुदात्तगुणैः, कैश्चिदनुदात्तगुणैः। कैश्चिदुभयगुणैः। तद्यथा- शुक्लगुणः शुवलः, कृष्णगुणः कृष्णः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते- कल्माष इति वा, सारङ्ग इति वा। एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः, अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वरित इति। त एते तन्त्रे तरनिर्देशे[6] सप्त स्वरा भवन्ति। उदातः उदात्ततरः, अनुदात्तः, स्वरितः, स्वरिते यः उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः॥'' अ० १। पा० २। **'उच्चैरुदात' इत्याद्युपरि॥**

तथा षड्जादयः सप्त-षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः॥ पिंगलसूत्रै अ० ३। सू० ६४॥

---

1. अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति, विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्। तत्रादिमो विज्ञानमयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति, तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद् बोधान्वयत्वात्। तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति। कुतः? अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्। -ऋ० भा० भू०, वेदविषयविचार
   ऋचन्ति स्तुवन्ति पदार्थानां गुणकर्मस्वभावाननया सा ऋक्, ऋक् चासौ वेदश्चग्वेदः। -दयानन्द, ऋग्भाष्यारम्भ
2. ईश्वरेण जीवानां गुणगुणिविज्ञानोपदेशाय ह्यृग्वेदे सर्वान् पदार्थान् व्याख्यायेदानीं मनुष्यस्तेभ्यो यथायथोपकार-ग्रहण ाय क्रियाः कथं कर्तव्या इत्युपदिश्यते।.....येन मनुष्या ईश्वरं धार्मिकान् विदुषश्च पूजयन्ति सर्वचेष्टा सांगत्यं शिल्पविद्या संगतिकरणं शुभविद्या- गुणदानं यथायोग्यतया सर्वोपकारे शुभे व्यवहारे विद्वत्सु च द्रव्यादिव्ययं कुर्वन्ति तद् यजुः।।- दयानन्द, यजुर्वेदभाष्यभूमिका
3. ऋग्वेदे सर्वेषां पदार्थानां गुणप्रकाशः कृतोऽस्ति, तथा यजुर्वेदे विदितगुणानां पदार्थानां सकाशात् क्रिययाऽनेकविद्योपकार-ग्रहणाय विधानं कृतमस्ति, तथा सामवेदे ज्ञानक्रियाविद्ययोर्दीर्घविचारेण फलावधिपर्यन्तं विद्याविचारः। एवमथर्ववेदेऽपि त्रयाणां वेदानां मध्ये यो विद्याफलविचारो विहितोऽस्ति तस्य पूर्तिकरणेन रक्षणोन्नती विहिते स्तः।। -ऋ० भा० भू०, प्रश्नोत्तरविषयः
   तथा ज्ञानकर्मकाण्डयोरुपासनायाश्च कियत्युन्नतिर्भवितुमर्हति किञ्चैतेषां फलं भवति, सामवेद एतद्विधायकत्वात् तृतीयो गण्यत इति।।- वही
4. उदात्तविधायकानीति यावत्।
5. अनुदात्तविधायकानीति यावत्।
6. अतिशयार्थद्योतके तरप्प्रत्ययस्य निर्देशे।

एषां लक्षणव्यवस्था गान्धर्ववेदप्रसिद्धा ग्राह्या। अत्र तु ग्रन्थ भूयस्त्वभिया लेखितुमशक्या।

भाषार्थ- अब वेदार्थ के उपयोग हेतु से कुछ स्वरों की व्यवस्था कहते हैं- जो कि उदात्त और षड्ज आदि भेद से चौदह १४ प्रकार के हैं अर्थात् सात उदात्तादि और सात षड्जादि। उनमें से उदात्तादिकों के लक्षण जो कि महाभाष्कार पतञ्जलि महामुनि जी ने दिखलाये हैं, उनको कहते हैं-

(स्वयं राजन्त०) आप ही अर्थात् जो बिना सहाय दूसरे के प्रकाशमान हैं, वे स्वर कहाते हैं। (आयामः) अङ्गों का रोकना, (दारुण्यं) वाणी को को रुखा करना, अर्थात् ऊंचे स्वर से बोलना, और (अणुता) कण्ठ को भी कुछ रोक देना, ये सब यत्न शब्द के उदात्त विधान करने वाले होते हैं। अर्थात् उदात्त स्वर इन्हीं नियमों के अनुकूल बोला जाता है। तथा (अन्वव०) गात्रों को ढीलापन, (मार्दव०) स्वर की कोमलता, (उरुता) कण्ठ को फैला देना, ये सब यत्न शब्द के अनुदात्त करने वाले हैं (त्रैस्वर्य्येणा०) हम लोग तो तीन प्रकार के स्वरों से बोलते हैं। अर्थात् कहीं उदात्त् कहीं उदात्त, कहीं अनुदात्त और कहीं उदात्तानुदात्त, अर्थात् स्वरित गुणवाले स्वरों से यथायोग्य नियमानुसार अक्षरों को उच्चारण करते हैं। जैसे श्वेत और काला रङ्ग अलग-अलग हैं, परन्तु इन दोनों को मिलाकर जो रङ्ग उत्पन्न हो उसका नाम तीसरा होता है, अर्थात् खाखी वा आसमानी, इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त गुण अलग-अलग हैं, परन्तु इन दोनों के मिलाने से जो उत्पन्न हो उसको स्वरित कहते हैं। विशेष अर्थ के दिखाने वाले 'तरप्' प्रत्यय के संयोग से वे उदात्त आदि सात स्वर होते हैं। अर्थात् उदात्त, उदात्त, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरितोदात्त और एकश्रुति।।
उक्त रीति से इन सातों स्वरों को ठीक-ठीक समझ लेना चाहिये। अब षड्जाति स्वरों को लिखते हैं, जो कि गानिविद्या के भेद हैं- (स्वराः षड्जऋषभ०) अर्थात् षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। इनके लक्षण व्यवस्थासहित जो कि गान्ध र्ववेद अर्थात् गानविद्या के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं, उनको देख लेना चाहिये। यहां ग्रन्थ न बढ़ जाने के कारण नहीं लिखते।

'साम' को अथर्ववेद में 'सा' और 'अम' के योग से निष्पन्न किया गया है। वहाँ चतुर्दश काण्ड के विवाह सूक्त में वर वधू से कहता है कि तू 'सा' है, मैं 'अम' हूँ[1], इस प्रकार हमारा युगल 'साम' है। यहाँ 'सा' से वाणी और 'अम' से प्राणबल अभिप्रेत है।[2] जैसे वाणी और प्राण के मिलन से साम-संगीत की उत्पत्ति होती है।

स्मरणीय बिंदु-

1. वेद ज्ञान का स्रोत हैं।
2. वेदों में धर्म, कर्म, यज्ञ एवं समाज व्यवस्था का वर्णन है।
3. वेद आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन का आधार हैं।

शब्दावली-

1.	शब्द	अर्थ
2.	धर्म	कर्तव्य
3.	कर्म	कार्य
4.	यज्ञ	वैदिक अनुष्ठान
5.	ब्रह्मज्ञान	परम सत्य का ज्ञान
6.	संस्कृति	जीवन पद्धति

5 अंक के प्रश्न-

1. वेदों के मुख्य विषय लिखिए।
2. यज्ञ का महत्व बताइए।
3. ब्रह्मज्ञान क्या है?
4. वेदों में समाज व्यवस्था का स्वरूप लिखिए।
5. धर्म एवं कर्म का संबंध स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. वेदों के प्रमुख विषयों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

---

1. अमोऽहमस्मि सात्वम्। -अथ० १४।२।७१
2. प्राणो वाव अमो वाक् सा, तत् साम (जै० उ० ब्रा० ४।११।२।३), वागेव सा प्राणोऽमः, तत्साम। (छा०उ०प्रपा० १, खण्ड ७)।

2. वैदिक समाज व्यवस्था पर प्रकाश डालिए।
3. वेदों में यज्ञ एवं धर्म की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
4. वेदों में आध्यात्मिक ज्ञान का विवेचन कीजिए।
5. वेदों की आधुनिक प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. वेदों का मुख्य उद्देश्य क्या है?

(क) व्यापार

(ख) ज्ञान

(ग) युद्ध

(घ) राजनीति

उत्तर - (ख)

2. यज्ञ का संबंध किससे है?

(क) उपासना

(ख) खेल

(ग) यात्रा

(घ) व्यापार

उत्तर - (क)

3. ब्रह्मज्ञान का संबंध किससे है?

(क) आत्मा

(ख) धन

(ग) युद्ध

(घ) कृषि

उत्तर - (क)

4. वेदों में किसका वर्णन मिलता है?

(क) सामाजिक व्यवस्था

(ख) आध्यात्मिक ज्ञान

(ग) यज्ञ

(घ) उपर्युक्त सभी

उत्तर - (घ)

5. वेद किसका आधार हैं?

(क) भारतीय संस्कृति

(ख) राजनीति

(ग) व्यापार

(घ) विज्ञान मात्र

उत्तर - (क)

इकाई-1.4 वेद पाठ के आठ प्रकार के पाठों (जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वजा, दण्ड, रथ, घन) से अवगत कराना

उद्देश्य-

1. विद्यार्थी वेदपाठ की विभिन्न विधियों का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
2. पाठ पद्धति की शुद्धता को समझेंगे।
3. वैदिक मंत्र संरक्षण की विधियों का अध्ययन करेंगे।

वेदों की वाणी न तो मनुष्य की, बल्कि ईश्वर द्वारा प्रदत्त तथा अपौरुषेय मानी जाती है। वेद शब्दों की ऐसी निरंतर उच्चारण परंपरा दुर्लभ है, जो सम्पूर्ण रूप से सुरक्षित और बिना किसी परिवर्तन के मानव कल्याण हेतु संरक्षित हो। ऋषियों ने इसे अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए विशिष्ट पाठ विधियाँ स्थापित की हैं। ये सभी पाठ विधियाँ ऋषियों द्वारा प्रत्यक्ष दृष्ट हुई हैं, अतः इन्हें अपौरुषेय माना जाता है। वेदों के तीन प्रमुख प्राकृतिक पाठ और आठ परिवर्तनात्मक पाठ विद्यमान हैं।

प्राकृतिक पाठ हैं- संहितापाठ, पदपाठ और क्रमपाठ। वहीं परिवर्तनात्मक आठ पाठ हैं जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ और घन। इन पाठों के माध्यम से वेद का अभ्यास विविध प्रकार से होता है, इसलिए वेद को आम्नाय भी कहा गया है **(आसमन्तात् म्नायते अभ्यस्यते)**। यही कारण है कि आज भी मूल वेदशब्दश्रेणी में एक भी वर्ण या मात्राओं में परिवर्तन नहीं हुआ है। यह वेद के शब्दसंग्रह की विशेषता है जो सम्पूर्ण विश्व में अद्वितीय है।

वेद संहितापाठ के प्रथम दर्शक ऋषि, जिनका स्मरण प्रायः प्रारंभ में किया जाता है, उनके नाम परमेश्वर ही हैं, जिन्होंने वेद की संहिताओं का दर्शन कर उसका उपदेश किया। पदपाठ के प्रथम द्रष्टा रावण माने जाते हैं, जबकि क्रमपाठ के आरंभकर्ता बाभ्रव्य ऋषि हैं। मधुशिक्षा में उल्लेख है:

भगवान् संहितां प्राह पदपाठं तु रावणः।
बाभ्रव्यर्षिः क्रमं प्राह जटां व्याडिरवोचत्।

प्रत्येक शाखा के अलग-अलग पदपाठ द्रष्टा भी होते हैं, जैसे ऋग्वेद की शाकल शाखा के शाकल्य, यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के आत्रेय और सामवेद की कौथुम शाखा के गार्ग्य ऋषि। इसी प्रकार प्रातिशाख्य ग्रंथों में भी इन्हीं पाठ विधियों का उल्लेख मिलता है। **वेदो नारायणः साक्षात्**

विकृतियों के संदर्भ में भी श्लोक मिलता है- जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ और घनः। आठ प्रकार की विकृतियाँ महर्षियों द्वारा क्रमवार वर्णित की गई हैं। इससे स्पष्ट होता है कि महर्षियों ने क्रमपाठ और विकृतिपाठों का अनुभव कर उनका उपदेश दिया। मधुशिक्षा के अनुसार जटापाठ के ऋषि व्याडि, मालापाठ के ऋषि वसिष्ठ, शिखापाठ के ऋषि भृगु, रेखापाठ के ऋषि अष्टावक्र, ध्वजापाठ के ऋषि विश्वामित्र, दण्डपाठ के ऋषि पराशर, रथपाठ के ऋषि कश्यप तथा घनपाठ के दृष्टा ऋषि अत्रि हैं। अतः ये सभी पाठ ऋषियों के द्वारा दृष्ट होने के कारण अपौरुषेय माने जाते हैं।

संहितापाठ एवं उसकी महत्ता-

'वर्णों का एकात्म संयोग ही संहिता है' (कात्यायन), 'परस्पर सन्निकर्ष ही संहिता कहलाती है' (पाणिनि), आदि सूत्रों से संहितापाठ की व्याख्या की गई है। वेद वाणी का पहला पाठ जो गुरुओं की परंपरा अनुसार पढ़ा जाता है, उसमें वर्णों एवं पदों की एक सांसारिकता अर्थात अत्यंत निकटता के कारण संधियाँ एवं विराम (निश्चित स्थलों पर ठहराव) होते हैं। साथ ही उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित तीन स्वर अपरिवर्तित रहते हैं। इस प्रकार का वेदपाठ श्संहिताश कहलाता है। इसका स्वरूप इस प्रकार है-

गुरुक्रमेण अधीतव्यः ससंधिः सावसानकः।
त्रिस्वरोऽपरिवर्त्यश्च पाठ आद्यस्तु संहिता॥

यह संहिता नामक वेदपाठ पुण्यदायक यमुना नदी के समान है। कहा जाता है कि संहितापाठ से यमुना नदी के स्नान का पुण्य प्राप्त होता है- 'कालिन्दी संहिता श्रेया' (याज्ञवल्क्य शिष्य)। संहितापाठ के द्वारा वेद का पाठ करने से व्यक्ति को सूर्यलोक प्राप्ति होती है- श्संहिता नयते सूर्यपदम्श (याज्ञवल्क्य शिष्य)। संहितापाठ पदपाठ का मूलाधार है। श्पदप्रकृति संहिताश (यास्क), 'संहिता पदप्रकृति' (दुर्गाचार्य) जैसे वचन इसके साक्षी हैं। ऋषियों ने मंत्रों के संहितारूप वेदपाठ का दर्शन किया है और यज्ञ, देवता-स्तुति आदि कार्यों में संहितापाठ का प्रयोग किया जाता है। कहा गया है- आचार्य समान चाहते हैं पदछेद, किन्तु पण्डित पूर्ण

संहितापाठ करते हैं। संहिता प्रथम प्राकृतिक पाठ है।

पदपाठ एवं उसकी महिमा-

(पाणिनि के सूत्र **'सुप्तिङन्तं पदम्'** आदि से) पद का स्वरूप समझाया गया है। अर्थ की स्पष्टता के लिए पाणिनीय व्याकरण अनुसार **'सुप्-तिङ्'** प्रत्ययों सहित वर्णात्मक इकाई को पद कहा जाता है। संहितापाठ की परंपरा में स्वर वर्णों की संधि को तोड़कर वैदिक मंत्रों का सस्वर पाठ पदपाठ कहलाता है। वेद मंत्रों का पदपाठ दूसरा प्राकृतिक पाठ है। यद्यपि इसका आधार संहितापाठ है, फिर भी क्रमपाठ का आधार पदपाठ होता है, इसलिए यह भी प्राकृतिक पाठ है। स्वर के संबंध में पदों के ग्यारह प्रकार होते हैं। शिक्षा ग्रंथों में कहा गया है।

नव पदशय्याः एकादश पदभक्तयः।

वेद मंत्रों का पदपाठ सरस्वती देवी और देवनदी का स्वरूप माना जाता है। पदपाठ से सरस्वती के स्नान का फल मिलता है- 'पदमुक्ता सरस्वती'-(याज्ञवल्क्य शिष्य)। जो पदपाठ का अभ्यास करता है, वह चंद्रलोक प्राप्त करता है- **'पदं च शशिनः पदम्'** (याज्ञवल्क्य शिष्य)। विद्वान लोग अर्थ की समझ के लिए पदपाठ को विशेष मानते हैं। वेद मंत्रों के पदपाठ से देवता के गुणों का गुणगान होता है।

तैत्तिरीय सहित कई शाखाओं में संहितापाठ के प्रत्येक पद का पदपाठ में पारंपरिक उच्चारण होता है। ऋग्वेद में भिन्न पदों को बिना अनुक्रम बनाए स्पष्ट पद स्वरूप देकर पढ़ा जाता है। शुक्ल यजुर्वेद की शाखाओं में प्रातिशाख्य नियमों के अनुसार बार-बार आने वाले विशेष पदों को पदपाठ में हटा दिया जाता है। शास्त्रों में ऐसे हटा हुए पदों को 'गलत्पद' और ऐसे स्थलों के पाठकों को 'संक्रम' कहा जाता है।

पदपाठ में प्रत्येक पद को अलग करने के साथ यदि कोई पद दो पदों के समास से बना हो, तो माध्यंदिनीय शाखा में 'इतिकरण' के साथ दोहराकर स्पष्ट किया जाता है। प्रातिशाख्य नियमों के अनुसार कुछ विभक्तियों, वैदिक लोप, आगम, वर्णविकार आदि में भी 'इतिकरण' द्वारा पद का मूल स्वरूप स्पष्ट होता है, जैसे- सहस्त्रशीर्षेति। पदपाठ की महत्ता- 'अर्थः पदम् सहस्रशीर्षा'। इसे 'अवग्रह' भी कहा जाता है।

वेद-मंत्रों के उच्चारण के प्रकार- प्रकृति पाठ और विकृति पाठ-

पदपाठ में स्वर वर्णों की संधि-विच्छेद तथा अवग्रह जैसी विशेष विधियों के कारण यह पाठ संहितापाठ से भी अधिक जटिल हो जाता है। इन नियमों के कारण इसे केवल पदछेद नहीं कहा जाता, बल्कि पदपाठ के नाम से जाना जाता है।

क्रमपाठ एवं उसकी महत्ता-

द्वे द्वे पदे सन्दधात्युत्तरेणोत्तरभावसानमपृक्तवर्जम्। (वा० प्रा०) जैसे सूत्रों के अनुसार क्रमपाठ का स्वरूप समझाया गया है। सामान्यतः दो-दो पदों की संधि सहित अवसान तक सस्वर पाठ क्रमपाठ कहलाता है, किन्तु कुछ विशेष अपृक्त स्थलों को छोड़कर। पाणिनि के धातुपाठ के अनुसार प्रत्येक पद को क्रमशः बढ़ाना क्रमपाठ की विशेषता है। इसी प्रकार क्रमपाठ में भी प्रत्येक पद एक-एक करके आगे बढ़ाया जाता है। यही कारण है कि इसे क्रमपाठ कहा जाता है।

क्रमपाठ भले ही पदपाठ पर आधारित है, परंतु जटा इत्यादि विकृतिपाठों का मूल रूप क्रमपाठ ही माना जाता है। इसलिए आठ विकृतिपाठों की प्रकृति क्रमपाठ है तथा यह तीसरा प्राकृतिक पाठ है।

ऐतरेय आरण्यक (३।१।३) और ऋग्वेद प्रातिशाख्य वर्गद्वयवृत्ति के अनुसार, अन्नकामना पूर्ण करने के लिए संहितापाठ, स्वर्गकामना पूर्ण करने के लिए पदपाठ तथा अन्न-स्वर्ग दोनों कामनाओं की पूर्ति हेतु क्रमपाठ का विधान है। वाराहपुराण में उल्लेख है कि संहितापाठ से दोगुना, पदपाठ से तिगुना तथा क्रमपाठ एवं जटा आदि विकृतियों के पाठ से छः गुना पुण्य मिलता है-

सहितापाठतः पुण्यं द्विगुणं पदपाठतः।
त्रिगुणं क्रमपाठेन जटापाठेन षड्गुणम्॥

आठ विकृतिपाठ एवं उनकी महिमा-

मंत्रात्मक वैदिक शब्दसंग्रह की अक्षुण्णता और निरभ्रांत परंपरा की सुरक्षा केवल जटा आदि आठ विकृतिपाठों के कारण संभव हुई है। इसलिए इन जटा-आदि पाठों के अभ्यास में लगे विद्वानों को श्पङ्गपावनश कहा गया हैख्

जटादिविकृतीनां ये पारायणपरायणाः।
महात्मानो द्विजश्रेष्ठास्ते ज्ञेयाः पङ्गपावनाः।

कुछ विद्वान केवल ऋग्वेद की बात करते हुए अष्टविकृतिपाठ का अस्तित्व मानते हैं, परन्तु माध्यन्दिन और अन्य शाखाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक विद्वानों की प्राचीन और अविच्छिन्न परंपरा से ये पाठ सुरक्षित हैं।

जटापाठ- यह प्रथम विकृतिपाठ है जिसमें दो पदों को अनुक्रम, उत्क्रम, व्युत्क्रम, अभिक्रम और संक्रम के पांच प्रकार से पढ़ा जाता है। इसमें तीन बार सन्धि सहित बिना विराम के अवसान तक पढ़ाई होती है। उदाहरण के लिए- **'विष्णोः कर्माणि विष्णोः कर्माणि।'** जटापाठ पंच-सन्धियों से युक्त होता है। इसका स्वरूप कुछ इस प्रकार है-

'विष्णोः कर्माणि (अनुक्रम), कर्माणि कर्माणि (उत्क्रम), कर्माणि विष्णोः (व्युत्क्रम), विष्णोर्विष्णोः (अभिक्रम), विष्णोः कर्माणि (संक्रम)।

मालापाठ- इसके दो प्रकार होते हैं- पुष्पमाला और क्रममाला। पुष्पमालापाठ जटापाठ की भाँति तीनों क्रमों में पढ़ा जाता है, परंतु प्रत्येक क्रम के बीच विराम होता है। उदाहरण- 'विष्णोः कर्माणि। कर्माणि विष्णोः। विष्णोः कर्माणि।-

शिखापाठ- यह जटापाठ के तीन प्रकार क्रमों के बाद अगले पद को भी जोड़कर पढ़ने की विधि है, जिससे शिखापाठ का निर्माण होता है।

वेदो नारायणः साक्षात्-

उदाहरण स्वरूप- 'विष्णोः कर्माणि कर्माणि विष्णोर्विष्णोः कर्माणि पश्यत।' आदि।

रेखापाठ- इसमें आधी ऋचा या पूर्ण ऋचाओं के दो पदों का क्रमपाठ, तीन पदों का क्रमपाठ, चार पदों का क्रमपाठ इस प्रकार क्रमबद्ध रूप से किया जाता है। व्युत्क्रम में भी ऐसा ही किया जाता है, और संक्रम में दो-दो पदों का पाठ होता है। हर क्रम की शुरुआत में एक पूर्ववर्ती पद छोड़कर अवसान तक पढ़ाई होती है। जैसे- **ओषधयः सं। समोषधयः। ओषधयः सं सं वदन्ते सोमेन। सोमेन वदन्ते सं सं वदन्ते। वदन्ते सोमेन सह राज्ञा। राज्ञा सह सोमेन वदन्ते वदन्ते सोमेन सोमेन सह। सह राज्ञा।** इत्यादि।

ध्वजपाठ- इसमें पहले दो पदों का क्रम तथा अंतिम पदों का क्रम साथ-साथ, अर्थात् शुरुआत से अंत तक और अंत से शुरुआत तक का पाठ होता है। यह एक मन्त्र या एक वर्ग में हो सकता है। जैसे-

राजन्- ओषधयः सं। पारयामसीति पारयामसि। सं वदन्ते। पारयामसि। वदन्ते सोमेन। तं राजन्। इत्यादि।

दण्डपाठ- अनुक्रम में दो पदों का पाठ करने के बाद व्युत्क्रम में एक-एक पद आगे बढ़ाते हुए क्रमशः पढ़ना दण्डपाठ कहलाता है। यह प्रक्रिया अर्धार्द्ध के समान चलती है। जैसे-

'ओषधयः सं। समोषधयः। ओषधयः सं। सं वदन्ते। वदन्ते समोषधयः। ओषधयः सं। सं वदन्ते। वदन्ते सोमेन सोमेन वदन्ते समोषधयः।' इत्यादि।

रथपाठ- इसके तीन प्रकार होते हैं: द्विचक्र, त्रिचक्र और चतुश्चक्र। द्विचक्र रथ अर्धार्द्ध जैसा होता है। त्रिचक्र रथ समान पदों वाली तीन पदों की गायत्री छंद की ऋचाओं में पादशः होता है। चतुश्चक्र रथ भी पादशः होता है। त्रिचक्र रथ का उदाहरण है

वेद- प्रथम अनुक्रम- **विष्णोः कर्माणि। यतो व्रतानि।**

इन्द्रस्य युज्यः। इन्द्रस्य। व्युत्क्रम-कर्माणि विष्णोः। व्रतानि यतः। युज्यः।

द्वितीय अनुक्रम- विष्णोः कर्माणि। यतो व्रतानि। इन्द्रस्य युज्यः। कर्माणि पश्यत। व्रतानि पश्यत। युज्यः सखा।

व्युत्क्रम-पश्यत कर्माणि विष्णोः। पश्यत व्रतानि यतः। सखा युज्य इन्द्रस्य। इत्यादि।

घनपाठ- वैदिक विद्वानों में अत्यंत आदृत घनपाठ भी चार प्रकार का होता है। इसके दो भेद और घनवल्लभ के भी दो भेद हैं। घनपाठ में शिखापाठ करके उसका विपर्यास करने के बाद पुनः उन तीन पदों का पाठ किया जाता है। जैसे-

ओषधयः सं समोषधयः ओषधयः सं वदन्ते वदन्ते समोषधयः ओषधयः सं वदन्ते। इत्यादि।

घनवल्लभ में पाँच सन्धियोंयुक्त पाठ होता है। अनुक्रम, उत्क्रम, व्युत्क्रम, अभिक्रम और संक्रम- इन पाँच प्रकार की संधियों से युक्त होने के कारण इसे पंचसन्धियुक्त घन भी कहा जाता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है-

'पावका नः। नो नः। नः पावका। पावका पावका। पावकानः। पावका नो नः पावका पावका नः सरस्वती सरस्वती नः पावका पावका नः सरस्वती। इत्यादि।

इसके अतिरिक्त और भी कुछ उपभेद हैं, जो ज्योत्स्नावृत्ति आदि ग्रन्थों से ज्ञात होते हैं।

उपरोक्त आठ विकृतिपाठों से स्पष्ट होता है कि महर्षियों ने इन वैज्ञानिक पाठ-प्रकारों के आधार पर वेदमंत्रों की रक्षा बड़ी मेहनत से की, जिससे कोई भी स्वर, वर्ण या मात्रात्मक त्रुटि न हो। इन पाठों के कारण आज भी वेद शुद्ध रूप में विश्व की अमूल्य विरासत के रूप में सुरक्षित हैं।

स्मरणीय बिंदु-

1. वेदपाठ की आठ प्रमुख विधियाँ हैं।
2. जटापाठ एवं घनपाठ अत्यंत जटिल हैं।
3. पाठपद्धति मंत्रों की शुद्धता बनाए रखती है।

शब्दावली–

	शब्द	**अर्थ**
1.	जटापाठ	विशेष वैदिक पाठ विधि
2.	घनपाठ	जटिल वैदिक पाठ शैली
3.	क्रमपाठ	क्रम से किया गया पाठ
4.	पाठपद्धति	पाठ करने की विधि
5.	शुद्ध उच्चारण	सही स्वर एवं ध्वनि

5 अंक के प्रश्न–

1. जटा पाठ क्या है?
2. घनपाठ का महत्व लिखिए।
3. वेदपाठ के आठ प्रकारों के नाम लिखिए।
4. पाठपद्धति क्यों आवश्यक है?
5. क्रमपाठ का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

15 अंक के प्रश्न–

1. वेदपाठ की विभिन्न विधियों का वर्णन कीजिए।
2. जटापाठ एवं घनपाठ की विशेषताएँ बताइए।
3. वैदिक मंत्र संरक्षण में पाठपद्धति की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
4. सस्वर वेदपाठ की वैज्ञानिकता पर प्रकाश डालिए।
5. वेदपाठ एवं स्मरणशक्ति के संबंध का विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. निम्न में से कौन वेदपाठ की विधि है?
   (क) जटा
   (ख) घन
   (ग) क्रम
   (घ) उपर्युक्त सभी
   उत्तर - (घ)
2. **घनपाठ का उद्देश्य क्या है?**
   (क) मनोरंजन
   (ख) मंत्र संरक्षण
   (ग) व्यापार
   (घ) युद्ध
   उत्तर - (ख)
3. **वेदपाठ में किसका महत्व है?**
   (क) स्वर
   (ख) लय
   (ग) शुद्ध उच्चारण
   (घ) उपर्युक्त सभी
   उत्तर - (घ)
4. **जटापाठ किससे संबंधित है?**

(क) वैदिक पाठ
(ख) संगीत
(ग) नाटक
(घ) व्याकरण
उत्तर - (क)

5. **पाठपद्धति का उद्देश्य है-**
(क) त्रुटिरहित पाठ
(ख) मनोरंजन
(ग) चित्रकला
(घ) व्यापार
उत्तर - (क)

खण्ड–2
इकाई–2.1 मुख्य सूक्तों का परिचय अग्नि सूक्त, वायु सूक्तमन्त्रों का सस्वर उच्चारण

अग्निसूक्तम्

उद्देश्य–

1. विद्यार्थी अग्नि सूक्त एवं वायु सूक्त का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
2. सस्वर उच्चारण की विधि को समझ सकेंगे।
3. वैदिक मंत्रों के आध्यात्मिक महत्व को जानेंगे।

ऋ. मं १ सू १ मधुच्छन्दा वैश्मित्र: ऋषि:। अग्नि: देवता। गायत्री छन्द:।

ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥१॥
अग्नि: पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति॥२॥
अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे। यशसं वीरवत्तमम्॥३॥
अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वत: परिभूरसि। स इद्देवेषु गच्छति॥४॥
अग्निर्होता कविक्रतु: सत्यश्चित्रश्रवस्तम:।
देवो देवेभिरा गमत्॥५॥
यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत्सत्यमङ्गिर:॥६॥
उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि॥७॥
राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्। वर्धमानं स्वे दमे॥८॥
स न: पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा न: स्वस्तये॥९॥

वायुसूक्तम्

ऋ. मं १ सू २ मधुच्छन्दा वैश्मित्र: ऋषि:।
वायु:, इन्द्रवायू, मित्रावरुणौ देवता:। गायत्री छन्द:।

ओ३म् वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृता:।
तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥१॥
वायं उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितार:।
सुतसोमा अहर्विद:॥२॥
वायो तवं प्रपृञ्चती धेना जिगाति दाशुषे।
उरूची सोमपीतये॥३॥
इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरा गतम्।
इन्दवो वामुशन्ति हि॥४॥
वायविन्द्रश्च चेतथ: सुतानां वाजिनीवसू।
तावा यातमुप द्रवत्॥५॥
वायविन्द्रश्च सुन्वत आ यातमुप निष्कृतम्।
मक्ष्वीत्था धिया नरा॥६॥
मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्।
धियं घृताचीं साधन्ता॥७॥
ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा। क्रतुं बृहन्तमाशाथे॥८॥
कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया।
दक्षं दधाते अपसम्॥९॥

५ अंक के प्रश्न-

1. अग्नि सूक्त का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. वायु सूक्त का महत्व लिखिए।
3. सस्वर उच्चारण क्या है?
4. अग्नि देवता का वैदिक महत्व बताइए।
5. वायु सूक्त में वायु का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

१५ अंक के प्रश्न-

1. अग्नि सूक्त का भावार्थ एवं महत्व लिखिए।
2. वायु सूक्त की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. सस्वर वेदपाठ में स्वर-शुद्धि का महत्व स्पष्ट कीजिए।
4. वैदिक साहित्य में अग्नि एवं वायु का स्थान बताइए।
5. अग्नि सूक्त एवं वायु सूक्त की आध्यात्मिक उपयोगिता का विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

१. अग्नि सूक्त किस वेद से संबंधित है?

(क) ऋग्वेद

(ख) सामवेद

(ग) यजुर्वेद

(घ) अथर्ववेद

उत्तर - (क)

२. वायु सूक्त में किस देवता की स्तुति है?

(क) अग्नि

(ख) इन्द्र

(ग) वायु

(घ) वरुण

उत्तर - (ग)

३. सस्वर पाठ में किसका विशेष ध्यान रखा जाता है?

(क) लय

(ख) स्वर

(ग) उच्चारण

(घ) उपर्युक्त सभी

उत्तर - (घ)

४. अग्नि को क्या माना गया है?

(क) पुरोहित

(ख) देवदूत

(ग) यज्ञवाहक

(घ) उपर्युक्त सभी

उत्तर - (घ)

५. वायु का संबंध किससे है?

(क) प्राण

(ख) जल

(ग) पृथ्वी

(घ) अग्नि

उत्तर - (क)

स्मरणीय बिंदु-

1. अग्नि सूक्त ऋग्वेद का प्रथम सूक्त है।
2. वायु प्राणशक्ति का प्रतीक है।
3. सस्वर उच्चारण से मंत्रों का प्रभाव बढ़ता है।

शब्दावली-

1.	शब्द	अर्थ
2.	अग्नि	ऊर्जा एवं यज्ञ का देवता
3.	वायु	प्राण तत्व
4.	सूक्त	वैदिक मंत्र समूह
5.	सस्वर	स्वर सहित
6.	उच्चारण	शुद्ध बोलना

इकाई-2.2 मुख्य सूक्तों का परिचय वागाम्भृणी सूक्त
ज्ञान सूक्तमन्त्रों का सस्वर उच्चारण

उद्देश्य-

1. विद्यार्थी वाक-अम्भृणी सूक्त का महत्व समझेंगे।
2. ज्ञान सूक्त के संदेश को जानेंगे।
3. वैदिक ज्ञान एवं वाणी के महत्व को पहचानेंगे।

वागाम्भृणीसूक्तम्

ऋ. मं १० सू १२५ वागाम्भृणी। आत्मा देवता। त्रिष्टुप, २ जगती।

ओ३म् अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥१॥
अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये३ यजमानाय सुन्वते ॥२॥
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥३॥
मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥४॥
अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥५॥
अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥६॥
अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥७॥
अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥८॥

ज्ञानसूक्तम्

ऋ. मं. १० सू. ७१ बृहस्पतिराङ्गिरसः ऋषिः। ज्ञानम् देवता । त्रिष्टुप, ९ जगती छन्दः।

ओ३म् बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥१॥
सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥२॥
यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् ।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते ॥३॥

उत त्व: पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्व: शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा: ॥४॥
उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति मायया एष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥५॥
यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥६॥
अक्षण्वन्त: कर्णवन्त: सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवु: ।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे हृदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥७॥
हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणा: संयजन्ते सखाय: ।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥८॥
इमे ये नार्वाङ्न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरास: ।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञय: ॥९॥
सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखाय: ।
किल्बिषस्पृत्पितुषणिह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय ॥१०॥
ऋचां त्व: पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्व: ॥११॥

स्मरणीय बिंदु-

1. वाणी को दिव्य शक्ति माना गया है।
2. ज्ञान सूक्त आत्मज्ञान का संदेश देता है।
3. वैदिक साहित्य में ज्ञान सर्वोच्च माना गया है।

शब्दावली-

	शब्द	अर्थ
1.	वाक	वाणी
2.	अम्भृणी	ऋषिका का नाम
3.	ज्ञान	बोध
4.	आत्मबोध	आत्मा का ज्ञान
5.	सूक्त	मंत्र समूह

5 अंक के प्रश्न-

1. वाक-अम्भृणी सूक्त क्या है?
2. ज्ञान सूक्त का मुख्य संदेश लिखिए।
3. वाणी का वैदिक महत्व बताइए।
4. ज्ञान सूक्त में ज्ञान की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
5. सस्वर पाठ का महत्व लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. वाक-अम्भृणी सूक्त का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. ज्ञान सूक्त की शिक्षाओं का विवेचन कीजिए।
3. वैदिक साहित्य में वाणी की महिमा स्पष्ट कीजिए।
4. ज्ञान एवं आध्यात्मिकता के संबंध पर प्रकाश डालिए।
5. वाक् एवं ज्ञान की वैदिक अवधारणा का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. **वाक-अम्भृणी सूक्त किससे संबंधित है?**

(क) वाणी

(ख) अग्नि

(ग) जल

(घ) वायु

उत्तर - (क)

2. **ज्ञान सूक्त का मुख्य विषय क्या है?**

(क) युद्ध

(ख) ज्ञान

(ग) व्यापार

(घ) कृषि

उत्तर - (ख)

3. **वाणी को क्या माना गया है?**

(क) शक्ति

(ख) देवी

(ग) ज्ञान का माध्यम

(घ) उपर्युक्त सभी

उत्तर - (घ)

4. **वैदिक ज्ञान का उद्देश्य क्या है?**

(क) आत्मबोध

(ख) व्यापार

(ग) राजनीति

(घ) युद्ध

उत्तर - (क)

5. **सूक्त किसका समूह है?**

(क) गद्य

(ख) श्लोक

(ग) मंत्र

(घ) कहानी

उत्तर - (ग)

इकाई-2.3 मुख्य सूक्तों का परिचय स्वस्तिवाचन सूक्त, पुरुषसूक्तमन्त्रों का सस्वर उच्चारण

उद्देश्य-

1. विद्यार्थी स्वस्तिवाचन सूक्त का महत्व समझेंगे।
2. पुरुष सूक्त के दार्शनिक पक्ष को जानेंगे।
3. वैदिक समाज एवं सृष्टि की अवधारणा को समझेंगे।

स्वस्तिवाचनसूक्तम्

ऋ. मं ५ सू ५१ स्वस्त्यात्रेय: ऋषि:। विश्वेदेवा: देवता:। जगती, त्रिष्टुब्वा अनुष्टुप् छन्द:।
ओ३म् स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भग: स्वस्ति देव्यदितिरनर्वण:।
स्वस्ति पूषा असुरो दधातु न: स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना ॥११॥
स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पति:।
बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु न: ॥१२॥
विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये वैश्वानरो वसुरग्नि: स्वस्तये।
देवा अवन्त्वृभव: स्वस्तये स्वस्ति नो रुद्र: पात्वंहस: ॥१३॥
स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पथ्ये रेवति।
स्वस्ति न इन्द्रश्चाग्निश्च स्वस्ति नो अदिते कृधि ॥१४॥
स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि ॥१५॥
ऋ. मं ७ सू ३५-
ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञा:।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभि: सदा न: ॥१५॥
ऋ. मं १० सू ६३-
येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पय: पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हा: ।
उक्थशुष्मान्वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये ॥३॥
नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशु: ।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥४॥
सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम् ।
ताँ आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्याँ अदितिं स्वस्तये ॥५॥
को व: स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो मनुषो यति ष्ठन ।
को वोऽध्वरं तुविजाता अरं करद्यो न: पर्षदत्यंहस: स्वस्तये ॥६॥
येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनु: समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभि:।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा न: कर्त सुपथा स्वस्तये ॥७॥
य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तव: ।
ते न: कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवास: पिपृता स्वस्तये ॥८॥
भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेऽहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम् ।

अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये ॥९॥
सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसꣳ सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावꣳ स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥१०॥
विश्वे यजत्रा अधि वोचतोतये त्रायध्वं नो दुरेवाया अभिह्रुतः ।
सत्यया वो देवहूत्या हुवेम शृण्वतो देवा अवसे स्वस्तये ॥११॥
अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः ।
आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये ॥१२॥
अरिष्टः स मर्तो विश्वं एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि ।
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये ॥१३॥
यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने ।
प्रातर्यावाणं रथमिन्द्र सानसिमरिष्यन्तमा रुहेमा स्वस्तये ॥१४॥
स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्य १ प्सु वृजने स्वर्वति ।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन ॥१५॥
स्वस्ति©रिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति ।
सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा ॥१६॥

पुरुषसूक्तम्

ऋ. मं १० सू ९० नारायणः। परमपुरुषः। अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्।
ओ३म् सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥२॥
एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाꣳश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विष्वङ्व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥४॥
तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥५॥
यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥६॥
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥७॥
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशून्ताꣳश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये ॥८॥
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥९॥
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥१०॥

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥११॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥१२॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥१३॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥१४॥
सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥१५॥
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥१६॥

स्मरणीय बिंदु-

1. स्वस्तिवाचन सूक्त कल्याण की प्रार्थना है।
2. पुरुष सूक्त में सृष्टि एवं समाज का वर्णन है।
3. पुरुष सूक्त वैदिक दर्शन का महत्वपूर्ण भाग है।

शब्दावली-

शब्द	**अर्थ-**
स्वस्ति	कल्याण
पुरुष	परम पुरुष
सृष्टि	जगत की उत्पत्ति
वर्ण	सामाजिक वर्ग
प्रार्थना	विनयपूर्वक निवेदन

5 अंक के प्रश्न-

1. स्वस्तिवाचन सूक्त क्या है?
2. पुरुष सूक्त का मुख्य विषय लिखिए।
3. 'स्वस्ति' का अर्थ बताइए।
4. पुरुष सूक्त में समाज व्यवस्था का वर्णन कैसे है?
5. पुरुष सूक्त का महत्व लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. पुरुष सूक्त का दार्शनिक विवेचन कीजिए।
2. स्वस्तिवाचन सूक्त की विशेषताएँ बताइए।
3. पुरुष सूक्त में वर्णित सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन कीजिए।
4. वैदिक समाज व्यवस्था पर पुरुष सूक्त के प्रभाव का वर्णन कीजिए।
5. स्वस्तिवाचन सूक्त की आधुनिक प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. 'स्वस्ति' का अर्थ है-

(क) युद्ध
(ख) कल्याण
(ग) व्यापार
(घ) दुख
उत्तर - (ख)

2. पुरुष सूक्त किससे संबंधित है?

(क) सृष्टि

(ख) राजनीति

(ग) कृषि

(घ) व्यापार

उत्तर - (क)

3. पुरुष सूक्त में कितने वर्णों का उल्लेख है?

(क) 2

(ख) 3

(ग) 4

(घ) 5

उत्तर - (ग)

4. स्वस्तिवाचन का उद्देश्य क्या है?

(क) कल्याण की कामना

(ख) युद्ध

(ग) व्यापार

(घ) मनोरंजन

उत्तर - (क)

5. पुरुष सूक्त किस वेद में प्रसिद्ध है?

(क) ऋग्वेद

(ख) सामवेद

(ग) यजुर्वेद

(घ) अथर्ववेद

उत्तर - (क)

इकाई-2.4 मुख्य सूक्तों का परिचय नासदीयसूक्त सूक्त
शं नः सूक्त मन्त्रों का सस्वर उच्चारण एवं दिनचर्या पुराने पाठ का आवृत्ति।

उद्देश्य-

1. विद्यार्थी नासदीय सूक्त का दार्शनिक अर्थ समझेंगे।
2. "शं नः" सूक्त के कल्याणकारी संदेश को जानेंगे।
3. वैदिक चिंतन एवं आध्यात्मिक दृष्टि को समझेंगे।

नासदीयसूक्तम्

ऋषिः- प्रजापतिः परमेष्ठी। देवता-भाववृत्तम्॥
छन्दः १-३ निचृत्त्रिष्टुप्; ४-६ त्रिष्टुप्; ७ पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः- धैवतः॥
अथ सप्तदशो वर्गः ॥१७॥ ऋ. मं १० सू १२९

नास॑दासी॒न्नो सदा॑सीत्तदा॒नीं नासी॒द्रजो॒ नो व्यो॑मा प॒रो यत् ।
किमाव॑रीव॒: कु॒ह॒ कस्य॒ शर्म॒न्नम्भ॒: किमा॑सी॒द्गह॑नं गभी॒रम् ॥१॥
न मृ॒त्युरा॑सीद॒मृतं॒ न तर्हि॒ न रात्र्या॒ अह्न॑ आसीत्प्रके॒तः ।
आनी॑दवा॒तं स्व॒धया॒ तदे॑कं॒ तस्मा॑द्धा॒न्यन्न प॒रः किं च॒नास॑ ॥२॥
तम॑ आसी॒त्तम॑सा गू॒ळ्हमग्रे॑ऽप्रके॒तं स॑लि॒लं सर्व॑मा इ॒दम् ।
तु॒च्छ्येना॒भ्वपि॑हितं॒ यदासी॒त्तप॑स॒स्तन्म॑हि॒नाजा॑य॒तैक॑म् ॥३॥
काम॒स्तद॑ग्रे॒ सम॑वर्त॒ताधि॒ मन॑सो रेत॑: प्रथ॒मं यदासी॑त् ।
स॒तो बन्धु॒मस॑ति॒ निर॑विन्दन्हृ॒दि प्र॒तीष्या॑ क॒वयो॑ मनी॒षा ॥४॥
ति॒रश्ची॑नो॒ वित॑तो र॒श्मिरे॑षाम॒धः स्वि॑दासी३दु॒परि॑ स्विदासी३त् ।
रे॒तो॒धा आ॑सन्महि॒मान॑ आसन्त्स्व॒धा अ॒वस्ता॒त्प्रय॑तिः प॒रस्ता॑त् ॥५॥
को अ॒द्धा वे॑द॒ क इ॒ह प्र वो॑चत्कु॒त आजा॑ता कु॒त॑ इ॒यं वि॒सृष्टिः ।
अ॒र्वाग्दे॒वा अ॒स्य वि॒सर्ज॑ने॒नाथा॒ को वे॑द॒ यत॑ आब॒भूव॑ ॥६॥
इ॒यं वि॒सृ॑ष्टि॒र्यत॑ आब॒भूव॒ यदि॑ वा द॒धे यदि॑ वा॒ न ।
यो अ॒स्याध्य॑क्षः पर॒मे व्यो॑म॒न्त्सो अ॒ङ्ग वे॑द॒ यदि॑ वा॒ न वेद॑ ॥७॥

शं नः सूक्तम्

ऋ. मं ७ सू ३५

ओ३म् शं न॑ इन्द्रा॒ग्नी भ॑वता॒मवो॑भिः शं न॒ इ॒न्द्रा॒वरु॑णा रा॒तह॑व्या।
शमिन्द्रा॑सोमा॑ सु॒वि॒ताय॒ शं योः शं न॒ इन्द्रा॑पू॒ष॒णा वाज॑सातौ ॥१॥
शं नो॒ भग॒: शम॑ु न॒: शंसो॑ अस्तु॒ शं न॒: पुर॑ंधि॒: शम॑ु सन्तु राय॑:।
शं न॑: स॒त्यस्य॑ सु॒यम॑स्य॒ शंस॒: शं नो॑ अ॒र्यमा पु॑रुजा॒तो अ॑स्तु ॥२॥
शं नो॑ धा॒ता शम॑ु ध॒र्ता नो॑ अस्तु॒ शं न॑ उरू॒ची भ॑वतु स्व॒धाभि॑:।
शं रोद॑सी बृह॒ती शं नो॒ अद्रि॒: शं नो॑ दे॒वाना॑ सुहवा॑नि सन्तु ॥३॥
शं नो॑ अ॒ग्निर्ज्योति॑रनीको अस्तु॒ शं नो॑ मि॒त्रावरु॑णाव॒श्विना॒ शम्।
शं न॑: सु॒कृता॑ सुकृ॒तानि॑ सन्तु॒ शं न॑ इषि॒रो अ॒भि वा॑तु॒ वात॑: ॥४॥

शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु।
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः ॥५॥
शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥६॥
शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥८॥
शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ॥९॥
शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शंभुः ॥१०॥
शं नो देवा विश्वेदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु।
शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः ॥११॥
शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः।
शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥१२॥
शं नो अज एकपादेवो अस्तु शं नोऽहिर्बुध्न्यः१ शं समुद्रः।
शं नो अपां नपात्पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा ॥१३॥
आदित्या रुद्रा वसवो जुषन्तेदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः।
शृण्वन्तु नो दिव्याः पार्थिवासो गोजाता उत ये यज्ञियासः ॥१४॥
ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥१५॥

स्मरणीय बिंदु-

1. नासदीय सूक्त सृष्टि रहस्य पर आधारित है।
2. "शं नः" सूक्त शांति एवं मंगल की कामना करता है।
3. वैदिक चिंतन में आध्यात्मिकता का विशेष स्थान है।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
नासदीय	सृष्टि संबंधी वैदिक सूक्त
शं	कल्याण
मंगल	शुभता
सृष्टि	जगत की उत्पत्ति
आध्यात्मिकता	आत्मिक चिंतन

5 अंक के प्रश्न-

1. नासदीय सूक्त का मुख्य विषय क्या है?
2. "शं नः" सूक्त का उद्देश्य लिखिए।
3. सृष्टि विषयक वैदिक विचार क्या हैं?
4. "शं" शब्द का अर्थ बताइए।
5. नासदीय सूक्त का महत्व लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. नासदीय सूक्त का दार्शनिक विवेचन कीजिए।
2. "शं नः" सूक्त की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. सृष्टि उत्पत्ति के वैदिक सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।

4. वैदिक सूक्तों में शांति एवं कल्याण की भावना स्पष्ट कीजिए।
5. नासदीय सूक्त की आधुनिक प्रासंगिकता का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. नासदीय सूक्त किस विषय से संबंधित है?

(क) युद्ध
(ख) सृष्टि उत्पत्ति
(ग) व्यापार
(घ) कृषि

उत्तर – (ख)

2. "शं" शब्द का अर्थ क्या है?

(क) दुख
(ख) भय
(ग) कल्याण
(घ) क्रोध

उत्तर – (ग)

3. "शं नः" सूक्त में किसकी कामना की गई है?

(क) युद्ध
(ख) शांति एवं मंगल
(ग) धन
(घ) विजय

उत्तर – (ख)

4. नासदीय सूक्त किस वेद में मिलता है?

(क) ऋग्वेद
(ख) यजुर्वेद
(ग) सामवेद
(घ) अथर्ववेद

उत्तर – (।)

5. वैदिक चिंतन का आधार क्या है?

(क) ज्ञान
(ख) सत्य
(ग) आध्यात्मिकता
(घ) उपर्युक्त सभी

उत्तर – (घ)

खण्ड–3

इकाई–3.1 मुख्य सूक्तों का परिचय श्रद्धा सूक्त, संगठनसूक्त मन्त्रों का सस्वर उच्चारण।

उद्देश्य–

1. विद्यार्थी श्रद्धा सूक्त का महत्व समझेंगे।
2. संगठन सूक्त के सामाजिक संदेश को जानेंगे।
3. वैदिक जीवन में एकता एवं श्रद्धा के महत्व को समझेंगे।

श्रद्धासूक्तम्

ऋषिः- श्रद्धाः कामायनी॥ देवता-श्रद्धा ॥ छन्दः- १, ४,
५ अनुष्टुप्; २ विराडनुष्टुप्; ३ निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः- गान्धारः॥
अथ नवमो वर्गः ॥९॥ ऋ. मं १० सू १५१
श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥१॥
प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः ।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥२॥
यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे ।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥३॥
श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।
श्रद्धां हृदय्य१याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥४॥
श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि ।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥५॥

संगठनसूक्तम्

ऋ. मं १० सू १९१ संवनन आङ्गिरसः। १ अग्निः, २-४ संज्ञानम्। अनुष्टप्, ३ त्रिष्टुप्।
ओ३म् संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥१॥
सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥२॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥३॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥४॥

स्मरणीय बिंदु-

1. श्रद्धा जीवन की आधारशिला है।
2. संगठन सूक्त सामाजिक एकता का संदेश देता है।
3. वैदिक साहित्य में सहयोग एवं समन्वय को महत्व दिया गया है।

शब्दावली-

शब्द	**अर्थ**
श्रद्धा	विश्वास एवं आस्था
संगठन	एकता
समन्वय	मेल-जोल
सूक्त	वैदिक मंत्र समूह
सहयोग	साथ मिलकर कार्य करना

५ अंक के प्रश्न-

1. श्रद्धा सूक्त का मुख्य विषय क्या है?
2. संगठन सूक्त का उद्देश्य लिखिए।
3. श्रद्धा का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. संगठन सूक्त में एकता का संदेश कैसे दिया गया है?
5. वैदिक जीवन में श्रद्धा का महत्व लिखिए।

१५ अंक के प्रश्न-

1. श्रद्धा सूक्त का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. संगठन सूक्त के सामाजिक महत्व पर प्रकाश डालिए।
3. वैदिक साहित्य में श्रद्धा की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
4. संगठन सूक्त की आधुनिक प्रासंगिकता का विवेचन कीजिए।
5. एकता एवं सहयोग के वैदिक आदर्शों का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

१. श्रद्धा सूक्त किस भावना से संबंधित है?

(क) क्रोध

(ख) श्रद्धा

(ग) युद्ध

(घ) व्यापार

उत्तर - (ख)

२. संगठन सूक्त का मुख्य संदेश क्या है?

(क) विभाजन

(ख) संघर्ष

(ग) एकता

(घ) राजनीति

उत्तर - (ग)

३. 'श्रद्धा' का अर्थ है-

(क) विश्वास

(ख) भय

(ग) लोभ

(घ) मोह

उत्तर - (क)

४. **संगठन सूक्त किस वेद में प्रसिद्ध है?**

(क) ऋग्वेद

(ख) सामवेद

(ग) यजुर्वेद

(घ) अथर्ववेद

उत्तर - (क)

५. **वैदिक जीवन में संगठन का उद्देश्य क्या है?**

(क) समाज कल्याण

(ख) युद्ध

(ग) व्यापार

(घ) मनोरंजन

उत्तर - (क)

इकाई-3.2 दैनिक दिनचर्या के विशेष मन्त्र

उद्देश्य-

1. विद्यार्थी दैनिक जीवन में प्रयुक्त वैदिक मंत्रों का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
2. मंत्रों के आध्यात्मिक एवं मानसिक प्रभाव को समझेंगे।
3. दैनिक दिनचर्या में वैदिक परंपरा का महत्व जानेंगे।

महर्षि पतंजलि को नमन

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि।।

प्रातःकालीन जागरण मन्त्र

ओ३म् प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातस्सोममुत रुद्रं हुवेम।।
ओ३म् प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह।।
ओ३म् भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भग प्रणो जनय गोभिरश्वैर्भग प्रनृभिर्नृवन्तः स्याम।।
ओ३म् उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम।।
ओ३म् भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह।।

यज्ञोपवीत धारण करने के मन्त्र

ओ३म् यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्रयं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः।।
ओ३म् यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि।।

भोजन करने से पूर्व का मन्त्र

ओ३म् अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्रप्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे।।
ओ३म् मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं, केवलाघो भवति केवलादी।।
ब्रह्माप्रणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।

अथ देवयज्ञः

ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना मन्त्र

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव॥१॥
ओ३म् हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥२॥
ओ३म् य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥३॥
ओ३म् यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥४॥
ओ३म् येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥५॥
ओ३म् प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥६॥
ओ३म् स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥७॥
ओ३म् अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम॥८॥

आचमन मन्त्र

ओ३म् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा॥१॥
ओ३म् अमृतापिधानमसि स्वाहा॥२॥
ओ३म् सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा॥३॥

अंगस्पर्श मन्त्र

ओ३म् वाङ् मऽआस्येऽस्तु॥१॥
ओ३म् नसोर्मे प्राणोऽस्तु॥२॥
ओ३म् अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु॥३॥
ओ३म् कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु॥४॥
ओ३म् बाह्वोर्मे बलमस्तु॥५॥
ओ३म् ऊर्वोर्मऽओजोऽस्तु॥६॥
ओ३म् अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु॥७॥

अग्न्याधान-मन्त्र

ओ३म् भूर्भुवः स्वः।
ओ३म् भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा।
तस्यास्ते पृथिवी देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे॥१॥
ओ३म् उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सꣳसृजेथामयञ्च।
अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥२॥

समिधाधान मन्त्र

ओ३म् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्द्धय चाऽस्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम॥१॥
ओ३म् समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥२॥
ओ३म् सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन।
अग्नये जातवेदसे स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम॥३॥
ओ३म् तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य स्वाहा। इदमग्नयेऽङ्गिरसेइदन्न मम॥४॥

पञ्चघृताहुति-मन्त्र

ओ३म् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्द्धस्व चेद्ध वर्धय चाऽस्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥ इदमग्नये

जातवेदसे—इदन्न मम॥

जलप्रोक्षण मन्त्र

ओ३म् अदितेऽनुमन्यस्व॥१॥
ओ३म् अनुमतेऽनुमन्यस्व॥२॥
ओ३म् सरस्वत्यनुमन्यस्व॥३॥
ओ३म् देव सवितः प्र सुव यज्ञं प्र सुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु॥४॥

आघारावाज्यभागाहुति मन्त्र

ओ३म् अग्नये स्वाहा। इदमग्नये—इदन्न मम॥१॥
ओ३म् सोमाय स्वाहा। इदं सोमाय—इदन्न मम॥२॥
ओ३म् प्रजापतये स्वाहा। इदं प्रजापतये—इदन्न मम॥३॥
ओ३म् इन्द्राय स्वाहा। इदमिन्द्राय—इदन्न मम॥४॥

प्रातःकालीन अग्निहोत्र-मन्त्र

ओ३म् सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा॥१॥
ओ३म् सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा॥२॥
ओ३म् ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा॥३॥
ओ३म् सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या। जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा॥४॥

सायंकालीन अग्निहोत्र-मन्त्र

ओ३म् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा॥१॥
ओ३म् अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा॥२॥
ओ३म् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा॥३॥
ओ३म् सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या। जुषाणोऽअग्निर्वेतु स्वाहा॥४॥

प्रातः सायं होम करने के मन्त्र

ओ३म् भूरग्नये प्राणाय स्वाहा। इदमग्नये प्राणाय—इदन्न मम॥१॥
ओ३म् भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा। इदं वायवेऽपानायइदन्न मम॥२॥
ओ३म् स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा।
इदमादित्याय व्यानायइदन्न मम॥३॥
ओ३म् भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा।
इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यःइदन्न मम॥४॥
ओ३म् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा।
ओ३म् यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥६॥
ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रं तन्नऽआसुव स्वाहा॥७॥
ओ३म् अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विमनि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहा॥८॥

स्विष्टकृदाहुति मन्त्र

ओ३म् यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे। अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा॥ इदमग्नये स्विष्टकृते—इदन्न मम॥
ओ३म् प्रजापतये स्वाहा। इदं प्रजापतये इदन्न मम॥

पूर्णाहुति मन्त्र

ओ३म् सर्वं वै पूर्णं स्वाहा॥
इति देवयज्ञः

शयनकालीन शिवसंकल्प-मन्त्र

ओ३म् यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥१॥
ओ३म् येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥२॥

ओ३म् यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्नऽऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥३॥
ओ३म् येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥४॥
ओ३म् यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तꣳसर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पस्तु॥५॥
ओ३म् सुषारथिरश्वान्निव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥६॥

स्मरणीय बिंदु–

1. दैनिक मंत्र मानसिक शांति प्रदान करते हैं।
2. सस्वर पाठ वातावरण को सकारात्मक बनाता है।
3. वैदिक मंत्र आत्मिक शक्ति बढ़ाते हैं।

शब्दावली–

शब्द	**अर्थ**
दिनचर्या	दैनिक कार्य
शांति मंत्र	शांति की प्रार्थना
प्रार्थना	विनयपूर्वक निवेदन
सस्वर	स्वर सहित
आध्यात्मिक	आत्मा से संबंधित

5 अंक के प्रश्न–

1. दैनिक मंत्रों का महत्व लिखिए।
2. प्रातःकालीन मंत्र किस उद्देश्य से बोले जाते हैं?
3. शांति मंत्र क्या है?
4. दिनचर्या में वैदिक मंत्रों का उपयोग कैसे होता है?
5. वैदिक मंत्रों का मानसिक प्रभाव लिखिए।

15 अंक के प्रश्न–

1. दैनिक जीवन में वैदिक मंत्रों की उपयोगिता का वर्णन कीजिए।
2. शांति मंत्रों का महत्व स्पष्ट कीजिए।
3. प्रातः एवं सायंकालीन मंत्रों की विशेषताएँ बताइए।
4. वैदिक मंत्रों का मानसिक एवं आध्यात्मिक प्रभाव स्पष्ट कीजिए।
5. आधुनिक जीवन में दैनिक मंत्रों की प्रासंगिकता का विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. **शांति मंत्र का उद्देश्य क्या है?**
   (क) युद्ध
   (ख) मानसिक शांति
   (ग) व्यापार
   (घ) मनोरंजन
   उत्तर - (ख)
2. **वैदिक मंत्रों का प्रभाव किस पर पड़ता है?**
   (क) मन
   (ख) बुद्धि
   (ग) वातावरण
   (घ) उपर्युक्त सभी
   उत्तर - (घ)

3. दैनिक मंत्रों का प्रयोग कब किया जाता है?

(क) दिनचर्या में

(ख) युद्ध में

(ग) व्यापार में

(घ) खेल में

उत्तर - (क)

4. वैदिक मंत्रों का उच्चारण कैसे होना चाहिए?

(क) अशुद्ध

(ख) सस्वर

(ग) मौन

(घ) तीव्र

उत्तर - (ख)

5. शांति मंत्र किस भावना को प्रकट करते हैं?

(क) क्रोध

(ख) कल्याण

(ग) भय

(घ) ईर्ष्या

उत्तर - (ख)

इकाई-3.3 ऋग्वेदीय अग्नि सूक्त कण्ठपाठ अभ्यास एवं अर्थ सहित व्याख्या

उद्देश्य-

1. विद्यार्थी अग्नि सूक्त का कंठस्थ अभ्यास करेंगे।
2. अग्नि सूक्त का अर्थ एवं भाव समझेंगे।
3. वैदिक यज्ञ परंपरा का ज्ञान प्राप्त करेंगे।

अग्निसूक्तम्

ऋ. मं १ सू १ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ऋषिः।
अग्निः देवता। गायत्री छन्दः।

ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥१॥

यज्ञस्य- यज्ञ के, **पुरोहितम्**- (होम सम्पादन करने वाले) पुरोहित, देवम्-दान आदि गुणों से युक्त देव या (यज्ञ के) प्रकाशक, **ऋत्विजम्** (देवों के यज्ञ में) होता नामक ऋत्विक् या ऋतु के अनुरूप यज्ञ करने वाले, **होतारम्**-(देवों को) आहूत करने वाले, **रत्नधातमम्**- (और याग-फल रूप) रत्नों को धारण करने वाले, **अग्निम्**-अग्नि (देव) की, **ईळे**- (मैं) स्तुति करता हूँ।

१. **अग्निम्**=उस (अगि गतौ) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को गति देने वाले, सब जीवों की उन्नति के साधक, अग्रणी प्रभु को **ईळे**=मैं स्तुति करता हूँ-उस प्रभु का मैं स्तवन करता हूँ (ईड-ईद उपासना) जो प्रभु २. **पुरोहितम्**=(पुरः हितम्) पहले से ही रखे हुए हैं, अर्थात् जो बनने से=सृष्टि से पूर्व ही विद्यमान हैं। जो बने कभी नहीं-'स्वयं-भू' हैं-अपने आप होने वाले हैं-'खुद आ' हैं। अथवा जो प्रभु हम जीवों के पुरः=सामने हितम्=एक आदर्श (Model) के रूप में विद्यमान हैं। उनके अनुरूप हमें अपने को बनाना है। ३. **यज्ञस्य देवम्**=वे प्रभु अपनी वेदवाणी में यज्ञों का प्रकाश करने वाले हैं। हमारे सब कर्तव्य-कर्मो का प्रभु ने वेद में प्रतिपादन किया है। **एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।**-गीता ४. **ऋत्विजम्**=ऋतौ-ऋतौ यजनीयम्-समय-समय पर, प्रत्येक ऋतु में वे प्रभु पूजा के योग्य हैं। उस प्रभु का ही हमें उपासना करना चाहिए। उसके पूजन से उसकी शक्ति का हममें प्रवाह होता है। हम घर के व आजीविकोपार्जन के कार्यो की समाप्ति पर स्वाध्यायश्रान्त होकर प्रभु के नाम का जप करने लगें **तज्जपस्तदर्थभावनम्।**-योग० १।२८। दिन में दुनिया में दुनिया के कार्यो से अवकाश न मिले तो रात्रि के समय प्रभु-नाम-जप करते हुए निद्रा की गोद में जाएँ ताकि सारी रात्रि प्रभु-सम्पर्क बना रहे-स्वप्न भी प्रभु का ही आएँ और उस स्वप्नगत प्रभु-दर्शन को हम जाग्रत में भी न भूलें, ऐसा प्रयत्न करें (**'स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा'**। -योग० १ ।३८) ५. **होतारम्**-(हू दान, अदन) वे प्रभु सब-कुछ देने वाले हैं-प्रलय के समय सारे ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर ले-लेनेवाले हैं। (**यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इथा वेद यत्र सः**-कठ० १। २। २५)। प्रभु ने हमारे हित के लिए सब आवश्यक पदार्थ हमें प्राप्त कराये हैं। ६. **रत्नधातमम्**= रमणीय वस्तुओं के धारण करने वालों में वे सर्वोत्तम हैं। प्रभु ने शरीरों के अन्दर इस प्रकार व्यवस्था की है कि खाये हुए अन्न से रस-रुधिर-मांस-मोदस्-अस्थि-मज्जा-वीर्य' -इन सात धातुओं का क्रमशः निर्माण होता है। ये सात धातुएँ ही सात रत्न हैं। इनकी उपयोगिता व महत्त्व शरीरशास्त्र में प्रसिद्ध है। इनके कारण शरीर रमणीय बना है, अतः ये ही रत्न हैं। प्रभु ने प्रत्येक शरीररूप घर में इन सात रत्नों की स्थापना की है। (दमे-दमे सप्त रत्ना दधाना-ऋ० ६। ७४। १)। इस रत्न-धातमम् प्रभु की हम स्तुति करें।

भावार्थ-मैं 'अग्नि-पुरोहित-यज्ञ के देव-ऋत्विज्-होता व रत्नधाता' प्रभु की स्तुति करता हूँ।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः॥** देवता-**अग्निः॥** छन्दः-**पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री॥** स्वरः-**षड्जः॥**

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति॥२॥

अग्निः-(यह) अग्नि, **पूर्वेभिः**-पहले के, **ऋषिभिः** (भृगु, अङ्गिरा प्रभृति) ऋषियों से, **ईड्यः**-स्तुत्य या प्रशंसा योग्य (थी, और), **नूतनैः** (हम) आधुनिकों के द्वारा, **उत**-भी (स्तुत्य), **सः**-वह (अग्नि), **इह**-इस (यज्ञ) में, **देवान्**-देवों को, **आ वक्षति**-प्राप्त करावें।

(१) गत मन्त्र में वर्णित **ईड्यः**=सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले-अग्रणी प्रभु **ऋषिभिः**-(ऋषय द्रष्टारः) तत्त्वदर्शियों से **ईड्यः**=स्तुति के योग्य होते हैं, अर्थात् वस्तुतः प्रभु का स्तवन ये

ऋषि=तत्त्वद्रष्टा ही करते हैं। वे तत्त्व-द्रष्टा जो **पूर्वेभिः**=(पृ पालनपूरणयोः) अपना रक्षण करते हैं-अपने को रोगों से आक्रान्त नहीं होने देते तथा अपनी न्यूनताओं को दूर करते रहते हैं, अर्थात् अपना 'पूरण' करने का ध्यान करते हैं। **उत**=और **नूतनैः**=(नू to Praise, to go) जो प्रशंसात्मक शब्द ही बोलते हैं-जो कभी निन्दा नहीं करते तथा जो सदा गतिशील हैं-जिनका जीवन क्रियामय है। संक्षेप में भाव यह है कि प्रभु का स्तवन वे करते हैं जो (क) तत्त्वद्रष्टा हैं, (ख) अपने शरीर को रोगों का शिकार नहीं होने देते, (ग) अपनी न्यूनताओं को दूर करने का प्रयत्न करते हैं, (घ) जो प्रशंसात्मक शब्द बोलते हैं-कटु, निन्दात्मक शब्द नहीं बोलते, तथा (ङ) सदा क्रियात्मक जीवन बिताते हैं। २. **सः**=वह प्रभु ही इस प्रकार उपासित होकर **इह**=इस मानव-जीवन में हमें **देवान्**=दिव्यगुणों को **आवक्षति**=प्राप्त कराते हैं, अर्थात् प्रभु-उपासना का लाभ यह होता है कि हममें दिव्यगुणों की वृद्धि होती है।

भावार्थ-१. प्रभु का सच्चा उपासक वह है, जो ज्ञान प्राप्त करता है, नीरोग व निर्मल है तथा प्रशंसात्मक मधुर शब्द ही बोलता है और क्रियाशील है। 2. प्रभु की उपासना का लाभ यह है कि हम में दिव्यगुणों की वृद्धि होती है।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे। यशसं वीरवत्तमम्॥३॥

अग्निना-(मनुष्य इस स्तुत्य) अग्नि से, **दिवेदिवे**-प्रतिदिन पोषण को प्राप्त होने वाले, **यशसम्**-यश देने वाले, **वीरवत्तमम्**- (और पुत्रभृत्य आदि) श्रेष्ठ पुरुषों से युक्त या श्रेष्ठ वीरता को देने वाले, **रयिम्**-धन या ऐश्वर्य को, **एव**-अवश्य, **अश्नवत्**-प्राप्त करता है।

१. इस मन्त्र में ऋषियों द्वारा 'अग्नि-स्तवन' का उल्लेख हुआ है।

उस प्रभु के उपासन से मनुष्य सांसारिक दृष्टि से असफल हो जाता हो-ऐसी बात नहीं। यदि प्रभु की उपासना करेंगे तो क्या लक्ष्मी के दर्शन नहीं होंगे? लक्ष्मी तो वहाँ है ही, इसलिए मन्त्र में कहते हैं कि **अग्निना**=अग्नि से **रयिम्**=धन को **अश्नवत्**=प्राप्त करता है। संसार में सामान्यतः देखा यह जाता है कि धन मनुष्य को कुछ अवनति की ओर ले जाता है, परन्तु प्रभु का स्मरण करते हुए जो धन प्राप्त होता है, उस धन की यह विशेषता है कि २. **दिवे-दिवे**=दिन-प्रतिदिन **पोषम् एव**=यह हमारे पोषण का ही कारण बनता है। इससे हमारा किसी प्रकार का ह्रास नहीं होता। यह धन मुझे निधन=मृत्यु की ओर न ले-जाकर जीवन की ओर ले-जाता है। ३. इस धन को प्राप्त करके मैं **यशसम्**=यशवाला बनता हूँ। धन के अभिमान में मैं ऐसे कार्य नहीं कर बैठता जो कार्य मेरे अपयश का कारण बनें, प्रत्युत यज्ञादि में धन का विनियोग करके यशस्वी होता हूँ। ४. हम प्रभु-उपासना से वह धन प्राप्त करते हैं जो **वीरवत्तमम्**=अत्यधिक शक्तिसम्पन्न बनाता है। सामान्यतः धनी पुरुष नौकरों से कार्य कराता हुआ आराम (हराम) का जीवन बिताने लगता है, परिणामतः वह निर्बल हो जाता है। 'क्रिया' ही शक्ति को जन्म देती है और क्रिया का अभाव शक्तिक्षय का हेतु होता है। तुलना में बायें हाथ की निर्बलता का हेतु यही है कि वह दाहिने की अपेक्षा कम कार्य करता है। प्रभु-स्मरण के साथ प्राप्त होने वाला धन हमें क्रियाशील बनाये रहकर वीर बनाता है।

भावार्थ-प्रभु का उपासक उस धन को प्राप्त करता है जो (क) उसके पोषण का कारण बनता है, (ख) उसको यशस्वी बनाता है और (ग) उसमें वीरता को जन्म देता है।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद्देवेषु गच्छति॥४॥

अग्ने-हे अग्ने (आप), **यम्**-जिस (राक्षसादियों से अधृष्य), **अध्वरम्**-हिंसा-रहित **यज्ञम्**-यज्ञ को, **विश्वतः**- सभी दिशाओं में सब ओर से, **परिभूःअसि**-प्राप्त करते हैं, **सः इत्**-वह (यज्ञ) ही, **देवेषु**-देवों को (तृप्ति हेतु, स्वर्ग में), **गच्छति**-प्राप्त होता है।

१. गत मन्त्र के अनुसार अग्नि का स्तोता धन को प्राप्त करके उस धन का विनियोग यज्ञादि उत्तम कर्मों में करता है, परन्तु 'उन यज्ञों का भी उसे गर्व न हो जाए', इसके लिए वह प्रभु-स्मरण करता हुआ कहता है कि **अग्ने**=हे सारे कर्मों के संचालक प्रभो! **यम्**=जिस **अध्वरम्**=हिंसा से शून्य **यज्ञम्**=श्रेष्ठतम् कर्म को **विश्वतः**=सब ओर से **परिभूः**=(to surround, to take care of, to govern) व्याप्त करने वाले, रक्षा करने वाले व व्यवस्थित करने वाले आप हो, **सः**=वही यज्ञ **इत्**=निश्चय से **देवेषु**=देवताओं में **गच्छति**=प्राप्त होता है, अर्थात् यज्ञ तो प्रभु ही करते हैं, परन्तु देव उस यज्ञ का माध्यम बन जाते हैं, (**निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्** -गीता-11.33) २. वास्तविकता यही है कि संसार में सारे उत्तम कर्म उस प्रभु द्वारा सम्पन्न हो रहे हैं (जीव माध्यम-मात्र है, परन्तु अज्ञानवश हमें उन उत्तम कर्मों का गर्व हो जाता है और यह गर्व ही उन कर्मों की उत्तमता को समाप्त कर देता है। **'दानं दमश्च यज्ञश्च'** इन शब्दों में यज्ञ दैवीसम्पत्ति में परिगणित हुआ है। यज्ञ देवों में ही होता है (परन्तु यही यज्ञ

अभिमानयुक्त होकर किया जाने पर आसुर हो जाता है, असुर उन यज्ञों का गर्व करते हैं और कहते हैं कि **'यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः'** यज्ञ करूँगा-खूब (यश मिलेगा, अतः) आनन्द होगा, इस प्रकार ये असुर आत्मकर्तृत्व के अज्ञान से मूढ बने रहते हैं। **'यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्'** (गीता)-ये असुर केवल नाम के लिए दम्भपूर्वक यज्ञों का ढोंग करते हैं। देव यज्ञ करते हैं और उसे प्रभु-समर्पण कर देते हैं- **'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत् तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्'** (गीता)-देव सब क्रियाओं को प्रभु-अर्पण करके कर्तृत्व के अहंकार से बचे रहते हैं। इस प्रकार निर्मम व निरहंकार होकर ही वे प्रभु को प्राप्त करते व शान्त जीवन वाले होते हैं- **'निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति'** (गीता)।

भावार्थ- हमारा जीवन यज्ञमय हो और हम उन सब यज्ञों को प्रभु से होता हुआ जानें। उत्तम कर्म करें, परन्तु उनका गर्व न हो। यही 'देव' बनने का मार्ग है।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरा गमत्॥५॥

होता-(जो देवों को) आहूत करने वाले, या होम के निष्पादक, **कविक्रतुः**-क्रान्तकर्मा, (अर्थात् अतीत एवं अनागत कर्मो को जानने वाले या करने वाले), **सत्यः**-मिथ्या रहित, (अतएव निश्चित रूप से फलों को देने वाले) **चित्रश्रवस्तमः**-विविध (प्रकार की) कीर्ति से युक्त (और), **देवः**-देव स्वरूप (हैं), **अग्निः**- (वह तेजस्वी) अग्नि, **देवेभिः**-(अन्य) देवताओं के साथ, **आ गमत्**-(इस यज्ञ में) आवे।

१. गतमन्त्र की भावना को प्रकट करते हुए कहते हैं कि **अग्निः**=सबको गति देने वाले वे प्रभु ही **होताः**=सब यज्ञों के करने वाले हैं। प्रभु कृपा से ही हम उन यज्ञों के माध्यम बनते हैं और उन यज्ञों को पूर्ण होता हुआ देखते हैं। सृष्टि-यज्ञ के होता तो वे सर्वमहान् प्रभु स्पष्ट ही हैं। २. **कविक्रतुः**=क्रान्तदर्शी होते हुए वे सब कर्मो के करने वाले हैं (कविः क्रान्तदर्शी), इसीलिए उनके सृष्टि आदि कर्मो में अपूर्णता नहीं है **'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'**=प्रभु पूर्ण हैं, अतः यह सृष्टियज्ञ पूर्ण होना ही था। हमें अज्ञानवश कई बार इस सृष्टि में कई न्यूनताएँ प्रतीत होने लगती हैं। भूकम्प आदि का आना घातक लगता है। शरीर में कई ग्रन्थियाँ (gland) निष्प्रयोजन प्रतीत होती हैं। कितने ही प्राणियों व पौधों का उपयोग हमें अज्ञात है, परन्तु जितना-जितना हमारा ज्ञान बढ़ता जाएगा, उतना-उतना हमें संसार पूर्ण प्रतीत होगा। ३. **सत्यः**=वे प्रभु सत्य हैं-सत्यस्वरूप हैं अथवा **'सत्सु भवः'**=सज्जनों में उनका निवास है। सर्वव्यापकता के नाते सर्वत्र होते हुए भी वे सज्जनहृदयों में प्रकाशित होते हैं। ३. **चित्रश्रवस्तमः**=(चित् र) वे प्रभु सृष्टि के आरम्भ में वेदज्ञान देने वाले हैं। ज्ञान देने का उनका प्रकार भी अद्भुत है। हृदयस्थ होते हुए वे बिना किसी प्रयास के पवित्र हृदयों को प्रकाशित कर देते हैं। वे प्रभु **श्रवस्तमः**=अत्यन्त कीर्तिमान् हैं अथवा वे प्रभु सर्वाधिक ज्ञानवाले हैं (श्रवस्=श्रुति, ज्ञान), निरतिशय ज्ञान के अधिष्ठान ब्रह्म ही तो हैं। ५. (क) वे **देवः**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज, ज्योतिर्मय प्रभु **देवेभिः**=देवताओं के साथ **आगमत्**=आते हैं अर्थात् हृदय में प्रभु का वास होने पर सब दिव्यगुण हममें स्वतः प्रादुर्भूत हो जाते हैं। (ख) अथवा **देवेभिः**=दिव्यगुणों के द्वारा **देवः**=वे प्रभु हममें **आगमत्**=आते हैं, अर्थात् प्रभु-प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम अपने आचरण को देव-सदृश बनाएँ-हमारे व्यवहार असुरों-जैसे न हों। हम जितना-जितना दिव्यता को अपनाएँगे उतना-उतना प्रभु के समीप होते जाएँगे।

भावार्थ- वे प्रभु 'अग्नि-होता-कविक्रतु-सत्य-चित्रश्रवस्तम व देव' हैं। वे प्रभु दिव्यगुणों के धारण के द्वारा प्राप्त होते हैं, अथवा जितना-जितना हम प्रभु को धारण करने का प्रयत्न करते हैं, उतना-उतना हम दिव्यगुणों वाले बनते जाते हैं।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः॥६॥

अङ्गअग्ने-हे प्रिय अग्ने!, **यत्**-जो, **त्वम्**-आप, **दाशुषे**-हवि का दान करने वाले (यजमान) के लिए, **भद्रम**-(वित्त, गृह, प्रज्ञा एवं पशु रूप) कल्याण, **करिष्यसि**-करते हो, **तत्**-वह (कल्याण), **तव इत्**-आपका ही (है), **अङ्गिरः**-हे अङ्गार रूपी अग्नि देवता! (अथवा) हे अङ्गिरा मुनि को जन्म देने वाले अग्नि देवता!, **सत्यम्** (यह) सत्य (ही) है, (अर्थात्) इसमें कोई सन्देह नहीं है)

१. हे अङ्ग=सम्पूर्ण वस्तुओं को प्राप्त कराने वाले प्रभो! (अगि गतौ-गति=प्राप्ति) **अग्ने**=सबके अग्रणी प्रभो! आप **यत्**=जो यह नियम करते हैं कि **दाशुषे**=दाश्वान् (दाशृ दाने) के लिए, देने वाले के लिए अथवा आपके प्रति अपना अर्पण करने वाले के लिए [वस्तुतः धन को देकर ही तो हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं, Mammon (धनदेव) व God (महादेव) दोनों की उपासना इकट्ठे थोड़े हुआ करती है! इस दाश्वान् के लिए] **त्वम्**=आप **भद्रम्**=कल्याण को **'यद्वै पुरुषस्य वित्तं तद् भद्रं गृहा भद्रं प्रजा भद्रं पशवो भद्रम्'**=वित्त-गृह-पशुरूप भद्र को **करिष्यसि**=करेंगे **तव**=आपका **तत्**=यह नियम **इत्**=निश्चय से **सत्यम्**=सत्य है और

इस नियम के द्वारा उस दाश्वान् के अंग-प्रत्यंगों में रस का-जीवनीशक्ति का संचार करते हुए आप सचमुच **'अंगिरः'**=(अंगिरस्) अंगों में रस का संचार करने वाले हैं, जीवन देने वाले हैं। २. एक बालक माता-पिता के प्रति अपना अर्पण कर देता है-अपनी इच्छा को उनकी इच्छा में मिला देता है तो माता-पिता उसका अधिक ध्यान करते हैं और उसका उत्तम निर्माण करते हैं। इसी प्रकार जब एक दाश्वान् पुरुष प्रभु के प्रति अपने को अर्पित कर देता है तो प्रभु का वह अधिक प्रिय होता है और प्रभु उसे सब आभ्युदयिक वस्तुएँ प्राप्त कराते हैं। जीव की अल्पज्ञता से जीवन द्वारा धारण किया गया ऐसा कोई व्रत टूट भी जाए, तदपि परमात्मा का व्रत उसके पूर्ण ज्ञान के कारण टूट नहीं जाता। जीव अल्पज्ञता से कोई गलत वस्तु भी दे देता है, परन्तु प्रभु ठीक ही वस्तु देते हैं।

भावार्थ-प्रभु दाश्वान् का कल्याण करते हैं-यह उनका सत्य व्रत है।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम्।
नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि॥७॥

अग्ने-हे अग्ने!, **वयम्**-हम (याज्ञिक अनुष्ठान करने वाले) लोग, **दिवेदिवे**-प्रतिदिन (और), **दोषावस्तः**-रातदिन, **धिया**-बुद्धि से बुद्धिपूर्वक, (आपको), **नमः**-नमस्कार, **भरन्तः**-करते हुए, **त्वा**-आपके, **उप**-समीप, **एमसि**-आते हैं।

१. गतमन्त्र में वर्णित समर्पण को ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि-हे **अग्ने**=हमें सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराने वाले प्रभो! **वयम्**=हम **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **दोषावस्तः**=रात्रि और दिन, अर्थात् प्रातः सन्धि वेला और सायं सन्धिवेला में **धिया**=बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा **नमः भरन्तः**=पूजा को प्राप्त करते हुए (**स्वकर्मणा तमभ्यर्च**-गीता २८।४६) **त्वा**, **उप**=आपके समीप **एमसि**=(आ इमसि) सर्वथा प्राप्त होते हैं। २. प्रतिदिन प्रातः-सायं प्रभु-चरणों में उपस्थित होना मानव के लिए इसलिए आवश्यक है कि इससे (क) पवित्रता की भावना बनी रहती है (ख) शक्ति का सञ्चार होता है (ग) जीवन का उद्देश्य धन ही नहीं बनता और परिणामतः पारस्परिक प्रेम विनष्ट नहीं होता। ३. वस्तुतः जैसे शरीर के लिए भोजन है, जैसे मस्तिष्क के लिए स्वाध्याय है, उसी प्रकार हृदय के लिए यह 'दैनिक ध्यान' है। जैसे भोजन के बिना शरीर निर्बल होकर रोगाक्रान्त हो जाता है, स्वाध्याय के बिना मस्तिष्क दुर्बल होकर ठीक विचार नहीं कर पाता, उसी प्रकार उपासना के बिना हृदय मलिन होकर वासनाओं से अभिभूत हो जाता है। ४. भोजन शरीर को सबल बनाता है, स्वाध्याय मस्तिष्क को तथा उपासना हृदय को बलवान् बनाने के लिए आवश्यक है।

भावार्थ- हम प्रतिदिन प्रातः-सायं प्रभु का उपासन करने वाले बनें। दिनभर प्रज्ञापूर्वक कार्यों को करते हुए हम उन्हें प्रभु-चरणों में अर्पित करें। प्रातः शक्ति की याचना करें कि हम प्रज्ञापूर्वक कर्मों को करने वाले बन पाएँ।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**यवमध्या विराड्गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

राज॑न्तमध्व॒राणा॑ गो॒पामृ॒तस्य॒ दीदि॑विम्। वर्ध॑मानं॒ स्वे दमे॑॥८॥

राजन्तम् दीप्यमान्, **अध्वराणाम्**-(राक्षसादि के द्वारा की जाने वाली) हिंसा से रहित यज्ञों के, **गोपाम्**-रक्षक, **ऋतस्य**-(अटल) सत्य के या अवश्यम्भावी कर्म-फल के, **दीदिविम्**-पुनः पुनः प्रकाशित करने वाले, **स्वे**-अपने, **दमे**-घर में अर्थात् यज्ञशाला में, **वर्धमानम्**-(हविष्य के निक्षेप से) बढ़ने वाले (जो पूर्वमन्त्रोक्त-अग्नि देव हैं, उनको हम नमस्कार करते हुए समीप आते हैं।)

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रतिदिन प्रातः-सायं प्रभु के समीप उपस्थित होने से हम प्रभु-दर्शन के योग्य बनेंगे और देखेंगे कि वे प्रभु **राजन्तम्**=(राजृ दीप्तौ) देदीप्यमान हैं, आदित्यवर्ण हैं, सहस्रों सूर्यों की दीप्ति के समान उनकी दीप्ति है तथा (राज to regulate) वे प्रभु ही सारे संसार को व्यवस्थित कर रहे हैं। उस प्रभु के प्रशासन में ही ये सब ग्रह-नक्षत्र व नदियाँ गति कर रही हैं २. **अध्वराणां गोपाम्**=वे प्रभु ही सब हिंसा रहित यज्ञों के रक्षक हैं। प्रभु की कृपा से ही सब उत्तम कार्य पूर्ण हुआ करते हैं। 'विजय-मात्र' उस प्रभु की कृपा का ही परिणाम है। ३. **ऋतस्य दीदिविम्**=सत्य के प्रकाशक हैं। वेदज्ञान द्वारा प्रभु ने सब सत्य विद्याओं का प्रकाश किया है, हमारे सत्य कर्तव्यों का उन वेदों में प्रतिपादन किया है। ४. वे प्रभु **स्वे दमे**=अपने स्थान में अथवा अपने पूर्ण दान्तरूप में (दमन में) **वर्धमानम्**=सदा से बढ़े हुए हैं। वस्तुतः वृद्धि दमन के अनुपात में होती है, जितना दमन उतनी वृद्धि। आदमी तो आदमी बनता ही दमन से है। हम इन इन्द्रियों को वश में करते हैं, मन का दमन करते हैं और वृद्धि को प्राप्त करते हैं। प्रभु में दमन की पराकाष्ठा है, अतः वृद्धि की भी वहाँ चरम सीमा है। ५. प्रभु को इस रूप में देखकर स्तोता को भी ध्यान आता है कि वह (क) ज्ञान से देदीप्यमान बनने का प्रयत्न करे-अपने जीवन को नियमित बनाये। (ख) उसका जीवन सदा यज्ञमय हो। (ग) सत्य के प्रकाश को देखने के लिए यत्नशील हो। (घ) मन व इन्द्रियों के दमन से शक्तियों की वृद्धि करने वाला हो।

भावार्थ- प्रभु देदीप्यमान, यज्ञों के रक्षक, ऋत के प्रकाशक व सदा से बढ़े हुए हैं। हम भी अपने जीवन को इसी प्रकार का बनाने

का प्रयत्न करें।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**।।देवता-**अग्निः**।।छन्दः-**विराड्गायत्री**।। स्वरः-**षड्जः**।।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये।।९।।

अग्ने-हे अग्ने, (पूर्व मन्त्रोक्त गुणों से प्रसिद्ध या युक्त) वह, (आप), **नवे**-पुत्र के लिए, **पिता**-पिता (की), **इव**-तरह, **नः**-हम लोगों के लिए, **सूपायनः**-सुप्राप्य या कल्याण करने वाले, **भव**-होइए (और), **नः**-हम लोगों के, **स्वस्तये**-कल्याण के लिए, **सचस्व**-संग रहिए या सहायक होइए।

१. गतमन्त्र के अनुसार स्तोता प्रभु-दर्शन करता हुआ कहता है कि हे **अग्ने**=हमारी उन्नतियों के साधक प्रभो! **सः**=वह आप **नः**=हमें, **सूनवे पिता इव**=पुत्र के लिए पिता की भाँति, **सूपायनः**=(सु+उप-अयनः) सुगमता से समीप होने वाले, **भव**=होओ। पुत्र को पिता से भय नहीं लगता, वहाँ वह प्रेम का अनुभव करता है और निःशंक होकर पिता की गोद में पहुँचने की करता है। इसी प्रकार हम भी आपकी गोद में आ सकें। (सु-उपायन) पिता-पुत्र के लिए उत्तमोत्तम उपहार प्राप्त कराता है, आप भी हमें जीवन में उन्नति के लिए आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराइए। वस्तुतः आप तो प्राप्त कराते ही हैं, हम भी उन वस्तुओं का ठीक-ठीक प्रयोग करने वाले बनें। २. हे प्रभो! सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराके **नः**=हमें **स्वस्तये** (सु-अस्ति)=कल्याण के लिए, उत्तम स्थिति के लिए, **सचस्व**=संगत कीजिए। इन वस्तुओं का ठीक प्रयोग कर हम उन्नति को प्राप्त हों अथवा आप हमें प्राप्त होओ ताकि हमारी उत्तम स्थिति बनी रहे। प्रभु से दूर होते ही हम प्रायः मार्ग-भ्रष्ट हो जाते हैं। प्रभु-स्मरण जीवन की घड़ियों को पथभ्रष्ट (Derailed) नहीं होने देता। जैसे पिता की दृष्टि में रहने वाले बालक का आचरण ठीक बना रहता है, उसी प्रकार प्रभु के सामीप्य में हमारा जीवन उत्तम मार्ग में ही स्थित रहता है।

भावार्थ-प्रभु हमारे लिए उसी प्रकार सुगमता से प्राप्त होने योग्य हों जैसे पिता पुत्र के लिए। प्रभु के साथ हमारा मेल हो ताकि हमारी जीवन-स्थिति उत्तम बनी रहे।

विशेष-सम्पूर्ण सूक्त का सार प्रथम व अन्तिम मन्त्र से स्पष्ट है। जीव प्रभु की उपासना करता है-(अग्निमीळे) और चाहता है कि उसके लिए इस प्रकार सुगमता से प्राप्त होने योग्य हों जैसे पुत्र के लिए पिता।

5 अंक के प्रश्न-

1. अग्नि सूक्त का प्रथम मंत्र लिखिए।
2. अग्नि को 'पुरोहित' क्यों कहा गया है?
3. कंठपाठ का महत्व बताइए।
4. अग्नि सूक्त का मुख्य विषय क्या है?
5. अग्नि का वैदिक महत्व लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. अग्नि सूक्त का भावार्थ लिखिए।
2. अग्नि सूक्त की व्याख्या कीजिए।
3. वैदिक यज्ञ में अग्नि की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
4. कंठपाठ की परंपरा एवं उपयोगिता का वर्णन कीजिए।
5. अग्नि सूक्त के आध्यात्मिक महत्व पर प्रकाश डालिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. अग्नि सूक्त का प्रथम शब्द क्या है?

(क) वायु

(ख) अग्नि

(ग) इन्द्र

(घ) वरुण

उत्तर - (ख)

2. अग्नि को क्या कहा गया है?

(क) पुरोहित
(ख) देवदूत
(ग) यज्ञवाहक
(घ) उपर्युक्त सभी
उत्तर - (घ)

3. अग्नि सूक्त किस वेद में है?
(क) ऋग्वेद
(ख) सामवेद
(ग) अथर्ववेद
(घ) यजुर्वेद
उत्तर - (क)

4. कंठपाठ का उद्देश्य क्या है?
(क) स्मरणशक्ति बढ़ाना
(ख) व्यापार
(ग) युद्ध
(घ) मनोरंजन
उत्तर - (क)

5. अग्नि किसका प्रतीक है?
(क) ऊर्जा
(ख) प्रकाश
(ग) शक्ति
(घ) उपर्युक्त सभी
उत्तर - (घ)

स्मरणीय बिंदु-

1. अग्नि सूक्त ऋग्वेद का प्रथम सूक्त है।
2. अग्नि यज्ञ एवं ऊर्जा का प्रतीक है।
3. कंठपाठ वैदिक परंपरा की महत्वपूर्ण विधि है।

शब्दावली-

शब्द	**अर्थ**
अग्नि	ऊर्जा एवं यज्ञ का देवता
पुरोहित	यज्ञ कराने वाला
कंठपाठ	याद करके पाठ करना
यज्ञ	वैदिक अनुष्ठान
व्याख्या	अर्थ स्पष्ट करना

इकाई-3.4 वायु सूक्त कण्ठपाठ अभ्यास एवं अर्थ सहित व्याख्या

उद्देश्य-

1. विद्यार्थी वायु सूक्त का कंठस्थ अभ्यास करेंगे।
2. वायु सूक्त का अर्थ एवं महत्व समझेंगे।
3. प्राण एवं वायु तत्व की वैदिक अवधारणा को जानेंगे।

वायुसूक्तम्

ऋ. मं १ सू २ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ऋषिः।
वायुः, इन्द्रवायू, मित्रावरुणौ देवताः। गायत्री छन्दः।

ओ३म् वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः।
तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥१॥

दर्शत-हे दर्शनीय, **वायो**-वायो!, **आ याहि**-(इस याज्ञिक कर्म में) आइये, **इमे**-(क्योंकि) ये, **सोमाः**- सोम (अर्थात् सोम नामक लता विशेष के रस से निर्मित सोमरस), **पाहि**-पान करिए, (और इसी सोम-रस-पान के निमित्त), **अरं-कृता**-(आपके लिए) निचोड़े गये हैं या तैयार कर रखें गये हैं, **तेषां**-उनका (अर्थात् उस सोमरस के एक भाग का जो वायु देवता के लिए निर्दिष्ट है), **हवम्**-(हम लोगों के आह्वान को **श्रुधि**-सुनिए)।

१. पिछले सूक्त में प्रभु का नाम 'अग्नि' था। वह शब्द 'अगि गतौ' से बना था। यहाँ 'वायु' शब्द 'वा गतौ' से बनकर प्रभु का प्रतिपादन कर रहा है। प्रभु गति के द्वारा (वा गतिगन्धनयोः) सब बुराइयों का **गन्धन**=हिंसन कर रहे हैं। वस्तुतः गति ही बुराई को समाप्त करने वाली है। हे **वायो**=गति द्वारा दुरितों का विध्वंस करने वाले प्रभो! **आयाहि**=आप आइए, हमारे हृदय-आसन पर बैठिए। २. **दर्शत**=आप सचमुच दर्शनीय हैं। **हे दर्शत**=दर्शनीय प्रभो! मैं तो यही चाहता हूँ कि मेरा हृदय आपका प्रतिभान हो और वहाँ मैं आपके दर्शन करता रहूँ। आपकी दृष्टि से मैं कभी ओझल न हो जाऊँ, सदा आपकी कृपादृष्टि का पात्र बना हुआ मैं पवित्र बना रहूँ। ३. आपके दर्शन के लिए ही **इमे सोमाः**=ये सोमकण **अरंकृताः**=(अरं वारण=रोकना) रोके गये हैं-शरीर में ही इनका निरोध किया गया है। शरीर में निरुद्ध हुए-हुए ये सोमकण ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। दीप्त ज्ञानाग्नि हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है (दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः। -कठ० १।३।१२) ४. वस्तुतः उन सोमकणों की रक्षा भी तो आपके स्मरण से ही होती है; अतः **तेषां पाहि**=उन सोमकणों की आप रक्षा कीजिये। हृदय में आप होंगे तो 'काम' न होगा। जहाँ महादेव वहाँ कामदेव भस्म हो ही जाते हैं। यह काम ही तो सोम के संयम में बाधक था। यह गया और सोमकण शरीर में निरुद्ध हुए। ५. **हे वायो**=आप **हवम् श्रुधि**=हमारी इस प्रार्थना व पुकार को अवश्य सुनिए। **इमे सोमा अरंकृताः**=इस वाक्य का यह अर्थ भी है कि ये सौम्यता से सम्पन्न आपके भक्त विद्यादि गुणों से अलंकृत हुए हैं। **तेषां पाहि**=इनकी आपने ही तो रक्षा करनी है। हम सौम्य बनें, सद्गुणों से अलंकृत हों और उस प्रभु से प्राप्त होने वाली रक्षा के पात्र बनें।

भावार्थ-हम शरीर में सोमकणों की रक्षा करें, ये ही हमारे जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करेंगे और हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाएँगे।
ऋषिः-**मधुच्छन्दाः॥ देवता-वायुः॥** छन्दः-**पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री॥** स्वरः-**षड्जः॥**

वायव उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः।
सुतसोमा अहर्विदः॥२॥

वायो- हे वायो!, **त्वाम्**- आपको, **अच्छा**- अभिलक्ष्य कर, **सुतसोमाः**-सोमरस निचोड़ने वाले, **अहर्विदः**-दिन का ज्ञान रखने वाले (एक दिवसीय निष्पाद्य अग्निष्टोम आदि यज्ञों मे प्रचलित वैदिक व्यवहार या प्रथा को जानने वाले), **जरितारः**-स्तोत्र-पाठक (या ऋत्विक् यजमान लोग), **उक्थेभिः**-स्तोत्रों से, **जरन्ते**-स्तुति (गान) करते हैं।

१. हे **वायो**=गति के द्वारा सब दुरितों को दूर करने वाले प्रभो! पिछले मन्त्र के वर्णन के अनुसार सोमकणों का शरीर में ही संयम करने वाले व्यक्ति **उक्थेभिः**=स्तोत्रों के द्वारा **जरन्ते**=आपका स्तवन करते हैं। जहाँ प्रभु का स्तवन होता है, वहाँ ही तो आसुर वृत्तियाँ नहीं पनप पातीं। प्रभु-स्तवन की भूमि वासनाओं के लिए ऊसर होती है। २. **जरितारः**=ये स्तोता लोग **त्वाम् अच्छा**=आपकी ओर बढ़ते हैं। इनकी भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति कम और कम हो जाती है, परिणामतः ये आपके समीप होते जाते हैं। २. इस

आपके सान्निध्य के कारण ही ये **सुतसोमाः**=सोम का सवन और उत्पादन करने वाले बनते हैं। अपने शरीर में इन सोमकणों को ये सुरक्षित कर पाते हैं। ४. सोमकणों का उत्पादन करते हुए ये (क) **अहर्विदः**=(अहन्=दिन) समय को समझने वाले हैं। यौवन में जैसी इन सोमकणों की उत्पत्ति होती है, वैसी वार्द्धक्य में न होगी-इस बात को समझते हुए ये यौवन में ही सोम की रक्षा करने वाले बनते हैं। (ख) '**अहर्विदः**=शब्द का अर्थ एक दिन में ही पूर्ण हो जाने वाले यज्ञों का 'अहः' नाम मानकर यह भी किया जा सकता है कि सुतसोम व्यक्ति यज्ञों के अभिज्ञ होते हैं और यज्ञमय जीवन बिताने का प्रयत्न करते हैं। अयज्ञिय, अपवित्र भावनाओं से बचे रहने का यही तो सर्वोत्तम साधन है।

भावार्थ- हम वायु नाम से प्रभु का स्मरण करें, प्रभु की ओर चलें, सोमकणों का सवन व उत्पादन करें और उनकी रक्षा के समय को समझें। हमारा जीवन यज्ञों से परिचय वाला हो ताकि अयज्ञिय भावनाओं से हम बचे रहें।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**वायुः**॥ छन्दः-**गायत्री** ॥ स्वरः-**षड्जः**॥

वायो तव प्रपृञ्चती धेना जिगाति दाशुषे।
उरूची सोमपीतये॥३॥

वायो-हे वायो!, **प्रपृञ्चति**-(सोम से) सम्पर्क करने वाली (या सोम के गुणों का वर्णन करने वाली, और), **उरूची**-(एक ही समय में) अनेक यजमानों के पास जाने वाली, **तव**-आपकी, **धेना**-वाणी, **सोमपीतये**-सोम-पान के निमित्त, **दाशुषे**-दाता या यजमान के पास **जिगाति**-यह कहने के लिए जाती है कि यजमान! तुम्हारे द्वारा दिये गये सोम का मैं (वायु) पान करूँगा।

१. हे **वायो**=(गति, ज्ञान) सम्पूर्ण ज्ञानों के भण्डार व सम्पूर्ण ज्ञानों को देने वाले प्रभो! **तव**=आपकी **धेना**=वेदवाणी **दाशुषे**=समर्पण करने वाले के लिए **जिगति**=प्राप्त होती है। वस्तुतः अध्यापक से दिया जाता हुआ ज्ञान उसी विद्यार्थी को प्राप्त होता है जो कि अध्यापक के प्रति अपना अर्पण करता है, जिसका सारा कार्यक्रम अध्यापक के निर्देश के अनुसार चलता है। हमारा जीवन प्रभु के निर्देश के अनुसार चलेगा तो हमें भी प्रभु से दिया जाता हुआ ज्ञान प्राप्त होगा। २. वह वेदज्ञान कैसा है, इसका प्रतिपादन धेना के दो विशेषणों के द्वारा यहाँ किया जा रहा है-(क) **प्रपृञ्चती**=प्रकृष्ट सम्पर्क को उत्पन्न करने वाली यह वेदवाणी है, अर्थात् इसके अध्ययन से हमें वह ज्ञान प्राप्त होता है जो हमें भौतिकता की ओर झुकाव वाला न बनाकर प्रभु के सम्पर्क वाला बनाता है। (ख) **उरूची**=(उरु अञ्ज) विशाल प्रदेशों में गतिवाली है। ऋग्वेद यदि प्राकृतिक विज्ञानों (Natural Sciences) का मुख्यतः प्रतिपादन करता है तो यजुर्वेद कर्मवेद है। यह मनोविज्ञान व सामाजिक विज्ञानों का प्रतिपादक है। साम अध्यात्मशास्त्र (Metaphysics) को लेता है और अथर्व युद्ध-विद्या व आयुर्वेद (Science of War तथा Science of Medicine) को अपना विषय बनाता है। इस प्रकार यह वेदवाणी सचमुच उरूची है। ३. इस वेदवाणी के पठन से जहाँ हमारा ज्ञान बढ़ता है वहाँ यह **सोमपीतये**=सोम की पीति के लिए होती है, इसके स्वाध्याय से शरीर में सोम का रक्षण होता है। यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और इस प्रकार उचित व्यय होकर यह हमारे विकास में सहायक होता है। एवं स्वाध्याय सोमपान में सहायक होता है। सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और तीव्रबुद्धि बनकर हम अधिक ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं। एवं, हमारे शरीर में सोमपान व स्वाध्याय का परस्पर भावन चलता है। स्वाध्याय से सोम की रक्षा होती है, सोमरक्षण से स्वाध्याय की योग्यता बढ़ती है।

भावार्थ-वेदवाणी प्रभु के प्रति समर्पण करने वाले को प्राप्त होती है। यह प्रभु-सम्पर्क को बढ़ाती है, व्यापक ज्ञान को देती है। सोमपान के लिए-शरीर में शक्ति को सुरक्षित करने के लिए यह स्वाध्याय सहायक है।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**इन्द्रवायू**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरा गतम्।
इन्दवो वामुशन्ति हि॥४॥

इन्द्रवायू-हे इन्द्र और वायु!, **इमे**-ये, **प्रयोभिः** (इसीलिए आप दोनों) तृप्तिदायक अन्न के साथ, **उप आ गतम्**- (हम लोगो के) समीप आवें, **सुताः**-निचोड़े हुए (सोमरस हैं), **हि**-क्योंकि, **इन्दवः**-(ये) सोमरस, **वाम्**-आप दोनों को, **उशन्ति**-चाहते हैं।

१. **इन्द्रवायू**=(इन्द्रश्च वायुश्च) इन्द्र 'जितेन्द्रिय' पुरुष है, इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। ऐसा बनने के लिए ही यह **वायु**=सतत क्रियाशील हुआ है। जितेन्द्रिय बनके यह क्रियाशीलता से सब बुराइयों का संहार करता है। प्रभु इनसे कहते हैं कि **इन्द्र-वायू**=हे जितेन्द्रिय व क्रियाशील पुरुषों! **इमे सुताः**=ये सोम तुम्हारे लिए उत्पन्न किये गये हैं, इनके रक्षण से ही तुम्हें इस जीवन में उन्नति को सिद्ध करना है। २. इनका रक्षण करते हुए **प्रयोभिः**=पयस् विवक सात्त्विक भोजन, Pleasure, delight मनः प्रसाद, Sacrifice त्याग-सात्त्विक अन्नों के सेवन से, मनःप्रसादरूप तप के साधन से तथा त्याग की वृत्ति से **उप आगतम्**=आप मेरे समीप आओ। प्रभु प्राप्ति का

मार्ग यही है कि हम भोजन को सात्त्विक करें, मन को सदा प्रसन्न रक्खें, मन में राग-द्वेष न हो तथा लोभ के विपरीत त्याग की वृत्तिवाले बनें। ३. प्रभु कहते हैं कि **इन्दवः**=सुरक्षित हुए-हुए ये सोमकण **वाम्**=आप दोनों की-इन्द्र व वायु की **हि**=निश्चय से **उशन्ति**=कामना करते हैं, अर्थात् सुरक्षित हुए-हुए ये सोमकण मनुष्य को 'इन्द्र व वायु' बनाते हैं, इन्हीं के कारण ज्ञानाग्नि प्रदीप्त होती है, बुद्धि सूक्ष्म बनती है और हम ज्ञानरूप परमैश्वर्य से दीप्त होने वाले 'इन्द्र' बनते हैं और इन्हीं की सुरक्षा से हमारे जीवन में रोग नहीं आ पाते और हम क्रियाशील बने रहते हैं।

भावार्थ- गतमन्त्र के अनुसार हम स्वाध्याय के द्वारा सोम का रक्षण कर पाते हैं। यह सुरक्षित सोम हमें ज्ञानरूप परमैश्वर्य की प्राप्ति कराता है तथा सदा गतिशील बनाये रखता है।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**इन्द्रवायू**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

वायविन्द्रश्च चेतथः सुतानां वाजिनीवसू।
तावा यातमुप द्रवत्॥५॥

वायो-हे वायो!, **च**- और, **इन्द्रः**- इन्द्र! (आप दोनों), **सुतानाम्**- सोम-रस की (विशेषताओं को), **चेतथः**-जानते हो (और), **वाजिनीवसू**-अन्न तथा धन से सम्पन्न हो, **तौ**-(उक्त गणों से युक्त) आप दोनो, **द्रवत्**-शीघ्रतापूर्वक (इस यज्ञ-कर्म के), **उप**-समीप, **आ यातम्**-आइए।

१. पिछले मन्त्र में 'इन्द्रवायू' इस प्रकार इन्द्र का पहले और वायु का पीछे उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में 'वायो इन्द्रः च' इन शब्दों में वायु को पहले रक्खा है और इन्द्र को पीछे। यह केवल इसीलिए कि 'वायु व इन्द्र' दोनों का समान महत्त्व समझा जाए। जितना क्रियाशीलता का महत्त्व है उतना ही महत्त्व जितेन्द्रियता का भी है। साथ ही इन दोनों में कार्य-करणभाव भी इस प्रकार है कि क्रियाशीलता जितेन्द्रियता के लिए सहायक है और जितेन्द्रिय पुरुष क्रियाशील होता है। शक्ति-सम्पन्न होने के कारण उसे कर्म में आनन्द आता है। हे **वायो**=क्रियाशील पुरुष! तू और **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **सुतानाम्**=शरीर में उत्पन्न किये गये इन सोमों का **चेतथः**=संज्ञान प्राप्त करते हो, तुम इनके महत्त्व को समझते हो और इसीलिए इनकी रक्षा के लिए सदा सचेत रहते हो। २. इस सचेत रहने में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि तुम **वाजिनीवसू**=(वाजिनी=उषः-नि०) उषःकालरूप धनवाले बनते हो। इस उषःकाल में तुम सोये नहीं रह जाते। ब्रह्मचर्य के दृष्टिकोण से यह बात बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यही समय ब्रह्ममुहूर्त भी कहलाता है। यह समय प्रभु से मिलने का समय होता है, इस समय सोये रह जाना कितने महान् धन का विनाश है! यह काल तो (उष दाहे) सब बुराइयों का दहन कर देने वाला है। इस समय जागकर उत्तम कर्मों में निवास करना, सन्ध्या-स्वाध्याय आदि में लगे रहना ही ठीक है। ३. प्रभु इन उषःकालरूप धनवाले वायु व इन्द्र से कहते हैं कि तौ=वे तुम दोनों **द्रवत्**=शीघ्रता से दौड़ते हुए **उप आयतम्**=मेरे समीप आ जाओ। उषःकाल में जागने वालों को अवश्य प्रभु-प्राप्ति होती है। प्रसंगवश ब्रह्मचर्य में यह उषःजागरण सहायक होता है और इस प्रकार इसका महत्त्व अत्यन्त बढ़ जाता है।

भावार्थ- हमें सोम की रक्षा के महत्त्व को समझना चाहिये। हम प्रातःकाल जागरण के अभ्यासी बनें और प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**इन्द्रवायू**॥ छन्दः-**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

वायविन्द्रश्च सुन्वत आ यातमुप निष्कृतम्।
मक्ष्वीत्था धिया नरा॥६॥

वायो-हे वायो!, **च**-और, **इन्द्रः**-इन्द्र (आप दोनों), **सुन्वतः**-निचोड़े जाने वाले (अथवा सोम-रस निचोड़ने वाले यजमान के), **निष्कृतम्**-निष्कृत सोम के, **उप**-समीप, **आ यातम्**- आइए (क्योंकि), **नरा**- हे (पौरुष-सामर्थ्य से युक्त) वायु और इन्द्र!, **इत्था**- इस प्रकार, **धिया**- बुद्धि पूर्वक (आप दोनों के आने से), **मक्षु**-शीघ्रतापूर्वक (संस्कार सम्पन्न हो जायेगा।)

१. गतमन्त्र के सोमरक्षण का ही प्रसंग आरम्भ करते हुए कहते हैं कि हे **वायो**=क्रियाशील पुरुष! तू **च**=और **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता, अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुष-तुम दोनों ही **सुन्वतः**=सोम का सम्पादन करने वाले के, अर्थात् सोमकणों की रक्षा से शरीर को 'ज्ञानयुक्त व अनामय', अर्थात् ज्ञानी व नीरोग बनाने वाले के **निष्कृतम्**=पूर्णरूप से संस्कृत किये हुए हृदय को, उस हृदय को जिसमें से कि सब बुराइयों को निकाल दिया गया है, ऐसे शुद्ध हृदय को **उप आयातम्**=समीपता से प्राप्त करो, अर्थात् प्रभु-उपासना करते हुए हृदय को 'निष्कृत' पूर्ण पवित्र बना पाओ। २. **इत्था**=सचमुच इस प्रकार ही तुम **मक्षु**=शीघ्र **धिया**=ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **नरा** (नृ नये)=(नेतारौ) अपने को अग्रस्थान में प्राप्त कराने वाले होओगे। आगे बढ़ने का मार्ग यही है कि हम (क) क्रियाशील व जितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करें (वायु+इन्द्र) (ख) सोम का सम्पादन करें, सोमकणों की रक्षा करें, (ग) हृदय को संस्कृत करें, प्रकाशमय बनाएँ, प्रसंगवश शरीर को भी नीरोग रक्खें, (घ) ज्ञान-पूर्वक कर्मों को करते चलें।

भावार्थ–सोमरक्षा के द्वारा सम्पूर्ण शरीर को संस्कृत करें। शरीर नीरोग हो तो मन पवित्र व प्रकाशमय बनता है। ऐसा बनकर हम ज्ञानपूर्वक कर्मों को करते चलें, यही उन्नति का मार्ग है।

ऋषिः–**मधुच्छन्दाः**॥ देवता–**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्।
धियं घृताचीं साधन्ता॥७॥

पूतदक्षम्–पवित्र बल से युक्त, **मित्रम्**–मित्र (अर्थात् सूर्य) को, **च**–और, **साधन्ता**–सम्पादित करने वाले हैं (उनको), **रिशादसम्**–हिंसकों के भक्षक, **वरुणम्**–वरुण को (जो), **घृताचीम्**–जल वर्षण रूपी, **धियम्**–कर्म को, **हुवे**–(इस यज्ञ-कर्म में हवि देने के लिए मैं) बुलाता हूँ।

१. **मित्रम्**=स्नेह के देवता को **हुवे**=मैं पुकारता हूँ, अर्थात् मैं यह अराधना करता हूँ कि मेरे हृदय में 'मित्र' का निवास हो, अर्थात् सदा स्नेह की भावना से मैं भी सभी के साथ प्रेम से वर्तने वाला बनूँ। यह स्नेह की भावना वह है जोकि **पूतदक्षम्**=हमारे बलों को पवित्र करने वाली है। स्नेह की भावना होने पर भोजन से उत्तम रस आदि धातुओं का निर्माण होता है, इस प्रकार बल की वृद्धि होती है। २. **च**=और **वरुणम्**=द्वेष-निवारण के देवता को पुकारता हूँ। मैं प्रयत्न करता हूँ कि मेरे हृदय में किसी के प्रति द्वेष न हो। यह वरुण देवता **रिशादसम्**=(रिश हिंसक, अद्=खा जाना) हिंसकों को खा जाने वाला है, अर्थात् द्वेष के न होने पर हमारा शरीर हिंसक तत्त्वों का शिकार नहीं होता। द्वेष से तो मनुष्य अन्दर-ही-अन्दर जलता चला जाता है। हृदय में द्वेष की भावना की प्रबलता के समय खाया हुआ अन्न विषों को जनम देता है, न कि रक्त आदि धातुओं को। इसी दृष्टिकोण से प्रसन्न मन से भोजन करने का महत्त्व अति स्पष्ट है। मनु लिखते हैं **'दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च'** इसी का अनुवाद इन शब्दों में किसी कवि ने किया है कि–**'अश्नीयात्तन्मना भूत्वा प्रसन्नेन मनसा सदा।'** ३. ये मित्र व वरुण, अर्थात् स्नेह व निर्देषता **घृताचीम्** (घृ=क्षरण, दीप्ति)=मलों के क्षरण व ज्ञान की दीप्ति को प्राप्त कराने वाले **धियम्**=ज्ञानपूर्वक कर्मों को **साधन्ता**=सिद्ध करते हैं। स्नेह व निर्द्वेषता जहाँ हमारे शरीरों को मलों के शोधन द्वारा शुद्ध व नीरोग बनाते हैं, वहाँ ये दोनों देव दीप्ति के द्वारा मस्तिष्क को भी उज्जवल करते हैं।

भावार्थ–स्नेह व द्वेषनिवारण के द्वारा हम अपने जीवनों को पवित्र व उज्जवल बनाएँ।

ऋषिः–**मधुच्छन्दाः**॥ देवता–**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा। क्रतुं बृहन्तमाशाथे॥८॥

मित्रावरुणौ–हे मित्र! और हे वरुण! (आप दोनों), **ऋतावृधौ**–जल, सत्य या यज्ञ से बढ़ने वाले अथवा जल, सत्य या यज्ञ को बढ़ाने वाले (और), **ऋतस्पृशा**–जल आदि युक्त हो (और), **ऋतेन**–(अवश्यंभावितया) सत्य (फल) के साथ (आप दोनों ने), **बृहन्तम्**–अङ्ग एवं उपांगों से युक्त, **क्रतुं**–(प्रवर्तमान इस सोम) याग को, **आशाथे**–व्याप्त कर लिया है।

१. गतमन्त्र के **मित्रावरुणौ**=मित्र व वरुण, स्नेह व निर्द्वेषता हमारे जीवन में **ऋतेन**=ऋत के साथ **बृहन्तं क्रतुम्**=वृद्धि के कारणभूत उत्तम कार्यों व संकल्पों को **आशाथे**=व्याप्त करते हैं। ऋत का अभिप्राय इंग्लिश के राइट (right) शब्द से आया है। 'ठीक' वह ऋत वही है जो उचित स्थान में किया जाए, अतः अभिप्राय यह हुआ कि स्नेह व द्वेषाभाव के न होने पर हममें ऋत की वृद्धि होती है, हम प्रत्येक कार्य को ठीक समय व ठीक स्थान पर ही करते हैं और इसके साथ हमारे सब कार्य वृद्धि के कारणभूत होते हैं। २. वस्तुतः ये मित्र और वरुण देव हैं ही **ऋतावृधौ**=ऋत का सदा वर्धन करने वाले तथा **ऋतस्पृशौ**=ऋतयुक्त कार्यों का ही स्पर्श करने वाले। स्नेह व निर्द्वेषता के होने पर 'अनृत' का सम्भव ही नहीं रहता, हमारे सब कार्यों में ऋत का समावेश हो जाता है। अनृत कार्यों में संकुचितता है, ऋत के कार्यों में विशालता। 'अनृत' के साथ अपवित्रता व ह्रास का सम्बन्ध है तथा ऋत पवित्र व उन्नतिशील है। ऋतवाले कार्य सदा वृद्धि के कारण बनते हैं।

भावार्थ–हम मित्र व वरुण की आराधना द्वारा ऋतयुक्त कार्यों को करते हुए वर्धमान हों, सदा वृद्धि को प्राप्त करते चलें।

ऋषिः–**मधुच्छन्दाः**॥ देवता–**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः–**गायत्री**॥ स्वरः–**षड्जः**॥

कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया।
दक्षं दधाते अपसम्॥९॥

मित्रावरुणौ–(ये दोनों) मित्र और वरुण (नामक देव), **कवि**–मनीषी, **तुविजातौ**–अनेकों के लिए (उपकार रूप से) समुत्पन्न (एवं), **उरुक्षया**–अनेकों के निवास स्थान (हैं) (और), **नः** हम लोगो के, **दक्षम्**–बल (तथा), **उपसम्**–कर्म का, **दधाते**–पोषण या वर्धन करते है।

१. मन्त्रसंख्या सात में 'मित्र व वरुण' को बलवर्धक व हिंसा का नाशक कहा था। उसी भाव को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि **मित्रावरुणा**=ये स्नेह व निर्द्वेषता **नः**=हमारे लिए **दक्षम्**=बल को तथा **अपसम्**=व्यापक व उदार कर्म को, गत मन्त्र के 'बृहत्क्रतु' को **दधाते**=धारण करते हैं। हम अपने जीवन में सदा व्यापक कर्मों को करने वाले होते हैं, जब कि हम द्वेष से ऊपर उठकर कार्य करते हैं। हमारे कर्म शक्तिशाली होते हैं, जबकि वे प्रेम से प्रेरित होते हैं। मित्र-देवता वा स्नेह हममें 'दक्ष' का धारण कराता है तो 'वरुण' निर्द्वेषता हमारे कर्मों को अपस=व्यापक (अप् व्याप्तौ) बनाती है। २. ये मित्रावरुण **कवी**=क्रान्तदर्शी हैं, हमारी बुद्धि को तीव्र बनाते हैं। यह सूक्ष्म बुद्धि ही तो हमें अन्ततः प्रभुदर्शन के योग्य बनाती है। ३. **तुविजाता**=('तुवि बहु, बहूनामुपकारकतया समुत्पन्नौ'-सायण) ये मित्र और वरुण तो मानो बहुतों के उपकारक के रूप में ही उत्पन्न हुए हैं, अर्थात् इन दो भावनाओं के होने पर इनके कार्य अधिक-से-अधिक प्राणियों का हित करने वाले होते हैं, इनके कार्य स्वार्थ के संकुचित दृष्टिकोण से न होकर परार्थ की विशाल भावना से प्रेरित होते हैं। ४. **उरुक्षया**=ये विशाल निवास वाले (क्षि निवासे) होते हैं, ये विशालता में ही निवास करते हैं, ये कभी भी संकुचित भावनाओं को अपने में उत्पन्न नहीं होने देते, परिणामतः ये विशाल गतिवाले (क्षि=गति) होते हैं, इनके कार्य उदार होते हैं।

भावार्थ-हम मित्र और वरुण की उपासना से 'कवि, तुविजात व उरुक्षय' बनें।

विशेष-इस द्वितीय सूक्त में जीव प्रभु को 'वायु' नाम से स्मरण करता हुआ प्रभु की वेदवाण ी को प्राप्त करने की कामना करता है (१-३)। प्रभु जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनने के लिए कहते हैं और सोमकणों की रक्षा का ध्यान कराते हैं (४-६)। जीव अपने जीवन में स्नेह व निर्द्वेषता का व्रत लेता है और बहुतों का उपकारक व उदार बनकर जीने का निश्चय करता है (७-९)।

5 अंक के प्रश्न-

1. वायु सूक्त का मुख्य विषय क्या है?
2. वायु को प्राण क्यों कहा गया है?
3. कंठपाठ का महत्व लिखिए।
4. वायु सूक्त में वायु का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
5. वायु सूक्त का आध्यात्मिक महत्व बताइए।

15 अंक के प्रश्न-

1. वायु सूक्त की व्याख्या कीजिए।
2. वैदिक साहित्य में वायु के महत्व का वर्णन कीजिए।
3. वायु सूक्त का भावार्थ लिखिए।
4. वायु एवं प्राण के संबंध का विवेचन कीजिए।
5. सस्वर कंठपाठ की उपयोगिता स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. वायु किसका प्रतीक है?

(क) प्राण

(ख) जल

(ग) अग्नि

(घ) पृथ्वी

उत्तर - (क)

2. वायु सूक्त में किसकी स्तुति की गई है?

(क) इन्द्र

(ख) अग्नि

(ग) वायु

(घ) सूर्य

उत्तर - (ग)

3. कंठपाठ से क्या विकसित होता है?

(क) स्मरणशक्ति

(ख) एकाग्रता

(गब) उच्चारण शुद्धि

(घ) उपर्युक्त सभी

उत्तर - (घ)

4. वैदिक दृष्टि में वायु क्या है?

(क) प्राणशक्ति

(ख) जल

(ग) अग्नि

(घ) पृथ्वी

उत्तर - (क)

5. सस्वर पाठ का मुख्य आधार क्या है?

(क) स्वर

(ख) लय

(ग) उच्चारण

(घ) उपर्युक्त सभी

उत्तर - (घ)

स्मरणीय बिंदु-

1. वायु प्राणशक्ति का प्रतीक है।
2. सस्वर कंठपाठ से स्मरणशक्ति बढ़ती है।
3. वायु सूक्त मानसिक एवं आध्यात्मिक शुद्धि का माध्यम है।

शब्दावली-

शब्द	**अर्थ**
वायु	प्राण तत्व
प्राण	जीवन शक्ति
कंठपाठ	याद करके पाठ
सस्वर	स्वर सहित
एकाग्रता	मन की स्थिरता।

खण्ड-4

इकाई-4.1 वागाम्भृणी सूक्त कण्ठपाठ अभ्यास एवं अर्थ सहित व्याख्या

उद्देश्य-

1. विद्यार्थी पुरुष सूक्त का कंठस्थ अभ्यास करेंगे।
2. पुरुष सूक्त के दार्शनिक अर्थ को समझेंगे।
3. सृष्टि एवं समाज संबंधी वैदिक विचारों का ज्ञान प्राप्त करेंगे।

वागाम्भृणीसूक्तम्

ऋ. मं १० सू १२५ वागाम्भृणी। आत्मा देवता। त्रिष्टुप, २ जगती।

ओ३म् अ॒हं रु॒द्रेभि॒र्वसु॑भिश्चराम्य॒हमा॑दि॒त्यैरु॒त वि॒श्वदे॑वैः ।
अ॒हं मि॒त्रावरु॑णो॒भा बि॑भर्म्य॒हमि॑न्द्रा॒ग्नी अ॒हम॒श्विनो॒भा ॥१॥

(अहं रुद्रेभिः वसुभिः चरामि) मैं रुद्रों और वसुओं के साथ विचरण करती हूं। **(अहं आदित्यैः उत विश्वदेवैः)** मैं आदित्य और विश्वेदेवों के साथ रहती हूं। **(अहं मित्रावरुणा उभा बिभर्मि)** मैं मित्र और वरुण को धारण करती हूँ। **(अहं इन्द्राग्नी उभा अश्विना अहम्)** मैं इन्द्र, अग्नि और दोनों अश्विनों को मैं ही धारण करती हूँ।

(१) प्रभु कहते हैं कि **अहम्**= मैं **रुद्रेभिः वसुभिः चरामि**=रुद्रों और वसुओं के साथ गति करता हूँ। **अहम्**= मैं **आदित्यैः**=आदित्यों के साथ **उत**=और **विश्वदेवैः**= सब देवों के साथ गति करता हूँ। जब कोई उपासक मुझे प्राप्त करता है तो इन सब देवों को भी प्राप्त करता है। अथवा जो इन देवों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है वही मुझे प्राप्त करता है। देवों को प्राप्त करने वाला ही तो परमदेव की प्राप्ति का अधिकारी होता है। (२) **अहम्**=मैं **मित्रावरुणा उभा**=मित्र और वरुण इन दोनों को **बिभर्मि**=धारण करता हूँ। **अहम्**=मैं **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि को धारण करता हूँ। **अहम्**=मैं **उभा अश्विना**=दोनों अश्विनी देवों को धारण करता हूँ। 'मित्र और वरुण'=स्नेह और निर्द्वेषता की देवता हैं। इन्द्र और अग्नि=शक्ति व प्रकाश के प्रतीक हैं। 'अश्विनौ'=प्राणापान हैं। इस प्रकार ११ रुद्र, ८ वसु और १२ आदित्यों के साथ दो मित्रावरुण अथवा इन्द्राग्नी वा अश्विनौ मिलकर ३३ देव प्रभु द्वारा हमारे अन्दर स्थापित होते हैं।

भावार्थ- हम प्रभु की उपासना करते हैं, प्रभु हमारे में तेंतीस देवों के साथ उपस्थित होते हैं। प्रभु की उपासना में सब देवों का उपासन हो जाता है।

ऋषिः- **वागाम्भृणी**॥ देवता- **वागाम्भृणी**॥ छन्दः-**पादनिचृज्जगती**॥ स्वरः-**निषादः**॥

अ॒हं सोम॑माह॒नस॑ं बिभर्म्य॒हं त्वष्टा॑रमु॒त पू॒षण॒ं भग॑म् ।
अ॒हं द॑धामि॒ द्रवि॑ण॒ं ह॒विष्म॑ते सु॒प्राव्ये३ यज॑मानाय सु॒न्व॒ते ॥२॥

(अहं आहनसं सोमं बिभर्मि) मैं शत्रुहन्ता सोम को धारण करती हूँ। **(अहं त्वष्टारं उत पूषणं भगं)** मैं त्वष्टा पूषा और भग को धारण करती हूँ, **(अहं हविष्मते सुप्राव्ये सुन्वते यज्ञमानाय द्रविणं दधामि)** मैं अन्नादि हविष्य पदार्थ वाले, उत्तम हविओं से देवों को तृप्त करने वाले और सोमरस अभिषन करने वाले यजमान को यज्ञफलरूप धन प्रदान करती हूं।

(१) **अहम्**= मैं **सोमम्**=उस सोम को **बिभर्मि**=धारण करती हूं, जो **आहनसम्**= शरीर के सब रोगों का हनन करने वाला है। **अहम्**=मैं **त्वष्टारम्**=निर्माण की देवता को **उत**=और **पूषणं भगम्**=पोषण के लिए आवश्यक ऐश्वर्य को धारण करता हूँ। अर्थात् मैं उपासक को उस सोम शक्ति से (=वीर्य शक्ति से) युक्त करता हूँ, जो उसके शरीर में रोगों को नहीं आने देती। मैं उस उपासक को निर्माण की वृत्तिवाला बनाता हूँ तथा पोषण के लिए आवश्यक ऐश्वर्य को धारण करता हूँ, जो उसके शरीर में रोगों को नहीं आने देती। मैं उस उपासक को निर्माण की वृत्ति वाला बनाता हूँ तथा पोषण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त कराता हूँ। (२) **अहम्**=मैं **हविष्मते**=हविष्मान् के लिए, सदा दानपूर्वक अदन करने वाले के लिए **द्रविणं दधामि**= धन का पोषण करता हूँ। उसे लोकहित के कार्यों के लिए धन की कभी कमी नहीं रहती

सुप्राव्ये=(सु+प्र+अव्) उत्तमता से उत्कृष्ट रक्षण करने वाले के लिए मैं धन का धारण करता हूँ तथा **सुन्वते**=सोमयज्ञों को करने वाले के लिए मैं धन को देता हूँ। राष्ट्र रक्षा के लिए निर्माणात्मक सब कर्म सब कर्म 'सोमयज्ञ' कहलाते हैं। इन सोम यज्ञों को करने वालों के लिए प्रभु धन की कमी नहीं होने देते।

भावार्थ- प्रभु वीर्य शक्ति को प्राप्त करा के उपासक को नीरोग बनाते हैं। निर्माणात्मक कार्यों में उसे प्रवृत्त करके पोषण के लिए पर्याप्त धन देते हैं। दानपूर्वक अदन करने वाला (हविष्मान्) उत्तम रक्षण में प्रवृत्त (सुप्रावी) यज्ञशील (यजमान) निर्माण के कार्य में लगा हुआ व्यक्ति (सुन्वन्) प्रभु के धन का पात्र होता है।

ऋषिः- **वागाम्भृणी**॥ देवता-**वागाम्भृणी**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥३॥

(अहम् राष्ट्री वसूनां संगमनी) मैं सब जगत् की स्वामिनी हूँ; धन प्रदान करने वाली हूं। **(यज्ञियानां प्रथमा चिकितुषी)** यज्ञार्ह देवों में मुख्य और ज्ञानवती हूं। **(तां भूरिस्थानात्रां भूरि आवेशन्तीं)** उस मुझको ही बहुत से रूपों में विद्यमान और सर्वत्र अन्तर्गत रहने वाली मुझको **(देवाः पुरुत्रा वि अदधुः)** देव अनेक प्रकार से प्रतिपादन-वर्णन करते हैं।

(१) **अहम्** = मैं ही **राष्ट्री** = सम्पूर्ण जगत् की शासिका ईश्वरी हूँ। **वसूनाम्** = सब वसुओं को, निवास के लिए आवश्यक धनों को **संगमनी**=प्राप्त कराने वाली हूँ। **चिकितुषी** = ज्ञानवाली मैं ही हूँ। अतएव **यज्ञियानां प्रथमा**=उपास्यों में प्रथम मैं ही हूँ। (२) **ताम्**=उस **मा**=मुझको **देवाः**=देववृत्ति के लोग **पुरुत्रा**=पालन व पूरण के दृष्टिकोण से **व्यदधुः**=धारण करते हैं। जो मैं **भूरिस्थात्राम्**=पालक व पोषक रूप में सर्वत्र स्थित हूँ तथा **भूरि-आवेशयन्तीम्**=पालक व पोषक तत्त्वों को सब जीवों में प्रवेश कराने वाला हूँ। (३) प्रभु सारे चराचर ब्रह्माण्ड के शासन करने वाले हैं (राष्ट्री)। सूर्यादि सब वसुओं को प्राप्त कराने वाले प्रभु ही हैं (संगमनी वसूनां) सूर्य में अपनी शक्ति नहीं। यह प्रभु की ही शक्ति सूर्य में काम कर रही है। प्रभु ही इनमें पालक व पोषक रूप में स्थित हैं (भूरिस्थात्राम्)। इसी प्रकार सब प्राणियों को चेतना देने वाले प्रभु ही हैं (चिकितुषी) प्रभु ही इनमें सब पोषक तत्त्वों का प्रदेश कराते हैं (भूरि आवेशयन्तीम्) वस्तुतः जड़ जगत् के द्वारा चेतन जगत् का धारण करने वाले ये प्रभु हैं।

भावार्थ- प्रभु ही सबके शासक हैं, प्रभु ही सबके आधार हैं।

ऋषिः-**वागाम्भृणी**॥ देवता-**वागाम्भृणी**॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥४॥

(यः अन्नं अत्ति यः विपश्यति यः प्राणिति यः ई उक्तम् शृणोति सः मया) जो अन्न भोग करता है, जो देखता है, जो प्राण धारण करता है और जो इस ज्ञान का श्रवण करता है, वह मेरी सहायता से यह सब करता है। और **(मां अमन्तवः ते उपक्षियन्ति)** जो मुझे मानते-जानते नहीं, वे नष्ट हो जाती है। हे **(धुत)** प्राज्ञ मित्र ! **(श्रुधि)** तू सुन। **(ते श्रद्धिवं वदामि)** तुझे मैं श्रद्धेय ज्ञान को कहती हूँ।

(१) **मया**=मेरे से ही **सः**=वह **अन्नं अत्ति**=अन्न को खाता है **यः**=जो विपश्यति=विशिष्टरूप से देखता है, देखते हैं, परन्तु कुछ समझते नहीं, वे अत्यन्त स्थिर-अवस्था में पड़े हुए क्षुद्र जन्तु मेरे से ही भोजन को खाते हैं। इसी प्रकार **यः प्राणिति**=जो श्वासोच्छवास लेते हुए जीवन को बिता रहे हैं, वे भी मेरे से ही अन्न को प्राप्त करते हैं। केवल देखनेवालों से ये कुछ उत्कृष्ट हैं। इन से भी उत्कृष्ट वे हैं **ये**= जो **ईम्**=निश्चय से **अक्तं शृणोति**=कहे हुए सुनते हैं। इस प्रकार श्रवण से ज्ञान की वृद्धिवाले मनुष्य भी मेरे से ही अन्न खाते हैं। (२) **ते अमन्तवः**=वे मनन व विचार से शून्य होने के कारण मुझे न मानने वाले भोग प्रधान वृत्तिवाले व्यक्ति भी **मां उपक्षियन्ति**=मेरे आधार से ही निवास करते हैं। मेरे आधार से जीते हुए भी वे माया से मोहित हुए-हुए मुझे नहीं देखते। (३) परन्तु प्रभु का प्रिय पुत्र तो वही है जो मायामूढ़ न बनकर प्रभु की प्रेरणा को सुनता है। हे **श्रुत**=अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले जीव! **श्रुधि**=सुन। **श्रद्धिवम्**=(श्रद्धिः श्रद्धा तया युक्तं श्रद्धा यत्वेन तभ्यं ईदृशं ब्रह्मात्मकं वस्तु सा.) श्रद्धा से लभ्य आत्मज्ञान को ते **वदामि**=तेरे लिए मैं कहता हूँ। इस प्रभु की वाणी को सुननेवाला श्रद्धावान् पुरुष ही ज्ञान देते हैं।

भावार्थ- देखनेवाले केवल श्वासोच्छवास लेने वाले, सुनने वाले सभी प्रभु से ही अन्न को प्राप्त करते हैं। मनन रहित भोग प्रधान पुरुषों को भी प्रभु ही भोजन देते हैं और सुननेवालों को प्रभु ही ज्ञान देते हैं।

ऋषिः-**वागाम्भृणी**॥ देवता- **वागाम्भृणी**॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्**॥स्वरः-**धैवतः**॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥५॥

(अहं स्वयं एव इदं वदामि) मैं स्वयं ही इस ज्ञान का उपदेश करती हूं, जिसको **(देवेभिः उत मानुषेभिः जुष्टं)** देव और मनुष्य श्रद्धापूर्वक मनन करते है; अनुभव करते हैं। **(यं कामये तं तं उग्रं कृणोमि)** मैं जिसको चाहती हूं, उसको श्रेष्ठ बलवान् करती हूं। **(तं ब्रह्माणं, तं ऋषिं, तं सुमेधाम्)** उसको ही स्तोता-ब्रह्मा, उसको ही ऋषि और उसको ही उत्तम बुद्धिमान करती हूं। (१) गत मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि श्रद्धा-लक्ष्य ज्ञान मैं ही प्राप्त कराता हूँ। उसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **अहं एव**=मैं ही **स्वयम्**= अपने आप **इदम्**=इस ज्ञान को **वदामि**=उच्चारणि करता हूँ, जो ज्ञान **देवेभिः जुष्टम्**=देवताओं से प्रीतिपूर्वक सेवित होता है, **उत**=और **मानुषेभिः**=विचारशील पुरुषों से वह ज्ञान सेवित होता है। प्रभु से दिये जाते हुए इस अन्तर्ज्ञान को देव और मनुष्य ही सुनते हैं। इन्हीं का इस ज्ञान की ओर झुकाव होता है। सामान्य मनुष्य इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठित नहीं होता। (२) इस प्रकार मनुष्यों के सामान्यतया दो विभाग हो जाते हैं। एक वे जो देववृत्ति के बनकर ज्ञान की ओर झुकाववाले होते हैं। और दूसरे वे जो भोग प्रधान जीवनवाले बनकर ईश्वर से विमुख रहते हैं। स्पष्ट है कि देव प्रभु के प्रिय होते हैं। **यम्**=जिनको **कामये**=मैं चाहता हूँ, जो मेरे प्रिय बनते हैं **तं तम्**=उन-उनको मैं **उग्रं कृणोमि**=तेजस्वी बनाता हूँ, **तं ब्रह्माणम्**=उनको मैं ज्ञानी बनाता **तं ऋषिम्**=उनको द्रष्टा व गतिशील बनाता हूँ तं **सुमेधाम्**=उनको उत्तम मेधावाला बनाता हूँ।

भावार्थ-प्रभु प्रिय व्यक्ति तेजस्वी ज्ञानी व ऋषि तुल्य और सुमेधा बनता है। आसुरवृत्तिवाले लोग भोग प्रधान जीवन को बिताने से निस्तेज व ज्ञानविमुख गलत दृष्टिकोणवाले दुर्बुद्धि हो जाते हैं।

ऋषिः-**वागाम्भृणी**॥ देवता- **वागाम्भृणी**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥६॥

(ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवै रुद्राय धनुः अहं आ तनोमि) ब्रह्मद्वेष्टा हिंसक शत्रु का वध करने के लिये, दुष्टों को रुलाने वाले रुद्र के धनुष को मैं सज्ज करती हूं, सर्वत्र तानती हूं। **(अहं जनाय समदं कृणोमि)** में मनुष्यों के कल्याण के लिये युद्ध करती हूं। **(अहं द्यावापृथिवी आ विवेश)** मैं द्यावापृथिवी व्याप्त करती हूं।

(१) राष्ट्र में प्रजाओं के कष्टों का निवारण करनेवाला राजा रुद्र है (उत् कष्टं द्रावयति)। यह अपने धनुष् से प्रजा पीड़कों का संहार करता है। इसके लिए इन धनुष् आदि साधनों को प्राप्त करानेवाले प्रभु ही हैं। **अहम्**=मैं ही **रुद्राय**=इस प्रजा कष्ट विद्रावक राजा के लिए **धनुः**=धनुष को **आतनोमि**=ज्या इत्यादि से युक्त करता हूँ। जिससे वह राजा **ब्रह्मद्विषे**=ज्ञान के साथ प्रीति न रखने वाले **शरवे**=हिंसक पुरुष के **हन्तवा उ**=निश्चय से हनन के लिए समर्थ हो सके। इस प्रकार राजा राष्ट्र की उन्नति में विघ्नभूत लोगों को उचित दण्ड देने का सामर्थ्य उस प्रभु से ही प्राप्त करता है। (२) लोगों का जो अपने अन्तःशत्रु काम-क्रोध ादि से युद्ध चलता है उस युद्ध में भी प्रभु ही विजय प्राप्त कराते हैं। **अहम्**=मैं ही **जनाय**=लोगों के लिए **समदम्**=(सतत्=संग्राम) संग्राम को **कृणोमि**=करता हूँ। प्रभु ही इन कामादि शत्रुओं का संहार करते हैं। **अहम्**=मैं ही द्यावापृथिवी **आविवेश**=सम्पूर्ण द्युलोक व पृथिवी लोक में व्याप्त हो रहा हूँ। सर्वत्र मेरी शक्ति ही काम कर रही है।

भावार्थ-राजा को राष्ट्रपालन की शक्ति प्रभु से ही प्राप्त होती है। एक मनुष्य को काम-क्रोधादि को जीतने की शक्ति भी प्रभु ही देते हैं।

ऋषिः-**वागाम्भृणी**॥ देवता- **वागाम्भृणी**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥७॥

(अहं अस्य मूर्धनि पितरं सुवे) मैं इस जगत के शिरस्थान में स्थित द्युलोक को उत्पन्न करती हूं। **(मम योनिः समुद्रे अप्सु अन्तः)** मेरा उत्पत्तिस्थान समुद्र के जल में है- परमेश्वर की बुद्धि में है। **(ततः विश्वा भुवना अनु वि तिष्ठे)** उसी स्थान से सारे संसार व्याप्त करती हूं और **(उत अमूं द्यां वर्ष्मणा उप स्पृशामि)** मैं इस महान् अंतरिक्ष को अपनी उन्नत देह से स्पर्श करती हूं। कारणभूतं मैं कल्याणमय होकर सब सगत् को व्यापती हूं।

(१) **अहम्**= मैं **अस्य**=इस जगत् के **मूर्धन्**=मूर्धभूत (मस्तकरूप) आकाश में, द्युलोक में **पितरम्**=इस पालक सूर्य को **सुवे**=उत्पन्न करता हूँ। द्युलोकस्थ सूर्य सारी प्रजाओं का पालक है, यह सबका पिता है। 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'=सब

प्रजाओं का प्राण यही है। प्रभु लोकरक्षण के लिए इसे द्युलोक में स्थापित करते हैं। (२) **मम योनिः**=मेरा गृह **अप्सु अन्तः**= इन जलों के अन्दर है, **समुद्रे**=समुद्र में हैं। जलों में व समुद्रों में भी मेरा ही वास है। मेरे कारण ही उनमें रस है। (३) **ततः**=इस प्रकार सूर्य व जलों का निर्माण करके **विश्वा भुवना अनुवितिष्ठे**=सब भुवनों में मैं स्थित हो रहा हूँ। **वर्ष्मणा**=मैं अपने शरीर प्रमाण से **अमूं द्याम्**=उस सुदूरस्थ द्युलोक को **उपस्पृशामि**=छूता हूँ। वस्तुतः यह द्युलोक मेरे विराट् शरीर का मूर्धा ही तो है।

भावार्थ- प्रभु सूर्य को द्युलोक में स्थापित करते हैं, जलों का निर्माण करते हैं। सब लोकों में व्याप्त हैं।

ऋषिः-**वागाम्भृणी**॥ देवता- **वागाम्भृणी**॥ छन्दः- **विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥८॥

(अहं एव विश्वा भुनानि आरभमाणा) मैं ही सब भुवनों का निर्माण करती हुई **(वातः इव प्रवामि)** वायु के समान सर्वत्र व्यापती हूं-बहती हूं। **(दिवा परः एना पृथिवी परः)** स्वर्ग से भी और इस पृथिवी से भी श्रेष्ठ **(महिना एतावती से बभूव)** मैं अपने महान् सामर्थ्य से प्रकट होती हूं।

(१) **अहं एव**=मैं ही **विश्वा भुवनानि आरभमाणा**=सब भुवनों को बनाती हुई **वातः** इव=वायु की तरह **प्रवामि**=गतिवाली होती हूँ। जिस प्रकार वायु निरन्तर चल रही है, उसी प्रकार प्रभु की क्रिया भी स्वाभाविक है। वे अपनी इस क्रिया से इस ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं। इस निर्माण कार्य में उन्हें किसी दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं। (२) वे प्रभु **दिवा परः**= इस द्युलोक से परे भी हैं, और **एना पृथिव्याः परः**=इस पृथ्वी से परे भी हैं। ये द्युलोक व पृथ्वीलोक प्रभु में समा नहीं लेते। हां, **महिना**= अपनी महिमा से वह प्रभु शक्ति **एतावती**=इतनी संबभूव=है। अर्थात् प्रभु की महिमा इस ब्रह्माण्ड के अन्दर ही दिखती है। ब्रह्माण्ड से परे तो प्रभु का अचिन्तय निर्विकार निराकार रूप ही है। इस ब्रह्माण्ड में ही वे साकार दिखते हैं। 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'। 'एतावानस्य महिमा', यह संसार ही प्रभु की महिमा है। परन्तु वे प्रभु इस संसार में ही समाप्त नहीं हो जाते 'अतो ज्यायाँश्च पूरुषः'।

भावार्थ- प्रभु अपनी स्वाभाविकी क्रिया से इस ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं। यह ब्रह्माण्ड प्रभु की महिमा है। प्रभु इसमे सीमित नहीं हो जाते, वे इससे परे भी हैं।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु की महिमा का गायन कर रहा है। यह गायन करने वाला अपने प्रभु से खेले जानेवाले इस संसार नाटक का एक पात्र जानता है 'शैलूषि'। इस प्रकार अनासक्ति व प्रभु-स्मरण के कारण यह पाप का (कुल्मल) उखाड़ने वाला (बर्हिषः) 'कुल्मष-बहर्षि' कहलाता है। वह सुन्दर दिव्यगुणों वाला 'वामदेव' बनता है, पापों व कुटिलताओं को छोड़ने के कारण 'अहोमुक्' है।

स्मरणीय बिंदु-

1. पुरुष सूक्त वैदिक दर्शन का महत्वपूर्ण भाग है।
2. इसमें सृष्टि एवं समाज की उत्पत्ति का वर्णन है।
3. पुरुष सूक्त आध्यात्मिक एकता का संदेश देता है।

शब्दावली-

शब्द	**अर्थ**
पुरुष	परम पुरुष
सृष्टि	जगत की उत्पत्ति
सहस्र	हजार
वर्ण	सामाजिक वर्ग
व्याख्या	अर्थ स्पष्ट करना

5 अंक के प्रश्न-

1. पुरुष सूक्त का मुख्य विषय क्या है?
2. पुरुष सूक्त किस वेद में मिलता है?
3. 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' का अर्थ लिखिए।
4. पुरुष सूक्त में वर्ण व्यवस्था का वर्णन कैसे है?

5. पुरुष सूक्त का महत्व लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. पुरुष सूक्त का भावार्थ लिखिए।
2. पुरुष सूक्त की दार्शनिक व्याख्या कीजिए।
3. पुरुष सूक्त में वर्णित सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन कीजिए।
4. वैदिक समाज व्यवस्था पर पुरुष सूक्त का प्रभाव स्पष्ट कीजिए।
5. पुरुष सूक्त की आधुनिक प्रासंगिकता का विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. पुरुष सूक्त किससे संबंधित है?

(क) सृष्टि

(ख) युद्ध

(ग) व्यापार

(घ) कृषि

उत्तर - (क)

2. पुरुष सूक्त किस वेद में प्रसिद्ध है?

(क) ऋग्वेद

(ख) यजुर्वेद

(ग) सामवेद

(घ) अथर्ववेद

उत्तर - (क)

3. पुरुष सूक्त में कितने वर्णों का उल्लेख है?

(क) 2

(ख) 3

(ग) 4

(घ) 5

उत्तर - (ग)

4. 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' में पुरुष किसका प्रतीक है?

(क) परमात्मा

(ख) राजा

(ग) योद्धा

(घ) ऋषि

उत्तर - (क)

5. पुरुष सूक्त का संबंध किससे है?

(क) आध्यात्मिकता

(ख) समाज व्यवस्था

(ग) सृष्टि

(घ) उपर्युक्त सभी

उत्तर - (घ)

इकाई-4.2 पुरुष सुक्त कण्ठपाठ अभ्यास एवं अर्थ सहित व्याख्या

उद्देश्य-

1. विद्यार्थी नासदीय सूक्त का कंठस्थ अभ्यास करेंगे।
2. सृष्टि संबंधी वैदिक चिंतन को समझेंगे।
3. दार्शनिक विचारधारा का ज्ञान प्राप्त करेंगे।

पुरुषसूक्तम्

ऋ. मं १० सू ९० नारायणः। परमपुरुषः। अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्।

ओ३म् सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१॥

(सहस्र-शीर्षा सहस्र अक्षः सहस्र-पात्) हजारों मस्तक जिसके हैं, हजारों आँखें जिसकी हैं, हजारों पांव जिसके हैं, ऐसा एक पुरुष-ईश्वर हैं, **(सः भूमिं विश्वतः वृत्वा)** यह भूमि के चारों ओर घेरकर रह रहा है और **(दश-अंगुलं अत्यतिष्ठत्)** बस अंगुल रूप इस अल्प सृष्टि को व्यापकर बाहर भी है।

(१) वह प्रभु **पुरुषः**='पुरि वसति' ब्रह्माण्डरूप नगरी में निवास करते हैं। 'पुरिशेते'=इस ब्रह्माण्ड रूप नगरी में शयन करते हैं। 'पुनाति=रुणद्धि-स्यति' इस ब्रह्माण्ड रूप नगरी को वे पवित्र करते हैं, इसे वे नष्ट होने से बचाने के लिए आवृत किये रहता हैं और अन्त में इसका प्रलय करते हैं (षोऽन्तकर्मणि)। (२) वे पुरुष **सहस्रशीर्षा**=अनन्त सिरों वाले हैं, **सहस्राक्षः**=अनन्त आँखों वाले हैं, **सहस्रपात्**= अनन्त पाँव वाले हैं। सब ओर उनके सिर आँखें व पाँव हैं। इन इन्द्रियों से रहित होते हुए भी इन इन्द्रियों की शक्ति उनमें सर्वत्र है। (३) **स**=वे प्रभु **भूमिम्**=इस 'भवन्ति भूतानि यस्यां' प्राणियों के निवास-स्थानभूत ब्रह्माण्ड को **सर्वतः वृत्वा**=सब ओर से आच्छादित करके अपने एक देश में इस सारे ब्रह्माण्ड को धारण करके **दशाङ्गुलम**=इस दशांगुल-परिमाण जगत् को **अति अतिष्ठत्**=लांघ करके ठहरे हुए हैं। अनन्त-सा प्रतीत होने वाला भी यह ब्रह्माण्ड उस अनन्त प्रभु की तुलना में एकदम सान्त ही है। उस प्रभु की तुलना में यह सारा ब्रह्माण्ड एक तरबूज के समान ही है (दशांगुल=watermelen)। (४) 'दशांगुल' शब्द हृदयदेश के लिए भी प्रयुक्त होता है। वे प्रभु सबके हृदयों में निवास करते हुए उन सब हृदयों से ऊपर उठे हुए हैं। (५) यह ब्रह्माण्ड पञ्चसूक्ष्मभूत व पञ्चस्थूलभूतों से बना हुआ होने से भी 'दशांगुल' कहलाता है। प्रभु इस ब्रह्माण्ड को लाँघकर रह रहे हैं।

भावार्थ-वे पुरुष विशेष प्रभु 'अनन्त सिरों, आँखों व पाँव वाले हैं। सारे ब्रह्माण्ड को आवृत्त करके इसको लाँघकर रह रहे हैं। प्रभु की तुलना में यह ब्रह्माण्ड दशांगुल-मात्र ही है।

ऋषिः-**नारायणः॥** देवता-**पुरुषः॥** छन्दः-**निचृदनुष्टुप्॥** स्वरः-**गान्धारः॥**

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥२॥

(यद् भूतं यत् च भव्यं) जो भूतकाल में हुआ था और जो वर्तमानकाल में है, तथा जो भविष्य काल में होने वाला है, **(इदं सर्वं पुरुष एव)** वह सब यह पुरुष ही है। **(उत अमृतत्वस्य ईशानः)** और वह पुरुष अमृतत्व का-मोक्ष का स्वामी है, **(यत् अन्नेन अति रोहति)** जो अन्न से बढ़ता है।

(१) **पुरुषः**=इस ब्रह्माण्डरूप नगरी में शयन व निवास करनेवाले प्रभु **एव**=ही **इदं सर्वम्**=इन सारे प्राणियों के **ईशानः**=शासित करनेवाले हैं। उन प्राणियों के **यद्**=जो **भूतम्**=कर्मानुसार जन्म को ग्रहण कर चुके हैं। **यत् च**= और जो **भव्यम्**=समीप भविष्य में ही जन्म ग्रहण करेंगे। इन प्राणियों के भी वे प्रभु ईश हैं। (२) इन भूत भाव्य प्राणियों के तो वे प्रभु ईश हैं ही, **उत**=और **अमृतत्वस्य ईशानः**=वासनाओं के क्षय से अमरपद को प्राप्त प्राणियों के भी वे ईश हैं। इन्हें भी परामुक्ति के काल की समाप्ति पर प्रभु की व्यवस्था के अनुसार जन्म धारण करना होता है। ये अमृत पुरुष वे हैं **यत्**=जो **अन्नेन**=उस अन्न नामक प्रभु से अन्न नामक प्रभु का

आश्रय करने से, **अतिरोहति**=जन्म-मरण चक्र से ऊपर उठ जाते हैं। प्रभु अन्न है 'अद्यतेऽन्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते'। इस प्रभु को अन्न इसलिए भी कहते हैं कि 'आ-नम्' अन्ततः सब इनकी ओर झुकते हैं। इन अन्न का आश्रय करके जन्म-मरण चक्र से ऊपर उठ जानेवाले व्यक्ति भी प्रभु के शासन से ऊपर नहीं हो पाते।

भावार्थ- वे प्रभु 'भूत-भाव्य व अमृत' सभी के ईशान हैं।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**निचृदनुष्टुप्**॥स्वरः-**गान्धारः**॥

एतावा॑नस्य महि॒माऽतो॒ ज्यायाँ॑श्च॒ पूरु॑षः ।
पादो॑ऽस्य॒ विश्वा॑ भू॒तानि॑ त्रि॒पाद॑स्या॒मृतं॑ दि॒वि ॥३॥

(अस्य एतावान् महिमा) इस पुरुष का इतना विशाल महिमा है **(अतः ज्यायान् पुरुषः)** इससे एक बड़ा और एक श्रेष्ठ पुरुष है। **(विश्वा भूतानि अस्य पादः)** सब भूतमात्र जो इस विश्व में है वह सब इसके एक चरणवत् है। **(अस्य त्रिपाद् दिवि अमृतम्)** इसके तीन चरण दिव्यलोक में अमृतरूप हैं।

(१) **अस्य**=इस पुरुष की **एतावान् महिमा**=इतनी महिमा है। सारा ब्रह्माण्ड उनके एकदेश में हैं और सब 'भूत-भाव्य-अमृत' प्राणियों के वे ईश हैं। इस सारे ब्रह्माण्ड में तथा सब प्राणियों में प्रभु की ही महिमा दृष्टिगोचर होती है, सूर्यादि पिण्डों को वे ही ज्योति दे रहे हैं, तो बुद्धिमानों की बुद्धि भी वे ही हैं, और तेजस्वियों का तेज भी वे ही हैं। (२) वे **पुरुषः**= ब्रह्माण्डनगरी में निवास करने वाले प्रभु अतः **ज्यायान् च**= इस ब्रह्माण्ड से बड़े हैं, यह सारा ब्रह्माण्ड तो उनके एकदेश में ही स्थित है। प्रभु की तुलना में यह विशाल ब्रह्माण्ड दशांगुल मात्र है। **विश्वाभूतानि**= ये सारे प्राणी **अस्य पादः**=इस प्रभु के चतुर्थांश में ही हैं। यह सारा जन्म-मरण चक्र इस चतुर्थांश में ही चल रहा है। **अस्य त्रिपाद्**=इस प्रभु के तीन अंश तो **दिवि**=अपने द्योतनात्मक रूप में **अमृतम्**=अमृत हैं। उन तीन अंशों में यह जीवों के जन्म ग्रहण व शरीर को छोड़ने रूप मृत्यु का व्यवहार नहीं होता, सो उस त्रिपात् को यहाँ 'अमृत' का गया है।

भावार्थ-सारा ब्रह्माण्ड प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहा है। वे प्रभु इस ब्रह्माण्ड से बहुत बड़े हैं। यह ब्रह्माण्ड तो प्रभु के एकदेश में ही है।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

त्रि॒पादू॒र्ध्व उदै॒त्पुरु॑ष॒: पादो॑ऽस्ये॒हाभ॑व॒त्पुन॑: ।
ततो॒ विष्व॒ङ्व्य॑क्रामत्साशनानश॒ने अ॒भि ॥४॥

(त्रिपात् पुरुषः उर्ध्वः उदैत्) त्रिपाद पुरुष ऊपर द्युलोक में रहा है, **(अस्य पादः इह पुनः अभवत्)** इस पुरुष का एक भाग यहाँ इस विश्व के रूप में पुनः पुनः उत्पन्न होता रहता है। **(ततः स-अशन-अनशने विष्वङ् अभि व्यक्रामत्)** पश्चात् उसने अन्न खाने वाले और अन्न न खाने वाले विश्व को चारों ओर से व्याप लिया।

(१) **त्रिपात् पुरुषः**=त्रिपात् पुरुष **ऊर्ध्वः उदैत्**=इस चराचर जगत् से ऊपर उठा हुआ है। **अस्य**= इस पुरुष का **पादः**=एक अंश ही **पुनः**=तो **इह अभवत्**= यहाँ इस ब्रह्माण्ड में होता है। सम्पूर्ण संसार का व्यवहार इस एक अंश में ही चल रहा है, प्रभु के तीन अंश तो इस व्यावहारिक संसार से ऊपर ही हैं। (२) इस **साशनानशने**=अशन सहित और अशनरहित संसार दो भागों में बँटा हुआ है, यही चराचर कहलाता है। इस चराचर संसार में **ततः**=उस प्रभु से ही **विष्वङ्**=(विषु अञ्च्) विविध दिशाओं में गति करने वाला या विविध योनियों में प्रविष्ट होकर गति करनेवाला यह सारा संसार **व्यक्रामत्**=विविध गतियोंवाला होता है। सम्पूर्ण संसार की गति के स्रोत वह प्रभु ही हैं। (३) **अभि**=ये सारे प्राणी अन्ततः उस प्रभु की ओर ही चल रहे हैं। सबका अन्तिम लक्ष्य वह प्रभु ही है। वहाँ पहुँचकर ही यात्रा का अन्त होता है।

भावार्थ-सम्पूर्ण संसार के स्रोत वे प्रभु ही हैं। यह ब्रह्माण्ड उस प्रभु की ओर ही चल रहा है।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

तस्मा॑द्वि॒राळ॑जायत वि॒राजो॒ अधि॒ पूरु॑षः ।
स जा॒तो अत्य॑रिच्यत प॒श्चाद्भूमि॒मथो॑ पु॒रः ॥५॥

(तस्मात् विराट् अजायत) उस परमात्मा से विराट् पुरुष उत्पन्न हुआ। **(विराजः अधि पूरुषः)** विराट् के ऊपर एक अधिष्ठाता पुरुष हुआ। **(सः जातः अत्यरिच्यत)** वह उत्पन्न होने पर विभक्त होने लगा। **(पश्चात् भूमिं अथो पुरः)** प्रथम भूमि आदि गोल हुए अनन्तर उस पर शरीर हुए।

(१) **ततः**=उस निमित्त कारणभूत पुरुष से विराट् अजायत=एक देदीप्यमान पिण्ड आविर्भूत किया गया। इसी पिण्ड को मनु ने

'हैम अण्ड' नाम दिया है। यही सांख्य में 'महत्' शब्द से कहा गया है। (२) **विराजः अधि पूरुषः**= उस विराट् पिण्ड का अधिष्ठातारूपेण वह पुरुष था। प्रभु की अध्यक्षता में ही प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है। (३) **सः**=वह विराट् पिण्ड **जातः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **अत्यरिच्यत**=संसार के किसी भी पदार्थ से अधिक दीप्तिवाला हुआ। मनु ने इसे 'सहस्त्रांशुसम प्रभ' सूर्य के समान प्रभावाला कहा है। (४) **पश्चात्**=अब विराट् की उत्पत्ति के बाद **भूमिम्**=प्राणियों के निवास-स्थानभूत लोकों को उस अध्यक्ष ने बनाया। प्राणियों के सशरीर होने से पहले इन लोकों का बनना आवश्यक ही है। (५) **अथ उ**=और अब, इन लोकों के बन जाने के पश्चात् **पुरः**=शरीर बनाये गये। शरीरों को 'पुरः' नाम इसलिए देते हैं कि 'पूर्यन्ते' सप्त धातुभिः'=ये सप्त धातुओं से पूर्ण हैं।

भावार्थ-पहले 'विराट्' की उत्पत्ति होती है। इस विराट् से लोक-लोकान्तर बनते हैं और फिर प्राणियो के शरीरों की उत्पत्ति होती है।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥६॥

(यत् देवाः पुरुषेण हविषा यज्ञं अतन्वत) जब देवों ने विराट् पुरुषरूपी हवि ने यज्ञ करना शुरू किया, तब **(अस्य वसन्तः आज्यं आसीत्)** वसंत ऋतु इस यज्ञ में घी का कार्य करता था, **(ग्रीष्मः इध्मः शरत् हविः)** ग्रीष्म ऋतु ईंधन और शरद् ऋतु हवि हुआ था। (१) **यत्**=जब **हविषा**= (हू दाने) अविरूप-त्याग के पुञ्ज **पुरुषेण**=ब्रह्माण्डरूप पुरी में निवास करनेवाला प्रभु से **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति **यज्ञम्**= संगतिकरण सम्बन्ध को **अतन्वत**=विस्तृत करते हैं, तो **अस्य**= इस प्रभु से मेल वाले व्यक्ति के लिये **वसन्तः आज्यम्**=वसन्त ऋतु आज्य **आसीत्**=हो जाती है **ग्रीष्मः**=ग्रीष्म ऋतु **इध्मः**=इध्म होती है और **शरत् हविः**=शरद् ऋतु हवि हो जाती है (२) वसन्त ऋतु इस व्यक्ति के लिए प्रभु की महिमा को व्यक्त करनेवाली बन जाती है। (आज्य-अञ्ज्=व्यक्त करना। चारों ओर वनस्पतियों के नवपल्लव पुष्प व फल इसके लिए प्रभु दर्शन के द्वार बन जाते हैं। (३) ग्रीष्म ऋतु इसके लिए इध्म व दीप्ति का प्रतीक हो जाती है। जैसे ग्रीष्म में सूर्य प्रचण्डरूप में चमक रहा होता है, उसी प्रकार यह उपासक प्रभु की अत्यन्त ज्योर्तिमय ज्ञानदीप्ति की कल्पना करता है। (४) इस प्रभु-भक्त के लिए सब पत्तों व पुष्पों को शीर्ण करती हुई शरद् भी हवि का संकेत बन जाती है। शरद् से यह हविरूप बनना सीखता है।

भावार्थ- प्रभु-भक्त के लिए वसन्त प्रभु महिमा को दर्शाती है, ग्रीष्म प्रभु की ज्ञानदीप्ति का संकेत करती है और शरत् इसे त्याग का पाठ पढ़ाती है।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥७॥

(तं अग्रतः जातं यज्ञं पुरुषं बर्हिषि प्रौक्षन्) उस प्रथम उत्पन्न हुए यज्ञनीय विराट् पुरुष को यज्ञ में प्रोक्षण करके **(ये देवाः साध्याः ऋषयः च तेन अयजन्त)** जो देव साध्य और ऋषि थे, उन्होंने उस विराट् पुरुष से ही यज्ञ चलाया था।

(१) **तम्**=उस **यज्ञम्**=उपायसीय संगतिकरण योग्य व समर्पणीय प्रभु को **बहर्षि**= वासनाओं का जिसमें से उद्वर्हण कर दिया गया है ऐसे हृदय में **प्रौक्षन्**=प्रकर्षेण सिक्त करते हैं। हृदयरूप क्षेत्र को प्रभु-चिन्तनरूप जल से सिक्त करते हैं। (२) उस प्रभु को जो **पुरुषम्**=इस ब्रह्माण्डरूप पुरी में निवास करनेवाले हैं। और जो **अग्रतः जातम्**=पहले से ही विद्यमान हैं। 'उन प्रभु को किसी ने बनाया हों, ऐसी बात नहीं है, 'वे तो अनादि व स्वयम्भू हैं (३) **तेन**=उस प्रभु से **अयजन्त**=वे व्यक्ति अपना मेल करते हैं **ये**=जो **देवाः**=देववृत्ति के हैं, जिनके मन दिव्यगुणों की सम्पत्तिवाले हैं। **साध्याः**=**(साध्नुवन्ति परकार्याणि)**=जो सदा औरों के कार्यों को सिद्ध ही करते हैं, बिगाड़ते नहीं। **च**=और जो **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा हैं।

भावार्थ-प्रभु की प्राप्ति देवों को, साध्यों को व वृत्रिऋयों को होती है, उन्हें जो 'उपासना, कर्म व ज्ञान' तीनों का अपने में समन्वय करते हैं।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**विराडनुष्टुप्**॥स्वरः-**गान्धारः**॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशून्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये ॥८॥

(तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात्) उस सर्वहुत यज्ञ से **(पृषद् आज्यं संभृतं)** दही के साथ मिला घी प्राप्त हुआ। **(तान् वायव्यान्**

आरण्यान् पशून्) वायु में उड़ने वाले पक्षी तथा वायु देवता के जंगल में रहने वाले उन पशुओं को **(ये ग्राम्याः चक्रे)** ग्राम्य पशु बनाये।

(१)**तस्मात्**=उस **यज्ञात्**= संगतिकरण योग्य, **सर्वहुतः**=सब कुछ देने वो प्रभु से **पृषदाज्यम्**=('अन्नं वै पृष्दाज्यम्' 'पयः पृष्दाज्यम्' श. 3।8।4।8। 'पशवो वै पृषदाज्यम्' तै. 1।6।3।2) अन्न, दूध व पशु **सम्भृतम्**=इन सबका सम्भरण किया गया। प्रभु ने हमारे जीवन के लिए गौ आदि पशुओं को बनाया जिनके द्वारा हमें दूध प्राप्त हुआ तथा कृषि आदि के द्वारा अन्न मिलने का सम्भव हुआ। (२) प्रभु ने **तान्**=उन सब **पशून् चक्रे**=पशुओं का निर्माण किया। **वायव्यान्**=जो वायु में उड़ने वाले थे, **आरण्यान्**=वनों में रहने वाले थे **च**=और **ये**=जो **ग्राम्याः**=ग्राम में पालतू पशुओं के रूप में रहने वाले थे। (3) यहाँ मनुष्यों से भिन्न सभी प्राणियों को 'पशु' शब्द से स्मरण किया है, ये 'पश्यन्ति' केवल देखते हैं, मनुष्य की तरह मनन नहीं कर पाते। ये सब मनुष्य के जीवन में किसी न किसी रूप में सहायक होते हैं। सर्प विष का भी औषधरूपेण प्रयोग होता है, मस्तिष्क का बल भी वमन विरोध में काम आता है। ज्ञानवृद्धि के साथ हम इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि ये सब पशु हमारे लिए सहायक हैं। प्रभु की कृपा का अन्त नहीं। वे सर्वहुत् हैं, सब कुछ देने वाले हैं।

भावार्थ- प्रभु ने हमारे जीवन के धारण के लिए दूध, अन्न, व पशुओं को प्राप्त कराया है। ये पशु दूध आदि देकर व कृषि आदि कार्यों में सहायक होकर, हमारे लिए उपयोगी होते हैं।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**।

तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हुत॒ ऋच॒: सामा॑नि जज्ञिरे।
छन्दा॑ꣳसि जज्ञिरे॒ तस्मा॒द्यजु॒स्तस्मा॑दजायत ॥९॥

(तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात्) उस सर्वहुत यज्ञ से **(ऋचः सामानि जज्ञिरे)** ऋग्वेद के मंत्र तथा सामगान बने! **(तस्मात् छन्दांसि जज्ञिरे)** छन्द अर्थात् अथर्ववेद के मंत्र भी उसी से उत्पन्न हुए और **(तस्मात् यजुः अजायत)** उसी से यजुर्वेद के मंत्र भी उत्पन्न हुए। (१) **तस्माद्**=उस **यज्ञात्**=पूज्य **सर्वहुतः**=सब कुछ देने वाले प्रभु से **ऋचः**=ऋचाएँ **जज्ञिरे**=प्रादुर्भुत हुई। 'ऋच् स्तुतौ' धातु के अनुसार ये वे मन्त्र हैं जिनमें कि सब पदार्थों के गुणधर्मों का वर्णन है। सब प्रकृति सम्बद्ध विद्याएँ इन ऋचाओं का विषय हैं (२) उस प्रभु से **सामानि**=साम मन्त्र प्रादुर्भूत हुए। ये वे मन्त्र हैं जो आत्मा की उपासना के साथ सम्बद्ध हैं। इसी से सामवेद का नाम ही उपासना वेद हो गया है। (३) **तस्मात्**=उस प्रभु से **छन्दांसि**=छन्द, अथर्व के मन्त्र प्रादुर्भूत हुए। इन्हें 'छन्द' इसलिए कहा गया है कि ये मुख्यरूप से 'छन्द अपवारणे' रोगों व युद्धों का अपवारण करते हैं। (४) **तस्मात्**=उस प्रभु से ही **यजुः**=यज्ञों के प्रतिपादक यजुर्वेद के मन्त्र भी प्रादुर्भूत हुए। इन यज्ञों के द्वारा ही जीव ने इहलोक के अभ्युदय व परलोक के निःश्रेयस्य को सिद्ध करना है।

भावार्थ- प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में 'ऋग्, यजु, साम व अथर्व' का प्रकाश किया। इनके द्वारा क्रमशः प्रकृतिविद्या, कर्मविज्ञान, उपासना व रोगचिकित्सा युद्धविद्या का उपदेश दिया।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**निचृदनुष्टुप्**॥स्वरः-**गान्धारः**॥

तस्मा॒दश्वा॑ अजायन्त॒ ये के चो॑भ॒यादं॑तः।
गावो॑ ह जज्ञिरे॒ तस्मा॒त्तस्मा॑ज्जा॒ता अ॑जा॒वय॑: ॥१०॥

(तस्मात् अश्वाः अजायन्त) उस सर्वहुत यज्ञ से घोड़े हुए, **(ये के च उभयादतः)** जो दोनों ओर दांतवाले हैं। **(तस्मात् गावः ह जज्ञिरे)** उसी से गौंवें उत्पन्न हुई और **(तस्मात् अजावयः जाताः)** उसी से बकरियां और भेड़ियाँ उत्पन्न हो गयी हैं।

(१) **तस्मात्**=उस प्रभु से ही **अश्वाः**=घोड़ों को **अजायन्त**=जन्म दिया गया। **ये के च**=जो कोई भी **उभयादतः**=दोनों और दाँतोंवाले पशु थे उन्हें प्रभु ने उत्पन्न किया। **गावः**=गौवें भी **ह**=निश्चय से **तस्मात्**=उस प्रभु से ही **जज्ञिरे**=उत्पन्न हुई। (२) **तस्मात्**= उस प्रभु से ही **अजावयः**=अजा और **अवि**=बकरी व भेड़ **जाताः**=उत्पन्न की गई। गौवें और घोड़े मनुष्य के दक्षिण हस्त थे तो ये भेड़ व बकरी उसके वामहस्त बने। इसप्रकार मनुष्य केन्द्र में है। उसके एक ओर गौ और घोड़ा तथा दूसरी ओर भेड़ व बकरी हैं। 'तवेमे पञ्च पशवः गौरश्वः-पुरुषोऽजावयः'। (३) गौ दूध देकर मनुष्य का पोषण करती हुई उसके बुद्धि विकास का भी कारण बनती है। घोड़ा उसके 'क्षत्रियत्व' के विकास में सहायक होता है। अजा व अवि पशम व ऊन प्राप्त कराके उसके वाणिज्य में सहयोग देती हैं। इस प्रकार मानव-जीवन के साथ बहुत समीपता से सम्बद्ध हैं।

भावार्थ-प्रभु ने घोड़ा, गौ, अजा, अवि आदि उपकारक पशुओं को जन्म दिया।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

यत्पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन्।
मुख॑ं किम॑स्य॒ कौ बा॒हू का ऊ॒रू पादा॑ उच्येते ॥११॥

(यत् पुरुषं व्यदधुः) जिस पुरुष का यहाँ वर्णन किया है उसकी **(कति-धा व्यकल्पयन्)** कितने प्रकार से कल्पना की गयी है! **(अस्य मुखं किम्)** इसका मुख क्या है? **(बाहू कौ)** दोनों बाहू कौन हैं? **(कौ ऊरू पादौ उच्येते)** इसकी जांघे कौन सी हैं और उसके पांव कौन से हैं, ऐसा कहा जाता है?।

(१) **यत्**=जब **पुरुषम्**=संसार नगरी में निवास शयन, करने वाले प्रभु को 'देव-साध्य व ऋषि' **व्यदधुः**=अपने में विशेषरूप से धारण करते हैं तो वे **कतिधा**=कितने प्रकार से **व्यकल्पयन्** (विक्लृष)=अपने को विशिष्ट परामर्शवाला बनाते हैं। प्रभु के धारण करने वाले में अन्य पुरुषों से क्या विशेष शक्ति उत्पन्न हो जाती है? (२) **अस्य मुखं किम्**=इसका मुख क्या हो जाता है? क्या यह अन्य पुरुषों की तरह बोलचालवाला नहीं होता? **कौ बाहू**=इसके बाहु क्या हो जाते हैं? इसके बाहु क्या सामान्य लोगों की तरह कार्य करनेवाले नहीं होते? **का ऊरू**= इसकी जाँघे क्या हो जाती हैं? अथर्व के अनुसार इसका मध्यभाग-पेट क्या हो जाता है? **पादा (का) उच्येते**= इसके पाँव क्या कहाते हैं? इसकी चाल-ढाल और लोगों से किस दिशा में भिन्न होती है?

भावार्थ-यदि प्रभु के धारण के बाद भी हमारे जीवन में कोई विशेषता न आये, तो प्रभु धारण की कोई उपयोगिता नहीं प्रतीत होती। इसी कारण यह प्रश्न है कि प्रभु धारण से क्या परिवर्तन होता है? अगले मन्त्रों में इसी प्रश्न का विस्तृत उत्तर है-

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**निचृदनुष्टुप्**॥स्वरः-**गान्धारः**॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥१२॥

(अस्य मुखं ब्राह्मणः आसीत्) इस पुरुष का मुख ब्राह्मण-ज्ञानी हुआ है, **(बाहू राजन्यः कृतः)** इस पुरुष के बाहु क्षत्रिय अर्थात् शूर पुरुष हुए हैं। **(उरू अस्य तत् यद् वैश्यः)** इसकी जांघे वे हैं जो वैश्य हैं और **(पद्भ्यां शूद्रः अजायत)** पावों के स्थान में शूद्र हुआ है।

(१) गत मन्त्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अस्य**=इस प्रभु को धारण करनेवाले का **मुखम्**=मुख **ब्राह्मणः असीत्**=ब्राह्मण हो जाता है, इसका मुख ब्रह्म, अर्थात् ज्ञान का प्रवचन करनेवाला बन जाता है यह मुख से ज्ञान का प्रसार करता है, अपशब्दों के बोलने का वहाँ प्रसंग ही कहाँ? (२) इस प्रभु को धारण करनेवाले को **बाहू**=भुजाएँ **राजन्यः कृतः**=क्षत्रिय बन जाती हैं। लोक-रञ्जनात्मक कर्मो को करती हुई वे राजन्य हो जाती हैं 'सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत'। यह बाहुओं से औरों का रक्षण ही करता है नकि नाश। (३) **यत्**=जो **अस्य**=इसकी **ऊरू**=जाँघें हैं **तत्**=वे **वैश्यः**=वैश्य **अजायत**=हो जाती हैं। यहाँ ऊरू 'मध्य भाग' का प्रतीक हैं। जैसे यह पेट रुधिरादि को उत्पन्न करके अंग-प्रत्यंग का पालन करता है इसी प्रकार ये धनार्जन करते सभी के हित में उसका विनियोग करता है। (४) **पद्भ्याम्**= पाँवों से यह **शूद्रः**=शूद्र अजायत=हो जाता है। 'शु+उत्+र' यह शीघ्रता से उत्कृष्ट गतिवाला होता है। इसके सब कार्य शूद्र की तरह सेवात्मक होते हैं।

भावार्थ- प्रभु को धारण करनेवाला मुख से एक सच्चे ब्राह्मण की तरह ज्ञान देनेवाला होता है। बाहुओं से एक क्षत्रिय की तरह रक्षण करनेवाला बनता है। मध्य भाग से एक वैश्य की तरह धनार्जन करके सभी का पालन करता है। पाँवों से इसकी सब गतियाँ एक सच्चे शूद्र की तरह सेवात्मक होती हैं।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**निचृदनुष्टुप्**॥स्वरः-**गान्धारः**॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥१३॥

(मनसः चन्द्रमा जातः) परमात्मा के मन से चन्द्रमा हुआ है, **(चक्षोः सूर्यः अजायत)** परमात्मा की आंखों से सूर्य हुआ है, **(मुखात् इन्द्रः च अग्निः च)** मुख से इन्द्र और अग्नि हुए, और **(प्राणात् वायुः अजायत)** प्राण से वायु हुआ।

(१) **मनसः**=मन के दृष्टिकोण से यह प्रभु को धारण करने वाला **चन्द्रमाः जातः**=चन्द्रमा हो जाता है। 'चदि आह्लादे' से चन्द्र शब्द बनता है। यह प्रभु-भक्त आह्लादमय मनवाला होता है। 'मनः प्रसाद' से सदा यह स्मितवदन दिखता है। (२) **चक्षोः**=चक्षु से **सूर्यः अजायत**=यह सूर्य बन जाता है। सूर्य जैसे अन्धकार को दूर करनेवाला है, इसी प्रकार इसकी चक्षु इसके अज्ञानान्धकार को सदा दूर करनेवाली बनती है। यह आँख सब पदार्थों को सूक्ष्मता से देखती हुई इसके तत्त्वज्ञान का साधन बनती है। (३) **मुखात्**=मुख से यह **इन्द्रः च अग्निः च**=इन्द्र और अग्नि बनता है। मुख के दो कार्य हैं 'खाना और बोलना' पहले कार्य के दृष्टिकोण से यह जितेन्द्रिय बनता है। इन्द्रियों का अधिष्ठाता ही इन्द्र है। जितेन्द्रिय होता हुआ यह स्वाद के लिए न खाकर केवल शरीरधारण के लिए खाता है। दूसरे कार्य के दृष्टिकोण से यह अग्नि बनता है, इसके मुख से निकले हुए शब्द अग्नि होते हैं, आगे ले चलनेवाले होते हैं, सबको उत्साहित करनेवाले होते हैं। (४) **प्राणाद्**=प्राण के दृष्टिकोण से, जीवन के दृष्टिकोण से यह **वायुः अजायत**=वायु हो जाता है। 'वा गतौ' वायु चलती है, इसका

जीवन भी बड़ा क्रियाशील होता है।

भावार्थ- प्रभु को धारण करनेवाले के जीवन में ये बातें होती हैं- (क) मनः प्रसाद, (ख) प्रकाशमय दृष्टि, (ग) जितेन्द्रियता व उत्साहमय वाणी, (घ) क्रियाशीलता।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥१४॥

(नाभ्याः अन्तरिक्षं आसीत्) नाभि से अन्तरिक्ष हुआ है, **(शीर्ष्णः द्योः समवर्त)** सिर से द्युलोक हुआ है, **(पद्भ्यां भूमिः)** पावों से भूमि हुई, **(श्रोत्रात् दिशः)** कानों से दिशाएं हुई, **(तथा लोकान् अकल्पयन्)** इस तरह अन्य लोगों की कल्पना करनी योग्य है।

(१) **नाभ्याः**=नाभि शरीर का केन्द्र है, इस नाभि के दृष्टिकोण से **अन्तरिक्षं आसीत्**=यह अन्तरिक्ष होता है 'द्युलोक' एक सीमा है, 'पृथिवी' दूसरी सीमा है। 'अन्तरिक्ष' इनके (अन्तराक्षि) बीच में है। यह प्रभु-भक्त सीमाओं पर न जाता हुआ सदा मध्य में रहता है। यह मध्य में रहता है। यह मध्य मार्ग ही इसके शरीर के केन्द्र को ठीक रखकर इसे पूर्ण स्वस्थ बनाता है। (२) **शीर्ष्णः**=सिर व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से यह **द्यौः**=आकाश **समवर्तत**= हो जाता है जैसे द्युलोक नक्षत्रों से चमकता है, इसी प्रकार इसका मस्तिष्क विज्ञान के नक्षत्रों से चमकता है। जैसे द्युलोक सूर्य ज्योति से देदीप्यमान है, इसी प्रकार इसका मस्तिष्क आत्मज्ञान के सूर्य से चमकता है। (३) यह **पद्भ्याम्**=पाँवों के दृष्टिकोण से **भूमिः**=भूमि बनता है। 'भवन्ति भूतानि यस्यां' इस व्युत्पत्ति से भूमि सभी को निवास देनेवाली है। इसकी 'पद गतौ' पाँव से होने वाली सारी गति औरों के निवास का ही कारण बनती है। (४) यह **श्रोत्रात्**=श्रोत्र के दृष्टिकोण से 'दिशः'=दिशाएँ ही हो जाता है। 'प्राची' के उपदेश को सुनकर (प्र अञ्च्) आगे बढ़ता है, 'प्रतीची' (प्रति अञ्च्) इन्द्रियों के प्रत्याहार का पाठ पढ़ता है, अवाची (अव अञ्च्) से नम्रता का पाठ पढ़ता है और ददीची से (उद् अञ्च्) सदा उन्नति का उपदेश लेता है। ये प्रभु-भक्त **तथा**=मन्त्र वर्णित प्रकार से आचरण करते हुए **लोकान्**=शरीर के अंग-प्रत्यंगों को **अकल्पयन्**=शक्तिशाली बनाते हैं।

भावार्थ- प्रभु-भक्त मध्य मार्ग में चलते हैं, मस्तिष्क को प्रकाशमय बनाते हैं। इनकी गति औरों के निवास का कारण बनती है तथा ये दिशाओं से उपदेश को ग्रहण करके आगे बढ़ते हैं, इन्द्रियों को प्रत्याहृत करते हैं, नम्रता को धारण करते हैं और सदा उन्नति के मार्ग पर चलते हैं।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

सप्तास्याऽसन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥१५॥

(अस्य सप्त परिधयः आसन्) इस यज्ञ की सात परिधियाँ थीं और **(त्रिः सप्त समिधः कृताः)** तीन गुणा सात अर्थात् इक्कीस समिधायें थीं। **(देवाः यत् यज्ञं तन्वानाः)** देव जिस यज्ञ को फैला रहे थे, **(पुरुषं पशुं अबध्नन्)** उसमें इस पुरुष रूपी पशु को बांधते थे।

(१) **यद्**=जब **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **यज्ञम्**=प्रभु के साथ मेल को (यजः संगतिकरण) **तन्वानाः**= विस्तृत करते हुए बढ़ाते हुए, **पुरुषम्**=जबरदस्त पौरुष वाले **पशुम्**=काम-क्रोधरूप पशु को **अबध्नन्**=बाँध लेते हैं, पूरी तरह से वश में कर लेते हैं, तो **अस्य**=इस यज्ञविस्तारक-पशुबन्धक पुरुष के **सप्त**='कर्माविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'= दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख' रूप सातों ऋषि **परिधयः आसन्**=परिधि हो जाते हैं। परिधि हो जाने का भाव यह है कि वे सब मर्यादा में चलने वाले होते हैं। वेद में सात ही मर्यादाओं का उल्लेख है 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षु.'। इन सातों मर्यादाओं का यह पालन करता है। (२) सातों मर्यादाओं के पालन का ही यह परिणाम होता है कि इसके जीवन में **त्रिः सप्त**= त्रिगुणित सात अर्थात् इक्कीस **समिधः**=दीप्तियाँ **कृताः**=उत्पन्न हो जाती हैं (are ereated)। इसके शरीर की इक्कीस शक्तियाँ दीप्त हो उठती हैं।

भावार्थ-प्रभु से अपना समबन्ध जोड़नेवाला व्यक्ति सातों मर्यादाओं का पालन करता है और अपनी सब शक्तियों को दीप्त करने वाला होता है।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

यज्ञेन॑ यज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन् ।
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मान॑: सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्या: सन्ति॑ दे॒वा: ॥१६॥

(देवा: यज्ञेन यज्ञं अयजन्त) देवों ने इस यज्ञपुरुष के साधन से जो यज्ञ का कार्य करना प्रारम्भ किया, **(तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्)** वे प्रारंभ के धर्मश्रेष्ठ थे। ऐसा यज्ञधर्म का आचरण करने वाले धार्मिक लोग **(यत्र पूर्वे साध्या: देवा: सन्ति)** जहां पूर्व समय के साधनसंपन्न यज्ञ करने वाले लोग रहते थे **(ते ह महिमान: नाकं सचन्त)** वे ही महात्मा लोग निश्चय से उसी सुखपूर्ण स्थान में जाकर रहने लगे।

(१) प्रभु यज्ञ हैं, पूज्य हैं संगतिकरण योग्य हैं और समर्पणीय हैं। 'बड़ों का आदर करना, बराबरवालों से मिलकर प्रेम से चलना तथा देना' यह त्रिविध कर्म यज्ञ है। **यज्ञेन**=इस 'बड़ों के आदर, परस्पर प्रेम व दान' रूप यज्ञात्मक कर्म से **यज्ञ**=उस उपास्य प्रभु को **देवा:**=देववृत्ति के पुरुष **अयजन्त**=उपासित करते हैं। प्रभु की उपासना यज्ञान्तर्गत इन्हीं तीन कर्मों से होती है। वस्तुत: **तानि**=वे तीन कर्म ही **प्रथमानि धर्माणि आसन्**=मनुष्य के प्रमुख कर्त्तव्य (first and foremost duties) थे। (२) इन कर्मों के द्वारा **महिमान:**=(महा पूजायाम्) प्रभु -पूजन करनेवाले **नाकम्**=उस सुखमय मोक्ष लोक का **सचन्त**=सेवन करते हैं, **यत्र**=जहाँ जिस मोक्षलोक में वे व्यक्ति **सन्ति**=निवास करते हैं जो **पूर्वे**=अपना पालव पूरण करनेवाले हैं, **संध्या:**=(साधयन्ति परकार्याणि) दूसरों के कार्यों को सिद्ध करनेवाले हैं, तथा **देवा:**=सदा काम-क्रोधादि को जीतने की कामना करते हैं विजिगीषा=दिव्) और ज्योतिर्मय जीवन बिताते हैं (द्युति=दिव्।

भावार्थ-प्रभु का उपासना यज्ञ से होता है, यज्ञ ही प्रमुख कर्त्तव्य है, प्रभु-पूजक मोक्ष को प्राप्त करता है। मोक्ष को प्राप्त करके 'नारायण' सा ही हो जाता है।

इस सूक्त का सार यही है कि प्रभु अनन्त ज्ञानवाले हैं उस ज्ञान से वे इस सुदर सृष्टि का निर्माण करते हैं। हम प्रभु को धारण करते हुए एक-एक अंग को शक्तिशाली बनाएँ। सदा यज्ञों द्वारा उस प्रभु का उपासना करते हुए एक-एक अंग को शक्तिशाली बनाएँ। सदा यज्ञों द्वारा उस प्रभु का उपासना करे हुए हम भी प्रभु जैसे बन जाएँ। यज्ञों द्वारा प्रभु का उपासना करनेवाला यह 'वीतं हव्यं येन'=यज्ञशेष का सेवन करनेवाला 'वैतहव्य' बनता है तथा **अरुण:**=तेजस्विता की लालिमावाला होता है। अगले सूक्त का यही ऋषि है। यह 'अग्नि' नाम से प्रभु को याद करता है।

स्मरणीय बिंदु-

1. नासदीय सूक्त सृष्टि रहस्य का वर्णन करता है।
2. यह वैदिक दर्शन का महत्वपूर्ण सूक्त है।
3. सूक्त में गहन दार्शनिक चिंतन मिलता है।

शब्दावली-

शब्द	**अर्थ**
	नासदीय सृष्टि संबंधी सूक्त
	दार्शनिक तत्वज्ञान संबंधी
सृष्टि	जगत की उत्पत्ति
रहस्य	गूढ़ विषय
चिंतन	विचार

5 अंक के प्रश्न-

1. नासदीय सूक्त का मुख्य विषय क्या है?
2. नासदीय सूक्त किस वेद में मिलता है?
3. 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' का अर्थ लिखिए।
4. नासदीय सूक्त का दार्शनिक महत्व बताइए।
5. सृष्टि रहस्य का वर्णन किस सूक्त में मिलता है?

15 अंक के प्रश्न-

1. नासदीय सूक्त का भावार्थ लिखिए।

2. नासदीय सूक्त की दार्शनिक व्याख्या कीजिए।
3. वैदिक साहित्य में सृष्टि उत्पत्ति के सिद्धांत का वर्णन कीजिए।
4. नासदीय सूक्त की आधुनिक प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए।
5. वैदिक चिंतन एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर प्रकाश डालिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. नासदीय सूक्त किस विषय से संबंधित है?

(क) युद्ध

(ठ) सृष्टि उत्पत्ति

(ग) व्यापार

(घ) कृषि

उत्तर - (ख)

2. नासदीय सूक्त किस वेद में मिलता है?

(क) ऋग्वेद

(ख) सामवेद

(ग) अथर्ववेद

(घ) यजुर्वेद

उत्तर - (क)

3. नासदीय सूक्त में किसका वर्णन है?

(क) सृष्टि रहस्य

(ख) राजनीति

(ग) युद्ध

(घ) कृषि

उत्तर - (क)

4. वैदिक चिंतन का मुख्य आधार क्या है?

(क) ज्ञान

(ख) सत्य

(ग) आध्यात्मिकता

(घ) उपर्युक्त सभी

उत्तर - (घ)

5. नासदीय सूक्त की शैली कैसी है?

(क) दार्शनिक

(ख) हास्यपूर्ण

(ग) राजनीतिक

(घ) व्यावसायिक

उत्तर - (क)

इकाई-4.3 ज्ञान सूक्त कण्ठपाठ अभ्यास एवं अर्थ सहित व्याख्या

उद्देश्य-

1. विद्यार्थी स्वस्तिवाचन मंत्रों का अभ्यास करेंगे।
2. शांति मंत्रों के महत्व को समझेंगे।
3. वैदिक प्रार्थना एवं कल्याण भावना को जानेंगे।

ज्ञानसूक्तम्

ऋ. मं. १० सू. ७१ बृहस्पतिराङ्गिरसः ऋषिः। ज्ञानम् देवता । त्रिष्टुप, ९ जगती छन्दः।

ओ३म् बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥१॥

हे (**बृहस्पते**) बृहस्पति!, (**प्रथमं नामधेयं दधानाः यत् प्र ऐरत्**) प्रथम ही आरंभ में बालक पदार्थों का नाम रखकर जो कुछ बोलते हैं, वह (**वाचः अग्रम्**) उनकी वाणी का सबसे पूर्ण स्वरूप है। (**एषां यत् श्रेष्ठं यत् अरिप्रं आसीत्**) इनका जो श्रेष्ठ-शुद्ध और जो निष्पाप ज्ञान है, (**एषां तत् गुहा निहितं प्रेणा आविः**) उनका वह गुप्त है, और वह प्रेम के कारण प्रकट होता है।

(१) **बृहस्पते** (**बृहस्पतेः**) उस ज्ञान के स्वामी प्रभु का **प्रथमम्**= (प्रथ विस्तारे) अत्यन्त विस्तारवाला **वाचः अग्रम्**= वाणी के अग्र-स्थान में होने वाला यह वेदज्ञान है। 'प्रथम' तो इसलिए कि इसमें सब सत्यविद्याओं का प्रकाश हुआ है और 'वाचः अग्रं' इसलिए कि सबसे पूर्व इन्हीं शब्दों का उच्चारण हुआ 'तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्' प्रभु ने मानस पुत्रों को जन्म दिया और उनमें से श्रेष्ठतम चार जो 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' उनके हृदयों में इस वेदज्ञान का प्रकाश किया। इस प्रकार सबसे प्रथम इसी वाणी का उच्चारण हुआ। (२) (क) अब **नामधेयं दधानाः**= प्रभु के नाम का हृदयों में धारण करते हुए अन्य ऋषियों व विचारशील व्यक्तियों ने भी **यत्**=यह जो वेदज्ञान था उसे **प्रैरत**=अपने में प्रेरित किया। अग्नि आदि से इन्होंने वेदज्ञान को प्राप्त किया और इस वेदज्ञान को प्राप्त करते हुए ये सदा उस प्रभु के नाम का मानस जन करने में व्यस्त रहे। (ख) इस मन्त्रभाग का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि संसार में भिन्न-भिन्न संस्थाओं (आकृतियों) का नाम रखते समय इन्होंने उस वेदवाणी को भी अपने में प्रेरित किया, उसका ध्यान करके उसी में से नदियों के सिन्धु आदि पर्वतों के हिमालयादि नाम रखे 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे'। (३) **एषाम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न हुए-हुए इन व्यक्तियों में **यत्**=जो **श्रेष्ठतम्**=सर्वोत्तम थे **यत्**=जो **अरिशम्**=बिल्कुल निर्दोष थे, जिनकी बुद्धि व मन सर्वाधिक पवित्र **आसीत्**=थे **तत्**=सो **एषाम्**=इनके श्रेष्ठ व अरिप्र लोगों के **गुहा**=हृदय रूप गुहा में **प्रेणा**=(प्रेम्णा) प्रभु प्रेम के कारण **निहितम्**=यह वेदज्ञान स्थापित हुआ और **आविः**=प्रकट हुआ। प्रारम्भिक मानसी सृष्टि में जो सर्वाग्रणी थे उनके पवित्रतम हृदयों में यह वेदज्ञान प्रकट किया गया। इनके द्वारा यह वेदज्ञान औरों तक पहुँचा।

भावार्थ-प्रभु से दी गई वेदवाणी ही इस सृष्टि के प्रारम्भिक शब्द थे। सर्वश्रेष्ठ हृदयों में इसका प्रकाश हुआ और उनके द्व ारा इसका विस्तार हुआ।

ऋषिः-**बृहस्पतिः**॥ देवता-**ज्ञानम्**॥ छन्दः-**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

सक्तुमिव ततउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥२॥

(**ततउना सक्तुं इव पुनन्तः**) जैसे सूप से सत्तू को स्वच्छ कर लेते हैं, वैसे ही, (**धीराः यत्र मनसा वाचम् अकत**) बुद्धिमान श्रेष्ठ पुरुष जिस समय बुद्धि बल से वाणी को प्रस्तुत करते हैं; (**अत्र सखायः सख्यानि जानते**) उस समय वे प्रेम भाव से युक्त ज्ञानी लोग मित्रता के भावों को जानते हैं; (**एषां अधि वाचि भद्रा लक्ष्मीः निहिता**) उनकी वाणी में कल्याणकारक मंगलमयी लक्ष्मी निवास करती है।

(१) **इव**=जैसे **सक्तुम्**=सत्तु को **ततउना**=छाननी से **पुनन्तः**=पवित्र करते हैं, उसी प्रकार **यत्र**=जहाँ **धीराः**=ज्ञान में रमण करने वाले धीर पुरुष **मनसा**=मन से, मन में मनन व चिन्तन के द्वारा, **वाचम्**=इस वेदवाणी को **अक्रत**=प्रकृति प्रत्यय के विचार से प्रकटार्थ करते हैं **अत्रा**=यहाँ **सखायः**=(सह ख्यानं येषां) मिलकर ज्ञान की चर्चा करनेवाले ये लोग **सख्यानि**=वास्तविक मित्रता को **जानते**=अनुभव करते हैं। इस संसार में वास्तविक मैत्री तो प्रभु के ही साथ है, उस

मैत्री का अनुभव ये ज्ञान की चर्चा करनेवाले ही कर पाते हैं। (२) **एषां वाचि**=इनकी वाणी में **भद्रा लक्ष्मीः**=कल्याणी लक्ष्मी **अधि निहिता**=आधिक्येन निहित होती है। इनकी वाणी पवित्र होती है, ये सब के लिये शुभ ही शब्दों को बोलती है, सदा प्रभु के नाम का स्मरण करने से यह लक्ष्मी सम्पन्न बनी रहती है। जब लक्ष्मीवान् वे प्रभु हैं, इनकी वाणी में लक्ष्मी क्यों न हो! वास्तव में तो इनकी वाणी में ऐसी शक्ति आ जाती है कि ये जो कुछ बोलते हैं वैसा ही हो जाता है।

भावार्थ-वेदवाणी की मिलकर चर्चा करने से वाणी में भद्रा लक्ष्मी का निवास होता है।

ऋषिः-**बृहस्पतिः**॥ देवता-**ज्ञानम्**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते ॥३॥

वे बुद्धिमान् लोग! **(वाचः पदवीयं यज्ञेन आयन्)** उत्कृष्ट वाणी से प्राप्त करने योग्य अभिप्राय को यज्ञ के द्वारा ही प्राप्त करते हैं। **(ऋषिषु प्रविष्टां तां अविन्दन्)** उन्होंने तत्त्वदर्शी ऋषियों में प्रविष्ट हुई उस वाणी को प्राप्त किया अनन्तर **(तां आभृत्य पुरुत्रा व्यदधुः)** उस वाणी को प्राप्त करके उन्होंने बहुत देशों में उसका ज्ञान के लिये प्रसार किया; **(तां सप्त रेभाः अभि सं नवन्ते)** इस प्रकार की उस वाणी को उन्होंने गायत्र्यादि छन्दों में स्तुतिरूप किया।

(१) **यज्ञेन**-यज्ञ के द्वारा उस उपास्य प्रभु के द्वारा ('यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः') **वाचः**=वाणी के **पदवीयम्**=मार्ग को **आयन्**=प्राप्त हुए। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु के द्वारा अग्नि आदि को इस वेदवाणी का ज्ञान हुआ और **ऋषिषु प्रविष्टाम्**=अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में प्रविष्ट हुई-हुई **ताम्**=उस वेदवाणी को **अन्वविन्दन्**=पीछे अन्य ऋषियों ने प्राप्त किया। प्रभु ने अग्नि आदि को ज्ञान दिया। अग्नि आदि से अन्य ऋषियों ने इसे पाया। (२) **तां आमृत्या**=उस वेदवाणी को उत्तमता से धारण करके उन्होंने **पुरुत्रा**=बहुत स्थानों में **व्यदधुः**=इसे स्थापित किया। इसका मनुओं में, विचारशील पुरुषों में प्रचार किया, **ताम्**=उस वेदवाणी को **सप्त रेभाः**=सात गायत्री आदि छन्द **अभिसंनवन्ते**=प्राप्त होते हैं। यह वेदवाणी गायत्री आदि सात छन्दों में प्रवृत्त होती है। अथवा 'सप्तरेभाः' को समस्त पद लेकर यह अर्थ किया जा सकता है कि उस वेदवाणी को 'कानों, नासिकाओं, आँखों व मुख' से इन सातों से प्रभु-स्तवन करने वाले लोग **अभितः**=प्राप्त होते हैं।

सूचना-प्रारम्भिक चरण का अर्थ यह भी है कि 'यज्ञ से, श्रेष्ठतम कर्मों से वाणी के मार्ग को प्राप्त करते हैं' यज्ञिय वृत्ति हृदय का शोधन करके हमें वेदज्ञान के मार्ग का पथिक बना देती है।

भावार्थ-प्रभु अग्नि आदि को वेदज्ञान देते हैं, इनसे अन्य यज्ञिय वृत्तिवाले ऋषियों को यह प्राप्त होती है। उसे ये ऋषि मानवसमाज में प्रचरित करते हैं। यह वेदवाणी सात छन्दों से युक्त है, अथवा 'कान-२, नाक-२, आँख-२, मुख-१' ये सात स्तोता बनकर इसे प्राप्त करते हैं।

ऋषिः-**बृहस्पतिः**॥ देवता-**ज्ञानम्**॥ छन्दः-**पदनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥४॥

(उत त्वः वाचं पश्यन् न ददर्श) एक तो वाणी को मन से देखता हुआ भी नहीं अज्ञानता के कारण देख सकता; और **(उत त्वः एनां शृण्वन् न शृणोति)** दूसरा इस वाणी को सुनकर भी (अर्थ न समझने के कारण) नहीं सुन सकता। **(उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे)** वह वाणी किसी के पास अपने ज्ञानरूप को स्वयं विशेष प्रकार से इस प्रकार प्रकट करती है, जैसे **(पत्ये सुवासाः उशती जाया इव)** पति के सुख के लिये सुन्दर वस्त्र परिधान कर पत्नी अपना रमणीय मोहनीय शरीर पति के पास प्रकट करती है।

(१) **त्वः**=कोई एक **पश्यन् उत**=देखता हुआ भी **वाचं न ददर्श**= इस वेदवाणी को देखता नहीं, **त्वः**=कोई एक **शृण्वन् उत**=सुनता हुआ भी **एनां न शृणोति**=इस वेदवाणी को नहीं सुनता है। इस वेदवाणी को देखता और सुनता हुआ यदि वह एक तोते की तरह उसका उच्चारण कर लेता है पर उसके अर्थ को नहीं समझता, तो वस्तुतः वह देखते हुए भी नहीं देख रहा, सुनते हुए भी नहीं सुन रहा। केवल बोलना व उच्चारण करना किसी लाभ को न देने के कारण व्यर्थ-सा हो जाता है। 'व्यर्थ' का भाव ही अर्थ से रहित है। अर्थ से रहित पढ़ना व्यर्थ तो हो ही जाता है। (२) सो एक समझदार पुरुष इस वेदवाणी के अर्थ को समझने का प्रयत्न करता है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना उसका परम धर्म हो जाता है, वह इसे पढ़ता है और इसे समझने का प्रयत्न करता है, केवल पढ़कर वह चन्दनवाही खर ही नहीं बना रहता। **उत उ**=और निश्चय से **त्वस्मै**=इस वेदवाणी को समझनेवाले पुरुष के लिए यह वेदवाणी उसी प्रकार **तन्वं विसस्रे**=अपने स्वरूप को प्रकट करती है **इव**=जैसे **उशती**=हित की कामना करती हुई **सुवासाः**=उत्तम वस्त्रोंवाली जाया=पत्नी **पत्ये**=पति के लिए अपने रूप को प्रकट करती हैं। अर्थज्ञ पुरुष ही

वेदवाणी के रूप को ठीक प्रकार देख पाता है। यही उससे उचित आनन्दों को प्राप्त करने वाला होता है।

भावार्थ- वेदवाणी के अर्थ को न समझनेवाला पुरुष वेदवाणी को देखता हुआ भी नहीं देख रहा होता। यह वेदवाणी के सुन्दर रूप का दर्शन नहीं कर पाता।

ऋषिः- **बृहस्पतिः**॥ देवता-**ज्ञानम्**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥स्वरः-**धैवतः**॥

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥५॥

(उत त्वं सख्ये स्थिरपीतं आहुः) और किसी एक विद्वान् को श्रेष्ठ पुरुषों के बीच स्थिर बुद्धिवाला धीमान् कहते हैं; **(वाजिनेषु अपि एनं न हिन्वन्ति)** वाणी का सामर्थ्य प्रकट करने में कोई भी इसके तुल्य नहीं हो सकता; वहीं सर्व श्रेष्ठत्व प्राप्त करता है। और जो **(वाचं अफलां अपुष्पां शुश्रुवान्)** वाणी को फल-अर्थ और फूल-तात्पर्य के बिना केवल अध्ययन करता है, **(एषः अधेन्वा मायया चरति)** वह बन्ध्या गौ के समान छलपूर्वक वाणी के सहित विचरता है।

(१) गत मन्त्र के अनुसार जिसके प्रति वेदवाणी रूप पत्नी अपने रूप को प्रकट करती है **त्वं उत**=उसको ही **सख्ये**=मिलकर के होनेवाली ज्ञानचर्चाओं के प्रसंग में (सह चक्षते अस्मिन्) **स्थिरपीतम्**=स्थिरता से किये हुए ज्ञान के पानवाला **आहुः**=करते हैं। **एनम्**=इस स्थिरपीत व्यक्ति को **वाजिनेषु**=(वाक् इना येषां) वाक् से ज्ञेय अर्थों में **न हिन्वन्ति अपि**=नहीं ही प्राप्त होते। यह जितनी सुन्दर वाग् शेष अर्थों का प्रतिपादन करता है, उतना अन्य लोग नहीं कर पाते, शास्त्रार्थ में इससे जीत नहीं पाते। एवं वेदवाणी के अर्थ का 'मनन, निदिध्यासन व साक्षात्कार' भी अत्यन्त आवश्यक है। (२) मननादि को न करके श्रवण तक ही अपने को सीमित करनेवाला **एषः**=यह व्यक्ति **वाचं शुश्रुवान्**=वाणी का सुनने वाला तो हुआ है, परन्तु **अफलां अपुष्पाम्**=इसने फल पुष्प रहित ही वाणी को सुना है। वाणी के पुष्प व फल उसके अर्थ ही है। अर्थ को नहीं जाना तो वह वाणी अफलता अपुष्पा तो हो ही गई। 'यज्ञविषयक ज्ञान' इस वाणी का पुष्प है और 'देवता (प्रभु) विषयक ज्ञान' इसका फल है। जिसने वेदवाणी को सुनकर यज्ञों व देवों को नहीं जाना, यज्ञ में प्रवृत्त नहीं हुआ तथा प्रभु के उपासना में नहीं लगा तो उसके लिये यह वेदवाणी 'अफला व अपुष्पा' ही रही। (३) वह वेदवाणी के अर्थ को न समझने वाला पुरुष तो **अधेन्वा**=एक अप्रशस्त धेनु के साथ **मायया**=माया व भ्रान्ति को पैदा करता हुआ **चरति**=विचरण करता है। जैसे बांझ और शरीर में हृष्ट-पुष्ट गौ को लिये हुए एक पुरुष इधर-उधर घूमता है तो लोगों को यही भ्रम होता है कि मनभर तो दूध देती ही होगी, इसी प्रकार इस वेदोच्चारण करने वाले पुरुष के लिये लोगों के हृदय में उसके लिये महती भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है, वे उसे बड़ा वेदज्ञ समझने लगते हैं, जब कि वास्तव में वह कोरे का कोरा ही है।

भावार्थ-वेदार्थ को समझने वाला ही वेद से कल्याण को प्राप्त करता है। दूसरे के लिये तो यह वेदवाणी वन्ध्या गौ के ही समान है।

ऋषिः-**बृहस्पतिः**॥ देवता-**ज्ञानम्**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥६॥

(यः सचिविदं सखायं तित्याज) जो विद्वान्, उपकारी, वेदों के अधिष्ठाता, वेत्ता परममित्र को त्यागता है, **(तस्य वाचि अपि भागः न अस्ति)** उसकी वाणी में भी कोई फल नहीं है। **(ईम् यत् शृणोति अलकं शृणोति)** वह जो कुछ सुनता है, व्यर्थ ही सुनता है; **(हि सुकृतस्य पन्थां न प्रवेद)** और वह सत्कर्म का कल्याण का मार्ग नहीं जान सकता।

(१) **यः**=जो **सचिविदं (सचा विद्यते)**=सदा साथ रहने वाले अथवा (शंची विन्दति 'अन्तर्भावितण्यर्थ')=शक्ति व प्रज्ञान को प्राप्त कराने वाले **सखायम्**=मित्र प्रभु को **तित्याज**=छोड़ देता है, **तस्य**=उसका **वाचि**= वेदवाणी में **भागः अपि**=कुछ अंश **न अस्ति**=नहीं होता प्रभु का विस्मरण करने वाला वेदवाणी को ग्रहण नहीं कर पाता। (२) वेदवाणी को छोड़कर यह संसार में **ईम्**=निश्चय से **यत् शृणोति**=जो अन्य बातें सुनता है **अलकं शृणोति**=वह सब असत्य ही सुनता है। उस सब श्रवण से यह **सुकृतस्य**=पुण्य के **पन्थाम्**=मार्ग को **नहि प्रवेद**=निश्चय से नहीं जान पाता। वेदों को छोड़कर अन्य बातों को सुनते रहना हमारे लिये धर्मज्ञान में सहायक नहीं होता। वेद व वेद के व्याख्यान ग्रन्थ ही हमें धर्म की प्रेरणा देते हैं। अन्य ज्ञान वस्तुतः ज्ञान ही नहीं होता, वह हमें धर्म की ओर झुकाववाला नहीं करता।

भावार्थ-प्रभु-स्मरण से शक्ति व प्रज्ञा में वृद्धि होती है, हम वेद को समझने योग्य बनते हैं और धर्म का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

ऋषिः-**ब्रहस्पति**॥ देवता-**ज्ञानम्**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥७॥

(अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः) आँखोंवाले, कानवाले, समान ज्ञान ग्रहण करने वाले मित्र भी **(मनोजवेषु असमाः बभूवुः)** मन से जानने योग्य ज्ञान में एक समान नहीं होते। जैसे **(ह्रदाः आदध्नासः)** भूमिपर कोई जलाशय मुखतक गहराई के जलवाले और **(त्वे उ उपकक्षासः इव)** कोई कटितक जलवाले तड़ाग के समान होते हैं; **(स्नात्वाः उ त्वे)** और कोई स्नान करने के योग्य भी होते हैं। इसी प्रकार मनुष्यों में भी ज्ञान की दृष्टि से असमानता रहती है।

(१) **अक्षण्वन्तः**=आँखों वाले तथा **कर्णवन्तः**=कानों वाले **सखाया**=एक ही श्रेणी में ज्ञान को प्राप्त करने वाले (समानं ख्यानं येषां) युवक होते हैं। इनकी आँखें बाह्य पदार्थों को ठीक से देखती हैं, कान बाह्य शब्दों को ठीक से सुनते हैं एक ही गुरु से ये ज्ञान प्राप्त कर रहे होते हैं। ऐसा होते हुए भी **मनोजवेषु**=मन के वेगों में **असमा बभूवुः**=ये समान नहीं होते। इनका मन दिये जाते हुए ज्ञान को समान रूप से ग्रहण नहीं करता। (२) ज्ञान को यदि जल से उपमित करें, तो इनमें से कई **आदध्नासः**=आस्य प्रमाण उदक वाले होते हैं, कईयों के ज्ञान सरोवर में मुख तक आने वाला ज्ञान जल भरा होता है। **उ**=और **त्वे**=कई तो **स्नात्वाः ह्रदाः इव**=स्नानीय तालाबों के समान परिपूर्ण जलवाले, डुबाऊ जलवाले **ददृश्रे**=दिखाई पड़ते हैं।

भावार्थ-बाह्य वातावरण की समानता होते हुए भी मनोजवों की विषमता के कारण एक ही श्रेणी के विद्यार्थियों में ज्ञान की विषमता हो जाती है। 'स्नात्वाः ह्रदाः इव' प्रथम विभाग के हैं, 'आदध्नासः' द्वितीय विभाग के तथा 'उपकक्षासः' तृतीयविभाग के।

ऋषिः **बृहस्पतिः**॥ देवता-**ज्ञानम्**॥ छन्दः- **विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

ह्रदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः ।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥८॥

(सखायः ब्राह्मणाः ह्रदा तष्टेषु) समान योग्यता वाले ज्ञानी, ब्राह्मण हृदय से अच्छी प्रकार **(मनसः जवेषु यत् संयजन्ते)** मनःपूर्वक वेदार्थ के गुण दोष के निरूपण-परीक्षण के लिये जब एकत्र होते हैं; **(अत्र त्वं वेद्याभिः वि जहुः)** तब किसी व्यक्ति को वेदविद्या से अज्ञ जानकर छोड़ देते हैं। **(अह ओहब्रह्माणः उ त्वे विचरन्ति)** और कुछ स्तोत्रज्ञ विद्वान् ब्राह्मण वेदार्थज्ञाता होकर विचरण करते हैं। **यद्**= जब **ह्रदा**=हृदय की श्रद्धा से **तष्टेषु**=तीव्र किये हुए (तक्ष=तनूकरणे) **मनसः जवेषु**=मन के वेगों में, मन से प्राप्त करने योग्य ज्ञानो के निमित्त **ब्राह्मणाः**=ब्रह्म के विचारक पुरुष **सखायः**=परस्पर ज्ञान की मैत्रीवाले होकर **संयजन्ते**= एकत्रित होते हैं। एकत्रित होकर जब ये ज्ञानी पुरुष ज्ञानयज्ञ को प्रारम्भ करते हैं तो **अत्र**=यहाँ ज्ञानयज्ञों में **अह**=निश्चय से **त्वम्**=किसी एक को **वेद्याभिः**=वेद्य वस्तुओं से **विजहुः**=छोड़ देते हैं। अर्थात् समझ की कमी के कारण उसे शास्त्रीय चर्चाओं में सम्मिलित नहीं करते। **उ त्वे**=और कई इन नासमझ पुरुषों से भिन्न **ओहब्रस्नाणः**=ऊह्य है ब्रह्म जिनके लिये, अर्थात् तर्क-वितर्क द्वारा ब्रह्म के अस्तित्व का स्थापन करने वाले व्यक्ति उन ज्ञानयज्ञों में **विवरन्ति**=विशिष्ट शोभा के साथ विचरण करते हैं। ज्ञान उनकी शोभा वृद्धि का कारण बनता है। (२) ज्ञान यज्ञों में कई हृदय व मन के विकास के कारण ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करनेवाले होते हैं तो दूसरे अविकसित हृदय व मनवाले अलग ही बैठे रह जाते हैं।

भावार्थ- हृदय व मन की पवित्रता ब्रह्मज्ञान के लिये आवश्यक है। इसके बिना हम 'ओहब्रह्म' नहीं बन पाते।

ऋषिः-**ब्रहस्पति**॥ देवता-**ज्ञानम्**॥ छन्दः-**विराड्जगती**॥ स्वरः-**निषादः**॥

इमे ये नार्वाङ्न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः ।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः ॥९॥

(इमे ये न अर्वाक न परः न चरन्ति) ये जो-वेदार्थ न जानने वाले अविद्वान- इस लोक में ब्राह्मण के और परलोक में देवों के साथ यज्ञादि कर्म नहीं करते, और जो **(न ब्राह्मणासः न सुतेकरासः)** न ब्रह्म वेद जानने वाले हैं और न सोमयज्ञ कर्ता हैं; वे **(अप्रजज्ञयः)** ज्ञानी नहीं होते! **(ते एते पापया वाचं अभिपद्य)** वे ये पापकारिणी लौकिक वाणी को प्राप्त कर **(सिरीः तन्त्रं तन्वते)** मूर्ख व्यक्ति के समान हल आदि साधन लेकर अपना भरणपोषण कृषि आदि व्यवहार से करते हैं।

(१) **इमे**=ये **ये**=जो **न**=न तो **अर्वाङ्**=यहाँ नीचे लौकिक क्षेत्र में ब्राह्मणों के साथ ज्ञानचर्चा करते हुए **चरन्ति**=विचरते हैं और **न**=नां **परः**=उत्कृष्ट अध्यात्मक्षेत्र में देवचिन्तन करते हुए देवों के साथ विचरते हैं, वे **न ब्राह्मणासः**= न ज्ञानी बनते हैं और **न**=नां ही **सुतेकरासः**=यज्ञादि को करनेवाले होते हैं। ब्राह्मणों के साथ विचरते, तो उनके साथ ज्ञानचर्या करते हुए ज्ञानी बन जाते। यदि देवों का चिन्तन करते, तो इन सब पदार्थों को देवों से दिया हुआ जानकर, सदा देवों के लिये देकर यज्ञशेष का ही सेवन करते। परन्तु न तो ये ज्ञानी बने, न यज्ञशील। (२) **ते एते**=वे ये **अप्रजज्ञयः**=अविद्वान् लोग **वाचम्**=लौकिकी वाणी को ही, 'कहाँ और कब क्या-क्या दुर्घटनाएं हुई' इस प्रकार की व्यर्थ की वाणी को **अभिपद्य**=प्राप्त होकर **पापया**=उस पाप की ओर झुकाव को करनेवाली वाणी से युक्त हुए-हुए **सिरीः**=

(सिरिणो भूत्वा सा.) हलों वाले होकर **तन्त्रम्**=कृषि लक्षण तन्त्र का ही **तन्वते**=विस्तार करते हैं। अर्थात् ये हल ही चलाते रह जाते हैं, अर्थात् खान-पान की दुनियाँ से ऊपर नहीं उठ पाते।

सूचना-यहां कृषि की निन्दा अभिप्रेत नहीं। परन्तु खान-पान की दुनियाँ से ऊपर उठना अभिप्रेत है। केवल इस दुनियाँ की चर्चा न करते रहकर, कुछ अध्यात्मचर्चा भी करनी ही चाहिए।

भावार्थ-हम ब्राह्मणों के सम्पर्क से ज्ञानी बनें, देवों के सम्पर्क से यज्ञशील। केवल लौकिक बातों के ज्ञान में उलझकर खाने-पीने की दुनियाँ में ही न समाप्त हो जाएँ।

ऋषिः-**ब्रहस्पति**॥ देवता-**ज्ञानम्**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः ।
किल्बिषस्पृत्पितुषणिर्ह्वेषामरं हितो भवति वाजिनाय ॥१०॥

(सर्वे सखायः सभासाहेन सख्या आगतेन यशसा नन्दन्ति) सब समान ज्ञान-योग्यता वाले मित्र, सभा में प्राधान्य प्रदान करने वाले यशस्वी सोम-मित्र ज्ञानी पुरुष से आनंदित होते हैं। **(एषां पितुषणि किल्विषस्पृत्)** यह इनके बीच में अन्नदाता और पापनाशक सोम **(वाजिनाय हितः अरं भवति)** इन्हें बल-वीर्य प्रदान करने के लिये समर्थ है।

(१) जो व्यक्ति ब्राह्मणों व देवों के सम्पर्क में विचरता है वह खूब ऊँचा ज्ञानी बनता है। जब कभी यह सभाओं में आता है, तो इसके आने पर सभी प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। इस **यशसा**=यशस्वी **सभासाहेन**=सम्पूर्ण सभा का अपने ज्ञान से अभिभव करने वाले **आगतेन**=आये हुए **सख्या**=ज्ञान संगी से **सर्वे सखायः**=सारे ज्ञान संगी **नन्दन्ति**= हर्ष का अनुभव करते हैं। (२) सभा में उपस्थित न होकर यह जो ज्ञानचर्चा करता है, उस ज्ञानचर्चा से यह **किल्विषस्मृत्**= पापों का नष्ट करने वाला होता है **पितुषणिः**=अन्न का सम्भजन करानेवाला होता है। इसकी चर्चा पर व अपरा दोनों विद्याओं के क्षेत्र में चलती है। पराविद्या से यह पापों को दूर करता है तो अपरा से यह अन्न प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त कराता है। इसका दिया हुआ ज्ञान अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करता है। (३) इस प्रकार यह विद्वान् **एषाम्**=इन सब सभ्यों के **वाजिनाय**=शक्ति-सम्पादन के लिये **अरम्**=पर्याप्त रूप से **हितः**=हितकर **भवति**=होता है। इनके ज्ञान को देकर वह शारीरिक व अध्यात्म शक्तियों से इन्हें सम्पन्न बनाता है।

भावार्थ-ज्ञान वही ठीक है जो कि पाप को नष्ट करनेवाला है और अन्न प्राप्ति की क्षमता देता है।

ऋषिः-**ब्रहस्पति**॥ देवता-**ज्ञानम्**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥११॥

(त्वः ऋचां पोषं पुपुष्वान् आस्ते) एक स्तोता-विद्वान् वेदमंत्रों का यज्ञानुष्ठान में विधिवत् प्रयोग करके अधिष्ठित होता है। **(त्वः शक्वरीषु गायत्र्यं गायति)** दूसरा शक्वरी ऋचाओं में गायत्री छन्द में साम का गान करते हैं। **(त्वः ब्रह्मा जातविद्यां वदति)** कोई एक वेदवित् विद्वान् प्रत्येक इष्ट कार्य में प्रायश्चित् आदि विद्या का उपदेश करता है; **(उ त्वः यज्ञस्य मात्रां वि मिमीते)** कोई पुरोहित यज्ञकर्म के विभिन्न कार्यों का विशेष प्रकार से अनुष्ठान करता है।

(१) गत मन्त्रों में वर्णित ज्ञानियों में चार ज्ञानी ऋत्विज की सब यज्ञादि कार्यों को सम्पन्न कराते हैं। उनमें से **त्वः**=एक 'होता' **ऋचां पोषं पुपुष्वान्**=ऋचाओं के यथाविधि कर्मों में प्रयोग का पोषण करता हुआ **आस्ते**=यज्ञवेदी में आसीन होता है। (२) **त्वः**=एक उद्गाता **शक्वरीषु**=प्रभु के सम्पर्क के द्वारा शक्ति को उत्पन्न करनेवाली 'शक्वरी' नामक ऋचाओं में **गायत्रम्**= प्राणों का रक्षण करनेवाले 'गायत्र' नामक साम का **गायति**=गायन करता है। साम के द्वारा प्रभु के गुणों का गायन होता है, प्रभु के इस उपासना से उपासक के जीवन शक्ति का संचार होता है। (३) **त्वः**=एक **ब्रह्मा**=सर्ववेदवेत्ता-विशेषतः अथर्व के द्वारा दोषों को दूर करनेवाला **जातविद्यां वदति**=(जातेरवेदयित्रीं) उस-उस उत्पन्न कर्म में दोष दूरीकरण की विधि की ज्ञापक वाणी को बोलता है। (४) **उ**=और **त्वः**=एक अध्वर्यु, यजुर्वेद का विशेष ज्ञाता बनकर **यज्ञस्य मात्राम्**=या की मात्रा को **विमिमीते**=मापता है। आहुति के परिमाणादि का निर्णय करता है। इस प्रकार 'होता' ऋग्वेद से, 'उद्गाता' सामवेद से, 'ब्रह्मा' अथर्व से और 'अध्वर्यु' से कार्य करता है। और ये चारों मिलकर यज्ञ को पूर्ण करते हैं।

भावार्थ-हम वेदों को पढ़े, वेदज्ञान को यज्ञों में विनियुक्त करते हए यज्ञशील हों।

इस सूक्त में 'बृहस्पति' वेदज्ञानी बनकर किस प्रकार जीवन को सुन्दर बनाता है, इस बात का प्रतिपादन हुआ है।

स्मरणीय बिंदु-

1. स्वस्तिवाचन कल्याण की प्रार्थना है।
2. शांति मंत्र मानसिक संतुलन प्रदान करते हैं।
3. वैदिक मंत्र सकारात्मक ऊर्जा उत्पन्न करते हैं।

शब्दावली–

शब्द	**अर्थ**
स्वस्ति	कल्याण
शांति	मानसिक स्थिरता
मंत्र	पवित्र वाक्य
प्रार्थना	विनम्र निवेदन
मंगल	शुभता

5 अंक के प्रश्न–

1. स्वस्तिवाचन का अर्थ क्या है?
2. शांति मंत्र किस उद्देश्य से बोले जाते हैं?
3. 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ लिखिए।
4. वैदिक प्रार्थना का महत्व बताइए।
5. शांति मंत्रों का मानसिक प्रभाव लिखिए।

15 अंक के प्रश्न–

1. स्वस्तिवाचन मंत्रों की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. शांति मंत्रों का महत्व स्पष्ट कीजिए।
3. वैदिक साहित्य में कल्याण भावना का विवेचन कीजिए।
4. शांति मंत्रों की आधुनिक उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।
5. वैदिक प्रार्थनाओं की आध्यात्मिक भूमिका का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. 'स्वस्ति' का अर्थ क्या है?

(क) युद्ध
(ख) कल्याण
(ग) दुख
(घ) भय
उत्तर - (ख)

2. शांति मंत्र का उद्देश्य क्या है?

(क) संघर्ष
(ख) मानसिक शांति
(ग) व्यापार
(घ) मनोरंजन
उत्तर - (ख)

3. स्वस्तिवाचन में किसकी कामना की जाती है?

(क) कल्याण
(ख) युद्ध
(ग) धन
(घ) विजय
उत्तर - (क)

4. शांति मंत्र किस भावना को प्रकट करते हैं?

(क) क्रोध

(ख) ईर्ष्या

(ग) मंगल एवं शांति

(घ) भय

उत्तर - (ग)

5. वैदिक मंत्रों का प्रभाव किस पर पड़ता है?

(क) मन

(ख) बुद्धि

(ग) वातावरण

(घ) उपर्युक्त सभी

उत्तर - (घ)

इकाई-4.4 मंत्रपुष्पम् मन्त्रों का सस्वर उच्चारण। पुराने पाठ का आवृत्ति।

उद्देश्य-

1. विद्यार्थी वैदिक मंत्रों के व्यावहारिक उपयोग को समझेंगे।
2. मंत्रों के आध्यात्मिक एवं सामाजिक महत्व का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
3. दैनिक जीवन में वैदिक परंपराओं की उपयोगिता जानेंगे।

मंत्रपुष्पम्

ॐ योऽपां पुष्पं वेद। पुष्पवान् प्रजावान् पशुमान् भवति।
चंद्र मा वा अपां पुष्पम्। पुष्पवान् प्रजावान् पशुमान् भवति।
य एवं वेद। योऽपामायतनं वेद। आयतनवान् भवति॥ १॥
अग्निर्वा अपामायतनम्। आयतनवान् भवति। योऽग्नेरायतनं वेद। आयतनवान् भवति।
आपो वा अग्नेरायतनम्। आयतनवान् भवति।
य एवं वेद। योऽपामायतनं वेद। आयतनवान् भवति॥ २॥
वायुर्वा अपामायतनम्। आयतनवान् भवति। यो वायोरायतनं वेद। आयतनवान् भवति।
आपो वै वायोरायतनम्। आयतनवान् भवति।
य एवं वेद। योऽपामायतनं वेद। आयतनवान् भवति॥ ३॥
असौ वै तपन्नपामायतनम्। आयतनवान् भवति। योऽमुष्य तपत आयतनं वेद। आयतनवान् भवति।
आपो वाऽमुष्य तपत आयतनम्। आयतनवान् भवति।
य एवं वेद। योऽपामायतनं वेद। आयतनवान् भवति॥ ४॥
चंद्रमा वा अपामायतनम्। आयतनवान् भवति।
यश्चंद्रमस आयतनं वेद। आयतनवान् भवति।
आपो वै चंद्रमस आयतनम्। आयतनवान् भवति।
य एवं वेद। योऽपामायतनं वेद। आयतनवान् भवति॥ ५॥
नक्षत्राणि वा अपामायतनम्। आयतनवान् भवति।
यो नक्षत्राणामायतनं वेद। आयतनवान् भवति।
आपो वै नक्षत्राणामायतनम्। आयतनवान् भवति।
य एवं वेद। योऽपामायतनं वेद। आयतनवान् भवति॥ ६॥
पर्जन्यो वा अपामायतनम्। आयतनवान् भवति।
यः पर्जन्यस्यायतनं वेद। आयतनवान् भवति।
आपो वै पर्जन्यस्यायतनम्। आयतनवान् भवति।
य एवं वेद। योऽपामायतनं वेद। आयतनवान् भवति॥ ७॥
संवत्सरो वा अपामायतनम्। आयतनवान् भवति। यस्संवत्सरस्यायतनं वेद। आयतनवान् भवति।
आपो वै संवत्सरस्यायतनम्। आयतनवान् भवति।
य एवं वेद। योऽप्सुनावं प्रतिष्ठितां वेद। प्रत्येव तिष्ठति॥ ८॥
ॐ शांतिः शांतिः शांतिः॥

स्मरणीय बिंदु-

1. वैदिक मंत्रों का प्रयोग यज्ञ एवं संस्कारों में होता है।
2. सस्वर पाठ मानसिक एवं आध्यात्मिक लाभ देता है।
3. वैदिक मंत्र जीवन में सकारात्मकता उत्पन्न करते हैं।

शब्दावली-

शब्द	**अर्थ**
संस्कार	धार्मिक विधि
यज्ञ	वैदिक अनुष्ठान
व्यावहारिक	व्यवहार में उपयोगी
सस्वर	स्वर सहित
आध्यात्मिक	आत्मा से संबंधित

5 अंक के प्रश्न-

1. वैदिक मंत्रों का व्यावहारिक उपयोग कहाँ होता है?
2. दैनिक जीवन में मंत्रों का महत्व लिखिए।
3. यज्ञ में मंत्रों की भूमिका क्या है?
4. वैदिक मंत्रों का मानसिक प्रभाव बताइए।
5. सस्वर पाठ का लाभ लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. वैदिक मंत्रों की व्यावहारिक उपयोगिता का वर्णन कीजिए।
2. दैनिक जीवन में वैदिक मंत्रों के महत्व पर प्रकाश डालिए।
3. यज्ञ एवं संस्कारों में मंत्रों की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
4. वैदिक मंत्रों के वैज्ञानिक पक्ष का विवेचन कीजिए।
5. आधुनिक जीवन में वैदिक मंत्रों की प्रासंगिकता बताइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. वैदिक मंत्रों का प्रयोग कहाँ होता है?

(क) यज्ञ
(ख) संस्कार
(ग) प्रार्थना
(घ) उपर्युक्त सभी
उत्तर - (घ)

2. सस्वर पाठ का लाभ क्या है?

(क) स्मरणशक्ति बढ़ना
(ख) मानसिक शांति
(ग) उच्चारण शुद्धि
(घ) उपर्युक्त सभी
उत्तर - (घ)

3. वैदिक मंत्रों का मुख्य उद्देश्य क्या है?

(क) कल्याण
(ख) संघर्ष
(ग) व्यापार
(घ) मनोरंजन
उत्तर - (क)

4. मंत्रों का प्रभाव किस पर पड़ता है?

(क) मन
(ख) वातावरण

(ग) आत्मा

(घ) उपर्युक्त सभी

उत्तर - (घ)

5. वैदिक परंपरा का आधार क्या है?

(क) ज्ञान

(ख) मंत्र

(ग) यज्ञ

(घ) उपर्युक्त सभी

उत्तर - (घ)

॥ ओ३म् ॥

यज्ञविज्ञानम्

BDPHSE-306 (2)

दिव्य प्रकाशन

यज्ञविज्ञानम्
BDPHSE-306 (2)

क्रेडिट:- 03
घण्टें:- 45

उद्देश्य:-

- यज्ञ के स्वरूप एवं उसके ऐतिहासिक तथ्यों से अवगत कराना।
- यज्ञ के व्यावहारिक, वैज्ञानिक एवं पारमार्थिक पक्षों का ज्ञान कराना।
- यज्ञ-चिकित्सा का बोध कराना।

परिणाम:-

- यज्ञ से सामान्य रूप से रोगों के निदान में समर्थता प्राप्त होगी।
- यज्ञ एवं योग को समग्र चिकित्सा के रूप में उपयोग एवं विनियोग करने में कुशल होगें।

खण्ड-1

इकाई-1

- **यज्ञशब्द के अर्थ एवं निर्वचन**
- **यज्ञों के क्रम**
- **यज्ञ के प्रकार**
- **अग्निहोत्र-विधानकाल**

इकाई-2

- **यज्ञीय पदार्थ**
- **यज्ञ-महिमा**
- **हविर्द्रव्यों की मात्राएँ**
- **यज्ञाग्नि महत्त्व**
- **मन्त्र**
- **अन्य घटक**

खण्ड-2

इकाई-1

- **पञ्च महायज्ञ**
- **इकाई-2 पितृयज्ञ-विधि**
- **ब्रह्मयज्ञ (सन्ध्योपासना)**
- **बलिवैश्वदेवयज्ञ-विधि**
- **देवयज्ञ (अग्निहोत्र)**
- **अतिथियज्ञ-विधि**

खण्ड-3

इकाई-1

- **यज्ञ से भूमि-शोधन**
- **यज्ञ से जल-शुद्धि**
- **यज्ञ से वायु-शोधन**

इकाई-2

- **यज्ञ से प्रदूषण निवारण**
- **यज्ञ का इतिहास**
- **यज्ञ का आध्यात्मिक पक्ष**

खण्ड-4

इकाई-1

- **यज्ञ चिकित्सा**
- **रोगानुसार हवन सामग्री**
- **हवन सामग्री पर अनुभूत शोध**
- **आयुर्वेदिक धूम चिकित्सा**पाठ्यपुस्तक-

- श्रोत यज्ञों का संक्षिप्त परिचय। लेखक- पं.युधिष्ठिर मीमांसक।
- यज्ञ योग आयुर्वेद चिकित्सा। लेखक- प.पू.स्वामी रामदेव जी महाराज।
- वैदिक नित्यकर्म विधि। लेखक- प.पू.स्वामी रामदेव जी महाराज।

विषय-सूची

विषयपृष्ठ सं.

खण्ड-1 05-17

इकाई-1 05-15

- ❖ यज्ञशब्द के अर्थ एवं निर्वचन
- ❖ यज्ञ के प्रकार
- ❖ यज्ञों के क्रम
- ❖ अग्निहोत्र-विधानकाल

इकाई-2 16-26

- ❖ यज्ञीय पदार्थ
- ❖ हविर्द्रव्यों की मात्राएँ
- ❖ मन्त्र
- ❖ यज्ञ-महिमा
- ❖ यज्ञाग्नि महत्त्व
- ❖ अन्य घटक

खण्ड-2 27-46

इकाई-1 27-44

- ❖ पञ्च महायज्ञ
- ❖ ब्रह्मयज्ञ (सन्ध्योपासना)
- ❖ देवयज्ञ (अग्निहोत्र)
- ❖ इकाई-2 पितृयज्ञ-विधि- 45-46
- ❖ बलिवैश्वदेवयज्ञ-विधि
- ❖ अतिथियज्ञ-विधि

खण्ड-3 47-57

इकाई-1 47-50

- ❖ यज्ञ से भूमि-शोधन
- ❖ यज्ञ से वायु-शोधन
- ❖ यज्ञ से जल-शुद्धि

इकाई-2 51-57

- ❖ यज्ञ से प्रदूषण निवारण
- ❖ यज्ञ का आध्यात्मिक पक्ष
- ❖ यज्ञ का इतिहास

खण्ड-4 58-77

इकाई-1 58-77

- ❖ यज्ञ चिकित्सा
- ❖ हवन सामग्री पर अनुभूत शोध
- ❖ रोगानुसार हवन सामग्री
- ❖ आयुर्वेदिक धूम चिकित्सा

भूमिका

यज्ञ सार्वभौमिक, वैज्ञानिक एवं पन्थनिरपेक्ष पावनी परम्परा है, जिसका आचरण प्राचीनकाल में राजा-महाराजओं के महलों से लेकर नगरवासियों एवं अरण्यवासी ऋषि-मुनियों की कुटियों तक सभी स्थान पर देखने को मिलता है।

यज्ञ मनोकामनापूर्ति, पर्यावरण शुद्धि, आरोग्यप्राप्ति, उत्तम कृषि से लेकर के दैवीय शक्तियों का पूजन, ईश्वर-आराधना, पुण्य-प्राप्ति, शुभसंस्कारों का उदय आदि अनेक लाभ प्रदान करता है।

सहस्रंभरः शुचिजिह्वो अग्निः। (ऋग्वेद-2.9.1)

पवित्र ज्वाला वाली यज्ञाग्नि हजारों लाभ प्रदान करती है।

जिनमें भौतिक धन-धान्य से लेकर के आध्यात्मिक जीवन में मानवीय चेतना का उत्कर्ष करके अतिमानस चेतना की ओर अग्रसर करने पर्यन्त सम्मिलित हैं।

इस प्रकार अनेक लाभ प्रदान वाले **'यज्ञ'** के विषय में प्राचीनग्रन्थ, वेद, उपनिषद, ब्राह्मण आदि ग्रन्थों तथा वैदिक विद्वानों एवं आधुनिक विज्ञान से युक्त पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है।

खण्ड-1

इकाई-1 यज्ञशब्द के अर्थ एवं निर्वचन

उद्देश्य-

1. यज्ञ शब्द के अर्थ का बोध कराना।
2. भारतीय परम्पराओं यज्ञ के प्रकारों का ज्ञान होना।
3. अग्निहोत्र के समय का महत्व प्रकाशन।

वैदिक कोश **'निघण्टु'** में यज्ञ के 15 पर्यायों का उल्लेख है- **यज्ञः, वेनः, अध्वरः, मेधः, विदथः, नार्यः, सवनम्, होत्रा, इष्टिः, देवता, मखः, विष्णुः, इन्दुः, प्रजापतिः, घर्म इति पञ्चदश यज्ञनामानि।**[1]

अमरकोषकार ने **सवः, यागः, सप्ततन्तुः** एवं **क्रतु** को भी यज्ञ के पर्याय माने हैं।[2]

यज्ञः

वेदव्याख्याकार आचार्य यास्क ने 'यज्ञ' शब्द की निरुक्ति कई दृष्टियों से की है। यथा-

प्रख्यातं यजतिकर्म इति नैरुक्ताः- निरुक्तकारों के मत में यज्ञ शब्द यजनार्थक है।

याञ्चो भवतीति वा- अथवा यह किसी फल विशेष की याचना के लिये किया जाता है, यह यज्ञ याचनीय है।

यजुरुन्नो भवतीति वा- अथवा यजुर्मन्त्रों से सम्पन्न होता है, अतः इसे यज्ञ कहते हैं।

महर्षि पाणिनि के **यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु इत्यस्माद्धातोः यजयाचेति**[3] **सूत्रेण नङि प्रत्यये यज्ञशब्दो निष्पद्यते**- देवपूजा, संगतिकरण और दानात्मक धातु 'यज्' से नङ् प्रत्यय पूर्वक 'यज्ञ' शब्द सिद्ध होता है, इस कथन पर शतपथ ब्राह्मण भाष्यकार बुद्धदेव विद्यालंकार ने व्युत्पत्तियुक्त परिभाषा दी है- **सामुदायिकं योगक्षेममुदिश्य समुदायाङ्गतया क्रियमाणं कर्म यज्ञः**- समुदाय का अंग बन कर समुदाय के योगक्षेम के लिये जो कार्य किये जाते हैं, वे यज्ञ कहलाते हैं।[4]

अमरकोष के टीकाकार ने यज्ञ शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ किया है **इज्यते असौ अनेन यत्र वा**- जो यजन किया जाये, जिसके द्वारा अथवा जहां यजन हो वही यज्ञ है।[5]

यज्ञ-मीमांसाकार ने यज्ञ की विभिन्न निरुक्तियां की हैं। यथा-

इज्यन्ते (पूज्यन्ते) देवा अनेनेति यज्ञः।

जिससे देवगण पूजे जाते हैं, वह यज्ञ है।

इज्यन्ते सम्पूजिताः तृप्तिमासाद्यन्ते देवा अत्रेति यज्ञः।

जिस कार्य में देवगण पूजित होकर तृप्त हो, उसे यज्ञ कहते हैं।

येन सदनुष्ठानेन इन्द्रप्रभृतयो देवाः सुप्रसन्नाः सुवृष्टिं कुर्युस्तद् यज्ञपदाभिधेयम्।

जिस उत्तम अनुष्ठान से सूर्यादि देवगण अनुकूल वृष्टि करें, उसे यज्ञ कहते हैं।

येन सदनुष्ठानेन स्वर्गादिप्राप्तिः सुलभा स्यात् तद् यज्ञपदाभिधेयम्।

जिस श्रेष्ठ अनुष्ठान से सुखविशिष्ट की प्राप्ति सहज हो जाये, वह यज्ञ है।

येन सदनुष्ठानेन सम्पूर्ण विश्वं कल्याणं भवेदाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकतापत्रयोन्मूलनं सुकरं स्यात् तत् यज्ञपदाभिधेयम्।

जिस सदनुष्ठान से सम्पूर्ण विश्व का कल्याण हो, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तीनों तापों का उन्मूलन सरल हो जाये, उसे यज्ञ कहते हैं।

वेदमन्त्रैर्देवतामुद्दिश्य द्रव्यस्य दानं यागः।

---

1. निघण्टु- 3.17
2. अमरकोष- 2.7.3
3. अष्टाध्यायी- 3.3.90
4. वेद का राष्ट्रीय गीत, प्रियव्रत वेदवाचस्पति, पृष्ठ- 41
5. अमरकोष- 2.7.13 रामाश्रमी टीका, पृष्ठ- 329

वेदमन्त्रों के द्वारा देवताओं को लक्ष्य कर द्रव्य का दान याग (यज्ञ) है।[1]

हिंदी विश्वकोष में संस्कृत **'यज्ञ'** शब्द की निरुक्ति दी गई है- **'इज्यते हविर्दीयतेऽत्र इज्यन्ते देवता अत्र इति वा यागः'** जिसमें सभी देवताओं का पूजन हो अथवा घृतादि के द्वारा हवन हो, वह यज्ञ है।[2]

वेनः

निरुक्त के टीकाकार देवराज यज्वा ने 'वेन' शब्द की निरुक्ति की है-

गच्छत्यनेन स्वर्गम्- इससे यजमान स्वर्ग को प्राप्त करता है।

प्रक्षिप्यते देवतोद्देशेन वास्मिन् हव्यम्- इसमें देवता के उद्देश्य से हवि दी जाती है।

तेनात्र देवता काम्यन्ते वा- उस हवि से देवगण यहाँ बुलाये जाते हैं।[3]

अध्वरः

संहिता तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ के **'अध्वर'** नाम होने के अनेक कारण उल्लिखित हैं। यथा-

अध्वर्तव्या वा इमे देवा अभूवन्निति तदध्वरस्याध्वरत्वम्।।[4]

सभी देवगण यज्ञ के नायक होते हैं, इसलिये अध्वर का अध्वरत्व है।

तेऽसुरा अपक्रान्तोऽब्रुवन्न वा इमे ध्वर्तव्या अभवन्निति तदस्याध्वरत्वम्।[5]

वे असुर जाते हुए बोले कि यह यज्ञ हिंसित नहीं किये जा सकते यही यज्ञ का अध्वरत्व है।

अध्वरो वै यज्ञः।[6] **यज्ञो वा अध्वरः।**[7]

अध्वर ही यज्ञ है। यज्ञ ही अध्वर है।

मेधः

निघण्टु- टीकायुक्त व्युत्पत्ति पूर्वक अर्थ है-

गच्छन्त्यत्र देवता हविर्ग्रहीतुम्- जहाँ देवगण हवि ग्रहण करने के लिये जाते हैं।

दक्षिणार्थं वा सदस्यात्- जहाँ यजमान से दक्षिणा पाने विद्वद्गण जाते हैं।

हिनस्त्यनेन पापं वा- इससे पाप को विनष्ट किया जाता है।[8]

आचार्य सायण ने **मेधृ संगमे** धातु से बने **मेध** शब्द का अर्थ निरुक्तिपूर्वक दिया है- **मेध्यते देवैः संगम्यते इति मेधं हविः**- देवों के द्वारा जो हवि ग्रहण की जाती है, वह यज्ञ मेध है। **मेधं हविर्यज्ञसम्बद्धम्**- मेध, हवि यज्ञ से सम्बद्ध है।[9]

विदथः

धात्वर्थ के अनुसार निरुक्त के टीकाकार की निरुक्ति है-

ज्ञायते हि यज्ञः- यज्ञ ही जानने योग्य है।

लभते हि दक्षिणादिरत्र- यहाँ दक्षिणा आदि प्राप्त की जाती है।

विचार्यते हि विद्वद्भिः- विद्वानों के द्वारा चिन्तन करने योग्य है।

भावयत्यनेन फलम्- इससे फल की प्राप्ति होती है।[10]

---

1. यज्ञ मीमांसा, पं. वेणीराम शर्मा गौड़, पृष्ठ- 8
2. हिन्दी विश्वकोश, नागेन्द्रनाथ भाग- 18, पृष्ठ- 444
3. निघण्टु- 3.17.2, देवराजयज्वाकृत टीका, पृष्ठ- 349
4. तैत्तिरीय संहिता- 3.2.2.3
5. कपिष्ठलकठसंहिता- 36.4
6. शतपथ ब्राह्मण- 1.2.4.5
7. तैत्तिरीय आरण्यक- 5.2.60
8. निघण्टु- 3.17.5, देवराज यज्वाकृत टीका, प्रथम भाग, पृष्ठ- 350
9. ऋग्वेद- 1.3.9
10. निघण्टु- 3.17.5. देवराज यज्वाकृत टीका, पृष्ठ 350

नार्यः

'नृ नये' धातु से बने **'नार्य'** शब्द का निरुक्ति पूर्वक अर्थ है-

नयति स्वर्गं कर्तारम्- जो यज्ञ करने वाले को विशिष्ट सुख प्राप्त कराता है।

नीयतेऽयमनुष्ठानेन वा[11]- यह अनुष्ठान से आगे बढ़ाया जाता है।

सवनम्

सायणाचार्य ने इसकी निम्न निरुक्ति की है-

सूयते सोमो एष्विति- जिसमें सोम टपकाया जाता है वह यज्ञ, 'सवन' है।[12] जिसमें वेद मन्त्र गाये जाते हैं।[13]

होत्रा

यास्काचार्य ने होत्र का भाष्य **होतकर्म** लिखा है, जिसका अर्थ है- **यज्ञ**।

देवराज यज्वा ने निघण्टु की टीका में **दीयतेऽस्मिन् हविः** जिसमें हवि दी जाती है वह यज्ञ, होत्रा है।[14] आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री ने **वर्षारूपी यज्ञ** अर्थ किया है।[15]

स्वामी दयानन्दकृत अर्थ है- 'जिसमें सब सुखों को सिद्ध करते हैं।' जिसमें हवि दी जाती है वह यज्ञ, होत्रा है।

इष्टिः

ब्राह्मण ग्रन्थ में इष्टि के इष्टित्व पर प्रकाश डालते हुए उसे ऐश्वर्यप्राप्ति (इन्द्रत्व) का साधन कहा गया है। यथा- **तम् (इन्द्रं देवाः) इष्टिभिरन्विच्छन् तमिष्टिभिरन्वविन्दन् तदिष्टीनामिष्टिन्वम्॥**[16]

देवताओं ने उस इन्द्र को इष्टियों के द्वारा पाने की इच्छा से यज्ञों के द्वारा पा लिया यही इष्टियों का इष्टित्व है।

सायणभाष्य में **इष्टये यजतेर्भावे क्तिनि सम्प्रसारणम्** धातु-प्रत्यय से बने **इष्टि** शब्द की निरुक्ति दी गई है **इष्टयः एष्टव्या भोगाः सर्वफलसाधका यागा वा सन्ति**- समस्त भोग्य फलों को सिद्ध करने वाला यज्ञ **इष्टि** है।[17]

देवता

ऋग्वेद के अग्निसूक्त में स्पष्टतया 'देवता' शब्द से 'यज्ञ' लक्षित है। यथा-

आ देवता हविषा विवासति॥[18]

आचार्य सायण ने धातु-प्रत्यय पूर्वक चिन्तन प्रस्तुत किया है कि पाणिनिसूत्र **सर्व देवात्तातिल् इति स्वार्थिकः** से देवता शब्द सिद्ध होता है, **देवता इति यज्ञनाम- देवता** यह यज्ञ का नाम है क्योंकि यज्ञ में चरूपुरोडाश आदि आहुति से देवों की सेवा की जाती है।

अन्यत्र उन्होंने कई प्रकार की निरुक्तियां दी हैं-

देवेन तता देवता- देवता के द्वारा विस्तारित यज्ञ, देवता है।

देवनशीलनाग्निना विस्तारिता दीप्तिः- देवनशील अग्नि के द्वारा विस्तारित आभा, देवता है।

विस्तारयुक्ताय यागाय- देवों के विस्तारयुक्त यज्ञ के लिये यजमान अग्नि की सेवा करते हैं उसे देवता कहते हैं।[19]

निघण्टु- टीकाकार की निरुक्ति है- **दीव्यन्ति स्तुवन्त्यत्र देवताः**- जहां देवताओं की स्तुति की जाती है वह यज्ञ, देवता है।[20]

मखः

संहिता ग्रन्थों के अनुसार **यज्ञो वै मखः**- यज्ञ ही मख है।[21]

11. निघण्टु- 3.17.6. देवराज यज्वाकृत टीका, पृष्ठ 350
12. ऋग्वेद- 1.16.8
13. निघण्टु- 3.17.7 देवराज यज्वाकृत टीका, पृष्ठ-350
14. निरुक्तम्- 2.3.12
15. ऋग्वेद- 10.98.7
16. ऋग्वेद- 10.98.7
17. ऋग्वेद- 1.145.1 सायणभाष्य
18. ऋग्वेद- 1.58.1
19. ऋग्वेद- 1.34.5, 1.95.8, 1.127.9
20. निघण्टु- 3.17.10, देवराज यज्वाकृत टीका, पृष्ठ- 351
21. तैत्तिरीय संहिता- 3.2.4.1

मख इति एतद्यज्ञनामधेयम्, छिद्रप्रतिषेधसामर्थ्यात्, छिद्रं खमित्युक्तं- तस्य मेति प्रतिषेधः। मा यज्ञं छिद्रं करिष्यतीति।।[1]

मख यह यज्ञ का नाम है क्योंकि मख दोषनिवारक है अथवा छिद्ररहित (निर्दोष) है। छिद्र को खम् कहते हैं उसका प्रतिषेध **मख** कहलाता है। यज्ञ को दूषित नहीं किया जाना चाहिए।

ऋग्वेद में पठित **मख** शब्द पर आचार्य सायण ने अपने भाष्य में लिखा है- **मखः प्रवर्तमानोऽयं यज्ञः**- किया जा रहा यह यज्ञ।

अयं यज्ञो मरुत इन्द्रं चातिशयेन प्रणीयतीत्यर्थः- यह यज्ञ वायु और सूर्य आदि को उत्कृष्टतया प्रसन्न करता है।

विष्णुः

संहिता तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ को '**विष्णु**' कहा गया है।

यज्ञो विष्णुः, विष्णुर्यज्ञः, यज्ञो वै विष्णुः।।[2]

विशेषेणाप्नोति स्वर्गं- जिसके द्वारा सुख विशेष की प्राप्ति हो, वह यज्ञ **विष्णु** है।[3]

इन्दुः

उन्दी क्लेदने धातु से निर्मित **इन्दु** शब्द का व्युत्पत्ति पूर्वक अर्थ है- **क्लिद्यते सूयतेऽस्मिन् सोमः**- जिसमें सोम टपकाया जाता है वह यज्ञ **इन्दु** है।[4]

भाषाभाष्यकार ने **इन्दु** शब्द का अर्थ **जलक्रियामय यज्ञ** किया है।[5]

प्रजापतिः

अनेकार्थवाची शब्द **प्रजापति**, यज्ञ का भी नाम है। संहिता एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों में उल्लिखित है- **यज्ञ उ वै प्रजापतिः।**[6]

यज्ञो वै प्रजापतिः[7]**; एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत्प्रजापतिः।।**[8]

यह यज्ञ ही 'प्रजापति' है।

निघण्टु- व्याख्याकार ने प्रजापति शब्द को- '**वृष्ट्यादि हेतुत्वात्**- वृष्टि का हेतु' लिखकर यज्ञपरक माना है।[9]

भाषाभाष्यकार ने 'प्रजा का पालक- अग्नि अर्थ किया है।[10]

घर्मः

काठक संहिता में **अग्निहोत्र** को **घर्म** कहा गया है। यथा- **घर्मो व एष प्रवृज्यते यदग्निहोत्रम्।**[11]

ऋग्वेद में आये **घर्म** शब्द का अर्थ **यज्ञ** करते हुए आचार्य सायण ने लिखा है **क्रव्यादात्परोऽग्निर् उत्कृष्टे सहस्थाने यज्ञं प्राप्नोतु**- मृत शरीर को जलाने वाली क्रव्याद- अग्नि से भिन्न गृह में स्थापित अग्नि विस्तृत यज्ञ गृह में यज्ञ को प्राप्त करें।[12]

निघण्टु टीका में **क्षरत्यस्मिन् सोमः दीप्यतेऽत्राग्नयः वा**- जिसमें सोम की आहुति दी जाती है अथवा जहाँ अग्नियां प्रज्वलित होती हैं वह यज्ञ '**घर्म**' उल्लिखित है।[13]

सवः

सूयते सोमोऽत्र- जहां सोम का अभिषव किया जाता है वह 'सव' है।

---

1. गोपथ ब्राह्मण- 2.2.5
2. मैत्रायणी संहिता- 1.6.8, तैत्तिरीय संहिता- 2.3.11.2, ऐतरेयब्राह्मण- 1.15, शतपथ ब्राह्मण- 1.9.3.9, गोपथ ब्राह्मण- 2.6.7, ताण्ड्य महाब्रा.- 13.3..2
3. निघण्टु- 3.17.12, 13, देवराज यज्वाकृत टीका, पृष्ठ- 351
4. निघण्टु- 3.17.13, देवराज यज्वाकृत टीका, पृष्ठ- 351
5. ऋग्वेद- 1.2.4
6. तैत्तिरीय संहिता- 3.2.3.3, काठक संहिता- 22.1
7. मैत्रायणी संहिता- 3.9.6
8. शतपथ ब्राह्मण- 4.3.4.3
9. निघण्टु- 3.17.14, देवराज यज्वाकृत टीका, पृष्ठ- 352
10. ऋग्वेद- 10.85.43
11. काठक संहिता- 6.3
12. ऋग्वेद- 10.16.10
13. निघण्टु- 3.17.15, देवराज यज्वाकृत टीका, पृष्ठ- 352

यागः

इज्यते अनेन वा यत्र वा–जहाँ या जिससे पूजन कर्म हो वह 'याग' है।

सप्ततन्तुः

सप्तभिश्छन्दोभिरग्निर्जिह्वाभिर्वा तन्यते यद्वा तानि सप्त तन्यन्तेऽत्र– सात छन्दों के द्वारा अथवा अग्नि की सात ज्वालाओं के द्वारा विस्तारित यज्ञ '**सप्ततन्तु**' है या जहां वे सातों विस्तृत हों।[1]

क्रतुः

करोति क्रियते वा– जो किया या कराया जाता है वह यज्ञ क्रतु है।[2]

❋❋❋

यज्ञ के प्रकार

प्राच्य वैदिक वाङ्मय-ग्रंथों में यज्ञों के विभिन्न नाम व प्रकार मिलते हैं। जैसे अथर्ववेद में–

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः।
अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिमदिन्तमः॥
अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह।
उत्सन्ना यज्ञाः सत्राण्युच्छिष्टेधि समाहिताः॥
अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः।
दक्षिणेष्टं पूर्तं चोच्छिष्टेऽधि समाहिताः॥
चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः।
उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुबन्धास्तदिष्टयः॥[3]

मनुष्यों को परमेश्वर की आराधना करते हुए राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अश्वमेध, अग्न्याधान, अग्निहोत्र, चातुर्मास्य एवं पशुबन्ध आदि इन यज्ञों से समस्त प्राणियों को आनन्द देना चाहिए।

ऐतरेय ब्राह्मण एवं आरण्यक में पांच प्रकार के यज्ञ बताये गये हैं–

स एष यज्ञः पञ्चविधः।
अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यानि पशुः सोमः॥[4]

गौतम धर्मसूत्र में तीन प्रकार की यज्ञसंस्थाओं के 21 यज्ञभेदों का उल्लेख है। यथा–

अष्टका पार्वणः श्राद्धं याग्रहायणी चैत्रपाश्वयुजीती सप्त पाकयज्ञसंस्थाः। अग्न्याधेयं अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ आग्रयण ं चातुर्मास्यानि निरुढ़पशुबन्धः सौत्रामणि इति सप्तहविर्यज्ञसंस्थाः। अग्निष्टोम अत्यग्निष्टोमोक्थ्यः षोडशी वाजपेयोतिरात्रोऽप्तोर्यामेति सप्तसोमसंस्थाः॥[5]

सात पाकयज्ञः–

पार्वण, अष्टका, मासिकश्राद्ध, श्रवणा आश्वयुजी और चैत्री।

सात हविर्यज्ञः–

अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरुढ़पशुबन्ध और सौत्रामणि।

सात सोमयज्ञः–

अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम।

महर्षि कात्यायन ने कात्यायन श्रौतसूत्र के विभिन्न अध्यायों में कुछ अन्य भेदों का वर्णन किया है। वे हैं– दाक्षायण, एकाह,

---

1. अमरकोष– रामाश्रमी व्याख्योपेत, पृष्ठ– 329
2. अमरकोष– रामाश्रमी व्याख्योपेत, पृष्ठ– 329
3. अथर्ववेद– 11.7.7-9,19
4. ऐतरेय ब्राह्मण– 2.3, ऐतरेय आरण्यक– 2.3.3
5. गौतम धर्मसूत्राणि– 8.19-21

द्वादशाह, अग्निचयन, अश्वमेध, अभिचार, सत्र, सोमयाग, गवामयन, राजसूय, पुरुषमेध, प्रायश्चित तथा प्रवार्य।[1]

महर्षि मनु ने आवश्यक दैनिक कर्तव्यों को पांच महायज्ञ कहा है-

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।

होमो देवो बलिर्धौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।।[2]

स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण- पितृयज्ञ, हवन-देवयज्ञ, प्राणी-सेवा बलिवैश्वदेवयज्ञ एवं अतिथिसत्कार- नृयज्ञ है।

श्रीमद्भगवद्गीता में पांच अन्य यज्ञों का उल्लेख है। यथा-

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।[3]

द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ तथा ज्ञानयज्ञ।

उक्त ग्रन्थ में ही प्रभाव की दृष्टि से यज्ञ के सात्विक, राजसिक एवं तामसिक भेद किये गये हैं। यथा-

सात्विक यज्ञः-

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।

यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः।।

जो यज्ञ शास्त्रविधि से नियत किया हुआ है तथा करना ही कर्तव्य है ऐसे मन को समाधान करके फल को न चाहने वाले पुरुषों द्वारा किया जाता है, वह **सात्विक यज्ञ** है।

राजसिक यज्ञः-

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।

इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्।

जो यज्ञ केवल दम्भाचरण के लिये अथवा फल का भी उद्देश्य रखकर किया जाता है, उसे **'राजसिक यज्ञ'** कहते हैं।

तामसिक यज्ञः-

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।।[4]

शास्त्रविधि से हीन, अन्नदान से रहित, बिना मन्त्रों के, बिना दक्षिणा के और बिना श्रद्धा के किये हुए को **तामस यज्ञ** कहते हैं।

द्रव्ययज्ञ, श्रौत और **स्मार्त** भेद से अनेक प्रकार के हैं। जिन यज्ञों का श्रुति में साक्षात् उल्लेख मिलता है, वे **श्रौतयज्ञ** कहलाते हैं। जिन यज्ञों का ऋषिलोग स्मृतियों में विधान करते हैं, वे **स्मार्त** कहलाते हैं। इन दोनों प्रकार के यज्ञों के **नैत्यिक, नैमित्तिक, काम्य** ये तीन भेद हैं-

नैत्यिक यज्ञ-

जिनको प्रतिदिन आवश्यक रूप से करना अनिवार्य है। यथा- महर्षि मनु प्रोक्त **पञ्चमहायज्ञ**।

नैमित्तिक यज्ञ-

जो किसी निमित्त से किये जायें वे नैमित्तिक यज्ञ कहे जाते हैं। यथा- षोडश संस्कार, प्राकृतिक संयोग वा उत्पात के कारण किये जाने वाले यज्ञ।

काम्य यज्ञ-

जो किसी कामना विशेष से किये जायें। यथा- वर्षेष्टि, पुत्रेष्टि, रोगनिवारण आदि यज्ञ। इस प्रकार 7 हविर्यज्ञ और 7 सोमयज्ञ श्रौतयज्ञ कहे जाते हैं एवं 7 पाकयज्ञों को स्मार्तयज्ञ कहते हैं।[5]

❋❋❋

---

1. कात्यायान श्रौतसूत्र अध्याय- 4.26
2. मनुस्मृति- 3.70
3. श्रीमद्भगवद्गीता- 4.28
4. श्रीमद्भगवद्गीता- 17.11-13
5. श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय, युधिष्ठिर मीमांसक पृष्ठ- 7

यज्ञों के क्रम

संहिता तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में कुछ यज्ञों का क्रम बतलाते हुए उनका विधान लिखा गया है, जो कहीं-कहीं बहुत संक्षिप्त में और कहीं-कहीं बहुत विस्तार में उपलब्ध है। यथा-

अथातो यज्ञक्रमाः। अग्न्याधेयमग्न्याधेयात्पूर्णाहुतिः पूर्णाहुतेरग्निहोत्रम् अग्निहोत्राद्दर्शपूर्णमासौ दर्शपूर्णमासाभ्यामाग्रहायण मा ग्रहायणाच्चातुर्मास्यानि चातुर्मासेभ्यः पशुबन्धः पशुबन्धादग्निष्टोमः अग्निष्टोमाद्राजसूयो राजसूयाद्वाजपेयः वाजपेयादश्वमेधः अश्वमेधात्पुरुषमेधः पुरुषमेधात् सर्वमेधः सर्वमेधाद्दक्षिणावन्तो दक्षिणावद्भ्यो दक्षिणा अदक्षिणाः सहस्रदक्षिणे प्रत्यतिष्ठंस्ते वा एते यज्ञक्रमाः स य एवमेतान् यज्ञक्रमान् वेद यज्ञेन स आत्मा स लोको भूत्वा देवानेष्यतीति ब्राह्मणम्।।[1]

अब यहाँ यज्ञक्रम कहे जाते हैं- अग्न्याधान से पूर्णाहुति, पूर्णाहुति से अग्निहोत्र, अग्निहोत्र से दर्शपूर्णमास, दर्शपूर्णमास से आग्रहायण, आग्रहायण से चातुर्मास्य, चातुर्मास से पशुबन्ध, पशुबन्ध से अग्निष्टोम, अग्निष्टोम से राजसूय, राजसूय से वाजपेय, वाजपेय से अश्वमेध, अश्वमेध से पुरुषमेध, पुरुषमेध से सर्वमेध, सर्वमेध से दक्षिणावाले, बहुत दक्षिणावाले तथा असंख्य दक्षिण ावाले यज्ञों को जानता है और अनुष्ठित करता है, वह यज्ञों के साथ एकात्म होकर दिव्यगुणों को पाता है। यथा-

अग्न्याधान

गोपथ के अनुसार **अग्नीनाधाय पूर्णाहुत्या यजेत्**- पूर्णाहुति पर्यन्त यज्ञ करना, अग्न्याधान है।[2]

अन्य विद्वान् के अनुसार अग्न्याधान का शाब्दिक अर्थ है 'अग्नि का आधान'। सात हविर्यज्ञों में अग्न्याधान नामक हविर्यज्ञ का सर्वप्रथम स्थान है। यज्ञ में सम्पूर्ण कार्य अग्नि के माध्यम से होता है। संभवतः इसीलिये अग्न्याध ान क्रिया का प्राथम्य है। अग्न्याधान का प्रधान देवता अग्नि है। गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि के प्रतिष्ठित हो जाने पर अध्वर्यु सफाई का कार्य करता है। तदनन्तर उदुम्बर और शमी की तीन-तीन समिधाओं में से शमी को आज्य से युक्त कर स्वाहाकार सहित रखकर पूर्णाहुति दी जाती है। होम आज्य से ही किया जाता है, उसके पश्चात् आहिताग्नियों का अनुष्ठान किया जाता है।[3]

अग्निहोत्र

यज्ञों में अग्निहोत्र महत्वपूर्ण माना गया है, इसलिये उसका विशद वर्णन मिलता है। यथा-

अग्नये चैव सायं (जुहोति), प्रजापतये चेत्यब्रवीत्।

सूर्याय च प्रातः प्रजापतये चेति।।[4]

अग्निहोत्र में सायंकाल अग्नये (अग्नि के लिये) एवं प्रजापतये (प्रजापति के लिये) तथा प्रातः काल सूर्याय (सूर्य के लिये) और प्रजापतये (प्रजापति के लिये) बोलते हुए आहुति दी जाती है।

इसी प्रकार गोभिलगृह्यसूत्र में 1.3.9,10 में नित्य सायं को अग्नि व प्रजापति तथा प्रातः सूर्य व प्रजापति के लिए हवन विध ान है।

अग्निहोत्रे स्वाहाकारः- अग्निहोत्र में स्वाहा बोला जाता है।[5]

एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रं जरया ह वा मुच्यते मृत्युना वा।[6]

यह अग्निहोत्र जरामर्य सत्र है क्योंकि यह अत्यधिक अशक्तता अथवा मृत्यु के बाद ही छोड़ा जा सकता है।

तस्मादपत्नीकोऽप्यग्निहोत्रमाहरेत्।।[7]

पत्नी के बिना भी अकेले अग्निहोत्र करे।

अग्निहोत्रेऽश्वमेधस्याप्तिः- अग्निहोत्र करने पर अश्वमेध का फल मिलता है[8]।

---

1. गोपथ ब्राह्मण- 1.5.7
2. गोपथ ब्राह्मण- 1.5.8
3. कृष्ण यजुर्वेद एक अध्ययन, डॉ. वीरेन्द्र कुमार मिश्र, पृष्ठ- 28
4. काठक संहिता- 6.6, शतपथ ब्राह्मण- 2.2.4.17
5. मैत्रायणी संहिता- 1.8.1
6. तैत्तिरीय आरण्यक- 10.64, शतपथ ब्राह्मण- 12.4.1.1
7. ऐतरेय ब्राह्मण- 7.9
8. शतपथ ब्राह्मण- 3.1.8.2

मुखं वा एतद्यज्ञानां यदग्निहोत्रम्।।[1]

यह अग्निहोत्र यज्ञों का मुख है।

सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यते स य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति।।[2]

जो विद्वान् अग्निहोत्र करता है वह सब पापों से छूट जाता है।

दर्शपूर्णमास

(अमावस्या व पूर्णिमा विशेष यज्ञ)

सुवर्गाय हि वै लोकाय दर्शपूर्णमासौ इज्यते।।[3]

स्वर्गलोक की प्राप्ति (स्थान विशेष को पूर्ण सुखमय बनाने) के लिये अमावस्या और पूर्णिमा के दिन दर्शपूर्णमास (अमावस्या व पूर्णिमा विशेष यज्ञ) यज्ञ किये जाते हैं।

दर्शपूर्णमासाविष्टीनां प्रकृतिः।।[4]

दर्शपूर्णमास सभी इष्टियों की प्रकृति है।

आग्रहायण (नवसस्येष्टि)

उत्तरायण व दक्षिणायन के आरंभ में नवीन अन्नों से जो यज्ञ होते हैं, वे आग्रहायण या नवसस्येष्टि कहलाते हैं।[5]

चातुर्मास्य (भैषज्य यज्ञ)

फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जीत।

मुखं वा एतत् सर्वत्सरस्य यत् फाल्गुनि पौर्णमासी।।[6]

फाल्गुनी, आषाढ़ी और कार्तिकी पौर्णमासियों को जो यज्ञ किये जाते हैं, वे चातुर्मास्य कहलाते हैं।

भैषज्य यज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि।

ऋतुसंधिषु व्याधिर्जायते तस्मादृतुसंधिषु प्रयुज्यन्ते।[7]

ये चातुर्मास्य भैषज्य यज्ञ हैं। चूंकि ऋतुओं के सन्धिकाल में व्याधियां उत्पन्न होती हैं या बढ़ जाती हैं, इसलिये उन अनागत रोगों अथवा प्रदूषणों के निवारणार्थ ये यज्ञ ऋतुओं के सन्धिकाल में किये जाते हैं।

पशुबन्ध (निरूढ़ पशुबन्ध)

पशुबन्ध यज्ञ पशुओं की प्राप्ति के लिये किया जाता है।[8]

अग्निष्टोम

एष वै ज्येष्ठो यज्ञानां यदग्निष्टोमः (तस्मात् उ ह वसन्ते-वसन्ते) **ज्योतिष्टोमेन एव अग्निष्टोमेन यजेत।।**[9]

जो प्रतिवर्ष वसन्त में वार्षिक यज्ञ होता है उसे 'अग्निष्टोम' कहते हैं। उसके अग्निष्टोम, उक्थ्य, वाजपेय, अतिरात्र आदि अनेक प्रकार हैं। यह सब यज्ञों में श्रेष्ठ है।

---

1. शतपथ ब्राह्मण- 14.3.1.29
2. जैमिनीय ब्राह्मण- 1.9
3. तैत्तिरीय संहिता- 2.2.5
4. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र- 24.3.23
5. वैदिक सम्पत्ति, पं. रघुनन्दन शर्मा, पृष्ठ- 280
6. गोपथ ब्राह्मण- 3.1.11
7. कौषीतकी ब्राह्मण- 5.1, गोपथ ब्राह्मण- 2.1.9
8. ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिबिम्बित समाज एवं संस्कृति, डॉ.वीरेन्द्रकुमार मिश्र, पृ.- 257
9. ताण्ड्य ब्राह्मण- 6.3.8, शतपथ ब्राह्मण- 10.1.2.9

राजसूय

राज्ञ एव सूर्यं कर्म। राजा वै राजसूयेन इष्ट्वा भवति।।[1]

राजगद्दी के समय राजा द्वारा किया जाने वाला यज्ञ राजसूय यज्ञ है।

वाजपेय

यद्यपि यह अग्निष्टोम यज्ञ के अन्तर्गत ही माना गया है तथापि **वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत्**- स्वाराज्य (स्वर्ग या स्वशासन) की कामना वाले वाजपेय यज्ञ करें ऐसा भी कहा गया है।[2]

अश्वमेध

सर्वाः वै देवता अश्वमेधे अन्वायत्ताः, तस्मादश्वमेधयाजी सर्वदिशो अभियजन्ति। श्रीर्वै राष्ट्रं, राष्ट्रं वै अश्वमेधः, तस्माद्राष्ट्री-अश्वमेधेन यजेत्।।[3]

सब देवता अश्वमेध में आते हैं। अश्वमेध करने वाला सब दिशाओं का जीतने वाला होता है। ऐश्वर्य ही राज्य है, राष्ट्र ही अश्वमेध है इसलिये सम्राट अश्वमेध यज्ञ करते हैं।

पितृयज्ञ (पुत्रकामेष्टि)

अथ यत् प्रजा इच्छेत्, यत् पितृभ्यो निपृणाति।।[4]

जो पुत्र चाहता है और जो पितरों को तृप्त करता है उस पुत्रार्थी को पितृयज्ञ आवश्यक है, यही 'पुत्रकामेष्टि' है।

मृत शरीर को जलाना अन्त्येष्टि है, इसी को पुरुषमेध, नरमेध, नरयाग, पुरुषयाग भी कहते हैं।[5]

गोपथ ब्राह्मण में वर्णित उक्त यज्ञक्रमों के अतिरिक्त अन्य अनेकों श्रौत तथा स्मार्त यज्ञों का उल्लेख प्राचीन साहित्य में है, किन्तु उनका क्रमबद्ध वर्णन अनुपलब्ध है। वैदिक कोश में कतिपय यज्ञों का विवरण दिया गया है।

वृष्टियज्ञ

सृष्टि के जीवन का आधार जल ही है। जगत् में जल की प्राप्ति के अनेक स्रोत है। जिनमें सबसे प्रमुख वर्षा है। यह वर्षा हमें पर्जन्य से प्राप्त होती है। किन्तु यह वर्षा प्रकृति के नियमों के अन्तर्गत ही हमें प्राप्त होती है या कोई अन्य मार्ग या उपाय भी है। इस का उत्तर हमें वेद देता है-

निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु।[6]

अर्थात् जब-जब हम चाहें तब-तब मेघ बरसें और वर्षा हो। वेदों में ऐसे अनेक मन्त्र आएं हैं, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हम अपनी इच्छा अनुसार भी वर्षा करा सकते हैं। किन्तु मात्र इच्छा से ही नहीं इसके लिए हमें कुछ प्रयत्न भी करना होगा, कुछ प्रयोग भी करने होंगे और वह प्रयोग है- **यज्ञ**। यज्ञ द्वारा हम वर्षा करा सकते हैं अर्थात् यज्ञ में ऐसी शक्ति है जो बादलों का निर्माण कराकर वर्षा करा सकती है। इसीलिए अथर्ववेद में कहा गया है-

तन्तता यज्ञं बहुधा विसृष्टा।[7]

अर्थात् जब वर्षा कराने की आवश्यकता हो तो विविध प्रकार के यज्ञ करने चाहिए।

एतान्यग्ने नवतिर्नव त्वे य आहुतान्यधिरथा सहस्रा।
तेभिर्वर्धस्व तन्वः शूर पूर्वीर्दिवो नो वृष्टिमिषितो रिरीहि।।[8]

---

1. शतपथ ब्राह्मण- 13.2.2.1
2. तैत्तिरीय ब्राह्मण- 1.3.2
3. शतपथ ब्राह्मण- 13.1.2.9
4. शतपथ ब्राह्मण- 6.7.3.7
5. संस्कारविधि, स्वामी दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ- 369
6. यजुर्वेद- 22.22
7. अथर्ववेद- 4.15.16
8. ऋग्वेद- 10.98.10

अग्नि में 99 सहस्र घृत सहित चरू की आहुति देने से अग्नि अनेक ज्वालाओं से बढ़ती है। वह तीव्र होकर आकाश से वृष्टि प्राप्त कराती है।[1]

ऋग्वेद के सूक्तगत मन्त्रों के अर्थों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद के अनुसार वृष्टियज्ञ द्वारा वर्षा करायी जा सकती है। अनावृष्टिकाल में सबका कल्याण वर्षा द्वारा ही संभव है, अत: ऐसे समय राजा को वृष्टियज्ञों का आयोजन करना चाहिये।[2]

अथर्ववेद में पर्जन्य (बादलों) को हमारा पिता कहा है-

यजुर्वेद में कामना की गई है कि-

शन्न: कनिक्रदद्देव: पर्जन्यो अभिवर्षतु।[3]

अर्थात् दिव्य बादल गरज व बिजली के साथ हमारे लिए कल्याण प्रद वर्षा सब ओर से करें। यास्कीय निरुक्त निर्वचनपूर्वक पर्जन्य महत्व का दिग्दर्शन कराया गया है-

पर्जन्य: पर उत्कृष्टो जनयिता औषधि वनस्पतीनाम्।[4]

अर्थात् औषधि, वनस्पतियों का उत्पन्नकर्ता पर्जन्य ही उत्कृष्ट है। पर्जन्य का जन्म ही पर+जन्य अर्थात् दूसरों के लिए हैं।

❋❋❋

अग्निहोत्र-विधानकाल

उपलब्ध ब्राह्मण-ग्रंथों में उदित एवं अनुदित- दो कालों में ही अग्निहोत्र करने का उल्लेख मिलता है, परन्तु न्यायदर्शन (2.1.56) के वात्स्यायनभाष्य में **उदिते होतव्यम्, अनुदिते होतव्यम्, समयाध्युषिते होतव्यम्** तथा मनुस्मृति (2.15) में-

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुति:॥

सूर्योदय के समय और सूर्यास्त के समय तथा समय के अतिक्रमण हो जाने पर अर्थात् किसी निर्धारित समय में यज्ञ कर लेना चाहिए। इस प्रकार ये तीनों ही धर्म हैं, ऐसी वैदिक मान्यता है। इस प्रकार त्रिकाल अग्निहोत्र का विधान है।

एक समय का विकल्प

पूर्वोक्तद्रव्यस्य प्रात:सायङ्कालयो: प्रातरेवोक्तमन्त्रैर्नित्यं होमं कुर्यात् अर्थात् पूर्वोक्त पदार्थों का प्रात:काल और सायंकाल अथवा प्रात:काल ही नित्य होम करें।

एताभि: (ओम् अग्निर्ज्योतिरित्यादिभि: चतसृभिर् ऋग्भि:) सायंकालेऽग्निहोत्रिणी जुह्वति। एकस्मिन् काले सर्वाभिर्वा।

अर्थात् इनसे (**ओम् अग्निर्ज्योति**० इत्यादि चार ऋचाओं से) सायंकाल अग्निहोत्री लोग होम करते हैं अथवा एक ही काल में प्रात:कालीन मन्त्र एवं सायंकालीन मन्त्रों से होम करें। (पञ्च महायज्ञविधि)

गृहस्थी के लिए द्विकाल हवन-विधान

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशो: सदा। (मनु. 4.25)

'जैसे सायं-प्रात: दोनों सन्धि-वेलाओं में सन्ध्योपासना करें, इसी प्रकार दोनों स्त्री-पुरुष अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य किया करें।' इस पर स्वामी दयानन्द जी ने स्वयं नीचे यह टिप्पणी दी है-

'किसी विशेष कारण से स्त्री वा पुरुष अग्निहोत्र के समय दोनों साथ उपस्थित न हो सकें, तो एक ही स्त्री या पुरुष, दोनों का कृत्य कर लेवें।

5 अंक के प्रश्न-

1. गौतम धर्म सूत्र के अनुसार कितने प्रकार के यज्ञ होते है विस्तार से बताये।
2. श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार सप्रमाण यज्ञ के भेदों का वर्णन करें।
3. अग्निहोत्र से विषय में तीन प्रमाण पूर्वक विस्तार से वर्णन करें।

1. अध्यात्म सुधा- 4, स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती, पृष्ठ- 289
2. आर्ष ज्योति, डॉ. रामनाथ वेदालंकार, पृष्ठ- 237 में ऋग्वेद- 10.98 पर विचार
3. यजुर्वेद- 36.10
4. यास्क निरुक्त- 10.12

15 अंक के प्रश्न-

1. यज्ञ शब्द की पांच निरुक्तियां सप्रमाण वर्णन करें।
2. महर्षि पाणीनी के अनुसार यज्ञ शब्द कि विवेचना करे व कोई तीन निरुत्ति बताय।
3. यज्ञ के पर्यायवाची कोई पांच शब्दों का सप्रमाण व्याख्या करें।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. निम्न में से कौन सा यज्ञ का पर्यायवाची नाम नही हैं।

(क) नार्यः

(ख) देवता

(ग) सवनम्

(घ) देवपूजा

2. गौतम धर्म सूत्र के अनुसार 21 प्रकार के यज्ञों में निम्न में से कौन सा है।

(क) पार्वण

(ख) सवः

(ग) यागः

(घ) सप्तत्तन्तुः

3. जिन यज्ञों का श्रुती में वर्णन मिलता है उसे कौन से नाम से जाना जाता है।

(क) स्मार्तयज्ञ

(ख) पाकयत

(ग) श्रौतयज्ञ

(घ) नैमित्तिकयज्ञ

उद्देश्य-

1. यज्ञ में होने जाने वाले द्रव्यों का ज्ञान होना।
2. दृव्य द्रव्यों की मात्रा का ज्ञान होना
3. यज्ञ एवं यज्ञाग्नि महत्व का पता लगना।

यज्ञ के उपयोगी वे समस्त पदार्थ यज्ञीय हैं जिनसे यज्ञ का अनुष्ठान किया जा सकता है।

यज्ञ के आवश्यक पदार्थों में घृत आदि द्रवपदार्थ, हविर्द्रव्य (सामग्री), समिधा, कुण्ड, अरणी और मन्त्रादि **ध्वनि मुख्य** हैं। यज्ञवेदी, याजक, यजमान, यज्ञायुध (यज्ञपात्र), देवता, पार्थिव सम्भार, हरियाली आदि सहायक साधन हैं।

विरूप आङ्गिरस ऋषि द्वारा दृष्ट अग्निदेवता युक्त ऋग्वेदीय मन्त्र में सीधे सरल शब्दों में आडम्बर रहित यज्ञ के साधनों से होम करने का आदेश दिया गया है। यथा:-

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन।।[1]

समिधाओं से अग्नि प्रदीप्त करो, घृत आदि से जलती हुई अग्नि की सेवा करो और उसमें सामग्री की आहुति प्रदान करो।

यजुर्वेद में होम के कतिपय पदार्थों के नाम गिनाये गये हैं। यथा:-

धाना: करम्भ: परीवाप: पयो दधि।
सोमस्य रूपं हविष आमिक्षा वाजिनम्मधु।।
अग्निर्भेषजं पय: सोम: परिस्रुतो घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज।।[2]

होम करने योग्य पदार्थ- ओषधियों के सार धान आदि अन्न, भुने हुए धान्य, सत्तू, दूध, दही, आमिक्षा, वाजिन, शहद, सोम और घृत आदि हैं।

द्रव पदार्थ-

यज्ञीय द्रव पदार्थों में 'घृत' के सम्बन्ध में विशद चिन्तन एवं प्रयोग उपलब्ध है। शेष तीन द्रव- शहद, दुग्धादि और सोमरस पर अत्यल्प वर्णन दिखाई देता है।

घृत

हवन की अग्नि को अत्यधिक प्रदीप्त करने का मुख्य साधन **'घृत'** नामक द्रव पदार्थ है, जिसके अन्य नाम **आज्य** तथा **सर्पि** भी है। प्राचीन साहित्य में अग्नि को **घृतास्य, घृतप्रतीक, घृतपृष्ठ** एवं **घृताहवन** आदि सम्बोधन दिये गये हैं। यथा:-

घृताहवन दीदिव: प्रतिष्म रिषतो दह।
अग्ने त्वं रक्षस्विन:।।[3]

भाष्यकार आचार्य सायण के अनुसार 'घी से प्रदीप्त यज्ञाग्नि, हमारे प्रतिकूल शत्रुओं और दोषों को सर्वथा भस्म करने में समर्थ है।''

घृत देवता वाले सूक्त के द्रष्टा ऋषि वामदेव ने अनेक मन्त्रांशों में घी के प्रभाव का वर्णन किया है। यथा:-

घृतस्य धारा समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदा:।[4]

जातवेद अग्नि, घृत की धारा और काष्ठ का सेवन करता हुआ सबके प्रिय की कामना करता है।

यत्र सोम: सूयते यत्र यज्ञो घृतस्य धारा अभितत्पवन्ते।[5]

घी की धारा से सम्पन्न होने वाला यज्ञ पवित्रता देता है तथा ओषधियों में रस का संचार करता है।

इमं यज्ञं नयतदेवता नो घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ते।[6]

1. ऋग्वेद- 8.44.1, यजुर्वेद- 3.1
2. यजुर्वेद- 19.21, 21.40
3. ऋग्वेद- 1.12.5
4. ऋग्वेद- 4.58.8
5. ऋग्वेद- 4.58.10
6. ऋग्वेद- 4.58.10

देवगण इस यज्ञ को हम लोगों के लिये प्राप्त करायें, घृत की धारायें मधुरता पूर्वक शुद्ध करती हैं।

शहद

यज्ञ कर्म में शहद भी आहुतिद्रव्य के रूप में उपयोगी माना गया है:-

यज्ञं मधुना मिमिक्षतम्[1]- शहद से यज्ञ को सीचें।

पृङक्तं हवींषि मधुना[2]- यज्ञीय हवियों को मधु से संयुक्त करें।

मध्वा सम्पृक्ता सारघेण धेनवस्तूयमेहि द्रवा पिब।।[3]

मधुमक्खियों द्वारा संगृहीत शब्द से युक्त गव्य पदार्थों को इन्द्र (सूर्य, यज्ञ के माध्यम से) खाये।

मधु वै देवानां परममन्नाद्यम्।[4]

यज्ञो वै मधुसारघम्[5]- शहद ही देवताओं का उत्तम पेय।

दुग्ध एवं दधि

घृत का पूर्व रूप (कारण) दूध और दही भी यज्ञीय पदार्थ में परिगणित हैं।

अग्निहोत्र एवं दर्शयाग के अवान्तर देवता 'इन्द्र' के लिये प्राय: दूध तथा दधि ही हविर्द्रव्य माने गये हैं।

आरण्यक ग्रन्थ में कहा गया है- **यज्ञेन पयसा सह... तस्य दोहमशीय।**[6]

दूध की आहुति से सम्पन्न यज्ञ के द्वारा जीवनी-शक्ति को प्राप्त करते हैं। संहिता में दधि के लिये कहा गया है:-

दध्ना मधुमिश्रेणावोज्ञतिदध्नैव हुतादः (देवान्) प्रीणाति।[7]

मधुर दही की आहुति से देवताओं को प्रसन्न (अनुकूल) किया जाता है।

मेद्यो वा एष पशुनामुर्ग् दधि[8]- पशुओं का सार दही यजनीय है।

आमिक्षा

दही का ही अपर रूप आमिक्षा और वाजिन् है। दही के ठोस भाग को आमिक्षा एवं तरल भाग को वाजिन् कहते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में आमिक्षा का अन्य नाम **पयस्या** भी दिया गया है। कुछ देवताओं के लिये इसकी आहुति का विधान उपलब्ध होता है। यथा:-

यत् पयस्या तेन चातुर्मास्यानि।।[9]

जो आमिक्षा है उससे चातुर्मास्य होम होते हैं।

वैश्वदेव्यामिक्षा भवति, वैश्वदेवीमामिक्षां निर्वपति।[10]

आमिक्षा चातुर्मास्य होम के वैश्वदेव पर्व की हवि है।

❋-❋-❋

---

1. ऋग्वेद- 1.34.3
2. ऋग्वेद- 2.37.5
3. ऋग्वेद- 8.4.8
4. तैत्तिरीय संहिता- 7.5.10.1
5. शतपथ ब्राह्मण- 3.4.3.14
6. तैत्तिरीय आरण्यक- 4.21.1
7. तैत्तिरीय संहिता- 5.4.5.2
8. काठक संहिता- 20.7
9. जैमिनीय ब्राह्मण- 2.38
10. तैत्तिरीय संहिता- 1.6.2.5, 1.8.2.1

हविर्द्रव्यों की मात्राएँ

मोहनभोग (स्थालीपाक)

सेर भर घी के मोहनभोग में रत्तीभर कस्तूरी, मासे भर केशर, दो मासे जायफल जावित्री, सेर भर मीठा- सब डालकर मोहनभोग बनाना। इसी प्रकार अन्य मीठा भात, खीर, खिचड़ी मोदक आदि होम के लिये बनायें।[1]

यज्ञमीमांसाकार ने कुछ पूर्वाचार्यों (आनंद रामायण, त्रिकारिका, शांतिरत्नकारों) के उद्धरण पूर्वक यज्ञसामग्री की मात्राएँ अनेक विकल्पों के साथ लिखी हैं। यथा-

तिलार्धं तण्डुला देयास्तण्डुलार्धं यवास्तथा।

यवार्धं शर्कराः प्रोक्ताः सर्वार्धं च घृतं स्मृतम्।।[2]

जितनी मात्रा में तिल हो उससे आधा भाग चावल मिलायें, चावल से आधा जौ, जौ से आधा शक्कर और इन सबका आधा भाग घृत मिलायें। अथवा

तिलास्तु द्विगुणाः प्रोक्ता यवेभ्यश्चैव सर्वदा।

अन्ये सौगन्धिकाः स्निग्धा गुग्गुलादि यवः समाः।।[3]

जौ की अपेक्षा तिल को द्विगुणित रखना चाहिए और अन्य सुगन्धित गुग्गल आदि द्रव्यों को जौ के बराबर ही रखना चाहिए। अथवा

पञ्चभागास्तिलाः प्रोक्तास्त्रिभागस्तण्डुलास्तथा।

द्वौ भागौ यवस्योक्तौ भागेकं गुग्गुलादिकम्।।[4]

5 भाग-तिल, 3 भाग-चावल, 2 भाग- जौ तथा एक भाग में गुग्गल इत्यादि सुगन्धित द्रव्य मिलाना उत्तम है। अथवा

वेदभागास्तिलानां स्युः भागोनास्तु यवाः स्मृताः।

द्विभागं च घृतं प्रोक्तं भागमेकं च तण्डुलाः।।[5]

4 भाग तिल, 3 भाग जौ, 2 भाग घृत और 1 भाग चावल का शाकल्य उत्तम होता है।

अनुपात में व्यतिक्रम होने से यज्ञ के प्रभाव में परिवर्तन हो जाने का भी संकेत किया गया है। यथा-

आयुः क्षयं यवाधिक्यं यवसाम्यं धनक्षयम्।

सर्वकामसमृद्ध्यर्थं तिलाधिक्यं सदैव हि।।[6]

तिल से अधिक जौ होने से आयु का क्षरण होता है, तिल के बराबर ही जौ होने से धन का क्षय होता है इसलिये सभी कामनाओं की सिद्धि के लिये तिल ही अधिक होना चाहिए।

तिलाः कृष्णा घृताभ्यक्ताः किञ्चिद्यव समन्विताः।

काले तिल को घृत मिलाकर थोड़े से जौ युक्त हविर्द्रव्य बनायें।

❋❋❋

समिधा

यज्ञ की अग्नि को जलाये रखने का प्रमुख साधन 'समिधा' का नाम वैदिक साहित्य में कर्मकाण्डीय ग्रंथों में स्फुट रूप से चिंतन किया गया है। यजुर्वेद में **सप्त ते अग्ने समिधा**[7] अग्नि के लिये सात समिधाओं का उल्लेख है किन्तु नाम नहीं दिया गया है।

वैदिक साहित्य में इतस्ततः यज्ञीय वृक्षों के नाम उपलब्ध हैं। यथा-

अश्वत्थ

अथर्ववेद के अश्वत्थसूक्त में इसे देवसदन कहते हुए प्रदूषण निवारक भी कहा गया है। यथा-

---

1. संस्कारविधि सामान्य प्रकरण, स्वामी दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ- 37
2. यज्ञ मीमांसा, पं. वेणीराम शर्मा गौड़, पृष्ठ- 270
3. यज्ञ मीमांसा पृष्ठ- 271
4. यज्ञ मीमांसा पृष्ठ- 271
5. यज्ञ मीमांसा पृष्ठ- 105
6. यज्ञ मीमांसा पृष्ठ- 271
7. यजुर्वेद- 17.79

अश्वत्थो अमृतं हविः[1]- पीपल अमृत हवि है।

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि।[2]

यज्ञ में अग्नि उत्पन्न करने के लिये दो लकड़ियों (अरणी) में से उपरी लकड़ी के लिये इसी वृक्ष की लकड़ी का उपयोग होता है। इसके नीचे की लकड़ी शमी की होती है।[3]

न्यग्रोध

ऐतरेय ब्राह्मण में न्यग्रोध (बड़, वट, फाइक्स बड्गलेन्सिस) की लकड़ी से चमस बनाये जाने तथा यज्ञ में समिधा रूप में प्रयोग का संकेत है।

अधि देवा यज्ञेनेष्ट्वा स्वर्गलोकमायस्तत्रैतांश्चमसान् न्युञ्जस्ते न्यग्रोधा।[4]

देवगण न्यग्रोध के यज्ञ से स्वर्ग लोक को पाते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ के उपयोगी कुछ वृक्षों के नाम एक साथ ही उल्लिखित हैं। यथा-

यदि पलाशान्न विन्देत्, अथोऽपि वैकङ्कतः स्युर्यदि वैकङ्कतान्न विन्देदथो अपि काष्मर्यान्न स्युर्यदि काष्मर्यमयान्न विन्देदथोऽपि बैल्वः स्युरथो खादिरा अथो औदुम्बरा ऐते हि वृक्षा यज्ञियास्तस्मादेतेषां वृक्षाणां भवन्ति।।[5]

पलाश (ढाक, व्युटिआ-मोनोस्पर्मा)

विकङ्कत (फ्लेकोर्टिया-मिर्र),

काष्मर्य (भद्रपर्णी)

बिल्व (श्रीफल, इगल-मरमेलोज),

खदिर (एकेशिया-कैटेचु)

उदुम्बर (गूलर, फाइकस-ग्लामरेटा)

अपामार्ग- (एनाइरेन्थस-एस्पिरालिन्न)

ब्राह्मण ग्रन्थों में ही अन्यत्र 'अपामार्ग' को भी यज्ञीय समिधा के रूप में प्रयोग का विधान है। यथा-

अथाऽऽपामार्गहोमं जुहोति[6]

अपामार्गैव देवा दिक्षु नाष्ट्रा रक्षांस्यपामृज यदपामार्गहोमो भवति रक्षसामपहत्यै।।[7]

अपामार्ग- होम से राक्षसों अथवा प्रदूषणों का निवारण होता है।

शमी

यच्छमीशाखया प्रार्पयति शान्त्यै।।[8]

शान्ति की प्राप्ति के लिये शमी (तुडेना, प्रोसोपिस साइनेरिया) वृक्ष की शाखा से यज्ञ किया जाता है।

पुराणकार ने उक्त वृक्षों के साथ-साथ कुछ अन्य वृक्षों को भी यज्ञीय माना है। यथा-

पलाशाऽश्वत्थन्यग्रोध प्लक्षवैकङ्कतोद्भवाः।

वैतसोदुम्बरो बिल्वश्चन्दनः सरलस्तथा।।

शालश्च देवदारूश्च खदिरश्चेति यज्ञिकाः।।[9]

धार्मिक वृक्षों में शमी का महत्वपूर्ण स्थान है। शमी बड़े-बड़े पत्तों वाला वृक्ष है। यह वर्षा काल में बढ़ता है। वह वन के सभी वृक्षों से श्रेष्ठ है। (अथर्ववेद में सांस्कृतिक तत्व, पृष्ठ 103) यथा-

आरात्वदन्या वनानि वृक्षि त्वं शमि शतवल्शा विरोह।[10]

---

1. अथर्ववेद- 8.7.20
2. अथर्ववेद- 5.4.3
3. अथर्ववेद में सांस्कृतिक तत्व, पृष्ठ- 103
4. ऐतरेय ब्राह्मण- 7.30
5. शतपथ ब्राह्मण- 1.3.3.20
6. शतपथ ब्राह्मण- 5.2.4.14
7. तैत्तिरीय ब्राह्मण- 1,7,1,8
8. कपिष्ठल कठ संहिता- 46.8
9. ब्रह्मपुराण
10. अथर्ववेद- 6.30.2

आरण्यक ग्रंथ में शमी को प्रदूषण निवारक निरुपित करते हुए कहा गया है- **शमी शमयास्मदद्या द्वेषांसि**- शमी हमारे अघ (पाप) तथा द्वेष को दूर करें।[1]

❋❋❋

मन्त्र

वैदिक ऋषियों ने यज्ञ की सफलता अथवा पूर्ण प्रभाव के लिये मन्त्र को भी यज्ञ का अङ्ग स्वीकार किया है। वेद की अन्त:साक्षी से ही यज्ञ में मन्त्र का महत्व प्रस्तुत है। यथा-

तमिद्वोचेमाविदथेषु शम्भुवं मन्त्रं देवा अनेहसम्।[2]

यज्ञों में विद्वज्जन, उस कल्याणकारक, अहिंसनीय (सर्वदा रक्षणीय), दोषरहित तथा पदार्थ- ज्ञापक मन्त्र (श्रुतिसमूह) को ही बोलें। यज्ञ में मंत्रों की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए कहा है-

उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये।
आरे अस्मे च श्रृण्वते।।[3]

यज्ञ में पहुँचकर अग्नि के लिये मन्त्रों का उच्चारण इस प्रकार करें कि दूर तथा समीप के लोग सुन सकें।

वैश्वानरं विश्वहा दीदिवांसं मन्त्रैरग्निं कविमच्छा वदाम:।।[4]

हम वेदमंत्रों से क्रान्तदर्शन, सदा दीप्त वैश्वानर अग्नि की अच्छी प्रकार प्रशंसा करते हैं।

वेदविज्ञान के अन्वेषक ने यजुर्वेद के मन्त्रांश **मनो यज्ञेन कल्पताम्**[5]। का भाव लिखा है- यज्ञकार्य सामूहिक संकल्पशक्ति एवं प्रार्थना द्वारा सफल होता है। पर्यावरण को शुद्ध तथा पुष्ट करने के लिये वेदमन्त्रों की ध्वनिशक्ति से संयुक्त आहुति दी जाती है, जिसका प्रभाव शीघ्र व्यापक हो जाता है।[6]

वेद का प्रत्येक अक्षर, चरण, पंक्ति व सम्पूर्ण मन्त्र छन्दोमय है। उनमें सर्वशक्तिमान् परमात्मा की गुप्तशक्ति व सामर्थ्य निहित है जो यज्ञकार्य में क्रियाशील हो जाती है। छन्द नियत अक्षर या मात्राओं में निबद्ध होते हैं। नियत अक्षरबद्ध छन्दों के नियत स्वरों के ध्वन्यात्मक आवर्तन से ध्वन्यात्मक मण्डल की उत्पत्ति होती है। उस मन्त्र के पुन: पुन: आवर्तनक्रम या जप से, चाहे वह जप मानसिक हो या ध्वन्यात्मक, उसका मण्डल, उत्तरोत्तर ध्वन्यात्मक तथा गतिमय होकर विशालता को भी प्राप्त होता है जिससे प्राणियों में स्वभावत: वृत्तियों एवं कर्ममय प्रवृत्तियों का प्रवाह चलने लगता है। अत: यज्ञ में संकल्प और तदनुकूल मन्त्रों की पुन: पुन: आवृत्ति से मन्त्र का प्रभाव सतेज होता जाता है तथा छन्दोमय मण्डल की पुष्टि होने लगती है।[7]

आधुनिक शोधकर्ता की दृष्टि में मन्त्र में ध्वनियाँ होती हैं या ध्वनियों के समूह को मन्त्र कहते हैं। मन्त्रशक्ति से जो ध्वनितरंगे उत्पन्न होती हैं वह छल्ले की तरह होती हैं। वे तीव्रगति से उपर उठती हैं। ईथर तत्व के माध्यम से अपने देवता सविता तक पहुंचती हैं। जब यह ध्वनि, सूर्य के अंतराल से टकराकर वापस आती है तो अपने साथ सूर्य की शक्तियों को आत्मसात किये रहती है। जो साधक के शरीर में उतरती चली जाती है। मन्त्र में बहुत बड़ी शक्ति निहित है।[8]

यज्ञ का सर्वप्रमुख तत्व 'मन्त्र' होता है। मन्त्रों के आधार पर ही प्रत्येक क्रिया का विनियोग किया जाता है। मन्त्रों के प्रयोग से ही मानवीय क्रिया को याज्ञिक, अत: देवताओं के अनुरूप बनाया जाता है।[9]

---

1. तैत्तिरीय आरण्यक- 6.9.2
2. ऋग्वेद- 1.40.6, 1.74.1, 10.88.14
3. ऋग्वेद- 1.74.1
4. ऋग्वेद- 10.88.14
5. यजुर्वेद- 18.29
6. यज्ञमहाविज्ञान, वीरसेन वेदश्रमी, पृष्ठ- 1,18
7. यज्ञमहाविज्ञान, वीरसेन वेदश्रमी, पृष्ठ- 1,18
8. वैदिक साहित्य में शल्य चिकित्सा, डॉ. रामजीत विश्वकर्मा, पृष्ठ- 95
9. मैत्रायणी संहिता, डॉ. वेदकुमारी, पृष्ठ- 29

मन्त्र ध्वनि-विज्ञान

- तत्व, उर्जा एवं चेतना को बढ़ाने में ध्वनि की आवृत्ति व अनुवाद विशेष भूमिका निभाते हैं।
- पोलबेक (लेबनान) में बृहस्पति के 9000 साल पुराना देवालय है जिसमें दुनिया के तीन सबसे बड़े पत्थर लगे हैं उनमें प्रत्येक का वजन 1,000,00 किलो. (एक लाख किलो) है।
- पुमापुंकु (बोलिविया) में रेगीस्तान के पहार पर पत्थर के बड़े बारीकी से कटे 100 टन के पत्थर हैं जो कम से कम दो हजार साल पुराने हैं।
- गीजा का पठार इजीप्ट यहाँ ग्रेट पिरामिड बनाने में चूना पत्थर के 23 लाख पत्थरों का प्रयोग किया गया उनमें से प्रत्येक का वजन करीब ढाई टन है। आज हमें विश्व के कोने-कोने में ऐसे स्मारक मिलते हैं जो हमारे अतीत की पहचान हैं। वे भवन आज हजारों साल बाद भी टिके हुए हैं। वे पत्थर के इतने बड़े बड़े ब्लॉक्स से बनाये गये थे कि आज बिल्डर्श उनका प्रयोग करने की सोच भी नहीं सकते।
- वर्तमान का 9.9.8 टेक लोडर 22 टन का पत्थर उठा सकता है, इसके अतिरिक्त वह जमीन पर करीब 40 टन का पत्थर लुड़का या घसीट सकता है। लेकिन जब 50 टन के पत्थर की बात आती है तब क्रेन्स, हाईड्रोलिक जैक्स, स्टिलबिमक्स और गर्डन्स का प्रयोग करना पड़ता है अर्थात् मॉडर्न टेक्नोलॉजी युक्त सबसे शक्तिशाली ओजारों (मशीनों) का प्रयोग करना पड़ता है।
- लेकिन हमारे पूर्वजों ने 1 लाख किलो तक के पत्थर एवं गीजा आदि में ढाई टन के 23 लाख पत्थर कई किमी लम्बी दूरी से लाना व इतनी बड़ी उच्चाई पर चढ़ाना कैसे किया होगा जो आज के विज्ञान के लिये भी आश्चर्य बना हुआ है। इसके पीछे यही रहस्य है कि उस समय में हमारे पूर्वज लोग ध्वनि विज्ञान को अच्छी प्रकार जानते थे व उनका प्रयोग लेते थे ध्वनि के माध्यम से गुरूत्वाकर्षण को मात देकर उन ब्लॉक्स को, पत्थरों को उड़ाया या हलका करके एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जाता था।
- कुछ प्राचीन लेखों में इस बात की भी चर्चा है की भारी पत्थरों को ध्वनि की शक्ति से एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाया गया था। स्टोन हेन्श के स्थानीय मिथक भी कहते हैं पत्थर वहाँ पर उड़ाकर लाये गये थे। इसी प्रकार बोलेवीया की प्राचीन कहानियों में यही कहा गया है, कि पुमापुंकु के बड़े-बड़े पत्थरों को उड़ाकर लाया गया था तथा पाँचवी शती ई.पूर्व में युनानी इतिहासकार हेरो न्युटर्स ने लिखा है कि मिश्र के पत्थरों को उड़ाने की तकनीक से ही वहाँ लाया गया था।
- आधुनिक विज्ञान भी यह मानता है तथा इतिहासकार भी कि क्रिस्टल यूनिवर्सिटी इग्लैण्ड ने **पोर्टेबल ट्रेक्टरबिम** हाथ में पकड़कर प्रयोग किये जाने वाले इस यन्त्र से आवाज के सहारे छोटी चीजों को उड़ाया जाता है, इस यन्त्र में स्पिकर्स लगे हैं उसमें विशेष प्रकार कि ध्वनि होने पर पदार्थ को उड़ाया जाता है। यह टेक्नोलॉजी अभी बिल्कुल प्रारम्भिक स्तर पर है। जिसमें हमारे पूर्वज दक्ष (एक्सपर्ट्स) थे, बड़े-बड़े पत्थरों को उड़ा के एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया करते थे।

मन्त्र-विज्ञान

- डॉ. रमा जयासुंदर जो कि कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से पी.एच.डी. हैं एवं एक आयुर्वेदिक चिकित्सक हैं। 'Mantra: From Metaphysics to Biophysics' के विषय पर अनुसन्धान कर चुकी हैं। उनके शोध में मानव शरीर को समझने के उद्देश्य से उसे चार क्षेत्रों में विभाजित किया गया -संरचनात्मक, शारीरिक, मनोवैज्ञानिक तथा चेतना-स्तर। यह सभी परस्पर सम्बद्ध हैं व एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। हम सब यह भली भाँति जानते हैं कि किसी मंत्र का उच्चारण, पठन अथवा ध्यान के द्वारा ही प्रयोग किया जाता है। मनुष्य के मस्तिष्क में चलने वाली विद्युत क्रियाओं व रक्त संचार पर मंत्र विशेष प्रभाव डालता है तथा मंत्र के उच्चारण व श्रवण के परिणामों में भी भिन्नता होती है। पूर्वकाल से ही ध्वनि-तरंगों पर अनेक वैज्ञानिक प्रयोग होते रहे हैं। ऐसे ही एक प्रयोग में एक उल्टे स्पीकर में पानी भरकर रखा गया तथा उससे संगीत की धुन बजने पर जल में विचित्र आकृतियाँ बनती पायी गई। एक अन्य प्रयोग में पियानो से धातु की बनी एक थाली जोड़ी गयी जिसे एक आवृत्ति उत्पादन यंत्र पर रखा गया और उस थाली पर थोड़ा सा मक्के का आटा छिड़क दिया गया।

तत्पश्चात पियानो से संगीत बजाया गया तो आटे में अनेक रूपों वाली आकृतियाँ प्रकट होने लगीं। इसी सन्दर्भ में एक अन्य उदाहरण भी मिलता है जहाँ एक व्यक्ति को 27 हर्ट्ज की आवृत्ति वाली ध्वनि सुनाते समय उसके मस्तिष्क के धुरीय भाग का MRI चित्र लिया गया और पानी में बनने वाली आकृतियों के समान ही आकृतियाँ बनती दृष्टिगोचर हुई। ऐसा मनुष्य शरीर व मस्तिष्क का 80% भाग जल के रूप में होने के कारण हुआ। साथ ही इससे यह भी निष्कर्ष निकाला गया कि ध्वनि में वो शक्ति निहित है जो मनुष्य की तीसरी आँख तक खोलने में सक्षम हैं। इस शोध के सम्बन्ध में परमाणु के बीज केंद्र के चुम्बकीय गुणधर्म के तथ्य का भी महत्त्व है। एक आवेशित कण के चलायमान होने पर उसके चहुँ ओर एक चुम्बकीय क्षेत्र विकसित हो जाता है, जिसे मैग्नेटिक रेसोनेंस स्पेक्ट्रोस्कोपी नामक तकनीक के माध्यम से नापा जाता है। इसके द्वारा अणु से लेकर शरीर के अंगों तक की जानकारी सुलभ हो पाती है।

❋❋❋

अन्य घटक

यज्ञानुष्ठान में जहाँ द्रवपदार्थ, हव्यसामग्री, समिधा तथा मन्त्र आदि आवश्यक है वहाँ अन्य भी घटक हैं जो **यज्ञ** की पूर्णता में सहायक है।

यजमान

यज्ञ को सम्पादित करने वाला यजमान याजकों के मार्गदर्शन में यज्ञानुष्ठान के द्वारा अत्यन्त सुख की आशा करता है। यथा-

तत्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः।।[1]

ब्राह्मण ग्रन्थ में यजमान की परिभाषा दी गई है।

'यः यजते स यजमानः।।[2] जो यज्ञ करता है वह यजमान है।

ऋत्विज्

यज्ञ सम्पन्न कराने वाले याजक को ऋत्विज् या पुरोहित कहते हैं। महीदास ऐतरेय के अनुसार-

'ऋत्विजि हि सर्वो यज्ञः प्रतिष्ठितः[3]**'** ऋत्विजों पर ही समस्त यज्ञकर्म की प्रतिष्ठा है।

आचार्य यास्क ने निरुक्तिपूर्वक ऋत्विज् लक्षण बताया है-

ऋत्विक् कस्मात्

ईरणः, ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः, ऋतुयाजी भवतीति वा।।[4]

जो यजमान को यज्ञ के लिये प्रेरित करता है, उससे यज्ञ कराता है, वह ऋत्विक् है।

जो ऋक्-मन्त्रों से यज्ञ करता है, उसे ऋत्विक् कहते हैं, ऐसा शाकपूणि का कथन है।

जो ऋतु-अनुकूल यज्ञ करता है वह ऋत्विक् कहा जाता है।

महर्षि मनु ने भी ऋत्विज् का लक्षण दर्शाया है। यथा-

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान् मखान्।

यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते।।[5]

जो यजमान की प्रेरणानुसार अग्न्याधान, पाकयज्ञ तथा अग्निष्टोम आदि यज्ञों को आचार्यत्वेन वृत होकर करता है वह यजमान का ऋत्विक् कहा जाता है।

देवता

यज्ञ के घटकों में देवताओं का महत्वपूर्ण स्थान है। यथा-

विदेवोऽस्य यज्ञोऽवहीयते।।[6]

बिना देवता के यजमान का यज्ञ नष्ट हो जाता है।

यज्ञ में जो हवि प्रदान की जाती है वह किसी देवता को उद्दिष्ट करके दी जाती है इसीलिये कहा गया है-

द्रव्यं देवता त्यागः[7]- यज्ञ में द्रव्य, देवता और त्याग- ये तीन वस्तुएं प्रमुख हैं। अतः यज्ञ का तात्पर्य है- देवता के लिये द्रव्य का त्याग।[8]

❋❋❋

1. ऋग्वेद- 1.24.11
2. शतपथ ब्राह्मण- 3.2.1.17
3. ऐतरेय ब्राह्मण- 9.8
4. निरुक्तम्- 3.4.2
5. मनुस्मृति- 2.143
6. कपिष्ठल कठ संहिता- 41.7. 47.4
7. कात्यायन श्रौतसूत्र- 1.2.2
8. धर्मशास्त्र का इतिहास, पी.व्ही काणे, पृष्ठ- 521

यज्ञ-महिमा

वैदिक साहित्य में यज्ञ को जगत् की नाभि का रूपक माना गया है। मनुष्य शरीर में नाभि का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। उपनिषदों में मनुष्य के जन्म अथवा मृत्यु के केन्द्र रूप में नाभि का ही वर्णन है। जिस तरह नाभि के बिगड़ने से पिण्ड बिगड़ जाता है या नाभि के ठीक रहने पर शरीर भी स्वस्थ रहता है उसी तरह ब्रह्माण्ड में यज्ञ का स्थान है। ऋग्वेद में दीर्घतमस् ऋषि द्वारा दृष्टसूक्त में प्रश्नोत्तर द्वारा यज्ञ के नाभिरूप का उद्घाटन किया गया है। सायणाचार्य के अनुसार यहाँ अश्वमेध यज्ञ के प्रथम दिन ब्रह्मा द्वारा यजमान से प्रश्नोत्तर का प्रसंग है-

...पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।[1]

जहाँ सब कुछ बन्धन में बन्ध जाता है वह केन्द्र क्या है?

इस प्रकार पूछे जाने पर यजमान अगले मन्त्र से उत्तर देता है-

...अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।[2] यह यज्ञ जगत् की नाभि है।

यहाँ भाष्यकार सायण का विशेष वचन है **अयं यज्ञ भूतजातस्य संनहनम्। तत्रैव वृष्ट्यादिसर्वफलोत्पत्तेः सर्वप्राणिनां बन्ध कत्वात्**- वर्षा आदि फलों की उत्पत्ति से समस्त प्राणियों के जन्म बन्धन होने से यह यज्ञ प्राणिमात्र का जीवनाधार है।

स्वामी दयानन्दकृत पदार्थ है यज्ञ भूगोल समूह को आकर्षण से बांधने वाला है।'

संहिताकारों ने भी **यज्ञमाहुर्भुवनस्य नाभिम्**- यज्ञ को भुवन का नाभि कहा है।[3]

यज्ञ से सम्पूर्ण चराचर जगत् की उत्पत्ति और विश्वरूप का वर्णन आलंकारिक ढंग से किया गया है। यथा-

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।।
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशून्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये।।[4]

पुरुषसूक्त पर शोध करने वालों ने इन मन्त्रों का आशय स्पष्ट करते हुए लिखा है- 'सूर्योदय के समय स्वयं सर्वहुत यज्ञपुरुष ने यजमान का, देवों ने ऋत्विजों का, वसन्त ने आज्य का, ग्रीष्म ने समिधा का, शरद् ने हवि का, वर्षा ने बर्हि का अभिनय किया। देवों ने पुरुष को बांधा और सृष्टि- यज्ञ का सूत्र पात हुआ। उसी की अनुकृति में अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों की कल्पना की गई।[5]

वैदिक साहित्य में यज्ञ को देवरथ की संज्ञा दी गई है। यथा-

यद्यज्ञो मनुष्य रथेनैव देवरथमभ्यातिष्ठति।।[6]

मनुष्य अनुष्ठित यज्ञ के द्वारा देवरथ पर आरुढ़ हो जाता है।

एष वै देवरथो यद् दर्शपूर्णमासौ।।[7]

यह जो दर्शपूर्णमास यज्ञ है वह ही देवरथ है।

देवरथो वा एष यद् यज्ञः, यज्ञो वाव देवरथः।।[8]

यह जो यज्ञ है वही देवरथ है।

यज्ञ प्राकृतिक शक्तियों को न केवल वहन ही करता है अपितु उन्हें अनुकूल भी करता है इसीलिये प्राचीन ऋषियों ने यज्ञ को देवरथ के रूप में प्रस्तुत किया है।

यज्ञ जहां ऐश्वर्यरूप है वहां वह ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला भी है। यथा-

---

1. ऋग्वेद- 1.164.34
2. ऋग्वेद- 1.164.35
3. तैत्तिरीय संहिता- 7.4.18.2, काठक संहिता- 44.7
4. ऋग्वेद- 10.90.6, 8
5. पुरुषसूक्त का विवेचनात्मक अध्ययन, डॉ. कुसुमलता, पृष्ठ- 159
6. काठक संहिता- 8.8.
7. तैत्तिरीय संहिता- 2.5.6.1
8. ऐतरेय ब्राह्मण- 2.37, कौषीतकी ब्राह्मण- 7.7, जैमिनीय ब्राह्मण- 1.129

यज्ञो हि त इन्द्र वर्धनः।।[1]

यज्ञ निश्चय से ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला है।

देवा यज्ञमतन्वत...इन्द्रियाय।।[2]

उत्तम ज्ञानीजन परम एश्वर्य के लिये सुखदायक यज्ञ को विस्तृत करें।

वसुर्यज्ञो वसुमानयज्ञः, यज्ञो वै वसुः।।[3]

यज्ञ संसार में ऐश्वर्यरूप है।

यज्ञ के ज्योतिर्मय स्वरूप का वर्णन ऋग्वेद में उपलब्ध है। यथा-

ज्योतिर्यज्ञस्य पवते मधु प्रियं पिता देवानां जनिता विभुवसुः।।[4]

यज्ञ की मधुर ज्योति लोक लोकान्तरों को पवित्र करती है।

सामवेद में भी पठित उक्त मन्त्र का भाषाभाष्य किया गया है-'यज्ञ की ज्योति वायु आदि देवों का पालक, उनको संस्कारापेक्षया जन्म देने वाली एवं अत्यन्त ऐश्वर्य वाली है।[5]

ज्योतिर्वै यज्ञः- यज्ञ ज्योतिर्मय है।[6]

विराजा ज्योतिषा सह (धर्मो विभाति)।[7]

विराट्-ज्योति के साथ यज्ञ चमकता है।

❋❋❋

यज्ञाग्नि महत्त्व

पर्यावरणीय तत्व 'अग्नि' की क्रियाशीलता ही सृष्टि उद्भव तथा विकास में महत्वपूर्ण है इसीलिये ज्ञान के मूलस्रोत **'वेद'** का आरम्भ अग्नि शब्द से हुआ है, जिसे यज्ञ का पुरोहित, देव, ऋत्विक या ऋतुसुधारक, होता एवं अनेक सुख आदि रत्नों का धारक कहा गया है। यथा-

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।।[8]

इस मन्त्र में आये 'अग्नि' शब्द पर निरुक्तकार आचार्य यास्क ने चिन्तन प्रस्तुत करते हुए लिखा है- **अग्रणीः भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति सन्नममानः**- अग्नि अगुआ है, सबसे प्रधान है, यज्ञों में सबसे पहले लायी जाती है, उसी से सब काम प्रारंभ होते हैं, कोई वस्तु दी जाने पर उसे अपना अङ्ग बना लेती है।

निरुक्त में पठित **'स्वाहाकृति'** शब्द पर टीकाकार दुर्गाचार्य का अभिमत है- **या यागार्थमाहूय उत्तमे प्रयाजे स्वाहाकारेण संस्क्रियन्ते, ताः स्वाहाकृतयः।**- जो अग्नियाँ यज्ञ के लिये उत्तमता से मन्त्रों द्वारा आमन्त्रित कर स्वाहाकार से तृप्त की जाती हैं, वे स्वाहाकृतियाँ हैं।[9]

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार तीनों लोकों में स्थापित 'त्रिवृत्'- अग्नि के स्थूल रूप से तीन तीन भेद हैं। यथा-

अग्निमामादं जहि निष्क्रव्यादं सेधेत्ययं वा आमाद्येनें मनुष्याः
पक्ताश्नन्त्यथ येन पुरुषं दहन्ति स क्रव्यादेवेवेतदुभावतोऽपहन्ति।
...आ देवयज्ञं वहति यो देवयाद् तस्मिन्हवींषि श्रपयाम।।[10]

आमाद अग्नि- मनुष्यों द्वारा भोजन बनाने की अग्नि।

---

1. ऋग्वेद- 3.32.12
2. यजुर्वेद- 19.12
3. काठक संहिता- 32.4, शतपथ ब्राह्मण- 1.7.1.9
4. ऋग्वेद- 9.86.10
5. सामवेद- 1031
6. काठक संहिता- 31.11
7. तैत्तिरीय आरण्यक- 4.21
8. ऋग्वेद- 1.1.1
9. निरुक्त सम्मर्शः ब्रह्ममुनि
10. शतपथ ब्राह्मण- 1.2.1.4-5

क्रव्याद अग्नि- मृत देह को जलाने वाली अग्नि।
देवयाज अग्नि- यज्ञ में प्रज्वलित होने वाली अग्नि।

स एतास्तिस्त्रः तनूरेषु लोकेषु विन्यधत्त।
यदस्य पवमानं रूपमासीत् तदस्यां पृथिव्यां न्यधत्त।
अथ यत् पावे तदन्तरिक्षे अथ यच्छुचि तद्दिवि॥[1]

पवमान अग्नि- पृथिवी में विद्यमान अग्नि का नाम है।
पावक अग्नि- अन्तरिक्ष में विद्यमान अग्नि का नाम है।
शुचि अग्नि- द्यौलोक में विद्यमान अग्नि का नाम है।

अन्यत्र वैदिक विद्वानों में ऋग्वेद के मन्त्रांश-

वनस्पतिः शमितादेवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन।

की व्याख्या में यज्ञ की साधनारूप अग्नि का त्रेधा विभाजन करते हुए लिखा है गार्हपत्य, दक्षिणा और आहवनीय ये तीनों अग्नियाँ मिष्ट तथा घृत के साथ हवि का आस्वादन करावें।[2]

5 अंक के प्रश्न-

1. हविर्द्रव्यों की मात्रा के विषय में सप्रमाण वर्णन करें।
2. यज्ञ मे प्रयोग कि जाने वाली समिधाओं के विषय में विस्तार पूर्वक वर्णन करें।
3. मन्त्र का प्रभाव के विषय में विस्तारपूर्वक वर्णन करें।

15 अंक के प्रश्न-

1. तीन शास्त्र प्रमाण देते हुए विस्तार पूर्वक यज्ञ महिमा का वर्णन करें।
2. सप्रमाण यज्ञाग्नि पर विस्तार पूर्वक वर्णन करें।
3. यज्ञ में प्रयोग में आने वाले द्रव्यों के विषय में सविस्तार प्रमाण पूर्वक वर्णन करें।

बहु विकल्पीय-

1. निम्न में से कौन सी लकड़ी समिधा के रूप में यज्ञ में प्रयोग नही आती।
(क) अश्वत्थ
(ख) न्यग्रोध
(ग) शमी
(घ) तुमरु

2. मन्त्र प्रभाव निम्न में किस पर पड़ता है।
(क) शरीर पर
(ख) मनपर
(ग) पौधों पर
(घ) उक्त तीनो पर

3. निम्न में से कौन सा नाम सप्तहोतृ में से नही है।
(क) अध्वर्यु
(ख) नेष्टृ
(ग) प्रशास्त्
(घ) यजमान

---

1. शतपथ ब्राह्मण- 2.2.1.14
2. वेदार्थ दीपक निरुक्त भाष्य, चन्द्रमणि विद्यालंकार, पृष्ठ- 550

खण्ड- 2

इकाई-1 **पञ्च महायज्ञ**

उद्देश्य-

1. ब्रह्म यज्ञ का सविधि ज्ञान होना।
2. देवयज्ञ का सविधि ज्ञान होना।

प्राचीन ऋषियों ने जीवन और जगत् को सुंदर बनाने के लिए मनुष्य जीवन के साथ पंचमहायज्ञों का विधान किया।

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।

नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥ मनुस्मृति (४.२१)

ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ, अतिथियज्ञ और पितृयज्ञ का गृहस्थी को कभी भी त्याग नहीं करना चाहिए।

ब्रह्मयज्ञ- संध्योपासना व स्वाध्याय अर्थात् ऋषियों की भांति अपना सब कुछ धन-सम्पत्ति, शरीर-प्राण, मन-बुद्धि हृदय आदि परमात्मा को समर्पित कर उनकी आज्ञा में चलना।

देवयज्ञ- अग्नि में आरोग्यमय, पुष्टि, मंगलकारी आदि द्रव्यों की श्रद्धा व भक्ति से आहुति देकर समस्त पृथ्वी, जल, वायु आदि देवों को प्रसन्न कर स्वयं तथा समस्त जगत् को स्वस्थ व सुन्दर बनाना।

बलिवैश्वदेवयज्ञ- गो-अश्व आदि पशु-पक्षी तथा अन्य प्राणियों को तृप्त करने हेतु भोज्य पदार्थों की अग्नि में आहुति देना।

अतिथियज्ञ- घर में आये भिक्षुक, साधु-संत, विद्वानों का स्वागत-सत्कार करना, भोजन आदि कराना व उनसे ज्ञानोपार्जन करना।

पितृयज्ञ- श्रेष्ठ अपने माता-पिता, गुरु-आचार्यगण तथा अपने से ज्येष्ठजनों की सेवा करना तथा आज्ञाओं का पालन करना

❋❋❋

ब्रह्मयज्ञ (सन्ध्योपासना)

तीन बार **ओ३म्** का उच्चारण कर निम्न गायत्रीमन्त्र का पाठ करके शिखाबन्धन करें।

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।

धियो यो नः प्रचोदयात्॥ (यजु.-३६.३, ऋ.-३.६२.१०)

पदार्थ- ओम्- सब का रक्षक, वह **भूः**-प्राण-प्रदाता, **भुवः**- दुःखनाशक, **स्वः**-सुखदाता है। **तत्**-उस, **सवितुः**-सकल जगत् के प्रेरक वा उत्पादक, **देवस्य**-सबके प्रकाशक देव का, **वरेण्यम्**-ग्रहण करने योग्य, **भर्गः**-विशुद्ध तेज को हम, **धीमहि**-धारण करें। **यः** जो प्रभु, **नः**- हमारी, **धियः**-धारणावती बुद्धियों को, **प्रचोदयात्**-(सुमार्ग में) प्रेरित करे।

भावार्थ- सबका रक्षक ब्रह्म **भूः**-चराचर जगत् का प्राणस्वरूप है। **भुवः**-दुःखों को दूर करने वाला और **स्वः**-सकल जगत् को नियम में चलाने वाला है। हम सकल जगत् के प्रेरक वा उत्पादक प्रकाशमय देव के उस वरणीय सुन्दर प्रकाशमय स्वरूप का ध्यान करते हैं, जो भक्तों के लिए प्रत्यक्ष दृश्य रूप है। वह हमारी धारणा गुणवाली बुद्धियों को सुमार्ग में प्रेरित करे।

आचमन-मन्त्र

निम्न मन्त्र से सर्वव्यापक प्रभु से सुख की कामना करते हुए जल से तीन आचमन करें -

ओं शन्नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये।

शंयोरभिस्रवन्तु नः॥ (यजु.-३६.१२)

पदार्थ- शम्-सुखकारक, **नः**-हमारे लिए, **देवीः**-दिव्य गुणवाला, **अभिष्टये**- इष्ट आनन्द की प्राप्ति के लिए, **आपः**- सर्वव्यापक प्रभु, **भवन्तु**-होवे, **पीतये**-पूर्ण आनन्द के भोग के लिए, **शंयोः**- कल्याणकारक-दुःखविनाशक अपने आनन्द की, **अभि**- सब ओर से, **स्रवन्तु**-वृष्टि करें, **नः**-हमारे ऊपर।

भावार्थ- दिव्य-गुणवाला सर्वव्यापक प्रभु इष्ट आनन्द की प्राप्ति और पूर्ण-आनन्द के भोग के लिए हमारे लिये सुखकारक होवे और कल्याणकारक सर्वदुःखनाशक अपने परमानन्द को हम पर सब ओर से वर्षा करे।

अङ्गस्पर्श-मन्त्र

निम्न मन्त्रों से बाईं हथेली में जल लेकर दाहिने हाथ की मध्यमा, अनामिका अङ्गुलियों से जल के द्वारा इन्द्रियों का स्पर्श करते हुए इन्द्रियों की स्वस्थता एवं दृढ़ता हेतु ईश्वर से प्रार्थना करते हुए तीन आचमन करें –

ओं वाक् वाक्। इससे मुख।
ओं प्राणः प्राणः। इससे नासिका।
ओं चक्षुश्चक्षुः। इससे दोनों नेत्र।
ओं श्रोत्रं श्रोत्रम्। इससे दोनों कान।
ओं नाभिः। इससे नाभि।
ओं हृदयम्। इससे हृदय।
ओं कण्ठः। इससे कण्ठ ।
ओं शिरः। इससे शिर।
ओं बाहुभ्यां यशोबलम्। इससे दोनों भुजाएँ।
ओं करतलकरपृष्ठे।। इससे दोनों हथेली तथा उनके ऊपरीभाग।

टिप्पणी– जहाँ दो समान इन्द्रियों का स्पर्श व मार्जन किया जाता है, वहाँ पहले दाहिनी इन्द्रिय का, पश्चात् वाम इन्द्रिय का करना चाहिए।

पदार्थ– **वाक् वाक्**= वाग् इन्द्रिय और उसकी शक्ति बलवान् होवें , **प्राणः प्राणः**= प्राणेन्द्रिय और उसकी शक्ति बलवान् होवें, **चक्षुः चक्षुः**= चक्षु इन्द्रिय और उसकी शक्ति बलवान् होवें, **श्रोत्रं श्रोत्रम्**= कर्ण इन्द्रिय और उसकी शक्ति बलवान् होवें, **नाभिः**=शरीर का मूल बन्धन-स्थान बलवान् होवे, **हृदयम्**= हृदय अर्थात् रक्त-संचार अवयव बलवान् होवें, **कण्ठः**= कण्ठ आदि शब्दोच्चारण के स्थान बलवान् होवें, **शिरः**=मस्तिष्क एवं सभी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के मूल स्थान बलवान् होवें, **बाहुभ्यां यशोबलम्**=दोनों भुजा से मैं यश और बल को प्राप्त होऊँ, **करतलकरपृष्ठे**= हथेली और उसके ऊपरी भाग में यश और बल होवें।

भावार्थ– हमारे शरीर में जितनी प्रमुख इन्द्रियाँ और शरीर के अवयव हैं, वे ईश्वर कृपा से स्वस्थ और बलवान् होवें।।

मार्जन-मन्त्र

पूर्ववत् हाथ में जल लेके दाहिने हाथ की मध्यमा, अनामिका और अंगूठे से अथवा कुशाओं से उस-उस अङ्गों पर छींटते हुए ईश्वर से इन अङ्गों की शुद्धि के लिए प्रार्थना करें-

ओं भूः पुनातु शिरसि। इससे शिर पर।
ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः। इससे दोनों नेत्रों पर।
ओं स्वः पुनातु कण्ठे। इससे कण्ठ पर।
ओं महः पुनातु हृदये। इससे हृदय पर।
ओं जनः पुनातु नाभ्याम्। इससे नाभि पर।
ओं तपः पुनातु पादयोः। इससे दोनों पैरों पर।
ओं सत्यं पुनातु पुनश्शिरसि। इससे पुनः शिर पर।
ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र। इससे सम्पूर्ण शरीर पर।

पदार्थ– **भूः**-प्राणवत् प्रिय प्रभु, **पुनातु** -शुद्धि करे, **शिरसि**– शिर में, **भुवः**-दुःखों को दूर करने वाला प्रभु, **पुनातु**-शुद्धि करे, **नेत्रयोः**- दोनों नेत्रों में, **स्वः**-सुखस्वरूप प्रभु, **पुनातु**-शुद्धि करे, **कण्ठे**- कण्ठ में, **महः**-सबसे महान् व पूजनीय, **पुनातु**-शुद्धि करे, **हृदये**- हृदय में, **जनः**-सब का उत्पादक प्रभु, **पुनातु** -शुद्धि करे, **नाभ्याम्**-नाभि में, **तपः**-ज्ञानमय प्रभु, **पुनातु**-शुद्धि करे, **पादयोः**-पैरों में, **सत्यम्**-अविनाशी सत्य-स्वरूप प्रभु, **पुनातु**-शुद्धि करे, **पुनः शिरसि**- फिर शिर में, **खं ब्रह्म**- आकाश के समान सर्वव्यापक प्रभु, **पुनातु**-शुद्धि करे, **सर्वत्र**- सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों में।

भावार्थ– विविध गुण-कर्म-स्वभाव वाला परमात्मा हमारे शिर आदि अङ्गों को पवित्र करे, इनमें विद्यमान दोषों को दूर करे।

प्राणायाम-मन्त्र

निम्न मन्त्रों के अर्थों की मन में भावना करते हुए कम से कम तीन प्राणायाम करें-

ओं भूः। ओं भुवः। ओं स्वः। ओं महः। ओं जनः। ओं तपः। ओं सत्यम्।

टिप्पणी- भू आदि शब्दों का अर्थ मार्जन-मन्त्रों में देख लें।

भावार्थ- प्रभु के विविध नामों के अर्थ की मन में भावना करते हुए प्राणायाम करें।

अघमर्षण-मन्त्र

निम्न मन्त्रों द्वारा प्रभु की व्यापकता, शक्तिमत्ता और सृष्टि-रचना का चिन्तन करते हुए रात्रि में किये अघों=दुष्कर्मों का प्रातःकाल एवं दिन में किये गये अघों का सायङ्काल मर्षण=दूरीकरण करना चाहिये-

ओम् ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽअर्णवः॥ १॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरोऽअजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ २॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ ३॥ (ऋ.१०.१९०.१-३)

पदार्थ- **ऋतम्**-गतिशील चेतन जगत्, **च**- और **सत्यम्**- स्थिर रहने वाला अचेतन जगत्, **च**- और, **अभीद्धात्**-अति प्रकाशित, **तपसः**-तप या ज्ञान से, **अध्यजायत**- उत्पन्न हुआ, **ततः**- जगत्= ब्राह्मदिन के पश्चात्, **रात्री**-प्रलयरूपी ब्राह्मरात्रि, **अजायत**- उत्पन्न हुई, **ततः**- प्रलयरूपी रात्रि के पश्चात्, **समुद्रः**-प्रकृति के मूलतत्त्वों का समूह, **अर्णवः**-गतिशील,उत्पन्न हुआ अर्थात् गतिमान् हुआ, **समुद्रात्**-मूल तत्त्वसमूह से, **अर्णवात्**- गतिशील से, **अधि**-ऊपर=पश्चात्, **संवत्सर**- उत्पन्न होने वाले जगत् का योनिरूप महद्-अण्ड, **अजायत**- उत्पन्न हुआ, **अहोरात्राणि**- (इस प्रकार)- ब्राह्म दिन एवं ब्राह्म रात्रि को, **विदधत्**- बनाया, **विश्वस्य**-सब के, **मिषतः**-सुगमता से, **वशी**-वशीकार प्रभु ने, **सूर्याचन्द्रमसौ**-(महद् अण्ड के भीतर) सूर्य=प्रकाशक, चन्द्रमा=प्रकाश्य लोकों को, **धाता**-धारण करने वाले ने, **यथापूर्वम्**- पूर्व कल्प के समान, **अकल्पयत्**- बनाया, **दिवम्**-द्यु=प्रकाशक लोकों को, **च**-और, **पृथिवीम्**-विस्तीर्ण महान् प्रकाश्य लोकों को, **च**-और, **अन्तरिक्षम्**-(मध्यवर्ती)आकाश को, **अथो**- अनन्तर, **स्वः**-गतिशील (उल्का आदि) पिण्डों को।

भावार्थ- सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् प्रभु ने गत कल्प में चेतन-अचेतन समस्त जगत् को रचा था। उसके पश्चात् उसी ने अपने महान् सामर्थ्य से प्रलयकालरूपी महारात्रि को उत्पन्न किया। तत्पश्चात् उसी सहज स्वभाव से सकल जगत् को बनाने वाले प्रभु ने प्रकृति के मूल तत्त्वों में गति उत्पन्न करके संवत्सर=प्रजापति=हिरण्यगर्भरूप महद्-अण्ड को उत्पन्न किया और उसी के भीतर प्रकाशक और प्रकाशरूप उभयविध लोकों का निर्माण किया। तत्पश्चात् प्रत्यक्ष दृश्यमान प्रकाशक, प्रकाश्य लोकों, मध्यवर्ती आकाश एवं क्षुद्र गतिशील उल्का-पिण्डों की रचना की।

आचमन-मन्त्र

अघमर्षण के पश्चात् निम्न मन्त्र से तीन आचमन करें-

ओं शन्नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभिस्रवन्तु नः॥ (यजु.- ३६.१२)

मनसा परिक्रमा मन्त्र

निम्न छः मन्त्रों से परम प्रभु ओम् की सत्ता को सब दिग्-दिगन्तरों में क्रमशः अनुभव करते हुए सम्पूर्ण विश्व के साथ द्वेष-भावना को नष्ट कर मैत्रीभाव स्थापित कर निर्भय, निःशङ्क, उत्साही, आनन्दित और पुरुषार्थी रहें।

प्राच्ची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ (अथर्व.-३.२७.१)

पदार्थ- **प्राची**-सामने की या पूर्व, **दिक्**-दिशा (का), **अग्निः**- प्रकाशस्वरूप (प्रभु), **अधिपतिः**-स्वामी (है), **असितः**-बन्धनरहित, **रक्षिता**- रक्षक है, **आदित्याः**-अखण्डनीय= सर्वव्यापक प्रभु के नियम, **इषवः**-प्राप्त होने वाले, दण्ड देने वाले (है), **तेभ्यः**-उनके लिए, **नमः**-नमस्कार, **अधिपतिभ्यः**-स्वामी के लिए, **नमः**-नमस्कार, **रक्षितृभ्यः**-रक्षक के लिये, **नमः**-नमस्कार, **इषुभ्यः**-इषुओं के लिये, **नमः**-नमस्कार, **एभ्यः**-इनके लिए, **अस्तु**-होवे, **यः**-जो (अधर्माचरण), **अस्मान्**-हमारे प्रति, **द्वेष्टि**- द्वेष का कारण बनता है, **यम्**-जिस (अधर्माचरण) के प्रति, **वयम्**-हम लोग, **द्विष्मः**-अप्रीति रखते हैं, **तम्**-उस (अधर्माचरण) को, **वः**-आपके, **जम्भे**-खाने वाले=नष्ट करने वाले स्वभाव के अधीन, **दध्मः**-देते=करते हैं।

भावार्थ- हमारे सामने प्रकाश-स्वरूप, सब जगत् को प्रकाशित करने वाला प्रभु, स्वामी के रूप में विराजमान है। सब प्रकार के बन्धनों से रहित प्रभु, हमारे दुःखदायक सांसारिक बन्धनों को काट कर रक्षा करने वाला है। सर्वव्यापक प्रभु के नियम इषु=सर्वत्र विराजमान, दण्ड देने वाले व पकड़ने वाले हैं। इस कारण हम उससे या उसके नियमों से बच नहीं सकते। इसलिए उस प्रकाशस्वरूप स्वामी, भवबन्धन-नाशक, रक्षक और उसके सर्वत्र व्यापक नियमों के लिए हमारा नमस्कार है। जिस द्वेष-भावना या अधर्माचरण से युक्त होकर कोई व्यक्ति हमारे साथ अप्रीति करता है या जिस द्वेष-भावना से हम अन्यों के साथ अप्रीति रखते हैं, उस द्वेष-भावना या अधर्माचरण को हम आप के नष्ट करने वाले स्वभाव के अधीन करते हैं। हे प्रभो! आप कृपा करके हममें या दूसरों में जो द्वेष-भावना या अधर्माचरण है, उसे दूर करो। हम सब प्राणिमात्र परस्पर एक-दूसरे के साथ प्रीति रखने वाले हों तथा एक-दूसरे के रक्षक होवें।।

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ (अथर्व.-३.२७.२)

पदार्थ- **दक्षिणा**-दाहिनी ओर या दक्षिण, **दिक्**- दिशा (का), **इन्द्रः**- परम ऐश्वर्य का दाता, **अधिपतिः**- स्वामी (है), **तिरश्चिराजिः**-टेढ़ी गति-वाले अधर्म का प्रकाशक= ज्ञान कराने वाला, **रक्षिता**-रक्षक (है), **पितरः**- रक्षा करने वाले ज्ञानी पुरुष, **इषवः**-(अज्ञानको) नष्ट करने वाले (हैं)। **(आगे के मन्त्रों - तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो..... आदि के अर्थ पूर्ववत् जानें)**

भावार्थ- हमारे दाहिनी ओर परम ऐश्वर्य का देने वाला प्रभु स्वामी के रूप में विराजमान है। वही टेढ़ी गति-वाले, कुटिलता से युक्त अधर्म का प्रकाशक=ज्ञान कराने वाला हमारा रक्षक है, दाहिनी ओर=श्रेष्ठ स्थान पर विराजमान ज्ञानवृद्ध पुरुष हमारे अज्ञान को इषु=दूर करने वाले हैं। इसलिए उस परम ऐश्वर्य दाता स्वामी, कुटिलता युक्त अधर्माचरण के ज्ञान से प्रकाश द्वारा रक्षक, ज्ञान-वृद्ध पितरजनों के अज्ञान-नाशक ज्ञानरूप उपदेशों के लिए हमारा नमस्कार है।

प्रतीच्ची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ (अथर्व.-३.२७.३)

पदार्थ- **प्रतीची**-पीछे की ओर या पश्चिम, **दिक्**-दिशा (का),**वरुणः**-सब संसार को आच्छादित करने वाला=सब से महान्, **अधिपतिः**-स्वामी (है), **पृदाकुः**-अशोभनीय शब्द बोलने वाले, दोनों को अपने समीप बुलाने वाला, **रक्षिता**-रक्षक (है), **अन्नम्**-खाने योग्य= भोग्य पदार्थ, **इषवः**-(क्षुधा=अभाव को) दूर करने वाले हैं।

भावार्थ- हमारे पीछे की ओर सब को ढंकने वाला, सबसे महान् प्रभु हमारा स्वामी है। वही क्षुधा या अभाव से पीड़ित क्रन्दन करने (चिलाने) वाले प्राणियों को अपने पास बुलाकर उनकी रक्षा करने वाला है। उस प्रभु के दिये अन्न=भोग्य पदार्थ ही क्षुधा=अभाव के इषु=दूर करने वाले हैं। इसलिये उस सबसे महान् स्वामी, अभाव से पीड़ित-जनों के रक्षक, अन्न आदि भोग्य पदार्थ रूप इषुओं=अभावों को दूर करने वाले के लिए हमारा नमस्कार है।

उदीच्ची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ (अथर्व.-३.२७.४)

पदार्थ- **उदीची**-बाईं ओर या उत्तर, **दिक्**-दिशा (का), **सोमः**-सकल जगत् का उत्पादक (प्रभु), **स्वजः**-(विनाशक

शक्तियों को) अच्छे प्रकार दूर करने वाला, **रक्षिता**- रक्षक (है), **अशनिः**-सर्वव्यापक शक्ति=सामर्थ्य, **इषवः**-दूर करने वाले हैं।

भावार्थ- हमारे बाईं ओर सकल जगत् का उत्पादक प्रभु हमारा स्वामी है। वही आसुरी=विनाशक शक्तियों को दूर करने वाला हमारा रक्षक है। उसका सर्वव्यापक सामर्थ्य ही आसुरी शक्तियों को दूर करने वाला है। इसलिए उस सकल जगत् के उत्पादक स्वामी, आसुरी शक्तियों को दूर करने वाले रक्षक और उसके सर्वव्यापक सामर्थ्य रूप इषुओं के लिए हमारा नमस्कार है।

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥(अथर्व.-३.२७.५)

पदार्थ- **ध्रुवा**-नीचे की ओर, **दिक्**-दिशा (का), **विष्णुः**- व्यापक (प्रभु), **अधिपतिः**-स्वामी (है), **कल्माषग्रीवः**-ज्ञान-नाशक=मोह को दूर करने वाला, **रक्षिता**-रक्षक (है), **वीरुधः**-विविध प्रकार से उपदेश करने वाले वेद, **इषवः**-(अज्ञान को दूर) करने वाले हैं।

भावार्थ- नीचे की दिशा में विराजमान व्यापक प्रभु हमारा स्वामी है। वही हमारे भीतर छिपे हुए ज्ञान-नाशक मोह (अविद्या) रूपी अन्धकार को निगलने वाला हमारा रक्षक है। विविध प्रकार से ज्ञान का उपदेश करने वाले वेद या उसकी अन्तः प्रेरणायें ही इषु=अज्ञान को दूर करने वाली हैं। इसलिए उस सर्वव्यापक स्वामी, मोह रूप अज्ञान को दूर करने वाले रक्षक और उसके अज्ञान-नाशक वेद या अन्तः प्रेरणा रूपी इषुओं के लिए हमारा नमस्कार है।

ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ (अथर्व.-३.२७.६)

पदार्थ- **ऊर्ध्वा**-ऊपर की, **दिक्**-दिशा (का), **बृहस्पतिः**-महान् पालक(प्रभु), **अधिपतिः**-स्वामी (है), **श्वित्रः**-बढ़ने वाले दुःख- रोग-अज्ञान से रक्षा करने वाला, **रक्षिता**-रक्षक (है), **वर्षम्**-ज्ञान का वर्षण=देना, **इषवः**-(अज्ञान को) दूर करने वाले हैं।

भावार्थ- बाहर की ओर विराजमान, महान् पालक प्रभु हमारा स्वामी है। वही बाहरी संसर्ग से प्राप्त होकर बढ़ने-वाले दुःख-रोग-अज्ञान से बचाने वाला हमारा रक्षक है। संसार रूपी रचना द्वारा ज्ञान का घर्षण ही अज्ञान का इषु=नाश करने वाला है। इसलिए उस महान् पालक स्वामी, बाह्य संसर्ग से वृद्धि को प्राप्त होने वाले, दुःख-रोग-अज्ञान से बचाने वाला रक्षक और संसार रूप विविध ज्ञान के द्वारा अज्ञान को दूर करने वाले इषुओं को हमारा नमस्कार है।

उपस्थान-मन्त्र

ओ३म् उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥१॥ (यजु.-३५.१४)

पदार्थ- **उत्**-ऊपर, **वयम्**-हम, **तमसः**-अन्धकार से, **परि**-रहित, **स्वः**- प्रकाशस्वरूप (प्रभु)को, **पश्यन्तः**-देखते=अनुभव करते हुए **उत्तरम्**-अधिक ऊपर, **देवम्**- देव को, **देवत्रा**-देवों में, **सूर्यम्**-सकल जगत् उत्पादक को, **अगन्म**-प्राप्त होवें, **ज्योतिः**-प्रकाशस्वरूप को, **उत्तमम्**-अत्यधिक ऊपर।

भावार्थ- हम अन्धकार से रहित प्रभु को अपने सब ओर अनुभव करते हुए स्वयं अन्धकार से उत्=ऊपर उठते हैं। प्रकाशस्वरूप प्रभु को अपने चारों ओर अनुभव करते हुए अधिक ऊपर उठते हैं। सकल जगत् के उत्पादक, भौतिक देवों=सूर्यादि प्रकाशकों में देव=प्रकाश करने वाले ज्योतिःस्वरूप प्रभु को अपने सब ओर अनुभव करते हुए अत्यधिक ऊपर उठते हैं।

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥२॥ (यजु.-३३.३१)

पदार्थ- **उत्**-ऊपर की ओर, **उ**-ही, **त्यम्**-उस को, **जातवेदसम्**-उत्पन्न हो गया है ज्ञान जिसका, उसको, **देवम्**- श्रेष्ठ व्यवहार वाले को, **वहन्ति**-प्राप्त कराती हैं, बढ़ाती हैं, **केतवः**-भक्ति-तरङ्गें, **दृशे**-दिखाने=ज्ञान कराने के लिए, **विश्वाय**-पूर्ण रूप से, **सूर्यम्**-प्रकाशस्वरूप जगदुत्पादक प्रभु को।

भावार्थ- जिस व्यक्ति को ज्ञान उत्पन्न हो गया है, जिसका व्यवहार शुद्ध है, ऐसे प्रभुभक्त को भक्ति-तरङ्गें प्रकाशस्वरूप सर्वजगदुत्पादक प्रभु का पूर्णरूप से ज्ञान कराने के लिए ऊपर उठाती हैं, उसे बराबर लक्ष्य की ओर बढ़ाती हैं।

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳ सूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥३॥ (यजु.-७.४२)

पदार्थ- **चित्रम्**-अद्भुत (है), **देवानाम्**-ब्रह्मस्थ उपासकों का, **उत् अगात्**-उन्नति की ओर ले जाने वाला है, **अनीकम्**-आत्मबल, **चक्षुः**-मार्गदर्शक (है, वह), **मित्रस्य**-मित्र भावना वाले उपासक का, **वरुणस्य**-श्रेष्ठ वरणीय उपासक का, **अग्नेः**-उत्कृष्ट ज्ञान वाले उपासक का, **आप्राः**-पूर्ण करता है, **द्यावापृथिवी**-प्रकाशक और प्रकाश्य लोकों को, **अन्तरिक्षम्**-मध्यस्थ आकाश को, **सूर्यः**-चराचर जगत् का प्रेरक वा उत्पादक, **आत्मा**-स्वरूप में स्थिर रखने वाला, **जगतः**-जंगम=चर जगत् का, **तस्थुषः**-स्थावर जगत् का, **च**-और, **स्वाहा**-इस सत्य को मैं अपने अनुभव से स्वीकार करता हूँ।

भावार्थ- प्रभु की कृपा से ब्रह्म के उपासकों को उन्नति की ओर बढ़ाने वाला अद्भुत आत्मबल प्राप्त होता है। वही आत्मबल मित्र-वरुण व अग्नि श्रेणि वाले उपासकों का मार्गदर्शक होता है, आत्म-पतन से बचाता है। इस उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त हुआ उपासक अनुभव करता है, कि सारा प्रकाशक प्रकाश्य और मध्यस्थ लोक उस जगदुत्पादक प्रभु से परिपूर्ण है। कण-कण में वह व्यापक है और वही इस चराचर जगत् का आत्मा=स्वरूप है। इस सत्य को मैं उपासक मनसा, वाचा, कर्मणा स्वीकार करता हूँ।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं
जीवेम शरदः शतꣳशृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः
शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥४॥ (यजु.-७.४२)

पदार्थ- **तत्**- वह, **चक्षुः**-मार्गदर्शक, **देवहितम्**-जिससे देवों=उपासकों का हित हो (वह), **पुरस्तात्**-सन्मुख, **शुक्रम्**-शुद्धस्वरूप, प्रकाशमय, **उच्चरत्**- उपस्थित हुआ है, **पश्येम**- देखें, **शरदः शतम्**-सौ वर्ष, **जीवेम**- जीवें=प्राण धारण करें, **शरदः शतम्**-सौ वर्ष, **शृणुयाम**- सुनें, **शरदः शतम्**-सौ वर्ष, **प्रब्रवाम**- कहें, बोलें, **शरदः शतम्**-सौ वर्ष, **अदीनाः**- अखण्डित शक्तिवाले, **स्याम**-होवें, **शरदः शतम्**-सौ वर्ष, **भूयः**-अधिक देखें-जीवें-सुनें-बोलें व शक्तिसम्पन्न रहें, **च**-और, **शरदः शतम्**-सौ वर्षों से भी ऊपर।

भावार्थ- भक्तों=उपासकों का हितकारक, मार्गदर्शक, शुद्धस्वरूप प्रकाशमय देव हम भक्तों के सन्मुख उपस्थित हुआ है। हम उस प्रभु को सन्मुख विराजमान अनुभव करते हैं। हम उस प्रियतम देव को सौ वर्षों तक निरन्तर देखें।

उसी की भक्ति-अर्चना के लिए सौ वर्षों तक जीवें। उसी देव की कथा सौ वर्षों तक सुनें। और उसी प्रभु के गुणों का कथन=उच्चारण सौ वर्षों तक करें। इन सब कर्मों के लिए हम सौ वर्षों तक अखण्डित शक्ति वाले होवें। सौ वर्षों तक ही नहीं, उससे भी अधिक वर्षों तक हम उस देव को देखें-सुनें-कहें। उसी के लिए जीवें और उसकी कृपा से अदीन रहें।

प्रार्थना-मन्त्र

नीचे लिखे मन्त्र से उपासक प्रभु से सुपथगामी बुद्धि की प्रार्थना करता है-

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥ (यजु०-३६.३; ऋ०-३.६२.१०)

टिप्पणी- अर्थ व भावार्थ पृष्ठ (28) पर हम लिख आये हैं, अतः वहीं देख लें।

समर्पण-मन्त्र

निम्नलिखित वाक्य से उपासक अहंकार की निवृत्ति हेतु किए गए सन्ध्योपासना कर्म को प्रभु को समर्पित करें-

हे ईश्वर दयानिधे! भवत्कृपयाऽनेन जपोपासनादिकर्मणा
धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः॥

भावार्थ-हे ईश्वर दयानिधे! आपकी कृपा से जप-उपासना आदि जो-जो उत्तम काम हम लोग करते हैं, वे सब आप के समर्पण हैं। इन शुभ कर्मों से धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की सिद्धि हमको शीघ्र प्राप्त होवे।

नमस्कार-मन्त्र

उपासना के अन्त में उपासक निम्नलिखित मन्त्र से उपास्य देव को नमस्कार करे-

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च
नमः शिवाय च शिवतराय च॥ (यजु.-१६.४१)

पदार्थ- **नमः**-नमस्कार (होवे), **शम्भवाय**-कल्याण देने (करने) वाले प्रभु के लिए, **च**-और, **मयोभवाय**-सुख प्राप्त करने वाले प्रभु के लिए, **च**-और, **नमः**-नमस्कार (होवे), **शङ्कराय**-कल्याण करना जिसका स्वभाव है, ऐसे प्रभु के लिए, **च**-

और, **मयस्कराय**-सुख करना=देना ही जिस का स्वभाव है, ऐसे प्रभु के लिए, **च**-और **नमः**-नमस्कार (होवे), **शिवाय**-कल्याण करने वाले प्रभु के लिए, **च**- और, **शिवतराय**- अति कल्याण करने वाले प्रभु के लिए, **च**-और।

भावार्थ- उपासक को कल्याण प्राप्त कराने और सुख देने वाले प्रभु के लिए हमारा नमस्कार है। भक्तों का कल्याण और सुख करना ही जिसका स्वभाव है, ऐसे प्रभु के लिए हमारा नमस्कार है। कल्याण करने वाले, अति कल्याण करने वाले प्रभु के लिए हमारा नमस्कार है।

इस प्रकार प्रभु-भक्त सन्ध्योपासना के अन्त में तीन बार शान्तिपाठ करें।

!! ओ३म् शान्ति, शान्ति, शान्ति !!

।। इति सन्ध्योपासना विधिः।।

तीन बार **ओ३म्** का उच्चारण करें-

आचमन-मन्त्र

अग्निहोत्र आरम्भ करने से पूर्व निम्न मन्त्रों के अर्थ विचारपूर्वक तीन आचमन करें-

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा॥१॥ इससे एक

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा॥२॥ इससे दूसरा

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा॥३॥ इससे तीसरा (तै.आ.-१०.३२.३५)

पदार्थ- **ओम्**- हे सर्वरक्षक!, **अमृत**- अविनाशस्वरूप! आप, **उपस्तरणम्**- अपने अन्दर से प्राप्त होने वाले दुःखों के आच्छादक= रक्षक, **असि**- हैं, **स्वाहा**-यह मैं यथार्थ रूप से जानता हूँ। **ओम्**- हे सर्वरक्षक, **अमृत**-अविनाशीस्वरूप! आप, **अपिधानम्**-ऊपर-बाहर से प्राप्त होने वाले दुःखों को ढकने वाले रक्षक, **असि**- हैं, **स्वाहा**-यह मैं यथार्थ रूप से जानता हूँ। **ओम्**- हे सर्वरक्षक प्रभो!, **सत्यम्**-सत्य-ज्ञान, **यशः**-यश, **श्रीः**-कान्ति, **मयि**-मुझ में, **श्रीः**- धन-सम्पदा, **श्रयताम्**-आश्रय पावें अर्थात् मुझे प्राप्त होवें, **स्वाहा**-यह मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ।

भावार्थ- हे अविनाशी सर्वरक्षक प्रभो! आप हमें अपने भीतर से प्राप्त होने वाले दुःखों से बचाने वाले हो। आप ही हमें बाहर से प्राप्त होने वाले दुःखों से भी बचाने वाले हो। हे सर्वरक्षक प्रभो! आप हमें सत्य-ज्ञान, यश-कान्ति, धन-सम्पदा आदि समस्त श्रेष्ठ पदार्थ प्राप्त करायें, जिससे हम आपसे रक्षित होकर इस जीवन में सुख-शान्ति से रहें।

अङ्गस्पर्श-मन्त्र

निम्न मन्त्रों के अर्थविचारपूर्वक अपने दोषों को दूर करने की प्रभु से प्रार्थना करते हुए बाँयें हाथ में थोड़ा जल लेकर दाहिने हाथ की मध्यमा और अनामिका अंगुलियों से प्रथम दायीं ओर, पश्चात् बायीं ओर स्पर्श करें-

ओं वाङ् म आस्येऽस्तु॥ इस मन्त्र से मुख,

ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु॥ इस मन्त्र से दोनों नासिका छिद्र,

ओम् अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु॥ इस मन्त्र से दोनों आँखें,

ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु॥ इस मन्त्र से दोनों कान,

ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु॥ इस मन्त्र से दोनों भुजाएं,

ओम् ऊर्वोर्म ओजोऽस्तु॥ इस मन्त्र से दोनों जंघाएं,

ओम् अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु॥ (पा.गृ.-१.३.२५)

इससे शरीर के सम्पूर्ण अङ्गों को।

पदार्थ- **ओम्**-हे ज्ञान के उपदेशक (जीवन देने वाले) प्रभो!, **वाक्**- वाक्-शक्ति, **मे**-मेरे, **आस्ये**-मुख में, **अस्तु**-विद्यमान रहे, **नसोः**-दोनों नासिकाओं में, **मे**- मेरी, **प्राणः**-जीवन प्रदान करने वाली प्राणशक्ति, **अस्तु**-विद्यमान रहे, **अक्ष्णोः**-दोनों आखों में, **मे**- मेरे, **चक्षुः**-दर्शनशक्ति, **अस्तु**-विद्यमान रहे, **कर्णयोः**-दोनों कानों में, **मे**- मेरे, **श्रोत्रम्**-श्रवणशक्ति, **अस्तु**-विद्यमान रहे, **बाह्वोः**-दोनों भुजाओं में, **मे**-मेरे, **बलम्**-बल-शक्ति, **अस्तु**-विद्यमान रहे, **ऊर्वोः**-दोनों जांघों में, **मे**-मेरे, **ओजः**-पराक्रम, **अस्तु**-विद्यमान रहे, **अरिष्टानि**-न्यूनतारहित, दोषरहित, **मे**-मेरे, **अङ्गानि**- अङ्ग (और), **तनूः**- शरीर (के अन्य अङ्ग), **तन्वा**-शरीर के, **मे**- मेरे, **सह**- साथ, **सन्तु**-सदा विद्यमान रहें।

भावार्थ- हे सर्वरक्षक प्रभो! आपकी कृपा से मेरे मुख में वाक्-शक्ति, नासिकाओं में प्राणशक्ति, आंखों में दर्शनशक्ति, कानों में श्रवणशक्ति, भुजाओं में बल और जंघाओं में वेग-पराक्रम शक्ति सदा विद्यमान रहे। मेरे सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग न्यूनता व दोषों से रहित होते हुए शरीर के साथ सदा वर्तमान रहें अर्थात् जब तक शरीर रहे, तब तक मेरे सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग स्थिर, बलवान् रहें, शक्तिहीन न हों।

ईश्वर-स्तुतिप्रार्थनोपासना मन्त्राः

अग्निहोत्र से पूर्व निम्नलिखित ८ मन्त्रों से ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना करें-

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्नऽआ सुव ॥१॥ (यजु.-३०.३)

पदार्थ- हे **(सवितः)** सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता, समग्र ऐश्वर्ययुक्त, **(देव)** शुद्धस्वरूप, सब सुखों के दाता, परमेश्वर! आप कृपा करके **(नः)** हमारे, (**विश्वानि**) सम्पूर्ण, (**दुरितानि**) दुर्गुण, दुर्व्यसन, दुर्विचार और दुःखों को, **(परा सुव)** दूर कर दें, **(यत्)** जो, **(भद्रम्)** कल्याणकारक गुण-कर्म-स्वभाव और पदार्थ हैं, **(तत्)** वह सब हमको, **(आ सुव)** प्राप्त करावें।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽ आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥ (यजु.-१३.४)

पदार्थ- जो **(हिरण्यगर्भः)** स्वप्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश करने वाले सूर्य-चन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं, जो (**भूतस्य**) उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् का, (**जातः**) प्रसिद्ध, (**पतिः**) स्वामी, (**एकः**) एक ही चेतन स्वरूप, (**आसीत्**) था, जो (**अग्रे**) सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व, (**समवर्तत**) वर्तमान था, (**सः**) वह, (**इमाम्**) इस, (**पृथिवीम्**) भूमि, (**उत**) और, (**द्याम्**) सूर्यादि को, (**दाधार**) धारण कर रहा है, हम लोग उस (**कस्मै**) सुखस्वरूप, (**देवाय**) शुद्ध परमात्मा के लिए, (**हविषा**) ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अतिप्रेम से, (**विधेम**) विशेष भक्ति किया करें।।

यऽआत्मदा बलदा यस्य विश्वऽउपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥ (यजु.-२५.१३)

पदार्थ- (**यः**) जो, (**आत्मदाः**) आत्मज्ञान का दाता, (**बलदाः**) शरीर आत्मा और समाज के बल का देने वाला, (**यस्य**) जिसकी, (**विश्वे**) सब, (**देवाः**) विद्वान् लोग, (**उपासते**) उपासना करते हैं, और (**यस्य**) जिसका, (**प्रशिषम्**) प्रत्यक्ष सत्यस्वरूप शासन और न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं, (**यस्य**) जिसका, (**छाया**) आश्रय ही, (**अमृतम्**) मोक्षसुखदायक है, (**यस्य**) जिसका न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही, (**मृत्युः**) मृत्यु आदि दुःख का हेतु है, हम लोग उस (**कस्मै**) सुखस्वरूप, (**देवाय**) सकल ज्ञान के देने वाले परमात्मा की प्राप्ति के लिए, (**हविषा**) आत्मा और अन्तःकरण से (**विधेम**) भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञा पालन करने में तत्पर रहें।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैकऽइद्राजा जगतो बभूव।
यऽईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥ (यजु.-२३.३)

पदार्थ-(**यः**) जो, (**प्राणतः**) प्राणवाले और, (**निमिषतः**) अप्राणिरूप, (**जगतः**) जगत् का, (**महित्वा**) अपने अनन्त महिमा से, (**एक इत्**) एक ही, (**राजा**) विराजमान राजा, (**बभूव**) है, (**यः**) जो (**अस्य**) इस, (**द्विपदः**) मनुष्यादि और, (**चतुष्पदः**) गौ आदि प्राणियों के शरीर की, (**ईशे**)रचना करता है, हम उस (**कस्मै**) सुखस्वरूप, (**देवाय**) सकलैश्वर्य के देने वाले परमात्मा के लिए, (**हविषा**) अपनी सकल उत्तम सामग्री से, (**विधेम**) विशेष भक्ति करें।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभितं येन नाकः।
योऽ अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥ (यजु.-३२.६)

पदार्थ- (**येन**) जिस परमात्मा ने, (**उग्रा**) तीक्ष्ण स्वभाव वाले, (**द्यौः**) सूर्य आदि, (**च**) और, (**पृथिवी**) भूमि को, (**दृढा**) धारण, (**येन**) जिस जगदीश्वर ने, (**स्वः**) सुख को, (**स्तभितम्**) धारण, और (**येन**) जिस ईश्वर ने, (**नाकः**) दुःखरहित मोक्ष को धारण किया है, (**यः**) जो, (**अन्तरिक्षे**) आकाश में, (**रजसः**) सब लोक-लोकान्तरों को, (**विमानः**) विशेष मानयुक्त अर्थात् जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं, वैसे सब लोकों का निर्माण करता और भ्रमण कराता है, हम लोग उस (**कस्मै**) सुखदायक, (**देवाय**) कामना करने के योग्य परब्रह्म की प्राप्ति के लिये, (**हविषा**) सब सामर्थ्य से, (**विधेम**) विशेष भक्ति करें।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥६॥ (ऋ.-१०.१२१.१०)

पदार्थ- हे (**प्रजापते**) सब प्रजा के स्वामी परमात्मा! (**त्वत्**) आप से (**अन्यः**) भिन्न दूसरा कोई, (**ता**) उन, (**एतानि**) इन, (**विश्वा**) सब,(**जातानि**)उत्पन्न हुए जड़ चेतनादि को, (**न**) नहीं, (**परिबभूव**) तिरस्कार करता है अर्थात् आप सर्वोपरि है, (**यत्कामाः**) जिस-जिस पदार्थ की कामनावाले हम लोग, (**ते**) आपका, (**जुहुमः**) आश्रय लेवें और वाञ्छा करें (**तत्**) उस-उस की कामना, (**नः**) हमारी सिद्ध, (**अस्तु**) होवें, जिससे (**वयम्**) हम लोग, (**रयीणाम्**) धनैश्वर्यों के, (**पतयः**) स्वामी, (**स्याम**) होवें।

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवाऽ अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥७॥ (यजु.-३२.१०)

पदार्थ- हे मनुष्यों! (**सः**) वह परमात्मा, (**नः**)अपने लोगों को, (**बन्धुः**)भ्राता के समान सुखदायक, (**जनिता**) सकल जगत् का उत्पादक, (**सः**)वह, (**विधाता**) सब कामों को पूर्ण करने वाला, (**विश्वा**) सम्पूर्ण (**भुवनानि**) लोकमात्र और, (**धामानि**) नाम-स्थान और जन्मों को, (**वेद**) जानता है,और (**यत्र**) जिस, (**तृतीये**) सांसारिक सुख-दुःख से रहित नित्यानन्दयुक्त, (**धामन्**) मोक्षस्वरूप, धारण करने वाले परमात्मा में (**अमृतम्**) मोक्ष को, (**आनशानाः**) प्राप्त होके, (**देवाः**) विद्वान् लोग, (**अध्यैरयन्त**) स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं, वही परमात्मा अपना गुरु-आचार्य-राजा और न्यायधीश है। हम सब मिलके सदा उसकी भक्ति किया करें।

अग्ने नय सुपथा राये ऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम ऽउक्तिं विधेम ॥८॥ (यजु.-४०.१६)

पदार्थ- हे (**अग्ने**) स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप, सब जगत् के प्रकाश करने वाले, (**देव**) सकल सुखदाता परमेश्वर! आप जिससे, (**विद्वान्**) सम्पूर्ण विद्यायुक्त हैं, कृपा करके (**अस्मान्**) हम लोगों को, (**राये**) विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये, (**सुपथा**) अच्छे धर्मयुक्त आप्त लोगों के मार्ग से, (**विश्वानि**) सम्पूर्ण, (**वयुनानि**) प्रज्ञान और उत्तम कर्म, (**नये**) प्राप्त कराइये, और (**अस्मत्**) हमसे, (**जुहुराणम्**) कुटिलतायुक्त,(**एनः**) पापरूप कर्म को, (**युयोधि**) दूर कीजिये, इस कारण हम लोग (**ते**) आपकी, (**भूयिष्ठाम्**) बहुत प्रकार की स्तुतिरूप, (**नम उक्तिम्**) नम्रतापूर्वक प्रशंसा, (**विधेम**) सदा किया करें और आनन्द में रहें।

॥ इति ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना मन्त्राः॥

❋❋❋

दीप प्रज्वलन-मन्त्र

निम्न मन्त्र का उच्चारण पूर्वक दीप प्रज्वलन करें।

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। (गोभिल गृ.-१.१.११)

पदार्थ- **ओ३म्**- हे सर्वरक्षक प्रभो! आप, **भूः**-सब के जनक, प्राणस्वरूप, **भुवः**-दुःखों को दूर करने वाले, **स्वः**-सुखस्वरूप हैं।

विनियोगपरक अर्थ-जगत्स्रष्टा प्रभु के द्वारा उत्पादित अग्नि **भूः**-पृथिवीलोक, **भुवः**-अन्तरिक्षलोक, और **स्वः**-द्युलोक में क्रमशः अग्नि, विद्युत् और सूर्यरूप से वर्तमान है। मेरे द्वारा प्रज्वलित यह अग्नि भी इन तीनों अग्नियों का प्रतिनिधिरूप है।

अग्न्याधान-मन्त्र

पूर्व प्रज्वलित अग्नि को निम्न मन्त्रोच्चारण करते हुए कुण्ड में स्थापित करें। यह कार्य मन्त्र के '**आदधे**' पद के उच्चारण के साथ करना चाहिये। इसके पश्चात् प्रज्वलित दीपक को ईशानकोण में रख दें।

ओ३म् भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे॥ (यजु.-३.५)

पदार्थ- **ओम्**- हे सर्वस्रष्टा प्रभो!, **भूः**-सब के उत्पादक, प्राणस्वरूप,**भुवः**-दुःखों को दूर करने वाले**, स्वः**-सुखस्वरूप हैं, **द्यौरिव**- प्रकाश करने वाले लोक के समान, **भूम्ना**- महत्ता से, **पृथिवी इव**-पृथिवी के समान, **वरिम्णा**-श्रेष्ठता से (युक्त जो वेदि है), **तस्याः**-उस, **ते**-तुम्हारी, **पृथिवि**-विस्तीर्ण, **देवयजनि**-देवों का यजन जिसमें किया जाता है, उसके **पृष्ठे**- पीठ पर, **अग्निम्**-अग्नि को, **अन्नादम्**-हवि के योग्य पदार्थों को खाने वाले, **अन्नाद्याय**-हवि को खाने के लिए, **आ दधे**-स्थापना करता हूँ, धरता हूँ।

भावार्थ- हे सब के उत्पादक, प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप प्रभो! आपके आदेशानुसार मैं महत्ता से द्युलोक के समान, श्रेष्ठता से पृथिवीलोक के समान जो यह विस्तीर्ण देवयजन=यज्ञवेदि है, उसके पीठ पर (यज्ञकुण्ड में) हविरूप पदार्थों को भक्षण करके सूक्ष्म रूप में फैलाने वाली अग्नि को स्थापित करता हूँ।

अग्निप्रदीपन-मन्त्र

निम्न मन्त्रोच्चारण के अनन्तर वेदि में स्थापित अग्नि को घृत, कुशघास व छोटी समिधाओं से प्रदीप्त करें।

ओ३म् उद् बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सꣳसृजेथामयं च।

अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥ (यजु.-१५.५४)

पदार्थ- **ओम्**- हे प्रभो! आपकी कृपा से, **उद्बुध्यस्व**-प्रकाशित होवे, **अग्ने**-यह अग्नि, **प्रतिजागृहि**-प्रदीप्त होवे, **त्वम्**-यह (अग्नि), **इष्टापूर्ते**-हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ को, **संसृजेथाम्**-सम्पन्न करे, **अयम्**-यह यजमान (मिलकर), **च**-और, **अस्मिन्**-इस, **सधस्थे**- सहस्थान=यज्ञ-वेदि, **अधि**-में (तथा), **उत्तरस्मिन्**-उत्तरवेदि में, **विश्वे देवाः**-सब देवजन, **यजमानः**-यजमान, **च**-और, **सीदत**-बैठें।

भावार्थ- हे प्रभो! आप की कृपा से मेरे द्वारा स्थापित अग्नि अच्छी प्रकार प्रदीप्त होवे। जिससे यह अग्नि और यजमान दोनों हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ को सम्पन्न करें। तथा एक साथ बैठने योग्य जो यह यज्ञवेदि और सोमयज्ञों की उत्तरवेदि है, उसमें सब देवजन और यजमान मिलकर बैठें।

समिधाधान-मन्त्र

निम्न मन्त्रोच्चारण करते हुए प्रथम समिधा (**आम, पीपल, पलाश, प्लक्ष, चन्दन, गोमय, गूलर** आदि की आठ अंगुल लकड़ी को घी से गिली की हुई) "स्वाहा" के साथ अग्नि में आहुति दें।

ओ३म् अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्द्धस्व चेद्ध

वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥

इदमग्नये जातवेदसे-इदं न मम ॥१॥ (आश्व.गृ.-१.१०.१२)

पदार्थ- **अयम्**- यह, **ते**-उसका, **इध्म**-समिधा, **आत्मा**-शरीर (है), **जातवेदः**-उत्पन्न हुए पदार्थों को प्रकाशित करने वाला जो अग्नि, **तेन**-उससे, **इध्यस्व**-प्रदीप्त होता है, **वर्धस्व**-बढ़ता है, **च**-और, **इद्ध**-प्रकाशित करता है=तेजस्वी करता है, **वर्धय**-बढ़ाता है, **च**-और, **अस्मान्**-हमको, **प्रजया**-प्रजा से, **पशुभिः**-पशुओं से, **ब्रह्मवर्चसेन**-ब्रह्मवर्चस्तेज से, **अन्नाद्येन**-भोग्य पदार्थों के भोग सामर्थ्य से, **समेधय**-बढ़ाता है, **स्वाहा**-इस अग्नि को बढ़ाने के लिए समिधा की आहुति देता हूँ। **इदम्**-यह आहुति, **अग्नये**-अग्नि के लिए, **जातवेदसे**-जातवेदा नामवाले के लिए (है)। **इदम्**-यह आहुति, **न**-नहीं (है), **मम**-मेरी।

भावार्थ- यह (यज्ञ में) प्रकाशित होने वाला अग्नि जिस प्रकार समिधा को पाकर चमकता और बढ़ता है, उसी प्रकार यह अग्नि हमारे द्वारा यथोचित रूप से व्यवहार में प्रयुक्त हुआ हमें प्रज्ञा, पशु, धन, धान्य, तेज, यश और भोग-सामर्थ्य से बढ़ाता है। ऐसे गुण वाले अग्नि को तीव्र करने के लिए मैं यह समिधा की आहुति देता हूँ। यह उस प्रकाश करने वाले अग्नि को बढ़ाने के लिए है, मेरी नहीं है। अर्थात् यह यज्ञीय पदार्थ उस प्रभु का ही दिया हुआ है, जिसने अग्नि को उत्पन्न किया है।

अध्यात्म परक- हे प्रभो! जैसे आप के द्वारा उत्पादित यह भौतिक अग्नि अपने भक्ष्य=समिधा को प्राप्त होकर बढ़ता है, वैसे ही हम आपके द्वारा प्रदत्त भोग्य पदार्थों को यथोचित रूप से सेवन करके सब प्रकार से बढ़ें। यह हमारी वृद्धि अपने स्वार्थ के लिए न हो, परोपकार के लिए ही होवें।

(विशेष-यहां से आगे **'इदं न मम'** अंश का अर्थ नहीं किया जायेगा। सर्वत्र उस-उस मन्त्र के देवता से सम्बद्ध अर्थ समझें)।

ओ३म् समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन॥

इदमग्नये-इदन्न मम ॥२॥ (यजु.-३.१)

ओ३म् सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे स्वाहा॥

इदमग्नये जातवेदसे-इदं न मम ॥३॥ (यजु.-३.२)

पदार्थ- **समिधा**-समिधा के द्वारा, **अग्निम्**-अग्नि की, **दुवस्यत**- परिचर्या=प्रज्वलित करो/करें, **घृतैः**-घृताहुतियों से, **बोधयत**-जागृत करो/करें, **अतिथिम्**-सदा प्राप्त होने वाले को, **आ**-सब ओर से, **अस्मिन्**-इस अग्नि में, **हव्या**-हवनीय पदार्थों को, **जुहोतन**-डालो/डालें। **सु-सम् इद्धाय**-अच्छे प्रकार प्रदीप्त के लिए, **शोचिषे**-ज्वालायुक्त के लिए, **घृतम्**-घी

को, **तीव्रम्**-उत्कृष्ट को, **जुहोतन**-होम करो/करता हूँ, **अग्नये**-अग्नि के लिए, **जातवेदसे**-उत्पन्न हुई वस्तुओं का ज्ञान कराने वाले के लिए, **स्वाहा**-यह समिधा की आहुति देता हूँ।

भावार्थ- समिधा और घृत के द्वारा अग्नि प्रज्वलित होता है, इसलिए हम घृत युक्त समिधा से यज्ञीय अतिथि रूप अग्नि को प्रज्वलित=तीव्र करते हैं। यह आहुति अग्नि के लिए है, मेरी नहीं है अर्थात् यज्ञीय द्रव्य प्रभु के ही दिए हुए हैं। अच्छे प्रकार प्रदीप्त एवं ज्वाला युक्त जातवेदा अग्नि के लिए तीव्र=उत्कृष्ट घृत का होम करता हूँ। यह होम जातवेदा अग्नि के लिए है, मेरा नहीं है।

निम्न मन्त्र से तृतीय समिधा पूर्ववत् अग्नि में आहुति दें।

ओ३म् तं त्वा॑ स॒मिद्भि॑रङ्गिरो घृ॒तेन॑ वर्द्धयामसि। बृ॒हच्छो॑चा यविष्ठ्य स्वाहा ॥

इदमग्नयेऽङ्गिरसे-इदं न मम ॥४॥ (यजु.-३.३)

पदार्थ- **तम्**-उसको, **त्वा**-तुझ को, **समिद्भिः**-समिधाओं को प्राप्त होने वाला जो अग्नि, **अङ्गिरः**-वस्तुमात्र को प्राप्त होने वाला जो अग्नि, **घृतेन**-घृत से, **वर्धयामसि**-बढ़ाते हैं, **बृहद्**-बहुत, **शोच**-प्रदीप्त होता है, **यविष्ठ्य**-अतिशय करके सब को अलग-अलग करने वालों में भी उत्तम, **स्वाहा**-यह समिधा की आहुति देता हूँ।

भावार्थ-वस्तुमात्र में व्याप्त होने वाले और पदार्थों को पृथक्-पृथक् दर्शाने वाले अग्नि को समिधा से बढ़ाता हूँ। यह आहुति अङ्गिरा अग्नि के लिए है, मेरी नहीं है।

पञ्चघृताहुति-मन्त्र

निम्न मंत्र का पाँच बार उच्चारण करें और प्रत्येक बार केवल घी की आहुति दें।

ओ३म् अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्द्धस्व चेद्ध
वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥
इदमग्नये जातवेदसे-इदं न मम॥ (आश्व.गृ.-१.१०.१२)

इस मन्त्र का अर्थ पृष्ठ (40) पर देखें। पूर्व समिधा के आधान में विनियुक्त होने से वहाँ **इध्म** का अर्थ काष्ठ-समिधा किया था, यहां **इध्म** से घृत का ग्रहण करना चाहिए। इध्म (इन्धी दीप्तौ+मन्) का मूल अर्थ है-प्रदीप्त करने वाला द्रव्य। वह विनियोग या प्रकरण-भेद से भिन्न-भिन्न हो सकता है।

जलसिञ्चन-मन्त्र

निम्न मन्त्रों से यज्ञकुण्ड के तीनों ओर क्रमशः पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशा में अपनी दायी से बाई ओर धारा बनाते हुए जल-सिञ्चन करें-

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व॥१॥ इस मन्त्र से पूर्व।

ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व॥२॥ इस मन्त्र से पश्चिम।

ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व॥३॥ इस मन्त्र से उत्तर। (गोभिल गृ.-१.३.१-३)

पदार्थ- **अदिते**-संयोग गुण वाला जल (पूर्व दिशा में), **अनु**-(यज्ञीय अग्नि के) अनुकूल, **मन्यस्व**-होवे, नाशक न होवे, **अनुमते**-अनुकूल रहने वाला जल (पश्चिम दिशा में), **अनु**-(यज्ञीय अग्नि के) अनुकूल, **मन्यस्व**-होवे, नाशक न होवे, **सरस्वति**-गतिशील जल (उत्तर दिशा में), **अनु**-(यज्ञीय अग्नि के) अनुकूल, **मन्यस्व**-होवे, नाशक न होवे।

निम्न मन्त्रोच्चारण के बाद पूर्व दिशा (ईशान कोण) से शुरु करके क्रमशः वेदि के चारों ओर परिक्रमा-क्रम से जल सिञ्चन करें-

ओ३म् देव॑ सवि॒तः॒ प्र सु॑व य॒ज्ञं प्र सु॑व य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य।
दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वः॑ के॒तपू॑ केत॑ नः॒ पुना॑तु॒ वाच॒स्पति॒र्वाचं॑ नः॒ स्वद॑तु ॥ (यजु.-३०.१)

पदार्थ- **देव**-दिव्य-गुण वाला, **सवितः**-सबका प्रेरक जल, **प्रसुव**-प्रेरित करता है, **यज्ञम्**-प्रत्येक शुभ-कर्म का, **प्रसुव**-सब को प्रेरित करता है, **यज्ञपतिम्**-यज्ञ के स्वामी यजमान को, **भगाय**-ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए, **दिव्यः**-दिव्य-शक्तियों वाला, **गन्धर्वः**-पृथिवी को धारण करने वाला, **केतपूः**-शरीर को पवित्र करने वाला, **केतम्**-शरीर को, **नः**-हमारे, **पुनातु**-पवित्र करे,

वाचस्पतिः-वाणी का स्वामी, **वाचम्**-वाणी को, **नः**-हमारी, **स्वदतु**-मधुर करे।

भावार्थ- यज्ञकुण्ड के चारों ओर सिंचन किया हुआ जल अग्नि की रक्षा करता है। जल यज्ञ का प्रेरक है, यज्ञपति को ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देता है। वह शरीर का शोधक है और वाणी में मधुरता उत्पन्न करने वाला है।

आघारावाज्यभागाहुति-मन्त्र

आघाराहुति-

निम्न प्रथम मन्त्र से क्रमशः कुण्ड के उत्तरभाग में और द्वितीय मन्त्र से दक्षिणभाग में जलती समिधा पर पश्चिम से पूर्व की ओर घी की धार बनाते हुए आहुति दें।

ओम् अग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये-इदन्न मम॥१॥

ओं सोमाय स्वाहा॥ इदं सोमाय-इदन्न मम॥२॥ (गोभिल.गृ.-१.८.४)

पदार्थ- **अग्नये**-अग्नि के लिए, **स्वाहा**-इस होमीय द्रव्य का त्याग करता हूँ। **सोमाय**-सोम के लिए, **स्वाहा**-इस होमीय द्रव्य का त्याग करता हूँ।

भावार्थ- मैं यज्ञीय द्रव्य घृत से उत्तर और दक्षिण दिशा के अग्नि और सोम देवों के लिए आहुति देता हूँ॥१-२॥

आज्यभागाहुति-

निम्नलिखित मन्त्रों से यज्ञकुण्ड के मध्य में घी की दो आहुति दें-

ओं प्रजापतये स्वाहा॥ इदं प्रजापतये-इदन्न मम॥१॥ (यजु.-२२.३२)

ओं इन्द्राय स्वाहा॥ इदमिन्द्राय-इदन्न मम ॥२॥ (यजु.-२२.२७)

पदार्थ- प्रजापतये- प्रजापति के लिए, **स्वाहा**-इस होमीय द्रव्य का त्याग करता हूँ। **इन्द्राय**- इन्द्र के लिए, **स्वाहा**-इस होमीय द्रव्य का त्याग करता हूँ। मैं यज्ञीय द्रव्य घृत से केन्द्र=इन्द्र देवों के लिए आहुतियाँ देता हूँ।

भावार्थ- मैं यज्ञीय द्रव्य घृत से केन्द्र के प्रजापति और इन्द्र देवों के लिए आहुतियाँ देता हूँ।

प्रातःकालीन मन्त्र

नीचे लिखे मन्त्रों से घी तथा सामग्री की आहुतियाँ देवें-

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥१॥

ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥२॥

ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥३॥

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या। जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥४॥ (यजु.-३.९-१०)

पदार्थ- सूर्यः-सूर्य, **ज्योतिः**-प्रकाशस्वरूप (है), **ज्योतिः**- प्रकाश- स्वरूप (ही जो), **सूर्यः**-सूर्य (है उसके लिए), **स्वाहा**-मैं यह यज्ञीय द्रव्य की आहुति देता हूँ, **सूर्यः**-सूर्य, **वर्चः**-दीप्तिस्वरूप (है), **ज्योतिः**-प्रकाश (हो जिसकी), **वर्चः**-दीप्ति (है, उस सूर्य के लिए), **स्वाहा**-मैं यह यज्ञीय द्रव्य की आहुति देता हूँ, **ज्योतिः**-प्रकाशस्वरूप (ही), **सूर्यः**-सूर्य, **सूर्यः**-सूर्य (ही), **ज्योतिः**-प्रकाश (हो जिसकी), **स्वाहा**-मैं यह यज्ञीय द्रव्य की आहुति देता हूँ, **सजूः**-साथ, **देवेन**- देव के, **सवित्रा**-प्रेरक के, **सजूः**-साथ, **उषसा**-निद्रा,अंधकार के नाशनी उषा के, **इन्द्रवत्या**-प्रकाश वाली के, **जुषाणः**-प्रीति रखने वाला, **सूर्यः**-सूर्य, **वेतु**-अपने प्रकाश से व्याप्त होता है, (उसके लिए), **स्वाहा**-यह हव्य पदार्थ देता हूँ।

भावार्थ- संसार में सूर्य ही प्रकाश और कान्ति-दीप्ति का हेतु है। उसके बिना स्थावर वृक्षादि एवं जंगम-प्राणियों के शरीर म्लान=कान्ति रहित हो जाते हैं। वही सूर्य सब का प्रेरक और निद्रा/अन्धकार को नाश करने की शक्ति से युक्त है। हम उस सूर्यदेव से प्रेरणा प्राप्त करके आत्मप्रकाश वा आत्मप्रेरणा के लिये ये आहुतियाँ देते हैं। इनसे हम स्वयं सूर्य के समान आत्मप्रकाश एवं प्रेरक बनकर मानव मात्र के प्रकाशक एवं प्रेरक बनें॥१-४॥

सायंकालीन मन्त्र

पूर्ववत् दो मन्त्रों की आहुति देवें तथा निम्न तृतीय मन्त्र **अग्निर्ज्योति...** को मन में उच्चारण करके आहुति देवें।
(विशेष-यदि दोनों समय के अग्निहोत्र एक ही समय करना हो, तो प्रातःकालीन आहुतियों के बाद ही ये आहुतियाँ देनी चाहिये। **)**

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥१॥
ओम् अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥२॥
ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥३॥
ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या।
जुषाणोऽअग्निर्वेतु स्वाहा ॥४॥ (यजु.-३.९-१०)

पदार्थ- अग्निः-अग्नि, **ज्योतिः**-प्रकाशस्वरूप (है), **ज्योतिः**- प्रकाश- स्वरूप (ही जो), **अग्निः**-अग्नि (है, उसके लिए), **स्वाहा**- मैं यह यज्ञीय द्रव्य की आहुति देता हूँ, **अग्निः**-अग्नि, **वर्चः**-दीप्तिस्वरूप(है), **ज्योतिः**-प्रकाश हो (जिसकी), **वर्चः**-दीप्ति (है, उस अग्नि के लिए), **स्वाहा**- मैं यह यज्ञीय द्रव्य की आहुति देता हूँ, **अग्निः**-अग्नि, **ज्योतिः**-प्रकाशस्वरूप (है), **ज्योतिः**-प्रकाशस्वरूप (ही जो), **अग्निः**-अग्नि (है, उसके लिए), **स्वाहा**-मैं यह यज्ञीय द्रव्य की आहुति देता हूँ, **सजूः**-साथ, **देवेन**-देव के, **सवित्रा**-प्रेरक के, **सजूः**-साथ, **रात्र्या**-रात्रि के, **इन्द्रवत्या**-प्रकाश वाली के, **जुषाणः**-प्रीति रखने वाला, **अग्निः**-अग्नि, **वेतु**- अपने प्रकाश से व्याप्त होता है, (उसके लिए), **स्वाहा**-यह हव्य पदार्थ देता हूँ।

भावार्थ- रात्रि के समय अग्नि ही प्रकाश और कान्ति-दीप्ति का हेतु होता है। उसके बिना प्राणी अपने व्यवहारों में असमर्थ हो जाता है। हम उस अग्निदेव से प्रेरणा प्राप्त करने, आत्मप्रकाश एवं आत्मप्रेरणा के लिये ये आहुतियाँ देते हैं। इनसे हम स्वयं अग्नि के समान प्रकाश एवं प्रेरक बनकर मानवमात्र के प्रकाशक, प्रेरक एवं नेता बनें।।१-४।।

उभयकालीन-मन्त्र

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा। इदमग्नये प्राणाय-इदं न मम ॥१॥
ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा। इदं वायवेऽपानाय-इदं न मम ॥२॥
ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा। इदमादित्याय व्यानाय-इदं न मम ॥३॥
ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा।
इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः -इदं न मम ॥४॥ (तैत्ति.आरण्यक.-१०.२)

पदार्थ- भूः-पृथिवी-स्थानीय, **अग्नये**-अग्नि के लिए, **प्राणाय**-प्राणस्वरूप के लिए, **स्वाहा**-मैं यह आहुति देता हूँ, **भुवः**-अन्तरिक्ष-स्थानीय, **वायवे**-वायु के लिए, **अपानाय**-दुःखों को दूर करने वाले के लिए, **स्वाहा**-मैं यह आहुति देता हूँ, **स्वः**-द्युस्थानीय, **आदित्याय**- आदित्य के लिए, **व्यानाय**-सुख देने वाले के लिए, **स्वाहा**- मैं यह आहुति देता हूँ, **भूः**-पृथिवी-स्थानीय, **भुवः**-अन्तरिक्ष-स्थानीय, **स्वः**-द्युस्थानीय, **अग्निवाय्वादित्येभ्यः**- अग्नि, वायु और आदित्य तीनों के लिए, **स्वाहा**- मैं यह आहुति देता हूँ।

भावार्थ-मैं यह आहुति पृथिवी-स्थानीय प्राणरूप अग्नि के लिए, अन्तरिक्ष-स्थानीय अपानरूप वायु के लिए, द्यु-स्थानीय सुखरूप आदित्य=सूर्य के लिए एवं तीनों स्थानों के अग्नि-वायु-आदित्य तीनों सम्मिलित देवों के लिये देता हूँ।

उभयकालीन समर्पण-मन्त्र

यजमान दैनिक यज्ञ के अन्त में निम्न मन्त्र से स्वकृत कर्म को सर्वरक्षक प्रभु को समर्पित करें-

ओम् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा॥ (तैत्ति.आरण्यक.-१०.१५)

पदार्थ- आपः-सर्वव्यापक, **ज्योतिः**-सर्व प्रकाशस्वरूप, **रसः**-सब से स्नेह रखने वाला, **अमृतम्**-नाश रहित, **ब्रह्म**-सब से महान्, **भूः**- प्राणवत् प्रिय, **भुवः**-दुःखों को दूर करने-वाला, **स्वः**-सुखस्वरूप (जो), **ओम्**-सब का रक्षक प्रभु (है,उसके लिए), **स्वाहा**-यह आहुति देते हैं, उसका पदार्थ उसे ही समर्पित करते हैं।

भावार्थ- हे प्रभो! आप सर्वव्यापक, सब से स्नेह रखने वाले, दयालु, नाशरहित, सब से महान्, प्राणों के समान प्रिय, त्रिविध तापों के हरने वाले एवं सुख देने वाले हमारे रक्षक=स्वामी हो। ये सभी भोग पदार्थ आपके ही दिये हुए हैं। मैं आपके दिये घृत आदि पदार्थ को इस कर्म के द्वारा आपको ही समर्पित करता हूँ। आप ही हमारे जीवनाधार हैं। यह जीवन जो आपकी दया से यज्ञीय बन गया है, आपको ही समर्पित करता हूँ।

उभयकालीन प्रार्थना-मन्त्र

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥१॥ (यजु.-३२.१४)

पदार्थ- **याम्**-जिस, **मेधाम्**-अपने स्वरूप को धारण करने वाली, जानने वाली बुद्धि का, **देवगणाः**-दिव्य-गुणों वाले मेधावी-जन, **पितरः**-अज्ञानरूप अन्धकार को दूर करके संसार की रक्षा करने वाला, **च**-और, **उपासते**-उपासना-चाहना करते हैं, **तया**-उससे, **माम्**-मुझ को, **अद्य**-आज, **मेधया**-मेधा से, **अग्ने**- हे प्रकाशक देव!, **मेधाविनम्**-मेधा वाला, **कुरु**-करो=बनाओ, (इसके लिए), **स्वाहा**-मैं यह आहुति देता हूँ, आप से प्रार्थना याचना करता हूँ।

भावार्थ- हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! दिव्य-गुणों वाले श्रेष्ठ जन और ज्ञान द्वारा रक्षक पितर जिस मेधा बुद्धि की उपासना=चाहना करते हैं, उसी मेधा=श्रेष्ठ बुद्धि से आज मुझे भी युक्त कीजिये। इसी के लिये मैं आप से प्रार्थना करता हूँ।

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्नऽआ सुव स्वाहा ॥२॥ (यजु.-३०.३)

ओम् अग्ने नय सुपथा राये ऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहा ॥३॥ (यजु.-४०.१६)

टिप्पणीः- इन दो मन्त्रों का अर्थ पृष्ठ (३४, ३८) में देख लें।

गायत्री-मन्त्र

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् स्वाहा॥

(यजु.-३६.३, ऋ.-३.६२.१०)

टिप्पणीः- इन मन्त्र का अर्थ पृष्ठ (28) में देख लें।

महामृत्युञ्जय-मन्त्र

ओ३म् त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् स्वाहा॥

(ऋ.-७.५९.१२, यजु.-३.६०)

पदार्थ- हम लोग **(सुगन्धित)** जो शुद्ध गंध युक्त, **(पुष्टिवर्धनम्)** शरीर, आत्मा और समाज के बल को बढ़ाने वाला **(त्र्यम्बकम्)** रुद्ररूप जगदीश्वर है, उसी की **(यजामहे)** निरन्तर स्तुति करें। इनकी कृपा से **(उर्वारुकमिव)** जैसे खरबूजा फल पक कर **(बन्धनात्)** लता के बंधन से छूटकर अमृत के तुल्य होता है, वैसे हम लोग भी **(मृत्योः)** प्राण व शरीर के वियोग से **(मुक्षीय)** छूट जावें और **(अमृतात्)** मोक्ष सुख से **(मा)** कभी भी अलग न होवें।

ओ३म् स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् स्वाहा॥ (अथर्व.-१९.७१.१)

भावार्थ- ईश्वर उपदेश देता है कि हे मनुष्यों! इष्टफल देने वाली, ज्ञानमयी वेदवाणी मेरे द्वारा प्रशंसित की गई है। हे विद्वान् लोगों! यह वेद-वाणी द्विजों को पवित्र करने वाली है। आयु, प्राण, सुप्रजा, गौ आदि पशु, कीर्ति, धन और वेदाभ्यास के तेजवाली है, इसको द्विजों में आगे प्रचारित करो। इसके द्वारा प्राप्त किये गये शुभ कर्मों को मेरे अर्पण करके तुम ब्रह्मलोक को प्राप्त करो।

राष्ट्रीय-प्रार्थना

प्रत्येक राष्ट्रीय पर्व पर विशेषकर स्वतन्त्रता-दिवस तथा गणतन्त्र-दिवस पर राष्ट्र की सुख-समृद्धि की कामना के लिये प्रभु से निम्न मन्त्र से प्रार्थना करनी चाहिये-

ओम् आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्युः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् स्वाहा॥ इदं राष्ट्राय-इदन्न मम॥ (यजु.-२२.२२)

पदार्थः- हे (**ब्रह्मन्**) विद्यादिगुणों से युक्त सबसे बड़े परमेश्वर! जैसे हमारे (**राष्ट्रे**) राज्य में (**ब्रह्मवर्चसी**) वेदविद्या से प्रकाश को प्राप्त (**ब्राह्मणः**) वेद और ईश्वर को अच्छा जानने वाला ब्राह्मण (**आ जायताम्**) सब प्रकार से उत्पन्न हो (**इषव्यः**) बाण चलाने में उत्तम गुणवान् (**अतिव्याधी**) अतीव शत्रुओं को ताड़ना देने का स्वभाव वाला (**महारथः**) जिसके बड़े-बड़े रथ और अत्यन्त बलशाली वीर हैं, ऐसा (**शूरः**) निर्भय (**राजन्यः**) राजपुत्र (**आ जायताम्**) सब प्रकार से उत्पन्न हो (**दोग्ध्री**) कामना व दूध से पूर्ण करने वाली (**धेनुः**) वाणी व गौ (**वोढा**) भारवाहक (**अनड्वान्**) बलवान् बैल (**आशुः**) शीघ्र चलने वाला (**सप्तिः**) घोड़ा (**पुरन्धिः**) जो बहुत व्यवहारों को धारण करता है, वह (**योषा**) स्त्री (**रथेष्ठाः**) तथा रथ पर स्थिर होने और (**जिष्णुः**) शत्रुओं को जीतने वाला (**सभेयः**) सभा में उत्तम सभ्य (**युवा**) जवान पुरुष (**आ जायताम्**) उत्पन्न हो (**अस्य यजमानस्य**) जो यह विद्वानों का सत्कार करता व सुखों को देता, इस राजा के राज में (**वीरः**) विशेष ज्ञानवान् शत्रुविनाशक पुरुष उत्पन्न हो (**नः**) हम लोगों के (**निकामे निकामे**) निश्चययुक्त कामना में अर्थात् जिस कामनायुक्त प्रयत्न करें, उस-उस कामनाओं में (**पर्जन्यः**) मेघ (**वर्षतु**) बरसे (**ओषधयः**) ओषधि (**फलवत्यः**) बहुत उत्तम फलवाली (**नः**) हमारे लिए पकें (**नः**) हमारा (**योगक्षेमः**) अप्राप्त सुख की प्राप्ति कराने वाले योग की रक्षा अर्थात् हमारे निर्वाह के लिए योग्य पदार्थों की प्राप्ति (**कल्पताम्**) समर्थ हो, वैसे व्यवहार को प्रकट कराइए।

व्याहृत्याहुति-मन्त्र

निम्न मन्त्रोचारण पूर्वक घी की चार आहुति दें-

ओं भूरग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये-इदन्न मम ॥१॥

ओं भुवर्वायवे स्वाहा॥ इदं वायवे-इदन्न मम। ।२॥

ओं स्वरादित्याय स्वाहा॥ इदमादित्याय-इदन्न मम ॥३॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा॥

इदमाग्निवाय्वादित्येभ्यः-इदन्न मम ॥४॥ (तैत्ति.शि.-५.१-३)

पदार्थ- भूः-पृथिवी-स्थानीय, **अग्नये**-अग्नि के लिए, **स्वाहा**-यह आहुति देता हूँ, **भुवः**-अन्तरिक्ष-स्थानीय, **वायवे**-वायु के लिये, **स्वाहा**-यह आहुति देता हूँ, **स्वः**-द्युस्थानीय, **आदित्याय**-आदित्य के लिए, **स्वाहा**-यह आहुति देता हूँ, **भूः भुवः स्वः**-पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युस्थानीय, **अग्निवाय्वादित्येभ्यः**-अग्नि वायु, आदित्य के लिए, **स्वाहा**-यह आहुति देता हूँ।

भावार्थ- मैं यह आहुति क्रमशः पृथिवी-स्थानीय अग्नि, अन्तरिक्ष- स्थानीय वायु व द्यु-स्थानीय सूर्य के लिए पृथक्-पृथक् एवं तीनों स्थानों के अग्नि, वायु, आदित्य देवों के लिए सम्मिलित रूप से देता हूँ, ये मेरे नहीं हैं।

स्विष्टकृत्-मन्त्र

निम्न मन्त्र का उच्चारण करके भात्, मिष्ठान्न या घृत की आहुति देवें-

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत् स्विष्टकृद्विद्यात् सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे। अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्धय स्वाहा॥ इदमग्नये स्विष्टकृते- इदन्न मम॥ (आश्व.-१.१०.१२)

पदार्थ- यत्-जो, **अस्य**-इस, **कर्मणः**-कर्म का (में), **अति अरीरिचम्**- (अज्ञान से) अधिक किया है, **यद्वा**-अथवा, **न्यूनम्**-न्यून, **इह**-इस(यज्ञ) में, **अकरम्**-किया है, **अग्निः**-सर्वज्ञ प्रभु, **तत्**-उसे, **स्विष्टकृत्**-उचित रूप से किया हुआ, **विद्यात्**-जाने अर्थात् माने, **सर्वम्**-सब को, **स्विष्टम्**-यथोचित यजन किया हुआ, **सुहुतम्**-यथोचित आहुति दिया हुआ, **करोतु**-बनावे, **मे**-मेरे (यज्ञ को), **अग्नये**-सर्वज्ञ प्रभु के लिए, **स्विष्टकृते**-(सब यज्ञकर्मों को) पूर्ण करने वाले के लिये, **सुहुतहुते**-अच्छे प्रकार यजन किए हुए के लिए, **सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनाम्**-सब प्रायश्चित्त आहुतियाँ दी जाती हैं जिसके लिए उन, **कामानाम्**-कामनाओं के, **समर्द्धयित्रे**-पूर्ण करने वाले के लिये, **सर्वान्**-सब, **नः**-हमारी, **कामान्**-कामनाओं को, **समर्द्धय**-पूर्ण करो, **स्वाहा**-इसी भावना से यह प्रायश्चित्ताहुति देता हूँ। **इदम्**- यह, **अग्नये**- सर्वज्ञ प्रभु, **स्विष्टकृते**- सब यज्ञकर्मों का पूरक, **इदम्**- यह, **न**- नहीं, **मम**- मेरा।

प्राजापत्याहुति-मन्त्र (मौनाहुति)

निम्न मन्त्र के **प्रजापतये** भाग को मन में बोलकर यज्ञकर्म के देव-प्रजापति के लिए घृत की एक आहुति देवें-

ओं 'प्रजापतये' स्वाहा॥ इदं प्रजापतये- इदन्न मम॥

पदार्थ- प्रजापतये-सकल ब्रह्माण्ड के रचयिता प्रभु के लिए, **स्वाहा**-मैं यह आहुति देता हूँ, अपना यह यज्ञ उसे ही समर्पित करता हूँ।

पूर्णाहुति-मन्त्र

निम्न मन्त्र को तीन बार बोलकर तीन आहुति घी व सामग्री के साथ दें-

ओं सर्वं वै पूर्णꣳस्वाहा॥

पदार्थ- ओम्-सर्वव्यापक प्रभु से, **सर्वम्**-सकल चराचर जगत्, **वै**-निश्चय से, **पूर्णम्**-व्याप्त (है, उसको), **स्वाहा**-मैं यथार्थ

रूप से जानता हूँ या जानने के लिए प्रयत्नशील होता हूँ।

भावार्थ- मैं सर्वव्यापक प्रभु से सकल जगत् को पूर्ण=व्याप्त जानता हूँ। इस कारण वह हमारे मानसिक, वाचिक और कायिक सभी कर्मों को, चाहे हम कितने ही एकान्त में क्यों न करें, जानता है। अतः हमें प्रभु को सर्वव्यापक जानकर पापकर्मों से दूर रहना चाहिये।

शान्ति-पाठ

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥

॥ ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ (यजु.-३६.१६)

पदार्थ- **द्यौः**-द्युलोक, **शान्तिः**- दुःखनाशक (होवे), **अन्तरिक्षम्**- मध्यवर्ती आकाश, **शान्तिः**- दुःखनाशक (होवें), **पृथिवी**- पृथिवी, **शान्तिः**- दुःखनाशक (होवे), **आपः**- जल, **शान्तिः**- दुःखनाशक (होवे), **ओषधयः**- औषधियाँ, **शान्तिः**- दुःखनाशक (होवे), **वनस्पतयः**- वनस्पतियाँ, **विश्वे**- सब, **देवाः**- दिव्यशक्तियाँ, **शान्तिः**- दुःखनाशक (होवें), **ब्रह्म**- वेद=ज्ञान, **शान्तिः**- दुःखनाशक (होवे), **सर्वम्**- सब पदार्थ, **शान्तिः**- शान्ति, **एव**-ही, **शान्तिः**- शान्ति (प्राप्त होवे), **सा**-वह (सब प्रकार की), **मा**-मेरी, **शान्तिः**- शान्ति, **एधि**-बढ़े।

भावार्थ- हे प्रभो! आप की कृपा से द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, पृथिवीलोक, जल, औषधियाँ, वनस्पतियाँ, सब दिव्यशक्तियाँ, सब पदार्थ मुझे शान्ति देने वाले होवें; मुझे शान्ति ही शान्ति प्राप्त होवे। वह मेरी सब प्रकार की शान्ति बढ़े अर्थात् मैं पूर्ण शान्ति का अनुभव करूँ।

5 अंक के प्रश्न-

1. देवयज्ञ के विषय में विस्तार से बतायें।
2. ब्रह्म यज्ञ के विषय में विस्तार से बतायें।
3. ईश्वरस्तुती प्रार्थना उपासना संपूर्ण मंत्रों को लिखें।

15 अंक के प्रश्न-

1. पंच महा यज्ञ का क्रमशः सप्रमाण वर्णन करें।
2. देवयज्ञ के प्रातः कालीन, सांयकालीन, एवं उभय कालीन मुख्य मंत्रो को लिखें।
3. ब्रह्म यज्ञ के मनसा परिक्रमा मन्त्र लिखें।

बहुविकल्पीय-

1. निम्न में से मनुस्मृति में ब्रह्म यज्ञ को किस नाम से बताया गया है।

(क) ब्रह्मयज्ञ
(ख) संध्योवासना
(ग) स्वाध्याय
(घ) ऋषियज्ञ

2. ब्रह्म यज्ञ में अंगस्पर्श मंत्र कितने है।

(क) 8
(ख) 9
(ग) 10
(घ) 11

3. देवयज्ञ में ईश्वर स्तुति प्रार्थना उपासना में कितने मंत्र है।

(क) 7
(ख) 8
(ग) 9
(घ) 10

इकाई-2 पितृयज्ञ-विधि

उद्देश्य-

1. पितृ यज्ञ का सविधी ज्ञान होना।
2. बलिवैश्य देवयज्ञ का सविधि ज्ञान होना।
3. अतिथि यज्ञ का ज्ञान होना।

दैनिक कर्मों में तीसरा यज्ञ है-पितृयज्ञ। पितृयज्ञ में पितृ शब्द यौगिक अर्थ 'रक्षक' का वाचक है। इसलिए पितृयज्ञ में जहाँ प्रपितामह (परदादा), प्रपितामही (परदादी), पितामह (दादा), पितामही (दादी), पिता, माता, बड़े भाई, अन्य ज्येष्ठ सम्बन्धी-सगोत्र आदि वृद्ध तथा देव (विद्वान्, ऋषि, आचार्य, गुरुजन, परम योगीगण जो प्रत्यक्ष विद्यमान हैं। उनका आदर-सत्कार, अन्न-पान व वस्त्रादि से उनकी सेवा-शुश्रूषा का विधान है, जिनसे गृहस्थों को धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की शिक्षा प्राप्त होती है। उन विशिष्ट विद्व ानों का परिगणन प्राचीन परम्परा के अनुसार ऋषि दयानन्द ने **'पञ्चमहायज्ञ विधि'** और **'सत्यार्थ-प्रकाश'** ग्रन्थ में किया है।

इनके अतिरिक्त 'सत्यार्थ-प्रकाश' में ऋषि दयानन्द ने **स्वपत्नीं तर्पयामि** का निर्देश करके मनु के निम्न आदेश की पूर्ति का विधान किया है।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्याः भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥ (मनुस्मृति.-3.55)

अर्थात् माता-पिता के द्वारा पुत्रीरूप, पति के द्वारा पत्नीरूप तथा देवरों के द्वारा भावजरूप नारियों का सत्कार किया जाना चाहिए।

5 अंक के प्रश्न-

1. पितृ यज्ञ के विषय में विस्तार से वर्णन करें।
2. बलिवैश्वदेवयज्ञ के विषय में विस्तार से वर्णन करें।
3. अतिथि यज्ञ के विषय में विस्तार से वर्णन करें।

1 अंक के प्रश्न-

1. बलिवैश्वदेव यज्ञ के मंत्र सहित विधि लिखें।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. पितृ शब्द का यौणीक अर्थ क्या होता है।

(क) परदादा-दादी
(ख) दादा-दादी
(ग) पिता-माता
(घ) रक्षक

2. बलिवैश्वदेव यज्ञ में कितनी आहुति होती।

(क) 8
(ख) 9
(ग) 10
(घ) 11

3. अतिथि किसकों कहते है।

(क) जो अनिश्चित तिथि को घर आवे।
(ख) समाज सेवी
(ग) साधु-संन्यासी, विद्वान
(घ) उपरोक्त सभी

॥ इति पितृयज्ञ-विधि॥

बलिवैश्वदेवयज्ञ-विधि

सब देवों के लिए बलि=पुष्टि कारक पदार्थ जिसमें दिए जाते हैं- उस कर्म को बलिवैश्वदेवयज्ञ कहते हैं।

पाकशाला में जो अन्न सिद्ध किए गए हैं, उनमें से खट्टा, लवणान्न व दो दल वाले (जिनकी दालें बनती हैं) क्षार-प्रधान अन्नों को छोड़कर शेष अन्न से चूल्हे की अग्नि में निम्न १० मन्त्रों से आहुतियाँ देनी चाहिये-

ओम् अग्नये स्वाहा॥१॥ **ओं सोमाय स्वाहा॥२॥**
ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा॥३॥ **ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥४॥**
ओं धन्वन्तरये स्वाहा॥५॥ **ओं कुह्वै स्वाहा॥६॥**
ओम् अनुमत्यै स्वाहा॥७॥ **ओं प्रजापतये स्वाहा॥८॥**
ओं सह द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा॥९॥ **ओं स्विष्टकृते स्वाहा॥१०॥**

पशु-पक्षी, प्राणी एवं दीन-दु:खियों को भोज्य पदार्थ खिलाना। वृद्धजनों में प्रचलित भोजन से पूर्व गो-ग्रास निकालना, कुत्ते-कौवें आदि को रोटी डालना, चींटियों के बिलों पर आटा डालना आदि कर्म बलिवैश्वदेव-यज्ञ ही हैं।

॥ इति बलिवैश्वदेवयज्ञ-विधि॥

❋❋❋

अतिथियज्ञ-विधि

'अतिथि' उनको कहते हैं- जो विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धार्मिक, सत्यवादी, छल-कपटरहित, नित्य भ्रमण करने वाले मनुष्य होते हैं। ऐसे महापुरुषों की सेवा-शुश्रूषा, अन्नपान आदि से पूजा करना 'अतिथियज्ञ' कहलाता है।

तद्यस्यैवंविद्वान्व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत्॥ (अथर्व.-१५.११.१)
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्यतर्पयन्तु व्रात्य यथा
ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा तेवशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति॥ (अथर्व.-१५.११.२)

पदार्थ- (तद्यस्यैवं विद्वान्) जिसके घर में पूर्वोक्त विद्वान् **(व्रात्यो.)** उत्तम गुणविशिष्ट सेवा करने के योग्य अतिथि अर्थात् जिसकी आने जाने की कोई भी निश्चित तिथि नहीं हो, जो अकस्मात् आवे और जावे, जब ऐसा मनुष्य गृहस्थों के घर में प्राप्त हो॥१॥

(स्वयमेनम्) तब उसको गृहस्थ अत्यन्त प्रेम से उठकर नमस्कार करके, उत्तम आसन पर बैठाके, पश्चात् पूछे कि आपको कुछ जल वा किसी अन्य वस्तु की इच्छा हो सो कहिये। इस प्रकार उसको प्रसन्न कर और स्वयं स्वस्थचित्त होके उससे पूछे कि (**व्रात्य क्वावात्सीः**) हे व्रात्य उत्तम पुरुष! आपने यहाँ आने के पूर्व कहाँ वास किया था। (**व्रात्योदकम्**) हे अतिथि! यह जल लीजिये। और (**व्रात्य तर्पयन्तु**) अपने सत्य उपदेश से आप हमको तृप्त करें। और हमारे सब इष्ट मित्र लोग आपके सत्योपदेश से आपको तृप्त कर विज्ञानयुक्त हों। (**व्रात्य यथा०**) हे विद्वान् व्रात्य! जिस प्रकार से आपको प्रसन्नता हो वैसा ही हम लोग काम करें, और जो पदार्थ आपको प्रिय हो उसकी आज्ञा कीजिये। (**व्रात्य यथा०**) जिस प्रकार से आपकी कामना पूर्ण हो वैसी आपकी सेवा हम लोग करें। जिससे आप और हम लोग परस्पर सेवा और सत्संगपूर्वक विद्यावृद्धि से सदा आनन्द में रहे॥२॥

॥ इति अतिथियज्ञ-विधि॥

❋❋❋

खण्ड- 3

इकाई-1 यज्ञ से भूमि-शोधन

उद्देश्य-

1. यज्ञ से भूमि, वायु जल के शोधन का शास्त्रीय ज्ञान होना।
2. यज्ञ के आध्यात्मिक पक्षों का ज्ञान होना।
3. यज्ञ के गौरवशाली इतिहास से परिचित होना।

भूमि प्रदूषण के निवारण हेतु यज्ञ महत्वपूर्ण है, जिससे पृथिवी सस्यादि से पुष्ट होकर सुख देने वाली होती है। यथा-

मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम्।
पिपृतां नो भरीमभिः।।[1]

विस्तृत द्युलोक तथा भूमि हमारे इस यज्ञ का सेवन करे। यज्ञ से पोषण प्राप्त कर हमारा भरण-पोषण करें।

भूम्यां देवेभ्यो ददति हव्यमलंकृतम्।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः।।[2]

यज्ञ, भूमि में देवताओं के लिये अलंकृत हव्य प्रदान करता है। उसी भूमि में मरणशील मनुष्य स्वधा और अन्न से जीवन धारण करते हैं। वह भूमि हमें वृद्धावस्था तक प्राणप्रद वायु प्रदान करे।

यज्ञ इन्द्रमवर्धयद्भूमिं व्यवर्तयत।
चक्राण ओपशं दिवि।।[3]

यजमान द्वारा अनुष्ठीयमान यज्ञ वर्षाकारक इन्द्र की शक्ति को बढ़ाता है और भूलोक को विविध अनाज आदि से पुष्ट करता है।

प्रदूषण से भूमि फलवती नहीं होती, जिसे आचार्य सायण ने अनृत का परिणाम लिखा है। उन्होंने ऋग्वेद के मन्त्रांश **सत्येनोत्तमिता भूमिः** का भाष्य किया है 'असति सत्ये भूम्यां सस्यादयो न फलन्ति। यज्ञे यजमानदत्तेन खल्वाहुत्या देवा उपजीवन्ति।- सत्यविरोधी अधर्माचरण से भूमि में अन्नादि नहीं फलते। यजमान के द्वारा यज्ञ में दी गई आहुति से देवगण नया जीवन पाते हैं। अगले मन्त्र के सोमेन पृथिवी मही पर भाष्यकार का अभिमत है।

आहुत्यात्मनाग्नौ हुतेन भूमिः महती भवति।
आहुत्या वृष्टिद्वारेण सस्यादिसम्पतेः।।[4]

अग्नि में घी सामग्री की हवि देने से भूमि महती होती है वर्षा द्वारा अनाजादि प्रवृद्धि के कारण औषधि से प्रवर्धित पृथिवी बलवती होती है।

यजुर्वेद के मन्त्रों में भी पृथिवी को यज्ञ के द्वारा समर्थ बनाने की कामना की गई है। यथा-

पृथिवी च मे यज्ञेन कल्पताम्।
अश्मा च मे मृतिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च
मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहं च
मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।।[5]

विस्तृत भूमि और उसमें स्थिर पत्थर, हीरा आदि रत्न, मिट्टी, मेघ, छोटे बड़े पर्वत तथा उसमें होने वाले पदार्थ, रेत, बड़ और आम आदि वृक्ष, सोना, चांदी, लोहा, तांबा, नीलमणि, चंद्रमणि, सीसा और लाख, जस्ता एवं पीतल आदि ये सब यज्ञ से समर्थ हों।

---

1. ऋग्वेद- 1.22.13
2. तदैव- 12.1.22
3. ऋग्वेद- 8.14.5
4. ऋग्वेद- 10.85.1-2
5. यजुर्वेद- 18.13.18

अन्यत्र **'पृथिवीं भस्मनापृण**[1]**'** एवं **'पृथिवीं भस्म स्वाहेति**[2]**',** पृथिवी को भस्म से भरने का संकेत है, जो यज्ञ तथा स्वाहा क्रिया का ही परिणाम है। यज्ञ की भस्म के द्वारा उत्तमोत्तम औषधि का क्षारतत्व पृथिवी को प्राप्त होता है।

इस पृथिवी पर हम कृषि करते हैं इसके लिये कहा गया है- **कृषिश्च मे यज्ञेन कल्पताम्**[3] भूमि को उपयोगी बनाते समय यज्ञ का प्रयोग करें, पृथिवी समर्थ एवं शक्तिशाली बनेगी।

❋❋❋

यज्ञ से जल-शुद्धि

ऋग्वेद में जल के मुख्य स्त्रोत वृष्टि को यज्ञ के द्वारा पुनीत करने तथा वर्षाने का संकेत है। यथा-

शतपवित्राः स्वधया मदन्तीर्देवीर्देवानामपि यन्ति पाथः।

ता इन्द्रस्य न मिनन्ति व्रतानि सिन्धुभ्यो हव्यं घृतवज्जुहोत।।[4]

वसिष्ठ ऋषि द्वारा दृष्ट जलसूक्त के इस मन्त्र का सुबोधभाष्य करते हुए पं. दामोदर सातवलेकर ने लिखा है सैकड़ों प्रकारों से पवित्रता करने वाले और अन्न के साथ आनन्द देने वाले जल देवों के यज्ञस्थान को प्राप्त होते हैं। नदियों के लिए घृतमिश्रित हव्य का हवन करें।

इस विषय में अन्य मन्त्र भी है-

पवस्व वृष्टिमा सुनोऽपामूर्मि दिवस्परि। अयक्ष्मा बृहतीरिषः।

घृतं पवस्व धारया यज्ञेषु देववीतमः। अस्मभ्यं वृष्टिमा पव।।[5]

हमारे लिये द्युलोक से पुनीत जल की तरंगों वाली सुवृष्टि हो, जिससे रोग रहित अन्नादि बढें। अतः घृत को यज्ञों में देवताओं के लिये प्रयुक्त करना चाहिए ताकि वृष्टिजल शुद्ध हो।

यजुर्वेद के अनुसार अग्नि में जिस द्रव्य का होम किया जाता है वह मेघमण्डल को प्राप्त होकर जल शुद्ध करता है। यथा-

देवीरापोऽअग्रेगुवोऽअग्रेपुवोऽग्र इममद्य यज्ञं नयताग्रे।[6]

हविष्मतीरिमा आपो.....।[7]

ये जल हवि आदि के द्वारा सुगन्धादियुक्त होकर सुखदायक हों। जल आदि पदार्थों के शोधने से प्रजा में सार्वजनिक सुख होता है-

अपो देवीरुपसृज मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः।

तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः।।[8]

सुगन्ध आदि पदार्थों के होम से मधुरगुणयुक्त एवं पवित्र जलों को उत्पन्न करें जिससे सुन्दर फलों वाली औषधियां प्राप्त हों तथा प्रजा यक्ष्मा आदि रोगों से बचें।

अथर्ववेद में भी कहा गया है कि जल और वायु में फैलने वाले रोगों को यज्ञ की सुगन्ध से नष्ट करना चाहिए। यथा-

त्वया वयम् अप्सरसो...रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय।[9]

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदमन्त्रों का भावार्थ लिखा है-

विद्वानों को चाहिए कि इस संसार के सुख के लिये यज्ञ से शोधे हुए जल से और वनों के रखने से अति उष्णता (खुश्की) दूर करें। अच्छे बनाये हुए अन्न से बल उत्पन्न करें। यज्ञ के आचरण से तीन प्रकार के दुःख (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधि भौतिक) को निवार के सुख को उन्नति देवें।[10]

---

1. यजुर्वेद- 6.21
2. मैत्रायणी संहिता- 3.9.4
3. यजुर्वेद- 18.9
4. ऋग्वेद- 7.47.3
5. ऋग्वेद- 9.49.11,3
6. यजुर्वेद- 1.12,6.23, 11.38
7. यजुर्वेद- 6.23
8. यजुर्वेद- 11.38
9. अथर्ववेद- 4.37.2
10. ऋग्वेद- 1.116.8 का भावर्थ

'यज्ञ के अनुष्ठान से वायु और जल की उत्तम शुद्धि तथा पुष्टि होती है वह दूसरे उपाय से कभी नहीं हो सकती। 'जो मनुष्य यज्ञादि से जलादि पदार्थों को शुद्ध करके सेवन करते हैं उन पर सुखरूप अमृत की वर्षा निरंतर होती है।[1]

❋❋❋

यज्ञ से वायु-शोधन

वायु की शुद्धि एवं पुष्टि के लिये प्राचीनकाल से ही यज्ञ एक प्रभावी माध्यम के रूप में मिलता है। यज्ञ से प्राणप्रद वायु की प्राप्ति का उपाय वेदों में उपलब्ध है। यथा-

मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत।।[2]

पवित्र मित्रवायु की प्राप्ति के लिये घृत मिश्रित हवि से यज्ञ करें।

तस्मा एतत्पन्यतमाय जुष्टमग्नौ मित्राय हविराजुहोत।।[3]

उस अत्यन्त प्रिय प्राणवायु के लिये अग्नि में हवन करने योग्य प्रिय पदार्थ की आहुति दें।

आ वायो भूष शुचिपा उप नः।।[4]

यदि वायु, प्रदूषित भी है तो भी हविर्गन्ध से युक्त होकर वह पवित्र हो जाती है।

तस्मै वाताय हविषा विधेम[5]- उस वायु की अनुकूलता के लिये हम हवि आदि से यज्ञ करें।

संते वायुर्मातरिश्वा दधातु।।[6]

यज्ञ से शुद्ध हुआ आकाशगामी पवन अच्छे प्रकार पुष्ट करे।

पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः।
यः पोता स पुनातु मा।[7]

हवि की सुगन्ध से समन्वित पवमान वायु, अपने पवित्रता दायक गुण से हमें पवित्र करती है।

आयुर्वेदज्ञ ऋषि ने धुएं और वायु में व्याप्त हुए विष को नष्ट करने हेतु 'विषघ्न धूप' का प्रयोग लिखा है। यथा-

लाक्षा हरिद्रातिविषाभयाव्दहरेणुकेलादलकल्ककुष्टम्।
प्रियंगुकेचाप्यनले निधायधूमानिलो चापिविशोधयेत्तु।।[8]

विषाक्त वायु से बचने के लिये प्रतिविष के रूप में लाक्षा, हरिद्रा, अतीस, हरीतकी, मोथा, हरेणुका, इलायची, तेजपत्र, तगर, कूठ और प्रियंगु आदि द्रव्यों को अग्नि में जलाकर उससे उत्पन्न धूम के द्वारा वायु को शुद्ध करें।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने ऋग्वेद तथा यजुर्वेद भाषाभाष्य के अनेक भावार्थों में 'यज्ञ से शुद्ध किये गये पवन के प्रभाव व लाभ का उल्लेख किया है। यथा-

जो यज्ञ के धूम से शोधे हुए पवन हैं, वे अच्छे राज्य के कराने वाले होकर रोग आदि दोषों का नाश करते हैं और जो दुर्गन्ध आदि दोषों से भरे हुए अशुद्ध वायु हैं, वे सुखों का नाश करते हैं। इससे सब मनुष्यों को चाहिए कि अग्नि में होम द्व ारा वायु की शुद्धि से अनेक प्रकार के सुखों को सिद्ध करें।[9]

जो मनुष्य यथाविधि अग्निहोत्र आदि यज्ञों को करते हैं वे, पवन आदि पदार्थों के शोधने हारे होकर सबका हित करने वाले होते हैं।[10]

मनुष्य नित्य सुगन्ध्यादि पदार्थों को अग्नि में छोड़-हवन कर, पवन और सूर्य की किरणों द्वारा वनस्पति, औषधि, मूल, शाखा,

---

1. यजुर्वेद- 1.12, 36.12 का भावार्थ
2. ऋग्वेद- 3.59.1, 5
3. ऋग्वेद- 3.59.1,5
4. ऋग्वेद- 7.92.1
5. ऋग्वेद- 10.168.4
6. यजुर्वेद- 11.39
7. यजुर्वेद- 19.42
8. सुश्रुत संहिता, कल्पस्थान- 6.12
9. ऋग्वेद- 1.19.5 भाषाभाष्य
10. यजुर्वेद- 22.26 भाषाभाष्य

पुष्प, फलादिकों में प्रवेश कराके सब पदार्थों की शुद्धि कर आरोग्यता की सिद्धि करें।

मनुष्यों को चाहिए कि प्राण आदि की शुद्धि के लिये आग में पुष्टि करने वाले पदार्थ का होम करें।[1]

सामवेद के भाष्यकार तुलसीराम स्वामी ने भी लिखा है कि यज्ञ से परिशुद्ध प्राण से प्रसन्नता, उत्तम बुद्धि तथा रक्षा प्राप्त होती है।[2]

अथर्ववेद में वर्णित 'होम चिकित्सा' विधायक मंत्रों के आधार पर विद्वानों ने वायुशुद्धि के लिये किये जाने वाले हवन में घृत के साथ साथ कुछ दुर्गन्धनाशक औषधियों का उल्लेख किया है।

यथा- आचार्य सायण ने अथर्ववेद में पठित **गुल्गूलः पीला नलद्योक्षगन्धिः प्रमन्दनीः**- गुग्गल, पीला, नलदी, ओक्षगन्धि और प्रमन्दनी को **पञ्च होमद्रव्याणि**- पांच हवन योग्य द्रव्य लिखा है।[3]

अन्य विद्वान् ने 'अजश्रृंगी' को भी दुर्गन्धनाशक हविर्द्रव्य कहा है।[4]

गुग्गल के संबंध में अथर्ववेद में लिखा है कि जिसे गुग्गल ओषध की सुगंध प्राप्त होती है उसे रोग, पीड़ित नहीं करते-

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।

यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते।।[5]

'गुग्गल, वृक्ष विशेष का निर्यास (गोंद) है। यह एक सुगन्धित द्रव्यविशेष है, जिसका यज्ञ में तथा धूप के लिये प्रयोग किया जाता है। इसको देवधूप और पुर भी कहते है।[6]

सायणकृत भाष्य है- **गुग्गुलुः प्रसिद्धं धूपसाधनम्**- गुग्गल धूप का प्रसिद्ध साधन है।[7] इसका वैज्ञानिक नाम है- कोमिफोरा-मुकुल। विद्वानों ने पीला औषधि को पिप्पली भी कहा है।[8]

15 अंक के प्रश्न-

1. यज्ञ से भूमि, जल एवं वायु शोधन पर सप्रमाण विस्तार से वर्णन करें।
2. यज्ञ से प्रदुषण निवारण पर विस्तार से वर्णन करें।
3. यज्ञ के आध्यात्मिक पवन पर विस्तार से वर्णन करें।

5 अंक के प्रश्न-

1. यज्ञ के इतिहास के विषय में वर्णन करें।
2. यज्ञ का वायु पर होने वाले प्रभावों का वर्णन करें।
3. यज्ञ के भूमि पर होने वाले प्रभावों का वर्णन करें।

❋❋❋

1. यजुर्वेद- 28.30
2. सामवेद, 985 भाषाभाष्य, पृष्ठ- 496
3. अथर्ववेद- 4.37.3
4. आर्ष ज्योति, डा. रामनाथ वेदालंकार, पृष्ठ- 264
5. अथर्ववेद- 19.38.1
6. अथर्व चिकित्सा विज्ञान, डा. हीरालाल विश्वकर्मा
7. ऐतरेय ब्राह्मण- 5.2 का सायणभाष्य
8. अथर्ववेदीय चिकित्सा शास्त्र, प्रियरत्न आर्ष

इकाई-2 **यज्ञ से प्रदूषण निवारण**

उद्देश्य-

1. यज्ञ से चिकित्सा भी संभव है यह ज्ञान होना।
2. कौन से रोग में कौन सी सामग्री से हवन करना यह स्पष्ट ज्ञान होना।
3. आयुर्वेद में वर्णित घूम चिकित्सा का ज्ञान होना।

आधुनिक विज्ञान या आधुनिक जगत् में पर्यावरण और प्रदूषण पर निरन्तर चिन्तन हो रहा है। पर्यावरण की समस्या वर्तमान परिस्थिति में सभी के समक्ष एक जटिल एवं ज्वलंत रूप में उपस्थित है, इससे न केवल मनुष्य ही अपितु समस्त प्राणी-जगत् पीड़ित है।

आज के इस सर्वग्रासी प्रदूषितयुग में प्राचीन युग की वैज्ञानिक क्रियाओं एवं विचारों के आधार पर कहा जा सकता है कि पर्यावरण संरक्षण के लिये प्राकृतिक पदार्थों की यथास्थिति आवश्यकता है अथवा औषधि प्रयोग द्वारा इनको विशिष्ट बनाने का संकेत वैदिक साहित्य में है। प्रदूषण निवारण के लिये यज्ञ (हवन) को अत्यन्त सुगम तथा श्रेष्ठ साधन बताया गया है।

ऋग्वेद में कहा गया है कि अग्नि के धूम से वायु आदि पदार्थ शुद्ध होते हैं। यथा-

त्वेषस्ते धूम ऋण्वति दिवि षञ्छुक्र आततः॥[1]

अग्नि का प्रदीप्त एवं शुद्धि का करने वाला धूम आकाश में व्याप्त होता हुआ चलता है।

यजुर्वेद में भी यज्ञ के प्रभाव का वर्णन उपलब्ध है। यथा-

यज्ञस्य दोहो विततः पुरुत्रा सो अष्टधा दिवमन्वाततान।
स यज्ञ धुक्ष्व महि में प्रजायां रायस्पोषं विश्वमायुरसीय॥[2]

यज्ञ का फल, बहुत पदार्थों में तथा आठो दिशाओं में फैलता है। वह यज्ञ प्रजा में सब महान् धनादि पदार्थों की समृद्धि एवं जीवनी-शक्ति का बार बार विस्तार करता है।

सामवेद में मनुष्यों को प्रेरित करते हुए कहा गया है-

आ जुहाता हविषा मर्जयध्वम्।[3]

यज्ञाग्नि में शोधकद्रव्यों की आहुति देकर प्राकृत पदार्थों को शुद्ध करो। अथर्ववेद में भी सर्वहितकारी यज्ञाग्नि के प्रभाव का वर्णन है:-

इदं हवियर्यातुधानान् नदी फेनमिवावहत्॥[4]

यज्ञ में होमी गई हवि, रोग एवं प्रदूषण रूपी यातुधानों को वैसे ही विनष्ट कर देती है जैसे नदी, झागों को।

सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता।
प्रातः प्रातः गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनसस्य दाता॥[5]

सायंकाल किया हुआ हवन प्रातःकाल तक वायुमण्डल को प्रभावित करता है और प्रातः किये गये होम का प्रभाव सायंकाल तक पर्यावरण पर पड़ता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने ऋग्वेद के मन्त्र का भावार्थ लिखा है-

हवन किया हुआ द्रव्य दुर्गन्धादि दोषों का निवारण कर सब दुःखों से रहित सुखों को सिद्ध करता है जिससे दिनरात सुख बढ़ता है। इसके बिना कोई प्राणी जीने को समर्थ नहीं हो सकता। इससे इसकी शुद्धि के लिये नित्य यज्ञ करें।[6]

यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते यत्रैव विद्वान् होता भवति।[7]

---

1. ऋग्वेद- 6.2.6
2. यजुर्वेद- 8.62
3. सामवेद- 63
4. अथर्ववेद- 1.8.1
5. अथर्ववेद- 19.55.3, 4
6. ऋग्वेद- 1.34.8 का भावार्थ
7. ऐतरेय ब्राह्मण- 1.2

आधुनिक शोधकर्ता ने भी यज्ञ को प्राकृतिक प्रकोप से बचाने वाला माना है: "वैदिक आर्यों के लिये प्राकृतिक आपदाओं का भय सबसे बड़ा भय था और प्राकृतिक शक्तियों को ही उन्होंने देवताओं के रूप में परिकल्पित किया था। अत: अपनी प्रत्येक उपलब्धि तथा इच्छाओं की पूर्ति हेतु वे देवताओं को प्रसन्न करना आवश्यक मानते थे, जिसका माध्यम उनकी दृष्टि में अग्नि में दी जाने वाली आहुति थी।"[1]

प्रदूषण-निवारक हवन का वर्णन करते हुए अग्निपुराणकार ने जहां शारीरिक रोगों को दूर करने वाली अनेकों औषधियों से हवन करने का आदेश दिया है, वहां सर्वव्याधि- विनाशक तथा ग्रहोपग्रहों के दुष्प्रभाव से बचने और शान्ति पाने के लिये औषधियों से यज्ञ करने का निर्देश भी दिया है। यथा:-

दूर्वा व्याधि विनाशाय..... होमयेत्॥

सर्व व्याधि नाशार्थ दूर्वा। दूब का हवन करना चाहिये।

मृत्युञ्जयो मृत्युजित् स्याद् वृद्धिः स्यात्तिलहोमतः॥

तिल के द्वारा हवन करने से मानव, मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है।

लक्षं ग्रहादिनाशः स्यादुत्पाते तिलहोमनम्।

दिव्यं लक्षं तदर्द्धेन व्योमजोत्पातनाशनम्॥

घृतेन लक्षपातेन उत्पाते भूमिजे हितम्।

घृतगुग्गुलुहोमे च सर्वोत्पातादिमर्द्दनम्॥

तिल और घी की हजारों व लाखों आहुतियों से पृथिवी, आकाश तथा द्यौ में स्थित दोष (प्रदूषण) विनष्ट होते हैं। घी, गुग्गल के होम से सभी तरह के उत्पातों का निवारण होता है।

दूर्वाक्षताज्यहोमेन व्याधयोऽथ घृतेन च।

सहस्त्रेण तु दुःस्वप्ना विनशन्ति न संशयः॥[2]

दूब, चावल तथा घी की अग्नि में आहुति देने से सभी प्रकार के रोगों का नाश हो जाता है।

एक ज्योतिषी ने भी प्रदूषण-निवारणार्थ एवं शान्ति-प्राप्त्यर्थ यज्ञ करने का निर्देश दिया है। यथा-

मन्त्रैराग्नेयैः क्षीरवृक्षात्समिदिभिर्होतव्योऽग्निः सर्षपैः सर्पिषा च।

अग्न्यादीनां वैकृते शान्तिरेवं देयं चास्मिन् काञ्चनं ब्राह्मणेभ्यः॥

अग्नि आदि के बिगड़ जाने पर उनकी शान्ति के लिये आक की लकड़ी, सरसों और घृत से अग्नि में मन्त्रों से हवन करना चाहिये।

सूर्येन्दुपर्जन्यसमीरणानां यागः स्मृतो वृष्टिविकारकाले।

धान्यान्नगोकाञ्चनदक्षिणाश्च देयास्ततः शान्तिमुपेति पापम्॥[3]

सूर्य, चन्द्रमा, मेघ, वृष्टि और वायु के विकारजन्य उत्पात के समय 'यज्ञ' करना चाहिये।

महर्षि कात्यायन के अनुसार **तिलाहुतिनामष्टसहस्त्रमयुतं वा जुहुयात्, गोत्रे आपदो न भवन्ति, अकाले न कश्चिन्म्रियते**[4] तिल की आठ हजार अथवा- असंख्य आहुतियां देने से गोत्र में विपत्तियों का प्रभाव नहीं पड़ता एवं असमय में प्रदूषणजन्य रोगादि से मरण नहीं होता।

❋❋❋

यज्ञ का आध्यात्मिक पक्ष

यज्ञ कुण्ड, यज्ञाग्नि, यज्ञधूम, यज्ञ का भौतिक स्वरूप; जो हमें प्रत्यक्ष (साक्षात्) होते हैं, जिन्हें हम इन आंखों से देखकर व नाक से सूंघकर अनुभव कर लेते हैं। किन्तु यज्ञ का सूक्ष्म तत्व जो हमें दिखता नहीं है, वह भी बहुत विशाल अर्थ, उद्देश्य व लाभ लिए हुए है। यज्ञ की एक-एक क्रिया हमें सूक्ष्म रूप में संकेत करती है। जिनको हम वैदिक चिन्तन से जोड़कर समझ पाते हैं।

यज्ञाग्नि का प्रदीप्त होना मानव-हृदय में आत्म-ज्योति के प्रदीप्त होने का संकेतक है।

1. ब्राह्मणग्रंथों में प्रतिबिम्बित समाज एवं संस्कृति, डॉ. धीरेन्द्र सिंह पृष्ठ- 253
2. अग्निपुराण- 81.51, 52-321, 5-7
3. बृहत् संहिता, वराह मिहिर, उत्पाताध्याय, 24.30 पृष्ठ- 262.266
4. यजुर्विधानसूत्रम्, कात्यायन, पृष्ठ- 6

ओम् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्द्धस्य....।[1]

इसमें 'जातवेदस् अग्नि' को परमात्मा माना है और 'समिधा' को आत्मा। यज्ञकर्ता अग्नि और समिधा के आध्यात्मिक स्वरूप को समझता है और अग्नि में समिधादान करता हुआ मन ही मन ईश्वर को स्मरण करता है और उसमें अपनी आत्मा को समर्पित करना चाहता है। अपना तन,मन, धन ईश्वर को समर्पित करना चाहता है।

जब यज्ञकर्ता **ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने...** वाला मन्त्र बोलता है तब वह अग्नि के प्रचण्ड होने की कामना करता है और दूसरी और इष्टपूर्ति की कामना भी करता है। अत: यज्ञ हमारी समस्त श्रेष्ठ कामनाओं को सिद्ध करने वाला है। आत्म ज्योति के प्रदीप्त होने पर अज्ञान का आवरण क्षीण होने लगता है और चैतन्य का क्रमश: विकास होता है। धीरे-धीरे विकास के पांच कोषों (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोष) को पार कर परमात्मा के साथ आत्मीयता एवं एकात्मकता की अनुभूति करने लगता है। यह एकात्मकता की अनुभूति ही आनन्दमय कोष की पूर्ण प्राप्ति है। परमात्मा के आनन्द में लीन होना या तल्लीनता की अनुभूति मानव के लक्ष्य की प्राप्ति है। यह यज्ञ-विज्ञान का पारमार्थिक रहस्य है।

न्यूयार्क की योग सोसाइटी के संस्थापक, एण्डोक्रिनोलॉजिस्ट, न्यूरोसर्जन एवं मनोचिकित्सक डॉ. राममूर्ति मिश्रा लिखते हैं-

योग में सफलता के लिए 5 सूत्र हैं- आत्मविश्वास, सकारात्मक विचार, संकल्पशक्ति, एकाग्रता एवं आत्मतत्व का स्मरण। इस सबको प्राप्त करने के लिए अग्निहोत्र महान सहायक है। जब हम उस दिव्य शक्ति का अनुभव करते हैं और जब हमारे विचार उसी ओर प्रवाहित होने लगते हैं, तब हमारा सम्पूर्ण अस्तित्व एक नई जीवन ऊर्जा एवं दृढ़ता से परिपूर्ण हो जाता है।

क्रियायोग यूनिवर्सिटी प. जर्मन के संचालक श्री वेर्नर मेत्जगर कहते हैं-

हमारे चारों ओर शक्ति का ही आवरण होता है। अनियन्त्रित चंचल मन शक्ति के इस आवरण को भंग कर देता है। अग्निहोत्र पुन: इस शक्तिवलय का निर्माण करता है। इससे निर्माण होने वाली ऊर्जा तुरन्त मन को स्थिर व शांत कर देती है। अग्निहोत्र की भस्म में भी यह शक्ति छुपी हुई है।

पूना के एक प्रसिद्ध दैनिक समाचार पत्र के सम्पादक एस.के. कुलकर्णी के अनुसार- इस (अग्निहोत्र की) प्रक्रिया का मन पर परिणाम पड़ता है। मन उल्लासमय होता है। अग्निहोत्र हमारे मन की थकान व तनाव को दूर करने का एक शीतल मोरपंखी ब्रश ही है। मन पर उसका हल्का हल्का परिणाम होकर मन शुद्ध व पवित्र होने लगता है।

मानसिक एकाग्रता, ध्यान, जप आदि का अभ्यास करने वाले साधकों का यह मानना है कि अग्निहोत्र करने के तुरन्त बाद यदि उपरोक्त साधनाएं की जाएं तो उनमें कल्पनातीत सफलता मिलती है। सम्भवत: इसका कारण यह हो कि अग्निहोत्र से उत्पन्न ऊर्जा शरीरस्थ ऊर्जा चक्रों पर प्रभाव डालकर उन्हें सक्रिय करती है।

होमा-थेरेपिस्ट डॉ. मुले अग्निहोत्र का अधिक से अधिक आध्यात्मिक लाभ उठाने के लिए सलाह देते हैं- अग्निहोत्र करने के पांच मिनट पहले व पांच मिनट बाद तक अग्निहोत्र के पास बैठे रहें। कम से कम वस्त्र धारण करें, वस्त्र सूती हों। उससे ध्यान में सफलता मिलती है। अग्निहोत्र करते ही जो शक्ति बाहर निकल रही है वह श्वास के माध्यम से फेफड़ों में जाती है जिसे रक्तवाहिनियों द्वारा सोख लिया जाता हैं फिर रक्त से मिलकर वह शक्ति सारे शरीर में फैल जाती है और शरीर के अणु-अणु को अग्निहोत्र का लाभ मिल जाता है।

टोकियो की इन्स्टीट्यूट फॉर रिलीजयस सायकोलॉजी के डॉ. मोतोयामा कई वर्षों तक हमारे चक्रों पर अग्निहोत्र का प्रभाव जानने के लिए एक प्रयोग किया। डॉ. मोतोयामा ने पिरामिड आकार के पात्र में गाय के घी की आहुति देने का अनाहत चक्र पर क्या परिणाम होता है, यह जांचा। अग्निहोत्र शुरू करने से पहले व बाद में अनाहत चक्र द्वारा उत्सर्जित ऊर्जा को यंत्र द्वारा मापा गया। डॉ.मोतोयामा यह देखकर चकित रह गए कि अग्निहोत्र द्वारा अनाहत की शक्ति कई गुणा बढ़ गई।

यज्ञ की अग्नि हमें अध्यात्म के अनेक गूढ संकेत देती है जिसे हमें समझने की आवश्यकता है। जगत के सभी पदार्थों की गति निम्न है अर्थात नीचे की ओर है जिसका कारण गुरुत्वाकर्षण है। परन्तु दुनिया में एक की गति नीचे की ओर न होकर ऊर्ध्व होती है, ऊपर की ओर उठती है, वह है अग्नि। अग्नि की ज्वाला को नीचे की ओर मोड़ देने पर भी ऊपर की ओर उठ जाती है- **ऊर्ध्वं गच्छत्तिं सत्वस्था**।[2] ऊर्ध्व गति की ओर अगर जाना हो तो जिसकी गति ऊर्ध्व है, उसी की उपासना हमें करनी चाहिए। अग्निहोत्र इसीलिए आध्यात्मिक मार्ग के पथिकों के लिए उपयोगी है। अग्निहोत्र उपासक कभी अधोगति को नहीं जाता।

वीतराग श्री प्रभु जी महाराज 'यज्ञ-रहस्य' में लिखते हैं- कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि सूक्ष्म शरीर के अंग हैं। इसीलिए मनुष्य यज्ञादि शुभ कर्मों को इस वास्ते करता है कि उसका सूक्ष्म शरीर शुद्ध हो जाए। जब तक यह सूक्ष्म शरीर शुद्ध

---

1. आश्वलायन गृह्यसूत्र- 1.10.12
2. श्रीमद्भगवद् गीता- 14.18

नहीं होता है तब तक जागता नहीं और जब तक जागता नहीं तब तक उस मनुष्य को प्रभु स्वीकार नहीं करते।

सांसारिक कार्य के लिए तो सूर्य, अग्नि, वायु आदि जड़ देवता सहायता करते हैं किन्तु आंतरिक आत्मिक कार्यों में चेतन देव, यज्ञ व विद्वान आदि से सहायता मिलती है–

यज्ञो दानं तपश्चैव पावमानी मनीषिणाम्।[1]

अर्थात् यज्ञ, दान और तप मननशील व विचारक पुरुषों को पवित्र करते हैं।

आगे वे प्रश्न करते हैं– यज्ञ से मनुष्य का अन्तःकरण, सूक्ष्मशरीर कैसे शुद्ध हो जाता है।

उसका उत्तर वे देते हैं– जब यज्ञ अन्तःकरण की शुद्धि के लिए किया जाए तब यज्ञकर्ता को निम्न मन्त्रों से प्रतिदिन आहुति देनी चाहिए–

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते.....।[2]

इस मन्त्र को बोलकर आहुति देना चाहिए। मन और बुद्धि को एकाग्र करके भावना और अर्थ समझकर आहुति देने से कितना ही पापी क्यों न हो उसके संस्कार-विचार बदल जाएंगे। साधक याजक की भावनाएं आकाश से सद्भावनाओं, सद्प्रेरणाओं के परमाणुओं को चुम्बक से सदृश आकर्षित करेंगी।

सब इन्द्रियों में शुद्धप्राण जाने से सब इन्द्रियां पवित्र हो जाती हैं। सबके सुख की भावना से यज्ञ करने वाले को आत्मिक शान्ति मिलती है।

यदि मनुष्य अपनी सात्विकता को बढ़ाना चाहे अथवा नष्ट की हुई सात्विकता को वापस लाना चाहे तो उसका एकमात्र साधन यज्ञ है। **यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्** यज्ञ की भावना से किया हुआ यज्ञ समस्त प्राणियों के अन्दर प्राण प्रविष्ट कर देता है।

वीतराग महाराज आगे लिखते हैं– 'यज्ञ करते समय जब हम पुनः पुनः **स्वाहा** और **सर्वे भवन्तु सुखिनः** की भावना रखकर यज्ञ करते हैं तो हम अन्नमय, प्राणमय कोश के बल पर बोलते हैं। ये शब्द, भावनाएं हमारे निर्बल परमाणुओं को आकाश में ले जाती हैं और इकट्ठी होती रहती हैं, व्यर्थ नहीं जाती। जब कभी मनोमय और विज्ञानमय कोश के बल से वह 'स्वाहा' और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की ध्वनि निकलेगी तो सहसा वहां एकत्रित परमाणु बारूद के गोले के सदृश समष्टि मन लोक में जाकर इस व्यष्टि मन का सम्बन्ध समष्टि से जोड़ देंगे और याचक का मन शिव संकल्प वाला होकर उसे अपने मन के दर्शन कराएगा, तब उसमें प्रभु का शिव संकल्प ही उठेगा।'

❋❋❋

यज्ञ का इतिहास

यज्ञ का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। यदि कहें कि जब से सृष्टि का निर्माण हुआ है, तब से यज्ञों का प्रचलन है तो कुछ अनुचित न होगा। क्योंकि चारों वेदों में यज्ञ की महिमा, यज्ञ करने का निर्देश व आदेश दिया हुआ है। वैदिक संस्कृति को यदि एक शब्द में संहृत करना हो तो वह शब्द है– **यज्ञ**।

वेद में ईश्वर हमें यह आदेश देते हैं– **'क्रतुर्भव'** अर्थात् तू क्रतु बन। अर्थात् यज्ञ करने वाला बन जा। वेद तो **यज्ञीय** मन्त्रों से भरा पड़ा है।

यत्पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद्विहव्येनेजिरे।।[3]

समस्त वेदों में यज्ञ का बार-बार उल्लेख आता है चारों वेदों में 'यज्ञ' शब्द सहस्रों बार आया है।

उपनिषदों में भी यज्ञों का माहात्म्य प्रकट किया है। अनेक कथानकों द्वारा यज्ञमहिमा प्रदर्शित की गई है विशेषकर मुण्डकोपनिषद्, बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य उपनिषद् में यज्ञ का बहुतायत से वर्णन है। बृहदारण्यक उपनिषद् में विदेह देश में रहने वाले राजा जनक ने यज्ञ का आयोजन किया।

रामायण काल में यज्ञों का बहुत प्रचलन था। महाराजा दशरथ ने स्वयं पुत्रेष्टि यज्ञ करवाया था और जब राम व लक्ष्मण बड़े हुए तब ऋषि विश्वामित्र ने उन्हें यज्ञ की रक्षा के लिए बुलाया था। वाल्मिकी रामायण के अनुसार ऋषि विश्वामित्र के साथ श्रीराम

---

1. श्रीमद्भगवद् गीता– 12.5
2. यजुर्वेद– 32.14
3. अथर्ववेद– 7.5.4

व श्रीलक्ष्मण, राजा जनक द्वारा किए जाने वाले यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए ही जनकपुर गए थे। जहां श्रीराम माता सीता के साथ चारों राजकुमारों का विवाह प्रसंग बना।

महाभारत काल में जब पाण्डवों ने युद्ध किया और विजय प्राप्त की तब उन्होंने राजसूय यज्ञ किया। इस राजसूय यज्ञ में पधारे विद्वानों व ऋषि-मुनियों के चरणों को प्रक्षालित करने का कार्य स्वयं श्रीकृष्ण ने किया।[1]

भारत ही नहीं अपितु विदेशों में भी यज्ञों का काफी प्रचलन रहा। हनुमान जी जब सीता की खोज में लंका गये तब उन्होंने वहां के निवासियों को यज्ञ करते देखा था। वोर्निया के कुरेई प्रान्त में ई. 1879 में प्राप्त शिलालेख बताते हैं, कि वहां के सम्राट मूलवर्मन 400 ई. ने सुवर्णक यज्ञ किए थे। कम्बोडिया में भी वैदिक यज्ञ कराए जाते थे। 825 ई. को सम्राट ईशान वर्मन आदि यज्ञ के 'होता' थे।

अनाय (चम्पादेश) के लेखों से ज्ञात होता है कि वहाँ के राजा यज्ञ करते थे। ईसा की पहली सदी में जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीपों में वैदिक संस्कृति का प्रभाव था तथा वहां यज्ञ हुआ करते थे। चीन में राजा फूसी ने यज्ञों का आयोजन किया था। चीन और जापान में यज्ञों को **घोम** कहा जाता था। जो कि 'होम' का ही परिवर्तित रूप है।

ईरान के पारसियों में यज्ञों का बहुत प्रचलन था, वे यज्ञ कुण्ड को **कैर** कहते हैं। पारसी भाई भी अपने-अपने घरों में पवित्र अग्नि (आतिरो बहराय) जमाते हैं।

सिख मत में भी **जोत** इसी यज्ञ का एक रूप है **तितघिये होम जग सद पूजा जाइयै कारज सोहे**।[2]

जगा छोड़े अर्थात् घी से हवन कार्य शोभा पाते हैं। गुरु गोविन्द सिंह जी ने जो हवन किया था उसके बारे में विद्वान् ज्ञानसिंह जी ने लिखा था- **जग होम वेशक करावे इह तो घरय हमारा सार**

इस प्रकार हम देखते हैं कि यज्ञ प्राचीन वैदिककाल से प्रचलित रहा है।

यज्ञ एक दर्शन और धार्मिक क्रिया के रूप में सत्य सनातन वैदिक भारतीय संस्कृति में प्रचलन में रहा है। यद्यपि लोगों की सामान्य समझ के अनुसार, वैदिक काल में यज्ञ प्रथाओं की शुरुआत की गई थी, जिसका मुख्य रूप से ऋग्वैदिक साहित्य में उल्लेख किया गया है। इसलिए यज्ञ को वैदिक संस्कृति की नींव के रूप में जाना जाता है। हालाँकि, पहली भारतीय सभ्यता, यानी सिंधु घाटी सभ्यता के स्थलों से मिले पुरातात्विक साक्ष्य भी वैदिक युग के समान यज्ञ, तप, बलिदान प्रथाओं को दर्शाते हैं। कालीबंगा (राजस्थान) के स्थल पर, दक्षिणी इकाई में कई मिट्टी के ईंट के चबूतरे पाए गए हैं। संभवत: उन पर संरचनाएं जो अब गायब हो गई हैं, उन पर प्लेटफार्मों में सात अग्नि वेदियां (प्रत्येक लगभग 75×55 सेमी) एक पंक्ति में थी।

दिलीप कुमार चक्रवर्ती कहते हैं, "इन आयताकार वेदियों को फर्श में धँसा दिया गया था, मिट्टी के साथ प्लास्टर किया गया था और इसमें एक बेलनाकार और मुखर मिट्टी का स्टंप और राख व लकड़ी का कोयला से जुड़े टेराकोटाबट्टी शामिल थी। वेदियों की राख और लकड़ी के कोयला के साथ जुड़ाव कुछ अनुष्ठान प्रथाओं को इंगित करता है।

चक्रवर्ती इंगित करते है कि कालीबंगा के पूर्वी टीले के पूर्व में, पांच अग्नि वेदियों के साथ एक अलग संरचना एक धार्मिक स्थान की ओर इशारा करती है। इसी संदर्भ में, उपिंदर सिंह बी.बी.लाल कहते हैं कि कालीबंगा में एक 1.25×1m ईंट-पंक्तिवाला आयताकार गड्ढा भी था। गढ़ परिसर के उत्तरी भाग में घरों के होने के प्रमाण पाए गये। बी बी लाल का सुझाव है कि यह वह जगह हो सकती है जहां अनुष्ठान करने वाले पुजारी रहते थे। कालीबंगा के अलावा, गुजरात में बनवाली, लोथल, अमरी, नागेश्वर और बागड़ और हरियाणा में राखीगढ़ी से भी कुछ सार्वजनिक और कुछ घरेलू अनुष्ठानों से जुड़ी ऐसी अग्नि वेदियों की खोज की गई है।

पाणिनि अष्टाध्यायी (600-300 ईसा पूर्व) अपने समय में यज्ञ के सिद्धांत और व्यवहार के बारे में बहुत प्रासंगिक जानकारी प्रदान करती है। ब्राह्मणों और अनुब्राह्मणों के अलावा, क्रतु या सोम यज्ञों और अन्य यज्ञों के व्याख्यात्मक ग्रंथों (व्याख्यान) के रूप में विशेष याज्ञिक-यज्ञिका साहित्य का एक विशाल निकाय अस्तित्व में आया था, उदाहरण के लिए अग्निष्टोम की व्याख्या देने वाले ग्रंथ को अग्निष्टोमिका कहा जाता था, इसी तरह वाजपेयिका और राजसूयिका नामक ग्रंथ थे। यज्ञ की अवधि के लिए यज्ञ करने वाले को यजमान कहा जाता था, जिसके बाद पाणिनि के अनुसार उस आधार पर उसे यज्वा या अग्निष्टोम-याजी कहा जाता था। पाणिनि ने लिखा है कि यजुर्वेद में तीन प्रकार के इष्टी, पशुबंध और सोम यज्ञों का वर्णन है। यज्ञों के पुरोहित वर्ग के संबंध में, पाणिनी एक सामान्य शब्द ऋत्विज् का उपयोग करते हैं, जो यज्ञ में नियोजित पुजारियों के सभी वर्गों के लिए उपयोग किया जाता है। वैदिक परम्परा के अनुसार, ब्राह्मण ग्रंथों में वर्णित अनुष्ठानों के लिए आवश्यक पुजारियों की संख्या 16 थी, जिन्हें

---

1. महाभारत, सभापर्व- 34.10
2. वार मझा महल्ला- 1.26

ऋग्वेद से संबंधित होता, प्रस्थ, ग्रेवस्तुत, प्रशस्त के रूप में वर्गीकृत किया गया था, सामवेद के उद्गाता को प्रतिहर्ता द्वारा सहायता प्रदान की गई थी, अथर्ववेद से संबंधित ब्रह्मा, अग्निध और होता थे।

साम्राज्यों की अवधि में, मौर्य साम्राज्य के उत्तराधिकारी शुंग साम्राज्य ने वैदिक यज्ञ परंपराओं को पुनर्जीवित किया और इसलिए हमें पुष्यमित्र शुंग के प्रमाण मिलते हैं, जिनके साम्राज्य का विस्तार दक्षिण की ओर था, जो मध्य देश के स्वामी थे और इसलिए उन्होंने दो अश्वमेध यज्ञ किए। उनमें से एक की चर्चा पतंजलि की अष्टाध्यायी में की गई है और सम्भवत: वह इस यज्ञ के ऋत्विक् थे। महाकवि कालिदास के नाटक मालविकाग्निमित्रम् के अनुसार, पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र को यज्ञ को सफलतापूर्वक पूरा करने के लिए सिंधु तट पर यूनानियों से लड़ना पड़ा। अयोध्या का एक शिलालेख भी एक शुंग शासक द्वारा दो अश्वमेध यज्ञों के प्रदर्शन की पुष्टि करता है। इस युग में, शुंग, कण्व (गजयन) परसारिपुत्र सर्वत नाम का एक शासक, जिसके घोसुंडी के शिलालेख में अश्वमेध यज्ञ के उत्सव का उल्लेख है और सातवाहन (गोतमी पुत्र सातकर्णी) ने अश्वमेध (दो बार), राजसूय (एक बार), अग्निष्टोम जैसे विभिन्न प्रकार के यज्ञ किए।

दूसरी शताब्दी से तीसरी शताब्दी ईस्वी तक हम यज्ञों की निरंतरता का पता लगा सकते हैं। उत्तराखंड में कालसी के पास जगतग्राम (डुमेट) में मिले शिलालेखों में शिलावर्मन नामक राजा द्वारा कराए गए कई अश्वमेध यज्ञों के अनुष्ठानों का उल्लेख मिलता है। कुषाण काल में मथुरा यूप शिलालेख में 24 साल के शासक वाशिस्क द्वारा अपने उत्तराधिकार अवसर पर भारद्वाज गोत्र के ब्राह्मण द्रोणला द्वारा किए गए 12 दिनों तक चलने वाले एक यज्ञ के अनुष्ठान का उल्लेख है। कई अन्य यूप जो पूर्व गुप्तकाल में स्थापित किए गए थे, यह स्पष्ट करते हैं कि बड़वा (कोटा, राजस्थान) में 237 ई. में यज्ञ अनुष्ठान किए गए। इलाहाबाद स्थित द्वितीय शताब्दी के यूप से सप्त सोम यज्ञ के त्रिरात्र यज्ञ का उल्लेख मिलता है। नंदसा यूप (२२५ ई०) उदयपुर के साथ विजयगढ़ (भरतपुर) और नगरी (चित्तौड़गढ़) के तीसरी शताब्दी के यूप (स्तम्भ लेख) पूर्व गुप्तकाल में यज्ञों की निरंतरता स्पष्ट करते हैं।

अत: यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय इतिहास में ऐसे विशाल प्रशंसनीय साहित्यिक और पुरातात्विक साक्ष्य हैं जो यज्ञ के महत्व, इसके सिद्धांत और व्यवहार को मुखरता से अभिव्यक्त करते हैं। हम देख सकते हैं कि वैदिक काल में सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सद्भाव के महान उद्देश्य से यज्ञ की परंपरा बहुत ही सरल तरीके से विद्यमान थी। हालांकि, समय के साथ प्रक्रियात्मक संरचना जटिल और विस्तृत होती गई। इसने वास्तव में वर्ण-जाति पदानुक्रम को बढ़ावा दिया जिसमें ब्राह्मण और क्षत्रिय ने अत्यधिक श्रेष्ठता प्राप्त की और इस तरह पूरे सामाजिक और राजनीतिक ढांचे पर हावी हो गए। हालांकि, कोई इस बात से इंकार नहीं कर सकता कि यज्ञ की व्यवस्था के पीछे दान का मूल विचार सदैव रहा और समाज अपने घरेलू यज्ञों का सख्ती से पालन करता था, जिससे व्यक्ति और समाज, मनुष्य और प्रकृति, आत्मा और ब्रह्म के बीच एक संतुलित सामंजस्य स्थापित होता है।

15 अंक के प्रश्न-

1. यज्ञ चिकित्सा विषय पर शास्त्र प्रमाण देते हुए सविस्तार वर्णन करें।
2. पतंजलि द्वारा निर्मित रोगानुसार हवन सामग्री के नाम व कौन से रोग से कौन सी सामग्री का प्रयोग होता है। विस्तार से वर्णन करें।

5 अंक

1. यज्ञ चिकित्सा के विषय में दों शास्त्र प्रमाण देते हुए विस्तार से वर्णन करें।
2. रोगानुसार हवन सामग्री के नाम व कौन से रोग में उपयोगी है, वर्णन करें।
3. आयुर्वेद चर्म चिकित्सा पर सप्रमाण वर्णन करे।

बहुविकल्पीय-

1. कैंसर में निम्न में से कोन सी हवन साम्रगी प्रयोग में आती है।

(क) कफेष्टि

(ख) कर्कटेष्टि

(ग) दिव्येष्टि

(घ) प्रारब्धेष्टि

2. अस्थमा एवं चर्म रोग दोनों एक साथ हो गया हो तो कौन सी सामग्री प्रयोग करते है

(क) कफेष्टि

(ख) कर्कटेष्टि

(ग) कफेष्टि

(घ) कर्कटेष्टि दोनों

3. त्रिदोष समन हेतु कौन सी सामग्री प्रयोग करते है।

(क) वर्षा ऋतु में वातेष्टी

(ख) ग्रीष्म ऋतु में वित्तेष्टी

(ग) शित ऋतु में कफेष्टि

(घ) उपरोक्त तीनों।

खण्ड-4

इकाई-1 **यज्ञ चिकित्सा**

आयुर्वेदेषु यत्प्रोक्तं यस्य रोगस्य भेषजम्।
तस्य रोगस्य शान्त्यर्थं तेन तेनैव होमयेत्॥ (श्रीमत्प्रपंचसारसारसंग्रह-2, पटल - 30, 402)

आयुर्वेद ग्रन्थों में जिन रोगों के शमन के लिए जिन औषधियों का विधान है, उन - उन रोगों के शमन हेतु उन्हीं औषधियों से हवन करें।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ (मनुस्मृति-3.76)
आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे॥ (अथर्ववेद 4.133)

हे वायु! तू अपने साथ औषध (स्वास्थ्य) को ला। हे वायु! शरीर में जो मल है उसे तू बाहर निकाल। क्योंकि तू सब रोगों-प्रदूषणों की दवा है और तू देवों का दूत होकर विचरता है। अर्थात् यज्ञ से निकली हुई औषधि वायु से शुद्ध वातावरण व उसमें बैठकर योग - साधना-ध्यान करने से सभी प्रकार के शारीरिक व मानसिक रोग दूर होते हैं।

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय॥ (अथर्ववेद - ३.११.२)

यदि किसी की आयु क्षीण हो चुकी है, व जीवन से निराश हो चुका है, मृत्यु के बिल्कुल समीप पहुँच चुका है, तो भी यज्ञचिकित्सा उसे मृत्यु के वश (गोद) से लौटा लाती है और सौ वर्ष तक सुरक्षित रखती है, उसे पुनः नव जीवन देती है।।

यया प्रयुक्तया चेष्ट्या राजयक्ष्मा पुरा जितः।
तां वेदविहितामिष्टमारोग्यार्थी प्रयोजयेत्॥ (चरक संहिता, चिकित्सा स्थान - ८.१८९)

प्राचीनकाल में जिन यज्ञों के प्रयोग से राजयक्ष्मा (दुः साध्य रोगों) को जीता जाता था, आरोग्य चाहने वाले मनुष्य को उन वेदविहित यज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिए।

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यदि वैतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम्॥
(ऋग्वेद-10.161.1, अथर्वव्रद - 3.11.1)

(त्वा) तुझे (अज्ञातयक्ष्मात्) गीं से या माता-पिता के पास से उत्पन्न हुए रोग से (उत) और राजयक्ष्मात्) सकारण राजयक्ष्मा से (जीवनाय कम्) जीवन के लिए सुखपूर्वक (हविषा) हवन से (मुचामि) छुड़ाता हूँ। पृथक् करता हूँ (यदि वा) यदि तो (एतत्-एनम्) इस रोगी को (ग्राहिः) वातव्याधि ने (जग्राह) पकड़ लिया (तस्याः) उससे (इन्द्राग्नी) वायु और होमाग्नि ये दोनों (एनं प्रमुमुक्तम्) इसको छुड़ा देवे।।

रोगी को यदि जन्म से माता-पिता से आया हुआ रोग हो अथवा राजयक्ष्मा भारी रोग हो, मानसिक वातव्याधि रोग हो, तो भी होम द्वारा दूर हो सकते है।

रोगानुसार हवन सामग्री

कर्कटेष्टि/ KARKATESHTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1.	हल्दी	Turmeric	***Curcuma longa*** L.	Rhizome	8.90
2.	कचनार	Kachnar	***Bauhinia variegata*** L.	Bark	8.90
3.	देशी तुलसी	Basil	***Ocimum sanctum*** L.	Leaf	8.90
4.	अपामार्ग	Apamarga	***AchyranthesAspera*** L.	Panchang	8.90
5.	लोध्र पठानी	Lodh Pathani	***Symplocos macrophylla*** subsp. ***rosea*** (Bedd.) Noot.	Bark	8.90
6.	कचूर	Kachur	***Curcuma zedoaria*** Roxb.	Root	8.90
7.	शरपुंखा	Sharpunkha	***Tephrosia purpurea*** (L.) Pers.	Panchang	8.90
8.	गिलोय	Giloy	***Tinospora cordifolia*** (Willd.) Hook.f. & Thomson	Stem	8.90
9.	नीम	Neem	***Azadirachta indica***A.Juss.	Leaf	8.90
10.	द्रोणपुष्पी	Dronpushpi	***Leucas cephalotes*** (Roth) Spreng.	Panchang	8.90
11.	नील	Neel	***IndigoferaArticulata*** Gouan	Leaf	8.90
12.	कपूर	Camphor	***Cinnamomum camphora*** (L.) J.Presl	Wood	2.00
					99.90

प्रस्तुत हवन सामग्री लंग्स कैंसर, ब्रेन कैंसर, ब्लड कैंसर आदि सभी प्रकार के कैंसर में लाभप्रद है तथा इससे वातावरण जीवनीय-शक्ति से युक्त, सुगन्धित, स्वच्छ एवं शान्तिदायक बनता है।

Presented Havan material is useful inAll types of cancer like lungs cancer, brain cancer, blood cancer etc. And maintain vitality, fragrance, peacefulnessAnd hygiene ofAtmosphere.

मेधेष्टि/MEDHESHTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1.	ब्राह्मी	Brahmi	***Bacopa monnieri*** (L.) Wettst.	Leaf/Vine	10.89
2.	शंखपुष्पी	Shankhpushpi	***Convolvulus pluricaulis*** Choisy	Panchang	10.89
3.	वच (घोड वच)	Gudvach	***Acorus calamus*** L.	Root	10.89
4.	उस्तेखुद्दूस	Ustukhuddus	***Lavandula stoechas*** L.	Flower	10.89
5.	मालकांगनी	Malkangni	***Celastrus paniculatus*** Willd.	Seed	10.89
6.	अश्वगंधा	Ashwagandha	***Withania somnifera*** (L.) Dunal	Root	10.89
7.	पुष्करमूल	Pushkarmool	***Inula racemosa*** Hook.f.	Root	10.89
8.	अपामार्ग	Apamarga	***AchyranthesAspera*** L.	Panchang	10.89
9.	जटामांसी	Jatamansi	***Nardostachys jatamansi*** (D.Don) DC.	Root	10.89
10.	कपूर	Camphor	***Cinnamomum camphora*** (L.) J.Presl	Wood	2.00
					100.00

प्रस्तुत हवन सामग्री विस्मृति, तनाव, शिरोवेदना, भय, अनिद्रा, मिर्गी आदि के उपचार में लाभप्रद तथा इससे वातावरण जीवनीय-शक्ति से युक्त, सुगन्धित, स्वच्छ एवं शांतिदायक बनता है।

Presented Havan material is useful for treatment of tension, headache, fear, insomnia, epilepsy etc.And maintain vitality, fragrance, peacefulness, healthAnd hygiene ofAtmosphere.

वातेष्टि/VATESHTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1.	निर्गुण्डी	Nirgundi	***Vitex negundo*** L.	Panchang	13.02
2.	रास्ना	Rasna	***Pluchea lanceolata*** (DC.) C.B.Clarke	Leaf	13.02
3.	विनौला	Cottonseed	***Gossypium herbaceum*** L.	Seed	4.87

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
4.	अश्वगंधा	Ashwagandha	***Withania somnifera*** (L.) Dunal	Root	4.87
5.	पुनर्नवा	Punarnava	***Boerhavia diffusa*** Sw.	Root	4.87
6.	बला	Bala	***Sida cordifolia*** L.	Panchang	4.87
7.	नागरमोथा	Nagarmotha	***Cyperus rotundus*** L.	Root	9.68
8.	अजवायन	Celery	***TrachyspermumAmmi*** (L.) Sprague	Seed	4.87
9.	एरण्ड	Castor	***Ricinus communis*** L.	Seed	6.51
10.	वच	Gudvach	***Acorus calamus*** L.	Root	7.00
11.	अमलतास	Amaltas	***Cassia fistula*** L.	Fruit	4.87
12.	पारिजात	Parijat	***NyctanthesArbor-tristis*** L.	Panchang	4.87
13.	सलाई गुग्गुल	Salai guggul	***Boswellia serrata*** Roxb.	Gum	9.68
14.	गिलोय	Giloy	***Tinospora cordifolia*** (Willd.) Hook.f. & Thomson	Stem	5.00
15.	कपूर	Camphor	***Cinnamomum camphora*** (L.) J.Presl	Wood	2.00
					100.00

प्रस्तुत हवन सामग्री गठिया, जोड़ों का दर्द, सियाटिका, सर्वाइकल स्पोण्डिलाइटिस, स्लिपडिस्क आदि सभी प्रकार की वेदना व शोथ आदि के उपचार में लाभप्रद है तथा इससे वातावरण जीवनीय शक्ति से युक्त, सुगंधित, स्वच्छ एवं शांतिदायक बनता है।

Presented Havan material is useful in treatment of various types of painAnd inflammation like gout, joint pain, sciatica, cervical spondylitis, slipdisc, etc.And maintain vitality, fragrance, peacefulness, healthAnd hygiene ofAtmosphere.

पित्तेष्टि/PITTESHTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1.	श्वेत चंदन	Sandalwood	***SantalumAlbum*** L.	Wood	73.5
2.	गुलाब	Rose	***Rosa centifolia*** L.	Flower	24.5
3.	कपूर	Camphor	***Cinnamomum camphora*** (L.) J.Presl	Wood	2.0
					100.00

प्रस्तुत हवन सामग्री अम्लपित्त, अतिदाह, अतिस्वेद, शरीर से दुर्गन्ध आना, त्वचा-आँख-छाती आदि में जलन, अधिक कील-मुँहासे आदि पित्तज रोगों में लाभदायक है।

Presented Havan material is useful in treatment of various types of Pittaja diseases likeAcidity, excessive heat, excessive sweating, bad order from the body, burning sensation in the skin-eye-chest,Acne etc.

कफेष्टि/COUGHESHTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1.	मुलेठी	Mulethi	***Glycyrrhiza glabra*** L.	Root	5.15
2.	सफेद वासा	Safed vasa	***JusticiaAdhatoda*** L.	Leaf	5.15
3.	वनप्सा	Vanafsa	***Viola odorata*** L.	Plant	5.15
4.	तुलसी	Basil	***Ocimum sanctum*** L.	Leaf	5.15
5.	छोटी पीपली	Pepper	***Piper longum*** L.	Fruit	5.15
6.	दालचीनी	Cinnamon	***Cinnamomum verum*** J.Presl	Bark	5.15
7.	लौंग	Clove	***SyzygiumAromaticum*** L.	Bud	5.15
8.	सोंठ	Ginger	**Zingiber officinale** Rosc.	Rhizome	5.15
9.	तेजपत्ता	Bay Leaf	**Cinnamomum tamala** (Buch.-Ham.) T.Nees & Eberm.	Leaf	5.15
10.	भारंगी	Bharangi	**Clerodendrum serratum** (L.) Moon	Bark	5.15
11.	लिसोड़ा	Lisoda	**Cordia myxa** L.	Fruit	5.15
12.	अमलतास	Amaltas	**Cassia fistula** L.	Fruit	5.15
13.	धतूरा	Datura	**Datura stramonium** L.	Panchang	5.15
14.	रुदन्ती	Rudanti	**Cressa cretica** L.	Fruit	5.15
15.	काली मिर्च	Black Pepper	**Piper nigrum** L.	Seed	5.15
16.	अकरकरा	Akarkara	**Anacyclus pyrethrum** (L.) Lag.	Panchang	5.15
17.	कर्कटश्रृंगी	Kakatasringi	**Pistacia integerrima** J. L. Stewart ex Brandis	Fruit	5.15
18.	छोटी कटेरी	Kateri choti	**Solanum surattense** Burm. f.	Panchang	5.15
19.	बड़ी कटेरी	Kateri badi	**Solanum indicum** L.	Panchang	5.15
20.	कपूर	Camphor	**Cinnamomum camphora** (L.) J.Presl	Wood	2.00
					99.98

प्रस्तुत हवन सामग्री दमा, खाँसी, साइनस, नज़ला आदि कफज रोगों के उपचार में लाभप्रद तथा वातावरण जीवनीय शक्ति से युक्त, सुगन्धित, स्वच्छ एवं शान्तिदायक बनता है।

Presented Havan material is useful in various cough disorders like treatment ofAsthma, cough, sinus, cold etc.And maintain vitality, fragrance, peacefulness, healthAnd hygiene ofAtmosphere.

चर्मेष्टि/ CHARMESTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1.	दारुहल्दी	Daruhaldi	***BerberisAristata*** DC.	Stem/Root	5.15
2.	करंज	Karanja	***Pongamia pinnata*** (L.) Pierre	Seed	5.15
3.	गिलोय	Giloy	***Tinospora cordifolia*** (Willd.) Miers	Stem	5.15
4.	बाकुची	Bakuchi	***Psoralea corylifolia*** L.	Seed	5.15
5.	बहेड़ा	Baheda	***Terminalia bellirica*** (Gaertn.) Roxb.	Fruit	5.15
6.	श्वेत चंदन	Sandalwood	***SantalumAlbum*** L.	Wood	5.15
7.	काली जीरी	Black Cumin	***Nigella sativa*** L.	Seed	5.15
8.	हल्दी	Turmeric	***Curcuma longa*** L.	Rhizome	5.15
9.	खैर	Khair	***Acacia catechu*** (L.f.) Willd.	Bark/wood	5.15

10.	नीम	Neem	***Azadirachta indica*** A.Juss.	Leaf/bark	5.15
11.	मंजिष्ठा	Manjistha	***Rubia cordifolia*** L.	Root	5.15
12.	चिरायता	Chirayita	***Swertia chirayita*** (Roxb.) Buch.-Ham. ex C.B.Clarke	Panchang	5.15
13.	द्रोणपुष्पी	Dronapushpi	***Leucas cephalotes*** (Roth) Spreng.	Panchang	5.15
14.	इन्द्रायण	Indrayan	***Citrullus colocynthis*** (L.) Schrad	Fruit	5.15
15.	देवदारु	Devdaru	***Cedrus deodara*** (Roxb. ex D.Don) G.Don	Wood	5.15
16.	उष्वा	Ushva	***Smilax ornata*** Lem.	Vine	5.15
17.	पुष्करमूल	Pushkaramula	**Inula racemosa** Hook. f.	Root	5.15
18.	अपामार्ग	Apamarga	***AchyranthesAspera*** L.	Panchang	5.15
19.	वचा	Vacha	***Acorus calamus*** L.	Root	5.15
20.	कपूर	Camphor	***Cinnamomum camphora*** (L.) J.Presl	Wood	2.00
					100.00

प्रस्तुत हवन सामग्री दाद, खुजली, एक्जिमा, सोरायसिस, छोटी व बड़ी माता आदि चर्मरोगों के उपचार में लाभप्रद है तथा इससे वातावरण जीवनीय-शक्ति से युक्त, सुगन्धित, स्वच्छ एवं शान्तिदायक बनता है।

Presented Havan material is useful for treatment of various skin disorders like rigworm infection, itching, eczema, psoriasis, small pox, chiken pox etc.And maintain vitality, fragrance, peacefulness, healthAnd hygiene ofAtmosphere.

दिव्येष्टि/DIVYESHTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1.	राल	Raal	***Extract of Shorea robusta*** Gaertn.	Gum	25.00
2.	गुग्गुल	Guggul	***Commiphora mukul*** (Hook. ex Stocks) Engl.	Gum	25.00
3.	बाकुची	Bavachi	***Psoralea corylifolia*** L.	Seed	25.00
4.	गिलोय	Giloa	***Tinospora cordifolia*** (Willd.) Miers	Stem	25.00
					100.00

प्रस्तुत हवन सामग्री में गोघृत मिश्रित कर धूपन करने से सर्वांगीण आरोग्य प्राप्त होता है।

Presented Havan material mixed with cow ghee provide good health.

हृदयेष्टि/HRIDAYESHTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1.	अर्जुन	Arjun	***TerminaliaArjuna*** (Roxb. ex DC.) Wight &Arn	Bark	50
2.	दालचीनी	Cinnamon	***Cinnamomum verum*** J.Presl	Bark	10
3.	निर्गुण्डी	Nirgundi	***Vitex negundo*** L.	Panchang	05
4.	रास्ना	Rasna	***Pluchea lanceolata*** (DC.) C.B.Clarke	Leaf	05
5.	पुनर्नवा	Punarnava	***Boerhavia diffusa*** L.	Root	05
6.	चित्रक	Chitrak	***Plumbago zeylanica*** L.	Root bark	05
7.	नागरमोथा	Nagarmotha	**Cyperus rotundus** L	Root	05
8	लौकी	Bottle Gourd	**Lagenaria siceraria** (Molina) Standl.	Fruit	06

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
9	गुग्गुल	Guggul	**Commiphora mukul** (Hook. ex Stocks) Engl.	Gum	07
10	कपूर	Camphor	**Cinnamomum camphora** (L.) J.Presl	Wood	02
					100.00

प्रस्तुत हवन सामग्री हृदयाघात, उच्च रक्तचाप (बी.पी.) आदि हृदयसंबंधी उपचार में लाभप्रद तथा वातावरण जीवनीय शक्ति से युक्त, सुगन्धित, स्वच्छ एवं शान्तिदायक बनता है।

Presented Havan material is useful in various cardiac disorders like cardiac stroke, high blood pressure etc.And maintain vitality, fragrance, peacefulness, healthAnd hygiene ofAtmosphere.

संततीष्टि/SANTATEESHTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1.	शालपर्णी	Shalparni	***Desmodium gangeticum*** (L.) DC.	Panchang	2.08
2.	पृश्निपर्णी	Prishniparni	***Uraria picta*** (Jacq.) DC.	Panchang	2.08
3.	बेल	Bel	***Aegle marmelos*** (L.) Corrêa	Bark	2.08
4.	अरणी	Arni	***Premna serratifolia*** L.	Wood	2.08
5.	श्योनाक	Shyonaka	***Oroxylum indicum*** (L.) Kurz	Panchang	2.08
6.	गम्भारी	Gambhari	***GmelinaArborea*** Roxb.	Wood	2.08
7.	पाटला	Patala	***Stereospermum suaveolens*** (Roxb.) DC	Root	2.08
8.	पुत्रजीवक	Putrajeevak	***Drypetes roxburghii*** (Wall.) Hurus	Seed	25.00
9.	शिवलिंगी	Shivlingi	***Bryonia laciniosa*** L.	Seed	25.00
10.	अपामार्ग	Apamarga	***AchyranthesAspera*** L.	Panchang	2.08
11.	गाजर	Carrot	***Daucus carota*** L.	Seed	2.08
12.	सोंठ	Ginger	***Zingiber officinale*** Rosc.	Root	2.08
13.	अजवायन	Celery	***TrachyspermumAmmi*** (L.) Sprague	Seed	2.08
14.	दारूहल्दी	Daruhaldi	***BerberisAristata*** DC.	Stem/root	2.08
15.	शतावरी	Shatavari	***Asparagus racemosus*** Willd.	Root	2.08
16.	मुलेठी	Mulethi	***Glycyrrhiza glabra*** L.	Vine	2.08
17.	वचा	Vacha	***Acarus calamus*** L.	Root	2.08
18.	देवदारू	Devdaru	***Cedrus deodara*** (Roxb. ex D.Don) G.Don	Wood	2.08
19.	शीशम	Shisham	***Dalbergia sissoo*** Roxb. ex DC.	Leaf	2.08
20.	जलजमनी	Jaljamni	***Cocculus hirsutus*** (L.) W.Theob.	Whole plant	2.08
21.	नागकेशर	Nagkesar	***Mesua ferrea*** L.	Flower	2.08
22.	गोखरु	Gokhru	***Tribulus terrestris*** L.	Whole plant	2.08
23.	अशोक	Ashoka	***Saraca indica*** L.	Bark	2.08
24.	सुपारी	Betel	***Areca catechu*** L.	Seed	2.08
25.	कौंच	Konch	***Mucuna pruriens*** (L.) DC.	Seed	2.24
26.	कपूर	Camphor	***Cinnamomum camphora*** (L.) J.Presl	Wood	2.00
					100.00

प्रस्तुत हवन सामग्री जो बन्ध्यत्वरोधी एवं गर्भपुष्टि के लिए उपयोगी तथा वातावरण जीवनीय शक्ति से युक्त, सुगन्धित, स्वच्छ एवं शान्तिदायक बनता है।

Presented Havan material is usefulAsAnti-sterlityAnd pregnancyAs wellAs maintain vitality, fragrance, peacefulness, healthAnd hygiene ofAtmosphere.

प्रारब्धेष्टि/PRARABDHESHTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1.	काले तिल	Sesame	***Sesamum indicum*** L.	Seed	25
2.	किशमिश	Raisins	***Vitis vinifera*** L.	Fruit	04
3.	शर्करा	Sugar	Sugar	-	04
4.	सुपारी	Betel	***Areca catechu*** L.	Nut	04
5.	छुआरा	Dry Dates	***Phoenix dactylifera*** L.	Fruit	04
6.	नारियल गोला	Coconut	***Cocos nucifera*** L.	Fruit	04
7.	मदार	Madar (aak)	***Calotropis gigantea*** (L.) Dryand.	Wood/root	04
8.	पलाश	Palas	***Butea monosperma*** (Lam.) Taub.	Flower	04
9.	खैर	Khair	***Acacia catechu*** (L.f.) Willd.	Bark	04
10.	अपामार्ग	Apamarga	***AchyranthesAspera*** L.	Panchang	15
11.	पीपल	Pepper	***Ficus religiosa*** L.	Bark	04
12.	कमल गट्टा	Kamal gatta	***Nelumbo nucifera*** Gaertn.	Seed	07
13.	बादाम	Almond	***PrunusAmygdalus*** Batsch	Fruit	07
14.	जौ	Oat	***Hordeum vulgare*** L.	Fruit	04
15.	धान	Rice	***Oryza sativa*** L.	Fruit	04
16.	कपूर	Camphor	***Cinnamomum camphora*** (L.) J.Presl	Wood	02
					100.00

प्रस्तुत हवन सामग्री प्रारब्ध दोष, कर्म दोष, ग्रह दोष, संस्कार दोष आदि को दूर करने में उपयोगी हैं।

Presented Havan material is useful to remove prarabdha dosha, karma dosha, graha dosha, sanskar dosha etc.

प्राणेष्टि/PRANESHTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1.	विदारीकंद	Vidarikand	***Pueraria tuberosa*** (Willd.) DC.	Tuber	10.88
2.	मेदा	Meda	***Polygonatum verticillatum*** (L.)All.	Rhizome	5.44
3.	शतावर	Shatavar	***Asparagus racemosus*** Willd.	Root	5.44
4.	काकोली	Kakoli	***Roscoea purpurea*** Sm.	Rhizome	5.44
5.	क्षीरकाकोली	Kshir Kakoli	***Lilium polyphyllum*** D.Don	Bulb	5.44
6.	ऋद्धि	Riddhi	***Habenaria intermedia*** D. Don	Tuber	5.44
7.	वराहीकंद	Varahikand	***Dioscorea bulbifera*** L.	Tuber	5.44
8.	बला	Bala	***Sida cordifolia*** L.	Seed	5.44
9.	सफेद मुसली	Safed Musli	***Chlorophytum borivilianum*** Santapau & R.R.Fern.	Root	5.44
10.	कौंच	Konch	***Mucuna pruriens*** (L.) DC.	Seed	5.44
11.	अश्वगंधा	Ashwagandha	***Withania somnifera*** (L.) Dunal	Root	5.44
12.	गिलोय	Giloy	***Tinospora cordifolia*** (Willd.) Miers	Stem	5.44
13.	ज्योतिष्मति	Jyotishmati	***Celastrus paniculatus*** Willd.	Seed	5.44
14	अपामार्ग	Apamarga	**AchyranthesAspera** L.	Panchang	5.44
15	वचा	Vach	**Acarus calamus** L.	Root	5.44
16	पुष्करमूल	Pushkaramula	**Inula racemosa** Hook. f.	Root	5.44

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
17	उस्तेखद्दूस	Ustukhuddus	**Lavandula stoechas** L.	Flower	5.44
18	कपूर	Camphor	**Cinnamomum camphora** (L.) J.Presl	Wood	2.00
					100.00

प्रस्तुत हवन सामग्री ऑटोइम्यून डिज़ीज तथा वंशानुगत रोगों में लाभप्रद है।

Presented Havan material is useful inAutoimmune diseasesAnd hereditary disorders.

मधु-इष्टि/MADHUISHTI (हवन सामग्री)

क्र.सं.	हिंदी नाम	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	प्रयोज्याङ्ग	ग्राम
1	गुड़मार	Gudmar	***Gymnema sylvestre***	Panchang	40 g
2	गिलोय	Giloy	***Tinospora cordifolia***	Stem	5.27 g
3	इन्द्रायण	Indrayan	***Citrullus colocynthis***	Fruit	5.27 g
4	चिरायता	Chirayita	***Swertia chirata***	Panchang	5.27 g
5	शतावर	Shatavar	***Asparagus racemosus***	Root	5.27 g
6	अश्वगंधा	Ashwagandha	***Withania somnifera***	Root	5.27 g
7	नीम	Neem	***Azadirachta indica***	leaf	5.27 g
8	दालचीनी	Cinnamon	***Cinnamomum zeylanicum***	Bark	5.27 g
9	बहेड़ा	Baheda	***Terminalia bellirica***	Fruit	5.27 g
10	कालमेघ	Green chiretta	***Andrographis paniculata***	leaf	5.27 g
11	काली जीरी	Black cumin	***Nigella sativa***	Seed	5.27 g
12	कुटज	Kutaja	***Wrightia antidysenterica***	Bark	5.30 g

प्रस्तुत हवन सामग्री टाईप-1 एवं टाईप-2 डायबिटीज रोगों में लाभप्रद है।

रोगनाशक यज्ञभस्म (YagyaAsh)

रिसर्च में हमने यह पाया कि, जल में प्रयुक्त 10g यज्ञभस्म का pH लेवल मेंटेन होकर।lkaline, Energetic व Medicated हो जाता है तथा जल के बैक्टीरिया आदि रोगाणु भी नष्ट हो जाते हैं।

सामान्य सभी रोगों में यज्ञशेष भस्म को छानकर प्रति 1 लीटर जल में 5g से 10g की मात्रा में कपड़े की पोटली बनाकर जलपात्र में छोड़ने या सीधा जलपात्र में डालकर कुछ मिनटों के पश्चात् पतले कपड़े से छानकर भस्म जल के सेवन करने पर अनेक प्रकार के लाभ देखे गये हैं। जैसे-

- ब्लड ऑक्सीजन लेबल बढ़ने से लेकर अनेक प्रकार की एलर्जी एवं मिनरल डेफिशिएन्सीज़ आदि व्याधियों में चमत्कारी परिणाम प्राप्त होता है।
- गोघृत या एलोवेरा के साथ भस्म को मिलाकर पेस्ट बना के रोगग्रस्त स्थान में लेपन करने से रोपण कर्म (Healing) शीघ्रता से होता है।
- भस्म से युक्त जलस्नान करने से कील-मुँहासों से लेकर पुराने घाव भी ठीक होते हैं तथा निरन्तर इसके प्रयोग से शरीर में दाग भी नहीं रहते अर्थात् चर्मरोग को ठीक रखने के लिए यज्ञभस्म वरदान रूप औषधि है।
- एक परीक्षण से यह भी सिद्ध हुआ है कि।tomic Radiation से प्रभावित अन्न को भस्म के पानी में डालकर कुछ घण्टे रखने से एटॉमिक रेडिएशन का प्रभाव कम हो जाता है।

'पतंजलि रिसर्च इंस्टिट्यूट'
के द्वारा हवन सामग्रियों पर किये गये शोध-परिणाम

Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phyto-constituents generated by Hawan of Charmeshti.

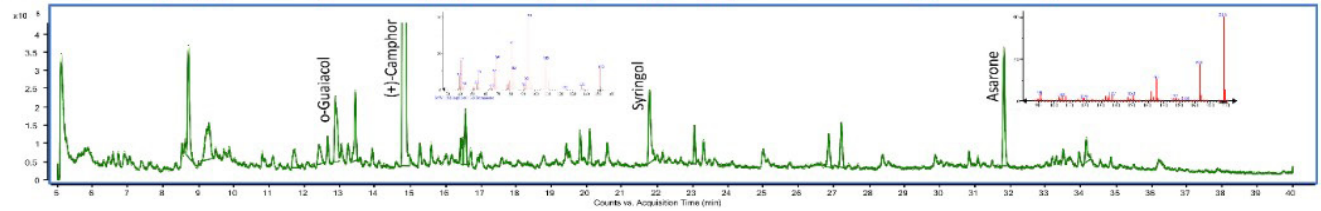

Syringol and Guaiacol

The anti bacterial effect of the Guaiacol, Syringol and their derivatives showed potent anti-microbial activity. It can be used potential agent for the skin diseases against different bacterial pathogens.

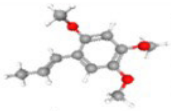

Asarone

Acorus calamus most effectively inhibited degranulation and IL-4 secretion in DNP-HSA-stimulated RBL-2H3 cells and also reduced the mast cell-mediated PCA reaction in mouse, providing a therapeutic evidence for its traditional use in ameliorating allergic reactions.

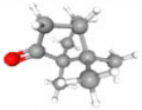

Camphor

Study conducted on humans revealed that camphor oil with or without glycerol dilutions completely cured zoonotic scabies with concentrations of 100%, 75% and 50% within 5-10 days.

Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phyto-constituents generated by Hawan of Vateshti

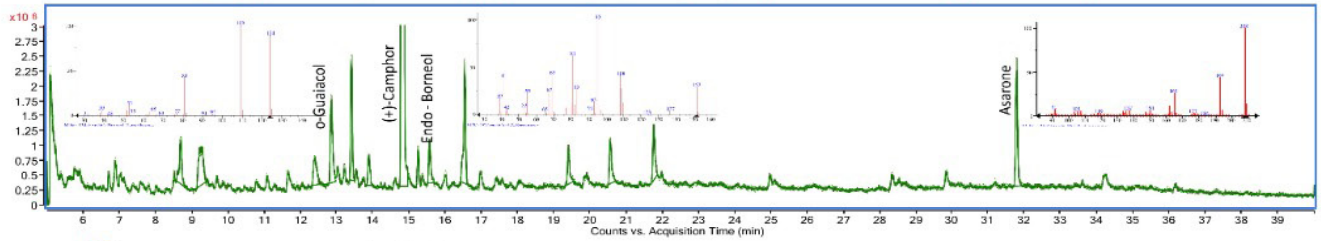

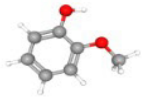

Guaiacol

Intramuscular Injection of Guaiacol-Iodine-Camphor Oil showed beneficial effects in Rheumatoid Arthritis.

Camphor

Camphor has shown tremendous protection from pain and Inflammation in experimental animals.

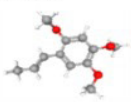

Asarone

α-asarone has anti-inflammatory, peripheral and central anti-nociceptive effects.

Borneol

Borneol possess significant central and peripheral antinociceptive activity; it has also anti-inflammatory activity.

Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phyto-constituents generated by Hawan of **Hridyeshti**

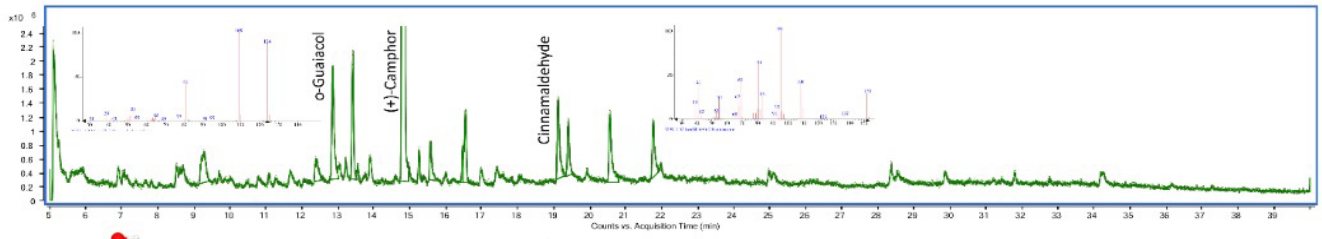

Guaiacol

Potential for guaiacol derivatives as therapeutics for Cardiovascular diseases by modulating lipid profiles, reducing atherosclerotic plaque burden, and subsequently optimizing cardiovascular functions has been established.

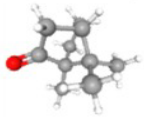

Camphor

The main action of camphor is on the circulatory system and it shows an inconstant stimulation of cardiac contraction and removal of arrhythmias.

Cinnamaldehyde

Cinnamaldehyde may be retards the progression of cardiac hypertrophy and fibrosis, probably via blocking extracellular signal-regulated kinase (ERK) signaling pathway.

Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phyto-constituents generated by Hawan of **Karkateshti**

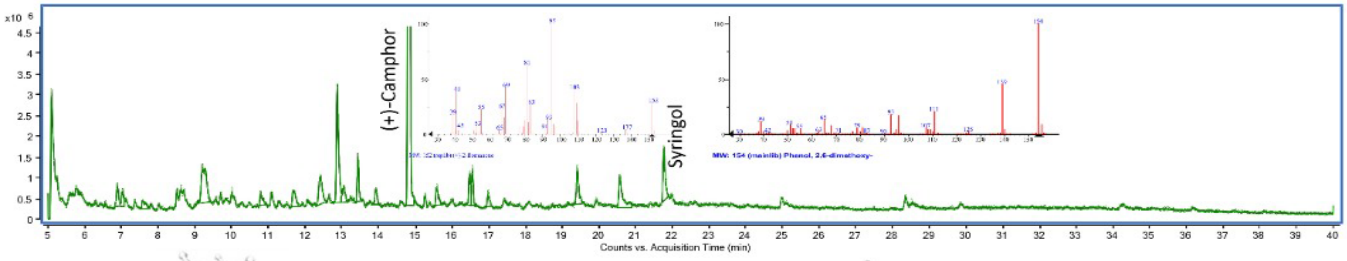

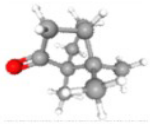

Camphor

Camphor has been found to be effective on the isogenic colon cancer cell lines.

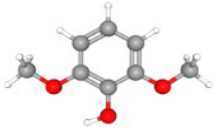

Syringol

Syringol showed potential anticancer activity in hepatocellular carcinoma cell line.

Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phyto-constituents generated by Hawan of **Santatyeshti**

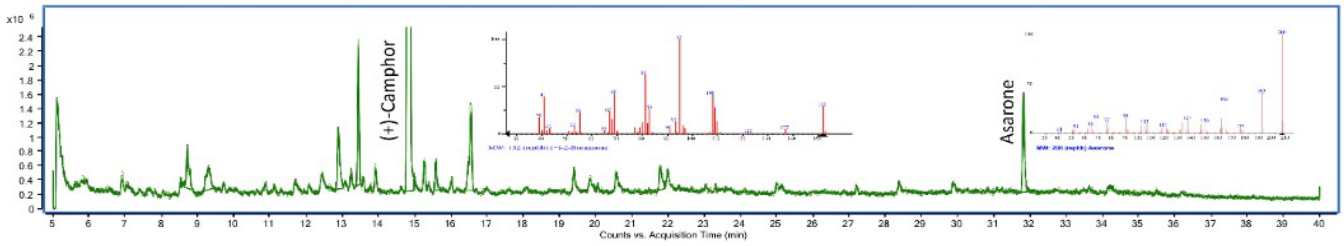

Camphor

Camphor enhanced the sexual desire and performance, which might be due to its effects on serum testosterone levels or modulations of sympathetic nervous system.

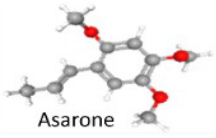

Asarone

Asarones are reported to increase the sexual performance and inhibit PDE-5 (phosphodiesterase type 5). Thus, beneficial for erectile dysfunction.

Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phyto-constituents generated by Hawan of **Praneshti**.

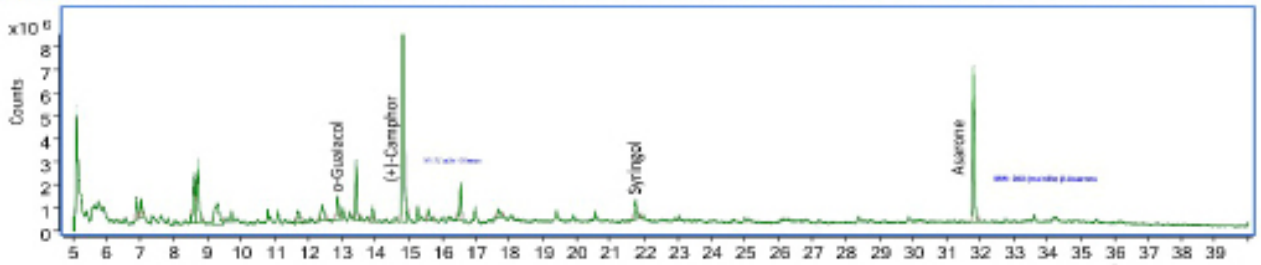

Camphor

and

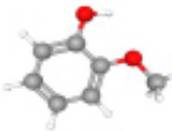

Guaiacol

Has potential to treat Rheumatoid arthritis

Sy

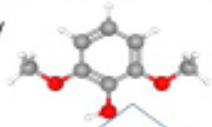

Potential against oxidative toxicity thus can be utilized against different Autoimmune diseases such as Rheumatism

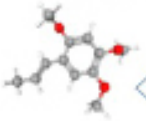

Asarone

Improves Cognitive Function of APP/PS1 Mice and Reducing Aβ 42, P-tau and Neuroinflammation , and Promoting Neuron Survival in the Hippocampus

For details about the study contact: Patanjali Research Institute

Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phytoconstituents generated by Hawan of **Cougheshti**.

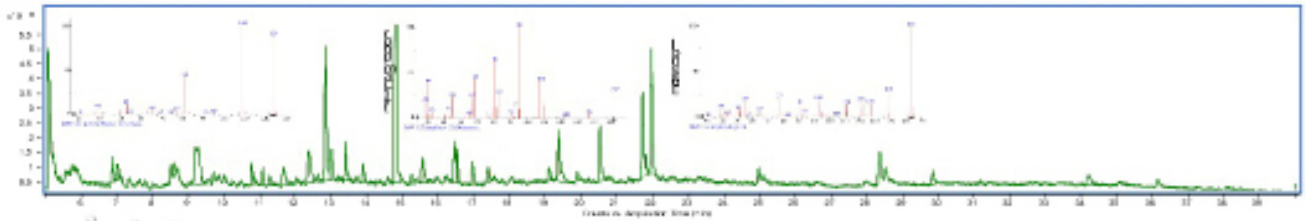

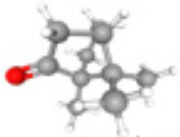

Camphor

Anti-allergic effect of camphor ovalbumin-induced asthma model. Camphor decreased numbers of inflammatory cells, especially eosinophils, and reduced the expression and secretion of Th2 cytokines, including IL-4 and IL-13, in lung tissues and bronchoalveolar lavage fluid.

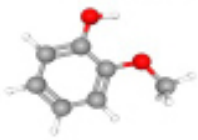

o-Guaiacol

Guaiacol is used as a reducing co-substrate for COX reactions. It is mainly used as expectorant, antiseptic. It is used as cough suppressant, Guaiacol is used as a reducing co-substrate for COX reactions. It is mainly used as expectorant, antiseptic. It is used as cough suppressant

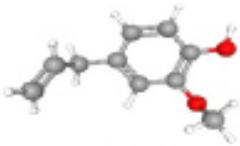

Eugenol

Antiasthmatic Effects of Eugenol has been established in a Mouse Model of Allergic asthama. By inhibiting OVA-induced increase in Raw and eosinophil count

Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phyto-constituents generated by Hawan of **Divyeshti**

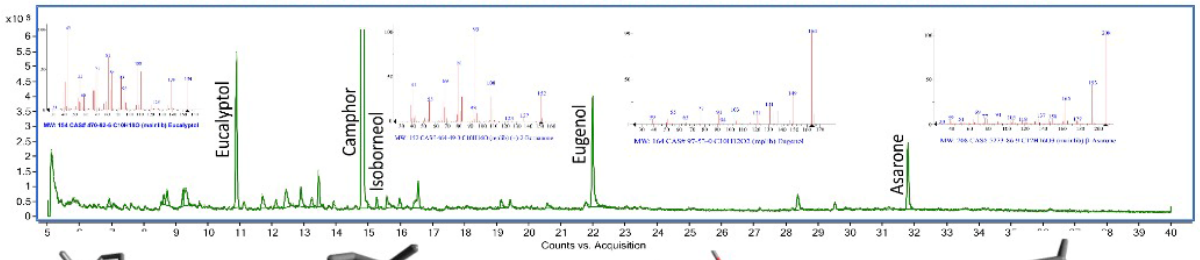

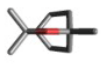

Eucalyptol

It show anxiolytic effects on rat models for anxiety.

Camphor

It has an antimicrobial, antiviral and antitussive.

Asarone

Antioxidant property of α-asarone was found to be effective against noise-stress-induced changes in different regions of rat brain.

Isoborneol

It show potent antiviral activity against herpes simplex virus type 1 (HSV-1)

Eugenol

It has anti stress activity by modulation of hypothalamic-pituitary-adrenal axis and brain monoaminergic systems in a rat model of stress.
It has antimicrobial activity against both planktonic and sessile cells belonging to food-decaying microorganisms and human pathogens.

Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phyto-constituents generated by Hawan of **Medheshti**

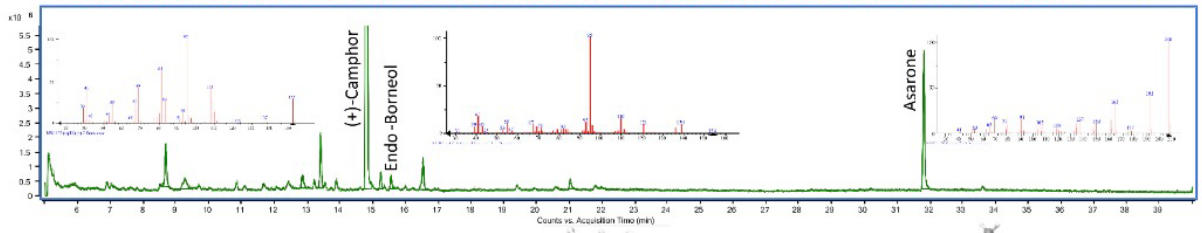

Borneol

Borneol, a bicyclic monoterpene, can easily cross the blood brain barrier and was found to possess antiepileptogenic effects in pentylenetetrazole-induced kindling in mice via gamma amino butyric acid (GABA) modulatory effect.

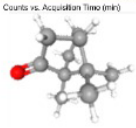

Camphor

Camphor promoted the recovery process from the psychobiological stress responses induced by mental stress testing (after speech & arithmetic tasks)

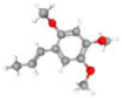

Asarone

α-asarone inhibits the activity of hippocampal neurons and produces **antiepileptic** effect in central nervous system through enhancing tonic GABAergic inhibition.

Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phyto-constituents generated by Hawan of **Guggul**

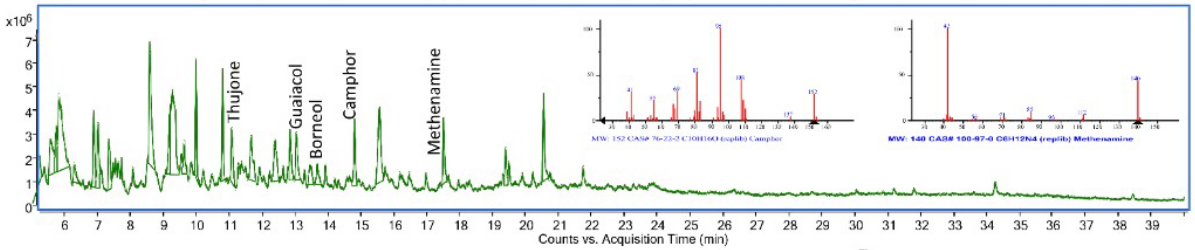

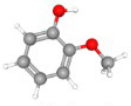

Guaiacol

Intramuscular Injection of Guaiacol-Iodine-Camphor Oil showed beneficial effects in Rheumatoid Arthritis.

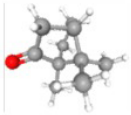

Camphor

Camphor has shown tremendous protection from pain and Inflammation in experimental animals. Camphor has been found to be effective on the isogenic colon cancer cell lines.

Borneol

Borneol, a bicyclic monoterpene, can easily cross the blood brain barrier and was found to possess antiepileptogenic effects in pentylenetetrazole-induced kindling in mice via gamma amino butyric acid (GABA) modulatory effect.

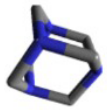

Methenamine

Methenamine is a heterocyclic organic compound with antibiotic activity. Methenamine has unique antiseptic property and is used as urinary antibacterial agent.

Thujone

Thujone, was found to correct the lipid profile (cholesterol and triglycerides).

Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phyto-constituents generated by Hawan of Cow Ghee

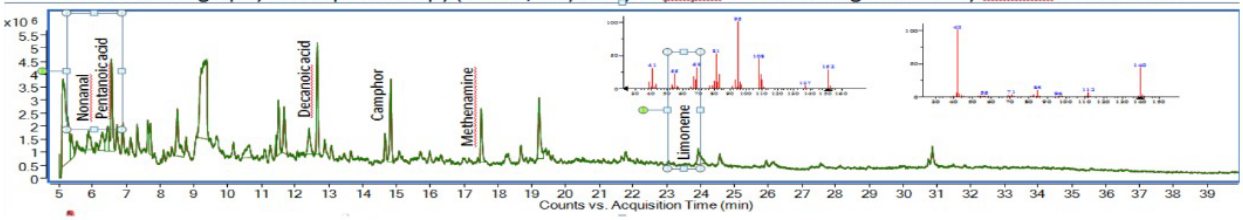

Counts vs. Acquisition Time (min)

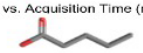

Pentanoic acid

Pentanoic acid also known as Valeric acid effectively lowered arterial blood pressure in rats by its vasodilatory activity.

Camphor

Camphor has shown tremendous protection from pain and Inflammation in experimental animals.
Camphor has been found to be effective on the isogenic colon cancer cell lines .

Decanoic acid

Decanoic acid showed antiseizure potential through direct AMPA receptor inhibition.

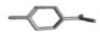

Limonene

Anxiolytic-like effects of (+)-limonene is well established in animal model of anxiety.

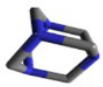

Methenamine

Methenamine is a heterocyclic organic compound with antibiotic activity. Methenamine has unique antiseptic property and is used as urinary antibacterial agent.

Nonanal

Nonanal, an aldehyde showed significant antidiarrhoeal activity in animal model of mice.

Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phyto-constituents generated by Hawan of Madhuishti

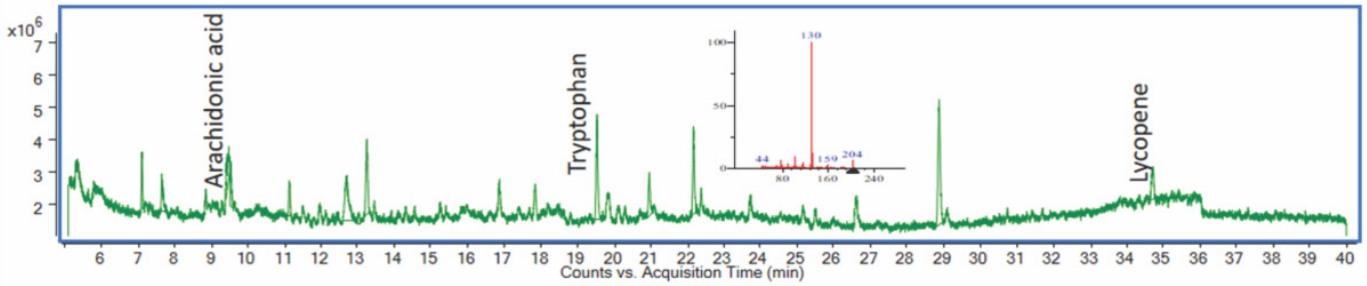

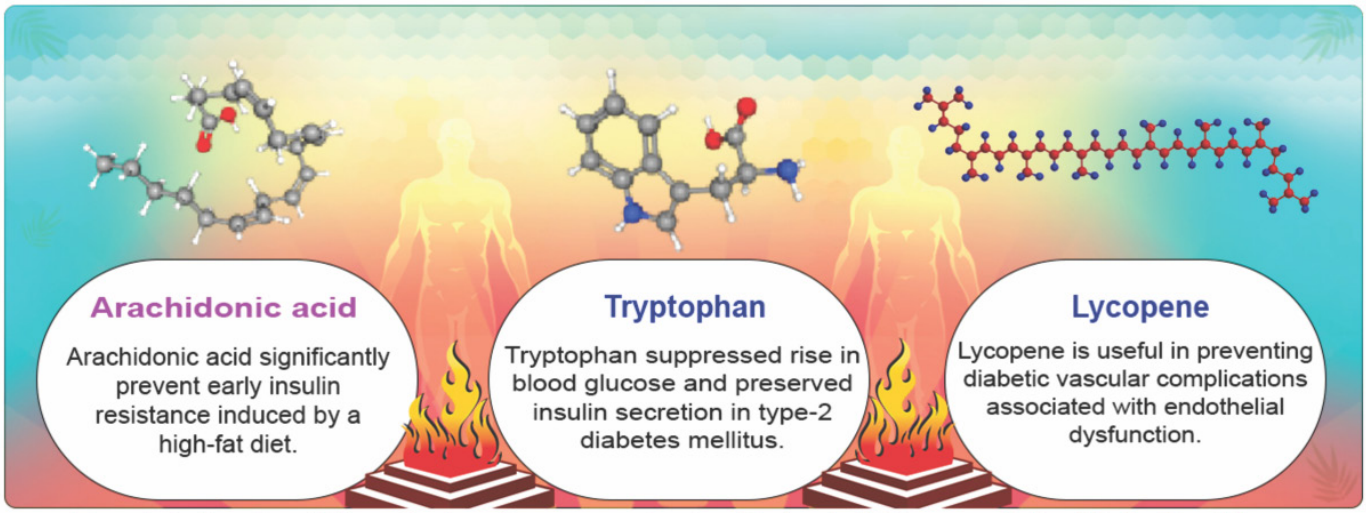

Arachidonic acid

Arachidonic acid significantly prevent early insulin resistance induced by a high-fat diet.

Tryptophan

Tryptophan suppressed rise in blood glucose and preserved insulin secretion in type-2 diabetes mellitus.

Lycopene

Lycopene is useful in preventing diabetic vascular complications associated with endothelial dysfunction.

For details about the study, please contact :- Patanjali Research Institute,Haridwar

Gas Chromatography Mass spectroscopy (GC MS/MS) study of phyto-constituents generated by Hawan of Pitteshti

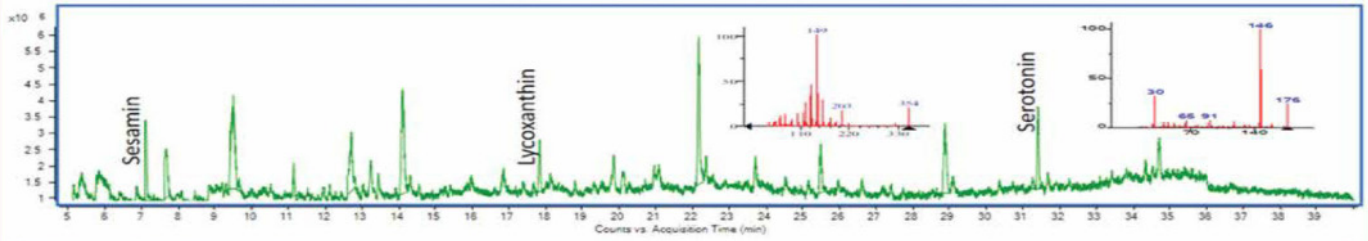

Lycoxanthin

Lycoxanthin showed potent antiulcerative potential in experimental animal models.

Serotonin

Serotonin plays an important role in immune cell function and angiogenesis during gut inflammation.

Sesamin

Sesamin have an ability to improve liver function.

For details about the study, please contact :- Patanjali Research Institute,Haridwar

आयुर्वेदिक धूम चिकित्सा

आयुर्वेद में औषधियों के धूम से कई प्रकार के रोगों को दूर करने का विधान है। यहाँ तक कि स्वस्थ व्यक्ति को भी अपने स्वास्थ्य रक्षण व संवर्धन के लिए प्रतिदिन औषधीय द्रव्यों से निर्मित धूम का सेवन करना चाहिए।

धूमपान करने से सिर का भारीपन, सिरदर्द, पीनस (sinus), आधाशीशी का दर्द, कर्णशूल, नेत्रशूल, खाँसी, हिचकी, दमा, गला-घुटना, दाँतों की दुर्बलता, कान व आँख से दोष जन्य पानी बहना, नाक से दुर्गन्ध, दन्त शूल, अरुचि, हनुग्रह (जबड़े का बैठ जाना तथा कम खुलना), मन्यास्तम्भ (Cervical spondylitis) जिसमें गर्दन टेढ़ी हो जाती है, कण्डू (खुजली), कृमि, चेहरे का पीला पड़ना, मुख से कफ निकलना, स्वरभेद (गला-बैठना), गलशुण्डिका (Tonsillitis), उपजिह्विका (जिह्वा के पास एक गाँठ), सिर के बाल झड़ना, पीला पड़ना तथा गिरना, छींक आना, अतितन्द्रा, जड़ता, अतिनिद्रा आदि रोग शान्त होते हैं तथा श्रोत्र-त्वचा- चक्षु-जिह्वा-घ्राण तथा कण्ठ-स्वर का बल बढ़ जाता है। जत्रु (गले के नीचे गोल हड्डी) के ऊपरी भाग में होने वाले सभी रोग अर्थात् विशेषकर शिरः प्रदेश में होने वाले वातकफजन्य रोग अधिक प्रबल नहीं होते।

धूमोपयोगात्पुरुषः प्रसन्नेन्द्रियवाङ्मनः।

दृढकेशद्विजश्मश्रुः सुगंधिवदनो भवेत्।। -(बृ.नि.रत्न.धूमपान.- पृ. 1073)[1]

धूम के उपयोग द्वारा मनुष्य चक्षुरादि इन्द्रिय, वाणी तथा अंतःकरण से प्रसन्न रहता है; केश, दाँत और दाढ़ी मजबूत होते हैं तथा मुख सुगंधित रहता है।

मनस्तापं रजः क्रोधं धूमपाने निवारयेत्। -(बृ.नि.रत्न.धूमपान.- पृ. 1076)[2]

धूमपान करने से मन का संताप, रजोगुण तथा क्रोध दूर होता है।

अन्येऽपि धूमा गेहेषु कर्त्तव्या रोगशान्तये।

मयूरपिच्छं निम्बस्य पत्राणि बृहतीफलम्।।

मरिचं हिङ्गु मांसी च बीजं कार्पाससम्भवम्।

गजदन्तश्च तच्चूर्णं किञ्चिद्घृतविमिश्रितम्।

गेहेषु धूपनं दत्तं सर्वान्बालग्रहाञ्जयेत्।

पिशाचान्राक्षसाञ्जित्वा सर्वज्वरहरं भवेत्। -(शारङ्गधर सं. उ.ख. 21-24)[3]

रोगों के शमनार्थ घर में धूप देना चाहिए। इसके लिए मोर का पंख, नीम पत्र, बड़ी कटेरी का फल, काली मिर्च, हींग, जटामांसी, कपास ये सब समान मात्रा में लेकर के चूर्ण बनाते हैं और घी मिलाकर गोला-सा बना लेते हैं। इसको घर में जलाने से बच्चों के सभी प्रकार के लगने वाले ग्रह तथा सूक्ष्म जीवों (spirits, germs & bacteria) से होने वाले सभी प्रकार के उपद्रव-ज्वर आदि दूर हो जाते हैं।

- शार्ङ्गधर संहिता में धूम के छः प्रकार बताये हैं-

धूमस्तु षड्विधः प्रोक्तः शमनो बृंहणस्तथा।

रेचनः कासहा चैव वामनो व्रणधूपनः।। -(शा.सं. उ.ख.9.1)[4]

1. शमन (Palliative)- यह दुष्ट दोषों को बाहर न निकालकर अन्दर ही शान्त कर देता है।

1. Vaisya, Saligram (2007). Bṛhannighaṇṭuratnākara. Mumbai (India): Khemraj Shrikrishnadass Prakashan. Pg. 1073
2. Vaisya, Saligram (2007). Bṛhannighaṇṭuratnākara. Mumbai (India): Khemraj Shrikrishnadass Prakashan. Pg. 1076
3. Parashar, Radha Krishana (1961). Śārañgadhara-Saṁhitā. First Edition. Nagpur (India): Shri Vaidyanath Āyurveda Bhawan Private Limited. Uttara Khand 21:24;
4. Parashar, Radha Krishana (1961). Śārañgadhara-Saṁhitā. First Edition. Nagpur (India): Shri Vaidyanath Āyurveda Bhawan Private Limited. Uttara Khand 09:01;

2. बृंहण (Strengthening)- यह धातुओं (रस रक्तादि) की पुष्टि करता है।
3. रेचन (Purgative)- यह दुष्ट दोषों को शरीर से बाहर निकाल देता है।
4. कासहा (Antitussive)- यह खाँसी को दूर करता है।
5. वामन (Emetic)- यह वमन कराता है।
6. व्रण धूपन (Fumigation of ulcers)- यह व्रण की कीटाणुओं से रक्षा करता है और शीघ्र ही व्रण के रोपण के लिए प्रयुक्त होता है।

- चरक संहिता के सद्वृत्त में तीन प्रकार के धूमप्रयोग का उपदेश है-
  प्रायोगिक, स्नैहिक, शिरोवैरेचनिक।

1. स्नैहिक (बृहण/मृदु) वात दोष में-

अगर, गुग्गुलु, शल्लकी, शैलेयक (छरीला), नलद, ह्रीबेर (सुगंधबाला), हरेणु (निर्गुण्डी), उशीर (खस), मुस्ता (नागरमोथा), वरांग, श्रीवेष्टक (चीड़ के गोंद), स्थौणेयक (थुनेर), परिपेलव, ऐलवालुक, कुन्दरु, सर्जरस, मुलेठी, फलसार, मोम (मधुमक्खी का छत्ता), मधूक (महुए का पुष्प),बिल्वफल की मज्जा, जौ, तिल, माष, द्राक्षा (मुनक्का), वसा, केसर, घी ये स्नैहिक धूम के लिए उपयोगी हैं।

2. प्रायोगिक (शमन/मध्यम) वात-कफ दोष में-

मुलेठी, पद्माख, मंजीठ, सारिवा, मुस्ता (नागरमोथा), पुन्नाग (नागकेसर), तमाल (तेजपत्र), पृथ्वीका (बड़ी इलायची), हरेणु (निर्गुण्डी), लाक्षा, शल्लकी, शर्करा, मदनक (मैनफल), मरूबक (मरवा), बरगद, पिप्पली, पिलखन, गूलर की छाल, पद्म, उत्पल और सर्वगन्ध वाले द्रव्य प्रायोगिक धूम्रपान में उपयोगी हैं, कुष्ठ और तगर को छोड़कर।

3. शिरोवैरेचनिक (शोधन/तीक्ष्ण) कफ दोष में-

ज्योतिष्मती, निशा (हल्दी), दशमूल, मनोह्वा (मनःशिला), अलम् (हरिताल), लाक्षा, श्वेता (कटभी), त्रिफला, कुष्ठ, तगर, कोल और शिरोविरेचन-गण की औषधियाँ तीक्ष्ण (वैरेचनिक) धूमपान के द्रव्य हैं।

व्याधि के अनुसार धूपन

1. वस्त्रधूपन एवं साँप कृम्यादि का विनाश-

- **सर्षपारिष्टपत्राभ्यां सर्पिषा लवणेन च।**
  द्विरह्नः कारयेद् धूपं दशरात्रमतन्द्रितः॥ -(सु.सं.सू. स्थान 19.28)[1]

सरसों, नीम पत्र, घृत और नमक इनके द्वारा दिन में दो बार दस दिन तक निरन्तरतापूर्वक धूनी देनी चाहिए। प्राचीन विद्वानों ने घाव को भरने या सुखाने के लिये शय्या, वस्त्र, भवन आदि को प्रदूषण एवं जीवाणुरहित करने के लिये धूपन के लाभ बताये हैं।

- **शिखिपिच्छं बलाकास्थि सर्षपाश्चन्दनं घृतम्।**
  धूपो विषघ्नः शयनवसनासनगेहगः॥ -(अष्टाङ्गसंग्रह 8.119)[2]

मोर का पंख, सरसों, चन्दन, घी इनको कूटकर धुंआ देने से बिस्तर, आसन, वस्त्र एवं गृह में स्थित विषैले तत्त्वों का नाश होता है।

- वस्त्रों (बिस्तर, चादर और ओढ़ना) के शुद्धिकरण के लिए धूपन योग्य द्रव्य जौ, सरसों, हींग, गुग्गुल, वच, ब्राह्मी,

1. Sharma,Anant Ram (2001). Suśruta Saṁhitā Vol.I. First Edition. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Sūtra Sthāna 19:28,
2. Gupta,Atrideva (2002).Aṣṭāñga Saṁgraḥa. Varanasi (India): Krishna DasAcademy.

सफेद दूब, जटामांसी, लाख, अशोक, कुटकी, अपामार्ग, नीम आदि औषधियों का धूपन देने से वस्त्र शुद्ध व सुगन्धित हो जाते हैं।

- लाख, खस, तेजपत्ता, गुग्गुल, भिलावा, अर्जुन पुष्प, राल, श्वेत अपराजिता इनको समभाग में लेकर धूपन करने से साँप, चूहा आदि व कपड़े में रहने वाले छोटे कृमि नष्ट होते हैं।

2. विषम ज्वर (Malaria/Typhoid)–

- **पलङ्कषा निम्बपत्रं वचा कुष्ठं हरीतकी।**
  सर्षपाः सयवाः सर्पिर्धूपनं ज्वरनाशनम्॥ –(भैषज्यरत्नावली 411, 125)[1]
  गुग्गुल, नीम की पत्ती, वच, कूठ, हरड़, सरसों, जौ और घी एकत्र मिलाकर अग्नि में डालकर धुँआ लेने से विषम ज्वर नष्ट होता है।
- **वचा हरीतकीसर्पिर्धूपःस्याद्विषमज्वरे।** –(बृ.नि.रत्न. विषमज्वर. पृ. 1452)[2]
  वच, हरड़ और घी इनकी धूनी से विषमज्वर का नाश होता है।

3. ज्वर (Fever)–

- **जपहोमप्रदानेन वेदानां श्रवणेन च।**
  ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च॥ –(चं.सं.चि. स्थानम्–3.314)[3]
  जप, हवन, दान, वेदों का श्रवण और सज्जन–पुरुषों के दर्शन से रोगी मनुष्य शीघ्र ही ज्वर–मुक्त हो जाता है।
- वच, कूठ, गुग्गुल, नीमपत्र और शहद इनकी धूनी देने से सभी प्रकार के ज्वरों का नाश होता है।
- **मसूरातुषकेर्धूपः सर्वज्वरगदापहः।** –(बृ.नि.रत्न. विषमज्वर. पृ. 1452)[4]
  मसूर की भूसी की धूनी देने से सभी प्रकार के ज्वर दूर होते हैं।
- **पुरध्यामवचासर्जनिंबार्कोऽगरूदारुभिः।**
  सर्वज्वरहरो धूपः श्रेष्ठो यमपराजितः॥ –(बृ.नि.रत्न. विषमज्वर. पृ. 1452)[5]
  गुग्गल, वच, राल, नीम पत्र, अगर और दारुहल्दी– इनकी धूनी सभी प्रकार के ज्वरों को नष्ट करती है, इसे अपराजित धूम कहते हैं।

4. कुष्ठ (Skin Diseases)–

- **वैरेचनिकेर्धूमैः श्लोकस्थानेरितैः प्रशाम्यन्ति।**
  कृमयः कुष्ठकिलासाः प्रयोजितैरुत्तमाङ्गस्थाः॥ –(चं.सं.चि. स्थानम्–7.49)[6]
  अपराजिता, मालकांगनी, हरताल, मैनसिल, अगर, तेजपत्र आदि गन्धवर्ग की औषधियों के धूम से शिर में होने वाले कृमि, कुष्ठ और किलास (श्वेत कुष्ठ) नष्ट हो जाते हैं।

5. उन्माद (Psychosis)–

- अपराजिता, मालकाङ्गनी, हरताल, मैनसिल, अगर, तेजपत्र आदि गन्धवर्ग की औषधियों के धूम से उन्माद ठीक होता है। (चं.सं.चि. स्थानम्–9.73)[7]

1. Das, Govind (2005). Bhaiṣajyaratnāvalī. Eighteenth Edition. New Delhi (India): Chaukhambha Publications.
2. Vaisya, Saligram (2007). Bṛhannighaṇṭuratnākara.Vol. Mumbai (India): Khemraj Shrikrishnadass Prakashan. Pg. 1452
3. Tripathi, Brahmanand & Pandey, Ganga Sahay (2005). Caraka-Saṁhitā Vol.II. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Cikitsā Sthāna 3:314.
4. Vaisya, Saligram (2007). Bṛhannighaṇṭuratnākara. Mumbai (India): Khemraj Shrikrishnadass Prakashan. Pg. 1452
5. Vaisya, Saligram (2007). Bṛhannighaṇṭuratnākara. Mumbai (India): Khemraj Shrikrishnadass Prakashan. Pg. 1452
6. Tripathi, Brahmanand & Pandey, Ganga Sahay (2005). Caraka-Saṁhitā Vol.II. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Cikitsā Sthāna 7:49.
7. Tripathi, Brahmanand & Pandey, Ganga Sahay (2005). Caraka-Saṁhitā Vol.II. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Cikitsā Sthāna 9:73.

· दैवव्यपाश्रय उपचार में यज्ञ, हवन आदि के द्वारा उन्माद की चिकित्सा का विधान है। (च.चि.–9.90–93)[1]

6. अपस्मार/मिर्गी (Epilepsy)–

• पिप्पली, सैन्धानमक, हींग, हींगपत्र, क्षीरकाकोली, पीली सरसों, बकायन छाल, रक्त चन्दन इनका बारीक चूर्ण कर अपस्मार रोगी को लेप करे व इनसे धूपन करे। (चं.सं.चि. स्थानम्–10.38)[2]

7. अर्श/बवासीर (Piles)–

· **अश्वगंधोऽथ निर्गुंडी बृहतीपिप्पलीफलम्।**
धूपो यं स्पर्शमात्रेण ह्यर्शसां शमने ह्यलम्॥ –(बृ.नि.रत्न. विषमज्वर. पृ. 1706)[3]
अश्वगंधा, निर्गुंडी, कटेरी, पिप्पली इनकी धूनी बवासीर में हितकारी है।

· अर्क मूल तथा घी की धूप गुदा में देने से हितकारी होती है।

· **रालचूर्णस्य तैलेन सार्षपेण युतस्य च।**
धूपदानेन युक्त्यार्शो रक्तस्रावो निवर्तते॥ –(बृ.नि.रत्न. विषमज्वर. पृ. 1711)[4]
सार (राल) का चूर्ण तथा सरसों एकत्र कर धूनी दें तो बवासीर और रुधिर का स्राव बंद होता है।

· यदि बवासीर से ग्रस्त रोगी की गुदा से रुधिर अधिक निकलता हो, तो कपूर की धूनी देने से रुधिर गिरना बंद हो जाता है।

• **यवास्सिद्धार्थकाश्चैव भल्लातकमथो वसा।**
धूपनं चन्दनं कुष्ठं शिंशपासार एव च॥
गवां शकृच्च वाराहं पत्रे वारिशशिग्रजे।
घृतमिश्रं प्रंशसन्ति श्रेष्ठं धूपनमर्शसाम्॥ –(भेल संहिता. 84.85, पृ. 411)[5]
यव, सरसों, भिलावा फल, वसा, चन्दन, कूठ, शीशम की लकड़ी, गाय का गोबर तथा राल धूप के साथ रीठा एवं सहिजन के पत्ते के साथ घी मिलाकर धूपन करना, अर्श–नाशार्थ (बवासीर) श्रेष्ठ फलप्रद कहा गया है।

8. हिक्का/हिचकी (Hiccup)–

• राल व मैनसिल का धूम देने से हिक्का नष्ट होती है। (चं.सं.चि. स्थानम्–17.77–80)[6]

· **माषचूर्णभवो धूमो हिक्कां हन्ति न संशयः।** –(भैषज्यरत्नावली. 8. पृ. 458)[7] माष (उड़द) चूर्ण का धूम ग्रहण करने से हिक्का (हिचकी) मिट जाती है।

9. क्षयज कास (T.B., Cough)–

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथोऽश्नुते।

---

1. Tripathi, Brahmanand & Pandey, Ganga Sahay (2005). Caraka-Saṁhitā Vol.II. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Cikitsā Sthāna 9:90-93.
2. Tripathi, Brahmanand & Pandey, Ganga Sahay (2005). Caraka-Saṁhitā Vol.II. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Cikitsā Sthāna 10:38.
3. Vaisya, Saligram (2007). Bṛhannighaṇṭuratnākara. Mumbai (India): Khemraj Shrikrishnadass Prakashan. Pg. 1706
4. Vaisya, Saligram (2007). Bṛhannighaṇṭuratnākara. Mumbai (India): Khemraj Shrikrishnadass Prakashan. Pg. 1711
5. Krishnamurthy, K.H. (2000). Bhela-Saṁhitā. First Edition. Varanasi (India): Chaukhambha Visvabharati. Bhela Saṁhitā 84:85.
6. Tripathi, Brahmanand & Pandey, Ganga Sahay (2005). Caraka-Saṁhitā Vol.II. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Cikitsā Sthāna 17:77-80.
7. Das, Govind (2005). Bhaiṣajyaratnāvalī. Eighteenth Edition. New Delhi (India): Chaukhambha Publications.

यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धोऽश्नुते।[1]

जिस व्यक्ति को गुग्गुल औषधी की सुगन्ध प्राप्त होती है, उसे न टी.बी. रोग बाधित करता है और न ही श्राप व मानसिक रोग आदि।

- मैनसिल, हरताल, मुलेठी, जटामांसी, नागरमोथा एवं हिंगोट फल आदि औषधियों का धूम लेने से कास रोग ठीक होता है।
- भारङ्गी, वचा, हिङ्गु, खाण्ड एवं घृत के धूपन का प्रयोग लाभप्रद है।
- **अर्कमूलशिलैस्तुल्यं ततोऽर्धेन कटुत्रिकम्।**
  चूर्णितं वह्निनिक्षिप्तं पिबेत् धूमं तु योगवित्॥
  भक्षयेदथ तांबूलं पिबेद्दुग्धमथापि वा।
  कासः पंचविधो याति शांतिमाशु न संशयः॥ -(बृ.नि.रत्न. कासकर्मविपाकः पृ. 239)[2]

  अर्क मूल और मैनसिल समान मात्रा में तथा इनसे आधी मात्रा में सोंठ, मरिच (कालीमिर्च) व पिप्पली- इनके चूर्ण को अग्नि पर डाल के धुँआ ले और दूध पीवें तो पाँच प्रकार की खाँसी नष्ट होती, इसमें सन्देह नहीं है।

10. कफज प्रतिश्याय/जुकाम (Common Cold)–

- मैनसिल, वच, सौंठ, काली मरिच, पिप्पली, वायविडंग, हींग, गुग्गुल, आँवला, हरड़, बहेड़ा आदि औषधियों का धूम लेने से ठीक हो जाता है।-(चं.सं.चि. स्थानम्-26.149-152)[3]

11. कफज तिमिर (Conjunctivitis)–

- वायविंडग, अपामार्ग, हिंगोट की छाल एवं खस के धूम से नेत्र रोग ठीक होता है तथा मधु व सहिजन बीज से भी ठीक होता है।-(सु.सं.उ.तंत्र 17.42)[4]

12. शिरो रोग (Headache)–

- शिरोगत मल-द्रव्यों के निष्कासन तथा मस्तिष्क के पोषण में हिङ्गोट-छाल के चूर्ण का धूम उपयोगी है। (सु.सं.उ.तंत्र 26.21)[5]
- वायविडङ्ग आदि औषधियों को अग्नि में डालकर धूम देने से कृमि बाहर निकल कर गिर पड़ते हैं। (सु.सं. उ.तंत्र 26.29)[6]

13. शिशुनैरोग्य हेतु धूपन (Child Health)–

- देवदारु, वचा, हींग, कुष्ठ, कदम्बपुष्प, छोटी इलायची और हरेणुका (निर्गुण्डी) इनका चूर्ण कर घृत में मिलाकर के निर्धूम अग्नि पर डालकर उत्पन्न धूम से बच्चे को धूपित करना चाहिए। (सु.सं.उ.तंत्र 32.6।[7]
- वचा, राल, कुष्ठ तथा घृत इन्हें मिला के अङ्गारे पर रखकर धूनी देवें। (सु.सं.उ.तंत्र 35.6)[8]
- श्वेत सरसों, वचा, हींग, कूठ, अक्षत (चावल या जौ), भिलावा, अजमोदा इनके चूर्ण को अङ्गारों पर डालकर

---

1. (अथर्ववेद-19.38.1)
2. Vaisya, Saligram (2007). Bṛhannighaṇṭuratnākara.Vol. Mumbai (India): Khemraj Shrikrishnadass Prakashan. Pg. 239
3. Tripathi, Brahmanand & Pandey, Ganga Sahay (2005). Caraka-Saṁhitā Vol.II. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Cikitsā Sthāna 26:149-152.
4. Sharma,Anant Ram (2001). Suśruta Saṁhitā Vol.III. First Edition. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Uttara Tantra 17:42
5. Sharma,Anant Ram (2001). Suśruta Saṁhitā Vol.III. First Edition. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Uttara Tantra 26:21
6. Sharma,Anant Ram (2001). Suśruta Saṁhitā Vol.III. First Edition. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Uttara Tantra 26:29
7. Sharma,Anant Ram (2001). Suśruta Saṁhitā Vol.III. First Edition. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Uttara Tantra 32:6
8. Sharma,Anant Ram (2001). Suśruta Saṁhitā Vol.III. First Edition. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Uttara Tantra 35:6

धूनी देवें। -(सु.सं.उ.तंत्र 37.7)[1]

14. श्वासरोग (Asthma)–

- मैनसील, देवदारु, हरिद्रा, तेजपत्र, गुग्गुल, लाक्षा, एरण्डमूल इन सबको समान मात्रा में लेकर धूपन लेना चाहिए। (सु.सं.उ.तंत्र 51.50)[2]
- घृत, जौ, मोम (मधुमक्खी का छत्ता) और राल इन्हें मिलाकर अथवा इन्हें पृथक्-पृथक् धूम के लिए प्रयोग करें।
- सिंहलक, शल्लकी (गोंद), गुग्गुल, पद्माख (पद्मगंधि) इनके चूर्ण का धूम देना चाहिए। -(सु.सं.उ.तंत्र 52.51-52)[3]

15. कृमि रोग (Worm Infestation)–

- **विशालायाः फलं पक्वं तप्तलोहोपरि क्षिपेत्।**
  तद्धूमो दंतलग्नश्चेत् कीटानां पातनः परः।। -(बृ.नि.रत्न. कृमिरोगाधिकारः पृ. 63)[4]
  इन्द्रायण के पके फलों को गर्म तवे पर डालें, इसके धुंए से दाँतों में जो कीड़ा होता है, वह तत्काल मर जाता है। यह प्रयोग परमोत्तम है।
- **गुग्गुलुं समधुघृतं तेन धूपेन धूपयेत्।**
  मन्त्रेण तेन हारीत तर्जयेद् ग्रहपीडितम्।। -(हारीत.सं. 3.55.26)
  गुग्गुल में मधु और घी मिला कर धूप बनाकर ग्रह से पीड़ित रोगी को ताड़ित करना चाहिए।
- **गुग्गुलं धूपकामार्थं प्रसिद्धं मंगलप्रदम्।**
  बाह्याभ्यान्तरदेहस्य शोधनार्थं प्रकल्पयेत्।।
  स्वादुत्वान्मरुतं निहन्ति च कफं तिक्तात्कषायात्पुनः।
  पित्तं स्निग्धतया ददाति च बलं वह्निं कटुत्वात्पुनः।।
  तद् युक्त्या विनिहन्ति पाण्डूदरानार्शःस्तम्भशूलामयांश्च।
  वातास्रकृमिकुष्ठमेहविषहृन्मेदोऽम्लपित्तोर्ध्वजान्।। -(चिकित्सार्णव.)[5]

गुग्गुल धूपन कर्म के लिए प्रसिद्ध है तथा मंगलदायक होता है। वह शरीर के वाह्य तथा आभ्यन्तर शोधन के लिए उपयोग में आता है। गुग्गुल मधुर रस के कारण वातनाशक होता है, तिक्त रस के कारण कफनाशक तथा कषाय रस के कारण पित्तनाशक होता है। वह स्निग्ध गुण के कारण बलदायक तथा कटु रस के कारण अग्निदीपक होता है। युक्तिपूर्वक प्रयोग करने से वह पाण्डु, उदर रोग, अर्श, स्तम्भ, शूल, वातरक्त, कृमिरोग, कुष्ठरोग, प्रमेह, विष, हृदयरोग, मेदोरोग, अम्लपित्त तथा ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों का विनाश करता है।

- **निम्बपत्रवचाहिंगुसर्पनिर्मोकसर्षपैः।**
  डाकिन्यादिहरो धूपो भूतोन्मादविनाशनः।। -(चिकित्सार्णव. पृ. 70/373)[6]

नीम की पत्ती, वचा, हींग और सरसों- इन्हें समभाग में लेकर धूप देने से दोष और भूतोन्माद नष्ट हो जाता है।

- **श्रीवासगुग्गुल्वगुरुशालनिर्यासधूपिताः।**

1. Sharma,Anant Ram (2001). Suśruta Saṁhitā Vol.III. First Edition. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Uttara Tantra 37:7
2. Sharma,Anant Ram (2001). Suśruta Saṁhitā Vol.III. First Edition. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Uttara Tantra 51:50
3. Sharma,Anant Ram (2001). Suśruta Saṁhitā Vol.III. First Edition. Varanasi (India): Chaukhambha Surbharati Prakashan. Uttara Tantra 52:51-52
4. Vaisya, Saligram (2007). Bṛhannighaṇṭuratnākara. Mumbai (India): Khemraj Shrikrishnadass Prakashan. Pg. 63
5. Lwahekar, G.S (2009). Cikitsārṇavah. First Edition. New Delhi (India): Kendriya Āyurveda & SiddhaAnusandhan Parisad Jawahar Lal Nehru Bhartiya Chiktsa & HomeopathyAnusandhan Bhawan. Pg. 331
6. Lwahekar, G.S (2009). Cikitsārṇavah. First Edition. New Delhi (India): Kendriya Āyurveda & SiddhaAnusandhan Parisad Jawahar Lal Nehru Bhartiya Chiktsa & HomeopathyAnusandhan Bhawan. Pg. 70:373

कठिनत्वं व्रणं यान्ति नश्यन्त्यास्रववेदनाः॥ -(भैषज्यरत्नावली. 47.823)[1]

गन्धविरोजा, गुग्गुल, अगरु एवं राल- इन चारों द्रव्यों को चूर्ण कर धूपन देने से दूषित व्रण का स्राव, वेदना एवं कृमियाँ नष्ट हो जाती हैं। साथ ही जो व्रण दीर्घ काल के कारण कठिन हो जाते हैं, वे भी इस धूपन से नष्ट हो जाते हैं।

· **आरोग्यकामो दूर्वाभिर्गुरूत्पाते स एव हि।**

सौभाग्येच्छुर्गुग्गुलुना विद्यार्थी पायसेन (च)॥ -(अग्निपुराण 215.28)

आरोग्य का इच्छुक और महान् उत्पात से आतङ्कित मनुष्य को दूर्वा का, सौभाग्याभिलाषी को गुग्गुल का और विद्या के इच्छुक को खीर का हवन करना चाहिये।

· **जपन्निन्द्रमिति स्नातो वैश्वदेवं तु सप्तकम्।**

छित्त्वा सर्वान्मृत्युपाशाञ्जीवेद्रोगविवर्जितः। -(अग्निपुराण 259.27-29)

गूलर की घृतयुक्त समिधाओं का हवन करने से मनुष्य समस्त पाशों का छेदन करके रोगहीन जीवन बिताता है।

· **दूर्वा व्याधिविनाशिनी होमयेत्॥** -(अग्निपुराण 81.52)

दूर्वा का हवन व्याधि (बीमारियों) का विनाश करने वाला है।

· **गायत्र्या हावयेद्वह्नौ दूर्वां त्रिमधुराप्लुताम्॥** -(अग्निपुराण 280.5)

त्रिमधुर (शर्करा, गुड़, मधु) में डुबायी हुई दूर्वा का गायत्री-मन्त्र से हवन करने पर मनुष्य सब रोगों से छूट जाता है।

· **लक्षं ग्रहादिनाशः स्यादुत्पातं तिलहोमतः।**

दिव्ये लक्षं तदर्धेन व्योमजोत्पातनाशनम्॥

घृतेन लक्षपातेन उत्पाते भूमिजे हितम्।

घृतगुग्गुलहोमे च सर्वोत्पातादिमर्दनम्॥ (अग्निपुराण 321.5,6)

तिल के हवन करने से ग्रह आदि उत्पातों का विनाश होता है। एक लक्ष (लाख) जप-हवन से द्युस्थ उत्पात का, आधे लक्ष जप-हवन से आकाशज उत्पात का तथा घी की एक लाख आहुति देने से भूमिज उत्पात का निवारण और घृत मिश्रित गुग्गुल के हवन से सम्पूर्ण उत्पात आदि का शमन हो जाता है।

· **दूर्वाक्षताज्यहोमेन व्याधयोऽथ घृतेन च।**

सहस्रेण तु दुःस्वप्ना विनश्यन्ति न संशयः॥ -(अग्निपुराण 321.7,8)

दूर्वा, अक्षत तथा घी की आहुति देने से सारे रोग दूर होते हैं। केवल घी की एक सहस्र (1000) आहुति से बुरे स्वप्न नष्ट हो जाते हैं, इसमें संदेह नहीं है।

❋❋❋

1. Das, Govind (2005). Bhaiṣajyaratnāvalī. Eighteenth Edition. New Delhi (India): Chaukhambha Publications.

UNIVERSITY OF PATANJALI

NAAC A+ GRADE ACCREDITED

Open & Distance Learning (ODL)

SELF-LEARNING MATERIAL (SLM)

B.A Darshan

Semester -4

ACADEMIC SESSION

2026 — 2027

Department of Philosophy

UNIVERSITY OF PATANJALI

Haridwar-Delhi Highway, Haridwar, Uttarakhand — 249405

www.universityofpatanjali.com

लेखक

1. डा स्वामी प्रज्ञादेव
2. साध्वी देव पूजा
3. स्वामी भद्रदेव
4. डा. आलोक झा

समीक्षक

डा. ब्रजभूषण ओझा प्रध्यापक (व्याकरण) बनारस हिन्दु विश्वविद्याल काशिफ्फ्

संपादक

डा , साध्वि देवप्रिया संकायाध्याक्षा पतंजलि विश्वविद्यालय हरिद्वार

।। ओ३म् ।।

वैशेषिक दर्शन पूर्व

BDPHMJ-401

दिव्य प्रकाशन

पाठ्यक्रम - B.A. द्वितीय वर्ष

क्रेडिटः-06

Semester -IV

घण्टेंः-90

BDPHMJ-401 वैशेषिक दर्शन पूर्व

उद्देश्य- 1. वैशेषिक दर्शन के अर्थ से अवगत कराना।
2. द्रव्यादि षट् पदार्थों के उद्देश्य एवं लक्षण से अवगत कराना।
3. नौ द्रव्यों एवं पांच कर्मों का विस्तृत ज्ञान प्रदान कराना।

प्रथम इकाई - प्रथम अध्याय-धर्म लक्षण और द्रव्य, गुण, कर्म, उद्देश्य, लक्षण प्रकरण साधर्म्यवैधर्म्य प्रकरण परसामान्य अपरसामान्य निरुपण (20 घण्टे)

द्वितीय इकाई - द्वितीय एवं तृतीय अध्याय - पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, (पंचमहाभूत) द्रव्य परीक्षा प्रकरण। काल, दिशा परीक्षा प्रकरण, मन, आत्मा, परीक्षा प्रकरण (20 घण्टे)

तृतीय इकाई - चतुर्थ अध्याय - पृथिव्यादि चारों भूतों के कार्य, शरीर के पाञ्चभौतिकत्व एवं त्रिभौतिकत्व का निषेध, शरीर के भेद, अयोनिज शरीर की उत्पत्ति में हेतु (20 घण्टे)

चतुर्थ इकाई - पंचम अध्याय - प्रयत्नपूर्वक होने वाले कर्म, अप्रयत्नपूर्वक होने वाले कर्म, कर्म का नानात्व एवं वेग नामक संस्कार का एकत्व, पृथिव्यादि चारों भूतों एवं मन में होने वाले कर्मों का विवेचन, वैशेषिकदर्शनानुसार मोक्ष का स्वरूप (20 घण्टे)

परिणाम- 1. वैशेषिक दर्शन के सूत्रों को शुद्धतापूर्वक स्मरण करके वाचन में विद्यार्थी समर्थ हो जाता है।
2. प्रथम पांचों अध्यायों के सूत्रों के अर्थ एवं व्याख्यान करने में दक्ष हो जाता है।
3. द्रव्यादि षट् पदार्थों का सामान्यज्ञान एवं नौ द्रव्यों तथा पांच कर्मों का विशेष ज्ञान अर्जित कर लेता है।

निर्धारित पाठ्यपुस्तकः- वैशेषिक दर्शन- आचार्य उदयवीरशास्त्री, प्रकाशक-गोविन्दराम हासानन्द,
वैशेषिक दर्शन-आचार्य आनन्दप्रकाश, प्रकाशक-आर्श-शोध-संस्थान अलियाबाद।
वैशेषिक दर्शन- डॉ.साध्वी देवप्रिया,प्रकाशक-दिव्यप्रकाशन, हरिद्वार।

विषय सूची

विषय	पृष्ठ सं.
खण्ड-1	**5-41**
इकाई-1.1 वैशेषिक का नामकरण	
इकाई-1.2 धर्म का स्वरूप एवं लक्षण	
इकाई-1.3 षड्पदार्थों का सामान्य परिचय	
इकाई-1.4 द्रव्य-गुण एवं कर्म के भेद	
इकाई-1.5 द्रव्य-गुण एवं कर्म के लक्षण	
इकाई-1.6 द्रव्य-गुण-कर्म का परस्पर साधर्म्य	
इकाई-1.7 सामान्य एवं विशेष नामक पदार्थ	
इकाई-1.8 द्रव्य-गुण कर्म से सत्ता का भिन्नत्व	
इकाई-1.9 सत्ता का नित्यत्व एवं एकत्व	
इकाई-1.10 द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व का द्रव्य, गुण, कर्म से भिन्नत्व	
इकाई-1.11 'विशेष' नामक पदार्थ	
खण्ड-2	**42-79**
इकाई-2.1 पृथिवी का लक्षण	
इकाई-2.2 जल का लक्षण	
इकाई-2.3 तेज का लक्षण	
इकाई-2.4 वायु का लक्षण	
इकाई-2.5 परमाणुरूप वायु का द्रव्यत्व एवं नित्यत्व	
इकाई-2.6 आकाश का लक्षण	
इकाई-2.7 आकाश का द्रव्यत्व एवं नित्यत्व	
इकाई-2.8 'काल' नामक द्रव्य का लक्षण	
इकाई-2.9 व्यवहार की दृष्टि से काल के भेद	
इकाई-2.10 काल का द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं एकत्व	
इकाई-2.11 दिशा नामक द्रव्य का लक्षण	
इकाई-2.12 दिशा का द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं एकत्व	
इकाई-2.13 दिशा का व्यावहारिक नानात्व	
खण्ड-3	**80-88**
इकाई-3.1 आत्मतत्त्व की सिद्धि में हेतु	
इकाई-3.2 देहादि से भिन्न आत्मा की सिद्धि में विभिन्न साधक लिङ्गों का वर्णन	
इकाई-3.3 आत्मा के गुणों का वर्णन	
खण्ड-4	**89-102**
इकाई-4.1 पृथिव्यादि चारों भूतों के कार्य	
इकाई-4.2 शरीर के पाञ्चभौतिकत्व एवं त्रिभौतिकत्व का निषेध	
इकाई-4.3 शरीर के भेद	
इकाई-4.4 अयोनिज शरीर की उत्पत्ति में हेतु	
खण्ड-5	**103-118**
इकाई-5.1 प्रयत्नपूर्वक होने वाले कर्म	
इकाई-5.2 अप्रयत्नपूर्वक होने वाले कर्म	

इकाई–5.3 कर्म का नानात्व एवं वेग नामक संस्कार का एकत्व
इकाई–5.4 पृथिव्यादि चारों भूतों एवं मन में होने वाले कर्मों का विवेचन
इकाई–5.5 वैशेषिकदर्शनानुसार मोक्ष का स्वरूप।

खण्ड-1

इकाई-1.1 वैशेषिक का नामकरण

उद्देश्य-

1. **जगत का वैज्ञानिक विश्लेषणः** संसार के समस्त दृश्य-अदृश्य पदार्थों को मुख्य रूप से छह (बाद में सात) श्रेणियों में विभाजित करना ताकि जगत के निर्माण की प्रक्रिया समझी जा सके।
2. **परमाणुवाद की स्थापनाः** यह सिद्ध करना कि सृष्टि का निर्माण अविभाज्य और नित्य परमाणुओं के संयोग से हुआ है।
3. **तत्वज्ञान द्वारा मोक्षः** पदार्थों के यथार्थ स्वरूप (तत्वज्ञान) को समझकर अविद्या का नाश करना और मोक्ष प्राप्त करना।

वैशेषिक का नामकरण - षड्पदार्थों के विवेचन में कुशल महर्षि कणाद के द्वारा प्रतिपादित वैशेषिक शास्त्र के नामकरण में निम्नलिखित प्रमुख हेतु स्वीकार किये जाते है-

1. प्रस्तुत शास्त्र के प्रणेता आचार्य के विशिष्ट उपदेष्टा होने के कारण इस शास्त्र का नाम 'वैशेषिक' हुआ।
2. अन्य दर्शन शास्त्रों की तुलना में द्रव्यादि पदार्थों के उपपादन में उत्कृष्ट एवं विशेष होने के कारण इस शास्त्र का नाम 'वैशेषिक' पड़ा।
3. **इस शास्त्र में वर्णित छः** पदार्थों के अन्तर्गत पञ्चमपदार्थ 'विशेष' को अतिरिक्त एवं विलक्षण रूप में स्वीकार करने के कारण इसका नाम 'वैशेषिक' पड़ा।
4. वैशेषिक नाम के मूलशब्द 'विशेष' का अर्थ होता है-तत्वनिश्चयपूर्वक व्यवहार करना। इस शास्त्र में इसी प्रकार किया गया है इस कारण इसका नाम 'वैशेषिक' पड़ा।
5. **तत्वों का निश्चय वस्तुतः** पदार्थों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य के आधार पर किया जाता है, इस कारण से इन्हें व्यवच्छेदक या 'विशेष' कहा जाता है। इस प्रकार से तत्व निर्धारित कराने के कारण इस शास्त्र का नाम 'वैशेषिक' पड़ा।
6. पृथिव्यादि पञ्चभूतों को दर्शन शास्त्रों में 'विशेष' शब्द से भी जाना जाता है। कारण यह है कि सुख-दुःख एवं मोह से विशिष्ट (युक्त) हो पञ्चभूत होते है। इस शास्त्र में इस जगत् का मूल कारण पञ्चभूत नामक 'विशेष' ही कहे गये है। इसलिए इस शास्त्र का नाम 'वैशेषिक' पड़ा।

स्मरणीय बिंदु-

1. **पदार्थ-विभाजनः** वैशेषिक दर्शन के अनुसार सात पदार्थ हैं - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव।
2. **परमाणुवादः** यह दर्शन विश्व के भौतिक पदार्थों को परमाणुओं का समूह मानता है। यह ईश्वर (परमात्मा) को सृष्टि का निमित्त कारण मानता है।
3. **वैज्ञानिक दृष्टिकोणः** इसमें प्रत्येक वस्तु को तर्क, माप और वर्गीकरण के आधार पर परखा गया है। इसीलिए इसे 'भारतीय भौतिकवाद' का एक रूप भी माना जाता है।
4. **सृष्टि का क्रमः** महर्षि कणाद के अनुसार, 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' - अर्थात जिस मार्ग से सांसारिक उन्नति (अभ्युदय) और मोक्ष (निःश्रेयस) दोनों सिद्ध हों, वही धर्म है।

शब्दावली-

1. **विशेष (Particularity) :** वह पदार्थ जो नित्य द्रव्यों (जैसे परमाणु, आत्मा, मन) को एक-दूसरे से पृथक करता है।
2. **परमाणु (Atom) :** जगत का सूक्ष्मतम, अविभाज्य और नित्य अंश।
3. **द्रव्य (Substance) :** वह आधार जिसमें गुण और कर्म रहते हैं (जैसे पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन)।
4. **पदार्थ (Category) :** ज्ञान का विषय; वह जिसे नाम दिया जा सके और जिसका अस्तित्व हो।
5. **अभाव (Non&eñistence) :** वह स्थिति जहाँ किसी वस्तु का न होना भी एक तथ्य है (जैसे-'यहाँ घड़ा नहीं है')।

5 अंक के प्रश्न : -

1. 'वैशेषिक' शब्द की उत्पत्ति किस प्रकार हुई है? इसके पीछे मुख्य तर्क क्या है?
2. महर्षि कणाद को 'कणभुक्' क्यों कहा जाता है? नामकरण में इसका क्या संबंध है?

3. 'विशेष' (Particularity) पदार्थ का वैशेषिक दर्शन में क्या महत्व है? यह नामकरण को कैसे प्रभावित करता है?
4. वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक कौन हैं? उनके प्रमुख ग्रंथ का नाम क्या है?
5. 'विशेष' और श्सामान्यश में अंतर स्पष्ट कीजिए। ये दोनों पदार्थ नामकरण में किस प्रकार सहायक हैं?

15 अंक के प्रश्न : -

1. ''वैशेषिक दर्शन का नामकरण जगत के सूक्ष्म विश्लेषण और श्विशेषश तत्वों की पहचान पर आधारित है।'' इस कथन की सविस्तार व्याख्या कीजिए।
2. महर्षि कणाद के श्परमाणुवादश और 'वैशेषिक' नामकरण के अंतर्संबंधों का वर्णन कीजिए। यह दर्शन किस प्रकार भौतिक जगत की वैज्ञानिक व्याख्या करता है?
3. वैशेषिक दर्शन के सात पदार्थों (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव) का संक्षेप में उल्लेख करते हुए स्पष्ट कीजिए कि श्विशेषश को नामकरण का आधार क्यों बनाया गया?
4. भारतीय दर्शन के षड्दर्शनों में वैशेषिक को श्वैज्ञानिक दर्शनश क्यों कहा जाता है? इसके नामकरण और इसकी तार्किक पद्धति के आधार पर सिद्ध कीजिए।
5. सृष्टि के निर्माण और प्रलय के संदर्भ में वैशेषिक दर्शन के श्विशेषश सिद्धांत की क्या भूमिका है? यह दर्शन ज्ञान-मीमांसा के लिए क्यों महत्वपूर्ण है?

बहुविकल्पीय-

प्रश्न १. श्वैशेषिकश दर्शन का नामकरण किस पदार्थ के आधार पर किया गया है?
(क) द्रव्य (ख) गुण **(ग) विशेष** (घ) समवाय

प्रश्न २. वैशेषिक दर्शन के प्रणेता (जनक) कौन माने जाते हैं?
(क) महर्षि गौतम **(ख) महर्षि कणाद** (ग) महर्षि कपिल (घ) महर्षि पतंजलि

प्रश्न ३. महर्षि कणाद को श्कणभुक्श या श्कणभक्षश क्यों कहा जाता है?
(क) क्योंकि वे कण-कण खाकर जीवित रहते थे
(ख) क्योंकि उन्होंने जगत की व्याख्या सूक्ष्म श्कणोंश (परमाणुओं) के आधार पर की
(ग) क्योंकि वे कणों के विरुद्ध थे
(घ) इनमें से कोई नहीं

प्रश्न ४. श्विशेषश पदार्थ का मुख्य कार्य क्या है?
(क) वस्तुओं को नित्य द्रव्यों (जैसे परमाणु, आत्मा) से पृथक (अलग) पहचानना
(ख) वस्तुओं का मिश्रण करना
(ग) वस्तुओं को नष्ट करना
(घ) ज्ञान की उत्पत्ति करना

प्रश्न ५. वैशेषिक दर्शन के अनुसार, धर्म का क्या अर्थ है?
(क) केवल पूजा-पाठ करना
(ख) जिससे सांसारिक उन्नति (अभ्युदय) और मोक्ष (निःश्रेयस) दोनों सिद्ध हों
(ग) समाज के नियम मानना
(घ) केवल अहिंसा का पालन करना

प्रश्न ६. वैशेषिक दर्शन में कुल कितने पदार्थ स्वीकार किए गए हैं?
(क) पाँच (ख) छः **(ग) सात** (घ) नौ
उत्तर: (ग) सात (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव)

इकाई-1.2 धर्म का स्वरूप एवं लक्षण

उद्देश्य-

1. धर्म के वास्तविक अर्थ, स्वरूप और उसकी विभिन्न अवधारणाओं को समझना।
2. भारतीय दर्शन और संस्कृति में धर्म के लक्षणों (जैसे- धृति, क्षमा, दम, अस्तेय आदि) को पहचानना।
3. समाज और व्यक्तिगत जीवन में धर्म के नैतिक और व्यावहारिक महत्व का विश्लेषण करना।

वैशेषिक दर्शन का आरम्भ ही 'धर्म' की व्याख्या करने के संकल्प से होता है। महर्षि कणाद संकल्प करते हुये प्रथम सूत्र लिखते हैं - **अथातो धर्म व्याख्यास्यामः (1.1.1)**

अर्थात् अब हम शिष्यों के परम कल्याण के हेतु से धर्म की व्याख्या करेंगे। प्रस्तुत सूत्र में 'अथ' शब्द मंगलाचरण का सूचक एवं अनन्तर का बोधक (वाचक) है। 'अतः' शब्द हेतु अर्थ में हैं, 'धर्म' पद इस शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय को संकेत करता है, तथा ''व्याख्यास्यामः'' पद व्याख्या के संकल्प का द्योतक है। अतएव अर्थ यह स्पष्ट होता है कि ''शिष्यों के जिज्ञासा के अनन्तर उनके परम कल्याण के हेतु से हम 'धर्म' की व्याख्या (विवेचन) करेंगे'' ऐसा आचार्य प्रथमदृष्ट्या संकल्प करते है। यहाँ पर 'व्याख्यास्यामः' पद उत्तमपुरुष बहुवचनान्त है, जिसका तात्पर्य यह है कि वैशेषिककार कहना चाहते है कि इस शास्त्र में 'धर्म' का केवल एक तरफा उपदेश नहीं किया जायेगा अपितु हम सभी (आचार्य एवं शिष्य) परस्पर संवादात्मक शैली से विचार-विमर्श करते हुये 'धर्म' के वास्तविक स्वरूप का निश्चय करेंगे। इस कारण से यह शास्त्र धर्मशास्त्र न होकर दर्शन शास्त्र कहलाता है, कारण यह है कि धर्मशास्त्रों में केवल उपदेशमात्र होता है, वहाँ प्रश्नोत्तर शैली का अभाव होता है। धर्मशास्त्रों में आशंका का अवकाश नहीं होता है बल्कि श्रद्धा का विषय होता है जबकि इस दर्शन शास्त्र में आशंका, आक्षेप एवं तर्क का पूर्ण अवकाश होने से दर्शन शास्त्र के अन्तर्गत आता है, न कि 'धर्मशास्त्र' के अन्तर्गत। आगे धर्म का स्वरूप बताते हुये वैशेषिककार धर्म का लक्षण बता रहे है-

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (1.1.2)

अर्थात् जिससे अभ्युदय (लौकिक उत्कर्ष) एवं निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धिः (प्राप्ति) होती है वह 'धर्म' कहलाता है। प्रस्तुत सूत्र में धर्म का तटस्थलक्षण कहा है न कि स्वरूपलक्षण। मन्वादि धर्मशास्त्रों मे 'धृत्यादि' धर्म के स्वरूपलक्षण कहे जाते है। इस सूत्र द्वारा (धर्म) को निमित्त कारण के रूप में स्वीकार किया गया है; जो कि 'यतः' इस पञ्चमी विभक्ति से स्पष्ट होता है। 'अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः' इस समस्तपद में मध्यमपदलोपी समास है। अर्थात् अभ्युदय द्वारा निःश्रेयससिद्धि जिससे होती है वह 'धर्म' कहलाता है। इससे पता चलता है कि वैशेषिकशास्त्र क्रम-मुक्ति का समर्थक है। धर्म के पालन से लौकिक उत्कर्षतापूर्वक अन्ततः मोक्ष की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि धर्म के आचरण के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है, तथा धर्म के सम्यक् आचरण से मुमुक्षु का लौकिक कल्याण अर्थात धन-धान्यादि की समुपलब्धि हो ही जाती है। अतएव अभ्युदय द्वारा अन्ततः जो मोक्ष का हेतु हो उसे 'धर्म' कहा जाता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि उपरोक्त 'धृत्यादि' सद्गुणों को धर्म के रूप में स्मृतिकारों ने कह ही दिया है, तब इस प्रकार के धर्म की व्याख्या में नवीनता (अपूर्वता) क्या है? ऐसा आक्षेप होने पर वैशेषिककार कहते है-

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां
पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसम् (1.1.4)

अर्थात् द्रव्यादि छः पदार्थों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य के द्वारा योगज धर्मविशेष से जन्य 'तत्वज्ञान' से निःश्रेयस (मोक्ष) होता है, और इस प्रकार का तत्वज्ञान ही मोक्ष का साधन होने से वास्तविक रूप में 'धर्म' सिद्ध होता है।

पूर्व सूत्र में 'यतः' पञ्चम्यन्त पद से जिसको कहा गया था उसी को प्रस्तुत सूत्र में 'तत्वज्ञानात्' इस पञ्चम्यन्त पद से कहा गया है। जिसका तात्पर्य है कि वस्तुतः तत्वज्ञान ही मोक्ष का अन्यतम साधन होने से धर्म सिद्ध होता है। परन्तु यह तत्वज्ञान भी साक्षात् सम्भव नहीं है बल्कि द्रव्यादि षड्पदार्थों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य रूपी चिन्तन एवं मनन से उत्प. न्न होता है। अतएव मोक्ष की सिद्धि का क्रम इस प्रकार है-द्रव्यादि षड्पदार्थों का साधर्म्य-वैधर्म्यपूर्वक चिन्तन एवं मनन, इससे नित्य आत्मतत्व के नित्यत्व एवं जगत् के क्षणभंगुरत्व का दृढ़ निश्चयपूर्वक निदिध्यासन में अग्रसर होना तथा उससे समाधि को प्राप्त होना तथा समाधि द्वारा तत्त्वज्ञान का उदय और अन्ततः तत्त्वज्ञान से मोक्ष में हेतु होने से 'धर्म' सिद्ध होता है।

षड्पदार्थों का चिन्तन-मनन मोक्ष में निमित्तकारण तथा तत्त्वज्ञान साक्षात् कारण सिद्ध होता है। इसलिए दोनों ही 'धर्म' सिद्ध

होते हैं।

तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम् (1.1.3)

इस सूत्र से धर्म के प्रवचन में वेद का प्रामाण्य हाने से 'श्रवण' का भी समावेश हो जाता है। इस प्रकार श्रवण मनन एवं निदिध्यासनपूर्वक तत्त्वज्ञान ये तीनों मोक्ष में हेतु होने से सूत्रकार के मत में 'धर्म' कहे जायेंगें। जैसा कि प्रसिद्ध शास्त्रवचन है-

श्रोतव्यो श्रुतिवाक्येभ्यः मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥

अर्थात् श्रुति वाक्यों के द्वारा श्रवण करना चाहिए, युक्तियों के द्वारा मनन करना चाहिए तथा मनन के पश्चात् सतत निदिध्यासन करना चाहिए कहने का तात्पर्य है कि यौगिक रीतियों के द्वारा ध्यान करना चाहिए।

इस प्रकार श्रवण-मनन निदिध्यासन तीनों तत्त्वज्ञान के हेतु सिद्ध होने से धर्म कहे जा सकते है। वस्तुतः वैशेषिककार के दृष्टि से षड्पदार्थो के मनन को ही तत्त्वज्ञान का साधन होने से धर्म कहा गया है। फिर भी अन्य शास्त्रों से एकवाक्यता करने में भी महर्षि द्वारा वर्णित 'धर्म' का लक्षण समर्थ है। इसी कारण से 'धर्म' पद से कतिपय आचार्य 'पदार्थधर्म' ऐसा अर्थ लेते है। वस्तुतः सूत्रकार के द्वारा अभ्युदय द्वारा निःश्रेयस के साधनभूत तत्त्व को 'धर्म' का व्यापक लक्षण करने से सभी व्याख्याकारों के कथनों का समावेश हो जाता है। अथवा मन्वादि स्मृतियों में धृत्यादिरूप सामान्य धर्मो का वर्णन किया गया है, जबकि इस शास्त्र में आत्मज्ञानरूपी परमधर्म का वर्णन किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। मोक्ष की दृष्टि से तत्वज्ञान का साक्षात् सम्बन्ध होने से प्रधान रूप से परमधर्म जबकि धृत्यादि का परम्परा से कारण होने से सामान्य धर्म समझाना चाहिए। यह महिर्षि की दूरदर्शिता एवं उदारता का परिचायक है।

स्मरणीय बिंदु : -

- **धर्म की व्युत्पत्तिः** 'धर्म' शब्द संस्कृत की 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है - धारण करना। अर्थात जो तत्व समाज और ब्रह्मांड को धारण करता है, वही धर्म है।
- **मनुस्मृति के अनुसारः** महर्षि मनु ने धर्म के 10 लक्षण बताए हैं - धृति (धैर्य), क्षमा, दम (मन पर नियंत्रण), अस्तेय (चोरी न करना), शौच (पवित्रता), इन्द्रियनिग्रह (इन्द्रियों को वश में र-ना), धी (बुद्धि), विद्या, सत्य और अक्रोध।
- **व्यापकताः** भारतीय परंपरा में धर्म केवल पूजा-पद्धति या मजहब नहीं है, बल्कि यह कर्तव्य, सदाचार, न्याय और नैतिक नियमों का एक समुच्चय है।

शब्दावली :-

- **धृतिः** विपरीत परिस्थितियों में भी मन को विचलित न होने देना; धैर्य।
- **अस्तेयः** किसी अन्य की वस्तु को अन्यायपूर्वक या उसकी बिना अनुमति के लेने का विचार न करना; गैर-चोरी।
- **इन्द्रियनिग्रहः** अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को कुमार्ग पर जाने से रोकना।
- **शौचः** आंतरिक (मन की) और बाह्य (शरीर व वातावरण की) शुद्धता।

5 अंक के प्रश्न : -

प्रश्न 1. ''धर्म'' शब्द की व्युत्पत्ति किस धातु से हुई है और इसका शाब्दिक अर्थ क्या है?
प्रश्न 2. मनुस्मृति के अनुसार धर्म के दस लक्षणों के नाम केवल क्रमानुसार लिखिए।
प्रश्न 3. धर्म के लक्षणों में वर्णित 'धृति' (धैर्य) से क्या तात्पर्य है? वर्तमान जीवन में इसका महत्व स्पष्ट कीजिए।
प्रश्न 4. 'अस्तेय' और 'अपरिग्रह' में क्या अंतर है? धर्म के संदर्भ में अस्तेय को परिभाषित कीजिए।
प्रश्न 5. 'शौच' से क्या अभिप्राय है? बाह्य और आंतरिक शौच के भेद को संक्षेप में समझाइए। प्रश्न
प्रश्न 6. 'इन्द्रियनिग्रह' और 'दम' के मध्य पाए जाने वाले सूक्ष्म अंतर को स्पष्ट कीजिए।
प्रश्न 7. धर्म के लक्षण के रूप में 'धी' (बुद्धि) और शविद्याश (ज्ञान) एक दूसरे से किस प्रकार भिन्न हैं?
प्रश्न 8. 'अक्रोध' को धर्म का आवश्यक लक्षण क्यों माना गया है? संक्षेप में विवेचना कीजिए।

15 अंक के प्रश्न :-

प्रश्न 1. भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में 'धर्म' के व्यापक स्वरूप की व्याख्या कीजिए तथा यह पाश्चात्य अवधारणा 'रिलिजन' (मत/पंथ) से किस प्रकार भिन्न है? सोदाहरण समीक्षा कीजिए। प्रश्न 2. 'प्रवृत्ति और सदाचार ही धर्म का व्यावहारिक आधार है।' इस कथन के आलोक में महर्षि मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म के दस लक्षणों की सविस्तार व्याख्या कीजिए।
प्रश्न 3. आधुनिक समाज में बढ़ते नैतिक पतन, मानसिक तनाव और भ्रष्टाचार के निवारण में मनुस्मृति में वर्णित धर्म के लक्षण (जैसे - शौच, अस्तेय, दम) कहाँ तक प्रासंगिक हैं? तार्किक विश्लेषण कीजिए।

प्रश्न 4. मानव जीवन के चतुर्विध पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में 'धर्म' को सर्वप्रमुख आधार क्यों माना गया है? जीवन के सर्वांगीण विकास के संदर्भ में धर्म के स्वरूप की मीमांसा कीजिए। प्रश्न 5. विभिन्न भारतीय दर्शनों (जैसे – वैदिक, जैन, बौद्ध) में धर्म के स्वरूप और लक्षणों की तुलनात्मक समीक्षा कीजिए कि किस प्रकार 'अहिंसा' और श्कर्तव्य पालनश को सर्वोपरि स्थान दिया गया है।

बहुविकल्पीय प्रश्न :-

प्रश्न 1. 'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की किस मूल धातु से हुई है?
(क) धु (ख) धा **(ग) धृ** (घ) धृण्

प्रश्न 2. मनुस्मृति के अनुसार मानव मात्र के लिए धर्म के कितने सामान्य लक्षण निर्धारित किए गए हैं?
(क) पाँच (ख) आठ **(ग) दस** (घ) बारह

प्रश्न 3. विपरीत या कठिन परिस्थितियों में भी मन को स्थिर रखना और विचलित न होना धर्म का कौन-सा लक्षण है?
(क) दम (ख) धृति (ग) शौच **(घ) धी**

प्रश्न 4. धर्म के लक्षणों में वर्णित श्अस्तेयश का वास्तविक और व्यावहारिक अर्थ क्या है?
(क) सदैव सत्य बोलना **(ख) मन, वचन और कर्म से चोरी न करना**
(ग) अपनी इन्द्रियों को वश में रखना (घ) परोपकार करना

प्रश्न 5. बाह्य (शरीर व वातावरण) और आंतरिक (मन व विचारों) की पवित्रता धर्म के किस लक्षण के अंतर्गत आती है?
(क) शौच (ख) क्षमा (ग) विद्या (घ) अक्रोध

प्रश्न 6. अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को बुरे मार्ग या वासनाओं की ओर जाने से रोकने को क्या कहा जाता है?
(क) दम (ख) धी **(ग) इन्द्रियनिग्रह** (घ) सत्य

प्रश्न 7. धर्म के लक्षणों में श्धीश शब्द से क्या तात्पर्य स्वीकार किया गया है?
(क) कार्य की धीमी गति **(ख) विवेकपूर्ण उत्तम बुद्धि**
(ग) धन का संचय (घ) अज्ञानता का भाव

प्रश्न 8. किसी अन्य व्यक्ति द्वारा अपकार या नुकसान किए जाने पर भी समर्थ होते हुए प्रतिशोध न लेना धर्म का कौन-सा लक्षण है?
(क) अक्रोध (ख) धृति **(ग) क्षमा** (घ) विद्या

प्रश्न 9. न्याय दर्शन और मनुस्मृति दोनों में मन के विकारों तथा आंतरिक इच्छाओं पर नियंत्रण रखने को क्या कहा गया है?
(क) दम (ख) अस्तेय (ग) शौच (घ) सत्य

प्रश्न 10. यथार्थ, हितकारी और मधुर वचन बोलना तथा मन-कर्म में शुचिता रखना धर्म के किस लक्षण को दर्शाता है?
(क) धी **(ख) सत्य** (ग) विद्या (घ) क्षमा

इकाई-1.3 षड्पदार्थों का सामान्य परिचय

उद्देश्य-

1. तत्वज्ञान द्वारा मोक्ष (नि:श्रेयस) की प्राप्ति: महर्षि कणाद के अनुसार, इन पदार्थों के साधर्म्य (समानता) और वैधर्म्य (अंतर) का सही ज्ञान होने से भ्रम (अज्ञान) का नाश होता है। अज्ञान नष्ट होने से दु:खों की आत्यंतिक निवृत्ति होती है, जिसे मोक्ष कहा जाता है।
2. सृष्टि का तार्किक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण: आध्यात्मिक बातों के साथ-साथ इस भौतिक जगत की प्रत्येक वस्तु (परमाणु से लेकर मन तक) का वैज्ञानिक वर्गीकरण करना ताकि सृष्टि की कार्यप्रणाली को समझा जा सके।

वैशेषिकोक्त षड्पदार्थों का परिचय देते हुये वैशेषिककार कहते हैं-

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेष समवायानां
पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयसम् (1.1.4)

प्रस्तुत सूत्र में महर्षि कणाद षड्पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य के मननपूर्वक अन्तत: तत्त्वज्ञान द्वारा नि:श्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति की बात कही है। वे षड्पदार्थ हैं-(1) द्रव्य (2) गुण (3) कर्म (4) सामान्य (5) विशेष (1) समवाय।

इनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है-

1) द्रव्य- यह छ: पदार्थों में सबसे महत्वपूर्ण पदार्थ है, जिसके आश्रय से अन्य सभी पदार्थ टिके होते हैं। यह नौ प्रकार का होता है-(i) पृथिवी (ii) जल (iii) तेज (iv) वायु (v) आकाश (vi) काल (vii) दिशा (viii) आत्मा (ix) मन। इन नौ द्रव्यों को भी हम दो भागों में बाट सकते है-नित्य द्रव्य एवं अनत्य द्रव्य। पृथिव्यादि चारों भूतों के परमाणु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा एवं मन ये सभी नित्य द्रव्य के अन्तर्गत आते हैं तथा कार्य पृथिव्यादि चार महाभूत अनित्य द्रव्य के अन्तर्गत आते है। समस्त कार्य द्रव्यों के प्रति कार्यमात्र का समवायिकारण द्रव्य होता है। द्रव्य के आश्रय से स्वयं कार्यद्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय ये सभी होते हैं। अतएव समस्त पदार्थों में 'द्रव्य' ही प्रधान है। या यूं कहे के समस्त जगत् द्रव्यात्मक ही है।

2) **गुण**- यह द्रव्यों के आश्रय से रहने वाला है। इसके चौबीस भेद है-रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरूत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म एवं शब्द। गुण भी नित्य एवं अनित्य के भेद से दो प्रकार के होते हैं। प्राय: नित्यद्रव्यों में रहने वाला गुण नित्य एवं कार्यद्रव्यों में रहने वाला गुण अनित्य होता है। परन्तु अपवाद रूप में नित्य पृथिवी के परमाणु में रहने वाला रूपादि चारों गुण अनित्य एवं नित्य आकाश का अनित्य शब्द तथा नित्य आत्मा का अनित्य इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख, ज्ञान, प्रयत्न होते हैं। गुण सदैव द्रव्याश्रित होने से असमवायिकारण ही सिद्ध होते हैं।

3) **कर्म**- गुण की भांति कर्म भी द्रव्याश्रित होते हैं। यह सदैव अनित्य ही होते है। इसके पांच भेद होते हैं-(1) उत्क्षेपण (2) अवक्षेपण (3) आकुञ्चन (4) प्रसारण (5) गमन। 'गमन' नामक कर्म के अतिरिक्त शेष कर्म 'नियतदिग्विशिष्ट' होते है जबकि गमन अनियतदिग्विशिष्ट होता है-यह विशेष है। द्रव्य-गुण में परस्पर 'सजातीयारम्भकत्व' रूप साधर्म्य है, जबकि कर्म से कर्म उत्पन्न नहीं होता है-यह बात द्रव्य एवं गुण से विलक्षण है।

4) **सामान्य**- द्रव्य-गुण एवं कर्म की भांति निरपेक्ष पदार्थ न होकर यह बुद्धिसापेक्ष होता है। जो द्रव्य-गुण एवं कर्मों में 'अनुवृत्तिप्रत्यय' का हेतु होता है। इसके दो भेद होते है-(क) परसामान्य (ख) अपरसामान्य। 'सत्ता' नामक सामान्य को परसामान्य तथा द्रव्यत्व, गुणत्व एवं कर्मत्व नामक सामान्य को अपरसामान्य कहा जाता है। द्रव्य-गुण एवं कर्म के अनित्य होने पर भी उसमें रहने वाले द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व एवं सत्ता नामक सामान्य नित्य ही होते हैं। यह अपने आश्रय द्रव्य में सर्वगत होते है तथा सर्वगत होने से एकत्व की सिद्धि भी स्वत: हो जाती है।

5) **विशेष**- इस 'विशेष' नामक पदार्थ के कारण ही 'वैशेषिक' नामकरण हुआ है। यह नित्य द्रव्यों में होता है, जो कि प्रत्येक द्रव्यों को परस्पर एक दूसरे से पृथक् करने में हेतु होता है। यह केवल व्यावृत्ति प्रत्यय का हेतु होता है। अनन्त परमाणुओं, आत्माओं में व्यक्तिगत रूप से अलग-अलग होता है तथा एक विशेष दूसरे विशेष से सर्वथा भिन्न होता है। अतएव अनन्त विशेष पदार्थ अनन्त प्रकार के सिद्ध होते हैं। यह केवल योगज सामर्थ्य से योगियों के द्वारा गम्य होता है। सामान्य मनुष्य के अनुभव में नहीं आता है। इसी 'विशेष' नामक पदार्थ के कारण परस्पर समान होते हुये भी परमाणुओं एवं आत्माओं में योगी

लोग पृथकता का ज्ञान कर लेते हैं। कार्यद्रव्य के अन्तिम कण परमाणुओं मे होने के कारण इसे 'अन्त्यविशेष' भी कहते हैं।

6) **समवाय**- यह एक प्रकार का सम्बन्ध होता है जो परस्पर दो अयुतसिद्ध (अपृथक्भूत) पदार्थों के मध्य होता है। अर्थात् दो ऐसे पदार्थ जिसको अलग नहीं किया जा सकता है, ऐसे अटूट सम्बन्ध को समवायसम्बन्ध कहते है। यदि किसी भी प्रकार से उन्हें अलग करने का प्रयास किया जाये तो दो में से एक का अस्तिव ही नहीं रहता है। वस्तुतः इनका अलगाव असम्भव है। इसलिए यह एक प्रकार का नित्य सम्बन्ध होता है। यह पांच स्थलों में होता है-(क) कार्य-कारण का सम्बन्ध (ख) गुण-गुणी (द्रव्य) का सम्बन्ध (ग) क्रिया-क्रियावान् का सम्बन्ध (घ) व्यक्ति-जाति का सम्बन्ध एवं (ङ) अन्त्यविशेष एवं परमाणु का सम्बन्ध। इन पांच स्थलों में परस्पर अटूट सम्बन्ध होता है वह 'समवाय' सम्बन्ध कहलाता है।

स्मरणीय बिंदु : -

1. **पदार्थ के तीन लक्षणः** वैशेषिक दर्शन के अनुसार प्रत्येक पदार्थ में तीन लक्षण अनिवार्य रूप से होते हैंः अस्तित्व (होना), ज्ञेयत्व (जाना जा सकने योग्य होना) और अभिधेयत्व (शब्दों द्वारा कहे जाने योग्य होना)।
2. **भाव और अभावः** मूल छह पदार्थों को श्भाव पदार्थश (च्वेपजपअम त्मंसपजपमे) कहा जाता है। बाद के विचारकों (जैसे शिवाहित्य) ने श्अभावश (छमहंजपअम त्मंसपजल) को सातवें पदार्थ के रूप में जोड़ा।
3. **परमाणुवादः** वैशेषिक दर्शन को भारत का प्राचीन परमाणु विज्ञान माना जाता है। द्रव्य के अंतर्गत पृथ्वी, जल, तेज और वायु के सूक्ष्मतम अविभाज्य अंश को श्परमाणुश कहा गया है।
4. **विशेष पदार्थ की महत्ताः** श्विशेषश नामक पदार्थ को स्वीकार करने के कारण ही इस दर्शन का नाम श्वैशेषिक दर्शनश पड़ा।

मुख्य शब्दावली : -

1. **साधर्म्य (Sadharmya)**: दो भिन्न वस्तुओं में पाई जाने वाली समान विशेषता (जैसे- पृथ्वी और जल दोनों द्रव्य हैं, यह उनका साधर्म्य है)।
2. **वैधर्म्य (Vaidharmya)**: दो वस्तुओं को अलग करने वाली असमान विशेषता (जैसे- पृथ्वी में गंध है पर जल में नहीं, यह वैधर्म्य है)।
3. **अयुतसिद्ध (Ayutasiddha)**: ऐसी दो वस्तुएँ जिनमें से एक नष्ट हुए बिना दूसरी से अलग नहीं रह सकती (जैसे- गुण और गुणी, अवयव और अवयवी)। इनके बीच ही समवाय संबंध होता है।
4. **युतसिद्ध (Yutasiddha)**: ऐसी दो वस्तुएँ जो अलग-अलग अस्तित्व रख सकती हैं (जैसे- हाथ में रखी हुई गेंद)। इनके बीच श्संयोगश संबंध होता है जो अनित्य है।
5. **नित्य और अनित्यः** जो सदा रहे, जिसका विनाश न हो वह नित्य है (जैसे- आकाश, परमाणु)। जो उत्पन्न और नष्ट हो, वह अनित्य है (जैसे- घड़ा, मनुष्य का शरीर)।
6. **समवायिकारण (Samavayi Karana)**: वह उपादान या भौतिक कारण जिसके भीतर कार्य उत्पन्न होता है और समवाय संबंध से रहता है (जैसे- मिट्टी घड़े का समवायिकारण है)।

5 अंक के प्रश्न -

प्रश्न 1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार श्पदार्थश की क्या परिभाषा है? इसके तीन प्रमुख लक्षण कौन-से हैं?
प्रश्न 2. महर्षि कणाद के अनुसार मूल षड्पदार्थों (6 पदार्थों) के नाम क्रमानुसार लिखिए।
प्रश्न 3. वैशेषिक मत में श्द्रव्यश किसे कहा गया है? द्रव्यों की कुल संख्या कितनी है?
प्रश्न 4. 'गुण' पदार्थ का स्वरूप स्पष्ट कीजिए। वैशेषिक दर्शन में कुल कितने गुण स्वीकार किए गए हैं?
प्रश्न 5. 'कर्म' (Action) पदार्थ से क्या तात्पर्य है? इसके पाँचों भेदों का उल्ले- कीजिए।
प्रश्न 6. न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'सामान्य' (Universality) की क्या अवधारणा है? इसके मुख्य भेदों के नाम लि-ए।
प्रश्न 7. 'विशेष' पदार्थ का क्या अर्थ है? इस दर्शन का नाम 'वैशेषिक' पड़ने के पीछे इसका क्या महत्व है?
प्रश्न 8. 'समवाय' संबंध को उदाहरण सहित परिभाषित कीजिए।
प्रश्न 9. पदार्थों के संदर्भ में 'साधर्म्य' और 'वैधर्म्य' शब्दों से क्या अभिप्राय है?
प्रश्न 10. मूल रूप से छह पदार्थ होने पर भी वैशेषिक परंपरा में सातवाँ पदार्थ किसे और क्यों माना गया?

15 अंक के प्रश्न : -

प्रश्न 1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार षड्पदार्थों का सामान्य परिचय देते हुए एक विस्तृत तालिका या रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए।
प्रश्न 2. वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित श्षड्पदार्थों के वर्गीकरणश का मुख्य उद्देश्य क्या है? यह मोक्ष (निःश्रेयस) प्राप्ति में किस प्रकार सहायक है? विस्तार से समझाइए।

प्रश्न 3. 'द्रव्य' पदार्थ की सविस्तार व्याख्या कीजिए तथा इसके अंतर्गत आने वाले नौ (9) द्रव्यों का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक महत्व स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 4. 'समवाय' और श्संयोगश संबंध में क्या अंतर है? अयुतसिद्ध और युतसिद्ध की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए समवाय संबंध की तार्किक विवेचना कीजिए।

प्रश्न 5. 'वैशेषिक दर्शन का पदार्थ-विज्ञान केवल आध्यात्मिक नहीं बल्कि एक व्यावहारिक और वैज्ञानिक वर्गीकरण है।' इस कथन की समीक्षा कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न : -

प्रश्न 1. वैशेषिक दर्शन के मूल प्रवर्तक ऋषि कौन हैं?

(क) महर्षि गौतम **(ख) महर्षि कणाद** (ग) महर्षि कपिल (घ) महर्षि पतंजलि

प्रश्न 2. वैशेषिक दर्शन के अनुसार मूल (भाव) पदार्थों की संख्या कितनी है?

(क) 4 (ख) 5 **(ग) 6** (घ) 9

प्रश्न 3. 'पदार्थ' के अनिवार्य लक्षण निम्नलिखित में से कौन-से हैं?

(क) अस्तित्व (ख) ज्ञेयत्व (ग) अभिधेयत्व **(घ) उपर्युक्त सभी**

प्रश्न 4. वैशेषिक मत के अनुसार द्रव्यों (Substances) की कुल संख्या कितनी मानी गई है?

(क) 5 (ख) 7 **(ग) 9** (घ) 24

प्रश्न 5. निम्नलिखित में से कौन-सा तत्व 'द्रव्य' के अंतर्गत नहीं आता है?

(क) आकाश (ख) काल (समय) **(ग) गंध** (घ) मन

उत्तर: गंध (गंध एक श्गुणश है, द्रव्य नहीं)।

प्रश्न 6. महर्षि कणाद के वैशेषिक दर्शन में कुल कितने 'गुण' (Qualities) स्वीकार किए गए हैं?

(क) 9 (ख) 16 (ग) 17 **(घ) 24**

उत्तर: 24 (मूल सूत्र में 17 थे, बाद में प्रशस्तपाद ने बढ़ाकर 24 किए)।

प्रश्न 7. किसी वस्तु को ऊपर की ओर फेंकना, श्कर्मश के किस भेद के अंतर्गत आता है?

(क) अवक्षेपण **(ख) उत्क्षेपण** (ग) आकुंचन (घ) गमन

प्रश्न 8. अनेक वस्तुओं में रहने वाली एक समान जाति या अनुवृत्ति को क्या कहा जाता है?

(क) विशेष **(ख) सामान्य** (ग) समवाय (ग) द्रव्य

प्रश्न 9. दो ऐसी वस्तुओं का अविनाशी या नित्य संबंध जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता, क्या कहलाता है?

(क) संयोग **(ख) समवाय** (ग) विशेष (घ) साधर्म्य

प्रश्न 10. किस पदार्थ की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करने के कारण इस दर्शन का नाम श्वैशेषिकश पड़ा?

(क) द्रव्य (ख) सामान्य **(ग) विशेष** (घ) अभाव

प्रश्न 11. बाद के न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों ने श्अभावश (।इींअं) को मिलाकर कुल कितने पदार्थ माने हैं?

(क) 6 **(ख) 7** (ग) 8 (घ) 10

इकाई- 1.4 द्रव्य-गुण एवं कर्म के भेद

उद्देश्य :-

1. **पदार्थों के स्वरूप का सूक्ष्म ज्ञान :** संसार की भौतिक (Material) और अभौतिक (Non&material) सत्ताओं के मूल घटकों को अलग-अलग पहचानना।
2. **कार्य-कारण सिद्धांत** (Causality) **को समझना :** सृष्टि की उत्पत्ति में कौन-सा द्रव्य कारण बनता है और उसमें कौन-से गुण या क्रियाएँ सहायक होती हैं, इसका तार्किक विश्लेषण करना।
3. **विवेक ख्याति (तत्वज्ञान):** आत्मा को जड़ द्रव्यों (शरीर, मन, इंद्रियों), उनके गुणों और सांसारिक कर्मों से पृथक समझकर मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करना।

वैशेषिककार द्रव्य के नौ, गुण के चौबीस तथा कर्म के पांच भेद कहे हैं, जो इस प्रकार है।

द्रव्य के नौ भेद - द्रव्य के नौ भेद बताते हुये महर्षि कहते हैं-

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि। (1.1.5.)

अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, एवं मन ये नौ द्रव्य हैं। सूत्र में 'इति' पद संख्या को निधारित करने वाला है। तात्पर्य यह है कि नौ ही द्रव्य है 'तम' (अंधकार) इत्यादि दसवां द्रव्य नहीं होता है, जैसा कि नव्य नैयायिको के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। 'तम' तेज का अभावमात्र है न कि भावात्मक द्रव्य जैसा कि वैशेषिककार ने कहा है-

द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः। (5.2.15.)

अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म की सिद्धि के वैधर्म्य होने से वस्तुतः तेजोऽभाव ही अन्धकार है। अन्धकार कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है।

तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च। (5.2.20.)

तेज के अन्य द्रव्य द्वारा रूक जाने से प्रकाश का अभावरूप अन्धकार होता है, अतः वह तेजोऽभाव ही है। इसलिए नौ ही द्रव्य होते हैं। सूत्र में 'इति' पद का यही तात्पर्य है।

गुणों के चौबीस भेद

द्रव्य के भेदो का वर्णन करने के पश्चात् सूत्रकार गुणों के भेद बताया है-

रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ
परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वोषौ प्रयत्नाश्च गुणाः। (1.1.6.)

अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि (ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न - ये सत्रह गुण सूत्रकार ने अपने कण्ठ से स्पष्ट कहा है। इसके अतिरिक्त शेष सात गुणों (गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अर्धम और शब्द) का समावेश सूत्रगत 'च' पद से गृहित होता है। जैसा कि भाष्यकार लिखते है-

चशब्दसमुच्चिताश्च गुरुत्वद्रवत्वस्नेह संस्कारादृष्टशब्दाः
सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः। (प्रश.भा.)

इन चौबीस गुणों के अवान्तरभेद होने से असंख्य भेद हो जाते है। प्रमुख अवान्तरभेद सहित गुणों का उल्लेख निम्न प्रकार है-

1) **रूप**- शुक्ल, लाल, नीला, पीला, हरा, भूरा, काला, इत्यादि रूप के अनेक भेद हो जाते हैं।
2) **रस**- षड्रस के रूप में मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय रस के भेद प्रसिद्ध है। इनके भी अवान्तर भेद करने से असंख्य रस के भेद हो जाते है।
3) **गन्ध**- मुख्य मुख्य रूप से सुरभि एवं असुरभि (सुगन्ध) एवं दुर्गन्ध के भेद से गन्ध के दो भेद होते है। परन्तु सुगन्ध भी नानाप्रकार के तथा दुर्गन्ध के भी नाना भेद होने से असंख्य गन्ध के भेद हो जाते है।
4) **स्पर्श**- उष्ण, शीत, अनुष्णाशीत, मृदु (मुलायम), कठोर, तीक्ष्ण (नुकीला), खुरदरा, चिकना इत्यादि स्पर्श के भेद होते है।
5) **संख्या**- एकत्व, द्वित्व से लेकर अनन्त भेद संख्या के हो जाते है।
6) **परिमाण**- परिमाण के चार भेद होते हैं- (क) महत् (ख) अणु (ग) ह्रस्व (घ) दीर्घ।
7) **पृथक्त्व**- यह सभी द्रव्यों में रहने वाला सामान्य गुण होता है। एकपृथक्त्व, द्विपृथक्त्व इत्यादि नामों से जाना जाता है।
8) **संयोग**- यह तीन प्रकार का होता है- (क) अन्यतरकर्मज संयोग (ख) उभयकर्मज संयोग (ग) संयोगज संयोग।
9) **विभाग**- संयोग की भांति विभाग भी तीन प्रकार का होता है - (क) अन्यतरकर्मज विभाग (ख) उभयकर्मज विभाग (ग)

विभागज विभाग।

10) **परत्व**- यह दो प्रकार का होता है- (क) कालिक परत्व (ख) दैशिक परत्व। कालिक परत्व से ज्येष्ठत्व (पुरातनता) का व्यवहार होता है तथा दोशिक परत्व से विप्रकृष्टता (दूरता) का व्यवहार होता है।

11) **अपरत्व**- परत्व की भांति अपरत्व भी दो प्रकार का होता है- (क) कालिक अपरत्व (ख) दैशिक अपरत्व। कालिक अपरत्व से काल की दृष्टि से कनिष्ठत्व (नवीनता) का व्यवहार होता है तथा दैशिक अपरत्व से देश की दृष्टि से निकटता का व्यवहार होता है।

12) **बुद्धि (ज्ञान)**- बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान ये सभी पर्यायवाचक शब्द है। इसके मुख्यत: दो भेद होते है - (क) विद्या (ख) अविद्या। प्रत्यक्ष, लैङ्गिक, स्मृति एवं आर्षज्ञान के भेद से विद्या के चार भेद हो जाते है। इसी प्रकार संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय एवं स्वप्न के भेद से अविद्या के भी चार भेद हो जाते हैं।

13) **सुख**- अनुकूल वेदना (अनुभूति) का नाम सुख होता है। यह प्राय: सभी जीवों में एक ही प्रकार का होता है। स्रक् (माला), चन्दन, वनिता (स्त्री) इत्यादि आलम्बन भेद से इसके अनेक साधन सिद्ध होते हैं।

14) **दु:ख**- प्रतिकूल वेदना (अनुभूति) का नाम दु:ख है। यही भी सुख की भांति प्राय: सभी जीवों में एक प्रकार का होता है। अहि (सर्प), विष, कष्टकादि रूप साधन भेद से इसके अनेक साधन होते हैं।

15) **इच्छा**- अप्राप्त विषयों की प्राप्ति की अभिलाषा को इच्छा कहते है। काम, अभिलाषा, राग, संकल्प, कारुण्य, वैराग्य, उपधा, भाव इत्यादि इच्छा के भेद हैं।

16) **द्वेष**- सन्ताप लक्षण वाला द्वेष होता है। क्रोध, द्रोह, मन्यु, अक्षमा, अमर्ष इत्यादि द्वेष के भेद है।

17) **प्रयत्न**- प्रयत्न, संरम्भ, उत्साह ये सभी पर्यायवाचक शब्द है। यह दो प्रकार को होता है- (क)जीवन पूर्वक (ख) इच्छा द्वेषपूर्वक।

18) **गुरुत्व**- यह जल एवं पृथिवी के पतन रूपी कर्म का कारण होता है। यह अदृश्य होता हुआ भी पतन रूपी क्रिया से अनुमेय है।

19) द्रवत्व- यह जल का गुण होता है। स्यन्दन कर्म का कारण होता है। यह दो प्रकार का होता है (क) सांसिद्धिक द्रवत्व (ख) नैमित्तिक द्रवत्व।

20) **स्नेह**- यह भी जल का गुण होता है जो संग्रह (बिखरे हुये पार्थिव कणों को एकत्रित करना) एवं स्वच्छता का हेतु होता है।

21) **संस्कार** - **<u>यह तीन प्रकार का होता है</u>** - (क) वेग (ख) भावना (ग) स्थितिस्थापक।

22) **धर्म**- यह आत्मा का गुण होता है। यह दो प्रकार का होता है। (क) सामान्य धर्म (ख) विशेष धर्म। अहिंसा आदि सामान्य धर्म कहे जाते है तथा प्रत्येक वर्णाश्रमियों के लिए विहित अलग-अलग धर्म विशेष कहे जाते है। अहिंसा आदि भेद से सामान्य धर्म के दस भेद हो जाते हैं।

23) **अधर्म**- यह भी आत्मा का धर्म है। वेद-शास्त्र के निषिद्धाचरण से उत्पन्न होता है। हिंसा, चोरी, अब्रह्मचर्य इत्यादि इसके भी दस भेद हो जाते है।

24) **शब्द**- यह श्रोत्रेन्द्रि से ग्राह्य आकाश का गुण होता है; क्षणिक एवं अनित्य होता है। इसके दो भेद होते है- (क) वर्णात्मक शब्द (ख) ध्वन्यात्मक शब्द। इस प्रकार अवान्तर भेद सहित गुणों के चौबीस भेदों का वर्णन महर्षि कणाद ने वैशेषिक दर्शन में किया है।

कर्म के भेद

कर्म का भेद का उल्लेख करते हुये वैशेषिककार लिखते हैं-

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि। (1.1.7)

उत्क्षेपण, अवक्षेपण (अपक्षेपण), आकुञ्चन, प्रसारण एवं गमन - ये कर्म के पांच भेद होते हैं।

1) **उत्क्षेपण**- ऊर्ध्वदेश के साथ वस्तु का संयोग एवं अध:देश से वस्तु के विभाग रूपी क्रिया को उत्क्षेपण कहते है। इसमें वस्तु उपर की ओर गति करती है।

2) **अवक्षेपण (अपक्षेपण)**- किसी वस्तु का अध:देश के साथ संयोग एवं ऊर्ध्वदेश से विभाग की क्रिया को अवक्षेपण कहते है। इसमें वस्तु में पतन की क्रिया होती है।

3) **आकु**ञ्चन- सीधे फैले हुये द्रव्य के अग्रिमभाग के अवयवों का उसके स्थित देशों से विभाग एवं मूलप्रदेशों के साथ संयोग रूपी क्रिया को 'आकुञ्चन कहते है। इससे सीधा फैला हुआ द्रव्य सिकुड़ जाता है।

4) **प्रसारण**- आकुञ्चन के विपरीत मूल प्रदेशों से अवयवों का विभाग तथा उत्तरदेशों के साथ संयोग की क्रिया को प्रसारण

कहते है। इसमें सिकुड़ी हुई वस्तु पुनः फैल (सीधी हो) जाती है।

5) **गमन**- किसी वस्तु में अनियतदिग्देश में संयोग एवं विभागपूर्वक होने वाली क्रिया को गमन कहते है। निष्क्रमण, प्रवेशन, स्यन्दन, घूर्णन, परिभ्रमण इत्यादि अनेक भेद होते है।

स्मरणीय बिंदु : -

- **कारणत्वः** द्रव्य हमेशा अपनी अगली अवस्था (कार्य रूप वस्तु) का समवायि कारण होता है (जैसे मिट्टी घड़े का समवायि कारण है)।
- **गुण और कर्म की पराधीनताः** गुण और कर्म कभी भी स्वतंत्र नहीं रह सकते, वे हमेशा किसी न किसी द्रव्य के भीतर ही उत्पन्न और नष्ट होते हैं।
- **गुण बनाम कर्मः** गुण एक स्थिर (Static) विशेषता है, जबकि कर्म एक गतिशील (Dynamic) प्रक्रिया है।
- **परमाणु रूप द्रव्यः** पृथ्वी, जल, तेज और वायु जब अपने मूल रूप में होते हैं तो 'परमाणु' कहलाते हैं और वे नित्य (अविनाशी) होते हैं।

मुख्य शब्दावली : -

- **गुणी (Guni):** वह द्रव्य जिसके अंदर गुण निवास करते हैं (जैसे फूल श्गुणीश है और सुगंध उसका 'गुण' है)।
- **परिमाण (Dimension):** किसी द्रव्य का आकार या माप (जैसे-अणु, महत्व, दीर्घ, ह्रस्व)।
- **संस्कार (Tendency/Velocity):** गुणों का एक भेद जो क्रिया को निरंतरता देता है, जैसे वेग (Speed) या स्थि. तिस्थापकता (म्सेंजपबपजल)।
- **परत्व और अपरत्व (Proñimity and Distance):** काल और दिशा के संदर्भ में दूर (पर) और पास (अपर), या आयु में ज्येष्ठ और कनिष्ठ होने का बोध कराने वाले गुण।
- **अणुरूप (Atomic):** वैशेषिक दर्शन में मन और परमाणुओं को अणुरूप यानी अत्यंत सूक्ष्म और अविभाज्य माना गया है।

5 अंक के प्रश्न : -

प्रश्न 1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार श्द्रव्यश किसे कहते हैं? इसके भेदों की संख्या लिखिए।
प्रश्न 2. नव द्रव्यों (9 द्रव्यों) में से कौन-से द्रव्य नित्य और सर्वव्यापी माने गए हैं?
प्रश्न 3. 'मन' को वैशेषिक दर्शन में द्रव्य क्यों माना गया है और इसका परिमाण (आकार) क्या है?
प्रश्न 4. 'गुण' की परिभाषा लिखिए तथा महर्षि कणाद द्वारा मूल रूप से स्वीकृत गुणों की संख्या बताइए।
प्रश्न 5. गुणों के अंतर्गत श्परत्वश और श्अपरत्वश का क्या अर्थ है? उदाहरण सहित समझाइए।
प्रश्न 6. 'कर्म' पदार्थ का क्या स्वरूप है? यह गुणों से किस प्रकार भिन्न है?
प्रश्न 7. कर्म के पाँच भेदों को सूचीबद्ध करते हुए श्आकुंचनश और श्प्रसारणश का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
प्रश्न 8. पृथ्वी, जल, तेज और वायु द्रव्यों के विशेष (असाधारण) गुणों के नाम लिखिए।

15 अंक के प्रश्न : -

प्रश्न 1. वैशेषिक दर्शन के आधार पर श्द्रव्यश पदार्थ की सविस्तार समीक्षा कीजिए तथा इसके नौ भेदों का वर्गीकरण प्रस्तुत कीजिए।
प्रश्न 2. 'गुण द्रव्य पर आश्रित होते हैं।' इस कथन की व्याख्या करते हुए वैशेषिक मत में प्रतिपादित २४ गुणों का वर्गीकरण और उनका दार्शनिक महत्व स्पष्ट कीजिए।
प्रश्न 3. 'कर्म' पदार्थ से क्या तात्पर्य है? कर्म के पाँचों भेदों की सोदाहरण व्याख्या कीजिए तथा यह भी स्पष्ट कीजिए कि कर्म किन द्रव्यों में संभव है और किनमें नहीं?
प्रश्न 4. द्रव्य, गुण और कर्म के आपसी संबंधों (साधर्म्य और वैधर्म्य) की तार्किक विवेचना कीजिए। यह वर्गीकरण सृष्टि के विकास को समझने में किस प्रकार सहायक है?

भारतीय दर्शन के वैशेषिक दर्शन के अंतर्गत प्रथम तीन पदार्थों - द्रव्य, गुण और कर्म के भेदों पर आधारित महत्वपूर्ण बहुविकल्पीय प्रश्नों (MCQs) का संकलन नीचे दिया गया है:

बहुविकल्पीय प्रश्न : -

प्रश्न 1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्यों (Substances) की कुल संख्या कितनी है?

(क) 5 (ख) 6 **(ग) 9** (घ) 24

प्रश्न 2. निम्नलिखित में से कौन-सा द्रव्य श्मूर्त्तश (जिसका निश्चित आकार हो) और 'अणु परिमाण' (अत्यंत सूक्ष्म) वाला माना गया है?

(क) आकाश (ख) आत्मा **(ग) मन** (घ) काल

प्रश्न 3. वैशेषिक मत के अनुसार 'गंध' किस द्रव्य का विशेष या असाधारण गुण है?

(क) जल **(ख) पृथ्वी** (ग) वायु (घ) तेज

प्रश्न 4. 'शब्द' (ध्वनि) निम्नलिखित में से किस द्रव्य का विशेष गुण माना गया है?

(क) वायु (ख) मन (ग) दिक **(घ) आकाश**

प्रश्न 5. नव द्रव्यों में से 'आत्मा' के कितने भेद स्वीकार किए गए हैं?

(क) दो (जीवात्मा और परमात्मा) (ख) तीन (सत, रज, तम)

(ग) पाँच (पंचप्राण) (घ) आत्मा का कोई भेद नहीं है

प्रश्न 6. प्रशस्तपाद भाष्य के अनुसार वैशेषिक दर्शन में गुणों की कुल संख्या कितनी मानी गई है?

(क) 9 (ख) 17 **(ग) 24** घ 100

प्रश्न 7. 'शीत स्पर्श' (ठंडा अनुभव होना) किस द्रव्य का स्वाभाविक गुण है?

(क) वायु (ख) तेज **(ग) जल** (घ) पृथ्वी

प्रश्न 8. दिशा और समय के आधार पर श्दूरश (पर) और 'पास' (अपर) का बोध कराने वाले गुण क्या कहलाते हैं?

(क) संयोग और विभाग **(ख) परत्व और अपरत्व**

(ग) बुद्धि और संस्कार (घ) परिमाण और पृथक्त्व

प्रश्न 9. किसी गतिशील वस्तु की गति को बनाए रखने वाले 'वेग' (Speed) को गुणों के किस भेद में रखा जाता है?

(क) प्रयत्न (ख) परिमाण **(ग) संस्कार** (घ) द्रवत्व

प्रश्न 10. वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'कर्म' (Action/Motion) के कितने भेद होते हैं?

(क) 3 **(ख) 5** (ग) 9 (घ) 24

प्रश्न 11. किसी वस्तु को नीचे की ओर फेंकने या झुकाने की क्रिया को कर्म का कौन-सा भेद कहा जाता है?

(क) उत्क्षेपण **(ख) अवक्षेपण** (ग) आकुंचन (घ) प्रसारण

प्रश्न 12. हाथ या पैर को सिकोड़ने की क्रिया, कर्म के किस भेद के अंतर्गत आती है?

(क) प्रसारण (ख) गमन **(ग) आकुंचन** (घ) अवक्षेपण

प्रश्न 13. भ्रमण (घूमना), रेचन (बहना) और स्यंदन (काँपना) को कर्म के किस मुख्य भेद के अंतर्गत समाहित किया जाता है?

(क) उत्क्षेपण **(ख) गमन** (ग) प्रसारण (घ) आकुंचन

इकाई-1.5 द्रव्य-गुण एवं कर्म के लक्षण

उद्देश्यः -

1. **जड़ और चेतन का विवेकः** द्रव्य, गुण और कर्म के लक्षणों को स्पष्ट करके यह समझाना कि आत्मा (चेतन) शरीर और मन (जड़) से किस प्रकार भिन्न है।
2. **सृष्टि के निर्माण की वैज्ञानिक व्याख्याः** यह स्पष्ट करना कि मूल परमाणु (द्रव्य) आपस में किस प्रकार गति (कर्म) करते हैं और नए गुणों (गुण) को धारण कर इस दृश्य जगत की रचना करते हैं।
3. **तत्वज्ञान द्वारा निःश्रेयस (मोक्ष):** जब मनुष्य जड़ द्रव्यों, सांसारिक गुणों और भौतिक कर्मों के वास्तविक लक्षणों को समझ लेता है, तब वह उनसे मोह छोड़कर मोक्ष की ओर अग्रसर होता है।

द्रव्य-गुण एवं कर्म के उद्देश (नामोल्लेख/कथनमात्र) के पश्चात् उनके लक्षण बताने के क्रम में सर्वप्रथम सूत्रकार द्रव्य का लक्षण बताते हैं।-

क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्। (1.1.15)

क्रिया एवं गुण तथा समवायिकारण वाला होना यह द्रव्य का लक्षण है। अर्थात् जो क्रियावान्, गुणवान् एवं समवायिकारण वाला हो वह द्रव्य कहलाता है।

प्रस्तुत सूत्रवचन में तीनों पदों के समायोजन में विशेष प्रयोजन है। यदि सूत्रकार **'क्रियावदिति** द्रव्यलक्षणम्' इतना ही कहते तो अव्याप्तिदोष हो जाता, क्योंकि नौ द्रव्यों मे पृथिवी, जल, तेज, वायु, एवं मन केवल इन पांच द्रव्यों में यह लक्षण घटित होता है। शेष चार द्रव्यों आकाश, काल, दिशा एवं आत्मा निष्क्रिय होने से उनमे लक्षण की अव्याप्ति है। इस कारण से सूत्रकार ने लक्षणसूत्र में अग्रिम पद 'गुणवत्' भी पढ़ा है। शेष चार निष्क्रिय द्रव्य भी गुणवान् होने से द्रव्य की श्रेणी में आ जाते है। इसलिए अव्याप्ति दोष का वारण हो जाता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि **'क्रियागुणवदिति द्रव्यलक्षणम्'** इतना कह देने से ही नौ द्रव्यों में लक्षण व्याप्त हो जाता है, तब **'समवायिकारणम्'** इस अतिरिक्त पद की क्या आवश्यकता?

इसके समाधान में आचार्यों का कहना है कि अभी भी अव्याप्तिदोष का पूर्ण वारण नहीं हो पा रहा है। कारण यह है कि उत्पद्यमान आद्यक्षण में स्थित कार्यद्रव्य में अभी भी लक्षण व्याप्त नहीं हो पा रहा है। इस कारण से अव्याप्तिदोष अभी भी है। वैशेषिक के मत में उत्पत्ति के आद्यक्षण में कार्य निर्गुण एवं निष्क्रिय होता है। क्योंकि गुणों एवं कर्मों का आश्रय द्रव्य ही होता है। पहले आश्रय की सत्ता सिद्ध होने के बाद ही आश्रित की सत्ता सिद्ध होनी चाहिए। अतएव जिसक्षण में आश्रयद्रव्य की उत्पत्ति होती है, उस क्षण में आश्रित गुण एवं कर्म की उत्पत्ति को स्वीकार करना न्यायसंगत नहीं है। एतदर्थ गुण एवं कर्म की उत्पत्ति एक क्षण बाद की मानी जाती है। फलतः उत्पत्ति के आद्यक्षण में कार्यद्रव्य निर्गुण एवं निष्क्रिय होने से **'क्रियागुणवत् इति द्रव्यलक्षणम्'** यह लक्षण घटित नहीं हो रहा है। जबकि उत्पत्ति के आद्यक्षण में भी वह द्रव्य ही कहलाता है, ऐसे में उपरोक्त लक्षण अव्याप्त होने से अग्रिम **'समवायिकारणम्'** पद को लक्षणसूत्र में सूत्रकार ने पढ़ा।

उत्पत्ति के शुरुआती क्षण में कार्यद्रव्य भले ही गुण एवं कर्म से रहित रहता हो परन्तु समवायिकारण अर्थात अपने उपादानकारण से युक्त रहता ही है इस 'समवायिकारण' के आधार पर आद्यक्षण में उत्पद्यमान कार्यद्रव्यों में द्रव्यत्व का कथन सा. र्थक हो जाता है। परिणामतः कारणद्रव्य, कार्यद्रव्य एवं कारण-कार्यरहित आत्मा सदृश नित्य द्रव्यों सहित सभी नौ द्रव्यों में लक्षण की व्याप्ति घटित हो जाने से **''क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम''** यह द्रव्य का लक्षण अतिव्याप्ति, अव्याप्ति एवं असम्भव इन त्रिविधदोषों से रहित सिद्ध होता है। जिसके कारण जगत् के सम्पूर्ण द्रव्यों का समावेश इसी लक्षण से हो जाता है।

गुण का लक्षण

द्रव्य के लक्षण के अव्यवहितपश्चात् गुण का लक्षण करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्। (1.1.16)

द्रव्य का आश्रय रहने वाला, गुणरहित, तथा संयोग-विभाग में अनपेक्ष अकारण होना यह गुण का लक्षण है। तात्पर्य यह है कि जो द्रव्य के आश्रय रहते हुये गुणरहित हो तथा संयोग-विभाग में अनपेक्ष (निरपेक्ष) अकारण अर्थात् सापेक्ष कारण हो उसे गुण कहते हैं।

रूपादि चौबीसों गुण द्रव्याश्रित होते है, इसलिए सूत्रकार ने सूत्र में **'द्रव्याश्रय्यी'** पद पढ़ा है। केवल इतना कहने पर भी गुण का लक्षण पूर्ण नहीं होता, कारण यह है कि द्रव्याश्रयी तो स्वयं कार्यद्रव्य भी होता है। कार्य घटद्रव्य अपने कारण परमाणु

रूपी द्रव्यों पर आश्रित रहता है। अतएव **'द्रव्याश्रय्यीति गुणलक्षणम्'** इतना ही लक्षण कर देने पर गुणों के अतिरिक्त कार्यद्रव्यों तथा साथ ही कर्मों में भी लक्षण अतिव्याप्त होने लगता। इसलिए कार्यद्रव्यों से अतिव्याप्तिदोष को हटाने के लिए सूत्रकार ने सूत्र में अग्रिम पद 'अगुणवान्' पढ़ा है। ऐसा कहने से कार्यद्रव्य से अतिव्याप्तिदोष का वारण हो जाता है। कारण यह है कि कार्यद्रव्य कारणद्रव्य के आश्रित तो रहता है परन्तु वह गुणवान् होता है अगुणवान् नहीं। इसलिए कार्यद्रव्य से अतिव्याप्तिदोष का वारण हो जाता है। इतना कहने पर भी कर्मों में लक्षण अतिव्याप्त हो रहा है। कर्म भी द्रव्याश्रित होते हुये अगुणवान् होते हैं, अर्थात कर्म में गुण नहीं होते हैं। अतएव **'द्रव्याश्रय्यगुणवान्'** यह लक्षण अभी भी कर्म में अतिव्याप्त हो रहा है। कर्म से अतिव्याप्ति हटाने के लिए सूत्रकार ने अग्रिम पद **'संयोगविभागेष्वकारणम्'** पढ़ा है। उत्क्षेपणादि कर्म संयोग-विभाग में कारण होते है न कि अकारण। 'अकारणम्' कह देने से कर्मों से अतिव्याप्तिदोष का वारण हो जाता है। परन्तु इतना करने के पश्चात् भी दोषों का पूर्णत: निवारण न हो सका। अतिव्याप्ति तो हट गयी परन्तु एक नया दोष अव्याप्तिदोष हो गया।

उपरोक्त लक्षण के अनुसार जो द्रव्य का आश्रय होता हुआ गुणरहित हो तथा संयोग-विभाग में अकारण हो उसे गुण कहते है। ऐसा लक्षण करने से स्वयं संयोग एवं विभाग नामक गुण ही गुण की सीमा से बाहर हो गए। कारण यह है कि संयोग एवं विभाग किसी दूसरे संयोग-विभाग में कारण होते है न कि अकारण। उपरोक्त लक्षण में गुण को अकारण कहा गया है जिससे संयोग-विभाग में लक्षण व्याप्त न होने से अव्याप्तिदोष का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है। संयोग एवं विभाग को भी महर्षि ने गुण के अन्तर्गत रखा है। इसलिए सम्पूर्ण गुणसमुदाय मे लक्षण घटित होना चाहिए। एक संयोग-विभाग का दूसरे संयोग-विभाग में कारण होने का दृष्टान्त इस प्रकार है- हस्त-पुस्तक संयोग से जन्य शरीर-पुस्तक संयोग है। यहां पर एक संयोग (हस्त-पुस्तक संयोग) दूसरे संयोग (शरीर-पुस्तक संयोग) में कारण सिद्ध होता है। इसी प्रकार हस्त-पुस्तक विभाग से शरीर-पुस्तक विभाग हो जाता है। यहां भी एक विभाग (हस्त-पुस्तक विभाग) दूसरे विभाग (शरीर-पुस्तक विभाग) में कारण सिद्ध होता है। अतएव संयोग-विभाग स्वयं संयोग-विभाग में कारण होता है। इसलिए **'संयोगविभागेषु अकारणम्'** यह लक्षण संयोग विभाग में घटित नहीं हो रहा है। उनमें भी लक्षण को घटाने के निमित्त से सूत्रकार ने सूत्र में 'अनपेक्ष' पद को पढ़ा है। ''संयोगविभागेषु अकारणम् अनपेक्ष'' का अर्थ होता है- संयोग-विभाग में सापेक्षकारण। क्योंकि 'अकारण' एवं 'अनपेक्ष' वे दोनों में 'नञ्' समास है। दोहरा नकारात्मक पद का प्रयोग अर्थ को सकारात्मक बना देता है। इसलिए 'अकारणम् अनपेक्ष' का तात्पर्य 'सापेक्षकारण' होता है। फलत: एक संयोग-विभाग दूसरे संयोग-विभाग में सापेक्षकारण होता ही है। इसलिए संयोग-विभाग में जो अव्यप्ति दोष हो रहा या उसका वारण हो जाने से गुण का त्रिविधदोषरहित परिपूर्ण लक्षण- द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् सिद्ध होता है।

कर्म का लक्षण

द्रव्य एवं गुण के लक्षण के अनन्तर सूत्रकार कर्म का लक्षण बताते हुये कहते हैं-

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्। (1.1.17)

एक द्रव्य में आश्रित रहना, गुणरहित अथवा गुण का अनाश्रय, संयोग और विभागों की उत्पत्ति में अन्य की अपेक्षा न रखते हुये कारण होना, यह कर्म का लक्षण है।

जब कोई कर्म होता है, तो उसका आश्रय द्रव्य केवल एक रहता है। एक कर्म उसी काल में अनेक द्रव्यों में नहीं हो सकता। जिस प्रकार संयोग-विभाग, द्वित्वादि संख्या, द्विपृथक्त्व आदि गुण अनेक द्रव्याश्रित रहते है, वैसे कर्म नहीं होता है। इसीलिए सूत्रकार ने सूत्र में **'एकद्रव्यं'** पढ़ा है। कर्म कभी भी गुण का आश्रय नहीं होता है। यहां आश्रयता समवायसम्बन्ध के आधार पर कही गयी है, इसी को सूत्रकार ने **'अगुणं'** पद से कहा है। आगे कर्म का लक्षण बताते हुए सूत्रकार **'संयोगविभागेषु अनपेक्षकारण ाम्'** कहा है। जिसका तात्पर्य है कि कर्म संयोग एवं विभाग की उत्पत्ति में निरपेक्ष कारण होता है। कर्म संयोग-विभाग को उत्पन्न करके निवृत्त हो जाता है। संयोग-विभाग कर्म से जन्य होते हैं परन्तु संयोग-विभाग के उत्पन्न होते ही कर्म नष्ट हो जाता है। अतएव कर्म संयोग-विभाग की उत्पत्ति में कारण तो होता है परन्तु संयोग-विभाग को उत्पन्न करके नष्ट हो जाने से अनपेक्षकारण (निरपेक्ष) कारण सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए किसी पत्थर के टुकड़े को लेते है। आकाश में फेका हुआ पत्थर जब नीचे की ओर पतित होकर भूमि के साथ संयोग करता तब कर्म का नाश हो जाता है। यहां भूमि एवं पत्थर के संयोग में पतन क्रिया ही कारण है परन्तु संयोग को उत्पन्न करके क्रिया निवृत्त हो जाती है। इसी को 'वृश्चिकप्रसूतान्याय' कहा जाता है। जिस प्रकार बिच्छु अपने बच्चे को जन्म देकर स्वयं मर जाती है, इसी प्रकार कर्म भी होता है। इसी कारण सूत्रकार ने **'कार्यविरोधिकर्म'** (1.1.14) ऐसा कहा है। तात्पर्य यह है कि कर्म अपने कार्य (संयोग-विभाग) के द्वारा ही नष्ट कर दिया जाता है। क्योंकि दोनों में परस्पर विरोध है। फलत: संयोग-विभाग की उत्पत्ति में कर्म निरपेक्षकारण सिद्ध होता है। यही गुणों के लक्षण से कर्म के लक्षण में विशेषता है। गुण संयोग विभाग की उत्पत्ति में सापेक्ष कारण होते हैं, जबकि कर्म निरपेक्ष कारण।

जो पदार्थ एक समय में एक ही द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से आश्रित रहे, तथा जो स्वयं गुणों का आश्रय न हो एवं संयोग

विभाग की उत्पत्ति में जो निरपेक्षकारण हो उसे कर्म कहते है। अन्ततः कर्म का यह लक्षण सिद्ध होता है। द्रव्य एवं गुण नित्य व अनित्य उभय प्रकार के होते है, जबकि कर्म सदैव अनित्य ही होता है, यह भी कर्म की विशेषता है।

स्मरणीय बिंदु : -

1. **द्रव्य स्वतंत्र है, गुण-कर्म पराश्रितः** द्रव्य गुण और कर्म के बिना रह सकता है (अपनी उत्पत्ति के पहले क्षण में), लेकिन गुण और कर्म कभी भी द्रव्य के बिना एक क्षण भी अस्तित्व में नहीं रह सकते।
2. **विभु द्रव्यों में कर्म का अभावः** जो द्रव्य 'विभु' (सर्वव्यापी) हैं - जैसे आकाश, काल, दिक् और आत्मा - उनमें कर्म (गति) नहीं हो सकता। गति केवल परिच्छिन्न (निश्चित आकार वाले) द्रव्यों जैसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन में ही संभव है।
3. **उत्पत्ति का नियमः** कोई भी कार्य रूप द्रव्य (जैसे घड़ा) अपनी उत्पत्ति के पहले क्षण में 'निर्गुण' और 'निष्क्रिय' होता है। दूसरे क्षण में उसमें गुण उत्पन्न होते हैं।

शब्दावली : -

1. **समवायि कारण (Inherent Cause):** वह मूल आधार जिसके बिना कार्य का अस्तित्व संभव न हो (जैसे कपड़ा बनने के लिए धागा समवायि कारण है)।
2. **निष्क्रियता (Inactivity):** गुणों की वह अवस्था जिसमें वे कोई भौतिक हलचल या गति नहीं कर सकते।
3. **संयोग और विभाग (Conjunction & Disjunction):** कर्म के द्वारा होने वाले दो कार्य। जैसे हाथ हिलाने पर हवा से हाथ का श्संयोगश होता है और जहाँ पहले हाथ था वहाँ से 'विभाग' (अलग होना) होता है।
4. **विभु (All & pervading):** वह द्रव्य जो सर्वव्यापी है, जिसकी कोई सीमा नहीं है (जैसे आकाश या परमात्मा)।
5. **मूर्त्त (Corporate/Formed):** जिसका कोई निश्चित आकार या सीमा हो (जैसे पृथ्वी का टुकड़ा या मन)।

5 अंक के प्रश्न : -

1. आयुर्वेद के अनुसार श्द्रव्यश का क्या लक्षण है? सूत्र सहित लिखिए।
2. वैशेषिक दर्शन के अनुसार श्गुणश की परिभाषा स्पष्ट कीजिए।
3. 'कर्म' का लक्षण क्या है? संक्षेप में समझाइए।
4. द्रव्य और गुण में मुख्य दो अंतर क्या हैं?
5. समवायि कारण किसे कहते हैं? द्रव्य के संदर्भ में इसका महत्व बताइए।
6. कर्म को 'अगुणम्' और 'एकद्रव्यम्' क्यों कहा गया है?
7. चरक संहिता के अनुसार श्गुणश का लक्षण क्या है?
8. 'संयोग और विभाग का निरपेक्ष कारण कर्म है' - इस कथन का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न : -

1. द्रव्य किसे कहते हैं? द्रव्य के मुख्य लक्षणों का उल्लेख करते हुए कारण द्रव्य और कार्य द्रव्य के वर्गीकरण को सविस्तार समझाइए।
2. गुण के लक्षण बताते हुए आयुर्वेद (चरक संहिता) में वर्णित 41 गुणों का वर्गीकरण (सार्थक, गुरुआदि, परादि और आत्म गुण) विस्तार से कीजिए।
3. कर्म के लक्षण की विवेचना कीजिए और वैशेषिक दर्शन के अनुसार कर्म के पाँच भेदों (उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि) को सोदाहरण समझाइए।
4. द्रव्य, गुण और कर्म के लक्षणों का तुलनात्मक वर्णन कीजिए तथा आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान में इनके व्यावहारिक महत्व पर प्रकाश डालिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न : -

प्रश्न 1. चरक संहिता के अनुसार, जिसमें कर्म और गुण समवाय संबंध से आश्रित रहते हैं और जो कार्य का समवायि कारण होता है, उसे क्या कहते हैं?

(क) गुण (ख) कर्म **(ग) द्रव्य** (घ) अभाव

प्रश्न 2. वैशेषिक दर्शन के अनुसार, जो द्रव्य के आश्रित रहता है, स्वयं गुणरहित होता है और संयोग-विभाग में स्वतंत्र कारण नहीं होता, उसे क्या कहा जाता है?

(क) कर्म **(ख) गुण** (ग) सामान्य (घ) समवाय

प्रश्न 3. ष्एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणीयम्ष् यह किस पदार्थ का लक्षण है?

(क) द्रव्य (ख) विशेष (ग) समवाय **(घ) कर्म**

प्रश्न 4. वैशेषिक दर्शन के अनुसार कारण द्रव्यों (नित्य द्रव्यों) की कुल संख्या कितनी मानी गई है?

(क) 5 (ख) 7 **(ग) 9** (घ) 24

प्रश्न 5. आयुर्वेद (चरक संहिता) के अनुसार कुल गुणों की संख्या कितनी बताई गई है?

(क) 24 **(ख) 41** (ग) 10 (घ) 20

इकाई- 1.6 द्रव्य-गुण-कर्म का परस्पर साधर्म्य

उद्देश्य : -

1. **धातुसाम्य क्रिया (आयुर्वेद का उद्देश्य):** आयुर्वेद का मूल उद्देश्य है शरीर के दोष, धातु और मलों को साम्यावस्था में लाना। जब शरीर में कोई धातु क्षीण (कम) हो जाती है, तो समान गुण वाले द्रव्य और आहार-विहार (कर्म) के द्वारा उसे बढ़ाया जाता है।
2. **सटीक चिकित्सा** (Rational Therapeutics)**:** किसी औषधि (द्रव्य) का चयन तब तक नहीं किया जा सकता जब तक उसके गुण (जैसे- गुरु, स्निग्ध) और उसके कर्म (जैसे- दीपन, पाचन, वमन) का स्पष्ट ज्ञान न हो।
3. **सृष्टि उत्पत्ति का ज्ञान** (Philosophical Understanding)**:** यह समझना कि ब्रह्मांड के मूल कारण द्रव्य क्या हैं, वे आपस में मिलकर कार्य द्रव्य कैसे बनाते हैं, और उनमें क्या परिवर्तन होते हैं।

महर्षि कणाद ने तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति में षड्पदार्थो के साधर्म्य एवं वैधर्म्यपूर्वक चिन्तन-मनन को भी कारण स्वीकार किया है। द्रव्यादि के लक्षणों से वैधर्म्य का कथन हो जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में साधर्म्य का वर्णन किया जा रहा है। द्रव्य-गुण एवं कर्म के परस्पर साधर्म्य का कथन करते हुये वैशेषिककार स्वयं अपने मुख से कहते हैं-

सदनित्यं द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणाम**विशेषः । (1.1.8)**

सत्ता वाला होना, अनित्य होना, द्रव्यसमवायिकारण वाला होना, उत्पन्न होना, कारण होना सामान्य-विशेष धर्म वाला होना- ये छः साधर्म्य है। क्रमशः एक-एक का उल्लेख निम्न प्रकार है-

1) **सत्तात्व**- द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों का साधर्म्य है 'सत्तात्व' अर्थात् सत्ता वाला होना। सत्ता सामान्य अर्थात् सत्ता जाति इन तीनों पदार्थों में सामान्य रूप से रहती है। सूत्र में 'सत्' पद का साधारण अर्थ 'होना' अथवा 'विद्यमान रहना' मात्र नहीं है। ऐसा अस्तित्व तो सामान्य, विशेष, समवाय नामक पदार्थो का भी है। इसी कारण छः भाव पदार्थों में इनकी गणना की गई है। उनका अस्तित्व होने पर भी 'सत्ता' जाति उनमें नहीं रहती। द्रव्य, गुण, कर्म तीन ही पदार्थ है जिनमें 'सत्ता' जाति रहती है। अतएव 'सत्तावत्व' तीनों पदार्थों का साधर्म्य है।

2) **अनित्यत्व**- द्रव्य, गुण एवं कर्म का दूसरा साधर्म्य है- 'अनित्यत्व'। अर्थात् द्रव्य-गुण-कर्म तीनों अनित्य भी होते है। सदा न रहने वाला विनाशी धर्म को अनित्य कहते हैं। कार्यद्रव्य, कार्यगुण एवं कर्म तीनों अनित्य होते है। अतः 'अनित्यत्व' तीनों पदार्थों का साधर्म्य है।

3) **द्रव्यवत्व/द्रव्याश्रितत्व**- द्रव्य-गुण-कर्म का तीसरा साधर्म्य है- 'द्रव्याश्रितत्व'। द्रव्य, गुण, कर्म ये तीनों द्रव्य के आश्रय वाले भी होते हैं। 'द्रव्यवत्व' पद में 'मतुप्' प्रत्यय 'नित्ययोग' अर्थ में है। नित्ययोग अर्थात् नित्य सम्बन्ध को वैशेषिक दर्शन में समवाय सम्बन्ध माना जाता है। इसके अनुसार अर्थ होता है- द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहना अथवा द्रव्य जिनका समवायिकारण हो। द्रव्य भी द्रव्य में समवायसम्बन्ध से आश्रित रहता है, यथा-कार्य घट-पटादि अपने कारणद्रव्य मिट्टी-तन्तु आदि में समवाय सम्बन्ध से आश्रित रहते हैं। रूपादि गुणों का आश्रय घट-पटादि द्रव्य होता ही है, तथा उत्क्षेपणादि कर्मो का आश्रय भी कन्द. ुकादि द्रव्य ही देखे जाते हैं। इसप्रकार 'द्रव्यवत्व' तीनों पदार्थों का साधर्म्य सिद्ध होता है।

4) **कार्यत्व**- द्रव्य, गुण एवं कर्म का चौथा साधर्म्य है- 'कार्यत्व'। जो उत्पन्न होता है, उसे कार्य कहते है। द्रव्य, गुण और कर्म ये तीनों उत्पन्न भी होते है। यथा-घट-पटादि कार्यद्रव्य उत्पन्न होते देखे जाते हैं। कार्य-द्रव्य के उत्पत्ति के साथ-साथ उनमें रूपादि गुणों की भी उत्पत्ति देखी जाती है तथा उत्क्षेपणादिकर्म हस्तादि में उत्पन्न होते हुये देखे ही जाते है। अतएव 'कार्यत्व' यह साधर्म्य तीनों पदार्थों (द्रव्य, गुण, कर्म) में सिद्ध होता है।

5) **कारणत्व**- द्रव्य, गुण, कर्म का पांचवाँ साधर्म्य है- 'कारणत्व'। जिससे कोई कार्य उत्पन्न होता है, उसे 'कारण' कहते है। द्रव्य, गुण एवं कर्म से भी किसी न किसी कार्य कि उत्पत्ति होती है। यथा-परमाणुरूपी द्रव्य से घटादि कार्यद्रव्य की उत्पत्ति, कारणगत रूपादि गुणों से कार्यद्रव्यों में रूपादि गुणों की उत्पत्ति तथा कर्म से संयोग, विभाग एवं वेग की उत्पत्ति। अतएव 'कारणत्व' यह साधर्म्य तीनों पदार्थों में सिद्ध होता है।

6) **समान्य-विशेषवत्व**- द्रव्य, गुण, कर्म का अन्तिम साधर्म्य सूत्रकार ने 'सामान्य-विशेषवत्व' बताया है। सूत्र के प्रथम 'सत्' पद की व्याख्या में 'सत्ता सामान्य का उल्लेख किया गया, प्रस्तुत पद से सामान्य-विशेष उभयरूप 'अपर' सामान्य का उल्लेख किया गया है। वैशेषिककार के मत में परसामान्य होते है। सामान्य का 'जाति' भी कहा जाता है। अनेक पदार्थों में समानबुद्धि को उत्पन्न करने का जो हेतु होता है उसे समान्य अर्थात् जाति कहते है। केवल समान बुद्धि को पैदा करे वह परसामान्य

कहलाता है, जिसे हम 'सत्ता' सामान्य के नाम से जानते है। जो समानबुद्धि अर्थात् अभेदबद्धि के साथ-साथ आंशिक रूप से भेदबुद्धि को भी उत्पन्न करे उसे अपरसामान्य कहते है। इसे परापरसामान्य भी कहा जाता है। अभेदबुद्धि (अनुवृत्तिबुद्धि) एवं भेदबुद्धि (व्यावृत्तिबुद्धि) दोनों को उत्पन्न करने के कारण इसे समान्य-विशेष उभय रूप कहा जाता है। अपरसामान्य के अन्तर्गत द्रव्यत्व, गुणत्व एवं कर्मत्व आते हैं। जैसा कि सूत्रवचन प्राप्त होता है-

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च। (1.2.5)

नौ द्रव्यों में 'यह द्रव्य है, यह द्रव्य है'- इस प्रकार की अभेदबुद्धि 'द्रव्यत्व' नामक सामान्य से ही उत्पन्न होती है। साथ ही यह गुण एवं कर्म नहीं है- इस प्रकार की भेदबुद्धि भी पैदा होती है। इसलिए 'द्रव्यत्व' सामान्य-विशेष सिद्ध होता है। चौबीस गुणों में 'यह गुण है' 'यह गुण है'- इस प्रकार का ज्ञान 'गुणत्व' नामक अपरसामान्य से ही उत्पन्न होता है, तथा साथ ही यह 'द्रव्य एवं कर्म नहीं है', इस प्रकार की भेदबुद्धि भी आंशिक रूप से उत्पन्न होती है। इसलिए 'गुणत्व' सामान्य-विशेष उभयरूप सिद्ध होता है। ठीक इसी प्रकार पांचो कर्मो में 'यह कर्म है' 'यह कर्म है',- इस प्रकार की अभेदबुद्धि 'कर्मत्व' नामक अपर सामान्य से उत्पन्न होती है तथा साथ ही 'यह द्रव्य एवं गुण नहीं है'- इस प्रकार की भेदबुद्धि भी उत्पन्न होती है। अतएव 'कर्मत्व' समान्य-विशेष उभय रूप सिद्ध होता है।

परिणामत: द्रव्य-गुण एवं कर्म इन तीनों द्रव्यों में द्रव्यत्व, गुणत्व व कर्मत्व रूपी 'सामान्य-विशेषवत्व' साधर्म्य सिद्ध होता है।

द्रव्य एवं गुण का **परस्पर साधर्म्य**- अब द्रव्य, गुण एवं कर्म तीनों के साधर्म्य बताया जा रहा है। इस विषय में सूत्रकार कहते हैं-

द्रव्यगुणयो: सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम्। (1.1.9)

द्रव्य एवं गुण का अपने समान जातीय पर्दार्थ को उत्पन्न करना साधर्म्य है। कहने का तात्पर्य है कि द्रव्य अपने समान जातीय द्रव्य को उत्पन्न करता है तथा गुण अपने समान जातीय गुण को उत्पन्न करता है। जैसे पृथिवी के परमाणु पृथिवीत्वजातीय द्रव्य को उत्पन्न करेंगे अन्य जलत्वजातीय द्रव्य को नहीं। इसी प्रकार जल के परमाणु जलत्वजातीय कार्यद्रव्य को उत्पन्न करेंगे पृथिवीत्वजातीय कार्यद्रव्य को नहीं। ऐसी ही व्यवस्था गुणों में भी देखी जाती है। जब कोई कारणगत गुण कार्यद्रव्य में किसी गुण को उत्पन्न करता है, तो वह सजातीय गुण को उत्पन्न करता है। तन्तुओं का नील या श्वेतरूप पट में नील अथवा श्वेतरूप को ही उत्पन्न करता है। सजातीय आरम्भकत्व को स्पष्ट करते हुये वैशेषिककार ने कहा है-

द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् । (1.1.10)

बहुत सारे द्रव्य मिलकर अन्य एक द्रव्य को उत्पन्न करते है तथा इसी प्रकार बहुत सारे कारणगुण मिलकर एक कार्यगुण को उत्पन्न करते हैं, यही सजातीयारम्भकत्व का तात्पर्य है। जैसे बहुत सारे तन्तु मिलकर एक पट को उत्पन्न करते है, तथा तन्तुगत बहुत सारे श्वेतगुण मिलकर कार्यपट में एक श्वेतगुण को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार द्रव्य एवं गुण में परस्पर 'सजातीयारम्भकत्व' रूप साधर्म्य है। कर्म को इसमें न कहे जाने से वह अपने समान जातीय पदार्थ की उत्पन्न नहीं करता है यह समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार बहुत सारे द्रव्य मिलकर एक द्रव्य को, बहुत सारे गुण मिलकर एक गुण को उत्पन्न करते है वैसे बहुत सारे कर्म मिलकर एक कर्म को उत्पन्न नहीं करते हैं। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है- **कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते** (1.1.11) अर्थात् कर्म, कर्म से जन्य नहीं होता है। अतएव द्रव्य एवं गुण से कर्म का यह वैधर्म्य हुआ।

द्रव्य-द्रव्य का परस्पर साधर्म्य

द्रव्य एवं द्रव्य का परस्पर साधर्म्य बताते हुये सूत्रकार कहते हैं-

न द्रव्यं कार्य कारण च वधति। (1.1.12)

कोई भी द्रव्य अपने कार्य और कारण को नष्ट नहीं करता है।

किसी कार्यद्रव्य के समवायिकारण उसके अवयव और असमवायिकारण उन अवयवों का संयोग होता है। मुख्य रूप से अवयवी द्रव्य का नाश उस द्रव्य के असमवायिकारण के नाश से होता है। यदि अवयवों का संयोग परस्पर न रहे तो उन अवयवों से बना अवयवी भी नहीं रहेगा। द्रव्य कभी किसी का असमवायिकारण नहीं होता, इसलिए वह अपने कार्यद्रव्य का नाश नहीं कर सकता। कार्यद्रव्य सदा अपने कारणद्रव्यों में समवेत रहता है, इसलिए यादि वह कारणद्रव्य का नाशक होता, तो अपना ही नाश करेगा; अपने आश्रय को नष्ट कर वह स्वयं कैसे रहेगा? फलत: द्रव्य न अपने कार्य का नाश करता है न ही कारण का। यही द्रव्य-द्रव्य का परस्पर साधर्म्य है।

गुण-गुण का साधर्म्य

गुण एवं गुण के संदर्भ में आचार्य लिखते हैं- **उभयथा गुणा:।** (1.1.13)

अर्थात् गुण दोनों प्रकार के होते हैं। जिस प्रकार से द्रव्य एवं द्रव्य के बीच साधर्म्य बताते हुये कहा गया कि 'वे अपने कार्य एवं कारण का नाश नहीं करते हैं' वैसे गुण एवं गुण के बीच अनिवार्य रूप से ऐसा नहीं होता है। कभी गुण अपने कारण का नाश कर देता है, तो कभी अपने कारण-गुणों का नाश नहीं भी करता है। यथा- संयोग आदि निमित्त से उत्पन्न होकर शब्द अपने से पूर्व वाले कारणशब्द का नाशक होता है। यह गुणों का परस्पर नाश्य-नाशक का उदाहरण है। कही-कही गुण अपने कारणगुण का नाश नहीं करते हैं। जैसे तन्तुओं के श्वेतरूप से उत्पन्न पट में जो कार्यश्वेत रूप है, वह अपने कारण तन्तुओं के श्वेतरूप को नष्ट नहीं करता। इस प्रकार गुण दोनों प्रकार से व्यवहार करते है। इनमें अनिवार्य रूप से नाश्य-नाशक का सम्बन्ध नहीं होता है।

कर्म-कर्म का परस्पर साधर्म्य

कर्मों में परस्पर अनिवार्य रूप से यह साधर्म्य होता है कि वे अपने कार्य से ही नाश्य होता है। जैसा कि सूत्रकार स्वयं कहते हैं- **कार्यविरोधि कर्म। (1.1.14)**

इस सूत्र में 'कार्यविरोधि' पद में बहुब्रीहि समास है। अर्थ यह है कि 'कार्य है विरोधि जिसका ऐसा यह कर्म होता है'। कर्म से वस्तु का अपने उत्तरदेश के साथ संयोग एवं पूर्वदेश से विभाग होता है। जब उत्तरदेश के साथ संयोग होता है तब कर्म का नाश माना जाता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर देशों के साथ वस्तु का संयोग होने से नाना कर्मों की सिद्धि होती है। किसी वस्तु में कोई कर्म होता है तो वह स्थिर नहीं होता है अपितु क्षणिक होता है। पूर्वदेश से वस्तु का विभाग एवं अव्यवहित उत्तरदेश के साथ संयोग तक एक कर्म माना जाता है, उसके पश्चात् पहले कर्म का नाश हो जाता है। इसके बाद दूसरा कर्म होता है। इस प्रकार कर्म का सातत्य होने से वस्तु में एक ही कर्म हो रहा है- ऐसा आभास होता है। इस प्रकार कर्म अपने कार्य के द्वारा नाश्य होता है- यह कर्म-कर्म का परस्पर साधर्म्य है। गुणों में भी नाश्य-नाशक सम्बन्ध होता है परन्तु वहाँ अनिवार्यता नहीं है। कर्मों में अनिवार्य होता है कि कर्म अपने कार्य से नाश्य होता ही है। यह कर्मों का अन्य से वैधर्म्य भी सिद्ध होता है।

उपरोक्त द्रव्य-गुण एवं कर्म के परस्पर साधर्म्य से उनके बीच समानता का बोध होता है इससे उनके स्वरूप का विशेष बोध नहीं होता है। उनके स्वरूप का विशेष परिचायक तो उनके अपने-अपने लक्षण ही है। जो अन्यों से उन्हे पृथक कराते है।

महत्वपूर्ण स्मरणीय बिंदु-

मूल सूत्रः द्रव्य आधार है, गुण उसकी विशेषता है, और कर्म उसकी क्रिया है।

- **द्रव्य ही प्रधान हैः** गुण और कर्म कभी भी स्वतंत्र रूप से हवा में तैरते हुए नहीं मिल सकते, उन्हें रहने के लिए हमेशा द्रव्य रूपी मकान की आवश्यकता होती है।
- **कारण और कार्य का नियमः** ९ कारण द्रव्यों (आकाश, वायु, आदि) से ही संसार के समस्त कार्य द्रव्यों (औषधि, अन्न, मानव शरीर) का निर्माण होता है।
- **चिकित्सा का सिद्धांतः** ष्सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्ष अर्थात् समान गुणों वाले द्रव्यों के सेवन से शरीर के समान तत्वों (दोष/धातु) की वृद्धि होती है और विपरीत गुणों से ह्रास (कमी) होता है।

मुख्य शब्दावली-

- **समवाय संबंध :** वह नित्य और स्थायी संबंध जो दो ऐसी वस्तुओं के बीच होता है जिन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता (जैसे गुण और गुणी का संबंध, या अग्नि और उसकी उष्णता का संबंध)।
- **अनपेक्षत्वः** कर्म का वह विशेष लक्षण जिसमें वह किसी अन्य क्रिया की सहायता लिए बिना, सीधे और स्वतंत्र रूप से संयोग या विभाग पैदा करने में समर्थ होता है।
- **भाव पदार्थ :**वह तत्व जिसका ब्रह्मांड में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वास्तविक और व्यावहारिक अस्तित्व (म्पेजमदबम) होता है; द्रव्य, गुण और कर्म इसी श्रेणी के अंतर्गत आते हैं।
- **साधर्म्यः** दो या दो से अधिक अलग-अलग पदार्थों के बीच पाए जाने वाले समान गुण या साझा विशेषताएं (जैसे द्रव्य, गुण और कर्म तीनों का श्सत्त्वश यानी अस्तित्व होना)।
- **वैधर्म्यः** पदार्थों के बीच पाई जाने वाली असमानता या वे विशिष्ट लक्षण जो एक पदार्थ को दूसरे से अलग करते हैं (जैसे गुण का निष्क्रिय होना और कर्म का गतिशील होना)।
- **कारण द्रव्यः** वे मूल और नित्य तत्व जिनसे पूरी सृष्टि या किसी भी कार्य द्रव्य का निर्माण होता है (इनकी संख्या 9 है, जैसे पंचमहाभूत, काल, दिशा, आत्मा और मन)।
- **कार्य द्रव्यः** कारण द्रव्यों के आपस में मिलने से उत्पन्न होने वाली अनित्य या विनाशी वस्तुएं (जैसे कोई औषधि, घट, वस्त्र या मानव शरीर)।

- **चेतन द्रव्य :** वे द्रव्य जिनमें चेतना, इन्द्रियां और जीवन के लक्षण पाए जाते हैं (जैसे मनुष्य, पशु और औषधीय वनस्पतियां।
- **अचेतन द्रव्य :** वे द्रव्य जो पूरी तरह निर्जीव और चेतना रहित होते हैं (जैसे मिट्टी, पत्थर या धातुएं)।
- **निश्चेष्टत्वः** यह श्गुणश का मुख्य लक्षण है, जिसका अर्थ है स्वयं किसी भी प्रकार की शारीरिक या भौतिक गति करने की क्षमता न होना।

लघु उत्तरीय प्रश्न :

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य, गुण और कर्म का सबसे मुख्य साधर्म्य क्या है? संक्षेप में लिखिए।
2. द्रव्य-गुण-कर्म के संदर्भ में श्सत्त्वश (अस्तित्व) साधर्म्य से क्या अभिप्राय है?
3. ष्द्रव्य, गुण और कर्म तीनों ही अनित्य हो सकते हैंष् ख्र इस कथन को कार्य रूप के आधार पर स्पष्ट कीजिए।
4. श्अनेकत्वश साधर्म्य को द्रव्य, गुण और कर्म की संख्या के आधार पर समझाइए।
5. गुण और कर्म दोनों का श्द्रव्याश्रितत्वश होना उनका परस्पर साधर्म्य कैसे है? स्पष्ट कीजिए।
6. द्रव्य, गुण और कर्म तीनों किस प्रकार सृष्टि के किसी न किसी कार्य में श्कारणश बनते हैं?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1. द्रव्य, गुण और कर्म के परस्पर साधर्म्य (साझा विशेषताओं) की बिंदुवार सविस्तार विवेचना कीजिए और उदाहरणों के साथ इनका महत्व समझाइए।
2. पदार्थों के वर्गीकरण में द्रव्य-गुण-कर्म के साधर्म्य का क्या वैज्ञानिक आधार है? आयुर्वेद चिकित्सा के परिप्रेक्ष्य में इस साधर्म्य ज्ञान की उपयोगिता पर विस्तृत प्रकाश डालिए।
3. द्रव्य, गुण और कर्म के बीच पाए जाने वाले श्सत्त्वश, श्अनित्यत्वश और श्कारणत्वश जैसे महत्वपूर्ण साधर्म्य लक्षणों की समीक्षात्मक व्याख्या कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न :

प्रश्न 1. द्रव्य, गुण और कर्म तीनों ही ब्रह्मांड में वास्तविक और व्यावहारिक अस्तित्व रखते हैं। इन तीनों के इस साझे लक्षण या साधर्म्य को क्या कहा जाता है?

(क) अनित्यत्व

(ख) सत्त्व (अस्तित्व)

(ग) अनेकत्व

(घ) द्रव्याश्रितत्व

प्रश्न 2. जब द्रव्य, गुण और कर्म कार्य रूप में प्रकट होते हैं (जैसे मिट्टी का घड़ा, उसका लाल रंग और उसका हिलना), तब वे विनाशशील होते हैं। यह तीनों का कौन सा समान साधर्म्य है?

(क) नित्यत्व

(ख) कारणत्व

(ग) अनित्यत्व

(घ) निष्क्रियत्व

प्रश्न 3. वैशेषिक दर्शन के अनुसार, द्रव्य, गुण और कर्म तीनों ही संख्या में एक नहीं बल्कि बहुत सारे हैं (जैसे 9 कारण द्रव्य, 41 गुण आदि)। इस विशेषता को किस साधर्म्य के अंतर्गत रखा जाता है?

(क) अनेकत्व

(ख) एकत्व

(ग) समवायत्व

(घ) अमूर्तत्व

प्रश्न 4. सृष्टि में किसी भी नए कार्य या घटना को उत्पन्न करने में द्रव्य, गुण और कर्म तीनों ही किसी न किसी रूप में माध्यम बनते हैं। इन तीनों के इस साझा लक्षण को क्या कहते हैं?

(क) कार्यत्व

(ख) भावत्व

(ग) वैशिट्य

(घ) कारणत्व

प्रश्न 5. गुण और कर्म के संदर्भ में निम्नलिखित में से कौन सा साधर्म्य सत्य है जो उन्हें द्रव्य पर पूरी तरह आश्रित बनाता है?
(क) दोनों स्वतंत्र रूप से रह सकते हैं।
(ख) दोनों का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता, वे हमेशा श्द्रव्याश्रितश (द्रव्य के भीतर) होते हैं।
(ग) दोनों हमेशा मूर्त रूप में ही होते हैं।
(घ) दोनों स्वयं में गुणवान होते हैं।

इकाई- 1.7 सामान्य एवं विशेष नामक पदार्थ

उद्देश्य : -

1. **श्रेणीबद्ध ज्ञान** (Systematic Classification): वैशेषिक दर्शन का मुख्य उद्देश्य ब्रह्मांड के सभी तत्वों का वैज्ञानिक वर्गीकरण करना है। श्सामान्यश के द्वारा वस्तुओं में समानता खोजी जाती है और श्विशेषश के द्वारा उनके बीच का सूक्ष्म अंतर समझा जाता है।
2. **परमाणुओं में भेद करना:** वैशेषिक दर्शन के अनुसार पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु नित्य और संख्या में अनंत हैं। दो समान दिखने वाले परमाणुओं को एक-दूसरे से अलग करने के लिए श्विशेषश पदार्थ का होना अनिवार्य है।
3. **तत्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति:** वैशेषिक दर्शन का अंतिम उद्देश्य श्नि:श्रेयसश (मोक्ष) है। द्रव्यों के साधर्म्य (समानता) और वैधर्म्य (अंतर) को सामान्य-विशेष के माध्यम से समझकर ही वास्तविक तत्वज्ञान प्राप्त होता है।

वैशेषिकोक्त षड्पदार्थों में क्रमप्राप्त चौथा एवं पांचवा पदार्थ का नाम क्रमश: सामान्य एवं विशेष है। इसमें से प्रथम **'सामान्य'** नामक पदार्थ का वर्णन किया जा रहा है, जिसे **'जाति'** भी कहा जाता है।

'सामान्य' नामक पदार्थ- सामान्य के दो भेद होते हैं- (क) परसामान्य (ख) उपरसामान्य। दोनों प्रकार के सामान्यों का सामान्य लक्षण करते हुए सूत्रकार कहते है-

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्। (1.1.3)

सामान्यजातिपदार्थ एवं विशेषजातिपदार्थ दोनों बुद्धि की अपेक्षा से सिद्ध होते हैं। सूत्र में 'सामान्य' पद केवल सामान्य परसामान्य का तथा 'विशेष' पद सामान्य के साथ-साथ विशेष-भेद का बोध कराने वाला 'अपरसामान्य' का बोधक है। इन दोनों सामान्यों का लक्षण समान्य रूप से सूत्रकार ने **'बुद्ध्यपेक्षम्'** कहा है। तात्पर्य यह है कि बुद्धि अर्थात् ज्ञान की अपेक्षा से दोनों सामान्यों की सत्ता सिद्ध होती है। अनुकृत्तिबुद्धि? की अपेक्षा से सामान्य (पर सामान्य) एवं व्यावृत्तिबुद्धि की अपेक्षा से विशेष (अपर सामान्य) सिद्ध होता है।

अनेक अधिकरणों में एक समान बुद्धि का उत्पन्न होना **'अनुवृत्तिबुद्धि'** कहलाती है तथा उन अधिकरणों से भिन्न विजातीय पदार्थों में भेदबुद्धि का उत्पन्न होना व्यावृत्तिबुद्धि कहलाती है।

सत्ता सामान्य (परसामान्य)

अब प्रथम अनुवृत्तिबुद्धि के द्वारा सामान्य का लक्षण सूत्रकार बता रहे हैं-

भावोनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव। (1.2.4)

भाव-सत्ता नाम सामान्य केवल अनुवृत्तिबुद्धि का ही हेतु होने से सामान्य ही है।

सामान्य तथा विशेष नामक दो प्रकार की जातियों में सत्ता नामक जाति अनुगत बुद्धि का ही कारण होने से वह केवल सामान्य रूप ही जाति है, न कि विशेषरूप। इसलिए केवल सामान्य रूप जाति को सूत्रकार न **'भाव'** अर्थात् **'सत्ता'** कहा जाता है। इसे केवल सामान्य अथवा पर सामान्य के नाम से भी जाना जाता है।

इस 'भाव' अर्थात् 'सत्ता' नामक परसामान्य को लक्षण को और अधिक स्पष्ट करते हुये सूत्रकार लिखते हैं-

सदिति यतोद्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता। (1.2.7)

'सत् है' इस प्रकार का ज्ञान एवं व्यवहार द्रव्य, गुण एवं कर्मो में जिससे होता है, उसे 'सत्ता' कहते है।

पृथिव्यादि नौ द्रव्यों, रूपादि चौबीस गुणों में एवं उत्क्षेपणादि पांच कर्मो में 'सत् है सत् है' इस प्रकार का ज्ञान जिससे होता है, उस जाति को 'सत्ता' कहते हैं। इससे द्रव्यादि पदार्थों में केवल मात्र वस्तु के विद्यमान होने की प्रतीति होती है। द्रव्य की 'सत्ता है', गुण की 'सत्ता है', कर्म की 'सत्ता है', इसी प्रकार से पृथिवी की 'सत्ता है', तेज की 'सत्ता है', रूप की 'सत्ता है', रस की 'सत्ता है', उत्क्षेपण रूपी कर्म की 'सत्ता है', अवक्षेपण की 'सत्ता है', इस प्रकार से समस्त पदार्थों में 'सत् है सत् है' की प्रतीति का जो कारण है वह 'सत्ता' नामक सामान्य है। इसे केवल सामान्य इसलिए कहा जाता है कि इससे समस्त द्रव्यादि पदार्थों में समानबुद्धि उत्पन्न होती है। जिस प्रकार पृथिव्यादि द्रव्यों में 'सत् है' की प्रतीति होती है, उसी प्रकार रूपादि गुणों में 'सत् है' की प्रतीति होती है तथा ठीक उसी प्रकार से उत्क्षेपणादि कर्मो में 'सत् है' की प्रतीति होती है। इन सबके होनेपने 'सत् है' में कोई अन्तर नहीं होता है। द्रव्य का 'होना' जिस प्रकार से है, ठीक उसी प्रकार से गुण एवं कर्म का भी 'होना' है। इनके 'होनेपने' में

कोई अन्तर नहीं होता है। इसलिए सत्ता तीनों द्रव्यादि पदार्थों में भेदबुद्धि को उत्पन्न न करने से और केवल 'सत है' 'सत है' - इस प्रकार के अभेदबुद्धि अनुवृत्तिबुद्धि (अनुगतबुद्धि) को उत्पन्न करने में हेतु होने से सामान्य ही होती है। इसीलिए इसे केवलसामान्य या परसामान्य कहा जाता है।

अपरसामान्य

पूर्वोक्त तीसरे सूत्र में जिन सामान्यो को 'विशेष' संज्ञा की है, उनको बताते हुये सूत्रकार कहते हैं-

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च। (1.2.5)

द्रवयत्व, गुणत्व और कर्मत्व नामक जातियाँ सामान्य है और 'विशेष' भी। कहने का तात्पर्य यह है कि 'सत्ता' सामान्य तो केवल सामान्य है। अर्थात् केवलअनुवृत्ति बुद्धि का हेतु है; जबकि द्रव्यत, गुणत्व एवं कर्मत्व जातियाँ सामान्य होते हुये विशेष भी होते है। कारण यह है कि ये तीनों जातियाँ अनुवृत्तिबुद्धि का हेतु तो होती ही है, साथ-साथ व्यावृत्तिबुद्धि (भेदबुद्धि) का भी हेतु होने से इन्हें 'विशेष' भी कहा जाता है। यहाँ पर 'विशेष' पद वैशेषिकोक्त पञ्चम पदार्थ का बोधक नहीं है, अपितु सामान्य नामक पदार्थ के अन्तर्गत ही इनकी गणना की गयी है। अर्थात् सामान्य होते हुये जो विशेष भी हो यानि इसे सामान्य विशेष उभयरूप भी कह सकते हैं।

'द्रव्यत्व' नाम अपरसामान्य पृथिव्यादि समस्त नौ द्रव्यों में 'द्रव्य है' - द्रव्य है - इस प्रकार अनुवुत्तिबुद्धि को उत्पन्न करता है परन्तु साथ ही साथ 'गुण नहीं है', कर्म नहीं है। इस प्रकार की भेदबुद्धि भी पैदा करता है इसीलिए इसे 'विशेष भी कहा जाता है।

'गुणत्व' चौबीस गुणों में 'गुण है-गुण है'- इस प्रकार की अनुवृत्तिबुद्धि को उत्पन्न करता है तथा साथ ही 'द्रव्य एवं कर्म नहीं हैं- इस प्रकार की भेदबुद्धि (व्यावृत्तिबुद्धि) भी पैदा करता है।

इसी प्रकार 'कर्मत्व' पांचो कर्मो में 'कर्म है-कर्म है' - इस प्रकार की अभेदबुद्धि (समानबुद्धि/अनुगतबुद्धि) को उत्पन्न करता है तथा साथ ही 'द्रव्य एवं गुण नहीं है' इस प्रकार की भेदबुद्धि (व्यावृत्तिबुद्धि) भी उत्पन्न करता है।

ये तीनों सामान्य के अन्तर्गत आने से मुख्यतया अनुवृत्तिबुद्धि का ही कारण होते है परन्तु आंशिकरूप से व्यावृत्तिबुद्धि को उत्पन्न कर देने से इन्हे 'विशेष' कहा गया है। जैसा कि भाष्यकार ने भी कहा है-

एतानि तु द्रव्यत्वादीनि प्रभूतविषयत्वात् प्राधान्येन सामान्यानि स्वाश्रयविशेषकत्वाद् भक्त्या विषेषाख्यानीति (प्रश. सामान्यप्रकरणम्)

अर्थात् ये द्रव्यत्वादि जातियाँ अधिक विषय होने से मुख्यरूप से 'सामान्य' कही जाती है तथा अपने आधार पदार्थ के अन्य से व्यावर्तक (भेदक) होने से गौण रूप से 'विशेष' कही जाती है।

महत्वपूर्ण स्मरणीय बिंदु : -

1. **मूल सिद्धांत:** सामान्य जोड़ने का काम करता है (समानता दिखाता है) और विशेष तोड़ने या अलग करने का काम करता है (विशिष्टता दिखाता है)।
2. **जाति ही सामान्य है:** न्याय-वैशेषिक में 'सामान्य' को ही श्जातिश कहा गया है। यह नित्य होती है और एक ही जाति की अनेक वस्तुओं में समवाय संबंध से रहती है।
3. **विशेष का आश्रय:** 'विशेष' पदार्थ केवल अविभाज्य और नित्य तत्वों में ही होता है। कार्य द्रव्यों (जैसे घड़ा या कपड़ा) में भेद करने के लिए उनके गुण या अवयव ही काफी होते हैं, वहाँ श्विशेषश नामक स्वतंत्र पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती।
4. **वैशेषिक नामकरण का आधार:** इस दर्शन का नाम श्वैशेषिकश इसी श्विशेषश नामक अनोखे पदार्थ के प्रतिपादन के कारण पड़ा है, जो इसे अन्य दर्शनों से अलग बनाता है।

मुख्य शब्दावली : -

1. **अनुवृत्तिप्रत्ययहेतु: (Cause of Inclusive Cognition):** अनेक अलग-अलग वस्तुओं को देखकर भी बुद्धि में जो ष्यह सब एक ही वर्ग के हैंष् का विचार आता है, उसका कारण 'सामान्य' है।
2. **व्यावृत्तिप्रत्ययहेतु: (Cause of Eñclusive Cognition):** जो दो समान दिखने वाली वस्तुओं में भी ष्यह इससे अलग हैष् का ज्ञान कराए, उस बुद्धि का कारण श्विशेषश है।
3. **पर सामान्य (Higher Generality):** वैशेषिक दर्शन में 'सत्ता' (अस्तित्व या Being) को पर सामान्य कहा गया है, क्योंकि यह सबसे व्यापक है और द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में पाया जाता है।
4. **अपर सामान्य (Lower Generality):** जो कम व्यापक हो और भेद के साथ-साथ समानता भी दिखाए, जैसे- 'द्रव्यत्व'

(केवल द्रव्यों में रहने वाला सामान्य) या 'घटत्व' (घड़ों में रहने वाला सामान्य)।

5. **नित्यद्रव्यवृत्तित्व (Inherence in Eternal Substances):** शविशेषश पदार्थ केवल नित्य द्रव्यों (जैसे आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन और परमाणुओं) में ही समवाय संबंध से रहता है।

5 अंक के प्रश्नः –

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार श्सामान्यश पदार्थ का प्रामाणिक लक्षण क्या है?
2. 'विशेष' पदार्थ किसे कहते हैं? यह मुख्य रूप से कहाँ आश्रित रहता है?
3. सामान्य और विशेष के संदर्भ में 'अनुवृत्ति' और 'व्यावृत्ति' शब्दों का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. 'पर सामान्य' और 'अपर सामान्य' में मुख्य अंतर सोदाहरण समझाइए।
5. आयुर्वेद के अनुसार श्सामान्यश और शविशेषश का मूल महासूत्र (श्लोक) लिखिए।
6. चिकित्सा के क्षेत्र में शविशेषश पदार्थ को श्ह्रासहेतुश क्यों माना गया है?
7. ष्प्रवृत्तिरुभयस्य तुष् कथन से चिकित्सा विज्ञान में क्या तात्पर्य है?
8. द्रव्य सामान्य, गुण सामान्य और कर्म सामान्य में क्या अंतर है? संक्षेप में बताइए।

15 अंक के प्रश्नः –

1. वैशेषिक दर्शन के आधार पर 'सामान्य' पदार्थ की सविस्तार विवेचना कीजिए तथा इसके भेदों (पर और अपर) का सोदाहरण वर्णन कीजिए।
2. **'अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः'** सूत्र की व्याख्या कीजिए। इस दर्शन का नाम 'वैशेषिक' पड़ने में 'विशेष' पदार्थ की क्या भूमिका है? तार्किक विश्लेषण कीजिए।
3. आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान में 'सामान्यं वृद्धिकारणम्, ह्रासहेतुर्विशेषश्च' सिद्धांत की महत्ता सिद्ध कीजिए। द्रव्य, गुण और कर्म के स्तर पर इसके व्यावहारिक उपयोग को उदाहरण सहित समझाइए।
4. सामान्य और विशेष पदार्थों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कीजिए तथा सृष्टि के वैज्ञानिक वर्गीकरण और धातुओं की साम्यावस्था (धातुसाम्य) में इनके योगदान पर एक विस्तृत निबंध लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न : –

प्रश्न 1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार, बुद्धि में श्अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुःश (समानता का विचार) उत्पन्न करने वाले पदार्थ को क्या कहते हैं?
(क) विशेष (ख) समवाय **(ग) सामान्य** (घ) द्रव्य

प्रश्न 2. 'अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्ति...' यह निम्नलिखित में से किस पदार्थ का प्रामाणिक लक्षण है?
(।) गुण **(ख) विशेष** (ग) अभाव (घ) कर्म

प्रश्न 3. वैशेषिक मत के अनुसार सबसे व्यापक या 'पर सामान्य' किसे माना गया है?
(क) द्रव्यत्व को (ख) घटत्व को **(ग) सत्ता (अस्तित्व) को** (घ) आकाश को

प्रश्न 4. शविशेषश नामक पदार्थ निम्नलिखित में से कहाँ नहीं पाया जाता है?
(क) परमाणु में (ख) मुक्त आत्मा में
(ग) कार्य द्रव्यों (जैसे - वस्त्र या घट) में (घ) मन में

प्रश्न 5. वैशेषिक दर्शन के अनुसार श्सामान्यश (जाति) का स्वरूप कैसा होता है?
(क) अनित्य और अनेक **(ख) नित्य और एक**
(ग) अनित्य और एक (घ) नित्य और अनेक

इकाई- 1.8 द्रव्य-गुण कर्म से सत्ता का भिन्नत्व

उद्देश्य-

- **स्वतंत्र अस्तित्व की सिद्धिः** इस सिद्धांत का मुख्य उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि श्सत्ताश एक स्वतंत्र और सर्वोच्च पदार्थ (पर सामान्य) है, जो द्रव्य, गुण और कर्म को अस्तित्व प्रदान करता है, लेकिन स्वयं उनसे अलग है।
- **भ्रम का निवारणः** साधारण बुद्धि में लोग श्घड़ाश (द्रव्य) और श्घड़े का अस्तित्वश (सत्ता) को एक ही मान लेते हैं। वैशेषिक दर्शन इस सूक्ष्म दार्शनिक भेद को तार्किक रूप से अलग करके वस्तुनिष्ठ ज्ञान की स्थापना करता है।
- **तत्वज्ञान द्वारा मोक्षः** वैशेषिक मत के अनुसार जब मनुष्य को सत्ता और उसके आश्रयों (द्रव्य आदि) के वास्तविक स्वरूप और उनके पृथकत्व का ज्ञान होता है, तब वह यथार्थ तत्वज्ञान को प्राप्त कर मोक्ष (निःश्रेयस) की ओर अग्रसर होता है।

द्रव्य, गुण, एवं कर्म में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली सत्ता जाति इन तीनो से 'भिन्न है अथवा अभिन्न' इस विषय में शंका स्वाभाविक है। कारण यह है कि द्रव्यादि तीनों पदार्थों में 'सत् है-सत् है' की प्रतीति में द्रव्यादि पदार्थ ही कारण है। इसके लिए अतिरिक्त 'सत्ता' नामक जाति की कल्पना का कोई औचित्य नहीं है। ऐसी आशंका होने पर इस विषय में वैशेषिककार अपन मत प्रस्तुत करते हुये कहते हैं-

द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता। (1.2.8)

द्रव्य, गुण एवं कर्म से सत्ता भिन्न पदार्थ हैं। प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने सत्ता के भिन्नत्व की प्रतिज्ञामात्र की है। अब उपरोक्त विषय में हेतु प्रस्तुत करते हुये कहते हैं-

गुणकर्मसु च भावान्न कर्म न गुणः। (1.2.9)

गुण एवं कर्मों में होने से 'सत्ता' सामान्य न कर्म है, न ही गुण। इस सूत्र में द्रव्य का कथन न होने पर भी व्यतिक्रम पाठ होने से द्रव्य का भी समावेश कर लेना चाहिए- ऐसा आचार्यो ने निर्देश किया है। तब सूत्रार्थ यह होता है- सत्तासामान्य क्योंकि गुणों एवं कर्मों में समवेत रहता है, इसलिए वह द्रव्य, गुण, कर्म तीनों से भिन्न है। द्रव्य, गुण और कर्म, गुणों एवं कर्मों में समवेत नहीं रहते। गुणों में न द्रव्य रहता है, न गुण, न कर्म, इसी प्रकार कर्मों में न द्रव्य रहता है, न गुण रहता, न कर्म रहता, परन्तु 'सत् है-सत् है' की प्रतीति गुण एवं कर्मों में रहती है, इसलिए 'सत्ता' द्रव्य-गुण-कर्म तीनों से भिन्न है।

सत्तासामान्य को तीनों से भिन्न न मानने पर द्रव्य में 'सत् है' की प्रतीति का कारण स्वयं द्रव्य को मानना पड़ेगा; इसी प्रकार गुण में 'सत् है' की प्रतीति का कारण स्वयं गुण को तथा कर्म में 'सत् है' की प्रतीति का कारण स्वयं कर्म को मानना पड़ेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि 'सत्ता' को या तो द्रव्यरूप या गुणरूप अथवा कर्मरूप मानना पड़ेगा। यदि सत्ता को द्रव्यरूप स्वीकार करे तो गुण एवं कर्म में जो 'सत् है' की प्रतीति होती है उसका कारण 'द्रव्य' को स्वीकार करना पड़ेगा। तब यह भी कहना पड़ेगा की गुण एवं कर्मों में भी द्रव्य रहता है; परन्तु ऐसा वैशेषिक के सिद्धान्तों के विरूद्ध है। गुण एवं कर्म, द्रव्य में रहते है, न कि द्रव्य, गुण एवं कर्म में रहता है। परन्तु 'सत् है' की प्रतीति गुण एवं कर्मों में भी होती है। इसका तात्पर्य है कि उसकी प्रतीति का कारण उन्हीं पदार्थो में स्वीकार करना पड़ेगा और वह उनसे भिन्न ही होगा। इस प्रकार सत्ता तीनों पदार्थों में नियमतः समवेत रहती है परन्तु तीनों पदार्थ एक-दूसरे में नियमतः समवेत नहीं रहते। इससे स्पष्ट होता है कि 'सत्ता' इन तीनों से भिन्न एक चौथा पदार्थ ही है।

इस विषय में एक और हेतु प्रस्तुत करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

समान्यविशेषाभावेन च। (1.2.10)

सामान्य विशेष के अभाव होने से भी सत्ता तीनों से भिन्न सिद्ध होती है। तात्पर्य यह है कि द्रव्यों में 'द्रव्यत्व', सामान्यविशेष समवेत रहता है; यदि सत्ता द्रव्य से अभिन्न होती तो उसमें भी 'द्रव्यत्व' सामान्यविशेष समवेत रहता; परन्तु ऐसा नहीं होता है। इसलिए सत्ता द्रव्यों से भिन्न है। गुणों में 'गुणत्व' समवेत रहता है; परन्तु सत्ता में 'गुणत्व' की उपलब्धि नहीं होती है। इसी प्रकार कर्मों में 'कर्मत्व' सामान्यविशेष समवेत रहता है; परन्तु सत्ता में कर्मत्व की उपलब्धि नहीं होती है। इससे पता चलता है कि सत्ता, तीनों से भिन्न है। यदि सत्ता इन तीनों से अभिन्न होती तो, इसमें भी 'द्रव्यत्वादि' की उपलब्धि होनी चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं होता है। इसका तात्पर्य है कि सत्ता द्रव्यादि तीनों पदार्थों से भिन्न है।

महत्वपूर्ण स्मरणीय बिंदु :

मूल दार्शनिक सूत्र: 'सत्ता ततोऽर्थान्तरम्' (वैशेषिक सूत्र)- अर्थात सत्ता अपने आश्रयभूत पदार्थों (द्रव्य, गुण, कर्म) से सर्वथा भिन्न (अर्थान्तर) है।

- सत्ता स्वयं द्रव्य, गुण या कर्म नहीं है:

-सत्ता द्रव्य नहीं है, क्योंकि द्रव्य में गुण और क्रिया होती है, जबकि सत्ता में कोई गुण या क्रिया नहीं होती।

-सत्ता गुण या कर्म भी नहीं है, क्योंकि गुण और कर्म हमेशा द्रव्य के आश्रित होते हैं, जबकि सत्ता तीनों (द्रव्य, गुण, कर्म) में व्यापक है।

- गुणातीत और क्रियाहीन: सत्ता स्वयं श्अगुणश (गुणरहित) और श्अकर्मश (क्रियारहित) है। यदि सत्ता में कोई और गुण माना जाएगा, तो श्अनावस्था दोषश (अनंत श्रृंखला का दोष) उत्पन्न हो जाएगा।
- पर सामान्य का स्वरूप: सत्ता को 'पर सामान्य' (सर्वोच्च जाति) माना गया है क्योंकि यह सबसे अधिक व्यापक है। ब्रह्मांड में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो श्हैश के दायरे से बाहर हो।
- एकत्व का सिद्धांत: सत्ता स्वभाव से श्एकश है। द्रव्य अनेक हो सकते हैं, गुण और कर्म अनगिनत हो सकते हैं, परंतु उन सब में रहने वाली श्सत्ताश या अस्तित्व का भाव केवल एक ही होता है।

मुख्य शब्दावली-

- सत्ता: वह तत्व जिसके कारण हम द्रव्य, गुण और कर्म को ष्यह हैष (सत) के रूप में जानते हैं। यह सभी भाव पदार्थों में रहने वाला सर्वोच्च श्सामान्यश है।
- भिन्नत्व: दो या दो से अधिक पदार्थों के बीच स्वरूप और लक्षणों के आधार पर पाया जाने वाला तार्किक अंतर।
- अर्थ: वैशेषिक दर्शन में द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों को सामूहिक रूप से श्अर्थश कहा जाता है, क्योंकि इनमें श्सत्ताश समवाय संबंध से रहती है।
- अनुवृत्तिप्रत्यय : अनेक विजातीय (अलग-अलग) वस्तुओं को देखकर भी बुद्धि में जो ष्ये सब विद्यमान हैंष का एक समान विचार आता है, उसे अनुवृत्तिप्रत्यय कहते हैं और इसका कारण श्सत्ताश है।
- एकार्थसमवाय : वह स्थिति जहाँ दो अलग-अलग तत्व एक ही आश्रय में रहते हैं। सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में समान रूप से समवाय संबंध से रहती है।

लघु उत्तरीय प्रश्न :

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार श्सत्ताश (म्पेजमदबम) पदार्थ से क्या अभिप्राय है? संक्षेप में लिखिए।
2. द्रव्य, गुण और कर्म से सत्ता को भिन्न (अलग) क्यों माना गया है? मुख्य तार्किक कारण बताइए।
3. श्सत्ताश स्वयं में गुणवान या क्रियावान क्यों नहीं हो सकती? स्पष्ट कीजिए।
4. ष्सत्तावान् द्रव्यम्ष ख्र इस कथन के आलोक में द्रव्य और सत्ता का संबंध स्पष्ट कीजिए।
5. क्या श्सत्ताश का कोई अपना अन्य श्सामान्यश (जाति) हो सकता है? वैशेषिक मत अनुसार उत्तर दीजिए।
6. द्रव्य, गुण और कर्म को श्अर्थश कहा जाता है, तो सत्ता इनसे किस प्रकार भिन्न अनुभूत होती है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1. वैशेषिक दर्शन के परिप्रेक्ष्य में श्सत्ताश के स्वतंत्र स्वरूप की विवेचना कीजिए तथा यह सिद्ध कीजिए कि सत्ता अपने आश्रयभूत पदार्थों (द्रव्य, गुण, कर्म) से सर्वथा भिन्न है।

2. सदुत्पत्ति और सद्विचार का मूल सत्ता है, परंतु वह स्वयं न द्रव्य है, न गुण है, न कर्म।ष इस दार्शनिक सिद्धांत की तार्किक एवं समीक्षात्मक व्याख्या कीजिए।

3. द्रव्य, गुण और कर्म के वैधर्म्य (अंतर) के संदर्भ में श्पर सामान्यश (सत्ता) की स्थिति का विश्लेषण कीजिए और इसके पृथक अस्तित्व को प्रमाणित करने वाले वैशेषिक सूत्रों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न:

प्रश्न 1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार वह कौन सा सर्वोच्च पदार्थ है, जिसके कारण द्रव्य, गुण और कर्म को ष्यह हैष (सत) के रूप में जाना जाता है?

(क) विशेष

(ख) समवाय

(ग) सत्ता

(घ) अभाव

प्रश्न 2. महर्षि कणाद के किस प्रसिद्ध दार्शनिक सूत्र से यह सिद्ध होता है कि सत्ता अपने आश्रयभूत पदार्थों (द्रव्य, गुण, कर्म) से सर्वथा अलग या भिन्न तत्व है?

(क) द्रव्यत्वं च व्याख्यातम्

(ख) सत्ता ततोऽअर्थान्तरम्

(ग) निष्क्रियाणां समवायः

(घ) अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिः

प्रश्न 3. सत्ता को द्रव्य से भिन्न क्यों माना गया है? निम्नलिखित में से सही तार्किक कारण चुनिए:

(क) क्योंकि द्रव्य अमूर्त होता है और सत्ता मूर्त होती है।

(ख) क्योंकि द्रव्य में गुण और क्रिया होती है, जबकि सत्ता स्वयं 'अगुण' (गुणरहित) और 'अकर्म' (क्रियारहित) होती है।

(ग) क्योंकि सत्ता केवल पृथ्वी महाभूत में रहती है।

(घ) क्योंकि सत्ता एक अनित्य पदार्थ है।

प्रश्न 4. वैशेषिक दर्शन में द्रव्य, गुण और कर्म तीनों को सामूहिक रूप से श्अर्थश् कहा जाता है। सत्ता इन तीनों में किस संबंध से रहकर इन्हें अस्तित्व प्रदान करती है?

(क) संयोग संबंध

(ख) स्वरूप संबंध

(ग) समवाय संबंध

(घ) वैशिष्ट्य संबंध

प्रश्न 5. अनेक अलग-अलग और विपरीत स्वभाव वाली वस्तुओं को देखकर भी बुद्धि में जो 'ये सब विद्यमान हैं' या 'सबका अस्तित्व है' का एक समान विचार आता है, उस श्अनुवृत्तिप्रत्ययश का मूल कारण क्या है?

(क) पर सामान्य (सत्ता)

(ख) अपर सामान्य

(ग) विशेष पदार्थ

(घ) कार्य द्रव्य

प्रश्न 6. वैशेषिक मत के अनुसार सत्ता के स्वरूप के संदर्भ में कौन सा कथन पूर्णतः सत्य है?

(क) सत्ता स्वभाव से अनेक होती है।

(ख) सत्ता स्वयं द्रव्य के समान गतिशील होती है।

(ग) सत्ता स्वभाव से 'एक' है, जबकि उसके आश्रय (द्रव्य-गुण-कर्म) अनेक हैं।

(घ) सत्ता केवल चेतनावान द्रव्यों में ही पाई जाती है।

इकाई-1.9 सत्ता का नित्यत्व एवं एकत्व

उद्देश्य : -

1. **ब्रह्मांडीय एकता की स्थापना** (Establishing Cosmic Unity): संसार में अनंत द्रव्य, अनगिनत गुण और विविध कर्म मौजूद हैं। इस सिद्धांत का मुख्य उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि इन सभी विविधताओं के मूल में एक ही सार्वभौमिक तत्व (Eñistential Principle) काम कर रहा है, जिसे श्सत्ताश् कहते हैं।
2. **अविनाशी तत्व का प्रतिपादन** (Proof of an Imperishable Reality): दृश्य जगत की सभी वस्तुएं उत्पन्न होती हैं और नष्ट हो जाती हैं (अनित्य हैं)। वैशेषिक दर्शन का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि वस्तुओं के नष्ट होने पर भी उनका 'अस्तित्व' या श्होने का भावश (Pure Being) कभी नष्ट नहीं होता; वह नित्य है।
3. **तत्वज्ञान द्वारा यथार्थ बोधः** साधक या अध्येता को यह समझाना कि परिवर्तनशील संसार (जगत) के पीछे एक अपरिवर्तनीय और नित्य सत्ता विद्यमान है, जिससे बुद्धि में भ्रम दूर होता है और तत्वज्ञान की प्राप्ति होती है।

उपरोक्त वर्णनों से सत्ता के लक्षण में भेद होने पदार्थान्तर सिद्ध होता है। द्रव्य, गुण, कर्म का नाश सम्भव है परन्तु अथ. र्न्तिरभूत सत्ता उसी समय अन्यत्र द्रव्यादियों में समवेत होने से नित्य सिद्ध होती है। तात्पर्य यह है कि एक व्यक्तिगत द्रव्य, गुण या कर्म का नाश सम्भव होने पर भी अन्यत्र द्रव्यादि पदार्थों में सत्ता का निवास होता ही है। अतएव द्रव्यादि के नाश हो जाने पर भी सत्ता का नाश सम्भव नहीं है। प्रलय में भी परमाणु नामक कारण द्रव्य रहने पर वहाँ भी सत्ता का अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहता है। इसलिए सत्ता का विनाश सम्भव नहीं है। भाष्यकार ने भी कहा है-

लक्षणभेदादेषां द्रव्यगुणकर्मभ्यः पदार्थान्तरत्वं सिद्धम्।
अत एव च नित्यत्वम् (प्रश-भा.)

सत्ता के एकत्व के विषय में आचार्य ने सूत्रित किया है-

सदिति लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्चैको भावः। (1.2.17)

'सत् है' इस प्रकार की प्रतीति रूप लिङ्ग के सर्वत्र समान होने से और भेदक प्रमाण के अभाव होने से 'सत्ता' का एकत्व सिद्ध होता है।

द्रव्यादि तीनों पदार्थों में समानरूप से 'सत् है' - इस प्रकार की प्रतीति एक जैसी होती है। इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि द्रव्य में जो 'सत् है' की प्रतीति है, वह गुण एवं कर्म में जो 'सत् है' की प्रतीति से भिन्न है। अथवा गुण एवं कर्म में जो 'सत् है' की प्रतीति है, वह द्रव्य में प्रतीत होने वाले 'सत् है' से भिन्न है। सर्वत्र 'सत् है' की प्रतीति एक समान है; द्रव्यादि तीनों पदार्थों में 'सत् है' -सत् है'- इस प्रकार के अनुभव में कोई भेदक प्रमाण नहीं है। अतएव सर्वत्र एक समान प्रतीत होने से तथा भेदक लिङ्ग (प्रमाण) का अभाव होने से सत्ता का एकत्व सिद्ध होता है। भाष्यकार ने भी कहा है-

प्रत्येकं स्वाश्रयेषु लक्षणविशेषाद्विशेषलक्षणाभावाच्चैकत्वम्। (प्रश.भा.)

अर्थात् प्रत्येक अपने आधारों में लक्षणों के भेद होने से और विशेष लक्षणों के अभाव में होने से 'एकत्व' सिद्ध होता है। प्रस्तुत भाष्यांश पर एवं अपरसामान्य दोनों के एकत्व का द्योतक है। जिस प्रकार द्रव्यादि तीनों में पदार्थों में रहते हुए 'सत्ता' तीनों से भिन्न, नित्य एवं एक है। उसी प्रकार 'द्रव्यत्वादि' जातियां भी 'प्रथिव्यादि' द्रव्यों में रहते हुये अनके भिन्न, नित्य एवं एक है।

द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व का द्रव्य, गुण, कर्म से भिन्नत्व

(प्रमाण) का अभाव होने से सत्ता का एकत्व सिद्ध होता है। भाष्यकार ने भी कहा हे-प्रत्येकं **स्वाश्रयेषु लक्षण ाविशेषाद्विशेषलक्षणाभावाच्चैकत्वम्।** (प्रश. भा.) अर्थात् प्रत्येक अपने आधारों में लक्षणों के भेद होने से और विशेष लक्षणों के अभाव होने से 'एकत्व' सिद्ध होता है। प्रस्तुत भाष्यांश पर एवं अपरसामान्य दोनों के एकत्व का घोतक है। जिस प्रकार द्रव्यादि तीनों पदार्थों में रहते हुए 'सत्ता' तीनों से भिन्न, नित्य एवं एक है। उसी प्रकार 'द्रव्यत्वादि जातियाँ भी 'पृथिव्यादि' द्रव्यों में रहते हुये उनके भिन्न, नित्य एवं एक है।

स्मरणीय बिंदु : -

1. **आश्रय बदलते हैं, सत्ता नहीं:** जब एक मिट्टी का घड़ा टूट जाता है, तो 'घड़ा' नामक कार्य द्रव्य नष्ट हो जाता है, परंतु ब्रह्मांड से 'अस्तित्व' (सत्ता) का लोप नहीं होता। वह सत्ता अब कपाल (घड़े के टुकड़ों) या मिट्टी के कणों में समवाय संबंध से विद्यमान रहती है।
2. **सत्ता के एकत्व का तर्क:** यदि प्रत्येक वस्तु की अपनी अलग-अलग श्सत्ताश मानी जाएगी, तो श्सत्ताश शब्द का कोई एक सार्वभौमिक अर्थ नहीं रह जाएगा। चूंकि हम सभी वस्तुओं के लिए एक ही 'है' (Is) शब्द का प्रयोग करते हैं, इसलिए

वैशेषिक दर्शन के अनुसार सत्ता केवल एक है।

द्रव्य-गुण-कर्म से विपरीत स्वरूपः-

1. कार्य द्रव्य, गुण और कर्म स्वभाव से उत्पत्ति और विनाश वाले (अनित्य) होते हैं, जबकि सत्ता नित्य है।
2. द्रव्य, गुण और कर्म संख्या में अनेक हैं, जबकि सत्ता स्वभाव से एक है।
3. सृष्टि का मूलाधारः वैशेषिक दर्शन के अनुसार, ९ कारण द्रव्यों (परमाणुओं आदि) से सृष्टि का निर्माण तभी संभव है जब उनमें समवाय संबंध से रहने वाली नित्य श्सत्ताश मौजूद हो। सत्ता के बिना किसी भी तत्व की कल्पना असंभव है।

शब्दावली : -

1. **नित्यत्व** (Eternality)ः वह अवस्था या स्वरूप जो काल (Time) की सीमाओं से परे हो; जिसका न कभी आदि (शुरुआत) हो और न अंत (विनाश)। सत्ता स्वभाव से नित्य है।
2. **एकत्व** (Oneness /Unity)ः वह गुण या लक्षण जिसके कारण किसी तत्व का कोई दूसरा विभाजन या भेद न हो सके। संपूर्ण ब्रह्मांड में सत्ता केवल श्एकश ही है।
3. **अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः** (Cause of Continuous@Unified Cognition)ः हाथी, मनुष्य, घट (घड़ा), वस्त्र जैसी भिन्न-भिन्न वस्तुओं को देखकर भी बुद्धि में जो ष्यह है, वह भी हैष् का एक समान और अटूट विचार आता है, उसे अनुवृत्तिप्रत्यय कहते हैं और इसका कारण एकमात्र सत्ता है।
4. **पर सामान्य** (Highest Genus @ Supreme Generality)ः वैशेषिक मत में श्सत्ताश को पर सामान्य माना गया है क्योंकि इसकी व्यापकता सबसे अधिक है। ब्रह्मांड का हर भाव पदार्थ इसके अंतर्गत समाहित होता है।
5. **सद्विचार** (Concept of Being)ः किसी भी वस्तु के प्रत्यक्ष या परोक्ष होने पर मन में आने वाली यह अनुभूति कि ष्इसका अस्तित्व हैष।

5 अंक के प्रश्न : -

1. वैशेषिक दर्शन के पारिभाषिक शब्दों में श्सत्ता का नित्यत्वश से क्या अभिप्राय है? संक्षेप में लिखिए।
2. श्सत्ता का एकत्वश सिद्धांत का क्या अर्थ है? इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कीजिए।
3. सत्ता के संदर्भ में 'अनुवृत्तिप्रत्यय' (Inclusive Cognition) शब्दावली को परिभाषित कीजिए।
4. 'द्रव्य-गुण-कर्म अनेक हैं, किंतु सत्ता एक है' - इस दार्शनिक कथन की संक्षिप्त समीक्षा कीजिए।
5. सत्ता को 'पर सामान्य' (सर्वोच्च जाति) क्यों कहा जाता है? इसका मुख्य तार्किक कारण बताइए।
6. क्या वस्तुओं (कार्य द्रव्यों) के नष्ट होने पर उनकी 'सत्ता' भी नष्ट हो जाती है? वैशेषिक मत अनुसार उत्तर दीजिए।
7. 'विभुत्व' और श्नित्यत्वश का सत्ता के साथ क्या संबंध है? संक्षेप में समझाइए।

15 अंक के प्रश्न : -

1. वैशेषिक दर्शन में 'सत्ता के नित्यत्व एवं एकत्व' के प्रतिपादन का मुख्य उद्देश्य क्या है? इस सिद्धांत की दार्शनिक उपयोगिता पर विस्तृत प्रकाश डालिए।
2. 'ब्रह्मांड में वस्तुएं अनेक और परिवर्तनशील हैं, परंतु उन सब में रहने वाला 'अस्तित्व' का भाव नित्य और एक है।' इस सिद्धांत की वैशेषिक सूत्रों के आलोक में तार्किक एवं सविस्तार विवेचना कीजिए।
3. सत्ता के 'एकत्व' (व्दमदमे) को प्रमाणित करने के लिए वैशेषिक आचार्यों द्वारा दिए गए तर्कों की समीक्षा कीजिए और यह स्पष्ट कीजिए कि यह सिद्धांत सृष्टि के वर्गीकरण मं कैसे सहायक है।
4. वैशेषिक दर्शन के तत्वमीमांसा (Metaphysics) के अंतर्गत श्सत्ता के नित्यत्वश सिद्धांत की व्याख्या कीजिए तथा इसका द्रव्य, गुण और कर्म के विनाशशील स्वभाव (अनित्यत्व) के साथ तुलनात्मक वि

5 अंक के प्रश्न : -

प्रश्न 1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार, किसी कार्य द्रव्य (जैसे- घट या पट) के नष्ट हो जाने पर भी उसमें समवाय संबंध से रहने वाली श्सत्ताश (म्पेजमदबम) पर क्या प्रभाव पड़ता है?

(क) सत्ता भी पूरी तरह नष्ट हो जाती है।

(ख) सत्ता अनित्य हो जाती है।

(ग) सत्ता नष्ट नहीं होती, वह स्वभाव से 'नित्य' है।

(घ) सत्ता शून्य में बदल जाती है।

प्रश्न 2. ष्ब्रह्मांड में द्रव्य, गुण और कर्म अनेक हैं, परंतु उन सब में अनुगत (व्याप्त) रहने वाली श्सत्ताश केवल एक ही है।ष यह

कथन सत्ता के किस लक्षण को प्रमाणित करता है?

(क) नित्यत्व **(ख) एकत्व** (ग) अनेकत्व (घ) कर्मत्व

प्रश्न 3. विभिन्न प्रकार की वस्तुओं (जैसे- मनुष्य, वृक्ष, घट) को देखने पर भी बुद्धि में जो ष्यह भी है, वह भी हैष् का एक समान और निरंतर विचार आता है, उसे क्या कहा जाता है?

(क) व्यावृत्तिप्रत्यय **(ख) अनुवृत्तिप्रत्यय** (ग) विशेषप्रत्यय (घ) अभावप्रत्यय

प्रश्न 4. वैशेषिक मत के अनुसार सत्ता के श्एकत्वश (व्दमदमे) को सिद्ध करने का सबसे प्रबल तार्किक आधार क्या है?

(क) क्योंकि सभी वस्तुओं के अस्तित्व को दर्शाने के लिए एक ही ष्हैष् (ेे) शब्द और ज्ञान का प्रयोग होता है।

(ख) क्योंकि सत्ता केवल नित्य द्रव्यों में रहती है।

(ग) क्योंकि सत्ता का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होता।

(घ) क्योंकि सत्ता स्वयं एक कार्य द्रव्य है।

प्रश्न 5. सत्ता को श्पर सामान्यश (सर्वोच्च जाति) माना जाता है, इसका क्या कारण है?

(क) यह केवल ईश्वर में पाई जाती है।

(ख) यह सबसे कम व्यापक होती है।

(ग) यह सर्वाधिक व्यापक है और सभी भाव पदार्थों (द्रव्य, गुण, कर्म) में समान रूप से रहती है।

(घ) यह समय के साथ बदलती रहती है।

प्रश्न 6. निम्नलिखित में से कौन सा युग्म वैशेषिक दर्शन के अनुसार सत्ता के वास्तविक स्वरूप को सही ढंग से दर्शाता है?

(क) अनित्यत्व एवं अनेकत्व **(ख) नित्यत्व एवं एकत्व**

(ग) सक्रियात्व एवं मूर्तत्व (घ) गुणवत्त्व एवं अनित्यत्व

इकाई- 1.10 द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व का द्रव्य, गुण कर्म से भिन्नत्व

उद्देश्य-

1. **जाति और व्यक्ति** (Universal and Particular) के भेद को स्पष्ट करना: इस सिद्धांत का मुख्य उद्देश्य यह समझाना है कि श्वर्ग या जातिश (जैसे मनुष्यता) और श्व्यक्ति या वस्तुश (जैसे कोई विशेष मनुष्य) दो अलग-अलग दार्शनिक वास्तविकताएं हैं।
2. **वैज्ञानिक वर्गीकरण का मूलाधार:** वैशेषिक दर्शन एक अत्यंत व्यवस्थित और वैज्ञानिक दर्शन है। इसका उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि ब्रह्मांड की अनंत वस्तुओं को जिन श्रेणियों (ब्ंजमहवतपमे) में बांटा गया है, वे श्रेणियाँ (द्रव्यत्व आदि) अपने मूल तत्वों से स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं।
3. **तत्वज्ञान द्वारा यथार्थ बोध:** अध्येता को यह बोध कराना कि आश्रय (द्रव्य, गुण, कर्म) विनाशी या परिवर्तनशील हो सकते हैं, परंतु उनको एक वर्ग में पिरोने वाली जातियां (द्रव्यत्व आदि) नित्य और भिन्न होती हैं।

द्रव्य से द्रव्यत्व का भिन्नत्व

द्रव्य, गुण कर्म से सत्ता के भिन्नत्व के प्रतिपादन के पश्चात अपरसामान्यों के भिन्नत्व का वर्णन किया जा रहा है, जिसमें से प्रथम द्रव्यत्व नामक अपर सामान्य का द्रव्य से भिन्न होने में वैशेषिककार हेतु का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं-

अनेकद्रव्यक्त्वेन द्रव्यत्वमुक्तम् । (1.2.11)

अनेक द्रव्य समवायिकरण वाला होने से द्रव्यत्व नामक सामन्य के विषय में व्याख्यान समझ लेना चाहिये।

अर्थात् जिसप्रकार सत्ता जाति को द्रव्यादि से भिन्न प्रमाणित किया गया है, इसी प्रकार द्रव्यत्व जाति द्रव्यों से भिन्न है। इसमें सूत्रकार ने **'अनेकद्रव्यत्व'** हेतु प्रस्तुत किया है। 'अनेक' पद सूत्र में 'सर्व' अर्थ में है। तात्पर्य यह है कि सभी सभी द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला वाला 'द्रव्यत्व' सामान्य है, परन्तु कोई भी एक द्रव्य सभी द्रव्यों में समवेत नहीं रहता।

'द्रव्यत्व' को द्रव्य से अभिन्न मानने पर नौ द्रव्यों में से किस द्रव्य से अभिन्न माना जाये, यह प्रश्न है? यदि यह कहा जाये कि पृथिवी में रहने वाला द्रव्यत्व पृथिवी से अभिन्न है, जल में रहने वाला द्रव्यत्व जल से अभिन्न है इत्यादि। तब सूत्रकार का कहना है कि यदि पृथिवी से अभिन्न द्रव्यत्व है तो केवल पृथिवी में ही होना चाहिए; परन्तु यहाँ तो पृथिवी से अतिरिक्त में भी 'द्रव्यत्व' रहता है। अर्थात् द्रव्यत्व का निवास सभी द्रव्यों में होता है परन्तु पृथिवी का निवास जलादि द्रव्यों में नहीं होता है। इसी प्रकार जल से अभिन्न द्रव्यत्व को माने तो जल तेज इत्यादि द्रव्यों में समवेत नहीं रहता परन्तु द्रव्यत्व वहाँ भी समवेत रहता है। इससे पता चलता है कि पृथिव्यादि द्रव्यों से भिन्न द्रव्यत्व है।

यदि यह कहा जाये कि पृथिवी में समवेत द्रव्यत्व, जल में समवेत द्रव्यत्व - ये सभी द्रव्यत्व अलग-अलग होते हुये पृथिवी से अभिन्न है, जल से ने अभिन्न है प्रत्यादि । कहने का तात्पर्य है कि नौ द्रव्यों में रहने वाला द्रव्यत्व अलग-अलग है और वे सभी पृथिव्यादि से अभिन्न है।

तब इस विषय में आचार्यों का कहना यह है कि पृथिवी में जो 'द्रव्यत्व' (द्रव्य है) की प्रतीति है, जल में जो द्रव्यत्व की प्रतीति है उनमें किसी प्रकार का भेद मालूम नहीं पड़ता। एकत्व की प्रतीति एवं भेदक प्रमाण का अभाव होने से द्रव्यत्व एक ही सिद्ध होता है। इसलिए अलग-अलग नौ द्रव्यत्व मानने में कोई हेतु नहीं है। इसलिए द्रव्यत्व का सभी द्रव्यों में समवेत होने से तथा पृथिव्यादि का सभी द्रव्यों में समवेत न होने से 'द्रव्यत्व' का पृथिव्यादि द्रव्यों से भिन्नत्व सिद्ध होता है। इस विषय में एक और हेतु का प्रतिपादन करते हुये आचार्य ने कहा हैं-

सामान्यविशेषाभावेन च। (1.2.12)

सामान्यविशेष का अभाव होने से भी द्रव्य से द्रव्यत्व भिन्न सिद्ध होता है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार द्रव्यों में 'द्रव्यत्व' सामान्यविशेष का भाव होता है वैसे द्रव्यत्व में सामान्यविशेष का भाव नहीं होता अर्थात् अभाव होता है। यदि द्रव्यत्व द्रव्यरूप ही होता तो उसमें भी सामान्यविशेष का भाव होना चाहिये।

परन्तु द्रव्यत्व में किसी अन्य 'द्रव्यत्वादि' समवेत नहीं हो देखे जाते हैं। इसके विपरीत द्रव्यों में द्रव्यत्व समवेत देखे जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि 'द्रव्यत्व' द्रव्यरूप न होकर द्रव्य से भिन्न ही

गुण से गुणत्व का भिन्नत्व

जिस प्रकार द्रव्यों से द्रव्यत्व के भिन्नत्व का प्रतिपादान वैशेषिककार ने कहा ठीक उसी प्रकार गुण से गुणत्व के भिन्नत्व का भी प्रतिपादन किया है। यथा-

तथा गुणेषु भावाद्गुणत्वमुक्तम् । (1.2.13)

वैसे ही सभी गुणों में गुणत्व का भाव होने से गुणत्व के भिन्नत्व का भी व्याख्यान समझ लेने चाहिए। अर्थात् सभी गुणों में गुणत्व समवेत रहता है परन्तु कोई एक गुण सभी गुणों में समवेत नहीं रहता। रूप में भी गुणत्व समवेत रहता है, रस में भी समवेत रहता है, गन्ध इत्यादि में भी समवेत रहता है परन्तु रूप, रस में, रस, गन्ध में समवेत नहीं रहता है। इसी प्रकार अन्य गुणों के विषय में भी समझ लेना चाहिए। यदि गुणत्व रूपादि गुणरूप ही होता तो रूपादि को एक-दूसरे में समवेत होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता है जबकि गुणत्व रूपादि गुणों में समवेत होता है। इससे पता चलता है कि गुणों से गुणत्व भिन्न है। गुणत्व का गुणों से भिन्नत्व में पुनः पूर्वोक्त हेतु को ही दुहराते हुये सूत्रकार कहते हैं-

सामान्य विशेषाभावेन च। (1.2.14.)

सामान्यविशेष का अभाव होने से भी गुणत्व का गुणों से भिन्नत्व सिद्ध होता है। जिस प्रकार गुणों में 'गुणत्व' नामक सामान्यविशेष समवेत रहता है उसप्रकार गुणत्व में कोई अन्य सामान्यविशेष समवेत नहीं रहता है। यदि गुणत्व रूपादि गुणरूप ही होता तो उसमें एक अतिरिक्त सामान्य विशेष की उपलब्धि होती, परन्तु ऐसा नहीं होता है। अतएव गुणों में गुणों से अतिरिक्त 'गुण ात्व' सामान्य विशेष का भाव होने से तथा 'गुणत्व' में एक अतिरिक्त सामान्य विशेष का अभाव होने से गुण से गुणत्व का भेद सिद्ध होता है।

कर्म से कर्मत्व का भिन्नत्व

द्रव्यत्व एवं गुणत्व के द्रव्य व गुण से भिन्नत्व के वर्णन के पश्चात कर्म से कर्मत्व के भिन्नता का वर्णन करते हुये वैशेषिककार कहते हैं-

कर्मसु भावात्कर्मत्वमुक्तम्। (1.2.15)

सभी कर्मों में 'कर्मत्व-सामान्य' समवेत होने से कर्मों से कर्मत्व के भिन्नत्व की व्याख्या समझ लेनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि 'कर्मत्व-सामान्य' सभी कर्मों में समवेत रहता है। उत्क्षेपणादि कर्म परस्पर एक दूसरे में समवेत नहीं होते हैं। उत्क्षेपण, अवक्षेपण ादि में समवेत नहीं होता है। इसी प्रकार अन्य कर्मों के विषय में भी समझा जा सकता है। परन्तु 'कर्मत्व-सामान्य' सभी कर्मों में समवेत रहता है। यदि कर्मत्व को उत्क्षेपणादिकर्मरूप ही स्वीकार करे तो उत्क्षेपणादि कर्म परस्पर एक दूसरे में होने चाहिए, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। इसका तात्पर्य है कि कर्मत्व, कर्म से भिन्न होने में सूत्रकार अपने उसी पूर्वोक्त हेतु को दुहराते हुये कहते हैं-

सामान्यविशेषाभावेन च। (1.2.16.)

सामान्यविशेष के अभाव होने से भी कर्म से कर्मत्व का भिन्नत्व सिद्ध होता है।

जिस प्रकार कर्म में 'कर्मत्व' सामान्यविशेष का भाव होता है उस प्रकार से कर्मत्व में किसी अन्य 'कर्मत्व' सामान्यविशेष का भाव नहीं होता है, अर्थात् अभाव होता है। यदि कर्मत्व कर्मरूप ही होता है तो उसमें भी सामान्य विशेष विद्यमान होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता है। दूसरे पता चलता है कि व कर्म से भिन्न है इस प्रकार वैशेषिक के अनुसार पर-सामान्य एवं अपर-सामान्य की सत्ता द्रव्य, गुण एवं कर्म से भिन्न सिद्ध होती है। साथ ही उनके नित्यत्व एवं एकत्व की भी सिद्धि होती है।

स्मरणीय बिंदु : -

1. **भिन्नत्व का मुख्य तर्क (बुद्धि भेद):**
   जब हम 'घड़ा' देखते हैं, तो हमारी बुद्धि में 'घड़े' का ज्ञान होता है। परंतु जब हम विचार करते हैं कि ष्यह एक द्रव्य हैष्, तब हमें श्द्रव्यत्वश का ज्ञान होता है। चूंकि दोनों विचार (घड़ा और द्रव्यत्व) अलग-अलग हैं, इसलिए वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य और द्रव्यत्व एक नहीं हो सकते; दोनों भिन्न हैं।
2. **माश्रय और आश्रित का संबंधः** द्रव्य, गुण और कर्म 'आश्रय' (गाड़ी या आधार) हैं, और द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व उनमें रहने वाले 'आश्रित' (सवारी) हैं। आश्रय और आश्रित कभी एक नहीं हो सकते।

गुणहीनता और क्रियाहीनताः

1. द्रव्य में गुण और कर्म होते हैं, परंतु द्रव्यत्व (जाति) में कोई गुण या कर्म नहीं होता।
2. गुण में गुणत्व रहता है, परंतु गुणत्व स्वयं में कोई गुण नहीं है।
3. कर्म में कर्मत्व रहता है, परंतु कर्मत्व स्वयं हिल या डुल (क्रिया) नहीं सकता।
4.. नित्यत्व बनाम अनित्यत्वः कार्य द्रव्य (जैसे मिट्टी का घड़ा), कार्य गुण (जैसे घड़े का रंग) और कर्म (जैसे हाथ का हिलना) नष्ट हो सकते हैं, परंतु उनमें रहने वाली जातियां (द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व) स्वभाव से नित्य हैं; वे कभी नष्ट नहीं होतीं।

शब्दावली : -

1. **द्रव्यत्व (Substanceness):** वह अपर सामान्य या जाति जो नव द्रव्यों (पृथ्वी, जल आदि) में समवाय संबंध से रहकर उन्हें श्द्रव्यश होने का बोध कराती है।

2. **गुणत्व (Qualityness):** वह जाति जो सभी २४ गुणों (रूप, रस, गंध आदि) में रहकर उन्हें श्गुणश के रूप में स्थापित करती है।
3. **कर्मत्व (Actionness):** वह जाति जो सभी ५ प्रकार के कर्मों (उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि) में रहकर उनमें 'गति या क्रिया' का बोध कराती है।
4. **अपर सामान्य (Lower Generality/Subordinate Genus):** वह जाति जो 'सत्ता' (पर सामान्य) से कम व्यापक होती है। द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व तीनों ही अपर सामान्य हैं क्योंकि ये अपने वर्ग को दूसरों से अलग भी करते हैं और अपनों में एकता भी लाते हैं।
5. **ततोऽर्थान्तरम् (Distinct from them):** वैशेषिक का वह तार्किक सिद्धांत जो यह स्पष्ट करता है कि कोई भी सामान्य (जाति) अपने आश्रयभूत व्यक्ति या वस्तु से सर्वथा भिन्न

5 अंक के प्रश्न : -

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'द्रव्यत्व', 'गुणत्व' और 'कर्मत्व' से क्या अभिप्राय है? संक्षेप में समझाइए।
2. द्रव्य और द्रव्यत्व में भेद को प्रमाणित करने वाला मुख्य तार्किक आधार (बुद्धि भेद) क्या है?
3. 'गुणत्व स्वयं में गुणरहित है और कर्मत्व स्वयं में क्रियारहित है' - इस दार्शनिक कथन को स्पष्ट कीजिए।
4. आश्रय (द्रव्य आदि) और आश्रित (द्रव्यत्व आदि जाति) के संबंध के आधार पर इनका भिन्नत्व संक्षेप में लिखिए।
5. वैशेषिक मत के अनुसार द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व को 'अपर सामान्य' क्यों कहा जाता है?
6. नित्यत्व और अनित्यत्व के दृष्टिकोण से द्रव्य-गुण-कर्म का उनके द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्व से अंतर स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न : -

1. वैशेषिक दर्शन के परिप्रेक्ष्य में 'जाति' (सामान्य) और 'व्यक्ति' (आश्रय) के संबंध की विवेचना कीजिए तथा यह सिद्ध कीजिए कि द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व अपने आश्रयभूत द्रव्य, गुण और कर्म से सर्वथा भिन्न (अर्थान्तर) हैं।
2. 'कार्य द्रव्य, गुण और कर्म विनाशी हो सकते हैं, परंतु उन्हें एक वर्ग में पिरोने वाली जातियां नित्य और पृथक होती हैं।' इस सिद्धांत की वैशेषिक मान्यताओं के अनुसार सविस्तार समीक्षा कीजिए।
3. वैशेषिक दर्शन के वैज्ञानिक वर्गीकरण (Categorization) में 'द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व के भिन्नत्व' सिद्धांत की क्या उपयोगिता है? तार्किक एवं विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न : -

प्रश्न 1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार, सभी द्रव्यों (जैसे- पृथ्वी, जल आदि) में समवाय संबंध से रहने वाली और उन्हें 'द्रव्य' के रूप में स्थापित करने वाली जाति को क्या कहते हैं?

(क) गुणत्व **(ख) द्रव्यत्व** (ग) कर्मत्व (घ) सत्ता

प्रश्न 2. वैशेषिक मत के अनुसार द्रव्य और श्द्रव्यत्वश (जाति) को एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न (अलग) मानने का मुख्य तार्किक आधार क्या है?

(क) क्योंकि द्रव्य अमूर्त है और द्रव्यत्व मूर्त है।

(ख) क्योंकि द्रव्य में गुण और कर्म होते हैं, जबकि द्रव्यत्व (जाति) स्वयं गुणहीन और क्रियाहीन होती है।

(ग) क्योंकि द्रव्यत्व केवल कुछ समय के लिए द्रव्य में रहता है।

(घ) क्योंकि द्रव्य नित्य है और द्रव्यत्व अनित्य है।

उत्तर: ठ) क्योंकि द्रव्य में गुण और कर्म होते हैं, जबकि द्रव्यत्व (जाति) स्वयं गुणहीन और क्रियाहीन होती है।

प्रश्न 3. 'घटत्व या गुणत्व जैसी जातियां अपने आश्रयों से अलग तत्व हैं।' इस सिद्धांत को स्पष्ट करने के लिए वैशेषिक दर्शन में किस पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया गया है?

(क) ततोऽर्थान्तरम् (उनसे भिन्न होना) (ख) अत्यंत अभाव

(ग) अयुतसिद्ध संबंध (घ) विशेष लक्षण

उत्तर: (क) ततोऽर्थान्तरम् (उनसे भिन्न होना)

प्रश्न 4. वैशेषिक दर्शन के अंतर्गत द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व को किस श्रेणी के 'सामान्य' (जाति) में रखा गया है?

(क) पर सामान्य **(ख) अपर सामान्य**

(ग) नित्य विशेष (घ) समवाय सामान्य

प्रश्न 5. जब एक हाथ हिलता है, तो उसमें 'कर्म' (क्रिया) दिखाई देती है, परंतु उस कर्म में रहने वाली जाति 'कर्मत्व' में कोई गति या हलचल नहीं होती। यह नियम क्या प्रमाणित करता है?

(क) कर्म और कर्मत्व दोनों एक ही हैं।

(ख) कर्मत्व स्वभाव से अनित्य है।

(ग) कर्म (आश्रय) और कर्मत्व (जाति) तार्किक रूप से एक-दूसरे से भिन्न हैं।

(घ) कर्मत्व केवल चेतन वस्तुओं में होता है।

उत्तर: ग) कर्म (आश्रय) और कर्मत्व (जाति) तार्किक रूप से एक-दूसरे से भिन्न हैं।

प्रश्न 6. नित्यत्व और अनित्यत्व के आधार पर यदि विचार किया जाए, तो कार्य द्रव्य (जैसे- वस्त्र) और 'द्रव्यत्व' जाति के स्वरूप में क्या अंतर है?

(क) कार्य द्रव्य नित्य है और द्रव्यत्व अनित्य है।

(ख) कार्य द्रव्य अनित्य (विनाशशील) होता है, जबकि द्रव्यत्व जाति सदैव 'नित्य' रहती है।

(ग) दोनों ही स्वभाव से अनित्य हैं।

(घ) दोनों ही स्वभाव से नित्य हैं।

इकाई-1.11 'विशेष' नामक पदार्थ

उद्देश्य : -

1. **नित्य द्रव्यों में सूक्ष्म भेद करना** (Distinguishing Eternal Substances) **:** ब्रह्मांड के मूल कारण (जैसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु के परमाणु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन) संख्या में अनंत हैं। दो समान और मुक्त तत्वों में परस्पर भेद करने के लिए शविशेषश पदार्थ का प्रतिपादन किया गया है।
2. **परमाणुवाद को पूर्णता देना** (Completing Atomism)**:** वैशेषिक एक परमाणुवादी दर्शन है। यदि दो परमाणु हर दृष्टिकोण से समान हैं (जैसे जल के दो परमाणु), तो वे एक-दूसरे से भिन्न कैसे हैं? उन्हें उनकी अद्वितीय पहचान (Unique Identity) देने के लिए 'विशेष' को स्वीकार करना इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य है।
3. **तत्वज्ञान द्वारा मोक्ष:** वैशेषिक मत के अनुसार जब तक साधक सृष्टि के सभी तत्वों के साधर्म्य (समानता) और वैधर्म्य (अंतर) को सूक्ष्म स्तर पर नहीं समझ लेता, तब तक वास्तविक तत्वज्ञान संभव नहीं है। 'विशेष' का ज्ञान इसी वैधर्म्य बोध का मूलाधार है।

षड्पदार्थों में वर्णित पूर्वोक्त 'सामान्य' नामक चतुर्थपदार्थ के भेद में वैशेषिककार ने 'विशेष' नामक अपर-सामान्य का वर्णन किया है। प्रश्न यह उठता है कि जब 'विशेष' को सामान्य के अन्तर्गत चतुर्थ पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है तब 'विशेष' नामक पञ्चम् पदार्थ को पृथक् क्यो पढ़ा है? क्या यह 'विशेष' नामक पञ्चम् पदार्थ पूर्वोक्त 'विशेष' (सामान्यविशेष) से अभिन्न है या भिन्न? तब इस विषय में वैशेषिककार स्वयं कहते हैं-

अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः। (1.2:6)

अन्त्यविशेषों से भिन्न (यह विशेष) है। अर्थात् सामान्यान्तर्गत पठित जो विशेष है, जिसका वर्णन-

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च **तथा** सामान्य विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्। (1.2.3, 3)

इन सूत्रों में किया गया है, वह विशेष अन्त्यविशेष नामक पञ्चम पदार्थ से भिन्न है। 'अन्त्यविशेष' पद से कहा है। 'अन्त्य' पदा का अर्थ वैशेषिकाचार्यों ने इस प्रकार किया है-

उत्पादविनाशयोरन्तेऽवसाने भवन्तीत्यन्त्या नित्यद्रव्याणि तेषु भवन्तीत्यन्त्या विशेषा इति ।

उत्पत्ति एवं विनाश का जहाँ पर अन्त हो गया है, ऐसे 'अन्त्य' नामक नित्यद्रव्यों में जो विशेष है उसे 'अन्त्य विशेष' कहते है। वही पञ्चम् पदार्थ के रूप में पठित 'विशेष' नामक पदार्थ है, जो कि पूर्वोक्ति 'सामान्य-विशेष' से भिन्न है।

जिस प्रकार केवल अनुवृत्तिबुद्धि हेतु सत्ता-सामान्य होता है, ठीक उसके विपरीत केवल व्यावृत्तिबुद्धि का हेतु (विशेष) होता है। यह नित्य आकाशादि द्रव्यों एवं पार्थिवादि परमाणुओं में होता है। कार्य घटादि पदार्थों का व्यावर्तक (भेदक) उसके अपने कारण अवयव, स्वगुण अथवा कर्म होते हैं, परन्तु परमाणु आदि नित्य द्रव्यों में कारण अवयव, उद्भूतरूप का अभाव होने से परमाणुओं में परस्पर भेद बुद्धि का अभाव सिद्ध होगा। परन्तु योगियों का इन परमाणुओं में भी भेदबुद्धि उत्पन्न हो जाती है। जैसा कि योगसूत्रकार ने कहा है-**''परमाणुपरममहत्वान्तोऽस्य वशीकारः''** अर्थात् योगियों का चित्त का विषय परमाणु से लेकर परममहत्व परिमाण वाले आत्मादि पदार्थ भी बन जाते है। अर्थात् वे सूक्षम से सूक्ष्म परमाणु एवं विराट् से विराट् आकाशादि पदार्थों मैं भी भेद करने में समर्थ हो जाते है। घट-पटादि पदार्थों में व्यावर्तक श्वेतादि रूप होते हैं। उसके बिना घटादि पदार्थों का भेद करना सम्भव नहीं है। ठीक उसी प्रकार नित्य परमाणु इत्यादि द्रव्यों में भी बिना किसी भेदक पदार्थ के भेद करना सम्भव नहीं है। योगियों का योगजसामर्थ्य भी कि अकारण बिना किसी भेदक के भेद नहीं कर सकता है। उन प्रत्येक नित्य द्रव्यों में 'विशेष' नामक पदार्थ होता है। जो उन द्रव्यों को अन्य समान या असमानजातीय द्रव्यों से भेद कराता है। अतएव जितने भी नित्य द्रव्य होंगे उतनी ही संख्या में 'विशेष' नामक पदार्थ भी होंगे । तात्पर्य यह है कि परमाणु इत्यादि अनन्त नित्यपदार्थों में अनन्त 'विशेष' नामक पदार्थ होते है। परमाणु - परमाणु परस्पर समान होते हैं परन्तु एक विशेष दूसरे विशेष के समान नहीं होता। अनन्त विशेष अनन्त प्रकार के होते हैं। इसी कारण वह जिसमें रहते है उसकों अन्य पदार्थों से भिन्न करा पाते है। यदि एक विशेष, दूसरे विशेष जैसा होने लगे तो भेद नहीं करा पायेगा। ऐसे में योगियों के योगज प्रत्यक्ष का अपलाप हो जायेगा। इसलिए वैशेषिक ने उनके भेदक अनन्त विशेष को स्वीकार किया है और जितने विशेष उतने प्रकार के होते हैं। परस्पर एक दूसरे से मेल नहीं खाते हैं। इन 'विशेष' नामक पञचम् पदार्थों का ज्ञान केवल योगिजन कर पाते है। सामान्य मनुष्यों के इन्द्रियों से अप्रत्यक्ष अतीन्द्रिय होने से ज्ञान का विषय नहीं बन पाते। अतएव इनका ज्ञान केवल योगज सामर्थ्य से ही सम्भव है। इस प्रकार वैशेषिक ने नित्य द्रव्यों में रहने वाला तथा परस्पर उन द्रव्यों के व्यावर्तक के रूप में अतीन्द्रिय 'विशेष' नामक पदार्थ का वर्णन किया है। यह पदार्थ अन्य पदार्थों से विलक्षण होता है। ऐसे विलक्षण पदार्थ का निरुपण करने से महर्षि कणाद के द्वारा प्रतिपादित इस शास्त्र का नाम वैशेषिक पड़ा।

स्मरणीय बिंदु :-

1. **केवल नित्य द्रव्यों में स्थिति:** 'विशेष' पदार्थ कभी भी कार्य द्रव्यों (जैसे घट, वस्त्र, या मनुष्य का शरीर) में नहीं पाया जाता। कार्य द्रव्यों में भेद करने के लिए उनके अवयव (टुकड़े), आकार या गुण ही पर्याप्त होते हैं।
2. **स्वभाव से अनंत:** चूंकि ब्रह्मांड में परमाणु, आत्माएं और मन अनंत हैं, इसलिए उनमें रहने वाले 'विशेष' पदार्थों की संख्या भी अनंत है। प्रत्येक नित्य द्रव्य का अपना एक पृथक और विशिष्ट 'विशेष' होता है।
3. **विशेष और सामान्य का विरोध:** 'सामान्य' (जाति) जोड़ने का काम करता है और अनेकता में एकता लाता है, जबकि 'विशेष' पूरी तरह से अलग करने (व्यावृत्ति) का काम करता है।
4. **दर्शन के नामकरण का आधार:** अन्य भारतीय दर्शनों (जैसे न्याय या सांख्य) ने 'सामान्य' को तो स्वीकार किया, परंतु नित्य तत्वों के इस अंतिम भेदक सिद्धांत को एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में केवल वैशेषिक दर्शन ने माना। इसीलिए इसे 'वैशेषिक दर्शन' कहा जाता है।

शब्दावली :-

1. **अन्त्यो विशेष: (The Ultimate Particular):** यह 'विशेष' का मूल स्वरूप है। 'अन्त्य' का अर्थ है जिसके आगे और कोई विभाजन या भेद संभव न हो। यह वस्तुओं के भेद की अंतिम सीमा है।
2. **व्यावृत्तिप्रत्ययहेतु: (Cause of Eñclusive Cognition):** वह दार्शनिक आधार या बुद्धि जिसके कारण हम दो समान दिखने वाली वस्तुओं में 'यह तत्व, उस तत्व से सर्वथा भिन्न है' का अनुभव करते हैं।
3. **नित्यद्रव्यवृत्तित्व (Inherence in Eternal Substances):** 'विशेष' पदार्थ का वह स्वभाव जिसके कारण वह केवल और केवल नित्य द्रव्यों (परमाणुओं, मुक्त आत्माओं आदि) में ही रहता है।
4. **स्वत: व्यावर्तक (Self/Differentiating):** 'विशेष' को किसी अन्य तत्व द्वारा अलग करने की आवश्यकता नहीं होती; वह स्वयं ही भेदक (अलग करने वाला) होता है।
5. **अयुतसिद्ध (Inseparable):** 'विशेष' अपने आश्रय (नित्य द्रव्य) के साथ हमेशा समवाय संबंध से जुड़ा रहता है, इन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

5 अंक के प्रश्न :-

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'विशेष' पदार्थ का मुख्य लक्षण क्या है?
2. 'विशेष' पदार्थ केवल किन द्रव्यों में रहता है? सोदाहरण लिखिए।
3. 'विशेष' को 'स्वत:व्यावर्तक' क्यों कहा जाता है? संक्षेप में समझाइए।
4. 'सामान्य' (जाति) और 'विशेष' पदार्थ में मुख्य अंतर क्या है?
5. कार्य द्रव्यों (जैसे घट, पट) में परस्पर भेद करने के लिए 'विशेष' पदार्थ की आवश्यकता क्यों नहीं होती?
6. 'विशेष' पदार्थों की संख्या कितनी मानी गई है और क्यों?
7. नित्य द्रव्यों और 'विशेष' के मध्य कौन सा संबंध पाया जाता है?

15 अंक के प्रश्न :-

1. **'अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेष:'** सूत्र की सविस्तार व्याख्या कीजिए तथा वैशेषिक दर्शन में 'विशेष' के स्वतंत्र अस्तित्व को तार्किक रूप से प्रमाणित कीजिए।
2. इस दर्शन का नाम 'वैशेषिक' पड़ने के पीछे 'विशेष' पदार्थ की क्या भूमिका है? इसके दार्शनिक और वैज्ञानिक महत्व का विस्तृत विश्लेषण कीजिए।
3. परमाणुवाद (Atomism) के संदर्भ में 'विशेष' पदार्थ की अनिवार्यता सिद्ध कीजिए। दो सर्वथा समान परमाणुओं की अद्वितीय पहचान (Unique Identity) 'विशेष' के बिना क्यों असंभव है? समीक्षा कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न :-

प्रश्न 1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार, दो सर्वथा समान और मुक्त नित्य द्रव्यों (जैसे-जल के दो परमाणुओं या दो मुक्त आत्माओं) में परस्पर भेद करने वाले स्वतंत्र पदार्थ को क्या कहा जाता है?

(क) सामान्य **(ख) विशेष** (ग) समवाय (घ) अभाव

प्रश्न 2. 'अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेष:' - इस प्रसिद्ध दार्शनिक लक्षण के अनुसार, 'विशेष' पदार्थ अनिवार्य रूप से कहाँ विद्यमान रहता है?

(क) केवल कार्य द्रव्यों (जैसे- घट, पट) में

(ख) केवल गुणों और कर्मों में

(ग) केवल नित्य द्रव्यों (जैसे- परमाणुओं और विभु द्रव्यों) में

(घ) संपूर्ण ब्रह्मांड के सभी पदार्थों में समान रूप से

प्रश्न 3. 'विशेष' पदार्थ को 'स्वत:व्यावर्तक' माना गया है। इस 'स्वत:व्यावर्तक' शब्द का दार्शनिक अर्थ क्या है?

(क) यह स्वयं नष्ट होने वाला तत्व है।

(ख) इसे किसी दूसरे तत्व से अलग करने के लिए किसी अन्य 'विशेष' की आवश्यकता नहीं होती; यह स्वयं ही भेदक है।

(ग) यह अनेक वस्तुओं को आपस में जोड़ने का कार्य करता है।

(घ) यह केवल संयोग संबंध से द्रव्यों में रहता है।

प्रश्न 4. दो समान दिखने वाली वस्तुओं में 'यह तत्व, उस तत्व से सर्वथा भिन्न है' इस प्रकार का पृथकता का बोध कराने के कारण 'विशेष' को क्या कहा जाता है?

(क) अनुवृत्तिप्रत्ययहेतु: **(ख) व्यावृत्तिप्रत्ययहेतु:**

(ग) समवायप्रत्ययहेतु: (घ) अभावप्रत्ययहेतु:

प्रश्न 5. वैशेषिक दर्शन के अनुसार ब्रह्मांड में 'विशेष' पदार्थों की कुल संख्या कितनी मानी गई है?

(क) केवल एक

(ख) नौ (द्रव्यों के समान)

(ग) चौबीस (गुणों के समान)

(घ) अनंत (चूंकि नित्य द्रव्य और परमाणु अनंत हैं)

प्रश्न 6. 'विशेष' अपने आश्रय (नित्य द्रव्य) के साथ किस संबंध से जुड़ा रहता है, जिसके कारण इसे आश्रय से कभी अलग नहीं किया जा सकता?

(क) संयोग संबंध

(ख) समवाय संबंध (अयुतसिद्ध)

(ग) स्वरूप संबंध

(घ) कालिक संबंध

खण्ड-2

इकाई-2.1 पृथिवी का लक्षण

उद्देश्य :-

1. **जगत के उपादान कारण को खोजना:** यह स्पष्ट करना कि हमारे चारों ओर दिखने वाली ठोस वस्तुएँ किस मूल तत्व से बनी हैं।
2. **भोग साधन का निरूपण:** जीवात्मा के कर्मफल भोग के लिए 'शरीर' और 'विषय' (घटादि पदार्थ) के रूप में आधार प्रदान करना।
3. **ज्ञान प्रक्रिया को समझाना:** गन्ध ज्ञान के लिए घ्राणेन्द्रिय (भौतिक साधन) की आवश्यकता और उसकी पृथिवी-मूलकता सिद्ध करना।

प्रथम अध्याय में द्रव्यादि पदार्थों का उद्देश एवं लक्षण तथा उनके साधर्म्य - वैधर्म्य आदि का निरूपण किया गया। इस वैशेषिक शास्त्र की रचना का तीन आधार है। (क) उद्देश्य (कथनमात्र) (ख) लक्षण तथा (ग) परीक्षा।

प्रथम अध्याय में 'द्रव्यादि पदार्थों' के उद्‌देश एवं लक्षण के वर्णन के पश्चात अब क्रम-प्राप्त परीक्षा का निरुपण इस अध्याय में किया जायेगा। नौ द्रव्यों में से पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल एवं दिशा नामक सात द्रव्यों की परीक्षा इस अध्याय में की गई है। उनमें से क्रमशः एक-एक की परीक्षा प्रारम्भ होती है। सर्वप्रथम पृथिवी, द्रव्य की परीक्षा करते हुये वैशेषिककार कहते हैं -

(1) पृथिवी का लक्षण

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी। (2.1.1)

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाली पृथिवी होती है। अर्थात् समवाय सम्बन्धेन रूपादि का जो आधार है, वह पृथिवी है, यह पृथिवी का लक्षण है। केवल रूपादि चार गुण वाली पृथिवी है- इतना ही लक्षण करने पर यह पृथिवी का सामान्यलक्षण है। पृथिवी के इन्ही समस्त गुणों का विस्तारपूर्वक कथन करते हुये भाष्यकार लिखते हैं -

रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वसंस्कारवती (पृथिवी)। (प्रश. भा.)

अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार इन चौदह गुणों वाली पृथिवी होती है। पृथिवी में अग्नि के संयोग से नैमित्तिक द्रवत्व होता है स्वाभाविक नहीं। इनमें से रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पृथिवी के विशेष गुण कहलाते हैं। रूपादि गुणों को विशेष कहना उनके भेद के आधार पर समझना चाहिए। यथा-

(क) रूप - रूप के कई भेद होते हैं जिसमें अभास्वर अस्वच्छ रूप पृथिवी का होता है। इसके अतिरिक्त छः प्रकार का रूप और होता है- शुक्ल (सफेद), नील, पीत (पीला), हरित (हरा), रक्त (लाल), कपिश (भूरा), चित्र (मिश्रितरंग चितक. बरा)। इस प्रकार से कुल मिलाकर पृथिवी में सात रूप सिद्ध होते हैं।

(ख) रस - रूप के समान पृथिवी में रस भी सात प्रकार के होते है। मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय ये षड्‌रस तो प्रसिद्ध ही है। सातवां चित्र रस है अथवा मिश्रित रस। यह रस लेह्य (चटनी) आदि पदार्थों में होता है। कई व्याख्याकार पृथिवी में केवल षड्‌रस को ही स्वीकार करते है। परन्तु सातवां चित्ररस भी अनुभवगम्य होने से कोई आपत्ति की बात नहीं है।

(ग) गन्ध - गन्ध यह पृथिवी का विशेषगुण माना जाता है; क्योंकि गन्ध एकमात्र पृथिवीनिष्ठ ही होता है। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है -

व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः। (2.2.3)

अर्थात् गन्ध केवलमात्र पृथिवी में ही व्यवस्थित रूप से रहता है। अन्य में नहीं। इसलिए 'गन्ध' पृथिवी का वैशेषिकगुण (विशेषगुण) सिद्ध होता है। गन्ध के दो भेद होते हैं- (क) सुरभि (सुगन्ध) (ख) असुरभि (दुर्गन्ध)

(घ) स्पर्श - स्पर्श तीन प्रकार का अनुभव में आता है- उष्ण (गर्म), शीत (ठंडा) तथा अनुष्णाशीत (न उष्ण न शीत अर्थात् सामान्य)। अनुष्णाशीत भी दो प्रकार का होता है- (क) स्पर्शान्तर व्यञ्जक (ख) स्पर्शान्तर अव्यञ्जक। इसमें से पृथिवी में स्पर्शान्तर अव्यञ्जक स्पर्श होता है।

इस प्रकार अवान्तर भेदपूर्वक रूपादि चार गुण पृथिवी के विशेषगुण कहे जाते है। यदि रूपादि का अवान्तरभेद न करे, केवल रूप, रस, इत्यादि इतना कहे तो सामान्य हो जाते है जबकि 'गन्ध' विशेष गुण हो जाता है। अतएव सूत्र में रूपादि - चार गुणों को विशेष कहने का तात्पर्य अवान्तरभेदपूर्वक ही समझना चाहिए।

स्मरणीय बिंदु : -

1. **चतुर्दश गुणाः** (14 गुण): पृथिवी में सर्वाधिक 14 गुण पाए जाते हैं - रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व (नैमित्तिक) और संस्कार।
2. **विशेष गुणः** 'गन्ध' पृथिवी का असाधारण या विशेष गुण है।
3. **स्पर्श की विशेषताः** पृथिवी का स्पर्श 'अनुष्णाशीत' (न अत्यधिक गर्म, न अत्यधिक ठंडा) और 'पाकज' (अग्नि संयोग से बदलने वाला) होता है।
4. **सुवर्ण (Gold) का अपवादः** न्याय दर्शन में सोने (गोल्ड) को पृथिवी नहीं, बल्कि 'तेज' द्रव्य माना गया है, क्योंकि अत्यंत तीव्र अग्नि में भी उसका अत्यंत नाश या द्रवत्व नष्ट नहीं होता।

मुख्य शब्दावली :-

1. **लक्षण (Characteristic):** वह असाधारण धर्म जो केवल लक्ष्य (जिसका लक्षण किया जा रहा है) में रहे, अन्यत्र न रहे (जैसे पृथिवी के लिए 'गन्ध')।
2. **गन्धवत्त्व (Possession of odor):** गन्ध का आश्रय होना। यह दो प्रकार की होती है: सुरभि (सुगन्ध) और असुरभि (दुर्गन्ध) ।
3. **समवाय सम्बन्ध (Inseparable Relation):** गुण और गुणी (जैसे गन्ध और पृथिवी) के बीच का नित्य सम्बन्ध जिसे अलग नहीं किया जा सकता।
4. **पार्थिव पाक (Chemical/Thermal change):** न्याय दर्शन के अनुसार पृथिवी में अग्नि के संयोग (तेज) से रूप, रस, गन्ध और स्पर्श बदल जाते हैं (जैसे कच्चे घड़े का पकने पर लाल होना)। इसे 'पाक' कहते हैं।

यहाँ न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार श्पृथिवीश द्रव्य पर आधारित लघु और दीर्घ उत्तरीय प्रश्नों की सूची दी गई है:

5 अंक के प्रश्न : -

1. न्याय शास्त्र के अनुसार पृथिवी का असाधारण लक्षण क्या है? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
2. पृथिवी के दो मुख्य भेद कौन-से हैं? संक्षेप में समझाइए।
3. कार्यरूपा पृथिवी के तीन भेदों (शरीर, इन्द्रिय, विषय) का परिचय दीजिए।
4. न्याय दर्शन के अनुसार घ्राणेन्द्रिय (नाक) का भौतिक उपादान कारण क्या है और क्यों?
5. पृथिवी द्रव्य में पाए जाने वाले 'अनुष्णाशीत' स्पर्श से क्या तात्पर्य है?
6. 'पाकज' गुण से क्या अभिप्राय है? यह पृथिवी में किस प्रकार घटित होता है?
7. सुवर्ण (सोने) को पृथिवी द्रव्य न मानकर 'तेज' द्रव्य क्यों माना गया है? संक्षेप में तर्क दीजिए।

15 अंक के प्रश्न : -

1. "तत्र गन्धवती पृथिवी" - इस लक्षण की समीक्षा कीजिए तथा पृथिवी के नित्य और अनित्य भेदों का सविस्तार वर्णन कीजिए।
2. भारतीय दर्शन (विशेषकर वैशेषिक) में पृथिवी द्रव्य के निरूपण के मुख्य उद्देश्यों और महत्ता पर एक विस्तृत निबंध लिखिए।
3. पृथिवी द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले १४ गुणों की सूची बनाइए तथा इसके विशेष गुण 'गन्ध' और श्पाकज स्पर्शश की विस्तृत विवेचना कीजिए।
4. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'पाकजोत्पत्ति' (अग्नि संयोग से रूप-रस-गन्ध-स्पर्श में परिवर्तन) की प्रक्रिया को घट (घड़े) के उदाहरण के माध्यम से विस्तारपूर्वक समझाइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न :-

प्रश्न 1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार, दो सर्वथा समान और मुक्त नित्य द्रव्यों (जैसे- जल के दो परमाणुओं या दो मुक्त आत्माओं) में परस्पर भेद करने वाले स्वतंत्र पदार्थ को क्या कहा जाता है?

(क) सामान्य **(ख) विशेष** (ग) समवाय (घ) अभाव

प्रश्न 2. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार पृथिवी का प्रमुख और असाधारण लक्षण क्या है?

(क) शीतस्पर्शवत्त्वम् (ख) उष्णस्पर्शवत्त्वम् **(ग) गन्धवत्त्वम्** (घ) शब्दवत्त्वम्

प्रश्न 3. पृथिवी में गन्ध किस सम्बन्ध से रहती है?

(क) संयोग सम्बन्ध (ख) स्वरूप सम्बन्ध **(ग) समवाय सम्बन्ध** (घ) विभाग सम्बन्ध

प्रश्न 4. कार्यरूपा (अनित्या) पृथिवी के कितने शास्त्रीय भेद माने गए हैं?

(क) दो (नित्य और अनित्य) **(ख) तीन (शरीर, इन्द्रिय और विषय)**

(ख) चार(परमाणु, घट, पट, पाषाण) (घ) पाँच (भौतिक भेद)

प्रश्न 5. पृथिवी का स्पर्श (ज्वनबी) कैसा माना गया है?

(क) शीतल (ख) उष्ण (गर्म) **(ग) अनुष्णाशीत** (घ) अतीन्द्रिय

प्रश्न 6. घ्राणेन्द्रिय (नाक) का भौतिक उपादान कारण कौन सा द्रव्य है?

(क) जल (ख) तेज (ग) वायु **(घ) पृथिवी**

प्रश्न 7. न्याय मत के अनुसार पृथिवी द्रव्य में कुल कितने गुण पाए जाते हैं?

(क) 9 **(ख) 14** (ग) 24 (घ) 7

प्रश्न 8. पृथिवी में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श किस प्रक्रिया के कारण बदलते हैं?

(क) काल के प्रभाव से (ख) स्वभाव से

(ग) पाक (अग्नि संयोग) से (घ) जल के मिश्रण से

प्रश्न 9. सुवर्ण (सोना) को न्याय-वैशेषिक दर्शन में किस द्रव्य के अंतर्गत रखा गया है?

(क) पृथिवी **(ख) तेज** (ग) जल (घ) वायु

प्रश्न 10. गन्ध के मुख्य दो प्रकार कौन से हैं जो पृथिवी का लक्षण निर्धारित करते हैं?

(क) शुक्ल और कृष्ण ख) मधुर और अम्ल

(ग) सुरभि और असुरभि (घ) शीत और उष्ण

इकाई- 2.2 जल का लक्षण

उद्देश्य :-

1. **रस ज्ञान की व्याख्याः** यह स्पष्ट करना कि जीवात्मा को 'रस' (स्वाद) का बोध किस भौतिक माध्यम (रसनेन्द्रिय) से होता है।
2. **द्रव्य संगठन को समझनाः** वस्तुओं में 'स्नेह' (चिपकने का गुण) और 'संग्रह' (पिण्ड बनाना) की प्रक्रिया को जल के माध्यम से समझाना।
3. **सृष्टि निरूपणः** जगत की रचना में जल की तरलता और शीतलता की भूमिका को वैज्ञानिक आधार देना।

जलका लक्षण करते हुए महर्षि निम्न सूत्र प्रस्तुत करते हैं-

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः। (2.1.2)

रूप, रस, स्पर्श वाले जल द्रवत्व और स्नेह गुण वालें है। प्रस्तुत सूत्र में जल के पांच गुणों का वर्णन किया है- रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व एवं स्निग्ध (स्नेह)।

जल के गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुये भाष्यकार लिखते हैं-

रूपरसस्पर्शद्रवत्वस्नेहसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वसंस्कारवत्यः (आपः) । (प्रश.भा.)

अर्थात् रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व, स्नेह, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, संस्कार इन चौदह गुणों वाले जल होते हैं।

सूत्रोक्त जल के पांच गुणों का अवान्तरभेद सहित वर्णन किया जा रहा है-

(क) **रूप** - जल में अभास्वर-स्वच्छ शुक्ल रूप होता है। अभास्वर का अर्थ है- अप्रकाशक, स्वच्छ का अर्थ है- पारदर्शी, शुक्ल का तात्पर्य श्वेत से नहीं है। श्वेतरूप दूध में होता है जबकि पानी का रूप दूध से भिन्न होता है। यह अनुभवगम्य ही है।

(ख) **रस** - जल में अव्यक्तमधुर रस होता है। अव्यक्त का तात्पर्य है अप्रकट। शक्कर इत्यादि में व्यक्तमधुर रस होता है, जबकि जल में मिठास तो होता है परन्तु शक्कर इत्यादि जैसा नहीं होता है। इसलिए जल का रस अव्यक्तमधुर माना जाता है।

(ग) **स्पर्श** - जल का स्पर्श शीत (ठंडा) होता है। यह जल का विशेषगुण होता है। जैसा की द्रव्यों के वैशेषिकगुणों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार ने कहा है- **अप्सु शीतता। (2.2.5)** अर्थात् जलों में शीत स्पर्श व्यवस्थितरूप से रहता है। जैसे पूर्वोक्त पृथिवी में केवल गन्ध व्यवस्थितरूप से रहता है वैसी ही जल में शीतस्पर्श।

(घ) **द्रवत्व** - द्रव्यत्व दो प्रकार का होता है- (1) सांसिद्धिक (2) नैमित्तिक।

जल में सांसिद्धिकद्रवत्व होता है। सांसिद्धिक का तात्पर्य है- स्वाभाविक। जल स्वभाव से बहता है। अर्थात् स्वाभाविक द्रवत्व जल में होता है। जबकि पृथिवी में नैमित्तिकद्रवत्व होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पृथिवी स्वभाव से नही बहती है बल्कि अग्नि के संयोग से पिघलकर बहने लगती है। जैसे मोम, घृत, लौह, स्वर्ण इत्यादि पदार्थ में अग्नि के निमित्त से द्रवत्व होता है। इसलिए पार्थिव पदार्थों में नैमित्तक द्रवत्व होता है, जबकि जल में सांसिद्धिक द्रवत्व होता है।

(ङ) **स्निग्ध (स्नेह)** - स्निग्धता का तात्पर्य यहाँ पर चिकनेपन से नहीं है। कारण यह है कि चिकनाई रूप स्निग्धता पार्थिव पदार्थों का ही गुण होता है, जल का नहीं। जैसे घृत, तैल इत्यादि द्रव्यों में जो चिकनाई है वह पार्थिव का ही धर्म है। तैल में भले ही द्रवत्व स्वाभाविक होता है, परन्तु उसमें जो पार्थिवांश है उससे ही चिकनाई होती है न कि तैलनिहित जल से । चूंकि तेल में भी जल होता ही है परन्तु उसका गुण चिकनाई नहीं है वह तो पार्थिव का ही धर्म है। चिकना, खुरदरा, नुकिला, इत्यादि स्पर्श के अन्तर्गत आने वाले गुण पृथिवी के ही सिद्ध होते हैं।

प्रस्तुतः स्निग्धता नामक गुण जलों का होता है। यह चिकनाई नहीं है। अपितु स्नेह नामक गुण कहलाता है। जो बिखरे हुये अवयवों को जोड़ने का काम करता है। जैसे बिखरे हुये आटें के कणों को जल डालकर पिण्ड बनाया जाता है। बालू-सिमेन्ट के मिश्रण में जल डालने से चिपक जाते है। इस प्रकार जोड़ने रूपी गुण का नाम स्निग्ध अथवा स्नेह है, जो कि जलों का विशेष गुण है। शेष संख्यादि सामान्य गुण कहलाते है, वे सभी द्रव्यों में सामान्य रूप से रहते हैं। जलों में पतन का हेतुभूत गुण का नाम गुरुत्व है, तथा संस्कार का तात्पर्य 'वेगनामक' संस्कार से है।

स्मरणीय बिंदु : -

1. **चतुर्दश गुणाः (14 गुण):** जल में भी पृथिवी की तरह 14 गुण पाए जाते हैं - रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व (सांसिद्धिक), स्नेह और संस्कार।
2. **विशेष गुणः** जल का विशेष गुण 'शुक्ल रूप' और 'मधुर रस' है। (यद्यपि हमें अन्य स्वाद मिलते हैं, पर शुद्ध जल का रस मधुर ही माना गया है)।
3. **स्नेह गुण का एकाधिकारः** 'स्नेह' गुण केवल जल में होता है, अन्य किसी द्रव्य में नहीं।
4. **अपाकज गुणः** पृथिवी के विपरीत, जल के रूप-रस-स्पर्श अग्नि संयोग से नहीं बदलते (अपाकज होते हैं)। गर्म जल में उष्णता केवल तेज की उपस्थिति के कारण होती है।

मुख्य शब्दावली : -

1. **शीतस्पर्श (Cold Touch):** वह स्पर्श जो केवल जल का स्वाभाविक धर्म है।
2. **रसनेन्द्रिय (Gustatory Organ) :** जीभ के अग्रभाग में रहने वाली वह इन्द्रिय जो जल से बनी है और रस का ग्रहण करती है।
3. **स्नेह (Viscosity/Cohesion):** वह गुण जिसके कारण चूर्ण (जैसे आटा) का पिण्ड बनता है। यह केवल जल में पाया जाता है।
4. **सांसिद्धिक द्रवत्व (Natural Fluidity):** जल का वह गुण जिसके कारण वह स्वतः बहता है (अग्नि के बिना)।
5. **समवाय सम्बन्धः** जल और शीतलता के बीच का अटूट सम्बन्ध।

5 अंक के प्रश्न :-

1. तर्कसंग्रह के अनुसार जल का असाधारण लक्षण क्या है? संस्कृत सूत्र सहित लिखिए।
2. जल के दो मुख्य भेद (नित्य और अनित्य) में क्या अंतर है? स्पष्ट कीजिए।
3. कार्यरूप जल के तीन भेदों (शरीर, इन्द्रिय और विषय) का सोदाहरण परिचय दीजिए।
4. 'रसनेन्द्रिय' क्या है? इसे जल से निर्मित क्यों माना जाता है?
5. गर्म पानी में उष्णता का अनुभव होने पर भी जल का स्पर्श 'शीतल' ही क्यों माना जाता है? तर्क दीजिए।
6. जल के विशेष गुण 'स्नेह' (Sneha) का क्या अर्थ है? यह अन्य द्रव्यों से जल को कैसे अलग करता है?
7. जल के 'सांसिद्धिक द्रवत्व' (Natural Fluidity) से आप क्या समझते हैं?
8. शुद्ध जल का 'रूप' और 'रस' शास्त्रीय दृष्टि से क्या माना गया है?

15 अंक के प्रश्न :-

1. **'शीतस्पर्शवत्य आप':** - जल के इस लक्षण की व्याख्या कीजिए तथा इसके नित्य और अनित्य स्वरूप का सविस्तार वर्णन कीजिए।
2. जल द्रव्य में पाए जाने वाले १४ गुणों की विवेचना कीजिए। जल के उन विशेष गुणों को रेखांकित कीजिए जो पृथिवी या अन्य द्रव्यों में नहीं पाए जाते।
3. भारतीय दर्शन (न्याय-वैशेषिक) में जल द्रव्य के निरूपण के प्रमुख उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए। सृष्टि प्रक्रिया और रसानुभूति में जल की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
4. 'स्नेह' और 'संग्रह' की प्रक्रिया में जल के महत्व को समझाते हुए यह सिद्ध कीजिए कि चूर्ण (जैसे आटा) का पिण्ड बनाना केवल जल के कारण ही संभव है।
5. जल और पृथिवी के गुणों की तुलना कीजिए। 'अपाकज' गुणों के संदर्भ में जल की विशेषता बताइए।

बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तरीः -

प्रश्न १. तर्कसंग्रह के अनुसार जल का असाधारण लक्षण क्या है?
(क) गन्धवत्त्वम् **(ख) शीतस्पर्शवत्त्वम्** (ग) उष्णस्पर्शवत्त्वम् (घ) रूपरहितस्पर्शवान्

प्रश्न २. जल में श्शीत स्पर्शश किस सम्बन्ध से रहता है?
(क) संयोग सम्बन्ध (ख) स्वरूप सम्बन्ध **(ग) समवाय सम्बन्ध** (घ) विभाग सम्बन्ध

प्रश्न ३. गर्म जल में उष्णता की प्रतीति किस कारण से होती है?
(क) जल के स्वाभाविक गुण के कारण **(ख) तेज (अग्नि) के संयोग के कारण**
(ग) वायु के प्रभाव से (घ) जल के परमाणु बदलने से

प्रश्न ४. रसनेन्द्रिय (जीभ) का भौतिक उपादान कारण कौन-सा द्रव्य माना गया है?

(क) पृथिवी (ख) तेज **(ग) जल** (घ) आकाश

प्रश्न ५. वह कौन-सा विशेष गुण है जो केवल जल में पाया जाता है और अन्य किसी द्रव्य में नहीं?

(क) रूप (ख) गुरुत्व **(ग) स्नेह** (घ) द्रवत्व

प्रश्न ६. शास्त्रीय दृष्टि से शुद्ध जल का स्वाभाविक श्रसश (स्वाद) क्या माना गया है?

(क) तिक्त (कड़वा) (ख) अम्ल (खट्टा)

(ग) मधुर (मीठा) (घ) कषाय (कसैला)

प्रश्न ७. जल के प्रवाहित होने के गुण (Fluidity) को क्या कहा जाता है?

(क) नैमित्तिक द्रवत्व **(ख) सांसिद्धिक द्रवत्व**

(ग) स्नेह (घ) संस्कार

प्रश्न ८. कार्यरूप जल के तीन भेदों में से श्नदी, समुद्र, ओलाश आदि किसके अंतर्गत आते हैं?

(क) शरीर (ख) इन्द्रिय **(ग) विषय** (घ) परमाणु

प्रश्न ९. न्याय मत के अनुसार जल द्रव्य में कुल कितने गुण पाए जाते हैं?

(क) ९ (ख) १२ **(ग) १४** (घ) 24

प्रश्न १०. जल का श्रूपश (रंग) कैसा माना गया है?

(क) अव्याहत शुक्ल (चमकदार सफेद) **(ख) अभास्वर शुक्ल (चमक रहित सफेद)**

(ग) नील (नीला) (घ) चित्र (बहुरंगी)

इकाई- 2.3 तेज का लक्षण

उद्देश्य : -

1. **रूप ज्ञान की व्याख्या:** यह स्पष्ट करना कि जीवात्मा को संसार के रंगों और आकृतियों का बोध किस भौतिक माध्यम (चक्षुरिन्द्रिय) से होता है।
2. **ऊर्जा और पाक प्रक्रिया:** भोजन के पाचन और वस्तुओं के रासायनिक परिवर्तन (पाकज प्रक्रिया) में ऊष्मा की भूमिका को समझना।
3. **प्रकाश और दृश्यता:** जगत में दृश्यता (Visibility) के आधारभूत तत्व को वैज्ञानिक और दार्शनिक आधार देना।

अब क्रमप्राप्त तीसरे तेज (अग्नि) नामक द्रव्य का लक्षण करते हुये सूत्रकार कहते हैं- **तेजो रूपस्पर्शवत्। (1.1.3)**

तेज रूप और स्पर्श वाला है। अर्थात् तेज में दो विशेष गुण होते है- रूप एवं स्पर्श। कुल गुणों की दृष्टि से तेज में ग्यारह गुण होते हैं। जिसका उल्लेख भाष्यकार ने निम्न प्रकार किया है-

रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वसंस्कारवत् (तेजः)। (प्रश.भा.)

अर्थात् रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व और संस्कार इन ग्यारह गुणों वाला तेज होता है। इनमें से सूत्रोक्त दो गुणों का वर्णन इस प्रकार है-

(क) रूप - तेज (अग्नि) में भास्वर शुक्ल रूप होता है। भास्वर का अर्थ है प्रकाशक। जल में जो शुक्लत्व है उसे अभास्वरशुक्ल कहते है। जबकि तेज में भास्वर शुक्ल होता है।

(ख) स्पर्श - तेज का स्पर्श उष्ण (गर्म) होता है। यह तेज का वैशेषिक गुण भी है। जैसा कि वैशेषिककार ने कहा है-

तेजस्युष्णता। (2.2.4)

अर्थात् तेज में उष्ण स्पर्श व्यवस्थित रूप से रहता है। तेज में उष्णता स्वाभाविक है जबकि जलादि में उष्णता औपाधिक है- अग्नि संयोग से है। तेज में भी संख्या इत्यादि गुण सामान्य है। तेज में जो द्रवत्व है, वह सुवर्णादि तैजस द्रव्यों का समझना चाहिए। वैशेषिक में तेज के भेद में सुवर्णादि पदार्थों को भी रखा गया है। इन्हे पार्थिव न कहकर शास्त्रकार ने तैजसद्रव्य कहा है। क्योंकि इनके चमक होता है। चमक-रश्मि यह तेज का धर्म होने से इन्हे तैजसद्रव्य की श्रेणि में वैशेषिककार ने अलग से रखा है। इसी कारण तेज के गुणों के अन्तर्गत 'द्रवत्व' को रखा गया है। संस्कार का तात्पर्य वेग नामक संस्कार से है।

स्मरणीय बिंदु :-

1. **एकादश गुणा:** (11 गुण): तेज में ११ गुण पाए जाते हैं - रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व (नैमित्तिक) और संस्कार।
2. **विशेष गुण:** तेज का विशेष गुण 'भास्वर शुक्ल रूप' और 'उष्ण स्पर्श' है।
3. **स्वर्ण का रहस्य:** न्याय दर्शन स्वर्ण को श्तेजश मानता है क्योंकि अत्यंत अग्नि में तपाने पर भी इसका द्रवत्व (पिघलना) नष्ट नहीं होता, जो इसकी तैजस प्रकृति को सिद्ध करता है।
4. **अपाकज गुण:** जल की तरह तेज के गुण भी श्अपाकजश होते हैं (अग्नि से अग्नि के गुण नहीं बदलते)।
5. **नैमित्तिक द्रवत्व:** स्वर्ण जैसे तैजस द्रव्यों में जो द्रवत्व (पिघलने का गुण) होता है, वह स्वाभाविक नहीं बल्कि अग्नि के निमित्त (कारण) से आता है।

शब्दावली : -

1. **उष्णस्पर्श (Hot Touch):** वह स्पर्श जो केवल तेज का स्वाभाविक धर्म है।
2. **चक्षुरिन्द्रिय (Visual Organ):** तेज से निर्मित वह इन्द्रिय जो रूप का ग्रहण करती है।
3. **भास्वर शुक्ल (Brilliant White):** तेज का स्वाभाविक 'रूप' (रंग) जो अत्यंत चमकदार सफेद माना गया है।
4. **आकरज तेज:** वह तेज जो पृथ्वी के भीतर खनिज रूप में पाया जाता है (जैसे स्वर्ण)।
5. **जठराग्नि:** उदर्य तेज, जो जीवन को पोषण देने के लिए पाचन क्रिया सम्पन्न करता है।

5 अंक के प्रश्न :-

1. तर्कसंग्रह के अनुसार तेज का असाधारण लक्षण क्या है? संस्कृत सूत्र सहित लिखिए।
2. तेज के दो मुख्य भेद (नित्य और अनित्य) कौन-से हैं? संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।
3. 'चक्षुरिन्द्रिय' (आँख) को तेज से निर्मित क्यों माना जाता है? इसका क्या कार्य है?

4. 'भौम तेज' और 'दिव्य तेज' में क्या अंतर है? उदाहरण सहित बताइए।
5. 'उदर्य तेज' (जठराग्नि) क्या है और यह मानव शरीर के लिए क्यों महत्वपूर्ण है?
6. 'आकरज तेज' से क्या तात्पर्य है? इसके अंतर्गत आने वाले प्रमुख द्रव्यों के नाम लिखिए।
7. चन्द्रमा की किरणों में शीतलता का अनुभव क्यों होता है, जबकि तेज का स्वाभाविक स्पर्श 'उष्ण' है? तर्क दीजिए।
8. तेज के विशेष गुण 'भास्वर शुक्ल' रूप का क्या अर्थ है?

15 अंक के प्रश्न :-

1. **'उष्णस्पर्शवत्तेजः'** - तेज के इस लक्षण की सविस्तार व्याख्या कीजिए तथा कार्यरूप तेज के चारों भेदों (भौम, दिव्य, उदर्य, आकरज) का वर्णन कीजिए।
2. तेज द्रव्य में पाए जाने वाले ११ गुणों की विवेचना कीजिए। वे कौन-से विशेष गुण हैं जो तेज को पृथिवी और जल से अलग करते हैं?
3. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार स्वर्ण (सोने) को शतेजश द्रव्य क्यों माना गया है? इसके पक्ष में दिए गए तार्किक आधारों का वर्णन कीजिए।
4. 'पाकज' और 'अपाकज' गुणों के संदर्भ में तेज की स्थिति स्पष्ट कीजिए। तेज किस प्रकार अन्य द्रव्यों के गुणों को बदलने (पाक प्रक्रिया) में सहायक होता है?
5. सृष्टि की रचना और प्रत्यक्ष ज्ञान (Perception) की प्रक्रिया में तेज द्रव्य की भूमिका और महत्व पर प्रकाश डालिए।

बहुविकल्पीयः-

प्रश्न १. तर्कसंग्रह के अनुसार तेज का असाधारण लक्षण क्या है?
(क) शीतस्पर्शवत्तेजः (ख) गन्धवत्तेजः
(ग) उष्णस्पर्शवत्तेजः (घ) रूपरहितस्पर्शवान्

प्रश्न २. तेज में श्उष्ण स्पर्शश किस सम्बन्ध से रहता है?
(क) संयोग सम्बन्ध **(ख) समवाय सम्बन्ध**
(ग) स्वरूप सम्बन्ध (घ) विभाग सम्बन्ध

प्रश्न ३. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार चक्षुरिन्द्रिय (आँख) का भौतिक उपादान कारण क्या है?
(क) पृथिवी **(ख) जल** (ग) तेज (घ) आकाश

प्रश्न ४. सूर्य, बिजली और उल्कापात आदि किस प्रकार के श्तेजश के उदाहरण हैं?
(क) भौम तेज **(ख) दिव्य तेज** (ग) उदर्य तेज (घ) आकरज तेज

प्रश्न ५. पेट की अग्नि (जठराग्नि), जो भोजन को पचाने का कार्य करती है, उसे क्या कहा जाता है?
(क) भौम तेज (ख) दिव्य तेज **(ग) उदर्य तेज** (घ) आकरज तेज

प्रश्न ६. स्वर्ण (सोना) को न्याय दर्शन में किस प्रकार का तेज माना गया है?
(क) भौम तेज (ख) दिव्य तेज (ग) उदर्य तेज **(घ) आकरज तेज**

प्रश्न ७. तेज का स्वाभाविक श्रूपश (रंग) कैसा माना गया है?
(क) अभास्वर शुक्ल (चमक रहित सफेद) **(ख) भास्वर शुक्ल (चमकदार सफेद)**
(ग) नील (नीला) (घ) चित्र (बहुरंगी)

प्रश्न ८. चन्द्रमा की किरणों में शीतलता का अनुभव किस कारण से होता है?
(क) तेज का स्वभाव शीतल होने के कारण
(ख) जल के कणों (अंशों) के मिश्रण के कारण
(ग) वायु के प्रभाव से
(घ) इनमें से कोई नहीं

प्रश्न ९. न्याय मत के अनुसार तेज द्रव्य में कुल कितने गुण पाए जाते हैं?
(क) ९ **(ख) ११** (ग) १४ (घ) २४

प्रश्न १०. स्वर्ण को तेज मानने का मुख्य तार्किक आधार क्या है?
(क) इसका पीला रंग (ख) इसका भारीपन (गुरुत्व)
(ग) अत्यंत तपाने पर भी इसके द्रवत्व (पिघलने) का नाश न होना (घ) इसकी चमक

इकाई- 2.4 वायु का लक्षण

उद्देश्य :-

1. **स्पर्श ज्ञान की व्याख्याः** यह स्पष्ट करना कि जीवात्मा को कोमलता, कठोरता, शीतलता या उष्णता का बोध किस भौतिक माध्यम (त्वगिन्द्रिय) से होता है।
2. **क्रिया और गति का आधारः** जगत में होने वाली भौतिक गति (Motion) और कम्पन के आधारभूत तत्व को समझना।
3. **जीवन का संचालनः** शरीर के भीतर श्वसन प्रक्रिया और जीवन शक्ति (प्राण) के वैज्ञानिक और दार्शनिक आधार को पुष्ट करना।

क्रमप्राप्त चौथे द्रव्य वायु का लक्षण महर्षि कणाद ने इस प्रकार किया है-

स्पर्शवान् वायुः। (2.1.4)

स्पर्शगुण वाला वायु होता है। वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श होता है। अनुष्णाशीत स्पर्श पृथिवी में भी होता है, परन्तु पृथिवी में अनुष्णाशीत स्पर्शान्तर का अभिव्यजक नहीं होता है, जबकि वायु का अनुष्णाशीतस्पर्श स्पर्शान्तर का अभिव्यञ्जक होता है। यह दोनों के गुणों में विशेषता है। स्पर्शान्तर का अभिव्यञ्जक का तात्पर्य है, कि किसी भिन्न द्रव्यों के स्पर्श को उद्भूत (प्रकट) करना। जैसे नहाने के पश्चात क्लेद तो होता ही है, परन्तु हवा के स्पर्श से अपेक्षाकृत ठंडक बढ़ जाती है। यहाँ पर वायु का स्पर्शगुण जल के शीतगुण को और अधिक प्रकट करने वाला सिद्ध होता है। इसी कारण इसे स्पर्शान्तर का अभिव्यञ्जक कहा है। अतएव **'अनुष्णाशीत स्पर्शान्तराभिव्यञ्जक स्पर्शगुण'** वायु का वैशेषिक गुण सिद्ध होता है। वायु के समग्र गुणों का वर्णन करते हुये भाष्यकार लिखते हैं-

स्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्कारवान् (वायुः)। (प्रश.भा.)

अर्थात् स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, और संस्कार इन नौ गुणों वाला वायु हैं। इसमें से वायु का स्पर्श 'अनुष्णाशीत' होते हुये 'अपाकज' है। अर्थात् अग्नि के संयोग से इसका स्पर्श बदलता नहीं है, जैसा कि पृथिवी का स्पर्शादि गुण अग्नि के संयोग से बदल जाने के कारण 'पाकज' कहलाते हैं।

वायु में 'नानात्व' संख्या है। जैसा कि सूत्र वचन है-

वायोर्वायुसंमूर्च्छनं नानात्वलिङ्गम् । (2.1.14)

अर्थात् वायु के अनेक खण्डों की परस्पर टक्कर नानात्व का लिङ्ग है। दो या दो से अधिक वायु खण्डों का परस्पर टक्कर होना वायु के नानात्व को सिद्ध करता है। कई बार ऐसा देखा जाता हैं - भिन्न दिशा और भिन्न गति वाले वायुखण्ड जिस जगह पर आपस में टकराते है, वहाँ धूलकण तिनके व पत्ते इत्यादि उपर की ओर आकाश में उड़ जाते है। वायु की स्वाभाविक गति तिर्यक् होती है, पर आपस में टकराकर ऊर्ध्वगति हो जाती है। जैसे जल की दो धाराएँ भिन्न दिशाओं से आकर आपस में टकराती है, तो वे जल टक्कर खाकर ऊपर को उछल जाते हैं, उनके साथ बहने वाले तिनके आदि भी ऊपर उछल जाते हैं। अतः जिस प्रकार तिनके आदि के ऊपर उछलने में दो धाराओं का टक्कर प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसी प्रकार तिनके आदि का वायु के द्वारा ऊपर उछलने में हम वायु के सम्मुर्छन अर्थात् टक्कर का अनुमान कर लेते हैं। टक्कर एक में सम्भव नहीं हो सकता अतएव इससे वायु का 'नानात्व' का अनुमान हो जाता है। वायु में संस्कारगुण का तात्पर्य वेग से है।

स्मरणीय बिंदु : -

1. **नव गुणाः** (9 गुण): वायु में ९ गुण पाए जाते हैं - स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और संस्कार (वेग)।
2. **विशेष गुणः** वायु का विशेष गुण 'अनुष्णाशीत स्पर्श' है।
3. **रूप का अभावः** पृथिवी, जल और तेज के विपरीत वायु में 'रूप' (रंग) बिल्कुल नहीं होता।
4. **अपाकज गुणः** वायु के गुण भी 'अपाकज' होते हैं (अग्नि संयोग से वायु का अपना स्पर्श गुण नहीं बदलता)।

शब्दावली :-

1. **रूपरहित (Formless):** जिसका कोई रंग या आकार चक्षु इन्द्रिय (आँख) द्वारा न देखा जा सके।
2. **त्वगिन्द्रिय (Tactile Organ):** वायु से निर्मित वह इन्द्रिय जो समस्त शरीर में फैली है और स्पर्श का ग्रहण करती है।
3. **अनुष्णाशीत स्पर्शः** वायु का अपना स्वाभाविक स्पर्श न तो गर्म होता है और न ही ठंडा। (हवा का गर्म या ठंडा लगना तेज या जल के संयोग के कारण होता है)।

4. **प्राण** (Life Force)**:** शरीर के भीतर रहने वाली वह वायु जो जीवन के लिए अनिवार्य है।
5. **अप्रत्यक्ष द्रव्य:** वायु आँखों से दिखाई नहीं देती, इसलिए इसे 'अप्रत्यक्ष' (Invisible) माना गया है, इसका ज्ञान 'स्पर्श' के माध्यम से अनुमान द्वारा होता है।

प्राण के पाँच भेद:

1. **प्राण:** हृदय में रहने वाली (श्वास)।
2. **अपान:** गुदा मार्ग में (मल-मूत्र त्याग)।
3. **समान:** नाभि में (पाचन)।
4. **उदान:** कण्ठ में (ऊर्ध्व गति/बोलना)।
5. **व्यान:** समस्त शरीर में (रक्त संचार)।

5 अंक के प्रश्न : -

1. तर्कसंग्रह के अनुसार वायु का असाधारण लक्षण क्या है? संस्कृत सूत्र सहित व्याख्या कीजिए।
2. वायु के दो मुख्य भेद (नित्य और अनित्य) कौन-से हैं? इनमें मूल अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. कार्यरूप वायु के चार भेदों (शरीर, इन्द्रिय, विषय और प्राण) का नामोल्लेख कीजिए।
4. 'त्वगिन्द्रिय' (Skin) क्या है? इसे वायु से निर्मित क्यों माना जाता है?
5. वायु का स्वाभाविक स्पर्श कैसा होता है? 'अनुष्णाशीत' पद को स्पष्ट कीजिए।
6. वायु को 'अप्रत्यक्ष द्रव्य' क्यों माना गया है? इसका ज्ञान किस माध्यम से होता है?
7. वायु में पाए जाने वाले ९ गुणों के नाम लिखिए।
8. 'अपाकज गुण' से क्या तात्पर्य है? वायु के संदर्भ में इसे समझाइए।

15 अंक के प्रश्न : -

1. **'रूपरहितस्पर्शवान् वायुः'** - वायु के इस लक्षण की सविस्तार व्याख्या कीजिए। यह लक्षण वायु को पृथिवी, जल और तेज से किस प्रकार अलग करता है?
2. शरीर के भीतर संचरण करने वाली वायु 'प्राण' के पाँचों भेदों (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) के कार्य और उनके स्थान की विस्तृत विवेचना कीजिए।
3. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार वायु की सत्ता को सिद्ध करने के लिए दिए गए 'अनुमान प्रमाण' (Inference) की प्रक्रिया को विस्तार से समझाइए।
4. सृष्टि के संचालन और भौतिक गति (Motion) के आधार के रूप में वायु द्रव्य के महत्व और उसके दार्शनिक उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए।
5. वायु के भेदों और उप-भेदों का एक विस्तृत चार्ट (Flowchart) बनाइए और प्रत्येक का सोदाहरण वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तरी :

प्रश्न १. तर्कसंग्रह के अनुसार वायु का असाधारण लक्षण क्या है?
(क) गन्धवत्त्वम् (ख) शीतस्पर्शवत्त्वम् **(ग) रूपरहितस्पर्शवान्** (घ) शब्दवत्त्वम्

प्रश्न २. वायु का ज्ञान किस इन्द्रिय के माध्यम से होता है?
(क) चक्षुरिन्द्रिय (आँख) (ख) घ्राणेन्द्रिय (नाक)
(ग) त्वगिन्द्रिय (त्वचा) (घ) रसनेन्द्रिय (जीभ)

प्रश्न ३. वायु का स्वाभाविक स्पर्श कैसा माना गया है?
(क) शीतल (ख) उष्ण (गर्म) **(ग) अनुष्णाशीत** (घ) इनमें से कोई नहीं

उत्तर: (ग) अनुष्णाशीत (न बहुत ठंडा, न बहुत गर्म)

प्रश्न ४. न्याय दर्शन के अनुसार वायु को श्अप्रत्यक्षश (प्दअपेपइसम) क्यों माना जाता है?
(क) क्योंकि इसमें गन्ध नहीं है
(ख) क्योंकि इसमें 'रूप' (रंग/आकार) का अभाव है
(ग) क्योंकि यह नित्य है
(घ) क्योंकि यह बहुत तेज चलती है

उत्तर: (ख) क्योंकि इसमें 'रूप' (रंग/आकार) का अभाव है

प्रश्न ५. शरीर के भीतर संचरण करने वाली वायु को क्या कहा जाता है?

(क) विषय (ख) इन्द्रिय **(ग) प्राण** (घ) परमाणु

प्रश्न ६. 'उदान' वायु का मुख्य स्थान शरीर में कहाँ माना गया है?

(क) हृदय (ख) नाभि **(ग) कण्ठ** (घ) गुदा

प्रश्न ७. वायु में कुल कितने गुण पाए जाते हैं?

(क) ९ (ख) १४ (ग) २४ (घ) ७

प्रश्न ८. वृक्षों का हिलना या पत्तों की खड़खड़ाहट वायु के किस भेद के अंतर्गत आता है?

(क) शरीर (ख) इन्द्रिय **(ग) विषय** (घ) प्राण

प्रश्न ९. वायु और उसके 'स्पर्श' गुण के बीच कौन-सा सम्बन्ध होता है?

(क) संयोग सम्बन्ध **(ख) समवाय सम्बन्ध**

(ग) स्वरूप सम्बन्ध (घ) विभाग सम्बन्ध

प्रश्न १०. वायु की सत्ता को सिद्ध करने के लिए न्याय दर्शन मुख्य रूप से किस प्रमाण का सहारा लेता है?

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण (ख) शब्द प्रमाण **(ग) अनुमान प्रमाण** (घ) उपमान प्रमाण

उत्तर: (ग) अनुमान प्रमाण (स्पर्श के आधार पर वायु का अनुमान किया जाता है)

इकाई- 2.5 परमाणुरूप वायु का द्रव्यत्व एवं नित्यत्व

उद्देश्य : -

1. **सृष्टि के मूल कारण की व्याख्या:** यह सिद्ध करना कि बाह्य जगत की वायु का प्रलय होने पर भी वह पूर्णत: नष्ट नहीं होती, बल्कि परमाणु रूप में सुरक्षित रहती है।
2. **द्रव्य-गुण भेद स्पष्ट करना:** यह बताना कि श्स्पर्शश एक गुण है और वायु वह 'द्रव्य' है जिसमें वह गुण रहता है।
3. **परमाणुवाद की स्थापना:** वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद (Atomism) को पुष्ट करना, जहाँ प्रत्येक भौतिक तत्व का अंतिम आधार 'नित्य परमाणु' है।

पृथिवी आदि चारो द्रव्य के दो मुख्यत: भेद होते हैं- (क) कारणरूप (ख) कार्यरूप। कारणरूप पृथिव्यादि द्रव्य परमाण ा के रूप में जाने जाते हैं तथा कार्यरूप द्रव्य घट-पटादि के रूप में अनुभव में आते है। वायु नामक द्रव्य भी कारण-कार्य उभय रूप में होता है। जो वायु हमें स्पर्श के द्वारा अनुभव में आती है वह कार्यवायु है। जबकि परमाणुरूप वायु अदृष्ट होने से अनुभव में नहीं आती। परन्तु बिना कारण द्रव्य के कार्यद्रव्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं होती है। इस कारण से वैशेषिककार ने वायुनामक कारण द्रव्य के विषय मे कहते हैं-

अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम्। (2.1.11)

अन्यद्रव्य समवायिकारणवाला न होने से परमाणुरूप कारणवायु का द्रव्यत्व सिद्ध होता है। पृथिव्यादि कार्यद्रव्य का विभाग करते-करते अन्त में एक अवयवरूप परमाणु शेष रह जाता है। अन्त्य अवयव होने से उस परमाणु का कोई आश्रयद्रव्य अथवा समवायिकारण नहीं होता है। पृथिव्यादि द्रव्य की अवस्था को 'परमाणु' कहते है। जैसे पृथिवी, जल, तेज के मूल उपादान कारण परमाणु हैं, ऐसे ही अनुभूयमान स्पर्शाधिकरण वायु के मूल उपादान (समवायिकारण) परमाणु द्रव्य हैं। कार्य-वायु के अवयव विच्छिन्न होते हुये जब अन्त्य अवयव रूप अवस्था में पहुँच जाते है तब वह वायु की परमाणु अवस्था होती है। वह मूल द्रव्य है, उसके आगे उसका कोई समवायिकारण द्रव्य नहीं होता। इस प्रकार पृथिव्यादि परमाणु के समान वायु के परमाणु स्वीकार किये जाने से वह कारणद्रव्य सिद्ध होता है।

अनुभूयमान स्पर्शाधिकरण वायु के मूल उपादानकारण परमाणु द्रव्य है। इसकी सिद्धि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु भी प्रस्तुत किया है। यथा-

क्रियावत्वाद् गुणवत्त्वाच्च। (2.1.12)

क्रियावाला एवं गुणवाला होने से परमाणुरूप वायु का द्रव्यत्व सिद्ध होता है। जैसा कि द्रव्य के लक्षण में ही वैशेषिककार ने 'जो क्रियावाला, गुणवाला एवं समवायिकारण वाला हो उसे द्रव्य कहते है' ऐसा कहा है।

वायवीय परमाणु क्रिया का अधिकरण है, एक परमाणु का अन्य परमाणु के साथ संयोग होने के लिए क्रिया का होना आवश्यक है। अन्यथा सृष्टि का आरम्भही सम्भव नहीं है। सृष्टि का आरम्भ हुआ है इसलिए परमाणुओं में क्रिया की सिद्धि अनुमान से हो जाती है।

किसी भी कार्यद्रव्य में गुणों की जो उपलब्धि होती है, वह सहसा ही नहीं हो जाती बल्कि कारणगुणपूर्वक होती है। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है-

कारणगुणपूर्वक: कार्यगुणों दृष्ट:। (2.1.24)

अर्थात् कारणद्रव्यों के गुणपूर्वक ही कार्य में गुण देखा जाता है। यथा- कार्य श्वेतपट में जो श्वेतगुण आया है, वह कारणश्वेततन्तु से आया है। जैसा तन्तु होता है वैसे ही पट होता है। यदि तन्तु श्वेत है तो पट भी श्वेत होगा, यदि तन्तु रक्त (लाल) है तो पट भी लाल ही होगा। यहाँ श्वेतपट के प्रति श्वेततन्तु को कारण कहा गया है। यह तो समझानेमात्र के लिए है। वस्तुत: एकमात्र कारणद्रव्य तो परमाणु ही होता है। मिट्टी-तन्तु इत्यादि में गौणरूप से 'कारण' पद का प्रयोग होता है।

उपरोक्त सूत्रवचन एवं दृष्टान्त के आधार पर कार्य घट-पटादि में जो गुण की उत्पत्ति होती है वह कारण परमाणु से ही होती है। अत: कारण परमाणु में गुण की सिद्धि कारण-कार्य की नियत व्यवस्था से हो जाती है। जैसा कि महर्षि ने प्रथम अध्याय में कहा भी है-

कारणाभावात् कार्याभाव:। (1.2.1)

अर्थात् कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि परमाणु में यदि श्वेतादि कारणरूपों का अभाव होता तो कार्यपट में कार्यश्वेतरूप का भी अभाव हो जाता। कार्यपट में श्वेतरूप का भाव है इसका मतलब कारण में समानजातीय रूप की सिद्धि अन्वय एवं व्यतिरेक से हो जाती है। उपरोक्त सूत्र में सूत्रकार ने व्यतिरेकविधि के द्वारा कारण की

सिद्धि बतायी है। आगे चतुर्थ अध्याय मे अन्वयविधि के द्वारा कहा है। यथा-

कारणभावात् कार्यभावः। (4.1.3)

अर्थात् कारण के होने से ही कार्य होता है। इसप्रकार अन्वय एवं व्यतिरेक के द्वारा कारणपरमाणु में गुण की भी सिद्धि हो जाती है। एतावता क्रिया एवं गुण का समवायसम्बधेन आश्रय होने से कारणरूप वायुपरमाणु का द्रव्यत्व सिद्ध होता है। कारण ावायुपरमाणु में द्रव्यत्व की सिद्धि के अनन्तर नित्यत्व की सिद्धि करने की भावना से महर्षि कहते हैं-

अद्रव्यत्वेन नित्यत्वमुक्तम्। (2.1.13)

कोई अन्यद्रव्य समवायिकारण न होने से नित्यत्व की सिद्धि होती है। तात्पर्य यह है कि परमाणु अंतिम अवयव होने से उसके अतिरिक्त और कोई अवयवद्रव्य उसमें संयुक्त नहीं होते हैं। इस कारण परमाणु निरवयव कहलाता है। किसी पदार्थ का नाश तभी होता है जब उसके कारण अवयवों का परस्पर विभाग कर दिया जाये और वह विभाग भी तब सम्भव है जब दो या दो से अधिक अवयव संयुक्त हो। परमाणु निरवयव होने से उसमें अन्य अवयव के सम्पर्क (संयोग) का अभाव होता है। जब संयोग ही नहीं तो विभाग का प्रश्न ही नहीं उठता। इस कारण से परमाणु में अन्य अवयव के संयोग एवं विभाग का अभाव होने से नाश का अभाव सिद्ध होता है। नाश के अभाव को ही 'नित्य' कहा जाता है। फलतः कारणवायुपरमाणु का नित्यत्व सिद्ध होता है।

स्मरणीय बिंदु : -

1. **नित्य और अनित्य भेदः** परमाणु रूप वायु नित्य है; कार्य रूप वायु (जैसे हवा का झोंका) अनित्य है।
2. **द्रव्यत्व का प्रमाणः** वायु में ९ गुणों का होना ही उसके द्रव्य होने का सबसे बड़ा प्रमाण है।
3. **अतीन्द्रियताः** वायु का परमाणु आँखों से नहीं देखा जा सकता (अतीन्द्रिय), इसका ज्ञान केवल दार्शनिक युक्तियों और अनुमान से होता है।
4. **अनाशित्वः** प्रलय काल में समस्त कार्य रूप वायु नष्ट हो जाती है, किंतु वायु के परमाणु आकाश में विश्राम करते हैं और पुनः सृष्टि के समय क्रियाशील होते हैं।
5. **संस्कार (वेग):** वायु के परमाणु में श्वेगश नामक संस्कार होता है, जो उसे गतिशील बनाए रखता है।

शब्दावली : -

1. **परमाणु (Atom):** द्रव्य का वह सूक्ष्मतम अंश जिसका पुनः विभाजन संभव न हो।
2. **निरवयव (Indivisible):** जिसका कोई अवयव (अंग या भाग) न हो। सावयव वस्तु अनित्य होती है, जबकि निरवयव नित्य।
3. **द्रव्यत्व (Substantiality):** वह तत्व जो गुणों और क्रियाओं का आधार बने।
4. **नित्यत्व (Eternity):** त्रिकालबाधित सत्ता, जिसका आदि और अंत न हो।
5. **समवायी कारण (Inherent Cause):** वह कारण जिसमें कार्य उत्पन्न होकर रहता है (जैसे परमाणुओं में वायु)।

5 अंक के प्रश्न :-

1. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार वायु को 'द्रव्य' मानने का सबसे प्रमुख तार्किक आधार क्या है?
2. **'नित्यः परमाणुरूपः'** - इस सूत्र का अर्थ वायु के संदर्भ में स्पष्ट कीजिए।
3. वायु में पाए जाने वाले ९ गुणों के नाम लिखिए जो उसके 'द्रव्यत्व' को सिद्ध करते हैं।
4. 'निरवयव' (Indivisible) होने का वायु के नित्यत्व से क्या सम्बन्ध है?
5. कार्यरूप वायु और परमाणुरूप वायु के बीच के मूल अंतर को स्पष्ट कीजिए।
6. प्रलय काल में वायु के परमाणु किस अवस्था में रहते हैं?
7. वायु के परमाणु में श्संस्कारश (वेग) का क्या महत्व है?
8. क्या वायु का परमाणु प्रत्यक्ष (च्मतबमचजपइसम) है? तर्क सहित उत्तर दीजिए।

15 अंक के प्रश्न :-

1. वायु के 'द्रव्यत्व' की सविस्तार व्याख्या कीजिए। 'गुणाश्रयत्वम् द्रव्यत्वम्' के आधार पर सिद्ध कीजिए कि वायु एक स्वतंत्र द्रव्य है।
2. परमाणु रूप वायु के 'नित्यत्व' पर एक दार्शनिक निबंध लिखिए। यह सिद्ध कीजिए कि परमाणु 'अजन्य' होने के कारण ही 'नित्य' होते हैं।
3. न्याय-वैशेषिक के 'परमाणुवाद' (Atomism) के परिप्रेक्ष्य में वायु के सूक्ष्म स्वरूप और उसकी कार्य-कारण श्रृंखला (द्वयणुक, त्रयणुक आदि) का वर्णन कीजिए।

4. 'वायु का परमाणु नित्य है, किन्तु वायु का कार्य अनित्य है' - इस कथन की तर्कसंगत विवेचना कीजिए।
5. सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय की प्रक्रिया में वायु के परमाणुओं की भूमिका और उनकी गतिशीलता के कारणों पर प्रकाश डालिए।

बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तरी :

प्रश्न 1. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार वायु का श्परमाणु रूपश किस प्रकार का द्रव्य है?
(क) अनित्य **(ख) नित्य** (ग) कार्य रूप (घ) दृश्य

प्रश्न 2. वायु को श्द्रव्यश मानने का मुख्य तार्किक आधार क्या है?
(क) इसमें रूप होता है (ख) यह गतिशील है
(ग) यह गुणों का आश्रय (गुणाश्रयत्वम्) है (घ) यह दिखाई देता है

प्रश्न 3. परमाणु रूप वायु को श्नित्यश मानने का क्या कारण है?
(क) यह बहुत विशाल है **(ख) यह निरवयव (अविभाज्य) है**
(ग) इसमें गन्ध होती है (घ) यह अग्नि से उत्पन्न होती है

प्रश्न 4. श्कार्य रूप वायुश और श्परमाणु रूप वायुश में क्या अंतर है?
(क) कार्य रूप वायु नित्य है
(ख) परमाणु रूप वायु अनित्य है
(ग) कार्य रूप वायु अनित्य और परमाणु रूप वायु नित्य है
(घ) दोनों ही समान हैं

प्रश्न 5. वायु के परमाणु में 'वेग' (संस्कार) का क्या अर्थ है?
(क) यह उसका स्वाभाविक गुण है जो उसे गतिशील रखता है
(ख) यह परमाणु का नाश करता है
(ग) यह केवल कार्य रूप में होता है
(घ) इनमें से कोई नहीं

प्रश्न 6. क्या वायु के परमाणु प्रत्यक्ष (च्मतबमचजपइसम) होते हैं?
(क) हाँ, इन्हें साधारण आँखों से देखा जा सकता है
(ख) हाँ, पर केवल सूक्ष्मदर्शी से
(ग) नहीं, ये अतीन्द्रिय हैं
(घ) केवल प्रलय काल में दिखाई देते हैं

प्रश्न 7. प्रलय काल में वायु के परमाणुओं की क्या स्थिति होती है?
(क) वे पूरी तरह नष्ट हो जाते हैं **(ख) वे स्वतंत्र रूप में सुरक्षित रहते हैं**
(ग) वे जल में मिल जाते हैं (घ) वे पृथिवी में समा जाते हैं

प्रश्न 8. 'समवायी कारण' (Inherent Cause) के रूप में परमाणु का क्या अर्थ है?
(क) वह कारण जो कार्य को उत्पन्न करता है
(ख) वह जिसमें कार्य उत्पन्न होकर रहता है
(ग) वह जो कार्य को नष्ट करता है
(घ) वह जो कार्य का कोई संबंध नहीं रखता

प्रश्न 9. न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'अजन्य' का क्या अर्थ है?
(क) जो उत्पन्न न हुआ हो (ख) जो नष्ट हो गया हो
(ग) जो दृश्य हो (घ) जो कार्य रूप हो

प्रश्न 10. वायु में कितने गुण पाए जाते हैं जो उसके द्रव्यत्व को सिद्ध करते हैं?
(क) 5 (ख) 7 **(ग) 9** (घ) 24

इकाई- 2.6 आकाश का लक्षण

उद्देश्य : -

1. **शब्द उत्पत्ति की व्याख्याः** यह स्पष्ट करना कि ध्वनियों का प्रसार किस आधार पर होता है। शब्द स्वयं द्रव्य नहीं, बल्कि आकाश का गुण है।
2. **अवकाश (Space) का दार्शनिक आधारः** भौतिक पदार्थों के रहने के लिए स्थान (Space) की अवधारणा को सिद्ध करना।
3. **अमूर्त द्रव्य का निरूपणः** यह सिद्ध करना कि द्रव्य केवल मूर्त (ठोस) ही नहीं होते, आकाश जैसा अमूर्त द्रव्य भी अस्तित्व में है।

आकाश नामक पञ्चम द्रव्य का लक्षण वैशेषिककार 'निषेधमुख' से किया है। पृथिवीआदि का लक्षण महर्षि ने विधिमुख से किया है। तात्पर्य है कि अमुक-अमुक गुण वाला यह द्रव्य है- इसप्रकार की शैली को 'विधि' कहते है। इसके ठीक विपरीत अमुक-अमुक गुणवाला यह नहीं है- इस प्रकार की वचनशैली को 'निषेध' कहते है। आचार्य ने आकाश के विषय में इस प्रकार कहा है-

त आकाशे न विद्यन्ते। (2.1.5)

अर्थात् वे रूपादि गुण आकाश मे नहीं होते हैं पूर्वोक्त पृथिव्यादि चारभूतों के वैशेषिक चार गुण- रूप, रस, गन्ध, एवं स्पर्श आकाश में उपलब्ध नहीं होते है। इसका मतलब यह हुआ कि आकाश अरूपवान्, अरसवान्, अगन्धवान् एवं अस्पर्शवान् है। तात्पर्य यह है कि आकाश बिना रूपवाला, बिना रसवाला, बिना गन्धवाला एवं बिना स्पर्शवाला है।

ऐसे में प्रश्न यह उठता है कि क्या ऐसे अगुणवान् पदार्थ को द्रव्य कहा जा सकता है? उत्तर- यह है कि 'नहीं'। कारण यह है कि महर्षि ने द्रव्य को गुणवान् कहा है। तब पुनः प्रश्न उठता है कि ऐसे अगुणवान् पदार्थ का कथन महर्षि ने द्रव्य के अन्तर्गत क्यों किया? इसका समाधान भाष्यकार ने आकाश के गुणों का उल्लेख करके कर दिया है। आकाश में रूपादि चार गुण नहीं होते है- इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसमें उनके अतिरिक्त और कोई गुण ही नहीं होता। भाष्यकार ने आकाश के गुणों का उल्लेख इस प्रकार किया है-

तत्राकाशस्य गुणाः शब्दसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः। (प्रश.भा.)

अर्थात् शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग ये छः गुण आकाश के होते हैं। इनमें से 'शब्द' आकाश का 'वैशेषिक' गुण है। आकाश के 'शब्द' नामक वैशेषिक गुण को भी आचार्य ने सीधा-सीधा विधिमुख से उपदेश न करके निषेध मुख से कहा है। 'नेति-नेति' का सहारा लेकर वैशेषिकाचार्य ने इस प्रकार कहा है-

कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः। (2.1.25)

अर्थात् कार्य से भिन्न कारण अवयवों से (शब्द का) प्रादुर्भाव न होने से स्पर्शवाले पृथिवी, जल, तेज और वायु चार द्रव्यों का गुण शब्द नहीं है।

पूर्वोक्त कार्यरूपादि की उत्पत्ति जिस प्रकार कारणगुणपूर्वक होती है, उस प्रकार कार्यशब्द की उत्पत्ति पृथिव्यादि चारभूतों के कारण-अवयवपूर्वक नहीं होती है; क्योंकि पृथिव्यादि चारों भूतों के रूपादि गुणों की उपलब्धि सतत हुआ करती है, परन्तु शब्द की उपलब्धि सतत नहीं हो पाती। इससे पता चलता है कि शब्द पृथिव्यादि चार भूतों का गुण नहीं है।

इसके अतिरिक्त पृथिवी आदि के रूपादि गुण जब तक कार्यद्रव्य बना रहता है तब तक एकसमान उपलब्ध होते हैं। पटगत शुक्लरूप जबतक पट बना रहता है, एकसमान प्रतीत होता है, उसमें तारतम्य नहीं होता है। परन्तु वीणा आदि के द्वारा अभिव्यक्त शब्द तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर, मन्दतम होकर वीणा के रहते ही अन्ततः नष्ट भी हो जाता है। जबकि वीणा आदि पदार्थों के रहते उनके स्वगत रूपादि गुण की उपरोक्त शब्द जैसी प्रतीति न होकर एकसमान होती है। इससे स्पष्ट होता है कि रूपादिगुण जिस प्रकार चारों भूतों के अपने स्वाभाविक गुण है, उस प्रकार शब्द नहीं है, अतएव 'शब्द' पृथिवी, जल, तेज, एवं वायु नामक चारभूतों के धर्म नहीं है।

आचार्य के इसप्रकार निषेध करने पर प्रश्न उठ सकता है, कि शब्द, पृथिव्यादि चारभूतों के गुण भले ही न हो परन्तु आत्मा आदि शेष भूतों का गुण भी तो हो सकता है? ऐसी आशंका किसी के मन में न उठे इसके लिए आचार्य ने स्वयं की इसका निषेध किया। यथा-

परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुणः। (2.1.26)

अर्थात् अन्यत्र (आकाश में) समवायसम्बन्ध से प्रत्यक्ष होने से यह (शब्द) न तो आत्मा का गुण है, और न ही 'मन' का गुण है।

सूत्र में दो हेतुपद है- (क) परत्रसमवायात् (ख) प्रत्यक्षत्वात। आत्मा एवं मन को अलग-अलग पढ़ा है। आत्मा में शब्दगुण के निषेध के लिये दोनों हेतु प्रयुक्त हैं, जबकि मन में निषेध के लिए केवल दूसरा हेतु। यथा- **परत्रसमवायात् परत्रप्रत्यक्षत्वाच्च शब्दो नात्मगुणः। मनसि शब्दाभावस्य प्रत्यक्षत्वात् शब्दो न मनोगुणः।**

इसी कारण सूत्रकार ने **'नात्ममनसोर्गुणः'** ऐसा समासयुक्त पाठ नहीं किया है। दूसरे हेतु का मन के साथ समन्वय से दिक् और काल का यहां समुच्चय कर लेना चाहिए, क्योंकि यह हेतु समानरूप से दिक् एवं काल में भी शब्दगुण होने का 'प्रतिषेधक' है।

सूत्र का आशय यह है कि शब्दगुण आत्मा में समवेत न रहकर आत्मा से अन्य द्रव्य में समवेत रहता है, इसलिए शब्द को आत्मा का गुण नहीं माना जा सकता। यदि शब्द को आत्मा का गुण माना जाये तो आत्मा अपने सुखादि गुणों के ग्रहणकाल में **'अहंसुखी, अहं जानामि, अहं इच्छामि'** इत्यादि अनुभव करता हैं, ऐसे ही **'अहं वाद्ये, अहं शब्दवान्'** इत्यादि अनुभव होना चाहिए। सुखी-दुःखी, ज्ञानवान् आदि अनुभव के समान मैं बज रहा हूँ, मैं शब्दवाला हूँ- ऐसा अनुभव होना चाहिए, परन्तु ऐसा अनुभव नहीं होता है। इससे स्पष्ट होता है कि शब्द आत्मा का गुण नहीं है, अन्य किसी का है।

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि आत्मा के सुखादि गुणों की उपलब्धि बाह्यकरणों के द्वारा न होकर अन्तःकरणों के द्वारा होता हैं, जबकि शब्दगुण की उपलब्धि बाह्यकरण श्रोत्र के द्वारा होता है। इस कारण से भी शब्द आत्मा का गुण नहीं हो सकता।

ठीक उसी प्रकार शब्द मन का भी गुण नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द का प्रत्यक्ष होता है, परन्तु मन के किसी गुण का प्रत्यक्ष नहीं होता। गुण का प्रत्यक्ष होने के लिए गुणाधिकरण द्रव्य का महत्परिमाण होना आवश्यक है जबकि मन अणुपरिमाण वाला होता है। मन के किसी भी गुण का प्रत्यक्ष नहीं होता बल्कि अनुमान से ज्ञान होता है, क्योंकि 'मन' स्वयं अप्रत्यक्ष है तो उसका गुण प्रत्यक्ष कैसे हो सकता? यादि शब्द मन का गुण होता तो उसका प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए, बल्कि शब्द का प्रत्यक्ष होता है। इसका तात्पर्य यह है कि शब्द मन का गुण नहीं है अपितु किसी और का गुण है।

शब्द के प्रतिपृथिव्यादि चारभूतों का निषेध पूर्वसूत्र में कर दिया गया। प्रस्तुत सूत्र में काल, दिशा, आत्मा एवं मन-इन शेष चार द्रव्यों का भी निषेध कर दिया। तो आखिर शब्द किसका गुण है? ऐसी आशंका होने पर आचार्य स्वयं कहते हैं-

परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य। (2.1.27)

अर्थात् परिशेषन्याय से आकाश का गुण शब्द सिद्ध होता है।

पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में से जिन आठ द्रव्यों का गुण शब्द नहीं हो सकता उनसे बचकर एकद्रव्य शेष रह जाता है। जिसका नाम आकाश है। दसवां द्रव्य है नहीं। अतएव शब्द गुण आकाश का लिङ्ग-लक्षण है। क्योंकि शब्द बाह्यइन्द्रिय से ग्राह्य होने से 'गुण' है, और गुण बिना द्रव्य के आश्रय से रह नहीं सकता। आठ द्रव्यों का निषेध हो जाने पर शेष बचा आकाश नामक द्रव्य के ही मत्थे चढ़ जाता है। इस प्रकार शब्दगुणवाला आकाश है- यह आकाश का लक्षण होता है। फलतः शब्द आकाश का गुण सिद्ध होता है।

आकाश में 'एकत्व' संख्या हैं जिसका उल्लेख करते हुये सूत्रकार ने इस प्रकार कहा है-

तत्वं भावेन। (2.1.29)

अर्थात् आकाश का एक होना भाव यानि सत्ता के द्वारा व्याख्यान समझना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्व-सूत्र से **'व्याख्याते'** पद की वचनविपर्यय से अनुवृत्ति है। जिस प्रकार 'सदइति' ज्ञान की प्रतीति सर्वत्र एक ाहेने से और भेद बोधक प्रमाण का अीाव होने से 'सत्ता' के एकत्व की सिद्धि होती है। ठीक उसी प्रकार से सर्वत्र शब्द गुण की प्रतीति एक होने से एवं शब्दों मे भेदक प्रमाण के अभाव होने से शब्द के समवायिकारण आकाश के 'एकत्व' की सिद्धि का व्याख्यान समझ लेना चाहिए- ऐसा सूत्र का आशय है।

आकाश में परिमाण का तात्पर्य परममहत्परिमाण से है। इस प्रकार से 'शब्द' वैशेषिकगुण वाला आकाश हैं जिसमे कुल- (शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग) छः गुण होते हैं।

स्मरणीय बिंदु : -

1. **शब्द ही प्रमाण हैः** हम शब्द को सुनते हैं, इसलिए अनुमान से हम आकाश की सत्ता को सिद्ध करते हैं। शब्द के बिना आकाश का ज्ञान संभव नहीं है।
2. **एकत्व** (Unity)**:** अन्य द्रव्यों (जैसे पृथिवी या जल) के विपरीत, आकाश के कोई भेद या उप-भेद नहीं होते। यह अविभ. ाजित है।
3. **स्पर्श का अभावः** आकाश में स्पर्श नहीं होता, इसलिए इसे 'अमूर्त' द्रव्य कहते हैं (जबकि पृथिवी, जल, तेज, वायु मूर्त हैं)।
4. **समवाय सम्बन्धः** 'शब्द' गुण आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहता है।

5. **नित्यत्व:** आकाश नित्य है, अत: इसमें कार्य-कारण की प्रक्रिया (जैसे परमाणुओं का संयोग) लागू नहीं होती।

शब्दावली :-

1. **विभु (All&pervading):** वह जो समस्त ब्रह्मांड में व्याप्त हो।
2. **अमूर्त (Formless):** जिसका कोई भौतिक रूप या आकार (जैसे गोल या चौकोर) न हो।
3. **शब्द (Sound):** आकाश का विशेष गुण, जो इसका श्लिङ्गश (प्रमाण) भी है।
4. **निरवयव (Indivisible):** जिसके कोई अंग या भाग न हों। आकाश का कोई परमाणु नहीं होता।
5. **नभ/गगन:** आकाश के पर्यायवाची शब्द।

5 अंक के प्रश्न : -

1. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार आकाश का असाधारण लक्षण (सूत्र) लिखिए।
2. 'शब्दगुणकमाकाशम्' - इस सूत्र का अर्थ क्या है?
3. आकाश को 'विभु' (All&pervading) क्यों कहा जाता है?
4. आकाश को 'अमूर्त' द्रव्य मानने का क्या कारण है?
5. आकाश 'नित्य' है, इस कथन का दार्शनिक अर्थ स्पष्ट कीजिए।
6. शब्द को आकाश का 'गुण' क्यों माना गया है, द्रव्य क्यों नहीं?
7. 'निरवयव' (Indivisible) होने का आकाश के स्वरूप से क्या सम्बन्ध है?
8. न्याय दर्शन में आकाश की सत्ता को सिद्ध करने के लिए श्शब्दश को 'प्रमाण' (लिंग) क्यों माना गया है?

15 अंक के प्रश्न : -

1. 'शब्द ही आकाश का प्रमाण है' - इस कथन की तर्कसंगत विवेचना कीजिए और यह सिद्ध कीजिए कि शब्द आकाश का गुण ही क्यों है।
2. आकाश द्रव्य की सविस्तार व्याख्या कीजिए। यह अन्य चार भौतिक द्रव्यों (पृथिवी, जल, तेज, वायु) से किन गुणों के आधार पर भिन्न है?
3. न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'अवकाश' (Space) की दार्शनिक अवधारणा के रूप में आकाश की आवश्यकता और महत्व का वर्णन कीजिए।
4. आकाश के 'एकम, विभु और नित्य' स्वरूप की दार्शनिक व्याख्या कीजिए।
5. भारतीय दर्शन में 'आकाश' द्रव्य के निरूपण के प्रमुख उद्देश्यों पर एक विस्तृत निबंध लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तरी :

प्रश्न १. तर्कसंग्रह के अनुसार आकाश का असाधारण लक्षण (सूत्र) क्या है?
(क) रूपगुणकमाकाशम् **(ख) शब्दगुणकमाकाशम्**
(ग) स्पर्शगुणकमाकाशम् (घ) गन्धगुणकमाकाशम्

प्रश्न २. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार आकाश की कुल संख्या कितनी है?
(क) अनेक **(ख) एक** (ग) नौ (घ) पाँच

प्रश्न ३. आकाश को 'विभु' (All-pervading) क्यों कहा जाता है?
(क) क्योंकि यह बहुत हल्का है
(ख) क्योंकि यह सर्वव्यापी है (हर जगह विद्यमान है)
(ग) क्योंकि यह दिखाई देता है
(घ) क्योंकि यह गतिशील है

प्रश्न ४. आकाश का स्वाभाविक गुण कौन-सा है?
(क) रूप (ख) स्पर्श **(ग) शब्द** (घ) रस

प्रश्न ५. आकाश को 'अमूर्त' (Formless) द्रव्य मानने का क्या कारण है?
(क) क्योंकि इसमें 'स्पर्श' का अभाव होता है
(ख) क्योंकि यह दिखाई देता है
(ग) क्योंकि इसमें गन्ध होती है
(घ) क्योंकि यह बहुत विशाल है

प्रश्न ६. न्याय दर्शन में आकाश की सत्ता को सिद्ध करने के लिए 'लिंग' (प्रमाण) के रूप में किसका प्रयोग किया जाता है?

(क) रूप का (ख) स्पर्श का **(ग) शब्द का** (घ) गन्ध का

प्रश्न ७. शब्द और आकाश के बीच कौन-सा सम्बन्ध होता है?

(क) संयोग सम्बन्ध **(ख) समवाय सम्बन्ध**

(ग) स्वरूप सम्बन्ध (घ) विभाग सम्बन्ध

प्रश्न ८. शनित्यत्वश (म्जमतदपजल) का अर्थ आकाश के संदर्भ में क्या है?

(क) जो उत्पन्न होता है (ख) जो नष्ट हो जाता है

(ग) जो अनादि और अनंत है (घ) जो परमाणुओं से बना है

प्रश्न ९. आकाश का कोई परमाणु नहीं होता, इसे क्या कहा जाता है?

(क) सावयव **(ख) निरवयव** (ग) मूर्त (घ) अनित्य

प्रश्न १०. निम्नलिखित में से आकाश का पर्यायवाची शब्द कौन-सा है?

(क) नभ (ख) वसुधा (ग) क्षिति (घ) अनिल

इकाई- 2.7 आकाश का द्रव्यत्व एवं नित्यत्व

उद्देश्य :-

1. **शब्द का आधार सिद्ध करना:** ध्वनि का प्रसार शून्य में नहीं हो सकता; अत: शब्द को धारण करने वाले एक सर्वव्यापी पदार्थ को सिद्ध करना।
2. **दिक और काल का आधार:** भौतिक पदार्थों की स्थिति और समय की गणना के लिए एक 'अवकाश' (Space) या आकाश की अनिवार्यता को दार्शनिक रूप देना।
3. **अमूर्त द्रव्य की सत्ता:** यह सिद्ध करना कि द्रव्य केवल ठोस (मूर्त) नहीं होते, आकाश जैसा अमूर्त और सर्वव्यापी द्रव्य भी सृष्टि का आधार है।

आकाश नामक पञ्चमद्रव्य के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व की सिद्धि में वायु के हेतुओं का स्मरण कराते हुये आचार्य कहते हैं-

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते। (2.1.28)

अर्थात् आकाश के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व को वायु के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व के व्याख्यान के समझ लेना चाहिए। आचार्य हेतुओं की पुनरुक्ति के भय से केवल स्मरणमात्र कराना श्रेष्ठ समझते है। इसलिए उन हेतुओं का पुन: कथन न करके 'वायुना व्याख्याते' अर्थात् वायुविषयक कथन से व्याख्यात हो गये- ऐसा कह दिया है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वायु के परमाणु का अन्य कोई द्रव्य समवायिकारण न होने से नित्यत्व तथा क्रिया एवं गुणवान् होने से द्रव्यत्व सिद्ध होता है उसी प्रकार आकाश के भी अन्य कोई द्रव्य समवायिकारण न होने से अर्थात् निरवयव होने से नित्यत्व तथा शब्द नामक गुणवाला होने से द्रव्यत्व सिद्ध होता है।

वायु के द्रव्यत्व की सिद्धि में सूत्रकार ने **क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च** अर्थात् क्रियावान एवं गुणवान् दोनों होने से ऐसा कहा है। परन्तु आकाश सर्वगत विभुपरिमाण होने से उसमें क्रिया का अभाव होने से निष्क्रिय होता है। इसलिए केवल 'गुणवान्' होने से ही द्रव्यत्व की सिद्धि हो जाती है।

एक बात विशेष ध्यातव्य है कि यदि लक्षणसूत्रों में पठित एक भी धर्म घटित हो जाता है तो उसे द्रव्य कहा जा सकता है। लक्षणसूत्र में पठित समस्त गुण एक द्रव्य में घटित हो ऐसा आवश्यक नहीं है। समस्त द्रव्यों के समावेश के लिए सूत्र में व्यापक लक्षण किया गया है न कि किसी एक द्रव्य के लिए।

स्मरणीय बिंदु :-

1. **परमाणु का अभाव:** अन्य चार द्रव्यों (पृथिवी, जल, तेज, वायु) के विपरीत, आकाश के कोई 'परमाणु' नहीं होते। यह स्वयं में ही एक अखंड द्रव्य है।
2. **विशेष गुण:** आकाश का एकमात्र विशेष गुण शशब्दश है।
3. **एकत्व** (Unity)**:** आकाश अनेक नहीं, केवल 'एक' है।
4. **अनुमान प्रमाण:** हम आकाश को प्रत्यक्ष नहीं देखते, हम आकाश का ज्ञान शशब्दश के आधार पर अनुमान (Inference) से करते हैं।
5. **नित्यत्व:** चूँकि यह निरवयव है, इसलिए इसमें शसंयोगश और शविभागश की प्रक्रिया लागू नहीं होती, अत: इसका विनाश असंभव है।

शब्दावली :-

1. **विभु (All&pervading):** जो हर स्थान पर व्याप्त हो।
2. **निरवयव (Indivisible):** जिसके कोई भाग या अंग न हों। यह आकाश का सबसे विशिष्ट गुण है।
3. **समवायी कारण (Inherent Cause):** वह द्रव्य जिसमें गुण (शब्द) उत्पन्न होकर रहता है।
4. **अजन्य (Uncreated):** जिसका आदि (शुरुआत) न हो।

5 अंक के प्रश्न :-

1. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार आकाश को 'द्रव्य' क्यों माना गया है?
2. 'शब्दगुणकमाकाशम्' सूत्र का क्या तात्पर्य है?
3. आकाश के 'निरवयव' (Indivisible) होने का उसके नित्यत्व से क्या सम्बन्ध है?

4. आकाश को 'विभु' (All-pervading) क्यों कहा जाता है?
5. यदि आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता, तो इसकी सत्ता कैसे सिद्ध की जाती है?
6. अन्य चार द्रव्यों (पृथिवी, जल, तेज, वायु) की 'नित्यता' और आकाश की 'नित्यता' में क्या अंतर है?
7. आकाश में 'संयोग' और 'विभाग' की प्रक्रिया क्यों लागू नहीं होती?

15 अंक के प्रश्न :-

1. आकाश के 'द्रव्यत्व' की सविस्तार व्याख्या कीजिए। यह सिद्ध कीजिए कि बिना द्रव्य के गुणों की सत्ता संभव नहीं है, और इस आधार पर आकाश को स्वतंत्र द्रव्य कैसे माना जाता है?
2. आकाश के 'नित्यत्व' पर एक विस्तृत दार्शनिक निबंध लिखिए। 'निरवयव' होने के नाते इसका विनाश क्यों असंभव है?
3. न्याय-वैशेषिक दर्शन में आकाश की अवधारणा का क्या उद्देश्य है? क्या शब्द के प्रसार और दिक-काल (Space&Time) की व्याख्या के लिए आकाश अनिवार्य है?
4. 'आकाश एक है, विभु है और नित्य है' - इस कथन की तर्कसंगत विवेचना कीजिए।
5. अन्य चार भौतिक द्रव्यों (पृथिवी, जल, तेज, वायु) के साथ तुलना करते हुए आकाश की विशिष्टता सिद्ध कीजिए।

बहुविकल्पीयः -

प्रश्न १. न्याय-वैशेषिक दर्शन में आकाश को 'द्रव्य' क्यों माना गया है?
(क) क्योंकि यह गति करता है **(ख) क्योंकि यह 'शब्द' (गुण) का आश्रय है**
(ग) क्योंकि इसका रंग होता है (घ) क्योंकि यह परमाणुओं से बना है

प्रश्न २. आकाश के 'नित्यत्व' का मुख्य आधार क्या है?
(क) यह परमाणुओं से बना है **(ख) यह निरवयव (अखंड/बिना अंगों का) है**
(ग) यह केवल प्रलय काल में रहता है (घ) यह गतिशील है

प्रश्न ३. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'द्रव्यत्व' (Dravyatva) का लक्षण क्या है?
(क) रूप का होना **(ख) गुणों का आश्रय होना (गुणाश्रयत्वम्)**
(ग) गति करना (घ) परमाणु होना

प्रश्न ४. आकाश के परमाणु होते हैं या नहीं?
(क) हाँ, आकाश के अनगिनत परमाणु होते हैं
(ख) नहीं, आकाश 'निरवयव' है, इसके परमाणु नहीं होते
(ग) केवल सृष्टिकाल में परमाणु होते हैं
(घ) यह जल के परमाणुओं में समाहित होता है

प्रश्न ५. आकाश को 'विभु' (All-pervading) क्यों कहा जाता है?
(क) क्योंकि यह केवल आकाश में रहता है
(ख) क्योंकि यह समस्त ब्रह्मांड में व्याप्त है
(ग) क्योंकि यह केवल पृथ्वी पर रहता है
(घ) क्योंकि यह बहुत भारी है

प्रश्न ६. आकाश में 'शब्द' गुण किस प्रकार रहता है?
(क) संयोग सम्बन्ध से **(ख) समवाय सम्बन्ध से**
(ग) विभाग सम्बन्ध से (घ) इनमें से कोई नहीं

प्रश्न ७. 'अमूर्त' (Formless) होने के कारण आकाश अन्य भौतिक द्रव्यों से कैसे भिन्न है?
(क) इसमें 'स्पर्श' गुण का अभाव होता है (ख) इसमें रंग बहुत अधिक होता है
(ग) यह केवल ठोस वस्तुओं में होता है (घ) यह गतिशील नहीं होता

प्रश्न ८. आकाश की सत्ता का ज्ञान हमें किस प्रमाण से होता है?
(क) प्रत्यक्ष (आँखों से देखकर) **(ख) अनुमान (शब्द के आधार पर)**
(ग) केवल उपदेश से (घ) इनमें से कोई नहीं

प्रश्न ९. 'नित्यत्व' का अर्थ आकाश के संदर्भ में क्या है?
(क) जो कार्य (Effect) से उत्पन्न हुआ हो (ख) जो नाशवान हो

(ग) जो अनादि और अनन्त (अजन्य) हो (घ) जो परमाणुओं के मेल से बना हो

प्रश्न १०. आकाश के बारे में निम्नलिखित में से कौन सा कथन सत्य है?

(क) यह एक है, विभु है और नित्य है (ख) यह अनेक हैं और नाशवान हैं

(ग) यह केवल पृथ्वी के ऊपर पाया जाता है (घ) यह तेज के परमाणुओं से बना है

इकाई- 2.8 'काल' नामक द्रव्य का लक्षण

उद्देश्य : -

1. **घटनाओं का क्रम (Sequence):** संसार में घटित होने वाली घटनाओं को एक निश्चित क्रम में रखने के लिए काल अनिवार्य है।
2. **अवस्था भेद का ज्ञान:** यह स्पष्ट करना कि कोई वस्तु 'नई' है या 'पुरानी', 'वर्तमान' है या 'भूत', यह ज्ञान काल के बिना संभव नहीं।
3. **निमित्त कारण:** काल को 'निमित्त कारण' (अप्रत्यक्ष कारण) माना गया है, जो सभी कार्यों (उत्पत्ति, स्थिति और विनाश) में सहायक होता है।
4. **परस्पर विभेद:** दो वस्तुओं के बीच समय का अंतर (जैसे- एक व्यक्ति दूसरे से उम्र में छोटा है) काल के माध्यम से ही सिद्ध होता है।

पञ्चमहाभूतों के लक्षण करने के पश्चात् छठा द्रव्य 'काल' का लक्षण करते हुये आचार्य इस प्रकार कहते हैं-

अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमितिकाल लिङ्गानि। (2.2.6)

सूत्र के अन्त में इति शब्द ज्ञान के प्रकार का बोधक है। जो प्रत्येक पदों के साथ जुड़ता है। **यथा- अपरम् इति प्रत्ययः, युगपद् इति प्रत्ययः, चिरम् इति प्रत्यय', क्षिप्रम् इति प्रत्ययः काल लिङ्गानि इत्यर्थः।** सूत्र में **'अपरस्मिन् अपरम्'** पद से **परस्मिन् परम्** का भी ग्रहण हो जाता है। अर्थात् किसी व्यक्ति को अवधि मानकर बड़े व्यक्ति में परत्व (ज्येष्ठत्व) का ज्ञान, छोटे व्यक्ति में अपरत्व (कनिष्ठत्व) का ज्ञान, एक साथ का ज्ञान, विलम्ब का ज्ञान तथा शीघ्रता का ज्ञान काल का साधक लिङ्ग है।

प्रस्तुत सूत्र का अभिप्राय यह है कि अधिक सूर्य-क्रिया (सूर्य के प्रति पृथिवी की क्रिया) के अन्तर वाले बड़े व्यक्ति में छोटे व्यक्ति को अवधि मानकर कालिक परत्वगुण उत्पन्न होता है। यथा लक्ष्मण को अवधि मानकर राम में अधिक सूर्य-क्रिया का सम्बन्ध होने से 'परत्व' गुण की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार राम को अवधि मानकर लक्ष्मण में कम सूर्य-क्रिया का सम्बन्ध होने से 'अपरत्व' (कनिष्ठत्व) नामक गुण की उत्पत्ति होती है।

यहाँ पर उत्पन्न परत्वापरत्व नामक गुणों से काल लक्षित होता है। परत्व एवं अपरत्व का समवायिकारण राम-लक्ष्मणादि पिण्ड हुये परन्तु यह जिससे उत्पन्न होता है वह 'काल' है। अब विचारणीय यह है, कि वर्ष, मास, दिन, रात आदि व्यवहार सूर्यादि ग्रह सम्बन्धी गति के आधार पर गणना किया जाता हैं, परन्तु उन पिण्डों के साथ इस गति का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, जिनमें परत्व-अपरत्व गुणों की उत्पत्ति होती है। इसलिए किसी ऐसे द्रव्य को स्वीकार करना चाहिए जिसके आधार पर उस गति का कथन सम्भव हो। उस द्रव्य का सूर्य आदि गतिसम्बन्धी ग्रहों के साथ सम्बन्ध हो और उन पिण्डों के साथ भी जिनमें परत्व-अपरत्व गुण उत्पन्न होते हैं। ऐसा 'काल' नामक द्रव्य स्वीकार किया जाता है, जिसका सूर्य आदि ग्रहों के साथ संयोग रहते हुए उन पिण्डों के साथ भी संयोग रहता है, जहां परत्वापरत्व उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार परत्व-अपरत्व की उत्पत्ति में सूर्यादि संयुक्त काल का पिण्ड के साथ संयोग असमवायिकरण होता है।

यह कार्य एक साथ हुआ, (युगपत् हुआ), ऐसा व्यवहार इस रूप में काल का लक्षण है कि अनेक क्रियाओं के सम्पन्न होने में समानता दिख रही है, वह समानता काल के आधार पर है। जितनी देर में यह कार्य हुआ, उतनी ही देर में दूसरा हो गया, दोनों के सम्पन्न होने में काल की समानता में 'युगपत' व्यवहार होता है और जहां पर असमानता हो वहां 'चिर' और 'क्षिप्र' व्यवहार होता है। जहां देर हो वहां 'चिर' तथा जहां देर न हो अर्थात् जल्दी हो, वहां 'क्षिप्र' का व्यवहार होता है। यह जल्दी एवं देर का व्यवहार काल पर आधारित है। इसप्रकार परत्व, अपरत्व, चिर, क्षिप्र इत्यादि को व्यवहार का हेतु भूत द्रव्य का नाम 'काल' है। परत्वादि का निमित्त कारण काल होता है न कि समवायिकारण।

अब काल जिन गुणों का समवायिकारण है, उन गुणों का कथन भाष्यकार के द्वारा किया जा रहा है-

तस्य गुणाः संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः। (प्रश.भा.)

संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग ये पांच गुण काल के होते हैं।

पूर्वोक्त युगपदादि प्रत्ययों का सर्वत्र एक समान प्रतीत होने से काल में 'एकत्व' संख्या की सिद्धि होती है। प्रधानरूपेण काल में 'एकत्व' संख्या होती है जबकि व्यावहारिक दृष्टि से काल में नानात्व का गौणरूप से उपचार किया जाता है। कार्यमात्र का समानरूप से निमित्त कारण होने से काल में परममहत्वपरिमाण की सिद्धि होती है।

स्मरणीय बिंदु :-

1. **अखंड स्वरूप:** काल वास्तव में एक अखंड द्रव्य है। घड़ी द्वारा मापा गया समय केवल 'उपाधि' (Convention) है, न कि काल का वास्तविक स्वरूप।
2. **परत्व और अपरत्व:** काल का सबसे बड़ा प्रमाण 'परत्व' (Seniority/Older) और 'अपरत्व' (Juniority/Younger) का व्यवहार है।
3. **अतीन्द्रिय:** काल आँखों से नहीं देखा जा सकता (अतीन्द्रिय है), इसका ज्ञान केवल 'अनुमान' (Inference) के द्वारा होता है।
4. **कार्य का आधार:** सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर प्रलय तक, सब कुछ काल के आधार पर ही व्यवस्थित है।
5. **पृथिवी आदि से भिन्न:** अन्य द्रव्यों के विपरीत, काल का कोई परमाणु नहीं होता। यह नित्य और निरवयव है।

शब्दावली :-

1. **विभु (All/pervading):** काल सर्वव्यापी है, अर्थात यह कहीं भी सीमित नहीं है।
2. **नित्य (Eternal):** काल का न तो जन्म होता है और न ही विनाश। यह अनादि और अनंत है।
3. **उपाधि (Adjunct):** वे बाहरी कारक (जैसे सूर्य की गति) जिनके कारण हमें एक अखंड काल 'घंटों' या 'दिनों' में बंटा हुआ प्रतीत होता है।
4. **निमित्त कारण:** वह कारण जो कार्य को उत्पन्न करने में सहायक तो है, लेकिन कार्य के भीतर समाहित नहीं होता।
5. **एकत्व:** काल की संख्या केवल श्एकश है, न कि अनेक।

5 अंक के प्रश्न :-

1. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार काल का लक्षण सूत्र लिखिए और उसका संक्षिप्त अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. काल के संदर्भ में 'परत्व' (Seniority) और 'अपरत्व' (Juniority) का क्या तात्पर्य है?
3. 'काल' को 'नित्य' (Eternal) क्यों माना गया है?
4. काल को 'अतीन्द्रिय' (Beyond senses) क्यों कहा जाता है? इसका ज्ञान किस प्रमाण से होता है?
5. 'उपाधि' (Adjunct) का काल के व्यावहारिक ज्ञान में क्या योगदान है?
6. काल को 'निमित्त कारण' के रूप में परिभाषित कीजिए।
7. काल को 'विभु' क्यों माना गया है?
8. काल और घड़ी द्वारा मापे गए समय (Conventional time) में क्या अंतर है?

15 अंक के प्रश्न :-

1. भारतीय दर्शन में काल द्रव्य के निरूपण के प्रमुख उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए। संसार की घटनाओं के क्रमबद्ध संचालन में काल की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।
2. श्एकत्वश और श्विभुत्वश के आधार पर काल के स्वरूप की विवेचना कीजिए। क्या काल अनेक हो सकता है? तर्क सहित उत्तर दीजिए।
3. काल को श्कार्य का आधारश क्यों माना जाता है? सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर प्रलय तक काल की अनिवार्यता को समझाइए।
4. काल और अन्य द्रव्यों (जैसे पृथ्वी, जल आदि) के बीच के अंतर को स्पष्ट कीजिए। काल के अप्रत्यक्ष होने के बावजूद इसकी सिद्धि कैसे की जाती है?

बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तरी :

प्रश्न १. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार काल का लक्षण सूत्र क्या है?

(क) गन्धवत्त्वम्

(ख) परत्वापरत्व-युगपत्-क्रम-चिर-क्षिप्र-प्रत्यय-लिङ्गम कालः

(ग) शब्दगुणकमाकाशम्

(घ) उष्णस्पर्शवत्तेजः

प्रश्न २. काल को 'नित्य' (Eternal) क्यों माना गया है?

(क) क्योंकि यह परमाणुओं से बना है

(ख) क्योंकि इसका आदि और अंत नहीं है (अजन्य है)

(ग) क्योंकि इसे घड़ी से मापा जाता है

(घ) क्योंकि यह गतिशील है

प्रश्न ३. काल के व्यावहारिक ज्ञान का मुख्य कारण (उपाधि) क्या है?

(क) परमाणु **(ख) सूर्य की गति आदि (उपाधियाँ)**

(ग) काल का अपना रूप (घ) आकाश

प्रश्न ४. काल को 'अतीन्द्रिय' क्यों कहा जाता है?

(क) क्योंकि यह बहुत तेज चलता है

(ख) क्योंकि यह आँखों से नहीं देखा जा सकता (प्रत्यक्ष नहीं है)

(ग) क्योंकि यह बहुत बड़ा है

(घ) क्योंकि यह केवल स्वप्न में दिखता है

प्रश्न ५. काल का 'लिङ्ग' (प्रमाण) क्या है?

(क) रूप और रस **(ख) परत्व और अपरत्व का व्यवहार**

(ग) स्नेह और द्रवत्व (घ) शब्द और गन्ध

प्रश्न ६. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार काल की संख्या कितनी है?

(क) अनेक **(ख) केवल एक** (ग) तीन (घ) चार

प्रश्न ७. काल को किस प्रकार का कारण माना गया है?

(क) समवायी कारण **(ख) निमित्त कारण**

(ग) असमवायी कारण (घ) इनमें से कोई नहीं

प्रश्न ८. काल के 'विभु' (All/pervading) होने का क्या अर्थ है?

(क) यह केवल पृथ्वी पर व्याप्त है **(ख) यह समस्त ब्रह्मांड में व्याप्त है**

(ग) यह केवल आकाश में है (घ) यह गतिशील नहीं है

प्रश्न ९. घड़ी द्वारा मापा गया समय काल का कौन सा स्वरूप है?

(क) वास्तविक स्वरूप

(ख) उपाधि (Convention) द्वारा कल्पित स्वरूप

(ग) परमाणु स्वरूप

(घ) नित्य स्वरूप

प्रश्न १०. क्या काल के परमाणु होते हैं?

(क) हाँ, इसके अनगिनत परमाणु हैं

(ख) नहीं, काल निरवयव (बिना अंगों का) है

(ग) केवल सृष्टिकाल में परमाणु होते हैं

(घ) यह आकाश के परमाणुओं में समाहित है

इकाई- 2.9 व्यवहार की दृष्टि से काल के भेद

उद्देश्य :-

1. **सामाजिक व्यवस्थाः** समाज में मिलने-जुलने, कार्य करने और समन्वय स्थापित करने के लिए समय का ज्ञान अनिवार्य है।
2. **क्रमबद्धताः** घटनाओं को एक निश्चित क्रम (lhDosal) में रखने के लिए (जैसे- पहले क्या हुआ, बाद में क्या होगा)।
3. **अवस्था-भेदः** यह समझने के लिए कि कोई वस्तु कितनी पुरानी है या कितनी नई (Seniority/Juniority)।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से काल के निम्न भेद होते हैं। यथा-

झणलवनिमेषकाष्ठाकलामुहूर्तयामाहोरात्रार्धमासमासर्त्ववयनसंवत्सरयुगकल्पमन्वन्तरप्रलय- महाप्रलयव्यवहारहेतुः।

(प्रश.भा.)

1 **क्षण** - सूक्ष्म परमाणु को पलटने में जितना समय लगता है, उसको 'क्षण' कहते हैं यह काल की सबसे सूक्ष्मतम इकाई है।

2 **लव** - दो झण के बराबर एक 'लव' होता है।

3 **निमेष** - आँख के पलकों को गिरने में जितना समय लगता है, उतने समय को निमेष कहते है।

4 **काष्ठ** - 18 निमेष के बराबर एक काष्ठा होती है। अर्थात् 18 बार पलक को गिरने में जितना समय लगाता है, उतने समय को 'काष्ठा' कहते है।

5 **कला** - 30 काष्ठा के बराबर एक कला होती है।

6 **मुहुर्त** - दो घड़ी का एक मुहूर्त होता है। एक घड़ी में वर्तमान चौबीस मिनट होता है। इस प्रकार वर्तमान 48 मिनट का एक मुहूर्त होता है।

7 **याम** - याम को प्रहर भी कहते है। 3 घंटे का एक प्रहर या 'याम' होता है।

8 **आहोरात्र** - आठ प्रहर / याम के बराबर एक आहोरात्र होता है। अर्थात् 24 घंटे (दिन-रात) को मिलाकर एक आहोरात्र कहा जाता है।

9 **अर्धमास** - अर्धमास को पक्ष भी कहते है। यथा- कृष्णपक्ष, शुक्लपक्ष। 15 दिन का एक अर्धमास या पक्ष होता है।

10 **मास (महीना)** - 30 दिन का एक महीना होता है। यथा- चैत्र, वैशाख इत्यादि।

11 ऋतु - दो मास की एक ऋतु होती है। यथा- बसन्तऋतु, गीष्मऋतु इत्यादि।

12 **अयन**-तीन ऋतुओं अथवा छः मासों को मिलाकर एक अयन होता है। यथा- उत्तरायण, दक्षिणायन।

13 **संवत्सर** - दो अयन को मिलाकर एक संवत्सर होता है। इसे वर्ष भी कहा जाता है। अर्थात् 1 वर्ष = 1 संवत्सर।

14 **युग** - कृतादि (सत्युगादि) 'युग' कहलाते है। इसके चार भेद है- (1) सतयुग (2) त्रेता (3) द्वापर (4) कलयुग। इसमें से कलयुग का काल **चार लाख बत्तीस हजार वर्ष (432000)** का होता है। इसका दो गुणा द्वापर, तीन गुणा त्रेता एवं चार गुणा सतयुग (कृतयुग) होता है।

15 **कल्प** - चारो युगों को मिलाकर एक कल्प होता है। 4320000 वर्षों का एक चतुर्युगी अर्थात् कल्प होता है।

16 **मन्वन्तर**- स्वायंभुव आदि चौदह मन्वन्तर होते हैं। 71 चतुर्युगी के बराबर एक मन्वन्तर होता है।

17 **प्रलय** - 14 मन्वन्तर का एक खण्डप्रलय होता है। जिसे ब्रह्म का दिवस भी कहते है। इसमें पृथिवी लोक का नाश हो जाता है।

18 **महाप्रलय** - ब्रह्ममान के अनुसार ब्रह्मा के सौ वर्ष को महाप्रलय कहते है। अर्थात् 36000 ब्रह्म दिवस = महाप्रलय। इतने समय में छत्तीस हजार बार भूलोक की सृष्टि एवं प्रलय हो जाती है अथवा एकमहाप्रलय में ब्रह्मलोक पर्यन्त लोको का नाश हो जाता है।

व्यावहारिक काल के भेद -

काल को मुख्य रूप से दो प्रकार से विभाजित किया जाता है:

क. काल (समय) की अवस्थाएँ (Tri/kala)

यह मुख्य रूप से मनुष्य के अनुभव पर आधारित है:

1. **अतीत (Past):** जो घटनाएँ घट चुकी हैं।

2. **वर्तमान** (Present)**:** जो वर्तमान में घटित हो रही है (यह सबसे सूक्ष्म है)।
3. **अनागत/भविष्य (Future):** जो अभी होने वाली हैं।
4. **काल की माप** (Measurement based on Upadhi) – सूर्य, चन्द्रमा और ग्रहों की गति को 'उपाधि' बनाकर काल का व्यावहारिक विभाजन होता है**:**
5. **क्षण:** सबसे छोटी इकाई।
6. **मुहूर्त:** (लगभग ४८ मिनट)।
7. **दिन और रात:** सूर्य के उदय और अस्त के कारण।
8. **पक्ष और मास:** चन्द्रमा की कलाओं के आधार पर।
9. **वर्ष:** सूर्य के संक्रांति चक्र के आधार पर।

स्मरणीय बिंदु :-

1. **अखण्डता बनाम व्यवहार:** काल वास्तव में 'एक' और 'अखण्ड' है। घंटे, दिन या वर्ष काल के वास्तविक भेद नहीं हैं, वे केवल व्यवहार चलाने के लिए कल्पित हैं।
2. **सूर्य की गति:** मानवीय व्यवहार में काल का सबसे बड़ा श्उपाधिश कारक सूर्य की गति है।
3. **परत्व-अपरत्व:** व्यावहारिक काल का सबसे ठोस प्रमाण 'बड़ा/छोटा' या 'पहले/बाद' का व्यवहार है।

शब्दावली :-

1. **उपाधि (Adjunct) :** वह बाहरी कारण (जैसे सूर्य की गति), जिसकी सहायता से हम एक अखंड काल को घंटों या दिनों में बांटते हैं।
2. **अतीतादि (Atitadi):** भूत, वर्तमान और भविष्य काल का सामूहिक बोध।
3. **अखण्ड काल (Absolute Time):** काल का वास्तविक स्वरूप, जो विभाजित नहीं है।
4. **कल्पित (Constructed):** जो व्यवहार के लिए माना गया है, वास्तविक (नित्य) नहीं। अतीन्द्रिय है।

5 अंक के प्रश्न :-

1. व्यावहारिक दृष्टि से काल के तीन मुख्य भेद कौन-कौन से हैं? संक्षिप्त में लिखिए।
2. वैशेषिक दर्शन में काल के विभाजन का मुख्य आधार किसे माना गया है? 'उपाधि' शब्द को स्पष्ट कीजिए।
3. वर्तमान काल की अवधारणा को वैशेषिक दर्शन के अनुसार किस प्रकार परिभाषित किया गया है?
4. वैशेषिक सिद्धांत के अनुसार 'भूतकाल' और 'भविष्य काल' के व्यावहारिक भेदों को क्रिया के संदर्भ में समझाइए।
5. काल गणना के अंतर्गत वैशेषिक मत में प्रयुक्त किन्हीं चार सूक्ष्म एवं स्थूल इकाइयों (जैसे- क्षण, मास आदि) का उल्लेख कीजिए।

15 अंक के प्रश्न :-

1. **वैशेषिक दर्शन के काल सिद्धांत (Concept of Time)** की विस्तृत विवेचना कीजिए। परमार्थ काल और व्यावहारिक काल के अंतर को स्पष्ट करते हुए व्यवहार दृष्टि से काल के भेदों पर प्रकाश डालिए।
2. **'काल स्वत:** एक और अखंड है, परंतु उपाधियों के कारण इसके अनेक व्यावहारिक भेद हो जाते हैं।' इस कथन की समीक्षा वैशेषिक दर्शन के आलोक में कीजिए और काल गणना के विभिन्न व्यावहारिक स्तरों (त्रिकाल एवं समय की इकाइयाँ) का सविस्तार वर्णन कीजिए।
3. वैशेषिक मत के अनुसार नौ द्रव्यों में 'काल' के स्थान को निरूपित कीजिए। व्यवहार की दृष्टि से काल के भेदों का हमारे दैनिक जीवन, क्रियाओं के क्रम (पौर्वापर्य) और घटनाओं के संचालन में क्या महत्त्व है? तर्क सहित उत्तर दीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तरी :-

प्रश्न १. वैशेषिक दर्शन के अनुसार, व्यावहारिक जगत की विभिन्न क्रियाओं के आधार पर काल के कितने मुख्य भेद किए जाते हैं?
(क) दो भेद **(ख) तीन भेद** (ग) पाँच भेद (घ) सात भेद
उत्तर**:** ठ) तीन भेद (भूत, वर्तमान और भविष्य)

प्रश्न २. वैशेषिक मत के अनुसार, काल के व्यावहारिक भेदों (जैसे- क्षण, मास, वर्ष) का मुख्य कारण क्या है?
(।) काल का स्वत: खंडित होना (ख) मन की कल्पना
(ग) बाह्य उपाधियाँ (जैसे सूर्य की गति या क्रियाएँ) (घ) ईश्वर की इच्छा

प्रश्न ३. 'घड़ा बन रहा है' – यह कथन वैशेषिक दर्शन के अनुसार काल के किस व्यावहारिक भेद को दर्शाता है?

(क) भूतकाल (ख) भविष्य काल **(ग) वर्तमान काल** (घ) अखंड काल

प्रश्न ४. जो क्रिया संपन्न या नष्ट हो चुकी है, उसे सूचित करने वाले व्यावहारिक काल को क्या कहा जाता है?

(क) भविष्य काल (ख) वर्तमान काल **(ग) भूतकाल** (घ) अयन काल

प्रश्न ५. वैशेषिक दर्शन के अनुसार, परमार्थ (वास्तविक) दृष्टि से काल कैसा द्रव्य है?

(क) अनेक और सावयव (ख) एक, अखंड और नित्य

(ग) अनित्य और परिवर्तनशील **(घ) केवल कल्पित**

प्रश्न ६. काल गणना की सबसे सूक्ष्म व्यावहारिक इकाई किसे माना गया है, जो पलक झपकने के न्यूनतम भाग के समान है?

(क) प्रहर (ख) घटी **(ग) क्षण** (घ) लव

प्रश्न ७. वैशेषिक सिद्धांत में ६-६ महीने की दो अवधियों (उत्तरायण और दक्षिणायन) को किस व्यावहारिक नाम से जाना जाता है?

(क) ऋतु (ख) पक्ष (ग) मास **(घ) अयन**

प्रश्न ८. शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष (१५-१५ दिन की अवधि) काल का कैसा व्यावहारिक भेद है?

(क) सूक्ष्म भेद **(ख) स्थूल/दीर्घ भेद** (ग) परमार्थ भेद (घ) स्वाभाविक भेद

प्रश्न ९. वैशेषिक दर्शन के अनुसार, घटनाओं के 'पौर्वापर्य' (आगे-पीछे होना) और 'यौगपद्य' (एक साथ होना) का ज्ञान काल के किस स्वरूप से संभव होता है?

(क) केवल परमार्थ स्वरूप से **(ख) व्यावहारिक (उपाधि-जन्य) स्वरूप से**

(ग) काल्पनिक स्वरूप से (घ) इनमें से कोई नहीं

प्रश्न १०. वैशेषिक मत में जिस प्रकार एक ही आकाश 'घटाकाश' और 'मठाकाश' के रूप में भिन्न दिखाई देता है, उसी प्रकार एक ही काल अनेक रूपों में क्यों दिखाई देता है?

(क) परमाणुओं के कारण **(ख) उपाधियों के भेद के कारण**

(ख) दिशा (दिक्) के कारण (घ) बुद्धि के भ्रम के कारण

इकाई- 2.10 काल का द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं एकत्व

उद्देश्य :-

1. वैशेषिक दर्शन में काल को 'द्रव्य' क्यों माना गया है (द्रव्यत्व), इसके तार्किक आधार को समझ सकेंगे।
2. काल के 'नित्यत्व' (उत्पत्ति और विनाश से परे होना) की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे।
3. काल के 'एकत्व' (मूल रूप से एक और अखंड होना) और उसकी व्यावहारिक उपाधियों के अंतर को निरूपित कर सकेंगे।
4. काल के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले वैशेषिक सूत्रों और तर्कों का विश्लेषण कर सकेंगे।

महर्षि कणाद काल के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व में पूर्वकथित हेतुओं का स्मरण कराते हुये इस प्रकार कहते हैं-

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते। (2.2.7)

जिस प्रकार अन्यद्रव्य समवायिकारण वाला न होने से तथा क्रिया एवं गुण का आश्रय होने से वायु के परमाणु में द्रव्यत्व एवं नित्यत्व की सिद्धि की गई है, उसी से काल के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व का भी व्याख्यान हो जाता है।

काल का भी अन्य कोई द्रव्य समवायिकारण न होने से, संख्यादि पांच गुणों का समवायसम्बन्धेन आश्रय होने से और क्रियामात्र का निमित्तकारण होने से द्रव्यत्व एवं नित्यत्व सिद्ध होता है। काल क्रिया का समवायिकारण नहीं होता है बल्कि निमित्तकारण होता है। जैसा कि सूत्रकार कहते है-

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति। (2.2.9)

(आत्मादि) नित्यपदार्थों में अभाव होने से तथा अनित्य (घटादि) पदार्थों में होने से, उत्पत्ति होने वाले सम्पूर्ण कार्यों के कारण में 'काल' यह संज्ञा कही जाती है।

नित्य आकाश, आत्मा, परमाणु इत्यादि द्रव्यों में यह ज्येष्ठ है, यह कनिष्ठ है। यह एक साथ उत्पन्न हुआ, यह देर से उत्पन्न हुआ, यह शीघ्र उत्पन्न हुआ इत्यादि प्रतीतियों को अभाव होने से तथा कार्य घटादि द्रव्यों में यह नया है, यह पुराना है, ये दोनों एक साथ उत्पन्न हुये, यह देर से उत्पन्न हुआ, यह शीघ्र उत्पन्न हुआ इत्यादि प्रतीतियों के देखें जाने से कार्यमात्र के कारण में 'काल' यह नाम प्रयुक्त किया गया है।

उपरोक्त व्यवहार प्रत्येक कार्य में आवश्यकरूप से देखा जाता है। कार्य की उत्पत्ति बिना क्रिया के सम्भव नहीं है। अतः जिस प्रकार कार्यमात्र का निमित्तकारण काल उसी प्रकार क्रियामात्र का भी निमित्तकारण काल को समझना चाहिए।

काल के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व के सिद्धि के पश्चात् सूत्रकार उसके एकत्व का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं-

तत्त्वं भावेन। (2.2.8)

काल का एकहोना सत्ता जाति से समझ लेना चाहिए। पूर्वसूत्र से वचनविपर्यास के साथ 'व्याख्याते' पद की इस सूत्र में अनुवृत्ति है। तब सूत्र होगा- **तत्त्वं भावेन व्याख्यातम्।** अर्थात् सत्ता जाति के एकत्व से काल के एकत्व का भी व्याख्यान हो गया। जिस प्रकार द्रव्यादि समस्त पदार्थों में 'सत् है, सत् है' की प्रतीति एकसमान होने से तथा भेदबोधक प्रमाणों का अभाव होने से सत्ता जाति के एकत्व की सिद्धि होती है, ठीक उसी प्रकार परत्व, अपरत्व, युगपद्, चिर, क्षिप्र इत्यादि प्रत्ययों का सर्वत्र एक समान प्रतीत होने से तथा भेदबोधक प्रमाणों का अभाव होने से काल का एकत्व सिद्ध होता है। साथ ही साथ **'कारणे कालाख्येति'** इस सूत्र वचन से काल का विभुत्व भी सिद्ध होता है।

स्मरणीय बिंदु :-

1. **द्रव्यत्व की सिद्धिः** वैशेषिक मत में द्रव्य उसे कहते हैं जो गुणों का आश्रय हो और समवायी कारण हो। चूँकि काल में 'संख्या', 'परिमाण', 'पृथक्त्व', 'संयोग' और 'विभाग' जैसे ५ गुण पाए जाते हैं, इसलिए काल एक द्रव्य है।
2. **नित्यत्व की सिद्धिः** काल का कोई अवयव (भाग या परमाणु) नहीं होता। जिस वस्तु के अवयव नहीं होते, उसका न न तो निर्माण हो सकता है और न ही विनाश। अतः काल अनादि, अनंत और नित्य है।
3. **एकत्व की सिद्धिः मूलतः** काल एक ही है। सूर्य की गति या क्रियाओं जैसी बाह्य उपाधियों के कारण ही हम इसे भूत, वर्तमान, भविष्य, क्षण या वर्ष में विभाजित करते हैं। यह भेद वास्तविक नहीं, व्यावहारिक है।
4. **काल के लिंग (लक्षण):** महर्षि कणाद के अनुसार - 'अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि' (वैशेषिक सूत्र २.२.६)। अर्थात अपरत्व (छोटा/युवा), परत्व (बड़ा/वृद्ध), यौगपद्य (एक साथ), अयौगपद्य (अलग-अलग), चिर (देर से) और क्षिप्र (जल्दी) - ये सब काल के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले लक्षण (Signs) हैं।
5. **निमित्त कारणः** काल संपूर्ण ब्रह्मांड की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का 'साधारण निमित्त कारण' है। इसके बिना किसी भी कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं है।

शब्दावली :-

1. **द्रव्यत्व** (Substancehood)**:** गुण और कर्म का आश्रय होने का भाव। वैशेषिक के अनुसार सत्ता का वह मूल तत्व जिसमें गुण समवाय संबंध से रहते हैं।
2. **नित्यत्व** (Eternity)**:** जो काल के तीनों खंडों (भूत, वर्तमान, भविष्य) में हमेशा विद्यमान रहे, जिसका कभी विनाश न हो।
3. **एकत्व** (Oneness@Unity)**:** काल का वह मूल स्वरूप जिसके अनुसार वह एक, अखंड और अविभाज्य है।
4. **परमार्थ स्वरूप** (Ontological Reality)**:** काल का वास्तविक, तात्त्विक या परम सत्य रूप, जिसमें वह नित्य, एक और व्यापक है।
5. उपाधि **(Adjunct/Condition):** वह बाह्य माध्यम (जैसे सूर्य की गति या कोई क्रिया) जिसके कारण किसी एक और अखंड वस्तु में भेद प्रतीत होने लगता है (जैसे सूर्य के कारण एक ही काल का दिन और रात में बटना)।
6. **परत्व और अपरत्व (Seniority and Juniority):** आयु या काल के संदर्भ में ज्येष्ठता (बड़ा होना) और कनिष्ठता (छोटा होना) का बोध। यह ज्ञान काल के कारण ही संभव है।
7. **यौगपद्य और अयौगपद्य (Simultaneity and Non&simultaneity):** दो घटनाओं का एक ही समय पर होना (यौगपद्य) या अलग-अलग समय पर होना (अयौगपद्य)।
8. **चिर और क्षिप्र (Delay and Quickness):** किसी कार्य में लगने वाला अधिक समय (चिर) या बहुत कम समय (क्षिप्र)।
9. **विभु (All/pervading):** जो अत्यंत व्यापक हो और जिसका संबंध ब्रह्मांड के सभी मूर्त द्रव्यों के साथ हमेशा बना रहे। काल एक 'विभु' द्रव्य है।

5 अंक के प्रश्न :-

प्रश्न १. वैशेषिक दर्शन के अनुसार काल को 'द्रव्य' क्यों माना गया है? इसके द्रव्यत्व को सिद्ध करने वाले किन्हीं दो तर्कों का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न २. काल के 'नित्यत्व' से क्या अभिप्राय है? वैशेषिक मत के अनुसार काल को नित्य क्यों स्वीकार किया गया है?

प्रश्न ३. काल का 'एकत्व' क्या है? यदि काल मूलत: एक है, तो व्यावहारिक जीवन में इसके भूत, वर्तमान आदि अनेक भेद क्यों दिखाई देते हैं?

प्रश्न ४. महर्षि कणाद द्वारा प्रतिपादित काल के प्रमुख लिंग (लक्षण) कौन-से हैं? संबंधित वैशेषिक सूत्र को लिखिए।

प्रश्न ५. वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'परत्व' (बड़ा/वृद्ध) और 'अपरत्व' (छोटा/युवा) के प्रत्यय (ज्ञान) में काल की क्या भूमिका है?

प्रश्न ६. 'विभु' द्रव्य किसे कहते हैं? काल के संदर्भ में इसके व्यापकत्व (विभुत्व) को स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न :-

प्रश्न १. वैशेषिक दर्शन के आलोक में काल के द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं एकत्व की सविस्तार मीमांसा कीजिए तथा सिद्ध कीजिए कि काल एक स्वतंत्र पदार्थ है।

प्रश्न २. 'अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि।' इस सूत्र की व्याख्या करते हुए काल के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले वैशेषिक दर्शन के तर्कों और लक्षणों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

प्रश्न ३. काल के 'परमार्थ' (वास्तविक) और 'व्यावहारिक' स्वरूप में क्या अंतर है? वैशेषिक मत के अनुसार उपाधियों के आधार पर एक और अखंड काल का विभाजन किस प्रकार होता है? उदाहरण सहित समझाइए।

प्रश्न ४. वैशेषिक सृष्टि-प्रक्रिया में काल के महत्त्व को प्रतिपादित कीजिए। काल को विश्व का 'साधारण निमित्त कारण' क्यों माना जाता है? सविस्तार उत्तर दीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तरी:-

प्रश्न १. वैशेषिक दर्शन के अनुसार नौ द्रव्यों में 'काल' को कौन-सा स्थान प्राप्त है?

(क) चतुर्थ द्रव्य (ख) पंचम द्रव्य **(ग) छठा द्रव्य** (घ) नवम द्रव्य

प्रश्न २. वैशेषिक मत में काल को 'द्रव्य' क्यों माना गया है?

(क) क्योंकि यह केवल एक कल्पना है

(ख) क्योंकि यह गुणों (संख्या, परिमाण आदि) का आश्रय है

(ग) क्योंकि यह दिखाई देता है

(घ) क्योंकि यह अनित्य है

प्रश्न ३. वैशेषिक दर्शन के अनुसार काल में कुल कितने गुण समवाय संबंध से रहते हैं?

(क) ३ गुण **(ख) ५ गुण** (ग) ७ गुण (घ) २४ गुण

उत्तर: (ख) ५ गुण (संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग)

प्रश्न ४. काल को 'नित्य' (Eternal) मानने का वैशेषिक दर्शन में क्या तार्किक आधार है?

(क) क्योंकि इसका कोई अवयव (भाग या परमाणु) नहीं होता, यह निरवयव है

(ख) क्योंकि यह ईश्वर की इच्छा से बनता है

(ग) क्योंकि यह समय-समय पर नष्ट होता रहता है

(घ) क्योंकि यह केवल वर्तमान में रहता है

प्रश्न ५. 'अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि'-यह प्रसिद्ध सूत्र किस महर्षि द्वारा रचित है?

(क) महर्षि गौतम **(ख) महर्षि कणाद** (ग) महर्षि कपिल (घ) महर्षि पतंजलि

प्रश्न ६. वैशेषिक दर्शन के अनुसार, परमार्थ (वास्तविक) दृष्टि से काल का श्एकत्वश क्या सिद्ध करता है?

(क) काल अनेक परमाणुओं का समूह है **(ख) काल मूलतः एक, अखंड और अविभाज्य है**

(ग) काल केवल तीन भागों में बंटा है (घ) काल का कोई अस्तित्व ही नहीं है

प्रश्न ७. आयु के संदर्भ में ज्येष्ठता (बड़ा होना/वृद्धत्व) और कनिष्ठता (छोटा होना/युवावस्था) का बोध कराने वाले काल के लक्षण क्या कहलाते हैं?

(क) चिर और क्षिप्र (ख) यौगपद्य और अयौगपद्य

(ग) परत्व और अपरत्व (घ) संयोग और विभाग

प्रश्न ८. वैशेषिक दर्शन में काल को 'विभु' कहा गया है, 'विभु' शब्द का तात्त्विक अर्थ क्या है?

(क) जो बहुत छोटा हो

(ख) जो सर्वव्यापी (All/pervading) हो और सभी मूर्त द्रव्यों से संबद्ध हो

(ग) जो केवल मनुष्य के मन में रहे

घ) जो विनाशी हो

प्रश्न ९. किसी कार्य को होने में अधिक समय लगना (चिर) या अत्यंत कम समय लगना (क्षिप्र), यह ज्ञान किसके कारण संभव होता है?

(क) दिक् (दिशा) के कारण (ख) आकाश के कारण

(ग) काल के कारण (घ) आत्मा के कारण

प्रश्न १०. वैशेषिक सृष्टि-प्रक्रिया के अनुसार, काल को संपूर्ण ब्रह्मांड की उत्पत्ति और विनाश का कैसा कारण माना जाता है?

(क) समवायी कारण (ख) असमवायी कारण

(ग) साधारण निमित्त कारण (घ) उपादान कारण

इकाई- 2.11 दिशा नामक द्रव्य का लक्षण

उद्देश्य :-

1. वैशेषिक दर्शन के अंतर्गत 'दिक्' (दिशा) को एक स्वतंत्र द्रव्य मानने के तार्किक आधार (द्रव्यत्व) को समझ सकेंगे।
2. दिशा के 'नित्यत्व' (उत्पत्ति और विनाश से रहित होने) की दार्शनिक अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे।
3. दिशा के 'एकत्व' (मूलतः एक और अखंड होना) और उपाधियों के कारण होने वाले इसके व्यावहारिक विभाजनों (पूर्व, पश्चिम आदि) में अंतर कर सकेंगे।
4. दिशा के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले वैशेषिक सूत्रों और व्यावहारिक लक्षणों का विश्लेषण कर सकेंगे।

काल के वर्णन के पश्चात वैशेषिककार क्रमप्राप्त 'दिशा' नामक सप्तम द्रव्य का वर्णन करते हुये उसके लक्षण सूत्र का प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं-

इत इदमिति यतस्तद् दिश्यं लिङ्गम्। (2.2.10)

यहाँ से यह (दूर है, समीप है) इस प्रकार का व्यवहार जिससे होता है वह दिशा का अनुमापक लिङ्ग है। **'दिश इदम् दिश्यं दिगनुमापकं लिङ्गम्'** दिशा नामक द्रव्य का अनुमापक लिङ्ग को दिश्य **'दिश्यं लिङ्गम्'** कहा गया। अर्थात् **दिगनुमापकं लिङ्गं दिश्यं लिङ्गम्** यहाँ पर **'दिश्यं'** पद **'लिङ्गं'** का विशेषण है। **'इतः इदम् इति प्रत्यय'** जिस द्रव्य के निमित्त से होता है, उस द्रव्य का नाम दिशा है। अतः प्रस्तुत सूत्र में **'इतः इदम् इति'** प्रत्यय दिशा का अनुमापक लिङ्ग है।

लोक में जिस को 'दूर' और नजदीक शब्द से कहा जाता है, उसी को यहाँ वैशेषिकशास्त्र में 'पर' और 'अपर' पद से कहा जाता है। जिस प्रकार कालकृत परत्व अपरत्व में बड़ा-छोटा अथवा ज्येष्ठ-कनिष्ठ का व्यवहार होता है, उसी प्रकार दिक्कृत परत्व-अपरत्व में दूर-नजदीक (समीप) का व्यवहार होता है।

किसी एक पदार्थ को अवधि मानकर इसकी अपेक्षा वह दूर है और यह समीप है इस प्रकार क्रमशः दोनों पदार्थों में परत्व एवं अपरत्व होता है। इस परत्व एवं अपरत्व का समवायिकारण स्वयं वे वस्तुएं होती हैं। असमवायिकारण पर विचार करे तो यह पाते है कि जो भी असमवायिकारण हो वह परत्व एवं अपरत्व के अधिकरण से सम्बन्ध रखता हुआ विद्यमान रहे, अन्यथा उसका कारण होना सम्भव नहीं होगा। अतः किसी ऐसे पदार्थ को स्वीकार करना पड़ेगा जिसका सम्बन्ध परत्व एवं अपरत्व के अधिकरर्णो के साथ हो। इसप्रकार उस पदार्थ का उन परत्वापरत्वों के अधिकरणों के साथ जो 'संयोग' होगा वही असमवायिकारण होगा। वह पदार्थ 'दिक्' अथवा 'दिशा' नाम से कहा जाता है।

इससे यह दूर है, यह समीप है इत्यादि प्रत्यय में दिशानामक द्रव्य की उस वस्तु से अधिक संयुक्त संयोग एवं न्यून संयुक्त संयोग ही कारण है। जिसमें 'परत्व' है उसमें अधिक दिक् प्रदेश का सम्बन्ध है तथा जिसमें अपरत्व है उसमें न्यून दिक् प्रदेश का संयोग है। इसप्रकार 'इतः इदम इति' प्रत्यय का जो निमित्तकारण है वही दिशा नामक द्रव्य है। दिशा नामक द्रव्य के गुणों का उल्लेख करते हुये भाष्यकार कहते है- **तस्यास्तु गुणाः संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागः कालवदेते सिद्धाः। (प्रश.भा.)** अर्थात् काल के समान दिशा के भी पाँच गुण- संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग सिद्ध है। दिशा में 'एकत्व' संख्या है, तथा परममहत् परिमाण है। यह भी काल की भाँति ही सिद्ध है। दिशा में नानात्व का कथन व्यावहारिक है, जिसका वर्णन आगे किया जा रहा है।

स्मरणीय बिंदु :-

1. **दिक् का द्रव्यत्वः** वैशेषिक मत के अनुसार द्रव्य वह है जिसमें गुण समवाय संबंध से रहते हैं। दिक् (दिशा) में 'संख्या', 'परिमाण', 'पृथक्त्व', 'संयोग' और 'विभाग' - ये ५ गुण पाए जाते हैं। गुणों का आश्रय होने के कारण दिशा एक द्रव्य है (यह वैशेषिक का ७वाँ द्रव्य है)।
2. **दिक् का नित्यत्वः** दिशा का कोई अवयव (भाग या परमाणु) नहीं होता। यह निरवयव और अनादि-अनंत है। जिसका कोई अंश या टुकड़ा नहीं होता, उसका न तो निर्माण हो सकता है और न विनाश। अतः दिशा एक नित्य द्रव्य है।
3. **दिक् का एकत्वः** तात्त्विक या वास्तविक दृष्टि से दिशा केवल एक और अखंड है। सूर्य के उदय और अस्त होने जैसी बाह्य उपाधियों के कारण हम इसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि भेदों में विभाजित करते हैं।
4. **दिक् के लिंग (लक्षण):** महर्षि कणाद के अनुसार - 'इत इदमिति यतस्तद्दिशो लिङ्गाम्' (वैशेषिक सूत्र २.२.१०)। अर्थात् 'इस वस्तु से यह वस्तु इस ओर है'-इस प्रकार का जो 'परत्व' और 'अपरत्व' (दूर और पास होने का सापेक्षिक ज्ञान) होता है, वही दिशा का लक्षण है।
5. **विभुत्व (सर्वव्यापकता):** दिशा एक 'विभु' द्रव्य है। यह असीम और सर्वव्यापी है, जिसका संबंध ब्रह्मांड के सभी मूर्त द्रव्यों

(जैसे पृथ्वी, जल आदि) के साथ हमेशा बना रहता है।

6. **निमित्त कारण:** काल की भाँति दिशा भी संसार के समस्त कार्यों की उत्पत्ति और स्थिति के लिए 'साधारण निमित्त कारण' है। इसके बिना वस्तुओं के स्थान या स्थिति (Position) का निर्धारण असंभव है।

शब्दावली:-

1. **दिक् (Space/Direction):** वैशेषिक दर्शन का वह सातवाँ अमूर्त द्रव्य, जो वस्तुओं की सापेक्षिक स्थिति (दूरी, समीपता, दिशा) का आधार बनता है।
2. **द्रव्यत्व (Substancehood):** गुण और क्रिया का आधार होने का भाव। वैशेषिक दर्शन के अनुसार सत्ता का वह मूल तत्व जिसमें गुण समवाय संबंध से रहते हैं।
3. **नित्यत्व (Eternity):** जो सदा सर्वदा विद्यमान रहे, जिसका कभी नाश या उत्पत्ति न हो।
4. **एकत्व (Oneness):** दिशा का वह मूल, वास्तविक स्वरूप जिसके अनुसार वह अखंड और अविभाज्य है।
5. **दिक्-कृत परत्व और अपरत्व (Spatial Distance and Proñimity):** किसी एक निश्चित स्थान या वस्तु के संदर्भ में दूसरी वस्तु का 'दूर होना' (परत्व) और श्पास होनाश (अपरत्व)। (ध्यान रहे: काल-कृत परत्व/अपरत्व आयु से संबंधित होता है, जबकि दिक्-कृत परत्व/अपरत्व स्थान/दूरी से)।
6. **उपाधि** (Adjunct/Condition): वह बाह्य माध्यम जिसके कारण अखंड वस्तु में काल्पनिक भेद दिखाई देता है। जैसे- सूर्योदय के संयोग रूपी उपाधि से एक ही दिशा 'पूर्व' कहलाती है।
7. **निरवयव** (Partless): जिसका कोई अंग, अवयव या परमाणु न हो। निरवयव होने के कारण ही दिशा नित्य है।
8. **साधारण निमित्त कारण (General Efficient Cause):** वह कारण जो किसी एक विशिष्ट कार्य के लिए नहीं, बल्कि सृष्टि के सभी कार्यों की उत्पत्ति के लिए अनिवार्य रूप से उपस्थित रहता है (जैसे- ईश्वर, काल, दिक् और आकाश)।

5 अंक के प्रश्न :-

प्रश्न १. वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'दिक्' (दिशा) का मुख्य लक्षण क्या है? महर्षि कणाद के मूल सूत्र का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न २. दिशा को 'द्रव्य' क्यों माना गया है? इसके द्रव्यत्व को सिद्ध करने वाले किन्हीं दो आधारों को लिखिए।

प्रश्न ३. दिक् (दिशा) के 'नित्यत्व' से क्या अभिप्राय है? यह किस प्रकार सिद्ध होता है कि दिशा का विनाश नहीं हो सकता?

प्रश्न ४. 'दिशा मूलत: एक और अखंड है।' इस कथन के आलोक में स्पष्ट कीजिए कि व्यवहार में पूर्व, पश्चिम आदि भेद क्यों और कैसे दिखाई देते हैं?

प्रश्न ५. दिक्-कृत 'परत्व' और 'अपरत्व' का क्या अर्थ है? उदाहरण देकर समझाइए।

प्रश्न ६. काल (Time) और दिक् (Space) दोनों ही परत्व-अपरत्व का बोध कराते हैं, परंतु दोनों के 'परत्व-अपरत्व' में क्या मूल अंतर है?

15 अंक के प्रश्न :-

प्रश्न १. वैशेषिक सूत्र 'इत इदमिति यतस्तद्दिशो लिङ्गम्' की सविस्तार व्याख्या कीजिए तथा इसके आधार पर दिशा के स्वरूप एवं लक्षणों का दार्शनिक विवेचन कीजिए।

प्रश्न २. वैशेषिक दर्शन के द्रव्य-मीमांसा के अंतर्गत 'दिक्' (दिशा) नामक द्रव्य के द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं एकत्व का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

प्रश्न ३. 'दिशा स्वत: एक, व्यापक (विभु) और निरवयव है, परंतु सूर्य की गति रूपी उपाधियों के कारण इसके अनेक व्यावहारिक भेद हो जाते हैं।' इस कथन की पुष्टि उदाहरणों सहित कीजिए।

प्रश्न ४. वैशेषिक दर्शन में दिशा को विश्व का 'साधारण निमित्त कारण' क्यों स्वीकार किया गया है? वस्तुओं की सापेक्षिक स्थिति (Spatial Position) और सृष्टि-प्रक्रिया के संदर्भ में दिशा के महत्त्व को प्रतिपादित कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्नोत्तरी :

प्रश्न १. वैशेषिक दर्शन के अनुसार नौ द्रव्यों में 'दिक्) (दिशा) को कौन-सा स्थान प्राप्त है?

(क) प्रथम द्रव्य (ख) पंचम द्रव्य **(ग) सातवाँ द्रव्य** (घ) नौवाँ द्रव्य

प्रश्न २. महर्षि कणाद के अनुसार, 'इत इदमिति यतस्तद्दिशो लिङ्गम्' सूत्र में किसका लक्षण (लिंग) बताया गया है?

(क) काल का (ख) आकाश का **(ग) दिक् (दिशा) का** (घ) आत्मा का

प्रश्न ३. 'यह वस्तु इस वस्तु से पूर्व या पश्चिम की ओर है' – वस्तुओं की इस सापेक्षिक स्थिति का ज्ञान कराने वाले द्रव्य को क्या कहते हैं?

(क) मन **(ख) दिक् (दिशा)** (ग) पृथ्वी (घ) तेज

प्रश्न ४. वैशेषिक मत के अनुसार दिशा को 'द्रव्य' क्यों माना गया है?

(क) क्योंकि यह गुणों (संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, पृथक्त्व) का आश्रय है

(ख) क्योंकि यह प्रत्यक्ष दिखाई देती है

(ग) क्योंकि यह अनित्य है

(घ) क्योंकि यह पृथ्वी का ही एक भाग है

प्रश्न ५. दिक् (दिशा) के संबंध में 'दिक्-कृत परत्व' से क्या तात्पर्य है?

(क) किसी वस्तु का आयु में बड़ा होना

(ख) किसी निश्चित स्थान से किसी वस्तु का 'दूर' होना

(ग) किसी निश्चित स्थान से किसी वस्तु का 'पास' होना

(घ) किसी वस्तु का नष्ट हो जाना

प्रश्न ६. वैशेषिक दर्शन के अनुसार, परमार्थ (वास्तविक) दृष्टि से दिशा का स्वरूप कैसा है?

(क) अनेक और विनाशी **(ख) एक, अखंड, नित्य और विभु (सर्वव्यापी)**

(ग) केवल चार भागों में बंटी हुई (घ) काल्पनिक और असत्य

प्रश्न ७. दिशा मूलतः एक है, फिर भी व्यवहार में जो पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि भेद दिखाई देते हैं, उनका कारण क्या है?

(क) दिशा का स्वभाव

(ख) परमाणुओं का टूटना

(ग) सूर्य के उदय-अस्त आदि की 'उपाधियाँ'

(घ) मनुष्यों की मानसिक दुर्बलता

प्रश्न ८. दिशा को शनित्यश मानने का प्रमुख तार्किक कारण क्या है?

(क) क्योंकि यह निरवयव (बिना अंगों या परमाणुओं की) है

(ख) क्योंकि यह ईश्वर के समान चेतन है

(ग) क्योंकि इसके दस भेद हैं

(घ) क्योंकि यह आकाश में विलीन हो जाती है

प्रश्न ९. काल और दिक् (दिशा) दोनों में समान रूप से पाए जाने वाले गुणों की संख्या कितनी है?

(क) ३ गुण **(ख) ५ गुण** (ग) ९ गुण (घ) २४ गुण

उत्तर: ठ) ५ गुण (संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग)

प्रश्न १०. वैशेषिक दर्शन में दिशा को संपूर्ण ब्रह्मांड के कार्यों के लिए कैसा कारण स्वीकार किया गया है?

(क) समवायी कारण (ख) असमवायी कारण

(ग) साधारण निमित्त कारण (घ) उपादान कारण

इकाई- 2.12 दिशा का द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं एकत्व

उद्देश्य :-

1. **द्रव्यत्व (Substancehood):** दिशा एक द्रव्य है क्योंकि यह गुणों का आश्रय है। 'परत्व' (दूरता) और 'अपरत्व' (समीपता) जैसे गुणों का आधार दिशा ही है। यह जगत के सभी पदार्थों के अवस्थान (स्थिति) का आधार है।
2. **नित्यत्व (Eternity):** दिशा को नित्य माना गया है। इसका न तो कोई निर्माण करता है और न ही इसका विनाश होता है। यह सृष्टि के आदि से अंत तक व्याप्त और स्थिर है।
3. **एकत्व (Unity/Oneness):** यद्यपि हम व्यवहार में पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि भेदों का प्रयोग करते हैं, परंतु दार्शनिक दृष्टि से दिशा एक ही है। ये भेद केवल उपाधियों (जैसे सूर्य का उदय होना या किसी वस्तु का सापेक्ष स्थान) के कारण काल्पनिक हैं।

दिशा के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व की सिद्धि में वैशेषिककार अपने प्रसिद्ध उन्हीं हेतुओं को पुनः आवृत्तिपूर्वक स्मरण कराते हैं-

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते। (२.२.११)

जिस प्रकार पूर्व में वायु के परमाणु के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व की सिद्धि करते हुये महर्षि ने कहा था कि वायु के परमाणु का अन्य कोई द्रव्य समवायिकारण न होने से तथा क्रिया और गुणवाला होने से द्रव्यत्व एवं नित्यत्व सिद्ध होता है। ठीक उसी प्रकार वायु के व्याख्यान के द्वारा दिशा के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व का भी व्याख्यान समझ लेना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि 'दिशा' नामक द्रव्य का अन्य कोई समवायिकारण न होने से तथा गुणवाला होने से तथा क्रियामात्र के प्रति निमित्तकारण होने से द्रव्यत्व एवं नित्यत्व सिद्ध होता है।

दिशा के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व के वर्णन के पश्चात् अब उसके एकत्व का वर्णन किया जा रहा है। इस विषय में सूत्रवचन इस प्रकार है-

तत्वं भावेन। (2.2.12)

दिशा का एक होना सत्ता जाति के द्वारा व्याख्यात समझ लेना चाहिए। इस सूत्र में भी पूर्व सूत्र से वचन विपर्यास के साथ 'व्याख्याते' पद की अनुवृत्ति है। तब सूत्र होता है- **तत्वं भावेन व्याख्यातम्।** अर्थात् जिस प्रकार द्रव्य-गुण-कर्म में 'सत् है-सत् है' की प्रतीति सर्वत्र एकसमान होने से तथा भेदबोधक प्रमाण का अभाव होने से सत्ता का एकत्व सिद्ध होता है। ठीक उसी प्रकार सर्वत्र 'इतः इदम् इति' प्रत्यय का एक समान होने से अर्थात् परत्व-अपरत्व का एक समान ही बोध होता है। सर्वत्र परत्व एवं अपरत्व का एकसमान बोध होने से तथा इसमें भेदबोधक प्रमाणों का अभाव होने से दिशा का 'एकत्व' सिद्ध होता है।

स्मरणीय बिंदु : -

1. **विभुत्वः** दिशा 'विभु' (सर्वव्यापी) है। यह संसार के समस्त स्थानों में व्याप्त है।
2. **कार्यः** दिशा का मुख्य कार्य समस्त पदार्थों की स्थिति (स्थान) को निर्धारित करना है। किसी वस्तु का 'पूर्व' या 'पश्चिम' होना उसकी दिशा के सापेक्ष स्थिति पर निर्भर करता है।
3. **अतीन्द्रियः** दिशा को प्रत्यक्ष इंद्रियों (जैसे चक्षु या त्वचा) से नहीं देखा जा सकता, यह केवल अनुमान का विषय है।
4. **सापेक्षताः** दिशा के भेद (पूर्व आदि) सूर्य के उदय और अस्त जैसे निमित्तों पर आधारित हैं, दिशा के अपने स्वरूप में कोई विभाजन नहीं है।

शब्दावली :-

1. **दिक् (Dik):** वह व्यापक द्रव्य जिसे सामान्य भाषा में दिशा या स्पेस (Space) कहा जाता है। यह समस्त पदार्थों के स्थान का आधार है।
2. **द्रव्यः** वह सत्ता जो गुणों और कर्मों का अधिष्ठान (आश्रय) है।
3. **नित्यः** जिसका न कोई आदि है और न अंत। जो समय के प्रभाव से परे है।
4. **विभुः** इसका अर्थ है 'सर्वव्यापी'। दिशा नित्य होने के साथ-साथ सर्वव्यापी (असीम) भी है।
5. **परत्व-अपरत्वः** ये दिशा के विशिष्ट लिंग (लक्षण) हैं। श्परत्वश का अर्थ है दूरता का बोध (जैसे- हिमालय दिल्ली से 'पर' है), और 'अपरत्व' का अर्थ है समीपता का बोध।
6. **उपाधिः** वह बाह्य कारक या निमित्त जिसके कारण एक ही वस्तु में भिन्न-भिन्न व्यवहार किया जाता है। दिशा के मामले में सूर्य का उदय, अस्त या किसी वस्तु की स्थिति ही 'उपाधि' है, जो दिशा के भेदों का भ्रम उत्पन्न करती है।
7. **अतीन्द्रियः** जिसे सामान्य इंद्रियों (आँख, कान, नाक, आदि) द्वारा प्रत्यक्ष न किया जा सके। दिशा का ज्ञान केवल तार्किक

अनुमान द्वारा ही संभव है।

8. **द्रव्यत्व (Substancehood):** दिशा एक द्रव्य है क्योंकि यह गुणों का आश्रय है। 'परत्व' (दूरता) और 'अपरत्व' (समीपता) जैसे गुणों का आधार दिशा ही है। यह जगत के सभी पदार्थों के अवस्थान (स्थिति) का आधार है।
9. **नित्यत्व (Eternity):** दिशा को नित्य माना गया है। इसका न तो कोई निर्माण करता है और न ही इसका विनाश होता है। यह सृष्टि के आदि से अंत तक व्याप्त और स्थिर है।
10. **एकत्व** (Unity/Oneness)**:** यद्यपि हम व्यवहार में पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि भेदों का प्रयोग करते हैं, परंतु दार्शनिक दृष्टि से दिशा एक ही है। ये भेद केवल उपाधियों (जैसे सूर्य का उदय होना या किसी वस्तु का सापेक्ष स्थान) के कारण काल्पनिक हैं।

5 अंक के प्रश्न :-

1. दिशा को 'द्रव्य' क्यों माना गया है?
2. वैशेषिक दर्शन के अनुसार दिशा शनित्यश क्यों है?
3. दिशा के 'एकत्व' से आप क्या समझते हैं?
4. दिशा के 'विभुत्व' का क्या अर्थ है?
5. दिशा के ज्ञान का साधन क्या है (प्रत्यक्ष या अनुमान)?
6. दिशा में 'परत्व' और 'अपरत्व' का क्या संबंध है?
7. दिशा की 'उपाधि' से आप क्या समझते हैं?

15 अंक के प्रश्न :-

1. 'दिक्' (दिशा) की दार्शनिक अवधारणा का विस्तृत वर्णन कीजिए। इसमें द्रव्यत्व, नित्यत्व और एकत्व की तार्किक व्याख्या कीजिए।
2. दिशा के भेदों (पूर्व, पश्चिम आदि) को केवल 'उपाधि' क्यों माना गया है? दार्शनिक तर्कों के साथ स्पष्ट कीजिए।
3. वैशेषिक दर्शन के आधार पर सिद्ध कीजिए कि दिशा 'अतीन्द्रिय' होते हुए भी कैसे अनुमेय (अनुमान योग्य) है?
4. क्या दिशा और आकाश (Space) पर्यायवाची हैं? दिशा की परिभाषा देते हुए इसके स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
5. परत्व-अपरत्व गुणों के आधार पर दिशा के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले तर्कों का विश्लेषण कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न :-

प्रश्न १. वैशेषिक दर्शन के अनुसार नौ द्रव्यों में शदिक्श (दिशा) को कौन-सा स्थान प्राप्त है?
(क) प्रथम द्रव्य (ख) पंचम द्रव्य **(ग) सातवाँ द्रव्य** (घ) नौवाँ द्रव्य

प्रश्न २. वैशेषिक दर्शन के अनुसार शदिशाश का मुख्य गुण कौन-सा है?
(क) रूप और रस (ख) शब्द **(ग) परत्व और अपरत्व** (घ) स्नेह

प्रश्न ३. दिशा के व्यवहार में श्उपाधिश के रूप में सबसे महत्वपूर्ण कारक किसे माना गया है?
(क) आकाश (ख) पृथ्वी **(ग) सूर्य (सूर्योदय/अस्त)** (घ) वायु

प्रश्न ४. वैशेषिक दर्शन के अनुसार दिशा किस प्रकार की सत्ता है?
(ख) कार्य द्रव्य (अनित्य) **(ख) नित्य द्रव्य**
(ग) गुण द्रव्य (घ) अभाव

प्रश्न ५. दिशा को शविभुश क्यों कहा गया है?
(क) क्योंकि वह गतिशील है (ख) क्योंकि वह केवल पूर्व दिशा में रहती है
(ग) क्योंकि वह सर्वव्यापी है (घ) क्योंकि वह प्रकाश का स्रोत है

इकाई- 2.13 दिशा का व्यावहारिक नानात्व

उद्देश्य :-

1. **स्थान-निर्धारण:** वस्तुओं की सापेक्षिक स्थिति (जैसे- श्अमुक वस्तु यहाँ हैश या श्वहाँ हैश) को निश्चित करना।
2. **दिशानिर्देशन (Navigation):** यात्रा और दिशाओं के ज्ञान हेतु एक स्पष्ट आधार प्रदान करना।
3. **कार्य-व्यवहार की सुगमता:** सूर्योदय, सूर्यास्त और व्यक्ति की स्थिति के अनुसार पूर्व, पश्चिम आदि का व्यावहारिक विभ. ाजन करना ताकि दैनिक क्रियाएं संचालित हो सकें

दिशा वस्तुत: एक की है फिर भी सूर्यादि ग्रहों की विभिन्न स्थितियों के आधार पर व्यवहार के लिए नाना दिशाओं की कल्पना की गई है। वैशेषिकाचार्य दिशाओं के काल्पनिक नानात्व में हेतु का प्रदर्शन करते हुये कहते हैं-

कार्यविशेषेण नानात्वम्। (2.2.13)

कार्य भेद से दिशाओं का नानात्व स्वीकृत है।

सूत्रोक्त इस कार्यभेद को समझाते हुये पुन: आचार्य कहते हैं-

आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची। (2.2.14)

सूर्य के संयोग से (दिशाओं में नानात्व होता है जैसे) पहले सूर्य का संयोग जिधर हुआ था, भविष्य में जिस ओर प्रथम सूर्य का संयोग होगा तथा वर्तमान में जिस ओर सूर्य का प्रथम संयोग हो रहा है, उस दिशा का नाम 'प्राची' अर्थात् पूर्व दिशा है।

प्रस्तुत सूत्र में 'भूतात्' पद का भूत शब्द उदित होकर 'वर्तमान' इस अर्थ में है, ऐसा अर्थ न करने पर 'भूतपूर्वाद्' पद का अर्थ अतीत होने पर पुनरुक्ति दोष की आपत्ति होगी। सूत्र में तीनों कालों का निद्रेश देशभेद की समझाना चाहिए। यथा- पूर्वकाल में जहाँ प्रथम आदित्य का संयोग हुआ था, इसमें आगे समय में आदित्य का प्रथम संयोग होगा तथा वर्तमान में जिस जगह पर जिस दिशा में आदित्य का प्रथम संयोग है उस दिशा का नाम 'प्राची' है। यह सुना ही जाता है कि भारत के पूर्वोत्तर राज्यों में सबसे पहले ही सूर्योदय हो जाता है। मध्यभारत में उसकी अपेक्षा बाद में होता है तथा पश्चिम भारत में उससे भी बाद में होता है।

व्यक्ति चाहे जिस किसी भी देश में क्यों न हो रात्री व्यतीत होने के पश्चात जिस दिशा में सर्वप्रथम आदित्य का संयोग होता है उस दिशा का नाम 'प्राची' होगा। इसलिए 'प्राची' का लक्षण है- **'प्राक् यस्यां दिशि सविता अञ्चतीति प्राची'।** प्राची दिशा के अतिरिक्त अन्य दिशाओं में भी हेतु देते हुये आचार्य कहते हैं-

तथा दक्षिणा प्रतीची उदीची च। (2.2.15)

उसी प्रकार दक्षिण दिशा, पश्चिम दिशा एवं उत्तर दिशा के विषय में भी समझना चाहिए। पूर्वसूत्र में 'प्राची' पूर्वदिशा का व्याख्यान हो गया है, ठीक इसके विपरीत जिस ओर सूर्य ढ़लता है उस दिशा का ना प्रतीची है। जिसका लक्षण है-

'प्रत्यग अञ्चति यस्यां दिशि सा प्रतीची'

अर्थात् उदय की दिशा से ठीक विपरीत जिस दिशा में सूर्य जाता है वह दिशा 'प्रतीची' पश्चिम कहलाती है।

जब कोई व्यक्ति सुबह सुर्योदय के समय सूर्याभिमुख होकर सूर्यनमस्कार करता है उस समय उसका मुख 'प्राची' दिशा की ओर होता है। उसके ठीक विपरीत दिशा पीठ की ओर पश्चिम दिशा होती है। दाएं (दक्षिण) हाथ की ओर सम्बद्ध दिशा का नाम दक्षिण दिशा तथा इसी प्रकार वामहस्त से सम्बन्धित दिशा का नाम उत्तर दिशा है।

इन चार दिशाओं के वर्णन के अनन्तर महर्षि इनके अन्तर्गत आने वाली अन्य दिशओं का भी वर्णन करते हैं। यथा-

एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि। (2.2.16)

इस (प्राची आदि चार दिशाओं के) वर्णने से उन दिशाओं के अन्तराल अर्थात् मध्य की अन्य अवान्तर दिशाओं का भी व्याख्यान समझ लेना चाहिए। यथा-

पूर्व एवं दक्षिण की मध्य की दिशा-		आग्नेयी
दक्षिण एवं पश्चिम की मध्य की दिशा	-	नैर्ऋति
पश्चिम एवं उत्तर की मध्य की दिशा	-	वायवी
उत्तर एवं पूर्व की मध्य की दिशा	-	ऐशानी

अध: (नीचे) एवं ऊर्ध्व (उपर) नामक दिशा की भी कल्पना की गई है। वस्तुत: दिशा एक ही होती है। केवल कार्यभेद (व्यवहारभेद) से दस दिशाओं का औपचारिक भेद किया गया है।

इन दस दिशाओं का विभिन्न देवताओं से अधिष्ठित होने के कारण (जिन्हें दिक्पाल भी कहा जाता है) दसविध संज्ञा महर्षियों ने श्रुति एवं स्मृतियों के द्वारा किया है। यथा- (1) माहेन्द्री (इन्द्र से अधिष्ठित पूर्व की दिशा)। इस दिशा के दिक्पाल इन्द्र

है, इन्द्र का एक दूसरा नाम महेन्द्र भी है, इसलिए 'माहेन्द्री' कहा है। (2) वैश्वानरी/आग्नेयी (अग्निदेव से अधिष्ठित पूर्व-दक्षिण की मध्य की दिशा) (3) याम्या (यम की पश्चिम दिशा) (4) नैर्ऋति (नैर्ऋत राक्षस की दखिण-पश्चिम मध्य की दिशा) (5) वारूणी (वरूण की उत्तर की दिशा) (6) वायव्या (वायुदेव की पश्चिम-उत्तर की मध्य की दिशा) (7) कौबेरी (कुबेर की दक्षिण दिशा) (8) ऐशानी (ईशान की पूर्व-उत्तर की मध्य की दिशा) (9) ब्राह्मी (ब्रह्मा की उपर की दिशा) (10) नागी (नागों की नीचे की दिशा)

इस प्रकार विभिन्न चेतन देवों से अधिष्ठित होने से इनकी दस प्रकार की संज्ञा महर्षियों ने की है। वस्तुतः दिशा एक ही होती है परन्तु कार्यभेद के द्वारा दस भवान्तर भेद गौण रूप से सिद्ध होते हैं।

स्मरणीय बिंदु :-

1. **उपाधि का महत्वः** दिशा के नानात्व (अनेक होने) का एकमात्र कारण श्उपाधिश है। बिना उपाधि के दिशा एक है, परंतु उपाधि (जैसे सूर्य का उदय) के साथ वह अनेक प्रतीत होती है।
2. **सापेक्षता (Relativity):** पूर्व, पश्चिम आदि दिशाएं निरपेक्ष नहीं हैं। ये प्रेक्षक (Observer) और वस्तु की सापेक्ष स्थिति पर निर्भर करती हैं।
3. **भ्रम का आधारः** व्यावहारिक जगत में दिशाओं के अलग होने का आभास केवल बुद्धि के स्तर पर होता है। दार्शनिक तर्क इसे 'औपाधिक भेद' (Condition&based difference) मानते हैं।
4. **ज्ञान का आधारः** व्यवहार में हम सूर्य के उदय होने वाले स्थान को 'पूर्व' मानते हैं, इसी प्रकार अन्य दिशाओं का निर्धारण अन्य निमित्तों से होता है।

मुख्य शब्दावली :

1. **नानात्व (Diversity/Plurality):** अनेकता का बोध। व्यावहारिक स्तर पर दिशा के आठ या दस भेदों का होना।
2. **औपाधिक भेदः** वह भेद जो किसी बाह्य कारण (उपाधि) के जुड़ने से उत्पन्न हो, वास्तविक नहीं।
3. **लोक-व्यवहार (Conventional Usage):** वह तरीका जिससे लोग दैनिक जीवन में वस्तुओं की स्थिति को समझते और समझाते हैं।
4. **निमित्तः** दिशा के भेदों को उत्पन्न करने वाला कारण (जैसे सूर्य का भ्रमण या दिशा-सूचक)।
5. **सापेक्षिक स्थानः** यह समझना कि 'अ' वस्तु 'ब' वस्तु के सापेक्ष उत्तर में है। यह पूरी तरह से दिशा के व्यावहारिक नानात्व पर आधारित है।

5 अंक के प्रश्न :-

1. 'दिशा का व्यावहारिक नानात्व' से आप क्या समझते हैं?
2. दार्शनिक दृष्टि से दिशा 'एक' है, फिर भी व्यवहार में यह 'अनेक' क्यों प्रतीत होती है?
3. दिशा के व्यावहारिक नानात्व में 'उपाधि' की भूमिका क्या है?
4. लोक-व्यवहार में दिशाओं (पूर्व, पश्चिम आदि) के निर्धारण का मुख्य आधार क्या है?
5. क्या दिशा का नानात्व वास्तविक (पारमार्थिक) है? तर्क सहित स्पष्ट कीजिए।
6. दिशा के व्यावहारिक नानात्व का दैनिक जीवन में क्या महत्व है?

15 अंक के प्रश्न :-

1. 'दिशा एक है, किंतु उपाधियों के कारण अनेक प्रतीत होती है।' इस कथन की दार्शनिक व्याख्या कीजिए और दिशा के व्यावहारिक नानात्व को स्पष्ट कीजिए।
2. दिशा के पारमार्थिक एकत्व और व्यावहारिक नानात्व में समन्वय स्थापित कीजिए। एक ही द्रव्य के अनेक होने का क्या कारण है?
3. दिशा के व्यावहारिक नानात्व के बिना मानवीय कार्य-व्यवहार क्यों असंभव है? सोदाहरण वर्णन कीजिए।
4. भारतीय दर्शन के अनुसार दिशा के भेदों (जैसे- पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि) की उत्पत्ति का तार्किक विवेचन कीजिए।
5. क्या दिशा के व्यावहारिक नानात्व को 'भ्रम' माना जा सकता है? यदि हाँ, तो दार्शनिक दृष्टिकोण से इसका विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न :-

प्रश्न १. भारतीय दर्शन के अनुसार दिशा के श्व्यावहारिक नानात्वश (अनेकता) का प्रमुख कारण क्या है?

(क) दिशा का अपना वास्तविक स्वरूप

(ख) दिशा में निहित भौतिक परमाणु

(ग) सूर्य के उदय-अस्त आदि 'उपाधियाँ' (निमित्त)

(घ) आकाश का विभाजन

प्रश्न २. श्औपाधिक भेदश का क्या तात्पर्य है?

(क) द्रव्य का आंतरिक और स्थायी गुण

(ख) बाहरी कारणों से उत्पन्न होने वाला सापेक्ष भेद

(ग) दिशा का नष्ट होना

(घ) वस्तुओं की लंबाई-चौड़ाई का माप

प्रश्न ३. यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से दिशा 'एक' है, फिर भी व्यवहार में इसे अनेक क्यों माना गया है?

(क) ताकि दार्शनिक जटिलता बढ़ सके

(ख) ताकि लोक-व्यवहार (स्थानीय स्थिति का ज्ञान) सुगम हो सके

(ग) क्योंकि दिशाएं वास्तव में अलग-अलग द्रव्यों से बनी हैं

(घ) क्योंकि दिशाओं के अपने अलग-अलग रंग होते हैं

प्रश्न ४. निम्नलिखित में से कौन-सा श्दिशा के व्यावहारिक नानात्वश का उदाहरण है?

(क) आकाश की अनंतता **(ख) पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि का प्रयोग**

(ख) समय का बीतना (घ) द्रव्य का नित्यत्व

प्रश्न ५. यदि श्उपाधिश (जैसे सूर्य की स्थिति) को हटा दिया जाए, तो दिशा का स्वरूप कैसा होगा?

(क) वह अनेक टुकड़ों में बंट जाएगी

(ख) वह गायब हो जाएगी

(ग) वह एक अखंड सत्ता के रूप में बनी रहेगी

(घ) वह काल में परिवर्तित हो जाएगी

प्रश्न ६. 'परत्व' और श्अपरत्वश का व्यावहारिक नानात्व के संदर्भ में क्या महत्व है?

(क) ये दिशा को अनेक बनाने में कोई भूमिका नहीं निभाते

(ख) ये दिशा के आधार पर ही किसी वस्तु की दूरता या निकटता का बोध कराते हैं

(ग) ये दिशा के विनाश के सूचक हैं

(घ) ये केवल आकाश के गुण हैं

खण्ड-3

इकाई- 3.1 आत्मतत्त्व की सिद्धि में हेतु

उद्देश्य :-

1. **अद्वैत और द्वैत का निरूपणः** यह सिद्ध करना कि शरीर, इंद्रियाँ और मन आत्मा से भिन्न हैं।
2. **भोक्ता और ज्ञाता की सत्ताः** यह स्थापित करना कि शरीर के नष्ट होने पर भी अनुभव करने वाला (आत्मा) बना रहता है।
3. **कर्मफल का सिद्धांतः** पुनर्जन्म और कर्मफल को न्यायसंगत ठहराने के लिए एक नित्य आत्मा की आवश्यकता सिद्ध करना।
4. **भौतिकवाद का खंडनः** यह सिद्ध करना कि चेतना केवल शरीर या मस्तिष्क का परिणाम नहीं है, बल्कि एक स्वतंत्र तत्त्व है।

इस अध्याय में शेष बचे अन्तिम दो द्रव्यों (आत्मा एवं मन) की लक्षण सहित परीक्षा की जायेगी। वैदिक दर्शन का मूलाधार 'आत्मा' नामक द्रव्य ही है। अतः 'आत्मा' नामक विषय अत्यन्त गम्भीर ही नहीं वरन् संवेदनशील भी है। कारण यह है कि आत्मा की सिद्धि में यदि किसी भी प्रकार से न्यूनता हो गई तो पूरा वैदिकदर्शन का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा।

आत्मतत्व की सिद्धि से पूर्व हेतु एवं हेत्वाभासों का वर्णन कर दिया गया है ताकि सद्हेतुपूर्वक आत्मतत्व के निश्चय में कोई भ्रम-प्रमादादि का अवकाश न हो। आत्मा की परीक्षा के लिए सूत्रकार अपेक्षित भूमिका का आरम्भ करते हुये कहते हैं-

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः। (३.१.१)

इन्द्रियों के अर्थ प्रसिद्ध (व्यवस्थित) है। सूत्रकार का आशय यह है कि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियों के विषय व्यवस्थित है। यथा- चक्षु का विषय रूप, घ्राण का विषय गन्ध, रसना (जिह्वा) का विषय रस, त्वचा का विषय स्पर्श एवं श्रोत्र का विषय शब्द। इस इन्द्रिय एवं विषय के व्यवस्था का कभी अतिक्रमण नहीं देखा जाता है। कभी ऐसा नहीं होता है कि चक्षु की अनुपस्थिति में घ्राण ाादि के द्वारा रूप का ग्रहण हो जाएं। अथवा घ्राण की अनुपस्थिति में चक्षुरादि से गन्ध का ग्रहण हो जाये। प्रत्येक इन्द्रियाँ अपने नियत विषय का ही ग्रहण करती है। आँख केवल रूप का ही ग्रहण करेगा, रसादि का नहीं। इसी प्रकार से अन्य इन्द्रियों में भी समझ लेना चाहिए।

अब प्रस्तुत इन्द्रियार्थ प्रसिद्धि का आत्मा की सिद्धि में उपयोग दिखाते हुये आचार्य कहते हैं-

इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः। (3.1.2)

इन्द्रियों के अर्थों की नियतव्यवस्था (प्रसिद्धि) इन्द्रिय एवं उसके अर्थों से भिन्न (आत्मा) अर्थ को सिद्ध करने में हेतु है।

आशय यह है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने केवल नियत विषयों को ही ग्रहण करती है। परन्तु अनुभव में यह आता है कि 'कल मैंने जिसको देखा था, उसी को मै आज छू रहा हूँ' इसप्रकार के अनुभव में द्रष्टा एवं स्प्रष्टा कोई एक प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों में 'मैं' समान रूप से अन्वित है। दर्शन क्रिया का करण (साधन) चक्षु है तथा स्पर्शन क्रिया का करण त्वचा है। दोनों करण भिन्न-भिन्न है- यह प्रत्यक्ष से ही स्पष्ट है। परन्तु उपरोक्त अनुभूति में 'मैं' नामक कोई तत्त्व पृथक् से भास रहा है। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने नियत विषयों का ग्रहण करने से 'नियतविषयग्राही' है। जबकि एक तत्व ऐसा अनुभव में आता है जो 'अनियतविषयग्राही' है। अर्थात् वह सभी विषयों को समान रूप से ग्रहण करता है। में देख रहा हूँ, छू रहा हूँ, चख रहा हूँ, सुन रहा हूँ, सूंघ रहा हूँ इत्यादि अनुभवों में सर्वत्र 'मैं-मैं' अनुगत होने से वह एक तत्व 'सर्वविषयग्राही' के रूप में प्रत्यात्मवेदनीय (अपने आप अनुभव में आने वाला) है।

इससे पता चलता है कि की इन्द्रियों से भिन्न आत्मा का अस्तित्व है। उपरोक्त सूत्र में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से जन्य ज्ञान के आधार पर तथा स्मृति (प्रत्यभिक्षा) इन दो के आधार पर आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि की गई है।

(क) इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान के आधार पर

प्रत्येक इन्द्रियों का स्व-स्व विषयों के सन्निकर्ष से जन्य जो रूपादि का 'ज्ञान' होता है वह इन्द्रियों एवं अर्थों से भिन्न का ही गुण सिद्ध होता है। क्योंकि 'ज्ञान' गुण है, वह किसी न किसी द्रव्य के आश्रय से अवश्य होगा। अब विचार का विषय यह है कि ज्ञान आखिर में किसका गुण है। वह किसी न किसी द्रव्य के आश्रय से अवश्य होगा। अब विचार का विषय यह है कि ज्ञान आखिर में किसका गुण है? इन्द्रियों का? अर्थों का? या फिर किसी अन्य का? प्रथम दो पर विचार करते है तो घट-पटादि के नाश हो जाने पर भी उसका ज्ञान देखा जात है। गुण, द्रव्य के बिना रह नहीं सकता। यदि ज्ञानगुण का आश्रय द्रव्य घट-पटादि होते तो

घट के नष्ट हो जाने पर ज्ञान का भी नाश हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं है। इसका तात्पर्य है कि ज्ञान घट-पटादि अर्थों का गुण नहीं है।

तब यह क्यों न मान लिया जाये कि ज्ञान इन्द्रियों का गुण है। क्योंकि इन्द्रियों के होने पर रूपादि का ज्ञान होता है, तथा उनके न होने पर रूपादि का ज्ञान भी नहीं होता है। अतः जिसके होने पर जो होता है और जिसके नहीं होने पर जो नहीं होता है वही उसका आश्रय होता है। ऐसे में रूपादि ज्ञानों का आश्रय चक्षुरादि इन्द्रियां ही है।

उपरोक्त कथन का खण्डन करते हुये वैशेषिकाचार्यों का कहना है कि इन्द्रियों का गुण भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि दुर्भाग्य से चक्षुरादि इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी रूपादि का स्मरण होता है। कालान्तर में अन्धा हुआ व्यक्ति को भी रूप का स्मृत्यात्मक ज्ञान होता है। स्वप्न में आँख के बन्द हो जाने पर रूप का ज्ञान सबको होता ही है। अतः ज्ञान गुण इन्द्रियों का नहीं है। अपितु इनसे भिन्न किसी अन्य द्रव्य का है। वह आत्मा नामक द्रव्य ही हो सकता है।

(ख) प्रत्यभिज्ञा के आधार पर

प्रत्यभिज्ञा अर्थात् पूर्वानुभव की अनुस्मृति से भी इन्द्रियार्थों से भिन्न आत्मा की सिद्धि होती है। अभिप्राय यह है कि आँखों से पीले आम को देखकर मधुर रस की स्मृति हो जाती है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में रूप का ग्राहक इन्द्रिय चक्षु तथा रस का ग्राहक इन्द्रिय रसना है। दोनों भिन्न-भिन्न है। परस्पर इनका समन्वय-सामञ्जस्य भी नहीं देखा जाता। यदि ऐसा होता तो कदाचित् जिह्वा के न रहने पर आँखों से मधुरादि रसो का ग्रहण हो जाता परन्तु ऐसा नहीं होता है। इसका मतलब यह है कि ये दोनों इन्द्रियां भिन्न-भिन्न है। परस्पर में इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी आँख से देखकर रस का ज्ञान कैसे सम्भव है? आँख से रूप का ज्ञान तो सम्भव है, क्योंकि रूप आँख का नियत विषय है। परन्तु रस का ज्ञान कैसे? इसी प्रकार नाक से सुंघकर खट्टे-मीठे रसों का भी ज्ञान हो जाता है। नाक गन्ध का ज्ञान तो करा सकती है, क्योंकि वह उसका नियत विषय है, परन्तु रस का ज्ञान नासिका से कैसे सम्भव है? परस्पर में इन्द्रियों का कोई सम्बन्ध भी दृष्टिगोचरित नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि अवश्य इन इन्द्रियों से भिन्न कोई तत्त्व है जो भिन्न इन्द्रियों के विषयों का अनुसन्धानपूर्वक स्मरण कराता है। इन्द्रियों से भिन्न उस आत्मतत्व को माने बिना उपरोक्त प्रकार के स्मरण का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं है। इसलिए इस प्रत्यभिज्ञा के बल पर भी इन्द्रियादि से भिन्न आत्मतत्त्व की सिद्धि होती है।

उपरोक्त दोनों प्रकारों में 'इन्द्रियार्थप्रसिद्धि' नामक हेतु ही आत्मा की सिद्धि में मूलाधार है। अतएव सूत्र की इस हेतु की निर्दोषता का कथन करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत्। (3.1.18)

आत्मा-इन्द्रिय-अर्थ के सन्निकर्ष से जो (ज्ञान) उत्पन्न होता है, वह (हेत्वाभासों से) अन्य है। अर्थात् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष (इन्द्रियार्थ प्रसिद्धि) रूप हेतु आत्मा की सिद्धि में निर्दोष हेतु (सद्हेतु) हैं जो कि असन् एवं सन्दिग्ध नामक हेत्वाभासों से भिन्न है।

स्मरणीय बिंदु :-

1. **व्यतिरेक तर्कः** आत्मा शरीर, इंद्रिय, मन और बुद्धि से अलग है, क्योंकि ये सभी श्दृश्यश (जड़) हैं, जबकि आत्मा श्दृष्टाश (चेतन) है।
2. **अनुभव की एकताः** अलग-अलग समय पर (जैसे- कल, आज और भविष्य) एक ही व्यक्ति द्वारा अनुभव को याद रखना यह सिद्ध करता है कि कोई नित्य श्ज्ञाताश मौजूद है।
3. **चेतना का आधारः** जड़ पदार्थों (जैसे शरीर) में स्वभाव से चेतना नहीं होती। यदि शरीर में चेतना है, तो वह किसी चेतन अधिष्ठान (आत्मा) के कारण ही है।
4. **न्याय दर्शन के प्रमाणः** न्याय के अनुसार इच्छा (इच्छा), द्वेष (घृणा), प्रयत्न (प्रयास), सुख, दुख और ज्ञानख्ये आत्मा के श्लिंगश (चिह्न) हैं, जिनसे आत्मा का अनुमान किया जाता है।
5. **अहं-प्रत्ययः** 'मैं हूँ' (अहंकार) का बोध यह सिद्ध करता है कि कोई ऐसा तत्त्व है जो इन परिवर्तनों का साक्षी है।

मुख्य शब्दावली :

1. **आत्मतत्त्वः** वह शाश्वत चौतन्य सत्ता जिसे श्आत्माश कहा जाता है।
2. **साक्षीः** वह जो समस्त मानसिक और शारीरिक क्रियाओं को बिना किसी हस्तक्षेप के देखता है।
3. **जड़-चेतन विवेकः** निर्जीव (जड़) और सजीव (चेतन) के बीच का अंतर।
4. **लिंग (हेतु):** वह चिह्न या लक्षण जिसके माध्यम से किसी अदृश्य वस्तु का अनुमान लगाया जाता है।
5. **अहंप्रत्ययः** 'मैं' होने का निरंतर बोध, जो आत्मा का प्रमाण है।
6. **परलोक/पुनर्जन्मः** यह मान्यता कि आत्मा मृत्यु के बाद भी बनी रहती है और दूसरे शरीर में प्रवेश करती है।

7. **भोक्ता:** वह जो कर्मों का फल भोगता है।

5 अंक के प्रश्न :-

1. न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा को सिद्ध करने वाले श्लिंगश (चिह्न) कौन-से हैं?
2. 'इच्छा, द्वेष और प्रयत्न' आत्मा के अस्तित्व को कैसे सिद्ध करते हैं?
3. शरीर को आत्मा से भिन्न क्यों माना जाता है?
4. 'स्मृति' (Memory) के आधार पर आत्मा की नित्यता को कैसे सिद्ध किया जा सकता है?
5. चेतना (Consciousness) को भौतिक शरीर का गुण क्यों नहीं माना जा सकता?
6. 'अहंप्रत्यय' (I/consciousness) से आप क्या समझते हैं?

15 अंक के प्रश्न :-

1. 'आत्मा के बिना कर्मफल और पुनर्जन्म का सिद्धांत अर्थहीन है।' इस कथन के आलोक में आत्मतत्त्व की सिद्धि के हेतुओं का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. न्याय दर्शन के आधार पर आत्मा की सिद्धि के लिए दिए गए तर्कों (इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख और ज्ञान) का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
3. सांख्य एवं न्याय दर्शन के अनुसार जड़ (शरीर) और चेतन (आत्मा) में अंतर स्पष्ट करते हुए आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध कीजिए।
4. भारतीय दर्शन में 'भोक्ता' और 'कर्ता' के रूप में आत्मा की सिद्धि हेतु दिए गए तर्कों की व्याख्या कीजिए।
5. क्या आत्मा का प्रत्यक्ष संभव है या यह केवल अनुमान का विषय है? 'आत्मतत्त्व की सिद्धि' के संदर्भ में चर्चा कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न:-

प्रश्न १. न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले प्रमुख 'लिंग' (चिह्न) कौन-से हैं?

(क) केवल सुख और दुख **(ख) इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख और ज्ञान**
(ग) शरीर, इंद्रिय और मन (घ) परमाणु और आकाश

प्रश्न २. 'अहंप्रत्यय' (I/consciousness) का तात्पर्य क्या है?

(क) अहंकार या घमंड की भावना
(ख) शरीर के प्रति मोह
(ग) 'मैं हूँ' का निरंतर बोध, जो आत्मा की सत्ता का प्रमाण है
(घ) दूसरों को जानने की इच्छा

प्रश्न ३. आत्मा को 'शरीर' से भिन्न क्यों माना गया है?

(क) क्योंकि शरीर नश्वर (विनाशी) है और आत्मा नित्य है
(ख) क्योंकि शरीर का रंग अलग होता है
(ग) क्योंकि शरीर में चेतना स्वाभाविक रूप से होती है
(घ) इनमें से कोई नहीं

प्रश्न ४. स्मृति (Memory) आत्मा की सिद्धि में किस प्रकार सहायक है?

(क) यह याद दिलाती है कि पिछला शरीर कैसा था
(ख) यह सिद्ध करती है कि अनुभव करने वाला (ज्ञाता) समय के प्रवाह में भी एक ही बना रहता है
(ग) यह केवल मस्तिष्क का एक रासायनिक कार्य है
घ) यह आत्मा को भौतिक पदार्थ बनाती है

प्रश्न ५. यदि आत्मा को शरीर से भिन्न न माना जाए, तो किस सिद्धांत का खंडन होगा?

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण का **(ख) कर्मफल और पुनर्जन्म के सिद्धांत का**
(ग) भौतिक विज्ञान का (घ) गणित के सिद्धांतों का

प्रश्न ६. श्साक्षीश के रूप में आत्मा का क्या अर्थ है?

(क) वह जो कर्म करता है (ख) वह जो केवल फल भोगता है
(ग) वह जो समस्त मानसिक और शारीरिक क्रियाओं को तटस्थ होकर देखता है
(घ) वह जो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है

इकाई- 3.2 देहादि से भिन्न आत्मा की सिद्धि में विभिन्न साधक लिङ्गों का वर्णन

उद्देश्य :-

1. **अहंकार-विच्छेद:** यह स्पष्ट करना कि शरीर भौतिक है और आत्मा चेतन, अत: दोनों भिन्न हैं।
2. **नित्यता की स्थापना:** शरीर क्षणभंगुर है, जबकि आत्मा को नित्य सिद्ध कर पुनर्जन्म और मोक्ष के सिद्धांत को तार्किक आधार देना।
3. **भोक्ता की सिद्धि:** शरीर केवल 'भोग का साधन' (उपकरण) है, उसे भोगने वाला कोई 'अधिष्ठान' (आत्मा) होना चाहिए।

केवल इन्द्रियार्थप्रसिद्धि के आधार पर ही आत्मा के भिन्नत्व की सिद्धि नहीं है बल्कि इसके अतिरिक्त और भी विभिन्न आत्मा के साधक लिङ्ग है जिसके आधार पर आत्मा के भिन्नत्व की सिद्धि होती है। सूत्रकार ने उसका वर्णन इस प्रकार से किया है-

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकारा:
सुखदु:खेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि। (3.2.4)

प्राण तथा अपान वायु (श्वास-प्रश्वास) की क्रिया, नेत्रों को बन्दकरना-खोलना, बढ़ना-घटना रूप जीवन, मन की गति, एक इन्द्रिय के विषय ग्रहण से दूसरे इन्द्रिय में विकार का होना, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, एवं प्रयत्न - ये बारह और भी आत्मा के साधक लिङ्ग है, जिससे आत्मा की देहादि से भिन्नत्व की सिद्धि होती है।

इनका क्रमश: व्याख्यान निम्न-प्रकार से किया जा रहा है-

प्राण-अपान- भौतिक वायु की स्वाभाविक गति तिर्यक्-तिरछा होती है। परन्तु शरीर में प्राण-अपान के द्वारा उसकी गति व्यवस्थित रूप से उर्ध्व एवं अध: देखी जाती है। वायु की इस प्रकार व्यवस्थितगति का नियंत्रक कोई चेतन आत्मा सिद्ध होता है। जैसे लुहार की धौंकनी में नियमित रूप से वायु का आना-जाना चेतन लुहार के प्रेरणा से होती हो। वैसे ही शरीर में जड़ भौतिकवायु से भिन्न कोई चिंतन तत्त्व सिद्ध होता है। वह आत्मा ही है।

निमेषोन्मेष (निमेष-उन्मेष)- आँख के पलकों के गिरने को 'निमेष' तथा खुलने को 'उन्मेष' कहते हैं। शरीर सहित इसके सारे अंङ्ग अचेतन (जड़) है। उस जड़ आँख की पलकों का नियमित बन्द होना एवं खुलना किसी चेतन प्रेरणा के सम्पर्क के बिना सम्भव नहीं है। जैसे अचेतन बच्चों के खिलौने (गुड़िया आदि) में उसके आँखों के पलको का नियमित बन्द होना एवं खुलना बच्चे रूपी चेतन की प्रेरणा से होता है यदि बच्चा उसे प्रेरित न करें तो उसके पलको की नियमित गति सम्भव नहीं है। इसी प्रकार शरीर में नियमित रूप से 'निमेषोन्मेष' की क्रिया से पता चलता है कि इसका प्रेरयिता कोई चेतन अवश्य होगा और वह आत्मा ही सिद्ध होता है।

जीवन- शरीर का क्रमश: वृद्धि को प्राप्त होना, शरीर में क्षत-संरोहण एवं भग्न-संरोहण होना, साजात्य प्रजनन होना इत्यादि जीवन का लक्षण है। वस्तुत: शरीर जड़ है यह मृतक शरीर को देखकर स्पष्टरूप से कोई भी जान सकता है। जड़-शरीर का बढ़ना यह बिना किसी चेतन की प्रेरणा से सम्भव नहीं है। जैसे किसी मकान को बढ़ते हुये देखकर हम यह नहीं कह सकते कि यह स्वत: अपने आप बढ़ रहा है अपितु चेतन के सम्पर्क से ही बढ़ रहा है। ऐसे की शरीर की वृद्धि आदि को देखकर चेतन आत्मा का अनुमान हो जाता है।

इसी प्रकार शरीर के खाल का छिल जाने से या कहीं थोड़ा बहुत क्षत-विक्षत हो जाने पर वहाँ पर कुछ दिन में पुन: नये खाल का जाना तथा क्षत-संरोहण होने से चेतन आत्मा का अनुमान होता है। जैसे किसी मकान को टूटे-फूटे देखने के पश्चात कुछ दिन बाद पुन: उसे ठीक अवस्था में देखने से उस घर के स्वामी का अनुमान हो जाता है कि बिना उसके स्वामी का घर अपने-आप स्वत: ठीक नहीं हो सकता। इसी प्रकार इस देह रूपी मकान का निवासी भी कोई चेतन आत्मा है जो इसकी मरम्मत करते रहता है।

मनोगति (मन की गति)- मन की गति से कभी चेतन आत्मा का अनुमान होता है। चञ्चल मन को प्रणिधानपूर्वक इन्द्रिय विशेष में लगाने रूपी क्रिया बिना आत्मा के प्रेरणा के सम्भव नहीं है।

यह सबके अनुभव में आता है कि 'मेरा मन चञ्चल है', परन्तु उस चञ्चल मन को खींच-खांचकर अपने अभीष्ट की सिद्धि देखी जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि मन को भी खींचकर अन्यत्र लगाने वाला कोई तत्व अनुभव में आता है, जो मन को भी खींचकर ध्यानादि क्रियाओं को सम्पादित करता है। वह आत्मा ही है।

इन्द्रियान्तर विकार- चक्षु से आम के पीले रूप को देखकर मुंह में (जिह्वा में) पानी का आना इन्द्रियान्तर विकार है। अर्थात् एक इन्द्रिय के विषयग्रहण से दूसरे इन्द्रियों का सक्रिय होना इन्द्रियान्तर विकार कहलाता है। चक्षु का जिह्वा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ये दोनों इन्द्रियां भिन्न-भिन्न है। ऐसे में दोनो इन्द्रियो के बीच ताल-मेल बिठाने वाला कोई चेतन तत्त्व अवश्य ही है जो इन सभी इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान अपने पास रखता है। उसी पूर्वानुभूत ज्ञान के आधार पर स्मृति करता है तथा उसी से इन्द्रियान्तर

विकार होता है। इस प्रकार इन्द्रियान्तर विकार से भी चेतनतत्व की सिद्धि होती है।

सुख-दु:ख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न- सुखादि गुण है, और गुण द्रव्याश्रित होते है। बिना द्रव्य के गुण नहीं हो सकते है। पृथिव्यादि आठों द्रव्यों में से सुखादिगुण किसी भी द्रव्य में नहीं देखे जाते है। पूर्व में 'ज्ञान' को आत्मा का गुण सिद्ध कर दिया गया है। जहाँ-जहाँ सुखादि होते हैं, वहाँ-वहाँ ज्ञान भी देखा जाता है। इसलिए ये सभी एकार्थसमवेत होते है। अर्थात् जो सुखादि का अधिकरण होगा वही ज्ञान का भी अधिकरण होगा। ज्ञान का अधिकरण आत्मा गत प्रसंगों से सिद्ध हो चुका है। अतएव सुखादि का अधिकरण भी आत्मा ही सिद्ध होता है।

इस प्रकार सुख-दु:खादि के आधार पर भी आत्मा की सिद्धि होती है। एतावता उपरोक्त बारह साधक क्रियाओं से आत्मा का अस्तित्व देहादि से भिन्न वैशेषिक दर्शन के अनुसार सिद्ध होता है।

स्मरणीय बिंदु :-

1. **इच्छा (Desire):** सुख की प्राप्ति की इच्छा। यह इच्छा उसी को होती है जिसने पहले सुख का अनुभव किया हो। चूँकि अनुभव करने वाला और इच्छा करने वाला एक ही हो सकता है, अत: यह शनित्य आत्माश का प्रमाण है।
2. **द्वेष (Aversion):** दुख और दुख के कारणों से बचने की प्रवृत्ति। यह भी पूर्वानुभव के आधार पर ही होती है।
3. **प्रयत्न (Effort):** किसी कार्य को करने की चेष्टा। यह चेतना के बिना संभव नहीं है, अत: यह सिद्ध करता है कि शरीर के भीतर कोई चेतन तत्त्व है।
4. **सुख और दुख:** ये मानसिक अनुभव हैं। शरीर जड़ है, उसमें सुख-दुख का अनुभव नहीं हो सकता। अत: इनका ज्ञाता श्आत्माश ही है।
5. **ज्ञान (Cognition):** चेतना या ज्ञान का होना आत्मा का सबसे बड़ा प्रमाण है। भौतिक शरीर (जैसे हाथ-पैर) स्वयं नहीं जान सकते, उन्हें जानने वाला आत्मा है।
6. **प्राण (Life/breath):** श्वास-प्रश्वास की क्रिया शरीर में जीवन की उपस्थिति बताती है, जो आत्मा का संकेत है।

मुख्य शब्दावली:-

1. **देहादि (Body and others):** यहाँ 'आदि' से तात्पर्य इंद्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार से है।
2. **साधक लिंग:** वे तर्क या चिह्न जिनके द्वारा किसी अप्रत्यक्ष सत्य (आत्मा) को सिद्ध किया जाता है।
3. **अधिष्ठान:** वह आधार या आश्रय जिस पर गुणों का समूह टिकता है (यहाँ आत्मा)।
4. **चेतन:** जिसमें ज्ञान, इच्छा और द्वेष जैसे गुण हों।
5. **जड़:** भौतिक पदार्थ (जैसे शरीर) जिनमें चेतना का अभाव है।
6. **अनुभव-स्मृति:** आत्मा की सिद्धि का एक प्रमुख तर्क यह है कि जो व्यक्ति देखता है (अनुभव), वही बाद में उसे याद करता है (स्मृति)। यह निरंतरता श्एक नित्य आत्माश के बिना संभव नहीं है।

5 अंक के प्रश्न : -

1. न्याय दर्शन में 'साधक लिंग' से क्या तात्पर्य है?
2. 'इच्छा' (Desire) किस प्रकार देहादि से भिन्न आत्मा को सिद्ध करती है?
3. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा के मुख्य छह लिंग कौन-से हैं?
4. 'स्मृति' **(Memory)** के आधार पर आत्मा को शरीर से भिन्न कैसे सिद्ध किया जा सकता है?
5. क्यों कहा जाता है कि 'शरीर' आत्मा का अधिष्ठान नहीं, बल्कि केवल साधन है?
6. आत्मा को 'अतीन्द्रिय' होते हुए भी कैसे सिद्ध किया जाता है?

15 अंक के प्रश्न : -

1. 'इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख और ज्ञान ही आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले प्रमुख आधार हैं।' इस कथन की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।
2. देहादि (शरीर, इंद्रिय, मन) से भिन्न आत्मा की सिद्धि में 'स्मृति' और 'अनुभव' की एकता के तर्क को समझाइए।
3. भारतीय दर्शन के आलोक में 'जड़' (शरीर) और 'चेतन' (आत्मा) के भेद को स्पष्ट करते हुए आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध कीजिए।
4. न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा के साधक लिंगों का विस्तृत वर्णन करते हुए यह स्पष्ट कीजिए कि शरीर स्वयं चेतना का उत्पादक क्यों नहीं हो सकता?
5. आत्मा की नित्यता और पुनर्जन्म के सिद्धांत को सिद्ध करने के लिए श्साधक लिंगश किस प्रकार सहायक हैं? आलोचनात्मक

विश्लेषण कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न :-

प्रश्न १. न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा की सिद्धि के लिए कितने श्साधक लिंगोंश (चिह्नों) का उल्लेख किया गया है?

(क) चार **(ख) छह** (ग) आठ (घ) दस

उत्तर: ठ) छह (इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख और ज्ञान)

प्रश्न २. 'इच्छा' (Desire) आत्मा की सिद्धि कैसे करती है?

(क) यह शरीर का एक भौतिक गुण है

(ख) यह बिना पूर्वानुभव के उत्पन्न होती है

(ग) यह सिद्ध करती है कि अनुभव करने वाला और इच्छा करने वाला एक ही 'नित्य ज्ञाता' है

(घ) यह केवल मन की एक रासायनिक प्रतिक्रिया है

प्रश्न ३. शरीर को आत्मा से भिन्न सिद्ध करने के लिए 'स्मृति' (Memory) का क्या तर्क है?

(क) शरीर तो हर क्षण बदलता है, लेकिन ज्ञाता वही रहता है जो कल के अनुभव को आज याद करता है

(ख) स्मृति शरीर के अंगों में संचित होती है

(ग) स्मृति का आत्मा से कोई संबंध नहीं है

(घ) स्मृति केवल एक भ्रम है

प्रश्न ४. 'साधक लिंग' का दार्शनिक अर्थ क्या है?

(क) आत्मा का शरीर के साथ संबंध

(ख) वे तार्किक चिह्न या लक्षण जिनके आधार पर अतीन्द्रिय आत्मा का अनुमान किया जाता है

(ग) आत्मा का भौतिक स्वरूप

(घ) इंद्रियों की कार्यप्रणाली

प्रश्न ५. शरीर 'जड़' है, यह कैसे सिद्ध होता है?

(क) क्योंकि यह सांस लेता है

(ख) क्योंकि यह स्वयं ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता, बल्कि आत्मा के आश्रय से ही चेतन प्रतीत होता है

(ग) क्योंकि यह नश्वर है

(घ) ख और ग दोनों

प्रश्न ६. 'प्रयत्न' (Effort) को आत्मा का लिंग क्यों माना गया है?

(क) यह बिना किसी चेतन प्रेरक के संभव नहीं है

(ख) यह शरीर की मांसपेशियों की क्रिया मात्र है

(ग) यह केवल बाहरी वातावरण पर निर्भर है

(घ) इनमें से कोई नहीं

इकाई- 3.3 आत्मा के गुणों का वर्णन

उद्देश्य :-

1. **आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करना:** यह सिद्ध करना कि आत्मा केवल एक निराकार विचार नहीं, बल्कि एक सत्ता है जिसके विशिष्ट गुण (लिंग) होते हैं।
2. **आत्मा को अन्य द्रव्यों से पृथक करना:** गुण ही वे पहचान हैं जो आत्मा को शरीर, मन और अन्य भौतिक द्रव्यों से अलग सिद्ध करते हैं।
3. **ज्ञान और अनुभव की व्याख्या:** यह समझना कि मनुष्य के भीतर होने वाले सुख, दुख, ज्ञान और इच्छा जैसे अनुभव कहाँ से आते हैं।

आत्मा के समग्र गुणों का वर्णन करते हुये भाष्यकार लिखते है-

तस्य गुणाः

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः। (प्रश.भा.)

अर्थात् बुद्धि (ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग-ये चौदह गुण आत्मा के होते हैं। संस्कार का तात्पर्य स्मृति का हेतुभूल भावना नामक संस्कार से है। आत्मा में नानात्व संख्या तथा परममहत्परिमाण होता है।

आत्मा के द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं नानात्व की सिद्धि

वैशेषिककार आत्मा के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व की सिद्धि में अपने उन्हीं प्रसिद्ध हेतुओं का स्मरण कराते हुये कहते हैं-

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते। (3.2.5)

उस आत्मा के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व को वायु के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व के व्याख्यान से समझ लेना चाहिए।

जिस प्रकार से वायु के परमाणु का अन्य कोई द्रव्य समवायिकारण न होने से तथा क्रिया एवं गुण का आश्रय होने से द्रव्यत्व एवं नित्यत्व सिद्ध होता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा के कोई अन्य द्रव्य समवायिकारण वाला न होने से तथा ज्ञानादि गुणों का आश्रय होने से द्रव्यत्व एवं नित्यत्व की सिद्धि होती है।

आत्मा के नानात्व के प्रतिपादन में वैशेषिककार दो हेतु देते हैं। जिनमें से प्रथम इस प्रकार है-

व्यावस्थातो नाना। (3.2.20)

अर्थात् जन्मादि की व्यवस्था से आत्मा के नानात्व की सिद्धि होती है।

एक ही समय में किसी का जन्म हो रहा है, उसी समय किसी की मृत्यु हो रही है। एक ही समय में कोई सुखी है तो कोई दुःखी। कोई धर्माचरण में रत है तो कोई अधर्माचरण में। आत्मा अखण्ड रूप से एक ही होती तो एक के जन्म लेने से सबका जन्म होता, एक की मृत्यु हो जाने से सबकी मृत्यु होती, एक के सुखी होने पर सब सुखी तथा एक के दुःखी होने पर सब दुःखी हो जाते। इसी प्रकार एक के अधर्म में लिप्त होने से सभी अधर्म में लिप्त हो जाते। परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे पता चलता है कि प्रत्येक शरीर में उपरोक्त व्यवस्थाओं का नियामक भिन्न-भिन्न आत्मा है। अन्यथा कर्मसांकर्य, ज्ञानसांकर्य इत्यादि दोषों की आपत्ति का प्रसङ्ग आयेगा। आत्मा नानात्व में दूसरे हेतु का प्रतिपादन करते हुये वैशेषिककार कहते है-

शास्त्रसामर्थ्याच्च। (3.2.21)

अर्थात् शास्त्र के सामर्थ्य से (प्रमाण से) भी आत्मा के नानात्व की सिद्धि होती है। प्रस्तुत सूत्र में शास्त्र का तात्पर्य 'वेद' से है। जैसा की वेदों में कहा है-

इमे जीवा वि मृतैः। (½.10.18.3)
वयं जीवा जीवपुत्राः। (½-10-36-9)
श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः। (यजु-11.5)
ये समानाः समनसो जीवाः। (यजु.19.46)

इत्यादि मन्त्रों मैं 'जीवाः' बहुवचनान्त पद जीवों के बहुत्व को सिद्ध करता है।

स्मरणीय बिंदु-

- विशेष गुण (आत्मा के लिंग): ये वे गुण हैं जिनसे आत्मा का अनुमान किया जाता है। इनकी संख्या मुख्य रूप से छह है:

1. ज्ञान (बुद्धि): वस्तुओं का बोध।
2. इच्छा (काम): अनुकूल वस्तु को प्राप्त करने की कामना।
3. द्वेष (घृणा): प्रतिकूल वस्तु से बचने की भावना।
4. सुख: अनुकूलता का अनुभव।
5. दुख: प्रतिकूलता का अनुभव।
6. प्रयत्न (कृति): किसी कार्य को करने की चेष्टा।

- सामान्य गुण: इनके अतिरिक्त आत्मा में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग जैसे सामान्य गुण भी होते हैं (जो अन्य द्रव्यों में भी पाए जा सकते हैं)।
- विशेषता: ये विशेष गुण (ज्ञान-सुख-दुख आदि) आत्मा में ही 'समवाय संबंध' से रहते हैं, शरीर या मन में नहीं।

मुख्य शब्दावली-

- समवाय संबंध: वह नित्य और अभिन्न संबंध जो किसी गुण को उसके द्रव्य से जोड़ता है।
- गुण: वह जो द्रव्य में रहता है और स्वतंत्र सत्ता नहीं रखता।
- अतीन्द्रिय: जिसे केवल अनुमान (तर्क) से जाना जाए, प्रत्यक्ष इंद्रियों से नहीं।
- चेतनता: ज्ञान और अनुभव करने की शक्ति, जो आत्मा का सबसे प्रधान गुण है।
- लिंग: वह लक्षण या चिह्न जो किसी अदृश्य वस्तु (आत्मा) की उपस्थिति का बोध कराए।
- भोक्ता: वह जो सुख-दुख का अनुभव करता है।

5 अंक के प्रश्न-

1. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा के मुख्य छह विशेष गुण कौन-से हैं?
2. आत्मा के गुणों को 'आत्मलिंग' क्यों कहा जाता है?
3. 'सुख' और 'दुख' को आत्मा का गुण क्यों माना गया है?
4. श्ज्ञानश (बुद्धि) को आत्मा का प्रधान गुण क्यों माना जाता है?
5. क्या श्प्रयत्नश (कृति) के बिना आत्मा के अस्तित्व की कल्पना संभव है? स्पष्ट कीजिए।
6. आत्मा के श्सामान्य गुणश और 'विशेष गुण' में क्या अंतर है?

15 अंक के प्रश्न-

1. न्याय दर्शन के आधार पर आत्मा के विशेष गुणों (इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख और ज्ञान) का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. 'आत्मा गुणों का आधार (द्रव्य) है।' इस कथन की व्याख्या करते हुए आत्मा के विशेष गुणों की सार्थकता स्पष्ट कीजिए।
3. आत्मा के गुणों का आत्मा के साथ श्समवाय संबंधश क्यों माना जाता है? तार्किक विवेचन कीजिए।
4. आत्मा के इन गुणों के आधार पर यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है कि आत्मा शरीर और मन से भिन्न एक चेतन सत्ता है?
5. आत्मा की नित्यता और उसके गुणों के बीच क्या संबंध है? क्या आत्मा के गुणों के बिना आत्मा की सत्ता संभव है? विस्तारपूर्वक समझाइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न १. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा के कितने विशेष गुण माने गए हैं जिनसे उसका अनुमान होता है?

(क) चार

(ख) छह

(ग) आठ

(घ) दस

प्रश्न २. निम्नलिखित में से कौन-सा आत्मा का विशेष गुण नहीं है?

(क) ज्ञान

(ख) इच्छा

(ग) प्रयत्न

(घ) रूप

प्रश्न ३. आत्मा के गुणों का आत्मा के साथ किस प्रकार का संबंध होता है?

(क) संयोग संबंध

(ख) विभाग संबंध

(ग) समवाय संबंध

(घ) इनमें से कोई नहीं

प्रश्न ४. 'प्रयत्न' आत्मा का कौन-सा गुण माना जाता है?

(क) साधारण गुण

(ख) विशेष गुण (आत्मलिंग)

(ग) भौतिक गुण

(घ) क्षणिक गुण

उत्तर: विशेष गुण (आत्मलिंग)

प्रश्न ५. 'ज्ञान' (बुद्धि) को आत्मा का प्रधान गुण क्यों माना गया है?

(क) क्योंकि यह शरीर में उत्पन्न होता है

(ख) क्योंकि यह आत्मा की चेतनता को सिद्ध करने वाला प्रमुख आधार है

(ग) क्योंकि यह इंद्रियों का गुण है

(घ) क्योंकि यह परिवर्तनशील है

प्रश्न ६. 'सुख' और 'दुख' का अनुभव आत्मा में किस कारण से होता है?

(क) क्योंकि आत्मा इनका 'भोक्ता' (अधिष्ठान) है

(ख) क्योंकि ये मन के गुण हैं

(ग) क्योंकि ये बाहरी वातावरण के विकार हैं

(घ) क्योंकि ये शरीर की रासायनिक क्रियाएं हैं।

खण्ड-4

इकाई- 4.1 पृथिव्यादि चारों भूतों के कार्य

उद्देश्य :-

1. **जगत की भौतिक उत्पत्ति की व्याख्याः** यह स्पष्ट करना कि ब्रह्मांड की समस्त स्थूल वस्तुएं (कार्य) किस प्रकार सूक्ष्म परमाणुओं (कारण) से निर्मित होती हैं।
2. **इंद्रिय-विषय संबंधों को समझनाः** यह सिद्ध करना कि हमारी इंद्रियाँ (घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक) विशेष भूतों से ही क्यों बनी हैं और वे उन्हीं के विषयों (गंध, रस, रूप, स्पर्श) को क्यों ग्रहण करती हैं।
3. **जीव के अनुभव का आधारः** शरीर (भोगायतन) के निर्माण हेतु इन भूतों की भूमिका को रेखांकित करना।

पूर्व के अध्यायों में पृथिवी आदि नौ द्रव्यों का उद्देश, लक्षण, परीक्षा एवं तत्सम्बन्धी अन्य अपेक्षित विवेचन प्रस्तुत किया गया। इस अध्याय में पृथिवी, जल, तेज एवं वायु नामक चारों भूतों के मूलकारणपरमाणु एवं उनके कार्यों पर विचार किया गया है।

पृथिव्यादि चारों भूतों के परमाणुओं के वर्णन के पश्चात अब उनके कार्यों का निरूपण प्रारम्भ होता है। सृष्टि के आदि में चारों भूतों के परमाणु इस अनन्त आकाश में बिखरे रहते हैं। तब किसी कार्यद्रव्य की उत्पत्ति नहीं थी। पृथिवी, चन्द्र, तारे इत्यादि कुछ भी नहीं था। इसी अवस्था को प्रलयावस्था कहते हैं। तब जीवों के अदृष्ट को जानकर उनके भोगापवर्गों की सिद्धि के निमित्त से परमात्मा के संकल्पपूर्वक सृष्टि का आरम्भ होता है। परमात्मा एवं परमाणुओं के संयोग से परमाणुओं में हलचल होता है, उस हलचल से एक परमाणु-दूसरे परमाणु के साथ परस्पर संयोग करने लगते हैं। दो परमाणुओं के मिलने से जिस प्रथम कार्यद्रव्य की उत्पत्ति होती है उसे 'द्व्यणुक' कहते हैं। इसी प्रकार तीन परमाणुओं के मिलने से 'त्र्यणुक' चार से 'चतुरणुक' इस तरह द्व्यणुकादि प्रक्रम से जगत् की उत्पत्ति वैशेषिकशास्त्र में स्वीकार की जाती है।

उन चारों भूतों के द्व्यणुकादि क्रम से मिलने से किन-किन कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति होती है, उसका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

तत्पुनः पृथिव्यादि कार्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्। (4.2.1)

पुनः वह पृथिवी, जल, तेज व वायु रूप कार्यद्रव्य शरीर, इन्द्रिय और विषय नामक तीन प्रकार के होते हैं। पृथिव्यादि चारों द्रव्यों के कार्य तीन प्रकार के होते हैं (क) शरीररूप (ख) इन्द्रियरूप (ग) विषयरूप ।

तात्पर्य यह है कि पृथिवी परमाणु से उत्पन्न पार्थिव शरीर, पार्थिव इन्द्रिय एवं पार्थिव विषय। जल के परमाणु से उत्पन्न जलीय शरीर, जलीय इन्द्रिय तथा जलीय विषय। तेज के परमाणु से उत्पन्न तैजस शरीर, तैजस इन्द्रिय एवं तैजस विषय। ठीक इसीकारण वायु के परमाणु से उत्पन्न वायव्य शरीर, वायव्य इन्द्रिय एवं वायव्यविषय। आकाश के परमाणु नहीं होते इसलिए उससे कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। उपरोक्त तीनों प्रकार के कार्यों का भेद सहित वर्णन निम्न प्रकार है-

(1) पृथिवी के कार्य- पार्थिव कार्यों का भेद सहित वर्णन करते हुये भाष्यकार लिखते हैं- **'त्रिविधं चास्याः कार्यम् शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्'** अर्थात् पृथिवी के तीन कार्य है (क) शरीर नामक (ख) इन्द्रियनामक एवं (ग) विषय नामक। अब तीनों का क्रमशः उल्लेख करते हुये लिखते हैं-

(क) शरीर- शरीरंद्विविधम्-योनिजमयोनिजं च। तत्रायोनिजमनपेक्ष्य शुक्रशोणितं देवर्षीणां धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते। अर्थात् पार्थिव शरीर भी योनिज व अयोनिज के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें से अयोनिज पार्थिव शरीर माता-पिता के रज-वीर्य से निरपेक्ष देवताओं एवं ऋषियों का होता है, जो धर्म विशेष से युक्त परमाणुओं से उत्पन्न होता है। इस प्रकार के शरीर की उत्पत्ति में माता-पिता की अपेक्षा नहीं होती है। सृष्टि के आदि में देवर्षियों का शरीर परमात्मा के संकल्प से धर्मविशेष से युक्त सीधे परमाणुओं से उनके विग्रह का निर्माण हो जाता है।

दूसरे प्रकार के अयोनिज पार्थिव शरीर का वर्णन करते हुये भाष्यकार लिखते हैं- **क्षुद्रजन्तूनां यातनाशरीराण्यधर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायन्ते।** कीड़े-मकोड़े इत्यादि तुच्छ प्राणियों के दुःखमय शरीरों की उत्पत्ति भी बिना माता-पिता के अधर्मविशेष से युक्त परमाणुओं से हो जाती है।

पानी के सड़ने, फलों के सड़ने एवं अन्यत्र भी पदार्थों के सड़ने पर वहाँ कृमियों की उत्पत्ति देखी जाती है। ऐसा नहीं है कि वहाँ पर उन कृमियों के माता-पिता पहले से विद्यमान हो। अविद्यमान माता-पिता से भी ऐसे स्थलों में कीड़ों-मकोड़ों की उत्पत्ति देखी जाती है। एक बार कतिपय कृमियों के माता-पिता की निरपेक्ष उत्पत्ति हो जाने के पश्चात भले ही उन कृमियों के

साजात्यप्रजनन से उनके संतान की वृद्धि हो, फिर भी कुछ जोड़ों की उत्पत्ति तो स्वतः प्रकृति के द्वारा बिना माता-पिता के ही हो जाती है। इनकी उत्पत्ति में अधर्मकारण है। इसी कारण इनहे दुःख भोगना पड़ता है।

अयोनिज शरीर के वर्णन के पश्चात योनिज शरीर का उल्लेख करते हैं - **शुक्रशोणितसन्निपातजं योनिजम्।** अर्थात् पिता-माता के वीर्य-रज के संयोग से उत्पन्न शरीर को योनिज कहते हैं। **तद्विविधंजरायुजमण्डजं च। मानुषपशुमृगाणां जरायुजम्। पक्षिसरीसृपाणामण्डजम्।** योनिज शरीर दो प्रकार का होता है- जरायुज व अण्डज । मनुष्य, पशु (ग्राम्यपशु), अरण्यपशुओं का शरीर जरायुज होता है। जेर (पतली पारदर्शी झिल्ली) से लिपटा हुआ जो गर्भस्थ शिशु बाहर निकलता है उसका शरीर जरायुज कहलाता है। पक्षी तथा रेंगने वाले सर्पादिकों का शरीर अण्डे से उत्पन्न होने के कारण 'अण्डज' कहे जाते हैं।

(ख) इन्द्रिय -अब पार्थिव इन्द्रिय का वर्णन करते हुये भाष्यकार लिखते हैं- **इन्द्रियं गन्धव्यञ्जकं सर्वप्राणिनां जलाद्यनभिभूतैः पार्थिवावयवैरारब्धं घ्राणम्**। सभी प्राणियों के 'गन्ध' को प्रकट करने वाला जलादि अन्य भूतों से अनभिभूत पार्थिवपरमाणुओं से उत्पन्न 'घ्राण' नामक इन्द्रिय है। समस्त प्राणियों के गन्ध को ग्रहण करने वाली 'घ्राण' इन्द्रिय पार्थिव है, अर्थात् पृथिवी का विकार है।

(ग) विषय- पृथिवी का तीसरा कार्य 'विषय' का वर्णन करते हुये भाष्यकार कहते हैं- विषयस्तु **द्व्यणुकादिक्रमेणारब्धस्त्रिविधो-मृत्पाषाणस्थावरलक्षणः । तत्र भू**प्रदेशाः- प्राकारेष्टकादयो मृत्प्रकाराः। **पाषाणा-उपलमणिवज्रादयः। स्थावरास्तृणौषधिवृक्षलतावतानवनस्पतय इति।**

द्व्यणुकादि क्रम से उत्पन्न हुआ विषय के तीन भेद होते हैं। जो निम्न प्रकार हैं-

(क) मृत्तिका - भूप्रदेश, दीवार, ईंट इत्यादि

(ख) पाषाण - समान्य पत्थर, मणि, हीरा इत्यादि।

(ग) स्थावर - तृण, औषधि, लता, अवतान (केवड़े, मटर इत्यादि), वनस्पति इत्यादि सभी पार्थिव हैं, अर्थात् पृथिवी के कार्य हैं।

(2) जल के कार्य-पृथिवी के त्रिविध कार्यों के वर्णन के अनन्तर जल के त्रिविध कार्यों का वर्णन भाष्यकार इस प्रकार कर रहे हैं- **तासां तु कार्यं त्रिविधशरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् ।** अर्थात् जल के परमाणुओं के भी तीन कार्य होते हैं- (क) शरीर नामक (ख) इन्द्रियनामक, (ग) विषयनामक ।

(क) शरीर- आगे शरीररूपी कार्य का वर्णन करते हुये कहते हैं- **तत्र शरीरमयोनिजमेव वरूणलोके पार्थिवावयवोपष्टम्भाच्चोपभोगसमर्थम् ।** जलीय शरीर केवल अयोनिज ही होता है, वरूणलोक में पार्थिवादि से संसृष्ट किञ्चित् स्थूलता को लिए भोग करने में समर्थ यह शरीर होता है। जलीय शरीर में किञ्चित् पार्थिवांश होने से ही आकृति आती है। अन्यथा विशुद्ध जल से बना शरीर बह जाने से भोग में समर्थ नहीं होगा। इस प्रकार का शरीर वरूणलोक नामक लोकान्तर में होता है, जो कि अयोनिज ही होता है, योनिज नहीं।

(ख) इन्द्रिय-इन्द्रिय नामक जल के कार्य का वर्णन के क्रम में आचार्यप्रशस्तपाद लिखते हैं- **इन्द्रियं सर्वप्राणिनां रसव्यञ्जकं विजात्यनभिभूतैर्जलावयवैरारब्धं रसनम्।** अर्थात् विजातीय पार्थिवादि से अनभिभूत जलों के परमाणुओं से उत्पन्न सभी प्राणियों के रस को व्यक्त करने वाली रसना इन्द्रिय है। सभी प्राणियों की रसनेन्द्रिय जलीय हैं।

(ग) विषय- जलीय विषयों का निरूपण करते हुय आचार्य लिखते हैं- **विषयस्तु सरित्समुद्रहिमकरकादिः।** अर्थात् जलीय विषय के रूप में नदी, समुद्र, बर्फ, ओला इत्यादि है।

(3) तेज के कार्य- पृथिवी एवं जल की भांति तेज के परमाणुओं से भी त्रिविध कार्य की उत्पत्ति होती है। जैसा कि भाष्यकार लिखते हैं- **कार्यं च शरीरादित्रयम्।** अर्थात् तेज के भी तीन कार्य शरीरादि भेद से होते हैं- (क) शरीर (ख) इन्द्रिय (ग) विषय । इनमें क्रमशः एक-एक का वर्णन निम्न प्रकार से है-

(क) शरीर-तैजस शरीर केवल अयोनिज ही होता है, जो कि पार्थिवांशों के सहयोग से भोग कराने में समर्थ होता है। यह आदित्य लोक में पाया जाता है। अन्यथा विशुद्ध तैजसशरीर तुरन्त ही विलीन हो जायेगा, जैसे अग्नि हो जाती है। इसलिए इस प्रकार के शरीर में किञ्चित् पार्थिव परमाणुओं का सहयोग अपेक्षित है। जैसा कि भाष्यकार कहते हैं-**शरीरमयोनिजमेवादित्यलोके पार्थिवावयवोपष्टम्भाच्चोपभोगसमर्थम् ।** (प्रश. भा.)।

(ख) इन्द्रिय-तैजस इन्द्रिय का वर्णन करते हुये भाष्यकार लिखते हैं-**इन्द्रियं सर्वप्राणिनां रूपव्यञ्जकमन्यावयवान-भिभूतैस्तेजोवयवैरारब्धं चक्षुः।** अर्थात् पार्थिवादि अन्य अवयवों से अनभिभूत तेज के परमाणुओं से उत्पन्न सभी प्राणियों में रूप को प्रकट करने वाली 'चक्षु' इन्द्रिय है। सभी प्राणियों की चक्षु इन्द्रिय तैजस है।

(ग) **विषय**-तैजस विषयों के चार भेद का वर्णन करते हुये आचार्य लिखते हैं-

विषयसंज्ञकं चतुर्विधम् भौमं दिव्यमुदर्यमाकरजञ्च। तत्र भौमं काष्ठेन्धनप्रभवमूर्ध्व. ज्वलनस्वभावं पचनदहन स्वेदनादिसमर्थम्। दिव्यमबिन्धनं सौरविद्युदादि। भुक्तस्याहारस्य रसादिपरिणामार्थमुदर्यम्। आकरजं च सुवर्णादि।

अर्थात् तैजस विषय के चार भेद होते हैं- (क) भौम (ख) दिव्य (ग) उदर्य (घ) आकरज

(क) **भौम**-पृथिवी से उत्पन्न तेज को 'भौम' कहते हैं। लकड़ी आदि इन्धन से उत्पन्न हुआ, ऊर्ध्वज्वलन स्वभाव वाला, पकाना, जलाना, स्वेदन (भाप) इत्यादि कार्य करने में समर्थ भौम तेज होता है।

(ख) **दिव्य**-आकाश में उत्पन्न होने से इसे 'दिव्य' तेज कहते हैं। जल रूप ईन्धन से उत्पन्न होने वाला सूर्यकिरण, विद्युत (बिजली) इत्यादि 'दिव्य' तेज के उदाहरण है।

(ग) **उदर्य**- उदर-पेट में रहने वाली अग्नि को 'उदर्य' कहते हैं। खाएं हुये अन्नादि आहार को रसादि में परिवर्तित करने वाली अग्नि का नाम 'उदर्य' है।

(घ) **आकरज**- 'आकर' खान को कहते हैं। खान से उत्पन्न तैजस पदार्थों को 'आकरज' नामक तेज कहते हैं। जैसे सुवर्णादि।

(4) **वायु के कार्य**-वायु के परमाणुओं से उत्पन्न कार्य के चार भेद होते हैं - (क) शरीर, (ख) इन्द्रिय, (ग) विषय, (घ) प्राण। जैसा कि भाष्यकार ने उल्लेख किया है- **तत्र कार्यलक्षणश्चतुर्विधः - शरीरमिन्द्रियं विषयः प्राण इति।** इन चारों में से क्रमशः एक-एक का उल्लेख निम्न प्रकार है-

(क) **शरीर**-वायव्य शरीर का उल्लेख करते हुये भाष्यकार लिखते हैं-**तत्रायोनिजमेव शरीरं मरूतां लोके पार्थिवावयवोपष्टम् भाच्चोपभोगसमर्थम् ।** (प्रश-भा.) अर्थात् वायव्यशरीर, मरुत्लोक में होता है, यह केवल अयोनिज ही होता है। पार्थिव अवयवों के सहयोग से इस प्रकार का शरीर उपभोग कराने में समर्थ होता है। वायु में भी अग्नि व जल की भांति निश्चित आकृति नहीं होती है। अतः विशुद्ध वायु से बना शरीर का आकृति सुनिश्चित न होने से भोग सम्पादित नहीं होगा। इसलिए वायव्य शरीर में किञ्चित् पार्थिव अवयवों के सहयोग से स्थूलता आती है, जिससे इस शरीर से भोग सम्भव हो पाता है।

(ख) **इन्द्रिय**- वायव्य इन्द्रियों के वर्णन के क्रम में आचार्य कहते हैं- **इन्द्रियं सर्वप्राणिनां स्पर्शोपलम्भकं पृथिव्याद्यनभिभूतैवा ंयवयवैरारब्धं सर्वशरीरव्यापि त्वगिन्द्रियम् ।** अर्थात् सभी प्राणियों का शीत आदि स्पर्श का ग्रहण करने वाला पृथिव्यादि अवयवों से अस्पृष्ट केवल वायु के परमाणुओं से उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण शरीर में व्यापक 'त्वक्' नामक इन्द्रिय है। प्राणिमात्र के देह में व्याप्त त्वचा नामक इन्द्रिय वायव्य है। यहाँ त्वचा का तात्पर्य चमड़ी से से नहीं है अपितु रोमकूपों में विद्यमान स्पर्श के व्यञ्जक सूक्ष्म ग्रन्थियों से है। जो पूरे शरीर में व्याप्त होकर स्पर्श का अनुभव कराती है। चमड़ी तो पार्थिव ही है।

(ग) **विषय**-विषयरूप वायु द्रव्य तो प्रत्यक्ष अनुभव होने वाले शीतादिस्पर्श का आधारभूत है, जिसका स्पर्श, शब्द, धारण तथा कम्पन अनुमापक लिङ है। तिरछा बहना जिसका स्वभाव है, मेघ-रूई इत्यादि हल्के पदार्थों को धारण करने में जो समर्थ है। उसी को भाष्यकार ने इस प्रकार कहा है **विषयस्तूपलभ्यमानस्पर्शाधिष्ठानभूतः स्पर्शशब्दधृतिकम्पलिङ्गस्तिर्यग्गमन स्वभावो मेघादिप्रेरण धारणादिसमर्थः। (प्रश.भा.)**

(घ) **प्राण**-वायु का चौथा कार्य प्राण का वर्णन करते हुये आचार्य पुनः लिखते है प्राणोऽन्तःशरीरे **रसमलधातूनां प्रेरणादिह. ेतुरेकः सन् क्रियाभेदादपानादिसंज्ञां लभते।** (प्रश.भा.) अर्थात् शरीर के भीतर अन्न, रस, मल तथा धातुओं के प्रेरणादि, धारण विकार इत्यादि क्रिया का कारण प्राण एक होने पर भी निष्क्रमणादि कार्यभेद से अपान, व्यान, समान, उदान और प्राण इस पञ्चविध संज्ञा को प्राप्त होता है।

वस्तुतः एक ही वायु समष्टिगत होने से वायु एवं व्यष्टिगत (शरीरगत) होने से प्राण कहा जाता है। उसी प्राणवायु का क्रियाभेद से अपानादि पांच संज्ञाएं होती हैं।

इस प्रकार चारों भूतों के कार्यो का वर्णन पूरा होता है। पञ्चभूत आकाश परमाणुरहित होने से अविकृत होता है, उसमें परिण ाम की सम्भावना न होने से उसके कार्यो का वर्णन नहीं किया गया है।

स्मरणीय बिंदु :

क. भूतों का वर्गीकरण और उनके विशेष गुणः प्रत्येक भूत का एक शविशेष गुणश होता है जो उसकी पहचान है:

1. **पृथिवीः गंध (सूंघना)**-इसका कार्य शरीर, घ्राणेंद्रिय और बाह्य पदार्थ (मिट्टी, पत्थर आदि) है।
2. **जलः रस (स्वाद)** - इसका कार्य शरीर, रसनेद्रिय और नदियाँ, समुद्र आदि है।

3. **तेजः रूप (प्रकाश/रंग)** - इसका कार्य शरीर, चक्षुरिंद्रिय और अग्नि, प्रकाश, सुवर्ण आदि है।
4. **वायुः स्पर्श (महसूस करना)** - इसका कार्य शरीर, त्वगिंद्रिय और समीर (हवा) है।

ख. कार्य-कारण संबंधः

1. **परमाणु (कारण):** ये नित्य और अविभाज्य हैं।
2. **स्थूल वस्तुएं (कार्य):** ये परमाणुओं के संयोग से बनती हैं और अनित्य (विनाशी) होती हैं।

ग. शरीर (भोगायतन) और इंद्रियः

1. इन चारों भूतों से ही श्शरीरश का निर्माण होता है, ताकि आत्मा सुख-दुख का भोग कर सके।
2. इंद्रियाँ भी इन्हीं भूतों के अंशों से बनी होती हैं (जैसे चक्षु श्तेजश तत्व से बनी है, इसीलिए वह श्रूपश को देख पाती है)।

घ. व्यापकताः

1. ये चार भूत श्मूर्तश (सीमित/सावयव) माने गए हैं, जबकि 'आकाश' को 'विभु' (सर्वव्यापी) माना जाता है।

शब्दावली :-

1. **महाभूतः** सृष्टि के पांच आधारभूत तत्व (पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश)।
2. **विशेष गुणः** वह गुण जो किसी तत्व के अपने स्वरूप को परिभाषित करे (जैसे गंध)।
3. **परमाणुः** भूत का वह अंतिम और सूक्ष्म रूप जिसे और विभाजित नहीं किया जा सकता (अविभाज्य)।
4. **सावयवः** वह वस्तु जो अवयवों (अंशों) से मिलकर बनी हो (जैसे घड़ा, जो मिट्टी के कणों से बना है)।
5. **इंद्रियः** ज्ञान प्राप्त करने का उपकरण, जो विशिष्ट भूतों से निर्मित होता है।
6. **भोगायतनः** वह स्थान या शरीर, जो आत्मा के भोग का माध्यम बने।

5 अंक के प्रश्न :-

1. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'महाभूत' किसे कहते हैं?
2. पृथिवी, जल, तेज और वायु के 'विशेष गुण' कौन-से हैं?
3. 'परमाणु' और 'कार्य' (स्थूल वस्तु) में क्या अंतर है?
4. शरीर को 'भोगायतन' क्यों कहा जाता है?
5. इंद्रियों और भूतों का क्या संबंध है? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
6. न्याय दर्शन में 'मूर्त' और 'विभु' द्रव्य में क्या अंतर है?

15 अंक के प्रश्न :-

1. न्याय-वैशेषिक दर्शन में पृथिव्यादि चार भूतों के स्वरूप और उनके कार्यों का सविस्तार वर्णन कीजिए।
2. 'इंद्रिय-विषय संबंध' के सिद्धांत के आधार पर यह सिद्ध कीजिए कि विशिष्ट इंद्रियाँ विशिष्ट भूतों से ही क्यों निर्मित होती हैं?
3. 'संसार की समस्त भौतिक वस्तुएँ परमाणुओं का परिणाम हैं।' इस कथन के आलोक में पृथिव्यादि भूतों की कार्य-कारण प्रक्रिया को समझाइए।
4. महाभूतों के 'विशेष गुणों' का महत्व स्पष्ट करते हुए यह बताइए कि ये किस प्रकार जगत की विविधता का आधार बनते हैं?
5. आत्मा के अनुभव और सुख-दुख के भोग में शरीर और भूतों की भूमिका की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

बहुविकल्पीय :-

प्रश्न १. न्याय-वैशेषिक दर्शन में पृथिवी का श्विशेष गुणश (असाधारण लक्षण) क्या है?
(क) रूप (ख) रस **(ग) गंध** (घ) स्पर्श

प्रश्न २. चक्षुरिंद्रिय (आंख) किस महाभूत से निर्मित मानी गई है?
(क) पृथिवी (ख) जल **(ग) तेज** (घ) वायु

प्रश्न ३. शरीर को न्याय दर्शन में क्या कहा गया है?
(क) भोगायतन (ख) चेतन तत्व (ग) नित्य द्रव्य (घ) केवल परमाणु

उत्तरः ।) भोगायतन (वह स्थान जहाँ आत्मा सुख-दुख का भोग करती है)

प्रश्न ४. श्रसश किस महाभूत का विशेष गुण है?

(क) पृथिवी **(ख) जल** (ग) वायु (घ) तेज

प्रश्न ५. परमाणुओं के संयोग से बनने वाली वस्तुएँ क्या कहलाती हैं?

(क) नित्य **(ख) कार्य** (ग) अकार्य (घ) कारण

प्रश्न ६. 'स्पर्श' गुण किस महाभूत की प्रधान पहचान है?

(क) पृथिवी (ख) जल (ग) तेज **(घ) वायु**

इकाई-4.2 शरीर के पाञ्चभौतिकत्व एवं त्रिभौतिकत्व का निषेध

उद्देश्य :-

1. **पाञ्चभौतिकत्व का निषेधः** यह सिद्ध करना कि शरीर में पांचों तत्वों का समान मिश्रण नहीं होता, बल्कि प्रधानता एक ही तत्व की होती है।
2. **त्रिभौतिकत्व का निषेधः** यह दिखाना कि शरीर में जल, तेज और वायु जैसे अन्य तत्व 'गुणों' या 'सहयोगी' के रूप में तो हो सकते हैं, लेकिन शरीर का श्उपादान कारणश (मूल आधार) केवल पृथिवी है।
3. **वैज्ञानिक/तार्किक स्पष्टताः** यह स्पष्ट करना कि शरीर की गंध, स्थिरता और कठोरता ही उसकी 'पृथिवीमयता' का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अब स्थूलशरीर के मूलकारण का विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रत्येक कार्यद्रव्य अपने नियत उपादानकारण के संयोग से उत्पन्न होता है। शरीर भी एक कार्यद्रव्य है, तो इसका मूल उपादान कारण क्या है? ऐसा प्रश्न उठने पर कतिपय लोगों का कहना है कि शरीर पाञ्चभौतिक है। जैसा कि न्यायसूत्र में भी इस प्रसङ्ग को उठाया गया है-

गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौतिकम्। (न्या. 3.1.30)

गन्ध, क्लेद (आर्द्रता), उष्णता, व्यूह (श्वास, रक्तादि की गति रूप व्यूह), रिक्त स्थान रूप अवकाश देने से शरीर में पाँचों भूतों का सहयोग होने से पाञ्चभौतिक सिद्ध होता है। लोक में भी यह कहा जाता है कि 'अमुख व्यक्ति का शरीर पञ्चभूतों में विलीन हो गया' इत्यादि। इस प्रकार शरीर का पाञ्चभौतिकत्व सिद्ध होता है। प्रस्तुत पूर्वपक्ष का निषेध करते हुये वैशेषिककार कहते हैं-

प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां **संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते। (4.2.2)**

प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष पदार्थ के संयोग का अप्रत्यक्ष होने से शरीर पञ्चात्मक नहीं है। प्रस्तुत सूत्र में 'शरीरम्' पद की पूर्ति कर लेनी चाहिए।

पांचों भूतों में से तीन भूत (पृथिवी, जल, तेज) प्रत्यक्ष हैं तथा शेष दो भूत (वायु व आकाश) अप्रत्यक्ष हैं। प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष पदार्थ का संयोग भी अप्रत्यक्ष ही होता है। जैसे प्रत्यक्ष पेड़ एवं अप्रत्यक्ष वायु का संयोग दृष्टिगोचरित नहीं होता है। किसी भी कार्यद्रव्य की उत्पत्ति उनके अवयवों के संयोग से ही होती है। कोई भी व्यक्ति उस कार्यद्रव्य के अवयवों के संयोग को देख सकता है। यदि शरीर को पांचों भूतों के अवयवों के संयोग से उत्पन्न माने अर्थात् शरीर के मूल उपादानकारण यदि पञ्चभूतों को स्वीकार करें तो इनके अवयवों के परस्पर संयोग का प्रत्यक्ष न होने से उनसे उत्पन्न शरीर का भी प्रत्यक्ष नहीं होना है; क्योंकि पांचों में से तीन प्रत्यक्ष एवं दो अप्रत्यक्ष हैं। प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष का संयोग भी अप्रत्यक्ष होने से शरीर भी अप्रत्यक्ष होने लगेगा। परन्तु शरीर प्रत्यक्ष दिखता है। इसलिए इसे पञ्चभूतों से उत्पन्न हुआ नहीं माना जा सकता अर्थात् शरीर का मूलउपादान कारण पञ्चभूत को नहीं माना जा सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि पञ्चभूतों को कारण नहीं मान सकते तो तीन भूतों (पृथिवी, जल, तेज) को कारण मानना ही पड़ेगा; क्योंकि इन तीनों भूतों का प्रत्यक्ष होता है और ये प्रत्यक्ष होने से इनका संयोग भी प्रत्यक्ष होगा। इसलिए शरीर को त्रिभौतिक मानने पर उसके अप्रत्यक्ष होने का दोष भी प्राप्त नहीं होगा। इसलिए शरीर त्रिभौतिक सिद्ध होता है।

पूर्वपक्ष के इस प्रकार कहने पर आचार्य निषेध करते हुये कहते हैं-

गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकम्। (4.2.3)

अन्य गुणों का प्रादुर्भाव न होने से शरीर त्रिभौतिक भी सिद्ध नहीं होता।

यह बात पूर्व में ही कही जा चुकी है कि कार्यद्रव्य में गुणों की उत्पत्ति कारणगुणपूर्वक होती है। कारण का जो गुण होगा वही कार्य में देखा जाता है। यदि शरीर का कारण पृथिवी, जल एवं तेज इन तीनों को माना जाये तो सभी द्रव्यों का गुण कार्य में होना चाहिए; परन्तु पृथिवी को छोड़कर शेष द्रव्यों के गुणों का प्रादुर्भाव शरीर में नहीं देखा जाता है। शरीर में जो रूप, रस, गन्ध स्पर्श देखा जाता है, वह पृथिवी का ही देखा जाता है। यदि जल एवं तेज भी उपादान कारण होते तो जल का रूप अभास्वरशुक्ल तथा तेज का रूप भास्वर शुक्ल दोनों की प्रतीति शरीर में होनी चाहिए और साथ में पृथिवी के रूप भी प्रतीत होने ही चाहिए। ऐसे में तीनों द्रव्यों के गुणों की प्रतीति शरीर में होनी चाहिए; लेकिन पृथिवी को छोड़कर शेष दोनों के गुणों का प्रादुर्भाव न होने से शरीर त्रिभौतिक भी नहीं है। अर्थात् एक भौतिक पार्थिव है। वैशेषिकोक्त इसी हेतु का आश्रय लेते हुए न्यायकार ने भी कहा है-

पर्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः । (न्या. 3.1.27)

अर्थात् शरीर में पृथिवी के विशेषगुण (गन्धादि) की उपलब्धि होने से पार्थिव है। सांख्यकार ने भी शरीर को केवल एकभूत

से उत्पन्न होने से पार्थिव ही स्वीकार किया है। यथा-

सर्वेषु पृथिव्युपादानमसाधारण्यात् तद्व्यपदेशः पूर्ववत् । (सां० 5.112)

सभी प्रकार के शरीरों का उपादान एकमात्र पृथिवीभूत ही है; क्योंकि शरीरोत्पत्ति में वही एकमात्र असाधारणकारण है। तब शरीर को पाञ्चभौतिक क्यों कहा जाता है? इसका समाधान करते हुये सांख्यकार कहते हैं कि पाञ्चभौतिकत्व का व्यवहार पूर्व के समान गौण समझना चाहिए। अर्थात् जैसे सांख्य की दृष्टिकोण से इन्द्रियाँ आहंकारिक होते हुये भी उनको भौतिक कह दिया जाता है, ऐसे ही अन्य चार भूत सहयोगी होने के कारण शरीर को गौणरूप से पाञ्चभौतिक कह दिया जाता है। समग्र तत्त्वों (मूल उपादान तत्त्व एवं सहयोगी तत्त्वों) की दृष्टिकोण से शरीर का 'पाञ्चभौतिक' कथन होता है तथा मूल उपादान की दृष्टिकोण से 'पार्थिव' कथन होता है।

शरीर के 'पार्थिव' कहने पर कोई यह न समझ ले कि इनमें अन्य भूतों का सहयोग भी वैशेषिककार स्वीकार नहीं करते। इसलिए आगे सूत्रकार ने स्वयं इसको स्पष्ट करते हुये कहा है-

अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः । (4.2.4)

विजातीय अणुओं के संयोग का तो प्रतिषेध नहीं है। अर्थात् परस्पर पृथिवी आदि आकाश पर्यन्त भूतों का उपष्टम्भक (विध ारक) रूप से संयोग का निषेध वैशेषिककार नहीं करते हैं। किन्तु विजातीय दो परमाणुओं के संयोग का द्रव्यरूप कार्य की उत्पत्ति में असमवायिकारण का निषेध करते हैं। ऐसा होने से जलादि परमाणुओं के संयोग के सहायकमात्र होने से शरीर में क्लेद, पाकादि रूप गुणों का शरीर में ग्रहण हो जाता है। अतएव शरीर का एकभौतिकत्व (पार्थिव) सिद्ध होता है। इसी कारण से लोक में सुना जाता है कि अमुक मृतक के पार्थिव शरीर को लाया गया इत्यादि।

स्मरणीय बिंदु :-

1. **पाञ्चभौतिकत्व निषेध का तर्कः** न्याय दर्शन कहता है कि यदि शरीर पांचों महाभूतों का समान मिश्रण होता, तो उसमें पांचों के गुण (गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द) समान रूप से अनुभव होते। परंतु शरीर में शगंधश मुख्य है (जो पृथिवी का लक्षण है), अतः यह पृथिवीमय है।

1. **शरीर शपृथिवीमयश क्यों है?**

क. **गंधः** शरीर में गंध का पाया जाना केवल पृथिवी का गुण है। अन्य भूतों में गंध नहीं होती।

ख. **कठोरताः** शरीर की संरचना में स्थिरता और कठोरता पृथिवी के कारण ही संभव है।

ख **अन्य भूतों की स्थितिः** न्याय दर्शन अन्य भूतों (जल, तेज आदि) के अस्तित्व को नकारता नहीं है, पर उन्हें शरीर का 'आश्रय' नहीं मानता। वे शरीर में केवल 'उपकारक' (सहायक) के रूप में विद्यमान रहते हैं।

ग **त्रिभौतिकत्व का खंडनः** सांख्य दर्शन का मत है कि शरीर तीन भूतों (पृथिवी, जल, तेज) से बनता है, लेकिन न्याय उसे खंडित करता है क्योंकि तीनों का मिश्रण होने पर इंद्रियों की स्पष्टता नहीं रह पाती।

शब्दावली :-

1. **पाञ्चभौतिकत्वः** शरीर का पांचों महाभूतों (पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश) से निर्मित होने का सिद्धांत।
2. **त्रिभौतिकत्वः** शरीर का तीन महाभूतों (पृथिवी, जल, तेज) के योग से बनने का सिद्धांत।
3. **उपादान कारणः** वह मूल द्रव्य जिससे कोई वस्तु बनती है (शरीर के लिए न्याय के अनुसार केवल 'पृथिवी परमाणु')।
1. **गंधत्वः** पृथिवी का विशेष और असाधारण गुण।
2. **उपकारकः** वे तत्व जो शरीर के पोषण या क्रियाओं में मदद करते हैं (जैसे जल, अग्नि आदि), पर मूल आधार नहीं हैं।
3. **नियमनः** यह सिद्धांत कि किसी कार्य में जिस तत्व का शविशेष गुणश (असाधारण लक्षण) पाया जाता है, वही उसका मूल कारण है।

5 अंक के प्रश्न :-

1. न्याय-वैशेषिक दर्शन 'पाञ्चभौतिकत्व' सिद्धांत का निषेध क्यों करता है?
2. शरीर को 'पृथिवीमय' सिद्ध करने के लिए 'गंध' को ही मुख्य प्रमाण क्यों माना गया है?
3. 'उपादान कारण' और 'उपकारक' में क्या अंतर है?
4. सांख्य दर्शन के 'त्रिभौतिकत्व' सिद्धांत को न्याय दर्शन ने कैसे खंडित किया है?

15 अंक के प्रश्न :-

1. 'शरीर का उपादान कारण केवल पृथिवी परमाणु ही है।' इस कथन की तार्किक समीक्षा कीजिए और पाञ्चभौतिकत्व के निषेध को विस्तार से समझाइए।

2. न्याय-वैशेषिक दर्शन में शरीर को 'भोगायतन' क्यों कहा गया है? शरीर की संरचना और आत्मा के भोग के संबंध को स्पष्ट कीजिए।

3. दार्शनिक सिद्धांतों में 'नियमन' का क्या अर्थ है? इसके आधार पर शरीर की पृथिवीमयता को सिद्ध कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न :-

प्रश्न १. न्याय दर्शन के अनुसार शरीर का श्उपादान कारणश क्या है?

(क) पांचों महाभूत **(ख) केवल पृथिवी**

(ग) जल और अग्नि का मिश्रण (घ) मन

प्रश्न २. शरीर के 'पाञ्चभौतिकत्व' का निषेध करने का मुख्य तार्किक आधार क्या है?

(क) केवल शब्द का प्रमाण

(ख) शरीर में गंध की प्रधानता और अन्य गुणों की गौणता

(ग) शरीर का सूक्ष्म होना

(घ) इनमें से कोई नहीं

प्रश्न ३. न्याय-वैशेषिक में अन्य भूतों (जल, तेज, वायु) को शरीर के संदर्भ में क्या माना गया है?

(क) उपादान कारण **(ख) केवल उपकारक (सहयोगी)**

(ग) शरीर का निर्माण नहीं करते (घ) भ्रम मात्र

इकाई- 4.3 शरीर के भेद

उद्देश्य-

1. **कर्मफल व्यवस्था:** यह स्पष्ट करना कि प्रत्येक जीव को उसके कर्मों के अनुसार विशिष्ट प्रकार का शरीर प्राप्त होता है।
2. **अनुभव की विविधता:** संसार में जीवों की शारीरिक संरचनाओं और उनके जीवन के अनुभवों में जो अंतर दिखता है, उसका दार्शनिक आधार प्रस्तुत करना।
3. **तत्व-मीमांसा:** यह सिद्ध करना कि शरीर का निर्माण भौतिक परमाणुओं से ही होता है, चाहे वह जन्म की प्रक्रिया (योनिज/अयोनिज) कुछ भी हो।

पृथिव्यादि चार द्रव्यों के कार्यों का निरूपण के प्रसङ्ग में शरीर के भेदों का वर्णन हो चुका है; फिर भी शरीर के भेदों का एकत्रित वर्णन की भावना से पुन: व्याख्यान किया जा रहा है। महर्षि कणाद शरीर के भेद का व्याख्यान करते हुये कहते हैं-

तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजञ्च। (4.2.5)

पार्थिव, जलीय, तैजस एवं वायव्य इन चार प्रकार के शरीरों में पार्थिव शरीर दो प्रकार का होता है। (क) योनिज (ख) अयोनिज। वरूण, आदित्य एवं वायुलोक में जलीय, तैजस, वायवीय अयोनिज शरीर शास्त्रों में प्रसिद्ध ही है। माता-पिता के रज-वीर्य से निरपेक्ष धर्मादि निमित्तों से युक्त परमाणुओं से उत्पन्न शरीर 'अयोनिज' कहलाता है।

(क) **योनिज शरीर**-माता-पिता के रज-वीर्य की अपेक्षा से गर्भपूर्वक उत्पन्न शरीर योनिज कहलाता है।
यह भी दो प्रकार का होता है-

(।) जरायुज (।।) अण्डज ।

(।) **जरायुज**- माँ के गर्भ से पतली पारदर्शी झिल्ली (जरायु) से लिपटा हुआ उत्पन्न होने वाले शरीर को जरायुज कहते हैं। मनुष्य, ग्राम्यपशु, अरण्यपशु आदिकों का शरीर जरायु (जेर) से उत्पन्न होने से जरायुज है; क्योंकि गर्भ का स्थान जरायु (मांस की पतली पोटली) होती है।

(।।) **अण्डज**-अण्डे से उत्पन्न होने वाले शरीर को 'अण्डज' कहते हैं। पक्षी, सरीसृप (सरक कर चलने वाले) सर्प आदिकों का शरीर अण्डे से उत्पन्न होता है, चारों तरफ सरकने का स्वभाव होने से सर्प, कीट (कीड़े), मत्स्य (मछली) आदि सरीसृप ही कहलाते हैं।
'उद्भिज' (वृक्ष, वनस्पति आदि) नामक तीसरा शरीर का वर्णन भी शास्त्रों में प्राप्त होता है; परन्तु मनुष्यादि शरीरों की भांति उनमें सुखादि का अत्यन्त स्पष्ट न होने से प्राय: उनमें 'शरीर' शब्द का व्यवहार लोक में नहीं देखा जाता है। इस कारण से उद्भिज नामक तीसरा विभाग वैशेषिककार ने नहीं' किया।

(ख) **अयोनिज शरीर**-माता-पिता के रज-वीर्य से निरपेक्ष धर्मादि निमित्तों से केवल परमाणुओं से उत्पन्न शरीर को अयोनिज शरीर कहते हैं। देवताओं का ऋषियों का शरीर अयोनिज शास्त्रों में सुना ही जाता है- **ब्राह्मणों मानसा मन्वादय:** अर्थात् मनु आदि ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं।

अयोनिज शरीर पर किसी को विश्वास नहीं और पूछे कि बिना कारण के कार्य कैसे सम्भव है? अर्थात् शरीर मात्र में योनि कारण है- ऐसा नियम है। तब उसको कहना चाहिए कि शरीर मात्र में योनि ही कारण है ऐसा नियम नहीं है। ऊष्मा से उत्पन्न मशक (मच्छर), कृमि, डाँस इत्यादिकों का शरीर योनि के बिना भी देखे जाते हैं। इसलिए अयोनिज शरीर की उत्पत्ति निर्मूल नहीं है; अथवा यह कोई कोरी कल्पना नहीं है।

स्मरणीय बिंदु-

शरीर को मुख्य रूप से उत्पत्ति के आधार पर दो वर्गों में विभाजित किया गया है:

1. योनिज शरीर (Born of a womb):

1. यह माता-पिता के शुक्र और शोणित के संयोग (गर्भाशय) से उत्पन्न होता है।
2. इसमें श्जरायुजश (मनुष्य, पशु) और 'अण्डज' (पक्षी, सर्प) उप-भेद किए जा सकते हैं।
3. यह शरीर आत्मा के कर्मों के फल भोगने का सबसे सामान्य माध्यम है।

2. अयोनिज शरीर (Born without a womb):

1. यह माता-पिता के संयोग के बिना, केवल भूतों (पृथिव्यादि) के विशिष्ट परमाणुओं के संयोग से बनता है।
2. यह देवताओं, ऋषियों और कुछ विशिष्ट सिद्ध पुरुषों का शरीर माना जाता है।
3. इसकी उत्पत्ति में पूर्वजन्म के श्अदृष्टश (पुण्य कर्म) का विशेष योग होता है।

शरीर की मुख्य विशेषताएं:

1. शरीर का आधार केवल पृथिवी परमाणु हैं (जैसा कि हमने पाञ्चभौतिकत्व निषेध में देखा)।
2. शरीर का उद्देश्य मात्र आत्मा का भोग-संपादन है, इसीलिए इसे श्भोगायतनश कहा जाता है।

मुख्य शब्दावली :-

1. **भोगायतन:** वह स्थान या आधार (शरीर), जो आत्मा को सांसारिक सुख-दुख का अनुभव कराता है।
2. **योनिज:** गर्भ से उत्पन्न शरीर।
3. **अयोनिज:** गर्भ के बिना (सीधे तत्वों के संयोग से) उत्पन्न शरीर।
4. **शुक्र-शोणित:** योनिज शरीर की उत्पत्ति के जैविक कारक (वीर्य और रज)।
5. **अदृष्ट:** जीव के संचित पुण्य-पाप, जो उसे उचित शरीर मिलने का श्निमित्त कारणश बनते हैं।
6. **पाञ्चभौतिक:** वह मत जो शरीर को पांचों तत्वों का मिश्रण मानता है (न्याय इसे अमान्य मानता है)।
7. **सावयव:** वह जो अवयवों (अंशों) से मिलकर बना हो (शरीर सावयव है क्योंकि यह परमाणुओं का समूह है)।

5 अंक के प्रश्न :-

1. न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'शरीर' को 'भोगायतन' क्यों कहा गया है?
2. 'योनिज' और 'अयोनिज' शरीर में मुख्य अंतर क्या है?
3. 'जरायुज' और 'अण्डज' शरीर किनके होते हैं? ये किस श्रेणी के अंतर्गत आते हैं?
4. शरीर की उत्पत्ति में 'अदृष्ट' (कर्म) की क्या भूमिका है?
5. न्याय दर्शन के अनुसार शरीर का 'उपादान कारण' (Material Cause) क्या है?

15 अंक के प्रश्न :-

1. न्याय-वैशेषिक दर्शन में शरीर के विभिन्न भेदों का सविस्तार वर्णन कीजिए। उत्पत्ति के आधार पर इनका वर्गीकरण किस प्रकार किया गया है?
2. 'अयोनिज शरीर' की उत्पत्ति की प्रक्रिया की व्याख्या कीजिए। क्या यह शरीर भी भौतिक परमाणुओं से निर्मित होता है?
3. योनिज शरीर की उत्पत्ति में माता-पिता की भूमिका और अयोनिज शरीर की उत्पत्ति में दैवीय/योगज संयोग की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।
4. 'शरीर केवल आत्मा के भोग का माध्यम है।' इस कथन के आलोक में भोगायतन सिद्धांत को स्पष्ट करते हुए शरीर के भेदों की सार्थकता सिद्ध कीजिए।
5. भारतीय दर्शन में शरीर की संरचना और उसके भेद विषयक सिद्धांतों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। न्याय दर्शन का पाञ्चभौतिकत्व का निषेध यहाँ किस प्रकार प्रासंगिक है?

बहुविकल्पीय प्रश्न :-

प्रश्न १. न्याय-वैशेषिक दर्शन में शरीर को क्या कहा गया है?

(क) आत्मा का घर **(ख) भोगायतन**

(ग) मन का आधार (घ) केवल एक भौतिक पिंड

प्रश्न २. उत्पत्ति के आधार पर शरीर के मुख्य कितने भेद माने गए हैं?

(क) तीन (ख) चार **(ग) दो** (घ) पाँच

प्रश्न ३. माता-पिता के संयोग (गर्भाशय) से उत्पन्न होने वाला शरीर क्या कहलाता है?

(क) अयोनिज **(ख) योनिज** (ग) अतीन्द्रिय (घ) योगज

प्रश्न ४. अयोनिज शरीर का निर्माण किस प्रकार होता है?

(क) माता-पिता के संयोग से

(क) भूतों (पृथिव्यादि) के विशिष्ट परमाणुओं के संयोग से

(क) केवल मन के चिंतन से

(घ) ईश्वर के वरदान से मात्र

प्रश्न ५. 'अदृष्ट' (कर्मफल) का अयोनिज शरीर की उत्पत्ति में क्या योगदान है?

(क) यह शरीर का नाश करता है

(ख) यह शरीर निर्माण का निमित्त कारण (हेतु) बनता है

(ग) इसका कोई योगदान नहीं है

(घ) यह केवल योनिज शरीर के लिए है

प्रश्न ६. न्याय दर्शन के अनुसार शरीर का 'उपादान कारण' (मूल आधार) कौन सा महाभूत है?

(क) जल (ख) तेज **(ग) पृथिवी** (घ) वायु

प्रश्न ७. निम्न में से कौन अयोनिज शरीर के उदाहरण हो सकते हैं?

(क) मनुष्य (ख) पशु (ग) पक्षी **(घ) देवता और ऋषि**

इकाई-4.4 अयोनिज शरीर की उत्पत्ति में हेतु

उद्देश्य :-

1. **सृष्टि के विविध रूपों को समझना:** यह सिद्ध करना कि शरीर की उत्पत्ति केवल 'योनि' (माता-पिता) तक सीमित नहीं है, बल्कि विशिष्ट परिस्थितियों में भूत-परमाणुओं के दैवीय या विशेष संयोग से भी शरीर बन सकते हैं।
2. **अतीन्द्रिय सत्ता की व्याख्या:** योगियों, देवताओं और ऋषियों के शरीरों की उत्पत्ति का आधार स्पष्ट करना, जो साधारण जैविक प्रक्रियाओं से भिन्न होते हैं।
3. **नियमन:** यह स्पष्ट करना कि शरीर का निर्माण भौतिक परमाणुओं से ही होता है, चाहे वह योनिज हो या अयोनिज।

माता-पिता के शुक्र-शोणित निरपेक्ष अयोनिज शरीर की उत्पत्ति में कारणों का उल्लेख करते हुये निम्न सूत्रों का प्रतिपादन करते हैं-

अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात्। (4.2.6)

अनियतदिग्देशपूर्वक अयोनिज शरीर की उत्पत्ति हो जाती है। "अनियतदिग्देशाः परमाणवः" परमाणु नियतदिग्देश वाले नहीं होते हैं। अतः सूत्र में **'अनियतदिग्देश'** पद 'परमाणु' अर्थ में आया है। सूत्रार्थ हुआ- अनियतदिग्देशपरमाणुपूर्वक अयोनिज शरीर की उत्पत्ति होती है।

पृथिवी आदि के परमाणुओं का कोई नियतदिग्देश नहीं होता है, अर्थात् वे सर्वत्र आकाश में बिखरे रहते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण वे दृष्टि में नहीं आते हैं। परमात्मा अथवा सिद्धयोगियों के संकल्प से उन परमाणुओं के संघात से शरीर का निर्माण हो जाता है। इसलिए अकारण शून्य से (छू-मन्त्र से) शरीर की उत्पत्ति की कल्पना शास्त्रों में नहीं है। वे भी सृष्टिनियमों (भौतिक विज्ञान आदि के नियमों) के अनुकूल ही होता है। परन्तु इस प्रकार के शरीर की उत्पत्ति में ऐश्वर्यवान् दिव्य पुरुष ही समर्थ होते हैं।

उपरोक्त प्रकार के परमाणुओं से उत्पन्न शरीर एक जैसा होना चाहिए, चाहे वह देवताओं का अयोनिज शरीर हो चाहे ऋषियों का हो अथवा तुच्छ कृमियों का ही क्यों न हो? क्योंकि सबकी उत्पत्ति तो परमाणुपूर्वक ही है। इस प्रकार की आशंका होने पर सूत्रकार कहते हैं-

धर्मविशेषाच्च। (4.2.7)

प्रस्तुत सूत्र में 'धर्म विशेष' पद 'अधर्म विशेष' का भी उपलक्षण है। अर्थात् धर्माधर्म विशेष से शरीर में अन्तर आता है। धर्मादि में तारतम्यता होने पर देव व ऋषियों के शरीर में भेद हो जाता है तथा अधर्मादि की तारतम्यता से कृमि आदि के शरीर में अन्तर हो जाता है। जिस प्रकार एक ही माता-पिता से समान आहार आदि के होने पर भी सन्तानों में भेद धर्मादि के निमित्त से हो जाता है। ऐसे ही अयोनिज शरीरों में भी समझना चाहिए। यहाँ शरीरभेदों का नियामक 'धर्माधर्म' रूप अदृष्ट ही है।

इस प्रकार के अयोनिज शरीर में एक और हेतु का प्रतिपादन कर रहे हैं-

समाख्याभावाच्च। (4.2.8)

'समाख्या' अर्थात् 'अन्वर्थासंज्ञा' की प्रसिद्धि शास्त्रों में होने से भी अयोनिज शरीर की सिद्धि हो जाती है। यथा-ब्रह्मा के मन से उत्पन्न होने से 'मनु' कहलाये, अहंकार से उत्पन्न होने से 'अंगिरा' नाम हुआ। इसी प्रकार उरूभाग से उत्पन्न होने से उत्पन्न होने से 'और्व' नामक ऋषि की उत्पत्ति हुई। नारायण के उरूभाग से ऊर्वशी इत्यादि अन्वर्था संज्ञा इतिहास-पुराणादि ग्रन्थों में प्रसिद्ध है।

इसी विषय में एक अन्य हेतु का उपन्यास करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

संज्ञाया आदित्वात्। (4.2.9)

संज्ञा के आदि होने से भी अयोनिजशरीर की सिद्धि होती है। अर्थात् सृष्टि के आदि में प्रथम उत्पन्न हुई संज्ञा 'ब्रह्मा' है, उससे अयोनिज शरीर देवता तथा ऋषियों की उत्पत्ति है। क्योंकि ब्रह्मा के माता-पिता का श्रवण न होने से वे 'आदिपुरुष' सिद्ध होते हैं। उनसे पहले कोई उनके माता-पिता नहीं थे जिन्होंने 'ब्रह्मा' ऐसा अपने पुत्र का नाम दिया हो। इसलिए 'ब्रह्मा' इत्यादि संज्ञायें 'आदि' वाली होने से अयोनिजशरीर की सिद्धि होती हैं।

इस तथ्य की दृढ़ता की भावना से अंतिम हेतु का उपदेश करते हुये आचार्य कहते हैं-

वेदलिङ्गाच्च। (4.2.11)

वेद प्रमाण होने से भी अयोनिज शरीरों की सिद्धि होती है।

प्रस्तुत विषय में वेद प्रमाण है-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

(यजु. 31)

प्रस्तुत वेद मन्त्र में मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य एवं पैर से शूद्र की उत्पत्ति का वर्णन है। अतएव सर्ग के आरम्भ में चारों वर्णों की उत्पत्ति अयोनिज ही हुई है।

अतएव उपरोक्त प्रमाणों के बल पर सिद्ध होता है कि "अयोनिज शरीर होते हैं" इसी का उपसंहार करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

सन्त्ययोनिजाः। (4.2.10)

अर्थात् उपरोक्त प्रमाणों से 'अयोनिज शरीर' होते हैं यह सिद्ध होता है।

स्मरणीय बिंदु :-

1. **अयोनिज शरीर क्या है:** वह शरीर जो माता-पिता के 'शुक्र-शोणित' (जैविक) संयोग के बिना उत्पन्न हो। यह प्रायः देवताओं, ऋषियों या विशिष्ट सिद्ध पुरुषों का माना जाता है।

ख उत्पत्ति का हेतु (कारण):

1. **अदृष्ट (कर्म):** अयोनिज शरीर के निर्माण में पूर्वजन्मों के विशिष्ट पुण्य कर्मों का 'अदृष्ट' मुख्य कारण होता है।
2. **ईश्वरेच्छा या योगज शक्तिः** कभी-कभी विशिष्ट योगियों की इच्छा शक्ति या ईश्वरीय संकल्प से भूतों का वैसा संयोग बनता है जो शरीर का निर्माण कर सके।
3. **भूत-परमाणु संयोगः** यह एक भौतिक प्रक्रिया ही है। इसमें माता-पिता के शरीर की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि प्रकृति के तत्वों (पृथिव्यादि) का स्वयंस्फूर्त या दैवीय व्यवस्था से संयोग हो जाता है।

ख प्रकारः

1. **स्वयंभू/दिव्यः** जो सीधे तत्वों के विशेष संघात से उत्पन्न हों।
2. **योगजः** योगियों द्वारा अपनी तपस्या के बल पर निर्मित शरीर।

शब्दावली :-

1. **अयोनिजः** 'अ' (नहीं) + 'योनि' (माता का गर्भ) = जिसका जन्म गर्भ से न हुआ हो।
2. **योनिजः** माता-पिता के संयोग (गर्भाशय) से उत्पन्न शरीर।
3. **अदृष्टः** जीव के संचित पुण्य-पाप रूपी संस्कार, जो अयोनिज शरीर के निर्माण में निमित्त कारण बनते हैं।
4. **परमाणु संयोगः** वह भौतिक प्रक्रिया जिसके द्वारा पृथिव्यादि भूत मिलकर शरीर का स्थूल रूप धारण करते हैं।
5. **भोगायतनः** शरीर का वह कार्य, जो आत्मा को सुख-दुख भोगने का माध्यम प्रदान करता है (अयोनिज शरीर भी आत्मा का भोगायतन ही होता है)।
6. **संघातः** परमाणुओं या तत्वों का विशेष समूह या रचना।

5 अंक के प्रश्न :-

1. 'अयोनिज शरीर' से आप क्या समझते हैं? यह 'योनिज शरीर' से किस प्रकार भिन्न है?
2. अयोनिज शरीर की उत्पत्ति में 'अदृष्ट' (कर्म) की क्या भूमिका है?
3. क्या अयोनिज शरीर भी भौतिक परमाणुओं से निर्मित होता है? स्पष्ट कीजिए।
4. न्याय दर्शन के अनुसार अयोनिज शरीर के निर्माण के लिए कौन-कौन से निमित्त कारण उत्तरदायी हैं?
5. अयोनिज शरीर की उत्पत्ति में 'ईश्वरेच्छा' या श्योगी की तपस्याश का क्या महत्व है?

15 अंक के प्रश्न :-

1. न्याय-वैशेषिक दर्शन के आधार पर अयोनिज शरीर की उत्पत्ति की प्रक्रिया का सविस्तार वर्णन कीजिए। यह किस प्रकार सामान्य जैविक उत्पत्ति से भिन्न है?
2. 'शरीर केवल माता-पिता के संयोग से ही नहीं, अपितु परमाणुओं के विशेष संघात से भी उत्पन्न हो सकता है।' इस कथन के आलोक में अयोनिज शरीर के हेतुओं की दार्शनिक व्याख्या कीजिए।

3. अयोनिज शरीर और कर्मफल सिद्धांत के बीच क्या संबंध है? क्या बिना किसी पूर्व जन्म के कर्मों (अदृष्ट) के अयोनिज शरीर की कल्पना संभव है? आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
4. अयोनिज शरीर की उत्पत्ति को श्भोगायतनश के सिद्धांत से जोड़कर समझाइए। यह शरीर आत्मा के लिए किस प्रकार सुख-दुख के अनुभव का माध्यम बनता है?
5. न्याय दर्शन में अयोनिज शरीर के विभिन्न प्रकारों (देव-शरीर, ऋषि-शरीर आदि) और उनके उत्पत्ति-कारणों की विस्तृत विवेचना कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्नः-

प्रश्न १. 'अयोनिज' शब्द का सही अर्थ क्या है?

(क) जो केवल योगियों द्वारा बनाया जाए

(ख) जो माता-पिता के गर्भाशय (योनि) के संयोग से उत्पन्न न हुआ हो

(ग) जो मृत शरीर से उत्पन्न हो

(घ) जो केवल परमाणुओं से बना हो

प्रश्न २. न्याय दर्शन के अनुसार अयोनिज शरीर की उत्पत्ति में मुख्य श्निमित्त कारणश क्या है?

(क) केवल भौतिक तत्व

(ख) जीव के पूर्वजन्म के पुण्य-पाप रूपी श्अदृष्टश (संस्कार)

(ग) माता-पिता का स्वास्थ्य

(घ) वातावरण का तापमान

प्रश्न ३. अयोनिज शरीर के निर्माण में कौन-सी प्रक्रिया सहायक होती है?

(क) शुक्र-शोणित का संयोग

(ख) परमाणुओं का विशिष्ट और दैवीय या योगज संयोग (संघात)

(ग) केवल रासायनिक अभिक्रिया

(घ) इनमें से कोई नहीं

प्रश्न ४. 'भोगायतन' से क्या तात्पर्य है?

(क) शरीर, जो आत्मा के सुख-दुख भोगने का माध्यम है

(ख) केवल एक पवित्र स्थान

(ग) मरने के बाद का स्थान

(घ) एक प्रकार का योग

प्रश्न ५. अयोनिज शरीर किनके माने गए हैं?

(क) केवल पशुओं के

(ख) केवल कीड़े-मकोड़ों के

(ग) देवताओं, ऋषियों और विशिष्ट सिद्ध पुरुषों के

(घ) केवल सामान्य मनुष्यों के

प्रश्न ६. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार अयोनिज शरीर किस पदार्थ से निर्मित होता है?

(क) यह निराकार होता है

(ख) यह भी भौतिक भूतों (पृथिव्यादि) के परमाणुओं से ही निर्मित होता है

(ग) यह केवल प्रकाश से बना होता है

(घ) यह मन से बना होता है।

खण्ड-5

इकाई- 5.1 प्रयत्नपूर्वक होने वाले कर्म

उद्देश्य :-

1. **कर्मफल सिद्धांत की व्याख्या:** यह सिद्ध करना कि सुख और दुख का अनुभव केवल उन्हीं कर्मों का फल है, जो जीव ने स्वतंत्र श्प्रयत्नश से किए हैं।
2. **नैतिक उत्तरदायित्व:** यह स्पष्ट करना कि मनुष्य अपने उन कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है जो उसने अपनी विवेकपूर्ण इच्छा और प्रयत्न से किए हैं।
3. **क्रिया की उत्पत्ति:** यह समझाना कि भौतिक शरीर और इंद्रियाँ केवल उपकरण हैं, लेकिन कर्म के पीछे का वास्तविक प्रेरक 'आत्मा का प्रयत्न' है।

विगत अध्यायों में पृथिव्यादि नौ द्रव्यों का उद्देश, लक्षण एवं परीक्षा का वर्णन हो चुका है। अब गुणों के परीक्षा का क्रम प्राप्त होता है, परन्तु चौबीस गुणों की परीक्षा की अपेक्षा पांच कर्मों का अल्पविवेच्य होने से क्रम का उलंघन करके महर्षि पहले कर्मों की परीक्षा कर रहे हैं। इस अध्याय में उत्क्षेपणादि कर्मों की परीक्षा की जायेगी, जिसमें प्रयत्नपूर्वक एवं अप्रयत्नपूर्वक होने वाले हस्तादिकों के कर्म का विवेचन; नोदनविशेष से होने वाले बाण आदि में होने वाले कर्मों का विवेचन तथा नोदनाभिघात के संयुक्त संयोग से होने वाले पृथिव्यादि महाभूतों में कर्मों का विवेचन, अदृष्ट से होने वाले विभिन्न कर्मों का निरूपण एवं परमाणु तथा मन में होने वाले कर्मों का विवेचन किया गया है।

प्रयत्नपूर्वक होने वाले कर्म-इनमें सर्वप्रथम प्रयत्नपूर्वक होने वाले हस्तादिकों में होने वाले कर्मों का विवेचन प्रारम्भ होता है। इस विषय में महर्षि प्रथमसूत्र का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं- **आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म।** (5.1.1.)

आत्मा का संयोग और आत्मगत प्रयत्न से हाथ में कर्म उत्पन्न होता है।

प्रयत्नगुण आत्मा का है यह विगत अध्यायों में कहा जा चुका है। प्रस्तुत सूत्र में हाथ में होने वाले प्रयत्नपूर्वक उत्क्षेपण कर्म का उल्लेख किया गया है। प्रयत्नवानआत्मा का हाथ से संयोग होने पर हाथ में उत्क्षेपण कर्म होता है। अर्थात् हाथ ऊपर उठता है। हाथ में क्रिया होने से पूर्व दो कार्य होता है, पहला आत्मा में प्रयत्न होता है तथा दूसरा उस प्रयत्नवान आत्मा का हाथ के साथ संयोग होता है। आत्मा का सामान्य संयोग तो सम्पूर्ण शरीरावयवों के साथ रहता ही है; परन्तु यहाँ पर प्रयत्नपूर्वक संयोग का तात्पर्य मन के द्वारा समझना चाहिए। आत्मा सबसे पहले इच्छा उत्पन्न करती है, इच्छा के बाद प्रयत्न होता है पुन: प्रयत्नानुकूल कर्म होता है। प्रस्तुत सूत्र में इच्छा को नहीं कहा गया है; क्योंकि इच्छा, प्रयत्न को उत्पन्न करने के पश्चात् स्वयं निवृत्त हो जाती है। क्रिया के साथ सीधा-साक्षात् सम्बन्ध प्रयत्न होता है। इसलिए सूत्रकार ने केवल प्रयत्न को कहा है। प्रयत्नानुकूल कर्म की प्रवृत्ति में आचार्यों ने कहा है-

आत्मजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत्कृति:।
कृतिजन्या भवेच्चेष्टा तज्जन्यैव क्रिया भवेत्।।

प्रस्तुत वाक्य में 'कृति' पद प्रयत्न का वाचक है, उसी से क्रमश: चेष्टा व क्रिया होती है।

उपरोक्त उत्क्षेपण क्रिया का समवायिकारण हाथ है, प्रयत्नसमवेत आत्मा का हाथ के साथ संयोग असमवायिकारण है तथा प्रयत्नादि अन्य समस्त साधन निमित्तकारण हैं।

हाथ के अतिरिक्त हस्तसंयुक्त मुसलादि में होने वाले कर्मों का उल्लेख करते हुये आचार्य कहते हैं-

तथाहस्तसंयोगाच्च मुसले कर्म । (5.1.2)

उसी प्रकार हस्त के संयोग से मूसल में उत्क्षेपण कर्म होता है। जिस प्रकार पूर्वसूत्रोक्त प्रयत्नवान आत्मा का हस्त से संयोग हस्त में होने वाले उत्क्षेपण कर्म का कारण है ठीक उसी प्रकार प्रयत्वान आत्म् का हाथ संयोगपूर्वक हाथ एवं मूसल के संयोग से मूसल में उत्क्षेपण कर्म होता है। 'मूसल' शब्द यहाँ पर हाथ से पकड़कर उठाये गये अन्य पदार्थों का भी उपलक्षण है। धान इत्यादि को कूटने के निमित्त से हाथ से उठाए गए मूसल में कर्म का कारण हस्त-मुसल संयोग ही है; क्योंकि हाथ में क्रिया तो सीधा-सीधा प्रयत्नवान आत्मा के संयोग से हो रही है। परन्तु मूसल में कर्म सीधा-सीधा आत्मा के संयोग से उत्पन्न नहीं हो रहा है अपितु यहाँ पर दो चरण है (क) प्रयत्वान आत्मा का हाथ के साथ संयोग, (ख) क्रियावान हस्त का मूसल के साथ संयोग। अत: मूसल में कर्म का साक्षात् कारण हस्त-मूसल संयोग है।

यहाँ पर उत्क्षेपण कर्म का समवायिकारण मूसल तथा असमवायिकारण हस्त-मूसल संयोग एवं प्रयत्न-गुरुत्वादि अन्य साधन निमित्त कारण है।

हस्त एवं हस्तसंयुक्त मुसलादि पदार्थों में प्रयत्नपूर्वक वर्णन के पश्चात् हाथ से फेंके गये कन्दुकादि (गेंद आदि) में क्रिया का वर्णन करते हुये आचार्य कहते हैं-

प्रयत्नविशेषान्नोदनविशेषः । (4.1.9)

प्रयत्नविशेष से नोदन (प्रेरणा) विशेष की उत्पत्ति होती है।

प्रयत्नपूर्वक हाथ से फेंकी हुई वस्तु में जो प्रेरणा-धक्का अथवा झटका का नाम नोदन है। इसी नोदन से वस्तु दूर तक फेंकी जाती है। जैसा कि वैशेषिकाचार्य ने कहा है-

नोदनविशेषादुदसनविशेषः । (5.1.10)

नोदनविशेष से उदसनविशेष होता है।

'उदसन' का अर्थ है-दूर फेंका जाना। किसी वस्तु में तीव्र गति उत्पन्न करने वह दूर फेंका जाता है। उस नोदनविशेष के अनुसार वह द्रव्य दूर तक पहुँच जाता है। नोदन विशेष के न्यून होने पर वस्तु कम दूर जाती है तथा नोदनविशेष के अधिक होने पर वस्तु अधिक दूर गति करती है।

पुनः प्रयत्नपूर्वक बालक के हस्तादि में होने वाले कर्मों का उल्लेख करते हुये आचार्य कहते हैं-

हस्तकर्मणा दारककर्म व्याख्यातम् । (5.1.11)

पूर्वोक्त हाथ के कर्म के व्याख्यान से बालक के कर्म व्याख्यान समझ लेना चाहिए।

नवजात शिशु के अङ्गचालन आदि कर्म में भी प्रयत्नवान आत्मा का उन अंङ्गों के साथ संयोग कारण है। वे अंग जिनमें कर्म हो रहे हैं समवायिकारण है, उन अंगों के साथ प्रयत्नवान आत्मा का संयोग असमवायिकारण एवं प्रयत्न, गुरुत्वादि अन्य साधन निमित्त कारण है।

स्मरणीय बिंदु :-

1. **प्रयत्न और आत्मा का संबंधः** प्रयत्न आत्मा का श्असमवायिकारणश (असाधारण कारण) गुण है। बिना प्रयत्न के कोई भी बाह्य क्रिया (जैसे हाथ हिलाना या बोलना) संभव नहीं है।
2. **प्रयत्न के त्रिकोणः** किसी भी प्रयत्नपूर्वक होने वाले कर्म में तीन चरणों का क्रम होता है:

1. **ज्ञानः** वस्तु या कार्य का बोध।
2. **इच्छाः** कार्य को करने की कामना।
3. **प्रयत्नः** उस कामना को क्रिया में बदलने का संकल्प।

1. **अनैच्छिक क्रियाओं से भिन्नताः** 'जीवनयोनि प्रयत्न' (जैसे सांस लेना या पलक झपकना) अनैच्छिक होते हैं, जबकि श्कृतिसाध्यश कर्म पूरी तरह ऐच्छिक होते हैं।
2. **संस्कार और अदृष्टः** प्रयत्नपूर्वक किए गए कर्म आत्मा में 'संस्कार' उत्पन्न करते हैं, जो भविष्य में 'अदृष्ट' (पुण्य-पाप) बनकर सुख-दुख का फल देते हैं।

शब्दावलीः-

1. **प्रयत्न (र्मंवितज):** वह आंतरिक संकल्प जो बाह्य शारीरिक चेष्टा को जन्म देता है।
2. **कृतिसाध्यः** वे कर्म जो श्कृतिश (प्रयत्न) के द्वारा सिद्ध किए जा सकें।
3. **प्रेरकः** वह शक्ति जो कार्य को करने के लिए प्रेरित करती है (आत्मा का प्रयत्न)।
4. **जीवनयोनि प्रयत्नः** वे सूक्ष्म प्रयत्न जो जीवन को बनाए रखने के लिए अनिवार्य हैं (यह अनैच्छिक होते हैं)।
5. **चेष्टाः** प्रयत्न के फलस्वरूप शरीर में होने वाली बाहरी हलचल (जैसे चलना, लिखना)।
6. **संकल्पः** कार्य करने के प्रति दृढ़ निश्चय।

5 अंक के प्रश्न :-

1. न्याय दर्शन के अनुसार 'प्रयत्न' का क्या अर्थ है?
2. 'प्रयत्नपूर्वक होने वाले कर्म' और 'अनैच्छिक क्रियाओं' (जैसे हृदय की धड़कन) में क्या अंतर है?
3. प्रयत्न के बिना क्या किसी कर्म की सिद्धि संभव है? तर्क दीजिए।
4. 'प्रयत्न' किस द्रव्य का गुण है और इसका आत्मा से क्या संबंध है?
5. न्याय-वैशेषिक में कर्मों के वर्गीकरण में 'प्रयत्न' की क्या भूमिका है?

15 अंक के प्रश्न :-

1. 'आत्मा का गुण होने के कारण प्रयत्न ही कर्म का मुख्य प्रेरक है।' इस कथन के आलोक में प्रयत्नपूर्वक होने वाले कर्मों की प्रक्रिया का सविस्तार वर्णन कीजिए।
2. प्रयत्नजन्य कर्म और कर्मफल सिद्धांत (अदृष्ट) के बीच के संबंधों की विवेचना कीजिए। क्या सभी प्रयत्नपूर्वक किए गए कर्म 'अदृष्ट' का निर्माण करते हैं?
3. न्याय दर्शन में 'प्रवृत्ति' (Action/Effort) के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए। प्रयत्न किस प्रकार बाह्य क्रियाओं में रूपांतरित होता है?
4. प्रयत्नपूर्वक किए जाने वाले कर्मों के संदर्भ में 'इच्छा', 'ज्ञान' और 'प्रयत्न' के त्रिकोणीय संबंध की व्याख्या कीजिए। ये तीनों मिलकर किसी कर्म को कैसे पूर्ण करते हैं?
5. क्या प्रयत्नपूर्वक होने वाले सभी कर्म नैतिक रूप से उत्तरदायी होते हैं? भारतीय दार्शनिक दृष्टिकोण से कर्मों के नैतिक वर्गीकरण की चर्चा कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न :-

प्रश्न १. न्याय-वैशेषिक दर्शन में शरीर को क्या कहा गया है?

(क) आत्मा का घर **ख) भोगायतन**

(ग) मन का आधार (घ) केवल एक भौतिक पिंड

प्रश्न २. उत्पत्ति के आधार पर शरीर के मुख्य कितने भेद माने गए हैं?

(क) तीन (ख) चार (ग) दो (घ) पाँच

उत्तर: दो (योनिज और अयोनिज)

प्रश्न ३. माता-पिता के संयोग (गर्भाशय) से उत्पन्न होने वाला शरीर क्या कहलाता है?

(क) अयोनिज **(ख) योनिज** (ग) अतीन्द्रिय (घ) योगज

प्रश्न ४. अयोनिज शरीर का निर्माण किस प्रकार होता है?

(क) माता-पिता के संयोग से

(ख) भूतों (पृथिव्यादि) के विशिष्ट परमाणुओं के संयोग से

(ग) केवल मन के चिंतन से

(घ) ईश्वर के वरदान से मात्र

प्रश्न ५. 'अदृष्ट' (कर्मफल) का अयोनिज शरीर की उत्पत्ति में क्या योगदान है?

(क) यह शरीर का नाश करता है

(ख) यह शरीर निर्माण का निमित्त कारण (हेतु) बनता है

(ग) इसका कोई योगदान नहीं है

(घ) यह केवल योनिज शरीर के लिए है

प्रश्न ६. न्याय दर्शन के अनुसार शरीर का 'उपादान कारण' (मूल आधार) कौन सा महाभूत है?

(क) जल (ख) तेज **(ग) पृथिवी** (घ) वायु

प्रश्न ७. निम्न में से कौन अयोनिज शरीर के उदाहरण हो सकते हैं?

(क) मनुष्य (ख) पशु (ग) पक्षी **(घ) देवता और ऋषि**

इकाई- 5.2 अप्रयत्नपूर्वक होने वाले कर्म

उद्देश्य :-

1. **जीवित रहने की निरंतरता:** यह स्पष्ट करना कि शरीर की कुछ जैविक प्रक्रियाएं ऐसी हैं जो आत्मा के सचेत प्रयत्न के बिना भी चलती रहती हैं, ताकि प्राण सुरक्षित रहें।
2. **अनैच्छिक और ऐच्छिक कर्मों का भेद:** यह सिद्ध करना कि सभी क्रियाएं 'संकल्प' से नहीं होतीं; कुछ 'जीवनयोनि प्रयत्न' या स्वाभाविक धर्म (स्वभाव) के कारण भी होती हैं।
3. **तत्व-मीमांसा:** यह बताना कि आत्मा और शरीर का संबंध केवल श्प्रयत्नश तक ही सीमित नहीं है, बल्कि कुछ क्रियाएं स्वायत्त (Autonomous) भी हैं।

प्रयत्नपूर्वक होने वाले कर्मों के पश्चात् अब अप्रयत्नपूर्वक (बिना प्रयत्नपूर्वक) होने वाले कर्मों का विवेचन किया जा रहा है। पूर्वोक्त मूसलादि में होने वाले कर्मों को ही अब बिना प्रयत्न के उत्पन्न होना बता रहे हैं। जैसा कि सूत्रवचन है-

अभिघातजे मुसलादौ कर्मणि व्यतिरेकादकारणम् हस्तसंयोगः । (5.1.3)

अभिघात से उत्पन्न मूसल आदि में हुये कर्म में (प्रयत्न का) अभाव होने से हाथ का संयोग कारण नहीं है।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार प्रथम बार उठाए गए मूसल में प्रयत्नवान आत्मा का हाथ से संयोगपूर्वक हाथ का मुसल से संयोग मुसल में होने वाले कर्म का कारण था उस प्रकार दूसरी बार उखल से टकराने के बाद उछला हुआ मुसल में हस्त का संयोग कारण नहीं है। आशय यह है कि जब एक बार मूसल को उठाकर धान इत्यादि कूटने के निमित्त से ऊखल में चोट मारा जाता है तब जो दूसरी बार मूसल उछलता है उसमें पूर्वउत्क्षेपण की भांति हस्तसंयोग कारण नहीं होता है। मूसल को इधर-उधर गिरने से रोकने के लिए हाथ का संयोग कारण रहता न कि उसके उपर उठने में। मूसल एवं ऊखल के अभिघात (चोट/टक्कर) से कुछ ऊंचाई तक मूसल स्वतः ही उपर उठ जाता है। केवल चोट पहुंचाकर हाथ से मूसल को छोड़ भी दिया जाएं तो भी मूसल कुछ ऊंचाई तक स्वतः ही उपर उछलता है। तब इस प्रकार के मूसल के उपर उठने में अभिघात ही कारण है।

अतएव यहाँ पर उत्क्षेपण कर्म का समवायिकारण मुसल तथा असमवायिकारण मूसल एवं उखल का तीव्र संयोग रूप अभिघात है। गुरुत्वादि अन्य साधन निमित्तकारण है। ध्यान रखना चाहिए यहाँ पर आत्मा के बिना प्रयत्न के ही ये कर्म हो रहे हैं।

इसी कारण सूत्रकार ने कहा है-

तथात्मसंयोगो हस्तकर्मणि । (5.1.4)

अर्थात् उस प्रकार आत्मा का संयोग हाथ में कर्म का कारण नहीं होता है। प्रस्तुत सूत्र में 'तथा' पद में पूर्वोक्त सूत्र के 'व्यतिरेकात् अकारणम्' पदों का अतिदेश करता है।

मूसल के साथ हाथ का सम्पर्क होने पर हाथ में भी उत्क्षेपण कर्म होता है। अब उसके कारण का उल्लेख करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

अभिघातान्मुसलसंयोगाद्धस्ते कर्म। (5.1.5)

अभिघात से मूसल साथ हाथ का संयोग होने के कारण हाथ में कर्म होता है।

जब मूसल का अभिघात ओखली में होता है, उस अभिघात से मूसल उछल जाता है, तब मूसल से संयुक्त हाथ भी उछल जाता है। इस उत्क्षेपण कर्म का समवायिकारण हाथ तथा असमवायिकारण मूसल-हस्त संयोग है।

मूसल एवं हस्त में बिना प्रयत्न के कर्म की उत्पत्ति के विवेचन के अनन्तर देह में होने वाले कर्म का वर्णन कर रहे है-

आत्मकर्म हस्तसंयोगाच्च। (5.1.6)

और आत्म-देह में कर्म हाथ के संयोग से होती है। सूत्र में 'आत्मा' पद का प्रयोग चेष्टा का आश्रय देह अर्थ में हुआ है। जैसा कि कोषकार का वचन है-

आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च। (अमरकोष. 3.3.109)

आत्मा तथा 'वर्ष्म' पद को देह का पर्याय कहा है।

तात्पर्य यह है कि अभिघात से उत्पन्न मुसल एवं हस्तगत कर्म से देह में भी कर्म होता है। केवल हाथ या हस्तसंयुक्त मुसल में ही कर्म नहीं होता अपितु पूरे शरीर में कर्म होता है। अर्थात् पूरा शरीर हिलता-डुलता है। यहाँ पर आत्मा के प्रयत्न से शरीर में कर्म नहीं होता। कोई भी व्यक्ति चाह कर शरीर को नहीं हिलाता है बल्कि अपने आप हिलता है। परन्तु यह भी नहीं समझना चाहिए कि अकारण ही ऐसा होता है। सूत्रकार के अनुसार शरीर के कर्म में हाथ का संयोग कारण है। हाथ शरीर का अवयव है, इसलिए अवयव के हिलने से अवयवी भी हिलने लगता है। यहाँ पर हिलने-डुलने रूपी कर्म का समवायिकारण देह

एवं असमवायिकारण हाथ का देह के साथ संयोग है।

ऊपर उछला हुआ मूसल इत्यादि को छोड़ दिया जाये तो उनमें जो अवक्षेपण (नीचे गिरना) कर्म का कारण बता रहे हैं-

संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम्। (5.1.7)

मूसल आदि के पतन का प्रतिबन्धक जो मूसल-हस्त संयोग है, उसका अभाव हो जाने पर गुरुत्व के कारण वस्तु नीचे गिरने लगती है। ऐसे स्थलों में भी आत्मा का प्रयत्न अकारण की होता है। यहाँ पर अवक्षेपण कर्म का समवायिकारण पतित मूसल है तथा असमवायिकारण गुरुत्व है। काल, दिशा इत्यादि तो कार्यमात्र के प्रति सामान्यरूप से निमित्त कारण होते ही हैं।

इसी प्रकार अन्यत्र अप्रयत्नपूर्वक कर्म का वर्णन करते हुये आचार्य कहते हैं-

तथा दग्धस्य विस्फोटने। (5.1.12)

ऐसे ही जले हुये का फफोला पड़ जाने में, अप्रयत्नपूर्वक कर्म होता है।

अग्नि से जलकर फफोला पड़ते हुए देहाङ्ग के साथ संयोग है।

एक और स्थल का अतिदेश करते हुये आचार्य कहते है-

यत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम्। (5.1.13)

प्रयत्न के न होने पर गहरे सोये हुए व्यक्ति का चलना।

कतिपय लोगों में यह बिमारी देखी जाती है, कि वह व्यक्ति गहरी नींद की अवस्था में ही शय्या से उठकर चलने लगता है। तब उसे दूसरे लोग पकड़ते है, जोर से हिलाते-डुलाते है तो उसकी नींद खुलती है। ऐसे स्थलों में चलने-फिरने रूपी कर्म का समवायिकारण देह तथा असमवायिकारण वायु का संयोग है। प्रस्तुत सूत्र में अग्रिम सूत्र से 'वायुसंयोगात' का उत्कर्ष है। सूत्रों में अनुवृत्ति उपर से नीचे की ओर तथा कतिपय स्थलों उत्कर्ष नीचे से ऊपर की ओर होता है।

अब शरीर के अन्यत्र बिना प्रयत्न के हाने वाले कर्म का वर्णन कर रहे हैं-

तृणे कर्म वायुसंयोगात्। (5.1.14)

तृण में कर्म वायु के संयोग से होता है। सूत्र में 'तृण' पद वायु द्वारा गति करने वाले अन्य सभी पदार्थों का उपलक्षण है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में तृण कर्म का समवायिकारण तथा वायु का तृण के साथ संयोग असमवायिकारण होता है। बाकि अन्य गुरुत्वादि साधन निमित्त कारण होंगे।

इस प्रकार प्रयत्न के बिना होने वाले कर्मों का विवेचन महर्षि के द्वारा किया गया।

स्मरणीय बिंदु :-

1. **जीवनयोनि प्रयत्नः** न्याय दर्शन के अनुसार, यद्यपि सांस लेना, पलक झपकना या हृदय का स्पंदन अनैच्छिक लगता है, फिर भी इनके पीछे एक सूक्ष्म श्जीवनयोनि प्रयत्नश कार्य करता है। यह प्रयत्न पूर्णतः सचेत (जैसे खाना या चलना) नहीं होता, बल्कि जीवन को धारण करने के लिए अनिवार्य है।
2. **स्वाभाविक कर्म (स्वभाव):** कुछ क्रियाएं पदार्थों के अपने श्स्वभावश के कारण होती हैं, न कि किसी प्रयत्न के। जैसेः अग्नि का ऊपर की ओर जाना, जल का नीचे की ओर बहना या मिट्टी के परमाणुओं का जुड़ना।
3. **अदृष्ट का प्रभावः** कई अप्रयत्नपूर्वक होने वाली घटनाएं (जैसे अचानक होने वाले लाभ या हानि, या प्राकृतिक आपदाएं) जीव के पूर्वजन्म के 'अदृष्ट' (पुण्य-पाप) के प्रभाव से होती हैं, जिसमें जीव का वर्तमान प्रयत्न शामिल नहीं होता।
4. **नैतिक उत्तरदायित्व का अभावः** चूँकि इन कर्मों में जीव का स्वतंत्र संकल्प (प्रयत्न) शामिल नहीं होता, इसलिए न्याय-वैशेषिक में इन्हें नैतिक रूप से श्पापश या श्पुण्यश का सीधा कारण नहीं माना जाता (जब तक कि वे किसी पूर्व-नियोजित कृत्य का परिणाम न हों)।

शब्दावली-

1. **जीवनयोनि प्रयत्नः** वह सूक्ष्म आंतरिक प्रेरणा जो बिना किसी सचेत संकल्प के भी जीवन के लिए आवश्यक क्रियाओं (श्वसन, आदि) को चालू रखती है।
2. **अनैच्छिक** (Involuntary)**:** वे क्रियाएं जिनमें जीव की इच्छा (संकल्प) का अभाव होता है।
3. **स्वभाव** (Inherent Nature)**:** द्रव्य का वह गुण जिसके कारण वह बिना किसी बाहरी प्रयत्न के अपनी विशिष्ट क्रिया करता है (जैसे गुरुत्व के कारण गिरना)।
4. **अदृष्टः** पूर्व संचित कर्मफल, जो जीवन की आकस्मिक घटनाओं (अप्रयत्नपूर्वक होने वाले संयोगों) का कारण बनता है।
5. **स्वायत्त क्रियाः** वे प्रक्रियाएं जो शरीर की प्राकृतिक संरचना के कारण स्वयं संचालित होती हैं।

5 अंक के प्रश्न :-

1. 'अप्रयत्नपूर्वक होने वाले कर्म' से आप क्या समझते हैं? इन्हें 'अनैच्छिक क्रियाएं' क्यों कहा जाता है?
2. न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'जीवनयोनि प्रयत्न' की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए। क्या यह सचेत प्रयत्न है?
3. पदार्थों के 'स्वभाव' (Inherent nature) का अप्रयत्नपूर्वक होने वाली क्रियाओं में क्या महत्व है?
4. क्या 'अप्रयत्नपूर्वक होने वाले कर्मों' के लिए जीव को नैतिक रूप से उत्तरदायी माना जा सकता है?
5. न्याय दर्शन में सांस लेने और हृदय के धड़कने जैसी क्रियाओं को 'प्रयत्न' के अंतर्गत क्यों रखा गया है?

15 अंक के प्रश्न-

1. 'संसार की सभी क्रियाएं जीव के सचेत प्रयत्न से ही नहीं होतीं।' इस कथन के आलोक में 'अप्रयत्नपूर्वक होने वाले कर्मों' की दार्शनिक विवेचना कीजिए।
2. 'जीवनयोनि प्रयत्न' और 'कृतिसाध्य प्रयत्न' के बीच के सूक्ष्म अंतर को स्पष्ट कीजिए। ये दोनों किस प्रकार आत्मा के गुण हैं?
3. स्वभाववाद और अप्रयत्नपूर्वक होने वाले कर्मों के संबंधों की व्याख्या कीजिए। गुरुत्व और द्रवत्व जैसे गुणों के कारण होने वाली क्रियाएं किस प्रकार 'कर्म' के अंतर्गत आती हैं?
4. कर्मफल सिद्धांत (अदृष्ट) और अप्रयत्नपूर्वक होने वाली आकस्मिक घटनाओं का क्या संबंध है? क्या मनुष्य के जीवन में होने वाली सभी घटनाएं उसकी इच्छा पर निर्भर करती हैं?
5. न्याय-वैशेषिक दर्शन में क्रियाओं के वर्गीकरण की सार्थकता सिद्ध कीजिए। ऐच्छिक और अनैच्छिक क्रियाओं के अंतर को समझना क्यों आवश्यक है?

बहुविकल्पीय प्रश्न-

प्रश्न १. न्याय दर्शन के अनुसार, वे कर्म जिनमें जीव का स्वतंत्र संकल्प (प्रयत्न) शामिल नहीं होता, क्या कहलाते हैं?

(क) कृतिसाध्य कर्म
(ख) अप्रयत्नपूर्वक होने वाले कर्म (अनैच्छिक क्रियाएं)
(ग) पुण्य कर्म
(घ) पाप कर्म

प्रश्न २. 'जीवनयोनि प्रयत्न' किस प्रकार की क्रियाओं के लिए उत्तरदायी है?

(क) केवल उच्च स्तरीय बौद्धिक कार्य
(ख) केवल बाह्य शारीरिक चेष्टाएं
(ग) श्वसन, हृदय स्पंदन जैसी अनिवार्य जैविक क्रियाएं
(घ) इनमें से कोई नहीं

प्रश्न ३. पदार्थों के 'स्वभाव' (Inherent Nature) के कारण होने वाली क्रियाओं का उदाहरण कौन सा है?

(क) लिखना
(ख) भोजन करना
(ग) जल का नीचे की ओर बहना
(घ) दौड़ना

प्रश्न ४. अप्रयत्नपूर्वक होने वाली घटनाओं (जैसे आकस्मिक लाभ-हानि) का मुख्य दार्शनिक कारण क्या माना गया है?

(क) जीव का वर्तमान संकल्प
(ख) ईश्वर का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप
(ग) पूर्वजन्म का 'अदृष्ट' (कर्मफल)
(घ) वातावरण का प्रभाव

प्रश्न ५. अप्रयत्नपूर्वक होने वाले कर्मों के संदर्भ में जीव का नैतिक उत्तरदायित्व कैसा होता है?

(क) जीव पूर्णत: उत्तरदायी है
(ख) जीव उत्तरदायी नहीं है
(ग) केवल ईश्वर उत्तरदायी है
(घ) समाज उत्तरदायी है

प्रश्न ६. 'स्वभाव' से क्या तात्पर्य है?

(क) आत्मा का गुण
(ख) किसी द्रव्य का वह अंतर्निहित गुण जिसके कारण वह विशेष क्रिया करता है
(ग) मन की एक अवस्था
(घ) इंद्रियों का व्यापार

इकाई-5.3 कर्म का नानात्व एवं वेग नामक संस्कार का एकत्व

उद्देश्य :-

1. **कर्म का नानात्व (Diversity of Action):** यह सिद्ध करना कि संसार में जितनी भी हलचलें या गतियां हैं, वे सभी अलग-अलग प्रकार की होती हैं। एक ही क्रिया का स्वरूप परिस्थितियों और दिशा के अनुसार भिन्न होता है।
2. **वेग का एकत्व (Unity of Velocity/Momentum):** यह स्पष्ट करना कि वेग एक विशिष्ट श्संस्कारश है जो आत्मा या द्रव्य में उत्पन्न होकर उस क्रिया को एक दिशा और निरंतरता प्रदान करता है।
3. **तार्किक आधार:** यह समझना कि कर्म क्षणिक है (आते ही नष्ट हो जाता है), जबकि 'वेग' उसे बनाए रखने वाली शक्ति है।

हस्तादि से उत्क्षेप्य वस्तु अंतिम बिन्दु तक जाकर वापस आ जाती है। अंतिम बिन्दु के बाद वस्तु में अवक्षेपण क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। अथवा सीधी रेखा में धनुष से छोड़ा गया बाण अपने लक्ष्य के साथ संयोग करके बाणगत गमनक्रिया का नाश हो जाता है। अब प्रश्न यह उठता है उपरोक्त क्रियाओं में वस्तु का अपने शुरूआती बिन्दु से अंतिम बिन्दु तक गति करने में या बाण का धुनष से छोडने एवं लक्ष्य तक पहुँचने के मध्य क्रिया एक ही मानी जाये अथवा अनेक। प्रत्यक्ष से गमनादि क्रिया का एकत्व का बोध होता है, परन्तु वैशैषिककार का इस विषय में भिन्न मत है। वे कहते हैं-

इषावयुगपत् संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वे हेतुः। (5.1.16)

बाण में क्रमशः संयोगविशेष हो होना कर्म के नानात्व में हेतु है।

अभिप्राय यह है, कि अपने शुरूआती बिन्दु से छूटी हुई वस्तु गति की पूर्ण निवृत्ति की अंतिम बिन्दुरूप अवधि तक पहुँचने में आकाश के विभिन्न प्रदेशों को क्रमशः संयुक्त होती हुई गति करती है। आकाश के विभिन्न प्रदेशों (बिन्दुओं) के साथ वस्तु एक साथ (एक ही काल में) संयुक्त नहीं होती है। बल्कि क्रम से एक-एक बिन्दुओं से संयोग-विभागपूर्वक आगे बढ़ती है। पूर्वदेश के साथ वस्तु का एवं उत्तरदेश के साथ वस्तु का संयोग के मध्य सम्पादित क्रिया को 'कर्म' कहते है। **''संयोगविभागवेगानां कर्म समानम्''** इस वैशेषिक सूत्र के अनुसार संयोग, विभाग एवं वेग इन तीनों का समानरूप के कारण कर्म है। अर्थात् कर्म ही संयोग, विभाग एवं वेग को उत्पन्न करता है। वस्तु का अपने प्रथम बिन्दु से अंतिम बिन्दु तक पहुँचने से पूर्व अनेक बिन्दुओं (आकाशप्रदेशों) के साथ संयोग विभाग होता है। **'कार्यविरोधि कर्म'** इस सूत्र के अनुसार कर्म अपने कार्य के द्वारा ही नष्ट कर दिया जाता है। पूर्वदेश के साथ विभाग का कारण भी कर्म है तथा उत्तरदेश के साथ संयोग का कारण भी कर्म है। जैसे ही वस्तु अपने उत्तरदेश के साथ संयुक्त होती है उस संयोग के उत्पादक कर्म नाश उपरोक्त सूत्रकथित सिद्धान्त के आधार पर स्वीकार किया जाता है। आशय यह है कि वस्तु का पूर्वदेश के साथ विभाग एवं उत्तरदेश के साथ संयोग होता है, पुनः दूसरे कर्म का भी नाश हो जाता है। इस प्रकार खण्ड-खण्ड रूप में अनेक कर्म होते हैं।

इस प्रकार के कर्म के अन्यत्व (भिन्नत्व-नानात्व) में सूत्रकार ने **'संयोगविशेषाः'** को हेतु रूप में उपस्थापित किया है। **'संयोगविशेषाः'** बहुवचनान्त पद से अनेक संयोग विशेष सिद्ध होता है उससे अनेक कर्मों का नाश भी सिद्ध होता है। तब एक-एक क्रिया का क्रमशः उत्पत्ति-नाशक क्रियाओं का सातत्य सिद्ध होता है। इन कर्मों के नानात्व के मध्य वेग नामक संस्कार भी कार्य करता है जो कि क्रिया की निवृत्ति पर्यन्त वह बना रहता है। कर्म के वेग नामक संस्कार की उत्पत्ति होती है और उस वेग से वस्तु का उत्तरोत्तर देशों का संयोग-विभागपूर्वक नाना कर्मों की उत्पत्ति होती रहती है। कर्म अनेक होते हैं परन्तु कर्म का हेतुभूत संस्कार एक ही होता है। इसी तथ्य को उद्भाषित करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

नोदनादाद्यमिषोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरं च। (5.1.17)

बाण का आद्यकर्म (प्रथम कर्म) नोदन से होता है। उस उत्पन्न नोदनकर्म से संस्कार उत्पन्न होता तथा उस संस्कार से पुनः उत्तरोत्तर कर्म होता रहता है।

धुनष की खींची हुई प्रत्यञ्चा से प्रेरित बाण में शुरूआती कर्म उत्पन्न होता है। उसके पश्चात उस उत्पद्यमान आद्यकर्म से बाण में वेगनामक संस्कार की उत्पत्ति सम्भव नहीं हैं इसलिए वेग से पहले वस्तु को थोड़ा हिलना आवश्यक है। वस्तु के प्रथम हिलने (अपने स्थान से थोड़ा सरकने) को ही सूत्रकार ने **''इषोः आद्यकर्म''** कहा है। बाण के धनुष से छूट जाने पर नोदन (प्रेरणा-धक्का) का अभाव हो जाता है। फिर भी वस्तु गति करती रहती है। इस गति का क्या कारण है? इसका उत्तर देते हुये सूत्रकार ने **'संस्कारात्'** कहा है। अर्थात् धनुष से छोड़े गये बाण में प्रेरणा का अभाव होने पर भी वेग नामक संस्कार के कारण वस्तु उत्तरोत्तर गति करती है। सूत्र में **'संस्कारात्'** एकवचनान्त पद संस्कार के एकत्व का प्रतिपादक है। आशय यह है कि उत्पन्न संस्कार क्रियानिवृत्ति पर्यन्त एक ही होता है, उसी एक वेग से उत्तरोत्तर अन्यान्य क्रियाएं होती रहती हैं

अब प्रश्न यह उठता है कि आद्यकर्मजन्य संस्कार एक ही रहता है, तो संस्कार के बने रहने से कर्म सदा होते रहना चाहिए तब तो बाण कभी गिरना न चाहिए? प्रस्तुत आशंका का समाधान करते हुये वैशेषिककार कह रहे हैं-

संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम् । (5.1.18)

वेग नामक संस्कार का अभाव होने पर गुरुत्व के कारण वस्तु नीचे गिर जाती है।

बाण में उत्पन्न वेग का प्रतिबन्धक वस्तु का अपना गुरुत्व (द्रव्यमान), पृथिवी का आकर्षण बल, वायु का अवरोध है। इन्हीं से संस्कार धीरे-धीरे क्षीण, क्षीणतर एवं क्षीणतम होता हुआ अन्ततः नष्ट हो जाता है। संस्कार के नष्ट हो जाने पर गुरुत्व हावी हो जाता है। गुरुत्व पतन का कारण होता है परन्तु गति के अनुकूल वेगसंस्कार के होते हुये गुरुत्व की अपनी दाल नहीं गलती है। जैसे ही उपरोक्त कारकों से वेग का अभाव होने पर गुरुत्व अपना कार्य कर बैठता है। परिणामतः वस्तु नीचे गिरने लगती है। इस प्रकार वेग का नाश हो जाने पर वस्तु का पतन होता है। इस कारण से क्रिया का अन्त हो जाता है।

स्मरणीय बिंदु :-

1. **कर्म का नानात्वः** कर्म पाँच प्रकार के बताए गए हैं (उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन)। इनका नानात्व (विविधता) इसलिए है क्योंकिः
1. इनका आधार (द्रव्य) अलग होता है।
2. इनकी दिशा और उद्देश्य भिन्न होते हैं।
3. ये द्रव्य के संयोग और विभाग के अलग-अलग कारणों से उत्पन्न होते हैं।

4. **वेग (संस्कार) का स्वरूपः** वेग 'संस्कार' का एक भेद है। जब किसी वस्तु में कोई गति (कर्म) उत्पन्न होती है, तो वह कर्म नष्ट होकर उस वस्तु में एक 'वेग' नामक गुण छोड़ देता है।
5. **वेग का एकत्वः** यद्यपि क्रियाएं अनेक (नाना) हैं, पर उन्हें एक दिशा में गतिमान रखने वाला 'वेग' एक निरंतर संस्कार के रूप में बना रहता है। यह वेग तब तक रहता है जब तक कि कोई अन्य प्रतिरोधी बल (जैसे घर्षण या संयोग) उसे समाप्त न कर दे।
6. **संबंधः** कर्म (क्रिया) कार्य है, और वेग (संस्कार) उस क्रिया का परिणाम है जो वस्तु में 'गति की निरंतरता' बनाए रखता है।

शब्दावलीः-

1. **कर्म (Action/Motion):** भौतिक द्रव्य में उत्पन्न होने वाली वह क्षणिक हलचल जो संयोग और विभाग का कारण बनती है।
2. **नानात्व (Plurality):** विविधता या अनेकता। कर्म के अनगिनत प्रकारों का बोध कराने हेतु प्रयुक्त शब्द।
3. **वेग (Momentum/Velocity):** संस्कार का वह विशेष गुण जो गतिशील वस्तु में गति की निरंतरता बनाए रखता है (जैसे तीर का छूटना)।
4. **संस्कार (Mental/Physical Impression):** वह गुण जो वस्तु में किसी अनुभव या क्रिया के अवशेष के रूप में स्थित रहता है (इसके तीन भेद हैं - वेग, भावना, स्थितिस्थापक)।
5. **उत्क्षेपण/अवक्षेपणः** ऊपर की ओर फेंकना और नीचे की ओर फेंकना (कर्म के भेद)।
6. **क्षणिकत्वः** कर्म की वह प्रकृति जिसके अनुसार वह उत्पन्न होने के तुरंत बाद नष्ट हो जाता है, इसी कारण उसे वेग के माध्यम से समझा जाता है।

5 अंक के प्रश्न :-

1. न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'कर्म का नानात्व' (Diversity of Action) से आप क्या समझते हैं?
2. 'वेग' नामक संस्कार क्या है और यह कर्म से किस प्रकार भिन्न है?
3. कर्म के पाँच भेदों (उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, गमन) का उल्लेख करते हुए उनके 'नानात्व' को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।
4. 'कर्म क्षणिक है, किंतु वेग स्थायी है' - इस कथन की तार्किक व्याख्या कीजिए।
5. न्याय-वैशेषिक में 'संस्कार' के तीन भेदों में श्वेगश की क्या विशेषता है?

15 अंक के प्रश्न :-

1. 'संसार की अनगिनत क्रियाओं के पीछे कर्म का नानात्व कार्य करता है, किंतु उन्हें एकसूत्रता वेग नामक संस्कार प्रदान करता है।' इस दार्शनिक सिद्धांत का सविस्तार वर्णन कीजिए।
2. कर्म और संस्कार (वेग) के बीच के संबंधों की विवेचना कीजिए। क्या बिना कर्म के वेग का अस्तित्व संभव है?

3. न्याय-वैशेषिक के 'कर्म के नानात्व' सिद्धांत की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए। यह भौतिक जगत की गतिशीलता को समझाने में किस प्रकार सहायक है?
4. वेग को 'संस्कार' का गुण क्यों माना गया है? वस्तु की गति में इसकी भूमिका को उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
5. भारतीय दर्शन में 'क्षणिकत्व' और 'निरंतरता' के द्वंद्व को समझने के लिए कर्म और वेग का सिद्धांत किस प्रकार समाधान प्रस्तुत करता है?

बहुविकल्पीय प्रश्न :-

प्रश्न १. न्याय-वैशेषिक दर्शन में कर्म के मुख्य कितने भेद (नानात्व) माने गए हैं?

(क) दो (ख) तीन **(ग) पाँच** (घ) सात

उत्तर: (ग) पाँच (उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, गमन)

प्रश्न २. 'वेग' (Velocity/Momentum) को किस श्रेणी का गुण माना गया है?

(क) द्रव्य का साधारण गुण

(ख) आत्मा का विशेष गुण

(ग) संस्कार (Impressions) नामक गुण का एक भेद

(घ) बुद्धि का एक प्रकार

प्रश्न ३. कर्म क्षणिक होता है, फिर भी गतिशील वस्तु में गति की निरंतरता किस कारण बनी रहती है?

(क) ईश्वर की इच्छा से **(ख) 'वेग' नामक संस्कार के कारण**

(ग) आत्मा के प्रयत्न के कारण (घ) गुरुत्व के कारण

प्रश्न ४. निम्नलिखित में से कौन सा ssसंस्कारs का भेद नहीं है?

(क) वेग (ख) भावना (ग) स्थितिस्थापक **(घ) रूप**

प्रश्न ५. 'कर्म का नानात्व' इस तथ्य को दर्शाता है कि:

(क) सभी क्रियाएं एक समान होती हैं

(ख) क्रियाएं उनके आधार (द्रव्य) और दिशा के अनुसार अनेक प्रकार की होती हैं

(ग) क्रियाएं केवल मन में होती हैं

(घ) क्रियाओं का कोई अस्तित्व नहीं होता

प्रश्न ६. गतिशील तीर में वेग का कार्य क्या है?

(क) तीर को स्थिर रखना

(ख) तीर को पीछे लाना

(ग) तीर में गति की निरंतरता बनाए रखना

(घ) तीर को नष्ट कर देना।

इकाई- 5.4 पृथिव्यादि चारों भूतों एवं मन में होने वाले कर्मो का विवेचन

उद्देश्य :-

1. **क्रिया की व्यापकता सिद्ध करना:** यह स्पष्ट करना कि गतिशीलता केवल स्थूल वस्तुओं का गुण नहीं है, बल्कि सूक्ष्म तत्त्वों और मन में भी क्रिया होती है।
2. **सृष्टि-प्रक्रिया को समझना:** यह बताना कि सृष्टि के निर्माण (परमाणु संयोग) और विनाश (परमाणु विभाग) में इन भूतों में होने वाले कर्म ही निमित्त बनते हैं।
3. **मन की गतिशीलता:** यह सिद्ध करना कि मन का श्द्रव्यश होना उसकी श्गतिश (कर्म) से ही प्रमाणित होता है, क्योंकि मन एक स्थान से दूसरे स्थान पर इंद्रियों के साथ संयोग के लिए जाता है।

अब वैशेषिककार पृथिवी आदि चारों भूतों में हाने वाले कर्म के कारणों का विवेचन करते हुये कहते हैं-

नोदनाभिघातात् संयुक्तसंयोगाच्च पृथिव्यां कर्म। (5.2.1)

नोदनरूप अभिघात से एवं संयुक्तसंयोग से पृथिवी में कर्म होता है।

चारों भूतों में से सबसे पहले पृथिवी के कर्मो का प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने उल्लेख किया है। पृथिवी में दो क्रियाएं होती है- (क) दृश्य (ख) अदृश्य। दृश्य क्रियाएं वे हैं जिनको साक्षात् अनुभव किया जा सकता है। जैसे पर्वतशिखरों का टूट कर गिरना, भूकम्प, भूस्खलन इत्यादि। प्रस्तुत सूत्र 'नोदन' पद का अर्थ तीव्रता के साथ किसी पदार्थ का अन्य से संयोग होना, जिसके कारण संयुक्त पदार्थ प्रेरित होकर गति करने लगता है। उसी को सूत्रकार ने और स्पष्ट करते हुये 'अभिघात' कहा है। इस पद का अर्थ 'धक्का' अथवा 'तीव्रचोट' है। तीव्र वर्षा, तीर्व वेगयुक्त वायु एवं विद्युत्पात आदि के कारण भूस्खलन एवं भूखण्डों का टूटना देखा जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्गों में कर्म का समवायिकारण पृथिवी के खण्ड, तथा असमवायिकारण उन पदार्थो का (विद्युत्, वर्षा, झञ्झावात) का पृथिवी खण्डों के साथ सम्पर्क है।

इसके अतिरिक्त 'संयुक्तसंयोग' कहीं पर पृथिवी में कर्म का जनक होता है। बहुत से गैस आदि विस्फोट पदार्थ आपस में संयुक्त होकर पृथिवी के सम्पर्क में आते हैं, संयुक्त पदार्थो का पृथिवी के साथ यह संयोग पृथिवी में कर्म को पैदा कर देता हैं, पृथिवी हिल जाती है, कांप जाती है। पृथिवी में ऐसी गति कभी भारी दबाव के कारण हो जाती है।

अब पृथिवी में होने वाले अदृश्य क्रियाओं का वर्णन करते हुये कहते हैं-

तद्विशेषेणादृष्टकारितम्। (5.2.2)

उस पृथिवी में होने वाली क्रियाओं से विशेष होने से वे क्रियाएं अदृष्टकारित हैं।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि पृथिवी में दृश्य एवं अदृश्य दो प्रकार की क्रियाएं होती है। प्रस्तुत सूत्र में अदृश्य कर्मो का उल्लेख किया है। उसी को सूत्रकार ने **'तद्विशेषेण'** अर्थात् पूर्वोक्त कर्मो से भिन्न होने से-ऐसा कहा है। पृथिवी का निरन्तर अपनी धुरी पर तथा सूर्य के चारों और घूमना। इन सभी क्रियाओं का कारण सूत्रकार ने अदृष्ट को बताया है। अर्थात् प्रत्येक सूर्यादि पिण्डों में एक गुरुत्वाकर्षणरूप अदृष्ट होता है, जो प्रत्यक्ष तो नहीं दिखती परन्तु अनुमान से जानने योग्य है। उन गुरुत्वाकर्षणबलों के परस्पर एक नियत संयोजन के कारण पृथिवी आदि सभी पिण्ड आकाश में झूलते रहते हैं तथा अपने-अपने अक्ष पर घूमते रहते हैं। इन्हीं गुरूत्वाकर्षणबलरूप अदृष्ट से पृथिवी में घूर्णन, परिभ्रमण आदि क्रियाए होती हैं।

अब पृथिवी के क्रियाओं का वर्णन करने के पश्चात जल की क्रियाओं का वर्णन करते हुये आचार्य कहते हैं-

अपां संयोगाभावे गरुत्वात् पतनम्। (5.2.3)

जलों का संयोग का अभाव होने पर गुरुत्व के कारण जल का पतन (अवक्षेपण) रूप कर्म होता है।

गर्मी के दिनों में जल वाष्प बन कर आकाश में सूक्ष्मरूप से बिखरे रहते हैं। उन जलकणों को वायु धारण किये होता है। वर्षा के दिनों में वातावरण का तापमान नीचे आने पर वे सूक्ष्मजल कण संघनीत होकर आपस में जुड़ने लगते है। तापमान बढ़ने पर पदार्थो के अवयवों का फैलाव होता है, जबकि तापमान के न्यून होने पर अवयव आपस में चिपकने लगते है। वाष्परूप जल के कण जब धीरे-धीरे चिपकने लगते है तब उनका द्रव्यमान बढ़ने लगता है। द्रव्यमान इतना बढ़ जाता है, कि अब वायु उसे ध ारण (रोकने) करने में असमर्थ हो जाता है। तब वायु एवं अभ्र के विधारकसंयोग का अभाव हो जाता है, तब संघनीत जलों का गुरुत्व प्रभावी हो जाता है। जिसके कारण जल की बूंदों का पतन प्रारम्भ हो जाता है, जिससे भूप्रदेशों में वर्षा प्रारम्भ हो जाती है।

यहाँ पर पतन रूपी कर्म का समवायिकारण जल तथा असमवायिकारण गुरुत्व है।

जल भूमि पर पतित होकर बहने क्यों लगता है? इसका विवेचन करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

द्रवत्वात् स्यन्दनम्। (5.2.4)

द्रवत्व के कारण जलों में स्यन्दन (बहना) रूपी कर्म होता है।

जलों का एक स्वाभाविक गुण है 'द्रवत्व' जिसके कारण जल भूमि पर पड़ते ही रूकता नहीं अपितु बहने लगता है। यह 'द्रवत्व' नामक गुण उसके आन्तरिक संरचना के कारण होता है। जैसा कि यह विदित है, कि सभी पदार्थों का निर्माण परमाणुओं से होता है। परमाणु आकृति में गोलाकार होते है। पार्थिव पदार्थों में ये परमाणु अत्यन्त समीपता के साथ एक दुसरे से जुड़े होते हैं। जिसके परमाणु परस्पर जितने अधिक समीप होगें वे पदार्थ उतना ही कठोर होगा। स्पंज जैसे पदार्थों के परमाणु परस्पर दूर-दूर होते हैं जिसके कारण उनके बीच काफी अवकाश होने से उसे दबाकर संकुतच किया जा सकता है। पार्थिव पदार्थों के अनेक पृष्ठ होने से उनकी आकृति निश्चित होती है। जल में केवल ऊपर ही पृष्ठ होता है, बाकि चारो तरफ नीचे पृष्ठ का अभाव होता है। जलीय परमाणुओं के बीच पर्याप्त स्पेस (अवकाश) होता है, यदि उसके चारों तरफ पृथिवी आदि अन्य पदार्थों का दिवार न हो तो उसके परमाणु एक-दुसरे के उपर से फिसल जाते हैं। जिसके कारण पानी बहने लगता है। परमाणुओं के बीच पर्याप्त अवकाश होने के कारण उनका एक-दूसरे के ऊपर से फिसलना जल के द्रव्यत्वगुण का नियामक है। इसी गुण के कारण जलों का स्पन्दन (बहना) रूप कर्म होता है।

अब जल के वाष्प बनकर उपर उठने रूपी क्रिया का निरूपण शास्त्रकार करते हैं-

नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम्। (5.2.5)

प्रखर सूर्य की किरणें वायु के संयोग से जल को उपर उठाती हैं।

जैसा कि पूर्वसूत्र में कहा जा चुका है कि जल का केवल उपर एकमात्र पृष्ठ होता है। जिसके कारण ऊपर एक पृष्ट (लेयर) से जल के कण आपस में बंधे रहते हैं। जब प्रखर सूर्य की रश्मियाँ जल की ऊपरी सतह (पृष्ठ) पर पड़ती हैं तो जल के अवयव एक-दूसरे से दूर भागते हैं, क्योंकि तापमान बढ़ने से अवयव दूर हटते हैं। तापमान एक सीमा तक पहुँचने पर ऊपर की सतह भी फट जाती है जिससे जल के परमाणु आन्तराण्विक बलों से मुक्त हो जाने से स्वतन्त्र हो जाते हैं, और वे झुण्ड के झुण्ड वाष्प के रूप में वायु के संयोग से ऊपर उठने लगते हैं। यहाँ जल में अवरोहणरूपी कर्म का समवायिकारण वाष्परूप जलकण है तथा असमवायिकारण 'वायुसहकृतजलसूर्यरश्मिसंयोग' है। अन्य सभी साधन निमित्त कारण हैं।

यन्त्रादि के माध्यम से जल के उपर चढ़नेरूपी कर्म का बता रहे हैं-

नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च। (5.2.6)

नोदन के अपीडन से अथवा संयुक्तसंयोग से जल ऊपर उठता है।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्वसूत्र से 'अपर' एवं 'आरोहणम्' पद की अनुवृत्ति है।

पिचकारी को जल से भरकर जब हाथ से उसके पिस्टन पर धक्का (नोदन) द्वारा अन्दर भरे जलों पर आपीडन (प्रेसर) दिया जाता है तब पिचकारी के छेद से पानी ऊपर की ओर उठता है। जितनी शक्ति से आपीडन किया जायेगा उसी के अनुसार जलों का आरोहण होगा। प्रेसर अधिक होगा तो जल अधिक ऊँचाई तक जायेगा, प्रेसर के कम होने से जल कम ऊँचाई तक जाता है।

इसमें पिचकारी का अग्रभाग में छिद्र का न्यून और अधिक होना भी जल के कर्म को प्रभावित करता है। समान दबाव पर छिद्र के पतला होने से जल अधिक ऊंचाई तक एवं छिद्र का बड़ा होने से कम ऊंचाई तक जाना यह छिद्र के मोटा-पतले होने पर निर्भर करता है।

सूत्र में 'नोदनापीडन' पद से जो भाव अभिव्यक्त किया है, उसी को 'संयुक्त-संयोग पद से स्पष्ट किया है। पानी को उपर उठाने में दो चीजें काम करती हैं- नोदन और आपीडन। पहले का अर्थ है धक्का, दूसरे का अर्थ है धकेलना। पिचकारी के पिस्टन को हाथ धक्का देता है तथा आपीडन पानी को। इस प्रकार नोदनापीडन का जल के साथ 'संयुक्त-संयोग' सम्बन्ध हुआ। हस्तसंयुक्त आपीडन का संयोग जल के साथ है। जो अर्थ 'नोदनापीडन' से अभिव्यक्त किया, उसी को 'संयुक्त-संयोग' से स्पष्ट किया।

जल में कर्मो के कारण के विवेचन के पश्चात तेज एवं वायु में होने वाले कर्मो का प्रसंग प्राप्त होता है। जिसका उल्लेख करते हुये सूत्रकार ने कहा है-

अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम् । (5.2.13)

अग्नि का उपर की ओर जलना, वायु का तिरछा बहना, परमाणुओं एवं मन के आदि-कर्म का कारण अदृष्ट है।

अर्थात् अग्नि का उपर की ओर उठना, वायु की तिर्यक् गति एवं साथ ही सर्गारम्भ में परमाणु एवं मन की गति का कारण जीवों के धर्माधर्मरूप अदृष्ट होता है। प्रस्तुत सूत्र का वर्णन पूर्व के प्रकरणों में स्पष्ट हो चुका है। अतः यहाँ पर प्रसङ्गवश संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है। प्रस्तुत प्रसंग में अग्नि, वायु, परमाणु एवं मन उपरोक्त कर्मो का समवायिकारण तथा जीवों के अदृष्ट असमवायिकारण है।

मन का कर्म

उपरोक्त सूत्र में मन में जिस कर्म का वर्णन हुआ है वह सर्गारम्भ वाले मन का शरीर के साथ बनाने में जो उपसर्पणरूप कर्म है उसका वर्णन हुआ है। अब भोग-काल में होने वाले मन में कर्म का वर्णन किया जा रहा है-

हस्तकर्मणा मनसः कर्म व्याख्यातम् । (2.2.14)

हाथ के कर्म से मन के कर्म का व्याख्यान समझना चाहिए।

हाथ में कर्म के उत्पत्ति का विवरण इस अध्याय के प्रथम आह्निक के प्रथम सूत्र में स्पष्ट कर दिया गया है। वहाँ पर प्रयत्नवान आत्मा का हाथ के साथ सम्बन्ध को असमवायिकारण कहा गया है। ठीक उसी प्रकार यहाँ पर मन में होने वाले कर्म के विषय में भी समझना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि जब हम किसी अभिलक्षित कार्य में अपने मन को लगाते हैं तो उस समय आत्मा के प्रयत्न से ही मन हमारे अनुकूल इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध बनाता है। तब प्रयत्नवान आत्मा का सम्बन्ध असमवायिकारण एवं मन समवायिकारण सिद्ध होता है। आत्मा शरीर में व्यापक होने से मन के साथ सामान्य संयोग तो रहता है। प्रस्तुत प्रसंग में प्रणिधानात्मक रूप विशेष संयोग समझना चाहिए।

स्मरणीय बिंदु :-

1. चारों भूतों में कर्मः

1. न्याय-वैशेषिक के अनुसार, पृथिवी, जल, तेज और वायु - इन चार भूतों में उत्क्षेपण आदि पाँचों प्रकार के कर्म (ऊपर, नीचे, सिकुड़ना, फैलना, गमन) हो सकते हैं।
1. उदाहरण के लिए, अग्नि की लपटों का ऊपर जाना (उत्क्षेपण) या जल का नीचे बहना (अवक्षेपण) इन भूतों के कर्म ही हैं।

2. मन में कर्मः

1. मन को भी 'द्रव्य' माना गया है। द्रव्य होने के कारण ही इसमें कर्म (गति) संभव है।
2. मन का कर्म 'गमन' (एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना) है। यह अत्यंत तीव्र गति से इंद्रियों के साथ संयोग करने के लिए दौड़ता है।

1. **कर्म का आधारः** कर्म केवल 'मूर्त' (ससीम) द्रव्यों में ही हो सकता है। आकाश, काल, दिशा और आत्मा 'अमूर्त' (सर्वव्यापी) हैं, इसलिए उनमें कर्म नहीं होता।
1. **कर्म और संयोग-विभागः** जहाँ भी कर्म होगा, वहाँ दो द्रव्यों के बीच 'संयोग' (मिलना) या 'विभाग' (अलग होना) अवश्य होगा।

शब्दावली :-

1. **मूर्त द्रव्यः** वे द्रव्य जिनकी सीमा है और जिनमें कर्म (गति) हो सकती है (पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन)।
2. **गमनः** वह कर्म जिसके द्वारा कोई वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचती है। मन का मुख्य कर्म यही है।
3. **अमूर्त द्रव्यः** वे द्रव्य जो सर्वव्यापी हैं और जिनमें कर्म संभव नहीं (आत्मा,आकाश,काल,दिशा)।
4. **क्रियाशीलताः** वह गुण जो किसी द्रव्य के गतिशील होने का प्रमाण है।
5. **परमाणु-संयोगः** भूतों में होने वाले सूक्ष्म कर्म, जिनसे सृष्टि का निर्माण होता है।

5 अंक के प्रश्न :-

1. न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'मूर्त द्रव्य' किन्हें कहा गया है और इनमें कर्म की क्या भूमिका है?
2. मन को 'द्रव्य' क्यों माना गया है? मन के कर्म (गमन) का क्या अर्थ है?
3. चारों भूतों (पृथिव्यादि) में कर्म की उत्पत्ति किस प्रकार होती है?
4. आत्मा, आकाश, काल और दिशा-इनमें कर्म क्यों नहीं होता? कारण स्पष्ट कीजिए।
5. न्याय दर्शन के अनुसार 'संयोग' और 'विभाग' की प्रक्रिया में कर्म की क्या उपयोगिता है?

15 अंक के प्रश्न :-

1. 'द्रव्यत्व की सिद्धि कर्म के आधार पर होती है।' इस कथन के आलोक में पृथिव्यादि भूतों और मन में होने वाले कर्मों की दार्शनिक विवेचना कीजिए।
2. मन के 'द्रव्यत्व' और उसकी 'गतिशीलता' (कर्म) को सिद्ध कीजिए। यह किस प्रकार इंद्रियों के साथ संयोग करके ज्ञान का आधार बनता है?

3. कर्म के पाँच भेदों (उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, गमन) का चारों भूतों के उदाहरणों के साथ विस्तृत वर्णन कीजिए।
4. सृष्टि के निर्माण (परमाणु संयोग) और प्रलय (परमाणु विभाग) में भूतों में होने वाले कर्मों की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।
5. मूर्त और अमूर्त द्रव्यों में अंतर स्पष्ट करते हुए यह सिद्ध कीजिए कि 'कर्म' केवल मूर्त द्रव्यों का ही गुण क्यों है?

बहुविकल्पीय प्रश्न :-

प्रश्न १. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार, निम्नलिखित में से कौन-सा द्रव्य 'मूर्त' होने के कारण कर्म (गति) करने में सक्षम है?
(क) आकाश (ख) काल **(ग) वायु** (घ) आत्मा

प्रश्न २. मन को 'द्रव्य' क्यों माना गया है?
(क) क्योंकि यह सर्वव्यापी है **(ख) क्योंकि इसमें कर्म (गमन) संभव है**
(ग) क्योंकि यह ज्ञान का आधार नहीं है (घ) क्योंकि यह अविभाज्य है

प्रश्न ३. मन का मुख्य कर्म क्या है, जिससे वह विभिन्न इंद्रियों के साथ संयोग करता है?
(क) आकुंचन (ख) उत्क्षेपण **(ग) गमन** (घ) प्रसारण

प्रश्न ४. निम्नलिखित में से किस द्रव्य में कर्म (क्रिया) संभव नहीं है?
(क) पृथिवी (ख) तेज **(ग) आकाश** (घ) मन

उत्तर: ब) आकाश (क्योंकि आकाश अमूर्त और सर्वव्यापी है)

प्रश्न ५. पदार्थों के संयोग और विभाग की प्रक्रिया में किसका होना अनिवार्य है?
(क) प्रयत्न का **(ख) कर्म (क्रिया) का** (ग) रूप का (घ) गंध का

प्रश्न ६. 'मूर्त द्रव्य' का क्या अर्थ है?
(क) वह जो सर्वव्यापी है
(ख) वह जिसकी कोई सीमा है और जिसमें गति संभव है
(ग) वह जिसमें कोई गुण नहीं होता
(घ) वह जो केवल मन से जाना जाता है

इकाई-5.5 वैशेषिकदर्शनानुसार मोक्ष का स्वरूप

उद्देश्य :-

1. **दुखों का अंतः** यह सिद्ध करना कि संसार दुखों का घर है, और मोक्ष वह स्थिति है जहाँ सुख-दुख का अनुभव पूरी तरह समाप्त हो जाता है।
2. **तत्वज्ञान की प्राप्तिः** यह स्पष्ट करना कि पदार्थों (द्रव्य, गुण, कर्म आदि) का सही ज्ञान होने से ही जीव अविद्या को नष्ट कर सकता है।
3. **स्व-स्वरूप की प्रतिष्ठाः** यह बताना कि मोक्ष में आत्मा किसी नए आनंद को प्राप्त नहीं करती, बल्कि अपने स्वाभाविक, निर्विकार और चौतन्य रूप में स्थित हो जाती है।

शास्त्र के आरम्भ में महर्षि कणाद ने तत्त्वज्ञान से मोक्ष का प्रतिपादन किया है। अनादि काल के अज्ञानजनित कर्मों के कारण यह जीव बार-बार शरीर के साथ सम्बन्ध बनाता है, उस शरीर से पूर्वकर्मों के फल (सुख-दुख) को भोगकर तथा नये प्रारब्ध कर्मों का निर्माण करके पुनः अगले जन्म रूप भवचक्र में अपने आप को डाल देता है। पुनः पुनः के भवचक्र में पड़ने के बाद जीवों की वासनाएं इतनी प्रबल हो जाती हैं कि बलात् उन्हें सुखोपभोग के अनुकूल कर्मों के लिए प्रेरित कर देती हैं। इन वासनाओं के कुचक्र से बाहर निकलना किसी बिरले लोग का कार्य होता है। जगत् का आकर्षण इतना होता है कि उन्हें भवसागर में डालने को विवश कर देता है। शरीर के द्वारा होने वाले भोगों का उल्लेख करते हुए कहते हैं-

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे । (5.2.15)

आत्मा, इन्द्रिय, मन एवं विषयों के सन्निकर्ष से सुख-दुःख होता है।

वैदिक दर्शनों में सुख-दुःख के अनुभव की प्रक्रिया को वैशेषिककार ने समझाया है। आत्मा का रूपादि बाह्य विषयों के साथ सम्बन्ध सीधा-सीधा नहीं होता है। इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा तक बाह्य विषय पहुँचते हैं। इसके लिए आत्मा पहले मन के द्वारा इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध बनाता है तथा इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के साथ सम्बन्ध बनाती है तब जाकर आत्मा को बाह्यविषयों का ग्रहण होता है। यदि वे विषय आत्मा के अनुकूल हैं तो सुख को तथा प्रतिकूल्य हैं तो दुःख को उत्पन्न करते हैं। मन के अणुपरिमाण होने से उसका क्रमशः इन्द्रियों के साथ सम्पर्क होता है। जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ मन का संयोग होता है, उस समय केवल उसी इन्द्रिय के विषय का आत्मा को ज्ञान हो पाता है। अतएव आत्मा को मन के माध्यम से क्रमशः विषयों की उपलब्धि होने से उसे क्रमशः सुखादि की अनुभूति होती है। मन जब तक सक्रिय रहता है तब तक आत्मा को किसी न किसी रूप से बहुर्मुखी बनाये रखता है। चाहे वह बहिर्मुखता अनुभवात्मक (प्रत्यक्षात्मक) हो चाहे वह स्मृत्यात्मक हो। दोनों रूपों में वृत्तियों की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता होने से सुख-दुःख बना ही रहता है। सुख भी अस्थाई होने से दुःखदायी ही होता है। परिणामतः सारा जागतिक विषय दुःखरूप होने से जीव से सदा त्रस्त रहता है। परन्तु ऐसा नहीं है कि वह इससे मुक्त नहीं हो सकता है। दुःखों से जीव को मुक्त कराने का मार्ग प्रशस्त कराना यही तो वैदिक दर्शनों की महत्ता है। यौगिक क्रियाओं द्वारा जीव शरीर के रहते ही दुःखों से दूर हो जाता है। इसी तथ्य को उद्भासित करते हुये महर्षि कहते हैं-

तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः स योगः । (5.2.16)

उसके अनारम्भ होने पर मन का आत्मा में स्थित हो जाने से मन में शरीर सम्बन्धी दुःख का अभाव हो जाना, वह योग की स्थिति है।

प्रस्तुत सूत्र में 'योग' शब्द योगशास्त्रोक्त 'समाधि' का बोधक है। 'तत्' शब्द से 'मन' को सूचित किया गया है। 'आरम्भ' पद का अर्थ है- प्रवृत्ति। मन जब प्रवृत्ति करता है तो आत्मा को सदा सुख-दुःख से संयुक्त होना ही पड़ता है। यौगिक ध्यानादि क्रियाओं के द्वारा जब मन को निष्क्रिय कर दिया जाता है तब मन अपने समस्त प्रवृत्तियों से हटकर आत्मस्थ हो जाता है। मन का आत्मा में स्थित हो जाने से उसके सारे आरम्भ (प्रवृत्तियाँ) रुक जाती है। यह अवस्था योग की है। इसे ही योगशास्त्रों में समाधि शब्द से कहा जाता है। यह चित्तवृत्तिनिरोध की अवस्था है। इस स्थिति में आत्मा की बहिर्मुखता पूर्णतः समाप्त हो जाती है। जिसके कारण आत्मा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, तब वह शरीर भाव से ऊपर उठने के कारण शरीरगत समस्त दुःखों से रहित हो जाता है। यह असम्प्रज्ञात योग है। इसे ही तत्त्वज्ञान-आत्मज्ञान-आत्मसाक्षात्कार इत्यादि नामों से जाना जाता है।

तत्त्वज्ञान के अनन्तर मोक्ष को बताते हुये शास्त्रकार कहते हैं-

उस प्रारब्ध कर्मों का अभाव हो जाने पर आत्मा एवं देह के संयोग का अभाव हो जाने पर आगे जन्म का अप्रादुर्भाव हो जाने से मोक्ष होता है।

सूत्र में 'तद' शब्द पूर्वोक्त सूत्र के 'अदृष्ट' का परामर्शक है। आत्मज्ञान हो जाने पर अविवेक (मिथ्याज्ञान) का नाश हो जाता है। जिससे प्रारब्ध कर्म के अतिरिक्त सकल कर्मों का नाश हो जाता है। यह अवस्था जीवनमुक्ति की है। अविवेक के नाश

होने के कारण बन्धन के मूल कारण का उच्छेद हो जाने से मुक्ति की अवस्था है तथा प्रारब्ध कर्म के कारण जीवन बोध रहने के कारण 'जीवन' भी है। यह एक प्रकार का सन्धिकाल जैसा है। यह पूर्ण मुक्ति नहीं है। धीरे-धीरे भोग द्वारा प्रारब्ध का भी क्षय हो जाता है। उसी को सूत्रकार ने 'तदभावे' पद से कहा है। तत्त्वज्ञान के द्वारा संचित एवं क्रियमाण कर्मों का नाश हो जाता है तथा भोग से प्रारब्ध कर्मों का नाश हो जाने पर जन्म से हेतु का पूर्णतः अभाव हो जाता है। जन्म के कारण का अभाव हो जाने पर कार्य का भी अभाव हो ही जायेगा। अतः जन्म के हेतुभूत सकल कर्मों (अदृष्टों) का नाश हो जाने पर जन्म का भी नाश हो जाता है। अर्थात् अब आगे आत्मा का किसी भी शरीर के साथ संयोग सम्भव नहीं।

इसी को सूत्रकार ने 'संगोगाभाव' शब्द से कहा है। आत्मा का देह के साथ संयोग का अभाव हो जाने पर आगे जन्म का प्रादुर्भाव नहीं होता है। इसलिए सूत्रकार ने सूत्र में 'अप्रादुर्भावः' कहा है। आत्मा का देह के साथ संयोग नाम जन्म का प्रादुर्भाव न होना ही मोक्ष कहलाता है। इस अवस्था में आत्मा में दुःखादि गुणों का नाश हो जाता है। जब आत्मा कृतार्थ हो जाता है। यह स्थिति सर्वोत्तम है। इसके बाद आत्मा के लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाते। समस्त वेद एवं वैदिक दर्शनों का यही एकमात्र अंतिम लक्ष्य है।

स्मरणीय बिंदु :-

1. **अविद्या का नाशः** मोक्ष का प्राथमिक मार्ग श्तत्वज्ञानश है। जब जीव यह जान लेता है कि 'मैं शरीर, मन या इंद्रिय नहीं, बल्कि आत्मा हूँ', तब उसकी अविद्या (अज्ञान) नष्ट हो जाती है।
2. **कर्म का अभावः** मोक्ष की स्थिति में पुण्य और पाप (अदृष्ट) दोनों का फल समाप्त हो जाता है। कोई नया कर्म शेष नहीं रहता, जिससे पुनर्जन्म का चक्र रुक जाता है।
3. **सुख-दुख से परेः** वैशेषिक दर्शन के अनुसार, मोक्ष में 'आनंद' का अनुभव भी नहीं होता (क्योंकि आनंद भी एक गुण है, जो मन के संयोग पर निर्भर है)। यह पूर्णतः 'दुख-अभाव' की अवस्था है।
4. **अवस्थाः** मुक्त आत्मा में बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न, सुख, दुख, धर्म और अधर्म जैसे सभी विशेष गुण समाप्त हो जाते हैं। वह आत्मा अपने शुद्ध, स्वतंत्र और निराधार (बिना शरीर-मन) स्वरूप में स्थित रहती है।

मुख्य शब्दावली :-

1. **अपावर्ग (Apavarga):** वैशेषिक दर्शन में मोक्ष के लिए प्रयुक्त शब्द, जिसका अर्थ है - दुखों का पूर्ण नाश।
2. **तत्वज्ञान (True Knowledge):** पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान, जो बंधन से मुक्ति का एकमात्र साधन है।
3. **अदृष्ट (Unseen Force):** वे संचित कर्मफल जो पुनर्जन्म का कारण बनते हैं। मोक्ष में इनका पूर्ण विनाश हो जाता है।
4. **स्व-स्वरूप स्थितिः** मोक्ष की वह अवस्था जहाँ आत्मा किसी भी बाह्य गुण या संयोग से रहित होकर स्वयं में स्थित होती है।
5. **दुख-ध्वंसः** मोक्ष को केवल सुख की प्राप्ति नहीं, बल्कि दुखों के सर्वथा नाश (ध्वंस) के रूप में परिभाषित करना।

5 अंक के प्रश्न :-

1. वैशेषिक दर्शन में 'मोक्ष' (अपावर्ग) का क्या अर्थ है? इसे श्दुख-ध्वंसश क्यों कहा जाता है?
2. मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन क्या है? वैशेषिक दर्शन में श्तत्वज्ञानश की क्या भूमिका है?
3. क्या वैशेषिक दर्शन के अनुसार मोक्ष की अवस्था में आत्मा को 'आनंद' की अनुभूति होती है? तर्क दीजिए।
4. मोक्ष की स्थिति में आत्मा की क्या दशा होती है? क्या उसमें बुद्धि या इच्छा जैसे गुण शेष रहते हैं?
5. 'अदृष्ट' (कर्मफल) का मोक्ष से क्या संबंध है? मोक्ष प्राप्त करने के लिए अदृष्ट का अंत क्यों आवश्यक है?

15 अंक के प्रश्न :-

1. 'मोक्ष केवल सुख की प्राप्ति नहीं, बल्कि दुखों की आत्यंतिक निवृत्ति है।' वैशेषिक दर्शन के इस दृष्टिकोण का सविस्तार वर्णन कीजिए।
2. तत्वज्ञान के माध्यम से अविद्या (अज्ञान) का विनाश और मोक्ष की प्राप्ति - इस प्रक्रिया की क्रमबद्ध व्याख्या कीजिए।
3. वैशेषिक दर्शन में मोक्ष की अवस्था को 'स्व-स्वरूप स्थिति' क्यों कहा गया है? बंधन और मोक्ष की स्थिति में आत्मा के गुणों में आए अंतर को स्पष्ट कीजिए।
4. भारतीय दर्शन के अन्य संप्रदायों (जैसे वेदांत या सांख्य) के मोक्ष स्वरूप की तुलना में वैशेषिक दर्शन का मोक्ष स्वरूप किस प्रकार भिन्न है?
5. मोक्ष के संदर्भ में 'गुणों के विनाश' (बुद्धि, सुख, दुख, प्रयत्न आदि) की चर्चा कीजिए। यदि आत्मा से सभी गुण समाप्त हो जाते हैं, तो वह 'जड़' जैसी क्यों नहीं हो जाती? दार्शनिक तर्क दें।

बहुविकल्पीय प्रश्न :-

प्रश्न १. वैशेषिक दर्शन में मोक्ष के लिए किस शब्द का प्रयोग किया गया है?

(क) कैवल्य **(ख) अपावर्ग** (ग) निर्वाण (घ) ब्रह्म-साक्षात्कार

प्रश्न २. वैशेषिक दर्शन के अनुसार मोक्ष की स्थिति क्या है?

(क) निरंतर आनंद का अनुभव **(ख) दुखों की पूर्ण और स्थायी निवृत्ति (अभाव)**

(ग) ईश्वर के साथ मिलन (घ) नवीन ज्ञान की प्राप्ति

प्रश्न ३. मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन वैशेषिक दर्शन में किसे माना गया है?

(क) केवल भक्ति को (ख) केवल कर्मकांड को

(ग) पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का 'तत्वज्ञान' (घ) तीर्थ यात्रा को

प्रश्न ४. मोक्ष की अवस्था में आत्मा के गुणों (बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न आदि) का क्या होता है?

(क) वे और अधिक विकसित हो जाते हैं (ख) वे आत्मा में संचित रहते हैं

(ग) उनका पूर्णतः विनाश हो जाता है (घ) वे ईश्वर में विलीन हो जाते हैं

प्रश्न ५. वैशेषिक दर्शन के अनुसार, मोक्ष में आत्मा किस स्थिति में रहती है?

(क) अपने शुद्ध और स्वाभाविक (निर्विकार) स्वरूप में

(ख) शरीर और मन के साथ

(ग) सुखद स्वप्न जैसी स्थिति में

(घ) शून्य (जड़) जैसी स्थिति में

प्रश्न ६. 'अदृष्ट' (कर्मफल) का मोक्ष से क्या संबंध है?

(क) मोक्ष में अदृष्ट का फल मिलता है

(ख) मोक्ष में अदृष्ट का पूर्ण विनाश हो जाता है

(ग) अदृष्ट मोक्ष का कारण है

(घ) इनमें से कोई नहीं

॥ ओ३म् ॥

सांख्यदर्शनम् – 1

BDPHMJ-402

दिव्य प्रकाशन

B.A Darshan
सांख्यदर्शनम् पूर्वार्द्ध
BDPHMJ-402

उद्देश्यः-

- सांख्य दर्शन में त्रिविध दुःख, त्रिविध प्रमाण देहात्मवाद आदि विशयों से परिचित कराना।
- प्रधाान के कार्य एवं ज्ञान और वैराग्य की महिमा से अवगत कराना।
- प्रथम तीन अधयायों (तन्त्राध्याय, प्रधानकार्याध्याय, वैराग्याध्याय) के सूत्रर्थ एवं भावार्थ का बोध कराना।

इकाई प्रथम- सांख्य तत्व का प्रतिपादन- त्रिविध दुःख विवेचन, प्रमाण सामान्य लक्षण, जीवात्मा का अस्तित्व सृष्टि का अभिव्यक्तिवाद।

इकाई द्वितीय- प्रकृति की प्रवृत्ति का निरूपण- आत्मा बहुत्व निरूपण, प्रकृति की उपादानता, इन्द्रियों का आहंकारिकत्व, ईश्वर का अस्तित्व प्रकरण।

इकाई तृतीय- सूक्ष्म एवं स्थूल तत्वों का प्रतिपादन -मन का स्वरूप, भूत-चैतन्य विचार, आत्मज्ञान के साधन, ईश्वर फल प्रदाता।

इकाई चतुर्थ- ज्ञान एवं वैराग्य का महत्व - अचेतन करणों का संसरण, प्रत्यय सर्ग निरूपण, भौतिक सर्ग निरूपण, बन्ध-मोक्ष निरूपण।

परिणामः-

- सांख्य दर्शन में त्रिविध दुःख त्रिविध प्रमाण देहात्मवाद आदि विशयों से परिचित हो जाता है।
- प्रधाान के कार्य एवं ज्ञान और वैराग्य की महिमा से अवगत हो जाता है।
- प्रथम तीन अधयायों (तन्त्राध्याय, प्रधानकार्याध्याय वैराग्याधयाय) के सूत्रर्थ एवं भावार्थ का बोध हो जाता है।
- सांख्य के समग्र शास्त्रों का विश्लेषण करने में सक्षम हो जाता है।

सहायक ग्रन्थः- 1. सांख्यदर्शनम्, आचार्य आनन्दप्रकाश, प्रकाशन- आर्ष विद्या प्रचार न्यास।

2. सांख्यदर्शनम् स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक, विद्यामार्तण्ड, प्रकाशक- सत्यधार्म प्रकाशन।

3. सांख्यकारिका (श्रीमदीश्वरकृष्णविरचिता), आचार्य-जगन्नाथ शास्त्री, प्रकाशक-मोतीलाल बनारसीदास।

विषय सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
खण्ड-1 सांख्य तत्व का प्रतिपादन	**5-22**
इकाई-1.1 त्रिविध दु:ख विवेचन	5-8
इकाई-1.2 प्रमाण सामान्य लक्षण	9-13
इकाई-1.3 जीवात्मा का अस्तित्व	14-18
इकाई-1.4 सृष्टि का अभिव्यक्तिवाद	19-22
खण्ड-2 प्रकृति की प्रवृत्ति का निरूपण	**23-40**
इकाई-2.1 आत्मा बहुत्व निरूपण	23-26
इकाई-2.2 प्रकृति की उपादानता	27-31
इकाई-2.3 इन्द्रियों का आहंकारिकत्व	32-35
इकाई-2.4 ईश्वर का अस्तित्व प्रकरण	36-40
खण्ड-3 सूक्ष्म एवं स्थूल तत्वों का प्रतिपादन	**41-55**
इकाई-3.1 मन का स्वरूप	41-42
इकाई-3.2 भूत-चैतन्य विचार	43-45
इकाई-3.3 आत्मज्ञान के साधन	46-50
इकाई-3.4 ईश्वर फल प्रदाता	51-55
खण्ड-4 ज्ञान एवं वैराग्य का महत्व	**56-1**
इकाई-4.1 अचेतन करणों का संसरण	56-60
इकाई-4.2 प्रत्यय सर्ग निरूपण	61-66
इकाई-4.3 भौतिक सर्ग निरूपण	67-69
इकाई-4.4 बन्ध-मोक्ष निरूपण	70-74

प्रस्तावना

भारतीय दर्शन की छह आस्तिक दर्शनों (षड्दर्शन) में से **सांख्य दर्शन** एक अत्यंत महत्वपूर्ण और प्राचीन दर्शन है। यह दर्शन वस्तुत: **द्वैतवाद** पर आधारित है, जिसमें दो प्रमुख तत्व प्रकृति (प्रकृतिक, अचेतन) और पुरुष (चेतन्य, आत्मा) को सार्वभौम एवं स्वतंत्र रूप से स्वीकार किया गया है। सांख्य शब्द का अर्थ है संख्या पर आधारित ज्ञान या विवेचनात्मक ज्ञाना यह दर्शन तत्वों की गणना व विश्लेषण पर आधारित है, इसलिए इसे सांख्य कहा गया है। सांख्य दर्शन न केवल भारतीय तात्त्विक चिंतन की नींव रखता है, बल्कि इसका प्रभाव पतंजलि के योग दर्शन, आयुर्वेद, वेदांत और आधुनिक विज्ञान तक भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। सांख्य दर्शन के प्रवर्तक **कपिल मुनि** माने जाते हैं, जिन्हें ''भारतीय दर्शन का प्रथम तत्त्वचिंतक कहा गया है। कपिल मुनि द्वारा प्रतिपादित सांख्य दर्शन को **''निरिश्वर सांख्य''** कहा जाता है, जिसमें ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया। बाद में कुछ दार्शनिकों ने 'सेश्वर सांख्य' का प्रतिपादन किया, जिसमें ईश्वर को जोड़ा गया, किंतु मूल सांख्य दर्शन निरिश्वर ही है।

प्रमुख ग्रंथ:

1. **सांख्यकारिका**- रचयिता: ईश्वरकृष्ण (प्रामाणिक एवं प्रसि) ग्रंथ)
2. **सांख्यसूत्र**- कपिल मुनि की रचना मानी जाती है (कुछ विद्वान इसकी ऐतिहासिकता पर संशय करते हैं)

सांख्य दर्शन की प्रमुख विशेषताएँ:-

1. **द्वैतवाद**- पुरुष और प्रकृति को दो शाश्वत, अनादि, और स्वतंत्र तत्व माना गया है।
2. **तत्त्वमीमांसा**-सांख्य दर्शन सृष्टि के 25 तत्त्वों की विवेचना करता है।
3. **निरिश्वरवाद**- ईश्वर की सत्ता को नकारा गया है (सृष्टि के निर्माण में केवल प्रकृति और पुरुष की भूमिका मानी गई है।
4. **परिणामवाद** (**सत्कार्यवाद**)- कार्य पहले से कारण में विद्यमान रहता है।
5. **मोक्ष का विवेकवाद**- मोक्ष केवल पुरुप और प्रकृति के भेदज्ञान से संभव है।
6. **प्रमाणों की स्वीकृति**- केवल प्रत्यक्ष, अनुमान, और शब्द को प्रमाण माना गया है।
7. **दु:ख का निवारण**- दर्शन का मुख्य उद्देश्य 'त्रिविध दु:खों' से मुक्ति प्राप्त करना है - आध्यात्मिक, आधिभौतिक, और आधिदैविक।

25 तत्त्वों की विवेचना (**तत्त्वमीमांसा**)

सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि में निम्नलिखित 25 तत्त्व हैं:

1. प्रकृति- सृष्टि का मूल कारण (अव्यक्त, अचेतन, नित्य)
2. महत्तत्त्व (बुद्धि)- विवेकशीलता, ज्ञान का प्रथम स्तर
3. **अहंकार**- ''मैं'' की भावना, आत्म-चेतना

4-8. पाँच तन्मात्रएँ- शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध

9-13. पाँच ज्ञानेंद्रियाँ- नेत्र, कर्ण, त्वचा, जिह्वा, नासिका

14-18. पाँच कर्मेंद्रियाँ वाक् पाणी- पाद, पायु, उपस्थ

19-23. पाँच महाभूत- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश

4. **मन**-इंद्रियों का समन्वयक, संकल्प-विकल्प करता है
5. **पुरुष**- चैतन्य, निर्गुण, साक्षी, आत्मा

प्रकृति और पुरुष की परस्पर भूमिका-

सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति प्रकृति से होती है, जो अचेतन है, परंतु यह तब तक सृजन नहीं करती जब तक इसे पुरुष के निकटता का साक्षात्कार न हो। पुरुष स्वयं कुछ नहीं करता वह केवल साक्षीभाव में स्थित है, परंतु उसके साक्षीभाव मात्र से ही प्रकृति की क्रियाशीलता प्रारंभ होती है। यह सिद्धांत बताता है कि चेतन पुरुष और अचेतन प्रकृति की संगति से ही समस्त विश्व की रचना होती है।

सांख्य दर्शन में मोक्ष का सिद्धांत

सांख्य दर्शन के अनुसार मोक्ष (मुक्ति) का अभिप्राय है दुखों की पूर्ण निवृत्ति। यह निवृत्ति तब होती है जब पुरुष को यह विवेक हो जाता है कि वह प्रकृति से भिन्न है। जव पुरुष यह जान लेता है कि वह केवल साक्षी है और न ही कर्ता है, न भोगता है तब वह प्रकृति के संयोग से मुक्त हो जाता है। यही अवस्था कैवल्य या मोक्ष कहलाती है। सांख्य दर्शन भारतीय तात्त्विक चिंतन की अमूल्य धरोहर है। यह दर्शन एक वैज्ञानिक, दार्शनिक, और आध्यात्मिक प्रणाली है, जो सृष्टि की प्रक्रिया को तर्क और अनुभव के माध्यम से समझाने का प्रयास करता है। इसके द्वैतवाद, 25 तत्त्वों की व्याख्या, तथा मोक्ष का विवेकात्मक दृष्टिकोण इसे अन्य दर्शनों से अलग करता करता है।

खण्ड-1 सांख्य तत्व का प्रतिपादन

इकाई-1.1 त्रिविध दु:ख विवेचन

उद्देश्य-

विद्यार्थियों को सांख्य दर्शन में वर्णित त्रिविध दु:खों का ज्ञान कराना।

दु:ख-निवृत्ति एवं मोक्ष की अवधारणा को समझाना।

सांख्य सूत्रों के माध्यम से विवेकज्ञान का महत्व स्पष्ट करना।

समस्त दु:खों को तीन वर्गो में बाँटा जा सकता है- आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक।

1- जो अपने आन्तरिक कारणों से उत्पन्न होता है, वह **'आध्यात्मिक'** दु:ख है। यह दो प्रकार का है- एक 'शारीरिक दूसरा मानसिक' । शरीर के वात, पित्त, कफ आदि की विषमता से अथवा आहार-विहार आदि की विषमता से जो दु:ख उत्पन्न होता है, उसे **'आध्यात्मिक शारीरिक'** दु:ख कहते हैं, तथा जो काम, क्रोध, मोह, मत्सरादि मनोविकारों के कारण दु:ख उत्पन्न होता है, वह **'आध्यात्मिक मानसिक'** दु:ख कहलाता है ।

2. जो दु:ख अन्य प्राणियों के द्वारा हमें प्राप्त होता है, उसे **'आधिभौतिक'** दु:ख कहते हैं। जैसे- सांप, बिच्छू आदि के काटने से, अन्य हिंसक प्राणियों के आघात से, किसी के मारने-पीटने अथवा कटु वाक्य कहने से।

3. जो दु:ख वर्षा, धूप, हिमपात, विद्युत्पात, भूकम्प, वायु आदि के उत्पातों से उत्पन्न होता है, उसे 'आधिदैविक' दु:ख कहते हैं।

न दृष्टात् तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात्॥ (सां.द.1/2)

अर्थ:- दृष्ट साधन बाह्य साधनलोक में प्राप्त होने वाले साधन से (तत्सिद्धि:) न उस अभीष्ट अत्यन्त दु:खनिवृत्ति की सिद्धि नहीं होती नहीं हो सकती। क्योंकि (निवृत्ते:- अपि) किसी दु:ख की निवृत्ति के अनन्तर भी (अनुवृत्तिदर्शनात्) अनुवृत्ति-पुन: प्रवृत्ति देखी जाने से।

व्याख्या:-दु:खों की निवृत्ति के लिए लोक में अनेक दृष्ट उपाय देखे जातें जातें है। जैसे -औषधि उपाय देखे जाते है। जैसे- औषधि, धन, अनुकूल स्त्री -पुरूष, टी.वी. वीडियो आदि से आध्यात्मिक-दु:खों की(नीतिशास्त्रोक्त विविध उपायों से तथा शस्त्रास्त्रादि से आधिभौतिक दु:खों की तथा वातानुकूलित घर, शान्तियाग, मन्त्रादि से आधिदैविक दु:खों की निवृत्ति करते है। किन्तु सूत्रकार का कहना है कि इन सब लौकिक दृष्ट साधानों से त्रिविधदु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति (मुक्ति) सम्भव नहीं (क्योंकि इन भौतिक साध ानों से यदि कोई दु:ख दूर हो भी जाय, तो अन्य दु:खों की अनुवृत्ति (उपस्थित) बनी रहती है। और इन साधानों के नष्ट होने पर पुन: उन्हीं निवृत्त दु:खों की भी अनुवृत्ति देखी जाती है।

अत: धनादि दृष्ट उपायों से त्रिविधदु:खों की अत्यन्तनिवृत्ति नही हो सकती। इसी अभिप्राय से श्रुति में कहा है-**"अमृतत्वस्य तु नाऽऽशास्ति वित्तेन"**-हे मैत्रेयि! धान से अमृतत्व (मोक्ष) की आशा नही की जा सकती। प्रथम दो सूत्रें के आशय के अनुसार ईश्वरकृष्ण की प्रथम सांख्यकारिका में कहा है-

दु:खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्॥ (सां.का.1)

ये तीन प्रकार के दुख हेय कोटि में गिने जाते है अर्थात् त्यागने योग्य होते है। इनकी अत्यन्त निवृत्ति को ही शास्त्र मे अत्यन्त पुरूषार्थ अथवा मोक्ष कहा गया है। मोक्ष जो सभी मुमुक्षुओं के लिए हान है अर्थात् प्राप्त करने योग्य है उसकी प्राप्ति के साधन कौन से है इसके लिए अगले सूत्र में प्रवेश करते है।

प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत् तत्प्रतीकारचेष्टनात् पुरूषार्थत्वम्॥(सां.द.1/3)

अर्थ:- (प्रात्यहिक क्षुत्प्रतीकारवत्) प्रत्यह-प्रतिदिन जैसे क्षुधा का प्रतीकार भोजन से किया जाता है वैसे ही (प्रतीकारचेष्टनात्) उस त्रिविध दु:ख के प्रतीकार-निवृत्ति कार्य से (पुरुषार्थत्वम्) पुरुषार्थता हो, न कि अत्यन्त पुरुषार्थता।

व्याख्या:-

जिस प्रकार स्थायी निवृत्ति न होते हुए भी दैनिक भूख के कष्ट को हटाने के लिए प्रयत्न किया जाता है, वैसे ही अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है, वैसे ही अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धनादि का अर्जन आवश्यक है (क्योकि दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर ही व्यक्ति अत्यन्त -पुरूषार्थ (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए आत्म- चिन्तन में प्रवृत्त हो पाता है। अत: धनादि का अर्जन भी 'पुरूषार्थ' नही।

सर्वासम्भवात् सम्भवेऽपि सत्तासम्भवाद्धेय: प्रमाणकुशलै:॥ (सां.द.1/4)

अर्थः-(सर्वासम्भवात्) दृष्टसाधनसेदुःखप्रतीकाररूपपुरुषार्थतामेंकिसीएकदुःखकाप्रतीकारहोगा,उसएकदृष्टसाधनद्वाराउससेसम्बन्धरखनेवाला ही दुःख निवृत्त होगा, सर्वदुःखनिवृत्ति होना सम्भव नहीं। पुनः (सम्भवे-अपि) बहुत प्रकार के साधन समूह से दुःख प्रतीकार सम्भव होने पर भी (सत्त्वासम्भवात्) वास्तविक दुःखप्रतीकार अत्यन्त दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष के न हो सकने से। जैसे कहा है **परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः** (योग.)
परिणाम-ताप-संस्कारमय दुःखों तथा सत्त्व आदि गुणों के परस्पर विरोध से सब कुछ विवेकी के लिये दुःख है। अतः (प्रमाण-कुशलैः) यथार्थ समतुलना करने में कुशल, परीक्षणकुशल दूरदशह्न विवेकी जनों द्वारा (हेयः) वह यह दृष्ट साधन गण तथा उससे सिद्ध हुआ दुःख-प्रतीकार त्याज्य है, अनादरणीय है।

व्याख्याः-प्रथम तो सब देश,काल, अवस्थाओं में सभी दृष्टसाधन उपलब्ध नही होते, और यदि किसी प्रकार ये सब साधन जुटा भी लिए जायें, तो भी इनसे अत्यन्त दुःखनिवृत्ति सम्भव नही, दुःख की विद्यमानता रहती ही है, इसलिए प्रमाणकुशल व्यक्तियों के द्वारा त्रिविध दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति के लिए दृष्ट उपायों का अवलम्बन सर्वथा हेय (परित्याज्य) है। अर्थात् परिणाम दुःख, ताप दुःख, संस्कार दुःख- ये तीनो प्रकार के दुःख सब भोगों मे विद्यमान रहने से और सत्त्वादि तीनों गुणों की वृत्तियों मे परस्पर विरोधा होने के कारण विवेकी के लिए सभी (भोग) दुःख रूप ही है।

उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः॥(सां.द.1/5)

अर्थः-(उत्कर्षात्-अपि) शास्त्रविहित दृष्टसाधन के सेवन से उत्कर्ष हो परन्तु उत्कर्ष के हेतु से भी मोक्ष में ही वस्तुतः उत्कर्ष है, वैसा यज्ञ आदि दृष्टसाधन से सिद्ध होने वाले दुःखनिवृत्तिरूप पुरुषार्थ में नहीं। क्योंकि (मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः) मोक्ष की सर्वोत्कर्ष श्रुति होने से श्रुति मोक्ष को सर्वोत्कर्ष बतलाती है- **अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः (छान्दो. 8/12/1)** । शरीर से विमुक्तहुए को सांसारिक सुख-दुःख नहीं छूते। **एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य परमा सम्पत्** (बृह. 6/3/32) यही इसकी उत्कृष्ट गति, यही ऊँची सम्पत्ति है। अतः अत्यन्त दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष के लिये यज्ञ आदि दृष्टसाधन उपादेय नहीं है किन्तु यम-नियम आदि अष्टांगयोगानुष्ठान रूप अदृष्टसाधन उपादेय है।

व्याख्याः-श्रुति मोक्ष को सर्वोत्तम बताती है। जैसे -**''न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः॥** (**छां.8/12/1**)- निश्चय से, शरीर वाले आत्मा के सुख-दुःखों का नाश नही होता, आत्मा के अशरीर होने पर ही उसे सुख-दुःख स्पर्श नही करतें। **''एषाऽस्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पत्।''** (**बृह.4/3/32**) यह (मोक्षवस्था) ही इसकी उत्कृष्ट गति और यही उँची सम्पत्ति हैं। अतः अत्यन्त दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष के लिए यज्ञ आदि दृष्ट साधन हेय और अष्टांगयोगरूप अदृष्ट साधन उपदेय है। वेद में भी कहा है-**''त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं..... मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्''** (**यजु० 759/12**) अर्थात् जीवात्मा प्रार्थना करता है कि -मैं मृत्यु से छुटकारा पा जाऊँ, अमृत से नही। **''मृत्योर्माऽमृतं गमय''** (**शत. 14/3/1/30 (बृह.उ.1/3/28**)-हे परमेश्वर! मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले जाइये, इत्यादि।

अविशेषश्चोभयोः (सां.द.1/6)

अर्थः- (उभयोः) दृष्ट-अदृष्ट साधनों में (च) भी (अविशेषः) अभेद है, भेद नहीं। साधन समानता से पुनः अष्टांगयोगाभ्यासादि अदृष्ट साधन से भी बद्ध का मोक्ष न होगा। यह पूर्वपक्ष रूप से कथन है अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षुभाष्य, हरिप्रसादवृत्ति में इस सूत्र का अन्यथा व्याख्यान है वहाँ पूर्वा पर संगति का अभाव है।

व्याख्याः-

जिस प्रकार लौकिक धन आदि साधनों से दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति नही होती, वैसे ही वेदविहित यज्ञादि कर्मो से भी नही हो सकती क्योकि इन दोनों उपायों से विवेकज्ञान (प्रकृति और पुरूष की पृथक्ता का अनुभूतिरूप ज्ञान) नही होता, जो कि मोक्ष का साक्षात् उपाय है। सांख्यसूत्रें में आगे स्पष्ट किया है-**''ज्ञानन्मुक्तिः, ''बन्धोविपर्ययात्: नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ''**

यज्ञादि अनुष्ठान अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा विवेकज्ञान में सहायक है, मोक्ष के साक्षात् उपाय नही। परंतु आत्मज्ञान या विवेकज्ञान को वेदों में भी मोक्ष का साधन बताया है। यथा-**''विद्ययाऽमृतमश्नुते''** (यजु.40/14) **''तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय''** ।

(यजु. 31/18)- विद्या (ज्ञान) से अमृत की प्राप्ति होती है। उस चेतन महान् पुरूष को जान कर ही मृत्यु से पार जाया जा सकता है, मोक्ष के लिए मार्ग नही है। औषधोपचार आदि लौकिक तथा यागादि वैदिक कर्म मोक्षार्थ असफल है। **यथा पापकृतो लोकः क्षीयते, तथा पुण्यकृतोऽपि।** अर्थात् जैसे पापकर्मो से प्राप्त सुख नष्ट हो जाता है, वैसे ही पुण्यकर्मो से प्राप्त सुख भी समाप्त हो जाता है। सूत्र 5, 6 के अनुसार सां.का. में कहा है-

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्। (सां.का.2)

अर्थात् वैदिक उपाय भी लौकिक उपाय के तुल्य ही है (क्योकि वह वैदिक उपाय अविशुद्धि, क्षय तथा अतिशय से युक्त है। इससे विपरीत (प्रकृति -पुरूष- विवेकज्ञानरूप) उपाय ही श्रेयस्कर है। वह व्यक्त, अव्यक्त और पुरूष के ज्ञान से होता है।

स्मरणीय बिंदु-

- सांख्य दर्शन में दु:ख तीन प्रकार के बताए गए हैं।
- मोक्ष का अर्थ दु:खों की पूर्ण निवृत्ति है।
- विवेकज्ञान मोक्ष का प्रमुख साधन है।
- पुरुष एवं प्रकृति का भेदज्ञान आवश्यक है।
- सांख्य दर्शन का लक्ष्य मानव को दु:खों से मुक्त करना है।

शब्दावली

शब्द		**अर्थ**
त्रिविध दु:ख	-	तीन प्रकार के दु:ख
विवेकज्ञान	-	सही भेद का ज्ञान
मोक्ष	-	दु:खों से मुक्ति
पुरुष	-	चेतन तत्व
प्रकृति	-	जड़ तत्व

5 अंक के प्रश्न-

1. आध्यात्मिक दु:ख क्या है?
2. आधिभौतिक दु:ख का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. आधिदैविक दु:ख किसे कहते हैं?
4. सांख्य दर्शन में मोक्ष का स्वरूप लिखिए।
5. त्रिविध दु:खों का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में त्रिविध दु:खों का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. सांख्य दर्शन में दु:ख-निवृत्ति एवं मोक्ष की अवधारणा का विश्लेषण कीजिए।
3. विवेकज्ञान द्वारा दु:खों की निवृत्ति कैसे संभव है? स्पष्ट कीजिए।
4. सांख्यकारिका के अनुसार पुरुषार्थ की व्याख्या कीजिए।
5. सांख्य दर्शन में मोक्ष को सर्वोच्च पुरुषार्थ क्यों माना गया है?

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. सांख्य दर्शन में दु:ख कितने प्रकार के बताए गए हैं?

(क) दो

(ख) तीन

(ग) चार

(घ) पाँच

2. आध्यात्मिक दु:ख का संबंध किससे है?

(क) शरीर और मन

(ख) प्रकृति

(ग) समाज

(घ) देवता

3. आधिभौतिक दु:ख किससे उत्पन्न होता है?

(क) प्राकृतिक आपदा

(ख) अन्य प्राणी

(ग) शरीर

(घ) ज्ञान

4. सांख्य दर्शन में मोक्ष का साधन क्या है?

(क) यज्ञ
(ख) तप
(ग) विवेकज्ञान
(घ) भक्ति
5. सांख्य दर्शन का मुख्य उद्देश्य क्या है?
(क) स्वर्ग प्राप्ति
(ख) धन प्राप्ति
(ग) दुःख निवृत्ति
(घ) राज्य प्राप्ति

इकाई-1.2 प्रमाण सामान्य लक्षण

उद्देश्य-

- सांख्य दर्शन में प्रमाण की अवधारणा को समझाना।
- प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द प्रमाण का ज्ञान कराना।
- ज्ञान प्राप्ति के साधनों का विश्लेषण करना।

भारतीय दर्शन में प्रमाण का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। प्रमाण का अर्थ होता है- सत्य ज्ञान प्राप्त करने का माध्यम। विभिन्न दर्शनों ने प्रमाणों की संख्या एवं स्वरूप के बारे में अलग-अलग विचार प्रस्तुत किए हैं। सांख्य दर्शन एक अत्यंत तर्कप्रधान, वैज्ञानिक और अनुभविक दर्शन है। यह केवल उन्हीं माध्यमों को प्रमाण स्वीकार करता है, जिनसे सत्य, प्रमाणिक और प्रत्यक्ष अनुभविक ज्ञान की प्राप्ति हो सके। सांख्य दर्शन में तीन प्रमाणों को मान्यता दी गई है, जिन्हें त्रिविध प्रमाण कहा जाता है: प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवाक्य (शब्द)।

त्रिविधं प्रमाणम् प्रमाण तीन प्रकार का है (प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम अर्थात् आप्तवचन)। **प्रत्यक्ष प्रमाण**- जो किसी इन्द्रियसे जाना जाय (**अनुमान**- जो किसी चिन्ह से समझा जाय और **आप्तवचन**- किसी आप्तका उपदेश आप्त उसे कहते हैं जिसने पदार्थ को साक्षात् किया हो और सत्यवक्ता हो । योग दर्शन मे भी तीन प्रकार के प्रमाण माने गये है-**प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि (स.पा.7)।** जिस पदार्थ को हमने अभी तक नहीं जाना है, उसका अवधारण अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान 'प्रमा' कहलाता है।**''प्रकृष्टं मानम् प्रमा, प्रमितिर्बोधो वा''** । उस प्रमा का जो उत्कृष्ट साधन है, जिसके तत्कालं अनन्तर 'प्रमा' की उत्पत्ति हो जाती है, उसे 'प्रमाण' कहते हैं। वह प्रमाण तीन प्रकार का होता है प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द । संक्षेप में **''प्रमाकरणं प्रमाणम्''** । अर्थात् प्रमा (ज्ञान) का साधन प्रमाण कहलाता है।

यत्सम्बद्ध सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्।(सां.द. 1/54)

अर्थः-

(यत्सम्बन्धसिद्धम्) जिसके सम्बन्ध से सिद्ध -जिस वस्तु के सम्बन्ध से पुरुष के अन्दर प्राप्त (विज्ञानम) जो विशिष्ट ज्ञान (तदाकारोल्लेखि) उस वस्तु के स्वरूप को दर्शानेवाला है (तत्प्रत्यक्षम्) वह प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

व्याख्याः-

चक्षु आदि साधनों के द्वारा वस्तु के साथ सम्पर्क होने पर विषय के समानाकार, अन्तःकरण की वृत्ति (प्रकाशक परिणाम) को 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहते हैं। सूत्र में 'यत्सम्बद्धम् पद' 'अनुमान' तथा 'शब्द' प्रमाण की व्यावृत्ति के लिए है। और 'विज्ञान' पद का प्रयोग इसलिए किया है, कि 'अनुमान' तथा 'शब्द' प्रमाणों से तो वस्तु का सामान्य ज्ञान ही होता है, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से वस्तु का विशेष ज्ञान होता है।

अर्थात् सूत्र में प्रयुक्त विज्ञान शब्द बुद्धिवृत्ति का ही बोधक है । वृत्तिकार के मत से **इन्द्रियार्थसन्निकर्षार्थ केन्द्रियसम्बन्धविषयाकारतापन्नवृत्तित्वं प्रत्यक्षत्वम्** यह प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण है। किन्तु भाष्यकार के मत से स्वार्थसन्निकर्षजन्याकारस्याश्रयो वृत्तिः प्रत्यक्षम् यह प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण है। सूत्रकार ने यहाँ पर बुद्धि वृत्ति को प्रमाण शब्द से कहकर यह सूचित किया है कि पुरुष को जो बोध होता है, वह प्रमा है, अर्थात् प्रमाण का फल है। इन्द्रियद्वारा गृहीत विषय को यह बुद्धिवृत्ति, पुरुष के पास तक पहुँचाकर उसे अर्पण कर देती है, तब उस विषय से उत्पन्न सुख आदि का अनुभव वह करता है । इस प्रकार अनुभव करना ही उस पुरुष का भोग है । सुख-दुःख आदि का अनुभव करते रहने पर भी पुरुष में कोई विकार या परिणाम नहीं होता है। क्योंकि वह सर्वदा सर्वथा च परिणामशून्य (अपरिणामी) है। चेतन होने के कारण अनुभव (भोग) और बुद्धिवृत्ति के द्वारा विषयों का ज्ञान उसे होता रहता है। इस अनुभव या ज्ञान को ही प्रमा कहते हैं। उस ज्ञान का साधकतम साधन बुद्धिवृत्ति है, जिसे प्रत्यक्ष प्रमाण शब्द से कहा जाता है। योगियों को अतीत, अनागत और व्यवहित पदार्थों (वस्तुओं) का भी प्रत्यक्ष होता है। किन्तु अतीत-अनागत-व्यवहित वस्तुओं के साथ इन्द्रिय के द्वारा बुद्धि का सम्बन्ध (सन्निकर्ष) होना कदापि सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियाँ तो वर्तमानकालीन वस्तुओं से ही सम्बन्ध रख सकतीं हैं, अन्य से नहीं । अतः योगिप्रत्यक्ष में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी। क्योंकि सम्बद्ध वस्तु का आकार नहीं है।

योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः। (सां.द. 1/55)

अर्थः-

(योगिनाम् - अबाह्यप्रत्यक्षत्वात्-न दोषः) योगियों का अबाह्य प्रत्यक्ष अनिन्द्रियप्रत्यक्ष होता है, वह भी इस लक्षण में आ जावे, इसलिये इस प्रत्यक्ष लक्षण में दोष नहीं। सांसारिक जनों का बाह्य प्रत्यक्ष है, वह बाह्य इन्द्रियों द्वारा वस्तुसम्बन्ध से उत्पन्न होता है, योगियों का प्रत्यक्ष तो अबाह्यप्रत्यक्ष भीतरी प्रत्यक्ष अन्तःकरण द्वारा वस्तुसम्बन्ध सूक्ष्म-गुप्त-दूरस्थ वस्तु से भी सम्बन्ध होने से

होता है। यहाँ हमारे प्रत्यक्ष-लक्षण में यत्सम्बन्धसिद्धम्- सम्बन्ध से सिद्ध होना लक्षण तो दोनों सांसारिकों और योगियों के प्रत्यक्ष में समान है, अतः दोष नहीं है। इससे योगियों का भीतरी प्रत्यक्ष भी गृहीत हो जाता है सांख्य के इस लक्षण में।

लीनवस्तु लब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः। (सां.द. 1/56)

अर्थः-

(वा) अथवा (लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धात् अदोषः) लीन अर्थात् सूक्ष्मों, अतीन्द्रिय वस्तुओं का प्राप्त अत्यधिक, बिना रुकावट, निरन्तर आत्म्य सम्बन्ध योगियों का होने से अदोष है। जैसे योगदर्शन में कहा है-**परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः** (योग०१।४०) परमाणु और परममहत् पर्यन्त योगी के इस चित्त का वशीकार होता है। अतः उस प्रत्यक्षलक्षण में दोष नहीं। पूर्वसूत्र में अन्तःकरण द्वारा वस्तुसम्बन्ध होने से दोष का परिहार किया। इस सूत्र में निरन्तर आत्मसम्बन्ध सिद्ध होने से निराकरण किया है, यह विशेष है।

व्याख्याः-

व्यवहित, अतीत, अनागत तथा सूक्ष्म विषयों को प्रत्यक्ष करने के लिए योगी में योगबल से दिव्यशक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे उसको व्यवहित आदि विषयों का प्रत्यक्ष हो जाता है। सांख्य का अपना सिद्धान्त है कि कोई भी कार्य, चाहे वह अतीत हो या अनागत हो, अपने कारण में सर्वदा विद्यमान रहता है। कोई भी वस्तु पूर्णरूपेण नष्ट नहीं हुआ करती । योगी का चित (मन) अपनी यौगिक शक्ति के सामर्थ्य से कार्यमात्र के मूलकारण के साथ सन्निकर्ष स्थापित कर लेता है, तब उसे प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्ष हो जाता है। अतः लक्षण के घटित हो जाने से योगि-प्रत्यक्ष में अव्याप्ति नहीं है ।

प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्। (सां.द. 1/65)

अर्थ-

(प्रतिबन्धदृशः) बन्ध के प्रति सम्बन्ध के प्रति वर्तमान जो लिक्ट्ग-धर्म है, वह प्रतिबन्ध अनिवार्यसम्बन्ध अविनाभावसम्बन्ध । उसको देखने वाले का (प्रतिबद्धज्ञानम् - अनुमानम्) अनिवार्यसम्बन्धज्ञान अविनाभावसम्बन्धज्ञान-नियतसम्बन्धज्ञान-उन-उन स्थलों में उन-उन जैसे पदार्थों में जो व्याप्तिज्ञान है या उसका दर्शन है, वह अनुमान प्रमाण है। दूसरे शास्त्र में प्रसिद्ध पूर्ववत, शेषवत्, सामान्यतो दृष्ट **अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च** (न्याय० १।१।५) तथा अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम् (योग० १।७ व्यासः)। योगदर्शन के इस व्यासभाष्य में कहा कि अनुमेय धर्म का तुल्यजातीय पदार्थों में पाया जाना, भिन्नजातीय पदार्थों से अलग होना, उनमें न पाया जाना जो सम्बन्ध है, उसे लेकर सामान्य निश्चय-प्रधानवृत्ति अनुमान है। उदाहरण-पर्वत पर अग्नि है, धुएं के कारण। जैसे रसोई में धुआं अग्नि होने से उठता है। जहां-जहां धुआं वहां-वहां अग्नि, अतः पर्वत पर अग्नि है।

व्याख्याः-

जो निश्चायक है, वह 'हेतु' (व्याप्य) और जिसका निश्चय किया जाय वह 'साध्य' (व्यापक) कहलाता है। इन्हीं हेतु (व्याप्य) और साध्य (व्यापक) के नियतसम्बन्ध को प्रतिबन्ध अथवा व्याप्ति कहते हैं। अन्वय-व्यतिरेक से यह व्याप्ति दो प्रकार की होती है।

क) अन्वय-व्याप्तिः- जहाँ एक के होने से दूसरे का होना बताया जाय उसे 'अन्वय-व्याप्ति' तथा

ख) व्यतिरेक-व्याप्तिः-जहाँ एक के न होने से दूसरे का न होना कहा जाय तो उसे **'व्यतिरेक-व्याप्ति'** कह देते हैं। इस प्रकार जिस व्यक्ति को व्याप्ति का ज्ञान होता है, वह एक धर्म (हेतु) से दूसरे नियत सम्बन्धी (साध्य) का ज्ञान कर लेता है। इसी को 'अनुमान' कहते हैं और इसका असाधारण साधन **'अनुमान-प्रमाण'** कहलाता है।

प्रतिबन्ध यानी व्याप्ति, उसके (व्याप्ति के) देखने पर जो व्यापक का ज्ञान होता है, उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। और उससे होने वाली जो अनुमिति है, वह फल है। एवं च अनुमिति ही पौरुषेय बोध है। वही अनुमान का फल है। धूम को देखकर जो वह्नि का ज्ञान होता है, वही अनुमान है। लिंगपरार्श अनुमान नहीं है। इसीलिये सांख्य ने पौरुषेयबोध को ही अनुमिति (अनुमान का फल) कहा है। सूत्र में प्रतिबन्ध शब्द दिया गया है। उसका अर्थ इस प्रकार है-बन्ध यानी सम्बन्ध । दो पदार्थों के नियत सम्बन्ध (स्वाभाविक सम्बन्ध) को प्रतिवन्ध कहते हैं। इस प्रतिबन्ध को व्याप्ति शब्द से भी कहते हैं। नियतसम्वन्धरूप व्याप्ति का उदाहरण, जैसे- यत् परिणामि, तत् त्रिगुणात्मकम् और यत् त्रिगुणात्मकं तत् परिणामी । इस प्रकार से परिणामी और त्रिगुणात्मक का अथवा त्रिगुणात्मक और परिणामी का नित्य (नियत) सम्बन्ध है। जिससे जिसका निश्चय करते हैं, उस निश्चायक को हेतु कहते हैं। और जिसका निश्चय किया जाता है, उसे साध्य कहते हैं। हेतु और साध्य के नियत सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। जब एक के होने पर दूसरे को बताया जाता है, तब उसे अन्वय व्याप्ति कहते हैं-**''तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः''।** और जब एक के न होने पर दूसरे का न होना बताया जाता है, तब उसे व्यतिरेक-व्याप्ति कहा जाता है।

यह व्याप्ति-ज्ञान जिसे रहता है, वही पुरुष एक धर्म (हेतु) के द्वारा उसके दूसरे नियत सम्बन्धी धर्म (साध्य) का ज्ञान कर पाता है। इस प्रकार के ज्ञान को अनुमान शब्द से कहते हैं व्याप्तिज्ञान-स्मरण पूर्वक व्याप्य से व्यापक का ज्ञान, इसमें हुआ करता है। व्याप्य (हेतु) और व्यापक (साध्य) के नियत साहचर्य को व्याप्ति कहते हैं। यह व्याप्ति दो प्रकार की होती है- (1) समव्याप्ति और (2) विषमव्याप्ति जहाँ पर हेतु (व्याप्य) और साध्य (व्यापक) के नियत साहचर्यरूप नित्य सम्बन्ध (स्वाभाविक सम्बन्ध, नियत सम्बम्ध) को अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा समान रूप से बताया जाता है, वहाँ पर समव्याप्ति कही जाती है । तत्सत्त्वे तत्सत्त्व-मन्वयः और तदभावे तदभावोव्यतिरेकः यह अन्वय और व्यतिरेक का स्वरूप है-जैसे कृत्रिमत्व और अनित्यत्व, परिण ामित्व और त्रिगुणात्मुक्तव, इन धर्मो का अन्वय-व्यतिरेक में समान साहचर्य रहने से इनकी समव्याप्ति कही जाती है।कुछ उदाहरण ऐसे भी उपलब्ध होते हैं, जहाँ दोनों धर्मों के अथवा पदार्थों के अर्थात् हेतु और साध्य के नियत साहचर्य को अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा समानरूप से नहीं बताया जा सकता, उन उदाहरणों में विषमव्याप्ति होती है। जिनमें परस्पर कार्य-कारण-भाव रहता है, वहीं पर प्रायः यह विषमव्याप्ति उपलब्ध होती है। क्योंकि ऐसे स्थलों में कार्य को देखकर कारण का तो अनुमान हो सकता है, किन्तु कारण को देखकर कार्य का अनुमान नहीं किया जा सकता । जैसे- धूमरूप कारण को देखकर अग्नि रूप कार्य का अनुमान तो कर सकते हैं, किन्तु अग्नि रूप कार्य को देखकर धूम रूप कारण का अनुमान नहीं कर सकते । क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि जहाँ अग्नि हो वहाँ धूम रहता ही हो । गीली लकड़ी आदि लगा देने पर धूम पैदा हो जाता है, अन्यथा नहीं । दहकते अंगारों में, तप्त लोहे में, स्टोप, गैस, बिजली आदि में अग्नि तो है, किन्तु वहाँ अग्नि को देखकर धूम का अनुमान नहीं कर पाते । उसी तरह वर्षा को देखकर मेघ का अनुमान तो हो सकता है, किन्तु मेघ को देखकर वर्षा का अनुमान नहीं किया जा सकता क्योंकि हम देखते हैं कि कभी-कभी मेघ के रहने पर भी वर्षा नहीं होती है। ये सब उदाहरण विषमव्याप्ति के हैं।

आप्तोपदेशः शब्दः ॥ (सां.द. 1/66)

अर्थः-

(आप्तोपदेशः) समस्त ज्ञान को प्राप्त सर्वज्ञ ईश्वर का उपदेश या सर्गारम्भ में अग्नि आदि महर्षियों के अन्तरात्मा में आप्त-प्राप्त-आविष्ट हुआ वेद, तथा आप्त-साक्षात्कृतधर्मा विद्यानिष्णात का उपदेश (शब्दः) शब्द प्रमाण है।

व्याख्याः-

सूत्र में प्रयुक्त शब्द का अर्थ है- शब्द जनित ज्ञान । सांख्य-कारिका की चतुर्थ कारिका में आप्तश्रुतिराप्तवचनन्तु कहा गया है। वहाँ आप्तवचनम् यह प्रमाणविशेष (शब्दप्रमाण) की संज्ञा है, और आप्तश्रुतिः यह उस प्रमाणविशेष का लक्षण है। आप्त-श्रुति का अर्थ है-आप्त द्वारा उच्चारितशब्द से उत्पन्न होने वाला ज्ञान । किसी विषय के यथार्थज्ञान को आप्ति कहते हैं। जिसने जिस विषय के ज्ञान को यथार्थ रूप में प्राप्त किया हो और तदनुसार ही बताता हो, उसे (उस व्यक्ति को हो) आप्त कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति के उपदेश (कथन) को शब्द प्रमाण कहते हैं। अथ. र्ति ऐसे व्यक्ति के मुख से निकले हुए शब्द प्रमाण समझे जाते हैं। इस शब्द-प्रमाण के आधार पर ही लौकिक व्यवहार की प्रामाणिकता समय विशेष पर समझी जाती है संसार में प्रायः अनाप्तों को हो भरमार रहती है, वे यथार्थज्ञाता तथा यथार्थवक्ता नहीं होते हैं। उनके ज्ञान में तथा बोलने में भ्रम, प्रमाद, विप्रलि. प्सा (वंचना-प्रतारणा) आदि दोष रहते हैं। इसीलिये लोग प्रायः धोखा खाते हैं, ठगे जाते हैं। क्योंकि अप्रमाणभूत शब्द को ही उन्होंने प्रमाणभूत शब्द समझकर विश्वास कर लिया है। अतः आप्त और अनाप्त का विवेक अत्यावश्यक है। क्योंकि आप्त पुरुष का ही शब्द प्रमाण होता है, अनाप्त पुरुष का नहीं किसी पदार्थ के यथार्थ ज्ञान को 'आप्ति' कहते हैं। तथा आप्ति वाले पुरुष का नाम 'आप्त' है। ऐसे आप्त (यथार्थ ज्ञाता) के उपदेश को 'आप्तोपदेश' (यथार्थोपदेश) कहते हैं। इसी का नाम **'शब्द-प्रमाण'** है।

परन्तु जिस उपदेश (कथन) में भ्रम, प्रमाद, लोभ आदि दोष हों तो वह अयथार्थ कथन **'शब्द प्रमाण'** नहीं कहा जा सकता। तीनों प्रमाणों के विषय में सांख्यकारिका है -

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं, त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
तल्लिक्ङ्गलिक्ङ्गिपूर्वकम्, आप्तश्रुतिराप्तवचनं च॥ (सां.का.5)

अर्थात् प्रत्येक (घट, पट आदि) विषय में इन्द्रिय आदि के सम्बन्ध से उत्पन्न निश्चयात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। व्याप्यव्यापकभाव पूर्वक अर्थात् हेतु से जहाँ साध्य का ज्ञान हो उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। उसके तीन भेद हैंः पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतादृष्ट । यथार्थ ज्ञाता के वाक्य से उत्पन्न ज्ञान को शब्द प्रमाण कहते हैं।

उभयसिद्धिः प्रमाणात् तदुपदेशः (सां.द. 1/67)

चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के पदार्थों की सिद्धि प्रमाण से ही होती है, इसलिए प्रमाणों का उपदेश किया गया है।

1) **प्रत्यक्ष :**-प्रकृति-पुरुष के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण तो योगियों का भीतरी प्रत्यक्ष अन्तःकरण द्वारा सूक्ष्मवस्तु से सम्बन्ध होने से हा. ेता है, जैसा कि प्रत्यक्ष लक्षण प्रकरण में कह दिया गया है। (किन्तु स्थूल पदार्थों को बाह्य प्रत्यक्ष से भी जाना जाता है), अतः प्रकृति-पुरुष की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण भी साधक है।

2). **अनुमान :**- महत्तत्त्वादि कार्य हैं। कार्य उपादान और निमित्त कारण से होता है, घड़े की भाँति। जैसे घड़े का उपादान-कारण मिट्टी और निमित्त कारण कुम्हार होता है, इसी प्रकार यहाँ भी प्रकृति उपादान कारण और पुरुष-विशेष ईश्वर निमित्तकारण अनिवार्य है। और **'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः''** (वैशेषिक. 2/1/24) अर्थात् कारण के गुणानुसार कार्य के गुण होते हैं कारण के गुण कार्य में होते हैं। कार्य त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणरूप है, अतः त्रिगुणात्मक (सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण रूप) प्रकृति उपादान कारण है। **''अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधः''**- सांख्य 1/25(60) । इस सूत्र से प्रकृति और पुरुष के बोधार्थ अनुमान प्रकरण चल रहा है, फिर **''संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य''**-सांख्य 1/31 (61) सूत्र में भी संहत के परार्थ होने से - इस अनुमान द्व ारा पुरुष का बोध होता है। महत्तत्त्वादि संहत हैं, अतः परार्थ हैं, घट, शय्या आदि के समान । पर है पुरुष (जीवात्मा)। इस कार पुरुष की सिद्धि में अनुमान प्रमाण है। और-

3). **शब्द-प्रमाणः** द्यावाभूमी जनयन् देव एकः (यजु.17/16)- यह पुरुषविशेष ईश्वर में शब्दप्रमाण है। **त्यक्तेन भुञ्जीथाः.** (यजु. 40/1) - यह भोक्ता पुरुष की सिद्धि में प्रमाण है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ (ऋ० 1/164/20)

यहाँ द्वा सुपर्णा- दो पक्षी तथा अन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति एक फल खाता है, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति- दूसरा केवल साक्षी है। - इस कथन से ईश्वर और जीव सूचित किये हैं। तथा समानं वृक्ष-समान वृक्ष कथन से प्रकृति लक्षित है। अतः प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीनों प्रमाणों से प्रकृति और पुरुष की सिद्धि होती।

स्मरणीय बिंदु-

- सांख्य दर्शन तीन प्रमाणों को स्वीकार करता है।
- प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियों से प्राप्त होता है।
- अनुमान हेतु व्याप्ति ज्ञान आवश्यक है।
- शब्द प्रमाण आप्त पुरुष के वचनों पर आधारित है।
- प्रमाण सत्य ज्ञान का साधन है।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
प्रमाण	-	ज्ञान का साधन
प्रत्यक्ष	-	इन्द्रियजन्य ज्ञान
अनुमान	-	तर्क द्वारा ज्ञान
शब्द	-	आप्त वचन
व्याप्ति	-	अविनाभाव संबंध

5 अंक के प्रश्न-

1. प्रमाण का अर्थ क्या है?
2. प्रत्यक्ष प्रमाण की परिभाषा दीजिए।
3. अनुमान प्रमाण क्या है?
4. शब्द प्रमाण का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
5. सांख्य दर्शन में कितने प्रमाण माने गए हैं?

15 अंक के प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में प्रमाणों का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
3. अनुमान प्रमाण की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।

4. शब्द प्रमाण की उपयोगिता का विवेचन कीजिए।
5. सांख्य दर्शन में प्रमाणों का महत्व स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में प्रमाणों की संख्या है -
(क) 2
(ख) 3
(ग) 4
(घ) 6
2. प्रत्यक्ष प्रमाण का संबंध किससे है?
(क) इन्द्रिय ज्ञान
(ख) अनुमान
(ग) वेद
(घ) योग
3. शब्द प्रमाण किस पर आधारित है?
(क) प्रत्यक्ष अनुभव
(ख) आप्त वचन
(ग) कल्पना
(घ) संशय
4. अनुमान प्रमाण का उदाहरण क्या है?
(क) धुएँ से अग्नि का ज्ञान
(ख) जल का स्वाद
(ग) वायु का स्पर्श
(घ) मंत्रोच्चारण
5. प्रमाण का उद्देश्य क्या है?
(क) अज्ञान बढ़ाना
(ख) सत्य ज्ञान प्राप्त करना
(ग) विवाद करना
(घ) कर्म करना

इकाई-1.3 जीवात्मा का अस्तित्व

उद्देश्य-

- जीवात्मा के स्वरूप का ज्ञान कराना।
- शरीर एवं आत्मा के भेद को स्पष्ट करना।
- पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करना।

यद्यपि आत्मा साधारण रूप से स्वसंवेद्य है। तथापि अविवेक दशा में प्रत्येक व्यक्ति मैं मोटा हूं, मैं पतला हूं, मैं दुर्बल हूं, मैं बलवान् हूं तथा मैं अन्धा हूं, मैं लंगड़ा या लूला हूँ। इस प्रकार -अहं का सामानाधिकरण्य स्थूल शरीर और इन्द्रियों के साथ अनुभव करता है, और शरीरादि को ही आत्मा समझता है। अतः चेतनाचेतन विवेक के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट किया जाय।

शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान्। (सां.द.1/104)

अर्थः-

(शरीरादिव्यतिरिक्तः) शरीर आदि से शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण से तथा भूतभौतिकों प्रकृतिपर्यन्त पदार्थों से भिन्न पुरुष है। उस में सामष्टिक पुरुषविशेष ईश्वर और शरीर के अन्दर रहने वाला जीवात्मा पुरुष भी भिन्न है।

व्याख्याः-

शरीर आदि से भिन्न है पुरुष (आत्मा) स्थूल शरीर से लगाकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रकृति पर्यन्त जितना अचेतन अचेतन जगत् है, उस सबसे अतिरिक्त है. पुमान्, अर्थात् चेतन आत्मा। मूलरूप से सांख्य दो तत्त्व स्वीकार करता है, जड़ और चेतन । प्रकृति और उसके समस्त विकार जड़ है तथा अनन्त जीवात्मा और एक परमात्मा चेतन है। जीवात्मा अविवेक के कारण शरीर इन्द्रिय तथा बाह्य अर्थो के साथ अभेद का ग्रहण करता हुआ भी वास्तविक स्थिति में वह इन सबसे अतिरिक्त है। सर्वज्ञ ईश्वर को इस प्रकार की भ्रान्ति की संभावना ही नहीं । वह भी प्रकृत्यादि समस्त अचेतन जगत् से स्वतः अतिरिक्त है।

संहत परार्थत्वात् ।(सां.द.1/105)

अर्थः-

(संहतपरार्थत्वात्) शरीर आदि संहत हैं-खण्डों से युक्त हैं-मिले हुए हैं। संहत स्वार्थ नहीं होते उनके जड़ होने से, शय्या आदि के समान, किन्तु परार्थ ही हैं। इस कारण जिसके अर्थ शरीर आदि हैं, वह शरीर आदि से परे है, भिन्न है, यह प्रथम हेतु है।

व्याख्याः-

संघात के परार्थ अन्य के लिए होनें से संहत अर्थात् संघात रूप में विद्यमान समस्त अचेतन तत्त्व, परार्थ देखा जाता है-उसकी समस्त प्रवृत्ति पर के लिए होती है. वह पर भोक्ता जीवात्मा है। यदि भोक्ता आत्मा का अस्तित्व न माना जाए तो जगत् की प्रवृत्ति निष्फल है। इस प्रकार भोग्य अचेतन से विलक्षण भोक्ता चेतन आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। समूहरूप में विद्यमान जितने भी जड पदार्थ हैं, वे सब परार्थ यानो दूसरे के लिये होने से भी चेतन पुरुष की सिद्धि हो जाती है। जैसे शय्या आदि सामग्री, उस पर सोने वाले किसी अन्य व्यक्ति के लिये होती है। अतः यह असंहत पुरुष, संहत देह आदि से भिन्न ही सिद्ध होता है।

इस हेतु की व्याख्या **संहत परार्थत्वात् पुरुषस्य** (सू. 1/66) सूत्र पर की जा चुकी है। तथापि कथित हेतु का पुनः उल्लेख कारणों (हेतुवर्ग) के संग्रहार्थ किया गया है। अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा-जैसे, विवादास्पदं प्रकृति-महदादिक परार्थम स्वेतरस्य भोगापवर्गफलकम् संहतत्वात् शय्या-सनादिवत्-इस अनुमान के द्वारा प्रकृति से पर (अन्य-भिन्न) असहत होगा। परिणामी तत्त्व अपने स्वार्थ को सिद्ध न करने के कारण पुरुष ही सिद्ध होता है। उसको भी संहत कहने पर अनवस्थादोप तथा स्वयं जड़ होने के कारण वह अपने से विलक्षण तत्त्व के विद्यमान होने का अनुमान कराता है।

त्रिगुणादिविपर्ययात् ।(सां.द.1/106)

अर्थः-

(त्रिगुणादिविपर्ययात्) सत्त्व, रज, तम तीन गुण तथा आदि शब्द से जड़त्व पुरुषाधीनत्व ग्रहण किए जाते हैं। इनके विपर्यय से पुरुष में कहे धर्मो के विपरीतत्व-अभाव और भिन्न धर्मो-चेतनत्व आदि का भाव है, अतः शरीर आदि से भिन्न पुरुष है।

व्याख्याः-

सत्व, रजस्, तमस् ये तीन गुण है। आदि पद से इनके समस्त परिणाम अन्योन्य-मिथुन वृत्तिता जड़ता आदि का ग्रहण कर लेना चाहिए। इस प्रकार

त्रिगुणात्मक मूल उपादान तथा उसके समस्त परिणाम महदादि से विपरीत एक विलक्षण तत्व को स्वीकार किया गया है। यह तत्त्व त्रिगुणानीत अपरिणामी चेतन-आत्मा है, जो जीवात्मा और परमात्मा इन दो रूपों में वर्णित है। **आदिशब्देन चात्र त्रिगुणमविवेकि विषय** (**सां. का.** 11) **इति कारिको**क्ता**ऽविवेकित्वादयो ग्राह्याः । तथा रूपादयः शरीरादिधर्मा ग्राह्याः**। सूत्रगत आदि शब्द से त्रिगुणमविवेकि विषयः (11 कारि.) इस कारिका में बताये हुए विवेकित्व आदि का ग्रहण करना चाहिये । तथा रूप आदि शरीर धर्मो का भी ग्रहण करना चाहिये । अर्थात् अन्योन्यमिथुनवृत्तिता जडता आदि सभी परिणामों का ग्रहण करना चाहिये । एवं च त्रिगुणात्मक मूल प्रकृति रूप उपादान तथा उससे होने वाले महदादि समस्त परिणामों से विपरीत एक विलक्षण पुरुष तत्त्व को स्वीकार किया गया है। यह पुरुष तत्त्व- त्रिगुणातीत, अपरिणामी चेतन है, जिसको जीवात्मा और परमात्मा दो रूपों में सभी ने बताया है।

अधिष्ठानाच्चेति । (सां.द.1/107)

अर्थः-

(अधिष्ठानात्-च) और पुरुष शरीर आदि का अधिष्ठान अधिष्ठाता के धर्म से आश्रय है तथा अधिष्ठेय शरीर आदि है, अतः पुरुष शरीर आदि से भिन्न है। (इति) ऐसा कथन ईश्वर जीवात्मा के समान धर्मो की कथन समाप्ति है। इस में ईश्वर का अधिष्ठातृत्व सृष्टिकर्तृत्व से है, जीवात्मा का अधिष्ठातृत्व देह व्यापार का प्रवर्तक होने से है।

व्याख्याः-

जितना त्रिगुणात्मक अचेतन जगत है उसका कोई अन्य चेतन अधिष्ठाता रहता है जो अचेतन में प्रवृत्ति आदि का हेतु होता है,जिस प्रकार रथ आदि अचेतन की प्रवृति का हेतु एक यन्ता अधिष्ठाता रहता है, इसी प्रकार बुद्धि से लेकर स्थूलभूतनिर्मित शरीर तक जितना यह संघात है, इसमें प्रवृत्ति का हेतु कोई चेतन अधिष्ठाता होना चाहिए, वह जीवात्मा है। जैसे इस शरीर का अधिष्ठाता एक चेतन है, ऐसे ही अखिल अचेतन प्रकृतिका एक चेतन अधिष्ठाता होना चाहिए। क्योंकि शरीर का अधिष्ठाता आत्मा अल्पज्ञ व अल्पशक्ति होने के कारण अखिल प्रकृति का अधिष्ठाता नहीं हो सकता फिर आत्मा अनन्त होने के कारण यह व्यवस्था करनी अशक्य है कि इनमें से कौन सा आत्मा प्रकृति का अधिष्ठाता हो, इसलिए समस्त विश्व का एक अधिष्ठाता परमात्मा है। इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा-चेतन मात्र का अस्तित्व इन हेतुओं से सिध्द होता है। और पातञ्जलयोगसूत्र **तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्**- (4/24) में सूत्रकार ने भी इसी प्रकार अनुमान किया है। सूत्र का अर्थ है-जो वस्तु अनेक पदार्थो से मिल जुलकर किसी कार्य में समर्थ होती है, उसे संहत्यकारी कहते हैं। जैसे- गृह, भोजन आदि । ऐसी वस्तुएँ अपने से भिन्न किसी दूसरे के लिये ही हुआ करती हैं, अपने लिये नहीं। अतः वह वस्तु परार्थ कहलाती हैं। ये चित्त आदि पदार्थ भी सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के मिश्रण से उत्पन्न हुए है, तथा बाह्यपदार्थ के साथ इन्द्रियों के संयोगद्वारा मिल जुलकर कार्य करने में समर्थ होते हैं। अतः वे अपने लिये नहीं हैं। अपितु द्रष्टा पुरुष के लिये है, तथा उसी के भोग और अपवर्ग का सम्पादन करने के लिये वे नाना वासनाओं से चित्रित है तथा **न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**- (वृ. उ. 4/5-6) इत्यादि श्रुति भी है। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं कि सबके प्रयोजन के लिये सब प्रिय नहीं होते, अपितु अपने ही प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते हैं।

भोक्तृभावात् । (सां.द.1/108)

अर्थः- (भोक्तृभावात्) पुरुष में भोक्तृभाव भोगने की प्रवृत्ति है, भोग्य शरीर आदि है, अतः इससे भिन्न है। पूर्व कहा भी है-चिदवसानो भोगः (सांख्य. 1/104)।

व्याख्याः-समस्त अचेतन त्रिगुणात्मक जगत भोग्य है उसकी उपयुक्तता व सफलता उसी समय है जब उसका कोई भोक्ता हो। अचेतन भोग्य जगत् का कोई चेतन भोक्ता स्वीकार करना आवश्यक है स्वयं भोग्य, भोक्ता नहीं हो सकता, इसलिए अचेतन प्रकृति के अतिरिक्त चेतन आत्मा को सांख्य में भोक्ता स्वीकार किया गया है। इस प्रकार प्रकृति का भोक्ता होने के कारण आत्मा की सिद्धि होती है।

यदि शरीरादिस्वरूप ही भोक्ता होता तो भोक्तृत्व का ही विनाश हो जाता । अन्यथा कर्म-कर्तृविरोध हा. ेगा। अर्थात् स्व में ही साक्षात् स्व-भोक्तृत्व उपपन्न नहीं हो सकता । इस अनुपपत्ति को पूर्व (1166 के) भाष्य में बताया है। इस सूत्र में पुरुष का भोग स्वीकार किया है- इसे स्मरण रखना चाहिये । अपरिणामी पुरुष के भोग को चिदवसानो भोगः-(1/104) सूत्र में बताया गया है। प्रश्नोपनिषद् के शांकरभाष्य (प्र. उ. 6/3 शां. भा.) में भी सांख्यास्तु परमार्थत एव भोक्तृत्वं पुरुषस्य इच्छन्ति । वहीं पर यथा सांख्यस्य चिन्मात्रस्याऽपरिणामिनोऽप्यात्मनो भोक्तृत्वम् । कहकर भोक्तृत्व भी अविद्या से अध्यारोपित माना गया है-**अविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात् कर्तृत्व-भोक्तृत्वयोः**- (शारीरक 2/3/40) । सांख्यविरोधियों ने भोक्तृत्व का खण्डन अनेक जगहों पर किया है जैसे- प्रश्न 6/3 **शां. भा किञ्च भोक्तृत्वकर्तृत्वयोविशेषानुपपत्तिः । का नामासौ कर्तृत्वाज्जात्यन्तरभूता भोक्तृत्वविशिष्टा विक्रिया यतो भोक्तैव पुरुषः कल्प्यते न कर्ता,** प्रधानन्तु कर्तृ एव न भोक्तृ इति ।

किन्तु सांख्य के मत में प्रवृत्ति का निविकार प्रकाशक ही भोक्ता होता है। अतः सांख्य के भोक्तृवाद में कोई दोष नहीं है। भोग से जो विकृत होता है, उसे सांख्य भोक्तृ नहीं मानता है।

कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च । (सां.द.1/109)

अर्थः-

(कैवल्यार्थ प्रवृत्तेः- च) पुरुष आत्मस्वरूपार्थ-मोक्षार्थ प्रवृत्त होता है, अतः वह शरीर आदि से भिन्न है। यदि शरीर आदि से भिन्न न हो तो कैवल्यार्थ कौन प्रवृत्त हो ? वह ऐसी प्रवृत्तिवाला नित्य चेतन पुरुष ही है।

व्याख्या-

कैवल्य मोक्ष का नाम है। सांख्य में इसे अत्यन्त पुरुषार्थ कहा गया है। प्रत्येक आत्मा दुःखों से बचना चाहता है। दुःख आदि द्वन्द्व प्रकृति के साथ सम्पर्क होने पर प्राप्त होते हैं। इस स्थिति से बच जाना कैवल्य है अर्थात् प्रकृति के साक्षात सम्पर्क से रहित केवल आत्मा की स्थिति । चेतन

आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने पर ही प्रकृति के साथ उसके सम्पर्क की कल्पना की जा सकती है। इस प्रकार जिसके कैवल्य के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति है, ऐसे चेतन के अस्तित्व को स्वीकार किया जाना आवश्यक है। **शरीरादिक्रमेव चेद्भोक्त स्यात् तदा भोक्तः कैवल्यार्थ दुःखात्यन्तोच्छेदार्थ कस्यापि प्रवृत्तिर्नोपपद्येत शरीरादीनां विनाशित्वात्** प्रकृतेश्च **धर्मिग्राहकमानेन दुःखस्वाभाव्यसिंख्या कैवल्याऽसम्भवात् । अत्र कैवल्यार्थ** प्रकृते-**न हि स्वभावस्थात्यन्तोच्छेदो घटत इत्यर्थः।** यदि वारी आदि ही भोक्ता होता तो भोक्ता के कैवल्य के लिये अर्थात् दुःख के आत्यन्तिक उच्छेद के लिये किसी की भी प्रवृत्ति न होती। क्योंकि शरीर आदि तो विनाशी है, और मिंग्राहक प्रमाण के द्वारा प्रकृति के स्वाभाविक दुःख की सिद्धि रहने से कैवल्य की प्राप्ति का होना सम्भव ही नहीं है। क्योंकि स्वभाव का आत्यान्तिक उच्छेद नहीं हुआ करता है। **संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् । पुरुषोऽस्ति मोक्तृभावात् कैवल्यार्थ प्रवृतेश्च।** संघातपरार्थत्वात्-संघाता-नाम्- मिल जुलकर कार्य करने वाले जडवर्ग, परार्थत्वात्-दूसरे के लिये होने से पुरुष का अस्तित्व सिद्ध होता है। त्रिगुणादिविपर्ययात् संघातात्मक जड़ पदार्थों में ही त्रिगुणता रहती है, अन्यत्र नहीं। जिसमें त्रिगुणत्वादि धर्मो का अभाव रहता है, वही जड़वर्ग से भिन्न पुरुष (आत्मा) सिद्ध होता है। (3) अधिष्ठानात्-त्रिगुणत्व धर्म से युक्त संघातात्मक अव्यक्तादि जड़वर्ग का अधिष्ठाता होने से वही पुरुष (आत्मा) सिद्ध होता है। (4) भोक्तृभावात् - भोक्तृत्व (साक्षित्व) होने से सुख-दुःख जिसके भोग्य होते हैं, वही पुरुष (आत्मा) है। (5) कैवल्यार्थ प्रवृत्तेः-जिसके मोक्ष के लिये शिष्ट पुरुषों की और शास्त्रें की प्रवृत्ति होती है। उस कारण भी पुरुष (आत्मा) का अस्तित्व सि) होता है। सांख्यदर्शन कैवल्य को आत्यन्तिक पुरुषार्थ कहता है। प्रकृति के ससर्ग से सुख-दुःखादि द्वन्द्वों की प्राप्ति होती है। प्रत्येक आत्मा प्राप्त होने वाले दुःखों से अपने को बचाना चाहता है। उन दुःखों से बचना ही कैवल्य है। अभिप्राय यह है कि प्रकृति के संसर्ग से रहित होकर उस आत्मा की जो केवली स्थिति है, वही कैवल्य है। चेतन आत्मा को यदि न माना जाय तो प्रकृति के साथ उसके संसर्ग की कल्पना कैसे कर सकेंगे। एवंच जिसके कैवल्य के लिये 'प्रकृति प्रवृत्त होती है। वही आत्मा है।

जड प्रकाशायोगात् प्रकाशः । (सां.द.1/110)

अर्थः-

(जडप्रकाशायोगात्) जड में स्वात्मप्रकाश का सम्भव न होने से उसकी कैवल्यार्थ प्रवृत्ति के असम्भव से (प्रकाशः) पुरुष ही प्रकाशस्वरूप चेतन है। वह स्वात्मप्रकाशनार्थ कैवल्यार्थ प्रवृत्त होता है, अतः वह शरीर आदि से भिन्न है।

व्याख्याः-

जड़ का चेतन रूप में परिणाम न होने से चेतन स्वतः सिद्ध है। जड़ वस्तु का प्रकाश के साथ अथवा प्रकाश के रूप में योग न होने से प्रकाश स्वतः सिद्ध माना जाना चाहिए। सूत्र में 'प्रकाश' पद चेतन के लिए प्रयुक्त हुआ है। योग पद का अर्थ है-किसी रूप में पहुँचना या प्राप्त होना, अर्थात् परिणाम कोई भी जड़ वस्तु चेतन रूप में परिणत नहीं होती, इसलिए चेतन को स्वतः सिध्द मानना चाहिए। जड़-चेतन की यह विशेषता है कि जड़ परिणामी और चेतन अपरिणामी है। अतः दोनों को एक नहीं माना जा सकता। इस प्रकार उपरोक्त सूत्रों द्वारा त्रिगुणात्मक अचेतन प्रकृति से भिन्न चेतन आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया गया है, जिसे सांख्यकारिका में निम्नप्रकार से लिखा है -

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च ॥

(सां.का.17)

अर्थात् संघात तत्त्व (सामग्री समुदाय) अपने से भिन्न के लिए होने से, तीनों गुणों का अभाव होने से, अधिष्ठाता होने से, भोक्ता होने से, कैवल्य (आत्मसाक्षात्कार) के लिए साधकों की प्रवृत्ति होने से भी यह सिद्ध होता है, कि पुरुष (आत्मा) देह-इन्द्रिय आदि

के संघात से भिन्न है।

स्मरणीय बिंदु-

- आत्मा चेतन तत्व है।
- शरीर प्रकृति का विकार है।
- पुरुष साक्षी एवं भोक्ता है।
- आत्मा शरीर से भिन्न है।
- सांख्य दर्शन अनेक पुरुषों को स्वीकार करता है।

शब्दावली

शब्द		**अर्थ**
जीवात्मा	–	चेतन सत्ता
पुरुष	–	आत्म तत्व
प्रकृति	–	जड़ मूल कारण
भोक्ता	–	अनुभव करने वाला
साक्षी	–	देखने वाला

5 अंक के प्रश्न-

1. जीवात्मा क्या है?
2. पुरुष किसे कहते हैं?
3. शरीर और आत्मा में अंतर लिखिए।
4. सांख्य दर्शन में पुरुष का स्वरूप क्या है?
5. चेतन एवं अचेतन में भेद बताइए।

15 अंक के प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में जीवात्मा के अस्तित्व का विवेचन कीजिए।
2. पुरुष एवं प्रकृति के भेद को स्पष्ट कीजिए।
3. आत्मा की चेतन सत्ता का वर्णन कीजिए।
4. शरीर आत्मा से भिन्न है - स्पष्ट कीजिए।
5. सांख्य दर्शन में पुरुष सिद्धि के तर्कों का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में पुरुष है -

(क) जड़

(ख) चेतन

(ग) भौतिक

(घ) नश्वर

2. प्रकृति का स्वरूप क्या है?

(क) चेतन

(ख) आत्मस्वरूप

(ग) जड़

(घ) सर्वज्ञ

3. आत्मा का गुण क्या है?

(क) चेतना

(ख) जड़ता

(ग) नाशवानता

(घ) दु:ख

4. सांख्य दर्शन में पुरुष कितने माने गए हैं?

(क) एक

(ख) दो
(ग) अनेक
(घ) शून्य
5. शरीर किस तत्व का भाग है?
(क) पुरुष
(ख) प्रकृति
(ग) आत्मा
(घ) ब्रह्म

इकाई-1.4 सृष्टि का अभिव्यक्तिवाद

नासदुत्पादो नृशृक्त्गवत् ॥ 79 ॥

उद्देश्य-

- सांख्य दर्शन की सृष्टि प्रक्रिया को समझाना।
- प्रकृति एवं उसके विकारों का ज्ञान कराना।
- अभिव्यक्तिवाद की अवधारणा स्पष्ट करना।

अर्थः-

असदुत्पादः-न असत् का अभाव का उत्पाद नहीं होता (नृशृक्त्गवत्) नृशृक्त्ग की भांति, सत् की उत्पत्ति होती है-सत् ही उद्भव होता है, अभिव्यक्त होता है, अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है; असत् नहीं। अतः सद्रूपता से कार्य स्वकारण में अवस्थित रहता है।

व्याख्याः-

जिसे मनुष्य का सींग नहीं होता वैसे ही श्रसतु का उत्पाद नहीं होता। जो वस्तु सर्वथा असत् है वह कभी अस्तित्व में नहीं आती। मनुष्य के सींग नहीं वह न कभी हुआ, न आगे होगा। जिस वस्तु के सम्बन्ध में हम उत्पन्न होना कहते है, वह अपनी उत्पत्ति से पहले सर्वथा असत् हो, ऐसा नहीं है। उसका अस्तित्व अपने कारण में बराबर रहता है। इसलिये प्रत्येक कार्य अपनी उत्पत्ति से पहले भी कारण रूप में सत् होता है। सर्वथा असत् की उत्पत्ति असंभव है। इस स्थापना की सिद्धि के लिए सूत्रकार ने चार अन्य हेतुओं का उपन्यास किया है।

उपादाननियमात् ॥ ८०॥

अर्थः-

(उपादाननियमात्) उपादान का नियम होने से असत् का उत्पाद नहीं होता है। जो-जो उत्पन्न होता है वह उपादान के नियम से। जिस उत्पन्न होने वाले का जैसा उपादान होता है वैसा वह उत्पन्न होता है। मिट्टी में या मिट्टी से घड़ा तन्तुओं में या तन्तुओं से वस्त्र, इत्यादि उपादान नियम है।

व्याख्याः-

[उपादाननियमात्] उपादान के नियम से। किसी भी कार्य की उत्पत्ति के लिए उसके उपादान कारणों का नियम अथवा कारणों के उपादान-ग्रहण करने का नियम देखा जाता है। किसी विशेष कार्य के लिए किसी निश्चित कारण का ग्रहण होता है, चाहे जिस कार्य के लिए चाहे जिस उपादान का ग्रहण नहीं किया जाता। जैसे कपड़ा बनाने के लिए सूत का उपादान किया जाता मिट्टी आदि का नहीं। पर घड़ा बनाने के लिए मिट्टी का उपादान किया जाता है, और वह भी चाहे जैसी मिट्टी का नहीं। इससे प्रतीत होता है, कि उत्पत्ति से पूर्व सूत में, कपड़े का तथा मिट्टी में घड़े का, किसी न किसी रूप में अस्तित्व विद्यमान रहता है।

यदि इन का सर्वत्र समान रूप से उस अवस्था में अभाव हो, तो वह कपड़े का जैसा सूत में है, वैसा मिट्टी में, तथा घड़े का जैसा मिट्टी में है वैसा सूद में, फिर चाहे जिस कार्य को चाहे जिस कारण से उत्पत्ति हो जानी चाहिए। पर ऐसा संभव नहीं। इसलिए उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य अपने कारण में विद्यमान रहता है, यह निश्चित होता है। इसी सिद्धान्त का नाम सत्कार्यवाद है।

सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात् ॥८१॥

अर्थः-

(सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात्) सब स्थान में, सब काल में, सब के न उत्पन्न होने से। उपादान का नियम न हो, तो सब स्थान में, सब काल में, सब वस्तुओं की उत्पत्ति हुआ करे, वैसा है नहीं। अतः उपादान का नियम होने से असत् उत्पन्न नहीं होता।

व्याख्याः-

[सर्वत्र] सब स्थान (कारण) में [सर्वदा] सब काल में [सर्वासम्भवात्] सबका संभव (प्रादुर्भाव) न होने से । सब कारण ों में सब समय सब वस्तुग्रों की उत्पत्ति असम्भव होने से कार्य के प्रति उपादान का नियम आवश्यक है। यदि ऐसा नियम न माना जाए, तो प्रत्येक कारण से प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति हो जानी चाहिए। पर ऐसा सम्भव नहीं। प्रत्युत जो जिसमें है, उसी से उसकी उत्पत्ति होती है। इसलिए कार्य की उत्पत्ति से पूर्व, कारण में उसका सद्भाव सर्वधा युक्तिसंगत है।

शक्तस्य शक्यकरणात् ॥८२॥

अर्थः-

(शक्तस्य शक्यकरणम्) शक्त शक्य को करता है। वह शक्य उस शक्त के अन्दर पूर्व से विद्यमान होना सम्भव है। वह पूर्व से विद्यमान शक्य अव्यक्त हुआ रहता है, वही अभिव्यक्त होता है, अतः असदुत्पाद नहीं होता।

व्याख्याः-

शक्तस्य शक्त का शक्यकरणात् शक्य के करने से कोई भी कारण किसी विशेष कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति रखता है, कार्यमात्र को नहीं। जिस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति रखता है, उसी को उत्पन्न कर सकता है। इसप्रकार कार्य-कारण का परस्पर सम्बन्ध है, जो उत्पत्ति से पूर्व कारणरूप में कार्य का सद्भाव माने बिना संभव नहीं। अथवा शक्त-साम-यंवान् चतुर शिल्पी भी किसी शक्य कारण से ही कार्यविशेष का उत्पादन कर सकता है, अशवय से नहीं। इससे प्रतीत होता है कि कार्यविशेष का उत्पाद, उसी कारण से हो सकता है जहां उसका सद्भाव है। अतः कार्योत्पाद से पूर्व भी कारण में कार्य की सत्ता का निश्चय होता है। इस हेतु से भी उत्पत्ति से पूर्व कार्य का अस्तित्व माना जाना चाहिए-

कारणभावाच्च ॥८३॥

अर्थः-

(कारणभावात् - च) तथा कार्य में कारण का भाव होने से, कारण के उपलब्ध होने से भी, उपलब्ध होता है कार्य में कारण। जैसे, घड़े में मिट्टी और वस्त्र में तन्तु। इसी प्रकार घड़े का मिट्टी से और वस्त्र का तन्तुओं से अभेद है ही। इसी प्रकार कार्य में कारण के अभेद से तथा कारण में भाव विद्यमानत्व जिसका है ऐसे कार्य से कार्य के कारण में अव्यक्तरूप से विद्यमान होने से भी असदुत्पाद नहीं। कहा भी है-**तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदाऽसीत्तपसा तन्महिना जायतैकम्** (ऋ०१। १२९ । २) तुच्छ रूप से जो आभु अव्यक्त छिपा था, वह महत्तत्वरूप से एक उत्पन्न हुआ। तद्धेदं तर्हाव्याकृतमासीत् (बृह० १।४।७) यह जगत् अव्यक्तरूप था। सदेव सोम्येदमग्र आसीत् (छान्दो० ६ । २। १) पहले सत् ही था। नासतो विद्यते भावो० (गीता० २। है।) १६) असत् का उत्पाद नहीं होता है। भावे) कारणरूप भाव में (भावयोगः चेत्) कार्यरूप भाव का योग-विद्यमानत्व यदि है, तब (न वाच्यम्) कार्य के उत्पाद-अनुत्पादविषय में न कहना चाहिए अथवा कार्य उत्पन्न हुआ या न उत्पन्न हुआ, न कहना चाहिए।

व्याख्याः-

[कारणभावात् च] और कारण में होने से कार्य का अस्तित्व कारण को छोड़कर अतिरिक्त-पृथक् नहीं होता । इसलिए कार्योत्पत्ति से पूर्व कारण अवस्था में कारणरूप से कार्य का अस्तित्व बना ही होता है। अतः सत्कार्य का उत्पाद मानना युक्तिसंगत है, असत् का नहीं। अथवा लोक में यह देखा जाता है कि जैसा कारण होता है, तद्रूप ही उसका कार्य होता है। जैसे कोदों का कोदों, धान का धान, कचनार का कचनार और आम का आम । इससे कार्य की कारणरूपता का निश्चय होता है। इस प्रकार कार्य के अभिव्यक्ति में न आने पर भी कारणरूप में उसका अस्तित्व बना हुआ है, यह निश्चित होता है। अत एव असत्कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं । सत्कार्य सिद्धान्त के अनुसार यदि कारण में कार्य विद्यमान है तो कार्य की उत्पत्ति कैसी ? उस अवस्था में कार्य उत्पन्न हो रहा है, अथवा उत्पन्न होगा, यह व्यवहार असंगत है। सूत्रकार इसी अर्थ को कहता है-

न भावे भावयोगश्चेत् ॥८४॥

अर्थः-

यह ठीक नहीं कहा। क्योंकि (अभिव्यक्तिनिबन्धनौ व्यवहारा-व्यवहारौ) कार्यवस्तु के अभिव्यक्तिनिमित्तक व्यवहार-अव्यवहार हैं। गुप्त रूप में रहता हुआ कार्य जब अभिव्यक्तता को प्राप्त होता है-प्रकट होता है, तब उसका उत्पाद ऐसा कहा जाता है। जब अभिव्यक्तता को प्राप्त नहीं होता है, तब उसका अनुत्पाद कहा जाता है। जैसे, तिलों में तैल होता हुआ पीडन से अभिव्यक्त होता है। अभिव्यक्ति को आश्रित कर उसके प्रयोग व्यवहार-अव्यवहार होते हैं। अतः कारण में कार्य के विद्यमान होने में दोष नहीं।

व्याख्याः-

[भावे] होने पर [भावयोगः] उत्पत्ति का योग [न] नहीं, [चेत्] यदि (कहो ?)। कारण में कार्य के व्यवस्थित रहने पर उसका उत्पत्ति के साथ सम्बन्ध बताना ठीक नहीं। जब कार्य विद्यमान है तब उत्पत्ति कैसी? अविद्यमान की उत्पति मानी जा सकती है। इसलिए सत्कार्य सिद्धान्त के अनुसार किसी कार्य के उत्पाद या विनाश का व्यवहार असंगत होगा।

न, अभिव्यक्तिनिबन्धनी व्यवहाराव्यवहारौ ॥८५॥

अर्थः-

(न) यह ठीक नहीं कहा। क्योंकि (अभिव्यक्तिनिबन्धनौ व्यवहारा-व्यवहारौ) कार्यवस्तु के अभिव्यक्तिनिमित्तक व्यवहार-अव्यवहार हैं। गुप्त रूप में रहता हुआ कार्य जब अभिव्यक्तता को प्राप्त होता है प्रकट होता है, तब उसका उत्पाद ऐसा

कहा जाता है। जब अभिव्यक्तता को प्राप्त नहीं होता है, तब उसका अनुत्पाद कहा जाता है। जैसे, तिलों में तैल होता हुआ पीडन से अभिव्यक्त होता है। अभिव्यक्ति को आश्रित कर उसके प्रयोग व्यवहार-अव्यवहार होते हैं। अतः कारण में कार्य के विद्यमान होने में दोष नहीं।

व्याख्याः-

(न) नहीं, [व्यवहाराव्यवहारी] व्यवहार या अव्यवहार, [अभिव्यक्ति-निबन्धनौ] अभिव्यक्ति कारण से है। उक्त आशंका ठीक नहीं, क्योंकि किसी भी कार्य के उत्पाद अथवा अस्तित्व का व्यवहार या अभ्यवहार उस कार्य की अभिव्यक्ति पर अवलम्बित है। यद्यपि कारणरूप में कार्य विद्यमान है परन्तु कार्यसम्बन्धी समस्त व्यवहार उसी समय सम्पन्न होता है जब कार्य अभिव्यक्त हो जाता है। यदि यह बात न हो और कारण अवस्था में समस्त कार्यव्यवहार सम्पन्न हो जाएं, तो प्रलय अवस्था में ही समस्त जगत् का व्यापार होता रहना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि उस समय कार्य की सत्ता नहीं तो व्यवहार कैसे हो जाएगा ? ठीक है. पर कार्य की असत्ता का अभिप्राय यदि यही है कि कार्य अभी अपनी अभिव्यक्त अवस्था में नहीं है तो कोई आपत्ति नहीं । यदि असत्ता का अभिप्राय सर्वात्मना कार्य का अभाव है, तो वह कभी सद्भाव की अवस्था में आ नहीं सकता, फिर तो समस्त व्यवहार का सर्वथा विलोप हो जाएगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार की अवस्था केवल कार्य की अभिव्यक्त अवस्था है, और इसी के लिए कारणसामग्री का संग्रह तथा प्रयत्न अपेक्षित होता है।

भले ही उत्पत्ति से पहले कार्य सत् हो, पर अभिव्यक्ति के अनन्तर जब पुनः कार्य अनभिव्यक्त अवस्था में पहुंचता है, जिसे कार्य का ध्वंस कहा जाता है।

नाशः कारणलयः ॥८६॥

अर्थः-

(नाशः कारणलयः) जो वह नाश-विनाश शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद् विनाशस्य [४४] वचन से वादी ने शून्य-साधने को नाश सर्वथा अभाव नहीं किन्तु कारणलय कार्य वस्तु का कारण में अन्तर्धान या कार्य का सूक्ष्मीभाव ही कारणभाव है, अतः पूर्व से चला शून्यवाद निराकृत होगया।

व्याख्याः-

(कारणलयः) कारण में लय (नाशः) नाश है। किसी भी कार्य का अपने कारणों में लय हो जाना, छिप जाना ही नाश कहलाता है। वस्तुतः किसी कार्य-वस्तु का सर्वात्मना नाश या अभाव कभी नहीं होता । अभिव्यक्ति अवस्था में आने के अनन्तर जब वह अपने उस रूप का परित्याग करती है तब या तो उससे किसी कार्यान्तर की अभिव्यक्ति हो जाती है अन्यथा वह अपनी कारण अवस्था में चली जाती है। इसी स्थिति को हम उस कार्यवस्तु के नाश की स्थिति कहते है जबकि वह अपने किसी दूसरे रूप में अवस्थित रहती है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु की कारणरूप में सत्ता तथा अभिव्यक्ति की अवस्था में कार्यरूप की असत्ता स्पष्ट होती है।

स्मरणीय बिंदु-

- प्रकृति सृष्टि का मूल कारण है।
- महतत्त्व प्रकृति का प्रथम विकार है।
- अहंकार से इन्द्रियाँ एवं तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं।
- सांख्य दर्शन 25 तत्त्वों को स्वीकार करता है।
- अभिव्यक्तिवाद सांख्य का प्रमुख सिद्धांत है।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
प्रकृति	-	मूल कारण
महतत्त्व	-	बुद्धि तत्व
अहंकार	-	'मैं' भावना
तन्मात्रा	-	सूक्ष्म तत्व
अभिव्यक्तिवाद	-	प्रकट होने का सिद्धांत

5 अंक के प्रश्न-

1. अभिव्यक्तिवाद क्या है?

2. प्रकृति का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. महतत्त्व किसे कहते हैं?
4. अहंकार का अर्थ क्या है?
5. सृष्टि प्रक्रिया का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन की सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।
2. प्रकृति से सृष्टि की उत्पत्ति का विवेचन कीजिए।
3. महतत्त्व एवं अहंकार की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
4. अभिव्यक्तिवाद के सिद्धांत का विश्लेषण कीजिए।
5. सांख्य दर्शन के 25 तत्त्वों का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में सृष्टि का मूल कारण क्या है
(क) ईश्वर
(ख) प्रकृति
(ग) आत्मा
(घ) कर्म
2. प्रकृति से सबसे पहले क्या उत्पन्न होता है?
(क) मन
(ख) अहंकार
(ग) महतत्त्व
(घ) इन्द्रियाँ
3. अहंकार किससे उत्पन्न होता है?
(क) प्रकृति
(ख) महतत्त्व
(ग) मन
(घ) पुरुष
4. सांख्य दर्शन में कुल तत्त्व कितने हैं?
(क) 24
(ख) 25
(ग) 26
(घ) 27
5. सृष्टि सिद्धांत का आधार क्या है?
(क) विवेक
(ख) अभिव्यक्ति
(ग) ज्ञान
(घ) तप

खण्ड-2 प्रकृति की प्रवृत्ति का निरूपण

इकाई-1.2 आत्मा बहुत्व निरूपण

उद्देश्य-

- आत्मा के बहुत्व सिद्धांत को समझाना।
- सांख्य दर्शन में अनेक पुरुषों की अवधारणा स्पष्ट करना।
- आत्मा की स्वतंत्र सत्ता का ज्ञान कराना।

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम। 1/114

अर्थः-

(जन्मादिव्यवस्थातः - पुरुषबहुत्वम्) जन्म-मरण जीवन-व्यवस्था से कोई जन्मता है, कोई मरता है, कोई जीता है, यह विविध अवस्थाएं बहुत पुरुष होने पर भी सम्भव हैं। शास्त्र में पुण्य से पुण्यलोक में जन्मता है और पाप से पापलोक में, तथा आदि शब्द से मुक्तत्व और बत्व भी लिये जाते हैं। ये भी पुरुषों के बहुत होने पर सम्भव है।

व्याख्याः-

यह जीवात्म-चेतन का विवेचन चल रहा है सांख्य का सिद्धान्त है कि यह आत्मा एक नहीं, प्रत्युत अनेक व अनन्त है। कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति में जन्म आदि की व्यवस्था अर्थात् भेद देखा जाता है। एक जन्मता है, एक मरता है; एक सुखी है, एक दुःखी है, इत्यादि विविधता लोक में देखी जाती है। यदि एक ही आत्मा हो, तो इस प्रकार के भेद का होना असम्भव है, उस अवस्था में सबको एक साथ जन्मना चाहिए और एक साथ मरना। एक समान सुख व दुःख की स्थिति रहनी चाहिए। फलतः जन्म-मरण आदि की विविधता के आधार पर पुरुष का बहुत्व सिद्ध होता है। यद्यपि श्रात्मा नित्य व अपरिणामी है, उसका जन्म-मरण संभव नहीं। तथापि आत्मा का स्थूल शरीर के सम्पर्क में आना जन्म तथा शरीर से वियुक्त हो जाना मरण कहा जाता है।

अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्॥ 5/25

अर्थः-

(धर्मादीनाम् -अन्तःकरणधर्मत्वम्) धर्म-अधर्म, सुख-दुःख का अन्तःकरणधर्मत्व है-धर्म-अधर्म सुख-दुःखख अन्तःकरण के गुण हैं। अन्तःकरण पुरुष का करण है, आन्तरिक साधन है, बहिष्करण के समान। जैसे आदान आदि गुण-व्यवहार हाथ आदि बहिष्करण कर्मेन्द्रियगण के और जैसे रूप आदि गुण नेत्र आदि बहिष्करण ज्ञानेन्द्रियगण के हैं, वैसे ही धर्म-अधर्म-सुखखदुःख उभयात्मक अन्तःकरण के गुण हैं, करण सामान्य से। क्योंकि इस में ही रहते हैं, इससे ही प्रतीत होते हैं, अतः पुरुष में संगापत्ति नहीं आती।

व्याख्याः-

धर्म आदि भाव कहां उत्पन्न होते हैं, यह एक प्रश्न है। धर्म आदि समस्त भाव सत्त्व-रजस्-तमस् रूप है, इसलिए इन्हें निर्माण अथवा परिणाम की दृष्टि से सत्त्व आदि का विकार कहना चाहिए। सांख्यसिद्धान्त के अनुसार प्रकृति के समस्त परिणाम परार्थ है, अतः बुद्धि आदि भी परार्थ है, वह पर है- आत्मा । उस चेतन आत्मा के भोग और अपवर्ग के लिए प्रकृति का बुद्धि आदि परिण ाम होता है। सत्त्व आदि की जो धर्म आदि भावों के रूप में परिणति है, वह बुद्धि में होती है, परन्तु उसकी अनुभूति आत्मा में होती है । शरीर अथवा बुद्धि आदि के द्वारा सम्पादित किए जाने वाले समस्त क्रिया-कलाप आत्मा के अस्तित्व के बिना संभव नहीं हो सकते, और वह सब आत्मा के लिए है, इसलिए अनुकूल अथवा प्रति-कूल अनुभूति तो आत्मा को होती है, परन्तु त्रिगुणात्मक होने से धर्म आदि परिणाम बुद्धि में संभव है, इसीलिए धर्म आदि भावों को अन्तःकरण का धर्म माना गया है।

जगत् के उत्पादया परिणाम के प्रसंग में धर्म आदि भावों का यह प्रतिपादन परिणाम की दृष्टि से किया गया है। चेतन आत्मतत्त्व के अधिष्ठाता व साक्षी होने के कारण इन भावों का अधिष्ठान तो आत्मा ही रहेगा। अन्यथा यादि सर्गरचना में जब बुद्धि का उद्भव नहीं हो पाया है- कर्मों अथवा धर्मा धर्म को निमित्त माने जाने पर उनका अधिष्ठान कौन रहेगा ? यह ठीक है, कि आदि सर्ग-रचना काल में अपने उद्भव के अनन्तर जो बुद्धितत्त्व जिस पुरुष के साथ संवेष्टित होजाता है, उसका समस्त सर्गकाल में फिर वैसा ही अस्तित्व बना रहता है। या तो आत्मसाक्षात्कार होने पर उस आत्मा से उसका असम्बन्ध होता है, अथवा प्रलयकाल आने पर वह अपने कारणों में लीन होजाता है, क्योंकि प्रलयकाल में कोई कार्य अपने रूप में अवस्थित नहीं रहता, इससे आत्मा के असंग होने में कोई बाधा नहीं आती। गुणों का अन्योन्यमिथुन होना संग पद का अर्थ है, वह आत्मा में संभव नहीं, क्योंकि वह गुणातीत अथवा अत्रिगुणात्मक है।

अध्यवसायो बुद्धिः॥ 2/13

अर्थः-

(अध्यवसायः - बुद्धि पुरुषशरीर में निश्चय जिससे होता है वह उपकरण बुद्धि कहाता है। वह समष्टि महत्तत्त्व है, अध्यवसाय तो प्रधानतया सत्त्वस्वरूपवाला होने से।

व्याख्याः-

सांख्य में महत्तत्व का अपर नाम बुद्धि है। यह अध्यवसायस्वरूप है। अध्यवसाय निश्चय को कहते हैं। यद्यपि निश्चय बुद्धि नहीं, प्रत्युत निश्चय कराने वाली बुद्धि होती है। इसलिए जिसकी निश्चयात्मिका वृत्ति है, अथवा जो निश्चय-वृत्तिक है वह बुद्धि है, ऐसा कहना चाहिए। निश्चय करना बुद्धि का व्यापार अर्थात् कार्य है। निश्चय, वृत्ति अर्थात् धर्म है और बुद्धि धर्मी है। सूत्र की रचना ऐसी है, जिसने यह प्रतीत होता है कि यहां धर्म को ही धर्मी कह दिया है। यह दोनों की अभेदभावना से कह दिया गया है। अव्यक्त प्रकृति के अनन्तर यह सर्वप्रथम व्यवत पदार्थ है, इसीलिए इसका नाम महत् है। निश्चयात्मिका वृत्ति का करण हो से यह बुद्धि है।

अभिमानोऽहंकारः॥ 2/16

अर्थः-

(अभिमानः) पुरुष शरीर में अभिमान जिससे होता है, वह अहंकार है।

व्याख्याः-

अभिमान अहंकार है। अहंकार का स्वरूप है अभिमान । तेरहवें सूत्र में जैसे धर्म-धर्मी की अभेद भावना से अध्यवसाय को बुद्धि कहा है, वैसे ही यहां अभिमान को अहंकार कहा है। वस्तुतः अभिमानवृत्तिक अहंकार है, ऐसा कहना चाहिए । अभिमान जिसकी वृत्ति है, व्यापार है। अहं भावना का नाम अभिमान है। अहं मैं की भावना का जो साधन है, अहं जिसकी वृत्ति है, वह अहंकार कहा जाता है। अहंवृत्तिक होने के कारण ही इसका नाम अहंकार है।

उभयात्मकं च मनः॥ 2/26

अर्थः-

(उभयात्मकं च मनः) मन तो दोनों कर्मेन्द्रियों-ज्ञानेन्द्रियों में अनुगत-दोनों इन्द्रियवर्गों में वृत्तिवाला होता हुआ, स्वगुण से दोनों की प्रवृत्ति का निमित्त है, जैसे कहा है- **एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ॥ मनु 2/ 82 ॥**

व्याख्याः-

समस्त इन्द्रियों के बीच में मन उभयात्मक है, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों के साथ इसका सम्पर्क रहता है, क्योंकि कोई भी इन्द्रिय मन के सहयोग के बिना अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होती। प्रत्येक इन्द्रिय से आलोचित वस्तु - यह ऐसी है अथवा ऐसी नहीं है- इस रूप में मन द्वारा संकल्पित होती है। इस प्रकार मन का प्रत्येक इन्द्रिय के साथ सम्पर्क रहने से वह उभयात्मक कहा जाता है। विषय के साथ सीधा सम्बन्ध होना ही इन्द्रिय की विशेषता है। बाह्य विषय के साथ सीधा सम्बन्ध चक्षु श्रादि का होता है, इसलिए ये बाह्य इन्द्रियां है। साधारण रूप में ज्ञानादि के लिए बाह्य साधन की दृष्टि से इनको बाह्यकरण भी कहा जाता है। परन्तु मन, अहंकार तथा बुद्धि का साधारण अर्थग्रहण में कभी भी बाह्य विषय के साथ सीघा सम्पर्क नहीं रहता, इसलिए इन तीनों को अन्तःकरण कहा जाता है। स्मृति आदि स्थलों में मन का आन्तर विषय के साथ सीधा सम्पर्क रहने से मन को आन्तर इन्द्रिय माना गया है। करण और इन्द्रिय दोनों अवस्थाओं में मन कार्य करता है, इस रूप में भी इसे उभयात्मक कहा जा सकता है।

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा वास्यादिवच्चक्षुरादिवत् ॥ 5/69 ॥

अर्थः-

(मनसः - व्यापकत्वं न) मन का विभुत्व नहीं है (करणत्वात्-वास्थादिवत्) करण-उपकरण साधन होने से कुठार आदि के समान (वा) अथवा (इन्द्रियत्वात्- चक्षुरादिवत्) ग्यारह इन्द्रियों में उसके इन्द्रियभाव होने से नेत्र आदि के समान। जैसे कुठार आदि साधन नेत्र आदि इन्द्रियां व्यापक-सर्वत्र व्यापारसाधक नहीं होतीं, इसी प्रकार मन भी व्यापक सर्वत्र व्यापारसाधक नहीं है।

व्याख्याः-

मन की व्यापकता संभव नहीं, करण होने से, वास्य आदि के समान, अथवा इन्द्रिय होने से, चक्षु आदि के समान। कोई भी करण

अर्थात् किसी वस्तु का साधन और इन्द्रिय सदा एकदेशी अर्थात् परिच्छिन्न होसकते है, उनका व्यापक या विभु होना संभव नहीं। कारण यह है, कि यदि साधन अथवा इन्द्रिय को व्यापक माना जाए, तो वह अपने कार्य अथवा विषय के साथ सदा सम्बद्ध रहेगा, और तब प्रतिक्षण उस कार्य का सम्पादन और विषय का ज्ञान होतो रहना चाहिए, पर ऐसा कभी नहीं होता, और न ऐसा होना संभव है, इसलिए करण अथवा इन्द्रिय को परिच्छित्त माना जाता है। मन भी इसीप्रकार करण एवं इन्द्रिय है, इसलिए वह परिच्छिन्न माना जासकता है, व्यापक नहीं।

स्मरणीय बिंदु-

- सांख्य दर्शन अनेक पुरुषों को स्वीकार करता है।
- पुरुष चेतन एवं साक्षी स्वरूप है।
- आत्मा शरीर से भिन्न है।
- पुरुष स्वतंत्र सत्ता है।
- आत्मा का बहुत्व अनुभव से सिद्ध होता है।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
पुरुष	-	चेतन तत्व
आत्मा बहुत्व	-	अनेक आत्माओं का सिद्धांत
साक्षी	-	देखने वाला
भोक्ता	-	अनुभव करने वाला
चेतना	-	ज्ञान शक्ति

5 अंक के प्रश्न-

1. आत्मा बहुत्व का अर्थ क्या है?
2. सांख्य दर्शन में पुरुष कितने माने गए हैं?
3. आत्मा की स्वतंत्र सत्ता स्पष्ट कीजिए।
4. पुरुष की विशेषताएँ लिखिए।
5. आत्मा बहुत्व के किसी एक तर्क को स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में आत्मा बहुत्व सिद्धांत का विवेचन कीजिए।
2. अनेक पुरुषों की सत्ता सिद्ध करने वाले तर्कों का वर्णन कीजिए।
3. आत्मा एवं शरीर के भेद को स्पष्ट कीजिए।
4. पुरुष की चेतन सत्ता का विश्लेषण कीजिए।
5. सांख्य दर्शन में आत्मा की स्वतंत्रता का विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में पुरुष माने गए हैं -

(क) एक

(ख) अनेक

(ग) दो

(घ) शून्य

2. पुरुष का स्वरूप है

(क) जड़

(ख) चेतन

(ग) भौतिक

(घ) नश्वर

3. आत्मा का गुण है -

(क) चेतना

(ख) जड़ता

(ग) विकार
(घ) परिवर्तन
4. सांख्य दर्शन किसे स्वीकार करता है?
(क) एक आत्मा
(ख) अनेक आत्माएँ
(ग) आत्मा का अभाव
(घ) केवल शरीर
5. पुरुष है –
(क) भोक्ता
(ख) कर्ता
(ग) जड़
(घ) नश्वर

इकाई-2.2 प्रकृति की उपादानता

उद्देश्य-

- प्रकृति के उपादान कारण स्वरूप को समझाना।
- सृष्टि निर्माण में प्रकृति की भूमिका स्पष्ट करना।
- प्रकृति एवं विकारों का ज्ञान कराना।

भारतीय दर्शन में सृष्टि की उत्पत्ति और विश्व की रचना प्रक्रिया एक प्रमुख तात्त्विक विषय रहा है। सांख्य दर्शन, जो एक द्वैतवादी एवं तत्त्वमीमांसक प्रणाली है, -सांख्य दर्शन मानता है कि सृष्टि का मूल दो तत्त्वों में निहित है-

1. प्रकृति - अचेतन, त्रिगुणात्मक, सृजनशील शक्ति, पुरुष चैतन्य, निर्लिप्त, साक्षी आत्मा सत्त्व, रजस और तमस- ये तीन गुण प्रकृति में विद्यमान रहते हैं। जब ये गुण असंतुलित होते हैं, तो प्रकृति में में विक्षोभ उत्पन्न होता है, जिससे सृष्टि की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। सृष्टि की प्रक्रिया प्रकृति के माध्यम से होती है, किंतु यह तब तक क्रियाशील नहीं होती जब तक पुरुष के सन्निकर्ष में न आ जाए। इस दर्शन के अनुसार पुरुष और प्रकृति के संयोग से ही सृष्टि आरंभ होती है। सांख्य दर्शन की सृष्टि प्रक्रिया एक अत्यंत संगठित, तार्किक और अनुभवाधारित प्रणाली है। इसमें सृष्टि को पुरुष और प्रकृति के संयोग का परिणाम बताया गया है। प्रकृति, जो त्रिगुणात्मक है, पुरुष के संयोग में आते ही महत्तत्त्व से लेकर पंचमहाभूतों तक क्रमिक रूप से तत्त्वों की रचना करती है। यह दर्शन सृष्टि की प्रक्रिया को न केवल दर्शनशास्त्र के स्तर पर, बल्कि वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी प्रस्तुत करता है।

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पंचतन्मात्रण्युभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पंचविंशतिर्गणः ॥ (सां.द.1/26)

अर्थः-

(सत्त्वरजस्तमसाम्) सत्त्वप्रकाश, रजः द्रवपन तरलपन बहना, तमः स्तब्धपन कठोरपन ठोसपन ये प्रकाश, गति, स्थिति रूप शक्तियाँ हैं। उनका अथवा जगत् में जिनके द्वारा प्रकाश, तरलपन, ठोसपन-प्रकाश, गति, स्थिति प्रवृत्त होती हैं उन ऐसे वस्तु शक्तिरूपों की (साम्यावस्था) समावस्था निश्चेष्टावस्था-अप्रकटरूपावस्था (प्रकृतिः) प्रकृति है या प्रकृति कही जाती है, (प्रकृतेः- महान्) फिर प्रकृति से महत्तत्त्व प्रकट होता है। (महतः अहंकारः) महत्तत्त्व से अहंकार नाम का प्रकृति का दूसरा विकार प्रकट होता है, (अहंक. ारात्) अहंकार से (पंचतन्मात्रणि) बाह्य जगत् में पाँच तन्मात्रें सूक्ष्म भूत तथा (उभयम् - इन्द्रियम्) देह में दोनों ज्ञान-कर्म-इन्द्रियगण उत्पन्न होता है, (तन्मात्रेभ्यः) तन्मात्रें से-सूक्ष्मभूतों से (स्थूल-भूतानि) पृथिवी आदि स्थूल भूत व्यक्त होते हैं -स्वरूप में आते हैं। (पंचविंशतिः - गणः) पच्चीस पदार्थों का गण जानना-समझना और विवेचनीय है- विवेक में आवश्यक है।

व्याख्याः-

सत्त्व, रजस्, तमस् -ये तीन प्रकार के मूल तत्त्व साम्य-अवस्था में प्रकृति कहे जाते हैं, अर्थात् जब ये तत्त्व कार्य रूप में परिण ात नहीं होते, अपितु मूलकारणरूप में अवस्थित रहते हैं, तब 'प्रकृति' कहलाते हैं। यद्यपि प्रत्येक कार्य के उपादान कारण को 'प्रकृति' कह सकते हैं, किन्तु यह साम्यावस्था रूप प्रकृति कार्यमात्र (उत्पन्न मात्र) की मूलभूत स्थिति है। इसी प्रकृति के प्रधान और 'अव्यक्त' नाम भी हैं।

यह मूलतत्त्व सत्त्व-रजस्-तमस् इन तीन वर्गों में विभक्त है और इन तीन वर्गों में प्रत्येक में यथाक्रमं सत्त्व-रजस्-तमस् नामक सूक्ष्मकण संख्या में अनन्त हैं। इन तीनों तत्त्वों को गुण भी कहते हैं। किन्तु इनको वैशेषिक के समान गुण नहीं समझना चाहिए, अपितु ये 'द्रव्य' रूप हैं (क्योंकि इनमें 'संयोग-विभाग', लघुत्व, चलत्व, गुरुत्व आदि धर्म रहते हैं। सत्त्व, रजस्, तमस् को उनकी विशेषता के आधार पर ही 'गुण' कहा जाता है। वह विशेषता है आत्मा के भोग और अपवर्ग के सम्पादन के लिए जगद्रूप में परिवर्तित (रूपान्तरित) होने की योग्यता। रस्सी के समान अन्योऽन्यमिथुनवृत्तिता भी गुण नामकरण का कारण कही जा सकती है। जब चेतन (ईश्वर) की प्रेरणा से सत्त्वादि की साम्य अवस्था समाप्त होती है, तब मूल तत्त्व कार्योन्मुख हो जाते हैं, और सृष्टि रचना प्रारम्भ हो जाती है। इनका प्रथम परिणाम महत्तव (बुद्धि)तत्त्व होता है। महत्तव से 'अहंकार' बनता है। अहंकार से पंच तन्मात्र तथा (बाह्य और आन्तर) दोनों प्रकार के 'इन्द्रिय' बनते हैं। इनमें से आन्तर इन्द्रिय केवल एक मन है तथा बाह्य दस हैं, जो कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय के रूप में दो वर्गों में विभक्त हैं (जिनमें वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पांच 'कर्मेन्द्रिय' तथा श्रोत्र, त्वक्, चक्षुः, रसन, घ्राण ये पांच 'ज्ञानेन्द्रिय' हैं ये इन्द्रिय केवल विकार हैं, आगे किसी तत्त्वान्तर को उत्पन्न नहीं करते। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध - इन पाँच तन्मात्र से क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी ये पाँच 'स्थूलभूत' उत्पन्न होते हैं। दृश्यमान पृथिवी आदि को स्थूलभूत कहने से उनके उपादान-कारण शब्द आदि को सूक्ष्मभूत कहा जाता है। जगत् के ये चौबीस अचेतन तत्त्व हैं। इनसे अतिरिक्त पच्चीसवां तत्त्व 'पुरुष' अर्थात् चेतन है। चेतनतत्त्व के भी दो वर्ग हैं परमात्मा और जीवात्मा। इनमें से परमात्मा एक है और जीवात्मा संख्या की दृष्टि से अनन्त हैं। ये ही पच्चीस तत्त्व हैं, जिनके वास्तविक स्वरूप

को समझकर चेतन और अचेतन के भेद का साक्षात्कार करना है। इन सब का स्वरूप और विशेष कार्य आगे बताया जावेगा। इनका प्रकृति-विकृति स्वरूप निम्न प्रकार है-

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महादाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो, न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ (सां.का.3)
महदादिक्रमेण पंचभूतानाम् । (सां.द.2/10)

अर्थः- (महदादिक्रमेण) प्रकृति से महत्तत्त्व, पुनः अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्राएं तथा इन्द्रियां। इस प्रकार क्रम से पुनः (पञ्चभूतानाम्) तन्मात्रों से पञ्चभूतों पञ्च स्थूलभूतों की सृष्टि होती है।

व्याख्याः-

महत् आदि क्रम से पांच स्थूल भूत पर्यन्तों की सृष्टि होती है। प्रकृति से महत्, अहंकार, तन्मात्र, 11 इन्द्रिय, तन्मात्र से स्थूलभूत यह रचना क्रम से होती है। अर्थात (ईश) शक्ति और तत्त्व मिलकर जब प्रकट एवं कार्यक्षम हो जाते हैं, तब भूत (निष्पन्न) कहलाते हैं। अर्थात शक्ति सम्पन्न अग्नि आदि द्रव्य 'भूत' कहे जाते हैं। इस सूत्र के आशय को अगली सांख्यकारिका में स्पष्ट किया है-

प्रकृतेर्महान्, ततोऽहंकारः तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंच भूतानि ॥(सां.का.22)

अर्थात् प्रकृति से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है, महत्तत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है और अहंकार से सोलह का समूह (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन तथा पाँच तन्मात्र) उत्पन्न होता है। उस् षोडशगण में भी पंचतन्मात्र से पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं ।

अध्यवसायो बुद्धिः ॥ (सां.द.2/13)

अर्थः- (अध्यवसायः - बुद्धिः) पुरुषशरीर में निश्चय जिससे होता है वह उपकरण बुद्धि कहाता है। वह समष्टि महत्तत्त्व है, अध्यवसाय तो प्रधानतया सत्त्वस्वरूपवाला होने से।

व्याख्याः-

सांख्य में महत्तत्व का अपर नाम बुद्धि है। यह अध्यवसायस्वरूप है। अध्यवसाय निश्चय को कहते है। यद्यपि निश्चय बुद्धि नहीं, प्रत्युत निश्चय कराने वाली बुद्धि होती है। इसलिए जिसकी निश्चयात्मिका वृत्ति है, अथवा जो निश्चय-वृत्तिक है वह बुद्धि है, ऐसा कहना चाहिए। निश्चय करना बुद्धि का व्यापार अर्थात् कार्य है। निश्चय, वृत्ति अर्थात् धर्म है और बुद्धि धमह्न है। सूत्र की रचना ऐसी है, जिसमे यह प्रतीत होता है कि यहां धर्म को ही धमह्न कह दिया है। यह दोनों की अभेदभावना से कह दिया गया है। अव्यक्त प्रवृति के अनन्तर यह सर्वप्रथम व्यक्त पदार्थ है, इसीलिए इसका नाम 'महत्' है। निश्चयात्मिका वृत्ति का करण होने से यह बुद्धि है।

महदुपरागाद् विपरीतम्। (सां.द.2/15)

अर्थः-

(महत्) शरीर में महत्तत्त्व बुद्धि (उपरागात्) रजोगुण-तमोगुण से वर्तमान हुआ (विपरीतम्) विपरीत अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य को प्रकट करता है।

व्याख्याः-

रजस् और तमस् के उपराग से महत् विपरीत हो जाता है। तब उसमें अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य का उदय हो जाता है। रजस्तमस् से प्रभावित होने पर बुद्धि में अधर्म आदि का उद्रेक होने लगता है। अभिप्राय यह है कि बुद्धि में इस प्रकार की वृत्ति का उदय, उसमें रजस्तमस् के प्रभाव को प्रकट करता है । अध्यवसाय वृत्ति उस समय भी बराबर हुआ करती है, यही उसकी असाधारणता है।

अभिमानोऽहंकारः। (सां.द.2/16)
(अभिमानः अहंकारः) पुरुपशरीरेऽभिमानो भवति यतः सोऽहंकारः।

अर्थः-

अहं की भावना का जो साधान है, अहं की भावना जिसका व्यापार है, ऐसे अहंवृत्ति वाले उपकरण को अहंकार कहते हैं। जो कि महत् का कार्य परिणाम है। बुद्धि से निश्चित अर्थ में अहंकार और ममकार होते हैं।

व्याख्याः-

जैसे-कुम्भं करोति इति कुम्भकारः-कुम्भ (घट) बनाता है, इसीलिये उसे कुम्भकार कहा जाता है, उसी तरह बुद्धि से उत्पन्न होने वाला तत्त्व अहम् करोति इति अहंकारः- अहम् को प्रकट करता है, इसलिये उस तत्त्व को अहंकारशब्द से कहा गया है, क्योंकि वह अहम् अभिमान वृत्ति को पैदा करता है। यह अहंकार द्रव्यरूप अन्तःकरण है। पूर्वसूत्र की तरह ही यहाँ पर भी धर्म-धर्मा की

अभेद दृष्टि से अभिमान को ही अहंकार शब्द से कह दिया है। वस्तुतः अभिमान तो अहंकार का व्यापार (वृत्ति) है। यानी अभिमान धर्म है और अहंकार धर्मा है । अर्थात् अभिमानवृत्तिक अहंकार है। धर्म-धमह्न का अभेद प्रतिपादन, अहंकार के असाधारण व्यापार की सूचना देने के लिये किया गया है। यानी अभिमान उसका असाधारण व्यापार है। बुद्धि के द्वारा निश्चित किये गये अर्थ में ही अहंकार और ममकार होते हैं। अतः वृत्तियों के कार्य-कारणभाव के अनुसार वृत्तिमानों के भी कार्य-कारणभाव को समझ लेना चाहिये, यह पहले बता ही चुके हैं।

एकादशपंचतन्मात्रं तत्कार्यम्। (सां.द.2/17)

अर्थः-

(एकादश) ग्यारह अर्थात् मनसहित ज्ञान-कर्मेन्द्रियां (पञ्चतन्मात्रम्) पांच तन्मात्राएं (तत्कार्यम्) अहक्त्कार के कार्य है।

व्याख्याः-

एकादश इन्द्रिय और पांच तन्मात्र अहंकार के कार्य है। ग्यारह इन्द्रियां दो भागों में विभक्त है। आन्तर अथवा आभ्यन्तर और बाह्य । आन्तर इन्द्रिय केवल एक है - मन, बाह्य इन्द्रिय दस है, जो दो भागों में विभक्त है- पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा पांच कर्मेन्द्रिय। पांच ज्ञानेन्द्रिय है- श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण । पांच कर्मेन्द्रिय है- वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ। पाँच तन्मात्र, पांच सूक्ष्मभूत कहे जाते हैं। इनके नाम इनके कार्यों के आधार पर है- शब्दतन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र ।। सांख्य-कारिका में इन 16, 17 सूत्रों का विषय कहा है -

अभिमानोऽहंकारः तस्माद् द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्र पंचकश्चैव (सां.का.24)

अर्थात् अभिमान (मैं, मेरा ऐसी) प्रवृत्ति वाला अहंकार है। इसी अहंकार से दो प्रकार की सृष्टि होती है- ग्यारह संख्या वाला इन्द्रिय-समूह (5 ज्ञानेन्द्रिय, 5 कर्मेन्द्रिय + मन) और पाँच तन्मात्र ।

सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात् । (सां.द.2/18)

अर्थः-

(वैकृतात् - अहक्त्कारात्) संशु(सत्त्वभूमिवाले अहंकार से (सात्त्विकम्एकादशं प्रवर्तते) इन्द्रियों में ग्यारहवीं संख्यावाला मन सात्त्विक सत्त्वगुणभूमिवाला अभिव्यक्त होता है। जैसा आगे कहा है- **गुणपरिणामभेदान्नानात्वमवस्थावत् (सांख्य० २ । २७)** । एवं राजस अहक्त्कार से राजस, तामस अहंकार से तामस भी होता है, यह योजना कर लेनी चाहिए। इस प्रकार मन का प्रवर्तन त्रिगुणत्व से होता है।

व्याख्याः-

सत्त्वप्रधान ग्यारह इन्द्रियों का समूह प्रवृत्त उत्पन्न होता है। गुण-प्रधानता के आध. ार पर अहंकार के तीन भेद हैं-1. सत्त्वगुण प्रधान- वैकृत 2. रजोगुण प्रधान -तैजस 3. तमोगुण प्रधान- भूतादिज्ञानग्राहकता तथा क्रिया-निर्वर्तकता होना इन्द्रियों की सात्त्विकता है। भूतादि सूक्ष्म-भूतों के आदि कारण (तन्मात्रें के उत्पादक) अहंकार से 5 तन्मात्र बनते हैं। किन्तु ये दोनों अक्रिय हैं। इन दोनों को तैजस रजोगुण- प्रधान अहंकार कार्योत्पादन में सहयोग देता है। इसी विषय को ईश्वर कृष्ण स्पष्ट करते हैं-

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात् ।
भूतादेस्तन्मात्र स तामसस्तैजसादुभयम् ।। (सां.का.25)

अर्थात् सात्त्विक अहंकार से एकादश इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं पूर्वाचार्यो ने इसे 'वैकृत' कहा है। तामस अहंकार से पंचतन्मात्र उत्पन्न होते हैं (जिसे पूर्वाचार्यो ने भूतादि कहा है) तथा तैजस (रजोगुणप्रधान) अहंकार से शेष दोनों प्रकार के अहंकार सक्रिय होते हैं।

कर्मेन्द्रियबुद्धिन्द्रियैरान्तरमेकादशकम् । (सां.द.2/19)

अर्थः-

(कर्मेन्द्रियबुद्धिन्द्रियैः) पांच कर्मेन्द्रियाँ, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ इन दशों इन्द्रियों के साथ प्रवृत्त रहने वाला (आन्तरम्) जो आन्तरिक इन्द्रिय मन है (एकादशकम्) वह ग्यारह संख्या वाला है। जैसे मनु ने भी कहा है-**एकादशं मनो ज्ञेयम् (मनु० २।९२)**

अर्थः-

कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों के साथ ग्यारहवाँ इन्द्रिय आन्तर मन है। **एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।।** (**मनु.**6/65) इन्द्र अर्थात आत्मा के ज्ञान एवं भोग का साधन होने के कारण इनका नाम इन्द्रिय है। जैसा कि पाणिनीय सूत्र से -

इन्द्रियमिन्द्रलिंमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा । (अष्टा05/2/62) । इन्द्र आत्मा सं चक्षुरादिना करणेनानुमीयते दृ (वामनः) । ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को सांख्य-कारिका में गिनायाहै।

बुद्धिन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनकानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥(सां.का.26)

अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रिय - घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र तथा पाँच कर्मेन्द्रिय -वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थित है।

स्मरणीय बिंदु-

- प्रकृति सृष्टि का मूल कारण है।
- प्रकृति जड़ तत्व है।
- सत्त्व, रजस् और तमस् प्रकृति के गुण हैं।
- प्रकृति से महतत्त्व उत्पन्न होता है।
- प्रकृति उपादान कारण मानी जाती है।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
प्रकृति	-	मूल जड़ कारण
उपादान कारण	-	पदार्थ रूप कारण
सत्त्व	-	प्रकाशक गुण
रजस्	-	क्रियात्मक गुण
तमस्	-	आवरणात्मक गुण

5 अंक के प्रश्न-

1. उपादान कारण क्या है?
2. प्रकृति किसे कहते हैं?
3. प्रकृति की विशेषताएँ लिखिए।
4. सांख्य दर्शन में प्रकृति का महत्व क्या है?
5. प्रकृति को उपादान कारण क्यों कहा गया है?

15 अंक के प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में प्रकृति की उपादानता का विवेचन कीजिए।
2. प्रकृति एवं उसके विकारों का वर्णन कीजिए।
3. सृष्टि निर्माण में प्रकृति की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
4. प्रकृति को मूल कारण सिद्ध कीजिए।
5. सांख्य दर्शन में प्रकृति एवं पुरुष के संबंध का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में सृष्टि का उपादान कारण क्या है?

(क) ईश्वर

(ख) पुरुष

(ग) प्रकृति

(घ) मन

2. प्रकृति का स्वरूप है -

(क) चेत

(ख) जड़

(ग) आत्मा

(घ) सर्वज्ञ

3. प्रकृति से उत्पन्न प्रथम विकार कौन है?

(क) मन

(ख) महतत्त्व

(ग) अहंकार
(घ) इन्द्रियाँ
4. प्रकृति में गुण कितने हैं?
(क) दो
(ख) तीन
(ग) चार
(घ) पाँच
5. प्रकृति को कहा जाता है –
(क) चेतन तत्व
(ख) मूल कारण
(ग) पुरुष
(घ) आत्मा

इकाई-2.3 इन्द्रियो का आहंकारिकत्व

उद्देश्य-

- इन्द्रियों की उत्पत्ति को समझाना।
- अहंकार से इन्द्रियों के संबंध को स्पष्ट करना।
- सांख्य दर्शन में इन्द्रियों की भूमिका बताना।

अभौतिकता का अर्थ: ऐसा तत्त्व जो स्थूल भौतिक रूप में न होकर सूक्ष्म हो, और प्रत्यक्षत: नहीं दिखता, परंतु कार्य करता है। भ. ारतीय दर्शन में इन्द्रियों का अध्ययन केवल शारीरिक या वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं किया गया है, बल्कि उन्हें दार्शनिक और तत्त्वमीमा. ंसक रूप में देखा गया है। विशेष रूप से सांख्य दर्शन में इन्द्रियों को अभौतिक अथवा सूक्ष्म माना गया है। सांख्य दर्शन का यह दृष्टिकोण इन्द्रियों के स्वरूप, कार्य, उत्पत्ति और उनके आत्मा से संबंध को अत्यंत गूढ़ रूप से स्पष्ट करता है। इन इन्द्रियों को भौतिक अंगों से भिन्न माना गया है।

सांख्य दर्शन के अनुसार इन्द्रियाँ- अभौतिक / सूक्ष्म शक्तियाँ हैं, जो स्थूल अंगों के माध्यम से कार्य करती हैं। सांख्य दर्शन में इन्द्रियाँ अभौतिक हैं, क्योंकि वे तामसिक महाभूतों से नहीं, बल्कि सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होती हैं। वे शरीर के अंग नहीं हैं, बल्कि सूक्ष्म शक्तियाँ हैं, जो आत्मा की उपस्थिति में कार्य करती हैं। यह सिद्ध ांत न केवल इन्द्रियों के स्वरूप को स्पष्ट करता है, बल्कि आत्मा और प्रकृति के भेद, विवेकज्ञान, तथा मोक्ष की दिशा भी स्पष्ट करता है।

करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् । (सां.द.2/38)

अर्थ:-

(करणं त्रयोदशविधम्) करण तेरह प्रकार के हैं (अवरान्तरभेदात्) बाह्य आभ्यन्तर भेद से। उन में बुद्धि, अहंकार, मन आभ्यन्तर करण हैं। अतएव ये अन्त:करण हैं। नेत्र आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा वाग् आदि पांच कर्मेन्द्रिय ये दश बहिष्करण हैं। इस प्रकार सारे करण तेरह हैं जो पुरुषार्थ हैं। अवान्तर पाठ होने पर (अवान्तरभेदात्) मन के अवान्तर अन्त:करण के रूपान्तर भेद से बुद्धि, अहंकार, मन अथवा यहां अवान्तर शब्द नानार्थक है, करणों के नाना भेद से तेरह करण हैं।

व्याख्या-

बुद्धि, अहंकार, मन- ये तीन अन्त:करण (आभ्यन्तर करण) और दश बाह्यकरण दोनों को मिलाकर तेरह संख्या, करणों की होती है। उनमें भी व्यक्ति भेद के कारण उनका आनन्त्य बताने के लिये त्रयोदशविधम् कहा गया है। बुद्धि ही मुख्य करण है- इस आशय से कहा अवान्तर भेदात् । अर्थात् बुद्धि संज्ञक एक ही करण के अनेक करण होते हैं। देवल ने तेरह करण बताये हैं। और उसका स्पष्टीकरण भी उसी ने किया है- **दशेन्द्रियाणि बुध्यहंकारमनांसि च करणानि । तेषु मनो बुध्यहंकाराश्च अन्त:करणानि, दश बहिष्करणानीन्द्रियाणि** (या. स्मृ. प्राय: 106 अपरार्क टीका)। श्री शंकराचार्य ने द्वादशविध करण बताये हैं। उन्होंने बुद्धि मन और दश बाह्येन्द्रियों को गिनाया है- (बृह. आ. उ. 4/4/2 भाष्य-गिरिव्याख्या)। निष्कर्ष यह है कि अवान्तर भेद से करण त्रयोदशविध हैं। उनमें बुद्धि संज्ञक करण ही मुख्य है। उसी का परिणाम अहंकार है। उससे (अहंकार से) एकादश इन्द्रियां परिणत होती हैं। ये सब बुद्धि के ही अवान्तर भेद हैं। करणों के सभी अवान्तर भेदों का प्रकार सूचित करने के लिये सूत्र में विध शब्द को दिया गया है। तेरह करणों के केवल तेरह प्रकार होते हैं। तथापि प्राणियों के अनन्त होने से उनके प्रत्येक के साथ करणों का अलग-अलग सम्बन्ध होने से उनको भी अनन्त कह सकते हैं।

आहंकारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि ॥(सां.द.2/20)

अर्थ:-

(भौतिकानि न) भूतोपादानवाली इन्द्रियां भूतों से उत्पन्न होने वाली नहीं हैं (आहंकारिकत्वश्रुते:) उनके आहंकारिकत्व- अहंकार से उत्पन होने की श्रुति होने से एतस्माज्जायते प्राणो मन सर्वेन्द्रियाणि च (मुण्डक 2/1)

व्याख्या:-

इन्द्रियाँ-आहंकारिक ही हैं, उनकी उत्पत्ति अहंकार से ही हुई है। वे भौतिक नहीं है। प्रश्नोपनिषद् में स्थूलभूत, तन्मात्र, इन्द्रिय, मन, अहंकार को जिस क्रम से बताया है उससे सूचित होता है कि इन्द्रियों की उत्पत्ति, अहंकार से होती है, स्थूल या सूक्ष्मभूत से नहीं। क्योंकि भौतिक पदार्थ में तमोगुण की प्रधानता रहती है। और अर्थ की प्रकाशक होने से इन्द्रियों में सत्त्व प्रधानता रहती है। अत: इन्द्रियों के उत्पादक भूत नहीं हो सकते । सांख्य के अनुसार सर्गप्रक्रिया को देखते हुए भी वे भौतिक नहीं सिद्ध हो पा रही हैं, क्योंकि प्रथमत: इन्द्रियाँ प्रादुर्भूत हुई, पश्चात् भूतों का प्रादुर्भाव हुआ है। अर्थात् इन्द्रियों के प्रादुर्भूत होने के

समय भूतों का तो अस्तित्व ही न था। उनकी सत्ता केवल कारणरूप में थी, और इन्द्रियों का प्रादुर्भाव तो अपने स्वरूप में हो चुका था। इसलिये इन्द्रियों को भौतिक (भूतों का विकार) कहना कदापि उचित नहीं है, भौतिकानि इन्द्रियाणि- यह नैयायिकों का मत है। क्योंकि भाष्यकार ने कहा है- **भौतिकानि इन्द्रियाणि नियतविषयाणि**-(**न्या. भा.** 1/1/4) **इन्द्रियं नाव्यक्तकम् आहंकारिकं वा, प्रत्युत भौतिकम्** इस मत का प्रतिपादन बड़े विस्तार से अन्यत्र किया गया है- (न्या. सू. 3/1/32-51)। बृहदारण्यक (2/4/11 शां. भा.) में भी **विषयसजातीयं कारणं मन्यते श्रुतिः न तु जात्यन्तरम्। विषयस्यैव स्वात्मग्र. ाहकत्वेन संस्थानान्तरं करणं नाम, यथा रूप-विशेषस्यैव संस्थानं प्रदीपः करणं सर्वरूपप्रकाशने।** उसी तरह शारीरक (2/3/11) में यदि तावद् भौतिकानिकरणानि कहा गया है।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्जोतिरापः पृथिवी बिवस्य धारिणी ॥ (मुण्ड 02/1/3)

प्राण, मन, सब इन्द्रियां, आकाश, वायु, ज्योति, जल, विश्व का धारण करने वाली पृथ्वी उसी से उत्पन्न होती है। इसमें भूतों की उत्पत्ति से पूर्व इन्द्रियोत्पत्ति कही है।

अर्थः-

स्थूल-पृथिवी, सूक्ष्म-पृथिवी, स्थूल-जल, सूक्ष्म-जल, स्थूल-तेज, सूक्ष्म-तेज, स्थूल-वायु, सूक्ष्म-वायु, स्थूल-आकाश, सूक्ष्म-आकाश अर्थात् सम्पूर्ण भौतिक जगत या ब्रह्मांड(आंख, आंख के विषय, श्रोत्र, श्रोत्र के विषय, घ्राण, घ्राण के विषय, रस, रस के विषय, त्वचा, त्वचा के विषय, वाणी, वाणी के विषय, हाथ, हाथ के विषय, उपस्य, उपस्थ के विषय, पायु, पायु के विषय, पांव, पाँव के विषय, मन, मन के विषय, बुद्धि, बुद्धि के विषय, अहंकार, अहंकार के विषय, चित्त, चित्त के विषय, शरीर का तेज और जो कुछ चमुक्ता है, प्राण और प्राण द्वारा जो-कुछ धारण होता है अर्थात् सम्पूर्ण आध्यत्मिक जगत् या पिंड।प्रश्नो. 4/8 में भी स्थूलता से सूक्ष्मता का संकेत किया है -स्थूलभूत, तन्मात्र, इन्द्रिय, मन, अहंकार आदि। इससे भी इन्द्रियों का कारण अहंकार होना चाहिए। पश्चादुत्पन्न भूत नहीं। क्योंकि भूतों के अस्तित्व से पूर्व ही इन्द्रियोत्पत्ति हो जाती है। और पश्चादुत्पन्न पदार्थ अपने से पूर्वोत्पन्न पदार्थ का कारण नहीं हो सकता। अतः इन्द्रियाँ भौतिक नहीं है।

व्याख्याः-

वैदिक साहित्य में भूतों में इन्द्रियों के लय का उल्लेख मिलता है-**पुरुषस्य मृतस्य अग्निं वागप्येति, वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रमसम्, दिशः श्रोत्रम्** (**बृह.3/2/13**)।

जब यह पुरूष मर जाता है, और इसकी वाणी अग्नि में, प्राण वायु में, चक्षु आदित्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशाओं में, शरीर पृथिवी में, शरीरवर्ता-आकाश ब्रह्मांड के महाकाश में, लोम औषधियों में, केश वनस्पतियों में, शोणित और रेत जल में लीन हो जाते हैं-जब कार्य अपने कारण में, पिंड ब्रह्मांड में चल देता है, तब जीव का आधार कुछ नहीं बच रहता, फिर जीव किस आधार से रहता है ? रहता भी है, या नहीं, या वह भी समाप्त ही हो जाता है ? याज्ञ-वल्क्य ने कहा, हे सोम्य आतंभाग, ला अपना हाथ वे, मेरे साथ चल, हम दोनों हो इस विषय पर अलग बैठ कर विचार करेंगे, इस जन-समूह में इस गंभीर विषय पर विचार नहीं हो सकेगा, तुम तो समझ जाओगे, दूसरे लोग नहीं समझेंगे। आर्तभाग के दुराग्रह को तोड़ने का याज्ञवल्क्य को यह अच्छा उपाय सूझा। वे दोनों उठकर कुछ दूर जाकर विचार-विनिमय करने लगे। उन्होंने अलग बैठकर कर्म हो की चर्चा की, कर्म ही की प्रशंसा की, और यह निष्कर्ष निकाला कि सब-कुछ छूट जाने पर भी कर्म नहीं छूटता, कर्म के सहारे ही जीव टिका रहता है, पण्य-कर्म से जीव पुण्य करने वाला होता है, पाप-कर्म से पाप करने वाला होता है। इसके बाद जरत्कारु-गोत्र आर्तभाग चुप होकर बैठ गया।

प्रायः कारण में ही कार्य का लय कहा जाता है। अतः इन्द्रियों का कारण अहंकार न होकर भूत ही माने जाने चाहिएँ। अन्यथा शब्दप्रमाण से विरोध होगा।

तदुत्पत्तिश्रुतेविनाशदर्शनाच्च तदुत्पत्तिश्रुतेविनाशद ॥ (सां.द.2/22)

अर्थः-

(तदुत्पत्तिश्रुतेः) उन इन्द्रियों की उत्पत्तिविषयक श्रुति होने से एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च (मुण्ड. 2/1) (च) और (विनाशदर्शनात्) उन इन्द्रियों का विनाश भी दीखता है, इसलिये इन्द्रियाँ अनित्य हैं।

व्याख्याः-

सभी इन्द्रियों की उत्पत्ति सुनी जाती है। मुण्डक श्रुति कह रही है- **एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च**- (**मुण्ड. उ. 2/1/3**) । इस अक्षर पुरुष से ही प्राण उत्पन्न होता है, तथा इससे ही मन और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। बुद्धि आदि अवस्थ. ाओं में चक्षु आदि इन्द्रियों के समान ही मन का भी अपचय आदि होने से विनाश होता है। कहा भी है- **दशकेन निवर्तन्ते मनः सर्वेन्द्रियाणिच** । मन को नित्य कहने वाले नित्यं मनः अनादित्वात् आदिश्रुति वचनों को प्रकृति संज्ञक बीज-परक समझना चाहिये ।

वात्स्यायन ने मन को नित्य कहा है- **न च आकाश-कालदिगात्ममनसां तदगुणानां च केषांचित् उत्पत्ति-विनाशधर्मकत्वं प्रमाणत उपलभ्यते** (न्या. भा. 4/128) वैशेषिकदर्शन में भी मन को नित्य बताया है-**श्यया युक्त्या मनसोऽणुत्वं साध्यते नैप्रायिकैः, तयैव मनसो निरवयवत्वं, ततश्च नित्यत्वमपि सिध्यति । वैशेषि-कोऽपि मनसो नित्यतामभ्युपगच्छति** (वै. सू. 3/2/2) । वैशेषिकों का कहना है कि श्रुति में जहाँ मन की उत्पत्ति कही जाती है, वहाँ उत्पत्ति शब्द से शरीर के साथ मन के प्रथम संयोग को ही बताया जाता है। उसकी (मन की) वस्तुतः उत्पत्ति नहीं होती है। किन्तु सांख्यवादी तो सभी इन्द्रियों की उत्पत्ति मानता है, और वह उत्पत्ति अहंकार से होती है, भूतों से नहीं। अतः इन्द्रियाँ भौतिक नहीं हैं, अपितु आहंकारिक हैं ।

अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, इस अर्थ के शब्दप्रमाण द्वारा पुष्ट होने से तथा अहंकार में इन्द्रियों का लय देखे जाने से यह निश्चित होता है कि इन्द्रियां आहंकारिक है, भौतिक नहीं। अहंकार से इन्द्रियो की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शब्द प्रमाण का संकेत बीसवें सूत्र पर कर दिया गया है। उन इन्द्रियों की उत्पत्ति की श्रुति होने से और लय देखे जाने से इन्द्रियाँ नित्य नहीं किन्तु अनित्य हैं। उत्पत्तिश्रुति -

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ (मुण्ड02/1/3)

उत्पन्न पदार्थ का नाश अवश्य होता है। जो उत्पन्न होता है, वह नित्य नहीं होता।

अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानामधिष्ठाने ॥ (सां.द.2/23)

अर्थः-

(इन्द्रियम्) इन्द्रिय नेत्र आदि इन्द्रिय (अतीन्द्रियम्) उससे भिन्न किसी भी इन्द्रिय से उपलब्ध नहीं होती (अधिष्ठाने) गोलक में गोलकरूप से इन्द्रिय मानना (भ्रान्तानाम्) भ्रान्तजनों अज्ञों का मन्तव्य है, वस्तुतः नही।

व्याख्याः-

इन्द्रिय अतीन्द्रिय है। किसी भी इन्द्रिय का स्वयं अथवा अन्य किसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता है। इन्द्रियों के अधिष्ठानभूत गोलकों में इन्द्रिय की प्रतीति भ्रम से भ्रान्त हुए लोगों को हुआ करती है। अर्थात् अधिष्ठान और अधिष्ठेय दोनों का वे तादात्म्य समझकर गोलक को ही इन्द्रिय कहते रहते हैं । चरकाचार्य ने ''**इन्द्रियाधिष्ठानविषये**'' (चर. सू. 8/10) सूत्र का उल्लेख किया है।

स्मरणीय बिंदु-

- अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है।
- ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्त करती हैं।
- कर्मेन्द्रियाँ क्रिया करती हैं।
- मन उभयेन्द्रिय माना गया है।
- अहंकार 'मैं' भावना का प्रतीक है।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
अहंकार	-	'मैं' भावना
ज्ञानेन्द्रिय	-	ज्ञान प्राप्त करने वाली इन्द्रियाँ
कर्मेन्द्रिय	-	कर्म करने वाली इन्द्रियाँ
मन	-	अन्तःकरण
उभयेन्द्रिय	-	दोनों कार्य करने वाली इन्द्रिय

5 अंक के प्रश्न-

1. अहंकार क्या है?
2. इन्द्रियों की उत्पत्ति कैसे होती है?
3. ज्ञानेन्द्रियाँ कितनी हैं?
4. कर्मेन्द्रियाँ किसे कहते हैं?
5. मन का स्थान क्या है?

15 अंक के प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में इन्द्रियों के अहंकारिकत्व का विवेचन कीजिए।

2. ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का वर्णन कीजिए।
3. अहंकार से सृष्टि विकास की प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।
4. मन एवं इन्द्रियों के संबंध का वर्णन कीजिए।
5. सांख्य दर्शन में अहंकार की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. इन्द्रियों की उत्पत्ति किससे होती है?
(क) प्रकृति
(ख) महतत्त्व
(ग) अहंकार
(घ) पुरुष
2. ज्ञानेन्द्रियाँ कितनी हैं?
(क) तीन
(ख) पाँच
(ग) सात
(घ) दस
3. मन को क्या माना गया है?
(क) कर्मेन्द्रिय
(ख) ज्ञानेन्द्रिय
(ग) उभयेन्द्रिय
(घ) आत्मा
4. अहंकार का अर्थ है -
(क) ज्ञान
(ख) 'मैं' भावना
(ग) प्रकृति
(घ) मोक्ष
5. कर्मेन्द्रियों का कार्य क्या है?
(क) ज्ञान प्राप्ति
(ख) क्रिया करना
(ग) चिंतन करना
(घ) मोक्ष देना

इकाई-2.4 - ईश्वर का अस्तित्व प्रकरण

उद्देश्य-

- सांख्य दर्शन में ईश्वर विषयक विचारों को समझाना।
- निरीश्वर एवं सेश्वर सांख्य का अध्ययन कराना।
- ईश्वर के अस्तित्व संबंधी तर्कों का विवेचन करना।

सांख्य ने पुरूष की संनिधि को विषम परिणाम में निमित्त कारण माना है, पुरूष-विशेष का वर्णन नहीं किया, किंतु सामान्यतो दृष्ट प्रमाण से उसकी सिद्धि होती है, क्योंकि जिस प्रकार व्यष्टि रूप से पुरूष की संनिधि गुणों के व्यष्टि गुणों के अव्यक्त साम्य परिणाम तथा समष्टि व्यक्त गुणों के विषम परिणाम में निमित्त कारण है।

कई साम्प्रदायिक पक्ष पत्तियों नें कपिल मुनि पर नास्तिकता और उनके दर्शन पर अनीश्वरवाद का दोषारोपण किया है। इसके कई कारण हो सकते है-

(1) सांख्य ने प्रधान (मूल प्रकृति) को जगत् का स्वतंत्र कारण माना है, ईश्वर का वर्णन नहीं किया है। वास्तव में मूल प्रकृति को सांख्य में जगत् का उपादान कारण माना है, उसको उसके उपादान कार्यों की अपेक्षा से स्वतन्त्र बतलाया है, क्योंकि वह गुणों की साम्यावस्था है, जो पुरूष के लिये निष्प्रयोजन है। इस साम्य परिणाम तथा विषम परिणाम में निमित्त कारण ईश्वर ही है, जिसकी संनिधि से परिणाम हो रहा है।

(2) सांख्य ने ईश्वर को 25 तत्त्वो में अलग वर्णन नहीं किया है। इसके सम्बन्ध में ऊपर बतला आए हैं कि पुरूष में पुरूष-विशेष ईश्वर को सम्मिलित कर दिया गया है। केवल वेदान्त ने ब्रह्म को हान और ब्रह्मज्ञान को हानोपाय अर्थात् साध्य और साधन दोनो माना है इसलिये उनमें ब्रह्म का ही विशेषरूप से विस्तार पूर्वक वर्णन है, अन्य चारो दर्शन-न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग नें परमात्मा तत्त्व को केवल हान अर्थात् साधन जड़ और चेतन तत्त्व का विवेकपूर्ण ज्ञान बतलाया है, इसलिये इन्हें उसको विशेष रूप से अलग वर्णन करनें की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई, क्योंकि जानना तो केवल अपने से भिन्न वस्तु का होता है, जो दृश्य कहलाता है और वह त्रिगुणात्मक जड़-तत्त्व है। जिसके वास्तविक स्वरूप को विवेक पूर्ण जानकर आत्मा से भिन्न करनें के लिये दर्शनकारों ने अपने-अपने माप और वर्णन शैली के अनुसार अवान्तर भेदों में विभक्त करके दिखलाया है। अपने शुद्ध परमात्मरूप का जानना नहीं होता, उसमें तो स्वरूप व स्थिति होती है।

येनेदं सर्व विजानाति तं केन विजानीयात्

जिससे यह सब जाना जाता है उसको किससे जाने? तथा **विज्ञातारतमरे केन विजानीयात्**। सबके जाननें वाले विज्ञाता को किससे जाना जा सकता है अर्थात् किसी से भी नहीं जा सकता है।

ईश्वरासिः का समाधानः-

उपयुक्त सूत्र से सांख्या पर अनीश्वरवादी होने का दोष लगाया जाता है। यह सूत्र पहले अध्यायके प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रसंग में आया है। अब उसे स्पष्ट किये देते हैं।

यत् सम्बद्ध सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् । (सां.द. 1/89)

अर्थः-

(यत्सम्बन्धसिद्धम्) जिसके सम्बन्ध से सिद्ध जिस वस्तु के सम्बन्ध से पुरुष के अन्दर प्राप्त (विज्ञानम्) जो विशिष्ट ज्ञान (तदाकारोल्लेखि) उस वस्तु के स्वरूप को दर्शाने वाला है (तत्प्रत्यक्षम्) वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

व्याख्याः-

इस सूत्र में प्रत्यक्षका लक्षण बतलाया है अर्थात् इन्द्रियों के संनिकर्षरूप सम्बन्ध को प्राप्त हुआ जो उस विषय के आकारका चित्र खींचनेवाला विज्ञान (चित्तकी वृत्ति) है, वह प्रत्यक्ष कहलाता है। इसपर यह शंका होती है कि योगियोंको बिना इन्द्रियों के संनिकर्ष के चित्तवृत्तिका वस्तुके तदाकार होकर प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। (इसलिये उपर्युक्त लक्षणमें अव्याप्ति दोष आ जाता है। इसका समाधान अगले सूत्र में करते हैं-(सां. द. 1/90)

योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः । । (सां.द. 1/90)

अर्थः-

(योगिनाम्अबाह्यप्रत्यक्षत्वात्न दोषः) योगियों का अबाह्य प्रत्यक्ष अनिन्द्रियप्रत्यक्ष होता है, वह भी इस लक्षण में आ जावे, इसलिये इस प्रत्यक्ष लक्षण में दोष नहीं। सांसारिक जनों का बाह्य प्रत्यक्ष है, वह बाह्य इन्द्रियों द्वारा वस्तुसम्बन्ध

से उत्पन्न होता है, योगियों का प्रत्यक्ष तो अबाह्यप्रत्यक्ष भीतरी प्रत्यक्ष अन्तःकरण द्वारा वस्तुसम्बन्ध सूक्ष्म-गुप्त-दूरस्थ वस्तु से भी सम्बन्ध होने से होता है। यहाँ हमारे प्रत्यक्ष-लक्षण में यत्सम्बन्धसिद्धम्- सम्बन्ध से सिद्ध होना लक्षण तो दोनों सांसारिकों और योगियों के प्रत्यक्ष में समान है, अतः दोष नहीं है। इससे योगियों का भीतरी प्रत्यक्ष भी गृहीत हो जाता है सांख्य के इस लक्षण में। अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षुभाष्य में इससे पूर्व प्रत्यक्ष लक्षणवाले सूत्र का बाह्य प्रत्यक्षलक्षणपरकऐन्द्रियिक प्रत्यक्षलक्षणपरक व्याख्यान किया है। अतएव उन्होंने कहा है- **बाह्यप्रत्यक्षलक्षणमिदं लौकिकं योगिप्रत्यक्षं तु - अबाह्यमलौकिकं च** (**अनिरुद्धः**) अथ. र्ात् बाह्यप्रत्यक्षलक्षणवाला लौकिक प्रत्यक्ष है, यह योगी का प्रत्यक्ष तो अबाह्य और अलौकिक होता है, यह अनिरुद्ध कथन है। और ऐन्द्रियप्रत्यक्षमेवात्र लक्ष्यं योगिनश्चाबाह्यप्रत्यक्षकाः (विज्ञानभिक्षुः) ऐन्द्रियकप्रत्यक्ष ही लक्ष्य है। योगी तो अबाह्य प्रत्यक्ष वाले होते हैं।

व्याख्याः-

यह विज्ञानभिक्षु का कथन है। इस प्रकार दोनों ने अन्यथा व्याख्यान किया है। पूर्व सूत्र में इन्द्रिय शब्द ग्रहण नहीं किया, किन्तु बाह्य इन्द्रिय द्वारा या अन्तःकरण के द्वारा वस्तुसम्बन्ध से सिद्ध ज्ञान प्रत्यक्ष है। यह सामान्य लक्षण यत्सम्बन्धसिद्ध म् पद से सूचित किया है। अतएव वहाँ पूर्व सूत्र में किए प्रत्यक्षलक्षण में दोष नहीं है, योगी के प्रत्यक्ष में भी उसकी व्याप्ति अभीष्ट होने से। योगियों का बाह्य प्रत्यक्ष न होनेसे उपर्युक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं आता (अर्थात् उपयुक्त लक्षण केवल बाह्य प्रत्यक्ष ज्ञानका है, योगियोंका इस प्रकारका ज्ञान वाह्य प्रत्यक्ष नहीं है, वह आभ्यन्तर प्रत्यक्ष है। इसलिये सूत्र में बतलाये हुए लक्षणमें अव्याप्ति दोष नहीं आता ।

लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वादोषः । (सां. द.1/91)

अर्थः-

(वा) अथवा (लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धात्अदोषः) लीन अर्थात् सूक्ष्मों, अतीन्द्रिय वस्तुओं का प्राप्त अत्यधिक, बिना रुकावट, निरन्तर आत्म्य सम्बन्ध योगियों का होने से अदोष है। जैसे योगदर्शन में कहा है- **परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः** (**योग. 1/40**) परमाणु और परममहत् पर्यन्त योगी के इस चित्त का वशीकार होता है। अतः उस प्रत्यक्षलक्षण में दोष नहीं। पूर्वसूत्र में अन्तःकरण द्वारा वस्तुसम्बन्ध होने से दोष का परिहार किया। इस सूत्र में निरन्तर आत्मसम्बन्ध सिद्ध होने से निराकरण किया है, यह विशेष है।

व्याख्याः-

अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षु भाष्य में यहाँ प्रत्यक्षलक्षणप्रसंग में नितान्त असत्य कल्पना की है। वहाँ योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः (90), इस सूत्र का दोनों में पूर्व प्रत्यक्षलक्षण से भिन्नविषयक व्याख्यान किया कि पूर्व तो ऐन्द्रियिक बाह्य इन्द्रिय से साध्य लौकिक प्रत्यक्ष का लक्षण कहा, योगियों के अबाह्य प्रत्यक्ष का नहीं-**बाह्यप्रत्यक्षलक्षणमिदं लौकिकं योगिप्रत्यक्षं त्वबाह्यमलौकिकं च अतो नाव्यापकत्वदोषः** (**अनिरुद्धः**) -बाह्य प्रत्यक्षलक्षण है यह लौकिक है, किन्तु योगियों का प्रत्यक्ष तो अबाह्य और अलौकिक है, अतः अव्यापकत्व दोष नहीं है। ऐन्द्रियिकप्रत्यक्षमेवात्र लक्ष्यं योगिनश्चाबाह्यप्रत्यक्षकाः, अतो न दोषः (विज्ञानभिक्षु)-ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष यहाँ लक्ष्य है। योगी अबाह्यप्रत्यक्षवाले होते हैं, अतः दोष नहीं। और फिर लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः (91) इस सूत्रप्रसंग में योगियों के प्रत्यक्ष का लक्षण भी उसी योगियोंको लीन वस्तुओं (सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट) में अतिशय सम्बन्ध होने से अव्याप्ति दोष नही आता। दूसरी शंका इस प्रकार उत्पन्न होती है कि योगियों को ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है इसलिये सूत्र में बतलाये हुए लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है। इसका उत्तर सूत्रकार निम्न सूत्र में देते हैं-एक पूर्व सूत्र (89) से मान लिया अथवा लक्षणेन योगिप्रत्यक्षस्यापि संग्रह इति पक्षान्तरमाह - **लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः** (**अनिरुद्ध**) अथवा इस लक्षण से योगियों के प्रत्यक्ष का भी संग्रह है यह पक्षान्तर से कहता है- लीनवस्तु..... सूत्र द्वारा दोष नहीं है। तथा वास्तवं समाधानमाहलीनवस्तुलब्धातिशय सम्बन्धाद्वाऽदोषः (विज्ञानभिक्षु)-वास्तविक समाधान कहता है लीनवस्तु.....सूत्र में। अस्तु ! क्या यह जो योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः (90) तथा लीनवस्तु-लब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः (91) ये दोनों सूत्र पूर्व कहे हुए यत्सम्बन्धसि) तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् (89) इस सूत्र के व्याख्यान रूप हैं, सांख्यकर्ता से भिन्न किसी व्याख्याकर्ता के हैं कि जो योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः (91) सूत्र से असन्तोष को प्राप्त हो फिर वास्तविक समाधान लीनवस्तुलब्ध..... (90) इस वचन को सामने उपस्थित करता है? क्या सूत्रकार की ओर से अवास्तविक समाधान होना चाहिए ? यह शिष्टाचार या सम्यगाचार साक्षात्कर्ता ऋषियों का नहीं होता और फिर योगि. नाम० (90) लीनवस्तु० (91) सूत्र तो सांख्यशास्त्र के हैं न कि किसी व्याख्याकार के वचन । अतः अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षु के भाष्य में यह प्रसंग न समझकर अन्यथा व्याख्यात किया गया है। इसी कारण आगे ईश्वरासिद्धेः (92) इस सूत्रका व्याख्यान भी अयुक्त हुआ। वस्तुतः ईश्वर-साधन के लिये ही योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः (90) तथा लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोष (91) इन सूत्रें से योगियों के अबाह्य प्रत्यक्ष-भीतरी प्रत्यक्ष का भी अन्तर्भाव पूर्व प्रत्यक्षलक्षण में है, यह दर्शाया गया। इसी कारण

यत्सम्बन्धसिद्ध तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् (89) सूत्र में यत्सम्बन्धसिद्धम् सामान्यलक्षणपरक पद रखा। क्योंकि ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती वहाँ ईश्वरासिद्धि प्रसंग न हो अतएव योगिप्रत्यक्ष से उसकी सिद्धि हो सके, इसलिये प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण सूत्र में निर्दिष्ट किया है। यत्सबन्धसिद्ध म् आत्मा का किसी उपकरण द्वारा या बिना उपकरण, जिस वस्तु के साथ सम्बन्ध से प्राप्त उसके स्वरूप का प्रकाशक ज्ञान प्रत्यक्ष है। यह आश्चर्य है ईश्वरासिद्धेः (92) सूत्र के अवतरण में विज्ञानभिक्षु ईश्वरसिद्धि में ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष के अव्याप्तिदोष का निराकरण करते हैं, ईश्वर का निषेध करके कि उस ईश्वर के सन्निकर्षाजन्यत्वात् सन्निकर्ष से अजन्य होने से परन्तु सौक्ष्म्यादनुपलब्धिः (109) सूत्र में योगजधर्मस्य चोत्तेजकतया प्रकृतिपुरुषादीनां प्रत्यक्षप्रमा भवति (विज्ञानभिक्षुः) योगजधर्म की उत्कृष्टता से प्रकृति-पुरुष आदि की प्रत्यक्षप्रमा होती है। यदि ऐसा है तो ईश्वरविषय में प्रत्यक्ष का अव्याप्ति परिहार व्यर्थ हुआ, क्योंकि उसकी भी योगजधर्म से प्रत्यक्ष प्रमा हो सकती है सन्निकर्षाजन्यत्वात् कथन का मूल्य न रहा मे।

ईश्वरासिद्धेः । (सां.द. 1/92)

अर्थः-

(ईश्वरासिद्धेः) ईश्वर के असिद्धिदोष प्रसंग से। ईश्वर की सिद्धि बाहिरी प्रत्यक्ष इन्द्रियप्रत्यक्ष से नहीं होती। बाह्यप्रत्यक्ष का विषय ईश्वर नहीं है और श्रुति ईश्वर को प्रत्यक्ष कहती है- यो विद्यात् प्रत्यक्षं ब्रह्म (अथर्ववेद) जो प्रत्यक्ष ब्रह्म को जानता है, त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि (तै. उ. 1/1/1) तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है तुझे ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा। इस प्रकार योगियों का भीतरी प्रत्यक्ष आवश्यक है। अतएव सांख्य में प्रत्यक्ष लक्षण सामान्य किया है जो योगियों के प्रत्यक्ष में भी घटता है, योगियों के भीतरी प्रत्यक्ष से ईश्वरसिद्धि हो जावेगी।

व्याख्याः-

ईश्वरकी असिद्धि से अव्याप्ति दोष नहीं आता है।यह सूत्र ईश्वरके अस्तित्वके अभावको नहीं बतलाना है, किंतु इससे ईश्वरके शुद्ध स्वरूपका प्रत्यक्ष अन्तःकरणद्वारा नहीं होता अर्थात् चित्तवृत्ति ईश्वर के शुद्ध स्वरूप के तदाकार होकर उसका ज्ञान नहीं प्राप्त करा सकती है। इसलिये इस सूत्र से ईश्वर के अस्तित्व की असिद्धि नहीं बतलायी गयी है, किंतु जिस प्रकार पदार्थो का साधारण मनुष्योंको बाह्य प्रत्यक्षसे और योगियों को सूक्ष्म पदार्थो का आभ्यन्तर प्रत्यक्ष से ज्ञान होता है, इस प्रकार ईश्वरका प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान नहीं होता। सांख्य ने ईश्वरको ऐसा स्वेच्छाचारी सम्राट् नहीं माना है, जो अपने मनोरंजनके लिये सृष्टिकी रचना करता है और स्वार्थ सिद्धि के लिये सर्वहितकारी नियमोंका भी उल्लंघन कर सकता है (किंतु सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और ज्ञानस्वरूप माना है, जिसकी ज्ञान-शक्ति से जड़-प्रकृति में सारे पुरुष कि कल्याणार्थ उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया हो रही है। इसी बात को गीता के पाँचवें अध्याय में निम्नलिखित श्लोकों में दर्शाया है-

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥14॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चौव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥15॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेपामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥16॥

ईश्वर भूत-प्राणियोंके न कर्तापनको और न कर्मो तथा कर्मोके फलके संयोगको (वास्तवमे) है, किंतु परमात्माके सांनिध्य से प्रकृति ही बर्तती है। अर्थात् गुण ही गुणों में बर्त रहे हैं ॥14॥

सर्वव्यापी ईश्वर न किसीके पापको और न किसीके शुभ कर्मको भी अहण करता है अविद्यासे ज्ञान (विवेक-ज्ञान) ढका हुआ है, इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं ॥15॥

परंतु जिनका अन्तःकरणका अज्ञान विवेकज्ञानद्वारा नाश हो गया है, उनका वह ज्ञान उस परब्रह्म परमात्माके स्वरूपको हृदयमें प्रकाशित करता है अर्थात् साक्षात् कराता है ॥16॥

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा । (सां.द. 1/93)

उपर्युक्त सूत्र से ईश्वर की सिद्धि स्पष्ट शब्दोंमें बतलायी गयी है। विज्ञानभिक्षु ने यहाँ अपने सांख्य-प्रवचनभाष्य में ईश्वर को प्रकृतिलय का वाचक बतालाया इसलिये पाठकों के स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने के लिये प्रकृतिलय के प्रसंग के साथ इस सूत्र को बताये है(**सां. द. 11**)

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् । (सां द.3/54)

अर्थः-

(कारणलयात्- कृतकृत्यता न) कारणलय से कृतकृत्यता नहीं होती, पुनरावृत्ति का अभाव नहीं होता (मग्नवत् - उत्थानात्) जलाशय में मग्न हुए अन्दर डुबकी लगाए हुए का पुनरुत्थान होता है-फिर आना होता है, अतः प्रकृति में लीन होने से कृतकृत्यता नहीं, क्योंकि प्रकृतिलीन का भी पुनर्जन्मार्थ बाहिर आना होता है।

व्याख्याः- कारण में लीन होने से पुरुष को कृतकृत्यता नहीं हो सकती, क्योंकि डुबकी लगाने वाले के सम. ाने पर उठना होता है। इस विषयमें योगदर्शन 1/19 की व्याख्या देखिये । अर्थात् प्रकृतिलय होना भी मुक्ति नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार डुबकी लगाने वाले को श्वास लेने के लिये ऊपर उठना होता है, इसी प्रकार प्रकृतिलयों को भी एक नियत समय के पश्चात् विवेकज्ञान द्वारा स्वरूपावस्थिति को प्राप्त करने के लिये प्रकृतिलीनता से निकलकर फिर जन्म लेना होता है।

अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् । (सां द. 3/55)

अर्थः-

(अकार्यत्वे- अपि) प्रकृति अकार्य होने पर भी (तद्योगः) उसका कार्यत्वयोग कार्यरूप में महत्तत्त्वादि भूत-भौतिक पर्यन्तकार्यरूप में परिणत हो जाना योग अनिवार्य अवसर है ही (पारवश्यात्) परवशता से परवशवर्ता होने से पुनः कार्यरूप में परिण ात होगी ही। जो पर है वह उसे कार्यरूप में परिणत कर देता है। अतः कारण के कार्यरूपपरिणाम धर्मवाला होने से, कार्यरूप में पुनः प्रवर्तन से पुनरुत्थान होता ही है, कारणलय में कृतकृत्यता नहीं।

व्याख्याः-

यद्यपि प्रकृति कार्य नहीं है, तो भी परतन्त्रता से उसका योग होता है। अर्थात यद्यपि प्रकृति कार्य पदार्थ नहीं है, कारण है, फिर भी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर के नियमो के अधीन पुरुषके अपवर्ग (स्वरूपास्थिति) करानेके लिये प्रवृत्त हो रही है।, प्रकृतिलय पुरुष स्वरूपावस्थिति को प्राप्त किये हुए नहीं होते हैं। इसलिये प्रकृति ईश्वरीय नियमों से परतन्त्र हुई, उनको अपवर्ग दिलाने के लिये प्रकृतिलीनता से निकालकर उँचे योगियों के कुल में जन्म दिलाती है।

स हि सर्ववित् सर्वकर्ता । (सां द. 3/56)

अर्थः-

(सः- हि) वह पर जो प्रकृति को कार्यरूप में परिणत करता है निश्चय ही (सर्ववित् सर्वकर्ता) सर्वज्ञ और सर्वकर्ता पुरुषविशेष है।

व्याख्याः-

वही सर्वज्ञ और सबका कर्ता है।अर्थात् वह चेतन-तत्त्व ईश्वर, प्रकृति जिसके अधीन ज्ञान, व्यवस्था और नियमपूर्वक पुरुषके अपवर्गके लिये प्रवृत्त हो रही है, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है।

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥ (सां द. 3/57)

अर्थः-(ईदृशे श्वरसिद्धिः सिद्धा) ऐसे सर्वज्ञ, सर्वकर्ता ईश्वर की सिद्धि-सत्ता नित्य है, अनिवार्य है, जिस की सिद्धि के लिये योगियों का अबाह्य प्रत्यक्ष प्रथम अध्याय में हम सांख्यों ने प्रदर्शित किया है। योगियों के उस भीतरी प्रत्यक्ष से और श्रुति से ईश्वर की सिद्धि नित्य है, अनिवार्य है-त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि (तै. उ. 1/1) तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है। यो विद्यात्प्रत्यक्षं ब्रह्म (अथर्व) जो ब्रह्म को प्रत्यक्ष जाने। स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः । प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारस्थितिमोक्षहेतुः (श्वेता. 6/16)- वह सर्वकर्ता, सर्वज्ञ, आत्माधार, चेतन, काल, का काल अनन्तगुणशक्तिवाला, प्रकृति-जीवात्मा का स्वामी, गुणों का स्वामी, सृष्टिस्थितिप्रलय का हेतु है।

व्याख्याः-इस प्रकारकी ईश्वर की सिद्धि सिद्ध है अर्थात् प्रथम अध्यायके बानवे सूत्र में ईश्वरके बद्ध तथा मुक्त दोनों प्रकारका न होनेसे असिद्धि बतायी थी (पर इस प्रकार सर्वसृष्टिका नियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर की सिद्धि सिद्ध है।

स्मरणीय बिंदु-

- मूल सांख्य निरीश्वरवादी है।
- कपिल मुनि सांख्य दर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं।
- प्रकृति एवं पुरुष सांख्य के मुख्य तत्व हैं।
- सेश्वर सांख्य में ईश्वर को स्वीकार किया गया है।
- सांख्य दर्शन द्वैत सिद्धांत पर आधारित है।

शब्दावली-

शब्द		अर्थ
निरीश्वर सांख्य	–	ईश्वर को न मानने वाला सांख्य
सेश्वर सांख्य	–	ईश्वर को मानने वाला सांख्य
द्वैत	–	दो तत्वों का सिद्धांत
प्रकृति	–	जड़ मूल कारण
पुरुष	–	चेतन तत्व

5 अंक के प्रश्न-

1. निरीश्वर सांख्य क्या है?
2. सेश्वर सांख्य किसे कहते हैं?
3. सांख्य दर्शन में ईश्वर का स्थान क्या है?
4. ईश्वर संबंधी सांख्य मत लिखिए।
5. ईश्वर के अस्तित्व पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व का विवेचन कीजिए।
2. निरीश्वर एवं सेश्वर सांख्य का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
3. सांख्य दर्शन ईश्वर को क्यों स्वीकार नहीं करता? स्पष्ट कीजिए।
4. ईश्वर विषयक विभिन्न दार्शनिक मतों का वर्णन कीजिए।
5. सांख्य दर्शन में ईश्वर की आवश्यकता का परीक्षण कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. मूल सांख्य दर्शन को कहा जाता है -

(क) सेश्वर सांख्य

(ख) निरीश्वर सांख्य

(ग) वेदान्त

(घ) योग

2. सांख्य दर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं -

(क) पतंजलि

(ख) कपिल मुनि

(ग) गौतम

(घ) कणाद

3. सांख्य दर्शन में सृष्टि का कारण क्या माना गया है?

(क) ईश्वर

(ख) प्रकृति

(ग) आत्मा

(घ) मन

4. सेश्वर सांख्य में किसे स्वीकार किया गया है?

(क) केवल प्रकृति

(ख) ईश्वर

(ग) केवल आत्मा

(घ) शून्यता

5. सांख्य दर्शन मुख्यत: किस सिद्धांत पर आधारित है?

(क) अद्वैत

(ख) द्वैत

(ग) शून्यवाद

(घ) भक्ति

खण्ड-3 सूक्ष्म एवं स्थूल तत्वों का प्रतिपादन

इकाई-3.1 मन का स्वरूप

उद्देश्य-

- सांख्य दर्शन में मन के स्वरूप को समझाना।
- मन एवं इन्द्रियों के संबंध को स्पष्ट करना।
- अन्त:करण की भूमिका का अध्ययन कराना।

करणों के प्रसंग से ग्रन्यतम अन्त:करण अथवा आन्तर इन्द्रिय मन की एक विशेषता का सूत्रकार निरूपण करता है। शिष्य ने आशंका की, मन एक ऐसा करण है, जिसका प्रत्येक बाह्य इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होता है। ऐसी स्थिति में मन का परिमाण क्या होना चाहिए ? यह संभव है, कि दसों इन्द्रियों से सम्बन्ध होने के कारण वह महापरिमाण हो, अथवा देह परिमाण हो । यह आशंका केवल मन के विपय में इसलिए की गई, कि दसों वाह्य इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध की विशेषताट्यो में है। सूत्रकार समाधान करता है।

अणुपरिमाणं तत्कृतिश्रुतेः ॥ 3/14

अर्थः-(अणुपरिमाणम्) लिंगशरीर अणुपरिमाणवाला है। यहां अणुकथन से विभु होने का निषेधमात्र अभिप्राय है। इससे उसका एकदेशी होना अभीष्ट है, कैसे (तत्कृतिश्रुतेः) उसकी कार्यता की उत्पत्ति की श्रुति होने से -एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च (मुण्ड० २। १।३)

व्याख्याः-मन् अणुप्रमाण है, न महापरिमाण न देहपरिमाण । क्योंकि अन्तिम दोनों अवस्थाओं में समस्त बाह्य इन्द्रियों के साथ मन का युगपत् सम्बन्ध होना रोका नहीं जासकता। तब अनेक ज्ञान एक साथ हो जाने चाहिये, अथवा एक साथ होते रहने चाहिएं, जो अनिष्ट एवं असंगत है। इन्द्रियों की अपने विषय में प्रवृत्ति क्रमिक, की होती है अक्रमिक नहीं, इस विचार को २/३२ में पुष्ट किया गया है है। इसलिए मन को अणुपरिमाण स्वीकार किया जाना चाहिए। इस प्रसंग में यह ध्यान रहना चाहिए कि कोई कार्यतत्त्व परिमाण की दृष्टि से से अपने मूल उपादान की समानता काली रेडहीं करता। जगत के मूल उपादान सत्त्व-रजस्तमस अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व फतेह होते हैं। मन का परिमाण उनकी अपेक्षा अवश्य कुछ स्थूल है, क्योंकि वह कार्य-कारण द्रव्य है । तत्मात्रों अथवा अन्य इन्द्रियों के समान ही मन को अणु समझना चाहिए मन कार्यभूत तत्त्व है, इसकी पुष्टि शब्द प्रमाण से होती है। सांख्य में इसको अहंकार का परिणाम माना है। तथा अन्यत्र भी इसको उत्पन्न हुआ तत्त्व स्वीकार किया गया है। है। मुण्ड० [१/१/८/२/१/३]।

तदन्नमयत्व श्रुतेश्च॥ 3/15

अर्थः-

(तदन्नमयेत्वादिश्रुतेः च) तथा लिक्त्ग शरीर के अनमयत्व [अन अर्थात् भोजन से सक्रिय रहने वाला] आदि विषयक श्रुति होने से-अन्नमयं हि सौम्य मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक् (छान्दो० ६।५।४)। अतः वह मन उत्पन्न होनेवाला है।

व्याख्याः-मन की अन्नमयता शब्द द्वारा प्रमाणित की गई है अन्नमय हि सोभ्य मनः [छा० उ० ६।५।४] । अथर्ववेद [१५।१४।१] में मन को अन्नाद कहा है। इससे मन का अन्नमय होना घ्वनित होता है। वस्तुतः मनसम्बन्धी ये वर्णन औपचारिक समझने चाहिए । क्योंकि मन न तो अन्न खाता है, और न अन्न का विकार है। इसप्रकार के समस्त उल्लेख केवल इतना संकेत करते है, कि अन्न का उपयोग करने पर मन अपनी सम अवस्था में बना रहता है, जो व्यवहार में उसकी कार्य-क्षमता को अक्षुण्ण बनाए रखता है। इसी आधार पर मन को अन्नाद व अन्नमया पहा कहा जाता है। वह अन्न का अथवा अन्य किसी भूत तत्व का विकार नहीं है। चारिक होने पर भी ये वर्णन इतना अवश्य है ओप स्पष्ट कर देते हैं, कि मन नित्य अथवा महापरिमाण नहीं हो सकता। इससे उसके परिच्छिन्न परिमाण होने पर प्रकाश पड़ता है। अन्य इन्द्रियों की भी यही अवस्था रहती है।

स्मरणीय बिंदु-

- मन उभयेन्द्रिय है।
- मन संकल्प-विकल्प करता है।
- बुद्धि निर्णयात्मक शक्ति है।
- अहंकार 'मैं' भावना का आधार है।
- अन्त:करण में मन, बुद्धि एवं अहंकार सम्मिलित हैं।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
मन	-	संकल्प-विकल्प करने वाला तत्व

बुद्धि	–	निर्णय शक्ति
अहंकार	–	'मैं' भावना
अन्त:करण	–	आंतरिक उपकरण
उभयेन्द्रिय	–	दोहरा कार्य करने वाली इन्द्रिय

5 अंक के प्रश्न-

1. मन किसे कहते हैं?
2. मन का कार्य क्या है?
3. अन्त:करण का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. मन एवं बुद्धि में अंतर लिखिए।
5. सांख्य दर्शन में मन का स्थान क्या है?

15 अंक के प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में मन के स्वरूप का विवेचन कीजिए।
2. मन एवं इन्द्रियों के संबंध का वर्णन कीजिए।
3. अन्त:करण चतुष्टय की व्याख्या कीजिए।
4. मन की ज्ञान प्रक्रिया में भूमिका स्पष्ट कीजिए।
5. सांख्य दर्शन में मन, बुद्धि एवं अहंकार का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. मन को सांख्य दर्शन में क्या माना गया है?

(क) ज्ञानेन्द्रिय

(ख) कर्मेन्द्रिय

(ग) उभयेन्द्रिय

(घ) आत्मा

2. अन्त:करण में कौन सम्मिलित है?

(क) मन

(ख) बुद्धि

(ग) अहंकार

(घ) उपर्युक्त सभी

3. मन का मुख्य कार्य क्या है?

(क) निर्णय करना

(ख) संकल्प-विकल्प करना

(ग) साक्षी बनना

(घ) सृष्टि करना

4. बुद्धि का कार्य है -

(क) संकल्प

(ख) निर्णय

(ग) क्रिया

(घ) अनुभव

5. अहंकार का संबंध किससे है?

(क) 'मैं' भावना

(ख) ज्ञान

(ग) क्रिया

(घ) मोक्ष

इकाई-3.2 भूत-चैतन्य विचार

उद्देश्य-

- भूत एवं चौतन्य के स्वरूप को समझाना।
- चेतन एवं अचेतन तत्वों का विवेचन करना।
- सांख्य दर्शन में भौतिक एवं चेतन सत्ता का अध्ययन कराना।

भूत-चैतन्यवादः- भूत = पंचमहाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ,चैतन्यवाद- चेतना को प्राथमिक मानने वाला विचार, भूत-चैतन्यवाद वह विचार है, जो कहता है कि चेतना भौतिक तत्त्वों (भूतों) से उत्पन्न होती है। अर्थात जब पंचमहाभूत विशेष संगठित अवस्था में होते हैं (जैसे शरीर में), तभी चेतना प्रकट होती है। यह मत आज के भौतिकवादी दृष्टिकोण से मेल खाता है, जैसे कि आधुनिक न्यूरोसाइंस का यह मानना कि चेतना मस्तिष्क की क्रियाओं से उत्पन्न होती है। सांख्य दर्शन का दृष्टिकोणः- सांख्य दर्शन भूत-चैतन्यवाद को स्पष्ट रूप से खंडन करता है।

उसका तात्त्विक निष्कर्ष हैः चेतना न तो प्रकृति से उत्पन्न होती है, न महत्तत्त्व, अहंकार या पंचमहाभूतों से। चेतना का आश्रय केवल पुरुष है। भारतीय दर्शन में चेतना की प्रकृति को लेकर विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किए गए हैं। इन्हीं में एक विचार है- भूत-चैतन्यवाद । यह विचार यह मानता है कि चेतना भूतों (भौतिक तत्त्वों) से ही उत्पन्न होती है। सांख्य दर्शन इस विचार को अस्वीकार करता है, और स्पष्ट रूप से कहता है कि चेतना आत्मा (पुरुष) का गुण है, न कि किसी भौतिक या प्राकृतिक तत्त्व का।देह जो कि चेतन प्रतीत होता है, उसमें स्वाभाविक चेतनता है अथवा नही इसके लिए इस प्रसंग को प्रारम्भ करते है।

न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः। (सां.द.3/20)

अर्थः-

(चैतन्यं सांसिद्धिकं न) देह में चैतन्य-चेतनता स्वाभाविक-देह के उत्पादक भूतों से उत्पन्न हुई नहीं है। देह के जो कारण भूत हैं उन से निष्पन्न या प्रकट नहीं है। क्योंकि (प्रत्येकादृष्टेः) प्रत्येक पृथक् पृथक् भूत में उस चैतन्य चेतनता के अदृष्ट होने से, न मिलने से, न पाए जाने से, उनमें जडत्व ही है।।

व्याख्याः-भूतों का विश्लेषण करने पर प्रत्येक मूलभूततत्व में चैतन्य का प्रदर्शन होने से, जगत् के मूलतत्त्व, स्वतः चेतन नहीं माने जासकते। जड़ जगन के मूलतत्त्व सत्त्व-रजस् तमम् है। इनकी स्थिति अथवा स्वरूप का वर्णन पहले सूत्र (1/32) किया जाचुका है। उससे स्पष्ट है, कि चेतना इनसे सर्वथा पृथक् तत्त्व है। जब मूलकारण जड़स्वरूप है, तब कार्य-देह चेतन कैसे हो सकता है ? सांख्यसिद्धान्त के अनुसार जड़ चेतन के रूप में अथवा चेतन जड़ के रूप में परिवर्त्तित नहीं होसकता । परन्तु आधुनिक भौतिकविज्ञान-विशारदों ने इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। परीक्षणों के आधार पर उन्होंने इम तथाकथित तथ्य को प्रकट किया है, कि जड़ चेतन दोनों एक दूसरे के रूप में परिवर्तित्तत हो सकते हैं। इसप्रकार एक ही मूलतत्त्व की ये दो भिन्न अवस्था है। संसार में जो चेतना अनन्तरूप में बिखरी पड़ी है, मानव का उनपर कोई नियंत्रण नहीं है। सत्त्वमूल के भौतिक शरीर का निर्माण करके भी मानव उसमें चेतना को लाकर नहीं बिठा सकता इससे निश्चित है, कि मूलतत्त्व जड़ हैं. उनका कोई परिणाम चेतन नहीं हो सकता। फलतः देह चेतन न होने से भोक्ता नहीं माना जाना चाहिए। तब प्रत्येक देह में एक अतिरिक्त चेतन भोक्ता का अस्तित्व स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है।

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं, माध्यस्थ्यं, द्रष्टृत्वमैकर्तृभावश्च।। (सां.का.19)

अर्थः-

पुरुष अकर्ता है इसपर कहा जाता है। तस्माच्च. पूर्वोक्त गुण्य के विपर्यास से अर्थात् विपरीत होने से - पुरुष निर्गुण विवेकी मोक्ता इत्यादि गुणों से पुरुष का जो वैपरीत्य कहा है इससे । सत्त्व, रज एवं तम के कर्तृभूत हानेपर पुरुष का साक्षित्व स्वयं सिद्ध है। यह वहीं पुरुष है जो कि बहुत्व के प्रति अधिकृत है (अर्थात् जिसका बहुत होना पूर्व कारिका में सिद्ध किया गया है)। कर्त्ता जो गुण हैं वे ही प्रवृत्त होते हैं। साक्षी न तो प्रवृत्त होता है और न निवृत्त ही होता है। और क्या। कैवल्य. केवल होना, कैवल्य का अर्थ है अन्यत्व । त्रिगुणों से केवल अर्थात् (इनसे) अन्य। माध्यस्थ्यं मध्यस्थ होना । संन्यासी की तरह पुरुष भी मध्यस्थ है। जैसे गाँव के किसान जब खेतीपाती के काममें प्रवृत्त हो जाते हैं तब उस गाँव में रहनेवाला संन्यासी केवल उनके काम को देखता रहता है क्योंकि उसके पास तो जमीन आदि है नहीं, पर है वह भी वहीं का बासी, इसी प्रकार गुण अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त होते हैं तो पुरुष उनको केवल देखता रहता है वह उनमें प्रवृत्त नहीं होता, इसीलिये उसमें द्रष्टृत्व (अर्थात् देखना और कर्म न करना) है। क्योंकि वह मध्यस्थ है इसलिए वह द्रष्टा है और इसलिये उन कर्मों का अकर्त्ता भी है। सत्त्व रजस् रूप से प्रवृत्त होते हैं, पुरुष

नहीं प्रवृत्त होता । तमस् ये तीनों गुण ही कर्मकर्ता रूप इस प्रकार पुरुष का अस्तित्व भी सिद्ध है।

प्रपंचमरणाद्यभावश्च ॥ (सां.द.3/21)

अर्थः-

(प्रपश्चत्वाद्यभावः च) प्रगमन-प्रयाण-प्रस्थान कर गये पंच प्राण जिस देह से वह प्रपंच अर्थात् मृतदेह । मृतदेह का भाव प्रपंचत्व-मृतदेहत्व-मृतत्व-मरण तथा आदि से सुषुप्ति मूर्च्छा अर्थात् का भी ग्रहण होता है। मरण, सुषुप्ति, मूर्च्छा का अभाव हो जावे देह के चैतन्य मानने पर, क्योंकि सुषुप्ति, मूर्च्छा के समय देह तो है, पुनः उसका धर्म चैतन्य मानने पर वह भी होना चाहिए, पर नहीं होता है। अतः चैतन्य धर्म देह का नहीं, आत्मा का है।

व्याख्याः-

शरीर को तभी चेतन माना जा सकता है जब सब भूत और भौतिक तत्त्व भी चेतन मानें जावें। उस अवस्था में प्रतीत होने वाले समस्त जड़ प्रपंच में (जड़ जगत) में जड़ता नहीं रहनी चाहिए तथा मरणादि अवस्थाएँ भी नहीं होनी चाहिएँ। क्योंकि देह में चेतना न रहना या चेतना का शरीर को छोड़ जाना ही मरण है। जब सारा शरीर स्वयं चेतन है तो छोड़कर जा ही नहीं सकता। क्योंकि जब तक वस्तु रहती है स्वभाव तो तब तक बना ही रहता है। 'आदि' शब्द से सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि अवस्थाएँ ग्रहण की जा सकती हैं। देह को चेतन मानने पर ये अवस्थाएँ भी नहीं होनी चाहिए। क्योंकि अवस्था परिणाम जड़ का धर्म है। चेतन तो सदा एकरस रहता है। किन्तु ये सब बातें प्रत्यक्षविरुद्ध हैं। कुछ पुस्तकों में 'प्रपंचत्वाद्यभावश्च' पाठान्तर है। वहाँ आदि शब्द से मरण, सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि अवस्थाओं का ग्रहण किया जा सकता है।

मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टे सौक्ष्म्यात् सांहत्ये तदुद्भवः । (सां.द.3/22)

अर्थः-

(मदशक्तिवत्-चेत्) देह का चौतन्य स्वाभाविक न हो किन्तु मदशक्ति की भांति देह में प्रकट हो जावे, जैसे भिन्न-भिन्न वस्तुओं से बनी सुरा-शराब, में मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है, वैसे देह में मदशक्ति की भाँति चैतन्य है। मदशक्ति नाश से नशा उतर जाने की भांति देह का मरण आदि बन सके, यदि ऐसी कल्पना की जावे तो (सौक्ष्म्यात् प्रत्येकपरिदृष्टे) सूक्ष्मता से वैद्यकशास्त्र में प्रतिपादित मादकत्व परीक्षण प्रकार से सुरा के प्रत्येक पदार्थ में मदशक्ति देखे जाने पाए जाने पर (तदुद्भवः सांहत्ये) उसका उद्भव मेल सुराघोल में हो जाता है। वैसे देह के कारण-भूतों में प्रत्येक में चैतन्य की मात्र उपलब्ध नहीं, अतः विपरीत दृष्टान्त होने से देह का चैतन्य सिद्ध नहीं हो सकता।

व्याख्याः-

यदि मादकशक्ति के समान (भूतों) में चेतना मानी जाए, तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि सूक्ष्मरूप से सुरा आदि मादक द्रव्यों के प्रत्येक घटक अवयव में परीक्षण द्वारा मादकता देखे जाने पर उनके मिश्रण (घोल) में मादकता की प्रतीति (उद्भव) सम्भव है।

ऐसी शंका उत्पन्न होती है कि जैसे मादक द्रव्यों के घटकों अवयवों में पृथक् पृथक् मादकता प्रतीत नहीं होती किन्तु मिलाने पर हो जाती है, वैसे ही भूतों में पृथक् पृथक् चेतनता नहीं होती किन्तु उनके मिश्रणभूत शरीरों में हो जाती है। तो इसके समाधाान के रूप में वैद्यक शास्त्रें में बताए परीक्षणों से पता चलता है कि सुरा आदि मादक द्रव्यों के अवयवों घटकों में जो सूक्ष्मरूप से मादकता होती है, उनके मिश्रण में वही प्रकट हो जाती है। किन्तु, भौतिक तत्त्वों के परीक्षणों से यह कभी ज्ञात नहीं हुआ कि इनमें चेतनता है। इसलिए इनके संयोग से बने शरीरों में भी चेतनता नहीं मानी जा सकती। अतः प्रत्येक शरीर में एक अलग से चेतन भोक्ता मानना आवश्यक है।

स्मरणीय बिंदु-

- पंचमहाभूत भौतिक जगत के आधार हैं।
- पुरुष चेतन तत्व है।
- प्रकृति अचेतन तत्व है।
- चौतन्य आत्मा का गुण है।
- सांख्य दर्शन चेतन एवं अचेतन दोनों को स्वीकार करता है।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
भूत	-	स्थूल तत्व
चौतन्य	-	चेतना
पंचमहाभूत	-	पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश

चेतन	–	ज्ञानयुक्त
अचेतन	–	जड़

5 अंक के प्रश्न–

1. भूत किसे कहते हैं?
2. चौतन्य का अर्थ क्या है?
3. चेतन एवं अचेतन में अंतर लिखिए।
4. पंचमहाभूतों के नाम लिखिए।
5. सांख्य दर्शन में चौतन्य का स्वरूप क्या है?

15 अंक के प्रश्न–

1. भूत एवं चौतन्य का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. चेतन एवं अचेतन तत्वों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
3. पंचमहाभूतों की उत्पत्ति का वर्णन कीजिए।
4. सांख्य दर्शन में चौतन्य की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
5. पुरुष एवं भूतों के संबंध का विश्लेषण कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. पंचमहाभूतों की संख्या कितनी है?

(क) तीन

(ख) चार

(ग) पाँच

(घ) छह

2. चौतन्य का संबंध किससे है?

(क) प्रकृति

(ख) पुरुष

(ग) शरीर

(घ) मन

3. निम्न में से कौन अचेतन है?

(क) पुरुष

(ख) आत्मा

(ग) प्रकृति

(घ) चेतना

4. आकाश किसका भाग है?

(क) पंचमहाभूत

(ख) अन्त:करण

(ग) आत्मा

(घ) पुरुष

5. चेतना का आधार क्या है?

(क) शरीर

(ख) पुरुष

(ग) इन्द्रियाँ

(घ) प्रकृति

इकाई-3.3 आत्माज्ञान के साधन

उद्देश्य-

- आत्मज्ञान की अवधारणा को समझाना।
- ज्ञान प्राप्ति के साधनों का अध्ययन कराना।
- मोक्ष हेतु आत्मज्ञान का महत्व स्पष्ट करना।

भारतीय दर्शन की परंपरा में ''ध्यान'' केवल मानसिक एकाग्रता नहीं है, बल्कि आत्मबोध, मोक्ष और अंतर्मुक्ति का प्रमुख साधन है। यद्यपि सांख्य दर्शन मुख्यत: तत्त्वमीमांसा और ज्ञेय-ज्ञाता के विवेक पर केंद्रित है, फिर भी उसमें ध्यान, वृत्तियों का नियंत्रण, और मोक्ष (कैवल्य) की प्राप्ति के साधनों का संकेत दिया गया है।

यद्यपि पतंजलि योगसूत्र में ध्यान और चित्तवृत्ति निरोध का अधिक स्पष्ट विवरण है, परन्तु योगदर्शन और सांख्यदर्शन में घनिष्ठ संबंध होने के कारण सांख्य दर्शन में भी ध्यान और वृत्ति-निरोध एक दार्शनिक पृष्ठभूमि के रूप में समाहित हैं।

ध्यान का स्वरूप-

ध्यान:- सांख्य दर्शन मुख्यत: ज्ञानमार्ग को स्वीकार करता है। इसमें ध्यान का उद्देश्य केवल मानसिक एकाग्रता नहीं, बल्कि आत्मा (पुरुष) और प्रकृति के बीच के भेद का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करना है। हालाँकि ध्यान शब्द का प्रत्यक्ष उल्लेख सांख्य सूत्रें में सीमित है, परंतु ध्यान का तत्वार्थ रूप विवेक ख्याति के रूप में स्पष्ट होता है। बुद्धि, अहंकार, मन और इन्द्रियों की चेष्टाओं को स्थिर कर आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार क्रना।

रागोपहतिर्ध्यानम्। (सां.द.3/30)

अर्थ:-

(रागोपहति:) संसार में आसक्ति-लगााव या इन्द्रियभोगों की प्रवृत्ति राग है, उस राग की निवृत्ति (ध्यानम्) धयान है- मन का स्थिर होना है।

व्याख्या:-

राग का उपघात, हनन, निवृत्ति, उपशमन ध्यान कहाता है। संसार में आसक्ति अथवा इन्द्रियों के भोग की प्रवृत्ति राग है। जब कोई बाह्यविषय अन्त:करण में भाषित नहीं होता, केवल आत्मविषयक वृत्ति निरन्तर चलती रहती है, तो उस अवस्था को ध्यान कहते हैं। और जब ध्यान में वृत्ति का लोप हो जाता है, केवल ध्येयरूप आत्मा की ही अनुभूति होती है तब समाधि की अवस्था प्राप्त होकर आत्मसाक्षात्कार होता है।

सांसारिक विषयों में बुद्धि (मन) की जो आसक्ति होती है, उस आसक्ति को राग कहते हैं। यह विषयोपराग ही विवेकज्ञान की उत्पत्ति में महान् प्रतिबन्धक होता है, यानी विषयोपराग के रहते (विषयासक्ति के रहते) विवेकज्ञान नहीं हो पाता। इस मानसिक आसक्ति का विनाश जिस उपाय से होता है, उस उपाय को ध्यान कहते हैं। यहाँ पर कार्य कारण का अभेद निर्देश औपचारिक (लाक्षणिक) किया गया है। क्योंकि रागक्षय को तो ध्यान नहीं कह सकते। अत: इस अभेद दृष्टि से ही सूत्रकार ने रागोपहति यानी रागक्षय को ध्यान कह दिया है। यहाँ पर ध्यान शब्द से योगशास्त्र-प्रतिपादित धारणा, ध्यान और समाधि तीनों ही का संग्रह समझना चाहिये । क्योंकि पातंजल योगशास्त्र में योग के आठो अंगों को विवेकज्ञानोत्पत्ति में कारण (हेतु) बताया है। यह बात योगसूत्र के द्वितीय पाद में योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते: (यो. सू. 2/28)। सूत्र से स्पष्ट होती है। इनके अवान्तर प्रकारों को योगशास्त्र में हो देख लेना चाहिये निष्कर्ष यह है कि सूत्रकार ने **ध्यानं निर्विषयं मन:** मन की निविषय अवस्था को ध्यान शब्द से बताया है। उस समय अन्त:करण (मन या बुद्धि) में कोई भी बाह्य विषय प्रविष्ट नहीं हो पाता है। उस समय निरन्तर ध्येय-विषयक वृत्ति ही रहती है। उसके सिवाय अन्य कोई भी विषय, मानसिक वृत्ति में नहीं रहता है। मन की अवस्था को ध्यान कहा जाता है। इस अवस्था का (घ्यान का) अभ्यास निरन्तर करते करते जब वृत्ति का भी नाश (लोप) हो जाता है और मन ध्येयाकार ही हो जाता है, अर्थात् ध्येय-ध्याता-ध्यान यह भेद नहीं रहता यानी व्याता और ध्यान अंश नष्ट होकर एक मात्र ध्येय अंश ही अवशिष्ट रहता है, तब उसी अवस्था को समाधि कहते हैं। इसी अवस्था में आत्म-प्रत्यक्ष होता है।

वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धि:। (सां.द.3/31)

अर्थ:-

वृत्तियों के निरोध से उस ध्यान अवस्था की सिद्धि होती है। यह अति कठिन कार्य है। इसके लिए धैर्यपूर्वक निरन्तर दृढता से अभ्यास की आवश्यकता होती है, धीरे-धीरे यह अवस्था प्राप्त होने लगती है। ध्यान की स्फलता के अनुसार ज्ञान विवेक का प्रकाश होने लगता है। और जब यह ज्ञान विवेक प्रकृति-पुरुष भेद के साक्षात्कार तक पहुँच जाता है, तब उस ज्ञानान्मुक्ति: की सार्थकता होती है।

व्याख्याः-

योग के अंगभूत ध्यान की सिद्धि तभी होती है, जब ध्येय (आत्मा) के अतिरिक्त अन्यान्य सभी विषयों की ओर से बुद्धिवृत्ति (मन की वृत्ति) को हटाकर एकमात्र अपने ध्येय आत्मा की ओर ही उसे (बुद्धिवृत्ति को) लगाया जाय। अर्थात् सम्प्रज्ञात योग के द्वारा ही ध्यान-निष्पत्ति (ध्यानावस्था की प्राप्ति) होती है, अन्यथा नहीं। अर्थात् इस प्रकार के ध्यान से ही विवेकज्ञान रूपफल की प्राप्ति होती है। अतः फल-प्राप्ति तक ध्यान करते रहना चाहिये । ध्येयातिरिक्त अन्यान्य विषयों की ओर से बुद्धिवृत्ति का निरोध करने पर ही ध्यानावस्था की प्राप्ति में विषयान्तर सन्चाररूप प्रतिबन्ध का नाश हो जाता है, तब ध्येय (आत्मा) का साक्षात्कार होता है । इसलिये वृत्ति-निरोधरूप योग को भी विवेकज्ञान होने में योगांगभूत ध्यान आदि की तरह कारण (हेतु) समझना चाहिये । याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रायश्चित्ताध्याय में अपरार्कव्याख्योद्धत देवल का भी वचन, इसी आशय का उपलब्ध होता है-**विषयेभ्यो निवर्त्याऽभिप्रेतार्थे मनसोऽवस्थापनं योगः** (**या. स्मृ. प्राय.** 106 **अपरार्क**) । तथा श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित वचनों से भी इसी आशय की स्पष्ट प्रतीति होती है। कठोपनिषद् में बताया है कि अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति- (क. उ. 1/2/12) । किन्तु इस प्रकार का वृत्तिनिरोध यानी अपनीबुद्धि-वृत्तियों को अन्यान्य बाह्य विषयों से हटाना, आसान नहीं है, अत्यन्त कठिन काम है। किन्तु दृढता के साथ निरन्तर अभ्यास करते रहने पर कुछ समय के बाद वैसी स्थिति प्राप्त हो जाती है। एवंच ज्ञानोत्पत्ति में कारण ध्यान-निष्पत्ति है।

वृत्ति निरोध के उपाय-

सांख्य दर्शन में वृत्ति (चित्त की चेष्टाएँ) बांधने वाली प्रकृति का लक्षण है। जब तक चित्त की वृत्तियाँ (स्मृति, विकल्प, राग-द्वेष आदि) सक्रिय हैं, आत्मा (पुरुष) अपने साक्षीस्वरूप में स्थित नहीं हो सकता। इसलिए वृत्तियों का निरोध (नियंत्रण) ही विवेक-ज्ञान की प्राप्ति और मोक्ष (कैवल्य) का मार्ग है। वृत्तियाँ -चित्त की चेष्टाएँ या मानसिक प्रवृत्तियाँ।

उदाहरणः स्मृति, अनुमान, संकल्प, विकल्प, संदेह, राग-द्वेष आदि ये वृत्तियाँ पुरुष को आत्मा के साक्षात्कार से दूर रखती हैं और संसार (बंध) का कारण बनती हैं सत्त्ववृद्धि, इन्द्रिय संयम, वैराग्य और पुरुष-प्रकृति विवेक के द्वारा चित्त की वृत्तियों का स्थायी, निरोध। यही निरोध आत्मा को उसके स्वरूप में स्थित करता है- और यही कैवल्य (मोक्ष) है।

धारणाऽऽसनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः । (सां.द.3/32)

अर्थः-

धारणा, आसन और स्वकर्मों के अनुष्ठान से वृत्तिनिरोध की सिद्धि होती है । इन्द्रिय, मन आदि की स्वाभाविक प्रवृत्ति विषयों की ओर होती है, जिसे रोकने हेतु अटूट धैर्य की आवश्यकता होती है। अन्यथा साधक का आरम्भ या मध्य में धैर्य टूट जाता है, क्योंकि बार-बार इन्द्रियों की वृत्तियाँ उसे विषयों में ही ला पटकती हैं। कोई विरला ही धीर धैर्यशाली व्यक्ति इस संघर्ष में सफल हो पाता है।

व्याख्याः-

सूत्रकार ने विषयों की ओर से बुद्धिवृत्ति को हटाने की जो बातें कहीं हैं, वह किसी घृणा या द्वेष से नहीं कहीं हैं, अपितु प्रत्येक को उसके अपने वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति के उपाय के रूप में वे कही हैं। वृत्ति निरोध का अभ्यास दृढ़ता से निरन्तर एवं धैर्यपूर्वक करते रहना चाहिये। बीच में यदि अभ्यास छोड़ दिया जाय तो विषयों की ओर इन्द्रियों की दौड़ पुनः होने लगती है। उस स्थिति में ध्याननिष्पत्ति का होना संभव नहीं होगा। वृत्तियों का निरोध होने पर ही ध्यान लग पाता है।

निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम्। (सां.द.3/33)

अर्थः-

प्राण के छर्दन (रेचन-वेग से वमन की भाँति बाहर निकालने) से और विधारण (स्तम्भन-कुम्भक) से निरोधः निरोध मन को वश में करने का नाम 'धारणा' है। अगले दो सूत्रें में आसन तथा स्वकर्म का वर्णन होने से यहाँ पर 'धारणा' का अध्याहार कर लेते हैं। कारण-कार्य के अभेदोपचार से निरोध को ही धारणा कह दिया है। वस्तुतः प्राणायाम के अनन्तर मन को देश-विशेष में रोक देने का नाम धारणा है। अथवा **प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य** (योग. 1/34) के अनुसार यह प्राणायाम ही निरोध धारणा का उपाय है। प्राणायाम के फल में कहा है **धारणासु च योग्यता मनसः** (योग. 2/53) । अथवा यों समझें कि योग की धारणा, वृत्तिनिरोध समाधि के लिए अति आवश्यक है, जिसकी सिद्धि हेतु प्राणायाम की अनिवार्यता है।

व्याख्याः-

उक्त सूत्र में प्राण का अध्याहार किया जाता है, क्योंकि प्राण पदार्थ इतना प्रसिद्ध है, कि सर्वदा सभी के बुद्धिगत है, वह किसी से भी अज्ञात नहीं है। प्रच्छर्दन और विधारण के द्वारा प्राण के निरोध करने को ही भाष्यकार ने प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य (यो. सू. 1/34) इस सूत्र में प्राणायाम शब्द से कहा है। कुंभक करने के पूर्व जोश्वास भीतर की ओर अधिक खींचा जाता है, उसे पूरक कहते हैं। बिना पूरक किये कुम्भक का होना सम्भव नहीं है। छदि का अर्थ है- वमन, अर्थात् विधारण का (विनिर्गतं

धारणं) अर्थ है-त्याग । अतः पूरण और रेचन इन दो क्रियाओं की उपलब्धि हो जाती है। विधारणम् (विशेषेग धारणं) का अर्थ है-कुम्भक यानी स्वाभाविक रूप से चलती हुई श्वास को और अधिक खींचकर भीतर उसे यथा शक्ति रोक रखने को विधारण अथवा कुम्भक कहते हैं। जब श्वास (प्राण-वायु) को भीतर रोक रखना अशक्य हो जाय तब उसश्वास को शनैः शनैः बाहर छोड़ने को (रेचक) कहते हैं। एवंच पूरक, रेचक, कुम्भक इन क्रियाओं के द्वारा प्राणों का जो निरोध (वशीकरण) किया जाता है, उसे धारणा कहते हैं। आसन और कर्म दोनों के लक्षण, उनके वाचक शब्द (स्वशब्द) के द्वारा ही आगे बताये जायेंगे। इसलिये सूत्र में परिशेषतः धारणा के ही लक्ष्य होने से सूत्र में धारणा पद का ग्रहण नहीं किया है। चित्त की धारणा तो समाधि की तरह ध्यान शब्द से ही ग्रहण की गई है - यह कह चुके हैं। पुनः पुनः प्राणायाम का अभ्यास करने से प्राण की गति, सूक्ष्म हो जाती है। किसी लक्ष्य में मन को लगाये रखने को (निरुद्ध कर रखने की) स्थिति, प्राणायाम करने से ही प्राप्त होती है। एवंच प्राणायाम से बढ़कर मन को एकाग्र करने का अन्य कोई उपाय नहीं है। किसी देशविशेष (लक्ष्य) में मन के रोक रखने को ही धारणा कहते हैं। अत एव योगसूत्र में देशबन्धश्चितस्य धारणा कहा गया है। इस धारणा के अभ्यास से ही वृत्तिनिरोध होता है।

स्थिरसुखमासनम् ॥ (सां.द.3/34)

निश्चल हल-चल से रहित सुखपूर्वक बैठने का नामआसन है। ध्यान-समाधि की सिद्धि के लिए किसी आसन पर निश्चल सुखपूर्वक बैठने का अभ्यास अत्यावश्यक है, अन्यथा वृत्तिनिरोध में बाधा पहुँचती है। आसन-स्वस्तिकासन, पद्मासन, वीरासन, सिद्ध ासन, वज्रासन आदि बहुत से हैं, उनमें से अपनी अनुकूलता के अनुसार छाँट लेना चाहिए।

स्वकर्म स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम् ।(सां.द.3/35)

अर्थः-

अपने-अपने आश्रम के लिए वेदादि में विहित प्रतिपादित कर्मो का अनुष्ठान आचरण करना स्वकर्म कहलाता है। कर्म शब्द से यहाँ यम, नियम, प्रत्याहार का ग्रहण समझना चाहिए। अथवा मुमुक्ष के लिए जो आवश्यक कर्म हैं उन्हें समझना चाहिए। इनका अनुष्ठान वृत्तिनिरोध, ध्यान, समाधि में अत्यन्त सहायक है, जिसमें कि आत्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार होता है।

व्याख्याः-

सूत्राक्षरों से ही अर्थ की स्पष्टता हो जाती है। सूत्राक्षरों को देखने से यह सूचित होता है कि किसी भी आश्रम में रहने वाला व्यक्ति योगसाधना कर सकता है। आश्रम चार होते हैं- (1) ब्रह्मचर्य, (2) गृहस्थ, (3) वानप्रस्थ (4) संन्यास । इस सूत्र में कर्म शब्द से यम-नियम का ग्रहण किया गया है। जितेन्द्रियत्वरूप प्रत्याहार भी सभी आश्रमों के लिये साधारण होने से उसका भी प्रवेश कर्म में किया जाता है। इससे पातंजल सूत्र में ज्ञानसाधन के रूप में बताये गये आठ योगांगों का भी यहाँ संग्रह हो जाता है। उसी को बतानेवाला एक सूत्र भी है- **यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि (यो. सू. 2/26) ।** उनका स्वरूप उसी (योगसूत्र) में देख लेना चाहिये । उक्त वृत्तिनिरोध के उपाय (साधन) भूत उपरिनिर्दिष्ट आठ यम-नियम आदि बताये हैं, उनमें पाँच अंग तो बाह्य हैं और तीन आभ्यन्तर अंग हैं। बाह्य अंग तो योगानुष्ठान की भूमि तयार करते हैं। आन्तरिक तीन उपायों में से प्रथम उपाय धारणा है, इस उपाय के द्वारा मन को किसो एक देश अथवा लक्ष्य में निरुद्ध किया जाता है। यह वृत्ति-निरोध का प्रथम उपाय है। इस प्रथम उपाय का अभ्यास कर लेने के पश्चात वृत्तिनिरोध का द्वितीय उपाय ध्यान है। इस उपाय का अभ्यास करने पर मन की वाह्यवृत्तियों का निरोध हो जाता है, और एक ध्येय ही भासित होता रहता है। इस उपाय से ध्येयाकार वृत्ति हो जाती है।

वैराग्यादभ्यासाच्च।(सां.द.3/36)

अर्थः-

वैराग्य से और अभ्यास से समाधि वैराग्य अर्थात् विषयों में वितृष्णा तथा ध्यान आदि अवस्थाओं का निरन्तर अभ्यास करने से समाधि लाभ होकर आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। यद्यपि वैराग्य और अभ्यास प्रत्येक अध्यात्ममार्ग के लिये साधारण है, तथापि जिन उत्तम अधिकारियों को यम नियम आदि के अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रहती, उनकी दृष्टि से इनका पृथक् उपायरूप में उल्लेख कर दिया गया है। तेईसवें सूत्र में ज्ञान से मुक्ति का होना बताया है, यहां तक आत्मज्ञान के उपायों का वर्णन किया गया ।

व्याख्याः-

वैराग्य के सहित केवल ध्यान के अभ्यास से ही ज्ञान और उसके साधनभूत योग की सिद्धि, उत्तम अधिकारियों को प्राप्त हो जाती है। इस बात की पुष्टि गरुड़पुराण के वचन से भी हो रही है-

आसनस्थानविधयो न योगस्य प्रसाधकाः ।
विलम्बजननाः सर्वे विस्तराः परिकीर्तिताः ।

शिशुपालः सिद्धिमाप स्मरणाभ्यासगौरवात्।

(गरु. पु. 1/227/44-45 इति)

आसनेति । आसन, स्थान आदि विधियाँ योग की उत्कृष्ट साधन नहीं। हैं, ये सब बहुत विलम्ब लगाने वाली हैं और इन सबका बड़ा विस्तार बताया गया है ।। शिशुपाल ने तो स्मरण के अभ्यासमात्र से ही सिद्धि प्राप्त कर ली थी।योगभाष्य के विवरण ाकार ने भी कहा है-

स्थानासनविधानानि योगस्य विधयोऽपि वा ।

व्याक्षेपजनकाः सर्वे न ते योगस्य हेतवः ।। (योगभा. विव. 2/26) ।

अथवा वैराग्य और ध्यान के अभ्यास को यहाँ पर ध्यान के ही हेतुरूप में बताया है। सूत्र में च के ग्रहण करने से धारणा का समुच्चय माना जाता है। इस प्रकार ज्ञान से मोक्ष का होना सांख्य सूत्र (3/23) में बताया गया है।

तात्पर्य यह है कि विषयों के प्रति तृष्णारहित (वैराग्यसम्पन्न) होकर ध्यान, धारणा का अभ्यास निरन्तर करते रहने से समाधि लगने लगती है, और आत्मसाक्षात्कार हो जाता है । उत्तम अधिकारियों को बहिरंग साधनों की आवश्यकता नहीं रहती, उनको अन्तरंग साधन से ही आत्मसाक्षात्कार हो जाता है।

स्मरणीय बिंदु-

- आत्मज्ञान मोक्ष का साधन है।
- विवेकज्ञान पुरुष एवं प्रकृति के भेद का ज्ञान है।
- प्रमाण ज्ञान प्राप्ति के साधन हैं।
- आत्मज्ञान से दु:खों की निवृत्ति होती है।
- सांख्य दर्शन ज्ञानप्रधान दर्शन है।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
आत्मज्ञान	-	आत्मा का ज्ञान
विवेकज्ञान	-	भेद का ज्ञान
मोक्ष	-	दु:खों से मुक्ति
प्रमाण	-	ज्ञान का साधन
पुरुष	-	चेतन तत्व

5 अंक के प्रश्न-

1. आत्मज्ञान क्या है?
2. विवेकज्ञान किसे कहते हैं?
3. मोक्ष का साधन क्या है?
4. आत्मज्ञान का महत्व लिखिए।
5. सांख्य दर्शन में ज्ञान के साधन कौन-कौन से हैं?

15 अंक के प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में आत्मज्ञान के साधनों का विवेचन कीजिए।
2. विवेकज्ञान एवं मोक्ष के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
3. आत्मज्ञान की आवश्यकता का विश्लेषण कीजिए।
4. ज्ञान प्राप्ति में प्रमाणों की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
5. सांख्य दर्शन में मोक्ष के साधन का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. मोक्ष का मुख्य साधन क्या है?

(क) कर्म

(ख) भक्ति

(ग) विवेकज्ञान

(घ) तप

2. आत्मज्ञान से क्या प्राप्त होता है?

(क) धन
(ख) स्वर्ग
(ग) मोक्ष
(घ) राज्य
3. सांख्य दर्शन में कितने प्रमाण माने गए हैं?
(क) दो
(ख) तीन
(ग) चार
(घ) छह

4. विवेकज्ञान किसका ज्ञान है?
(क) पुरुष-प्रकृति भेद का
(ख) शरीर का
(ग) इन्द्रियों का
(घ) कर्म का
5. आत्मज्ञान का उद्देश्य क्या है?
(क) दुःख निवृत्ति
(ख) धन प्राप्ति
(ग) राज्य प्राप्ति
(घ) भोग

इकाई-3.4 ईश्वर फल प्रदाता

उद्देश्य-

- कर्मफल सिद्धांत को समझाना।
- ईश्वर एवं कर्मफल संबंध का अध्ययन कराना।
- नैतिक उत्तरदायित्व की अवधारणा स्पष्ट करना।

सांख्य दर्शन एक द्वैतवादी ज्ञानप्रधान दर्शन है, जो प्रकृति और पुरुष को दो स्वतंत्र तत्त्व मानता है। यह कर्मफल सिद्धांत को स्वीकार करता है। यह मानता है कि प्रत्येक जीव अपने कर्मो के अनुसार फल भोगता है- चाहे वह जन्म, सुख-दु:ख या जीवन की स्थिति हो। सांख्य के अनुसार: कर्मो का कर्ता है अहंकार रूपी चित्त (प्रकृति का विकार) कर्मो का भोक्ता है पुरुष (जो वास्तव में निष्क्रिय है, परंतु चेतना का प्रतिबिंब उसमें दिखाई देता है) विवेकज्ञान होजाने पर तत्काल शरीरपात नहीं होजाता। प्रत्युत प्रारब्ध कर्म जब तक रहते हैं, भोगस्थिति बनी रहती है। अध्याय की समाप्ति तक इसी अर्थ का प्रतिपादन किया गया है।

बाधितानुवृत्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः ॥ (सां द. 3/77)

अर्थः-

(मध्यविवेकत:) मध्यविवेक से (बाधितानुवृत्ते: -अपि) बाधित करदी, अनुवृत्ति-अनुरक्ति-अनुरागरूपप्रवृत्ति जिस अभ्यासी ने उस ऐसे विवेकाभ्यासी का भी (उपभोग:) उपभोग तत्कालीन होता है, जब तक प्रारब्धभोगसमाप्ति हो। अधिमात्र विवेकी उत्तमविवेकी का सर्वथा भोगाभाव हो जाता है। अथवा (मध्यविवेकत: अपि-उपभोग:) मध्यविवेक से भी उपभोग होता है। (बाधितानुवृत्ते:) विवेकाभ्यास से बाधित विषयों की अनुवृत्ति से अनुवर्तमानता से वे अनुवर्तमान रहते हैं शरीर के साथ, जब तक शरीर है उस मध्य विवेकी का, शरीर के नाश के साथ नष्ट हो जाते हैं।

व्याख्याः-

विवेक होजाने की अवस्था में भी बाधित की अनुवृत्ति चलते रहने से उपभोग बना रहता है। विवेक से जिस स्थिति की बाधा निवृत्ति की जाती है, वह बाधित कहलाती है। विवेकज्ञान समस्त संचित कर्मो को भस्म कर देता है। पर प्रारब्ध कर्म अर्थात् जो कर्म फलोन्मुख हो चुके है, जिन के फलों को भोगने के लिए वर्तमान शरीर प्रारम्भ हुआ है विवेकज्ञानके द्वारा नष्ट नहीं होते। उनकी समाप्ति फल भोगकर होती है। इसलिए प्रारब्ध कर्मो से जनित दु:ख तथा क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, आसन, वसन आदि का क्रम चलते रहने से विवेक अवस्था में भी कुछ की चाहिए । प्रारब्ध कर्मो के चलते रहने से उनका भोग भी होता है, भौर विवेकज्ञान होजाने से मुक्तअवस्था भी आजाती है। यहां प्रारब्धकर्मजनित दु:खों को भी 'बाधित' इसलिए कहा गया कि उनका अस्तित्व केवल वर्तमान देह की स्थिति तक है आगे निश्चित ही उनकी बाधा हो चुकी है।

जीवन्मुक्तश्च ॥ (सां द. 3/78)

अर्थः-

(जीवन्मुक्त: च) वह मध्यविवेकी जीवन्मुक्तहोता है, तब वह जीवन्मुक्तकहलाता है। **आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पुरुषः । किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।** (**बृह. 4/4/12**)-मनुष्य आत्मा को यदि जानता है कि यह मैं हूँ। तो किसे चाहता हुआ किसकी कामना के लिये चिन्ता करे, आदि।

व्याख्याः-

भोग और मोक्ष की इस सन्धिकाल की अवस्था में उस श्रात्मज्ञानी को जीवन्मुक्त कहा जाता है। सूत्रकार ने यही बताया क्योंकि ऐसा व्यक्ति जीवित रहता हुआ मुक्तहोता है, इसलिए वह जीवन्मुक्त है। देह बने रहने से अभी जीवित है, और विवेकज्ञान होजाने के कारण मुक्त है। यह स्थिति समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे व्यक्ति आत्मज्ञान का उपदेश करते और शास्त्रों की रचना करते हैं।

उपदेश्योपदेष्टत्वात् तत्सिद्धिः। (सां द. 3/79)

अर्थः-

(उपदेश्योपदेष्टत्वात्) विवेकार्थ उपदेश्य है, उसका विवेकोपदेष्टा होना चाहिए। अत: (तत्सिद्धि:) उस जीवन्मुक्तविवेकसम्पन्न की सिद्धि-अस्तित्वसिद्धि) होती है।

व्याख्याः-

उपदेश्य अर्थात् समस्त अधिकारी जनता के लिए उपदेष्टा होने के कारण जीवन्मुक्तव्यक्तियों का होना अत्यन्त आवश्यक है। 'उपदेश्य' पद का उपदेश करने योग्य आत्मज्ञान आदि अर्थ भी समझ लेना चाहिए। आत्मज्ञान अथवा

अन्य परोक्ष अर्थों का प्रतिपादन श्रात्मज्ञान के अनुभवी ठीक कर सकते हैं। ये जीवन्मुक्त ही अध्यात्मसम्बन्धी शास्त्रें की रचना करते हैं। परमर्षि कपिल ने सांख्यशास्त्र का इसी रूप में उपदेश किया है। वैदिक साहित्य भी जीवन्मुक्त की स्थिति को स्पष्ट करता है।

श्रुतिश्च (सां द. 3/80)

अर्थः-

(श्रुतिः च) च अपि के अर्थ में है। इस विषय में जीवन्मुक्तके सम्बन्ध में, जीवन्मुक्तके अस्तित्वसिद्धि के सम्बन्ध में युक्ति ही है ऐसा नहीं, किन्तु श्रुति भी प्रमाण है- **द्विविधश्चित्तनाशोऽस्ति सरूपोऽरूप एव च। जीवन्मुक्तः सरूपः स्यादरूपो देहमुक्तगः ॥ (मुक्तिको. 2/32)।** योगदर्शन में भी दो प्रकार से चित्त का नाश कहा है-एक तो सरूपनाश चित्त होता हुआ भी आत्मा के रूप में स्थित हो गया। दूसरा हुआ अरूपनाश देह से छूट जाने पर। चित्तम् - **आत्मकल्पेन वा व्यवतिष्ठते प्रलयं वाधिगच्छति (योग. व्यासः)** योगदर्शन में व्यास ने कहा है कि निरु(चित्त की दो स्थितियां होती हैं, या तो आत्मा के रूप को धारण लेता है उस में शान्तरूप से स्थिर हो जाता है या उसका प्रलय हो जाता है।

व्याख्याः-

वैदिक साहित्य भी जीवन्मुवत के अस्तित्व को सिद्ध करता है। समस्त वैदिक साहित्य के रचयिता जीवनमुक्त आत्मा ही रहे हैं। वैदिक साहित्य अपने अस्तित्व से जीवन्मुक्त की स्थिति को स्पष्ट करता है। वैदिक साहित्य में समस्त शाखा संहिता उपवेद व ब्राह्मण ग्रंथों का समावेश समझना चाहिए। यदि ऐसा न हो, तो समाज अव्यवस्थित हो जाए। जीवन्मुक्त के अस्तित्व में श्रुति का वचन-

दीक्षयैव नरो मुच्येत् तिष्ठेन्मृक्तोऽपि विग्रहे ।
कुलालचक्रमध्यस्थो विच्छिन्नोऽपि भ्रमेद् घटः ॥
ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती (बृ. उ. 4/4/6) त्यादिरिति ॥

दीक्षा प्राप्त करने मात्र से ही मनुष्य मुक्तहो जाता है, वह मुक्तहोता हुआ भी अपने शरीर को धारण किये रहता है। कुलाल के चक्र पर रखा हुआ घट जैसे विच्छिन्न होने पर भी भ्रमण करता रहता है। तथा ब्रह्मव सन् ब्रह्माप्येति (बृ. उ. ङ्ग।ङ्ग।द्ध) वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्म को प्राप्त होता है।नारदीयस्मृतिरपि -

पूर्वाभ्यासत्रलात् कार्ये न लोको न च वैदिकः ।
अपुण्यपापः सर्वात्मा जीवन्मुक्तः स उच्यते इति ॥

पूर्वाभ्यास के प्रभाव से जो कार्य करता रहता है, तथापि न वह लोकरीति का अनुसरण करता है और न वह वेदविहित कर्म में ही निमग्न रहता है। वह तो पुण्य-पाप से रहित हुआ सर्वान्तर्यामी होकर रहता है, उसी को जीवन्मुक्त कहते हैं। जीवन्मुक्त के सम्बन्ध में अन्यान्य श्रुतियां भी हैं-विमुक्तश्च विमुच्यते (कठ उ. 5/1), यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते. अत्र ब्रह्म समश्नुते- (बृ. उ. 4/4/7), तथा शारीरक भाष्य 6/15 में भी उद्धृतश्रुति-स चक्षुरचक्षुरिव। न्यायवातिक (4/2/2) में उद्धृतश्रुति-जीवन्नेव हि विद्वान् स हर्षायासाम्यां मुच्यते।

इतरथाऽन्धपरम्परा ॥ (सां द. 3/81)

अर्थः-

(इतरथा) अन्यथा, यदि ऐसा जीवन्मुक्तउपदेष्टा न हो तो (अन्धपरम्परा) अविवेक की अन्धपरम्परा का प्रसंग हो जावे। किसी को भी विवेक न हो सके। अतः जीवन्मुक्तकी सिद्धि है।

व्याख्याः-

यदि आत्मज्ञानी उपदेष्टा न हों, विवेकज्ञान होते ही उनका शरीरपात हो जाता हो, और न ऐसे विवेकी जीवन्मुक्तशास्त्रनिर्माता हों, तो समाजव्यवस्था सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट होजाए । साक्षात्कृतधर्मा आत्मज्ञानी ऋषियों के उपदेश और उनके शास्त्र ही समाज को व्यवस्थित रखते हैं। क्योंकि उनके बताए मार्ग पर चलता हुआ।

जनसमाज सुखी सम्पन्न तथा अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिए अग्रसर रहता है। अन्यथा अदूरदर्शितापूर्ण आपसी संघर्षों में पड़कर समाज विपन्न एवं नष्ट होजाता है। समाज के सुमार्ग पर चलने और सुरक्षित रहने के लिए ऋषियों की जीवन्मुक्तअवस्था का होना अत्यन्त उपयुक्त है।

अभ्यास तक पहुंचकर विवेकनिष्पत्ति को प्राप्त न कर केवल श्रवणेमात्र से ही विवेकनिष्पत्ति मानकर यदि उपदेश देने लग जाय तो अन्धपरम्परा चलने का प्रसंग आवेगा । क्योंकि श्रवणमात्र से भी विवेक तो होता ही है, किन्तु वह मन्द विवेक होता है। ऐसे मन्दविवेक प्राप्त किये पुरुष में उपदेष्टृत्व रहने पर अवश्य ही अन्धपरम्परा चल पड़ेगी। क्योंकि मन्दविवेकी को समग्रतया आत्मतत्त्व का ज्ञान तो हुआ नहीं है, उसी अवस्था में यदि वह लोगों को उपदेश देना आरम्भ कर दे तो किसी अंश में उसे स्वयं ही भ्रम रहने से वह शिष्य में भी भ्रान्ति पैदा कर देगा, वह भ्रान्त शिष्य भी दूसरे को भ्रम पैदा कर देगा, वह भी तीसरे को अपने जैसा ही भ्रान्त कर देगा। ये भ्रान्त लोग स्वयं को भ्रान्त नहीं समझते, उस भ्रम को ही वे सत्य, सिद्धान्त के रूप में समझे रहते हैं, उसी का

प्रचार करते रहते हैं, उस कारण एक अन्धपरम्परा का चलना शुरु हो जाता है। सत्य सिद्धान्त का ज्ञान नहीं हो पाता है। उसकारण आत्मकल्याण से वह वञ्चित रहता है।

चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः। (सां द. 3/82)

अर्थः-

(चक्रभ्रमणवत्) जैसे कुम्हार का चाक दण्डे से घुमाया हुआ घुमाने के साधन दण्डे के हटा लेने पर भी कुछ काल तक घूमता रहता है, उसके शेष वेग या वेगलेश के कारण। वैसे ही जीवन्मुक्त भी (धृतशरीरः) शरीर धारण किए हुए सशरीर रहता है। कहा भी है **दीक्षयैव नरो मुच्येत् तिष्ठन् मुक्तोऽपि विग्रहे। कुलालचक्रमध्यस्थो विच्छिन्नोऽपि भ्रमद् घटः तथा अशुक्लकृष्ण ा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति (योग. 4/70 व्यासः)** चरम देहवाले अन्तिमदेह वाले, क्षीणक्लेशों वाले संन्यासियों की कर्मगति पुण्यपाप से रहित होती है।

व्याख्याः-चाक के घूमने के समान शरीर को धारण किए रहता है। जैसे कुम्हार चाक में डण्डा डालकर उसे वेग से घुमाकर छोड़ देता है, फिर भी चाक कुछ समय तक घूमता रहता है। ऐसे ही प्रारब्ध कर्मो से चालित यह शरीर, विवेकज्ञान से संचित कर्मनाश हो जाने पर भी प्रारब्ध द्वारा उपयुक्त काल तक चलता रहता है। इसलिए जीवन्मुक्त का अस्तित्व निराधार नहीं वेग नामक संस्कार के कारण चाक घूमता रह सकता है, पर विवेकज्ञान से तो समस्त कर्मो का उच्छेद होजाता है।

कुलाल (कुम्हार) का काम निवृत्त होने पर भी पूर्व किये कर्म के वेग से कुछ कालतक वह चक्र स्वयं ही घूमता रहता है। अ. भप्राय यह है कि जैसे कुलाल (घट बनाने वाला कुम्हार) घटादि के निष्पादक चक्र को दण्डे के द्वारा वेग से घुमाकर छोड़ देता है, तथापि वह चक्र अपने वेगाख्य संस्कार के कारण घूमता ही रहता है। इस प्रकार के सन्दर्भ में कुलाल-चक्र को उपमा अनेकत्र दृष्टिगोचर होती है। जैसे - शारीरक (4/1/15) में कुलालचक्रवत् प्रवृत्तवेगस्य । इस कुलालचक्र भ्रमण के समान ही विवेकज्ञान से संचितकर्मो का नाश हो जाने पर भी प्रारब्धकर्म का नाश होनेतक घारण किये रहता है। क्योंकि प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः-यह अकाट्य सिद्धान्त है। छान्दोग्य उपनिषद् (6/14/2) के शांकरभाष्य में भी बताया है कि येन कर्मणा शरीरमारब्धं तस्योपभोगेन क्षयात् देहपातं यावदित्यर्थः।

संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः । (सां द. 3/83)

अर्थः- (संस्कारलेशतः) किए हुए कर्मो के भोगरूप विषयों के संस्कारलेश से संस्कार के आभास से (तत्सिद्धिः) जीवन्मुक्त के शरीर धारण की सिद्धि होती है।

व्याख्याः-विवेकज्ञान हो जाने पर समस्त संचित कर्मो का उच्छेद हो जाता है, प्रारब्ध कमों का नहीं। इसलिए प्रारब्ध संस्कारों का जो लेश शेष रह जाता है, उसीके कारण देहधारण की सिद्धि होती है। प्रारब्ध कर्म क्या है ? जिन कर्मो के फलों को भोगने के लिए वर्तमान देह आरम्भ हुआ है, उनमें से कुछ भोगे जाचु के है और कुछ शेष है। ये सब कर्म फलोन्मुख है, अर्थात् फल को उत्पन्न करने के लिए सर्वथा तैयार है। इन कर्मो का ज्ञान से उच्छेद नहीं होता, इनका उच्छेद फल भोगने से ही होगा। वे फल भोगे अवश्य जाते हैं. पर उनसे जीवन्मुक्त को कोई अनुकूल या प्रतिकूल भाव उत्पन्न नहीं होते। कर्मो की यह स्थिति ऐसी है, जैसे एक सिह अपने स्थान से छलांग लगाता है। जैसे ही उसने छलांग लगाई, शिकारी ने उसको गोली मारी। गोली ठीक लग जाने पर भी सिंह तत्काल नहीं गिरता, उस छलांग को पूरा करके ही गिरता है। इसी प्रकार वर्तमान देहधारण आत्मा की एक छलांग, है, जो नियमित कर्मरूप शक्ति से लगाई गई है। आत्मज्ञानी उसमें विवेकरूपी गोली मारता है, निशान ठोक बैठता है. पहली संचित शक्ति समाप्त हो जाती है, आगे छलांग नहीं लग सकती।

वर्तमान देहपात के अनन्तर विवेकज्ञान रहते फिर जन्म न होगा, पर जो छलांग लगाई जाचुकी है, यह अवश्य पूरी होगी। वर्तमान देह अपने कर्मानुमार पूरा होगा। उस अवस्था में प्रारब्धकर्म भी आगे किसी ऐसे कर्म का प्रजनन नहीं कर सकते, जो इरा कर्मपरम्परा को चालू बनाए रख सकें। उस समय कर्म वस्तुतः नपुंसक हो जाते है, और उतना हाथपैर मारकर स्वतः शान्त होजाते हैं। फलतः विवेकज्ञान हो जाने पर कर्मो का वास्तविक अस्तित्व नहीं माना जाना चाहिए। जीवन्मुक्त की स्थिति ऐसी ही होती है।

विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्ती कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात् ॥ (सां द. 3/84)

अर्थः-(विवेकात्- निःशेषदुःखनिवृत्तौ) पूर्ण विवेक से समस्त दुःख-निवृत्ति होती है। तब ही (कृतकृत्यः) पुरुष कृतकृत्य-सफल होता है (इतरात्-न) भिन्न से विवेक को छोड़ अन्य साधन से अर्थात् केवल कर्म से नहीं। नेतरात् द्विवार कथन अध्याय की समाप्ति के लिये है।

व्याख्याः-विवेकज्ञान से अशेष दुःखों की निवृत्ति हो जाने पर कृतकृत्यता अर्थात् मोक्ष अवस्था प्राप्त हो जाती है। विवेकज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से इस अवस्था का प्राप्त करना संभव नहीं। वेद आत्मज्ञान को मोक्ष का उपाय बताता है। **'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** (यजु. 31/18), उस चेतन आत्म-पुरुष को जानकर ही मृत्यु के पार होता है, मोक्ष का अन्य मार्ग नहीं है।

विवेकसिद्धि से परवैराग्य के द्वारा समस्त वृत्तियों का निरोध करने पर बाधित-अवाधित-साधारण अर्थात् दोनों प्रकार के दु:खों की नि:शेष निवृत्ति हो जाती है, तभी पुरुष कृतकृत्य होता है, अर्थात् उसे मुक्तिलाभ होता है। जीवन्मुक्ति आदि अन्य उपायों से मुक्ति नहीं होती है। किन्तु विवेक-पूर्वक चित्त का लय होने पर ही निरतिशय कृतकृत्यता होती है। नेतरात् पदों की आवृत्ति अध्यायसमाप्ति की द्योतक है।

स्मरणीय बिंदु-

- प्रत्येक कर्म का फल अवश्य मिलता है।
- शुभ कर्म सुखद फल देते हैं।
- अशुभ कर्म दु:ख का कारण बनते हैं।
- कर्म सिद्धांत नैतिकता का आधार है।
- ईश्वर को फल प्रदाता माना गया है।

शब्दावली

शब्द		**अर्थ**
कर्मफल	–	कर्म का परिणाम
शुभ कर्म	–	अच्छा कार्य
अशुभ कर्म	–	बुरा कार्य
नैतिकता	–	सदाचार
फल प्रदाता	–	फल देने वाला

5 अंक के प्रश्न-

1. कर्मफल क्या है?
2. ईश्वर फल प्रदाता का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. शुभ एवं अशुभ कर्म क्या हैं?
4. कर्म सिद्धांत का महत्व लिखिए।
5. सांख्य दर्शन में कर्मफल व्यवस्था का वर्णन कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. ईश्वर फल प्रदाता सिद्धांत का विवेचन कीजिए।
2. कर्म एवं कर्मफल के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
3. नैतिक जीवन में कर्म सिद्धांत का महत्व बताइए।
4. शुभ एवं अशुभ कर्मों का विश्लेषण कीजिए।
5. भारतीय दर्शन में कर्मफल सिद्धांत की तुलना कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. कर्मफल का आधार क्या है?

(क) भाग्य

(ख) कर्म

(ग) संयोग

(घ) प्रकृति

2. शुभ कर्म का फल क्या माना जाता है?

(क) दु:ख

(ख) पाप

(ग) सुख

(घ) अज्ञान

3. अशुभ कर्म से क्या प्राप्त होता है?

(क) सुख

(ख) मोक्ष

(ग) दुःख

(घ) ज्ञान

4. कर्म सिद्धांत किससे संबंधित है?

(क) नैतिकता

(ख) राजनीति

(ग) अर्थशास्त्र

(घ) विज्ञान

5. फल प्रदाता किसे कहा गया है?

(क) मन

(ख) प्रकृति

(ग) ईश्वर

(घ) शरीर

खण्ड-4 ज्ञान एवं वैराग्य का महत्व

इकाई-4.1 अचेतन करणों का संसरण

उद्देश्य-

अचेतन करणों के स्वरूप को समझाना।

शरीर, इन्द्रिय एवं मन के पारस्परिक संबंध का अध्ययन कराना।

चेतन एवं अचेतन के संसर्ग को स्पष्ट करना।

संसरण -पुनर्जन्म + देहांतरण + भोग की पुनरावृत्ति अर्थात् आत्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना, जब तक वह मोक्ष (कैवल्य) को प्राप्त न कर ले आत्मा के अज्ञान और प्रकृति के साथ भ्रमपूर्ण संयोग का परिणाम है। पुरुष नित्य, अकर्ता और साक्षी होते हुए भी, जब प्रकृति के विकारों (बुद्धि), अहंकार, मन आदि) के साथ एकरूपता कर लेता है, तब वह भोग, कर्म, और पुनर्जन्म के चक्र में पड़ जाता है। विवेक और आत्म-प्रकृति भेद का ज्ञान ही इस संसरण से मुक्ति का मार्ग है, जिसे कैवल्य कहा गया है। यह ज्ञान प्राप्त होते ही जीव का संसरण समाप्त हो जाता है और वह स्वरूप में स्थित हो जाता है - यही मोक्ष है। स्थूलभूतों से स्थूलशरीर और स्थूलभूतों के कारणरूप सूक्ष्मभूतों से सूक्ष्म शरीर की रचना होती है। इसी शरीर के आधाार पर जीवात्मा विविधा योनियों में संसरण किया करता है।

तद्बीजात् संसृतिः।। (सां.द.3/3)

अर्थः-

(तद्बीजात्) उस स्थूल शरीर के बीजभूत महत्तत्त्व से - तन्मात्रपर्यन्त आदि से निर्मित वासनायुक्त सूक्ष्मशरीर से (संसृतिः) एक देह से दूसरे देह में गति होती है- **योनिकोटिसहस्त्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः** (**मनु.** 6/63) इस अन्तरात्मा की सृतियां गतियां असंख्य योनियों में होती हैं।

व्याख्याः-

स्थूल शरीर के बीज उपादानभूत तन्मात्र सूक्ष्मभूतों से घटित निर्मित, वासनाओं सहित सूक्ष्मशरीर से आत्माओं का देहान्तरादि में संसरण गमनागमन होता है।

योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चान्तरात्मनः । । (मनु.6/63) ॥

जब आत्मा स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे स्थूल शरीर में जाता है, तो वह छोड़ा हुआ स्थूल शरीर तो यहीं रह जाता है, किन्तु 18 तत्त्वों से घटित निर्मित सूक्ष्म शरीर आत्मा को आवेष्टित किए हुए सर्गारम्भ से ही आत्मा के साथ बना रहता है, देहान्तर में उसी से आवेष्टित आत्मा विभिन्न शरीरों में जाता रहता है। सूक्ष्म शरीर के 18 तत्त्वों में से 13 करण आश्रित और पाँच तन्मात्र आश्रय कहे जाते हैं। कभी कभी इस आश्रयभाग को ही सूक्ष्म शरीर कह दिया जाता है। यथा **एकदेश-दग्धेऽपि पटो दग्ध इत्युच्यते** अथ. र्ात् वस्त्र का एक भाग जलने पर भी वस्त्र जल गया ऐसा कह देते हैं। उसी प्रकार यहाँ भी सूक्ष्मशरीर के केवल आश्रयभाग को सूक्ष्मशरीर के रूप में कहा गया है।

इस प्रकार संसार की अति लम्बी महायात्र में यह सूक्ष्मशरीर आत्मा के आवेष्टन कवच सूक्ष्मयान के रूप में सर्वदा साथ साथ बना रहता है, जब तक कि तत्त्वज्ञान विवेकज्ञानआत्मसाक्षात्कार न हो जाय। जब आत्म साक्षात्कार हो जाता है, तब यह कवच छूट जाता है। जैसे साँप केंचुली से।

आविवेकाच्च प्रवर्त्तनमविशेषाणाम् ॥(सां.द.3/4)

अर्थः-

(च) और (अविशेषाणाम्) उन बीजरूप महत्तत्त्व-अहंकारतन्मात्रें का (प्रवर्तनम्) स्थूलशरीरनिर्माणार्थ प्रवृत्ति व्यवहार (आविवेकात्) जब तक विवेक न हो जावे तब तक होता है, विवेक हो जाने पर निवृत्त हो जाता है। अविशेष घटित सूक्ष्मशरीरों का प्रवर्तन संसरण संसृति विवेकज्ञान होने तक रहता है । अर्थात् आत्मा के आवेष्टनभूत सूक्ष्मशरीरों की प्रवृत्ति प्रवर्त्तन संसरण विवेकज्ञान होने तक ही रहती है। जब आत्म साक्षात्कार हो जाने पर प्रकृति-पुरुष के विवेक का ज्ञान हो जाता है, तब यह प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। ''आ'' शब्द मर्यादा (सीमा) अर्थ में है। विवेक की सीमा तक ही यह संसरण (देहाद्देहान्तरगमनम्) चल सकता है, आगे नहीं।

उपभोगादितरस्य ॥ (सां.द.3/5)

अर्थः-

(इतरस्य) अविशेष अर्थात् महत्तत्त्वादि लिंगदेह से भिन्न विशेष अर्थात् स्थूल शरीर की प्रवृत्ति वर्तमानता स्थिति (उपभोगात्) उपभोग

के हेतु होती है जब तक उपभोग है तब तक वह प्रवृत्त होता है रहता है। किन्तु लिंग देह तो जब तक विवेक न हो जावे तब तक रहता ही है, स्थूल शरीर के नाश के साथ उसका नाश नहीं होता।

व्याख्याः-

जब तक उस उस शरीर सम्बन्धी भोग है, तब तक वे वे स्थूल शरीर रहते हैं। यदि कोई बीच में ही अन्याय से मार दे या आत्महत्या कर ले तो फिर वैसे ही शरीर में आकर वे भोग पूरे करने होते हैं। किन्तु, सूक्ष्मशरीर तो सर्गारम्भ में बनकर विवेकपर्यन्त अथवा अगले महाप्रलय पर्यन्त चलते रहते हैं। प्रलयकाल में कारणलय हो जाने पर सारम्भ में फिर बनाए जाते हैं और पूरे सर्ग चलते रहते हैं। सूत्र 3,4,5 का आशय अगली सांख्य कारिका में बताया है

सूक्ष्मास्तेषां नियता मातृपितृजा निवर्तन्ते ॥ (सां.का.36/2)

अर्थात् उनमें सूक्ष्मशरीर, स्थूलशरीर एवं पंचमहाभूतों के घट, पटादि से सूक्ष्मशरीर स्थिर (सर्गकालपर्यन्त) हैं, किन्तु मातापितृज स्थूलशरीर एवं प्रभूत घट, पटादि मृत्युकाल में नष्ट हो जाते हैं।

सम्प्रति परिष्वक्तो द्वाभ्याम्। (सां.द.3/6)

अर्थः-

(सम्प्रति) पूर्वसूत्र से उपभोग लक्षित है। सम्प्रति उपभोगकाल में (द्वाभ्याम्) स्थूल, सूक्ष्म दोनों शरीरों से (परिष्वक्तः) घिरा हुआ-बन्धा हुआ आत्मा होता है।

व्याख्याः-

सर्गकाल में आत्मा दोनों प्रकार के शरीरों से सम्बद्ध रहता है। इनमें से सूक्ष्मशरीर तो सृष्टि के आरम्भ से लेकर प्रलय पर्यन्त आत्मा के साथ सम्बद्ध रहता है और स्थूल शरीर कर्मानुसार बीच बीच में बदलता रहता है। किन्तु, इसका क्रम सतत चालू रहता है। प्रलय काल में दोनों अपने कारण में लीन हो जाते हैं। पुनः अगला सर्ग आरम्भ होने पर भोगादि साधन प्रस्तुत करते हुए इनका क्रम निरन्तर चालू रहता है, जब तक कि विवेकज्ञान हो जाने पर संसार के दुःखों से मुक्ति न हो जाए।

पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य। (सां.द.3/8)

अर्थः-

(पूर्वोत्पत्तेः एकस्य) पूर्वसर्गादि में उत्पत्ति जिस की है ऐसे एक लिंगशरीर के (भोगात्) सुख-दुःख के भोगसम्भव से (तत्कार्यत्वम्) सुख-दुःख की प्रतीति होती है (इतरस्य न) सूक्ष्म शरीर से भिन्न स्थूल शरीर का सुख-दुःख प्रतीति कार्य नहीं है।

व्याख्याः-

पूर्व उत्पन्न होने से भोग सूक्ष्म शरीर का कार्य है ऐसा कहना प्रत्यक्ष का प्रलाप है। और व्याख्याकारों का यह कहना कि मृतशरीर में सुखादि भोगों की प्रतीति न होने के हेतु से सो ठीक नहीं, क्योंकि स्थूलशरीर के बिना केवल सूक्ष्मशरीर से भी तो कोई सुख-दुःखादि की अनुभूति नहीं होती। यदि स्थूल शरीर के बिना ही सूक्ष्मशरीर से सुखादि भोग सम्पन्न हो जाते तो फिर स्थूलशरीर की आवश्यकता ही क्या थी, और फिर स्थूल शरीरों के अभाव में खान-पान आदि की सामग्री भी निष्प्रयोजन होती।

इसका तात्पर्य यही है कि जब सूक्ष्मशरीरयुक्त आत्मा स्थूलशरीर से युक्त हो जाता है, तभी सुख-दुःखादि भोग सम्पन्न हो पाते हैं, अन्यथा नहीं। सां. 2/44 में भी कहा है -**सम्भवेन्न स्वतः** । अर्थात् सूक्ष्मशरीर स्वयं बिना स्थूलशरीर के आत्मा को सुखादि भोग सम्पन्न नहीं करा सकता।

सप्तदशैकं लिंगम् । (सां.द.3/9)

व्याख्याः-

अनिरु(वृत्ति में सूत्रर्थ अठारह पदार्थपरक है। वहां लिंग शरीर अठारह पदा. र्थ वाला कहा है-**सप्तदश च एवंच अष्टादश, तैः लिंगं सूक्ष्मदेहः उत्पद्यते बुध्यहंकारमनांसि पंच सूक्ष्मभूतानि दश इन्द्रियाणीति** (**अनिरुद्धः**) अर्थात् सतरह और एक अठारह उनके साथ लिंग-सूक्ष्मदेह उत्पन्न होता है (वे हैं- बुद्धि, अहंकार, मन, पांच सूक्ष्म भूत, दश इन्द्रियां। विज्ञानभिक्षुभाष्य में अनिरुद्ध के अर्थ का खण्डन किया है-**न तु सप्तदशमेकं चेत्यष्टादशतया व्याख्येयम्** (**विज्ञानभिक्षुः**)। परन्तु विज्ञानभिक्षुभाष्य में भी पदार्थ तो वैसे ही सूक्ष्म शरीर के अठारह माने हैं, केवल अहंकार का बुद्धि में अन्तर्भाव दिखलाकर एकादशेन्द्रि याणि पंच तन्मात्रणि बुद्धिश्चेति सप्तदश, अहंकारस्य बुद्धावेवान्तर्भावः (विज्ञानभिक्षुः) इस प्रकार कथन से क्या हुआ? पदार्थ तो वहीं अठारह स्वीकार किये, परन्तु सरलता से नाक न पकड़ी वक्रता का आश्रय लेकर पीठ के पीछे से हाथ लाकर उलटे घुमाकर पकड़ी। अहंकार तो पच्चीस पदार्थगण में स्वतन्त्र पदार्थ गिना गया है,

उसका कैसे बुद्धि में अन्तर्भाव कल्पित किया जा सकता है? अन्य स्वामी हरिप्रसाद आदि भाष्यकारों ने भी उसी प्रकार अठारह पदार्थों को अहंकार का बुद्धि में अन्तर्भाव करके सतरह माना है। यह कथनशैली सांख्यपरिगणन शैली और सूत्रपदों के विरुद्ध है। तथा विज्ञानभिक्षुभाष्य में सूत्रस्थ एकम् इस पद से सब का लिंगशरीर एक है। यह कहा, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि चतुर्थ सूत्र आविवेकाच्च प्रवर्तनमविशेषाणाम् ङ्क,-विवेकपर्यन्त ही लिंग शरीर ठहरता है, जिसके द्वारा जीवात्मा दूसरा स्थूल शरीर प्राप्त करने को गति करता है। तथा वेदान्त दर्शन में भी तदापीतेः संसारव्यपदेशात् (वेदान्त. ङ्क।छ्व।ल्ल) प्रत्येक का सूक्ष्म शरीर पृथक् है और वह जब तक मोक्ष न हो तब तक रहता है। अपितु उस सूक्ष्म शरीर के द्वारा जीवात्मा सुख-दुःख की अनुभूति करता है, यह अभी इसी अध्याय में सांख्यकार ने पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य ल्ल, आठवें सूत्र में कहा है।

इस प्रकार भोग सबके अलग-अलग हैं, सूक्ष्म शरीर भी अलग-अलग हैं। एक लिंग शरीर का कथन करना अयुक्त है। यहां सूत्र में लिंग शरीर के अठारह पदार्थ तो सब भाष्यकारों ने ही माने हैं। अहंकार का बुद्धि में अन्तर्भाव करके सतरह कथनमात्र ही है। अतः सरलता का अवलम्बन कर सूत्रर्थ होना चाहिए, जो हमें अभीष्ट है। अब हम सूत्र का अर्थ करते हैं-(सप्तदश) पांच तन्मात्रएं, ग्यारह इन्द्रियां मन, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, अहंकार, ये सतरह (एकं लिंगम्) एक महत्तत्त्व-बुद्धि । लिंग शब्द से महत्तत्त्व अभीष्ट है। जैसे योगदर्शन में कहा है-**विशेषाविशेषलिंगमात्रलिंगानि गुणपर्वाणि** (**योग. 2/19**) । सप्तदश, एकं लिंगम् यह पृथक् पृथक् कथन क्यों किया ? क्यों नहीं अष्टादश ऐसा ही कह दिया ? उस लिंग महत्तत्त्व की प्रधानता के प्रदर्शनार्थ प्रयोग यह है कि यहां सूक्ष्मशरीर में प्रमुख लिंग है। उस को आश्रित करके ही यह लिंगशरीर कहा जाता है। जैसे पांच भूतों में सब से अधिक स्थूल पृथिवी प्रधान है। पांच भूत स्थूल शरीर के निमित्त हा. ेते हुए भी पार्थिव कहा जाता है। उसकी स्थूलता में पृथिवी की प्रधानता से ऐसा कथन है। वैसे ही एकं लिंगम् इस प्रकार लिंग की प्रधानता को आश्रितकर पृथक् कथन करना लिंग शरीर की प्रसिद्धि के लिये है। और जो विज्ञानभिक्षुभाष्य में वचन उधृत किया है-**कर्मात्मा पुरुषो योऽसौ बन्धमोक्षैः प्रयुज्यते। सप्तदशैकेनापि राशिना युज्यते च सः** कहां का वचन है, यह सूचित नहीं किया। वह प्रामाणिक शास्त्र का है या अप्रामाणिक ग्रन्थ का वचन है, यह ज्ञात नहीं होता। कदाचित् किसी नव्यग्रन्थ का वचन हो। तथापि इस वचन से विज्ञानभिक्षुभाष्य की पुष्टि नहीं होती। जैसा कि विज्ञानभिक्षु ने सूत्रर्थ को अन्यथा करते हुए लिंग शरीर में अठारह पदार्थ संकलित किए हैं। किन्तु यहां भी सीधे शब्दों में सतरह अलग और एक अलग कहा है सप्तदशैकेन राशिना सप्तदशक राशि सतरह पुनः कर्मात्मा पुरुषः कर्मात्मा पुरुष अहंकारयुक्त जीव कहा है। निर्गुणत्वात् तदसम्भवादहंकारधर्मा होते (सांख्य. 6/62) विशिष्ट जीवत्वम् (सांख्य. 6/63) अहंकारविशिष्ट आत्मा जीव हुआ। फिर अहंकारकर्त्रधीना कार्यसिद्धिः (सांख्य. 6/64) कर्तृत्व अहंकार का या अहंकारविशिष्ट आत्मा का होता है। ऐसे ही यहां उद्धृत वचन में भी कर्मात्मा पुरुषः कर्मात्मा पुरुष अहंकार या अहंकारविशिष्ट आत्मा अभीष्ट है- सप्तदशैक राशि के साथ संगत है। तब सतरह और एक अठारह तो हो गए लिंग देह के पदार्थ ?

सत्तरह और एक अठारह घटक,अवयव,तत्त्वों वाला सूक्ष्मशरीर है। अर्थात् बुद्धि, अहंकार, मन (अन्तःकरण), पांच तन्मात्र (सूक्ष्मभूत) दश इन्द्रिय (5 ज्ञानेन्द्रिय + 5 कर्मेन्द्रिय) इन अठारह तत्त्वों से मिलकर लिंगगशरीर-सूक्ष्मशरीर बनता है। इनमें लिंग-महत्तत्त्व-बुद्धि की प्रधानता- प्रमुखता प्रदर्शित करने के लिए इस सूक्ष्मशरीर को लिंगशरीर कहा जाता है। जैसे प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कर्म, कुकल, देवदत्त, धनंजय इन दश प्राणवायुओं को प्राण के प्रधानत्व से प्राण ही कह देते हैं। तथा योगः समाधिः में व्यासजी ने योगांगों के अन्तिम प्रमुख अंग को योग के नाम से पुकारा है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर के प्रमुख घटक लिंग प्रधानता के कारण पूरे सूक्ष्मशरीर को लिंगप्रधान शरीर कह देते, महत्, बुद्धि की लिंगशरीर हैं। सूत्र 3,4,8,6 के आशय को प्रकारान्तर से समझाया है-

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिंगम् ॥ (सां.का. 40)

पूर्वोत्पन्न यह सूक्ष्मशरीर जो कि महदादि सूक्ष्म तन्मात्र पर्यन्त है, वह अव्याहत गति वाला है, स्थिर है। स्वयं शब्दादि विषय भोग से रहित है और धर्माधर्म भावना से वासित होकर संसरण करता रहता है।

पुरुषार्थ संसृतिलिंगानां सूपकारवद्राज्ञः (सां.द.3/16)

अर्थः-(लिंगानाम्) लिंगशरीरों की या लिंगशरीररूप महत्तत्त्व, बुद्धि आदि की, उनके भागों की (संसृतिः) दूसरे देह में संसरण गति-प्राप्ति (पुरुषार्थम्) पुरुष के लिये है। जैसे पूर्व कहा है-आत्मार्थत्वात् सृष्टेः महदादिक्रमेण पंच भूतानाम् (सांख्य. 2/11) महदादि क्रम से पंचतन्मात्र पर्यन्त सृष्टि आत्मार्थ है (राज्ञः सूपकारवत्) राजा के पाककर्ता रसोइये की भांति, जैसे राजा का रसोइया सारी पाकसृष्टि राजा के लिए करता है, ऐसे समस्त करण-सृष्टि पुरुष के लिये है।

व्याख्याः-समस्त करणों का संसरण पुरुषों के लिए होता है। देह से देहान्तर में करणों की जो सतत गति होती रहती है, और अनादि काल से बराबर यही क्रम चल रहा है, यह सब चेतन आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए है। आत्मा के प्रयोजन हैं भोग और अपवर्ग, उन्हीं को सम्पन्न करने के लिए करणों की सब दौड़-धूप है। सूत्र के आशय को अगली सांख्य-कारिका में समझाया है।

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगाद् नटवद् व्यवतिष्ठते लिंगम् ॥ (सां.का.42)

अर्थात् यह लिंग (सूक्ष्म-शरीर) भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ के लिए ही निमित्त (धर्मादि) और नैमित्तिक (तज्जन्य स्थूल देह आदि) के प्रसंग से प्रकृति के व्यापक सम्बन्ध से नट की तरह व्यवहार करता है।

स्मरणीय बिंदु-

- करण कार्य करने के साधन हैं।
- मन आंतरिक करण है।
- इन्द्रियाँ ज्ञान एवं क्रिया के साधन हैं।
- प्रकृति अचेतन तत्व है।
- पुरुष चेतन तत्व है।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
करण	-	साधन
अचेतन	-	जड़
चेतन	-	ज्ञानयुक्त
इन्द्रिय	-	ज्ञान प्राप्त करने वाला उपकरण में

5 अंक के प्रश्न-

1. अचेतन करण क्या हैं?
2. करण शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. इन्द्रियों का कार्य क्या है?
4. मन एवं शरीर का संबंध लिखिए।
5. चेतन एवं अचेतन में अंतर स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. अचेतन करणों के संसर्ग का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. शरीर, मन एवं इन्द्रियों के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
3. सांख्य दर्शन में चेतन एवं अचेतन तत्वों का विश्लेषण कीजिए।
4. करणों की कार्यप्रणाली का वर्णन कीजिए।
5. पुरुष एवं करणों के संबंध का विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. अचेतन तत्व कौन है?

(क) पुरुष

(ख) आत्मा

(ग) प्रकृति

(घ) चेतना

2. करणों का संबंध किससे है?

(क) कार्य संपादन

(ख) मोक्ष

(ग) ईश्वर

(घ) शून्यता

3. मन किस प्रकार का करण है?

(क) बाह्य

(ख) आंतरिक

(ग) भौतिक

(घ) दैविक

4. इन्द्रियाँ किसका साधन हैं?

(क) ज्ञान एवं क्रिया

(ख) मोक्ष

(ग) सृष्टि

(घ) तप

5. पुरुष का स्वरूप क्या है?

(क) जड़

(ख) चेतन

(ग) नश्वर

(घ) विकारी

इकाई-4.2 प्रत्यय सर्ग का निरूपण

उद्देश्य-

1. प्रत्यय सर्ग की संकल्पना को समझना।
2. ज्ञान उत्पत्ति की प्रक्रिया का अध्ययन करना।
3. मानसिक वृत्तियों एवं विचारों के स्वरूप को जानना।

सांख्य दर्शन एक नैष्वरवादी द्वैतवादी तत्त्वमीमांसा है, जो विश्व की उत्पत्ति एवं तत्वों के क्रमिक विकास (सर्ग) को प्रकृति और पुरुष के माध्यम से समझाता है। इसमें प्रकृति को मूल कारण माना गया है, और सृष्टि का आरंभ महत्तत्त्व (बुद्धि) से होता है। इसलिए बुद्धि को प्रथम विकार या प्रथम सर्ग कहा गया है।

सांख्य दर्शन के अनुसार जब प्रकृति में त्रिगुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) की असाम्यावस्था होती है, तब उसमें विकास आरंभ होता है और महत्तत्त्व (बुद्धि) उत्पन्न होता है। इसी को बुद्धिसर्ग कहा जाता है। प्रत्यय अर्थात् ज्ञान, ज्ञान कराने वाली बुद्धि होती है, बुद्धि जैसी होगी वैसा ही ज्ञान कराएगी इस प्रकार से बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान भी कई प्रकार की होगी, उसी सृष्टि को बुद्धि सर्ग या प्रत्यय सर्ग कहा जाता है। जो प्रस्तुत प्रसंग में बतायी गई है-

एष प्रत्ययसर्गो विपर्यया-ऽशक्ति-तुष्टि-सिद्ध याख्यः।
गुणवैषम्यविमर्दात्तस्य च भेदास्तु पंचाशत् ॥ (सां.का.46)

यह प्रत्ययसर्ग (बौि(क सृष्टि) विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि नाम से चार प्रकार का है। गुणों की विषमता न्यूनाधिक्य होने से इनके भेद तो पचास होते हैं।अब प्रत्यय सर्ग के सभी भेदों की व्याख्या करेंगें।

विपर्ययभेदाः पञ्च ॥ (सां.द.3/37)

(विपर्ययभेदाः पंच) ज्ञानप्रतिपक्षिणो विपर्ययस्य मिथ्याज्ञानस्यभेदाः पंच सन्ति।

अर्थः-

(विपर्ययभेदाः पंच) ज्ञान के प्रतिपक्षी विपर्यय मिथ्याज्ञान 3/24, के भेद पांच हैं।

व्याख्याः-

पाँच भेद विपर्यय के है- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इनके दूसरे शास्त्रीय नाम क्रमशः ये है- तमस्, मोह, महामोह, तामिस्त्र, अन्धतामिस्त्र ।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश- ये पांच भेद विपर्यय के है, जिन्हे योगशास्त्र (2/3) में बताया है, ये सब अन्यहेतुमत विपर्यय के अवान्तर भेद हैं। इस कारण शुवत्यादिज्ञान रूप वियर्ययों का इसमें संग्रह न होने पर भी कोर्ड क्षति नहीं है। उपर्युक्त जो अविद्या, अस्मिता आदि बताये गये हैं. उन पाँचों को क्लेश शब्द से भी कहा जाता है। उन्हीं को शास्त्रकारों ने अन्य संज्ञाओं से भी बताया है। जैसे यथाक्रम से (1) तमस्, (2) मोह, (3) महामोह, (4) तामिस्र, (5) अन्धतामिस्र । इन पाँचों में से प्रथम जो अविद्या (तमस्) है, उसका लक्षण **अनित्याऽशुचिदुःखानात्पसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या यह योगशास्त्र (यो. सू. 2/5)** में बताया गया है। अर्थात् अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्म पदार्थो में नित्य, शुचि, सुख. तथा आत्मभावना करना ही अविद्या है। इसी प्रकार आत्मानात्मनोरेकता प्रत्ययः अस्मिता यह अस्मिता का लक्षण बताया गया है। अर्थात् इस आत्मा के भोग साधन रूप देह, बुद्धि आदि जो हैं, उन्हीं को आत्मा समझना अस्मिता है। यानी शरीरादि जड़ तत्त्वों के अतिरिक्त कोई अन्य, आत्मा नाम की वस्तु नहीं है। इसी को मोह कहते हैं। किन्तु अविद्या का स्वरूप ऐसा नहीं है। आत्मा की शरीर-अशरीर उभयरूपता में भी शरीर में बहम् बुद्धि की उपपत्ति हो जाती है। राग और द्वेष तो लोकप्रसिद्ध ही हैं। जो वस्तु अपने अनुकूल प्रतीत होती है, उसमें राग की भावना होती है, और जो वस्तु अपने प्रतिकूल प्रतीत होती है, उसमें द्वेष की भावना होती है। यह रागात्मिका, तथा द्वेषात्मिका वृत्ति, योग मार्ग में बाधक होती है। इन्हीं को क्रमशः महामोह और ताभिस्र कहते हैं। मरण (मृत्यु) से भय (त्रस) होना, अर्थात् मैं कभी भी न मरू, सर्वदा जीवित रहूँ इस प्रकार की की भावना को अभिनिवेश कहते हैं। इस अभिनिवेश की वृत्ति में यह विचार अर्न्तानहित रहता है कि आत्मा मर जाता है यानी आत्मत्तत्त्व विनाशशील है, और जो विम्वर शरीर है, उसे उसी अवस्था में बनाये रखने की इच्छा रहती है। अपने सामने असंख्य प्राणियों को प्रतिदिन मरते हुए देखकर भी अपने को अमरणशील बने रहने की सोचना ही घोर अन्धकार है, इसी को अन्धतामिस्र कहते हैं। इन सब भावनाओं का मुख्य आधार अविद्या ही है। ये रागादिक विपर्यय के कार्य होने से इन्हें भी विपर्यय शब्द से कहा गया है। आचार्य वार्षगण्य ने भी (सांख्यत्तत्त्व कौमुदी) में अविद्या को पश्चपर्वा कहा है, ऐसा श्री वाचस्पतिमिश्र कहते हैं- **पञ्चपर्वा अविद्या इत्याह भगवान् वार्षगण्यः । (सां. त. कौ. का. 47)।**

'विपर्ययो मिथ्याज्ञानं, तद्विपर्यादा विपरीतम्' (यो.द)

अर्थात् अनित्य, अशुचि, दुःखतथा अनात्मरूप तत्त्वों में नित्य, शुचि, सुखतथा आत्मरूप की भावना होना अविद्या है। (तम्) देह अथवा बुद्धि आदि जो आत्मा के भोगसाधन है, उनको आत्मा मानना अस्मिता है (अपर नाम – मोह) अनुकूल प्रतीत होने वाले तत्त्वों में रागभावना तथा प्रतिकूल में द्वेषभावना हो जाती है, इसे महामोह और तामिस्त्र कहते हैं। मैं कभी न मरुँ, सदा जीवित रहूँ, यह भावना 'अभिनिवेश' कहाती है (अन्धतामिस्त्र) उन सभी का मुख्य आधार अविद्या ही है। विपर्यय 5 हैं पर उनके अवान्तर भेद अनेक हो सकते हैं–

अवान्तरभेदाः पूर्ववत् । (सां.द.3/41)

अर्थः–

(पूर्ववत्) पूर्ववत् यह पूर्वस्य पंच इसको लक्षित करता है। पूर्व प्रकम के एक विपर्यय के पांच (अवान्तरभेदाः) अलग–अलग भेद हैं **विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् तमोमोहो महामोहस्तामिस्त्रेऽन्धतामिस्त्र इति (योग.** 1/8 **व्यासः) तम, मोह, महामोह, तामिस्त्र, अन्धतामिस्त्र।** ये पांच विपर्ययभेद हैं।

व्याख्याः–

5 विपर्ययों में पहला अविद्या है। उसका स्वरूप है– अनात्मा में आत्मबुद्धि होना। अनात्मवर्ग में प्रकृतिरूप 8 तत्व है. अव्यक्त मूल प्रकृति, बुद्धि, अहंकार और 5 तन्मात्र ये 8 प्रकृति–विकृति । इन 8 अनात्मतत्त्वों में आत्म बुद्धि होना 5 प्रकार की अविद्या है। ये ही 8 अस्मिता के विषय बनकर अस्मिता कहलाते हैं। शब्दादि 5 विषय, दिव्य (देवों को ग्राह्य) और अदिव्य (मनुष्यों में ग्राह्य) भेद से ये 10 होते हैं। अभिलाषापूर्वक इनके प्राप्त करने की अनुकूल भावना होना राग है जो कि 10 प्रकार की होगी। अविद्या और अस्मिता के आधार 8 है तथा राग के 101 इस प्रकार इन 18 के प्रति द्वेषवृत्ति की उद्भावना के आधार पर 18 देष होते हैं। ये ही 18 आधार अभिनिवेश के हैं। इस प्रकार सामान्य रूप से 5 विपर्ययों के और विशेष विभाग करके 62 भेद हो जाते हैं। विपर्यय के अनन्तर क्रमप्राप्त अशक्ति का सूत्रकार निर्देश करता है–

अशक्तिरष्टाविंशतिधाा तु । (सां.द.3/38)

अर्थः–

(अशक्तिः) अशक्ति (अष्टाविंशतिधा) अठाईस प्रकार की है।

व्याख्याः–

साधनरूप इन्द्रियशक्ति का अभाव हो जाना इन्द्रिय विघात ही अशक्ति है। यह छ्ब्ब्ह्व प्रकार की होती है। 11 इन्द्रियाँ है इस प्रकार 11 अशक्ति हुई। 9 तुष्टि और 8 सिद्धि) मिलाकर थे 17 बुद्धिवृत्ति है इनका विघात ही बुद्धि विघात है।इसे 17 अशक्ति कहते हैं।इस प्रकार 17 बुद्धि विघात व 11 इन्द्रिय विघात मिलाकर कुल 24 अशक्तियाँ हैं।तथापि इस अर्थ की व्याख्या कारिका के द्वारा की गई है–

एकादशेन्द्रियाधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा ।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम् ॥ (सां. का. 49 इति)

एकादशेति । मन, श्रोत्र, त्वक् चक्षु, रसना, घ्राण–ये पंच–ज्ञानेन्द्रियाँ और छठवाँ मन तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ–ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ मिलकर बागर इन्द्रियाँ होती हैं। ये ग्यारहों इन्द्रियाँ जब कुण्ठित हो जाती हैं, एकादशेन्द्रियवध हुआ, यह कहा जाता है। वध का अर्थ है कुण्ठित भाव । यह कुण्ठित होना भी दोष है। इन्द्रियाँ ग्यारह हैं, इसलिये उनके कुण्ठितभाव (वध) भी ग्यारह हैं।

बाधिर्यं कुष्ठितान्धत्वं जडताऽजिघ्रता तथा ।
सूकता कौण्यपंगुत्वे क्लैब्योदावर्तमुग्धताः।

अर्थात् शब्दग्रहणाऽपाटव यह श्रोत्र का दोष है, स्पर्शग्रहणाऽपाटव यह त्वगिन्द्रिय का दोष है, रूपग्रहणाऽपाटवयह नेत्र–दोष है, रसग्रहणाऽपाटव यह रसना–दोष है, अवघ्राणाऽपाटव यह घ्राण–दोष है–ये पाँच ज्ञानेन्द्रियों के वध कहलाते हैं। तथा वचनाऽपाटव यह वाग्दोष है, आदानाऽपाटव यह हस्तदोष है, चलनाऽपाटव यह पाददोष है, मैथुनाऽपाटव यह उपस्थेन्द्रिय का दोष है, पायु शक्ति का अभाव यह पायुदोष है ये कर्मेन्द्रियों के वध कहलाते हैं। तथा संकल्प शक्ति का अभाव यह मनोदोष है । इन्द्रियों के इस वध (वैगुण्यरूप दोष) को ही अशक्ति कहते हैं। एवं च एकादशेन्द्रियवधहेतुक बुद्धि की अशक्ति की संख्या भी एकादश बताई गई है। एकादशेन्द्रियवध तो कारण है, और बुद्धि–वधरूपिणी अशक्ति, उसका कार्य है। कार्य–कारण दोनों की अभेदविवक्षा से एकादशेन्द्रियवधाः, अशक्तिः इस प्रकार दोनों शब्दों का सामानाधिकरण्य (एकार्थ–प्रतिपादकत्व) बताया गया है। अर्थात् कार्य–कारण का अभेद बताने के लिये इन्द्रियवध को बुद्धि की अशक्ति कहा गया है। इस प्रकार बुद्धि की ग्यारह प्रकार को अशक्ति को बताकर उसकी बुद्धि के स्वरूपात्मक (साक्षात्) अशक्ति सत्रह प्रकार की होती है। यही बुद्धि वध कहलाता है, अर्थात् नौ प्रकार की तुष्टियों के विघात (वध) भी नौ ही होंगे, उसी प्रकार आठ प्रकार की सिद्धियों के विघात (वध) भी आठ ही होते हैं। ये सत्रह प्रकार की बुद्धिवृत्ति रूप भावनाएँ हैं। इनका विधात होना ही बुद्धि का विघात कहलाता है। ये सब बुद्धि की अशक्तियाँ स्वतः और परतः मिलाकर अठाईस होती हैं। सूत्रगत तु

शब्द, विशेष प्रसिद्धि को सूचित करने के लिये प्रयुक्त किया गया है। अर्थात् ये अठाईस प्रकार की अशक्तियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ, आत्मा के भोग की साधन हैं। किन्तु कभी किसी इन्द्रिय का विघात भी होता है। यह विघात ही अशक्ति है। अर्थात् इनकी भोग साधनतारूप शक्ति का अभाव हो जाता है।

तुष्टिर्नवधा ॥ (सां.द.3/39)

(तुष्टिः-नवधा) तुष्टिस्तु नवप्रकाराऽस्ति। तस्याः कारणं सिद्धिः सा च-

अर्थः-

(तुष्टिः- नवधा) तुष्टि तो नौ प्रकारवाली है।

व्याख्याः-

परितोष की ऐसी भावना का उद्रेक होना कि अमुक अध्यात्मसम्बन्धी कार्य हो ही गया है, अथवा अमुक साधन या रीति से स्वतः हो जाएगा, मुझे उसमें क्या करना है? यह आत्मज्ञान का बाधक होता है। तुष्टि 9 प्रकार की है।

तुष्टि के भेद-

आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः ॥ (सां.द.3/43)

अर्थः-

आध्यात्मिकादि अवान्तरभेद से नवधा तुष्टिः नौ नौ प्रकार की तुष्टि होती है। आत्मा में अधिष्ठित होने से आध्यात्मिकी तुष्टि स्वात्मा में स्थित सन्तोषरूपा। आदि शब्द से बाहिरी विषयों में दोषदर्शन से उनसे घृणारूपा या वैराग्यरूपा तुष्टि बाह्या है। इस प्रकार दोनों तुष्टियां नौ प्रकार की हैं। उनमें आध्यात्मिक चार हैं और बाह्य पांच हैं। आध्यात्मिक तुष्टियां प्रकृति, उपादान, काल, भाग इन चार नामों से हैं। उनमें - प्रकृति परिणामवाली है, मैं परिणामी नहीं किन्तु नित्य ही शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाववान् हूँ, वह परिणामताप मुझे अपने में आरोपित नहीं, करना अन्य विवेकदर्शनाभ्यास मुझे नहीं करना, यह प्रकृतिविषयक अम्भ नाम की तुष्टि है। प्रव्रज्याव्रत संन्यासव्रत के उपादान स्वीकार से प्राकृतिक सम्बन्ध से मैं विमुक्तहो गया, अब ताप प्रसंग नहीं और न ध्यान की आवश्यकता, यह उपादान प्रव्रज्योपादानरूपा सलिल नाम तुष्टि । ध्यान बहुत काल मैंने लगाया अब, ब्रह्मसाक्षात्कार होगा ही, आगे ध्यानाभ्यास बन्द कर देना चाहिए, यह कालाख्या ओघः ध्यानसंग्रह तुष्टि है। अपने आप भाग्य से साक्षात्कार होगा, मैं भाग्यवान् हूँ, समाधिप्रज्ञा को प्राप्त हूँ, यह भाग्याख्या वृष्टि तुष्टि है। बाह्य तुष्टियां तो बाह्य विषय के उपराग से होती हैं विषयों के अर्जन - रक्षण- क्षय- संग- हिंसा के दोषदर्शन से। जो विषयों के अर्जन दोषदर्शन से तुष्टि होती है वह पार नाम की, रक्षण दोषदर्शन से सुपार नाम की, क्षयदोषदर्शन से पारपार नाम की, संगदोषदर्शन से भोगदोषदर्शन से अनुत्तमाम्भ नाम की, हिंसादोषदर्शन से बिना प्राणियों को पीडा दिए भोगसिद्धि नहीं होती, ऐसी तुष्टि उत्तमाम्भ नाम की।

व्याख्याः-

आध्यात्मिक के 4 भेद हैं और बाह्यविषयक के 5, ये मिलाकर 9 हो जाते हैं। आध्यात्मिक 4 प्रकार की प्रकृति, उपादान, काल, भाग्य। यह सब कुछ प्रकृति का परिणाम है, वही सब करती रहती है, मैं तो अपरिणामी कूटस्थ चेतन हूँ। मुझे क्या करना ? इस प्रकार सन्तुष्ट होकर बैठ जाना प्रकृति नामक तुष्टि हैं। अपर नाम अम्भ है। दण्डकमण्डलु, अक्षमाला, कृष्णमृगचर्म आदि के धारण कर लेने अथवा जटाजूट होकर संन्यास कर ग्रहण कर लेने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाएगी, इस रूप में सन्तुष्ट्र हो जाना 'उपादान' नामक तुष्टि अपरनाम सहित संन्यास लेकर थोड़ा-बहुत जप-तय करने पर कष्ट से बचने के लिए यह भावना कर लेना कि जब समय आएगा, आप ही सिद्धि हो जाएगी, प्रत्येक कार्य अपने समय पर ही होता है व्यर्थ आत्मज्ञान के लिए कष्ट क्यों उठाना काल नामक तुष्टि है अपर नाम ओघ है। जैसे भाग्य से ही मोक्ष होगा प्रयत्न करने से क्या लाभ? ऐसा जो सोचता है वह भाग्य नामक तुष्टि है।

शब्दादि 5 विषयों के वैराग्य से होने वाली तुष्टियाँ बाह्य तुष्टियाँ कहलाती है। अर्जन, रक्षण, क्षय, संग और हिंसा इन दोषों के कारण इन विषयों से उपरति (विरक्ति) होती है।

योगसाधना का अभ्यास करने वाला व्यक्ति बीच में ही तुष्टि की अर्थात् सन्तोष की भावना करने लगे कि मेरी योगसाधना तो पूर्ण हो चुकी, मैं, अब महान् योगी, या योगिराज हो गया है, तो निश्चित समझिये कि इस प्रकार की भावना, आत्मसाक्षात्कार में विघ्नरूप बाधक होती है। क्योंकि आत्मसाक्षात्कार होने के पूर्व अर्धमार्ग में ही सन्तुष्ट होकर आगे अभ्यास करने की वह उपेक्षा करने लगता है। उपेक्षा करने से आत्मसाक्षात्कार नहीं हो पाता है। अतः इस प्रकार को तुष्टि, आत्म-साक्षात्कार में विघ्नरूप होने से बाधक है।

सिद्धिरष्टधा ॥ (सां.द.3/40)

अर्थः-

(सिद्धि):- अष्टधासिद्धि आठ प्रकार की है। वक्तव्य-विपर्ययभेदाः पंच (37) , अशक्तिरष्टाविंशतिध (38), तुष्टिर्नवधा (39) सिद्धिरष्टधा (40), यह चतुःसूत्री कहकर वैसे ही अवान्तरभेदाः पूर्ववत् (41), एवमितरस्याः (42), आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः

(43), .हादिभिः सिद्धिरष्टधा (44), यह चतुःसूत्री फिर कही है। यह विपर्यय आदि की पुनरुक्ति अयुक्त प्रतीत होती है। हमारी सम्मति में यह पुनरुक्ति सूत्रकार ने इतनी ही नहीं की होगी, किन्तु विवरणसहित की होगी। कालवश या लेखनकर्ता के भ्रमवश अथवा किसी भाष्यकार के अज्ञानवश इन में दिये विवरण सूत्र से बाहर की बात समझकर पृथक् कर दिये हों, फिर थोड़े विवरण प्रायः संख्यानिर्देश के साथ यह पुनरुक्ति रह गई हो, यह सम्भव है। दूसरी विचारणा- अवान्तरभेदाः पूर्ववत् (41), इस सूत्र में पूर्ववत् शब्द सब पिछले सूत्रें में अनुगत हों पूर्वाचार्यों के विवरण के समान अर्थ में तब विपर्ययभेदाः पंच (36-40), यह पूर्वचतुःसूत्री निरर्थक हो जावे। तीसरी विचारधारा- उसी पूर्व चतुःसूत्री में विपर्ययभेदाः पंच पूर्ववत्(37), ऐसी सूत्ररचना होनी चाहिए, वहीं से पूर्ववत् शब्द का पूर्वचतुःसूत्री के अन्य तीन सूत्रें में भी अनुवर्तन किया जावे, फिर उत्तर चतुःसूत्री अनावश्यक हो जावे। दोनों चतुः सूत्रियों को रखने के लिये प्रथम विचारधारा अधिक युक्त है और हमें अभीष्ट है)।

व्याख्याः-

इसे भी सूत्रकार स्वयं (सु. 3/44 में) बतायेंगे आत्मसाक्षात्कार की इच्छा रखने वाला योगी जब समाधि की अवस्था तक पहुँच जाता है, तब उसे अनेक चमत्कारों का अनुभव होने लगता है। कभी प्रदीप्त प्रकाश तो कभी महात्मा, देवताओं के दर्शन, उनके साथ वार्तालाप, कभी-कभी अत्यधिक सात्त्विक आनन्द का अनुभव उसे हुआ करता है। कभी-को कठिन से कठिन समस्याओं का समाधान अपने आप स्वयं कर लेता है, कभी-कभी अनेकविध वाद्यों की ध्वनि सुनाई पड़ती है, कभी, भविष्य की बातों को भी प्रत्यक्ष की तरह जान लेता है। इन सब अनुभूयमान चमत्कारों को वह सिद्धि समझकर उन्हीं में अटक जाता है, और जादूगर की तरह जनता में प्रदर्शन कर प्रभूत यश और घन का अर्जन करने में जुट जाता है, किन्तु आत्मसाक्षात्कार-रूप जो वास्तविक लक्ष्य है, वह दूर ही रह जाता है। अतः आत्म-साक्षात्कार रूप लक्ष्य की प्राप्ति में यह चमत्कार रूप सिद्धि बाधक ही समझी जाती है। किन्तु तीव्रतम साधना करनेवाला योगी, उक्त सिद्धि (चमत्कार) में अटकता नहीं हैं, किन्तु उन सिद्धियों की वह उपेक्षा करता रहता है, और अपना अन्तिम लक्ष्य जो आत्म-साक्षात्कार है, उसे प्राप्त कर ही लेता है। ऐसे योगी के लिये ये सिद्धियाँ उत्साहवर्धक होती हैं। अतः सिद्धि आत्मसाक्षात्कार में साधक भी है और बाधक भी है।

ऊहादिभिः सिद्धिरष्टधा ॥ (सां.द.3/44)

अर्थः-

ऊहादि के भेदों से (सिद्धिः -अष्टधा) सिद्धि आठ प्रकार की है। उन में गुरुमुख से अध्ययन न करके स्वयं अध्ययन करके ज्ञानलाभ होना अध्ययनसिद्धि तार नाम की, स्वयं अध्ययन भी न करके शब्दमात्र सुनकर ज्ञानोत्पत्ति होना शब्दसिद्ध सुतार नाम की, शब्द भी न सुनकर भीतर ज्ञान प्रादुर्भाव होना ऊहासिद्धि तारतार नाम की, .हा के बिना तर्कना या भावना के बिना अभीष्ट प्राप्ति हो जाना प्राप्तिसिद्धि रम्यक नाम की, ब्रह्मपदार्थप्राप्ति के बिना निर्मलता का लाभ शुद्धि सिद्धि सदामुदित नाम की, स्वतः ही आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आधिदैविक-दुःखविमुक्ति विमुक्तिसिद्धि-त्रिधावि-मुक्तिसिद्धि प्रमोद मुदित मोदमान नाम की 9 प्रकार की तुष्टि के अन्तर अब क्रम प्राप्त 8 प्रकार की सिद्धियों का वर्णन कारिका के द्वारा करते है-

ऊहः शब्दोऽध्ययनं, दुःखविघातास्त्र्यः सुहृत्प्रादितः ।
दानं च सिद्ध योऽष्टौ सिद्धः पूर्वोऽकुशास्त्रिविधः॥ (सां.का.57)

ऊह आदि भेदों से सिद्धि आठ प्रकार की होती है। वे आठ प्रकार ये हैं-(1) ऊह, (2) शब्द, (3) अध्ययन, (4) आध्यात्मिक दुखःविघात, (5) आधिभौतिक दुःखविघात, (6) आधिदैविक-दुःखविघात, (7) सुहृत्प्राप्ति, (8) दान । इस सूत्र की भी कारिका के द्वारा व्याख्या की गई है-अस्यायमर्थः । उक्त कारिका का अर्थ यह है-आध्यात्मिकादि दुःखत्रयप्रतियोगिक होने से तीन दुःखविघात भी हैं, और ये ही मुख्य सिद्धियाँ हैं। अन्य सिद्धियाँ तो उन मुख्य सिद्धियों की साधन होने से गौण सिद्धियाँ हैं। अभिप्राय यह है कि तीनों प्रकार के दुःखों का विघातमुख्यसिद्धि है, क्योंकि दुःखं मा भुञ्जीय किसी प्रकार का भी दुःख मुझे न भोगना पड़े यही इच्छा स्वभावतः रहने से विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि के रूप में 50 प्रत्ययसर्ग अथवा बुद्धिसर्ग नाम से शास्त्र में बताया अध्यात्ममार्ग की अवस्थाओं का निरूपण किया गया है। इनमें प्रथम 3 आत्मज्ञान में बाधकतत्व और अन्तिम साधक या सहायक है। मनुष्य इसी के लिये प्रयत्नशील रहता है। और शास्त्रें की प्रवृत्ति भी मनुष्याभिलषित इसी कल्याण को प्राप्ति कराने के लिये हई है। अवशिष्ट पाँच प्रकार की सिद्धियाँ उक्त मुख्य सिद्धियों की प्राप्ति होने में साधनभात्र हैं। ये साधनभूत सिद्धियाँ मुमुक्षु को अपने में फंसा लेती हैं, और उसे लक्ष्यसिद्धि के प्रयत्नों से विरत करा देती हैं, क्योंकि साधक अपने को इन सिद्धियों से ही कृतकृत्य मानने लगता है। अतः ये सिद्धियाँ लक्ष्यसिद्धि में बाधक मानी जाती हैं।

जब साधक को यह जिज्ञासा होती है कि आत्मा क्या है ? मोक्ष क्या है ? उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? तब वह इन भावनाओं से प्रेरित होकर किसी से उपदेश प्राप्त किये बिना ही पूर्वजन्म के अभ्यासवश स्वयं ही शास्त्र के स्वाध्यायमात्र से आत्म-तत्त्व का ऊहा करने लगता है, तब उसे ऊह नाम की सिद्धि कहते हैं। जैसे-किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा किये जाते हुए अध्ययन के शब्दों

को सुनकर अथवा स्वयं ही शास्त्रें का आकंलन करके यह ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि मैं (आत्मा) चेतन स्वरूप हूँ और यह जड़ है तथा मुझे चेतन से सर्वथा भिन्न है। इस वास्तविकता को जानकर आत्मस्वरूप के साक्षात्कार के लिये प्रयत्नशील व्यक्ति आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है, यही शब्द नामकी सिद्धि है। जैसेकिसी गुरु के समीप रहकर यथाविधि उसकी सेवा, शुश्रूषा करते हुए शिष्याचार्यभाव से अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन कर आत्मस्वरूप के याथार्थ्य को समझते हुए उसके साक्षात्कार के लिये प्रयत्नशील होकर उसका साक्षात्कार कर लेना अध्ययन नामकसिद्धि कहलाती है।

जैसे जब कोई स्वार्यरहित अर्थात् प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखनेवाला मित्रदिव्यक्ति, त्रिविधताप से मुक्त करने की भावना से प्रेरित होकर आवे और अध्यात्ममार्ग का पथ प्रदर्शन करके आत्मसाक्षात्कार तक पहुंचा दे, तब उससिद्धि को सुहृत्प्राप्ति कहते हैं। धनादि उपयुक्त वस्तुओं को अर्पण करते हुए गुरु की आराधना सेवा आदि के द्वारा उसे सन्तुष्ट कर उनसे ज्ञानलाभजब किया जाता है, तब उसे दांन सिद्धि कहते हैं । इन अष्टविध सिद्धियों में से प्रारम्भ की (1) ऊह, (2) शब्द और (3) अध्ययन, ये तीन सिद्धियाँ, तीन दु:ख-विघातरूप मुख्यसिद्धि की अंकुशरूप यानी आकर्षक हैं। (1) सुहृत्प्राप्ति और (2) दान ये दो सिद्धियाँ ऊहादि तीन सिद्धियों की अपेक्षा मन्दसाधन रूप हैं यह बताने के लिये .हादि तोन सिद्धियों को अंकुशरूप बताया गया है। वाचस्पतिपिश्र ने सिद्ध : पूर्वोकुशस्त्रिविध: की व्याख्या इस प्रकार की है-इन अष्टसिद्धियों का अंकुश यानी निवारक, पूर्वोक्त विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि ये त्रिविध हैं, क्योंकि ये बन्धक हैं। किन्तु भाष्यकार विज्ञानभिक्षु का कहना है कि वह व्याख्या ठीक नहीं है। क्योंकि तुष्टिका अभाव, अशक्तिरूप होने से वाधिर्य आदि के समान उसमें सिद्धि विरोधित्वकी उपलब्धि हो जाने से तुष्टि और अतुष्टि (तुष्टयभाव) दोनों में सिद्धि विरोधित्व का होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार पचास प्रत्ययसग (बुद्धिसर्ग), जो अध्यात्ममार्ग को अवस्थाए हैं, उनको विपर्यय, अशक्ति तुष्टि, और सिद्धि के रूप में बताया गया। इनमें से प्रथम तीन, आत्मज्ञान की प्रतिबन्धक होने से बाधक हैं, और अन्तिम की जो हैं, वे साधक को उत्साहित कर आत्मज्ञान में सहायक हाने से साधक होता हैं।

स्मरणीय बिंदु-

- प्रत्यय का अर्थ है ज्ञान या विचार।
- सर्ग का अर्थ उत्पत्ति है।
- बुद्धि में उत्पन्न होने वाले विचार प्रत्यय कहलाते हैं।
- सत्त्व, रजस और तमस गुणों का प्रभाव मानसिक वृत्तियों पर पड़ता है।
- विवेक ज्ञान मोक्ष का साधन है।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
प्रत्यय	विचार या ज्ञान
सर्ग	उत्पत्ति
विवेक	सही-गलत का ज्ञान
वृत्ति	मानसिक परिवर्तन
सत्त्व	शुद्धता का गुण
रजस	क्रियाशीलता
तमस	अज्ञान

5 अंक के प्रश्न-

1. प्रत्यय सर्ग का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. प्रत्यय किसे कहते हैं?
3. त्रिगुणों का मानसिक वृत्तियों पर क्या प्रभाव पड़ता है?
4. विवेक ज्ञान क्या है?
5. सत्त्व गुण की विशेषताएँ लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. प्रत्यय सर्ग का सांख्य दर्शन में विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. ज्ञान उत्पत्ति की प्रक्रिया को समझाइए।
3. त्रिगुण और मानसिक वृत्तियों का संबंध स्पष्ट कीजिए।

4. विवेक ज्ञान की आवश्यकता पर निबंध लिखिए।
5. प्रत्यय सर्ग एवं मोक्ष के संबंध को स्पष्ट कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. प्रत्यय का अर्थ क्या है?
(क) शरीर
(ख) विचार
(ग) इन्द्रिय
(घ) प्रकृति
2. सर्ग का अर्थ हैख्र
(क) नाश
(ख) उत्पत्ति
(ग) परिवर्तन
(घ) दुख
3. विवेक ज्ञान किसका साधन है?
(क) दु:ख
(ख) जन्म
(ग) मोक्ष
(घ) अज्ञान
4. तमस गुण किसका प्रतीक है?
(क) प्रकाश
(ख) अज्ञान
(ग) शुद्धता
(घ) चेतना
5. रजस गुण का संबंध किससे है?
(क) आलस्य
(ख) क्रियाशीलता
(ग) ज्ञान
(घ) शांति।

इकाई-4.3 भौतिक सर्ग निरूपण

उद्देश्य-

1. भौतिक सर्ग की अवधारणा को समझना।
2. पंचमहाभूतों की उत्पत्ति का अध्ययन करना।
3. सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया को जानना।

संसार एक कार्य-कारण श्रृंखला है, जहाँ आत्मा विभिन्न योनियों में कर्मफल के अनुसार भ्रमण करता है, और केवल ज्ञान एवं विवेक से उससे मुक्तहो सकता है। सांख्य दर्शन के अनुसार यह संसार प्रकृति के विविध विकारों से उत्पन्न हुआ है। प्रकृति ने जिस सृष्टि को जन्म दिया, वह केवल जड़ जगत तक सीमित नहीं है, बल्कि चेतन-प्राणियों की सृष्टि भी इसका भाग है। सांख्य में 14 प्रकार के प्राणियों का उल्लेख मिलता है जिन्हें 14 प्रकार की प्राणी सृष्टि कहा जाता है। यह विवेचना सांख्यकारिका एवं वाचस्पति मिश्र की टीकाओं पर आधारित है।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात्। (सां.द.3/47)

अर्थः-

(तत्कृते) पुरुष के निमित्त-पुरुष के लिये (आब्रह्मस्तम्ब-पर्यन्तम्) ब्रह्मा के शरीर से लेकर स्थावरपर्यन्त (दैवादिप्रभेदा सृष्टिः) दैव-आदि भेदयुक्त दैव, मनुष्य, तिर्यक, स्थावर भेदयुक्त सृष्टि (आविवेकात्) विवेक हो जाने तक प्रवृत्त होती है। जब तक पुरुष को विवेक न हो जावे तब तक प्रवृत्त होती है, उस-उस योनि में शरीर धारण के लिये तथा भोग और अन्त में मोक्ष के लिये।

व्याख्या-

पुरुष के भोग-अपवर्ग सम्पन्न करने के लिए ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सृष्टि-सर्ग प्रवृत्ति विवेकज्ञान होने तक रहती है। विवेकज्ञान होते ही सृष्टि हो जाती हो, ऐसा नहीं समझना चाहिए। प्रकृति की प्रवृत्ति कभी नहीं रुकती, किन्तु जिस पुरुष को विवेकज्ञान हो गया उसके लिए प्रकृति का प्रयोजन नहीं रहता। अर्थात् उसकी दृष्टि में प्रकृति की प्रवृत्ति होना, न होना कोई महत्त्व नहीं रखता। इसीलिए विवेक पर्यन्त सृष्टि की प्रवृत्ति कही है, क्योंकि उस समय पुरुष अपनी वृत्तिसरूपता को छोड़कर स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। योग में भी कहा है कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्ट... (योग02/22)सांख्य-कारिका में भी ये चौदह भेद बताए हैं-

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पंचधा भवति।
मानुषश्चैकविधः समासतोऽयं त्रिधा सर्गः । (सां.का.53)

अर्थात् आठ प्रकार की देवों की सृष्टि है, पाँच प्रकार की तिर्यक् योनियों (पशु, पक्षी आदि) की सृष्टि है और एक प्रकार की मनुष्यों की सृष्टि है। वस्तुतः दैव और मानुष के 6 भेद मनुष्य के ही हैं। जैसा कि अन्यश्रुतियों में कहा है-**सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः । विद्वा सो हि देवाः (शत.1/1/1/1)**

ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला । (सां.द.3/48)
(ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला) दैवसृष्टिः सत्त्वबहुला भवति।

अर्थः-

(ऊर्ध्वम्) ऊँची सृष्टि अर्थात् दैव सृष्टि (सत्त्वविशाला) सत्त्वगुणप्रधान होती है।

व्याख्याः-

सत्त्वगुण प्रधान सृष्टि .र्ध्वम उँची उन्नत होती है। जिन योनियों में रजोगुण-तमोगुण न्यून तथा सत्त्वगुण प्रधान रहता है, जिसके कारण पुरुष मन की शुद्धि, इन्द्रियदमन वैदिक कर्मानुष्ठान, तप, स्वाध्याय, निष्कपटतादि धर्म पाए जाते हैं, वे ऊँच उत्तम कहाते हैं। सा. त्त्विक गुणप्रधान योगभ्रष्ट (अन्तिमस्थिति को अप्राप्त) व्यक्तियों का जन्म ऐसे माता-पिता के घर में होता है, जहाँ उन्हें आत्मज्ञान के लिए अधिकाधिक सुविधा प्राप्त हो। आकाश में कोई ऐसा लोक या स्थान विशेष नहीं है, क्योंकि संसार सारा ही त्रिगुणात्मक है, केवल सत्त्वरूप कहीं नहीं। अतः ऐसे जन समुदाय को ही सूत्र में ऊर्ध्व कहा है। गीता में भी यही बात कही है

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ (गीता 6/42)
तमोविशाला मूलतः॥ (सां.द.3/49)

अर्थः-

(मूलतः) अधोभूता-नीच सृष्टि-तिर्यक् तथा स्थावर की सृष्टि (तमोविशाला) तमोगुणप्रधान होती है

व्याख्याः-

तमोगुणप्रधान सृष्टि निम्न श्रेणी योनियों की होती है। जिनमें अज्ञानरूपी अन्धकार छाया रहता है, जहाँ आत्मज्ञान का प्रश्न ही नहीं होता। पेट भरना, सन्तति बढ़ाना (शिश्नोदर-परायणाः) आदि ही लक्ष्य रहता है। जिनमें बहुत से मनुष्य तथा अन्य सब प्राणी और स्थावर आते हैं, वे निम्न योनियाँ हैं।

मध्ये रजोविशाला ॥ (सां.द.3/50)

अर्थः-

(मध्ये) मध्यमा सृष्टि मनुष्य सृष्टि रजोगुणप्रधान होती है

व्याख्याः-

रजोगुणप्रधान सृष्टि मध्ये मध्यम कोटि की है। समस्त मानव समुदाय प्रायः इसी सृष्टि के अंग हैं। जिनमें हिंसा, असत्य, क्रोध, चंचलता आदि धर्म पाए जाते हैं। किन्तु सत्त्वप्रधान तथा तमस् प्रधान मनुष्य क्रमशः ऊर्ध्व और निम्न श्रेणियों में गिने जाते हैं। ये तीनों प्रकार की सृष्टियाँ अपने अपने शुभाऽशुभ कर्मो के आधार पर होती हैं। इनमें निश्चित सीमा रेखा खींचना कठिन है। ये तीनों सृष्टियाँ प्रकृति की त्रिगुणात्मुक्ता की द्योतक हैं। मनु महाराज कहते हैं -

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः ।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ मनु. 12/40

जो मनुष्य सात्त्विक हैं, वे देव अर्थात् विद्वान् जो रजोगुणी होते हैं वे मध्यम और जो तमोगुण युक्त होते हैं वे नीचगति को प्राप्त होते हैं। इन 47-50 सूत्रों के विषय को सांख्य-कारिका में संक्षेप से कहा है

धर्मेण गमनमूर्ध्व गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण ॥ (सां.का.ङ्ङ्ङ्-ङ्कः)
ऊर्ध्व सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः ।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तम् ॥ (सां.का.54)

तीनों लोक त्रिगुणात्मक हैं (किन्तु उनमें गुणों के न्यूनाधिक्य से विभिन्नता हो जाती है। (इसलिए किस लोक में कौन गुण अधिक है यह कहते हैं - ऊर्ध्वम् पूर्वोक्त आठों देवस्थानों में (ब्राह्म आदि योनियों में) सत्त्वविशालः सत्त्व गुण का विस्तार अधिक है अर्थात् उनमें सत्त्वगुण अधिक मात्र में रहता है। यद्यपि उनमें भी रज तम रहते हैं। किन्तु न्यूनमात्र में । तमो० पशु से लेकर स्थावर पर्यन्त (5 योनियों) में सारी सृष्टि तमोगुण से व्याप्त है (अर्थात् पशु, मृग पक्षी, सरीसृप और स्थावर योनियों में तमोगुण अधिक मात्र में रहता है।) यद्यपि उनमें मी सत्त्व और रज रहते हैं किन्तु न्यून मात्र में । मध्ये. मानुष लोक में रजो गुण का विस्तार अधिक होता है। यद्यपि उनमें भी सत्त्व और तम होते हैं किन्तु न्यूनमात्र में। इसीलिये मनुष्य प्रायः दुखी रहते हैं। (क्योंकि रजोगुण परिणाम दुःख है) । इस प्रकार ब्रह्मादि. ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त अर्थात् दैव से लेकर स्थावर योनि पर्यन्त (सृष्टि का दर्णन हुआ)। इस प्रकार लिंगसर्ग (तन्मात्रसर्ग) और मावसर्ग अभौतिक तथा देव, तिर्यक एवं मानुष सर्ग भौतिक सर्ग कहलाते हैं। यही प्रकृति द्वारा उत्पन्न सोलह 5 तन्मात्र + 8 भाव + 3 योनि = 16, प्रकार की सृष्टि हैं।

धर्म से ऊर्ध्वगमन अर्थात् सुखविशेष, और अधर्म से अधःपतन अर्थात् दुःखविशेष होता है। देवलोक अर्थात विद्वद्वर्ग सत्त्व-प्रधान होता है, निम्नसर्ग अर्थात् तिर्यक योनियाँ तमोगुणप्रधान होती हैं और सामान्य मनुष्यलोक रजोगुणप्रधान होता है। ब्रह्मादि ऋषियों से लेकर स्तम्ब (लतागुल्मादि) पर्यन्त सभी लोक तीन गुणों से व्याप्त हैं।

स्मरणीय बिंदु-

- भौतिक सर्ग का संबंध स्थूल जगत से है।
- पंचमहाभूत ख्र पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश हैं।
- प्रकृति से महत, अहंकार और तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं।
- तन्मात्राओं से पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं।
- समस्त भौतिक जगत प्रकृति का विकार है।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
भौतिक सर्ग	स्थूल जगत की उत्पत्ति
पंचमहाभूत	पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश

तन्मात्रा	सूक्ष्म तत्व
महत	बुद्धि तत्व
विकार	परिवर्तन
स्थूल जगत	दृश्य संसार

5 अंक के प्रश्न-

1. भौतिक सर्ग क्या है?
2. पंचमहाभूतों के नाम लिखिए।
3. तन्मात्रा किसे कहते हैं?
4. प्रकृति से उत्पन्न प्रथम तत्व कौन-सा है?
5. स्थूल जगत किसका विकार है?

15 अंक के प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में भौतिक सर्ग का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. पंचमहाभूतों की उत्पत्ति प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।
3. प्रकृति से सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया समझाइए।
4. तन्मात्रा एवं महाभूतों का संबंध स्पष्ट कीजिए।
5. सांख्य दर्शन के अनुसार स्थूल जगत की व्याख्या कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. पंचमहाभूतों में कौन सम्मिलित नहीं है?

(क) पृथ्वी

(ख) जल

(ग) अग्नि

(घ) बुद्धि

2. प्रकृति से सर्वप्रथम क्या उत्पन्न होता है?

(क) मन

(ख) महत

(ग) पृथ्वी

(घ) वायु

3. तन्मात्राएँ किस प्रकार के तत्व हैं?

(क) स्थूल

(ख) सूक्ष्म

(ग) चेतन

(घ) नश्वर

4. स्थूल जगत किसका विकार है?

(क) पुरुष

(ख) प्रकृति

(ग) आत्मा

(घ) ईश्वर

5. आकाश किस श्रेणी में आता है?

(क) तन्मात्रा

(ख) पंचमहाभूत

(ग) अंत:करण

(घ) इन्द्रिय

इकाई-4.4 बन्ध और मोक्ष निरूपण

उद्देश्य-

1. सांख्य दर्शन में बन्ध और मोक्ष की अवधारणा को समझना।
2. दु:ख, अविद्या और प्रकृति-पुरुष संबंध का अध्ययन करना।
3. विवेक ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्ति के मार्ग को जानना।

सांख्य दर्शन भारतीय दर्शनों में एक प्रमुख ज्ञानप्रधान एवं द्वैतवादी दर्शन है। इसमें प्रकृति और पुरुष दो शाश्वत एवं स्वतंत्र तत्त्व माने गए हैं। सांख्य दर्शन का मुख्य उद्देश्य है- बंध से मुक्ति (मोक्ष) की प्राप्ति। यह दर्शन मानता है कि बंध अविवेकजन्य है, और मुक्ति विवेकजन्य।

बंधन:- जब पुरुष (आत्मा) अज्ञानवश प्रकृति के विकारों को अपना मान लेता है और उनमें कर्तापन तथा भोक्तापन का अनुभव करता है, तो वह बंधन कहलाता है।

मुक्ति:- जब पुरुष को यह निश्चित विवेक हो जाए कि वह न कर्ता है, न भोक्ता, और वह प्रकृति से सर्वथा भिन्न है - तब वह प्रकृति के समस्त विकारों से मुक्तहो जाता है। यही मुक्ति या कैवल्य है।

ज्ञानान्मुक्ति: ॥ (सां द. 3/23) ॥

अर्थ:-

(ज्ञानात्-मुक्ति:) ज्ञान से-विवेक-साक्षात्कार से पुरुष की मुक्ति होगी।

व्याख्या:-

चेतन-अचेतन के भेद के साक्षात्कार से मोक्ष-अपवर्ग होता है। आत्म-साक्षात्कार हो जाने पर मुक्ति हो जाती है। प्राय: व्यक्ति की प्राकृतिक पदार्थों में आसक्ति बनी रहती है, किन्तु जब सत्संगादि से प्रभावित होने पर आत्मा को जानने की इच्छा तीव्र हो जाती है तब अन्तर्मुख होकर समाधि के लिए प्रयत्नशील होता है। निरन्तर दृढप्रयत्न से समाधिलाभ होने पर जब अपने रूप का साक्षात्कार कर लेता है, तब देखता है कि मैं चेतन, शुद्ध, अपरिणामी तथा प्रकृति से सर्वथा भिन्न हूँ। उस समय प्राकृतिक पदार्थों का आकर्षण समाप्त हो जाता है। फिर उसके लिए कुछ पाना शेष नहीं रहता। यही आत्मा की मुक्ति है। **न ह्यक्तस्य जन्मो दृष्ट- (न्या.भा.)।**

आत्मदर्शन यानी आत्मसाक्षात्कार (ज्ञान) से अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, इस संसार में प्रकृतितत्त्व से उत्पन्न हुए लिंगशरीर से आविष्ट हुआ आत्मा रहता है। अतएव वह सांसारिकविषयों में बराबर आसक्त रहता है। परन्तु जब असंख्य जन्मों के असंख्य संस्कारों में से कोई शुभ संस्कार उदित हो जाता है, तब सांसारिक विषयों की ओर से वह हट जाता है, यानी उनमें उसका मन अनासक्त हो जाता है। अर्थात् उसकी अन्तर्दृष्टि हो जाती है, और वह अपने आत्मा का वास्तविक स्वरूप जानने का प्रयत्न करने लगता है, जिससे योगाभ्यास आदि साधनों का निरन्तर दृढता पूर्वक श्रद्धा के साथ प्रयत्न करते-करते आत्मा के वास्तविक स्वरूप का अनुभव होने लगता है। उसे यह अनुभव होने लगता है कि आत्मा चेतन है और प्रकृति तथा उसके कार्यभूत अन्य तत्त्व सभी अचेतन (जड़) हैं। इस जड़ प्रकृति से यह चेतन आत्मा सर्वथा भिन्न है। इसी प्रतीति को विवेकज्ञान कहते हैं। ऐसा विवेकज्ञान होनेपर लिंग (करणों) का समस्त व्यापार उस व्यक्ति के प्रति समाप्त हो जाता है। यही उसका अपवर्ग रूप मोक्ष कहलाता है।

बन्धो विपर्ययात् ॥ (सां द. 3/24)

अर्थ:-

(विपर्ययात्-बन्ध:) उसके विपरीत अर्थात् अज्ञान से अविवेक से बन्धन देह में होता है।

व्याख्या:-

विपर्यय-ज्ञान के विपरीत आत्मज्ञान न होने से (अज्ञान अविवेक से) बन्ध होता है। अर्थात् चेतन-अचेतन का अभेदरूप अविवेक बन्धन का कारण है और शरीर सम्बन्ध तथा त्रिविध दु:ख का हेतु है। इसी परिस्थिति में व्यक्ति अभ्युदय लौकिक सुख के लिए सामाजिक नियमों में बंध जाता है। अर्थात् देहान्तरों में घूमता है सूत्र 23, 24 के आशय को ही अगली सांख्य-कारिका के उत्तरार्ध से बताया है -

ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्ध: ॥ (सां.का.44/2)

अर्थात् ज्ञान (निमित्त) से अपवर्ग (नैमित्तिक) अर्थात मोक्ष होता है। और अज्ञान (निमित्त) से बन्ध निमित्तिक अथात जन्म-मरण-चक्र होता है।

विपर्यय से यानी आत्मज्ञान न होने की स्थिति में सुख-दु:खरूप बन्धसंज्ञक भोगात्मक पुरुषार्थ, लिंग के संसरण से होता रहता है।

अर्थात् बुद्धि आदि करणों (लिंग-शरीर) से आत्मा आवेष्टित रहता है, और उसका (लिंगरूप करणों का) संसरण (आवागमन) होता रहता है, जिससे यह बन्धनावस्था बराबर बनी रहती है। किन्तु किसी जन्म के शुभ-संस्कार के कारण सद्गुरु के उपदेश से बाह्यप्रवृत्तियाँ, अन्तर्मुख हो जाती हैं, तब विवेकज्ञान होकर मुक्ति का लाभ होता है, अधया नहीं।

रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवद् विमोचयत्येकेनरूपेण ॥ (सां द. 3/73)

अर्थः-

प्रधानं सप्तभिः - रूपैः प्रकृति सात रूपों से- महत्तत्त्व, अहंकार, पांच तन्मात्रओं से अवस्थान्तर विकाररूपों से (आत्मानं बध्नाति) आत्मा को बान्धती है, क्योंकि इससे आत्मा के अन्तःकरण और इन्द्रियां बनती हैं। कहा है-**प्रकृतेमर्हान्महतोऽहंकारोऽहंकारात्पंचतन्मात्रण्युभयमिन्द्रियम्** (**सांख्य.** 1/61) तथा महदादिक्रमेण..... आत्मार्थत्वात् सृष्टेः.....(सांख्य. 2/10,11) महत्तत्त्वादि क्रम से स्थूल भूतों से पूर्व सृष्टि आत्मा के करणोपकरणार्थ है। प्रकृति इन सातरूपों से आत्मा को कैसे बान्धती है इस में दृष्टान्त है- (कोशकारवत्) तन्तुकीट की भांति । जैसे तन्तुकीट तन्तुओं से बान्धता है। यहां दृष्टान्त का एक ही अंश बन्धनमात्र अभीष्ट है, सर्वांश नहीं। अथवा प्रकृति का आत्मा चेतन पुरुष है, उसे बान्धती है। पुनः (एकेन रूपेण विमोचयति) एक रूप से स्वरूपभूत प्रकृति रूप से सृष्टिनिवर्तन से विमुक्तकरती है। बन्ध तो पुरुष का ही है और वह अविवेक से। विवेक-अविवेक पुरुष में रहने वाले हैं।पूर्व और इस सूत्र में प्रकृति का बन्धन और मोक्ष कथन करना अन्य भाष्यकारों का प्रलापमात्र है। अनेकसूत्रें से पुरुष का ही बन्ध अविवेक से है और विवेक हो जाने पर मोक्ष पुरुष का होना है।

व्याख्याः-

प्रधान प्रकृति सात रूपों से आत्मा को बांधता है और एक रूप से छुड़ाता है मुक्तकरता है कोशकार (रेशम के कीड़े) के समान । धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य, ये 8 प्रकृतिजनित रूप बतलाये जाते हैं। इनमें ज्ञान से अतिरिक्त सात से प्रकृति आत्मा को बांधती है और एक ज्ञान से मुक्त करा देती है। जैसे रेशम का कीडा खोल में बंधा रहता है, केवल एक द्वार से धागे को काटकर निकल जाता है। इसी प्रकार जीवात्मा 18 तत्त्वों के सूक्ष्म शरीर में बंधा रहता है, केवल ज्ञान तत्त्वज्ञान-विवेक से इस बन्धन को काटकर मुक्त हो जाता है। सांख्य-कारिका में इस सूत्र के आशय के विरुद्ध बताया है-

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ (सां.का.63)

प्रकृति बद्ध होती है, मुक्तहोती है, संसरण करती है, कैसे ? (अर्थात् प्रकृतिगते बन्ध, संसार और अपवर्ग किन साधनों से होते हैं?) (उत्तर) बही कहा जाता है- रूपैः सात रूपों से ही। ये सात कहे जाते हैं- धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य, ये सात प्रकृति के रूप हैं। इससे आत्मानं अपने को प्रकृति बाध लेती है। आत्मना अपने से ही सैव वही प्रकृति पुरुषार्थं पुरुष का अर्थ (प्रयोजन-भोगापवर्ग रूप) करना चाहिए, इस प्रकार अपने को मुक्तकर लेती है। एक अवशिष्ट रूप अर्थात् ज्ञान से। प्रकृति अपने को सात धर्म-अधर्म आदि भावों के द्वारा बाँधती है और वही पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए एक रूप (ज्ञानरूप भाव) से स्वयं को मुक्त करती है।

निमित्तत्वमविवेकस्येति न दृष्टहानिः ॥ (सां द. 3/74)

अर्थः-

(अविवेकस्य निमित्तत्वम्) महत्तत्त्व आदि कथन में अविवेक की निमित्तता है। महत्तत्त्व आदि से बन्ध में अविवेक निमित्त है। जिसे अविवेक होगा, उसे ही महत्तत्त्व आदि से प्रकृति बान्धती है। अतः (दृष्टहानिः- न) साक्षात् कारण बन्धकारण की हानि नहीं। क्योंकि साक्षात् निमित्त तो बन्ध का अविवेक ही है। अविवेक निमित्त से ही पुरुष की प्रवृत्ति और इसी कारण महत्तत्त्वादि सृष्टि है।

व्याख्याः-

अविवेक का निमित्त (बन्धकारण) होना मुख्य है इसलिए देखे हुए का विरोध नहीं है । जीव के बन्धन का मूल कारण तो अविवेक ही है, किन्तु धर्मादि का अनुष्ठान भी अविवेक की अवस्था में ही अन्तःकरण की शुद्धि के लिए किया जाता है। विवेक ज्ञान की अवस्था में समाधि द्वारा जब आत्म-साक्षात्कार हो जाता है तब इन सब की निवृत्ति होकर मोक्ष हो जाता है।

अविवेकनिमित्तादिति अविवेकरूप निमित्तकारण से प्रकृति और पुरुष का संयोग होता है, उस संयोग के होने से उत्पन्न होने बाले प्राकृत दुःखका पुरुष में जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही दुःख-भोग है, अर्थात् दुःखसम्बन्ध है और उसकी निवृत्ति ही मोक्षज्ञक पुरुषार्थ है । अन्तःकरणशुद्धि के अनन्तर समाधिलाभ का होना ही विवेक है, उसके पूर्व यच्च यावत् प्रयत्न सब कुछ अविवेक ही है। अविवेक के नष्ट करने का सम्पुर्ण प्रयत्न भी अविवेक के काल में ही होता है। अतः यह समझना कि विवेकज्ञान प्राप्त करने के लिये बन्ध के निमित्तभूत धर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि का त्याग करने पर दृष्ट हानि होगी, क्योंकि प्रायः सभी लोग आत्मसाक्षात्कार

के लिये धर्मादि का अनुष्ठान किया करते हैं। किन्तु इस प्रकार समझना उचित नहीं है, क्योंकि अविवेककाल में हो अविवेक के उच्छेदार्थ समस्त प्रयत्न किये जाते हैं, जिससे विवेक हो पाता है। अतः विवेक प्राप्ति में धर्मानुष्ठान का कोई विरोध न होने से किसी प्रकार की दृष्टहानि नहीं है।

तत्त्वाभ्यासान्नेतिनेतीति त्यागाद्विवेकसिद्धिः। (सां द. 3/75)

अर्थः-

(तत्त्वाभ्यासात्) तत्त्वचिन्तन से आत्मा-परमात्मा के मनन आदि से। कि (न-इति न-इति) जो-जो वस्तु किसी भी साधन से, मन से भी अनुभव में आये, वह नहीं है, नहीं है, तत्त्व अर्थात् परमात्मा। (इति त्यागात्) इस प्रकार त्याग प्रकार से (विवेकसिद्धिः) विवेक की परमात्मा के साक्षात्कार की सिद्धि स्वात्मा में होती है। जैसे कहा है-**अथात् आदेश नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति (बृह. 2/3/6) स एष आत्मा नेति नेति (बृह. 2/4/26)।**

व्याख्याः-

आत्मज्ञान के अभ्यास से नेति, न तो विकार आत्मा है नेति, और न मूल प्रकृति आत्मा है इस प्रकार प्रकृति और प्राकृत पदार्थों के त्याग से विवेक की सिद्धि होती है। श्रुति भी इस बात को कहती है

'अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति, नेत्यन्यत् परमस्ति' (बृह.2/3/6) ॥

''स एष नेति'' (बृह.3/1/26, 4/2/4)।

इस सूत्र के आशय को अगली सांख्य-कारिका में बताया है -

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ (सां.का.64)

वह ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है ? (उत्तर) एवं पूर्वोक्त प्रकार से 25 तत्त्वों के आलोचन रूप अभ्यास से अर्थात् यह प्रकृति है, यह पुरुष है, ये पंचतन्मात्र इन्द्रिय और महाभूत हैं, ऐसा पुरुष को ज्ञान उत्पन्न होता है। नास्मि मैं कर्ता नहीं हूँ, न मे यह मेरा भोग्य शरीर नहीं है। क्योंकि मैं भिन्न हूँ और शरीर भिन्न है नाहम् मैं (अहंकार विशिष्ट) मोक्ता नहीं हूँ। इत्यपरिशेषम् इस प्रकार का अपरिशेष अर्थात् संशय अन्तिम अहंकार रहित अविपर्ययाद्विशु) विषर्यय- संशय, अविपर्यय से अर्थात् असंशय से, विशुद्ध मिथ्याज्ञान रूप मल से रहित) केवल (पुरुषमात्र गोचर) वह पुरुष ही केबल है। अन्य कुछ नहीं ऐसा मोक्ष को कारणभूत ज्ञानं = पंचविंशति तत्त्वात्मक ज्ञान पुरुष को उत्पद्यते अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार तत्त्वविषयक ज्ञान के अभ्यास से संशय-रहित, प्रमारूप, मिथ्याज्ञान से अमिश्रित, जिसमें कुछ भी ज्ञातव्य शेष न रह जाये ऐसा ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः ॥ (सां.का.65)

ज्ञान होने पर पुरुष क्या करता है ? (उत्तर) उस विशुद्ध केवल ज्ञान से पुरुष० जैसे नाटक देखने वाला सभासद नर्तकी को देखता है ऐसे ही पुरुष एक दर्शक की तरह प्रकृति को देखता है। स्वस्थ का अर्थ है (स्वमिन् तिष्ठति इस बिग्रह के अनुसार) अपने स्थान पर ही स्थित हुआ । (प्रश्न)- कैसी प्रकृति को देखता है ? (उत्तर) - निवृत्तप्रसवा बुद्धि) और अहंकार के कार्यों से निवृत्त हुई अर्थ पुरुष के भोगापवर्गरूप प्रयोजन संपादित कर देने से जिन धर्माधर्मादि सात रूपों से अपने को बाँध लेती है उन सात रूपों से विनिवृत्त हुई प्रकृति को वह देखता है। उस तत्त्वज्ञान के द्वारा स्वरूपस्थित पुरुष भोग एवं विवेक-ज्ञान का सम्पादन कर लेने पर, धर्माधर्मादि सप्त भावों से विनिवृत्त हुई प्रकृति को एक तटस्थ प्रेक्षक की तरह देखता है ।

प्रकृति और उसका विकाररूप जितना भी जड़ वर्ग है, उसके प्रति नेति-नेति श्रुति की सहायता लेकर तत्त्वाभ्यास करने से विवेक की निष्पत्ति होती है, और सब तो अभ्यास का अंग मात्र है। तथा **च श्रुतिः अथात आदेशो नेति-नेति नह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति (वृ. उ. 2/3/6),** तथा **स एष आत्मा नेति-नेतीत्यादिरिति-(बृ. 304/214) ।** अब इसके पश्चात् नेति-नेति यह ब्रह्म का आदेश है। नेति-नेति इससे बढ़ कर कोई उत्कृष्ट आदेश नहीं है। तथा यह नेति-नेति रूप से वर्णन किया हुआ आत्मा, वह अगृह्य है, वह अशीयं है, वह अब है, और वह अक्षीण है।

स्मरणीय बिंदु-

- सांख्य दर्शन के अनुसार अविवेक ही बन्धन का कारण है।
- पुरुष स्वयं अकर्ता और अभोक्ता है।
- प्रकृति के साथ तादात्म्य के कारण जीव बन्धन में पड़ता है।
- विवेक ज्ञान से पुरुष और प्रकृति का भेद स्पष्ट होता है।
- इसी भेद ज्ञान को मोक्ष का साधन माना गया है।
- मोक्ष को कैवल्य भी कहा जाता है।

● मोक्ष अवस्था में दु:खों की पूर्ण निवृत्ति हो जाती है।

महत्वपूर्ण शब्दावली-

शब्द	अर्थ
बन्ध	दु:ख एवं संसार में फँसना
मोक्ष	दु:खों से पूर्ण मुक्ति
कैवल्य पूर्ण	स्वतंत्र अवस्था
अविवेक	सही ज्ञान का अभाव
विवेक	प्रकृति और पुरुष का भेदज्ञान
पुरुष	चेतन तत्व
प्रकृति	जड़ मूल कारण

5 अंक के प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में बन्ध किसे कहा गया है?
2. मोक्ष का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. कैवल्य क्या है?
4. अविवेक बन्धन का कारण कैसे है?
5. विवेक ज्ञान का क्या महत्व है?

15 अंक के प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में बन्ध और मोक्ष का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. विवेक ज्ञान को मोक्ष का साधन क्यों माना गया है?
3. प्रकृति और पुरुष के भेदज्ञान का महत्व स्पष्ट कीजिए।
4. कैवल्य की अवधारणा का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
5. सांख्य दर्शन के अनुसार दु:ख निवृत्ति एवं मोक्ष का मार्ग समझाइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में मोक्ष को क्या कहा जाता है?

(क) संसार

(ख) बन्ध

(ग) कैवल्य

(घ) दु:ख

2. बन्धन का मुख्य कारण क्या है?

(क) विवेक

(ख) अविवेक

(ग) ज्ञान

(घ) वैराग्य

3. पुरुष का स्वरूप क्या है?

(क) जड़

(ख) नश्वर

(ग) चेतन

(घ) परिवर्तनशील

4. मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन क्या है?

(क) धन

(ख) कर्मकाण्ड

(ग) विवेक ज्ञान

(घ) इन्द्रिय सुख

5. सांख्य दर्शन में दु:खों की पूर्ण निवृत्ति को क्या कहते हैं?

(क) संसार

(ख) कैवल्य

(ग) तन्मात्रा

(घ) विकार।

॥ ओ३म् ॥

सांख्यदर्शनम् (उत्तरार्द्ध)

BDPHMJ-403

दिव्य प्रकाशन

B.A. Darshan (IV Sem)

सांख्यदर्शनम् (उत्तरार्द्ध)

BDPHMJ-403

उद्देश्यः-

- सांख्यदर्शन के आख्यायिकाध्याय के सूत्रार्थ एवं भावार्थ से अवगत कराना।
- सांख्यदर्शन के परपक्षनिर्जयाध्याय के सूत्रार्थ एवं भावार्थ से अवगत कराना।
- सांख्यदर्शन के तन्त्राध्याय के सूत्रार्थ एवं भावार्थ से अवगत कराना।

परिणामः-

- उपर्युक्त अध्यायों के सूत्रार्थ एवं भावार्थ का विश्लेषण करने में समर्थ हो जाता है।
- सांख्यसिद्धान्तों के विस्तृत एवं प्रामाणिक ज्ञान कौशल को प्राप्त कर लेता है।
- विभिन्न सिद्धान्तों के तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक विश्लेषण में कुशल हो जाता है।

इकाई-1 चतुर्थ अध्याय (आख्यायिकाध्याय) का सूत्रार्थ एवं भावार्थ
इकाई-2 पंचम अध्याय (परपक्षनिर्जयाध्याय) का सूत्रार्थ एवं भावार्थ
इकाई-3 षष्ठ अध्याय (तन्त्राध्याय) का सूत्रार्थ एवं भावार्थ
इकाई-4 सांख्यदर्शन का महत्व, सांख्यज्ञान का अन्यों शास्त्रों पर प्रभाव, सांख्य एवं वेदान्त में समानता

निर्धारित पाठ्य ग्रन्थ - सांख्यदर्शनम्, दिव्य प्रकाशन, पतंजलि योगपीठ, हरिद्वार।

सहायक ग्रन्थ - सांख्यदर्शन- आचार्य उदयवीर शास्त्री।, प्रकाशक-विजयकुमार, गोविन्दराम हासानन्द, 4408, नई सड़क, दिल्ली- 110006, सांख्यदर्शनम् - स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक, विद्यामार्तण्ड (हिन्दी अनुवाद), प्रकाशक-सत्यधर्म प्रकाशन।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
खण्ड- 1 आख्यायिकाओं के माधयम से विवेकज्ञान के साधनों का निर्देशन	**4-14**
इकाई-1.1 तत्त्वोपदेश	4-6
इकाई-1.2 त्याग की महिमा	7-8
इकाई-1.3 आत्मजिज्ञासु के लिये असाधन के चिन्तन का निषेध	9-11
इकाई-1.4 समाधिलाभ हेतु एकाग्रता की आवश्यकता	12-14
खण्ड- 2 उपासक के लिए विवेक ज्ञान के साधन	**15-27**
इकाई-2.1 निदिध्यासन का माहात्म्य	15-17
इकाई-2.2 ग्राह्य का ग्रहण तथा हेय का त्याग	18-20
इकाई-2.3 उपासना में चित्त की निर्मलता आवश्यक	21-22
इकाई-2.4 ईश्वर का अधिष्ठातृत्व	23-27
खण्ड- 3 लिंगादि का स्वरूप	**28-40**
इकाई-3.1 अविद्या का स्वरूप	28-30
इकाई-3.2 धर्मादि भाव अन्तः करण के धर्म	31-33
इकाई-3.3 लिङ्ग (अनुमान) का स्वरूप	34-37
इकाई-3.4 शक्तिग्रह के निमित्त	38-40
खण्ड- 4 वेदों का अपौरुषेयत्व	**41-62**
इकाई-4.1 वेद 'अपौरुषेय' है	41-49
इकाई-4.2 कार्य कारण में विद्यमान रहता है। (सत्कार्यवाद)	50-54
इकाई-4.3 अविवेक नाश के उपाय	55-58
इकाई-4.4 जीवात्मा की कार्यनिष्पत्ति का अधिष्ठाता	59-62

खण्ड-1 आख्यायिकाओं के मा/यम से विवेकज्ञान के साधनों का निर्देशन

इकाई-1.1 तत्त्वोपदेश

उद्देश्य-

1. तत्त्वोपदेश के माध्यम से विवेकज्ञान की अवधारणा को समझना।
2. आत्मज्ञान एवं प्रकृति-पुरुष भेद का अध्ययन करना।
3. गुरु-उपदेश एवं ज्ञान की पुनरावृत्ति के महत्व को जानना।

सांख्य के प्रारम्भिक तीन अध्यायों में शास्त्र में प्रतिपादित गूढ़ अर्थो का निरुपण किया गया तत्पश्चात् चौथे अध्याय में सिद्धान्त एवं सिद्धान्तों की पुष्टि और उनके व्यवहारिक पक्ष को स्पष्ट करने के उद्देश्य से, शास्त्रीय प्रमाणों के साथ-साथ लोक में प्रचलित आख्यायिकाओं में माध्यम से विवेक-जो कि आत्मबोध का मूल साधन है- के उपादानों को प्रस्तुत किया गया है। इसी को सूत्रकार तत्वोपदेश के रूप में बताते हुये कहते हैं-

राजपुत्रवत् तत्त्वोपदेशात् । (सा. 4/1)

तत्त्व के उपदेश से विवेक ज्ञान होता है राजपुत्र के समान ।

पूर्व अध्याय के अन्तिम सूत्र से यहां 'विवेक' पद की अनुवृत्ति समझनी चाहिए। तत्त्व के उपदेश से विवेक हो जाता है, राजपुत्र के समान । जब किसी अज्ञानी को यथार्थतत्त्व का उपदेश किया जाता है तो वह उसको वास्तविकता से जान लेता है, और उसके अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, इसी प्रकार आत्म-विषयक ज्ञान के निवृत्त होने पर विवेक अर्थात् प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार हो जाता है, और वह चेतन, प्रकृति के बन्धन से छूट जाता है। तत्त्व के उपदेश से अज्ञान की निवृत्ति में प्राचीन काल के एक राजपुत्र की कथा को इस प्रकार कहा जाता है- एक बार कोई राजपुत्र अपने परिवार से छोटी सी आयु में ही बिछड़ गया, जंगल में किसी शबरजातीय व्यक्ति को वह मिल गया, बालक सुन्दर व स्वस्थ था, शबर ने उसे पाल-पोस लिया। जब अज्ञान से वह यही समझता है, कि मैं शबर का पुत्र हूं। राजा के मन्त्री को किसी प्रकार ज्ञात हुआ, कि राजपुत्र जीवित है, और अमुक जंगलनिवासी किसी व्यक्ति के पास सुरक्षित है। मन्त्री वहां जाता है, और उसे समझाता है, कि तुम शबर अथवा शबर के पुत्र नहीं हो, तुम तो अमुक राजा के पुत्र हो, एक बार आकस्मिक दुर्घटना में किसी तरह तुम परिवार से अत्यल्प आयु में बिछुड़ गए थे। वह बालक मन्त्री के इस कथन के अनन्तर अपने आपको शबर समझने की मिथ्या भावना से मुक्त हो जाता है, और यथार्थरूप से राजा समझने लगता है। इसी प्रकार आत्मज्ञानी तत्त्वोपदेष्टा के आत्मविषयक उपदेश के अनन्तर अधिकारी जिज्ञासु प्रकृति एवं प्राकृत जड़ धर्मो से अतिरिक्त अपने आपको शुद्ध चेतनस्वरूप समझ लेता है, और वह मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

एक को उपदेश देने पर प्रसंगवश दूसरा भी लाभ उठा लेता है। इसी को निर्देशित करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि ॥ (सा. 4/1)

पिशाच के समान अन्य के लिए अर्थ का (वस्तुतत्त्व का) उपदेश होने पर भी (दूसरे को विवेकज्ञान हो जाता है)।

किसी अन्य को उपदेश देने के प्रसंग में यदि कोई दूसरा व्यक्ति भी उसे सुन ले, तो वह भी उस उपदेश का लाभ उठाकर वास्तविक तत्त्व को जान लेता है, पिशाच के समान । इस विषय में एक आख्यायिका इस प्रकार कही जाती है-

एक आत्मज्ञानी गुरु अपने शिष्य को उपदेश देने के लिए सुविधा की दृष्टि से एकान्त जंगल में ले गया, और वहीं निवासकर उसे आत्मज्ञान का उपदेश देता रहा । उस उपदेश को एक पिशाच छिपकर बराबर सुनता रहता था। उसके अनुसार आचरण करता हुआ वह भी कालान्तर में आत्मज्ञानी हो गया। सन्मार्ग का उपदेश कहीं से किसी तरह प्राप्त हो जाय, उसके अनुसार आचरण करने से तत्त्वज्ञान अवश्य हो जाता है ।।२।।

यदि एक बार उपदेश से ज्ञान न हो, तो निरन्तर उसकी आवृत्ति करते रहना चाहिए । इसी आशय से सूत्रकार ने कहा-

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् (सा. 4/3)

उपदेश से बार-बार दुहराना (ज्ञान का साधन है) ।

उपदेश के अनन्तर उसकी बार-बार आवृत्ति करना तत्त्वज्ञान का साधन है। इससे ओङ्कार एवं गायत्री आदि के निरन्तर जप करने की भावना स्पष्ट होती है। किसी वस्तु के निरन्तर स्मरण करते रहने का अवश्य एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता है, यदि कोई व्यक्ति शाब्दिक रूप में प्रथम आत्म-स्वरूप को समझकर निरन्तर उसका चिन्तन करता है, तो कालान्तर में एक ऐसी स्थिति

की निश्चित संभावना की जा सकती है, जब उस व्यक्ति को आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार हो जाए । योग में अभ्यास से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का यही स्वरूप है। अथवा सूत्र मे उपदेशात् पञ्चम्यन्त पद षष्ठी के अर्थ में समझना चाहिए। उपदेश की निरन्तर आवृत्ति तत्त्वज्ञान की उद्भावक होती है। जो व्यक्ति तीव्र वैराग्य, शम दम आदि साधनसंपत्ति और विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न होते हैं, उनको एक बार उपदेश से ही तत्त्वज्ञान हो जाने की संभावना रहती है, पर जो मन्दमति है, वैराग्य आदि साधनों से सम्पन्न नहीं है, उनके लिए उपदेश की निरन्तर आवृत्ति तत्त्वज्ञान को प्रकट कर देती है। छान्दोग्य (अ० 6) आदि उपनिषदों में आरुणि-श्वेतकेतु के संवाद से यह अर्थ स्पष्ट होता है। लोक में प्रत्येक गुरु इस बात को जानता है, कि जब बालक अक्षराभ्यास आरम्भ करता है, तो उसको वही बात बार-बार बताई व सिखाई जाती है, और इस प्रकार निरन्तर उपदेश से कालान्तर में वह यथार्थ तत्त्व को जान लेता है। यही बात अध्यात्मदिशा में चलने वाले जिज्ञासु के लिए लागु होती है ।

तत्त्वज्ञान के उपदेश के लिए उपदेष्टा गुरु का होना ही आवश्यक नहीं, वह सुहृद् आदि के द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है। इसी अभिप्राय से सूत्रकार कहता है-

पितापुत्रवदुभयोर्दृष्टत्वात् (सा. 4/3)

दोनों के देखे जाने से पिता और पुत्र के समान ।

उपदेष्टा और उपदेश्य दोनों के विषय में कभी यह देखा जाता है, कि उनमें व्यवस्थित व नियमित गुरु शिष्यभाव नहीं होता, पर उनमें यथार्थ तत्त्व का आदान-प्रदान होता है, और उससे आवश्यक फल की प्राप्ति होती है, पिता-पुत्र के समान । इस विषय में यह आख्यायिका निम्नलिखित रूप में वर्णन की जाती है-

किसी समय एक अत्यन्त निर्धन ब्राह्मण अपनी पत्नी को गर्भिणी जानकर धनसंग्रह के लिए परदेश को चला गया। बहुत काल के अनन्तर जब वापस आया, तो अपने ग्राम में पहुंचने से पहले ही रात्रि आ जाने के कारण किसी नगर की धर्मशाला में उसे रात्रि व्यतीत करने के लिए ठहरना पड़ा। उसके ग्राम से वह नगर इतनी दूरी पर था कि अगले दिन सुविधा के साथ वह अपने घर पहुँच सकता था। धर्मशाला में उसके साथ के कमरे में ही अपनी माता के साथ एक रोगी किशोर बालक ठहरा हुया था जो रोग के कारण रातभर रोता-चिल्लाता रहा। उसके क्रन्दन से पथिक ब्राह्मण को बार-बार क्रोध आता रहा, और वह उसे बुरा-भला कहता रहा, कि यहां यह कहां से दुष्ट आ गया यात्रा से थका मुझको शान्ति से सोने भी नहीं देता, दो-चार बार उसने अपने स्थान से ही धमकाया सुनाया भी। बालक ने भी यह सुनकर अपनी माता से कहा, कि यह बेकार क्यों किड़किड़ कर रहा है, हमें तो कष्ट है, यह क्यों नहीं और जगह चला जाता। जैसे-तैसे रात बीती और प्रभात हुआ। प्रातःकाल प्रकाश में बालक की माता ने अपने भर्त्ता पथिक ब्राह्मण को पहचाना, और उसे बुलाकर कहा, कि यह जो रातभर रोता-चिल्लाता रहा है, आपका पुत्र है, और पुत्र से कहा, कि रात जिनके लिए तुम यहां से चले जाने की भावना कर रहे थे, यह तुम्हारे पिता है। उसके उपदेश से पिता-पुत्र दोनों ने वास्तविक स्थिति को समझा। उनके एक-दूसरे के प्रति पहले अन्यथाभाव नष्ट हो गए, और वास्तविक अनुकूल भावना जागृत हो गई । अध्यात्म विषय में भी इसी प्रकार कभी गुरु के बिना अन्य सुहृद् आदि के कथनमात्र से तत्त्वज्ञान हो जाता है।

इस सूत्र का व्याख्यान निम्नलिखित रूप में भी किया जाता है-पिता पुत्र को अपने सामने उत्पन्न होते हुए देखता है, और पुत्र पिता को अपने सामने मरता हुए देखता है, पिता और पुत्र के समान मरण और जन्म दोनों के देखे जाने से द्रष्टा को संसार के प्रति वैराग्य की भावना जागृत होती है। वैराग्य से विवेक हो जाता है। इस प्रकार पिता-पुत्र के मृत्यु-जन्म, वैराग्य आदि को जागृत करके तत्त्वज्ञान के प्रादुर्भाव में सहायक होते हैं।

ज्ञान की निष्पत्ति में त्याग की भावना अत्यन्त आवश्यक है। वैराग्य हो जाने पर भी त्यागभावना को दृढ़ बनाना चाहिए।

स्मरणीय बिंदु-

1. तत्त्वोपदेश से विवेकज्ञान उत्पन्न होता है।
2. आत्मज्ञान से प्रकृतिख्रपुरुष का भेद स्पष्ट होता है।
3. गुरु का उपदेश ज्ञान प्राप्ति का साधन है।
4. पुनरावृत्ति से ज्ञान दृढ़ होता है।
5. वैराग्य ज्ञान का आधार है।

शब्दावली-

1. विवेकज्ञान - सत्य एवं असत्य का भेदज्ञान
2. तत्त्वोपदेश - वास्तविक तत्व का उपदेश

3. आत्मज्ञान – आत्मा का यथार्थ ज्ञान
4. वैराग्य – विषयों से विरक्ति
5. प्रकृति-पुरुष – सांख्य दर्शन के मूल तत्व

5 अंक के प्रश्न-

1. तत्त्वोपदेश का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. राजपुत्र दृष्टांत का वर्णन कीजिए।
3. विवेकज्ञान क्या है?
4. उपदेश की पुनरावृत्ति क्यों आवश्यक है?
5. गुरु-शिष्य संबंध का महत्व बताइए।

15 अंक के प्रश्न-

1. तत्त्वोपदेश द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति का विवेचन कीजिए।
2. राजपुत्र एवं पिशाच दृष्टांत के माध्यम से विवेकज्ञान की व्याख्या कीजिए।
3. उपदेश, मनन एवं पुनरावृत्ति की आवश्यकता का समालोचनात्मक अध्ययन कीजिए।
4. पिता-पुत्र दृष्टांत के माध्यम से ज्ञान की प्राप्ति को स्पष्ट कीजिए।
5. सांख्यदर्शन में गुरु के महत्व का विश्लेषण कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

क. 'तत्त्वोपदेश' किससे संबंधित है?

(1) कर्म
(2) विवेकज्ञान
(3) भक्ति
(4) योग

ख. राजपुत्र दृष्टांत किसका प्रतीक है?

(1) अज्ञान निवृत्ति
(2) भोग
(3) दु:ख
(4) कर्मफल

ग. विवेकज्ञान से क्या प्राप्त होता है?

(1) बंधन
(2) मोह
(3) आत्मसाक्षात्कार
(4) निद्रा

घ. ज्ञान प्राप्ति के लिए क्या आवश्यक है?

(1) आलस्य
(2) पुनरावृत्ति
(3) विवाद
(4) मौन

ङ. पिताख्रपुत्र दृष्टांत किस बात को स्पष्ट करता है?

(1) जन्म
(2) वैराग्य
(3) व्यापार
(4) युद्ध

इकाई-1.2 त्याग की महिमा

उद्देश्य-

1- त्याग एवं वैराग्य के महत्व को समझना।
2- संसारिक बंधनों से मुक्ति के उपाय जानना।
3- श्येन एवं सर्प दृष्टांत के दार्शनिक अर्थ का अध्ययन करना।

ज्ञान की निष्पत्ति में त्याग की भावना अत्यन्त आवश्यक है। वैराग्य हो जाने पर भी त्यागभावना को दृढ़ बनाना चाहिए। इसी आशय को लेकर सूत्रकार अगले तीन सूत्रों से ज्ञान-संपादन में त्याग की आवश्यकता को स्पष्ट करते है-

श्येनवत्सुखदु:खी त्यागवियोगाभ्याम् (सा. 4/3)

त्याग और वियोग से सुखी और दु:खी होता है, श्येन के समान ।
अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह सदा दु:खद होता है। इसलिए आत्म-जिज्ञासु को परिग्रह से सदा बचना चाहिए। वस्तु को स्वयं त्याग कर देना सुख की स्थिति को उत्पन्न करता है, यदि किसी का बलात् वस्तु से वियोग करा दिया जाए, तो उसके लिए वह दु:खदायी हो जाता है। अपनी स्थिति को अनुकूल बनाए रखने के लिए अध्यात्ममार्गी को यह आवश्यक है, कि वह अपनी त्यागभावना को सदा जागृत रखे । त्याग और वियोग में यथाक्रम सुख और दु:ख की स्थिति को समझाने के लिए 'श्येन' का दृष्टान्त दिया जाता है। श्येन एक पक्षी है, जिसे लोकभाषा में आज 'बाज' कहते हैं। इस विषय की आख्यायिका निम्नलिखित रूप मे कही जाती है- एक व्यक्ति कभी मृग के (शिकार) के लिए जंगल में गया, वहां उसे एक श्येनशावक (बाज का बच्चा) असहाय अवस्था में पड़ा दीखा, दयार्द्रचित्त होकर उसने वह उठा लिया और घर ले आया। दाना-पानी देकर उसे पाला-पोसा, जब वह समर्थ हो गया, तो उस व्यक्ति ने यह सोचकर - कि मैं इसे अब बन्धन में क्यों रक्खू - जंगल में ले जाकर छोड़ दिया। वह श्येन अब बन्धन से छूट जाने के कारण सुखी है, पर अपने पालक-पोषक व्यक्ति के साथ वियोग हो जाने के कारण दु:खी है। संसार में सुख सदा दु:ख से मिश्रित रहता है, इसलिए दु:खके समान सुख को भी हेयपक्ष में डालना चाहिए। अभी तक संसार में किसी ऐसे साधन का निर्माण नहीं हो पाया, और अतीत को देखते न भविष्यत् में ऐसे निर्माण की संभावना है, जिससे केवल सुख का आदान कर लिया जाए और दु:ख को छांट-कर अलग फेंक दिया जाए, सिवाए इसके कि दोनों का ही त्याग कर दिया जाए । ऐसे त्याग में वास्तविक शान्ति का लाभ निहित है, जो आत्मज्ञानद्वारा प्राप्त हो जाती है!
'श्येनवत्' दृष्टान्त की व्याख्या एक अन्य प्रकार से भी की जाती है, श्येन के पास चोंच में दबा हुआ जब कोई खाद्य पदार्थ रहता है, तो दूसरे बलवान् पक्षी - जिनके पास वह खाद्य नहीं है उस पर टूट पड़ते हैं, और बलपूर्वक उससे छीन लेते हैं। इस प्रकार खाद्य छिन जाने से श्येन दु:खी होता है, और संघर्ष में जो चोट खाता है, वह और भी दु:ख का कारण है। यदि वह अपनी इच्छा से ही खाद्य पदार्थ का त्याग कर देता है, तो इन सब दु:ख कारणों से बच जाता है। खाद्य पदार्थ का श्येन की चोंच में पकड़ा जाना यह प्रकट करता है, कि उसे अब खाद्य के उपभोग की आवश्यकता नहीं है, वह रजा हुआ है। यह स्थिति वस्तु के परिग्रह की और संकेत करती है। इससे प्रकट किया गया है, कि लोक में परिग्रह दु:ख और अशान्ति का मूल है, इसके विपरीत त्याग सुख और शान्ति का। इसी प्रकार त्यागकी महिमा के विषय महाभारत में भीष्मपितामह के द्वारा शम्पाक ब्राह्मण का युधिष्ठर को उपदेश सुनाया गया है। युधिष्ठर भीष्म से पूछते हैं-

धनिनश्चाधना ये च वर्तयन्ते स्वतन्त्रिण:।
सुखदु:खागमस्तेषां क: कथं वा पितामह । (महा.शा.अ. 176 श्लो. 1)

पितामह! धनी और निर्धन दोनों स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करते हैं, फिर उन्हें किस रूप में और कैसे सुख और दु:खकी प्राप्ति होती है? **इसका उत्तर देते हुए भीष्मपिता कहते है-** युधिष्ठिर! इस विषय में विद्वान् पुरुष इस पुरातन इतिहास का उदाहरण देते हैं, जिसे परम शान्त जीवन्मुक्त शम्पाक ने यहाँ कहा था। पुरानी बात है, फटे-पुराने वस्त्रों एवं अपनी दुष्टा स्त्री के और भूख के कारण अत्यन्त कष्ट पाने वाले एक त्यागी ब्राह्मण ने जिसका नाम शम्पाक था, मुझसे इस प्रकार कहा-
'इस संसार में जो भी मनुष्य उत्पन्न होता है (वह धनी हो निर्धन) उसे जन्म से ही नाना प्रकार के सुख दु:ख प्राप्त होने लगते हैं।

'विधाता यदि उसे सुख और दु:ख इन दोनों में से किसी एक के मार्ग पर ले जाय तो वह न तो सुख पाकर प्रसन्न हो और न दु:ख में पड़कर परितप्त हो। 'तुम जो कामनारहित होकर भी अपने कल्याण का साधन नहीं कर रहे हो और मन को वश में नही कर रहे हो, इसका कारण यही है कि तुमने राज्य का बोझा अपने पर उठा रखा है-

अकिंचनः परिपतन् सुखमास्वादयिष्यसि।

अकिंचनः सुखं शेते समुत्तिष्ठति चैन ह॥ (महा.शा.अ. 176 श्लो. 7)

'यदि तुम सब कुछ त्यागकर किसी वस्तु का संग्रह नहीं रखोगे तो सर्वत्र विचरते हुए सुख का ही अनुभव करोगे, क्योंकि जो अकिंचन होता है- जिसके पास कुछ नहीं रहता है, वह सुख से सोता और जागता है। 'संसार में अकिंचनता ही सुख है। वही हितकारक, कल्याणकारी और निरापद है। इस मार्ग में किसी प्रकार के शत्रु का भी खटका नहीं है। यह दुर्लभ होने पर भी सुलभ है।। मैं तीनों लोकों पर दृष्टि डालकर देखता हूँ तो मुझे अकिंचन, शुद्ध एवं सब और से वैराग्यसम्पन्न पुरुष के समान दूसरा नहीं दिखायी देता है। मैंने अकिंचनता तथा राज्य को बुद्धि की तराजू पर रखकर तौला तो गुणों में अधिक होने के कारण राज्य से भी अकिंचनता का ही पलड़ा भारी निकला।।

नैवास्याग्निर्न चारिष्टो ने मृत्युर्न च दस्यवः।

प्रभवन्ति धनत्यागाद् विमुक्तस्य निराशिषः॥ (महा.शा.अ. 176 श्लो. 12)

अर्थः परंतु जो मनुष्य धन को त्यागकर उसकी आसक्ति से मुक्त हो गया है और मन में किसी तरह की कामना नहीं रखता, उस पर न अग्नि का जोर चलता है, न अरिष्टकारी ग्रहों का न मृत्यु उसका कुछ बिगाड़ सकती है, न डाकू और लुटेरे ही।

नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम्।

नात्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्त्वा सर्व सुखी भव॥ (महा.शा.अ. 176 श्लो. 22)

कोई मनुष्य त्याग किये बिना सुख नहीं पाता, त्याग किये बिना परमात्मा को नहीं पा सकता और त्याग किये बिना निर्भय सो नहीं सकता। इसलिये तुम भी सब कुछ त्यागकर सुखी हो जाओ' इस प्रकार पूर्वकाल में शम्पाक नामक ब्राह्मण ने हस्तिनापुर में मुझ से त्याग की महिमा का वर्णन किया था। अतः त्याग ही सबसे श्रेष्ठ माना गया है।

त्याग के लिए सूत्रकार ने अन्य उदाहरण प्रस्तुत किया-

अहिनिर्ल्वयिनीवत् (सा. 4/6)

सांप की कैंचुली के समान ।

जिस प्रकार सांप अपने ऊपर आवृत्त पुरानी त्वचा [कैंचुली] को हेय समझकर अनायास छोड़ देता है, और उसमें फिर आदानबुद्धि नहीं करता। इसी प्रकार मोक्ष की इच्छा रखने वाला व्यक्ति चिरकाल से भोगी हुई प्रकृति को हेय समझकर त्याग देने की दृढ़ भावना बनावे, और ज्ञानमार्ग को प्रशस्त करे । इस दृष्टान्त को कतिपय व्याख्याकारों ने अन्य रूप से प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि सांप अपनी कैंचुली को बिल के द्वार पर या आसपास छोड़ देता है, पर उसका मोह उसमें बना रहता है, और वह उसको मिट्टी(धूल) में पड़े हुए देख-कर अनुतप्त रहता है। उसके सामीप्य को छोड़ना नहीं चाहता। कैंचुली को देखकर कोई सपेरा सांप की ताक में रहता है, और अवसर पाकर उसे पकड़ लेता है। सांप बन्धन में पड़ जाता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति ममतावश विषयों में स्नेह करता है, वह बन्धनों में पड़े अनर्थों का पात्र हो जाता है। अतएव विषयों में वैराग्य और त्याग की भावना को दृढ़ बनाना चाहिए।

इकाई-1.3 आत्मजिज्ञासु के लिये असाधन के चिन्तन का निषेध

उद्देश्य-

1- त्याग एवं वैराग्य के महत्व को समझना।

2- संसारिक बंधनों से मुक्ति के उपाय जानना।

3- श्येन एवं सर्प दृष्टांत के दार्शनिक अर्थ का अध्ययन करना।

अध्यात्मदिशा में चलने वाले व्यक्ति को कभी कोई अकार्य नहीं करना चाहिए। यदि प्रमाद से कुछ अकार्य हो जाए, तो उसका तत्काल प्रतीकार या प्रायश्चित्त करना चाहिए। सूत्रकार ने इसके लिए दृष्टान्त दिया-

छिन्नहस्तवद्वा । (सा. 4/6)

अथवा कटे हाथ वाले के समान ।

महाभारत (शान्ति.,23/18/53) में पुरातन काल की एक कथा इस प्रकार वर्णन की गई - इस विषयमें लोग इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं- शंख और लिखित नाम वाले दो भाई थे। दोनों ही कठोर व्रतका पालन करने वाले तपस्वी थे। बाहुदा नदी के तटपर उन दोनों के अलग-अलग परम सुन्दर आश्रम थे, जो सदा फल-फूलों से लदे रहने वाले वृक्षों से सुशोभित थे। एक दिन लिखित शंख के आश्रम पर आये। दैवेच्छा से शंख भी उसी समय आश्रम से बाहर निकल गये थे। भाई शंख के आश्रम में जाकर लिखित ने खूब पके हुए बहुत-से फल तोड़कर गिराये और उन सबको लेकर वे ब्रह्मर्षि बड़ी निश्चिन्तता के साथ खाने लगे वे खा ही रहे थे कि शंख भी आश्रम पर लौट आये। भाई को फल खाते देख शंखने उनसे पूछा तुमने ये फल कहाँ से प्राप्त किये हैं और किस लिये तुम इन्हें खा रहे हो ? लिखित ने निकट जाकर बड़े भाई को प्रणाम किया और हँसते हुए-से इस प्रकार कहा- 'भैया! मैंने ये फल यहीं से लिये हैं' तब शंख ने तीव्र रोष में भरकर कहा- 'तुमने मुझसे पूछे बिना स्वयं ही फल लेकर यह चोरी की है। 'अत: तुम राजा के पास जाओ और अपनी करतूत उन्हें कह सुनाओ। उनसे कहना- 'नृपश्रेष्ठ ! मैंने इस प्रकार बिना दिये हुए फल ले लिये हैं, अत: मुझे चोर समझकर अपने धर्म का पालन कीजिये। नरेश्वर ! चोर के लिये जो नियत दण्ड हो, वह शीघ्र मुझे प्रदान कीजिये महाबाहो ! बड़े भाई के ऐसा कहने पर उनकी आज्ञासे कठोर व्रत का पालन करने वाले लिखित मुनि राजा सुद्युम्न के पास गये सुद्युम्न ने द्वारपालों से जब यह सुना कि लिखित मुनि आये हैं तो वे नरेश अपने मन्त्रियों के साथ पैदल ही उनके निकट गये राजा ने उन धर्मज्ञ मुनि से मिलकर पूछा- 'भगवन् ! आपका शुभागमन किस उद्देश्यसे हुआ है ? यह बताइये और उसे पूरा हुआ ही समझिये' उनके इस तरह कहने पर विप्रर्षि लिखित ने सुद्युम्न से यों कहा-'राजन् ! पहले यह प्रतिज्ञा कर लो कि 'हम करेंगे' उसके बाद मेरा उद्देश्य सुनो और सुनकर उसे तत्काल पूरा करो नरश्रेष्ठ ! मैंने बड़े भाई के दिये बिना ही उनके बगीचे से फल लेकर खा लिये हैं, महाराज ! इसके लिये मुझे शीघ्र दण्ड दीजिये'

सुद्युम्नने कहा - ब्राह्मणशिरोमणे ! यदि आप दण्ड देने में राजा को प्रमाण मानते हैं तो वह क्षमा करके आपको लौट जाने की आज्ञा दे दे, इसका भी उसे अधिकार है आप पवित्र कर्म करने वाले और महान् व्रतधारी हैं। मैंने अपराध को क्षमा करके आपको जाने की आज्ञा दे दी। इसके सिवा, यदि दूसरी कामनाएँ आपके मनमें हों तो उन्हें बताइये, मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा

व्यासजीने कहा - महामना राजा सुद्युम्न के बारंबार आग्रह करने पर भी ब्रह्मर्षि लिखित ने उस दण्डके सिवा दूसरा कोई वर नहीं माँगा तब उन भूपाल ने महामना लिखित के दोनों हाथ कटवा दिये। दण्ड पाकर लिखित वहाँ से चले गये अपने भाई शंख के पास जाकर लिखितने आर्त होकर कहा-'भैया ! मैंने दण्ड पा लिया। मुझ दुर्बुद्धि के उस अपराध को आप क्षमा कर दें

शंख बोले- धर्मज्ञ ! मैं तुम पर कुपित नहीं हूँ। तुम मेरा कोई अपराध नहीं करते हो। ब्रह्मन् ! हम दोनों का कुल इस जगत् में अत्यन्त निर्मल एवं निष्कलंक रूप में विख्यात है। तुमने धर्म का उल्लंघन किया था, अत: उसी का प्रायश्चित्त किया है अब तुम शीघ्र ही बाहुदा नदी के तटपर जाकर विधिपूर्वक देवताओं, ऋषियों और पितरों का तर्पण करो। भविष्य में फिर कभी अधर्म की और मन न ले जाना शंख की वह बात सुनकर लिखित ने उस समय पवित्र नदी बाहुदा में स्नान किया और पितरों का तर्पण करने के लिये चेष्टा आरम्भ की। इतने ही में उनके कमलसदृश सुन्दर दो हाथ प्रकट हो गये।

तदनन्तर लिखित ने चकित होकर अपने भाई को वे दोनों हाथ दिखाये। तब शंख ने उनसे कहा-'भाई। इस विषय में तुम्हें शंका नहीं होनी चाहिये। मैंने तपस्या से तुम्हारे हाथ उत्पन्न किये हैं। यहाँ दैव का विधान ही सफल हुआ है

तब लिखितने पूछा- महातेजस्वी द्विजश्रेष्ठ जब आपकी तपस्या का ऐसा बल है तो आपने पहले ही मुझे पवित्र क्यों नहीं कर दिया।

शंख बोले- भाई! यह ठीक है, मैं ऐसा कर सकता था; परंतु मुझे तुम्हें दण्ड देने का अधिकार नहीं है। दण्ड देने का कार्य तो राजा का ही है। इस प्रकार दण्ड देकर राजा सुद्युम्न और उस दण्ड को स्वीकार करके तुम पितरों सहित पवित्र हो गये

स राजा पाण्डवश्रेष्ठ श्रेयान् वै तेन कर्मणा।

प्राप्तवान् परमां सिद्धिं दक्षः प्राचेतसो यथा।। (महा. शा. अ. 23/45)

व्यासजी कहते हैं- पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिर उस दण्ड-प्रदानरूपी कर्म से राजा सुद्यन्म उच्चतम पद को प्राप्त हुए। उन्होंने प्रचेताओं के पुत्र दक्षकी भाँति परम सिद्धि प्राप्त की थी।

एष धर्मः क्षत्रियाणां प्रजानां परिपालनम्।

उत्पथोऽन्यो महाराज मा स्म शोके मनः कृथाः।। (महा. शा. अ. 23/46)

महाराज ! प्रजाजनों का पूर्णरूप से पालन करना ही क्षत्रियों का मुख्य धर्म है। दूसरा काम उसके लिये कुमार्ग के तुल्य है, अतः तुम मनको शोक में न डुबाओ।

पञ्चम सूत्र की अवतरणिका में इस प्रकरण के द्वारा त्याग के महत्त्व का निर्देश किया गया है। उस दृष्टि से प्रस्तुत सूत्र का यह अर्थ भी किया जाता है, कि कटे हुए हाथ को जैसे कोई व्यक्ति फिर नहीं लेना चाहता, इसी प्रकार परित्यक्त विषयोंकी ओर मुमुक्षु को कभी नहीं मुड़ना चाहिए। विषयों के परित्याग में "छिन्न-हस्त दृष्टान्त बड़ा भावपूर्ण है। महाभारत के शंख-लिखित प्रसंग में आता है, कि लिखित का हाथ काटकर पुनः जोड़ दिया गया । किए गए अकार्य के परिणामरूप हस्तच्छेद का कष्ट अनुभव कराकर अन्य सुकार्यों में बाधा न हो, इसलिए हाथ को पुनः जोड दिया गया । इससे विषयों में आसक्ति को छोड़कर आवश्यक कर्त्तव्य कर्मों के अनुष्ठान की प्रवृत्ति ध्वनित होती है। आत्मज्ञानी को भी लोकोपकारी कार्यों से विरत नहीं होना चाहिए । आसक्ति का परित्याग ही मुख्यतः अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त छिन्नहस्त का पुनः जोड़ा जाना उस समय की अत्यन्नत शल्यक्रिया का स्पष्ट प्रमाण है । आत्मज्ञान के मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति को ज्ञान के अन्तरंग साधनों के अतिरिक्त अन्य विषयों का चिन्तन नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा चिन्तन योगी की प्रवृत्ति को संसार की ओर बढ़ानेवाला होजाता है, सूत्रकार ने इस अर्थको दृष्टान्तसहित इसप्रकार स्पष्ट किया -

असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत् । (सा. 4/8)

असाधन का बार-बार चिन्तन बन्धन के लिए होता है, भरत के समान

आत्मज्ञान के जो साधन नहीं है, उनका पुन पुनः चिन्तन करना विषयों की घोर प्रवृति का कारण बन जाता है उससे आत्मज्ञान में बाधा उपस्थित हो-जाती है, यद्यपि वह कार्य, अकार्य अथवा अकर्त्तव्य नहीं होता। भरत के समान-जैसे कि योगी भरत को दीन बना हरिण शावक का पोषण-पालन एवं प्रतिक्षण तद्विषयक ही चिन्तन पुनः बन्धन में पड़ जाने का कारण बनगया।

पुराणों में कथा पाती है, कि सतयुग में एक भरत नाम के ऋषि आत्मज्ञानी हुए, वे जीवन्मुक्त थे। एक बार जंगल में उन्होंने देखा, कि एक हरिणी बच्चा जनने के अनन्तर मरणासन्न है इसके साथ यह अनाथ बच्चा भी समाप्त हो-जाएगा। उनके मस्तिष्क में तीव्र करुणा का भाव उत्पन्न हो गया, और वे उस बच्चे का पालन-पोषण करने लगे। धीरे-धीरे वे उसमें इतना आसक्त हो गये, कि वे उसी के पीछे-पीछे फिरते रहते, खिलाते पिलाते और उसकी इच्छाओं एवं क्रियाओं के अनुसार अपना व्यवहार रखते। मृत्यु समय में वे उसी का ध्यान करते हुए प्राण छोड़ गये। मुक्त न होकर तीव्र वासनाओं से अभिभूत हो कर उन्होंने हरिण देह में जन्म लिया। इस प्रकार फिर उनकों बन्धन में आना पड़ा। अच्छे कार्य भी यदि वे योगसमाधि या आत्मज्ञान के साधनभूत नहीं है, योगमार्गी को उनका चिन्तन नहीं करना चाहिए।

स्मरणीय बिंदु-

1- त्याग से शांति प्राप्त होती है।
2- वैराग्य आत्मज्ञान का आधार है।
3- संसारिक संग्रह दुःख का कारण है।
4- त्याग से बंधनों का नाश होता है।
5- सर्प दृष्टांत विरक्ति का प्रतीक है।

शब्दावली-

1- त्याग - विषयों का परित्याग
2- वैराग्य - संसार से विरक्ति
3- श्येन - बाज पक्षी
4- बंधन - मोह एवं आसक्ति

5- शांति - मानसिक स्थिरता

5 अंक के प्रश्न-

1. त्याग का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. श्येन दृष्टांत क्या है?
3- वैराग्य का महत्व बताइए।
4- सर्प की केंचुली दृष्टांत का वर्णन कीजिए।
5- त्याग और शांति का संबंध स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1- सांख्यदर्शन में त्याग की आवश्यकता का विवेचन कीजिए।
2- श्येन दृष्टांत के माध्यम से त्याग की महिमा स्पष्ट कीजिए।
3- वैराग्य एवं आत्मज्ञान के संबंध का विश्लेषण कीजिए।
4- महाभारत में वर्णित त्याग की अवधारणा का विवेचन कीजिए।
5- त्याग और दु:खनिवृत्ति के संबंध को स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न -

क. त्याग से क्या प्राप्त होता है?

(1) दु:ख
(2) शांति
(3) मोह
(4) क्रोध

ख. श्येन किसका प्रतीक है?

(1) संग्रह
(2) त्याग
(3) युद्ध
(4) निद्रा

ग. वैराग्य किससे संबंधित है?

(1) आसक्ति
(2) विरक्ति
(3) लोभ
(4) क्रोध

घ. सर्प की केंचुली का दृष्टांत किसका प्रतीक है?

(1) पुनर्जन्म
(2) त्याग
(3) क्रोध
(4) मोह

ङ. त्याग का अंतिम परिणाम क्या है?

(1) अशांति
(2) आत्मज्ञान
(3) बंधन
(4) भ्रम

इकाई-1.4 समाधिलाभ हेतु एकाग्रता की आवश्यकता

उद्देश्य-

1. आत्मजिज्ञासु के लिए सदाचरण के महत्व को समझना।
2. अनुचित चिंतन के दुष्परिणामों का अध्ययन करना।
3. भरत दृष्टांत के माध्यम से आसक्ति के प्रभाव को जानना।

योग का सर्वोच्च चरण समाधि को बताया गया है। यह वह अवस्था है, जहाँ साधक अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। योगदर्शन में योग के आठ अंगों में समाधि को आठवां अंग माना गया है। समाधि तक पहुँचने की प्रक्रिया में धारणा (एकाग्रता) और ध्यान आवश्यक चरण माने गये हैं। मन का स्वभाव चचंल है, एकाग्रता ही वह साधन है, जिसके द्वारा मन को नियत्रित किया जा सकता है, जब मन एक ही बिंदु पर स्थिर हो जाता है, तभी ध्यान सम्भव होता है। ध्यान का प्रारम्भ एकाग्रता से होता है। यदि साधक किसी मन्त्र ईश्वर, स्वर या बिन्दु पर एकाग्र नहीं हो पा रहा है, तो ध्यान की गहरायी में नहीं जा सकता। निरन्तर साधना का परिणाम है-समाधि। जब तक एकाग्रता नहीं होगी, तब तक बाहरी और आंतरिक विकर्षण साधना में बाधा डालते रहेंगे। एकाग्रता इन विकर्षणों को मिटाकर साधक को आत्मा एवं परमात्मा से जोड़ने में सहायक होती है ।

समाधिलाभ के लिए चित्त को विचलित न होने देना अत्यन्त आवश्यक है, इस अर्थ को महर्षि कपिल दृष्टान्त के साथ बताते हुए कहते है-

इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधिहानि। (सा.4/14)

बाण के निर्माता अथवा सन्धाता के समान एकाग्रचित्त पुरुष की समाधि की हानि नहीं। एकाग्रचित्त व्यक्ति की समाधि में कोई हानि या बाधा नहीं होती, इषुकार के समान । इषु बाण या शर को कहते हैं। वस्तुत सूत्र में यह पद दत्तचित्त होकर बनाये जाने वाले किसी भी अस्त्र-शस्त्र या निर्माण का बोधक है। कोई शिल्पी अथवा कार्यकर्ता जब ध्यानपूर्वक अपने निर्माण अथवा अपेक्षित कार्य में संलग्न रहता है, तो उसे समीप में होने वाली अन्य प्रवृत्तियो अथवा क्रियाओं का पता नहीं लगता। कहा जाता है, कि एक बार एक शिल्पी अपने निर्माण में इतना एकाग्रचित्त होकर लगा हुआ था, कि उसके सामने होकर मार्ग से राजा की सवारी निकल गई, पर उसे कुछ पता न लगा। थोड़ी देर के अनन्तर किसी व्यक्ति ने आकर उससे पूछा, अभी कुछ समय पहले इधर से राजा की सवारी निकली है, क्या आप को मालूम है, वह किधर गई है? उसने कहा, मैं अपने कार्य में इतना अधिक ध्यानमग्न था, मुझे कुछ ज्ञात नहीं, इधर से कोई गया है, या नहीं। इसी प्रकार जो आत्म-जिज्ञासु एकाग्रचित्त होकर अभ्यास में लगा रहता है, उसके सामने कोई बाधा नहीं आती। **'इषुकार'** का अर्थ **इषुसन्धाता** भी किया जाता है। सन्धान, लक्ष्य पर निशान लगाने को कहते है। जिस प्रकार अस्त्र या शस्त्र से लक्ष्य को भेदने वाला व्यक्ति लक्ष्य के अतिरिक्त और किसी वस्तु को नहीं देखता, तभी वह लक्ष्य को भेद पाता है, इसी प्रकार जो आत्म-जिज्ञासु आत्मारूप लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की ओर ध्यान नहीं देता, वह अपने लक्ष्य को पा लेता है। उपनिषद् में कहा है-

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् । (मुण्डक. 1/2/4)

इस श्लोक में बताया गया है, कि परमेश्वर का वाचक प्रणव ही मानो धनुष है, यह जीवात्मा ही बाण है। और परब्रह्म परमेश्वर ही उसके लक्ष्य हैं। तत्परतासे उनकी उपासना करने वाले प्रमादरहित साधक द्वारा ही वह लक्ष्य बेधा जा सकता है, इसलिये हे सोम्य! तुझे पूर्वोक्तरूपसे उस लक्ष्यको बेधकर बाण की ही भाँति उसमें तन्मय हो जाना चाहिये।

आत्म-जिज्ञासु को अपने स्वीकृत व्रत नियम आदि का कभी उल्लंघन नहीं करना चाहिए, सूत्रकार लोक-दृष्टान्त द्वारा समझाता है-

कृतनियमलङ्घनादानर्थक्यं लोकवत् (सा.4/15)

निश्चित अथवा अङ्गीकृत नियमों के उल्लंघन से असफलता मिलती है, लोक में जैसे ।

अपने अङ्गीकृत अथवा प्रतिज्ञात व्रत नियम आदि का उल्लंघन कर देने से आत्म-जिज्ञासु के ज्ञान संपादन के लिए किए गए सब प्रयत्न निष्फल हो जाते है। निरन्तर और दृढ़ अभ्यास ही ज्ञान संपादन में सहायक होता है। कभी थोड़ा अभ्यास कर लिया, कभी छोड़ दिया, ऐसा करने से किया हुआ भी निष्फल हो जाता है। लोक में जिस प्रकार औषध आदि लेते समय पथ्य आदि का अथवा औषध सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन कर दिया जाता है, तो औषध आदि का सेवन ही निष्फल हो जाता है। निर्बाध समाधिलाभ के लिए उसमें अपेक्षित समस्त नियमों का पूर्णरूप से पालन करना अत्यन्त आवश्यक होता है। लोक में स्वास्थ्य सम्बन्धी अथवा राजकीय या शासनसम्बन्धी नियमों के उल्लंघन से उत्पन्न स्थिति के समान हम इस अर्थ को स्पष्ट रूप में समझ सकते है।

स्मरणीय बिंदु-

1. अनुचित चिंतन आत्मज्ञान में बाधक है।
2. आसक्त पुनर्जन्म का कारण बनती है।
3. संयम आत्मविकास का साधन है।
4. धर्मपालन आवश्यक है।
5. आत्मजिज्ञासु को विषयों से दूर रहना चाहिए।

शब्दावली-

1. आत्मजिज्ञासु - आत्मज्ञान का इच्छुक
2. आसक्ति - मोहपूर्ण लगाव
3. संयम - इंद्रिय नियंत्रण
4. बंधन - संसारिक मोह
5. धर्म - कर्तव्य एवं सदाचार

5 अंक के प्रश्न-

1. असाधन चिंतन क्या है?
2. भरत दृष्टांत का वर्णन कीजिए।
3. आत्मजिज्ञासु के लिए संयम क्यों आवश्यक है?
4. आसक्ति के दुष्परिणाम बताइए।
5. कुमारी शंखख़लिखित कथा का सार लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. आत्मज्ञान में बाधक तत्वों का विवेचन कीजिए।
2. भरत दृष्टांत के माध्यम से आसक्ति के दोष स्पष्ट कीजिए।
3. कुमारी शंख-लिखित कथा का दार्शनिक विश्लेषण कीजिए।
4. अनुचित चिंतन एवं बंधन के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
5. आत्मजिज्ञासु के लिए वैराग्य एवं संयम की आवश्यकता का विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

क. असाधु चिंतन से क्या उत्पन्न होता है?

(1) मुक्ति
(2) बंधन
(3) आनंद
(4) शांति

ख. भरत किसके कारण बंधन में पड़े?

(1) क्रोध
(2) आसक्ति
(3) युद्ध
(4) तपस्या

ग. आत्मजिज्ञासु के लिए क्या आवश्यक है?

(1) विषयासक्ति

(2) संयम
(3) लोभ
(4) संग्रह

घ. **शंख-लिखित कथा किससे संबंधित है?**
(1) दंड एवं धर्म
(2) व्यापार
(3) युद्ध
(4) राजनीति

ङ. **अनुचित चिंतन का परिणाम क्या है?**
(1) आत्मज्ञान
(2) बंधन
(3) मुक्ति
(4) समाधि

खण्ड- 2 उपासक के लिए विवेक ज्ञान के साधन

इकाई-2.1 निदिध्यासन का माहात्म्य

उद्देश्य-

1. समाधि एवं एकाग्रता के संबंध को समझना।
2. योग एवं ध्यान में एकाग्रचित्तता का महत्व जानना।
3. साधना में नियमपालन की आवश्यकता को समझना।

आत्मसाक्षात्कार के उपाय श्रवण मनन निदिध्यासन बताए गए है। केवल उपदेश सुनने से पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं होती, सूत्रकार ने यह अर्थ दृष्टान्तपूर्वक बताया-

नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत्_ (सा.4/17)

उपदेश सुनने पर भी मनन किए बिना सफलता नहीं विरोचन के समान ।

उपदेश के सुनने पर भी उसका मनन और निदिध्यासन किए बिना कृत-कृत्यता-पूर्णसफलता प्राप्त नहीं होती, विरोचन के समान । उपनिषद् (छा०, अध्याय 8, खण्ड 7-8) में विरोचन और इन्द्र की एक कथा आती है - बहुत प्राचीन काल की बात है, विचारों और उपासना आदि के आन्तर बाह्य अंगों में विभेद आ जाने पर भी देव और असुर अभी इकट्ठे रहते थे (वैसे तो देव और असुर सदा इकट्ठे रहते हैं, पर यह कथानक - अथवा ऐतिहासिक विशेषता के आधार पर लिखा है)। प्रजापति ने कहा, कि अपहतपाप्मा विजर विमृत्यु सत्यसंकल्प आत्मा को जानना चाहिए। जो उसे जान लेता है, वह सब लोक और सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। देव और असुर दोनों ने प्रजापति के इस कथन को सुना समझा, और उसे जानने के लिए सलाह की। देवों ने अपना प्रतिनिधि इन्द्र को बनाया और असुरों ने विरोचन को । दोनों को कहा, कि प्रजापति के पास जाओ, तथा आत्म-विषयक ज्ञान प्राप्त करके आओ । विरोचन और इन्द्र प्रजापति के पास जा पहुँचे । नियमानुसार शिष्य बनकर उन्होंने प्रजापति के सम्मुख अपनी जिज्ञासा प्रकट की । प्रजापति ने कहा- चक्षु में, जलों में और आदर्श में जो दीखता है, वही आत्मा है। तुम एक काम करो, पानी भरकर कटोरे लाओ अपने सामने रखकर देखो, फिर आत्मा के विषय में जो नहीं समझते हो, मुझसे कहो । दोनों ने ऐसा ही किया। जब उन्होंने पानी भरे कटोरों में अपने आपको देखा, प्रजापति ने पूछा-क्या देखते हो ? उन्होंने कहा- लोम और नख पर्यन्त समस्त अपने आपको देख रहे हैं। प्रजापति ने फिर उन दोनों को कहा- अच्छी तरह सज धजकर अच्छे सुन्दर वस्त्र पहनकर परिष्कृत होकर कटोरों में पुनः अपने आपको देखो। उन्होंने वैसा ही किया। प्रजापति ने कहा- अब क्या देखते हो ? उन्होंने कहा- भगवन् ! हम दोनों उसी तरह समस्त अपने आपको सजाधजा सुन्दर वस्त्र पहने परिष्कृत देख रहे है । प्रजापति ने कहा- बस यही आत्मा है। यही अमृत अभय है, यह महान है। वे दोनों शान्तहृदय होकर वापस चले गए । विरोचन ने प्रजापति से जो कुछ सुना, उस पर मनन व निदिध्यासन न करके असुरों के मध्य में जाकर उसी उपनिषद् का वर्णन किया। उसने कहा- इसी आत्मा की पूजा करनी चाहिए, इसी की परिचर्या करनी चाहिए। इसी में इहलोक परलोक दोनों की प्राप्ति हो जाती है। असुरों ने आधिभौतिक देह को आत्मा समझा, और उसी आधार पर भौतिक पूजा का प्रचलन हुआ । उपनिषद् के इस प्रसग में लिखा है, कि इसी कारण असुर मृत देह को सुन्दर भोजन वस्त्र और अलंकार आदि को परिष्कृत या संस्कृत करके सुरक्षित रखते हैं, और इससे वे समझते हैं, कि परलोक को हम विजय कर लेंगे। ऐसा करने से मृत्यु के अनन्तर भी उसको समस्त ऐहिक भोगों की प्राप्ति होती रहेगी। उस आधार पर ऐसी आसुर उपासना और प्रवृत्तियों के प्रतीक मिस्र के पिरामिड उपलब्ध होते हैं। देव-समाज से अलग होकर देवों के बड़े भाई असुर देव-लोक से (जो कैलाश मानस के प्रदेश से इधर-उधर बहुत दूर तक फैला हुआ माना जाता था) पश्चिम की ओर चल पड़े। जिन्होंने कालान्तर में मिस्रप्रदेश में पहुंच कर अपने उपनिवेश बसाए, जहां उनकी संस्कृति के प्रधान चिन्ह पिरामिड आज भी विद्यमान है। उनमें राजाओं के मृत देह ममीज के रूप में आज भी सुरक्षित रखे हैं, और उनके साथ समस्त भोग संभार भोजन वस्त्र अलंकार आदि जीवन-काल के समान सुरक्षित कर दिए गए है। पिरामिडों की सुरक्षित सामग्री और उपनिषद् का आसुरी संस्कृति विषयक वर्णन आश्चर्यजनक समानता रखते हैं।

विरोचन की कथा आसुरी संस्कृति का सुस्पष्ट एवं सुव्यवस्थित प्रतीक है। प्रकृत सूत्र में इसी बात का निर्देश किया गया है, कि विरोचन ने प्रजापति के प्रारम्भिक स्तर के उपदेश को सुनकर उस पर मनन आदि कुछ नहीं किया, और आधिभौतिक देह को अजर अमर अभय आत्मा समझ लिया। इसी कारण वह समाज अध्यात्मदिशा में अनुन्नत रहा। सब काल और सब देशों में आधि

भौतिक उपासना करने वाला समाज **असुर** तथा अध्यात्म उपासना करने वाला **देव** विद्यमान रहता है। ये अपनी ऐहलौकिक स्थिति के अनुसार सबल-दुर्बल होते रहते है, पर इनका अस्तित्व और सघर्ष कभी समाप्त होने वाला नहीं। इन्द्र ने प्रजापति के उपदेश को सुनकर उस पर मनन किया, और उसने सोचा, कि यह देह अजर अमर कैसे संभव है ? इसके जरा एवं मरण को हम सदा देखते हैं। वह वापस प्रजापति के पास आया, और अपनी आशंका को प्रस्तुत किया, सूत्रकार ने इस अर्थ को इस रूप में बांधा-

दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य (सा.4/18)

उन दोनों (इन्द्र और विरोचन) में इन्द्र का देखा गया है (आत्मज्ञान हो जाना) ।

उन दोनों - विरोचन और इन्द्र में इन्द्र का कृतकृत्यभाव अथवा आत्म-साक्षात्कार या आत्मबोध देखा गया। इन्द्र अपनी आशंका लेकर जब प्रजापति के पास वापस आया, तो प्रजापति ने उसको उचित अधिकारी समझकर वास्तविक अध्यात्म का उपदेश किया। इन्द्र को प्रजापति के पास वापस आने की प्रेरणा और आत्मविषयक आशंकाओं का उद्‌भावन, मनन आदि के द्वारा हुआ। फलत: अध्यात्मविषयक उपदेश श्रवण के अनन्तर आत्म-जिज्ञासु को तद्विषयक मनन व निदिध्यासन आदि के लिए पूर्ण अवसर देना चाहिए। इससे अर्थ की सत्यता और दृढ़ता सन्मुख आती है । श्रवण मनन आदि का अनुष्ठान करने पर आत्मज्ञान तत्काल होजाता है, ऐसा नहीं है, प्रत्युत इसके लिए पर्याप्त समय लगाना पड़ता है। सूत्रकार ने इसके लिए बताया-

प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात् तद्वत् (सा. 4/19)

प्रणाम, ब्रह्मचर्य और गुरु के समीप निवास करके बहुत समय से सफलता होती है, इन्द्र के समान ।

प्रणति-प्रणाम गुरुसेवा आदि, ब्रह्मचर्य - इन्द्रियसंयमपूर्वक अध्यात्म-शास्त्रों का अध्ययन आदि, उपसर्पण - गुरु के समीप अवस्थित रहना इत्यादि सब आवश्यक कार्यों को संपादन करके सिद्धि - आत्मज्ञान की प्राप्ति बहुत काल के अनन्तर हो पाती है। 'तद्वत्'- में 'तत्' पद पूर्वसूत्र से इन्द्र का परामर्श करता है-इन्द्र के समान । अभी वर्णित इन्द्र-विरोचन की कथा में गुरु के पास ब्रह्मचर्यपूर्वक सेवा आदि करते हुए अत्यधिक समय तक इन्द्र के निवास का उल्लेख मिलता है। इसप्रकार जो कोई गुरु के समीप रहकर आत्मज्ञान के लिए प्रयत्नशील रहता है, उसे कालान्तर में अवश्य सफलता होती है।

6 और 10 सूत्र में अनात्मज्ञानियों के साथ निवास का निषेध किया गया है, आत्मज्ञानी गुरु के साथ अथवा अन्य सतीर्थ्यो के साथ नहीं। जब तक ज्ञान-संपादन के लिए गुरु की अपेक्षा है, तबतक उसके चरणों में निवास करना आवश्यक है। उसके अनन्तर अभ्यासी एकान्तवास कर सकता है। अभ्यास के नैरन्तर्य और दृढ़ता आदि के लिए एकान्त निवास तथा अधिकाधिक काल सदा अपेक्षित रहते हैं ।

स्मरणीय बिंदु-

1. एकाग्रता से ध्यान संभव होता है।
2. ध्यान से समाधि प्राप्त होती है।
3. नियमपालन साधना का आधार है।
4. चित्त की स्थिरता आत्मज्ञान का मार्ग है।
5. योग में निरंतर अभ्यास आवश्यक है।

शब्दावली-

1. समाधि - चित्त की परम अवस्था
2. एकाग्रता - मन का एक बिंदु पर स्थिर होना
3. ध्यान - निरंतर चिंतन
4. धारणा - मन को स्थिर करना
5. साधना - आध्यात्मिक अभ्यास

5 अंक के प्रश्न-

1. एकाग्रता क्या है?
2. समाधि का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. बाणकार दृष्टांत का वर्णन कीजिए।
4. ध्यान में एकाग्रता क्यों आवश्यक है?

5. नियमपालन का महत्व बताइए।

15 अंक के प्रश्न-

1. समाधि प्राप्ति में एकाग्रता की भूमिका का विवेचन कीजिए।
2. बाणकार दृष्टांत के माध्यम से ध्यान की व्याख्या कीजिए।
3. योगसाधना में नियमपालन के महत्व का विश्लेषण कीजिए।
4. एकाग्रचित्तता एवं आत्मसाक्षात्कार के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
5. ध्यान, धारणा एवं समाधि का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

क. समाधि का आधार क्या है?

(1) क्रोध
(2) एकाग्रता
(3) निद्रा
(4) भ्रम

ख. बाणकार दृष्टांत किससे संबंधित है?

(1) युद्ध
(2) एकाग्रचित्तता
(3) व्यापार
(4) संगीत

ग. योग में अंतिम अवस्था कौन-सी है?

(1) यम
(2) नियम
(3) समाधि
(4) प्रत्याहार

घ. ध्यान के लिए क्या आवश्यक है?

(1) चंचलता
(2) एकाग्रता
(3) आलस्य
(4) मोह

ङ. नियमों के उल्लंघन से क्या होता है?

(1) सफलता
(2) असफलता
(3) आनंद
(4) सिद्धि

इकाई-2.2 ग्राह्य का ग्रहण तथा हेय का त्याग

उद्देश्य-

1. ग्राह्य एवं हेय तत्वों की पहचान करना।
2. विवेकपूर्ण जीवन के महत्व को समझना।
3. साधक के लिए त्याज्य एवं ग्राह्य विषयों का अध्ययन करना।

अध्यात्म मार्ग पर चलने वाले आत्मजिज्ञासु के लिए हमारे ऋषि-मुनियों ने विवेक ज्ञान की प्राप्ति हेतु अनेक प्रकार के साधनों का प्रावधान किया जिनमें यथेष्ट साधन का अनुष्ठान करके विवेक की प्राप्ति की जा सकती है। किन्तु उसमें विधि एवं निषेध का पूर्ण रूप से पालन करने की अनिवार्यता भी बतायी। मुमुक्षु को जो पदार्थ ग्रहण करने योग्य है उसी का ग्रहण करना चाहिए, एवं जो हेय पदार्थ है अर्थात् एवं त्याज्य पदार्थो का त्याग कर देना चाहिए।

तत्त्वज्ञान अथवा विवेकज्ञान विरक्त पुरुष को संभव है, सूत्रकार दृष्टान्त द्वारा इस अर्थ को स्पष्ट करता है- **विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरवत् (सा.4/23)**

त्याज्य का त्याग और ग्राह्य का ग्रहण वैराग्ययुक्त को होता है, हंस के द्वारा ग्राह्य दूध के समान । संसार में छोड़ने योग्य और ग्रहण करने योग्य सभी प्रकार के पदार्थ सामने उपस्थित रहते है । अध्यात्ममार्ग पर चलने वाला व्यक्ति - जब उसमें उत्कट वैराग्य की भावना उपस्थित रहती है तभी वह - इतना शक्तिसम्पन्न होता है, कि जो उसके लिए त्यागने योग्य वस्तु है, उसे त्याग देता है और जो ग्रहण करने योग्य है उसे ग्रहण कर लेता है। जैसे हंस जलमिश्रित दूध में से केवल दूध को ग्रहण कर लेता है और जल का परित्याग कर देता है। जो व्यक्ति दृढ़ वैराग्य से युक्त नहीं होता, वह अपने लिए विषयों में अनुकूलता और प्रतिकूलता को न समझ सकने के कारण उन्हीं में डूब जाता है, तथा अध्यात्ममार्ग से भ्रष्ट हो जाता है । अतः तत्त्व-ज्ञान के लिए तीव्र वैराग्य का होना आवश्यक है। हेय संसार है और उपादेय मोक्ष है। इस विवेकज्ञान के लिए वैराग्य एक सच्चा साधन है ।

विरक्त ही ऐसा क्यों कर सकता है ? सूत्रकार ने समाधान किया -

लब्धातिशययोगात् तद्वत् । (सा.4/23)

प्राप्त किए गए समाधिजन्य शक्त्यतिशय के सम्बन्ध से (विवेकज्ञान होता है), हंसक्षीर के समान । जिस प्रकार हंस को यह शक्ति प्राप्त है, कि वह जलमिश्रित दुग्ध में से केवल दुग्ध को ग्रहण कर लेता है, और पानी को छोड़ देता है, अन्य किसी पक्षी या प्राणी में यह सामर्थ्य नहीं रहता। इसी प्रकार दृढ़ वैराग्यवान् व्यक्ति को योग-समाधि-जन्य अतिशय - सामर्थ्यविशेष प्राप्त हो जाता है, उसके सहयोग से परित्याज्य संसार का परित्याग करने में और उपादेय मोक्ष को प्राप्त करने में वह समर्थ होता है। वह हेय वस्तु को उपादेय और उपादेय को हेय नहीं समझता । उसमें विवेचन की शक्ति पराकाष्ठारूप में प्रादुर्भूत हो जाती है। इस स्थिति में पहुँचकर समाधिनिष्ठ अथवा आत्मज्ञानी व्यक्ति प्रकृतिपर्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों का साक्षात्कार कर सकता है।

मूलसूत्र का 'लब्धातिशययोगाद्वा' इसप्रकार 'वा' घटित पाठ भी उपलब्ध होता है। उस पाठ में 'वा' का विकल्प अर्थ न होकर अवधारण अर्थ करना चाहिए। क्योंकि विकल्प अर्थ करने में 'तद्वत्' सूत्रपदों से अतिदिष्ट 'हंसक्षीर' दृष्टान्त का सामञ्जस्य नहीं बैठता। कारण यह है, कि उस अवस्था में सूत्र का अर्थ होगा -'अथवा लब्धातिशय (जिन्होंने योगसामर्थ्य से अतिशय को प्राप्त कर लिया है, ऐसे) आत्मज्ञानियों के योगसंपर्क से अन्य व्यक्तियों को भी हेय का हान और उपादेय का उपादान हो जाता है। जैसे दत्तात्रेय के संपर्क से अलर्क को ज्ञान हो गया था।' इस अर्थ के साथ 'हंसक्षीर' का दृष्टान्त नहीं घटता, क्योंकि लब्धातिशय हंस के संपर्क से अन्य किसी भी प्राणी में 'नीरक्षीरविवेक' की स्थिति प्राप्त नहीं होती ।

आत्म-जिज्ञासु को रागी पुरुषों का संग नहीं करना चाहिए, इसको निर्देशित करते हुए महर्षि कहते हैं -

न कामचारित्वं रागोपहते। (सा.4/23)

रागादि से दबे हुओं में चाहे जब जाना आना नहीं चाहिए (आत्म-जिज्ञासु को) ।

राग-संसार में आसक्ति से दबे हुए व्यक्तियों के समाज में आत्म-जिज्ञासु को यथेच्छ यातायात नहीं करना चाहिए। पहले इस बात को बताया गया है, कि आत्म-जिज्ञासु के लिए एकान्त निवास अत्यन्त आवश्यक है। एकान्त निवास करके भी यदि कोई जिज्ञासु साधारण संसारी समाज में चाहे जब चला जाता है, तो एक प्रकार से उसका वह एकान्त निवास व्यर्थ हो जाता है। इस सूत्र से अध्यात्म-मार्गी का साधारण समाज में निरन्तर आना-जाना निषिद्ध किया गया है। कभी अत्यन्त आवश्यकता होने पर जाना आना पड़ जाय, तो उसमे विक्षेप की अधिक संभावना नहीं रहती। जहां तक हो सके आत्म-जिज्ञासु को संसारी समाज के संपर्क से अधिकाधिक बचना चाहिए।

रागी जनों के साथ अधिक सपर्क क्यो नहीं रखना चाहिए, सूत्रकार ने दृष्टान्तपूर्वक बताया-

गुणयोगाद् बन्धः शुकवत्। (सा.4/26)

जिस प्रकार तोता अपने रूप एवं वाणी आदि गुणों के संबन्ध से बांधा जाता है, अथवा बहेलिए के जाल या फांसों में फस जाता है, इसी प्रकार आत्म-जिज्ञासु व्यक्ति संसारी पुरुषों के साथ अधिक संपर्क रखने से उनके गुण अर्थात् रागद्वेष आदि में पड़कर बन्धन की ओर अग्रसर हो जाता है । संसारी पुरुष प्रकृति के सत्व रजस् तमस् गुणों से अभिभूत रहते हैं, उनके संपर्क में जिज्ञासु भी ज्ञानमार्ग से हटकर अज्ञान की और प्रवृत्त हो सकता है। सूत्र में 'गुण' पद श्लिष्ट है, दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के अनुकूल इसके रूप, वाणी आदि गुण तथा सत्त्व, रजस्, तमस् गुण, के विभिन्न अर्थ हो जाते हैं। सूत्र में 'बन्धः' पद के स्थान पर कहीं 'बद्धः' पाठ भी उपलब्ध होता है। दोनों के अर्थ में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है।

स्मरणीय बिंदु-

1. ग्राह्य तत्व आत्मविकास में सहायक होते हैं।
2. हेय विषयों का त्याग आवश्यक है।
3. विवेक से सही निर्णय संभव होता है।
4. साधना में संयम का विशेष महत्व है।
5. मोक्ष के लिए आसक्ति का त्याग आवश्यक है।

शब्दावली-

1. ग्राह्य - ग्रहण करने योग्य
2. हेय - त्याग करने योग्य
3. विवेक - उचित-अनुचित का ज्ञान
4. संयम - नियंत्रण
5. मोक्ष - जन्म-मरण से मुक्ति

5 अंक के प्रश्न-

1. ग्राह्य एवं हेय का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. विवेकज्ञान में ग्राह्य तत्वों का महत्व बताइए।
3. त्याज्य विषय कौन-कौन से हैं?
4. साधक के लिए संयम क्यों आवश्यक है?
5. विवेकपूर्ण आचरण का महत्व स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. ग्राह्य एवं हेय विषयों का दार्शनिक विवेचन कीजिए।
2. आत्मज्ञान में विवेक की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
3. साधक के लिए त्याग एवं ग्रहण की आवश्यकता का विश्लेषण कीजिए।
4. सांख्यदर्शन में साधना के साधनों का वर्णन कीजिए।
5. विवेकपूर्ण जीवन एवं मोक्ष के संबंध का विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

क. ग्राह्य का अर्थ है-

(1) त्याज्य वस्तु

(2) ग्रहण करने योग्य

(3) दुःख

(4) मोह

ख. हेय का अर्थ है-

(1) त्याज्य

(2) ग्राह्य

(3) सुख

(4) ज्ञान

ग. साधक को किसका त्याग करना चाहिए?

(1) विवेक

(2) आसक्ति

(3) ज्ञान

(4) ध्यान

घ. विवेकज्ञान किसका आधार है?

(1) मोक्ष

(2) बंधन

(3) मोह

(4) निद्रा

ङ. संयम से क्या प्राप्त होता है?

(1) अशांति

(2) स्थिरता

(3) क्रोध

(4) आलस्य

इकाई-2.3 उपासना में चित्त की निर्मलता आवश्यक

उद्देश्य-

1. उपासना में चित्तशुद्धि के महत्व को समझना।
2. मानसिक निर्मलता एवं साधना के संबंध का अध्ययन करना।
3. शुद्ध चित्त द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति को जानना।

परमात्मा की उपासना के लिए अन्त:करण का शुद्ध होना अति आवश्यक है। चित्त की शुचिता के बिना ध्यान, साधना का अनुष्ठान नहीं किया जा सकता। चित्त के शुद्ध होने पर ही निर्मलता आती है। इसी निर्मल पावन शुद्ध अन्त:करण के द्वारा साधना की सिद्धि होती है।

अन्त:करण शुद्ध होने पर ही वैराग्य अंकुरित होता है, सूत्रकार इसको आख्यायिकापूर्वक कहते है-

मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत्। (सा.4/29)

चित्त में मलिनता रहने पर किसी भी प्रकार के उपदेश रूपी बीज का अंकुरण नहीं हो सकता। राग आदि से मलिन चित्त में ज्ञान वैराग्य आदि के लिए उपदेश-बीज अंकुरित नहीं होता। आत्मज्ञान के मार्ग पर जाने के लिए यम नियम आदि के अनुष्ठान द्वारा अन्त:करण को निर्मल कर लेना आवश्यक होता है। जैसे जैसे बंजर अथवा ऊसर भूमि में बोया हुआ बीज अंकुरित नहीं होता, इसी प्रकार रागादि से मलिन चित्त ज्ञान वैराग्य आदि के उदय के लिए अनुपयुक्त होता है। सूत्र में इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए 'अज' का दृष्टान्त दिया गया है।

प्राचीनकाल में अज नाम का एक राजा था । वह अपनी भार्या में अत्यधिक आसक्ति रखता था। अचानक भार्या का देहान्त हो गया। इस घटना ने राजा को विह्वल कर दिया, उसकी आसक्ति भार्या के अभाव में और बढ़ गई। उसके गुरूओं ने उसे प्रत्येक प्रकार से समझाने का यत्न किया, पर सब व्यर्थ हुआ । उसे वे कष्ट से बचा न सके । विषयों में तीव्र आसक्ति ज्ञान को जमने नहीं देती । आसक्तचित्त सदा राग द्वेष आदि से अभिभूत रहता है, वह क्षेत्र ज्ञानोदय के लिए अनुपयुक्त है, रागादिहीन स्वच्छ अन्त:करण ही ज्ञान के लिए उपयुक्त क्षेत्र हो-सकता है। केशर कश्मीर की क्यारियों में ही विकास पाता है, बीकानेर और जैसलमेर के मरुप्रदेश में नहीं । अत्यन्त मलिन चित्त में ज्ञान का लेश मात्र भी प्रकाशित नहीं हो पाता, इसी को प्रमाणित करते हुए महर्षि कहते हैं-

नाभासमात्रमपि मलिनदर्पणवत्। (सा.4/30)

ज्ञान का आभास मात्र भी अति मलिन चित्त में नहीं होता, मैले दर्पण की तरह।

जैसे मलिन दर्पण में किसी प्रकार की छाया या प्रतिबिम्ब का आभास नहीं होता, इसी प्रकार रागद्वेष आदि से अभिभूत होने के कारण अथवा अन्य नाना विषयों का संचार रहने के कारण मलिन चित्त में आत्मज्ञान का उदय नहीं होता।

अभिप्राय यह है, कि आत्म-जिज्ञासु को अन्य समस्त विषयों की ओर से अपने चित्त को हटाकर केवल आत्मचिन्तन में लगाना अपेक्षित है। इससे पहले यह आवश्यक है, कि यम नियम आदि का पालन और प्राणायाम के अनुष्ठान द्वारा अन्त:करण को शान्त तथा अध्यात्मचिन्तन के लिए उपयोगी बना लिया जाए । अन्य विषयों से अन्त:करण का हटाना वैराग्य का स्वरूप है और प्राणायाम आदि का निरन्तर अनुष्ठान करना अभ्यास का । इस प्रकार वैराग्य और अभ्यास द्वारा समाधिलाभ हो जाता है, अर्थात् आत्मज्ञान का उदय हो जाता है। जब अन्त:करण में न किसी के प्रति राग-द्वेष आदि की भावना रहेगी, और न विषयान्तरों में उसका भटकना; तब इसप्रकार के शुद्ध अन्त:करण में ही आत्मज्ञान का उदय संभव है । अन्यथा नहीं।

5 अंक के प्रश्न-

1. चित्तशुद्धि क्या है?
2. उपासना में निर्मलता क्यों आवश्यक है?
3. अशुद्ध चित्त के दुष्परिणाम बताइए।
4. मानसिक शांति का महत्व स्पष्ट कीजिए।
5. आत्मज्ञान में चित्त की भूमिका बताइए।

15 अंक के प्रश्न-

1. उपासना में चित्तशुद्धि की आवश्यकता का विवेचन कीजिए।

2. मानसिक निर्मलता एवं आत्मज्ञान के संबंध का विश्लेषण कीजिए।
3. सांख्यदर्शन में उपासना के महत्व का वर्णन कीजिए।
4. साधक के लिए शुद्ध आचरण की आवश्यकता स्पष्ट कीजिए।
5. चित्त की एकाग्रता एवं निर्मलता का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

क. उपासना के लिए क्या आवश्यक है?

(1) चंचलता

(2) निर्मल चित्त

(3) क्रोध

(4) मोह

ख. चित्तशुद्धि से क्या प्राप्त होता है?

(1) आत्मज्ञान

(2) अशांति

(3) भ्रम

(4) भय

ग. अशुद्ध चित्त किसका कारण है?

(1) शांति

(2) बंधन

(3) मोक्ष

(4) समाधि

घ. उपासना का उद्देश्य क्या है?

(1) संग्रह

(2) आत्मशुद्धि

(3) विवाद

(4) व्यापार

ङ. मानसिक निर्मलता से क्या बढ़ता है?

(1) लोभ

(2) विवेक

(3) मोह

(4) आलस्य

स्मरणीय बिंदु-

1. निर्मल चित्त उपासना का आधार है।
2. चित्तशुद्धि से आत्मज्ञान संभव होता है।
3. अशुद्ध चित्त साधना में बाधा है।
4. मानसिक शांति आध्यात्मिक उन्नति का साधन है।
5. उपासना से अंत:करण शुद्ध होता है।

शब्दावली-

1. चित्तशुद्धि - मन की पवित्रता
2. उपासना - ईश्वर चिंतन
3. निर्मलता - शुद्धता
4. अंत:करण - मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार
5. आत्मज्ञान - आत्मा का यथार्थ ज्ञान

इकाई-2.4 ईश्वर का अधिष्ठातृत्व

उद्देश्य-

1. ईश्वर के अधिष्ठाता स्वरूप को समझना।
2. जगत एवं ईश्वर के संबंध का अध्ययन करना।
3. सांख्यदर्शन में ईश्वर की भूमिका को जानना।

प्रथम सूत्र द्वारा मंगलाचरणरूप में समस्त लौकिक वैदिक शुभकर्मों की अनुष्ठेयता का प्रतिपादन किया गया है। शुभकर्म अन्त:करण शुद्धि के द्वारा आत्म-ज्ञान के साधन होते हैं। आत्मज्ञान होने पर मोक्षप्राप्ति निश्चित है । क्योंकि मोक्ष ब्रह्म का स्वरूप है, इसीलिए शुभकर्मानुष्ठान ईश्वर के अस्तित्व में साधन बन जाता है। इसके अतिरिक्त मंगलाचरण में 'फलदर्शन' हेतु इस बात का स्मरण करा देता है, कि कर्मों के फलों का दाता ईश्वर है, क्योंकि वह समस्त जगत् का अधिष्ठाता है। ऐसी स्थिति में **'वादी भद्रं न पश्यति'** इस लोकोक्ति के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व अथवा अधिष्ठातृत्व को सहन न करता हुआ प्रतिपक्षी आशंका करता है-

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः। (सा.5/2)

ईश्वर का अधिष्ठातृत्व स्वीकार करने पर फलों की निष्पत्ति नहीं, कर्म से फल की सिद्धि होने पर।

ईश्वर से अधिष्ठित जगत् में ईश्वर के द्वारा फलनिष्पत्ति - कर्मफलों की प्राप्ति, संभव नहीं, क्योंकि फलसिद्धि कर्म के द्वारा होती है। अभिप्राय यह है, कि ईश्वर को जगत् का अधिष्ठाता मानने पर यह कहा जाता है, कि कर्मफलों को देने वाला वही है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर कर्मों की उपेक्षा करके केवल अपने सामर्थ्य से फल नहीं दे सकता । जब फलसिद्धि में कर्मों की अपेक्षा आवश्यक है, तब ईश्वर को अधिष्ठाता मानना निरर्थक है। कर्म से ही फलों की सिद्धि हो जाएगी।

फल प्रदान करने में ईश्वर की प्रवृत्ति को स्वार्थमूलक माने या परार्थमूलक? यदि स्वार्थमूलक मानते है तो-

स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत्। (सा.5/3)

स्वयं के उपकार की भावना से अधिष्ठाता होना ईश्वर को लोक के साधारण व्यक्ति के समान बना देता है।

इस सूत्र के 'स्वोपकार' पद में दो समास संभव है। **स्वस्योपकारः स्वोपकारः,** अथवा **स्वीयस्योपकारः स्वोपकारः** अपना उपकार अथवा अपने से सम्बन्ध रखने वाले का उपकार । ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाले वे जीव कहे जा सकते हैं। जो उसकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना व भक्ति करते हैं। ये दोनों स्थिति स्वार्थ-मूलक है। यदि ईश्वर के अधिष्ठातृत्व का यही स्वरूप है, तो वह रागी समझा जाएगा। क्योंकि उसकी प्रवृत्ति अपने तथा अपने आत्मीयों के उपकार करने की है। राग के साथ उसमें द्वेष के अस्तित्व की संभावना आवश्यक है। कोई भी स्वार्थ-भावना से प्रवृत्त हुआ व्यक्ति, रागद्वेष के प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता। इस स्थिति में ईश्वर को पूर्ण आप्तकाम तथा आनन्द धन आदि बताना असगत होगा, और वह लोक में देखे जाने वाले व्यक्ति के समान एक साधारण व्यवहारी पुरुष होगा।

यदि ईश्वर की फलदान प्रवृत्ति में दूसरा कारण माना जाए, और कहा जाए, कि वह परार्थभावना से इसमें प्रवृत्त होता है, तो -

लौकिकेश्वरवदितरथा । (सा.5/4)

अन्यथा लोक में होने वाले राजा महाराजा के समान होगा) ।

इतरथा - स्वार्थभावना से प्रवृत्ति न मानने पर, अर्थात् परार्थभावना से ईश्वर की फलदान प्रवृत्ति मानने की अवस्था में वह एक लौकिक ईश्वर राजा महाराजा आदि के समान समझा जाएगा। लोक में ऐसा देखा जाता है, कि पर उपकार की भावना से प्रवृत्त हुए व्यक्तियों में कुछ-न-कुछ अपने उपकार की भावना अन्तर्निहित रहती है । **'आत्मनस्तु' कामाय सर्व प्रियं भवति (बृह० 3/5/6)** । यदि ईश्वर की ऐसी स्थिति मानी जाती है, तो अन्य सब प्रकार की भावनाओं का उसमें अस्तित्व ऐसे ही मानना पड़ेगा, जैसे एक लौकिक ईश्वर अर्थात् शक्तिशाली व्यक्ति राजा आदि में रहता है। तब ईश्वर एक असाधारण मानव के समान होगा, जिसमें राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, काम, क्रोध, मोह आदि सब भावनाओं का अस्तित्व पाया जाता है। आजकल देश के अनेक अधिकाधिक नेता, जो केवल जनता की सेवाओं का डिण्डिम घोष करते नहीं थकते, वे व्यवहार में साक्षात् स्वार्थ के पुञ्ज देखे जाते हैं। संसार की स्थिति को देखते हुए भी यह कहना कठिन है कि यह रचना-व्यवहार में रूप फलप्रदान की प्रवृत्ति, परोपकार की भावना अथवा जीवों पर करुणा की दृष्टि से हुई है। यदि सचमुच ईश्वर इतनी करुणा से प्रेरित होकर यह रचना करता है, तो उसने संसार को दु:खमय क्यों बनाया ? कोई लूला लंगड़ा है, कोई अन्धा बहरा है, कोई दुर्बल अपाहिज है, किसी को कोई दुख है, किसी को कुछ । सारांश यह, कि सारे संसार में आपाधापी और दु:ख के कारण त्राहि-त्राहि मची हई है। यह रचना करुणामय भगवान की परार्थ की भावना से कैसे कही जा-सकती है । फलत: जगद्रचना अथवा कर्म फलों की सिद्धि के लिए ईश्वर एवं उसके अधिष्ठातृत्व

को स्वीकार करने का कोई आधार बनता नहीं ।

यदि उपर्युक्त दोनों स्थितियों में से ईश्वर की कोई स्थिति संभव नहीं हो सकती, और उसके अस्तित्व को अन्य किसी रूप में स्वीकार किया जाता है, तो वह-

पारिभाषिको वा (सा. 5/5)

अथवा कल्पनामात्र कलेवर (रह जाता है)1 केवल एक पारिभाषिक तत्त्व होगा, ऐसा तत्त्व जिसे केवल ईश्वर-वादियों ने अपने मनोविनोद अथवा अन्य भावनाओं की पूर्ति के लिए गढ़ लिया है, एक सम्बलमात्र, जिसकी कोई निश्चित स्थिति अथवा रूप कल्पना नहीं किए जा सकते। वस्तुतः जब ईश्वर की प्रवृत्ति न स्वार्थ-परार्थमूलक प्रतिपादित की जा सके, और न अन्य कोई ऐसी स्थिति हो, जिसकी निश्चित रूपरेखा कल्पना की जा सके, तो वह एक परिभाषामात्र रह जाता है, केवल ईश्वरवादियों की ऐसी कल्पना का विषय, जो उन्होंने अपने शिष्यों के मनस्तोष के लिए खड़ा कर लिया है ।

इन चार सूत्रों के द्वारा सांख्याभिमत ईश्वर के अधिष्ठातृत्व में जो सन्देह प्रकट किया गया है, सूत्रकार उसका उत्तर देता है-

न, रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् (सा. 5/6)

नहीं (पूर्वपक्ष अयुक्त है), रागादि के विना भी ईश्वरप्रवृत्ति सिद्ध होजाती है प्रत्येक मूल-तत्त्व के व्यवस्थापूर्वक कारण होने से पूर्वपक्ष रूप से ईश्वर के अस्तित्व व अधिष्ठातृत्व में जो सन्देह प्रस्तुत किया है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि ईश्वर में राग आदि के बिना ही फलप्रदान-प्रवृत्ति की सिद्धि होती है। अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व और उसकी फलप्रदान अथवा जगद्रचना की प्रवृत्ति को उस रूप में स्वीकार किया जाता है, जहां राग आदि की कल्पना नहीं की जा सकती। हेतु है- प्रतिनियतकारणवात् प्रत्येक मूल तत्त्व की नियतकारणता। जो जगत् के मूलकारण हैं, उन सबकी कारणता अपने-अपने रूप में व्यवस्थित है। यह एक ऐसा निश्चित क्रम अथवा ऐसी व्यवस्था है, जिसमें किसी परिवर्तन की आशंका नहीं की जासकती। जगत् का मूल उपादान प्रकृति है, परन्तु वह अचेतन होने से स्वयं प्रवृत्त होने में असमर्थ रहती है। अतः अपनी प्रवृत्ति के लिए उसे एक चेतन की प्रेरणा आवश्यक है। प्रकृति का प्रेरक वह चेतन ही ईश्वर है। उसकी प्रेरकता में किसी तरह के राग या द्वेष आदि की संभावना नहीं की जा सकती। क्योंकि प्रकृति को जगद्रूप में परिणत होने के लिए प्रेरणा देना उसका स्वभाव है। यह एक ऐसी निश्चित व्यवस्था है, जिसमें कभी किसी परिवर्तन की आशंका नहीं की जा सकती । ईश्वर की करुणा और न्याय इसी में सन्निहित है कि उसकी प्रेरणा से अनुगृहीत जगत्सृष्टि में समस्त जीव अपने कर्मों का अनुष्ठान करें, और उसके अनुसार अपने कर्मफलों का उपभोग करें। जगत्सृष्टि में संसार में जो लुले लंगडे अन्धे बहरे और अन्य प्रकार के अपंग या अपाहिज दुःखी व्यक्ति देखे जाते हैं, यह सीधी ईश्वर की रचना नहीं है। इस प्रकार की रचना में प्रकृति के साथ जीव के कर्मों का सहयोग बराबर रहता है, उसी के अनुसार यह रचना हुआ करती है। जब वादी ईश्वर को हटाकर केवल कर्म के आधार पर दुःख सुख आदि की प्राप्ति और उसके साधनभूत जगत् की रचना को स्वीकार करता है, तब ईश्वर के मानने पर वह कर्म को क्यों भूल जाता है? वस्तुतः कर्म-क्रियाजन्य संस्कार अथवा धर्म-अधर्म जो भी है, सब अचेतन रूप है, वह स्वयं जगत् के इस रूप में व्यवस्थित नहीं हो सकता । उसका आधार आत्मा, चेतन होने पर भी अल्पज्ञ तथा अल्पशक्ति होने के कारण कर्मों का फलों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए इस अनन्त विस्तार से सम्पन्न संसार में असमर्थ रहता है। इसलिए यह सब व्यवस्था अचिन्त्यशक्ति ईश्वर के सामर्थ्य में हो पाती है। समस्त प्रकृति और जीव-जगत् पर व्यवस्था एवं कर्मफलसिद्धि की दृष्टि से उसका पूर्ण नियन्त्रण है। इस प्रकार विश्वसृष्टि के मूलतत्त्वों की कारणता अपने-अपने रूप में व्यवस्थित है । प्रकृति इस विश्व का मूल उपादान है, उसके अचेतन होने के कारण चेतन ईश्वर उसका प्रेरक है। यह सत्ता अपरिणामी, अक्षर, नियन्ता एवं सदा एकरूप रहने वाली स्वीकार की जाती है। जीव चेतन इस प्रकृति के साथ लिप्त रहता, कर्मों को करता और भोगता है। इस प्रकार एक चेतन अभोक्ता एवं नियन्तामात्र है, अन्य चेतन इस प्रकृति के भोक्ता है, और अचेतन प्रकृति परिणामिनी एवं भोग्य है। इस रूप में ये तत्त्व अपनी-अपनी सीमा में कार्य करते हुए विश्वसृष्टि की समस्या को पूर्ण करते हैं। फलतः समस्त विश्व पर ईश्वर का अधिष्ठातृत्व निर्धारित होता है। उसकी प्रेरणा के मूल में किसी प्रकार के राग द्वेष आदि की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि उसका यह अपना स्वभाव है। यदि वहां यह न हो, तो उसका अस्तित्व ही आपद्ग्रस्त हो जाएगा, फिर सृष्टिरचना की समस्या का कोई निर्दोष समाधान मिलना अशक्य होगा।

शिष्य आशंका करता है, ईश्वर प्रकृति का अधिष्ठाता होने पर प्रकृति के संपर्क में अवश्य आएगा, तब उसे नित्यशुद्ध, आनन्द अथवा नित्यमुक्तस्वभाव कैसे कहा जासकता है? ऋषि सूत्रकार समाधान करता है-

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः (सा. 5/7)

प्रकृति के साथ नियन्तारूप में संपर्क होने पर भी ईश्वर नित्यमुक्त नहीं रहता (ऐसा नहीं है) अधिष्ठाता एवं नियन्ता ईश्वर का प्रकृति

के साथ योग होने पर भी, 'न नित्यमुक्तः' वह नित्यमुक्त नहीं रहता, 'न' यह बात नहीं है। अभिप्राय यह है, कि प्रकृति के साथ ईश्वर का सम्पर्क केवल उसका नियन्त्रण करने के लिए है, इस रूप में प्रकृति के साथ सम्पर्क होने पर ईश्वर के नित्यमुक्त, शुद्ध, आनन्द आदि स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। इसका कारण पहले (छठे सूत्र के हेतु-पद में अन्तर्निहित है। जहां प्रत्येक मूलतत्त्व की कारणता के अपने विशिष्टरूप की ओर संकेत किया गया है। प्रकृति के साथ उसी सम्पर्क में मुक्तता की हानि और बन्धन अवस्था की प्राप्ति होती है, जहां प्रकृति को भोग्यरूप में पकड़ा जाता है। ईश्वर के द्वारा प्रकृति के नियन्त्रण में यह स्थिति नहीं है।

शिष्य आशंका करता है, जगत् का मूल उपादान प्रकृति है, और ईश्वर उसमें प्रेरणात्मक सहयोग देता है, तब उस प्रकृतिरूप प्रधानशक्ति के सहयोग से ईश्वर में कुछ उपादानता का अंश स्वीकार किया जाना चाहिए। अभिप्राय यह है, कि जब ये दोनों मिलकर जगत् को बनाते हैं, तब प्रकृति के समान ईश्वर में भी क्यों न उपादानता स्वीकार की जाए। दोनों उपादान माने जाने चाहिये ।

सूत्रकार अगले सूत्र से इसका समाधान करते है-

प्रधानशक्तियोगाच्चेत् संगापत्तिः (सा. 5/8)

प्रकृतिरूप उपादानकारण के सहयोग से यदि (ईश्वर को उपादान माना जाए, तो) उसमें संगदोष की प्राप्ति होती है। यदि यह कहा जाए, कि प्रकृति के सहयोग में ईश्वर भी जगत् का उपादान है, तो ईश्वर में संग की आपत्ति अर्थात् संग-दोष उपस्थित होता है। ईश्वर को एक ऐसी शक्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है, जो अपना कार्य करने में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। यदि ईश्वर को जगत् का उपादान माना जाता है, और उसमें प्रकृति को उसका सहयोगी या सहायक स्वीकार किया जाता है, तो ईश्वर की स्थिति ऐसी होजाती है, कि उसको अपने कार्य में किसी साथी-संगी की आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में उसके पूर्णशक्तिरूप की हानि होकर उसमें संग-साहाय्यरूप तथा परिणामरूप दोष की प्राप्ति होती है; क्योंकि 'संग' पद का अर्थ संघात भी है, और संघात परिणाम का फल है, इसलिए परिणामिनी प्रकृति के समान ईश्वर को भी जगत् का उपादान मानने पर परिणामी मानना होगा, जो इष्ट नहीं। वस्तुस्थिति यह है, कि ईश्वर का कार्य प्रकृति का केवल नियन्त्रण करना है, और उस कार्य को सम्पन्न करने में वह सर्वथा अन्य-निरपेक्ष है, उसके लिए उसे किसी साहाय्य की आवश्यकता नहीं होती, और न वह स्वयं जगरूप में परिणत होता है ।

शिष्य इस स्थिति को जानकर, कि ईश्वर की उपादानता में प्रकृति का साहाय्य स्वीकार करने पर उसमें 'सङ्ग' दोष की प्राप्ति होती है, कह उठता है-फिर प्रकृति का साहाय्य उसमें माना ही क्यों जाए ? केवल ईश्वर अपनी सत्ता से समस्त जगत् को उत्पन्न कर देता है, अर्थात् पूर्णरूप से ईश्वर ही समस्त जगत का मूल उपादान है, यही क्यों न मान लिया जाए ? महर्षि कपिल इस का उत्तर देते है -

सत्तामात्राच्चेत् सर्वेश्वर्यम् (सा. 5/9)

केवल अपनी सत्ता से यदि (ईश्वर उपादान हो, तो) सब जगत् ईश्वर का रूप होना चाहिए ।

यदि ईश्वर अपनी सत्ता से - अपने स्वरूप से ही समस्त जगत् को उत्पन्न कर देता है, तो मूल उपादान के समान यह समस्त संसार भी पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त होना चाहिए । 'ऐश्वर्ययुक्त' का अभिप्राय है, कि ईश्वर का जो स्वरूप है, वैसा ही समस्त जगत् का होना चाहिए। वेद तथा उपनिषद् आदि में ईश्वर के जिस स्वरूप का वर्णन किया गया है, वह ईश्वर को सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य पवित्र और सृष्टि का नियन्ता आदि अवस्था परिपूर्ण बताता है। पर दृश्यमान जगत् के स्वरूप में इन अवस्थाओं का सर्वथा अभाव है। इसीलिए ईश्वर को किसी भी स्थिति में जगत् का उपादान नहीं माना जासकता । इसके अतिरिक्त यह है, कि ईश्वर को चाहे किसी रूप में जगत् का उपादान माना जाए, उसे परिणामी अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। परिणामी मानने पर वह विकारी होगा, और नित्य एकरस न कहकर फिर उसे अनित्य, परिवर्तन-शील मानना होगा। यह स्वरूप चेतन का कदापि नहीं कहा जासकता। जब चेतना यहां से हटी, तो यह जड़ प्रकृति का स्वरूप रह गया। यह कभी नहीं देखा जाता, कि चेतन का परिणाम होता हो, और वह भी अचेतन रूप में। सांख्य में चेतन और अचेतन के स्वरूप को स्पष्ट करने का यह एक मुख्य आधार माना गया है, चेतन अपरिणामी होता है, और अचेतन परिणामी । फलत ऐसा चेतन, जो अचेतनरूप में परिणत हो रहा हो, कहीं नहीं जाना गया। वस्तुतः चेतन में कोई भी परिणाम असंभव है ।

सूत्रकार अगले सूत्रों से चेतन के परिणाम का प्रत्याख्यान करता है-

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः। (सा. 5/10)

प्रमाण के अभाव से, चेतन-परिणाम की सिद्धि नहीं होती। यद्यपि सूत्र में साधारण 'प्रमाण' पद का निर्देश है, परन्तु अग्रिम सूत्र में अनुमान के अभाव से चेतन-परिणाम की असिद्धि का प्रतिपादन होने के कारण इस सूत्र में 'प्रमाण' पद केवल प्रत्यक्ष का अतिदेश करता है। अभिप्राय यह है, कि प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव से अर्थात् कहीं भी ऐसा न देखे जाने से, कि चेतन अचेतन रूप में परिणत होता है, चेतन के परिणाम की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए जड़ जगत् के रूप में परिणत होने वाले अर्थात् जगत् के उपादानभूत चेतन ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जासकता।

सम्बन्धाभावान्नानुमानम् (सा. 5/11)

व्याप्ति न बनने से अनुमान नहीं।

उक्त अर्थ की सिद्धि में जब प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, तब व्याप्यव्यापक के सम्बन्ध का ग्रहण न होने से अनुमान भी उस अर्थ को सिद्ध करने में असमर्थ होगा। इसके विपरीत ये दोनों प्रमाण अचेतन जगत् के अचेतन उपादान को सिद्ध करते हैं। लोक में देखा जाता है, कि घट मणिक तथा कुण्डल रुचक आदि अपने सजातीय मृत्पिण्ड तथा कनकपिण्ड आदि के ही कार्य होते हैं। इसी प्रकार यह त्रिगुणात्मक जड़जगत् सत्त्व-रजस्-तमोरूप जड़प्रकृति का परिणाम सम्भव हो-सकता है।

इस अर्थ की सिद्धि में सूत्रकार शब्द प्रमाण का भी निर्देश करता है-

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य। (सा. 5/12)

वेद भी (जगत् को) प्रकृति के कार्य होने का (उल्लेख करता है)।

श्रुति श्रर्थात् वेदरूप शब्दप्रमाण इसी अर्थ को सिद्ध करता है, कि यह समस्त जड़जगत् प्रधान (त्रिगुात्मिका प्रकृति) का ही कार्य है। 'अजामेकां' (श्वेता० 4/5) 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० 1/164/20) 'दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते' (ऋ० 10/64/5) 'देवानां नु वयं जाना' (ऋ० 10/72/1-6) 'अपाङ प्राङेति स्वधया' (ऋ० 1/164/38) 'आनीदवातं स्वधया तदेकं' (ऋ०10/126/2-3) 'त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्' (अथर्व० 10/8/43) आदि अनेक सूक्तों एवं श्रुतियों में प्रकृति की उपादानकारणता का स्पष्ट और विशद वर्णन उपलब्ध है। सूत्र में 'अपि' पद इस अर्थ की पुष्टि के लिए अनुमान आदि प्रमाणो का संग्राहक है।

इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा वेदादि शब्द प्रमाण के आधार पर परमात्म-सम्बन्धी इस प्रसंग में यह निर्धारित किया गया है, कि जगत् का उपादान कारण परमात्मा नहीं, जड़ प्रकृति है, परमात्मा केवल निमित्त कारण है, एवं जगत् का नियन्ता व अधिष्ठाता है। वही जीवो के कर्मो का फलप्रदाता है, ईश्वर के बिना केवल कर्मो द्वारा जीवों के फलोपभोग आदि जगत् का संचालन सभव नहीं। फलतः महर्षि कपिल ने अपने दर्शन में जगत् के उपादानभूत ईश्वर को असिद्ध बताया है, (ईश्वरासिद्धेः) सूत्र के द्वारा जगत् के नियन्ता व अधिष्ठाता ईश्वर को स्वीकार किया है)।

स्मरणीय बिंदु-

1. ईश्वर जगत का अधिष्ठाता है।
2. ईश्वर सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान है।
3. प्रकृति जड़ तत्व है।
4. जीव ईश्वर के अधीन है।
5. आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य ईश्वरप्राप्ति है।

शब्दावली-

1. अधिष्ठाता - नियामक एवं संचालक
2. ईश्वर - सर्वोच्च सत्ता
3. जीव - चेतन आत्मा
4. प्रकृति - जड़ मूल तत्व
5. सर्वज्ञ - सब कुछ जानने वाला BLOCK - 3 : लिङ्गादि का स्वरूप

5 अंक के प्रश्न-

1. अधिष्ठाता का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. ईश्वर का स्वरूप क्या है?
3. जगत में ईश्वर की भूमिका बताइए।
4. सांख्यदर्शन में ईश्वर की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
5. ईश्वर एवं जीव के संबंध को स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. ईश्वर के अधिष्ठातृत्व का दार्शनिक विवेचन कीजिए।
2. सांख्यदर्शन में ईश्वर की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।
3. ईश्वर एवं जगत के संबंध का अध्ययन कीजिए।
4. ईश्वर, जीव एवं प्रकृति के पारस्परिक संबंध को स्पष्ट कीजिए।
5. आध्यात्मिक साधना में ईश्वर की आवश्यकता का विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

क. अधिष्ठाता कौन है?

(1) जीव
(2) ईश्वर
(3) मन
(4) बुद्धि

ख. ईश्वर किसका नियामक है?

(1) जगत
(2) केवल शरीर
(3) व्यापार
(4) निद्रा

ग. सांख्यदर्शन में प्रकृति किससे संबंधित है?

(1) जड़ तत्व
(2) आत्मा
(3) ईश्वर
(4) ज्ञान

घ. ईश्वर का प्रमुख गुण क्या है?

(1) अज्ञान
(2) सर्वज्ञता
(3) मोह
(4) निद्रा

ङ. आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य क्या है?

(1) भोग
(2) ईश्वरप्राप्ति
(3) विवाद
(4) संग्रह

खण्ड- 3 लिंगादि का स्वरूप
इकाई-3.1 अविद्या का स्वरूप

उद्देश्य-

1. अविद्या की अवधारणा को समझना।
2. अविद्या और बन्धन के संबंध का अध्ययन करना।
3. सांख्य दर्शन में विवेकज्ञान की आवश्यकता को स्पष्ट करना।

अखिल विश्व वाङ्मय में तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में भारतीय चिन्तन प्रणाली का अद्वितीय स्थान है। भारतीय दर्शन में परम तत्त्व के साक्षात्कार को प्रधान तथा बौद्धिक चिन्तन को गौण माना गया है, जबकि पाश्चात्य दर्शन में बुद्धिवाद पर अधिक बल दिया गया है। वस्तुत: भारतीय दर्शन का इतिहास सत्यान्वेषण का रहा है। यह सत्यान्वेषण है-परम तत्त्व का, और उस परम तत्त्व की प्राप्ति तब तक नहीं की जा सकती जब तक विवेक ज्ञान की प्राप्ति न हो जाये। विवेक ज्ञान की प्राप्ति में बाधक तत्त्व अविद्या ही है। अत: भारतीय आर्ष ग्रन्थों में महर्षि 'अविद्या' को परिभाषित करते हुए इससे मुक्ति के उपायों का निरुपण करते हैं। किसी भी व्यक्ति विशेष अथवा परिस्थिति विशेष से दु:खों की प्राप्ति नहीं होती अपितु अविद्या ही समस्त कष्टों का मूल कारण है। कोई भी व्यक्ति किसी अन्य मनुष्य के जीवन में भगवद् इच्छा से ही प्रवेश करता है किन्तु अविद्या वशीभूत वह व्यक्ति यह सोचता है कि इसके कारण मेरे जीवन में दु:ख है, कष्ट है, यह यदि जीवन में न रहे तो सम्भवत: मैं सुखी हो सकता हूँ, किन्तु जीवन में अविद्या की विद्यमानता में ही दु:ख कष्ट विद्यमान रहते हैं।

जगत् में जितने भी दु:ख अनुभव में आते हैं, उन सबका मूल कारण मिथ्याज्ञान है। किसी भी व्यक्ति अथवा परिस्थिति से दु:खों की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु स्वयं के द्वारा ही किये गये अविद्याजन्य अशुभ कर्मों से विभिन्न प्रकार के दु:खों का सामना करना पड़ता है। मनुष्यों की धारणा अन्यों पर दोष मढ़ने की अत्यधिक प्रतीत होती है। व्यक्ति चाहता है सब मेरे अनुसार व्यवहार करें और जब ऐसा नहीं होता है तो व्यक्ति को कष्ट होता है। इसका मूल कारण अविद्या ही है। अविद्या का अर्थ दो प्रकार से किया जाता है-

प्रथम पारिभाषिक रूप में देखें तो अविद्या से तात्पर्य है- 'अज्ञान' अथवा मिथ्याज्ञान और दूसरा यौगिक अर्थ करें तो अविद्या अर्थात् विद्या से भिन्न ज्ञान जो यथार्थ नहीं हैं। विद्या का अर्थ है-सत्य ज्ञान अथवा तात्त्विक ज्ञान। **विद्या के दो प्रकार हैं-एक परा विद्या जिसे आत्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्या भी कहा जाता है।** क्योंकि परा विद्या के द्वारा मोक्ष अर्थात् परम तत्त्व (परमानन्द) की प्राप्ति की जाती है। दूसरी अपरा विद्या जिसको सगुण ज्ञान कहा जाता है। भौतिक पदार्थों का ज्ञान जिससे अभ्युदय की प्राप्ति होती है, यही अपरा विद्या कहलाती है। अविद्या का अर्थ 'न विद्येति' नहीं है, अपितु जो विद्या से विपरीत ज्ञान है, वह अविद्या अथवा मिथ्याज्ञान कहलाता है।

अविद्या को शास्त्रों में पाँच प्रकार से निरुपित किया है-

(1) तमस् (अंधकार)
(2) मोह (भ्रम)
(3) महामोह
(4) तामिस्त्र
(5) अन्धतामिस्त्र

वादी कहता है, कि अन्य वस्तु में अन्य आकार की प्रतीति होना अविद्या स्वरूप हम नहीं मानते। प्रत्युत विद्या से अन्य अविद्या है, जो अनादि और अखण्ड है। उसका योग, ब्रह्म अर्थात् चेतन तत्त्व को जगत् का उपादान होने में सहायता देता है। सूत्रकार इसमें दूषण बताते देता है-

विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाधप्रसंग: (सा. 5/16)

विद्या से अविद्या के भिन्न माने जाने पर ब्रह्म की बाधा प्राप्त होजाती है।

यदि आपके विचार से अविद्या एक ऐसा तत्त्व है, जो विद्या से भिन्न है, और अनादि अखण्ड होने से अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, और उसी के सहयोग से आप ब्रह्म अर्थात् चेतन तत्त्व में जगत् का उपादान होने का उपपादन करते है, तो फिर उसी तत्त्व को जगत् का उपादान कहना चाहिए। ऐसी स्थिति में ब्रह्म को जगत् का उपादान मानने में बाधा की प्रसवित होजाती है। आप ब्रह्मको उपादान बनाने चले थे, पर आपके ही कहने से वह अन्य तत्त्व उपादान बन गया। इस प्रकार ब्रह्म की उपादानता में स्वत: बाधा प्राप्त हो जाती है ।

फिर भी ब्रह्म को उपादान मानने का आग्रह करने की अवस्था में सूत्रकार दोष उपस्थित करता है-

अबाधे नैष्फल्यम् (सा. 5/17)

बाधा न होने पर निष्फल होना अखण्ड अविद्या का निश्चित है ।

यदि फिर भी आप ब्रह्म की उपादानता को अबाध मानते है । अर्थात् विद्या से अतिरिक्त अविद्या को अनादि अखण्ड स्वतन्त्र अस्तित्व वाला तत्त्व मान लेने पर भी यदि ब्रह्म ही उपादान माना जाता है, तो अविद्या के ऐसे स्वरूप को स्वीकार करना निष्फल है। वस्तुतः अविद्या का स्वतन्त्र सद्भाव मानने का स्वारस्य व सामञ्जस्य इसी में है, कि जगत् का उपादान उसी को मान लिया जाए, जबकि उसके सहयोग के बिना ब्रह्म को उपादान मानने की कल्पना संभव न हो सकती हो। यदि फिर भी ब्रह्म को उपादान मानने का आग्रह बना रहता है, तो अविद्या का ऐसा स्वरूप मानना सर्वथा व्यर्थ है । विद्या नाम ज्ञान का है, जो चेतन का स्वरूप है। यदि विद्या अर्थात् चेतन से अतिरिक्त अचेतन तत्त्व का अस्तित्व भी चेतन के समान स्वतन्त्र है, तो यह सांख्य के प्रधान तत्त्व की समान-स्थिति में आ जाता है, तब वही उपादान होगा, अन्यथा उसे वैसा मानना व्यर्थ होगा ।

अविद्या का स्वरूप चाहे जो कुछ हो, पर अविद्या विद्या का विरोधी तत्त्व है। इस अवस्था में विद्या से अविद्या का बाध होता है, या नहीं, यह विकल्प करके सूत्रकार दूषण देता है-

विद्याबाध्यत्वे जगतोऽप्येवम्। (सा. 5/18)

विद्या द्वारा अविद्या की बाधा होने पर जगत् की भी ऐसे बाधा हो जानी चाहिए ।

यदि यह माना जाता है कि विद्या से अविद्या की बाधा हो जाती है, और यह जगत् अविद्या का रूप है तो किसी एक व्यक्ति को आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर उस यथार्थज्ञान या विद्या से अविद्या का बाध हो जाएगा, तब उसके कार्य जगत् का भी बाध हो जाना चाहिए, अर्थात् जगत् की प्रतीति फिर न होनी चाहिए। पर प्रत्यक्ष में ऐसा नहीं है, आत्मज्ञान हो जाने पर भी जगत् का अस्तित्व और प्रतीति वैसे ही बने रहते हैं। इससे परिणाम निकलता है, कि विद्या से बाध्य अविद्या का स्वरूप या कार्य यह जगत् नहीं है ।

जैसे विद्या से जगत् का बाध नहीं होता, क्योंकि आत्मज्ञान होने पर भी जगत् वैसा ही बना रहता है, उसीप्रकार अविद्या का भी बाध न होगा, और अविद्या को जगत् का रूप माना जाय, तो-

तद्रूपत्वे सादित्वम् (सा. 5/19)

जगत् रूप होने पर अविद्या के, उसका आदि सहित होना मानना होगा।

जगत् का रूप अविद्या को मानने पर, जगत के समान अविद्या को भी सादि मानना पड़ेगा। सादि-आदि सहित, आदि वाला अथ. र्ात् उत्पन्न होने वाला, जैसे जगत् उत्पन्न होता है, वैसे अविद्या भी होगी। तब अविद्या को अनादि अखण्ड मानना संभव न होगा । तेरह से उन्नीस तक सात सूत्रों से यह स्पष्ट किया गया, कि अविद्या अथवा मिथ्याज्ञान या अज्ञान ब्रह्मचेतन में संभव नहीं हो सकता, और न अविद्या अनादि अखण्ड तत्त्व संभावित हो सकता है, जिसके सहयोग से चेतन को जगत् का उपादान प्रतिपादित किया जा सके। इसी प्रकार अविद्या और ब्रह्म अर्थात् जड़ और चेतन दोनो मिलित भी जगत् के उपादान संभव नहीं हो सकते। अभिप्राय यह है, कि उपादानता के अंश में चेतन का यत्किञ्चित् भी सहयोग नहीं रहता, न स्वतन्त्ररूप से न अन्य किसी के साथ मिलकर। यद्यपि जगत् के निर्माण में दोनों प्रकार के तत्त्वों का पूर्ण सहयोग रहता है, पर उनके कार्य की अपनी सीमा निर्धारित है। केवल जड़ अविद्या अथवा प्रकृति या प्रधान जगत् का उपादान है, और चेतन नियन्ता अधिष्ठाता अथवा साक्षी। इससे अतिरिक्त और कोई भाव निर्माण में अपेक्षित नहीं रहता।

स्मरणीय बिंदु-

1. अविद्या पुरुष और प्रकृति के अविवेक को कहते हैं।
2. अविद्या बन्धन का मूल कारण है।
3. विवेकज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।
4. सांख्य दर्शन में ज्ञान का विशेष महत्त्व है।

शब्दावली-

1. अविद्या - अज्ञान
2. विवेक - भेदज्ञान
3. पुरुष - चेतन तत्व
4. प्रकृति - जड़ तत्व

5. मोक्ष – मुक्ति
6. बन्धन – संसारिक आसक्ति

5 अंक के प्रश्न–

1. अविद्या का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. सांख्य दर्शन में अविद्या के कारण क्या हैं?
3. विवेकज्ञान से अविद्या कैसे नष्ट होती है?
4. अविद्या और बन्धन में संबंध स्पष्ट कीजिए।
5. पुरुष और प्रकृति के अविवेक को अविद्या क्यों कहा गया है?

15 अंक के प्रश्न–

1. सांख्य दर्शन में अविद्या की अवधारणा का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. अविद्या, बन्धन एवं मोक्ष के संबंध का विश्लेषण कीजिए।
3. विवेकज्ञान द्वारा अविद्या नाश की प्रक्रिया को समझाइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. सांख्य दर्शन में अविद्या का मुख्य कारण क्या है?

(1) ज्ञान
(2) विवेक
(3) पुरुष-प्रकृति का अविवेक
(4) मोक्ष
उत्तर: (3)

2. अविद्या का नाश किससे होता है?

(1) कर्म
(2) विवेकज्ञान
(3) निद्रा
(4) तृष्णा
उत्तर: (2)

3. अविद्या किसका कारण है?

(1) मोक्ष
(2) बन्धन
(3) आनंद
(4) समाधि
उत्तर: (2)

4. सांख्य दर्शन में मोक्ष का साधन क्या है?

(1) यज्ञ
(2) तप
(3) विवेकज्ञान
(4) दान
उत्तर: (3)

5. अविद्या का विपरीत क्या है?

(1) तृष्णा
(2) विवेक
(3) राग
(4) द्वेष
उत्तर: (2)

इकाई-3.2 धर्मादि भाव अन्त:करण के धर्म

उद्देश्य-

1. अन्त:करण की प्रकृति को समझना।
2. धर्म, अधर्म आदि भावों का अध्ययन करना।
3. अन्त:करण के कार्यों का विश्लेषण करना।

अन्त:करणधर्मत्व धर्मादीनाम् (सा. 5/25)

धर्म-अधर्म आदि भावों का अन्त:करण (बुद्धि) के धर्म (परिणाम) होना, मान्य है।

धर्म आदि भाव कहां उत्पन्न होते है? यह एक प्रश्न है। धर्म आदि समस्त भाव सत्त्व-रजस्-तमस् रूप है, इसलिए इन्हें निर्माण अथवा परिणाम की दृष्टि से सत्त्व आदि का विकार कहना चाहिए। सांख्यसिद्धान्त के अनुसार प्रकृति के समस्त परिणाम परार्थ है, अत: बुद्धि आदि भी परार्थ है, वह 'पर' है - आत्मा । उस चेतन आत्मा के भोग और अपवर्ग के लिए प्रकृति का बुद्धि आदि परिणाम होता है। सत्त्व आदि की जो धर्म आदि भावों के रूप में परिणति है, वह बुद्धि में होती है, परन्तु उसकी अनुभूति आत्मा में होती है। शरीर अथवा बुद्धि आदि के द्वारा सम्पादित किए जाने वाले समस्त क्रिया-कलाप आत्मा के अस्तित्व के विना संभव नहीं हो सकते, और वह सब आत्मा के लिए है, इसलिए अनुकूल अथवा प्रतिकूल अनुभूति तो आत्मा को होती है, परन्तु त्रिगुणात्मक होने से धर्म आदि परिणाम बुद्धि में संभव है, इसीलिए धर्म आदि भावों को अन्त:करण का धर्म माना गया है।

जगत्सर्ग परार्थ कहा गया है। यदि धर्मादिभाव अन्त:करण के धर्म है, तो आत्मा क लिए इनका उपयोग कैसे होगा ? अनुपयुक्त होने से धर्मादि की तथा इनके कारणभूत सत्त्व-रजस्तमस् गुणों की व्यर्थता हो जाएगी, तब इनका होना न होना बराबर है। इसको सूत्रकार बताते है-

गुणादीनाञ्च नात्यन्तबाध: (सा. 5/26)

और गुण आदि का थोड़ा भी अनुप्रयोग नहीं ।

गुण- सत्त्व, रजस् तमस् और आदि पद ग्राह्य-उनके कार्य धर्म आदि भाव तथा अन्य कार्यो की सर्वथा बाधा अनुपयुक्तता या व्यर्थता नहीं कही जा सकती। सूत्र के 'अत्यन्त' पद का अभिप्राय 'यत्किञ्चिदपि' प्रकट होता है, अर्थात् थोड़ा-सा भी अनुपयोग नहीं समझना चाहिए । गुणों का बाधित होना उसी अवस्था में संभव है, जब आत्मा के लिए उनका कोई उपयोग न हो। यदि गुण गुणों के लिए ही हों, आत्मा के भोगादि को सिद्ध न करते हों, तो उनको बाधित बताना ठीक है। परन्तु सत्त्व आदि गुण आत्मा के लिए भोग-अपवर्ग को सम्पन्न करके अपनी उपयोगिता को स्पष्ट करते है। फलत: गुणों को बाधित या अनुपयोगी नहीं कहा जासकता। परिणाम की दृष्टि से यह ठीक है, कि धर्म आदि बुद्धि अथवा सत्त्व आदि के परिणाम है, परन्तु धर्म आदि की अनुभूति केवल चेतन आत्मा को होती है, अत: उनका अधिष्ठान चेतन आत्मा ही है ।

सूत्रकार अगले सूत्र से उस उपयोग को स्पष्ट करता है-

पञ्चावयवयोगात् सुखसंवित्ति: (सा. 5/27)

पांच ज्ञानेन्द्रियों के योग से सुखादि का अनुभव होता है।

पांच ज्ञानेन्द्रिय अन्त:करण के पांच अवयवों के समान है। यथाविषय उनके योग अर्थात् रात्रिकर्ष से मुखसंवित्ति सुख की अनुभूति आत्मा को होती है। परिणाम की दृष्टि से धर्म आदि भावों के अन्त:करण का धर्म होने पर भी उनसे होने वाली अनुकूल अनुभूति यदि आत्मा को होती है।

अन्त:करण का सीधा सम्बन्ध बाह्य जगत् के साथ नहीं है। वह पांच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा पूरा होता है। तथा प्रत्येक इन्द्रिय अपने नियत विषय के साथ सम्पर्क स्थापित कर पाती है। इसीलिए सूत्र में 'अवयव' पद से उनका संकेत किया गया है। बाह्यविषय के साथ सीधा सम्बन्ध इन्द्रिय का रहता है, विषयाकार परिणत होकर वह उस विषय को मन तक पहुंचा देती है, मन अहंकार को और अंहकार बुद्धि को देता है । बुद्धि तदाकार होकर उस विषय को आत्मा में समर्पित करती है। इस प्रकार अन्त:करण के अवयवभूत पांच इन्द्रियों के सहयोग से आत्मा को सुखानुभूति होती है। मुख प्रत्येक अन्य भाव का उपलक्षण है। अनुकूल प्रतिकूल समस्त अनुभूतियों में यही क्रम समझना चाहिए ।

अनेक व्याख्याकारों ने सूत्र के 'पञ्चावयव' पद का अनुमान के पांच अवयव-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन - अर्थ किया है। सुखादि की अनुभूति वा संवित्ति में प्रतिज्ञा आदि अवयवों का कोई उपयोग तो नहीं है, पर आत्मा को सुखादि की अनुभूति के प्रतिपादन से सुखादि के कारणभूत सत्त्व आदि गुणों का अनुमान द्वारा अस्तित्व सुतरां सिद्ध होजाता है। ऐसा सूत्रार्थ करना चाहिए

। प्रतिज्ञादि पञ्चावयव के प्रयोग से अनायास ही अतीन्द्रिय पदार्थों का बोध होता है। इस प्रकरण से आत्मा द्वारा सुखादि भावों की अनुभूति का प्रतिपादन करके उनके कारणभूत धर्माधर्म तथा सत्त्व-रजस्तमस् के वास्तविक अस्तित्व को स्पष्ट किया गया है।

स्मरणीक बिन्दु-

1. अन्त:करण में बुद्धि, अहंकार एवं मन सम्मिलित हैं।
2. बुद्धि निर्णय करती है।
3. मन संकल्प-विकल्प करता है।
4. अहंकार कर्तापन का अनुभव कराता है।

शब्दावली-

1. अन्त:करण - आंतरिक साधन
2. बुद्धि - निर्णय शक्ति
3. मन - संकल्प-विकल्प शक्ति
4. अहंकार - 'मैं' भाव
5. धर्म - शुभ आचरण
6. अधर्म - अशुभ आचरण

5 अंक के प्रश्न-

1. अन्त:करण क्या है?
2. धर्म और अधर्म में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. सांख्य दर्शन में बुद्धि का क्या कार्य है?
4. अन्त:करण के मुख्य भेद बताइए।
5. मन और बुद्धि में अंतर स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न

1. अन्त:करण के स्वरूप एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।
2. धर्म, अधर्म, ज्ञान एवं अज्ञान का विवेचन कीजिए।
3. सांख्य दर्शन में बुद्धि, अहंकार और मन का विश्लेषण कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. अन्त:करण का प्रमुख अंग कौन है?

(क) बुद्धि
(ख) शरीर
(ग) इन्द्रिय
(घ) प्रकृति
उत्तर: (क)

2. धर्म किससे संबंधित है?

(क) शुभ कर्म
(ख) अशुभ कर्म
(ग) निद्रा
(घ) मोह
उत्तर: (क)

3. अहंकार का कार्य क्या है?

(क) निर्णय
(ख) कर्तापन का भाव
(ग) स्मृति
(घ) निद्रा

उत्तर: (ठ)

4. **मन का कार्य क्या है?**

(क) निर्णय

(ख) संकल्प-विकल्प

(ग) ज्ञान

(घ) मोक्ष

उत्तर: (ख)

5. **अन्तःकरण कितने प्रकार का माना गया है?**

(क) 2

(ख) 3

(ग) 4

(घ) 5

उत्तर: (ख)

इकाई-3.3 लिङ्ग (अनुमान) का स्वरूप

उद्देश्य-

1. लिङ्ग और अनुमान की अवधारणा को समझना।
2. अनुमान के प्रकारों का अध्ययन करना।
3. सांख्य दर्शन में अनुमान की भूमिका स्पष्ट करना।

पूर्वोक्त प्रसंग में श्रुति और लिङ्ग के आधार पर धर्मादि की जगन्निमित्तता को प्रमाणित किया है। लिङ्ग अर्थात् अनुमान का स्वरूप क्या है, सूत्रकार अगले प्रकरण से इसी अर्थ को स्पष्ट करते है। पहले सूत्र को निर्देशित करते हुए कहते है-

न सकृद्ग्रहणात् सम्बन्धसिद्धिः (सा. 5/28)

एक बार एकत्र ग्रहण से व्याप्ति का निश्चय नहीं होता ।

सम्बन्ध व्याप्ति को कहते है। किन्हीं दो धर्मो का अव्यभिचरित नियत साहचर्य 'व्याप्ति' कहलाता है, जो अनुमान का मुख्य आधार है। ऐसी व्याप्ति की सिद्धि किन्हीं दो के एक बार ही एक साथ या एक जगह ग्रहण होने से नहीं होती, जो वस्तु कृतक अर्थात् बनने वाली है, वह अवश्य अनित्य होती है, 'कृतकत्व' और 'अनित्यत्व' इन दोनों धर्मो का नियत साहचर्य है, एक धर्म दूसरे को छोड़कर रह नहीं सकता, यही इनकी व्याप्ति है। व्याप्ति के लिए धर्मों का एक बार या अनेक बार इकट्ठे ग्रहण होना कोई विशेषता नहीं रखता। वहां अपेक्षा इस बात की होती है, कि उनमें से एक दूसरे को छोड़कर न रह सके। यदि घट के निर्माण के समय हम अनेक बार भी गर्दभ को साथ बंधे देखते हैं, तो भी घट-गर्दभ की व्याप्ति संभव नही हो सकती ।

व्याप्ति के भेद के साथ सूत्रकार ने उसका स्वरूप बताया-

नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः (सा. 5/29)

व्यवस्थापूर्वक धर्मों का इकट्ठा रहना व्याप्ति है, चाहे वह दोनों धर्मों का हो अथवा दोनों में से किसी एक का हो।

साध्य और साधन दोनों धर्मों का परस्पर नियत साहचर्य, अथवा केवल साधनधर्म का साध्य के साथ नियत साहचर्य 'व्याप्ति' है। पहले का उदाहरण 'कृतकत्व' और 'अनित्यत्व' पूर्वसूत्र की व्याख्या में निर्देश कर दिया है। दूसरे का उदाहरण 'धूम' और 'अग्नि' है। धूम अग्नि के विना संभव नहीं, इसलिए धूम की व्याप्ति अग्नि के साथ है, पर अग्नि धूम के बिना भी दग्ध अयोगोलक अथवा अंगार आदि में रहता है, इसलिए अग्नि की व्याप्ति धूम के साथ नहीं बनती। फलतः कहीं दोनों धर्मों का और कहीं एक का अव्यभिचरित साहचर्य व्याप्ति का स्वरूप है। जहां दोनों धूम का परस्पर एक दूसरे के साथ समान साहचर्य होता है, उसे समव्याप्ति, और जहां एक ही धर्म का साहचर्य हो, उसे विषमव्याप्ति कहा जाता है

सूत्रकार प्रतिपादन करता है, कि व्याप्ति कोई अतिरिक्त तत्त्व नहीं है-

न तत्त्वान्तरं वस्तुकल्पनाप्रसक्तेः (सा. 5/30)

व्याप्ति अतिरिक्त तत्त्व नहीं व्यर्थ वस्तुकल्पना की प्रसक्ति से ।

व्याप्ति को अतिरिक्त तत्त्व मानना युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि अतिरिक्त वस्तु की कल्पना व्यर्थ होगी, कारण यह है, कि वहां भी अव्यभिचरित साहचर्य को मानना तो अवश्य अपेक्षित होगा, फिर उसी को व्याप्ति क्यों न मान लिया जाए। अतिरिक्त तत्त्व मानना निष्फल है ।

यदि किन्हीं दो पदार्थों या धर्मों का नियत साहचर्य उनसे कोई अतिरिक्त तत्त्व नहीं है, तो वह क्या है? सूत्रकार स्पष्ट करता है-

निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः । (सा. 5/31)

अपनी स्वाभाविक शक्ति का प्रकट होना (पदार्थों अथवा धर्मों का) साहचर्य है ऐसा कपिलाचार्य कहते हैं।

पदार्थ अथवा धर्मों की निज-सहज शक्ति की अभिव्यक्ति ही उन वस्तुओं अथवा धर्मों का साहचर्य है। किसी वस्तु या धर्म में यह सहज-स्वाभाविक सामर्थ्य रहता है, कि वह किसी का कारण अथवा कार्य हो, या प्रयोजक अथवा प्रयोज्य हो । यह चीज बनाने से नहीं बनती, यह वस्तुओं का अपना स्वभाव है। यही वस्तुओं के साहचर्य के नाम से कहा जाता है, क्योंकि कोई कार्य अथवा प्रयोज्य अपने कारण या प्रयोजक की उपेक्षा करके अपने अस्तित्व का लाभ नहीं कर सकता । इसी साहचर्य के आधार पर एक से दूसरे का अनुमान हो जाता है।

व्याप्ति के विषय में पञ्चशिख का विचार है-

अधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः (सा. 5/32)

आधेय शक्ति व्याप्ति है ऐसा पञ्चशिख आचार्य का कथन है।

पहले विचार का सार यह है - जैसे धूम अग्नि का अनुमापक है, इस स्थल में धूम अग्नि का कार्य है। कोई कार्य कारण के बिना अस्तित्व में नहीं आ सकता । इस प्रकार धूम का अग्नि के साथ साहचर्य अभिव्यक्त होता है। पर यह साहचर्य धूम की अपनी सहज कार्यरूप शक्ति से अन्य कुछ नहीं, इस साहचर्य में कार्यता की छाया दीखती है। क्योंकि यहां धूम कार्य है, इसलिए वह (साहचर्य) उसी का रूप है।

इस विषय में पञ्चशिख का यह कहना है, कि कार्यता आधेयशक्ति है। व्युत्पादन द्वारा हम इस शक्ति का आधान करते हैं। जब तक किसी को यह बोध न कराया जाए, तब तक उसमें (धूम में) अग्नि की अनुमापकता नहीं आ पाती । अन्यथा अव्युत्पन्न व्यक्ति भी अनुमान करले, पर ऐसा नहीं होता। इसलिए यह मानना चाहिए, कि धूम में वह शक्ति सहज नहीं, प्रत्युत आधेय है। उद्‌बोधन द्वारा उपस्थापित कराई जाती है। उसे 'संकेत' भी कह सकते हैं ।

अगले तीन सूत्रों से इसी का प्रतिपादन किया गया है। पहला सूत्र है-

न स्वरूपशक्तिनियमः पुनर्वादप्रसक्तः । (सा. 5/33)

स्वरूपात्मक शक्ति ही व्याप्ति नहीं है, पुनरुक्ति के प्रसंग से ।

सूत्र में 'नियम' पद का अर्थ 'व्याप्ति' है। स्वरूपशक्ति ही व्याप्ति है, अर्थात् वह्नि में धूम की व्याप्ति धूम का स्वरूप ही है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इससे पुनर्वादज अर्थात् पुनरुक्ति की प्रसक्ति हो जाएगी। व्याप्ति को धूम का स्वरूप मानने पर दोनों का एक ही अर्थ होगा। तब 'अग्नि में धूम की व्याप्ति है' इस कथन में धूम की व्याप्ति यह पुनरुक्त होगा, क्योंकि जो धूम है, वही तो व्याप्ति है। फिर इससे फल भी क्या सिद्ध होगा, दोनों के एक होने से 'धूम का धूम है।' 'व्याप्ति की व्याप्ति है' अथवा धूम की व्याप्ति है यह सब एक ही बात है, इससे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता । यह केवल अनर्थक प्रलाप-सा लगता है ।

अगले सूत्र से पुनरुक्ति का हो विवरण करता है-

विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः (सा. 5/34)

विशेषण रूप में अनर्थक होने के प्रसंग से। जब धूम ही व्याप्ति का स्वरूप है, तब उसके साथ विशेषण रूप में इसका कथन करना अनर्थक होगा। कहा जाता है- **'धूमो वह्निव्याप्यः।'** यहां धूम को व्याप्य अर्थात् व्याप्तिविशिष्ट कहा गया है। यदि व्याप्ति धूम का ही रूप है, तो व्याप्ति को धूम का विशेषण कहना अनर्थक होगा।

तृतीय सूत्र से अन्य दोष उपस्थित करता है-

पल्लवादिष्वनुपपत्तेश्च (सा. 5/35)

और पत्ते आदि में अयुक्त होने से ।

पल्लव-पत्ते से, दूरस्थित पुरुष भी वहां विद्यमान वृक्ष का अनुमान कर लेता है। हम कहीं दूर खड़े है, हमें ओट से कुछ थोड़े पत्ते टहनी के साथ दिखाई दे रहे हैं। उनके द्वारा हम वहां विद्यमान वृक्ष का अनुमान कर लेते हैं। हमारा वह ज्ञान यथार्थ होता है। यदि पल्लव में वृक्षानुमापक शक्ति सहज है, तो पत्तों के टूट-कर अलग चले जाने पर भी उन पत्तों से वहां विद्यमान वृक्ष का बोध होना चाहिए। पर ऐसा होता नहीं। यदि पत्ते में, वर्तमान वृक्ष का अनुमान कराने वाली शक्ति को आधेय माना जाता है, तो दोष न होगा; क्योंकि पत्तों के वृक्ष से अलग हो जाने पर आधेय शक्ति नष्ट हो जाती है। तब वहां अनुमान हो जाने की आपत्ति नहीं आती। इस प्रकार पल्लव आदि में अनुपपन्न होने से व्याप्ति को हेतु की निजशक्ति नहीं माना जाना चाहिए। सूत्र में 'च' पद विरोधी हेतुओं की समाप्ति का द्योतक है।

इस प्रसंग को समाप्त करते हुए सूत्रकार इन दोनों विचारों में सामञ्जस्य स्थापित करता है-

आधेयशक्तिसिद्धौ निजशक्तियोगः समानन्यायात् (सा. 5/36)

आधेयशक्ति का निश्चय हो जाने पर यथार्थ अनुमान प्रयोग से सहजशक्ति ही व्याप्ति है, (ऐसा हम जान लेते है) ।

प्रत्येक स्थल में अनुमान के लिए हेतु की व्याप्ति और पक्ष आदि में उसके अस्तित्व अथवा सम्बन्ध का व्युत्पादन आवश्यक है। जब तक किसी को हेतु का पक्ष के साथ व्याप्यव्यापकभाव गृहीत नहीं होता, तब तक अनुमान का होना संभव नहीं । धूम अग्नि का व्याप्य है, अथवा कार्यत्व या उत्पत्तिधर्मकत्त्व अनित्यत्व का व्याप्य है, जब यह जान लिया जाता है, तभी धूम से अग्नि की और कार्यत्व या उत्पत्तिधर्मकत्त्व से अनित्यत्व की अनुमिति होती है। हेतु में व्याप्ति को जान लेना ही 'आधेयशक्ति' अथवा 'संकेत' कहा जाता है, इसकी सिद्धि अर्थात् निश्चय हो-जाने पर हम इस बात को स्पष्टरूप में समझ लेते है, कि व्याप्ति वस्तुतः हेतु की निज

अर्थात् सहजशक्ति ही है। हेतु में अनुमापकता हमारे जान लेने मात्र से आ जाती हो, ऐसी बात नहीं है, वह तो उसमें स्वतः विद्यमान है। उसका जान लेना व्यवहार में उपयोगी होता है। उसके द्वारा हम अनुमान का प्रयोग करते हैं। 'न्याय' पद का अर्थ 'अनुमान का प्रयोग' है। आधेयशक्ति अर्थात् संकेत का निश्चय हो जाने पर समान-यथार्थरूप में अनुमान का प्रयोग होने से यह स्पष्ट हो जाता है, कि निजशक्ति ही योग-सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति है। अभिप्राय यह है, कि व्याप्ति-विषयक ज्ञान अनुमान के प्रयोग में उपयोगी है, इसलिए वह आवश्यक है, पर व्याप्ति का स्वरूप हेतु का सहजधर्म है। ऐसा समझ लेने पर उक्त विचारों में परस्पर कोई असामञ्जस्य नहीं रहता। इसके विपरीत यदि भ्रान्तिवश कहीं अहेतु में व्युत्पादनद्वारा अनुमापकता का प्रधान कर दिया जाए, तो आधेयशक्ति वहां रहने पर भी अनुमिति यथार्थ न होगी। जैसे कोई कहे - जो सींगवाली है वह गाय है, व श्रृंगित्व (सींगवाला होना) में आधेयशक्ति तो है, पर गाय का अनुमान कराने के लिए उसमें सहजशक्ति नहीं है। अभिप्राय यह है कि केवल आधेयशक्ति को व्याप्ति मानने पर सर्वत्र भ्रान्ति-स्थलों में अहेतु पर हेतुता की प्रसक्ति होगी, अहेतु को भी हेतु माना जाने लगेगा। इन सब भावनाओं को प्रकट करने के लिए आचार्य ने सूत्र (31) में 'उद्भव' पद का सन्निवेश किया है। हेतु की साहचर्य अथवा अनुमापकतारूप निजशक्ति का उद्भव (प्रकट होना, ज्ञात होना) व्युत्पादन द्वारा ही होता है, इसलिए पञ्चशिख के विचार की भावना इसी में अन्तर्हित है।

स्मरणीय बिन्दु-

1. लिङ्ग अनुमान का आधार है।
2. धूम अग्नि का लिङ्ग माना जाता है।
3. अनुमान अप्रत्यक्ष ज्ञान प्रदान करता है।
4. सांख्य दर्शन में अनुमान महत्वपूर्ण प्रमाण है।

शब्दावली-

1. लिङ्ग - संकेत
2. अनुमान - तर्क द्वारा ज्ञान
3. हेतु - कारण/संकेत
4. साध्य - सिद्ध होने वाला तत्व
5. प्रमाण - ज्ञान का साधन

3 से 5 अंक के प्रश्न-

1. लिङ्ग का अर्थ क्या है?
2. अनुमान की परिभाषा दीजिए।
3. हेतु और साध्य में अंतर स्पष्ट कीजिए।
4. धूम और अग्नि उदाहरण का वर्णन कीजिए।
5. सांख्य दर्शन में अनुमान का महत्त्व लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. अनुमान के स्वरूप एवं प्रकारों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. सांख्य दर्शन में लिङ्ग की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
3. प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. अनुमान किस पर आधारित है?
   (क) प्रत्यक्ष
   (ख) लिङ्ग
   (ग) शब्द
   (घ) उपमान

उत्तर: (ख)

2. **धूम किसका लिङ्ग है?**

(क) जल

(ख) वायु

(ग) अग्नि

(घ) पृथ्वी

उत्तर: (ग)

3. **सांख्य दर्शन में अनुमान किस प्रकार का प्रमाण है?**

(क) अप्रत्यक्ष

(ख) प्रत्यक्ष

(ग) मिथ्या

(घ) अवैध

उत्तर: (क)

4. साध्य का अर्थ क्या है?

(क) कारण

(ख) सिद्ध होने वाला तत्व

(ग) ज्ञान

(घ) इन्द्रिय

उत्तर: (ख)

5. **हेतु किसे कहते हैं?**

(क) प्रमाण

(ख) कारण

(ग) साधन

(घ) संकेत

उत्तर: (घ)

इकाई-3.4 शक्तिग्रह के निमित्त

उद्देश्य-

1. शक्तिग्रह की अवधारणा को समझना।
2. शब्द और अर्थ संबंध का अध्ययन करना।
3. भाषा एवं ज्ञान में शक्तिग्रह की भूमिका स्पष्ट करना।

त्रिभिः सम्बन्धसिद्धिः (सा. 5/38)

सम्बन्ध का निश्चय तीन साधनों द्वारा होता है

शब्द और अर्थ के वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध का निश्चय हमें तीन साधनों के द्वारा होता है। ऐसे शक्तिग्रह के वे तीन साधन कौनसे है ? व्याख्याकारों ने परम्परा द्वारा बतलाया- आप्तोपदेश, व वृद्धव्यवहार और प्रसिद्धपदसामानाधिकरण्य। जो व्यक्ति जिस वस्तु को यथार्थरूप में जानता है. वह उस विषय में 'प्राप्त' कहा जाता है। उसके उपदेश से हम अर्थ को जान लेते हैं। आप्त ने कहा-यह घट है। हम 'घट' शब्द से उस विशेष अर्थ को जानने लगते हैं। दूसरा शक्ति-ग्रह का साधन 'वृद्धव्यवहार' है। एक अनुभवी वृद्ध ने दूसरे से कहा-गाय ले आओ। वह गाय ले आता है। समीप बैठा हुआ बालक उस शब्द को सुनता है, बौर उसके अनन्तर दूसरे व्यक्ति के द्वारा लाए जाने वाले पशु को भी देखता है। वह जान लेता है. कि 'गाय' इस पशु का वाचक है, या इसका नाम है । जव वृद्ध शुक्ला गौ ले आओ अथवा कृष्णा गौ ले आओ कहता है, और दूसरा पुरुष उसके अनुसार पशु को ले आता है, तो अव्युत्पन्न बालक उससे 'शुक्ल' और 'कृष्ण' शब्दों के अर्थ को जान लेता है, और उसके अनन्तर स्वयं वैसा ही व्यवहार करने लगता है। तीसरा साधन - 'प्रसिद्धपदसामानाधिकरण्य' अथवा 'प्रसिद्धपदसान्निध्य' है। 'प्रसिद्ध' पद का अर्थ है - अपने द्वारा प्रथम जाना हुआ अथवा निश्चय किया हुआ। उसके सम्पर्क से हम उसके सहयोगी दूसरे शब्द के अर्थ को समझ लेते हैं। किसीने कहा-वसन्त में ग्राम के वृक्ष पर 'पिक' बोल रहा है। सुनने वाले ने यह जाना हुआ है, कि ऋतु वसन्त में आम का बौर फूलने पर कोयल आकर्षक रूप में बोला करती है। वह उपर्युक्त वाक्य में 'पिक' शब्द का अर्थ 'कोयल' समझ सूत्रकार ने कहा-

न कार्ये नियम उभयथादर्शनात् (सा. 5/39)

कार्य अर्थात् केवल क्रियाबोधक वाक्य में वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध रहता हो, ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि दोनों प्रकार के वाक्यों में समानरूप से अर्थबोधकता शक्ति देखी जाती है। 'अहह: सन्ध्यामुपासीत' 'अग्निहोत्रं जुहुयात' इत्यादि विधिवाक्यों में जैसे सन्ध्योपासना और अग्निहोत्र होम का बोध होता है, इसी-प्रकार 'हरिर्देवाधिदेव:' 'जगदधिपतिरीश्वर.' 'पुत्रस्ते जात:' इत्यादि वाक्यों में विधि न होने पर भी अर्थबोध होता है । अर्थबोध के लिए शक्तिग्रह आवश्यक है, वह शब्द चाहे विधिवाक्य में प्रयुक्त हो, अथवा सिद्धवाक्य में ।

लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः । (सा. 5/40)

लोक में शब्दार्थसम्बन्ध जाने हुए को वेद के अर्थ का ज्ञान होजाता है।

लोक में व्युत्पन्न पुरुष को वेदार्थ की प्रतीति हो जाती है। जो व्यक्ति लोक मे शब्दशक्ति का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वे वेदार्थ के ज्ञान में भी सुविधा से प्रवृत्त हो सकते हैं। ऐसा नहीं है, कि लोक में शब्दशक्ति भिन्न हो, और वेद में भिन्न। 'य एव लौकिकास्त एव वैदिका: शब्दा:' ऐसी कहावत है। लोक से वेद में जो विशेषता है, आगे उनको जानने का यत्न करना चाहिए। तात्पर्य यह कि शब्द-शक्ति का प्रकार दोनों ही समान है ।

न त्रिभिरपौरुषेयत्वाद्वेदस्य तदर्थस्याप्यतीन्द्रियत्वात् (सा. 5/41)

वेद के अपौरुषेय होने से और उसके (वेद के) अर्थ के भी अतीन्द्रिय होने से तीन के द्वारा (शब्दार्थसंबंन्ध का ग्रहण) नहीं ।

वेद के अपौरुषेय होने के कारण तथा वेदार्थ के अतीन्द्रिय होने के कारण उक्त तीन साधनों से वेद में शक्तिग्रह संभव नहीं है। जब शक्तिग्रह न होगा, तब वेदार्थ का ज्ञान कैसे हो सकता है। शक्तिग्रह के तीन साधन - आप्तोपदेश, वृद्ध-व्यवहार और प्रसिद्धपदसान्निध्य बताए गए हैं। वेद के अपौरुषेय होने से उसमें आप्तोपदिष्टता संभव नहीं हो सकती । वेदप्रतिपाद्य अर्थ के अतीन्द्रिय होने के कारण वृद्धव्यवहार आदि की वहां संभावना नहीं। ऐसी स्थिति में वेदशब्द में शक्तिग्रह न होनेसे वेदार्थ का ज्ञान असंभव है।

स्मरणीय प्रश्न-

1. शब्द अर्थ को प्रकट करता है।
2. शक्तिग्रह भाषा ज्ञान का आधार है।
3. वाचक शब्द होता है और वाच्य अर्थ।
4. शब्द शक्ति से संप्रेषण संभव होता है।

शब्दवली-

1. शक्तिग्रह - शब्दार्थ संबंध ज्ञान
2. वाचक - शब्द
3. वाच्य - अर्थ
4. शक्ति - अभिव्यक्ति सामर्थ्य
5. भाषा - संप्रेषण माध्यम

3 से 5 अंक के प्रश्न-

1. शक्तिग्रह क्या है?
2. शब्द शक्ति से क्या अभिप्राय है?
3. वाचक और वाच्य में अंतर स्पष्ट कीजिए।
4. शक्तिग्रह के साधन कौन-कौन से हैं?
5. भाषा ज्ञान में शक्तिग्रह का महत्त्व बताइए।

15 अंक के प्रश्न-

1. शक्तिग्रह की प्रक्रिया का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. शब्द और अर्थ संबंध का विवेचन कीजिए।
3. सांख्य दर्शन में भाषा और ज्ञान के संबंध का विश्लेषण कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. शक्तिग्रह किससे संबंधित है?

(क) शब्द
(ख) शरीर
(ग) योग
(घ) तप
उत्तर: (क)

2. शब्द की शक्ति किसे प्रकट करती है?

(क) अर्थ
(ख) शरीर
(ग) इन्द्रिय
(घ) प्रकृति
उत्तर: (क)

3. वाचक किसे कहते हैं?

(क) अर्थ
(ख) शब्द
(ग) ज्ञान
(घ) मन
उत्तर: (ख)

4. **शक्तिग्रह का संबंध किससे है?**

(क) भाषा ज्ञान

(ख) निद्रा

(ग) मोक्ष

(घ) राग

उत्तर: (क)

5. **शब्द और अर्थ के संबंध को क्या कहते हैं?**

(क) संयोग

(ख) शक्ति

(ग) विकल्प

(घ) विकार

उत्तर: (ख)

खण्ड- 4 वेदों का अपौरुषेयत्व

इकाई-4.1 वेद 'अपौरुषेय' है।

उद्देश्य-

1. अपौरुषेय वेद की अवधारणा को समझना।
2. वेदों की प्रमाणिकता का अध्ययन करना।
3. सांख्य दर्शन में वेदों के महत्त्व को स्पष्ट करना।

वैदिक विधियों को जो धर्मज्ञान का एकमात्र अमोघ साधन माना गया है, यह तब तक सिद्ध नहीं हो सकता जब तक हम वेद को अपौरूषेय न सिद्ध कर लें। पुरुषकृत वाक्यों में भ्रमादि दोषों की सम्भावना होती है। इसीलिए अनादि शब्दराशि के रूप में वेद की अपौरूषेयता की सिद्धि के लिए सांख्य का विशेष प्रयास है। इससे पूर्व महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में वर्णित वेदों के नित्यत्व विचार को जान लेना आवश्यक है-

ईश्वरस्य सकाशाद्वेदानामुत्पतौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमेव भवति, तस्य सर्वसामर्थ्यस्य नित्यत्वात्

अर्थात् अब वेदों के नित्यत्व का विचार किया जाता है। सो वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए है। इससे वे स्वतः नित्यस्वरूप ही हैं, क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य ही है।

इस विषय में कितने ही पुरूष ऐसी शंका करते है; कि वेदों में शब्द छन्द, पद और वाक्यों का योग होने से नित्य नहीं हो सकते। जैसे विना बनाने से घड़ा नहीं बनता, इसी प्रकार से वेदों को भी किसी ने बनाया होगा। क्योंकि बनाने के पहले नहीं थे और प्रलय में भी न रहेंगे, इससे वेदों को नित्य मानना ठीक नहीं है।

इस शंका पर महर्षि दयानन्द उत्तर देते है- ऐसा आपका कहना उचित नहीं, क्योंकि शब्द दो प्रकार का होता है-एक नित्य और दूसरा कार्य। इनमें से जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध परमेश्वर के ज्ञान में हैं वे सब नित्य ही होते हैं, और जो हम लोगों की कल्पना से उत्पन्न होते हैं वे कार्य होते हैं। क्योंकि जिसका ज्ञान और क्रिया स्वभाव से सिद्ध और अनादि है उसका सब सामर्थ्य भी नित्य ही होता है। इससे वेद भी उसकी विद्यास्वरूप होने से नित्य ही हैं, क्योंकि ईश्वर की विद्या अनित्य कभी नहीं हो सकती।

प्रश्नः- जब जब जगत् के परमाणु अलग-अलग होके कारणरूप हो जाते हैं तब जो कार्यरूप सब स्थूल जगत् है उसका अभाव हो जाता है, उस समय वेदों के पुस्तकों का भी अभाव हो जाता है, फिर वेदों को नित्य क्यों मानते हो ?

उत्तरः- यह बात पुस्तक, पत्र, मसी और अक्षरों की बनावट आदि पक्ष में घटती है, तथा हम लोगों के क्रियापक्ष में भी बन सकती है, वेदपक्ष में नहीं घटती, क्योंकि वेद तो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध स्वरूप ही हैं, मसी, कागज, पत्र, पुस्तक और अक्षरों की बनावट रूप नहीं है। यह जो मसी आदि द्रव्य और लेखनादि क्रिया है सो मनुष्यों की बनाई है, इससे यह अनित्य है। और ईश्वर के ज्ञान में सदा बने रहने से वेदों को हम लोग नित्य मानते हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि पढ़ना-पढ़ाना और पुस्तक के अनित्य होने से वेद अनित्य नहीं हो सकते, क्योंकि वे बीजाङ्कुर न्याय से ईश्वर के ज्ञान में नित्य वर्तमान रहते हैं। सृष्टि की आदि में ईश्वर से वेदों की प्रसिद्धि होती है और प्रलय में जगत् के नहीं रहने से उनकी अप्रसिद्धि होती है, इस कारण से वेद नित्यस्वरूप ही बने रहते हैं। जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द, अक्षर, अर्थ और सम्बन्ध वेदों में हैं इसी प्रकार से पूर्वकल्प में थे और आगे भी होंगे। क्योंकि जो ईश्वर की विद्या है सो नित्य एक ही रस बनी रहती है। उनके एक अक्षर का भी विपरीतभाव कभी नहीं होता। सो ऋग्वेद से

ले के चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की हैं कि इनमें शब्द, अर्थ, सम्बन्ध पद और अक्षरों का जिस क्रम से वर्तमान है इसी प्रकार का क्रम सब दिन बना रहता है, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है, उनकी वृद्धि क्षय और विपरीतता कभी नहीं होती। इस कारण से वेदों को नित्यस्वरूप ही मानना चाहिए।

अत्र वेदानां नित्यत्वे व्याकरणशास्त्रादीनां साक्ष्यर्थं प्रमाणानि लिख्यन्ते। तत्राह महाभाष्यकारः पतञ्जलिमुनिः-

यह जो वेदों के नित्य होने का विषय है इसमें व्याकरणादि शास्त्रों को प्रमाण साक्षी के लिये लिखते हैं। इनमें से जो व्याकरण शास्त्र है सो संस्कृत और भाषाओं के सब शब्दविद्या का मुख्य मूल प्रमाण है। उसके बनाने वाले महामुनि पाणिनि और पतञ्जलि हैं। उनका ऐसा मत है कि- 'सब शब्द नित्य हैं, क्योंकि इन शब्दों में जितने अक्षरादि अवयव है। वे सब कूटस्थ अर्थात् विनाश- रहित हैं, और वे पूर्वापर विचलते भी नहीं, उनका अभाव वा आगम कभी नहीं होता। इससे वैदिक अर्थात जो वेद के शब्द और वेदों से जो शब्द लोक में आये हैं वे लौकिक कहाते हैं, वे भी सब नित्य ही होते हैं क्योंकि उन शब्दों के मध्य में सब वर्ण अविनाशी और अचल हैं, तथा इनमें लोप आगम और विकार नहीं बन सकते, इस कारण से पूर्वोक्त शब्द नित्य हैं।

यहाँ शंका होती है- गणपाठ अष्टाध्यायी और महाभाष्य में अक्षरों के लोप आगम और विकार आदि कहे हैं, फिर शब्दों का नित्यत्व कैसे हो सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि देते हैं कि- शब्दों के समुदायों के स्थानों में अन्य शब्दों के समुदायों का प्रयोगमात्र होता है। जैसे 'वेदपार गम् ड सुँ भू शप् तिप्' इस पदसमुदाय वाक्य के स्थान में 'वेदपारगो*भवत्' इस समुदायान्तर का प्रयोग किया जाता है। इसमें किसी पुरूष की ऐसी बुद्धि होती है कि अम् ड् उँ श् प् इ प् इनकी निवृत्ति हो जाती है, सो उसकी बृद्धि में भ्रममात्र है, क्योंकि शब्दों के समुदाय के स्थानों में दूसरे शब्दों के समुदायों के प्रयोग किये जाते है। सो यह मत दाक्षी के पुत्र पाणिनि मुनि जी का है, जिनने अष्टाध्यायी आदि व्याकरण के ग्रन्थ किये है। सो मत इस प्रकार से है, जो वाक् इन्द्रिय से उच्चारण करने से प्रकाशित होते हैं, और जिनका निवास का स्थान आकाश है उनको शब्द कहते है। क्योंकि जो उच्चारण और श्रवणादि हम लोगों की क्रिया है उसके क्षणभंगुर होने से अनित्य गिनी जाती है, इससे शब्द अनित्य नहीं होते, क्योंकि यह जो हम लोगों की वाणी है, वही वर्ण वर्ण के प्रति अन्य-अन्य होती जाती है। परन्तु शब्द तो सदा अखण्ड एकरस ही बने रहते हैं।

प्र. - शब्द जो उच्चारण किये जाने के पश्चात नष्ट हो जाता और उच्चारण के पूर्व सुना नहीं जाता है, जैसे उच्चारण क्रिया अनित्य है, वैसे ही शब्द भी अनत्यि हो सकता है। फिर शब्दों को नित्य क्यों मानते हो ?

उ.- शब्द तो आकाश की भाँति सर्वत्र एकरस भरे हुए हैं, परन्तु जब उच्चारणक्रिया नहीं होती, तब प्रसिद्ध सुनने में नहीं आते। जब प्राण और वाणी की क्रिया से उच्चारण किये जाते हैं, तब शब्द प्रसिद्ध होते हैं। जैसे 'गौः' इसके उच्चारण में जब पर्यन्त उच्चारण क्रिया गकार में रहती है तब पर्यन्त औकार में नहीं, जब औकार में है तब गकार और विसर्जनीय में नहीं रहती। इसी प्रकार वाणी की क्रिया की उत्पत्ति और नाश होता है, शब्दों का नहीं। किन्तु आकाश शब्द की प्राप्ति होने से शब्द तो अखण्ड एकरस सर्वत्र भर रहे है, परन्तु जब पर्यन्त वायु और वाक् इन्द्रिय की क्रिया नहीं होती, तब पर्यन्त शब्दों का उच्चारण और श्रवण भी नहीं होता। इससे यह सिद्ध हुआ कि शब्द आकाश की तरह नित्य ही हैं जब व्याकरण शास्त्र के मत से सब शब्द नित्य होते हैं तो वेदों के शब्दों की कथा तो क्या ही कहनी है, क्योंकि वेदों के शब्द तो सब प्रकार से नित्य ही बने रहते हैं।

इसी प्रकार जैमिनि मुनि ने भी शब्द को नित्य माना है- शब्द में जो अनित्य होने की शंका आती है, उसका 'तु' शब्द निवारण किया है। शब्द नित्य ही हैं, अर्थात नाशरहित हैं, क्योंकि उच्चारणक्रिया से जो शब्द का श्रवण होता है अर्थ के जानने ही के लिये है, इससे शब्द अनित्य नहीं हो सकता। जो शब्द का उच्चारण किया जाता है, उसकी ही प्रत्यभिज्ञा होती है कि श्रोत्रद्वार ज्ञान के बीच में वही शब्द स्थिर रहता है, फिर उसी शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। जो शब्द अनित्य होता तो अर्थ का ज्ञान कौन कराता? क्योंकि वह

शब्द ही नहीं रहा, फिर अर्थ को कौन जनावे। और जैसे अनेक देशों में अनेक पुरूष एक काल में ही एक गो शब्द का उच्चारण करते है। इसी प्रकार उसी शब्द का उच्चारण वारंवार भी होता है, इस कारण से भी शब्द नित्य है। जो शब्द अनित्य होता तो यह व्यवस्था कभी नहीं बन सकती। सो जैमिनि मुनि ने इस प्रकार के अनेक हेतुओं से पूर्व मीमांसा शास्त्र को नित्य सिद्ध किया है।

अन्यच्च वैशेषिकसूत्रकारः कणादमुनिरप्यत्राह-'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्॥'

(वैशेषिक अ. 1/3)

इसी प्रकार वैशेषिक शास्त्र में कणाद मुनि ने भी कहा है-वेद ईश्वरोक्त हैं, इनमें सत्यविद्या और पक्षपात रहित धर्म का ही प्रतिपादन हैं, इससे चारों वेद नित्य है। ऐसा ही सब मनुष्यों को मानना उचित है। क्योंकि ईश्वर नित्य है। इससे उसकी विद्या भी नित्य है।

वैसे ही न्यायशास्त्र में गौतम मुनि भी शब्द को नित्य कहते हैं, वेदों को नित्य ही मानना चाहिये, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ से ले के आज पर्यन्त ब्रह्मादि जितने आप्त होते आये है। वे सब वेदों को नित्य ही मानते आये है। उन आप्तों का अवश्य ही प्रमाण मानना चाहिये। क्योंकि आप्त लोग वे होते है- जो धर्मात्मा, कपट छलादि दोषों से रहित, सब विद्याओं से युक्त, महायोगी और सब मनुष्यों के सुख होने के लिये सत्य का उपदेश करने वाले है। जिनमें लेशमात्र भी पक्षपात वा मिथ्याचार नहीं होता। उन्होनें वेदों का यथ. ावत् नित्य गुणों से प्रमाण किया है। जिन्होनें आयुर्वेद को बनाया है। जैसे आयुर्वेद वैद्यकशास्त्र के एकदेश में कहे औषध और पथ्य के सेवन करने से रोग की निवृत्ति से सुख प्राप्त होता है, जैसे उसके एक देश के कहे के सत्य होने से उसके दूसरे भाग का भी प्रमाण होता है। इसी प्रकार वेदों का भी प्रमाण करना सब मनुष्यों को उचित है। क्योंकि वेद के एक देश में कहे अर्थ का सत्यपन विदित होने से उससे भिन्न जो वेदों के भाग हैं, कि जिनका अर्थ प्रत्यक्ष न हुआ हो, उनका भी नित्य प्रमाण अवश्य करना चाहिए, क्योंकि आप्त पुरूष का उपदेश मिथ्या नहीं हो सकता।

'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्॥' (न्याय. अ. 2 आ. 1 सू. 67)

इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने वेदां का नित्य होना स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि जो आप्त लोग है। वे वेदों के अर्थ को देखने दिखाने और जनाने वाले हैं। जो जो उस उस मन्त्र के अर्थ के द्रष्टा वक्ता होते हैं, वे ही आयुर्वेद आदि के बनाने वाले है। जैसे उनका कथन आयुर्वेद में सत्य है। वैसे ही वेदों के नित्य मानने का उनका जो व्यवहार है वह भी सत्य ही है, ऐसा मानना चाहिए। क्योंकि जैसे आप्तों के उपदेश का प्रमाण अवश्य होता है, वैसे ही सब आप्तों का भी जो परम आप्त सबका गुरू परमेश्वर है, उसके किये वेदों का भी नित्य होने का प्रमाण अवश्य ही करना चाहिये।

अत्र विषये योगशास्त्रं पतञ्जलिमुनिरप्याह-'स एष पूर्वेषामपि गुरूः कालेनानवच्छेदात्॥' (योग. 1/26)

इस विषय में योगशास्त्र के कर्त्ता पतञ्जलि मुनि भी वेदों को नित्य मानते हैं, जो कि प्राचीन अग्नि, वायु, आदित्य, अगिंरा और ब्रह्मादि पुरूष सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए थे, उनसे लेके हम लोग पर्यन्त और हम से आगे जो होने वाले हैं इन सबका गुरू परमेश्वर ही है, क्योंकि वेद द्वारा सत्य अर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का नाम गुरू है। सो ईश्वर नित्य ही है, क्योंकि ईश्वर में क्षणादि काल की गति का प्रचार ही नहीं है, और वह अविद्या आदि क्लेशों से और पापकर्म तथा उनकी वासनाओ के भोगों से अलग है। जिसमें अनन्त विज्ञान सर्वदा एकरस बना रहता है, उसी के रचे वेदों का भी सत्यार्थपन और नित्यपन भी निश्चित है, ऐसा ही सब मनुष्यों को जानना चाहिये।

इसी प्रकार से वेदान्तशास्त्र में वेदों के नित्य होने के विषय में व्यास जी ने भी लिखा है।

(शास्त्रयोनित्वात् वे. 1/1/3)

इस सूत्र के अर्थ में शंकराचार्य ने भी वेदों को नित्य मान के व्याख्यान किया है कि ऋग्वेदादि जो चारों वेद है, वे अनेक विद्याओं

से युक्त हैं, सूर्य के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाश करने वाले है। उनका बनाने वाला सर्वज्ञादि गुणों से युक्त परब्रह्म है, क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई जीवात्मा सर्वज्ञगुणयुक्त इन वेदों को बना सके, ऐसा सम्भव कभी नहीं हो सकता। किन्तु वेदार्थ विस्तार के लिये किसी जीवविशेष पुरूष से अन्य शास्त्र बनाने का संभव होता है। जैसे पाणिनि आदि मुनियों ने व्याकरणादि शास्त्रों को बनाया है। उनमें विद्या के एक एक देश को प्रकाशित किया है। सो भी वेदों के आश्रय से बना सकें हैं। और जो सब विद्याओं से युक्त वेद है।, उनको सिवाय परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं बना सकता, क्योंकि परमेश्वर से भिन्न सब विद्याओं से पूर्ण कोई भी नहीं है। किञ्च परमेश्वर के बनाये वेदों के पढ़ने, विचारने और उसी के अनुग्रह से मनुष्यों को यथाशक्ति विद्या का बोध होता है, अन्यथा नहीं ऐसा शंकराचार्य ने भी कहा है। इससे क्या आया कि वेदों के नित्य होने में सब आर्य लोगों की साक्षी हैं और यह भी कारण है कि जो ईश्वर नित्य और सर्वज्ञ है उसके किये वेद भी नित्य ओर सर्वज्ञ होने योग्य है। अन्य का बनाया ऐसा ग्रन्थ कभी नहीं हो सकता।

(अत एव च नित्यत्वम् 3/29)

इस सूत्र से भी यही आता है कि वेद नित्य है। सब सज्जन लोगों को भी ऐसा ही मानना उचित है। तथा वेदों के प्रमाण और नित्य होने में अन्य शास्त्रों के प्रमाणों को साक्षी के सामान जानना चाहिये, क्योंकि वे अपने ही प्रमाण से नित्य सिद्ध हैं। जैसे- सूर्य के प्रकाश में सूर्य का ही प्रमाण है, अन्य का नहीं, और जैसे सूर्य प्रकाशस्वरूप है, पर्वत से लेके त्रसरेणु पर्यन्त पदार्थों का प्रकाश करता है, वैसे वेद भी स्वयंप्रकाशित है और सब सत्यविद्याओं का भी प्रकाश कर रहे हैं।

अत एव स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशितस्य वेदस्य स्वस्य च सिद्धिकरं प्रमाणमाह-

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी
परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ (यजु. अ. 40/8)

ऐसे ही परमेश्वर ने अपने और अपने किये वेदों के नित्य और स्वतः प्रमाण होने का उपदेश किया है सो आगे लिखते हैं- यह मन्त्र ईश्वर ओर उसके किये वेदों का प्रकाश करता है, कि जो परमेश्वर सर्वव्यापक आदि विशेषणयुक्त है सो सब जगत् में परिपूर्ण हो रहा है, उसकी व्याप्ति से एक परमाणु भी रहित नहीं है सो ब्रह्म (शुक्रं)सब जगत् को करने वाला और अनन्तविद्यादि बल से युक्त है, (अकायं) जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों के संयोग से रहित है, अर्थात् वह कभी जन्म नहीं लेता (अवणं) जिसमें एक परमाणु भी छिद्र नहीं कर सकता, इसी से वह सर्वथा छेदरहित है, (अस्नाविरं) वह नाड़ियों के बन्धन से अलग है, जैसे वायु और रुधिर नाड़ियों में बंधा रहता है, ऐसा बन्धन परमेश्वर में नहीं होता, (शुद्धं) जो अविद्या अज्ञानादि क्लेश और सब दोषों से पृथक् है, (अपापविद्धम्) सो ईश्वर पापयुक्त वा पाप करने वाला कभी नही होता, क्योंकि वह स्वभाव से ही धर्मात्मा है, (कविः) जो सबको जानने वाला है, (मनीषी) जो सबका अन्तर्यामी है, और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान इन तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जानता है, (परिभूः) जो सब के ऊपर विराजमान हो रहा है, (स्वयंभूः) जो कभी उत्पन्न नहीं होता और उसका कारण भी कोई नहीं, किन्तु वह सब का कारण, अनादि और अनन्त है, इससे वही सबका माता पिता है, और अपने ही सत्य सामर्थ्य से सदा वर्तमान रहता है, इत्यादि लक्षणों से युक्त जो सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर है, (शाश्वतीभ्यः) उसने सृष्टि की आदि में अपनी प्रजा को, जो कि उसके सामर्थ्य में सदा से वर्तमान है, उसके सब सुखों के लिये तब (अर्थान् व्यदधात्) सत्य अर्थों का उपदेश किया है। इसी प्रकार जब जब परमेश्वर सृष्टि को रचता है, तब तब प्रजा के हित के लिये सृष्टि के आदि मे सब विद्याओ से युक्त वेदों का भी उपदेश करता है, और जब जब सृष्टि का प्रलय होता है। तब तब वेद उसके ज्ञान में सदा बने रहते है, इससे उनको सदैव नित्य मानना चाहिये। जैसे शास्त्रों के प्रमाणों से वेद नित्य हैं, वैसे ही युक्ति से भी उनका नित्यपन सिद्ध होता है, क्योंकि असत् से सत् होना अर्थात् अभाव से भाव का होना कभी नहीं हो सकता, तथा सत् का अभाव भी नहीं हो सकता। जो सत्य है उसी से आगे प्रवृत्ति भी हो सकती है, और जो वस्तु ही नहीं है उससे दूसरी वस्तु की किसी प्रकार से उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।' इसी

न्याय से भी वेदों को नित्य ही मानना ठीक है। क्योंकि जिसका मूल नहीं होता है, उसकी डाली, पत्र, पुष्प और फल आदि भी कभी नहीं हो सकतें जैसे कोई कहे कि वन्ध्या के पुत्र का विवाह मैंने देखा, यह उसकी बात असम्भव है, क्योंकि जो उसके पुत्र होता तो वह वन्ध्या ही क्यों होती, और जब पुत्र ही नहीं है तो उसका विवाह और दर्शन कैसे हो सकता है? वैसे ही जब ईश्वर में अनन्तविद्या है। तभी मनुष्यों को विद्या का उपदेश भी किया है और जो ईश्वर में अनन्तविद्या न होती तो वह उपदेश कैसे कर सकता, और वह जगत् को भी कैसे रच सकता ? जो मनुष्यों को ईश्वर अपनी विद्या का उपदेश न करता तो किसी मनुष्य को विद्या, जो यथार्थ ज्ञान है, सो कभी नहीं होता, क्योंकि इस जगत् में निर्मूल का होना वा बढ़ना सर्वथा असम्भव है। इससे यह जानना चाहिये कि परमेश्वर से वेदविद्या मूल को प्राप्त होके मनुष्यों में विद्यारूप वृक्ष विस्तृत हुआ है।

एवमेव स्वकीयसांख्यशास्त्रे पञ्चमा/याये कपिलाचार्योऽप्यत्राह-

इसी प्रकार सांख्यशास्त्र के पञ्चम अध्याय में आचार्य कपिल वेद के नित्यत्व और अपौरुषेयत्व को सिद्ध करते है।

यदि कहा जाए कि कोई विशिष्ट जीव ही वेद का वक्ता मान लेना चाहिए, जो भ्रान्ति आदि से रहित हो, यह भी ठीक न होगा, क्योंकि वेदार्थ अतीन्द्रिय है। अल्पज्ञ अल्पशक्ति जीव अतीन्द्रिय विषयों के प्रतिपादन में कैसे समर्थ हो सकेगा ? इसलिए लोक के समान वेद में शक्तिग्रह संभव नहीं, तब वेदार्थ का ज्ञान कैसे संभव होगा? सूत्रकार इसका समाधान करते हैं-

न यज्ञादेः स्वरूपतो धर्मत्वं वैशिष्ट्यात्। (सांख्य. 5/42)

उक्त शंका ठीक नहीं, क्योंकि स्वरूप से यज्ञादि को वेदविहित माना जाता है। वेद का अर्थ यज्ञादि है, और यज्ञ विविध सामग्री आदि से युक्त क्रियानुष्ठान का नाम है। वह सब दधि घृत शाकल्य समित् आदि सामग्री और क्रियात्मक अनुष्ठान अतीन्द्रिय नहीं । ऐसा अनुष्ठान स्वर्ग आदि विशिष्ट फलों का साधन है। इसलिए यदि वेद का अर्थ यज्ञ याग आदि ही अभिप्रेत है, तब वह इन्द्रियग्राह्य ही है। वेदार्थ को अतीन्द्रिय कहना असंगत है।

पूर्वपक्ष सूत्र के उत्तर अर्द्धभाग का यह समाधान किया गया है। वेद का तात्पर्य यज्ञ याग में समझकर यह समाधान है। जब इन्द्रियग्राह्य अर्थ का वेद प्रतिपादन करता है, तब लोक के समान वेद में भी शक्ति-ग्रह संभव होगा।

वेदार्थ की अतीन्द्रियता का समाधान करके वेद के अपौरुषेय होने से उसमें आप्तोपदेश के अभाव का समाधान करता है-

निजशक्तिर्व्युत्पत्त्या व्यवच्छिद्यते (सा. 6/43)

वेद की स्वाभाविक शक्ति (शब्दार्थसम्बन्ध) व्युत्पत्ति-प्रतिपादन-उपदेश द्वारा अलग-अलग जान लिया जाता है।

वेद के अपौरुषेय होने पर भी वेदशब्दों की जो निज-स्वाभाविक शक्ति अर्थात् शब्दार्थ का सम्बन्ध है, वह आदि ऋषियों की व्युत्पत्ति-अमुक शब्द का अमुक अर्थ है इस जानकारी के द्वारा व्यवस्थापूर्वक उपदेश किया जाता है। अभिप्राय यह कि वेदशब्दों की अर्थबोधन शक्ति स्वाभाविक है। आदि-सर्ग में आदि ऋषि अचिन्त्यशक्ति भगवान् की प्रेरणा और अपनी प्रतिभा से शब्दार्थसम्बन्ध का बोध होने पर, अर्थात् यह जान लेने पर कि अमुक शब्द अमुक अर्थ का बोधक है, उसी रूप में व्यवस्था के साथ वे उसका उपदेश करते हैं। जिस प्रकार उन्हें शब्दोच्चारण की प्रेरणा प्राप्त होती है, उसी प्रकार शब्दार्थ-सम्बन्ध की भी । उसके अनुसार वे शब्दार्थ का उपदेश करते है। इतने अंश को लेकर वेदशब्दों में भी आप्तोपदेश, वृद्धव्यवहार और प्रसिद्धपदसान्निध्यरूप तीन अर्थबोधन साधनों की संभावना स्पष्ट होजाती है। अतः लोक के समान वेद में शक्तिग्रह संभव होता है। लोक-वेद शब्दों में इतना ही अन्तर है, कि लोक में शब्दार्थ का ऋषियों अथवा आभिधानिक आचार्यों द्वारा संकेत किया जाता है वेद के शब्दों में यह स्वाभाविक है, जो ऋषियों द्वारा जाना जाता है। आगे उपदेश में कोई अन्तर नहीं ।

अनेकानेक शब्द तथा धातु लोक में वेद से लिए गए है। कोई तदवस्थ रह जाते हैं, और किन्हीं में परिवर्तन होजाते है। परन्तु लोक और वेद में शब्दों के प्रयोग की समानता में कोई अन्तर नहीं आता। **'य एव वैदिकास्त एव लौकिकाः'** इत्यादि कथन ऐसे ही आधारों पर अवलम्बित हैं। शब्द का प्रयोग-विषय अति महान है। इस विषय के कोई निर्णय अनायास नहीं किए जा सकते। अतिप्राचीन-काल से यह विषय विद्वानों के मतभेद का क्षेत्र रहा है।

यज्ञादि क्रियात्मक होने से अतीन्द्रिय नहीं, उनमें शक्तिग्रह संभव है, परन्तु जो वेदार्थ अतीन्द्रिय है-देवता, यज्ञ के फल आदि, उनके वाचक वैदिक पदों में शक्तिग्रह कैसे संभव होगा? इस का उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते है-

योग्यायोग्येषु प्रतीतिजनकत्वात् तत्सिद्धिः (सा. 6/44)

इन्द्रियग्राह्यों की तरह अतीन्द्रियों में भी ज्ञान का जनक होने से शक्तिग्रह की सिद्धि होती है ।

योग्य-प्रत्यक्ष के योग्य इन्द्रियग्राह्य पदार्थ, अयोग्य-प्रत्यक्ष के अयोग्य अतीन्द्रिय पदार्थ। यहां योग्य पद उदाहरण दिखाने के लिए है। अभिप्राय यह हुआ कि जैसे योग्य अर्थात् इन्द्रियग्राह्य पदार्थों में आप्तोपदेश आदि के द्वारा शक्तिग्रह होता है, इसी प्रकार अतीन्द्रिय

पदार्थों में भी प्रतीति का जनक होने से व्युत्पत्ति अथवा शक्तिग्रह की सिद्धि होती है। आप्त जब यह उपदेश करता है, कि अमुक पद इस प्रकार के अतीन्द्रिय अर्थ का बोधक है, तब जिज्ञासु बोद्धा उस पद से उसी-प्रकार के अर्थ को समझने लगता है। इस प्रकार पद, अतीन्द्रिय अर्थ का बोधन कराने में समर्थ होता है, यही शक्तिग्रह का स्वरूप है। फलतः इन्द्रियग्राह्य पदार्थों के समान अतीन्द्रिय अर्थों का बोध कराने के कारण वेद के पदों में शक्तिग्रह का निश्चय होता है। सर्ग के आदि में वेद का उपदेश आदि ऋषियों के मस्तिष्क में परमेश्वर द्वारा प्रतिभात किया जाता है। वह उपदेष्टा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् अजर, अमर, अभय, नित्य पवित्र है, वह परम आप्त है। उसके ज्ञान और अर्थबोधन में सन्देह का अवकाश नहीं । ऋषियों के द्वारा वह परम्परा आगे प्रचलित रहती है ।
शब्दार्यसम्बन्ध वेद में स्वाभाविक है, यह निश्चय करके-शब्दसमूह वेद है-इस आधार पर शब्दात्मक अर्थात् ध्वनिरूप वेद के अनित्यत्व का प्रतिपादन करता है-

न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः (सा. 6/45)

ध्वनिरूप वेदों का नित्य होना सम्भव नहीं, कार्य होना सुने जाने से ।

शब्दराशि वेद नित्य नहीं है, क्योंकि स्वयं वेद में उनको कार्य कहा गया है। यजुर्वेद का मन्त्र है

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत (यजु. 31/7)
स तपोऽतप्यत तस्मात् तपस्तेपानात् त्रयो वेदा अजायन्त ॥
अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद्ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।

(बृह. 2/4/10)

प्रत्यक्ष-प्रमाण से भी इस बात को देखा जाता है, कि ककार आदि वर्णों का विशेष प्रयत्न के अनन्तर उच्चारण होता है, और वे ध्वनि पुनः विलुप्त हो-जाती है। इससे शब्द का अनित्यत्व स्पष्ट होता है। वेद भी शब्दराशि है, इस-लिए वह शब्दरूप में अनित्य है। वेद को नित्य बताने वाले प्रसंग जहां कहीं भी आते है, उनका उस शब्दराशि की आनुपूर्वी की नित्यता में तात्पर्य रहता है। उस आनुपूर्वी के साथ ही वह शब्दराशि वेद है, अन्यथा नहीं। इसके अतिरिक्त ज्ञान-रूप वेद तो निर्बाधरूप से नित्य है।
अनित्य होने पर अन्य ग्रन्थों के समान वेद को पुरुष-प्रणीत क्यों न माना जाए ? इस विषय में सूत्रकार कहते है-

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् (सा. 6/46)

शब्दराशि वेद भी पौरुषेय नहीं है, उसकी रचना करने वाले पुरुष का अभाव होने से ।

शब्दराशि वेद अनित्य होने पर भी पौरुषेय-अस्मदादिसदृश पुरुषप्रणीत नहीं है। क्योंकि उसके कर्त्ता- रचयिता पुरुष की संभावना नहीं होसकती। कारण यह है, कि जीव पुरुष अल्पज्ञ व अल्पशक्ति होने से सर्वज्ञकल्प समस्त विद्याओके स्थान वेद की रचना में असमर्थ रहता है। तथा भ्रम, प्रमाद आदि से रहित सर्वज्ञ ईश्वर कभी शरीररूप बन्धन में नहीं पाता, जो शब्दरूप वेद का उच्चारण कर सके । आदि ऋषियों के निर्दोष, पवित्र मस्तिष्कों में वह केवल तदनुकूल प्रेरणा करता है, जिससे प्रेरित होकर सर्गादि काल में वही आनुपूर्वी ऋषियों के मुख से फूट पड़ती है। उस प्रेरणा में भी वेदराशि की आनुपूर्वी में कोई विपर्यास संभव नहीं होसकता। इसलिए इस अनादि भगवद्ज्ञाननिष्ठ शब्दराशि में किसी पुरुष को रचना-स्वातन्त्र्य न होने से वेद का अपौरुषेयत्व परिनिष्ठित होता है ।

अगले सूत्रों में इसी अर्थ को स्पष्ट किया जाता है-

न मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात् (सा. 6/47)

मुक्त और अमुक्त के योग्य न होने के कारण वे वेद के कर्त्ता नहीं हो सकते।

यदि वेद को पुरुष की रचना माना जाए, तो वह पुरुष ईश्वररूप हो सकता है, या जीवरूप। सूत्र में 'मुक्त' पद नित्यमुक्त ईश्वर और मुक्तजीव दोनों का बोधक है। शब्दराशि वेद के प्रथमोच्चारणरूप निर्माण में शरीरी न होने के कारण ईश्वर योग्य-समर्थ नहीं रहता, और मुक्तजीव भी अल्पज्ञ अल्पशक्ति होने से देहादिरहित होने से तथा उसके मुक्त होने से पूर्व भी वेद के विद्यमान रहने से वेद की रचना में अयोग्य है। अमुक्त अर्थात् बद्ध जीव भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि न्यूनताओ से आयुक्त रहने के कारण वेद की रचना में सर्वथा अयोग्य है ।
ऐसी अवस्था में अपौरुषेय होने से शब्दराशि वेद को नित्य ही मानना होगा। सूत्रकार कहता है-

नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमङ्कुरादिवत्। (सा. 6/48)

अपौरुषेय होने से वेदों का नित्य होना नहीं अकुर आदि के समान।

अपौरुषेय होने से वेद को नित्य नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार किसी पुरुष के द्वारा रचना न किया हुआ अकुंर नित्य नहीं होता, इसी प्रकार अपौरुषेय वेद भी नित्य नहीं है। यह ध्यान रखना चाहिए, कि ध्वनिरूप शब्दराशि वेद को यहां अनित्य प्रतिपादन किया

है। आदि ऋषियों के मुख से जो शब्दराशि उच्चरित होती है, वह ध्वनिरूप में अनित्य है, पर उसके अपौरुषेयत्व की स्थिति इसी रूप में है, कि वह ऋषि की अपनी इच्छा से नहीं होती, प्रत्युत अन्य ईश्वर की प्रेरणा से होती है, जो प्रेरयिता है, वह उच्चारण नहीं कर सकता, इसी रूप में उसका अपौरुषेयत्व सुरक्षित रहता है, और शब्द के अनित्यत्व की बाधा नहीं होती। यह कहा जा चुका है, कि शब्दरूप वेद की नित्यता आनुपूर्वी पर आधारित है, ध्वनि पर नहीं। सूत्र का अभिप्राय है, कि अपौरुषेयत्व नित्यत्व का व्यापक नहीं है, अंकुर में व्यभिचारी है। अपौरुषेय भी अंकुर नित्य नहीं होता ।

यदि अंकुर आदि में घटादि के समान पुरुषकर्तृत्व का अनुमान कर लिया जाए, तो-

तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तिः। (सा. 6/49)

उन (अंकुर आदि) का भी पौरुषेयत्व के साथ सम्बन्ध होने पर दृष्ट की बाधा और अदृष्ट की कल्पना प्राप्त होगी ।
अंकुर आदि का पौरुषेयत्व अर्थात् पुरुषकर्तृत्व से सम्बन्ध मानने पर दृष्ट की बाधा प्रसक्त हो जाएगी। तृण लता वनस्पत्ति आदि के अंकुर स्वतः उत्पन्न देखे जाते हैं, वहां पर उनका कोई कर्त्ता दृष्टिगोचर नहीं होता, न होने पर भी वहां कोई पुरुष-कर्त्ता माना जाए, तो स्पष्ट ही प्रत्यक्ष की बाधा होगी, और सूत्र के 'आदि' पद से बोधित एक अदृष्ट अर्थ की कल्पना-जो अर्थ नहीं देखा जा रहा, उसकी कल्पना करनी पड़ेगी। अभिप्राय यह कि अंकुर आदि में पुरुष कर्त्ता मानने पर दृष्ट की बाधा और अदृष्ट की कल्पना दोनों दोष उपस्थित होते है। अतः अपौरुषेयत्व अंकुर आदि में नित्यत्व का व्यभिचारी है । यद्यपि आदि सर्गकाल में भगवान् की प्रेरणा से आदि ऋषियों के द्वारा वेद का उच्चारण होता है, तथापि वेद पौरुषेय नहीं, क्योंकि पौरुषेय का वास्तविक स्वरूप यह है -

यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत् पौरुषेयम् (सा. 6/50)

जिस 'न देखी गई' वस्तु में भी 'की गई है' ऐसा ज्ञान होता है, वह वस्तु पौरुषेय कही जाती है न देखी गई भी जिस वस्तु में यह की गई है, रची गई है, या बनाई गई है-ऐसी बुद्धि होती है, उसे पौरुषेय समझना चाहिए। संसार में हम अनेक वस्तुओं को कर्ता के द्वारा बनाई जाती देखते हैं, उनकी रचनाविशेष को देखकर हमें यह विश्वास हो जाता है, कि इस प्रकार की विशेष रचना किसी पुरुष द्वारा की जाती है। अनन्तर अनेक वस्तुओं में-जहां हम कर्ता को नहीं देखते-रचनाविशेष के आधार पर उनके किए जाने का ज्ञान होता है, इस प्रकार का किया जाना किसी वस्तु के पौरुषेय होने का प्रयोजक होता है। हम कहते हैं, ईश्वर संसार की रचना करता है, स्पष्ट है, वह इस प्रकार रचना नहीं करता, जैसे कुम्हार पढ़े को अथवा सुवर्णकार कुण्डल रुचक को गढ़ता है, प्रत्युत वह संसार का अधिष्ठाता प्रेरक व नियन्ता है, वह व्यवस्थापक है, संसार के संचालन व व्यवस्था में वही शक्ति प्रेरणा दे रही है, संसार की रचना तो तत्त्वों के अन्योन्यमिथुन द्वारा होती रहती है। तत्त्वों में प्रवृत्ति की प्रेरणा उसी शक्ति की है, इसप्रकार संसार की व्यवस्था ईश्वरकृत है, इस आधार पर संसार को हम ईश्वर की रचना कहते या मानते है। अंकुर आदि में भी ऐसा ही है, वह 'उत्पन्न' होता है, 'कृत' नहीं है। इसी प्रकार वेद, भगवान् की प्रेरणा से अभिव्यक्त होता है, वह 'कृत' नहीं है। यदि प्रेरणा के आधार पर उसे ईश्वरीय कहें, तो कह लीजिए। पर वह 'कृत' न होने से पौरुषेय नहीं है, जो 'कृत' है, वह पौरुषेय है। इसी अर्थ को हम इस रूप में कह सकते हैं, कि देहधारी के द्वारा जो रचना होती है, वह पौरुषेय कही जाती है। इस कारण जगत् की रचना अथवा अंकुर आदि की उत्पत्ति में जगन्नियन्ता परमात्मा की प्रेरणा होने पर भी और इसी आधार पर ईश्वर को जगत् का कर्त्ता माने जाने पर भी इनका पौरुषेयत्वरूप में व्यवहार नहीं होता। फिर भी देहधारी की रचना में देखी जाने वाली व्यवस्था के आधार पर विश्व में दृष्टिगोचर विशेष व्यवस्था से उसके अदृष्ट नियन्ता का अनुमान होता है। पर उसके देहधारी न होने से उसकी रचना में पौरुषेय व्यवहार नहीं ।
शब्द का प्रामाण्य इसी आधार पर निश्चय किया जाता है, कि वह आप्त का उपदेश है, वेद में ऐसा न होने से वेद का अप्रामाण्य प्राप्त होता है। सूत्रकार कहता है-

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् (सा. 6/51)

निज शक्ति से अभिव्यक्त होने के कारण वेद का स्वतः प्रामाण्य है । आप्तोपदेश होने से शब्द का प्रामाण्य कहा जाता है। वेद में ऐसा प्रामाण्य न होकर स्वतः प्रामाण्य है। क्योंकि वेद में अपनी स्वाभाविक अर्थबोधन शक्ति है, उसकी अभिव्यक्ति से अर्थात् उसके जान लेने पर वेद से यथार्थ बोध हो जाता है । अन्यत्र शब्द से अर्थ का बोध होने में यह जानने की अपेक्षा रहती है, कि यह आप्त द्वारा कहा गया है, अथवा अनाप्त द्वारा। शब्द से अर्थ का ज्ञान होजाने पर उसका प्रामाण्य आप्तोपदेश पर निर्भर है। किसी शब्द से अर्थ का ज्ञान होजाने पर जब हम यह जान लेंगे कि उसका उपदेष्टा आप्त है, तभी हम उसको प्रमाणभूत मानेंगे, अन्यथा नहीं । परन्तु वेद शब्दराशि में ऐसा नहीं है, क्योंकि वेद शब्दराशि परमात्मा की निजशक्ति से अभिव्यक्त है, उसके स्वतः -प्रामाण्य

का यही मूल आधार है। फलतः यदि वेद के शब्द की अर्थबोधन शक्ति का हमें ज्ञान है, तो उससे हमें जिस अर्थ का बोध होगा, उसके प्रामाण्य के लिए अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं है। इसप्रकार वेद का स्वतः प्रामाण्य स्पष्ट होता है।

स्मरणीय प्रश्न-

1. वेद अपौरुषेय एवं शाश्वत हैं।
2. ऋषि वेदों के द्रष्टा हैं, रचयिता नहीं।
3. वेद ज्ञान का सर्वोच्च स्रोत माने गए हैं।
4. भारतीय दर्शन में शब्द प्रमाण का महत्त्व है।

शब्दावली-

1. अपौरुषेय - मानवेतर
2. वेद - ज्ञानग्रंथ
3. ऋषि - द्रष्टा
4. प्रमाण - सत्य ज्ञान का साधन
5. शाश्वत - अनादि-अनन्त

3 से 5 अंक के प्रश्न-

1. अपौरुषेय का अर्थ क्या है?
2. वेदों को अपौरुषेय क्यों कहा जाता है?
3. वेदों की प्रमाणिकता स्पष्ट कीजिए।
4. ऋषियों की भूमिका क्या थी?
5. वेद और ईश्वर संबंध स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. वेदों के अपौरुषेयत्व का विस्तारपूर्वक विवेचन कीजिए।
2. वेदों की प्रमाणिकता के पक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिए।
3. भारतीय दर्शन में वेदों के महत्त्व का विश्लेषण कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. अपौरुषेय का अर्थ है-

(क) मानव निर्मित
(ख) ईश्वरकृत
(ग) पुरुष से रहित
(घ) अनादि और मानवेतर
उत्तरः (घ)

2. वेद किस प्रकार के माने गए हैं?

(क) पौरुषेय
(ख) अपौरुषेय
(ग) लौकिक
(घ) आधुनिक
उत्तरः (ख)

3. वेदों के द्रष्टा कौन माने जाते हैं?

(क) देवता
(ख) ऋषि
(ग) राजा

(घ) योगी

उत्तर: (ख)

4. **वेदों का स्वरूप क्या है?**

(क) अनित्य

(ख) नश्वर

(ग) शाश्वत

(घ) मिथ्या

उत्तर: (ग)

5. **भारतीय दर्शन में सर्वोच्च प्रमाण क्या माना गया है?**

(क) प्रत्यक्ष

(ख) अनुमान

(ग) शब्द

(घ) उपमान

उत्तर: (ग)

इकाई-4.2 कार्य कारण में विद्यमान रहता है। (सत्कार्यवाद)

उद्देश्य-

1. सत्कार्यवाद की अवधारणा को समझना।
2. कारण और कार्य संबंध का अध्ययन करना।
3. सांख्य दर्शन के कार्य-कारण सिद्धांत को स्पष्ट करना।

जगत् का उपादानकारण प्रकृति है, यह श्रुति के आधार पर प्रमाणित है, 12 वें सूत्र में कहा है। उसी प्रसंग से शब्दार्थ के सम्बन्ध तथा श्रुति के स्वतः-प्रामाण्य का प्रतिपादन किया गया, जिससे शब्दप्रमाण द्वारा प्रकृति के उपादान-कारण होने की पुष्टि होती है। इसप्रकार अनुमान और शब्द से इस अर्थ को प्रमाणित किया गया। अब प्रत्यक्ष के आधार पर यह कैसे प्रमाणित होता है, यह प्रतिपादित किया जाता है। इसप्रकार के विवेचन के लिए भ्रान्ति-प्रतीति स्थलों को आधार माना जाता है। इसको ख्यातिविचार भी कहते हैं। कभी वस्तु न होती हुई प्रतीत हो जाती है। ऐसा क्यों होता है ? हम उसके मूलकारण की खोज करते है, और उसी के आधार पर जगत् के मूल उपादान को समझ लेने का यत्न करते है। इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए अनेक प्रकारों की उद्भावना की जा सकती है। जैसे हमने कहीं अन्धेरे झुटपुटे में टेढ़ी-मेढ़ी लकीर जैसी काली चीज देखी, हमने समझा-यह सांप है, पर वस्तुतः वह एक रस्सी का टुकड़ा था। अब विवेचन यहां इस प्रकार प्रारम्भ होता है, कि हमने उसे सांप कैसे समझ लिया ? इसमें अनेक विकल्प हमारे सामने आते हैं-

(1) न होता हुआ ही सांप हमें दीखा है, अर्थात् सांप का आधार सांप का न होना-अभाव या असत् है।
(2) होता हुआ ही सांप दीखता है, तब उसका आधार सत् है।
(3) अन्यत्र का सांप अन्यत्र दीख जाता है, इस अवस्था में आधार तो सत् है, पर उसकी प्रतीति अन्यथा होजाती है ।
(4) हम उसे सत् या असत् या उभयरूप में किसी एक निश्चित रूप से नही कह सकते, यह एक विलक्षण स्थिति है।
(5) इस भ्रान्ति का आधार किसी अंश में सत् और किसी अंश में असत् है।

उसे एक दृष्टि से सत् और एक से असत् निश्चित रूप में प्रतिपादित किया जासकता है। इनमें जो विकल्प अधिक युक्ति-युक्त व प्रामाणिक है, उसीके अनुसार मूल उपादान का स्वीकार होना चाहिए। इस विवेचन की भावना से सूत्रकार इस प्रसंग को प्रारम्भ करता है-

नासतः ख्यानं नृश्रृङ्गवत् (सा. 6/52)

असत् का ज्ञान-प्रतीति नहीं, नर के सींग के समान ।

एक विचार यह होसकता है, कि भ्रान्तिस्थल में असत् की प्रतीति होती है, जहां हमको रज्जु में सर्प का ज्ञान हो गया है, वहां सर्प का अस्तित्व नहीं है। इसलिए यह ज्ञान असत् का माना जाना चाहिए। सूत्रकार इसका प्रतिषेध करता है असत् का ख्यान- ज्ञान अथवा प्रतीति संभव नहीं है। जो वस्तु सर्वथा असत है, यदि उसकी प्रतीति हो सके, तो मनुष्य के सिर पर सींग प्रतीत होने चाहिए। पर ऐसा संभव नहीं। इसलिए यह कहना कि भ्रान्तिस्थल में सर्वथा असत् वस्तु का भान होजाता है, असंगत है। इसी मान्यता के आधार पर जगत् के मूल उपादान को असत् कहना संगत न होगा । दृश्यमान त्रिगुणात्मक सद्रूप जगत् से हम उसके उसी प्रकार के मूलकारण का अनुमान कर सकते हैं।

यदि वह सर्पज्ञान असत् का संभव नहीं, तो सर्वथा सत् का मानना चाहिए। सूत्रकार कहता है-

न सतो बाधदर्शनात् (सा. 6/53)

विद्यमान का नहीं, बाध देखे जाने से ।

यदि विद्यमान सर्प का वह ज्ञान है, तो कालान्तर में प्रकाश होने पर उसका बाध न होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता । प्रकाश में हम देखते हैं, कि वह रस्सी है, सांप नहीं है। पहले ज्ञात सर्प की बाधा हो जाती है। इसलिए वहां सद्रूप सर्प का ज्ञान होता है, ऐसा कहना संगत नहीं । यह बात प्रत्येक वस्तु पर लागू होती है, यदि प्रत्येक वस्तु सर्वथा सत् है, और उसके अनुसार उसका मूल उपादान भी, तो यह भी कैसे माना जाएगा, क्योंकि दृश्यमान घट पट आदि समस्त पदार्थों का एक समय बाध देखा जाता है, टूट-फूट जाने पर वह नहीं रहता। इस कारण यह कहना कि ज्ञान सर्वथा सत् वस्तु का होता है, युक्तियुक्त नहीं है। इस पर और विचार करना चाहिए ।

ऐसी अवस्थामें सत् और असत् से विलक्षण उस वस्तुतत्त्व को कहना चाहिए, जिसका भ्रान्तिस्थल में ज्ञान किया जाता है । न सत् शब्द से उसका कथन होता है, न असत् से, इसलिए वह अनिर्वचनीय होगा। सूत्रकार कहता है--

नानिर्वचनीयस्य तदभावात् (सा. 6/54)

अनिर्वचनीय का नहीं, उसके न होने के कारण ।

भ्रान्तिस्थलों में सत् और असत् से विलक्षण किसी अनिर्वचनीय वस्तु का भान होता है, ऐसा मानना भी संगत नहीं, क्योंकि इस प्रकार के वस्तुतत्त्व की संभावना नहीं की जा सकती । जो न सत् हो, न असत् हो, ऐसे पदार्थ का संसार में सर्वथा अभाव है। इसलिए ऐसे तत्त्व की कल्पना के आधार पर उसी के अनुकूल उसके मूल उपादान का अनुमान नहीं किया जासकता ।

तब यही मान लेना चाहिए, कि अन्य वस्तु में अन्य का ज्ञान होजाता है। इसको अन्यथाज्ञान अथवा अन्यथाख्याति कहा जाएगा, सूत्रकार कहते है -

नान्यथाख्यातिः स्ववचोव्याघातात् (सा. 6/55)

अन्यथा ज्ञान होता है ऐसा भी नहीं, अपने वचन का विरोध होने से ।

जब हमको सामने की वस्तु में यह सांप है ऐसा ज्ञान होता है, तब यदि हम यह भी जान लेते हैं, कि यह हम अन्य वस्तु में अन्य का ज्ञान है, तो अपने ही वचन का विरोध हो जाता है। अभिप्राय यह है, कि यदि उस समय यह अन्य का अन्य में ज्ञान है-ऐसा जान लिया जाता है, तो यह सांप है-ज्ञान हो नहीं सकता। पर उस समय-यह सांप है-ऐसा ही जाना जाता है। इसलिए इसे अन्य में अन्य का ज्ञान कहना अपने वचन का व्याघात है। यदि कालान्तर में यह जाना जाता है, कि यह अन्य में अन्य का ज्ञान है, तो उस समय यह सांप है-ज्ञान रहता ही नहीं। इसलिए जब वह ज्ञान रहता है, तब उसे अन्यथाज्ञान नहीं कहा जा सकता । फलतः भ्रान्तिस्थल का यह विवेचन भी मान्य नहीं। इसमें स्वारस्य यह है, कि ज्ञान सदा ज्ञेय के अनुरूप होता है, अन्य में अन्य का ज्ञान मानें, तो वह ज्ञेय के अनुरूप कैसे रहेगा?

भ्रान्तिस्थलों में विवेचन का पूर्वोक्त कोई प्रकार युक्तियुक्त नहीं है, तो क्या यह विवेचन अशक्य है? सूत्रकार इस विषय का वास्तविक समाधान प्रस्तुत करता है -

सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधात् (सा. 6/56)

सदसत् ख्याति माननी चाहिए बाध और अबाध से ।

भ्रान्तिस्थलों में प्रतीति के विवेचन के लिए सांख्य सदसत्ख्याति स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि जब यह सांप है ऐसा ज्ञान होता है, उस समय 'यह' पद पुरोवर्ती वस्तु का निर्देश करता है। पुरोवर्ती वस्तु के सामान्यधर्म जंगल में स्थित सर्प का स्मरण करा देते हैं, उस स्मरण अथवा सर्पविषयक पहले ज्ञान के उभर आने में भय, शंका आदि निमित्त होते हैं। पुरोवर्ती वस्तु और जंगल में स्थित सर्प का कोई परस्पर संसर्ग नहीं है, पर भय, शंका आदि निमित्त उस असंसर्ग का ग्रहण नहीं होने देते । तब पुरोवर्ती वस्तु के साथ जंगलस्थित सर्प का संसर्ग समझ लिया जाता है । वस्तुस्थिति यही है, कि हम उनके असंसर्ग को ग्रहण नहीं कर पाते, और वे एक दीखने लगते हैं, पर जैसे ही हमें उनके असंसर्ग का ग्रहण होता है, तब सर्प की स्वरूप से बाधा नहीं होती, वह तो जंगल में जैसा पहले स्थित था, अब भी है। हमारा उस विषय का ज्ञान भी वैसा ही है, केवल पुरोवर्ती के साथ संसर्ग की बाधा हो जाती है। इस प्रकार संसर्ग से सर्प बाधित होता है, स्वरूप से नहीं । फलतः बाध और अबाध दोनों के उपस्थित रहने से सदसत्ख्याति मानना युक्तियुक्त है । इस आधार पर दृश्यादृश्य जगत् के मूलकारण को जानने का यत्न किया जाता है। कार्यरूप जगत् के पदार्थ कालान्तर में बाधित होते देखे जाते है, परन्तु उनका कारणरूप में अस्तित्व बना रहता है। यदि कारण का बाध होजाए, तो कार्य का अस्तित्व-आधार न रहने से संभव ही न होगा। अतः प्रत्येक पदार्थ कारणरूप से सदा बना रहता है, वह अबाधित और सत् है। कार्य के विविध रूप सामने आते और छिपते रहते हैं; इस परिणाम व परिवर्तन में एक रूप जाता तथा दूसरा उभर आता है, उस आकार का तात्कालिक रूप में न रहना ही बाध है। उसी सुवर्ण के रुचक कुण्डल स्वस्तिक आदि विविध आभूषण एक दूसरे के बाद बनते रहते हैं। सुवर्ण वही रहता है, आकृति बदल जाती है। प्रत्येक आकृति कारण-रूप में सदा विद्यमान रहता है, निमित्त पाकर उभर आती है। इसीप्रकार जगत् में सुख-दुःख और मोह की अनुभूति इसके त्रिगुणात्मक उपादान का बोध कराती है। इस रूप में हम उस त्रैगुण्य का प्रत्यक्ष करते है। फलतः श्रुति, अनुमान और प्रत्यक्ष तीनों प्रमाणों से मूल उपादान त्रिगुणात्मक प्रकृति की सिद्धि होती है महर्षि कपिल ने इन सूत्रों के द्वारा भ्रान्तिस्थलों का विवेचन अनेक संभावनीय विकल्पों की उद्भावना करके प्रकट किया है। पर अनन्तर काल में अनेक आचार्यो ने अपनी रुचि व तर्कानुगत प्रतिभा के अनुसार उन विकल्पों को अपने-अपने विचारों के रूप में मान्यता दी। इस आधार पर आज जब हम इस विषय को विचारते हैं, तो उन आचार्यो अथवा उनके द्वारा प्रवर्त्तित उन दार्शनिक

संप्रदायों या वादों के नाम पर ही इन मान्यताओं को पाते हैं। इनके अनुसार दर्शन-वादियों के अपने-अपने अखाड़े बन गए है, जहां बुद्धि का दंगल प्रखररूप में प्रचलित रहता है। इसको संक्षेप में दिखलाने के लिए किसी विद्वान् ने एक श्लोक में संग्रह कर दिया है-

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा ।
तथाऽनिर्वचनख्यातिरित्येतत् ख्यातिपञ्चकम् ॥
विज्ञानशून्यमीमांसान्यायवेदान्तसम्मतम् ।

मुख्यरूप से ये पांच विकल्प सन्मुख आते हैं- आत्मख्याति, असत्ख्याति अख्याति, अन्यथाख्याति तथा अनिर्वचनख्याति । इनमें पहले दो विकल्पों को बौद्धों ने विशेष मान्यता दी है। बौद्ध दार्शनिकों में चार अवान्तर विभेद है-वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक । पहले दोनों बाह्य पदार्थों के अस्तित्व को स्वीकार करते है, इसलिए ये दोनों सर्वास्तिवादी कहे जाते हैं। इनमें से वैभाषिक बाह्य और आन्तर दोनों प्रकार के पदार्थों की वास्तविक सत्ता मानकर बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष मानता है। दूसरा सोत्रान्तिक बाह्य पदार्थ को मुख्य मानकर उसीका अन्तनिक्षेप बतलाता है, मुख्य बाह्य पदार्थ ही आन्तर रूप में भासता है, वह अनुभूति है, अतः बाह्य पदार्थ स्वतः अनुमेय रहजाता है। भ्रान्तिस्थलों के विवेचन में ये न्याय-वैशेषिक के समान अन्यथाख्यातिवादी है । योगाचार केवल आन्तर विज्ञान को मानकर बाह्य पदार्थ के अस्तित्व का स्वीकार नहीं करता, अन्तर्विज्ञान का ही बहिनिक्षेप होजाता है। इसी कारण बौद्धो के इस सम्प्रदाय को विज्ञानवादी कहा जाता है । भ्रान्तिस्थलों में यह सम्प्रदाय आत्मख्याति मानता है, क्योंकि आत्मस्थानीय आन्तर विज्ञान ही बाह्यरुप में भासता है, बाह्य का अपना कोई अस्तित्व नहीं है, वह कल्पनामात्र है ।

बौद्धों का माध्यमिक नामक संप्रदाय बाह्य और आन्तर किसी प्रकार के पदार्थों की वास्तविक सत्ता को स्वीकार नही करता, यह सब केवल कल्पना है, सर्वथा तुच्छ । इसीलिए यह सम्प्रदाय शून्यवादी नाम से प्रसिद्ध है। ये किसी पदार्थ की वास्तविक सत्ता स्वीकार न करने से असत्ख्यातिवादी कहे जाते है ।

भ्रान्तिस्थलों में मीमांसकों का विचार है, कि जहां सीप में चांदी अथवा रस्सी में सांप का ज्ञान हा. ेता है 'इदं रजतम्' या 'अयं सर्पः' वहाँ सब जगह दो ज्ञान होते हैं। 'इदं' अंश का ज्ञान प्रत्यक्ष है, जो पुरा. ेवर्ती वस्तु में इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर होता है। अन्धेरा या झुटपुटा होने से वस्तु के विशेषधर्मो का ग्रहण नहीं हो पाता, तथा सामान्यधर्म चमक अथवा वक्रता आदि का ग्रहण हो जाता है, उसमें लोभ लालच अथवा भय शंका आदि का सहयोग पाकर दूकान में रक्खी चांदी और जंगल में बैठे सांप का स्मरण हो आता है। इन दोनों ज्ञानों में स्वरूप से तथा विषय की दृष्टि से भी जो परस्पर असंसर्ग है, प्रमाण अथवा साधन की कमी के कारण उसका ग्रहण नहीं होपाता, उसके अग्रहण में लोभ लालच और भय शंका आदि भी निमित्त होजाते हैं। मुझे 'भिन्नविषयक दो ज्ञान होरहे है' ऐसा विवेकज्ञान नहीं होता, प्रत्युत उसका प्रतिद्वन्द्वी यह एक ज्ञान-यह चांदी है अथवा यह सांप है-होजाता है। यह दोनों के असंसर्ग का अग्रहरूप अविवेक, भ्रम मिथ्याज्ञान अथवा विपर्यय नाम से कहा जाता है। वस्तुतः वे ज्ञान भौर उनके विषय यथार्थ है। इसीलिए जब भ्रम का बाध होता है, और यह ज्ञान होता है, कि यह चांदी नहीं अथवा यह सांप नहीं, तब दूकान में रक्खे रजत की अथवा जंगल में बैठे सांप की स्वरूप से बाधा नहीं होती, प्रत्युत पुरोवर्ती में संसर्गमात्र की बाधा होती है। पर बाधा संसर्ग की भी कहां ? संसर्ग तो पहले से ही नहीं है, बाधा कैसी ? उस अवस्थित असंसर्ग का जो अभी तक ग्रहण नहीं हो सका था, उसका ग्रहण हो जाता है, और इसप्रकार असंसर्ग के अग्रहणरूप अविवेक की बाघा हो-जाती है, तथा प्रसंसर्ग भासित होने लगता है। इन भ्रान्तिस्थलों में उक्त प्रकार से जैसे वस्तु की बाधा नहीं होती, वैसे ज्ञान की भी बाधा नहीं होती। पुरोवर्ती वस्तु में यह चांदी है अथवा श्यह सांप है द्रष्टा को यह ज्ञान होता है। इसमें यह अश पुरोवर्त्ती वस्तु को विषय करता है, और अगला भाग दूकान में रक्खी चांदी तथा जंगल में बैठे सांप को विषय करता है। यह निश्चित है कि चांदी या सांप इस समय हमारे सन्मुख नहीं है, तव असंदिग्ध रूप में यह बात माननी होती है, कि उस समय द्रष्टा को विशेष निमित्तों से चांदी या सांप का स्मरण हो आता है। पर उस ज्ञान में स्मृति का अंश भासित नहीं होता, मुषित या लुप्त रहता है, उसके निमित्त है-लोभ लालच या भय शंका आदि। जब प्रकाश आदि में द्रष्टा देखता है, कि यह चांदी नहीं सीप है अथवा सांप नहीं रस्सी है, तब उसका तात्पर्य यही होता है कि मैंने 'इसे चांदी समझ लिया था' अथवा 'सांप समझ लिया था', यहां 'समझ लिया था' यह वाक्यांश इस बात को स्पष्ट कर रहा है, कि उस समय द्रष्टा को उन वस्तुओं का 'स्मरण हो आया था' । स्मरण अब भी है, पर अब इस स्मृतिरूप ज्ञान में 'स्मृत्यंश' लुप्त या मुषित नहीं है, जिन लोभ या भय आदि निमित्तों से वह मुषित था, अब वे निमित्त नहीं रहे, तब वह अंश भी उभर आया है। फलतः ज्ञान जैसा तब था अब भी है, उसकी बाधा नहीं होती, केवल जो स्मृत्यंश पहले किन्हीं निमित्तों से दबा हुआ था, वह उन निमित्तों के अभाव में उभर आता है। वे निमित्त जैसे 'स्मृत्यंश' को दबाते हैं, ऐसे ही पुरोवर्ती वस्तु के 'ज्ञान' को भी। उनके न रहने पर वह 'ज्ञान' भी उभर आता है। तब 'यह सीप है' और 'यह रस्सी है' यह ज्ञान स्पष्ट होता है, एवं चांदी और सांप का स्मरणमात्र । यहां ज्ञान की दृष्टि से 'स्मृत्यंशमोष' की बाधा और वस्तु की दृष्टि से 'असंसर्ग के अग्रहण' की बाधा होती है, ज्ञान एवं वस्तु स्वरूपेण अबाधित रहते हैं।

इस विवेचन को जब हम ज्ञान के आधार पर अथवा दो ज्ञानों को मुख्य मानकर प्रस्तुत करते है, तब इसे 'अख्याति' कहा जाता है, और जब ज्ञानों के विषय को आधार मान लें, तो इसी का नाम 'सदसत्ख्याति' है । वस्तुतः यह विवेचन नाम दो होने पर भी एक स्वरूप रखता है । पहला मीमांसकों के नाम से प्रसिद्ध है, और दूसरा सांख्यों के । सूत्र की प्रारम्भिक व्याख्या में वर्णन कर दिया है, कि सदसत्ख्याति का स्वरूप क्या है ? न्याय-वैशेषिक ने जिस रीति पर इसका विवेचन किया है, उसका नाम अन्यथाख्याति है। पुरोवर्त्ती वस्तु के साथ चक्षु इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर अन्धकार आदि के कारण उसके वक्रता आदि साधारण धर्मो का ग्रहण होता है, जो रज्जु और सर्प दोनों में है। भय आदि निमित्त से वह वस्तु अन्यथा समझ ली जाती है। तब रज्जु ज्ञान न होकर 'यह सर्प है' ऐसा ज्ञान होजाता है। पर वस्तु-स्थिति में सर्प तो वहां है नहीं, स्पष्ट है-पहले देखे सपं को समानधर्म, भय शंका आदि का सहारा लेकर स्मरण करा देते हैं। ऐसी स्थिति में सदसत्ख्याति प्रबल होकर हमारे सामने आती है।

वेदान्त (शांकर) इस प्रसंग में अनिर्वचनख्याति स्वीकार करते है। उसका कहना है, जो वस्तु पुरा. वर्त्ती है उसका ज्ञान नहीं हो रहा, जिसका ज्ञान है, वह वहां है नहीं, इसलिए न वह सत् है न असत् । विरुद्ध हा. ने से उभयरूप भी नहीं। तब उसे अनिर्वचन शब्द से कहा जाता है। वेदान्त की मान्यता है, कि अज्ञान से सर्प वहां उत्पन्न होजाता है, उसकी कालान्तर में बाधा हो जाती है, इसलिए उसे सर्वथा सत् नहीं कहा जासकता, वह सर्वथा असत् अथवा तुच्छ भी नहीं है, क्योंकि उसकी प्रतीति होरही है। विरुद्ध होने से उभयरूप न होने पर अनिर्व. चनस्थिति सिद्ध होती है। इसी रूप में संसार भी अज्ञान का कार्य है, अनिर्वचनीय है। वेदान्त ने जिस रीति पर भ्रान्तिस्थलों का निरूपण किया है, उसमें एक बात ज्ञातव्य है, कि जिस व्यक्ति ने कभी सर्प को नहीं देखा, उसके विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं की, उसका अज्ञान वहां सर्प को उत्पन्न करेगा या नहीं ? देखा यह जाता है, कि ऐसे व्यक्ति को कभी ऐसा ज्ञान नहीं होता। यह जान रज्जु में सर्प का ज्ञान उसी व्यक्ति को हो पाता है, जिसने सांप को पहले देखा है, और उसके काट लेने के परिणामों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की है। इससे स्पष्ट है, कि भ्रान्तिस्थलों में भ्रान्ति के विषयभूत पदार्थों की उपस्थिति स्मरणमात्र में होती है। स्मृतिरूप होते हुए भी उनमें स्मृत्यंश मुषित रहता है, प्रकट नहीं हो पाता । अध्यास का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य शंकर ने भी स्पष्ट लिखा है- **स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः** अध्यास या भ्रान्तिस्थलों में स्मृतिरूपता को स्वीकार किया है।

स्मरणीय बिन्दु-

1. कार्य कारण में पूर्व से विद्यमान रहता है।
2. सांख्य दर्शन सत्कार्यवाद को स्वीकार करता है।
3. प्रकृति जगत की मूल कारण है।
4. कार्य कारण का ही विकसित रूप है।

शब्दावली-

सत्कार्यवाद - कार्य का कारण में पूर्व अस्तित्व
कारण - मूल तत्व
कार्य - परिणाम
प्रकृति - मूल कारण
विकार - परिवर्तन

3 से 5 अंक के प्रश्न-

1. सत्कार्यवाद क्या है?
2. कारण और कार्य में संबंध स्पष्ट कीजिए।
3. सांख्य दर्शन में प्रकृति की भूमिका क्या है?
4. सत्कार्यवाद के मुख्य तर्क लिखिए।
5. असत्कार्यवाद और सत्कार्यवाद में अंतर स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. सत्कार्यवाद का विस्तारपूर्वक विवेचन कीजिए।
2. सांख्य दर्शन के कार्य-कारण सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।

3. सत्कार्यवाद एवं असत्कार्यवाद का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. सत्कार्यवाद किस दर्शन का सिद्धांत है?

(क) न्याय

(ख) बौद्ध

(ग) सांख्य

(घ) चार्वाक

उत्तर: (ग)

2. सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य कहाँ विद्यमान रहता है?

(क) शून्य में

(ख) कारण में

(ग) आकाश में

(घ) शरीर में

उत्तर: (ख)

3. मिट्टी और घड़ा उदाहरण किस सिद्धांत से संबंधित है?

(क) योग

(ख) सत्कार्यवाद

(ग) अद्वैत

(घ) क्षणिकवाद

उत्तर: (ख)

4 प्रकृति क्या है?

(क) कार्य

(ख) कारण

(ग) पुरुष

(घ) आत्मा

उत्तर: (ख)

5. कार्य किसका परिणाम है?

(क) कारण

(ख) मन

(ग) आत्मा

(घ) इन्द्रिय

उत्तर: (ख)

इकाई-4.3 अविवेक नाश के उपाय

उद्देश्य-

1. अविवेक की समस्या को समझना।
2. विवेकज्ञान की भूमिका का अध्ययन करना।
3. मोक्ष प्राप्ति के उपायों को जानना।

आत्मा के साथ गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) का सम्बन्ध अविवेकमूलक है किन्तु आत्मा को अविवेक होने का मूल क्या है ? सूत्रकार ने कहा-

अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्तेः (सा. 6/12)

अनादि है अविवेकऐसा न मानने पर दो प्रकार के दोष प्राप्त हो जाने से ।

आत्मा के साथ अविवेक का सम्बन्ध अनादिकाल से चला आता है। यदि ऐसा न माना जाए, और यह समझा जाए कि अविवेक का आरम्भ किसी विशेष काल से हुआ है, तो इसमें दो दोषों की प्राप्ति हो जाती है। प्रथम इसको विना कारण के कहीं से प्रारम्भ हुआ माना जाए, तो मुक्त अवस्था में रहते हुए आत्माओं को भी अविवेक की प्राप्ति होकर बन्ध अवस्था में आजाना चाहिए, जो प्रामाणिक नहीं है। दूसरे यदि अविवेक के कारण की खोज करते हुए इसे कर्मजन्य माना जाता है, तो उस कर्म का कोई कारण बताना होगा, और वह अविवेकरूप होगा, फिर उसके भी किसी अन्य कारण की खोज करनी होगी, इस प्रकार अनवस्था दोष स्पष्ट सामने आ जाएगा, फलतः अविवेक को अनादि मानना युक्ति-युक्त है। अविवेक कोई एक व्यक्तिरूप अनादि तत्त्व है, ऐसी बात नहीं है। जड़ और चेतन के अथवा प्रकृति और पुरुष के भेद का साक्षात्कार न होना ही अविवेक है । पर वस्तुतः यह ज्ञान का अभाव नहीं, प्रत्युत यह एक प्रकार का वृत्तिरूप ज्ञान ही है, जिसमें चेतनाचेतन के असंसर्ग का अग्रहण भासित होता है। अर्थात् जड़-चेतन के वास्तविक असंसर्ग का न जानना, उस ज्ञान का विषय रहता है। यह अविवेक इसप्रकार व्यक्तिरूप से अनादि न होकर प्रवाह से अनादि है। आत्मा के साथ इसका प्रवाह अनादिकाल से चला रहा है। जबतक आत्मज्ञान न होजाए, इसकी स्थिति बराबर बनी रहती है, प्रलयकाल में भी आत्मा के साथ वासनारूप से यह अवस्थित रहता है ।

यह अविवेक आत्मा के समान एक व्यक्तिरूप से अनादि माना जाकर नित्यरूप नहीं है, इस वास्तविकता को सूत्रकार स्पष्ट करता है-

न नित्यः स्यादात्मवदन्यथानुच्छित्तिः (सा. 6/13)

नित्य नहीं है अविवेक आत्मा के समान (जैसा आत्मा नित्य है वैसा यह नही है) यदि ऐसा न मानें तो इसका उच्छेद न हो।

आत्मा के समान अविवेक अनादि अनन्त एकरूप रहता हुआ नित्य नहीं है। जैसा आत्मा अनादि अनन्त एक व्यक्तिरूप नित्य है, वैसा अविवेक नहीं है। यदि अविवेक को वैसा माना जाए, तो उसका फिर कभी उच्छेद न होगा । आत्मा फिर सदा बन्धन में बना रहेगा, किसी भी अवस्था में उसका मोक्ष होना संभव नहीं। सूत्र में 'आत्मवत्' दृष्टान्त प्रकृति का उपलक्षण है। प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त सब पदार्थों को सांख्य में अनित्य माना गया है। आत्मा कूटस्थ नित्य है, प्रकृति परिणामि-नित्य है। अविवेक की नित्यता प्रकृति के समान भी नहीं है। अभिप्राय यह है, कि अविवेक न कूटस्थ नित्य है, न परिणामि-नित्य, वह अनित्य समझना चाहिए। पर उसका प्रवाह अनादिकाल से चला आ रहा है। जबतक आत्मज्ञान न होजाएगा, चलता रहेगा।

बन्धकारण अविवेक का नाश कैसे होता है ? सूत्रकार ने बताया-

प्रतिनियतकारणनाश्यत्वमस्य ध्वान्तवत् (सा. 6/14)

विरोधी नियत कारण से नाश होता है इस अविवेक का अन्धकार के समान । अपने विरोधी नियत कारण से अविवेक का नाश होता है। अन्धकार के समान, जैसे अन्धकार का नाश अपने विरोधी नियत कारण प्रकाश के द्वारा होता है, इसी प्रकार अविवेक का नाश अपने विरोधी विवेक के द्वारा होता है। प्रकृति-पुरुष अथवा जड़-चेतन के भेद का साक्षात्कार ज्ञान हो जाना विवेक है, उसके होनेपर अविवेक निवृत्त होजाता है। तमःप्रकाश का नाश्यनाशकभाव जिसप्रकार अन्वयव्यतिरेक से जाना जाता है, इसीप्रकार अविवेक और विवेक का भी ।

इसी बात को सूत्रकार सूत्ररूप में कहा -

अत्रापि प्रतिनियमोऽन्वयव्यतिरेकात् (सा. 6/15)

यहां पर भी नियत विरोधी भाव-नाश्यनाशकभाव जाना जाता है अन्वय-व्यतिरेक से। ध्वान्त और आलोक के समान अविवेक और विवेक का भी नाश्यनाशक-भाव अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध होता है । शुक्तिरजतादिस्थल में उस अन्वयव्यतिरेक का ग्रहण देखा जाता

है। जब शुक्ति में रजत का ज्ञान हो जाता है, वह अविवेक है । अनन्तर यह ज्ञान हो जाने पर कि यह रजत नहीं, प्रत्युत शुक्ति है पहले अविवेकरूप रजतज्ञान का नाश हो जाता है । इसी प्रकार देहादि में आत्मा का ज्ञान अविवेक है, अनन्तर यम नियमादि साधनों द्वारा समाधिलाभ हो जाने पर आत्म-साक्षात्काररूप विवेक से अविवेक का नाश हो जाता है ।

सूत्र की व्याख्या इसप्रकार भी की जाती है-जैसे अविवेकनाश का कारण विवेक है, वैसे विवेक का कारण क्या होगा ? सूत्रकार ने बताया, विवेक का निश्चित कारण अन्वयव्यतिरेक से जान लेना चाहिए। उसके कारण है-आत्म-विषयक श्रवण मनन निदिध्यासन यम नियमादि के पालन द्वारा समाधिलाभ, इसके होने पर आत्मानात्मविवेक होता है, न होने पर नहीं होता।

प्रकारान्तरासंभवादविवेक एव बन्धः (सा. 6/16)

अन्य किसी प्रकार के संभव न होने से अविवेक ही बन्ध है अर्थात् बन्ध का कारण है।

प्रथम अध्याय के प्रारम्भ **(एवमेकत्वेन परिवर्त्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः। 119)** में बन्ध के कतिपय सम्भावित निमित्तों का उल्लेख किया गया है। उन सब विभिन्न प्रकारों के-बन्ध के कारण रूप में-संभव न होने से केवल अविवेक बन्ध का कारण समझना चाहिए। सूत्र में 'अविवेक' यह सप्तम्यन्त पद होने पर यह अर्थ स्पष्ट होता है। प्रथमान्त पद मानने पर कार्यकारण की अभेद भावना से-अविवेक ही बन्ध है-ऐसा कहना होगा। यह केवल कहने की रीति का भेद है । अर्थ-प्रतिपादन में कोई अन्तर नहीं।

मुक्ति विवेकसाध्य होने के कारण वह अवस्था सत्त्वर परिवर्तनशील होनी चाहिए, तब मुक्त पुरुष भी सतत बन्धन में आ जाएगा। सूत्रकार ने कहा-

न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिश्रुतेः (सा. 6/17)

नहीं होना मुक्त आत्मा का फिर उस अवस्था में बन्धयोग भी, अनावृत्तिश्रुति से।

मुक्त आत्मा का उस अवस्था में पुनः बन्ध के साथ योग नहीं होता। आत्म-साक्षात्कार न होने पर केवल अविवेक अवस्था में आत्मा देहादि के साथ सन्बन्ध या असम्बन्धरूप जन्म-मरण के चक्र में निरन्तर घूमता रहता है, पर विवेक हो-जाने पर यह अवस्था नहीं रहती । तब आत्मा ब्रह्मानन्द में लीन रहकर सत्त्वर जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है। 'न च पुनरावर्त्तते' [छा० (8/15) आदि शब्दप्रमाण के आधार पर उस अवस्था में जन्म-मरण का चक्र अतित नहीं होता।

व्यतिरेक रूप से उसी अर्थ को दृढ़ करते हुए महर्षि कहते है-

अपुरुषार्थत्वमन्यथा (सा. 6/18)

नहीं तो मोक्ष अपुरुषार्थ हो जाएगा।

यदि उस अवस्था में भी जन्म-मरण का क्रम अतित रहता है, तो मोक्ष परमपुरुषार्थ ही न रहेगा। वह चालू संसार के समान होजाएगा, फिर उसके लिए शम दम आदि साधन यम नियम आदि का अनुष्ठान तथा समाधिलाभ आदि सब व्यर्थ है। अतः वह अवस्था संसार से अत्यन्त विशिष्ट होती है।

मोक्ष को भी संसार के समान मानने से अपुरुषार्थ होने पर -

अविशेषापत्तिरुभयोः (सा. 6/16)

बन्ध और मोक्ष दोनों अवस्थाओं में समानरूपता की ही प्राप्ति है।

बद्ध और मुक्त आत्माओं की अवस्था में किसीप्रकार की विशेषता न रहेगी। तब उस अवस्था को प्राप्त करने के लिए शास्त्रीय विधान सब व्यर्थ होंगे, और शास्त्र भी निष्फल । विविधता और आपातरमणीय आकर्षणों से परिपूर्ण इस संसार में आत्मा का अपने आपको पहचान लेना परमपुरुषार्थ है। वह उसे प्राप्त-कर एक असाधारण अवस्था में चला जाता है, जहां संसार की पहुंच नहीं। यह उन अवस्थाओं की परस्पर विशेषता है, जो आवश्यक है ।

यदि बद्ध और मुक्त अवस्था में ऐसी विशेषता मानी जाती है, तो आत्मा को सांख्य में नित्यमुक्त कैसे कहा गया है ? दोनों अवस्थ. ाओं में उसे तो एकरूपरहना चाहिए । सूत्रकार ने कहा -

मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः (सा. 6/20)

मोक्ष, अन्तरायों के ध्वंस होने से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं ।

विघ्न-बाधाओं का नाम अन्तराय है । उनका ध्वंस-विनाश होजाने से परे और कोई मुक्ति नहीं है। नित्यमुक्त आत्मा के स्वरूपसाक्षात्कार में जो विघ्न बाधा है, उन्हीं को यहां अन्तराय पद से कहा है । ऐसा महान अन्तराय अविवेक है । यद्यपि योगदर्शन में व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य आदि अनेक अन्तरायों का उल्लेख किया है, पर वह सब अविवेक का विस्तार-फैलाव है। मुख्य आधारभूत अन्तराय अविवेक है। इसका बने रहना आत्मा का बन्ध और इसका हटजाना आत्मा का मोक्ष है । वस्तुतः बन्ध और मोक्ष व्यवहार

की वस्तु है, अथवा एक अवस्थामात्र है। आत्मा का स्वरूप तो सदा एकरूप रहता है, उसमें किसी तरह के विकार या परिवर्तन की सभावना अशक्य है। इसलिए आत्मा को नित्य-मुक्त कहना असामञ्जस्यपूर्ण नहीं । उसके लिए बन्ध और मोक्ष का व्यवहार अविवेक एवं विवेक के कारण होता है। जपाकुसुम (गुड़हल का फूल) के सहयोग से लाल प्रतीत होता हुआ स्फटिक वस्तुतः श्वेत बना रहता है, इसीप्रकार दुःखाद्यनुभूतिकाल में बद्ध भी आत्मा के वास्तविक चैतन्य-दुःखादि से असंश्लिष्ट स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता । बन्ध अवस्था का बाह्य आवरण अविवेक हटजाता है, तब उसे मुक्त कहाजाने लगता है । वस्तुतः वह सदा मुक्त है। बन्ध और मोक्ष अवस्थाओं के भिन्न होने पर भी आत्मा में किसीप्रकार का अन्तर नहीं आता।

स्मरीणय प्रश्न-

1. अविवेक बन्धन का कारण है।
2. विवेकज्ञान मोक्ष का साधन है।
3. वैराग्य और साधना आवश्यक हैं।
4. ज्ञान और योग परस्पर सहायक हैं।

शब्दावली-

1. अविवेक - भेदज्ञान का अभाव
2. विवेकज्ञान - सत्य ज्ञान
3. वैराग्य - आसक्ति त्याग
4. साधना - आध्यात्मिक अभ्यास
5. मोक्ष - मुक्ति

3 से 5 अंक के प्रश्न-

1. अविवेक क्या है?
2. विवेकज्ञान का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. अविवेक नाश के साधन लिखिए।
4. योग और ज्ञान का संबंध स्पष्ट कीजिए।
5. मोक्ष प्राप्ति में विवेक का महत्त्व बताइए।

15 अंक के प्रश्न-

1. अविवेक नाश के उपायों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. सांख्य दर्शन में विवेकज्ञान की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
3. ज्ञान, योग एवं वैराग्य के संबंध का विश्लेषण कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. **अविवेक का नाश किससे होता है?**
   (क) मोह
   (ख) विवेकज्ञान
   (ग) निद्रा
   (घ) तृष्णा
   उत्तरः (ख)
2. **मोक्ष का मुख्य साधन क्या है?**
   (क) कर्म
   (ख) विवेकज्ञान
   (ग) यज्ञ

(घ) दान

उत्तर: (ख)

3. **वैराग्य किससे संबंधित है?**

(क) आसक्ति

(ख) त्याग

(ग) मोह

(घ) क्रोध

उत्तर: (ख)

4. **सांख्य दर्शन में बन्धन का कारण क्या है?**

(क) विवेक

(ख) अविवेक

(ग) ज्ञान

(घ) समाधि

उत्तर: (ख)

5. **योग का उद्देश्य क्या है?**

(क) भोग

(ख) मोक्ष

(ग) निद्रा

(घ) तृष्णा

उत्तर: (ख)

इकाई-4.4 जीवात्मा की कार्यनिष्पत्ति का अधिष्ठाता

उद्देश्य-

1. जीवात्मा की अवधारणा को समझना।
2. कार्यनिष्पत्ति में अधिष्ठाता की भूमिका स्पष्ट करना।
3. सांख्य दर्शन में पुरुष एवं प्रकृति के संबंध का अध्ययन करना।

लौकिक वैदिक कर्मों का अनुष्ठान क्या शुद्ध आत्मा के अधीन रहता है, अथवा अन्य किसी उत्कृष्ट शक्ति के अधीन ? इसकों सूत्रकार ने बताया-

अहङ्कारकर्त्रधीना कार्यसिद्धिर्नेश्वराधीना प्रमाणाभावात् (सा. 6/64)

अहंकारादियुक्त कर्ता के अधीन क्रिया की सिद्धि होती है, ईश्वर के अधीन नहीं, इसमें प्रमाण न होने से ।

अंहकारयुक्त कर्त्ता के अधीन कार्य की सिद्धि रहती है, अन्य किसी ईश्वर आदि के अधीन नहीं। लौकिक वैदिक आदि समस्त कार्यों का संपादन अहकार-विशिष्ट कर्त्ता अर्थात् जीवात्मा के अधीन रहता है। इन कार्यों में आत्मा की प्रवृत्ति तभी संभव हो सकती है, जब वह अभावनाओं से युक्त रहता है, भोगों के प्रति उसका आकर्षण बना रहता है। **'एष ह्येवंन साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते । एष उ एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कोषी० ब्रा० 3/8)** इत्यादि वाक्यों के आधार पर यदि कोई ऐसा कहे, कि ये सब प्रवृत्तियां ईश्वर के अधीन है, वह जैसा चाहता है कराता है, तो वह असंगत होगा। यदि ये सब प्रवृत्तियां ईश्वर के अधीन हों, तो जीवात्मा इनके फलों को भोगने के लिए बाध्य नहीं हो सकता। यदि ऐसा होगा, तो वह अन्याय होगा, जो परमात्मा के न्याय को उच्छिन्न करने वाला कहा जासकता है। उक्त उपनिषद्वाक्य का तात्पर्य इतने में ही है, कि परमात्मा ने दोनों प्रकार के साधन जीवात्मा के लिए प्रस्तुत कर दिए है, चाहे वह विषयों की ओर प्रवृत्त हो, और संसार में फंसा रहे, चाहे अध्यात्म की ओर जावे, यह उसकी अपनी इच्छा और प्रवृत्तियों पर निर्भर है। इसलिए इन कार्यों के ईश्वराधीन होने में कोई प्रमाण नहीं कहे जा सकते । सूत्र की व्याख्या इस प्रकार भी की जा सकती है। सर्ग की रचना और संहार आदि कार्यों में जीवात्मा के धर्माधर्म को भी निमित्त माना जाना चाहिए, यह रचना आदि केवल ईश्वर के अधीन हो, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यद्यपि संसार के सर्ग और संहार आदि ईश्वर की प्रेरणा व नियन्त्रण के विना नहीं, पर फलदानोन्मुख विविध रचना में जीवात्माओं के धर्माधर्म की अपेक्षा अवश्य रहती है, उनकी उपेक्षा करके ईश्वर जैसा चाहे कर दे, यह कथन अप्रामाणिक है। ऐसा होने से ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता में कोई बाधा आती हो, यह नहीं है, क्योंकि सर्गरचना की व्यवस्था इसी प्रकार की है। जिनके लिए यह समस्त रचना है, उनकी उसमें सर्वथा उपेक्षा हो, यह संभव नहीं ।

पुरुषार्थ करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात् (सा. 2/36) इस सुत्र के माध्यम से सर्गरचना में पुरुषार्थ को निमित्त कहा है, और यहां जीवात्मा के धर्माधर्म को । क्या इनमें कोई विरोध नहीं? सूत्रकार इसमें अविरोध दर्शाते हुए कहते है-

अदृष्टोद्भूतिवत् समानत्वम् (सा. 6/65)

जीवात्मा के अदृष्ट अर्थात् धर्माधर्म से उद्भूत-सर्गरचना का जिस प्रकार कथन है, उसके समान ही यह कथन है, कि पुरुषार्थ निमित्त से यह सर्ग है। यह सर्ग पुरुषार्थनिमित्तक है, पुरुष के प्रयोजन को पूरा करने के लिए इसकी रचना होती है, इसलिए वह इसमें निमित्त है, और पुरुष के किए धर्माधर्म इस रचना में निमित्त है, इन दोनों कथनों में कोई भेद नहीं है। पुरुष का प्रयोजन निमित हो अथवा पुरुष के धर्माधर्म, यह एक ही भाव को प्रकट करते हैं, तात्पर्य यह है। कि सर्गरचना में पुरुषकार या पुरुषकृत की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए ।

अथवा सूत्र की अवतरणिका होगी-यदि कर्मानुष्ठान ईश्वराधीन नही है, तो अहंभावनायुक्त आत्मा के भी अधीन न हो, प्रत्युत जीव के अदृष्ट के अधीन मान लिया जाए । सूत्रकार समाधान करता है-जीव के अदृष्ट के अनुसार उद्भूतिकर्मो का अनुष्ठान होता है, इस कथन के समान ही यह कथन है, कि अहंभावना-युक्त आत्मा से कर्मानुष्ठान होता है। अदृष्ट-धर्माधर्म का आधार जीवात्मा है, और अहंभावना से युक्त आत्मा ही जीवात्मा कहा जाता है। अब जीवात्मा के अधीन कर्मानुष्ठान कहा जाए अथवा जीवात्मा के धर्माधर्म के अनुसार कहा जाए, इसमें कोई अन्तर नहीं है, दोनों प्रकार से अनुष्ठान जीवात्म-कृत ही सिद्ध लौकिक वैदिक कर्मानुष्ठानों में प्रवृत्ति के लिए जैसे अहंभावना निमित्त है, वैसे ही प्रकृति-पुरुषविवेकरूप स्थिति की प्राप्ति के लिए क्या निमित्त होगा ? सूत्रकार ने बताया-

महतोऽन्यत् (सा. 6/66)

लौकिक वैदिक कर्मों से अन्य विलक्षण जो यह प्रकृति-पुरुषविवेक की स्थिति है, वह 'महतः' महत्-शुद्धसत्त्वमय अत्यन्तसूक्ष्म

बुद्धितत्त्व से प्राप्त होती है। अभिप्राय यह है, कि प्रकृति-पुरुषविवेक का निमित्त शुद्ध बुद्धितत्त्व है, जो उत्कट वैराग्य और जन्मजन्मान्तर के पटु अभ्यास द्वारा मलादिदोषरहित कर लिया गया है। जब तक बुद्धितत्त्व मलिन रहता है, और विषयों की ओर आसक्ति बनी रहती है, तब तक परमषुरुषार्थ प्रकृति-पुरुषविवेक का लाभ नहीं हो पाता । इसलिए मुमुक्षु को वह स्थिति प्राप्त करने के लिए तीव्र वैराग्य के साथ यम-नियम आदि का यत्नपूर्वक पालन करना चाहिए, जिससे बुद्धि शुद्ध होसके, और विवेकरूप परमपुरुषार्थ का लाभ हो ।

शास्त्र ने उपदेश किया, कि प्रकृतिपुरुष के विवेकज्ञान से ज्ञानीपुरुष के लिए त्रिविध दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति होजाती है, परन्तु पुरुष का प्रकृति के साथ सम्बन्ध किस निमित्त से होता है ? एकदेशिमत से आचार्य समाधान करता है-

कर्मनिमित्तः प्रकृतेः स्वस्वामिभावोऽप्यनादिर्बीजांकुरवत् (सा. 6/67)

प्रकृति का स्वस्वामिभाव । कर्मरूप कारण से होता हुआ भी अनादि है, बीज और अंकुर के समान ।

प्रकृति का पुरुष के साथ स्वस्वामिभाव कर्मनिमित्तक होता हुआ भी बीजांकुर के समान अनादि है। प्रकृति भोग्य 'स्व' है, आत्मा भोक्ता 'स्वामी' है। प्रकृति विविधरूप में पुरुष के लिए भोग्यपदार्थ और भोगसाधनों को उपस्थित करती है। यह सब संसार पुरुष के कर्मों के कारण होता है। कर्मनिमित्तक होते हुए भी यह बीजांकुर के समान अनादि समझना चाहिए। जैसे बीज और अंकुर में यह कहना कठिन है, कि कौन पहले और कौन पीछे, अथवा कौन निमित्त और कौन कार्य है, बीज से अंकुर और अंकुर से बीज यह प्रवाह अनादिकाल से चला श्राता है, इसी प्रकार कर्मो से भोगसाधनों का संग्रह और भोगसाधन होने पर कर्म होना। संभव होता है, यह परस्पर आपेक्षिक स्थिति अनादिकाल से चली आरही है। इस स्थिति में अन्योन्याश्रय दोष की कल्पना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जो कर्म किन्हीं भोगसाधनों को जुटाने में समर्थ होता है, वे भोगसाधन उन्हीं कर्मों के प्रादुर्भाव में निमित्त नहीं बनते, प्रत्युत वे कर्मान्तरों को प्रकट में लाते हैं। और वे कर्म उन्हीं भोगसाधनों के निमित्त नहीं बनते, जिनसे वे प्रकट में आए हैं, प्रत्युत वे उनसे अतिरिक्त भोगसाधन व भोगसामग्री के जुटाने में निमित्त होते है। इसप्रकार किन्हीं कर्मों से कोई भोगसाधन या सामग्री और उस साधनसामग्री से अन्य कर्म, उनसे फिर अन्य सामग्री उनसे फिर कोई कर्म-यह अनादि प्रवाह चला आारहा है। इसकी प्रामाणिकता में सन्देह नहीं । प्रकृति के साथ आत्मा का सम्पर्क होने में कर्म को निमित्त मानने पर पुनः यह आशंका रह जाती है, कि नित्यशुद्धमुक्त आत्मा कर्म के लिए प्रेरित क्यों होता है ?

परमर्षि कपिल अपने प्रिय शिष्य पञ्चशिखमुख के माध्यम से समाधान करते हैं-

अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः (सा. 6/68)

प्रकृति के संपर्क में आत्मा के आने का मुख्य निमित्त अविवेक है, यह अविवेक भी अनादि है। बात यह है, कि आत्मा जब तक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर पाता, तबतक उसकी प्रकृति के साथ संपर्क की स्थिति बनी रहती है। कारण यह है, कि आत्मसाक्षात्कार का साधन भी प्रकृति के साथ संपर्क है। यह संपर्क भोग और अपवर्ग दोनों अवस्थाओं को आत्मा के लिए जुटाता है। इसलिए आत्मा की इस स्थिति का मुख्य आधार अविषेक समझना चाहिए। अविवेक है-प्रकृति और पुरुष के भेद का असाक्षात्कार । यह स्थिति पुरुष को विविध कर्मों के लिए प्रेरित करनी है, और वह इस प्रवाह में बहता चला जाता है। इस प्रवाह का विश्रामस्थल विवेक अथवा आत्मज्ञान है।

मंत्र में 'पञ्चशिख' का उल्लेख होने से कतिपय विद्वानों का विचार है, कि यह रचना कपिल की नहीं होनी चाहिए, क्योंकि पञ्चशिख कपिल का पश्चाद्वर्ती आचार्य है, उसका उल्लेख कपिल के द्वारा किया जाना संभव नहीं। परन्तु यह विचार निराधार है। इतिहास से यह सिद्ध है, कि पञ्चशिख कपिल के शिष्य आमुरि के शिष्य थे। आसुरि को कपिल ने अपने सिद्धान्त व विचारों को दीक्षा-मात्र दी थी, स्वयं आसुरि प्रथमतः प्रकाण्ड कर्मकाण्डी और महाविद्वान् थे । उन्होंने अपने प्रधानशिष्य पञ्चशिख को सांख्यशास्त्र पढ़ाया। कपिल के जीवनकाल में ही पञ्चशिख प्रखर वैदुष्य प्राप्त कर चुका था। कपिल ने स्वयं संपर्क में आकर उसकी विद्वत्ता का अभिनन्दन किया, और अनुपम वात्सल्य भावना से अपने ग्रन्थ में स्वाभिमत को उसके नाम पर अंकित कर दिया, यह एक साधारण स्वाभाविक बात है। अध्ययनाध्यापन परम्परा में गुरु-शिष्यों की तीन-चार पीढ़ी तक का समकाल में हो जाना सर्वथा असंभावित नहीं कहा जा सकता। आचार्य सनन्दन कपिल के समकालीन परमस्नेही सुहृद् थे, प्रस्तुत विषय में प्रकार ने उनके विचार को अंकित किया है-

लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः (सा. 6/69)

आचार्य सनन्दन का विचार है, प्रकृति-पुरुष का स्वस्वामिभाव लिङ्गशरीर के कारण होता है। अविवेक रहते भी कर्मानुष्ठान की स्थिति उस समय तक असंभव है, जबतक कि आत्मा लिङ्गशरीर से आबद्ध नहीं हो जाता । अन्वयव्यतिरेक से यह सिद्ध है, कि प्रकृति-पुरुष का भोग्य-भोक्तृभाव लिङ्गशरीर की उपस्थिति में संभव हो पाता है, इसलिए उसे निमित्त माना जाना चाहिए। सूक्ष्मशरीर का अपर नाम लिङ्गगरीर है। अठारह घटक अवयवों से बने सूक्ष्मशरीर के दो भाग किए जाते है-एक आधार दूसरा आधेय। इसमें आधारभूत तत्त्व पांच तन्मात्र है, और आधेय हैं-त्रयोदश करण। तेरह करणों में पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय और तीन अन्तःकरण

हैं। इन तेरह करणों को 'लिङ्ग' भी कहा जाता है, क्योंकि इनके आधार पर अन्तर्हित अतीन्द्रिय आत्मा का बोध या अनुमान होता है। सूक्ष्मशरीर के आधारभूत तत्त्वो की प्रधानता का जब विचार किया जाए, तो इसी शरीर को 'कारणशरीर' कह दिया जाता है, क्योंकि ये तन्मात्र इस शरीर के आधार होते हैं, और अन्य समस्त स्थूल जगत् के कारण। जब आधेय तत्त्वों को प्रधानता दी जाती है, तो उसी सूक्ष्मशरीर को 'लिङ्गशरीर' कह दिया जाता है। इस शरीर के आधार पर स्थूलशरीर के सहयोग से आत्मा के समस्त भोग और अपवर्ग की प्राप्ति अवलम्बित है ।।

वस्तुत: कर्म अथवा लिङ्गशरीर की-प्रकृतिपुरुष के भोग्यभोक्तृभाव के प्रतिनिमित्तता अनन्तर भूमिका में आती है। इस स्थिति का मुख्य निमित्त अविवेक समझना चाहिए। पर कथित अन्य निमित्त भी अपने-अपने स्थान पर आवश्यक महत्त्व रखते हैं। इनमें परस्पर किसी प्रकार के विरोध की कल्पना नहीं करनी चाहिए । इसीलिए शास्त्र का उपसंहार करते हुए परमहर्षि कपिल ने कहा -

यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः । (सा. 6/70)

(यद्वा तद्वा) जो कोई भी निमित्त हो (तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः) उसका उच्छेद होना पुरुषार्थ है । शास्त्र का आरम्भ आचार्य ने त्रिविध दु:खों की अत्यन्त निवृत्तिरूप पुरुषार्थ का प्रतिपादन करते हुए किया है । विस्तृत शास्त्र में प्रकृति और पुरुष के स्वरूप का विवेचन तथा दु:खनिवृत्ति के उपायों का निरूपण किया गया। दु:खों का अस्तित्व प्रकृति-पुरुष के संपर्क में उभरता है, पर उस संपर्क को टाला नहीं जा सकता, वह अनिवार्य हैं। उसका सदुपयोग लेना ही श्रेयस्कर है। इसलिए वह संपर्क चाहे किसी निमित्त से हो, उसका उच्छेद करना लक्ष्य होना चाहिए। उसो स्थिति में परमपुरुषार्थ का लाभ है। सूत्र में पदों की वीप्सा अध्याय और शास्त्र की समाप्ति की द्योतक है।

स्मरणीय बिंदु-

1. जीवात्मा चेतन तत्व है।
2. पुरुष कार्यनिष्पत्ति का अधिष्ठाता माना गया है।
3. प्रकृति जड़ एवं परिवर्तनशील है।
4. पुरुष और प्रकृति के विवेक से मोक्ष प्राप्त होता है।
5. सांख्य दर्शन में चेतना का स्रोत पुरुष है।

शब्दावली-

1. शब्द अर्थ
2. जीवात्मा व्यक्तिगत आत्मा
3. अधिष्ठाता नियंत्रक / संचालक
4. पुरुष चेतन तत्व
5. प्रकृति जड़ मूल तत्व
6. विवेकज्ञान भेद का सही ज्ञान
7. कार्यनिष्पत्ति कार्य की पूर्णता
8. मोक्ष मुक्ति
9. चेतना ज्ञान शक्ति

3 से 5 अंक के प्रश्न-

1. जीवात्मा क्या है?
2. अधिष्ठाता का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. सांख्य दर्शन में पुरुष का स्वरूप बताइए।
4. कार्यनिष्पत्ति में चेतना की भूमिका क्या है?
5. पुरुष और प्रकृति में अंतर स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. जीवात्मा की कार्यनिष्पत्ति में अधिष्ठाता की भूमिका का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

2. सांख्य दर्शन में पुरुष एवं प्रकृति के संबंध का विश्लेषण कीजिए।
3. चेतना, जीवात्मा एवं कार्यनिष्पत्ति के संबंध का विवेचन कीजिए।
4. सांख्य दर्शन में पुरुष के स्वरूप एवं महत्त्व की व्याख्या कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में जीवात्मा का स्वरूप क्या है?

(क) जड़
(ख) चेतन
(ग) नश्वर
(घ) स्थूल
उत्तर: (ख) चेतन

2. कार्यनिष्पत्ति का अधिष्ठाता कौन है?

(क) शरीर
(ख) मन
(ग) पुरुष
(घ) इन्द्रिय
उत्तर: (ग) पुरुष

3. प्रकृति का स्वरूप क्या है?

(क) चेतन
(ख) जड़
(ग) आत्मा
(घ) ईश्वर
उत्तर: (ख) जड़

4. पुरुष का मुख्य गुण क्या है?

(क) परिवर्तनशीलता
(ख) विकार
(ग) चेतना
(घ) दु:ख
उत्तर: (ग) चेतना

5. सांख्य दर्शन में मोक्ष किससे प्राप्त होता है?

(क) कर्म
(ख) भोग
(ग) विवेकज्ञान
(घ) निद्रा
उत्तर: (ग) विवेकज्ञान

॥ ओ३म् ॥

संस्कृत-व्याकरणम्

Code - BDPHMN - 404

दिव्य प्रकाशन

बी.ए. दर्शन-सेमेस्टर-4
संस्कृत-व्याकरणम्

BDPHMN-404

उद्देश्य-

- कृत प्रत्ययों का परिचय कराना।
- उणादि प्रत्ययों का परिचय कराना।
- कृतादि प्रत्ययों का प्रयोगात्मक ज्ञान।

परिणाम-

- कृत प्रत्ययों का बोध ।
- उणादि प्रत्ययों का विशिष्ट बोध।
- कृतादि प्रत्ययों का प्रयोगात्मक अवबोध।

प्रथम इकाई - कृत् प्रत्यय प्रकरणम् १, कृत्य-प्रक्रिया, कृत्य-प्रत्ययों का प्रयोग, प्रमुख धातुओं के तव्य प्रत्ययान्त रूप, अनीय, कर्तृ-वाचक-कृत्, सोमपद कृर्त, मूलविभुजादि।

द्वितीय इकाई - कृत् प्रत्यय प्रकरणम् २, निष्ठा-प्रत्यय-क्त, क्तवतु, निष्ठाप्रत्यय-सम्बन्धी विशेष कार्य निष्ठा-प्रत्यय के प्रयोग का विषय क्तान्त रूपावलि,शतृ-शानचपदी, ताच्छीलिक कृत प्रत्यय, तुमुन् (तुम) तुमुन्नन्त रूपावलि।

तृतीय इकाई - भाव-वाचक तथा कर्तृ-भिन्न कारक-वाचक कृत, स्त्र्यधिकारोक्तकृत-प्रत्यय, खल्, क्त्वा-ल्यप्, क्त्वा- सम्बन्धी विशेष कार्य, ल्यप्-सम्बन्धी विशेष कार्य, क्त्वान्त-ल्यवन्त रूपावलि णमुल् (=अम्)

चतुर्थ इकाई - उत्सर्गापवाद की बाध्य-बाधक-भावव्यवस्था, उणादि प्रत्यय, अथ प्रथमः पादः, अथ द्वितीयः पादः, अथ तृतीयः पादः, अथ चतुर्थः पादः, अथ पञ्चमः पादः।

निर्धारित पाठ्यपुस्तकः- व्याकरण चन्द्रोदय-5, डॉ. आचार्या साध्वी देवप्रिया, प्रकाशन-दिव्य प्रकाशन हरिद्वार।

विषय - सूची

Credit : 4
Mark : 100 (30+70)

खण्ड-1 कृत्य तथा सोपपद कृत् प्रकरणम्		**5-27**
इकाई-1.1	कृत्य प्रक्रिया	5-10
इकाई-1.2	कृत्य प्रयोग, तव्य प्रत्ययान्त रूप	11-14
इकाई-1.3	अनीयर्, कर्तृ वाचक कृत्	15-21
इकाई-1.4	सोपपद् कृत्, मूलविभुजादि	22-27
खण्ड-2 निष्ठा, शतृ-शानच्, तुमुन् प्रत्ययान्त		**28-50**
इकाई-2.1	निष्ठा प्रत्यय तथा रूप	28-41
इकाई-2.2	शतृ-शानच् प्रत्यय	42-46
इकाई-2.3	तुमुन् प्रत्यय	47-50
खण्ड-3 भाव वाचक, स्त्र्यधिकारोक्त, क्त्वा, ल्यप् प्रत्ययान्त		**51-73**
इकाई-3.1	भाववाचक तथा कर्तृ-भिन्न कारक वाचक कृत्	51-58
इकाई-3.2	स्त्र्यधिकारोक्त कृत्	59-64
इकाई-3.3	क्त्वा, ल्यप् प्रत्यय तथा रूप	65-73
खण्ड-4 उत्सर्गापवाद, उणादि प्रत्ययः		**74-89**
इकाई-4.1	उत्सर्गापवाद बाध्य-बाधक भाव-व्याकरण	74-76
इकाई-4.2	उणादि प्रत्यय, उणादि कोश-प्रथम पाद	77-81
इकाई-4.3	उणादि कोश - द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ पाद	82-89

भूमिका

वेद, उपनिषद्, गीता, साहित्स आदि ग्रन्थ भारतीय संस्कृति के आधारभूत मूल स्तम्भ हैं। सभी ग्रन्थों की अभिव्यक्ति की मूल भाषा संस्कृत है। संस्कृत भाषा का मूल तत्त्व व्याकरण है। व्याकरण के बिना इन शास्त्रों को जानना बहुत ही दुर्लभ तथा जटिल मार्ग है। अतः भारतीय संस्कृति की ज्ञान परम्परा को अक्षुण्ण तथा अखण्ड रखने हेतु व्याकरण का ज्ञान आवश्यक तथा अनिवार्य है।

पाणिनीय शिक्षा में व्याकरण को वेदपुरुष का मुख माना गया है।

मुखं व्याकरणं स्मृतम् ॥

'व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्' अर्थात् जिस शास्त्र के द्वारा शब्दों के प्रकृति-प्रत्यय का विवेचन किया जाता है, उसे व्याकरण कहते हैं।

व्याकरण में अनेक महत्वपूर्ण प्रकरण हैं जैसे- सन्धि, समास, कारक-विभक्ति प्रकरण, कृदन्त प्रकरण, तद्धितान्त प्रकरण आदि। उन सभी प्रकरणों में कृदन्त प्रकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसी कृदन्त प्रकरण की इस पाठ्य पुस्तक में विस्तृत विवेचन किया गया है।

'वाक्यपदीयम्' में भर्तृहरि जी ने कहा है-

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः॥

खण्ड-1 कृत्य तथा सोपपद कृत् प्रकरणम्

इकाई-1.1 कृत्य-प्रक्रिया

उद्देश्य-

1. **कृत प्रत्ययों का परिचय :** छात्रों को धातुओं से जुड़ने वाले तिङ्-भिन्न (तिङ् प्रत्ययों से अलग) अर्थात् कृत प्रत्ययों का आधारभूत ज्ञान कराना।
2. **कृत्य-प्रक्रिया का बोध :** कृदन्त प्रकरण के अंतर्गत आने वाले कृत्य संज्ञक प्रत्ययों (तव्यत्, तव्य, अनीयर् आदि) के नियमों को समझाना।
3. **प्रयोगात्मक ज्ञान :** छात्रों को धातुओं के साथ इन प्रत्ययों को जोड़कर वाक्य संरचना और उनके व्यावहारिक प्रयोग की क्षमता प्रदान करना।

तृतीयाध्यायोक्त अर्थात् धातोः (३।१।६१) इस अधिकार में तृतीयाध्याय की परिसमाप्ति तक जो तिङ्-भिन्न प्रत्यय धातु से विहित किए गए हैं उन्हें कृत् कहते हैं[1]। इस लक्षण के अनुसार धातु से विहित तिङ्-भिन्न प्रत्यय खिच्, सन्, क्यच्, काम्यच्, क्यङ्, क्यष्, यङ्, स्य, तास्, शप्, श्यन् आदि कृत् नहीं हैं, क्योंकि ये ३।१।६१ से पूर्व विहित हैं। शित्-भिन्न कृत् आर्धधातुक प्रत्यय हैं।[2] कृत् प्रत्यय मुख्यरूप से कर्तृ वाचक हैं[3]। 'कृत्' का अर्थ है करने वाला। करोतीति कृत्। निरुक्त में यास्काचार्य इसे 'नामकरण' यह नाम देते हैं। यह भी अति सुन्दर अन्वर्थ संज्ञा है- नामानि करोतीति नामकरणः। बाहुलकात् कर्तरि ल्युट्। कृत् प्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा है[4], अतः कृदन्तों से परे स्वादि (सु आदि) प्रत्यय लाकर इन्हें सुबन्त पद बनाकर वाक्य में प्रयुक्त किया जाता है। जो कृदन्त अव्यय हैं उनसे भी सुप् लाकर उसका लुक् कर दिया जाता है[5], जिससे वे भी पद बनकर वाक्य में प्रयोगार्ह हो जाते हैं।
अब हम अष्टाध्यायी के क्रम से कृत् प्रत्ययों का अन्वाख्यान करते हैं।

कृत्य प्रत्यय धातुमात्र से भाव में (अकर्मक धातुओं से) तथा कर्म में (सकर्मक धातुओं से) आते हैं[6]। कृत् होने से इन्हें कर्तृ वाचक ही होना चाहिए था। सो यह इसका (कर्तरि कृत् का) अपवाद है। कहीं-कहीं कृत्य प्रत्यय कर्तृ वाचक भी होते हैं तथा करणादि कारकों के भी वाचक देखे जाते हैं। ऐसे प्रत्ययों को हम इसी प्रकरण में यथास्थान दिखाएँगे। कृत्य प्रत्यय भी अन्य कृत् प्रत्ययों की तरह आर्धधातुक हैं। वलादि आर्धधातुक होने पर इनसे पूर्व सेट् धातुओं से परे इट् आगम होता है। भाववाचक कृत्यप्रत्ययान्तों का उत्सर्ग से प्रथमा नपुंसक लिङ्ग एकवचन में प्रयोग होता है और कर्मवाचकों का उनके विशेष्य-भूत कर्म की विभक्ति, लिङ्ग व वचन के अनुसार। इस अवस्था में कर्म के कृत्य प्रत्यय से उक्त होने से उससे प्रथमा विभक्ति होती है। यह सब आगे दिए हुए उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा।

तव्यत्, तव्य, अनीयर्- ये कृत्य प्रत्यय धातुमात्र से विहित किए हैं।[7] तव्यत् और तव्य में जो अनुबन्ध भेद (त्) है वह स्वर के लिए है। रूप में कुछ भी भेद नहीं। अनीयर् में र् अनुबन्ध है। प्रयोग में 'अनीय' का ही श्रवण होगा। तव्य और तव्यत् वलादि आर्धधातुक हैं। इनसे पूर्व सेट् धातु से परे इट् होता है। अनीय आर्धधातुक तो है पर वलादि नहीं, अजादि है। इन तीनों से पूर्व अपवाद विषय को छोड़कर धातु को गुण होता है- कृ-कर्त्तव्य, करणीय (गुण)। गम्- गन्तव्य, गमनीय। श्रु- श्रोतव्य, श्रवणीय (गुण)। चि-चेतव्य, चयनीय। भू-भवितव्य, भवनीय। आस्-आसितव्य, आसनीय। एध्-एधितव्य, एधनीय। वृत्-वर्तितव्य, वर्तनीय। वृध्-वर्धितव्य, वर्धनीय। ग्रह- ग्रहीतव्य, ग्रहणीय। यहाँ इट् को दीर्घ होता है। ब्रू (वच्)-वक्तव्य, वचनीय। अधिइङ्-अध्येतव्य, अध्ययनीय। यहाँ तव्य-अनीय-प्रत्ययान्त रूप, प्रातिपदिक के रूप में दिए गए हैं, सुबन्त रूप में नहीं। ऐसे ही आगे इस प्रकरण में अन्य कृदन्त भी प्रातिपदिक रूप में रखे गए हैं।

वाक्यस्थ उदाहरण

---

1 कृदतिङ् (३।१।६३)।
2 तिङ्शित् सार्वधातुकम् (३।४।११३) आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४)
3 कर्तरि कृत् (३।४।६७)।
4 कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६)।
5 अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२)।
6 तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः (३।४।७०)।
7 तव्यत्तव्यानीयरः (३।१।६६)।

त्वया कटः कर्तव्यः (करणीयः)। मया ग्रामो गन्तव्यः (गमनीयः)। तेन व्याकरणं श्रोतव्यं (श्रवणीयम्)। देवदत्तेन च्छन्दांस्यध्येतव्यानि (अध्ययनीयानि)। त्वया मया तेन च धर्मः संचेतव्यः (संचयनीयः)। सर्वैरस्माभिः संस्कृतं पठितव्यं (पठनीयम्)। श्रुतिः श्रद्धातव्या (श्रद्धानीया), वेद में श्रद्धा रखनी चाहिए। कलिर्वर्जितव्या (वर्जनीया)। पितरौ वन्दितव्यौ (वन्दनीयौ)। अकर्मक धातु- श्रान्तेन त्वया सम्प्रत्यासितव्यम् (आसनीयम्)। तू थका हुआ है, तुझे अब बैठना चाहिए। भूतिकामेन त्वया नित्यमुत्थातव्यम् (उत्थानीयम्)। समृद्धि चाहते हुए तुझे नित्य उद्यम करना चाहिए। रामादिवद् वर्तितव्यम् (वर्तनीयस्) न रावण ादिवत्। पापाद् उद्विजितव्यम् (उद्वेजनीयम्)। पाप से डरना चाहिए।

इन उदाहरणों में सकर्मक धातुओं के प्रयोग में कृत्य प्रत्यय से कर्म के उक्त होने से उसमें प्रथमा हुई है। कर्ता के अनुक्त होने से उसमें तृतीया हुई है। कर्म के लिङ्ग वचन के अनुसार ही कृत्य प्रत्ययान्त के लिङ्ग वचन हुए हैं। अकर्मक धातुओं से कृत्य प्रत्यय के भाव-वाचक होने से और इसी लिए कर्ता के अनुक्त होने से उसमें पूर्ववत् तृतीया हुई है। कृत्यप्रत्ययान्त से प्रथमा नपुं० एक० का प्रयोग हुआ है। ऐसा ही वक्ष्यमाण सभी कृत्य प्रत्ययों के विषय में जानो। का त्वं रोद्धव्यस्य विस्त्रष्टव्यस्य वा (शाकुन्तल)। यहाँ रोद्धव्य=रोध। विस्रष्टव्य=विसर्ग, विसर्जन। उभयत्र भाव में 'तव्य' हुआ है। इत इच्छामो गन्तव्येऽनुमतं त्वया (रा०)। यहाँ भी गन्तव्य = गमन। वाङ्मात्रेणापि। यामीति वक्तव्ये कः परिश्रमः (हरिवं० ३२।३३)। वक्तव्ये = वचने।

तव्यत्- वस् (रहना) से कर्ता अर्थ में तव्यत् प्रत्यय आता है और उसे णित् समझा जाता है'[8], जिससे वस् की उपधा को वृद्धि होती है- वसतीति वास्तव्यः।

केलिमर्- केलिमर् (एलिम) प्रत्यय कर्म में होता है[9], न कि कर्म कर्ता में जैसे वृत्तिकार मानते हैं- पच् पचेलिमा माषाः। पक्तव्याः ऐसा अर्थ है। भिदु-भिदेलिमाः सरलाः। भेत्तव्याः ऐसा अर्थ है। यहाँ प्रत्यय के कित् होने से धातु को गुण नहीं हुआ।

यत्- अजन्त धातु से यत् (य) होता है[10]। स्था-स्थेय। हा-हेय। गै (गा)-गेय। पा-पेय। आकार को ई आदेश होता है। पीछे गुण। चि-चेय। जि-जेय। हि-हेय। प्र के साथ प्रहेय। यत् आर्धधातुक प्रत्यय है। इसके परे रहते धातु के इक् को गुण होता है जैसा कि 'चि' आदि धातुओं में हुआ है और आकारान्त धातुओं के 'आ' को 'ई' होने[11] पर भी। श्रु-श्रव्य। यहाँ आर्धधातुक प्रत्यय यत् को निमित्त मानकर गुण होकर ओ (गुण) को अवादेश हुआ है। यह अवादेश (और औ को आवादेश भी) वहीं होता है जहाँ 'ओ' (और औ भी) प्रत्यय के कारण बना हो[12]। श्रु-यत् (य)। श्रो-य। श्रव्य। ण्यन्त 'श्रावि' धातु से यत् होने पर तो णिच् का लोप[13] होने पर श्राव्य रूप बनता है। यत् प्रत्यय से तव्यत्, तव्य, अनीयर् का अत्यन्त बाध नहीं होता-स्था स्थातव्य, स्थानीय। गै (गा), गातव्य, गानीय। पा- पातव्य, पानीय। चि-चेतव्य, चयनीय इत्यादि रूप भी निर्बाध होंगे। ऐसे ही अन्य कृत्य प्रत्ययों के साथ तव्यत् आदि का समावेश होगा[14]।

विवाद-पद-निर्णेता के अर्थ में जब स्थेय शब्द का प्रयोग होता है तब यहाँ यत् अधिकरण में जानना चाहिए। तिष्ठतेऽस्मिन्निति स्थेयः। प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च (१।३।२३) इस सूत्र में भगवान् पाणिनि इसका प्रयोग करते हैं।

हन्[15] (वध्)-वध्य (यत्)। पक्ष में ण्यत् होकर धात्य।

अदुपध (ह्रस्व अकार उपधा वाली) पवर्गान्त धातु[16] से (यत्)-शप्-शप्य। लभ्-लभ्य। वक्ष्यमाण ऋहलोर्ण्यत् का अपवाद है। शक्-शक्य। सह्, सह्य (यत्)। यह भी ऋहलोर्ण्यत् का अपवाद है।

समान रूप होने से नित्य बाधक होता है।[17]

---

8 वसेस्तव्यत् कर्तरि णिच्च (वा०)।

9 केलिमर उपसंख्यानम् (वा०)।

10 अचो यत् (३।१।९७)।

11 ईद्यति (६।४।६५)।

12 धातोस्तन्निमित्तस्यैव (६।१।८०)।

13 णेरनिटि (६।४।५१)। अनिडादि (जिसके आदि में इट् न हो) व आर्धधातुक परे रहते णिच् का लोप हो जाता है।

14 वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् (३।१।९४)। असरूप असमान रूप। अनु-बन्ध रहित होने पर जो समान रूप न हो।

15 हनो वा यद्वधश्च वक्तव्यः (वा०)।

16 पोरदुपधात् (३।१।९८)।

17 शकिसहोश्च (३।१।९९)। यत् और ण्यत् सानुबन्ध रूप से असमान रूप हैं। पर अनुबन्ध के कारण जो

गद्-गद्य। मद्-मद्य। चर्-चर्य। यम्-यम्य[18]। सर्वत्र यत्। उपसर्ग होने पर तो यथाप्राप्त ण्यत् होगा- निगाद्य। प्रमाद्य। आचार्य। गुरु अर्थ को छोड़कर अन्यत्र आङ् उपसर्ग होने पर भी आचर्य (यत्) रूप ही होगा[19]। आचार्यो देशः,। यम्-यम्य। उपसर्ग होने पर आयाम्य। पर वार्तिककार के तेन न तत्र भवेद्विनियम्यम्- इस श्लोक वार्तिक में 'विनियम्य' प्रयोग से निपूर्वक यम् से भी यत् प्रत्यय साधु है। त्वया नियम्या ननु दिव्य चक्षुषा (किरातार्जुनीयम्)।

अवद्य, पण्य, वर्या (स्त्रीलिङ्ग)- ये यत् प्रत्ययान्त निपातन किए हैं क्रम से निन्द्य, विक्रेतव्य, स्वेच्छापूर्वक वरण योग्य- इन अर्थों में[20]- वद् (नञ् पूर्वक)- अवद्यं पापम्। अन्यत्र अनुद्यं गुरु नाम, गुरु का नाम न लेना चाहिए। पण्यः कम्बलः, बिकाऊ कम्बल। अन्यत्र पाण्योऽकामः श्रोत्रियः। यहाँ पाण्यः = स्तुत्यः। येनात्मा पण्यतां नीतः स एवान्विष्यते जनैः। हस्ती हेमसहस्रेण क्रीयते न मृगाधिपः।। शतेन वर्या कन्या। यहाँ वृङ् से यत् निपातन किया है। ण्यत् प्राप्त था। यहाँ 'शत' शब्द नियतसंख्यापरक नहीं है। कितने भी हों सभी से वह कन्या संभक्तव्य है अर्थात् सभी उसकी चाह कर सकते हैं इसमें कोई निरोध (प्रतिबन्ध, रोक) नहीं। स्त्रीलिङ्ग से अन्यत्र इसी अर्थ में ण्यत् होकर वार्या ऋत्विजः ऐसा प्रयोग होगा। स्त्रीलिङ्ग में भी अर्थान्तर में क्यप् होकर 'वृत्या' ऐसा रूप होगा। वहाँ धातु वृञ् वरणे ली जाती है-वृत्या वृत्या क्षेत्रभक्तिः, खेत को बाड़ से ढाँपना चाहिए।

'वह्य'[21] यह यत्प्रत्ययान्त 'ढोने का साधन' इस अर्थ में निपातन किया है। वह्यं= शकटम्। अन्यत्र ण्यत् होकर 'वाह्य' ऐसा रूप होगा। अर्थ होगा- ढोने योग्य पदार्थ।

अर्य'[22] यह स्वामी तथा वैश्य अर्थ में यत् प्रत्ययान्त निपातन किया है। 'ऋ' से ण्यत् प्राप्त था जो अर्थान्तर में होगा- आर्य=श्रेष्ठ। अर्तुं गन्तुम् उपगन्तुं योग्य आर्यः।

उपसर्या[23] (टाबन्त स्त्रीलिङ्ग)- यह यत्प्रत्ययान्त निपातन किया है जब 'गर्भधारण में प्राप्तकाल (गौ आदि)' अर्थ हो। उपसर्या गौः। सूत्र में 'काल्य' शब्द का अर्थ है प्राप्तकाल, जिसका समय आ गया है। प्रजन गर्भधारण अर्थान्तर में ण्यत् होकर उपसार्या ऐसा रूप होगा। उपसार्या = उपगन्तव्या। उपसार्या शरवि मथुरा, शरद् ऋतु में मथुरा जाना चाहिए। उपसार्या काशी विद्यार्थैः, विद्यार्थियों को काशी पहुँचना चाहिए।

अजर्य[24]- यह नञ्-पूर्वक जृ धातु से यत्प्रत्ययान्त निपातन किया है जब संगत = मैत्री को विशिष्ट करता हो- अजर्यं नोस्तु सङ्गतम्, हमारी मैत्री अक्षीण रहे। कालिदास 'अजर्य' को जीर्ण न होने वाली मैत्री के अर्थ में प्रयुक्त करता है- मृगैरजर्य जरसोपदिष्टमदेहबन्धाय पुनर्वबन्ध (रघु० १८।७)।

यत्, क्यप्- सुबन्त उपपद होने पर वद् धातु से क्यप् होता है और यत् भी[25]- ब्रह्मोद्यम्। ब्रह्म वेदः, तस्य वदनन्। प्रत्यय क्यप् के कित् होने से सम्प्रसारण हुआ। यत्-ब्रह्मवद्य। सत्योद्य= सत्योक्ति। सत्यवद्य। अनुद्य=अनुच्चार्य। क्यप्। यहाँ यत्, क्यप् भाव में विहित हुए हैं। उत्तर सूत्र से 'भावे' यह यहाँ लाया जाता है। सुखोद्यं नाम कार्यम्, नाम ऐसा रखना चाहिए जो सुख से उच्चार्य हो। नवं जातु युष्माकं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेता (बृ०उ० ३।८।१२)। ऐसा ही हर्षचरित में ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्वन् इस वाक्य में प्रयोग है। इन दोनों स्थलों में क्यबन्त शब्द से अर्श आद्यच् प्रत्यय समझना चाहिए। ब्रह्मोद्यं ब्रह्मवदनं यासामस्ति ता ब्रह्मोद्याः। ब्रह्म उद्यते यासु ता ब्रह्मोद्याः, ऐसा अधिकरण में क्यप् मानने पर वृत्तिग्रन्थ से विरोध पड़ता है।

क्यप्- भू से सुबन्त उपपद होने पर भाव में[26] ब्रह्मभूय। देवभूय। ब्रह्मभूयं गतः = ब्रह्मभावं गतः, ब्रह्मीभूत इत्यर्थः। देवभूयं गतः देवत्वं गतः। दोनों का एक ही अर्थ है-स्वर्यातः, मृतः।

प्रत्यय भिन्न हैं, वे यदि अनुबन्ध हट जाने के बाद भिन्न न रहें तो वे सरूप अर्थात् समान रूप समझे जाते हैं। यत् तथा ण्यत् अनुबन्ध चले जाने पर समान रूप हैं, दोनों 'य' ही हैं। अतः यहाँ अपवाद यत् के विषय में उत्सर्ग ण्यत् की पाक्षिकी प्रवृत्ति नहीं होती। यत् ण्यत् का बाधक होता है।

18 गदमदचरयमश्चानुपसर्गे (३।१।१००)।

19 चरेराङि चागुरौ (वा०)।

20 अवद्यपण्यवर्यागर्ह्य पणितव्यानिरोधेषु (३।१।१०१)।

21 वह्यं करणम् (३।१।१०२)।

22 अर्यः स्वामिवैश्ययोः (३।१।१०३)।

23 उपसर्या काल्या प्रजने (३।१।१०४)।

24 अजर्यं संगतम् (३।१।१०५)।

25 वदः सुपि क्यप् च (३।१।१०६)।

26 भुवो भावे (३।१।१०७)।

हन् से उपसर्ग-भिन्न सुबन्त उपपद होने पर भाव में, हन् के 'न्' को 'त्' भी होता है[27]- ब्रह्महत्या। आत्महत्या। भ्रूणहत्या। केवल 'हत्या' कोई शब्द नहीं है। केवल हन् से अथवा सोपसर्गक हन् से घन होकर घात, प्रघात शब्द बनेंगे। ण्यत् प्रत्यय भाव में नहीं होता, अतः वह प्रत्युदाहरण में नहीं दिया।

इण्, स्तु, शास्, वृञ्, दृ(ङ्), जुष्[28] से क्यप्। इण् से इत्य। स्तुत्य। शिष्य। वृत्य। आदृत्य। जुष्य। इण् (इ) से क्यप् होने पर प्रत्यय के कित् होने से ह्रस्व अङ्ग 'इ' को तुक् (त्) आगम हुआ है[29]। ऐसे ही 'स्तु' और वृ, दृ को भी। शास् की उपधा 'आ' को 'इ' और 'इ' होने पर 'स्' को ष्[30]। इनसे तव्य, अनीय होने पर एतव्य (अयनीय)। स्तोतव्य, स्तवनीय। शासितव्य, शासनीय। वरितव्य, वरीतव्य[31], वरणीय। आदर्तव्य, आदरणीय। दृङ् का आङ् उपसर्ग-सहित ही प्रयोग होता है। अवश्यस्तुत्य- यहाँ क्यप् ही होता है, ण्यत् नहीं। इण्-भिन्न 'इ' धातु से यत् निर्बाध होगा- उपेय (उपपूर्वक)। इण् आदि से यथाप्राप्त भाव कर्म दोनों में प्रत्यय होता है। अनुपसर्ग का भी यहाँ नियम नहीं।

आङ् पूर्व अञ्जु रुधा० से संज्ञा विषय में क्यप्-आज्य (घृत)। यहाँ बाहुलक से करण में क्यप् होता है- अञ्जन्त्यनेनेति आज्यम्।

ऋदुपध (उपधा में ह्रस्व ऋ वाली) धातुओं से क्यप्[32] वृत्-वृत्य, प्रपूर्वक प्रवृत्य (=प्रवर्तनीय)। वृध्-वृद्ध्य। दृश्-दृश्य (द्रष्टव्य)। गृह (चुरादि)-गृह्य। कृप्-कल्प्य-यहाँ यथाप्राप्त ण्यत् ही होता है। ऐसे ही चृत्-चर्त्य, विपूर्वक विचर्त्य (=छेत्तव्य) यहाँ भी। कृप् के ऋ को गुण होकर 'र्' को 'ल्' हो जाता है।[33]

ण्यत्- पाणि शब्द उपपद होने पर सृज् से[34]- पाणिसर्ग्या रज्जुः। रस्सी जो हाथ से बटी जाए। ण्यत् परे होने पर धातु के च्, ज् को कुत्व (कवर्गादेश) होता है। ज् को प्रयत्न-आन्तरतम्य से 'ग्' आदेश होता है। सम् अवपूर्वक सृज् से भी[35] समवसर्ग्या रज्जुः।

क्यप्- खन् के 'न्' को 'ई' भी होता है[36]- खेय। यहाँ 'आद् गुणः' से खकारोत्तरवर्ती 'अ' और 'ई' के स्थान में 'ए' गुण एकादेश हुआ है।

भृञ् से असंज्ञा विषय में[37] क्यप् भृत्याः (= भर्तव्याः) कर्मकराः। नौकरों का भृति (वेतनादि) से भरण करना होता है। संज्ञा में यथाप्राप्त ण्यत् होगा-भार्यो नाम क्षत्रियः। सम्पूर्वक भृञ् से क्यप् विकल्प से होता है, पक्ष में ण्यत् भी होगा[38]- संभृत्याः संभार्याः कर्मकराः। भार्या वधूः। यहाँ भी संज्ञा में ण्यत् होता है।

मृज् से विकल्प से क्यप्, पक्ष से ण्यत् परिमृज्य[39]। ण्यत्- परिमार्ग्य यहाँ 'मृजेर्वृद्धिः' (७७२।११४)[40] से मृज् को गुण न होकर वृद्धि होती है। ण्यत् के कारण धातु के ज् को कुत्व (ग्) भी।

---

27 हनस्त च (३।१।१०८)।

28 एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् (३।१।१०६)।

29 ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (६।१।७१)।

30 शास इदङ्हलोः (६।४।३४)। शासिवसिघसीनां च (८।३।६०)।

31 वृतो वा (७।२।३८) इट् को विकल्प से दीर्घ।

32 ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः (३।१।११०)।

33 कृपो रो लः (८/२/१८)।

34 पाणौ सृजेण्र्यद् वक्तव्यः (वा०)।

35 समवपूर्वाच्च।

36 ई च खनः (३।१।१११)।

37 भृञोऽसंज्ञायाम् (३।१।११२)।

38 समवपूर्वाद् विभाषा (वा०)।

39 मृजेर्विभाषा (३।१।११३)।

40 जहाँ-जहाँ गुण का विषय है वहाँ-वहाँ मृज् को वृद्धि होती है, गुण नहीं। जहाँ गुण का विषय नहीं जैसे मृज् तः, मृष्टः, वहाँ वृद्धि भी नहीं होती। यहाँ तस् अपित् सार्वधातुक है और अपित् सार्वधातुक ङित्वत् होता है, अतः गुण का प्रसङ्ग ही नहीं।

स्मरणीय बिंदु –

1. **धातु को गुण कार्य :** कृत्य प्रत्यय (तव्यत्, अनीयर् आदि) परे होने पर धातु के अंतिम इक् स्वर (इ, उ, ऋ, ऌ) को गुण (ए, ओ, अर्, अल्) हो जाता है। जैसे: कृ + तव्यत् = कर्तव्य।
2. **वाच्य का नियम:** यदि धातु सकर्मक है, तो कृत्य प्रत्यय कर्मवाच्य में होगा (कर्म के अनुसार लिंग-वचन बदलेंगे)। यदि धातु अकर्मक है, तो प्रत्यय भाववाच्य में होगा।
3. **नित्य नपुंसकलिंग:** भाववाच्य में कृत्य प्रत्ययान्त शब्द हमेशा नपुंसकलिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन में ही रहता है (जैसे- भवितव्यम्, शयितव्यम्)।

शब्दावली –

1. **कृत् :** धातु के अधिकार में कहे गए वे प्रत्यय, जो तिङ् (ति, तस्, झि आदि 18 प्रत्ययों) से भिन्न होते हैं, उनकी कृत् संज्ञा होती है। सरल शब्दों में, क्रिया के पीछे जुड़कर संज्ञा या विशेषण बनाने वाले प्रत्यय कृत् कहलाते हैं।
2. **कृत्य :** यह कृत्य प्रत्ययों का एक विशेष समूह है। तव्यत्तव्यानीयर: सूत्र से लेकर ७ विशिष्ट प्रत्ययों (तव्यत्, तव्य, अनीयर्, यत्, ण्यत्, क्यप्) को कृत्य संज्ञा दी गई है। इनका प्रयोग चाहिए या योग्य के अर्थ में होता है।
3. **आर्धधातुक :** तिङ् और शित् प्रत्ययों को छोड़कर बाकी सभी कृत प्रत्ययों की आर्धधातुक संज्ञा होती है। कृत्य प्रत्यय भी आर्धधातुक होते हैं, जिसके कारण धातुओं में इट् का आगम (जैसे- पठितव्य) या गुण कार्य होता है।
4. **अनुबन्ध :** प्रत्ययों में जुड़े वे अतिरिक्त अक्षर या स्वर जो केवल व्याकरण के नियमों (जैसे- गुण, वृद्धि या स्वर) को बताने के लिए होते हैं और बाद में इत्संज्ञा होकर हट जाते हैं। जैसे- तव्यत् में अंतिम त् अनुबन्ध है, जो लोप हो जाता है और केवल तव्य बचता है।
5. **उत्सर्ग-अपवाद :** व्याकरण में सामान्य नियम को उत्सर्ग कहते हैं और उस सामान्य नियम को रोककर जो विशेष नियम बनाया जाता है, उसे अपवाद कहते हैं। (जैसे- सभी धातुओं से तव्यत् होना उत्सर्ग है, पर स्वर-विशेष के कारण यत् होना अपवाद है)।

15 अंक के प्रश्न –

प्रश्न 1. कृत्य प्रत्यय किसे कहते हैं? इसके मुख्य नियमों को बताते हुए तव्यत् और अनीयर् प्रत्यय को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
प्रश्न 2. कृत्य प्रत्ययों के वाक्य-प्रयोग की विधि को कर्मवाच्य और भाववाच्य के उदाहरणों के साथ विस्तार से समझाइए।

5 अंक के प्रश्न –

प्रश्न 1. कृदतिङ् (३।१।९३) सूत्र का सोदाहरण अर्थ लिखिए।
प्रश्न 2. तव्यत् और तव्य प्रत्यय में क्या अन्तर है?
प्रश्न 3. चेयम् और जेयम् पदों में कौन सा प्रत्यय है और किस सूत्र से हुआ है?
प्रश्न 4. तव्यत् प्रत्यय लगने पर कृ धातु कर्तव्य कैसे बनता है?
प्रश्न 5. भवितव्यम् पद का प्रकृति-प्रत्यय विभाग कीजिए और इसका अर्थ बताइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. कृत् प्रत्यय मुख्य रूप से किस वाचक (अर्थ) में होते हैं?
(क) कर्म वाचक
(ख) भाव वाचक
(ग) कर्तृ वाचक (कर्ता)
(घ) करण वाचक
2. तव्यत्तव्यानीयर: सूत्र से कौन सी संज्ञा होती है?
(क) निष्ठा संज्ञा
(ख) कृत्य संज्ञा
(ग) सत् संज्ञा
(घ) घि संज्ञा
3. अनीयर् प्रत्यय में से अनुबन्ध लोप होने पर क्या शेष बचता है?
(क) अनीय
(ख) नीय

(ग) अनीय
(घ) य
4. गम् + तव्यत् को जोड़ने पर सही पद क्या बनेगा?
(क) गमनीयः
(ख) गन्तव्यः
(ग) गमितव्यः
(घ) गत्वा
5. अकर्मक धातुओं से कृत्य प्रत्यय किस वाच्य में आते हैं?
(क) कर्ता
(ख) कर्म
(ग) भाव
(घ) सम्प्रदान

इकाई-1.2 कृत्य प्रयोग, तव्य प्रत्ययान्त रूप

उद्देश्य-

1. **तव्य प्रत्ययान्त रूपों का परिचय :** छात्रों को प्रमुख धातुओं के साथ तव्यत् और तव्य प्रत्यय जोड़कर उनके प्रातिपदिक रूपों का निर्माण सिखाना।
2. **कृत्य प्रत्यय के प्रयोग का ज्ञान :** विद्यार्थियों को यह समझाना कि कृत्य प्रत्यय (तव्यत्, तव्य) कर्मवाच्य और भाववाच्य के वाक्यों में किस प्रकार प्रयुक्त होते हैं।
3. **व्याकरणिक परिवर्तन समझाना :** प्रत्यय जुड़ते समय धातुओं में होने वाले गुण-कार्य और इट् आगम के नियमों का बोध कराना।

आचार्य का कृत्य, क्त, खलर्थ (खल् तथा खल्-समानार्थक) प्रत्ययों के प्रयोग के विषय में सूत्र है- तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः (३।४।७०) अर्थात् भाव व कर्म में ही कृत्य, क्त तथा खलर्थ प्रत्यय होते हैं। इस प्रकरण के आदि में हम सामान्य रूप से कृत्य विषयक इस नियम का निर्देश कर चुके हैं। अब यहाँ कुछ विशेष वक्तव्य है। यह नियम कई स्थानों में लागू नहीं होता। कहां इसकी प्रवृत्ति नहीं होती यह शिष्टों के प्रयोगों को देखने से जाना जाता है, अस्मदादियों के प्रयोगों से नहीं। अतः आचार्य इस विषय में दूसरा सूत्र निर्माण करते हैं- कृत्यल्युटो बहुलम् (३।३।११३) अर्थात् कृत्य प्रत्यय तथा ल्युट् जिन अर्थों में विहित किए गए हैं उनसे भिन्न अर्थों में भी देखे जाते हैं। याप्य (=निन्द्य, गर्ह्य) यहाँ अपादान में ण्यन्त यापि से 'अचो यत्' से यत् हुआ है- याप्यन्तेऽपनीयन्ते गुणा अस्मात्। **याप्ये पाशप् (५।३।४७)** सूत्र पर न्यास। उद्वेजनीय-यहां अपादान में उद्पूर्वक विज् धातु से अनीयर् हुआ है- उद्विजन्तेऽस्मादिति उद्वेजनीयः, जिससे लोग घबराकर परे हटते हैं। उद्वेजनीयो भूतान. ां नृशंसः पापकर्मकृत् (रा० ३।२६।३)। उद्वेजनीयो भूतानां क्रूरवाग् अर्थदोपि सन् (का०नी०सा०)। तीक्ष्णदण्डो हि भूतानामुद्वेजनीयः (कौ०अ० १।४।१)। तीक्ष्णदण्डः सर्वेषामुद्वेजनीयो भवति (चाणक्य सूत्र २।५१)। दानीयो विप्रः। यहाँ सम्प्रदान में अनीयर् हुआ है- दीयतेऽस्मा इति। स्नानीयं वस्त्रम्। यहाँ करण में अनीयर् हुआ है स्नात्यनेन इति स्नानीयम्। क्रीडत्यनेनेति क्रीडनीयम्, खिलौना। क्रीडतः (तस्य) क्रीडनीयानि ददुः पक्षिगणांश्च ह (भा० १३।४२०६)। पतनीयं पापम्। यहाँ भी करण में अनीयर् हुआ है- पतत्यनेन इति पतनीय पापम्। न कथंचन कुर्वीत ब्राह्मणः कर्म वार्षलम्। वृषलः कर्म वा ब्राह्म पतनीये हि ते तयोः।। (कृत्यकल्पतरु में उद्धृत नारद वचन)। हृदयग्रहणीयानि वाक्यानि। हृदयलोभनीयानि दर्शनानि। यहाँ भी करण अर्थ में अनीयर् हुआ है। गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणीयम्। लुभ्यत्यनेनेति लोभनीयम्। शेष षष्ठी के साथ समास है। न क्रुध्यत्यभिशप्तोपि क्रोधनीयानि वर्जयन् (रा० २।४१।३) । राम बुरा-भला कहे जाने पर क्रोधजनक वाक्यादि का परिहार करते हुए स्वयम् क्रुद्ध नहीं होते हैं। क्रुध्यत्यनेन इति क्रोधनीयम्। करणेऽनीयर्। अपत्य न पतति पिताऽनेन इत्यपत्यम्। करण में यत् निपातन हुआ है। स्थेय (विवाद पद निर्णेता)। यहाँ अधिकरण में यत् हुआ है- तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थेयः। दृश्यो विश्वेश्वरो देवः स्नातव्या मणिकर्णिका- यहाँ स्नातव्या में अधिकरण में तव्य प्रत्यय हुआ है। आस्य (मुख)। यहाँ भी अधिकरण अर्थ में ण्यत् प्रत्यय हुआ है-अस्यतेऽस्मिन्नित्यास्यम्। शयनीय (शय्या)। यहाँ भी अधिकरण अर्थ में अनीयर् हुआ है- शेतेऽस्मिन्निति शयनीयम्। रमणीया वापी। रमतेऽस्याम् इति। अधिकरण में अनीयर्। कर्म प्रोक्तवन्त इति कर्मप्रवचनीयाः। यह कर्ता में अनीयर् हुआ है।

तव्यप्रत्ययान्त का कहीं-कहीं भाव में ल्युडन्त अथवा घञन्त के स्थान में प्रयोग देखा जाता है- संभावनायामधरीकृतायां पत्युः पुरः साहसमासितव्यम् (किरात० १७/४०)। यहाँ आसितव्यम् = आसनम्, बैठना। का त्वं विस्रष्टव्यस्य रोद्धव्यस्य वा (शाकुन्तल १)। यहाँ विस्रष्टव्य विसर्जन। रोद्धव्य= रोध अथवा रोधन। यो दुर्जयो देवितव्येन (देवनेन=द्यूतेन) संख्ये (भा० ५/८९४)।

भव्य, गेय, प्रवचनीय, उपस्थानीय, जन्य, आप्लाव्य, आपात्य- ये कृत्यप्रत्ययान्त कर्ता में भी होते हैं और यथाप्राप्त भाव कर्म में भी[41] भव्यः भवतीति। भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः। भव्यमिच्छता पुरुषेणाधर्मभीरुणा भव्यम् (यत्), कल्याण चाहते हुए पुरुष को अधर्म=पाप से डरना चाहिए। गेयो माणवकः साम्नाम्। गेयः गाता। गेयानि माणवकेन सामानि। कर्म में प्रत्यय। प्रवचनीयो गुरुः स्वाध्यायस्य, गुरु वेद का प्रवक्ता है। प्रवचनीयो गुरुणा स्वाध्यायः। कर्म में प्रत्यय। उपस्थानीयोऽन्तेवासी गुरोः, शिष्य गुरु का उपस्थाता (सेवा में उपस्थित होने वाला) है। कर्ता में प्रत्यय। उपस्थानीयः शिष्येण गुरुः। कर्म में प्रत्यय। उपस्थानीयं शिष्येण। भाव में प्रत्यय। जायते तद् जन्यं युद्धम्। पुण्येन कर्मणा तेन विभूतिमतां कुले जन्यं नाम, संभावना है कि पुण्य कर्म के द्वारा वह ऐश्वर्यसम्पन्न कुल में जन्म ले। आप्लवते ब्रह्मचारी व्रतान्ते इत्याप्लाव्य इत्युच्यते, व्रत की समाप्ति पर ब्रह्मचारी स्नान करता है, अतः उसे 'आप्लाव्य' कहते हैं। आपतत्यसाव् आपात्यः।

कृत्य प्रत्यय भाव व कर्म के वाचक होते हैं, भाव व कर्म इनका वाच्यार्थ होता है यह सोदाहरण बताया जा चुका है। भ.

41 भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा (३।४।६८)।

ावकर्मवाचक होते हुए ही ये कुछ अर्थों के द्योतक हैं-

१. प्रैष (अपने से निकृष्ट को कार्य में लगाना), अतिसर्ग (कामचारानुज्ञा, इच्छानुसार कार्य करने की अनुमति देना), प्राप्तकाल (प्रस्तावसदृश, जिसका समय आ गया है, प्राप्तावसर) इन अर्थों के द्योत्य, गम्यमान होने पर भी भाव-कर्म में 'कृत्य' प्रत्यय होते हैं (लोट् भी)[42]- त्वया कटः कर्तव्यः, कृत्यः, कार्यः, तुझे चटाई बनानी होगी (प्रैष), तुम चाहो तो चटाई बनाओ (नहीं तो कुछ और करो) (अतिसर्ग), तुम्हारे चटाई बनाने का अवसर है। (प्राप्तकालता)।

२. अर्ह (योग्य) कर्ता के वाच्य अथवा गम्य होने पर भी भाव-कर्म में कृत्य होते हैं (और तृच् प्रत्यय भी)[43] -गुण्यः स कस्य न स्तुत्यः (= स्तोतुमर्हः)। भवता वोढव्येयं कन्या, आप द्वारा यह कन्या विवाह के योग्य है अर्थात् अर्हति भवान् कन्याम् इमां वोढुम्। कृत्य के कर्मवाचक होने से योग्य कर्ता गम्यमान है। (तृच् के कर्तृ वाचक होने से योग्य कर्ता वाच्य होता है)।

आवश्यक (= अवश्यंभाव) और आधमर्ण्य (अधमर्ण = ऋणी होना) अर्थों के द्योत्य होने पर धातु से णिनि प्रत्यय आता है और कृत्य भी[44]-आत्ययिकमिवं कार्यमवश्यमद्य निष्पाद्यम्। तस्य महात्मनोऽभिगमनाय संनिहितेन भवता भाव्यम्, उस महात्मा के स्वागत के लिए आपको अवश्य उपस्थित होना चाहिए। देवदत्तेन मे शतं देयं (दातव्यं, दानीयम्), देवदत्त ने मेरे सौ रुपये देने हैं। आवश्यक और आधमर्ण्य दोनों कर्ता की उपाधि (विशेषण) हैं।

शक्यता-विशिष्ट धात्वर्थ में लिङ् होता है और कृत्य भी[45] ऋषभतरोऽयम्। नैनेन महानयं भारो वोढव्यः (वहनीयः, वाह्यः ण्यत्), भार ढोने में यह बैल मन्द-शक्ति है। इससे इतना बड़ा बोझ नहीं उठाया जा सकेगा। नावा तार्या नदी नाव्या, जिस नदो को नौका से पार कर सकते हैं वह 'नाव्या' कहलाती है। क्षेतुं शक्यं क्षय्यम्। जेतुं शक्यं जय्यम्[46]। शक्यार्थ से अन्यत्र क्षेयं पापम्। जेयः कामः।

क्रय्य- यह क्री धातु से यत् प्रत्यय करके निपातन किया है- क्रये प्रसारितं द्रव्यं क्रय्यम्। क्रेयं नो धान्यं न च क्रव्यमस्ति, हमें धान खरीदना है पर खरीदने के लिए प्रसारित नहीं, अर्थात् बिकाऊ नहीं है।

कृत्य प्रत्यय काल सामान्य में विहित हैं- भवतीति भव्यः। वर्तमान में। कर्म प्रोक्तवन्तः कर्मप्रवचनीयाः। भूतकाल में। देवदत्तेन मे शतमृणं देयम्-यहाँ भविष्यत् अर्थ में कृत्य (यत्) है -शतं दास्यतीत्यर्थः।

कुल सात कृत्य प्रत्यय हैं। उन्हें पूर्व विद्वानों ने इस प्रकार श्लोकबद्ध किया है-

तव्यं च तव्यतं चानीयरं केलिमरं तथा।
यतं ण्यतं क्यपं चैव सप्त कृत्यान् प्रचक्षते॥

प्रसिद्ध-प्र**सिद्ध धातुओं के तव्य प्रत्ययान्त रूप**

घ्रा	घ्रातव्य	पा (चुरा० रक्षा करना)	पालयितव्य
ज्ञा	ज्ञातव्य	मा (अदा० मापना)	मातव्य
दा (जुहो०)	दातव्य	चि	चेतव्य
दाण् (भ्वा०)	दातव्य	माङ् (जुहो० मापना)	मातव्य
दाप् (अदा० काटना)	दातव्य	म्ना (अभ्यास करना)	आम्नातव्य
धा	धातव्य	या	यातव्य
ध्मा (तपाना)	ध्मातव्य	हा (त्यागना)	हातव्य
हाङ् (जाना)	हातव्य	स्था	स्थातव्य
पा (पीना)	पातव्य	इक्	अध्येतव्य
पा (रक्षा करना)	पातव्य	इङ्	अध्येतव्य
इण्	एतव्य	यु (जोड़ना, जुदा करना)	यवितव्य

---

42 प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च (३।३।१६३)।

43 अर्हे कृत्यतृचश्च (३।३।१६६)।

44 कृत्याश्च (३।३।१७१)। यहाँ पूर्व सूत्र आवश्यकाधमण्ययोर्णिनिः से आवश्यकाधमण्ययोः की अनुवृत्ति आती है।

45 शकि लिङ् च (३।३।१७२)। यहाँ पूर्व सूत्र कृत्याश्च से कृत्याः की अनुवृत्ति आती है।

46 क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे (६।१।८१)। यत् प्रत्यय तो अचो यत् से होता है। पर शक्यार्थ में धातु को गुण होने के पश्चात् 'ए' को 'अय्' निपातन किया है।

रु (शब्द करना)	रवितव्य	भू	भवितव्य
जि	जेतव्य	षुञ् (स्वा०) (अभि)	षोतव्य
मि (न)	(नि) मातव्य	स्तु	स्तोतव्य
श्रि (न)	श्रयितव्य	हु	होतव्य
श्वि (जाना, बढ़ना)	श्वयितव्य	ह्रु	(अप) ह्रोतव्य
हि (स्वा० जाना, बढ़ना)	प्रहेतव्य	ब्रू (वच् आदेश)	वक्तव्य
क्री	क्रेतव्य	धूञ्	धवितव्य, धोतव्य
डी	उड्डयितव्य	धू (तुदा०)	धुवितव्य
दीङ् (दिवा० क्षीण होना)	उपदातव्य	पू	पवितव्य
म्लै	म्लातव्य	लू	लवितव्य
नी	नेतव्य	सू (अदा० दिवा०)	सवितव्य, सोतव्य
पीङ् (दिवा०पीना)	निपेतव्य	प्रच्छ	प्रष्टव्य
शीङ्	शयितव्य	कृ	कर्तव्य
ह्री (जुहो० लज्जित होना)	ह्रेतव्य	जागृ	जागरितव्य
पृङ्	व्यापर्तव्य	श्रु	श्रोतव्य
मृङ्	मर्तव्य	दैप् (भ्वा० शोधना)	अवदातव्य
वृङ्	विवरितव्य, विवरीतव्य	ध्यै (भ्वा० सोचना)	ध्यातव्य
वृञ्	(आ) वरितव्य, आवरीतव्य	दो (दिवा० काटना)	अवदातव्य
		शो (दिवा० तेज करना)	निशातव्य
सृ	सर्तव्य	स्मृ	स्मर्तव्य
हृ	हर्तव्य	सो (दिवा० समाप्त करना)	अवसातव्य
जृ	जरितव्य,जरीतव्य	ईक्ष्	ईक्षितव्य
तृ	तरितव्य, तरीतव्य	चक्ष्	(आ) ख्यातव्य
देङ् (भ्वा० रक्षा करना)	दातव्य	भक्ष्	भक्षयितव्य
लिख	लेखितव्य	पच्	पक्तव्य
मेङ् (बदले में देना)	निमातव्य, विनिमातव्य	व्रश्च् (काटना)	व्रश्चितव्य, व्रष्टव्य
ह्वे(आत्व)	ह्वातव्य	मुच्	मोक्तव्य
गै (आत्व)	गातव्य	रिच्	रेक्तव्य
ग्लै	ग्लातव्य	रुच्	रोचितव्य
त्रै	त्रातव्य	सिच्	सेक्तव्य

स्मरणीय बिंदु-

1. **धातु को गुण कार्य :** अपवाद विषयों को छोड़कर, तव्य या तव्यत् प्रत्यय परे होने पर धातु के इक् (इ, उ, ऋ, ऌ) को गुण हो जाता है, जैसे- कृ का कर्त्तव्य, श्रु का श्रोतव्य, भू का भवितव्य।

2. **लिंग और वचन का नियम :** सकर्मक धातुओं में तव्य प्रत्ययान्त शब्द का लिंग और वचन हमेशा उसके कर्म के अनुसार बदलता है। अकर्मक धातुओं में यह हमेशा प्रथमा विभक्ति, नपुंसकलिंग, एकवचन में ही रहता है।

3. **सुबन्त और प्रातिपदिक रूप :** इस अध्याय में तव्य प्रत्ययान्त शब्दों को प्रातिपदिक (मूल शब्द) के रूप में दर्शाया गया है, वाक्यों में प्रयोग करते समय इनके रूप राम, लता या फल की तरह चलते हैं।

शब्दावली -

1. **कृत्य प्रत्यय :** अष्टाध्यायी के कृत्-प्रकरण में आने वाले वे विशिष्ट प्रत्यय जो मुख्य रूप से चाहिए या योग्य के अर्थ में कर्म (सकर्मक धातुओं से) और भाव (अकर्मक धातुओं से) में आते हैं।

2. **तव्यत् और तव्य प्रत्यय :** धातु मात्र से विहित होने वाले कृत्य प्रत्यय । इनमें केवल अनुबन्ध (त्) का भेद स्वर के लिए होता है, रूप दोनों का एक जैसा ही बनता है।

3. **वलादि आर्धधातुक :** ऐसे प्रत्यय जिनके आदि (शुरुआत) में य् को छोड़कर कोई भी व्यञ्जन (जैसे तव्य का त) हो।

तव्य और तव्यत् दोनों वलादि आर्धधातुक हैं।

4. इट्-आगम (सेट् धातु) : जो धातुएँ सेट् होती हैं, उनसे परे वलादि आर्धधातुक (तव्य) प्रत्यय होने पर बीच में इ का आगम (जुड़ना) हो जाता है, जैसे- पठ् + तव्य = पठितव्य।

5. अनुक्त कर्ता : कर्मवाच्य या भाववाच्य के वाक्यों में जब कृत्य प्रत्यय लगता है, तो कर्ता अनुक्त (प्रधान नहीं) हो जाता है और उसमें व्याकरण के नियम से तृतीया विभक्ति आती है।

15 अंक के प्रश्न -

प्रश्न 1. तव्यत् और तव्य प्रत्यय किन अर्थों में और किन धातुओं से विहित होते हैं? इनके मुख्य व्याकरणिक नियमों (गुण कार्य और इट् आगम) की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 2. सकर्मक और अकर्मक धातुओं के साथ तव्य प्रत्यय के प्रयोग में लिंग, वचन और विभक्ति की क्या व्यवस्था होती है? पुस्तक में दिए गए वाक्यों के आधार पर विस्तार से समझाइए।

5 अंक के प्रश्न-

प्रश्न 1. तव्यत्तव्यानीयरः (३।१।९६) सूत्र का मुख्य कार्य क्या है?

प्रश्न 2. तव्यत् और तव्य प्रत्यय में क्या अंतर है और रूप सिद्धि में इनका क्या प्रभाव पड़ता है?

प्रश्न 3. निम्नलिखित धातुओं के तव्य प्रत्ययान्त प्रातिपदिक रूप लिखिए:

(क) कृ (ख) गम् (ग) श्रु (घ) भू

प्रश्न 4. मया ग्रामो गन्तव्यः और सर्वैरस्माभिः संस्कृतं पठितव्यम् वाक्यों में कृत्य प्रत्यय के लिंग और वचन का निर्धारण किस आधार पर हुआ है?

प्रश्न 5. अकर्मक धातुओं से कृत्य प्रत्यय होने पर वाक्य में कौन सी विभक्ति और वचन का प्रयोग किया जाता है? श्रान्तेन त्वया सम्प्रत्यासितव्यम् उदाहरण से स्पष्ट कीजिए ।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. तव्यत् और तव्य प्रत्यय व्याकरण के किस प्रकरण के अंतर्गत आते हैं?
(क) निष्ठा प्रकरण
(ख) कृत्य-प्रक्रिया
(ग) उणादि प्रकरण
(घ) ताच्छीलिक प्रकरण

2. कृ धातु में तव्य प्रत्यय जोड़ने पर कौन सा प्रातिपदिक रूप बनता है?
(क) कृत्त्व
(ख) करणीय
(ग) कर्त्तव्य
(घ) कारक

3. तव्य और तव्यत् प्रत्यय परे होने पर सेट् धातुओं से पूर्व किसका आगम होता है?
(क) मुट् का
(ख) इट् का
(ग) सुँ का
(घ) नुम् का

4. तेन व्याकरणं श्रोतव्यम् इस वाक्य में तेन पद में तृतीया विभक्ति क्यों हुई है?
(क) कर्ता के उक्त होने के कारण
(ख) कर्म के अनुक्त होने के कारण
(ग) कर्ता के अनुक्त होने के कारण
(घ) अपादान कारक होने के कारण

5. अकर्मक धातुओं से जब तव्य प्रत्यय होता है, तो वह किस अर्थ में आता है?
(क) कर्ता अर्थ में
(ख) कर्म अर्थ में
(ग) भाव अर्थ में
(घ) सम्प्रदान अर्थ में

इकाई-1.3 अनीयर्, कर्तृ वाचक कृत्

उद्देश्य-

1. **अनीयर् प्रत्यय का परिचय :** छात्रों को चाहिए या योग्य के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले अनीयर् प्रत्यय के नियमों और धातुओं के साथ इसके जुड़ाव की प्रक्रिया को समझाना।
2. **कर्तृ-वाचक कृत् प्रत्यय का बोधः** विद्यार्थियों को उन कृत् प्रत्ययों से परिचित कराना जो क्रिया को करने वाले (कर्ता) के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।
3. **व्याकरणिक नियमों का ज्ञानः** प्रत्यय परे रहते धातु के स्वरों में होने वाले गुण-कार्य और अन्य आवश्यक नियमों को स्पष्ट करना।

अनीयर् प्रत्ययान्तों की रूप-रचना के विषय में थोड़ा ही वक्तव्य है। अनीयर् अजादि है वलादि नहीं अतः इट् का प्रसंग ही नहीं। धातुमात्र को इस से पूर्व गुण होता है। कुटादि धातुओं को छोड़कर। णिच् का लोप होता है। कृ-करणीय। हृ-हरणीय। स्तु-स्तवनीय। वृत्-वर्तनीय। कृप्-कल्पनीय। सृज्-सर्जनीय। चुर् णिच्-चोरणीय। मृज्-मार्जनीय (वृद्धि)। रम्-आरम्भणीय। लभ्-लम्भनीय। अजादि प्रत्यय परे होने पर नुम् आगम होता है, वह अजादि प्रत्यय शप् नहीं होना चाहिए, लिट् सम्बन्धी भी नहीं होना चाहिए।

कर्तृवाचक कृत्

ण्वुल्- धातुमात्र से ण्वुल् प्रत्यय आता है[47]। ण्, ल् इत्संज्ञक हैं। 'वु' के स्थान में 'अक' आदेश होता है। प्रत्यय के णित् होने से धातु के अन्त्य अच् तथा उपधा-भूत 'अ' को वृद्धि होती है। आकारान्त धातु को युक् (य्) आगम होता है। कृ-कारक। करोतीति कारकः, करने वाला। हृ-हारक। नी-नायक। वृद्धि, आय् आदेश। नयतीति नायकः। पू- पावक। पुनातीति पावकः = अग्नि। पच्-पाचक। खन्- खानकः खोदने वाला। दो-दायक। युक् आगम। आख्या - आख्यायक। कहने वाला। स्त्रीलिङ्ग में आख्यायिका। गै- गायक। गायतीति गायकः। धातु को आत्व होकर युक् का आगम। ब्रू-वाचक। ण्वुल् आर्धधातुक है, अतः 'ब्रू' को वच् आदेश हुआ। ण्यन्त स्था (स्थापि)-स्थापक। सिध् (साधि) से साधक। वद् (वादि) से वादक। मुद् (मोदि) से मोदक। मोदयतीति मोदकः, लड्डू। ण्यन्त गमि, जनि, भ्रमि, दमि, शमि से क्रम से गमक, जनक, भ्रमक, दमक, शमक रूप सिद्ध होते हैं। इन सब में तथा इनसे पूर्व निर्दिष्ट ण्यन्त धातुओं के 'णि' का लोप हो जाता है[48]। इन में धातु के 'अ' को वृद्धि नहीं होती[49]- यह विशेष शम्, से ण्वुल् करने कार्य है। स्यति प्राणान् इति सायकः, बाण। यहाँ 'सो' से ण्वुल् हुआ है। अव उपसर्ग प्रायिक है, सो यह नहीं भी हुआ।

हन् णिच्- घातक। घातयतीति घातकः। हन्तीति घातकः। णित् प्रत्यय परे होने पर हन् के 'ह' को कुत्व = 'घ' तथा 'न' को 'त्' आदेश होता है। भक्षकश्चेन्न विद्येत वधकोपि न विद्यते- यहाँ वधक में वध् एक स्वतन्त्र प्रकृति मानी जाती है जिसकी उपधा-वृद्धि को जनिवध्योश्च (७/३/३५) से रोका जाता है। अधिइङ्-अध्यायक (पढ़ने वाला)। युवा स्यात् साधु युवाऽध्यायकः। तै० उ० २/८।। नाटयतीति नाटकः नट, भरत। यह मूलार्थ है। वधूनाटकसङ्घैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम् (रा० १।५।१८)। कालान्तर में अभिज्ञानशाकुन्तलं नाम नाटकम् इत्यादि में बहुलतया कर्म में ण्वुल् स्वीकार करके नाट्य अर्थ में प्रयोग होने लगा। क्लृप् णिच्-कल्पक नापित (का० नी० १३।४७)। कल्पयति कृन्तति नखान् इति कल्पकः = नापितः।

तृच्- तृच् (तृ) वलादि आर्धधातुक प्रत्यय है। यह भी धातुमात्र से आता है। उदात्त (= सेट्) धातुओं से परे तृच् को इट् आगम होता है।

कृ-कर्तृ। हृ-हर्तृ। पू- पवितृ। इट्। नी- नेतृ। पच् - पक्तृ। खन् - खनितृ। दा-दातृ। गम् - गन्तृ। जन्-जनितृ। शम् - शमितृ। दम् - दमितृ। गै- गातृ। ब्रू - वक्तृ। वच् आदेश। वादि (= वद् णिच्, वादयितृ। पाठि (= पठ् णिच्) - पाठयितृ। प्रक्रम् (प्रारम्भ

---

47 ण्वुल्तृचौ (३।१।१३३)।

48 णेरनिटि (६।४।५१)।

49 जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च (गणसूत्र) से जन् और अमन्त गम्, दम्, भ्रम्, शम् आदि की मित् संज्ञा है और मित् संज्ञकों को णिच् परे रहते ह्रस्व हो जाता है। गमयतीति गमकः। शमयतीति शमकः। शुद्ध दम्, भ्रम्, शम् से ण्वुल् करने पर भी नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानचमेः (७।३।३४) से वृद्धि रुक जाएगी। जन् की भी वृद्धि जनिवध्योश्च (७।३।३५) से रुक जाएगी जिससे जायत इति जनक इस अर्थ में भी 'जनक' रूप सिद्ध होगा। शुद्ध अण्यन्त गम् से ण्वुल् का प्रयोग नहीं मिलता।

करना) - प्रक्रन्तृ (प्रक्रन्ता)। यहाँ इट् का निषेध वार्तिककार कहते हैं।[50] केवल क्रम् जो उभयपदी है (क्रामति, क्रमते) से इट् का निषेध नहीं होता- क्रमितृ (क्रमिता)। सम्पूर्वक गम् से सन् प्रत्यय परे रहते इट् होगा- संजिगमिष-तृ। सन्नन्त के अनेकाच् होने से तृच् को इडागम निर्बाध होगा - संजिगमिषिता। प्रपूर्वक अज (जाना, हाँकना) - प्राजितृ, प्रवेतृ (सारथि)। वलादि आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते अज् को विकल्प से 'वी' आदेश होता है[51]। 'अज्' यद्यपि उदात्त है, उसका आदेश 'वी' अनुदात्त माना जाता है। अतः 'प्रवेतृ' में इट् नहीं हुआ।

ल्यु, णिनि, अच् - नन्द आदि, ग्रह आदि तथा पच् आदि धातुओं से क्रम से ल्यु (अन), णिनि (इन्), अच् (अ) प्रत्यय आते हैं[52]- नन्द आदि धातुओं से ल्यु - नन्दयतीति नन्दनः। इन्द्र का उद्यान। वृध् णिच् - वर्धनः। शुभ् णिच्-शोभनः। शोभयतीति। रुच् णिच् - रोचन। मद् णिच्-मदन। मदयतीति मदनः = काम। सह - सहन। तप् तपन- सूर्य। तपतीति तपनः। दम् - दमन। शत्रून् दमयतीति। शत्रुदमनः। कुलं दमयतीति कुलदमनः। जनान् समुद्रस्थदैत्यभेदान् अर्दयतीति जनार्दनः। जनमर्दयतीति वा। अर्दयति = पीडयति। मधुसूदनः - मधु तन्नामानं दैत्यं सूदयति क्षारयति = नाशयतीति। विभीषयते इति विभीषणः। रावण का भ्राता। संकर्षति यमुनाम् इति संकर्षणः (बलराम)। संक्रन्दयति रिपुस्त्रीः संक्रन्दनः इन्द्रः। रम् - रमणः। रमते रमयतीति वा। दृप् णिच्- दर्पयति इति दर्पणः। दर्पणे स्वं दृष्ट्वा दृप्यति स्वाकृतिर्जनः, सुन्दर पुरुष दर्पण में अपनी आकृति को देखकर तृप्त हो जाता है अहो रूपवानस्मि ऐसा कहता है, अतः मुँह देखने के शीशे को दर्पण कहते हैं। लू-लवण। लुनातीति लवणः। णत्व निपातन से है। एक असुर का नाम। उत्तररामचरित में कहा भी है। लवणत्रासितः स्तोमस्त्रातारं त्वामुपस्थितः। पू- पवन। पवते पुनातीति वा पवनः। श्राम्यतीति श्रमणा। स्त्रीभिक्षु।

उन्मादनस्तापनश्च शोषणस्तम्भनस्तथा।
सम्मोहनश्च कामस्य पञ्च बाणाः प्रकीर्तिताः॥

यहाँ उन्मादन आदि पाँच कामदेव के नाम ल्यु-प्रत्ययान्त हैं।

णिनि - ग्रह, आदि धातुओं से णिनि (इन्)[53] - ग्राहिन् (प्रथमान्त ग्राही)। उत्सह - उत्साहिन्। स्था- स्थायिन्। मन्त्र - मन्त्रिन् (मन्त्रयते गुप्तं परिभावते इति मन्त्री)। संमृद्-संमर्दिन्। संमृद्नातीति संमर्दी। मसल देने वाला। निवस् - निवासिन्। निवप् - निवापिन्। निवपति = निपृणाति पिण्डान् पितृभ्य इति निवापी। जो पितरों का पिण्ड भरता है वह निवापी होता है। निशो निशायिन्। निश्यति तीक्ष्णीकरोतीति निशायी। तेज करने वाला। नञ्पूर्वक याच्, व्याहृ, संव्याहृ, व्रज्, वद्, वस् - न याचते इत्ययाची। न व्याहरति भाषत इत्यव्याहारी। न संव्याहरति संभाषते इत्यसंव्याहारी, जो दूसरों के साथ नहीं बोलता। व्रज्, वद्, वस्- अव्राजिन्, अवादिन्, अवासिन्। विशीङ् - विशयी। विसि (ञ्) - विषयी। यहाँ इन दोनों में वृद्धि का अभाव निपातन से है। विषयिन् में षत्व भी निपातन से है। परिनिविभ्यः सेवसितसय-(८।३।७०) से सित (क्तान्त), सय (अच्प्रत्ययान्त) रूपों में ही षत्व विधान किया है। विशयिन् तथा विषयिन् दोनों देश वाचक हैं। अभिपूर्वक भू से भूत अर्थ में णिनि होता है- अभिभूतवान् इत्यभिभावी। अपराध् - अपराधिन्। अपराध्यतीति अपराधी। जो अपराध करता है। उपरुध् - उपरोधिन्, रुकावट डालने वाला। परिभू- परिभाविन्, परिभविन्। यहाँ विकल्प से वृद्धि नहीं होती है।

अच्- पच् आदि धातुओं से अच् प्रत्यय आता है। पच्- अच् = पच। पचतीति पचः (पाचक, पकाने वाला)। स्त्रीलिङ्ग में पचा ब्राह्मणी। अपचा ब्राह्मणी, जो पकाने में अशक्त है। अपचो जाल्मः, न पचतीत्याक्रुश्यते, जिसकी न पकाने से निन्दा है। वद् - वद। चल् - चल। पत्-पत। चरट्। देवट्। नदट्। यह अच्प्रत्ययान्त टित् पढ़े हैं जिससे स्त्रीलिङ्ग में चरी, अनुचरी, देवी, नदी, यह ङीबन्त रूप बन जाते हैं। मिष्-मेष। मिषतीति मेषः। मिष स्पर्धायाम्। तुदादि। मृ-मर। न म्रियत इत्यमरः। दंश् - दंश। दशतीति दंशः। (वनमक्षिका)। ध्रु (तुदा० कुटा०)-ध्रुव। ध्रुवतीति ध्रुवः स्थिरः। आशृणोतीति आश्रवः -वचने स्थितः, आज्ञाकारी। जारं बिभर्तीति जारभरा। श्वानं पचतीति श्वपचः। चण्डाल। अजं छागं गिरतीति अजगरः। इन में कर्मण्यण् (३।२।१) से अण् की प्राप्ति थी। जिससे स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप् होता। चर्, चल्, पत्, वद् इनसे अच् प्रत्यय परे रहते विकल्प से द्वित्व होता है और अभ्यास को आक् (आ) आगम होता है[54]- चरतीति चरः, चराचरः। चलाचलः। पतापतः। वदावदः। जो चर् का अर्थ है वही चराचर का। द्वित्व से कुछ

---

50 क्रमेस्तु कर्तर्यात्मनेपदविषयादसत्यात्मनेपदे कृति प्रतिषेधो वक्तव्यः।

51 वलादावार्धधातुके विकल्प इष्यते।

52 नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः (३।१।१३४)।

53 ग्रह् आदि से णिनि विधान करने का प्रयोजन यह है कि इन में ताच्छील्य न होने से ताच्छीलिक णिनि की अप्राप्ति थी, अतः ग्राहिन्, मन्त्रिन्, संदिन्, उत्साहिन्, अयाचिन् आदि के साधुत्व का उपपादन करना आवश्यक था।

54 चरि-चलि-पति-वदीनां वा द्वित्वमच्याक् चाभ्यासस्य (वा०)।

भी अर्थान्तर नहीं होता। चराणामन्नमचराः (मनु० ५।२६)। वदो वदावदो वक्ता- तीनों अमरकोष में समानार्थक पढ़े हैं। चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चलः। (वैराग्य०)। चलाचले चले। हन् को अच् परे द्वित्व होता है तथा अभ्यास को 'आ' आगम तथा कुत्व (घ)[55] और अभ्यास से उत्तरखण्ड के हन् के 'ह' को **अभ्यासाच्च (७।३।५५)** से कुत्व। हन्तीति घनाघनः। वर्षुकाब्दो घनाघनः (अमर)। मेंह बरसाने वाला बादल। दरिद्रा - दरिद्र। आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा में ही दरिद्रा के 'आ' का लोप हो जाता है और वह लोप सिद्ध माना जाता है। सो आकारान्त से जो 'ण' प्राप्त था वह नहीं होता, अच् होता है। रात्रौ चरतीति रात्रिचरः, रात्रिचर इति वा। यहाँ भी अच् प्रत्यय है। अच्प्रत्ययान्त उत्तरपद परे होने पर रात्रि को विकल्प से मुम् (म्) आगम होता है[56]।

लोलू य, पोपू य, मरीमृज् य, सनीस्रंस् य, दनीध्वंस् य, चञ्चुर् य- इन यङन्त धातुआ. से अच् होने पर 'यङ्' का लुक् हो जाता है[57]- लोलुवः। पोपुवः। मरीमृजः। सनीस्रंसः। दनीध्वंसः। चञ्चुरः। धात्ववयव 'य' का लोप होने से धातु को गुण न होकर[58] पोपुवः, लोलुवः में 'उ' को उवङ् हुआ है। मरीमृजः में गुण नहीं हुआ। पचादि आकृतिगण है। इसमें **शिवशमरिष्टस्य करे** (४।४।१४३) ज्ञापक है। करोतीति करः। पचाद्यच्। उपसृज्-उपसर्ग। उपसृजति सम्बध्नाति इत्युपसर्गः। न्यङ्कु आदि होने से कुत्व (पदमञ्जरी)। मेहतीति मेघः। न्यग् रोहतीति न्यग्रोधः वटः। यहाँ दोनों स्थलों में न्यङ्क्वादि होने से कुत्व हुआ। स्वयं वृणुते पतिम् इति स्वयंवरा। वृङ् से अच्। सुप्सुपा समास। स्वयंवरा च सा कन्या बन्धुभिः स्थ. ापिता सती (हरिवंश २।६१।४३)। वस् आच्छादन करना अदा० से - वसा। वस्ते इति। शरीर के बीच में स्नेह-द्रव्य। सर्पतीति सर्पः। युध्यते इति योधः। कश् से प्रतिष्कश = वार्तापुरुष, सहाय, अग्रेसर। ग्राममद्य प्रवेक्ष्यामि भव मे त्वं प्रतिष्कशः। मैं आज गाँव में प्रवेश करूँगा, आप मेरे अगुआ बनिए। यहाँ कश् से पचाद्यच् करके सुट् का निपातन किया है। जातिस्मरः। स्मरतीति स्मरः। जातेः स्मरः = जातिस्मरः। हलधरः। हलस्य धरः। अच्। पयोधरः पयसां धरः। गङ्गाधरः। गङ्गाया धरः (शिवः)। दाशन्ते ददति अस्मै इति दाशः। यहाँ अच् कर्ता में न होकर सम्प्रदान में होता है। **दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने** (३।४।७३) से निपातन किया है।

क- इगुपध (इक् उपधा वाली धातु), ज्ञा, प्री, कृ से क (अ) प्रत्यय आता है[59]- विक्षिप्- विक्षिप। विक्षिपतीति विक्षिपः, फैंकने बिखेरने वाला। विलिख्-विलिख। बुध्- बुध। बुध्यत इति बुधः। कृश्- कृश। कृश्यतीति कृशः। कृश् अकर्मक है। क्षुर्-क्षुर (उस्तरा)। क्षुरति विलिखति केशान् इति क्षुरः। आङ्कुल्-आकुल। आकोलति[60] एकी भवति इत्याकुलः। ध्रुव् - ध्रुव। नि पूर्वक पुण्-निपुण। पुण् -शुभ कर्म करना, तुदा०। निपुणतीति निपुणः। विपुल् - विपुल। विपोलति संहन्यत इति विपुलः। मृड्- मृड। मृडति सुखयतीति मृडः शिवः। ईश्- ईश। ईष्टे इति ईशः। जीवतीति जीवः। अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेताः **(छां० उ०)**। जो इसके सम्बन्धी यहाँ जीते हैं और जो मर गए हैं। जीवपुत्त्रो ममाचार्यः। जो जीता है वह 'जीव' है। न वै हतं वृत्रं विद्म न जीवम् **(श० ब्रा०)**। वृत्र मारा गया है अथवा जीता है, हम नहीं जानते हैं। इन सब में 'क' प्रत्यय के कित् होने से धातु की लघु उपधा को गुण नहीं हुआ। आङ्पूर्वक तुर् जुहोत्यादि छान्दस - आतोर्ति इति आतुरः = रुग्ण।

ज्ञा- ज्ञ। जानातीति ज्ञः। यहाँ आर्धधातुक प्रत्यय 'क' परे होने पर 'आ' का लोप हो जाता है।

प्री-प्रिय। प्रीणातीति प्रियः। धातु के 'ई' को इयङ्।

कृ-किर। किरतीति किरः। गुणाभाव में धातु के ऋ को इर्। किरश्चासौ अतश्च किरातः। अत् से पचाद्यच्।

क- आकारान्त सोपसर्गक धातुओं से[61]-सुग्लै-सुग्ल। सुष्ठु ग्लायति। क्षीणाहर्षो हतोत्सा. हो भवतीति सुग्लः। सुम्लै- सुष्ठु म्लायतीति सुम्लः। यहाँ उपदेश में ही एच् (ऐ) को आ हो जाता है। प्र-स्था प्रतिष्ठत इति। प्रस्थः[62]। वि-स्था-विष्ठा (कुक्षिमल)। वितिष्ठत उदरे इति। 'क' होकर स्त्री० में टाप्। वि-प्रा-विप्र। विशेषेण प्राति पूरयति कर्माणि इति विप्रः। प्र-ज्ञा-प्रज्ञः। प्रजानातीति प्रज्ञः। इन सबमें क (अ) प्रत्यय के अजादि आर्धधातुक होने से धात्वाकार

---

55 हन्तेर्घत्वं च (वा०)।

56 रात्रेः कृति विभाषा (६।३।७२)।

57 यङोऽचि च (७।४।३०)।

58 न धातुलोप आर्धधातुके (१।१।४)।

59 इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (३।१।१३५)।

60 कुल् भ्वादि० प० है। कुल संस्त्याने बन्धुषु च। संस्त्यानं संघातः। बन्धुशब्देन बन्धुव्यापारो लक्ष्यते।

61 आतश्चोपसर्गे (३।१।१३६)।

62 प्रतिष्ठत इति प्रस्थः। वने प्रस्थ इति वनप्रस्थः, स एव वानप्रस्थः। परिमाण-विशेष तथा सानु अर्थ में तो घञर्थ अधिकरण में 'क' होता है-प्रतिष्ठन्तेऽत्रेति।

का लोप हुआ है[63]। नितरां श्यति तनूकरोति व्यापारान् इति निशा। शो। आत्व। स्त्रीत्व में टाप्। निशा का निशा-दृष्ट स्वप्न अर्थ भी है- यदि शक्यो मया जेतुं जामदग्न्यः प्रतापवान्। दैवतानि प्रसन्नानि दर्शयन्तु निशां मम (भा० ५।७२५२)।

श- पा, घ्रा, ध्मा, धेट् (धे), दृश्- से श (अ) होता है। 'श'[64] सार्वधातुक प्रत्यय है। अतः पा को पिब, घ्रा को जिघ्र, ध्मा को धम् आदेश होता है। उच्चैः पिबतीति उत्पिबः। विशेषेण पिबतीति विपिबः। संपिबः। समुद्र इव संपिबः (अथर्व० ६।१३५।२)। उद् घ्रा- उज्जिघ्र। विघ्रा-विजिघ्र। विदृश्-विपश्य। उद् दृश्-उत्पश्य। कोई लोग पूर्वसूत्र से 'उपसर्गे' की अनुवृत्ति नहीं करते उनके मत में केवल दृश् से 'पश्य' रूप साधु होगा। मुण्डकोपनिषद् में प्रयोग भी है- यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्। वार्तिककार संज्ञा में घ्रा धातु से 'श' प्रत्यय का प्रतिषेध चाहते हैं[65]। व्याघ्र-पूर्वसूत्र से क। पर नागेश भट्ट वार्तिक 'घ्रा' को 'जिघ्र' आदेश का ही निषेध करता है प्रत्यय तो संज्ञा में भी 'श' ही होता है ऐसा मानते हैं। विध्मा-विधम। उद् ध्मा-उद्धम। धेट्- धया कन्या। धयति मातरम् इति। फलानि धूमस्य धयानधोमुखान् (श्रीहर्ष)।

निपूर्वक लिप् से संज्ञा में[66]- निलिम्पा नाम देवाः। निलिम्पनिर्झरी = सुरनदी = भागीरथी।

गो आदि शब्द (द्वितीयान्त) उपपद होने पर विद् (प्राप्त करना तुदा०) से संज्ञा में श[67]- गां विन्दतीति गोविन्दः। श प्रत्यय के सार्वधातुक होने से विद् को 'नुम्' आगम हुआ[68]। अरविन्दम्= कमलम्। अरान् चक्राङ्गानीव पत्राणि विन्दत इति।

ण- ज्वल् आदि कस् पर्यन्त भ्वादि धातुओं से विकल्प से ण (अ) होता है[69]। पक्ष में पचाद्यच् होगा- ज्वालः (ण)। उपधावृद्धि। ज्वलः (अच्)। चालः। चलः। यह अच् का अपवाद है। 'ण' उपसर्ग रहित धातु से ही होता है- प्रज्वलः। यहाँ नहीं हुआ। तन् (जो भ्वादि ज्वलादि नहीं) से भी 'ण' प्रत्यय होता है- अवतनोतीत्यवतानः[70]। वमति स्नेहम् इति वामा = सुन्दरी स्त्री।

ण- श्यैङ्, आकारान्त धातु, व्यध्, आ-स्रु, सं-स्रु, अति-इण्, अव-सो, अव-ह्व, लिह्, श्लिष्, श्वस्[71]- इनसे भी ण-अवश्यायः= ओस। अवश्यायतेऽधः पततीत्यवश्यायः। प्रतिश्यायते प्रतिक्षणं गतिमान् भवतीति प्रतिश्यायः, नज़ला, जुकाम। यहाँ उपदेशावस्था में ही आत्व (श्या) होकर प्रत्यय के णित् होने से युक् (य्) आगम होता है[72]। आकारान्त - दाय। धाय। ददातीति दायः। दाय सम्पत्ति, ऋक्थ अर्थ में तथा सुदाय यौतक अर्थ में कर्म में घञन्त है। दधातीति धायः। यहाँ भी युक् आगम हुआ है। व्यध्-व्याध। विध्यतीति व्याधः। आङ्-स्रु-आस्राव। सम्-स्रु -संस्राव। अति-इण्-अत्याय। अत्येति इत्यत्यायः पुरुषः, अतिक्रम करने वाला। पर अत्ययः =अतिक्रमः। अत्ययनम् अत्ययः। भाव में इकारान्त से अच्। अव-सो-अवसाय। अवस्यतीत्यवसायः। समाप्त करने वाला, अथवा निश्चय करने वाला। पर अव-सो से भाव में घञ् होकर भी 'अवसाय' शब्द सिद्ध होता है। अर्थ होता है- अवसान, निश्चय। यहाँ भी कृत्प्रत्यय के ञित् होने से युक् आगम होता है। अव-ह्व- अवहरति निगिलतीत्यवहारो ग्राहः। लिह-लेह। लेढीति लेहः। श्लिष् श्लिष्यतीति श्लेषः= सरेश। श्वस् - श्वसितीति =श्वासः।

ण- दु और नी से ण (अ) होता है जब इनसे पूर्व उपसर्ग न हो[73]-दुनोतीति दावः। वनवह्नि। नयतीति नायः नायकः। उपसर्ग होने पर तो अच् होगा- प्रदवः। प्रणयः। प्रणयः= प्रणायकः। सूत्र में टुदु उपतापे स्वा० का ग्रहण है, अतः भ्वा० 'दु' से तो उपसर्गाभाव में भी अच् ही होगा- दवः। वने च वनवह्नौ च दवो दाव इहेष्यते।

ग्रह् से ण विकल्प से होता है[74]। यह व्यवस्थित विभाषा है, अर्थात् इस विभाषा का विषय नियमित है। जलचर अर्थ में नित्य 'ण' होता है- ग्राह। सूर्य आदि ग्रह (ज्योतिः) के अर्थ में ण नहीं होता - सूर्यो ग्रहः। प्रतिग्राहः पतद्ग्रहः (पीकदान) - अमर। यहाँ हुआ और नहीं भी हुआ। भू धातु से भी विकल्प से - भावः। भवः (भवतीति)।

63 आतो लोप इटि च (६।४।६४)।

64 पाघ्राध्माधेट्दृशः शः (३।१।१३७)।

65 जिघ्रतेः संज्ञायां प्रतिषेधो वक्तव्यः (वा०)।

66 नौ लिम्पेः संज्ञायाम् (वा०)।

67 गवादिषु विन्देः संज्ञायाम् (वा०)।

68 शे मुचादीनाम् (७।१।५६)।

69 ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः (३।१।१४०)।

70 तनोतेर्ण उपसंख्यानम् (वा०)।

71 श्याद्व्यधास्रुसंस्रवतीणवसावह्लिहश्लिषश्वसश्च (३।१। १४१)।

72 आतो युक् चिण्कृतोः (७।३।३३)।

73 दुन्योरनुपसर्गे (३।१।१४२)।

74 विभाषा ग्रहः (३।१।१४३)।

क- ग्रह, धातु से 'क' प्रत्यय होता है जब इसका कर्ता गेह-घर हो[75]-गृहम्। सम्प्रसारण। घर में होने से (तात्स्थ्यात्) ध र्मपत्नी को भी 'गृहाः' कहते हैं। गृह्णन्ति गृहा दाराः। भवतीति भावः।

ष्वुन्- ष्वुन् (अक) प्रत्यय नृत्, खन्, रञ्ज् से आता है जब प्रत्ययान्त शिल्पी को कहे[76]- नर्तक। खानक। रजक (धोबी, रंगरेज)। रञ्ज् के 'न्' का लोप भी होता है। प्रत्यय के षित् होने से स्त्रीत्व-विवक्षा में नर्तकी, खानकी, रजकी रूप होंगे।

थकन्- गै धातु से शिल्पी वाच्य होने पर थकन् (थ) प्रत्यय होता है[77]। गायतीति गाथकः। जिसका गाना हुनर है।।

ण्युट्- शिल्पी अर्थ में ण्युट् प्रत्यय (यु = अन)भी होता है[78]- गायन। जगुर्गेयानि गायनाः (भारत ११७६०६)।

हा त्यागना, हा जाना से ण्युट् होता है जब धात्वर्थ का कर्ता व्रीहि अथवा काल हो[79]- हायन व्रीहि=धान्य-विशेष को कहते हैं। हायना नाम व्रीहयः जहत्युदकमिति। शतपथ में प्रयोग भी है- हायनानां चरुं निर्वपति (५।२/७।६)। किन्हीं के मत में जाङ्गल देश में उत्पन्न व्रीहि को हायन कहते हैं। हायनः=संवत्सरः। जहाति भावान् इति। जिहीत इति वा।

वुन्- प्रु, सृ, लू से समभिहार=साधुकारिता=अच्छी तरह से करना अर्थ की प्रतीति होने पर वुन् (वु=अक) प्रत्यय होता है[80]- प्रवक। सरक। लवक। प्रवते साधु गच्छतीति प्रवकः। प्रुङ् भ्वा० गत्यर्थक है। सरति साधु सर्पतीति सरकः। साधु लुनातीति लवकः। साधुकारिता अर्थ यदि झलकाना इष्ट न हो तो ण्वुल् होकर प्रावक, सारक, लावक रूप बनेंगे।

आशीर्वाद की प्रतीति होने पर धातुमात्र से कर्ता में वुन् होगा[81]- जीवतात् जीवकः। नन्दतात् नन्दकः। जिसे हम चाहते हैं कि वह जीये उसे 'जीवक' कहेंगे।

घञ्- पद् जाना, रुज् तोड़ना, विश् प्रवेश करना, स्पृश् छूना - इनसे कर्ता अर्थ में घञ् (अ) प्रत्यय होता है[82]- पद्यते इति पादः। रुजति शरीरम् इति रोगः। प्रत्यय के घित् होने से कुत्व हुआ। विशतीति वेशः। स्पृशति तुदति इति स्पर्शो रोगः।

सृ धातु से घञ् होता है जब प्रत्ययान्त घात्वर्थ का कर्ता हो और स्थिर श अर्थ हो[83] - चन्दनसारः। खदिरसारः। सरति कालान्तरम् इति सारः जो (अंश) कुछ समय तक ठीक रहता है, विकार को प्राप्त नहीं होता।

व्याधि, मत्स्य और बल- इन अथों में भी 'सृ' से कर्ता में घञ् होता है[84]- अतीसारो व्याधिः। शरीरान्तरवस्थितं रुधि रादिद्रव्यमतिशयेन सारयतीति। सृ का यहाँ अन्तर्भावित ण्यर्थ होकर प्रयोग है। विसारो मत्स्यः = विविधं सरतीति। सारो बलम्। सारो बले मज्जनि च स्थिरांशे।

स्मरणीय बिंदु -

1. **अनुबन्ध लोप का नियम :** अनीयर् प्रत्यय का प्रयोग करते समय केवल अनीय ही शेष बचता है। वाक्य में प्रयोग के समय यह पुल्लिंग में अनीयः, स्त्रीलिंग में अनीया और नपुंसकलिंग में अनीयम् दिखाई देता है।
2. **विशेष्य के अनुसार लिंग-वचन :** कर्मवाच्य में अनीयर् प्रत्ययान्त शब्द का लिंग और वचन हमेशा वाक्य के कर्म (विशेष्य) के अनुसार बदलता है (जैसे- त्वया कटः करणीयः, मया ग्रन्थः पठनीयः)।
3. **अकर्मक धातुओं का नियमः** अकर्मक धातुओं से जब भाव में अनीयर् प्रत्यय होता है, तब वह हमेशा प्रथमा विभक्ति, नपुंसकलिंग, एकवचन में ही रहता है (जैसे- मया हसनीयम्)।

शब्दावली -

1. **अनीयर् प्रत्ययः** तव्यत्तव्यानीयरः सूत्र से विहित एक कृत्य प्रत्यय। इसमें र् का अनुबन्ध लोप (हटना) हो जाता है और

75 गेहे कः (३।१।१४४)।

76 शिल्पिनि ष्वुन् (३।१।१४५)।

77 गस्थकन् (३।१।१४६)।

78 ण्युट् च (६।१।१४७)।

79 हश्च व्रीहिकालयोः (३।१।१४८)।

80 प्रुसृल्वः समभिहारे वुन् (३।१।१४६)।

81 आशिषि च (३।१।१५०)।

82 पदरुजविशस्पृशो घञ् (३।३।१६)।

83 सृ स्थिरे (३।३।१७)। व्याधिमत्स्यबलेष्विति वक्तव्यम् (वा०)। इन्हें आचार्य ने भावे (३।३।१८), अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (३।३।१६) इस अधिकार के सूत्रों से पूर्व पढ़ा है। हमने निरुपपद कर्तृ कृत् प्रत्ययों के अन्त में रख दिया है, जिससे प्रकरण-विच्छेद नहीं होता।

84 व्याधिमत्स्यबलेष्विति वक्तव्यम्। (वा०)

केवल अनीय भाग धातु के पीछे जुड़ता है।

2. कर्तृ-वाचक-कृत् : वे कृत् प्रत्यय जो क्रिया को करने वाले यानी कर्ता का बोध कराते हैं (जैसे- कृ धातु से ण्वुल् प्रत्यय लगकर कारक: बनना)।

3. अजादि आर्धधातुक : ऐसे प्रत्यय जिनके आदि (शुरुआत) में कोई स्वर हो, उन्हें अजादि कहते हैं। अनीय के शुरू में अ होने के कारण यह अजादि कहलाता है, जिससे इसमें इट् का आगम नहीं होता।

4) गुण कार्य : अनीय प्रत्यय परे होने पर धातु के अंतिम स्वर (जैसे इ को ए, उ को ओ, ऋ को अ) को गुण हो जाता है, जैसे- कृ का करणीय और श्रु का श्रवणीय।

5) अनुक्त कर्ता : कर्मवाच्य और भाववाच्य के वाक्यों में जब कृत्य प्रत्यय लगता है, तो कर्ता अनुक्त (प्रधान नहीं) हो जाता है और उसमें व्याकरण के नियम से तृतीया विभक्ति आती है।

15 अंक के प्रश्न -

प्रश्न 1. अनीयर् प्रत्यय किस सूत्र से और किन अर्थों में होता है? अनीयर् प्रत्यय परे होने पर धातुओं में होने वाले गुण-कार्य को सोदाहरण विस्तार से समझाइए।

प्रश्न 2. कर्तृ-वाचक-कृत् प्रत्यय से आप क्या समझते हैं? अनीयर् प्रत्यय का कर्मवाच्य और भाववाच्य में वाक्य प्रयोग किस प्रकार किया जाता है? उदाहरण सहित विवेचन कीजिए।

5 अंक के प्रश्न-

प्रश्न 1. अनीयर् प्रत्यय में किस वर्ण की इत्संज्ञा होकर लोप होता है और प्रयोग में क्या शेष बचता है?

प्रश्न 2. अनीय प्रत्यय आर्धधातुक होने पर भी इसमें इट् (इ की मात्रा) का आगम क्यों नहीं होता?

प्रश्न 3. निम्नलिखित धातुओं के श्अनीयर्श प्रत्ययान्त प्रातिपदिक रूप लिखिए:

(क) कृ (ख) श्रु (ग) भू (घ) गम्

प्रश्न 4. निम्नलिखित वाक्यों में कृत्य प्रत्यय के लिंग और वचन का कारण स्पष्ट कीजिए:

(क) त्वया कट: करणीय:। (ख) अस्माभि: पुस्तकं पठनीयम्।

प्रश्न 5. कर्तरि कृत् (३।४।६७) सूत्र का क्या अर्थ है? संक्षिप्त में लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. तव्यत्तव्यानीयर: सूत्र में कौन सा प्रत्यय अजादि आर्धधातुक है?

(क) तव्यत्

(ख) तव्य

(ग) अनीयर्

(घ) यत्

2. श्रु धातु में अनीयर् प्रत्यय जोड़ने पर कौन सा रूप सिद्ध होता है?

(क) श्रोतव्य:

(ख) श्रवणीयम्

(ग) श्रुत्वा

(घ) श्रावक:

3. कृत् प्रत्यय मुख्य रूप से किस अर्थ में होते हैं?

(क) कर्म अर्थ में

(ख) भाव अर्थ में

(ग) कर्ता (कर्तृ) अर्थ में

(घ) करण अर्थ में

4. अकर्मक धातुओं से भाव में अनीय ंप्रत्यय होने पर वाक्य में हमेशा किस लिंग और वचन का प्रयोग होता है?

(क) पुल्लिंग एकवचन

(ख) स्त्रीलिंग बहुवचन

(ग) नपुंसकलिंग एकवचन

(घ) नपुंसकलिंग बहुवचन

5. तेन ग्रन्थः पठनीयः इस वाक्य में तेन पद में तृतीया विभक्ति होने का क्या कारण है?

(क) कर्ता के उक्त होने के कारण

(ख) कर्ता के अनुक्त होने के कारण

(ग) कर्म के अनुक्त होने के कारण

(घ) करण कारक होने के कारण

इकाई-1.4 सोपपद् कृत्, मूलविभुजादि

उद्देश्य-

1. **सोमपद कृत् (सोपपद) व्यवस्था का ज्ञान :** छात्रों को ऐसे कृत् प्रत्ययों से परिचित कराना जो स्वतंत्र रूप से नहीं लगते, बल्कि केवल किसी उपपद (संज्ञा या अन्य पद) के साथ होने पर ही धातु से जुड़ते हैं।
2. **मूलविभुजादि गण का बोध :** विद्यार्थियों को मूलविभुजादिभ्यः कः सूत्र के नियमों और इस गण में आने वाले शब्दों की सिद्धि को समझाना।
3. **विशिष्ट पद-निर्माण :** विद्यार्थियों को कुम्भकारः, मूलविभुजः, महीध्रः जैसे व्यावहारिक और साहित्यिक शब्दों के बनने के नियम सिखाना।

अण्- कर्ममात्र (निर्वर्त्य, विकार्य, प्राप्य) के उपपद होने पर धातु से अण् हा. `ता है[85]। अण् (अ) णित् है अतः इसके परे रहते धातु के अन्त्य अच् को वृद्धि होती है, उपधा 'अ' को वृद्धि तथा उपधा-इक् को गुण होता है। कुम्भं करोति इति कुम्भकारः कुम्हार। नगरकार। स्वर्णकार। काण्डलाव। काण्डानि लुनातीति काण्डलावः। शरलाव। शरान् लुनातीति शरलावः। अन्त्य अच् को वृद्धि। आवादेश। वेदम् अधीत इति वेदाध्यायः वेदपाठी। गोमधुपर्काहो वेदाध्यायः (आप० ६० २।८।५)। पूर्वयोर्वर्णयोर्वेदाध्यायं हत्वा (आप० घ० १।२४।५)। कुम्भकार आदि सब उपपद-समास हैं। अलौकिक विग्रह इस प्रकार होगा-कुम्भ ङस् कृ अण्। कृद्योग के कारण कुम्भ से षष्ठी 'अस्' हुआ, द्वितीया 'अम्' नहीं। सुप् प्रत्यय के आने से पहले ही उपपद का कृदन्त के साथ समास हो जाता है[86]। चर्चापाठः। चर्चा पठतीति। उपधा 'अ' को वृद्धि। ज्ञातिप्रायम् अन्नम्-ज्ञातीन् बन्धून् प्रति गच्छतीति। प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत् (मनु० ३।२६४)। कर्त्रभिप्रायं क्रियाफलम् -कर्तारमभिप्रतीति, जो कर्ता को मिलता है। कर्णम्=अरित्रं धारयतीति कर्णधारः। नाविक। कर्ण नाम चप्पू का है। सूत्रं धारयतीति सूत्रधारः।

कं शिरः पालयतीति कपालम् =खोपड़ी। पात्र-खण्ड में इसका उपचार से प्रयोग होता है। आखून् हन्तीति आखुघातः, चूहे मारने वाला। कं शिरः पाटयति दारयति प्रविशत इति कपाटम्=किवाड़। प्रवेश करते हुए के सिर को फोड़ देता है। इसलिए इसे 'कपाट' कहते हैं। पाणिग्राहः=पाणिं गृह्णातीति, परिणेता, वर। उदकं हरतीति उदहारः, मशकी। यहाँ उदक को 'उद' आदेश विकल्प से होता है। पक्ष में उदकहार रूप भी रहेगा। पारम् आवृणोतीति पारावारः =समुद्र (जिसका पार छिपा रहता है)। यहाँ ग्राह पूर्वक वृ (ञ्) ढाँपना से अण् हुआ है। स्थूललक्षः =बहुदेयदर्शी। (मिताक्षरा)। स्थूलं लक्षयतीति। यहाँ उपधा में क् होने से वृद्धि का प्रसङ्ग ही नहीं। शस्त्राणि मार्ष्टीति शस्त्रमार्जः, शस्त्रों को साफ करने वाला। यहां मृज् से अण् हुआ है। गुण के प्रसङ्ग में मृज् को वृद्धि होती है। शस्त्राण्या जीवति शस्त्राजीवः, आयुधीय, सैनिक, सिपाही, फौजी। श्रृङ्गं प्राधान्यमियर्तीति श्रृङ्गारः। अष्ट रसों में मुख्य रस। यहाँ श्रृङ्ग का अर्थ प्रधानता, मुख्यता है। 'ऋ' से अण् हुआ है। रङ्गम् अवतरतीति रङ्गावतारः नटः। यहां रङ्ग =रंगस्थल, रंगमंच। अवपूर्वक तृ से अण् हुआ है। ओदनं पचतीति ओदनपाचः। अग्निम् इन्धे अग्निमिन्धः, अग्नि जलाने वाला। भ्राष्ट्रम् इन्धे = भ्राष्ट्रमिन्धः = भाट झोंकने वाला। इन दोनों प्रयोगों में अग्नि तथा भ्राष्ट्र को मुम् (म्) आगम भी होता है[87]। अश्वान् वारयतीति अश्ववारः=घुड़सवार। अश्वान् नयतीति अश्वनायः, घोड़ों को हाँकता है। इसी प्रकार गां नयतीति गोनायः (छां० उ० ६।८।३)। सार्थं वहतीति सार्थवाहः, काफिले का अगुआ[88]। रूपं तर्कयत इमि रूपतर्कः, जवहरी। वृषान् मूषकान् दशतीति वृषदंशः, बिडाल, बिल्ला। उपधा में न् होने से वृद्धि नहीं हुई। नॄन् शंसतीति नृशंसः = क्रूर। धातुओं के अनेकार्थ होने से यहाँ शंस् हिंसार्थक है।, समां स्तृण्वन्ति सभास्तारः सभासदः। स्तृञ् आच्छादने। क्रियार्था क्रिया उपपद होने पर धातुमात्र से भविष्यत् अर्थ में अण् होता है जब कर्म उपपद हो[89]-काण्डलावो याति = काण्डानि लविष्यामीति याति। यहाँ क्रियार्था क्रिया 'याति' = जाता है, है। धातु लू से अण् हुआ है। काण्ड कर्म उपपद है। लवन (= काटना) क्रिया होने वाली है अतः भविष्यत्कालिका है। इसी प्रकार यज्ञकारो गमिष्यामि, यहाँ कृ से अण् हुआ। यज्ञं करिष्यतीति यज्ञकारः। नास्तमिते समिद्धारो गच्छेत् (आप० घ० १।४।१५)। सूर्यास्त होने पर समिधा लेने के लिये न जायें। यहाँ समिध कर्म उपपद होने पर हृ से अण् हुआ। तत्रैनां प्रेषयिष्यामि सुराहारीं तवान्तिकम् (भा० विराट० १५।५)। सुरां हारयिष्यतीति सुराहारी। अण् होने से स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप् हुआ।

---

85 कर्मण्यण् (३।२।१)।

86 गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः।

87 भ्रष्ट्राग्न्योरिन्धे मुम् वक्तव्यः।

88 ग्रामं गच्छति, आदित्यं पश्यति, हिमवन्तं श्रृणोति - इत्यादि में अण् नहीं होता, व्यवहार न होने से (अनभिधानात्)। गङ्गाधर, भूधर, जलधर, पयोधर आदि में कर्म की अविवक्षा करके शेषषष्ठयन्त का पचाद्यजन्त 'धर' के साथ षष्ठी तत्पुरुष होने से कुछ भी अनुपपन्न नहीं।

89 अण् कर्मणि च (३।३।१२)।

शील्, कम्, भक्ष्, आ-चर् से कर्म उपपद होने पर ण प्रत्यय होता[90] है- मांसशील:। मांसशीला स्त्री। मांसं शीलयतीति, मांस भक्षण जिसका शील है। पुत्रकाम:। पुत्रकामा स्त्री। पुत्रं कामयत इति। अब्भक्ष:। अप एव भक्षयति, जो जल का ही सेवन करता है। वायुभक्ष:, जो वायु का ही भक्षण करता है। कल्याणाचार:। कल्याणाचारा स्त्री। कल्याणमा चरतीति, जो शुभ आचरण करता है।

ईक्ष् तथा क्षम् से भी वार्तिकानुसार **ण** होता है[91]- सुखं प्रतीक्षते इति सुखप्रतीक्ष:। सुखप्रतीक्षा स्त्री। बहु क्षमत इति बहुक्षम: पुरुष:। बहुक्षमा स्त्री। मुखप्रेक्ष: = मुखं प्रेक्षत इति। मुख की ओर देखने वाला। यस्या मम मुखप्रेक्षा यूयमिन्द्रसमा: सदा (भा० विराट० २०।१६)।

अण्- ह्वे, वेञ्, माङ्- इन ह्वे, वेञ् से जो उपदेशावस्था में ही आकारान्त बन जाती हैं तथा आकारान्त माङ् से कर्म उपपद होने पर अण् होता है वक्ष्यमाण 'क' नहीं[92]। सो यह **क** का अपवाद है। स्वर्गम् आह्वयति = स्वर्गाह्वाय:, जो स्वर्ग को बुलाता है। युक् आगम हुआ। तन्तून् वयतीति तन्तुवाय:, जुलाहा। तुन्नं सच्छिद्रं वयतीति तुन्नवाय:=सौचिक, दर्जी। अक्षरार्थ है- जो सच्छिद्र वस्त्र को धागों से बुनता है। प्राचीन काल में वस्त्र युगल (चादर तथा शाटी) पहनने से दर्जी का इतना ही काम था। धान्यं मिमीते इति धान्यमाय:। जो धान को मापता है, तोला।

क- आकारान्त अनुपसर्गक धातुओं से कर्म उपपद होने पर क(अ)[93]- गां ददातीति - गोद:। कम्बलं ददातीति कम्बलद:। पार्ष्णिं त्रायत हुई पार्ष्णित्रम्। पार्ष्णि एड़ी को कहते हैं और सेना के पृष्ठ भाग को भी। अङ्गुलिं त्रायत इत्यङ्गुलित्रम्, अंगुलियों की रक्षा के लिये व्याध आदि में चर्म हाथ पर पहनते हैं उसे अङ्गुलित्र कहते हैं। अङ्गं शरीराङ्ग बाहुं वा शोधयति भूषयतीति यावत्, तद् अङ्गदम्=बाहुबन्द। यहाँ दैप् शोधने धातु है। एच् -अन्त धातु को उपदेशावस्था में ही 'आ' अन्तादेश हो जाता है। है। **बहु लाति गृह्णाति इति बहुलम्**। नारं नरसमूहं द्यति कलहेन इति नारद:। यहाँ दो अवखण्डने से 'क' हुआ है। अथर्ववेद में नारं जलं ददाति इस अर्थ में 'नारद' मेघ का वाचक है। यहाँ 'दा' से क हुआ है। स्तोकं कायतीति स्तोकक: =चातक:[94]। जो थोड़ा बोलता है। 'स्तोकक' चातक का नाम है। यहाँ 'कै' से क हुआ है। श्रियं लातीति श्रीलम्। तद्भिन्नम् श्लीलम्। कपिलकादि होने से लत्व। तस्मादप्यश्लीलं सुवाससं दिदृक्षन्ते (श० ब्रा० ३।१।२।१६)। अश्लील असुन्दर, भद्दा। अत: भद्दे को सुवस्त्राच्छादित देखना चाहते हैं। उपसर्ग होने पर आकारान्त से 'क' नहीं होगा, अण् होगा- गा: सन्ददातीति गोसन्दाय:। युक् आगम। क्रियार्था क्रिया उपपद होने पर भविष्यत् अर्थ में उपसर्ग न होने पर भी अण् ही होगा-गोदायो व्रजति, गा दास्यामीति व्रजति। यहाँ क प्रत्यय करके गोद शब्द का प्रयोग असाधु होगा[95]। जिन आकारान्त धातुओं को सम्प्रसारण होता है उनसे 'क' की प्राप्ति के विषय में 'ड' होता है[96]। ड (अ) होने से सम्प्रसारण रुक जाता है कित् न होने से ब्रह्म वेदं जिनाति ग्लपयति क्षीणं करोति इति ब्रह्मज्य:[97]। आ-ह्वे-आह्वयते इत्याह्व:। प्र-ह्वे- प्रह्वयत इति प्रह्व: (नम्र)। यहाँ सोपसर्गक ह्वे (ह्वा) से 'क' की प्राप्ति थी, पर धातु सम्प्रसारणी है, अत: क न होकर 'ड' हुआ, जिससे सम्प्रसारण न हुआ।

सुबन्त उपपद होने पर आकारान्त धातुओं से कर्ता में 'क'[98]- समे तिष्ठतीति समस्थ:। विषमे तिष्ठतीति विषमस्थ:, जो संकट में है। द्वाभ्यां मुखेन नासिकया च पिबतीति द्विप: (हाथी)। पादैर्मूलै: पिबतीति पादप:। आतपात् त्रायत इत्यातपत्रम् (छाता)। वर्षात् त्रायत इति वर्षत्रम् (छाता)। छायां ते दिनकरभा: प्रबाधमानं वर्षत्रं भरत करोतु मूर्ध्नि शीताम् (रा० २।१०७।१८)। हे भरत, सूर्यातप को रोकने वाला छाता तेरे सिर पर शीतल छाया करे। पुत् इति नरकस्याख्या, तत: पुतस्त्रायत इति पुत्र:। कूटवत् तिष्ठतीति कूटस्थ:। कूट = निश्चल। कूट राशि को भी कहते हैं। गृहे तिष्ठतीति गृहस्थ:। नद्यां स्नातीति नदीष्ण:, कुशल:। मुख्यार्थ नद्यवगाहनदक्ष, नदीस्नानकुशल था। तत: समाज्ञापयदाशु सर्वानानायिनस्तद्विचये नदीष्णान् (रघु०१६।७५)। औपचारिक अर्थ कुशलमात्र (किसी भी विषय में) हो गया- अतिनदीष्ण: कलासु (दश० कु०)। किं किं दधातीति किष्किन्धा, इस नाम की नगरी। पारस्कर आदि होने से

---

90 शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो ण: (वा०)।

91 ईक्षिक्षमिभ्यां चेति वक्तव्यम् (वा०)।

92 ह्वावामश्च (३।२।२)।

93 आतोऽनुपसर्गे क: (३।२।३)।

94 अथ शारङ्ग: स्तोककश्चातक: समा: (अमर)।

95 कर्मण्यण् से सामान्य विहित अण् है ही, फिर जो दोबारा अण् विधान किया उसके सामर्थ्य से अण् कर्मणि च ण्वुल् को भी बाधेगा और अण् के अपवाद-भूत 'क' को भी।

96 कविधौ सर्वत्र प्रसारणिभ्यो ड: (वा०)।

97 ज्या वयोहानौ यहाँ सकर्मक है, अर्थ जीर्ण करना है। वेद में तो यह सर्वत्र सकर्मक है।

98 सुपि स्थ: (३।२।४)।

सुट्। पृषोदरादि होने से किम् के म् का लोप।

स्था धातु से भाव में भी 'क' होता है। यह विधि **सुपि स्थः** सूत्र का योगविभाग सुपि (आतः), स्थश्च करके प्राप्त होती है। शलभानामुत्थानं शलभोत्थः- टिड्डी दल का उठना। आखूनामुत्थानम् आखूत्थः। चूहों का निकलना।

तुन्द और शोक कर्म उपपद होने पर क्रम से परिपूर्वक मृज् तथा अप-पूर्वक नुद् से 'क' होता है यदि प्रत्ययान्त का अर्थ अलस (सुस्त) और सुखद हो[99]- तुन्दं परिमार्ष्टि - तुन्दपरिमृजः। तुन्द नाम तोंद का है। तोंद को पोंछने वाला, अर्थात् सुस्त। शोकमप. नुदतीति शोकापनुदः, सुख देने वाला। यदि ऐसा अर्थ न हो तो तुन्दपरिमार्जः (अण्) और शोकापनोदः (अण्) रूप होंगे। शोकापनोदः का अर्थ होगा जो शोक को दूर करता है, शोक को दूर करके सुख पहुँचाता है, ऐसा नहीं। संसार असार है इत्यादि उपदेश द्वारा केवल शोक को दूर करता है वह शोकापनोद है।

मूलविभुजादि

वार्तिककार का कहना है कि कुछ मूलविभूज आदि शिष्ट प्रयोग हैं वे भी 'क' प्रत्यय से सिद्ध होते हैं[100]। उनकी सिद्धि सूत्र द्वारा दुर्लभ है- मूलानि विभुजति रथः = मूलविभुजः, जो रथ वृक्षों की जड़ों को तोड़ देता है यह **मूलविभुज** कहलाता है। कौ पृथिव्यां मोदत इति कुमुदम्। कं जलम् अलति भूषयतीति कमलम्। नखान् मुञ्चन्ति नखमुचानि धनूंषि- मुष्टेर्बहिर्भूतानि। दायम् आदत्ते इति दायादः=रिक्थहरः=अंशहरः, जो पिता आदि के धन का भागी बनता है। कलाम् आदत्ते कलादः, स्वर्णकार, जो सोने में से कला=अंश चुरा लेता है। महीं धरतीति महीध्रः=पर्वत। कुं पृथ्वीं धरतीति कुध्रः = पर्वत। गोघ्नः =गावो हन्यन्तेऽस्मै। कृतं हन्ति कृतघ्नः[101]। शत्रुं हन्ति शत्रुघ्नः। अपो बिभर्ति अब्भ्रम् = बादल। शिरसि रोहतीति शिरोरुहः, सिर का बाल। सरसि रोहतीति सरोरुहम्= कमल। लोकं पृणाति पूरयति = लोकम्पृणः। यहाँ लोक को मुम् (म्) आगम होता है। काकगुहास्तिलाः। काकान् गूहन्ते इति काकगुहाः, कौओं को छिपाने वाले। **यू स्त्याख्यौ नदी** (१।४।३)। स्त्रियमाचक्षाते इति स्त्याख्यौ। प्रियमाचष्टे इति प्रियाख्यः। यस्मिन् शत-सहस्त्राणि पुत्रे जाते गवां ददौ। ब्राह्मणेभ्यः प्रियाख्येभ्यः सोयमुञ्छेन जीवति (भाष्य)।। प्रियाख्य - शुभ वार्ता कहने वाला, अच्छी खबर देने वाला। सम्पतन्ति च मे शिष्याः प्रवृत्त्याख्याः पुरीमितः (रा० ६।१२४।१६)।

प्र पूर्वक दा तथा ज्ञा से 'क' प्रत्यय होता है कर्म उपपद होने पर[102] -सर्वं प्रददातीति सर्वप्रदः। पन्थानं प्रजानातीति पथिप्रज्ञः, मार्ग जानने वाला। पर गोसम्प्रदायः (गां सम्प्रददातीति) यहाँ क नहीं हुआ, अण् हुआ, कारण कि यहाँ केवल प्र उपसर्ग नहीं है, सम्प्र-दो उपसर्ग हैं।

सम्पूर्वक ख्याञ् (चक्षिङ् का आदेश) से 'क' प्रत्यय होता है कर्म उपपद होने पर[103]- गाः संचष्टे इति गोसंख्यः (गौओं को गिनता है)= गोप = ग्वाला।

टक्- गै (गा), तथा पा (पीना) से टक्[104]-साम गायतीति सामगः। सुरां पिबतीति सुरापः। स्त्री सुरापी। प्रत्यय के टित् होने से ङीप्। सीधुं पिबतीति सीधुपः। स्त्री सीधुपी। सीधु (पुं० नपुं०)= सुरा। 'पा' से यह प्रत्यय सुरा और सीधु के कर्मरूप उपपद होने पर ही होता है। अन्यत्र नहीं[105]। क्षीरपः। क्षीरपा ब्राह्मणी। 'क' प्रत्यय होने से टाप् हुआ। उपसर्ग होने पर सामसंगायः, साम गाने वाला यहाँ अण् हुआ है।

अच्- हृ से अच् हो जब उद्यमन =उत्क्षेपण, उठाना, फैंकना अर्थ न हो[106]। अंशं हरतीति अंशहरः =दायाद। रिक्थं हरतीति रिक्थहरः। जायदाद का भागी। उद्यमन अर्थ में तो भारं हरतीति भारहारः, अण् होगा। स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद् अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।

उद्यमन अर्थ में भी शक्ति, लाङ्गल, अङ्कुश, यष्टि, तोमर, घट, घटी, धनुष् उपपद होने पर ग्रह से अच्[107]- शक्तिग्रह।

---

99 तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः (३।२।५)।

100 कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम् (वा०)।

101 जो किये हुए (उपकार) को नहीं जानता उसे कृतघ्न कहते हैं।

102 प्रे दाज्ञः (३।२।६)।

103 समि ख्यः (३।२।७)।

104 गापोष्टक् (३।२।८)।

105 सुरासीध्वोः पिबतेरिति वक्तव्यम् (वा०)।

106 हरतेरनुद्यमनेऽच् (३।२।६)।

107 अच्प्रकरणे शक्तिलाङ्गलाङ्कुशयष्टितोमरघटघटीधनुःषु ग्रहेरुपसङ्ख्यानम् (वा०)। सूत्रे च धार्यर्थे (वा०)।

शक्तिं गृह्णातीति शक्तिग्रहः। शक्ति = भाला। लाङ्गलग्रह। अङ्कुशग्रह। यष्टिग्रह। तोमरग्रह। घटग्रह। घटीग्रह। धनुर्ग्रह। सूत्र उपपद होने पर धारि धातु के अर्थ में ग्रह् से अच्- सूत्रं गृह्णाति धारयति इति सूत्रग्रहः। धारण अर्थ न हो तो अण् होकर सूत्रग्राह प्रयोग होगा।

वय की प्रतीति होने पर हृ से अच्[108]-कवचहर। कवचं हरतीति कवचहरः क्षत्रियकुमारः, कवच पहनने योग्य शरीरावस्था को प्राप्त हुआ क्षत्रियकुमार। काल-कृत जो शरीर की यौवन आदि अवस्था होती है उसे 'वय' कहते हैं। अस्थिहरः श्वा।

आङ्पूर्वक हृ से अच्, जब धातुवाच्य क्रिया को कर्ता तच्छील होकर= स्वभाव से, करता है[109]- पुष्पाण्याहरतीत्येवंशीलः = पुष्पाहरः, जिसकी पुष्प लाने (कुसुमावचय) में स्वाभाविकी प्रवृत्ति है। ताच्छील्य न हो तो अण् निर्बाध होगा - भारम् आहरतीति भाराहारः। समिध आहरतीति समिदाहारः उदकमाहरतीति उदाहारः। अर्ह् से अच्[110]- पूजामर्हतीति पूजार्हा ब्राह्मणी। मधुपर्कमर्हतीति मधुपर्कार्ह आचार्यः। अण् का अपवाद है। अण् होने स्त्रीत्वविवक्षा में ङीप् हो जाता है।

स्तम्ब, कर्ण- उपपद होने पर क्रम से रम् व जप् से अच्[111]- स्तम्बे गुल्मे रमत इति स्तम्बेरमः= हाथी। स्तम्ब (पुं०) झाड़ी। कर्णे जपतीति कर्णेजपः = सूचक, पिशुन, चुगलखोर। इन प्रयोगों में सप्तमी का अलुक् रहता है। तत्पुरुष समास में कृदन्त उत्तरपद परे होने पर पूर्व सप्तमी के लुक् नहीं होता, कहीं यथाप्राप्त होता भी है।

अधिकरण उपपद होने पर शीङ् से अच्[112]- खे शेते इति खशयः। खुली जगह = अनावृत आकाश में सोने वाला। गर्ते शेत इति गर्तशयः। गर्त =गड्ढा।

पार्श्व आदि तृतीयान्त उपपद होने पर भी[113]- पार्श्वाभ्यां शेत इति पार्श्वशयः, जो दक्षिण वा वाम पार्श्व से सोता है। उदरेण शेते उदरशयः= पेट के बल सोता है। पृष्ठेन शेते पृष्ठशयः। जो पीठ के बल सोता है।

कर्तृ वाचक उत्तान आदि जब उपपद हो तो शीङ् से अच्[114]- उत्तानः सन् शेते उत्तानशयः शिशुः। ऊपर को मुँह किए हुए सोता है। अवमूर्धः सन् शेत इत्यवमूर्धशयः, जो औंधे मुंह सोता है। उत्तानशया देवा अवमूर्धशया मनुष्याः।

ड- सप्तम्यन्त गिरि उपपद होने पर शीङ् से ड[115]। यह ड प्रत्यय वेद में ही देखा जाता है-गिरौ शेत इति गिरिशः। प्रत्यय को डित् करने का यही एक प्रयोजन हो सकता है कि भसंज्ञा न होने पर भी अङ्ग की 'टि' का लोप होता है- गिरिश में शी के ई का लोप हुआ है। वेद से अन्यत्र अच् प्रत्यय होकर गिरिशय ऐसा रूप होना चाहिए। लोक में गिरिश शब्द काव्य-नाटकों में मिलता है- गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी (कुमार० १।६०)। वहाँ गिरिर् अस्त्यस्य इति गिरिशः इस प्रकार मत्वर्थीय श प्रत्यय से व्युत्पत्ति करनी चाहिए।

ट- अधिकरण उपपद होने पर चर् से ट(अ) प्रत्यय होता है[116]- कुरुषु चरतीति कुरुचरः। मद्रेषु चरतीति मद्रचरः। टित् होने से स्त्रीलिङ्ग में कुरुचरी, मद्रचरी ऐसे ङीबन्त रूप बनेंगे।

भिक्षा (कर्म), सेना (कर्म) तथा आदाय (ल्यबन्त) के उपपद होने पर चर् से[117]- भिक्षां चरतीति भिक्षाचरः। चरन् भिक्षामर्जयतीत्यर्थः। सेनां चरति सेनाचरः। आदायचरः, लेकर चलता है।

पुरस्, अग्रतः, अग्रे- उपपद होने पर सृ से[118]- पुरः सरतीति पुरःसरः, जो आगे चलता है, अगुआ। अग्रतःसरः। अग्रेसरः। स्त्रीलिङ्ग में पुरःसरी इत्यादि। सूत्र में अग्रे सप्तम्यन्त पढ़ा है, अतः अग्रसर अनुपपन्न होगा।

---

108 वयसि च (३।२।१०)।

109 आङि ताच्छील्ये (३।२।११)।

110 अर्हः (३।२।१२)।

111 स्तम्बकर्णयो रमिजपोः (३।२।१३)।

112 अधिकरणे शेतेः (३।२।१५)।

113 पार्श्वादिषूपसङ्ख्यानम् (वा०)।

114 उत्तानादिषु कर्तृषु (वा०)।

115 गिरौ डश्छन्दसि (वा०)।

116 चरेष्टः (३।२।१६)।

117 भिक्षासेनादायेषु च (३।२।१७)।

118 पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः (३।२।१८)।

'पूर्व' जब कर्तृ वाचक उपपद हो तो सृ से[119]– पूर्वः सन् सरतीति पूर्वसरः पुरःसरः, अगुआ। पूर्वं देशं सरतीति पूर्वसारः। यहाँ पूर्व कर्मवाची उपपद है, अतः अण् हुआ।

हेतु, ताच्छील्य (= तत्स्वभावता), आनुलोम्य (अनुकूलता) के द्योत्य होने पर कृ से[120]– हेतु – शोकं करोतीति शोककरी कन्या, कन्या जो शोक का हेतु है। यशस्करी विद्या। कुलंकरं धनम्, धन कुलीनता का हेतु है। ताच्छील्य – श्राद्धकरः सुतः। अर्थकरो वणिक्। आनुलोम्य– वचनकरो भृत्यः। आज्ञा–पालन करने से अनुकूल नौकर।

स्मरणीय बिंदु –

1. **गुण/वृद्धि का निषेधः** क प्रत्यय कित् (जिसमें क की इत्संज्ञा हुई हो) होता है, इसलिए व्याकरण के नियम (क्ङिति च) से धातु के स्वर को गुण या वृद्धि नहीं होती (जैसेः भुज + क = भुज, यहाँ भुज को भोज नहीं होगा)।
2. **स्वर में वृद्धि (अण् प्रत्यय) :** अण् जैसे प्रत्ययों में ण की इत्संज्ञा होने के कारण धातु के पहले स्वर को वृद्धि (जैसे– अ को आ, इ को ऐ, उ को औ) हो जाती है (जैसे– कृ का कार बनना)।
3. **समास का नियम :** सोमपद कृत् (सोपपद कृत्) प्रत्ययों से बने शब्द नित्य रूप से उपपद तत्पुरुष समास के अंतर्गत आते हैं।

शब्दावली –

1. उपपदः जब किसी धातु से प्रत्यय करते समय उसके आगे कोई दूसरा शब्द (जैसे संज्ञा या अव्यय) अनिवार्य रूप से जुड़ा हो, तो उस आगे जुड़े शब्द को उपपद कहते हैं (जैसेः मही + धर = महीधर, यहाँ मही उपपद है)।
2. सोमपद कृत् (सोपपद कृत्): उपपद के साथ होने वाले कृत् प्रत्ययों को सोपपद कृत् कहा जाता है। ये प्रत्यय अकेले धातु से कभी नहीं लगते (जैसे– कुम्भकारः)।
3. मूलविभुजादि गण : यह संस्कृत व्याकरण का एक विशिष्ट शब्दों का समूह (गण) है, जिसमें आने वाली धातुओं से क प्रत्यय लगाकर कर्ता (काम करने वाले) के अर्थ में पद बनाए जाते हैं।
4. क प्रत्यय : इस प्रत्यय में से क का अनुबन्ध लोप (हटना) होकर केवल अ शेष बचता है। इसकी विशेषता यह है कि इसके परे रहते धातु को गुण या वृद्धि नहीं होती।
5. अण् प्रत्यय : सोपपद प्रकरण का एक अन्य मुख्य प्रत्यय। इसमें ण की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है और केवल अ शेष बचता है। यह धातु के आदि–स्वर को वृद्धि करता है।

15 अंक के प्रश्न–

प्रश्न 1. सोमपद कृत् (सोपपद कृत्) प्रत्यय किसे कहते हैं? इसके नियमों को बताते हुए सामान्य कृत् प्रत्यय और सोपपद प्रत्यय के अंतर को उदाहरण सहित विस्तार से समझाइए।

प्रश्न 2. मूलविभुजादिभ्यः कः सूत्र की सोदाहरण व्याख्या कीजिए और मूलविभुजादि गण के अंतर्गत आने वाले किन्हीं दो पदों की रूप–सिद्धि (व्याकरण नियम) विस्तार से समझाइए।

5 अंक के प्रश्न –

प्रश्न 1. कर्मण्यण् (३।२।१) सूत्र क्या कार्य करता है? सोदाहरण लिखिए।

प्रश्न 2. क प्रत्यय में से क्या शेष बचता है और इसकी क्या व्याकरणिक विशेषता है?

प्रश्न 3. मूलविभुजः और कुम्भकारः पदों का समास–विग्रह और प्रकृति–प्रत्यय विभाग कीजिए।

प्रश्न 4. क प्रत्यय लगने पर 'भुज' धातु के उ को गुण (ओ) क्यों नहीं होता? सूत्र सहित लिखिए।

प्रश्न 5. निम्नलिखित शब्दों की व्युत्पत्ति (बनाने का नियम) स्पष्ट कीजिए:

(क) महीध्रः (ख) गुहाशयः।

बहुविकल्पीय प्रश्न –

1. मूलविभुजादिभ्यः कः सूत्र से कौन सा प्रत्यय होता है?

(क) यत्

(ख) क

(ग) अण्

(घ) घञ्

119 पूर्वे कर्तरि (६।२।१६)।

120 कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु (३।२।२०)।

2. क प्रत्यय में से अनुबन्ध लोप होने पर क्या शेष बचता है?
(क) क
(ख) य
(ग) अ
(घ) अम्
3. सोमपद कृत् (सोपपद कृत्) प्रत्ययों से बने शब्दों में मुख्य रूप से कौन सा समास होता है?
(क) बहुव्रीहि समास
(ख) उपपद तत्पुरुष समास
(ग) द्वंद्व समास
(घ) अव्ययीभाव समास
4. कुम्भकारः पद में कौन सा प्रत्यय लगा है?
(क) तव्यत्
(ख) अनीयर्
(ग) अण्
(घ) क
5. क प्रत्यय के कित् होने के कारण किसका निषेध (रुकना) होता है?
(क) इत्संज्ञा का
(ख) सुँ-आगम का
(ग) गुण और वृद्धि कार्य का
(घ) सम्प्रसारण का

खण्ड- 2 निष्ठा, शतृ-शानच्, तुमुन् प्रत्ययान्त

इकाई-2.1 निष्ठा प्रत्यय तथा रूप

उद्देश्य-

1. छात्रों को निष्ठा संज्ञक प्रत्ययों (क्त और क्तवतु) के नियम, उनके अर्थ और उनके भेदों से गहराई से परिचित कराना।
2. धातुओं के साथ निष्ठा प्रत्यय जुड़ने पर होने वाले विशेष परिवर्तनों (जैसे- सम्प्रसारण, इट्-आगम का निषेध और तकार को नकार होना) के पाणिनीय सूत्रों का ज्ञान कराना।
3. निष्ठा प्रत्ययान्त शब्दों का वाच्य (कर्मवाच्य, भाववाच्य और कर्तृवाच्य) के अनुसार वाक्यों में शुद्ध और सटीक प्रयोग करने की क्षमता विकसित करना।

इस शास्त्र में क्त (त), क्तवतु (तवत्) प्रत्ययों की निष्ठा संज्ञा है।[121] निष्ठा परिसमाप्ति का नाम है। परिसमाप्ति के वाचक प्रत्ययों को भी निष्ठा कह दिया है। निष्ठान्त शब्द सम्पूर्ण हुई हुई क्रिया को कहता है। क्त, क्तवतु आर्धधातुक प्रत्यय हैं। कित् होने से गुण वृद्धि का निषेध करते हैं। वलादि आर्धधातुक होने से इन्हें इट्-आगम होता है, अपवाद-विषय को छोड़कर। प्रायः ये धात्वर्थ के भूतकालिक होने पर धातु से परे प्रयुक्त होते हैं।[122] 'क्त' प्रायः भाव-कर्म-वाचक है[123] और 'क्तवतु' नित्य ही कर्तृवाचक है। क्तान्त तथा क्तवत्वन्त शब्दों की रूप-रचना में कुछ भी भेद नहीं, केवल क्तवत्वन्त रूपों में 'वत्' मात्र अधिक है।

निष्ठाप्रत्यय-सम्बन्धी विशेष कार्य

निष्ठा-नत्व

भाव व कर्म से अन्यत्र निष्ठा प्रत्यय परे रहते 'क्षि' (भ्वा०-दिवा०) को दीर्घ होता है[124] और तब निष्ठा-त को न हो जाता है[125]- क्षीणो देवदत्तः, देवदत्त क्षय (दुर्बलता) को प्राप्त हो चुका है। यहाँ 'क्त' कर्ता को कहता है। भावकर्म में तो दीर्घ न होगा और दीर्घाभाव में निष्ठा-नत्व (निष्ठा त को न) भी नहीं होगा-क्षितं कामेन। यहाँ निष्ठा-प्रत्यय भाव में है। अतः अनुक्त कर्ता 'काम' में तृतीया हुई। क्षितः कामो मया। यहाँ निष्ठा-प्रत्यय कर्म में है। अतः कर्म (काम) के उक्त होने से उसमें प्रथमा हुई। क्षि निश्चित ही अकर्मक है अतः इस उदाहरण में ण्यर्थ को अन्तर्भावित करके प्रयोग किया गया है। अधिकरण अर्थ में भी निष्ठा-नत्व होगा - प्रक्षीणम् इदं देवदत्तस्य, देवदत्त के क्षय का यह स्थान है अत्र देवदत्तेन क्षितम्।

आक्रोश (शाप) तथा दैन्य (अनुकम्पा) की प्रतीति होने पर क्षि को विकल्प से दीर्घ होता है[126] और जब दीर्घ होता है तब निष्ठा-नत्व भी होता है-क्षितायुरेधि। क्षीणायुरेधि, तेरी आयु क्षीण हो (शाप)। क्षीणस्तपस्वी। क्षितस्तपस्वी। बेचारा क्षीण हो गया है (दैन्य, शोक)। रकारान्त दकारान्त धातु से परे निष्ठा-त को न, तथा पूर्ववर्ती धातु के द् को भी न्[127] - आस्तृ - आस्तीर्ण। विस्तृ - विस्तीर्ण। जॄ -जीर्ण। वि कॄ-विकीर्ण। नि गॄ-निगीर्ण (निगला हुआ)। वि-शॄ विशीर्ण।

धातु को इर् अन्तादेश तथा उपधा-दीर्घ[128]। अव-गुर्-अवगूर्ण (उपधा-दीर्घ)। त्वर्-तूर्ण (उपधा और व् को (ऊठ्)[129]। ज्वर्-जूर्ण = ज्वरित। दकारान्त - खिद-खिन्न। क्षुद्-क्षुण्ण। चूर्ण किया हुआ। भिद्-भिन्न। पर शकल (टुकड़ा) अर्थ में भित्त (नपुं०)। छिद्-छिन्न। स्कन्द्-स्कन्न। विस्कन्द् - विस्कन्न। यहाँ षत्व नहीं होता[130]। परिस्कन्द्-परिस्कन्न। परिष्कण्ण। यहाँ षत्व विकल्प से होता

---

121 क्त-क्तवतू निष्ठा (१।१।२६)।

122 निष्ठा (३।२।१०२)।

123 तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः (३।४।७०)।

124 निष्ठायामण्यदर्थे (६।४।६०)।

125 क्षियो दीर्घात् (८।२।४६)।

126 वाऽऽक्रोश-दैन्ययोः (६।४।६१)।

127 रदाभ्यां निष्ठा-तो नः पूर्वस्य च दः (८।२।४२)।

128 ऋत इद् धातोः (७।१।१००)। हलि च (८।२।७७)।

129 ज्वर-त्वर-स्रिव्यवि-मवामुपधायाश्च (६।४।२०)।

130 वेः स्कन्देरनिष्ठायाम् (८।३।७३)।

है।[131] स्यन्द् - स्यन्न। अभिपूर्वक -अभिष्यण्ण[132]। अभिष्यण्णाननगुदाः। (चरक सूत्र १३।५४)। विद् (दिवा०) - विन्न। निर्पूर्वक - निर्विण्ण[133]। यहाँ वार्तिक के अनुसार निष्ठा न् को ण् होकर पूर्व न् को भी ष्टुत्व-विधि से णत्व हो जाता है। निर्विण्ण = असन्तुष्ट, विरक्त, निराश। लाभार्थक तुदा० विद्- विन्न। पर धन और प्रसिद्ध अर्थ में वित्त[134]। विद् रुधादि - विन्न। वित्त। नुद्[135] - नुन्न। नुत्त। उन्द् गीला करना रुधा० - उन्न। उन्त। त्रै (त्रा) - त्राण। त्रात। घ्रा-घ्राण। घ्रात। ह्री- ह्रीण। ह्रीत। ह्री से निष्ठा-नत्व प्राप्त ही न था। विशेष रूप से विकल्प विधान किया है।

संयोगादि आकारान्त यण् वाली धातु से निष्ठा-त को न होता है[136]- निद्रा - निद्राण, सुप्त। प्रद्रा- प्रद्राण, दरिद्र, क्षीण। श्रा- श्राण, पका हुआ। स्त्यै - स्त्यान। संपूर्वक - संस्त्यान। आङ्श्यै- आश्यान, इकट्ठा हुआ हुआ, जमा हुआ हुआ। आश्यानः कर्दमः, जमा हुआ (= सूखा हुआ) कीचड़। प्रप्याय् - प्रप्यान। प्रप्यानश्चन्द्रमाः, जो चाँद बढ़ रहा है। यहाँ 'प्र' शब्द आदि कर्म (प्रारम्भ) को कहता है। न भाभूपूकमिगमिप्यायिवेपाम् (८।४।३४) से यहाँ णत्व का निषेध हुआ है। ग्लै-ग्लान। म्लै-म्लान। ज्या-जीन (वृद्ध)। सम्प्रसारण[137]। दीर्घ[138]।

ध्यै, ख्या, पृ, मुर्छा, मद्- इनकी निष्ठा के 'त' को 'न' नहीं होता[139] - ध्यात। पूर्त। निपूर्वक-निपूर्त। निप. ूर्ताः पिण्डाः, पितरों को पिण्ड भरे गए। मुर्छा-मुर्त। यहाँ र् से परे छ् का लोप भी होता है[140]। रकारान्त की उपधा को दीर्घ। मुर्छा में 'आ' अनुबन्ध है। मद-मत्त। यह पूर्व सूत्र से अतिप्रसक्त निष्ठा-नत्व का निषेध है।

क्षीर विषय में तथा हविस् विषय में 'श्रा' पकना (ण्यन्त तथा अण्यन्त) का क्तान्त 'शृत' होगा।[141] 'श्रा' को शृ होने से निष्ठा-नत्व की प्राप्ति ही नहीं रहती। शृतं क्षीरम्। शृतं हविः। पर श्राणा यवागूः। 'श्रा' अकर्मक है। शृतं क्षीरं स्वयमेव। शृतं क्षीरं देवदत्तेन। पर श्रपिता यवागूर्देवदत्तेन, देवदत्त से खिचड़ी पकाई गई।

पूञ् जब धातुओं के नानार्थक होने से विनाशार्थक होता है तो इस से परे निष्ठा-त को न होता है[142]- पूना यवाः, विनष्टा विकृता इत्यर्थः। अन्यत्र पूतं धान्यम्, साफ किया धान।

सि (बाँधना) से निष्ठा-त को 'न' होता है जब 'ग्रास' कर्मकर्ता हो[143]-सिनो ग्रासः स्वयमेव, अपने-आप ग्रास बँध गया। शुद्ध कर्म में तो 'नत्व' नहीं होगा-सितो ग्रासो देवदत्तेन, देवदत्त ने ग्रास बाँधा। ग्रास विषय से अन्यत्र भी नत्व नहीं होगा-सिता पाशेन सूकरी, सूअरी पाश से बाँधी गई।

दु, गु-को दीर्घ भी[144]-आदून (आङ्पूर्वक)। आदूनः = आगतः। गु-गून। गु पुरीषोत्सर्गे।

क्र्यादि गण में पठित लू आदि २१ धातुओं के निष्ठा-त को 'न'[145]- लू-लून। धूञ्-धून। पृ-पूर्ण (ऋ को उर्)। री-रीण। ली-लीन। ऋ-ईर्ण। उद्पूर्वक-उदीर्ण। सम्पूर्वक-समीर्ण।

---

131 परेश्च (८।३।७४)।

132 अनु-वि-पर्य-अभि-निभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु (८।३।७२)।

133 निर्विण्णस्योपसंख्यानं कर्तव्यम् (वा०)।

134 वित्तो भोग-प्रत्यययोः (८।२।५८)।

135 नुद-विदोन्द-त्रा-घा-ह्रीभ्योऽन्यतरस्याम् (८।२।५६)।

136 संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः (८।२।४३)।

137 ग्रहि-ज्या० (६।१।१६)।

138 हलः (६।४।२)।

139 न ध्या-ख्या-पृ-मूर्छि-मदाम् (८।२।५७)।

140 राल्लोपः (६।४।२१)। उपधायां च (८।२।७८) से उपधा-भूत रेष वकार जो हल्-परक, उनकी उपधा इक् को दीर्घ।

141 शृतं पाके (६।४।२७) व्यवस्थित विभाषा। क्षीरहविषोर्नित्यं शृभावः, अन्यत्र न भवति।

142 पूञो विनाशे इति वक्तव्यम् (वा२)।

143 सिनोतेर्ग्रासकर्मकतृकस्येति वक्तव्यम् (वा०)।

144 दुग्वोर्दीर्घश्चेति वक्तव्यम् (वा०)

145 ल्वादिभ्यश्च (८।२।४४)।

जो धातुएँ धातुपाठ में ओदित् पढ़ी हैं उनके निष्ठान्त को 'न' होता है[146]– लस्ज् (ओ लस्ज्ी)–लग्न। यहाँ निष्ठा–न के असिद्ध होने से परे त (झल्) ही पड़ा है अतः धातु के 'ज' को कुत्व हो गया। कुत्व होने पर संयोग के आदि 'स' का लोप हो गया। लस्ज् तुदा० आत्मनेपदी, लज्जित होना। लज् भी साथ में पढ़ी है, वह भी ओदित् है। विज् (ओविजी)–उद्विग्न। प्रायः विज् उद्पूर्वक प्रयुक्त होता है, अकेला नहीं। वेग शब्द में विना उद् के भी प्रयुक्त हुआ है। प्याय् (ओप्यायी)–पीन। आपीन। आपीन = ऊधस् (लेवटी) का नाम है। यहाँ प्याय् को 'पी' आदेश भी होता है।[147] भुज् तुदा० (भुजो)–भुग्न। रुज् तुदा० (रुजो)–रुग्ण। हा (ओहाक्)–हीन। प्रपूर्वक–प्रहीण। व्रश्च् तुदा० (ओ व्रश्च)–वृक्ण (काटा हुआ)। यहाँ सम्प्रसारण भी हुआ ग्रहिज्या–सूत्र में पाठ होने से। षत्व–विधि के लिए निष्ठादेश (त को न) सिद्ध माना जाता है, अतः न के सिद्ध होने से व्रश्च् के 'च्' को ष् न हुआ, 'चोः कुः' से कुत्व हुआ। कुत्व विधि के लिए 'न' असिद्ध है।

दिवादिगण में षूङ् प्राणिप्रसवे इत्यादि धातुओं को ओदित् माना जाता है यद्यपि उनमें 'ओ' अनुबन्ध नहीं है उनसे भी निष्ठा–त को 'न' होता है–षूङ् (सू) सून० प्रसून। दूङ्–दून, दुःखी। दीङ्–दीन, क्षीण। डीङ्–डीन। सेट् होने पर भी इट् नहीं होता। धीङ्–धीन, धृत, धारण किया हुआ। मीङ्–मीन = मृत। रीङ्–रीण = स्रुत, बहा हुआ। लीङ्–लीन, लगा हुआ, श्लिष्ट

श्यैङ् (श्या) के निष्ठा–त को 'न' होता है स्पर्श विषय को छोड़कर[148]–शीनं घृतम् (जमा हुआ घी)। शीनं मेदः, जमी हुई चर्बी। स्पर्श में नत्व नही होगा–शीतं वर्तते। शीतो वायुः = शीतस्पर्शवान् वायुः। आङ्पूर्वक श्यैङ्–आश्यान। सम्पूर्वक श्यैङ्–संश्यानो वृश्चिकः, बिच्छू जो सिकुड़ गया है। यहाँ भी स्पर्शाभाव में निष्ठानत्व प्राप्त ही है। प्रतिपूर्वक श्यैङ्–प्रतिशीन, जिसे जुकाम (प्रतिश्याय) हुआ है।

अञ्च् धातु के निष्ठा–त को 'न' होता है यदि अपादान कारक में अन्वय न हो[149]–समक्नौ शकुनेः पादौ, पक्षी के पैर जुड़े हुए होते हैं पशुओं की तरह फटे हुए नहीं। तस्मात्पशवो न्यक्नाः (तै० ब्रा०)। न्यक्न = झुका हुआ। नि अञ्च्–झुकना, नीचे जाना। अपादान होने पर तो उदक्तमुदकं कूपात्, कुएँ से जल निकाला गया, यहाँ निष्ठा–नत्व नहीं हुआ। उदित् होने से क्त्वा में इड् विकल्प और निष्ठा में इण्निषेध। हाँ पूजा–अर्थ में इट् होगा[150] और अनुनासिक का लोप नहीं होगा[151]–अञ्चित् = पूजित।

दिव् से परे निष्ठा–त को 'न' होता है जब दिव् का अर्थ द्यूत (जुआ खेलना) न हो[152]– आ–दिव्–आद्यून = औदरिक, पेटू। परि–दिव–परिद्यून क्षीण (प्रक्रिया सर्वस्व)। यहाँ 'न' होने पर व् को ऊठ् (ऊ) हुआ है[153]। जुआ–अर्थ में दिव्–त = द्यूत। ऊठ् यहाँ भी हुआ है झल् (त्) परे होने से। सूत्र में विजिगीषा (जीतने की इच्छा) ऐसा पढ़ा है। अभिप्राय देवन क्रिया से है। जीतने की इच्छा से ही तो पासे आदि फेंके जाते हैं।

निर् पूर्वक 'वा' के निष्ठा–त को 'न' हो जाता है यदि वा धातु के अर्थ का विषय (आश्रय) वात (वायु) न हो[154]–निर्वाणोग्निः, आग बुझ गई है।

निर्वाणः प्रदीपः, दिया बुझ गया है। निर्वाणः प्रदीपो वातेन। यहाँ भी नत्व होता ही है कारण कि 'वात' यहाँ करण है। 'वा' धातु के अर्थ का अधिकरण नहीं। अधिकरण तो प्रदीप है। अपरिनिर्वाणो दिवसः (शाकुन्तल), दिन पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ है। निर्वाणो मुनिः, मुनि शान्त हो गया है, मुक्त हो गया है। यहाँ भी 'वात' वा–धात्वर्थ का अधिकरण नहीं। त्रिदशाः पृथिवी चैव निर्वाणमधिगच्छतु (रा० १।३६।१३)। यहाँ निर्वाण का अर्थ शान्ति, सुख है। निर्वाणो मुनिवह्न्यादौ निर्वातस्तु गतेऽनिले–अमर।

इडागम

निष्ठाप्रत्यय क्त, क्तवतु को जहाँ सामान्य शास्त्र से इट्–आगम का निषेध प्राप्त होता है वहाँ किन्हीं लक्ष्यों में विशेष शास्त्र से विधान किया जाता है। ऐसे इडागम को दर्शाना हमें अभिप्रेत है।

निरः कुषः (७।२।४६) से निर्पूर्वक उदात्त (सेट्) धातु कुष् को इट् विकल्प से विधान किया है। जिस धातु को कहीं

---

146 ओदितश्च (८।४५)।

147 प्यायः पी (६।१।२८)।

148 श्योऽस्पर्शे (८।२।४७)।

149 अञ्चोऽनपादाने (८।२।४८)।

150 अञ्चेः पूजायाम् (७।२।५३)।

151 नाञ्चेः पूजायाम् (६।४।३०)।

152 दिवोऽविजिगीषायाम् (८।२।४६)।

153 च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६।४।१६)।

154 निर्वाणोऽवाते (८।२।५०)।

भी इट् का विकल्प हो उससे निष्ठाप्रत्यय को इट् नहीं हुआ करता[155]। पर शास्त्र ने निर् पूर्वक कुष् से निष्ठाप्रत्यय को इट् विशेष विहित किया है[156]–निष्कुषित। बिना निर् के तो इण्निषेध का प्रसंग ही नहीं।

क्लिश्, क्लिशू से विकल्प से इडागम[157]–क्लिशित। क्लिष्ट। क्लिश सेट् है। क्लिशू से ऊदित् होने से विकल्प से इट् का विधान होने से निष्ठा में अत्यन्त निषेध प्राप्त था।

पूङ्–से। विकल्प से[158]। पूत। पवित। सोमोऽतिपूतः। सोमोऽतिपवितः। एकाच् उगन्त होसे से कित् प्रत्यय परे नित्यनिषेध प्राप्त था[159]।

वस् और क्षुध्[160]–से उषित। क्षुधित। ये दोनों धातुएँ अनुदात्त (अनिट्) हैं। इनसे यहाँ इट् का विशेष विधान कर दिया है।

वस निवासे भ्वा० का ग्रहण है। वस आच्छादने अदा० से तो उदात्त होने से इट् नित्यसिद्ध ही है।

पूजार्थक अञ्चु से परे निष्ठा को नित्य इट् होता है[161]। उदित् होने क्त्वा परे रहते विकल्प होने से निष्ठा में निषेध प्राप्त था। अञ्चित = पूजित। अञ्चिता अस्य गुरवः। गुरु इससे पूजित हैं। पूजन अर्थ से अन्यत्र इट् न होगा[162]–उदक्तमुदकं कूपात्।

विमोहन (आकुलीकरण) अर्थ में लुभ् से इट्[163]–विलुभिताः केशाः पर्याकुला मर्धजाः, बिखरे हुए बाल। विसुभितानि पदानि, अस्थिर पद (क्रम), चरणन्यास। क्त्वा में इड् विकल्प होने से निष्ठा में निषेध प्राप्त था। विमोहन अर्थ को छोड़कर अन्यत्र निषेध होगा–लुब्धो वृषलः शीतेन। लुब्धः = पीडितः। गार्ध्य (लालच) अर्थ में भी इट्–निषेध होकर 'लुब्ध' रूप ही होगा।

इडभाव (इट् का अभाव)

श्वि (जाना, बढ़ना) तथा ईदित् धातुओं को निष्ठा में इट् नहीं होता[164]। श्वि उदात्त है। ईदित् भी प्रायः उदात्त हैं। श्वि–शून, शूनवत्। उच्छून, उच्छूनवत्, सूजा हुआ (सम्प्रसारण[165])। ईदित्–दीपी–दीप्त। ओलस्जी–लग्न। ओविजी–विग्न। उपूर्वक–उद्विग्न। कृती–कृत्त। नृती–नृत्त। यती (यत्न करना)–यत्त। उपासांचक्रतुर्वीरौ यत्तौ परमधन्विनौ (रा० १।३०।६)। प्रपूर्वक–प्रयत्त। सम्पूर्वक–संयत्त = युध्यमान, संघर्ष को प्राप्त। जुषी – जुष्ट। प्रपूर्वक–प्रजुष्ट। विषयेषु प्रजुष्टानि (इन्द्रियाणि) यथा ज्ञानेन नित्यशः (मनु० २।९६)। प्रजुष्टानि = प्रीतिम. न्ति। गुरी–गूर्ण। अवपूर्वक–अवगूर्ण। पूरी–पूर्ण। ञिइन्धी–इद्ध। अनुनासिकलोप। ईशुचिर्–शुक्त, रसान्तर को प्राप्त, जो काल–परिवास से खट्टा हो गया है। चूरी (जलाना)–चूर्ण (भस्मीभूत)। ह्लादी–(प्रसन्न होना) ह्लन्न। प्रपूर्वक–प्रह्लन्न। दृभी (ग्रन्थन करना) दृब्ध। उच्छी (समाप्ति)–व्युष्ट (विपूर्वक) = समाप्त। ऊयी–ऊत। आङ्पूर्वक–ओत। प्रपूर्वक–प्रोत। प्रोता आपः कर्मण्याः, निरन्तर बहता हुआ जल यज्ञिय कर्म में साधु होता है। उन्दी–उन्न। (गीला)। क्नूयी–क्नूत (गीला)। 'य' का लोप[166]। डीङ् (दिवा०) यद्यपि ईदित् नहीं तो भी निष्ठा–नत्व के लिए ओदित् धातुओं के मध्य में पढ़े जाने से इट् होने से अनन्तर निष्ठा 'त' न मिलने से इट् का निषेध हो जाता है–डीन। उद्पूर्वक–उड्डीन।

जिस किसी धातु को कहीं विकल्प से इट् विधान किया है, उसे निष्ठा में इट् नहीं होता[167]। उदित् धातुओं को क्त्वा प्रत्यय परे विकल्प से इट् कहा है[168], सो इनसे निष्ठा में इट् नहीं होगा–शमु, दमु, तमु, क्रमु, क्लमु, वृतु, वृधु, शृधु, अञ्जु–इनसे क्रम से शान्त, दान्त, तान्त, क्रान्त, क्लान्त, तन–तत। वनु–वत। अनुनासिक लोप। उदित् होने पर भी धावु से इट् विकल्प से होता है–धौत (धोया हुआ)। धावित (दौड़ा)। पत् को सन्–प्रत्यय परे रहते इड् विकल्प कहा है, तो भी द्वितीया श्रितातीतपतित–(२।१।२४) इस समास

---

155 यस्य विभाषा (७।२।१५)।

156 इण्निष्ठायाम् (७।२।४७)।

157 क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः (७।२।५०)।

158 पूङश्च (७।२।१४)।

159 श्र्युकः किति (७।२।११)।

160 वसति–क्षुधोरिट् (७।२।५२)

161 अञ्चेः पूजायाम् (७।२।५३)

162 उदितो वा (७।२।५६)। यस्य विभाषा (७।२।१५)।

163 लुभो विमोहने (७७२।५४)।

164 श्वीदितो निष्ठायाम् (७।२।१४)।

165 वचि–स्वपि–यजादीनां किति (६।१।१५)।

166 लोपो व्योर्वलि (६।१।६६)।

167 यस्य विभाषा (७।१।१५)।

168 उदितो वा (७।२।५६)।

सूत्र में 'पतित' पढ़ा होने से निष्ठा में इट् होता ही है। वृत् आदि के वृत्त, वृद्ध, शृद्ध, अक्त निष्ठान्त रूप होंगे। अनुनासिकान्त शम् आदियों की उपधा को दीर्घ भी होता[169] है। ऊदित् धातुओं को वलादि आर्धधातुक प्रत्यय परे इट् का विकल्प कहा है[170] सो उनसे भी निष्ठा में इट् का निषेध होगा- गुहू-गूढ। व्रश्चू (छेदन करना)-वृक्ण। धूञ् को भी ऐसे ही विकल्प कहा है सो धूञ् से निष्ठा में इट् न होकर (वि) वृत रूप होगा। रधादि धातुओं को वलादि आर्धधातुक परे इड् विकल्प कहा है[171] सो इनसे निष्ठा में इट् न होगा- नश्-नष्ट। तृप्-तृप्त। दृप्-दृप्त। स्नुह-स्नुग्ध, स्नूढ। स्निह्-स्निग्ध, स्नीढ। मुह्, मुग्ध, मूढ। चृत्, छृद्, तृद्, नत्-इनसे सिज्भिन्न सादि आर्धधातुक परे इट् का विकल्प कहा है[172] सो निष्ठा में इडभाव रहेगा वृत्त, छण्ण, तृण्ण (काटा हुषा), नृत्त।

आदित् धातु से निष्ठा में इट् नहीं होता[173]-ञिमिदा-भिन्न। ञिक्ष्विदा-क्ष्विण्ण। ञिष्विदा-स्विन्न। सूत्र में जो 'च' पढ़ा है वह अनुक्त-समुच्चय (न कहे हुए धातुओं के संग्रह) के लिये है-आङ् श्वस्-आश्वस्त। विश्वस्त। वम्-वान्त। ज्वर्-जूर्ण।

भाव तथा आदिकर्म में यदि निष्ठा प्रत्यय हो तो आदित् धातुओं से विकल्प से इट् नहीं होता[174]-मिन्नमनेन (भाव में)। मेदितमनेन (भाव में)। प्रमिन्नः (=मेदितुमारब्धः)। प्रमेदितः (= मेदितुमारब्धः)।

सौनाग (सुनाग के शिष्य) शक् से कर्म में निष्ठा होने पर विकल्प से इट् करते हैं[175]- शकितो घटः कर्तुम्। शक्तो घटः कर्तुम्। घड़ा बनाया जा सकता है। वे ही अस् (फैंकना) से भाव में विकल्प से इट् चाहते हैं[176]-असितमनेन। अस्तमनेन।

१. क्षुब्ध, २. स्वान्त, ३. ध्वान्त, ४. लग्न, ५. क्लिष्ट, ६. विरिब्ध, ७. फाण्ट, ८. बाढ-ये क्षुभ, स्वन्, ध्वन्, लगे (लग्), म्लेच्छ, रेभृ (रेभ्), फण्, बाह्र (बाह्) धातुओं से क्रम से निष्ठा में निपातन किए हैं। यदि इनका क्रम से १. मन्थदण्ड, २. मन, ३. अन्धकार, ४. लगा हुआ, ५. अविस्पष्ट, ६. स्वर, ७. जो कषाय जल में डालकर ईषद् उष्ण करते ही विभक्त-रस होकर पेय हो जाता है, ८. भृश (बहुत) अर्थ हो।[177] अतः इन अर्थों से अन्यत्र क्षुब्धा गिरिनदी, क्षुब्धा सेना, क्षुब्धः समुद्रः, क्षुब्धं मनः- ये प्रयोग असाधु ही हैं।

ञि धृषा, शसु से निष्ठा में इट् नहीं होता यदि वियात, प्रगल्भ, निर्लज्ज, अविनीत, अशिष्ट अर्थ हो[178] - धृष्ट। विशस्त। आदित् होने से धृष् से तथा उदित् होने से शस् से इण्निषेध सिद्ध ही था। यहाँ नियम कर दिया है। इसी अर्थ में इट् का निषेध हो, अन्यत्र न हो-धर्षित। विशसित = हिंसित। विपूर्वक शस् का 'अंगों को काटते हुए मारना' अर्थ है।

दृह्, अथवा दृहि से 'दृढ' यह निष्ठान्त निपातन किया है जब स्थूल व बलवान् अर्थ हो।[179] दृह्, और दृहि दोनों उदात्त हैं। इडभाव का प्रसंग ही न था। यहाँ धातु के 'ह्' का लोप भी निपातन किया है और दृहि (दृन्ह्) के न् का लोप भी।

परिपूर्वक वृह्, अथवा वृहि से 'परिवृढ' यह निष्ठान्त निपातन किया है 'प्रभु' अर्थ में।[180] यहाँ भी 'ह्' का लोप निपातित हुआ है। अन्यत्र 'परिबृंहित' तथा 'परिबृंहित' रूप होगा।

कष् (हिंसायाम्) से निष्ठा में इट् नहीं होता यदि निष्ठान्त का अर्थ 'कृच्छ्र' और 'गहन' हो[181]- कष्टं व्याकरणम्। ततोपि कष्टतराणि सामानि, व्याकरण दुःखद, दुरवगम है, साम उससे भी दुःखद हैं। कृच्छ्र दुःख का नाम है। यहाँ दुःख के कारण को 'कृच्छ्र' कहा है। कष्टानि वनानि, गहनानि दुष्प्रवेशानि। इन अर्थों से अन्यत्र इट् का निषेध नहीं होगा- कषितं सुवणम्, सोने को कसौटी पर रगड़ा गया।

घुषिर् (भ्वा०) शब्द करना तथा घुषिर् (चुरा०) विशब्दन (शब्द से अभिप्राय प्रकट करना) से विशब्दन अर्थ से अन्यत्र

169 अनुनासिकस्य क्वि-झलोः (६।४।१५)।

170 स्वरति-सूति-सूयति-धूञ्-ऊदितो वा (७।२।४४)।

171 रधादिभ्यश्च (७।२।४५)

172 सेऽसिचि चृत-छृद-तृद-नृतः (७।२।५७)।

173 आदितश्च (७।२।१६)।

174 विभाषा भावादिकर्मणोः (७।२।१७)।

175 सौनागाः कर्मणि निष्ठायां शकेरिटमिच्छन्ति विकल्पेन।

176 अस्यतेर्भाव।

177 क्षुब्ध-स्वान्त-ध्वान्त-लग्न-म्लिष्ट-विरिब्ध-फाण्ट-बाढानि मन्थ-मन-स्तमः-सक्ताऽविस्पष्ट-स्वराऽनायास-भृशेषु (७।२।१८)।

178 धृषि-शसी वैयात्ये (७।२।१६)।

179 दृढः स्थूल-बलयोः (७।२।२०)।

180 प्रभौ परिवृढः (७।२।२१)।

181 कृच्छ्र-गहनयोः कषः (७।२।२२)।

इट् नहीं होता[182] –घुष्टा रज्जुः। घुष्टौ पादौ। बालमनोरमाकार घुष्टा का अर्थ उत्पादिता (बनाई गई, बटी गई) अथवा आयामिता (खेंची गई) ऐसा करते हैं। अन्य व्याख्याकार और कोषकार भी इस विषय में चुप हैं। विशब्दन अर्थ में 'अवघुषितं वाक्यमाह' यहाँ इट् हुआ है। भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव 'अवघुषितम्' का अर्थ 'अशास्त्रीय' करता है।

सम्, नि, वि-पूर्वक अर्द् (पीडा देना) से इट् नहीं होता[183] –समर्ण। न्यर्ण। व्यर्ण। सबका अर्थ 'सम्यक् पीडित' है। इन उपसर्गों के न होने पर 'अर्दित' ऐसा सेट् का रूप होगा। अर्द् उदात्त है।

अभिपूर्वक अर्द् से इट् नहीं होता जब निष्ठान्त का अर्थ अविर 'सन्निकृष्ट, समीपवर्ती) हो[184] – अभ्यर्ण। अभ्यर्णा सेना। अन्यत्र अभ्यर्दितो वृषलः शीतेन। अभ्यर्दित = पीडित।

ण्यन्त धातु वृत् से निष्ठा में इडभाव तथा णिलुक् निपातन किया है। अध्ययन विषय में[185] वृत्तं पारायणं देवदत्तेन। वृत्तम्=निर्वृत्तम्। यहाँ 'वर्तित' का प्रयोग नहीं करना होगा। अध्ययन-विषय से अन्यत्र कथंचिद् वर्तिता जीविका विषमस्थेनानेन-यहाँ 'वर्तित कहना ही ठीक होगा।

दान्त, शान्त, पूर्ण, दस्त, स्पष्ट, छन्न, ज्ञप्त-इनमें विकल्प से इट् का अभाव निपातन किया है।[186] ये दम्, शम्, पूरी, दस्, स्पश्, छद्, ज्ञप्-इन ण्यन्त धातुओं के निष्ठान्त रूप हैं। इन सबसे णिलुक् भी निपातन किया है। पक्ष में इट् होने से सेट् निष्ठा परे णि लोप हो जाने से दमित, शमित, पूरित, दासित, स्पाशित, छादित, ज्ञपित-रूप होंगे। चुरादि ज्ञप् मित् संज्ञक होता है अतः ह्रस्व हुआ।[187]

रुष्, अम (रुग्ण होना), त्वर्, संघुष्, आस्वन्-इनसे निष्ठा में विकल्प से इडागम नहीं होता[188] –रुष्ट। रुषित। तादि प्रत्यय परे इड् विकल्प विधान होने से निष्ठा में नित्य निषेध प्राप्त था। अम्-अभ्यान्त। अभ्यमित (रोगी)। त्वर्-तूर्ण। त्वरित। आदित् होने से निष्ठा में प्रतिषेध प्राप्त था। संघुष-संघुष्टौ पादौ। संघुषितौ पादौ। अविशब्दन अर्थ में भी पूर्व कहा हुआ प्रतिषेध नहीं होगा, विकल्प होगा, विप्रतिषेधे परं कार्यम्-संघुष्टौ दम्यौ। संघुषितौ दम्यौ। विशब्दन अर्थ में भी विकल्प होगा-संघुष्टं वाक्यमाह। आङ् स्वन्-आस्वान्तो देवदत्तः। आस्वनितो देवदत्तः। देवदत्त ने शब्द किया है। 'मन' अर्थ में भी पूर्व कहे हुए प्रतिषेध को बाधकर विकल्प होगा- आ. स्वान्तम् = मनः। आस्वनितम् = मनः।

लोम-विषयक धात्वर्थ होने पर हृष तुष्टौ, हृषु अलीके, इनसे निष्ठा में विकल्प से इट् नहीं होता[189]- हृषितानि लोमानि। हृष्टानि लोमानि, रोंगटे खड़े हुए। हृषितं लोमभिः। हृष्टाः केशाः हृषिताः केशाः। हृष्टं केशैः। हृषितं केशैः। हृष्टो देवदत्तः = मृषोक्तवान् देवदत्तः (बालमनोरमा)। हृषितो देवदत्तः, तुष्ट इत्यर्थः।

विस्मित तथा प्रतिहत अर्थ में इट् विकल्प से न होगा[190]-हृष्टो देवदत्तः। हृषितो देवदत्तः, विस्मित इत्यर्थः। हृष्टा हृषिता वा देवदत्तस्य दन्ताः, देवदत्त के दाँत प्रतिहत = कुण्ठित हैं, शीत-पीडा आदि से काम नहीं करते।

अपपूर्वक चायृ (पूजा, दर्शन) का 'अपचित' यह वैकल्पिक निष्ठान्त रूप निपातन किया है।[191] इडभाव तथा धातु को चि-भाव निपातन किया है। धातु सेट् है। पक्ष में यथाप्राप्त 'अपचायित' भी होगा।

सम्प्रसारण

ज्या वयोहानौ (वृद्ध होना) को (ग्रहि ज्यावयि- ६।१।१६) से कित् ङित् प्रत्यय परे रहते सम्प्रसारण विधान किया है। निष्ठा प्रत्यय कित् है, सो यहाँ 'य' को सम्प्रसारण 'इ' और पूर्वरूप होकर 'जि' बना। इसे हलः (६।४।२) से दीर्घ होता है और संयोगादि आकारान्त धातु होने से निष्ठा 'त' को न। जीन = वृद्ध। ऐसे ही ग्रह् को सम्प्रसारण (ऋ) होकर 'गृहीत' रूप होगा। ग्रह् से परे इट् को दीर्घ होता है, लिट् में नहीं। वच्-उक्त। स्वप्-सुप्त। वह्-ऊढ। वप्-उप्त। यज्-इष्ट। वेञ्-उत। व्यञ्-वीत।

ज्वर्, त्वर् की उपधा तथा 'व' के स्थान में ऊठ् ऊ)- जूर्ण। तूर्ण।

---

182 घुषिरविशब्दने (७।२।२३)।

183 अर्देः सन्निविभ्यः (७।२।२४)।

184 अभेश्चाविदूर्ये (७।२।२५)।

185 णेरध्ययने वृत्तम् (७।२।२६)।

186 वा दान्त-शान्त-पूर्ण-दस्त-स्पष्ट-छन्न-ज्ञप्ताः (७।२।२७)।

187 ज्ञप मिच्च।

188 रुष्य्-अम-त्वर-संघुषाऽऽस्वनाम् (७।२।२८)।

189 हृषेर्लोमसु (७।२।२६)।

190 विस्मित-प्रतिघातयोश्चेति वक्तव्यम् (वा०)

191 अपचितश्च (७।२।३०)।

द्रवमूर्ति (काठिन्य प्राप्ति, तरल पदार्थ का घनभाव) तथा स्पर्श अर्थ में श्यैङ् को सम्प्रसारण[192]–शीनं घृतम्, जमा हुआ घी। शीना वसा। शीनं मेदः, जमी हुई चरबी। शीतो वायुः, शीतस्पर्शवाला वायु। शीतं वर्तते, ठंडी लगती है।

प्रतिपूर्वक श्यैङ् को द्रवमूति–स्पर्श अर्थों से अन्यत्र भी सम्प्रसारण होता है[193]– प्रतिशीन। प्रतिशीनो देवदत्तो नक्तं प्रकाशेऽवकाशे सुप्त इति, देवदत्त को प्रतिश्याय (जुकाम) हो गया है रात खुली जगह सोया था इसलिए।

अभि–अव–पूर्वक श्यैङ् को सम्प्रसारण विकल्प से[194] अभिशीन। अभिश्यान। अवशीन। अवश्यान।

'शिव' को निष्ठा में नित्य ही सम्प्रसारण होता है[195]–शून। उद्पूर्वक–उच्छून। सततरूदितोच्छूननेत्रः, निरन्तर रोने से जिसकी आँखें सूज गई हैं।

स्त्यै (ष्ट्यै शब्दसङ्घातयोः) को प्रपूर्वक होने पर सम्प्रसारण होता है[196] – प्रस्तोत। प्रस्तीम। प्रपूर्वक स्त्य के निष्ठातकार को विकल्प से 'म' हो जाता है[197]।

कित्त्वाभाव

निष्ठा प्रत्यय क्त, क्तवतु दोनों कित् हैं पर कुछेक स्थलों में इन्हें अकित् माना गया है जिससे क्ङिन्निमित्तक गुणवृद्धि प्रतिषेध नहीं होता।

शीङ्, स्विद्, मिद्, क्ष्विद्, धृष्–इनसे परे सेट् निष्ठा–प्रत्यय कित् नहीं होता[198]– शीङ्–शयित। स्विद्–स्वेदित। मिद्–मेदित। क्ष्विद्–क्ष्वेदित। धृष्–धर्षित। शीङ् वर्जित इन धातुओं के आदित् होने से निष्ठा में नित्य इट् निषेध प्राप्त था, भाव तथा आदिकर्म (प्रारम्भ) में यह निषेध विकल्पित कर दिया है। इडभाव पक्ष में स्विन्न, मिन्न, क्ष्विण्ण, धृष्ट–रूप होंगे।

पूङ् से सेट् निष्ठा (तथा क्त्वा) कित् नहीं होता[199] – पवितः सोमः। इट् के अभाव में पूतः सोमः।

मृष् से तितिक्षा अर्थ में निष्ठा प्रत्यय कित् नहीं होता[200] –मर्षित। मर्षितो मेऽपराधो गुरुणा। अन्यत्र अपमृषितं वाक्यमाह, अविस्पष्टम्।

उदुपध (ह्रस्व उ उपधा वाली) धातुओं से सेट् कर्म के वाच्य होने पर विकल्प से कित् नहीं होता[201] –द्युतितमनेन। द्योतितमनेन। प्रद्युतिता विद्युत्, बिजली चमकने लगी। प्रद्योतिता विद्युत्। मुदितं देवदत्तेन, मोदितं देवदत्तेन, देवदत्त प्रसन्न हुआ। प्रमुदितो देवदत्तः। प्रमोदितो देवदत्तः, देवदत्त प्रसन्न हो रहा है।

कुटादि कुट्, कुच्, स्फुट्, छुर्, स्फुर् स्फुल् इन सेट् धातुओं से निष्ठा कित् न होगी पर ङित् होगी[202], अतः गुणाभाव रहेगा –कुटित। कुचित। संकुचित। स्फुटित। छुरित। स्फुरित। स्फुलित।

आदेश

कुछेक स्थलों में प्रकृति अथवा प्रत्यय (क्त) को आदेश हो जाता है। उन्हें यहाँ दर्शाते हैं–

प्यायी (प्याय्) को 'पी' आदेश विकल्प से होता है।[203] यह व्यवस्थित विभाषा है। उपसर्ग रहित प्याय् को नित्य 'पी' होता है और उपसर्गसहित को होता ही नहीं–पीन। पीनमुरः। पीनौ बाहू। यहाँ कृत्यचः (८।४।२९) से प्राप्त णत्व का 'न भाभूपू–' (८।४।३४) से निषेध हो जाता है। प्रप्यान। आप्यान। प्रप्यानश्चन्द्रमाः, चाँद जो बढ़ना प्रारम्भ हुआ है। आङ्पूर्वक को 'पी' होता ही है जब कुआँ

---

192 द्रवमूर्ति–स्पर्शयोः श्यः (६।१।२४)।

193 प्रतेश्च (६।१।२५)।

194 विभाषाऽभ्य् अव–पूर्वस्य (६।१।२६)।

195 वचि–स्वपि–यजादीनां किति (६।१।१५)। 'श्वि' यजादि धातुओं में से एक है।

196 स्त्यः प्रपूर्वस्य (६।१।२३)।

197 प्रस्त्योऽन्यतरस्याम् (८।२।५४)।

198 निष्ठा शीङ्–स्विदि–मिदि–क्ष्विदि–धृषः (१।२।१९)।

199 पूङः क्त्वा च (१।२।२२)।

200 मृषस्तितिक्षायाम् (१।२।२०)।

201 उदुपधाद् भावाऽऽदिकर्मणोरन्यतरस्याम् (१।२।२१)।

202 गाङ्–कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् (१।२।१)। इङ् के आदेश गा से तथा तुदाद्यन्तर्गण कुटादि धातुओं से ञित्–णित्–भिन्न प्रत्यय ङित्वत् होता है।

203 प्यायः पी (६।१।२८)। व्यवस्थित विभाषा।

तथा ऊधस् अर्थ हो[204] आपीनस् अन्धुः (कुआँ)। आपीनमूघः।

स्फायी (स्फाय्) को नित्य ही 'स्फी' आदेश होता है[205] –स्फीत। स्फीतो जनपदः। क्तिन् में स्फी भाव नहीं होगा–'स्फाति' ऐसा रूप होगा, न कि स्फीति।

'धा' को 'हि' आदेश होता है[206] –हित। निहित। आहित। संहित। उपहित। उपाहित। परिहित।

दो, सो, मा, स्था–इन्हें इकार अन्तादेश होता है[207]– दित। सन्दित। मित। स्थित। मा, माङ्, मेङ्– तीनों का ग्रहण इष्ट है।

शो, छो–को विकल्प से इकार अन्तादेश होता है[208]– शित, शात। छित, छात। शित इषुः। निशित इषुः = तीक्ष्ण बाण। शातोदरी = कृशोदरी। छातश्छागः, पतला दुबला बकरा। व्रत विषय में नित्य ही इकार अन्तादेश होता है[209] –संशितं व्रतम् = सम्यक् सम्पादितम्, अच्छी तरह पूरा किया गया व्रत। संशितो ब्राह्मणः = व्रत–विषयक–यत्नवान् (दीक्षित)।

घु–संज्ञक 'दा' को दद् आदेश होता है[210] –दत्त।

ह्लादी (ह्लाद) को ह्रस्व होता है[211] – ह्लन्। प्रह्लन्।

अद् को जग्ध् आदेश होता है[212]– अद्–त = जग्ध् त = जग्ध् ध = जग्ध। पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः (कठोप०)।

घुसंज्ञक धेट् (धे) पीना, चूसना, गै, पा (पीना), हा (त्यागना) – को 'ई' अन्तादेश होता है[213]–धेट्–धीत। कस्या धन्याया अम्बायाः कुमारे–णानेन स्तनौ धीतौ। गै–गीत। भगवद्गीतासूपनिषत्सु र्वाणतोऽयमयर्थो विस्तरेण, भगवान् कृष्ण से गाई गई उपनिषदों में यह बात विस्तार से कही गई है। पा–पीत। हा–हीन। बुद्ध्या हीनः, त्यक्त इत्यर्थः।

जन्, सन्, खन्–को 'आ' अन्तादेश होता है[214]–जात। सात। खात। देवखातबिले गुहा–अमर।

भाव, कर्म से अन्यत्र 'क्षि' को दीर्घ[215] क्षीण। क्षीणो राजा वाहनेन बलेन च। यहाँ 'क्त' कर्ता अर्थ में है।

आक्रोश (शाप) तथा दैन्य (दुर्गति) अर्थ में 'क्षि' को विकल्प से दीर्घ होता है[216]–क्षितायुर्भव दुर्बुद्धे। क्षीणायुर्भव दुर्बुद्धे। हा क्षितोऽयं तपस्वी। हा क्षीणोऽयं तपस्वी।

क्षीर तथा हविस् के विषय में श्रा (पकना, उबलना) तथा श्रप् (श्रा का ण्यन्त) को 'शृ' आदेश होता है[217] – शृतं पयः। शृतं हविः। पर श्राणा यवागूः।

उपसर्ग–रहित ञिफला (फल्), क्षीब् (मत्त होना), कृश् (दुबला होना) उद्पूर्वक लाघ् के क्रम से फुल्ल, क्षीब, कृश, उल्लाघ (जो बीमारी से उठा है) निष्ठान्त रूप निपातन किए हैं।[218] फल् से परे क्त के त को ल। अन्यत्र 'क्त' का लोप हुआ है। चिरं रुग्णोऽसौ सम्प्रत्युल्लाघः। उद्पूर्वक तथा सम्पूर्वक फल् से भी उत्फुल्ल, सम्फुल्ल क्तान्त रूप बनते हैं। फुल्ल् विकसने से पचाद्यच् करके फुल्ल रूप सिद्ध हो जाता है। पर एवं व्युत्पन्न फुल्ल शब्द का भूतकालिक क्रिया को कहने में प्रयोग न हो सकेगा और भाव में भी प्रयोग न बन सकेगा। उपसर्ग सहित ञिफला आदि के प्रफुल्त, प्रक्षीबित, प्रकृशित रूप होंगे।

---

204 आङ्पूर्वस्यान्धूधसोर्भवत्येव।

205 स्फायः स्फी निष्ठायाम् (६।१।२२)।

206 दधातेर्हिः (७।४।४२)।

207 द्यति–स्यति–मा–स्थाम् इत्ति किति (७।४।४०)।

208 शाच्छोरन्यतरस्याम् (७।४।४१)।

209 श्यतेरित्त्वं व्रते नित्यमिति वक्तव्यम् (वा०)।

210 दो दद्धोः (७।४।४६)।

211 ह्लादो निष्ठायाम् (६।४।९५)।

212 अदो जग्धि र्ल्यप्ति किति (२।४।३६)।

213 घु–मा–स्था–गा–पा–जहाति–सां हलि (६।४।६६)।

214 जन–सन–खनां सञ्झलोः (६।४।४२)।

215 निष्ठायामण्यदर्थे (६।४।६०)।

216 वाऽऽक्रोश–दैन्ययोः (६।४।६१)।

217 क्षीर–हविषोर्नित्यं शृभावः, अन्यत्र न भवति।

218 अनुपसर्गात्फुल्ल–क्षीब–कृशोल्लाघाः (८।२।५५)।

शुष् से निष्ठा-त को क और पच् से व होता है[219] -शुष्क। पक्व। कुत्व। क्षै से परे निष्ठा-त को म[220]-क्षाम। आत्व। क्षुत्क्षामः, भूख से क्षीण।

अजन्त उपसर्ग से परे दा और दो (आत्व होने पर दा) के 'आ' को 'त्' होता है और यदि उपसर्ग इगन्त हो तो उसके इक् को दीर्घ हो जाता है[221]-प्रदा-प्रत्त। अवदा-अवत्त। प्रदा-प्रत्त। अवदो-अवत्त। अवत्तम् = अवदान किया गया, टुकड़ा काटा गया। प्रतिदा-प्रतीत्त, लौटाया गया।

अप्रतीत्तमृणम् (अथर्व० ६/११७/१), जो ऋण लौटाया नहीं गया। इसी प्रकार निदा-नीत्त। परिदा-परीत्त।

पर अवदत्त, विदत्त (आदि कर्म में) प्रदत्त, सुदत्त, अनुदत्त, निदत्त-ये भी इष्ट हैं। यहाँ अव-आदि उपसर्ग नहीं हैं उपसर्ग प्रतिरूपक हैं, ऐसी कल्पना की जाती है।

क्यच्, क्यङ् का विकल्प से लोप आर्धधातुक प्रत्यय (जैसे क्त) परे होने पर[222] -वरिवस् क्यच् = वरिवस्य। वरिवस्य क्त = वरिवसित। वरिवस्यित = पूजित।

इस प्रकरण के प्रारम्भ में हम कह आए हैं कि निष्ठा प्रत्यय (क्त) प्रायः भूतकाल की क्रिया को कहने वाली धातु से आता है, पर यह इच्छार्थक बुद्ध्यर्थक तथा पूजार्थक धातुओं से वर्तमान अर्थ में आता है[223] - सतां मतः सज्जनों को इष्ट, प्यारा। सताम् इष्टः। सतां बुद्धः। सतामवगतः। सतां पूजितः। सताम् चितः। सताम् अभ्यर्हितः। सताम् अञ्चितः (पूजित)। यहाँ सर्वत्र कर्ता में षष्ठी हुई है। सज्जनों से चाहा हुआ, जाना हुआ, पूजा हुआ अर्थ है।

जिन धातुओं में ञि अनुबन्ध लगा हुआ है अर्थात् जो ञित् हैं, उनसे 'क्त' वर्तमान अर्थ में आता है[224] - ञिधृषा (धृष्) - धृष्ट, जो अविनीत है।

यह भी कहा जा चुका है कि 'क्त' यथायोग्य भाव तथा कर्म का वाचक होता है अर्थात् अकर्मक धातुओं से भाव में आता है और सकर्मक धातुओं से कर्म में। पर आदिकर्म = प्रारम्भ में (धातुवाच्य क्रिया के प्रारम्भ के 'प्र' आदि द्वारा द्योत्य होने पर) 'क्त' कर्ता में भी आता है, और यथाप्राप्त भाव, कर्म में भी[225]-व्याकरणचन्द्रोदयं प्रकृताः स्मः, हम ने व्याकरणचन्द्रोदय का प्रणयन प्रारम्भ किया है। पक्ष में व्याकरणचन्द्रोदयः प्रकृतोऽस्माभिः (कर्म में क्त)। आदिकर्म में निष्ठा-प्रत्यय की अप्राप्ति थी, कारण कि यद्यपि क्रिया का

आद्य क्षण भूत है, अतीत है, आगे आने वाले क्षणान्तर वर्तमान हैं और निष्ठा का विधान भूत में हुआ है। अतः वार्तिककार यहाँ वार्तिक पढ़ते हैं-आदिकर्माण निष्ठा वक्तव्या। मासं मातुमारब्धश्चन्द्रमाः = मासप्रमितश्चन्द्रमाः।

गत्यर्थक, अकर्मक धातुओं से तथा श्लिष, शीङ्, स्था, आस्, वस्, जन्, रुह्, जृ धातुओं से निष्ठाप्रत्यय क्त कर्ता में भी आता है और यथाप्राप्त भाव व कर्म में भी।[226] श्लिष आदि सोपसर्गक होकर सकर्मक हो जाती हैं। गतो देवदत्तो ग्रामम्। गतो देवदत्तेन ग्रामः (कर्म में)। गतं देवदत्तेन (भाव में)। सलिलमवगाढो मुनिजनः (स्वप्न०)। अमृतह्रदमिवावगाढोस्मि। अकर्मक धातुओं से-भ्रान्तोऽसि (कर्ता में)। भ्रान्तं त्वया (भाव में)। आसितो भवान्। आसितं भवता। शिशुः शयितः। शयितं शिशुना। श्लिष्-उपश्लिष्टो गुरुं भवान्, आप गुरु जी के पास गए। उपश्लिष्टो गुरुर्भवता (कर्म में)। उपश्लिष्टं भवता (कर्म की अविवक्षा में भाव में क्त)। शीङ् - उपशयितो गुरुं भवान् (आप गुरु जी के समीप सोये)। उपशयितो गुरुर्भवता। उपशयितं भवता। स्था- उपस्थितो गुरुं भवान् (कर्ता में क्त), आप गुरु जी की सेवा में ठहरे। उपस्थितो गुरुर्भवता। उपस्थितं भवता। आस्-उपासितो गुरुं भवान्, आप गुरु जी की सेवा में बैठे। उपासितो गुरुर्भवता। उपासितं भवता। वस्-अनूषितो गुरुं भवान्, आप ने गुरु जी के समीप वास किया। अनूषितो गुरुर्भवता। अनूषितं भवता। जन्-अनुजातो माणवको माणविकाम्, लड़का लड़की के पश्चात् जन्मा। अनुजाता माणवकेन माणविका। अनुजातं माणवकेन। आरुह्-आरूढो वृक्षं भवान्। आरूढो वृक्षो भवता। आरूढं भवता। जृ-अनुजीर्णो वृषलीं देवदत्तः, देवदत्त शूद्री के पीछे जीर्ण हो गया।

---

219 शुषः कः (८।२।५१) पचो वः (८।२।५२)।

220 क्षायो मः (८।२।५३)।

221 अच उपसर्गात्तः (७/४।४७)। दस्ति (६।३।१२४)।

222 क्यस्य विभाषा (६।४।५०)।

223 मति-बुद्धि-पूजार्थेभ्यश्च (३।२।१८८)।

224 ञीतः क्तः (३।२।१८७)।

225 आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च (३।४।७१)।

226 गत्यर्थाऽकर्मक-श्लिष-शीङ्-स्थाऽऽस-वस-जन-रुह-जीर्यतिभ्यश्च ३।४।७२)।

अनुजीर्णा वृषली देवदत्तेन। अनुजीर्ण देवदत्तेन, देवदत्त जरा को प्राप्त हो गया।

अनुपूर्वक स्था से भी 'क्त' कर्ता में पाया जाता है-वीराश्च नियतोत्साहा राजशास्त्रमनुष्ठिताः (रा० १।७/१२)। यहाँ राजशास्त्रमनुष्ठिताः = राजशास्त्रानुसारिणः, राजशास्त्रार्थमाचरितवन्तः। धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञा सतां वृत्तमनुष्ठिताः (मनु० १०।१२७)।

सूत्र में 'च' पढ़ने से अनुक्त धातुओं से भी कर्ता में 'क्त' देखा गया साधु है। वान्त। विरिक्त। वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत् (मनु० ५।१४४)। आदृत। प्रतिपन्न। तस्मात्तत्रादृतो भवेत् (मनु० ७।१५०)। इति प्रतिपन्नाः प्राच्याः प्रतीच्याश्च पण्डिताः। वामन का सूत्र भी है-व्यवसितादिषु क्तः कर्तरि चकारात्। योद्धुं व्यवसितः = योद्धुं निश्चितवान्। स भक्तो मागधं राजा भीष्मकः परवीरहा (भा० सभा० १४।२२)। यहाँ भज् से 'क्त' कर्ता में हुआ है। अयं श्वा भूतभव्येश भक्तो मां नित्यमेव हि (भा० महा- प्रा० ३।७)। यथाऽस्य पुत्त्रो गुणवाननुरक्तश्च पाण्डवान् (भा० आदि० २०२।१०)। यहाँ रञ्ज् से कर्ता में 'क्त' हुआ है। सुषिरो वै पुरुषः, स तर्ह्येव सर्वो यर्ह्याशितः (मैत्रायणी सं० ३।६)। निश्चय ही पुरुष खोखला है, वह तभी भरपूर हो जाता है जभी वह खा चुकता है। यहाँ आङ्पूर्वक अश् (खाना) सकर्मक से कर्ता में क्त हुआ है।

क्लीबत्व-विशिष्ट भाव को कहने के लिए कालसामान्य में 'क्त' आता है-विलसित।[227] विद्युतो विलसितम् = विलसनम् = विलासः, बिजली का चमकना शिशोः शयितम् = बच्चे का सोना। उभावलंचक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम् (रघु० २।१८) । यहाँ गत = गमन। न मे दुर्व्याहृतं (= दुर्व्याहारः =दुर्भाषितम्)। किञ्चिन्नापि मे दुरनुष्ठितम् (दुरनुष्ठितम् = दुरनुष्ठानम्) (रा० ४।३२।३)। मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम् (भा० ५।)। ज्वलित = ज्वलन।

अकर्मक धातुओं से, गत्यर्थक तथा भोजनार्थक धातुओं से 'क्त' अधिकरण में भी आता है और यथा प्राप्त कर्ता, भाव तथा कर्म में भी[228]- आसितो देवदत्तः। आसितं तेन। इदमेषामासितम्, यह इनके बैठने का स्थान है। अधिकरण में क्त। यातो देवदत्तो ग्रामम्। यातो देवदत्तेन ग्रामः। यातं देवदत्तेन (भाव में)। इदमेषां यातम्, यह इनके जाने का स्थान है। इदमेषां भुक्तम्, यह इनके भोजन का स्थान है, जहाँ इन्होंने खाया। आसितं शयितं भुक्तं सूत रामस्य कीर्तय (रा० २।५८।१२), हे सूत, राम कहाँ बैठे, कहाँ सोए, कहाँ खाना खाया, यह कहिए। रामस्य शयितं भुक्तं जल्पितं हसितं स्थितम्। प्रक्रान्तं च मुहुः पृष्ट्वा हनूमन्तं व्यसर्जयत् (भट्टि ८।१२५)। यहाँ सर्वत्रअधिकरण में 'क्त' हुआ है।

कृत्य तथा ल्युट् बहूलतया होते हैं यह तो कहा जा चुका है। दूसरे कृत् प्रत्यय भी जिस अर्थ में विहित किए गए हैं उससे अन्यत्र देखे जाते हैं। बहुलग्रहणादन्येपि कृतो यथाप्राप्तमभिधेयं व्यभिचरन्ति। 'क्त' का करण में कहीं भी विधान नहीं किया गया, पर करण में भी होता है। शृ वायुवर्ण निवृतेषु-इस वातिक में 'निवृत' में 'क्त' करण में हुआ है-निव्रियतेऽनेनेति निवृतं, निवारणं प्रावरण म्। भावप्रधानमाख्यातम्-यहाँ 'आख्यात' में 'क्त' करण में है-आख्यायन्ते क्रिया गुण भावेन वर्तमानानि स्त्रीपुन्नपुंसकान्यनेनेत्याख्यातम्।

क्तान्त रूपावलि सेट अजन्त धातुएँ

श्रि (ञ्)	श्रित संश्रित,	ऊर्णु	ऊर्णुत
	आश्रित उपाश्रित,		प्रोर्णुत
	अधिश्रित, उच्छ्रित	व्यूर्णुत	
		क्षु	क्षुत
श्वि	शून	क्ष्णु	क्ष्णुत
	उच्छून		संक्ष्णुत
		नु	नुत
		प्रणुत	
डी (ङ्) दिवा०	डीन		
	संडीन	यु	युत
	उड्डीन	वियुत	
डी (ङ्) भ्वा०	डयित		संयुत
शीङ्	शयित	रु	रुत
	उपशयित		विरुत
	संशयित		आरुत

227 नपुंसके भावे क्तः (३।३।११४)।

228 क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्य-गति-प्रत्यवसानार्थेभ्यः (३।४।७६)।

स्नु	स्नुत	सू (षू) तुदा०	सूत
	प्रस्नुत		प्रसूत
असू (ञ्)	असूयित		प्रतिप्रसूत
		जागृ	जागरित
		वृ (ङ्)	वृत
धू (ञ्)	धूत	वृञ्	वृत
	विधूत		विवृत
	अवधूत		संवृत
	व्याधूत		आवृत
धू (तुदा० कुटा०)	धूत	कृ	कीर्ण
नू	नूत		विकीर्ण
पू (ङ्)	पवित		प्रकीर्ण
	पूत		संकीर्ण
पूञ्	पूत		आकीर्ण
भू	भूत	गृ	गीर्ण
	प्रभूत		उद्गीर्ण
	संभूत		संगीर्ण
	उद्भूत		
लू (ञ्)	लून, विलून	जृ	जीर्ण
	आलून	तृ	तीर्ण
सू (षूङ्) अदा०	सूत		उत्तीर्ण
	प्रसूत		अवतीर्ण
सू (षूङ्) दिवा०	सून	पृ	पूर्त, निपूर्त
	प्रसून	स्तृ	स्तीर्ण
			आस्तीर्ण
			विस्तीर्ण

अनिट् अजन्त धातुएँ

दा	दत्त	द्रा	निद्राण
	प्रदत्त		प्रदाण
	अवदत्त		
	प्रत्त		
	अवत्त		
	प्रतीत्त		
	परीत्त		
धा	हित	स्था	स्थित
	निहित		आस्थित
	अभिहित		उदास्थित
	परिहित		संस्थित
	आहित		उपस्थित
	संहित		विष्ठित
	अपिहित		अवस्थित

	पिहित		
पा	पीत	स्ना	स्नात
	प्रपीत		प्रस्नात
	निपीत		निस्नात
	आपीत		निष्णात
			प्रतिष्णात
मा	मित		
	प्रमित	हा (क्)	हीन
	संमित		प्रहीण
	परिमित		विहीन
माङ्	मित		
	निर्मित	हा (ङ्)	हान
	विनिर्मित		उद्धान
	उपमित		
म्ना	आम्नात	इक्	अधीत
	समाम्नात		
या	यात	इङ्	अधीत
	प्रयात		प्राधीत
	वियात	इण्	प्रतीत
	आयात		प्रेत
वा	वात		उपेत
	प्रवात		समेत
	निवात		अपीत
चि	चित	सु (षुञ्)	सुर्त
	प्रचित		अभिषुत
	उपचित		आसुत
	अपचित	स्तु	स्तुत
	आचित		प्रस्तुत
	संचित		संस्तुत
जि	जित		अभिष्टुत
	विजित		उपस्तुत
	पराजित	ब्रू	उक्त
हि	हित		प्रोक्त
	प्रहित		अभ्युक्त
क्री	क्रीत		अनूक्त
	परिक्रीत	ऋ	ऋत
	विक्रीत		ऋण
	अवक्रीत	कृ	कृत
दीङ्	दीन		प्रकृत
	उपदीन		उपकृत
नी	नीत		अपकृत

		प्रणीत		उपाकृत
		उपनीत		अनुकृत
		संनीत		
आनीत		पृङ्	पृत	परिणीत
	व्यापृत			
		अवनीत	मृ	मृत
		विनीत	स्तृ	स्तृत
		उन्नीत		आस्तृत
पीङ्		पीत		विस्तृत
		निपीत	स्वृ	स्वृत

स्मरणीय बिंदु

1. **वाच्य प्रयोग का अंतर :** क्तवतु प्रत्यय हमेशा कर्तृवाच्य में प्रयोग होता है, जबकि क्त प्रत्यय मुख्य रूप से कर्मवाच्य और भाववाच्य में ही प्रयुक्त होता है।

2. **तकार को नकार (त को न होना):** ऋकारान्त और दकारान्त धातुओं से परे निष्ठा के त को न आदेश हो जाता है और धातु के द को भी न हो जाता है (जैसे: भिद् + क्त = भिन्नः, छिद् + क्त = छिन्नः)।

3. **काल का बोध :** निष्ठा प्रत्यय भूते अधिकार सूत्र के अन्तर्गत आते हैं, इसलिए इनका प्रयोग सदैव भूतकाल की क्रिया को दर्शाने के लिए किया जाता है।

शब्दावली-

1. **निष्ठा :** यह पाणिनीय व्याकरण का एक संज्ञा सूत्र है-क्तक्तवतू निष्ठा। इसके अनुसार क्त और क्तवतु इन दो प्रत्ययों की निष्ठा संज्ञा होती है, जो मुख्य रूप से भूतकाल का बोध कराते हैं।

2. **सम्प्रसारण :** यण् सन्धि के विपरीत होने वाला कार्य सम्प्रसारण कहलाता है। जब य्, र्, ल्, व् के स्थान पर क्रमशः इ, ऋ, ऌ, उ स्वर हो जाते हैं, तो उसे सम्प्रसारण कहते हैं (जैसे: वच् + क्त = उक्तः)।

3. **इट्-आगम निषेध :** आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर धातु और प्रत्यय के बीच इ का आना इट्-आगम कहलाता है। अनुदात्त या अनिट् धातुओं में इस इ का सूत्रानुसार निषेध हो जाता है।

4. **निपातन :** व्याकरण के सामान्य नियमों को परे रखकर, भाषा के शिष्ट और प्राचीन प्रयोगों के अनुसार शब्दों को सीधे ही शुद्ध मान लेना निपातन कहलाता है (जैसे: दान्त, शान्त, स्पष्ट, पूर्ण)।

5. **तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः** यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण नियम है जिसके अनुसार क्तश्प्रत्यय सकर्मक धातुओं से कर्म में और अकर्मक धातुओं से भाव अर्थ में होता है, जबकि क्तवतु केवल कर्ता अर्थ में आता है।

15 अंक के प्रश्न -

1. निष्ठा संज्ञा किसे कहते हैं? क्तक्तवतू निष्ठा और तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः सूत्रों के आलोक में क्त और क्तवतु प्रत्ययों के अर्थ, वाच्य विधान और रूप-परिवर्तनों की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

2. निष्ठा प्रत्यय परे होने पर धातु के तकार (त) को नकार (न) किस परिस्थिति में होता है? रदाभ्यां निष्ठातो नः... आदि नियमों के आधार पर भिन्नः, छिन्नः अथवा जीर्णः की रूप-सिद्धि स्पष्ट कीजिए।

5 अंक के प्रश्न -

1. व्याकरण में सम्प्रसारण से क्या तात्पर्य है? वच् और स्वप् धातु में क्त प्रत्यय लगाने पर होने वाले सम्प्रसारण को समझाइए।

2. सकर्मक और अकर्मक धातुओं के साथ क्त प्रत्यय का प्रयोग किन-किन वाच्यों में होता है? उदाहरण सहित लिखिए।

3. दान्तः, शान्तः और पूर्णः पदों में कौन सा विशेष नियम या निपातन कार्य करता है? स्पष्ट कीजिए।

4. क्तवतु प्रत्यय का प्रयोग किस वाच्य में होता है? गम् धातु के साथ इसका पुल्लिंग और स्त्रीलिंग रूप लिखिए।

5. अनिट् धातुओं से निष्ठा प्रत्यय परे होने पर इट्-आगम का निषेध कैसे होता है? कोई दो उदाहरण दीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. पाणिनीय व्याकरण के अनुसार निष्ठा संज्ञा किन प्रत्ययों की होती है?

(क) शतृ और शानच्

(ख) क्त और क्तवतु

(ग) तव्यत् और अनीयर्

(घ) क्त्वा और ल्यप्

2. क्तवतु प्रत्यय का प्रयोग मुख्य रूप से किस वाच्य में किया जाता है?

(क) कर्तृवाच्य

(ख) कर्मवाच्य

(ग) भाववाच्य

(घ) उपर्युक्त सभी वाच्यों में

3. भिद् धातु से क्त प्रत्यय करने पर कौन सा शुद्ध रूप सिद्ध होता है?

(क) भित्तः

(ख) भिदितः

(ग) भिन्नः

(घ) भितः

4. निष्ठा (क्त) प्रत्यय परे होने पर वच् धातु को सम्प्रसारण होकर क्या रूप बनता है?

(क) वचितः

(ख) उक्तः

(ग) वाचितः

(घ) ऊक्तः

5. निष्ठा संज्ञक प्रत्यय (क्त और क्तवतु) मुख्य रूप से किस काल का बोध कराते हैं?

(क) वर्तमान काल

(ख) भविष्यत् काल

(ग) भूतकाल

(घ) आज्ञार्थक काल

इकाई-2.2 शतृ-शानच् प्रत्यय

उद्देश्य -

1. छात्रों को वर्तमानकालिक प्रत्ययों (शतृ और शानच्) के नियम, उनकी सत् संज्ञा और ताच्छीलिक (स्वभाव या आदत) अर्थ के प्रयोग से गहराई से परिचित कराना।
2. परस्मैपद और आत्मनेपद धातुओं के साथ शतृ-शानच् प्रत्यय जोड़ने के विशिष्ट पाणिनीय नियमों और सूत्रों का ज्ञान कराना।
3. शतृ और शानच् प्रत्ययान्त शब्दों का वाक्यों में विशेषण के रूप में शुद्ध और सटीक प्रयोग करने की क्षमता विकसित करना।

शतृ (अत्) और शानच् (आन) लट् के स्थान में आदेश विधान किए हैं। लट् के स्थान में होने से धातु-वाच्य क्रिया की वर्तमानकालिकता को कहते हैं। लः परस्मैपदम् (१।४।९९) से लादेश होने से शतृ परस्मैपद प्रत्य है और तङानावात्मनेपदम् (१।४।१००) से शानच् आत्मनेपद प्रत्यय है। अतः परस्मैपदी धातुओं से शतृ तथा आत्मनेपदी धातुओं से शानच् प्रत्यय का प्रयोग होता है। धातोः (३।१।९१) इस अधिकार में विहित तिङ्भिन्न प्रत्यय लट् के आदेश रूप में होने से शतृ, शानच् 'कृत्' प्रत्यय हैं और कर्तवाचक हैं। ये दोनों शित् होने से सार्वधातुक हैं, अतः इनके परे रहते धातु से शप् आदि विकरण आते हैं। अपित् सार्वधातुक होने से ङित्वत् होकर ये गुण के बाधक हैं। हाँ, शब्विकरणक (जिनका शप् विकरण है) धातुओं को शप्निमित्तक गुण होता है। इस शास्त्र में इनकी 'सत्' संज्ञा भी की है।[229] इनका वाक्य में प्रयोग (प्रायः) अप्रथमान्त (द्वितीयादि-विभक्त्यन्त) पद के साथ समानाधिकरणता में ही आता है, ऐसा सूत्रकार का मत है।[230] 'अप्रथमा' यह पर्युदास है, प्रसज्यप्रतिषेध नहीं। कहीं-कहीं शिष्ट प्रयोगों में इस नियम का व्यभिचार देखा जाता है। इसके लिए कुछ वृत्तिकार नन्वोर्विभाषा (३।२।१२१) से विभाषा की अनुवृत्ति यहाँ लाते हैं और उसे व्यवस्थित विभाषा मानते हैं। पूर्वसूत्र वर्तमाने लट् (३।२।१२३) से लट् की अनुवृत्ति आने पर भी जो इस सूत्र 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' (३।२।१२४) में पुनः लट् ग्रहण किया है वह अधिक विधान के लिये है, जिससे कहीं-कहीं प्रथमान्त के साथ समानाधिकरणता में भी ये प्रयुक्त होते हैं ऐसा काशिकाकार और भट्टोजिदीक्षित मानते हैं- पचन्तं देवदत्तं पश्य। पचमानं देवदत्तं पश्य। सन् ब्राह्मणः। अस्ति ब्राह्मणः। विद्यते ब्राह्मणः। यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः (मनु० २।१५६)। प्राचीं दिशं निषेवन्तः सदा देवाः सदानवाः (वामन पु० ४२।२२)। निषेवन्तः = निषेवमाणाः = निषेवन्ते।

माङ् उपपद होने पर आक्रोश (निन्दा, धिक्कार) के गम्यमान होने पर लट् के स्थान में शतृ, शानच् प्रयुक्त होते हैं[231] -मा जीवन्यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति (माघ० २।४५)। मा जीवन् = कुत्सित आक्रुष्टः सन् जीवति, मा जीवतु इत्यर्थः। वाक्यार्थ = धिक् जीवन है उसका जो परतिरस्कार के दुःख से दग्ध हुआ भी जीता है। वर्तमान अर्थ में भी विहित प्रत्यय आक्रोश के कारण यहाँ तात्पर्य में विध्यर्थक हो जाता है।

क्रिया के लक्षण (चिह्न = परिचायक) तथा हेतु (= कारण, फल) अर्थ में वर्तमान धातु से लट् के स्थान में शतृ, शानच् प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं[232] -लक्षण-शयाना भुञ्जते यवनाः, यवन लोग लेटे-लेटे खाते हैं, अर्थात् लेटना उनकी भोजन क्रिया का चिह्न परिचायक है। हेतू-अर्थात् अर्जयन् वसति देहल्याम्, धन कमाने के लिए देहली में रहता है। अधीयानो वसति काश्याम्, पढ़ने के हेतु काशी में रहता है। शयानो वर्धते शिशुः, सोने से (सोने के कारण) बच्चा बढ़ता है। पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात् (रा० १।१।१००) रामायण पढ़ने से वाक्पति बन जाता है। ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् (अथर्व० १।५।४)। ईशाना = ईशत इति हेतोः।

क्रिया के लक्षण को कहने वाली धातु से शतृ, शानच् कहे हैं, न कि द्रव्य और गुण के भी, अतः यः कम्पते सोऽश्वत्थः, जो हिल रहा है वह पीपल है, यहाँ कम्पन द्रव्य अश्वत्थ का लक्षण है, अतः शानच् नहीं हुआ। यदुत्प्लवते तल्लघु। यन्निषीदति तद् गुरु। जो ऊपर तैरता है वह लघु (हल्का) है, जो नीचे बैठता है वह गुरु (भारी) है। यहाँ ऊपर तैरना तथा नीचे बैठना गुण का लक्षण है अतः 'प्लु' से शानच् तथा 'निसद्' से शतृ नहीं हुआ।

हन्तीति पलायते। वर्षतीति भवति। पठत्यतो लभते। यहाँ हेतु के 'इति', 'अतः' शब्दों से उक्त हो जाने से शतृ-शानच् की प्राप्ति नहीं।

पूङ् तथा यज् से वर्तमानकालता में शानन् (आन) प्रत्यय आता है[233] - सोमं पवमानः। यजमानः।

---

229 तौ सत् (३।२।१२७)।

230 लटः शतृ-शानचाव्-अप्रथमा-समानाधिकरणे (३।२।१२४) इस सूत्र में आचार्य का मत शब्दोक्त है।

231 माङ्याक्रोश इति वाच्यम् (वा०)।

232 लक्षणहेत्वोः क्रियायाः (३।२।१२६)।

233 पूङ्-यजोः शानन् (३।२।१२८)।

ताच्छील्य (तत्स्वभावता), वय तथा शक्ति द्योत्य होने पर धातुमात्र से चानश् आन प्रत्यय है[234] –कतीह मण्डयमानाः। कतीह कवचं विभ्राणाः। कतीह कपाटं निघ्नानाः, यहाँ कितने अलंकरणशील हैं, यहाँ कितने कवच धारण कर रहे हैं, अर्थात् कितने कवच धारण करने योग्य वय वाले हैं। यहाँ कितने किवाड़ को तोड़ रहे हैं अर्थात् तोड़ने की शक्ति वाले हैं। शानन् आदि प्रत्यय लट् के आदेश नहीं हैं। ये स्वतन्त्र प्रत्यय हैं। 'सोमं पवमानः' आदि में जो कुद्योगलक्षणा षष्ठी का निषेध हुआ है, वह लादेश होने से नहीं, किन्तहि सूत्र में तृन् ग्रहण करने से है। तृन् प्रत्याहार है जो शतृ के 'तृ' से लेकर तृन् के 'न' तक के प्रत्ययों का ग्राहक है। शानन् आदि के लादेश न होने से षष्ठी-निषेध प्राप्त ही न था।

इङ् तथा ण्यन्त धारि धातु से वर्तमानकाल में शतृ प्रत्यय होता है जब धातुवाच्य क्रिया को कर्ता आसानी से करता है[235] –अधीयन्पारायणम्, पारा-वरण का आसानी से पाठ करता है। यह शतृ प्रत्यय लादेश नहीं है, अतः आत्मनेपदी इङ् से हो सका। धारयन् मस्करिव्रतम्, संन्यासी के व्रत को अनायास धारण कर रहा है। सान्दीपनेरधीयन्यो धारयन्नखिलाः कलाः। अबोधयत्कुचेलादीन् स विद्यामाधवोऽवतात्।। सान्दीपनि आचार्य से जो सहज में ही पढ़ रहा है....।

द्विष् से शतृ प्रत्यय आता है जब प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय का अर्थ 'शत्रु' हो[236]– द्विषत्। यियक्षमाणेनाहूतः पार्थेनाथ द्विषन्मुरम्। अभिचैद्यं प्रतिष्ठासुरासीत् कार्यद्वयाकुलः।। (माघ० २।१) मुरं द्विषन् = मुरशत्रुः। यियक्षमाणः = यष्टुमिच्छन् = यज्ञ करना चाहता हुआ।

यज्ञ-सम्बन्धी अभिषव को कहने वाली सुञ् धातु से यजमान के अर्थ में शतृ प्रत्यय होता है[237]– सर्वे सुन्वन्तः, सब सोमरस निष्पादन करने वाले यजमान।

अर्ह्, धातु से प्रशंसा गम्यमान होने पर शतृ आता है[238]– अर्हन्निह भवान् विद्याम्। आप विद्याप्राप्ति के योग्य हैं। त्वमर्हतां प्राग्रहरः स्मृतोसि नः (शाकुन्तल ५।१५)। अर्हत् = आदरार्ह, पूज्य, संभावित।

विद् (जानना) से शतृ प्रत्यय को वसु (वस्) आदेश विकल्प से होता है[239]– विदत्। विद्वस्। प्र० एक० विद्वान्। बहु विदन्नपि नाहं वेद्मीति भावयेत्। परमार्थ विद्वांसो मुनयः सद्य एव मुच्यन्ते। परम तत्त्व को जानने वाले एकदम मुक्त हो जाते हैं।

लृट् के स्थान में भी विकल्प से शतृ-शानच् होते है[240] करिष्यन्तं करिष्यमाणं पश्य, जो करेगा उसे देख। मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि (बृ० उ० २।४।१)। यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि (छां० उ० ५।११।५)।

रूप-रचना

धातु से शतृ (अत्) तथा शानच् (आन) प्रत्यय आने पर अंग को वही कार्य होता है जो लट् लकार में, कारण कि यहाँ भी प्रत्ययों के कर्तृ वाचक सार्वधातुक होने से शप् आदि विकरण होते हैं। यहाँ हम बोध के सौकर्य तथा पर्याप्ति के लिये लडन्त रूपों के साथ साधारण कार्यविशेषों को दर्शाते हैं।

गुणाभाव

जागृ-जाग्रति (लट्)। जाग्रत् (शतृ)। यण्। हु-जुह्वति (लट्)। जुह्वत् (शतृ)। यण्। इ-यन्ति (लट्)। यत् (शतृ)। यण्। श्रु-शृण्वन्ति (लट्)। शृण्वत् (शतृ)। यण्। सु-सुन्वन्ति (लट्)। सुन्वत् (शतृ)। यण। सु-शानच् = सुन्वान। कृ-कुर्वते (लट्)। कुर्वत्। शतृ। कुर्वाण (शानच्)। यण्। स्तु-स्तुवते (लट्)। स्तुवत् (शतृ)। स्तुवान (शानच्)। उवङ्। ब्रू-ब्रुवन्ति (लट्)। ब्रुवत् (शतृ)। ब्रुवाण (शानच्)। उवङ्। आप्-आप्नुवन्ति (लट्)। आप्नुवत् (शत्)। साध्-साध्नुवन्ति (लट्)। साध्नुवत् (शतृ)। उवङ्। अधि इङ्-अधीयते (लट्)। अधीयान (शानच्)। इयङ्।

गुण

मिद्-मेद्यति (लट्)। मेद्यत् (शतृ)। शीङ्-शेते। (लट्)। शयान (शानच्)।

वृद्धि

मृज्-मृजन्ति, मार्जन्ति (लट्)। मृजत्, मार्जत् (शतृ)।

धात्वादेश

---

234 ताच्छील्य-वयोवचन-शक्तिषु चानश् (३।२।१२९)।

235 इङ्-धार्योरकृच्छ्रिणि (३।२।१३०)।

236 द्विषोऽमित्रे (३।२।१३१)।

237 सुञो यज्ञसंयोगे (३।२।१३२)।

238 अर्हः प्रशंसायाम् (३।२।१३३)।

239 विदेः शतुर्वसुः (७।१।३६)।

240 लृटः सद्वा (३।३।१४)।

पा-पिबति (लट्)। पिबत् (शत्)। घ्रा-जिघ्रति (लट्)। जिघ्रत् (शतृ)। ध्मा-धमति (लट्)। धमत् (शतृ)। स्था-तिष्ठति (लट्)। तिष्ठत् (शतृ)। म्ना-मनति, आमनति (लट्)। मनत्, आमनत् (शतृ)। दाण्-यच्छति प्रतियच्छति (लट्)। यच्छत् प्रतियच्छत् (शतृ)। दृश्-पश्यति (लट्)। पश्यत् (शतृ)। ऋ - ऋच्छति (लट्)। ऋच्छत् (शतृ)। सृ-धावति (लट्)। धावत् (शत)। शद् - शीयते (लट्)। शीयमान (शानच्)[241]। इष्-इच्छति (लट्)। इच्छत् (शतृ) गम्-गच्छति (लट्)। गच्छत् (शतृ)[242]। ज्ञा-जानाति (लट्) । जानत् (शतृ)। जानान (शानच्)। जन्-जायते (लट्)। जायमान (शानच्)।[243]

उपधा-कार्य

उपधा 'अ' का लोप[244] घ्नन्ति। (हन् लट् प्र० पु० बहु०)। घनत् (शतृ)। 'अ' का लोप होने पर ह्, और न् का आनन्तर्य हो जाने से ह् को कुत्व, घ्।[245]

उपधा-न् का लोप[246] -दंश-दशति (लट्)। दशत् (शतृ)। सञ्ज्-सजति (लट्)। सजत् (शतृ)। व्यतिषजति। व्यतिषजत्। स्वञ्ज्-स्वजते (लट्)। स्वजमान (शानच्)। परिष्वजते। परिष्वजमान। बन्ध्-बध्नाति (लट्)। बध्नत् (शतृ)। उपधा-दीर्घ[247]-शम्-शाम्यति (लट्)। शाम्यत् (शतृ)। श्रम्-श्राम्यति (लट्)। श्राम्यत् (शतृ)। तम्-ताम्यति (लट्)। ताम्यत् (शतृ)। दम्-दाम्यति (लट्)। दाम्यत् (शतृ)। भ्रम्-भ्राम्यति (लट्)। भ्राम्यत् (शतृ)। क्षम्-क्षाम्यति (लट्)। क्षाम्यत् (शतृ)। क्लम्-क्लाम्यति (लट्)। क्लाम्यत् (शतृ)। मद्-माद्यति (लट्)। माद्यत्

(शतृ)। क्रम्-क्रामति। क्राम्यति। (लट्)। क्रामत्। क्राम्यत् (शतृ)[248] ष्ठिव्-ष्ठीव्यति। ष्ठीवति (लट्)। ष्ठीव्यत्। ष्ठीवत्। (शतृ)। क्लम्-क्लामति। क्लाम्यति। (लट्) क्लामत्। क्लाम्यत् (शतृ)। आङ् चम-आचामति (लट्)। आचामत् (शतृ)[249]। आङ् न होगा तो उपधा-दीर्घ नहीं होगा-चमति। विचमति। चमत्। विचमत्।

आ-लोप

श्ना प्रत्यय तथा अभ्यस्त धातु (जिसे द्विर्वचन हुआ है) के 'आ' लोप[250] -जानते (वे जानते हैं) (लट्)। जानत् (शतृ)। जानान (शानच्)। दा-ददति। ददते (लट्)। ददत् (शतृ)। ददान (शानच्)। हा-जहति (लट्)। जहत् (शतृ)। हाङ् (जाना) - जिहते (लट्)। जिहान (शानच्)।

ह्रस्व

पू-पुनाति-पुनीते (लट्)। पुनत् (शतृ)। पुनान (शानच्)। लू-लुनाति-लुनीते (लट्)। सुनत् (शतृ)। लुनान (शानच्)। धूञ्-धुनाति (लट्)। धुनत् (शतृ)। धुनान (शानच्)। शृ-शृणाति (लट्)। शृणत् (शतृ)[251]।

नुम्

मुच्-मुञ्चति-मुञ्चते (लट्)। मुञ्चत् (शतृ)। मुञ्चमान (शानच्)। लिप्-लिम्पति-लिम्पते (लट्)। लिम्पत् (शतृ)। लिम्पमान (शानच्)। लुप-लुम्पति-लुम्पते (लट्)। लुम्पत् (शतृ)। लुम्पमान (शानच्)। विद् (प्राप्त करना) - विन्दति - विन्दते (लट्)। विन्दत् (शतृ)। विन्दमान (शानच्)। सिच्-सिञ्चति - सिञ्चते। सिञ्चत् (शतृ)। सिञ्चमान (शानच्)। कृत्-कृन्तति (लट्) कृन्तत् (शतृ) । कृन्तत् (शतृ)। पिश्-पिंशति (लट्)। पिंशत (शतृ)।[252]

सम्प्रसारण

---

241 पा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दा-दृति-सति-शद-सदां
पिब-जिघ्र-धम-तिष्ठ-मन-यच्छ-पश्यर्छ-धौ-शीय-सीदाः (७।३।७८)।

242 इषगमियमां छः (७।३।७७)।

243 ज्ञाजनोर्जा (७।३।७६)।

244 गम-हन-जन-खन-घसां लोपः क्ङित्यनङि (६।४।६८)।

245 होहन्तेर्ञ्णिन्नेषु (७।३।५४)।

246 अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति (६।४।२४)।

247 शमामष्टानां दीर्घः श्यनि (७।३।७४)।

248 क्रमः परस्मैपदेषु (७।३।७६)।

249 ष्ठिवु-क्लमु-चमां शिति। आङि चमेरिति वक्तव्यम्।

250 श्नाऽभ्यस्तयोरातः (६।४।११२)।

251 प्वादीनां ह्रस्वः (७।३।८०)। क्रयादिगण के अन्तर्गत पू आदि धातुओं का गण है।

252 शे मुचादीनाम् (७।१।५९)। 'श' विकरण परे रहते मुच् आदि धातुओं को नुम्-आगम होता है। मित् होने

प्रच्छ-पृच्छति (लट्)। पृच्छत् (शतृ)। ग्रह्-गह्णाति-गृह्णीते (लट्)। गृह्णत् (शतृ)। गृह्णान (शानच्)। व्यध्-विध्यति (लट्)। विष्यत् (शतृ)। व्यच्-विचति (लट्)। विचत् (शतृ)। व्रश्च्-वृश्चति (लट्)। वृश्चत् (शतृ)। ज्या-जिनाति (लट्)। जिनत् (शतृ)।[253]

अदन्त अंग को मुक् (म्) आगम होता है 'आन' परे होने पर, जैसा कि ऊपर दिए उदाहरणों में हुआ है। परम्प. राप्राप्त कुछेक शानजन्त प्रयोगों में मुक् नहीं भी होता, उसमें आागमशास्त्र अनित्य होता है, यही समाधि है-ततः प्रविशति कामयानावस्थो राजा (शाकुन्तल)। नृपक्षिश्वापदगणांस्त्रासयानः सुदुर्मतिः (हरिवं० २।१३/१३)। अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः (मनु० ८।३२)। एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति (मनु० (४।२५८)। (नारदः) कण्डयमानः सततं लोकानटति चञ्चलः। घट्टयानो नरेन्द्राणां तन्त्रीवैराणि चैव ह (हरि० ३२१०)। कण्डयमानः = परितुष्यन्। साहित्य में प्रायः णिङन्त तथा ण्यन्त धातुओं के विषय में ही मुक् आगम की अनित्यता देखी गई है। हाँ, किंपचान (=कृपण) में भ्वादि पच् से भी मुक् आगम नहीं हुआ।

स्मरणीय बिंदु -

1. **पद का भेद :** शतृ प्रत्यय केवल परस्मैपद धातुओं से होता है (जैसेः भू + शतृ = भवत्) और शानच् प्रत्यय केवल आत्मनेपद धातुओं से होता है (जैसेः सेव् + शानच् = सेवमानः)।
2. **रूपों का लिंग भेद :** शतृ और शानच् प्रत्ययान्त शब्द वाक्यों में विशेषण की तरह कार्य करते हैं, इसलिए इनके रूप तीनों लिंगों (पुल्लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग) में चलते हैं।
3. **काल बोध :** ये दोनों प्रत्यय मुख्य रूप से वर्तमान काल में कार्य के जारी रहने का बोध कराते हैं, जैसे लिखता हुआ बालक या सेवा करता हुआ पुरुष।

शब्दावली-

1. **सत् संज्ञा :** पाणिनीय व्याकरण का सूत्र है- तौ सत्। इसके अनुसार वर्तमान काल के शतृ और शानच् इन दोनों प्रत्ययों की सत् संज्ञा होती है, जो कार्य की निरंतरता दर्शाते हैं।
2. **ताच्छीलिक कृत् :** जब कोई क्रिया किसी कर्ता का स्वभाव, आदत या विशिष्ट गुण बन जाती है, तब उस अर्थ में तच्छीलं तद्धर्म तत्साधुकारिषु अधिकार में शतृ-शानच् आदि प्रत्यय होते हैं।
3. **शप्-विकरण :** भ्वादिगण आदि धातुओं से शतृ-शानच् प्रत्यय करते समय धातु और प्रत्यय के बीच शप् (अ) का आगम होता है, जिससे भवत् या भवमान जैसे रूप सिद्ध होते हैं।
4. **परस्मैपद विधान :** शतृ प्रत्यय का विधान केवल परस्मैपद धातुओं के साथ ही किया जाता है, जिसके जुड़ने पर अंत में अत् शेष रहता है (जैसेः पठ् + शतृ = पठत्/पठन्)।
5. **आत्मनेपद विधान :** शानच् प्रत्यय का विधान केवल आत्मनेपद धातुओं के साथ होता है, जहाँ आन या मान शेष रहता है (जैसे : सेव् + शानच् = सेवमानः)।

15 अंक के प्रश्न-

1. तौ सत् सूत्र की व्याख्या करते हुए शतृ और शानच् प्रत्ययों के विधान, उनके पदों के भेद (परस्मैपद/आत्मनेपद) तथा तीनों लिंगों में बनने वाले रूपों की सोदाहरण विवेचना कीजिए।
2. ताच्छीलिक कृत् प्रत्यय किसे कहते हैं? शतृ और शानच् प्रत्ययों के विशेष संदर्भ में इनके सूत्र और रूप-परिवर्तनों को विस्तार से समझाइए।

5 अंक के प्रश्न -

1. व्याकरण में सत् संज्ञा से क्या तात्पर्य है? इसके अंतर्गत आने वाले प्रत्ययों के नाम लिखिए।
2. पठ् धातु से शतृ प्रत्यय लगाने पर पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग में क्या-क्या रूप बनते हैं? लिखिए।
3. आत्मनेपद की लभ् और सेव् धातु के साथ शानच् प्रत्यय जोड़ने पर क्या रूप सिद्ध होते हैं?
4. शतृ और शानच् प्रत्ययों का प्रयोग वाक्यों में विशेषण के रूप में कैसे होता है? कोई दो उदाहरण देकर समझाइए।
5. कृ (डुकृञ् करणे) धातु से शतृ और शानच् प्रत्यय लगाने पर क्या विशिष्ट रूप बनते हैं? स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. पाणिनीय व्याकरण के अनुसार श्सत्श संज्ञा किन दो प्रत्ययों की होती है?

(क) क्त और क्तवतु

(ख) शतृ और शानच्

से यह आगम अन्त्य अच् से परे होता है, जैसा कि उदाहरणों से स्पष्ट है।

253 ग्रहि-ज्या..... (६।१।१६) से सम्प्रसारण होता है।

(ग) तव्यत् और अनीयर्
(घ) क्त्वा और ल्यप्
2. शानच् प्रत्यय का प्रयोग मुख्य रूप से किस पद की धातुओं के साथ किया जाता है?
(क) केवल परस्मैपद
(ख) केवल आत्मनेपद
(ग) केवल उभयपद
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं
3. पठ् धातु से शतृ प्रत्यय करने पर स्त्रीलिंग में कौन सा शुद्ध रूप सिद्ध होता है?
(क) पठन्
(ख) पठत
(ग) पठन्ती
(घ) पठिता
4. शतृ प्रत्यय लगने पर धातु के अंत में मुख्य रूप से क्या शेष बचता है?
(क) अत्
(ख) मान
(ग) त्वा
(घ) नीय
5. सेव् धातु के साथ शानच् प्रत्यय जोड़ने पर पुल्लिंग में कौन सा शुद्ध रूप बनेगा?
(क) सेवत्
(ख) सेवमानः
(ग) सेवितवान्
(घ) सेवावान्

इकाई-2.3 तुमुन् प्रत्यय

उद्देश्य-

1. छात्रों को निमित्त (प्रयोजन या के लिए) अर्थ में प्रयुक्त होने वाले तुमुन् प्रत्यय के नियम और उसके सूत्रों से गहराई से परिचित कराना।
2. धातुओं के साथ तुमुन् प्रत्यय जुड़ने पर होने वाले विशिष्ट व्याकरणिक परिवर्तनों (जैसे- गुणादेश, इट्-आगम और अनुनासिक लोप) का ज्ञान कराना।
3. तुमुन्नन्त शब्दों की अव्यय संज्ञा और वाक्यों में क्रियार्थक क्रिया के रूप में उनके शुद्ध और सटीक प्रयोग करने की क्षमता विकसित करना।

तुमुन् (तुम)

धातुमात्र से भविष्यत्काल में तुमुन् प्रत्यय आता है, जब क्रियार्थ क्रिया (दूसरी तुमुन्वाच्य क्रिया के लिए की जाने वाली क्रिया का वाचक) उपपद हो।[254] क्त्वा प्रत्यय की तरह तुमुन् भी अव्यय है।[255] अव्यय कृत् प्रत्यय भाव के वाचक होते हैं। अतः पक्तुम् (पच्-तुम्) का अर्थ पचन वा पाक ही है। पक्तुं याति। यहाँ जाने की क्रिया भविष्य में होने वाली पचन क्रिया के लिए हो रही है। अथवा यों कहिये कि जाने का प्रयोजन पाक है। अतः 'याति' उपपद होने पर पच् धातु से तुमुन् हुआ। इस अर्थ को तुमुन् न करके लृट्-लकार से भी कह सकते हैं-पक्ष्यामीति याति (पकाऊँगा इसलिए जाता है)। ऐसे स्थलों में तुमुन् की प्रकृति तथा तिङ् की प्रकृति का एक ही कर्ता होना चाहिए तभी तुमुन् का प्रयोग होगा, ऐसा भट्टोजीदीक्षित मानते हैं और यही न्याय्य है। जैसे-यहाँ पच् धातु का तथा उपपद धातु का एक ही कर्ता है अर्थात् दोनों समानकर्तृक हैं। भोक्तुं याति-यहाँ भी भोजन-क्रिया और यानक्रिया दोनों समान-कर्तृक हैं। पर 'ब्राह्मणान् भोक्तुं निमन्त्रयते' नहीं कह सकते। यहाँ निमन्त्रण का कर्ता कोई देवदत्त आदि है, और भोजनक्रिया के कर्ता ब्राह्मण हैं। यहाँ तुमुन् का प्रयोग न करके ल्युडन्त भोजन शब्द का प्रयोग शास्त्र के अनुकूल होगा तथा भोजन शब्द से तृतीया का प्रयोग व्यवहारानुगत होगा-ब्राह्मणान्भोजनेन निमन्त्रयते।

तुमुन् भाव-वाचक है। अतः ओदनं भोक्तुं याति, यहाँ ओदन (कर्म) के अनुक्त होने से इस से द्वितीया हुई। ऐसा ही सर्वत्र जानो। तुमुन्नन्त का वाक्य में क्रिया के कर्ता के रूप में भी प्रयोग होता है। पुष्करं दुष्करं गन्तुम् (अस्ति)। प्रतिकर्तुं प्रकृष्टस्य नावकृष्टेन युज्यते (रा० ४।१७।४७)।

इच्छार्थक धातु के उपपद होने पर धातुमात्र से (भाववाचक) तुमुन् होता है, जब दोनों धातु समान-कर्तृक हों।[256] इच्छति भोक्तुम्, कामयते भोक्तुम्, वाञ्छति भोक्तुम्। भिन्नकर्तृकर्ता होने पर तुमुन् का प्रयोग नहीं हो सकता -देवदत्तं भुञ्जानमिच्छति यज्ञदत्तः। पुत्रस्य (कर्तुः) पठनमिच्छति यज्ञदत्तः। यहाँ भोजनक्रिया का कर्ता देवदत्त है और इच्छाक्रिया का यज्ञदत्त है। दूसरे वाक्य में तो कर्तृ भेद अत्यन्त स्पष्ट है। ओदनं भोक्तुमिच्छति-यहाँ भोजनक्रिया और एषणक्रिया का एक ही कर्ता है, सो तुमुन् निर्बाध है। ओदन तो भुजिक्रिया का कर्म है। तुमुन् का प्रयोग न करके लिङ् का प्रयोग भी कर सकते हैं-भुञ्जीयेतीच्छति = चाहता है कि मैं खाऊँ। इच्छामि भुञ्जीत भवान्, मेरी इच्छा है कि आप खाएँ। इच्छन् करोति-यहाँ इच्छार्थक धातु के उपपद होने पर भी 'कृ' से तुमुन् नहीं होता, कारण कि तुमुन् से कहने का शिष्ट-व्यवहार नहीं है (अनभिधानात्)।

शक, धृष, ज्ञा, ग्लै, घट्, रभ्, लभ्, क्रम्, सह्, अर्ह् के तथा अस् (होना) और उसके पर्यायवाची भू, विद् के उपपद होने पर धातुमात्र से तमुन् होता है[257] -शक्नोति भोक्तुम्। धृष्णोति विषमस्थोऽपि सत्यं वदितुम्। जानाति सेवितुम्। ग्लायत्यध्येतुम्। घटतेऽनुपकरण ोपि देवान् यष्टुम्। साधनहीन होता हुआ भी यज्ञ करने की चेष्टा करता है। आरभते शास्त्राणि चिन्तयितुम्। अनारतमुद्युञ्जानोपि पर्याप्तं भोक्तुं न लभते, निरन्तर उद्योग करता हुआ भी पर्याप्त भोजन प्राप्त नहीं करता। उल्लाघ इति मन्दमन्वं प्रक्रमते भोक्तुम्, बीमारी से उठा है, अतः धीरे-धीरे खाने लगा है। पर्वतमपि भेत्तुं सहते किम्पुनर्भित्तिम्, पर्वत को भी तोड़ सकता है, दीवार का तो क्या कहना। अर्हत्ययं सुधीरितोऽपि भूयसीं संमाननाम्। अस्ति भवति विद्यते भोक्तुम्।

---

254 तुमुण्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् (३।३।१०)।

255 कृन्मेजन्तः (१।१।३९)। जो कृत् प्रत्यय मकारान्त तथा एजन्त हो तदन्त शब्द की अव्यय संज्ञा है। तुमुन् अनुबन्ध-रहित होने पर मकारान्त ही है।

256 समानकर्तृकेषु तुमुन् (३।३।१५८)।

257 शक-धृष-ज्ञा-ग्ला-घट-रभ-लभ-क्रम-सहाऽर्हाऽस्त्यर्थेषु तुमुन् (३।४।६५)।

'पूर्णतया समर्थ' इस अर्थ के वाचक 'अलम्' आदि शब्द उपपद होने पर धातुमात्र से तुमुन् होता है[258]–पर्याप्तोऽयं ग्रन्थमिमं मासेन परिसमापयितुम्। अलम् अयं वीरः शत्रून् काण्डानीव लवितुम्। कुशलो देवदत्तः शास्त्रार्थ सुग्रहीतुम्। पटुरयं बालः शास्त्राणि चिरं धारयितुम्।

प्रतिषेधार्थक अलम् उपपद होने पर तुमुन् का प्रयोग शास्त्र-विरुद्ध है, कवियों की निरंकुशता मात्र का निदर्शन है-अलं सुप्तजनं प्रबोधयितुम् (मृच्छकटिक ३)। अलमात्मानं खेदयितुम् (वेणी० २।३)

काल, समय, वेला तथा इनके पर्यायवचनों के उपपद होने पर प्राप्तकालता द्योत्य होने पर धातुमात्र से तुमुन् आता है[259]–कालोऽयं ते द्वितीयमाश्रममुपसंक्रमितुम्, समय आ गया है कि तू द्वितीय आश्रम (गृहस्थाश्रम) में प्रवेश करे। वेलेयं पाठशालं गन्तुम्। अनेहाऽयं भोक्तम्, भुक्त्वा च विश्रमितम्।

क्रियार्था क्रिया उपपद होने पर वाऽसरूप विधि से तृच्, इगुपध-लक्षण 'क' आदि प्रत्यय नहीं होते। कर्ता व्रजति। विक्षिपो व्रजति ऐसा नहीं कह सकते। कर्तुं व्रजति। विक्षेप्तुं व्रजति ऐसा तुमुन् करके कहेंगे।

तुमुन्नन्त-रूप-रचना

तुमुन् (तुम्) वलादि आर्धधातुक कृत् प्रत्यय है। सेट् धातुओं से तुमुन् को इट्-आगम होता है। धातु को गुण होता है। क्त्वान्त तथा निष्ठान्त रूपों की अपेक्षा इसकी रूप-रचना सरल है।

तुमुन्नन्त रूपावलि सेट् अजन्त धातुएँ

श्रिञ्		श्रयितुम्	धू (कुटा०)	धुवितुम्	
श्वि		श्वयितुम्	नू	नवितुम	
डीङ् (दिवा०)	डयितुम्		पूङ् (भ्वा०)	पवितुम्	
डीङ् (भ्वा०)	डयितुम्		पूञ् (क्र्या०)	पवितुम्	
शीङ्		शयितुम्	भू	भवितुम्	
उर्णु		ऊर्णवितुम्	लू	लवितुम्	
		ऊर्णुवितुम्	सू (अदा०)	सोतुम्	
क्षु		क्षवितुम्		सवितुम्	
क्ष्णु		क्ष्णवितुम्	सू (दिवा०)	सोतुम्	
नु		नवितुम्		सवितुम्	
यु		यवितुम्	सू (तुदा०)	सवितुम्	
रु		रवितुम्	जागृ		जागरितुम्
स्नु		स्नवितुम्	वृङ्	वरितुम्	
असू (कण्ड्वादि)		असूयितुम्			वरीतुम्
धू (ञ्)	धवितुम्		वृञ्	वरितुम्	
		धोतुम्			वरीतुम्
कृ		करितुम्	तृ	तरितुम्	
		करीतुम्		तरीतुम्	
गृ		गरितुम्	पृ	परितुम्	
		गरीतुम्		परीतुम्	
जृ		जरितुम्	स्तृ	स्तरितुम्	
		जरीतुम्		स्तरीतुम्	

258 पर्याप्ति-वचनेष्वलमर्थेषु (३।४।६८)।

259 काल-समय-वेलासु तुमुन् (३।३।१६७)।

अनिट् अजन्त धातुएँ

दा (देना)	दातुम्	इण्	एतुम्
दा (प्) (काटना)	दातुम्	चि	चेतुम्
द्रा	द्रातुम्	जि	जेतुम्
	निद्रातुम्	क्षि	क्षेतुम्
धा	धातुम्	हि	प्रहेतुम्
पा (पीना)	पातुम्	क्री	क्रेतुम्
पा (रक्षा करना) पातुम्		दीङ्	उपदातुम्
मा	मातुम्	नी	नेतुम्
माङ्	निर्मातुम्	पीङ् (दिवा०)	पेतुम्
म्ना	म्नातुम्	सु (षुञ्)	सोतुम्
	आम्नातुम्	स्तु	स्तोतुम्
या	यातुम्	ब्रू	वक्तुम्
वा	वातुम्	कृ	कर्तुम्
स्था	स्थातुम्	पृ	व्यापर्तुम्
स्ना	स्नातुम्	मृ	मर्तुम्
हाक्	हातुम्	स्तृ	स्तर्तुम्
हाङ्	हातुम्	स्वृ	स्वर्तुम्
इक् (स्मरण करना)	अध्येतुम्		स्वरितुम्
इङ्	अध्येतुम्	हृ	हर्तुम्
देङ् (भ्वा०)	दातुम्	गै	गातुम्
धेट्	धातुम्	ग्लै	ग्लातुम्
	अनुधातुम्	दैप्	अवदातुम्
	सुधातुम्	ध्यै	ध्यातुम्
मेङ्	निमातुम्	श्रै	श्रातुम्
	विनिमातुम्	छो	छातुम्
वेञ्	प्रवातुम्	दो	अवदातुम्
व्येञ्	संव्यातुम्	शो	निशातुम्
ह्वेञ्	आह्वातुम्	सो	अवसातुम्
कै	कातुम्		

स्मरणीय बिंदु –

1. **अनुबन्ध लोप :** तुमुन् प्रत्यय में से उकार और नकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है और केवल तुम् भाग ही धातु के साथ जुड़ने के लिए शेष बचता है।
2. **रूपों की स्थिरता :** चूँकि तुमुन् प्रत्ययान्त शब्द अव्यय होते हैं, इसलिए इनके रूप सातों विभक्तियों, तीनों लिंगों और तीनों वचनों में हमेशा एक समान रहते हैं; इनका कोई शब्द-रूप नहीं चलता।
3. **काल और कारक का नियम :** यह प्रत्यय मुख्य रूप से भविष्यत् काल के निमित्त को प्रकट करता है और चतुर्थ विभक्ति (सम्प्रदान कारक – के लिए) के समान अर्थ देता है (जैसे: पठनाय = पठितुम्)।

शब्दावली–

1. **तुमुन् प्रत्यय :** पाणिनीय व्याकरण का मुख्य सूत्र है– तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्। जब एक क्रिया दूसरी क्रिया के प्रयोजन या निमित्त के लिए की जाती है, तब पहली क्रियावाचक धातु से तुमुन् प्रत्यय होता है।
2. **क्रियार्था क्रिया :** वह क्रिया जो किसी दूसरी क्रिया का उद्देश्य या कारण होती है। जैसे– पठितुं गच्छति (पढ़ने के लिए जाता है), यहाँ जाना क्रिया का उद्देश्य पढ़ना है।

3. अव्यय संज्ञा : कृन्मेजन्तः सूत्र के नियम के अनुसार, जिन कृदन्त प्रत्ययों के अंत में म् (मकार) होता है, उनकी अव्यय संज्ञा हो जाती है। तुमुन् के अंत में तुम् (मकारान्त) होने से यह अव्यय बनता है।

4. सद्भाव और गुणादेशः इकारान्त, उकारान्त और ऋकारान्त धातुओं से परे तुमुन् प्रत्यय होने पर धातु के स्वर को गुण आदेश (इ/ई को ए, उ/ऊ को ओ, ऋ को अर्) हो जाता है (जैसेः जि - जेतुम्)।

5. इट्-आगम : सेट् धातुओं के साथ तुमुन् प्रत्यय जोड़ते समय धातु और प्रत्यय के बीच में इ का आगम होता है, जिससे पठ् का पठितुम् रूप बनता है।

15 अंक के प्रश्न-

1. तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् और कृन्मेजन्तः सूत्रों के आलोक में तुमुन् प्रत्यय का अर्थ, निमित्तार्थक विधान तथा उसकी अव्यय संज्ञा की सोदाहरण विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. तुमुन् प्रत्यय परे होने पर धातुओं में होने वाले गुणादेश, इट्-आगम तथा चत्व/कुत्व संधि के नियमों को जेतुम्, श्रोतुम्, गन्तुम् और द्रष्टुम् की रूप-सिद्धि के माध्यम से समझाइए।

5 अंक के प्रश्न-

1. संस्कृत व्याकरण में क्रियार्था क्रिया से क्या तात्पर्य है? एक उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।
2. तुमुन् प्रत्ययान्त शब्दों के रूप तीनों लिंगों और विभक्तियों में क्यों नहीं चलते? कारण सहित लिखिए।
3. कृ (करना) और हन् (मारना) धातु के साथ तुमुन् प्रत्यय जोड़ने पर क्या-क्या शुद्ध रूप बनते हैं?
4. गम् और नम् जैसी मकारान्त धातुओं में तुमुन् प्रत्यय लगने पर मकार को क्या परिवर्तन होता है? स्पष्ट कीजिए।
5. निम्नलिखित वाक्यों में रेखांकित पदों के स्थान पर तुमुन् प्रत्यय का प्रयोग करके वाक्य पुनः लिखिएः

(क) सः पठनाय विद्यालयं गच्छति। (ख) अहं भोजनाय उपविशामि।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् सूत्र के अनुसार तुमुन् प्रत्यय किस अर्थ में प्रयुक्त होता है?
(क) भूतकाल अर्थ में
(ख) क्रिया के निमित्त या प्रयोजन (के लिए) अर्थ में
(ग) स्वभाव या आदत के अर्थ में
(घ) पूर्वकालिक क्रिया के अर्थ में
2. तुमुन् प्रत्यय होने पर अनुबन्ध लोप के पश्चात् धातु के साथ जुड़ने के लिए क्या शेष बचता है?
(क) तु
(ख) मुन्
(ग) तुम्
(घ) अन
3. कृन्मेजन्तः सूत्र के नियम के अनुसार तुमुन् प्रत्ययान्त शब्दों की क्या संज्ञा होती है?
(क) सत् संज्ञा
(ख) नदी संज्ञा
(ग) अव्यय संज्ञा
(घ) निष्ठा संज्ञा
4. श्रु (सुनना) धातु के साथ तुमुन् प्रत्यय जोड़ने पर गुणादेश होकर कौन सा शुद्ध रूप सिद्ध होगा?
(क) श्रुतुम्
(ख) श्रोतुम्
(ग) श्रवणतुम्
(घ) श्रावितुम्
5. दृश् (देखना) धातु से तुमुन् प्रत्यय करने पर संधि-नियमों के अनुसार क्या रूप बनेगा?
(क) दर्शितुम्
(ख) दृशितुम्
(ग) द्रष्टुम्
(घ) द्रशितुम्

खण्ड- 3 भाव वाचक, स्त्र्यधिकारोक्त, क्त्वा, ल्यप् प्रत्ययान्त

इकाई-3.1 भाव-वाचक तथा कर्तृ-भिन्न कारक-वाचक कृत्

उद्देश्य

1. छात्रों को भाव (क्रिया के नाम) तथा कर्ता से भिन्न अन्य कारकों (कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण) में प्रयुक्त होने वाले कृत् प्रत्ययों से परिचित कराना।
2. धातुओं के साथ घञ्, अप्, क, क्तिन् आदि प्रत्यय जुड़ने पर होने वाले विशिष्ट परिवर्तनों (जैसे- चकार/जकार को कुत्व, उपधा वृद्धि, तथा अनुबन्ध लोप) के नियमों का ज्ञान कराना।
3. इन प्रत्ययों से बने पदों का वाक्यों में शुद्ध और व्यावहारिक प्रयोग करने की क्षमता विकसित करना।

घञ्- धातुमात्र से घञ्[260]। पच् - पाक। त्यज् - त्याग। पचनं पाकः। त्यजनं त्यागः। प्रत्यय घित् है अतः धातु के च्, ज् को कुत्व हुआ[261]। रञ्ज्-राग। रजति रञ्जयति वाऽनेनेति रागः। यहाँ 'करण' में प्रत्यय है। रागः = अनुरागः, यहाँ भाव में प्रत्यय है[262]। प्रास्यन्ति तं प्रासः, भाला। यहाँ कर्म में प्रत्यय है। प्रसीव्यन्ति तं प्रसेवः, थैला। यहाँ सिव् धातु से कर्म में प्रत्यय हुआ है। धातु को गुण। परिह्रियते त्यज्यत इति परीहारः, गाँव के इर्द-गिर्द की कर-मुक्त भूमि, शामलाट। धनुः शतं परीहारो ग्रामस्य स्यात् समन्ततः (मनु० ८।२३७)। यहाँ कर्म में प्रत्यय है। उपसर्ग को बहुलतया दीर्घ। आहरन्ति तस्माद् रसम् इत्याहारः। यहाँ आङ् पूर्वक हृ से अपादान में प्रत्यय हुआ है। धातु को ञित्त्वनिमित्तक वृद्धि। प्रपतन्त्यस्माद् इति प्रपातः = भृगुः, सीधी खड़ी चट्टान। यहाँ भी अपादान में पत् से प्रत्यय हुआ है और ञित्त्व के कारण उपधा-वृद्धि। प्रसीदत्यत्रेति प्रासादः। यहाँ अधिकरण में प्रत्यय हुआ है। जब प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय मनुष्य का नाम न हो, तो बहुलयता उपसर्ग को दीर्घ हो जाता है जैसे यहाँ हुआ[263]। अर्थान्तर में प्रसाद (विमलता, प्रसन्नता, अनुग्रह) ऐसा भी साधु होगा। प्रदेश। प्रादेश। यहाँ अर्थभेद है। प्रदेश परिमित स्थान को कहते हैं और प्रादेश अंगूठे से तर्जनी तक फैलाये हाथ के मध्य-भाग को। कहीं-कहीं यह उपसर्ग-दीर्घत्व नित्य होता है- विपणनं विपणः= विक्रयः। भाव में प्रत्यय। यहाँ वृद्धि नहीं हुई। नीशार। नीवार। नितरां शीर्यतेऽनेन शीतम् इति नीशारः प्रावरणम्। वृद्धि संज्ञापूर्वक विधि है और जो भी संज्ञापूर्वक विधि होती है वह अनित्य होती है, ऐसी परिभाषा है[264]। 'युग' शब्द भी घञन्त है। यहाँ भी संज्ञापूर्वक विधि होने से वृद्धि नहीं हुई अथवा आचार्य का **तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् (४।४।७६)** सूत्र में वृद्धि-रहित युग शब्द का प्रयोग वृद्ध्यभाव का ज्ञापक है। पर्यङ्स्त्रयते चित्रादिभिरिति पर्यङ्कः। परिपूर्वक अकि लक्षणे से घञ्। यहाँ घञ् संज्ञा में विधान किया है, पर कहीं-कहीं असंज्ञा में भी होता है को भवता लाभो लब्धः। को भवता दायो दत्तः।

स्मरण रहे घञन्त शब्द पुंल्लिङ्ग होते हैं।

स्फुर् तथा स्फुल् के एच् को नित्य ही आत्व होता है घञ् परे रहते[265]- स्फारः। स्फालः। विस्फारः। विष्फारः। विस्फालः। विष्फालः।

आगे विधीयमान घञ्, अप्, अच्, क्तिन् आदि यथासम्भव भाव व कर्तृ-भिन्न कारक में होते हैं।

सब धातुओं से घञ् होता है यदि घञन्त से परिमाण का बोध हो[266]- एकस्तण्डुलनिचायः, एक परिमाण विशेष वाला चावलों का ढेर। यहाँ निपूर्वक चि से भाव आदि में घञ् हुआ, इकारान्त होने से अच् की प्राप्ति थी।

द्वौ शूर्पनिष्पावौ, इतना धान्य जो दो सूपों से साफ किया जाय। द्वौ कारो। त्रयः काराः। कृ विक्षेपे से घञ्। अप् (आगे कहे जाने वाला प्रत्यय) की प्राप्ति थी।

ण्यन्त दृ तथा जृ से कर्ता अर्थ में घञ् होता है और 'णि' का लुक् हो जाता है[267]- दारयन्ति भ्रातॄन् इति दाराः (पत्नी, भार्या)। जरयन्तीति जाराः। दार नित्य ही पुं० बहु० में प्रयुक्त होता है।

260 भावे (३।३।१८)। अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (३।३।१६)।

261 चजोः कु घिण्ण्यतोः (७।३।५२)।

262 घञि च भावकरणयोः (६।४।२७)। इससे रञ्ज धातु के 'न्' का लोप होता है।

263 उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् (६।३।१२२)।

264 संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः।

265 स्फुरतिस्फुलत्योर्घञि (६।१।४७)। इन घातुओं को घञ् परे रहते गुण होने से एच् तो मिल जाता है पर वह औपदेशिक नहीं, अतः आत्व की प्राप्ति नहीं थी।

266 परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः (३।३।२०)।

267 दार-जारौ कर्तरि णिलुक् च (वा०)।

इङ् अध्ययने से भाव आदि में घञ् होता है[268]। आगे कहे जाने वाले अच् का अपवाद है- अधीयत इत्यध्यायः। कर्म में प्रत्यय। उपेत्याधीयते-ऽस्माद् इत्युपाध्यायः। अपादान में प्रत्यय। यह घञ् स्त्रीत्व विवक्षा में भी होता है (यद्यपि सामान्यतः घञ् पुंस्त्वविशिष्ट भाव में होता है) और घञन्त से पाक्षिक ङीष् होता है[269]- उपेत्याधीयतेऽस्या इत्युपाध्याया उपाध्यायो वा। जिसके पास जाकर पढ़ा जाता है।

शृ से वायु, वर्ण, निवृत (प्रावरण) अर्थों में करण कारक में घञ्[270]- शृणात्यनेनेति शारो वायुः। शृणाति चित्रीकरोत्यनेनेति शारः शबलः। निशीर्यते शीतम् अनेनेति नीशारः प्रावरणम्।

घञ् - उपसर्ग उपपद होने पर 'रु' से[271]- संराव। विराव। उपसर्ग न हो तो रव ऐसा आगे कहे जाने वाले अप् प्रत्यय से रूप होगा। स्मरण रहे भाव में घञन्त तथा अबन्त (अप्-अन्त) शब्द पुंल्लिङ्ग होते हैं।

सम् उपपद होने पर यु (मिलाना, जुदा करना), द्रु (पिघलना), दु (दुःख देना) से घञ्[272]- संयाव। सन्द्राव। सन्दाव। सम् न होगा तो यथाप्राप्त अप् होकर यव, द्रव, दव ऐसे रूप होंगे। संयाव एक प्रकार की गेहूँ की बनी चपाती का नाम है। सन्दाव = सन्ताप।

श्रि, नी, भू से घञ् जब उपसर्ग उपपद न हो[273]- श्रि-श्राय। नी-नाय। भू-भाव। उपसर्ग उपपद होने पर यथाप्राप्त अच् अप् प्रत्यय होकर प्रधय, प्रणय, प्रभव रूप होंगे। प्रभाव शब्द में प्रपूर्वक भू से घञ् नहीं हो सकता, अतः यह घञन्त भाव का प्रादि समास है। राज्ञां नयः (नीतिः)- यहाँ सूत्र से प्राप्त घञ् क्यों नहीं हुआ? इसलिए कि कृत्यल्युटो बहुलम् (३।३।११३) यहाँ बहुल ग्रहण से घञ्, न होकर अच् हुआ है।

वि उपसर्ग उपपद होने पर क्षु और श्रु से[274]- विक्षाव। विश्राव। अन्यत्र अप्-प्रत्यय होकर क्षव, श्रव रूप होंगे। क्षु खांसना से क्षव, विक्षाव = खाँसी। श्रु से श्रव = श्रवण। विश्राव = विश्रुति = प्रसिद्धि। विधावस्तु प्रविख्यातिः -अमर।

अब, उद् पूर्वक नी से घञ्[275]- अवनाय= निपातन। उन्नाय = उद्ग्रहण। उन्नयः पदार्थानाम्- ऐसा प्रयोग देखा जाता है, यह कैसे उपपन्न होता है? कृत्यल्युटो बहुलम् - यहाँ बहुल-ग्रहण से घञ् रूप अपवाद की अप्रवृत्ति रही।

प्र पूर्वक द्रु, स्तु, स्रु से[276] - प्रद्राव। प्रस्ताव (अवसर)। प्रस्राव (पेशाब, बहना)। उपसर्ग न होने पर अप् होकर द्रव, स्तव, स्रव - रूप होंगे। प्रद्राव और द्रव दोनों समानार्थक हैं। ऐसे ही प्रस्राव और स्रव भी। पर प्रस्ताव और स्तव भिन्नार्थक हैं। प्रस्ताव अवसर को कहते हैं और स्तव स्तुति को।

निर्-पूर्वक पू से तथा अभि-पूर्वक लू से[277] - निष्पाव। अभिलाव। उपसर्ग न होने पर अप् होकर पव, लव- रूप होंगे। निर् तथा अभि धात्वर्थ की परिपूर्णता को कहते हैं। पव = पवित्र करना अथवा जिससे पवित्र किया जाय। लव- कटाई (भाव में प्रत्यय)। लव =अंश (कर्म में प्रत्यय)। लवलेशकणाणवः- अमर।

उद् तथा निपूर्वक गृ से[278]- उद्गारः समुद्रस्य (समुद्र के जलों का ऊपर उठना, ज्वार-भाटा)। मदोद्गारः (मदजल का बाहर निकालना)। सौजन्योद्गारः, सुजनता का शब्दादि द्वारा प्रकाश। निगार =निगरण =निगलना। उद् न होने पर अप् होकर 'गर' रूप होगा जो 'विष' अर्थ में रूढ है।

उद् तथा निपूर्वक कृ से घञ्, यदि धात्वर्थ का विषय धान्य हो[279]- उत्कारो धान्यस्य। निकारो धान्यस्य। दोनों समानार्थक हैं। उत्क्षेपण ऊपर को फेंकना अर्थ है- उत्कारश्च निकारश्च द्वौ

268 इङश्च (३।३।२१)।

269 अपादाने स्त्रियामुपसंख्यानं तदन्ताच्च वा ङीष् (वा०)।

270 शृ-वायु-वर्ण-निवृतेषु (वा०)।

271 उपसर्गे रुवः (३।३।२२)।

272 समि यु-द्रु-दुवः (३।३।२३)।

273 श्रि-णी-भुवोऽनुपसर्गे (३।३।२४)।

274 वौ क्षु-श्रुवः (३।३।२५)।

275 अवोदोर्नियः (३।३।२६)।

276 प्रे दु-स्तु-स्रवः (३।३।२७)।

277 निरभ्योः पूल्वोः (३।३।२८)।

278 उन्योर्ग्रः (३।३।२६)।

279 कृ धान्ये (३।३।३०)।

धान्योत्क्षेपणार्थकौ - भ्रमर।

यज्ञ-विषयक प्रयोग में सम्पूर्वक 'स्तु' से[280]- संस्ताव। जिस भूमि में सामग लोग एकत्र होकर साम गाते हैं उसे संस्ताव कहते हैं। अमर का पाठ भी है- स संस्तावः क्रतुषु या स्तुतिभूमिर्द्विजन्मनाम्। यज्ञविषय अन्यत्र अप् होकर 'संस्तव' (= परिचय) रूप होगा।

घञ्- प्रपूर्वक स्तृ से घञ्, यदि यज्ञविषयक प्रयोग न हो[281]- शङ्खप्रस्तार। छन्दःप्रस्तार। प्रस्तार =फैलाव। 'प्रस्तर' यहाँ अयज्ञ-विषय में भी घञ् नहीं हुआ, अप् हुआ है। इसमें कृत् प्रत्ययों का बाहुलक से प्रयोग कारण है।

विपूर्वक स्तृ से घञ्, प्रथन (फैलाव) अर्थ में, यदि वह प्रथन शब्द-विषयक न हो[282]- विस्तारो नद्याः, नदी की चौड़ाई। कियानस्यागारस्य विस्तारः, इस कमरे की चौड़ाई कितनी है ? अन्यत्र अप्- विस्तरो वचसाम्। अलमतिविस्तरेण।

विपूर्वक स्तृ से, जब घञन्त छन्द (वृत्त) का नाम हो[283]- विष्टारपङिस्त्रतश्छन्दः। विष्टारबृहतीछन्दः।

उद्-पूर्वक ग्रह् से[284]- उद्ग्राह= ऊपर उठाना।

सम्पूर्वक ग्रह् से, जब धात्वर्थ मुष्टि-विषयक हो[285]- अहो मल्लस्य संग्राहः, मल्ल (पहलवान) का मुट्ठी बाँधना आश्चर्य है। सम्पूर्वक ग्रह् जोड़ना, इकट्ठा करना आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। मुष्टि विषय से अन्यत्र अप् होकर 'सङ्ग्रहः' रूप होगा। ध नसङ्ग्रहः। उक्तार्थसङ्ग्रहः = कहे हुए अर्थ का संक्षेप। तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् (कठ उ० १।२।१५)।

परिपूर्वक नी तथा निपूर्वक इण् से घञ्, यदि क्रम से द्यूत-विषयक और अभ्रेष विषयक प्रयोग हो[286]। किसी पदार्थ का दुर्व्यवहार, अपप्रयोग या अतिक्रम न करना, किन्तु जैसे चाहिए वैसे करना 'अभ्रेष' कहलाता है। परिनी-परिणायः शाराणाम्, पासों का घुमाना। अन्यत्र परिणय (अच् प्रत्यय) = विवाह। इस कर्म में भी घुमाना (परितो नयनम्) होता है। वेदिं परितो नयनं वरेण वध्वाः परिणयः। नि-इण्- न्यायः। यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोपि सहायताम् (अ० रा० १।४)। अन्यत्र निपूर्वक इण् से निर्बाध अच् होगा- न्ययं गतः पापः। न्यय = विनाश।

परिपूर्वक इण् से, जब अनुपात्यय (क्रमप्राप्त का अतिक्रम न करना, परिपाटी, बारी) अर्थ हो[287] - भुक्ता ब्राह्मणाः, एष पर्यायो राजन्यानाम्, ब्राह्मण खा चुके हैं, अब क्षत्रियों की बारी है। अन्यत्र कालस्य पर्ययः (अच् प्रत्यय) = काल का व्यतीत होना।

वि-उप-पूर्वक शीङ् से, जब पर्याय (क्रम) का बोध हो[288]- विशयिता गुरवो भवता, इदानीं मम विशायः। उपशयिताः पितृचरणास्त्वया, सम्प्रति ममोपशायः, तुम पूज्य पिताजी के समीप (उनकी देखभाल के लिए) सो चुके, अब मेरी बारी है। अन्यत्र अच् होकर विशय (= संशय, सन्देह) तथा उपशय (= घात) रूप होंगे। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति (निरुक्त ३।१)। (समासादि) वृत्तियां (रचनाएँ) सन्देह वाली होती हैं। हन्ति नोपशयस्थोपि शयालुर्मृगयुमृगान् (माध० २।८०)। घात लगाए बैठा हुआ ऊँघने वाला शिकारी मृगों को नहीं मार सकता।

'हाथ से चुनना' इस अर्थ की प्रतीति होने पर, अर्थात् अभीष्ट पुष्पादि पदार्थों के हाथ की पहुँच में होने पर, 'चि' से घञ् होता है, यदि चुनना चोरी से न किया गया हो[289]- कुसुमावचायः। पुष्पप्रचायः। दूरस्थित पुष्पादिको के चुनने में घञ् नहीं होगा- वृक्षशिखरे फलप्रचयं करोति। फलप्रचयश्चौर्येण यहाँ भी घञ् नहीं हुआ। कवियों की कृतियों में अवचाय के स्थान में अवचय का प्रयोग देखा जाता है और अवतर के स्थान में अवतार शब्द का प्रयोग भी बहुधा मिलता है। इस व्यत्यास पर 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' का कर्ता वामन लिखता है- अवतरावचायशब्दयोर्दीर्घव्यत्यासो बालानाम्। (५/२/४०)। माघ यथास्थान अवचाय शब्द का प्रयोग करता है- अविरतकुसुमावचायखेदात् (शिशु ०७।७१)। काव्यप्रकाश में भी अवचाय शब्द का स्थान में प्रयोग है- अन्यत्र यूयं कुसुमावचाय कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः।

---

280 यज्ञे समि स्तुवः (३।३।३१)।

281 प्रे स्त्रोऽयज्ञे (३।३।३२)।

282 प्रथने वावशब्दे (= वौ अशब्दे) (३।३।३३)।

283 छन्दोनाम्नि च (३।३।३४)।

284 उदि ग्रहः (३।३।३५)।

285 समि मुष्टौ (३।३।३६)।

286 परिन्योर्नीणोर्द्यूताऽभ्रेषयोः (३।३।३७)।

287 परावनुपात्यय इणः (३।३।३८)।

288 व्युपयोः शेतेः पर्याये (३।३।३६)।

289 हस्तादाने चेरस्तेये (३।३।४०)।

आदेय (जिसका आदान = चयन करना है) की प्रत्यासत्ति (समीपता) होने पर भी उद्पूर्वक 'चि' से घञ् नहीं होता[290] – उच्चयः पुष्पाणाम्। यहाँ अच् हुआ।

घञ्– 'चि' से निवास, चिति (चयन), शरीर तथा उपसमाधान (= राशीकरण, ढेर लगाना) अर्थों में घञ् होता है और धातु के आदि च् को क् आदेश भी होता है[291]– निकाय = निवास–स्थान। काशीनिकायः = काशीनिकायोऽस्य, काशीवासी। देवान् देवनिकायांश्च महर्षीश्चामितौजसः (मनु० १।३६)। देवनिकाया = देववेश्मानि (कुल्लूक)। 'चिति' में कर्म में क्तिन् है– चीयत इति। आकायः आचीयन्तेऽस्मिन्निष्टका इति। अधिकरण में घञ्। अग्निस्थलविशेष। आकायमग्निं चिन्वीत = चयनेन निष्पादयेत्, ऐसा अर्थ है। कायः शरीरम्। चीयतेऽस्थ्यादिकमस्मिन्निति। यहाँ भी अधिकरण में प्रत्यय है। गोमयनिकायः, गोबर का ढेर। यहाँ कर्म में प्रत्यय है। गोमयानां निकेचायः, गोबर का बार–बार ढेर लगाना। धातु के आदि को कादेश कहा है सो यहाँ यङ्लुगन्त धातु के आदि को कादेश हुआ है, अभ्यास से उत्तर 'च्' को नहीं। इन अर्थों को छोड़कर अन्यत्र अच् होकर चय, निचय आदि रूप होंगे।

चि धातु से सङ्घ वाच्य होने पर घञ् होता है, जहाँ औत्तराधर्य एक–दूसरे के ऊपर–नीचे हाना यह अर्थ न हो।[292] प्राणियों के समुदाय को संघ कहते हैं– ब्राह्मणानां निकायः (= सङ्घः), ब्राह्मणनिकायः। वैयाकरण–निकाये भाष्यकार इति प्रथते भगवान् पतञ्जलिः। पर औत्तराधर्य होने से प्राणिसमूह होते हुए भी 'सूकर. निचय' ऐसा ही अच्प्रत्ययान्त प्रयोग होगा। 'प्रमाणसमुच्चय' आदि में सङ्घ अर्थ न होने से घञ् का प्रसङ्ग ही नहीं।

णच्– कर्म–व्यतिहार (परस्परं करणम्, आपस में एक–सी क्रिया करना) गम्यमान होने पर धातुमात्र से णच् प्रत्यय होता है जब स्त्रीलिङ्ग वाच्य हो[293]। यह प्रत्यय भाव में ही होता है। णच्–प्रत्ययान्त का स्वतन्त्रतया प्रयोग नहीं होता। इससे परे अञ् तद्धित स्वार्थ में किया जाता है, तब यह प्रयोगार्ह होता है। व्यावक्रोशी, परस्पर अवक्रोशन = निन्दा। व्यावहासी, परस्पर हँसना। यहाँ णच् होकर स्वार्थिक अञ् (तद्धित) हुआ। तब अञन्त होने से स्त्रीत्व में ङीप् प्रत्यय हुआ। स्त्रीत्व वाच्य न होगा तो व्यतिपाक (आपस में पकाना) – यहाँ घञ् निर्बाध होगा। कहीं–कहीं बाधक (जैसे ण्यन्त से युच् प्रत्यय) विषय में भी बाहुलकात् णच् हो जाता है– व्यावचोरी, एक–दूसरे की चोरी। व्यावचर्ची, परस्पर पुनःपाठ।

इनुण्– अभिविधि = अभिव्याप्ति गम्यमान होने पर धातुमात्र से भाव में इनुण् (इन्) प्रत्यय है[294]। इनुणन्त का स्वतन्त्रतया प्रयोग नहीं होता। इससे स्वार्थिक तद्धित प्रत्यय अण् किया जाता है, तब यह प्रयोगार्ह होता है– सांराविणं वर्तते, चारों ओर शोर हो रहा है। यहाँ 'रु' धातु है। सम् शब्द अभिविधि का द्योतक है। अणन्त 'सांराविण' स्वभावतः नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। संराविन् (इनुणन्त) से अण् परे होने पर 'टि' का लोप नहीं हुआ, कारण कि अनपत्यार्थक अण् परे होने पर इन्नन्त प्रकृत्या = अपने स्वरूप में, अवस्थित रहता है[295]। इसी प्रकार सान्द्राविणं वर्तते, चारों ओर भगदड़ हो रही है। यहाँ 'द्रु' धातु है। सम् अभिविधि का द्योतक है।

घञ्– अव, नि–पूर्वक ग्रह् से, आक्रोश = शाप गम्यमान होने पर[296] अवग्राहो हन्त ते वृषल भूयात्, हे शूद्र, तुझे विघ्न उपस्थित हो। निग्राहस्ते पाप भूयात्, हे दुष्ट, तुझे दण्ड हो। आक्रोश न होने पर अवग्रहः पदस्य (पद का विभाग) यहाँ अप् हुआ। निग्रहश्चोरस्य, चोर का पकड़ना, अथवा चोर को दण्ड।

प्र– पूर्वक ग्रह् से, लिप्सा (प्राप्ति की इच्छा) की प्रतीति होने पर[297] पात्रप्रग्राहेण चरति भिक्षुः पिण्डार्थी, भोजन की चाह से भिक्षु पात्र लिये विचरता है। स्रुवप्रग्राहेण चरति द्विजो दक्षिणार्थी। लिप्सा की प्रतीति न हो तो अप् प्रत्यय होकर 'प्रग्रह' ऐसा रूप होगा– प्रग्रहो देवदत्तस्य, देवदत्त का बाँधे जाना। भाव में प्रत्यय। प्रग्रह कैदी (बन्दी) का भी नाम है– प्रग्रहोपग्रहौ बन्द्याम् – अमर। इस अर्थ में कर्म में अप्–प्रत्यय समझना चाहिए। रामायण (२।८२।१) में तामार्यगणसम्पूर्णां भरतः प्रग्रहां सभा– ऐसा पाठ है। वहाँ बाहर से आए हुए अतिथियों का जहाँ सभाजन (स्वागत) किया जाता है उस सभा को 'प्रग्रहा' कहा है। यहाँ 'प्रग्रह' स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होने से अबन्त (अप्–अन्त) नहीं हो सकता– ऐसा कहना ठीक नहीं, कारण कि 'घबजबन्ताः पुंसि' यह नियम भाव में अप्

---

290 उच्चयस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः (वा०)।

291 निवास–चिति–शरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः (३।३।४१)।

292 सङ्घे चानौत्तराधर्ये (३।३।४२)।

293 कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम् (३।३।४३)।

294 अभिविधौ भाव इनुण (३।३।४४)।

295 इनण्यनपत्ये (६।४।१६४)।

296 आक्रोशेऽवन्योर्ग्रहः (३।३।४५)।

297 प्रे लिप्सायाम् (३।३।४६)।

के लिए है।

परिपूर्वक ग्रह् से, यदि प्रत्ययान्त का प्रयोग यज्ञ-विषय में हो[298]- उत्तरः परिग्राहः। अधरः परिग्राहः। परिग्राह = वेदी के चारों ओर बाड़ लगाना।

निपूर्वक वृङ् अथवा वृञ् से, यदि प्रत्ययान्त धान्य का वाचक हो[299]। नीवारा नाम व्रीहयः। उपसर्ग को दीर्घ हुआ है। धान्य से अन्यत्र निवरा कन्या, ऐसे अप् प्रत्यय करके कहेंगे। निश्चितं व्रियत इति निवरा। कर्म में अप्।

उद्-पूर्वक श्रिञ् यु, पू, द्रु से[300]- श्रि उच्छ्राय (उन्नति, ऊँचाई)। यु-उद्याव। पू-उत्पाव। द्रु-उद्द्राव। पतनान्ताः समुच्छ्रयाः (रा० २।१०५।१६) यहाँ अच् कैसे हो गया? अगले सूत्र में जो 'विभाषा' पढ़ा है उसका इस सूत्र में सिंहावलोकित न्याय (= सिंह का पीछे की ओर देखना इस ढंग) से सम्बन्ध हो जाने से पक्ष में अच् हो जायगा।

आङ्पूर्वक रु तथा प्लु से घञ् विकल्प से[301]। पक्ष में यथाप्राप्त अप् होगा- आरावः। आरवः। आप्लावः। आप्लवः। स्नान। आङ्पूर्वक प्लु का नहाना अर्थ है- स्नातक आप्लुतो व्रती - अमर।

अव पूर्वक ग्रह् से घञ् विकल्प से। पक्ष में यथाप्राप्त अप्, जब वर्ष- प्रतिबन्ध = अनावृष्टि अर्थ हो[302]- वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम् (रघु० १।६२)। वृषेव सीतां तदवग्रहक्षताम् (कुमार० ५।६१)। इस अर्थ में घञन्त 'अवग्राह' का प्रयोग विरल है।

प्र-पूर्वक ग्रह् से विकल्प से घञ्, पक्ष में यथाप्रप्त अप्, यदि प्रत्ययान्त तुलासूत्र को कहे[303]- तुलाप्रग्राहेण चरति वणिगन्यो वा, तुलासूत्र से व्यवहार करता है बनिया अथवा कोई और। 'तुलाप्रग्रहेण' ऐसा भी कह सकते हैं।

रश्मि = बागडोर अर्थ में भी प्र-पूर्वक ग्रह् से विकल्प को घञ्[304]-प्रगृह्यतेऽश्वादिरेभिरिति प्रग्राहाः प्रग्रहा वा। यहाँ करण में प्रत्यय है। इस वर्ष में वस्तुगत बहुत्व को लेकर प्रग्रह, प्रग्राह, रश्मि का बहुवचन में प्रयोग होता है। इसी अर्थ में 'अभीषु' शब्द का भी बहुवचन में प्रयोग होता है- प्रगृह्यन्तामभीषवो यावदवतरामि (शाकुन्तल)।

प्रपूर्वक वृञ् से विकल्प से घञ्, पक्ष में यथाप्राप्त अप्, यदि प्रत्ययान्त आच्छादन-विशेष का नाम हो[305]- प्रावार (घञ्)। प्रवर (अप्)। पूर्वत्र 'उपसर्गस्य घञि' से उपसर्ग को दीर्घ भी होता है।

परि- पूर्वक भू से विकल्प से घञ्, पक्ष में यथाप्राप्त अप्, यदि प्रत्ययान्त अवज्ञान = तिरस्कार का अभिधायक हो[306]- परिभाव। परिभव। परिभवोपहारिणोऽनर्थाः। घञन्त परिभाव के उपसर्ग को दीर्घ करके 'परीभाव' भी कह सकते हैं- अनादरः परिभवः परीभावस्तिरस्क्रिया- अमर।

अच्- कृत्यल्युटो बहुलम् (३।३।११३) तक (इससे पहले-पहले) भावे और अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् की अनुवृत्ति आती है।

इकारान्त धातु से भाव में तथा यथासम्भव कर्तृ-भिन्न कारक में अच् प्रत्यय आता है[307]- इण्- अय। शुभ दैव। वि-पूर्वक - व्यय (खर्च, नाश)। आङ्पूर्वक - आय। प्र-आङ् पूर्वक - प्राय। अदन्त 'प्राय' का अर्थ भूमा बाहुल्य है और सर्वस्वत्यागपूर्वक अनशन द्वारा मरना भी अर्थ है- प्रायेणाकृतकृत्यत्वान्मृत्योरुद्विजते जनः। प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव (रघु० ८।६४)। चय। जि-जय, जीत। भाव में प्रत्यय। जयोऽश्वः। जयत्यनेनेति जयः। करण में प्रत्यय। ततो जयमुदीरयेत् इस भारत-वाक्य में भी 'जय में करण में प्रत्यय है। क्षि- क्षय, हानि, नाश। भाव में प्रत्यय। विषं पीत्वा क्षयं गतः - इस द्वयर्थक वाक्य में 'जल पीकर घर गया' यह भी अर्थ है। यहाँ 'क्षय' में अधिकरण में अच् हुआ है- क्षियति निवसत्यत्रेति क्षयः। क्षि निवासगत्योः। स्मरण रहे, भाव-आदि में अच्-प्रत्ययान्त पुंल्लिग होता है।

---

298 परौ यज्ञे (३।३।४७)।

299 नौ वृ धान्ये (३।३।४८)।

300 उदि श्रयति-यौति-पू-द्रुवः (३।३।४६)।

301 विभाषाऽऽङिरुप्लुवोः (३।३।५०)।

302 अवे ग्रहो वर्ष-प्रतिबन्धे (३।३।५१)।

303 प्रे वणिजाम् (३।३।५२)।

304 रश्मौ च (३।३।५३)।

305 वृणोतेराच्छादने (३।३।५४)।

306 परौ भुवोऽवज्ञाने (३।३।५५)।

307 एरच् (३।३।५६)।

भी, वृष् आदि से नपुंसकत्व-विशिष्ट भाव में क्त, ल्युट् न होकर अच् होता है, ऐसा वार्तिककार कहते हैं[308]- भयम्। वर्षम्। वृषभो वर्षणात् इस भाष्य-प्रयोग से ल्युट् भी होता है।

अप्- ऋकारान्त तथा उकारान्त धातुओं से भाव आदि में अप् होता है[309]। यह धातुमात्र से विहित घञ् का अपवाद है। यहाँ सूत्र में 'उ' को तपर (त् से परे भी 'तपर' होता है) नहीं पढ़ा है, केवल उच्चारण-सौकर्य के लिए 'उ' से पूर्व 'द्' पढ़ा है। ऋकारान्त कृ-कर। किरत्यनेनेति करः = हस्तः। शृ-शृणात्यनेन शरः। गृ-गीर्यते निगीर्यत इति गरः (विष)। विस्तृ-विस्तीर्यत इति विष्टरः, आसन। उकारान्त-स्तु-स्तवनं स्तवः (भाव में प्रत्यय)। स्तूयतेऽनेनेति वा, स्तोत्र। पू-पव। लू-लव (कटाई, अंश)। नूयते स्तूयते इति नवः, नया। कर्म में प्रत्यय। अदादि नु अथवा तुदादि नू। प्रपूर्वक सृ से अप् होकर 'प्रसर' निष्पन्न होता है। इसमें बहुल-ग्रहण कारण है। अथवा दीक्षित के अनुसार प्रसर, अवसर आदि में **'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण'** (३।३।११८) से 'घ' हुआ है, अप् नहीं। परिसरन्त्यत्रेति परिसरः, पर्यन्त-भूः, इर्द-गिर्द की भूमि। यहाँ भी 'घ' प्रत्यय हुआ है।

अप्- ग्रह्, वृङ्, दृ, निस्पूर्वक चि, गम् से भाव आदि में[310]- ग्रहणं ग्रहः गृह्यत इति वा। व्रियत इति वरः। कन्या जिसे पति-रूप में चुनती है उसे 'वर' कहते हैं। तपोभिरिष्यते यस्तु देवेभ्यः स वरो मतः, तपस्या द्वारा देवताओं से जिस पदार्थ की चाह की जाती है, उसे 'वर' कहते हैं। दृ-दर=दराड़। प्रवर=स्त्रीरोग विशेष अति रजःस्रुति। निस् चि-निश्चय। यहाँ अप् अच् का अपवाद है। गम्-गम। आगम। वश (अदा०, चाहना), तथा रण् (भ्वा०, शब्द करना) से भी वार्तिक के अनुसार अप् होता है[311]- वश=इच्छा। यही मुख्यार्थ है- व्रात्य यस्ते वशः, हे व्रात्य, जो तेरी इच्छा। यथा वशम्-यथेच्छम्। किंचित्स्ववशात् क्रियते किंचित्परवशात्। आयत्त तथा आयत्तता-ये 'वश' के औपचारिक अर्थ हैं- सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् (मनु० ४।१६०)। वश् से भाव में घञ् प्राप्त था, सो उसका यह अपवाद है। रणन्त्यस्मिन् योद्धार इति रणः। अधिकरण में अप्।

क- घञ् के अर्थ में वार्तिककार स्था, स्ना, पा, व्यध्, हन्, युध्- इन धातुओं से क (अ) प्रत्यय का विधान करते हैं[312]- प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन्निति प्रस्थः = सानु, पर्वत के ऊपर की समतल भूमि। प्रतिष्ठन्ते - चलन्ति, गतागतं कुर्वन्ति, संचरन्ति। अधिकरण में क। प्रस्नान्त्यस्मिन्निति प्रस्नः, नहाने के लिए पानी का भरा टब। प्रपिबन्त्यस्याम् इति प्रपा, पानीयशालिका, प्याऊ। आविध्यन्ति तेनेत्याविधः, मोची का टेकुआ। करण में प्रत्यय। विहन्यन्तेऽस्मिन्निति विघ्नः। अधिकरण में प्रत्यय। यहाँ 'क' परे रहते धातु की उपधा का लोप। लोप होने पर ह् और न् का आनन्तर्य होने से 'ह्' को घ्। आयुध्यन्तेऽनेनेत्यायुधम्, हथियार।

अन्यत्र भी शिष्टों के प्रयोगों में घञर्थ में 'क' देखा जाता है- उपाख्य। उपाख्यायते प्रत्यक्षत उपलभ्यत इत्युपाख्यः। उपाख्य से भिन्न अनुपाख्य = अनुमेय। सूत्रकार का प्रयोग भी है- द्वितीये चानुपाख्ये (६।३।८०)। स्रुघ्नः स्रुचोऽस्मिन्हन्यन्ते इति (कैयट)। आढ्य - यहाँ भी आङ्पूर्वक ध्यै से 'क' प्रत्यय हुआ है और पृषोदरादि होने से ध् को ढ्। आध्यायन्ति तम् इत्याढ्यः। अर्थी अथवा दरिद्र लोग जिसका उत्सुकतापूर्वक स्मरण करते हैं। आढ्य = धनी।

अप्- उपसर्गपूर्वक अद् से अप्[313]- विघस। प्रघस। घञ् तथा अप् परे रहते अद् को घस्लृ (घस्) आदेश होता है। विघस भोजन-शेष को कहते हैं। ब्राह्मण, अतिथि-आदि के भोजन करने के पश्चात् जो अन्न बचे उसे विघस कहते हैं। मनु का वचन भी है- विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं चामृतभोजनः। विघसो भुक्तशेषं स्याद् यज्ञशिष्टमथामृतम् (४।२८५)।। उपसर्ग के अभाव में 'घास' ऐसा घञन्त रूप होगा।

ण- निपूर्वक अद् से 'ण' प्रत्यय होता है और अप् भी[314] न्याद (ण)। णान्त का स्वभाव से पुल्लिग में प्रयोग होता है- न्यादः। निघस (अप्)।

अप्- व्यध् तथा जप् से भाव आदि में अप्, जब उपसर्ग न हो[315]- व्यध। जप। उपसर्ग होने पर तो घञ् होगा- आव्याध। उपजाप (कानाफूसी)। आ समन्ताद् व्यधनम् आव्याधः। उपेत्य जपनं कर्णे कथनम् उपजापः।

---

308 अज्विधौ भयादीनामुपसंख्यानम् (वा०)।

309 ऋदोरप् (३।३।५७)।

310 ग्रह-वृ-दृ-निश्चि-गमश्च (३।३।५८)।

311 वशि-रण्योरुपसंख्यानम् (वा०)।

312 घञर्थे क-विधानं स्था-स्ना-पा-व्यधि-हनि-युध्यर्थम् (वा०)।

313 उपसर्गेऽदः (३।३।५६)।

314 नौ ण च (३।३।६०)।

315 व्यध-जपोरनुपसर्गे (३।३।६१)।

स्वन्, हस् से विकल्प से अप्, जब उपसर्ग न हो[316] स्वन (अप्)। स्वान = शब्द (घञ्)। हस (अप्)। हास (घञ्)। उपसर्ग होने पर तो नित्य घञ् होगा - प्रस्वान। प्रहास। उपहास। परिहास। यहाँ सर्वत्र भाव में प्रत्यय है। स्मरण रहे, भाव-घञन्त नित्य पुंल्लिङ्ग होते हैं।

सम्, उप, नि, वि-इन उपसर्गों के उपपद होने पर और उपसर्गाभाव में भी यम् धातु से विकल्प से अप् आता है, पक्ष में औत्सर्गिक घञ् भी[317]- संयम। संयाम। यम। याम। उपयम (स्वीकार, विवाह) उपयाम। नियम नियाम। वियम। वियाम। सोपसर्गक घञन्तों का साहित्य में प्रयोग विरल है। शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। 'याम' का प्रहर (पहर) अर्थ भी है-त्रियामा यामिनी रात्रि।

'नि' उपपद होने पर गद्, नद्, पठ्, स्वन् से विकल्प से अप्[318]। पक्ष में घञ्- निगद। निगाद (घञ्)। एतन्निगदव्याख्यातम्, यह पाठ से ही व्याख्यात है। व्याख्या की अपेक्षा नहीं। निनद। निनाद। निपठ। निपाठ। निस्वन। निस्वान। उपसर्गाभाव में बाहुलक[319] से गद् से अच् होकर 'गद' (वाक्य, भाषण)। नद्, पठ्, स्वन् से घञ् होकर नाद, पाठ, स्वान- ये रूप होंगे।

निपूर्वक क्वण् से विकल्प से अप्, तथा उपसर्गाभाव में भी। वीणा-विषयक प्रयोग में 'नि' से अतिरिक्त कोई और उपसर्ग होने पर भी- अप् विकल्प से[320]- निक्वण। निक्वाण (घञ्)। क्वण। क्वाण (घञ्)। प्रक्वणः प्रक्वाणो वा वीणायाः। कल्याणप्रक्वणा वीणा।

उपसर्गाभाव में मद् से अप्, अन्यत्र यथाप्राप्त घञ्[321]- मद। विद्यामद। कुलमद। प्रमाद। प्रमादोऽनवधानता- (अमर) उन्माद, पागलपन। उन्मादश्चित्तविभ्रमः - अमर।

प्रमद, सम्मद, दोनों हर्ष-अर्थ में अप्-प्रत्ययान्त निपातन किए हैं।[322] सोपसर्गक मद् से अप् की प्राप्ति नहीं थी। कन्यानां प्रमदः। कोकिलानां सम्मदः।

सम्, उद्पूर्वक अज् (= गति, क्षेपण) से अप्, यदि धात्वर्थ का विषय पशु हो[323]- सम्पूर्वक अज् समुदाय अर्थ को कहता है और उद्पूर्वक प्रेरण (हाँककर निकालना) को। समजःपशूनाम्। उदजःपशूनाम्। अन्यत्र समाजो ब्राह्मणानाम्, ब्राह्मणों का समुदाय। उदाजःक्षत्रियाणाम्, योद्धाओं का (सेनानी द्वारा) युद्धार्थ ले जाया जाना, अथवा प्रयाण।

स्मरणीय बिंदु-

1. **घञन्त शब्दों का लिंग :** घञ् प्रत्यय से बने हुए जितने भी शब्द होते हैं, वे व्याकरण के नियमों के अनुसार हमेशा पुल्लिंग में ही प्रयुक्त होते हैं (जैसेः पाकः, रागः, रोगः, मोदः)।
2. **कारक का नियम :** ये प्रत्यय कर्ता को छोड़कर अन्य सभी कारकों (जैसे कर्म- प्रसेवः, करण- आविर्धः, अधिकरण- प्रस्थः, रणः) को दर्शाने के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं।

शब्दावली-

1. **घञ् प्रत्यय :** धातु से भाव और कर्ता से भिन्न कारकों में घञ् प्रत्यय होता है, यह घित् और ञित् होने के कारण धातु के चकार और जकार को कुत्व (कवर्ग) तथा अच को वृद्धि कार्य करता है (जैसेः पच् + घञ् = पाकः, त्यज + घञ् = त्यागः)।
2. **अप् प्रत्यय :** घञ् प्रत्यय के अपवाद के रूप में कुछ विशिष्ट धातुओं से (जैसे ऋकारान्त, उकारान्त या उपसर्गपूर्वक धातुओं से) भाव या अधिकरण अर्थ में अप् (अ) प्रत्यय होता है (जैसेः सम् + भू + अप् = सम्भवः, वश + अप् = वशः)।
3. **क प्रत्यय :** कुछ विशिष्ट धातुओं (जैसे- स्था, स्ना, पा, हन् आदि) के साथ जब कोई उपपद या उपसर्ग जुड़ा हो, तो अधिकरण या करण आदि कारकों में क (अ) प्रत्यय होता है, जिससे धातु की उपधा का लोप हो जाता है (जैसेः प्र + स्था + क = प्रस्थः)।

---

316 स्वन-हसोर्वा (३।३।६३)।

317 यमः समुप-नि-विषु च (३।३।६३)।

318 नौ गद-नद-पठ-स्वनः (३।३०६४)।

319 कृत्यल्युटो बहुलम्। यहाँ बहुल-ग्रहण से दूसरे कृत्-प्रत्यय भी अपने अभिधेय को छोड़ जाते हैं, इससे यहां पचाद्यच् कर्म में हुआ है।

320 क्वणो वीणायां च (३।३।६५)।

321 मदोऽनुपसर्गे (३।३।६७)।

322 प्रमद-संमदौ हर्षे (३।३।६८)।

323 समुदोरजः पशुषु (३।३।६६)।

4. **कुत्व विधान :** घञ् या अन्य घित् प्रत्यय परे होने पर धातु के अन्त में स्थित च् को क् और ज् को ग् आदेश हो जाना कुत्व कार्य कहलाता है।

15 अंक के प्रश्न -

1. भाववाचक तथा कर्तरि-भिन्न कारक-वाचक प्रत्यय किसे कहते हैं? घञ् और अप् प्रत्ययों के अंतर को स्पष्ट करते हुए पाकः, त्यागः, सम्भवः और रणः पदों की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

5 अंक के प्रश्न -

1. घञ् प्रत्यय के घित् और ञित् होने से धातु में क्या-क्या मुख्य व्याकरणिक परिवर्तन होते हैं?
2. क प्रत्यय के योग से बने प्रस्थः और प्रपा शब्दों का अर्थ और उनकी कारक स्थिति (अधिकरण/करण) स्पष्ट कीजिए।
3. वशः और रागः शब्दों में प्रकृति (धातु) और प्रत्यय को अलग-अलग करके लिखिए।
4. तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः नियमों के आधार पर भाव और कारक अर्थों के प्रयोग को संक्षेप में समझाइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. पाणिनीय व्याकरण के अनुसार घञ् प्रत्ययान्त शब्द हमेशा किस लिंग में होते हैं?

(क) स्त्रीलिंग
(ख) नपुंसकलिंग
(ग) पुल्लिंग
(घ) उपर्युक्त सभी में

2. रञ्ज धातु से करण या भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर कौन सा रूप सिद्ध होता है?

(क) रञ्जः
(ख) रागः
(ग) रङ्गः
(घ) रञ्जनम्

3. उपसर्गपूर्वक स्था धातु से क प्रत्यय होने पर अधिकरण अर्थ में कौन सा शुद्ध पद बनता है?

(क) प्रस्थितः
(ख) प्रस्थानम्
(ग) प्रस्थः
(घ) प्रस्थेयः

इकाई-3.2 स्त्र्यधिकारोक्त कृत्

उद्देश्य -

1. छात्रों को अष्टाध्यायी के स्त्रियाम् (स्त्रीत्व की विवक्षा) अधिकार में आने वाले स्त्र्यधिकारोक्त कृत् प्रत्ययों के नियमों और भेदों से गहराई से परिचित कराना।
2. धातुओं से स्त्रीलिङ्ग भाववाचक और कारकवाचक शब्द बनाने के लिए प्रयुक्त होने वाले सूत्रों (जैसे- क्तिन्, अङ् आदि) का ज्ञान कराना।
3. इन प्रत्ययों से होने वाले विशिष्ट व्याकरणिक परिवर्तनों (जैसे- उपधा-लोप, गुण-निषेध, ति-भाव) तथा वाक्यों में स्त्रीलिङ्ग संज्ञाओं के शुद्ध प्रयोग की क्षमता विकसित करना।

स्त्र्यधिकारोक्त कृत्-प्रत्यय

क्तिन्- स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव-आदि अर्थों में धातुमात्र से क्तिन् (ति) प्रत्यय आता है।[324] घञ् का अपवाद है। अच् और अप् को परे होने से बाधता है। क्तिन् वलादि आर्धधातुक कित्-प्रत्यय है। सेट्। धातुओं से इट् प्राप्त था, सो **ति-तु-त्र-त-थ-सि-सु-सर-क-सेषु (७।२।६)** से रुक जाता है। कित् होने से धातु को गुण नहीं होता- अशूङ् (अश्) - अष्टि। इड् विकल्प प्राप्त था। इट् का अत्यन्ताभाव रहता है। विपूर्वक- व्यष्टि। सम्पूर्वक-समष्टि। वन्-वति। तन् - तति। वन्, तन् उदात्तोपदेश अर्थात् सेट् हैं, पर यहाँ इट् नहीं हुआ। प्रत्यय के झलादि कित् होने से अनुनासिक-लोप हुआ है। गम् - गति। यम् - यति। रम् - रति। मन् - मति। नम् - नति। हन् - हति। (= आघात, घात)। गम् आदि अनुदात्तोपदेश हैं, अतः अनुनासिक-लोप हुआ। अधि - इङ् - अधीति (पढ़ना)। इण्-इति। प्रतिपूर्वक - प्रतीति (ज्ञान, बोध)। ईङ् (गत्यर्थक दिवा०) - ईति। अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। अत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः। कृ-कृति। चि- चिति। विपूर्वक - विचिति, ढूंढ, खोज, तलाश, परीक्षा, विचार। छन्दोविचिति, वृत्तपरीक्षा। नी-नीति। री(ङ्) बहना-रीति। रीतीर्निवर्तयामास काञ्चनाञ्जनराजतीः (हरिवं० २।४२।६०)। रीति = धारा। इस प्रयोग में मूल धात्वर्थ उपस्थित है। परम्परा, रचना-विशेष (शैली), प्रकार आदि सब गौण अर्थ हैं। नु- नुति। स्तु-स्तुति। विपूर्वक क्लिद् विक्लिति। तण्डुलादि के अवयवों का शिथिल होना। दो दिति। मा मिति। अनुपूर्वक अनुमिति। उपपूर्वक उपमिति। स्था - स्थिति। स्फाय् - स्फाति, वृद्धि, समृद्धि। अप-चाय् (पूजा करना) - अपचिति। यहाँ चाय् को 'चि' नित्य[325] होता है। निष्ठा में विकल्प से। अर्द - अर्त्ति। इडभाव। विनश्-विनष्टि। न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः (केन उप०)।

आप् आदि धातुओं से क्तिन् होता है, ऐसा वार्तिक पढ़ा है[326]- आप्ति (प्राप्ति)। राध्-राद्धि (= सिद्धि)। दीप् -दीप्ति। आप् आदि के लिए प्रयोगों का अनुसरण करना होगा। सुपूर्वक अस्- स्वस्ति। ध्वंस् - ध्वस्ति। यह वार्तिक 'गुरोश्च हलः' (३।३।१०३) जो 'अ' विधान करता है, उसका अपवाद है। लभ् - लब्धि। यहाँ षित् (डुलभष्) होने से अङ् प्राप्त था। उसका अपवाद क्तिन् होता है।

श्रु, यज्, इष्, स्तु-से करण कारक में[327]- श्रूयतेऽनया श्रुतिः, श्रोत्रम्। इज्यन्ते पूज्यन्ते देवा अनयेति इष्टिर्यागः। प्रत्यय के कित् होने से सम्प्रसारण। इष् से भी इष्टि। स्तु - स्तुति। स्तूयतेऽनयेति स्तुतिः स्तोत्रम्। करण में ल्युट् की प्राप्ति थी।

नि- ग्लै, म्लै, ज्या, हा से 'नि'[328] ग्लानि। म्लानि। ज्यानि (हानि)। हानि। ग्लै, म्लै को उपदेशावस्था में ही 'आत्व' हो जाता है। ज्या को ङित् प्रत्यय परे रहते सम्प्रसारण होता है। यहाँ प्रत्यय ङित् नहीं, सो सम्प्रसारण नहीं हुआ। ऋकारान्त धातुओं से तथा लू आदि से क्तिन् निष्ठा की तरह होता है अर्थात् क्तिन् के त् को न् होता है[329]-कृ-कीर्णि। कीर्णि। जृ-जीर्णि। जीर्णि। शृ-शीर्णि। शीर्णि। अचो रहाभ्यां द्वे (८।४।४६) से यर् (यहाँ ण्) को वैकल्पिक द्वित्व होता है। लू-लूनि (कटाई)। यु (क्र्यादि)- यूनि।

क्विप्- सम्पत्, विपत्, प्रतिपत् - इत्यादिक शब्दों में पद् से क्विप् देखा जाता है।[330] क्तिन् भी इष्ट है[331] - सम्पत्ति। विपत्ति।

---

324 स्त्रियां क्तिन् (३।३।६४)।

325 चायतेः क्तिनि चिभावो वाच्यः (वा०)

326 क्तिन्नाबादिभ्यः (वा०)।

327 श्रु-यजीषि-स्तुभ्यः करणे (वा०)।

328 ग्ला-म्ला-ज्या-हाभ्यो निः (वा०)।

329 ऋकार-ल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद् भवतीति वक्तव्यम् (वा०)।

330 सम्पदादिभ्यः क्विप् (वा०)।

331 क्तिन्नपीष्यते (वा०)।

प्रतिपत्ति। ययाऽग्निः समिध्यते सा समित्।

क्तिन्- स्था, गै (गा), पा, पच्-से क्तिन्[332]। सोपसर्गक आकारान्तों से अङ् प्राप्त था। पच् से भी धातु के षित् (डुपचष्) होने से अङ् प्राप्त था। स्था-प्रस्थिति। गै-संगीति। पा-प्रपीति। सम्पीति। पच्-पक्ति। यहाँ भाव में ही प्रत्यय का विधान है। यदि क्तिन् अङ् का बाधक है तो अवस्था, संस्था आदि कैसे बनेंगे। सूत्रकार का 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्' (१।१।३४) में व्यवस्था शब्द का प्रयोग ज्ञापक है कि अङ् का अत्यन्त बाध नहीं होता।

क्यप्- व्रज, यज् से भाव में[333] व्रज्या। इज्या। क्यप् स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव में विहित हुआ है, अतः क्यबन्त से टाप् हुआ। प्रत्यय के कित् होने से यज् को सम्प्रसारण।

सम्-पूर्वक अज्, निपूर्वक सद् (निषद्), निपूर्वक पत्, मन्, विद्, षुञ्, शीङ्, भृञ्, इण्- इनसे भाव आदि में क्यप् होता है जब प्रत्ययान्त संज्ञा हो[334]- समज्या (सभा)। समजन्त्यस्याम् इति। क्यप् परे रहते अज् को 'वी' नहीं होता, ऐसा वार्तिककार कहते हैं। निषीदन्त्यस्याम् इति निषद्या (खटिया, आपण, दुकान)। निपत्या-निपतन्त्यस्याम् इति, पिच्छिला भूः। मन्-मन्यते क्रुद्धो ज्ञायतेऽनयेति मन्या, गलशिरा, गले की रग। विद्-विद्या। विदन्त्यनयेति। षुञ् सुत्या, अभिषव। शीङ् शय्या। शेतेऽस्याम्। शी के 'ई' को अयङ् कित् प्रत्यय परे होने से[335]। भृञ्-भृत्या (भरण)। कुमारभृत्या। इण्-एति अनयेति इत्या शिबिका (डोली, पालकी)।

श, क्यप् क्तिन्- कृ से क्यप्, श (अ) तथा क्तिन् होते हैं भाव आदि में[336] -कृत्या (क्यप्)। क्रिया (श)। ऋ को 'रि'[337]। कृति (क्तिन्)।

श- 'इच्छा' यह श-प्रत्ययान्त निपातन किया है।[338] 'श' सार्वधातुक है। भाव-कर्म में यक् होना चाहिये था, वह नहीं हुआ। इष् को इच्छ् आदेश तो हो गया। यहाँ 'श' भाव में ही हुआ है।

परिचर्या, परिसर्या, मृगया, अटाट्या[339]- ये परिपूर्वक चर्, परिपूर्वक सृ, अदन्त चुरा० मृग, तथा अट् से 'श'-प्रत्ययान्त निपातन किये हैं।

जागर्या- यह जागृ से श-प्रत्ययान्त निपातन किया है।

अ- जागृ से 'अ' भी होता है[340]-जागरा (जागना)। टाप्।

सन् आदि प्रत्ययान्त से अ[341]- चिकीर्षा। कर्तुमिच्छा। अ-प्रत्यय होकर - टाप्। जिहीर्षा। हर्तुमिच्छा। पुत्रीया। क्यच्-प्रत्ययान्त से अ, तब टाप्। लोलूया। यङन्त लू से अ, तब टाप्। पोपूया। यङन्त पू से अ, तब टाप्। सेसिचा। यङ्लुगन्त सिच् से अ। निसेसिचा। यहाँ सिचो यङि (८।३।११२) से उपसर्ग-निमित्तक षत्व तथा अभ्यास से परे धातु को षत्व नहीं होता। -चङ्क्रमा। यङ्लुगन्त क्रम् से अ।

छत्रादिभ्यो णः (४।४।६२) में 'चुरा' शब्द पढ़ा है। यहाँ निपातन से 'अ' प्रत्यय और गुणाभाव हुआ है। ण्यन्त होने से युच् की प्राप्ति थी।

हलन्त धातु जो गुरुमान् (जिसमें गुरु अक्षर हो) हो, उससे भी अ[342] = ईहा (चेष्टा)। ऊहा। ईक्षा। भिक्षा। शिक्षा। हिंसा। कुण्डा (दाह)। हुण्डा। लज्जा। ईड् - इडा। यहाँ इडाया वा (८।३।५४) इस निर्देश से ह्रस्व हुआ है। कुत्सा। परिभाषा। न खलु प्रतिहन्यते कुतश्चित् परिभाषेव गरीयसी तदाज्ञा (शिशु० १६।८०)। शिञ्जा (शिजि अव्यक्ते शब्दे)। धनुर्गुणः (धनुष की डोरी)। ईषा। ईष् भ्वा० गत्यादि अर्थों में। मनस ईषा = मनीषा। शकन्ध्वादि होने से पररूप। जो धातु निष्ठा में सेट्, उसी से 'अ' प्रत्यय होता है।[343] अतः

---

332 स्था-गा-पा-पचो भावे (३।३।६५)

333 व्रज-यजोर्भावे क्यप् (३।३।६८)।

334 संज्ञायां समज-निषद-निपत-मन-विद-षुञ्-शीङ्-भृञ् -इणः। (३।३।९९)

335 अयङ् यि क्ङिति (७।४।२२)।

336 कृञः श च (३।३।१००)।

337 रिङ् श-यग्-लिङ्क्षु (७७४।२८)।

338 इच्छा (३।३।१०१)।

339 परिचर्या-परिसर्या-मृगयाऽटाट्यानामुपसंख्यानम् (वा०)।

340 जागर्तेरकारो वा (वा०)।

341 अ प्रत्ययात् (३।३।१०२)।

342 गुरोश्च हलः (३।३।१०३)।

343 निष्ठायां सेट इति वक्तव्यम् (वा०)।

आप् से नहीं - आप्ति।

अङ्- षित् तथा भिद् आदि धातुओं से भाव आदि[344] जृष् - जरा। ऋदृशोऽङि गुणः (७।४।१६) से गुण। त्रपूष् - त्रपा। क्षमूष् - क्षमा। भिद् - भिदा (फाड़ना)। भिदा विदारणे (ग० सू०)। पर दीवार अर्थ में भित्ति (क्तिन्)। छिद - छिदा। छिदा द्वैधीकरणे (ग० सू०)। दो टुकड़े करना। अर्थान्तर (छिद्र) में क्तिन् - छित्ति। मृज् - मृजा (शुद्धि, संस्कार)। क्षिप् - क्षिपा। गुह् - गुहा। (पर्वत का एक देश, गुफा, ओषधि)। अर्थान्तर (छिपाना) में क्तिन् होकर गूढि। श्रत् - पूर्वक धा - श्रद्धा। श्रत् = सत्य। अङ्, कि - विधि के लिये श्रत् को उपसर्ग मान लिया जाता है[345]। मिध् अथवा मेध् भ्वा० आ० सेट् - मेधा। मेधन्ते संगच्छन्तेऽनयेति। आरा = प्रतोद, आर। ऋ को गुण होकर दीर्घ होता है निपातन से[346]। अर्यन्ते प्रेर्यन्तेऽनयाश्वा इति। अर्थान्तर में आङ्-पूर्वक ऋ से क्तिन्-आर्ति (दुःख, कष्ट, रोग)। हृ-हारा। गुण होकर दीर्घ। कृ - कारा। कुर्वन्त्यत्रेति। गुण तथा दीर्घ निपातन किये हैं। कारा बन्दिगृह को कहते हैं। क्षि - क्षिया। 'क्षि क्षये' से अथवा 'क्षि निवासगत्योः' से अङ्। 'इ' को इयङ्। क्षिया धर्म-व्यतिक्रम अथवा आचार-परित्याग को कहते हैं। हेति क्षियायाम् (८।१।६०) में आचार्य इस अर्थ में इसे प्रयुक्त करते हैं। तृ-तारा (आँख की पुतली, तारका)। धृञ्-धारा[347] (प्रपात)। धार्यते प्रपात्यत इति। अर्थान्तर में क्तिन् होकर धृति। लिख् - लेखा। रेखा। यहाँ ल को रेफादेश हुआ है। गुण निपातन से हुआ है। चुद् (चुरा०) से - चूडा। यहाँ उपधा-दीर्घ और द् को ड् निपातन से हुए हैं। ण्यन्त से युच् की प्राप्ति थी। पीड् (चुरा०) - पीडा। वप् - वपा। वस् (निवासे) - वसा। अथवा वस आच्छादने से। सृज् - सृजा। क्तिन् भी इष्ट है- सृष्टि। क्रप् - कृपा। इसे सम्प्रसारण होता है ऐसा गणसूत्र है[348]। क्रप्, कृपा तथा गति-अर्थ में भ्वादिगण में अनुदात्तेत् पढ़ी है। भिदादि आकृतिगण है, ऐसा स्वीकार करने से रुजा, तुला, दोला आदि अङन्त साधु हैं। 'तुला' का नौवयोधर्म (४।४।६१) सूत्र में प्रयोग भी है। दुल् उत्क्षेपे यह चुरादि धातु है, इससे युच् प्राप्त था।

अङ्- चिन्त्, पूज्, कथ्, कुम्ब्, चर्च् - इन चुरा० ण्यन्त धातुओं से अङ् होता है[349], यथाप्राप्त युच् नहीं - चिन्ता। पूजा। कथा। कुम्बा (आच्छादन)। चर्चा। चर्च अध्ययने, चुरा०।

उपसर्ग उपपद होने पर आकारान्त धातुओं से[350]- प्रदा। उपदा। (उपग्राह्य, भेंट)। उपधा (धर्म, अर्थ, काम, भय आदि से अमात्य आदि का राजा द्वारा परीक्षण)। विधा (भृत्या, भृति, वेतन)। कर्मणि विधीयन्तेऽनयेति। विधा के समृद्धि, गजान्न, प्रकार - ये भी अर्थ हैं। सु-पूर्वक धेट् (धा) से सुधा। सुष्ठु धीयते पीयत इति, अमृत। श्रत् तथा अन्तर् को उपसर्ग मानकर - श्रद्धा। अन्तर्धा। (अन्तर्धि, छिपना)। आहूति, संहूति- ये उपसर्ग-पूर्वक ह्वेञ् (ह्वा) से बाहुलक से क्तिन् प्रत्यय करके साधु हैं। प्रमाङ् - प्रमा। सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा। उपमाङ् - उपमा। उपमानमुपमा। उपमीयतेऽनयेति वा।

युच्- ण्यन्त धातु से, आस् (बैठना), श्रन्थ् से युच् (अन)[351]। तब स्त्रीत्व-द्योतन के लिए टाप्। चुद् - चोदना (प्रेरणा, विधायक वाक्य)। वास् (चुरा०) - वासना। रस् (चुरा०) - रसना (जिह्वा)। रसयत्यास्वादतेऽनयेति। घट् णिच् - घटना। यन्माहात्म्यवशेन यान्ति घटनां कार्याणि निर्यन्त्रणम् (राज० ४।३६५)। कारि (कृ णिच्) - कारणा (परीक्षा)। कारणिक = परीक्षक। यत् (चुरा०) - यातना। नारकी यातना, नरक की पीडा। आस् - आसना। श्रन्थ् - श्रन्थना। श्रन्थ् यहाँ क्र्यादि ली जाती है जिसका विमोचन (खोलना, ढीला करना) अर्थ है; चुरादि श्रन्थ् नहीं, जिसका अर्थ है, ग्रन्थन करना। उससे ण्यन्त होने से युच् सिद्ध है।

चलने घट्ट (तुदादि), वन्द् (भ्वा०), विद् लाभार्थक (तुदा०) से युच् होता है ऐसा वार्तिक पढ़ा है[352]- घट्टना। वन्दना। वेदना। चुरादि विद् से तो युच् सिद्ध ही है। वेदना अनुभव। दुःखानुभव में रूढ़ हो गया। विद् जाने (अदा०) से क्तिन् निर्बाध होता है-संवित्ति।

अनिच्छार्थक इष् से युच् हो, ऐसा वार्तिक है[353]- अध्येषणा (सत्कारपूर्वक कार्य करने की प्रार्थना)। अन्वेषणा = अनुसन्धान, ढूंढ़। इष् गत्यर्थक (दिवा०) से युच्।

---

344 षिद्भिदादिभ्योऽङ् (३।३।१०४)।

345 श्रदन्तरोरुपसर्गवद् वृत्तिः।

346 आरा शस्त्र्याम् (ग० सू०)।

347 धारा प्रपाते (ग० सू०)।

348 क्रपेः सम्प्रसारणं च (ए० सू०)।

349 चिन्ति-पूजि-कथि-कुम्बि-चर्चश्च (३।३।१०५)।

350 आतश्चोपसर्गे (३।३।१०६)।

351 ण्यास-श्रन्थो युच् (३।३।१०७)।

352 घट्टि-वन्दि-विदिभ्यश्च (वा०)

353 इषेरनिच्छार्थस्य युज् वक्तव्यः (वा०)।

परिपूर्वक अनिच्छार्थक इष् से युच् विकल्प से[354]- पर्येषणा। परीष्टि (क्तिन्)। (परीक्षा)।

ण्वुल्- यदि प्रत्ययान्त रोग का नाम हो तो बहुलतया धातु से ण्वुल् (अक्) होता है[355]। प्र-छर्द् - प्रच्छार्दिका (वमन का रोग)। वि-चर्च् (चुरा०) - विचर्चिका (= पामा, गीली खुजली)। चर्च् अध्ययन-अर्थ में पड़ी है। प्रत्यय और उपसर्ग के योग से अर्थान्तर हुआ है। प्र-वह्- प्रवाहिका = संग्रहणी। भाव में प्रत्यय। वि-पद्- विपादिका बिवाई। विपद्यते क्लिश्यतेऽनया। करण में प्रत्यय। बहुलग्रहण से अरोचक पुं० (अरुचि, खाने-पीने की चाह न होना) - यहाँ स्त्रीलिंग नहीं हुआ। इस रोग वाले को अरोचकिन् कहते हैं। (मत्वर्थीय इनि)।

धात्वर्थ निर्देश में ण्वुल्[356]- आस् - आसिका (बैठना)। शी - शायिका (सोना, लेटना)। भिद् - भेदिका (तोड़-फोड़)। चर्च - चर्चिका (अध्ययन)।

इक्, श्तिप्- धातु के निर्देश में इक् और श्तिप् प्रत्यय आते हैं[357]। श्तिप् (ति) शित् होने से सार्वधातुक है। अकर्तृवाचक होने पर भी इसके परे रहते धातु से शप् आता है। इक् (इ) विदि। भिदि। छिदि। पचि। कित् होने से गुण नहीं हुआ। श्तिप् - पच. ति। पठति। इगन्त और श्तिबन्त पुंल्लिग में प्रयुक्त होते हैं। सम्पूर्वको भिदिः संगमने वर्तते। द्व्यर्थः पचिर् इति भाष्यम्। पठतिर्व्यक्तायां वाचि भूवादिषु पठितः।

इण्- अज् आदि धातुओं से[358]। ण्वुल् का अपवाद। आजि। आति। आजि (युद्ध) स्त्रीलिंग है। आति पक्षि-विशेष की संज्ञा है।

इक्- कृष् आदि से[359]। कृष्- कृषि। कृ- किरि = सूकर। गृ-गिरि = पर्वत। कृष्यतेऽसौ कृषिः। किरति भूमिम् इति किरिः। बाहुलक से कर्ता में प्रत्यय।

इञ्, ण्वुल्- प्रश्न और उत्तर के गम्यमान होने पर धात्वर्थ - निर्देश में धातु से इञ्, ण्वुल् होता है, और जो कोई अन्य प्रत्यय प्राप्त होता है वह भी विकल्प से होता है[360]- कां कारिमकार्षीः। कां कारिकामकार्षीः। कां क्रियामकार्षीः (श-प्रत्यय)। कां कृत्यामकार्षीः (क्यप्)। कां कृतिमकार्षीः (क्तिन्)। उत्तर-सर्वां कारिमकार्षम्। सर्वां कारिकामकार्षम्। सर्वां क्रियामकार्षम् सर्वां कृत्यामकार्षम्। सर्वां कृतिमकार्षम्। कां गणिमजीगणः, तूने कौन-सी गिनती की। गण् चुरा० अदन्त है। कां गणिकाम् (= गिनती) अजीगणः। कां गरणनामजीगणः। यहाँ चुरा० अदन्त गण से युच् हुआ है। इसी प्रकार कां याजिम्, कां याजिकाम्, कां याचिम्, कां याचिकाम्, कां पाचिम्, कां पाचिकाम्, कां पचाम् (अङ्), कां पक्तिम्। कां पाठिम्, कां पाठिकाम् (पढ़ाई), कां पठितिम् इत्यादि जाने। कां स्थायिम्, कां स्थायिकाम्। कां स्थितिम्। यहाँ प्रत्यय के ञित् णित् होने से धातु को युक् - आगम हुआ है। पठ् से क्तिन् परे रहते 'ति' तुतत्रतथ- (७।२।६) से इट् का निषेध नहीं हुआ, कारण कि वार्तिककार का कहना है कि ग्रह् आदि धातुओं से यह निषेध नहीं होता[361]।

ण्वुच्- पर्याय (परिपाटी, क्रम), अर्हण (योग्य होना), ऋण, उत्पत्ति - इन अर्थों के द्योत्य होने से ण्वुच् होता है। ण, च् इत्संज्ञक है[362]। 'वु' के स्थान में 'अक' आदेश होता है। पर्याय-अर्थ में- भवतः शायिका, आपके सोने की वारी। भवतोऽग्रग्रासिका (पहले खाने की बारी)। भवतोऽग्रगामिका (आगे चलने की बारी) अहं-अर्थ में- अर्हति भवान् इक्षुभक्षिकाम् (ईख का चूसना)। ऋण-अर्थ में इक्षुभक्षिकां मे धारयसि, जो तने इक्षु-भक्षण किया वह ऋण तूने मुझे देना है। इसी प्रकार, ओदनभोजिकाम्, पयःपायिकां मे धारयासि, जो तूने (मेरी ओर से) भात खाया, दूष पीया, वह ऋण तूने मुझे देना है अर्थात् मुझे भात खिलाना है, दूध पिलाना है। उत्पत्ति जन्म-अर्थ में इक्षुभक्षिका म उदपादि इत्यादि। यह ण्वुच् वैकल्पिक है। चिकीर्षा उत्पद्यते - यह भी अ-प्रत्ययान्त साधु होगा।

---

354 परे र्वा (वा०)।

355 रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम् (३।३।१०८)।

356 धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्यः (वा०)।

357 इक्-श्तिपौ धातुनिर्देशे (वा०)।

358 इञ् अजादिभ्यः (वा०)।

359 इक् कृष्यादिभ्यः (वा०)।

360 विभाषाऽऽख्यानपरिप्रश्नयोरिन (३।३।११०)।

361 त्रि-तु-त्रेष्वग्रहादीनामिति वक्तव्यम् (वा०)।

362 पर्यायाऽर्हणर्णोत्पत्तिषु ण्वुच् (३।३।१११)।

अनि- आक्रोश = शाप गम्यमान होने पर धातु से 'अनि' होता है जब नञ् उपपद हो[363]- तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिणः (माघ० २।४५) माता को केवल दुःख देने वाले उसका जन्म न हो। अकररिणस्ते दुष्कृतिन् भूयात्, हे दुष्ट, तेरी क्रिया विफल हो। आक्रोश न होगा तो यथाप्राप्त क्तिन् आदि होंगे - अकृतिस्ते कटस्य प्रवाणप्रवीणस्य न संभाव्यते, बुनने में कुशल होते हुए तेरा चटाई को न बुनना संभावित नहीं। नञ् उपपद के अभाव में भी ण्वुच् नहीं होगा- मृतिस्ते व्यसनिनो भूयात्।

यहाँ स्त्र्यधिकार समाप्त हुआ।

स्मरणीय बिंदु -

1. **अनिवार्य स्त्रीलिङ्ग :** इस इकाई के अंतर्गत आने वाले प्रत्ययों से बने समस्त पद नियमतः स्त्रीलिङ्ग में ही होते हैं (जैसेः मतिः, गतिः, कीर्तिः, धृतिः, नीतिः)।

2. **मकारान्त धातु का नियमदः** जब गम्, रम्, नम् जैसी मकारान्त धातुओं से क्तिन् प्रत्यय जुड़ता है, तब धातु के अंतिम म् का लोप हो जाता है (जैसेः गम् + क्तिन् = गतिः, नम् + क्तिन् = नतिः)।

3. **भाव और कारक अर्थ :** ये प्रत्यय मुख्य रूप से भाव (क्रिया की अवस्था) को दर्शाते हैं, परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में ये कर्ता से भिन्न अन्य कारकों का अर्थ भी प्रकट करते हैं।

शब्दावली -

1. **स्त्र्यधिकार :** महर्षि पाणिनी की अष्टाध्यायी का वह अधिकार क्षेत्र (स्त्रियाम्), जिसके अंतर्गत आने वाले प्रत्यय धातुओं या प्रातिपदिकों को स्त्रीलिङ्ग वाचक शब्दों में बदल देते हैं।

2. **क्तिन् प्रत्यय :** स्त्रियाम् क्तिन् सूत्र के अनुसार धातु से भाव (क्रिया के नाम) अर्थ में क्तिन् प्रत्यय होता है। इसमें से क और न् की इत्संज्ञा होकर केवल ति शेष बचता है (जैसेः कृ + क्तिन् = कृतिः)।

3. **अङ् प्रत्यय :** कुछ विशिष्ट धातुओं (जैसे- चिन्त्, पूज्, कथ् आदि चुरादिगण की धातुओं) से स्त्रीलिङ्ग भाव प्रकट करने के लिए अङ् प्रत्यय का विधान किया जाता है, जिसके बाद टाप् प्रत्यय लगकर चिन्ता या पूजा रूप बनते हैं।

4. **ति-भाव और अनुबन्ध लोप :** क्तिन् प्रत्यय के कित् होने के कारण धातु के स्वर को गुण या वृद्धि का निषेध हो जाता है और धातु का मूल स्वरूप सुरक्षित रहता है (जैसेः शम् + क्तिन् = शान्तिः)।

5. **मतिवद् रूपावलि :** स्त्र्यधिकारोक्त क्तिन् प्रत्यय से बने सभी शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं, इसलिए इनकी रूपावलि (शब्द-रूप) इकारान्त स्त्रीलिङ्ग मति शब्द के समान सातों विभक्तियों में चलती है।

15 अंक के प्रश्न-

1. स्त्र्यधिकारोक्त कृत् प्रत्यय किसे कहते हैं? स्त्रियाम् क्तिन् सूत्र के आलोक में इसके नियमों, लिंग-विधान तथा गतिः एवं मतिः पदों की सोदाहरण रूप-सिद्धि विस्तार से समझाइए।

2. चुरादिगण या अदन्त धातुओं से स्त्रीत्व की विवक्षा में भाववाचक शब्द बनाने के क्या नियम हैं? अङ् प्रत्यय के विशेष संदर्भ में चिन्ता अथवा पूजा शब्द की व्याकरणिक प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।

5 अंक के प्रश्न

1. क्तिन् प्रत्यय के कित् (ककार की इत्संज्ञा) होने का धातु के स्वर पर क्या प्रभाव पड़ता है? उदाहरण सहित लिखिए।

2. निम्नलिखित मकारान्त धातुओं में क्तिन् प्रत्यय लगाने पर क्या-क्या शुद्ध रूप बनते हैं? (क) गम् (ख) रम् (ग) नम् (घ) खन्

---

363 आक्रोशे नञ्यनिः (३।३।११२)।

3. कीर्तिः और स्तुतिः पदों में प्रयुक्त मूल धातु और प्रत्यय को अलग-अलग करके लिखिए।

4. स्त्र्यधिकारोक्त कृत् प्रत्ययों से बने शब्दों के रूप किस प्रसिद्ध शब्द के समान चलते हैं और क्यों?

5. चिन्ता और कथा शब्दों में प्रयुक्त कृत् प्रत्यय का नाम और उसका संक्षिप्त नियम बताइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. पाणिनीय व्याकरण के अनुसार शस्त्रियाम्श (स्त्रीत्व की विवक्षा) अधिकार में भाव अर्थ में कौन सा मुख्य कृत् प्रत्यय होता है?

(क) घञ्

(ख) क्तिन्

(ग) तुमुन्

(घ) ल्युट्

2. क्तिन् प्रत्यय में से अनुबन्धों का लोप होने के पश्चात् धातु के साथ जुड़ने के लिए क्या शेष बचता है?

(क) क्ति

(ख) ति

(ग) इन्

(घ) न्

3. रम् धातु के साथ क्तिन् प्रत्यय जोड़ने पर मकार का लोप होकर कौन सा शुद्ध स्त्रीलिङ्ग रूप सिद्ध होता है?

(क) रन्तिः

(ख) रतिः

(ग) रमणम्

(घ) रमिता

4. चिन्त् धातु से स्त्रीत्व की विवक्षा में भाव अर्थ में कौन सा प्रत्यय होकर चिन्ता पद बनता है?

(क) घञ्

(ख) अङ् (टाप् के साथ)

(ग) क्तिन्

(घ) क्त

5. क्तिन् प्रत्यय से बने गतिः और कीर्तिः जैसे शब्दों के रूप किस शब्द के समान चलते हैं?

(क) राम

(ख) मति

(ग) नदी

(घ) फल

इकाई-3.3 क्त्वा, ल्यप् प्रत्यय तथा रूप

उद्देश्य -

1. छात्रों को पूर्वकालिक क्रिया (एक कार्य समाप्त कर दूसरा कार्य करना) के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले क्त्वा, ल्यप् और णमुल् प्रत्ययों के व्याकरणिक नियमों से गहराई से परिचित कराना।

2. उपसर्गयुक्त धातुओं में क्त्वा के स्थान पर ल्यप् आदेश होने तथा आभीक्ष्ण्य (बार-बार होना) अर्थ में णमुल् प्रत्यय के विशिष्ट पाणिनीय सूत्रों का ज्ञान कराना।

3. इन प्रत्ययों से होने वाले विशेष कार्यों (जैसे- तुक्-आगम, सम्प्रसारण, इट्-आगम निषेध) तथा इनकी अव्यय संज्ञा और क्त्वान्त-ल्यबन्त पदों के व्यावहारिक प्रयोग की क्षमता विकसित करना।

क्त्वा ल्यप्

जब दो (वा दो से अधिक) धातु-वाच्य-क्रियायों का एक ही कर्ता हो सब पूर्वकाल में होने वाली क्रिया को कहने वाली धातु से क्त्वा प्रत्यय आता है।[364] क्त्वान्त अव्यय होता है[365]। अव्यय कृत्-प्रत्यय भाव में होते हैं[366]। भुक्त्वा व्रजति, भोजन करके जाता है। स्नात्वा भुक्त्वा पीत्वा दत्त्वा व्रजति, नहाकर, खाकर, पीकर, देकर जाता है। व्रजति च जल्पति च-यहाँ समान काल में दोनों क्रियाएँ हो रही हैं, अतः क्त्वा प्रत्यय का प्रसंग ही नहीं। आस्यं व्यादाय स्वपिति, मुँह खोलकर सोता है; नेत्रे संमील्य हँसति, नेत्र बन्द कर हँसता है, इत्यादि में क्त्वा की प्राप्ति नहीं, तो भी क्त्वा (के स्थान में ल्यप्) इष्ट है। भट्टोजिदीक्षित इसका इस प्रकार समाधान करते हैं- व्यादान-संमीलनोत्तरकालेपि स्वापहासयोरनुवृत्तेस्तदंशविवक्षया भविष्यति ल्यप् इति। अर्थात्, जब मुख-व्यादान (मुंह का खोलना) तथा नेत्र-संमीलन (आँखों का बन्द करना) हो जाता है तो निद्रा और हास जारी रहते हैं, इस अंश में वे मुख-व्यादान व नेत्र-संमीलन से उत्तरकालिक होते हैं, अतः ल्यप् की प्राप्ति है।

प्रतिषेधार्थक अलम् और खलु के उपपद होने पर धातु-मात्र से क्त्वा (क्त्वा के स्थान में ल्यप् भी) प्रत्यय आता है[367]। यहाँ पूर्वकालता कुछ भी नहीं, अतः अप्राप्त का विधान है- अलं रुदित्वा, मत रो। अलं बहु विकत्थ्य (मालविका), बहुत डींगें न मारिए। निर्धारितेर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम् (माघ २।७०), लेख द्वारा अर्थ का निश्चय किये जाने पर वाचिक = सन्देश-वाक् की कोई आवश्यकता नहीं। आलप्यालमिदं बभ्रोर्यत्स दारानपाहरत् (माघ २।४०)। अलं वीर व्यथां गत्वा न त्वं शोचितुमर्हसि (रा० ४।२७।३४)।

प्रतिषेधार्थक अलप् उपपद होने पर तुमुन् का प्रयोग शास्त्र-विरुद्ध है। कवियों की निरंकुशता का निदर्शन मात्र है- अलं सुप्तजनं प्रबोधयितुम् (मृच्छकटिका ३)। अलमात्मानं खेदयितुम् (वेणी० ३)।

उत्तर भारत के आचार्यों के मत में मेङ् (बदले में देना) से व्यतीहार = व्यतिक्रम = क्रम का उल्लंघन गम्यमान होने पर क्त्वा प्रत्यय आता है[368]। यहाँ पर काल में होने वाली क्रिया को कहने वाली मेङ् धातु से क्त्वा-विधान किया जा रहा है। मतान्तर में न्यायप्राप्त पूर्वकालिक धात्वर्थ को कहने वाली धातु से क्त्वा होगा- अपमाय (अपमित्य) याचते। याचित्वाऽपमयते। माँग कर बदले में देता है- यह दोनों वाक्यों का एक अर्थ है। ल्यप् परे रहते मेङ् (मा) के 'आ' को 'इ' विकल्प से होता है[369]।

पूर्व का पर के साथ योग तथा अवर के साथ पर का योग (= विशेषणविशेष्य सम्बन्ध) प्रतीत होने पर धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है[370]। पर के साथ - अप्राप्य नदीं पर्वतः स्थितः, नदी के इस ओर पर्वत है। पर-नदी-योग से पूर्व पर्वत को विशिष्ट किया जा रहा है। अतिक्रम्य पर्वत नदी स्थिता, पर्वत को लाँघकर नदी आती है। अवर-पर्वत-योग से पर-नदी को विशिष्ट किया जा रहा है। यहाँ भी पूर्वकालता कुछ भी नहीं। बाल्यमतिक्रम्य यौवनम्, बाल्य से परे यौवन है। यद्वाचां विषयमतीत्य चेतसां वा (महा० चरित ४।१५)।

---

364 समानकर्तृकयोः पूर्वकाले (३।४।२१)।

365 क्त्वा-तोसुन्-कसुनः (१।१।४०)।

366 अव्ययकृतो भावे।

367 अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा (३।४।१८)।

368 उदीचां माङो व्यतीहारे (३।४।१६)।

369 मयतेरिदन्यतरस्याम् (६।४।७०)।

370 परावरयोगे च (३।४।२०)।

पूर्वकालता के होने पर भी यदि यद् शब्द उपपद हो और वाक्यार्थ निराकाङ्क्ष (सम्पूर्ण) हो, तो क्त्वा प्रत्यय नहीं होता[371]- यदयं भुङ्क्ते ततः पठति, पहले खाता है पीछे पढ़ता है, खाकर पढ़ता है। यहाँ भोजन-क्रिया पूर्वा है और पठनक्रिया उत्तरा है, अतः क्त्वा की प्राप्ति थी पर यच्छब्द उपपद होने से और वाक्यार्थ के सम्पूर्ण होने से क्त्वा नहीं हुआ। ऐसे ही यदयमधीते ततः शेते, यहाँ भी। पर यदयं भुक्त्वा व्रजति, अधीत एव ततः परम्, यहाँ भोजन-क्रिया तथा व्रजन-क्रिया (= गमनक्रिया) एक वाक्य में पूर्वापर क्रम से कही हैं, पर यद् शब्द के होते हुए भी वाक्यार्थ निराकांक्ष (सम्पूर्ण) नहीं होता जब तक कि दूसरे वाक्य में और क्रिया न कही जाय। अतः यहाँ क्त्वा का निषेध नहीं।

नञ्-भिन्न अव्यय पूर्व-पद का (अर्थात् गति संज्ञक प्रादियों का) क्त्वान्त के साथ समास[372] होने पर क्त्वा को ल्यप् (= य) आदेश होता है[373]। नञ् पूर्वपद वाले समास में यह आदेश नहीं होता और अनव्यय पूर्वपद वाले समास में भी-पठित्वा-प्रपट्य। अपठित्वा। परमं कृत्वा = परमकृत्वा। ल्यप् क्त्वा के स्थान में होता है, अतः स्थानिवद्भाव से ल्यप् प्रत्यय, कृत् और कित् होता है। जैसे क्त्वान्त अव्यय होता है, वैसे ही ल्यबन्त भी। अल् धर्म होने से ल्यप् में स्थानी का तादित्व अथवा वलादित्व नहीं आता।

अकृत्वा परसन्तापमगत्वा खलनम्रताम् ।
अक्लेशयित्वा चात्मानं यत्स्वल्पमपि तद् बहु॥

दूसरों को दुःख दिये बिना, दुष्टों के सामने झुकने के बिना, अपने-आप को आयासित किये बिना जो थोड़ा भी प्राप्त होता है वह बहुत है। सूत्र में 'अनञ्पूर्वे' समास का विशेषण पढ़ा है। पूर्व से पूर्वपद विवक्षित है। अतः

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥ (मनु० ६।३५)

में नञ् अपाकृत्य ल्यबन्त के साथ समस्त हुआ है, क्त्वान्त के साथ नहीं। क्त्वा के प्रति पूर्वपद आङ् है, नञ् नहीं, सो ल्यप् आदेश का निषेध न हुआ। आङ का क्त्वान्त के साथ गति समास होने पर 'आकृत्य' रूप हुआ, फिर 'अप' का आकृत्य के साथ गति समास होने पर 'अपाकृत्य' रूप बना। पश्चात् नञ् का अपाकृत्य के साथ समास होकर 'अनपाकृत्य' यह रूप सिद्ध हुआ।

क्त्वा आर्धधातुक प्रत्यय है। यह कित् है, अतः सामान्यतः इससे पूर्व धातु को गुण नहीं होता है। जिन्हें कित्-प्रत्यय परे रहते सम्प्रसारण-विधान किया है उन्हें यहाँ भी सम्प्रसारण होता है। हाँ, सेट् क्त्वा कित् नहीं होता, अपवाद-विषय को छोड़कर। न क्त्वा सेट् (१।२।१८)। वलादि आर्धधातुक होने से सेट धातुओं से परे क्त्वा को इट्-आगम होता है। यह भी सामान्य नियम है।

क्त्वा-सम्बन्धी विशेष कार्य

कित्त्व -

सेट क्त्वा कित् नहीं होता, ऐसा पूर्व कह आये हैं पर इसके कुछ अपवाद हैं।

मृड्, मृद, गुध्, कुष्, क्लिश्, वद्, वस् इन धातुओं से तथा रुद्, विद्, मुष्, ग्रह से परे सेट् क्त्वा भी कित् होता है[374]- मृड्-मृडित्वा। (कित् होने से गुणाभाव)। मृद-मृदित्वा। गुध्- गुधित्वा। (पदिवेष्ट्य, घेर कर, लपेट कर)। कुष्-कुषित्वा (भीतरी वस्तु को बाहर निकालकर)। क्लिश्- क्लिशित्वा। क्लिष्ट्वा (इट् के अभाव में)। वद्- उदित्वा (कित् के निमित्त से सम्प्रसारण)। वस् - उषित्वा। (रहकर)। सम्प्रसारण, स् को ष् वस् और क्षुध् - दोनों अनिट् हैं पर इन्हें क्त्वा और निष्ठा प्रत्यय (क्त, क्तवतु) परे इट् होता है[375]- उषित्वा। क्षुधित्वा। क्षोधित्वा (कित्व-विकल्प)। इसी प्रकार रुद् - रुदित्वा। विद् (जानना) - विदित्वा। मुष्- मुषित्वा। ग्रह -गृहीत्वा (कित् होने से सम्प्रसारण) में भी सेट् क्त्वा कित् होता है[376]। सूत्र में स्वप् और प्रच्छ् का ग्रहण सन् प्रत्यय के लिए है। क्त्वा तो इनसे स्वतः कित् है- सुप्त्वा (सम्प्रसारण)। पृष्ट्वा (सम्प्रसारण)।

नकारोपध थकारान्त व फकारान्त धातु से सेट् क्त्वा विकल्प से कित् होता है। गुम्फ् - गुफित्वा।[377] गुम्फित्वा। कित्त्व पक्ष में उपधा नकार का लोप। श्रन्थ् श्रथित्वा। श्रन्थित्वा। ढीला करके।

---

371 न यद्यनाकाङ्क्षे (३।४।२३)।

372 कुगतिप्रादयः (२।२।१८)।

373 समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् (७।१।३७)।

374 मृड-मृद-गुध-क्लिश-वद-वसः क्त्वा (१।२।७)।

375 वसति-क्षुधोरिट् (७।२।५२)।

376 रुद-विद-मुष-ग्रहि-स्वपि-प्रच्छः संश्च (१।२।८)।

377 नोपधात्थफान्ताद्वा (१।२।२३)।

वञ्च् (जाना), लुञ्च् (नोचना), ऋत्- इनसे सेट् क्त्वा विकल्प से कित् होता है[378]। वचित्वा। वञ्चित्वा। (उदित् होने से इट्-विकल्प)। लुञ्च् = लुचित्वा। लुञ्चित्वा। ऋत् (सौत्र धातु) - ऋतित्वा। अर्तित्वा। ऋत् को स्वार्थ में ईयङ् प्रत्यय होता है। आर्धधातुक विषय में अर्थात् आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा में ही आय आदि (जिन में ईयङ् भी एक है) विकल्प से होते हैं, सो जिस पक्ष में ईयङ्, न हुआ उसमें ये उदाहरण हैं। ईयङ् होने पर तो 'ऋतीयित्वा' ऐसा रूप होगा। क्त्वा परे होने पर लघु उपधा न होने से गुण नहीं हुआ। सेट् क्त्वा को कित्त्व का विकल्प कहा है अतः वञ्च् वक्त्वा = वक्त्वा - यहाँ क्त्वा के किद होने से उपधानकार का लोप होकर एक ही रूप होगा।

तृष, मृष्, कृश् - इनसे सेट् क्त्वा विकल्प से कित् होता है काश्यप प्राचार्य के मत में[379]। सूत्र में काश्यप ग्रहण पूजार्थ है। पूर्वसूत्र से 'वा' की अनुवृत्ति आ रही है- तृषित्वा। तर्षित्वा। मृषित्वा। मर्षित्वा। कुश् (पतला दुबला होना) - कृशित्या। कर्शित्वा।

हलादि रलन्त सेट् धातु - जिसकी उपधा में उ, इ हो-से परे क्त्वा (और सन्) विकल्प से कित् होते है[380]- द्युतित्वा। द्योतित्वा। लिख-लिखित्वा। लेखित्वा। रलन्त न होने से दिव् से 'देवित्वा' कित्त्वाभाव में एक ही रूप होगा।

ङित्त्व

कुट्-आदि धातुओं से परे ञित् णित्-भिन्न प्रत्यय ङित्वत् होता है[381]। सो क्त्वा भी ङित् हो जायगा, जिससे सेट् क्त्वा भी गुण का निषेध करेगा-

कुट्-कुटित्वा। कुच्-कुचित्वा। गुर्- गुरित्वा। धू (तुदा०) - धुवित्वा। व्यच् - विचित्वा। सम्प्रसारण।

आदेश

क्त्वा-प्रत्यय की प्रकृति को कहीं-कहीं आदेश हो जाता है-

दो, सो, मा (माङ्, मेङ्) स्था को 'इ' अन्तादेश होता है[382]। दो-दित्वा। सो सित्वा। मा - मित्वा। माङ् - मित्वा। मेङ् - मित्वा। (आत्व होकर इ)। स्था- स्थित्वा।

शो, छो को 'इ' अन्तादेश विकल्प से होता है[383] - शित्वा। शात्वा। छित्वा। छात्वा।

हा (ओहाक्) त्यागना, छोड़ना, का-क्त्वा परे रहते 'हि' आदेश होता है[384]- हित्वा। पर हा (ओहाङ्) जाना के विषय में यह आदेश नहीं होता- हात्वा, जाकर[385]।

अद् को जग्ध् - आदेश होता है तादि कित् और ल्यप् परे रहते[386] - जग्ध्वा।

दा-दत्त्वा देकर। दा को दद्-आदेश होता है तकारादि कित् परे रहते[387]। सो निष्ठा में भी यह आदेश होगा।

दा (प्) काटना - दात्वा।

दैप् (शुद्ध करना) - दात्वा। (अनैमित्तिक आत्व)।

देङ् (रक्षा करना) - दीत्वा। आत्व होकर घु-संज्ञक होने से घुमास्था-(६।४।६६) से ईकार अन्तादेश।

घेट् (चूसना) - 'घु' संज्ञक होने से 'ई' अन्तादेश - धीत्वा।

खन् (खनु), सन् (षणु देना, तनोत्यादि) झलादि कित्-प्रत्यय परे रहते आकार-अन्तादेश हो जाता है[388]। उदित होने से ये धातुएँ क्त्वा परे रहते वेट् हैं। इट् के अभाव में धातु को आकार-अन्तादेश होगा - खात्वा। खनि-त्वा। सात्वा। सनित्वा।

मस्ज् को नुम् (न्) आगम अन्त्य वर्ण से पूर्व होता है। इससे संयोग (स्नज्) के आदिभूत स् का लोप हो जाता है[389]। ज्

378 वञ्चिलुच्यूतश्च (१।२।२४)।

379 तृषि-मृषि-कृशेः काश्यपस्य (१।२।२५)।

380 रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च (१।२।२६)।

381 गाङ्-कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् (१।२।१)।

382 द्यति-स्यति-मा-स्थाम् इत्ति किति (७।४।४०)।

383 शाच्छोरन्यतरस्याम् (७।४।४१)।

384 दधातेर्हिः (७।४।४२)।

385 जहातेश्च वित्व (७।४।४३)।

386 अदो जग्धिर्ल्यप् ति किति (२।४।३६)।

387 दो दद्घोः (७।४।४६)।

388 जन-सन-खनां सञ्झलोः (६।४।४२)।

389 मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम् वाच्यः (वा०)।

को कुत्व और चर्त्व होकर, न् को अनुस्वार और परसवर्ण होकर 'मङ्क्त्वा' रूप सिद्ध होता है।

अनुनासिक-लोप

अनुदात्तोपदेश अनुनासिकान्त (यम्, रम्, नम्, हन्, मन् दिवादि) के अनुनासिक का तथा वन् और तन् आदि तानादिक धातुओं के अनुनासिक का लोप हो जाता है झलादि कित् ङित् परे होने पर[390]। यम् - यत्वा। रम्- रत्वा। नम् - नत्वा। गम् - गत्वा। हन् - हत्वा। मन् - मत्वा। वन षण् संभक्तौ भ्वादि उदित नहीं है। नित्यइट् होने से झलादि क्त्वा नहीं मिलेगा। अतः क्त्वा-प्रत्यय परे इसका उदाहरण नहीं। तनादियों में वनु याचने पढ़ा है। वह तन् आदि की तरह उदित है। पाक्षिक इट् के अभाव में झलादि क्त्वा मिलेगा- तन् - तनित्वा। तत्वा। क्षण् - क्षणित्वा। क्षत्वा। क्षिणु - क्षेणित्वा। क्षित्वा। घृण् - घर्णित्वा। घृत्वा। चमककर। घृणि रश्मि को कहते हैं। तृण् - तर्णित्वा। तृत्वा। खाकर। वन् (माँगना) - वनित्वा। वत्वा। मन् - मनित्वा। मत्वा।

जान्त धातु के 'न्' का तथा नश् के नुम् का झलादि कित् - प्रत्यय परे विकल्प से लोप होता है[391]- भञ्ज - भक्त्वा। भङ्क्त्वा। रञ्ज् - रक्त्वा। रङ्क्त्वा। अञ्ज् - अक्त्वा। अङ्क्त्वा। इट् - पक्ष में अञ्जित्वा। झलादि न होने से लोप नहीं हुआ।

इडागम

जृ व व्रश्च् (व्रश्चू) से परे क्त्वा को इट् होता है[392]। जृ को उगन्त होने से इट् का निषेध प्राप्त था। व्रश्च् के ऊदित् होने से इट्-विकल्प प्राप्त था। जृ-जरित्वा। जरीत्वा। (वैकल्पिक इट्-दीर्घ)। व्रश्च्-व्रश्चित्वा (काट-कर)।

वस् (रहना) और क्षुध् को क्त्वा तथा निष्ठा-प्रत्यय परे रहते इट् का आगम होता है[393]। वस् - उषित्वा। स् को ष्। क्षुध् - क्षुधित्वा। दोनों धातुएँ अनुदात्त हैं, उनसे परे इट् का प्रसंग ही न था।

इण् - निषेध

श्रिञ् (श्रि भ्वा० उभय०) तथा एकाच् उगन्त धातु से परे कित् - प्रत्यय को इट आगम नहीं होता[394]। श्रित्वा। रु-रुत्वा। यु-युत्वा। भू-भूत्वा। पू-पूत्वा। लू-लूत्वा। वृ-वृत्वा। तृ-तीर्त्वा। स्वृ, सू (प्राणि-गर्भ-विमोचन, प्राणि-प्रसव), धूञ् हिलाना - इन धातुओं को जो वलादि आर्ध. प्रत्यय परे रहते इट् का विकल्प कहा है वह भी यहाँ नहीं होता, इट् का निषेध ही होता है- स्वृ - स्वृत्वा। सू - सूत्वा। धूञ् - धूत्वा।

इड् विकल्प

जो धातु सेट् है पर उदित् है उससे परे क्त्वा को इट् विकल्प से होता है- वृत् (वृतु)[395]- वतित्वा। वृत्त्वा। वृध् (वृधु) - वर्धित्वा। वृद्ध्वा। दिव् (दिवु) - देवित्वा। द्यूत्वा। सेट् क्त्वा कित् नहीं होता, यह पहले कहा जा चुका है। अतः इट् होने पर धातु को गुण होता है। इट् के अभाव में गुण नहीं होता। दिव् को ऊठ् (व् के स्थान में ऊ) होता है। धाव् (धावु)-धावित्वा। धौत्वा। ऊठ्। वृद्धि। शीङ् - शयित्वा। गुणं, अयादेश।

ऊदित् धातुओं से परे क्त्वा को पूर्व-विहित इट् का विकल्प ही होता है। कृप् (कृपू) - क्लृप्त्वा। कल्पित्वा। अश् (अशूङ्) - अष्ट्वा। अशित्वा = व्याप्य। अञ्ज् (अञ्जू) - अङ्क्त्वा अक्त्वा। अञ्जित्वा। क्लिद् (क्लिदू) - क्लित्त्वा। क्लिदित्वा। क्लिश् (क्लिशू) - क्लिष्ट्वा। क्लिशित्वा। अक्ष् (अक्षू) - अष्ट्वा। अक्षित्वा। गुप् (गुपू) - गुप्त्वा। गोपित्वा। गुपित्वा। कित्त्व - विकल्प।

अनिट् क्त्वा परे होने पर स्कन्द् तथा स्यन्द् के 'न्' का लोप नहीं होता[396]। अनिट् क्त्वा के कित् होने से उपधा-भूत न् का लोप प्राप्त था - स्कन्त्वा। स्यन्त्वा। स्यन्द् उपदेश में ऊदित् है अतः वेट् है सो पक्ष में इट् होने पर स्यन्दित्वा रूप होगा।

अञ्च्- यह गति और पूजन अर्थों में पढ़ी है। यह उदित है। इट् विकल्प से होगा- अञ्चित्वा। अक्त्वा (जाकर)। इट् के अभाव में क्त्वा के कित् होने से 'न्' का लोप हो जाता है। पर पूजन-अर्थ में नित्य इट् होगा और 'न्' का लोप न होगा[397] अञ्चित्वा = पूजयित्वा पूजन करके। (निष्ठा प्रत्यय परे रहते भी नित्य इट् होता है।)

लुभ्- सेट् दिवादि है। इस का अर्थ लोभी होना है। तादि प्रत्यय परे होने पर इट् का विकल्प होता है जैसा कि सह्, इष्

---

390 अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनाम् अनुनासिकलोपो झलि क्ङिति (६।४।३७)।

391 जान्त-नशां विभाषा (६।४।३२)।

392 जृ-व्रश्च्योः क्त्वि (७।२।५५)।

393 वसति-क्षुधोरिट (७।२।५२)।

394 श्रयुकः किति (७।२।११)।

395 उदितो वा (७।२।५६)।

396 क्त्वि स्कन्दि-स्यन्दोः (६।४।३१)।

397 अञ्चेः पूजायाम् (७।२।५३)। नाञ्चेः पूजायाम् (६।४।३०)।

आदि धातुओं के विषय में होता है[398]- लुभित्वा। लोभित्वा। लुब्ध्वा। परस्वेलुब्ध्वा पतति। विमोहन-अर्थ में नित्य इट् होता है[399]- लुभित्वा। लोभित्वा। यह इट् निष्ठा में भी नित्य होता है। विमोहन = आकुलीकरण।

शम्, श्रम्, तम्, दम्, भ्रम्, क्रम्, क्लम् - ये सेट् उदित धातुएँ हैं। उदित् होने से इट् का विकल्प होता है। इडभाव में इनके उपधा-भूत 'अ' को दीर्घ होता है[400]। शम् - शमित्वा। शान्त्वा। श्रम् - श्रमित्वा। श्रान्त्वा। तम - तमित्वा। तान्त्वा। दम् - दमित्वा। दान्त्वा। भ्रम् - भ्रमित्वा। भ्रान्त्वा। क्रम् - क्रमित्वा। क्रान्त्वा। क्लम् - क्लमित्वा। क्लान्त्वा।

क्रम् को दीर्घ विकल्प से होता है झलादि क्त्वा परे[401], इससे क्त्वा-प्रत्यय परे रहते तीन रूप होंगे - क्रमित्वा। क्रान्त्वा। क्रन्त्वा।

कम् - कमित्वा। कान्त्वा। (णिङ् के अभाव में)। कामयित्वा (णिङ् होने पर)।

रधादि (रध्, नश्, तृप्, दृप्, मुह्, स्नुह्, स्निह्) धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक प्रत्यय को इट् विकल्प से होता है[402]- रध् (सिद्ध होना) -रद्ध्वा। रधित्वा। नष्ट्वा। नंष्ट्वा। नशित्वा। नश् (और मस्ज्) को झलादि-प्रत्यय परे होने पर नुम् होता है[403]। तृप्त्वा। तर्पित्वा। दृप्त्वा। दर्पित्वा।

अनिट्- पक्ष में क्त्वा-प्रत्यय के कित् होने से अनुदात्तोपदेश ऋदुपध धातु को जो वैकल्पिक अमागम विधान किया है[404] वह नहीं होता।

क्लिश्[405] तथा पूङ्[406] से क्त्वा और निष्ठा परे रहते विकल्प से इट होता है- क्लिशित्या। यहाँ सेट क्त्वा भी कित् ही होता है। क्लिष्ट्वा। पवित्वा। क्त्वा के सेट होने से अकित् होकर धातु को गुण हुआ। पूत्वा।

ल्यप्- सम्बन्धी विशेष कार्य

ल्यप् परे होने पर घु-संज्ञक, मा, स्था, गै (गा), पा (पीना), हा (छोड़ना), सो (समाप्त करना) को जो क्ङित् हलादि-प्रत्यय परे रहते ईकार-अन्तादेश प्राप्त होता है वह नहीं होता[407]- प्रदाय। निधाय। विमाय, प्रमाय। प्रस्थाय। प्रगाय, संगाय। प्रहाय, विहाय। अवसाय।

मेङ्- अपमाय। अपमित्य। ईकार-अन्तादेश का तो निषेध है, पर इकार-अन्तादेश विकल्प से होता है[408]।

मीञ्, मिञ् और दीङ् को आत्व होता है एज्-विषय में (जहाँ एच् होने वाला है) तथा ल्यप् - विषय में[409]। मीञ् - प्रमाय (मार कर)। मिञ् -निमाय (= आरोप्य, गाड़कर, लगाकर)। दीङ्, क्षीण होना - उपदाय।

लीङ् (लीन होना) को विकल्प से आत्व[410]- विलाय। विलीय।

अनिडादि (जिसके आदि में इट् न हो) आर्ष धातुक परे रहते णिच् का लोप होता है[411]- उद् तृ णिच् -ल्यप् = उत्तार्य। तृ को वृद्धि। विचर् - णि - ल्यप् = विचार्य। आङ् कृ णिच्-ल्यप्=आकार्य, बुलाकर।

ल्यप् परे रहते यदि धातु के लघ्वक्षर से परे णि हो तो उसे अय् - आदेश होता है (उसका लोप नहीं होता)[412] - प्रशमय्य।

---

398 तीष-सह-लुभ-रुष-रिषः (७।२।४८)।

399 लुभो विमोहने (७।२।५४)।

400 अनुनासिकस्य क्वि-झलोः (६।४।१५)।

401 क्रमश्च क्त्वि (६।४।१८)।

402 रधादिभ्यश्च (७।२।४५)।

403 मस्जि-नशोर्कलि (७।१।६०)।

404 अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् (६।१।५६)। यहाँ सृजिदृशोर्झल्यमकिति (६।१।५८) से 'अकिति' की अनुवृत्ति आती है।

405 क्लिशः क्त्वा-निष्ठयोः (७।२।५०)।

406 पूङश्च (७।२।५१)।

407 न ल्यपि (६।४।६६)।

408 मयतेरिदन्यतरस्याम् (६।४।७०)।

409 मीनाति-मिनोति-दीङां ल्यपि च (६।१।५०)।

410 विभाषा लीयतेः (६।१।५१)। एच्-विषय में तथा ल्यप् परे आत्व विकल्प से होता है।

411 णेरनिटि (६।४।५१)।

412 ल्यपि लघुपूर्वात् (६।४।५६)।

निशमय्य। प्रणमय्य। विगणय्य। शम्, नम् से णिच् परे उपधा को वृद्धि होकर मित् होने से ह्रस्व हो जाता है। गण् (अदन्त) से णिच् होने पर अल्लोप (अ का लोप) होता है। उसके स्थानिवत् होने से उपधा में 'ण्' हो जाता है जिससे वृद्धि का प्रसङ्ग ही नहीं रहता।

आप् (ष्यन्त) के णिच् को 'अय्' आदेश विकल्प से होता है, पक्ष में णि का लोप होता है[413]– प्रापय्य। प्राप्य। प्राप्त करवा. कर।

क्षि को ल्यप् परे दीर्घ हो जाता है[414]– प्रक्षीय।

वेञ् (बुनना) को ल्यप् परे सम्प्रसारण नहीं होता[415]– प्रवाय।

ज्या (वृद्ध होना) को ल्यप् परे सम्प्रसारण नहीं होता[416]– प्रज्याय।

व्येञ् (ढाँपना) को भी ल्यप् परे रहते सम्प्रसारण नहीं होता[417]– संव्याय। उपव्याय। निष्ठा में यथाप्राप्त होगा – संवीत। उपवीत।

परि पूर्वक व्येञ् को सम्प्रसारण विकल्प से[418]– परिवीय। परिव्याय।

अनुदात्तोपदेश अनुनासिकान्त (यम्, रम्, नम्, गम्, हन्, मन्) धातुओं तथा वन् (उदात्तोपदेश भ्वा० तनादि) और तन् आदि उदात्तोपदेश धातुओं के अनुनासिक का, ल्यप् परे रहते, विकल्प से लोप होता है[419]। यह व्यवस्थित विभाषा है। इनमें जो मकारान्त हैं उनके अनुनासिक का विकल्प से और जो नकारान्त हैं उनके अनुनासिक का नित्यलोप होता है। यम्-संयम्य। संयत्य। रम् – उपरम्य। उपरत्य। नम्– प्रणम्य। प्रणत्य। गम् – अवगम्य (जानकर)। अवगत्य। हन् – आाहत्य। मन्– अवमत्य (तिरस्कार करके)। वन् – प्रवत्य। तन् – वितत्य। क्षण् – विक्षत्य। नकार का लोप होने पर इन सबमें धातु के ह्रस्व अच् को ह्रस्वस्य पिति० (६।१।७१) से तुक् (त्) आगम होता है। यह आगम पित् – कृत् परे होने पर होता है। ल्यप् ऐसा ही प्रत्यय है।

अधि इङ् – ल्यप् = अधीत्य। प्र इण् – ल्यप् = प्रेत्य। यहाँ दीर्घ-एकादेश तथा गुण एकादेश होकर असिद्धवत् माने जाते हैं जब तुक् कर्तव्य हो अथवा षत्व करना हो[420]। कोऽसिचत् में एकादेश 'ओ' के असिद्धवत् होने से सिच् के आदेश रूप 'स्' को षत्व नहीं हुआ।

शीङ् के 'ई' को अयङ् (अय) आदेश होता है यादि कित्-ङित् परे होने पर[421]– संशय्य।

क्त्वान्त-ल्यबन्त रूपावलि

सेट् धातुएँ

धातु	**क्त्वान्त**	**ल्यबन्त**
भू (होना)	भूत्वा	अनुभूय, प्रभूय
दू (ङ्) (परितप्त होना)	दूत्वा	परिदूय
नू (णू-स्तुति करना)	नूत्वा	प्रणूय
पूञ् (पवित्र करना)	पूत्वा	उत्पूय
पूङ् (पवित्र करना)	पवित्वा, पूत्वा	परिपूय
धूञ् (हिलाना)	धूत्वा	विधूय, अवधूय
धू (तुदा० – हिलाना)	धुवित्वा	निधूय
लू (काटना)	लूत्वा	आलूय, विलूय
सू (षूङ्– जन्म देना)	सूत्वा	प्रसूय

---

413 विभाषाऽऽपः (६।४।५७)।

414 क्षियः (६।४।५६)।

415 ल्यपि च (६।१।४१)।

416 ज्यश्च (६।१।४२)।

417 व्यश्च (६।१।४३)।

418 विभाषा परेः (६।१।७४)।

419 अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि विङति (६।४।३७)। वा ल्यपि (६।४।३८)।

420 षत्व-तुकोरसिद्धः (६।१।८६)

421 अयङ् यि क्ङिति (७।४।२२)

सू (षू) (प्रेरित करना)	सूत्वा	आसूय, परासूय
यु (मिलाना)	युत्वा	वियुत्य, संयुत्य
रु (शब्द करना)	रुत्वा	विरुत्य, आरुत्य
शीङ् (सोना, लेटना)	शयित्वा	संशय्य, अधिशय्य
क्ष्णु (तेज करना)	क्ष्णुत्वा	संक्ष्णुत्य
स्नु (टपकना)	स्नुत्वा	प्रस्नुत्य
नु (स्तुति करना)	नुत्वा	प्रणुत्य
क्षु (खाँसना)	क्षुत्वा	विक्षुत्य
श्वि (बढ़ना, जाना)	श्वयित्वा	उच्छ्रूय
डीङ् (उड़ना)	डयित्वा	उड्डीय, संडीय
श्रि (आश्रय लेना)	श्रित्वा	संश्रित्य, आश्रित्य
वृङ् (चुनना)	वृत्वा	संवृत्य, विवृत्य
वृञ् (ढाँपना)	वृत्त्वा	आवृत्य, प्रावृत्य
ऊर्णु (ढाँपना)	ऊर्णुत्वा	प्रोर्णुत्य
कॄ (बिखेरना)	कीर्त्वा	विकीर्य, संकीर्य, आकीर्य
गॄ (क्र्या०) (उच्चारण करना)	गीर्त्वा	संगीर्य, प्रतिगीर्य, आगीर्य
गॄ (तुदा०) (निगलना)	गीर्त्वा	अवगीर्य, निगीर्य
तॄ (तैरना, पार करना)	तीर्त्वा	अवतीर्य, उत्तीर्य
जॄ (जीर्ण होना)	जरित्वा, जरीत्वा	अनुजीर्य
पॄ (पूरा करना)	पूर्त्वा	प्रपूर्य, आपूर्य
जागृ (जागना)	जागरित्वा	प्रजागर्य
श्लाघ् (सराहना)	श्लाघित्वा	परिश्लाघ्य
ईक्ष् (देखना)	ईक्षित्वा	वीक्ष्य, प्रतीक्ष्य, समीक्ष्य, परीक्ष्य
काङ्क्ष् (इच्छा करना)	काङ्क्षित्वा	आकाङ्क्ष्य
शिक्ष् (सीखना)	शिक्षित्वा	प्रशिक्ष्य
अञ्च् (जाना)	अञ्चित्वा, अक्त्वा	उदच्य, न्यच्य
अञ्च् (पूजन करना)	अञ्चित्वा	प्राञ्च्य
अर्च् (पूजना)	अर्चित्वा	प्रार्च्य, अभ्यर्च्य
याच् (माँगना)	याचित्वा	उपयाच्य
रुच् (रुचना)	रोचित्वा, रुचित्वा	अभिरुच्य, विरुच्य
व्रश्च् (काटना)	व्रश्चित्वा	विवृश्च्य
वाञ्छ् (इच्छा करना)	वाञ्छित्वा	अभिवाञ्छ्य
अर्ज् (कमाना)	अर्जित्वा	उपार्ज्य
तर्ज् (भ्वा०) (झिड़कना)	तर्जित्वा	सन्तर्ज्य
तर्ज् (चुरा०) (झिड़कना)	तर्जयित्वा	सन्तर्ज्य
एज् (काँपना, चमकना)	एजित्वा	प्रेज्य
भ्राज् (चमकना)	भ्राजित्वा	विभ्राज्य
राज् (चमकना)	राजित्वा	विराज्य
व्रज् (जाना)	व्रजित्वा	प्रव्रज्य, पराव्रज्य
उज्झ् (छोड़ना)	उज्झित्वा	प्रोज्झ्य
कुट् (कुटिल चलना)	कुटित्वा	सङ्कुट्य
कण्ठ् (उत्कण्ठित होना)	कण्ठित्वा	उत्कण्ठ्य

पठ् (पढ़ना)	पठित्वा	प्रपठ्य
कृत् (काटना)	कर्तित्वा	विकृत्य

स्मरणीय बिंदु-

1. **अनुबन्ध लोप का नियम :** क्त्वा प्रत्यय में से ककार की इत्संज्ञा होकर केवल 'त्वा' शेष बचता है, जबकि ल्यप् में से लकार और पकार का लोप होकर केवल य शेष बचता है और णमुल् में से केवल अम् शेष रहता है।
2. **उपसर्ग की अनिवार्य शर्त :** यदि धातु स्वतंत्र है (उपसर्ग नहीं है), तो पूर्वकालिक अर्थ में केवल क्त्वा लगेगा (जैसे: गत्वा)। जैसे ही धातु के पूर्व उपसर्ग लगेगा, क्त्वा का स्थान ल्यप् ले लेगा (जैसे: आगत्य)।
3. **रूपावलि की स्थिरता :** चूँकि इस इकाई के तीनों प्रत्यय अव्यय संज्ञक हैं, इसलिए इनकी कोई रूपावलि (शब्द-रूप) नहीं चलती; ये वाक्यों में अपरिवर्तित रहते हैं।

शब्दावली -

1. **समानकर्तृकयोः पूर्वकाले :** यह पूर्वकालिक क्रिया का मुख्य सूत्र है। जब एक ही कर्ता दो क्रियाएँ करता है, तब पहले समाप्त होने वाली (पूर्वकालिक) क्रियावाचक धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है (जैसे: पठ् + क्त्वा = पठित्वा)।
2. **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् :** जब धातु से पहले कोई उपसर्ग (नञ् भिन्न) जुड़ा हो, तब क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर ल्यप् आदेश हो जाता है। इस ल्यप् का केवल य शेष रहता है (जैसे: वि + हस् + ल्यप् = विहस्य)।
3. आभीक्ष्ण्ये णमुल् च : जब कोई क्रिया बार-बार (बारम्बारता या पौनःपुन्य) की जाती है, तब पूर्वकालिक क्रिया में णमुल् प्रत्यय होता है। इसमें अम् शेष रहता है और पद का द्वित्व हो जाता है (जैसे: स्मारं स्मारम्)।
4. ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् : इस नियम के अनुसार, ह्रस्व स्वरान्त धातुओं (जैसे- जि, कृ, श्रु) से परे जब ल्यप् (जो कि पित् है) प्रत्यय आता है, तब धातु और प्रत्यय के बीच त् (तुक्) का आगम अनिवार्य रूप से होता है (जैसे: आ + दृत्य = आदृत्य)।
5. क्त्वातोसुन्कसुनः (अव्यय संज्ञा) : इस सूत्र के माध्यम से क्त्वा, ल्यप् और णमुल् प्रत्ययान्त शब्दों की अव्यय संज्ञा होती है, जिससे इनके रूप तीनों लिंगों और सातों विभक्तियों में हमेशा एक समान रहते हैं।

15 अंक के प्रश्न-

1. समानकर्तृकयोः पूर्वकाले और समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् सूत्रों के आलोक में पूर्वकालिक क्रिया का अर्थ स्पष्ट करते हुए क्त्वा और ल्यप् प्रत्ययों के अंतर तथा उनके नियमों की सोदाहरण विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. णमुल् प्रत्यय का विधान किस विशेष परिस्थिति में होता है? णमुल् प्रत्ययान्त शब्दों में होने वाले गुणादेश, वृद्धि तथा द्वित्व कार्य को स्मारं स्मारम् और पायं पायं की रूप-सिद्धि के माध्यम से समझाइए।

5 अंक के प्रश्न-

1. संस्कृत व्याकरण के अनुसार पूर्वकालिक क्रिया किसे कहते हैं? एक वाक्य का उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।
2. ल्यप् प्रत्यय परे होने पर ह्रस्व स्वरान्त धातुओं में तुक्-आगम का क्या नियम है? संस्कृत्य या आदृत्य के संदर्भ में लिखिए।
3. क्त्वा और ल्यप् प्रत्ययों से बने पदों के शब्द-रूप सातों विभक्तियों में क्यों नहीं चलते? कारण स्पष्ट कीजिए।
4. निम्नलिखित धातुओं में उपसर्ग के साथ 'ल्यप्' प्रत्यय जोड़कर शुद्ध रूप लिखिए: (क) प्र + णम + ल्यप् (ख) वि + जिट् + ल्यप्
5. णमुल् प्रत्यय जुड़ने पर अनुबन्ध लोप के बाद क्या शेष बचता है और वाक्य में पद को दो बार (द्वित्व) क्यों लिखा जाता है? संक्षेप में बताइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. समानकर्तृकयोः पूर्वकाले सूत्र के अनुसार 'क्त्वा' प्रत्यय किस क्रिया को दर्शाने के लिए धातु से जोड़ा जाता है?
(क) भविष्यत् काल की क्रिया को
(ख) मुख्य क्रिया से पहले समाप्त होने वाली (पूर्वकालिक) क्रिया को
(ग) वर्तमान काल की निरंतर क्रिया को
(घ) केवल प्रार्थना या आज्ञा अर्थ की क्रिया को
2. यदि धातु से पूर्व कोई उपसर्ग (नञ् भिन्न) जुड़ा हो, तो 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान पर कौन सा आदेश पाणिनीय व्याकरण के अनुसार होता है?
(क) शतृ

(ख) तुमुन्
(ग) ल्यप्
(घ) णमुल्

3. ल्यप् प्रत्यय होने पर अनुबन्धों (लकार और पकार) का लोप होने के पश्चात् धातु के साथ जुड़ने के लिए क्या शेष बचता है?
(क) ल्य
(ख) य
(ग) प
(घ) तत्वा

4. क्रिया के आभीक्ष्ण्ये (बार-बार या निरंतरता) अर्थ को प्रकट करने के लिए पूर्वकालिक क्रिया में कौन सा प्रत्यय होता है?
(क) क्त्वा
(ख) क्तिन्
(ग) णमुल्
(घ) अप्

5. भू (होना) धातु के साथ क्त्वा प्रत्यय जोड़ने पर इट्-आगम का निषेध होकर कौन सा शुद्ध रूप सिद्ध होगा?
(क) भवित्वा
(ख) भूत्वा
(ग) भवित्वम्
(घ) भूय

खण्ड-4 उत्सर्गापवाद, उणादि प्रत्ययः

इकाई-4.1 उत्सर्गापवाद बाध्य-बाधक भाव-व्याकरण

उद्देश्य-

1. छात्रों को कृदंत प्रकरण के अंतर्गत आने वाले उत्सर्गापवाद (सामान्य नियम और अपवाद) की अवधारणा और उनकी व्यावहारिक उपयोगिता से परिचित कराना।
2. पाणिनीय व्याकरण के अत्यंत महत्वपूर्ण सूत्र वासरूपोऽस्त्रियाम् के विधान, उसके क्षेत्र और सीमाओं का गहन ज्ञान कराना।
3. अपवाद प्रत्यय के रहते हुए भी उत्सर्ग (सामान्य) प्रत्यय के पाक्षिक प्रयोग के नियमों को समझाना और वाक्य-रचना में उनकी शुद्धता सुनिश्चित करना।

सामान्य विधि को उत्सर्ग कहते हैं और विशेष विधि को अपवाद। विशेष सामान्य का बाधक होता है। और यही न्याय्य है। सामान्य विधि विशेष विधि के विषय को छोड़कर अन्यत्र प्रवृत्त होती है। इतने से ही उसकी चरितार्थता है। अर्थात् अपवाद उत्सर्ग के विषय का संकोच करता है। लोक में भी यह न्याय देखा जाता है- ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्र कौण्डिन्याय, ब्राह्मणों को (ब्राह्मण मात्र को) वही दिया जाय और कुण्डिन-गोत्रज ब्राह्मण को तक्र (मठ्ठा दिया जाए, ऐसा कहने पर सामान्य-विधि से प्राप्त दधि-दान विशेष विहित तक्रदान से बाधित हो जाता है। कौण्डिन्य ब्राह्मण को दही नहीं दिया जाता, तक्र ही दिया जाता है। शास्त्र में कर्मण्यण, कर्म (मात्र) उपपद होने पर धातु (मात्र) से अण् होता है, यह सामान्य विधि है, उत्सर्ग है। आातोऽनुपसर्गे कः, आकारान्त धातु से, जब उससे पूर्व उपसर्ग का प्रयोग न हो, कर्म (मात्र) के उपपद होने पर 'क' प्रत्यय झाता है, यह विशेष विधि है, अपवाद है। कुम्भं करोतीति कुम्भकारः (अण्)। पर गां ददातीति गोदः (क)। यहाँ 'क' के विषय में अण् नहीं हो सकता। यदि हो जाय, तो क-विधान अनर्थक हो जाय और 'गोदाय' ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त हो जाय। अतः अपवाद उत्सर्ग को नित्य बाधता है।

पर कृत् प्रकरण के प्रारम्भ में सूत्रकार **वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्** (३।१।६४) यह सूत्र पढ़ते हैं जो परिभाषा मानी जाती है। इसका अर्थ है- इस धात्वधिकार में असमान-रूप विशेष विहित अपवाद रूप कृत् प्रत्यय सामान्य-विहित उत्सर्ग का विकल्प से बाधक होता है। नित्य नहीं। हाँ स्त्र्यधिकार-विहित क्तिन् आदि प्रत्ययों में तो यथाप्राप्त नित्य ही बाधक होता है। ण्वुल्तृचौ-यह उत्सर्ग है। धातुमात्र से कर्ता में ण्वुल् तथा तृच् प्रत्यय होते हैं- विक्षेप्ता। विक्षेपकः। इगुपध धातु से कर्ता अर्थ में 'क' प्रत्यय होता है, यह अपवाद है-विक्षिपः। अपवाद 'क' उत्सर्ग ण्वुल्, तृच् के साथ समान रूप नहीं, अतः अपवाद उत्सर्ग का विकल्प से बाधक होता है, अर्थात् अपवाद के विषय में भी उत्सर्ग की प्रवृत्ति पक्ष में होती है। असमान रूप वह समझा जाता है जो अनुबन्ध के चले जाने पर असमान रूप रहे, अनुबन्धों से जो असमानरूपता सम्पन्न होती है वह नहीं ली जाती। कर्मण्यण्। यहाँ अनुबन्धरहित प्रत्यय 'अ' है। आतोऽनुपसर्गे कः। यहाँ भी अनुबन्ध रहित प्रत्यय 'अ' है। सानुबन्ध प्रत्यय यद्यपि असमान रूप हैं, निरनुबन्धक तो समानरूप ही हैं। अतः 'क' अण् को नित्य ही बाधेगा।

स्त्र्यधिकारविहित प्रत्ययों में उत्सर्गापवादों का नित्य बाध्य-बाधक-भाव बना रहता है। धातुमात्र से स्त्रीत्व विषय में भाव आदि को कहने के लिएक्तिन् प्रत्यय आता है। यह उत्सर्ग है। स्त्रीत्वविषय में प्रत्ययान्त धातु से भाव आदि को कहने के लिए 'अ' प्रत्यय आता है। यह अपवाद है। जिहीर्षा (अ-प्रत्यय)। यहाँ क्तिन् नहीं कर सकते। यक्-प्रत्ययान्त 'कण्डूय' से 'अ' प्रत्यय करके कण्डूया रूप ही शुद्ध होगा। जागृ से 'श' और 'अ' का विशेष विधान है, जिससे भाव में जागर्या, जागरा- ये दो रूप बनते हैं। सामान्य-विहित क्तिन् करके 'जाति' नहीं बना सकते और अन्याय्य गुणाभाव-सहित जागृति भी नहीं।

वाऽसरूप-प्रतिषेध स्त्र्यधिकार में भी तभी होता है जब उत्सर्ग और अपवाद दोनों स्त्रीप्रकरणस्थ हों। अतः स्त्रीप्रकरणस्थ ण्यासश्रन्थो युच् (३।३।१०७) से विशेष-विहित युच् के साथ स्त्र्यधिकार से बहिर्भूत ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) से सामान्य विहित ण्यत् का समावेश निर्बाध होगा-आसना। आस्या।

स्त्र्यधिकार से उत्तर क्त, ल्युट्, तुमुन्, खलर्थ प्रत्यय- इन प्रत्ययों में वाऽसरूपविधि नहीं होती। यह भी प्रायिक है। कालसमयवेलासु तुमुन् (३।३।१६७)। कालो भोक्तुम्। ल्युट् भी होता है- कालो भोजनस्य।

ताच्छीलिक प्रत्ययों में परस्पर वाऽसरूपविधि नहीं होती, यह वचन भी प्रायिक है। सामान्य-विहित तृन् विशेष विहित इष्णुच् (इष्णु) के विषय में नहीं हो सकता। अलंकरिष्णु के साथ-साथ तृन् करके अलंकर्ता नहीं कह सकते। पर चलनार्थ धातु तथा अनुदात्तेत् हलादि धातु से सामान्य विहित युच् विशेष-विहित 'र' के विषय में भी हो जाता है, अर्थात् दोनों का बराबर प्रयोग मिलता है - कम्पना शाखा (युच्)। कम्प्रा शाखा (र)। कमना युवतिः। कम्रा युवतिः। सामान्य विहित युच् वौ कषलसकत्थस्भम्भः (३।२।१४३) से विशेष विहित घिनुण् के विषय में भी होता है- विकत्थनः। विकत्थी।

कृदभिहितो भावो द्रव्यवत्प्रकाशते।

सिद्धावस्थापन्न भाव कृत् प्रत्यय से कहा जाता है (साध्यावस्थापन्न भाव तिङ् से), अतः द्रव्यवाचक शब्दों की तरह भाव-कृदन्तों का भी लिङ्गसंख्या से योग होता है। यही द्रव्यवत् प्रकाशते इस वचन का अर्थ है। त्यागः। त्यागौ। त्यागाः। रागः। रागौ। रागाः। पाकः। पाकौ। पाकाः।

स्मरणीय बिंदु-

1. **विकल्प का नियम :** वासरूप नियम के कारण ही एक ही धातु से एक ही अर्थ में अपवाद प्रत्यय भी बनता है और उत्सर्ग प्रत्यय भी विकल्प से सिद्ध हो जाता है (जैसेः तृच् उत्सर्ग है और क अपवाद है, तो दोनों रूप संभव होते हैं)।
2. **स्त्र्यधिकार में निषेधः** स्त्रीलिङ्ग के भाववाचक प्रत्ययों में (जैसे स्त्रियाम् क्तिन् के अधिकार में) वासरूप नियम काम नहीं करता। वहाँ अपवाद प्रत्यय आने पर सामान्य प्रत्यय का पूरी तरह लोप या निषेध हो जाता है।
3. **कृत् प्रकरण की विशेषता :** यह उत्सर्गापवाद और वासरूप नियम मुख्य रूप से कृदन्त (कृत्) प्रत्ययों के अधिकार में ही व्यवस्था स्थापित करने के लिए बनाया गया है।

शब्दावली-

1. **उत्सर्ग :** व्याकरण का वह सामान्य या व्यापक नियम जो एक बड़े हिस्से पर लागू होता है (जैसे- धातुओं से सामान्य रूप से ण्वुल् और तृच् प्रत्यय होना)।
2. **अपवाद :** वह विशेष नियम जो उत्सर्ग नियम के क्षेत्र को सीमित करता है या उसके किसी विशेष भाग में बाधा उत्पन्न करता है। सामान्यतः अपवाद नियम उत्सर्ग से अधिक बलवान होता है।
3. **वासरूपोऽस्त्रियाम् :** यह कृत् प्रत्यय प्रकरण का एक महासूत्र (अधिकार सूत्र) है। इसके अनुसार, कृत् प्रत्ययों में यदि कोई अपवाद प्रत्यय आता है, तो वह अपने समान रूप वाले (सरूप) उत्सर्ग प्रत्यय को ही बाधित करता है, असरूप (भिन्न रूप वाले) उत्सर्ग प्रत्यय को नहीं। वह असरूप उत्सर्ग प्रत्यय विकल्प से (वा) बना रहता है।
4. **अस्त्रियाम् :** वासरूपोऽस्त्रियाम् सूत्र में दी गई एक अनिवार्य शर्त। इसका तात्पर्य है कि यह वैकल्पिक व्यवस्था स्त्रियाम् (स्त्रीत्व के अधिकार, जैसे क्तिन् प्रत्यय आदि) में लागू नहीं होती। वहाँ अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग को पूरी तरह रोक देता है।
5. **सरूप और असरूप विधानः** यदि उत्सर्ग और अपवाद प्रत्यय के अनुबन्ध हटाने के बाद दोनों का रूप एक जैसा बचे, तो उसे सरूप कहते हैं (वहाँ पूरी तरह बाधा होगी)। यदि दोनों का रूप अलग-अलग हो, तो उसे असरूप कहते हैं (वहाँ विकल्प लागू होगा)।

15 अंक के प्रश्न-

1. व्याकरण शास्त्र में उत्सर्ग और अपवाद से क्या तात्पर्य है? कृत् प्रत्यय के संदर्भ में वासरूपोऽस्त्रियाम् सूत्र की सोदाहरण विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. वासरूपोऽस्त्रियाम् सूत्र में अस्त्रियाम् पद ग्रहण करने का क्या प्रयोजन है? स्त्रीत्व की विवक्षा में यह नियम किस प्रकार परिवर्तित होता है, सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

5 अंक के प्रश्न-

1. सरूप और असरूप प्रत्ययों के अंतर को व्याकरणिक दृष्टिकोण से संक्षेप में समझाइए।
2. कृत् प्रकरण में अपवाद प्रत्यय आने पर भी उत्सर्ग प्रत्यय का अस्तित्व कब और किस सूत्र से बना रहता है?
3. वासरूप विधि के आधार पर किसी एक धातु से बनने वाले दो वैकल्पिक कृदन्त रूपों का उदाहरण दीजिए।
4. यदि वासरूप नियम न हो, तो कृदन्त प्रक्रिया में शब्दों के निर्माण पर क्या प्रभाव पड़ेगा? लिखिए।
5. निम्नलिखित वाक्यों में से उत्सर्गापवाद के नियम को स्पष्ट करने वाले पदों को रेखांकित कर उनका संक्षिप्त व्याकरण लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. कृत् प्रत्यय प्रकरण में सामान्य नियम को क्या कहा जाता है जो व्यापक क्षेत्र में प्रयुक्त होता है?

(क) अपवाद

(ख) उत्सर्ग

(ग) निपातन

(घ) संप्रसारण

2. वासरूपोऽस्त्रियाम् सूत्र के अनुसार अपवाद प्रत्यय आने पर असरूप उत्सर्ग प्रत्यय का विधान कैसे होता है?

(क) हमेशा के लिए बंद हो जाता है

(ख) विकल्प से (पाक्षिक रूप से) बना रहता है
(ग) अनिवार्य रूप से वही होता है
(घ) उसका रूप बदल जाता है
3. वासरूपोऽस्त्रियाम् सूत्र की व्यवस्था किस अधिकार के अंतर्गत आने वाले प्रत्ययों में लागू नहीं होती?
(क) कृत्य-प्रक्रिया में
(ख) भाव-वाच्य में
(ग) स्त्रियाम् (स्त्रीत्व के अधिकार) में
(घ) भूतकाल के प्रत्ययों में
4. जब उत्सर्ग और अपवाद दोनों प्रत्ययों के अनुबन्धों को हटाने के बाद उनका स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है, तो उन्हें क्या कहा जाता है?
(क) सरूप
(ख) असरूप
(ग) अनुबन्ध
(घ) इत्संज्ञक
4. व्याकरण शास्त्र का वह नियम जो सामान्य नियम (उत्सर्ग) को रोककर विशेष परिस्थिति में प्रवृत्त होता है, क्या कहलाता है?
(क) गुण नियम
(ख) अपवाद नियम
(ग) वृद्धि नियम
(घ) आत्मनेपद नियम

इकाई-4.2 उणादि प्रत्यय, उणादि कोश-प्रथम पाद

उद्देश्य-

1. छात्रों को संस्कृत व्याकरण के उणादि प्रत्यय प्रकरण की अवधारणा, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और उसके प्रयोजन से गहराई से परिचित कराना।
2. सामान्य कृत् प्रत्ययों और उणादि प्रत्ययों के बीच के मुख्य अंतर (जैसे- व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न पक्ष) का बोध कराना।
3. उणादयो बहुलम् सूत्र के नियमों को समझाकर वायुः, कारुः, पायुः जैसे दैनिक जीवन और वेदों में प्रयुक्त होने वाले शब्दों की प्रकृति-प्रत्यय प्रक्रिया का ज्ञान कराना।

उणादि प्रत्यय

पञ्चपादी उणादि सूत्र अष्टाध्यायी से बहिर्भूत हैं। सर्वप्रथम सूत्र कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् में उण् प्रत्यय का विधान होने से ये सूत्र उणादि कहलाते हैं। ये शाकटायनमुनिप्रणीत हैं ऐसी वैयाकरण-निकाय में प्रसिद्धि है। भगवान् सूत्रकार पाणिनि इनकी सत्ता को स्वीकार करते हैं। आचार्य उणादि प्रत्ययों के आश्रित इडागम-निषेध, ह्रस्वादि कार्य विधान करते हैं। इट्-निषेध-विधायक सूत्र तितुत्रतथसिसुसरकसेषु (७।२।६) में ति, त्र को छोड़कर सभी उणादि प्रत्यय हैं। ह्रस्वविधायक सूत्र इस्मन्त्रन्क्विषु च (६।४।६७) में सभी उणादि प्रत्यय हैं। हाँ क्विप् अष्टाध्यायीस्थ भी है। इतना ही नहीं, इनके विषय में कुछ विशेष कथन भी करते हैं। इनका कहना है कि उणादि प्रत्यय वर्तमान काल में तथा संज्ञाविषय में बहुलतया होते हैं।[422] अर्थात् जिस-जिस प्रकृति को लेकर विधान किये गये हैं उस-उस से अन्यत्र भी देखे जाते हैं, भूत[423] और भविष्यत्[424] में भी होते हैं और असंज्ञा में भी। जो प्रत्यय विधान नहीं भी किये गये वे भी शब्दान्वाख्यान के लिये स्वयम् कल्पित किए जाते हैं। कृत्-प्रत्यय होने से इन्हें कर्तृ कारक में ही आना चाहिए था, पर ये अन्य कारकों के अर्थ को कहने के लिए भी आते हैं। 'भीम' आदि शब्दों में अपादान कारक में ही मक् आदि उणादि प्रत्यय आते हैं[425]। 'दाश' तथा 'गोघ्न' शब्दों में सम्प्रदान में ही प्रत्यय होते हैं[426]। अन्यत्र अपादान में तथा सम्प्रदान में न होकर शेष कर्मादि कारकों में आते हैं।[427]

उणादि प्रत्ययान्त शब्दों को व्युत्पन्न (धातुज) माना जाता है और अव्युत्पन्न भी। ये दोनों पक्ष पाणिनीय लोगों को अभिमत हैं। कुछेक उणाद्यन्त तो निःसन्देह व्युत्पन्न कहे जा सकते हैं, जहाँ धात्वर्थ प्रत्यय-सहकार से वाच्यार्थ में अन्वित होता है, जैसे करोतीति कारुः, करने वाला, शिल्पी। कृ-उण्। गृणतीति गुरुः। गृ-कु। बिभेत्यस्माद् इति भीमः।

भी- मक्। स्खलत्यस्माद् इति खलतिः। स्खल् - अति। वातीति वायुः। उण्। युक् आगम। पातीति पायुः, गुदा। शतधा ब्रवीतीति शतनुः, सतलुज नदी। कु प्रत्यय, जिसे डित् माना जाता है। परं श्रृणातीति परशुः। कु। प्राखनतीति आखुः, चूहा। कू, डित्। कृणत्ति वेष्टयति अनेन इति तर्कुः (कातने का साधन)। यहाँ आद्यन्तविपर्यय (आदि क् के स्थान में अन्त का त्, तथा अन्त्य त् के स्थान में आदि क्) भी हुआ है। शृणातीति शरुः, बाण। उ प्रत्यय। सृजन्त्येताम् इति रज्जुः। उ प्रत्यय। यहाँ कर्म में प्रत्यय हुआ है-इत्यादि में धात्वर्थ का वाच्यार्थ में अन्वय है। पर सैकड़ों ऐसे उणादि हैं जहाँ अर्थान्वय कुछ भी नहीं। वहाँ ज्यों-त्यों प्रकृति-प्रत्यय-विभाग द्वारा शब्द-स्वरूप की निष्पत्ति के प्रदर्शन मात्र में यत्न है। ऐसा क्यों किया गया है ? इसलिए कि शाकटायनादि वैयाकरण सभी नामों को धातुज मानते हैं। ये किस तरह धातुज हैं यह दिखाने के लिए उणादि सूत्रों की निर्मिति हुई है। हस् हंसना से तन् प्रत्यय करके 'हस्त' शब्द की सिद्धि की जाती है, पर हस्त (हाथ) में हंसना क्रिया की कुछ भी संगति नहीं। ऐसे ही पोत (समुद्र-यान) में भी पूज् धातु के अर्थ का कुछ भी सम्बन्ध नहीं। नम् धातु से डट् प्रत्यय करके नट शब्द बनाया जाता है, पर नमन झुकना क्रिया का कोई विशिष्ट सम्बन्ध नट वाच्यार्थ के साथ नहीं। वस्तुतः नट अवस्यन्दने से अच् प्रत्यय करके रूपसिद्धि सुलभ है और अर्थ संगति भी। परुष (कर्कश, रूक्ष, रूखा, सख्त) शब्द **पॄ पालनपूरणयोः** से उषञ् प्रत्यय करके सिद्ध किया गया है, अर्थ की संगति की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया। वस्तुतः परुस् (नपुं० गाँठ), से अर्श-आदि अच् प्रत्यय करके सहज में ही परुष शब्द सिद्ध

---

422 उणादयो बहुलम् (३।३।१)।

423 भूतेपि दृश्यन्ते (३।३।२)।

424 भविष्यति गम्यादयः (३।३।३)।

425 भीमादयोऽपादाने (३।४।७४)।

426 दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने (३।४।७३)।

427 ताभ्यामन्यत्रोणादयः (३।४।७५)।

हो जाता है और अर्थ भी संगत हो जाता है। परुष गठीला अत एव खुरदरा। मञ्जूषा शब्द मस्ज् (डुबकी लगाना, नीचे जाना, स्नान करना आदि) से कल्पित किया जाता है। यहाँ धात्वर्थ की कुछ भी संगति नहीं। चरितं तदिति चर्म। भूतकाल में मनिन् प्रत्यय। यहाँ धात्वर्थ का वाच्यार्थ में कुछ भी अन्वय नहीं। त्यद्, तद्, यद्- इन्हें त्यज्, तन्, यज् धातुओं से आदि (अ) प्रत्यय करके बनाया गया है। यह भी कोरी अनर्थक कल्पना है। ऐसे ही रश्मि शब्द की व्युत्पत्ति में अशूङ् धातु को रश् आदेश की कल्पना निराधार है।

इतना होने पर भी उणादि उपादेय हैं। सैकड़ों प्रसिद्ध लौकिक व वैदिक शब्द जिनका अनुशासन अष्टाध्यायी में नहीं पाया जाता है, पर जिनके अनुशासन को जानना इष्ट है, जिसके बिना बोध की परिपूर्णता नहीं होती।

उणादि सूत्रों द्वारा ही व्युत्पन्न होते हैं। गो शब्द कितना प्रसिद्ध है। लोक तथा वेद में इसके अनेकार्थ देखे जाते हैं। इसकी व्युत्पत्ति भी अष्टाध्यायी में नहीं है। इसी तरह प्रतिदिन के व्यवहार में आने वाले स्त्री, पाणि, अस्त्र, वस्त्र आदि शब्दों की व्युत्पत्ति के लिए हमें उणादि सूत्रों का आश्रय लेना पड़ता है। अतः हम यहाँ पञ्चपादी उणादि सूत्रों में से प्रसिद्धतम अतीवोपयोगी सूत्रों को सोदाहरण संग्रहीत करते हैं- व्याकरणस्य कात्स्न्र्याय।

अथ प्रथमः पादः

उण् (उ) -कृ, वा, पा, जि, मि, स्वद्, साध्, अश् (स्वादि०) से उण् प्रत्यय आता है। करोतीति कारुः। शिल्पी अथवा करने वाले को कहते हैं। वातीति वायुः। पातीति पायुः (गुदा)। प्रत्यय के णित् होने से युक् आगम। असंज्ञा में भी अर्थात् शुद्ध यौगिक रूप में भी 'पा' से यह प्रत्यय होता है- ये पायवो मामतेयं तेऽग्ने पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन् (ऋ० १।१४७७३)। जयत्यभिभवति रोगान् जायुः, औषध। मिनोति प्रक्षिपति ऊष्माणं देहे इति मायुः, पित्त। स्वदते इति स्वादुः। साध्नोति परकार्यमिति साधुः। अश्नुते इति आशु। शीघ्र। आशु अनव्यय भी है- आशुरश्वः, तेज चलने वाला घोड़ा। आशु (पुं०) व्रीहि को भी कहते हैं। गां मिमीते इति गोमायुः। (शृगाल)। बहुल ग्रहण से रह् से राहुः और वस् से वासुः। वसति सर्वत्रेति वासुः। वासुश्चासौ देवश्चेति वासुदेवः।

ञुण् (उ)- दृ- दारु। दीर्यते इति। काष्ठ। सन् - सानु (पुं०, स्त्री०)। पर्वत के ऊपर की समतल भूमि। जन्- जानु (पुं०, न०)। चर् चारु। चरति गच्छति प्रविशति मन इति। सुन्दर। चट् -चाटु, प्रिय वचन, प्रिय वचन बोलने वाला। किं श्रृणातीति किंशारुः, सस्य-शूक। किम् उपपद रहते शृ से गुण। जरामेति जरायुः (गर्भाशय)। जरा उपपद होने पर इण् धातु से गुण।

उ- भृ-भरति बिभर्ति वा भरुः, हरि, हर। म्रियन्तेऽत्रेति मरः, धन्व-देश। शीङ् शेते इति शयुः, अजगर। तृ - तरु (पुं०)। तरन्ति नरकमनेन रोपकाः। चर्- चरन्ति भक्षयन्ति देवता इमम् इति चरुः। त्सर् (छिप-कर चलना) - त्सरुः (पुं०), खड्गमुष्टि। तन्- तनु, स्वल्प। शरीर अर्थ में स्त्री०। धन्- धनु (उकारान्त), धनुष् पर्याय। मस्ज्- मद्गु, जलचर विशेष, जो पानी में डुबकी लगाता है। शृ-शृणातीति शरुः, बाण, वज्र। स्वृ-स्वर्यन्ते उपतप्यन्तेऽनेन प्राणाः स्वरुः, वज्र। त्रप्। त्रपते इति त्रपु (नपुं०), रांग। यह मानो अग्नि को देख कर लज्जाती है। त्रपते का अर्थ है लज्जाता है। रांग का पिघलना ही लज्जाना है। वस् - अस्यन्ति क्षिपन्ति शरीरमित्यसवः, प्राण। असु पुंल्लिग बहुवचन में प्रयुक्त होता है। हन्- हनु। जबड़ा। हनु पुं० और स्त्री० दोनों में प्रयुक्त होता है। बन्ध्- बन्धु। स्नेहेन बध्नातीति। मन् - मन्यते जानाति मनुः। स्कन्द्- कन्दु, तन्दूर। कन्दु पुं० स्त्री०। स्कन्दति शोषयति इति कन्दुः। स् का लोप। सृजन्त्येनाम् इति रज्जुः। सृज् के स् का लोप और ऋ से अम् आगम। कृती (कृत्) वेष्टन, लपेटना- तर्कु, तकला। कृणत्ति वेष्टयति अनेन इति तर्कुः, कर्तन-साधन। यहाँ वर्षों का आद्यन्त विपर्यय होता है। जैसे हिस् से व्युत्पन्न सिंह शब्द में।

पृ-पृणातीति पुरुः, राजर्षि का नाम। व्यध्-विरहिणं विध्यतीति विधुः, चन्द्र। कित् होने से सम्प्रसारण। गृध्-गृधु, काम। धृष्-धृषु, दक्ष, धृष्णु। कृ-करोतीति कुरुः, राजा का नाम। गृ-गृणाति उपदिशति इति गुरुः। यहाँ ऋ को उ (रपर=उर्) भी होता है। अप, दुस्, सु उपपद होने पर स्था से कु-अपष्ठु, प्रतिकूल। दुष्ठु। सुष्ठु। यहाँ सुषामादि गण में पाठ मानने से स्था के स् को मूर्धन्यादेश हुआ है।

अर्ज् - अर्जयति गुणान् इति ऋजुः। यहाँ धातु को ऋज् आदेश भी होता है। दृश्- सर्वानविशेषेण पश्यतीति पशुः। यहाँ दृश् को पश् आदेश होता है। पशि सौत्र धातु नाश करना अर्थ में पढ़ी है इससे पांशु (पुं०), धूलि।

प्रथ्, म्रद्, भ्रस्ज्- इन्हें सम्प्रसारण भी होता है। भ्रस्ज् के स् का लोप भी। प्रथ्- पृथु। म्रद्- मृदु। भ्रस्ज्- भृगु। यहाँ न्यङ्कु आदि गण में पाठ स्वीकार करके कुत्व भी होता है।

आङ् पूर्वक खन्, शृ से परे कु प्रत्यय डित् माना गया है। डित् होने से प्रकृति के टि का लोप हो जाता है। आखु, मूषक। परं शृणातीति परशुः, शत्रुओं को नष्ट करने वाला, परसा, कुल्हाड़ा।

हरिभिर्द्रूयते हरिद्रुः = वृक्ष। हरि वानर। द्रु गत्यर्थक है। मितं द्रवति इति मितद्रुः, समुद्र। शतधा द्रवति इति शतद्रुः, नदी विशेष, सतलुज।

मृगयु आदि कुप्रत्ययान्त निपातन किए हैं। मृगं याति इति मृगयुः, व्याध। **आतो लोप इटि च** से आ का लोप हो जाता है। मित्रयु, लोक-यात्रा को जानने वाला। मृगयु आदि आकृतिगण है।

उरच् (उर) मन्दन्ते नन्दन्त्यत्र इति मन्दुरा, वाजिशाला, घुड़साल। वाश् - वाशुरा। वाश्यन्ते शब्दायन्तेऽस्याम् इति वाणुरा, रात। वाशुर गधे को कहते हैं ऐसा कुछ लोग मानते हैं। मयतीति मथुरा। चत् (माँगना) -चतति चतते वा चतुरः। चङ्कुरो रथः। चङक् सौत्र धातु है। अकि-अङ्कुर (पुं०), नई कोंपल।

मद्गुर आदि शब्द उरच् प्रत्ययान्त निपातन किए हैं। मद्गुर एक प्रकार का मत्स्य। कबृ-कर्बुर, रंगबिरंगा। बन्ध्- बन्धुर, नम्र, उन्नतानत, सुन्दर।

किरन् (इर) - इष्- इषिर, अग्नि। इषिरोऽभिवातु वातः इस ऋग्वर्ण में इषिर का अर्थ गतिशील है। मद्- मदिरा। माद्यति अनया। मुद्-मुदिर (पुं०), कामुक, मेघ। खिद् -खिदिर, चाँद। छिद्- छिदिर (पुं०), खड्ग, कुठार। भिद् भिदिर (नपुं०), इन्द्र का वज्र। मदि (प्रसन्न होना) -मन्दन्ते अत्रेति मन्दिरं गृहम्। चदि चन्दति प्रह्लादयतीति चन्दिरः, चाँद। तिम् - तिमिरम्। अन्धेरा, नेत्ररोग, अन्धराता। मिह् (सेचन करना) -मिहिर, सूर्य। मेहति वर्षति इति। वृष्टि में मुख्य कारण सूर्य है- आदित्याज्जायते वृष्टिः। मुह्- मुह्यति इति मुहिरः, मूर्ख। रुच्- रुचिर। रोचते इति। रुध्-रुधिर (नपुं०)। बध्नाति इति बधिरः। अनिदिताम् ० (६।४।२४) से न् लोप। शुष्- शुषिर, छिद्र।

अजिर, शिशिर, शिथिल, स्थिर, स्फिर, स्थविर, खदिर- ये किरच्-प्रत्ययान्त निपातन किए हैं। अजन्ति गच्छन्त्यत्रेति अजिरम्, आँगन। यहाँ अज् को वि आदेश नहीं हुआ। शिशिर - शश् (छलांग लगाते चलना) धातु से। शिथिल श्रथ् धातु से। स्था- स्थिर। स्फाय् से- स्फिर, प्रभूत, बहुत। स्था से स्थविर, वृद्ध। वुक् (व्) आगम। खद् (हिंसा करना) - खदिर, खैर का वृक्ष।

तुन् (तु) - सि (बाँधना) - सिनोति सिनाति वा सेतुः। तन्- तन्तु (पुं०)। **तितुत्र** से इट् का निषेध। गम् - गन्तु। आग. न्तुः- आगन्तुकः। मस् (बदलना) - मस्तु (पुं०), दही का पानी। सच् - सक्तु (पुं०)। अव्- ओतु, विडाल, बिल्ला। **ज्वर-त्वर०** (६।४।२०) सूत्र से व् और उपधा को ऊठ्। गुण। धा-धातु। क्रुश् क्रोष्टु (शृगाल)। प्र० एक० - क्रोष्टा।

तृ-ऋ - इयर्तीति ऋतुः। यहाँ 'तु' कित् माना गया है। कम्-कन्तु, कामदेव, चित्त। मन्-मन्तु (पुं०), अपराध। जन्- जन्तु, प्राणी। गा- गातु। गायति इति गातुः, कोकिल, गन्धर्व। भा- भातु (पुं०), सूर्य। या-यातु (पुं०) यात्री, काल। हि (स्वादि०) - हेतु। हिनोति प्रहिणोति प्रेरयत्ति इति हेतुः।

आतु-जीव् - जीवातुः, जीवनौषध, जिलाने वाला औषध।

इति (इत्) - तङ् णिच्-ताडयति इति तडित् (स्त्री०), कड़कने वाली बिजली। यहाँ 'णि' का लुक् भी होता है।

कल (अल) - वृषल आदि कल-प्रत्ययान्त निपातन किए हैं। वृष् वृषल (शूद्र)। पल् (जाना) - पलल (नपुं०) मांस। सृ-सरल= पूतिकाष्ठ। यहाँ अप्राप्त गुण भी होता है।

सरला विरलायन्ते घनायन्ते कलिद्रुमाः।
न शमी न च पुन्नागा अस्मिन् संसारकानने॥

ड- नम् (प्रत्याहार) अन्त वाली धातुओं से। दम् - दण्ड। दाम्यति इति दण्डः। रम् - रण्ड। रमते इति। सन् (देना) - सनति सनोति इति वा षण्डः, साँड। पडि-पण्डा, बुद्धि। अम्- अण्ड। यहाँ **चुटु** से प्रत्यय के आदि टवर्ग की इत् संज्ञा नहीं होती। उणादयो बहुलमिति।

आलच्- स्था- स्थाल, स्थाली= पाकभाजन।

वालन्- चत्- चात्वाल - यज्ञकुण्ड।

आलीयच्- मृज् - मार्जालीय =मार्जार, विडाल, बिल्ला।

मन् (म) - ऋ-अर्म (नपुं०) = चक्षुरोग। स्तु- स्तोम = संघात। सु (स्वा०) - सोम। सूयतेऽभिषूयते इति सोमः। हु- होम। धृ -धर्म। क्षि- क्षेम। (पुं० नपुं०)। क्षु क्षोम। प्रज्ञादि होने से अण् करके क्षौम ऐसा भी होगा। भा- भाम = सूर्य। या- याम = प्रहर। वा- वाम = सुन्दर, उलटा। पद्-पद्म। यज् (पूजा करना) - यक्ष्म -रोग-राज, तपेदिक्। नी- नेम = आधा।

अव् से मन् और टि (अ) का लोप। अव के व् के स्थान में ऊठ् (ऊ)। गुण। ओम्। अव्यय। प्रणव, स्वीकार।

मक्- भीम। बिभेत्यस्माद् इति भीमः। षुक् का आगम होने पर भीष्म।

कनिन् (अन्) - नञ्-पूर्वक ओहाक् (हा) = त्याग करना से कनिन्। न जहातीत्यहः। आतो लोप इटि च (६।४।६४) से आ का लोप।

कनि (कन्) - श्वन्, उक्षन्, पूषन्, प्लीहन्, मूर्धन्, मज्जन्, अर्यमन्, परिज्मन्, मातरिश्वन्, मघवन् - ये कन्-प्रत्ययान्त निप. ातन किए हैं। इनमें क्रम से श्वि, उक्ष्, पूष् (भ्वादि०), प्लिह् (गत्यर्थक), मुह्, मस्ज्, अर्थ उपपद होते हुए माङ्, जन् (परिपूर्वक), मातरि (सप्तम्यन्त) उपपद होने पर श्वि, मह् (भ्वा० चुरा०) पूजा करना- ये धातुएँ हैं। मुह्यन्त्यस्मिन्नाहते इति मूर्धा, मस्तक। जिस पर चोट लगने से मूर्छित हो जाते हैं। मातरि अन्तरिक्षे श्वयतीति मातरिश्वा। श्वि गत्यर्थक है।

इति प्रथमः पादः।

स्मरणीय बिंदु-

1. **संज्ञा निर्माण :** सामान्य कृत् प्रत्यय जहाँ क्रिया या भाव को दर्शाते हैं, वहीं उणादि प्रत्यय मुख्य रूप से किसी व्यक्ति, वस्तु या तत्व का नाम (संज्ञा शब्द) निर्धारित करते हैं।
2. **नियमों की शिथिलता:** उणादि प्रत्ययों में व्याकरण के सामान्य नियम (जैसे इट्-आगम, गुण, वृद्धि) कभी-कभी बदल जाते हैं या बिना किसी प्रत्यक्ष सूत्र के सीधे ही शब्दों को सिद्ध मान लिया जाता है (निपातन विधि)।
3. **वैदिक महत्व:** उणादि प्रत्ययों का सर्वाधिक प्रयोग वेदों की शब्दावली को सिद्ध करने के लिए किया जाता है, क्योंकि वैदिक शब्द अत्यंत प्राचीन और रूढ़ हैं।

शब्दावली-

1. **उणादि प्रत्यय :** अष्टाध्यायी के अंतर्गत आने वाले वे प्रत्यय जिनका पहला प्रत्यय उण् है। इन प्रत्ययों का समूह उणादिपाठ कहलाता है, जो मुख्य रूप से संज्ञा शब्दों का निर्माण करते हैं।
2. **उणादयो बहुलम् :** यह उणादि प्रकरण का मुख्य पाणिनीय सूत्र है। बहुल शब्द का अर्थ है कि ये प्रत्यय धातुओं से बहुत प्रकार (कहीं प्रवृत्ति, कहीं अप्रवृत्ति, कहीं अन्य रूप) से होते हैं, अर्थात् इनके नियम अत्यंत लचीले होते हैं।
3. **व्युत्पन्न पक्ष :** शाकटायन मुनि और पाणिनी के अनुसार जब भाषा के सभी संज्ञा शब्दों को किसी न किसी धातु और प्रत्यय से उत्पन्न (व्युत्पन्न) माना जाता है, तो उसे व्युत्पन्न पक्ष कहते हैं। उणादि इसी पक्ष का समर्थन करता है।
4. **अव्युत्पन्न प्रातिपदिक :** वह पक्ष जिसके अनुसार कुछ संज्ञा शब्द जन्म से ही स्वतंत्र (रूढ़) होते हैं, उन्हें धातु और प्रत्यय में नहीं तोड़ा जा सकता। उणादि प्रत्यय इन दोनों पक्षों के बीच एक सेतु का कार्य करते हैं।
5. **उण् प्रत्ययः** उणादि सूची का सर्वप्रथम प्रत्यय। जब कृ (करना) या वा (गति-गन्धयोः) धातु से यह प्रत्यय होता है, तब आदिवृद्धि या गुण होकर क्रमशः कारुः (शिल्पी/कारीगर) और वायुः (हवा) जैसे पद बनते हैं।

15 अंक के प्रश्न-

1. उणादि प्रत्यय किसे कहते हैं? उणादयो बहुलम् सूत्र की व्याख्या करते हुए कृदन्त प्रत्ययों और उणादि प्रत्ययों के मध्य मुख्य अंतरों की सोदाहरण समीक्षा कीजिए।
2. उणादि प्रत्यय प्रक्रिया के आधार पर निम्नलिखित पदों में से किन्हीं दो की प्रकृति (धातु), प्रत्यय और अर्थ स्पष्ट करते हुए रूप-सिद्धि कीजिए: (क) वायुः (ख) कारुः (ग) पायुः

5 अंक के प्रश्न-

1. व्याकरण शास्त्र में व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न शब्दों के अंतर को उणादि के संदर्भ में संक्षेप में समझाइए।
2. उणादि पाठ के अंतर्गत आने वाले सूत्रों में बहुलम् पद का क्या अर्थ और महत्व है?
3. कृ (करना) धातु से उण् प्रत्यय लगाने पर आदिवृद्धि होकर क्या रूप बनता है और उसका अर्थ क्या है?
4. वेदों के शब्दों को समझने में उणादि प्रत्यय किस प्रकार सहायक सिद्ध होते हैं? लिखिए।
5. पायुः (रक्षा करने वाला/शरीर का एक अंग) शब्द की उणादि प्रक्रिया के अनुसार मूल धातु का नाम बताइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. पाणिनीय व्याकरण के अनुसार उणादि प्रत्यय संग्रह का नाम 'उणादि' क्यों पड़ा?
(क) क्योंकि इसका अंतिम प्रत्यय उण् है
(ख) क्योंकि इसका पहला प्रत्यय उण् है
(ग) क्योंकि यह केवल उकारान्त शब्दों में लगता है
(घ) क्योंकि इसकी खोज उमा मुनि ने की थी
2. उणादयो बहुलम् सूत्र के अनुसार उणादि प्रत्ययों का विधान धातुओं से किस प्रकार होता है?
(क) अत्यंत कठोर और निश्चित नियमों से
(ख) बहुल (विविध और लचीले) रूपों से
(ग) केवल भूतकाल के अर्थ में
(घ) केवल आत्मनेपद की धातुओं से
3. उणादि प्रत्यय मुख्य रूप से किस प्रकार के शब्दों का निर्माण करने के लिए प्रयुक्त होते हैं?

(क) सर्वनाम शब्द
(ख) क्रिया रूप (धातु रूप)
(ग) संज्ञा शब्द
(घ) केवल उपसर्ग
4. वा (गति-गन्धयोः) धातु के साथ उणादि का उण् प्रत्यय जोड़ने पर कौन सा सुप्रसिद्ध पद सिद्ध होता है?
(क) वातः
(ख) वायुः
(ग) वायनम्
(घ) वावः
5. कारुः (जिसका अर्थ शिल्पी या कारीगर होता है) शब्द में कौन सी मूल धातु विद्यमान है?
(क) का धातु
(ख) कम् धातु
(ग) कृ (डुकृञ् करणे) धातु
(घ) क्ऋ धातु

इकाई-4.3 उणादि कोश - द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ पाद

उद्देश्य-

1. छात्रों को उणादि-कोश के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पाद के अंतर्गत आने वाले विशिष्ट उणादि प्रत्ययों, उनके पाणिनीय सूत्रों और नियमों से गहराई से परिचित कराना।
2. उणादिपाठ के इन पादों के माध्यम से वेदों और लौकिक संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त होने वाले अत्यंत प्राचीन संज्ञा शब्दों की आन्तरिक संरचना का ज्ञान कराना।
3. धातुओं में उणादि प्रत्यय (जैसे- डति, थन्, क्रुन्, सि आदि) जुड़ने पर होने वाले विशिष्ट व्याकरणिक परिवर्तनों (जैसे- सम्प्रसारण, धातु-लोप, टिलोप) तथा रूपों का व्यावहारिक ज्ञान देना।

अथ द्वितीयः पादः

थक् (थ) - पा-पीथ= रवि। पीथ (नपुं०) घृत। तृ-तीर्थ (पुं० नपुं०)= शास्त्र, उपाध्याय, अवतार (घाट), ऋषि-सेवित नदी-जल। वच्- उक्थ = साम-विशेष। रिच्- रिक्थ (धन, सम्पत्ति)। सिच् - सिक्थ (मधूच्छिष्ट, मोम)।

शीङ-थक्। निशीथ (पुं०) रात्रि, अर्धरात्र। गोपीथ (पुं०)= सोमपान **घुमास्था (६।४।६६)** से पा (पीना) के आ को ई। अवगथ। अव-गाङ्। धातु को ह्रस्व। ये शब्द थक् प्रत्ययान्त निपातन किए हैं।

रक् (र) - स्फायी (स्फाय्) स्फार= प्रभूत। वल् 'र्' परे होने पर 'य्' का लोप। तञ्च्-तक्र। वञ्च्-वक्र। शक्-शक्र। क्षिप्-क्षिप्र। क्षिप्रम्-शीघ्रम्। क्षुद्-क्षुद्र। तृप्-तृप्र। (पुरोडाश)। श्वित्- श्वित्र (श्वेत-कुष्ठ)। वृत्-वृत्र (अन्धकार, दानव विशेष)। अज्-वीर। अज को वी आदेश। नी-नीर। मद्-मद्र (देश-विशेष)। मुद्- मुद्रा। छिद् - छिद्र। मदि (मन्द्)-मन्द्र। चदि-चन्द्र (चन्द्र) । चन्दति आह्लादयति इति चन्द्रः। दह - दह्र (अग्नि)। दस् (क्षीण होना) - दस्र (अश्विनीकुमार)। दम्भ्-दभ्र (अल्प)। वस्- उस्र (रश्मि)। उस्रा= गौ। हस्-हस्र (मूर्ख), जो (अकारण) हँसता रहता है। शुभ् - शुभ्र (चमकीला)।

रक्-रोदि (रुद् णिच्) - रुद्र। रोदयति इति रुद्रः। यहाँ णि का लुक् भी होता है। संज्ञा और छन्दस् (वेद) में अन्य धातु से अन्य-प्रत्यय किए जाने पर भी णि का लुक् देखा जाता है- बृंहयति इति ब्रह्मा। शं सुखं भावयति इति शम्भुः। वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे (ऋ० ७।६६।७)। यहाँ वर्धन्तु = वर्धयन्तु।

वान्ति पर्णशुषो वातास्ततः पर्णमुचोऽपरे।
ततः पर्णरुहो वान्ति ततो देवः प्रवर्षति॥

यहाँ क्विप्-प्रत्यय परे होने पर शुष् आदि से णिच् का लुक् हुआ है।

क्रन् (र)-सु (स्वा०) सुर। सुनोति सोमं निष्पादयतीति सुरः। षू (सू) प्रेरणार्थक-सूर (आदित्य)। सुवति लोकं कर्मणीति सूरः। धा-धीर। गृध्-गृध्र।

रन् (र) - ऋज् (गति, स्थिति) - ऋज्र = नायक। यहाँ गुणाभाव निपातन किया है। इदि (इन्द्)- इन्द्र। इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति इति इन्द्रः। अगि (गत्यर्थक)-अग्र। नलोप। वज् (गत्यर्थक)-वज्र। वप्-विप्र। उपधा को इ। कुबि (कुम्ब्)-कुब्र (अरण्य)। चुबि-चुब्र (मुख)। क्षुर् (तुदा०)-क्षुर। र-लोप। गुणाभाव। खुर् (तुदा०)-खुर (पुं०)। र-लोप। गुणाभाव। शुच्-शुक्र। च् को क् आदेश। र को ल होने पर 'शुक्ल' भी।

उकन् (उक)-सम्-कस्-संकसुक (अस्थिर, दुर्जन)। संकसन्ति पलायन्ते जना अस्मादिति संकसुकः।

क्रुकन् (रुक)-भी-भीरुक। र को ल होने पर 'भीलुक' भी।

क्वुन् (वु)-रञ्ज्-रजक। रजतीति। धोबी, ललारी। कुट्ट्-इक्षुकुट्टक (ईख को पीडने वाला)। चर्-चरक (वैशम्पायन का नामान्तर)। चष् (खाना)-चषक (पानपात्र, प्याला)। शुन् (तुदा०) जाना-शुनक (कुत्ता)। भष् (भौंकन)-भषक (कुत्ता)। जैसे पाणिनीयाष्टक में व् (प्रत्यय) को 'अक' आदेश होता है ऐसे यहाँ भी।

क्वुन् (वु) - हन्-वधक। यहाँ हन् को वध् आदेश भी होता है। वस्तुतः वध् स्वतन्त्र प्रकृति भी है। उससे ण्वुल् प्रत्यय होने पर जनिवध्योश्च (७।३।३५) से वृद्धि का प्रतिषेध हो कर इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है। कुह्-कुहक (दाम्भिक)। कृष-कृषक। कार्षक। यहाँ उदीच्य आचार्यों के मत से वृद्धि होती है।

किकन् (इक) - व्रश्च्-वृश्चिक (बिच्छू)। सम्प्रसारण। कृष् (तुदा०) -कृषिक (किसान)। मुष-मूषिक। यहाँ दीर्घ भी होता है।

इकन् (इक) क्री-क्रयिक (खरीदने वाला)।

क्विप्- इस प्रत्यय का सर्वापहारी लोप हो जाता है। वच् - वाक्। प्रच्छ - प्राट्। पूछने वाला। प्राट् चासौ विवाकश्च प्राड्विवाकः, न्यायाधीश। श्रि-श्री। श्रयन्त्येनाम् इति श्रीः। स्नु-स्नू। स्रवति अस्माद् घृतादिकमिति स्नूः (यज्ञ का साधन विशेष)। द्रु-द्रू (स्वर्ण)। प्रुङ्-कटप्रूः (कीट)। कटं प्रवते गच्छतीति। जु-जू। वच्, प्रच्छ् में सम्प्रसारण प्राप्त था। वह नहीं होता। क्विप् के सन्नियोग से इन धातुओं के अच् को दीर्घ होता है। प्रच्छ् के च्छ को श् होकर उसे व्रश्चभ्रस्ज-(८।२।३६) सूत्र से ष् और उसे जश्त्व होकर अवसान में वैकल्पिक चर्त्व हो कर प्र० ए० में प्राट् रूप सिद्ध होता है। अपदान्त में प्राशौ, प्राशः इत्यादि रूप होंगे।

परि-पूर्वक वज्-परिव्राट्। यहाँ भी धातु के अच् को दीर्घ और पदान्त ज् को ष् होता है। अपदान्त में केवल दीर्घ होता है-परिव्राजौ, परिव्राजः इत्यादि।

युच् (अन)- उन्दू (रुधा०)-ओदन। उनत्ति इति ओदनः। न् का लोप।

डो-गम्-गो। टि-लोप। गच्छतीति गौः।

अति (अत्)-पृष् (सेचन करना)- पृषत् (नपुं० बिन्दु)। पुं-श्वेत बिन्दु युक्त मृग। बृह्-बृहत्। मह्-महत्। गम्-जगत्। इन अतिप्रत्ययान्तों को शतृ-प्रत्यय की तरह कार्य होता है, अर्थात् उगित् मान कर इन्हें सर्वनाम स्थान परे रहते नुम् आगम होता है-बृहन्। बृहन्तौ। बृहन्तः इत्यादि। यहाँ अति प्रत्यय शतृ की तरह वर्तमान काल में होता है। गम् को 'जग' आदेश भी होता है। इनको शतृ-प्रत्ययान्त मानने पर स्वरव्यवस्था नहीं बनती।

किं च। स्त्रीलिङ्ग में ङी परे होने पर नुम् होकर महन्ती, बृहन्ती आदि अनिष्ट रूप प्रसक्त होंगे। महती, बृहती आदि इष्ट हैं। महती नारद की वीणा का नाम भी है और बृहती विश्वावसु की।

आनच् (आन)-श्वित्-शिश्विदान (अकृष्णकर्मा)। यहाँ धातु को द्विर्वचन होता है और त् को द् भी।

तृन, तृच्-नप्तृ (दोहता, पोता), नेष्टृ (ऋत्विक् विशेष), त्वष्टृ (देवों का बढ़ई), होतृ (ऋग्वेदी ऋत्विक्), पोतृ, भ्रातृ, जामातृ, मातृ, पितृ, दुहितृ-ये तृन्-तृच् प्रत्ययान्त निपातन किए हैं। इनमें क्रम से पत् (नञ्-पूर्वक), नी (षुक् आगम), त्विष् (उपधा इ को अ), हु, पू, भ्राज् (जकार-लोप), मा (पूर्वपद जाया को जा आदेश), मान् (पूजा करना। नकार का लोप), पा (रक्षा करना), दुह्-ये धातुएँ हैं। जहाँ ताच्छील्य विवक्षित है वहाँ तृन् समझना चाहिए, अन्यत्र तृच्। रूप में अभेद होने पर भी स्वर में भेद है।

ऋ-दिव्-देवृ (देवर)। प्र० ए० देवा। द्वि० देवरौ। बहु० देवरः।

अनि-ऋ-अरणि (स्त्री०), काष्ठ जिसे मथ कर अग्नि निकाली जाती है। ऐसी लकड़ी को मथने वाले को भी 'अरणि' कहते हैं। तब यह पुँल्लिग है। सृ-सरणि (स्त्री०)। धृ-धरणि (भूमि)। धम् -धमनि (नस, शिरा)। धम् ध्मा से भिन्न स्वतन्त्र धातु भी मानी जाती है। अश्-अशनि (वज्र)। अशनि पुं और स्त्री०। अव-अवनि। तृ-तरणि (पुं सूर्य, स्त्री० नौका)।

कृष-चर्षणि। यहाँ धातु के आदि क् को च् भी होता है। वेद में चर्षणि मनुष्य का पर्याय है। सेदु राजा क्षयति चर्षणीनाम्। (ऋ० १।३२।१५)। ओमासश्चर्षणीधृतः (ऋ० १।३।७)।

उसि (उस्)-जन् से-जनुस् (नपुं)।

इण् से-आयुस्। यहाँ प्रत्यय को णित् माना जाता है। जिससे धातु को वृद्धि। आयुर्जीवनकालः (अमर)। जितना समय किसी ने यहाँ जीना है वह उसकी आयु है। आयुः नपुं०।

आङ्-पूर्वक सन्नन्त शुष् से-आशुशुक्षणि। अग्नि का नाम है। अग्नि के सभी नाम पुं० हैं।

ष्वरच् (वर)-गृ-गर्वर (गर्ववान्)। शृ-शर्वरी, रात। षित्व होने से ङीष्। शीर्यन्ते भूतान्यत्रेति शर्वरी। अधिकरण में प्रत्यय। चते-चत्वर (चौक) पुं०।

नि-पूर्वक सद् से-निषद्वर (पुं०) (काही, शेवाल)। निषद्वरी = रात्रि।

इति द्वितीयः पादः।

अथ तृतीयः पादः

नु-दा-दानु (दाता, शूर)। भा-भानु (सूर्य)। विष्-विष्णु। वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगत् इति विष्णुः। वेद में मुख्यतया विष्णु सूर्य का नाम है जिसकी दो पत्नियाँ श्री और लक्ष्मी कही गई हैं। श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च ते पत्न्यौ (वा० सं० ३१।२२)।

णु-अज् (वी)-वेणु। वृ-वर्णु (नदी-विशेष, देश-विशेष = बन्नु)। री-रेणु (पुं०, स्त्री०)।

उन, उन्त, उन्ति, उनि-शक्-शकुन। शकुन्त। शकुन्ति। शकुनि। ये सब पक्षी के नाम हैं। ज्योतिःशास्त्र में प्रसिद्ध शकुन, अपशकुन शब्दों का मूल यही पक्षि-वाचक शकुन शब्द है।

उनन्-कृ-करुण (वृक्ष-भेद)। करुणा (कृपा)। वृ-वरुण। वृणोतीति वरुणः। वेद में अस्त होते हुए सूर्य को वरुण कहा है। दृ (दृ-णिच्)-दारुण।

पिश् (घढ़ना, तुदा०)-पिशुन। पिंशति घटयति अमूलार्थं निनिन्दिषया इति पिशुनः। सूचक (चुगलखोर), खल।

स-वृ-वर्स (नपुं०)। तृ-तर्स (नपुं०)। तितुत्र-से इट् का निषेध। तर्ष (नौका, समुद्र)। वद्-वत्स। हन्-हंस। हन् यहाँ गत्यर्थक है। हन्ति गच्छतीति हंसः। हंस की गति प्रसिद्ध है, हिंसा नहीं। कम्-कंस (पुं०, पीने का पात्र)। कष्-कक्ष (नपुं०)। ष् को क् होकर पीछे स-प्रत्यय को ष। क् ष् के योग से क्ष्।

अश्-अक्ष (जुए का पासा)।

स्नु-स्नुषा। व्रश्च्-वृक्ष। ऋष् (गत्यर्थक)-ऋक्ष (नक्षत्र)। यहाँ 'स' कित् माना गया है। अतएव गुणाभाव और यथास्थान सम्प्रसारण हुआ है।

उन्द्-उत्स (पुं०), स्रोत। गुथ्-गुत्स (पुं०), गुच्छा। कुष्-कुक्ष (पुं०), पेट। इनमें भी स-प्रत्यय कित् माना गया है जिस कारण धातु को गुण नहीं हुआ।

सर-अश्-(व्याप्त्यर्थक)-अक्षर। वस्-वत्सर। संवत्सर (पुं०)।

क्सरन् (सर) तन्-तसर। कित् होने से अनुनासिक लोप। तसर = सूत्रवेष्टन, तकला। ऋष्-ऋक्षर = ऋत्विक्। वेद में ऋक्षर = कण्टक। अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थाः (ऋ० १०।८५।२३)।

काकु (आकु)-पर्द् (गुद शब्द)-पृदाकु (साँप)। र् को सम्प्रसारण और अकार का लोप।

तन्-हस्, मृ, गृ, इण्, वा, अम्, दम्, लू, पू, धुर्वी-इनसे तन्। तितुत्र-से इट् का निषेध। हस्त। मर्त (भूलोक)। गर्त (गढ़ा)। एत (चितकबरा)। वात। अन्त। दन्त। लोत (आँसू, चिह्न)। पोत (शिशु, जहाज)। लू के साहचर्य से यहाँ पूञ् पवने ली जाती है। पर अर्थ की संगति कुछ भी नहीं। यदि पूङ् पवने से प्रत्यय हो तो अर्थ कुछ संगत हो जाता है। पवन का अर्थ बहना भी है। जैसे सोमः पवते में। धूर्त। धुर्वी (धुर्व्) के रेफ से परे व् का लोप (राल्लोपः ६।४।२१) और पूर्व-स्वर को दीर्घ।

आप् (नञ्-पूर्वक-नापित (नाई)। इट् आगम विशेष विहित है। नञ् प्रकृत्या (अपने स्वरूप में) रहता है। नाऽऽप्यत इति। कर्म में प्रत्यय।

तन्-तन् (विस्तार करना, तना०)-तत। यह तन् प्रत्यय कित् माना गया है जिससे अनुनासिक का लोप हो जाता है। तनोतीति ततः। कारुरहं ततो भिषग् उपलप्रक्षिणी ननाः (ऋ० ९।११२।३)। तत एव तातः। प्रज्ञादि होने से स्वार्थ में अण्। उणादि व्याख्याकार यहाँ ततं वीणादिवाद्यम् इस अमर वचन को उद्धृत करते हैं। उस अर्थ में तो तन् का निष्ठान्त रूप ही स्वीकार किया जा सकता है। प्रकृत सूत्र व्यर्थ हो जाता है। मृङ्-मृत। म्रियते इति मृतः, मर्त्यः।

दु (गत्यर्थक)-दूत। दीर्घ। तन्-तात। यहाँ भी तन् को कित् माना गया है और धातु को दीर्घ विधान किया गया है। वस्तुतः इस सूत्र में तन् ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं। जैसे हम पहले कह चुके हैं। तत से स्वार्थ में अण् करके रूप-सिद्धि सुलभ है।

आन्य-वद्-वदान्य (दानशील)। मां याचस्व इति वदति। वदान्य सुन्दर वक्ता को भी कहते हैं।

अत्रन्-अम्-अमत्र (नपुं०), भाजन, पात्र। नक्ष्-नक्षत्र। यज्-यजत्र (यष्टव्य, पूज्य)। भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। (ऋ० १।८९।८)। यजत्राः यह सम्बोधन अर्थ में प्रथमा बहुवचन है। वध्-वधत्र (नपुं), आयुध, शस्त्र। पत्-पतत्र (नपुं०), पक्ष, पंख।

अथ-शीङ्-शयथ = अजगर। शेते इति शयथः। शप्-शपथ (पुं)। रु-रवथ (कोकिल)। गम्-गमथ (पुं०), पथिक, मार्ग। वञ्च्-वञ्चथ = धूर्त। जीव्-जीवथ (आयुष्मान्)। अन् (प्र-पूर्वक)-प्राणथ = बलवान्। शम्-शमथ = शान्ति। दम्-दमथ = दम। शम्, दम्, से बाहुलक से अथ-प्रत्यय हुआ है। वस् (सोपसर्गक)-आवसथ (पुं०) = गृह, डेरा, आगन्तुक आदि के ठहरने का स्थान। एत्य वसन्त्यत्र इति आवसथः। अधिकरण में अथ-प्रत्यय है। संवसथ (पुं) = ग्राम। संवसन्ति (सम्भूय वसन्ति) अत्रेति संवसथः। यहाँ भी अधिकरण में प्रत्यय है।

असच् (अस)-दिव्-दिवस (पुं० नपुं०) दीव्यन्ति व्यवहरन्ति अत्र इति दिवसः दिवसं वा। यहाँ असच् कित् माना गया है। जिससे धातु को गुण नहीं हुआ।

अर-ऋ-अरर (नपुं०), कपाट। कपाटमररं तुल्ये-(अमर २।२।१७)। कम्-कमर (कामुक)। भ्रम्-भ्रमर। चम्-चमर (मृग-भेद)। चमरी (स्त्री०)। दिव्-देवर। वस् णिच्-वासर (पुं०, नपुं०)। यहाँ 'अर' चित् माना गया है। इससे अरर आदि अन्तोदात्त हैं।

तनन्-वी (गत्याद्यर्थक अदा०)-वेतन (नपुं०)। पद्--पत्तन (नपुं०) समुद्रतटवर्ती नगर, बन्दरगाह।

ई-अव्-अवी (रजस्वला स्त्री)। तृ-तरी (नौका)। स्तृ-स्तरी (धुआँ)। तन्त्र-तन्त्री (वीणा आदि का तार)। यहाँ प्रथमा एकवचन में कहीं भी सु-लोप नहीं होता। यहाँ इसकी प्राप्ति ही नहीं है।

या-ययी (अश्व)। यहाँ द्विर्वचन भी होता है और ई को कित् माना जाता है। पा-पपी (सोम, सूर्य)। यहाँ भी सु-लोप नहीं होता।-ययीः। पपीः।

लक्ष्-लक्ष्मी (प्र० ए० लक्ष्मीः)। यहाँ मुट् आगम भी होता है। लक्ष् चुरादि है। इससे स्वार्थ में आए हुए णिच् का लोप होता है।

इति तृतीयः पादः।

अथ चतुर्थः पादः

ई-वात शब्द उपपद होने पर प्र-पूर्वक माङ् से ई। वातं प्रमिमीते = वातप्रमीः। यह ई कित् माना जाता है। इसी कारण 'मा' को 'मी' हुआ है।

क्तनिच् (अत्नि)- ऋ-रत्नि। अरत्नि। बद्धमुष्टिः करो रत्निः सोऽरत्निः प्रसृताङ्गुलिः। मुट्ठी में बाँधे हुए हाथ को रत्नि कहते हैं और फैली हुई उंगुलियों वाले हाथ को अरत्नि।

इथिन् (इथि) अत्-अतिथि। अतति सततं गच्छतीति अतिथिः।

इनि (इन्)-गमिष्यतीति गमी। आङ्-पूर्वक गम् से आगामी। आङ् से परे इस प्रत्यय को णित् माना जाता है। अतः यहाँ उपधा-वृद्धि हुई। भू-भावि (नपुं०)। भावी (पुं०)। यहाँ भी प्रत्यय को णित् माना गया है।

प्र-पूर्वक स्था से-प्रस्थायिन्। यहाँ भी प्रत्यय णित् माना गया है। इसीलिए आतो युक्-से युक् आगम हुआ है।

'परमे' सप्तम्यन्त उपपद होने पर स्था से। यह इनि कित् माना गया है। अतः कित्त्व के कारण 'आतो लोप इटि च' से आ का लोप। परमेष्ठिन्। परमेष्ठी = ब्रह्मा।

ईकन् (ईक)-फर्फरीक आदि शब्द ईकन् प्रत्ययान्त निपातित किए हैं। स्फुर-ईकन्। फर्फर् आदेश। फर्फरीकं किसलयम्। फर्फर करने वाली नई कोंपल।

दशपादी में तो धातु स्फुर् को द्वित्व, उकार को अकार, स् का लोप और अभ्यास को रुक् आगम--ऐसी प्रक्रिया दी है। चञ्चरीको भ्रमरः। चर् से ईकन्। यहाँ भी द्विर्वचन होता है और अभ्यास को नुम्। कर्करीका = गलन्तिका (गागर जिसमें से जल टपकता रहता है)। कर्करीक में कृ से ईकन् हुआ है। अमर में कर्कर्यालुर्गलन्तिका ऐसा पाठ है। वहाँ 'कर्करी' शब्द स्वीकार किया गया है।

ईरन् (ईर)-कृ-करीर (वृक्ष-विशेष)। पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किम्। शृ- शरीर (नपुं०)। शीर्यत इति। पट् (गत्यर्थक)-पटीर (पुं०) = चन्दन। शौटृ (गर्व करना)-शौटीर।

वश् (चाहना, अदा०)-उशीर (नपुं०) = खस। सम्प्रसारण। यहाँ ईरन् कित् माना गया है। घस्-क्षीर (नपुं०)। प्रत्यय के अजादि कित् होने से गम-हन-जन-खन-घसाम्...से घस् की उपधा का लोप। चर्त्व होकर घ् को क्।। 'शासि-वसि-घसीनां च' (८।३।६०) से घस् के स् को ष्।

डति-पा-पति। डित्त्व के कारण टि (आ) का लोप।

अति-वह-वहति। (पवन)। वस्-वसति (गृह, रात्रि)। रात्रि अर्थ में वासतेयी--यह अधिक प्रसिद्ध है। ऋ-अरति (क्रोध)।

हन्-अंहति (स्त्री०)। हन् को अंह् आदेश। करण में प्रत्यय। हन्ति दुरितमनया इत्यंहतिः। दान। प्रदेशनं निर्वपणमपवर्जनमंहतिः (अमर)।

अत्रिन् (अत्रि)-पत्-पतत्रि (पक्षी)। नगौकोवाजिविकिरविविष्किरपतत्रयः (अमर)।

घथिन् (अथि)-सृ-सारथि। यहाँ अथिन् को णित् माना गया है जिससे सृ को वृद्धि हुई।

यक्-जन्-जन्य (नपुं०) = युद्ध। जन्या-माता की सखी। जाया (भार्या)। जायतेऽस्यामिति। जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः (मनु० ९।८)। यहाँ 'ये विभाषा' से न् के स्थान में पाक्षिक आ हुआ है।

यक्-अध्न्यादि शब्द यक्-प्रत्ययान्त निपातित किए हैं। न हन्यते इत्यध्न्या। गौ। नञ्-पूर्वक हन से यक्। उपधा लोप। ह् को घ्। 'मा गामनागामदितिं वधिष्ट' (ऋ० ८।१०१।१५)। कन्-कन्या। काम्यते इति। दीप्यते इति वा। बन्ध्या (बाँझ स्त्री)।

इन् (इ)-सब धातुओं से इन्। तुड्-तुडि। तुडि (तुण्ड्)-तुण्डि (तोंद)। वल्--वलि (स्त्री०)। यज्-यजि। देवयजि (देवप. ूजक)।

इगुपध धातुओं से। कृष्-कृषि। ऋष्-ऋषि। ऋषति गच्छति जानाति इति ऋषिः। नैरुक्त लोग ऋष् को दर्शन अर्थ में पढ़ते हैं। ऋषिर्दर्शनात् यह यास्क का वचन है। शुच्-शुचि (शुद्ध, दीप्यमान)। यहाँ लोक में प्रसिद्ध 'शुच् शोके' से प्रत्यय नहीं है। किन्तु छान्दस दीप्त्यर्थक शुच् से है। बृहच्छोचा यविष्ठ्य (ऋ० ६।१६।११)। हे तरुण अग्ने, खूब चमको। लिप्-लिपि। तूल-तूलि = कूची। यहाँ कृषि आदि में प्रत्यय के कित् माने जाने से उपधा-गुण नहीं हुआ।

मन्-मुनि। यहाँ धातु के अ को उ भी होता है। मन्यते चिन्तयते इति मुनिः।

इञ् (इ)-वस्-वासि (छेदन का साधन) (स्त्री०)। वप्-वापि। जलाशय, कमल-सरोवर। ङीष् करने पर वापी। उप्यन्ते अब्जान्यत्रेति वापी। यज्-याजि (यज्ञ करने वाला) राज्-राजि (पंक्ति)। व्रज्-व्राजि। सद्-सादि (सारथि)। नि हन्-निघाति (लोहा कूटने का साधन)। वद्-वादि (विद्वान्)। वृ-वारि (स्त्री०) = गजबन्धनी। ङीष् होकर वारी रूप भी है। जल अर्थ में वारि नपुंसक लिंग है।

कृ-कारि = शिल्पी। यह उदीच्य आचार्यों के मत से। अन्यथा उण् होकर कारु रूप होगा।

इण् (इ)-जन्-जनि (स्त्री०, जन्म)। 'जनिवध्योश्च' से उपधावृद्धि का निषेध। घस्-घासि (पुं०, भक्ष्य)। 'यच्च पपौ यच्च घासिं जघास' (ऋ १।१६२।१४)।

अज्-आजि (स्त्री० = संग्राम)। अत्-आति (चील)।

इण् इ-आङ्-पूर्वक श्रिञ् और आङ् पूर्वक हन् से-अश्रि = कोटि, कोना। अहि = साँप। आङ् को ह्रस्व और प्रत्यय के डित् माने जाने से टि का लोप। अष्टाश्रिर्यूपो भवति। आ समन्ताद् हन्ति इति अहिः। 'समान' उपपद होने पर 'ख्या' से इण् होता है और वह डित् होता है। ख्या के य् का लोप। समान को स। समानं ख्यायते जनैरिति सखा। प्रातिपदिक रूप-सखि।

इ-अजन्त धातु से। रु-रवि। गुण। पू-पवि (पुं०, वज्र)। तृ-तरि। (स्त्री० नौ) कु-कवि। कौतीति। ऋ-अरि। अल्-अलि। कृ-किरि (सूअर)। यहाँ इ कित् माना गया है। अतः गुण नहीं हुआ। ऋृत इद्धातोः से धातु के ऋृ को रपर इ (इर्) होता है। गृ-गिरि। शृ-शिरि = सलह, घातक। पृ-पुरि (नगर, राजा, नदी)। कुट्-कुटि (शाला, शरीर)। भिद्-भिदि (पुं०, वज्र)। छिद्-छिदि (परसा, कुल्हाड़ा)।

मनिन् (मन्) - सब धातुओं से मनिन्। कृ-कर्मन्। चर्-चर्मन्। भस्-भस्मन्। शृ-शर्मन्। स्था-स्थामन् = बल। छद् (चुरा०)-छद्मन् (बहाना, कपट)। इस्मन्त्रन् (६।४।९७) से ण्यन्त छादि को ह्रस्व। त्रै (सु-पूर्वक) - सुत्रामन् (इन्द्र)। कर्मन् आदि छद्मन् पर्यन्त नपुं० हैं।

इमनिन् (इमन्)-जन्-जनिमन् (पुं०) = जन्म। मृङ्-मरिमन् (पुं०, मृत्यु)।

मनि (मन्)-सूत्र में मिथुन शब्द का अर्थ है उपसर्ग और क्रिया का सम्बन्ध। सु-शृ-सुशर्मन्। प्र० एक०-सुशर्मा। सुष्ठु शृणाति इति सुशर्मा।

ष्ट्रन् (त्र) - सब धातुओं से ष्ट्रन् (त्र)। अस्- अस्त्र। वस् - वस्त्र। शस् (हिंसा करना) - शस्त्र। छद्-छत्र। यहाँ ण्यन्त धातु को इस्मन्त्रन्० (६।४।६७) से ह्रस्व होता है। ष्ट्रन् प्रत्ययान्त नपुं० होते हैं। तितुत्र-से इट् का निषेध।

क्त्र (त्र)-अम्-आन्त्र। अनुनासिकस्य क्वि-झलोः से दीर्घ। चि-चित्र। मिद्-मित्र। मेद्यति स्निह्यति इति मित्रम्।

पू-पुत्र। धातु को ह्रस्व भी होता है। पुत्त्र। यह सुपि स्थः के योगविभाग-सुपि। स्थः। से क प्रत्यय से सिद्ध होता है। इसमें पुद् यह उपपद है। पुद् नरक-विशेष का नाम है। पुन्नाम्नो नरकात्त्रायते इति पुत्त्रः।

ड्रट् (र)-स्त्यै-स्त्री। उपदेशावस्था में ही आत्व (स्त्या) होने पर प्रत्यय के डित् होने से टि (आ) का लोप और लोपो व्योर्वलि से वल् (र्) परे होने पर धातु के य् का लोप हो जाता है। प्रत्यय के टित् होने से स्त्रीत्वविवक्षा में ङीप् होकर 'स्त्री' यह रूप सिद्ध होता है। स्त्यायतः रजोवीर्ये अस्यामिति स्त्री।

त्र-गुङ्-गोत्र (नपुं०) नाम, वंश। गोत्रा - पृथ्वी। धृ-धर्त्र (नपुं०) गृह। वी-वेत्र (नपुं०-बैत)। पच्-पक्त्र। वच्-वक्त्र (नपुं०)। वक्ति अनेनेति। यम्-यन्त्र। सद्-सत्र (नपुं० = यज्ञ, सदा-दान)। क्षद् (सौत्र धातु)-क्षत्र (नपुं० क्षत्रिय जाति)।

त्रन्-हु-होत्र (नपुं० याग)। होत्रा (स्त्री०) ऋत्विक्। या-यात्रा। मा-मात्रा। श्रु-श्रोत्र। भस्- भस्त्रा (स्त्री० चर्म-प्रसेविका, धौंकनी)।

इत्र-अम्-अमित्र-शत्रु। इसका लिङ्ग विशेष्यानुसारी होता है। केवल के प्रयोग में नियत पुंल्लिग होता है। यहाँ 'इत्र' चित् माना गया है। इससे अमित्र शब्द अन्तोदात्त है। मित्र के साथ नञ् समास करने पर तो अव्यय पूर्वपद प्रकृतिस्वर होने से 'अमित्र' आद्युदात्त होगा और तत्पुरुष के परवल्लिङ्ग होने से नित्य नपुंसकलिंग होगा।

डुम्सुन् (उम्स्)-पा (रक्षा करना)-पुम्स्। प्रथमा एक० पुमान्। डित्त्व-सामर्थ्य से टि (आ) का लोप हो जाता है।

ति-विन्ध्याख्यम् अगम्-पर्वतम् अस्यति इति अगस्तिः। अग उपपद होने पर अस् (फैंकना) से ति प्रत्यय। शकन्ध्वादि होने से पर-रूप।

असुन् (अस्)-धातु-मात्र से असुन् होता है। चित् (चुरा० आ०)- चेतस्। प्र० एक०-चेतः। पीङ् (दिवा०, पीना)-पयस्। धातु को गुण। अयादेश। सृ-सरस् (तालाब)। सद्-सदस्, सभा। यह स्त्रीलिंग भी है। सीदन्त्यत्रेति सदः। तत्सदः। सा सदाः। तिज्-तेजस्। तप्-तपस्। रक्ष्-रक्षस्। रक्ष्यतेऽस्मादिति रक्षः। वेद में रक्षस् पुं० में भी आया है-यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह (ऋ० ७/१०४।१६)। वी (गत्याद्यर्थक)-वयस्। वेति गच्छतीति वयः। पक्षी, बाल्यादि शरीरावस्था। वच्-वचस्। श्रु-श्रवस् (कर्ण, कान)। जैसे उच्चैः श्रवस्-इन्द्र का घोड़ा। चक्षुःश्रवस्-साँप)। प्र० ए० उच्चैःश्रवाः। चक्षुः श्रवाः। उच्चैः श्रवसी कर्णौ यस्य। चक्षुषी श्रवसी यस्य। मन्-मनस्। असुन्-प्रत्ययान्त सभी नपुंसकलिङ्ग होते हैं।

ऋ धातु को उर् आदेश हो जाता है असुन् परे रहते-उरस्। प्र० एक० उरः, छाती।

उदक वाच्य हो तो ऋ से परे असन्-प्रत्यय को नुट् (न्) आगम होता है- अर्णस्। प्र० एक० अर्णः। अर्णांसि सन्त्यत्र इत्यर्णवः समुद्रः। यहाँ अर्णस् के स् का लोप हो जाता है।

इण्-एनस्-पाप, अपराध। धातु को गुण। यहाँ भी असुन् को नुट् का आगम होता है। एति गच्छति प्रायश्चित्तेन इत्येनः।

असि (अस्)-यह सोपसर्ग धातु से आता है। यह स्वर के निमित्त असन्-प्रत्यय का अपवाद है। सुयशस्।

गति, कारक उपपद होने पर असुन् का अपवाद असि होता है और पूर्वपद का प्रकृति स्वर (अपना स्वर) रहता है। सामान्यतया गति कारक उपपद होने पर उत्तरपद कृदन्त का प्रकृति-स्वर हुआ करता है। प्रकृत सूत्र उसका अपवाद है। सुतपस्। सुष्ठु तप्यते इति सुतपाः। जातानि वेद इति जातवेदाः (अग्नि)।

अप् (जल) पूर्व उपपद होने पर सृ से- अप्सरस्। प्र० एक० अप्सराः। अद्भ्यः सरतीति। अप्सरस् बहुवचन में प्रयुक्त होता है। कहीं एकवचन में भी।

कनसि (अनस्)-वश् (चाहना, अदा०) उशनस्। प्र० एक० उशनाशुक्राचार्य। प्रत्यय के कित् होने से धातु को सम्प्रसारण।

इति चतुर्थः पादः।

स्मरणीय बिंदु-

1. **पादों का क्रमः** उणादि-कोश पंचपाद (पाँच अध्यायों) में विभक्त है, जिसमें से द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पाद मुख्य रूप से लोक और वेद के संज्ञा शब्दों के निर्माण को नियंत्रित करते हैं।
2. **अव्युत्पन्न शब्दों की व्युत्पत्तिः** अग्नि, रात्रि, भूमि जैसे शब्दों को जो सामान्य व्याकरण में अखंड (रूढ़) माने जाते हैं, उन्हें उणादि के इन पादों के नियमों द्वारा धातुओं से उत्पन्न करके दिखाया जाता है।
3. **रूपावलिः** इन प्रत्ययों से बने शब्द जिस लिंग और इकार/उकार अंत वाले होते हैं, उनकी रूपावलि उसी के समान (जैसे अग्नि की हरि के समान, भूमि की मति के समान) सातों विभक्तियों में चलती है।

शब्दावली-

1. **उणादि द्वितीय पाद :** इस पाद में मुख्य रूप से संज्ञा शब्दों को सिद्ध करने वाले प्रत्यय आते हैं। जैसे अग्निः शब्द को सिद्ध करने के लिए अँगेर्नलोपश्च सूत्र से नि प्रत्यय का विधान इसी पाद में है।
2. **उणादि तृतीय पाद :** इस पाद के अंतर्गत प्रकृति-प्रत्यय के विशेष नियम और संज्ञा पदों का निर्माण होता है, जहाँ धातुओं को विशिष्ट आदेश और आगम होते हैं (जैसे भूमिः, रात्रिः आदि की सिद्धि)।
3. **उणादि चतुर्थ पाद :** इस पाद में वेदों में आने वाले विशिष्ट रूढ़ संज्ञा शब्दों और विशेषणों को सिद्ध करने वाले सूत्र और प्रत्यय विहित हैं।
4. **टिलोप और सम्प्रसारण :** उणादि के इन पादों में डित् प्रत्यय परे होने पर धातु के टि (अंतिम भाग) का लोप हो जाता है, तथा कित् होने पर यण् के स्थान पर सम्प्रसारण (जैसे व को उ, य को इ) हो जाता है।
5. **बहुल विधान :** उणादयो बहुलम् महासूत्र के नियम के अनुसार इन तीनों पादों में प्रत्ययों की प्रवृत्ति, अप्रवृत्ति और रूप-परिवर्तन अत्यंत लचीले ढंग से होते हैं।

15 अंक के प्रश्न-

1. उणादि-कोश के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पाद का सामान्य परिचय देते हुए स्पष्ट कीजिए कि ये पाद वैदिक और लौकिक शब्दों की सिद्धि में किस प्रकार सहायक हैं।
2. उणादिपाठ के नियमों के अनुसार निम्नलिखित में से किन्हीं दो पदों की सूत्रसहित प्रकृति, प्रत्यय स्पष्ट करते हुए रूप-सिद्धि कीजिएः (क) अग्निः (ख) भूमिः (ग) रात्रिः

5 अंक के प्रश्न-

1. उणादि द्वितीय पाद के प्रसिद्ध सूत्र अँगेर्नलोपश्च के नियम को संक्षेप में समझाइए।
2. भूमिः (भू धातु) और रात्रिः (रा धातु) शब्दों में उणादिपाठ के अनुसार कौन से प्रत्यय जुड़ते हैं? लिखिए।
3. उणादि प्रत्ययों में डित् और कित् अनुबन्धों के होने से धातु के अंगों में क्या-क्या मुख्य परिवर्तन (जैसे टिलोप/गुण निषेध) होते हैं?
4. उणादि के चतुर्थ पाद का महत्व वैदिक मन्त्रों की व्याख्या में क्यों अधिक माना जाता है? संक्षेप में बताइए।
5. निम्नलिखित पदों में विद्यमान मूल धातु और उणादि प्रत्यय को पृथक् करके लिखिएः (क) सुरः (ख) अध्वन्

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. अग्निः शब्द की सिद्धि उणादि-कोश के किस पाद के सूत्र (अँगेर्नलोपश्च) द्वारा की जाती है?

(क) प्रथम पाद

(ख) द्वितीय पाद

(ग) तृतीय पाद
(घ) पंचम पाद
2. उणादि-कोश के नियमों के अनुसार भू (होना) धातु से स्त्रीत्व की विवक्षा में भूमिः पद किस पाद के अंतर्गत सिद्ध होता है?
(क) द्वितीय पाद
(ख) तृतीय पाद
(ग) चतुर्थ पाद
(घ) प्रथम पाद
3. उणादि प्रत्यय प्रक्रिया में यदि कोई प्रत्यय डित् (डकार की इत्संज्ञा) हो, तो धातु के किस भाग का लोप होता है?
(क) उपधा का
(ख) टि-भाग का (अंतिम स्वर और व्यंजन का)
(ग) केवल आदि स्वर का
(घ) पूरी धातु का
4. उणादि-कोश का श्चतुर्थ पादश मुख्य रूप से किन शब्दों के प्रकृति-प्रत्यय विधान के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है?
(क) केवल आधुनिक शब्दों के लिए
(ख) केवल सर्वनामों के लिए
(ग) वैदिक और अत्यंत प्राचीन रूढ़ संज्ञा शब्दों के लिए
(घ) केवल तिङन्त (क्रिया) रूपों के लिए
5. रा (दान देना) धातु से उणादिपाठ के विशेष नियम से रात्रिः शब्द बनते समय धातु के आकार को क्या आदेश या लोप होता है?
(क) आकार को ओकार होता है
(ख) आकार का लोप या ह्रस्वत्व कार्य सूत्रों के अनुसार होता है
(ग) आकार को वृद्धि होती है
(घ) कोई परिवर्तन नहीं होता

अथ पञ्चमः पादः

ख-मुह्, मूर्ख। मुह् को मुर् आदेश।

डुन्-मुखवाची श्मन् शब्द कर्म उपपद होने पर श्रिञ् से डुन् (उ)। डित्त्वसामर्थ्य से टि का लोप। मुखमाश्रयते इति श्मश्रु (नपुं०) - मुखलोम।

ड-ऊर्ण (अदा० ढाँपना) - ऊर्णा (ऊन)। डित्त्वसामर्थ्य से टि-लोप। टाप्।

डउ-तन्-तितउ-चालनी। यहाँ सन्वद्भाव होने से द्वित्व और अभ्यास को इत्त्व। अमर कोष के अनुसार तितउ शब्द पुँल्लिंग है। चालनी तितउः पुमान्। भाष्य में इसे नपुंसक लिङ्ग में पढ़ा है। तितउ परिपवनं भवति। (भाष्य)। और निरुक्त में भी।

वरट् (वर) - अश् (व्याप्त्यर्थक) से वरट्। उपधा को ई। जब प्रत्ययान्त का आशुकर्म - शीघ्र वरदानादि क्रिया करने वाला, ऐसा अर्थ हो। अश्नुते व्याप्नोतीति ईश्वरः। प्रत्यय के टित् होने से स्त्रीलिङ्ग में ईश्वरी (ङीबन्त) रूप होगा। उणादि भिन्न स्थेशभासपिसकसो वरच् से वरच् होने पर तो स्त्रीत्व में टाप् होकर ईश्वरा रूप होगा।

क (अ)- वि आङ् पूर्वक घ्रा से जाति वाच्य होने पर प्रत्यय होता है। व्याघ्र।

अच्-क्षम् से अच् प्रत्यय होता है और उपधा का लोप होता है। क्ष्मा - पृथ्वी।

अमच्-प्रथ् और चर् से अमच् प्रत्यय। प्रथम। चरम - अन्तिम।

इति पञ्चमः पादः।

|| OM ||

Introduction to Journalism and Mass Communication

Course Code: BDPHAE-405

DIVYA PRAKASHAN

UNIVERSITY OF PATANJALI

[Accredited with 'A+' Grade by NAAC]

(A State Private University Established by the Government of Uttrakhand)

Centre for Distance and Online Education (CDOE)

BA DARSHAN ODL SLM

Introduction to Journalism and Mass Communication

IV - Semester

Course Code: BDPHAE-405

CONTENT

Unit Name		Page No.
BLOCK- I: UNDERSTANDING COMMUNICATION		**04-18**
UNIT-1.1	Basics of Communication	04-7
UNIT 1.2	Ancient Indian Communication Systems	08-10
UNIT 1.3	Types of Communication	11-14
UNIT 1.4	Functions and Barriers to Communication	15-18
BLOCK-II: FOUNDATIONS OF JOURNALISM		**19-29**
UNIT-2.1	Introduction to Journalism	19-22
UNIT-2.2	Historical Overview of Journalism in India	23-25
UNIT-2.3	Principles of Journalism	26-27
UNIT-2.4	Journalism and Democracy	28-29
BLOCK- III: EXPLORING MASS COMMUNICATION AND MEDIA IMPACT		**30-43**
UNIT-3.1	Introduction to Mass Communication	30-32
UNIT-3.2	Types of Mass Media	33-36
UNIT-3.3	Media Convergence and New Media Technologies	37-40
UNIT-3.4	Media and Society	41-43
BLOCK-IV: MEDIA LAWS, ETHICS, AND PRACTICAL INSIGHTS		**44-57**
UNIT-4.1	Introduction to Media Laws in India	44-47
UNIT-4.2	Media Ethics	48-50
UNIT-4.3	Freedom of Press and Media Literacy	51-53
UNIT-4.4	Hands-on Learning and Emerging Media	54-57

BLOCK -I: UNDERSTANDING COMMUNICATION

UNIT-1.1: Basics of Communication

1.0 Introduction

Communication is a core human activity. From cave paintings to digital messaging, humans have always found ways to share thoughts, ideas, emotions, and information. Communication is essential for social interaction, knowledge transfer, cultural continuity, and decision-making. It influences personal relationships, social structures, institutions, and global dynamics. In media studies, understanding the fundamentals of communication is crucial for interpreting how messages are created, conveyed, and understood across different contexts and media platforms.

This unit will help you understand the foundational aspects of communication, including its definition, elements, and key theoretical models.

1.1 Objectives

After completing this unit, you will able to:

- Define communication and explain its significance.
- Identify and describe the core elements involved in the communication process.
- Understand the various models that illustrate how communication occurs.
- Recognize communication as a dynamic and contextual process.
- Appreciate how communication functions in different human and media settings.

1.2 Definition and Scope

☐ **Definition of Communication**

The term "communication" originates from the Latin word communicare, meaning "to share" or "to make common."

At its core, communication is the process of transmitting information and meaning
between individuals or groups using mutually understood symbols.

Schramm (1954) defines communication as "the process of establishing a commonness or oneness of thought between a sender and a receiver."

Berelson and Steiner (1964) describe it as "the transmission of information, ideas, emotions, skills, etc., by the use of symbols—words, pictures, figures, graphs, etc."

☐ **Scope of Communication**

The scope of communication is vast and multidisciplinary. It includes:

- Intrapersonal communication – Communication within the self (thinking, reflection).
- Interpersonal communication – One-on-one or face-to-face communication.
- Group communication – Interaction within small or large groups.
- Public communication – Addressing a large audience.
- Mass communication – Dissemination of messages through mass media (newspapers, TV, digital platforms).
- Intercultural and international communication – Exchange across cultural and national boundaries.
- Communication serves key functions: to inform, to persuade, to entertain, and to build social cohesion.

1.3 Elements of Communication

The communication process involves several interrelated elements:

- **Sender (Source/Encoder)**

The person or entity initiating the message. The sender selects the message, encodes it into a symbolic form (such as language or gestures), and transmits it. The sender must consider the audience and context.

- **Message**

The content or information the sender wants to convey. A message can be verbal (spoken or written), non-verbal (gestures, facial expressions), or visual (images, graphics).

- **Medium (Channel)**

The vehicle through which the message is transmitted. It can be:

- Oral: conversations, speeches.
- Written: letters, books, emails.
- Electronic: radio, television, social media.

The effectiveness of the message often depends on the appropriateness of the medium.

Receiver (Decoder)

The individual or group for whom the message is intended. The receiver decodes the message based on their background, experience, and context. Effective communication occurs when the receiver's interpretation aligns with the sender's intent.**Feedback**

The receiver's response to the message. Feedback closes the communication loop and allows for clarification, continuation, or correction.

Noise (Interference)

Any external or internal factor that distorts or disrupts the message. It can be:

- Physical noise (e.g., background sounds),
- Psychological noise (e.g., preconceived notions),
- Semantic noise (e.g., language barriers),
- Technical noise (e.g., poor internet connection).

1.4 Process of Communication (Models)

Models of communication provide simplified frameworks to understand the flow and mechanics of communication.

Linear Model of Communication

Developed by: Shannon and Weaver (1949)

This model views communication as a one-way process where a sender transmits a message through a channel to a passive receiver.

Structure:

Sender → Message → Channel → Receiver

Characteristics:

- Emphasizes transmission.
- Useful in mass media communication.
- Limitations:
- Ignores feedback.
- Oversimplifies the complex nature of human communication.

Interactive Model of Communication

Proposed by: Wilbur Schramm (1954)

Introduces feedback and recognizes communication as a two-way, cyclical process. It considers the field of experience of both sender and receiver.

Structure:

Sender ↔ Message ↔ Receiver (with Feedback)

Strengths:

- Recognizes role of feedback.
- Acknowledges context and prior knowledge.

Limitations:

Feedback is sequential, not simultaneous.

Transactional Model of Communication

Proposed by: Dean Barnlund (1970)

This model sees communication as a simultaneous process where both participants are senders and receivers at the same time. Communication is influenced by environment, noise, social systems, and relational context.

Structure:

Mutual exchange of messages with continuous feedback loops.

Strengths:

- Dynamic and realistic.
- Considers non-verbal cues, social and relational contexts.

1.5 Summary

Communication is a multifaceted process that is central to human life. It involves a sender, message, medium, receiver, and feedback, with potential interference from noise. Communication can be understood better through theoretical models — linear (unidirectional), interactive (bidirectional with feedback), and transactional (dynamic and simultaneous). Understanding these models and components lays the groundwork for analyzing communication in personal, professional, and media environments.

1.6 Self-Assessment Questions and Exercises

A. Multiple Choice Questions

Who is responsible for encoding the message?

a) Channel
b) Receiver
c) Sender
d) Noise

Answer: c) Sender

Which model introduces feedback in communication?

a) Linear
b) Interactive
c) Transactional
d) None

Answer: b) Interactive

The medium used for communication is also known as:

a) Receiver
b) Channel
c) Noise
d) Feedback

Answer: b) Channel

B. Short Answer Questions

Q1. Define communication in your own words.

Q2. List and briefly explain the five key elements of communication.

Q3. Differentiate between the linear and transactional models.

C. Long Answer Questions

Q1. Explain the process of communication with the help of suitable examples.

Q2. Discuss the different models of communication and evaluate their relevance in today's digital media landscape.

1.7 Further Readings

- Barnlund, D.C. (1970). A Transactional Model of Communication. In Foundations of Communication Theory.
- Berlo, D. K. (1960). The Process of Communication. Holt, Rinehart & Winston.
- Fiske, J. (1990). Introduction to Communication Studies. Routledge.
- McQuail, D. (2010). McQuail's Mass Communication Theory (6th ed.). Sage Publications.
- Schramm, W. (1954). The Process and Effects of Mass Communication. University of Illinois Press.

UNIT-1.2: Ancient Indian Communication Systems

2.0 Introduction

India has a rich and layered history of communication practices that predate written language and modern media. Ancient Indian communication was deeply rooted in oral traditions, performing arts, symbolic systems, and community participation. These traditional modes were not only tools for sharing knowledge and social values but also instruments for entertainment, moral instruction, and preserving collective memory.

This unit explores how communication evolved in ancient India through storytelling, art forms, inscriptions, folk traditions, and dramaturgical theories. It also examines foundational communication principles embedded in Indian epistemology, particularly the concept of Sadharanikaran from the Natyashastra.

2.1 Objectives

After completing this unit, you will able to:

- Describe the major forms of ancient Indian communication.
- Appreciate the significance of oral traditions and folk media.
- Explain the role of visual and written forms like cave art and edicts.
- Analyze Indian dramaturgical communication through Natyashastra.
- Understand the philosophical concept of Sadharanikaran in communication.

2.2 Oral Traditions and Storytelling

Before the advent of writing, Indian knowledge systems thrived through oral transmission. Communication was primarily vocal, interpersonal, and memorized.

Characteristics of Oral Traditions:

- Based on memory and repetition.
- Rhythmic and musical (to aid retention).
- Involved teacher-disciple (guru-shishya) relationships.
- Focused on sacred, historical, and moral content.

Forms of Oral Communication:

- Shruti and Smriti: Shruti (that which is heard) and Smriti (that which is remembered) formed the Vedic corpus.
- Kathakalakshepam: Storytelling with music and moral themes.
- Itihasa and Puranas: Ramayana and Mahabharata were orally transmitted before being written down.
- Bhakti poetry: Saints like Kabir, Mirabai, and Tulsidas used songs and verses to convey spiritual messages to the masses.

2.3 Cave Art, Bhoja-Patras, Rock Edicts, and Pillars

Ancient India also utilized visual and material communication, especially for statecraft, religion, and cultural record-keeping.

Cave Art:

- Found in Bhimbetka (Madhya Pradesh), Ajanta, and Ellora.
- Depicted hunting scenes, rituals, and daily life.
- Communicated belief systems, values, and cosmologies.

Bhoja-Patras and Manuscripts:

- Bhoja-patras were birch bark scrolls used in Kashmir and northern India.
- Palm leaves (tāla-patra) in the south.
- These were early forms of written communication and knowledge documentation.

Rock Edicts and Pillars:

- Used by emperors like Ashoka to communicate Buddhist values.

- Written in Brahmi, Kharosthi, and other regional scripts.
- Located strategically across the empire for visibility.

2.4 Samvad, Folk Media, and Drama

India has a strong tradition of interactive and performative communication through folk media and theatrical forms.

Samvad (Dialogue):

- Central to Indian philosophical discourse (Upanishadic Samvad).
- Encouraged inquiry, argumentation, and dialogic communication.

Folk Media:

These were community-based, participatory forms used to educate and entertain:

- Nautanki (North India): Musical folk drama with social messages.
- Jatra (Bengal), Yakshagana (Karnataka), Therukoothu (Tamil Nadu).
- Baul singers, Pandavani, and Puppetry.

These modes conveyed stories from mythology, history, and local legends and were vital in spreading values to illiterate populations.

Drama and Theatre:

Drama was a major public communication tool in ancient India:

- Combined dance, music, costume, and speech.
- Employed Rasa theory to invoke emotions in audiences.
- Had didactic (moral instruction) and aesthetic purposes.

2.5 Communication in Natyashastra and the Concept of Sadharanikaran

Natyashastra:

Attributed to Bharata Muni, this is a foundational text (circa 200 BCE–200 CE) on drama, dance, and performance. It offers one of the oldest communication theories in the world.

- Details the elements of dramatic performance: plot, characters, setting, music.
- Emphasizes the Navarasas (nine emotional states) as essential to audience engagement.
- Highlights the role of Aktor (nata) in creating bhava (emotion) and generating rasa (aesthetic experience).

Sadharanikaran:

A communication theory unique to Indian aesthetics, developed from the Natyashastra and later expounded by scholars like Anandavardhana and Abhinavagupta.

- Sadharanikaran means universalization or shared experience.

Key Concepts:

- Sender (actor/poet) → Message (bhava/emotion) → Audience (sahridaya).
- Communication is successful when the audience internalizes the meaning and experiences the same emotions.
- Focus is on empathy, context, and shared cultural codes.
- The aesthetic distance helps remove personal bias, allowing the message to be universally experienced.

This model emphasizes emotional resonance and shared understanding, aligning with modern transactional models of communication.

2.6 Summary

Ancient Indian communication systems were deeply rooted in oral traditions, community practices, and philosophical concepts. Oral storytelling, folk media, visual art, and theatre were primary channels of mass communication. Tools like rock edicts and manuscripts enabled record-keeping and ideological dissemination. Concepts from Natyashastra and Sadharanikaran illustrate sophisticated native communication theories, focusing on shared emotional and cultural understanding. These traditional systems continue to influence Indian media and

communication practices today.

2.7 Self-Assessment Questions and Exercises

A. Multiple Choice Questions

Who wrote the Natyashastra?

a) Valmiki

b) Bharata Muni

c) Kalidasa

d) Abhinavagupta

Answer: b) Bharata Muni

Which form of traditional Indian media uses dialogue and song?

a) Puppetry

b) Jatra

c) Bhoja-patra

d) Edicts

Answer: b) Jatra

What is the meaning of Sadharanikaran?

a) Translation

b) Ritualization

c) Universalization

d) Verbalization

Answer: c) Universalization

B. Short Answer Questions

Q1. What role did oral storytelling play in ancient Indian communication?

Q2. Briefly describe what Sadharanikaran means in the context of communication.

Q3. How were rock edicts used by ancient Indian rulers?

C. Long Answer Questions

Q1. Discuss the various forms of folk and community media in ancient India.

Q2. Explain the significance of Natyashastra as a model of communication.

Q3. Compare and contrast Western models of communication with the Sadharanikaran model.

2.8 Further Readings

- Abhinavagupta. (c. 10th century CE). Abhinavabharati (Commentary on the Natyashastra).
- Bharata. (200 BCE–200 CE). Natyashastra (Various translations).
- Gupt, B. (1994). Communication in Ancient India. D.K. Printworld.
- Handoo, J. (2000). Folklore in Modern India. National Book Trust.
- Sircar, D.C. (1965). Inscriptions of Asoka. Publication Division.
- Vatsyayan, K. (1996). Traditional Indian Theatre: Multiple Streams. National Book Trust.

UNIT-1.3: Types of Communication

3.0 Introduction

Communication is a multifaceted process that occurs at various levels, ranging from the private and personal to the large-scale and public. Understanding the types of communication is crucial in media, journalism, and everyday social interactions, as each type involves distinct processes, goals, and mediums.

This unit introduces the key forms of communication—intrapersonal, interpersonal, group, and mass communication—and discusses their nature, scope, and relevance in both traditional and contemporary settings. The unit also examines how each type contributes to individual expression, social cohesion, and the dissemination of information.

3.1 Objectives

After completing this unit, you will be able to:

- Define and differentiate among the major types of communication.
- Explain the processes and characteristics of intrapersonal and interpersonal communication.
- Understand the dynamics of group communication.
- Describe the nature and scope of mass communication.
- Identify real-life examples and applications of different communication types.

3.2 Intrapersonal and Interpersonal Communication

Intrapersonal Communication

Definition:

Intrapersonal communication refers to communication within the self. It involves internal dialogue, reflection, and self-awareness.

Forms of Intrapersonal Communication:

- Internal monologue (self-talk)
- Reflection and decision-making
- Visualization and daydreaming
- Emotional regulation and self-motivation

Functions:

- Clarifies thoughts and emotions
- Helps in planning and goal setting
- Aids in moral and ethical reasoning
- Supports personal growth and mental health

Example:

Thinking through a problem before speaking, journaling your thoughts, or silently encouraging yourself before a presentation.

Interpersonal Communication

Definition:

Interpersonal communication is direct, face-to-face communication between two or more individuals. It may be verbal or non-verbal and plays a vital role in building relationships.

Features:

- Dyadic interaction (most commonly between two people)
- Involves verbal and non-verbal cues
- Usually spontaneous, reciprocal, and dynamic
- Influenced by context, emotions, and relationships

Functions:

- Builds social bonds
- Enables collaboration and empathy
- Helps express needs, desires, and intentions
- Types of Interpersonal Communication:
  - Formal (e.g., a job interview)
  - Informal (e.g., a chat between friends)

Example:

A conversation between a reporter and a source, or a student discussing project ideas with a classmate.

3.3 Group Communication

Definition:

Group communication occurs when three or more people interact to achieve a common goal or share information in a group setting.

Characteristics:

- Has a shared purpose or task
- Involves coordination and collaboration
- Communication is both verbal and non-verbal
- Influenced by group roles, norms, and leadership

Types of Groups:

- Primary groups (family, close friends)
- Secondary groups (work teams, committees)
- Task-oriented groups (project teams, study groups)
- Dynamics of Group Communication:
- Leadership styles affect participation and decision-making.
- Conflict and cohesion determine group effectiveness.
- Decision-making can be democratic or hierarchical.

Example:

A newsroom editorial meeting discussing the front-page layout or a group of students preparing a class presentation.

3.4 Mass Communication: Nature and Scope

Definition

Mass communication is the process of delivering messages to a large, heterogeneous audience using mass media such as print, radio, television, cinema, and digital platforms.

Nature of Mass Communication

Large Audience:

- Reaches millions of people, often simultaneously.

Mediated:

- Uses media technologies as channels—newspapers, TV, radio, internet.

One-to-Many:

- Typically unidirectional (sender to mass audience), though digital media allows limited interaction.

Impersonal and Indirect:

- Audiences are often unknown to the communicator.

Public and Accessible:

- **Messages are usually intended for public consumption.**

Scope of Mass Communication

- Mass communication encompasses a wide range of activities:
- Journalism and News Media: Reporting news and current affairs.

- Advertising and Public Relations: Persuasive communication for commerce or image building.
- Entertainment Media: Films, television shows, online content.
- Digital Media: Social networking, streaming services, blogs.
- Educational Media: Documentaries, e-learning platforms.

Functions of Mass Communication

- Information: Disseminates news and knowledge.
- Education: Promotes learning and awareness.
- Entertainment: Provides amusement and relaxation.
- Persuasion: Influences public opinion and behavior.
- Surveillance: Monitors environment and events.
- Cultural Transmission: Shares and preserves cultural values.

Impact of Mass Communication

- Shapes public opinion and social norms.
- Influences political participation and policy debates.
- Provides a platform for marginalized voices (especially via digital media).
- Can also spread misinformation or foster bias if not ethically managed.

In the digital age, mass communication increasingly overlaps with interpersonal (e.g., social media) and group communication (e.g., forums, webinars).

3.5 Summary

This unit outlined the types of communication as per their scale, participants, and purposes. It began with intrapersonal communication, the internal dialogue that governs thought and emotion, and proceeded to interpersonal communication, the core of human interaction. It examined group communication, where decision-making and collaboration are key. Finally, it discussed the expansive field of mass communication, which informs and influences society on a broad scale. Understanding these categories helps us navigate both personal and professional communication landscapes more effectively.

3.6 Self-Assessment Questions and Exercises

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

Which type of communication occurs within the individual?
a) Mass communication
b) Interpersonal communication
c) Intrapersonal communication
d) Group communication
Answer: c) Intrapersonal communication

In which communication type is the sender often unaware of the specific audience?
a) Interpersonal
b) Group
c) Intrapersonal
d) Mass communication
Answer: d) Mass communication

Which of the following is not a function of mass communication?
a) Personal reflection
b) Information dissemination
c) Cultural transmission
d) Entertainment
Answer: a) Personal reflection

B. Short Answer Questions

Q1. Define group communication and mention two of its key characteristics.
Q2. Differentiate between intrapersonal and interpersonal communication with examples.
Q3. List any three functions of mass communication.

C. Long Answer Questions

Q1. Discuss the nature and scope of mass communication in the digital age.
Q2. How does interpersonal communication differ from group communication in purpose and process?
Q3. Explain the role of intrapersonal communication in personal development.

3.7 Further Readings

- Adler, R.B., & Proctor, R.F. (2013). Looking Out, Looking In. Cengage Learning.
- Berlo, D.K. (1960). The Process of Communication. Holt, Rinehart, and Winston.
- Devito, J. (2019). Human Communication: The Basic Course. Pearson Education.
- McQuail, D. (2010). McQuail's Mass Communication Theory. Sage Publications.
- Narula, U. (2006). Handbook of Communication Models, Perspectives, Strategies. Atlantic Publishers.

UNIT-1.4: Functions and Barriers to Communication

4.0 Introduction

Communication is a purposeful activity that serves multiple social and psychological functions. It allows us to share information, persuade others, entertain audiences, and express emotions. However, effective communication is not always guaranteed. Several barriers—ranging from physical obstacles to psychological biases—can hinder or distort the intended message.

This unit explores the primary functions of communication and the various barriers that impede it. It also provides strategies to overcome these barriers, thereby enhancing the effectiveness of personal, professional, and mass communication.

4.1 Objectives

After studying this unit, you will be able to:

- Identify and explain the key functions of communication.
- Understand different types of communication barriers.
- Analyze how these barriers affect the communication process.
- Learn practical strategies to overcome communication barriers.
- Apply these concepts in real-life communication scenarios.

4.2 Functions of Communication

Communication serves multiple overlapping purposes in both interpersonal and mass contexts. The following are three key functions:

Informative Function

This is the primary and most basic function of communication. It refers to the dissemination of facts, data, news, and knowledge.

Purpose: To share knowledge and increase awareness.

Mediums: Newspapers, lectures, books, reports, news channels, etc.

Examples:

- A teacher explaining a scientific concept.
- A news anchor reporting the national budget.

Significance:

- Helps in decision-making.
- Reduces uncertainty.
- Enables learning and intellectual development.

Persuasive Function

- Communication often aims to influence opinions, attitudes, or behavior.
- Purpose: To convince or motivate others to act or think in a certain way.
- Mediums: Advertisements, political speeches, editorials, PR campaigns.

Examples:

- A commercial persuading customers to buy a product.
- A public health campaign promoting vaccination.

Significance:

- Drives social change and reform.
- Plays a vital role in marketing, politics, and activism.
- Encourages critical thinking and public discourse.

Entertaining Function

- Communication also serves the function of providing enjoyment, relaxation, and emotional release.

Purpose: To entertain and help people unwind or feel emotionally engaged.

Mediums: Cinema, music, stand-up comedy, memes, social media.

Examples:

- A film that captivates audiences.
- A comic strip that makes people laugh.

Significance:

- Promotes mental health and emotional well-being.
- Strengthens social bonds and community identity.
- Can also serve as a vehicle for satire and social critique.

4.3 Communication Barriers

Barriers are obstacles that distort, block, or misinterpret the intended message. Understanding these is essential for improving communication effectiveness.

Physical Barriers

These are environmental or technical interferences that hinder communication.

Examples:

- Noise (traffic, construction)
- Poor signal or equipment failure
- Distance or physical separation
- Inadequate lighting or ventilation

Impact:

- Causes message distortion or loss
- Limits clarity and immediacy
- Makes non-verbal cues hard to observe

Semantic Barriers

These occur when the meaning of words or symbols is misunderstood.

Examples:

- Use of jargon, technical terms
- Ambiguous language or idioms
- Misinterpretation of tone
- Differences in literacy levels

Impact:

- Leads to confusion or miscommunication
- Results in unintended interpretations

Psychological Barriers

These arise from the mental or emotional states of the sender or receiver.

Examples:

- Stress, anxiety, or depression
- Prejudices or stereotypes
- Low self-esteem
- Fear of rejection or criticism

Impact:

- Prevents open and honest dialogue
- Distorts perception and understanding
- Promotes defensive behavior or withdrawal

Cultural Barriers

These emerge from differences in values, norms, and social customs.

Examples:

- Gestures or symbols with different meanings across cultures

- Language differences or accents
- Differing norms regarding gender roles or hierarchy
- Religious sensitivities

Impact:

- Causes offense or discomfort
- Prevents mutual understanding
- Reinforces stereotypes and mistrust

4.4 Overcoming Barriers for Effective Communication

To enhance the clarity, accuracy, and impact of communication, it is important to adopt strategies that minimize or eliminate these barriers:

Strategies to Overcome Physical Barriers

- Choose a quiet, well-lit environment
- Use reliable technology and back-up systems
- Ensure proximity or good visibility in face-to-face interactions
- Remove physical obstacles (e.g., barriers between speaker and audience)

Strategies to Overcome Semantic Barriers

- Use simple, clear language
- Avoid jargon or explain it when necessary
- Tailor message to the audience's level of understanding
- Seek feedback to ensure clarity

Strategies to Overcome Psychological Barriers

- Promote a supportive and non-judgmental environment
- Manage stress before important communication
- Encourage active listening and empathy
- Practice emotional intelligence and self-awareness

Strategies to Overcome Cultural Barriers

- Develop cultural sensitivity and awareness
- Use inclusive language and respectful tone
- Avoid assumptions and stereotypes
- Encourage open dialogue to clarify differences

Effective communication is a two-way process. Both the sender and receiver share responsibility for overcoming barriers and ensuring message fidelity.

4.5 Summary

This unit emphasized the three core functions of communication—informative, persuasive, and entertaining. It also outlined major communication barriers, including physical, semantic, psychological, and cultural impediments. Recognizing these barriers and applying targeted strategies to overcome them is essential for achieving effective, inclusive, and ethical communication in all domains of life.

4.6 Self-Assessment Questions and Exercises

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

Which of the following is not a function of communication?

a) Informative

b) Persuasive

c) Emotional

d) Entertaining

Answer: c) Emotional

A noisy construction site is an example of which communication barrier?

a) Semantic
b) Psychological
c) Physical
d) Cultural

Answer: c) Physical

The use of complex technical jargon may result in which type of barrier?

a) Semantic
b) Cultural
c) Psychological
d) Physical

Answer: a) Semantic

B. Short Answer Questions

Q1. Name and explain two psychological barriers to communication.
Q2. List the three main functions of communication with one example each.
Q3. How can cultural awareness improve communication?

C. Long Answer Questions

Q1. Discuss the informative, persuasive, and entertaining functions of communication in mass media.
Q2. Describe four major barriers to communication and how to overcome them.
Q3. Why is understanding communication barriers crucial for journalists and media professionals?

4.7 Further Readings

- Adler, R. B., & Proctor, R. F. (2013). Looking Out, Looking In. Cengage Learning.
- Berlo, D. K. (1960). The Process of Communication. Holt, Rinehart & Winston.
- Devito, J. A. (2019). The Interpersonal Communication Book. Pearson.
- McQuail, D. (2010). McQuail's Mass Communication Theory. Sage.
- Tubbs, S. L., & Moss, S. (2008). Human Communication: Principles and Contexts. McGraw-Hill.

BLOCK- II: FOUNDATIONS OF JOURNALISM

UNIT-2.1 Introduction to Journalism

5.0 Introduction

Journalism is one of the most dynamic and essential pillars of a democratic society. Often referred to as the "Fourth Estate," it plays a critical role in informing the public, shaping opinion, and holding power to account. As societies evolve and digital media transforms information ecosystems, understanding journalism's purpose, scope, and responsibilities becomes increasingly important.

This unit introduces learners to the concept, scope, and role of journalism and journalists in society. It explores how journalism contributes to public discourse, promotes transparency, and acts as a bridge between the state and the citizens.

5.1 Objectives

After completing this unit, you will be able to:

- Define journalism and explain its significance in society.
- Understand the historical and contemporary importance of journalism.
- Identify the scope and fields within journalism.
- Recognize the multifaceted role of journalists in the modern world.
- Analyze journalism's influence on democracy, culture, and governance.

5.2 The Concept of Journalism

Reporting on everyday events is journalism. Today, journalism is defined as the process of obtaining news and information, analyzing it, and then distributing it via a specific media outlet. It is necessary for the news and data collected to be pertinent to society. Because of this, journalism—also referred to as the press-has been described as a mass communication organization that is primarily focused on serving the public interest. It began as a small private business and subsequently expanded into an industry, but it has now expanded enough to take on a significant amount of corporate business, which in some locations has also turned into a multinational corporation.

5.2.1 Meaning and Importance

Meaning:

Journalism is the collection, verification, presentation, and dissemination of information through various media platforms such as newspapers, radio, television, and digital channels. A journalist investigates facts, interprets events, and presents news in a manner that is accurate, fair, and relevant.

Etymology:

The term 'journalism' is derived from the French word 'journal', meaning daily. Historically, journalism was associated with the publication of daily records of events and opinions.

Importance of Journalism:

1. **Informing the Public:**

Journalism provides citizens with the knowledge necessary to make informed decisions. This includes information about governance, laws, disasters, science, economy, and culture.

2. **Democratic Accountability:**

Journalism acts as a watchdog, exposing corruption, malpractice, and abuse of power. Free and ethical journalism upholds transparency in public life.

3. **Social Awareness and Reform:**

Journalistic coverage of issues such as gender inequality, caste discrimination, and environmental degradation helps initiate societal conversations and reforms.

4. **Public Opinion Formation:**

News media plays a significant role in shaping the public consciousness and influencing political and social

narratives.

5. **Cultural Documentation:**

Journalism also serves to record and reflect cultural trends, heritage, and transformations over time.

5.3 Scope of Journalism in Society

Journalism has expanded far beyond traditional print and broadcast media. The digital revolution has introduced new dimensions to the practice. The scope includes:

Print Journalism

- Newspapers, magazines, newsletters.
- Specializations: Investigative reporting, feature writing, editorials, reviews.

Broadcast Journalism

- Radio and television journalism.
- News anchors, field reporters, and producers play crucial roles.

Digital Journalism

- Online news portals, mobile journalism, and social media.
- Real-time updates and interactive formats.
- Includes blogs, podcasts, and webcasts.

Photo and Video Journalism

- Visual storytelling through images and video.
- Increasingly significant in conflict reporting, environmental journalism, and human interest stories.

Data and Investigative Journalism

- Use of large datasets and deep inquiry to uncover complex issues.
- Combines journalism with data science, visualization, and open-source intelligence.

Specialized Beats and Fields

- Political Journalism: Reporting on governance and elections.
- Business Journalism: Covering the economy, finance, and markets.
- Sports Journalism, Health Journalism, Environmental Journalism, and more.

5.4 Role of the Journalist

Journalists are the messengers of truth, and their responsibilities are multi-dimensional and evolving. A journalist must uphold ethics, objectivity, and public service values.

Fact-Finder and Informant

- Gathers and verifies news before dissemination.
- Ensures accuracy and clarity in reporting.

Interpreter and Analyst

- Goes beyond facts to explain context, implications, and underlying trends.
- Helps audiences understand complex issues.

Watchdog of Democracy

- Acts as a check on abuse of power in politics, business, and public institutions.
- Investigative journalism often plays a key role in uncovering hidden truths.

Social Mobilizer and Reformer

- Highlights social injustices and amplifies marginalized voices.
- Encourages community action and policy change.

Cultural Communicator

- Celebrates diversity, languages, traditions, and art forms.
- Facilitates dialogue between different communities and cultures.

Digital Navigator

- In the digital age, journalists must also manage the challenges of misinformation, trolling, and algorithmic bias.
- Responsible for upholding ethics even in fast-paced, competitive environments.

Qualities of a Good Journalist:

- Curiosity and critical thinking
- Ethical integrity and honesty
- Excellent communication skills
- Adaptability to technology and platforms
- Persistence and courage under pressure

- Commitment to public interest over commercial or political gains

5.5 Summary

Journalism is a foundational element of any democratic society. It plays a vital role in informing the public, shaping discourse, and holding power accountable. The scope of journalism has expanded to include multiple platforms—from print to digital—creating both opportunities and challenges. The role of the journalist has evolved in response to the complexity of modern life, requiring not just reporting skills but also analytical depth, ethical grounding, and technological awareness.

5.6 Self-Assessment Questions and Exercises

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

The term "journalism" originates from which language?

a) Latin
b) French
c) Greek
d) German

Answer: b) French

Which of the following is NOT a form of journalism?

a) Print journalism
b) Visual arts
c) Broadcast journalism
d) Data journalism

Answer: b) Visual arts

Journalism is referred to as the _____ estate.

a) First
b) Second
c) Fourth
d) Fifth

Answer: c) Fourth

B. Short Answer Questions

Q1. Define journalism in your own words.
Q2. Mention three specialized fields in journalism.
Q3. List any two qualities of a responsible journalist.

C. Long Answer Questions

Q1. Discuss the meaning and importance of journalism in democratic societies.
Q2. Describe the various domains in which journalism operates today.
Q3. What are the major responsibilities of a journalist in the age of digital communication?

5.7 Further Readings

- Charnley, M. V. (1966). Reporting. Holt, Rinehart & Winston.

- Kamath, M. V. (2009). Professional Journalism. Vikas Publishing House.
- Kovach, B., & Rosenstiel, T. (2014). The Elements of Journalism: What Newspeople Should Know and the Public Should Expect. Crown.
- Mencher, M. (2010). News Reporting and Writing. McGraw-Hill Education.
- Teel, L., & Barnes, F. (2008). Journalism: Principles and Practice. Oxford University Press.

UNIT-2.2: Historical Overview of Journalism in India

6.0 Introduction

Journalism in India has a rich, complex history that predates the independence of the country. From colonial times to the modern digital era, journalism has evolved as a crucial instrument of social change, national consciousness, and democratic engagement. The journey of Indian journalism begins with a powerful interplay between the freedom struggle, social reforms, and the growth of vernacular and English-language press.

This unit explores the evolution of Indian journalism—from the early press during British rule to the rise of nationalist voices like Raja Rammohan Roy and Mahatma Gandhi, and the transformation of journalism in post-independence and contemporary India.

6.1 Objectives

After studying this unit, you will be able to:

- Trace the origins and growth of journalism in colonial India.
- Understand the role of journalism in India's freedom struggle.
- Examine the contributions of early pioneers such as Raja Rammohan Roy and Mahatma Gandhi.
- Analyze the evolution of journalism in the post-independence period.
- Reflect on the trends and challenges facing journalism in contemporary India.

6.2 Early Newspapers and Nationalist Press

Origins of the Indian Press

The press in India began under British colonial influence, primarily to serve the needs of the British expatriate population. The first newspaper in India was 'Hicky's Bengal Gazette' (also known as the Calcutta General Advertiser), launched in 1780 by James Augustus Hicky. It was a weekly English-language newspaper published in Calcutta (now Kolkata).

Despite being critical of the British authorities, Hicky's newspaper established freedom of the press as a key issue.

Growth of Early Newspapers

Following Hicky's venture, several newspapers emerged, including:

- The Madras Courier (1785)
- The Bombay Herald (1789)
- The Calcutta Chronicle (1786)

These newspapers primarily catered to British readers but gradually began influencing educated Indians.

Nationalist Press (19th to early 20th century)

The 19th century saw the rise of an Indian-owned and operated press that reflected nationalist aspirations. Newspapers became a platform for resistance, spreading awareness about colonial exploitation, ill-governance, and promoting the idea of self-rule (Swaraj).

Key nationalist newspapers included:

- Amrita Bazar Patrika (Calcutta) – founded in 1868, later became bilingual (English and Bengali).
- The Hindu (Chennai) – founded in 1878 as a liberal, reform-oriented voice.
- Kesari (Marathi) and Maratha (English) – started by Bal Gangadhar Tilak in the 1880s to promote nationalist sentiment.
- Bande Mataram – published by Bipin Chandra Pal and later edited by Sri Aurobindo.
- These publications were often subjected to censorship, fines, and bans under colonial laws such as the Vernacular Press Act (1878).

6.3 Contributions of Raja Rammohan Roy, Gandhi, and Others

Raja Rammohan Roy

Considered the Father of Indian Journalism, Rammohan Roy used the press as a tool for social reform and public enlightenment.

Roy published:

- Sambad Kaumudi (Bengali, 1821) – focused on social reforms such as the abolition of Sati.
- Mirat-ul-Akbar (Persian) – voiced reformist and anti-colonial views.
- Rammohan Roy believed in the freedom of the press and opposed the restrictions imposed by the East India Company.

Mahatma Gandhi

Gandhi used journalism as a means of non-violent resistance (Satyagraha) and public mobilization.

- He edited and published several periodicals:
- Indian Opinion (South Africa, 1903)
- Young India (1919–1931)
- Harijan (1933 onwards)

Gandhi viewed journalism as a moral force, not merely a vehicle for news. His writings emphasized truth, justice, and civil rights.

Other Prominent Figures

- Bal Gangadhar Tilak: Used Kesari to challenge British rule and awaken national pride.
- Subhas Chandra Bose: Associated with Forward Bloc's publications and underground radio.
- Annie Besant: Published New India and supported Indian self-rule.
- Lala Lajpat Rai: Associated with Punjab Kesari and used his pen to protest British brutality.

6.4 Post-Independence and Contemporary Media Landscape

Post-1947: Role in Nation-Building

After independence, journalism shifted from anti-colonial advocacy to the role of nation-building, development communication, and democratic accountability.

Key features of this period included:

- Establishment of Press Council of India (PCI) in 1966 to uphold press ethics.
- Creation of Press Trust of India (PTI) and United News of India (UNI) to distribute news nationally.
- Emergence of All India Radio (AIR) and later Doordarshan as government-controlled broadcasters.

Emergency Period (1975–77)

A significant turning point for Indian journalism was the Emergency imposed by Indira Gandhi, during which:

- Censorship was imposed.
- Journalists and editors faced arrests and threats.
- This period emphasized the need for editorial independence and press freedom.

Liberalization and the Rise of Private Media (1990s onwards)

With economic liberalization in 1991, journalism saw:

- Boom in private TV channels like Zee News, NDTV, and Aaj Tak.
- Growth of regional language journalism.
- Advent of 24x7 news cycles and TV debates.

Digital Age and Contemporary Challenges

Today, journalism in India is facing unprecedented changes and challenges:

- Digital journalism has disrupted traditional media.
- Proliferation of fake news, clickbait, and misinformation.
- Concerns over corporate ownership, media bias, and shrinking press freedom.
- Rise of citizen journalism, podcasts, and mobile-based reporting.
- Despite challenges, Indian journalism remains vibrant, diverse, and increasingly influential in global media landscapes.

6.5 Summary

The history of journalism in India is deeply intertwined with the country's struggles, reforms, and democratic evolution. From the early days of colonial control to the role of the press in the freedom struggle, and finally to the complexities of the digital age, journalism has grown in both influence and responsibility. The contributions of figures like Raja Rammohan Roy and Mahatma Gandhi underscore the press's power as a force for truth and transformation. In the contemporary era, journalism continues to be a critical voice for the people, even as it faces new ethical and technological challenges.

6.6 Self Assessment Questions and Exercises

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

Who is regarded as the Father of Indian Journalism?
a) Mahatma Gandhi
b) James Augustus Hicky
c) Raja Rammohan Roy
d) Bal Gangadhar Tilak
Answer: c) Raja Rammohan Roy

Which newspaper was started by Bal Gangadhar Tilak?
a) The Hindu
b) Amrita Bazar Patrika
c) Kesari
d) Harijan
Answer: c) Kesari

The Vernacular Press Act was introduced in:
a) 1857
b) 1878
c) 1942
d) 1919
Answer: b) 1878

B. Short Answer Questions

Q1. What was the significance of Hicky's Bengal Gazette?
Q2. Name any two nationalist newspapers of the pre-independence era.
Q3. What was the role of Mahatma Gandhi in Indian journalism?

C. Long Answer Questions

Q1. Discuss the role of the nationalist press in India's freedom movement.
Q2. Analyze the impact of Raja Rammohan Roy's journalism on social reform.
Q3. Trace the development of journalism in India from independence to the digital era.

6.7 Further Readings

- Jeffrey, R. (2000). India's Newspaper Revolution: Capitalism, Politics and the Indian-Language Press. Oxford University Press.
- Kamath, M. V. (2009). Professional Journalism. Vikas Publishing.
- Kumar, K. J. (2010). Mass Communication in India. Jaico Publishing House.
- Mehta, N. (2008). Television in India: Satellites, Politics and Cultural Change. Routledge.
- Natarajan, J. (1955). History of Indian Journalism. Publications Division, Government of India.

UNIT-2.3 : Principles of Journalism

7.0 Introduction

Journalism is more than just reporting facts—it is a profession guided by principles that safeguard democracy and public trust. These principles ensure journalists serve the public with integrity, truth, and fairness. As the lines blur in the digital era between information, opinion, and entertainment, understanding these core principles is essential for every aspiring journalist.

7.1 Objectives

After studying this unit, learners will be able to:

- Understand the foundational principles of journalism.
- Differentiate between accuracy, objectivity, and fairness.
- Comprehend the concepts of balance and credibility.
- Recognize the importance of independence and accountability in journalistic practice.

7.2 Accuracy, Objectivity, and Fairness

A. Accuracy

- Accuracy is the cornerstone of journalism. Every fact, quote, statistic, and name must be verified before publication.
- Errors can mislead readers and damage credibility.
- Use multiple sources and cross-verification methods.

Example: Misreporting a person's identity in a crime story can lead to defamation.

B. Objectivity

- Objectivity means reporting without bias, emotion, or personal opinions.
- Journalists must present facts and let readers draw conclusions.
- Avoid adjectives that imply judgment.

Quote: "Journalism is printing what someone else does not want printed; everything else is public relations." – George Orwell

C. Fairness

- Fairness requires presenting multiple viewpoints, especially in controversial issues.
- Give all parties a chance to respond.
- Avoid misrepresentation or selective quoting.

7.3 Balance and Credibility

A. Balance

- A balanced story includes perspectives from both sides (or more) of an issue.
- Avoid one-sided narratives.
- Use neutral language and allow readers to form opinions.

B. Credibility

- Credibility is earned over time and is vital for public trust.
- Credible journalists use verified sources, avoid clickbait, and correct errors transparently.
- Anonymous sources should be used only when necessary and with proper verification.

7.4 Independence and Accountability

A. Independence

- Journalists must remain free from:
- Political or corporate influence
- Advertisers' pressure

- Personal biases

This allows the media to function as an unbiased observer and public watchdog.

B. Accountability

Journalists should:

- Admit and correct mistakes
- Be transparent about sources and methods
- Respond to criticism professionally
- Ombudsmen or reader editors are appointed by many media houses to ensure public accountability.

7.5 Summary

Journalism is guided by ethical principles that form its backbone: accuracy, objectivity, fairness, balance, credibility, independence, and accountability. These values ensure that journalism serves the public interest and maintains the integrity of information.

7.6 Self Assessment Questions and Exercises

A. Multiple Choice:

Objectivity in journalism means:

a) Adding personal opinions

b) Presenting facts without bias

c) Promoting a political party

Answer: b) Presenting facts without bias

Which principle ensures that all sides of a story are told?

a) Credibility

b) Balance

c) Accountability

Answer: b) Balance

B. Short Answer:

Q1. Define fairness in journalism.

Q2. Why is independence crucial for journalists?

Q3. Differentiate between accuracy and truth in journalism.

C. Long Answer:

Q1. Discuss how objectivity and fairness impact a journalist's credibility.

Q2. Explain how accountability builds public trust in journalism.

Q3. In your opinion, how has the emergence of citizen journalism impacted journalistic credibility and principles?

7.7 Further Readings

- Kovach, B. &Rosenstiel, T. (2014). The Elements of Journalism. Three Rivers Press.
- Mencher, M. (2010). News Reporting and Writing. McGraw-Hill.
- Silverman, C. (2015).Verification Handbook: A Definitive Guide to Verifying Digital Content for Emergency Coverage. European Journalism Centre.
- The Press Council of India (2022).Norms of Journalistic Conduct.
- UNESCO (2005).Media Ethics and Journalism Education.

UNIT-2.4: Journalism and Democracy

8.0 Introduction

Democracy cannot function without a free and responsible press. Journalism not only informs citizens but also empowers them to participate in the democratic process. It serves as the Fourth Pillar of democracy by holding power accountable and ensuring transparency, public debate, and civic participation.

8.1 Objectives

After studying this unit, learners will be able to:

- Understand the role of journalism in a democratic society.
- Define the concept of the Fourth Estate.
- Examine how media serves as a watchdog.
- Understand journalism's role in shaping public interest.

8.2 Fourth Pillar of Democracy

The legislature, executive, and judiciary are considered the traditional three pillars of democracy. The media is the Fourth Pillar because it:

- Acts as a bridge between the government and citizens.
- Disseminates information, policy decisions, and public feedback.
- Strengthens transparency and accountability.

Quote: "A free press is the cornerstone of democracy." – Nelson Mandela

8.3 Watchdog Role of the Media

A. Definition

Media serves as a watchdog by monitoring those in power—government, corporations, and institutions.

B. Examples of Watchdog Journalism

- Investigative journalism that exposes corruption (e.g., Bofors scandal, Panama Papers).
- RTI-based reports revealing bureaucratic inefficiencies.

C. Limitations

- Political bias
- Corporate ownership
- Lack of investigative resources in regional media

8.4 Journalism and Public Interest

A. Journalism for Public Good

- Journalism must serve citizen welfare, not just sensationalism or ratings.
- It helps shape informed opinion, promotes debate, and defends rights.

B. Development Journalism

Focuses on health, education, gender, environment, and other long-term development issues—often neglected by mainstream media.

C. Role in Elections

- Educating voters about candidates and manifestos
- Debunking fake news and electoral misinformation

8.5 Summary

In a democracy, journalism is not just about reporting events—it plays a vital institutional role in strengthening governance, protecting freedoms, and shaping public discourse. As a watchdog, it ensures transparency. As a public servant,it empowers citizens.

8.6 Self Assessment Questions and Exercises

A. Multiple Choice:

Journalism is considered the _____ pillar of democracy.
a) Third
b) Fourth
c) Fifth
Answer: b) Fourth
Investigative journalism is an example of:
a) Development journalism
b) Entertainment journalism
c) Watchdog journalism
Answer: c) Watchdog journalism
B. Short Answer:
Q1. Define the watchdog role of the media.
Q2. How does journalism support free elections?
Q3. What is the difference between watchdog journalism and advocacy journalism?
C. Long Answer:
Q1. Explain how journalism strengthens democracy with relevant examples.
Q2. What are the challenges faced by the media in fulfilling its democratic role?
Q3. Critically analyze the role of investigative journalism in promoting accountability in public institutions.

8.7 Further Readings

- Thussu, D. K. (2006). International Communication: Continuity and Change. Hodder Arnold.
- McNair, B. (2009). News and Journalism in the UK. Routledge.
- Press Council of India: Guidelines on Election Reporting.
- UNESCO (2008). Media Development Indicators.

BLOCK-III: EXPLORING MASS COMMUNICATION AND MEDIA IMPACT

UNIT-3.1 Introduction to Mass Communication

9.0 Introduction

Mass communication is a fundamental pillar of modern society. It refers to the process by which individuals, groups, or institutions communicate information to large, diverse, and dispersed audiences through various media platforms such as newspapers, television, radio, films, and the internet. Mass communication plays a significant role in shaping public opinion, culture, education, politics, and entertainment.

This unit explores the meaning, features, and evolution of mass communication. It also differentiates mass communication from other types of communication, such as interpersonal and group communication. Understanding mass communication is essential in grasping the scope and power of media in our everyday lives.

9.1 Objectives

After studying this unit, you will be able to:

- Define mass communication and identify its essential features.
- Understand the historical evolution of mass communication.
- Differentiate between mass communication and other forms of communication.
- Analyze the role of mass communication in contemporary society.
- Evaluate how mass communication impacts culture, society, and democracy.

9.2 Definition and Key Features

Definition of Mass Communication

Mass communication refers to the process of transmitting messages to a large audience using mass media. It is typically one-way communication, where a sender (individual or organization) disseminates messages through a medium to a mass audience.

According to Wilbur Schramm:

"Mass communication is a process in which professional communicators use technological devices to share messages with large, heterogeneous audiences."

Key Features of Mass Communication

Large Audience

The audience is vast, diverse, and anonymous. They may be scattered geographically and unknown to the sender.

Mediated Communication

Mass communication relies on technology or a medium (print, broadcast, digital).

- **One-Way Flow**

Communication is mostly linear, with little to no immediate feedback.

- **Public Accessibility**

Mass media content is generally accessible to a wide segment of the public.

- **Institutional Source**

Messages usually originate from formal organizations or professionals (journalists, broadcasters, media houses).

- **Simultaneous Distribution**

A single message can reach millions at once (e.g., a televised address or viral news article).

- **Standardized Content**

Content is designed to appeal to a broad audience and is often generalized.

9.3 Evolution of Mass Communication

Pre-Mass Communication Era

Before mass communication, information was shared via:

- Oral traditions
- Handwritten manuscripts
- Folk performances (e.g., storytelling, drama, songs)

These were interpersonal or group-based and limited in reach.

Print Revolution (15th Century)

- Invention of the printing press by Johannes Gutenberg (1440) revolutionized communication.
- Books, newspapers, and pamphlets became mass-produced.
- In India, Hicky's Bengal Gazette (1780) marked the start of the press.

➢ **Impact:**

Spread of literacy, reformist ideas, and political awareness.

Electronic Era (20th Century)

- Radio became a popular medium in the 1920s.
- Television became widespread in the 1950s and 60s.
- In India, All India Radio (1936) and Doordarshan (1959) became dominant platforms.

Impact:

- Real-time information and entertainment.
- Formation of national identity and cultural cohesion.

Digital and Internet Era (21st Century)

- Internet, social media, and smartphones transformed mass communication into a networked and interactive process.
- Emergence of YouTube, Twitter, Instagram, online news portals, and podcasts.

Impact:

- Instant global reach
- User-generated content
- Fragmentation of audience
- Information overload and challenges like fake news

9.4 Mass Communication vs. Other Forms of Communication

Table 1

Type	Description	Example	Feedback	Audience Size
Intrapersonal	Communication with oneself	Thinking, journaling	Internal	Individual
Interpersonal	Between two individuals	Face-to-face talk	Immediate, direct	Two people
Group Communication	Communication within a small group	Classroom discussion, team meetings	Present but limited	Dozens
Mass Communication	One-to-many communication using media	TV news, newspaper article, radio broadcast	Limited, delayed or indirect	Millions

Key Differences

- Feedback: In mass communication, feedback is often indirect or delayed (e.g., letters to editor, social media comments).
- Message Control: Messages are professionally crafted and controlled.
- Technology Dependency: Mass communication heavily depends on technological mediums.

- Audience Diversity: Unlike small group or interpersonal settings, mass audiences are heterogeneous and anonymous.

9.5 Summary

Mass communication is a central mechanism in today's information society. It allows for the dissemination of news, knowledge, culture, and entertainment to vast populations across the world. From the days of the printing press to the digital revolution, mass communication has evolved in form and function. Understanding its definition, evolution, features, and distinction from other types of communication helps in critically analyzing its role in society, democracy, and everyday life.

9.6 Self Assessment Questions and Exercises

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

Who defined mass communication as "a process in which professional communicators use technological devices…"?

a) Harold Lasswell
b) Wilbur Schramm
c) Marshall McLuhan
d) Denis McQuail

Answer: b) Wilbur Schramm

Which of the following is a key feature of mass communication?

a) Private conversation
b) Direct feedback
c) Large and diverse audience
d) Non-mediated interaction

Answer: c) Large and diverse audience

The invention of the printing press is associated with which historical figure?

a) James Augustus Hicky
b) Raja Rammohan Roy
c) Johannes Gutenberg
d) Marshall McLuhan

Answer: c) Johannes Gutenberg

B. Short Answer Questions

Q1. Define mass communication and list any two of its features.
Q2. How did the invention of the printing press impact communication?
Q3. Differentiate between mass communication and interpersonal communication.

C. Long Answer Questions

Q1. Explain the evolution of mass communication from the pre-print era to the digital age.
Q2. Describe the key features of mass communication with suitable examples.
Q3. Compare and contrast mass communication with group communication and interpersonal communication.

9.7 Further Readings

- Baran, S. J. (2019). Introduction to Mass Communication: Media Literacy and Culture. McGraw Hill.
- Kumar, K. J. (2010). Mass Communication in India. Jaico Publishing House.
- McQuail, D. (2010). McQuail's Mass Communication Theory. Sage Publications.
- Schramm, W. (1960). Mass Communications. University of Illinois Press.
- Singhal, A., & Rogers, E. M. (2001). India's Communication Revolution: From Bullock Carts to Cyber Marts. Sage Publications.

UNIT-3.2 : Types of Mass Media

10.0 Introduction

Mass media are the diverse platforms and technologies used to communicate information, entertainment, and news to large, scattered audiences. Over time, the nature and structure of media have evolved with technological advances and changing audience needs. From the printed word in newspapers to digital streaming on OTT platforms, mass media not only inform and entertain but also shape public discourse and societal values.

This unit discusses the major types of mass media—Print, Broadcast, and Digital media. Each medium has unique characteristics, formats, audiences, and roles. A comprehensive understanding of these types is essential for students of media and communication studies.

10.1 Objectives

After completing this unit, you will be able to:

- Understand the key types of mass media: print, broadcast, and digital.
- Identify the features, formats, and functions of each type.
- Analyze the strengths and limitations of different media platforms.
- Explore the convergence and evolution of media in the digital age.
- Recognize the role of each medium in shaping public opinion and culture.

10.2 Print Media: Newspapers, Magazines

Newspapers

Definition: Newspapers are regular printed publications (daily, bi-weekly, or weekly) containing news, opinions, features, and advertisements.

Key Features:

- Primarily text-based, supplemented by photographs and graphics.
- Published in multiple languages and regional editions.
- Cater to varied interests—politics, sports, business, entertainment.
- Provide in-depth and verified news reports.

Advantages:

- Credibility and permanence.
- Reference value for archival and legal purposes.
- Cost-effective and accessible, especially in rural areas.

Limitations:

- Lacks immediacy compared to broadcast/digital media.
- Limited interactivity.
- Declining readership due to digital alternatives.

Examples:

The Hindu, Dainik Jagran, The Times of India, Indian Express.

Magazines

Definition:

Periodicals published weekly, biweekly, or monthly that focus on specific themes such as lifestyle, politics, business, science, or entertainment.

Key Features:

- Glossy and visually rich format.
- Emphasis on long-form writing, analysis, features, and interviews.
- Niche readership with targeted advertising.

Advantages:

- In-depth coverage of specialized topics.
- Appealing visual design and longer shelf life.
- Useful for brand advertising and opinion shaping.

Limitations:

- Less frequent than newspapers.
- Higher cost of production and purchase.
- Limited circulation compared to dailies.

Examples:

India Today, Outlook, Femina, Business Today, Science Reporter.

10.3 Broadcast Media: Radio, Television

Radio

Definition:

Audio-based mass medium that uses electromagnetic waves to broadcast news, music, talk shows, and more.

Key Features:

- Portable, affordable, and accessible medium.
- Regional programming in multiple languages.
- Offers real-time updates and live programs.

Types:

- AM/FM Radio: Traditional radio services.
- Community Radio: Grassroots media for local communities.
- Internet Radio/Podcasts: Streaming services and on-demand audio content.

Advantages:

- High reach in remote and rural areas.
- Immediate and intimate; enhances imagination.
- Popular for news, weather, traffic, music, and public service announcements.

Limitations:

- No visual content.
- One-way communication with limited feedback.

Examples:

All India Radio (AIR), Radio Mirchi, Red FM, Gaana Podcasts.

Television

Definition:

Audio-visual broadcast medium that delivers news, entertainment, education, and advertising to mass audiences.

Key Features:

- Combines sound, image, motion, and text.
- Offers a variety of content: serials, reality shows, news, sports, films.
- Available in analog and digital formats.

Types:

- Public Service Broadcasters: Doordarshan (DD National).
- Private Channels: Star Plus, Zee TV, NDTV, Aaj Tak, Sony.
- Regional and language-based networks.

Advantages:

- High emotional appeal and mass reach.
- Visual storytelling enhances retention.
- Influences opinions and lifestyles.

Limitations:

- Expensive to produce and broadcast.

- May promote passive consumption.
- Risk of sensationalism and misinformation.

10.4 Digital Media: Websites, Social Platforms, OTT

Websites and News Portals

Definition:

Digital platforms that publish content such as news, blogs, videos, and reports accessible via the internet.

Key Features:

- 24x7 availability.
- Multilingual and multimedia integration (text, video, audio, infographics).
- Frequently updated in real-time.

Advantages:

- Instant access and global reach.
- Interactive features (comments, shares, likes).
- Customizable content and notifications.

Limitations:

- Digital divide (urban-rural access gap).
- Credibility concerns (fake news, clickbait).
- Information overload.

Examples:

NDTV.com, Scroll.in, TheWire.in, BBC News Online.

Social Media Platforms

Definition:

Web-based platforms that enable users to create, share, and interact with content and each other in real time.

Examples: Facebook, Twitter (X), Instagram, YouTube, WhatsApp.

Features:

- User-generated content.
- Two-way communication and engagement.
- Virality and trend-setting potential.

Advantages:

- Democratization of information.
- Powerful tool for activism and social movements.
- Real-time feedback and participation.

Challenges:

- Spread of misinformation and hate speech.
- Algorithmic manipulation.
- Privacy and surveillance concerns.

OTT Platforms (Over-the-Top)

Definition:

Streaming services that deliver film, TV, and video content via the internet, bypassing traditional broadcast and cable.

Examples: Netflix, Amazon Prime Video, Disney+ Hotstar, Zee5.

Features:

- On-demand access and binge-watching culture.
- Subscription-based or ad-supported models.
- Personalized content recommendations.

Advantages:

- Freedom from broadcast schedules.
- Diverse and niche content.
- Accessibility on multiple devices.

Concerns:

- Cultural homogenization and regulation issues.
- Subscription fatigue.

10.5 Summary

Mass media can be categorized into Print, Broadcast, and Digital platforms, each with unique formats, audiences, and roles. Print media (newspapers and magazines) provide in-depth, credible reporting. Broadcast media (radio and television) offer immediacy and visual appeal, while digital platforms (websites, social media, OTT) redefine interactivity and accessibility.

10.6 Self Assessment Questions and Exercises

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

Which of the following is an example of broadcast media?

a) Facebook
b) Dainik Bhaskar
c) NDTV 24x7
d) Amazon Kindle

Answer: c) NDTV 24x7

What is the full form of OTT?

a) Over the Traffic
b) Online Television Transmission
c) Over-the-Top
d) On-demand Television Tool

Answer: c) Over-the-Top

Which type of media is considered most cost-effective for rural outreach in India?

a) OTT platforms
b) Radio
c) Magazines
d) Social media

Answer: b) Radio

B. Short Answer Questions

Q1. Name two differences between newspapers and television.
Q2. What are the advantages of using OTT platforms over traditional television?
Q3. Define digital media with examples.

C. Long Answer Questions

Q1. Compare and contrast print media and digital media.
Q2. Discuss the rise of social media and its impact on traditional journalism.
Q3. Explain the evolution of mass media in India with examples from each media type.

10.7 Further Readings

- Baran, S. J. (2019). Introduction to Mass Communication. McGraw-Hill Education.
- Kumar, K. J. (2010). Mass Communication in India. Jaico Publishing House.
- McQuail, D. (2010). McQuail's Mass Communication Theory. Sage.
- Pavlik, J., & McIntosh, S. (2013). Converging Media: A New Introduction to Mass Communication. Oxford University Press.
- Thussu, D. K. (2006). International Communication: Continuity and Change. Bloomsbury.

UNIT-3.3 : Media Convergence and New Media Technologies

11.0 Introduction

In the digital age, media landscapes have undergone a radical transformation due to technological advancements. Media convergence refers to the blending of various media forms and platforms into a unified experience. It is driven by innovations in digital technology and changing audience behavior.

From newspapers offering videos online to TV channels promoting content through social media, traditional media boundaries are dissolving. Simultaneously, new media technologies—such as smartphones, Artificial Intelligence (AI), and the Internet of Things (IoT)—are shaping how information is produced, distributed, and consumed.

This unit delves into the concept of convergence, the integration of multiple platforms, the growing influence of emerging technologies, and the associated challenges and opportunities.

11.1 Objectives

After completing this unit, you will be able to:

- Define media convergence and explain its types and characteristics.
- Understand the role of cross-platform integration in modern communication.
- Analyze the impact of smartphones, AI, and IoT on media practices.
- Identify the key challenges and opportunities presented by new media technologies.
- Appreciate how convergence influences media production, distribution, and audience engagement.

11.2 Cross-Platform Integration

Definition:

Cross-platform integration is the process of using multiple forms of media and communication channels in a coordinated manner to deliver content and services to users. It is a key element of media convergence.

Types of Convergence

Technological Convergence:

Integration of different technological systems (e.g., smartphone functioning as a camera, TV, and radio).

Content Convergence:

Media houses repurpose the same content across various platforms (e.g., a news story broadcast on TV, published online, and discussed on social media).

Corporate/Industrial Convergence:

Media companies merging to expand across platforms (e.g., Disney's acquisition of 21st Century Fox).

1. **Audience Convergence:**

Consumers access content across devices and platforms (e.g., watching a show on TV, tweeting about it on mobile).

Examples:

A news channel uploading video content on its YouTube channel while promoting it through Instagram reels.

- A print magazine publishing a digital version with added videos and interactive infographics.
- Netflix promoting upcoming web series through Twitter and mobile notifications.
- Benefits of Cross-Platform Integration:
- Expanded reach and audience engagement.
- Diversified revenue models (ads, subscriptions, partnerships).
- Real-time audience feedback and analytics.
- Streamlined content management across channels.

Concerns:

- Content homogenization.
- Loss of journalistic autonomy due to commercial pressures.

- Increased reliance on algorithms and automation.

11.3 Role of Smartphones, AI, and Internet of Things

Smartphones

Smartphones are now central to media consumption and production. They combine multiple media technologies—camera, microphone, internet browser, social media, streaming apps—into one portable device.

Impact:

- News consumption on-the-go through apps and notifications.
- Citizen journalism: users can report events instantly.
- Live streaming and vlogging via mobile apps.
- User-generated content (UGC) dominates platforms like Instagram, TikTok, and YouTube.

Artificial Intelligence (AI)

AI is transforming media workflows and user experiences.

Applications:

Content personalization (e.g., YouTube and Netflix recommendations).

- Automated journalism: algorithms writing short news articles (e.g., sports or finance updates).
- AI-powered chatbots for customer service and news delivery.
- Deepfake technology (both an opportunity and a threat).
- Image and speech recognition for content tagging and accessibility.

Pros:

- Efficiency and accuracy.
- Enhanced user engagement through personalization.
- Cost reduction in production.

Cons:

- Ethical concerns (bias, misinformation).
- Job displacement in certain media roles.
- Dependency on opaque algorithms.

Internet of Things (IoT)

IoT refers to the interconnection of devices via the internet, allowing them to collect and exchange data.

Media Implications:

- Smart TVs stream customized content.
- Wearables (smartwatches, fitness bands) deliver personalized notifications.
- Connected cars provide audio news briefings or podcasts during commute.
- Smart homes integrate news, entertainment, and updates via voice assistants (e.g., Alexa, Google Home).

Benefits:

- Enhanced convenience and personalized media experiences.
- Real-time content delivery and interactivity.
- Concerns:
- Privacy and surveillance risks.
- Data breaches and ethical misuse.

11.4 Challenges and Opportunities in New Media

Challenges

Information Overload

– Difficulty in verifying facts amidst the flood of content.
– Audience fatigue and attention deficit.

Digital Divide

– Inequitable access to technology across regions, income levels, and age groups.

Fake News and Misinformation

– Viral spread of rumors and propaganda via social media.

– Use of bots and deepfakes to manipulate narratives.

Ethical and Privacy Issues

– Data collection and surveillance without user consent.

– Algorithms reinforcing biases (filter bubbles, echo chambers).

Job Displacement and Skill Gaps

– Traditional media roles becoming obsolete.

– Demand for tech-savvy, multi-skilled media professionals.

Opportunities

Empowered Audiences

– Users actively create, share, and interact with content.

– Rise of influencer culture and citizen journalism.

Cost-Effective Content Production

– Mobile journalism, podcasting, and vlogging require low budgets.

Global Reach

– Independent creators can build international audiences.

Data-Driven Storytelling

– Journalists can use big data and analytics to develop insights and visualizations.

Cross-Media Collaboration

– Newsrooms collaborate across platforms and borders for investigative journalism and real-time coverage.

11.5 Summary

The digital revolution has led to the convergence of media platforms, making communication more integrated, instantaneous, and interactive. Cross-platform strategies allow media organizations to remain competitive and engage diverse audiences. Emerging technologies like smartphones, AI, and IoT are reshaping content creation, delivery, and user interaction. While new media offer significant opportunities for innovation and participation, they also bring challenges around ethics, verification, and digital inclusivity.

11.6 Self Assessment Questions and Exercises

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

Which of the following is an example of technological convergence?

a) A newspaper publishing a magazine

b) A smartphone with camera and internet access

c) Watching TV at home

d) Listening to radio in the car

Answer: b) A smartphone with camera and internet access

What does AI stand for in the context of media?

a) Automated Integration

b) Artificial Intelligence

c) Artistic Interpretation

d) Audio Interface

Answer: b) Artificial Intelligence

What is a key concern related to the use of IoT in media?

a) Slow content delivery

b) High printing cost

c) Privacy and surveillance risks
d) Lack of visual elements
Answer: c) Privacy and surveillance risks

B. Short Answer Questions

Q1. Define media convergence and give two examples.
Q2. How do smartphones impact media consumption and production?
Q3. Mention any two benefits of AI in newsrooms.

C. Long Answer Questions

Q1. Discuss the role of cross-platform integration in modern media strategies.
Q2. Evaluate the impact of AI and IoT on journalistic practices.
Q3. Identify the major challenges and opportunities posed by new media technologies.

11.7 Further Readings

- Deuze, M. (2007). Media Work. Polity Press.
- Flew, T. (2014). New Media: An Introduction. Oxford University Press.
- Jenkins, H. (2006). Convergence Culture: Where Old and New Media Collide. NYU Press.
- Pavlik, J. V. (2008). Media in the Digital Age. Columbia University Press.
- Sundar, S. S. (Ed.). (2015). The Handbook of the Psychology of Communication Technology. Wiley.

UNIT-3.4 : Media and Society

12.0 Introduction

Media is more than just a means of information dissemination—it is a dynamic force that both reflects and shapes society. In the modern world, where people are constantly engaged with media content—through television, radio, print, and digital platforms—the relationship between media and society has become deeply interdependent.

Media influences how we think, act, believe, and interact. It plays a crucial role in cultural representation, social norms, political awareness, and the formation of public opinion. Additionally, media is a powerful agent of change, capable of altering societal attitudes and influencing behavior.

This unit explores the impact of media on society through a study of its social, cultural, and political influences, theoretical frameworks like media effects theory, and its critical role in agenda-setting and public opinion formation.

12.1 Objectives

After completing this unit, you will be able to:

- Understand the relationship between media and various dimensions of society.
- Analyze how media shapes and is shaped by social, cultural, and political factors.
- Describe key media effects theories and their implications.
- Explain the role of media in public opinion formation and agenda setting.
- Critically assess the impact of media messages on individuals and society at large.

12.2 Social, Cultural, and Political Influence

Social Influence of Media

Media shapes how we perceive society and our roles within it. It reflects and reinforces social norms, values, and expectations.

- Socialization: Media acts as an agent of socialization, especially for youth, by modeling behaviors, values, and roles.
- Stereotyping: Media often perpetuates stereotypes related to gender, race, class, and age.
- Social cohesion and conflict: Media can promote unity through national integration campaigns or amplify social tensions by sensationalizing issues.

  Example: Television campaigns promoting education for girls in rural areas have positively influenced attitudes toward women's empowerment.

Cultural Influence of Media

Media is a powerful vehicle for the dissemination and preservation of culture, but also for cultural change.

- Cultural transmission: Through films, music, and literature, media transmits customs, traditions, and languages across generations.
- Cultural globalization: Hollywood movies, K-pop, and Western fashion trends influence local cultures, sometimes leading to cultural homogenization.
- Cultural identity: Regional media, folk content, and vernacular platforms help in preserving cultural heritage.

  Example: Netflix offers region-specific content in multiple languages, blending global content with local relevance.

Political Influence of Media

Media is often termed the "Fourth Estate" due to its crucial role in political processes.

- Democratic engagement: Media informs citizens about political events, policies, and rights, enabling them to make informed choices.
- Watchdog function: Investigative journalism uncovers corruption and holds power accountable.

- Political polarization: Media bias and selective coverage can influence voter behavior and deepen divides.

  Example: Social media platforms played a key role during the Arab Spring by enabling real-time mobilization and awareness.

12.3 Media Effects Theory

Media effects theory seeks to understand how media influences audience behavior and attitudes.

Hypodermic Needle Theory (Magic Bullet Theory)

- Suggests that media messages are injected directly into passive audiences, causing immediate effects.
- Often criticized for oversimplifying audience behavior.

Example: Radio broadcasts during WWII used propaganda to influence public opinion and morale.

Two-Step Flow Theory

- Proposed by Katz and Lazarsfeld (1955).
- Media influences opinion leaders, who then influence others through interpersonal communication.
- Implication: Media effects are mediated by social networks, not direct.

Uses and Gratifications Theory

- Audiences are active consumers who use media to satisfy specific needs—information, entertainment, identity, social interaction, etc.
- Focus shifts from "what media does to people" to "what people do with media."

Cultivation Theory (George Gerbner)

- Long-term exposure to media, especially television, cultivates a shared worldview or "mean world syndrome."
- People perceive reality based on repetitive media portrayals.

Agenda-Setting Theory

Media may not tell people what to think, but what to think about.

By emphasizing certain issues, media influences public priorities.

Example: Consistent coverage of climate change can push it higher on political and social agendas.

12.4 Role in Public Opinion and Agenda Setting

Formation of Public Opinion

- Media acts as a forum for debate and source of information, shaping public attitudes.
- Talk shows, opinion columns, editorials, and social media posts all contribute to shaping collective viewpoints.
- Influential media personalities (e.g., anchors, journalists, influencers) serve as opinion leaders.

Example: In democratic societies, media debates can influence voting behavior, policy feedback, and civic movements.

Agenda Setting

As theorized by McCombs and Shaw:

- Media determines which topics are considered important by the public and policymakers.
- Through framing and priming, media can subtly guide audience perception of issues.

Framing: How media presents an issue (e.g., as a moral crisis, an economic problem, etc.).

Priming: Media exposure prepares audiences to evaluate events or leaders in a certain way.

Case Study: Media framing of the COVID-19 pandemic—either as a public health crisis or as a failure of governance—shaped public opinion and political discourse.

12.5 Summary

Media has a profound impact on society, influencing our social behavior, cultural practices, and po-

litical understanding. It serves as a platform for public discourse, a vehicle for cultural expression, and a tool for political mobilization. Through various media effects theories, we understand how media messages shape opinions, beliefs, and behaviors. Importantly, media not only reflects reality but also constructs it, through agenda-setting and framing techniques that influence the public and policymakers alike.

12.6 Self Assessment Questions and Exercises

A. Multiple Choice Questions (MCQs)

Who proposed the Two-Step Flow Theory?
a) Harold Lasswell
b) George Gerbner
c) Katz and Lazarsfeld
d) McCombs and Shaw
Answer: c) Katz and Lazarsfeld

What does the Cultivation Theory suggest?
a) Media messages are directly injected into passive audiences
b) People use media to fulfill personal needs
c) Long-term media exposure shapes perceptions of reality
d) Opinion leaders mediate media effects
Answer: c) Long-term media exposure shapes perceptions of reality

Which of the following is an example of agenda setting?
a) A film portraying strong female characters
b) Repeated media coverage of rising inflation
c) Sharing memes on Instagram
d) Creating viral dance videos
Answer: b) Repeated media coverage of rising inflation

B. Short Answer Questions

Q1. How does media influence social behavior?
Q2. What are the key functions of media in a democracy?
Q3. Define agenda-setting and explain its significance.

C. Long Answer Questions

Q1. Discuss the cultural and political influence of media with suitable examples.
Q2. Compare and contrast the Hypodermic Needle Theory with the Uses and Gratifications Theory.
Q3. Critically evaluate the role of media in shaping public opinion in contemporary society.

12.7 Further Readings

- McQuail, D. (2010). McQuail's Mass Communication Theory (6th ed.). SAGE Publications.
- Baran, S. J., & Davis, D. K. (2011). Mass Communication Theory: Foundations, Ferment, and Future (6th ed.). Wadsworth.
- Gerbner, G., Gross, L., Morgan, M., & Signorielli, N. (2002). Growing Up with Television: Cultivation Processes. In Bryant & Zillmann (Eds.), Media Effects.
- McCombs, M., & Shaw, D. L. (1972). The Agenda-Setting Function of Mass Media. Public Opinion Quarterly.
- Hall, S. (1980). Encoding/Decoding. In Culture, Media, Language. Routledge.

UNIT-4.1: Introduction to Media Laws in India

13.0 Introduction

Media enjoys freedom under the Indian Constitution, but that freedom is not absolute. To maintain a balance between the freedom of expression and the rights of individuals and institutions, various media laws have been established in India. These laws ensure that journalists, publishers, and media platforms operate responsibly and ethically, without infringing on others' rights or compromising public interest.

This unit introduces key legal concepts that every media practitioner must understand—defamation, copyright, and contempt of court. Each of these areas reflects the tension between media freedom and legal limitations designed to protect justice, creativity, and individual dignity.

13.1 Objectives

After studying this unit, learners will be able to:

- Understand the fundamental framework of media laws in India.
- Explain the concept of defamation and differentiate between its civil and criminal forms.
- Recognize the importance of copyright laws in protecting creative content.
- Understand the law of contempt of court and its implications for media reporting.
- Apply legal awareness to responsible media practices.

13.2 Defamation: Civil and Criminal

What is Defamation?

Defamation refers to any false statement—written or spoken—that injures a person's reputation in the eyes of society. Under Indian law, defamation can lead to both civil and criminal liability.

➢ **Civil Defamation**

- Governed by: Tort law (non-statutory)
- Purpose: Compensation (monetary) for harm to reputation

➢ **Proof Required:**

- The statement was defamatory.
- It referred to the plaintiff.
- It was published to a third party.

➢ **Defenses:**

- Truth (if in public interest)
- Fair comment
- Privileged communication

➢ **Example:** A magazine falsely accusing a doctor of malpractice may be sued for civil defamation and ordered to pay damages.

Criminal Defamation

- Governed by: Sections 499 and 500 of the Indian Penal Code (IPC)
- Punishment: Up to 2 years imprisonment, or fine, or both

➢ **Essentials:**

- Making or publishing any imputation about a person
- Intending to harm, or knowing it will likely harm the person's reputation

➢ **Key Defenses (Exceptions in Section 499):**

- Imputation is true and for the public good
- Made in good faith regarding public conduct of public servants

- Opinion expressed in good faith regarding a public question

➢ **Controversy:** Criminal defamation has been criticized as a threat to press freedom. However, in Subramanian Swamy v. Union of India (2016), the Supreme Court upheld its constitutionality.

13.3 Copyright: Protection of Creative Work

What is Copyright?

Copyright is a legal right granted to the creator of original works such as literature, music, films, software, and artistic creations. It ensures that only the creator (or the

person they authorize) can reproduce or distribute the work.

➢ **Governing Law**

- The Copyright Act, 1957 (amended several times, latest in 2012)
- Administered by the Copyright Office of India and Copyright Board

➢ **Works Protected by Copyright**

- Literary works (books, articles, scripts)
- Musical works (songs, scores)
- Artistic works (paintings, logos)
- Cinematographic films
- Sound recordings
- Software and databases

➢ **Rights of Copyright Holders**

- Right to reproduce
- Right to communicate to the public
- Right to adaptation
- Right to translation
- Moral rights (paternity and integrity rights)

Duration

Generally valid for the lifetime of the author plus 60 years after their death.

Infringement and Remedies

Infringement includes unauthorized reproduction, broadcasting, or public performance.

➢ **Remedies:**

- Injunctions
- Damages
- Seizure of infringing copies
- Criminal penalties (imprisonment and fines)

➢ **Case Example:** The copyright dispute between Yash Raj Films and unauthorized YouTube uploaders of Dilwale Dulhania Le Jayenge scenes shows how copyright protects film producers.

13.4 Contempt of Court: Judicial Restrictions

What is Contempt of Court?

Contempt of court is any act that defies or disrespects the authority, dignity, or order of a court. The objective is to ensure the fair administration of justice.

➢ **Governing Law**

- The Contempt of Courts Act, 1971
- Empowered under Article 129 and Article 215 of the Constitution (Supreme Court and High Courts respectively)

Types of Contempt

➢ **Civil Contempt:**

- Willful disobedience of a court's order or judgment.

- Criminal Contempt:
- Scandalizing or lowering the authority of the court.
- Prejudicing or interfering with judicial proceedings.
- Obstructing the administration of justice.

➢ **Contempt and the Media**

Media must avoid publishing material that may prejudice ongoing trials, including:

- Naming suspects before trial
- Publicly accusing someone of guilt
- Publishing confessions
- Journalists can be prosecuted if reporting scandalizes the court or interferes with fair trial.

➢ **Example:** In the Arundhati Roy contempt case (2002), the Supreme Court held the author in contempt for publicly criticizing the judiciary in a manner deemed scandalous.

Defenses Available

- Fair and accurate reporting of judicial proceedings
- Truth, if in public interest and made in good faith (amendment of 2006)
- Apology to court (if found sincere)

13.5 Summary

In a democratic society like India, the media has a critical role to play, but it must operate within legal boundaries. Defamation laws protect individuals' reputations; copyright laws secure the rights of creators; and contempt of court laws preserve judicial dignity and ensure fair trials. A sound understanding of these legal areas helps media professionals function ethically and avoid legal pitfalls.

13.6 Self Assessment Questions and Exercises

A. Multiple Choice Questions

Which section of the IPC deals with criminal defamation?

a) Section 420

b) Section 499

c) Section 153A

d) Section 124A

Answer: b) Section 499

Copyright protection in India lasts for:

a) 10 years from creation

b) Lifetime of author only

c) Lifetime plus 60 years

d) 100 years

Answer: c) Lifetime plus 60 years

The law that governs contempt of court in India is:

a) Indian Evidence Act

b) Contempt of Courts Act, 1971

c) Judicial Proceedings Act

d) Public Order Act

Answer: b) Contempt of Courts Act, 1971

B. Short Answer Questions

Q1. What are the main differences between civil and criminal defamation?

Q2. List the rights of a copyright holder under the Copyright Act.

Q3. When can a journalist be held in contempt of court?

C. Long Answer Questions

Q1. Discuss the significance of copyright law in protecting the rights of content creators in the media industry.
Q2. Explain the concept of contempt of court with examples related to media practices.
Q3. Critically analyze the impact of defamation laws on investigative journalism in India.

13.7 Further Readings

- Basu, D. D. (2020). Press Laws in India. LexisNexis.
- Constitution of India (esp. Article 19(1)(a) and reasonable restrictions under Article 19(2))
- Divan, M. (2006). Facets of Media Law. Eastern Book Company.
- Madhavi Goradia Divan (2012). The Right to Know: Law and Information in India. Oxford University Press.
- Supreme Court of India. (2016). Subramanian Swamy v. Union of India (Criminal Defamation Case)
- The Contempt of Courts Act, 1971
- The Copyright Act, 1957 (as amended)

UNIT-4.2 : Media Ethics

14.0 Introduction

In a democratic society, media is entrusted with the vital role of informing the public, shaping opinions, and holding those in power accountable. However, with great power comes great responsibility. Media ethics refers to the code of conduct that governs journalists and media professionals, ensuring honesty, accuracy, fairness, and respect for human dignity.

In the digital age, ethical dilemmas have become more complex with issues like fake news, trial by media, and the invasion of privacy. This unit explores the foundational principles of media ethics and the dilemmas faced by journalists while balancing truth-telling, privacy, and public interest.

14.1 Objectives

After studying this unit, learners will be able to:

- Understand the principles and importance of ethics in media practice.
- Identify the ethical responsibilities of journalists.
- Distinguish between individual privacy and the public's right to know.
- Analyze the ethical implications of fake news and misinformation.
- Apply ethical frameworks to real-world journalism scenarios.

14.2 Ethical Responsibilities of Journalists

Core Principles of Journalism Ethics

Truth and Accuracy

Journalists are obligated to report facts accurately, cross-check sources, and avoid distortion.

Independence

Journalists must remain free from influence by governments, political parties, advertisers, or owners.

Fairness and Impartiality

Reporting must include multiple perspectives, especially in conflicts or controversies.

Accountability

Mistakes should be acknowledged and corrected publicly. Transparency builds public trust.

Humanity

Avoid causing harm. Respect victims of violence, children, and vulnerable individuals.\

Respect for Privacy

Journalists must avoid unnecessary intrusion unless public interest outweighs the concern.

Indian Context: Guidelines and Codes

- **Press Council of India (PCI) Code of Conduct:**

Encourages fair, objective, and ethical journalism. It lays down dos and don'ts related to defamation, communal reporting, and sensationalism.

- **News Broadcasters & Digital Association (NBDA):**

Provides a code for TV news broadcasters to ensure ethical reporting and avoid hate speech or trial by media.

- **Editors Guild of India:**

Advocates for freedom and accountability in editorial practices.

14.3 Privacy vs. Public Interest

Journalists often face the dilemma: Should they protect an individual's privacy or serve the public's right to know?

- **Right to Privacy**

- Recognized as a fundamental right under Article 21 of the Indian Constitution (as per the Supreme

Court's judgment in Justice K.S. Puttaswamy v. Union of India, 2017).

- Intruding into a person's private life without consent is unethical—especially in cases involving health, family matters, or sexual orientation.

Public Interest Justification

There are cases where breaching privacy is ethically justified if:

- It exposes corruption or abuse of power.
- It involves public health or safety.
- It impacts public figures' conduct relevant to their duties.

➢ **Example**: Investigating a politician's financial misconduct may be in the public interest, while reporting on their family problems may not be.

➢ **Ethical Balance**

Media professionals must:

- Evaluate the necessity of disclosure.
- Consider minimizing harm.
- Be transparent about their intentions.

14.4 Fake News and Misinformation

➢ **What is Fake News**?

Fake news refers to deliberately fabricated or misleading information presented as legitimate news. It often circulates on social media to:

- Manipulate public opinion
- Promote propaganda
- Generate ad revenue

➢ **Types of Misinformation**

- Satire/Parody – No intention to cause harm (e.g., The Onion)
- False Context – Genuine content with false context
- Imposter Content – Sources impersonated (e.g., fake news websites mimicking BBC)
- Manipulated Content – Edited media (photos, videos)
- Fabricated Content – Completely false information

➢ **Impact on Society**

- Undermines democracy and elections
- Spreads hate speech and communal violence
- Reduces trust in media
- Fuels public health crises (e.g., misinformation during COVID-19)

➢ **Ethical Response**

- Fact-Checking: Always verify information before publication.
- Credible Sourcing: Use verified and reputable sources.
- Correcting Errors: Acknowledge and fix mistakes openly.
- Avoid Clickbait: Misleading headlines for traffic are unethical.

➢ **Indian Initiatives**

- PIB Fact Check (by Govt. of India)
- Independent agencies: Alt News, BoomLive, Factly
- IT Rules, 2021: Platforms must act against fake news and maintain accountability.

14.5 Summary

Ethics are the cornerstone of responsible journalism. As watchdogs of democracy, journalists must commit to truth, accuracy, fairness, and public accountability. The challenges posed by privacy concerns, fake news, and

sensationalism require media professionals to act with integrity, wisdom, and compassion. Ethical journalism is not just about following rules—it's about upholding public trust.

14.6 Self Assessment Questions and Exercises

A. Multiple Choice Questions

Which of the following is a core ethical responsibility of journalists?

a) Sensationalizing news

b) Avoiding correction of errors

c) Reporting with fairness and impartiality

d) Supporting government narratives

Answer: c) Reporting with fairness and impartiality

The right to privacy was declared a fundamental right in which case?

a) Kesavananda Bharati v. State of Kerala

b) K.S. Puttaswamy v. Union of India

c) Golaknath v. State of Punjab

d) Shreya Singhal v. Union of India

Answer: b) K.S. Puttaswamy v. Union of India

Which of the following is NOT a form of fake news?

a) Satirical article

b) Investigative journalism

c) Manipulated video

d) Imposter content

Answer: b) Investigative journalism

B. Short Answer Questions

Q1. Define media ethics. Why are they important in a democracy?

Q2. What are the key differences between privacy and public interest?

Q3. How can journalists prevent the spread of misinformation?

C. Long Answer Questions

Q1. Discuss the ethical challenges faced by journalists in the digital era.

Q2. Explain the ethical implications of fake news and the role of fact-checking.

Q3. Do journalists have the right to invade privacy in the interest of public good? Justify your answer with examples.

14.7 Further Readings

- Kovach, B., & Rosenstiel, T. (2014). The Elements of Journalism. Three Rivers Press.
- Mencher, M. (2010). News Reporting and Writing. McGraw-Hill.
- NBDA Code of Ethics and Broadcasting Standards: www.nbdanewdelhi.com
- Press Council of India (2020). Norms of Journalistic Conduct. www.presscouncil.nic.in
- Ward, S. J. A. (2011). Ethics and the Media: An Introduction. Cambridge University Press.
- UNESCO (2018). Journalism, 'Fake News' & Disinformation: A Handbook for Journalism Education and Training.

UNIT-4.3 : Freedom of Press and Media Literacy

15.0 Introduction

The freedom of the press is a fundamental element of any functioning democracy. It allows journalists to investigate, report, and critique the powers that be, without fear of censorship or retaliation. In India, although the Constitution does not explicitly mention the "freedom of the press," this right is inferred from Article 19(1)(a), which guarantees freedom of speech and expression.

However, this freedom is not absolute. It must be exercised responsibly and within the bounds of law. Simultaneously, in the age of information overload, media literacy has become equally crucial. Media literacy empowers citizens to critically analyze media content, detect misinformation, and become informed participants in a democratic society.

This unit explores the constitutional basis of press freedom, the regulatory framework that governs it, and the growing importance of media literacy in the digital era.

15.1 Objectives

- After completing this unit, learners will be able to:
- Understand the constitutional foundation for press freedom in India.
- Examine the role and functioning of the Press Council of India.
- Distinguish between freedom and responsibility in journalistic practice.
- Understand the concept and relevance of media literacy.
- Develop basic tools and skills to promote media literacy in society.

15.2 Constitutional Provisions (Article 19(1)(a))

➢ **Article 19(1)(a) – Freedom of Speech and Expression**

The Indian Constitution guarantees to every citizen the freedom of speech and expression under Article 19(1)(a). This freedom includes the right to express opinions freely, including through the print, broadcast, and digital media.

Key Judgement: In Romesh Thappar v. State of Madras (1950), the Supreme Court ruled that freedom of the press is implicit in Article 19(1)(a).

➢ **Reasonable Restrictions under Article 19(2)**

While Article 19(1)(a) provides freedom, Article 19(2) empowers the state to impose "reasonable restrictions" in the interests of:

- Sovereignty and integrity of India
- Security of the state
- Friendly relations with foreign states
- Public order
- Decency or morality
- Contempt of court
- Defamation
- Incitement to an offence

➢ **Press Freedom in Practice**

- There is no specific law in India called a "Press Freedom Act." Freedom of the press is protected under general laws.
- However, certain laws such as Official Secrets Act, Unlawful Activities (Prevention) Act, and Sedition laws have been criticized for curbing journalistic freedom.

➢ **Example:** Arrests of journalists under anti-terror laws or for social media posts highlight the tension between freedom and control.

5.3 Press Council of India and Self-Regulation

➢ **What is the Press Council of India (PCI)?**

- Established in 1966 under the Press Council Act, the PCI is a quasi-judicial autonomous body.
- Its mandate is to preserve press freedom and maintain the standards of newspapers and news agencies in India.

➢ **Key Functions of PCI**

- Hear complaints against the press for unethical reporting.
- Issue guidelines and censure unethical practices.
- Promote standards of journalism and professional conduct.
- Advise the government on matters concerning the press.
- Note: PCI decisions are not legally binding, but they carry moral authority.

➢ **Challenges and Limitations**

- PCI has no jurisdiction over TV and digital media.
- It lacks enforcement powers.
- Its structure and appointments have been criticized for lack of independence.

➢ **Self-Regulation in Indian Media**

In addition to PCI, media organizations have formed self-regulatory bodies:

- News Broadcasters & Digital Association (NBDA): For TV channels.
- Digital News Publishers Association (DNPA): For digital media platforms.
- Broadcast Editors Association (BEA).

These bodies promote editorial standards, address viewer grievances, and issue ethical guidelines.

However, self-regulation remains voluntary, and critics argue for an independent regulatory mechanism with broader powers.

115.4 Understanding and Promoting Media Literacy

What is Media Literacy?

Media literacy is the ability to:

- Access, analyze, evaluate, and create media content.
- Understand the motives, biases, and techniques used in media.
- Identify credible sources from misinformation or propaganda.
- In simple terms, media literacy empowers people to become critical thinkers and not passive consumers of content.

Why is Media Literacy Important?

- Helps in recognizing fake news and propaganda.
- Promotes democratic participation.
- Develops critical thinking and civic responsibility.
- Encourages ethical sharing and digital behavior.

Core Components of Media Literacy

- Understanding Media Messages – Who created the message? For what purpose?
- Analyzing Media Techniques – Use of language, visuals, tone, and emotion.
- Recognizing Bias and Framing – Spotting loaded language or selective reporting.
- Fact-Checking Skills – Evaluating the credibility of news and sources.
- Creating Responsible Content – Ethical posting, copyright, and digital footprint.

Media Literacy in India

- Media literacy is not formally integrated into Indian school curricula, although NEP 2020 emphasizes digital literacy.
- NGOs and civil society groups conduct awareness campaigns on misinformation and digital hygiene.
- Government initiatives like “Cyber Surakshit Bharat” promote digital awareness and safety.

- **Example:** UNESCO's MIL Curriculum for Teachers and India's participation in Global MIL Week foster media literacy among educators.

15.5 Summary

The freedom of the press, although not explicitly mentioned in the Constitution, is safeguarded under Article 19(1)(a). It is essential for upholding democracy and ensuring government accountability. However, this freedom must be balanced with responsibility and respect for the law.

The Press Council of India, along with other self-regulatory bodies, plays a crucial role in maintaining journalistic standards. In the digital age, media literacy is vital for every citizen to navigate the complex media ecosystem, distinguish fact from fiction, and become informed decision-makers.

15.6 Self Assessment Questions and Exercises

A. Multiple Choice Questions

Which Article of the Indian Constitution ensures freedom of speech and expression?

a) Article 21

b) Article 14

c) Article 19(1)(a)

d) Article 32

Answer: c) Article 19(1)(a)

Which of the following is a limitation of the Press Council of India?

a) It has punitive powers

b) It regulates digital media

c) It is a quasi-judicial body

d) Its decisions are not legally binding

Answer: d) Its decisions are not legally binding

Media literacy includes all the following except:

a) Creating media content

b) Memorizing news headlines

c) Evaluating sources

d) Recognizing bias

Answer: b) Memorizing news headlines

B. Short Answer Questions

Q1. What is the significance of Article 19(2) in the context of press freedom?

Q2. Describe any two functions of the Press Council of India.

Q3. Define media literacy and state its relevance in the digital age.

C. Long Answer Questions

Q1. Discuss the constitutional and legal framework supporting the freedom of the press in India.

Q2. Analyze the need for media literacy in combating misinformation and fake news.

Q3. Critically evaluate the effectiveness of the Press Council of India in regulating media ethics.

15.7 Further Readings

- Baran, S. J. (2014). Introduction to Mass Communication: Media Literacy and Culture. McGraw-Hill.
- Basu, D. D. (2020). Introduction to the Constitution of India. LexisNexis.
- Ministry of Information and Broadcasting. (2021). IT Rules 2021 – Code of Ethics for Digital Media.
- Press Council of India. (2020). Norms of Journalistic Conduct. www.presscouncil.nic.in
- Thussu, D. K. (2006). International Communication: Continuity and Change. Hodder Education.
- UNESCO. (2018). Media and Information Literacy Curriculum for Teachers.

UNIT-4.4: Hands-on Learning and Emerging Media

16.0 News Writing: 5Ws and 1H

Introduction to News Writing

News writing is the foundation of journalism. It is factual, concise, timely, and objective. A good news story informs the reader with clarity and brevity while maintaining journalistic ethics. The basic structure of news writing is based on the classic formula of 5Ws and 1H—Who, What, When, Where, Why, and How.

The 5Ws and 1H Framework

- Who – Identifies the people or organizations involved.

Example: Who was involved in the incident?

- What – Describes the event or issue.

Example: What happened?

- When – States the date and time of the event.

Example: When did it occur?

- Where – Mentions the location.

Example: Where did the event take place?

- Why – Explains the reasons or background.

Example: Why did it happen?

- How – Describes the manner or method.

Example: How did it unfold?

Importance of Accuracy and Clarity

- Facts must be verified before reporting.
- Language should be clear and accessible.
- Avoid jargon, exaggeration, and editorializing.
- Always include attribution and source credibility.

Example:

"A fire broke out (What) at a garment factory (Where) in Ludhiana (When) on Monday evening (Who) due to a short circuit (Why), causing damage to property worth lakhs (How), police said."

16.1 Crafting Headlines and Leads

Headlines: The First Impression

- A headline is the gateway to your news story. It must be:
- Concise (ideally under 10 words)
- Informative (captures the essence)
- Active (prefer action verbs)
- Attention-Grabbing (invites reader interest)

➢ **Examples:**

- "Delhi Records Highest Rainfall in Decade"
- "Govt Launches AI Literacy Mission for Schools"

Leads: The Story's Anchor

The lead (or lede) is the opening paragraph of a news story. It presents the most critical information upfront.

➢ **Types of Leads:**

Summary Lead – Covers most of the 5Ws and 1H.

➢ **Example:** "At least 12 people died and 30 were injured when a bus overturned on the Jaipur Highway on Friday."

Anecdotal/Narrative Lead – Tells a brief story to hook readers.

- **Example:** "Ravi thought it would be an ordinary ride home—until his cab was swept away by the flood-waters."

Question Lead – Begins with a thought-provoking question.

- **Example:** "Can India meet its clean energy targets by 2030?"

Quote Lead – Opens with a powerful or surprising quote.

- **Example:** "'This is a climate emergency,' said the UN chief at the summit."

Inverted Pyramid Style

This is a standard structure in journalism:

- Top (Lead) – Most important facts.
- Middle (Body) – Supporting details, quotes, background.
- Bottom (Tail) – Additional/less critical information.

This format helps editors trim stories without losing essential facts.

16.2 Blogging, Podcasting, and Social Media Basics

- **Blogging: Digital Diary to Journalism Tool**

Blogging involves writing and publishing short or long-form content on digital platforms, typically in an informal or semi-formal tone.

- **Features:**

- Personal tone with opinion or analysis.
- Topics can range from politics to lifestyle.
- Platforms: WordPress, Medium, Blogger, Substack.
- Steps to Start a Blog:
- Choose a niche (e.g., politics, education, entertainment).
- Pick a platform (e.g., WordPress).
- Write regularly, and use headlines and SEO-friendly tags.
- Engage with readers through comments and shares.
- Blogging Tip: Use multimedia—images, GIFs, videos—to enhance storytelling.

Podcasting: Voice of the Digital Age

Podcasting is the audio equivalent of blogging. It allows journalists and creators to publish stories, discussions, or interviews on-demand.

- **Types of Podcasts:**

- Interview-based
- Narrative/documentary
- Opinion/discussion
- Educational/skill-based

- **Tools Needed:**

- A microphone and headphones.
- Editing software: Audacity, GarageBand.
- Hosting platform: Spotify, Anchor, Apple Podcasts.

- **Basic Podcast Flow:**

- Intro music and welcome
- Topic introduction
- Main discussion/story
- Summary and sign-off
- Credits and call-to-action

- **Skill Focus**: Voice modulation, clarity, script writing, and basic sound editing.

Social Media: Instant, Interactive, Influential

Social media has transformed journalism into an interactive, real-time ecosystem.

- **Popular Platforms:**
- Twitter/X – For breaking news and instant updates.
- Instagram – Visual storytelling.
- YouTube – Video journalism, explainers.
- Facebook – Community engagement.
- LinkedIn – Professional media presence.
- **Best Practices:**
- Verify before sharing.
- Use hashtags wisely.
- Engage respectfully with readers.
- Understand algorithms and platform policies.

Tip: Social media is a tool for both distribution and newsgathering (crowdsourced tips, user reactions, trends).

16.3 Summary

This unit has introduced the core skills every journalism student must develop to succeed in the modern media landscape. From structuring news using the 5Ws and 1H, to crafting compelling headlines and leads, the basics of traditional journalism remain relevant.

However, emerging formats like blogging, podcasting, and social media demand multimedia fluency and creative storytelling. The digital journalist must be flexible, ethical, and continuously learning in order to adapt to the evolving nature of the media industry.

16.4 Self Assessment Questions and Exercises

A. Multiple Choice Questions

Which of the following is not part of 5Ws and 1H?

a) Where

b) Who

c) How

d) Whose

Answer: d) Whose

A podcast is primarily:

a) A photo blog

b) A printed editorial

c) An audio-based content format

d) A news app

Answer: c) An audio-based content format

Inverted pyramid writing is used to:

a) Delay key information

b) Emphasize entertainment

c) Present key facts first

d) Use longer sentences

Answer: c) Present key facts first

B. Short Answer Questions

Q1.What is a summary lead in news writing?

Q2. Name three key differences between a blog and a podcast.

Q3. Explain the role of social media in journalism.

C. Long Answer Questions

Q1. Explain how 5Ws and 1H help structure a factual and balanced news report.

Q2. Discuss the rise of blogging and podcasting as alternative journalism tools.
Q3. How has social media transformed news production and consumption?

16.5 Further Readings

- Gillmor, D. (2006). We the Media: Grassroots Journalism by the People, for the People. O'Reilly Media.
- Google News Initiative: https://newsinitiative.withgoogle.com
- Mencher, M. (2010). News Reporting and Writing. McGraw-Hill Education.
- Pavlik, J. V. (2008). Media in the Digital Age. Columbia University Press.
- Potter, W. J. (2013). Media Literacy. SAGE Publications.
- Rich, C. (2015). Writing and Reporting News: A Coaching Method. Cengage Learning.
- Sharma, K. (2019). Digital Journalism in India. Routledge India.
- YouTube Creator Academy: https://creatoracademy.youtube.com

.....